# हिन्दी साहित्य कोश

भाग १

[पारिभाषिक शब्दावली]

सम्पादक

धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान) व्रजेश्वर वर्मा धर्मवीर भारती रामस्वरूप चतुर्वेदी रघुवंदा (संयोजक)

### मूल्य पचीस रुपये

द्वितीय संस्करण, वसन्तपंचमी, संवत २०२०

<sup>©</sup> ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-१.
मु द्र क—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ६१७३-२०

#### हिन्दी साहित्य कोश (भाग १)के लेखक

श्री अजितकमार, हिन्दी विभाग, किरोडीमल डिग्री कालेज, दिल्ली अ० क्० श्री आत्माराम शाह, दर्शन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉरेज, इलाहाबाद आ० रा० शा० **डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित**, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर आ० प्र० दी० आ० प्र० मि० डॉ॰ आद्याप्रसाद मिश्र, मंस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, जबलपुर उ० ना० ति० ভ০ হাঁ০ হাা০ श्री उदयशंकर शास्त्री, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा श्री उमाशंकर शक्छ, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद **૩**০ হা০ হ্যু০ श्री ए० चन्द्रहासन, महाराजा कॉलेज, एर्नाकुलम ए० चं० डॉ॰ ओम्प्रकाश, हिन्दी विमाग, विश्वविद्यालय, दिली ओ० प्र० डॉ॰ करुणेश शुक्ल, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर क॰ शु॰ श्री कर्तारसिंह दुगाल, आकाशवाणी क० सिं० दु० डॉ॰ कामिल बुल्के, अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी विभाग, सेण्ट जेवियर्स कॉलेज, रॉची का० बु० श्री कुँवरनारायण, ३ शाहनजफ रोड, लखनऊ कुँ० ना० **डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय,** गवर्नमेण्ट डिम्री कॉलेज, ज्ञानपुर (वाराणसी) कु० दे० उ० श्री गोपालचन्द्र सिनहा, फैजाबाद रोड, लखनक गो० चं० सि० श्री चन्द्रकान्त, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रेसीडेंसी कॉडेज, मद्रास चं० का० ज० कि० व० डॉ॰ ज॰ कि॰ बलबीर, संस्कृत विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल डॉ॰ जगदीश गुप्त, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ज० गु० श्री जयेन्द्र जिवेदी, निसर्ग, १०६६ अम्बाबाईी, भावनगर (सौराष्ट्र) জ০ রি০ डॉ॰ टीकम सिंह तोसर, हिन्दी विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा टी० सिं० तो० तो० रा० पा० श्री तोत्रराज पाण्डेय (स्व०) डॉ॰ त्रिलोकीनारायण दीक्षित, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ त्रि॰ ना॰ दी॰ डॉ॰ दयाशंकर शुक्क, राजा श्रीकृष्णदत्त महाविद्यालय, जौनपुर द० गु० डॉ॰ दशरथ ओझा, हिन्दी विमाग, विश्वविद्यालय, दिली द० ओ० डॉ॰ देवराज, अध्यक्ष, भारतीय दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी दे० डॉ॰ देवराज उपाध्याय, गौरीमवन, वापूनगर, अजमेर दे० उ० दे० शं० अ० डॉ॰ देवीशंकर अवस्थी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिली डॉ॰ धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री, प्रिंसिपल, जगजीवन कॉलेज, आरा ध० ब०, ध० ब० शा० घ० वी० भा० डॉ॰ धर्मवीर भारती, सम्पादक 'धर्मयुग', बम्बई डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, अध्यक्ष, भाषा विज्ञान विभाग, विश्वविद्यालय, सागर धी० व० प० च० श्री परशुराम चतुर्वेदी, वकील, बलिया पा० ना० ति० डॉ॰ पारसनाथ तिवारी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद डॉ॰ पुत्त्लाल शुक्ल, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, नैनीताल पु० शु० प्र० ना० र० **डॉ॰ प्रतापनारायण टण्डन**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प', अमरसिंह कॉलेज, श्रीनगर do do श्री प्रह्लाद प्रधान, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, उड़ीसा प्र० प्र० डॉ॰ प्रभाकर माचवे, सहायक मन्त्री, साहित्य अकादमी, नथी दिल्ली प्र० मा० দী০ अ০ कु॰ प्रीति अदावाल, दर्शन विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद डॉ॰ प्रेमशंकर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर प्रे० शं० ब० ना० श्री० डॉ॰ बद्रीनारायण श्रीदास्तव, हिन्दी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, ज्ञानपुर डॉ॰ बच्चन सिंह, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ब॰ सिं० बा॰ रा॰ स॰ **डॉ॰ बाबूराम सक्सेना,** १३ ए दरियागंज, दिल्ली डॉ॰ भगीरथ मिश्रा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विद्वविद्यालय, पूना भ० मि० **डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय,** सहसम्पादक 'हिन्दी विश्वकोश', ना॰प्र॰ सभा, वाराणसी म० श० उ० डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल डिग्री कालेज, दिल्ली भो० ना० ति० म०, मसी० श्री मसीहुजामाँ, उर्द् विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री महावीरप्रसाद लखेरा, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

म॰ प्र॰ ल॰

Ho Ho **डॉ॰ महेन्द्र भटनागर**, जीवाजीगंज, लदकर डॉ॰ साताप्रसाद गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी विनाग, राजन्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मा० प्र० गु० श्री माताबद्छ जायसवाल, हिन्दी विभाग, निस्यविद्यालय, इलाहाबाद मा० व० जा० यो० प० मि० श्री योगेन्द्रप्रताप सिंह, रिसर्च नकौलर, प्रयाग विधविधालय डॉ॰ रघुवंश, हिन्दी विभाग, विधियवालय, इलागाद 20 **डॉ॰ रवीन्द्र भ्रमर**, हिन्दी विभाग, कि कि. संबर अलीगट ए० अ० श्री रमाशंकर तिवारी, गोरेलाल मेहना डिग्री कालेज, वनमनर्खा, पूर्णिया (बिहार) र० ति० **डॉ॰ राकेश गुप्त**, अध्यक्ष, हिन्दी विमाग, गवर्नमेण्ट टियी कालेज, बानपुर (वाराणसी) रा० गु० श्री राजदेव सिंह, रिसर्च रक्तॉलर, पंजाय विश्वविद्यालय रा० दे० सि० श्री राधाकृष्ण सहाय, खंजरपुर, भागलपुर रा० कु० स० डॉ॰ रामअवध द्विवेदी, सन्त विनोवा टिमी कालेज, देवरिया रा० अ० द्वि० श्री रासकृष्णमणि त्रिपाठी, राजनीति विभाग, विश्वविद्यालय, गोरखपुर रा० कु० त्रि० डॉ॰ रामखेळावन पाण्डेय, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, रॉची रा० खे० पा० रा० पू० ति० श्री रामपूजन तिवारी, हिन्दी भवन, शान्तिनिवेतन, पश्चिम वंगाल **श्री रामफेर त्रिपाठी**, रिसर्च स्कॉलर, लखनऊ विश्वविद्यालय रा० त्रि० रा० मू० रे० श्री राममूर्त्ति रेणु, आकाशवाणी, हैदराबाद **डॉ॰ रामरतन भटनागर**, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, सागर रा० र० म०, रा० म० श्री रा॰ वा॰ चिटणीस, महाराष्ट्र राष्ट्रमापा समिति, पूना रा० वा० चि० **डॉ॰ रामसिंह तोमर**, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, निस्वविपालप, शान्तिनिकेतन, प॰ ंगाल रा० सि० नो० डॉ॰ रामस्बरूप चतुर्वेदी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद रा० म्व० च० श्री लक्ष्मीकान्त वर्मो, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद ल० कां० व० **डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल,** हिन्दी विभाग, सी॰ एम॰ पी॰ टिग्री कालेज, इलाहाबाद ल० ना० ला० **डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय**, हिन्दी विभाग, विरविनशालय, इलाहाबाद ल० सा० वा० लो० ना० भ० श्री लोकनाथ भराली, रिसर्च स्कॉलर, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, वाराणमी **डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा**, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल, आगरा व्र० व० **डॉ॰ वासुदेव उपाध्याय,** प्राचीन इतिहास विभाग, विश्वियालय, पटना वा० उ० श्री विद्यानिवास मिश्र, संस्कृत विभाग, विश्वतिद्याल्य, गोरखपुर वि० नि० मि० श्री विजयबहादुर सिंह (स्व०) वि० सिं० **डॉ॰ विजयेन्द्र रनातक,** हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, दिल्ली वि० स्ना० डॉ॰ विनयमोहन शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, कुरुश्चेत्र वि० मो० श० वि० कु० अ० डॉ॰ विपिनकुमार अप्रवाल, फिजिक्स विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहानाद डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी शं० ना० सिं०, डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणमी হাি০ স০ सিঁ০ **डॉ॰ स्थाम परमार,** आकाशवाणी, इन्दौर इया० प० श्री स्थाममोहन श्रीवास्तव,  $\Pi$  A/9 लाजपत नगर, नयी दिली चया० मो० श्री० **श्री संगमलाल पाण्डेय,** दर्शन विभाग, विज्यवित्रालय, इलाहाबार सं० ला० पा० डॉ॰ सत्येन्द्र, हिन्दी विद्यापीठ, विश्वविद्यालय, आगरा स० स॰ ब॰ सि॰ डॉ॰ सत्यवत सिंह, संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ स॰ प्र॰ अ॰ डॉ॰ सरयूपसाद अप्रवाल, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ सि॰ कु॰ श्री सिद्धनाथ कुमार, वीता कुंज, रातू रोड, रोंची सि॰ ति॰ **डॉ॰ सियाराम तिवारी,** हिन्दी विभाग, कालेज आफ कामर्स, पटना हं० कु० ति० श्री हंसकुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन, गया डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, चण्टीगढ ह॰ प्र॰ द्वि॰ ह० ना० श्री **हर्षनारायण,** सी ४२/५९ रामरल वाजपेयी मार्ग, लखनऊ हर दे० बा० डॉ॰ हरदेव बाहरी, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ह० ल० श० डॉ॰ हरद्वारीळाळ शर्मा, जिला विद्यालय निरीक्षक, फतेहपुर ह० मो० श्री हरिमोहन, डिफ़ेन्स एकाडमी, खड़गवासला हि॰

**डॉ॰ हिरण्मय,** हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, मैसूर जिन न्रिप्णियोंके साथ कोई संकेत नही है अथवा केवल सं॰ दिया गया है, वे सम्पादकीय है।

## संकेत-सूची

संक्षिप्त रूप	ग्रंथ	लेखक तथा संस्थाएं	
अ० पु०	अग्निपुराण		
अ० मं०	अलंकार <b>मं</b> जरी	कन्हेंयालाल पोदार	
अ॰ भा॰	अभिनवभारती	अभिनव गुप्त	
अ० वी ० त०	अकुलवीरतन्त्र	मत्स्येन्द्रनाथ केशव मिश्र	
अलं० हो ०	अलंकारशेखर		
अऌं०स्० अ०स०	अलंकारसर्वस्व	रुय्यक	
आ० के०	आलमकेलि	आलम	
आ० सा०	आधुनिक स।हित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी	
'ৰ্ভত হাত	उद्भवशतक	सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	
क० क०	कविकण्ठाभरण	क्षेमेन्द्र	
क् कु क	कविकुलकण्ठाभरण	दूलह	
क०क०त० <b>)</b> क०कु०क०त०	कविकुळकल्पतरु	चिन्तामणि	
क् य०	कबीर-ग्रन्थावली	सं० इयामसुन्दरदास	
क॰ प्रि॰	कविशिदा	केशवदास तुलसीदाम	
कविता०	कवितावली		
क० सा० सं०	कबीर साखी-संग्रह	कवीर	
क० र०	कवित्त रताकर	नेनापति	
का० क० द० } का० करप०	कान्यकल्पद्धभ	कन्हेंयालाल पोदार	
का॰ द॰	कान्यदर्पण	रामदहिन मिश्र	
का० नि०	काव्यनिर्णय	भिखारोदाम	
का० प्र०	काव्यप्रकाश	मम्मट	
का॰ मी॰	कान्यमीमांसा	राजशेखर	
का० द <b>०</b> } काब्य०	का•यादर्श	दण्डी	
का० र०	कान्यमें रस	आ <b>नन्द</b> प्रकाश दीक्षित	
का० वि०	कान्यविलास	प्रतापसाहि	
कान्यानु ०	काव्यानुशासन	हेम चन्द्र	
काव्या० )			
काव्यारुं० का० अ०	काच्यालंका <i>र</i>	मामह तथा रुद्रट	
का० सा० सं०	काव्यालंकारसार-संग्रह	<b>उद्भ</b> ट	
का० सू० वृ०	काव्यालं कारसूत्रवृत्ति	वामन	
कुवल <i>॰</i>	कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षिन	
के० य०	केशव-ग्रन्थावली		
को॰ स्मा॰ सं०	कोशोत्सर्व सारक संप्रह		
गीता०	गीतावस्री	<b>तुल्सी</b> दास	

	44		
	मं० पीनाम्बरःत वहश्वाल		
गो० बा०	गोरखंबाणी	नन्ददाम	
ज्ञा० मं०	ज्ञानमंत्ररी	कथीर	
ज्ञा० गू०	ज्ञानगृद्बी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	
चन्द्रा ०	चन्द्रावली		
चि० म०	चिंतामणि	रामचन्द्र शुक्र	
	चित्रमी <b>मां</b> सा	अप्पय दीक्षित	
चि॰ मी॰		हेमचन्द्र	
छन्दोऽनु॰ ∤	<b>छन्दोऽनुशासन</b>	हम पाप्र	
छं०	~	भिखारीदास	
छन्दो॰	छन्दोर्णव ं	जगन्नाथप्रमाद भानु	
छं॰ प्र॰	छन्द्प्रभाकर्		
छां०	छान्दोग्योपनिषद्	a Day was	
जं० ना०	जंगनामा	श्रीधर	
_	0.3-	पद्माकर	
जगत॰ }	जगद्विनोद	-	
जगद्दि॰	जयद्रथवध	मैथिलीशरण गुप्त	
ज० व•	जयस्य-प्र- जायसी-प्रन्थावली	सं० रामचन्द्र शुक्ल	
जा <b>॰</b> মৃ॰		वरलभाचार्य	
त० दी॰ नि॰	तस्वदीपनिबन्ध		
द० रू० }	दशरूपक	धनंजय	
दश० }	341644	ने <del>-ी</del> समीच	
न <b>० र०</b> त०	नवरस तरंग	वेनी प्रवीन	
	नाट्यदर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र	
ना०द०	नाट्यालंकार रत्नकोश	मागरनन्दी	
ना० छ० र॰ की॰		भरत	
ना० शा० 🤰	नाट्यशास्त्र		
नाट्य॰	नारदीय भक्तिसूत्र		
ना॰ भ॰ स्॰		मैथिलीशरण गुप्त	
पत्रा०	पत्रावली	पद्माकर	
पद्मा०	पद्माभरण	<b>पिंगला</b> चार्य	
पि॰ सू॰	पिंगलसुत्र	चन्दवरदाई	
पृ० रा०	पृथ्वीराज रासी		
	प्रतापसिंह विरुदावली	पद्माकर	
प्र० वि०	त्राण संगली	नानक	
प्रा॰ सं॰	<b>प्रियप्रवास</b>	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	
সি° স°		रहीम	
बरवै० }	बरवैनायिका भेद		
ब० नायिका	C-4	सं॰ जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	
बि० र०	बिहारी रत्नाकर	विहारी	
बि॰ स॰	बिहारी सतसई		
बृहद⊺०	बृहदारण्यक		
	)		
ब्रजमापा०	ब्रजभाषा साहित्यमें नायिकाभेद	प्रभुद्याल मीतल	
ब्र० भा० ना०	्र ब्रजभाषा साहत्यम नाप्यापाउ		
ब्र० भा० नायिका <b>०</b>			
ब्र० सा० ना०	्र ब्र <b>ह्मसू</b> त्र		
ब्र० स्०	श्रक्षपूर्य <b>भक्तिरसामृ</b> तसिन्धु	रूपगोस्वामी	
भ० र० सि॰			
भ० स्०	भक्तिसूत्र		
भा० ग्र	भारतेन्दु-ग्रन्थावली		
भा॰ ना॰	भारतेन्द्रु नादकावली		
h all aft.			

	**			
भा॰ प्र॰	भावप्रकाश	शारदातनय		
भा० भू०	भारतीभूषण	भर्जुनप्रसाद केटिया		
सा० भू०	भाषाभूषण	जमवन्तसिंह		
মাণ্ৰিণ 🕽				
भाव॰	भावविलास	देव		
ञ्च० गी० सा०	भ्रमरगीतसार	स॰ रामचन्द्र शुक्क		
मानस	रामचरितमानस	तुल्मीद।स		
मी० प०	मीरा पदावली	परशुराम चतुर्वेदी		
र० क०	रसकलश	अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'		
र० ग०	रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ		
र० त०	रसतरंगिणी	मानुदत्त		
र० पौ० नि०	रसपीयूषनिधि	सोमनाथ		
र० प्र०	रसप्रदीप	प्रभाकर		
र० प्रि॰ )				
रसिक॰	रसिकप्रिया	केशवदास		
र० म०	रसमंजरी	भानुदत्त		
र॰ मी॰	रसमीमांसा	रामचन्द्र शुक्त		
र० र०	रस <b>ज्ञरं</b> जन	महावीरप्रसाद द्विनदी		
<b>₹0 ₹0</b>	रसरहस्य	कुलपनि		
र० रा०	रमराज	मितराभ		
र०, र० वं०	रघुवंश	कालिदास		
र० वि०	रसविलास	देव		
र० वि०	रसविमर्श (मराठी)	वाटरे		
रस० र०	रसरताकर	जगन्नाथप्रसाद भानु		
र० सा०	रससारांश	भिखारीदास		
रा॰				
रा० क० }	रागकल्पद्धम			
रा० चं०	रामचन्द्रिका	केशवदान		
रा० च० मा०				
रा० च०	रामचरितमानस	<u> तुलसीदास</u>		
राम॰				
रा० पं०	रासपंचाध्यायी	नन्ददाम		
रा० भ० सि०	रायसा भगन्तसिंह	सदानन्द		
रा॰ वि॰	राजविलास	मानकवि		
रा० स्व०	<b>रामस्वयंवर</b> गमनारित उपाध्याय			
री० का० भू०	रीतिकाब्यकी भूमिका नगेन्द्र			
ল০ ল০	ललिनललाम	मितराम		
লল <b>ি</b> ০ ∮ ৰ০ জী০	वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक		
वा० भू० वि० प <b>॰</b>	वाणीभू अण दामोदर मिश्र विनय-पत्रिका तुलसीदास			
वि॰ मं॰	विरहमंजरी	तुलर्भ दाम		
		नन्ददाम		
वी० च०	वीरसिंहदेवचरित	के शबदास		
वृत्त <b>ः</b> ≅० =०	वृत्तरताकर —————	केदार भट्ट		
बृ॰ त॰	वृत्ततरंगिनी 	रामसहाय		
ब्य० वि <b>०</b>	ब्यक्तिविवेक	महिम भट्ट		

श० र० হাি০ ৰা০ হাি০ মৃ০ शृं० द० शृं० नि० शृं० प्र० सं० सा० इ० स० क० सा० सा० द० साहित्या० सा० लो० भा० पा० सु० च० सु० नि० सु॰ सा॰ स्० सा० स्॰ सा॰ सा॰ सौ० शा० स्ट० इ० नाय० भेत ह० भ० र० सिं० ह० रा० हि० ध्व० हि० वि० हि० अ० सा० डि० र० गं० हि० ना० वि० हि० भा० का० इ० हि० सा० इ० हि॰ सा॰ सा॰

शब्दरसायन शिवा बाबनी शिवराजभूपण श्वंगारदर्पण श्रंगारनिर्णय श्रंगारप्रकाश संस्कृत साहित्यका इतिहास सर्स्वतीकण्ठाभरण साकेत साहित्यदर्पण साहित्यालोचन साहित्य पारिजात सुजानचरित सुधानिधि सुजानसागर सूरसागर स्रसागरमार सौन्दर्यशास्त्र स्टडी इन नायक-नायिका भेद हरिभक्तिरसामृतसिन्धु हम्मीर रासो हिन्दी ध्वन्यालोक हिम्मतबहादुर विरुदावली हिन्दी अलंकार-साहित्य हिन्दी रसगंगाधर हिन्दी नाट्यविसर्श हिन्दी भाषाका इतिहास हिन्दी साहित्यका इतिहास हिन्दी साहित्य साधना

देख भूषण भृपण अवावरमाहि दाम भोन वन्हैयालाल पोदार भोज मैशिकीशरण गुप्त विश्वनाथ इयामसुन्द्रदाम मिश्रवन्ध सृदन तोप घनानन्द गुरदास मं० भीरेन्द्र वर्मा हरदारी गल अर्मा राकेश गुप्त रूपगोखामी जोधरा ज विद्वेदवर पद्माकर ओम्प्रकाश गुलाबराय धीरेन्द्र वर्माः रामचन्द्र शुक्ल विद्वनाथप्रसाद मिश्र

### अन्य संकेत

	_ 2
अ०	अंक
अधि॰	अधिकरण
अध्य०	अध्याय
अनु ॰	अनुवाद
अनु ॰	अनुच्छेद
अप्र॰	अप्रकाशित
इं०	ईसवी सन्
ई० पू०	इंसवी पूर्व सन्
उत्त॰	उत्तरार्ध
<b>उदा</b> ०	उदाहरण
ख॰	खण्ड
म०	ग्रन्थावली
द० स्कृं०	दशम स्कन्ध (श्रीमद्भागवत)
हें ०	देखिये
ना० प्र० स०	नागरीप्रचारिणी सभा
पं०	पंक्ति
परि॰	परिच्छेद
पूर्व० (	
पूर्व <b>०</b> पूर्वा <b>०</b> रे	पूर्वार्घ
पृ०	7g
प्र॰	प्रकाश
प्र॰ सं॰	प्रथम संस्करण
वि॰ )	विक्रमी संवत्
वि० सं० }	विक्रमा सवत्
<b>बै० प्रे</b> ०	वेंकटेश्वर प्रेस
वृ०	वृत्ति
হা ০	शताब्दी
स∘	सम्पादक
मंचारी॰	संचारी भाव
स॰ सं॰	सभा संस्करण
हि॰ सा॰ स॰	हिन्दी साहित्य सम्मेछन

# हिन्दीसाहित्यकोश

#### भाग १

अंक-दे० 'नाटक'।

अंक (उत्सृष्टिकांक) — नाटकों में भी अंक होते हैं, अतः उनसे इस रूपक प्रकारकी भिन्नता दिखानेके लिए इसका नाम उत्सृष्टिकांक रखा गया । आचार्य विश्वनाथका मत है कि इसमें सृष्टि उत्कान्त अर्थात् विपरीत रहती है, इसलिए इसे उत्सृष्टिकांक कहा जाता है । भरतमुनिका मत है कि अंकका इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कभी-कभी अप्रख्यात होता है । पात्र दिव्यपुरुष नहीं होते । इसमें करुणरसकी प्रधानता होती है और क्षियोका विलाप युद्धोपरान्त पाया जाता है । विलापकर्ताओकी व्याकुलतामरी चेष्टाओका नाना प्रकारसे प्रदर्शन होता है, जिसमे सात्वती, आरमटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होती । दिव्यनायकयुक्त दश्य-काव्य, जिसमें युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारतवर्षमें हो रचने योग्य है । आचार्य भरतमुनिने इसके कारणोंपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है ('नाट्यशास्त्र', निर्णय० प्रेस, बम्बई, १८ अध्याय, इलोक १५०, १५२) ।

धनंजयने प्रख्यात वृत्तको कल्पना-वलसे विस्तृत कर देना आवश्यक माना है। इसमें नायक एवं अन्य पात्रोका साधारण व्यक्ति होना अनिवायं है ('दशरूपक', तृतीय प्रकाश, ७०, ७१)। धनंजयके समान विश्वनाथका भी मत है कि इसके नायक साधारण पुरुष होते है और इसमें जय-पराजयका वर्णन एवं वाक्कलह तथा निवेदके वचन पाये जाते है।

उन्सृष्टिकांकका शारदातनयने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका कथन है कि भरतमुनि इस रूपकमें एक ही अंक, कोहल दो अंक तथा न्यासांजन आदि तीन अंक मानते है। उन्होंने इसका नायक दिन्यपुरुष माना है। सागरनन्दी इसमें दिन्यपुरुष पात्रोंका प्रवेश स्वीकार नहीं करते। शारदातनयने भरतमुनिके मतका आश्रय लेते हुए इस रूपकको केवल भारतवर्षमें उपयुक्त माना है। उन्होंने आचार्य शंकुकका नामोल्लेख करके अपने मतकी पृष्टि की है (भावप्रकाश, पृ० २५१-५३)।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें एक अंक माना है और इसके नायकको गुणी एवं आख्यानको प्रख्यात माना है। बाबू गुलावराय इसमें करुणरस प्रधान और मुख एवं निर्वेहण सन्धियाँ स्तीकार करते है। कीथका मत है कि जब नाटकके अन्तर्गत नाटक आ जाता है तो वह अंक कहलाता है, पर यह मत सर्वमान्य नही। संस्कृतमें उत्सृष्टिकांकका उत्तम उदाहरण मासका 'उरुमंग' है। —द० ओ० अंकावतार न्यह अर्थोपक्षेपकका एक भेद है। धनंजयके

मतानुसार जहाँ प्रथम अंककी वस्तुका विच्छेद किये । दूसरे अंककी वस्तुकी योजना हो, वहाँ अंकावतार होर (दशरूपक, १।६२)। धनिकने इसे स्पष्ट करते हुए रि है कि जब एक अंकके पात्र उसी अंकके अन्तमे किसी बा स्चना दें और वे ही पात्र उसी कथावस्तुको लेकर, विना विच्छित्र किये ही, दूसरे अंकमें प्रविष्ट दिखायी दें अंकावतार अर्थोपक्षेपक होता है।

भनंजय और भनिककी अपेक्षा विश्वनाथने 'सार्ष्ट्र दर्पण'मे 'अंकावतार'की परिभाषा अधिक स्पष्ट दां 'सं 'अंकान्ते स्वितः पात्रैस्तृदंक स्याविभागतः । यत्रांक वतरत्येषोऽकावतार इति स्मृतः ॥'' अर्थात् पूर्व अंक्षके अन्य उसी अंकष्के पात्रो द्वारा सूचित किया गया जो अगला अ अवतीर्ण होता है, उसे अंकावतार कहते है, जैसे 'शाकुन्तर में पंचम अंकष्के अन्तमें उसके पात्रों द्वारा सूचित कि हुआ षष्ठ अंक पूर्वसे (उसका अंग जैसा) ही अवती हुआ है।

अंकास्य - यह अथें पक्षेपक का एक भेद है। एक अंक पश्चात् उसी अंक में प्रयुक्त पात्रो द्वारा जब किसी छूटे के अर्थ की स्वना दी जाती है तब अंकास्य अथें पक्षेपक है। कुछ आचार्यों ने अंकास्यका अलग भेद न मानक अंकावतार के अन्तर्गत ही रखा है। विश्वनाथने था मतानुसार अंकास्यकी परिभाषा देते हुए कहा है, 'धिनक मतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु अंकावतारेणवेदं ग इत्याहुः।'' 'अन्ये'के नामपर इसे विश्वनाथका ही समझना चाहिए।

अंगज अलंकार - सास्तिक अलंकारोंका एक मेद, भरत 'नाट्यशास्त्र' (३ ई० पू०) में सर्वप्रथम उल्लिं नाथिकाओंके आंगिक विकार या क्रियाच्यापार, र उनके मनमे तारुण्य प्राप्त करनेपर उद्मव और र पानेवाले कामका संकेत मिलता है। भरतके अनुसार हाव तथा हेला एक-दूसरेमे उद्भृत होते हुए 'स् विभिन्न रूप होनेके कारण शरीरसे सम्बद्ध माने जां (ना०, २४१६)। आगे उनका कहना है, "'सस्त्व' श सम्बद्ध है, 'भाव' सस्त्वसे उत्पन्न होता है, 'हाव' र उत्पन्न होता है और 'हेला' हावसे" (ना०, २४१७)। दे० 'सास्त्वक अलंकार'।

भाव अर्छकार संस्कृतमें प्रायः अंगज अर्छकारक माना जाता है और हिन्दीमें सुन्दरने (१६३१ ई०) भ हावोंसे अरूग विचार किया है। नन्ददासने सर्व इसका विवेचन किया है। कुमारमणिने 'रिसक-रः (१७१९ ई०)में 'हाव'के स्थानपर 'भाव' शब्दका प्रयोग किया है और सर्वप्रथम 'भाव'को भेदके रूपमें इसके अन्तर्गत स्वोकृति भी दी है। आधुनिक विश्वकोंमें कन्हेयालाल पोहार तथा स्यामसुन्दर दासने पुनः संस्कृत-विभाजनको मानकर भावको अंगज अलंकार माना है।

मरतके आधारपर धनंजयका कथन है, 'निविकारात्म-कात्स-त्वाद् भावस्तत्राद्यविकिया' (दशस्पक, २।३३), निविकार चित्तमें योवनोद्गमके समय आरम्भ होनेवाला विकाररूप आदि स्पन्द ही भाव है। जिस प्रकार वीजका आदि विकार अंकुरके रूपमें प्रकट होनेसे पूर्व स्थूलता आदि के रूपें प्रकट होता है, उसी प्रकार योवनोद्गमके साथ मनमें जिस कामविकारका वपन होता है, वही 'भाव' कहलाता है। उदाहरण—'गहि हाथसों हाथ सहेलीके साथमें आवित ही वृषभान लली। मितराम सु बात ते आवत नीरे निवारत भौरनकी अवली। लिखके मनमोहन को सकुची, करयो चाहति आपनि ओट अली। चित चोरि श्यो हग जोरि तिया मुख मोरि कलू मुसकाय चली' ('मेसराज', ३११)।

हाव अलंकार संस्कृतमें प्रायः अंगज अलंकारका भेद, पर हिन्दीमें 'हाव' शब्दका प्रयोग सम्पूर्ण सात्त्विक अलंकारों-(दे०) के लिए भी होता है। संस्कृत लेखकों में भानुदत्तने लीला विलासादि दश अलंकारोंको 'हाव'की ही संज्ञा दी है। वह हावको नारीकी स्वाभाविक चेष्टा मानते हैं। पुरुषोमें भी लक्षित होनेवाले विब्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम केवल उपाधि स्वरूप ही उनमें होते हैं। भरतके अनुसार "सत्त्व भावके उद्देकके साथ अन्य व्यक्तिके प्रति व्यंजित होता है और इसीकी विभिन्न स्थितियोंसे सम्बद्ध 'हाव' देखे जा सकते है"('नाट्यशास्त्र', २४।९) । धनंजयके अनुसार-"हेलादय शंगारो हावोऽक्षिभ्रविकारकृत्" २।३४)। भावकी वह विकसित अवस्था, जिसमें भोगेच्छा-प्रकाशक कटाक्षपात आदि विकार प्रकट होने लगते हैं, 'हाव' कहलाती है। मनमें अवस्थित भाव ही हावके रूपमें विशेष व्यक्त हो जाता है। हिन्दीमें नन्ददासने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। और देवका कथन है कि यद्यपि यह सभी कारकी नायिकाओं में होते हैं, किन्तु प्रौढ़ाओं में यह विशेष ्पसे लक्षित किये जाते हैं। उदाहरण—"सरसावति काको नहीं, रस निचुरत मुसुकान। तिरछी चितवन कहति है, तिय चितकी बतियान" (हरिऔध: 'रसक्लश्)।

हेला अलंकार—संस्कृतकी परम्परामें अंगज अलंकारका मेद, हिन्दीमें नन्ददास (१६ द्रा० ई० उ०) द्वारा उल्लिखित छौर बादमें 'हाव'के अन्तर्गत स्वीकृत । लिल अभिनययुक्त नाना विकारोंके द्वारा हावका शृंगाराकृतिको सुन्यक्त एवं सुस्पष्ट करता हुआ भावको अधिकाधिक न्यक्त करना। भरत (३ श० ई०) ने 'लिलत अभिनय' द्वारा अभिन्यक्त शृंगाररसपर आधारित प्रत्येक न्यक्तिके 'भाव'को 'हेला' कहा है ('नाट्यशास्त्र', २४।११) । धनंजय (१० श० ई०) ने इसका लक्षण दिया है—''स एव हेला सुन्यक्तश्रंगारसस्य स्विका" (दशरूपक, २।३४), अर्थात् श्रंगारकी सहज संकेत देनेवाली अभिन्यक्ति । नन्ददास इसका वर्णन करते है—''छनछिन बान बनायो करें, बार बार कर दर्यन धरें।

अति सिंगार मगन मन रहें, ताकों कि हेला छिव कहें।" ('रसमंजरी')। केशवके अनुसार—''पूरन प्रेम प्रताप तें भूलत लाज समाज" ('रिसिकप्रिया', ६।१८) लक्षण है। पश्चाकरने दस 'हावों'के बाद 'हेला'का लक्षा भी दिया है— "दें जु ढिठाई नाह सँग प्रगटै विविध विलास। कहत ग्यारहों हाव सों हेला नाम प्रकास" ('जगद्विनोद', ४५९)।

बिहारीके इस दोहेमें नारी-सौन्दर्यका यह रूप है-'छिनकु चलति ठिठकति छिनकु, भुज प्रीतम गल डारि। चढ़ी अटा देखित घटा, बिज्जु छटा सी नारि' (मतसई, २८४) । इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—''नैन नचाइ वही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।" ('जगद्विनोद', ४६०)। --- সা০ স০ বী০ अंगुष्ट मात्र पुरुष-शृतियोंमें जहाँ ब्रह्मको सब कुछ करने वाला, सम्पूर्ण रूप, रस, गन्ध, स्पर्कता आश्रयस्थल, सर्वज्ञ और सर्वन्यापी कहा गया है, वहीं उसे छोटा-से-छोटा भी बताया गया है। सन्तोंके साहित्यमें राम, रहीम, अल्लाह, केशव आदि नामोंसे अभिहित ब्रह्म भी इन दोनों रूपोंमें बहुधा वर्णित हुआ है। अपने इस छोटे-से-छोटे रूपमें वह 'वामन' है, हृदय-कमल-वासी है, अंगुष्ठ मात्र पुरुष (=अंगुठेके आकार वाला) है। ऐसे स्थलो पर श्रतियोंकी ही भोंति सन्तोंका अभिप्राय भी बहुधा जीवात्मासे होता है। अंगुष्ठमात्र पुरुष अर्थात् जीवात्मा । अंग्रेजी (साहित्य) -अंग्रेजी अर्थात् इंगलिश इस समय इंग्लैण्ड देशके निवासियोंकी भाषा है। अब इसी सामान्य अर्थमें इस नामका प्रयोग होता है, किन्तु यह भाषा न केवल इंग्लैण्डमें वरन् अपने न्यूनाधिक परिवर्तित रूपमे अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिणी अफ्रीकाके कतिपय भागोंमें काममें लायी जाती है। इसके अतिरिक्त संसारके अनेक देशोंमें सांस्कृतिक तथा व्यापारिक आदान-प्रदानके लिए अंग्रेजी भाषाका प्रयोग बहुसंख्यक लोग करते हैं। निश्चित रूपसे यह कहना कि अंग्रेजी बोलनेवालोंकी संख्या संसारमें कितनी है, कठिन है। प्रोफेसर आई० ए० रिचर्ड्सका अनुमान है कि कुल प्रायः २० करोड़ लोग अंग्रेजी भाषा बोलते हैं। नवीं शतीमें इंगलिश (english) शब्दसे उन सभी बोलचालकी भाषाओंका बोध होता था, जो ब्रिटेनके धेंग्ल, सैक्सन और जुट जातिके निवासियों में प्रचलित थी। इस तरह इंगलिश भाषाका नामकरण इंग्लैण्ड देशके नामकरणके पूर्व ही हो चुका था !

ईसा पूर्व नवीं शतीके लगभग केल्ट जातिके लोगोंने आधुनिक इंग्लैण्ड और आयरलैण्डके द्वीपींगर अधिकार प्राप्त किया। तदुपरान्त उन्हींकी सभ्यता और भाषाका प्रचार हुआ। रोमन लोगोंने इस द्वीपसमूहकी ४३ ई० में अपने अधीन किया और पॉचवी शतीके आरम्भतक वहाँ राज्य करते रहे। उनकी सभ्यताका देशपर व्यापक प्रभाव पड़ा। पाँचवी शतीमें जब बर्धर जातियोंने रोमन साम्राज्यको आकान्त किया, उस समय रोमन ब्रिटेनको छोड़कर चले गये। उसी शताब्दीमें जर्मनीमें एल्ब नदीके तटपर बसनेवाली ट्यूटन जातियोंने ब्रिटेनपर इमला दि.या। इन जातियोंने प्रमुख थीं एंग्ल, सैक्सन और जूट। लगभग डेढ़ सौ वर्षके अन्तर्गत इन सशक्त जातियोंने प्रायः सम्पूर्ण ब्रिटेन-

को अपने अधिकारमें कर लिया और केल्ट जातिके लोगों-ने भागकर वेल्स, कार्नवाल, केन्ट आदि दूरस्थ भागोंमें आश्रय लिया। अंग्रेजी भाषाका प्रादुर्भाव इन्हीं नवागत जातियोंकी बों चालकी भाषाके रूपमें हुआ। विभिन्न जातियों के लोग अपनी अलग-अलग भाषा बोलते थे, किन्त उनमें एक सामान्य एकता थी। इन बोलचालकी भाषाओं पर केल्टिक भाषाका भी प्रभाव पड़ा । इंगलिश नामकी व्यत्पत्ति ऐंग्लसे है। इस प्रारम्भिक कालसे लेकर ११ वीं रातीतक अंग्रेजी भाषाका जो रूप था, उसे 'ओल्ड इंगलिश' अर्थात् 'प्राचीन अंग्रेजी' भाषाकी संज्ञा दी जाती है। १०६६ ई०में नार्मन राजा विलियम-दी-कांकररने हेस्टिंग्सके युद्धक्षेत्रमें अंग्रेजोंको परास्त किया और तबसे अंग्रेजी भाषाके इतिहासमें एक नवीन युगका आरम्भ हुआ। नार्मन मूलतः डेन जातिके लोग थे, जो अनेक शताब्दियोंसे फ्रांसमें बस गये थे। वे फ्रांसके मूल निवासियोंसे घलमिल गये थे और फ्रेंच भाषा बोलते थे। इस भॉति उनके अगमनसे अँग्रेजी भाषापर नार्मन अथवा फ्रांसीसी भाषाका गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ समयतक सैक्सन और नार्मन भाषाएँ अलग रहीं, किन्तु बादमें उनका मिश्रण होने लगा और दोनोंने मिलकर भाषाका एक नवीन रूप धारण किया। ११वीं शतीसे १५वीं शतीके बीच विकसित होनेवाली अंग्रेजी भाषाको 'मिडिल इंगलिश' अर्थात् 'मध्य अंग्रेजी' भाषा कहते है। १५वीं शतीमें सर्वप्रथम अँग्रेजीका आधुनिक परिनिष्ठित स्वरूप प्रकट हुआ। इस नवीन विकासके अनेक कारण थे। चॉसरकी कविता, जिसमें भाषाकी नवीन विशेषता थी, लोकप्रिय हुई और उसके साथ-ही-साथ लन्दनकी दरबारी और कचहरीकी भाषा तथा ऑक्सफोर्डके विद्वानोंकी परि-मार्जित भाषाका भी प्रचलन बढ़ा। इन सबके मेल-जोलसे एक ऐसी सामान्य परिष्कृत भाषाका आविर्भाव हुआ, जिसमें टिण्डलने बाइबिलका अनुवाद किया (१५२५ ई०) और जिसमें लिखी हुई पुस्तकोंको कैक्स्टनने अपने छापा-खानेमें छापकर देशभरमें प्रसारित किया। तबसे अबतक उसी परिनिष्ठित अंग्रेजी भाषाका क्रमिक विकास होता आया है। इंग्लैण्डके विभिन्न प्रान्तोंकी बोलचालकी अपनी निजी भाषाएँ हैं। इन बोलचालकी भाषाओंका महत्त्व दिन-प्रति-दिन घटता जा रहा है और परिनिष्ठित अग्रेजी भाषाका आधिपत्य बढता जा रहा है। यही भाषा आज इंग्लैण्डकी साहित्यिक भाषा है। आधुनिक परिनिष्ठित अंग्रेजी भाषाका सबसे सीधा सम्बन्ध मध्यवर्ती इंग्लैण्डकी बोलचालकी भाषासे है।

अंग्रेजी भाषाका निर्माण दो विभिन्न उपकरणोंसे हुआ है। उसका मूळ ढॉचा उन प्राचीन जर्मन बोलियोंसे लिया गया है, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। अतः जर्मन भाषा और अंग्रेजी भाषामे एक प्रकारका साम्य निहित है। किन्तु मध्य अंग्रेजी और पुनर्जागरणके कालसे लेकर आजतक आधुनिक अंग्रेजी भाषाने बहुमंख्यक लैटिन मूलके शब्दोंको ग्रहण किया है। अंग्रेजी शब्दावलीमें लैटिन, फ्रेंच, इटैलियन प्रमृति भाषाओंसे लिये गये शब्दोंकी संख्या काफी बदी है। अंग्रेजीकी ग्राहिकाशक्ति

विशेष उल्लेखनीय है। इस जीवित भाषामें शब्दोंको ग्रहण तथा आत्मसात् करनेकी अद्भुत क्षमता है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण वर्तमान युगमें अमेरिकामें मिलता है। युनाइटेड स्टेर्सकी भाषा प्रधानतः अंग्रेजी है, किन्त उसमें विविध स्रोतोंसे अनगिनत शब्द आकर धुलमिल गये हैं। अंग्रेजीमें फारसी, अरबी, संस्कृत, हिन्दी आदिके भी बहुसंख्यक शब्द ले लिये गये है। आधुनिक अंग्रेजी भाषाकी एक और विशेष प्रवृत्ति यह है कि उसमे विभक्तियोंका परित्याग करके अर्थकी अभिन्यक्तिके लिए उपसर्गों और महावरोंसे अधिकाधिक काम लिया जा रहा है। इस भॉति पुरानी अंग्रेजीकी अपेक्षा आधुनिक अंग्रेजीमें अर्थविस्तार तथा सक्ष्म भावोंके प्रकाशनकी शक्ति बढ गयी है। अंग्रेजी शब्दोंकी वर्णरचना और उनके उचारणमें कभी-कभी भेद देखा जाता है, और कुछ लोग इसे भाषा का दोष मानते हैं: किन्तु इस असंगतिका कारण केवल यह है कि अंग्रेजी भाषाके विकासमें शब्दोंकी ध्वनिको ही विशेष महत्त्व दिया गया, उनके अक्षरों द्वारा चित्रमय प्रदर्शनको नहीं। ध्वनिको दृष्टिसे भाषामें सर्वत्र कुछ-न-कुछ तारतम्य अवस्य मिलता है।

पुरानी अंग्रेजीका जो साहित्य उपलब्ध है, उसके आधारपर पता लगता है कि प्राचीन युगके लेखकों और किवोंकी विशेष रुचि यात्रावर्णन तथा रोचक कहानी कहनेमें थी। उस युगकी प्रमुख रचनाएँ है 'विडिसथ', 'दी वाण्डरर' तथा 'बिओर्क'। मध्य अंग्रेजीकी दो शाखाएँ थीं। पश्चिमी शाखामें पूर्ववर्ती एंग्लो-सैक्सन साहित्यकी परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। इस शाखाकी प्रतिनिधि रचनाएँ है विलियम लैंगलैंण्डकी 'दी वीजन आफ पीपर्स प्राउमेन' और किसी अज्ञात किव द्वारा विरचित 'गेनेत ऐण्ड दी ग्रीन नाइट' तथा 'दी पर्ल'। दूसरी अर्थात् दक्षिण-पूर्वी शाखाके प्रतिनिधि लेखक थे जॉन गोवर (१३२५-१४०८ ई०) तथा चॉसर (१३४०-१४०० ई०)।

चॉसर आधुनिक अंग्रेजीका प्रथम कवि माना जा है और उसकी रचनाओंका अंग्रेजी साहित्यमे विशेष मह-है। इसके उपरान्त प्रायः डेट सौ वर्षतक उसका अनुकर्ण होता रहा और कोई महान् किन नहीं पैदा हुआ। मंव कालमे पहले-पहल कैक्स्टनने इंग्लैण्डमें छापाखाना स्थारा किया। मुद्रणकी सुविधासे गद्य-साहित्यकी विशेष उँ, हुई। लगभग १६वी शतीके मध्यसे इंग्डलैण्में यूरोपी नवजागरण (रिनेसॉ)का प्रभाव प्रकट होने लगा। प्राची साहित्यके अध्ययनके साथ-ही-साथ फ्रेंच तथा इटैलिय साहित्यका भी अध्ययन होने लगा और इन तीनों सम्मिलित प्रभावसे अंग्रेजी साहित्यका नवोत्थान हुआ कविताके क्षेत्रमें वायट, सरे, 'फेयरी कीन'के प्रणेता एडमंग स्पेंसर (१५५२-९९ ई०), सर फिलिप सिडनी प्रभृतिरे विशेष यश प्राप्त किया। नाटकका महत्त्वपूर्ण अभ्युद हुआ तथा ग्रीन (१५६२-९२ ई०), लिली (१५५४-१६८ ई०), टामस किंड (१५५७-९५ ई०), मार्ली (१५६४-० ई०) आदि नाटककारोंने अपनी सुन्दर कृतियाँ प्रस्र्ः कीं। अंग्रेजी नाट्य-साहित्यका चरम उत्थान शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ ई०) सी जिल्ला अमें हुआ। शेक्सपीयरके नाटक तथा काव्य विश्व-साहित्यकी गौरवपूर्ण विभूति है। सत्रहवीं शतीमें बहुत बड़ी संख्या मे अंग्रेजी नाटक लिखे गये। बेन जॉन्सन (१५७३-१६७३ ई०) ने शेक्स-पीयरके रूमानी नाटकोंके विपरीत क्लासिकी आदर्शपर सुखान्त और दःखान्त नाटकोंकी रचना की। वेमेंट और फ्लेचरने अनेक सुखान्त और दुःखान्त-सुखान्त नाटकोंका सफल निर्माण किया । चेपमैन (१५५९-१६३४ ई०), वेब्स्टर (१५८०-१६२५ ई०), ज्ञलें (१५९६-१६६६ ई०), टूर्नो (१५७५-१६२६ ई०) आदिने प्रतिहिंसाविषयक रोमांचकारी दुःखान्त नाटकोंका प्रणयन किया। टामस मिडल्टन (१५७०-१६२७ ई०) और फिलिप मेसिजर (१५८३-१६४८ ई०)ने अपने कृतिपय सुखान्त नाटकोंकी सफलता द्वारा विशेष ख्याति अर्जित की। १६४२ ई० से १६६० ई० तक लन्दनके नाट्यगृह प्यूरिटनों द्वार। बन्द कर दिये गये। १६६० ई० के उपरान्त नाटकोंकी रचना और उनका प्रदर्शन फिर आरम्भ हुआ। दुःखन्त नाटकीं-का एक नया रूप सामने आया। इसके प्रमुख लेखक थे ड़ाइडेन (१६३१-१७०० ई०), आटवें (१६५२-८५ ई०) और ली (१६५३-९२ ई०)। सुखान्त नाटकोंकी १६६० ई०के बाद विशेष प्रगति हुई। परिष्कृत भाषामें उच्च वर्गके जीवनका इसमें चित्रण किया गया। इस वर्गके प्रमुख लेखक थे इथरिज (१६३४-९१ ई०), बाइकरले (१६४०-१७१६ ईक्क) और कांग्रीव (१६७०-१७२९ ई०)। शताब्दी-के प्रथम अर्द्धांशमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर और बेन जॉन्सनसे प्रभावित होकर कविता लिखी गयी। आध्यात्मिक काव्यके प्रधान रचयिता थे जॉन डॉन (१५७२-१६३१ ई०), जिनकी रचनाओं में धार्मिक विचारों और शृंगारिक भावनाओंकी अभिव्यक्ति दुरुह कल्पनाके आधारपर हुई है। बेन जॉन्सन और उनके अनुयायियोंकी रचनाएँ अपेक्षाकृत सरल है। इस शताब्दीके प्रधान ावि जॉन मिल्टन (१६०८-७४ ई०)-की गणमा संसारके महाकवियोंमें होती है। स्फूट कान्यके अतिरिक्त उन्होंने अपने सुविख्यात महाकान्य 'दी पैरा-बाइज लॉस्ट'की रचना करके अपना नाम अमर बना दिया है। शताब्दीके उत्तराईके प्रधान कवि थे जॉन ड्राइडेन, जिन्होंने वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक काव्य-रचनामें विशेष सफलता प्राप्त की । ड्राइडेनके पूर्व अंग्रेजी गद्य प्राचीन लैटिन गद्यके अनुकरणमें लिखा जाता था। इस प्राचीन विशद शैलीके प्रमुख लेखक थे टामस माउन (१६०५-८२ ई०), जेरेमी टेलर (१६१३-६७ ई०) और मिल्टन । ड्राइडेनकी रचनाओं भ नवीन अंग्रेजी गृद्यकी सृष्टि हुई। नवीन गद्यका निर्माए किता जनोंकी बोल-चालकी भाषाको आधार मानकर हुआ था।

१८वीं शतीका अंग्रेजी साहित्य गहराईतक उस न्व-क्लासिको पिद्धान्तसे प्रमावित था, जिसका उद्भव और विकास मुख्य रूपसे फांममें हुआ था। नियमोंके आग्रह और कठोर नियन्त्रणको मानकर कान्यरचना होती थी। पोप (१६८८-१७४४ ई०)की रचनाओंसे इस बातका स्पष्ट पता लगता है। अनेक अन्य कियोके बारेमें भी यही बात सत्य है, किन्तु कुछ ऐसे किन क्रिये, जिनकी रचनाएँ प्रकृतियेम और तीन भावन्यस्थी उद्गस्त थी। १८वीं

शतीमें गद्यकी ही प्रमुखता थी। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निवन्धोंकी परम्परा सुदृढ़ हो गयी! प्रमुख निवन्धकार थे एडिसन (१६७२-१७१९ ई०), स्टील (१६७२-१७२९ई०), (१७३०-७४ ई०) और डॉक्टर जॉन्सन गोल्डस्मिथ (१७०९-८४ ई०)। इसी शताब्दीमें पाँच यशस्ती लेखकोंने अंग्रेजी उपन्यास-लेखनकी नींव डाली। वे थे फील्डिंग (१७०७-५४ ई०), रिचर्ड सन (१६८९-१७६१ ई०), स्मॉलेट (१७२१-७० ई० ई०), स्टर्न (१७१३-६८ ई०) और गोल्ड-स्मिथ । इस कालमें नाटकोंकी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। अधिकांश नाटक भावनाओंके अतिशय प्रदर्शनसे विकत हो गये थे। शेरिडेन (१७५१-१८१६ ई०) ने कांग्रीवकी पूर्ववर्ती शैलीमें नाटक लिखनेका प्रयास विया। गोल्ड-स्मिथने भी प्रशंसनीय नाटक रिखे। शहा दीके पिछले तीस वर्षोंमें परिवर्तनके चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। टॉमस में (१७१६-७१ ई०), क्रॉलिन्स (१७२६-५९ ई०), वन् स (१७५१-९६ ई०), ब्लेक (१७५७-१८२८-ई०), कुपर आदिवी काव्यरचनाओंके प्रति अनास्था साफ-सांक दिखायी देती है।

अनेक प्रवृत्तियों और प्रभावोंने मिलकर उन्नीसवीं शर्ताकों प्रारम्भसे ही अंग्रेजी साहित्यको एक नवीन रूमानी स्टरूप दे दिया। अब नियमोंकी अबहेलना तथा म्यामानिक प्रेरणाके वशीभूत होकर काव्यरचना होने लगी। कल्पना और भावना, उन्मुक्त तथा शैली निर्वत्थ हो गयी। इस नवीन प्रवृत्तिका सर्वोत्तम प्रतिफलन वर्ड सवर्थ (१७७०-१८५० ई०), कोलरिज (१७७२-१८३४ ई०), स्कॉट (१७७१-१८३२ ई०), शोल्स (१७९२-१८२२ ई०), बीट्स (१७९५-१८३२ ई०), नायरन (१७८८-१८२४ ई०) आदिके कार्क्योमें हुआ। इस श्रेणीका अधिकांश काव्य मुक्तकोंमें लिखा गया है तथा तीव अनुभूतिसे ओतप्रोत है। स्कॉटके उपन्यासों तथा लेब प्रभृति निवन्थकारोंके देखोंमें भी रूमानी प्रभाव लक्षित हुआ है। सब मिलाकर उन्नीसवीं शतीके ४० वर्षोंका रूमानी साहित्य अत्यन्त रोचक और महत्त्वपूर्ण है।

लगभग १८४० ई० के बाद विक्टोरियन युगका आरम्भ हुआ। इस युगकी अविध लम्बी थी और इसमें रूमानी और क्लासिकी प्रभावने मिलकर एक सन्त्रलित अवस्था उत्पन्न की। विज्ञान तथा औद्योगिक उन्नति एवं पदार्थवादी दर्शनके विकास द्वारा इस नवीन युगकी विशेषताएँ निर्धा-रित हुईं। किन्तु साथ-ही-साथ पूर्ववर्ती कल्पनाजन्य और भावनाजन्य प्रवृत्तियाँ भी निर्मूल नहीं हुई। यदि बाउनिंग (१८१२-८९ ई०) के कान्यमें रूमानी प्रवृत्तिओं अधिक स्पष्ट हैं तो टेनिसन (१८०९-९२ ई०) के काव्यमें केलासिकी विशेषताओंकी ही प्रमुखता है। आगे चलकर यही मिश्रण मैथ्यू आर्नाल्ड (१८२२-८८ ई०), मेरेडिथ (१८२८-१९०९ ई०), हाडीं (१८४०-१९२८ ई०) प्रमृतिकी रचनाओंमें भी दृष्टिगोचर होता है। गब-साहित्यका उत्थान द्रत गतिसे हो रहा था। उपन्यासोंमें यथार्थ चित्रण डिकेन्स (१८१२-७० ई०), ट्रालीप (१८७५-८० ई०), गिसिंग, थैकरे आदिकी कृतियोंमें काममे लाया गया है। जॉर्ज इलियट (१८१९-८० ई०) आदिने मनोविज्ञानका आधार लिया थाः मेरेडिथ और हाडाँने अपना नया जीवन दर्शन अपनी नाम नन्दलालके नोपपाल-सी देह।' (७० छ०, १२७) अथवा 'बोध बुधिके कमण्डल उठावत ही, धाक सुरधुनि की धंसी यों घट-घटमे। लोकपाल दौरन दसौ दिसि हहरि लागे, हरि लागे हेरन सुपात बर बटमे' (गंगावतरण)। रखाकरको इस अलंकारके निर्वाहमें विशेष सफलता मिली है।

• अत्यन्तातिशयोक्ति—जयदेवके अनुसार-'पौर्वापर्यव्यतिक्रमे' (चन्द्रालोक, ५:४२) लक्षण है, जिसके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने अपने लक्षण दिये है—'होत हेतु पीछे जहाँ, होत प्रथम ही काज।' (ल० ल०, १२८) अथवा—'जह कारज पहले सधै, कारन पीछे होय' (का० नि०, ११)। इनमें एक प्रकारसे जयदेवके लक्षणकी व्याख्या है, पर पद्माकरने अनुवाद किया है—'जह पूरवपर क्रम विपरीतों' (पशा०, ७०)। आधुनिकोंने इसे कारणातिशयोक्तिके अन्तर्गत माना है। इसमें कारणये प्रथम ही कार्यके होनेका कथन होता है—'जात मयौ पहिलें तन ताप औ पीछें मिलाप भयौ मनमावते।' (का० नि०, ११) अथवा—'शर खीच उसने तूणसे कब किथर संधाना उन्हें। वस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्दने जाना उन्हें' (जयद्रथनवध)।

 ८० सापह्नवातिशयोक्ति─अप्पय दीक्षितने 'कुवलया-नन्द'में इते एक भेद माना है। प्रायः हिन्दीके आचार्यीने इसे स्वीकार नहीं किया। कन्हैयालाल पोद्दारने इसे रूप-कातिश्योक्तिके अन्तर्गत माना है। वस्तुतः अपहनुतिके साथ जहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है, वहीं यह अलंकार माना जा सकता है—'मुक्ता खचित विद्रमोमें वह भरा मधुर रस अनुपम है। पुष्पभार वाहक केवल है वहाँ नहीं पाते हम है। सुधा सुधाकरमें न है वसुधामें यदि सुधा कहीं। तो है वही देखिये चलकर रमणीमे प्रत्यक्ष वहीं? (अलं॰ मं॰, पृ॰ २०१)। यहाँ नायिकाके अधर आदि उपमेयोंका कथन न करके विद्रम आदि उपमानोका कथन है और साथ ही मधुर रस आदिका निषेध है, अतः सापह्नव रूपकातिशयोक्ति है। ग्वाल कविने 'अलंकार भ्रमभंजन'मे इसे 'परिसंख्या'के अन्तर्गत माना है, पर पोद्दार इसे उनका भ्रम कहते हैं, क्योंकि यहाँ उपमेय-निगरण है, केवल कथन नहीं।

अतिशयोक्तिका प्रयोग वीर-कार्न्योमें नायकके वीरतावर्णनमें, जायसी आदिमें 'नायिका'के रूप-सौन्दर्य वर्णनमें और रीति-कवियोंमें नायिकाके सौन्दर्य तथा भावोंके वर्णनमें विशेष रूपसे हुआ है। —र् अति शून्य-दे॰ 'शून्य', 'चक्क' तथा 'उप्णीप कमले'। अतिहसित—दे॰ 'हास्यरस'।

अतींद्रिय—इन्द्रियातीत अनुभविकी महिमा मिमयोंने गायी है। यह सच है कि जैसे रिचर्ड सने अपने 'प्रिंसिपल ऑव िटरेरी क्रिटिसिडम'में कहा है—उसके अनुसार संगीत-श्रवण या काव्यास्वाद, हमारे टहलने या अच्छे कपड़े पहननेके आनन्दसे मूलतं भिन्न नहीं है। फिर भी कलाके आस्वादकी अनुभृतिमें इन प्राथमिक इन्द्रियानुभृतियोंसे अधिक निविड और संश्लिष्ट दितीय कोटिकी अनुभृति होती है। इसीको रस-शास्त्रियोंने अलौकिक तत्त्व कहा है। अभिनवगुप्तको विशद करते हुए मम्मटने अलौकिक

चमत्कारी, अलैकिकानन्दमय, लेकोत्तरस्य गंवेहनरोत्यः, अलैकिको सिद्धि, इत्यादि शब्दोंका प्रयोग किया है। 'धन्यालोकलोचन'में 'अलोकिक भोग' शब्द प्रयोग किया गया है। 'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ उसे लोकोत्तर कहता है, 'रसगंगाधर'कार जगन्नाथने भी उसे अलैकिक कहा है। इसी कारणसे रसको ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान यह मान नहीं सकता कि किवता या कलाका आनन्द सम्पूर्णतः इन्द्रियातीत हो सकता है, बिक्त जिन रहस्यवादियोंने अतीन्द्रियको चर्चा भी है, वह भी इन्द्रियगोचर उपमानोंके द्वारा हीकी है। अतः अतीन्द्रिय शब्द साहित्यके क्षेत्रमें केवल एक ज्यामितिक परिकल्पनामात्र है। एक काल्पनिक स्थापनाके नाते उसका उपयोग है।

अतुकांत-यह शब्द तुकविहीन छन्दरचनाका बोध कराता है। वैदिक और लौकिक संस्कृत छन्दोंमें तुकान्तका विधान नहीं था, अतः उन्हें अतुकान्त कहा जा सकता है। निषेधात्मक प्रणालीसे, तुकान्तयक्त कविताको दृष्टिमें रखकर, इस शब्दकी रचना हुई है। कदाचित् द्विवेदीयुगसे ही इसका प्रचलन हिन्दीमें विशेष रूपसे आरम्भ हुआ। महावीर-प्रसाद द्विवेदीने अपने समयमें अतुकान्त छन्दोके प्रयोगका पक्ष लेते हुए लिखा था—'पादान्तमे अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दीमें लिखे जाने चाहिये। इस प्रकारके छन्द जब संस्कृत, अंग्रेजी और बॅगलामे विद्यमान है, तब बोई कारण नहीं कि हमारी भाषामें वे न लिखे जाय, संस्कृत ही हिन्दी-की माता है। संस्कृतका सारा कविता-साहित्य इस तक: बन्दीके बढ़ेड़ेसे बहिर्गत-सा है। अतएव इस विषयमें यदि हम संस्कृतका अनुकरण करें, तो सफलताकी पूरी-पूरी आशा है' (रसज्ञरंजन, पृ० १५, १६)। द्वित्रेदीजीके इस संकेतको ग्रहण करके अनेक कवियोंने संस्कृत वृत्तोंका हिन्दी-में व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया और अतुकान्त कविता-की एक स्वतन्त्र महत्ता हो गयी। 'हरिऔध'का 'प्रियप्रवास' इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है। अंग्रेजी अतुकान्त छन्द (blank verse)की शैली भी अपनायी गयी। बॅगलामें 'मेघनादवध' जैसे काव्य अतुकान्त छन्दमें ही रचे गये, जिनसे प्रभावित होकर मैथिली शरण ग्रहने अनेक रच-नाओमें उसीका प्रयोग किया। प्रसादके 'प्रेमपथिक'में भी अतुकान्त छन्द ही प्रयुक्त है। पन्त और 'निराला'के काव्य-संग्रहोंमें अतुकान्त कविताके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। आधुनिक मक्त छन्दकी बहुत-सी कविता अतुकान्त ही

अत्यंतितरस्कृत वाच्यध्वनि — लक्षणामूला अविविक्षः तवाच्य-ध्विनका दूसरा भेद । इस ध्विनमें वाच्यार्थ प्रसंगकी दृष्टिसे सर्वथा अनुपयुक्त होनेके कारण पूर्णतया परित्यक्त कर दिया जाता है और वाच्यार्थसे भिन्न अर्थ देने लगता है। यह ध्विनमेद लक्षित लक्षणापर आधारित है, जिसमें मुख्यार्थ दूसरे अर्थकी सिद्धिके लिए अपना अर्थ छोड़ देता है (परार्थे स्व-समर्पणम्)। अर्थान्तरसंक्रमित ध्विनकी भाँति इसके भी दो भेद होते हैं: १ पदगतका उदाहरण— 'तुम्हारी आँखोंका आकाश, सरल ऑखोंका नीलाकाश। खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षणि, इनमें खग अन्नान' (पन्त)।

यहाँ 'खग' शब्दका मुख्यार्थ प्रसंगमें असिद्ध होनेके कारण-सर्वथा परित्यक्त है और मनका अर्थ देता है; मनकी चंच-लता और अबोधता आदि व्यञ्जित करना प्रयोजन है। २. 'सकल रोओंके हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृहद्वार' (का० द०, प० ३०५)। इस उदाहरणमें समूचे वाक्यका अर्थ वाधित होनेके कारण परित्यक्त हो जाता है और 'लोभी व्यक्ति प्रत्येक प्रकारसे दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण करता है, यह लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है। 'लोभ'के खरूपको बोध कराना प्रयोजन है। --তেও হাত হাত अत्यंतातिशयोक्ति-दे॰ 'अतिशयोक्ति,' सातवॉ भेद। अत्यक्ति-अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकार, शौर्य और औदार्य आदिके अत्यन्त मिथ्या वर्णनको अत्यक्ति अलंकार कहते हैं (अ० म०, पृ० ४१४)। 'कुवलयानन्द'के अनुसार जहाँ ममुद्धिका अतिशय वर्णन होता है, वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्यादिका वर्णन होता है, वहाँ 'अत्युक्ति' अलंकार होता है। वस्तुतः इस अलंकारको 'उदात्त' अथवा 'अतिशयोक्ति'-में अन्तर्भत समझना चाहिए। 'कान्यप्रकाश'के टीकाकार भट्ट वामनने ऐसा ही माना है। न तो मन्मटने 'कान्य-प्रकाश'में, न विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस अलंकारका उल्लेख किया है। किन्त हिन्दीके अनेक, जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, दास तथा पश्चाकर आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें अप्पय दीक्षितके आधारपर इसको स्थान दिया है। मतिरामकी परिभाषा है- 'जो सुन्दरतादिकनकी, अधिक झठाई होय' (ल० ल०, ३८१)। बिहारीमें अत्यक्तिके सुन्दर उदाहरण हैं- भूपन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सकमार। सूधै पाय न परत धर, शोभा ही के भार।' (बि॰ र॰)। नायिकाके अंगोंकी शोभाका ही भार इतना अधिक है कि वह सीधी चल नहीं सकती, फिर भला आभूषणोंका भार वह कैसे सँभालेगी। यह सौन्दर्यकी अत्यक्ति है। इसी प्रकार प्रेम, औदार्थ, विरह आदिकी अत्यक्ति होती है-'बाल बिलोचन बारिके बारिध बढ़ै अपार । जारै जो न वियोगकी बड़वानलकी झार' (ल० स्र०, ३८३)।

'काव्यप्रकारा'के व्याख्याकारका कहना है कि यह अलंकार उदान्त के अन्तर्गत है। सम्भवतः ऐसी आलोचनासे अवगत अप्पय दीक्षितने बताया है कि जहाँपर समृद्धिका अत्यधिक वर्णन होता है, वहाँ उदान्त और जहाँ श्ररता या उदारताका, वहाँ अत्युक्ति होती है। उन्होंने अत्युक्तिको सम्बन्धातिशयोक्तिसे भिन्न बताया है। कारण, अति-शयोक्तिका कथन कुछ सीमातक सम्भव हो सकता है, पर अत्युक्तिका विषय सर्वधा असम्भव है (क्वलयानन्द, पुरु १७८)। -जि कि ब तथा घ० म र शा अदब-नियम। प्रत्येक वस्तुको निर्दिष्ट सीमामें रखना (प्रज्ञा) । लिट्रेचर अथवा वाङ्मय । अद्बी-इल्मी, इखलाक्षी अर्थात् नैतिक । अल-अदब-वह नैतिक प्रवृत्ति, जो मनुष्य-को असभ्य व्यवहारसे रोकती है। मुदिता अथवा मनकी प्रसन्नता । इल्मेअदब वह विद्या है, जिसके द्वारा मनुष्य बोलचाल और लेखनकी श्रुटियोंसे बच सके। क्रि॰ अहब--सभ्य बनाना, अदब सिखलाना। यह रपष्ट है कि अपने मूलार्थमें अदब वाङ मय अथवा साहित्यसे कड़ी व्यापक वस्तु हं, क्योंकि उसमें मनुष्यकी लिपियद्ध शानचेनना हं।
नहीं, उसका लोकन्यवहार भी सिम्मिलित है। परन्तु साहित्य
संस्कारी जीवनका प्रमुख अंग होनेके नाते अदवका मुख्य
प्रकरण बन गया और पश्चात् उसका साम्यवाची माना जाने
लगा। इस सन्दर्भमें सभी प्रकारकी संस्कारी और भावप्रधान रचनाओंके लिए इस शब्दका उपयोग होता है।
फारसी और अरबीके साहित्यमें अन्तरंगका उतना महत्त्व
नहीं है, जितना बहिरंगका, क्योंकि ईरान और अरबमें
साहित्यकार 'गढ़िया' नहीं, 'जिंद्या' है। 'अदव' शब्दके
भीतर जो सांस्कारिकता और नियमबद्धता है, वह इन
देशोंके साहित्योंमें स्पष्ट रूपसे उभरी है। (दे० साहित्य,
उपयोगी साहित्य, काव्यवला, लिलत माहित्य, सरस
साहित्य)।

—रा० भ०
मद्भुत रस—'विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्भुतः सवेंन्द्रियाणा

अद्भुत रस- 'विस्मयस्य सम्यक्तमृद्धिरद्भुतः सर्वेन्द्रियाणाः ताटस्थ्यं वा।' (भानुदत्तः रसतरंगिणी) अर्थात् विस्मयकी सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी तटस्थता अद्भुत रस है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब किसी रचनामें विस्मय स्थायी भाव इस प्रकार पूर्णत्या प्रस्फुट हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियों उससे अभिभावित होकर निरुचेष्ट वन जायँ, तब वहाँ अद्भुत रसकी निष्पत्ति होती है। हिन्दोंके आचार्य देवने अद्भुत रसकी निष्पत्ति होती है। हिन्दोंके आचार्य देवने अद्भुत रसका यह लक्षण किया है— 'आहचरज देखे सुने विस्मै बाढ़त। चित्त अद्भुतरस विस्मय बढ़ै अचल सचिकत निमित्त' (भवानी विलास)। भरतमुनिने वीररससे अद्भुतकी उत्पत्ति बतायी है तथा इसका वर्ण पीला एवं देवता शक्षा कहा है। विश्वनाथके अनुसार इसके देवता गन्थर्व हैं।

'विस्मय'की परिभाषा 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में दी गयी है—'विसायश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः' किसी अलौ-किक पदार्थके गोचरीकरणसे उत्पन्न चित्तका विस्तार विस्मय है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस परिभाषाको दहराते हुए विस्मयको 'चमत्कार'का पर्याय बताया है-- चमत्कार-श्चित्तविस्ताररूपो विसायापरपर्यायः' (३:३ वृ०) । अतएव, चित्तकी वह चमत्कत अवस्था, जिसमें वह सामान्यकी परिधि-से बाहर उठकर विस्तारलाभ करता है, 'विस्मय' कहलायेगी। वास्तवमें, यह विसय या चमत्कार प्रत्येक गहरी अनुभतिका आवश्यक अंग है और इसीलिए यह प्रत्येक रमकी प्रतीतिमें वर्तमान रहता है। भानुदत्तने कहा है कि विस्मय सभी रसोंमें संचार करता है। विश्वनाथ रसास्वादके प्रकारको समझाते हुए कहते हैं कि रसका प्राण 'लोकोत्तर चमत्कार' है (जो चित्तका विस्ताररूप विसाय ही है) और इस प्रकार सर्वत्र, सम्पूर्ण रसगिनत स्थानोंमें अद्भुत रस माना जाना चाहिये। इस सम्बन्धमें उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ उद-धृत की हैं — रसे सारहचमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते । तच्चम-स्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः। तसादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।' (सा०द०, ३:३ वृ०) अर्थात् सब रसोंमें चमत्कार साररूपसे वर्तमान होता है तथा चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होनेसे सर्वत्र अद्भुत रस ही प्रतीत होता है। अतएव, नारायण पण्डित केवल एक अद्भुत रस ही मानते है।

मनोविज्ञानियोंने भी विस्तयको प्रधान भावोंमें गृष्टीत

से सम्नित है। स्नीकृत मूल्योंकी फिरसे जाँच हो रही है और न्ये-नये प्रयोग किये जा रहे है। साहित्य इतने प्रचर परिमाणमें प्रकाशित हो रहा है कि सामान्य निष्दर्शों में उसे समेटना कठिन हो गया है। नाटकों में पहले तो यथार्थवादकी ही प्रमुखता थी। वर्नर्ड शॉ (१८५६-१९५० ई०), गाल्सवदी (१८६७-१९३३ ई०) आदिने यथार्थ निरूपणकी शैलीमें कतिपय समस्याओंका हरु अपने नाटकोंमें प्रस्तुत किया है। इधर पिछले तीस वर्षीमें काव्य-ताट्य (verse drama) ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। टी० एस० इलियट, ऑडेन, स्टीफेन स्पेंडर, क्रिस्टोफर फाई आदिने प्रभावोत्पादक काव्य-नाट्य लिखे हैं। उपन्यास पहले तो सामाजिक विषयोंपर टिखे गये, फिर बादमें मनी शानिक तथ्योंपर उनकी रचना हुई। पहली श्रेगीके प्रमुख लेखक है-एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६ ई०), गाल्सवर्दा, आर्नाल्ड बेनेट (१८६७-१९१३ ई०) और दूसरी श्रेणीके वर्जीनिया बोल्फ (१८२२-१९४१ ई०), जेम्स ज्वाइस (१८२२-१९४१ ई०), आल्डस हक्सले (१८९४ ई०) आदि । इधर पिछले कुछ वर्षीसे एलिजावेथ बोबेन, काम्प्टन बनेंट, याहम ग्रीन आदिने ऐसे उपन्यास लिखे हैं, जिनमें कथाकी रोचकताकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बीसवी रातीकी अंग्रेजी कविता १९२० ई० के पूर्व परम्परागत थी। यह बात टामस हाडीं, राबर्ट ब्रिजेज (१८४४-१९३० ई०) आदिकी रचनाओंसे विदित है। जाजियन कवियोंकी रह्नाओं में नवीनता अवस्य थी. किन्तु उन्होंने कान्यके क्षेत्रमें क्रान्ति नहीं उपस्थित की। नवीन कविताका आरम्भ टी॰ एस॰ इलियटने किया और उनके बाद ऑडेन, स्पेंडर, लीविस, मैकनीस, डाइलैन टोंमस आदिने उसे निरन्तर अधिकाधिक आधुनिक और चमत्कारपूर्ण बनाया। टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड सने वर्तमान शतीमे अंग्रेजी आलोचना-शास्त्रको अभूतपूर्व रीतिसे समृद्ध बनाया है। कोलरिज, आर्नाल्ड, वाल्टर पेटर (१८३९-९४ ई०) के साथ-ही-साथ इन दोनों-की भी गणना अंग्रेजीके प्रमुख साहित्यशास्त्रियों में की जायगी।

लगभग १९वीं शताब्दीके मध्यसे अंग्रेजी (जो उस समय शासनकी भाषा थी)का प्रचार द्रुतगितसे भारत-वर्षमें बढ़ने लगा और फलतः हिन्दी साहित्य अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हुआ। तबसे यह प्रभाव (यहाँ प्रभाव शब्द अपने सीमित, शास्त्रीय अर्थमें प्रयुक्त हो रहा है) निरन्तर बढ़ता गया है। हिन्दी गथ बहुत हद तक अंग्रेजी गद्यके आदर्शपर विकसित हुआ। कतिपय लेखकोंने प्राचीन संस्कृत गद्यका आदर्श भी सामने रखा, किन्तु उसकी अपेक्षा आधुनिक अंग्रेजी गद्यकों ही अधिक अपनाया गया। हिन्दी गद्यसाहित्यके विविध अंगोंपर अंग्रेजी साहित्यको छाप है। हिन्दी निबन्धोंने अंग्रेजी निबन्धका बराबर अनुकरण किया है। हिन्दी कक्षासाहित्यने प्राचीन था-आख्यायिकाका मार्ग केंग्रेजर अंग्रेजी उपन्यासींकी

नाटकोंका प्रभाव पदा । उसका अनुवाद हुआ ढंगपर नाटक लिखे गये। तदनका वर ह नाटकोंके प्रभावमें हिन्दी नाटक लिखे गये हैं। ६ १. हिन्दीके समस्यामूलक नाटक इब्सन, दर्ग और वदीकी रचनाओं से स्पष्टतया प्रभावित है। ज 'प्रसाद'के नाटकोंमें भारतीय तथा पाइचात्य प्रण. एकीवरण हुआ है। हिन्दी कान्य-नाट्य भी प कान्य-नाट्यसे प्रभावित हैं। हिन्दी व.विताने शताब्दीके उपरान्त निरन्तर अंग्रेजी कवितार ग्रहण किया है। सबसे अधिक प्रभाव १९वीं अंग्रेज रूमानी कवियोंका पड़ा है। छायावा यह प्रभाव पग-पगपर दिखलाई पड़ता है। वर्षीमें हिन्दी कवितापर टी० एस० परवर्ती अंग्रेजी कवियोंकी कृतियोंका ए पडा है। अंतर्बोध-दे० 'अंतरचेतना'। अंतर्भावना - यह मानव-चित्तकी एक विशेष नाम है, जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान 'इन्फीलिंग'। किसी वरतको देख या सुनकर उसके गति, गुण, वैभव आदि प्रविष्ट रूपोंमें प्रेक्षकका 'स्व'को लग जिसके फल-स्वरूप वह 'स्व'में उन गुणैका अ सके। जैसे, प्रवाहकी तरलता, समुद्रका विस्तार, विशालता, पृष्पोंका मार्दव, संगीतकी संग्रे नूस लित गति आदिके प्रत्यक्ष अनुभवके कालमें, इ 'स्व'में अनुभृति । 'स्व'का वस्तुके हाणीम विकय वस्तुके गुणोंका 'स्व'में अनुभव-प ना भीतः सौन्दर्यकी अनुभूतिका आधार अन्तर एना है, यह प्रवृत्ति साधारण भी है । + जैसे उडतं 😂 पतंनवी क्रीडाका अपनेमें अनुभव करके बाठव वस्तर कलात्मक चित्र, मृति आदिमे रेखाओं भा वि प्रेक्षकमें अन्तर्भावनात्मक पवृत्तियोको जामत् जैसे, तुफानी समुद्रके एक जापानी विधर्म -विन्याससे प्रचण्ड लहरोंकी निगलनेवाली शक्ति अनुभव करता है। अंतःकरण-सत्व, रज, तम-इन तीनों गुणोंकी र वस्थाका नाम नम्हति है। प्रकृतिको ही निता वहाँ योगनैतिच न भद्रका व्यवहार अनामारणके अर्थन है। वैसे अन्तःकरण है एक ही, किन्तु इसके अ विभिन्नताको स्पष्ट करनेके लिए इसे 🗥 नाम दिये ज सांख्यके अनुसार अन्तःकरण तीर है-मंनू वा अहंकार । वेदान्तके अनुसार ये चार हैं - मर्रा बुढ़ि और अहंकार । ये अन्तःकरणके विभिन्न धर्म हैं, ि जीव जानता, अनुभव करता और इच्छा करता सीमित अनुभूतिके विकास-क्रमकी दृष्टिसे पर अहंकार, फिर मन और अन्तमे चित्तका ः बुद्धि अन्तःकरणकी वह अवस्था है

. .. । । रहता ह। यह विशुद्ध भावकी अनुभूति हैं। अहंकारका इसमें लेश भी नहीं र हता-अर्थात् 'हूँ' यही अनुभूति प्रमुख रहती है, 'मै हूं' की अहंकार-चेतना अभी नहीं आयो रहती। बुद्धि इस अवस्थामें मन और इन्द्रियोके संवेदनोसे भी अपरिचित रहती है। इस बुद्धिको महत्-तत्त्व भी वहा जाता है। बुद्धि निर्वेयक्तिक जीव-चेतना है । इसके बादकी अवस्था अहंकारकी है। अहंकारका आधार बुद्धि ही है, किन्तु अहंकार 'मैं पन' अर्थात् 'मै अमुक हे'के प्रति पूर्ण सचेत रहता है। यह सीमित-आत्मकी अनुभूतिकी दशा है। इम अवस्थामें सत्त्व और रज गुण अभिभूत रहते हैं और तमोगुण प्रथान रहता है। इसके बादकी अवस्था मन है। अहंकारकी अनुभूतिके ''क्ति-चित्तमें जो इच्छाका उद्रेक होता है, वही मन इच्छाको तप्ति और तज्जन्य आनन्द इन्द्रियों और 'पयोंके द्वारा प्राप्त होता है। यह आनन्द ही जिजी-र्ल एवं लक्ष्य है। मनमें रजोरुण प्रधान रहता है

ः स्नगुण और तमोगुण अभिभूत रहते हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि विकासक्रमसे बुद्धि सबसे पहले उत्पन्न होती है, लेकिन सृष्टि हो लेनेपर जागितक कार्यव्यवहारमें बुद्धिका क्रम सबके बादमें आता है।

सांख्य और वेदान्तके मतसे मनके तीन कार्य हैं, आलोचन या अवधान, चयन और समन्वय (दे० कश्मीर-शैविज्म पृ० ९४-११४) । वैशेषिकोंके अनुसार सुख, दुःख और जीवारमा (मैं अमुक हूँ) का ज्ञान करानेवाला मन है। मन सर्वप्रमुक्त इन्द्रिय है। अन्य इन्द्रियाँ उसकी शक्तियाँ के । मनके बिना इन्द्रियाँ अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर कितीं। मन कहीं और हो तो देखकर भी हम कुछ नहीं देखते, सुनकर भी कुछ नहीं सुनते। मनका कार्य संकल्प-शिकलप करना है। वैद्येषिक मनको सुख-दुःखका ज्ञान ानेवाला मानते है, किन्तु प्रमाताको इनका अनुभव करा विभिं स्वतन्त्र शक्ति मनमें नहीं है। सुख-दुःखकी ्भूति और ज्ञानके लिए अहंकार और बुद्धिका सहयोग मा इसक है। तभी मन वैसा ज्ञान करा सकता है। अर्थात् मनका अनुभव तमसाच्छन्न है। अहंकार और बुद्धिके योग बिना वह परिस्फुट और न्यक्त नहीं हो सकता। इसीलिये मनको तमीगुण प्रधान कहते हैं। अहंकार अभिमान है (सांख्य तत्त्व कौमुदी, कारिका-२४)। इस स्थितिमें जीवका सम्पूर्ण क्रिया-कलाप 'अहं-केन्द्रित' होता है। 'यह मै हूं', 'वह मेरा है', 'यह मैं करता हूँ', 'मैं जानता हूँ'—यह अहंकारकी भाषा है। बुद्धि अहंकारकी सहायतासे ही कार्य करती है —"तं अहंकारं उपजीन्य हि बुद्धिरध्यवस्यति" (सांख्य तस्त्र कौमुदी)। यह 'निश्चयकारिणी' है। निश्चय करनेकी प्रक्रियों ही है—किसी वस्तु को देखना (मनका कार्य), यह सोचना कि मैं इससे किस सीमा तक सम्बद्ध हूँ (अहंकार) और फिर अपने सम्बन्ध-पक्षका विचारकर इस निश्चय तक पहुँचना कि यह यह मुझे अवस्य करना चाहिए भां व ति कौ॰, कारिका २३)। 'अवदय करणीय' यहाँ बाह्य स्चक न होकर मानसी क्रियाका सूचक है। इस प्रकार बुद्धि अन्तःकरणों में सर्वप्रमुख है, क्यों कि यह सभी हिन्द्रयोंपर व्याप्त रहती है, सम्पूर्ण संस्कारों या कर्म-वृत्तियों- की ग्राहिका है और सांख्योंके अनुसार स्मृति या स्मरण- शिक्का केन्द्र है (मांख्य प्रवचन, २१४०-४४)। इस प्रकार हिन्द्रयोंके संचालनमें मन प्रमुख या नियामक है, मनके संचालनमें अहंकार और अहंकारके संचालनमें बुद्धि नियामक है। इसीलिए निश्चयात्मका बुद्धिको सारथी, संकल्प-विकल्पात्मक मनको वल्पा (लगाम) तथा इन्द्रियों- को होड़े और शरीर, मन, इन्द्रिय, युद्धि आदिसे युक्त आत्मा या जीवको भोक्ता कहा गया है (कठोपनिषद: शांकरभाष्य, २१४)। सांख्य शास्त्रोंके अनुसार ये ही तीन अन्तःकरण हैं। चित्तको वे बुद्धिके अन्तर्गत मान लेते हैं। साथ ही चित्तको इस शास्त्रमें अन्तःकरणके समानार्था- के रूपमें व्यवहार किया है। उनका स्पष्ट कथन है—"चित्तं अन्तःकरण सामान्यम्।"

वेदान्ती चित्तको चौथा अन्तःकरण मानते हैं। उनकी चित्तकी परिभाषा है—''चेतित अनेन इति चित्तम्''। अपने विशेष अर्थमें चित्त मनकी वह वृत्ति है, जो पूर्वकालीन अनुभव या प्रत्यक्ष द्वानको सरण वराता है। यह सरण पूर्व अनुभव या शात विषय तक हो सीमित रहता है। इसी प्रकार पहलेके जाने हुए तथा बुद्धि द्वारा निश्चित किये गये विषयोंको सरण करके उनका चिन्तन करनेवाली शक्ति हित्त है—''अनुसंथानात्मिका अन्तःकरणवृत्तिरिति वेदान्तः''। वेदान्तके अनुसार बुद्धि केवल एक वार निश्चय करती है। इसके बाद उसका सरण और चिन्तन चित्त द्वारा ही किया जाता है।

मन, बुदि, अहंकारकी ही भाँति चित्त भी प्रकृतिका परिणाम है, अतः जह है। चेतन पुरुषकी छाया पड़नेके कारण ही यह चेतनकी भाँति जान पड़ता है। एकाग्रताके समय चित्त स्फटिक मणिके समान विशुद्ध रहता है, अतः ध्येय वस्तु चित्तमें प्रतिदिग्नित होकर उसे अपने ही तरहका बना देती है, अर्थात् उस समय ध्येय वस्तुके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी सत्ता चित्तमें नहीं रहती। चित्तके इस प्रकार अनुरंजित और प्रतिविग्नित होनेको योगशास्त्रमें 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति संप्रज्ञात समाधिनिष्ठ चित्तकी अवस्था है। इसके भिन्न-भिन्न रूपोंके अनुसार संप्रज्ञात समाधि भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है।

'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह'में पाँच अन्तःकरण बताये गये हैं, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और चैतन्य । चैतन्य इनमें नया योग हैं । इनके धर्मोंका उल्लेख करते हुए बताया गया हैं कि मनके धर्म है—संकल्प, विकल्प, जड़ता, मूच्छंना और मनन । इसी प्रकार विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति और क्षमा बुद्धिके धर्म हैं । मान, ममता, सुख, दुःख और मोह अहंकारके धर्म हैं । मति, धृति, सस्मृति, उत्कृति, स्वीकार वित्तके धर्म हैं । मति, धृति, सस्मृति, उत्कृति, स्वीकार वित्तके धर्म हैं । इस प्रकार पाँच अन्तःकरणोंमें एक एकके पाँच-पाँच धर्म मिलकर पचीस तत्त्वोंकी सृष्टि करते हैं और इनसे पिण्डकी उत्पत्ति सम्भव होती हैं । —रा० सिं० अंतःप्रतिरोध —मनोविश्लेषणमें भावनाओंके अचेतन दमन और उनके पुनःप्रकाशनके प्रति निर्मित अन्तःप्रति-

रोधका अत्यधिक महत्त्व है। सभी मानसिक, स्नायविक रोगियोंमें ये तथ्य पाये गये । इंड या इदम्की सभी वास-नाएँ यथार्थ जगत्में पूरी नहीं हो सकती, अतः अहम् और उच्च अहम् अधिकांश वासनाओंका दमन करते है। इस दमनपर सारा मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन केन्द्रित है, परन्त केवल दमन ही काफी नहीं है क्योंकि दमित वासनाएँ व्यक्त होनेका सतत प्रयत्न करती रहती है, अतः व्यक्तिका अहम और उच्च अहम कछ अन्तःप्रतिरोध निर्मित कर लेता है, जिन्हें हशकर इन वासनाओंका चेतन-मानसमें प्रोश असम्भव हो जाता है। अचेतन दिमत वासनाएँ जितनी प्रवलतासे व्यक्त होनेका प्रयत्न करती है, अहम् उतना ही दृढ अन्तःप्रतिरोध बना लेता है। इस अन्तःप्रतिरोधका अस्तित्व रोगीकी चिकित्सा करते समय स्पष्ट ज्ञात होता है। मनोविङ्लेषक रोगीके अचेतनको चेतन स्तरपर लाना चाहता है, पर रोगीका अहम सदा बाधा डालता है। रोगकी मूल उत्पत्तिके निकट आते ही रोगीके विचार-अनुसंग (\*ssociation) अन्य दिशाओं में चले जाते है। स्वयं रोगीको ऐसा अनुभव होता है कि वह किसी अतीत अनुभवको चेतनामे लाना चाहता है पर इस क्रियासे उसे अत्यन्त क्लेश होता है। इन सब शक्तियोको, जो अचेतनको चेतनमें आनेसे यथाशक्ति रोकती हैं, मनोवैज्ञानिक अन्तःप्रतिरोध कहते हैं। उच्च अहम् द्वारा निर्मित अन्तःप्रतिरोध अधिक प्रवल होते हैं और उनको हटाना काफी कठिन होता है दि० 'मनो-विद्रलेषण')।

अंतरचेतना - साहित्यमें अन्तश्चेतना शब्दका अंग्रेजीके conscience के लिए होता है। इस अर्थमें हिन्दीमे कई शब्द प्रचित है; जैसे, अन्तर्शान, अन्तर्शिध और अन्तःकरण। किन्तु 'अन्तःकरण'का एक विशिष्ट दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ है, जो conscience से सम्बन्धित नहीं है, अतः अन्तरचेतना, अन्तर्ज्ञान और अन्तर्बोध ही इस अर्थमे रूढ हैं। अन्तश्चेतना शुभाशुभ या सदसत्वी पहिचाननेकी वह आन्तरिक शक्ति है, जो तत्काल बतला देती है कि बांछनीय और उचित क्या है। अन्तरचेतना मानवकी नैसर्गिक राक्ति है, उसके निर्णय अथवा आदेश तर्क और युक्ति, अथवा सामाजिक या राजनीतिक नियमों द्वारा प्रमाणित हों या न हों। अन्तश्चेतना अपने आपमें स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, यह एक प्रकारका सहज प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तइचेतनाकी धारणामें यह निहित है कि वह सदा उचित मार्ग ही बताती है। विभिन्न दार्शनिकों, नैतिक विचारकों और धर्मोपदेशकोंने अन्तरचेतनाको अपने-अपने ढंगसे परिभाषा दी है। धर्मके अनुसार अन्तरचेतना दिव्य ईश्वरीय प्रेरणा मानी जाती है। कुछ नैतिक विचारक अन्तरचेतनाको एक छठी इन्द्रियकी भाँति मानते है, जैले नासिका द्वारा गन्धका सहज अनुभव होता है, उसी प्रकार अन्तइचेतना द्वारा उचितानुचितका । इन सब मतभेदोंके होते हुए साहित्यमें सामान्य अर्थ यही प्रचलित है कि अन्तरचेतना वह आन्त-रिक अनुभव या बोध है, जो कर्मके शुमाशुमका निर्णय देता है और मनुष्यको उचित मार्गपर छ जाता है। इस

धारणाके मूलमें यह विश्व. आपमें शम या अश्रम होते हैं. नियमों द्वारा नहीं। तथापि यदि रा वैज्ञानिक विस्लेपण वर्रे तो हम देखते ह । यह अहम् द्वारा स्थीकृत सामाजिक और नैतिक आदः संघटन है, परोक्ष रूपमे समाजमें प्रचलित और ! नियम ही हमारा अहम अपनेपर आरोपित कर रे कुछ इसी प्रकारका विश्लेषण हमें फायडने रि उनका 'सुपर ईगो' अन्तरचेतनाका ही दूसरा न जा सकता है (दे०-'सपर ईगों')। अन्तरचेतनाका अर्थ--चैत्यपरुष या psychi की चेतना है। अंतर्मखी-दे० 'मनोविइलेषण'। अंतर्वादी (कान्य) -दे॰ 'स्वात्मनिष्ठ' (कान्य) अंत्यानप्रास - शब्दालंकारः अनुप्रासका भेदः मे एक ही स्वर और एक ही व्यंजनकी आ 'अन्त्यानप्रास' अलंकार होता है। सम्भवतः विवेचन 'साहित्यदर्पण'मे सर्वप्रथम हुआ है Sन्त्ययोज्यत्वात्' (१०१६) अन्तमें आर्क्ति नाम पड़ा। इसका विशेष विवेचन हिन्दी ; गया। वस्तृतः कान्यमे इसका प्रयोग अन्तर्गत स्वीकार हो गया था क्योंकि हिन्दी मात्रिक छन्दोकी विशेषता है। अलंकारोंमे प्रायः नही हुआ। भिखारीट विचार किया है (दे०)। गिरिधरदासने मुषण'में उल्लेख किया है। आधुनिक दि कवि तथा भगवानदीनने इसे 'अनुप्रास किया है। बन्हें यालाल पोद्दारने 'वृत्त्यानुभः । म लित किया है। सम्पूर्ण हिन्दी-काव्यकी प्रकार छन्दोक्षी है और 'अन्त्यानुमास' उनका आवद्य रहा है। इसी कारण आदि । लसं लेकर आधानिक वादी कान्यतकमें इसका रूप एवा गा है। वंस वृत्तोंमें इसकी स्वीकृति नहीं थे। ' इ' निक कार्यो कुछ बदली है दि॰ 'तुक' और अनुकार्य है -- बि॰ अंश-विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्म और जीवक सम्बन्धकी प प्रकारी भाव, विशेषण-विशिष्ट भाव और अंश-अंशीभाव ६ व्यक्त करते हैं। उनके मतमें जीव ब्रह्मका एक प्रकार यह उसका अंश यानी भाग है। चिद् ब्रह्मके ही सभी अंश या भाग हैं, जो उसीकी ज्योतिसे ज्योतित रहते यद्यपि ब्रह्म निरंश और निष्कल है, किन्त फिर भी सर्वात्मकतासे जोवोंका अंशभाव सम्भव होता है। प्रकार अग्नि, आदित्य आदिकी प्रकाशरूप किर्णे अंश हैं या जिस प्रकार सफेद और काली गायें बोल के विशेषण और अंश होती हैं या जिस प्रकार रू देव, मनुष्य आदिके देह अंश होते है, उसी परमात्माका अंश होता है। जीव और पर विलक्षण हैं। परमात्मा सर्वगत, सर्ने कल्याण गुणोंसे संयुत, भक्तिका अग उपादान है, परन्तु जीव इन है। वह वस्ततः बहाका

पेटें सिन्सि सिहिन्यमें जीवकी दैश्यरके अद्यक्त हपम कल्पना हुई, र् ा ाचना ही सिक्षान प्रति हैं तुलसी कहते हैं - जाव दर्थरका हो आवनाशा अदा हैं (ईश्वर अंदा जीव अविनासी); जब जीवकी, भिक्त द्वारा, भाव्य (अंदी) ईश्वरके स्वरूपका साक्षात्कार हो जाना है, तभी मुक्ति सम्भव होती हैं।

[सहायक प्रनथ—श्रीभाष्यः रामानुजावार्यः वेदान्त एकार्डिंग इ इंकर एण्ड् रामानुजः राधाकृष्णन्ः द फिला-सफी ओव विशिष्टाइतः श्रीनिवासाचारी।] — क० शु० अंशावतार—जगतको संचालित करनेवाली भगवन् शक्तिमें सोलह कलाओकी समष्टि मानी गथी है। जब जितनी कलाको लेकर वह शक्ति अवतरित होती है तब उसे उतने कलाविशेषका अवतार कहा जाता है। श्रीकृष्णके अवतारमें पक्षी सोलह कलाएँ समाविष्ट कही गयी है।—वि० मो० श०

> **छेदन** – दे० 'रस-दोप', छठा। **थन** – दे० 'रस-दोप', पॉचवा। ० 'कुल, अकुल'।

,-दे॰ 'शब्द-दोष', सत्रहवां, वाक्य-दोष। अक्रमातिशयोक्ति-दे॰ 'अतिशयोक्ति,' पाँचवां भेद । अक्ल-परमात्माने अपने ही अनुरूप आदिभूतकी सृष्टि की। परमात्मा 'आदिकारण' है। आदिभूतकी सृष्टि ही 'आदिकारण'की प्रथम अभिन्यक्ति है। यह प्रथम अभिन्यक्ति विशुद्ध ज्ञान है। इसे 'अक्ले अन्वल' अथवा 'अक्ले कुल' (विश्व-ज्ञान) कहते हैं। अक्लसे अगर बुद्धि-मा अर्थ लें, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जागतिक व्यापारों-ी परिचालना करता है तो उसका स्थान सूफी-साधनामें - नहीं है। बुद्धिके द्वारा परमसत्यकी प्राप्ति नहीं होती। बुद्धि तर्क करती है और भटकानेवाली है। वह सत्य तकी परे है। वैसे बुद्धि भी शक्तिसम्पन्न हो सकती है, अगर उसपर परमात्माका अनुग्रह हो। कहते हैं कि जब परमात्माने अक्ल(बुद्धि)का निर्माण किया तब उससे पूछा कि 'मैं कौन हूँ?" बुद्धि मौन रह गयी। तब परमात्माने अपने 'एकत्व'का प्रकाश उसपर डाला और उसने बतलाया कि "तुम परमात्मा हो।" -रा० पू० ति० अक्षर धाम -वल्लभा चार्यके शुद्धाद्वेतके अनुसार सचिदानन्द ब्रह्मके तीन मुख्य रूप होते हैं-(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा अभेद रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, (२) अक्षर ब्रह्म, जो गणितानन्द है और जो दो स्वरूपोंवाला है तथा (३) अन्तर्यामी। अक्षर ब्रह्मके ही दो स्वरूपोंमें एक स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम है और दूसरा काल, कर्म, स्वभाव रूपमें प्रकट होनेवाले, प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवताओंके रूपमें परिणत होनेवाला रूप है। पूर्ण - पुरुष्मेज्ञमका अक्षर धाम ही गोलोक कहलाता है, जहाँ वे अनवतार दशामें नित्य लीलाके आनन्दमे मग्न रहते हैं। . वेशेषके लिए दे०—'लीला'। ग्रिडच्यंग्य-गुणीभूत व्यंग्यका वह भेद, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान स्पष्ट रीतिसे जान पडता हो, अर्धात े दे सामान्य जन भी सरलतासे समझ हेते हों। संलक्ष्य-

र शब्दशक्तयुद्भव भेद तथा असंलक्ष्यक्रमध्वनिमें

इयंग्यार्थ अगृद नहीं होता है। अतः ये ध्वनियां गुणीभृत व्यंस्थ्ये क गर्मे नहीं हो सकती है। 'पानी बाह नावमे, परमें बरे हाम दोज हाथ उलीचिये, यही सयानी काम ।' इस उदाहरणमं सम्पत्तिको दोनों हाथोमं भरकर फेंबनेमें अर्थवाधा होनेके कारण लक्षणामूला अत्यन्त तिर-स्कृतवाच्यथ्वनि है। इस दोहेका व्यंग्यार्थ (सम्पत्तिको मुक्तहरत रार्च करना, भले कामोंमें लगाना) सामान्य जनों द्वारा शोघ्रतापूर्वक मनोगत कर लिये जानेक कारण अगृद है। -- उ० २० ज्ञ अगूढव्यंग्या लक्षणा-मन्मर तथा विश्वनाथ आदि आचायों-ने लक्षणाके भैणा तथा शुद्धा आदिके भेदोंको गृह तथा अगृद न्यंग्यके रूपमें स्तीकार किया है। इसके न्यंग्य रूप अर्थको काव्य-मर्मज्ञ तथा सामान्य काव्य-प्रेमी दोनों सहज ही ग्रहण करते हैं। 'वहाँ न लड़ती डाडी चोदी, वहां नहीं साहकारी' (का॰ द०) । इस उदाहरणमें शुद्धा साध्यवसाना उपादान अगूढ व्यंग्या प्रयोजनवती रुक्षणा है—'दाढी (वाच्यार्थ) दाढी रखनेवाले मुसलमान (लक्ष्यार्थ)मं 'नित्य सम्बन्ध' होनेके कारण शुद्धाः दाढी शब्दमें दाढी रखनेवाले ममलमानोंका अध्यवसान होनेके कारण माध्यवसाना तथा दाढी शब्दके 'दाढ़ी धारण करनेवाले मुमलमानों'के आक्षेप-के कारण उपादान लक्षणा है। 'रूपमें साम्प्रदायिक भावनाका अभाव हैं, यहां व्यंग्य प्रयोजन है और इसके सरलतापूर्वक बोधगम्य होनेके कारण यहा व्यंग्य अगोचरी-योगशास्त्रके अनुसार एक मुद्रा, जिसका स्थान कानमें माना जाता है। इसके द्वारा बाह्य शब्द श्रवणका प्रतिरोध करके अन्तस्य शब्दोंके सुनने और उन्मनीकी ओर मनको प्रेरित करनेका आभास किया जाता है। 'करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी। सबद कुसबद समी कृतवा मुद्रा तौ भई अगीचरी।' (अष्टमुद्रा० गे रखवानी)। अ नि-तेजका गोचर रूप। उष्णता। पृथ्वी, जल, वायु, ग्रकाश आदि पंच भूतों या तत्त्वोंमें मे एक । योगाग्नि । 'अगनि ही जोग अगनि ही भोग, अगनि ही हरै चौसठि रोग'। गीतामें भी ज्ञानामिकी चर्चा आयी है। 'ज्ञानामिन दम्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः'। भक्तकी विरह्मपीड़ा। विरह या ज्ञान विरहकी अग्नि। 'अग्नि मथन करि नीसरी लकरी सहज सभाइ' (कबीर साखी रांग्रह)। अग्निचक-मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके बीचमें जडता है, वहाँ एक त्रिकोणचक है। इसीको अग्निचक कहते हैं। इसी अग्निचक्रमें स्वयंभूलिंग है, जिसे सादे तीन वलयोंमें आवृत करके कुण्डलिनी सोती रहती हैं। 'पट्चक निरूपण' (५१)की टीकामें इस त्रिकोणचकको मूलाधार कमलकी क णिकामें स्थित बताया गया है।

अग्निचक-मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके बीचमें जुड़ता है, वहाँ एक त्रिकोणचक्र है। इसीको अग्निचक्र कहते हैं। इसी अग्निचक्रमें स्वयंमूर्णिंग है, जिसे साढ़े तीन वलयोंमें आवृत करके कुण्डिलिनी सोती रहती हैं। 'पट्चक्र निरूपण' (५१)की टीकामें इस त्रिकोणचक्रको मूलाधार कमलको किणिकामें स्थित बताया गया है। ——रा० सिं० अघोरपंथ—जनसाधारणमे प्रचित्त नाम 'औषड़ पन्थ'। कही-कही 'सरभंग', अथवा 'अवधूत' मतके नामसे भी प्रचित्त । इस मतके मन्तव्योंका अति प्रारम्भिक रूप अथवंववेदमें माना जा सकता है। द्वेताइवतर-उपनिषद्में 'याते रद्र शिवातन्र्षोरा पापकाशिनी' जैसे मन्त्रोंमें शिल्य सम्बन्धमें 'अधोर' शब्दका प्रयोग हुआ है। माकों

प्लीनी, अरिस्टोटल आदि पाइचात्य विद्वानोंने भी इस्त 'अघोर' पन्थके विषयमें संकेत किया है। ईरान देशमें भी पुराने समयमें इस प्रकारके एक सम्प्रदायके साधक रहते थे। वर्तमान रूपमें इस पन्थके सिद्धान्तोंका सीधा सम्बन्ध गोरख पन्थ (दे०) तथा तन्त्रप्रधान शैवमत (दे०)से है। क्रुक्रने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव एथिक्स एण्ड रिलीजनों इस पन्थके सम्बन्धमें एक विस्तृत तथा गमेषणापूर्ण टिप्पणी दी है। इस पन्थकी आदि आविर्माश-भूमि राजपूतानेके अन्तर्गत आबू पहाड मानी जाती है। आजकल इसके अनुयायी समग्र भारतमें अपेक्षाकृत अवप संख्यामें फैले हुए है, बडौदामे अघोरेश्वर नामक इनका एक मठ था, जिसमें अधोर स्वामी वास करते थे।

इस पन्थसे सम्बन्धित प्रचुर साहित्य इथर-उधर विखरा पड़ा है। किन्तु उसका अध्ययन तथा अनुशीलन नहीं हो पाया है। इसका सिद्धान्तपक्ष निर्गुण अद्वैतवादसे मिलता-जुलता है। साधना-पक्षमें हठयोग तथा ध्यानयोग-(लययोग)की प्रधानता है। इनकी प्रक्रियाएँ तन्त्र-साहित्य-पर आधारित है। गुरुकी परम महान् मानकर उनकी पूजा होती है। सन्तोंकी समाधिकों भी पूजा होती है। इस पन्थ-के अनुयायी मद्य-मांस आदिका सेवन करते है। वे मृत महामांससे भी परहेज नहीं करते। मल-मूत्र आदि भी साधनाका अंग समझकर प्रहण करते हैं। इस प्रकारके लोक-वाह्य आचरणकों वे समबुद्धि तथा घोर साधनाका प्रतीक मानते हैं। वे इमशानिक्रयाके द्वारा असाधारण शक्ति प्राप्त करनेमें विश्वास करते हैं।

काशीके किनाराम औषड़ पन्थके सर्वप्रसिद्ध आचार्य थे। चम्पारनमे भिनकराम, भीखनराम, टेकमनराम, सदानन्द बाबा, बालखण्डी बाबा आदि प्रसिद्ध औषड़ सन्त हुए है। किनारामके अन्थोंमें 'विवेकसार' मुख्य है। 'भिनक दर्शनमाला'में लगभग दो सौ पदोंका संग्रह है। टेकमनरामकी 'भजन रत्नमाला'में भी बहुसंख्यक पद संगृहीत है।

सभी औवड़ोंकी वेशभूषा समान नहीं होती। कुछ उन्ले

बहिर्वास पहनते है और कुछ रंगीन। ये निर्वाणी तथा गृहस्थ दोनों प्रकारके होते हैं। कही-कही अघोरिनें दलबद्ध हो हर घुमती हैं। इनके सिरपर जटा रहती, गलेमें नाना-विध प्रस्तर और स्फटिककी माला झूमती, कमरपर घाँघरा लटकता और किसीके हाथमें त्रिश्ल दिखाई देता है। इनसे सामान्य जनता भय खाती है। **अचित्यभेदाभेदवाद** – निम्बार्कके द्वेताद्वेतवादकी भाति चैतन्यके मतमें भी ईश्वर और जीवका, ईश्वर और जगत्का, भेदाभेद सम्बन्ध माना जाता है। ईश्वर शक्तिमान है, तो जीव-जगत् उसकी शक्ति। पर निम्बार्कका द्वैताद्वैतवाद यहीं-तक रुक जाता है। चैतन्य इससे आगे बढते है। उनका कहना है कि यह भेदाभेद सम्बन्ध तर्कतः असंगत या व्याघातक है। पर क्योंकि ईश्वरभूत शक्तिमान् और जीव-जगत्-भृत शक्ति दोनों अचिन्त्य हैं, अतः उनमें व्याघात नहीं है। इस मतको गौडीय वैष्णव मत भी कहते है, क्यों-कि इसमें हरि ही परमनत्त्व है और यह गौड़ या बंग देशमें उत्पन्न तथा प्रचलित हुआ।

अचिन्त्यभेदाभेदवादके प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य है।

उनका जन्म नवदीपमें १४८५ ई० 📜 🖯 गुरु और संन्यासगुरु मध्वमतावलम्ब रा समझते थे कि वे मध्वमतको मानते हु। क रास अधिक करते थे। उनकी कृतियाँ प्रायः उपक हैं। केवल 'दशमूल क्षोक' उनकी रचना बतलायी है। उनके शिष्योंने आगे चलकर उनके मतकी पृष्टिके अच्छे यन्थोंकी रचना की। अविन्त्यभेदाभेद दृष्टि हैं कारण चैतन्यमत मध्वमतसे भिन्न है। वल्लभ और निम की भॉति चैतन्यने भी परमात्मा तथा उनकी शक्तिको और राधाके रूपमें निश्चित किया, रामानुज और मः तरह नारायण (तिष्णु) और लक्ष्मीके रूपमे नहीं । वे क्र' को भगवान् मानते थे, भगवान्का अवतार नहीं । वृन्द को वे अमरपुरी समझते थे। वहाँ के निवासीको वे मानते थे। चैतन्यके अनुयायियोंने उनको साक्षात् माना। इस प्रकार स्वयं चैतन्य इस मतमें उगस्यदे गये। ऐसा कम होता है कि उस मतका प्रवर्त अनुयायियोंका एकमात्र उपास्य बन जाय। का कि चैतन्य श्रीमन्द्रागवत पुराणको ही ब्रह्मस समझते थे। मध्व भाष्यके प्रति भी वे आदर थे। जहाँ उनको उससे असन्तोष था, उन स्थर उन्होंने अपने मत स्थिर कर लिये थे। पर प्रधान न भागवतको ही दी। उनकी शिष्य-परम्परामें जीव ग हुए, जिन्होंने भागवतकी क्रमसन्दर्भ टीका लिखी और मतको व्यक्त करनेके लिए षट्-सन्दर्भ लिखा। सर्वसंवाः टीकासे मण्डित यह पट्-सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेदवाट सर्वोत्कृष्ट यन्थ है। १८ वीं शतीमें सभी वैष्णव अनुयायियोंके बीच वृन्दावनमें शास्त्रार्थ हुआ । वहाँ 🔞 मतके बलदेव विद्याभूषणने शास्त्रार्थमें भाग लिया। पर इस मतका कोई भाष्य न होनेके कारण उनके मतको हेय समझा। बलदेव विद्याभूपणने को दूर करनेके लिए एक मार ने अन्दर ही भाष्य-गोविन्द भाष्य-लिखः नाः

संस्कृत कवि जयदेवके गीतर देन्द्रका तैथा उत्तरभारतीय भाषाओंके कृष्णपरक काश्यका चैतन पर बडा प्रभाव पडा है। चैतन्यके मतका भा आधुनिक बँगला, मैथिली और हिन्दी-साहित्यपर र्व देता है।

दर्शनकी इस पद्धितमें हरि चरम सत् या परमतत्त्व व वह भगवान् या ईश्वर है। उसकी अंगकान्ति निर्विशेष हे । उसकी एक अंशमात्र ही परमात्मा है, जो संस्य अन्तर्यामी है। हरि अंशी है, परमात्मा उसीका अंश पूर्ण श्री, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्लान पूर्ण वैराग्य—इन षड् ऐश्वर्यीकी एकता हरि ही है। श्रीगुण केन्द्रस्थानीय है और अन्य उसके अंगभृत है। पूर्णताके अर्थमें हरि कृष्ण-राथाके ऐक्यमें युगल कृष्ण-राथा परस्पर भक्ति और प्रेमके अपरिष्ट वृष्टे हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सचिदान कृष्ण हो सकते हैं, जो कि देशव कहना है कि यह ... ^ १९२ में वर्ष ने जा सकते। भीकि प्राप्त में कि प्राप

इस शक्तिके कारण हरि मूर्न होकर भी विमु है।

भगवान्की अचिन्त्याकार शक्तियों में नीन मुख्य है—

खरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति। स्वरूपशक्तिको
चित् शक्ति या अन्तरंगा शक्ति भी कहते हैं। सत्, नित्
और आनन्दके कारण भगवान्की यह स्वरूपशक्ति

एकात्मिका होनेपर भी त्रिविथ रूपोमें व्यक्त होती है—

संधिनी, संवित् और हादिनी। संधिनी शक्तिके वरूपर

भगवान् स्वयं सत्ता धारण करने हैं, दूसरोंको सत्ता प्रदान
करते हैं और समस्त देशकाल तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं।

मंवित् शक्तिने भगवान् स्थयं अपनेको जानते हैं तथा दूसरोंगन प्रदान करते हैं। ह्यादिनी शक्तिमें भगवान् स्वयं
गत होते हैं और दूसरोंको आनन्द प्रदान करते हैं।
गक्ति परिच्छिन्न स्वभाववाले अणुस्वरूप जीवोंके
,वंभीवका कारण बनती है, वह तटस्थ शक्ति या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्तिसे प्रकृति तथा जगतका
आविभीव होता है। म्वरूपशक्ति वास्तविक सत है।
मायाशक्ति उसीका विलोम है। दोनोंकी मध्यवती जीवशक्ति है, जिसमें कुछ स्वरूपशक्ति और कुछ मायाशक्ति है।
स्वरूपशक्ति होनेके कारण जीव सक्षाद सिच्चदानन्द है
और मायाशक्ति होनेके कारण जीव उस सिच्चदानन्द से
भिन्न है।

इन तीनों शक्तियोंको मिलाकर पराशक्ति कहते हैं। भगवान् स्वरूपशक्तिसे जगवके निमित्त कारण हैं और माया तथा जीवशक्तियोंसे उसके उपादान कारण हैं। इस मतमें विवर्त्तवाद (दें) मान्य नहीं है, क्योंकि यह वाद जगवको मिथ्या सिद्ध करता है। चैतन्यके मतसे जगव सत् है, वह भगवान् की मायाशक्तिका परिणाम है। पुनश्च परिणामवाद या ब्रह्मभरिणामवादको माननेसे ब्रह्म या हरिको विकारवान् मानना पड़ता है। अतः इसको भी न मानते हुए चैतन्यने शक्ति परिणामवादका समर्थन किया। जगव भगवान्की शक्तिका परिणाम है। इस वादसे ब्रह्म या हरि अविकारी भी रहते हैं और जगव भी सत्य रहता है।

मायाशिक्तिके कारण जीवमें अविद्या रहती है। इसीके कारण जीव हरिसे अपने वास्तविक सम्बन्धको भूल जाता है। वस्तुतः जीव हरिके अधीन है, हरिका अंश है। जैसे अभि और स्फुलिंग परस्पर सम्बद्ध हैं, वैसे हरि और जीव भी। इस सम्बन्धको उपलब्ध करना ही जीवकी मुक्ति है।

यह भक्ति द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मक्ति संवित् वधा हादिनी शक्तियोंका सम्मिश्रण है। ये दोनों शक्तियों हावान्की ही स्वरूप है, अतः भक्ति भगवद्रिपणी है। स्वरूपात्मक होनेसे यह भगवान्का अपृथिवशेषण है। पर भक्तोंका यह पृथिवशेषण है। भगवान्के दो रूप है— स्थर्य रूप और माधुर्य रूप। ऐश्वर्य रूपमें भगवान् परात्पर है। इस रूपकी सिद्धि ज्ञानसे होती है। माधुर्य रूपसे स्वत्तु धरकर मनुष्यके समान ही चेष्टा करता

है । उप तपमें मख्य, वात्सल्य, दारय, दाम्पत्य आदि से मगवा , .. भक्ति की जा सकती है, उनका ध्यान-स्मरण म्पता है। चैतन्यमतमें इसी माधुर्य रूपमे भगवानको -. ह. । जाता हं। इसीके साधनको भक्ति कहते हैं। भक्ति दो प्रकारकी होती है—विधी और रागात्मिका। वैधी भक्ति भक्तिशास्त्रमे निर्दिष्ट उपायोंका अवलम्बन करनेसे होती है। इससे भक्तोंको देवयान मिलता है। रागात्मिका भक्ति उन आर्तींकी भक्ति है, जो वैधी भक्ति नहीं करते या जानते, जो अपने प्रयह्मपर विश्वास न करके भगवानकी अहेतुकी कृपापर आस्था रखते हैं और भगवान्को अपने प्रियतमके रूपमें ग्रहण करके अलैकिक आनन्दका आखादन करते हैं। ब्रजकी गोवियोंकी भक्ति ऐसी ही रागात्मिका भक्ति है। चैतन्यके मतसे यह भक्ति वैधी भक्तिने श्रेयस्कर है। यह मक्ति उपाय न होकर स्वयं उपेय है। भगवान श्रीकृष्णके चरणारिवन्दकी सेवा करते हुए आनन्दलाभ करना मोक्षसे बढकर है। चैतन्यमतमें इस आनन्दलाभको पंचम पुरुषार्थ कहते है। अर्थात यह काम, अर्थ, धर्म तथा मोक्षसे भिन्न पाचवां पुरुषार्थ है, जो अन्य चारो पुरुपार्थीसे नितान्त श्रेयस्कर है। इस भक्ति रसकी सांगोपांग कल्पना चैतन्यमतकी विशिष्टता है, जिसकी पाण्डित्यपूर्ण विवेचना रूप गोस्वामीने 'भक्तिरगामृतिमन्धु'मं की है।

नैतन्यमतमें भावोंका अति शय उद्देक हैं। स्वयं नैतन्य अपनेको कृष्ण समझकर कृष्ण-चरितकी सभी लीलाएँ करते थे। वे कभी बहुत रोते थे, कभी बहुत हँसते थे, कभी भावुकतापूर्ण कीर्नन करते थे, और सबसे अधिक, कभी-कभी प्रेमीन्मत्त होकर रासलीला करते थे। उनका जीवन मानो किसी प्रेमोन्मत्तका जीवन था। विसी भी भक्त या रहस्यवादीके जीवनमें इतना प्रेमोन्माद शायद नहीं पाया जाता।

इस प्रेमोन्मादको अलैकिक रस, दिन्य आनन्द या भक्तिरस कहा जाता है। इसका संस्कृत तथा विविध वर्त-मान भाषाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रूप गोस्वामीके 'हंसदूत'-में इस रसकी सुन्दर अभिन्यक्ति है। इसे जघन्य खंगार रस न समझना चाहिये। इस रसमें विह्नल होकर पुरुष-भक्त स्त्री-भक्तोंके साथ वही लीलाएँ करता है, जो कृष्णने गोपियोंके साथ की थीं, पर इसमें शंगारकी हेयता नहीं है। यह शुद्ध माधुर्य भावकी अभिन्यक्ति है। इसमें भक्तका जीवन ही मधुरिमा-मय रहता है।

इस मतका प्रभाव हिन्दी तथा बँगलापर विशेष पड़ा है। बँगलाके कई काब्योंके विषय है चैतन्य महाप्रभु। चैतन्यके मतानुयायी आज भी बंगाल, वृन्दावन तथा उत्तरप्रदेशके अन्य स्थानोंमें काफी संख्यामें है। हिन्दीके रीतिकालीन कवियोंपर चैतन्यके माधुर्य भावका विशेष प्रभाव पड़ा है। कृष्णलीलाका वे वैसे ही वर्णन करते है, जैसे कि चैतन्यमतमें भक्तिकी कल्पना है। यदि चैतन्यके रस-सिद्धान्तको कसीटी मान लें तो रीतिकालीन कवियोंकी कवितामें उच्च कोटिका साहित्य मिलेगा। उनमें भौतिक श्रंगारके स्थानपर दिव्य प्रेमकी मधुरिमा मिलेगी। चैतन्य मत राषाकृष्णोपासक सम्प्रदाय है। आरम्भने ही इसका प्रमुख केन्द्र श्रीकृष्णका लीलाधाम

दृष्यावन रहा ह, वहा को भाषा बज है। अतः बजभाषां साहित्यपर चैतन्य मतका प्रभाव स्वाभाविक है। चैतन्य तथा उनके अनुयायी पर्गोस्वामियोंसे बजके भक्त प्रभावित रहे हैं। पर्गोस्वामियोंमें रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट और जीवगोस्वामी है। ये सब वृन्दावनमें रहते और भगवद्भजनके अनन्तर ग्रंथ-रचना करते थे। इनकी रचनाएं संस्कृत और वंगलामें है। इनके प्रभावमें आकर अनेक भक्तोने बजभाषामें ग्रंथ रचना वी।

भक्तवर नाभादासने चैतन्य मतावलिक्वोंमेंसे चैतन्य, रूपगोत्वामी, सनातन, जीवगोत्वामी, रामराय, माधवदास जगन्नाथी, स्रत्वास मदनमोहन, गदाधर मट्ट, नाथमट्ट प्रभृतिका उल्लेख अपने भक्तमालमें किया है। उनके टीकाकार प्रियादास स्वयं चैतन्यमतके अनुयायी थे। उन्होंने अपने सम्प्रदायके अनेक भक्त कवियोंका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। नाभादासके एक छप्पयके अनुसार चैतन्यमतके भक्तकवियोंने आपसमें मिलकर वृन्दावनकी माधुरीका आस्वादन किया है और इसके फलस्कर्प उनके बजभाषा साहित्यमें इनकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। श्री प्रभुदयाल मीतलने इन भक्तोंके बजसाहित्यपर सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने चैतन्य मतसे प्रभावित बजभाषाके १२२ साहित्यकारोंके प्रन्थोंका परिचय कराया है।

सिहायक यन्थ-चैतन्य मत और ब्रजभाषा साहित्यः --सं० ला० पां० प्रभुदयाल मीतल] अचेतन (unconscious) - मानसके अचेतन पक्षकी थारणा मनोविद्रलेषणकी बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज है। मानस केवल चेतन ही नहीं, वरन अचेतन भी होता है, इसका प्रमाण मानसिक रोगोंके विश्लेषणसे मिलता है। रोगके रुक्षणके मूलमें फायड और अन्य मनोविश्लेषकोंने कुछ अचेतन इच्छाएँ, भावनाएँ या प्रवृत्तियाँ पाथीं। सामान्य जीवनमें भी भूलों, भ्रान्तियों और खटकोंका विश्लेषण करने-पर उनका मूल कारण ऐसी इच्छाएँ या प्रवृत्तियाँ ज्ञात होती है, जिनके बारेमें व्यक्तिको स्वयं कोई झान नहीं होता है। अचेतनके विषयमें बहुतसे सिद्धान्त प्रचलित है, इनमें फायडका सिद्धान्त प्रमुख है और साहित्यपर इसका प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। इनके अनुसार मानसका अचेतन भाग चेतनसे कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिशाली है। काम शक्तिका कोप इस अचेतन मनमें ही है, इसके अतिरिक्त अहम और सपर ईगोकी बहुत-सी मॉगें भी हमारे अचेतन मनका अंश है, अर्थात हमें उनके बारेमें कोई ज्ञान नहीं है और विशेष मनोवैज्ञानिक प्रयत्नोंसे ही वे चेतन मनमें लायी जा सकती हैं। फ्रायडका मनोविज्ञान शैशवकी दमित कामप्रवृत्तिपर केन्द्रित है । इनके अनुसार अचेतनका निर्माण इस प्रवृत्तिजन्य वासनाओंके दमनमें होता है। यह दमन भी अहम अनजाने ही करता है और दमित वासनाएँ सदा प्रकाशनके लिए प्रयत्नशील रहती हैं। अचेतनकी कामप्रवृत्ति वयस्क दृष्टिसे विकृत कामप्रवृत्ति है, जिसकी तृप्ति सामाजिक जीवनमें असम्भव और अनैतिक है। वे दिमत वासनाएँ, जिनका हमें कोई ज्ञान नहीं होता, रूप्नोंमें दैनिक जीवनकी भूलोंमें और अधिक प्रबन्ध होनेपर मान-

सिक रोगोंमें व्यक्त हुआ करता विचित्र, असाधारण व्यवहारे करता ह, स्वयं ही समझ नहीं पाता। यदि विस्लेषणका दिमत बासना चेतन मानसमें आ जाये तो व विचित्रताएँ दूर हो जाती है। श्री इलानन्द्र जोशं. और छाया तथा 'निर्वासित' उपन्यासोंके नाया ही अचेतन वासनाओं और ग्रन्थियोंसे आकान्त हैं। बहुतसे कलाकार भी मानसिक दन्द्रके इस पक्षका अपने पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें करते है (दे० विद्लेषण)।

फायडके शिष्य जुंग भी अचेतन मानसमें । करते हैं, परन्तु फ्रायडके अचेतनकी धारणाको उन्हों। परिवर्तित और विस्तृत कर दिया है। उनके अ अचेतनमें केवल कामप्रवृत्ति ही नहीं वरन् जीवन रहती है। लिबिडो शब्दका अर्थ वह यही जीव-या जीवनेच्छा व ने हैं (दे० 'लिविडों')। वह र मानते है कि अचेतन कुछ अं 🐙 । जातिगत और व होता है। अचेतन भानसमें सोचने और अनुभव व कुछ ऐसे ढंग मि ं े प्रागैतिहासिक प्र आया हुआ मानते हैं। अजपाजाप-वह जप, जिसमें किसी प्रकारके स्थूल ' का उपयोग न हो, जैमे, नामोचारण, माला फेरना अन्य प्रकारसे नामोंको गिनना आदि। सिद्धसः में भी इस प्रकारके जपकी चर्चा है। नाथ पंथियोंने प्रकार रात-दिनमें आने-जानेवाली आवागमनको अजपाजप कहा है। 'इकबीस सहंस आदू पवन पुरिष जप माली। इला प्यंगुला सुषमन अहनिसि बहै प्रनाची' (गोरखबानी) ।

कबीरने नाथ पंथियोंकी पद्धतिक अनुनार श्वासको ओहं और दूसरेको सोहं बताया । आने-जानेवाली साँसोंके द्वारा होनेवाले जपन जनप कहा (दे॰ 'सोहं')। उन्होंने इसे निःअदार बताया है। 'निह अक्षर जाप तहं जाने! उठत ' आपै (कबीर श्र० ३, ७)। अज्ञात चेतन-मानसका वह भाग, जसक ब कोई भी शान या चेतना नहीं है, अर्थात् अ अंग्रेजीके unconscious अध्दक्षे लिए हिन्दीमें अ और अज्ञात चेतन दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं 'मानस', 'अचेतन', 'मनोविइलेषण')। अज्ञातयौवना – (नायिका) — जिम यौवनका आगमन ज्ञात न हो। यह मुग्धा नार् एक भेद है और सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तन है। संस्कृतमें इस भेदको प्रायः किसी आचार्यने नहीं किया। हिन्दीमें अधिकांश कवियोने इसे किया है; विशेष दें 'नायिका-भेद'। मतिरार "निज तनु जौवन आगमन जो नहिं जानति"क पद्माकरने इसी बातको दूसरे प्रकारसे कह ा "जब जीवनको आगमन जानि परत नहिं तानि नोद, भा० ११:२७)। वस्तुतः केंद्रान वधू और केशवकी नवयौवना अज्ञांन "

्तार कि निर्माणि भारपण है कि यह अरपता निर्माणि भारपण है कि यह अरपता निर्माणि भारपण है कि यह अरपता निर्माणि गृह चलाचल केसवटास अवास चहैगी। माई कहाँ यह माइगी दीपति जा दिन है इहि भाति बहैगी' (रसिकप्रिया, ३:१९)। इसमें चावन की स्थिति वणित है। देवके उदाहरणमें भी नायिकाका सहज प्रश्न इसी बातबा संकेत देता है—'काहे तें माई कहा दिनतें मममोहनको मन मोहीं सों माने' (भावविलाम: नायक)।

नवयौवना-केशवके अनुसार ही-"बालदमा निकसै जहीं जीवनको प्रवेश"(वही :३:२०) । वस्तुतः यह मुग्धाका सामान्य लक्षण है और उदाहरणमें भी यही भाव झलकता है—'केसव फूलि नची भृक्री किंट लूटि नितंब लई बहु काली' (वही: ३:२१)। इन दोनों भेदोंका दृष्टिकीण स्पष्ट नहीं है और क्योंकि इनमें नायिकाके सौवनका विकास अञात रूपसे हो रहा है, इस कारण इनको यहाँ रखा गया है। देवकी नवयौवना ज्ञातयौवना न्हें, यह उनके उदाहरणसे स्पष्ट है। परन्तु प्रस्तृत नायिकाके वर्णनमं कवियोंने उसके अंगोंके विकास तथा हृदयके बदले हुए मनोभावका सुन्दर चित्रण किया है। किशोरावस्थामें नारीके ६ . रमें परिवर्तन उपस्थित होते हैं और उनके साथ हृदयमें नये मनोभावोंका जागरण भी होता है, पर उनसे वह भली भाँति परिचित नहीं होती। यही अवस्था है, जिसमें मुग्धा अज्ञातयौवना कही जाती है। रहीमकी नाथिका इस शरीरविकासको सरल आश्चर्यसे ग्रहण करती है-"क्वन रोग दुहूँ छतिया उपजेउ आय । दुखि दिख उठै करेजवा लगि जन जाय" (बरवै०, ३)। इस अंकन-में भाव भी व्यन्जित है। मतिराम अननुभूत सास्विक भावोंसे नाथिकाका अज्ञान चित्रित करते हैं- "कंप छुट्यी धनस्वेद बढ्यो तन रोम उठ्यो अँखियाँ भरि ऋयी।" (रस-राज, १९) । और कभी नायिका अपने तन-मनके परिवर्तन के प्रति चिकत है-"हूँ थीं कहा को कहा गयो यों दिन है कहि तैं कछ ख्याल हमारो" (पद्माकर: जगदिनोद, भाग १: २९ 1) । विधापितिनी राधाका चित्रण अज्ञातयीवनाके रूपमें बहुत संवेगात्मक हुआ है। सूरने भी राधाकी इस अवस्थाके चित्रणमें सूक्ष्म मनोभावोंका आधार ग्रहण किया है। विशेषके लिए दे ० 'वयःसन्धि'। अज्ञेयवाद-यह राब्द टामस हैनरी हक्सले द्वारा गढ़े अंग्रेजी शब्द ऐरनास्टिसिज्मका हिन्दी रूप है। इस वादके अनुसार भौतिक पदार्थ, आत्मा, परमात्मा आदि जैसे दाई-निक और धार्मिक परमतत्त्व अज्ञेय हैं, उनके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकना मनुष्यके लिए असम्भव है। विश्वके प्रपंचके पीछे कोई परमतत्त्व, अगोचर सत्ता हो र्सकती है, किन्तु उसका ज्ञान भूत, भविष्य, वर्तमानमें किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। पश्चिममें इस 🙀 प्रतिपादक कांट, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले और आगस्त 'कोंम्ते हैं। कांट यह मानता था कि जगत्के पीछे कोई स्वाधिष्ठान वस्तु है, किन्तु मनुष्यके लिए वह अज्ञात ·और अज्ञेय है। उन्नीसवीं शताब्दीमें टा० हे० हक्सलेने 🛰ती आस्थाका विश्लेषण करते हुए अज्ञेयवादको ही ेप्एों स्वीकार किया।

करण की जगह और अनुभतिके परे मत्ताकी अभेयत. रिष्टेक करता है। विन्तु वह यह मान गारी कि विसंित की न सनाका अस्तिरः अग्रथ है । अतएव वह नितान्त प्रकृति-वादी नहीं होता। इस मतका आधार यह अनुभृति है कि दर्शनके क्षेत्रमें वैद्यानिक पदि पर्याप्त नहीं है। बुद्धिकी गति अनुभूतिके क्षेत्रतक सीमित है। दर्शन विज्ञानके साम्राज्यके अन्तर्गत नहीं हो सकता। अधेयवाद सीमित सन्देहवाद है (दे० 'सन्देहवाद')। अडिल्ल-मात्रिक सम छन्दका एक भेद, 'प्राकृतपैंगलम्'में अडिल्ला अथवा अल्लिह इसका नाम दिया गया है और लक्षणके अनुसार इसके १६ मात्राके प्रत्येक चरणके अन्तमें २ ल (II) रहने चाहिये, जगण (ISI) वर्जित है (१, १२७) हिन्दीका डिल्ला और अरिल्ल छन्द इसीके रूपान्तर माने जायँगे । यह छन्द पद्धरी तथा पादाकुलक्के समान चौकलके आधारपर गठित था, पर अपभ्रंशकालमें ही (भविष्यत् कहा) यह नियम शिथिल हो चला था। हिन्दीके व वियोंने इस विषयमें स्वतन्त्रता ली है। उन्होंने मात्रा और अन्तके प्रयोगका ही पालन किया है। सुन्दरदासने अपने 'अडिल्ल छन्द ग्रन्थ'में अन्तमें भी परिवर्तन कर दिया है, ल ग (IS) तथा ग ग (SS) में । भान सम्भवतः इसी कारण अरिल्ल (अन्तमें ॥ वा । ५५) और डिल्ला (अन्तमें भगण ८॥) दो भिन्न छन्द ही मानते हैं। इसका प्रधीप चन्द (पृ० रा०), सूर (मू॰सा॰), तुलसी (रा॰च॰मा॰), केशव (रा॰ चं॰), सदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि०वि०) आदिने भी किया है। इस छन्द्रमें प्रायः वीरएसके सुद्धादिका वर्णन किया गया है, परन्तु वर्णनात्मक स्थलीपर भी प्रयुक्त हुआ है। उदा०- 'उलहत भदनि समुद-मद गारत। गिरिवर गरद मरद करि डारत'-(पश्माकर : हि॰ वि॰)। -र॰ अतद्गुण-लोकन्यायमूल अर्थालंकार, निकटवर्ती वस्तके गुण ग्रहण करनेकी मम्भावना होनेपर भी, ग्रहण न किये ... जानेको 'अतद्गुण' अलंकार कहते हैं। इसका प्रथम प्रयोग मम्मटने किया है- 'तद्रणनन्हारइचेदस्य तत्स्यादतद्गुणः' अर्थात प्रस्तुतके संसर्गमें आकर भी प्रकृतका उसके गुणका अनुकरण न करना अतद्गुण है (काव्यप्रकाश, १०: १३८)। जयदेवने अतद्गुण अलंकारका निम्नोक्त लक्षण दिया है-"संगताऽन्यगुणानंगीकारमाहुरतदगुणम्" अर्थात् सामीप्यसे किसीके गुणको अंगीकार न करना अतद्गुण है (चन्द्रा-लोक: १०५)। हिन्दीमें सर्वप्रथम जसवन्त सिंहके भाषा-भूषण'में उदाहरण दिया गया है। मतिराम और भूषणकी परिभाषा समान है कैवल मितरामने रंगका और भूषणने गुणका उल्लेख किया है—"जहाँ संगमैं औरको रंग कछू नहिं लेत" (ल० ल०: ३३७) और—"जह संगतितें औरको गुन ब छुक नहिं लेत" (शि० भू०: २९५)। कुलपतिने 'रसरहस्य'में "सम्भव हू में नहिं गहै" कहकर अधिक स्पष्ट किया है। दासने 'संगत'से गुण ग्रहण न करनेके साथ ही "पूर्व रूप गुन नहिं मिटै भएँ मिटनके हेत" (का व्यनिर्णय-१४) भी माना है।

संस्कृतमें किसी-किसी आचार्यने इसके दो भेद माने हैं। मम्मटकी कारिकामे 'तत्'का अर्थ अप्रकृत तथा 'अस्य'का प्रकृत लेनेसे जहाँ किसी कारणवश प्रकृतके द्वारा अप्र किया है तथा उसकी प्रवृत्ति 'जिज्ञासा'से बतायी है। वास्तवमें आदिम मानवको प्रकृतिकी की इास्थलीके संसर्गमें भय एवं आश्चर्य अथवा विस्मय, इन दो भावोंकी ही मुख्य-तथा प्रतीति हुई होगी। कला एवं काव्यके आकर्षणमें विसायकी भावना सर्वाधिक महत्त्व रखती है। कवि एवं कलाकार जिस वस्तका सौन्दर्य चित्रित करना चाहते है, उसमें कोई लोकको अतिक्रान्त करनेवाला तत्त्व वर्तमान रहता है, जो अपनी असाधारणतासे भावकको अभिभूत कर लेता है। अंग्रेजी साहित्यके रोमांटिक कवियोंने कान्यकी आत्मा विस्मयको ही स्वीकार किया था। अतएव, अद्भुत रसका महत्त्व स्वयं सिद्ध है। साहित्यशास्त्रियोंने रसोंके विरोध एवं अविरोधका व्याख्यान किया है। पण्डितराजने अद्भुतरसको शृंगार एवं वीरका अविरोधी बताया है, अर्थात उनके मतानुसार शृंगार तथा वीरके साथ अद्भुतकी अव-स्थिति हो सकती है। विश्वनाथने सम्बद्ध प्रसंगमें अद्भुतके विरोध या अविरोधके विषयमें कोई उल्लेख नहीं किया है। वास्तवमे उन्होने रसास्वादके निरूपणके प्रकरणमें, जैसा पहले ही कहा गया है, अपने प्रपितामहकी सम्मति उद्धृत करते हुए अपना मत भी व्यक्त कर दिया है कि अद्भुत-रसकी पहुँच सर्वत्र सम्पूर्ण रसोंमें हो सकती है। भानदत्तने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास इत्यादिको अद्-भुत रसमें ही अन्तर्भृत कर दिया है। सामान्यतया अद्भुत एवं हास्य रसमें आपाततः साम्य लक्षित होता है, क्योंकि दोनोंमें लोकसे वैपरीत्यका भाव वर्तमान रहता है। लेकिन अन्तर यह है कि हास्यमें यह वैपरीत्य साधारण होता है और उसका कारण भी यत्रकिंचित ज्ञात रहता है, जब कि अद्भुतमें वैपरीत्यका परिमाण अपेक्षाकृत अधिक होता है और उसका कारण भी अज्ञात रहता है। वस्तुतः दो विपरीत वस्तुओंके संयोगपर विचार करना ही विस्मयका मूल है। सूरदासका 'अद्भुत एक अनूपम बाग'वाला प्रसिद्ध पद अद्भुत रसका सुन्दर उदाहरण है।

अलौकिकतासे युक्त वाक्य, शील, कमे एवं रूप अद्भुत रसके आलम्बन विभाव हैं, अलौकिकताके गुणोंका वर्णन उद्दीपन विभाव है, ऑखें फाडना, टकटकी लगाकर देखना, रोमांच, ऑस्, स्वेद, हर्ष, साधुवाद देना, उपहार-दान, हा-हा करना, अंगोंका धुमाना, कम्पित होना, गद्भद वचन बोलना, उस्कण्ठित होना, इत्यादि इसके अनुभाव है। और वितर्क, आवेग, हर्ष, भ्रान्ति, चिन्ता, चपलता, जड़ता, औत्सक्य प्रभृति व्यभिचारी भाव है।

हिन्दीके आचार्य कुलपितने 'रस-रहस्य' नामक प्रन्थमें अद्भुत रसका वर्णन किया है—'जह अनहोने देखिये, बचन रचन अनुरूप। अद्भुत रसके जानिये, ये विभाव सु अनूप॥ बचन कम्प अरु रोम तनु, यह किथे अनुभाव। हर्ष शंक चित मोह पुनि, यह संचारी भाव॥ जेहि ठाँ नृत्य कितमें, व्यंग आचरज होय। तौऊ रसमें जानियो, अद्भुत रस है सोय।'

अलौकिक पदार्थके गोचरीकरण अर्थात् ज्ञानगम्य होनेसे विसाय उत्पन्न होता है। शास्त्रोंमें बताया गया है, ज्ञान तीन प्रकारका होता है, यथादृष्ट (देखा हुआ), श्रुत (सुना हुआ) और अनुमानज (अनुमित)। अद्भुत रसके विभाव इन त्रिविध रीतियोंसे गोचर होते हैं। लेकिन वैष्णव आचार्योंने एक चौथी रीति भी बतायी है। वह है संकीर्तन अर्थात किसी वस्तका प्रभावक वर्णन-विवरण, जिससे बोधव्य-को उसका सम्यक् ज्ञान हो जाय। इस प्रकार, अद्भुत रस चार प्रकारका होता है- दष्ट, श्रुत, अनुमित एवं संकीर्तित । (१) उदा०—'ब्रज बछरा निज धाम करि फिरि ब्रज लिख फिरि धाम । फिरि इत लिख फिरि उत लखे ठिंग बिरंचि तिहि ठाम' (पोदार: 'रसमंजरी')। वत्सहरणके समय ब्रह्मा द्वारा गोपबालकों तथा बछड़ोंको ब्रह्मधाममें छोड़ आनेपर भी वे ही गोप और बछड़े देखकर ब्रह्माको विस्मय हुआ। अतएव यहाँ दृष्ट अद्भुत रसकी प्रतीति हो रही है। (२) उदा०—'चित अलि कत भरमत रहत कहाँ नहीं है बास । विकसित कसमन में अहै काको सरस विकास' (हरिऔध: 'रसकलस)'। यहाँ अनुमिति अद्भुतकी प्रतीति हो रही है। विकच कुसुमोंमें ईश्वरकी प्रभाके अनुमानज ज्ञानसे उत्पन्न 'विसाय' पृष्ट होकर अद्भुत रसमें व्यक्त हो गया है।

यह सरण रखना चाहिये कि चमत्कारपूर्ण वस्तुके दर्शनसे यदि शृंगारादि रसोंमें 'अंगतया' विस्मय भाव प्रतीत हो, तो वहाँ शृंगारादि रस ही होते हैं तथा जहाँ वह विस्मय प्रधानतासे भासित हो, अद्भुत रस माना जायगा। इसी प्रकार, रसखानिकी प्रसिद्ध पंक्ति 'ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछपै नाच नचावे'में विस्मयकी अभिव्यक्ति होनेपर भी अद्भुत रस निष्पन्न नहीं हो सका है, क्योंकि यहाँ भगवान्की भक्तवत्सल्ताकी अभिव्यक्ति होनेके कारण देवविषयक रितभाव ही प्रधान बन गया है तथा विस्मयका भाव उसीका पोषक बनकर अंगभृत हो गया है।

हिन्दी साहित्यमें अद्भुत रसके उत्कृष्ट प्रयोग हुए है। नारीके रूपसौन्दर्य तथा वयःसन्धिके चित्रण प्रायः अद्भत रसके माधुर्यमें अभिषिक्त हो गये है। विद्यापित तथा स्रदासकी रचनाओं में ऐसे स्थान प्रच्रतासे उपलब्ध होते हैं। दृष्टिकूटके पदोंमें अद्भुत रसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। कृष्णलीलाके अनेक प्रसंगों, यथा उनका उल्खलमें बॉधा जाना तथा रिसयोंका छोटा पड़ना, माटी खाना, गोवर्धन धारण करना इत्यादिमें अद्भतके सुन्दर चित्र अंकित हुए है। 'सरदास'के वे प्रकरण द्रष्टव्य हैं। 'रामचरितमानस'में जहाँ शिश्च रामचन्द्रने माता कौसल्याको अपना विराट् रूप दिखलाया है, वहाँ जननीकी मानिसक क्रियाओंके वर्णनमें अद्भुतका मनोरम प्रवाह है। 'विनयपत्रिका'का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जायका किहये''' अद्भुत रसका उत्कृष्ट उदाहरण है। कबीरकी उलटवॉसियॉ तथा जायसीकृत 'पद्मावत'में पद्मावतीका नख-शिख वर्णन भी अद-भूत रसकी अभिव्यक्तिके लिए पठनीय है। रीतिकालके मुक्तकों, विशेषतः विहारी, मतिराम घनानन्द इत्यादिकी रचनाओमें जहाँ अत्युक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास, असंगति प्रभृति अलंकार प्रयुक्त हुए हैं, अद्भुत रसका निर्वीह सुन्दर हुआ है। छायावादी कवियोंने तो सौन्दर्यकी अपरिचित भूमियोंको उद्घाटित कर तथा वृक्रिमापूर्ण लक्षिणिक दौलीको अपनाकर, 'विसाय' अथवा 'चमत्कारको काव्यके प्राणरूप-में प्रतिष्ठित कर दिया है। वर्तमान युगकी नयी कवितामें

इसका तत्त्व प्रधान है। --र० ति० अद्भय-हैत या देशीभावका अभाव । बौद्ध साहित्यमें बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्गके अर्थमें शब्दका प्रयोग मिलता है। ज्ञाइवत और उच्छेद इन दो अन्तोंके परिहारकी मंज्ञा अद्वय है (दे० विधुशेखर भट्टाचार्य: आगमशास्त्र, पृ० १०२, अचिन्त्यस्तव, पृ० २१)। वस्तुतः माह्यमाहकभाव-की अनिष्पत्ति, प्रपञ्जशन्य परमार्थ ही अद्भय है, जहाँ सभी प्रकारके अस्ति-नारित प्रभृति दृष्टियोंके विकल्प निरस्त हो जाते है। माध्यमिक परमार्थ को अद्भयरूप मानते है। शून्यता-में बौध्य-बोधकरूपी दैतका मान नहीं होता। वह शब्दोसे अतीत, प्रपंचिवगत और वर्णनका अविषय है। इसीलिए नागार्जनने शून्यताको अद्वयलक्षण बताया है। इसीलिए प्रजाको भी जो सभी अन्तों और दृष्टियोंसे असंसृष्ट है, अदय कहा जाता है। सभी अध्वाकी समताका ज्ञान हो जानेपर ही प्रजाका उदय होता है। वह तत्त्वोंके विषयमें अनानात्व दृष्टिकी बोधिका होनेके हेत् ही अद्भय है। अद्भय तत्त्वका उपदेश देनेके कारण ही कभी-कभी बुद्धको अद्भय (नागार्जुन ; परमार्थस्तव, पृ० ४), अद्वयवादी तथा संसार और निर्वाणकी एकतासे अभिन्न बताया जाता है। श्रन्यता या संसार-निर्वाणकी एकता ही माध्यमिकके अनुसार अद्भय है। इसीलिए वह बार-बार तत्त्वको 'अनानार्थ' कहते हैं। विज्ञानवादी विज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) या तथताको ही, जो याद्ययाहक विकल्पका भाजन नहीं बनती, अद्भय शब्दसे संज्ञित करते हैं।

आगे बौद्ध महायान साधनाके विकसित होनेपर वज्रयान में करुणा और श्रन्यता, उपाय और प्रश्ना, पद्म और वज्रके सम्मेलनको ही अद्वयाकार बताया है और इसे 'प्रश्नोपाय' कहा गया है। वज्रयानी वज्र, श्रन्यता, प्रश्नापारमिता और समताको अद्वयका एकार्थक मानते हैं और इसे गगनके समान निर्लेप तथा असङ्ग, विशुद्ध और प्रभास्वर बताते हैं। वे इसे श्रन्यता और करुणा या वज्र और पद्मके अभेद या युगनद्धको संश्लासे भी व्यवहृत करते हैं। यह अद्वय ही परमार्थ तत्त्व है, जो महासुख या निर्वाणसे भिन्न नहीं है।

कभी-कभी वेदान्तियोंके अद्वेत और बौद्धोंके अद्वयमें · अन्तर बताया जाता है। प्रायः वेदान्त साहित्यमें परम तत्त्वको अद्वेत और बौद्ध-साहित्यमें अद्वय शब्दसे व्यवहृत किया गया है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है। अद्वैतके प्रधान आचार्य गौडपाद और शंकरके शिष्य सुरेश्वरने अद्भय शब्दका बहुधा प्रयोग किया है । और नागा-र्जुनके शिष्य आर्यदेवने अद्वैत शब्दको नैरात्म्यके पर्यायके रूपमें व्यवहृत किया है। श्रीमद्भागवत पुराणमें ब्रह्म या परमात्मा को अद्दय कहा है। वस्तुतः अद्दय और अद्वैत परस्पर भिन्न नहीं है। जिसे उपनिषद अद्वैत और ब्रह्म कहते है, बौद्ध उसे ही प्रकरण, परम्परा और शैलीके भेदसे अद्दय, परमार्थ, शून्यता, प्रज्ञोपाय और युगनद्भ बहते हैं। वास्तवमें अद्भय निष्पन्न और परमार्थ तत्त्वका ही दूसरा नाम है, जो शास्वत और उच्छेद इन दो अन्तोंसे विनिर्मुक्त है (शाश्वतोच्छेदनिर्मुक्तं तत्त्वं सौगत संमतम्-अद्भयवज्रसंग्रह)।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमें सहतपुरुषके ज्ञान या अनुभवको अद्भयाकार बताया गया है। धर्मता और शृत्यता या धर्मधात (तथता) आकाशके ममान निलेंप और निःसंग है तथा अद्भयस्वरूप है। महामुख (निर्वाण) को भी सिद्धों ने अद्भयस्य कहा है। कहीं-कहीं अद्भय प्रतिभामका भी उल्लेख मिलता है। वस्तुतः सिद्धोने वज्रयानमे प्रभावित होकर प्रशोपायके रूपमें ही अद्भयका प्रयोग किया है। कहीं-कहीं इन्होंने प्रशांके अर्थमें, विवेवत्यानये, अर्थमें भी अद्भयका प्रयोग किया है।

[सहायक ग्रन्थ—शद्भर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध) : करुणेश शक्ल: ऐन इण्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषण दास-ग्रप्तः तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्यः नागेन्द्रनाथ उपाध्यायः सिद्ध साहित्यः धर्मयीर भारती ।] -क॰ श्र॰ अद्वेतवाद-दर्शनमें सत् (सत्ता) की खोज की जाती है। सत्तको ही तत्त्व या पदार्थ कहते हैं। कभी-कभी इसीको अन्तिम सत्ता या सत्य और परमतत्त्व कहते हैं। यह सत है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह एक है या अनेक ? आदि प्रश्नोंपर पर्याप्त विचार किया गया है, जिसके फलस्वरूप अनेक 'वाद' उत्पन्न हो गये हैं। जो लोग सतको एक मानते हैं, वे एकत्ववादी और जो अनेक मानते हैं वे अनेकत्ववादी, वैपुल्यवादी या बहुत्ववादी कहे जाते हैं। बद्दत्ववादियोंको ही दैतवादी कहा जाता है। अद्भैतवादी इन सबसे भिन्न हैं। वे सत्को न एक मानते हैं, न अनेक। वे उसे अगम, अगोचर, अचिन्त्य, अलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानते हैं। उनको हम अदैतवादी इम-लिए कहते हैं कि वे दैतवादका निरास करते हैं। कल लोग इस खण्डन-प्रवृत्तिका यह अर्थ लगाते है कि वे एकत्ववादी है। पर दार्शनिक दृष्टिसे अद्वैतवाद जैसे दैतवाद या वैपल्य-वादसे भिन्न है, वैसे वह एकत्ववादसे भी भिन्न है, यद्यपि एकत्ववाद ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका जनक और उसका समीपवर्ती है। अद्वैत सत्का वर्णन एक, दो, आदि किसी संख्यासे नहीं हो सकता है। अगम तत्त्वको संख्याके ढाँचेमें नहीं रखा जा सकता। 'नेति-नेति', 'है मात्र', 'है अस जस कछु-कछु तैसा', 'न यह न वह', 'अबोल' आदिसे ही उसका वास्तविक वर्णन होता है।

अद्वेत सत् क्या है १ इस प्रश्नके भी विविध उत्तर हैं, जिनके कारण विविध तत्त्ववादोंका जन्म हुआ। इसे शूर्यवादी (बैंद्ध) शुन्य, विज्ञानवादी (बैंद्ध) विज्ञान, शब्दवादी (वैयाकरण स्फोटवादी) शब्द, शिक्तवादी शिक्त और अद्वेत वेदान्ती आत्मा मानते हैं। हिन्दीके सन्तोंमें कुछ इसे सत् या सत्य कहते हैं, कुछ नाम कहते हैं, तो कुछ सत्तनाम और कुछ हरि। यूरोपके दार्शनिकोंमें से फिस्टेने इसे आत्मा, शेलिंगने अनात्मा (प्रकृति), हेगलने निर्पक्ष प्रत्यय, ग्रीनने अपिरिच्छन्न चैतन्य तथा ब्रैडलेन अपरोक्षानुभव कहा। इन सब वादोंमें प्रधानता आत्मा- हैतवाद की है, जिसे शंकर और उनके अनुयायी, फिस्टे, ग्रीन तथा हिन्दीके कुछ सन्त मानते हैं। यह सत्त्वहैंत, शृन्याहय, विज्ञानाह्रय, शब्दाह्य आदिसें इस बातमें भिन्न है कि इसके अनुसार साक्षात् अंनुभृत होनेवाली चैतन्य-

स्वरूप आत्मा ही तत्त्व है, न कि कोई अन्य माव या अभाव परमतत्त्व है। सभी अद्वैतवादों में यह सिद्ध किया जाता है कि उनके अद्वैत सत्मे ही समस्त भूतोंकी एत्ता मायया विद्यमान है, उसीसे वे मायया निकलते है और उसीमें उनका मायया लय होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद तर्कतः मायावाद या विवर्तवादसे सम्बद्ध है। शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) से लेकर आजतक सामान्यतः उनके आत्माद्वैतवादको ही अद्वैतवादके नामसे पुकारा जाता है, क्यों कि युक्ति और स्वानुभूतिसे यही प्रवलतम अद्वैतवाद सिद्ध होता है। इसीने अन्य अद्वैतवादो तथा द्वैतवादोंका तर्कसंगत खण्डन किया और फलतः इसीका सबसे अधिक प्रचार हुआ। भारतमें इसे अन्य वेदान्तमतोंसे भिन्न करनेके लिए केवलादैतवाद भी कहा जाता है।

अद्भैतवाद ऋग्वेदमें मिलता है। नासदीय सुक्त इसका सुन्दर वर्णन करता है। उपनिषदोंमें तो अद्वैतवादका घर ही है। छान्दोग्य उपनिषद्में एक तथा अद्वितीय सत्का ही वाचारम्भण समस्त प्रपंच कहा गया और उसको आत्मासे अभिन्न माना गया। तत्त्वमिस (वह त है) उसका सिद्धान्त वना । बृहदारण्यक उपनिषद्में आत्माको 'नेति-नेति' कहा गया, नानात्वका खण्डन किया गया और आत्म-लाभको ही मोक्ष समझा गया। माण्ड्रक्य उपनिषद्में आत्मा ब्रह्म है, यह स्पष्ट घोषित किया गया। सूत्रकाल (४०० ई० पू० से २०० ई० तक) में अनेकानेक आचार्योंने उपनिषदोके सारको ब्रह्मसूत्रोंके रूपमे लिखा। इनमेंसे कुछ अद्वैतवादी थे। संयोगवश इस समय केवल बादरायणका ही ब्रह्मसूत्र उपलब्ध है। इसी कालमें या इसके पूर्वसे ही स्मृतियोंकी रचना आरम्भ हुई। इनमें भी उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी विवेचना की गयी। महाभारतके अन्तर्गत भगवद्गीता उप-निषदोंका सारभूत अंश है। वेदान्तमे इसीको 'स्मृति' कहते है।

उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा गीतापर भाष्य या टीका-टिप्पणी लिखनेसे परवर्ती कालमें उपनिषदोंके सिद्धान्तोका बड़ा प्रचार हुआ। इन सबको वेदान्त कहा जाता है। उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि ऐसे लोगोंमें शंकराचार्य ही सबसे प्राचीन है, जिनके उप-निषद्भाष्य, ब्रह्मसूत्र-भाष्य तथा गीता-भाष्य आज उप-लब्ध है। इंकराचार्य अपने पूर्वके कुछ लोगोंको अद्वैतवादी बतलाते है, पर उनकी कृतियाँ अनुपलब्ध है, हाँ, शंकरके परमगुरु गौडपादकी माण्ड्रक्यकारिका आज भी उपलब्ध है। इसमें अद्वैतवादका सर्वप्रथम न्यायसंगत वर्णन मिलता है। गौडपाद बौद्ध अद्वैतविचारधारासे प्रभावित थे। उनके पूर्व बौद्धयन्थोंमे मायावाद या विवर्तवादकी सुन्दर न्याख्या हो गया थी। उससे लाभ उठाकर उन्होंने अद्भैत वेदान्तको अकाट्य तर्कीपर आधारित किया। शंकराचार्यने तो अद्वैतवादका मुख्य प्रवर्त्तन ही किया। उन्होंने केवल भाष्योंकी ही रचना नहीं की, वरन् अहैत-विरोधियोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया। बदरिकाश्रम, द्वारकापुरी और श्रंगेरीमे अपने मतके प्रचारके लिए मठ स्थापित किये, संन्यासपरम्पराका जीवनोद्धार किया और दशनामी सम्प्र-दायकी स्थापना की, जिसके अनुयायी तबसे लेकर आजतक इस देशमें अद्वेतवादका प्रचार कर रहे है। शंकराचार्यके साक्षात शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादने शंकरके यन्थीं-पर क्रमज्ञः वार्तिक और व्याख्या लिखा। पद्मपादकी 'पंचपादिका' और सुरेश्वरके 'बृहदारण्यकीपनिषद्भाष्य-वार्तिक' तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धि' अद्वेतवादके प्रमाणित अन्थ है। पद्मपादकी विचारधाराका विद्यारण्यने अपने 'विवरण-प्रमेयसंग्रह'मे अच्छे दक्षसे प्रतिपादन किया । यह 'विवरण'-की व्याख्या है। 'विवरण' प्रकाशात्म यति द्वारा लिखित 'पंचपादिका'की टीका है। इस ग्रन्थके नामपर अद्वैतमे विवरणप्रस्थान (सम्प्रदाय) चल पडा है। शंकराचार्यके ही समकालीन मण्डन मिश्र थे। कुछ लोग सरेश्वरका ही गृहस्थाश्रमका नाम मण्डन मिश्र बतलाते हैं। पर मण्डन मिश्रके ग्रन्थों में, 'ब्रह्मसिद्धि' तथा 'विश्रमविवेक' में, सरेश्वरके मतोंसे भिन्न मत मिलते हैं। अतः यह सिद्ध हो गया है कि ये दोनो एक व्यक्ति नहीं थे। मण्डन मिश्रकी विचार-परम्परामे वाचरपति मिश्र हुए । इन्होंने भामती (जो इनकी स्त्रीका नाम था) नामसे शंकरके 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (जिसका नाम शारीरक भाष्य है)की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी। इस ग्रन्थसे अद्वैतवेदान्तमें 'भामतीप्रस्थान' (सम्प्रदाय) चल पड़ा है। आगे चलकर जयचन्दके दरबारी पण्डित नैषधीयचरितके प्रणेता श्रीहर्षने 'खण्डनखण्डखाच' लिखकर अद्वैतवेदान्तकी तर्कप्रणालीकी पूर्ण विकसित किया। उन्होंने बौद्ध तर्कप्रणालीके आधारपर अहैतकी सिद्धि की। मधुसूदन सरस्वतीने 'अद्वैतसिद्धि' लिखकर अपने समयके अन्य दार्शनिकोंके मतोंकी कद आलोचना की और अद्वेतवादके सम्बन्धमें समस्त आपत्तियोका उत्तर दिया। ' उन्होंने भक्तिको ज्ञानमार्गसे समुच्चित किया। काशीमें विरोध होनेपर उन्होने तुलसीदासका पक्ष लिया। चित्सुखने 'तत्त्वदीपिका' या 'चित्सुखी' लिखकर पर-मतके खण्डनकी प्रणालीका समर्थन किया और नाना सिद्धान्तोंकी पारिभाषिक ढंगसे विवेचना की। 'खण्डनखण्डखाच', 'अद्वैतसिद्धि' तथा 'चित्सखी' वेदान्तके क्लिष्ट तथा श्रेष्ठ यन्थ माने जाते हैं।

अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) भारतके सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न एक अद्वितीय विद्वान् हो गये है। इन्होंने प्रत्येक शास्त्र और दर्शनपर कलम चलायी है। इनके समयतक अद्वैतवेदान्तके अगणित प्रन्थ और मत-मतान्तर हो गये थे। 'सिद्धान्तलेशसंत्रह' नामसे इन्होंने उन समस्त मत-मतान्तरोंका संग्रह किया। इस ग्रन्थको हम उस समयके अद्वैतवेदान्तका विश्व-कोश कह सकते है। यह पढ़ने योग्य ग्रन्थ है।

अद्वैतवेदान्तके इस विकासमें अद्वैत और बौद्धोंका विचार-युद्ध स्मरणीय है। एकने दूसरेका खण्डन किया। एकने दूसरेको प्रभावित किया। दोनोंने तर्कपर ही अपने-को आधारित किया। तर्कशास्त्रके सिद्धान्तोंकी दोनोंने ही सक्ष्म विवेचना की। ज्ञानमार्गका दोनोंने अवलम्बन किया। रेरवी शताब्दीमें बौद्धधर्म तथा दर्शनके भारत छोड़ देनेसे यह युद्ध शान्त हो गया। उसके निष्कासनका कुछ श्रेय अद्वैतवेदान्तकों भी दिया जाता है। पर उसके तिष्कत और चीन चले जानेसे अदैतवेदान्तमें ज्ञानमार्गकी अपेक्षा

भक्तिमार्गने अधिक महत्त्व छे लिया। परवर्ती अद्वैतवादी पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्तियोके शुध्क शानकी अपेक्षा भक्तिमें आनन्द छेते रहे।

सभी विद्वानोंमें इस वातपर मतैक्य है कि हिन्दीके सन्त साहित्यमें अधिकांश सन्त अद्वैतवादी है। कवीर इनमें सबसे प्राचीन तथा प्रधान हैं। कवीरके पास अद्देत-वाद कैसे पहुँचा ? इसके दो उत्तर अभीतक दिये गये हैं-पहला, कबीरके गुरु रामानन्दको अहैतवादका अच्छा शान था। उन्हींसे कवीरको यह ज्ञान-रहस्य मिला। दूसरा, क्बीरको अपनी साधनासे अद्भैत तत्त्वका अनुभव हुआ। अधिकांश लोगोंके मतसे कबीर ही सबसे पहले हिन्दीके अद्वेतवादी कवि या लेखक हैं। पर यह कथन ऐतिहासिक विनेचनासे निराधार सिद्ध हो जाता है। कवीरके पूर्व भी हिन्दीमें जीवन्त अद्वैतवाद था। सरहपाद (८वी राताब्दी), तिल्लोपाद (१०वी शताब्दी) आदि सिद्ध, जिनकी रच-नाएँ पुरानी हिन्दीमें है, वस्तुतः अद्वेतवादी ही है। गोरखनाथ (११ वो शताब्दी), जिनकी बानियाँ हिन्दीमें आज प्रकाशित हो गयी है, अद्वैतवादो ही थे। सिद्धों और नार्थाने जनताकी बोलीमें कबीरसे पहले अद्वैतवादका प्रचार किया था । कुछ लोग योगमार्गकी इस परम्पराको उतनी ही परानी बतलाते है, जितने कि वेद हैं। कुछ भी हो, इस अद्वेतवादपर योग और बौद्ध विकारधाराका बहुत प्रभाव पड़ा था। बहुत सम्भव है कि अद्वैतवेदान्तियोंने भी लोक-भाषामें अपना प्रचार किया हो। फलतः योग, बौद्ध और वेदान्त, तीनोंके मिलनेसे शंकरके समयमें ही उत्तरी भारतमें अद्वैतवादका प्रचार था। बौद्धों और औपनिषदोंके बाहर जानेसे अद्वैत ईरान, अरब और मिस्नमें गया था, वह मुसलमानोंके आनेपर सूफीमतका रूप धरकर भारतमें वापस आया। इसका भी हिन्दी अद्वैतवादमें योगदान है। सब धाराओंके मिल जानेसे कबीरका अद्वैतवाद १५ वी शतीमें सम्भव हुआ। पर अभी कबीर-पूर्व हिन्दीके अद्वैत-वादकी ऐतिहासिक खोज करनी है।

कनीरके बाद तो अद्दैतवादी सन्तोंका ताँता दंध गया। रैदास और उनके अनुयायी अद्दैती है। कवीरपन्थी सभी अद्दैतवादी है। दादू (१५४४-१६०३ ई०) और दादू पंथके गरीबदास, बखना, रज्जब और सुन्दरदास अद्दैतवादी है। मलकदास, बखना, रज्जब और सुन्दरदास अद्दैतवादी है। मलकदास, भीखा, जगजीवनदास, बूला, यारी, गुलाल, पल्टू आदिकी बानियों भी अद्दैतवादकी प्रकाशिका हैं। आधुनिक सुगमें स्नामी रामतीर्थने अद्दैतवादका साहित्य तथा जनतामें प्रचार किया। इसी समय बंगालमें स्नामी रामकृष्ण परमहंससे अद्दैतकी प्रवल धारा वही। उसके प्रचण्ड समर्थक और प्रतिपादक स्नामी विवेकानन्द हुए। सामान्यतः लोग विवेकानन्द और रामतीर्थक प्रन्थोंसे ही अद्दैतवादका परिचय प्राप्त करते हैं। इनमें राकराचार्यके अद्दैतवेदान्तकी ही आधुनिक प्रणालीसे पुनरक्ति है। इनके 'वादों'का प्रचार अमेरिका और यूरोपमें भी है। वहाँ ये विशेष आदरकी दृष्टिसे देखे जाते है।

संस्कृत अद्दैतवादको प्रायः अद्दैतवेदान्त कहा जाता है। श्रुति (वेद-उपनिषद), गीता और ब्रह्मसूत्र उसके तीन प्रसान है। इन्हींपर द्रीका-टिप्पणी या विचार-अनु शीलन करनेपर जो अद्वेतपरक दर्शन उत्पन्न होता है, उसे अद्वेत-वेदान्त कहते हैं। हिन्दी अद्वेतवादको हम अद्वेतवेदान्त नहीं कह सकते। उसमें श्रुतिप्रमाणका महत्त्व कम या विलकुल नहीं है, स्वानुभृति ही हिन्दी अद्वेतवादका मुख्य प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त संरक्षतके अहँ नवेदानना शानमार्ग (इंकर) या शानकर्म-समुचयमार्ग या शान-कर्म-भक्ति-समुचयमार्ग (मधुमद्रन सरस्वती)को मानते है। हिन्दी-के अहँतवादी इनको नहीं मानते। वे भक्तिमार्ग या शान-भक्ति-समुचयमार्ग या योगमार्ग या योग-भक्ति-समुचय-मार्ग मानते हैं। शान-प्राप्तिके अनन्तर भी वे भक्तिको आवश्यक मानते हैं।

फिर संस्कृत अद्वैतवेदान्तमं परमार्थ और व्यवहार सत्तका भेद किया जाता है, हिन्दी अद्वैतवादमें नहीं। इसी कारण संस्कृत अद्वैतवेदान्त जाति-पॉति-व्यवस्थाका समर्थन करता है और शन्दी अद्वैतवाद खण्डन। संस्कृत अद्वैतवेदान्त मृतिपूजा तथा सगुणोपासनाका अपनी साधनासे सामंजस्य बैठाता है तो हिन्दी अद्वैतवाद इन्हें अद्वैत-साथनाके लिए अनावश्यक मानता है।

संरक्रत अद्देतवाद अवतारवादका समर्थन करता है और हिन्दी अद्वैतवाद खण्डन। हिन्दी अद्वैतवाद औद्ध, वैदिक, यौगिक, स्फी सभी साधनाओं और विचारधाराओं-का फल है। संस्कृत अद्वेतवेदान्त केवल उपनिषदका अनु शीलन है । संस्कृत अद्वैतवादमें तर्क या बुद्धिका प्रमाण मान्य है। वह तार्विक है। हिन्दीके अद्वेतवाद में बुद्धिवाद, स्वाध्याय आदिका खण्डन है और प्रेम तथा भक्तिका अधिक महत्त्व है। वह तार्किक न होकर धार्मिक है। संस्कृतका अद्वैतवेदान्त रहस्यवादके अतिरिक्त विद्युद्ध ज्ञान-मीमांसा, नीतिशास्त्र, तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र देता है तो हिन्दीका अद्रैत केवल रहस्यवाद और उससे सामंजस्य रखनेवाला नीतिशास्त्र तथा तत्त्ववाद । संस्कृतके अद्वैतवेदान्तमें कथनीपर जोर है तो हिन्दीके अद्वैतवेदान्त-में करनीपर। संस्कृत अद्दैतवेदान्तमें एकमात्र और अद्वितीय सत्को आत्मा या बद्धा या परमात्मा कहा जाता है। हिन्दीके अद्वैतवादमें इसे सत्, नाम, सहजसुन्न, सुन्न, हरि, राम, सत्य, सत्तनाम आदि भी कहा जाता है। तात्त्विक दृष्टिसे हिन्दी सन्तोंमें नाम, अनाम और अबोलको सत्से अधिक महत्त्व दिया जाता है। अबोल तो अद्वैतवेदान्तमें भी मिलता है, क्योंकि उसमें भी 'उपशान्ती ह्मयमात्मा' (उपशान्त यह आत्मा है) कहा गया है। सत्-के अनिर्वचनीय होनेके कारण अनाम भी अहैतवेदान्तमें है, पर नामका जो सिद्धान्त हिन्दी अद्वैतवादियोंमें है, वह संस्कृत अद्वैतवेदान्तमें नहीं है। नामको सगुण तथा निर्गुणसे ऊपर तुलसीदास जैसे सगुणभत्तोंने भी माना। तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र जितना संस्कृतमें है, उतना हिन्दी-में नही है। पर जितना रहस्यवाद हिन्दीमें है, उतना संस्कृतमें नही है। अधमा (नायिका) - गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायि-

काओके विभाजनका एक भेद (विशेषके लिए दे०

'नायिका-भेद')। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता

आया। भानुदत्तके अनुसार 'हितकारिण्यपि प्रियतमेऽहितकारिण्यधमा' अर्थात् प्रियके हित करनेपर भी अहित
करनेवाली नायिका अधमा कही गयी है। हिन्दीके कवियोंने प्रायः अहितके लिए (मान) करना कहा—'प्रिय सौं
हितहूके किये करे मान जो बाल' (मितरामः रसराज,
२३४)। कुछने रोष करनेका उल्लेख भी किया है—'ज्यों
ही ज्यों पिय हित करत त्यों-न्यों परित सरोस' (पश्चाकरः
जगिद्दनोद, १:२७७)। रोषका अंकन इस नायिकाके
उदाहरणोंकी विशेषता है—'हा हाके निहोरे हू न हेरत
हिरननेनी, काहेकों करत हठ हारिलकी लाकरी' (मितरामः रसराज,२३५)।' मनानेपर भी वह मानती नही—
'प्यौ पिर पाइ मनायी जऊ तऊ पािपनकों कछु पीर न
आयी' (पश्चाकरः जगिद्दनोद, १:२७८)।

अधिक-अतिशयोक्ति वर्गका अर्थालंकारः यदि आधार अथवा आधेय वस्तृतः छोटा हो, पर उसे अपेक्षाकृत बड़ा वर्णित किया जाय तो 'अधिक' अलंकार होता है। सम्भवतः रुद्रटने इसे सर्वप्रथम स्वतन्त्र अलंकार माना है और मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने उनके दूसरे प्रकारके आधारपर इसका लक्षण दिया है। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने इसकी परिभाषा दी है- 'आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽ-धिक मुच्यते।' (सा० द०, १०: ७२) अर्थात आश्रय (आधार) तथा आश्रयी (आधेय) इनमेंसे एकका अपेक्षाकृत आधिक्य (विशालता या उत्क्रष्टता) होनेसे 'अधिक' अलंकार होता है। यह दो प्रकारका होता है-१ जहाँ आधारकी अपेक्षा आधेयकी कल्पित उत्कृष्टता हो, और २. जहाँ आधेयकी अपेक्षा आधारकी कल्पित उत्कृष्टता हो। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'चन्द्रालोक'के लक्षणको दो भिन्न भेदोंके रूपमें ('कुवलयानन्द'के समान) स्वीकार किया है। मतिरामने प्रथम तथा दितीय आधारकी पृथक-पृथक परिभाषाएँ दी हैं, प्रथम—'जहाँ बढै आधारतै बरनत बढि आधेय।' (ल०ल०, २३६), द्वितीय—'जहाँ बढै आधेय ते बरनत बढ़ि आधार' (छ० छ०, २३८)। 'भूषण'ने इस अलंकारका एक ही प्रकार माना है—'जहाँ बड़े आधारते बरनत बढि आधेय' (शि० भू०, २२०)। उदा०-प्रथम अधिक-'शिव सरजा तव हाथकी, नहिं बखान करिजात। जाको बासी सुजस सब, त्रिभवनमै न समात।' (शि॰ भू॰, २२१)। यहाँ त्रिभुवन आधार है और उसको अतिन्याप्त करनेवाला उससे बड़ा शिवाजीके हाथका यश है। द्वितीय अधिक—'जाके कोस भीतर भुवन करतार ऐसो, जाके नाभिकुण्डमै कमल विकसत है। राव भावसिंह तेरी कहाँ लौं बडाई करी, ऐसी बडो प्रभु तेरे मनमे बसत हैं (ल० ल०, २३९)। यहाँ मनरूपी आधारकी उत्क्रष्टता कल्पित की गयी है ।

माघ किवके 'शिशुपालवध'से 'अधिक'का एक सुन्दर उदाहरण—'जिस विष्णुके शरीरमें चौदहों भुवन समाविष्ट हैं, उसमें नारदागमनजन्य प्रसन्नता अवकाश नहीं पा सकी।' 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस अलंकारको 'अतिशयोक्ति'के अन्तर्गत माना है। मिहानाथने भी प्रस्तुत उदाहरणमें 'सम्बन्धासम्बन्धरूपातिशयोक्ति'की ही अवस्थिति मानी हैं, क्योंकि वस्तुतः प्रसन्नता और शरीरमें सम्बन्ध हैं,

किन्तु दोनोंमें असम्बन्धकी करुपना की गयी है। यह कहा जा सकता है कि अधिक विषमके समान है, क्योंकि उसमें भी दो विरूप वस्तुओंकी संघटना होती है। परन्तु विषममें दो स्वतन्त्र वस्तुएँ विरूप होते हुए भी साथ कही जाती है, जब कि अधिकमें आधाराधेयके रूपमें सम्बन्धित होती हैं और सौन्दर्य दोनोंकी विरूपतामे न होकर आश्रय या आश्रयीके एक-दूसरेसे बड़े होनेमें होती हैं।—ध० ब० बा० अधिक पद-दे० 'शब्द-दोष', चौथा 'वाक्य-दोष'।

अधिनायकवाद (totalitarianism) - फासिज्म (दे०)-के अनुसार राष्ट्रकी आत्माका अवतार दल तथा, अन्ततीगत्वा, अधिनायकके रूपमें होता है। फासिज्मका सम्बन्ध जार्ज सोरेलके इतिहासदर्शनसे है, जिसके अनुसार राष्ट्र, सस्या तथा वर्गकी आत्मा शिष्ट समुदाय (एलीट) के रूपमें साकार होती है। अधिनायकका अवतरण रहस्यमय शब्दोंमें निरूपित किया गया है। कहा जाता है कि अधिनायक स्वयमेव प्रकट हो जाता है। तिब्बत-के लामाओंके समान वह अपने चिह्नोंसे पहचानमे आ जाता है, अन्तर इतना है कि लामाओं मे शारीरिक चिह्न होते है, जब कि अधिनायकमें मानसिक और आध्यादिमक। अधिनायक अवतरित होकर अपने सहायक चुनता है। इस प्रकार शक्तिका प्रवाह ऊपरसे नीचेकी ओर हैं। फासिज्मकी एक शाखा नाजीवाद (दे०)के अनुसार अधिनायक भी राष्ट्र अथवा राज्यके समान शुभाशुभ, नैतिकता-अनैतिकताके परे होता है। 'हिटलर जो निर्णय बरता है, वही ठीक है और अनन्त-कालतक ठीक रहेगा'। इस प्रकार, व्यवहारमें, व्यक्तिको राष्ट्रके नामपर अधिनायकके प्रति आत्मसमपण करना पडता है।

अधिनायकको प्रमुत्वकी अपिरमेथ वासना होती है और वह अपनी बलवती इच्छाशक्ति (विल टु पावर)से पहचाना जाता है। फासिज्म बलवान्की विजय और 'समरथको निहंं दोस गुसाई'की नीतिमें पृरा विश्वास करता है। इच्छाशक्तिको वह सर्वश्रेष्ठ मानवगुण माननेके पक्षमें है। उसके अनुसार इच्छाशक्ति ही इतिहासकी दिशाका निर्धारण करती है। इस प्रकार फासिज्मकी नैतिकता बलवान्की नैतिकता है।

फासिज्म बहुमतवादसे घृणा करता है। जनतन्त्रको वह सामूहिक अनुत्तरदायित्वकी अवस्था बतलाता है। वह जातिजाति, ज्यक्ति-ज्यक्तिमे दुर्लंड्य असमानताका दर्शन करता है। वह साम्यभावका सबसे बड़ा शत्रु है। वह यह कदापि नहीं मान सकता कि प्रत्येक ज्यक्ति एक गिना जाना चाहिये और कोई ज्यक्ति एकसे अधिक नहीं। 'कानूनकी दृष्टिमें सभी बरावर हैं', इस सिद्धान्तकी वह कड़ी आलोचना करता है। यहूदियोंकी जो दुर्गति हिटलरके हाथों हुई, उससे सभी परिचित हैं। पिछले ३०० वधोंमें मानवताने जो उदारवादी (लिवरल) और लोकतन्त्रीय परम्पराएँ विकसित की है, फासिज्म उन सबका सत्यानाश करनेके लिए प्रादुर्भृत हुआ है। फासिज्म अधिनायक असाधारण योग्यता-सम्पन्न होते हैं और वे ही सबके वास्तविक हितमें शासन कर सकते हैं, क्योंकि इच्छा-सार्मान्य (जेनरल विल)का शान केवल उन्हींकों हो सकता हैं, बहुसंख्या अपनी वास्तविक इच्छा, इच्छा-को हो सकता हैं, बहुसंख्या अपनी वास्तविक इच्छा, इच्छा-

सामान्यको स्वयं नहीं समझ सकती। —ह० ना० अन्त्रीरा-दे० 'प्रोदा नायिका'।

अध्यांतरिक (काव्य) — दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य) ।
अध्यात्मवाद — अध्यात्मवाद दर्शनका प्रारम्भिक रूप है।
सभ्यताके विकासके आदिमतम कालमें भी मनुष्यके पास
किसी-न-किसी प्रकारका दर्शन अवश्य रहा है। जीवन और
जगतके प्रति कतिपय विश्वास और मान्यताएँ वह रखता
आया है। साधनों के अभाव, द्वानकी अव्यता और विकासके प्रथम सोणनके आस-पास ही होनेके कारण वह इन
समस्याओंपर सम्यक् रूपसे विचार नहीं कर सका। उनपर
सम्यक् विचार तो अभी पिछले दो-ढाई हजार वर्षोंमें हुआ
है। मनुष्यके आदिम विश्वासोंकी आलोचनात्मक परीक्षा
वर्तमान युगमें ही हो सकी है।

दर्शनका प्रारम्भिक रूप धर्ममें सन्निविष्ट था। सभ्यताके आदिम कालमें धर्म सामाजिक जीवनका एक अविभाज्य अंग था, जिसमें सभी व्यक्ति भाग लेते थे। धर्म लोकोत्तर दिव्य शक्तियों में विश्वास करता है। ये शक्तियाँ अदृश्य है। किन्तु उनका अस्तित्व अवस्य है। वे अनेक लौकिक घटनाओं-की कर्ता, नियामक और संचालक हैं। वे प्रसन्न होकर मनुष्यको सुख और कुपित होनेपर कष्ट देती हैं। अतएव उनको प्रसन्न रखनेके उपाय करते रहनेमें ही बुद्धिमानी है। इन शक्तियोंको तुष्ट और प्रसन्न रखना ज्यावहारिक धर्मका एक प्रमुख अंग है। इसी निमित्त उसने विविध कर्मकाण्डों, संस्कारों, उत्सवों, अनुष्ठानों और यज्ञोंका विधान किया है। सौभाग्य और इष्टफलको प्राप्त करनेके लिए जाद और विज्ञान दोनोंका ही प्रयोग वह करता है। अभीष्ट फल पाने-के लिए प्रार्थना, बलिदान, यश आदि करना, अपनी रक्षा-के लिए मन्त्र, तन्त्र, कवच, टोटकों आदिका करना उसके कर्मकाण्डके अंग हैं। गर्भाधान, जन्म, मृत्यु, विवाह, राजतिलक, युद्धमें विजय, कैशोरप्राप्ति आदिके अवसरोंके लिए विशेष अनुष्ठानोंकी व्यवस्था है। किन्तु इस बाह्या-चारके पीछे कुछ विश्वास भी निहित है। सामाजिक विधानों, संस्कारों तथा अन्य कर्मकाण्डोंकी रचना इन्ही विश्वासोंके आधारपर होती है। ये विश्वास भावी दर्शनोंकी आलोचनाका विषय बनते हैं। इन विश्वासोंकी संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार प्रस्तुतकी जा सकती है-

इस गोचर जगत्के अतिरिक्त एक संसार और भी है, केिकन श्वानेन्द्रियोंके माध्यमसे उसका पता हमें नहीं चलता। यह दूसरा संसार एक परेंके पीछे हैं, किन्तु हमारे प्रत्यक्षके जगत्से नितान्त अलग नहीं हैं, वरन् उससे जुड़ा हुआ हैं। उसमें प्रवेश पाना कठिन नहीं हैं। यदि उपयुक्त साथनोंका प्रयोग करके सही रास्तेपर चला जाय तो उस इन्द्रियातीत जगत्में एहुँचा जा सकता है।

यह अवदय जगत् दैवी शक्तियोंका निवासस्थल है। वे हमारे पास सहज ही आ सकती हैं, हमारे जीवनमें इष्ट यो अनिष्ट घटित कर सकती हैं। किन्तु उनतक पहुँ-चनेका साधन हम नहीं जानते।

यह दैवी शक्तियोंका जगत् चिरन्तन है। मनुष्यका जगत् उसीपर अवलम्बित है। दैवी शक्तियाँ असीम सामर्थ्ययुक्त हैं, उनकी पूजा करना और आहा पालन करना मनुष्यका कर्तव्य है। जीवन-वापनकी कुछ विधियाँ इन शक्तियोंके अनुकूरु और कुछ प्रतिकूरु है। इन विधियोंका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मृत्युके उपरान्त मनुष्यकी आत्मा शेप रहती है और वह इस दिव्यलोकको जाती है।

इन और ऐसे ही अन्य विश्वासोंके समृह्को अध्यात्मवाद-की संज्ञा दी जा सकती है। इन विचारोंकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषयपर निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इनमें सत्य कितना है और कल्पना कितनी, यह भी अनिश्चित है।

इन विचारोंकी उत्पत्तिका कोई अकेला स्रोत नहीं है। सम्भवतः इनकी उत्पत्ति कल्पना, संवेगों और नैतिकतासे हुई है।

आदिम मनुष्यके सम्मुख प्रकृति अपने अनन्त रूपोंमें विखरी पड़ी थी। सूर्य और चन्द्र, उनका उदित और अस्तिमित होना, अनन्त ग्रह-नक्षत्रोंग्रुक्त आकाश, मेघ, पर्वत, नदी, जंगल, वनस्पतियोंका सखना और फिर उत्पन्न हो जाना, ऋतु-चक्र, विजली, ऑधी-तूफान आदि सभी उसके लिए रहस्यमय थे। जन्म और मृत्युकी घटनाएँ, परिवेशमें जीवनकी असहायता, आकस्मिक विपत्ति आदि पग-पगपर उसका पीछा करती थीं। अतएव प्रकृतिके विविध व्यापारोंके पीछे देवी शक्तियों और देवताओंकी कल्पना कर लेना उसके लिए स्वाभाविक था।

संवेगात्मक अनुभूतिने भी इन विचारोंको उत्पन्न करनेमें सहायता की । देवता शक्तिमान् ही नहीं हैं, पवित्र और पावन भी हैं। देवताओं को प्रसन्न करनेमें प्रमुख प्रेरणा भय और आशाकी ही हो सकती हैं। किन्तु इसके साथ ही देवताओं के प्रति एक विस्मय और आदरकी भावना भी आदिम मनुष्यमें थी। अपनी किसी रागात्मक अनुभूतिके कारण मनुष्य देवी शक्तियों को भीषण और मैत्रीपूर्ण दोनों ही समझता था।

नैतिकताका आदान भी तत्त्वतः देवताओं से सम्बद्ध है। देवी शक्तियाँ शुभ और मैत्रीपूर्ण अवश्य हैं, किन्तु उसके साथ ही नैतिक आचरणके विषयमें कठोर भी हैं। आदिम मनुष्यको अपनी इस धारणाके अनुसार अपने जीवनको विविध निग्रहों, संयमों, हराम और हलालके विचारोंके अनुरूप संघटित करना पड़ता था, अन्यथा देवताओं को प्रसन्न कर सकना असम्भव था। अतएव मनुष्य स्वेच्छाचारी और मुक्तभोगी नहीं रह सका। देवताओं को तथाकथित आज्ञाओं, विधिनिषधोंके कारण मनुष्यको आत्मसंयमका अभ्यास करना पड़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक विचारोंके अनेक स्नोत हैं। आदिम धर्मेने जीवनकी सभी उदात्त और प्रहर्षक अनुभूतियोंको एकत्र कर लिया था। उसने अपने कर्म-काण्डीय उत्साहको अनेक धाराओंमें प्रवाहित करके उसे नैतिक और कलात्मक सर्जन, मूर्ति, चित्र और स्थापत्य, नृत्य और संगीतके उन्नयनमें लगाया, अथवा उन्मादकी दिशामें मोडकर उसे युद्धिलम्सा, कट्टरता, धर्मान्यता और मानवीय शक्तिके हास एवं अपव्ययमें लगाया।

अध्यात्मवाद इस प्रकार मानवताके बीते हुए कलतकका

इतिहास है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अध्यात्मवादमें अनेक भ्रम, मिथ्या धारणाएँ और अन्धविद्वास थे। विज्ञानने अपना प्रकाश डालकर अध्यात्मवादकी अनेक मान्यताओं की वास्तविकता प्रकट कर दी है। अतएव समकालीन युगमे समग्र अध्यात्मवाद सन्देह, अविश्वास और लगभग तिरस्कारका पात्र बन गया है। उसे अपदस्थ करके मानवता अपनेको जडसे उखडी और नैतिक एवं आत्मिक शून्यमें पा रही है। मनुष्यके सम्मुख ऐसा संकट कभी प्रस्तुत नही हुआ था।

अध्यात्मत्रादने मनुष्यके जीवनको न्यापक और घनिष्ठ रूपसे प्रभावित किया है। साहित्य, संगीत, मूर्तिकला, स्थापत्य, चित्रशिल्प-सभी कुछ उससे प्रभावित और प्रेरित हुआ है। सभ्यता और एंस्कृतिके विकासके साथ-साथ जैसे-जैसे धर्मका विकास और परिष्कार हुआ, उसके प्रभाव और अभिन्यक्तिके विशिष्ट रूप भी प्रकट होते रहे है। भारत अब भी किसी सीमातक अध्यात्मप्रवण देश कहा जा सकता है। उसके अतीतका साहित्य, संगीत, नृत्य तथा अन्य लित-कलाएँ आध्यात्मिक विश्वासोसे प्रेरित और आध्या-त्मिक श्रेयसकी सिद्धिके लिए प्रणीत हैं। नितान्त भोगवादी लेखकोने भी मानव-जीवनका ध्येय मोक्ष स्वीकार किया है। इस ध्येयको स्वीकार करनेके उपरान्त जीवनके तृतीय पाद-की शिक्षाके निमित्त वात्स्यायनने अपने कामसूत्रकी रचना की है। अर्थशास्त्रका रचिता कूटनीतिश चाणक्य भी स्वयं निस्व था और अध्यात्मके आदर्शको माननेवाला था। इस देशमें अब राजनीतिक और आर्थिक जीवन विज्ञानप्रधान होता जा रहा है, फिर भी यहाँकी जनता अब भी अध्यात्म-प्रवण है। एक ओर मूढ विश्वासोंसे प्रेरित चन्द्र-सूर्य-ग्रहणके अवसरपर आदिम त्रस्तभाव, पुण्य-अर्जनके निमित्त विशेष जलाशयों और नदियोंमे स्नान, विश्वशान्तिके लिए यज्ञोंका आयोजन है, दूसरी ओर कर्म और पुनर्जन्म-के सिद्धान्त, अहिंसा और धार्मिक सिहण्णता आदि भी जन-मानसके अंग बन गये है।

दार्शनिक क्षेत्रमें अध्यातमवाद आदर्शवाद (दे०) का रूप लेता है।

अध्यांतरण—िकसी वस्तुके स्थूल और सीमित स्वरूपको कल्पनाके बलपर त्यागकर उसके स्क्ष्म और असीम रूपका चिन्तन करनेकी प्रवृत्तिको अध्यान्तरण (internalization) कहा जाता है। उदा०—पुष्पके स्थूल गुणोंके अनुभवसे ऊँचे उठकर उसकी पवित्रता, सरलता और सौन्दर्य तथा सत्ताके सम्पूर्ण विधानमें उसके स्थान आदि गुणोंका चिन्तन करना। इसके फलस्वरूप, पुष्पकी बाह्य सत्ताके अतिरिक्त उसकी आन्तरिक, आध्यात्मिक या मानसिक सत्ताका भी अनुभव होने लगता है। यह पुष्पका अध्यान्तरण है।

चिन्तक, दार्शनिक, विश्वानविद्, अध्यान्तरणकी प्रकृत्ति द्वारा उसके अध्यात्म अथवा आन्तरिक तत्त्वतक पहुँचते हैं। सर्जन और आस्वादनके क्षणमे, जैसे संगीतमें, इसकी गति, लय आदिका मानसिक प्रत्यक्ष ही होता है। 'स्थूल'से 'स्क्ष्म' और आध्यात्मिक रूपकी ओर प्रकृत्त होनेकी क्रियाको 'अध्यान्तरण' कहा जाता है

जैसे, वर्ण और विन्याससे बने हुए चित्रमें शान्ति, ओज, माधुर्य आदि गुणोंके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति होती है। —ह० छा० शं०

अनंग-वर्णन -दे॰ 'रस-दोष', दसवाँ।

**अनंगशेखर**—समान वर्णवाले दण्डक छन्दका एक भेद। प्रायः ३२ अक्षरोंके दण्डक अधिक प्रचलित होनेके कारण ही सम्भवतः केशवदासने इसका लक्षण लघु-गुरुके क्रमसे ३२ अक्षरों मात्रका दिया है। वैसे इसमे अक्षरोंकी कोई सीमा नहीं, लघु-गुरुके क्रमसे जितने भी चाहें अक्षर रखे जा सकते है। सर्वप्रथम हेमचन्द्र (१४ द्या० ई०) के 'छन्दोऽनुशासन' (अ०२ : ३९७) में इसका लक्षण 'ल्गावनंगरोखरः' दिया है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत छन्दका प्रचलन बारहवीं शताब्दीसे हुआ है। संस्कृतकालमे इसका प्रयोग नहीं हुआ था। अपभ्रंज्ञकालसे लेकर आधुनिक कालतकके छन्दमे यह प्रयुक्त हुआ है। इस छन्दके दूसरे नाम 'द्विनराचिका' और 'महानराच' भी हैं। रासोमें इसके अनेक रूपो यथा, 'वृद्धनाराच' आदिके प्रयोग मिलते है। उत्साह, वीरता और स्तुति आदिके लिए 'अनंगरोखर' छन्द अत्यन्त उपयुक्त है। 'नाराच और 'पंचचामर' छन्दकी जातिका होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसीका विकसित दण्डक रूप है। केशवका उदाहरण—"जहाँ-जहाँ विराम लेत राम जू तहाँ-तहाँ अनेक भाँ तिके अनेक भोग भागसों बढ़ौ'' (रा० चं०, छं० ३६)। जयशंकरप्रसादके 'हिमादि तुंग श्रंगसे प्रबुद्ध शुद्ध भारती में इसी छन्दकी गति है। 'अनंगशेखर' नाममें ही इस छन्दकी गतिका संकेत लक्षित है, अर्थात् - ISISIS- । भानुने 'छन्दप्रभाकर'मे इस छन्दका उपभेद 'महोधर' (पृ० २१४) नामक छन्द दिया है। —ह० मो०

अननुसंधान-दे॰ 'रस-दोष', आठवाँ। अनन्यपूर्वा-दे॰ 'गोपी'।

अनन्वय – साद्दयगर्भ भेदाभेदप्रधान शब्दालंकार । शब्दार्थ है, जिसका किसी अन्यसे सम्बन्ध न हो। कुछ आचार्योंने इस अलंकारको स्वतन्त्र स्वीकार किया है, भामह, उद्भट, वामन, मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि, और कुछने उपमाके अन्तर्गत-दण्डी, रुद्रद तथा भोज आदि। वामनके अनुसार 'एकस्योपमेयोपमानत्रेऽ-नन्वयः।' (का० स० वृ०, ४:३: १४) अर्थात एक ही वस्तुका उपमेय और उपमानरूपमें वर्णन किया जाना। मम्मट, विश्वनाथने इसी रूपमें लक्षण दिया है—'एक ही वस्तुका एक ही वाक्यमें उपमान और उपमेय दोनों रूपोंम प्रतीत होना, यह अलंकार है। इसमें उपमेय अपनेसे भिन्न किसी उपमानके साथ साधर्म्यसम्बन्ध नहीं। रखता' (का॰ प्र॰, १०:१९; सा॰ द॰, १०:२६)। हिन्दीके मतिराम, भूषण, पद्माकर आदिने इसीका अनु-सरण किया है। जसवन्त सिंहने अनन्वयमें उपमेयका उपमेय बन जाना माना है, जो वास्तवमें उपमानोपमेथ नामक अलंकार है। मतिरामके लक्षणमें भाव स्पष्ट नहीं हो सका है—'जहाँ एक ही नातकौं उपमेयो उपमान' (छ० छ०, ५३)। भूषणके अनुसार-'जहाँ करत उपमेय-

को, उनमें उदमान' (जि॰ मू॰, ३६)। प्रभावत्के लक्षणपर संस्कृत आचार्योंकी और भी स्पष्ट छाप है—'इक वस्तु ही, उपमेय हु उपमान' (प्रधा॰, २६)। दासके लक्षणमें इस अलंकारका भाव अधिक स्पष्ट हुआ है—'जाकी समता जाहिकों' (का॰ नि॰, ८)। उदा॰—'आज गरीब नेवाज महीपर तो सों तुहीं सिवराज बिराजें।' (दिश॰ भू॰, ४०)। अथवा—'मिली न और प्रभा रती, करी भारती और। सुन्दर नन्दिकसोरसों, सुन्दर नन्दिकसोर' (का॰ नि॰, ८)।

इस अलं कार में भी एक वैचिन्य है, जो अन्य उपमानोंसे साधर्म्यसम्बन्धके विच्छेदपर आधारित है। इस अलंकार तथा लाटानुप्रासमें स्पष्ट अन्तर है। लाटानुप्रासमें
समान अर्थवाली एक ही शब्दावलीका प्रयोग किया जाता
है, पर उनका अन्वय भिन्न रूपोंमें होता है, पर अनन्वयमें
एक वस्तुका दो बार उल्लेख होता है, पर वह अपनेआपके समान इस भावनासे कही जाती है कि अन्य
समान वस्तुकी सम्भावना नहीं है। अनन्वयमें एक ही
शब्दका प्रयोग अनिवार्य नहीं है, पर्याय भी प्रयुक्त हो
सकते हैं।

—र०
अनिश्वित संबंध—दे० 'शब्द-टोप', न्यारहवॉ वाक्यदोष।

अनभी-१. वह ज्ञान, जो साक्षात करनेसे प्राप्त हो। 'आतम अनुभौ जब भयो तब नहिं हर्ष बिवाद । चित्त दीप समहै रह्यो तजि करि बाद बिवाद' (कबीर सा०,८१)। २. अनभौ-अचरज। अनहोनी बात-'तुम घट ही मों स्याम बनाये। इस मतिहीन अजान अल्पमति तुम अनभौ पद ल्याये' (सूर-'सूरसागर')। —ত হাত হ্যাত अनलहक - 'अनलहक 'का अर्थ 'मै ही ब्रह्म हूँ' है। मंसूर बिन अल-हल्लाजको 'अनलहक्क' कहनेके लिए ही स्लीपर चढा दिया गया था। मंसूर ईसाकी नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें वर्तमान था तथा दसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक रहा। यह ईरानका सुप्रसिद्ध सूफी था। यह कथन सनातन-पन्थी इस्लामकी मान्यताओंके विरुद्ध है। पर-मात्मा और मनुष्यके एकत्वकी बात इस्लाम स्वीकार नहीं करता । मनुष्य मनुष्य है और परमात्मा परमात्मा और वे दोनों वही थे और वही रहेंगे। वे एक नहीं हो सकते। ऐसा ही इस्लाम-धर्म मानता है।

मंस्रुकी मृत्युके बहुत दिनों बाद इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी कि वास्तवमें उसके कथनके साथ सनातन-पन्थी इस्लामका सामअस्य है। कहा जाता है कि मंस्रका मतल्ब यह था कि परमात्माके 'पक्तव'में सभी प्राणी समाहित हैं। अपनी साधना द्वारा जो इस हश्यमान जगत्से परे हो जाता है, वही उसकी वास्तविक अवस्था है और यही अवस्था परमात्मा है। इसमें 'मैं', 'तुम,' 'हम लोग' आदिका स्थान नहीं रह जाता, ये सभी एक ही वस्तु हैं। अतएव हल्लाजने जब अनलहक कहा तब वह 'अहं'से परे था। अतथव उसके मुँहसे जो कुल निकला, वह परमात्माकी ही आवाज थी। —रा० पू० ति० अनविकृत—दे० 'अर्थ-दोष,' ग्यारहवाँ।

अनात्मवाद-अनात्मवाद आत्मवाद (दे०)का विरोधी

सिद्धान्त हैं। आत्मवाद ब्राध्यणपरम्परा या श्रीतदर्शन है तो अनात्मवाद प्रमागपरापरा या बौद्धदर्शन है। अनात्मवादवो पालीमें अनत्तावाद कहते हैं। नैरात्म्यवाद और पुद्रल प्रतिपेधवाद या पुद्रल नैरात्म्यवाद भी इसीके अन्य पर्याय हैं।

अनात्मवादका शाब्दिक अर्थ है वह वाद जिसमें आत्माका निषेध हो । इसरो कुछ लोग यह समझते है कि अनात्मवादमें आत्माका विलकुल निराकरण किया गया है और यह आत्माका अनस्तित्ववाद या भौतिकवाद है। पर यह सर्तथा दूषित विचार है। बौद्ध-दर्शनमें अनात्मवादको इस अर्थमें नहीं लिया गया है। स्वयं बुद्धने इसे शाश्वनवाद और उच्छेदवाद, इन दो अन्तोंसे पृथक मध्यमा प्रतिपद् या बीचका रास्ता कहा है। शाश्वत-वादका अर्थ है कि आत्मा नित्य, कूटस्थ, चिरन्तन, एक-रूप है। उच्छेदवादका अर्थ है कि आत्मा है ही नहीं। उच्छेदवाद आत्मविनाशका सिद्धान्त है। यह भौतिकवाद है। बुद्धने अपने अनात्मवादको उच्छेदवाद या भौतिकवाद तथा शाश्वतवाद या नित्यात्मवादसे पृथक करके सिद्ध किया कि उनका सिद्धान्त अभौतिक नैरात्म्यवाद है। बद्धने निषेधात्मक ढंगसे आत्माका वर्णन यों किया है-रूप आत्मा नहीं है, वेदना आत्मा नहीं है, संज्ञा आत्मा नहीं है, संस्कार आत्मा नहीं है, विशान आत्मा नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पाँच स्कन्ध हैं। ये आत्मा नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मा स्कन्धसे भिन्न है, पर फिर भी उसके घटक ये ही स्कन्ध समझे जाते हैं।

अनात्मवादकी व्याख्याएँ कई ढंगसे की गयी हैं। (क) बुद्धसे प्रश्न पूछे गये िक क्या जीव शरीरसे भिन्न है या अभिन्न? क्या तथागत मृत्युके बाद रहते हैं या नहीं रहते हैं, या रहते भी हैं और नहीं भी रहते हैं, या न रहते हैं और न नहीं रहते हैं? बुद्धने इन छओं प्रश्नोंका मौनसे उत्तर दिया। ये 'अव्याकृत' सत् हैं। इनका निर्वचन असम्भव है।

बुद्धकी शान्ति या मौनका क्या अर्थ है ? आजतक बौद्ध तथा अबौद्ध इसके अनेक अर्थ रुगा रहे हैं। इस मौनके अर्थपर ही अनात्मवादकी सही व्याख्या निर्भर है।

(ख) थेरवादी नागसेन (१५० ई० पू०)ने आत्माके विषयमें संघातबाद और सन्तानवादको बुद्धका मन्तन्य निश्चित किया। संघातवादके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्थोंका संघातमात्र है। उसका व्यवहार प्रज्ञाप्तिके लिए किया जाता है, वैसे वह अवस्तु है। सन्तानवादके अनुसार आत्माके घटक क्षणिक और विपरिणामधर्मा है। जलप्रवाह या दीपक-शिखाकी तरह आत्मा केवल स्कन्थकी सन्तान है। आत्मा कोई इकाई नहीं, कूटस्थ और नित्य नहीं, वह नित्य परिवर्तनशील स्कन्थ है।

पर बुद्धके कथनके अनुसार आत्मा न तो स्कन्धोंसे भिन्न है और न अभिन्न । अतः संघातवादको बुद्धकी शिक्षा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता ।

(ग) वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्रलवादी हैं। पुद्रल आत्मा-

या द्रव्यका ही पर्याय है।

बसुवन्धुने वास्तीपुत्रीयोंकी 'अभिधर्मकोश'में कड़ आलोचना की और सिद्ध किया कि पुद्गलवादसे आत्मग्रह होता है और शाश्वतत्वका दोष आ जाता है, निःसन्देह बुद्ध इसको बचाते हैं। कोई सत्त्व, कोई आत्मा नहीं है। केवल हेतुप्रत्ययमे जनित धर्म है, स्कन्ध, आयतन और धात है।

(घ) सर्वास्तिवादी बौद्धोंने अनात्मवादको सन्तान-वादके रूपमें लिया। आत्मा अवस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु है। पर यह वस्तु स्थिर नहीं, कूटस्थ नहीं। यह नित्य परिवर्तनशील है। किसी जीवसे एक सन्तानविशेष शापित होता है। जैसे अपिन संचरण करती है, यद्यपि वह अपिनके क्षणोंका सन्तान है, वैसे स्कन्धसमुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचारसे सत्त्वकी आख्या प्राप्त करता है।

(ङ) विज्ञानवादी बौद्धोंने आत्माको आलयविज्ञानके रूपमें लिया। उन्होंने आलयविज्ञानको सन्ततिविज्ञानसे भिन्न किया। उनको अनुमार सुगतका मध्यम मार्ग प्रवाह या सन्तानको सत् मानना है, न कि स्थिरता अथवा उच्छेद या अभावको। सर्वास्तिवादी मतसे यह प्रवाह क्षणिक वस्तु सतोंका है। विज्ञानवादी योगाचारके मतसे यह प्रवाह सिर्फ विज्ञानका है। वस्तुएँ प्रज्ञप्तिमात्र है, सत् नहीं। सत् है केवल चित्त और चैत्त, आलयविज्ञान और सन्ततिविज्ञान। आलयविज्ञान स्रोतके रूपमे अन्युप-च्छिन्न प्रवर्तित होता रहता है। स्रोतका अर्थ हेतुफलको निरन्तर प्रवृत्ति है। इसमें सन्ततिविज्ञानोंकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है।

यहाँ आलयविज्ञान शांकर वेदान्तकी आत्माके पास चला गया। इसमे और वेदान्तकी आत्मामें सिर्फ इतना ही अन्तर रह गया कि यह अपेक्षाकृत चल है, जब कि वेदान्तकी आत्मा अचल।

पर स्वतन्त्र योगाचार विश्वानवादियोंने, दिङ्नाग और धर्मकीतिंने इस भेदको भी मिटा दिया। उन्होंने आलय-विश्वानको ही केवल सत् माना और उसे ध्रुव कहा, नित्य नहीं। वेदान्तकी आत्मा नित्य है। अव ध्रुव और नित्य शब्दका साधारण अर्थ एक ही है। यदि शब्दोंपर झगडा न करे तो ध्रुव आलयविश्वान, जिसे वसुबन्धु विश्वप्तिमात्रता भी कहते है, वेदान्तकी नित्य आत्मासे तनिक भी भिन्न नहीं है।

(च) शून्यवादी बौद्धोंने बुद्धके मौनका अर्थ लगाया कि परम सत्का वर्णन शब्दो द्वारा नहीं हो सकता है। वह सत् शून्य है अर्थात सत्, असत्, सत् और असत् उभय तथा न सत् और न असत् अर्थात् अनुभयसे भिन्न है। उसके बारेमें कोई 'वाद' या दृष्टि सम्भव नहीं है; प्रत्येक दृष्टि सत्, असत्, उभय या अनुभयके रूपमें ही रहती है। अतः वह सदोष है। वह केवल संवृत्ति सत्य ही देती है, परमार्थ सत् नहीं। परमार्थ सत् अभाव नहीं है, वह अनुभवैकगम्य है।

श्र्यवादका कुछ लोगोंने अर्थ अभाववाद या प्रतिषेध-वाद लगाया। पर आज बौद-दर्शनके मर्मश्रोने सिद्ध कर दिया कि यह भ्रान्त धारणा है। इस श्र्न्य या परमार्थ सत् और वेदान्तके परमब्रह्म या आत्मामें भी वास्तवमें नाममात्रका भेद रह जाता है।

आत्मवाद द्रव्यमूलक दृष्टि है तो अनात्मवाद पर्याय-मूलक । आत्मवाद स्थिरतावाद है तो अनात्मवाद गति-वाद । वस्तुतः दोनों दृष्टियाँ आमूल भिन्न है, यद्यपि दोनों सत्का ही निरूपण करती है । एक दृष्टिकों आलोचना दूसरी दृष्टिसे की जा सकती है और की गयी है । पर प्रत्येक दृष्टि अपनेमें सुसंगत, सुश्चंखिलत है । इन दोनो दृष्टियोंका भारतीय जीवन तथा साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । वर्तमान भारतमें यद्यपि ब्राह्मणपरम्पराकी अधिक वातें हैं तो भी इसमें श्रमणपरम्परा इतनी धुल-मिल गयी है कि इसे हम बौद्धपूर्व ब्राह्मणपरम्पराका देश नहीं कह सकते ।

अनात्मवाद निर्वाणकी अनिवार्य शर्त है। (क) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानको आत्मा समझना उचित नहीं है, क्योंकि ये बाधाओंसे प्रस्त है, रोगके अधीन है। (ख) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य है, अतः दुःख है, अतः आत्मा नहीं हो सकते। (ग) जब ये आत्मा नहीं तब इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार विरक्ति या अनासक्ति द्वारा ही मोक्ष या निर्वाणका लाभ हो सकता है। बौद्धोंने देखा कि जब तक आत्मग्रह है तबतक आत्मीयका बोध है, बन्धन है, आसक्तिहै। अतः आत्माको नित्य सत् मान लेनेसे सच्ची अनासक्ति या विरक्ति नहीं आ सकती। विना सच्ची अनासक्ति या निर्वाण दुर्लभ है। कुछ इन्हीं कारणोंसे बुद्धने अनात्मवादकी देशना की।

जिस समय बुद्धका आविर्माव हुआ था, उस समय वैदिक आत्मवादमे कितपय दोष घुस गये थे। आत्माको नित्य और कृटस्थ मानकर उसके लिए यह किये जाते थे, जिनमें कभी-कभी पशुओं की हिंसा भी की जाती थी। आत्माको सदा एकरूप माननेवाले व्यवहारमें एकरूपता नहीं बरतते थे। व्यवहारमें वे जीवों को अनेक मानते थे और सबको स्वतन्त्र, नित्य सत् मानते थे। बुद्धने वैदिक हिंसा तथा व्यवहारके द्वैतवाद अर्थात् जाति-पॉतिके विचार, ऊँच-नीचके भावके प्रति आन्दोलन करते हुए अनात्मवादके सिद्धान्तकी अवतारणा की, जिसके कारण यह तथा व्यवहारके द्वैतवादकी व्यर्थता सिद्ध हो जाती है और अनासिक्त तथा समचर्याके सिद्धान्तकी आधारशिला मिलती है।

पुरानी हिन्दीमें अनात्मवादकी देशना देनेवाले चौरासी सिद्ध बौद्ध थे, यद्यपि उनमें तन्त्रका भी प्रचुर प्रभाव था। उनके अनुवर्ती नाथ लोग भी अर्थबौद्ध और अर्थयोगी थे। इनकी रचनाओंमें अनात्मवाद आध्यात्मिक जीवनके प्रेरक तथा आध्यात्मिक चरम अनुभूतिके रूपमें आता है। प्रेरकके रूपमें अनात्मवाद जीवनकी, संसारकी असारताका सिद्धान्त हो गया और अनुभूतिके रूपमें वह शृत्यवाद या सुन्नकी अनुभूति हो गया। नाथ सम्प्रदायके अनन्तर आनेवाले निर्णुणोपासक सन्तों तथा सूफियोंपर भी अनात्मवादका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। सगुणोपासक सन्त यद्यपि बौद्धोंकी करुणांके सिद्धान्तसे अधिक प्रभावित ये तथापि वे उनके अनात्मवाद या शृत्यवादसे प्रभावित न थे।

हिन्दिके सन्त-साहित्यमं बीख अनात्मवाद और देदिक आत्मवादका समन्वय मिलता है। बुद्धकी देशनासे सिद्ध है कि अनात्मवाद वस्तुतः मौनवाद या रहरयवाद है, उसको बुढि द्वारा समझा महीं जा सकता है। यह रहरयवाद हिन्दी साहित्यमें उसी रूपमें मिलता है, जिस रूपमें कि बुढि को अभीष्ट था। कुछ लोगोंका नो यहाँ तक मत है कि हिन्दी के निर्पुण सन्तोकी परम्परा ही वास्तवमें अमण परम्परा है, जो समचर्या, जाति-पॉतिके उच्छेद, शृन्यता आदिपर जोर देती है। पर यह कथन एकांगी है। उसपर आत्मवादी परम्पराका भी प्रभाव कम नहीं पड़ा है। आत्मा या ब्रह्म तथा शृन्यको इस परम्परामें अभिन्न समझा गया है और मौनमात्र ही या अबोल उसका लक्षण कहा गया है। कवीर, रैदास, दादू आदिने इस अबोलके सिद्धान्तपर विशेष वल दिया है।

[सहायक ग्रन्थ-बौद्धधर्म-दर्शन: नरेन्द्रदेव; बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग) : भरतसिंह उपाध्याय; दर्शन-दिग्दर्शन: राहुल सांकृत्यायन।] —सं० ला० पा० अनातमा - उपनिषदोंके उपरान्त बौद्धमतमें प्रमुखतया 'अहं' (अत्ता)के रूपमें आत्माकी विचारधारा विकसित और पल्लवित हुई । बुद्धने आत्मग्रह या सत्काय दृष्टिके निवर्तनका उपदेश दिया। शरीर, इन्द्रियां, धर्मां, स्कन्ध, धात, आयतन आदिमें आत्म-भावका ग्रहण ही सत्काय दृष्टि या बन्ध है। यही दुःख है। इसीलिए उन्होंने स्कन्यादिके विषयमें स्पष्ट रूपसे बार-बार निर्देश किया है कि 'वह मेरा आत्मा नहीं है' (न सो मे अत्ता)। इसींलिए बुद्ध बार-बार आत्म-नाश (अहंभाव-निरास अत्तजहो) पर भी बल देते हैं। इसीको बादमें अनात्माकी देशना या नैरात्म्यवाद कहा गया। कभी कभी बौद्धोंके अनात्मवाद और ब्राह्मण दर्शनोंके आत्म-सिद्धान्तको विरोधी बताया जाता है (ति॰ रा॰ वे॰ मृतिः दि सेण्टल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म; अध्याय, १,२)। परन्तु वे परस्पर एक दूसरेके विरोधी नहीं है, अपित एक ही तत्त्वकी प्रकारान्तर-से व्याख्याएँ मात्र है।

बुद्धने जिस 'अनत्त' (अनात्म-अहं-निरास)का उपदेश दिया उसीको बादमें आत्म-विरोधी मान लिया गया और बुद्धके अनत्तको संस्कृत अनात्मसे अभिन्न मानकर आत्म और अनात्मको परस्पर विरोधी विचारोंका द्योतक माना गया । बौद्ध अनात्म सिद्धान्तका मूल बुद्धके अव्या-कृत प्रदनोंमें हूँढ़ा जा सकता है, जहाँ आत्मा (जीव) और शरीरकी भिन्नता या अभिन्नताके प्रश्नके पृछे जानेपर बुद्धने मौन धारण कर लिया और परवर्ती बौद्ध साहित्य-में उनके इस मौनधारणसे आत्म-निषेधका अर्थ लिया गया। परन्त बद्धके अव्याकृतींका एक सक्ष्म अध्ययन यह बताता है कि जहाँ बुद्धने आत्माके प्रश्नपर मौन धारण कर लिया, वहाँ उनका मौनधारण अज्ञता (agnosticism) या आत्माके निषेधको द्योतित नहीं करता, अपितु इससे आत्माके अनिर्वचनीय स्वरूपकी ही निष्पत्ति होती है। बुद्धका मन्तव्य था-आत्मा स्कन्ध, देह, इन्द्रिय प्रभृतिसे अभिन्न नहीं है, उसकी व्याख्या देहादिसे नही की जा सकती, क्योंकि वे अनित्य और दुःखरूप तथा अनात्म (आत्मरवरूप विनिर्मुक्त) है और आत्मा नित्य है। बद्धके इसी मन्तव्यका प्रकाशन बौद्ध-दर्शनके विभिन्न विभिन्न आचार्योंने विभिन्न प्रकारसे किया। नागसेन और वसुबन्धने व्यवहारकी सिद्धिके लिए पाँच स्वत्थीका ग्रहण किया । वास्तीपुत्रीय निकायवालीने व्यतिरिक्त एक पुद्गलका अस्तित्व माना । कुमारलात और अन्य आचार्योंने नैरात्म्यकी बुद्धके मध्यम मार्गके अनुसार व्याख्या की। महायानवादमं पुद्गल-नैरात्म्यकी विचार-धारा विशेष रूपसे पलवित हुई। महायानवादियों और विशेषकर नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्तिने इसे भाव. अभावकी करएनाओंमे व्यतिरिक्त बताया (तु० उपनिषद्-निविंकरप)। उनके अनुसार इस अद्वितीय तत्त्वका बुद्धने अधिकारियोंके भेदसे उपदेश दिया । उन्होंने आत्माका निर्विकरप चेतन तत्त्वके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे अस्तित्व स्वीकार किया है। योगाचारियोंने क्षणिक, प्रवाहशील विश्वप्तिको ही आत्मा (आलय)की संशा दी।

बादमें बुद्धके नौरात्म्य-सिद्धान्तका महायानमें पुद्गल-नैरात्म्यके साथ-साथ धर्मनैरात्म्य (सभी धर्मोकी निम्स्नभा-वता) के रूपमें विकास (दे० 'अनात्मवाद') हुआ।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमे बौद्ध नैराहम्य सिद्धान्त (अनात्म), पुद्गल-नैराह्म्य और धर्मनैराह्म्यका पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है। जगत्की शून्यता और निःस्वभावताके वर्णनमें सरह प्रभृतिने धर्मनैराह्म्यका बार-बार उल्लेख किया है।

[सहायक ग्रन्थ—बौद्धधर्म दर्शन: नरेन्द्रदेव; गास्पेल ऑव बुद्धिडम: आनन्द कुमारस्वामी; इ.कर और नागार्जुन-का तुल्नात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध): करुणेश शुक्ल; बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन: भरत सिंह उपाध्याय।]——क॰ शु॰

अनाहत-दे० 'हठयोग'। अनाहत नाद-दे० 'नाद'।

अनियम-परिवृत्त -दे० 'अर्थ-दोष,' उन्नीसवाँ।

अनिश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली -यह अंग्रेजीके 'नॉन-जुडीशियल'का समानाथीं है। आलोचनाके तीन प्रमुख प्रयोजन बतलाये गये हैं-रसग्रहण, व्याख्या तथा निर्णय। निर्णय आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना जाता है। विश्वके समस्त आलोचको तथा विद्वानोंने एक स्वरसे इमे स्वीकार किया है। परन्त इतिहास साक्षी है कि निर्णय-की कसौटी रूढ़ हो जाती है। प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि ग्रीक आलोचकों द्वारा दी गयी निर्णयकी कसौटियाँ आगे चलकर रूढ और परम्परागत हो गयीं। यहाँ तक कि उनकी मान्यताओंके बाह्य स्वरूपको प्रधानता देकर आगेके आलोचकोंने साहित्यकी मूल आत्माको उपेक्षित रखा। उनके निश्चय आवश्यकतासे अधिक साहित्यिक कृतियोंपर लागू किये गये। फलतः प्रतिक्रिया हुई। विद्वानीने यह सिद्ध किया कि निर्णय कभी भी हमें सत्यतक नहीं ले जा सकता। वह अपने देश-कालतक सीमित रहता है। इन छोगोंने मुख्यतः तीन प्रश्न उठाये-(१) निर्णयका मान-दण्ड कौन स्थिर करेगा, (२) निर्णयके मानामें विभिन्नता एक नैसर्गिक सस्य है, क्योंकि एक व्यक्तिके लिए नीति अधिक महत्त्वपूर्ण है तो दूसरेके लिए अनुभूति और तीसरेके लिए अभिव्यंजना। इस प्रकार विश्वकी समस्त वस्तुर्षे सापेक्षिक है। इसीलिए निर्णयके मानको स्थिर करना कठिन है, (३) निर्णय देनेवाला निर्वेयक्तिक होकर एक साहित्यिक कृतिका म्ल्यांकन नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी वैयक्तिक रुचि ही निर्णयका आधार होती है। इस प्रकार साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन निर्णयको उसके ऊपर लागू करके, नहीं किया जा सकता, क्योंकि साहित्य अंकगणित नहीं है कि एक ही कायदा-कानून सवपर घटित किया जा सके।

साहित्य वस्तुगत होकर भी आत्मगत है। इसीलिए साहित्यका अध्ययन सहानुभूतिकी अपेक्षा रखता है। किसी भी कृतिकी गहराईमें डूबकर उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए पहलेसे ही पूर्विनश्चयों या निर्णयोंके आधारपर साहित्यका रस-ग्रहण सम्भव नही है। जर्मन तस्त्ववेत्ताओंने इन्ही तथ्योंके आधारपर निर्णयात्मक आलोचनापद्धतिका विरोध किया। धीरे-धीरे आलोचनापद्धतिको लोगोने व्यापक बनाया और सबको तथा सब तरहकी कृतियोको अपनी सहानुभृतिका पात्र बनाया।

प्रस्तुत आलोचनापद्धतिका प्रमुख लक्ष्य होता है— साहित्यका रस-ग्रहण। यह आलोचनापद्धति बहुत बादमें आकर विकसित हुई है। वर्जीनिआ बुल्फ, हर्बर्ट रीड आदि अंग्रेजी आलोचक इस कोटिके सिद्ध आलोचक है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्रमे इस दृष्टिकोणसे विवेचन नहीं हुआ है फिर भी संस्कृत आचार्योंका दृष्टिकोण निर्णयकी ओर झुकावका रहा है। वैसे रसवादियोंका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार और ज्यापक रहा है। रस-निष्पत्तिके सिद्धान्तसे निश्चय ही साहित्यमें रस-ग्रहणकी परम्परा स्थापित हुई थी।

हिन्दीमें इस प्रणालीकी आलोचना छायावादके उदय-के बाद ही पायी जाती है। छायावादी आलोचकोंका दृष्टिकोण इसी सिद्धान्तका पोषक है। प्रगतिवादी तो निर्णय लेकर ही साहित्यक्षेत्रमे उतरते है। नन्दद्लारे वाजपेयी, 'अज्ञेय', धर्मवीर भारती, रघुवंदा, विजयदेवनारायण साही इस पद्धतिके आलोचक माने जायँगे। -रा० कु स० अमिश्वरवाद - संकीर्ण अर्थमे यह शब्द उस विचारधाराके लिए प्रयुक्त होता है, जो ईश्वर या अन्य देवताओक अस्तित्वको अस्वीकार करती है। व्यापक अर्थमें इसका प्रयोग संदेहवादियो, भौतिकवादियों, प्रत्यक्षवादियों तथा ऐसे सभी लोगोके लिए किया जाता है, जो ईश्वरवादी धर्म-को अस्वीकार करते है और यह नहीं मानते कि इस जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारक कोई एक देवता या अनेक देवना है, जिनमें बुद्धि और संकल्पके मानवीय लक्षण असीम या ससीम रूपसे होते है।

भारतीय परम्परामें नास्तिक शब्द भी कुछ इसके समान भावको व्यक्त करता है। किन्तु उसका प्रयोग हिन्दू दार्शनिकोंने एक विशिष्ट अर्थमें किया है—वेद-निन्दक ही असली नास्तिक है। इस प्रकार अनीधरवादी सांख्य तो नास्तिक नहीं है, किन्तु हिन्दू दार्शनिकोको दृष्टिमें जैन और बौद्ध नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदोंको आप्तताको स्वीकार नहीं करते। इसी कारण ईश्वरमें विश्वास करनेवाले इत्तर धर्म भी.

जैसे ईसाई मत और इस्लाम तथा ईश्वर जैसे अमिताभ बुद्धमें आस्था रखनेवाले महायानी बौद्ध भी नास्तिक हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नास्तिकता और अनीश्वरवाद पर्याय नहीं है। केवल वेद-निन्दासे बचा रहकर निरीश्वरवादी भी आस्तिक बना रह सकता है।

मनुष्य स्वभावसे ईश्वरवादी या देवतावादी है। आदिम स्तरके मानव-समाजोंसे लेकर उन्नततम समाजोंतकमें किसी-न-विसी प्रकारके देवताओं या ईश्वरमे विश्वास और उनकी पजा-उपासना मिलती है। नितान्त अनीश्वरवादी समाज मिलना कठिन है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि प्रायः सभी देशों और सभ्यताओमें ऐसे विचारक उत्पन्न हुए है, जिन्होंने ईश्वरवाद और देवतावादमें अविश्वास प्रकट किया है और उसे त्याज्य ठहराया है। स्वयं भारत जैसे ईश्वरवादी और अवतारवादी देशमें अनीश्वरवादी विचारकोंकी कमी नहीं रही है। ऋग्वेदमें भी देवताओं के अस्तित्वको अस्वीकार करनेवालोंका वर्णन है। सर्वेद्वरवादी उपनिषदोंमे ईदवर और देवताओंको एक भ्रम और कल्पनाके समकक्ष बना दिया गया । शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तमें भी ईश्वरकी सत्ता. वास्तविक नही, मायिक, अयथार्थ मानी गयी है। ब्रह्म अथवा आत्मा विशुद्ध सत् है, निर्गुण है, उसमें कोई भी शुभ या अशुभ गुण किसी भी परिमाणमें व्याप्त नहीं है। ऐसा ब्रह्म निश्चय ही भक्त या ईश्वरवादीका उपास्य ईश्वर नहीं है।

इसके अतिरिक्त दो अन्य आस्तिक दर्शन लगभग निरीश्वरवादी है। सांख्य दर्शनका प्राचीन रूप निश्चित रूपसे निरीश्वरवादी है। सांख्य दर्शनका प्राचीन रूप निश्चित रूपसे निरीश्वरवादी है। वह अनेक प्रमाण देकर ईश्वरका खण्डन करता है। जगत्की सृष्टिके लिए वह ईश्वरको आवश्यक नहीं मानता। मोक्षके लिए भी उसकी अपनी साधना-पद्धित है, जिसके अनुसार किसी ईश्वरमे विश्वास करना, उसकी शरणमे जाना, उसकी उपासना आदि करना विलक्षल अनावश्यक और व्यर्थ है। पुरुष अपनेको ज्ञानके द्वारा मूल प्रकृतिके पाशोसे मुक्त करके मोक्ष स्वयं ही प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्डमे परिपूर्ण आस्था रखते हुए पूर्वमीमांसा दर्शन भी अनीश्वरवादी है। कुमारिल भट्टने विविध तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि सर्वशक्तिमत्ता तथा ऐसे अन्य असीम शुभ गुणोंसे युक्त कोई ईश्वर नहीं हो सकता। वह जगत्को स्वाधिष्ठान और अपनेमें पूर्ण मानता है, जिसके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं।

वेदोंमें विश्वास न करनेवाले अन्य भारतीय दर्शनोंने ईश्वरवादका बौद्धिक तकोंके आधारपर खण्डन किया है। इनमें चार्वाक, जैन और बौद्ध-दर्शन प्रमुख है। चार्वाक दर्शन तो शत-प्रतिशत प्रकृतिवादी, लोकपरक और ऐहिक सुखवादी है। उसने ईश्वरका खण्डन मुक्त कण्ठसे किया है। वह केवल प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है। आत्मा और पुनर्जन्मके अस्तित्वको अस्वीकार करता है। ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। जगत् पंचतत्त्वों के संयोगसे उत्पन्न होता है। उसकी सृष्टिके लिए किसी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। जगत्में कोई भी चेतन सो देश्यता नहीं है। अतः चार्वाक दर्शनको स्वभाववाद और यहच्छावाद भी कहते है।

जैनधर्म बौद्धधर्मकी भांति अनीइवरवादी धर्म है। वह ईश्वरके अस्तित्वके विरुद्ध कई तर्क देता है-ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं होता और अनुमानसे भी उसकी सिद्धि नहीं होती। सृष्टिकर्ताकी आवश्यकता तभी हो सकती है, जब जगतको सष्ट माना जाय । जगतको सष्ट माननेका कोई कारण नहीं है। फिर यदि ईश्वर निराकार है, अंगहीन है तो उसने इस जगतको सृष्टि कैसे कर डाली ? ईश्वरके अन्य सब श्रभ गुण भी सन्देहारपद हैं। यदि वह सर्वशक्तिमान है तो उसे मंसारके सभी पदार्थीका कारण होना चाहिये, लेकिन हम नित्य ही देखते हैं कि घट, पट, गृह आदि अनेक वस्तुएँ दूसरे निमित्तोंसे उत्पन्न होती रहती हैं। ईरवरके एक होनेकी बात भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि संसारमें देखनेमें आता है कि गृह इत्यादिका निर्माण एक स्यपतिमात्र नहीं करता, वरन् अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न होता है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनेक हो सकते हैं।

भगवान् बुद्धने भी ईश्वरिविषयक समस्त जिज्ञासाओंको निरर्थक बनलाया है। उनका अष्टांगिक मार्ग स्वावलम्बनका साधनापथ है। उसमें किसो भी ईश्वरमें विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर आदि समस्याओंके विषयमें बुद्धने मीन ही रखा है। उनके अनुचरोंमें हीनयान तो स्पष्ट ही अनीश्वरवादी हैं।

चीनके ताओवादमें भी व्यक्तितायुक्त ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है। कनम्यूरासीय धर्ममें भी ईश्वरमें विश्वास करना आवश्यक नहीं है।

पश्चिममें अनीश्वरवादकी परम्परा काफी पुरानी है। प्राचीन यूनानके आरिम्भक दार्शनिक प्रकृतिवादी थे। उन्होंने लोकप्रिय देवताओंकी सहायता लिये बिना ही जगत्की व्याख्या करनेका प्रयास किया। एम्पीडॉक्लीज और अनेजैगौरसके सिद्धान्तोंने प्रकृतिवादी दृष्टिकीणके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। डेमोक्रिट्स तथा उसके सहयोगी जणुवादियोंने अणुकी सहायतासे प्रकृतिको समझनेका यत्न किया। लेटे नितान्त प्रकृतिवादी सिद्धान्तके पक्षमें नहीं था। किन्तु अरस्तू और नव्य लेटोवादियोंने विश्व और मानवताके जीवनमें देवताओंके हस्तक्षेपको मूर्खतापूर्ण विचार ठहराया। एपीक्यूरसने प्रकृतिवादी दर्शन और सुखवादी नैतिकताका समर्थन किया। प्राचीन ग्रीसमें सन्देहनवादी दार्शनकोंकी भी कमी नहीं थी। रोमका प्रसिद्ध किय ल क्रीशस प्रकृतिवादमें विश्वास करता था और उसने अपने जीवन-दर्शनको काल्यबद्ध भी किया।

उत्तर-मध्ययुगमे भी विद्युद्ध अनीक्ष्यवादी विचारधारा मिलती है। सर्वेक्ष्यवादी रहस्यवाद धर्मके ईक्ष्यको निराकृत कर देता है। इसलिए कट्टर ईसाई तथा यहूदी धर्मानुयायी सर्वेक्ष्यवादियों को अनीक्ष्यवादी और नास्त्रिक मानते रहे। अनीक्ष्यवादियों को अनीक्ष्यवादी और नास्त्रिक मानते रहे। अनीक्ष्यवादिकों पूर्ण विकास आधुनिक युगमें हुआ है। गणित, ज्योतिष, भौतिकी, रसायन, भूगर्मशास्त्र, प्राणिविक्षान, नृशास्त्रोंकी प्रगतिके साथ-साथ धर्मग्रन्थोंमें वर्णित अनेक सिद्धान्तों, तथ्यों और प्रचलित धार्मिक विक्ष्यासंक्षी जड़में कुठाराधात किया गया। पश्चिमी मनुष्यने पुनक्त्थानके युगमें बौद्धिक परतन्त्रताकी श्रंखलाएँ तोड़कर बौद्धिक

स्वतन्त्रनाके राजमार्गपर कदम रखे। प्रकृतिवाद शनें शनैः पिश्चमी मनीपाका मूलाधार हो गया। जगत् और जीवनकी व्याख्या विशुद्ध प्रकृतिवादी ढंगसे, यान्त्रिक नियमों द्वारा होने लगी। फाँयडके मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तने धर्मकी एक अम और ईश्वरको पिताका स्थानापन्न विचारमात्र सिद्ध कर दिया। नृशास्त्रियोने आदिम मानव-समार्जोका अध्ययन करके धर्मको लौकिक आवश्यकताका पूरक वतलाया। विकासवादी सिद्धान्तीके अनुसार भी विकासकी प्रक्रियामें ईश्वर जैसी किसी शक्तिका अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता था। हक्सले और स्पेन्सर जैसे वैज्ञानिक दार्शनिकोंने अभ्यवादको एकमात्र बुद्धि-संगत दर्शन ठहराया। इस प्रकार ईश्वरके अस्तित्वमें पारम्परीण विश्वास जर्जर हो गया, अनीश्वरवाद वायुमण्डलमें परिव्याप्त-सा हो गया।

उन्नीसर्वी शताब्दीके मध्यमें अनीश्वरवाद जर्मनीमें विशेषकर लोकप्रिय हुआ। फाएरबाख तथा अन्य दार्शनिकों-के भौतिकवादने आक्रमिक रूपसे अनीश्वरवादका प्रतिपादन किया। इंग्लैण्डमें चार्ल्स बैडले तथा अन्य स्वच्छन्द विचारकोंके बुद्धिवादसे अनीश्वरवादका प्रचार हुआ।

समकालीन युगमें भौतिकवादी वैज्ञानिक विचारणा और मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके व्यापक प्रचारके कारण अनीश्वरवादका प्रसार सर्वत्र हो गया है। कला और साहित्य-में उसकी अभिन्यक्ति प्रचुर रूपसे होती रहती है। -आ॰ अनुकरण (imitation) - मन्ष्यकी पहली कलाकृतियाँ नकलपर आधारित है। गुहामानवींके शिकार किये हुए पश्ओंके चित्र हैं। परन्त यथार्थका फोटोग्राफिक अनुकरण ऊँची कलाकृति नहीं होता-क्योंकि वह यान्त्रिक भी हो सकता है। अनुकरणमें सत्यका आभास भी मिलता रहता है। नाट्यके सन्दर्भमें 'अनुकृति'को ही अभिनयका आधार माना। 'काव्य-शास्त्र'में 'अनुकरण' को ही अरस्तुने अपने कलाकी मूल आत्मा माना था। परन्तु यह विचार बादमें बदलता गया। कई कलाकृतियाँ ऐसी हैं, जो केवल कल्पनापर आश्रित है और उनमें सौन्दर्य अनुकरणपर आधारित नही होता । उदाहरणार्थ, परियोंकी कहानियाँ या अत्याधनिक चित्रकला। कला वस्तुतः कला तभी बनती है या सार्थकता ग्रहण करती है, जब वह निरा जीवनका प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि जीवनका 'अभिसम्भव' हो। कृति केवल आकृतिकी अनुकृति नहीं, वरन् कृतिकारकी प्रकृति-संस्कृतिसे मिली हुई, उसमेंसे उपजी हुई संस्कृति होती है। उसमेंका स्वर तोता-रटंत या 'हिज मास्टर्स वायस'का स्वर नहीं होता । इसी कारणसे अधिनायकवादी शास्त्र-तन्त्रोंमें निर्मित कलाकृतियाँ इतनी निर्ज्ञीव, रबरस्टैंप जैसी अनु-कतियाँ जान पड़ती हैं।

कला अनुकरण नहीं, नवीकरण है। रोमांटिक किया— और तत्त्वचिन्तकोंने इस मतको पुनः प्रतिष्ठित किया— कलाकारको ईश्वरके समकक्ष ला विठाया। वह 'नासतो विद्यते भावो नामावो विद्यते सतः।' का चमत्कार कैसे निर्माण करता है! 'न कुछ'से सव-कुछ निर्माण करनेको यह कीमिया रूढ़िवादी या परम्परावादियोंके लिए अनुकरण-मात्र हो, पर जो नित्य प्रयोगशील है, उसके लिए कला गतानुगतित्वका

अनुकरण हो ही नहीं सकती। अनुकरण, कीडात्मक-किसी प्रत्यक्ष-गम्य वस्तुको अन्य माध्यम द्वारा प्रकट करनेकी क्रिया या प्रवृत्तिको अनुकरण कहा जाता है। जैसे, नदी, पर्वत, पुष्प आदिका रंग और रेखा द्वारा यथावत् पटपर चित्रण करना । अथवा, मूलके अनुकूल कृति अनुकरणका परिणाम है। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। आचार्य भरतके अनुसार कलाका केन्द्र नाट्य है और नाट्यका सार अनुकरण है। संस्कृतपरम्पराके अनुसार 'अनुरणनं ध्वनि, अनुकरणं नाट्यम्।' प्लेटोके अनुसार भी कलाका सार अनुकरण है। सर्वमान्य न होते हुए भी इस मतमें इतनी सत्यता है ही कि प्रत्येक कलाकार प्रकृतिके प्रभावशाली रूपोंका स्वक्षेत्रमें अनुकरण करता है, यद्यपि कला प्रकृतिकी पूर्ण अनुकृति नहीं हो सकती। कलाकार प्रकृतिका क्रीड़ात्मक अनुकरण करता है। जैसे क्रीड़ाया रस-वृद्धिके प्रयोजनसे कवि द्वारा प्रपात, प्रवाह, ऑधी आदिकी गतिका छन्दोंमें अनुकरण। -- নত লাত হাত अनुकरणात्मक छीला-दे० 'हीला'।

अनुकूळ—'हेतु' अलंकारकी जातिका अर्थालंकार। जहाँ प्रतिकूल वस्तु अनुकूल कार्यकी जनक बन जाय। प्रतिष्ठापक विश्वनाथके अनुसार लक्षण है—'अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलाबन्धि चेतु' (सा० द०:१०:६४)। उदा०—'हे तन्वि', यदि तुम नायकसे कुपित हो तो नखक्षत करके इसके कण्ठको अपने भुजपाशमें बॉध लो' (अनु०)। हिन्दीमें इसका विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। ——ओ० प्र० अनुकूल पति—दे०—'नायक' (श्रंगार)।

अनुकूळा—वर्णिक छन्दों समवृत्तका एक भेद । भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० १४६) में लक्षण दिया है—भगण, तगण, नगण और दो गुरुऑके योगसे यह वृत्त वनता है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—'पावक पूज्यो समिध सुधारी। आहुत दीनी सब सुखकारी। दै तब कन्या बहु धन दीन्हों, भॉवरि पारि जगत जस लीन्हों' (रा० चं०, ६:९)।

अनुगुण-लोकन्यायमूलवर्ग तथा तद्गुणको जातिका अर्था-लंकार । दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वसिद्ध गुणका उत्कर्ष अनुगुण है। 'अनु 'का अर्थ है 'समान', 'वैसा ही' आदि। तद्गुणमें स्वगुणका त्याग वरके परगुणका ग्रहण होता है, 'पूर्वरूपमें परगुणको दूर करके पुनः स्वगुणको प्रकट किया जाता है, मीलितमें स्वगुण और परगुण अति साह्ययके कारण मिल जाते हैं, अनुगुणमे परसम्बन्धसे स्वगुणका ही उत्कर्ष होता है। प्रतिष्ठापक जयदेवके अनुसार रुक्षण है-'प्राक्सिद्धिः स्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः' (चन्द्रालोक, ५: १०६), अर्थात् दूसरेके सम्बन्धसे अपने पूर्वगुणका उत्कर्ष अनुगुण है। स्पष्टतः यह अलंकार संस्कृतमें बादमें विकसित हुआ है। 'साहित्यदर्पण'में भी नही है। हिन्दी-में 'चन्द्रालोक'के आधारपर लिखे गये जसन्वत सिंहके 'भाषा-भूषण'से यह अलंकार मिलता है। भूषणकी परि-भाषा—'जहाँ औरके संगतै बढै आपनो रंग' (शि० भू०, २९९)में जयदेवका भावानुवाद है। मतिराममें 'समरुचि संगति कहकर स्पष्ट किया गया है, दास तथा पद्माकरने रंगके स्थानपर 'गुन' ज्ञब्दका प्रयोग किया है और दासने

'प्रन गुन सरसाइ' कहकर स्वगुणके उल्कर्षका उल्लेख किया है और उदाहरण 'चन्द्रालोक'से लिया है—'नील सरोज कटाच्छ लिह अधिक नील है जाइ' (काव्यनिर्णय, १४)। भूषणका उदाहरण वैचित्र्यपूर्ण है—'कडजल किल अंसुवानके उमंग संग, दूनो होत रोज रंग जमुनाके जलमें (शि॰ मृ॰, ३००)। उक्तिवैचित्र्यके अनुकूल होनेसे विहारीने सुन्दर प्रयोग किया है।——ओ॰ प्र॰ अनुप्रह—मक्तिधर्मका प्रधान आधार करुणामय भगवान्की असीम अहेतुकी कृषा है। सभी सम्प्रदायों और मतोंकी मक्ति-भावनामें भगवान्की कृषा या उनके अनुप्रहको विशेष मान्यता दो गयी है। परन्तु पृष्टिमार्गमें 'पोषणं तदनुमहः' (भागवत, २: १०)के आधारपर पोषण या पृष्टिको ही भगवान्की कृषा कहा गया है और उसे भक्तिके लिए इतना आवश्यक माना गया है कि उसी नामसे भक्ति सम्प्रदायका नाम रखा गया है (दे॰ 'पृष्टिमार्ग')।

अनुचितार्थं -दे॰ 'शब्द-दोष', छठा पद-दोष।

अनुत्तर - अनुत्तर बुद्धज्ञान या तत्त्वज्ञान है, जो शून्यता या करुणा, प्रज्ञा तथा उपायके एकात्मज्ञानका ही दूसरा नाम है। अनुत्तर उपलब्धिकी परम्परा सिद्धोंने योगाचारसे ग्रहण की। अनुत्तरका अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, जिसके उपरान्त कुछ न हो, जो अशेष हो। योग तथा अनुत्तर उच स्तर-की अधिक सूक्ष्म साधनाएँ थी, जिसका अधिकार केवल ऐसे साधकोंको था, जो स्वभावतः निःस्वभाव हो गये हों या जिन्होंने सहजस्वभाव या वज्रात्मक स्वभावको पूर्णतया आत्मसात् कर लिया हो। अनुत्तरमें आस्था रखनेवाल सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, केंनल ने सहज स्वभावकी साधना लेनेवालेके लिए मन्त्र-तन्त्र आदिका कोई महत्त्व नहीं मानते थे। अनुत्पाद-महायानवादियों और माध्यमिकोंने सभी पदार्थी-को सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य बताया है। उनके अनुसार सभी भाव सापेक्ष और निःस्वभाव है। अतः उनका स्वभाविक उत्पाद सम्भव नहीं हो सकता। जो स्वभावतः उत्पन्न नही है, वह अनुत्पन्न कहा जाता है। इस प्रकार भावोंका प्रत्ययसापेक्ष उत्पाद ही अनुत्पाद है। यह अनुत्पाद भाव और अभावकी कल्पनाका परिहार कर, महायानवादियोंके जगत् स्वरूप विश्लेषण तथा उनके मध्यम मार्गकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही शुन्यताकी विचारधाराका भी मूल प्रतीत होता है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद-का महायानवादी दृष्टिकोणसे व्याख्यान भी है। योगाचार-वादियोंने अनुत्पादसे चित्तकी अनुत्पत्तिका तात्पर्य ग्रहण किया।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यमें स्थान-स्थान पर अनुतपाद-सिद्धान्तका वर्णन मिलता है (अनुतपन्न सब परमार्थ प्रकाशन-से— 'दोहाकोश'-'हिन्दी छाया', पृ० १६९; भावरहिअ पुनिका उप्पादइ—'हिन्दी कान्यथारा', पृ० ९), जो निश्चित रूपसे महायान और माध्यमिकोंके इस अनुत्पादवादका ही प्रभाव है। इन सिद्धोंके अनुसार भी सभी भाव निःस्वभाव है। उत्पाद और उत्पादकके स्वभावके न रहने पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। भावना-शक्तिसे उत्पाद-उत्पादक सभीका नाश हो जाता है। हेतु-फलकी परीक्षा उस (हेतु-फल)के भाव (अस्तित्व)से भिन्न नहीं है। सभी कुछ भाव रहित है तो भला (स्वभावतः) क्या उत्पन्न होगा? (दे॰ राहुल सांकृत्यायनः 'दोहाकोश', पृ० १२१, १६९; 'हिन्दी काव्यधारा', पृ० ९)।

[सहायक यन्य-चन्द्रकीति : माध्यमिक वृत्ति; चन्द्रथर

शर्मा : बौद्ध दर्शन और वेदान्त; करुणेश शुक्त : शंकर

और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्रका० शो० प्र०)।] अनुप्रास-एक शब्दालंकार, जिसमे वर्णी अथात् व्यंजनोका साम्य हो। शब्दार्थ है, अनु वर्णनीय रसके अनुकूल, प्र-प्रकर्ष या निकटता, आस-बार-बार रखा जाना; अर्थात् वर्णनीय रसकी अनुकूलताके अनुसार वर्णीका बार-बार और पास-पास प्रयोग । इस अलकारका सर्वप्रथम निश्चित उल्लेख भामहके 'काव्यालंकार'में मिलता है। रुद्रटने 'अविवक्षित स्वरव्यंजनोंके अनेक बारके निरन्तर आवर्तन'-को अनुप्रास कहा है (काञ्यालंकार, : २ : १८) । मम्मटका लक्षण बहुत सीधा है—'वर्णसाम्यमनुप्रासः' (काव्यप्रकाश, ९: ७९), अर्थात् वर्ण-साम्य अनुप्रास है। हिन्दीमें जसवन्त सिंहने 'भाषा-भूषण'में शब्दालंकारों में ६ अनुप्रास माने हैं, पर अनुप्रासका सामान्य लक्षण नहीं दिया है-'सबदालंकृत बहुत हैं, अच्छरके संजोग। अनुप्रास षट विध कहे, जे हैं भाषा जोग' (२०९)। संस्कृतमें विभिन्न अनुप्रासोंको स्वतन्त्र रूपसे विवेचित करनेकी परम्परा अधिक चली है, हिन्दीमें उसका अनुसरण हुआ। भूषणने अनुप्रासके भेदोंको अलग-अलग लिया है। भिखारीदासने 'गुणों'की चर्चा करनेके बाद अनुप्रासका लक्षण दिया है-

'गुन भूपन अनुमानिके अनुप्रास उर आनि' (काव्य निर्णय,

१९) । अनुप्रास रसोंको विभूषित करनेवाले गुणोंके भूषण

हैं और उनके अनुसार शब्दोंमें आदि अन्तके अक्षरोंकी

आवृत्तिसे बनते हैं। आधुनिक विवेचकोंने अनुप्रासकी व्याख्या करके उसके भेदोंपर विचार किया है। प्रमुख

स्वीकृत भेद छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटा-

नुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा पुनरुक्तवदाभास है । (दे०

इन्हीं शब्दोंके अन्तर्गत)।

विभिन्न प्रकारके अनुप्रासोंका प्रयोग हिन्दी साहित्य-में प्रायः सर्वमान्य रहा है। आदिकालमें रसकी अनुरूपताके लिए, भक्ति साहित्यमें सहज भावात्मक प्रवाहके साथ और रीतिकालीन परम्परामें चमत्कार और शाब्दिक वैचिन्यके लिए इस अलंकारका प्रयोग किया गया है। विशेषता प्राप्त करनेवाले कवियोंमें केशव, भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा 'रलाकर' है। देवने अनुपासको 'रसपूर' माना है और उनके काव्यमें रसके अनुकूल ही इसका सुन्दर निर्वाह हुआ है। **-**₹0 अनुप्रास जातियाँ भोज (११ श० ई० पूर्व) द्वारा निरूपित अनुप्रास जातियाँ या वृत्तियाँ नाट्यवृत्तियोंसे भिन्न हैं। वास्तवमें भोजकी अनुप्रास जातियाँ वर्णानुप्रासके भेद है। अनुप्रासका महत्त्व प्रकट करते द्वए 'सरस्वतीकण्ठा-भरण'में भोजने .लिखा है-'यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमंगनाम् । अनुप्रासस्तथा काञ्यमलंकर्तु-मर्य क्षमः।' (अ०, २, १२:२); अर्थात जिस प्रकार

चन्द्रमाको ज्योत्स्ना, कामिनीको लावण्य शोभित करता है, उसी प्रकार अनुप्रास काव्यको। अनुप्रासवृत्तिके सम्बन्धमें उनका विचार है कि अपने वर्गके आवृत्ति होते और काव्यमें प्राप्त होनेसे वह सन्दर्भवृत्ति कहलाता है (२: १२: ३)। भोजने १२ अनुप्रासवृत्तियोको माना हे, जो है-कार्णाटी, कौन्तली, कौकी, कौकणी, बाणवासिका, द्राविणी, माथुरी, माल्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औडी. पौड़ी। इनके लक्षण इस प्रकार है-कार्णाटी वर्णानुप्रास्यक्त होती है, इसमें कवर्गकी आवृत्ति रहती है। चवर्गके अनुप्रासयुक्त कौन्तली होती है। टवर्गके अनुप्राससे युक्त कौंकी, तवर्गके अनुपास युक्त कौंकणी, पवर्गके अनुपाससे युक्त बाणवासिका, अन्तस्थ वर्णी अर्थात् यर रु व के अनुप्राससे युक्त द्राविडी, ऊष्म वर्णी अर्थात् दा ष स के अन-प्राससे युक्त माधुरी, दो-तीन वर्गीके अनुप्राससे युक्त मात्सी, दो वर्गीमेंसे एक वर्गको विद्मित अर्थात विद्मीकी शोभासे युक्त करनेवाली वृत्ति मागधी, अपने वर्गके अन्त्य-वर्णसे संयुक्त ताम्रलिप्ति, अपने रूपसौन्दर्यसे चित्तको सर्वस्वरूपसे हरण करनेवाली औड़ी तथा असरूप संयोगसे चित्तको यथित करनेवाली पौंड्री नामक वृत्ति होती है। अनुबोध-कभी-कभी 'अपरसेष्टान' और कभी-कभी 'कन्से-प्रान'के अर्थमें हिन्दीमें प्रयुक्त । ज्ञान-प्रक्रियामें सर्वप्रथम इन्द्रिय-संवेदना (सेन्सेशन) आती है। जैसे मैने लोहेके कवचको छुकर पाया कि यह शीत, कठोर, घन इत्यादि है। परन्तु कॉचमे रखे लोहेके कवचसे भी वही इन्द्रिय-संवेदना मुझे क्योंकर हुई ? यह अनुबोध है। हार्नकी आवाज सनकर मोटरकी उपस्थितिका अनुमान चाक्षण प्रत्यक्ष नहीं है, वरन् एक प्रकारकी अनुमिति है लेकिन कोरी कल्पना नहीं है। वास्तवका बोध भी उसमें है। इसे अनुबोध कहा जाता है। लेकिन संकेतों द्वारा पाठकों-को यह अनुबोध देता है। नयी कवितामें 'इमेज' (बिम्ब)-के सहारे यही 'कन्सेप्ट-पैटर्न्स' निर्मित किये जाते है। कई बार केवल ध्वनियोंसे यह क्रिया की जाती है। शेलीकी विख्यात 'स्काईलार्क', कवितामें उसके अज्ञात, अगम्य, अश्रुत गीतकी तुलना कई रूपायत्त उपमानोंके सहारे की गयी है। इस प्रकारकी ध्वनियों, संकेतपूर्वकी भावदशा-को आधुनिक मनोविज्ञान केवल भावनात्मक नहीं मानता, वह निरी 'रागात्मक संवेदना' नहीं है। वह अनुबोध है अर्थात् इन्द्रिय-बोधके साथ-साथ जागनेवाला ज्ञानका प्रथम सोपान । कल्पना, विचार काजिटेशन, तर्क-प्रमेय लाजिकल थिंकिंग आदिके पूर्वकी अवस्था। अनुभाव-भरतके द्वारा रसके तत्त्वोंमें स्वीकृत एक तत्त्व, निष्पत्तिके लिए विभावादिके साथ इसका उल्लेख सर्वमान्य रूपसे किया गया है, ('नाट्यशास्त्र', ६३१) । भरत वाणी तथा अंग संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावना-भिन्यंजनको अनुभाव कहते है (ना० शा० ७।५) । धनंजय अनुभावोंको विकार रूप तथा भावोंका सूचक मानते हैं (द० रू० ४।३) । विद्यवनाथने अनुभावोंको 'उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैबंहिर्भावं प्रकाशयन्', अर्थात् आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणोंसे उत्पन्न भावोंको बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्यको अनुभाव बतलाया है (सा० द०, ३: १३२)। देव उसीको इस प्रकार कहते है—'जिनको निरखत परस्पर रसको अनुभव होइ। इनहीं को अनुभाव पद कहत सयाने लोइ' (भाव० अनुभाव) । वाणी तथा अंग-संचालन आदिको जिन क्रियाओसे आलम्बन तथा उद्दीपन आदिके कारण आश्रयके हृदयमे जायत भावोका साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाता है। इस रूपमे ये विकाररूप तथा भावोके सूचक है। भावोंकी सूचना देनेके कारण ये भावोंके अनु अर्थात् पदचाद्वतीं एवं कार्यरूप माने जाते है। वास्तविक पात्रके लिए कार्यरूप होनेपर भी सहृदयके विचारसे ये कारणरूप भी है, क्योंकि इन्ही अनुभावोंके सहारे ही वह पात्रोंके भावोंको जान पाता है। साहित्यदर्पणकारने कार्यरूप मानकर ही आलम्बन तथा उद्दीपन आदि कारणोंसे हृदयमे जाग्रत रतिभावनाको बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य कहा है। उदाहरणतः, एकान्त स्थलपर प्रियतमको पाकर मनमें रतिका अनुभव करते हुए नायिकाका उसकी ओर कटाक्षपात करना, संकेतसे उसे वलाना, रोमांचित हो जाना, सावधानीके लिए इधर-उधर देखना आदि उसके न्यापार अनुभाव कहलायेगे। हेमचन्द्र, भानुदत्त तथा शारदातनयने अनुभावको हेतु रूप और कविराज विश्वनाथ, धनंजय, शिगभूपाल तथा ५ण्डितराजने इन्हें कार्यरूप माना है। प्रत्येक रसके विचार-से यह अनुभाव भी पृथक्-पृथक् होते है।

इनकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। तथापि इनके का यिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक एवं सात्त्विक नामक भेद किये गये है। इन्हे शिंगभूपाल तथा शारदा-तनयने क्रमशः गात्रारम्भानुभाव, मन या चित्तारम्भानु-भाव, बुद्ध्यारम्भानुभाव तथा वागारम्भानुभाव नाम दिया है और सात्त्विकोका भावके अन्तर्गत पृथक रूपसे वर्णन किया है। इनमें भी कायिक तथा मानसिक अनुभावों (दे॰ 'सात्त्विक अलंकार')के अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज नामक भेद किये गये है। इनका केवल नायिका-से सम्बन्ध बताया गया है। इसी कारण रूपगोस्वामी आदिने इन्हे अलंकारकी संज्ञा दी है। इन अलंकारोंके अतिरिक्त रूपगोस्वामीने उद्भास्वर तथा वाचिक दो अन्य भेदोंका उल्लेख किया है, जिनमें उद्भाखरके अन्तर्गत नीवी-स्रंसन, उत्तरीय-स्रंसन, धम्मिल-वेणी-स्रंसन, शरीरका पेंठना या अंगभंगीपूर्वक काम प्रदिशत करना, जुम्भा तथा नाक फुलाना गिनाये गये। जुम्भाको भानुदत्त तथा हिन्दीके कुछ आचार्योंने सात्त्विक माना है। वाचिकको बागा-रम्भानुभाव ही कहना चाहिये। इनके अन्तर्गत आलाप. प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश नामक बारह अनुभाव माने गये है, जिन्हें भानुदत्त, शिगभूपाल तथा शारदातनयने स्वीकार किया है। चाद्रक्ति आलाप, दुःखमय वचन विलाप, निरर्थक बकना प्रलाप, बार-बार कहना अनुलाप, पहले कहे हुएका अन्य अर्थमे प्रयोग अपलाप, समाचार भेजना सन्देश, प्रस्तुत वस्तुकी अन्य अभिषेयसे स्चना देना अतिदेश, अपने सम्बन्धमें 'वह यह मैं हूँ कहकर समझाना निर्देश, शिक्षा देना उपदेश,

'मैने या उसने इस प्रकार कहा', ऐसा कहना अपदेश तथा न्याजपूर्वक आत्माभिलाष प्रकट करना न्यपदेश कहलाता है।

हिन्दी साहित्यमे मुख्यतः रीतिकालमें, श्रंगारिक काव्य तथा रुक्षणयन्थोंमें सभी प्रकारके अनुभावोका वर्णन करने-की परिपाटी रही है। पूर्वमध्यकालमे भी विद्यापति, जायसी तथा सूरमें इनका निवाह हुआ था, किन्तु आधुनिक कालमें इनका प्रयोग प्राचीन ढंगके भार-तेन्द्र अथवा 'रत्नाकर' जैसे कवियोके काव्योंमें ही थोड़ा-बद्दत होता रहा और 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, ग्रहभक्त सिंह 'भक्त' आदिके प्रबन्ध-कान्योंने इनमेसे कतिपय अनुभाव दीख पड़े, किन्तु मुक्तकोंमें यह परम्परा बन्द हो गयी। आधुनिक कालके उक्त सभी कवियोंमें इनका स्वतन्त्र निर्वाह ही विशेष रूपसे हुआ है, परम्परा-मात्रके पालनकी चेष्टा अथवा लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए नहीं। नायिकाके अलंकारोंमे भी कुट्टमित, बिब्बोक तथा इस प्रकारके अन्य अलंकारोंका प्रयोग आधु-निक काव्यकी पटभूमिमे नहीं आ सका । प्राचीन आचार्यों-ने अनुभावोंके अन्तर्गत ही अलंकारोकी गणना की है और हाव भी अनुभावमें अन्तर्भुक्त हो गये है। रामचन्द्र शुक्ल (२० वी शती ई०) ने आश्रय मात्रकी चेष्टाओंको अनुभाव माना है और हावोंको आलम्बनका मोहक प्रभाव तथा उसकी रमणीयता वढानेवाला मानकर उन्हे उद्दीपन-विभाव मात्र माना है। रामदहिन मिश्र (२०वी शती ई०)ने 'काव्य-दर्पण'में इसका पिरोध तो किया है किन्तु वह रा० च० शुक्क समान 'हाव' सामान्यका विचार न करके 'हाव' विशेषके चक्करमे फॅस गये। हमारा विचार (दे० काञ्यमें रस: अनुभाव वर्णन) है कि आश्रय तथा आलम्बन दोनोकी चेष्टाएँ अनुभाव ही है। केवल उसी स्थितिमें ये अनुभाव 'हाव' कहलाते है, जब यह 'संभोगेच्छा-प्रकाशकं, होते है। स्थिति-भेदकी शिपके लिए पृथक नाम दिये जाते है। अतः इन्हें क्रामशः उद्दीप्त एवं उदीपक अनुभावकी संज्ञा दी जा सकती है।

कायिक अनुभाव-प्रायः 'तनकी कृत्रिम चेष्टा' (भानुः रसरत्नाकर, पृ० ७८)को 'कायिक' माना गया है। भिन्न-भिन्न मनोभानोके अनुसार कटाक्षपात, मुट्ठी बॉधना, भुकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाओफो इसके अन्तर्गत माना गया है। तुल्सी तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा अंकित निम्न पंक्तियोंमें कायिक अनुभावोका सुन्दर निर्वाह हुआ है—'बहुरि बदन बिधु अंचल ढॉकी, प्रियतन चित्ते भीह करि बॉकी। खंजन मंजु तिरीछै नयनिन, निज पित कहेड तिनहि सिय सैनिन' (रा० च० मा०, २: ११७)। 'एक पल मेरे प्रियावो हग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे। चपल्ताने इस विकम्पित पुलकसे, दृढ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था' (ज्योतस्ना)।

मानसिक अनुभाव – प्रायः 'मन सम्भव मोदादि कहं' (भानु ः रस ०, पृ० ७८) इसके अन्तर्गत माना गया है। अन्तःकरणको भावनाके अनुकूल मनमे हर्य-विपाद आदिके उद्देलनको मानसिक अनुभाव कहते है। पन्तको इन पंक्तियोंमें इसका निर्वाह है — 'नाथ, कह अतिशय

मधुरतासे दवे, सरस स्परमे, सुमुखि थी सकुचा गयी। उस अन्ठे एत्रमें ही हृदयके भाव सारे भर दिये, तावीज-से' (ज्योत्स्ना)।

आहार्य अनुभाव-मनमे जब जैसा भाव उत्पन्न हो, उसके अनुकृल भिन्न-भिन्न प्रकारकी कृत्रिम वेश-रचना करनेको आहार्य अनुभाव कहते है। श्रीधरकी नायिकाकी वेश-रचनाका वर्णन इस प्रकार है- 'स्याम रंग धारि पनि बाँसरी सुधारि कर, पीत पट पारि वानी मधुर सुनावेगी। जरकसी पाग अनुराग भरि सीस बॉधि, कुण्डल-किरीट हुकी छिब दरसावेगी।' --आ० प्र० दी० **अनुभृति**-अंग्रेजीमें अनुभृतिका व्यापक प्रयोग हुआ है। कभी इसे चेतना (consciousness)के अर्थमें ग्रहण किया है, कभी अनुभव (experience) के । मनोविज्ञानमें (feeling) या (mental experience) के रूपमें इसे मानस-अनुभव स्वीकार किया गया है। मनोविज्ञानके अनुसार यह एक आन्तरिक क्रिया है, जो बाह्य परिणाम उत्पन्न नहीं करती। मैग्डूगल तथा इसके केवल सुख-दुःखात्मक नामक दो प्रकार मानते हैं। मैंग्ड्रगलने क्रमद्याः हर्ष, विषाद, क्लेश, निराशा, विस्मय, खेद, पश्चात्ताप, विश्वास, आशा, औत्सुक्य, चिन्ता तथा औदासीन्यको अनुभूतियोंमें रखकर भी इन्हें (derived emotion) या व्युत्पन्न मनोविकार भी कहा है। बुडवर्थ सुख-दुःखात्मक श्रेणीभेदको अन्यापक और अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उल्लास और विनोद सुखात्मक होकर भी एक ही मात्राके नहीं हैं, न पर्यायवाची हो सकते हैं। इसी प्रकार भय और अरुचिकी स्थिति है। आवेश सखात्मक भी हो सकता है और दुःखात्मक भी। अनुभूतियोंकी अत्यन्त सुख या दुःखकर स्थितिसे न्यूनतम सुख या दुःखकर स्थितियोंका विचार करके बुंट महोदयने उनकी तीन सीमाएँ या आयाम (dimensions) स्त्रीकार किये है-(१) सुखात्मक-दुःखात्मक, (२) अञ्चान्ति-जडता, (३) आति (tenseness) और मुक्ति (release)। बुडवर्थने अजनबीपन और उत्सुकताको भी अनुभूतिकी एक विमा माना है। मनोविज्ञानीका कथन है कि बाह्यपरिणामहीन होनेपर भी यह बहुधा चेष्टित प्रवृत्ति (motor tendency)से सम्बद्ध रहती है, जैसे—दु:खकर वस्तुसे छुटकारा पानेका कार्य उसे देखते ही आरम्भ हो जाता है या सुखकर अनुभृतिको यथावत् बनाये रखनेका प्रयत्न होता है। बाहरसे शान्त रहकर भी हम आन्तरिक रूपसे अवश्य विचलित हो जाते हैं।

साहित्य-क्षेत्रमें कई प्रकारकी अनुभूतियोंका वर्णन हुआ है। यथा—(१) कान्यानुभूति, (२) रसानुभूति, (३) मावानुभृति, (४) प्रातिभ अनुभृति, (५) विलक्षण अनुभृति, (६) रहस्यानुभृति, (७) दिव्यानुभृति, (८) लौकिक अनुभृति, (९) प्रत्यक्षानुभृति, (१०) समानुभृति, (११) सहानुभृति, (९) प्रत्यक्षानुभृति । कान्यानुभृति प्रत्यक्ष अथवा लौकिक अनुभृतिसे भिन्न प्रभाववाली यह अनुभृति है, जिसमें लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभृत सुखन्दुःख भी कान्यपाठ या अवण-दर्शनके समय केवल सुखमय अनुभृति उत्पन्न करते हैं। लोकमें प्रत्यक्ष रूपसे अनुभृत सुखन्दुःखारमक प्रेम,

करुणा, क्रोध, पृणा आदिका कान्यमें सुखात्मक या लोक-भिन्न व्यक्तिसम्बन्ध-शून्य प्रभाव ही काव्यानुभूतिकी पृथकता-का कारण है। इसे रसानुभृतिसे पृथक् करनेकी ओर कुछ लोग प्रवृत्त हुए हैं और कान्यानुभूतिको केवल कविसे तथा रसानुभूतिको दर्शक, पाठक या श्रोतासे सम्बद्ध मानते हैं। रसानुभूतिको विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थाया भावके संयोगसे निष्पन्न रसकी एक प्रकारकी विलक्षण अनुभृति या प्रतोति माना गया है, जिसमें साधारणीकरण व्यापारके द्वारा ममत्व परत्वका नाश होकर विवन-विनिर्मक्त दशामें ऐसी आत्म-विश्रान्तिका लाभ होता है, जिसे ब्रह्मा-नन्द-सहोदर कहा जा सकता है। यह दशा सत्त्व-सम्पन्न अवस्था है और शुद्ध आनन्दात्मक है। इसमें करूण आहि दुःखात्मक स्थिति भी रसरूप या आनन्दात्मक प्रतीत होती है। श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'में केवल सुखात्मक रसानुभूतिका विरोध किया है और उसे सुख-दःखात्मक दोनों प्रकारका माना है। रामचन्द्र शुक्क भी इसी मतको मानते हैं, तथापि विश्वनाथ कविराज, भोजराज प्रभृति अनेकानेक विद्वानोंने रसज्ञको ही प्रमाण मानकर रसानु-भृतिको सुखात्मकमात्र माना है और इसी कारण उसे विलक्षण कहा है। रसानुभूतिमें जिस आत्मविश्रान्ति और तल्लीनताका अनुभव होता है, उसके सानपर काव्य-पाठादि-के समय जब हमें केवल किसी भाव-विशेषका ज्ञान या अनुभव होता है और विभावादिके द्वारा उसकी रसात्मक दशामें पृष्टि नहीं होती तब उस दशाको भावानुभूतिकी दशा कहते हैं। काव्यके सम्बन्धमें समानुभूतिका भी प्रयोग होता है, जिसे भाव-तादात्म्य कहते हैं। अंग्रेजीमें इसे (empathy) या टिनचरके शब्दोंमें infeeling कहेंगे। इसीके साथ एक शब्द सहानुभूति या (sympathy) प्रचलित है। वस्तुतः महानुभृतिमें दूसरे व्यक्तिके साथ उसके दुःख-सुखमें अपनेको सुखी या दुःखी अनुभव करते हुए भी सहायतार्थ व्यवहारका अनुभव भी बना रहता है, अर्थात् सहानुभूतिकर्ता सुखी या दुःखी व्यक्तिको आवश्यकः तानुसार सहायता करनेकी इच्छा रखता एवं चेष्टा करता है। इसके विपरीत भाव-तादातम्य या सहानुभृतिकी दशामें किसी व्यक्ति या वस्तुके भावोंसे हमारी अभिन्नता स्थापित हो जाती है, हम उसके अन्तरमें पैठकर वही अनुभव करने लगते हैं, जो वह कर रहा है। मनोवैशानिकोंने भी काव्यमें इस भाव-तादात्म्यको स्वीकार किया है। अंग्रेजी लेखकोंमें बुडवर्थ, ए० ई० मेण्डर, फीन्फेल्स, टालस्टाय, डाउने, ऐशले ड्यक्स आदिने भाव-तादात्म्यको कान्यानुभृतिके लिए आवश्यक माना है। संस्कृतमें सबसे पहले विश्वनाथ कविराजने रसानुभृतिके सम्बन्धमें तादात्म्यका उल्लेख किया है, जिसके आधारपर हिन्दीमें रामचन्द्र शुक्कने आलम्बनका साधारणीकरण तथा आश्रयके साथ सहृदयका तादात्म्यका सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि सहदयका आश्रयके साथ भाव-तादात्म्य हो जानेपर ही वास्तविक रस-दशा उपस्थित होती है एवं जहाँ आश्रयके साथ तादात्म्य नहीं हो पाता, वहाँ कविके भावोंके साथ तादात्म्य होता है। कभी-कभी कवि ही वास्तविक आश्रय होता है। जैसे, प्रकृति-वर्णनके समय। किन्तु आश्रय तो कर और दुइचरित्र पात्र भी हो सकता है या वह स्नी-पुरुष आदिमेंसे कोई हो सकता है, ऐसी स्थितिमें सचिरित्र, विरोधी वय अथवा भिन्न स्तरका सहृदय उनसे कैसे तादात्म्य कर सकेगा, इस प्रश्नको लेकर आश्रयके साथ तादात्म्यका विरोध किया गया है।

अनुमान—तर्कन्यायमूलक अर्थालंकार, जिसमें कवि-कल्पित साधन द्वारा साध्यका चमत्कारपूर्वक बोध कराया जाता है। इस अलंकारका उल्लेख रुद्रटसे प्राप्त होता है। मम्मटके अनुसार—'अनुमानं तदुक्तं यत्साध्यसाधनयोवंचः' (का० प्र०, १०: ११७), अर्थात् जिसमें साध्य-साधनके मावरूपमें किसी अर्थका प्रतिपादन किया जाय। विश्वनाथ इसीको अधिक स्पष्ट करते हैं कि यह सौन्दर्यके साथ कहा जाना चाहिये, 'अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात' (सा० द०, १०: ६३)।

'अनुमान' शब्द 'अनुमिति'का विकसित रूप है। 'अनु'का अर्थ है 'लक्षण', 'मिति'का अर्थ है 'श्रान'। अनुमान शब्द न्यायशास्त्रका है, पर काव्यमे इसका मिन्न अर्थमें प्रयोग हुआ है। अतः अनुमानसे अभिप्राय है 'चिह्न द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान किया जाना'। अनुमान अलंकारमें साधन द्वारा साध्यकी प्रतीति होती है। जो वस्तु सिद्धकी जाय, उसे साध्य और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है, उसे 'साधन' कहते है। जैसे धुएँसे अग्निके अस्तित्वका ज्ञान होता है। जहाँ धुऑ हो, वहाँ अग्नि भी अवस्य होगी। 'धुऑ' यहाँ साधन अथवा 'चिह्न' है और 'अग्नि' साध्य है। अनुमान अलंकारमें साधन 'ज्ञापक कारण' होता है।

हिन्दीमें बहुतसे प्रमुख आचायोंने इसपर विचार नहीं किया है। विवेचन करनेवालोमें चिन्तामणि, सोमदेव तथा कुलपित प्रधान है। भूषणका 'अनुमान'का लक्षण 'जहाँ काजतें हेतके जहाँ हेतते काज' (शि० भू०, ३५१) स्पष्ट नहीं है। चिन्तामणिने 'कविकुल कल्पतर'में अनुमान अलंकारका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जुहै साध्य साधन कठिन, सो बरनत अनुमान। तर्क न्यायमूलक सुनो, अलंकार अन्नान।'

चिन्तामणिका उदाहरण मम्मट और विश्वनाथका भावानुवाद है—'भीह भाव जहुँ तिय करें, तही परित हैं बान । इनके आगे सर मदन, लीन्हे बान कमान' (किविकुलकरपतरु) । इसमें 'कामदेवका खियोंके आज्ञाकारी होना' साध्य है, जिसकी सिद्धि 'खियोंका कटाक्षपात जहाँ-जहाँ होता है, वहीं कामदेव अपने बाण छोड़ता है', इस बातसे (जो किव-किरियत साधनरूपमें प्रस्तुत हैं) होती है । कन्हैया लाल पोदारने ग्वालका उदाहरण प्रस्तुत किया है—'यातें मेरे नैन खरे लोहसे है काहेतें कि, खैचि लेत प्यारी चख चुम्बक तिहारे यो' (अ॰ मं॰ से) ।

यद्यपि उत्प्रेक्षामें भी अनुमानके समान 'मानो', 'जानो' आदि वाचक शब्दों द्वारा सादृश्यकी सूचना दी जाती है, पर उत्प्रेक्षामें उपमेयमें उपमानके सादृश्यकी सम्भावना अनिश्चित होती है, अनुमानमें इस सादृश्य भावके विना साध्यको साथन द्वारा निश्चित रूपसे सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार काव्यिलगमें कारण वास्तविक होता है (कारक)

और अनुमानमें स्चक मात्र । ——वि० स्ना० अनुमानवाद —दे० 'रसनिष्पत्ति', दूसरा सिद्धान्त । अनुमानात्मक आलोचना-प्रणाली — अभिधात्मक अर्थमें इस शब्दका अंग्रेजी समानार्थी शब्द होगा 'हायपाथे- टिकल'। परन्तु, प्रस्तुत प्रणाली हिन्दीमें अंग्रेजीके 'इण्डिकटव क्रिटिसिडम'की समानार्थीके रूपमें स्वीकृत है।

अंग्रेजीका 'इण्डिक्टव' शब्द 'इण्ड्यूस'से बना है, जिसका अर्थ होता है—आगमन करना, व्याप्ति साधना, उत्पन्न करना आदि।

इस दृष्टिसे प्रस्तुत शब्द वस्तुतः इण्ड्यूसका समानाथीं नहीं दीखना । उपयुक्त शब्द हो सकता है आगमनात्मक, जो कि आगमनसे बना है और जिसका अर्थ होता है, प्राप्ति, उत्पत्ति आदि । अनुमान शब्द निश्चय ही अंग्रेजीके इण्ड्यूस शब्दसे दूर है, किन्तु यह शब्द अपने रूढ़ अर्थको छोड़कर अंग्रेजीके इण्ड्यूसका समानाथीं बन बैठा है । अनेक विद्वानोने इसके लिए भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है, जैसे न्याख्यात्मक, आगमनात्मक अथवा विम्रहात्मक आदि ।

पाश्चात्य आलीचना-शास्त्रियोने आलीचनाकी रीतिको मुख्यतः दो भागोंमे विभाजित किया है—'इण्डिक्टव क्रिटिसिज्म' तथा 'जुडीशियल क्रिटिसिज्म', जिसको हम अनुमानात्मक आलीचना और निर्णयात्मक आलीचनाके नामसे अभिहित करते है। निर्णयात्मक आलीचनापद्धितमं आलोचक कुछ सूत्रोंका सहारा लेकर अपना निर्णय कायम करता है। वह नियमों तथा तकोंके सहारे कुछको श्रेष्ठ तथा कुछको अश्रेष्ठ मानता है, परन्तु अनुमानात्मक पद्धितका आलोचक कृतिका केवल वैज्ञानिक परीक्षण करता है और अन्ततः उन्हें एक व्यवस्था देता है। इस पद्धितका आलोचक आलोचक वस्तुसे ही आलोचनाका मापदण्ड निकालता है। किविकी सफलता किन्हीं बाहरसे आरोपित सिद्धान्तों तथा मानो द्वारा नहीं ऑकता, अपितु वह उसके उद्देशको समझनेको चेष्ठा करता है।

इस आलोचना-प्रणालीका जन्म रूढ़िनादी आलोचनाके विरुद्ध हुआ। अरस्त्, होरेस आदि ग्रीक आलोचकोंके कथित वाक्योंको ही एक लम्बे अरसेतक आलोचकोंने एक-मात्र सत्यके रूपमें ग्रहण किया। इस बातपर ध्यान नहीं दिया गया कि साहित्य जीवनको ही तरह गतिकोल है। फलतः शेक्सपियर जैसे महान् साहित्यकारतकको पागल करार दिया गया, शेक्सपियरके पात्रोंको अस्वामाविक उपहास्य सिद्ध किया गया, उसकी भाषा एवं शब्दयोजना-को तच्छ एवं हेय माना गया।

जर्मनके तत्त्ववेत्ताओं ने कलाकी परिभाषा बड़ी स्क्ष्मता और व्यंजनासे की । इंग्लैण्डमें इसका प्रचार कार्लीइलने किया। वास्टर पेटरने इस पद्धतिका समर्थन करते हुए तीन बातोंपर बल दिया, कवि या चित्रकारकी विशेषतासे परिवर्तन होना, तटस्थ होकर परीक्षण, तब व्यवस्थापन।

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि संस्कृत साहित्यमें प्रस्तुत आलोचनापद्धतिकी छाया भी नहीं देखी जा सकती। तर्क यह है कि वह युग आदर्शका युग था, प्रयोजनकी सीमाओं-में प्रत्येक कार्यको घेर लिया गया, इसीलिए उस युगमें यथातथ्य रूप गृहीत नहीं होता था । पर लक्ष्य करनेकी बात है कि सार्टिय सान्त्रका निर्माण साहित्यको व्यवस्था देनेके लिए ही होता है । 'काव्य-मीमांमा'के लेखक राज-रोखरका कहना है कि कविके मर्जनका भावियत्री प्रतिभा द्वारा रसास्त्राह्म करनेवाला भावक होता है और वही वास्त्वमे आलोचक होता है । भरतमुनिसे लेकर राजरोखर-तक्की समस्त संस्कृत आलोचनाएं उपर्युक्त कथनको चिरतार्थ करती है । संस्कृतको आचार्योने इस दृष्टिसे साहित्य-शास्त्रका निर्माण कभी नहीं किया होगा कि साहित्यको वेगवती थारा उन्हीं नियमों और व्यवस्थाओं करारों से होकर बहे । उनका उद्देश्य तो महज साहित्यका वैज्ञानिक अध्ययन, विक्रलेषण और वर्गांकरण तथा व्यवस्थापन था।

हिन्दीमें पूर्वभारतेन्दु-युगसे इस आलोचनापद्धतिको झलक पायी जा सकेगी, क्योकि उस युगकी आलोचनाको पुस्तक-परिचयवाली दौली कहा जाता है। भारतेन्दु-युगमें भी व्याख्या ही आलोचनाका मुख्य लक्ष्य था।

द्विवेदी-युग शास्त्रीय युग था। अतः उस युगकी आली-चनाका मुख्य आधार था संस्कृतका रीतिसम्प्रदाय।

अनुमानात्मक आलोचनापद्धतिका स्पष्ट रूप वस्तुतः हायावाद-कालमें देखा जा सकेगा। द्विवेदीजी तथा शुक्षजी जैसे आलोचकींके समक्ष छायावादको सर्वथा प्रतिकृत् परिस्थितियोंमें खड़। होना पडा। फलतः छायावादके समर्थनमें जो कुछ भी लिखा गया, वह छायावादके वैशानिक परीक्षण, विदलेषण, वर्गीकरण तथा व्यवस्थापनकी दृष्टिसे लिखा गया। इनमे नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ भानव' तथा गंगाप्रसाद पाण्डेय, महादेवी वर्मा, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदिका नाम लिया जा सकेगा।

इन लोगों का मुख्य उद्देश्य था—छायावादका तात्त्विक तथा साहित्यिक विश्लेषण । इसलिए इन लोगोंने रूढ़ और परम्परायुक्त शैलीमें रस, अलंकार आदिके उदा-हरण न हूँ इकर सूक्ष्म सौन्दर्य और कान्यगत सौष्ठवको देखनेका प्रयत्न किया । नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्यः बीसवी शताब्दी'में लिखते है— "कान्यका महत्त्व तो कान्यके अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तमें नहीं।"

अति आधुनिक युगमें प्रगतिवादी मान्यताओं के प्रतिष्ठान-के लिए लिखी गयी समस्त आलोचनाएँ इसी रीतिके अन्त-गंत आती हैं। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और अमृतराय आदि इसी धाराके अन्तर्गत आयेंगे।

अनुमित अद्भुत-दे॰ 'अद्भुत रस'। अनुमितिवाद-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', पर्याय अनुमानवाद। अनुवाद अयुक्त-दे॰ 'अर्थ-दोष', तेईसवॉ।

अनुशयाना (नायिका) - परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद । विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद' । सर्वप्रथम मानुदत्तने इसे लिया है । अनुशयका अर्थ है खेद, दुःख तथा पश्चात्ताप । अनुशयानाका अर्थ हुआ खेद अथवा दुःख करनेवाली अर्थात् जो परकीया अपने प्रियसे मिलनस्थानके अथवा अवसरके नष्ट होनेसे दुःखित होती है । प्रथम अनुशयाना - भानुदत्तने 'वर्तमानस्थानविघटन'के कारण

इस नायिकाको माना है, अर्थात् मिलनस्थानको नष्ट होते देखकर दुःखित होनेवाली नायिका। मतिरामने 'केलि करे जेंह कंतसों सो थल मिट्यो निहारि' जो 'सोच करें बर नारि', उसे माना है (रसराज, ८५)। राधाके मन-का अनुताप यमुनाको देखकर वह रहा है-'नागरिके नैननित नीरको प्रवाहबदयौ, देखन प्रवाह बाढ्यौ जमुनाके नीरको (रसराज, ८७)। ऋतुका प्रभाव ऐसा ही मनको क्लेश पहुँचानेवाला है-'ग्रीषम दवत दवरिया कुंज क़टीर। तिमि-तिमि तकत तरुनिअहि बाढी पीर' (बरवै०, २१)। द्वितीय अनुशयाना भानुदत्तने इसे भावी 'स्थानभाव-इंक्या' दुःखिता नायिका माना है। मिलनके भावी संकेत-स्थलके लिए चिन्ताकुल परकोयाको द्वितीय अनुशयाना कहा गया है। मितराम उसे ('होनहार संकेतको जॅह अभाव उर आनि') हृदयमें अत्यन्त दःखित होनेवाली कहते है। पद्माकरने भी लगभग इन्ही शब्दोंका प्रयोग किया है। रहीमने परकीयाको सान्त्वना देनेके वहाने उसकी भविष्यो-नमुखी चिन्ताकी व्यंजना भी की है- जिन मर होय दुलहिया करि मन ऊन । सवन कुंज समुररिया वो वर सून' (बरवै०, १९)। मतिरामकी नायिकाको भी इसी प्रकारकी सान्त्वना दी जा रही है—'वे िल करें मधुमत्त जंह घन मधुपनके पुंज। सोचन कर तुव आसरे सखी सघन घन कुंज' (रसराज, ९०) । तृतीय अनुशयाना— भानुदत्तके अनुसार 'स्वानिधष्ठित संकेत' स्थानपर न पहुँच पानेपर दुःखी होनेवाली नायिका। मतिराम तथा पद्माकर आदिने किंचित विस्तारसे कहा है 'जो तिय सुरत संकेतको रमन गमन अनुमान' कर (ज्याकुल) होती है अथवा पछ-ताती है, वह ऐसी नाथिका होती है। रहीमने सहज अंकन किया है 'मितवा करत बसुरिया सुमन सुपात। फिरि-फिरि करति तरुनियाँ सन पछतात' (बरवै०, २२)। अनुकूल परिस्थितिमें उसकी विवशताका सुन्दर चित्रण रीति-काव्यमें किया गया है—'सॉझ समै मितराम कामबस बंसीधर, बंसीबट तट पै बजायी जाय बॉसुरी। ताप चिं आयो तन पीरी परिआयी मुख, ऑखिनके ऊपर उमँगि आये ऑसु री' (रसराज, ९२)।

अनुष्टुप्-पिंगलाचार्यने अष्टाक्षर चतुष्पादको अनुष्टुप् छन्द माना है (पिं० सू०, ३:२३)। इस वर्णिक मुक्त छन्दमें आठ-आठ अक्षरोंके चार खण्ड होते हैं। समस्त अष्टकोंका पंचम अक्षर, दूसरे-चौथे अष्टकका सातवाँ अक्षर लघ्न होता है और छठा अक्षर समस्त अष्टकोंका लघु होता है, एवं पहले, तीसरे अष्टकका सातवाँ अक्षर दीर्घ होता है। नारा-यणभट्टने प्रथम और तृतीय अष्टकके आदिमें नगण और सगणका निषेध किया है और प्रथम एवं तृतीय अष्टकमें ४ वर्णींके बाद यगणका विधान किथा है और दूसरे-चौथे अष्टकमें पहले अक्षरके बाद, रगणका निषेध किया है। इस छन्दका प्रयोग गुप्तजीने (पत्रावली, पृ०३); (साकेत, पृ० २३१: नवम सर्ग, पृ० २६७: दशम सर्ग) एवं सियाराम-शरण ग्रप्तने (गीता-रहस्यमें आद्योपान्त) किया है। उदा*०*-'भिन्न भी भावभंगीमें, भाती है रूप सम्पदा। फूल घूल उडाके भी, आमोदप्रद है सदा' (साकेत, पृ० २३१, नवम सर्गः)।. ---पु० ज्ञा

अनुज्ञा-विरोधमूलक विशेषालंकार । भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामनका परवतीं है। इनके पश्चात रुद्रट (काव्यालंकार, ९१५), मम्मट (का० प्र०, १०११३५-३६) और रुय्यक (अलंकारसर्वस्व, पृ० १७१)मे इसका उल्लेख है। मम्मदकी 'बालबोधिनी' औ 'नागेश्वरी' व्याख्याओं में बताया गया है कि दोषपर्ण वस्तमें भी गुणको देखकर उस द्षित वस्तकी इच्छा करने पर भी विशेष अलंकार होता है (नागेश्वरी, पृ० २९४) यथा—'विपदः सन्त नः शहवद यास संकीर्त्यते हरिः', अर्थात् हमारे ऊपर विपत्तियाँ ही आयें, जिससे हम भगवद्भजन तो करें। पर 'कुवलयानन्द'मे इसको विशेषान्तर्गत न मानकर इसको एक नया नाम अनुज्ञा देकर परिभाषाकी गयी है। नागेश्वरी टीकाकी परिभाषा एवं उदाहरण कारिकामें दिया है (कुवलयानन्द, ७१) । अप्पय दीक्षितने अपनी ओरसे भी दो उदाहरण दिये है। यथा- भय्येव जीर्णतां यात यत्त्वयोपकृतं हरे! नरः प्रत्यपकाराथी विपत्तिमभिकांक्षति, अर्थात 'है तेरी उपकार कपि, जीरन मो तन मॉहि। इच्छुक प्रत्युपकारके विपदा चाहत ताहि।' (अ० मं०)। यहाँ प्रत्युपकार न करने रूप दोषकी इच्छाका वर्णन है।

अनुज्ञा अलंकारका उल्लेख 'चन्द्रालोक'में भी नहीं है। हिन्दीके आचार्योंने 'कुवलयानन्द'से इसे ग्रहण किया है-'जहाँ सरस गुन देखि कै, करै दोसकी हौस' (शि० भू०, २८३) अथवा—'दोषौमें गुन देखिये' (मा० मि०, १४)। उदा॰—'मै तो भई मनमोहनको मुखचन्द लखै बिन मोलकी दासी।' (ल० ल०, ३२२) अथवा—'बैपारी जहाजके न राजा भारी राजके, भिखारी हमें कीजै महाराज सिवराजके' (शि० भू०, २८४)। —ज० कि० ब० अनुसंघानात्मक आलोचना - अनुसन्धानात्मक आलो-चना-प्रणालीकी दृष्टि साहित्यिककी अपेक्षा ऐतिहासिक और प्रामाणिक होनेमें विश्वास करती है। कृति और रचनाकार-के मन्तव्योके अतिरिक्त आधारीपर विशेष आग्रह होनेके कारण भी साहित्यिक और भावात्मक विश्लेषणकी ओर इनका ध्यान न जाकर रचना और रचनाकारके विभिन्न सन्दर्भोंकी ओर अधिक जाता है। इसी सन्दर्भकी खोजमें वे उसके ऐतिहासिक तथ्य और प्रतिपादित सत्य दोनोंकी तुलना करते हुए प्रामाणिकता एवं ऐति-हासिकतापर विशेष बल देने लगते है। रचनाकारके समकालीन प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों तथा रचनाके अतिरिक्त उसके जीवनवृत्त एवं जीवनघटनाओके माध्यमसे मूलको खोज और उसकी विवेचना करना इनका मुख्य उद्देश्य होता है। कभी-कभी ऐतिहासिकताके आधारपर इस पद्धतिके आलोचक साहित्यिक रचनाकी विशेष गति-विधिके जाननेमें पत्रों, वक्तव्यो और अन्य सामग्रीका भी सहारा लेते है। जिन आधारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बिम्ब, अथवा जिन विचारोंका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव, अथवा जिन सम्पर्कोंमें रचनाकारकी अनुभूतियाँ पकीं और सिझीं, उन सबका महत्त्व अनुसन्धानात्मक आलीचना-प्रणालीके माननेवालोंके लिए होता है। बहुधा रचनाकार-के समकालीन साहित्यकारोंकी रचनाओं एवं उद्धरणोंसे भी रचना-विशेषका मूल्यांकन करना इस प्रणालीके आलोचकके

लिए अवद्रयंभावी हो जाता है।

अनुसन्धानात्मक प्रणालीकी विशेषताओंको निम्नलिखित वर्गोंमें अंकित किया जा सकता है—(१) यह कि पर्याप्त तथ्योंके आधारपर ही किसी भी रचनाके सम्बन्धमें निष्पक्ष होकर विवेचन करनेकी सम्भावनाको प्रोत्साहन मिलता है और अन्यथा रूपमें अतिवादी प्रश्लंसात्मक अथवा अतिवादी विरोधात्मक धारणाएँ बनानेकी सम्भावनाएँ कम हो जाती है। दूसरे शब्दोमें एक वस्तुपरक दृष्टिसे रचनाका विवेचन किया जाना अधिक सम्भव हो जाता है और अनावक्क पुर्वमहोंकी सम्भावना नष्ट होने लगती है। (२) यह कि सन्दर्भके अध्ययनसे रचनाके विभिन्न संकेतस्थल, विम्ब, प्रतीक, इत्यादि भी अपना उचित अर्थ यहण कर लेते हैं। सन्दर्भके अज्ञानमें अनेक व्यंजनाएँ केवल अर्थहीन-सी लगने लगती है और वह प्रेषणीयता जो एक संगतिविशेषमें महत्त्वपूर्ण अर्थ रखती है, सन्दर्भके अज्ञानके कारण अधिक स्पष्ट नहीं हो पाती; जैसे तुलसीदासकी इस पंक्तिका अर्थ 'मॉगकै खाइबो सोइबो मसीतको'—बिना उनके जीवन-सन्दर्भ और ऐतिहासिक सन्दर्भको जाने ठीक-ठीक समझमें नहीं आ सकता। ठीक उसी प्रकार अन्य रचनाओं में भी कई खल ऐसे होते है, जिनका मूल्य बिना सन्दर्भ-रूपने समझे स्पष्ट नहीं हो पाता। (३) यह कि प्रामाणिकतापर आग्रह करनेसे एक प्रकारकी अन्वेषणप्रवृत्ति स्वतः जागरित होती है, जो अर्थके विभिन्न आयामोके प्रति हमें जागरूक करती है। प्रत्येक रचना और रचनाकारकी माव-स्थिति और विचार-पद्धतिके लिए बिना प्रमाणके कुछ भी कहना गलत ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी हो सकता है, इसलिए अनुसन्धानात्मक आलोचनाप्रणाली प्रामाणिकतापर आग्रह करके बहुतसे अनावश्यक विवादोंको समाप्त करनेमे सहायक होती है। (४) थह कि ऐतिहासिकताके साथ-साथ भावबोध-के विभिन्न स्तरोका भी ज्ञान इस प्रणालीके माध्यमसे अधिक सगम और सलभ हो सकता है। प्रत्येक देशकालमे ऐति-हासिक सीमाओं और विशेषताओंके नाते भावबीयके विभिन्न रूप विकसित होते गहते है। इस विकसित भावबीधके स्तरोंको ऐतिहासिक सन्दर्भके बिना समझनेमें कठिनाई पड़ती है। अस्त, अनुसन्धानात्मक आलोचना-प्रणाली द्वारा यह कठिनाई काफी सीमातक नष्ट हो जाती है। भूषणके कई कवित्त बिना ऐतिहासिक सन्दर्भके वह भावबीध नहीं स्पष्ट करते जो कि उन कवित्तोंके जाननेके लिए नितान्त आवइयक है। यही कारण है कि अनुसन्धानात्मक प्रणाली 'भारत भारती' जैसी रचनाकी साहित्यिक स्तरसे महत्त्वपूर्ण न मानते हुए भी ऐतिहासिक भाववीधकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण मानेगी, क्योंकि उस यन्थको समझनेके लिए उन सन्दर्भोंको जानना आवश्यक है, जिनमें उसको लिखने-की प्रेरणा कविकी अनिवार्थ रूपमें प्राप्त हुई है।

किन्तु प्रस्तुत विशेषताओं होते हुए भी इस प्रणालेकी कुछ सीमाएँ भी है। जहाँ तक सीमाओंका सम्बन्ध है, इस उन्हें निम्नलिखित वर्गोंमें विमाजित करके प्रस्तुत कर सकते है। सर्वप्रथम तो यह कि साहित्य वस्तुपरक होते हुए भी रागात्मक अनुभृति है। अनुभृतियोंका विश्लेषण माव-जगत-से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए वस्तुपरक स्थितिके समस्त

उपकरण प्रस्तुन होनेपर भी भाव-जगतमे यह दृष्टि अनभिज्ञ रह सकती है। दूसरे यह कि समकालीन सीमाओं में बंधकर साहित्यकारके व्यक्तित्व, अनुभूति और दृष्टिको आंकनेमे हो सकता है कि पूर्ण न्यायका सन्तुलित निर्णय न दिया जा सके । अस्तु, इन सीमाओंके आधारपर अनुसन्धानात्मक शैलीकी विकृतियोको हम निम्नलिखित रूपमें इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है—(१) यह कि अनुसन्धानात्मक आलोचनाके माध्यम इतने सीमित है कि वे भाव एवं साहित्यिक सौन्दर्यके प्रति जागरूक करनेके बजाय पाठक या भावकको अन्य दिशाओं में बहका देते है। साहित्यिक सौन्दर्य इससे गौण हो जाता है और रचनाकी साहित्येतर वस्तुएँ अधिक मूल्यवान् लगने लगती है। (२) यह कि रचनाके स्पष्ट रागात्मक सम्बन्धोकी अपेक्षा कुछ ऐसी दिशाओंकी ओर समस्त जागरूकताको प्रेषित कर देती है कि मूल्योंमें अन्तर पड़ जाता है और साहित्यिक सन्दर्भोंके अतिरिक्त अनावश्यक मूल्योंको अधिक महत्त्व मिल जाता है। (३) यह कि लेखककी नैसर्गिक प्रतिभाके प्रति अनुदार रूपसे व्यवहार करना अनुसन्धानात्मक-प्रणालीकी सम्भावित परिणित है। लेखक अपनी परिस्थितियोंसे उबरनेकी क्षमता रखता है। उसमें यह भी क्षमता होती है कि वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभाके बलपर सर्वथा नयी दिशा निर्माण कर, मानव संवेदनाओंको नया अर्थ दे और तब अनुसन्धानात्मक शैली द्वारा हमें जिस वस्तुस्थितिका परिचय मिलेगा, हो सकता है कि वह केवल बाह्य उपकरणोंके कारण वहाँतक न पहुँच सके।

अनुढा (नायिका)-परकीयाका एक भेद; विभाजनके लिए दे - 'नायिका-भेद'। भोजने सर्वप्रथम अनुढा शब्दका प्रयोग किया है। इसके पहले रुद्रट आदिने कन्यकाका प्रयोग किया है। अविवाहित अवस्थामें किसी पुरुषसे प्रेम करनेवाली स्त्री- 'अनब्याही केंद्र पुरुषसों अनुरागिनी जो होय' (मतिराम : रसराज, ६२) । भानुदत्तने इस अवि-वाहित न।यिकामें परकीया भावके लिए तर्क दिया है-'कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता' (रसमंजरी, पृ० ४९)। अर्थात पिता आदिके अधीन होनेके कारण कन्यकाको परकीया कहते हैं। उदा०- जबते दरसे मनमोहन जू तबतें ॲखियाँ ए लगी सो लगी। कुल कानि गयी सखि वाही घरी जब प्रेमके फन्द पगी सो पगी'-(ठाकुर मीतल, बज-भाषा० २, २४०)। रोतिकान्यमें इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे प्रेमकी अनेक भावपूर्ण स्थितियोंका अंकन हो सका है। कृष्णकाव्यमें राधाका चित्रण इस रूपमें सुन्दर तथा उद्देगपूर्ण हुआ है, विशेषकर विद्यापति तथा सूरका।

अन्यपूर्वा-दे० 'गोपी'।

अन्यसंभोगदुःखिता (नायिका) — अवस्थानुसार स्वतंत्र विभाजनका एक भेद । विशेषके लिए दे० — 'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम भानुदक्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियके प्रीति-चिह्न किसी अन्य स्त्रीके शरीरपर देख-देखकर दुःखित होनेवाली नायिका। पद्माकरकी परिभाषामें — 'प्रीतम प्रीति प्रतीति जो और तिया तन पाइ' कहा गया है, पर मतिरामने इसके सम्बन्धमें यह और कहा है — 'करें पेच रिस तेह', अर्थात् वह अपने दुःखको व्यंग्य और कट्ट्रक्तियों में व्यक्त भी करती है। मितरामके उदाहरणसे यह स्पष्ट भी है—'तूनो है रसीली रस बातन बनाय जाने, मेरे जान आयी रस राखि कै रसीले सी' (रसराज, ९९)। रहीमको नायिका उस अन्य स्त्रीके प्रति गहरा व्यग्य करती है—'में पठयउं जिहि कमवां आयिस साधि। छुटिंगो सीसको जुरवा किसके बांधि' (बरवे॰, २८)। भक्तिकाव्यमें सीमित और रीतिकाव्यमें व्यापक रूपसे इस नायिकाका चित्रण किया गया है और वस्तुतः उसके माध्यमसे उस रितिधिक्षोंसे युक्त नायिकाका भी। इस काव्यमे व्यंय, उपालम्म, उक्तिचातुर्य, खोझ तथा आक्रोश आदिका सुन्दर चित्रण हुआ है।

अन्योक्ति—'वह कथन, जिसका अर्थ साधर्म्यके विचारसे कथित वस्तुको अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर घटाया जाय, उसकी संशा अन्योक्ति है।' दूसरे शब्दोंने इसमे अप्रस्तुत या प्रतीकके माध्यमसे प्रस्तुतका व्यंग्यात्मक कथन किया जाता है। अन्योक्ति हमेशा व्यंग्यप्रधान ही होती है।

नाट्यशास्त्र अ० १७ के ३६वें रलोक—'हृदयस्यस्य भावस्य गूढार्थस्य विभावकम् । अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥' मे 'अन्यापदेशे'का प्रयोग निरसन्देह काव्यके आन्तरिक धर्मके लिए हुआ है पर मट्ट मह्यटका 'अन्यापदेशे' आदि काव्य-प्रकार या अलंकारके लिए इस शब्दके प्रयोगकी स्वाना देते है । ये उदाहरण भामह और मम्भटने अप्रस्तुतप्रशंसा और दण्डीके 'समासोक्ति' अलंकारकी परिभाषा—अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतके व्यंग्य रूपमें कथन—के अन्तर्गत आ जाते हैं । बादमें रुद्र (नवीं शतीं)ने इसे 'अन्योक्ति' नाम देकर स्वतन्त्र अलंकारों स्थान दिया । बादमें शम्भु कविने 'अन्योक्तिमुक्तलता' लिखकर इस नामका विकास किया । रामदिहन मिश्रने 'समासोक्ति'को ही हिन्दी-संसार में 'अन्योक्ति'के नामसे प्रसिद्ध माना है ।

अन्योक्तिका अध्ययन अलंकार, पद्धति और ध्वनिके रूपमें किया जा सकता है। अलंकारके रूपमें इसका अभि-प्राय कुछ सीमित हो जाता है। अप्रस्तुत प्रशंसा, समा-सोक्ति, रूपकातिशयोक्ति और प्रस्तुतांकुरके अतरिक्त श्लेष आदि अलंबार भी अन्योक्तिके आधार हो सकते हैं। हिन्दी आचार्योंमें सर्वप्रथम केशवदासने अन्योक्तिको एक स्वतन्त्र अलंकार माना है। भिखारीदासने व्याजस्तुति, आक्षेप और पर्यायोक्तिको भी अन्योक्ति-वर्गमें रखा है, यद्यपि उनकी तदवत स्थितिके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है। दीनदयाल गिरिने अध्यवसित रूपकको भी अन्योक्तिके अन्तर्गत रखा है। भोजराजने अपस्तुतसे प्रस्तुतकी प्रतीतिमें समासोक्ति मानकर उसीको अन्योक्ति, अनन्योक्ति और उभयोक्ति माना तथा इसके चार भेद-रलाघा, गर्हा, रलाघा-गर्हा दोनों युक्त, इलाधा-गर्हा दोनोंसे वियुक्त-तथा प्रकारान्तरसे दो और भेद भी-सजातीय और विजातीय-किये। डॉ॰ रसालने अपने 'अलंकारपीयृष'मे इस अलंकारके प्रकार-भेद करनेमे स्वतन्त्र मार्ग अपनाकर इसके वक्रान्योक्ति और काकु-अन्योक्ति ये दो मुख्य भेद तथा दिल्हा, स्वगत परगता ये अवान्तर-भेद किये हैं। इनमें परगताके वैयक्तिक, व्यापक, नीत्यात्मक और सांकेतिक ये चार और भेद किये गये है। व्यापक अर्थमें 'पश्चावत' भी अन्योक्ति ही है, जिसके लिए रामदिहन मिश्रने 'रूपकातिश्योक्ति', डॉ॰ भगीरथ मिश्र और रामबहोरी शुक्कने 'प्रतीकात्मक अध्यवसान' तथा आचार्य चन्द्रवर्ला पाण्डेयने 'रूपकातिश्योक्ति', 'परोक्ति', 'परोक्ति', 'परोक्ति', 'परोक्ति', 'परोक्ति', 'परोक्ति' आदि भी कहा है। कुवल्यानन्दकार और पश्चसिंह शर्मा 'अन्योक्ति'को 'गूढोक्ति कहना अधिक पसन्द करते हैं।

आचार्य शक्कने अन्योक्तिका उल्लेख अन्योक्ति-पद्धति (शैली) नामसे किया है, जिसे हम अंग्रेजीमें 'एलीगरी'-की संज्ञा दे सकते है। अन्योक्ति, शैली-रूपमें हमारे जीवन-रहस्योंको उद्घाटित करनेका प्रवलतम साधन भी है—"हमारे यहाँ तत्वचिन्तनका बहुत विकास हो जानेके कारण जीवन-रहस्योंको स्पष्ट करनेके लिए—एक संकेतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूप दर्शनसे लेकर रूपात्मक काव्य-कला तक सबने ऐसी शैलीका प्रयोग किया है, जो परिचितके माध्यमसे अपरिचित और स्थूलके माध्यमसे सूक्ष्म तक पहुँचा सके (महादेवीजी: विवेचनात्मक गद्य)। अन्योक्ति-पद्धतिके उदाहरणके रूपमें जिन रचनाओंको रखा जा सकता है, उनके नाम है—भागवतका पुरंजनोपाख्यान, जिसमें कृष्णको मधुपके प्रतीक रूपमे चित्रित किया गया है, जो बादमे मूर-भ्रमरगीतके रूपमे सामने आया और 'भवाटवी' आदि । हिन्दीमे जायसीकी 'पदमावत' 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी इसी पद्धतिके रूपमें लिखी गयी। काव्य ही नहीं, अनेक नाटकोंकी रचनाएँ भी इस पद्धतिको आधार मानकर की गयी हैं-यथा, कृष्ण मिश्रका 'प्रबोध-चन्द्रोदय, (संस्कृत), 'प्रसाद'का 'कामना' और पन्तका 'ज्योत्स्ना' आदि । गद्यमें भी पंचतन्त्र, हितोपदेश नामक रचनाएँ अन्योक्ति पद्धति पर की गयी है, जिनमे पशु-पक्षियोंके वहाने मनुष्यकी नैतिक समस्याओका विश्लेषण किया गया है। इसके अतिरिक्त सिद्धोंकी 'पंच-विडाल', 'गंगा-जमुना', 'डोम्बी', बौद्ध बज्जयानियोंकी उलटवासियाँ, 'शृंगाल-सिह-युद्ध', योग-मागीं गोरखपंन्थियोंकी इड़ा, पिगला, षटचक्र, सहस्रदल आदि । उदाहरण भी हिन्दीकी पुरानी रचनाओमें खोजे जा सकते हैं। ध्वनि रूपमें अन्योक्तिका अधिकाधिक लगाव काव्यके भावपक्षसे ही होता है। अन्योक्ति ध्वनि अभि-व्यंज्यमान् अर्थको बताकर तुरन्त लुप्त नही हो जाती, वरन ध्वनि अनुरणनकी भाँति उसकी अनुगूंज देर तक होती रहती है, 'जो व्यंग्य-परम्पराके साथ-साथ भाव-जगतको आन्दोलित करती हुई चली जाती है'। अन्योक्तिके दो पूर्वोक्त प्रकारोंमें भी अन्योक्ति ध्वनिको देखा जा सकता है। किन्तु कोरी उपदेशप्रधान अन्योक्तिमें ध्वनितत्वका आभाव होता है यथा, सन्तोकी उलटवासियाँ, जिनसे कान्याभास मात्र होता है। छायावादी-रहस्यवादी गीत और सूफी कवियोंकी आध्यात्मिक प्रेम-कथाओको अन्योक्ति-ध्वनिके उदाहरणके रूपमें ले सकते है।

अन्योक्ति अप्रस्तुत विधानकी लगभग चरम अवस्था है। इसका अर्थ अलंकार रूपमें द्दीन होकर दीर्घकाल तक व्यंजित होता रहता है। इसकी परिभाषा 'प्रकृतिके किसी उपकरण पर दृश्यमान जगत्के किसी घटना व्यापारको प्रतीक बनाकर उसके माध्यमसे हृदयस्थ—किसी प्रस्तुत

लौकिक या अलौकिक वस्तु, सिद्धान्त अथवा व्य पार-समिष्टिका बोध कराना—की गयी है (हिन्दी काव्यमें अन्योक्ति, डॉ॰
संसार चन्द्र, पृ॰ १५)। अन्योक्तिमें भावोंकी समाहार-शक्ति
और भाषाकी समास-शक्ति भी जुड़ी रहती है। रामदिहन
मिश्रने 'काव्यमे अप्रस्तुत योजना'में इसे 'काव्यका प्राण',
कलाका मूल और कविकी कसौटी' माना है। डॉ॰ सुधीन्द्र
कहते हैं—'अन्योक्ति-विधानमे वस्तुतः एक वड़ी शक्ति हैं
और वह है व्यंजना, उसे हम ध्विन भी कह सकते हैं।
इसी ध्विनका उपयोग कि जब करता है तो कवितामे एक
आभा छलछला उठती है। अर्थगौरव भी बढ़ जाता है
(हिन्दी कितामें युगान्तर)। डॉ॰ बी॰ राधवनने अपने 'सम
कान्सेप्स ऑव अल्कार शास्त्र'में इसे काव्यके अन्य सभी
प्रकारोंसे उत्कृष्ट माना है। वेसे पहेलियाँ और मुकरियाँ
भी एक प्रकारसे अन्योक्ति या अर्थ-अन्योक्ति कही जा
सकती है।

अन्योक्तिके उदाहरण वेदोंकी 'द्रा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० १।१६४।२०) जैसी ऋचाओमें हुँदे जा सकते है । और ऐसे ही उदाहरण उपनिषदों, रामायण, महाभारत और पराणोंमें भी मिल जायेंगे। कान्यरूपके रूपमें या लक्ष्य यन्थके रूपमें ऊपर चर्चित यन्थेंकि अतिरिक्त अन्य संस्कृत अन्योक्ति यन्थ है-हंसविजयगणीकी 'अन्योक्तिमुक्तावली', पण्डितराज जगन्नाथकृत 'भामिनी विलास' और क़ु० प्रतिभा दलपतिराय त्रिवेदी द्वारा सम्पादित 'अन्योक्त्यष्टक-संग्रह'मे संगृहीत रचनाएँ। प्राकृतमें 'गाथासप्तशती' और अपभंशमें 'हेम व्याकरण', देवसेनके 'सानय-धम्म दोहा', सोमप्रभ सूरि रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'स्फुट पद्य' आदिमें मार्मिक अन्योक्तियां मिल जापेंगी। 'अपभ्रंश-साहित्यका एक बहुत बड़ा भाग नीति, सूक्ति, अन्योक्ति, स्तुति आदि ढंगके कार्न्योंसे भरा हुआ है। हेम न्याकरण-में भ्रमर, कुंजर, पपीहा, केहरि, धवल, महाद्रम आदिको लेकर बड़ी ही हृदयहारी अन्योक्तियाँ कहीं गयी हैं (डॉ० नामवर सिंह: हिन्दीके विकासमे अपभ्रंशका योग)। हिन्दी-के आदि कवियों—खुसरोकी मुकरियों और पहेलियों तथा चंदबरदाईके काव्योंसे लेकर कबीर, दाद, सुन्दरदासकी उलटवासियों और वाणियों, जायसीके अलंकार-प्रयोगों, सूर और ब्रजभाषाके कवियोंके भ्रमर-गीत और दृष्टिकटों, तुलसीः की दोहावली और रामचरितमानसमें अन्योक्तियां भरी पड़ी है।

इसके अतिरिक्त अन्योक्तिकारके रूपमें रहीम, बिहारी, बृन्द, विक्रम, रसनिधि, रामसहायदास, बाबा दीनदयाल गिरि, गिरिधर आदि कवियोंके नाम विशेष उल्लेख्य है। रहीमकी अन्योक्तियोंमें जीवनकी पैनी दृष्ट झॉक्ती है। बृन्द स्किका ही अधिक लगते है। बाबा दीनदयाल गिरिके 'अन्योक्ति कल्पर्रम'का रीतिकालीन अन्योक्ति—साहित्यमें विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए आचार्य शुक्रका कहना है— इनका 'अन्योक्ति कल्द्रम' हिन्दी-साहित्यमें एक अनमोलप वस्तु है। अन्योक्तिके क्षेत्रमें कविको मामिकता और सौन्दर्यनावनाके स्फुरणका बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें (बाबाजी जैसे) अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो उन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही

ही हैं, अध्यात्मपक्षमें भी दो-एक रहस्यमयी उक्तियां हैं"। बाबाजीने अन्योक्तिको व्यापक अर्थमें ही लिया है। गिरिधर किरायकी अन्योक्तिप्रधान कुण्डलियां—'दाड़िमके धोसे गयो सुवा नारियल खान'—भी बड़ी लोकप्रिय हुई हैं।

इसके बाद भारतेन्द्रयुगमें काव्यका स्वर अधिकतर बहि-

र्मुखी ही रहा। अतः उसमें अन्योक्तियोके लिए अवकाश

कम रहा। 'भीतर-भीतर सब रस चूसे, बाहरसे तन मन धन मुसे'—जैसी मुकरियों और तत्कालीन नाटकोंमे

अन्योक्तितत्व दिखाई पड़ ही जाता है। दिवेदी कालमें धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकृतियोको दूर करने-के लिए अन्योत्तियोंका सहारा लिया गया। संस्कृतसे कुछ अन्योक्तियोंका अनुवाद भी किया गया । मैथिलीशरण ग्रप्त, गिरिधर शर्मा, लक्ष्मीधर वाजपेयी, रामचरित उपाध्याय, रूप-नारायण पाण्डेय, सैयद अमीर अली 'मीर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', और वियोगी हरि आदि आधुनिक कालके प्रसिद्ध अन्योक्तिकारों में है। 'हरिऔध'के 'चोखे और चुभते चौपदें तथा वियोगी हरिकी 'वीर सतसई'में मार्मिक व्यंग्य और करारे विद्रुपको बड़ी आसानीसे देखा जा सकता है। प्रतीकोंके रूपमें छायावादी काव्यमें अन्योक्ति-पद्धतिका बहुल प्रयोग हुआ है। छायाबादकी ध्वन्यातम-कता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक—विधान तथा उप-चार-वक्रताके साथ स्वानुभृतिकी विवृति-जैसी विशेषताएँ अन्योक्ति विधानकी मेरूदण्ड साबित हुई। इस तरहकी कविताओं में प्रतीक और लाक्षणिक प्रयोगोंका बाहुल्य होनेके कारण रूपकातिश्योक्ति और अन्योक्ति अलंकार प्रचुरतासे प्रयुक्त हुए । लघु रूपात्मक छायावादी-रहस्यवादी गीतोंमें भी अन्योक्ति पक्ष बराबर रहता ही है। प्रसाद, पन्त, 'निराला' और महादेवीकी रचनाओंमें अन्योक्तिकी भरमार है। 'निराला'के ओज और दार्शनिक अनुभूतिने अन्योक्तिको एक विशेष ढंगसे पृष्ट किया है। यद्यपि वस्तुतथ्यको अति यथार्थरूपमें प्रस्तुत करनेके कारण हिन्दीकी प्रगतिवादी कवितामें अन्योक्तिके लिए बहुत कम जगह रह गयी थी, तथापि अभिन्यक्तिको अधिक विद्रपित कर उसे चुभनशील, चुटीली और एक उम्र भावबोध देनेके लिए उसका सहारा लिया ही गया, जिसे हमने प्रतीकात्मक यथार्थवाद (सिम्बा-लिक रियलिज्म) कहा। नयी कविता (प्रयोगवाद)में भी अन्योक्तियोंकी भरमार है। -रा० त्रि० अन्योन्य-रुद्रट द्वारा वास्तव वर्गका और रुय्यक द्वारा विरोध-मूल वर्गका अर्थालंकार; जहाँ एक ही क्रिया द्वारा दो वस्तुओंको अन्योन्य अथवा परस्पर, अर्थात् एक-दूसरेका, कारण वर्णित किया जाय, वहाँ 'अन्योन्य' अलंकार होता है। इस अलंकारका सम्भवतः प्रथम विवेचन रुद्रटने किया है। परन्तु रुद्रटके—'यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया' की अपेक्षा रुय्यक तथा मम्मटके लक्षण अधिक स्पष्ट हैं—'क्रियया तु परस्परम् । वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्' (का० प्र०, १०: १२०: १२१), अर्थात्, क्रियाके द्वारा पदार्थीके परस्पर उत्पादक होनेका चमत्कार, जबकि रुद्रटने क्रियाके द्वारा पदार्थोंके कारक भावकी माना है। परन्तु हिन्दीके आचार्योमें 'चन्द्रालोक'के लक्षण-'यत्र स्यादुपकारः परस्प-रेम्' का विशेष प्रभाव है। मनिरासर्ने 'ललितललाम'में इसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु भूषणने 'शिवराज-भूषण'में परिभाषा दी है—'अन्योन्या उपकार जहूं, यह बरनन ठहराय' (शि० भू०, :२२३)। दासका लक्षण किंचित् भिन्न है—'होत परस्पर जुगुल सौ' (का० नि०, १५)। उदा०—'ज्यों ज्यों तन धारा कियें, जल प्यावत रिक्षिवारि। पियें जात त्यों त्यो पथिक, विरली ओख संभारि' (शि० भू०)। अथवा—'तो कर सों छिति छाजतु दान है, दानहू सों अति तो कर छाजे। तही गुनीको वडाई सजै अरु, तेरी बड़ाई गुनी सब साजें' (शि० भू०, २२४)।

भोजदेवके 'सरस्वतीकंठामरण'में 'अन्योन्य'के तीन भेद बताये गये है—अभिधीयमान, प्रतीयमान तथा प्रतीयमाना-भिधीयमान । विश्वनाथके लक्षण 'उभयोरेकिकियायाः करणं मिथः' (सा० द०, १०:७३), अर्थात् 'जब दो वस्तुलॅ परस्पर एक ही किया द्वारा विशेषता उत्पन्न करें'में आगे विकसित होनेवाले भेदोंका आधार हैं। पद्माकरने तीन भेद दिये है— परस्पर उपकार, परस्पर अपकार तथा समान व्यवहार। 'भारती भूषण'में दूसरे ढंगसे तीन भेद विणत है—-परस्पर कारणता, परस्पर उपकार तथा परस्पर समान व्यवहार। किन्तु मम्मटने केवल एक ही प्रकारका 'अन्योन्य' माना है, एक किया द्वारा दो वस्तुओंकी परस्पर कारणता। जगन्नाथके 'रस्तंगाधर'में भी इसी मतका समर्थन है। परस्पर उपकारिताके अनेक सुन्दर उदाहरण काव्यग्रन्थोंमें मिलते हैं। — ध० व० शा०

अन्वय दोष-दे० 'शब्द-दोप', उन्नीसवा वाक्य-दोष। अन्विताभिधानवाद - कुमारिलभट्टके शिष्य मीमांसकका एक सिद्धान्त, जिसमें पदोंसे ही अन्वित अर्थका बोध माना जाता है (दे० 'तात्पर्यावृत्ति')। कहा जाता है कि प्रभाकर अत्यन्त प्रखर बुद्धिके थे। एक बार उन्होंने अपने गुरुकी एक भूलको सुधारा था, तभी दाई।निक साहित्यमे इनके मनको 'गुरुमत' कहा जाता है (विशेष दे० 'हिं० ध्व०', पृ० ३०)। —-ভ০ হা০ হা০ अपकर्ष-काव्य-दोषके अन्तर्गत रसका अपकर्ष करनेवाले कारण दोष कहलाते हैं। कान्यके चमत्कार अर्थका अविलम्ब बोध होनेको रसास्वादन कहते है। इसके समझनेमें जब विलम्ब उपस्थित हो तो उसे अपकर्प कहेगे, अर्थात जो कारण रस, रसाभास, भाव, भावाभास, सन्धि, शावलता आदि द्वारा काव्यकी आत्मा, चमत्कार और वाक्यार्थको अपने प्रतिबन्ध द्वार। रोकते हैं अथवा हीनता प्रदान करते हैं, उन्हें अपकर्ष कहते हैं। यह अपकर्ष तीन प्रकारसे हो सकता है-(१) रस-प्रतीतिमें विलम्ब द्वारा, (२) अवरोध द्वारा और (३) रसके आस्वादमें पूर्ण विनाश या विघात द्वरा। शब्द और अर्थका अपकार करनेवाले तत्त्व भी अप्रत्यक्ष रूपसे रसका ही अपकर्ष करते हैं। रस अलौकिक आनन्दकी अवस्था है, अतः उसका विलम्बन, अवरोधन तथा विघात निश्चय ही उद्देगजनक होगा। (१) ये दोष या तो रसकी प्रतीतिको रोक देते हैं, या (२) रसकी उत्कृष्टताकी विधातक किसी वस्तुको बीचमें खड़ा कर देते है, या (३) रसास्वादमे विलम्ब कर देते हैं। इन अपकर्षींको दूसरे शब्दोमें इस प्रकार कह सकते है कि वें मूल औचित्यका व्यक्तिक्रम कर देते है।

संस्कृतके आचायोंमें मम्मट तथा विश्वनाथने ही

अपकर्षकी विधिवत् व्याख्या की है। हिन्दीके आचार्योंमें किसीने अपकर्षका नियमित और स्पष्ट विवेचनं नहीं किया है।

काव्यास्वादरोधक यह अपकर्षका एक मेद है। इसके अन्तर्गत वे समस्त कारण परिगणित किये जाते है, जिनके उपस्थित होने से रसकी अनुभूतिमे रुकावट उपस्थित हो जाय, यथा—'कार्तार्थी तब होहुँगी, मिलिहै जब प्रिय आय।' कार्तार्थी (कृतार्थी)का प्रयोग रसके आस्वादका अवरोधन करता है। यह विप्रकम्भ श्रंगारका वर्णन है। इसमे कठोर वर्णोंकी रचना नियमविरुद्ध है। ऐसे प्रयोग काव्यास्वादरोधक अपकर्ष कहलाते है।

काज्योत्कर्षविनाशक—यह रसायकर्ष उस खलपर होता है, जहाँ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते है, जिनसे रसकी अनुभूतिका पूर्णतया विनाश हो जाता है, यथा—'यमुनाशम्बर सौ, छूटत कलिमल कोस'। यहाँ जलके अर्थमें 'शम्बर' शब्दका प्रयोग है। 'शम्बर' पद जलका पर्यायवाची है, किन्तु काव्यमें 'शम्बर'का प्रयोग इसी नामके असुरके लिए होता है। अतः 'शम्बर' उसी असुरके नाममे रूढ़ है। जलके अर्थमें वह अप्रसिद्ध है। अतः यह रसोत्कर्धनिनाशक अपकर्ष है।

काड्यास्वाद्विलम्बक—यह रसका अपकर्ष उस समय होता है, जब ऐते कारण आकर उपस्थित हो जाय, जिनसे रसकी अनुभूतिमें विलम्ब या देर हो, यथा—'कहत कत परदेसीकी बात। मन्दिर अरध अबधि हरि बदि गये, हरि अहार चिल जात।' उक्त पदमे, मन्दिर अरध = पाख (१५ दिन), हरि अहार = मांस = मास (२० दिन)। यहाँपर ऐसे प्रयोग किये गये है, जिनसे रसकी अनुभूतिमें विलम्ब हो जाता है। अतः यह काव्यास्वादविलम्बक अपकर्ष है।

—दी० सि० तो०

अपट यक्त-दे॰ 'अर्थ-दोष', तेरहवाँ। अपभ्रंश-लगभग छठीसे बारहवी शतीतक उत्तर भारतमें साहित्य और बोलचालमें व्यवहृत प्राकृतकी उत्तर धिकारिणी भाषाएँ । पतक्षिल (दूसरी शती)ने इसे देवभाषासे भिन्न असाध भाषाके अर्थमें प्रयुक्त किया है। भरत (तीसरी शती) इसे ज्ञाबर, आभीर (और गुर्जर) आदिकी भाषा बताते हैं। दण्डी (सातवी शती) भी इसे 'आभीरादिगिरः' कहते है। चण्ड (छठी शती)ने 'प्राकृत-लक्षणम्'में अपभ्रंशको एक विभाषा कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि तबतक यह प्रामाणिक आर्यभाषाके योगसे व्यापक हो गयी थी। वलभी-के राजा धरसेनके शिलालेखसे स्पष्ट होता है कि छठी शताब्दीमें र्सस्कृत और प्राकृतके अतिरिक्त अपभंशमें भी साहित्यरचना होने लगी थी, भले ही इसका आरम्भ सौराष्ट-से ही हुआ हो। भामह (सातवी शती) और रुद्रट (नवी शती)ने भी अपभ्रंशकाव्यकी चर्चा की है। टीकाकार परु-षोत्तम (ग्यारहवी शती) और काव्यमीमांसाकार राजशेखर (दसवी राती)का कहना है कि मध्यदेश और उसके पश्चिम-में अपभ्रंश शिष्टवर्गकी भाषा थी। संक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि तीसरी शताब्दीनक अपभंश आभीरादिकी भाषा थी, क्रमशः वह लोकभाषा, धीरे-धीरे शिष्टभाषा और बादमें साहित्यिक भाषा हो गयी पहले यह गुर्जरप्रदेश.

हिमवत , सौबीर और सिन्धदेशतक सीमित थी, बादमे मालवा, राजस्थान, पंजाब, दिल्ली और बन्देलखण्डतक फील गयी और बारहवी शतीमें समस्त उत्तरी भारतमें व्याप्त हो गयी। इसके तीन रूप-नागर, उपनागर और ब्राचड (मार्कण्डेयके अनुसार) अथवा नगर, श्राम्य और उपनागर अनुसार)-पश्चिमी भारतकी अपभंजके (नेमिसाधके ही थे। समय पाकर एक-एक प्राक्रतके विकिमन रूपको भी उसका अपभंश कहा जाने लगा-जैसे. शौरसेनी अपभंश, महाराष्ट्री अपभंश. अपभंज इत्यादि । इस कालमे इधर-उधर भी जो भारतीय आर्यभाषाण थी और जिनसे आधनिय आर्यभाषाओंका विकास माना जाता है, उन सबको अपभंश नामसे अभि-हित किया गया है: जैसे, केंक्रय, टाक्क, लाट और यहाँतक कि कार्णाट और दविह अपभंज भी मानी गयी है।

बोलचालको अपभ्रंशको विषयमें तो कुछ वहा नहीं जा सकता, किन्तु साहित्यिक अपभ्रंशको विशेषताऍ संक्षेपमे इस प्रकार थी —

ध्वति-विकास-१. अपभ्रंशने प्राकृतकी ध्वनिमालामें कोई परिवर्तन नहीं किया, स्वर और व्यंजन वहीं रहे। २. संस्कृत शब्दोंके आदिस्वरको यथावतः सरक्षित रखा गया। ३. प्राकृतमे संस्कृतके अन्त्यस्वरोके छोप अथवा हास्वीकरण-की जो प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, उसका व्यापक और पर्ण रूपसे निर्वाह हुआ । ४. उपान्त्यस्वर कहीं तो सरक्षित रहा और कही हस्व हो गया। ५. प्राकृतके दीर्घ (द्वित्व) व्यंजन-को अपभंशमें हस्य (एक) व्यंजन करके आवक्षरमेंके स्वरको दीर्घ कर देनेकी प्रवृत्ति आरम्भ हो गयी, जो हिन्दी बोलियोमे जारी रही। ६ प्राकृतके बीचमें समीपवर्ता खरो (hiatus)को मिलाकर एक स्वर किया गया। ७. आदि व्यंजन यथापूर्व सुरक्षित रहे । ८. प्राकृतकी तरह अपभंशने संस्कृत राब्दोके अन्त्य व्यंजनोको लग्न करनेको प्रकृतिको और आगे बढाया । ९. टवर्गको छोडकर मध्य अल्पप्राण व्यंजनोका लोप होता रहा और महाप्राण व्यंजनोंकी जगह ह रह गया। प्राकृतमे अपवाद अधिक थे, अपभ्रंशने अपवाद कम कर दिये। १० मध्य ट ठ्के स्थानपर इ ह और तद्रपरान्त ड दुका विकास अधिक होने लगा। ११. सयक्त अथवा द्वित्व न्यंजनकी जगह अपभ्रंशमे एक न्यंजन रह गया।

व्याकरण—१. संस्कृतके नपुं सक्तिंग शब्द पुंलिंग हो गये और इस तरह पुंलिंग शब्दोंकी संख्या बहुत अधिक हो गयी। २. कारक-चिह्नोंमें सरलता आ गयी; न तो न्त्रीलिंग-पुंलिंगके कारक-प्रत्ययोमें कोई मेद रह गया और न ही एकवचन-बहुवचनके कारक-चिह्नोंमे। ३. कारकोंकी संख्या कम हो गयी और भाषा विश्लेषणात्मक हो गयी। ४. विशेषण प्रत्ययमे लिंगभेद अथवा वचनमेद हटने लगा। ५. कियाओंके रूपमें विशेष परिवर्तन हुआ—तिड न्तरूपोंके स्थानपर कृदन्तरूपोंका व्यवहार हुआ। इससे कालरचना अत्यन्त सरल हो गयी।

शब्द-भण्डार—अपभ्रंश्में देशी और तद्भव शब्दोकी मरमार देखकर इसकी स्वतन्त्र और विद्रोही प्रकृतिका ठीक-ठीक अनुमान होता है। साहित्यिक शब्दोंकी अपेक्षा बोल-

चालके शब्दोंका अधिक व्यवहार उत्तरकालीन साहित्यमें भी --- ह० दे० बा० अपभंश, उपनागर-अपभंशका वह रूप, जिसे मार्कण्डेय और नेमिसाध आदि वैयाकरणोने नगर और श्राम्य अपभ्रंदाका सम्मिश्रित रूप कहा है और जिससे राजस्थानीका विकास हुआ है। नेमिसाध (रुद्रटके टीकाकार-ग्यारहवी शती) लिखते है कि प्राकृत और आभीरीके मेलसे याम्य अपभ्रंशका विकास हुआ और तद्परान्त आसपासकी भाषाओके प्रभावोंको ग्रहण करती हुई उपनागर अपभंश विकसित हुई। आधुनिक समयके विद्वानोंका मत है कि यह नागर और ब्राचडसे स्वतन्त्र पूर्वी सौराष्ट्रकी भाषाका रूप रहा है। उपनागरका क्षेत्र गुजरात और सिन्धसे पूर्वका प्रदेश माना जाता है इसका साहित्य प्राप्त नहीं है, पर प्राचीन हिन्दीके चारण-साहित्यके ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेपणसे उसकी विशेषताओंको जाना जा अपभंश, केकय-अपभंशका वह रूप, जो दक्षिणी कश्मीर और पश्चिमी पंजाब, केंक्य अथवा कक्का प्रदेशमें प्रचलित रहा। कुछ विद्वानोंने न्यास और सतलजके बीचके प्रदेशको केकय माना है और कुछने चित्राल, स्वात और उसके आसपासके उत्तरी शीमाप्रान्तको । बहुमतने स्वीकार किया है कि लॅहदी भाषाका विकास केकय अपभ्रंशसे हुआ है। इसका काल छठीसे दसवीं शतीतक बताया गया है। पश्चिमोत्तर भारतमें राजनीतिक विष्ठवोंके कारण केकय अपभ्रंशका सब साहित्य नष्ट हो गया है। अतः इसकी भाषागत विशेषताओंके विषयमें कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं है। मार्कण्डेयने केकयका उल्लेख अपनी सूचीमें अपभंशधारा-हेमचन्द्र (११४५-१२२९वि०सं०), सोम-प्रभाचार्य (१३वीं शती), अब्दुल रहमान (१३वी शती वि०) जैसे कृतिकारोंकी अपभंशमें निश्चित रूपसे, खयंभू, पुष्पदन्त आदिकी अपभ्रंशकी अपेक्षा ऐसे शब्द अधिक मिलते है, जिनको आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंका लगभग पुराना रूप कहा जा सकता है। यह परिवर्तन-कालीन अपभ्रंश है। विक्रमकी बारहवीं-तेरहवीं शतीमें अपभ्रंशका स्थान उसके क्रमशः विकसित रूप ले चुके थे, किन्तु फिर भी अनेक कवि केवल परम्परापालनके लिए अपभ्रंशमें रचना करते रहे। विद्यापतिकी कीर्तिलता भी इसी प्रकारकी कृति है, जिसमें अपभंशका परिवर्तित रूप मिलता है। इसके अतिरिक्त जैन कृतिकार तो सोलहवीं-सत्रहवी शतीतक अपभंशमें ग्रन्थ लिखते रहे। इन कृतिकारोंने धार्मिक परम्परा तथा साहित्यिक पर-म्पराका पालन करनेके लिए ही ये रचनाएँ की है। जैन शास्त्रचर्चा और अध्ययनके कुछ ऐसे केन्द्र थे, जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यका पठन-पाठन और प्रतिलिपिका कार्य होता रहता था। उदाहरणके लिए, गोवालगिरि (गोपाचलगिरि) मट्टारकोंकी गद्दी थी, जहाँ अपभ्रंशके अनेक ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि की गयी थी और उसका अध्ययन भी वहाँ होता था। अपभ्रंश कृतियोंकी प्रतिलिपियोंकी पुस्तिकाओंमें प्रतिलिपि-स्थान गोवालगिरि

लिखा मिला हैं। इसी प्रकारके अन्य कई केन्द्र थे। और इस प्रकार परम्पराका परिचय प्राप्त कर उससे प्रेरणा पाकर अनेक अपभ्रंश कृतियोंकी रचना हुई होगी। नरमेन (१४वा-१५वी शती)की वर्डमानकथा और श्रीपातचरित, सिंह या सिद्धका प्रवुम्नचरित, धनवाल (१५वीं शती)के बाहुबलिचरित और भविष्यदत्तचरित, रइधूकी पद्मपुराणादि लगभग २५ अपभ्रंश कृतियाँ, यशकीतिं (१५वी-१६वी शती वि०)की हरिवंशपुराण, चन्द्रप्रभाचरित आदि, शतकीति (१६वीं राती वि०)की परमेष्ठिप्रकाशसार और हरिवंश-पुराण, श्रतकीति (१६वीं शती वि०)कृत नागकमार-भगवतीदासकृत मृगांकलेखाचरित (१७०० चरितादि, वि॰ सं॰) आदि इसी प्रकारकी कृतियाँ है, जो केवल अपभंशके प्रति आग्रहके कारण लिखी गयी है। इनमें बहुत-सी कृतियोंकी भाषामें अपने आप समकालीन साहित्यिक भाषाओंके प्रयोग आ गये हैं। अठारहवीं शतीमें यह परम्परा आकर बिल्कुल समाप्त हो गयी। इस परम्पराक्ष मिश्रित अपभ्रंशका अध्ययन बहुत ही मनोरंजक विषय है। साहित्यिक रूपमे तो कोई नवीनता नही है। कडवक (चौपाई-दोहा) शैली चरितकाव्योंमें मिलती है, कहीं-कहीं घत्ताका स्थान दोहेने ले लिया है कथा कहनेका ढंग प्रायः परम्पराके अनुकूल ही रखा -रा० सिं० तो० अपभंश, नागर-अपभंशका वह भेद, जो गुजरात और पश्चिमी राजस्थानमें प्रचलित था और जिसमें अधिकांश साहित्य उपलब्ध है। भरतमुनि (तीसरी शती)ने जिसको आभीरादि (गुर्जरकी भी) भाषा बताया है, वह यही है। ११वीं शताब्दीमें नेमिसाधने भी नागरको आभीर अपभ्रंश-का पर्याय माना है। आभीरों और गुर्जर-प्रतिहारोंकी राजसत्ताके कारण इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। अपभ्रंशका यही रूप शिष्टवर्ग (नागरिक लोगों) तथा नागर ब्राह्मणोंके प्रोत्साहनसे प्रामाणिक माना गया। मार्कण्डेय (११वीं राती)ने प्रथम बार 'प्राकृतसर्वस्व'में अपभ्रंशके भेदोंमें नागर नामका व्यवहार किया है। साहित्यिक माध्यमके रूपमें यह शौरसेनी प्राकृतकी अनु-सारिणी कृत्रिम भाषा है। हेमचन्द्र (१२वीं शती)ने अपने व्याकरणमें इसको आदर्श मानकर इसका विक्लेषण किया है और 'देसी सह संगहो' नामसे नागरमें प्रयुक्त देशी शब्दोंका कोश रचा है। गुजराती भाषाका विकास नागर अपभंशते माना जाता है। --ह० दे० बा० अपभंश वाचड-अपभंशका ऐक भेद, जिसका नाम तो ११वी शतीसे मिलता है, पर जिसका न तो साहित्य प्राप्त है और न कोई अन्य प्रमाण । सिन्धी भाषाकी ब्राचडसे उत्पत्ति मानी जाती है। ८वीं शताब्दीसे सिन्धुपर अरबोंका आधिपत्य रहा और इतिहास साक्षी है कि उनका शासनकार्य तत्कालीन सिन्धुको प्रचलित भाषामें होता था। अतः यदि अरब-शासनकालके सरकारी कागजात उपलब्ध हो सकें और उनसे ब्राचडकी भाषागत खोज की जाय तो कुछ तथ्य प्रकाशमें आ सकते है। --ह० दे० बा० अपभंश (साहित्य) - मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाको तिरस्कारसूचक अपभ्रंश (अर्थात् पतित) नाम संस्कृतके आचार्यों द्वारा प्राप्त हुआ है। संस्कृत शब्दके 'साधु' रूपोंके अतिरिक्त लोक तथा साहित्यमे प्रचलित भिन्न शब्दरूपोको महाभाष्यके रचयिता पतक्षिलेने 'अपशब्द' या 'अपभ्रंश' संज्ञादी और महिषके इस नामको विना आपत्ति किये अनिच्छापूर्वक सभीने स्वीकार किया। इस व्यापक परि-भाषाके अनुसार तो प्राकृतें भी अपभ्रंश है, किन्त पीछे चलकर जिस भाषाके लिए अपभ्रंश नामका प्रयोग होने लगा वह प्राकृत (दे०) और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाके बीचकी सीढी है। जिस समयसे अपभ्रंश नामका प्रयोग मिलता है तथा अपभ्रंशके जो प्रयोग मिलते है, उससे ऐसा कहा जा सकता है कि प्राकृतें और अपभ्रंश बहुत समयनक साथ-साथ पनपती रही, पाकृतोंमे रचना होती रही और अपभ्रंशमें भी। वैसे प्राक्रतकी अगली सीढी अपभ्रंश है और उसका काल साधारणतः ६०० ई० से लेकर १३०० ई० तक माना जा सकता है। इस सीमाका भामह, दण्डी द्वारा दिये गये अपभ्रंशमें साहित्यरचना-विषयक संकेतोंके आधारपर एक किनारा और विद्यापति आदि कवियोंकी समान रूपसे लोकभाषामे पद अवहड़ माषाओं मे रचनाके आधारपर दूसरा किनारा माना जा सकता है।

पतक्षिल और भरतने सामान्य रूपसे 'अपभ्रंश'का उल्लेख किया है। भामहने 'कान्यालंकार'में अपभ्रंशको साहित्यिक भाषा कहा है और दण्डीके कथनसे इसकी और भी पृष्टि होती है। दण्डीने अपभ्रंशके प्रसंगमे आभीरोका उल्लेख किया है, जो बहुत संकेतपूर्ण है। उन्होने अपभ्रंशके 'आसारबन्ध' काव्योंके अस्तित्वका भी संकेत किया है। काव्यालंकारकार रुद्रट और उसके टीकाकार नेमिसाधने अपम्रंशके तीन भेदों उपनागर, आभीर और याम्यका उल्लेख किया है किन्तु लक्ष्योंकी चर्चा नहीं की । राजशेखर-ने राजदरबारोंमें अपभ्रंश काव्यके सम्मानपूर्ण स्थानकी चर्चा की है और उसकी प्रशंसा भी की है। इनके अतिरिक्त आनन्दवर्धन, मम्मट, भोज, वाग्भट, रामचन्द्र, ग्रणचन्द्र, जिनदत्त, अमरचन्द्र, शारदातनय तथा अन्य अनेक कवियों और काव्य-समीक्षकोंने अपभ्रंशका स्मरण किया है।

वैयाकरणोंमं चण्ड (चौथी शती ई०), पुरुषोत्तमदेव (१२वी शती ई०), क्रमदीश्वर (१३वी शती ई०), हेमचन्द्र, सिंहराज (१३वी-१५वी शती ई०), लक्ष्मीधर (१६वी शती ई०), रामशर्म तर्कवागीश (१६वी शती ई०), मार्कण्डेय (१७वी शती ई०) आदिने अपभ्र शके व्याकरणपर प्रकाश डाला है। चण्ड, हेमचन्द्र और सिंहराज (पश्चिमी सम्प्रदायक वैयाकरण)ने शौरसेनीको अपभ्रशका अध्वार माना है और अन्य मेदोंका उल्लेख नही किया है। क्रमदीश्वरने बाचडको प्रधान अपभ्रंश माना है, जिसे कुछ विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनीपर आधारित) मानते है।

आभीर गुर्जरोंका भी अपभ्रंशके सम्बन्धैमें दण्डी, भोज आदिने उल्लेख किया है। विद्वानोंने प्रतापि आभीरोंको ब्रास्य (ब्राच ने स्वार्थे टं) भी बताया है और इस प्रकार पश्चिमी प्रदेशोंकी अपभ्रंशको प्रभावित करनेके कारण आभीरों- का उससे सम्बन्ध भी जुड़ गया होगा। अतः व्राचट और आभीरी एक ही अपभ्रंश हो सकती हैं। नागरक एवं उपनगरके और याम्यके (हमचन्द्रने इसका उल्लेख किया है) प्रसंगमें यह किसीने नहीं बताया कि ये किस प्रदेश-विशेपमें बोली जाती थी। क्रमदीश्वरने नागरापभ्रंश और रासक छन्दका सम्बन्ध स्थापित किया है और रासक रचनाएँ पश्चिमो प्रदेशोंमें ही रचित अभीतक मिली है। अतः नागर और वाचड दोनों ही पश्चिमी प्रदेशोंकी अपभ्रंश सिद्ध होती है। उपनागर शब्द सम्भवतः नागरमें अन्तर प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त किया गया होगा। अपभ्रंशके बोलचालवाले रूपको 'प्राम्य' संज्ञा हेमचन्द्रने दी होगी। अपभ्रंशके कवियोने अवहंस (अपभ्रंश), अवहट्ट (अपभ्रष्ट), प्राकृत, पटमंजरी आदि नामोंका भी अपभ्रंशके लिए प्रयोग किया है।

कान्य-समीक्षकों और वैयाकरणो द्वारा अपभ्रंशके जो उल्लेख मिलते है, उनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रारम्भमें आदरकी दृष्टिसे नहीं देखी जाती थी, किन्तु छठी, सातवी शती ई० (भामह, दण्डीका समय)तक उसमें इतनी और इस प्रकारकी साहित्य-रचनाएँ हो चुकी थी कि संस्कृतके उत्कृष्ट साहित्यकी चर्चा करने-वालोंने भी अपभ्रंश कृतियोंका उल्लेख करना आवश्यक समझा। आठवी, नवी और दसवी शतियोमें वह साहित्यक उत्कर्षकों प्राप्त हुई और राजदरवारों, किन्समाओंमें उसका समादर होने लगा। आगेकी शतियोंमें भी उसमें साहित्यरचना होती रही, किन्तु वह सामान्य जन-भापासे दूर पड गयी थी और जन-भापामें अपभ्रंशकी तद्भव प्रधान शब्दावलीसे भिन्न तत्सम-प्रयोगप्रधान रचनाएँ होने लगी और धीरे-धीरे उन्होंने अपना उचित स्थान प्राप्त किया और अपभ्रंशकी धारा क्षीण होती चली गयी।

प्राकृत 'धम्मपद'के उपरान्त रूपे ('पउमचरिअ'-विमल सरिकत तीसरी शती ई०)के इसी प्रकारके प्रयोग, भरत-मुनिकी उकारवहुला भाषा तथा ध्रुवागीतोंमे ऐसे प्रयोग, 'वसुदेव हिण्डि' (छठी शती वि०), 'विक्रमोर्वशीय'के विवादयस्त अपभ्रंश पद्य ऐसे संकेत हैं, जो अपभ्रंशके विकासकी स्चना देते है। अपभ्रंशमें साहित्य-रचनाके निश्चित प्रमाण जिनदास महत्तरकृत 'निन्दस्त्र'की चृणि (६७६ ई०), 'कुवलयमाला' (७७८ ई०), श्रीलांककृत 'सूत्र-कृतांगवृत्ति' (१० वीं शती वि०)में उपलब्ध अपभ्रंश उद्धरणोंसे मिलते हैं। इसके आगे तो चतुर्भुख, द्रोण, स्वयंभू, पुष्पदन्त, योगीन्द्र जैसे कवियोके अपभ्रंशभाषा-निवद्ध यन्थ प्राप्त होते हैं और इन यन्थोंके अतिरिक्त अपभ्रंश दोहोंकी स्वतन्त्र-मुक्त थारा भी मिलती है। ये दोहे नाना ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत किये गये हैं, जिनके रचनाकारोंका कभी पता नहीं लग सकेगा; और सब भाषाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण है। समस्त उत्तरी प्रदेशोंमें लगभग सभी मतावलम्बियोंने अपभंशमे रचना की। मुक्तक काव्य, सुभाषित, खण्डकाव्य, महाकाव्य, चम्पू, कथा आदि नाना काव्य-रूपोंके माध्यम-के रूपमे अपभ्रंश साहित्य प्रस्फुटित हुआ। काव्य-रूपोंको ध्यानमें रखकर इस साहित्यका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा सकता है।

मुक्तक पद्य दोहा अपश्रंशका अपना छन्द है। विक्रमी-र्वशीयके चतुर्थ अंकने विक्षिप्त राजा पुरुरवाके उद्गार मानो अपभ्रंदाम अपने आप फट पडते हैं। ये उद्गार दोहा, अटिल, रामावलय, पञ्झटिका आदि छन्दोमें है। मक्त वानावरणकी सृष्टि करने, तीव्र भावावेगको व्यक्त करनेमे अपभ्रश बहुत ही शक्तिशाली माध्यम भिद्ध हुई है। चण्ड, आनन्दवर्धन, भोज, हेमचन्द्र, 'प्राकृत पैगल', 'प्रवन्ध चिन्तामणि' (१३०४ ई०), 'प्रवन्यकोश' (१३४८ ई०), 'परातन-प्रबन्ध-संग्रह'में अनेक अपभ्रंश मुक्तक पद्य विखरे मिलते हैं। इनमेंने बहुतसे बदले हुए रूपमें परवती साहित्य-में भी मिलते हैं, क्योंकि अनेक दोहे सुभाषितोंके समान बहत ही लोकप्रिय हो गये होंगे। भोज और हेमचन्द्रने जिस प्रकार नाना विपयोंसे सम्बन्धित पद्य वचन-विदन्धता, व्यंग्य, व्याकरणके उदाहरणोंके रूपमें उद्धृत किये है, वे निश्चित रूपसे किन्ही संग्रह-ग्रन्थोंसे लिये गये होंगे। इन पद्योंके विषय प्रकृति और जीवनके नाना शास्वत पक्षोंसे सम्बन्ध रखते है, संयोगशृंगार, विरहका अत्यन्त संवेदनात्मक चित्रण और ऊहात्मक वर्णन, भ्रमर, नेत्र, सत्परुष, पपीहा, मेघ, स्नेह, बलि, व्यास, कापालिक, दारिद्रच, सेना, स्त्री-जातिकी निन्दा, मुंजकी असह्य वेदना आदि नाना प्रसंगोंके पद्योंमेंसे जीवन झॉकता प्रतीत होता है। दोहा और अपभ्रंश मानो जीवनमें गहरे पैठ

दूसरी ओर वे पद्य हैं, जिनमें क्रमबद्ध किसी निश्चित भावधाराका विवेचन किया गया है। इस प्रकारके पर्धोमें भारतीय जीवनका एक दूसरा पक्ष अपनी पूरी गम्भीरता और जटिलताके साथ सामने आया है। वज्रयान (दे०)के साधक-सिद्धों, सरह, भूसक, काह्न, कुक्कुरी, लूइ, शवर, शान्ति, विरूपा, गुडरी, चाडित, कामिलि, डोम्बी, वीणा, आर्यदेव, ढेंढण, दाडि, भादे, ताड़क, कंकग, धाम, लिली-पादादिने अपभ्रंशके माध्यमसे वज्रयानके सिद्धान्तींका विवेचन ८वीं, ९वीं, १०वीं शतीमें किया। लगभग आधी शती हो गयी, स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्रीसे प्रारम्भ करके दर्जनों विद्वानोंने उन महायान पंथके अनुयायी पथिकोंके पदों और दोहादि पद्योंकी भाषा और भाव-धाराको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, तो भी अभी उनका काल अनुमानका विषय ही बना हुआ है। भाषाके आधारपर कृतिकारोंका काल निश्चित करना बहुत ही कमजोर आधार है। वज्रयानसे सम्बन्धित पद्य 'साधनमाला', 'सेकोद्देशटीका', 'डाकार्णव'में भी मिलते हैं।

अत्यन्त सरल शैलीमें रहस्य-वक्तव्य विषयको स्पष्ट करनेका सफल प्रयास मिलता है—योगीन्दु (१०वी शती ई०) के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', मुनि रामसिंह (१०वीं शती ई० अनुमानतः) के 'पाहुड दोहा', सुप्राचार्य (अनुमानतः १००० ई०के आसपास) के 'वैराग्यसार', 'महानंदि' (समय अनिश्चित) के हिंदोला आदि अन्थों मे । हनमे बाह्याचार, कर्मकाण्ड, तीर्थ, ब्रत, मृतिंपू जाका बहिष्कार करते हुए देह-देवालयमें ही ईश्वरकी स्थित बतायी है । अपने देह-देवालयमें स्थित परमात्माकी अनुभृति पाकर परम समाधि द्वारा सहज सुख प्राप्त करना इन गूढ़-

वादियोंको साधनाका प्रधान स्वर है। बाह्याडम्बरमे रहित, सहज दीलीमें प्रधान रूपसे दोहेके माध्यमसे मिंम्योंने अपने गृह सिद्धान्त व्यक्त किये है। इनके अनुसार आत्मा सर्वगत और जड है, रागरंजित हृदयमे उम परमसुखरण युद्धात्माका दर्शन नहीं होता। समचित्त स्विते प्राप्त हुए योगी ही उस अक्षय अनन्त देवको जान सकते है। इनको भावना अत्यन्त उदार है। किसीके प्रति कहुता ये व्यक्त नहीं करते। साधनाके लिए चारित्रिक शुद्धतापर ये बल देते है। साधनाका बाधक यदि गृहस्थाश्रम है तो ये उसको निन्दा करते है। आत्मानुभव ही चरम प्राप्तव्य है, उसीको इन्होने सहजानन्द, परमसमाधि, समरसीभाव कहा है।

दोहा दिको उपदेशका भी माध्यम अनेक कवियोंने बनाया है। इस परम्परामें देवसेन (१०वी शती वि०)-का 'सावयधम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा), जिनदत्त सूरि (१०७५ ई० से ११५३ ई०)कृत 'चर्चरी', 'उपदेशरसायन-रास'और 'कालस्वरूप', महेश्वर सूरि (१६वी शती वि०)-कृत 'संजम मंजरी' जैसी कृतियोंका उल्लेख किया जा सकता है। इन कृतियोंके पद्योमें गुरुकी श्रेष्ठता, मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता और अद्वैत द्वारा प्रतिपादित धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। सम्यक्तवप्राप्तिके लिए गृहस्थोंको नाना प्रकारके शुभकर्म-व्रतादिका पालन आवश्यक बताया गया है। ये उपदेश गृहस्थोके लिए है। धर्मकी परिभाषा करते हुए कहा है कि जो कार्य अपने लिए अहितकर है, वह कार्य दूसरोंके लिए न करना ही धर्मका मूल है। विपरीत-युद्धि शास्त्रोंके अध्ययनसे भी धार्मिक नहीं बन सकता। आदर्श गृहस्थजगत्मे ये कवि उपदेशक ऊंच-नीचका भेद स्वीकार नहीं करते। इन कृतियोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिए लोकसामान्य-परिचित वस्तुओं, हल, बैल, जुआ, खारी जल, धतूराको अप्रस्तुत विधानके रूपमे स्वीकार किया गया है। सद-गृहस्थों (श्रावक)को ध्यानमे रखकर दिये गये इन उपदेशोंमें मन्दिर, पुजा, देवताओंका खण्डन नहीं किया गया है। किन्तु रहस्यचर्ची करनेवाले सिद्ध मुनियोंके प्रतिकूल उनको सुचारु रूपसे स्थापित करनेका अनुरोध किया गया है।

प्रबन्धात्मक साहित्य—मानव-जीवनका पूरा चित्र इस प्रकारकी रचनाओंमें मिलता है, अपभ्रंशका निखरा भाषा-स्वरूप, छन्दोंका कलात्मक प्रयोग, अलंकार-सौन्दर्य और युद्ध, प्रेम, वैराग्य, धर्म आदि मानव-जीवनके गम्भीर व्यापारोंका विस्तृत चित्रण अपभ्रंशके पुराण, चिरत-काव्य और कथा-कार्व्योंमें मिलता है। इस काव्य-रूपके प्रमुख प्रतिनिधि कवि हैं—स्वयंभू (९वीं शती ई० के लगभग), जिन्होंने रामकी कथापर आधारित 'पडमचरिउ' और महा-भारतकी कथा-परम्पराको लेकर 'रिटुणेमिचरिउ' और विशाल कृतियोंकी रचना की। पुष्पदन्त (१०वी शती ई०)- ने जैन-परम्पराके महापुरुषोंकी कथाको लेकर 'महापुराण', 'णयकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ'की रचना की। स्वयंभूके पहले और भी अनेक अपभ्रंश किव हुए, जिनका उल्लेख उन्होंने अपनी कृतियोंमें किया है; जैसे द्रोण, चतुर्भुंज, जिटल आदि। स्वयंभू और पुष्पदन्तकी कृतियोंमें

अपभ्रंशका अत्यन्त परिष्कृत साहित्यिक रूप मिलता है। इसके आगे तीर्थकर या महापुरुषोके जीवनको लेकर या किसी वृत कथाके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए पज्झटिका, धात्ता, कडवक शैलीमें अनेक कृतियाँ लिखी जाती रही और यह क्रम विक्रमकी १६वी शतीतक चालू रहा। इस प्रकारकी शैलीकी कृतियाँ है-पद्मकीर्ति (१०वी शती ई०)-का 'पासचरिउ', धवल (१०वी-११वी श्राती ई०)का 'रिट्रणेमिचरिउ', धनवाल (१०वी शती ई०)का 'भविस-यत्तकहा', हरिषेण (१०वी राती ई०) की 'धम्म परिक्खा', वीर कवि (११वी शती ई०)का 'जम्बु स्वामीचरिड', नय-नन्दि (११वीं शती ई०) का 'सुदेसणचरिउ' और 'सकल विधि-विधान-काव्य', कनकामर (११वी राती ई०)कृत 'करकंडुचरिउ', धाहिल (११वी शती ई०)का 'पउमिस-रीचरिउ', श्रीचन्द (११वी-१२वी शती ई०)का 'कथा-कोस', श्रीधर (१३वी 'दाती ई०)के 'सुकुमालचरिउ', 'पासपाहुचरिउ' और 'भविसयत्तचरिउ', देवसेन गणिका 'सुलोयणाचरिउ', सिद्धका 'पञ्जुण्णकहा', हरिभद्र (१२वी श्र ई०)के 'णेमिणाहचरिउ' और 'चन्दघटचरिउ', अमर-कीर्ति (१२वी शती वि०)का 'छक्कमोवएस' तथा सोमप्रभा-चार्य (१३वीं शती ई०)का 'कुमारपालप्रतिबोध' आदि। रयधू (१५वी शती ई०) और यशकीतिंतक यह परम्परा चलती रही। अपभ्रंश साहित्यकी प्रायः सभी विशेषताएँ इन प्रबन्धात्मक कृतियोंमें मिलती है। इन कृतियोके रचयिता-ओंको बाध्य होकर अपनी कृतियोंको जहाँ-तहाँ धार्मिक रंग देना पड़ा है, किन्तु धामिक दैवत्वमे 'अद्भुत्' तत्त्व नहीं मिलता, मानव-भूमिसे ही महापुरुष सम्बन्ध रखते दीखते है। अपभ्रंश साहित्यका विस्तार तथा उत्कर्ष देखनेके लिए यह धारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

खण्डकाञ्य — निशुद्ध साहित्यिक खण्डकाञ्य है अद्दहमाण (१३वी शती ई०)का 'संदेशरासक'। इस सन्देश-काञ्यमे ऋतुवर्णन तथा विरहवर्णनका अच्छा विस्तार किया गया है। गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-काञ्य विद्यापतिकी 'कीतिंछता' भी है। काञ्य-रूपोकी दृष्टिते तथा छन्द और विकसित साषा-रूपोंकी दृष्टिते इन कृतियोंका विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्यमें अपभ्रंशको विभिन्न कान्य-धाराएँ प्रवाहित होती रहीं और केवल आधुनिक युगमें खडी बोलीके साहित्यिक भाषा पदपर आसीन होनेसे लगभग १५०० वर्ष पुरानी कान्यधाराएँ विलक्ष्रल एक अनजान दिशाकी ओर मुड गयीं। नहीं तो अपभ्रंशके छन्द तथा कान्यके ढॉचे ज्योंके त्यों समयानुसार परिवर्तनोंके साथ आगे बढ़ते चले गये थे। भाषाके विकासकी परम्परा उन्हें रोकनेमें बाधक न हो सकी थी। इस दृष्टिने हिन्दी भाषाका इतिहास मले ही १३-१४वीं शतीसे प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु उसके साहित्यका प्रारम्भ तो लगभम छठी ई० से पहले ही हो चुका था। दोहा, पद्धिया आदि जबसे मिलने लगते है, तभीसे यह प्रारम्भ माना जाना चाहिये।

[सहायक प्रनथ— अपभ्रंश साहित्य : हरिवंश कोछड़ ।] — रा० सि० तो० अपर ब्रह्म-श्रुनियोंमें ब्रह्मके दो रूपोंका व्याख्यान मिलता है—एकं उसका निर्शुण, निराकार और निरुपाधि रूप है और

दूसरा सगुण, साकार और सोपाधि रूप। वेदान्त दर्शनमे इस विरोधाभासको अविद्याके सहारे समझानेका प्रयास किया गया है। उपनिषदोंका मत है कि परमार्थतः ब्रह्म न मोटा है न पतला, न हस्व है न दीर्घ, न लाल है न छाया युक्त या अन्धकार युक्त ही, न वायु है न आकाश । वह अरस-अगन्ध है, दृष्टि, वाणी और मनसे अतीत है (बृहदारण्यक ३, ८, ८), उसे 'नेति-नेति'से ही समझा जा सकता है। नेति-नेति—अर्थात् ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं (वही २, ३, ६) । सांसारिक वस्तुओ, गुणों और विशेषणोके सहारे उसे नहीं जाना जा सकता। लेकिन अविद्यावश या उपासना-सौक्र्यके लिए उसपर उपाधियोंका आरोप कर लिया जाता है। यही सगुण, सोपाधि और साकार ब्रह्म अपर ब्रह्म है। परा-विद्या परब्रह्मका शान कराती है और अपरा विद्या अपरं-ब्रह्मका। कबीर आदि सन्त अपरब्रह्मको भ्रम बताते है। उनके मतते रामका कोई विश्रह नहीं है, वे भेदातीत है, ज्ञान-ध्यानसे परे है-"रामका नांइ नीसान बाबा..." (कबीर ग्रंथावली: इयामसुन्दरदास, पद २१०) कहते हुए कबीर इसी अपरब्रह्मका प्रत्याख्यान करते है। —रा० सिं० अपरवक्त्र-वर्णिक छन्दोंमें अर्द्ध समन्तका एक भेद। 'पिंगलछन्दसूत्र'में (५:४०) इसका लक्षण है। इस बृत्तके प्रथम-तृतीय चरणमे न, न, र, ल, ग, (॥, ॥, sıs, s) और द्वितीय-चतुर्थ चरणमे न, ज, ज, र, (॥, ।ऽ।, ।ऽ।, SIS) होते है। मैथिलोशरण गुप्तने 'साकेत'मे इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०- 'रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ़ सुखसे बढ़ सृष्टि सुन्दरी। सुध प्रियतमकी मिले मुझे, फल जन जीवन दानका तुझे' (साकेत: सर्ग ९) । -पु० ज्ञू० अपरांगव्यंग्य-गुणीभूत व्यंग्यका एक भेद । जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरेका अग हो जाता है उसे अपरांगव्यंग्य कहते हैं—दूसरेका अंग हो जाने अथवा दूसरेकी पुष्टि करनेके कारण वह स्वभावतः अप्रधान हो ही जाता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य जहाँ किसी दूसरे असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य या संलक्ष्यक्रमन्यंग्यके अंग हो जाते है अथवा संलक्ष्यक्रमन्यंग्य जहाँ किसी दूसरे संलक्ष्यक्रमन्यंग्य या असंलक्ष्यन्यंग्यका अंग हो जाता है तो उसे अपरांगव्यंग्य कहते है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता नामक आठ अपरांगव्यंग्य होते है। जहाँ रम किसी दूसरे रस, भाव, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे रसवत् (दे०) और जहाँ भाव गुणीभूतव्यंज्य बन जाता है अर्थात् किसी भाव, रस, रसाभास आदिका अंग बन जाता है तो उसे प्रेयस् अलंकार (दे०) कहा गया है। गुणीभूत भावाभास अथवा रसाभासको ऊर्जस्वी (दे०) तथा गुणीभूत भावशान्तिको समाहित अलंकार (दे०) की संज्ञा दी गयी है। भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शवलता भी दूसरेके अंग होकर आते हैं। ऐसे स्थलींपर वे भी अलंकार माने जाते है, किन्तु उनका पृथक् नाम-करण नहीं किया गया है। इन्हें अलंकारकी संज्ञा प्राचीन अलंकारशास्त्रियों द्वारा दी गयी थी। ध्वनिके आचार्योंने इन अलंकारोंको 'मध्यम काव्य'के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन्हे 'अलंकार' माननेका सबसे बड़ा तर्क यह है कि

ये दूसरे (अपर) की सुशोभित किया करते है। इनके उदार के लिए देश रसवत्, प्रेयस्, कर्जस्वी, समाहित, भावीदय, भावसन्धि तथा भावश्वस्ता । —उ० शं० श्र० अपरिवृत्ति - परिवृत्तिका विपरीत अधीलंकार । अलंकार-शास्त्रके लोकप्रिय एवं प्रमुख संरकृत अन्थोंमें परिवृत्ति अलंकारका उल्लेख हुआ है, पर अपरिवृत्ति अलंकारका नहीं। परिवृत्ति अलंबारका इतिहास जगन्नाथ पण्डिनके 'रसगंगाधर'से भलीभाँति ज्ञात होगा। उन्होंने परिवृत्ति अर्थात विनिमयके दो भेद-समपरिवृत्ति एवं विषमपरिवृत्ति और फिर इनके भी दो-दो भेद बताये हैं। इनके अनुसार दाता ग्रहण भी करता है, पर अपरिवृत्ति अलंकारमें किसी चमत्कारपूर्ण उक्तिसे यह बताया जाता है कि दाताने दिया तो सही, पर अहण कुछ नहीं किया। उदा०- धन आनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक ही दूसरा ऑफ नहीं, तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला, मन लेन हो देत छटाँक नहीं' (अ॰ मं॰)। यहाँ मन (चित्त अथवा रिलप्टार्थ -तोलमें एक मन) देनेके बदले दाताको कुछ भी न ---ज० कि० व० प्राप्त हुआ। अपवारित-नियतश्राव्यके दो मेदोंमेंसे एक। रंगमंचपर कोई पात्र दूसरी ओर मुंह करके दूसरेकी गुप्त बात कहता है तो उसे अपवारित कहते हैं। अपस्मार-प्रचलित तेतीसमें एक संचारी भाव। 'नाट्य-शास्त्र'में बताया गया है कि भूत-प्रेत इत्यादिसे आविष्ट होनेके सरणसे, छोड़े हुए शून्य स्थानोंमें जानेसे, आधात एवं न्याथि इत्यादिसे अपसार (मृगी रोग) होता है। इसके प्रभावमें व्यक्ति पृथ्वीपर लोटने लगता है, उसका शरीर काँपने लगता है, मुखसे फेन निकलने लगता है इत्यादि (नाट्यशास्त्र, ७:७३ ग)। इन सब पृणित चेष्टाओंका वर्णन न करके, रामचन्द्र गुणचन्द्रने केवल 'निन्चचेष्टत' शब्दका

कम्प फैन मुख स्वॉस।' (भाव०—संचारी०)।
इस संचारी भावका देव द्वारा प्रस्तुत उदाहरण—'भूलि गयी गुरु लोगकी लाज गये यह काज गली यह गाढ़े। भीतिनसों अभिरं भहराइ गिरै फिर धाइ फिरें मुख काढ़ें। भाव०—संचारी०)। परन्तु इस वर्णनमें—'सुनिके आये मधुपुरी हरि जदुकुल अवतंस। बढ्यो स्वास भूतल पऱ्यो अति कम्पित है कंस' (रस० भं०, पृ०१४१) 'अपस्मार'-की स्पष्ट व्यंजना है।

प्रयोग किया है। 'दशरूप'में धनिकने इसका उदाहरण

माघके 'शिञ्जपालवध'के तृतीय सर्गमें प्रस्तुत समुद्रवर्णनसे

लिया है और उसीका अनुकरण 'साहित्यदर्पण'में विश्व-

नाथने किया है। वास्तवमें वह अपस्मार नामकी व्याधिका

उदाहरण हो सकता है, संचारी भावका नहीं। हिन्दीके

रीतिकालीन आचार्योंने लक्षण देनेमें विश्वनाथ आदिका

अनुसरण किया है। देवके अनुसार—'अधिक दुःख अति

भय असुचि, सूने ठौर निवास । अपसार जॅह भृतगन,

यद्यपि प्रधानतः अपस्मार व्याधि है, तथापि जैसा 'मन्दारमरन्द चम्पू'में भी कहा है यह भयादिसे उत्पन्न होता है। अतः वीमत्स और भयानक रसमें संचारी माना जा सकता है। वैसे भावातिरेकके कारण यह शारीरिक अवस्था ही है और अलंकार-शास्त्रकी अपेक्षा आयुर्वेदका

विषय अधिक है । **अपहस्ति**न दे० 'हास्य रस' ।

अपद्वति - साहदयगर्भ भेदाभेद आरोपभूल अर्थालंकारका एक भेद । यह सर्वमान्य अलंकार है। शब्दार्थ है गोपन या निषेध । प्रारम्भिक आचार्योमे दण्डी किसी वस्तुका निषेध करके अन्यके प्रस्तुत करनेको अपह्नति मानते हैं, इसमें औपम्य आवश्यक नहीं है। पर वामनने उपमानसे उपमेयके निषेधके रूपमें अपह्नतिको माना है—'समेन वस्तु-नाइन्यापलापोइपह्नाः।' (का० सू० वृ०, ४:३:५)। तुल्य-से अन्यका अपलाप करना। रुद्रटने इसको अधिक रपष्टता प्रदान की है-'जिसमें अति साहश्यके कारण सत्य होनेपर भी उपमेयको असत्य कहकर उपमानको सत्य सिद्ध किया जाता हैं, (काञ्यालंकार ८:५७)। मम्मटने बहुत कुछ इसीको संक्षेपमें रखा है- प्रकृतं यन्निपिध्यान्यत्साध्यते सा-त्वपहुनुतिः' (का० प्र०, १०:९६) । जहाँ प्रकृतका निषेध करके अप्रकृतकी सिद्धि की जाती है। मम्मटतक इसके भेदों-का स्पष्ट विकास नहीं हुआ है, यद्यपि दर्ण्यासे ही भेद-विस्तारका निदेश मिलता है—'इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः' (कान्यादर्श, २:३०९)। विश्वनाथका लक्षण मम्मटसे लिया गया है, पर उन्होंने इसके तीन स्पष्ट भेद स्वीकार किये है-प्रथममें आरोपकी सिद्धि बादमे होती है और सत्यका निषेध पहले, दितीयमें सत्यका निषेध बादमें होता है और आरोप पहले। एक तीसरे प्रकारमें गोपनके लिए इलेप आदिके प्रयोगसे निषेध किया जाता है। रुय्यक्तने 'अलंकारसर्वस्व'में तीन भेद स्वीकार किये थे—'निपेधपूर्वक आरोप, आरोपपूर्वक निपेध तथा छल आदि शब्दमे असत्यके प्रतिपादन द्वारा निषेध' (५० ५०)। स्पष्ट ही विश्वनाथके भेद इनपर आधारित है। इसके अन्य भेदोंका विस्तार बादमें नन्य आलंकारिकोंने किया है। जयदेवने 'चन्द्रालोक में अपह्नुतिका लक्षण देकर चार भेदों-पर्यस्त, आन्त, छेक, कैतवकी विवेचना की है। अप्पय दोक्षितने 'कुवलयानन्द'में प्रथम भेदको 'शुद्ध' नाम दे दिया है और एक नया भेद 'हेतु' जोड़ दिया है।

हिन्दीमें केशवने इस अलंकारको दण्डीसे ग्रहण किया और भेद नहीं दिये हैं। जो उदाहरण है, वह छेकापह्नुतिका है, यद्यपि दण्डीमें दूसरे भेद भी है। अन्य आनायोंने प्रायः जयदेव और अप्पय दीक्षितके अनुमरणपर इसके छः भेदोंको यथावत स्वीकार किया है। आधुनिक विवेचकों में कन्हेयालाल पोहारने इन भेदोंको शाब्दी, आधी तथा निरवयवा, मावयवाके अन्तर्गत स्वीकार किया है (अ० म०, पृ० १७५) तथा रामदहिन मिश्रने विशेषापह्नुतिका एक भेद और माना है (का० द०, पृ० ३६९)।

५. गुद्धापह्नुति—एक प्रकारभे जयदेवने अपह्नु तिक्षां जो सामान्य परिभाषा दी है—'अतथ्यमारोपयितुं तथ्याऽ पास्तिः' (चन्द्रालोक, ५:२४), उसको अप्पय दीक्षितने शुद्धा-पह्नुति माना है और इसोको हिन्दीके आचार्योंने लक्षणरूपमें स्वीकार कर लिया है—'औरेंको आरोपिये, साँच छिपावत धर्म' (छ० छ०, ८७)। भूषणने धर्मके स्थानपर 'बात'का ही प्रयोग किया है। दासने 'और धरम जहुँ थापिये, साँचौ धरम दुराइ' '(का० नि०९) वहकर 'धर्म' पर बल दिया

है। इसमें वास्तिविक उपमेयका निषेध करके उपमानका आरोप किया जाता है—'धाये धुरवान छाये धूरिके पटल क्योम, गाजिबो न बाजिबो है दुन्दुभि दराजको।' (शि० मृ०८१) अथवा 'वे दो ओठ न थे राधे, था एक फटा उर तेरा' (द्वापर)। इनमें बादलों तथा ओठका निषेध करके दुन्दुभि तथा उरका आरोप किया गया है। इसे शाब्दी भी कहते है।

रे. हे:वपह्नुति—यह भेद अप्पय दीक्षितके द्वारा उिह्निति हिन्दीमे अपनाया गया है 'जहाँ जुगुतिसों आनको, कहिये आन छिपाय।' (शि० भू०८२) अथवा 'जुित्तसों, इकको धरम छिपाय। और विषे आरोिपयें (पद्मा०४७), अर्थात् जहाँ उपमेयके निषेधके कारण दिखलाते हुए उपमान (और)की स्थापना हो। उदा०—'सिव सरजाके कर लसे, सोन होय किरवान। भुज भुजगेस भुजगिनी मखित पौन अरि पान।' (शि० भू०८३) अथवा—'पहले ऑखोंमें थे मानसमें कूद मग्न प्रिय अव थे। छीटे वही उड़े थे बड़े-बड़े अशु वे कब थे' (साकेत)। इनमें निषेधके साथ 'मखित' तथा 'कृदना' आदि कारणोंका उल्लेख भी है।

पर्यस्तापहृनुति—पर्यस्तका अर्थ है फेंका हुआ। जयदेवके अनुसार इसका लक्षण है 'यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते' (चन्द्रालोक, २५) । हिन्दीमे इसी आधारपर लक्षण दिया गया है—'धर्म और मैं राखिये, धर्मी सॉच् छपाय।' (ल० ल०, ९१) अथवा 'धर्मा' धरम ले थापि और ठाम,' (पद्मा० ४९) । दासने 'मेटि औरको गुन जहाँ करै और को थाप' (का० नि०, ९) माना है। वस्तुतः इसमे किसी वस्तुके धर्मका निषेध दूसरी वस्तुमें उसके आरोपके लिए किया जाता है। उदा॰—'कालकूट विप नहिं, विष है केवल इन्द्रा। हर जागत छिक याहि वासंग हरि नीदौन तजत।' (का० नि०, ९) अथवा 'तेरे ही भुजनिपर भूतलको भार, कहिबेको सेसनाग दिगनाग हिमाचल है' (शि॰ भू० ८७) । जगन्नाथ तथा 'अलंकारसर्वस्व'की टीका विमर्शनी-कारने इसे 'दढारोपरूपकः' माना है। उनके अनुसार इसमें उपमेयका निषेध नहीं, उपमानका निषेध किया जाता है और इस प्रकार उपमेयमे उसका दृढ आरोप होता है।

४. आन्तापह्नुति जयदेवके अनुसार 'अन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये' (चन्द्रालोक, ५:२६)। हिन्दीमें इसीके आधारपर—'संक आनको होत ही, जह अम कीजे दूरि।' (शि० भू०, ८८) अथवा—'अम काहूको है गयो, ताको मिटवत आप।' (का० नि०, ९) लक्षण दिये गये हैं। इसमें सत्य बात प्रकट करके किसीके अमको दूर किया जाता है—'आनन है अरबिंदन फूले अलीगन भूले कहा मँडरात हो। बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घरित जात हों' (का० नि०, ९)। यहाँ आन्ति कविकिष्यत है, पर अन्यत्र सम्भव भी हो सकती है—'मान सरोबर जातु अब, लखि नम मेघ वितान। तिन हंसनको मधुर रव, नृपुर धुनि जिन जान।' (पोहार: अ० मं०)।

ं इस अपह्नुतिमें उपमेयके स्थानपर उपमानका निषेष हैं । इसी कारण विश्वनाथने इसको 'निश्चय' नामक स्वतन्त्र अर्छकार माना है । दण्डीने 'तत्त्वाख्यानोपमा' नामक उपमाका ही भेद माना है।

५. छेकापह्नुति—जयदेवके अनुसार 'अन्यस्य शक्या तथ्यनिह्नवे' (चन्द्रालोक, ५:२७) । हिन्दीमें इसीके आधारपर—'जहाँ औरकी संकते, साँच छपावत बात' (क० ठ०, ९५) लक्षण दिये गये है। दासका लक्षण किंचित् भिन्न है—'काहू बृझ्यो मुकरिके और कही बनाइ' (का० न०, ९)। और इसीको पद्माकर 'साँच दुरावे जुक्त सों' (पद्मा० ५१) कहते है। इसमें किसी बातके प्रकट होनेपर मिथ्या समाधान द्वारा छिपाया जाता है—'तिमिर बंस हर अरुन कर, आयो सजनी मोर। सिव सरजा, चुप रहि सखी, सूरज कुल सिर मौर' (शि० भू०, ९२)। खुसरोको मुकरियाँ (दे०) इसीके अन्तर्गत आती है।

व्याजावैनिहनुतेः पदे' (चन्द्रालोक, ५:१८) । हिन्दीमें इसी-के आधारपर—'जह कैतव छल न्याज मिस, इनसौ होत दुराव'। (शि० भू०, ९५) अथवा—'जहाँ औरके व्याजतें, करै ज़ कारज और' (पद्मा० ५२) लक्षण दिये गये है। जिसमे उपमेय (प्रस्तुत)का प्रत्यक्ष निषेप न करके कैतव अर्थात् मिस, व्याज आदि शब्दोसे निषेध किया जाय-'यो लिछराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी। मैथिलीके चरनांवज ब्याज लसै मिथिल। जग मंज त्रिवेनी' (पोदार: अ० मं०)। यहाँ चरणोदकका निषेध 'व्याज'से किया गया है। अथवा—'मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ। प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही कोधित हुआ, (जयद्रथवध) आर्थी अपहनुति भी कहा गया है। —-₹० अपृष्ट-दे० 'अर्थ-दोष', पहला। अप्रतीति-दे॰ 'शब्द-दोष', चोदहवाँ पद-दोष। अप्रयक्त-दे० 'शब्द-दोष', तीसरा पद-दोष। अप्रस्तत-'उपमान'का एक पर्याय, उपमाके चार प्रमुख अंगोंमेंसे एक अंग । उपमानको 'अप्रस्तुत' कहनेका कारण है कि प्रस्तुत वर्ण्य नहीं है, वरन् कवि द्वारा इसको लाया गया है, जैसे 'हरि पद कोमल कमलसे' इसमे 'कमल' अप्रस्तुत है, क्योंकि प्रस्तुत 'पद'की समताके लिए 'कमल' अप्रस्तुतसे कविने इसका वर्णन किया है।

रामचन्द्र शुक्कने उपमानके लिए 'अप्रस्तुत' शब्दका प्रयोग किया है। इनके अनुसार 'प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तुमे विम्व-प्रतिविम्ब-भाव हो, अर्थात् अप्रस्तुत (किव द्वारा लायी हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तुसे रूप-रंग आदिमें मिलती-जुलती हो ।। 'इस कथनसे दो वातें स्पष्ट होती है, एक तो अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है और दूसरे वह किव द्वारा लायी जाती है। इन्होंने 'उपमान' शब्दके स्थानपर अप्रस्तुतियान और अप्रस्तुतयोजना इन दो शब्दोंका प्रयोग किया है। इनमें दूसरो अधिक युक्तिसंगत है। कारण, 'अप्रस्तुत' शब्द विशेषण है। विश्वनाथने इसी रूपमें इसका प्रयोग किया है—'अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोदीपके' (सा० द०, १०।४९)। किन्तु 'अप्रस्तुतिवधान' शब्दमें 'अप्रस्तुत'का प्रयोग विशेष्य रूपसे हुआ है। जहाँ विशेष्य रूपसे इसका प्रयोग होता है, वहाँ अर्थपरिवर्तन हो जाता है। ऐसे प्रसंगोंमे इसका अर्थ होता है विश्यविरूद सोलना,

अनर्गल प्रलाप करना आदि । अतः 'अप्रस्तुतिवधान' शब्द 'उपमान'के लिए उतना उपयुक्त अर्थकोषक नहीं, जितना कि 'अप्रस्ततयोजना' है ।

आधुनिक कालमें 'उपमेय' और 'उपमान'के स्थानपर 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत'का अधिक प्रचलन हो गया है। अप्रस्तृत या उपमानको अप्रासंगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान भी कहते है। किन्तु 'उपमान' शब्द अत्यन्त प्राचीन है और इसीके प्रयोगकी परिपाटी चली आरही है। 'अप्ररत्त'के प्रयोगके ओचित्यके सम्बन्धमं कतिपय विचारकोंका कथन है कि 'उपमान' शब्द अपने-आएमें जितने व्यापक अर्थका बोधक हैं, उससे कही अधिक व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुतयोजना' शब्दसे होती है। 'उपमान' शब्दसे यह ध्वनित होता है कि इसका प्रयोग केवल औपम्यगर्भ अलंकारोंमें ही हो सकता है, और जहाँ तुलना हो, वहाँ ही इसके प्रयोगका औचित्य निहित है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। साद्दय-गर्भ अलंकारका क्षेत्र अत्यन्त न्यापक है। रामदहिन मिश्रके शब्दोमें 'अप्रस्तुतयोजना' बाहरसे लायी जानेवाली सारी वस्तुओंको ग्रहण करती है, चाहे अप्रम्तुतका कैसा ही रूप क्यों न हो। अप्रस्तुन विद्रोष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, महावरा हो, चाहे कुछ हो-इसके भीतर सब समा जाते हैं (दे॰ कान्यमें अप्रस्तुतयोजना)।

आलंकारिक योजनाके 'उपमेय' और 'उपमान' (अथवा अप्रतुत्तयोजना) इन दो उपादानोंभेंसे अप्रस्तुतयोजनाका विशेष महत्त्व है। यह का व्यवा प्राणतत्त्व है। इससे का व्यमं रसार्द्रता, प्रभविष्णुता, प्रेषणीयता और मर्भरपशिनाका संचार होता है। इसी 'अप्रस्तुतयोजना'के द्वारा का व्यगत भाव प्रमाताके लिए संवेदनीय बनता है। 'अप्रस्तुतयोजना'ने से प्रकृष्ट रूपमें संथोजित कविता पाठक एवं श्रोताको का व्यानन्द प्रदान कर नेमें समर्थ होती है। किव जितना ही भावप्रवण और सहदय होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुत योजना मामिक एवं अखण्ड आनन्दका स्रोत होगी।

—वि० स्ना० अप्रस्तुत प्रशंसा—साहश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका

प्राचीनोंसे स्वीकृत अर्थालंकार । इस अलंकारका क्रम-विकास देखा जा सकता है। भामह तथा उद्भट आदिने अप्रस्तुत-की प्रशंसा द्वारा प्रस्तुतके अभिधानमें कारणकी खोज नहीं की है। उदभटके न्याख्याकार प्रतीहारेन्द्रने सम्बन्धका संकेत अवस्य दिया है। रुय्यक्ते 'अलंकार-सर्वस्व'में इनका विस्तृत विवेचन किया है और त्रिविध सम्बन्ध स्वीकार किया है-१- सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध—(क) सामान्यसे विशेपकी प्रतीति, (ख) विशेषसे सामान्यकी प्रतीति । २, कार्यकारण-भाव-रूप, (क) कार्यसे कारणकी और (ख) कारणसे कार्यकी प्रतीति । ३- सारूप्य, (क) साधर्म्य, (ख) वैधर्म्यपूर्वक तुल्यसे तुल्यकी प्रतीति । मम्मटने इन भेदोंको स्वीकार करके भी त्रिविध सम्बन्धका उल्लेख नही किया है। मम्मटका लक्षण उद्भटके लक्षणका परिष्कृत रूप है- अप्रस्तुत अथवा अप्रकृतकी ऐसी वर्णना जो प्रस्तुत अर्थकी प्रतीतिका आश्रय हुआ करती है' (का॰ प्र॰, १०:९८)। विश्वनाथने इन्हीं पाँचका उल्लेख करके 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते'को अप्रस्तुतप्रशंसा माना है (मा० द०, १०:५९)। अबवेबने' इन भेदोंको माना है, पर अप्पय दीक्षितने भेद नहीं दिये हैं। हिन्दीके अस्वन्त सिंह, मित्राम, भूषण आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर भेद नहीं माने है—'प्रस्तुत लीन्हें होत जहें अप्रस्तुत परमंम' (शि० भ्०, १६८)। चिन्तामणि, कुलपित, दृलह और प्रभावर आधिने पास भेदोवा वर्णन किया है।

१- कारण नियम्भना—ः न्हाः सर्वका बोध करानेके लिए अप्रस्तुनके कारणका कथन—'सरद मुधाबर विवसी लेके सारि सुधारि। श्री राधा मुखको रच्यो चतुर विरंति विचारि।' (अ० गं०, ३३५)मे राधाने हुन्दर्गेन्द्रको वर्णनके लिए चन्द्रमाका सारभाग विधाता द्वारा निकाल जाना रूप वारण कहा गया है। दासका उदाहरण—'एक ही भागते तीनहूँ लोककी रूपवती जुवतीन स्वारी' (का० नि०, १२)।

रे कार्य निबन्धना—प्रस्तृत कारणका बोध करानेकें लिए अप्रस्तुत कार्यका कथन—'में है दथी लथी सुकर छुवत छिनकि गी नीक । लाल निहारो अरगजा उर है लग्यी अबीर' (बि॰ रत्ना॰, ५३५)। यहा नायकका अनुराग प्रस्तुत (अभीष्ट) है, पर उसको न कहकर नायकको धरह-जनित अप्रस्तुन तापका आधिवय कथन है, जो वस्तुतः अनुरागका कारण है। अथवा—'म्रजनी अहीरिनिको अनुवा बलिन आइ। जमुना जराति मोहि महानल पार मे।' (का॰ नि॰, १२)।

३. विशेष निबन्धना—सामान्य प्रस्तृतनं लिए अप्रस्तृत-विशेषका कथन—'मृगको है निज अंक सिंस, मृग लांछन कि जाय। नित मारत मृग अमिन वह, मृगपिति सिंह कहाय' (अ० मं०, ३३७)। यहाँ प्रस्तृत (अशीष्ट) है 'नम्रता दोष है, अरूता गौरवकी वस्तु,' परन्तु इस सामान्य-का कथन न करके चन्द्र-सिंह (अप्रस्तुत) का उत्लेख किया गया है। अथवा—'नीरकी पीर निवास्तिको छीर धरी ही धरी उफनात है' (का० नि०, १२)। वरतुनः अर्थान्तर-न्यासमें भी सामान्यविशेष सम्बन्धका कथन होता है, पर वहाँ दोनों ही प्रस्तुत होते हैं, जब कि अपरनुत्यमंनामं सामान्य-विशेषमे एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुन रहना है।

४. सामान्य निबन्धना निशेष प्रस्तुतके लिंग् अपरत्त सामान्यका कथन—'बड़े प्रबल्मों बैर करि, करत न सीच विचार। ते सोवत बारूदपर, पटमें बाधि अंगार' (पद्मा०, ११५)। यहाँ आगत विपत्तिमें निश्चिन्त ज्यक्तिका कथन न करके (अपरतुत) सामान्यका वर्णन वित्रा गया है। अथवा—'काज हित्के लगें तन प्रान जो दान ते नेक नहीं मुख मोरें' (का० नि०, १२)। यहाँ विरद्द-संतप्त नायक्रथं मिलन रूप विशेषकी प्रतीति सामान्य कथन द्वाराकी गयी है।

५. सारूप्य निबन्धना—प्रग्तुतको न बह्वर उसके समान अप्रस्तुतका कथन—(क) इल्पेहेतुक, जिन्ममें विशेषण-विशेष्य दोनो दिल्ष होते है—'यूथप तरे मान सम, थान न इते लखाँहि। क्यों हू काट निदाध दिन, दीरध कित इत छाँह' (अ॰ मं॰, ३४१)। यहाँ यूथप (हाथी और सामन्त) और मान दोनों ही दिल्ष हैं। (ख) दिल्ष विशेषण, जिसमें

केवल विशेषण दिलष्ट होता है—'धिक तेली जो चक्रधर, स्नेहिन करत बिहाल। पारिथवन विचलित करत, चक्री धन्य चलाइ' (अ॰ मं॰, ३४२)। यहाँ 'चक्रधर', 'स्नेही' आदि विशेषणमात्र दिलष्ट है। परन्तु इसमें समासोक्ति अलकार नहीं है, क्योंकि उसमें प्रस्तुतको वर्णनमें अपस्तुतको प्रतीति होती है, यहाँ अप्रस्तुतको कथनमें प्रस्तुतका वर्णन है। (ग) साह्यमात्र, जिसमें केवल समानता द्वारा अप्रस्तुतका वर्णन प्रस्तुतको प्रतीति कराता है—'स्डि बॉबि किय स्थाम तन, ताहीको अनुहार। क्यो रासभ लै चलहिंगो, गुरु गयन्दको भार' (पद्मा॰, ११३)। इसको अन्योक्ति भी कहते हैं (दे०)।

रूपकातिशयोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसामे प्रस्तुतका कथन न किया जाकर अप्रस्तुतका वर्णन होता है। परन्तु प्रथमका अप्रस्तुतका वाच्यार्थ असंगत होता है और दूसरेका अप्रस्तुतः वर्णन सम्भव। इसी प्रकार समासोक्तिमें प्रासंगिक (प्रस्तुत)के वर्णन द्वारा अप्रासंगिक (अप्रस्तुत)की प्रतीति करायी जाती है, जब कि इसमें अप्रस्तुतके वर्णन द्वारा प्रस्तुतको प्रतीति।

अभवन्मत संबंध-दे० 'शब्द-दोष'दसवॉ 'वाक्यदोष'। अभाववाद-'ध्वन्यालोक'मे उल्लिखित तीन सम्भाव्य ध्वनि विरोधी मतोमें पहला मतवाद । ध्वनि-प्राचीन काव्य-शास्त्रके ध्वनिसिद्धान्तके अभावको देखकर ही ध्वनिकारने अभाववाद अथवा अभाववादियोकी कल्पना की है। इन अभाववादियोंके अन्तर्गत तीन प्रकारके विरोधी हो सकते हैं-(१) कुछ तो यह कह सँकते है कि शब्द और अर्थ तो काव्यके शरीर हैं ही, काव्यका जो चारुत्व है, वह तो उनमें है ही-शब्दका सीन्दर्य शब्दगुण तथा शब्दालंकारमे तथा अर्थका सौन्दर्य अर्थगुण तथा अर्थालंकारोंने विद्यमान है और इसी प्रकार वर्णसंघटनाके माधुर्यादिक गुण, वृत्तियाँ तथा रीतियाँ आदि प्रतिष्ठित हो ही चुकी है-उन सबसे भिन्न ध्वनि नामव यह कौन-सा पदार्थ है ? (तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति—हिं० ध्व०, पृ० ७)। (२) दूसरे कहते है कि ध्वनि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती किसी आचार्यने उसका नामोल्लेख नहीं किया है। प्राचीनो-ने शब्द-अर्थके चारुत्वको ही काव्यका लक्षण माना है। वे ध्वनिके नये आविष्कारको नहीं स्वीकार करेगे। (३) कुछ यह भी कह सकते हैं कि ध्वनि नामके नये सिद्धान्तके आविष्कारका दावा मिथ्या है। प्राचीनोने गुणालंकारों आदिके अनेक भेदोपभेद निरूपित किये है। उन्हीमेसे किसीमें ध्यनिका अन्तर्भाव सम्भव है।

इस प्रकारके सम्भावित विरोधियोंके पक्षको अज्ञानमूलक कहा गया है, क्योंकि वह ध्वनिको केवल यह कहकर अस्वीकृत करता है कि प्राचीनोंने दसका कोई उल्लेख नहीं किया है अथवा उसका समाहार प्राचीनों द्वारा प्रवर्तित किसी सिद्धान्तमें हो सकता है। —उ० शं० शु० अभिजात वर्ग —सामन्तवादी व्यवस्थामें यह वर्ग समाजका उच्चतम वर्ग था। अंग्रेजीमें इसे 'एरिस्टोक्नेसी' वहते हैं। इस वर्गके अन्तर्गत बड़े-बड़े ताल्छुकेदार, नवाव और जमींदार आते है, जिनके व्यक्तिगत जीवनमे शारीरिक अमका कोई स्थान नहीं होता। —रा० क्र० त्रि०

अभिधामुलाध्वनि -दे॰ 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि'। अभिधा शक्ति-मम्मटके अनुसार—'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।' (का० प्र०, २:८), अर्थात् साक्षात् संकेतित (गुण, जाति, द्रव्य तथा क्रिया-वाचक) अर्थ जिसे मुख्य अर्थ कहा जाता है, उसका बीध करानेवाले न्यापारको अभिधा न्यापार या शक्ति कहते है । इस शक्तिके द्वारातीन प्रकारके शब्दोका अर्थवीध होता है: - रूढ शब्द-जिन शब्दोंका अर्थबोध समुदाय-शक्ति द्वारा होता है। ये शब्द समूचे ही अर्थ व्यक्त करते हैं; इनकी न्युत्पत्ति नहीं होती है—जैसे, गढ, घोडा आदि। यौगिक शब्द-जिन शब्दोंका अर्थनोध अवययों (प्रकृति और प्रत्ययों)की शक्ति द्वारा होता है, जैसे, दिवाकर, सुधां सु, आदि । योगरूढ-शब्द-जिनका अर्वोध समुदाय तथा अवययोकी शक्तिके सहयोगसे होता है। ये शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होते है, जैसे, जलज तथा वारिज-का यौगिक अर्थ जलमें उत्पन्न वस्तु है पर योगरूढ़ अर्थ केवल कमल स्वीकृत है।

अभिधेयार्थं विरोध-दे॰ 'वर्णन-दोष', पॉचवॉ।

अभिनय— 'अभिनयति हृद्गत भावान् प्रकाशयति'। मनके क्रीधादि भावको प्रकट करनेवाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्तिका प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करनेको अभिनय कहते है। किन्तु अभिनयमें बाह्य कार्य प्रदर्शित करना उतना अभिप्रेत नहीं होता, प्रत्युत प्रकृत मनका भाव व्यक्त करना ही इसका प्रधान उद्देश्य होता है। नाट्यशास्त्रके अनुसार अभिनय चार प्रकारसे सम्पन्न किया जाता है—

(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विकः। नेत्र और मुखके हाव-भाव तथा हस्तपादादि अंगोंके संचालन द्वारा किसी प्रकृत विषयके अनुकरण करनेको आंगिक कहते हैं। वीभत्स, करुण, रौद्र, प्रभूत रसयुक्त वाक्य द्वारा मानसिक भावोंके अनुकरणको वाचिक कहते है। वस्त्राभरणको आहार्य कहते है, जैसे, लब-कुश-के अभिनयके लिए अभिनेताओंकी अवस्था बारह वर्षके लगभग तथा वेश-भूषा ऋषि-बालकोंकी-सी होनी चाहिये। अतः इन बातोंको ध्यानमें रखकर लव-कुशको प्रकृत मूर्तिके अनुकरणको आहार्य कहेरो । स्तम्म, स्वेद, रोमांच, आदिको सात्त्विक भाव कहते है। ये भाव मुख, हस्तपाद आदिकी विशेष भंगी एवं रोमांच और अश्रपातसे अभिनीत होते है। नाट्यशास्त्रने उत्कृष्ट अभिनयक अनेक आवश्यक गुण माने हैं; जैसे, अनुकरण-कुश्चलता, दृष्टि-सौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास इत्यादि। भारतमे अभिनयका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत भाषामें भासने सर्वप्रथम नाटक लिखा था। इस पुस्तकका काल-निर्णय करनेसे मालूम होता है कि सवा दो हजार वर्ष १हले इस देशमे अभिनय प्रारम्भ हुआ होगा। नाट्यकालके उद्भवके सिलसिलेमें प्रायः यूनानी नाटकोंका नाम सबसे प्रथम लिया जाता है। किन्त अनुकरण, नकल तथा आधुनिक कालमें जिसे अभिनय कहते है, इन सबके मूल कारण हमें मनुष्यकी आदिम जातियोका अध्ययन करनेसे प्राप्त होंगे। अनुकरण करनेकी वृत्ति ही संसारभरके वालकोंमें सबसे अधिक पायी जाती है। यह प्रवृत्ति पशुओंभं भी पार्य। जाती है। हैविमयर अपनी 'द जामा आव सैं।ज पीपुल्स'में कहता है कि असंख्य जातियोकी इस अनुकरण-वृत्तिके पीछे दो प्रयोजन होते हैं-एक तो इससे वास्तविक अनुभतिके समान ही आनन्द प्राप्त होता है; दूसरे, मनुष्यको दूसरीके सम्मुख अनुभृतियोंकी अभिन्यक्ति करनेका अवसर मिलता है। अर्थात , यह भी अपने-आपमें एक प्रकारकी भाषा है। इस दूसरे उद्देश्यसे हाव-भाव एवं मुद्राओंका विकास हुआ। हमारी संस्कृतिके समान ही नाट्यप्रवृत्तिका उद्भव भी प्राचीनतम है तथा इसका पूर्ण विकास भी सबसे बादमें हुआ है। आधुनिक उन्नत नाटकों एवं प्राचीन अविकसिन नाटकोंकी यदि तलना की जाय तो आधारभून निद्धान्त हम दोनोंमें वही मिलेगे। रुचि-परिष्कार एवं संस्कृतिके विकासके साथ-साथ हमारी अभिनय कलाका विकास हुआ है। मिस्न, यूनान, जापान तथा इटलीमें अभिनयकलाके क्रमिक विकासके हमें विवरण मिलते हैं। इटलीने इस दिशामें विशेष उन्नति की । इंग्लैण्डमे श्वमिषयरने अभिनय-कलापर बहुत जोर दिया। उसने अपने नाटकोंमें चरित्र-चित्रणमें प्रदर्शित की और मानव-समाजके क्रशलता उसने अपने दुःखान्त एवं प्रकार (टाइप)का सुखान्त नाटकोंमे चित्रण किया है । 'हैमलेट' द्वारा उसके अभिनेताओंको दिये जानेवाले भाषणमे शेवस-पियरने अभिनयकलाके महत्त्वके विषयमें अपने निजी विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं और उत्क्रष्ट अभिनयकलाके तत्त्वों एवं महत्त्वपूर्ण अंगोंकी विशद व्याख्या की है।

१८ वी जताब्दीमें अभिनयज्ञलाको लेकर विभिन्न भिद्धाना एवं सुनिश्चित भेद प्रकट होने लगे। फ्रांसीसी विश्वकोशकार डेनिस डाइडरॉटने फ्रांसीसी परम्परागत शास्त्रीय नाटकोंसे जबकर उसके विरोधमें नाटकमें वास्तविक जीवनके चित्रण-का सिद्धान्त स्थापित किया । बीसवीं शताब्दीमें अभिनय-कलाके कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। अभिनयकी विभिन्न पाठशालाओं एवं परिषदोंमे (उदाहरणतः इंग्लैण्डमें विक्वम-का 'रिपेर्टरी थिएटर' तथा लिवरपूल स्थित 'रिपेर्टरी थिएटर', आयर्लैण्डमें डबलिन स्थित ऐवे थिएटर इत्यादि)। १९१०-में मास्को आर्ट धिएटरके विख्यात निर्माता एवं निर्देशक स्टैनिसलावस्कीने अभिनयमे स्वामाविकतावादका सिद्धान्त स्थापित किया । उसने अपने अभिनेताओंको यह आदेश दिया कि वे जिन पात्रोंका चरित्र चित्रित करने जा रहे हों. उनके वार्तालापों एवं कार्योंका मनन करके उन्हें आत्मसात कर हैं और इस प्रकार उन पात्रोंकी सजीव कर दें। वे यह न समझें कि वे नाटकमें अभिनय कर रहे हैं, वरन उन्हें यह समझना चाहिये कि वे वास्तविक जीवनमें कार्य कर रहे है। यह मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकतावाद अत्यन्त लोक-प्रिय हुआ और अभिनयमें अस्वाभाविकताको अवांछनीय समझा जाने लगा। लगभग इसी समय स्टैनिसलावस्कीके अभिनय-सिद्धान्तके विरोधमे एक दूसरा सिद्धान्त चला, जिसे प्रतीकवादियों, अभिन्यंजकवादियों इत्यादिने चलाया। इस सिद्धान्तके अनुसार नाटकमें अस्वाभाविकता एवं अलौकिकताका समर्थन तथा स्वामाविकताका विरोध किया गया। यही कारण है कि आधुनिक नाटकोंमे एक ओर जहाँ यथार्थवाद तथा जिल्ला है । सलक देखनेको मिलता है , वही दूसरी ओर काल्पनिकता तथा अति-भावात्मकतासे पूर्ण भावनाट्योंका प्रान्तुर्थ मिलता है । — उयार मोर श्रीर अभिनेता अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) अभिनेता कहलाते है । अभिनेता कहलाते है । अभिनेताम गुणांके अनुसार धीरललित, धीरप्रज्ञान्त, धीरो-दात्त, धीरोडन तथा अवस्थानुमार दक्षिण, इन्छ, धृष्टनायक, पीठमर्थ, उपनायक, पितनाथक, नाथिका, नाथिकाका द्वियो आदि पात्र-पात्रियो आती है । अभिनेताके द्वारा ही नाटकादिकी कथा प्रेक्षकोंके सामने आकर्षक रूपमे आती है और पाठक अध्ययन-कक्षने सामने आकर्षक विशेषताओं और भावोंकी गहराइयां नहीं समझ पाता, उन्हें अभिनेता नाट्य-संकेतोंके अनुकूल अभिनयसे प्रत्यक्ष कर देता है । — विरु रार

अभिप्राय-दे० 'कथानक-रूढि'।

अभिन्यंजनावाद — अभिन्यं जनावाद है। आदर्शनो माननेवाले अपनेको इताल्वी दार्शनिक एवं विचारक वेनेदेतो कोचे (१८६६-१९५२ ई०)का अनुयायी कहते है। अभिन्यंजना-वादियोंका कहना है कि किव या कलाकर अपने अन्तरको भावनाको बाहर प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तुको नहीं। यह भावना उसकी अपनी निजकी वस्तु है। अपनी इस भावनाको प्रकाशित करते हैं। उसकी सार्थका है। अपनी इस भावनाको प्रकाशित करते हैं। उसकी सार्थका है। अभिन्यंजनावादियोंके मत्ने कलाकारको काम यथार्थका प्रतिविधमलक चित्रण करना नहीं है। वह या तो अपने अन्तरको भावनाको अनुरूप यथार्थको निश्चित करता है या उस यथार्थको स्पर्दी ही नहीं करता है या उस यथार्थको स्पर्दी ही नहीं करता है यो उस अभिन्यंकित करता है और इस अभिन्यंकित महित है। हो करता है तह उसके मनको अवस्थाने मिलती-जुलती है। लेकिन यह कैमें सम्पन्न होता है, इसको व्याख्या नहीं हो सकती।

क्रोचे इस बातको मानता है कि कला अन्तरकी भावना या सहजज्ञान (intuition) है और किसी प्रकारकी बाह्य वस्तसे इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि बाह्य वस्तुमें वास्तविकता (reality) नहीं है। कलात्मक वस्तु-का अस्तित्व इस बातपर निर्भर नहीं करता कि वह प्रकाश-में आ गयी है, बल्कि उसका अस्तित्व उसके अभिन्यंजित होनेमें है। किसी भी भावनासे हम तभी परिन्यत होते हैं, जब वह अभिन्यंजित होती है। किसी गान, कितता या सन्दर प्राकृतिक दृश्य या वस्तुको हम उस समय सन्दर मानते हैं, जब हमारी भावनाओं की अभिन्यं जना बरते हैं, अगर ऐसा ही कहें तो भी कोई अन्तर नहीं आता। किसी कविताकी भाषा बड़ी बात नहीं है, बल्कि उस भाषाका अपने ढंगसे प्रयोग करनेवाला या समझनेवाला ही उसके मूलमें है। कवि या चित्रकारके समान ही पाठक और चित्रको देखनेवाला कम या वेशी कलाकार है। वास्तवमें कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपनी भावनाओंको अभिन्यंजित करता है। उसका आनन्द हेनेवाला वही हो सकता है, जिसके भीतर वह भावना वर्तमान है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि कलाकारकी उस कला-कृतिमें वह भी अपनी भावनाओंको अभिव्यंजित करता है। अगर अन्तरमें सौन्दर्यकी अभिन्यंजना न हो तो वह मूर्त रूप नहीं ले सकता। गन्ध या रंगके सम्बन्धमे भी यही बात कही जा सकती है। हम उसी वस्तुको सुन्दर मानते है, जिसमें हमारी भावनाएँ अभिन्यंजित हो रही है।

इस प्रकारसे क्रोचेके मतानुसार सौन्दर्य, सहजज्ञान (intuition)की अभिन्यक्ति है, और चूँिक सहजज्ञान और अभिन्यंजना अभेदात्मक हैं, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहजज्ञान है, अथवा सौन्दर्य अभिन्यंजना है।

कोचे सहजज्ञानको अपने आपमे एक प्रतिच्छि [ima-ge) मानता है। लेकिन इस प्रतिच्छि विमें उस प्रतिच्छि विसे भेद है, जो बाह्य वस्तुको देखनेसे दर्शकके मनमें उत्पन्न होती है। यह सहजज्ञान कलाकारके अन्तरमें रूप लेता है य अभिन्यंजित होता है, और जब उसके अन्तरमें अभिन्यंजिया रूप लेनेकी प्रक्रिया खत्म हो जाती है तब सौन्द्र या रूप लेनेकी प्रक्रिया खत्म हो जाती है तब सौन्द्र या रूप लेनेकी प्रक्रिया खत्म हो जाती है तब सौन्द्र या स्था लेता है जो जाती है। इसकी जब कलाकार न्द्रा-आवाज, शब्द या पत्थरकी सहायतासे रूपायित हिठ० चाहता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि में प्रविष्ट क्षणको, उस प्रतिच्छि विको बॉथकर रखे अथवा श्वत योनि उसे पहुँचाये। यह भीतरका सहजज्ञान है, जो हु निरन्तर है, उसका बाहरी रूप प्रहण करना नही। वार् १०३)। सौन्दर्यको सहजज्ञान या अन्तरका धर्म मानता ले इस अमृत उसकी बाह्य अभिन्यितिको सुन्दर माननेमें उत्तमर हो जाता

कोचेके सिद्धान्तीको रेजनेसे यही कहा सर्वाधिक महत्त्व उसके मतानुसार कलाकारको मनको भा ४५)। हठयोग किया चल रही है और उसकी अभिन्य गेलेको ही सचा अन्तरमें ही हो रही है। उसके अन्तर्य गेलेको ही सचा बनती-विगडती है, वे केवल उसीके लिए बार-बार जिस मद, मानकर भी वह मानता है कि एक ऐसा नेकी बात करते है, कलाकार भीतरकी उस अभिन्यंजनाको के विश्वास अस्तर से बातको थों है। साथ ही कोचेका यह भी कहना पही उनका राम प्रकाशित करने की क्रियाको कलाके वि नहीं। कलाकार उन्हीं क्षणोमें कलाव अन्तरमें भावावेग गतिशील रहता है। विभाव अमरवारणी-अपने अन्तरमें महत्त्का अनुभव होता रहता (नाकसे स्थान) कह नहीं सकता कि वैसा क्यों होता है। का अभिन्यित ही सुन्दर हो उठती है।

अभिज्यंजनाकी सफलता कलाकारको आन (बलवान, करती है। अभिज्यंजनाको द्वारा जैसे वह अपने ज्ञुष्ठाराको मुक्तिलाभ करता है। मनके भीतर जो कुछ कलात्मक मुक्तिलाभ करता है। मनके भीतर जो कुछ कलात्मक मुक्तिलाभ करता है। चित्र, कान्य, मूर्ति आदिको केवल वह 'सरण दिलानेमे सहायक' अथवा 'उत्तेजना प्रदान करनेवाला' मानता है। इनके द्वारा कलाकार फिरमे उस सहजज्ञानको या उस क्षणको अनुभूतिको लौटा लाता है। अतएव जब इन कलाकृतियोंको हम सुन्दर कहते है तो इसका मतलव यह है कि वे उन सुन्दर सहजज्ञानों (intuitions)को फिरसे लौटा लानेमें सहायता प्रदान करती है।

कीचेका कहना है कि जीवनका कोई भी पहलू कलाकार-की कृतिके लिए उपयुक्त हो सकता है। वास्तवमें कलाकार- जीवत मुकत अतीत होकर वे की श्रेष्ठता उसकी अदिष्ट अनुभव करते है। इसीमें मत्त कल्पनाके द्वारा करहता है और इन्द्रको भी अपने सामने भी वस्तु कलात्म ततांठी कोपीन दे साधु न माने संक। या बुरा होनेका।। रहे, गिने इन्द्रको रंक।।' लक्ष्य करनेकी हुआ है। इन्तांने जहाँ भी नशा अर्थमे अमिल, राम कहना है विभक्ने प्यालेकी बात कही है, वहाँ वे किसी ऐसी में रूपार् = नशे)की ओर कोई न कोई ऐसा संकेत करते सकती की है, जो इस अमिलेसे घटिया कोटि की है और उत्ते उसे इसके सामने व्यर्थ समझते है। निश्चय ही इस तरहका संकेत तान्त्रिकों और सिद्धोंके पंचमकार या पंचत्वके मधसे होता है।

अमल शब्द भूलतः संस्कृत अम्लका रूप है। अम्ल अर्थात् खट्टा। हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष किया है कि अमृत इसी अम्ल या अम्रका रूपान्तर होगा। 'पहले शायद सोमरसके खटाये हुए रूपको ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बादमे 'अम्रित' अमृत बन गया।' (आम फिर बौरा गये)। तान्त्रिको और सिद्धोने पंचमकारों-को पंचामृत कहा भी है। नाथो और सन्तोंका अमरु उसी अमृत (मद्य)की नयी व्याख्या है। अम्लका मध्यस्वरागम-के नियमसे अमल वन ही जाता है। इस प्रकार जब कबीर कहते है—''कबिरा प्याला प्रेमका अंतर दिया लगाय। रोम रोममें रिम रह्या, और अमल क्या खाय ॥" तो 'और अमल'से उनका मतलव सिद्धों-तान्त्रिकोंके मद्यसे होता है। रपष्ट है कि सन्त, नाथोंसे बहुत अधिक प्रभावित थे और नाथ अर्थात् गोरखपंथी और हठयोगी पूर्ण संयम और ब्रह्मचर्यको अपनी साधनाका मूल मानते थे। हठयोगी और सन्त इसीलिए कड़े मर्यादावादी एवं शारीरिक तथा मानसिक अनुशासनके कट्टर समर्थक थे। वे पंचमकारोको कभी प्रश्रय नहीं देसकते थे।

अतः सन्तोंने पुराने शब्दोंमें नया अर्थभरा। बाल रण्डा' बाल विधवाका अर्थ न देकर 'कुण्डलिनी' बन गयी, 'गोमांस' चन्द्रमासे क्षरित होनेवाला 'अमृत' वन गया । शराबका अर्थ देनेवाला अमल और शराब पीकर साधना करनेवाला 'अमली' इस नयी साधना-पद्धतिमें नीचा ठहराया गया । गोरखनाथने कहा कि 'मद्यप ध्यान लगा ही नही सकता'-"गिरहीको ग्यांन, 'अमलीको ध्यान' ब्चाको कान, बेस्याको मान । बैरागी अर माया स् हाथ या पांचोको एको साथा" (गोरखबानी, सबदी २४५) । अतः जाती है कि (मद्य) की जगह राम अमिल शब्दोंको, अमली दूसरी एक अन्येगत एकान्तता एवं एकनिष्ठताके अर्थमें दूसरी एक अन्येगत निजकी अनुभूतियोंसे ही प्रसार पार्व लगा, सुरत किए तन विरुद्ध यह भी एक आपत्ति है कि उसमें प्रमान के पद ७४ की गयी है। कहा जाता है कि कलाकार जीवन का है और उस 'देखने'को दूसरोंके लिए चित्रित करता है। इस प्रकार अपनी कलाके द्वारा वह अपनी 'दृष्टिभंगी'को अभिन्यंजित करता है; लेकिन इस अभिन्यंजनाका माध्यम ऐसा होना चाहिये जो सबका परिचित हो, जो सब समझ

है। यह प्रवृत्ति पशुओंमें भी पाये ने ही लेना पटना है। अपनी 'द ड़ामा ओव सैनेज पंननावादको लेकर एक असंख्य जातियोकी इस अनुकरण-वृत्ति-द्वार कहकर होते हैं-एक तो इससे वास्तविक अनु- हमना कारण आनन्द प्राप्त होता है; दूसरे, मनुष्यको क अभिन्यं जना-अनुभातियोंकी अभिन्यक्ति करनेका अवसर गहनेका इंग अर्थात्, यह भी अपने-आपमे एक प्रकारकी अथवा कुछ दूसरे उद्देश्यसे हाव-भाव एवं मुद्राओका विकेत्य वरत हमारी संस्कृतिके समान हो नाट अगृतिका उन्न प्राचीनतम है तथा इसका पूर्ण विकास भी सबसे बादम हुआ है। आधुनिक उन्नत नाटकों एवं प्रानीन अविकसित नाटकोंकी यदि तुलना की जाय तो आधारभून मिडान्त हमें दोनोंमें वही मिलेंगे। रुचि-परिष्कार एवं संस्कृतिके विकासके साथ-साथ हमारी अभिनय कलाका विकास हुआ है। मिस्र, यनान, जापान तथा इटलीमं अभिनयकलाके क्रमिक विकासके हमें विवरण मिलते है। इटलीने इस दिशामें विशेष उन्नति भी। इंग्लैण्डमे शेक्सपियरने अभिनय-कलापर बहुत जोर दिया। उसने अपने नाटकोंमें चरित्र-चित्रणमें प्रदर्शित की और मानव-समाजके विशेष कशलता प्रत्येक प्रकार (टाइप)का उसने अपने दःखान्त एवं सुखान्त नाटकोंमें चित्रण किया है । 'हैमलेट' द्वारा उसके अभिनेताओंको दिये जानेवाले भाषणमे शेवस-पियरने अभिनयकलाके महत्त्वके विषयमें अपने निजी विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं और उत्कृष्ट अभिनयकलाके तत्त्वों एवं महत्त्वपूर्ण अंगोंकी विशद व्याख्या की है।

१८ वी शताब्दीमें अभिनयमलाको लेकर विभिन्न सिद्धान्त एवं सुनिश्चित भेद प्रकट होने लगे। फ्रांसीसी विश्वकी शकार डेनिस डाइडरॉटने फ्रांसीसी परम्परागत शास्त्रीय नाटकोंसे जबकर उसके विरोधमें नाटकमें वास्तविक जीवनके चित्रण-का सिद्धान्त स्थापित किया । बीसवीं राताब्दीमें अभिनय-कलाके कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। अभिनयकी विभिन्न पाठशालाओं एवं परिषदोंमें (उदाहरणतः इंग्लैण्डमे विक्रियम-का 'रिपेर्टरी थिएटर' तथा लिवरपूल स्थित 'रिपेर्टरी थिएटर', आयर्लैण्डमें डबलिन स्थित ऐबे थिएटर इत्यादि)। १९१०-में मास्को आर्ट धिएटरके विख्यात निर्माता एवं निर्देशक स्टैनिसलावरकीने अभिनयमें स्वाभाविकतावादका सिद्धान्त स्थापित किया । उसने अपने अभिनेताओंको यह आदेश दिया कि वे जिन पात्रोंका चरित्र चित्रित करने जा रहे हों. उनके वार्तालापों एवं कार्यीका मनन करके उन्हें आत्मसात कर लें और इस प्रकार उन पात्रोंको सजीव व अथवा केवल न समझें कि वे नाटकमे अभिनय कर जंनाका नाम ही यह समझना चाहिये कि वे वास्तितिक्त वस्तुतः आभ्यन्तर रहे हैं। यह मनोनैशानिल शब्द अथवा संगीत आदिके प्रिय हुआ और अनिवाला इन्द्रियगोचर रूप उसीका बौह्य समझा जाने नही। यह अभिन्यक्ति ही सुन्दर होती है, अभि निहित अर्थ नहीं। वस्तु या पदार्थ अभिव्यक्तिकी मिन्नताका कारण है अवस्य, किन्तु सौन्दर्भ 'फार्म' या अभिव्यक्तिमें ही होता है। काव्यका उद्देश्य भी नीति-जपयोगिता-निरपेक्ष सौन्दर्यकी सिद्धि ही है। इस आधारपर बस्तके सौन्दर्यकी उपेक्षा करके केवल अभिव्यक्तिकी सन्दरता परखनेवाली आलोचना गरित निर्मास शिल स्वाप्त आलोचना कहलाती है। प्रसि निर्मास शिल स्वाप्त आलोचन वरत्यों मुन्दरता-पूर्वक अभिव्यक्त करनेमें कलाकारकी सफलताको आकर्तको साथ-साथ उसके मौन्दर्य-तत्त्वोंका भी विवेचन करता है। आनार्य कुन्तक द्वारा प्रतिपादित भारतीय 'विशेक्तिकाद' कुछ वातोंमें इसके उमान है। उक्तिके अनुरोपनकी स्वीकृति और उसमें निहित अर्थकी उपेक्षाके कारण भी आनार्य शुक्त इसे 'वार निहत अर्थकी उपेक्षाके कारण भी आनार्य शुक्त इसे 'वार निहत अर्थकी उपेक्षाके कारण भी आनार्य शुक्त इसे 'वार निहत व्यवाद' कहते हैं। —आ० प्रण्वी अभिव्यक्तिवाद—देण 'रमनि पति'।

अभिसारिका (नायिका) - अवस्थानुसम नाथिकाओंके विभाजनका एक भेदः विशेषके लिए दे० 'नाशिका-भेद'। भरतने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। भानदत्तके अनुसार 'ख्यमभिमरति प्रियमभिनारयति', अर्थात् प्रियम 🔭 मेलनेके लिए स्वयं संकेत-स्थलपर जाय अथवा प्रियको आहे<sub>लाये</sub>, वह अभिभारिका है (रसमंजरी, पृ० १३५)। तिरामका भाव इसके समान है—'पियहि बुलावे आपु, (१ आपही पियपे जाय' (रसराज, १९०)। अभिसारका वादिः ई है मिलनेके लिए जाना या बादा करना। इस भावनी वकीयाके भेद, परकीया तथा सामान्या समीमें आ यह भाव । पद्माकरने मुन्धा अभिसारिकामे संकोन और भावनाके मुन्दर भाव प्रदर्शत किया है— किंकिनी छोरि अभिव्यंज कहूँ बाजनी पाइल पांद तें नाई।...लाजहिं तें प्रानिनिधिम् कहूँ अपि जाति कहूँ गजकी गिन भाई... अन्तरको भाव । २०००)। मुण्यामे ना और प्रमका उदेग उस यथार्थको से पन गर्गन मन्द्र गिन नलें बाल निय गेह। की एक अवस्थाद्दू परी चढ्यो महावन नेन' (मतिराम: व्यक्तिका माध्यको । लजाहीन तथा निर्माक गरिनारिका है। इस प्रकारसे धत्रित है—'तौ अलबेला अकेला एरी किन उसके मनकी अवस्त हीने । है सिख संग मनोभव सो भट सम्पन्न होता है, हरासन ताने।' (पद्माकर: जगदिनोद, १:

कोचे इस बाधाके अभिसारिकाके रूपमें तीन भेद हैं-वा सहजज्ञान  $(i
u_{f l}$ —अन्धकारादिमें संचरण करने योग्य वेष वस्तुमे इसका सम्बक्रस्नेवाली नाथिका। **ग्रुक्काभिसारिका**— वस्तुमें वास्तविकदिभिसार करनेवाली नायिका। दिवाभि-का अस्तित्व इसनमें ही अभिसार करनेवाली नायिका। इनमें में आ गयी है। प्रधान है, क्योंकि ये परकीया नायिका है। होनेमें है। बादलोंके घने अन्धकारमें अभिसरण करसी हुई जब वह का वर्णन करते हैं—'मोहन छशीलको मिलन चला सुन्दर अबि छाँह लौं छवीली छिबि छाजत अँध्यारी मैं (रान्राज, १९७) । विहारीकी अभिसारिका छिप नहीं पा रही है- सवन कुंज वन वन तिमिर अधिक अधिरी राति । तऊ न दुरिहै स्याम यह दीप सिखा-सी जाति ।' विहारीकी शुक्ता अभिसारिका चाँदनीमें मिल जाती है-'जुबित जोन्हमें मिल गयी नैंक न परित लखाइ। सौंधेंक डोरन लगी अली चली सँग जाइ' (सतसई)। मतिराम-की दिवाभिसारिका तीक्ष्ण लुकी जिन्ता भी नहीं करती-'ग्रीषम ऋतुकी दुपहरी चली बाल बन कुंज। अंग लपटि तीछन छुएँ मल्य पवनके पुंज, (रसराज, २०२)। परकीयाके अभिसारका वर्णन विद्यापति तथा रीति-कवियों-का प्रिय विषय रहा है। विद्यापित तथा मर्ने भावात्मक

उद्देग, उत्तेजना, आकुलता आदिका वर्णन विशेप रूपसे किया है, पर रीति-कवियोने भावोसे अधिक चमत्कारपूर्ण वर्णनको महत्त्व दिया है। सामान्याके अभिसारका विशेष अर्थ क्या हो सकता है, पर किवयोने उसे भेमका आलम्बन माना है, अतः इस रूपमे स्वीकार करना पड़ा है—'नागरि मकल सिंगार करि चली प्रानपित पास। वाढि चली विहसनि मनो सोभा सहज विलास' (मितराम: रसराज, २०४)। अभिषेक—दे० 'धर्मभेष'।

अभिहितान्वयवाद — कुमारिलमट्ट द्वारा प्रवित्तेत एक विशेष सिद्धान्त, अभिधा द्वारा उपस्थित अर्थोंके अन्वय सम्बन्धको महत्त्वशाली वनलाता है (दे॰ 'तात्पर्यावृत्ति')।—उ०शं०शु० अभेदरूपक —दे० — 'रूपक', पहला प्रकार।

अभ्यास-दे०-'काव्यहेतु', तीसरा हेतु।

अमतपरार्थता—दे॰ 'शब्द-दोष', अठारहवां 'वाक्य-दोप।' अमनसिकार—दे॰ 'बोधिचित्त।'

अमर वारुणी-हठयोग प्रदीपिका (३: ४८)में बताया गया है कि "जिह्नाप्रवेश संभूतः विह्नोत्पादितः खलु। चन्द्रा-त्स्रवित यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥" खेचरीमुद्रा (हठ० २: ३२)मे योगी जीभको उलटकर कपालकुहरमे प्रविष्ट कराता है और इस प्रकार सहस्रार पद्मके मूलमे स्थित योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेन्द्र या चन्द्रस्थानसे निरन्तर झरनेवाले अमृतको पीता है (शिव संहिता, ५:१०३)। हठयोगियोंका विश्वास है कि चन्द्रमासे झरनेवाले इस अमृत रम या अमर वारुणीको पी लेनेपर योगी अमर हो जाता है। इसीलिए मुद्राओंमे वे खेखरी मुद्राको सर्वाधिक महत्त्व देते हैं ('न खेचरी समा मुद्रा', हठ० १:४५) । हठयोग प्रदीपिकामें इस अमरवारणीका पान करनेवालेको ही सचा कुळीन (= कौल) माना गया है। संत बार-बार जिस मद, सरा आदिको पीने और पीकर मस्त रहनेकी बात करते है, वह सोमरस यही अमर वारुणी है। कबीर इसी बातको यों कहते है 'आठह पहर मस्तान पाता रहै'। यही उनका 'राम रसायन' है (क० प्र०, पद ४२)। अमरोली मुद्रा-'गोरक्ष पद्धति'में इसे 'कापालिकी क्रिया' कहा गया है और कापालिकों में भी 'खण्डमत' (?) वालोको यहविशेष इष्ट बतायी गयी है। अमरीय अर्थात् अमरवारुणी-का नित्यपान करना, उसीका नास लेना (नाकसे सूंघना) और अमरोलीका नित्य अभ्यास करना-ये तीन कापालिकी अमरोलीके लक्षण बताये गये हैं। पित्तकी उल्बण (बलवान, सज्ञक्त) प्रथम धारा तथा अन्तिम और सारहीन अम्ब्रधाराको छोडकर शीतल-मन्द्रधाराका सेवन ही खण्डमतकी अमरोली कही गथीं है। इस मुद्राके अभ्याससे निःसृत होनेवाली चान्द्री (अमरवारुणी या अमृत)को विभूति (गोबरकी राख)-मे मिलाकर उत्तमांगों (= गलेके ऊपरके भाग)पर धारण करने (लगाने)से दिव्यदृष्टि मिलती है। —-रा० सि० अमल (अमलि) - सन्तोंने अमल शब्दको निर्मल, शुद्ध, मलहीनके अर्थमें भी व्यवहृत किया है। पर अपने पारि-भाषिक रूपमें यह नशा, शराब या मद्यके अर्थमे ही प्रयक्त हुआ है। रामकी अमल या अमलिमे मत्त रहनेकी बात कबीर बार-बार करते है। इसमें कबीरको इतनी मस्ती मिलती है कि 'मै मंता अविगत रता अकलप आसा जीत। राम अमिल माता रहै जीवत मुकत अतीत' होकर वे अपनेको औरोंसे विशिष्ट अनुभव करते है। इसीमें मत्त रहकर संत निश्शंक रहता है और इन्द्रको भी अपने सामने रंक मानता है—'सतगंठी कोपीन दे साधु न माने संक। राम अमिल माता रहै, गिनै इन्द्रको रंक।।' छक्ष्य करनेकी बात है कि सन्तोने जहाँ भी नशा अर्थमे अमिल, राम अमिल या प्रेमके प्यालेकी बात कही है, वहाँ वे किसी पेसी अमिल (= नशे)की ओर कोई न कोई ऐसा संकेत करते जान पडते है, जो इस अमिलसे घटिया कोटि की है और संत उसे इसके सामने व्यर्थ समझते है। निश्चय ही इस तरहका संकेत तान्त्रिकों और सिद्धोंक पंचमकार या पंचतत्त्वके मचसे होता है।

अमल शब्द भूलतः संस्कृत अम्लका रूप है। अम्ल अर्थात् खट्टा । हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष किया है कि अमृत इसी अम्ल या अम्रका रूपान्तर होगा। 'वहले शायद सोमरसके खटाये हुए रूपको ही 'अम्रित' (खट्टा बना हुआ) कहते होंगे। बादमे 'अम्रित' अमृत बन गया।' (आम फिर बौरा गये) । तान्त्रिकों और सिद्धोंने पंचमकारों-को पंचामृत कहा भी है। नाथों और सन्तोंका अमरु उसी अमृत (मद्य)की नयी व्याख्या है। अम्लका मध्यस्वरागम-के नियमसे अमल वन ही जाता है। इस प्रकार जब कबीर कहते है- "कबिरा प्याला प्रेमका अंतर दिया लगाय। रोम रोममें रिम रह्या, और अमल क्या खाय ॥" तो 'और अमल'से उनका मतलब सिद्धों-तान्त्रिकोंके मद्यसे होता है। स्पष्ट है कि सन्त, नाथोसे बहुत अधिक प्रभावित थे और नाथ अर्थात् गोरखपंथी और हठयोगी पूर्ण संयम और ब्रह्मचर्यको अपनी साधनाका मूल मानते थे । हठयोगी और सन्त इसीलिए कडे मर्यादावादी एवं शारीरिक तथा मानसिक अन् शासनके कड़र समर्थक थे। वे पंचमकारोंको कभी प्रश्रय नहीं दे सकते थे।

अतः सन्तोंने पुराने शब्दोंमें नया अर्थ भरा। बाल रण्डा' बाल विधवाका अर्थ न देकर 'कुण्डलिनी' बन गयी, 'गोमांस' चन्द्रमासे क्षरित होनेवाला 'अमृत' वन गया। शराबका अर्थ देनेवाला अमल और शराब पीकर साधना करनेवाला 'अमली' इस नयी साधना-पद्धतिमें नीचा ठहराया गया । गोरखनाथने कहा कि 'मचप ध्यान लगा ही नही सकता'-"'गिरहीको ग्यांन, 'अमलीको ध्यान' बचाको कान, बेस्याको मान । बैरागी अर माया सूँ हाथ या पांचोको एको साथा" (गोरखवानी, सबदी २४५) । अतः सन्तोंने अमल (मद्य) की जगह राम अमलि शब्दोंकी, अमली भक्ति, समाधिगत एकान्तता एवं एकनिष्ठताके अर्थमें प्रयुक्त किया। उनका कहना है कि-नाम अमल उतरै ना भाई। और अमल छिन छिन चढि उतरै, नाम अमल दिन बढै सवाई । देखत चढै सनत हिय लागै, सुरत किए तन देत बुमाई।"—कबीर। कबीर यन्थावली (दास)के पद ७४ में इस प्रेम पियालेमे पिये जानेवाले इस रामरसको तैयार करनेकी पूरी विधि बतायी गयी है। विधि वही है, जो शराब तैयार करनेकी होती है। बस उपकरण भिन्न है और चुआया हुआ रामरस ऐसा है, जिसे शिव-सनकादि अधाकर पीते और मन्त बने रहते है। इड़ा और पिंगल की भड़ीमें बहा

अग्नि जलावर, गूर्यचन्द्रके दसो दरवाजोंको बन्दकर और पाची प्राणींकी माथ लेकर यह योगकी तारी लगायी जाय तो यह रस चना है। इसी रसके पीनेसे सपप्त नागिन (कुण्डलिनी) जगती है और यह वहीं रस है, जिसकी एक बूंद देनेवालेको कबीर अपना सारा जप तप वलालीमे दे देनेकी मुनादी करते-फिरते है-"हे कोउ संत सुख उपज जाकों जप-तप दें उलाली। एक बृंद भरि देर रामरस ज्यू भरि देइ कलाली ॥" असर्थ-प्रचलित तेनीसम एक सचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र'-के अनुसार जब विद्या, ऐइवर्थ या वर्णम अधिक व्यक्ति किसीका आक्षेप द्वारा अपमान करते है तो इस आक्षिप्त तथा अपमानित व्यक्तिमें यह भाव उदबुद्ध होता है, और वह इसको शिरःकम्पन, स्वेद, अधोमुखचिन्तन आदि सहायकों-द्वारा अभिन्यक्त करता है (७।७८ ग) । सागरनन्दीने सम्भवतः किसी अन्य परम्पराका अवलम्बन कर यह स्पष्ट किया कि विद्वान् एवं ऐ.इवर्ययुक्त (और बलवान्) व्यक्तियोंका आक्षेप होनेपर उपरिलिखित अनुभावों द्वारा इसकी अभिन्यक्ति होती है (नाटकलक्षणरत्नकोश, २०७२, २०७३) । अतः धनं जय और विश्वनाथने तिरस्कार एवं अपमान न सहनेको अमर्प कहा (द० मृ.०, ४:१२)। पर रामचन्द्र गुणचन्द्रने सम्भवतः अमर्षके उदाहरणके आधारपर आक्षेपके प्रताकारकी इच्छाको अमर्प कहा (नाट्यदर्पण, ३: १३७)। और व्याख्यामे अभर्प एवं क्रोधमें भेद बतानेका भी प्रयास किया । वाग्मटने (काव्यान शासन, पृ० ५८) इसको 'प्रतीकारकी इच्छा' बताया और ऐसे ही शारदाननयने (भा० प्र०, पृ० २२)। निस्सन्देह अमर्पके दो पक्ष है, एक तो क्रोधकी पूर्वावस्था और दूसरा उस क्रोधने अभिभृत प्रतीकारकी इच्छा। वास्तवमें प्रतीकारकी इच्छा इस मनोवेगका परिणाम है और उसको अनुभाव मानना अधिक उचित होगा। संस्कृत नाटक 'वेणीसंहार'में इसके कई उचित उदाहरण हैं। निन्दाया आक्षेप करनेवालोंके वाक्योंको सहन न करना अमर्ष है, पर उनसे प्रतीकार करनेकी उत्कट अभिलाषा क्रोध है, ऐसा कुछ व्याख्याकारोंका मत है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने सामान्यतः दृसरेके अभिमान तथा अपने अपमानके कारण 'अमर्ष'को माना है। देवके अनुसार-- अधिक्षेप अपमानते, स्वेद कम्प **दगराग ।** अहंकार जियमें बढ़ै, क्रोध सुनदु बड़ भाग' (भाव॰, संचारी॰)। इसमें यह नहीं कहा गया कि यह अपमान किसका हो अथवा किसके द्वारा, जैसा संस्कृतके आचार्यों द्वारा कहा गया था। पर अन्य आचार्यों ने केवल 'लिख द्जेको अभिमान' (जगत० ५१७) मात्रसे 'अमर्ष' मान लिया है। देवने शृंगारके संचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है- 'मानत नाहिं तिरीछेहि तानति बान-सी ऑखं कमान-सी भौहे' (भाव०, संचारी)। पद्माकरने दोहा उदाहरणमें प्रस्तुत किया है-'गरव सु अंजन ही बिना, कंजनको हरि लेति। खंजन मद भंजन अरथ, अंजन ॲखियन देति' (जगत० ५१९)। इसमें कंजन और खंजनपर अमर्ष व्यंजित है। -- ज० कि० ब० अमियरस-योगियोंका विश्वास है कि सहस्रदल कमलके

गध्य स्थित - राहिन्दरी प्रेरणास एक प्रकारका स्थाव होता रहता है, जिसे असून, अभिवरस, सोमरस या रमायन कहा जाता है। यह महस्त्रारमे नीनेकी और मलाधारचक्रके पासनक आकर शरीरके अन्य रसीस विलीन होता है। इसी रसके अजर गुफामे अरनेकी वात कवीरने कही हैं—'रमगगन गुफाले अजर ज़रें' (कवीर)। नाथपंथियांकी साधनामें हठयोगका प्रधानना होनेके कारण कायाशोधन और उसके रक्षणकी बात अधिक कही गथी है—'उनमनि रहिवा भेद न कहिवा पीयवा नीजर पाणी। लंका छ। डि पलंका जाएवा तब सरमस्य लेवा बाणी' (गोरखबानी) अर्थात् उन्मनावस्थामं लीन रहना चाहिये, किमीसे अपना भेद नहीं कहना चाहिये, अमृतके झरनेसे अमृत पीना चाहिये। परन्त कवीरने हठयोगकी क्रियाओंसे ऊपर उठकर रसायन बनाने और पीनेकी अनेक युक्तियों वतायी-'गगन गरजि बरसे अमी बादल गहरि गम्भीर । चहुँ दिशि चमके दामिनी भीजे दास कबीर' (कश्चेर सा० सं ११७)। —- ૩০ হা০ হা০ अमृत-मध्यकालीन तान्त्रिक परम्पराओमें बराबर किसी-न-किसी ऐसे रसकी खोज हुई है, जो मनुष्यको अमर बना दे या धातको स्वर्ण बना दे। बादमें उस रसके मैथन या हठयोगपरक अर्थ इत लिये गये। सिद्धोंने उसे महासख या सहजरस-रूपी अमृत माना। तान्त्रिक अनुष्ठानमें जो वाक्णी है, वह भी इसी अमृतका प्रतीक है। हठगोग-माधनामें चन्द्रसे जो असत झरता है, वही वास्तविक असून बताया गया है। मन्तोंने तान्त्रिकोंकी वारुणं-का तो निषेय किया, किन्तु उठयोगपद्धतिके अमियरम या मोमासको स्वीकार किया। किन्तु वास्तविक भगृत उन्होंने माना रामभक्तिको, जिसे वे रामरसायन कहते थे। शाक्त उससे अपरिचित है, अतः वे मरणशील हैं, सन्त अमर हैं। 'साकत मरे सन्त समु जीवित, राम-रसायन रसना पीवहिं' (सन्त कवीर: रामक्रमार वर्मा)। अमृतगति - वणिक छन्दोंमं समवृत्तका एक मेदः यह वृत्त नगण, जगण, नगण और गुरुके योगने बनता है (॥।, ısı, III, s)। 'प्राकृतपेगलम्'मं यही नाम है, पर 'मन्दारमरन्द चम्पू'मे कुलटा (१६:११) और हेमचन्द्रकृत 'छन्दोऽनु शासन', जयकीर्तिकृत 'छन्दोऽनु शासन' (२:९४) तथा विरहांककृत 'वृत्तजातिलमुचनय'में ('4:१७) त्वरितगति नाम दिया गया है। केशवदासने इसका प्रयोग फिया है। उदा०-'निज पति पंथहि चलिये। दुग्व-सुखका दलु दलिये। तन-मन सेवहु पतिको। तब लहिये सुभ गति-को' (रा० चं०, ९:१३)। अमृतध्वनि-मात्रिक विषम छन्द । इसमें छः दल होते हैं। प्रथम दो दल दोहेके होते हैं, जिसमें से प्रत्येक दलमें २४ मात्राएँ होती हैं। शेष चार दलोंमेंसे प्रत्येक दलमें ८,८ मात्राके क्रमसे तीन बार यति, यमक आते हैं. जो रोलाके होते हैं। भिखारीदासके 'छन्दार्णव'में कुण्ड-लिया और अमृतध्वनिके लक्षण एक साथ दिये हैं (७:३७)। वीररसके लिए यह छन्द अधिक उपयक्त है। 'सजान-चरित' तथा भूषणकी रचनाओं में इस छन्दका अच्छा

प्रयोग मिलता है। उदा०—प्रथम दोहाका चरण—'गत वलखान हलेल हुन, खान बहादुर मुद्ध' और तीसरा रोलाका चरण—'कद्धद्धिर किय जुद्धद्धुन अरि अद्धद्धिर करि'' (शि० मू०, ३५७)। — रा० सिं० तो० अयस्रज अलंकार—भरतद्वारा 'सात्त्विक अलंकारो' (दे०)का एक विभाजन, जिसे संन्कृतमे एक सीमातक स्त्रीकार किया गया है, पर हिन्दी रीतिकालमे केवल कुमारमणिने 'भाव'के अन्तर्गत और रसलीनने 'अयलज'के रूपमे ही स्त्रीकार किया है। आधुनिक विवेचकोंमें 'हरिऔध', स्यामसुन्दर दास तथा कन्हैयालाल पोहारने संस्कृतकी परम्पराका अनुसरण किया है। नायिकाके शरीर तथा स्वभावकी मोहकताको बढानेवाले अलंकार जो यत्न-साध्य न होकर स्वाभाविक रूपसे दिखाई देते है। ये क्रमशः शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य नामसे सात प्रकारके माने गये है।

- 9. शोमा अलंकार—धनंजयका लक्षण भरतके आधार पर (नाट्यशास्त्र, २४:२५)—'रूपोपमोगतारुण्यैः शोमा- ज्ञानां विभूषणम्' (दशरूपक, २:३५), रूप-सौन्दर्य, वासना और यौवनसे अंगोंकी शोमाका बढना। इस प्रकार रूप, यौवन, लालित्य, सुख तथा मोग आदिसे युक्त शरीरवी सुन्दरताको 'शोमा' कहते है। शोमा ही शरीरका आभूषण है, रूपादि उसके अंगमात्र (सा० द०, ३:९५)। बिहारीका यह सौन्दर्यवर्णन इसका उदाहरण है—'भूषन भार सँभारि है, क्यों इहि तन सुकुमार। सूथे पाइ न धर परें, शोमा ही कै भार' (बि० र०, ३२२)। आधुनिक कवि 'प्रसाद'का वर्णन—'चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्वमे जैसी। उस पावन तनकी शोमा आलोक मधुर है ऐसी' (ऑस्)।
- २. कान्ति अलंकार—भरतके आधारपर (नाट्यशास्त्र, २४:२६) धनंजयका लक्षण—'मन्भथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता' (दश्व, २:३५), कामसे बढा हुआ सौन्दर्य। शोभाकी उस सुविकसित अवस्थाको कान्ति कहते है, जिसके द्वारा या तो अत्यधिक कामोदीपन हो अथवा जो स्वयं काम-विलासके द्वारा अत्यधिक बढी हुई जान पडती हो (सा० द०, ३:९६)। यथा—'बिलसै नवला अंगमे काम कलाकी जोति। चामीकरसे गातकी चमक चौगुनी होति' (हरिऔध, र०क०)।
- ३. दीसि अलंकार—भरत, धनंजय तथा विश्वनाथ, सबका मन लगभग समान है—'कान्तिरेवातिविस्तीणीं दीप्तिरित्यिभिधीयते' (सा० द०, ३:९६), अर्थात् कान्तिका विविद्धित रूप ही जब दर्शकको मोहमग्न करनेमें समर्थ हो जाता है, उस स्थितिको दीप्ति अलंकार कहते है। प्रसाद द्वारा अंकित 'श्रद्धा'का रूप-वर्णन—'नित्य यौवन छविसे ही दीप्त, विश्वकी करुण कामना मूति; स्पर्शके आकर्षणसे पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जडमें स्फूर्ति' (कामायनी)।
- ४. माधुर्य अलंकार—भरतके अनुसार 'प्रत्येक अवस्था-में, विशेषकर 'दीप्ति' और 'ललित'मे नायिकाको चेष्टाए' (नाट्यशास्त्र, २४:२७), पर धनंजय इसे केवल 'अनुल्बण-त्वम्' (दश्व, २:३६), अर्थात् कोमलता कहा है। सभी स्थितियोमे नायिका द्वारा अपनी चेष्टाओमे मृदुता अथवा रमणीयताकी स्थिति बनाये रखना, माधुर्य अलंकार कहलाता है (सा० द०, ३:९७)। निम्नलिखित दोहेमें मिस्सी लगे

दॉत भी नन नीलमके समान प्रतीत होते हुए माधुर्यका विकास कर रहे है—'अधर पानकी पीक ते, अधिक ल्लाम लखात। मिसी मिले नवला दसन, नव नीलम विन जात।' (हरिऔध, र० क०)।

". प्रगल्मता अळंकार—मरतकी परिभाषामें नाट्य-कलाका दृष्टिकोण प्रधान है 'किसी अवस्थाके अभिनय अथवा कथनमे विश्वज्य न होना' (नाट्यशास्त्र, २४:२९), और धनंजयने इसे 'निःसाध्वसत्त्वम्' अर्थात् मानसिक विक्षोभका अभाव कहा है (दश्रा०, २:३६)। वस्तुतः नायिकाके व्यवहारमें निःशंकताको प्रगल्भता कहते है। यह प्रीढा अथवा सामान्या नायिकाओमे ही सम्भव है। रित-प्रीता प्रौढ़ा स्वकीयाकी प्रगल्भताका पद्माकरकृत वर्णन—'फूलत फूल गुलावनके, चटकाहट चौंकि चली चपला सी। कान्हके काननि ऑग्ररी नाइ, रही लपटाइ लवंग लता सी' (जग-दिनोद, ४९)।

६. औदार्य अळंकार—भरतका अनुसरण करते हुए (नाट्यशास्त्र, २४:२९) धनंजयने इसे 'प्रश्रयः सदा' अर्थात् सभी स्थितियोंमे शालीनताकी अभिन्यिक्त माना है। सभी अवस्थाओं में विनीतता या प्रेमानुक्लताका नाम ही औदार्य है। यथा 'प्रसाद'की श्रद्धाकी निम्नलिखित उक्तिसे प्रकट है—'समर्पण लो सेवाका सार, सजल संस्तिका यह पतवार। आजमे यह जीवन उत्सर्ग, इसी पदतलमें विगतिवकार। दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास। हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिए खुला है पास' (कामायनी)।

७. धेर्य अलंकार—भरत इमें 'चंचलतासे होन,अहंकारशून्य सहज मानसिक स्थिति मानते हैं (नाट्यशास्त्र, २४:
२८) और धनंजयका मत इनसे भिन्न नहीं—'चापलाविहिता धेर्य चिदवृत्तिरिवकत्थना' (द० रू०, २:३७)। वस्तुतः
आत्म-श्लाघाहीन स्थिर मनोवृत्तिको धेर्य अलंकार कहते है
(सा० द०, ३:९८)। 'रल्लाकर'की गोपिकाओंमें यही धेर्य
दर्शनीय हैं—'कहिं प्रतीति नोिन हूं त्रिवाचा बाँधि, ऊधी
साँच मनकी हियेकी अरु जीकी है। वेतो है हमारे ही
हमारे ही हमारे ही, औ हम उनहींकी उनहींकी उनहींकी
हैं' (उ० श०)।

अयौथिकी (गोपी)-दे॰ 'गोपी'।

अरध-उरध—वास्तवमे अधः और ऊर्ध्वको सन्तोंने अरध-उरधके रूपमे व्यवहृत किया है। हठयोग-साधनामे मेरु-दण्डके निम्न भागमे स्थित मूलाधारको अधः और सहस्रारको ऊर्ध्वरूपमे परिकल्पित किया गया। दोनोंकी पृथक्ताको विनष्ट कर मूलाधारस्थित कुण्डलिनीको ले जाकर सहस्रारमें स्थित करना—यही प्रमुख साधना थी (दे॰ 'इंगला पिगला')।

सिद्धोंने अध-ऊर्ध्वका उल्लेख किया है—'अध उध मज्झे सअल भूअ णासी' (दोहाकोष : प्रवोधचन्द्र वागची)। 'गोरखवानी'में अध ऊर्ध्वके बीच त्रिकुटी जून्यका उल्लेख है—'अरध उरध बिच धरी उठाई। मंधि सुनमें वैठा जाई॥' सन्तोने भी अरध उरधके बीच साधककी स्थिति मानी है—'अरध-उरध मुख लागो कासु, सुन मण्डल मह किओ परगासु' (सन्त कवीर: रामकुसार वर्मा)।

अरविंद्-दर्शन — अरिवन्द इस युगकी महानतम विभूतियों में सक है। वेदों और उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंकी परम्परामें है और उनका स्थान विश्वके अग्रगण्य दार्शनिकों की प्रथम पंक्तिमें है। उनका दर्शन कोरा बुद्धिविलास, किन्हीं आप्त ग्रन्थोंका भाष्य या किसी मनविशेषका प्रति-पादनमात्र नहीं है, वरन् वह उनकी अपनी एकान्त साधना-जन्य आध्यात्मिक अनुभूतिकी साक्षीपर आधारित है।

अरिवन्दके दर्शनमें दो बातें प्रमुख है। एक तो यह कि ब्रह्म और जगत्, दोनों ही सत्य है और दूसरी यह कि मनुष्य और जगतमें एक विकासकी प्रक्रिया हो रही है, यह जगत् निवर्तन-विवर्तन अथवा अवरोहण-आरोहणात्मक जगत है।

अरविन्दको मत है कि जिसे जड़ द्रव्य-मैटर-कहा जाता है, वह तथा चेतन या आत्मा (स्पिरिट), दोनो ही सत्य है। 'ब्रह्मसत्यं, जगत् मिथ्या'का सिद्धान्त असत्य है। जब द्रव्य और आत्मा, दोनोमेने कोई भी उपेक्षणीय नही है। जडतत्त्वका निपेध करनेवाला आत्मवादी और आत्मा-की अवजा करनेवाला जडवादी दर्शन, दोनों ही एकांगी है। हमें अपने उपनिषद्कालीन पूर्वपुरुषोके स्वरमें कहना चाहिये—'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्'—जड़ और चेतन आत्माका विभेदीकरण करनेसे, उनमेंसे किसी एकको प्रधानता देना अनिवार्य हो जाता है, जिसका अवस्यम्भावी परिणाम होता है एकांगी जीवन-दर्शन । केवल ज्ञानेन्द्रियों और एक सीमातक बुद्धिको ही ज्ञानका एकमात्र साधन स्वीकार करनेके कारण जड़वादी आत्माका निषेध कर देता है। किन्तु उसका ध्ष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण होनेके कारण त्याज्य है। मन और आत्मामें उच्चतर शक्तियां तो है ही, ज्ञानके अनन्त क्षेत्र ऐसे हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धिकी सीमासे परे हैं। इसी प्रकार आत्मवादी द्वारा भौतिक जगतका निवेध भी त्याज्य है । अरविन्दके अनुसार तपस्वी-की यह अस्वीकृति जडवादीके निषेधकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण, न्यापक, अतिवादी तथा न्यक्ति एवं समुदायके लिए कही अधिक खतरनाक है। जगतका ऐसा निवेध और केवल आत्माका अंगीकार वेदान्तमें मिलता है। भारतीय विचार-थारामें वेदान्तकी प्रमुखता होनेके कारण भारतीय मनीषा अभीतक इस विराट् तापस अस्वीकृतिसे आक्रान्त है। यद्यपि इस विचारधारासे हमारे सांस्कृतिक विकासमें वड़ी सहायता मिली है, पर वह हमारे नैतिक अधःपतनका भी कारण रही है।

अरिवन्दके अनुसार परमतत्त्व सत् चित् आनन्द ब्रह्म है। उनका यह मत उपनिषदोंके सहरा है। विशुद्ध सत् ही मूलतत्त्व है, किन्तु गति, शक्तिप्रक्रिया भी उतनी ही मौलिक और उतनी ही सत्य है। सत् और प्रक्रिया, दोनों-को स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुतः ब्रह्म न सत् है और न प्रक्रिया है, न एक है, न बहु है; वह इन सबके परे है। स्थिरता, गतिशीलता, एकता, बहुलता आदि ब्रह्मके मनुष्यकृत लक्षण है। ब्रह्म निर्मुण और सगुण, एक और अनेक, स्थाणु और गतिशील, सभी कुछ है। अरिवन्द कहते है, जगत्की सत्ता शिवका आनन्दनृत्य है, वह उस अवदात सत्कों जैसाका तैसा, जहाँका तहाँ, जैसा वह है

और जैसा वह सदैव रहेगा, रहने देना है; उसका एकमात्र और निरपेक्ष लक्ष्य केवल नृत्यका आनन्द है। किन्तु चृंकि हमारे लिए गति और स्थिति, एकना और बहुलताके परे बहाने विपयमें सोच पाना कठिन है, अनः हमें द्विपक्षीय सत्य, कालो और शिव दोनोंको ही स्वीकार करना चाहिये और यह जाननेका प्रयास करना चाहिये कि उस देशकालानीत विशुद्ध सत्की भूमिकामें देश और कालके मध्य यह असीम गति, असीम शक्ति क्या है, जो सान्त और अनन्त दोनों ही है।

श्री अरिवन्दके अनुसार माता चिच्छित है। यह ितत् राक्ति विशुद्ध सत् ब्रह्ममें निहित है। वह स्थिर और गति-रािल दोनों ही हो सकती है। स्थिर होनेपर भी उसका अस्तित्व रहता है। विशुद्ध सत्में स्थित समस्त जगत्की कर्त्रीं इस चिच्छिक्ति अरिवन्दने माताका नाम दिया है। वही जगत्का क्रियाशोल तत्त्व है। जीवकी अहन्ताके माध्यमसे अपरा प्रकृतिमें कार्य करते समय वह अपनी ही योगमायासे छिपी रहती है। वह तीन रूपोमं प्रकट होती है—परात्पर, सृष्टि और जीव। इस चराचर जगत्में जो कुछ भी है, वह सब माता ही है।

ब्रह्म जगत्वी सृष्टि क्यों करता है ? इसका उत्तर अरविन्द देते हैं कि आनन्दके कारण। केवल सृष्टि करनेका आनन्द लेनेके कारण ही ब्रह्म जगत्की सृष्टि और उसका परिपालन करता है। परमतत्त्व सत् और नित् ही नहीं, आनन्त भी है। इस प्रसंगमें यह शंका उठती है कि तब फिर संमारमें इतनी व्यथा, पीड़ा और दुःख क्यों है ? इसका उत्तर अरविन्द यह देते हैं कि हम एक नैतिक जगत्में नहीं रहते हैं। जगतमें अपनी नैतिकताका आरोपण और उसकी उपेक्षा मनुष्यकी भूल है। परमतत्त्वका वास्तविक स्वरूप नैतिकताके परे है। नैतिकता विकासका एक सोपानमात्र है। वास्तविक प्रेरणा सचिदानन्दर्भा आत्माभित्यक्तिभी है। यह प्रेरणा विकासकममें पहले नैतिकतारहित, फिर अधी-नैतिक और अन्ततः परानैतिक हो जाती है, उसे नैतिकता-की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त दःख हमारी सतही जायत चेतना मनोमय अंशका स्पन्दनमात्र होता है, वह हमारे वास्तविक अंश आन-इमयको स्पर्श भी नहीं करता।

अरिवन्द-दर्शनका दूसरा आधारिक पक्ष उनका विकास का सिद्धान्त है। इस जगत्में जड़-तत्त्वसे लेकर मनुष्यके प्रस्तुत नेतनारतरतक एक विकासक्रमको तो आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है, किन्तु उसके आदि, अन्त और लक्ष्यकी सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाता। अरिवन्द-का दर्शन इन सब समस्याओंका समाधान कर देता है। जगत् और उसमें विकासको प्रक्रिया विराट् भद्धाण्डमें एक निरा संयोग, किसी मूर्ख द्वारा कही चीन्कार-फूत्कार-युक्त अनर्गल कहानी नहीं है, वरन् वह सार्थक और सोदेश्य है। विकासके दो पक्ष है—निवर्तन-विवर्तन या अवरोहण-आरोहण। जो निवर्तित और अवरोहित है, अपरस्तरोंमें निहित है, विकासको प्रक्रियामें उसीका विवर्तन-आरोहण, प्रस्फुटन होता है। उस अदितीय परम्रह्मने संकल्प किया, 'एकोऽहं बहु स्थाम,'—मैं एक हूँ,

अनेक होऊँ और वह त्रिक् सिचदानन्दके रूपमें सत् चित् आनन्द होकर प्रकट हुआ। यह गोचर जगत् उसी परम-नत्त्वका पार्थिव निवर्तन है। अरिवन्दने इस निवर्तन अववा अवरोहणका सोपानक्रम यह बतलाया है—सत् चित् आनन्द >अतिमानस > मानस > जीव > प्राण > जङ्कत्त्व (मैटर)। विवर्तन अथवा विकासका सोपानक्रम ठीक इसका उलटा है—जङ्कतत्त्वते प्राण, प्राणसे जीव, जीवसे मानस, मानससे अतिमानस, अतिमानससे आनन्द, उससे चित्, उससे परब्रह्म निरपेक्ष सत्। इस प्रकार जड़ भी भौतिक-वादीकी जडतासे युक्त जड़ नहीं है, सिचदानन्द ब्रह्मका ही निवर्तन है।

इस पृथ्वीतलपर इस समय जो विकास हो रहा है, वह सोद्देश्य है, और उसके शिखर मानवप्राणीके विकासका एक लक्ष्य है। और वह विकास चेतनाके अधिकाधिक कर्ध्वगामी प्रस्फुटनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पार्थिव स्तरपर, प्रारम्भमें केवल जड पदार्थ था। आगे चलकर उससे प्राण उत्पन्न हुआ, वनस्पतिवर्गका जन्म हुआ, जिसमें चैतनाका प्रारम्भिक रूप मिलता है। तद्परान्त स्वचेतन चेतना, अर्थात् पशुका जन्म हुआ, उससे वास्तविक मानस अर्थात विचारका और मनुष्यका आविर्भाव हुआ। अर-विन्दके अनुसार यह विकासक्रम यही समाप्त नही होता, इसे अवचेतनाके अगले सोपानपर पहुँचना है और वह स्तर है अतिमानसका । अतिमानसके प्रस्कृटित होनेपर पृथ्वीपर अतिमानवोंकी दिव्य मानवताका उदय होगा, जो आज-कुलकी मानवतासे उतनी ही उच्चतर होगी, जितना कि प्रस्तुत मानव परासे है। इस चेतनाकी क्षीण झलक मनुष्यकी वर्तमान चेतनाके स्तरपर भी मिल जाती है, जैसे सम्बोधि (इनट्वीशन), कवियों और कलाकारोकी उत्प्रेरणा (इन्स्पि-रेशन); सन्तों और महात्माओकी रहस्यानुभृति । किन्तु अभी यह झलक ही हैं, बुद्धिकी भाँति मनुष्यका अंग नहीं है। अतिमानस उस चेतनाका स्वरूप है, जिसकी यह झलक है। अतिमानव या दिव्य मानवका जन्म तभी होगा, जब मनुष्य अपने मन-बुद्धिका अतिक्रमण करके अतिमानसिक चेतनामें प्रवेश करेगा; तब वह शारीरिक मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर लेगा।

अतिमानस सिचिदानन्द और जगत्के मध्य आवश्यक कड़ी है। वह परमतत्त्वके परिपूर्ण सत्यसे युक्त सर्जनात्मक प्रत्यक्ष है। वस्तुतः वह स्नष्टा प्रमु और ईश्वर ही है। उसका स्वरूप अद्वेतवेदान्तके मायाच्छन्न ईश्वर से भिन्न है। अरिवन्द ईश्वरके सम्बन्धमें वेद और उपनिषद्के मतको स्थीकार करते है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि। अतिमानस मानसकी चरम परिणति है। किन्तु मानस्य और अतिमानसके मध्य विशाल खाई है। सम्बोधि ही उनके मध्य सेतुका कार्यकर सकती है, यद्यपि मनुष्यके प्रस्तुत स्तरकी सम्बोधि यह कार्य पूर्ण रूपसे सम्पन्न नही कर पाती।

मानस और अतिमानसके मध्यक्ष कड़ी है अधिमानस (ओवर माइण्ड)। यद्यपि अतिमानस अधिमानसको अपनो समस्त सत्य सम्पदा दे देता है, अधिमानस ही अविद्याका प्रभ्रम जनक है। अधिमानसमें ही प्रकृति-पुरुष जैसे सांख्य

विभेदोंका उदय होता है। अधिमानसिक चेतना विश्वव्यापो है और अपने मध्य अनन्त प्रतीत्यात्मक विभेदोंको अभेद-युक्त एकत्वमें लिये रहती है। किन्तु बहुत बड़ा साधक हुए. विना अधिमानसमें प्रश्नेश और निवास सम्भव नहीं होता। अतः स्फुरणात्मिक (इन्ट्वीटिव) मानस वह स्तर है, जहाँ जीवको अपने सत्य स्वरूपकी आन्तरिक झलक मिलती है। फिर सम्बुद्ध मानस (इल्यूमिण्ड माइण्ड) है। इस स्तरमे जीव परमात्मासे पृथक् होते हुए भी सत्यका प्रकाश पाला रहता है।

मनुष्यके भीतर जड तत्त्व, प्राण और मानसके परे एक अन्य आभ्यन्तर तत्त्व है। यह है एक दिव्य मानस, प्राण और पदार्थ, जो सतही मानसकी अपेक्षा बहुत ही नमन्शील, शक्तियुक्त और क्षमतायुक्त होता है। प्रकाश प्रेम, आनन्द और सत्ताका यह सूक्ष्म तत्त्व चैत्यपुरुष है। हमारी मनोमय आत्माके परे हमारी सत्ताका यह केन्द्र स्थित है। यही हमारी आत्मा है। अपनी आत्माको पाना ही सच्चे आत्मिक जीवनको पाना है। आध्यात्मिक साधनामे इस चैत्यपुरुषको जायत कर लेना अनिवार्य है।

अरिवन्दके योग और उनकी साधनाका उद्देश अति-मानसके अवतरणके लिए उपयुक्त और वांछित भूमि तैयार करना है, समग्र मानवताको उसके सभी अंशमे दिन्य स्तरपर रूपान्तरित कर डाल्ना है। इसीलिए वे कहते है कि उनका योग समग्र मानवता या भगवान्के लिए है, न्यक्तिगत सिद्धि या मुक्तिके लिए नही। परिपूर्ण आत्म-समर्पण, सर्वत्र भगवद्दर्शन, द्रष्टा-भाव और अपनेमे भागवत प्रक्रियाको अनुमति देना अरिवन्दके पूर्ण योगके अंग है। उनकी साधनापद्धतिमे भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि सभी मार्गोका श्रेष्ठ समन्वय है।

अरविंद सबैया-दे॰ 'सबैया', ग्यारहवॉ प्रकार। अरसात सबैया-दे॰ 'सबैया', नवॉ प्रकार।

अराजकतावाद-अराजकतावाद अंग्रेजीके 'एनारिकजम'के अर्थमें गढ़ा हुआ शब्द है। इसका अर्थ सामान्यतः सामा-जिक या राजनीतिक अन्यवस्था किया जाता है। पर ऐसा अर्थ वे ही करते हैं, जो अराजकतावादी नही है। अराज-कतावादका प्रधान अर्थ राज्य, समाज और परिवारका उत्मूलन करना है, सभी प्रकारके नियमोंका उल्लंघन करना है। नियम मनुष्यकी स्वतन्त्रताका अपहरण करते है। अराजकतावाद मनुष्यको ही सत् मानता है, समाज, परिवार, राज्य, धर्म और नीतिको वह काल्पनिक शब्दमात्र मानता है। इनके द्वारा निर्धारित नियमोके पालनसे, उसके अनुसार, मनुष्यको 'मनुष्यता'की प्राप्ति नही होती है। इन सब नियमोमें राजनीतिक नियम सबसे दुःखदायी है, राज्य मनुष्यका सबसे भयंकर शत्रु है। अतः राज्यका उच्छेद करना ही मनुष्यके लिए हितकर है। मनुष्यका सुखमय जीवन तभी हो सकता है, जब कि राज्य, समाज और परिवारके प्रतिभास या भ्रम दूर हो जायँ और वह अपनी स्वेच्छासे जीवनयापन करे। मनुष्य निसर्गतः भला है। वह अपने इन भ्रमोंके जालमें पड़कर बुरा हो जाता है।

अराजकतावाद इस तरह पूर्ण व्यक्तिवाद है। यह असमाजवाद है। यह दण्डरहित, राज्यविहीन, वर्गविहीन, धर्मविद्दीन, नीतिविद्दीन तथा समाजविद्दीन नाना मनुष्योंके स्वच्छन्दनागूर्यन जीवन वितानेके आदर्शको प्रस्तुत करता है।

अराजकतावादी विचारकोंमें यूनानके सोफिस्ट तथा वर्तमान समयमे विलियम गॉडविन (१७५६-१८३६ ई०) मैक्स स्टर्नर (१८०६-१८५६ ई०) और क्रोपाटकिन (१८४२-१९२० ई०) के नाम प्रमुख है । हॉब्स और रूसोने प्राकृतिक जीवन बितानेकी शिक्षा दी। उनके कारण वर्तमान समयमे अराजकताबादके विकासमें काफी प्रगति आयी। भारतमे एम० एन० राय प्रायः अराजकतावादी माने जाते है। यहाँ प्राचीनकालमे आदर्शवादी राजनीतिक चिन्तन अराज-कताबादी ही रहा है। महाभारत और रामायणमें रामराज्य की कल्पनाकी गयी है। रामराज्य 'यूटोपिया' है। यह अराजकतावादी समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीयताकी व्यवस्था करता है। इसके अनुसार आदर्श समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीयता वह है, जहां प्रत्येक नागरिक स्वानुशासनसे अपनेको मर्यादित रखता है और उसके ऊपर किसी अन्य व्यक्ति, संस्था या सत्ताका लेशमात्र भी नियन्त्रण नहीं होता। सत्ययुगकी करपना भी अराजकतावादी ही है।

हिन्दी साहित्यमें अगर किसी राजनीतिक मतवादका विशेष प्राबल्य रहा है तो वह अराजकतावाद ही है। गोखामी तुलसीदासने रामराज्यकी कल्पनाको काफी विकासित किया है। साम, दान, दण्ड, भेद और युद्ध, इन पाँच अंगोंसे युक्त कौटिल्य-प्रतिपादित राजनीतिको उन्होंने साम और दान इन दो अंगोंसे युक्त राजनीतिमें बदल दिया । 'दण्ड जतन्हि कर भेद जहूँ, नर्तक नृत्य समाज । जीतह मनहि सुनिअ अस रामचन्द्रके राज'। उनके द्वारा करिपत आदर्श राज्यके राजाका उद्घोष है—'नहिं अनीति नहिं कछ प्रभुतार्र। सुनहु करहु जो तुम्हिह सोहाई'। यहाँ विशुद्ध अराजकतावाद है। गान्धी और विनोबाने इस कल्पनाको एक कदम और आगे बढाया और आधुनिक प्रणालीसे चिन्तन करके निष्कर्ष निकाला कि राज्यको दण्ड-निरपेक्ष होना चाहिए। राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य प्रयोगवादी लेखक भी अराजकतावादी मानवको ही आदर्श मानव मानते हैं। समाजवाद और साम्यवादसे प्रभावित लेखक भी अराजकतावादी है। हिन्दीके अधिकांश आधुनिक लेखक प्रगतिवादी हैं। वे नियमों, अनुशासन, दण्ड तथा रूढियोंसे जर्जरित समाजको बदलना चाहते हैं और मानवको खच्छन्द रखना चाहते हैं। किन्तु वे खच्छन्दता-वादके इतने अधिक हिमायती हैं कि उनका स्वच्छन्दतावाद विशुद्ध अराजकतावाद न होकर विकृत अराजकतावाद हो जाता है। उसमें कुछ सदाचार रह ही नहीं जाता है और वस्तुतः अनाचार, दुराचार तथा अत्याचार ही व्यक्तिका आचार रह जाता है।

गोस्वामी नुलसीदाससे लेकर गान्धी और विनोबा तकको हम विद्युद्ध अराजकताबादी कह सकते हैं। ये लोग मानव मात्रकी स्वाभाविक सत्त्व-शक्ति या श्रुम भावनाको प्रशिक्षित विकसित तथा संगठित करके अराजकताबादको लाना चाहते हैं। फिर आधुनिक प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियोको हम विकृत अराजकतावादी कह सकते है। ये लोग मानवकी राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियोंको उभारकर नियमबद्ध

समाजको बदलना चाहते हैं। पहले प्रकारके लोग रचनात्मक कार्यकर्त्ता और राजनीतिक विचारक हैं और दूसरे प्रकारके ध्वंमात्मक लेखक तथा भावक प्रेरक है।

अराजकतावादियोंका यह मिळान्त आज सर्वथा सही समजा जाना है कि मनुष्यका आदर्श जीवन वह हैं, जिसपर राज्यका शागन जिल्लुळ कम हो। साम्यवादी तथा गान्धी-वादी दोनो ही ऐमें आदर्शकी सम्भावनापर विश्वाम करते है। राजनीतिमें इस सिद्धान्तका उपयोग यह है कि राज्यका कर्तव्य नागरिकोपर तनिक भी बन्धन न टालना है। यदि राज्य इस आदर्शको सदैव ध्यानमें रखे तो उससे मदैव लाभ हो सकता है।

'पूर्ण समाजमें नियम अनावश्यक है', इस सही सिद्धान्तसे अराजकतावादी यह गलन निष्कर्ष निकालना है कि 'पूर्ण-समाजको प्राप्त करनेके लिए नियमोंका उन्मूलन आवश्यक है'। समाजको कायम रखनेके लिए कुछ-न-कुछ नियमीका रहना आवश्यक है, भले ही उनका पालन नामारि देंगे. सचरित्रके कारण अनावस्यककर दिया गया हो। अराज-कतावादी मनुष्यके स्वभावको समझनेमं दो भूलें करता है। पहली यह कि वह मनुष्यको भला ही मानता है, बुरा नहीं। मनुष्यकी प्रकृति भली और पुरी दोनों ही है। दूसरी वान यह कि वह मनुष्यको नामाजिक नहीं मानता। यदि परिवार या समाज न होता तो मनुष्यकी चेतनाका उत्पत्ति न होती। इस कारण मनुष्यको सामाजिक मानना उमके स्वभावको समझना है। मनुष्यके स्वभावको न समझनेक कारण अराजकतावाद घोर स्वार्थवाद और यहच्छावाद में परिणत हो जाना है। अर्चना गीत-दे० 'स्तुतिगीत', स्तोत्र ।

अर्थ-दोष-अर्थ-दोषके वास्तविक अभिप्रायको हृदयंगम करनेके लिए यह आवश्यक है कि दोपोकी परिभापा और उनके भेदोंको भली भांति समझ लिया जाय। इन विषयोंका विस्तृत विशेचन अन्यत्र 'काव्य-दोष', 'अपकर्ष' और 'शब्द-दोष'के अन्तर्गत देखा जा सकता है। भरतने दोषोंको गुणोंका विपर्यय मानकर उनकी स्थिति भावात्मक मानी है। अग्निपुराणमें इन्हें उद्देगजनक माना है। भामहने दोषोंको सामान्य, वाणी-दोप आदिमे विभाजित करके उनके गुणत्व-साधनका विवेचन किया है। दण्टीने भी भामहकी परिपाटी-को अपनाया है। वामनने मर्वप्रथम दोषोंके शब्दगत और अर्थगत भेद किये हैं। दोषोंकी आचार्यन्य-परम्पराकी सर्थ-प्रथम इन्होंने अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। और काव्य-सौन्दर्यको हानि करनेवाले तत्त्वोंको दोष मान-कर शब्द और अर्थसम्बन्धी दोष माना है। काल्यमें प्रयुक्त पदोंमें जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, वे शब्द-दोप हैं। जिन दोषोंका सम्बन्ध अर्थसे होता है, वे अर्थ-दोष होते हैं।

शब्द और अर्थके ये दोप अप्रत्यक्ष रूपसे रस अथवा कान्यके मुख्य प्रतिपादित विषयको हानि पहुँचाते हैं। इसके अनन्तर उत्तर-ध्वनिकालमें दोषोंका और विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। मम्मटने सभी दोषों, विशेष-कर अर्थ दोषोंका सक्ष्म विश्लेषण किया है। साहि-त्यद्र्पणकारने 'कान्यप्रकाश'में विणित अर्थ-दोषकी विस्तृत न्याख्या की है। इन आचार्योंका मत है कि जिससे-म्ख्य

अर्थका अपकर्प हो, वह दोप है। मूल रूपमें रस और गीण रूपमें शब्द और अर्थके अपकर्ष द्वारा काव्यका अपकार करनेवाले तत्त्व दोप कहलाते हैं। इसके अनन्तर अर्थ-दोपोंका विवेचन किया गया है। मम्मटने अर्थ-दोपकी संख्या २३ मानी है। विश्वनाथने भी इसे स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु'में 'काव्य प्रकाश'के आधारपर अर्थ-दोषका विवेचन है। कुलपित मिश्रकृत 'रसरहस्य', स्रति मिश्रकृत 'काव्यिस-द्धान्त', कुमारमणि भट्टकृत 'रसिकरसाल'में 'काव्यप्रकाश'- के आधारपर अर्थ-दोषका वर्णन मिलता है। श्रीपितिकें 'काव्य-सरोज' तथा 'कविकल्पद्धुम'में विस्तृत तथा स्वतन्त्र रीतिसे अर्थ-दोषका वर्णन किया गया है। सोमनाथकृत 'रसपीयूष', मिखारीदासकृत 'काव्यनिर्णय', जनराजकृत 'क्सवितारसिवनोद', जगतिसहकृत 'साहित्यसुधानिध', लिखारादासकृत 'त्राव्यक्रात्त दें। इन आव्यायोंने मम्मट द्वारा वर्णित विषयका ही उल्लेख किया है। इन आव्यायोंने मम्मट द्वारा वर्णित विषयका ही उल्लेख किया है (दें 'काव्य-दोष')।

इस प्रकार मम्मट द्वारा निरूपित अर्थ-दोपकी ही हिन्दीमे प्रधानता रही है। इनके अनुसार शब्द-दोपके निराकरणके उपरान्त भी जहाँ दोप बना रहता है, वहाँपर अर्थ-दोष होता है। प्रमुख अर्थ-दोष ये है—१. अपुष्ट, २. कष्टार्थ, ३. व्याहत, ४. पुनरुक्त, ५. दुष्क्रम, ६. याम्य, ७. संदिग्ध, ८. निहेंतु, ९. प्रसिद्धि-विरुद्ध, १०. विद्या-विरुद्ध, ११. अनवीकृत, १२. साकांक्ष, १३. अपद्युक्त, १४. सहचरभित्र, १५. प्रकाशित-विरुद्ध, १६. निर्मुक्त पुनरुक्त, १७. अद्दर्शिल, १८. नियमपरिवृत्त, १९. अनियमपरिवृत्त, २०. विशेष-परिवृत्त, २१. सामान्यपरिवृत्त, २२. विधि अयुक्त तथा २३. अनुवाद अयुक्त।

 अपुष्ट—कुछ आचार्य इसे अपुष्टार्थ नामसे पुकारते है। मम्मटकी दृष्टिमें अपुष्टरूप अर्थ-दोषमे रुद्रट द्वारा कथित 'असम्बद्ध' तथा 'तद्वान' दोनो अर्थ-दोष अन्तर्भृत हो जाते है। वस्तुतः रुद्रट निर्दिष्ट इन दोनो दोषोके विवेकसे ही मम्मटने 'अपुष्टत्व' रूप एक अर्थ-दोषका नामकरण तथा लक्षण-निरूपण किया है, जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है (का० प्र०, ७: ५७ वृ०) । भिखारीदासका मत है कि जहाँ अर्थका बोध करानेके लिए प्रौढ उक्तिसे काम न लिया गया हो। वहाँ अपुष्टार्थ दोष होता है (का० नि०, २३)। साहित्य-दर्पणकारका कथन है कि यह टोप वहाँ होता है, जहां कोई उक्ति मुख्य अर्थकी उपकारी न हो (सा० द०, ७: ११ वृ०), यथा-- 'उयो अति बड़े गगनमें, उज्ज्वल चारु मयंक' (भिखारीदास: का०नि०, २३)। यहाँ आकाश 'अति बडा' और 'मयंक उज्ज्वल' है, यह कहना व्यर्थ है। गगनमे मयंक उदय हुआ है, इतना ही पुष्टार्थ है, शेष अपुष्ट । अन्वय करते समय अधिक पद-दोषकी और अर्थ करते समय अपृष्ट दोषकी व्यर्थता ज्ञान हो जाती है।

२. कष्टार्थ: कष्टत्व — श्रीपतिने इस दोष को दुष्टवाक्य कहा है। मम्मटके अनुसार यह दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रतीक्ष होनेवाला अर्थ उस अर्थसे भिन्न होता है, जो प्रयुक्त अक्षरोंसे निकलता हो। जयदेवका कथन है कि जहाँ अर्थ राब्दों मे रहता हुआ भी न रहते हुएके समान हो और इसी कारण राष्ट्र अर्थकी प्रतीति कराने मे असमर्थ हो, वहाँ कष्टार्थ दोष होता है; यथा—'तीपर वारों चार मृग, चार विहॅग फल चार' (का॰ नि॰, २३)। यहाँपर वास्तविक अर्थ यह है कि 'नयनपर मृग, घूँघटपर हय, गतिपर गज, किटिपर सिंह ये चार मृग, बैनपर कोकिल, ग्रीवापर कपोत, केशपर मोर, नासिकापर शुक्र ये चार विहॅग, दन्तपर दाडिम, कुचपर श्रीफल, अधरपर विम्बा फल, कपोलपर मध्क ये चार फल है। इस प्रकार कष्टते अर्थ प्रकट होना कष्टार्थ दोष है। क्षिष्टत्व दोषमें शब्दका परिवर्तन कर देनेसे अर्थकी प्रतीतिमें क्लिप्टता नहीं रहती, पर 'कष्टार्थ'में पर्यायवाची शब्द रखनेपर भी यह दोष दूर नहीं होता।

३. च्याहत — मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव तथा श्रीपतिने व्याहत (व्याहतत्व)का वर्णन किया है। भिखारीदासके अनुसार सावधानी न रखनेके कारण जहाँ एक ही उक्तिसे सत्य तथा असत्य दोनो ही वार्ते एक साथ कही जायॅ, वहाँ व्याहत दोष होता है (का० नि०, २३)। चन्द्रालोककारका मत है कि जहाँ पूर्व तथा उत्तरकथनमे विरोध हो, वहाँ व्याहत दोप होता है। भाव यह है कि किसी वस्तुकी महत्ता दिखाकर फिर उसकी होनता स्चित करना अथवा पहले होनता दिखलकर फिर महत्त्वका स्चित किया जाना व्याहत दोष होता है; यथा— 'चन्द्रमुखीके बदन सम, हिमकर कह्यों न जाह' (भिखारीदास: का० नि०, २३)। यहाँपर 'चन्द्रमुखी' कहा है, पर चन्द्रसम वदन न कहना दो विरोधी वातें है। अतः यहाँपर व्याहत दोप है।

४. पुनरुक्त-विभिन्न आचार्योंने इसके नाम पुनरुक्ति, पुनरुक्तत्व आदि दिये है। भरत, भामह, वामन, केशव, श्रीपति आदिने इस दोषको अन्य नामोसे भी पुकारा है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत भी कथित पदके नामसे उल्लिखित है। उक्त आचार्यों द्वारा दी दुई परिभाषाएँ शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकारसे पुनरुक्तिकी ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है, अतएव (दे० 'कथित पद-शब्द-दोष') एक शब्दका वाक्य द्वारा अर्थ-विशेषका बीध हो जानेपर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वान्य द्वारा उसी अर्थका प्रतिपादन करना पुनरुक्त दोष कहलाता है; यथा— 'मृद्वानी मीठी लगे, बात कविनकी उक्ति' (का॰ नि॰, २३) । यहाँपर 'बानी', 'बात' और 'उक्ति' एक ही अर्थके द्योतक है। अतः पुनरुक्ति दोष है। 'अपुष्ट' दोषमें अर्थकी पुनरावृत्ति नहीं होती है और इस दोषमे होती है, यही दोनोंमे अन्तर है। जहाँ उत्कर्ष सुचित होता है, वहाँपर यह दोष नहीं माना जाता।

५. दुष्कम: दुष्कमत्व—भामह, दण्डी तथा वामनके अपक्रम दोषका एक अंश मन्मटके दुष्कम दोपके अन्तर्गत आ जाता है। श्रीपितने भी 'दुष्कम' दोषका उल्लेख किया है। मन्मटके अनुसार दुष्कमत्वका अर्थ है अनुचित अर्थक्रम (का० प्र०, ७: ५७ वृ०)। अभिप्राय यह है कि जहाँ क्रमके विचारसे क्रम न रखा जाय अथवा लोक या शास्त्रके विरुद्ध कम हो, वहाँपर दुष्कमत्व दोष होता है। यथा—'वर बाजीके वारनै, देहै रीझि दसाल' (का० नि०, २३)।

यहाँपर 'बाजा' (बोड़ा)के पश्चात 'बारने' (हाथी)का उल्लेख होना अनुचित है। अतः दुष्क्रम दोप है। यह इस प्रकार होना चाहिये—'बारन ही के बाजि ही देहे।' अथवा— 'मारुत नन्दन मारुतको, मनको खगराजको वेग लजायां' (तुलसी) इसमें सबसे अथिक वेगवान 'मन'को कहनेक उपरान्त खगराजके वेगका उल्लेख करना दुष्क्रम दोप है।

६. ग्राम्य : ग्राम्यत्व - ग्राम्यत्व दोष शब्दगत और अर्थगत, दोनों प्रकारका होता है। अतः आचा ोंने दोनें! प्रकारके आम्य-दोपका वर्णन किया है। कुछ लेखक सन्द और अर्थके ग्राम्य-दोषका विभाजन उचित रूपसे नहीं कर पाये है । उनके सम्बन्धमे यह बतलाना कठिन है कि उन्होंने शब्द-ग्राम्य-दोपका विशेचन किया है अपना अर्थ-ग्राम्य-दोषका। इसलिए इसका विवेचन करते समय विभिन्न आ-चार्योंका उल्लेख ग्राम्थ-दोषके शब्द और अर्थगत भेदोंके साथ कर दिया गया है। वामन, मम्मट, विश्वनाथ, सूर्रात मिश्र और श्रीपति आदिने शब्द-ग्राम्य-दोप और अर्थ-ग्राम्य-दोपका अलग-अलग भेद स्पष्ट कर दिया है। भरतके भिन्नार्थ-दोषका एक अंश इसके अन्तर्गत आ जाता है (नाट्यशास्त्र, १७:९०)। केशवका विधर दोप इसी दोपमें सम्मिलित है (कविध्या, ३:९)। आम्य-दोपका अर्थ है अविदग्धोक्तिरूप अर्थका दोष (का० प्र०, ७: ५७ वृ०)। अर्थात यह दोष वहांपर होता है जहांपर चतुर व्यक्तियों-की तरह बात न कही जाय, वरन् गॅवारू भाषाका प्रयोग किया जाय। ऐसे वर्णन सहृदय व्यक्तिके लिए उद्वेगजनक होते हैं। यथा- 'अली पास पौढी भले, मोहि किन पौढन देति' (का० नि०, २३)। यहाँ नायिकासे यह कहना कि तेरे पास तेरी सखी सो रही है, तू मुझे क्यों नहीं लेटने देती, गॅवारपनका द्योतक है। अतः ग्राम्य-दोप हैं।

७. संदिग्धः संदिग्धत्व—भामह और दण्डीने इस दोषको 'ससंशय' नाम दिया है। यह दोष शब्द-दोषके अन्तर्गत ही आया है। स्र्ति मिश्र, श्रीपति तथा भिखारी-दासने इसका विवेचन किया है। संदिग्धका अर्थ है प्रकरण आदिके अभावमें दो अर्थोंमें सन्देह उत्पन्न होना (का॰ प्र॰, ७: ५७ हु०)। अर्थोत् जहाँपर अनेक अर्थोंमेसे एक भी निश्चयपूर्वक न कहा जा सके, वहाँपर यह दोप होता है; यथा—'केहि कारन कामिनि लिख्यो, शिवमूरित निज गेह' (का॰ नि॰, २३)। यहाँपर यह कहना कठिन है कि कामिनीने कामके डरसे शिवमूर्ति लिखी अथवा अन्य किसी कारणसे। अतः इसमें संदिग्ध दोप है।

८. निहेंतु: निहेंतुत्व—भामहने इस दोषका नाम 'प्रतिज्ञा-हेतु-दशन्त-हीन' रखा है। मम्मटका कथन है कि बिना हेतु के किसी विवक्षित अर्थके उपादानको निहेंतु दोष कहते हैं। (का॰ प्र॰, ७: ५७ वृ०), अर्थात् जहाँ बिना हेतुके कोई बात कही जाय, वहाँपर निहेंतु-दोष होता है; यथा—'सुमन झ-यो मानों अली, मदन दियो सर डारि' (का॰ नि॰, २३)। यहाँपर यह तो स्पष्ट है कि कामदेवने बाण डाल दिये, पर उसके ऐसा करनेका क्या कारण है, इसका पता नहीं चलता। अतएव यहाँपर निहेंतु-दोष है। लोकप्रसिद्ध अर्थमें निहेंतु-दोष नहीं होता है।

९ प्रसिद्धिविरुद्धः प्रसिद्धिविरुद्धत्व-भरतने इसे

न्यायाद्येन कहा है (नाटयशास्त्र, १७: ९३) । वामनने प्रसिद्धि-विरुद्धवो 'अलोक' नाम विया है। भामह और दण्यांचे, देश-काल-फला-लोफ-स्याय-विरोधीका एक अंदा दस दे।यमे समस्तित होता है और शेष विद्या-विरुद्धवे अन्तर्गत । केशवके 'देशविरोध', 'कालविरोध' टोप इस दोपके अन्तर्गत आते हैं, (कविधिया, ३: ५३-५५) सिन्ताहर है इसे 'प्रसिद्धिहतत्व'की संज्ञा दी हैं (का० नि०, २३)। मग्मटका कहना है कि लोकप्रसिद्धि अथवा कविप्रसिद्धि अर्थसे विरुद्ध अर्थके उपनिबन्धन दोषको कहते हैं (कार प्ररु, ७: ५७ व०)। अर्थान जहांपर लोकमें अथवा कवियों में जो वात प्रसिद्ध हो, उसके विपरीत कथन किया जाय, वहाँपर यह दोष होता है: यया- 'कंकन जो याकों कहे, हैं उनकी अति भूल । मदन दियो निज चक्र यह, मृग लोचनि कर मूल । यहाँपर हाथके भूषण कंकणको कामदेवका शस्त्र कहा गया है। कामदेवका शस्त्र धनुष ही लोकमें प्रसिद्ध है, न कि चक्र। चक्रका सम्बन्ध तो भगवान विष्णुके साथ प्रसिद्ध है । अनः यहांपर प्रसिद्ध विरुद्धदोप है। 'प्रसिद्धिहतत्व'की आशंका वहां नहीं की जा सकती, जहां ऐसे अर्थका निवन्य किया गया हो, जो लोकविरुद्ध होनेपर भी कविप्रसिद्ध हो। मम्मटने यहांपर 'कविसमय'की और संकेत किया है, जिसका वर्णन अन्य आलंकारिक विशद रापसे कर चके है।

१० विद्याविरुद्ध : विद्याविरुद्ध व न वामनने विद्या-विरुद्धका उल्लेख किया है। भामह और दण्डीने इसे देश काल-कला-लोक-न्यार्थावरोधी माना है। इसका एक अंश वामनके अलोक दोषमे आ जाता है। भरतने इने 'न्यायाद-पेत' कहा है (नाट्यशास्त्र, १७: ९३)। केशवये 'निगम-विरोध' तथा 'न्याय-आगम-विरोध'का समाहार विद्याविरुद्धे हो जाता है (कविप्रिया, ३:५६,५७)। मम्मयम्भत विद्याविरुद्ध दोषमें 'प्रत्यक्ष आदि विरुद्धाव' रूप अन्य अनेक अर्थदोप (देश-विरुद्ध, काल-विरुद्ध, लोश-विरुद्ध, प्रतिज्ञा-विरुद्ध) समन्त्रित है, जिनका निर्देश भोजराजने अपने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' (प्रथम परिच्छेद)में किया है। इस दोपने अभिप्राय है कि जहां शास्त्रविरुद्ध वातोंका वर्णन किया जाता है, वहाँपर 'विद्याचिरुद्ध' दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०), यथा—'रद-छद सद नख-पद लगे, कहे देत सब बात'। यहाँपर रद छदोपर, अधरोपर नख-धातींका होना काम-शास्त्रके विरुद्ध है। इसी प्रकार जुरांपर धर्म, नीति आदि शास्त्रविरुद्ध वर्णन होता है, वहाँ भी यह दोप होता है। भिखारीदासने एक ही पथमें प्रसिद्धि-विरुद्ध और विद्याविरुद्धका उदाहरण दिया है (का० नि०, २३)।

99. अनवीकृत : अनवीकृतःव — मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीके भिखारीदास आदिने स्वीकार किया है — अर्थारा पिष्टपेषण अर्थात् अनेक अर्थीका एक ही प्रकारसे वर्णन किया जाता है और उनमें कोई विलक्षणता नहीं होतो, वह अनवीकृत दोष होता है; यथा—'कौन अचम्मो जो ए जारै तो कौन अचम्मो गरू गिर माई' (का० नि०, इसमें 'कौन अचम्मो'के बादके वाक्य वास्तविक अर्थोंके । है, परन्तु इन सबके कहनेके पश्चात् भी कोई नयी बार जात होती। अतः यहां 'अनवीकृत' दोष है। विश्व

रहनेपर अनवीकृत दोष दोध नहीं रह जाता है।

१२. साकांक्ष— मम्मर, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारी-दास आदिने इसका विश्वचन किया है। आचार्योंने इसको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा है—साकांक्ष्य और साकांक्ष्तव। इसका अर्थ है ऐसे अर्थके अभिधानका होना, जिसमें किसी अनुपात अर्थकी आकांक्षा बनी रहे (का० प्र०, ७:५७ वृ०); यथा—'परम विरागी चित्त निज, पुनि देवनको काम। जननी रुचि पुनि पितु बचन, क्यों तिज है बन राम' (का० नि०, २३)। यहाँपर ऐसे शब्दोंकी आकांक्षा है, जिनसे वनगमनका अर्थ प्रकट हो। अतएव 'क्यों तिज्ञहै बन राम'के स्थानपर 'क्यों न जायं बन राम' होना चाहिये। भिखारीदासने इस दोषको साकांक्ष नामसे पुकारा है।

१३. अपदयुक्त मम्मरके अनुसार अपदयुक्तत्वका-अभिप्राय है प्रकृत अर्थके विरुद्ध अर्थ रखनेवाले पदसे युक्त अर्थका वर्णन करना (का॰ प्र॰, ७:५७ व॰), अर्थात जहाँपर अनुचित या अनावस्यक ऐसे पद या वाक्यका प्रयोग हो. जिससे कही हुई बातके मण्डनके बदले खण्डन हो जाय, वहाँपर अपदयुक्त दोष होता है; यथा—'आज्ञानुकारि सरनाथ, पुरारि भक्त, लंकापुरी, विमल वंश, अपार शक्ति। है धन्य, ये यदि न रावणता कही हो, एकत्र सर्वगुण किन्तु कही नहीं हो' (मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदा०: छायाकार कन्हैयालाल पोहार)। यहाँ रावणमे शवणत्वरूप दोष दिख-लाना ही प्राकरणिक अर्थ है। चौथे पादके अर्थान्तरन्यास-के कारण उस दोषमें लघुता आ गयी है। अर्थात् रावणकी अत्यन्त करता, यह कह देनेसे कि सब गुण एक स्थानपर नहीं हो सकते, एक साधारण बात हो गयी है। अतएव चौथे पादमें जो बात कही गयी है, उसे नहीं कहना चाहिये था।

98. सहचर-भिन्न इस दोषका उल्लेख मम्मट, विश्-नाथ तथा भिखारीदासने किया है। सहचर-भिन्नत्वसे अभिप्राय ऐसे अर्थके अभिधानसे है, जो अन्य समभिन्याहत सजातीयभूत अर्थोंमे विजातीय रूपसे प्रतीत हो (का० प्र०, ७:७५ वृ०) अर्थात् जहाँ विवेकसे संगतिकी उपयुक्तताका ध्यान रखा गया हो; यथा—'निसि सिस सों जल कमल सों, मूढ़ व्यसन सों मित्त। गज मद सो नृप तेज सो, शोभा पावत (नत्त' (का० नि०, २३)। यहाँपर निशि-की शशिसे तथा जलकी कमलसे मैत्री जिस उच मावका प्रकाशन करती है, वह मूढ तथा व्यसनमें उपलब्ध नहीं। अतः इसमें सहचरभिन्न दोप है।

१५. प्रकाशित-विरुद्ध — इस दोषका वर्णन 'कान्य-प्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'चन्द्रालोक' तथा 'कान्यनिर्णय'में विस्तारपूर्वक मिलता है। प्रकाशित विरुद्धत्वमे ऐसे अर्थका अभिधान किया जाता है, जो एक न्यंग्यार्थका प्रत्यायक हो रहा हो, उस स्थलपर यह दोष होता है (का॰ प्र॰, ७: ५७ वृ०)। अर्थात जहाँ जो लक्षण कहना अपेक्षित हो, पर उससे विरुद्ध अर्थकी प्रतीति हो, वहाँपर प्रकाशित-विरुद्ध दोष होता है; यथा—'हॅसनि तकनि बोलनि चलनि सकल सकुचमय जासु। रोष न केहूँ कै सकै, सुकवि कहै सुकिया सु' (का॰ नि॰, २३)। यहाँपर कवि स्वकीया नायिकांका वर्णन करना चाहता है पर इस अवतरणसे परकीयाका भी अर्थ लगता है। अतः प्रकाशित-विरुद्ध दोष है। 'विरुद्ध मितकृतत्व'में अर्थकी प्रतीति शब्दशक्तिमूलक रहा करती है और 'प्रकाशित-विरुद्ध'में विरुद्ध अर्थकी प्रतीति अर्थ सामर्थ्य-मूलक हुआ करती है। अर्थात् 'विरुद्ध मितकृत' दोष शब्दके आश्रित है—वहाँ शब्दपरिवर्तनसे दोष नहीं रहता है। 'प्रकाशित-विरुद्ध'मे शब्दपरिवर्तनसे दोष नहीं रहता है। 'प्रकाशित-विरुद्ध'मे शब्दपरिवर्तन कर देनेपर भी दोष रहता है। इन दोनोमें यही भेद है।

१६. निर्मुं क-पुनरुक — मम्मटने इस दोषको 'त्यक्तपुनः-स्वीकृतत्व' नाम दिया है, पर विश्वनाथने यही नाम माना है। जहाँ निराकांक्ष रूपसे समाप्त भी वाक्यांशका पुनः किसी अन्य कारकादि प्रयोगसे उपादान किया जाता है। वहाँ यह दोप होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०)। अर्थात् यह दोष वहाँपर होता है, जहाँ छोडी हुई बात फिरसे उठायी जाती है; यथा—'मो सुधि-बुधि हरि हरि लई, काम करौ डर हेत' (का० नि०, २३)। जब सुधि-बुधि हर जाती है तब काम किस प्रकार कर सकती है ? अतः यहाँपर त्यक्तपुनः-स्वीकृत दोष है।

• १७. अइलील—मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमें भिखारीदास आदिने इसे अर्थ-दोष माना है। अश्लीलत्वका अर्थ है अभिहित अर्थमे बीडादि समर्पण होना। अर्थात् जहाँ किसी लज्जाजनक अर्थका बोध होता है, वहाँपर यह दोष होता है (का० प्र०, ७:५७ वृ०); यथा—'जन्नत है पर छिद्रकों, क्यो न जाइ मुरझाइ' (का० नि०, २३)। इसका अर्थ है कि जो दूसरेका छिद्र (दोष) देखनेपर ही उतारू है, ऐसा खल क्यों न मुरझा जायगा। पर इसके अतिरिक्त ऐसा भी अर्थ निकलता है, जो अश्लील और लज्जाजनक है, अतः यहाँपर अश्लील अर्थ-दोप है।

—टी० सि० तो०

१८ नियम-परिवृत्त — मम्मटने सिनयम तथा विश्वनाथने नियम कहा है। मम्मटके अनुसार नियमित रूपसे वर्णन योग्य अर्थका अनियमित रूपसे उपनिबन्ध अर्थात् वर्णन किया जाना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०); यथा—'जाकी सुभदाइक रुचिर, करते मिन गिरि जाह। वयों पायें आभास मिनि, होइ तासु चित चाइ' (का० त०, २३)। यहाँ मणिका आभास छाया होती है, उसके लिए 'क्या लिह छाया मात्र मिन' कहना नियमानुसार होता। अतः यह दोष है। भिखारीदासने 'नियम अनियम परिवृत्त'को एक ही दोष मान लिया है।

9९. अनियम-परिवृत्त — मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार अनियमित रूपसे वर्णनीय अर्थका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०)। मिखारीदासने इसे नियम-परिवृत्तके साथ मिला दिया है। मम्मटका उदाहरण— 'जब सःस्वती (नदी) आपके मुख-कमलमे निवास कर रही है, जब आपका अधर शोण (लाल तथा नदी) ही हैं आपको जल पीनेकी अभिलाषा क्यों हों। इसमें 'आपका अधर शोण हैं' ऐसा कहनेमें जलपानकी अभिलाषाके अनौचित्यकी कोई सुन्दर प्रतीति नहीं होती, वरन् अनौचित्य वास्तविक हो उठता है, अतः यह दोष है।

२०. विशेष-परिवृत्त-मर्माट तथा विश्वनाथके अनुसार

विशेष रूपसे किसी अर्थके अभिधानके बदले सामान्य रूपसे उसका अभिधान होना, यह दोष है (का० प्र०, ५६ वृ०)। अर्थात् जहां विशेषके स्थानपर सामान्य धर्मका वर्णन किया जाता है। मिखारीदासने विशेष तथा सामान्य परिवृत्तको विपरीत अर्थमें ग्रहण किया है। उनके अनुमार यह परिभाषा 'सामान्य परिवृत्त' की है—'जहां कहत सामान्य ही, थल विसेसको देख' (का० नि०, २३)। इसी क्रमसे उनके उदाहरण भी हैं, जो मम्मटके उदरणोके आधारपर दिये गये है—'रैन स्याम रॅग पृिर सिंस, चृिर कमल कार दृिर। जहां तहां हों पिय लखों, ए अम दाहक भूिर। रात स्याम हैं और चन्द्रमा श्वेत है, फिर इन्हें अम उत्पन्न करनेवाला कहना दोष है। मम्मटका उदाहरण अधिक स्पष्ट है—'श्यामां श्यामिलमानम्' कथनमे 'श्याम' शब्दका प्रयोग सामान्य रात्रिके लिए हुआ है, जब कि यहां चोंदनी रातका विशेष अर्थ ग्रहण कराना अभिष्रेत है, अतः दोष स्पष्ट है।

२१. सामान्य-परिवृत्त मम्मट तथा विद्यवनाथने इसको 'अविद्येष' कहा है, उनके अनुसार किसी अर्थकी सामान्यता रूपसे अभिधान (वर्णन)के बदले विद्येषना रूपमें उसका वर्णन करना, यह दोष है (का० प्र०, ७:५६ वृ०)। भिखारीदासने यह परिमापा 'विद्येष-परिवृत्त'की दी है—'जहाँ ठौर सामान्य कों, कहैं विद्येष अयॉन' (का० नि०, २३)। और उदाहरण भी इसोके अन्तर्गत दिया गया है, जो मम्मटके आधारपर है—'कहा सिन्धु लोपत मनिन, बीचिन कीच बहाइ। सक्यों कौस्तुम जोरि तू, हिर सों हाथ बुड़ाइ'। यहाँ सामान्य रत्नोंके अपमानके अनौचित्यके अर्थ को प्रकट करनेके लिए कौस्तुम (र लविद्येष)का कथन अनुचित है। उसका सामान्य रूपमें कहनेसे ही अभिप्रेत अर्थ व्यंजित हो सकता है। इन्हीं रह्नोंमें एकने इतना उपकार किया तो सभी रह्न आदरके पात्र है।

२२. विधि-अयुक्त- मम्मट तथा विश्वनाथके अयुक्तके दो रूप हैं-विधि तथा अनुवाद । भिखारीदासने इन्हें अजुक्तपद'के अन्तर्गत स्वीकार किया है, पर उनका भाव बहुत स्पष्ट नहीं है। मम्मटके अनुसार अविधेय अर्थका ही विधेय अर्थके रूपमें क्रमहीन ढंगसे अभिधान (कथन) करना यह दोष है। मम्मटका उदाहरण- आज बाहुबलके अभिमानियोंकी रणचर्चाका कैसे अन्त करता हूँ, देख लो। आजसे तुम ऐसी नींद ले सकोगे कि बन्दी जनोंके स्तृत-पाठसे ही उठ पाओगें यहाँ विधेय अर्थ है 'निःशंक नींदसे चारणों द्वारा जगाये जाओगे' पर उसे अविधेय रूपसे प्रति-पादित किया गया है—'चारणों द्वारा जगाये गये सोते रहोगे। इससे अभिप्रेत अर्थकी व्यंजना सम्भव नहीं, अतः विधि-अयुक्त-दोष है। भिखारीदासका उदाहरण स्पष्ट नहीं है—'पौन अहारी ब्याल है, ब्यालै खात मयूर। ब्याध जू खात मयूर कों, कौंन राष्ट्र विन कूर'। भिखारीदासका इस उदाहरणमें सर्पको निरा पवन-अहार कहना यह दोष माना है।

२३. अनुवाद-अयुक्त—मम्मट तथा विश्वनाथके अनु-सार विधेयके प्रतिकृष्ठ अनुवाद्य (उद्देश्य) का कथन, यह दोष है (का॰ प्र॰, ७:५७ वृ॰)। भिखारीदासने मम्मटके आधारपर जो उदाहरण दिया है, वह स्पष्ट नही है और न

उनकी व्याख्या ही । उसकी इस प्रकार रखा जा सकता है-'रे केशवकर आभरन, मोद करन श्रीधाम । कमल वियोगी जिड हरन, कहा प्रिया अभिराम' (का० नि०, २३) ! इसमें कमलसे अपनी प्रियाक सम्बन्धमें प्रार्थना करनेवालेका उमें 'जिउहरन' वहना विषेय रूप अभिप्रेन अर्थके लिए उदेश्य अर्थ अनुकृत नहीं है, अनः यह दोष है। — सं० अर्थ-प्रकृति - रूपकके समग्र इतिवृत्तारे पांच स्थितियों में विभाजित किया गया है-बीज, बिन्ड, पताका, प्रकरी और कार्य । ये ही अर्थ-प्रकृतियों है । धनिकने अर्थ-प्रकृतियोंकी स्पष्ट करते हुए 'प्रयोजनसिद्धि हेतवः' लिखा है। धनिकका अनुकरण करते हुए विश्वनाथने भी अर्थप्रकृतियोंका स्पष्टी-करण 'प्रयोजनसिद्धि हेनवः' लिखकर किया है। कुछ लोगोने इस परिभाषाको युक्तियुक्त नहीं माना है। उनका कहना है कि कार्य तो अपने-आपमें प्रयोजन है, फिर इसको 'प्रयोजन-सिद्धिका हेतु' कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? किसी अवान्तर कार्यको प्रयोजन मानना, जो मुख्य कार्यका सिद्धि हेतु है, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। फिर तो अनेक अवान्तर कार्योंको प्रयोजन मानना पड़ेगा। वास्तवमें कार्य ही प्रयोजन है। लेकिन यह स्थूल कार्य स्वयं किसी सूक्ष्म कार्यको इंगित करता है। इसीलिए रंगमंचपर घटित होने-वाले कार्यमें किसी और प्रयोजनकी सिद्धिका हेतु निहित रहता है। आजकल नाटकोंका वास्तविक प्रयोजन रंगमंचपर घटित होनेवाला कार्य नहीं है, बल्कि उससे जो लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वह उसका मुख्य उद्देश्य या प्रयोजन होता है। प्राचीनकालके नाटकोंका मुख्य प्रयोजन यदि रस-प्रतीति मान लिया जाय हो। धनिककी परिभाषापर उठायी गयी आपत्तिका शमन हो जाता है। अर्थलय-अर्थलयका निरूपण प्राचीन भारतीय काव्यशाखर्मे नहीं मिलता। हिन्दीमें नयी कविताके नामसे अभिहित होनेवाली आधुनिक काव्यधाराके अन्तर्गत अनेक वाह्यतः गद्याभास कविताओंका आन्तरिक आधार खोजनेपर अर्थलयका स्पष्ट प्रमाण मिलता है, जिससे इस तत्त्वकी ओर विशेष ध्यान गया है। शब्दार्थमयी कविताका लयतस्व (दे०)से जन्मजात सम्बन्ध है, जो मूलतः इतना धनीभृत एवं न्यापक है कि लयको कविताका एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके सम्पूर्ण स्वरूपकी व्याख्या करना कठिन होता है। आवर्तन-विवर्तन और गहराईसे युक्त गतिशीलता, जो एक सम्बद्ध प्रवाह रूपमें प्रतिभासित होती है, शब्द और अर्थ दोनोंमें लय-रूपमें क्याप्त हो जाती है। अर्थलयका यही तात्त्विक आधार है। शब्दमें लयकी स्थिति तो परम्परासे मान्य रही है, क्योंकि छन्द उसका नियोजित रूप है, परन्तु अर्थलयपर बहुत कम विचार किया गया है। अंग्रेजीके प्रख्यात आलोचक आई० ए० रिचर्ड सने इस विषयमें महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उनकी धारणा है कि 'कान्यमें लय केवल शब्दतक सीमित नहीं है। पदनेवालेपर उसका प्रभाव अर्थके साथ संयुक्त होकर पडता है, अतएव बिना अर्थका विचार किये अच्छी-बरी लयका अन्तर कवितामें नहीं किया जा सकता और शब्दकी लय विचार करनेपर अन्ततः भाव और अर्थकी समष्टिमें ही

पहचानी जाती है. जिसमें हमारी मानसिक चेतनाकी लय समाहित रहती हैं'। उनकी यह तथा ऐसी अन्य धारणाएँ 'अर्थलय'की स्थापनाके लिए सम्यक आधार प्रस्तत करती है (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पुष्ठ २२७,२९)। टी० एस० इलियटने 'संगीतात्मक कविता'की परिभाषा बताते हुए उसमें ध्वनि लयके अतिरिक्त अर्थके भी लयात्मक रूपकी सत्ता मानी है. साथ हो दोनोंकी अभिन्नताका भी प्रतिपादन किया है (सेलेक्टेड प्रोज, पृष्ठ ६०)। और भी अनेक विचारकोंने अर्थमें ल्यात्मकताकी सक्ष्म स्थिति प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट की है। अर्थलय केवल गद्यामास कविताओं तक ही सीमित नहीं है। वह कविताका एक मूलभूत व्यापक तत्त्व है, जो छन्द, गेय छन्द, मक्त छन्द आदि सभी रूपोमे उपलब्ध होता है और कही-कही भावात्मक गद्यमें भी वह परिलक्षित होता है। लोकगीतोंमें अर्थलय, शब्दलयके साथ मिश्रित होनेपर भी स्पष्टतया उभरकर सामने आती है। भावात्मकतासे अर्थ-लयका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण श्रेष्ठ काव्यमें वह प्रायः अनिवार्य रूपमे प्राप्त होती है। अर्थवक्रोक्ति-अर्थालंकार, जहाँ अर्थश्लेष केवल अन्य अभि-प्रायमे कहे हए वाक्यके अर्थकी कल्पना हो. वहाँ 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलंकार होता है। भामहने वक्रोक्तिको व्यापक अर्थमें लिया है और उस सबको वक्रोक्ति माना है, जिससे अर्थ शोभित होता है और जिसके बिना किसी अलंकारकी कल्पना नहीं की जा सकती (काव्यालंकार, २।८५)। इसी प्रकार कम्तकने इसे काव्यसर्वस्वके रूपमें माना है (वक्रोक्ति-सिद्धान्त) । परन्त शब्दालंकारके रूपमे वक्रोक्तिका जितना महत्त्व है, उतना अर्थालंकारके रूपमें नहीं। अतः मम्मट अथवा विश्वनाथने 'वक्रोक्ति' (दे०)को शब्दालंकारमें ही परिगणित किया है और 'श्लेषवकोक्ति' तथा 'काकवक्रोक्ति' नामक दो भेद बताये है। अर्थवक्रोक्तिके नामसे स्वतन्त्र अलंकारका प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है। मतिराम आदि आचार्योंने भी वक्रोक्तिको शब्दालंकारमें ही गिना है। यह माना जा सकता है कि जहाँ चमत्कार शब्दशक्ति-मलक हो, वहाँ 'वक्रोक्ति' और जहाँ अर्थशक्तिमूलक हो, वहाँ 'अर्थवक्रोक्ति' अलंकार होगा। उदा०—मैथिलीशरण ग्रप्तके 'साकेत'से-'हे भरतभद्र, अब कहो अभीष्सित अपना। सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना। हे आर्थ ! रहा क्या भरत अभीष्तित अब भी । मिला अकंटक राज्य उसे जब तब भी'। यहाँ प्रथम पंक्तिमें जिस अर्थमें रामने 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग किया है, उससे भिन्न अर्थमें उसी 'अभीप्सित' शब्दका प्रयोग भरतने तृतीय चतुर्थ पंक्तियोंमें किया है। — ধ০ র০ সা০ अर्थ-विरोध-दे० 'वर्णन-दोष', दूसरा। अर्थ-व्यक्ति गुण-दे॰ 'गुण', सातवॉ प्रकार ।

अर्थ-व्याप्ति—किन-शिक्षा (दे०) के अन्तर्गत काव्य-विषयके विस्तारक्षेत्रको 'अर्थ-व्याप्ति' कहा गया है। राजशेखरने किसी पूर्वाचार्य द्रौहिणके इस मतका उल्लेख किया है कि अर्थ-व्याप्तिके तीनः विभाग है—१ दिव्य (स्वर्गीय जनोंके क्रियाकलाप), २ दिव्य मानुष (स्वर्गीय जनोंके मनुष्य-रूपमें अवत्तरित होकर किये गये कार्यलाप अथवा मनुष्योंकी स्वर्गमें पहुँचकर अथवा दिव्यभाव प्राप्त करती हुई चेष्टाएँ),

और ३. मानुष (मनुष्योंके कार्यव्यवहार)। राजशेखरने इन तीन विभागोंमें चार और जोड़कर अर्थ-व्याप्तिके कुछ सात विभाग किये है। ये चार विभाग है—४ पाताछीय (पाताछवासियोंसे सम्बन्धित), ५. मत्यपाताछीय (मनुष्य तथा पाताछवासियोंके पारस्परिक व्यवहारसे सम्बन्धित, ६. दिव्यपाताछीय (स्वर्ग एवं पाताछवासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित, ६. दिव्यपाताछीय (स्वर्ग एवं पाताछवासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित) और ७. दिव्यमत्येपाताछीय (स्वर्ग, मर्त्यछोंक तथा पाताछके वासियोंके परस्पर व्यवहारसे सम्बन्धित) (का० मी०, अ०९)। हमचन्द्र तथा वाग्मटने अपने अपने अपने ज्यातु शासन'मे अर्थ-व्याप्तिके हम सात विभागोका उल्लेख काव्यके पात्रोंकी प्रकृतिके रूपमे किया है।

—म०प०छ०
अर्थ-श्रेष—साहद्यगर्भके गम्योपम्याअय वर्गके विशेषण-

वैचित्र्यका अर्थालंकार । श्रेषके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद है (दे॰ 'श्रेष') । संस्कृतके आचार्योंमें मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने राब्द-रलेष और अर्थ-श्लेषको अलग-अलग माना है। जयदेवने शब्द-श्लेषका विवेचन अर्थालंकारोके अन्तर्गत किया है. मम्भवतः इसलिए कि यही। उन्हें अर्थ-श्रेषपर विचार करना था। वस्तुतः हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितकी इसी प्रवृत्तिके कारण प्रायः शब्द-श्लेषका परिचय और उदाहरण ही अर्थालंकारोंके अन्तर्गत दिया है- 'श्रेष कहावत है जहाँ उपजत अर्थ अनेक' (ल० ल०, १६८)। आधनिक विवेचकोंने स्पष्टतः मम्मट आदिके समान शब्द तथा अर्थ-क्षेषको भिन्न माना है। मम्मदने दोनोंके भेदको स्पष्ट किया है कि 'यदि एक अर्थके बोधक शब्दोंका वैचिच्यपर्ण अनेक अर्थ हो तो वहाँ श्रेष अर्थालंकार होगा' (का॰ प्र॰, १०:९६ वृ०)। विश्वनाथने इसी भावको अपनी परिभाषामें न्यक्त किया है-- 'शब्दैः स्वभावादेकार्थैः अनेकार्थवाचनम्' (सा० द०, १०: ५८) जहाँ स्वाभाविक एकार्थ शब्दोमे अनेक अर्थ व्यक्त हों। उदा०-'साध चरित शभ सरिस कपास्। निरस विसद गनमय फल जास' (रा० २० मा०: का० द० से) यहाँ नीरस, विश्वद और गुणमय एकार्थक शब्द हैं, जिनके अनेक अर्थ साध तथा कपासके विशेषणके रूपमें लगते हैं। अथवा-'कोमल बिमलरु सरस अति, बिमल प्रभाव अमन्द । है सुवास मय मन हरन, तिय मुख अरु अरविंद' (अ० मं०, ३३३)। यहाँ 'कोमल' और 'विमल' एकार्थक शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ मुख तथा कमलके साथ लगते

अर्थशक्युद्भव ध्विनि—संलक्ष्य ध्विनका दूसरा भेद । यह ध्विन वहाँ होती है, जहाँ किसी अथवा किन्ही शब्दोंके पर्यायवाची शब्द रख देनेपर भी व्यंग्यार्थ उद्भूत होता है। इस ध्विनके सर्वप्रथम तीन भेद किये गये है—स्वतः-सम्भवी, प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध, किविनबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध (दे०)। वस्तुसे वस्तु, वस्तुसे अलंकार, अलंकारसे वस्तु और अलंकारसे अलंकारकी ध्विनयोंकी दृष्टिसे इन तीनोंके पुनः चार-चार भेद और होते है। पद, वाक्य और प्रवन्धों व्यंग्यार्थकी स्थितिको देखते हुए इन चारोके तीनतीन भेद और किये गये है। इस प्रकार स्वतःसम्भवी, किन प्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध तथा किविनबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्धमें

से प्रत्येकके बारह भेद और फलनः अर्थशक्त्युद्धव ध्वनिकें सब मिलाकर ३६ अवान्तर भेद है। — उ० शं० शु० अर्थ-हरण — दे० भाव्य-हरण'।

अर्थातरन्यास - साहश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनी-से स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार । सामान्यतः इसकी यह परिभाषा सर्वमान्य रही है-'इम अल्कारमें साधर्म्य और वैधर्म्यकी दृष्टिसे सामान्यका विशेष द्वारा और विशेष-का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता हैं (का० प्र०, १०:१०९)। रुय्यक तथा विश्वनाथने अवस्य ही 'कार्य न कारणेनेदं कार्येण च समध्यंते' (सा० द०, १०:६२) अर्थात कारणसे कार्यका तथा कार्यसे कारणका जला समर्थन हो, वहाँ भी इस अलंकारको माना है। परन्त अन्योंने इसमें काव्यिलंग ही स्वीकार किया है। विश्वनाथने जहाँ समर्थक हेत हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास तथा जहां निष्पादक हेत हो, वहाँ काव्यलिंग माना है। परन्त इनका मत स्वीकृत नहीं हो सका । हिन्दीके आचायोंने प्रायः सामान्य तथा विशेषके समर्थनके दो भेद दिये है- 'कहि विरोस सामान्य पुनि के सामान्य बिसेस' (छ० छ०, २८९); कृतिपयने मम्मटके आधारपर साधर्म्य-वैधर्म्यके आधारपर चार भेदोका उल्लेख भी किया है- 'साधरमी बैधरमी हु' (का० नि०, ८)। आधुनिक विवेचकोंने चार भेद खीकार किये हैं-

१. सामान्यका विशेषसे माभर्म्यभे- रिहमन नीच कुसंग सों, लगत कलंक न काहि। दूध कलारी कर लखे, को मद जाने नाहि' (अ० मं० से)। यहां सामान्यका द्रभ कलारीके विशेष प्रसंगमे समर्थन है और 'लगत' तथा 'जानै' दोनों क्रियाएँ साधर्म्यसे कही गयी हैं। अथवा-'गुन औगुन कौं तनकऊ, प्रभु निहं करत विचार। केतिक कुसुमन आदरत, हर सिर धरत कपार' (ल० ल०, २९१) । २. विशेषका सामान्यसे साधर्म्यसे—'हरि ल्यायो हरि कल्पतरु, जीति इन्द्रके ताहि । यह न आचरज बड़ेन-को, है दुर्लभ कछु नाहिं' (पद्मा०, २०५)। यहाँ 'कल्प-तरुका हरण' विशेषका 'बडोंका आचरण' सामान्यसे समर्थन है। ३. सामान्यका विशेषसे वैधर्म्यसे—'जीवनमें दुःख-सुख निरन्तर आते-जाते है । सुख तो सभी भोग छेते हैं, दुःख धीर ही सह पाते हैं। मनुज दुग्धसे दनुज रुधिरसे अमर सुधासे जीते हैं। किन्तु हलाहल भवसागरका शिव-शंकर ही पीते हैं' (मै॰ श॰ गु॰ का॰ द०)। यहाँ हलाहल पीनेकी विशेष बातसे धीरोंके दःख सहनेकी सामान्य बातका समर्थन है और 'सहना' तथा 'पीने'के वैधर्म्य द्वारा समर्थन है। ४ सामान्यसे विशेषका वैधर्म्यसे—'सुकुमार तुमको जानकर भी युद्धमें जाने दिया। फल योग्य ही हे पुत्र ! उसका शीध हमने पा लिया । परिणामको सोचे बिना जो लोग करते काम है। वे दःखमें पडकर कभी पाते नहीं विश्राम है' (वही)। यहाँ 'फल पाना' और 'विश्राम न पाना' इस वैधर्म्य द्वारा विशेषका सामान्यसे समर्थन है।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यासका अन्तर स्पष्ट है। प्रथममें जिससे समर्थन किया जाता है और जिसक। किया जाता है, वे दोनों सामान्य अथवा विशेष होते है, अर्थात् विम्ब-प्रतिविम्बभाव प्रधान रहता है। परन्तु दूसरेमें समर्थ्य और समर्थकर्मे एक सामान्य तथा दूसरा विशेष होता है। उदा-

हरण अर्थन्तरमं 'इन' आदि वाचय शब्दोंका प्रयोग होता है, अर्थान् समर्थनका भाव प्रधान नहीं रहता। — र० अर्थातरमं क्रिसत्वाच्य ध्यनि — ४० अर्थातरमं क्रिसत्वाच्य ध्यनि — ४० एकः विश्वित्वाच्य ध्यनि — ४० एकः विश्वित्वाच्य ध्यनि अर्थमं वाच्यार्थ वाधित अर्थया अनुपपन्न होनेके कारण दूसरे अर्थमं संग्रमण कर जाता है। जहा सुख्यार्थ असिद्ध रहता है अर्थान् उसकी संगति नहीं बैठती, वहा वह दूसरे अर्थमं संग्रमण कर जाता है — दूसरा अर्थ देने लगता है। सुख्यार्थकी अनुपपनि अत्यादी कारणीन में हुआ करती हैं — १० किसी शब्दकी पुनरुत्तिके कारण — जैंगे 'कीआ बीआ ही हैं', इस उदाहरणमं दूसरे बीअनेवाला पक्षांके अर्थान्तरमें संग्रमण कर जाता है; २० वक्ताका मन्तव्य अरपष्ट होनेके कारण। जैसे 'गंगायां घोषः' (गंगापर गांव हैं) हारा गंगाके तटपर — समीप ही इस अर्थान्तरको प्रहण करना पटता हैं।

अर्थान्तरमंत्र गितवाच्यकी अभिन्यंजना कभी तो किसी पट द्वारा होनी है अथवा कभी किभी वाक्य द्वारा। अनः अर्थान्तर नंत्राभितता न्यते दो भेद होते है-१ पदगत-गान्धीजीको सम्बोधित करने हुए पन्त वहते हैं- 'तम शुद्ध बद्ध आत्मा केवल ... 'यहा आत्मा शब्दमें म्य्यार्थका बाध है; आत्माका अर्थ उपाटानलक्षणाने, आत्माके समान निर्विकार (अर्थात् अरयन्त पवित्र) छेना पडना है। इस प्रयोग द्वारा कवि गान्धीजीके प्रति अपनी अवान्धिनिकी अभिन्यंजित करता है—यही प्रयोजन हैं। अतः आत्मा शब्दमें पदगत अर्थान्तरमंक्रभित अनिविधानवान्य ध्वनि है। र वाक्यगत- 'केरा पूजें गुमराहीको मैं हूँ एक सिपाही' (का० द०, पू० ३०४)। यहाँ बक्ता सिपाही नहीं है, फिर भी वह कहता है 'मैं हूँ एक सिपाही,' इसीसे पूरे वाक्यका मुख्यार्थ 'मैं सिपाहीके सहश कर्नन्य-परायण न्यक्ति हूं', इस अर्थान्तरमें संक्रमण कर जाता है। वक्ताके इस प्रकारके कथनका प्रयोजन यह है कि में उचादर्शका न्यक्ति हैं, अप्रतिष्ठित कार्य नहीं कर सकता । अतः इस उदाह-वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रभित-अविविधातवाच्य रणमें ध्वनि है। —ত০ হাঁ০ হা০ पर्शाय है, जिसमें दण्डापृपिका न्यायसे एक अर्थकी सिद्धिके

अर्थापत्ति—वावय-न्याम् अर्थालंकारः काव्यार्थापत्तिका पर्याय है, जिसमें दण्डाप्पिका न्यायसे एक अर्थकी सिद्धिके सामर्थ्यसे अन्य सहजसाध्य अर्थकी क्वनः विद्धिक सामर्थ्यसे अन्य सहजसाध्य अर्थकी क्वनः विद्धिक वर्णन होता है। 'इस अलंकारमें जिसके द्वारा कठिन कार्यकी सिद्धि सम्भव हो, उसके द्वारा सुगम कार्यकी सिद्धि वया कठिन है ?' ऐसा वर्णन होता है। जैसे 'मृरा दण्यको खा गया' यदि यह कहा जाय तो इस कथनके साथ ही मृसे द्वारा दण्डपर स्थित मालपुओंका खागा जाना भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसीको दण्डापूपिका न्याय कहते हैं। यह विश्वनाथके लक्षणके अनुसार व्याख्या है—'दण्डापृपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते' (सा० द०, १०:८३)। यह अलंकार प्रथम मोज तथा रूयक द्वारा (काव्यार्थापत्ति) स्वीकृत हुआ है। परन्तु हिन्दीमें जयदेवके 'चन्द्रालोक'के लक्षणका अधिक प्रचार हुआ—'अर्थापत्तिः स्वयंसिद्ध पदार्थान्तरकर्णनम्' (५:३७), अर्थात् स्वयंसिद्ध पदार्थके अन्तरका वर्णन। एक पदमें विणित किया द्वारा दूसरे पदका अर्थ विना कहे जहाँ

स्पष्ट हो जाय।

जसवन्तसिंहने 'भापाभूपण'मे इस अलंकारका लक्षण 'कुवलयानन्द'के आधारपर दिया है और उसके लिए 'कैमुत्य' शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ हैं उसका क्या' और आगेके अधिकांश आचार्योंने इमीके अनुसरणपर 'जौ पै जीतो यह कहा' (मितराम), 'वह कीन्हो तो यह कहा' (भूषण) 'वह जू कियो तो यह कहा' (पद्माकर) लक्षण दिये है। सोमनाथने 'रस-पीयूष-निधि'के अलंकार प्रकरणमे इसकी परिभाषा अधिक स्पष्ट दी है—'अमुको जीति लियो जबे, बात औरकी कौन'। दासकी परिभाषा अन्योंके समान ही है।

मतिरामके नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें यह अलंकार है-'कहा दरपन कैसे पावत बदन जोति, चन्द जाको चेरो अरविन्द जाको दास है'; निरालाके इस सौन्दर्य चित्रमें-'देखो यह कपोत कंठ, बाहु बल्ली कर सरोज, उन्नत उरोज पीन क्षीण कटि नितम्ब भार चरण सुकुमार गति मन्द मन्द, छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियोका, देवो भोगियोकी तो बात ही निराली हैं (काव्यदर्पण)। ऋषि मुनियोंके धैर्य छूट जानेके सामर्थ्यसे भोगियोंका धैर्य छूट जाना अर्थ स्वतः सिद्ध है। मैथिलीशरण गुप्तका प्रयोग सहज है- 'उसके आशयकी थाह मिलेगी किसको। जनकर जननी भी जान न पायी जिसको' (साकेत)। कान्यमें इस अलंकारका उक्ति-वैचित्र्यके रूपमें सुन्दर प्रयोग हुआ है। आधुनिक कालमें मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि कतिपय कवियोने इस अलंकारका आकर्षक प्रयोग किया है। -वि० स्ना० अर्थार्थी भक्ति-दे॰ 'गौणी भक्ति'।

अर्थालंकार-अर्थको चमत्कृत या अलंकृत करनेवाले अर्था-श्रित अलंकार । जिस शब्दसे जो अलंकार सिद्ध होता है, यदि उस शब्दके स्थानमे उसका समानाथीं शब्द रख देनेसे भी वह अलंकार यथापूर्व बना रहे, तो अर्थालंकार कहलाता है। अर्थनिर्भर, शब्दनिरपेक्ष अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं। अर्थालंकारोंके विषयमे व्यासका कथन है कि जो अर्थी-को अलंकृत करें, वे अर्थालंकार है। अर्थालंकारोके अभावमें शब्दसौन्दर्य भी मनोहर और प्रभावपूर्ण नही होता—'अलं-करणमधीनामधीलंकार इष्यते। तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्' (अ० पु०: ३४३)। मम्मटने शब्दा-लंकारसे अर्थालकारोके विभेदका मुख्य आधार 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक'का सिद्धान्त माना है (का० प्र०, ९:८५ वृ०); जिसके अनुसार अर्थालंकारमें शब्द बदलनेसे चमत्कारमें अन्तर नरी आता। उदा०—'तनु लता सफलता स्वाद आज ही आया। मेरी कुटियामे राजभवन मनभाया। (मै० श० गु०: साकेत)। इसमें तन्में लताका आरोप होने-के कारण 'रूपक' अलंकार है। इसके दोनों शब्दोंने परि-वर्तन करके यदि तनु लताके स्थानमें 'देह वल्ली'कर दिया जाय, तब भी रूपक अलंकारका चमत्कार यथावत् बना रहता है। इस प्रकार अन्य समानार्थी शब्दोंको रख देनेमें भी किसी अलंकारकी अलंकारिताका यथापूर्व बना रहना अर्थालंकारोंकी प्रवृत्तिकी ओर निर्देश करता है।

अर्थालंकारोंकी निश्चित संख्या निर्धारित करना कुछ

कठिन है, क्योंकि उनकी संख्या सदासे बर्द्धमान रही है। उमके प्रकार अनन्त हैं 'अनन्ता हि' अलंकाराः' (ध्वन्यालोक, ३:४३ वृ०)। ध्वनिकारने इसी मतका उल्लेख दूसरे शब्दोमें किया है 'वाग्विकल्प' अर्थात् कथनके प्रकार अनन्त है और वे ही अलंकार है। दण्डीने शब्दमेद्दे इसी मतका प्रतिपादन किया था। उनका कथन है कि अलंकारोंकी आज भी सृष्टि हो रही है। अतः सम्पूर्णतः उनकी गणना कोई भी नहीं कर सकता—'ते चाद्यापि विकल्पयन्ते' (काव्यादर्श, २:१)। आचार्यों द्वारा जितने अलंकार लक्षणग्रन्थोंमे विणत किये गये है, उनको किसी एक वर्गमें रखना भी एक दुष्कर कार्य है दि०—'अलंकारों का वर्गीकरण')।

अर्थालंकारोंका शास्त्रीय निरूपण एव काव्यपूर्ण प्रयोग आचार्य भामहसे माना जा सकता है। आचार्य भामह अलंकार-सम्प्रदायके आद्याचार्य माने जाते हैं। हिन्दी साहित्यके आदिकालसे लेकर भक्तियुगतक अर्थालंकारोंका नैसर्गिक रूपमें प्रयोग होता रहा। रीतिकालमें आकर इसका शास्त्रीय एवं कलात्मक विकास विशेष रूपसे हुआ। आधुनिक काव्यमे भी अर्थालंकारोंका समुचित प्रयोग तो है किन्तु इनके प्रयोगमें किवयोंके मन बदल गये हैं। वर्तमानयुगमें प्रयत्नपूर्वक अलंकारोंको किवतामें स्थान देनेकी प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो गयी है। अलंकारिवित्त काव्यकों भी उत्तम कोटिका काव्य माना जाता है। —वि० स्ना०

विकासकी दृष्टि-अत्यन्त प्राचीनकालसे अर्थालंकारोंका प्रयोग होता आया है। 'उपमा'का उल्लेख ऋग्वेदसे हुआ है, पर अलंकारकी कल्पनाके साथ नहीं (शाशशश तथा ५।३।३४।९) । निरुक्तिके तीसरे अध्यायमें उपमाकी व्याख्या है तथा इसमें निर्देशन, आशी आदि कुछ और शब्द है। भरत (३ श॰ ई॰)ने उपमा, दीपक तथा रूपकको स्वीकार किया है। भामहके 'काव्यालंकार' (६-७ श० ई०)में सर्व-प्रचलित तथा स्वस्वीकृत कुल अर्थालंकार ३५ नये है; आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिरायोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति (दितीय परिच्छेद), प्रेयस् , रसवत् , ओजस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, दिलष्ट, अपहृतुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, न्याजस्तुति, निद-र्शना, उपमारूपक, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व तथा आशी (तृतीय दण्डीने 'काञ्यालंकार'में परिच्छेद) । कुछ अलंकारोंके नाम बदले हैं-लेशका लव, यथासंख्यका क्रम, उपमेयोपमाका अनन्योपमा ससन्देहका संज्ञयोपमा, अनन्वयका नियमोपमा तथा उत्प्रेक्षावयवका अचेतोत्प्रेक्षा किया गया है। उद्भटके 'काव्यालंकारसार' (८ श० ई०)में काव्यिं तथा दृष्टान्त नये है। वामनने काव्यालंकारसूत्र' (९ २१० ई०)मे कई अलंकारोंको अस्वीकार किया है, पर वक्रोक्ति तथा न्याजोक्ति दो नये अलंकार जोड़े है, साथ ही वामनका पहला आक्षेप पहले आचार्यों-का प्रतीप है तथा दूसरा समासोक्ति है। रुद्रटने कान्य-लंकार (९ श० ई०)में वास्तव वर्ग मे १४ नवीन अलंकार स्वीकार किये हैं-भाव, समुचय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिमंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली। औपम्य वर्गमे ८ नवीन हे-मत, प्रतीप, उभन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य तथा स्मरण । अतिशय वर्गमे ६ नवीन है-विशेष, तद्युण, अधिक, अमंगति, पीहिन तथा व्याघात । इलेपमें विरोधाभास स्वतन्त्र अलंकार हो गया है। भोजने 'मर-स्वतीकण्ठाभरण' (११ श० ई०)मे अहेतु, अभाव, अर्थापनि, आप्तवचन, उपमान, प्रत्यक्ष, विनर्क, सम्भव, समाधि तथा जाति, नये अलंकारोंका उल्टेख किया है। मम्मटके 'काव्य-प्रकाश' (१२ श० ई०)में अनदगुण, मालादीपक, विनोक्ति सामान्य तथा सम शायद नवीन अलंकार है। रुव्यक्के 'अलंकारसर्वस्व' (१२ ज्ञा० ई०)में उल्लेख, कान्यार्थापत्ति, परिणाम, विचित्र, विकल्प, भावोदय, भावमन्धि तथा भावश्वलता नवीन प्रयुक्त अलकार जान पडते है। जयदेव-के 'चन्द्रालोक' (१३ श० ई०)मे अलंकारोंकी वृद्धि हुई-अत्युक्ति, अनुगुण, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, उल्लास, परिकरांकुर, पूर्वरूप, प्रहर्षण, प्रौढोक्ति, विकस्वर, विषादन, सम्भावना । इसके बाद अर्थालंकारोमें अभिवृद्धि करनेवाले अप्पय दीक्षित है। इनके 'कुवलायनन्द' (१७ श० ई०)में अनुज्ञा, अल्प, कारकदीपक, गृहोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिरेध, मिथ्याध्यवसिन, मुद्रा, रतावली, ललित, लोकोक्ति, विधि, विवृतोक्ति तथा विशे-षक हैं। अप्पय टीक्षिततक अलंकारोंका पूर्ण विकास माना जा सकता है।

हिन्दीमें संस्कृत अलंकारशास्त्र-ग्रन्थोंका अनुकरण हुआ है, अतएव अधिक विकासकी सम्भावना नहीं रही है। इन कवि आचार्योंमें केशवने अपनी 'कविप्रिया' (१६०० ई०)में प्राचीनोंका, विशेषकर दण्डीका आदर्श सामने रखा है और ३५ अर्थालंकारोंका विवेचन ६ प्रभावोंमें किया है। एक प्रभावमें उपमाके २२ भेद हैं, जिनमें १५ दण्डीके हैं, ६ नाम बदलकर लिये गये हैं। विपरीतोपमामे उपमाका कोई लक्षण नहीं है। जसवतसिंहने अपने 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)मे 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द्र'का अनुसरण किया . है। जयदेवके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रसवत आदिक तथा आठ प्रमाण अलंकारोंको स्वीकार नहीं किया - है। 'भाषाभूषण'में १०१ अर्थालंकार है। मतिरामके 'ललित-ललाम' (१६६१ ई०)में काव्यलिंगके अतिरिक्त संख्या तथा क्रम 'कुवलयानन्द'का है। केवल पिछले १५ अलंकारोंको (रसवत् आदि) इसमें भी नहीं लिया गया। चिन्तामणिके 'कविकुलकल्पतरु' (१६५० ई०)के अर्थालंकारींका आधार 'काच्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' है । भृषणके 'शिवराज-भूषण'(१६७७ ई०)पर 'चन्द्रालोक'की छाप है। अर्थालंकारों-की संख्या कविने स्वयं ९९ गिनायी है, पर भेदोंको छोड वास्तविक संख्या ९२ है। कुलपति मिश्रके 'रसरहस्य' (१६८९ ई०)के अर्थालंकारोंका आधार 'काव्यप्रकाश' है। देवके 'भावविलास' (१६८९ ई०)में केवल ३९ अर्थालंकार - हैं जिनमें रसवत् , ऊर्जस्वल, प्रेय तथा आशिष जैसे अलंकार · भी सम्मिलित है। 'काव्यरसायन' (१७०३ ई०)में ७० ्रअर्थालंकार है। उपमाके २० भेद हैं, कुछ नवीन जान पडते है पर अधिकतरका अन्तर्भाव अन्यञ्च हो सकता है। इनपर केंग्रन तथा दण्टीका प्रभाव है। थोड़े परिवर्तनीं से जो मीलिकता उत्पन्न की गयी है वह आमक ही है (ओम्- प्रकाग: 60 अ० सा०)। दूलहके 'किंक्क्लफण्ठाभरण' (१७४३ ई०) में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' के आधारपर ११५ अर्थालंकारोंका विवेचन है। मिखारीदासके 'काव्य निर्णय' में ८६ अर्थालंकारोंको क्याकार किया गया है, कुछ प्रमुख भेदरूपमें उलिखित अलंकारोंको गिन लेनेपर यह संख्या ९२ तक हो जाती है। प्रभाकरके 'प्रभाभरण' (१७१० ई०) मे १०० मामान्य अर्थालंकार तथा १५ रमवन् आदिका वर्णन है। दामपर 'चन्द्रालोक' तथा 'कव्यप्रकाश'- का सम्मिलित प्रभाव है और एक्याकरका रपष्ट आधार 'कुवलयानन्द' है। उपयुक्त विवेचनसे रपष्ट है कि रीति-कालमें जसकी सीमा पूरी हो नुकी थी।

आधुनिक विवेचकोर्मे मुगरिदानके 'जमवन्त जमोभृषन' (१८९३ ई०)में लगभग १३ अलंकार नये है-अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अमेंद्र, अवसर, आभाम, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, संकीच तथा संस्कार । इन अलंकारोंमं चमत्कार न होनेके कारण अलंकारत्व नहीं माना जा सकता। भान, कविने विवेचनको लिए हो अनेक संस्कृत तथा हिन्दी आचार्योका उलेख किया है, पर 'कान्य-प्रमाकर' (१९०९ ई०)की अलंकारगंग्या 'कृव स्थानन्द्र'के अनुसार १०० ही है। भगवानदीनकी 'अलंकारमंज्ञपा' (१९१६ ई०)में १०८ अथीलंकार है। इनमें निरस्कार नया अलंकार जान पड़ता है, पर अर्जुनदास केंडिया इसकी 'रसगंगाधर'से लिया गया बतलाते हैं। इन्होंने 'भारती-भूषण' (१९३० ई०) में १०० अर्थालंकारीका विवेचन किया है, जो आचार्योंसे लिये गये हैं। कन्हेयालाल पोदारकी 'अलंकारमं जरी' (१९४५ ई०)में १०० अर्थालंकारोंका विवे-चन है, रसवत आदि तथा ८ प्रमाण अलंकारोंको छोड़ दिया गया है। इन्होंने मुरारिदानके समान परिवृत्तका विपरीत अपरिवृत्त नामक नवीन अलंकार माना है। राम-दहिन मिश्रने अपने 'काल्यदर्पण' (१९४७ ई०)में पाश्चात्य अलंकारोंमें मानवीकरण, ध्वन्यर्थव्यंजना तथा विशेषण-विपर्ययको स्वीकार किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के समयतक अर्थालंकारोंका जो विकास हो चुका था, हिन्दोंमें उसके आगे विकासकी सम्भावनाएँ नहींके बराबर रही हैं। अर्थोपक्षेपक-अर्थोपक्षेपकका अभिप्राय है अर्थका उपक्षेपण (सूचना) देनेवाला। नाटकमें रसहीन बस्तुओंकी केवल स्चना दी जाती है। स्च्य वस्तुओं की स्चना देना ही अर्थोपक्षेपक है। इस अर्थोपक्षेपकके पाँच प्रकार हैं-विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक (दे०)। ---व० सिं0 अर्द्धचेतन (subconscious) - अर्थचेतन शब्दका अभी हिन्दीमे रूढ़ नहीं हो पाया है। कभी-कभी इसका प्रयोग अचेतन या अवचेतनके लिए ही होता है। परन्तु

कभी इसका अर्थ स्पष्ट या धूमिल चेतना होता है, जब हम

अनुभवों, व्यवहारोंके विषयमेंपर्ण रूपसे चेतन नहीं रहते,

पर अस्पष्ट रूपसे हमें उनका अनुभव होता रहता है। जैसे

सोनेके पहले तन्द्राकी स्थितिमें हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, अस्पष्ट रूपसे ही। अत्यधिक धकान और कुछ विशेष मानसिक रोगोंमें भी हमारी चेतना धूमिल कुहासेसे आच्छन्न-छी हो जाती है। —प्री० अ० अर्द्धातांतरेक वाचक-दे० 'शब्द-दोष', नवाँ वाक्य-दोष।

**अलंकार** - 'अलंकार' शब्दमें 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। 'अलम्'का अर्थ है भूषण, जो अलंकृत या भूषित करे यह अलंकार है, जिसके द्वारा अलंकत किया जाय, इस करण व्युत्पत्तिसे उपमा आदिका ग्रहण हो जाता है। 'अलंकृतिः अलंकारः। करणब्पुत्पत्या पुनः अलंकारशब्दो-(वामनवृत्ति, १:१: २)। ऽयमुपमादिप वर्तते' अलंकार काव्यके बाह्य शोभाकारक धर्म है, इस धर्मका फल कान्यका अलंकरण या सजावट है, इसलिए इसका प्राचीनतम अभिधान 'अलंकार' है। जिस प्रकार हारादि अलंकार रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्यकी शोभावृद्धिके उपकारक होते है, उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्यकी रसात्मकताके उत्कर्षक है। वास्तवमें अलंकार वाणीके विभूषण हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्तिमें स्पष्टता, भावोंमे प्रभविष्णुता और प्रेषणी-यता तथा भाषामें सौन्दर्यका सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावीत्पादनके हेत्र वाणी अलंकारका रूप धारण करती है। इसलिए काव्यमें इनका महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यमें रमणीयता और चमत्कारका उद्रेक करनेके हेत् अलंकारोंकी स्थिति आवइयक है, अनिवार्य नहीं।

'अलंकार'के सम्बन्धमें विभिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न लक्षण निरूपित किये है, जिनका संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है-यूनानी कान्यशास्त्रके अनुसार 'अलंकार उन विधाओं-का नाम है, जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओं के मनमे वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर उनको अपना समर्थक बना सकता है। 'अलंकार'का लक्षण निरूपित करते हुए अलंकार-सम्प्रदायके आदि आचार्य भामह (७-८ श० ईं०) ने वक्रोक्तिको सम्पूर्ण अलंकारोंमे व्यापक बतलाते हुए इसे अलंकारका एकमात्र आश्रय माना है। आचार्यने 'वक्रोक्ति' नामक विशेष अलंकारके लिए इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है, किन्तु व्यापक रूपसे सम्पूर्ण अलंकारोकी प्राणभूत अतिशय उक्तिके लिए किया है। वस्तुत- 'अलंकार' से भामहका अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति है, जो वक्रार्थकी विधायक हो। वक्रोक्तिके बिना कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि अर्थको विभामय करनेवाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है-- 'सैषा सबैंव वक्रोक्तिरनयाओं विभाव्यते। यहा-ऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना' (काञ्यालंकार, २: ८५) कहकर उन्होंने इसी तथ्यकी ओर स्पष्ट निर्देश किया है और कहा है कि कविको इसीके विषयमे प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि इसके बिना कोई अलंकार नहीं हो सकता। दण्डी (७-८ श० ई०)ने काव्यके शोभाकर धर्मी-को 'अलंकार' कहा है- 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंका-रान् प्रचक्षते' (काव्यादर्श, २ : १) । यद्यपि दण्डीने 'अलकार-को काव्यका शोभाकर धर्म माना था, किन्तु वामन उनका विरोध करते हुए गुणोंको शोभाकर धर्म मानते हैं। उनके अनुसार अलंकार शोभाके कत्ती नहीं, अतिशयिता हैं—

'कान्यशोभायाः कत्तीरो धर्मा गुणाः । तदितशयहेतवस्तव-लङ्काराः, (कान्यालंकारसूत्र, ३:१:१,२)। वामनने अपने 'कान्यालंकारसूत्र'मे अलंकार शब्दका प्रयोग दो अर्थोमें किया है। संकोणं अर्थमे 'अलंकार' कान्यके वे धर्म हैं, जिनको दण्डीने 'शोभाकर' कहा था, न्यापक अर्थमे सौन्दर्यमात्रको अलंकार कहते है, इसके अर्थगत वे सभी विधाय आ जाती हैं, जिनके कारण कान्य हमारे मनको आकृष्ट करता है। वामन (८ श० ई०) न्यापक अर्थमे अलंकारका प्रयोग करते हुए कहते है कि अलंकारके कारण ही कान्य प्राह्म-ल्यादेय है और वह अलंकार सौन्दर्य है— 'कान्यं प्राह्ममलंकारात। सौन्दर्यमलंकारः' (वा० ह०, १।१:१,२)।

रुद्रटने (९ श० ई०) लिखा है कि अभिधानके कथनके प्रकारिवशेष अर्थात् कविप्रतिभासे प्रादुर्भूत कथनविशेष ही अलंकार हैं-- 'अभिधानप्रकारविशेषा एव अलंकाराः' (अ० स०, ६)। ध्वनिकार आनन्दवर्धनने (९ श० ई०) भी इसी अभिमतका समर्थन करते हुए वाणीकी अनन्त शैलियोंको 'अलंकार' कहा है—'अनन्ता हि वाग्विकल्पाः। तत्प्रकारा एव अलंकाराः' (ध्वन्यालोक, ३:३७ वृ०)। इनके द्वारा वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकके (१०-११ ई०) इस अभिमतकी पुष्टि होती है कि विदग्धोंके कहनेके ढंग ही वक्रोक्ति है और वे ही अलंकार है—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते।' (वक्रीक्तिजीदित, १:१०) मम्मटने (११ श॰ ई०) गुणकी नित्य तथा अलंकारकी अनित्य सत्ता मानी है, वामनके आधारपर । बादके आचार्योंने मम्मटका इस विषयमें विरोध भी किया है। मम्मटके अनुसार काव्य-मे रस अंगी है, उसका उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' है, ये उसी प्रकार है, जैसे व्यक्तिमे शूरता आदि । 'अलंकार' हार आदि आभूषणोके समान है, ये कदाचित रसका उपकार करते है, सर्वदा नहीं । जहाँ रस नहीं है, वहाँ भी अलंकार रह सकता है (का॰ प्र॰, ८:६६,६७)। बादमें जयदेवने (१३ श॰ ई॰) मम्मटके मनका प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार रसवती कविता निविचार है तथा अलंकार-युक्त कविता विचारको उल्लित करती है। वस्तुतः जयदेव-ने पूर्वाचार्योंके मतका खण्डन नहीं किया है, केवल अपने मतका आग्रह प्रकट किया है कि अलंकारके बिना कविता उसी प्रकार है, जैसे उष्णताके बिना अग्नि—'असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती' (चन्द्रालोक, १:८)। विश्वनाथ (१४ श॰ ई॰)के अनुसार शब्द और अर्थके जो शोभाति-शायी अर्थात सौन्दर्यकी विभूति बढानेवाले अस्थिर धर्म है, वे ही अलंकार है—'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभाति-शायिनः' (सा० द०, १०:१)।

हिन्दीके आचार्योंने भी 'अलंकार'का प्रायः वैसा ही लक्षण निरूपित किया है, जैसा कि संस्कृत आचार्योंने। अधिकांश आचार्योंने लक्षण-निरूपण किया ही नहीं। हिन्दीके अलंकारोंका विवेचन करनेवाले प्रथम अचार्य केशवने (१६-१७ श० ई०) अलंकारहीन कविताको नग्न माना है। वे वामनके समान काव्यप्रतिष्ठाको अलंकारपर निर्भर नहीं मानते और न उन्होंने अलंकारहीन कविताको निष्प्राण ही माना है। एक बार तो ऊपरी शृंगार उनको

सौन्दर्यका अपकर्षक जान पड़ता है—'काहेको सिंगार के विगारित है मेरी आठी, तेरे अंग विना ही सिंगारके सिंगारे हैं' (कविप्रिया, १:१२)। देवने (१७ द्रा० ई०) मो केशवके समान 'मृतक काव्य विनु अर्थकों' कहा है। वे भी मानते हैं कि कविता-कामिनी 'अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति' (काव्यरसायन)। द्लहने (१७-१८ श० ई०) 'विन भूयन नहीं भूषइ कविता' माना है। दनके अनुसार उसी कविको ख्याति मिलंगी, जो अपने काव्यको अलंकारोंसे सुसज्जित करेगा। मिखारीदासके अनुसार अलंकार 'भूषन है भूषन सकल'। पद्माकरका लक्षण सर्वथा विचित्र प्रकारका है—'शब्दहुं ते कहुं अर्थ ते कहुं दुहुं ते उर आनि। अमिप्राय जिहि भाँति जहं अलंकार सो मानि' (पद्मा०, २)।

आधुनिक कान्यशास्त्रके आचार्योमे रामचन्द्रके अनुसार अलंकार कथनकी रोचक, सुष्ठु और प्रभावपूर्ण प्रणाली है। 'जायसी अंथावली'को मूमिकामे उन्होंने इस तथ्यकी ओर स्पष्ट निर्हेश किया है—'उलंबार है वया ? वर्णन करनेकी अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण शैलियों, जिन्हें कान्योंसे चुनकर प्राचीन आचार्योंने नाम रखे और लक्षण बनाये। ये शैलियों न जाने कितनी हो सकती हैं, असः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंबारोंके नाम अन्योंमें मिलते हैं, उतने ही अलंबार हो सकते हैं।'

अलंकारगत इन उपर्युक्त परिभापाओं से स्पष्ट है कि कितिपय आचार्य काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्यको 'अलंकार' मानते हैं और कुछ आचार्योंने काव्यके प्राणभूत रस, गुण आदिके प्रभावक एवं उत्कर्षक धर्मको अलंकार कहा है। अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदिने काव्यके प्राणभूत तत्त्वको अलंकार कहा है। अलंकार-प्रयोगकी यह विशेषता प्राचीन आचार्यों निशेष आग्रहके साथ लक्षित होती है। चन्द्रालोककार जयदेव भी इस मतके प्रवल समर्थक है। हिन्दीमें केशवदास भी जयदेवके इस मतका पोषण हीं नहीं करते, प्रत्युत् भामह आदि प्राचीन आचार्यों सहमत दिखाई पड़ते है। भामहके खरमें उन्होंने कहा है—'जदिष सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त' (कविप्रिया, ५:१)।

दूसरी ओर ध्वनिकार आनन्दवर्धन और रसवादी आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदिके अनुसार अलंकार हार आदि आभूषणवत् हैं, जो रसका उपकार करते हैं। विश्वनाथने सौन्दर्यवर्धक और रसोत्कर्षक अस्थिर धर्मोंको अलंकार कहा है। आधुनिक कान्यशास्त्रीय सन्दर्भमें अलंकार वर्णनक्षी सुन्दर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली है। रामचन्द्र शुक्क अनुसार—'भावोंका उरकर्ष दिखाने और वस्तुओंके रूप, गुण और क्रियाका अधिक तीव्र अनुमव करानेमें कभीनकभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है'। सुमित्रानन्दन पन्त-की आलंकारिक भाषामें अलंकारका स्वरूप इस प्रकार है—'अलंकार केवल वाणीकी सजावटके लिए नहीं, वे भावकी अमिन्यक्तिके विशेष द्वार है। भाषाकी पुष्टिके लिए, रागकी परिपूर्णताके लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणीके आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक स्थितियोंके पृथक स्वरूप,

भिन्न अवस्थाओं भिन्न ित्र है। "वे वाणीके हास, अशु, स्वम, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषाकी जाली केवल अलंकारों के चौखटेमें फिट करनेके लिए बुनी जाती हैं, वहाँ भाषों अवराता शब्दोंकी कृषण जडतामें बँधकर सेनापिनिके दाता और समकी तरह 'इवसार' हो जाती हैं' ('पहव' की भूमिका)। यह अलंकारके पारिभाषिक रास्पका अधाविकास है।

अर्थ सौन्दर्यके सम्पादनमें सहायक होनेके कारण कान्यमें अलंकारोका विशेष महत्त्व है; निस्सन्देह यह महत्त्व रस, ध्विन और गुण रीतिके बादका ही है। अलंकारोक अर्थमें प्रेषणीयता, प्रभविण्णुता और स्पष्टताका सम्पादन होता है। परन्तु कान्यमें अलंकारोका औचित्य वहींतक है, जहाँतक वे साधनरूपमें ही हों, साध्य न बन जायं, अलंकार कान्यके लिए हों, कान्य अलंकारोंके लिए न हो जाय।

शब्द और अर्थको चमत्कृत करनेके कारण अलंकार हो प्रकारके होते है—शब्दालंकार और अर्थालंकार (२०)। जो अलंकार शब्द और अर्थ, दोनोंके आश्रित रहकर दोनोंको चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहलाते हैं। सभी अवस्थाओं अलंकारोंका उद्देश्य भावोंको तीव्रता प्रदान करना ही है। हिन्दीमें मितराम और प्रधाकरके अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्योंने अलंकारगत तीनों श्रेणियोंका प्रयोग किया है। मितराम और प्रधाकरने कमशः 'लिलललाम' और 'प्रधाभरण'में शब्दालंकारोंका लक्षण-निरुपण नहीं किया है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्राचीन ग्रन्थ भरत मुनिका 'नाट्य-शास्त्र' (३ श॰ ई॰) है। इसमें केवल उपमा, दीपक, रूपक और यमक - वार अलंकार निरूपित किये गये हैं। भरतके ये प्राथमिक चार अलंकार रुय्यकतक सैकड़ोंकी संख्यानक पहुँच गये। रुथ्यकका समय १२वीं शताब्दीके लगभग है। यह अलंकारोंके क्रमनिकासका सर्वो परि महत्त्वपूर्ण काल है। फिर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'तक इनकी संख्यामें कुछ और वृद्धि हुई। तदुपरान्त शोभाकरकृत 'अलंकार-रताकर'की अत्यधिक वर्द्धमान संख्याने यह सिद्ध कर दिया कि अलंकारोंकी संख्या अनन्त है। १७ वीं शताब्दी-मे लिखित पण्डितराज जगन्नाथके 'रसगंगाधर'मे अलंकार-संख्या १८० से भी अधिक मिलती है। इनमेंसे कुछ अलं-कार ऐसे हैं, जो चमत्कारशृत्य हैं, कुछका अन्य अलंकारोंमें अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ अमुख्य मानकर छोड़ दिये गये हैं। अलंकारोंकी इस विस्तृत सूचीमें शब्दालंकार और जभयालंकार तो गिने-चुने ही हैं, अर्थालंकारोंकी संख्या सर्वाधिक है। उन्हें स्थूल रूपसे पाँच वर्गीमें विभक्त किया गया है:-१. साद्दयगर्भ-उपमारूपक आदि, १२ विरोध गर्भ-विषय, विरोधाभास आदि ३. शृंखलाबन्ध-सार, एकावली आदि, ४. न्यायमूल-तर्वन्यामृल, कान्य-न्याय और लोकन्यायमूल काव्यलिंग, यथासंख्य आदि ५. गूढार्थप्रतीतिमूल-पर्यायोक्ति आदि। विस्तारके लिए दे० 'अलंकारोका वर्गाकरण।'

अलंकारोके स्वरूप और संख्याके विकासके साथ-साथ, आचार्योंके मतवैषम्यके कारण, अलंकारेंकी नामावलीमें भी परिवर्तन हुआ है। आचार्य दण्डी उपमेयोपमाको अन्यो-

न्योपमा, सन्देहको संश्योपमा, मीलित और तद्गुणको एक ही मीलनोपमा, समासोत्तिको छायोपमा, व्यतिरेक और प्रतीपको उत्कर्षोपमा कहते है। कृतिपय आचार्य अतिश-योक्ति और अत्यक्तिको एक ही नामसे अभिहित करते है। भामहने रसवत् , प्रेय, ऊर्जस्वी अलंकारोमे ही रसका अन्त-र्भाव कर लिया है-- 'रलवत् रसपेशलम्'। दण्डीने भी रस-वत् अलंकारमे ही आठों रसोको समाविष्ट कर दिया है। वामनने रसको कान्ति नामक एक गुण माना है-'दीप्त-रसत्वं कान्तिः'। —वि० स्ना० अलंकार (वर्गीकरण) - सामान्यतः वक्तव्यकी विभिन्न चमत्कारपूर्ण विधाओको अलंकार संज्ञा दी गयी है। कथनके प्रकार अनन्त है, अतः अलकारोकी निश्चित संख्याका निर्धा-रण अथवा उनका संकलित वर्गविभाजन नहीं किया जा सकता । अभिनवग्रप्तके अनुसार किसी वक्तव्यको सामान्य जनताकी साधारण बोलचालसे भिन्न, विचित्र और चमत्कार-पूर्ण शैलीसे कहना ही अलंकार है। यह उक्तिभैचिन्य अनेक प्रकारका होता है, अतएव उक्तिवैचिन्यकी अनेकताके आधारपर भिन्न-भिन्न प्रकारके अलंकारोकी स्थिति सम्भव है। इस उक्तिवैचिन्यकी विभिन्नताके आधारपर ही आचार्योंने अलंकारीका नामकरण किया है—'यश्रायमुपमाइलेषादिर-लंकारमार्गः प्रसिद्धः स भिणतिवैचित्र्याद्धपनिवध्यमानः स्वथमेवानवधिधंत्ते पुनः शतशाखताम्' (ध्वन्यालोक)। अर्थात यह जो उपमा तथा क्लेष आदिका अलंकार-मार्ग

प्रत्येक अलंकारमे उक्तिवैचिन्यको विभिन्नता होनेपर भी कुछ अलंकारोकी कुछ मूलभूत प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिनके आधारपर अलंकारोंको भिन्न-भिन्न वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय, प्रतीप आदि अलंकार साह्य्यमूलक तत्त्वोपर आधारित है। इन अलंकारोमे साह्य्य कहीपर वाच्य रहता है और कहीपर प्रतीयमान (न्यंग्यार्थक्एमें), अतः अलंकारोंके पृथक्-पृथक् वर्ग अपने पृथक्-पृथक् मूल तत्त्वोपर आश्रित हैं।

प्रसिद्ध है, वह कथनकी विचित्र योजनासे स्वयं सैकड़ों

असीम शाखाओमे विस्तृत होता है।

अलंकारोंके वर्गांकरणका मूल बीज भामहमें था, किन्तु वर्गोंका प्रत्यक्ष निर्देश सर्वप्रथम उद्भटमे प्राप्त होता है। उनके द्वारा निरूपित अलंकारोंका विषयानुसार वर्गोंकरण इस प्रकार है—प्रथम वर्गः ८ अलंकार—पुनरुक्तवदाशास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (४ शब्दालंकार और ४ अर्थालंकार)। द्वितीय वर्गः ९ अलंकार—अध्येष, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिश्योक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। वृतीय वर्गः ३ अलंकार—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। चतुर्थं वर्गः ७ अलंकार—प्रेयस्वत्, रसवत्, अर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्रिष्ट। पंचम वर्गः ११ अलंकार—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। षष्ठ वर्गः ६ अलंकार—सन्देह, अनन्वय, संस्रष्टि, भाविक, काव्यलंग, इष्टान्त।

यद्यपि ये अलंकारवर्ग अलंकारोंके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका द्योतन नहीं करते, किन्तु ये भिन्न-भिन्न

प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व करते है। भामह (६ २१० ई०)के समयमे अलंकारविषयक चार विभिन्न विचारधाराओंका प्रचल्लन था। भामह और उद्भट (८ २१० ई०)के बीचमे दो अन्य वर्ग-मान्यताओका उद्भव हुआ। इस प्रकार उद्भटका वर्गोकरण वैज्ञानिक दृष्टिसे भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार-सम्प्रदायोका व्यापक चित्र अवस्य माना जा सकता है।

वस्तुतः रुद्रट अपने 'कान्यालंकार' (९ श० ई०)मे सर्व-प्रथम अलंबारोंका वैज्ञानिक वर्गीकरण करनेवाले है। उनकी अलंकार-सख्या उस समयतकके सभी आचार्योसे अधिक है। उन्होंने सर्वप्रथम अलंकारोके मूल तत्त्वोंपर विचार करते हुए अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारोको चार वर्गीमें विभक्त किया है। वास्तव, औपम्य, अतिशय और क्लेष। रुद्रटने निःशेष अलंकारोंको इन्हीका विशेष (रूपान्तर) स्तीकार किया है। वस्तके स्वरूपका कथन वास्तव है— 'वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनम् यत्' (कान्या-लंकार, ७:१०)। 'वास्तव'के २३ विशेष है—सहोक्ति, सम-चय, जाति, यथासख्य, भाव, पर्याय, विषय, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली। इस वर्गको प्रथम स्थान देनेका कारण कदाचित यही हो सकता है कि इसके भेदोकी सख्या सर्वाधिक है। औपम्य-जहाँ किसी वस्तुके स्वरूपका अधिक स्पष्टताके साथ वर्णन करनेके लिए अप्रस्तुत योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान दूसरी वस्तुका वर्णन किया जाय, वहाँ 'औपम्य' अलंकार होता है। इसमे स्वरूपसाम्य होता है— 'सम्यक्त्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति' (वही ८:१)। इसके २१ भेद है-उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अप-हुन्ति, संश्य, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्वसहोक्ति, समुचय, साम्य और सरण । अति-शय-जहाँ अर्थ और धर्मके नियमोंका विपर्यय हो, वहाँ 'अतिराय' अलंकार होता है। 'यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धि-बाधाद्विपर्ययं याति' (वही : ९, १) । पूर्व, असंगति, पिहित, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, व्याघात, अहेतु अति रयके ये १२ भेद होते है। रलेष-जहाँ अनेकार्थ पदोंसे एक ही वाक्य अनेक अर्थोका बोध कराता है,- 'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकरिमन्। अथे कुरुते निश्चयमर्थस्लेपः स विज्ञेयः (वही, १०:१)। अर्थक्लेषके दस भेद हैं:-अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास। रुद्रटका यह वर्गीकरण यथार्थ एवं स्पष्ट नही है, क्योंकि इसमे अलंकारोके मूल तत्त्वोंका सम्यक निरूपण नहीं हुआ है।

रुद्रके उपरान्त रुय्यक (१२ श॰ ई०) और उनके शिष्य मंखकने 'अलंकारसर्वस्व'मे अलंकारोंका जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह उनके मूल तत्त्वोंपर आधारित है। उससे अलंकारोंके मूल तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान स्पष्टरूपेण हो जाता है। अतः यह वंगींकरण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं युक्ति-युक्त है। रुय्यकने अपने द्वारा निरूपित अर्थालंकारोको पाँच विभक्त किया है—? साद्दयगर्भ, २. विरोधगर्भ, १. मूंखलाबद्ध, ४. न्यायमूल (तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल अधेर लोकन्यायमूल), ५. मूंगर्थ प्रतीतिमृल । स्थ्यकने इनके भी अवान्तर मेद दिये हैं। जिनके भीतर अन्य अलंकारोंका समाहार होता है।

 साहक्यगर्भ-इसमें २८ अलंकार आते है। इनका मूलाधार साधम्यं है। साधम्यंका वर्णन तीन प्रकारसे किया जाता है। (क) भेदामेदतुल्यप्रधान, (ख) अभेद प्रधान, (ग) भेट प्रधान । इसके अतिरिक्त यह साधर्म्य कहीं वाच्य रहता है और कहीं प्रतीयमान । अतएव इन २८ अलंकारोमे, जहां जिस प्रकारका साधर्म्य रहता है, तदनुसार इनका अवान्तर वर्गीकरण भी रुव्यकने किया है। इनका विस्तृत विवेचन और विइलेषण इस प्रकार है। (क) भेदाभेदतुल्यप्रधानमें चार अलंकार आते है:-उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण । इन अलंकारोंमें उपमेय और उपमानके साधर्म्यमें भेद नहीं होता, तुल्य साधर्म्यकी स्थिति रहती है। अतः इनका मूलाधार भेदाभेदतुल्यप्रधान साधर्म्य है। (ख) अभेद-प्रधानमें आठ अलंकार आते हैं:-जिनमेंसे ६ आरोपमूल हैं और दो अध्यवसायमूल। आरोपमूल अलंकार रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपहुनुति हैं। अध्यवसायमूलके अन्तर्गन उत्प्रेक्षा और अनिशयोक्ति अलंकार आते हैं। रूपकादि इन आठ अलंकारोंमें उपमेय-उपमानके साधर्म्यमें अभेद कथन कया जाता है। अतएव इनका मलाधार अभेदप्रधान साधर्म्य है। इनमें भी रूपकादि ६ अलंकारोंमें उपमेयमें उपमानका आक्षेप किया जाता है, अतः आरोपका प्राधान्य रहता है और उत्प्रेक्षामें अनिश्चित रूपसे तथा अतिश्योक्तिमें निश्चित रूपसे उपमेयमें उपमानका अध्यवसाय किया जाता है। अतः ये दोनों अध्यवसाय-मूलक हैं। (ग) गम्यमान औपम्य—इसके अन्तर्गत १६ अलंकार आते हैं:-तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति, समासोक्ति और परिवर, इलेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तर-न्यास, व्याजरति और आक्षेप। इन तुल्ययोगिता आदि १६ अलंकारोंमें उपमेय-उपमानभाव अथवा औपम्य प्रतीय-मान अथवा व्यंग्य रहता है, वाच्य नहीं। अतः इनका मूलाधार गम्यमान औपम्य है। फिर यह तत्त्व (गम्यमान औपम्य) इन अलंकारोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें निहित रहता है। दीपक और तुल्ययोगितामें उपमेय या उपमानोंका अथवा दोनोंके एक धर्मका कथन एक ही पदमें किया जाता है। अतः इनमें पदार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शनामें वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य होता है। व्यतिरेक और सहोक्तिमें उपमेय और उपमानके पारस्परिक भेदमें गम्यमान औपम्यकी स्थिति मान्य है। विनोक्तिको सहोक्तिके विरोधी होनेके कारण इस वर्गमें समाविष्ट किया गया है। समासोक्ति और परिकरमें विशेषण वैचिन्यगत गम्यमान औपम्य और इलेषमें विशेषण विशेष्य वैचित्र्यगत गम्यमान औपग्य रहता है। अप्रस्तुतप्रशंसाको, समासोक्तिके विरोधी होनेके कारण अर्थान्तरन्यासको अप्रस्तुतप्रशंसाके सजातीय होनेके कारण अस्ताय प्रभगोः कारण इस। वर्गने निर्मित किया गपा है।

२. विरोधम्लक अलंकार - एमं १२ प्रत्यार आते हैं। विरोध, विभावना, विशेषोित्त, मम. विवित्र, अधिक, अन्येग्य, विशेष, त्यापात, प्रतिश्रते। ति विशेष, त्यापात, प्रतिश्रते। ति विशेष, त्यापात, प्रतिश्रते। ति विशेष, त्यापात, प्रतिश्रते। ति विशेषात्मक वर्णन हैं। 'सम' अलंकार यद्यपि विरोधमूलक नहीं हैं, किन्तु 'विषम'का विरोधी होनेके कारण इसी वर्गमें रखा गया है।

३. श्रंखलाबंध अलंकार – इस वर्गमें चार अलंकार है, जिनमें एक पद या वाक्य, श्रंखलावत दूसरे पद या वाक्यसे सम्बद्ध रहता हैं। स्पष्टतः इनकी मृल प्रवृत्ति श्रंचलामलक है: कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

४. न्यायमूल अलंकार - इसमें १७ अलंकार आते हैं। ये सभी तर्क आदि विभिन्न न्यायोंपर अवलिनत हैं। (क) तर्कन्यायम्लक—इस वर्गमें दो अलंकार हैं: काव्यलिंग और अनुमान। (ख) काव्यन्यायम्लक—इन्तें वाक्यन्यायम्लक भी कहते हैं। ये आठ अलंकार हैं: यथा-संख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि। (ग) लोकन्यायम्ल—इनमें ७ अलंकार आते हैं: प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

५ गूढ़ार्थप्रतितिमूल अलंकार - उनमे गृढ़ अर्थकी प्रतीति होती है। गृढ़ार्थके प्रतिपादक तीन अलंकार हैं— सहम, ज्याजोक्ति और वकोक्ति। इनके अतिरिक्त स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर—ये पाँच अलंकार एवं रस और भावसे सम्बन्धित रसवत्, प्रेयस्, उर्जन्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता—इन सात अलंकारोंको रुय्यकने किसी वर्गमें नहीं रखा है।

विद्याधर (१४ द्या० ई०)ने 'एकावलीसार'में अलंकारोका स्थूल और स्थूम—दो दृष्टियोंसे वर्गाकरण किया है। स्थूल रूपस अलंकारोंको चार वर्गोंमे विभक्त किया है। स्थूल रूपस अलंकारोंको चार वर्गोंमे विभक्त किया है: १: वस्तु-प्रतीति—समासोक्ति, आक्षेप आदि, २: औपम्यप्रतीति—स्पक्, उत्प्रेक्षा आदि, ३: रसभावप्रतीति—रमवत, प्रेय आदि, ४: अस्पु-द्यतीति—उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार आते हैं। स्थूम रूपमे विद्याधरने अलंकारोंको नौ वर्गोंमें विभक्त किया है—१: साधम्यंम्ल, २: अध्यवसायमूल, ३: विरोधमूल, ४: वावयन्यायमूल, ५: लोक व्यवहारमूल, ६: तर्कन्यायमूल, ७: शृंखलावैनिध्यमूल, ८: अपह्वमूल और ९: विरोधणवैचिध्यमूल।

हिन्दी साहित्यशास्त्रके उपलब्ध प्रन्थों में अलंकारोंका जो वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन किया गया है, वह अधिकांश में संस्कृत साहित्य-शास्त्रीय प्रन्थों के आधारपर है। हिन्दी में केशवदासने 'कविप्रिया' (१६०० ई०) में नवम प्रभावसे लेकर १६वें प्रभावतक अलंकारोंका विवेचन किया है। इनकी संख्या ३७ है, भेदोंका अलगसे परिगणन नहीं किया। इनके आठ वर्ग बनाकर आठ प्रभावों में रखा गया है। इस विषयमें कहीं कोई संकेत नहीं मिलता कि इन अलंकारोंका कम किसी नियमपर आधारित है अयवा नहीं और इस वर्गीकरणका आधार क्या कोई विशेष सिद्धान्त है? केशवदात 'अलंकार प्रकरण' में अधिकांश रूपमें दण्डी से प्रभावित हुए

हैं। इनके द्वारा निरूपित अलंकारोंका वर्गांकरण और क्रम इस प्रकार है: नवम प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा—६ अलंकार। दशम प्रभाव—आक्षेप-१। एकादश प्रभाव; क्रम, गणना, आशिष, प्रेय, इलेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, उर्जस्वत, रसवत, अर्थान्तरन्यास, व्यितरेक, अपह्नृति—१३। द्वादश प्रभाव:—उक्ति-वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्याअतिनदा, अमित, पर्यायोक्ति, सहोक्ति), व्याअत्वत्ति, व्याअतिनदा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्तः—८। त्रयोदश प्रभाव-समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलका, परिवृत्तः—८। चतुर्वश प्रभाव-उपमाः—१। पंचदश प्रभाव-यमक-१। षोडश प्रभाव;—विन्न-१। स्पष्टतः केशवदासका वर्गांकरण उतना ही अनैशानिक है, जितना कि उद्घटका।

हिन्दीमें अलंकारोंके वर्गीकरणका दूसरा प्रयत्न देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३ ई०)में किया है। उन्होंने मुख्य (४०) तथा गौण (१०) दो वर्गोंमे विभाजन किया है, पर ये भेद किसी विशेष आधारपर आश्रित नहीं जान पड़ते। किन्तु तीन प्रधान आधार माने जा सकते हैं:—१ एक ही आधारके दो अलंकारोंमेंसे एक मुख्य और दूसरा गौण कहा गया है, जैसे तद्गुण मुख्य तथा अतद्गुण गौण। २. अनुकरणीयको मुख्य तथा अनुकरणको गौण, रसवत् मुख्य तथा उसका अनुकरण गुणवत् गौण। ३. प्राचीन परम्परा, विशेषतः दण्डी-केशवकेअलंकार मुख्य, 'चन्द्रालोक' और विशेषतः 'कुवलयानन्द'के नये अलंकार गौण। इस प्रकार देवने जहाँ सरसता अधिक देखी है, वहाँ मुख्यता मान ली है, अन्यत्र गौणता (ओम्प्रकाशः 'हिन्दी अलंकार साहित्य', पृ० १३३)।

दासने 'कान्यनिर्णय' (१७४६ ई०)के तीसरे उल्लासमें ४४ अलंकारोंके ११ वर्ग बनाये हैं, परन्तु जब इनपर ८ वेंसे लेकर १८ वें उल्लासतक विचार किया है तब कविकथित ८६ अलंकारोंको लिया गया है। दासके वर्गीकरणका कोई मनोवैद्यानिक आधार नहीं है, अन्यथा उनके वर्गोंके साहदयमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक अलंकार अलग वर्गका प्रतिनिधित्व नहीं करते। पर ओम्प्रकाशके अनुसार 'यह मानना उचित है कि दासका उल्लासीकरण निर्मूल नहीं है, उसमें आकारसाम्य तो मनोगत रहता ही है'। आधुनिक युगमें रामदहिन मिश्रने प्रायः ख्यक तथा विद्याधरके वर्गीकरणको अपनाया है तथा अपेक्षाकृत यह प्रणाली वैज्ञानिक है।

इस प्रकार उपर्युक्त अलंकारोंकी विभिन्न वर्गीकरण-प्रणालियोंके विवेचनसे स्पष्ट होता है कि अलंकारशास्त्रमें समय-समयपर अलंकारोंके वर्गीकरणके प्रयत्न होते रहे, कभी मूलको दृष्टि में रखकर, कभी फलको और कभी खाचको; भौगोलिक विश्लेपणात्मक वर्गीकरण तो हुए, परन्तु ऐतिहासिक नहीं । भामहसे लेकर रुद्रपर्यन्त, बल्कि विद्याधरतक आचार्योंके वर्गीकरणसम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण हैं । किसीने स्कूलोंको ध्यानमें रखकर अलंकारोंका विभाजन किया तो किसीने उनको वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेषके ही विशेष भेद कहा, किसीने उनको उपमाका प्रपंच कहा, तो किसी आचार्यने भेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान आदि एक दर्जनसे भी अधिक वर्गोंका निरूपण

किया। वर्गीकरणोंकी इस अनेकतामें आचार्य रुय्यकका वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि उनका वर्गीकरण अलंकारोंके मूल तत्त्वोंके आधारपर अवलिवत होनेके कारण अधिक स्रष्ट और उपयुक्त है। उसमे एक-सूत्रताका भी प्राधान्य है। इसीसे यही वर्गीकरण प्रायः सर्वसम्मत दृष्टिसे मान्य है। ——वि० स्ना० अलंकारवाद—अलंकारको ही काव्यका सर्वस्य माननेकी

प्रवृत्ति । दे० 'अलंकार-सम्प्रदाय' । अलंकार-शास्त्र-वाड्ययके दो अंगो-काव्य और शास्त्र-मेंसे कान्यके शास्त्रीय अध्ययनको कान्य-शास्त्रको संज्ञा दी गयी है। इसीका प्राचीनतम नाम अलंकार-शास्त्र है। राजशेखरने अपनी 'कान्यमीमांसा'मे इस शास्त्रको 'साहित्य-विद्या'के नामसे अभिहित किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध चार विद्याओं - अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीतिके अति-रिक्त कोई पाँचवी विद्या नहीं है। 'साहित्य-विद्या' इन सब विद्याओंका निष्यन्द (सारभूत) है। यद्यपि 'साहित्य-विद्या' नाम सर्वथा उपादेय प्रतीत होता है, किन्त साहित्य-शास्त्र-में इसका विशेष प्रचलन न हो सका। वात्स्यायनने 'क्रिया'-का अर्थ 'कान्यग्रन्थ' और 'कल्प'का अर्थ 'विधान' मानकर इसे 'क्रियाकल्प'के नामसे अभिहित किया है। किन्तु 'अलंकार-शास्त्र' शब्द ही साहित्य-शास्त्रमें सर्वाधिक प्रचलन और महत्त्व पा सका। इनके अतिरिक्त 'सौन्दर्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र', 'काव्य-शास्त्र' आदि शब्द इसीके (अलंकार-शास्त्रके) समानार्थक है।

काव्यका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे अध्ययन आचार्योंने काव्यके उत्कर्षक अथवा प्रभावक धर्मको 'अलंकार' संज्ञा दी, क्योंकि उस धर्मकी चरम परिणति अलंकरण या सजावटमें थी। कालान्तरमें विकासानुरूप काव्यके उत्कर्षक धर्मके अन्य रूप भी आचार्योंको प्राप्त हुए, किन्तु दीर्घ काल-तक उन धर्मीका पृथक् उल्लेख न करके, आचार्यवर्ग उनका वर्णन 'अलंकार' नामसे ही करता रहा। तदपरान्त अलंकारका क्षेत्र संकीर्ण बन गया। इस प्रकार 'अलंकार'के विकासकी तीन प्रमुख स्थितियाँ है। प्रारम्भिक स्थितिमें अध्येताओंको काव्यके उत्कर्षक धर्मके केवल एक ही रूपका ज्ञान था, जिसको वे 'अलंकार' कहते थे। विकसित अवस्थामें 'अलंकार' शब्दका अर्थ विस्तृत हुआ और काव्यगत सम्पूर्ण सौन्दर्यमात्रका नाम 'अलंकार' पड़ गया । तीसरी अवस्थामें उत्कर्षक धर्मकी अन्य विधाएँ प्रतिष्ठित होकर स्वतन्त्र हुई और उन्हें भी 'अलंकार'के साथ शास्त्रीय अध्ययनकी प्रमुखता प्राप्त हुई। स्पष्ट है कि पहले अलंकार-शास्त्र सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र या काव्य-शास्त्रका समानाथीं रहा है, कालान्तरमें प्रचलित परे. 'अलंकार-सम्प्रदाय'का पर्याय नहीं रहा, जैसा कि अब माना जाता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्रके ऐतिहासिक क्रम-विकासके अध्ययन एवं अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि इस शास्त्रका गम्भीर अध्ययन एवं आलोचन ईसासे बहुत काल पूर्वसे प्रारम्भ हो गया था। निरुक्तकार यास्कने अपने भी पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यका 'उपमा'का वैज्ञानिक लक्षण देकर क्रम्बेदके अनेक मन्त्रोंको उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि यास्कसे पूर्व उपमाका विश्लेषण गार्ग्य

आदि आचार्यों दारा हो चुका था और वेदमन्त्रोंके अर्थमें उपमाकी व्याख्या की जाती थी। तदुपरान्त यास्क और भरतके मध्यवतीं समयमें 'अलंकार'के कतिपय शास्त्रीय शब्दोंके उल्लेख पाणिनिके सूत्रों, कात्यायनके वातिक तथा पत्रश्रिके भाष्यमें मिलता है। पाणिनिके समयतक उपमा-के चारों अंग विकसित हो चुके थे। पाणिनि द्वारा 'नटम्त्र'-के रचयिता शिलालि और क़शाश्वका उल्लेख भी इस शास-की प्राचीनताको सूचित करता है। द्वितीय शतकके रुद्रदामन् आदिके शिलालेखों में केवल अलंकृत भाषाकी ही प्रतिष्ठा नहीं है, उनमें 'अलंकार-शास्त्र'के कतिपय सिद्धान्तीकी ओर भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त भरतके नाट्यशास्त्र-का मूल अंश भी बहुत प्राचीन है। नाट्यशास्त्रका षोडश अध्याय 'अलंकार-लक्षण' है । यहाँ 'अलंकार' शब्द सामान्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, शास्त्रीय अर्थमें नहीं। अतः इस अध्यायमे उन विशेषताओंका उल्लेख है, जिनसे विभू-षित होकर काव्यबन्ध विशेष आकर्षक बन सकते हैं। इस अध्यायमें सर्वप्रथम ३६ कान्य-विभूषण हैं, फिर ४ अलंकार, १० काव्य-दोष और १० काव्यार्थ-गुण ।

आचार्य भरत (३ श० ई०) और भामहके बीचमें काव्य-शास्त्रके अन्य आचार्य भी हुए होंगे, जिनका संकेत 'काव्या-लंकार'में प्रयुक्त 'अन्यैः', 'कैश्चिद्', 'केचित्' आदि पदों तथा 'रामशर्माच्युत', 'मेथाविन्' 'राजमित्र' आदि नामोंसे प्राप्त होता है। किन्तु 'काव्यालंकार'से पूर्व इस विषयका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अस्तु, भामह अलंकार-शास्त्रके आदि आचार्य हैं (७ श० ई०) और उनके बाद अलंकार-शास्त्रके प्रमुख यन्थोंकी रचना क्रमिक रूपसे होती रही। कालक्रमानुसार आचार्य तथा उनके यन्थ इस प्रकार हैं—दण्डीका 'काव्यादर्श' (७ वी शती), उद्भटका 'काव्या-लंकारसारसंग्रह' (८ वीं शती), वामनका 'काव्यालंकारस्त्र' (९ वीं शतीका पूर्वीक्र), रुद्रस्का 'कान्यालंकार' (९ वी शतीका पूर्वार्ड), आनन्दवर्धनका 'ध्वन्यालोक' (९ वी शती-का उत्तराई), कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' (१० वी शती-का पूर्वार्द्ध,) भोजराजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (११ वी शतीका पूर्वोर्द्ध), मम्मटका 'कान्यप्रकाश' (११ वी शती), रुय्यकका 'अलंकारसर्वस्व' (१२ वीं शतीका पूर्वार्द्ध), जयदेव-का 'चन्द्रालोक' (१३ वीं शती), विद्याधरकी 'एकावली' (१४ वी शतीका पूर्वार्ड), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४ वीं शती), केशव मिश्रका 'अलंकारशेखर' (१६ वीं शतीका उत्तरार्द्ध), अप्पय दीक्षितका 'कुवल्यानन्द' (१७ वी शती-का पूर्वार्क) तथा जगन्नाथका 'रसगंगाधर' (१७ वी शती)।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्यके मध्ययुगके अलंकार प्रन्थोंका कालकम निम्निलिखित है—केशंवदासकी 'किविप्रिया' (सन् १६०१), जसवन्तसिंहका 'भाषाभूषण' (सन् १६४३), चिन्तामणिका 'किविकुलकलपतर' (सन् १६५०), मितरामका 'लिलतललाम' (सन् १६६१-६२), भूषणका 'शिवराजभूषण' (सन् १६७३), कुलपित मिश्रका 'रसरहस्य' (सन् १६७०), देवका 'भाव-विलास' तथा 'काव्यरसायन' (सन् १६८९ तथा १७०३), श्रीधरका 'भाषाभूषण' (सन् १७१०), रिक सुमतिका 'अलंकारचन्द्रोदय' (सन् १७२८), रघुनाथ-का 'रसिकमोहन' (सन् १७३९), गोविन्दका 'कणीमरण'

(सन् १७४०), दूलहका 'क्रान्तल्यःण्टाभरण' (सन् १७४३), निखारीदालका 'काव्यनिर्णय' (सन् १७४६), ऋषिनाथकी 'अलंकारमणिमंजरी' (सन् १७७४), रामिन्हका 'अलंकार-दर्णण' (सन् १७७८), सेवाहासका 'रघुनाथअलंकार' (सन् १७८३), पद्माकरका 'पद्माभरण' (सन् १८१०), कािचराजकी 'निवचनिद्दा' (सन् १८३२), गिरणरणः का 'मार्सान्भूषण' (मन् १८३३), लेखराजका 'गंगाभरण' (मन् १८७८), लिखरामका 'रामचन्द्रभूषण' (सन् १८९०), गुलाब सिंहका 'बनिताभूषण' (सन् १८९२), तथा गंगाधरका 'महेश्वरभूषण' (सन् १८९५)।

अधुनिक गद्ययुगमें मुरारिदानका 'जसवन्त जगोभूषन' (सन् १८९३), जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'कान्यप्रभाकर' (सन् १९०९), भगवान्त्रीनको 'अलंकागमंत्र्यः' (सन् १९१६), अर्जुनदास केटियाका 'मान्तीभृषण' (सन् १९३०), विहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (सन् १९३७) कन्हैयालाल पोद्दारकी 'अलंकारमंजरी' (सन् १९४५) नथा रामदहिन मिश्रका 'कान्यदर्पण (सन् १९४७)।

'अलंकारशास्त्र'के इस दीर्घकालीन इतिहासको हम तीन कालोंमें विभक्त कर सकते हैं—ध्यिनिपृर्काल, ध्यनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल। ध्यनिपृर्कालके आचार्य मामह, दण्डी, उद्भट, वामन तथा रहट हैं। इस कालमें अलंकारका हो सार्वभौम शासन रहा, काव्यके शेष धर्म अलंकारके ही रूपान्तर माने गये। मामह इसके आदि आचार्य है और रहट इस कालके समापवर्त्तक एवं उपसंहारक हैं। हिन्दीके आचार्य केशव इसी युगसे प्रभावित दिखाई देते हैं।

ध्वनिकाल खण्डन और स्थापनाका काल है। आनन्द्र-वर्धन, कुन्तक तथा महिम मट्ट प्रत्यक्षतः ध्वनिसे सम्बन्धित है। इस युगमें अलंकारका विवेचन न होकर अलंकारका स्थान निर्धारित करनेका प्रयास हुआ। स्वरचित उदाहरणों-की अपेक्षा वृत्तिका प्रचलन हुआ। प्रत्येक प्रन्थके तीन अंग हो गये—मूल, वृत्ति तथा उदाहरण। मूल स्वरचित होता था, उदाहरण प्रायः परकीय और वृत्ति कुछ स्वकीय और कुछ परकीय। इस शैलीका नाम आचार्यत्व पडा, जिसकी धारा जगन्नाथतक मिलती है।

ध्वन्युत्तरकाल अपने पूर्ववर्ती कालोका ऋणी है। मम्मट, रूय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ रौलीकी दृष्टिंग ध्वनिकालसे प्रभावित हैं। जयदेव, केशव मिश्र तथा अप । दीक्षित आदि ध्वनिपूर्वकालके सहवर्गी हैं। यह काल पूर्वप्रवृत्तियोंका प्रतिफलनमात्र है। हिन्दी आचार्योंने ध्वनिपूर्वकालसे शैली तथा ध्वन्युत्तरकालसे सिद्धान्त लेकर अपने आचार्यत्व और कवित्वको उद्भावना की।

हिन्दी साहित्यके रीतिकालीन आचार्य केशव, चिन्ता-मणि आदि यद्यपि मूलतः अलंकार-सम्प्रदायके प्रतिष्ठापक है, तथापि अधिकांश आचार्योंने काव्यमें रसके महत्त्वको स्वीकार किया है।

आचार्योंकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति और अतिशय अध्यय-सायके कारण भारतीय अलंकारशास्त्रको आज विवेचनात्मक साहित्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त हैं। हिन्दीमें केशवदासको अलंकारवादी कवि माना जाता है, किन्तु उनकी काव्य परम्पराका परवर्ती किवियों द्वारा अनुगमन नहीं हुआ, अतः हिन्दीकी अलंकार-परम्पराके परवर्ती आचार्योमें कुल-पित आदिका नाम प्रमुख है। विशेषके लिए दे०—'अलंकार'। —िवि० स्ना० अलंकार सम्प्रदाय से तात्पर्य उन लेखकोंकी परम्परासे हैं, जिन्होंने रस और ध्वनि-सिद्धान्तीके प्रतिष्ठित हो जानेके पूर्व अथवा पश्चात् 'अलंकार'को ही काव्यकी उत्कृष्टताका प्रमुख साधन माना है। अलंकारका काव्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है, किन्तु अलंकार ही काव्यका प्रमुख आकर्षण है, इसको कतिपय आचार्योंने माना है। इस मतका पोषक आचार्यवर्ग अलंकार-सम्प्रदायके नामसे पुकारा जाता है।

उपर्युक्त अलंकार-मतके संस्थापक आचार्य भामह (७ श् ई०) है तथा इस मतके पोषक है। भामहके टीकाकार आचार्य उद्भट (८ श० ई०), दण्डी (७ श० ई०), रुद्रट (९ श० ई०), जयदेव (१३ श० ई०) अप्पय दीक्षित (१७ श् ई०) और प्रतिहारेन्द्रराज (१० श० ई०) भी इसी मत-के अनुयायी हैं। हिन्दीमें इस रूपमें सम्प्रदायके अन्तर्गत आनेवाले कवि-आचार्य कम है। केशव (१६-१७ श० ई०), जसवन्त सिंह (१७ श० ई०), भूषण (१७ श० ई०), दूलह (१७-१८ श० ई०) जैसे कुछ आचार्योंने अलंकारको विशेष महत्त्व दिया है, यद्यपि अन्य अनेक रीतिकालके आचार्य-कवियोंने अलंकारोंका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। पर इनमें चिन्तामणि (१७ श० ई०), मतिराम (१७ श० ई०), कुलपति (१७ श० ई०), देव (१७-१८ श० ई०), दास (१८ श० ई०) आदि आचार्यीने अलंकारींको रसादिकके साथ स्वीकार किया है, यद्यपि रीतिकालीन काव्यकी सामान्य शैली अलंकृत तथा वैचित्र्यपूर्ण है।

भामहके अनुसार अलंकार ही कांव्यका अनिवार्य प्राण-तत्त्व है। उनका अभिमत है कि प्रकृत कान्त होनेपर भी बनिताके मुखपर भूषणके बिना जिस प्रकार आभा नही आती, उसी प्रकार नितान्त प्रकृत रूपसे वाणीमे चारुता नहीं आती। वाणीकी अलंकृतिके लिए वकाभिषेय शब्दोक्ति इष्ट है। दण्डीके मतमें कांव्यके पोषक अंगोको 'अलंकार' शब्दके द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराजने भी अपने ग्रन्थोंमें अलंकारको प्रधानता दी है। पीयूषवर्ष जयदेवके 'चन्द्रालोक'मे अलंकारको अनिवार्यता बडे जोरदार शब्दोंमे घोपित की गयी है। इनके अनुसार अलंकार कांव्य-का प्राणतत्त्व है। प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकारको अल्यधिक प्रतिष्ठा देनेकी बात रुद्रटने भी अपने 'अलंकार-सर्वस्व'मे 'तदेवमलंकार एव कांव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम' (६) इस कथनके द्वारा प्रमाणितको है।

कालक्रमसे अलंकारोंकी संख्याके समान अलंकारोके स्वरूपमें भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है। उनमें 'वक्रोक्ति' अलंकारका क्रमरः विकसित स्वरूप द्रष्टव्य है। आहाचार्य भामह वक्रोक्तिको समस्त अलंकारोंका प्राणतत्त्व मानते हैं। उन्होंने ऐसे अलंकारकी कल्पना भी नहीं की, जो वक्रोक्तिसे वियुक्त हो। वक्रार्थकी विधायक शब्दोक्तिको ही उन्होंने अलंकार कहा है और वे इसके विना अलंकारकी स्थिति स्वीकार नहीं करते—'सेषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थी विभाव्यते। यत्नोऽस्यां किवना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥' (काव्या-लंकार, २:८५) । वामनने इसीको अर्थालंकार कहा है और रुद्रटने इसे शब्दालंकारोके वर्गमे रखा है । अलंकार-सम्प्रदायके आचार्योंके आलंकारिक विवेचनके अनुशीलनसे स्पष्ट होता है कि यद्यपि इस विवेचनामें मौलिकता है, किन्तु उनमें विकास अधिकांश अलंकारोंकी संख्याका अथवा परिभाषाका ही देखनेमे आता है, अलंकारका काव्यपर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, इस विषयपर गम्भीर एवं गवेषणात्मक अध्ययन प्रायः किसीने नहीं किया । इस सम्प्रदायके आचार्योंने अलंकारको काव्यका अनिवार्य अंग सिद्ध करनेके निमित्त खमावोक्तिको भी अलंकारमें समाविष्ट कर लिया है ।

इस सम्प्रदायके अनुवर्ती आचार्योंने अलंकारोंका वर्गी-करण करते समय उनके मूल तत्त्वोपर भी विचार किया है। अलंकारोंके विभागके लिए कतिपय सिद्धान्त भी निश्चित किये है। अलंकारोंके वर्गीकरणके वैज्ञानिक स्वरूपका सर्व-प्रथम निर्देश हमे रुद्रटके 'काव्यालंकार'में मिलता है। इस विषयमे आचार्य रुप्यक और विद्याधरका निरूपण बडा ही युक्ति-संगत, मौलिक और वैज्ञानिक है। इस सम्प्रदायकी प्राचीनताका आभास इसी तथ्यसे मिलता है कि हमारे समस्त आलोचना-शास्त्रका प्राचीनतम नाम इसीके नामानु-रूप अलंकार-शास्त्र है।

अलंकारको ही काव्यका , सर्वस्व मानकर चलनेवाले आचार्योंने अपने अलंकार-यन्थोंमे रसका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख न कर उसे काव्यके प्राणभूत अलंकारका ही एक प्रकार माना है। उन्होंने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाविष्ठ कर दिया है। इस तथ्यके प्रमाण भामह, दण्डी, उद्भट और रहटके अलंकार-प्रनथ है, जिनमें उन्होंने प्रेय, रसवत् आदि अलंकारोंके द्वारा रसके समप्र विषयका उल्लेख किया है। मामह स्पष्ट रूपसे लिखते है कि जहाँ शृंगारादि रसोकी प्रतीति स्पष्ट रूपसे होती है, वहाँ रसवत् अलंकारकी सत्ता नहीं मानी जा सक्ती। इसी प्रकार दण्डी, उद्भट तथा रहटने भी काव्यमे रसका निवेश विशेष यलसे करनेका आदेश दिया है। सारांश यह कि उपर्युक्त आलंकारिक रसन्तकों अलंकारका ही एक रूप मानते हैं।

इन आचार्योंने काव्यमे प्रतीयमान अर्थकी महत्ताको भी स्वीकार किया है। रुव्यक्तने स्पष्ट रूपसे लिखा है कि भामह तथा उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थको वाच्यका पोषक मानकर उते अलंकारको भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है। इन आचार्योंने ध्वनि और प्रतीयमान अर्थको काव्यका मूल तत्त्व नहीं माना है और न ही ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदोंका अपने अलंकार-प्रन्थोंमें प्रयोग किया है। इन्होंने समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, आक्षेपके भीतर प्रतीयमान अर्थके अनेक प्रकारोंका समाहार कर दिया है। भामहने समासोक्ति अलंकार वही होता है, जहाँ किसी वस्तुका वर्णन होनेपर तत्समान विशेषणवाले अन्य अर्थकी प्रतीति होती है।

इसी प्रकार पर्यायोक्ति 'अलंकारमें वाच्यार्थसे सिन्न अन्य

प्रकारके समग्र अथोंका ग्रहण भामहको अभीष्ट है। स्पष्टतः इन अलंकारवादी आचार्योंने प्रतीयमान अर्थको स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न कर अलंकारविशेषमें ही उसका समाहार कर दिया था।

दण्डी और भामहने अलंकारका जो महत्त्व काव्यमें प्रति-पादित किया, वह किसी न किसी रूपमें परवर्ती युगोंतक मान्य रहा है। हिन्दी साहित्यके रीतिग्रन्थोंमें अलंकारवाद-का समर्थ प्रतिपादन तो नहीं है, पर जैसा कहा गया है, यह उसकी शैलीगत विशेषता अवस्य रही है। अधिक 'अलंकार' तथा विस्तारके लिए दे० —वि० स्ना०। शास्त्र'। अलंकार्य-किसी पदार्थ या वस्तुके स्वाभाविक वर्णनको अलंकार्य कह सकते हैं, अर्थात् स्वभाववर्णन ही अलंकार्य है। अलंकार और अलंकार्यके प्रभेदका विवादास्पद प्रश्न यद्यपि भारतीय काव्य-शास्त्रका नितान्त नवीन विषय नहीं है, किन्तु यूरोपमें अभिन्यंजनावादके प्रवर्तनके उपरान्त यह प्रश्न आधुनिक काव्य-शास्त्रमें विशेष चर्चाका विषय बन गया है। प्राचीन आलंकारिक भामह,दण्डी, वामन आदिने अलंकार और अलंकार्यमें अभेद स्थापित कर सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्यको 'अलंकार'में समाहित किया है—'कोन्यशोभा-करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' (कान्यादर्श, २:१) तथा 'सौन्दर्यमलंकारः' (कान्यालंकारसूत्र, १:१:२)।

स्पष्ट है कि इन आना गाँको अनुसार कान्य-शोभाके कारण अथवा पर्याय अलंकार है। इसीसे इन्होंने सम्पूर्ण रस-प्रपन्नको रसवत आदि अलंकारोंमें अन्तर्भृत कर दिया है। भामहके अनुसार कान्यका प्रस्तुत पक्ष चमत्काररहित होनेके कारण, कान्य न होकर वार्तामात्र है। '.. स्यांस्त हो गया,...चन्द्रोदय हुआ, पिक्षगण अपने-अपने नीड़ोंकों लौट रहे हैं... इत्यादि, यह क्या कोई कान्य है? इनको वार्ता कहते हैं' (कान्यालंकार, २:८७)। कान्यका यह प्रस्तुत पक्ष जब चमत्कृत हो जाता है, तो अलंकार बन जाता है। सारांश यह कि ये आलंकारिक कान्यके प्रस्तुत पक्ष सर्वथा निषेध तो नहीं करते, किन्तु उसमें कान्यत्वका समाहार नहीं करते। इस प्रस्तुत पक्षमें जब किसी भी प्रकारके सौन्दर्यका उन्मेष होता है, तो यह अपनी समग्रतामें अलंकारका पर्याय हो जाता है।

किन्तु रस और ध्वनि-सम्प्रदायके अनुयायियोंने शब्द-अर्थको प्रत्यक्षतः और रसको मूलतः अलंकार्य कहा है और उपमा-रूपकार्दिको अलंकारके नामसे अभिहित किया है। उन्होंने उपमा-रूपक आदि अलंकारोंको रस-रूप अंगीका उत्कर्ष-विधायक कहा है। दूसरे शब्दोंमें, उपमादि अलंकार रस-रूप अलंकार्यको अलंकृत करते हैं। मम्मट और विश्वनाथ-ने प्रकारान्तरसे इसी मतका समर्थन किया है—'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्। हारादिवदलंकारास्ते…' (काव्यप्रकाश, ८:६७)। अर्थात् हारादि आमृषण जिस प्रकार स्थूल रूपसे शरीरको शोभित करते हुए मूलतः आत्माका उत्कर्ष करते हैं, उसी प्रकार अलंकार प्रत्यक्ष रूपसे शब्द-अर्थको अलंकृत करते हुए मूलतः रसका संवर्द्धन करते हैं। अतएव इस सिद्धान्तके अनुसार उपमादि अलंकार है और शब्द प्रत्यक्षतः तथा रस मूलतः अलंकार्य है।

कुन्तकने अलंकार और अलंकार्यकी पृथक्ताका निवेश अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें किया है। उनके अनुसार स्वभाव-वर्णन ही अलंकार्य है। यदि इसीको अलंकार कहें, तो फिर स्वभाववर्णनसे भिन्न कौन-सी वस्तु है, जो अलंकार्य है? कान्यमें अलंकार्य शरीरस्थानीय है। यह शरीर ही यदि अलंकार बन जाय, तो वह उस अलंकारसे पृथक् दूसरे किस अलंकार्यको अलंकत करेगा ? स्वभाववर्णन अलंकार्य भी हो और अलंकार भी, यह सर्वथा असम्भव कल्पना है। कुन्तकके अनुसार शब्द और अर्थ अलंकार्य होते हैं और चतुरतापूर्ण शैलीसे कथनरूप वक्रोक्ति ही उन दोनों (शब्द और अर्थ)-का अलंकार होती हैं – 'उमावेतावलंकार्यों तयोः पुनरलंक्कतिः। वैदग्ध्यमंगीमणितिरुच्यते' (वक्रोक्तिजीवित, १:१०)। हिन्दीमे रामचन्द्र शुक्रने भी काव्यके प्रस्तुत अर्थको अलंकार्य कहा है। उनके अनुसार अलंकार्य और अलंकारमें अनिवार्य भेद है, जो सर्वथा अमिट है। प्राचीन-पाश्चात्य काव्य-शास्त्रमें भी इस तथ्यको इसी रूपमें स्वीकृत किया गया है। अरस्तूसे लेकर आर्नल्डतक यह मान्यता प्रायः अक्षुण्ण रही है। उदाहरणके लिए-'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग; खिला हो ज्यों विजलीका फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग। (कामायनी-'श्रद्धा' सर्ग)। इसमें श्रद्धाका रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और यही अलंकार्य है। बिजलीका फूल अप्रस्तुत है। दूसरी ओर नीला उनका परिधान प्रस्तुत है और मेघ-वन अप्रस्तुत । सम्पूर्ण रूपसे, नील परिधानमें झलकता हुआ रक्तिम गौर अंग प्रस्तुत है और मेघ-वनमें खिला हुआ विद्युत्पुष्प अप्रस्तुत । यह अप्रस्तुत विधानरूप अलंकार श्रद्धाके रूप अलंकार्यका उपकारक है। अलक्षणीयतावाद — 'ध्वन्यालोक'मं उल्लिखित तीन ध्वनि-विरोधी मर्तोमें तीसरा । आनन्दवर्धनका कहना है—'केचित् पुनर्रुक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः'। लक्षण निर्माणमें अप्रगल्भवुद्धि किन्ही (तीसरे वादी)ने ध्वनिके तत्त्वको ('न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृद्धते'के समान) केवल सहृदय-हृदयसंवेद और वाणीके परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है (हिं० ध्व०, पृ० १४)। इस सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि जो तत्त्व वाणी द्वारा नहीं बाँधा जा सकता, जिसकी सम्यक् परिभाषा नहीं दी जा सकती, वह तो अपने इस लक्षणके कारण स्वतः ही महान् सिद्ध हो जाता है। इसीलिए इस तीसरे पक्षको अज्ञानमूलक कहा गया है। —उ० शं० शु० अलख-नाथपन्थी जोगियोंके वे गीत, जो भिक्षाके समय चिकारोंपर गाये जाते हैं। उत्तरभारतके सभी क्षेत्रोंमें 'अलख' उपलब्ध हैं । गोपीचन्द, भरथरी, गोरख और मैना-वतीकी कथाएँ अथवा निर्गुणी भावनाओंके द्योतक अलख गीत है। राजस्थान और मालवामें प्रायः अलख सुननेको --- इया० प० मिल जाते हैं। अलख निरंजन-दे० 'निरंजन'। अलौकिक श्रंगार-दे॰ 'श्रंगार'।

अरुप-अधिकमें अन्तर्भृत होनेवाला अर्थालंकार । यदि

आधेय छोटा और आधार बढ़ा हो, किन्तु फिर भी आधारको

अपेक्षाकृत छोटा (अल्प) वर्णित किया जाय तो 'अल्प' अलं-कार होता है। इसको सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने 'क्वलया-नन्द'में स्वीकार किया है और उन्हींके आधारपर हिन्दींके मतिराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने इसका विवेचन किया है। मतिरामके अनुसार इसकी परिभाषा है—'जहाँ सृक्तम आधेय तें, अति सृक्तम आधार।' (ल० ल०, २४०, अथवा- 'अलप अलप आधेय तें, सूच्छम होइ आधार' (का० नि०, ११) । उदा०—'मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छटति संक। ट्रट परै जिन भार ते, निपट पातरी लंक' (ल० ल०, २४२) । यहाँ आधेय 'मन' अति अल्प है, उससे भी अन्पतर है आधार 'कटि', अतः यहाँ अन्य अलंकार है। 'कान्यप्रकारा' अथवा 'साहित्यदर्पण'में अल्प अलंकारको स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है। 'काव्यप्रकाश'में 'अधिक'की परिभाषा यों है- महतोयन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात । आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ' (का॰ प्र॰, १०:१२८), अर्थात् यदि महान् आधेय एवं आधारके आधार एवं आधेय क्रमशः महत्तर वर्णित हो. यद्यपि वस्तुतः ये दोनो छोटे हों, तो वहां 'अधिक' अलंकार होता है। ऊपर दिये हुए उदाहरणमें 'लंक'से 'मन' वस्तुतः छोटा है, पर 'लंक'को बड़ा मानकर 'मन'को उससे भी बड़ा करिपत किया गया है, अतः इस दृष्टिसे यह 'अधिक' अलंकारका उदाहरण हुआ, और 'अल्प' अलंकार 'अधिक' अलंकारमें अन्तर्भत हुआ। पश्चाकरने इसका दूसरा भेद-'अलप अलप आधार ते, जह आधेय बखान।' माना है और उसका उदाहरण दिया है—'अति सूछम जो मन तहाँ। ता हुँ ते लघुमान' (पद्मा०, १५९)। भूषणने 'शिवराज-भूषण'में इसका उल्लेख नहीं किया है। — ४० व्र० शा० अवगलित-यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। यह दो प्रकारका होता है। प्रथम प्रकारका अवगलित वहाँ होता है, जहाँ एक ही किया द्वारा एक ही कार्यके समावेशसे दूसरे कार्यकी भी सिद्धि हो जाय। दूसरा अवगलित वहाँ होता है, जहाँ एक कार्यके प्रस्तुत होनेपर दूसरा ही कार्य सम्पन्न हो।

प्रथम प्रकारके अवगिलतका उदाहरण 'उत्तरराम-चितत'से दिया जाता है। वनिवहारकी दोहद इच्छावाली गर्भवती सीताको वनमें छोड़ दिया जाता है। यहाँ एक कार्यके समावेश(दोहदपूर्ति)से जनापवादके कारण वन-त्यागकी भी पूर्ति हो जाती है।

दशरूपककारने दूसरे 'अवगिलत'का उदाहरण 'छिलित-राम' नाटकसे दिया है, जो आज अप्राप्य है। राम पिताके वियोगमें विह्नल अयोध्यामें विमानसे न जाकर पैदल चलते हैं। ठीक सामने ही उन्हें जटाजूटधारी भरत दिखाई पड जाते हैं। यहाँ प्रस्तुतकी सिद्धि न होकर भरत-दर्शनकी सिद्धि होती है। —व० सिं० अवचेतन—अवचेतन 'उपचेतन'का समानार्थक हैं दि० 'मानस अवचेतन')।

अवज्ञा-विशेषोक्तिमे अन्तर्भूत होनेवाला अर्थालंकार, जहाँ एकके गुण-दोषसे दूसरेको गुण-दोष न होनेका वर्णन हो, वहाँ 'अवज्ञा' अलंकार होता है। यह अलंकार 'उल्लास' अलंकारके विपरीत है। 'उल्लास'में अन्यके गुण-दोषोंका

अन्यके द्वारा अंगीकरण है, 'अवज्ञा'में उनका अनंगीकरण अथवा न्यर्थता । संस्कृतके प्रमुख आचार्यीने इस अलंकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना है। न तो 'काव्यप्रकाश'में, न 'साहित्यदर्पण'में इसका उल्लेख है। 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'में इसे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। मति-राम, भूषण, दास तथा पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया है। मतिरामके अनुसार इस अलंकारकी परिभाषा है—'औरैके ग्रन दोषते औरैके ग्रन दोष' (ल० ल०, ३१७)। दासने इसके दोनों भेदोंके अलग लक्षण दिये हैं—'औरैके गुन औरको गुनन' तथा 'और दोष न औरको दोष' (का० नि०, १४)। उदा०-'मेरे दग बारिद बृथा, बरवत बारि प्रवाह । उठत न अंक़र नेहको, तो उर ऊसर मॉह' (ल० ल०, ३१९)। यहाँ एकके प्रेमका प्रभाव दूसरेपर न होना अर्थात् गुणसे गुणका न होना वर्णित है: यथा- "कहा भयो जो तजत है, मलिन मधुप दख मानि । सुबरन बरन सुबास जुत, चम्पक लहै न हानि । (वही, ३२०) । यहाँ मध्यके त्यागसे चम्पकको कोई हानि नहीं होती, अर्थात दोषसे दोषका न होना वर्णित है। भूषणने गुण तथा दोष दोनोकी अवज्ञा एक ही उदाहरण-में प्रदर्शित की है, यथा-"औरनके अनवादे कहा अरु बाढे कहा नहिं होत चहा है। औरनके अनरीझे कहा अरु रीझे कहा न मिटावत हा है" (शि० भू०, २८२)।

संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने इसका स्वतन्त्र उछेख इस कारण नहीं किया है कि वे इसका अन्तर्भाव 'विशेषोक्ति'में मानते है। कारणके रहते कार्यका न होना विशेषोक्ति और गुण-दोष (कारण)के रहते गुण-दोष (कार्य) न होना अवज्ञा है। दोनोंमें तास्विक अन्तर न होनेसे उद्बोतकारने 'अवज्ञा'को 'विशेषोक्ति'के अन्तर्गत माना है। — ४० इ० ज्ञा०

अवतरित लीला-दे॰ 'लीला'।

अवतार-अवतरणमवतारः (उच्च स्थानसे निम्न स्थानपर उतरना ही अवतरण या अवतार है)। भगवान्का बैकुण्ठ-धामसे भू-लोकपर लीलादिके निमित्त अवतार होता है। 'महाभारत'के हरिवंशपर्वमें अवतारके स्थानपर आविर्भाव शब्द प्रयक्त किया गया है (४१:१७-२०)। उनके अव-तारका उद्देश्य 'श्रीमद्भगद्गीता'के शब्दोंमें है-"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भ-वामि युगे युगे ॥" (अ० ४, श्लो० ८)। उत्पत्ति, स्थिति और लय (संहार) सृष्टिके शाइवत धर्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन धर्मीके प्रतिनिधि देवता है। विष्ण सृष्टि-पालनके प्रतीक होनेसे अधिक लोकप्रिय है अतः इन्हीके अवतारोकी अधिक कल्पना की गयी है। कहा जाता है कि बद्धकी देवताओंके समान गणना होनेके पश्चात्से ही अवतारवादका प्रचलन हुआ और पुराणोंने इसे पुरस्सर तथा प्रचारित किया। परन्तु अवतारोके बीज वैदिक सहित्य-में भी खोजे गये है। 'शतपथ ब्राह्मण'में मत्स्यावतार (२।९। १।१) तथा कूर्मावतार (७।३।३।५), 'तैत्तिरीय संहिता' (७।१।५।१) और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (१।१।३।५) एवं 'शत पथ बाह्मण' (शश्रापा १०)में वामनावतारका उहेख है। 'ऋग्वेद्व'में विष्णुकी तीन डगोसे सृष्टि नापनेकी कल्पना है (११९५४।२)। 'ऐतरेय ब्राह्मण' तथा 'छान्दोग्योपनिषद' (३११०)में देवकीपुत्र कृष्ण तथा 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१९११६)में वासुदेव श्रीकृष्णका उल्लेख हैं। देदिक प्रन्थोंमें इन्हें ब्रह्माका अवतार कहा है, परन्तु पुराणोमें ये विष्णुके अवतार माने गये हैं।

पुराणोमें विष्णुके अनेक अवतारोंकी कल्पना की गर्था है। प्रत्येक पुराणमें उनकी संख्या एक-सी नहीं हैं। किसीमें ६ हैं, किसीमें १२ और किसीमें १०। विष्णुके दस अवतार प्रसिद्ध हैं—जो कमानुसार इस प्रकार है—(१) मत्स्य, (२) कुमी, (३) वराह, (४) वामन, (५) नृसिंह, (६) परशुराम, (७) राम, (८) कृष्ण, (९), बुद्ध, (१०) वास्ति। इन दसमें राम और कृष्णके अवतार अति प्रसिद्ध हैं (दशावतार वर्णनके लिए दे० जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' प्रथम सर्ग, प्रवन्ध १)।

पुराणोमें भगवान्के कुल २४ अवतार विणत है। वे हें (१) नारायण (विराट् पुरुष), (२) ब्रह्मा, (३) सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, (४) नरनारायण, (५) किपल, (६) दत्तात्रेय, (७) सुयझ, (८) ह्यग्रीव, (९) ऋषभ, (१०) पृथ, (११) मत्त्य, (१२) कृर्भ, (१३) हंस, (१४) धन्वन्तरि, (१५) वामन, (१६) परशुराम, (१७) मोहिनी, (१८) नृसिंह, (१९) वेद्वन्यास, (२०) राम, (२१) वळराम, (२२) कृष्ण, (२३) बुद्ध, (२४) किल्का वे लीलान्तारके नामसे प्रसिद्ध हैं। सत्त्वावनारके रूपमें काल, न्वभाव, कार्यकारण, मन, पंचभूत, अहंबार, रज, तम, सत्निग्रुण, इन्द्रियाँ, ब्रह्मायुशरीर, स्थावर और जंगम जीवकी गणना की जाती है ('श्रीमद्भागवत', ६।२।७)।

निर्पुण सन्त कियोंने अवतारोंका निपेध किया, उन्हें उसी रूपमें नहीं प्रहण किया, जिस रूपमें सगुण उपासक कियोंने ग्रहण किया। सगुणोपासकोंके लिए ईश्वरावतार स्थूल प्रतीक है, जिसकी उन्होंने मानसिक और सेवामूलक उपासना तथा अर्चना की है। निर्पुणियोंने अपनी आध्यािसक अनुभूतिको जिसे 'गूंगेका गुड़' कहते हैं, लोकसामान्य बनानेकी दृष्टिसे राम, कृष्ण आदि अवतारोके प्रतीकोक माध्यमसे न्यक्त किया है। अवतार उनके अव्यक्त ब्रह्मके नाममात्र है। उन्होंने अवतार नामोंकी पुराणविषत लीलाओंपर आस्था नहीं प्रकट की।

कृष्णावतारकी ठीलाओंका चित्रण सुरकृत 'सूरमागर' तथा अन्य कृष्ण-सम्प्रदायके कवियोंकी कृतियोंकी तथा रामावतारकी ठीलाओंका वर्णन सुख्यतया गोस्वामी तुलसी-दासके 'रामचरिनमानस' तथा अन्य यन्थोंने मिलता है।

भगवान्के उपर्युक्त अवतारोंकी प्रकट लीलाका चित्रण ही भक्त कवियोका ध्येय रहा है। लीलाचित्रणमें उन्होंने अवतारिवशेषके सौन्दर्य, शील और शक्तिके विविध रूपोंपर ध्यान दिया है। यद्यपि निर्गुणी सन्तोंने अवतारोंका विरोध किया है; यथा—''लोका तुम्ह ज कहत हो गन्दको नन्दन, नन्द कहों धू का कौ रे १ धरान अकास दोऊ नहिं होते तब यह नन्द कहों थौ रे।।'' ('कबीर प्रन्थावली', का० ना० प्र०स्ण, पदसंख्या ४८)।

े तो भी जब ब्रह्मके प्रति प्रेमासक्तिवश उसका बड़प्पन सिद्ध करनेकी इच्छा जागरित होती है तब वे उसके अव- तारी 'गुणो' या कार्योंका भी स्मरण कर लेते हैं; यथा— 'मेरो वाषु माधव तू धनु केंमव संवर्तां विदुलाई। कर घरे चक्र बैकुण्ठ ते आये गज हस्तीके प्रान उधारीअले। दुहमामनको सभा द्रोपनी अम्बर लेत उबारीअले। गौनम नारि अहिलिया तारी पानिकि केनक तारीअले। ऐसा ऊधमु अजाति नाम देउ तउ सरनागन आटअले।।'' (नामदेय, पदमंख्या ३५)

"बंधि मारि आँ देहि जारि, जेहेराम छोड़ोनों मेरे गुरुहि गारि। तब बाढि खड़म कोध्यो रिसाइ, तोहि राखनहारन तोहि बनाइ॥ खम्मामे प्रत्ट्यो गिलारि, हरनाव स मार्यो नख बिदारि। महापुरुख देवाधिदेव, नरसिंह प्रगट विये भगति मेप॥ कहे कहीर कोई लहेन पार, प्रहिलादि उवान्यो अनेक बार।"

('कबीर ग्रन्थावली', का० ना० प्र० स०)।

भगवानको अवनारोंको गुण-माहातम्यका उल्लेख करनेम निर्गणियोंकी आपत्ति नहीं दिखाई देती पर वे अवतारोके प्रतिमापूजनका घोर विरोध करते हैं। कवीर वहते हैं-''कौन विचारि करन हो पूजा, आतम राम अवर नई। दृजा। बिन प्रतीत पानी भोड़े, ग्यान बिना देविल सिर फोड़े। लुचरी लपसी आप सँबारे, हारे ठाट्टा राम पुकारे। पर-आतम जो नत बिचार, कहि कबीर ताके बल्वहारे ॥" ('कबीर ग्रन्थावली', पदसंख्या १३५)। — वि० मी० श० अवतारवाद-अवतारवादकी धारणा कितनी प्राचीन है, इसके विषयमें विद्वानीको सन्देह हैं। सम्भवतः भक्ति एवं अवतारबादकी धारणा गाय-धी-माश विकसित हुई। इसी-लिए भक्तिके प्रचलनके पूर्व अवतार्वादके उल्लेक्ता अभाव है। अवतारोंका आरम्भिक संकेत 'शतपथ बाह्मण'में प्राप्त होता है। यहाँ क्रमशः बाराह (१४: १: २-११), भामन (१: २: ५), मत्स्य (१: ८: १) और कूर्म (७: ५: १) अवतारोंका उल्लेख मिलता है। यहाँ बाराहको पृथ्वी (प्रजा)-का पति अर्थात प्रजापति कहा गया है। पृथ्वी चीरके सहश अदृश्य थी-वाराहने ही उसका उद्धार किया। वामन अव-तारका सम्बन्ध विष्णुसे है। असरोसे देवोंके लिए पृथ्वी प्राप्त करनेके लिए यज्ञ रूप वामनने अपने शरीरका विस्तार किया था। यहाँ विष्णु-यद्यके प्रतीक माने गये हैं। मत्स्य एवं कुर्मका सम्बन्ध प्रजापतिसे ही है। वामन, वाराह एवं कुर्म-सम्बन्धी यही कथाएँ 'तैत्तिरीय संहिता' तथा 'जैमिनीय ब्राह्मण'में मिलती हैं। इन उल्लेखोंसे दी तथ्य स्पष्ट रूपसे निकलते हैं। प्रथम यह कि अवनार्वादकी धारणाका ॰यापक प्रचार नहीं था और दूसरे, आरम्भमें सामान्य रूपसे इसका प्रजापतिसे अधिक सम्बन्ध था। बादमें वैष्णव भक्तिके साथ अवतारविषयक धारणाकी पृष्टि होनेपर प्रजापतिके अवतारोंको विष्णुका अवतार मान लिया गया। विष्णुके अवतारोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है-

१. पशुयोनि—'शतपथ ब्राह्मण'में विष्णुके वाराह, कूर्म और मत्स्य-अवतारोंका उल्लेख हुआ है। 'तेत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है, कि यह पृथ्वी शतभुजाओं वाले स्याम वाराहके द्वारा उठायी गयी। वामनकी 'शतयथ ब्राह्मण'- की कथामें 'वामनो हि विष्णुरास'का उल्लेख है। वस्तुतः विष्णुकी परवर्ती महत्ताके कारण इनका सम्बन्ध विष्णुसे

जोड दिया गथा। 'गीता'के दशवें अध्यायमें शक्तिकी विशिष्ट-ताको वोन्छ मानकर कृष्ण स्वयंको नागोंमे शेष, पशुओंमे मृग-राज, पक्षियोमें गरुड़ एवं मत्स्योमे 'मगरमच्छ' तो कहते है, किन्तु इन अवतारोका संकेत नहीं करते। फिर भी 'यदा यदा हि धर्मस्य' इलोकमें अवतार विषयक धारणाका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। पशु योनिके अवतारका उल्लेख सर्वप्रथम-'महाभारत'के अन्तर्गत 'नारायणीयोपाख्यान'मे हुआ है। यहां क्रमशः ६ तथा १० अवतःरोमे वाराह, कूर्म एवं मत्स्य है। परन्तु आर० जी० भंडारकर इसे प्रक्षिप्त मानते है। इन अवतारोंका उल्लेख वाल्मीकि रामायणके लंकाकाण्डमें है, किन्तु कामिलबुल्केके अनुसार वह प्रक्षिप्त है। 'हरिवंदा'में 'हंस' अवतारका भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार पश अवतारोंकी संख्या ४ हो जाती है। पशु अवतारके सम्बन्धमें कई मत है। किसीके अनुसार ये अनार्य जातिके अन्तर्गत पूजे जानेवाले पशु विशेष थे, जो बादमें आर्य संस्कृतिमे भी महत्त्व पा गये। एक दूसरी धारणा यह है कि ये सृष्टि-विकासके विभिन्न सोपानोके प्रतीक है। यही प्रतीकोपासना अवतारवादके रूपमें परिणत हो गयी। ये अवतार 'भागवत पुराण' तक बिना किसी परिवर्तनके उक्तिखित होते चले आये है।

मिश्रित एवं अविकसित योनि इसमें नृसिंह एवं वामन अवतारका उल्लेख किया जा सकता है। द्रविडोमें मिश्रित योनियोंकी पूजा प्रचिवत थी। इन मिश्रित योनियोंकी पूजा प्रचिवत थी। इन मिश्रित योनियोंकी पूजा प्रचिवत थी। इन मिश्रित योनियोंकी नरगज, नृसिंहकी उत्कीर्ण प्रतिमाएँ सिन्धु घाटी सम्यताके अवशेषोंमें प्राप्त है। वामन अवतारका सम्बन्ध स्पष्टतः विष्णु से है। 'गीता'के १०वें अध्यायमें आदित्यके द्वादश रूप वामन विष्णुका उल्लेख मिलता है। 'ऋग्वेद'के विष्णु स्क्त'में उल्लेख है कि विष्णु (सूर्य)ने तीन पगमे पृथ्वीको नाप लिया है। यही सम्भवतः वामनावतारको कथाका मृलाधार है। 'परन्तु शतपथ ब्राह्मण'की कथा इससे कुछ भिन्न है।

**मानवयोनि—'**भागवत' [२:६:४१]में परमेश्वरका प्रथम अवतार पुरुष रूप ही माना गया है। सम्भवतः इसका आधार यजुर्वेदका पुरुषसूक्त है। 'गीता'के १०वें अध्यायमे भृगु, राम तथा वासुदेवका उल्लेख विष्णुरूपमें ही मिलता है। इनके साथ अन्य प्रभावशाली मुनि तथा शंकर एवं रुद्रोंकी गणना की गथी है। 'महाभारत'के अनुसार पुरुष योनिके अवलारोमें राम, राम भागविय, वासुदेव कृष्ण, एवं कल्कि है। 'महाभारत'मे प्रयुक्त चार स्थलोंपर रामोपाख्यानो-में रामको विष्णु कहा गया है। 'हरिवंश पुराण'के अनुसार (४१: १२२) राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुप्न चारोको विष्णुका ही रूप माना गया है। 'वाल्मीकि रामायण'मे नारद रामको विष्णु न कहकर 'विष्णु इव' कहते है। कालिदासने रामके विष्णु रूपका प्रत्यक्ष उल्लेख 'रघवंश'के कई श्लोकों-में किया है। चन्द्रगुप्तकी पुत्रीके भागवत एवं रामोपासक होनेका उल्लेख अनेक इतिहासकारोंने किया है। कृष्णका आरम्भिक रूप एवं विकास किन परिस्थितियोंसे होकर अवतारके रूपमे प्रतिष्ठित हुआ, इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है (दे॰ 'कृष्णकान्य')। परश्रामका भी आर-म्भिक संकेत 'महाभारत'के 'शान्तिपर्व'में ही मिलता है। 'महाभारत'से पृथक् नासिक शिलालेख (दूसरी शती)में रामदत्तकी पूजाका उल्लेख है, जो 'महाभारत'में जमदक्षिके पुत्रके रूपमे आते है। इन अनेक प्रमाणोसे स्पष्ट है कि अवतारवादकी धारणाका प्रचार ईसाकी प्रथम शतान्दीके आसपास काफी हो जुका था।

अवतारविषयक परवर्ती धारणाओमें धार्मिक-साम्प्र-दायिक मतवाद तथा व्यक्तिगत महत्ताका दृष्टिकोण अधिक सिक्रिय दिखायी देता है। 'मत्स्यपुराण'में सात पुरुष अवतारोंका उल्लेख मिलता है—दत्तात्रेय, मान्धाता, परशुराम, राम, वेदन्यास, बुद्ध एवं कल्कि। 'हरिवश'मे कथित दश अवतारोंमें राम, कमल, दत्तात्रेय, केशव एवं व्यास पुरुष अवतार ही है। 'भागवत'मे अवतार विषयक धारणाका विस्तार किया गया । इसके अनुसार अवतार तीन है—पुरुषावतार, गुणावतार एवं ठीठावतार। परम्परासे चले आते हुए अवतारको लीलावतार कहा है। 'भागवत'मे तीन स्थलोंपर अवतारोकी सूची मिलती है। अन्तिम सूची २४ लीलावतारोकी है, जिसमें पुरुषावतार १७ है-चतुःसन, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, ध्रवप्रिय, ऋषभ, पृथु, बलराम, धन्वन्तरि, मोहिनी, परशुराम, रामचन्द्र, न्यास, बुद्ध और कल्कि । चैतन्य सम्प्रदायके अन्तर्गत इस धारणामे और भी विस्तार किया गया। सामान्य रूपसे ये दो भागोंमें विभक्त है-कल्पावतार एवं मन्वन्तर अवतार । कल्पावतार प्रत्येक कल्पकी समाप्तिके बाद एवं मन्वन्तर अवतार प्रत्येक मन्वन्तरमे होता है। मन्वन्तर अवतारमें पुरुषावतारोकी संख्या इस प्रकार है-यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, अजित, सार्वभौम, ऋषभदेव विश्वसेन, धर्मसेतु, सुधामन, योगेश्वर, बृहद्भानु । स्थान-विषयक अवतारोंमे 'बैकुंठ'की गणना की जा सकती है। इसी प्रकार मध्यकालीन मान्यताके अन्तर्गत वल्लम, निम्बार्क, मध्व, चैतन्य, रामानुज, हरिवंश आदिको भी दैवत् अवतारोमें गिना जाने लगा है। निष्कर्षतः मध्यकालीन वैष्णव धर्मके वातः वरणमें अवतारविषयक धारणामे अधिका-थिक स्वच्छन्दताके दर्शन होते है।.

[सहायक ग्रन्थ-भागवत सम्प्रदाय : वलदेव उपाध्याय; मध्यकालीन धर्मसाधना : डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी; द क्लैसिकल एज: के० एम० मुंशी तथा आ० जी० -यो० प्र० सिं० मजमदार। अवदान-यह शब्द पौद्ध साहित्यमे विशेष प्रयुक्त हुआ है-जैसे दिन्यावदान । हिन्दीमे अवदान अंग्रेजी 'लीजैड' शब्दके लिए प्रयोगमे आने लगा है। यह बौद्ध प्रयोगके अर्थको भी सुरक्षित किये हुए है। अवदान वह लोक-कहानी है, जो किसी यथार्थ व्यक्ति, स्थान अथवा घटनासे सम्बन्ध रखती है और परम्परासे प्राप्त होती है। परम्परा द्वारा यथार्थ तथ्यके चारों ओर अन्य आकर्षक बातें रूपेट दी जाती है। व्यक्तिसम्बन्धी अवदानोमे विक्रमादित्य, राजा रसालू, गोपीचन्द जैसे व्यक्तियोंकी प्रचलित कहा-नियाँ आती है। इन अवदानोंमे कभी-कभी तो बहुत थोड़ा तथ्य ही रीढ़की मॉित होता है। कभी कभी तो केवल नाम ही ऐतिहासिक रह जाता है, शेष समस्त कहानी लोक-वार्तासे बनी होती है। जगदेव पॅवारके अवदानमे बहुत-सी सामग्री लोकवार्तासे ली गयी हैं और विक्रमादित्यसम्बन्धी शतशः कहानियोंमें विक्रमको छोडकर और तथ्य मिलना असम्भव है।

अवदान और धर्मगाथाएं यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपकी लोकवार्ताएँ हैं, फिर भी कभी-कभी उनमे अन्तर करना कठिन हो जाता है। भीम, अर्जुनकी कहानियों भ अवदान तत्त्व रहते हुए भी वे धर्मगाथाओं गिनी जाती है। जाहर पीरका ऐतिहासिक अस्तित्व सिद्ध है, पर देवी-देवताओं के संयोगसे वह अवदान कुछ-कुछ धर्मगाथाका रूप महण करने लगता है और उस सम्प्रदायके लिए तो वह है ही धर्मगाथा, क्यों कि उनके लिए जाहर पीर स्वयं देवना है।

स्थानीय अवदान किसी स्थानविशेषकी किसी भौगोलिक विलक्षणता या नामकी विलक्षणता या किसी रिवाजकी विलक्षणताका निरूपण करता है। भारतमें अनेक स्थानीपर चरण-पहाडियाँ है। किसी पहाड़ीपर चरणके जैसा चिह्न देखकर, उसके सम्बन्धमे स्थानीय अवदान बन जाता है। भरतपुर राज्यमें चरण-पहाड़ीपर कृष्णके चरण माने जाते है. सीलोनमें आदमकी चोटीपर आदमके पैरकी छाप है। स्थानीय अवदानोंमें वे सभी किरसे आते है, जिनमे दवे खजाने, सर्प-रक्षित धनराशि, उजड़े नगरों और गांवीं, किसी योगीके कहनेसे चलनेवाली दीवार, अतल तालाव, देवताओं या विश्वकर्मा द्वारा बने हुए महल, दीवार आदि, वंशके मूल पुरुषकी कहानी आदि होती है। ये बाते भारत-में तो अनेक स्थानोंपर मिलेंगी ही, भारतके बाहर भी मिलेंगी। स्थानीय होते हुए भी जैसे ये व्यापक हों। -सं० अवधी-इस शब्दका अर्थ है अवधकी भाषा । अवध नामका सूबा भारतवर्षके मध्यकालीन शासनमें प्रसिद्ध था। इसके पूर्वके इतिहासमें यही प्रदेश कोशलके नामसे विख्यात था। इस प्रदेशमें प्राचीन कालसे जनसाथारण द्वारा कोसली प्राकृत बोली जाती होगी और सम्भवतः शौरसेनी और मागधी प्राकृतके बीचकी प्राकृत अर्द्धमागधी भी इसी क्षेत्रकी भाषा रही होगी। भाषाविज्ञानकी दृष्टिले हिन्दीकी दो शाखाएँ हैं—(१) पश्चिमी हिन्दी और (२) पूर्वी हिन्दी। पूर्वी हिन्दीके अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीस-गढ़ी आती हैं। इनमें अवधी प्रमुख है। वर्तमान समयमें अवधी उत्तरप्रदेशकी दो कमिश्नरियों (लखनऊ और फैजा-बाद)के जिलोंमें तथा फतेहपुर, इलाहाबाद, मीरजापुर और जौनपुरके कुछ भागोंमें बोली जाती है। बाबराम सक्सेनाने 'अवधी भाषाका विकास' नामक अपने ग्रन्थमें अवधीकी बोलियोंके तीन समूह माने है-पश्चिमी अवधी, मध्यवतीं अवधी और पूर्वी अवधी। हिन्दीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' और मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पद्मावत' अवधीकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। वर्तमान समयमें अवधीमें विशेष साहित्य रचना नहीं होती । स्फुट कविताएँ, कहानियाँ और प्रहसन आदि मिलते हैं। ऑल इण्डिया रेडियोके लखनऊ, इलाहाबाद केन्द्रसे देहाती कार्यक्रम अवधी भाषामें प्रसारित किया जाता है । --बा० रा० स०

अवधृतिका-दे० 'इठयोग'। अवमर्शसंधि-रूपककी पाँच सन्धियोमें चौथी सन्धि। दशरुपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है— 'झें.ेनागगु.चित्र व्यसनाद्वा विलोभनात् । गर्भनिभिन्न-वीजार्थः मोऽवमर्श इति स्मृतः ॥' (१:४३) । जहां क्रोध, व्यसन या लोभसे फल-प्राप्तिके सम्बन्धमें पर्यालाचन किया जाय और जहां गर्भसन्धिके द्वारा बीजको प्रकट कर दिया गया हो, वहां अनग्र-सिंग होती है।

'मृश्' थातुमं 'अव' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगनेमें 'अवमर्श' शब्द बना । 'ल्युट्' प्रत्ययवाले अवमर्शनका जो अर्थ होना है, वही अर्थ अवमर्शना भी हैं। दोनोंका शब्दार्थ हैं 'पर्यालोचन, विचार या विवेचन ।' यहाँ फलप्राप्तिके सम्बन्धमें जो पर्यालोचन और विवेचन होता हैं, उनके मूल्में लोभ, व्यमन या क्रोथ होना हैं। जहां फलप्राप्तिके निश्चयका निर्धारण तथा गर्भसन्धि द्वारा प्रम्फुटित बीजसे सम्बन्ध-स्थापन विया जाय, वर्षा जो पर्यालोचन होता हैं, वह अवमर्शको नामसे अभिहित होता हैं। अवमर्शसन्धिको विमर्शसन्धि भी व.हा जाता है। इसमें नियताप्ति और प्रकरीका सम्मिश्रण होता है, पर प्रकरीको योजना वैकल्पिक होती हैं।

'चन्द्रगुप्त'मं अवमर्श्सान्थ वहां में दिखाई पड़ने लगती हैं, जहां चन्द्रगुप्तके माता-पिता चाणक्यकी नीतिस असन्तृष्ट होकर राज्य छोड़ देते हैं। चन्द्रगुप्तके उत्तर-प्रन्युत्तर में चाणक्य भी कृपित होकर चला जाता है और पीछे चन्द्रगुप्तका परम मित्र सिंहरण भी गुरुकी खोजमें निकल पड़ता है। चन्द्रगुप्त एकाकी रह जाता है और कहता है—"पिता गये, माता गयी, गुरुदेव गये, कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर प्राण देनेवाला सहचर सिंहरण गया तो भी चन्द्रगुप्तको रहना पड़ेगा"। इस प्रकार क्रोध, असन्तोषके कारण यह विपत्ति उत्पन्न हो गयी है। विमर्शसन्धिका यह उत्तम उदाहरण है (दे० जगन्नाध शर्मा: 'प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)'।

अवमर्शसन्धिको सन्ध्यंग निम्नलिखित है—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, र्शाक्त, द्युति, प्रसंग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान।

इन सन्ध्यंगोंका प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है (दे० अवरोधहीन प्रदर्शनवाद - रीशवके एतिहासमें - बर्धोके सामने विषमिलिंगी वयस्क व्यक्तियोंका नग्न दर्शन प्रगण महत्त्वका है। बच्चेके काम-विकासपर ऐसे इदयोंका स्थायी प्रभाव-सा पड़ जाता है, कुछ मानसिक रोगोंके मूल कारण ऐसे अनुभव होते हैं। उदाहरणार्थ, paranoia रोगका रोगी सदा इस अमसे असित रहता है कि कपड़े बदलते समय लोग उसके नग्न शरीरको देख हेते हैं। इसके विपरीत कुछ व्यक्तियोंमें दूसरे प्रकारकी विकृति हो जाती है और वे इस प्रकारके नग्न प्रदर्शनमें रस लेते हैं, ऐसे व्यक्तियोंको प्रदर्शनवादी कहते हैं। सामान्य व्यक्तियोंमें भी बहुतसे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपनी विशेषताओंका, अपने गुणोंका अत्यधिक प्रदर्शन करते हैं। साहित्यमें भी बिना किसी अवरोधके प्रवृत्तियोंका प्रदर्शन प्रचलित हो गया है। प्रदर्शनवाद काफी सीमातक मनोविश्लेषणके प्रभावसे उत्पन्न माना जा सकता है। क्योंकि प्रवृत्तियोंके

दमनसे स्नायविक, मानसिक समस्याएँ उत्पन्न होती है, अतः उनका अवरोधहीन प्रदर्शन ही व्यक्तिके विकास- के लिए उचित है, यह धारणा प्रदर्शनत्रादके मूलमें है।

—प्री० अ०

अवस्था — रूपककी समस्त रचनामे कार्य (दे०) कई अवस्थाओं में दिखाई देता है। ये अवस्थाएँ पाँच होती है — आरम्भ, यल, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। दशरूपककार ने अवस्थाओं का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है — "अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः। आरम्भयलप्राप्त्याशान्यताप्तिफलागमाः॥' (१:१९), अर्थात् फलकी इच्छान्वाले नायकादिके द्वारा प्रारब्ध-कार्यको पाँच अवस्थाएँ होती है। पर अर्थप्रकृति और अवस्थाका भेद क्या है शर्थप्रकृति में वस्तुको ध्यानमे रखते हुए स्थितियोंको विभाजित किया गया है और अवस्थामें नायकके कार्यको दृष्टिमे रखा गया है। — व० सिं०

अवहट्ट — यह एक भाषा-विशेषका नाम है। इस नामका संस्कृत अनुवाद अपम्रष्ट है। अवहट्ट नाम स्पष्ट रूपसे विद्यापितकी 'कीर्तिलता'की नीचे लिखी पंक्तिमे आता है— ''देशिल बयना सब जन मिट्टा। तॅ तयसन जम्पजो अवहट्टा।।'' विद्यापितने स्पष्ट ही यहाँ 'देशिल बयना' (देशी बचन) और अवहट्टको एक ही माना है और अनुमान है कि यह अवहट्ट विद्यापितके समयमे प्रचलित साहित्यिक भाषा थी, जिसे जनसाधारण आसानीसे समझ सकते थे। यह अपम्रंशसे भिन्न थी या यह अपम्रंशका ही दूसरा नाम है, इस विषयमें विद्वानोंमे मतमेद है। कुछ लोग इसे वर्तमान भारतीय आर्थ-भाषाओंका पूर्वरूप तथा अन्य इसे अपम्रंश ही मानते है। — ना० रा० स०

अवहसित-दे॰ 'हास्यरस'।

अविहित्था-प्रचलित तैतीसमे एक संचारी भाव। स्वतः विश्वद न होनेके कारण ही कदाचित भरतने इस शब्दकी व्याख्या की है। ''अपने मुख्की भावव्यक्तिको छिपानेका नाम अविहित्था है''। अभिनवगुप्तने इसकी व्युत्पत्ति भी बतायी है, जिसका अनुकरण रामचन्द्र गुणचन्द्र एवं हेम-चन्द्रने भी किया। इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'न विहस्थं चित्तं येनैति' अथवा चित्तका अन्तर्गत भाव बाहर व्यक्त न होने से अविहत्था होती है। भरतने इसके विभाव और अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे बताये है—"लज्जा, भय, पराजयकी महत्ता एवं वक्रता इत्यादि विभावोसे यह भाव उद्खुद्ध होता है। किसी दूसरी वातकी चर्चा करना, अन्य दिशामे देखना, बीचमें बात काटना, कृत्रिम धैर्यका प्रदर्शन करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिव्यक्ति होती हैं (ना० शा०, ७: ८० ग)।

स्वभावकी वक्रताकी व्याख्या 'नाट्यदर्पण'में सुन्दर रूप-से हुई है। वहाँ कहा गया है कि प्रगल्मता होनी आवश्यक है, उसके विना अपने भावोको छिपाया नहीं जा सकता (ना० द०, ३:१४४)। विश्वनाथने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भाव चाहे हर्षका हो, चाहे अन्यथा, किसी भी प्रकारके भावका गोपन अवहित्थामे होता है—'भयगौरवल्र जादेर्ह-पांद्याकारगुप्तिः (सा० द०, ३:१५८)। हिन्दीके आचार्य देवके लक्षणमें इसकी छाया है—''ल्र जा गौरव धृष्टता, गोपै आकृति कर्म्म । और कहें और करें ... ' (भाव० : संचारी) । अन्योंने प्रायः—''जो जहं करि कछु चातुरी, दशा दुरावें आय' (जगत०, ५२६)के अनुसार चतुराईसे स्थितिकें छिपानेको महस्व दिया है ।

'दशरूपक'में धनिकने 'कुमारसम्भव'से निम्नलिखित उदाहरण दिया है- 'एवंवादिनि देवधें पाइवें पितुरधो-मुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'। इसी उदाहरणको अवहित्थाके प्रसंगमे हेम चन्द्रने 'काव्यानुसासन'-मे (२: पृ० १०८) एवं विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे दिया है (सा० द०, ३:१५८)। इसीका हिन्दी रूपान्तर है— "सुनि नारदकी बात, तात निकट है निमतमुख। उमा कमलके पात, कर उठाय गिनवे लगी" (र० मं०, पृ० १४४)। जब पार्वतीने नारद द्वारा शिवके गुणोका श्रवण किया तो उन्हें हर्ष हुआ, पर उस हर्यको उन्होंने व्यक्त न होने देनेके लिए अपना मुख नीचा कर लिया और कमल-दल गिनने लगी। यहाँपर अवहित्थाका भाव व्यक्त है। यहाँ रुज्जाके कारण यह मनोवेग उदबुद्ध हुआ है । देवका नायक लजावश बात छिपाता है-"पीछे निहारि निहा रत नारिन हार हियेके सुधारन लागे' (भाव०: संचारी)।

अवांतरवस्तुवक्रता-दे॰ 'प्रकरणवक्रता', सातवॉ नियामक । अवाचक-दे॰ 'शब्द-दोष', आठवॉ 'पद-दोष'।

अविकृतपरिणामवाद - अविकृतपरिणामवाद एक प्रकारका ब्रह्मपरिणामवाद है। सांख्यमें प्रकृतिपरिणामवाद है और वैष्णववेदान्तोमे ब्रह्मपरिणामवाद । परिणामवादका अर्थ यह है कि जगत् और जीव किसी मूलभूत तत्त्वके परिणाम या विकार है, अर्थात् उससे ही उत्पन्न या निःसृत है। यह मूलभूत तत्त्व क्या है ? सांख्य इस प्रश्नका उत्तर देता है कि यह जड प्रकृति है। वेदान्त उत्तर देता है कि यह ब्रह्म है। इस कारण सांख्यका सिद्धान्त प्रकृति-परिणामवाद कहा जाता है और वेदान्तका ब्रह्मपरिणाम-वाद । ब्रह्मपरिणामवादके भी कई प्रकार है । शकरका मत हैं कि ब्रह्मका वस्तुतः परिणाम नही होता है। परिणाम होनेपर ब्रह्म परिणामी या परिवर्तनशील हो जायगा और तब वह कहाँ नित्य-पूर्ण-सत् रह सकता है ? इसलिए उन्होंने ब्रह्मविवर्तवादको माना अर्थात् जीव और जगत् ब्रह्मके विवर्त है अर्थात मायामय परिणाम है। पर इस मतमे ब्रह्मकी निविकारता तो बनी रह गयी लेकिन जीवजगत्का मिथ्या-तत्व सिद्ध हो गया। यह रामानुजको मान्य न हुआ। उन्होने ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनोंको मानते हुए ब्रह्ममे ही अचेतन प्रकृति और चेतन जीवोको गुणभूत माना। बारीकीसे देखनेपर इस मतमें ब्रह्ममे विकार आ गया क्योंकि उसके अन्दर जीवो और जडवस्तुओंकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी। इसका परिहार करनेके लिए मध्वाचार्यने ब्रह्मको केवल निमित्त कारण माना और प्रकृतिको जगत्का उपादान कारण माना। इस मतमे यद्यपि ब्रह्मकी निर्विकारता और जीवजगत्की सत्यता, दोनों सरक्षित है, पर ब्रह्ममे एक भारी दोष आ गया है। -वह दोष यह है कि ब्रह्म ब्रह्म अर्थात् निरपेक्ष नहाँ रह गया, वह प्रकृतिसापेक्ष बन गया, अद्वितीयसे सद्वितीय बन गया। इस दोपको दूर करते हुए निम्नार्कने प्रकृतिको ब्रह्मको शक्ति ही माना। शक्ति ब्रह्मसे मिन्न-भिन्न है। जगत्की उत्पत्तिसे ब्रह्मको निर्विकारताम व्याघात नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् शक्तिका परिणाम (शक्तिविक्षेपलक्षण-परिणाम) है, ब्रह्मका स्वरूपपरिणाम नहीं। इस मतमे भी जगत्की सत्ता वरतुतः ब्रह्मको सत्ताका विश्रेपमात्र ही रहती है। इस कारण जगत्को वास्तवमे अनित्य और अपदार्थ ही कह दिया गया।

इस प्रकार जीवजगत्की चरम सत्यना और ब्रह्मकी निर्विकारता तथा निरपेक्षता दोनोको सिख करनेके लिए उक्त सभी मत अपर्याप्त हैं। वलभाचार्यने इन दोना वानी-की पर्याप्त प्रामाणिकताको स्वीकार किया । ब्रह्म एक और निरपेक्ष, अद्वितीय, निविंकार, अविपरिणामी या कृटम्थ हैं तो दूसरी ओर जीव भी नित्य सत् हैं और उसी ब्रह्मका परिणाम है। यह विचित्र परिणाम है क्योंकि इसमें ब्रह्म विकृत नहीं होता, वह अविकृत अर्थात् सदा निर्विकार रहता है। श्रृतियोने इसी अविकृतपरिणामवाटका समर्थन किया है क्योंकि उन्होने बताया है कि जगत् और जीव ब्रह्मके वैसे ही अविकृत परिणाम है, जैसे कि स्वर्णके अलंकार सोनेके, या मिझीके वर्तन मिझीके, न कि जैसे दही, दूधका विकृत परिणाम है। वल्लभने श्रुतियोंके प्रमाणपर ब्रह्मको सत्, चित्, आनन्द माना और बहा कि जगत सत्का आविर्माव है, जीव सत् और चित्का आविर्माव है और ईश्वर सिचदानन्दका आविभीव है। इस प्रकार ब्रह्मके ही अविकृत परिणाम ईश्वर, जीव और जगत है। नैतन्य महा-प्रभुने भी इसी अविकृतपरिणामवादका समर्थन किया और कहा कि अपनी अचिन्त्य शक्तिके बलसे ब्रह्म परिणत होता हुआ भी अपरिणामी ही रहता है। अविकृतपरिणामवादके कारण बल्लभने माना कि 'तत्त्वमिस' आदि वाक्योंमें त्वंप-दार्थ और तत्पदार्थकी, जीव और ब्रह्मकी, अभिन्नता अभिधा द्वारा ही सिद्ध है, लक्षणा द्वारा नहीं, जैसा कि शंकराचार्य-का मत है। इस प्रकार इस सिद्धान्तसे वल्लभने मायावाद या विवर्तवादको विलक्षल उखाइ फेंका और शुद्धाद्वैतवादकी स्थापना की ।

यदि केवल श्रुतियोंको ही प्रमाण माना जाय तो वल्लभा-चार्यका मत शत-प्रतिशत ठीक है। श्रतियाँ अविकृत-परिणामवादको ही सिद्ध करती हैं। पर तर्ककी कसौटीपर अविकृतपरिणामवाद ठहर नहीं सकता है। सत्, चित् और आनन्द तीनोंके पृथक्-पृथक् आविर्भाव क्यों होते हैं ? यदि ये इस प्रकार पृथक् हैं तो ब्रह्मकी शुद्ध अद्वैतता कहाँ रह गयी ? फिर परिणामसे परिणामीमें कुछ विकार आ ही जाता है, चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो। यदि विकार नही आता, परिवर्तन नहीं होता, तो फिर परिणाम-का महत्त्व ही क्या रह जाता है ? तब तो परिणाम अपरि-णाम हो गया । अतः अविकृतपरिणामवाद वस्तुतः अपरि-णामवाद ही है और इस अर्थमे ही शंकराचार्यके मतसे तनिक भी भिन्न नहीं प्रतीत होता। पर जहाँ शंकराचार्य इसे तर्कतः अपरिणाम या विवर्त कहते हैं, वहाँ वल्लभ इसे परिणामवाद ही कहते है। इस तरह अविकृत परिणाम-वादमें वदतोव्याघात है।

पर बल्लस और उनके अनुवार्था तर्क या गुिंडकी परवाह नहीं करते। वे श्रानिप्रमाणको सपोपरि प्रमाण मानते हैं, चाहे वह बढ़तील्यायात हा हथा न हो और इस प्रकार उनका मत दार्शनिक न होकर वास्त्रवमे धर्मशास्त्रीय ही रह जाता है।

जीव और बहा तथा जगन् और बहाके सम्बन्धीकी समजाते हुए हिन्दीके सुना कृतियोंने ऐसे उदाहरण दिये हैं, जो अभिवादिशास्त्र का समर्थन वारते प्रतीत होते हैं, पर उन्होंने प्रायः अतिआपिन्धानवार और विवर्तवादकी एकमेव कर दिया है। बल्लभानार्थकी परम्पराके खर आदि सन्तोने अविकृतपरिणामवादको मानते हुए भी जीव या जगत्को ब्रह्ममें भिन्न रग्वा है। उन्होंने इसको रामानुजीय अध्यपिणाभवादने जोड़ दिया है। बुद्धिमे अविकृतपरिणाम-वादका समर्थन नहीं हो सकता और हृदयसे भी ब्रह्म और साधनमें भेद माननेके लिए अविज्ञपरिण भवादके स्थानपर द्वैतवाद मानना पडता है, क्योंकि अविकृतपरिणामवादके अनुमार शुद्ध अद्देतवादका ही मेल बैठ मकता है। इस प्रकार मानते हुए भी ब्रह्मको कुटस्थ, नित्यनिरंगन या निर्विकार माना गया है। इसमें लगता है कि नैतन्यके अचिन्त्य अविकापरिकानाः हो ही समर्थन प्रायः हिन्दीके सन्तोंने अधिक किया है। -- स० ला० पा० अविचल आलोचनाप्रणाली-अंग्रेजीमें इसका समानार्था शब्द 'स्टेटिया' है, जिसका अर्थ होता है स्थिर, अचल । इसी श्र-द्रें 'स्टैटिक्स' बना है, जिसका अर्थ उस विद्यानमें होता है, जो गतिंग किसी भी प्रकारके परिवर्गनको रोकता है। इस प्रकार इन दोनों भी समानाथी अञ्जोकी मूल आत्मा 'स्थिरता' है।

चिन्तनके क्षेत्रमें दो प्रकारकी धाराए स्पष्टतः दिखाई पड़िता है। एकका मन्तव्य है कि सृष्टिमं जो कुछ भी धटित होना रहता है, परिवर्तन होता रहता है, जिसे हम नूत-नता, नवीनताकी संज्ञा देते हैं, वह सब मूलतः सृष्टिके मूल तत्त्वोंका ही प्रतिफल है। इसलिए जो कुछ भी प्राचीन और पुरातन है, वही वस्तुतः सत्य, शाश्वत् और चिरन्तन हैं। और हमें उन्हीं मूल तत्त्वोंको पकड़े रहना चाहिये। दूसरी कोटिका चिन्तन यह घोषित करता है कि सृष्टि निरन्तर विकासित होनेवाली एक संस्था है। परिवर्तन ही विकासका नियम है, इसलिए जो कुछ भी धटित होता रहता है, वह सब पुराना है, पिछला है। इसलिए मूलक्ष्पमें कहीं कुछ नहीं है।

साहित्यके क्षेत्रमें चिन्तनकी ये दोनों धाराएँ काम करती हैं। साहित्यके सम्बन्धमें कुछ आलोचकोंका ऐसा मत है कि साहित्यके मूल तत्त्व जीवनके मूल तत्त्वकी भाँति एक है तथा चिरन्तन और शाधत हैं। इसिलए साहित्यका रूप-परिवर्तन जितना भी हो, किन्तु आत्माकी भाँति साहित्यकों मूल तत्त्व अपरिवर्तनशील हैं। इनका आग्रह है कि साहित्यका मापदण्ड इन्हीं मूलगत तत्त्वोंको मानना चाहिये। साहित्यका मूल रूप अविचल है और इसिलए साहित्यकी आलोचनाके मानदण्ड भी स्थिर हैं, अविचल हैं।

यूरोपमें श्रीक आलोचकोंका चिन्तन युगोंतक 'सत्य'-के रूपमें श्रहण किया गया। प्लेटो, अरस्तू, होरेस आदि चिन्तकोंको अपना आदर्श मानकर लोगोंने साहित्यके मानदण्ड स्थिर किये। नीति, धर्म आदिको सर्वोपरि मानते हुए उस युगमें आलोचकोंने कान्यको मधुर विषके रूपमें तथा युद्धिको विनाश करनेवाली वस्तुओंमे माना । वीथियस-ने यह माना कि काव्य-देवियाँ मनुष्यको मधुर विष पिलाती हैं। सेण्ट ऑगस्टाइनने साहित्यके सखको राक्षसी सख बतलाया। स्पष्टतः ये चिन्तन, नीति, मर्यादा, आदर्श, धर्मका अवलम्ब लेते हैं। ऐसे ही आलोचकोने शेक्सपीयरको पागल करार दिया था। उसके पात्रोंको विकृत, मनुष्यका विघटित-रूप मानते हुए उनकी सर्वथा उपेक्षा की थी, परन्तु ध्यान देनेकी बात है कि पाश्चात्य जगत्में पुनरुत्थान-कालमे पहले-पहल ही इस चिन्तनपद्धतिको आश्रय मिला।

र्सस्कृत-साहित्यकी आलोचनामें यह सिद्धान्त बहुत आसानीसे देखा जा सकता है और इनके मतानुयायी भी प्रचर मात्रामें पाये जाते हैं। र्सस्कृतके समस्त चिन्तन का धरातल, आधार है-शरीर, आत्मा, रस, ध्वनि, अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति । रसको आत्मा मानते हए आचार्यी-ने उसीको प्रधान माना। इन लोगोने यह स्वीकार किया कि साहित्यका मूल तत्त्व रस, आत्माकी तरह अखण्डित, अविभाजित है तथा ब्रह्मकी भॉति इसका स्वरूप अविचल है।

हिन्दीमें स्वतन्त्र चिन्तनका सर्वथा अभाव रहा है। फलतः संस्कृत अथवा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रका अवलम्बन लिया गया । इमलिए हिन्दी आलीचना-क्षेत्रमें रससिद्धान्त-के पोषक तो मिलेंगे, किन्तु उनका अपना स्वतन्त्र चिन्तन नहीं मिलेगा, बल्कि अनुकरण ही उपलब्ध होगा। हिन्दीका पूरा रीति-साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। केशवदास, चिन्तामणि, दास, देव, विहारी आदि इसके अच्छे द्यान्त हैं। -रा० क० स०

अविम्रष्ट-दे॰ 'शब्ददोष', पन्द्रहवॉ 'पद-दोष'। अविवक्षित वाच्यध्वनि - ध्वनिके दो प्रधान भेदोंमेंसे एक । इस ध्वनिमें वाच्यार्थ अनुयोगी होनेके कारण अवि-वक्षित-अवांछनीय-रहता है, क्योंकि यह लक्षणापर आधारित रहता है। इसलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं। इस ध्वनिमें केवल प्रयोजनवती लक्षणा रहती है, रूढ़ा नहीं इहतो; क्योंकि रूढ़ा लक्षणामें व्यंग्यार्थ अत्यन्त स्पष्ट होनैके कारण महत्त्वहीन हो जाता है और वह होते हुए भी न होनेके बराबर होता है। अविवक्षित वाच्यध्वनिके दो भेद होते हैं—१. अर्थान्तरसंक्रमित, २. अत्यन्त तिरस्कृत । पहले भेदका मूलाधार उपादान तथा दसरेका लक्षितलक्षणा होती है। इन दोनोंके पदगत तथा वाक्यगत भेदोंकी दृष्टिसे अविवक्षित वाच्यध्वनिके कुल चार भेद होते हैं। — ড০ হাত হাত

अध्यपेत यमक-दे॰ 'यमक'।

अशोकी प्राकृत-महाराज प्रियदशी अशोक (जन्म सं० २९७ ई० प्०)ने अपने राज्यकालमें कुछ अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों और गुफाओंमें प्रचारार्थ लिखवाये थे। इनकी भाषा प्राकृत है और इस प्राकृतका नाम विद्वानोंने अशोकी प्राकृत रखा है। ये अभिलेख भारतवर्षके सभी कोनोंमें पाये जाते हैं। प्रवमें घौली और जौगढ, उत्तर-पश्चिममें शहवाजगढ़ी और मानसेहरा, उत्तरमें देहरादूनके पास कालसी, पश्चिममें

सौराष्ट्रमें गिरनार तथा दक्खिनमें मैसूर प्रदेशमें ये अभिलेख मिलते हैं। विद्वानोंका मत है कि इन लेखोंका मूल पाठ पाटिलपुत्रमें उस समय प्रचलित मागधी भाषाके किसी रूपमें रहा होगा और अभिलेखोंके क्षेत्रकी दृष्टिसे उस भाषामें क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक संशोधन कर लियेगये होंगे। उदाहरणके लिए गिरनार और भौलीके शिलालेखोका विषय एक ही है, पर भाषा यथेष्ट भिन्न है। एकाथ बातमें अशोकी प्राकृत उपलब्ध पाली भाषासे भी प्राचीन है। उदाहरणके लिए शहबाजगढ़ी और मानसेहराके अभिलेखोंमें मूर्धन्य ष प्राप्त है, जिसका पालीमें नितान्त अभाव है। इन अभिलेखों-में तिथियाँ पड़ी हुई हैं (यथा-महाराज अशोकके अभिषेकसे बारहवें वर्षमें लिखाया गया)। भारतीय आर्य-भाषाओंकी सामग्रीमें अशोकी प्राकृतका इसीलिए बड़ा महत्त्व है, क्योंकि यही निश्चित तिथिवाली सामग्री है। महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि प्राकृतोंसे अशोकी प्राकृत काफी परानी है। --बा० रा० स०

अश्राब्य-संवादके विचारसे कथावस्तुके तीन भेदोंमेंसे यह एक है। यदि कहनेवाले पात्रके अतिरिक्त अन्य कोई पात्र उसकी उक्ति न सन सके तो वह अश्राव्य (किसी भी अन्य पात्रके सनने लायक नहीं) है। इसे 'स्वगत' भी कहते हैं। प्रसादके नाटकोंमें बहुत-सी स्वगतोक्तियाँ पायी जाती हैं।

आधुनिक नाटकोंके लिए 'स्वगत' दोष माना जाता है। 'स्वगत' कथनकी क्रत्रिमता इसीते प्रकट है कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र सुनी हुई बातको अनसुनी करते हुए मान लिये जाते हैं। लेकिन तारीफ यह है, जब कि रंगमंचपर उपस्थित पात्र अन्य पात्रके स्वगतको नहीं सन पाते, रंग-शालामें बैठे हुए सामाजिक उसे सुन लेते हैं। इसकी अमनोवैज्ञानिकताको देखते हुए आधुनिक नाटककारोंने इसे रंगमंचोपयुक्त नहीं समझा है। स्वयं 'प्रसाद'ने अपने 'विशाख' नाटकमें स्वगतपर व्यंग्य ८ रहे हुए महापिंगलसे कहलाया है, 'जैसे नाटकोंके पात्र स्वयन ो कहते है, वह दर्शक समाज या रंगमंच सुन हेता है, पर क्याना खड़ा पात्र नहीं सुन सकता ! उनको भरत बाबिक ञ्चपथ है।' फिर भी प्रसादके नाटकोर्मे स्वगतोक्तियों-की भरमार है (दे॰ 'चन्द्रगुप्त', प्रथम संस्करण, पृ० --व० सिं० १७, ३५, ११३)।

अश्र-दे॰ 'सात्त्विक अनुभाव', सातवाँ। अञ्लील-दे॰ 'अर्थ-दोष', सत्रहवाँ तथा 'शब्द-दोष', नवाँ 'पद-दोष'।

अष्टक-दे॰ 'मुक्तक काव्य'।

संस्थापक महाप्रभु वहामाचार्यके अष्टळाप-रिपष्टिमार्गके चौर और उनके पुत्र विद्रुलनाथके चार प्रधान शिष्य क्रमशः कुम्मनदास (सन् १४६८-१५८२), स्रदास (१४७८-१५८०-(१४९५-१५७५-८१), परमानन्ददास ८५), कृष्णदास (१४९१-१५८३) तथा गोविन्ददास (१५०५-१५८५), छीतस्वामी (१५८१-१५८५), नन्ददास (१५३३-१५८६) और चतुर्भजदास (१५४०-१५८५) 'अष्टछापकवि'के नामसे प्रसिद्ध हैं । सम्प्रदायके इष्टदेव श्रीनाथजीके अन्यन्त निकटवर्ती ये कवि-कोर्तनकार सखाभावसे उनकी प्रेमभक्तिमें अनरक्त थे। ये आठों भक्त कवि इतने सिद्ध, परम 'भगव- दीय' माने जाते थे कि शीनाथजीके अष्टसखा भी कहे गरे हैं। इन कवियोंका रचनाकाल सन् १५०० से १५८६ तक अनुमान किया गया है ।

सन् १४९२ मे गोवर्यनपर श्रीनाथजीका प्रावत्व्य हुआ। तभी महाप्रभु वलभाचार्यने बजमें पहली वार आकर उन्हें गोवर्धनके एक छोटे मन्दिरमं प्रतिष्ठित किया। उसी समय गोवर्धनके निकट जमनावतो गाँवके निवासी गोरवा क्षत्रिय कुम्भनदास उनकी शरणमे आये। महाप्रभुने उन्हे दीक्षा देकर श्रीनाथजीकी कीर्तनरुवाम नियुक्त किया। जब व दूसरी बार ब्रज आये तब अम्बालाके सेठ पूरनमलके दानके फलस्वरूप सन् १४९९ ई० मे श्रीनाथजीके वडे मन्दिरकी नींव पड़ी । अपनी तीसरी वज-यात्रामे आगरा और मथुराके बीच गऊघाटपर संन्यासी वशमें रहनेवाले सुरदास नामक भक्तको उन्होने शरणमे लिया और अपने साथ उन्हें श्रीनाथजीके मन्दिरमे ले जाकर कीर्जनकी सेवामे लगाया। इसी अवसरपर सन् १५०९ में श्रीनाथजीकी मृति नवीन मन्दिरमे स्थापित की गयी और गुजरातके एक ग्रामीण शद्र कुनबी परिवारके कृष्णदास भी इसी वर्ष शरणमं आये। नवीन मन्दिरमे स्थापित होनेके बाद भी कीर्तनकी सेवा सबसे पहले कुम्भनदासको ह। सौंपी गयी थी। जगन्नाथ-परीकी यात्रामे चैतन्य महाप्रमुसे भेंट करनेके बाद जब वहुभाचार्य अनुमानतः सन् १५१९ ई० में अपने स्थायी निवास-स्थान अडेल पहुँचे तो उन्होंने कान्यकु ज परमानन्द स्वामी नामक एक प्रसिद्ध कवि-कीर्तनकारको स्वप्न देकर अपनी ओर आकृष्ट किया और अपने सम्प्रदायमं दीक्षित किया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य सन् १५३० ई०में गोलोकवासी हुए। अब उनके बड़े पुत्र गोपीनाथ पुष्टिमार्गके आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित हुए। परन्तु आठ वर्ष बाद सन् १५३८ ई०में उनका भी गोलोकवास हो गया। उनके पुत्र पुरुषोत्तमका देहावसान पहले ही हो चुका था। अतः उनके छोटे भाई विद्रलुनाथ आचार्य-पदके अधिकारी हुए। उन्होंने बड़ी र्पीग्यतापूर्वक सम्प्रदायका संघटन किया । सन् १५६६ ई० में वे अडैल छोड़कर बजमे स्थायी रूपसे रहने लगे। इसी वर्ष उन्हें सम्राट् अकबरसे एक फरमान (आज्ञापत्र) प्राप्त हुआ, जिसके अनुसार गोकुलकी भूमि उन्हें माफीमें प्रदान की गयी । इसके बाद भी उन्हें सम्राट्की ओरसे निर्भयपूर्वक बसने, गउँ चराने तथा उनके इलाकेमें पूज्य पशु-पक्षियोंकी इत्याके निरेष-सूचक कई फरमान मिले। श्रीनाथ जीके मन्दिरमें उन्होंने सेवा-व्यवस्थाकी निश्चित और इद परम्परा डाली। दैनिक आठ सेवाओं तथा वार्षिक व्रतोत्सवों-की व्यवस्था करके उन्होंने सम्प्रदायके प्रचार तथा साहित्य, ं संगीत और प्रसाधन-कलाओंकी उन्नतिमें अपूर्व योग दिया। उन्होंने ही अपने पिता और स्वयं अपने सैकडों शिष्योंमेंसे उपर्युक्त आठ 'परम भगवदीय' और कान्यप्रतिभासम्पन्न मक्तीको छॉटकर उन्हें 'अष्टछाप' नामसे प्रतिष्ठित किया। सम्प्रदायके हितमे विद्वलनाथकी यह सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा कही जा सकती है, क्योंकि इन, विशेष रूपसे सम्मानित, आठ भक्त कवियोके द्वारा प्रष्टिमागीय भक्तिका जितना प्रचारे हुआ, उतना किसी अन्य साधनसे संस्भव नही था।

अष्टछापके भक्त कवि विभिन्न जातियां और वर्गीके थे। परमानन्दरास यान्यक्रक बाह्मण थे तो कृष्णदास शह. कुम्भनदास किमान थे और प्रधान कीर्ननकारके पदपर होते हुए भी वे वरावर रोती करके ही अपने परिवारका भरण-पोपण करने रहे। सुरदासकी जाति तथा थी, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ लीग उन्हें सारम्यत ब्रोह्मण और कुछ अन्य ब्रह्मभट्ट सिख् बरनेका प्रयत्न करते है। स्वयं वे अपनी अधिके कि कि कि कि उने उदानीन थे। विद्रतनाथके शिष्योमे चर्न् जनाम तम्मनवान ते पुत्र थे, जो अपने पिताकी तरह निरन्तर कृपक जीवन विताते रहे। गोविन्ददास सनाट्य बाह्मण थे, परन्त पारियारिक बन्धन छोडकर संन्यासी बन गये थे और इसी रूपमें गोसाई जीकी शरणमं आये थे। छीतस्वामी प्रतिहित-वृशितारे मथरा-के चौबे थे और जीवनपर्यन्त गृहस्थ वने रहे। नन्ददास सनाट्य बाह्मण जातिके थे, परन्तु उनके जीवनके सम्बन्धमं वहत कम उरहेख मिलता है। भक्तिके मार्गमें अध-नीवका भेदभाव नहीं होता यह बात । एट्रापर्शवकीं पूर्णतया प्रमाणित होती है 🖒

'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' तथा 'दो सी वावन नैष्णवन-की वातों में विणित इन मक्त कवियोंकी ીમન લાગા સોંદે सम्प्रदायकी भक्तिके मगान्यम बड़ी रोचक और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती हैं। सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके पूर्व इनमें कई भक्तोंका जीवन अत्यन्त हीन कोटिका था। गुरदामके विषयमें जो किनदन्ती है कि वे किसी स्त्रीपर मुग्ध थे और उसीरो उन्होंने अपनी ऑस्बें फोड़वा ली थी, 'वार्ता'से सम-थित नहीं है, अतः उसे अष्टछापी मुरदासके विषयमे प्रामा-णिक नहीं माना जाता। परन्तु प्रारम्भिक वरुणावस्थामें इस प्रकारका रसिकहृदय होना सरदासके विषयमें अकल्प-नीय नहीं है। कृष्णदासके चरित्रमें गुणों और अवगुणोंका अद्भृत मिश्रण था । १२, १३ वर्षकी अवस्थामें अपने पिता-की चोरीके अपराधको गांवके मुखियाके सामने प्रकटकर देनेके कारण ये घरमे निकाल दिये गये थे। उधर-उधर भ्रमण करते हुए वे ब्रज पहुँचे और वहुभाचार्य द्वारा सम्प्रदायमें दीक्षित हुए । अपनी योग्यता और प्रवन्थक्त्राज्याके बलपर उन्नति करते-करते वे श्रीनाथजीके मन्दिरके अधिकारी बन गये । उन्होंने ही अपने कौशल और बलके प्रयोगमे श्रीनाथ-जीके मन्दिरपरसे बंगालियांका प्रभाव दूर किया। एक बार उन्होंने स्वर्थ विद्रलनाथमे मन्दिरकी मेवाका अधिकार छीन लिया था। कृष्णदासकी चरित्रसम्बन्धी द्र्नलता गाँके भी 'वार्ता'में कुछ उदाहरण दिये गये हैं। उनका अभिप्राय यही है कि भगवान्की शरणमें जाकर उनकी कृपाने पतित और हीन-चरित्र व्यक्तिका भी उद्धार हो जाता है। नन्ददास भी दीक्षित होनेके पूर्व किसी स्त्रीके अनुचित प्रेममें फँसे थे। तात्पर्य यह कि ये 'परम भगवदीय' पद पानेवाले भक्त अत्यन्त साधारण, सहज मानवीय दुर्बलताओंसे युक्त व्यक्ति थे। कृष्णकी भक्ति ऐसे सर्वसाधारण जनके लिए पारम मणिके समान आविष्कृत हुई थी।

इन भक्तोंके सम्प्रदाय-प्रवेशकी घटनाओंसे विदित होता है कि कमसे कम स्रदास, परमानन्ददास, गोविन्दस्वामी और नन्ददासको सम्प्रदायमें सम्मिलित करनेके लिए जनके

दीक्षा-गुरु भी उतने ही उत्सुक थे, जितने कदाचित वे स्वयं। गऊघाटपर सूरदाससे भेंट होनेपर वल्लभाचार्य उनकी आश्च कविप्रतिभा और मधुर पद-गायनपर मुग्ध हो गये थे। उन्होने स्रदासको भागवतकी सम्पूर्ण अनुक्रमणिका सुनायी। सुरदासने उसे और वल्लभाचार्यकी 'सुबोधिनी'मे प्रदर्शित भागवतके अभिप्रायको तरन्त समझ लिया। ज्यो-ज्यों वल्लभाचार्य माहात्म्य-ज्ञान-युक्त प्रेमभक्तिका रहस्य बताते गये, त्यों-त्यों सरदा स उसे हृदयंगम कर पदोंमे गाकर उन्हें सुनाते गये। उसके बाद सूरने श्रीकृष्णकी लीलाका जो हजारों पदोमें गायन किया, उसे पृष्टिमार्गने शास्त्रके रूपमें प्रमाणकोटिकी मान्यता प्रदान की। कहा जाता है कि 'सूरसागर'के द्वारा पृष्टिमार्गका जितना विशव परिचय प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी एक स्रोतसे सम्भव नही है। आश्चर्य यह है कि सूरदासने प्रत्यक्षतः पृष्टिमागीय भक्ति-पद्धतिपर कुछ भी नहीं लिखा, यहाँतक कि उन्होंने अपने गुरुकी प्रशंसामें भी पदरचना नहीं की, जब कि उनके सहयोगी कुम्भनदास आदिने इस विषयके अनेक पद रचे है। वास्तविकता यह जान पड़ती है कि सरदासके काञ्यकी उत्कृष्टता और प्रचरतासे ही आकर्षित होकर सम्प्रदायने उन्हें इतने आदरसे अपनाया है। परमानन्ददास भी सरदासकी तरह बाल्यावस्थासे ही विरक्त होकर भगवद-भजनमें जीवन विताने लगे थे। इनके अनेक शिष्य हो गये थे और ये भी सूरकी तरह स्वामी कहलाते थे। एक बार जब ये मकरस्नानके लिए प्रयाग गये तो वहाँ इनकी पद-रचना और कीर्तनोंकी धूम मच गयी। वल्लभाचार्यने इनकी ख्याति सनकर उन्हें खप्नमें अडैल जानेको प्रेरित किया और दीक्षा देकर सम्प्रदायकी सेवामे लगाया। परमानन्ददासको भी वल्लभाचार्यने उसी प्रकार बाललीला-का माहात्म्य समझाया था, जिस प्रकार सूरदासको। परमानन्ददासकी काव्य-रचना परिमाण और गुण, दोनोमें सरदासके बाद ही आती है। गोविन्ददास भी गृहस्थीसे विरक्त होकर भक्तिमें रम गये थे। सम्प्रदायमे सम्मिलित होनेके पूर्वसे वे ब्रजमे ही आकर रहने लगे थे। उनकी गान-विद्या तथा पद-रचनाकी ख्याति चारों ओर फैल गयी, उनके अनेक सेवक हो गये और वे गोविन्दस्वामी वहलाने लगे। गोसाई विट्रलनाथ भी उनके पद सुना करते थे और उनकी इच्छा थी कि वे सम्प्रदायमे सम्मिलित हो जायं । गोविन्दस्वामीका मन भी धीरे-धीरे गोसाई जीकी ओर आकृष्ट हुआ। एक दिन यमुना-घाटपर उन्होंने गोसाईजी-को सन्ध्या-वन्दन करते हुए देखकर आश्चर्य प्रकट किया कि भक्तिमार्गमें यह कर्मकाण्ड वैसा ! गोसाईजीने कर्म और भक्तिका सम्बन्ध बताकर उनकी दांका दूर की तथा उनकी प्रार्थनापर उन्हें सम्प्रदायकी दीक्षा दी। कदाचित गोविन्द-स्वामी पहले मर्यादावादी भक्त थे, गोसाईजीको कर्मकाण्ड-का समर्थन करते देख वे उनसे प्रभावित हुए और पक्के वैष्णव बन गये। गोविन्दस्वामीसे वे गोविन्ददास हो गये। नन्ददासको तो गोसाईंजीने स्वयं उस क्षत्रीके द्वारा वुलवा-कर दीक्षा दी थी, जिसकी स्त्रीके रूपपर आसक्त होकर वे कुरुक्षेत्रसे मथुरातक उसके पीछे-पीछे लगे आये थे और नाविक द्वारा यमना पार न करनेके कारण यमनाके उसी

ओर रुककर यमुना-स्तुति रचने लगे थे। सम्प्रदायमें सम्मिलित होकर नन्ददामका लौकिक प्रेम तो श्रीकृष्णके प्रेममें परिणत हो ही गया, पृष्टिमार्गका भी बहुत उपकार इआ।

वार्ताओं से सूचित होता है कि ये भक्त किव सांसारिक जीवनमे पूर्ण निर्द्धन्द्व और निस्पृह थे। सूरदासके विषयमे तो प्रसिद्ध है कि उन्होंने छः वर्षकी अवस्थामें ही घर-बार छोड दिया था। पहले एक तालाबके किनारे कुटी बनाकर रहने लगे थे; परन्त जब वहाँ भी माया जुड़ने लगी तो उसे छोडकर मधुरा आये; मधुरामें भी इसलिए नहीं रहे कि कही चौबोंकी वृत्तिहानि न होने लगे। श्रीनाथजीके मन्दिरमें रहते हुए उन्हें यथेष्ट सम्मान मिला होगा, परन्त उन्हें उसकी कोई चेतना नहीं थी। सम्राट अकबरसे मिले तो कृष्ण-कीर्तन ही किया और उसीके द्वारा सम्राटको सूचित कर दिया कि वे किसी अन्यका यश गान नहीं कर सकते। कम्भनदासके जीवनकी निस्पृहता और निरीहता और भी मार्मिक है। वे एक बड़े परिवारका भरण-पोषण खेती, करीलके फूल और टेंटी तथा झाडके बेरोके सहारे करते थे। एक बार राजा मानसिंहकी मेंट की हुई सोनेकी आरसी तथा हजार मोहरोंकी थैलीको उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। जमनावती गाँवकी माफी भी उन्होने स्वीकार नहीं की थी। वे श्रीनाथजीकी क्रपाके अतिरिक्त किसीका दान नहीं चाहते थे। सम्राट्के बुलानेपर वे सीकरी पैदल ही गये। सम्राट्की भेजी हुई सवारी उन्होंने अस्वीकार कर दी। सम्राट्से मिल कर उन्हें प्रसन्नता नही हुई और अपने मनका क्षोभ उन्होंने उन्हीं सामने एक पद गाकर सुना दिया, जिसका भाव यह था कि भक्तोंको सीकरीसे क्या सरोकार, यहाँ आकर श्रम ही हुआ और परिणाम यह मिला कि थोडी देरके लिए हरिनामका विस्मरण हो गयाः जिसका मुख देखनेसे दृःख होता है, उसीको प्रणाम करना एटा। कम्भनदासके लिए श्रीनाथजीका एक क्षणका वियोग । अ... निष्ठा इनके पुत्र चतुर्भुजदास द्री था । वियोगवा सहन न कर सकनेके कारण कुम्भनदासने गोसाई नीके साथ द्वारका जानेसे इनकार कर दिया था।

कि होनेके साथ-साथ ये भक्त अच्छे गायक भी थे।
स्रदास और परमानन्ददासकी गान-विद्यापर तो स्वयं
महाप्रभु मुग्थ हुए थे। गोविन्दस्वामी भी ऐसे ही निपुण
गायक थे। कहते हैं, प्रसिद्ध गायक तानसेन इनसे संगीत
सीखने आता था। छीतस्वामीका संगीत सुननेके लिए कहते
है कि स्वयं अकबर वेश बदलकर आया करता था। अष्टछाप-किवर्यों के काव्य और संगीतके योगने निश्चय ही पुष्टिमार्ग और उनके माध्यमसे समस्त कृष्ण-भक्ति-आन्दोलनको
उत्साह, उमंग और आनन्दसे आप्लावित कर दिया।

एक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि अष्टछाप-कि भक्त और किव ही अधिक थे, सिद्धान्तवादी नहीं। शुद्धाहैतदर्शन तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तोका सम्यक् विवेचन इन किवयोंने नहीं किया। नन्ददासको छोडकर किसी अन्य किवको इस बातकी आकांक्षा भी न थी कि पंडितोको किवताके माध्यमसे कुण्ण-भक्तिको और आकर्षित किया जाये। फिर भी हम प्रयक्त करके अष्टछाप-किवयोंकी रचनाओंसे ऐसे प्रसुर

उदाहरण छाँट सकते हैं। जिनमें हम बता सकें कि उन्होंने शुद्धाद्वैत-दर्शन और पुष्टि-भक्तिके मूल सिद्धान्तींको गहराईके साथ समझा और हृदयंगम किया था तथा अपनी रचनाओं-में उसीको न्यावहारिक रूप दिया था। केवल नन्ददासमे पण्डितोंको तर्कके द्वारा विश्वास दिलाने तथा अपने सिद्धान्तज्ञानको प्रदर्शित करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती है। फलतः उनकी 'रासपंचाध्यायी' और 'भवँरगीत' जैसी क्रष्णलीलासे सम्बन्धित रचनाओंमें भी हमें उनके दार्शनिक एवं तार्किक दृष्टिकोण तथा पुष्टि-भक्तिके सिद्धान्तींके ज्ञानका परिचय मिल जाता है। किन्त फिर भी उनका पाण्डित्य उनके कवित्वको आच्छादित नहीं कर पाता । यह द्रष्टव्य है कि पाण्डित्यसे प्रभावित होकर कवित्वकी रसात्मकतामें व्याघात अवश्य पड़ जाता है। दार्शनिक विवेचन न तो कविताका विषय है और न कवियोंका साध्य। अतः नन्ददासने अपनी 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' जैसी रचनातकर्मे दार्शनिक विवेचन नहीं किया, केवल भक्तिका स्वरूप स्पष्ट किया है। गुरु-महिमा, नाम-महिमा और विनय आदिके स्फूट पदोंमें भी वे भक्ति-भावना ही विशेष प्रदर्शित करते है। शेष अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओंको भी पृष्टिमागीय भक्तिके विविध अंगोंकी दृष्टिसे वर्गीकृत किया जा सकता है। कृष्णलीलाके कुछ विशिष्ट अंगोंके अतिरिक्त लगभग सभी कवियोंने विनय अथवा मंगलाचरण, गुरु-महिमा, नाम-माहात्म्य, यमना-वर्णन, भक्ति-महिमा आदिसे सम्बन्धित पद रचे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन विषयोंपर रचना करना प्रत्येक सम्प्रदायी कविके लिए आवश्यक समझा जाता था। जिससे उसके द्वारा सम्प्रदायकी कीर्ति बढ़े। सम्भवतः यही कारण है कि सरदासके अन्तिम समयमें चतुर्भुजदासने शंका की थी कि उन्होंने सहस्राधिक पद तो रचे परन्त आचार्यजीका यश-वर्णन क्यों नहीं किया। ासके अतिरिक्त सभी कवियोंने महाप्रभ और गोसाईजी, ही नौंकी प्रशस्तिमें पद रचे हैं। यही नहीं, गोस्वामीजीकी सन्तानके प्रति भी उसी प्रकारके पूज्य भावकी प्रदर्शित करनेवाले पद भी पर्याप्त संख्यामें रचे गये हैं। अष्टछाप-कवियोंकी रचनाओं से प्रधानतया यही सैद्धान्तिक या साम्प्रदायिक पक्ष उन्हें अन्य सम्प्रदायोंकी रचनाओंसे स्पष्टतया अलग कर देता है।

स्रदासकी रचनामें यह पक्ष न्यूनतम पाया जाता है। अष्टछाप-किवयोंमें स्रदास और परमानन्ददासके सम्बन्धमें बताया जाता है कि उन्हें बाललीलाका निरोध हुआ था। निःसन्देह कृष्णकी बाललीलाके सम्बन्धमें स्रदासकी रचना समस्त कृष्ण-कान्यमें अतुलनीय है। स्रदासके बाद परमानन्ददासने ही वात्सल्य मावके चित्रणमें रुचि दिखायी है। परन्तु इन दोनों किवयोंकी रचनामें भी अधिक परिमाण गोपी और राधा भावकी कान्तारित सम्बन्धी रचनाका है। अपने अन्तिम समयमें भी इन दोनों किवयोंने युगल रूपका ही ध्यान करके प्राण विसर्जित किये। कुम्मनदास और कृष्णदासके भी अधिक संख्याके पद कान्तारित और युगलभक्ति सम्बन्धों ही हैं। कुम्मनदासके सम्बन्धमें तो कहा भी जाता है कि उन्हें निकुल्जलीलाका निरोध हुआ था। नन्ददासकी प्रनुर रचनाओं में अधिकांश म्थार और मधुर

रित सम्बन्धी ही हैं। शेष किवयोंकी रचनाओं में भी मधुर भाव और राधाकी भक्ति सम्बन्धी परोंकी संख्या प्रचुर है। निश्चय ही हन समस्त किवयोंका रचनाकाल बही था, जब गोखामी विट्ठलनाथके नेतृत्वमें पृष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धतिमं शृंगारकी महत्ता अधिक हो गयी थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टछाप-काव्य कृष्णकी बाललीलाके वर्णनमं शेष कृष्ण-काव्यसे अपनी किश्चित् भिन्नता रखते हुए भी अधिकांशमें उसमे बहुत भिन्न नहीं है। कुल मिलाकर कृष्ण-भक्ति-काव्य विशेषतया गोपीवरलभ और राधावरलभ, कृष्ण-भक्ति-काव्य विशेषतया गोपीवरलभ और राधावरलभ, कृष्ण-भक्ति-काव्य विशेषतया गोपीवरलभ और राधावरलभ, कृष्ण-किवालो ही काव्य है। अष्टछाप-किवालों इस काव्यमें न केवल महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वरन् समस्त कृष्ण-काव्यका नेतृत्व किया है, क्योंकि सूर, परमानन्द और नन्ददास जैसे मधुर रित और शृंगार रसके पद लिखनेवाले किव अन्य सम्प्रदार्थोंमें नहीं मिल सकते।

अष्टद्धाप-कवियोंमें सूरको छोड़कर अन्य किसीने कृष्णकी पूर्ण लीलाके वर्णन करनेका प्रयक्त नहीं किया। केवल परमानन्ददासके 'परमानन्दसागर'में कृष्णलीलाकी उसी प्रकारकी रूप-रेखा दिखाई देती है, जैसी 'सरसागर'में है। परन्तु 'परमानन्दसागर'की प्रामाणिकता और प्रकाशनकी स्थिति 'स्रसागर'से भी अधिक चिन्त्य है। 'परमानन्द्रसागर'-के अतिरिक्त परमानन्ददासकृत 'दानलीला' और 'भ्रव-चिरत्र' नामक रचनाएँ और बतलायी गयी है। परन्तु यह दोनों अनुपलब्ध और संदिग्ध है। सम्भवतः 'परमानन्द-सागर'के ही पद सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहीं तथा 'राग-कल्पद्रमं और 'रागरलाकर'में मिलते हैं। 'परमानन्द-सागर'में कृष्णकी बाललीलाके अतिरिक्त जन्म, पालना, छठी, स्वामिनीजीका जन्म, गोपी-उपालम्भ, कृष्ण-यशोदा-के उत्तर-प्रत्युत्तर, सखाओंके साथ केलि, हास्य-विनोद, असुरमर्दन, यमुना-विहार, गोदोहन, वनक्रीड़ा, गोचारण, दानलीला, बजसे प्रत्यागमन आदिसे सम्बन्धित स्रविणित चिर-परिचित विषयोंके पद हैं। किशोरलीलाके अतिरिक्त गोपियोंकी आसक्ति, राधाकी आसक्ति, कृष्णरूपवर्णन, राधा-रूपवर्णन, युगल-रस-वर्णन, रासकीड़ा, अन्तर्धान, लल-कीड़ा, खण्डिता-समय, मानलीला, मनुहार, फूलोत्सव, दीपमालिका, वसन्तोत्सव, धमार, उत्कर्षता, हिण्डोल, यमना-वर्णन आदि विषयोंके पद है। विरद्दवर्णनमें मथरा-गमन, गोपी-विरद्द और उद्धव-प्रसंगके पद हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिरशोभा, अक्षय तृतीया, वर्षाऋतु, पवित्रा, दशहरा, रक्षावन्थन, रथयात्रा आदि विषयोंके भी पद मिलते हैं तथा रासोत्सव, नरसिंह, बामन आदिके सम्बन्धमें भी कुछ ऐसे पद हैं, जो 'परमानन्द सागर'को भी 'स्रसागर'की भाँति भागवतसे किंचित प्रभा-वित सिद्ध करते हैं। काँकरोलीकी 'परमानन्दसागर'की इस्तलिखित प्रतिमें केवल ११०१ पद हैं। कुम्भनदासके पदोंकी कुल संख्या जो 'रागकल्पहुम', 'रागरत्नाकर' तथा सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहमें मिलते हैं, ५०० के लगभग हैं। इन पदोंमें प्रायः आठ पहरकी सेवा तथा वर्षोत्सवोंके सम्बन्धमें रचे गये पद ही अधक हैं। जन्माष्टमी, राजाकी बधाई, पालना, धनतेरस, गोवधन-पूजा, इन्द्र-मानमंग, संक्रान्ति, मल्हार, रथयात्रा, हिण्डोला, पवित्रा, राखी,

वसन्त, धमार, होली आदिके पद ऐसे ही है। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंमें कम्भनदासके गोचारण, छाक, भोज, बीरी, राजभोग, धैया, शयन, आदिके पद भी नित्य-सेवासे ही सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त प्रभुरूपवर्णन, स्वामिनीरूप-वर्णन, दान, मान, आसक्ति, सरति, सरतान्त, खण्डिता-विरह, मुरली, रुक्मिणीहरण आदि विपयोंसे सम्बन्धित शृंगारके पद क्रम्भनदासने रचे है। इनके शेष पद आचार्य-जीकी बथाई, गोसाईजीकी बधाई, गोसाईजीके पालना आदिसे सम्बन्धित है। कृष्णदासके 'रागकल्पद्रम', 'रागरत्नाकर' और सम्प्रदायके कीर्तन-संग्रहोमे मिलनेवाले पदोके विषय भी लगभग इसी प्रकारके है। अतिरिक्त विषयोंमें ढाढी. चन्द्रावलीजीकी बधाई, गोकुलनाथजीकी बधाई और गोसाई-जीके हिण्डोलाके पद विशेष उल्लेख योग्य है। कृष्णदासके कुल पदोंकी संख्या २५० से अधिक नहीं है। स्वतन्त्र यन्थोंकी रचना करनेकी दृष्टिसे अष्टछाप-कवियोमें नन्ददास-का स्थान सर्वोपरि है। इनके १४ यन्थ प्रामाणिक माने गये है। इनमें 'रासपंचाध्यायी', 'भॅवरगीत', 'इयाममगाई', 'गोवर्धनलीला', 'दशमस्कन्ध भाषा' तथा 'रुक्मिणीमंगल' कृष्णलीलासे सम्बन्धित है। 'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी' और 'सदामाचरित्र' कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-लीलासम्बन्धी अन्य व्यक्तियोंसे सम्बन्धित है। 'मानमंजरी', 'अने-कार्थ मंजरी' और 'रसमंजरी' कृष्णभक्तिसमन्वित ऐसे विषयोंसे सम्बन्धित रचनाएँ हैं। जिनमें नन्ददासने अपने भाषाज्ञान तथा काव्यरीतिका परिचय दिया है। उनके 'सिद्धान्तपंचाध्यायी'में पृष्टि-भक्तिका रूप उपस्थित किया गया है। पदावलीमें उपर्यक्त सभी विषयोंसे सम्बन्धित पद है तथा कछ ऐसे भी पद है, जिनका विषय ग्ररू-महिमा, नाममहिमा, विनय और साधारण भक्ति-भावना है। चतुर्भुज दासके कुल पद संख्यामें १५० के लगभग मिलते है, जिनमें लगभग वे ही विषय हैं, जो कुम्भनदासके पदोके है। इसी प्रकार गोविन्दस्वामीके लगभग २५० पदों और छीतस्वामीके ६४ पदोके विषय भी लगभग वे ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अष्टछाप-कवियोंमें केवल नन्ददासने प्रबन्ध रचना की तथा विविध विषयोंको अपने काव्यमे सम्मिलित किया। उन्होंने कृष्णकी माधुर्येख्प लीलाके अतिरिक्त ऐश्वर्यरूपको भी काव्यका विषय बनाया तथा ऐसी रचनाएँ भी की, जिनका सीधा सम्बन्ध कृष्ण-छीलासे नहीं और जो कृष्ण-कान्यके ऐहिक विषयोंकी ओर मडनेकी सम्भावना उपस्थित करती हैं। परमानन्ददास अष्टकापके भक्त कवियोंने सरदासकी कोटिके भक्त कवि जान पड़ते हैं, यद्यपि उन्होंने साम्प्रदायिक विषयोंको अपने काव्यसे उस प्रकार दर नहीं रखा, जैसा सूरदासने। यद्यपि सूरदासके 'सरसागर'की भॉति 'परमानन्दसागर'में सम्भवतः इस प्रकार-के सम्यक प्रवन्धात्मक प्रसंग नहीं है, जिन्हें खण्डकथानक कहा जा सके, फिर भी बजवल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाको सामने रखकर उन्होंने पद-रचना की है। सम्भव है, उनके 'सागर'के वैज्ञानिक सम्पादनके बाद इस सम्बन्धमें कुछ अधिक निश्चित रूपसे कहा जा सके। परमानन्ददासने, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, सम्भवतः 'श्रीमद्भाग-वत'की कथाको अपने लक्ष्यमें रखकर पद-रचना भी थी।

उनकी कृष्ण-लीलामें जरासंध-वधका प्रसंग भी आया है। शेष सभी अष्टछाप-कवि स्फूट पद-रचना करने-वाले कीर्तनकार कवि थे, जो श्रीनाथजीकी आठ सेवाओंके लिए तथा वर्षभरके त्योहारों, पर्वी तथा कृष्ण और राधा-कृष्णके सम्बन्धमें मनाये जानेवाले विशेष उत्सर्वोंके लिए पद-रचना करते थे तथा अपने ग्ररु और ग्ररु-सन्तानोंके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकाशित करते थे। किन्तु अष्टछाप-कान्यका प्रधान विषय कृष्ण-लीला और कृष्ण-भक्ति ही है। कृष्ण-लीलामे कवियोंका विशेष ध्यान कृष्णके उस चरित्रपर ही है, जो रस और आनन्दका प्रतीक है। उनका मर्यादा-पुरुषोत्तमरूप पृष्टिमार्गी भक्तिका विषय नहीं हो सकता। अतः उनके रसेश्वर रूपके वर्णनमें यह स्वाभाविक था कि भावक और रिसक भक्त कवि उनकी लीलाकी उस स्वाभाविक परिणतिको अपने काव्यका प्रधान विषय बनाते। जो उनके गोपियों और राधाके सम्बन्धोंमे व्यक्त होती है। अतः सम्प्रदायमें प्रारम्भमें बाल्लीलापर विशेष अवधान होते हए भी कवियोंने विशेष रूपसे किशोरलीला ही अप-नायी और स्वामिनीजीका नित्य-सेवानें कोई स्थान न होते हुए भी काव्यमे उन्हें केन्द्रीय स्थान दिया।

यद्यपि शेष कृष्णकान्यक्षी माँति अष्टछाप-कान्य भी प्रधानतया स्फुट और गीतिकान्य है, फिर भी नन्ददासके आधारपर हम कह सकते है कि कृष्णकान्यके बृहत् कलेनरमें केवल अष्टछाप-कान्य ही ऐसा है, जिसमें हमे सम्यक प्रवन्ध-रचना मिलती है तथा स्रदास और परमानन्दास ही ऐसे दो कृष्ण-भक्त कि है, जिन्होंने ब्रजवल्लभ कृष्णकी सम्पूर्ण लीलापर रचना की है। अतः अष्टछाप-कि निःसंदेह कृष्णकान्य (दे०)में सर्वोपरि स्थानके अधिकारी है, उन्होंने ही प्रधानतया परवर्ती कृष्णकान्यके विषय, भावना और रूपके सम्बन्धमें नेतृत्व किया। अष्टछापका गीतिकान्य उन समस्त लक्षणोंसे समन्वित है, जो उत्कृष्टतम कृष्णलीला सम्बन्धी गीतिकान्यमें पाये जाते है।

अष्टछाप-कवियोंने भक्तिके क्षेत्रमें जिन परम्पराओंको दृढ़ किया, वे आज भी पुष्टिमार्गके घरानों और ठिकानीमं श्रद्धा और भक्तिके साथ स्मरण की जाती है। क्रष्णदासने प्रबन्ध और संघटनके क्षेत्रमे जिस ए शब्दाकताका गरिनग दिया, उसके लिए सम्प्रदाय आज भी उनका ऋणी है। अन्य कवियोंने श्रीनाथजीके स्वरूपकी सेवापद्धतिके निर्माणमें जो अतुल्नीय सहायता दी तथा अपने असंख्य कीर्तनोंके रूपमें जो प्रभत सामग्री छोडी, पुष्टि-सम्प्रदाय आज मी उसपर गर्व करता है। परन्तु वास्तवमें अष्टछाप-कवियोंका योगदान सम्प्रदायमें सीमित नहीं माना जा सकता, सम्प्रदायके लिए यह सौभाग्यकी बात अवस्य थी कि उसे ऐसे महान् भक्तों और कवियोका सहयोग मिल गया। इन भक्त कवियोंका योगदान तो सम्पूर्ण कृष्णभक्तिआन्दो-लनमें था, जिसने तत्कालीन समाजको एक नवीन चेतना और नवीन स्फूर्ति दी थी, जिसने समाजके सभी वर्गीकी-उपेक्षित शद और स्त्रीवर्गको भी नवीन आशा और नवीन शक्ति प्रदान की थी। स्वयं अष्टछाप-कवियोंमे ॲच-नीच, कई जातियों और वर्गोंके लोग थे। उनके साथ स्त्रियोंका भी संयोग था, जिनमें गृहस्थके साथ वेश्या और पतित स्त्रियाँ भी थी। इस प्रकार ये कवि न तो संसारसे वैराग्य लेकर समाजसे उदासीन हो गये थे और न केवल नामके कलासेवी, कवि और संगीतकार थे। वरन् उस नवीन सामाजिक शक्तिके महत्त्वपूर्ण अंग थे, जिसने रुटि-जर्जर समाजको एक नया रूप दिया था। यही कारण है कि उनकी रचना लोक-मनको इतना अधिक प्रभावित कर सकी और जीवनका अंग वन सकी। सामान्य जीवनके निर्माण और विकासमें अष्टछाप-कवियोने जो योगदान किया, वही उनके साहित्यिक महत्त्वको वडा देता है। सम्भवतः इन कवियोंको इस बातकी न तो बहुत अधिक चेतना थी और न आकांक्षा कि भावी पीढियाँ उनकी गणना चिरन्तन साहित्यकारोंमें करेंगी। कुछ कवि अपने कविकर्मके दायित्व-को समझते अवस्य थे, पर एक बार अपने तन, मन और धनको कृष्णापित करनेके बाद उन्होंने अपनी कवित्व और संगीतकी प्रतिभाको एक महान् उद्देश्यमे लगा दिया था। उनकी इसी निष्पक्षता और तटस्थताने उनकी वाणीको अमरता प्रदान कर दी । हम अष्टछाप-कवियोंके साहित्यिक योगदानके सम्बन्धमें, अजभाषाको सम्पन्न बनाकर काव्यके उपयुक्त ढालने, कान्यको अलंकृत करनेवाले विविध प्रसाधनों-को जटाने, काव्यका भाव-विस्तार करके उसकी रसमयताको शक्ति प्रदान करने, परवर्ती कान्यके लिए भाषा, विषय, भाव तथा कुछ अच्छी-बुरी परम्पराओंको स्थापित करनेकी चर्चा कर सकते हैं। हम कह सकते है कि हिन्दी माहित्य-के रीतिकाल (दे०)की अधिकांश परम्पराएँ तथा भक्तिकाल (दे०)से लेकर आधुनिक काल (दे०)तक अनाविल रूपसे चली आनेवाली कष्णकाव्यकी धारा अष्टछाप-कवियों द्वारा ही निर्मित है। किन्त इन कवियोंका इससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने जीवन और साहित्य, दोनों क्षेत्रोंमे मानवताके नवीन मूल्योंकी स्थापना की तथा मनुष्यका ध्यान पाथिवता और लैकिकतासे हटाकर नहीं। अपित उसका उचित उपभोग करके, उसके प्रति एक तटस्थता और निरपेक्षताका दृष्टिकोण बनाकर, उसके परे जो सत्य और सुन्दर है, उस ओर लगा दिया। मनुष्यकी सौन्दर्यवृत्ति न तो दमनके योग्य है और न उपेक्षणीय, इस सत्यका प्रमाण स्वयं अष्टछाप-कवियोंके जीवनकी कथाएँ हैं।

यन्थ-चौरासी वैष्णवनकी वार्ताः दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ताः प्राचीन वार्ता रहस्यः अष्टछाप और वल्लम सम्प्रदाय : दीनदयाल ग्रप्त ।] **अष्ट्रयाम** - यह हिन्दीका निजी काव्यरूप है, जिसका विकास रीतिकालमें विशेष रूपसे हुआ। इसमें कथा-प्रवन्ध नहीं होता, पर किसी व्यक्तिकी, चाहे वह भगवान्का अवतार हो या कोई भक्त या नायक-नायिका, दिन-रातकी चर्या-विधि दी जाती है। अतः इसे मुक्तक निबन्ध कह सकते हैं। रामचन्द्र शुक्कने ऐसे मुक्तकोंको वर्णनात्मक प्रबन्ध कहा है, जैसे-दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होलीवर्णन, जन्मोत्सववर्णन, मंगलवर्णन आदि · ('हिन्दी साहित्यका इतिहास': पृष्ठ ३२३, आठवॉ संस्करण)। अष्टयाम भी इसी प्रकारका कान्यरूप है, जिसका बीज कालिदासके 'ऋतुसंहार'में दिखाई पडता है। 'ऋतुसंहार'मे जैसे विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप विलासी व्यक्तियोंकी जीवन-

चर्याकी और संकेत किया गया है, उसी तरह दिन-रानकी जीवन-चर्या बताना ही अष्टयामका उद्देश्य होता है। भक्त कवियोंने इसको भगवान कृष्ण या रामको दिनचर्यावर्णनका माध्यम बनाया । निम्नलिखिन अप्टयाम विशेष उल्डेखनीय है-देव कविका 'अष्टयाम', महाराज विश्वनाथ मिहका 'अष्टयाम आह्रिक', चाचा हित बृन्दावनदासका 'अष्ट-याम', खुमानका 'अष्टयाम', तथा रघुराज लिएका 'अष्ट अष्टसखा-गोपाल कृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके मंगी सखाओं में उनके समानवय, समानशील और समान-व्यसन सखाओं (दे॰ 'गोपसखा')मे से सर्वाधिक धनिष्ठ और आत्मीय सखा पृष्टिमार्गमे अष्टसखा नामसे प्रसिद्ध (दे॰ 'अष्टछाप', 'पृष्टिमार्ग')। इनके नाम है कृष्ण, तोक, अर्जन, ऋषभ, सबल, श्रीदामा, विद्याल और भोज। अष्टछापकवि, जो सख्य भावसे श्रीनाथजी (श्रीकृष्णका पृष्टि-मागींय विग्रह)की भक्ति करते थे, भक्ति-भावकी उचताके कारण श्रीकृष्णके अष्टसःचा मान लिये गये हैं। इस प्रकार सरदासको कृष्ण, परमानन्ददासको तोक, कुम्भनदासको अर्जुन, कृष्णदासको ऋपम, छीतन्वामीको सुबल, गोविन्द-खामीको श्रीदामा, चतुर्भ जदासको विशाल और नन्ददासको भोजका स्वरूप माना गया है। अष्टसःखी-दे० 'गोपी'।

अष्टांग योग-दे० 'हठयोग'।

असंगति - विरोधम्लक अर्थालंकार । इस अलंकारकी गणना मुख्य अलंकारोंमें है और इसके तीन मेद हैं। इस अलंकारका विवेचन सम्भवतः सर्वप्रथम रुद्रटने किया— 'विस्पष्टे सकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र । यस्यामुपलभ्यते विशेया-संगतिः सेयम्' ('काव्यालंकार', ९ः४८) और इसीके आधारपर मम्मटने इसका विवेचन किया है— "उसे कहते है, जिसमें कार्यकारणरूपसे अवस्थित धर्मोंका येसा प्रतिपादन किया जाय कि मिन्न देशमें भी, अपने किसी उत्कर्धन्विशेषके द्वारा, साथ-साथ अवस्थित प्रतीत हों' ('काव प्रव', १०:१२५)। आगे 'चन्द्रालोक' तथा 'साहित्यदर्पण'में लक्षण— कार्यकारणकी विभिन्नदेशमें स्थिति' मात्र रह गया। 'जुवलयानन्द'में इसके तीन भेद स्थिकार किये गये हैं। हिन्दीके प्रायः सभी आचार्योने 'कुवलयानन्द'के आधारपर इनके तीन भेद दिये हैं।

प्रथम असंगति—यदि कारण कहीं अन्यत्र और उसका कार्य कहीं अन्यत्र वर्णित हो तथा उस वर्णनसे विरोधका आभास हो, तो वहाँ प्रथम 'असंगति' अरुंकार होता है। मितरामके अनुसार—'होत हेतु जह और थल, काज और थल होय' (ल० ल०, २१४)। प्रायः इसी शब्दावलीमें अन्योंके लक्षण हैं। किन्तु इस अलंकारमें विरोधका आभास आवश्यक है। यदि कारण तथा कार्यकी तथ्यगत भिन्नदेशीयता हो तो वहाँ यह अलंकार नहीं होता है। उदा०—"महाराज सिवराज चढ़त तुरङ्गपर ग्रीवा जात नैकरि गनीम अतिबलकी" (शि० भू०, २०१)। जन्य-जनक भाव न होनेपर भी इस अलंकारकी अवस्थिति होती है; यथा—'हग उरझत टूटत कुढुम, जुरत चतुर चित ग्रीति। परत गाँठि दुरजन हियँ, दई नई यह रीति" (बि० र०

३६३)। 'असंगति' और 'विरोधाभास'में अन्तर यह है कि प्रथममें एकाधिकरणवालों (जिनका एक स्थानपर रहना प्रसिद्ध हो)का वैयधिकरण्य (भिन्न-भिन्न स्थानोंपर होना) होता है और द्वितीयमें पृथक् अधिकरणवालोंका समाना-धिकरण होता है।

द्वितीय असंगति—जहाँ अन्यत्र किये जाने योग्य कार्यका अन्यत्र किया जाना वर्णित हो, वहाँ द्वितीय 'असंगति' होती है। मितराम, भूषण, दास आदिके प्रायः लक्षण समान है—''आन ठौर करनीय सो करें और ही ठौर'' (शि० भू०, २०२)। उदा०—'पिय नैनिनके राग को, भूषण सजे बनाय। लखें तिहारी छिब सुतौ, सौतु हगन अधिकाय'' (७० ल०, २१८) अथवा 'बिहॅंसि बुलाय बिलोकि उत, प्रौढ तिया रस घूमि। पुलिक पसीजत पूत्को, पिय चूम्यौ मुहुँ चूमि" (बि० र०, ६१७)। प्रौढाको चूमना चाहिए था पतिका मुख, किन्तु उस मुखसे स्पिशत मुख चूमकर उसने उतना ही आनन्द माना। जगन्नाथके अनुसार 'असंगति' वहीं होनी चाहिये, जहाँ एक ही स्थानपर जिनका होना प्रसिद्ध हो, उनका पृथक्-पृथक् स्थानेपर होना कहा जाय, जहाँ ऐसी स्थिति न हो, वहाँ विरोधाभास ही मानना चाहिए।

तृतीय असंगति - यदि किसी कार्यको करनेकी प्रवृत्ति हो, किन्तु उसके विरुद्ध कार्य किया जाना वर्णित हो तो वहाँ तृतीय 'असंगति' होती है। जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण आदिके लक्षण प्रायः समान है—"करन लगे औरैं कछ, करै औरई काज।" (शि० भू०: २०४)। दासने इस प्रकार रखा है—''और काज करिवे लगत, करै जु औरै काज" (का० नि०, १३)। उदा०—"उदित भयो है जलद तू, जगको जीवन दानि। मेरो जीवन लेत है, कौन बैर मन आनि" (ल० ल०, २२०), अथवा-"राज देन कहँ सुभ दिन साथा। कहेउ जान बन केहि अपराधा" (रा० च० मा०, २: ५४)। पण्डितराजके अनुसार यहाँ 'विभावना' है, क्योंकि कारणसे विरुद्ध कार्यकी उत्पत्ति कही गयी है। 'रसगंगाधर'के अनुसार 'चन्द्रालोक' आदिमें विणत दूसरी तथा तीसरी 'असंगति'मे 'विरोधालंकार' है। नागेश भट्टका मत भिन्न है, वे ऐसे स्थलोंमें 'असंगति' ही मानते है क्योंकि विरोध-कल्पना द्वारा चमत्कार सृष्टि है, न कि विरोधकी निवृत्ति द्वारा। —ঘ০ র০ গা০ असंबंधातिशयोक्ति-दे॰ 'अतिशयोक्ति', चौथा भेद ।

असंभव — विरोध-मूलक अर्थालंकार । अलंकार-शास्त्रके प्राचीन लेखकोंने इस अलंकारको पृथक न मानकर विरोधके अन्तर्गत माना है और विरोधका निरूपण भट्टि, भामह, दण्डी, उद्घट, वामन, मम्मट एवं रुय्यक इत्यादि कई लेखकोंने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक'के लेखक पीयूषवर्ष जयदेवने इसका उल्लेख सर्वप्रथम किया था। उनके अनुसार लक्षण है—''असम्भवोऽर्थनिंध्यत्तावसम्भाव्यस्ववर्णनन्'' (चन्द्रालोक, ५: ७६)। कार्यसिद्धिको (चमत्काररूपसे) असम्भव बताना। और हिन्दीके आचार्योने प्रायः जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर इसकी व्याख्या की है—''जहाँ अर्थकी सिद्धिको सम्भव बचन न होइ'' (छ० छ०, २१२), अथवा—''अनहूवे ही बात कद्ध,

प्रगट भई सी जानि" (शि॰ भू॰, १९७)। उदा०-"हरि इच्छा सब ते प्रवल, विक्रम सकल अकाथ। को जानत लुटि जाइँगी, अवला अर्जुन साथ" (का० नि०, १५) । यहाँ अर्जुनके साथ अवलाका लुटना असम्भव कल्पना लगती है। कन्हैयालाल पोदारने जयदेवके उदाहरणका भाव लिया है--''यो ऐसा गिरिराज आज करसे ऊँचा उठाके अहो। जाना था कि.सने कि गोपिश्जा यह रक्षा करेगा ---ज० कि.० ब० कहो ?' (अ० मं०, ३०१)। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि-अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिका पहला भेद । अभिधामूला ध्वनिमे वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थकी पृष्टि करने लगता है। जहाँ व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम असंलक्ष्य (अलक्षित) रहता है, अर्थात् वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थ-प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम नही जाना जाता, वहाँ असंष्ठक्ष्य ध्वनि होती है। इस ध्वनिमें पहले वाच्यार्थके रूपमे विभाव, अनुभाव आदि ज्ञात होते है, फिर व्यंग्यार्थके रूपमे रस, भाव आदिको व्यंजनाएँ होनी है। विभावानुभावसे रसादिकी प्रतीतिका बोध क्रमपूर्वक तो अवस्य होता है-यिद यह बोध क्रमपूर्वक न होता तो इस ध्वनिका नाम असंलक्ष्य अथवा अलक्ष्य न होकर अक्रम होता, किन्तु यह प्रतीति शतपत्र-भेदन-न्यायके सदश इतनी शीधतासे होती है कि इस क्रमको जान सकना सम्भव नहीं होता।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यकी व्यंजनाएँ आठ रूपोंमें होती है-रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता। इनमे भाव और रसकी व्यंजना अत्यन्त चमत्कारकारी और रमणीय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है (रस तथा मानके विशेष विवरणके लिए दे॰ 'रससिद्धान्त')। रसकी व्यंजनामे अनौचित्य होना रसाभास और भावका अनुचित रूपमें वर्णित होना (रसाभासका अंग होना) भावाभास है। अनौवित्यके होते हुए भी रसाभास आदिको ध्वनिके अन्तर त नैहे समाविष्ट किया गया है, इसका समाधान इस प्रकार किया गया है-'यद्यपि रसका अनौचित्य रूपमे होना रस-दोप है, किन्तु आपातरमणीय होनेके कारण इसके द्वारा भी क्षणभरके लिए रसके आस्वाद्यका आभास हो जाता है। रसाभासमे, सापमें चॉदीकी झलककी तरह (शुक्ती रजताभासवत), रसकी झलक-मात्र रहती है, इसीलिए रसाभासको ध्वनिका एक भेद माना है" (का० कल्प०-भाग १, पृ० २४९)। किसी विरोधी भावके आ जानेके कारण किसी पूर्ववर्ती भावकी चमत्कारपूर्ण शान्तिको भावशान्ति, किसी शान्त होते हुए भावके वाद ही चमत्कारपूर्ण रीतिसे किसी अन्य भावके उदयको भावीदय, किन्ही दो समान उत्कर्षवाले भावोंकी एकत्र स्थितिको भावसन्धि तथा समान उत्कर्षवाले अनेक भावोके एक-दूसरेके बाद आनेको भाव शबलताकी संज्ञा दी गयी है। ध्वन्याचार्योंने इन आठोंको ध्वनिके असं-लक्ष्यक्रम भेदके साथ ही। गुणीभूत व्यंग्यके। अपरांग भेदके अन्तर्गत रखा है। इस विपमताका स्पष्टीकरण करते हुए मम्मटने लिखा है कि ऐसा कोई विषय (दृष्टान्त) न मिलेगा, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदोंका संकर अथवा संसृष्टि न हो, फिर भी जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, वहाँ उसका वैसा नामकरण कर दिया जाता है—"यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विपयः यत्र ध्वनिगुणीमूनव्यंग्ययोः स्वप्रमेदादिभिः सह संकरः संस्रष्टिवां नास्ति तथाऽपि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति कचित्केनचिद्व्यवहारः" (का० प्र०, पृ० १३२)। जहाँ रस, भाव आदि अंगी (प्रधान) बनकर चमत्कार उत्पन्न करते है, वहाँ ध्वनि तथा जहां वे वाच्यार्थकी समकक्षतामें गौण हो जाते हैं और अप्रधान बनकर दूसरेको सुशोभित करते है, वहाँ गुणीमूत व्यंग्य बन जाते है। प्राचीन अलंकारशास्त्रियोने इन आठोको रसवत् , प्रेयस् , ऊर्जस्वी (भावाभास तथा रसामास दोनोंके छिए), समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावश्वलता नामक अलंकार माना है।

असंलक्ष्यक्रमध्वनिकी व्यंजना पद, पदांश, वाक्य, रचना, वर्ण तथा प्रवन्ध द्वारा होती है। इसीसे इसके छः भेद किये गये है-१. पदगत-''सखी सिखावति मान बिधि. सैननि बरजति बाल । हरुए वह मो हिय सदा बसत बिहारीलाल"। इस दोहेके 'हरुए' शब्द द्वारा पदगत असंलक्ष्यध्विन व्यंजित होती है। मान करनेकी विधिकी शिक्षा देनेवाली सखीके प्रति गोपी अपने हृदयके गृढ कृष्ण-प्रमक्षी व्यंजना कराना चाहती है। वाच्यार्थसे यह व्यंग्यार्थ जात होता है कि कृष्ण सदैव हृदयमें स्थित रहते हैं, उनसे मिलना ही श्रेयस्कर है, रूठनेका प्रश्न नहीं उठता। २. पदांशगत-"सिखा दो ना हे मधपकमारि, मूर्ग भी अपने मीठे गान" (पन्त) । यहाँ 'ना' पदांश द्वारा कविके हृद्रयमें स्थित दैन्य भाव न्यंजित होता है । ३. वाक्यगत-"सरदास जो सरवस दीजे कारी कृतिह न मानै"। यह परा वाक्य वक्ता गोपीके हृदयकी खीझ व्यंजित करना हुआ विप्रलम्भ श्रंगारका पृष्टीकरण करता है। ४. रचनागत-इस भेदमें विशिष्ट पद-योजनाके कारण असंलक्ष्यध्वनि व्यंजित होती हैं। इसमें रीतियों (वैदर्भी, गौडी, पांचाली)-के चमत्कारका बाहरूय देखा जाता है। ५. वर्णगत-इसके अन्तर्गत गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद)का समाहार किया गया है। रीतियाँ गुणोंपर अवलम्बित हैं और गुणोंका रसके साथ नित्यसम्बन्ध हैं, अतः रचनागत तथा वर्णगत ध्वनियो-के पृथक-पृथक भेद मानना बहुत तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। ध्वन्याचार्य सभी पूर्ववर्ती सिद्धान्तोंको यथास्थान समादत करना चाहते थे। कदाचित इसीलिए उन्होंने इनके पृथक्-पृथक् भेद किये थे। ६ प्रबन्धगत-परस्पर एक-दसरेसे अन्वित विविध वाक्योंके समूहको महावाक्य संझा दी गयी है और जहाँ महावाक्योंसे ध्विन निकलती हो। वहाँ प्रबन्धध्वनि होती है। इसका सम्बन्ध छोटे-छोटे प्रसंगों अथवा समूचे ग्रन्थसे भी माना जा सकता है-'रामायण' करणरस प्रधान तथा 'महाभारत' शान्तरस प्रधान है। —-ত হাঁ০ হ্যু০ असमर्थ-दे॰ 'शब्ददोष', चौथा पददोष ।

असमय-दण राष्ट्रदाष, चाथा पददाष । असमिया (भाषा तथा साहित्य)-चीनी परिव्राजक

असामया (माषा तथा साहित्य) — चीना परिव्राजक हैनत्सांग ईसाकी सातवीं शताब्दीमें अपने भारत-श्रमणके सिल्सिलेमें कामरूपके तत्कालीन शासक कुमार भास्कर-वर्मनके आमन्त्रणपर आसाममें आया था। उसने अपने श्रमण-कृत्तान्तमें यह उल्लेख किया है कि उस समय काम-

रूपमें बोली जानेवाली भाषा मध्य भारतकी भाषारे कहा भिन्न थी। इस उक्तिका यही आशय होता है कि ईसवी सातवी जताब्दीमें असमिया अर्थमागर्था अपसंजाने किन भाषाके रूपमे बनने लगी थी। कमार मानार महिल किल तक कारक पूरे जा र संस्कृति और उसके प्रभावका सिक्का कले। भाति जम चका था और आयंतर जातियोंका आधीकरण भी होने लगा था। दसवी शताब्दी छः सान एक इजारके बीच बौढोंके गहानान-महाज्यान सम्प्रदायके सिढो दारा रचित 'चर्यापद' (दे०)के दोहोंकी भाषामें आदि अस्मियाके बहतसे निश्चित तत्त्व मिल जाते हैं। इन मिद्धोंमेंसे कई कामरूपके ही थे। दूसरी तरफ 'चर्यापद'की भाषा मध्ययगकी अर्थमागधी अपभ्रंशसे निकली हुई असमिया. बंगाली, उड़िया और मैथिलीकी सामान्य स्नोत थी। तिभ्वत-से प्राप्त 'बाह्यान्तर बोधि चितवन्थो प्रदेश' नामके प्रत्थका भाषासे प्राचीन असमिया भाषाके साम्यकी बात राहल सांकत्यायनने कही है। 'चर्यापद'की भाषा ही ऊपर उल्ल-खित भाषाओं का सामान्य स्त्रोत सभगी जाती है।

असमका प्राचीनतम नाम प्राग तिरिष था। इसके बाद इसका नाम कामरूप पड़ा। असम प्राण्तिकार नाम है, जो ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके बाद पड़ा। कामरूप नाम में जब यह प्रख्यात था तब असम चार द्वकरोमें वटा हुआ था। उसी समय ईमाकी त्रयोदश शताब्दीमें निपाद जाति-की एक शाखा टाइ (शान) कवीलेने वर्माम आकर काम-रूपके नितानत पूर्वाशमें अपना राज्य स्थापित किया। इस कवीलेके शासनके साथ-साथ कामरूपका न केवल नाम ही बदला बब्कि उसके सम्पूर्ण अवयवपर भी स्थायी परिवर्तन हुआ। कामरूपके परिचमांशपर उस समय कीच परिवारका शासन था। टाइ कवीलेके शासनकालसे इस राज्यका नाम असम पड़ा और यहाँके लोगोंकी भाषाका असमिया।

भारतके इस पूर्वी राज्यका और इसकी भाषाका नाम असम और असमिया कैसे पड़ा, इसका निर्णय आज भी निर्विवाद रूपसे नहीं हुआ। विद्वान उसका सम्बन्ध इस टाइ कबीलेसे लगाते हैं। उसके गामनके प्रारम्भिक कालमें कामरूपी इसे 'आहोम' कहा करता था। सुनीनिकृमार चडोपाध्यायने वाणीकान्त काकतीके स्मारक भाषणमें उहलेख किया है कि बर्मा जब ईसाकी स्थारहर्वा शताब्दीमें शान (आहोम भी इसी कवीलेकी शाखा) कवीलेके सम्पर्धमें आया तो उसने इस कबीलेका नाम अपनी मोन लिपिमें अपने उचारणकी विशेषताके कारण 'रहवम' लिखा और इसी नामसे जब उस कबीलेके लीग कामरूपमें गये तो वहाँके निवासी जो किराती (बोड़ो) और आर्यभापा बोलत थे, इस शब्दका शुद्ध उच्चारण न कर सके और उसे अश्चद्ध समझकर अपने उचारणमें ढालकर उन्होंने 'आहोम'को 'अहम, असम' कर लिया। अब 'रहवम' तो 'आहोम' रूपमें रह गया और 'असम' (आहोम, अहम) लोगों द्वारा विजित राज्यका नाम भी 'असम' पड़ा और वहाँके लोगों-को असमिया और भाषाको भी असमिया कहा जाने लगा। असमियामें 'इया' प्रत्यय किसी संशासे जोड़कर सम्बन्ध-वाचक विशेष्य या विशेषण निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार 'असम' संज्ञामें 'इया' प्रत्यय लगकर भाषा और भाषीका नाम पड़ा। अंग्रेजी कालमें 'ए' (अ)की उच्चारण-भिन्नताके कारण अंग्रेज और उस समयके अंग्रेजी शिक्षित बगाली कर्मचारियोके अज्ञानके कारण असमका नाम 'आसाम' पड़ने लगा था।

क्षेत्रफलकी दृष्टिसे आधुनिक असमका इलाका बहुत विस्तृत है, जो प्रायः पचासी हजार वर्गमीलका है। इसके अन्तर्गत विस्तृत पहाडी क्षेत्र भी है, जो राज्यके चारो ओर फैला हुआ है। असमिया ब्रह्मपुत्रकी घाटीके छः जिलोमे ही प्रधानतः बोली जाती है, सुरमाकी घाटी और पहाडी क्षेत्रमें इसे मातृभाषाके रूपमें बोलनेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। सन् १९५१ ई०की जनगणनाके अनुसार असमके नब्बे लाखकी आवादीमेंसे साढ़े उनचास लाख आदमी असमिया बोलनेवाले है और दस लाखके करीब केवल घरेलू व्यवहारके अतिरिक्त सभी दैनन्दिन कार्योंमें इसका व्यवहार करते है। जन-जातिकी भाषा बोलनेवाले साढ़े तेरह लाख आदमी भी राज्यके अन्य भाषियोंसे असमियामे ही अपने विचार व्यक्त करते है।

साम्प्रतिक असमिया लिपि देवनागरी लिपिका ही अन्य-तम रूप है। लिपिका अवतक उपलब्ध प्राचीनतम निदर्शन भास्करवर्मनका सन् ६१० ई० का ताम्र-फलक ही है। तभी-से इस लिपिका विकास होता आया है। प्राचीन हस्तलिखित प्रन्थोंकी लिपि और आधुनिक लिपिके भीतर कुछ अन्तर अवस्य पाया जाता है। वस्तुतः मैथिली, बॅगला और असमिया लिपिका स्रोत एक है। आधुनिक असमिया लिपि-का साम्य मैथिली लिपिसे अधिक है। आधुनिक बॅगला लिपिसे इसका भेद 'र' और 'व'मे है। अन्तिम वर्ण बॅगला-में नही है। असमिया लिपि बंगला लिपि ही है, यह धारणा गलत है। दोनो लिपियोका आधुनिक साम्य औद्योगिक सभ्यताकी देन है।

यद्यपि असमिया भाषाकी उत्पत्ति और इसकी वर्णमाला और लिपिके विकासमें आर्यभाषाका ही पूर्णतः सहयोग रहा, तथापि वह अपनी उद्गम-भूमिकी दूसरी भाषाओं के शब्दों और ध्वनि-रूपोंके प्रभावसे अपनेको मुक्त नहीं रख सकी। इसलिए असमिया वर्णमालाका उच्चारण दूसरी भारतीय भाषाओंकी वर्णमालाके उच्चारणसे भिन्न पड़ जाता है। असमियाकों सभी ध्वनियाँ कोमल है। दित्ववर्णका भी उत्तना कठोर उच्चारण नहीं होता। मूर्धन्य और दन्त्य वर्णोंका लिखित रूपमें भेद होनेपर भी उच्चारणमें भेद नहीं होता है। उनका उच्चारण एक-सा होता है और वे वर्त्स्य होते है।

रुपतत्त्वमें भी दूसरी भारतीय भाषाओं से असमिया भेद रखती है। किसी वस्तुके गुणको विशेष रूपसे दर्शानेके लिए शब्द दित्व करनेकी प्रवृत्ति इसमे है। यह विशेषता द्राविड़, कोल और खासी भाषाओं मे पायी जाती है। अनार्य भाषाओं तरह शब्दके दूसरे अक्षरपर जोर देना भी असमियाकी एक विशेषता है। सम्बन्धवाचक शब्दोमे व्यक्तिवाचक प्रत्यय लगाकर कौटुम्बिक सम्बन्ध दिखाया जाता है। पुरुष-भेदसे प्रत्यका भी भेद हो जाता है। दूसरी तरफ आयुके अनुसार अलग-अलग कौटुम्बिक सम्बन्धवाचक शब्द भी होता है, जो हिन्दी आदि भाषाओं- में नहीं होता। समूहका ज्ञान करानेके लिए शब्दके आगे जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, वे भी अनार्य-स्रोतके समझे जाते हैं। अर्धमागधीसे निकली हुई भाषाओं में असगिया, क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाले नकारात्मक 'न' प्रत्ययके प्रयोग-मे विशेष स्थान रखती हैं। यह प्रत्यय क्रियाके पहले लगता है और उससे अभिन्न रहता है।

वाक्य-विचार-पद्धित आधुनिक आर्यभाषाओंकी तरह ही है। पहले कर्ता, उसके बाद कर्म और अन्तमे क्रिया। असिया भाषा संस्कृत व्याकरणका अनुसरण करती है। सिन्ध, समास आदिका प्रयोग थोड़ा-बहुत स्थानीय हेरफेरके साथ होता है। संस्कृतसे उद्भृत प्रत्ययोके अतिरिक्त अनार्य-भाषाओंके भी प्रत्यय इसमे पाये जाते है, जो संज्ञा और क्रियामे समान रूपसे व्यवहारमे आते है। ये प्रत्यय असमियापर अनार्य-भाषाओंके प्रभावकी मुक्त घोषणा करते है।

ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके प्रारम्भसे ही असमिया भाषामें लिखित साहित्यक कृतियाँ क्रमानुसार मिळने लगती है। इससे पहले 'चर्यापद'के दोहों में असमिया भाषा और साहित्यके प्रारम्भिक रूपका आमास मिळ जाता है। 'चर्यापद'के समयसे ईसाकी द्वादश शताब्दीके अन्ततक कामरूपमें विभिन्न प्रकारके मौखिक साहित्यका निर्माण हुआ था। उनमे मणिकोवर-फुळकोंवर-गीत नामक समाजमें प्रचळित जनप्रिय कहानीका गीतात्मक रूप, डाक वचन, तन्त्र और मन्त्रके मौखिक साहित्य प्रधानरूपमें थे। यद्यपि इन साहित्यक गीत और वचनोके निर्माण-काळकों कल्पना ईसाकी त्रयोदश शताब्दीके भी पहळे की जाती है, तथापि लिखित रूपमें वे बादकी सामग्री है। इनमें प्राचीन भाषाके तन्त्व अवस्य मिळ जाते है।

असमियाके लिखित साहित्यके कालको पाँच भागोमे बॉट सकते है—(१) प्राक्-वैष्णवकालः १२००-१४४९ ई०, (२) वैष्णवकालः १४४९-१६५० ई० (३) अत्राह्म कालः १६५०-१९२६ ई०, (४) अत्राह्मिक कालः १९४७ ई०, (५) स्वाधीनता-उत्तरकालः १९४७ ६० (०)

(१) प्राक्-वैष्णवकाल : - प्राक् वैष्णवकालके साहित्य निर्माताओको हम दो श्रेणियोमे विस्ता कर सकते है। पहली श्रेणीमे हम उनको रखेंगे, जिन्होंने संस्कृत अन्थोका अनुवाद किया है या उनके आधारपर अपनी नयी कृतियोंका निर्माण किया है। इस श्रेणीके कवियोकी विचारधारा धर्मप्रधान और भक्तिमूलक थी। दूसरी श्रेणीमे वे किय आयंगे, जो बीते हुए युगकी गीत-परम्परामे महाकान्यके वीरोकी गाथा लिख गये। साहित्यक प्रवृक्तिकी दृष्टिसे यह काल प्रभाव-निरपेक्षताका काल था। प्रत्येक किय स्वतन्त्र रूपसे अपनी रचना किया करता था।

✓अनतक प्राप्त पहला असमिया लिखित प्रनथ 'प्रहाद-चित्रि' है, जिसका निर्माता कि हेमसरस्वती था। ईसाकी त्रयोदश शताब्दीमे कमतापुर (पश्चिम कामरूप)का राजा दुर्लभनारायण था। हेमसरस्वती इसी समयका कि था। इस रचनामे भक्ति-भावका प्रतिपादन किया गया है, जिसमे भक्त प्रहादकी अन्तिम सफलताका उल्लेख है।

प्राक्-वैष्णवकालका सबसे बड़ा कवि माधव कन्दर्ला

हुआ । उसने 'रामायण'का सरल अनुवाद असमिया छन्दमें किया । यह कार्य उसने कछारी राजा महामाणिक्यके प्रोत्साहनसे किया । कन्दलीको इस कार्यमें दूसरे पण्डितोंने भी सहायता दी । माथव कन्दलीको 'रामायण'में असमिया भाषा अनेक प्रकृत रूपमें प्रकट हुई और संस्कृतका बोझ उसपरसे उतर गया ।

कवियोंके दूसरे समूहमें गीति-कवि आते है। दुर्गावर, पीताम्बर और मनकर आदि कवियोंके कई एक गीति-काव्य मिले है। दुर्गावरने 'रामायण'को लौकिक वातावरणमें गेय छन्दमें लिखा। पीताम्बरने 'ऊषा-परिणय' नामका एक प्रणय-काव्य और मनकरने 'बेउला लिखन्दर' नामक लौकिक कहानीके आधारपर गेय छन्दमे एक प्रणय-काव्य लिखा। अन्तिम काव्यमें मनसा पृजाको गरिमा दिखायी गयी है।

पूर्वोक्षिखित मन्त्र-पोथियोंका लिखित रूप इसी समय मिलता है। यद्यपि ये रचनाएँ गद्य जैसी भाषामें मिलती है, तथापि उसके स्ररूपको पद्यरो अलग नहीं किया जा सकता। इन रचनाओंका विषयवस्तु जादू-टोना, रोग-निवारणका मन्त्र, भूत-पिशाचोंका निवारण, सर्पदंशनसे आरोग्यका निदान आदि है।

(२) वैष्णवकालः - हेमसरकिना और माधव कन्दली आदिने पहले ही भक्तिका महत्त्व प्रचार कर परवर्ता कालके लिए भक्ति-आन्दोलनकी भूमिका प्रस्तुत कर रखी थी। इस युगके प्रमुख किन और धर्म-प्रचारक इंकरदेवने माधव कन्दलीको 'अप्रमादी' किन कहकर उसकी प्रशंसा की है। इस कालका साहित्य भक्ति-भावसे सराबोर था और यह भक्ति निस्सन्देह रूपसे वैष्णव-भक्ति ही थी। इस भक्तिआन्दोलनके उपर समय-समयपर शक्ति बाह्मण और आहोम और कांच्यालाओंको ओरसे बाधा पड़ती रही। किन्तु धीरे-धीर यह बाधा कम होती गयी। कोंच्य राजपरिवार वैष्णव होता गया और आहोम राजपरिवार और राज पर्वों सहिष्णुताका भाव बढ़ता गया।

इस कालमें पहले और प्रमुख किन और साहित्यिक शूंकरदेव हुए। वे केवल असिया साहित्यके नविनर्भाता ही नहीं हुए, बिल्क सम्पूर्ण असिया जीवनका नये प्रकारसे उन्होंने निर्माण भी किया। असमके साहित्य, समाज, संस्कार, धर्म, कळा, संगीत और सम्माजिक संघटनको उन्होंने अपने सवल हाथोंसे पुनिर्निर्मित किया। उन्होंने अमिद्धागवत-पुराण'को अपने वैष्णवमतका प्रधान आधार-प्रन्थ बनाया। इसलिए उनके चलाये हुए धर्ममतको भागवती धर्म' कहा गया। इसे 'एकश्र्रणधर्म' मी कहा जाता है।

रांकरदेवकी प्रथान रचना 'कीर्तनघोषा' है। इसमें भागवत और विभिन्न पुराणोंसे भक्तिपरक आख्यानोंको अनुवाद करके संगृद्दीत किया गया है। 'भक्ति प्रदीप' अपने धर्म सिद्धान्तोंका सिद्धान्तमूलक ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त 'निविनव सिद्ध', 'रुक्मिणीहरण कान्य', 'गुणमाला', 'लीलामाला' आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। उन्होंने सिस्कृतमें भिक्तरलाकर' नामक एक ग्रन्थ लिखा। माधव कन्दली द्वारा अनूदित 'रामायण'का कुछ अंश खो जानेक कारण शंकरदेवने उसके उत्तरकाण्डको भी अनूदित किया।

इनके अलावा और कई घन्य उनके नाममें मिलते हैं।

शंकरदेव आधुनिक भारतीय भाषाओं के सर्वप्रथम नाटक कार भी है। अमियामें इनके द्वारा लिखे गये नाटकीकी अंकीया नाट' कहते हैं। ये नाटक एक अंक के होते हैं। नाटकीमें भी विष्णुकी श्रेष्ठता दिखायी गयी है। इन नाटकीमें में अजबलि भाषाका प्रयोग किया गया है। अंकीय नाटकीने के क्षेत्रपक्षत्वनमें एक्टे-पहल्ल गत भाषाका प्रयोग हुआ। शंकरदेवके नाटकीमें 'रामिवज्य', 'कालीडमन', 'पारिजात-र्ण'. 'कविमणीडिंग', 'पत्नीपमाद' प्रधान हैं। अंकीया नाटोका एक प्रकान भी लेख हैं, उने क्रगान कहते हैं। अजगुलिमें लिखित उन गीतिमें गम्भोर भक्ति-भाषनाके दर्शन होते हैं।

शंकरदेवके बाद दूसरे महान् किन माधवदेव हुए। माधवदेव एक साथ मंस्कृतके विद्वान्, संगीनकार, नाटककार और धर्मप्रचारक थे। भागवती धर्मके प्रचारमें शंकरदेवके बाद ही उनका स्थान है। उनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'नाम-घोषा' है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वका विवेचन है। इसी कालके दूसरे किन अनन्त कन्दली थे, जिन्होंने 'कुमरहरण काब्य' और 'मीनार प्रनाल प्रनेश' नाटक लिखे। श्रीधर कन्दली नामक एक अन्य किन श्रीकृष्णके बाल्य जावनकी धटनामे मम्बन्धिन 'कुमस्वोवा' नामसे एक मनोरंजक पुस्तक लिखी। 'असमिया महाभारत'का निर्माता रामसरस्वती इसी कालमें हुआ। उसने कीन राजा नरनारायप्रकी आधार से अपनी स्वतन्त्र हुत्तिन इसका अनुवाद किया।

यचिष शंकरदेवने ही असमिया गण-साहित्यका प्रारम्भ किया था, तथापि उसका स्पष्ट और स्थायी रूप भट्टदेवके हाथों ही निर्मित हुआ। भट्टदेव सोलहवीं शतान्दीके थे। उन्होंने 'भागवत पुराण' और 'गीता'को असमिया गधमें अनूदित किया।

(३) गृष्ध, बुरंजी और अन्य साहित्य:—इस समयतक असममें वैष्णवधर्मकी जड़ जम चुकी थी। दूसरे धर्मका प्रभाव कम हो चुका था। राजपरिवारों और उनके कर्मचारियों में वैष्णवधर्मके प्रति आदर बढ़ गया था। अतः इस आन्दोलनकी आरम्भिक गतिशीलतामें शिथिलता आ गयी थी और धामिक साहित्यके साथ धर्म-निर्पेक्ष साहित्यकी भी रचना होने लगी थी।

इस कालकी प्रमुख साहित्यिक देन बुरंजी साहित्य है। बुरंजी टाइ राब्द हैं, जिसका अर्थ 'अज्ञात कथाओं का मण्डार' यानी इतिहास है। आहोमोंमें पहलेसे ही इतिहास लिखनेकी परम्परा थी। यह काम साम्प्रदायिक पुरोहित किया करता था। किन्तु शासनके प्रारम्भिक दिनोंमें यह इतिहास वे अपनी टाइ भाषामें ही लिखा करते थे। आहोम जब धीरे-धीरे कामरूपके निवासियोंसे एक हो गया और आर्य-असमिया भाषाको उसने अपना लिया तो असमिया भाषामें भी इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया। अब यह काम पुरोहितोंके हाथसे छुटकर राजकर्मचारियोंके हाथमें आया। सरकारी देखरेखमें यह कार्य चाल्द हो गया। इसलिए असमिया-बुरंजी साहित्यमें तथ्योंका हेर-फेर बहुत कम हुआ। सभी बुरंजियोंके लेखकका नाम नहीं मिलता, क्योंकि विभिन्न समयमें सरकारी अधिकारी उनका संकलन

करता था। बुरंजीकी भाषामें बोलचालकी भाषाने अधिक स्थान पाया।

बुरंजी साहित्यके अतिरिक्त इस कालमें राजवंशोंकी वंशावित्यों भी लिखी गयी, जिनमे सूर्येखरी बलदेवकी 'दरराजवंशावली' और रितकान्त द्विजकी 'राजवंशावली' मुख्य है। इस कालमे चिरत-प्रन्थोकी रचना अधिक संख्यामें हुई। यह साहित्य वैष्णवमठोमें अधिकतर रचा गया।

कविराज चक्रवर्तीने जयदेवके 'गीतगोविन्द'का अस-मियामें दूसरा अनुवाद किया और धर्मदेवभट्टने तीसरा अनुवाद। कविराज चक्रवर्तीने 'शंखचुर वध' और 'शकुन्तला' नामसे दो कान्य भी लिखे।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस कालमें कला, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, नृत्य आदिपर भी ग्रन्थ लिखे गये। सुकुमार बरकाठका 'हस्तीविद्याणंव,' सागर खरीका 'घोड़ा निदान', काशीनाथका 'अंकर आर्या', कवि चूडामणिका 'ज्योतिष चूड़ामणि', बकुल कायस्थका 'किताबत', कविराज दिजका 'लीलावती', रलखरीका 'कर्मफल', कविराज सरस्वतीका 'भास्वती' और 'श्रीहस्तमुक्तावली' नामक संस्कृत ग्रन्थका सचित्र अनुवाद सहित विविध ग्रन्थ इस कालमें मिलते हैं।

इस कालमें हिन्दी कवि कुतुबनके 'मृगावती' और मंझनके 'मधुमालती' नामक सूफी काल्यके कथानकके आधारपर दो काल्य भी लिखे गये।

(४) आधुनिक काल: — उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भसे ही आहोम राजशक्ति क्षीण हो गयी थी। ई० १८१७-१८के भीतर असम वर्मी शासनके अधीन आ गया था। वर्माके हाथसे १८२६ ई० में असम अंग्रेजोंके हाथमें चला गया। अंग्रेजी शासनके आरम्भके साथ-साथ असमके सम्पूर्ण जीवनपर परिवर्तन दिखाई पडा और पाश्चात्य विचारसे विभिन्न विषयोंको सोचा भी गया।

असममें कोई स्वतन्त्र राजा न रह जानेके कारण असमिया साहित्य राज्याश्रयसे वंचित हुआ और मठ आदिमें भी धार्मिक प्रभाव कम पड़ गया था। अतः साहित्य निर्माणके क्षेत्रमें एक प्रकारसे गतिरोधकी अवस्था आ गयी थी। दूसरी तरफ अंग्रेजी शासनके साथ-साथ बंगालसे अंग्रेजी-शिक्षित बंगाली राजकर्मचारी भी आये। उन्होने अंग्रेजोंको समझा दिया कि असमिया बॅगलाकी एक बोली मात्र है, अतः इसे सरकारी कार्य, कचहरी और विद्यालयोंमें स्थान नहीं मिलना चाहिये और उसकी जगह बॅगला ही चलानी चाहिये। अतः तत्कालीन अंग्रेज शासकोंने १८३६ ई०मे असमियाको हर स्थानसे बहिष्क्रत कर दिया। इस परिस्थितिमें असमिया साहित्यकी गतिको चालू रखनेके लिए दूसरे प्रकारके व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी। यह व्यक्तित्व अंग्रेजी-शिक्षित असमिया लोगोमे ही पाया जा सकता था। अतः असमियाको पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिए वे अग्रसर हुए।

असमिया साहित्यका पुनर्जागरणका काल अपने अस्तित्वकी पुनःप्रतिष्ठाके साथ प्रारम्भ हुआ। असमिया भाषा और साहित्यका स्वतन्त्र स्वरूप प्रमाणित करनेके लिए असमके सपूर्तोंने एक होड़-सी लगा दो। इस कार्यमे अमेरिकी पादिरियोने देशी लोगोसे भी बढकर काम किया। उन्हें देशी भाषाके माध्यमसे अपना धर्मप्रचार करना था। इन पादिरयोने शिवसागर नामक स्थानमें मुद्रण-यन्त्रकी स्थापना करके असमिया ग्रन्थ छापना आरम्भ किया। इन्होंने इसी मुद्रणयन्त्रसे १८४६ ई०में असमियाका पहला मासिक पत्र 'अरुणोदइ' (अरुणोदय)का प्रकाशन प्रारम्भ किया। देशी-विदेशी विद्वानोके प्रचार और साहित्यिक उन्नतिको देखकर अंग्रेजी शासकोंने १८७३ ई०में असममें पुनः असमियाको अपने स्थानपर प्रतिष्ठित किया। किन्तु इस अप्रत्याशित बहिष्कारने असमिया भाषा-साहित्यको शोचनीय रूपसे धक्का पहुँचाया। माइल्स व्रनसन, व्राउन, केरे, श्रीकाटर आदि पादिरयोंने असमिया भाषासम्बन्धी ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। १८१३ ई०मे बाइबिलका असमिया अनुवाद छपकर प्रकाशित हुआ। यह असमियानका पहला मुद्दित ग्रन्थ था।

अंग्रेजी शासनके माध्यमसे असममे अंग्रेजी साहित्य और उसके जरिये पाश्चात्य साहित्य आये और उससे असमियाके नवीन लेखक प्रभावित हुए। बॅगला भाषाके जरिये भी पाश्चात्य आदर्श अपनाये गये। अतः पाश्चात्य साहित्यके अनुसार असमियाका नवीन साहित्य निर्मित होने लगा। इस नवीन कालके लेखकोमे आनन्दराम देकियाल फ़कनका नाम सबसे पहले आता है। असमिया साहित्य और भाषापर उसने कई पुस्तके लिखी। हेमचन्द्र बरुवाने असमिया भाषा-साहित्यको प्रतिष्ठित करनेके लिए अपनी रचनाओंसे इसे पृष्ट किया। यह बहुमुखी लेखक था। उसने नाटक, उपन्यास, पाठ्य पुस्तक, शब्दकोश आदि ग्रन्थ लिखे। 'कानियार कीर्नन', 'बाहिरे रच भितरे कोवा-भातरी', 'पढाश्रलीया अभिधान', 'हेमकोष' आदि उसकी मुख्य रचनाएँ है। गुणाभिराम बरुवा गद्य-लेखक और इतिहासकारके रूपमे आया। उत्तरे 'असम ब्रंजी' नामक इतिहास और आनन्दराम देकियाल फुक्तनकी जीवना लिखी।

उन्नीसवी शताब्दीके अन्तमं कलकत्ताके काँठेजोमं पढ़ने वाले विद्यार्थियोने 'जोनाकी' नामक एक मासिक पन्निका निकाली। इस पत्रिकाको जिएये जन लेकोचे अस्मिया साहित्यकी सेवा करना प्रारम्भ किया। इस पत्रिकासे सम्बन्धित उस समय जो असमिया साहित्यक थे, उन्हें एक साथ 'जोनाकी समृह' कहते हैं। उनमे लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा, हेमचन्द्र गोस्वामी, चन्द्रकुमार आगरवाला, रजनीकान्त बरदले आदि थे। इन लोगोंने असमियामें रोमांटिक साहित्यकी सृष्टि की और पाश्चात्य साहित्यके अनुकरणमें कविता, निवन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि लिखी। लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा बहुमुखी लेखक था। उसने 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामसे सात खण्डोमें असमिया साहित्येर चानेकी' नामसे सात खण्डोमें असमिया

कमलाकान्त भट्टाचार्य दार्शनिक कवि था । उसकी 'चिन्तानल' नामक कविता-पुस्तक विचारप्रधान पुस्तक है। हितेश्वर बरुवाने असमियामे पहले-पहल सॉनेट और मुक्तक छन्दमें कविता लिखी। उसने 'कमतापुर ध्वंस', 'विरहिणी विलाय' आदि कई काच्य लिखे। विहगी कवि रघुनाय चौधारी प्रकृति-कवि है। उसकी कविताकी पुस्तक 'दहिकतरा'

'केते कीं, 'तन्नां जादि है। दुग्य हामां दार्शनिक रहरयन्त्रादी किंते हैं। उसकी 'अंजली', 'नित्रेदन' आदि किंतिताकी एस्तके हैं। अम्बिका गिरिराय चौधुरी और प्रसन्नलाल नौधुरी बिहोही किंत हैं। राय चौधुरीका 'तुमि' एक कान्य-यन्थ है। मफिजुदीन अहमदने सूफी धर्मसाधनाय प्रमावित होकर किंति।एँ कीं। महिला किंतियों धर्मेश्वरी देवी और निलनीवाला देवी मुख्य है। निलनी देवीकी 'सन्ध्यार सुर', 'अभुतीर्थ' पुस्तकें मुख्य है। प्रमावती देवीका 'सुध्मार उपाक्यान' असमियाका पहला उपन्यास है।

शरचन्द्र गोस्वामी भी बहुमुखी लेखक थे। उनकी कहानी विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। लक्ष्मीधर शर्मा आधुनिक प्रकारका कहानीकार है। लक्ष्मीकान्त फुक्रनकी 'ओफाइदाङ', सैयद अब्दुल मिलककी 'एजनी नतुन छोवाली', 'परशर्माण' 'मरहापापि' आदि कहानीकी अच्छी पुस्तकें है। आलोचना-के क्षेत्रमे अभ्वक्षानाथ बरा, वाणीकान्त काकती, कालीराम मेथी, विरंचि बरुवा, उन्नेश्वर नेओग प्रमुख है। काकतीके 'पुरणि अममिया साहित्य', 'साहित्य प्रेम', 'प्राचीन कामरूपेर वैध्यव माथना', मेथीके 'असमिया व्याकरण', 'अंकीया नाट', बराके 'रुविमर्णाहरणनाट', बरुवाके 'काव्य आरू अभव्यंजना', 'असमिया भाषा', नेओगके 'असमिया भाषा और साहित्य' खोज और आलोचनापूर्ण अन्य प्रधान हैं।

असमिया साहित्यके विकासमें पत्र-पत्रिकाओंका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें 'अरुणोद्दर', 'जोनाकी', 'बाँही', 'आवाहन', 'जयन्ती', 'पछोवा' और 'रामधेनु' प्रधान हैं। इन पत्रिकाओंका काल साहित्यका भी एक काल हो गया है। बीसवीं शताब्दीके स्तीय-चतुर्थ दशकमें 'आवाहन' और 'बाँही'ने और पंचम दशकमें 'जयन्ती' और 'रामधेनु'ने यथेष्ट कार्य किया है। 'रामधेनु'न का प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है। 'आवाहन' कालके कहानीलेखकींमें सैयद अब्दुल मलिक आज भी उत्तरोत्तर विकसित कलामें कहानी लिख रहा है। 'जयन्ती'ने प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। प्रगतिशील कविताको प्रश्रय दिया। क्रिंगलके अकालके समय अमृल्य बरुवाने किया।

(५) स्वाधीनता उत्तरकाळ :— नये प्रकारके साहित्य-सर्जनमें 'रामधेनु' काफी सहयोग दे रही है। उसमें ही पहले पहल अंग्रेजी इलियटी किवताको अनुकरणपर असिमया कविता निकलने लगी। आजकी किवताको इस धाराने असिमया साहित्यमें अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकारको किवताका प्रवर्तक अध्यक्ष हेम बरुवा है। नये किवयोंमें नवकान्त बरुआ, हरिबर काकती, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, महेन्द्र बरा, होमेन बरगोहाँइ, वीरेन्द्र बर-गोसाँइ मुख्य हैं। नवकान्त बरुआ इनमें श्रेष्ठ है। कहानीके क्षेत्रमें अब्दुल मिलक, वीरेन्द्र मट्टाचार्य, होमेन बरगोहाँइ, योगेशदास, चन्द्रप्रसाद शहकीया आदि आधुनिकतम लेखक हैं। उपन्यास-लेखकोंमें हितेश डेका, तिलकदास, वीरेन्द्र मट्टाचार्य, राधिकामोहन गोस्तामी, प्रकुछदत्त गोस्तामी, मुहम्मद पियार मुख्य है। काट कार्य कर तर केश्वीत अतः त किया, देव तालुबदार, क्रिक्टाड आगरवाला, नकुलचन्द्र भूजा आदि विशेष रूपसे उल्लेख योग्य है। आलोजनाके क्षेत्रमें सत्यन्द्रनाथ शर्मा, महेश्वर नेओग, श्रीतीर्थनाथ शर्मा, अध्यक्ष हेम वस्त्रा, प्रकुलदत्त गोखामी, किरिन्यक्रमा अभ्या आहि गिनेन्तने है।

प्रानीन कालमें हिन्दी तथा असमी दोनों भाषाओंम पररपर अत्मन-पटानका कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता । केवल कुतुबन और मंझनके काल्योंके कथानकके आधारपर ईमाकी अठारहवी शताब्दीमें उसी नामसे दो काव्योंकी रचना हुई। ब्रज्जुलि नामसे एक कुत्रिम भाषामें अवश्य ही वैष्णव साहित्य लिखा गया था। असमके सर्वश्रेष्ठ वैष्णव कवि शंकरदेवकी रचनापर कवीरदानकी अध्यादम-भावनाका प्रभाव देखा जाता है।

[महायक प्रनथ—असमिया भाषा (असमिया):
विरिचिकुमार वरुवा; असमिया माहित्यकी रूपरेखा
(हिन्दी): डॉ॰ विरिचिकुमार वरुवा; आसामीज-इट्स
फारमेशन एण्ड टेवलपमेण्ट (अंग्रेजी): वाणीकान्त
काकता।]
——लो॰ ना॰ म॰
असुंदर व्यंग्य-गृणीभूग व्यंग्यका एक भेद, जिसमे व्यंग्यार्थ
वाच्यार्थकी तुलनामं चमरकारहान होता है। 'उस सरसीस्वार्णार्थिय सितवसना, सिहरे प्रभूमाको देख हुई

सी आगरणरहित सितवसना, सिहरे प्रभु मांको देख हुई जह रमना' (साकेत)। इस उदाहरणमें 'आगरणरहित' तथा 'सितवसना' पत्रों द्वारा कृषि कौशन्याके वेधन्यको व्यंजना करा रहा है, किन्तु रामधे सिहरने तथा उनकी रसनाके जह होनेके वाच्यार्थ द्वारा व्यक्त वेधव्यका भाव अधिक आकर्षक है।

अस्या – प्रचित तैती समें एक संचारी हैं। भरतके आधारपर (नाट्य०, ७: ३६) विश्वनाथने लिखा हैं — "अस्यान्य-गुणधींनामौद्धत्यादसिहण्णुता। दोषोद्धोपभूविभेदावशाको-धेक्कितादिकृत" (सा० द०, ३:१६६)। अर्थात् औद्धत्यके कारण दूसरेकी गुण-समृद्धिको सहन न करनेको अस्या कहते हैं। दोषकथन, भ्रुकुटिभंग, तिरस्कार तथा कोध आदि चिह्न पाये जाते हैं। हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने इसीके अनुसरणपर लक्षण दिया है — 'सिह न सके सुख औरको यहै अस्या जान। कोध गर्व दुख दुष्टता ये सुभाव अनुमान" (जगत०, ४८१)।

रामचन्द्र शुक्कने गर्व, लज्जा और अस्याको स्वतन्त्र विषयवाले भाव कहा है। उनके मतानुसार इनके विषय या आलम्बन भावके कारण नहीं हैं। जिसे हम ईर्ष्यां करते हैं वह हुआ विषय या आलम्बन, उसके गुण, बैभव, श्रीसम्पन्नता आदि गुण हुए कारण। इनमें आलम्बनकी ओर ध्यान न जाकर कारणोंकी ओर जाता है। अन्य संचारियोंकी भाँति अस्याको भी संचारी पद तभी प्राप्त होगा जब वह किसी स्थायी भावका पोषक होकर आयेगा। पद्माकर के उदाहरणमें गोपियोंका अस्याभाव व्यंजित है— ''आवत उदासी दुख लगै और हांसी सुनि, दासी उर लाई कहो, को निर्ह हहा कियो। कहै पद्माकर हमारे जान अधो उन, तातको मातको न भ्रातको कहा कियो। कंकालिन कूबरी कलंकिन कुरूप तैसी, चेटकिन चेरी ताके चित्तको

चहा कियो । राधिकाकी कहवत कहि दोजौ जाइ मोह-नसीं, रसिक सिरोमिन कहाइ धौ कहा कियो" (जगत०, ४८२)।

अस्तित्ववाद (existentialism)—यूरोपकी एक अपेक्षाकृत आधुनिक दार्शनिक तथा साहित्यिक चिन्तनपद्धति ।
अस्तित्ववादी विचारधाराका आरम्भ वस्तुतः दर्शनके ही
क्षेत्रमें हुआ । इस सम्प्रदायका उद्गम-स्रोत जर्मन दार्शनिक
हसरेल तथा हेडेगर और डेनिश:चिन्तक कीर्कगार्ड (१८१३५५ ई०)को विचार-पद्धतियोंमें देखा जा सकता है । इन
विभिन्न चिन्तकोंके मतवादोंका संघटन वर्तमान युगमें
फांसमें हुआ, जहाँ अस्तत्ववादको साहित्यिक ख्याति जाँ
पाँल सार्त्र (१९०५ ई०)के माध्यमसे १९४३ ई०के आस-

अस्तित्ववादी विचारभारा मानव-जीवनको मूलतः निर्धंक मानती है, तर्कको अक्षम समझकर त्याग देती है तथा परम्परागत ईरवरमें आस्थाको अस्वीकार करती है। अस्तित्ववाद वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष स्तरपर मानव-जीवनके लिए चिन्तित है। वह जीवनको निरुपाय, अवश तथा निर्धंक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मृख्य देनेकी चेष्टा करता है। इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टमें प्रत्येक क्षणका अतुलनीय महत्त्व है। किसी भी अतियथार्थका अस्तित्व इस स्यवस्थामें स्वीकार्य नहीं। अपनी समग्र अवशतामे मनुष्य ही अस्तित्ववादी चिन्ताका केन्द्रविन्दु है। और इस अवशताको नष्ट करनेके लिए अस्तित्ववाद मानवीय स्वातन्त्र्यका प्रवल समर्थक है।

अस्तित्ववादी चिन्तनका सूत्र-वाक्य है-Existence precedes essence. अर्थात् अस्तित्वकी स्थिति तत्त्वसे पूर्व है। यहाँ तत्त्वसे भाव मनुष्यकी मौलिक प्रकृतिसे है और अस्तित्वका अर्थ उसका कर्मसमूह है, जिससे उसकी जागतिक स्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार अस्तित्ववादी चिन्तनके धरातलपर मनुष्य जीवनके जीवित सन्दर्भमें सोचना है।

विभिन्न विद्वानोंने अस्तित्ववादकी अलग-अलग परि-भाषाएँ दी हैं। जूलियन बेन्द्राके अनुसार "अस्तित्ववाद भाव तथा विचारके प्रति जीवनका विद्रोह हैं। एमानुएल मौनियरके शब्दोंमें 'भावों तथा वस्तुओंके अतिवादी दर्शनके विरोधमें मानवीय दर्शन' ही अस्तित्ववाद है। सबसे स्पष्ट तथा उपयुक्त परिभाषा ऐलेनको है। उनके अनुसार अस्ति-त्ववाद परम्परागत दर्शककी दृष्टि न होकर अभिनेताकी दृष्टि है। इस विचार-पद्धतिमें जीवनकी समस्याओंपर विचार भक्तभोगियोंकी ओरसे होता है।

अस्तित्ववादी विचारधाराका प्रारम्भ होता है मनुष्यकी अवश तथा निरुपाय स्थितिसे। म नव-जीवनका सबसे बडा अभिशाप, सबसे बडी चुनौती मृत्यु है। जन्मके साथ मृत्यु अनिवार्य रूपसे सम्बद्ध है। मनुष्य इसके लिए कुछ कर नहीं सकता। और यहां वह देखता है कि उसे वरण (choose) करनेकी स्वच्छन्दता नहीं है। अतः उसे अत्यन्त कम समयमें अपने व्यक्तिगत जीवनको एक अर्थ देना है।

इस सन्दर्भमें अस्तित्ववादी चिन्तकोंके दो वर्ग हो जाते

हैं। एक वर्ग मानव-जीवनको ईश्वरसे संयुक्त करके उसे उसका वास्तविक मूल्य देना चाहता है, जब कि दूसरा वर्ग पूर्णतः निरीश्वरवादी है। कीर्कगार्ड तथा यास्पर्स प्रथम वर्गसे समबद्ध है। इन्हें प्रायः किश्चियन एकिजस्टेन्शियलिस्ट कहा जाता है। अस्तित्ववादकी किश्चियन व्याख्या ऐलेनने अपनी पुस्तक 'एकिजस्टेन्शियलिस्म फ्रॉम विदिन'में बडे स्पष्ट ढंगसे की है। अस्तित्ववादके निरीश्वरवादी प्रक्षका प्रतिनिधित्व सार्त्र करते हैं।

जीवनसे प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होनेके कारण अस्तित्ववादका एक राजनीतिक पक्ष भी स्पष्ट रूपसे उभरकर आया है, यद्यपि उसके मुख्य प्रवर्तक सार्त्रका राजनीतिक मत स्वतः बहुत निश्चित नहीं रहा है। अस्तित्ववादकी सैद्धान्तिक राजनीतिका प्रामाणिक विवेचन अल्बर्टकेमुअकी प्रसिद्ध कृति 'छ होमे रिवोन्ते'में हुआ है।

अस्तित्ववादी चिन्तनाकी पृष्ठभूमिमें यूरोपकी युद्धकालीन विभीषिकाएँ है। मानव जीवनकी क्षुद्रताओंको देखकर इन विचारकोंने अपनी लेखनी तथा अपने कर्मोंसे एक आमूल क्रान्ति लानेका प्रण किया। इन लेखकोंमेसे अधिकांश्च युवा थे तथा परम्परागत मृल्योंको निष्प्राण समझकर उनके स्थानपर अधिक सशक्त तथा मानवीय मूल्योंकी स्थापना करना चाहते थे। जीवनकी विवशताओंसे उत्पन्न हुई निराशा तथा वेदनाने इन्हें आगे बढनेके लिए प्रेरित किया। यह सचमुच एक विचित्र तथ्य है कि इतने कर्मण्य बौद्धिक आन्दोलनको प्रेरित किया अवसाद तथा निराशाने। इतिहासमें इसकी तुलना किसी हदतक बुद्ध दर्शनकी क्रणासे की जा सकती है।

अस्तित्ववादी लेखक काल्पनिक साहित्य-सर्जनमें विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टिमें साहित्य जीवनके दैनन्दिन संघपोंसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। मानवमुक्तिमे उसकी अट्ट आस्था है। इस साहित्य-चिन्तनका प्रारम्भ सार्त्रसे होता है, जिसका अनुसरण बादमें बहुतसे लेखकोंने किया। इन लेखकोमेंसे बहुताने एक ओर तो कृतिसाहित्यकी रचना की और दूसरी ओर शुद्ध दार्शनिक स्तरपर अस्तित्वादी विचारधाराको स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

सार्त्र अपनी उपन्यास-त्रयी, कुछ अत्यन्त उत्हृष्ट नाटकों तथा कहानियोंके लिए कृति साहित्यके क्षेत्रमें प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। उनकी ये सभी रचनाएँ मूल फेंचसे अंग्रेजीमें अनुवादित हो चुकी है। कलाकी हिंदी सार्त्रके नाटक (इन कैमरा, द फ्लाइज, रेसपेक्टे के प्रौस्टीट्यूट, लूसीफर एण्ड द लॉर्ड, कीन, इन द ं श्रे अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिके है। अस्तित्ववादी चिन्तनके प्रभूमें भी सार्त्रकी कृतियाँ प्रथम पंक्तिमें है। इस सन्दर्भमें उ सक्त समीक्षात्मक कृतियाँ (हाट इज लिट्रेचर) भी विशेष कृपने उल्लेखनीय है।

सार्त्रका अनुयायी, परन्तु बादमे उसका 'बहुत मुठ बिरोधी, नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रेंच लेखक के स्वर्ट केंग्रुज (१९१२ ई०) अस्तित्ववादी चिन्तनके क्षेत्रमें का ब्राह्में करावर ही महत्त्व रखता है। उपन्यास तथा ना ब्लॉक्स माध्यम उसने कृति साहित्यके क्षेत्रमें अपनाया । इसही अतिरिक्त केमुअने अपनी दार्शनिक विचारधारा अ लगरें कई के बीमे प्रतिपादित की है। उसकी प्रसिद्ध कृति 'ल होमे रिवोल्ते'का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सार्त्र तथा केमुअके वाद-विवाद पत्रोंमें बड़ी रुचिके साथ पढ़े गये थे। 'कम्बैट' नामक पत्रमें समय-समयपर प्रकाशित होनेवाले उसके निबन्ध बुद्धजीवियोंमें अत्यन्त लोकिपिय हुए है।

अस्तित्ववादी वर्गकी एक अन्य प्रमिद्ध छेखिका है सिमोन दे ब्युवोइ। अपने उपन्यास 'ल सां दे ओत्रे' (१९४५ ई०)में उसने समाजके प्रति व्यक्तिके दायित्वका चित्रण किया है। अपनी नाट्यकृतिसे उसने अस्तित्वदारी विचारधाराको सामान्य जनतातक पहुँचाया है।

यहाँ स्मर्णीय है कि अस्तित्ववादी चिन्तन कृति साहित्यमें सदैव बहुत सफल अभिन्यक्ति नहीं पा सका है। इस वर्गके कुछ लेखकोंकी रचनाएँ बहुत कुछ वादनिरपेक्ष भी है। मूल अस्तित्ववादी चिन्तन तो इन लेखकोकी समीक्षात्मक कृतियोंमें ही द्रष्टव्य है। प्रायः सभी अस्तित्ववादी लेखक कृति साहित्यकार होनेके साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक भी है।

हिन्दी साहित्यमें अवतक अस्तित्ववादको प्रायः चर्चा ही हुई है। इस विचारधाराका कोई उल्लेखनीय प्रभाव हिन्दीमें नहीं दिखाई देता। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हिन्दीमें लगभग सभी यूरोपीय प्रभाव अंग्रेजीको माध्यमसे आये हैं और अस्तित्ववाद अपने सारे महत्त्वके साथ भी अंग्रेजी साहित्यमें गहरे नहीं उत्तर सका।

हिन्दी साहित्यमें कहीं कहीं सार्शके क्षणकी असीमताकी चर्चा मिल जाती है, वेदनाकी अस्तित्ववादी हिष्ट भी कहीं कहीं द्रष्टव्य है। इस प्रकारकी चर्चाएँ 'अन्नेय'के 'नदीके द्वीप'में सुलभ हैं। नयी कविताकी समीक्षाके अन्तर्गत भी क्षणके महत्त्वकी विवेचना कभी-कभी उपलब्ध होती है।

[सहायक ग्रन्थ—सिक्स एक्जिस्टेन्शियलिस्ट थिंकर्स : ब्लैखम; एक्जिस्टेन्शियलिज्म एण्ड झूमैनिज्म : सार्त्र; एक्जिस्टेन्शियलिज्म फ्रॉम विदिन : ऐलेन ।] —रा० स्व० च०

ास्थानपदता-दे॰ 'शब्द-दोष', बारहवॉ वाक्य-दोष। **रस्फूट ब्यंग्य-गु**णीभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ सहृदय जनों द्वारा भी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। "अनदेखे देखन चहुँ, देखें बिछरन भीत । देखें बिन, देखेह पै, तुमसौं सुख नहिं मीत' (का० कल्प०। पृ० ३१९)। इस दोहेसे यह न्यंग्यार्थ निकलता है कि हे मित्र! आप सदैव समीप ही रहें, किन्तु इस व्यंग्यार्थकी प्रतीति दिमाग ,खरोचनेपर ही होती है। ---ত০ হাত হাত **बहुँकार** - अपनेको देवता समझ छेना वज्रयानी साधनामें अहंकार नामसे अभिहित होता है। अहंकार-पद्धतिमें मन्त्र-जप के उपरान्त साधकमें भावेश जायत होता है। उस आवेरी भेमें देवता साधकके माध्यमसे खयंकी अभिव्यक्त करता है। काम, क्रोध आदि अनेक आवेश अलंकार-पद्धतिमें आते है, जिसे उपशमन करनेके बाद साधक मण्डलमे प्रवेश करत राहै। --- ध० वी० भा० हिंता १- (१) भहं 'की अनुभूति । 'अहं 'के भावके अर्थमें इस शब्दका रिपयोग आधुनिक साहित्यमें होता है। सामान्य भाषामें प्रयुक्त " अहंकार'से 'अहन्ता'का अर्थ भिन्न है-

'अहं कार'में गर्वका वीध होता है, 'अहन्ता'से केवल 'अहं'के मनोवैज्ञानिक महत्त्वका। अहंता २-सम्कृत अन्द 'अह' और 'इटं', 'में' और 'यह'के वाचक है, इस प्रकार अहन्ताका अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्नाका अर्थ है 'यह-पन'। पुरुपमे अहन्ता प्रमुख होती है और प्रकृतिमें इदन्ता, अर्थात पुरुष स्वयंको चेतन और प्रकृतिको चेननमे भिन्न इदं (= यह) रूपमें सोचता है। मन्तेंने 'में का प्रयोग पुरुपकी इसी इदन्ताके लिए किया है, जो उसके अहंकारकी स्विका है। मायाके कंचकी (दे॰ 'कंच्क')री आच्छादित अईताप्रधान पुरुषके अहं या में-पनके नाशके वाद ही उसे ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब 'मैं था तन प्रभु नहीं अब प्रभु है 'मे' नाहि' कहने समय कबीर इसी अहन्ताका व्याख्यान वरते हैं। —रा० सिं० अहम् (ego)-दार्शनिक दृष्टिकोणसे 'अहम्' अर्थ व्यावहारिक, अविद्याने सीमित, अनात्मसे एकीकृत आत्मा है, जो में और मेरेकी भावना उत्पन्न करती है। यह अर्थ साहित्यमें नेपाननः र्शनमें लिया गया है। प्राचीन साहित्यमें, विशेषकर सन्त साहित्यमें, इस शब्दका यही अर्थ मिलता है। अहंकार और ममता इसी शब्दसे विकसित हुए हैं। किन्तु आधुनिक साहित्यमें इस शब्दका, एक विशिष्ट मनीवैशानिक अर्थमं प्रयोग होता है, जो कि फ्रायटके मनोविद्येनणपर आधारित है। फ्रायडके मनो-विज्ञानमें कामवृत्ति, संघर्ष, दमन और अवरोध महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार संघर्ष आरम्भमें मानसकी दो सतहों में होता है, ऊपरी अथवा बाह्य सतह, जो वातावरणके सम्पर्कमें आती है और भीतरी सतह जो इस सम्पर्कमें नहीं आती ! पहली सतहको फायड और उनके अनुयायी 'अहम्' संज्ञा देते हैं। इदम् या इडके विपरीत यह मानसका यथार्थसे समन्वित अंश है, परन्तु इसका विकास 'इड'से ही होता है और इसे हम 'इड'का संघटित भाग मान सकते हैं। अहम् संसार और इडके बीच मध्यस्थका काम करता है, यह 'इड'की मौलिक प्रवृत्तियोंको संसारके यथार्थके अनुरूप और संसारको 'इड'की वासनाओंके अनुकूल बनानेका प्रयास करता है। इस प्रयासमें यह प्राय: 'इड'की यासनाओंका दमन करता है, दमित वासनाएँ 'इड'का ही अंश बन जाती है। अहम् अधिकांश रूपमें चेतन माना गया है, लेकिन वासनाओंका दमन और अवरोध अचे-तन रूपसे भी होता है, इसलिए अहम् इस प्रक्रियामें अचेतन रूपसे काम करता है। इस प्रकार अहम्के चेतन और अचेतन दोनों पक्ष हैं। अचेतन पक्षमें यह 'इड'में ही विलुप्त-सा रहता है परन्तु इसका काम पूर्णतः भिन्न है। अपनी सुरक्षाकी, वासनाओंकी न्यूनतम संकट झेलकर अधिकतम सुविधाके साथ तुप्त करनेकी चिन्ताएँ अहम्के ही लिए हैं। अर्थात् अहम् मनुष्यके बौद्धिक और व्यावहारिक पक्षका ही नाम है। खस्य मानसिक स्थितिमें 'इड' और 'अहम्' एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं। इनका अत्यधिक विरोध ही मानसिक संघर्षी और व्यक्तित्वकी समस्याओंका कारण होता है। --प्री० अ० अहंस्थापन-दे॰ 'सनोविश्लेषण'।

अहिंसा—साम्यवाद (दे०)को अपने आदर्शकी प्राप्तिमे हिंसाके प्रयोगसे परहेज नहीं, वह साध्यकी सिद्धिके लिए हिंसा और अहिंसामेसे सुविधानुसार किसीका भी वरण कर सकता है। उसके लिए साध्य ही साधनकी कसौटी है। लेकिन गान्धीवाद (दे०) किसी भी अवस्थामें हिसात्मक कान्तिकी अनुमति नहीं दें सकता। हिसा द्वारा जिस समाज-रचनाका उदय होगा, उसे वह अपना आदर्श माननेसे इनकार करेगा। वह साधनकी पवित्रता किसी भी अवस्थामें नष्ट होते नहीं देख सकता। वह साधनकी साध्यकी कसौटी मानता है।

गान्धीवादने संसारमें शायद पहली बार राजनीतिको विश्वजनीन नीति-नियमोंकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित किया है। सत्य और अहिंसाको वह जटिलसे जटिल परिस्थितिमे भी त्यागनेकी अनुज्ञा नहीं देता। वह सत्य और अहिंसाकी रक्षामें बडी-से-बड़ी राजनीतिक लब्धिको ठुकरा सकता है। उसके लिए अहिसा सामयिक नीतिमात्र नहीं, बल्कि देश, काल, परिस्थितिसे अनवच्छिन्न, अटल सिद्धान्त है। --ह० ना० अहीर-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । 'प्राकृतपैगलम्'-(१:१७७)के अनुसार इसका रुक्षण है---११ मात्राका सम छन्द, जिसके अन्तमे जगण (ISI)का प्रयोग होता है। सम्भवतः यह छन्द प्राकृत अपभ्रंशकालसे प्रचलित रहा है। इसका उल्लेख भिखारीदासने 'छन्दार्णवर्षिगल' (पृ० १८)में किया है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सूदन-(सु० च०)ने किया है। उदा०—"सुरमित मन्द बयार, सरसे सुमन सुडार । गूँज रहे मधुकार, धन्य वसन्त बहार" (रा० चं०)।

अहेरी-विषयासक्त मनके लिए मृगकी उपमा भारतीय धर्म-साधनाओमें बहुत पहलेसे ग्रहण की जाती रही है। सिद्धोने भी 'अपणा माँसे हरिणा बैरी ('चर्यापद' ६) लिखा है। कबीर भी खेत खानेवाले भगका उल्लेख करते है। इसी मृगको मारनेके लिए अहेरीकी या पारधीकी आवश्यकता पड़ती है- 'सन्तिन एक अहेरी लावा, मिर्गनि खेत सबन्हिका खावा' (क० ग्र०)। इसी अहेरीका संकेत भुसुक पाने किया है—''जाइ तुम्हे भूसुक अहेरी जाइबो''—('चर्यापद' २३)। साधक ही वास्तवमें अहेरी है। वह अहेरी गुरु-वचनरूपी बाणका प्रयोग करता है। "गुरु वाक् पुँछिया बिन्ध निअमण बाणे" ('चर्यापद' २८) या "गुरुके बाण बजर कल छेदी प्रगटिया पद परगासा" ('सन्त कबीर': रामकुमार वर्मा)। इसी मृगका मांस वास्तवमें ज्ञान है, जिसका भक्षण अत्यन्त आवश्यक है-"हण विणु मास भूसूक निलनिवन पइस-हिलि"- ('चर्यापद' ३३) या "सावज न होय भाई सावज - न होय । वाकौ मांस भखे सब कोय" ('बीजक': कबीर)। -- घ० वी० भा० **ऑगन**-ऑगनका अर्थ चर्यापदोमें उष्णीष कमल है-'ऑगन घरपण सन भो बिआती'—('चर्यापद' २)। कबीरने प्रयोग अन्तः करणके अर्थमे किया है-"उठि अलबेली नार झाडू दियो ॲगना"—(कº —ত হা হা হা आंचिकिकता-आंचलिक शब्द प्रायः उपन्यास-लेखनके प्रसंगमें प्रयुक्त होता है; यद्यपि कहानी, काव्यादि अन्य विधाएं भी इससे अछूती नहीं है। आंचलिक रचनाओं में कोई विशिष्ट अंचल व क्षेत्र या उसका कोई एक भाग व गाँव ही प्रतिपाद्य व विवेच्य होता है। इस प्रकार उपन्यासका कथा-क्षेत्र अत्यधिक सीमित हो जाता है। आंचलिकताकी सिद्धिके लिए स्थानीय दश्यो, प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीतका विशिष्ट ढंग, मुहावरे-लोकोक्तियाँ, भाषा व उच्चारणकी विकृतियाँ, लोगोकी स्वभावगत व व्यवहारगत विशेषताएँ, उनका अपना रोमांस, नैतिक मान्यताएँ आदिका समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानींसे किया जाना अपेक्षित है। आंचलिक रचना भले ही सीमित क्षेत्रसे सम्बद्ध हो, पर प्रभावकी दृष्टिसे वह सार्वजनीन हो सकती है, बशर्ते उसका स्रष्टा वैसी प्राणवत्ता व अतल-स्पर्शी सूक्ष्म-दृष्ट रखता हो तथा उसके विचारोमें गरिमा और कलामें सौष्ठव हो।

आंचिलिक उपन्यास-लेखनके लिए भारतमें पर्याप्त सामग्री, सुविधा व अवकाश है क्योंकि इस देशमें अनेक जातियाँ, धर्म तथा विभिन्न जीवन-शैलियाँ एवं भाषाएँ तथा विभाषाएँ है । भारतके सामाजिक जीवनमें पर्याप्त वैविध्य है, भले ही सस्कृतिका मूलाधार सर्वत्र लगभग समान हो । यह सामाजिक वैविध्य उसकी विशालता, भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक परिवेशके फलस्वरूप है । वैसे तो सभी देशोंमें यह वैविध्य मिलता है; यथा ग्रेट ब्रिटेन जैसे छोटेने देश तकमें यह विविधता देखी जा सकती है—इंग्लैण्ड, स्कॉट-लैण्ड और वेल्सकी जीवन-पद्धतियोंमे । पर भारतीय प्रदेश एवं समाज इस दृष्टिसे अद्वितीय है ।

अंग्रेजीमे टामस हाडीं, शार्लंट ब्रौन्ट, जॉर्ज इलियट और आनेंव्ह बेनेट प्रसिद्ध आंचिलिक उपन्यासकार है। हिन्दीमें भी इधर आंचिलिकताकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। वृन्दावनलाल वर्माकी कृतियोंमें जो स्थानीय वातावरण (local colour) मिलता है, वह आंचिलिक प्रवृत्तिका ही दोतक है। दरभंगा जनपदको लक्ष्य करके लिखे गये नागार्जुनके 'रितनाथकी चाची,' 'बलचनमा', 'नई पौथ', 'बाबा बटेसरनाथ' तथा पूणियाके एक हिस्सेके एक गॉवको पिछड़े गॉवोंका प्रतीक मानकर लिखा गया फणीश्वरनाथ 'रेणु'का 'मैला ऑचल' हिन्दीके विशिष्ट आंचिलिक उपन्यास है।

आकाश—आकाशको उपलक्षित करके 'दिहस्य छः चक्रों (दे० चक्र), सोलह आधारो (दे० आधार)' दो लक्ष्यो (दे० लक्ष्य)के साथ ही पाँच आकाशोंकी जानकारीके विना योगी सिद्धि पा ही नहीं सकता", ऐसा गोराक नाथका मत है (दे० 'गोरक्ष पद्धति', पृ० १२)। उन पाँच आकाशोंके नाम है—आकाश, प्रकाश, महालाश, तत्त्वाकाश और सूर्यांकाश। 'आकाश' इवेतवर्ण ज्योंतिरूप है, उसके भीतर 'प्रकाश' है, जो रक्तवर्ण ज्योंतिरूप है, इसके भी भीतर धृम्रवर्ण ज्योतिरूप महाकाश है, महाकाशके भीतर नीलवर्ण ज्योतिरूप 'तत्त्वाकाश' है और इसके भी भीतर विद्युतके वर्णवाला ज्योतिरूष्ण 'सूर्यांकाश' है। ये ही पाँच आकाश है, जिनकी जान गरी हठयों जोंक छिए अनिवार्य बताई गयी है।

आकाशभाषित - जहा रंगमंत्रपर कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्रके विना ही, वातचीन करे, वह 'आकाशभाषित' होता है। —व० सि० आकाशमंडल -दे० 'हठयोग'।

आकामित-दे० 'प्रौढ़ा' नायिका । आक्षेप-साद्यगर्गाते गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्रानीनींमे स्रीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार । इस प्रसंगमें इसका अर्थ निवेध है। भामह तथा उद्भट द्वारा प्रस्तुत लक्षणमे निषेधका भाव रपष्ट रूपसे विद्यमान है-- 'प्रतिपेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा" (का० सा० सं०, :२:२)। अर्थात् कवियोंकी एक ऐसी भी वैचित्रयपूर्ण उक्ति है, जिसमे इष्टार्थ एक ऐसे निषेधके व्याजसे वर्णित किया जाता है कि निषेध होनेपर भी अन्तर्मे विधिरूपमें परिणत हो जाया करता है। इसीके आधारपर मम्मटने व्याख्या की है-'जिसमे किसी वातकी विवक्षाकी दृष्टिसे उस विषयका वर्णन निषिद्ध किया जाय तो प्राकरणिक होनेके कारण वर्णनके योग्य हो (का० प्र०, १०: १०६, १०७) । 'काञ्यप्रकारा'में इसके दो मेद-विध्यमाण तथा उक्तिविषयक आक्षेप माने गये हैं। वृत्तिमें मम्मटने निषेधको वारतवर्मे निषेधाभास व.हा है। विश्वनाथने इसी शब्दका प्रयोग अपने लक्षणमे किया है। 'कुनलयानन्द'में इसके तीन भेद माने गये हैं। इसमें चार तत्त्व स्थीकृत हैं—(१) कुछ विशेष कथन, (२) व्यक्त निषेध, (३) प्रतिषेध परिस्थितियोंके कारण वरतुतः अन्यावहारिक पर स्पष्ट तथा (४) विशेष अर्थके प्रतिपादनका प्रयत्न (अलं स॰, प॰ ११७) । अप्पय दीक्षित आदिका तीसरा आक्षेप निपेधाभास है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इन्हींका आधार लिया है। वस्तुतः इस अलंकारका निषेध आभासके रूपमें ही होता है, क्योंकि वास्तविक होनेपर आलंकारिक चमत्कार नहीं रह जायगा।

प्रथम—"जहाँ कहीं निज बातकों समुझि करत प्रतिविध" (ठ० ००, १८७), अथवा "करब निषेध सुउक्तिको,
यहै प्रथम आक्षेप" (पद्मा०, १३२)। दासने इसीको
तीसरा मेद माना है 'निज कथनको दूषन भूषन' (का०
नि०, १२)। इसमें अपने कथित अर्थका उत्कर्षस्चक
निषेध किया जाता है—"तुव मुख विमल प्रसन्न अति, रह्यौ
कमल सौ फूलि। निहं निहं पूरन चन्द सो, कमल कह्यौ
में भूंछ" (वही), अथवा—"सोनेके भृषण अंग रचौ
मित्रिराम सबै वस कीबेकी घार्ते। यौ ही चलै न सिंगार
सुभावहि में सिख भूलि कही सब बातै" (छ० छ०,
१८८)। यहाँ निषेध करके 'पूरन चन्द' तथा 'सिंगार
सुभाविष्ट' कहा गया है।

हितीय—"जहाँ न साँच निषेध है। है निषेध आभास" (छ० छ०, १८९), अथवा—"झूठ निषेध आक्षेप मन, वहै निषेधामास" (पद्मा०, १३३)। दासका यह दूसरा ही आक्षेप है। इसमें विविक्षतार्थका वास्तिक निषेध न होकर निषेधका आभासमात्र होता है—"आज ते नेहकौ नातौ भूषो तुम नेम गह्मो हो हू नेम गहाँगी" (का० नि०, १६), अथवा—"हों न कहत तुम जानिहो, लाल बालकी बातौ है असवा जड़गन परत है, होन चहत उतपात" (इ० ल०, १९०)। यहा मुख्य बातका निषेध न होकर मात्र आसास है।

तनीय-'जहं विधि प्रगट बखानिये, छप्यौ निपेध प्रकाम" (ल० ल०, १९१), अथवा—'स आछेप जह विधि प्रगट, दर यो निषेध बखान" (पद्मा०, १३४)। दासने इसे प्रथम सेंद्र माना है। इस न्यक्ताक्षेपमें अनिष्ट अर्थकी ऐसी विधि होती है, जो निपंधके तात्पर्यसे गिमत होती है-''कान्ह पयान करौ तुम्ह ता दिना मोहि है देव नदी अन्ह-वानै" (का॰ नि॰, १२), अथवा-'कोपनित किसलय जर्ब, होंहि कलिनते कौल । तब चलाइये चलनकी, चरचा नायक नौल" (ल० ल०, १९३)। यहां अनिष्ट-कथनकी स्वीकृतिमें निषेध गर्भित है। आख्यान-[आ+ ख्या+ ल्युट् (अन) भावे] (क) सामान्य अर्थ-(१) वश्यन, निवेदन, उक्ति, (२) कथा, कहानी, (३) प्रतिवचन, उत्तर (यथा 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः', 'अष्टाध्यायी' ८।२।१०५ में); (ख) विद्येष अर्थ—(१) भेदक धर्म [इस अर्थमं उपर्युक्त 'ल्युट्' प्रत्यय 'भाव' (क्रियापदसे प्रकट होनेवाला कर्म) अर्थ न होकर 'करण' अर्थमें गृहीत होगा, एवं 'आख्यायते अनेनेति आख्यानम्' यह व्यापत्ति होगी] । इस शब्दका इस अर्थमें प्रयोग 'लक्षणेत्थम्भृताख्या-ननागवीःमास प्रतिपर्यनवः' ('अष्टाध्यायी' श४।९०) हुआ है (दे॰ गागनाथक्य 'वाचगलम्' नामक कोश)। (२) पुरावृत्तकथन ('आख्यानं पूर्ववृत्तीत्तः' सा० द०) - ऐति-हासिक कहानी, पौराणिक कथा। वदोंमें आये हुए ऐसे ही आख्यानोंका संग्रह 'पुराणगंधिता' नाममे अधर्ववद आदिमें उक्तिखित है जैसे, सपर्ण और पुरुरवा इत्यादिके आख्यान ऋग्वेदमें मिलते हैं। मनुस्मृति, तृतीय अध्यायमें पितृश्राद्ध-के अवसरपर किये जानेवाले कर्गों के विवरणमें 'स्वाध्यायः श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहा-सांश्च पराणानि खिलानि च (मन्०, ३: २३२) लिखा है, जिसपर व्याख्यान लिखते हुए कुल्लूक भट्टने 'मन्वर्थमुक्ता-वली'में 'आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि' लिखा है। (३) 'महाभारत' इत्यादि इतिहास ग्रन्थ । अनेक आख्यानी एवं उपाख्यानोंका 'जय' नामक इतिहास ग्रन्थ (वर्तमान 'महा-भारत'के मूल रूप)में संग्रह होनेके कारण ही परिवर्धित महा-भारतको आख्यान-काव्यका नाम प्राप्त इआ होगा। (४) इन 'महाभारत' आदि आर्ष कान्योंके सर्ग । इस अर्थके प्रामाण्यमें तारानाथने स्वकृत 'वाचस्पत्यम्'में निम्निक्खित श्रीक उद्धृत किया है-"नामास्य सर्गापादेय कथवा सर्गनाम तु । असिन्नार्षे पुनः सर्गा मवत्याख्यानसंज्ञादाः ॥" और इनका उदाहरण देते हुए "यथा भारते रामोपाख्यानं, नलोपाख्यानमित्यादि" लिखा है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः प्राचीन कथानक या वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (६) पर्याय-कथा, कथानक, आख्यायिका, वृत्तान्त इत्यादि। (ङ) व्यापक अर्थ-कहानी, कथा और इसी अर्थमें उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। इसका सीमित अर्थ है ऐतिहासिक कथानक, पूर्ववृत्त-कथन। —आ० प्र० मि० आख्यानक गीत-दे० 'लोकगाथा'और 'साहित्यक-गाथा' आख्यायका-[आ+स्या+ण्वुल]। (क) साधारण अर्थ (१) कहानी, वृत्तान्त, किस्सा । (स) विज्ञेष अर्थ- संस्कृत

गद्य-काव्योके दो प्रकारोंमेंसे एक । इसका लक्षण 'अमरकोश'-मे 'आख्यायिको पलब्धार्था' (१।६।५), अर्थात जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो, ऐसा किया गया है। दूसरा प्रकार 'कथा' कहलाता है, जिसका लक्षण 'अमरकोश'में 'प्रवन्ध-कथा' (१।६।६), अर्थात् जिसका विषय काल्पनिक हो, सत्य जिसमें अल्प ही हो, ऐसा किया गया है। गद्य-काव्यके इन उदाहरण क्रमशः 'हर्पचरित' और दोनों प्रकारोके 'कादम्बरी' माने जाते है। 'साहित्यदर्पण' आदि परवर्ती साहित्य-शास्त्रोंमें प्राप्त होनेवाले लक्षण इन्ही दोनों काव्यों-की रचना-शैलीको दृष्टिमें रखकर दिये गये है। 'साहित्य-दर्पण'मे आख्यायिकाका लक्षण इस प्रकार किया गया है "आख्यायिका कथावत स्यात कवेर्वचादिकीर्तनम्। अस्या-मन्यकवीनाञ्च वृत्तं पद्यं अचित् कचित् ॥ कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते । आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥ अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ॥" कथा-का लक्षण इस प्रकार किया गया है "कथायां सरसं वस्त गद्यैरेव विनिर्मितम् । कचिवत्र भवेदार्या कचिद् ववत्राप-वक्त्रके । आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥" परन्तु पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (छठी या सातवी शताब्दी)ने इन दोनोंको एक ही माना है, केवल नामतः भिन्न बताया है 'तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांगिता' (काव्यादर्शः, १: २८)। इतना ही नहीं, 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' जैसे गद्य-काञ्य तथा 'पञ्चतन्त्र', 'हितोपदेश' इत्यादि गद्य-पद्यात्मक कहानियोके संग्रहोंमे भी काव्यादर्शकार कोई भेद करते नही जान पडते । उन्होने शैलीकी दृष्टिसे गद्य वाड्यय-के वृत्तगन्ध, उत्कलिकाप्राय, चूर्णक आदि चार भेद करके इन्हींके अन्तर्गत अन्य समस्त गद्यात्मक अन्थोको मान लिया है। 'अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषा आख्यानजातयः'। (ग) हिन्दीमे यह शब्द 'कहानी' या कथाके ही अर्थमें प्रयुक्त होता है। (घ) व्यापक अर्थ—कहानी या वृत्तान्त, सीमित अर्थ संस्कृत गद्य-काव्यका एक मेद (दे० 'आख्यान')। —आ० प्र० मि० **आगतपतिका (नायिका)** - अवस्थानुसार

विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०--'नायिका-भेद'। यह वस्तुतः हिन्दीके आचार्यीका अपना भेद है: क्रपारामने इसे स्वागतपतिका कहा है। सूर तथा रहीमने आगतपतिका-की स्वीकार किया है। मतिरामके अनुसार 'जा तियको परदेस तै आयो' प्रिय हो, उसे आगतपतिका कहते है। पर पद्माकरने इसमे हिंपत होना और जोड दिया है—इस प्रकार अपने प्रियके आगमनपर प्रसन्न होनेवाली नायिका। नायिकाकी इस अवस्थाके अन्तर्गत स्वकीयाके मुग्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्या सभीको स्वीकार किया गया है। मुग्धा आगतपतिका अपने मनके उल्लासको अभिन्यक्त करनेमें संकुचित है-"बहुत दिवसपर पियवा आयउ आज। पुलकित नवल दुलहिया कर गृह काज" (रहीम: बरवै, ३६)। साथ ही मनके आवेगके कारण वह अस्थिर है-"भीतर भौनके द्वार खरी सुकुमारि तिया तन कंप बिसेखै। घॅघटको पट ओट दिये पट ओट किये पियको मख देखै" (मितिराम: रसराज, २१७)। मध्याकी लज्जा और प्रेमका आवेग इस आगतपतिकामें समान रूपसे देखा जा सकता

है-- "आय गये मतिराम जबै तबै देखत नैन अनन्द गये रत । भौनके भीतर भाजि गयी हॅसिकै हरुवै हरिको फिरि हेरत" (वही : वही, २१९) । प्रौढ़ा आगतपतिकामें निस्सं-कोच भावका उछास है-"आवत सुनत तिरियवा उठि हर-खाय। तलफत मनहुँ मछरिया जन जल पाय" (रहीमः वरवै, ६८)। परकीया आगतपतिकाको रूपमें मिलनको लिए उत्सक दिखाई पडती है-"पूछिति चली खबरिया मितवा तीर। हरखित अतिहि तिरियवा पहिरत चीर" (वही: वही, ६९)। सामान्या मिलनके लिए उत्सकतामे भी यह नहीं भुलती कि प्रिय क्या लाये है-"वे आये ल्याये कहा यह देखनके काज। सखिन पठावति ससिमुखी सजत आपनी साज" (पद्माकर: जगद्विनोद, १: २६८)। रीतिकालके कान्यमें नायिकाके आदेग, उल्लास तथा मिलनोत्कण्ठाका चित्रण इस नायिकाके रूपमे हुआ है तथा इसके अन्तर्गत आलंकारिक चमत्क्रत वर्णनोको भी अवसर मिला है। -र० आचार - आचारोंकी संख्या भिन्न-भिन्न बतायी जाती है। चार, छः, सात, आठ एवं नौ आचारोका उल्लेख मिलता है। मूलतः यह संख्याभेद एक ही आचारके विभिन्न भेद-प्रभेदोंके कारण है। 'कुलार्णव' एवं 'ज्ञानदीप' तन्त्रेके अनु-सार आचार सात है-वैदिकाचार, वैष्णवाचार, शैवा-वामाचार, सिद्धान्ताचार और चार, दक्षिणाचार, कौलाचार । सचिदानन्द स्वामीने 'तन्त्र-रहस्य'में इन सातके साथ हो और आचारोका उल्लेख किया है-अघोराचार एवं योगाचार। प्रथम सात आचारोसे भी उच्चतर एक आचार और बताया गया-है—स्वेच्छाचार। स्पष्ट है कि प्रथम सात आचार मूल है। इनमेंसे प्रथम चार अर्थात् वैदिकाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार एवं दक्षिणाचार-को पदवाचार और शेष तीनको वामाचार कहा गया है। तन्त्रोमे वैदिक या वेदाचारको सबसे नीचा और कौलाचार-को सबसे ऊँचा बताया गया है (कुलार्णव तन्त्र : २)। 'विश्व-सार तन्त्र'के २४वें पटलमें इस बातको पूरे विस्तारसे बताया गया है। संक्षेपमें इतना समझ लिया जा सकता है कि वेदाचारमें वेदविहित कर्मी-यज्ञ-यागका आचरण, ऋतकालके अतिरिक्त पत्नीके साथ सहगमन न करना, पर्वके समय मत्स्य-मांस न खाना और रात्रिमे देवताकी उपासना आवश्यक है। वैष्णवाचारमें निरामिष भोजन, व्रत-उपवास, स्त्री सम्भोगका पूर्ण त्याग एवं विष्णुकी पूजा विहित है। दौवाचारमे जीवहिंसाका पूर्ण त्याग एवं शिव-की उपासनाका विधान है। दक्षिणाचारमें भाग खाकर परमेश्वरका ध्यान करनेका विधान है। रात्रिमें मन्त्र जप-महाशंख या नरास्थिकी माला और कभी-कभी शक्ति-पी इसके लिए आवश्यक है। इन चारोंको पशुभावके साध के लिए विहित माना गया है, अतः पश्वाचार कहला है। पॉचवा वामाचार है। इसमे दिनमें ब्रह्मचारीकी तरह रह-कर रातमे पंचमकारोंसे पूजा करनी चाहिए। चॅ,टे, इसका ग्रम न रखने से मिली हुई सिद्धि भी समाप्त हैं जाती है, अतः इसे गोष्य माना जाता है। इसके बाद निकानानाए आता है। वेदों, शास्त्रों एवं पुराणोंमे जो गृह (ज्ञानरादि), बोधि) काष्ठमें अग्निकी तरह छिपी हुई होती है, सिद्धान्ता-चारी उसे जान लेता है, पश्चस्तलम भगवी भावनाते गुक होता है, सत्यके प्रति निष्ठापान् रहकर वह खुले आम पंचतत्त्व (दे० 'पंचमकार')का सेवन कर सकता है। 'नित्य-तन्त्र'में बताया गया है कि नरकपालका पात्र एवं रुट्राक्षकी माला धारण करनेवाला सिद्धान्ताचारी साक्षात् भैरवकी तरह धरती पर धूमता फिरता है। अन्तिम कौलाचार है। इसका ध्यान साधकको स्वयं शिव बना देता है। असे, हाथीके पैरमे सभी जानवरोंके पैर समा जाते हैं, उसी तरह इसमें सभी आचार आ जाते है। यहाँ आकर सारे बन्धन, सारे विधि-निषेध समाप्त हो जाते हैं। कौल स्वयं अपना गुरु और स्वयं सदाशिव होता है। उससे वडा कोई होता ही नहीं। कौल भी तीन प्रकारके होते हैं-पाकृत कौल, कौल और उत्तम कौल। यही प्रमुख सात आचार है। यहाँ तक पहुँचकर साधकको पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। तन्त्रोंका मत है कि इसके बाद साधक आचारोंसे ऊपर उठ जाता है। यहाँ उसकी अपनी इच्छा ही सबसे बड़ा आचार है। तन्त्र इसीको स्वेच्छाचार कहते हैं। ऐसा साधक, जो कुछ भी करे-धरे सभी पवित्र है। खान, पान पवं मैथुन किसीके लिए कोई विधि-विधान नहीं। सचिदा-नन्द स्वामीके 'तन्त्र रहस्य'का हवाला देकर हमने ऊपर संकेत किया है कि वे अघोराचार एवं योगाचार नामक दो और आचार मानते हैं और इन्हें वामाचारके बाद तथा सिद्धान्ताचार एवं कौलाचारके पहलेकी अवस्था बताते हैं।

आचारोंको दो प्रमुख वर्गीमें भी बाँटा जाता है-दिशणा-वामाचार । दक्षिणाचारके अन्तर्गत वैदिक, वैष्णव, शैव एवं स्वयं दक्षिणाचार भी रखे जाते हैं तथा वामाचारमें वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। वैदिक, वैष्णव एवं शैवाचारोंको दक्षिणाचारके अन्तर्गत रखनेका अर्थ यही है कि ये दक्षिणाचारकी उपलिधमें सीपानोंका काम देते हैं। ये चारों प्रवृत्तिमागी आचार है। शेष उत्तरवत्तीं तीन आचारोंका वामाचार नाम थोड़ा भ्रामक है। चुँकि इस आचारमें लतासाधना (दे० 'लता-साधना') स्त्रीके जैसी साथ चलनेवाली साधनाएँ गृहीत है, अतः इसे वामा (स्त्री) आचार कहते है। कुछ लोग 'वाम'का अर्थ उलटा या विपरीत करके इसे उलटा आचार रूपमें समझना-समझाना चाहते हैं। तन्त्रोंमें वामाचारको निवृत्तिमागीं बताया गया है, जब कि दक्षिणाचार प्रवृत्ति-मार्गी है, अतः उससे उलटा पड़ता भी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि चुँकि इस आचारकी आराध्या देवी शिवके वामांकर्मे विराजती है, अतः यह वामाचार कहा जाता है। सर जान बुडरफका तर्क है कि वामाचार नाम स्वयं साधकों द्वारा दिया गया है, अतः विपरीत, उलटा, स्त्रीके जैसा साथ चलने-वाला आदि कहकर वे अपनेको नीचा प्रमाणित करना कदापि न चाहेंगे। सम्भवतः वे इने वामा चार इसलिए कहते हो कि यह दक्षिणाचारका परिपंधी है।

कुछ विदेशी विद्वानोंने वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार जैसे नामोंके आधारपर इन आचारोको विभिन्न सम्प्रदायों-का स्चक मान लिया है, जो ठीक नहीं है। उक्त सभी आचार कौलाचारके विभिन्न स्तर या सोपान है और हर साधक विभिन्न स्थितियोमें इन सभीसे होकर निकलता है। आज्ञाचक्र-दे॰ 'हठयोग'।

धारसङ्ग्या जाराह्या लेखक्के अपने जीवनसे सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथाके हारा अपने बीते हुए जीवनका सिहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमिमें अपने जीवनका महत्त्व दिखलाया जाना सम्भव है।

टायरी, जर्नल, संमारण, पत्र (दे०) आदि रचना-प्रकार भी आत्मकथाके ही स्फुट रूप हैं। इन्हें व्यक्तिगत प्रकाशन —पर्सनल रिवेलेशन—वाले साहित्यके अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि जाने-अनजाने आत्मांकन करना ही इन विविध र बना-प्रफारोंका उदेश्य होना है। जीवन-नारित्र, आत्मकथासे, इस अर्थमे भिन्न है कि किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी किसी अन्य व्यक्तिकी जीवनी जीवन-चरित्र है और किसी व्यक्ति द्वारा लिखी गयी स्वयं अपनी जीवनी आत्मकथा। आत्मचरित और आत्मचरित्र हिन्दीमें आत्मकथाके अर्थमे प्रयुक्त प्रारम्भिक शब्द है और तत्त्वतः आत्मकथासे भिन्न नहीं हैं। एक सूक्ष्म अन्तर कदाचित् यह हैं कि आत्मचरित कहलानेवाली रचना किंचित् विश्लेपणात्मक और विवेक-प्रधान होती थी और अब आत्मकथा कही जानेवाली कृति अपेक्षया अधिक रोचक और सपाठ्य होती है। आपनीती, अपने साथ बीती हुई, सामान्यतः, किसी अ-सुखद घटनाका वर्णन है। ' अो रामकहानी' और ' अो कहानी, उसीकी जबानी' शोर्पकसे लिखी गयी रचनाओंकी शैली तो आत्म-कथाकी होती है, पर ने किसी अन्यके जीवनपर प्रकाश डालती हैं। वास्तवमें, ऐसी रचनाएं प्रथमपुरुष सर्वनाममें लिखित जीवनियां हैं और उचित यह है कि इन्हें आत्मकथा या जीवनी शैलीमें लिखी गयी स्फट गय-रचनाओंकी संज्ञा दी जाय । आत्मकथा, जीवनी या पत्र-शैलीमें निबन्ध भी लिखे जा सकते हैं और कहानी-उपन्यास भी, पर स्वतन्त्र विधाकी दृष्टिसे आत्मकथा आदि रूपोंका साहित्यमें अपना अलग स्थान है।

आत्मकथात्मक साहित्य क्यों लिखा जाता है, यह बड़ा संगत प्रश्न है। सोचनेपर दो भिन्न दृष्टिकोण लक्षित होते हैं। एक प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यका उद्देश्य होता है-आत्म-निर्माण, आत्म-परीक्षण या आत्म-समर्थन, अतीतकी स्मृतियोंको पुनर्जीवित करनेका मोह या जटिल विश्वके उलझावोंमें अपने आपको अन्वेषित करनेका सात्विक प्रयास । इस प्रकारके आत्मकथात्मक साहित्यके पाठवों में सर्वप्रमुख स्वतः लेखक होता है, जो आत्मांकन द्वारा आत्म परिष्कार एवं आत्मोन्नति करना चाहता है। आत्म-सम्बन्धी साहित्य लिखनेका एक दूसरा उद्देश्य यह भी है कि लेखकके अनुभवोंका लाभ अन्य लोग उठा सकें। महान् ऐतिहासिक आन्दोलनों और घटनाओंके सम्पर्कमें रहनेसे डायरी, संसारण या आत्मकथा-छेखकको यह आशा होना स्वाभाविक है कि आगामी युगोंमें उसकी रचना उसके युग तथा समयके प्रमाणरूपमें पढ़ी जायगी। यदि धर्म, राजनीति अथवा साहित्यके इतिहास-निर्माणमें किसी व्यक्तिका महत्त्वपूर्ण हाथ रहा हो तो अवस्य ही पाठक उस व्यक्तिके वारेमें स्वयं उसकी लिखी बातोंको पढ़ना पसन्द करेंगे। इन दोनों स्वतः-सिद्ध उपयोगोंके अतिरिक्त आत्मकथा-लेखनके मूलमें कलात्मक अभिव्यक्तिकी प्रेरणा भी हो सकती है और अपनी पद-मर्यादा अथवा ख्यातिसे लाम उठानेकी शुद्ध व्याव-सायिक इच्छा भी।

जैन कि वनारसीदासकी 'अर्थकथा' हिन्दीकी प्रथम आत्मकथाओं में गिनी जाती है। हिन्दीके प्राचीन साहित्यमें आत्मकथात्मक सामग्री भी यत्र-तत्र ही मिलती है, सुनिश्चित और व्यवस्थित आत्मकथाओं लिखे जानेका तो, खैर, प्रचलन ही न था। आधुनिक युगमे, साहित्यके अन्य गयरूपोंके साथ, आत्मकथाकी ओर भी लेखकोंका ध्यान गया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'कुछ आपवीती, कुछ जगवीती' नामसे आत्मकथा लिखना प्रारम्भ किया था। जितना अंश वे लिख सके, उसमें उन्होंने जवानीके वातावरण और मुफ्तखोंरे सिफारिश मुसाहिबोंका बहुत सजीव चित्र खोचा है। स्वामी दयानन्दने पूनाके व्याख्यानोंके अन्तर्गत अपने जीवनसे सम्बद्ध विवरण दिये थे। सन् १९०१ ई०में अम्बिकादत्त व्यासने 'निजवृत्तान्त' नामक आत्मकथा लिखी। स्वामी श्रद्धानन्दकी आत्मकथा 'कल्याण पथका पथिक' हिन्दीकी प्रारम्भिक आत्मकथाओंमे है।

कालान्तरमें अनेक सम्बद्ध और स्फुट आत्मकथाएँ हिन्दीमें लिखी जाती रही। सम्बद्ध रूपसे लिखी गयी आत्मकथाओं मे स्थामसुन्दर दासकी 'मेरी आत्मकहानी' और राजेन्द्र प्रसादकी 'आत्मकथा' प्रमुख हैं। राजेन्द्र बाबूकी आत्मकथा उनके जीवनकी कथामात्र न होकर समस्त समकालीन घटनाओं, व्यक्तियों और आन्दोलनोंका भी इतिहास है। स्फुट निबन्धोके रूपमे लिखी गयी महावीर-प्रसाद द्विवेदीकी आत्मकथा, गुलावरायकी 'मेरी असफल-तापॅ' या सियारामशरण गुप्तकी 'झूठ-सच', 'बाल्यस्मृति' आदि रचनाओंमें स्वामादिकता, सहृदयता और निष्कपट आत्मप्रकाशनके गुण विद्यमान है। राष्ट्रभाषाके माध्यमसे इस साहित्यिक रूपके विकासकी अपरिमित सम्भावनाएँ है।

आत्मकथात्मक साहित्यके अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार है—'मेरी आत्मकहानी': इयामसुन्दर दास; 'आत्मकथा': राजेन्द्रप्रसाद; 'मेरी जीवनयात्रा': राहुल सांकृत्यायन; 'सिंहावलोकन': यशपाल; 'प्रवासीकी आत्मकथा': भवानीदयाल संन्यासी; 'मेरा जीवन-प्रवाह': वियोगीहरि; 'हंस': आत्मकथा अंक, सम्पादक प्रेमचन्द; 'सत्यके प्रयोग': महात्मा गान्धी; 'मेरी कहानी': जवाहरलाल नेहरू।

आत्मकहानी - दे० 'आत्मकथा'।

आत्मचेतना—चेतनाका विशेष रूप है आत्मचेतना और यह चिन्तनशील प्राणी मानवकी विशेषता है। चेतना वस्तु या विषयकी हो सकती है और स्वयं व्यक्ति, विषयी या चेतनाकी भी। दूसरेको ही आत्मचेतना कहते है, अर्थात् जब हमें यह चेतना हो कि हमें अमुक अनुभव हो रहा है तो वह आत्मचेतना है। मानवमानसकी यह विशेषता है कि पदार्भकी चेतना होते समय परोक्ष रूपसे वह उस चेतनाको अपनेसे सम्बन्धित करके भी जानता है। हम यदि सुन्दर पुष्पको देखते है तो पुष्पकी चेतनाके साथ अस्पष्ट रूपसे यह झान भी रहता है कि हमे पूलकी चेतना हो रही है। यही सरल अर्थोंमें आत्मचेतना है। मनो-वैज्ञानिक हृष्टिसे वस्तु चेतना आत्मचेतनासे पहले विकसित

होती है। शिशुके अनुभवोंमें आत्मचेतना नही होती।

आत्मचेतनाका दार्शनिक महत्त्व बहुत अधिक है। इसीके आधारपर विज्ञानवादी और प्रत्यक्षवादी (idealists) दार्शनिक आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करते है। इस अर्थमें यह शुद्ध अहम् अथवा आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव है—'मैं हूँ' यह चेतना।

साहित्यमे इस शब्दके मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों अर्थ रूढ़ है। — प्री० अ०

आत्मनिष्ठ (काव्य)-दे॰ 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य) । आत्मपीडन - स्वयंको मानसिक या शारीरिक कष्ट देकर तृप्ति पाना ही आत्मपीइन (masochism) है। अत्यन्त सूक्ष्म रूपमे आत्मपीडनकी इच्छा सामान्य व्यवहारमे भी व्यक्त हो सकती है, पर इसकी प्रबलता स्वभावकी विकृति ही है। आत्मपीड्न और परपीड्नका कुछ मिश्रण सामान्य यौन व्यापारमे रहता है, पर जब कामवृत्तिके अन्य उद्देश्य तो पृष्ठभूमिमें चले जाते है और आत्मपीड़न स्वयं ही लक्ष्य बन जाता है तो उसे एक प्रकारकी थौन विकृति मानते हैं। फायडके अनुसार आत्मपीडन तीन रूपोमे व्यक्त होता है-कामवृत्तिविषयक आत्मपीड्न, स्त्रैण (feminine) आत्म-पीड़न और नैतिक आत्मपीड़न। प्रथम कुछ सायविक विकृतिथोवाले न्यक्तियोमे कामवृत्तिका लक्ष्य है। ऐसे व्यक्तियोको अपने-आप अधिकसे अधिक पीड़ा पहुँचाकर अपने प्रति कठोर व्यवहार करके, अपना ही अपमान करके यौन तृप्ति मिलती है। इस प्रकारका आत्मपीइन केवल यौन न्यापारमे ही न्यक्त हो यह आवश्यक नही, आत्म-पीइनके अन्य रूपोके मूलमें भी काम सम्बन्धित आत्मपीडन अन्यक्त रूपसे रहता है। इस कामविषयक आत्मपीडनका कारण पूर्णतः समझ सकना कठिन है। यही कहा जा सकता है कि जीवशास्त्रीय दृष्टिसे यौन व्यापारमें विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना आवश्यक होता है, यह आवश्यकता परपीड़नका आधार है और परपीड़नकी विकृति आत्मपीड़न है। यह विकृति अचेतन दमन, वर्जना और स्वाभाविक प्रकृतियोमें वियोजन (dissociation) आदिसे बन सकती है (दे॰ 'मनोविद्लेषण')।

आत्मपीड़नका दूसरा रूप क्षीस्वभावकी विशेषता है। स्त्रीकी स्वाभाविक आक्रमकृत्ति (aggressiveness) पर नैतिक और सामाजिक नियमोंका इतना दवाव पडता है कि उसकी पीडा पहुँचानेकी प्रवृत्ति आत्ममुखी हो जाती है और स्वयं पीडा पाकर ही उसे सन्तोष मिलता है। उसकी थैन वृत्ति भी पीडा पाकर तृप्त होती है, स्वायविक रोगियोमे नह अत्यन्त प्रवल रूप ले लेती है। यदि वास्तविक पीड़ा न मिल सके तो पीडाकी कल्पनासे ही ऐसी स्त्रियाँ मन्तुष्ट रहती है। आत्मपीड़न अधिकृतर स्त्रियोंके ही स्वभावमे मिलता है।

नैतिक आत्मपीड़न अपराधमावनासे व्यक्त होता है, अकारण ही अपनेको अपराधी मानकर व्यक्ति आत्मर पिने पीड़ा पाता रहता है। इस प्रकारको पीड़ासे अपराध क्यां र पिड़ उसकी अचेतन वासनाएँ तृप्त होती है। मनो वहले पकार अपने रोगियोमे तीनों ही प्रकारके आत्मपीड़न देखे है और उसके अध्ययनसे कथासाहित्यमें पात्रोंका चरित्र चित्रण काफी प्रमावित हुआ है।

आत्मप्रक्षेपण - मानस कई प्रकारसे कार्य करता है, आतम-प्रश्लेपण उनमें ने एक हैं। इसमे व्यक्ति अनजाने ही अपनी इच्छाओं, भावनाओं, वासनाओंका आरोपण दूसरे व्यक्तियों या वस्तुओंमे कर देता है। प्रायः यह अचेतन मानसकी आत्मरक्षार्थक क्रिया ही होती है। जिन भावनाओं, वासनाओंको व्यक्ति स्वयं चेतन मानसमे स्वीकार नहीं कर पाता, उन्हें दह दूसरेपर आरोपित करके उनसे सम्बन्धित दोष अथवा अपराधमे सहज ही मुक्ति पा लेता है। प्रायः ऐसे व्यक्ति अपने मित्रों, सम्बन्धियोंपर विश्वासघात आदिका दोषारोपण किया करते हैं, जो स्वयं उनके अचेतन मानसका सत्य होता है। 'पारानोइया' (paranoia)के रोगीकी यह विशेषता है।

प्रक्षेपण केवल अनैतिक अथवा अहं द्वारा दिमत रच्छाओं, वासनाओंका ही नहीं, वरन् आदर्शी, विचारों और सिद्धान्तो-का भी होता है। व्यक्ति बहुत-सी घटनाएँ अपने जीवनमे घटित होनेकी इच्छा करता है, पर यह असम्भव होता है, अतः वह दूसरे व्यक्तियोंमें, जिनके जीवनमे वैसी घटनाएं घटित होती है, आत्मप्रक्षेपण करके सन्तोष पा लेता है। कथा-साहित्यके आनन्दोपभोगके मूलमें पाठकका यही आत्मप्रक्षेपण रहता है, नायक अथवा नायिकामें आत्म-प्रक्षेपण करके हम रस ले पाते हैं। इसी प्रकार आदर्शकी कल्पनाका भी प्रक्षेपण होता है। व्यक्ति जो स्वयं होना चाहता है पर हो नहीं पाता, उसे पाकर आत्मप्रक्षेपण द्वारा अपने आदर्श व्यक्तिकी भक्ति करके सन्तोष पा लेता है। जनताकी नेताके प्रति भक्तिके मूलमें ऐसा ही आत्म-प्रक्षेपण रहता है। कथाकार अपने पात्रोंका सर्जन भी अपनी इच्छाओं, भावनाओं तथा आदर्शीका अन्य व्यक्तियोंमें आरोपण करके करता है। समस्त कलाओं में कलाकार आत्मप्रक्षेपण करता है, कहीं यह पूर्ण रूपसे स्पष्ट होता है, कहीं अस्पष्ट । आतमप्रत्यक्ष-दर्शनकी भाषामें, जिस भाँति हम इन्द्रियों द्वारा परिमित घट, पट आदि वस्तुओका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, उसी भॉति साधना द्वारा हम अपरिमित आत्म-तत्त्वका भी प्रत्यक्ष कर सकते है। आत्माका स्वरूप सिचदानन्द है; सत्ता, चैतन्य और आनन्द उसके गुण हैं। वह अनादि और अनन्त है; काल और दिशासे वह बंधी हुई नहीं है। वह 'स्व'का नित्य और बृहत रूप है। साधना द्वारा हम जितना 'स्व-रूप'के निकट पहुँचते हैं, उतना ही हम चैतन्य और आनन्दका अनुभव करते हैं। यह अनुभव इन्द्रिय-जन्य सुखसे विचित्र होता है; इसीका नाम 'ब्रह्मानन्द' है।

साहित्य और कलाके सन्दर्भमें एक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कलाका सुख, जिसे 'रस' या 'आनन्द' कहा जाता है, 'आत्म-प्रत्यक्ष'का ही फल होता है। विश्वनाथके अनुसार 'रस' ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है, ब्रह्म अथवा आत्माके बहुत स्वरूपकी प्रत्यक्ष अनुभृतिके समान होता है। कला-कृतिका प्रभाव जीवनकी प्रवृत्तियोकी अन्तर्मुखी बनाकर स्व'के आदि-स्नोत अथवा आत्माकी ओर ले जाता है। यह हराका आध्यात्मिक सिद्धान्त है। कलाका सर्जन और है। ब्रह्मक उसी साधनासे होता है, जिससे आत्म-आराधना

होनी हैं। इसीलिए कविका अर्थ कवन करनेवाला तथा क्रान्तदर्श किया गया है। पण्टिनराज जगन्नाथके अनुसार साहित्यमें रसास्वादनकी प्रक्रिया 'चिवावरणभंग' या आत्म-प्रत्यक्षको प्रक्रिया है । आत्मप्रलम्बन - आत्मप्रक्षेपणके ही अधिक उन्नन, उदान रूपको हम आत्मप्रलम्बन कह सकते हैं। अपने आदर्शकी कल्पना, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा हमे अपने अहमकी अधिक व्यापक और विरत्त करनेको विवश करती है। ऊचे आदशोंकी महत्त्वाकांक्षा हमारी आत्माको अहमकी सीमाओंसे ऊपर उठाती है। आत्मवाद-भारतीय दर्शनमं समान्यतः दो धाराए है-आत्मवाद और अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद । आत्मवादके अन्तर्गत समस्त हिन्दू दर्शन है और अनात्मवादमं बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन है। जैन दर्शन दोनोंका समुचय करता है। आत्मवादके अनुमार आत्मा नित्य, अजर-अमर, मभी वस्तुओकी साक्षी, चेतन और अपरिवर्तनशील है। अनात्म-वादके अनुसार या तो आत्मा है ही नहीं और या तो वह नश्रर तथा परिवर्तनकील है। जैन मनमें वह परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों है, जो म्वतः विप्रतिपेधक होनेके कारण ठीक नहीं है। अतः आत्मवाद और अनात्मवाद. ये ही दो प्रमुख सिद्धान्त आत्माके बारेमें हैं।

यास्काने आतमा शब्दकी निरुक्ति यो की है-- "आत्मा तने विप्त वापि वाप्त इत स्याद यावद व्याप्तिभून इति', (निरुक्त, ३:१३:२), अर्थात् अतमा - शब्द अत् धात् (सतत चलना) या अप धात (न्याप्त होना)सं बना है। आत्माको आत्मा इसलिए कहा जाता है कि यह सदा चलती रहती है या सदा समस्त वस्तुओंमें व्याप्त रहती है। इंकराचार्य ब्युत्पत्ति करते समय एक प्राचीन इलोक ('लिंग पुराण', १।७०। ९६) का उल्लेख करते है, जो यों है- "यचाप्नोति यदादत्ते यचाति विषयानिह । यचास्य सन्ततो भावस्तस्मा-दात्मेति कीर्त्यते ॥" अर्थात् क्योंकि यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती हैं (आदत्ते), इस लोकमें विषयोंको भोगती है (अत्ति) और इसका सदैव सदभाव रहता है (अतित), इसलिए इसे आत्मा कहा जाता है। इस व्युत्पत्तिके पूर्व वे कहते हैं कि आत्मा शब्द इस लोकमें प्रत्यक् (सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला) ने अर्थमें ही रूढ़ है और किसी अन्य अर्थमें नहीं (कठोपनिषटभाष्य, २:१), इसलिए वे इसे प्रायः प्रत्यगातमा कहते है। कभी-कभी प्रत्यगात्माकी वे व्याख्या करते हैं कि यह प्रत्यक् अर्थात् सम्पूर्ण विषयोंको जाननेवाला और आत्मा दोनों है। यहाँ आत्माका अर्थ उस वस्तुसे है, जिसका सातत्यभाव हो और जो सदैव एकतायुक्त हो।

उपनिषदों में आत्माके स्वरूपको खोज बड़ी छान-बीनके साथ की गयी है। उनके अध्ययनसे पता चलता है कि सबसे पहले आत्मा शब्दका प्रयोग 'स्वभाव' या किसी बस्तुकी सक्ता (वस्तुका एक होना)के अर्थमे हुआ। फिर उसमें सातत्यभाव जोड दिया गया और जिसकी 'सतत सत्ता' बनी रहे, अर्थात् जो सततगामी हो, उसीको आत्मा कहा जाने लगा। एकता और सततगामितासे इस प्रकार 'तत्त्व'का विचार सम्पन्न

हुआ। 'तत्त्व'के अर्थमे आत्मा शब्दका प्रयोग होने लगा। 'छान्दोग्योपनिषद्'मे आधिदैवतरूपसे आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, आकाश, अग्नि तथा जलको क्रमशः आत्मा तत्त्व माना गया । फिर वही अध्यात्मरूपसे आदर्श (दर्पण), छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दक्षिण नेत्र और सन्य नेत्रको क्रभशः आत्मा तत्त्व समझा गया। अध्यात्मपक्षपर चिन्तन बढ जानेसे वाक् , प्राण, चश्च, श्रोत, मन तथा हृदयको विभिन्न औपनिषद दार्शनिकोने आत्मा या तत्त्व माना । 'ऐतरेयोपनिषद्'मे आत्माको मूळ तत्त्व या जगत्का आदिकारण ही कह दिया गया और आत्मासे ही सृष्टिको उत्पन्न सिद्ध किया गया। क्योंकि जगत्के आदिकारणका अपर पर्याय ब्रह्म है, अतः आत्माको ही ब्रह्म समझा गया । 'माण्डूक्योपनिषद्'मे आत्मा ब्रह्म है, इसका स्पष्ट उल्लेख है। तत्त्वमिस (वह 'छान्दोग्योपनिषद'में माना गया । अबतक शंकराचार्य कहते है, आत्मा प्रत्यगात्माके अर्थमें और ब्रह्म जगत्के मूल कारणके अर्थमे रूढ़ हो चले। 'सोऽहमस्मि' अनुभवमे आत्मा तथा अभेदका प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। कुछ लोगोंने इस अमेदमे अरुचि दिखलायी और प्रत्यगात्माको जीवात्मा तथा ब्रह्मको परमात्मा कहकर दोनोंको सदा भिन्न दिखलाया। इसके फलस्वरूप आत्मा जीवात्माके अर्थमें रूढ हो चला। फिर उसे कुछने कत्ती और कुछने भोक्ता और कुछने ज्ञाता। अभेदवादियोंने इसे कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता न मानकर सत्, चित्या ज्ञान तथा आनन्द माना । आत्मा शब्दके इस वेदोपनिषत्कालीन इतिहासमें आत्मवादी और अनात्मवादीका संघर्ष उल्लेखनीय है। सततगामिता दोनोंको मान्य है, पर आत्मवादी आत्माको सततगामी और एकरूप, दोनों मानता है। अनात्मवादी उसको सततगामी या बहुरूप या अनेकरूप मानता है। उसके मतसे आत्मा प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहनी है और वह नित्यनूतन है। यही बौद्ध मत है। एकरूपता और सततगामिताका समन्वय इस मतका व्याघातक है। पर हिन्दू दर्शनके अनुसार आत्मा सदैव एकरूष रहकर ही सततगामी या अमर है, इस कारण दोनोंका समन्वय सम्भव है। आत्मवाद और अनात्मवादमें इस विवादसे स्पष्ट है कि यद्यपि एकता या एकरूपता आत्माका प्रधान अंश है, तथापि बौद्ध नितान्त अनात्मवादी नहीं है, क्योंकि वे सातत्यके अर्थमें आत्माको मानते है।

आत्माको हमने चैतन्यके अर्थमे रूढ़ सिद्ध किया है। चैतन्यका अर्थ 'जानना' है। हम बहुत-सी वस्तुओं को देखते, सुनते या जानने है, इसलिए चैतन्य अवस्य है। अगर चैतन्य या जाननेवाला न होता तो फिर उन वस्तुओं का कान कैसे होता? ज्ञानके न होनेपर ज्ञेय भी नहीं हो सकता। ज्ञेयके होनेपर ज्ञान और ज्ञाता भी अवस्य है। अतः चैतन्यरूप आत्मा है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा सभी ज्ञेय वस्तुओं का आधार है, अतः वह कभी ज्ञेय या विषय नहीं हो सकती।

जो लोग आत्माके नास्तित्वको मानते है, वे उसे 'अभाव', 'शून्य' या 'नहीं है' कहते या मानते हैं। पर 'अभाव', 'शून्य', 'नहीं है' आदि होय विषय हैं। यदि हम इनको इनके रूपमें मानते है तो फिर हमें इनके शाता और शानको भी मानना पड़ेगा, अतः नास्तिक भी वस्तुतः आत्माके अस्तित्वको मानता है। आत्माके अस्तित्त्वका प्रत्याख्यान करना वदतोव्याघात है। इस प्रमाणसे सिद्ध है कि आत्मा अप्रत्याख्येय या अखण्डनीय है।

यदि कोई आत्माके अस्तित्वपर संशय करता है कि वह है या नहीं, तो वह भी कमसे कम संशयकों तो मानता ही है। संशय ज्ञानका विषय है। ज्ञान और ज्ञाताके न होनेपर संशय भी अनुपपन्न है। अतः संशय भी सिद्ध करता है कि आत्मा, जो संशय कर रही है, अवश्य है। इससे सिद्ध है कि आत्मा मन्देहका विषय नहीं है।

अपनी आत्माकी प्रतीति सबको होती है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, कहता है और अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। कोई यह अनुभव नही करता कि 'मैं नहीं हूँ'। 'मैं हूँ'का यह अनुभव ही तो आत्मा है। अतः आत्मा है। इससे सिद्ध है कि आत्मा विल्कुल अज्ञेय भी नहीं है।

यदि कोई कहे कि आत्मा अविषय है, अगोचर है, उसके विषयमें हॉ और नहीं, है और नहीं, कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी प्रमेय या विषय है तो कुछ हदतक ठीक है। पर इसका यह आशय नहीं है कि आत्मा नहीं है। वस्तुतः शान्ति द्वारा ही आत्माके अस्तित्वका निरूपण होता है। यही कारण है कि जब गौतम बुद्धसे प्रश्न किये गये कि आत्मा है या नहीं तो वे शान्त या मौन रहे। उपनिषदोमें भी यही सिद्धान्त बतलाया गया है। 'उपशान्तोहि अयमात्मा' यह मौन या शान्ति ही आत्मा है। ज्ञान्तोहि अयमात्मा' यह मौन या शान्ति ही आत्मा है। ज्ञान-साधनासे आत्माके अस्तित्वका यही प्रमाण मिलता है। आत्माके अस्तित्वके इन प्रमाणोसे यह बात भी सिद्ध होती है कि आत्मा न तो विषय या प्रमेय पदार्थ है और न अविषय पदार्थ। उसका स्वभाव सर्वविषयवाद या सर्वज्ञेयवाद तथा अञ्चेयवाद इन दोनों दोषोसे मुक्त है।

जाग्रत्, खप्न, सुषुप्ति और पूर्ण ज्ञान, ये आत्माकी चार अवस्थाएँ हैं। कुछ लोग इनके सम्मिश्रणसे कुछ अन्य अवस्थाओंको भी मानते हैं, जैसे जाग्रत्-स्वप्न, स्वप्न-सुषुप्ति, जाग्रत्-सुषुप्ति आदि। चौथी अवस्थाको हम पूर्ण ज्ञान कह रहे हैं, इसे पारिभाषिक शब्दावलीमें तुरीय (चौथी) अवस्था ही कहा जाता है, क्योंकि यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे भिन्न है। वस्तुतः यह इसका निषेधात्मक वर्णन है। तुरीय अवस्था अन्य सभी अवस्थाओंकी आधार-शिला है। इसी अवस्थामें आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है। अन्य अवस्थाओंमें आत्माका ज्ञान अपूर्ण या सदीष ही। रहता है।

जाग्रत् अवस्थामें चैतन्यको विश्व, स्वप्न अवस्थामें तेजस् और सुषुप्तिमें प्राज्ञ कहते हैं। विश्व, तेजस् और प्राज्ञ तीनों एक दूसरेके बाधक और निराकर्ता हैं। वे सततगामी नही है। इन तीनोंकी प्रतिष्ठा आत्मामे है। आत्मा ही इन तीनोंकी गहनतम सत्ता है, ये आत्माके ही आमास है।

'बृहदारण्यक उपनिषद्'में वाक्षवल्क्यने अपनी पत्नी मैत्रेयीको बतलाया है कि श्रवण, मनच तथा निदिध्यासनसे आत्माको जाना जा सकता है और आत्माको जान छेनेपर सभी वस्तुओंका झान हो जाता है और कुछ शेप नहीं रह जाता। अवणका मतलव है उपनिषद्के वाक्योंका स्वाध्याय करना। मननका आश्य है उनपर युक्तिपूर्वक विचार करना। निदिध्यासन आत्माका अवाध या सतत चिन्तन है। यह झान-मार्ग है। कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्गसे भी लोग आत्माका झान प्राप्त कर सकते हैं।

अद्वैत-सम्मत आत्मवादका प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष पड़ा है। मध्यकाकीन सन्तोंमेंसे प्रायः सभी आत्मश्चानको विशेष महत्त्व देते हैं। आत्मश्चानको ही वे मानव-जीवनका निःश्रेयस समझते है। जैसे कस्त्री-मृग अपनी नाभिमें कस्त्रीको रखे रहनेपर भी उसकी खोजके लिए सर्वत्र घूमता रहता है, वैसे अविवेकी पुरुष आत्माको जाननेके लिए अपनेको छोडकर अन्यत्र उसकी खोज करता है। आत्मशान होनेपर ही परमतत्त्वका शान सम्भव है। 'नेति-नेति', 'तत्त्वमसि', 'सोऽहमस्मि', 'आत्मा अस्त्र' इत्यादि पदाविलयाँ हिन्दी-संस्कृत-साहित्यमें बहुत प्रयुक्त हुई हैं। आत्मा बह्य है। वह अन्नमय कीप, मनी-मय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोषसे परे है। वह स्थूल शरीर (पंचभृतोंसे रचित शरीर), सहम या लिंगशरीर (इन्द्रियों या अन्तः करणका संघात) तथा अविया शरीर (अज्ञानमात्र)से भिन्न है। यह जायत्, स्वप्न तथा सप्रप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त है। उसका अनुभव तुरीयावस्था या समाधिमं ही हो सकता है। यह समाधि सहजसमाधि तथा हठसमाधि दो प्रकारकी होती है। जब उसका झान सहज ढंगसे होता है तब हम उस अवस्थाको सहजसमाधि कहते हैं और जब हम बलपूर्वक हठयोग आदि करके उस अवस्थाको प्राप्त करते हैं तो वह हठसमाधि है। वेदान्तके आत्मवादसम्बन्धी सिद्धान्तोंकी हिन्दी साहित्यमें पर्याप्त विवेचना मिलती है। अधिकांश सन्तोंको इस विषयपर कुछ अपने अनुभव हुए है। वे ज्ञान-मार्गकी साधना-पद्धतिपर काफी प्रकाश डालते है। कुछ सन्त वेद-सम्मत कर्म-मार्ग या ज्ञान-कर्म-समुचय-मार्गका खण्डन करते हैं। पर विशुद्ध ज्ञान-मार्ग और भक्ति-समुचित ज्ञान-मार्गका वे सदैव अनुमोदन करते हैं। अद्वैत-वेदान्तके अतिरिक्त अन्य वेदान्तोंका प्रभाव भी इस प्रसंगमें —सं० ला० पा० उल्लेखनीय हैं। आत्मविघटन मनोविइलेषणके अन्तर्गत आत्मविघटन शब्दका प्रयोग एक विशेष मानसिक दशाके लिए होता है। व्यक्तिकी अहन्ता अपनेको अन्य किसी भी पदार्थकी भाँति एक विषय मानकर अपना निरीक्षण, अपनी आलोचना तथा अपने साथ और न जाने क्या-क्या कर सकती है। ऐसी दशामें अहन्ताका एक अंश दूसरे अंशका विरोध करने लगता है। उनमें परस्पर इन्द्र और संघर्ष चलता रहता है। व्यक्तिके अन्तरालमें एक गृहयुद्ध-सा छिड़ जाता है। साधारणतया यह प्रक्रिया व्यक्तिके स्वस्थ विकासमें सहायक होती है। संघर्ष और उसके विरोधकी चेतना रहनेपर वह उनका सम्यक् समायोजन अथवा उदात्तीकरण कर लेता है। संघर्षके प्रतिद्वन्द्वी पक्ष दिमत होकर अचेतनमें नहीं जाने पाते, वरन उन्हें अभिन्यक्ति पाने और कुतकार्य होने-

का अवसर मिलता रहता है। अथवा व्यक्ति किसी जीवन-मूल्य, आदर्श अथवा साध्यको स्वीकार करके अन्य प्रति-योगी इच्छाओं, मल्यों और आदशोंकी माँगको अपने जीवन-विधानमें उचित स्थान दे देता है। सन्तीके आरम्भिक जीवनमें प्रायः ऐसा देखनेमें आता है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी', 'में पतितनकों टीको', 'ममता तून गथी मेरे मनते', 'कबहुँक ऐसी रहनि रहींगी' आदि पदोंसे यही वृत्ति लक्षित होती है। श्रीकृष्णके उपदेशसे प्रभावित होकर 'गीता'के अन्तर्मे अर्जुन कहता है कि अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे सन्देह दूर हो गये, अब में तुम्हारे वचनोंके अनुसार चलुँगा। अपनी आत्मकथा कल्याण-मार्गका पाथिक'में स्वामी श्रद्धानन्दने अपने पूर्वकालीन आत्मिक संघर्षपर प्रकाश डाला है। टालस्टायके जीवनका अधिकांद्रा ऐसे ही आत्मिक द्वन्द्रमें बीता और अन्ततः उन्हें शान्ति तभी मिली, जब उन्होंने खिस्तीय श्रेयस् पूर्ण रूपसे अंगीकार कर लिया। यह उदाहरण आत्मविघटन और उसकी उदात्त निष्पत्तिके हैं। किन्तु आत्मविघटनजन्य मानसिक संघर्षके अवांछनीय असामाजिक परिणाम भी हो सकते हैं। यदि संघर्ष जारी रहता है तो उसके एक पक्षका दमन और पृथक्तरण हो जाता है और व्यक्तिके चरित्र और व्यवहारमें असाधारणता तथा अनेक मानसिक रोगींकी सृष्टि कर सकता है (दे॰ 'खण्डितन्यक्तित्व', 'मनोम्रन्थियाँ', ---आ० स० आ० 'सनोविश्लेपण')। आत्मा – शाब्दिक अर्थः – जो सतत, जागत, स्वप्न, सुपुप्ति – इन सभी अवस्थाओं में अनुवृत रहे (अत् सदा गमन करना, साँस लेना) । जीव, शरीर, स्वभाव, परमात्मा, परम शक्ति, मन, धृति, अर्क, अग्नि, वायु, अहंकार प्रमृति अथॉमें

चेतन तत्त्व ही आत्मा यहा जाता है। आत्मा शब्दका प्रयोग सर्वप्रथम वैदिक साहित्यमें मिलता है (ऋग्वेद संहिता, अथवंवेद संहिता)। आरम्भमें यशके व्यष्टि रूप अर्थमें इसका प्रयोग मिलता है। पुनः हिरण्यमय चिति और परम पुरुषके साथ इसकी एकता बतायी गयी और पारमार्थिक शक्ति, परमतत्वके रूपमें इसकी कल्पना की गयी । अथर्ववेद और उपनिषदोंमें आत्मा-का परम तत्त्वकी रूपमें ही वर्णन है, जो सभी प्रकारके सांसारिक प्रपंचीं, मलों, विशेष उपाधियों और अज्ञानादि सकल अवियात्मक प्रवृत्तियोंका अविषय तथा सांसारिकता-से उत्तीर्ण कहा गया है। आत्मा न्यक्तिमें प्राप्त चेतनाका प्रतीक है, जो वेदान्तोंमें इक्खरूप, स्वयंज्योति, सर्वज्ञ, चिद्रप, अकर्त्ता और अभोक्ताके रूपमें वर्णित है। अधर्ववेदमें इसे अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू, रसतृप्त, अनून कहा गया है। 'ईशावास्योपनिषद'में यह 'कवि' शब्दसे संशित हुआ है। 'कठ' इसे सभी प्रकारके सांसारिक विकर्णोंसे उत्तीर्ण बताता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद'में आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ही परम पुरुषार्थकी लिब्धका बार-बार निर्देश मिलता है। शङ्कराचार्यके अद्वैत दर्शनमें उपनि-षदोंके इस सिद्धान्तकी विशेष रूपसे प्रतिष्ठा हुई और निर्गुण ब्रह्म तथा आत्माको एकता और अभेदका प्रतिपादन, 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उप०) प्रभृति महावानयोंके विश्ले-

प्रयुक्त । मानवमें अन्तर्निहित शाधत शक्ति या सार्वभौम

पण द्वारा हुआ । अविधासे संयुक्त होकर आत्मा उपाधियोंसे यस्त और सांसारिकतासे बद्ध हो जाता है तथा जीव
भावको प्राप्त होता है । मूलतः आत्मा निर्गुण, निःसंग
और निर्विकल्प है और शरीरी होकर सगुण और उपहित
रूपमें ही उसकी जीव आख्या सम्भव होती है । वेदान्तके अन्य मतोंमें भी इसी प्रकार अपने तत्त्व विवेचनके अनुसार आत्म-तत्त्वका निरूपण किया गया ।

हिन्दीमें आत्माका निर्गुण साहित्यमें वेदान्तके अथोंमें ही प्रयोग मिलता है। कशीर तथा अन्य निर्गुणवादियोंके साहित्यमें आत्माका निर्गुण तत्त्वके रूपमें वर्णन मिलता है, जो माया द्वारा आवृत है तथा जिसका खरूपवोध सम्यक् ज्ञान और विवेक द्वारा ही सम्मव है। तुलसीने विशिष्टाहैतवादियोंसे प्रभावित ही, आत्माके अद्दैतपरक निर्गुण अर्थका प्रहण किया है। उपाधियों संयुक्त हो आत्मा जीवभावको प्राप्त होता है। उपाधियों मायाके मलसे सम्मृत है। जीव ईश्वरका ही अंश है (दे० 'अंश')। रामकी भक्तिसे ही परम पद प्राप्त होता है। वही आत्म-साक्षात्कार और भाव्यसे मिलनकी अवस्था है। विशेषके लिये दृष्टव्य-आत्मवाद।

[सहायक यन्थ—करुणेश शुक्लः शंकर और नागार्जुनका तुल्नात्मक अध्ययन (अप्रका० शो० प्र०); लक्ष्मणशास्त्री जोशी: वैदिक संस्कृतिका विकास; क्लदेव प्रसाद मिश्रः तुल्सीका दर्शन ।] —क० शु० आदर्शवाद—आदर्शवाद हिन्दीमें 'आइडिअल्जिम' (idealism)के पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु वास्तवमें 'आइडिअल्जिम'का अर्थ आदर्शवादमात्र नहीं है। यह शब्द 'आइडिया' (idea)से सम्बन्धित है, जिसका मूल अर्थ है विचार। इस कारण आदर्शवाद किसी सीमातक विचारवाद भी है।

आदर्शवादका प्रयोग अनेक रूपोंमें किया जाता है। दर्शन, राजनीति, साहित्य और कलाके क्षेत्रमें आदर्शवाद-की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। आदर्शनाद एक प्रकार-का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायतासे संसारका मूल्यांकन किया जाता है। वह एक विवेचन-प्रणाली है। यथार्थके जो मूल तत्त्व होते हैं, उनके अतिरिक्त भी कोई चेतन सत्ता है, विचारणा है, इसी आधारपर आदर्शवाद अपने चिन्तनमें अग्रसर होता है। इस विचारधारामें विषयवस्त तथा भौतिक पदार्थोंकी अपेक्षा मूल सत्यको अधिक महत्ता प्राप्त होती है। आदर्शवादकी दृष्टि बौद्धिक है, किन्त वह जीवनके सुक्ष्मतर मृत्योंको अधिकतर महत्त्व देता है और इस दृष्टिसे वह आध्यात्मिक है। इसकी धारणा है कि आस-पासका जो दश्यमान जगत् है, वह किसी चेतन सत्ताकी सृष्टि है। मस्तिष्कके विचार और आदर्श आदर्शवादमें भौतिक पदार्थी और इन्द्रियोंसे अधिक उच्च स्थानके अधिकारी होते हैं। इस दृष्टिसे आदर्शवादका भौतिकवाद (दे०) अथवा यथार्थ-वाद (दे०)से मतभेद है। कभी-कभी आदर्शवाद और भौतिकवाद विरोधी विचारधाराओं के रूपमें भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

आदर्शवाद शब्द दर्शनशास्त्रमें प्रमुखता प्राप्त करता है। यह एक दार्शनिक विचारधाराके रूपमें पछवित-पृष्पित

हुआ है। अफलातुँ (plato)ने एक ऐसे संसारकी कल्पना की, जिसमें शाइवत और चिरन्तन विचारोंको ही सत्यके रूपमें ग्रहण किया गया। परिवर्तनशील जगत्से इन्हें अलग रखा गया। आदर्शवादका सबसे महान विचारक काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) है। उसकी धारणा है कि विचार केवल बुद्धिके क्रियाच्यापार है, किन्त पदार्थका सम्बन्ध मानवके इन्द्रिय अनुभवते है। वृद्धिके भी दो पक्ष है, शद्ध बुद्धि (pure reason) तथा व्यावहारिक बुद्धि (practical reason) । ज्ञाद बुद्ध दृश्य जगत्का उचित ज्ञान प्राप्त करती है, किन्त इससे आगे जाना उसके लिए सहज नहीं। इसी कारण काण्ट दृश्य जगत्के मूल (thing in itself)को भी स्वीकार करता है। उसका कथन है कि यह अगम्य (unknowable) है। इसका बोध केवल व्यावहारिक बुद्धिसे ही सम्भव है, जिसका दूसरा रूप इच्छा शक्ति है। काण्टका आदर्शवाद critical अथवा transcendental कहलाता है। हेगेल (१७७०-१८३१ ई०) इस जड़-चेनन सृष्टिके मूलको विश्वातमा (universal spirit or reason) के रूपमें यहण करता है। बुद्धिको सर्वज्ञ मानता है। उसका कथन है कि विश्वारमाके विकासकी प्रतिक्रिया द्वन्द्वात्मक (dialectical) है। वाद (thesis), प्रतिवाद (antithesis) तथा संवाद (synthesis) भी वक्र रेखाओं में विकास होता है। हेगेल यद्यपि एक आदर्शवादी चिन्तक है, किन्तु उसकी द्वन्द्वात्मक विचार-धाराके सहारे चलकर मार्क्सने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन (dialectical materialism)का निर्माण विया। हेगेल-का दर्शन पर्ण आदर्शनाद (absolute idealism) है। इंग्लैण्डके जार्ज बर्कलेका आदर्शवाद (subjective idealism) कहलाता है। आदर्शवादके प्रमुख चिन्तकों में श्रीन (१८३६-१८८२ ई०), वर्नार्ड बोसाँके (१८४८-१९३२ ई०), बेडले (१८४६-१९२४ ई०) आदिके नाम गिनाये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शेलिंग, फिस्टे, कजिन, जे॰ रायस आदिके नाम भी लिये जा सकते हैं।

साहित्यमें आदर्श शब्दका प्रयोग दर्शन अथवा राज-नीतिकी भाँति किसी रूढिगत अर्थमें नहीं किया जाता। साहित्यका आदर्शवाद मानव-जीवनके आन्तरिक पक्षपर जोर देता है। जीवनके दो पक्ष हैं - आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्षमें मानसिक सुख, प्रसन्नता, परितोष, आनन्द भा जाते हैं। बाह्य पक्षमें ऐश्वर्य, वैभव तथा भौतिक उन्नति-का स्थान है। आदर्शवादी साहित्यकारका विश्वास है कि मन्ष्य जबतक आन्तरिक सख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्त-विक आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। मानवकी चेतना तबतक भटकती रहेगी, जबतक वह शाश्वत, चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवनकी आन्तरिक व्याख्या करता है। उसकी उच सम्भावनाओंके प्रकाशनमें तत्पर होता है। वह उन मानव-मूल्योंको ग्रहण करता है, जो कल्याणकारी है, शुभ है, सर्जनात्मक है। भारतीय साहित्यशास्त्रमें रसकी जो महत्ता है, वह जीवनके आन्तरिक परितीष अथवा आनन्दका ही दूसरा रूप है। इसी दृष्टिसे संस्कृतमें सुखान्त नाटकोंकी अधिक सृष्टि की गयी और महाकाव्यके नायकका 'धीरीदात्त' होना आवश्यक माना गया। आदर्श जीवन हिके कारण 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों में देवत्वकी दानवत्वपर विजय घोषित की गयी है। मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' यद्यपि साहित्यिक आदर्शवादकी अपेक्षा धार्मिक आदर्शवादका अपेक्षा धार्मिक अद्यारका है। अरस्त् अपने काव्यशास्त्रमें अष्ठ नाटकके लिए श्रेष्ठ गुणोसे समन्वित चित्रणकी चित्रणकी आवश्यकता स्वीकार की है। अपने अनुकृति-सिद्धान्तमे उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि तीन प्रकारकी अनुकृतियोमें, साधारणसे उच्च वस्तुकी अनुकृति श्रेष्ठ कलाको जन्म देती है और इसके लिए उसने होमरका हथान्त प्रस्तुत किया है।

आदर्शवादी साहित्यकार भाव और कलाकी महत्तर ऊँचाइयोपर जानेका प्रयास करता है। अन्तर्मुखी होनेके कारण कभी-कभी उसकी चेतना आध्यात्मिक, यहाँतक कि रहस्यवादी हो जाती है। यूरोपका मध्यकालीन रहस्यवादी साहित्य इसका प्रमाण है। चिरन्तन मानव-मूल्योंको महत्त्व देनेके कारण लगभग प्रत्येक महान् साहित्यकार किसी सीमातक आदर्शवादी होता है, क्योंकि महान् साहित्य-सर्जनके लिए शाश्वत मानवमूल्योंके ग्रहणके साथ मानवकी उच्चतम सम्भावनाओंका प्रकाशन आवश्यक है। डब्ल्यू वेबने अपनी पुस्तक 'ए डिसकोर्स ऑव इंगलिश पोयट्री'में लिखा है-"आदर्श काव्यमें आनन्द और उपदेशका एक सुन्दर समन्वय होता है'। भावना और शिल्पके आधारपर साहित्यमें आदर्शवादके दो पक्ष हो सकते हैं। भावक्षेत्रका आदर्शवाद साहित्यकारको जीवनकी महत्, विरन्तन सम्भावनाओंकी ओर ले जाता है। इस दृष्टिसे वाल्मीकि, शेक्सपियर, दाँते, गेटे, टालस्टाय आदि आदर्शवादी लेखक हैं। भावक्षेत्रमें आदर्शवादके विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। दाँते आदर्शवादी होते हुए भी ईसाई धर्मके उस आदर्शवाद-का समर्थक नहीं है, जो मध्यकालीन युगमें प्रचलित था और जिसे मिल्टनके 'पैराडाइज लॉस्ट'में देखा जा सकता है। यूरोपके अधिकांश स्वच्छन्दतावादी (romantic) लेखक आदर्शवादी ही कहे जायँगे, क्योंकि वे अपनी करपनाके सहारे किसी आदर्श जगत अथवा स्वप्नलोककी खोज करते दिखाई देते हैं। जे० ब्रानोविस्कीने अपनी पुस्तक 'द पोएट्स डिफोन्स'में रोमाण्टिक कवियोंके आदर्श-बादी दृष्टिकोणपर विचार किया है। शैलीसम्बन्धी आदर्श-वादको अभिन्यंजनाका आदर्श कहा जा सकता है। इसे क्वासिक्सकी परम्पराके नामसे सम्बोधित किया जाता है।

साहित्यमें आदर्शनादके निरोधमें यथार्थनादी (दे॰ 'यथार्थनाद') जीननदृष्टि है, जो जीननके भौतिक मूल्योंको प्रमुखता देती हैं। वैज्ञानिक सभ्यताके निकासके साथ-साथ यथार्थनादी प्रवृत्तियोंका निकास होता गया। किसी सीमातक यह आदर्शनादकी उस दृष्टिके प्रतिक्रियास्तरूप है, जिसमें अतिशय कल्पनाको प्राधान्य प्राप्त होता है। इस प्रकारका साहित्य नायनी हो जाता है। यूरोपमें पर्याप्त कालतक 'कला कलाके लिए' और 'कला जीननके लिए'का संघर्ष चलता रहा है। यथार्थनादी साहित्य नस्तुजगत्को नग्न रूपमें प्रस्तुत करनेका पक्षपाती है। उसका वर्ण्य विषय है धरती, जो कुछ भी नह है। आदर्शनादीका नर्ण्य विषय है

थरती, जो कुछ उसे होना चाहिये। साहित्यके इतिहाससे ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक युगमें गद्यका अधिक प्रचार हुआ। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यथार्थवादी प्रवृत्तियों-को पूर्ण अभिन्यक्ति गद्यके माध्यमसे को गयी है। इन्डात्मक भौतिकवादको लेकर चलनेवाला मार्क्सवादी साहित्य आदर्शवादी विचारधाराका विरोधी है, वह वर्ग-संवर्षके इतिहास-सम्बद्ध विकासक्रमके विवेचनका पक्षपाती है। मनोविज्ञान भी यथार्थवादको स्वीकार करता है। मानव-मनका विश्लेषण यथावत् कर देना वह उचित समझता है। अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति-मानसकी अन्तर्मुखी यथार्थ प्रवृत्तियोंको प्रकाशमें लाता है। नन्ददुलारे वाजपेयीने अपने लेख 'आदर्श और यथार्थ' ('आधुनिक साहित्य', : पृष्ठ ३९३)में आदर्शवादी लेखकोंको शैली कल्पना-प्रधान और मायुकतापूर्ण स्वीकार को है। यथार्थवादी शैली कल्पना-प्रधान और मायुकतापूर्ण स्वीकार को है। यथार्थवादी शैली मनोरंजक, विनोदात्मक एवं तार्किक होती है।

हिन्दी साहित्यका अधिकांश आरम्भिक खरूप आदर्श-वादी है, क्योंकि वह परम्पराविमुक्त नहीं है। वीरगाथा-कालमें जो साहित्य-सृष्टि हुई, उसमें यथार्थका अंश है, क्योंकि वह स्तृति और अभ्यर्थनाकी भावनासे प्रेरित है। भक्तिकालका अधिकांश कान्य आदर्शनादी ही कहा जायगा, क्योंकि उसमें आध्यारिमकताका पुट है। तुलसीका आदर्श-वाद मर्यादासमन्वित आदर्शवाद है। उसमें एक सहज समर्पणका भाव है। सरदासका आदर्शवाद अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द प्रकृतिका है। कबीरका साहित्य यद्यपि यथार्थसे अनुप्राणित है, फिर भी उसकी दृष्टि आदर्शवादी ही है। रीतिकालमें आकर आदर्शवादका खरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है। सामन्तवादी प्रवृत्तियोंसे प्रभावित होनेके कारण उसमें आदर्शवादका पोषण न हो सका। वे हासीनमुख प्रवृत्तियाँ है, जिन्हें यथार्थवादी श्रेणीमें भी रखना उचित नहीं। वास्तवमें साहित्यमें यथार्थवादका आरम्भिक स्वरूप भारतेन्द्र-युगके गद्यमें देखा जा सकता है, जिसका स्पष्ट स्वरूप उत्तर-छायावादकालमें प्रगतिवादी रचनाकारोंमें मिलता है। नगेन्द्रने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ भें आदर्शवादी विचारधाराके अन्तर्गत छायाबाद तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताको रखा है। गान्धीवादके दार्शनिक-नैतिक पक्षको अभिव्यक्ति देने-वाला सियारामशरण ग्रप्तका साहित्य भी इसीके अन्तर्गत है। यथार्थनादी अथवा भौतिकवादी चिन्ताधाराके अन्तर्गत है-प्रगतिवाद और प्रयोगवाद।

छायावादकी जीवनदृष्टि आदर्शवादिनी है। उसमें अध्यात्मकी अपेक्षा सौन्दर्य, दर्शन, राष्ट्रीयता आदिके तत्त्व अधिक मुखर है। जयशंकर 'प्रसाद'में छायावादकी आदर्श मावनाका चरमोत्कर्ष है। उनका काव्य इसी कारण करपनाको अधिक अंगीकार करता है। सुभिन्नानन्दन पन्तमें आगे चलकर यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका प्रवेश हुआ ('युगवाणी' और 'ग्राम्या')। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'में यथार्थवादके स्वर है ('वह तोड़ती पत्थर आता')। प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें यथार्थका चित्रण है, किन्तु उनकी जीवनदृष्टिके कारण उन्हें आदर्शवादी कहना अधिक संगत होगा।

समीक्षाके क्षेत्रमें रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्यकी आदर्शवादी प्रवृत्तिपर जोर देते है। — प्रे॰ शं॰ आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) — हिन्दीमें आदर्शवाद अंग्रेजी भाषाके शब्द 'आइडिअलिज्म'के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्दका प्रयोग दो अथॉमे किया जाता है—एक तो नैतिक आदर्शवादके लिए और दूसरे एक दार्शनिक दृष्टिकोण-विशेषके निमित्त । आदर्शवाद शब्द इनमेंसे केवल पहले अर्थको न्यक्त करनेके लिए उपयुक्त है। दूसरे अर्थके लिए अब प्रत्ययवाद तथा बौद्धदर्शनके प्राचीन शब्द विज्ञानवाद (जिसका प्रचिलत विज्ञान—साइंस—में कोई सम्बन्ध नहीं हैं)का प्रयोग हिन्दीमें होने लगा है।

सामान्यतया आदर्शवाद और आदर्शवादी शब्दोंका उपयोग उनकी दार्शनिक (प्रत्ययवादी-विज्ञानवादी) अभि-व्यंजनासे निशान्त भिन्न अर्थमे होता है। सामान्य शब्द-प्रयोगके अनुसार आदर्शवादी वह है, जो उच्च नैतिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानों-आदर्शोंको स्वीकार करके अपने तथा समाजके जीवनको उनके अनुसार ढालने-का प्रयास करे। वह व्यक्ति भी आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्गविशेषकी प्रस्तुत दशासे असन्तष्ट होकर उसके लिए किसी नये आदर्शकी करपना करता है। पृथ्वीपर स्वर्ग, ईश्वरका राज्य, सत्युग, रामराज्य, मनुष्यकी तथाकथित आदिम पूर्णावस्था, शोषण-रहित समाज आदिको स्थापित करना चाहता है। कोरा आदर्शवाद या आदर्शवादीके रूपमें निन्दात्मक अर्थमे इन शब्दोंका प्रयोग उस समय किया जाता है, जब आदर्श एकदम असम्भव होता है या स्वयं प्रस्तावकके जीवनमे उसका स्पर्श भी नहीं मिलता।

नैतिक आदर्शनादने मनुष्यके जीवनपर न्यापक प्रभाव डाला है। वस्तुतः वह किसी भी संस्कृतिकी आत्मा है। मनुष्य अपने प्राणमय कोषकी एषणाओ और प्रेरणाओं-मान्नसे सन्तुष्ट नहीं रह पाता। न्यक्ति और समाजको किसी बृहत्तर आदर्शकी ओर ले जानेकी प्रवृत्ति भी मनुष्यमे नैस-िंगक-सी है। 'वाल्मीकि-रामायण', 'महाभारत', 'रामचिति-मानस', फ्लेटोकी 'रिपब्लिक', 'बाइबिल' जैसी महान् कृतियाँ एक उदात्त नैतिक आदर्शनादकी स्थापना करती है। आधुनिक युगमें टॉल्सटॉय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्याँ रोला और गान्धीने मानवीय आत्मामे एक न्यापक नैतिक आदर्शनादका संस्कार इट करनेमे बड़ा योग दिया है। प्रेमचन्दकी गणना श्रेष्ठ आदर्शनादी लेखकोंमे होती है। 'प्रसाद'की 'कामायनी' भी इन्छा-ज्ञान-क्रियाके सन्यक् सामंजस्यके आदर्शका प्रतिपादन करती है।

दार्शनिक आदर्शनाद (प्रत्ययनाद, विज्ञाननाद) संसारकी प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं मेसे एक है। इस दर्शनके अनुसार जगत्का नास्तविक स्वरूप भौतिक नहीं, वरन् चिन्मय, विज्ञानमय, मनोमय है। भौतिक द्रव्य—मैटर—को प्रधानता न देकर यह सिद्धान्त चेतना अथवा मान-सिकताको प्रधानता और प्राथमिकता देता है। भौतिकनादी भौतिक द्रव्यको सत्य मानता है और मन अथवा चेतनाको उसका उपजात एवं अनुगामी। चेतनाको व्याख्या वह

भौतिक उपादानोंसे करता है। इसके ठीक विपरीत दार्श-निक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) मन अथवा चेतनाको परमसत्य एवं परमतत्त्व और भौतिक द्रव्योंको उससे उद्भूत मानता है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि जगत् एक विराट् जड यन्त्रमात्र है और उसकी परिपूर्ण व्याख्या भौतिक, यान्त्रिक और वैज्ञानिक पद्धतिसे की जा सकती है। वरन उसकी मान्यता यह है कि परमतत्त्व मन जैसा चेतन है। जगत्के विधानमे चेतना और बुद्धि अन्तर्भृत है। प्रकृतिकी स्वयं-पूर्णता एक भ्रम है। प्रकृति चैतन्यपर अवलम्बित है। जो जगत् संवेद-नोंके माध्यमसे इन्द्रियोके प्रत्यक्ष होता है, वह उसका सत्य स्वरूप नहीं है। उसका सचा स्वरूप और अर्थ इस गोचर प्रपचके पीछे छिपा है। जगत् अर्थपूर्ण और सोदेश्य है। ऐसा होनेके कारण प्रकृति तथा मनुष्यमें एक सामअस्य है। जो ब्रह्माण्डमें है, वही पिण्डमें है, मानव व्यष्टिमे है। जगत् या प्रकृति मनुष्यके लिए शत्रुका देश नहीं है, जिसपर अधिकार और विजय प्राप्त करना उसका एकमात्र पुरुषार्थं है। मनुष्यका मन मस्तिष्ककी प्रक्रिया-मात्र नहीं है। मनका अस्तित्व प्रथम है, मस्तिष्कीय प्रक्रिया उसकी अनुगामिनी है। अतः मनुष्य नैतिक और आत्मिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है। जगतके चिन्मय होनेके कारण उसमें कुछ भी अर्थहीन नहीं है। मानव प्राणी उसके अंग है, अतः वे भी अर्थहीन नहीं है। मानवीय मूल्य मनुष्यकी सीमाओंसे सापेक्ष्य और सीमित भले ही हो, वे निरपेक्ष परम मूल्योंके विरोधी और उनसे असम्बद्ध नहीं है। ईश्वर जगत्से भिन्न कही भी अन्यत्र नहीं रहता। वह जगत्का अन्तर्भृत जीवनीय तत्त्व है। वह परात्पर भी है, अन्तर्भृत भी है। प्रकृतिका, इतिहास और सामाजिक विधानकी प्रक्रियाओमे तथा सर्वोपरि मानव-हृदयमे, दर्शन मिलता है। मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षाओसे ईश्वरपर प्रकाश पड़ता है। समस्त प्रकृति ईश्वरसे अनुप्राणित है। प्राकृतिक और परा-प्राकृतिकका भेद असत्य है। अद्वेती आदर्शवादके अनुसार ईश्वर अनन्त और समस्त सत्ताका अधिष्ठान है। और मनुष्य एक जीवन्त सर्जनशील विश्वका निवासी है।

दार्शनिक आदर्शवादके कई रूप है, जैसे विषयिपरक, विषयपरक, व्यष्टिपरक और निरपेक्ष आदर्शवाद । इनके विस्तारमे जानेकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह दर्शन देश और काल, दोनो दृष्टियोंसे सर्वव्यापी रहा है और मानव-संस्कृति तथा मनीषाके निर्माणमें उसने महान् योग दिया है। इसको भारतकी राष्ट्रीय विचारधारा कह सकते है। वैदिक साहित्य, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, योगवासिष्ठ इसी सिद्धान्तसे ओतप्रोत है। इनपर आधारित वेदान्त और वेदान्तकी अहैत, विशिष्टाहत आदि सभी शाखाएँ तथा शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि उनके आचार्य, सभी दार्शनिक आदर्शवादी (प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी) हैं। बौद्धधर्मकी विज्ञानवादी शाखा और उसके आचार्य असंग तथा वसुवन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीतिं, शांतरिक्षत, कमल्शील जैसे भारत-वर्षके महान् दार्शनिक आदर्शवादी ही हैं। चीनमें ताओपर

आधारित लाओरजेका दर्शन भी आदर्शवादी है। पश्चिममे सकात, प्लेटी, अरस्तू, सन्त अगस्तीन, सन्त टामस ऐविवन्स, डेकार्टस, वर्कले, काण्ट, हीगेल, शॉपेनहार, शीन, बैडले, और रायस आदि प्रमुख आदर्शवादी दार्शनिक है। इटलीके क्रोशे और जेंताइलने नव्य-आदर्शवादके रूपमे इस विचारधाराका नृतन विकास किया है। ऐसी न्यापक विचारधाराका प्रभाव साहित्य और कलाके क्षेत्रोंमे भी पड़ना अनिवार्य था। ललित साहित्यमे अश्रघोपका 'तुद्ध-चरित' और 'सौन्दरानन्द', 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक, शंकरा-चार्य तथा अन्य आचार्यों एवं कवियों द्वारा रचित स्तोत्र तथा पद ऐसे ही उदाहरण है। भारतीय कलाओका मूल स्रोत आदर्शवाद ही है। पश्चिममें अठारहवी तथा उन्नी-सवी जाताब्दीके साहित्यमें हमे इसकी विशेष अभिव्यक्ति मिलती है। रोमांटिक आन्दोलनके प्रेरक तत्त्वोंमें आदर्श-वादी दर्शन भी एक था। वर्ड सवर्थ और शेलीकी कविताओ-में उसके मुन्दरनम उदाहरण मिलते हैं। अमेरिकामे एम-र्सनने साहित्यके क्षेत्रमे अपने विविध निबन्धोके द्वारा आदर्शवादका प्रतिपादन किया। हिन्दीमे पिछली पीढ़ीका छायावाद भी मूलतः आदर्शवादी है। —आ० रा० शा० आदर्शीकरण-यदि हम 'जो है' उसे वास्तविक कहे तो 'जो होना चाहिये' उसे आदर्श कह सकते हैं। मनुष्य वास्तविकसे सन्तृष्ट न होकर आदर्शकी ओर प्रवृत्त होता है और वास्तविकमें जिन दोषों और श्रुटियोको पाता है, उन्हें कल्पना द्वारा आदर्शमें दूर और पूरा कर देता है। मनुष्यका स्वभाव ही कल्पना-प्रस्त आदर्शमें रुचि लेनेका है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका नाम आदर्शिकरण है। एक पाश्चात्य सिद्धान्तके अनुसार कला और साहित्यके सर्जनका मुख्य ध्येय वास्तविकसे ऊपर उठकर कल्पनाके आलोकमें 'आदर्श' संसारका आनन्द लेना है।

अंग्रेजीमें आदशींकरणका दूसरा अर्थ भी है, जिसे मान-सीकरण कहा जा सकता है। कलाका उद्देश्य किसी वस्तुको उसके पार्थिव और स्थूल स्तरसे उठाकर मानसिक स्तरपर ले जाना है, क्योंकि वस्तुके मानसिक रूपकी चर्वणासे ही कलात्मक अनुभूति उत्पन्न होती है। —- ह० লা০ হা০ आदर्शीन्मुख यथार्थवाद - आदर्शवाद तथा यथार्थवाद-का समन्वय करनेवाली विचारधारा। इस प्रवृत्तिकी ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण संकेत प्रेमचन्द्रका है। उन्होंने कथा-साहित्यको यथार्थवादी रखते हुए भी आदशींनमुख बनानेको प्रेरणा दी और स्वतः अपने उपन्यासों तथा कहानियोंमें उस प्रवृत्तिको जीवन्त रूपमें अंकित किया। उनका उपन्यास 'प्रेमाश्रम' इसी प्रकारकी प्रसिद्ध कृति है। पर प्रेम-चन्द्रके बाद इस साहित्यिक विचार-धाराका आगे विकास प्रायः नहीं हुआ। इस चिन्तन-पद्धतिको कदा-चित् कलात्मक स्तरपर कृत्रिम समझकर छोड़ दिया गया । - रा० स्व० च० आदिकाल-हिन्दी साहित्यके प्रारम्मिक कालको हिन्दी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले विद्वानोंने 'वीरगाथाकाल' या 'चारणकाल' या 'सिद्ध-सामन्तकाल' कहा है। 'वीर-गाथाकाल' नाम रामचन्द्र शुक्कने दिया था। उन्होंने संवत् १०५० (सन् ९८३)से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०)तक

आदिकालकी सीमाएं मानी थीं। उन्होंने उस कालकी अपभ्रंश और 'देशभाषा-कान्य'की वारह पुस्तकें साहित्यक इतिहासमे विवेचनके योग्य समग्री थां—'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रामों', 'कार्तिकता', 'कार्तिपताका', 'खमान रामों', 'बीमलदेव रासी', 'पृथ्वीराज रासी', 'जयचन्द्र प्रकाश', 'जयमयंक ततन्तिन्द्रका', 'परमाल रासी' (शाल्हाका मूल रप), खसरोकी पहेलियां और विद्यापतिकी पदावली। उन्होंने कहा कि दन्हीं बारह पुस्तकोंकी दृष्टिसे आदि प्रान्तका लक्ष्य-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमेंसे अन्तिम दो तथा 'बीमलदेव रासो'को छोडकर शेप सब ग्रन्थ वीरगाशात्मक है। अनः 'आदिकाल'का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जा सकता है। अपभ्रंशकी अन्य सामग्रीका भी उनके समयमे पता चल चका था, किन्तु उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया, क्योंकि उनकी दृष्टिमें वे कृतियों वियेचन योग्य नहीं थी। उनके अनुसार या तो उनमंसे कुछ पीछेकी रचनाएं थी या कुछ 'नोटिसमात्र' थीं और कुछ जैन धर्मकी उपदेश-पुस्तकं था। किन्तु इधर जो तथ्य प्रकाशमें आये है, उनके आधारपर ऊपर लिखित बारह रचनाओं मेंने कुछ तो पाछेका सिद्ध हो चुका है, कुछ केवल नोटिसमात्र है और कुछके भूल रूपके विषयमें निरन्ययपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । 'रासी' नामक प्रत्थींके आधारपर वीरगाथाकालकी कटपनाकी गयी है, किन्त 'रासी' यन्थेंकी परम्परा, अपभ्रश गुजराती साहित्यमें मिलती हैं। इन रासो अन्थोंने बीर रसके स्थल बहुत ही कम है, श्रंगार, मक्तिके स्थल बहुत है। इन रासी प्रन्थोंकी दो परम्पराएँ रही है-एक साधित्यक पठित रूपकी और दसरी गेय रासोकी। परवर्ता अपभ्रंशमें लिखा सन्देश रासक' साहित्यक परम्पराकी कृति है और गुजरातीका 'भरतेश्वर वाह्रबलि रास' और 'बीसलदेव रास' सरल गेयपरम्पराकी रास कृतियाँ है। जो हो, रास यन्थोंके आधारपर इस कालका नाम वीरगाथाकाल रखना यक्ति-संगत नहीं है। यही बात 'चारणकाल' नामके सम्बन्धमें कही जा सकती है। राजस्थानमें चारण, भाटोंने कुछ काव्य-प्रनथ लिखे हैं, किन्तु वे इस कालकी सीमाओंसे बहुत पीछेके हैं और उस प्रकारकी रचनाएँ बहुत बादतक होती रहीं, अतः चारणकाल नामने इस कालको प्रवृत्तियोंका बोध नहीं होता ।

राहुल सांकृत्यायनने विषयवस्तुको दृष्टिमें रखकर इस कालके लिए 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम मुझाया है। इस कालमें जो साद्दित्य लिखा गया, उसमें बौद्ध नाथ-सिद्धों द्वारा लिखा हुआ सिद्दित्य भी मिलता है और इसी प्रकार सामन्तोंकी प्रशंसामें या उनके आश्रयमें लिखे हुये ग्रन्थ भी इस कालके मिलते हैं, किन्तु फिर भी सिद्ध-सामन्त-काल नाम भी पूरी तरहसे इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट नहीं करता।

साधारणतः सन् ईसवीको दसवींसे लेकर चौदहवीं शताब्दीतकके कालको हिन्दी साहित्यका 'आदिकाल' कहा जा सकता है। इधर कई विद्वानींने इस युगकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंको स्पष्ट करनेके बहुत ही सफल प्रयास किये हैं, अनेक नयी कृतियाँ सही रूपमें सम्पादित होकर सामने आयी है, जिनके आधारपर इस कालकी प्रवृत्तियोंपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। हजारीप्रसाद दिवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' नामक कृतिमें बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ढंगसे इस युगकी अनेक गुत्थियोंको सुलझाया है।

इस कालमें जो प्रवृत्तियाँ प्रचलित रही, उनका अच्छा परिचय अपभ्रंशकी रचनाओंमें मिलता है। मावधाराकी हिसे एक महत्त्वपूर्ण धाराका सिद्धोंकी रचनाओंमें दर्शन होता है। सरह पा, काण्ह पा आदि बौद्ध वज्रयानी सिद्धोंकी रचनाओंका भी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जा चुका है। सिद्धोंकी रचनाओंमें, दोहोंमें पिश्चमी अपभ्रंश और पदोंमें पूर्वी अपभ्रंशका रूप मिलता है। दोहोंमें वज्रयान या सिद्धोंके अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तींके गूढ तत्त्वोंके प्रतिपादनके अतिरिक्त सरल-साधारण उपदेश भी मिलते है। ये उपदेश सम्प्रदायसे बाहर सामान्य जनके लिए है। इसी प्रकारकी धारा जैन मुनियो—योगीन्द, मुनि रामसिंहके 'पाहुडदोहा' आदि कृतियोमें भी मिलती है और इस धाराका परिचय देनेवाले दोहे, छन्द-ग्रन्थों, अलंकार-ग्रन्थोमें विखरें मिल जाते है।

दोहा अपभ्रंश और आदिकालीन हिन्दीका बहुत ही प्रसिद्ध छन्द है। धर्म, उपदेश आदिके अतिरिक्त सुभाषित, शृंगार, चेतावनी आदि अन्य कई प्रकारके विषयोंके लिए दोहोंका प्रयोग अपभ्रंशमे हुआ है। हेमचन्द्रके व्याकरणमें, पुरातन प्रवन्धसंग्रहके प्रवन्धोंमें तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' जैसी कृतियोंमें उद्धृत दोहोंमें अनेक प्रकारके आव व्यक्त किये गये है। एक ओर विप्रलम्म शृङ्कारके ऊहात्मक और संवेदनात्मक चित्र इन दोहोंमें मिलते है तो दूसरी ओर निवेंद और वैराग्यकी भावनासे पूर्ण चित्र, जैसे 'प्रवन्ध-चिन्तामणि'के इस दोहोंमें—''एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भडिसिर खग्गु न भग्गु। तिक्खों तुरियं न माणियों, गौरी गली न लग्गु।।"—भी मिलते है।

मुक्तक पद्यकी धारासे भिन्न अपभंशकी कृतियोमें कथा-साहित्य मिलता है। ग्यारहवी, बारहवी और तेरहवी शितयों-के कई चरित-काव्य अपभंशमें मिलते है। इन कृतियोंमें किसी पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्तिका चरित्रवर्णन मिलता है और चरित्रकथनके लिए 'कडवक' शैलीका प्रयोग हुआ है। विद्यापतिकी 'कीर्तिलता' और चन्दका 'पृथ्वीराज रासो' इससे कुछ भिन्न, किन्तु बहुत कुछ चरितकाव्योके समान शैलीमें लिखी गयी कृतियाँ है। 'सुदंसण चरिउ' जैसी अपभंश-कृतियोंके समान इन रचनाओंमे भी विविध छन्दोंके सहारे ऐतिहासिक चरितनायकोको कथा कही गयी है। प्राचीन कथा-अन्थोके समान मंग-मंगी, शुक-शुकीके सवादोकी परम्परा इन अन्थोमें भी मिलती है।

इस कालकी एक अन्य साहित्यिक धारा रासक प्रन्थोंकी मिलती है। रासक या रासी प्रन्थोंके दो रूप इस कालमें प्राप्त होते है। एक 'संदेशरासक' जैसी रचनाओंका विविध छन्दोंवाला साहित्यिक रूप—इस प्रकारकी कृतियों पाठ करनेके लिए थी। दूसरा रूप लघु-रासो कृतियोंका मिलता है। इस प्रकारकी कृतियोंमें किसी व्यक्ति, तीर्थ या व्रतकी कथा मिलती है। ये कृतियों गाकर सुनायों जानेके लिए रची जाती रही होंगी। इस प्रकारकी कृतियोंमें प्रायः एक

ही छन्दका प्रयोग आदिसे अन्ततक मिलता है और कुछ कृतियों में इस प्रकारके स्पष्ट उल्लेख भी मिलते है कि कृतियाँ गाकर पाठ करनेके लिए रची गयी है। कही-कही शीर्षक रागोमे दिये हुए मिलते है। अपभ्रंशका 'उपदेश रसायन रास' तथा हिन्दीमें नरपित-नाल्हका 'बीसलदेव रास' इसी प्रकारके अन्य है। 'पृथ्वीराज रासो' दूसरे प्रकारकी कृति है, जो 'संदेशरासक' जैसी कृतियोकी परम्परामें आती है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि इस कालका परिचय देनेवाली कृतियोंमेसे सभी प्रायः हिन्दी प्रदेशके बाहर ही लिखी गयी मिलती है, और अपभंशकी कृतियाँ भी हिन्दी प्रदेशके बाहर ही प्राप्त हुई है। हिन्दी प्रदेशकी राजनीतिक स्थिति ऐसी रही कि यहाँ ग्रन्थ सुरक्षित नही रह सके। जो ग्रन्थ इधर-उधर पहुँच गये, वे ही बच सके। इस कालका परिचय देनेवाले प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—अपभंश कृतियोंमें बौद्ध गान और दोहा, जैन विचारकोंके दोहे, 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'प्रवन्थ चिन्ता-मणि', 'पुरातन प्रवन्थ संग्रह'में प्राप्त अपभंश पद्य, 'संदेश-रासक', विद्यापितकी 'कीतिलता', 'कीतिपताका', अलंकार-ग्रन्थों तथा हेमचन्द्रके व्याकरणमें प्राप्त होनेवाले अपभंश पद्य आदि अपभंश रचनाएँ तथा 'प्राकृतपैगल'के अपभंश पद्य ।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', गुजराती रासग्रन्थ, 'वीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो' आदि कृतियोंसे भी इस कालके स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। नाथ-सिद्धोकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण है।

कपर जिन कृतियोंका उल्लेख किया गया है, उनमेंसे 'उक्तिन्यत्तिप्रकरण' और मैथिल कृति 'वर्णरत्नाकर'को छोड़-कर रोष सभी पचबद्ध है। गद्य संस्कृत और प्राकृतमें तो मिलता है, अपभ्रंश या प्राचीन हिन्दीमें गद्य नहीं मिलता। सबसे प्रचलित और प्रसिद्ध अपभ्रंशका छन्द दोहा है, जिसका मुक्तक कान्यके रूपमें बहुत ही सफल प्रयोग इस कालमें हुआ है। चौपाई और दोहाका सम्मिलित रूप कथा कहनेके लिए हिन्दी चिरतकान्योका आदर्श रूप बन गया। इस परम्पराका स्त्रपात अपभ्रंश-किवयोने किया, बौद्ध सिद्धोंकी रचनाओंमें भी चौपाई दोहाका प्रयोग मिलता है। जैन चिरतकान्योंमें पद्धिया और घत्ताका प्रयोग मिलता है। हिन्दी कृतियोंमें घत्ताका स्थान दोहाने ले लिया, किन्तु शेष ढाँचेमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

'संदेश रासक'में अनेक छन्दोका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'प्राक्ततपैगल'मे छप्पय, रड्डा आदि अपभ्रंशके छन्दोंके लक्षणके साथ प्रसिद्ध अपभ्रंश-कृतियोसे उदाहरण भी दिये है। इन सब मात्रिक छन्दोंके प्रयोग इस कालकी हिन्दी कृतियोमें मिल जाते हैं।

भक्तिकाल तथा परवर्ती हिन्दी की रचनाओंमे जो रूप मिलता है, उस रूपका पूर्वरूप आदिकालमें मिलता है। और कृतियाँ मिलनेसे तथा उनके अध्ययनसे इस कालकी साहित्यिक प्रवृत्तियोका स्वरूप धीरे-धीरे अब स्पष्ट हो रहा है। दे० 'सिद्ध-साहित्य', 'नाथ-साहित्य', 'वीर-कान्य'। [सहायक प्रन्थ—हिन्दी साहित्यका आदि कालः हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथ सम्प्रदायः हजारीप्रसाद द्विवेदी: सिद्धसाहित्यः धर्मवीर भारती।] —रा० सिं० तो० आदिम वृत्तियाँ—दे० 'मूल प्रवृत्तियाँ'।

आद्यतन्त्य-'कौलिकार्चन दीपिका'में पाँच आद्यतत्त्वोंका उल्लेख हुआ है, जिसमें विजया (भाँग)को आयमय, अदरक-को आबश्रद्धि या माँस, जम्बीरको आध्मीन, धान्यज (धानको भूनकर तैयारकी गयी खील)को आद्यमुद्रा और साधककी विवाहिता पलीको आद्याशक्ति -रा० सिं० गया है। आधार--आधार सोलह हैं। गोरखनाथने इनकी जानकारी-को योगीके लिए अनिवार्य बताया है, हठयोगी मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड है वह सब थोड़े छोटे रूपमें पिण्डमेंभी है। इसी कारण वह पिण्डमें आकारा, पीठ, तीर्थ, जल, नदी, समद्र आदिकी कल्पना करता है। आधार भी पिण्डके अन्तर्गत ही करिपत किये गये हैं और पैरके अँगूठोंसे लेकर आँखोंतक शरीरके विभिन्न स्थानोंपर इनकी स्थिति वतायी गयी है। पहला आधार पादांग्रह कहा जाता है। हठ-योगियोंका विश्वास है कि इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करनेसे दृष्टि स्थिर होती है। दसरा आधार मुलाधार कहलाता है, जो अग्निको दीप्त करता है। तीसरे और चौथे आधार हैं, गुह्याधार तथा विन्दुचक्र; जिनके संकोच-विस्तारके अभ्यास द्वारा अपान वायुको वज्रगर्भ नाडीमें प्रविष्ट कराकर विन्दचक्रमें पहुँचाया जा सकता करनेसे वीर्य स्तम्भनकी शक्ति है। इस प्रकार बढ़ती है और बज़ोली (दे०)की साधनाके समय वीर्यको योनिमें स्खलितकर पनः खींचकर वजनाडी द्वारा विन्द स्थानमें पहुँचाया जा सकता है। पाँचवाँ नाड्याधार या उड्डीयानबन्धाधार है। पश्चिमतान आसन बाँधकर गुदाको संकचित करनेसे मल-मूत्र और कृमिका विनाश होता है। छठाँ नाभिमण्डलाधार है, जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे तथा ओंकारके जापसे नादकी उत्पत्ति होती है। हृदयाधार सातवाँ आधार है। इसमें प्राणवायुका रोध करनेसे हृत्कमल विकसित होता है। आठवाँ कंठाधार है। ठुड्डीको हृदयदेशपर दढ़ता-पूर्वक अवस्थित करके ध्यान करनेसे इड़ा और पिंगलामें प्रवाहित होनेवाला वायु स्थिर होता है। नवाँ आधार है कंठमूळमें स्थित क्षद्रघण्टिकाधार । गलेमें स्थित काकल या कौवेके नामसे जानी जानेवाली लिंगाकार दो लोरें ही क्षद्रघण्टिकाधार है, जहाँ जीमको उलटकर पहुँचानेसे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित चन्द्रमण्डलसे निरन्तर झरता रहनेवाला अमृतरस पीना सहज हो जाता है। दसवाँ ताल्वन्ताधार है, जिसमें जिह्नाको चालन एवं दोहन द्वारा लम्बी करके अगर प्रवेश कराया जाय तो खेचरी मुद्रा (दे० खेचरी)-की सिद्धि होती है। ग्यारहवाँ आधार रसाधार कहलाता है। यह जिह्नाके अधीमागमें स्थित होता है। गीर-क्षपद्धति' (पृ० १३)में दसवें एवं ग्यारहवें आधारोंका नाम क्रमशः 'जिह्वाम्लाधार' और 'जिह्वाका अधीमागाधार' बताया गया है। बारहबाँ अर्ध्वदन्तमूलाधार है, जिसपर जिहासको बलपूर्वक दबानेसे क्षणमात्रमें न्याधियाँ क्षीण हो

जाती है। तेरहवाँ नासिकाग्राधार है। इसपर दृष्टि बाँधकर देखनेसे मनमें स्थिरता आती है। चौदहवाँ नासामूलाधार है, जिसपर लगातार छः महीने तक दृष्टि स्थिर करनेसे ज्योति प्रत्यक्ष होती है। पन्द्रहवाँ भ्रमध्याधार बहलाता है। अगर आँखोंको ऊर्ध्व रखकर इसपर देखनेका अभ्यास किया जाय तो सामने उज्ज्वल किरणोंके दर्धन होते हैं। कहते हैं यही आधार मनको सर्याकाश (दे॰ आकाश)में लीन करनेवाला है। सौलहवाँ और अन्तिम आधार है नेत्राधार। अँगुलीसे आँखके अपांगों (कोणों)को ऊपरकी ओर चलानेसे ज्योति-पंजका दर्शन होता है। आधिकारिक वस्तु- इश्य काव्यमें वस्तुके दो भेद किये गये हैं-आधिकारिक और प्रासंगिक । आधिकारिक वस्तको मुख्य कथावस्त या मूल कथावस्त भी कहते हैं। 'आधि-कारिक' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए दशरूपककारने कहा है "अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभः। तन्निर्वृत्तम-भिन्यापि वृत्तस्यादाधिकारिकम् ॥" ('दश्रूपक', १:१२)-अर्थात्, फलपर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार व हलाता है और उस फलका भोक्ता अधिकारी कहलाता है। फल-भोक्तासे सम्बद्ध कथा 'आधिकारिक' कहलाती है। फलका भोक्ता, जो अधिकारी कहा गया है, वही नायक होता है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'का नायक स्कन्दगुप्त फल-भोक्ता है। इससे सम्बद्ध कथा मूल कथावस्त या आधि-कारिक कथावस्त है। यह कहा जा सकता है कि 'स्कन्द्रग्रप्त'की सभी कथाएँ नायकसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध हैं, फिर आधिकारिक कथावस्तकी संज्ञा किस कथाकी दी जायगी ? कुसुमपुरकी घटनाएँ जो स्कन्दग्रप्तके जीवनको सीधे प्रभावित करती है, मुख्य कथावस्तुके अन्तर्गत आयँगी। मालवकी कथा, जो आधिकारिक कथाकी आगे बढ़ाती है, प्रासंगिक कथावस्त है। इसी तरह 'जनमेजयका नागयज्ञ'में जनमेजयसे सम्बद्ध कथा आधिकारिक तथा नागोंसे सम्बद्ध कथा प्रासंगिक कथावस्त

आधुनिककाल-हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिक-काल प्रायः अंग्रेजी राज्यसे सम्बद्ध किया जाता है। १७०७ ई०में अन्तिम मुगल सम्राट औरंगजेबकी मृत्यके पश्चात भारतीय राजनीतिक परिस्थितिक पतनोनमख हो जानेक कारण अंग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई और १७५७ ई०के बाद निश्चित रूपसे उसका प्रसार होता गया। जिस समय भारतवर्षमें अंग्रेजी राज्यकी स्थापना हुई, उस समय परम्परा-गत मख्य साहित्यिक सम्पत्ति ब्रजभाषा-कविता-विशेषतः रीति और शृंगारी कविता ही थी। कविगण परिपाटीविहित और रूढ़ियस्त राधा-कृष्णकी लीलाओं और नायक-नायिकाओंके कल्पित ऐश्वर्य और विलासमें इबे हुए थे। इन भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए कवियोंके पास उपयक्त साधन थे। कविताके आदशों में भी अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। किन्तु अंग्रेज अपने साथ उपयोगी ज्ञान-विज्ञान और एक नवीन शासन-पद्धति लाये, जिसके लिए कविता उपयुक्त माध्यम नहीं थी। अस्तु, एक ओर प्राचीन बज-भाषा-कविताका प्रचार बने रहनेके साथ-साथ दूसरी ओर जीवनको नवीन परिस्थितियों और आवश्यकताओंके अन्नसार गद्यकी आवश्यकताका भी अनुभव हुआ। हिन्दीमें ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य और खडीबोली गद्यकी स्फूट और क्षींण धाराएँ प्रचलित अवस्य थी, किन्तु वे साहित्यका प्रधान अंग न बन पायी। अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके अन्तर्गत ऐतिहासिक कारणोंके फलस्वरूप और प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनकी सहायतासे खडीबोली गद्यकी परम्पराको पृष्टता प्राप्त होती गयी और थोडे ही दिनोमे वह हिन्दी साहित्यका प्रधान अंग बन गयी। वास्तवमें अंग्रेज जिस आधुनिकताको अपने साथ लाये, वह खडीबोली गचके माध्यम द्वारा ही अवनरित हुई। यह आधुनिकता कलकत्ता सिविलाइजेशन और फोर्ट विलियम कॉलेजमे साकार हो उठी। इसीलिए हिन्दी साहित्यमें आधुनिकता प्रवर्तक निश्चय ही गद्य-लेखक था। अतः आधुनिककालको गद्यकाल कहा जाय तो कोई हानि न होगी। अंग्रेजी राज्यके फलस्वरूप उत्पन्न नवीन शक्तियों और यूरोपसे आये विचारोंके प्रभावान्तर्गत कविताके क्षेत्रमें भी अभूतपूर्व परिवर्तन दुए-पहले बाह्य और फिर उसके आभ्यन्तर रूपमे।

आधुनिककालोन हिन्दी साहित्यको भलीभाँति हृदयंगम करनेके लिए उन नवीन परिस्थितियों, शक्तियो और भावो एवं विचारोंको समझना अत्यन्त आवश्यक है, जो उन्नीसवी और बीसवी शताब्दियोमे उत्पन्न हुए है। अंग्रेजी राज्यमें नवीन शिक्षाऔर वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रचारके फलस्वरूप देशमें क्रान्तिकारी, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप विविध प्रकारके आन्दोलनों-से जीवन स्पन्दित हो उठा। भारतवासी अपना अलसाया हुआ जीवन छोडकर आगे बढे। मध्ययुगीन पतनके बाद इस नवजागरणने देशकी आत्म-गरिमाको फिरसे सजीव बना दिया। पश्चिमका आघात पाकर एक बार तो भारत-वासी अपनेको सम्हाल सकनेमें असमर्थ हुए, किन्तु शीघ ही उन्होने अपने पैर जमाये। परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिमका संघर्ष छिड गया, जो आधुनिक कालमे उन्नीसवी शताब्दीसे ही परिलक्षित होता है। सौभाग्यसे इस संघर्षकालमें भी भारतवासियोंने अपना समन्वयात्मक हिष्टिकोण न छोडा । उन्होंने पश्चिमके ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ अपनी आध्यात्मिकताकी रक्षा करनेकी सतत एवं सफल चेष्टा की । आधुनिककालके गद्य और कान्य-साहित्य इसके साक्षी है। इसके अतिरिक्त व्यापक राष्ट्रीयता भी आधुनिक हिन्दी साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता है।

अस्तु, उन्नीसवी शताब्दीमें नवयुगकी आवश्यकताके साथ हिन्दीके साहित्यिकोंमें विचार-स्वतन्त्रताका जन्म हुआ और भाषाके शब्दकोशमें वृद्धि हुई। गद्यका विविधतासम्पन्न विकास हुआ और कविने अपनी परिपादीविहित और रूढ़ि- यस्त कविना छोडकर दुनियाको नयी ऑखोसे देखा।

साहित्यक दृष्टिसे आधुनिककालकी रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है :—सर्वप्रथम दृम उसके अन्तर्गत जन्नीसवीं और वीसवी दोनों शताब्दियोंकी गणना करते हैं। उन्नीसवी शताब्दीको दो भागोंमे विभाजित किया जा सकता है—(१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्धम ब्रजभाषा-काव्यकी प्रधानता रही। गद्यके क्षेत्रमें खड़ीबोली-गद्यकी क्रमिक परम्पराकी स्थापना इसी समय होती है। लल्कुलाल,

सदल मिश्र और इंशाकी रचनाओंका आविर्भाव, ईसाई मिशनरियोंकी धार्मिक अन्थोंकी रचना समाचारपत्रोंका प्रकाशन और शिक्षासम्बन्धी इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, यात्रा-वर्णन, राजनीति, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, प्रकृतिविज्ञान आदि विविध विषयोकी पुस्तकोका निर्माण इस समयकी प्रमुख विशेषताएँ है। उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमे हो खडीबो ली-गद्यने अनेक अंग्रेजी शब्दोको आत्मसात् करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु खडीबोली-गद्यमें अभी ललित साहित्यकी रचना न हुई थी। यह कार्य उन्नीसवी शताब्दीके उत्तराईमे सम्पन्न हुआ। हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत यह भारतेन्द्रकालके (दे०) नामसे प्रसिद्ध है, जिसका समय स्थूलतः १८५० से १९०० ई०-तक माना जाता है। लिलत साहित्यके प्रणयनकी दृष्टिसे आधुनिकता सर्वप्रथम इसी कालमे दृष्टिगोचर होती है। इस कालमें गद्यके अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनी आदि साहित्य-रूपोका प्रणयन हुआ और समाचारपत्र-कलाकी तीव गतिसे उन्नति हुई। काव्य-क्षेत्रमे यद्यपि ब्रजभापा-काव्यको प्रधानता बनी हुई थी, किन्तु अब उसका एकाधिपत्य मिटता जा रहा था और खड़ीबोली उसका स्थान ग्रहण करने लगी थी, फिर भी १८८५ ई०मे भारतेन्द्रकी मृत्युतक खडीबोली-आन्दोलन अधिक जोर न पकड सका था। भारतेन्द्रकालमें जीवनकी नवोत्पन्न परिस्थितियोके फलस्वरूप उत्पन्न आन्दोलनोमें सुधार एवं प्रगतिकी प्रवल भावना थी और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रमे इण्डियन नेशनल कांग्रेस (१८८५ ई०)का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इन आन्दोलनोंका प्रभाव गद्य और ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली-काव्यपर दृष्टिगोचर होता है और साहित्यका जीवनके साथ सम्पर्क स्थापित होता है। १९०३ ई०मे महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती'का सम्पादन-भार ग्रहण किये जानेके समयसे प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८ ई०)के अन्ततक आधुनिककालको द्विवेदीयुग (दे०) माना जाता है। हिन्दी कहानी इसी युगकी देन है और विविध प्रकारकी गद्यशैलियोके जन्मके साथ-साथ द्विवेदी-युग खड़ीबोलीके परिष्करण और परिमार्जनका युग है। इस समय गद्य और काव्य दोनोकी भाषा खड़ीबोली बनी-केवल 'रत्नाकर' ही एक उच्च कोटिके ब्रजभाषा-कवि मिलते है।

प्रथम महायुद्धके बादसे लेकर १९३६ ई०के लगभगतक, जब कि सुमित्रानन्दन पन्तकृत 'युगान्त'का प्रकाशन
हुआ, आधुनिककालका छायावादी तथा रहस्यवादी युग
(दे०) है। इस युगकी विशेषता प्रधानतः कान्यमे दृष्टिगोचर
होती है। कवियोने एक नवीन मानव-दर्शन प्रहण किया
और एक पुष्ट कलात्मक आन्दोलनको जन्म दिया। दिवेदीयुग और छायावादी युगके गद्य और कान्य दोनों प्रकारक
साहित्योपर नवीन वैज्ञानिक युगकी छाप स्पष्ट है। प्रकृतिचित्रण भी अब कोरा उद्दीपनमात्र न रह गया था। दिवेदीयुगमे ही कवियोंने उसके चेतन रूपका चित्रण अपनी
अनुभृतियोंके रंगमें रंगकर प्रारम्भ कर दिया था। छायावादी एवं रहस्यवादी रचनाओंमें यह प्रवृत्ति और भी अधिक
प्रमुख हो गयी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संवर्षका अनुसरण

करनेवाली भाव-धारा भी निरन्तर प्रवाहित होती रहीं। प्राचीन मूल्योंका पुनर्मूल्यांकन होने लगा और महाकाल्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य आदि काव्य-रूपोंका प्रचार हुआ। गण-साहित्यमें भी, विशेषतः उपन्यारा और कहानीमें जीवनकी अनेक जिंदल एवं दुरूह समस्याओं समाधानका प्रयत्न किया गया और किया जा रहा है। एकांकी नाटक छायावादी युगकी अपनी विशेषता है। १९३६ ई०के लगभगसे हिन्दी साहित्यमें मावर्सवादी विचारधारासे प्रभावित प्रवृत्तियोंका जन्म हुआ, जिसे प्रगतिवाद (दे०)के नामसे अभिहित किया जाता है। दितीय महायुद्धकाल (१९३९-१९४५ ई०)की परिस्थितियोंने आधुनिक हिन्दी साहित्यमें प्रयोगवाद (दे०)को जन्म दिया। इन प्रधान विशेषताओंके अतिरिक्त आदर्श और यथार्थ भी कवियों और लेखकोंकी विचारधाराकों प्रेरित करते रहे है।

आधुनिक काळमें हिन्दी साहित्य पाश्चात्य विचारधारासे अत्यधिक प्रभावित हुआ है और अनेक परम्परागत मान्यताओं और जीवनके प्रति दृष्टिकोणमे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं और हो रहे है। इस काळकी कहानी इंशाकृत 'रानी केतकीकी कहानी'से ठेकर प्रेमचन्दकृत 'गोदान'तक नित्य नवीन रूप धारण करती रही है। इस कहानीकी मूळ संवेदना अधिकाधिक मानवसाधेक्ष होती गथी है। पिछळे पचास वधोंमें यह कहानी संसारके विविध साहित्यक एवं कळात्मक आन्दोळनोंको ठेकर चळी है।

सिहायक ग्रन्थ-आधुनिक हिन्दी साहित्यः लक्ष्मी-सागर वाष्णेय; आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास: श्रीकृष्णलालः; हिन्दी साहित्यः भोलानाथ।] —ल०सा०वा० **आधुनिकता**-सामान्य प्रयोगमें 'आधुनिक' शब्दको बहुत दूर तक समय-सापेक्ष मान लिया जाता है। जैसे इतिहास-का विभाजन प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक कालोंमें करते समय। परन्तु यह 'आधुनिक' शब्दका सुविधा-निष्पन्न और लचीला अर्थ है, जिसके अनुसार हर अगला काल अपने पूर्ववत्तींकी अपेक्षा आधुनिक या अधिक आधुनिक होता है। पर अपने विशिष्ट रूपमें आधुनिकका अर्थ इससे भिन्न है। आधुनिकताकी पहली और अनिवार्य शर्त खचेत-नता है। इसके लिए साक्ष्य कई क्षेत्रोंसे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्वयं इतिहासको यदि लिया जाय तो काल-विभाजनकी तुलनात्मक विवेचनासे स्पष्ट हो सकेगा कि इतिहासके काल, समयकी अवधिकी दृष्टिसे, धीरे-धीरे छोटे होते जा रहे हैं। युग प्रवृत्तियोंका इतना शीघ्र परिवर्तन और उसका इतना शीव्र अनुभावन गहरी स्वचेतनता द्वारा ही सम्भव है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें प्रायः चार सौ वर्षींका मध्यकाल केवल दो स्पष्ट युगोंमें विभक्त है---मक्ति-काल और रीतिकाल। दूरवर्ती स्थितियोंको बहुत बारीकी से नहीं देखा जा सकता, इस बातको मानते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि मध्यकालके साहित्यिक युगोंकी प्रवृत्तियाँ निश्चय ही कई ज्ञाताब्दियों तक प्रायः यथावत चलती थीं, क्योंकि साहित्यका इतिहास अन्ततः रचनाकारों-- की प्रवृत्तियोंके ही आधार पर लिया गया है। पर आधुनिक कालके प्रारम्भ होनेसे लेकर अब तक प्रायः २५-२५ वर्षीके कई युग समाप्त हो चुके हैं-भारतेन्द्र युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अब वर्तमान समयमें नयी कविता। यह भी निकटवर्ती कालका अनेक खण्डों में विभाजन नहीं है; अन्य क्षेत्रों में —सबसे अधिक तो शायद विश्वानमें —विकासकी गति पिछली तुल्नामें कहीं अधिक क्षिप्र रही है। जैसा संकेत किया गया, यह क्षिप्रता अना-यास नहीं है, वरन् इसके पीछे मानवीय व्यक्तित्वकी स्वचेतनता है।

आधिंक क्षेत्रोमें भी इस स्वचेतन वृत्तिके उदाहरण मिलते हैं। अपने 'ह्वाट इन हिस्टरी' शीर्षक व्याख्यान-क्रममें प्रसिद्ध इतिहासकार 'कार'ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि पिछले युगोके आधिंक विकासमे उन्मुक्त व्यापारका सिद्धान्त प्रचलित था, पर आधुनिक युगमें नियोजित अर्थ-व्यवस्थाको महत्त्व दिया जा रहा है। उन्मुक्त व्यापार-प्रणाली और नियोजित अर्थ-व्यवस्थाके वीच आधारमूत अन्तर स्वचेतन वृत्तिका ही है।

सामाजिक शास्त्रोंके बाहर विशानने खचेतनताकी स्थिति-को तो उतना प्रतिफल्ति नहीं किया, पर इतिहासके महत्त्व-को अवश्य उसने स्वीकार किया है, विशेषतः नवविकसित चिन्तनमें । सापेक्षतावादका सिद्धान्त जब दिकके अतिरिक्त कालको एक आयामके रूपमें स्वीकार करता है तो विज्ञान-में हमें मानवशास्त्रीय दृष्टि विकसित होती हुई दिखाई देती है। वैज्ञानिक द्वारा कालको अनिवार्य मान्यता प्रदान किया जाना इतिहासकी महत्ताको प्रकट करता है, क्योंकि मानवीय सन्दर्भोंमें कालको गति और व्यवस्थाको आंकना ही इतिहास है। विज्ञानकी दुनियामें कालको निरपेक्षके स्थान पर सापेक्ष मानने लगना विश्वसम्बन्धी हमारे सम्पूर्ण चिन्तनमें आधार-भूत परिवर्त्तन उपस्थित कर देता है। इसके अनुरूप अब इतिहासमें एक सुनिश्चित घटनाओंका क्रम न होकर मानवीय संचरणकी अनेक पूरक दृष्टियोंसे व्याख्या है। यह नयी दृष्टि इतिहासको नियमनवाद (determinism)से अलग करके उसे अनिवार्य रूपमें मानवीय संकल्पोंके साथ जोड़ती है, जहाँ व्यक्ति इतिहाससे प्रभावित होकर भी उससे ऊपर उठता है, उसे मोडता है।

अपनी इस स्वचेतन वृत्तिके कारण आधुनिकताकी प्रमुख चिन्तना वर्तमानके लिए है, क्योंकि 'स्व'का सबसे गहरा बोध और संपर्क वर्तमानमें होता है। वर्तमानकी चिन्तनाके माध्यमसे ही आधुनिक व्यक्ति भविष्यको रूपायित करना चाहता है। स्थितिका दूसरा छोर रोमांटिसिज्ममें भिलता है, जहाँ वर्तमानसे कवकर और शायद कभी उससे विद्रोह करके भी, अतीतमें डूबना श्रेयस्कर माना जाता है। अतीतके प्रति सम्मोहनका भाव रोमांटिसिज्मका सर्वाधिक प्रबल तत्व है। वर्तमान परिस्थितियोंसे असन्तोष दर्बलमना, परन्तु संवेदनशील व्यक्तियोंको बड़ी आसानीसे अतीतमें प्रक्षिप्त कर देता है, क्योंकि गत स्मृतियोंमें डूबना मानसिक सुखोपमोगका सबसे सरल और निश्चिन्त उपाय है, जहाँ कुछ अवांछित घटनेकी संभावना नहीं रहती। शृंगारके एक विशिष्ट पक्षके रूपमें यह मानसिक सुखोपभोग कविता-के मुख्य वर्ण्य विषयोंमें रहा है। गद्य, जो अपनी अपेक्षया प्रखरताके कारण रोमांटिक वृत्तिको आसानीसे प्रश्रय नहीं दे पाता, 'रोमांस' और ऐतिहासिक उपन्यासोंके अलग कान्य-रूप रखता है, जहाँ अतीतके प्रति इस सम्मोहन भावको विशेष रूपसे तुष्टि मिलती है। रोमांटिक तो भविष्य- का नियमन और नियोजन भी अतीतके आधार पर ही करना चाहता है, क्योंकि उसका सीधा तर्क है 'बाणको धनुष पर चढ़ाकर जितना ही पीछे खीचा जा सकेगा, उतना ही वह आगे जायगा'। दूसरी ओर वह वर्तमानके अप्रियसे बचनेके लिए भविष्यमें चला जाता है और वहाँसे इस वर्तमानको रंगीन अतीतके रूपमें देखना चाहता है। इस प्रकार रोमांटिसिज्ममें वर्तमानको चिन्तना सबसे कम है, जब कि आधुनिकता सबसे अधिक महत्त्व वर्तमानको देती है।

अपनी पुस्तक 'कल्चर एण्ड सोसायटी'में रोमांटिसिज्मसे सम्बद्ध अध्यायका प्रारम्भ करते हुए रेमण्ड विलियम्सने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और रोचक समस्या हमारे सम्मुख रखी है। उनका कहना है कि अंग्रेजी रोमांटिक कवियोंकी दुहरी वृत्तिका समाधान करना हमारे लिए एक जटिल साहित्यिक प्रश्न है। एक ओर इंग्लैण्डके प्रायः सभी रोमांटिक कवि समसामयिक राजनीति और समाजके अनेक पहलुओं मे सिक्रय रुचि रखते थे और दूसरी ओर उनकी कविता है, जिसमें पाठक कोमलता, प्रांजलता और दूसरा दुनियाई तत्व अधिक पाता है। विलियम्स द्वारा सकेतित इस विरोधाभासका प्रमुख कारण रोमांटिक व्यक्तिकी वर्तमानके प्रति अपनी दृष्टि है। वर्तमानसे भ्रुब्ध और असंतुष्ट वह अनिवार्य रूपसे रहता है, पर अतीतके सम्मोहनसे उबर न पानेके कारण वह उस वर्तमानसे सर्जनात्मक स्तरपर संघर्ष नहीं कर पाता, अपने व्यावहारिक जीवनमे यह संवर्ष भले ही कर ले। वह विद्रोही है, पर अतीतके भारसे आक्रांत है, विवश होकर नहीं, स्वयं अपने वरणसे। 'प्रसाद'-ने 'कामायनी'मे इस स्थितिको कामके एक शापके रूपमें स्वीकार किया है-"रोकर बीते सब वर्तमान क्षण, सुन्दर सपना हो अतीत"। यह रोमांटिक भाव-धाराका मानो मुख्य सूत्र है।

रोमांटिक और आधुनिक दृष्टिकोणोंका एक और अन्तर उनके अपने सामाजिक परिवेशोंके कारण है। रोमांटि-सिज्मका विकास विशेष रूपसे उदारतावादी युगमें हुआ, जब िक आधुनिकताका उदय प्रजातांत्रिक पद्धतियोंके अन्तर्गत होता है। उदारतावाद और रोमांटिसिज्ममें व्यक्तिकी स्वाधीनताका सवोंपरि महत्त्व है; प्रजातंत्र इस व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको मानते हुए भी सामाजिक दायित्वको एक स्वीकारात्मक दृष्टिके रूपमें ठेता है; स्वातन्त्र्य और दायित्व इस पद्धतिमें अविच्छित्र मृत्य है। फलतः रोमांटिक विद्रोही मृत्यहीनताकी स्थितिको अधिक वांछनीय मानता है; पर आधुनिकताका हामी स्जनात्मक मृत्योके संचरणमें विश्वास रखता है। वर्तमान : युगमें राष्ट्रीय संविधानोका निर्माण इन स्जनात्मक मृत्योंके आधारपर ही किया जाता है।

आधुनिक दृष्टि अनिवार्यतः बौद्धिक है, उसी प्रकार रोमांटिसिज्म मूल रूपसे बौद्धिकता विरोधी है। आधुनिकता सहज ज्ञानको भी बौद्धिक स्तरपर स्वीकार करती है, रोमांटिक व्यक्ति ज्ञानको भी भावावेगसे युक्त कर लेता है। अतीतमें वापस जानेका मार्ग सुविज्ञात है, फलतः रोमांटिक पद्धित बौद्धिक दृष्टिकोणकी अपेक्षा नहीं रखती। दूसरी ओर अनागत भविष्यको रुपायित करनेका संकल्प सूक्ष्मतम बौद्धिक प्रक्रियाओंसे ही पूरा हो सकता है। यह एक संकेत है कि बाल साहित्यमें पिछले युद्धका रंग-विरंगी परी-लोककी कहानियोंका स्थान वैज्ञानिक कथाएँ ओर कॉमिक्स (विशेषतः भविष्योन्मुख) क्रमशः लेते जा रहे है। संभवतः आधुनिक युगके शंकालु और बुद्धिवादी बच्चे ठेठ रोमांटिककालीन ग्रिम और एण्डरसनमें अपने आपको डुबा नहीं पाते। परियोंके इन अन्यतम कथाकारोंको वर्तमान युग प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि परी-लोककी स्थिति नैतिक अथवा अनैतिक न होकर पूर्व-नैतिक मानी गयी है। इस मूल्यहीनताको काव्य मानना रोमांटिक, अबौद्धिक दृष्ट है, पर मूल्योंका स्जन और अन्वेषण प्रमुखतः बौद्धिक व्यापार है।

किसी भी प्रकारका सूजनात्मक संचरण अद्यतन प्रणा-लियोंसे ही संभव हो सकता है। आधुनिक दृष्टि आधुनिकता-के बिना अकरप्य है। और यह आधुनिकता रोमांटिक भाव-धाराको ठीक-ठीक पर्यवसित किये बिना विकसित नहीं हो सकती। अपने वर्तमानके प्रति तीव्रतम सजगता आधुनिकता-का केन्द्रीय तत्त्व है। मूल्यके रूपमें विभावित आधुनिकता इतिहासकी प्रक्रियाका अद्यतन चरण है। सृष्टिके विकासकी आधारभूत स्थितियोंका यदि परीक्षण किया जाघ तो इस संचरणका क्रम-परिवर्तक > विकास > आधुनिकताके रूपमें दिखायी देगा। आरम्भिक स्थितिमें पदार्थ एक रूपसे दूसरे रूपमें परिवर्तित भर होते हैं। .अगले चरणमें यह निरपेक्ष परिवर्तन मुल्यपरक विकासके रूपमें परिणत हो जाता है। और अन्तमें आधुनिकताकी स्थितिमें यह परिवर्तन अधिकाधिक सजग और इसीलिए संकल्प-साध्य बन जाता है, ऐसा परिवर्तन जो घटित होता नहीं, सजग रूपसे घटित किया जाता है। वर्तमान युगमें स्वचेतनता, इस दृष्टिसे, मानवीय व्यक्तित्वकी चरम परिणति कही जा सकती है।

रोमांटिसिज्मका मानवीय सभ्यताके अनेक दौरोंमें रक्त-बीजकी भॉति फिर-फिरसे उभडनेका एक कारण यह हो सकता है कि अनेक संकल्पोंके होनेपर भी मानवीय प्रगति सही दिशामे हुई है, यह हम अभी तक नहीं मान पा रहे। बहुमुखी भौतिक विकासके बावजूद मानवीय मूल्योंके उत्तरोत्तर गिरते हुए स्तरोंका बोध मानों फिर-से हमें उस अतीतमें प्रक्षिप्त कर देता है, जो अब हमे गौरव-मय और वर्तमानकी तुलनामें श्रेष्ठतर लगने लगा है। इस दृष्टिसे अतीतका सही-सही उपयोग करनेका प्रश्न एक बड़ी चनौतीके 'रूपमें आता है। भारत जैसे पाँच सहस्र वर्ष पुराने अतीतवाले देशके लिए यह समस्या और उलझी हुई है। पर यह निश्चित है कि जब तक अतीत-के उपयोगकी समस्या नहीं सुलझती, तब तक राष्ट्रकी सर्जनात्मक प्रतिभाका ठीक-ठीक विकास नहीं हो सकेगा। अतीतके बोझेको कैसे और किस सीमा तक आगे चलनेके संबल रूपमें परिणत किया जाय, अतीतके उपयोगका यही अभिप्राय है।

आधुनिक दृष्टिकोण रखनेवाले रचनाकारके लिए कई

समस्याप सामने आनी है, जिनका निदान बहुत कुछ उसे स्वयं करना है। एक तनाव है रचनावे उदेदय और प्रक्रियाको बीच । आधुनिक कला अपने उदेश्यको, या कहें गन्तव्यको, पहलेसे निश्चित नहीं करना चाहती। उदेरय पहले ही जान लेनेपर प्रक्रियाका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। एक अमेरिकन समीक्षकने लिखा है कि न्यूयार्कके एक प्रख्यात और अग्रण चित्रकारने एक बार उससे कहा-"क (कोई विशिष्ट चित्रवार) आधुनिक नहीं है। वह रेखा-चित्रोंके आधारपर अपने चित्र बनाता है। वह रिनेसा यगका है"। रेखाचित्र (drawing)से चित्र बनानेकी अनाधुनिक इसीलिए कहा गया क्योंकि रेखाचित्र पूर्ण कर लेनेपर उसका गन्तव्य एक बार निश्चित हो जाता है। फिर द्वारा फलकपर उसकी अनुकृति या उसके आधारपर बना हुआ चित्र प्रामाणिक नहीं होगा। क्योकि कलात्मक प्रक्रिया एक बार जब सम्पूर्ण हो जाती है तो उसे दुहराया नहीं जा सकता। हों, रेखाचित्रोंको अपने आपमें पूर्ण कलाकृतिके रूपमें अवस्य बनाया जा सकता है।

जो भी हो। आधुनिक कलाकारको इस समस्यासे गहरे स्तरोंपर जुझना है। गन्तन्यके पूर्व बोधको स्वीकार करके उसे प्रक्रियाके प्रति सजग रहना है। कलात्मक सजनके लिए सहजता और स्यचेतनताका यह एक सम्भाव्य सन्धि-स्थल है। जिसके लिए रचनाकारोंमें अभी खोज जारी है। -रा० ख० च० आनन्दवाद-आनन्द परब्रह्मका ही वाचक है- "रसो वै सः। रस होवायं लब्ध्वानन्दी भवति। एष होवानन्दयित" (तै० उ०, २: ७:१) । वह रस ही है, इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है, यह रस सबको आनन्दित करता है। 'बृहदारण्यक उपनिषद'में कहा गया है कि "इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रयसे ही सब प्राणी जीवित रहते हैं"। स्वयं 'तैत्तिरीय उपनिषद'में ही जगत्के समस्त पदार्थीका कारण, आधार और लय आनन्द दिखलाया गया है।

आनन्द अभयत्व है। जबतक द्वेत रहता है, तबतक भय बना रहता है। अद्वेतकी अनुभूतिमें अभयकी प्राप्ति होती है।

आनन्द आत्माका ही लक्षण है। जब हम शोकाकुल या दुःखी रहते हैं तो हम स्वस्थ नहीं रहते। लोग हमारी इस अवस्थाको अस्वाभाविक समझकर इसका कारण पूछते हैं। इसके विपरीत जब हम आनन्दमें रहते हैं तो हम स्वस्थ रहते हैं। इस समय कोई हमारी अवस्थाके बारेमें प्रदन नहीं पूछता, क्योंकि वह समझता है कि आनन्द हमारी स्वाभाविक और वास्तविक अवस्था है। इससे सिद्ध है कि दुःख आत्माका उपलक्षण (आगन्तुक या परिवर्तनशील गुण) है और आनन्द उसका स्वाभाविक लक्षण है।

आनन्द नित्य है। इसका अभाव कभी नहीं होता। जायत, स्वप्न और सुषुप्ति, प्रत्येक अवस्थामें आनन्दका कुछ-न-कुछ अनुभव होता है। सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव रहता है, फिर भी आनन्दका अनुभव होता है, क्योंकि सोकर जागनेके बाद सबके अनुभवमे ऐसा ही आता है। जायत् और स्वप्नमं मृद्य तथा दुःग्व रहते हैं, यद्यपि उनके मूलमं आनन्द ही रहता है। सुपुप्तिमं सुख-दुःखका द्वन्द्र दव जाता है और आनन्दमात्रका अनुभव होता है। अतः आनन्द सदा वर्तमान है और वह अपरोक्ष अनुभव हैं, वैपयिक ज्ञान नहीं।

प्रायः लोग मृख और आनन्द दोनोंको अभिन्न समझने है। पर तात्त्विक तथा नैतिक दृष्टिसं दोनोमं अन्तर है। वेदान्ती सखको मानिश्य सुख और आनन्दको निरतिशय सख कहते हैं। सख परिवर्तनशील, अस्थिर और भंगर है, आनन्द नित्य तथा स्थिर है। सुख दःखकी अपेक्षा करता है। सुरा-दुःखका एक द्वन्द्र है। आनन्द इस द्वन्द्रसे मुक्त है। वह इन्द्रानुभृति न होकर अद्वैतानुभृति है। सुखको आनन्दलेश या आनन्दकी अल्प मात्रा कहा जाता है। इसकी तलनामे आनन्दको आनन्दघनकी संज्ञा दी जाती है। सुखका सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियोंसे है, आनन्दका आत्मासे । सख विषय या शेय है, आनन्द अविषय, विषयी या शाता। सुख लैक्सि है, आनन्द अलोक्सि या लोकोत्तर। सुख आनन्दपर निर्भर है, आनन्द स्वयं आत्मनिर्भर है। सख प्रेयको प्राप्ति है और आनन्द श्रेयको । अभ्यदय सखका क्षेत्र है और निःश्रेयस आनन्दका । सुखका सत् गुणसे विरोध हो सकता है, पर आनन्दका नहीं।

जिसे आनन्दका सचा आस्वादन होता है, उसको अन्य सब कुछ फीका लगता है। आनन्दका स्वाद गूँगेका गुड़ चखना है। आनन्द अनुभवैकगग्ग है।

आनन्द आत्माका स्वभाव है। आत्मकान न रहनेसे आनन्दका भी ज्ञान नहीं होता। आनन्द-लाभका वहीं साधन है, जो आत्मलाभका है। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्ति-मार्ग, प्रपत्तिमार्ग, पुष्टिमार्ग और योगमार्ग इसको प्राप्त करनेके साधन हैं। आनन्दकी उपलब्धि ही मोक्ष है।

काश्मीर शैनमत (दे०)में आनन्द-तत्त्वकी विशेष व्याख्या की गयी है। इसमे सत् और चित्कों गौण तथा आनन्दकी मूल पदार्थ माना गया है।

हिन्दीके सन्त-साहित्य, भक्ति-साहित्य और वर्तमान रहस्यवाद-साहित्यमें आनन्दवादके सिद्धान्तोंकी स्थापना हुई है। आनन्दको प्राप्त वरनेकी उत्बद्ध इच्छा ही यहाँ साहित्य-में पथ-प्रदर्शिका बनी है। भक्ति चाहे वह सराण ब्रह्मकी हो या निर्शुण ब्रह्मकी, आनन्दद।यिनी है। नैतिक दृष्टिसे सभी सन्तों, भक्तों और रहस्यवादियोंका सिद्धान्त आनन्दवाद ही हैं; सुखवाद या दुःखवाद नहीं। आनन्द-लाभ ही उन सबका लक्ष्य है। इसी कसौटीसे वे अच्छे-बुरेकी, सज्जन-दुर्जनको पहिचान करते हैं। तुलसीदासने 'स्वान्त: सुखाय' के रूपमें आनन्दको ही सर्वोच्च परमार्थ माना है। आधुनिक हिन्दी कवितामें 'कामायनी'के माध्यमसे 'प्रसाद'-ने भी आनन्दवादका अत्यन्त सशक्त समर्थन किया है। उनके मतसे आनन्द ही एकमात्र और परम मूल्य है। उसीको प्राप्त करनेके लिए मानव चिरकालसे प्रयास कर रहा है। आज भी उसका प्रयास जारी है। मानवकी समस्त क्रियाएँ इसी प्रयासके रूप हैं। साहित्य-सूजन भी इसी प्रयासका एक अंग है। नव सृजनकी प्रेरणा, क्रिया तथा छक्ष्य सभी कुछ आनन्द है। आनन्द ही स्ष्टिका

परम गुद्ध तत्त्व है या मानव आत्माका सार है। इसकी उपलब्धि सहज नहीं है। इसके लिए मनीषा, बुद्धि, श्रद्धा प्रेम, कर्म तथा सहकारिताकी आवश्यकता है। इन शक्तियों- का समुचित प्रयोग करके मानव आनन्दकी प्राप्त कर सकता है और उस समाजकी रचना भी कर सकता है, जहाँ सभीको उसकी तरह आनन्द मुलभ हो।

आनन्दबादका प्रचार आधुनिक भारतीय मनीषी श्री अरिवन्दकी रचनाओं द्वारा विशेष हुआ है। उनके प्रभावमें आनेके कारण हिन्दीमें कुछ किवयों पर भी आनन्दबादका प्रभाव पड़ा है। हिन्दी प्रदेशके कुछ आधुनिक सन्तोने आनन्दमार्गकी स्थापनाकी है। इन सबकी रचनाओं और क्रियाओं में योगका विशेष प्रभाव है। मध्ययुगीन आनन्दवादी साहित्यपर जितना अधिक प्रभाव भक्तिका है, उतना ही आधुनिक हिन्दी साहित्य पर योग या ध्यानयोगका प्रभाव है। इन दोनों प्रकारसे भिन्न 'प्रसाद'का आनन्दवाद है। वह न तो भक्तिवादी है और न योगवादी। वह वुद्धिवादी है।

भारतीय साहित्यशास्त्रपर भी आनन्दवादका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहा गया और रसकी कल्पना विशुद्ध ब्रह्मानन्दके रूपमें ही की गयी। सन्तों और भक्तोने तो भक्तिको ही मुख्य रस माना और अन्य सभी रसोंको भक्तिका ही अवान्तर रूप कहा। रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे इस समय इस मतके सबसे प्रवल समर्थक है। –सं०ला०पा० आनंदसम्मोहिता –दे० 'प्रीटा', नायिका।

आनुपंगिक वक्रता — दे० 'प्रबन्धवक्रता', चौथा नियामक । आंतिरक आलोचना-प्रणाली — साहित्य-शास्त्रको दो भागों में बॉटा गया है — फार्म और मैटर अथवा काव्य-दर्शन और काव्य-रीति । कुछ विद्वान् फार्मको महत्त्व देते है, कुछ मैटरको । फार्मको प्रधानता देनेवाले आलोचक इन्ट्यूटिव या रसवादी कहलायेंगे ।

प्रस्तुत आलोचना-पद्धतिका मुख्य लक्ष्य है क्वतिकी आत्माको पहचानना । इस पद्धतिका आलोचक शरीरको आत्माका बाह्य स्वरूप कहकर उपेक्षा करता है और कृतिकी गहराईमें पैठकर भाव-सत्योंके मोतीको चुनना चाहता है। छन्द, लय, सर्ग, परिच्छेद, अलंकार, शब्द-शक्ति, शैली, रीति आदि तो बाहरकी वस्तुय है, मूल वस्तु आत्मा, स्पिरिट अथवा भाव है। अतएव भावका सौन्दर्य ही सत्य है। शैली या रूप तो असत्य और क्षणिक है। साहित्यका सत्य तो आत्मानुभृति है। साहित्यकारकी वास्तविक उत्स-भूमि वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें कल्पनाके अविरल प्रवाहसे गहन-संशिलष्ट निविड भावोंकी प्रधानता होती है। इसी सिद्धान्तका समर्थन करनेवाली अलोचना-पद्धति आन्तरिक आलोचना कहलाती है।

सचमुच यह एंक जटिल प्रश्न है कि कार्य और कारणमें, बीज और फलमें, शरीर और आत्मामें किसको प्रधान माना जाय ? फिर भी आन्तरिक सत्यको ही अबतक महत्त्व मिलता आया है। प्लेटो, अरस्तू अथवा यूनानी साहित्यिक तो एक स्वरसे भावको महत्त्व देते आये है। वैसे इनके सिद्धान्तोंकी मूल स्पिरिटकी एपेक्षा हुई और बादके आलो- चकोने इनके बजाये हुए आदरोंके स्थूल रूपको ही प्रधानता दी। परन्तु किसी भी सिद्धान्तमें अन्तरकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, चाहे वह अभिन्यंजनावाद हो, सौन्दर्यवाद हो अथवा अस्तित्ववाद या अतिवस्तुवाद हो। इस प्रकार एलेटोसे लेकर टी- एस- इलियटतक, सबने एक स्वरसे अन्तरके महत्त्वको कबूल किया है। यह बात दूसरी है कि कुछने बाह्यको ही अन्तरका प्रतिरूप माना है—जैसे, अभिन्यंजनावादी। इसी तरह कुछने अन्तरके महत्त्वको प्रतिष्ठित करते हुए नीतिको अधिक महत्त्व दिया तो किसीने वासनाको और किसीने क्षुथाको। इस सन्दर्भमे टाल्स्टाय, फायड, मार्क्क नाम लिये जा सकते है। इनकी तुलनामें रिचर्ड्स, टी- एस- इलियट विश्रद्ध रसवादी आलोचक कहे जायंगे।

संस्कृतमें तो रस अर्थात् भावको इतना अधिक महत्त्व मिला कि 'रस'को ब्रह्मके रूपमें देखा गया। भरतमुनि, लोल्लट, इं.कुक, भट्टनायक आदिने रसको ही काव्यकी आत्माके रूपमें स्वीकार किया है। रस और कुछ नहीं, भावका आस्वादन है और यह आस्वादन अनिवार्यतः आनन्दमय है तथा यह आनन्द अखण्ड, चिन्मय, वेदान्तर-स्पर्शशृत्य है। इसी तरह ध्वनिवादियोने भी अन्तरको महत्त्व दिया। ये दोनो आत्मवादी है। किन्तु हमे यहाँ ध्यान रखना होगा कि तत्त्वरूपमें रस और रीति, आत्मा और श्रीर एक-दूसरेके विरोधो नहीं हो सकते, बिल्क ये एक-दूसरेके पूरक एवं अन्योन्याश्रित है।

हिन्दीकी प्रारम्भिक आलोचना निश्चय ही साहित्यके अन्तरसे दूर रही, परन्तु रामचन्द्र शुक्कसे जो इसकी परम्परा बनी, वह अवतक अञ्चण्य है। गो कि आपसके विरोध विद्यमान है किन्तु चाहे किसी वर्ग, सिद्धान्तके प्रतिपादन करनेवाले आलोचक हों, सबने अन्तरको पहचाननेका प्रयत्न किया है।

—रा० कृ० स०

आमख-दे॰ 'प्रस्तावना'।

आम्राय-तन्त्रोमें आम्राय छः बताये गये है। कहते है भगवान सदाशिवने अपने एक-एक मुखसे एक-एक आम्नाय-का उपदेश दिया था। शिवके पॉच मुख माने जाते है। छठाँ आम्नाय उनके ग्रप्त और नीचेकी ओर अभिमुख मुँह-से निकला बताया जाता है। अपने सद्योजात नामक पूर्वमुखसे उन्होने 'पूर्वामाय'का उपदेश दिया था, जिसमें भवनेश्वरी, त्रिपुरा, लिलता, पद्मा, शूलिनी आदि देवियों-की अर्चाविधि एवं मन्त्रोंका व्याख्यान किया गया है। शिवके पूर्वमुखको मुक्ताभ, त्रिनयन और दितीयाके चन्द्रसे शोभित बताया गया। दूसरा अधोर नामक, त्रिनयन एवं पीताभ मुखसे उपदिष्ट 'दक्षिणाम्नाय' है जिसमें प्रसाद सदाशिव, महाप्रसादमन्त्र, दक्षिणामूर्ति, वडुक, मंजुघोष भैरव, मृत संजीवनी विद्या तथा मृत्युंजयका व्याख्यान और उनकी अर्चाविधि एवं मन्त्रोंका विधान है। तत्पुरुषनामक नवजात मेघकी कान्तिवाले (स्याम) पश्चिम मुखसे गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव, नृसिंह, वामन, वाराह आदि विष्णुके अवतारो, चन्द्र सूर्य आदि यहों, गरुड, हनुमान् , दिकपाल आदि सुरों तथा उनके मन्त्रो और अर्चाविधयों-का व्याख्यान करनेवाला तीसरा पश्चिमाम्नाय है। वाम देव नामक उत्तर मुखसे 'उत्तराम्नाय' उपदिष्ट हुआ है।

इस मखम तीन नेत्र हैं और इसका रंग नीला है। इसमें दक्षिण कालिका, महाकाली, समझानकाली, भद्रकाली, उग्रतारा, हिन्नमस्ता, दुर्गा आदि देनियो, उनकी अर्चाविध एवं मन्त्रोंका व्याख्यान है। पांचवा ऊर्ध्वाक्षाय है, जो इाक्षवर्ण वाले अर्ध्वमुखमे निकला है। इसमे त्रिप्रसन्दर्श, इमज्ञानभरवी, भवनेजीभरवी, अन्नपूर्ण भरवी, पंचमी, षोडशी, मालिनी आदिका तथा उनके मन्त्री एवं अर्चा-प्रकारोंका उपदेश है। छठाँ मुख विभिन्न वर्णीमे दीत है और ग्रप्त भी है। इस छठेंसे-आबाम्राय या ईशानाम्राय निकला है। इनमें प्रथम चार आसाय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभीके लिए है और ऊर्ध्व तथा आद्याम्नाय मात्र मोक्षके लिए है ('समयाचार तन्त्र, अध्याय २)। सामान्यतया छठें आद्यासायकी पूजा नहीं की जाती। सम्मोहनतन्त्रमे इसे छोडकर होए पांच आसायोंकी ही न्याख्या करता है और इन्हे देशपर्यायकी संज्ञा देता है। छठें आम्नायकी पाताल आसाय और सम्भोग योग भी कहा गया है। 'निरुत्तर तन्त्र'में वताया गया है कि प्रथम दो आधायोंमें पश (दे० 'परा') साथकोंके लिए, तीसरा अर्थात पश्चिमास्राय पदा और बीर (दे॰ 'बीर') दोनोंके लिए, चौथा उत्तराम्नाय वीर और दिन्य (दे॰ 'दिन्य') दोनोंके लिए तथा पांचवां अर्धा-म्त्राय मात्र दिव्य साधकके लिए विहित है (विशेष विवरण-के लिए दे॰ 'शक्ति एण्ड शाक्त': सर जोन बटरफ, चौथा संस्करण, प्र० १४८-१५१)।

आयतन - 'दे० 'जगतानुकोध'।
आयाम - 'डाइमेन्द्रान' या 'स्मित' के अर्थमें प्रयुक्त । यह
एक दिग्गुण (space-quality) है । मूलतः चित्रकलामें
एक सपाट कागज या कपड़ेपर जो गोलाई, गहराई, दूरीका
आभास उत्पन्न किया जाता है, केवल रंगों के या रेखाओं के
और छाया-प्रकाद्यके संयोजनसे, उसीको दो आयामवाला
चित्र कहा जाता है । जब शिल्पमें अर्छ-उत्कीर्ण या सम्पूर्ण
लम्बाई-चौडाई और गहराईवाली प्रकृतिकी अनुकृतियाँ होने
लगीं, तो तीसरा आयाम भी प्रत्यक्ष हुआ । इस प्रकारसे
धीरे-धीरे फिल्मोंमें तीन-आयामताले चित्रपट बने, जिनमें
आपको दूरकी चीजें दूर और पासकी चीजें और भी पास
दिखाई देती हैं।

साहित्यकी अपेक्षामं जब प्राचीनकालमें महाकाव्योंके चित्र या अन्य वर्णन केवल. काले और सफेद रंगोंमें रँगे जाते थे—यानी नायक धीरोदात्त सर्वगुण-सम्पन्न होता, खलनायक सब दुर्गुणोंका पुतला—तब उसमें स्वामाविकताकी बड़ी कमी थी। वह वर्णन करपनाश्रित अधिक था, वास्तव-से मिलता हुआ या यथार्थवादी कम। आधुनिक कहानियोंमें भी जब निष्कर्षवाद, नैतिक उपदेश आदि प्रधान हो उठता है तो यही दोष उत्पन्न होता है, चित्रणमें स्वामाविकताकी कमी हो जाती है। 'आस्पेक्टस ऑव नावेल' (ई० एम० फार्स्टर)में चित्रोंके दो प्रकार बताये गये हैं—ईंटकी तरह साँचाबन्द और गोलाई लिये हुए। साँचोंमें बंधे हुए पद्म-बन्ध या कथानक टाइप-नुमा चित्र इसलिए हृदयसपशीं नहीं होते। वे.मनको छूते ही नहीं। नये साहित्यमें इसी कारणंसे नृतीय आयाम या गहराईकी ओर अधिक ध्यान दिया काता है।

उदाहरणार्थ, काव्यका पहाँकी जमानेमें भीथे अभिधा या गुणपर जोर था। बादमे लाधाणिकता बढी तो रीतिबद्ध होकर उक्तिचमन्कारतक पहुंची, परन्तु अब कविताकी समग्र प्रभावशीलता, एक प्रकारका 'whole' या सांगो-पांग एकात्म (कीह्लर द्वारा मनोविज्ञानमें प्रयुक्त झब्द) अनुभव है। कविताकी सृष्टि भी दुर्मा प्रकारके अविभाज्य अभेदात्मक प्रत्ययका ही परिपाक है। अनः नथी कविनाने तीसरा आयाम उत्पन्न किया, यह कहा जाता है नव इसका अर्थ इतना ही है कि छायावादके भाव-प्रवण एक आयाम और प्रगतिवादके निरे विचार-मय दूसरे आयामकी अपूर्ण-तामेंसे उत्पन्न तीसरे आयामकी आवश्यकता प्रयोगवादने पूरी की।

मनुष्य-सृष्टि न निरी अच्छी हो अच्छी है, न निरी बुरी ही बुरी—फासिडम-विरोधी या कम्युनिडम-विरोधी प्रचारा-तमक उपन्यासो और कथाओं में इसी प्रकारका-प्राचीन राम-रावण-द्वन्द्व चित्रित रहना है। मनुष्य कमओरियों और सम्भावनाओं, दुर्बल संकल्प और सबल कियाशीलताका एक मिश्रण ही नहीं, अपितु पुंजीभृत चिन्मय इवार्र है। इस कारणसे जो भी माहित्य मगोधा सांचोंके आधारपर चलती है, वह दो आयामों तक ही सीमित रहती है।

मनीवगाहन आसने मनुष्यके चेतन-जीवनके विषयमें एक तीसरा आयाम निर्मित किया। उसका प्रभाव हिन्दीमें प्रेमचन्द्रोत्तर आख्यायिका-साहित्यपर पड़ा। और जैनेन्द्र, 'अध्य' इत्यादिको हिन्दी कथागाहित्यको देन इसी नये आयामकी निर्मिति है।

आलोचनामे मनोविश्लेपण और समाज विज्ञानके नवीन-तम शोधोपर आश्रित दृष्टिने नया आयाम यह उत्पन्न किया है कि रसोंकी पुरानी चौख़ट या ऐतिहासिक दन्द्वात्मक भौतिकवादके साँचेके भीतर पैठकर, मानवी-मन द्वारा निर्मित सौन्दर्य-सृष्टि और सौन्दर्य-प्रतीतिके क्षेत्रमें, नवीन सम्भावनाएँ पैदा की । पहले हास्य करुणका विरोधी रस माना जाता था, अब हास्यास्पद किन्त फिर भी करुणा-जनक व्यक्ति, प्रसंग या दश्य-कहानियों में चित्रित हो जाते हैं। अतः अब इलियट आदि आलोचक यह मानने लगे हैं कि साहित्यकी श्रेष्ठताका आयाम केवल काल या दिक ही नहीं, परन्तु उसमें 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति'वाली अपूर्व वस्त निर्माणक्षमता है। श्रेष्ठ (क्रासिक) साहित्य न केवल इस मानेमें अमर रहता है कि उसका महत्त्व कैलेंडरकी तिथियों या मौसमके अनुसार बढ़ता-घटता नहीं, परन्त वह सार्वत्रिक, सार्वजनीन, सर्वस्पर्शी भी होता है। और यह सर्व केवल सतही अनेक देशोंमें फैलनेवाला नहीं, वह अतल-स्पर्शी भी होता है। यानी एक रचना किसी भी समयमें, किसी भी देशमें, किसी भी न्यक्तिको बार-बार पढ़ने लायक या देखने लायक या सुनने लायक जान पड़े-इसमें उसकी महत्ता या श्रेष्ठत्व निहित है। यह पौनःपुन्यसे क्षीण न होनेवाला सौन्दर्यानन्द नयी आलोचनाका नया मूल्य, मान-दण्ड या आयाम है। यहाँ आयाम इसी नये 'नाम'के अर्थमें प्रयुक्त है। आरंभ-रूपकेकी पाँच अवस्थाओं मेंसे पहली अवस्था।

**आरंभ**—रूपकेकी पाँच अवस्थाओंमेंसे पहली अवस्था। अस्यधिक फललाभकी उत्सुकता ही आरम्भ कहलाती है।

'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे' ('दशरूपक', १: १९ और २० के मध्यका इलोक)। नायकादिके मनमे फलप्राप्तिकी जो इच्छा होती है, वही आरम्भ कहलाती है। उत्सुकतामात्रका पाया जाना आरम्भ है। 'प्रसाद'के 'ध्रव-सामिनीं'मे आरम्भ नामकी कार्यावस्था वस्तुतः वहाँसे चलती है, जहाँ ध्रवस्वामिनीने अपना निश्रय प्रकट किया है, "पुरुषोने स्त्रियोंको अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उनपर अत्याचार करनेका अभ्यास वना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम (रामगुप्त) मेरी रक्षा नहीं कर सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते"। यहाँ से यह स्पष्ट बोध होने लगता है कि वह राष्ट्र और अपने पद-गौरवकी रक्षाके लिए पूर्णतया तत्पर तथा कृतनिश्चय हो गयी है। यही फलप्राप्तिका आरम्भ है। आरंभ (आधुनिक नाटक) - नाटकलेखककी समस्याओमें एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह होती है कि जनताका रस-भंग किये बिना किस प्रकार नाटकके घटना-कालसे. पूर्वकी सूचनाएँ दर्शकोंको दी जायँ, जिससे यह मालूम हो सके कि पदीं उठनेंसे पूर्व क्या वस्तुस्थिति थी। आरम्भमे नाटककारका उद्देश्य होता है प्रेक्षकोको वे सारी आवश्यक सूचनाएँ दे देना जो नाटकको समझनेके लिए आवश्यक हों। वास्तवमे इसके पहले कि दर्शक नाटकके विविध चरित्रोके भाग्यनिर्णयके विषयमें उत्सुक हों, उनका चरित्रोके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि वे कौन है, क्या है, नाटकीय कार्यके प्रारम्भसे पूर्व उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इत्यादि, इत्यादि । यूनानी नाट्यकार सुपरिचित कथाओं-को प्रारम्भमें रख देते थे अथवा 'प्रोलोग'में सारी कथाका सारांश दे देते थे, वैसे ही जैसे एलिजाबेथकालीन मूकनाट्य (इंब शो)में सारांश पृथक दे दिया जाता था। अधिकतर नाटकोमे प्रायः आवश्यक पूर्वसूचनाएँ अनायास दे दी जाती थी, जैसे 'ऐज यू लाइक इट'में 'नये दरबारमें क्या नया समाचार है ?' 'कुछ नहीं, बस वहीं पुराना समाचार है' के पश्चात् वह पुराना समाचार दर्शकोके लिए दुहराया गया है। 'दि टेम्पेस्ट'मे भी कैलिबन द्वारा किये हुए प्रक्तो एवं उनके उत्तरों द्वारा इस प्रकारकी सूचनाएँ दी गयी हैं। १९वीं शताब्दीमें विशेषतः नाटकोमें इस प्रकारके संवादोंमें प्रश्नकर्ता सदैव वही सूचनाएँ लेनेके लिए उत्सुक रहा करता था, जिनका जानना प्रेक्षकोंके लिए आवश्यक होता था। १९वीं शताब्दीके सुखान्त नाटकोंके आरम्भमें एक बटलर (प्रधान भृत्या) तथा मेड (भृत्या) अपने स्वामीको विषयमें बात-चीत करते हुए दिखाये जाते थे और उनके द्वारा दर्शकोंको आवश्यक सूचनाएँ दी जाती थीं । किन्त वास्तवमें नाटकके कार्य-व्यापारके बीच-बीचमें ही सूचनाएँ देते चलना अधिक कलापूर्ण होता है, जैसा कि हमे 'हैमलेट'में मिलता है। किन्तु उसी नाटकका वह अंश, जहाँ होरेशियो डेनमार्क और नावेंके राजनीतिक सम्बन्धोंका लम्बा विवरण देने लगता है, कलाहीन है और नाटकीय आरम्भकी उत्कृष्टताको नष्ट करनेवाला है। उत्कृष्ट आरम्भकी यही विशेषता होती है कि वह स्वाभाविक बातचीतके रूपमें होता है और प्रारम्भिक घटनासे इतना ही सम्बन्ध होता है कि दर्शकको यह अनुभव इसके सुन्दर उदाहरण हमें 'ओयेलो' तथा 'एलकेमिस्ट'के आरम्भमें मिलते है।

इब्सनने इस कलाका और भी विकास किया। उसके 'ए डाल्स हाउस' तथा 'गोस्टस' प्रभृति नाटकोंमें कार्य-व्यापारके साथ ही दर्शकोंको अपेक्षित स्चनाएँ भी ठीक समयपर मिलती चलती हैं।

'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त'के प्रथम अंकमें भी आरम्भका बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। विभिन्न पात्रोंके कुल-शिल्के साथ-साथ प्रधान मनोवृत्तियोंका परिचय तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त कार्य-व्यापारकी अधिकताके कारण आद्यन्त आकर्षण भी बना रहता है। यही नाटकके लक्ष्य फल और साध्य विषयका परिचय भी स्पष्ट प्राप्त हो जाता है।

— स्या० मो० श्री०
आरती – यह गीत-पद्धति कीर्तनके अन्तर्गत आती है।

आरता — यह गात-पद्धात काननक अन्तगत आता ह।
साकारोपासनाके कारण आरती अधिक लोकप्रिय हुई।
तुल्सीदास-लिखित आरती अधिक प्रसिद्ध है। सिख सम्प्रदायमें भी आरतीको अधिक महत्त्व मिला है, जिसमें
सुर्य और चन्द्रमाको दीपक बनाकर निरंकारकी आरती
सजायी गयो है।
——रा० खे० पा०

आरबंद – योगी जिस मेखला या डोरीमें कौपीनको फॅसाकर वॉधते हैं, उसे आरबन्द कहा जाता है। यह मृँजकी रस्सीसे बनाया जाता है।

आरभटी वृत्ति –दे॰ 'नाट्य वृत्ति', तीसरी। आराधनागीत –दे॰ 'स्तृति-गीत', 'स्तोत्र'। आरोचकी –दे॰ 'भावक'।

आरोपवाद-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', पहला सिद्धान्त ।

आर्टिकल-अंग्रेजीके इस शब्दका प्रयोग व्याकरणमे, सीमास्चक (लिमिटिंग) विशेषणों—ए, ऐन और दि—के लिए
किया जाता है। धर्मशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्रमें
भी आर्टिकल शब्दका प्रयोग होता है। सन्धियों, अनुवन्धपत्रों, कानून, संविधान आदिके प्रलेखोंके विभिन्न वर्गों,
खण्डोकों भी आर्टिकल कहा जाता है। किन्तु साहित्यिक
अर्थमे, आर्टिकल निवन्धके आकार-प्रकारकी लघु गद्य-रचना
है। इसी साहित्यिक अर्थके अनुसार, हिन्दीमें, किसी पत्रपत्रिकामें प्रकाशित निवन्ध-रचनाको अंग्रेजी पढे लोग,
सामान्यतः आर्टिकल कह देते है। पत्र-पत्रिकाओंमें स्फुट
अथवा धारावाहिक रूपसे प्रकाशित होनेवाली, कथासे इतर
गद्य-रचनाओंको मोटे तौरपर, आर्टिकलकी संद्या दी जाती
है। अन्यथा, इसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही है।
दे० 'लेख'!

आर्त भक्ति-दे॰ 'गौणी भक्ति'। आर्थी-दे॰ 'उपमा' तीसरा प्रकार।

आधीं व्यंजना—जहाँपर व्यंग्यार्थ किसी शब्दपर आधारित न हो, वरन् उस शब्दके अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो, वहाँ आर्था व्यंजना होती है। इसलिए इस व्यंजनामे शब्द बदल देनेपर भी व्यंजना सुरक्षित रहती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वाचक शब्दपर तथा लक्षणामूला शब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्दपर अवलिंबत रहती है, किन्तु आधीं व्यंजना केवल अर्थकी विशिष्टताके कारण सम्भव हुआ करती है। मम्मर्टने अर्थवैशिष्ट्यके दस प्रकार निर्हेशित किये है— वक्त, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि काव्यके अर्थ तीन होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। अतः प्रत्येक आर्थी व्यंजना या तो वाच्यार्थपर अवलिवत हो सकती है अथवा व्यंग्यार्थपर। वाच्यार्थपर आधारित आर्थी व्यंजनाको 'वाच्यसम्भवा', लक्ष्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'लक्ष्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'व्यंग्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थपर आधारित व्यंजनाको 'व्यंग्यसम्भवा' कहते हैं। इन तीन प्रकारकी आर्थी व्यंजनाके साथ उपर्युक्त (वक्तृ, बोधव्य आदि) दस मेदोंको मिला देनेसे आर्थी व्यंजनाके सब मिलाकर ३० अवान्तर भेद सम्भव हैं।

वक्तृवेशिष्ट्य-जहाँ वक्ताकी विशिष्टताके कारण व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है-वक्तासे अभिप्राय कविसे अथवा कवि-किएत पात्रसे है। रामको पति-रूपमें वरण किये हुए सीताजी पार्वतीजीसे प्रार्थना हैं-"पित देवता सुतीय महँ, मातृ प्रथम तव रेख। महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस सारदा सेस ॥" (मानस)। यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंजना होती है कि जब पार्वतीजी इतनी महान् हैं तो सीताजीकी मनस्कामना-को अवस्य ही पूरा कर देंगी। वाच्यार्थ द्वारा ही यह व्यंजना हो रही है, इसीसे इस व्यंजनाको वाच्यसम्भवा कह सकते है। वक्तृवैशिष्ट्यके इस दूसरे उदाहरणमें—"इहि उर माखन चोर गड़े। अब कैसे निकसत सुनि ऊथी, तिरछे हे जु अड़े" (मूरदास) - वक्ता गोपी है और वाच्यार्थ बाधित है. क्योंकि एक व्यक्तिका दूसरेके हृदयमें तिरछे होकर गड़ जाना सम्भव नहीं। लक्ष्यार्थ-रूपमें गोपी यह सूचित करती है कि उसके हृदयमें त्रिभंगी कृष्णकी रति इस प्रकार दृदता-से प्रतिष्ठित है कि कृष्णको भूल जाना सम्भव नहीं। इस लक्ष्यार्थ द्वारा गोपी यह ध्वनित करना चाहती है कि उद्धव-का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ है, क्योंकि प्रेम पूर्णतया परिपक हो चुका है। यह व्यंजना लक्ष्यार्थ द्वारा उदभुत है। अतः इसे लक्ष्यसम्भवा कह सकते हैं। इसी प्रकार एक व्यंग्यार्थ भी दूसरे व्यंग्यार्थकी व्यंजना करा सकता है। वक्तुबोधव्यके इस तीसरे उदाहरणमें व्यंग्यसम्भवा आर्थी व्यंजना है- "कंस बध्यो कुब्जाके काज । और नारि हरि-को न मिली कहुँ, कहाँ गँवाई लाज" (सूरदास)। यहाँ वक्ता गोपी है। उसके सीधे-सादे वचनोंके मुख्यार्थ द्वारा सपत्नीक ईर्ब्या व्यंग्य है। किन्तु यह व्यंग्य पुनः दूसरी व्यंजनाएँ भी कर रहा है-"हे कृष्ण, तुम्हें शीघ्र ही गोकल लौट आना चाहिये; हमसे प्रेम करनेमें इस प्रकारकी बद-नामी सम्भव न थी..." आदि और इन व्यंजनाओंकी भी मूलभूत व्यंजना वक्ताके हृदयमें तीव रतिभावकी अभिव्यक्ति तो कर ही रही है। वक्तृवैशिष्टचके उपर्युक्त तीन उदाहरणों-में समान ही बोधन्य, काकु आदिके वैशिष्टयमें वाच्य तथा व्यंग्य-सम्भवा व्यंजनाएँ हो सकती है।

बोधन्यवैशिष्ट्य — जहाँ सुननेवाले (बोधन्य)की विशेष-ताकें कारण न्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है। "सराहों तेरो नन्द् हियों। मोहन सो सुत छाँड़ि मधुपुरी, गोकुल आनि जियौं" (स्रदास)। इस उदाहरणमें श्रोता नन्दकी विशेषताके कारण-'सराहों' शब्दमें प्रयोजनवर्ता लक्षितलक्षणा है और वह नन्दकी भर्त्सना करता है। इस लक्ष्यार्थ द्वारा यशोदा व्यंजित करना चाहती है कि नन्दको कृष्णसे बिछुइनेकी अपेक्षा मधुरामें ही मर जाना चाहिये था, उनका कृष्ण-प्रेमका दावा तभी सचा और खरा उतर सकता था…। बोथव्य-वैशिष्ट्यके अतिरिक्त इस उदाहरणमें वक्तृवंशिष्ट्य भी है।

काकुवेशिष्ट्य—"आये जोग सिखावन पाँ है। परमारथां, पुरानिन लादे, ज्यों बनजारे ठाई।" (स्रदास)। इस उदाहरणमें काकु अथवा कण्ठध्वनिकी विशेषताके कारण वाच्यार्थसे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि उद्धव वस्तुतः निर्शुद्धि ही हैं, शास्त्रोंके बोझको ढोते रहे—ज्ञानार्जन अवश्य किया—किन्तु बेचारे संसारके वास्तविक रहस्यको न समझ सके…।

वाक्यवेशिष्ट्य—"गर कर उर्धुनन्दन, जिनि मन माँह। देख अपनि स्रति सियके छाँह।" (जानकी-मंगल)। यहाँ सीताजीकी सखी सीताजीके रूपकी अति-रायताकी व्यंजना कर रही है—"अपने रूपको आप (राम) सीताजीकी छायामें देख सकते हैं। सीताजीके रूपको तो चर्चा ही न कीजिये"। यहाँ ध्वनि वाक्यगत है।

वाच्यवेशिष्ट्य इस मेदमें वाच्यसे अभिप्राय वक्तव्यसे हैं — जो कुछ कहा जाय। अतः 'वाच्य' शब्दमें 'लक्ष्यार्थ' तथा 'व्यंग्यार्थ' भी समाविष्ट कर लिया जाता है। इस प्रकार वाच्यवेशिष्ट्य वहाँ होता है, जहाँ वक्तव्यकी विशेषताके कारण व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। ''साँच कहीं, तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने। सर स्थाम जब तुम्हें पठाये, तब नेकहु मुसकाने?'' (स्रदास)। यहाँ गोपियों के कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि ''तुम जैसे ज्ञानी मूर्षको यहाँ भेजकर कृष्णने वस्तुतः एक बड़ा मजाक किया है''। कुछ लोगोंके मतानुसार वाच्यसम्भवा आर्थी व्यंजना वहाँ होती है, जहाँ उत्हृष्ट विशेषणोंवाले वाक्यकी विशेषताके कारण ध्वनिको प्रतीति होती हो।

अन्यसन्निधिवंशिष्ट्य — जहाँ वक्ता तथा श्रोताके अतिरिक्त अन्य व्यक्तिके सान्निध्यके कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। स्ररासके उद्धव-गोपी-संवादमें भ्रमरकी अव तारणा अन्य-सन्निधिकी विशिष्टता उत्पन्न करनेके लिए ही की गयी है — भ्रमरसे कही हुई वार्ते भ्रमरपर भी लागू होती हैं और पास ही बैठे हुए उद्धवपर भी प्रहार करती हैं और पुल्पर भी चोट करती हैं — 'मधुकर समुक्षि कहीं किन बात। पर मद पिये मत्त न हूजियत, काहे को इतरात। बीच जो पर सत्य सो भाखे, बोले सत्य सरूप। मुख देखेको न्याउ न कीजै, कहाँ रंक कह भूप।''

प्रस्ताववैशिष्ट्य जहाँ प्रस्ताव (प्रसंग) अथवा प्रकरण-की विशेषताके कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता हो। लक्ष्मणके प्रति कही गयी रामकी इस उक्तिमें—''तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा, को कहि सकद को जाननिहारा। अनुचित उचित काजु कछु होऊ, समुझि करिय मल कह सब कोऊ। सहसा करि पीछे पछिताहीं, कहि बेद बुथ ते बुथ नाहीं''।… प्रसंगसे यह ध्वनि निकलती है कि मरतके प्रति की गयी लक्ष्मणकी शंका निर्मूल है।

देशवैशिष्ट्य देश अथवा स्थानकी विशेषताके कारण जहाँ व्यंग्यार्थ ज्ञात होता हो — "चित्रकृट गिरि है वही, जह सिय रूछिमन साथ। मन्दािकानि सरिता निकट, बास कियो रघुनाथ।" (का० कल्प०, पृ०९८)। यहाँ स्थानकी विशेपताके कारण यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि चित्रक्ट शान्तिदायक एवं पवित्र है।

कालवेशिष्ट्य—"बहुरि हरि आवहिंगे किहि काम ! रितु वसन्त अरु ग्रीपम बीते, बादर आये स्थाम" (स्र-दास) । यहाँ वर्षाकाल प्राणान्तक सिद्ध होगा, यही व्यंग्यार्थ हे और इसके द्वारा कृष्णके जल्द लौट आनेकी बात व्यंजित-की जा रही हैं।

चेष्टावेशिष्ट्य—"डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि मन बज बेहाल। कंप किसोरी दरसके खोर लजाने लाल" (बिहारी)। यहाँ लजित होनेकी चेष्टा द्वारा कृष्णके हृदयमें स्थित राधाके प्रेमका रहस्य प्रकट हो गया है। —उ० शं० शु०

आर्यकुल-दे० 'भारत यूरोपीय'।

आर्थसमाज-उन्नीसवी शताब्दीका भारतीय इतिहास और साहित्यमे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतना व्यापक और सुक्ष्म परिवर्तन मध्य-युगमे इस्लाम धर्मके सम्पर्कके फलस्वरूप भी न हुआ था। एक ओर तो भारतवर्ष उन्नीसर्वा शताब्दीमें एक सदरस्थित पाश्चात्य जानिका दास बना और दूसरी ओर पाइचात्य ज्ञान-विद्यान तथा वैज्ञानिक आविष्कारोसे लाभ उठाकर उसने नवीन चेतना प्राप्त की और मध्ययुगीन एवं अनेक पौराणिक करीतियों, क्रप्रथाओं तथा परम्पराओसे वद्ध जीवनकी अलसता छोडकर स्फूर्ति प्राप्त की । इतिहास इस बातका साक्षी है कि यह स्फूर्ति और चेतना, राजनीतिक एवं आधिक दासत्वकी परिस्थितिमे, पूर्व और पश्चिमके बीच संवर्षके रूपमे, अर्थात् भारतीय आध्यात्मिकता और पाश्चात्य भौतिकताके संघर्षके रूपमें, अभिन्यक्त हुई। राजनीतिक और आर्थिक चेतना उसी चेतनाका अंशमात्र थी। यही पर्व और पश्चिमका संघर्ष था, जिसने राजा राममोहन राय, खामी दयानन्द, खामी रामकृष्ण परमहंस, खामी विवेका-नन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकर, योगी अरविन्द और महात्मा गान्धीको जन्म दिया।

एक ओर तो पश्चिमके बढते हुए प्रभावके विरुद्ध प्रति-क्रिया थी, दूसरी ओर प्राचीन भारतीय साहित्य और कला-का पाश्चात्य और भारतीय विद्वानी द्वारा अनुदिन बढ़ता हुआ अध्ययन था। हॉजसन, बोत्लिक, मैक्समूलर, प्रिसेप, कर्नियम, एड्विन आर्नाल्ड आदिकी खोजो और रचनाओ-का भारतवासियोपर बहुत प्रभाव पडा । उन्हें अपने पूर्वजो-की महत्ताका परिचय प्राप्त हुआ। 'थियोसोफीकल सोसाइटी' (१८७५ ई०)ने भी देशवासियोका देशके प्राचीन गौरवकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। इन सब कारणोसे बढते हुए पश्चिमी प्रभावके विरुद्ध प्रतिक्रिया होना और भारतकी प्राचीन गरिमाकी ओर ध्यान जाना स्वामाविक था। इस प्रतिक्रियाने विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण अवस्य अपनाया, किन्त उद्देश्य विशुद्धवादियोंका भी भारतीय जीवनका परिष्कार करना था। इस दृष्टिकोणका ज्वलन्त उदाहरण आर्यसमाज-आन्दोलन है। इस आन्दोलनने हिन्दू धर्मका पुनरुद्धार करनेका महान् प्रयास किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०)ने १८७५ ई०में आर्यसमाज- की स्थापना की । आधुनिक भारतके निर्माताओं मे उनका उच्च स्थान है । उनके प्रभावशाली न्यक्तित्वके कारण थोड़े ही समयमे आर्यसमाज-आन्दोलनका प्रचार समस्त उत्तर भारतमे हो गया । आधुनिक हिन्दी साहित्यके जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०)के जीवनकालमे ही आर्यसमाजका प्रचार हो गया था और भारतवाहियोकी एक वडी संस्थाने उसे अपनाया । ब्राह्म समाजमे कही अधिक प्रचार आर्यसमाजका हुआ । उसने शिक्षतोको- ही नहीं, वरन् अश्चिक्षित और अर्थशिक्षित जनताको भी प्रभावित किया । रुदियस्त, परम्परागत धर्मसे असन्तुष्ट शिक्षित लोगेको पश्चिमी प्रभाविते मुक्त सुधारोसे सन्तेष प्राप्त हुआ । देशके धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा सम्बन्धी और साहित्यक क्षेत्रमें आर्यसमाजकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेगी । सुधारवादी सनातनधर्मियोके हाथमे बागहोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य उससे प्रभावित हुए विना न रह सका।

यह प्रभाव सर्वप्रथम खडीबोली गद्यके क्षेत्रमे दृष्टिगोचर होता है। उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्धमे लोग, उर्दूको राज्या-श्रय प्राप्त हो जानेके कारण, हिन्दी भाषा और नागरी लिपिको भूलते जा रहे थे। हिन्दीकी शोचनीय अवस्था हो गयी थी और ज्यों-ज्यों लोगोंका लगाव उर्द्रके साथ बढता गया, त्यो-त्यों हिन्दीके प्रति उनकी उदासीनता बढती गयी। यहाँनक कि सिर्फ हिन्दी जाननेवाले गॅवार समझे जाने लगे। उर्दृ ज्ञानके विना शिष्ट समाजमे स्थान पाना भी कठिन हो गया, पढे-लिखे लोग तो अपनी चिट्टियाँ तक उर्दमें लिखने लगे थे। ऐसे समयमे राजा चिवप्रसाद 'सितारे हिन्दे की नीति बहुत सहायक सिद्ध न हुई। राजा रुक्ष्मण सिंहने उनकी भाषा-नीतिका विरोध किया । अन्य साहित्यकों-को भी 'सितारे हिन्द'की भाषाका रूप खटका और उसकी कडी आलोचना की गयी। अनेक लोगोने अरबी-फारसी मिश्रित गद्य भाषा और शैलीकी घोर निन्दा की और संस्कृत परिवारकी भाषाओंके लिए यह प्रवृत्ति घातक बतायी। किन्तु भाषाके क्षेत्रमे भाषाके अंग वन गये शब्दोंके वहिष्कार-की नीति व्यावहारिक सिद्ध न हो सकी। ऐसी परिस्थितिमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने मध्यम मार्गका अवलम्बन कर हिन्दी-के जातीय रूप और शैलीकी स्थापना की, जिसमे सरल संस्कृतके शब्दोके साथ-साथ लोकप्रचलित विदेशी शब्दोंको भी स्थान दिया गया। किन्तु भारतीय नवोत्थानके उस प्रथम चरणमे आर्थसमाज-आन्दोलन द्वारा प्रेरित संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनके फलस्वरूप हिन्दी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिकाधिक झुकती गयी। स्वामी दयानन्दने हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें स्नीकार किया था और देशके एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेतक उन्होंने इसी भापाका प्रयोग किया, जहाँ पहुँछे उर्दृका बोल-बाला था। उन्होंने स्वयं 'सत्यार्थ-प्रकाश' (१८७४ ई०), 'व्यवहार-भानु', 'गोकरणनिधि' आदि अन्थोकी रचना हिन्दीमे की। उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। अन्य आर्यसमाजी ठेखकोंने भी संस्कृत शब्दावलीके प्रयोगकी ओर अधिक ध्यान दिया, फलतः भाषाका जो आदर्श भारतेन्दुने स्थापित किया, वह अन्य अनेक कारणोंके अतिरिक्त आर्यसमाजके प्रवल प्रभाव-के कारण बहुत दिनोंके लिए छप्त हो गया। हिन्दीके

'संस्कृतीकरण' या 'त्रसमीकरण'का आर्यसमाज एक प्रधान कारण था । हिन्दीके 'संस्कृतीकरण' और राष्ट्रपाण प्रवर्ष स्थीकार करनेके अतिरिक्त आर्यसमाजने हिन्दी गणको एक नयी रौली प्रदान की, जो शास्त्रार्थ और राण्डन-मण्डनके उपयक्त था। भाषामे आलोचना और वाद-विवाद वरनेकी शक्ति आयी। भाव-व्यंजनामे भी इससे सहायता मिली और तर्कशैलीको साथ-साथ भाषामे व्यंग्य तथा कटाक्ष करने-की शक्तिका आविभीव हुआ। हिन्दी भाषा तथा गद्य शैली-का यह विकास अभृतपूर्व था और क्योंकि आर्यसमाजका कार्यक्षेत्र वहत व्यापक था, इसलिए उसने साहित्यिकीकी तरह-तरहके विषय सञ्जाये। यथि भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र, राधाकुष्णदास, श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवि, उपन्यासकार और नाटककार आर्यसमाजी नहीं थे, तो भी उनके द्वारा गृहीत अनेक विषय वे ही है, जो आर्य-समाज-आन्दोलन अपनाये हुए था। ऐसे अनेक तत्कालीन नाटक, प्रहसन और उपन्यास उपलब्ध होते हे, जिनपर तर्कप्रणाली, विषय, शैली आदिकी दृष्टिसे आर्यसमाजका प्रभाव स्पष्ट रूपने दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कुछ हदतक आर्यसमाज नाटगवलाके लिए घातक भी सिद्ध हुआ। उसने अनेक विषय सुझाकर सामग्री प्रस्तुत करनेमें कोई कसर बाकी न रखी, यह ठीक है, लेकिन शाम्त्रार्थवाली शैलीने कृतियोंकी कलात्मकताको आघात पहुँचाया। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं लेखक विविध पात्रोंके रूपमें आर्यसमाजके प्लेटफॉर्मसे बोल रहा है। आर्यसमाजका जितना प्रभाव नाटक और काव्यपर पड़ा उतना साहित्यके किसी और अंगपर नहीं पड़ा । तो भी उन्नीसवीं राताब्दीके उत्तरार्धमें और बीसवीं शताब्दीमें आर्यसमाजी उच्च कोटिके प्रसिद्ध नाटककार, कवि या अन्य लेखक और कलाकार बहुत कम हुए। उन्नीसवीं शताब्दीमें तो स्वयं स्वामी दयानन्दको छोड़कर कोई प्रसिद्ध आर्यसमाजी लेखक या कवि नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दीमें भी पद्मसिंह शर्मा, नाथूराम इंकर शर्मा आदि जैसे कुछ ही प्रसिद्ध लेखक और कवि हुए हैं। यह इसलिए नहीं कि आर्यसमाज कोई साधारण आन्दोलन था, वरन् इसलिए कि वह प्रचारात्मक आन्दोलन होनेकी वजहसे उच्च कोटिका साहित्य प्रचर मात्रामें न दे सका । कलाका अभाव आर्यसमाजमें ही नहीं, संसारके सभी सधारवादी (puritonical) आन्दोलनोंमें पाया जाता है। सुधारवादी कुछ तो सौन्दर्य-भावनाको मुख और दुःखकी भावनाके आश्रित समझकर कछासे दूर भागते हैं, अथवा सत् और असत्से परे भी कोई अनुभव है, इस विचारको नैतिक उद्देश्यसे हीन समझकर उसमें विश्वास नहीं करते। तो भी भाषा, विषय, चयन, छेखकों और कवियोंके दृष्टिकोण तथा उनकी विचार-पद्धतिपर आर्थ-समाजका काफी प्रभाव पड़ा, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है।

लगभग पिछले बीस-पचीस वर्षींसे आर्यसमाजका साहित्यपर प्रमाव एक प्रकारसे नगण्य हैं। वास्तवमें आर्यसमाज एक ऐसा आन्दोलन था, जिसने देशकी एक ऐतिहासिक आवश्यकता पूरी की । शिक्षा, समाजसुधार, धर्म-सुधार आदि क्षेत्रोंमें उसके द्वारा प्रचलित लगभग सभी वार्त

देश द्वारा स्पीकृत हो जानेके फलस्वरूप उसकी गनिशीलता समाप्त हो गर्थ। । आर्थसमाज आन्दोलन अब बेबल नाम-मात्रका रह गया हैं। साथ ही राष्ट्रायताका पोपक होनेके कारण यह आन्दोलन बहुत कुछ कांग्रेम द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनमे गुल-मिलयर अपनी स्थतन्त्र मत्ता खो बैठा।

[महायक यन मन्द्रानिभाजः लाला लाजपतरायः आधुनिक हिन्दी साहित्यः लक्ष्मीमागर वाष्णेय।]—ल्ल्मा०वा०
आर्यो —आर्या छन्द संरक्षतका मात्रिक छन्द है। संस्कृतके
मात्रावृत्तोंको तीन वर्गोमें रखा जा सकता है—आर्या,
वैतालीय और मात्रासमक वर्ग। इनमेंसे आर्या सम्हत्ते
छन्द और मात्रासमक वर्गके छन्द तो वास्तवमें शुद्ध मात्रावृत्त हैं, जिनमें मात्रागणोंकी एक निश्चित संख्याके प्रयोगके
नियमका पालन होता है, जहाँ गण समाप्त होता है वहाँ
दीर्घ अक्षरका प्रयोग नहीं होता। दूसरी श्रेणीके छन्द
मात्रावृत्त केवल इसलिए कहे जाते हैं, कि उनमें मात्राओंकी
संख्या तो निश्चित रहनी हैं, किन्तु वर्णोंको संख्या निश्चित
नहीं रहनी—प्रत्येक पंक्तिमें वर्णोंकी संख्या मित्र हो सकती
है। मात्राओंका विभाजन आर्या और मात्रासमक छन्दोंके
समान मात्रिक गर्णोंमें नहीं रहता।

इन छन्दोंमें भे आर्था छन्द दो पंक्तियों छन्द होते हैं। वैतानीय वर्गके छन्दोंमें नार पंक्तियों रहती हैं, जिनमेसे १ और ३ तथा २ और ४ ममान होती हैं अर्थात् वैतालीय वर्गके छन्द अर्द्धसम प्रकारके छन्द हैं।

आर्या छन्द्रके प्रत्येक आधेमें चार मात्राओंके सात गण तथा एक गुरु रहता है! इन सात गणोंमेंसे समगण लबु, गुरु, लघु प्रकारके होते हैं और विषम गण इम प्रकारके नहीं हो सकते। आर्याके पथ्या, चपला भेटोंका भी पिंगलादि छन्द-प्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है। हिन्दीके बहुत कम कवियोंने आर्याका प्रयोग किया है, वैसे इसका प्रयोग मध्य-युगीन और आधुनिक कवितामें जहां-तहाँ मिलता है।

संस्कृतमें आर्याका प्रयोग बहुत हुआ है और इस छन्दकी लोकप्रियता 'आर्यासप्तश्तो' जैसी कृतियोंके नामसे प्रकट होती है। छन्द-ग्रन्थोंमें आर्याके अनेक भेदोंका उल्लेख मिलता है। — रा० सिं० तो० आलंबन विभाव — विभावका एक भेद; संस्कृत तथा हिन्दी दोनोंमें इसके अन्तर्गत 'नायक नायका नेव रे शास्त्र तथा साहित्य (दे०)का व्यापक विस्तार हुआ है। विश्वनाथका कथन है— "आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्" (सा० द०, ३:२९)। इसीका भावानुवाद देव इस प्रकार

प्रस्तत करते हैं--"रस उपजे आलम्ब जिहि सो आलम्बन होइ" (भा० वि०, विभाव)। जिस व्यक्ति अथवा वस्तके कारण किसी व्यक्तिमें कोई भाव जायत होता है, उस व्यक्ति अथवा वस्तुको उस भावका आलम्बन विभाव कहते है। आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि है। इसके विना काव्य-रचना और काव्यास्वाद दोनों ही असम्भव है। जहाँ आलम्बन स्पष्ट नहीं होता, वहाँ प्रसंगानुकूल इसका आरोप वर लिया जाता है। यह आलम्बन दो रूपोंमे उपस्थित होता है। कभी तो यह पात्र-विशेषके भावोंके आलम्बन होते है और कभी स्वयं कविके भावोंके। उदाहरणके लिए 'प्रसाद'की निम्नोक्त पंक्तियोमें स्वयं कवि ही आलम्बन है— "कुसुमाकर रजनीके जो, पिछले पहरोमे खिलता। उस मृदुल शिरीप सुमन-सा, मैं प्रांत धूलमे मिलता"। भिन्न-भिन्न आलम्बनोंके प्रति एक ही भावमें अन्तर आ सकता है। जैसे, अपनेसे आदरणीयके प्रति प्रेम श्रद्धाका, बराबरके प्रति प्रीतिका, दीनके प्रति करुणाका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न भावोका भी एक ही आलम्बन हो सकता है। अर्थात् अत्याचारीके प्रति कोई क्रोध प्रकट कर सकता है, कोई उससे घुणा कर सकता है और कोई सन्त उसे उपदेश देने और क्षमा करनेके लिए तत्पर हो सकता है। उदाहरणतः, निस्नोक्त वर्णनमें एक रामको ही अनेक लोगोंने अनेक प्रकारसे देखा है—"देखहिं रूप महा रन-धीरा, मनहुँ बीर रस धरे सरीरा। डरे क्रुटिल नृप प्रमुहि निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी। रहे असुर छल छोनिप बेपा, तिन्ह प्रभु प्रकट काल सम देखा' (रा० च०, १ : २४१) ।

पृथक् रसके विचारसे आलम्बन भी पृथक् हो जाते है। कान्यशास्त्रोंमें इनके रूप, आकार-प्रकार तथा भेद आदिका विस्तृत वर्णन किया गया है। उदाहरणनः शृंगार रसके आलम्बन मधुर, सुकुमार, रूप-यौवनसम्पन्न तन्वंगी तथा तरुण होते है, जिन्हे नाथिका तथा नायक कहते है। इनके भी स्वभाव, आयु, कार्य आदिके अनुसार अनेकानेक भेद है। इसी प्रकार विकृत आकारवाले, दूसरेकी चेष्टाओंका अनुकरण करनेवाले हास्य रसके आलम्बन होते है। त्यागी, सत्य-सम्पन्न, श्र्-चीर, विक्रमशील व्यक्ति वीर रसके; विचित्र आकृति और आचारवाले अद्भुत रसके; बहुबाहु, बहुमुख, भीमदंष्ट्र तथा क्रूर, उद्धत एवं शठ आदि रौद्रके; कृश, विषण्ण, मिलन, रोगी, दुःखी तथा दारिद्रथीपहत करुण रसके; निन्दित आकृति, वेश, कर्मवाले अथवा रोगी, पिशाचादि वीभत्स रसके आलम्बन होते है। इसी प्रकार इनके अन्य भेद उपस्थित किये जा सकते है।

प्राचीन साहित्य-शास्त्रमें जड़ तथा अमूर्त आलम्बनोंको स्वीकृति नहीं मिली। जड़ पदार्थी अथवा तिर्यग्योनिगत रितको अनुचित मानकर उसे रसाभासमात्र माना गया है। नायकोंमें भी कुलीनता और आदर्शका ध्यान रखा गया है। हिन्दी काव्यमें भी इन नियमोंका यथेष्ट पालन किया गया है, किन्तु सेनापित, श्रीधर पाठक, प्रसाद', पन्त, रामचन्द्र शुक्क आदिके काव्योंमें प्रकृतिको आलम्बनके रूपमें प्रमृतत किया गया है। केशवने अवस्य ही इसे उद्दीपनमात्र मान लिया था और उसका नाम गिना देना

ही कान्यमें पर्याप्त समझ लिया था अथवा आधुनिक कालमें 'हिरिऔथ'ने 'प्रियप्रवास'के नवम सर्गमे इसी नाम गिनाने- से काम लिया है। आधुनिक कालसे पूर्व अधिकांश हिन्दी किवयों प्रकृतिका प्रयोग अलंकार अथवा उपदेशके लिए ही हुआ है। छायावादकालमे प्रकृतिमे ही अलौकिक सत्ता देखी जाने लगी, अतः आलम्बन लौकिक तथा अलौकिक हो रूपों सामने आया।

अन्य रसोमें भी आधुनिक हिन्दी कवितामे आलम्बनोंमें

परिवर्तन हुआ है। वीर रसके लिए देश-सेवक, आत्म-बलिदानी, राष्ट्रीन्नायक, देश-सुधारक तथा सत्याग्रही वीरोकोः बीमत्सके लिए देशद्रोही, शत्रकी सहायता करनेवाले; हास्यके लिए विदेशी वेश-विन्यास या आचरणवाले, मतदान मांगनेवाले, प्राचीनतावादी आदि: करुणके लिए शोषित जनता, कृश्क तथा निम्नवर्ग, अछत, दलित एवं पतित, निष्कासित शरणार्थी, विधवा अथवा त्रस्त नारी आदि नये आलम्बन बने। मैथिलीशरण ग्रप्तको करुण रसके लिए उपेक्षिताएँ मिली और उनके साहचर्यसे अमूर्त भाव-वेदना भी आलम्बन बन गयी। 'साकेत'के 'वेदने, तू भी गली बनी' गीतमे वेदना ही आलम्बन है । बाह्य-सौन्दर्यसे हटकर ध्यान अन्तःसौन्दर्यपर अधिक जाने लगा। क्रोधका रूप व्यंग्यमें खिल रहा है और उसके लिए सामाजिक व्यवस्थाको विशेषतः आलम्बन स्वीकार किया गया है । प्रगति-वादी काव्यमें ये नवीन आलम्बन विशेष रूपसे अपनाये गये है । आज देशकी व्यवस्था अथवा प्रकृति या नागरिक सौन्दर्य प्रयोगवादी कविताके नये आलम्बन बन ---आ० प्र० दी० आलय (आलय विज्ञान)-विज्ञानके त्रिविध परिणामों (दे॰ विज्ञान') में आलय विज्ञान या विपाक विज्ञान ही प्रमुख है। आलय विज्ञान जगतकी समग्र वस्तुओंके बीजको धारण करनेवाला, विज्ञानका अपरिच्छिन्न, नित्य प्रवहमान रूप है, जिससे सभी पदार्थ उत्पन्न होते है और पुनः उसीमें विलीन भी होते है। यह सभी प्रकारके कर्मी और साङ्-क्लेशिक धर्मीके बीजका आलय है। सभी धर्मी (की उत्पत्ति)के बीज इसी आलय विज्ञानमें अवस्थित रहते है । साथ ही, उपादाताओं के विपाक भी वहाँ सड्-गृहीत रहते है। च्वान्-च्वाङ्की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिके अनुसार आलय विज्ञान न तो उच्छेच है और न ही शाश्वत, क्योंकि यह सदा अविच्छिन्न रूपसे, सन्तत्या, नदी-जलके (स्रोतसौघवत ) प्रवाहरूपेण प्रवर्तमान रहता है। यह स्क्ष्म स्वभाव है और प्रतिक्षण हेतुफलभावेन परिवर्तित होता रहता है। जन्म और मृत्युके आवर्तक कुशल तथा अकुशल कर्मों के विपाक-फलको धारण करनेके हेत् इसकी विपाक-विज्ञान संज्ञा होती है। इसकी दो भूमियाँ सास्रव और अनास्रव होती है। सास्रव भूमिमें यह स्पर्शादि पाँच अकुशल स्वभाव चैत धर्मोंसे तथा अनास्रव होती है। सास्रव भूमिमें यह स्पर्शादि पाँच अकुराल स्वभाव चैत्त धर्मोंसे तथा अनास्त्रव भूमिमे पाँच सवर्ग, पाँच प्रतिनियतविषय और ग्यारह कुशल-सवर्ग-इन इकीस चित्तों द्वारा नित्यही समन्वागत होता है। परम विशुद्ध अनास्त्रव धर्मोका आश्रय होनेके हेतु इसे विमल-विज्ञान भी कहा जाता है। च्यान-च्याङ्के

अनुसार "वोधि सत्व उपलम्भ कालमें और श्रावक तथा प्रत्येक तुद्ध अनुपाधि निर्वापधातुमे प्रवेश करने समय विपाक-विज्ञानके स्वभावका परित्याग कर देते है। 'महा-यानाभिधर्मस्त्रभे इसे अनादिकालिक, सभी धर्मीका आश्रय तथा निर्वाणका प्रापक बताया गया है। ल० सृ०मे उसकी तुलना एक ऐसे समुद्रमें की गयी है कि जिसकी तरंगे निरन्तर अविच्छिन्न रूपसे उठा करती है और उनका उच्छेद नहीं होता । वहाँ एक स्थानपर इने उत्पाद-स्थिति-भक्त-वर्ज भी कहा गया है, किन्त यह बौद्ध विचारधाराके बिल्कुल प्रतिकल है। इस प्रकार आलय विद्यान विद्यानका संचित कोश (न्टोर हाउस ऑव कान्शस्तेस) है और इसकी तुलना आधुनिक मनोविज्ञानके अर्द्ध-चेतन-मनसमे की जा सकती है। छः प्रवृत्ति विद्यानों और एक क्लिप्ट मनो-विज्ञान-इन सप्तविध विज्ञानोंकी अपेक्षाकर कभी-कभी इसे अष्टम (अन्तिम) विद्यान भी कहा जाना है। कहीं-कही इसके निरोध और त्यागका भी उटेख मिलता है। कहा-वित् इसमें निहित क्लेशादिको ध्यानमें रखकर ही यह विचार विकसित हुआ ।

यहाँपर विचारणीय है कि आलय-विज्ञान विज्ञान-परिणाम होनेके हेतु अनित्य, क्षणिक और सन्ततिरूपमें ही
नित्य है। यह व्यक्तिगत होता है तथापि सभी कुशलअकुशल कमोंके विपाक-फलों तथा माड-क्रेशिक धमोंके
बीज इसमें निहित होते है। इसे क्लेश और बोधिका बीजातमना समुच्च्यावस्थान मान सकते हैं। यह तथताका एक
विशेष रूप है। जबिक तथागनगर्भ सार्वभौम रूपमें अविद्या
और तथताका समुच्च्य होता है, अर्थात् जिस तथताका
साक्षातकार होना है तथता वही तथागतगर्भ कही जाती है,
आलय विशान तथागतगर्भका अहम्भावसंयुक्त रूप विशेष
(इण्डिविडुआइजेशन) कहा जा सकता है, जिसमें सर्वविध
मानस-बीज (साइकिक् जम्म) अवस्थित रहते हैं।

आलयके सिद्धान्तके हिन्दी साहित्यके ऊपर प्रभावके विषयमें द्रष्टव्य विज्ञानवाद । —क शु० आलवार —दे० भक्ति ।

आलस्य-प्रचित तैतीसमेंने एक संचारी; भरतके अनुसार प्रकृति, काहिली, बीमारी, नृप्ति तथा गर्भ आदिके कारण उत्पन्न मात्र है, जो अकर्मण्यता, बैठे या लेटे रहने, जभाई लेने तथा सोने आदिके अनुभावों में ब्यक्त होता है (नाट्य०, ७:४८ ग)। विश्वनाथने इसी व्याख्याको सूत्ररूपमें प्रहण किया है—"आलस्यं श्रमगर्भायौर्जाड्यं म्मासितादिकृत्।" (सा० द०, ३:१५५); श्रम, गर्भ आदिजन्य जाड्यको 'आलस्य' कहते है। जभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दीके रीतिकालमें "बहु भूषादिक मावतें, कारजु कहा न जाय" (भाव० संचारी०) कहकर भूषणादिके आलस्यको भी स्वीकार किया गया है। और अन्योने 'जागरनादिकतें जहां' (जगत०, ४९४) स्वीकार किया है।

्रामचन्द्र शुक्कने इसे संचारी न मानकर स्वतन्त्र मान-सिक स्थिति माना है। इसकी परिभाषा लिखते हुए उन्होंने स्वतंत्र्याया है—'शारीरिक या मानसिक क्रियामें तत्पर न होनेकी प्रवृत्ति जिस अवस्थामें हो, वह अलसता है।" आग मलकर संस्कृतप्रन्थोंमें विणित परिभाषाओपर आपत्ति करते हुए उन्होंने कहा है कि. "यथिप साहित्यके प्रन्थोंग शारीरिक अम और गर्भ आदिके कारण उत्पन्न आलस्यकों मंचारी कहा है, पर मंचारीका लक्षण उत्पर ठीक-ठीक नहीं घटता है। जयतक उसका किसी भावके साथ प्रत्यक्ष मन्त्रन्थ न हो, सीधा लगाव न हो, तवतक वह मंचारी केसा? रातभर जगी हुई की बैठे-बैठे अभाई लेती है तो इसरे। श्रोता था दर्शककों 'रितभाव'के अनुभवमे कुछ सहायता पहुंचती हुई मुजे तो नहीं मालूम पडती। प्रेमके साथ इस शारीरिक अमसे उत्पन्न आलस्यका केवल बादरायण सम्बन्ध दिखाई पडता है "अतः आलस्यका केवल बादरायण सम्बन्ध दिखाई पडता है "अतः आलस्यके वर्णनकों किसी भावका मंचारी मानना मेरी समझमें ठीक नहीं। उसे स्वतन्त्र ही मानना चाहिये।" (र० मी०: पृ० २२४)।

पर रामचन्द्र शुक्क विचारोसे महमत होना किचित् कठिन मालूम पडता है। एक उदाहरणको आधार मानकर उक्त मनके विशेचनमें अधिक मुविधा होगी—''गोंकुलमं गोपिन गोविन्द संग खेली फाग, रातिभर प्रात-समें ऐसी छवि छलके। देहें भरी आलस कपोल रम रोग भरे, नींद भरे नैनन कछक दापे झलकें।" (जगत०, ४९५)।

प्रश्त है कि क्या उम छन्द्रभें वर्णित आलस्यका किसी भावसे सीधा सम्बन्ध है अथवा नहीं ? तथा यह म्ययंमें स्वतन्त्र है अथवा रितमावका पोपक हैं ? रातभर होली खेलनेके कारण अथगात श्री हुन्छ ने देशकर नायकाफे मनमें जो ललक पैदा होती है, वह रितमावकी पोपक ही तो हैं। विहारीके दोहमें 'आलस्य'की मुन्दर व्यं जना है— ''नीठि नीठि उठि बैठि हूं, प्यों प्यारी परभात। दोऊ नींद मर खरे, गरें लागि गिरि जात'' (रला०, ६४३)। — व० सि० आली काली—दे० 'हठयोग'।

आलेख रूपक-दे॰ 'रेडियो रूपक'। आलेख्य-प्रस्य-'काव्य-हरण' अर्थ-हरणका भेदा।

आलोचना-आलोचना शब्द 'लोच' (जिसे पाणिनीने अपनी पारिभाषिक शब्दावलीमें /लोच लिखा है)से बना है—आ+ √लोच्+अन+आ=आलोचना, अथवा आ+ √लोचू+ल्युट (अन) = आलोचन । 'लोच्' या 'लोच' का अर्थ है 'देखना'। इसलिए विसी वस्तु या कृतिकी सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना सी आलोचना है- "आ समन्तात लो बनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् , स्त्रियां आलोचना" । आलोचक किसी कवि या लेखककी कृतिको देखता या परखता है। 'परीक्षा'का अर्थ भी चारों ओरसे देखना है (परितः देश-परीक्षा)। आलोचना कविया लेखक और पाठकके बीचकी शृंखला है। राजशेखरने कविकर्मको प्रकाशमे लाना ही मावियत्री प्रतिभा अथवा आलोचककी प्रतिभा कहा है। अंग्रेजी शब्द 'क्रिटिक'का अर्थ भी है 'अलग करना' (ट सेपरेट), जिससे निर्णयकी बातका पता चलता है। पाश्चात्य देशों में भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातोंको जानना और समाजको उसका ज्ञान कराना, आलोचनाका उद्देश्य माना गया है। आलोचनाएँ भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वोंके अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलतः उसका उद्देश्य एक ही रहता है, अर्थात् कविकर्मका प्रत्येक दृष्टिकोणसे मूल्यांकन कर उसे पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करना और उनकी रुचि परिष्कृत कर साहित्यकी गति-विधि निर्धारित करना।

संसारमें कर्मप्रकाशनके साथ-साथ भावप्रकाशन भी चलता रहता है और बाह्यजगत हमारे हृदयरसमें पगकर अन्तर्जगत्भी वस्त बनता आया है। इस प्रवाहको पकड रखनेके लिए ही चिरकालसे मनुष्यके अन्दर साहित्यका आयेग है। साहित्यमे हम उस मनुष्यका परिचय पाते है, जो अपनी सीमा लॉघ जाता है। आलोचनाका उद्देश्य यही खोज निकालना है कि किन या लेखककी कल्पनामे मनुष्यके हृहयके किस विशेष रूपने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्यके प्रकाशको सौन्दर्य द्वारा प्रस्फुटित किया है। भाषा, रस, अलंकार आदि परखना ही पर्याप्त आलोचना नहीं है। आलोचनाका उद्देश्य है कि कवि या लेखकती कृतिमे मानवहृदय कितना और किस सुन्दरताके साथ चित्रित हुआ है, इस तथ्यका उद्घाटन करना। वास्तवमें साहित्यमे विखरी हुई अनन्त विभूतियोंकी सुन्दरता बिना आलोचनाके नजर नहीं आती । डॉक्टर इयामसुन्दरदासके शब्दोमें "यदि हम साहित्यको जीवनको न्याख्या मानें, तो आलोचनाको उस व्याख्याकी व्याख्या मानना पडेगा।" भारतवर्षमे राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'मे समीक्षा या आलोचनाका वास्तविक सूत्रपात किया और औचित्य-वादियोने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमे युनानमें ५वी श० ई०में उसका सूत्रपात हुआ।

आधुनिक समयमे 'कलाके विविध रूपोंकी प्रचुर मात्रामें रचना हो रही है। उसकी प्रतिक्रिया आलोचनाके रूपमे होती है। वह कलाको सहजज्ञानकी अभिन्यक्ति भले ही माने, किन्त उसका प्रधान कर्तन्य सहजज्ञानके विभिन्न रूपोंके पारस्परिक भेद समझना है। कलाका जो सिद्धान्त आलोचनाके इस कार्यमे सहायता नहीं पहुँचाता, वह उसके लिए कोई मूल्य नहीं रखता। प्लेटो जैसे ग्रीक विचारकोने भी सुन्दर जीवनपर अधिक जोर दिया है। इसलिए आधनिक आलोचनाके सिद्धान्तोंके लिए अनेकरूपताके बीच एकरूपता स्थापित करना और वह भी सौन्दर्यके माध्यम द्वारा, एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। जिस व्यक्तिने जीवनको जितनी अधिक गहराई तक देखा है, वह उतनी ही अधिक आलोचक बननेकी क्षमता रखता है। उसके लिए जीवन और कलामे कोई अन्तर नही रह जाता। आलोचना कलाको जीवनमे सर्वोच स्थान प्रदान करती है। वस्तुतः सची आलोचना कलाका ही एक प्रधान अग है। उसका चरम लक्ष्य वही है, जो जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। मिडिल्टन मरेके शब्दोंमें "कला जीवनकी सजगता है, आलोचना कलाकी सजगता है।" अस्तु, आलोचना कला और साहित्यसे बाहरकी वस्तु नहीं है।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि कान्य या कलाकी सर्वोत्तम आलोचना स्वयं किव या कलाकार ही कर सकता है। किन्तु यह मत बहुत वैज्ञानिक नहीं है। वास्तवमें सौन्दर्यविज्ञान ही आलोचकको किवसे अलग करता है। जहाँ किव या कलाकार स्वयं आलोचक भी होगा, वहाँ उसका सौन्दर्यवोध उसके अपने किव या कलाकारसे पृथक

होगा। आलोचक अपने आलोच्य विषयसे पहले घनिष्ठता प्राप्त करता है, उसके अन्दर पैठकर उसे देखता है। उसके उपरान्त वह उसका मूल्य निर्धारित करता है। जहाँ भावनाओंका उद्गम होना है वहीं आलोचनाका उद्गम भी होता है। सृष्टिकी प्रतिक्रियाका नाम हो साहित्य है और उसकी प्रतिक्रियाके मूलमें जो भावना निहित है, वहीं आलोचना है।

प्रत्येक युगमें कोई-न-कोई प्रतिभाशाली लेखक ऐसा अवस्य होता है, जो आलोचनाके सघन कुहरेमें पाठककी पथभ्रष्ट होनेसे बचाता है। ऐसी परिस्थितिमें आलोचनाकी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। वास्तवमे प्रत्येक युगमे युग-मनके अनुरूप उसकी परिभाषा बदलती रहती है। 'आलोचना'का प्रयोग गुण-दोष-विवेचनसे लेकर सौन्दर्य-विज्ञानतकके अर्थमे हुआ है और आलोचकको मूल्योका निर्धारक माना गया है। यूरोपमे क्रोचेकी भाँति जे० ई० स्पिन्गार्नने आलोचनाका कर्तव्य इस बातका पता लगानेमें माना कि (१) लेखकने क्या अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और (२) वह उसे अभिन्यक्त करनेमें कहॉतक सफल हुआ है। इससे एक प्रश्न यह भी उरपन्न हो जाता है कि कवि या लेखकने जो कुछ अभिन्यक्त किया है, क्या वह अभिन्यक्त करने योग्य था? कार्लाइलने भी इसी प्रश्नके अनुरूप अपना मत प्रकट किया है। वास्तवमें कवि या लेखकका ध्येय उसकी रचनामे ही खोजना चाहिये।

उन्नीसवी शताब्दीमें यूरोपमे विक्टर ह्यूगोने कहा था कि रचना अच्छी है या बुरी, इस बातका पता लगाना आलोचनाका कर्तव्य है। किन्तु यह परिभाषा अधूरी है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि आलोचनाका इतिहास संसारकी परिवर्तनशील रचिका इतिहास है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना समय-समयपर भिन्नभिन्न रूप धारण करती रही है। भारतवर्षकी प्राचीन या मध्ययुगीन आलोचनाका जो स्वरूप था उससे भिन्न आधुनिक स्वरूप है।

प्रत्येक रचनामें उसके रचियताका कोई ध्येय निहित रहता है। इस सम्बन्धमे पाठक, लेखक और आलीचकके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो सकते है। आलोचक आलोचना द्वारा लेखकका एक प्रकारसे पुनःसंस्कार करता है। कवि या लेखक तो युगकी प्रचलित धारणाओके सामने नतमस्तक हो सकता है, अथवा उसकी रचनामे ऐसी विभ्रमता हो सकती है, जिसे कवि या लेखक स्वयं नहीं जानता; आलोचना ही वह साधन है, जिसके द्वारा इन वातोपर प्रकाश डाला जा सकता है। ऐसी आलोचना रचनात्मक होगी और कवि या लेखक संहारात्मक या रचनात्मक दोनो प्रकारकी आलोचनाओंसे लाम उठा सकता है। जनसाधारणको आलोचनासे साहित्यचर्चाका लाभ होता है। आलोचना द्वारा क्सी कृतिके स्वागतकी तैयारी की जा सकती है और उससे सुसंस्कृत और शिक्षित न्यत्तिःयोके एक समुदायका जन्म भी हो सकता है । इसके अतिरिक्त आलोचना स्वयं एक सुन्दर साहित्यका रूप धारण कर लेती है। वह मी साहित्य या कलाका रूप भारण कर आनन्द प्रदान करती है। मैथ्यू आर्नाल्ड और स्यूइस मम्फोर्ड अंने आलोचकांका तो यह भी कहना है कि आलोचक युगसे भी बन्ने हैं और उन्हें कलाकारके सामने अत्यन्त सुसंगत रूपमें अपना अनुभव रखना चाहिये। वे आत्माभिन्यं जनको दृष्टि साहित्य या कलाके किसी एक पक्षको कपर उठा सकते हैं और किसी दूसरे पक्षको नीने गिरा सकते हैं। स्वयं कियो और कलाकारोने आलोचकोंको शञ्च या मित्रके रूपमें देखा है। किन्तु निन्दा या प्रशंसाको इसमें कोई बात नहीं है। आलोचना स्वस्थ मनसे साहित्य या कलाका अध्ययन करना और उसके सौन्दर्यको परखना सिखाती है। यही उसका परम कर्तन्य है।

आलोचनाके सम्बन्धमे एक यह बात भी हमारे सामने आती है कि उसका मापदण्ड क्या है ? उसका कोई-न-कोई मापदण्ड या आधार अवस्य होना चाहिये। लौंजाइनसने आलोचनाको अधिक परिश्रमका परिणाम माना है, किन्तु पोपके कथनानुसार कवियोंकी भॉति आलोचक भी बनाये नहीं जाते। वे तो जन्मसे ही आलोचक होते हैं। तब भी अनुभव द्वारा कुछ सीखा जा सकता है। किन्तु संसारमें किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी विभिन्न व्यक्तियों मे विभिन्न प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। इसलिए आलोचनाके मापदण्डके सम्बन्धमें भी कम ही साम्य भिलेगा। तो भी किसी साहित्यिक या कलात्मक कृतिकी परीक्षा अस्थिर आधारींपर नहीं की जा सकती। फलतः आलोचनाका कोई एक मापदण्ड होता है, रुचिवैभिन्यको स्थान देते हुए भी। यह मापदण्ड प्रत्येक युगके अनुकुल अलग अलग होता है। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न भी उठता है कि सामान्य पाठक, स़शिक्षित व्यक्ति और लेखक या कवि, इन तीनोमेंसे सर्वोत्तम आलोचना करनेवाला कौन है और कौन उसका मापदण्ड निर्धारित करता है ? आधुनिक समयमें जब किसी विशेष वर्गको ध्यानमें रखकर कोई कृति प्रस्तुत की जाती है तो उस वर्गके सामान्य पाठकसे हम न्यायकी आशा नहीं रख सकते। सामान्य पाठक अधिक समयतक दार्शनिक या निष्पक्ष निर्णायक नहीं रह सकता। वह भावुक अधिक होता है। यद्यपि प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति अपने निर्णयको ही साहित्यके क्षेत्रमें अन्तिम निर्णय मानता है, तो भी औसत दर्जेंके सुशिक्षित व्यक्तिको गम्भीर साहित्य बहुत कम पसन्द आता है। कलाके जिस रूपसे कलाकारका सम्बन्ध होता है, उसके सम्बन्धमें वह कभी निष्पक्ष नहीं हो सकता। इतनेपर भी आलोचकको इन्हीं तीन समुदायों मेंसे आना है, किन्त साथ ही उसे प्रत्येक समुदायकी ब्रुटियों और दोषोंको बचाना है।

आलोचनाका निर्माण करते समय आलोचकको जीवन सम्बन्धी बाह्य राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक आदि परिस्थितियोंपर विचार करना पड़ता है। इसके साथ हमें यह भी देखना पड़ता है कि स्वयं आलोचक कहाँतक युगधर्मसे प्रभावित हुआ है। आत्माभिक्यंजना या आत्मप्रकाशनका स्वरूप होनेके कारण आलोचना बहुत-कुछ कलाके समीप आ जाती है। साथ ही दूसरेकी अभिन्यंजना-की परीक्षा होनेके कारण तथा परीक्षाके साधन और कलाका एक विशेष रूपमें आनेके कारण आलोचना विज्ञानके समीप

हो जाती है। आलोचनाके मार्गमें अन्य कठिनाइयां भी आती हैं। किसी रचनाका मूल्यांकन करते समय आलोचक-को अपनी त्यक्तिगत धारणाओपर नियन्त्रण रखना परमा-वश्यक है, अन्यथा जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, समाजगत, रा जनीतिक आदि पूर्वाग्रहोंके कारण कठिनाई पड़ती है और आलोनक किसी रचनाको उस रूपमें देखने लगता है, जिस रूपकी रवयं कवि या लेखकने कभी कल्पना भी न की थी। साथ ही केवल वस्त और उसके प्रभाववर्णनमें ही आलोचनाकी सार्थकता नहीं है। उसकी सार्थकता कलात्मक कृतिके देखने-सुननेके अनुभवका मूल्यांकन करना है। रचनाविधि भी किसी रचनाका महत्त्वपूर्ण पक्ष मानी जा सकती है, किन्तु वहीं सब कुछ है, ऐसा मानना ठीक नहीं। अनुभव भी ध्यान देने योग्य है। आलोचनामे साहित्यिक या कलात्मक शब्दोंके रूप और शक्तिको समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। आलोचक्को शाब्दिक और तार्किक गोरखधन्धेसे सावधान रहना चाहिये। अपने पाण्डित्यकी ज्ञोंकमें यदि वह आवश्यकतासे अधिक अनेक विषयोंका आश्रय महण करेगा तो अपने ही लिए उलझनें पैदा करेगा। और फिर, कला, कलाक उद्देश्य, कलाकारके कर्तव्य आदिवे सम्बन्धमें अनेक मत है। इन मतीके सम्बन्ध-में एक ही युगमें विभिन्नता नहीं होती, वरन् एक युगके मत पिछले युगके मतसे भिन्न रहते हैं। आलोचकको इन विभिन्न मतोंका अध्ययन करते हुए भी निष्पक्ष रहना चाहिये, जो कोई सरल कार्य नहीं है और तभी आलोचना रचनात्मक साहित्यके सभीप आ जाती है।

आलोचनाकी इन सीमाओंका सिनावलोकन करते समय यह प्रश्न भी उठता है वि. आलोचना रचनात्मक साहित्यसे पहले आती है या साथ-साथ उत्पन्न होती है या बादमें आती है ? आलोचनाका इतिहास यही बताता है कि रचनात्मक साहित्यसे पूर्व आलोचना नहीं हुआ करती। युगके रचनात्मक साहित्यके साथ-साथ भी आलोचना हो सकती है और होती है, किन्त ऐसी परिस्थितिमें युगका महान्से महान् आलोचक भी अपने युगकी महान् कृतियों-का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाता और प्रायः उच्च कोटिकी रचनाओंकी उपेक्षा भी हो जाया करती है। प्रत्येक युगमें इस प्रकारकी भूलें होती हैं। साथ ही एक निकृष्ट रचना उतनी हानिकारक नहीं होती, जितनी एक निक्रष्ट आलोचना। एक निकृष्ट रचना इम न भी पहें तो कोई बात नहीं, किन्त एक निक्रष्ट आलोचनासे किसी सन्दर कलात्मक कृतिको आधात भी पहुँच सकता है। अतएव आलोचकको अत्यन्त सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

आलोचनाकी सामान्य प्रकृति और उसकी विविध प्रमुख-प्रमुख सीमाओंपर विचार करनेके साथ-साथ वह भी सरण रखना चाहिये कि आलोचनाका रूप और उसका ध्येय प्रत्येक आलोचकमे अलग-अलग होता है। किसी एक आलोचना-सम्प्रदायके सिद्धान्त अकाट्य भी नहीं होते। आलोचनामें या तो सामान्य सिद्धान्तोंका निर्धारण किया जाता है या साहित्य और मनुष्यकी चेतना या अनुभूति, साहित्य और जीवन, रूप तथा विषयके पारस्परिक सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है, जो ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार

हम खिड़कीकी बनावट, उसमें लगे शीशे, पँच आदिपर ध्यान न देकर उसमें दिखाई पडनेवाले सुन्दर दृद्योंपर अधिक ध्यान दें। अथवा अन्तमें, आलोचना साहित्यकी वास्तविक स्थितिपर विचार कर सकती है, जिसके फलस्वरूप मूल पाठ-सम्बन्धी आलोचना, वैद्यानिक आलोचना, जीवन-वृत्तान्त-सम्बन्धी आलोचना, ऐतिहासिक आलोचना, मनोवैद्यानिक आलोचना, समाजशास्त्रीय आलोचना, मनोवैद्यानिक आलोचना, निर्णयात्मक आलोचना आदिका आविर्माव होता है। चूँकि प्रत्येक आलोचक अपनेमें एक भिन्न व्यक्ति होता है, अतएव व्यक्तिगत विशेपताओंके कारण आलोचनाके और भी अनेक भेद हो सकते है।

आलोचनाके ध्येयके सम्बन्धमे सयय-समयपर भिन्न-भिन्न विचारधाराएँ रही है। प्राचीन भारतवर्पमें रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदिपर आधारित विचारधाराएँ थीं। पश्चिममें नैतिकता, सौन्दर्यविज्ञान, यथार्थ अथवा अरस्तूके सुपमावाद या रीतिवादसे सम्बन्धित विचारधाराएँ थी। अरस्तूके बाद यूरोपमें आलोचनावादके भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहे है। औचित्य सम्बन्धी अनुभूतिप्रधान, सैद्धान्तिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिकवादी आदि अनेक प्रकारके ध्येय यूरोपमें प्रचलित रहे है, किन्तु सेंटब्यूब, आर्नाल्ड, आडेन आदि प्रसिद्ध विचारकोंकी दृष्टिमें आलोचनाका सर्वोत्तम ध्येय सर्वोत्तम साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओंका पालन करना है। मानवजीवनकी आधारभूत एकता, कलाकारके अनुभव और उसकी कृतियोंका पारस्परिक सम्बन्ध और कलात्मक मूल्यों और जीवनके अन्य मूल्यों में सम्बन्ध स्थापित करना आलोचनाका पुनीत ध्येय है। आलोचना प्रधान रूपसे व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक ही हो सकती है, यद्यपि न्यावहारिक दृष्टिकोगसे दोनोंमें अधिक भेद नहीं है। हेगेल, कार्लाइल, स्पिन्गार्न, कोलरिज, जे० एम० मरी, कैजामियाँ, एड्मण्ड विल्सन, पी० ई० मोर, आई० ए० रिचर्ड स, टी० एस० इलियट आदि यूरोपीय विचारकोंने आलोचनाके ध्येयपर अपने-अपने दृष्टिकोणसे विचार किया है। किसीका दृष्टिकोण व्याख्यात्मक आलो-चनाकी ओर अधिक हुआ है, तो किसीका निर्णयात्मक आलोचनाकी ओर।

आजके वैज्ञानिक युगमें आलोचकों, समीक्षको और आचार्योंकी संख्या अनुदिन बढ़ती जा रही है और कियों या कलाकारों और पाठकोंको बीच बढते हुए व्यवधानको कम करनेके लिए आलोचकोंको सतत प्रयव्ह्यील रहना पड़ता है। यह कार्य स्वस्थ रूपमें सम्पन्न करनेके लिए आलोचकमें सहानुभूतिपूर्ण ष्टिकोएा, साहस, अन्तर्देष्टि, अतीत समस्याओंका ज्ञान, विदेशी साहित्यों और अपने चारों ओरकी दुनियासे परिचय, सौदर्यानुभूतिकी शक्ति या संवेदनशीलता, अध्ययन एवं मननशीलता, किया संवेदनशीलता, अध्ययन एवं मननशीलता, किया कलाकारकी कृतिके साथ तादात्म्य स्थापित करना आदि गुणोंका रहना अत्यन्त आवश्यक है। कोरी 'वाह-वाह' और व्यक्तिगत आक्षेप अवांछनीय है। उसे तो निष्पक्ष होना चाहिये। कलाकारकी भाँति आलोचकका भी अपना व्यक्तित्व होता है। कलात्मक या साहित्यक कृति द्वारा उद्देश हुई प्रतिक्रियाका अपने व्यक्तित्वमें भली भाँति

मन्थन कर व्याख्या और भाषाधिकार सिंहत आलोचकको उसे प्रकट करना चाहिये। इसीलिए आस्कर वाइल्डका कथन है कि आलोचक दूसरोंकी कृति और व्यक्तित्वकी नभी व्याख्या कर सकता है, जब वह स्वयं अपने व्यक्तित्वकी प्रगादता (इंटेंसिटी) पैदा कर ले और तभी वह हैजलिटके शब्दोंभे 'सर्वसाधारणके लिए रसहा' (टेस्टर फॉर दि पब्लिक)का कार्य सफलतापूर्वक निभा सकता है।

एक साहित्यिक या कलात्मक कृति किस रूपमे किसी व्यक्तिमे प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, उसपर उसका क्या प्रभाव पडता है, इसी तथ्यपर आलोचनाके प्रकार आधारित रहते है। आलोचनाके वर्गीकरणकी समस्या 'दृष्टिकोण'पर निर्भर है। 'दृष्टिकोण'का आधार मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, निर्णयात्मक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि कोई भी हो सकता है, अथवा कभी रीति, कभी विषयको भी आधार माना जा सकता है। इन सब बातोसे आलोचनाके वर्गांकरणकी समस्या कुछ उलझ जाती है और इस सम्बन्धमें मतभेद भी उत्पन्न हो जाते है। स्थूल रूपसे केवल इतना कहा जा सकता है कि साहित्यकी आलोचना ही साहित्यिक आलोचना कही जा सकती है और जितने प्रकारके विषय होगे, उतने ही प्रकारकी आलोचना भी जन्म लेगी। आधुनिक साहित्यमें अनेक प्रकारकी आलोचना-प्रणालियोका प्रयोग हुआ है और हो रहा है। आलोचकोके वर्गों और उनके विभिन्न दृष्टिकोणके कारण आलोचनाके अनेक वर्ग दृष्टिगोचर होते है। विषय या देशके आधारपर आलोचनाके प्रकारोका नामकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं समझा जाता। प्रणालियों-के आधारपर वर्गीकरण ही उपयुक्त सिद्ध होता है। प्राचीन भारतमें अनेक प्रणालियाँ थी। यूरोपमे भी समय-समयपर अनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही है और अब भी है। आधुनिक हिन्दी आलोचनामे या तो पूर्णतः प्राचीन रूप या पूर्णतः पाश्चात्य रूप या कभी-कभी दोनोका समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसी आलोचना-प्रणालियोमे ऐतिहासिक, अनुभवात्मक, प्रभावात्मक, निर्णयात्मक, मनोवैज्ञानिकः अभिव्यंजनावादी, नैसर्गिकः जीवनवृत्तान्तीय, तास्विक, मार्क्सवादी, कार्यात्मक, क्रियात्मक, भौतिकवादी, शास्त्रीय, आत्मगत, व्याख्यात्मक, आदि अनेक प्रकारकी प्रणालियाँ प्रमुख है (दे०)। हिन्दीमें ये सब प्रणालियाँ नहीं मिलती। ---ल० सा० वा० हिन्दीमे आलोचनाका वास्तविक प्रारम्भ बदरीनारायण

हिन्दीमे आलोचनाका वास्तविक प्रारम्भ बदरानारायण चौधरी 'प्रेमघन'ने किया। उन्होंने 'आनन्दकादम्बिनी' पित्रका(१८८२)में लाला श्रीनिवासदास रचित 'संयोगितास्वयम्बर'का नाट्य-दोष दिखलाकर और गदाधर सिंह द्वारा अनुवादित 'बंग-विजेता'के भाषा सम्बन्धी दोषोंका निर्वेश कर आलोचना की। इसके अतिरिक्त अन्य तत्कालीन पत्र-पित्रकाओंमें भी पुस्तकपरिचयके समाचार रहा करते थे, उनमे भी कभी-कभी आलोचनाका आभास मिलता था। इस समय दोष-निदर्शन ही आलोचना कहलाता था। किन्तुं दोषोंके साथ गुणोके विवेचनका पहला रूप महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'हिन्दी

कालिदासकी समाछीचना'में मिलता है, जिसमें उन्होंने लाला सीताराम द्वारा अनुवादित कालिदासके प्रन्थोंमें भाषा सम्बन्धी द्वियोंका उल्लेख किया। इसके पश्चात् लेखककी कृतियोंमें दोपनिदर्शनकी प्रवृत्ति प्रवल हो उठी। आलोचक लेखक और कविसे अपनेको विद्वान् समझता और उनकी कृतिके दोष पाण्डित्यपूर्ण शैलीमें दिखलाता।

किन्तु 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका'(१८९७)के प्रकाशन-से समालोचनाको नया बल मिला। उसमें कवियों और लेखकों में साहित्यके प्रति अनुराग और लेखन-सुरुचि उत्पन्न करनेके लिए लेख रहते थे। सन् १८९६ ई०में गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'समालोचना' पुस्तिका निकली। पत्रिकामें जगन्नाथदास 'रत्नाकर'के पद्मात्मक समालोचना-दर्श तथा अम्विकादत्त न्यासकृत 'गयकान्य मीमांसा' जैसी रचनाएँ भी इसी प्रवृत्तिवश लिखी गयी थीं। इनमें साहित्यके गुण-दोप-निदर्शन और गनेपणापूर्ण अध्ययन, दोनों थे। इन आलोचनात्मक रचनाओं के अनुकरणमें समालोचनाएँ लिखी जाने लगीं। नागरीप्रचारिणी समाने अंग्रेजीके समालीचकोंकी विद्वत्तापूर्ण, द्वेपहीन और सहानु-भतिपरक आलोचनाका आदर्श उपस्थित किया। इस प्रकार प्रारम्भिक आलोचनाके विकासमें महावीरप्रसाद दिवेदी तथा 'सरस्वती' पत्रिकाका विशेष प्रोत्साहन रहा। सन १९०० ई०में महावीरप्रसाद दिवेदीने 'विक्रमांकचरित-चर्चा', 'नैपथचरित-चर्चा' जैसे समालोचनात्मक लेख लिखे।

बीसवीं शतीके प्रथम चतुर्थाशमें महावीरप्रसाद दिवेदी, मिश्रवन्यु, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दर दास तथा रामचन्द्र शुक्त प्रभृति लेखकोंके योगसे आलोचनाकी विशेष समृद्धि हुई और वह साहित्य-का एक महत्त्वशाली रूप बनकर सामने आयी।

इस कालमें परिचय-प्रधान, गवेषणा-प्रधान, सिद्धान्त-प्रधान, शास्त्र-प्रधान, प्रभाव-प्रधान, तुलना-प्रधान और चिन्तन-प्रधान आलोचनाकी प्रवृत्तियाँ सम्मुख आर्थी।

परिचय-प्रधान आलोचनाका जन्म पुस्तकोंके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होनेका निर्णय देने और कवियों तथा लेखकोंन्की कृतियोंका विद्यापन करनेकी प्रवृत्तिने हुआ, जिसके लिए मासिक पत्र-पत्रिकाओंके अलग स्तम्म खुले। 'समालोचक' (जयपुर) और माधव मिश्रका 'सुदर्शन' (बनारस) जैसे पत्रोंमें परिचय-प्रधान समालोचनाकी अधिकता रहती थी। 'सरस्वती'का पुस्तकपरीक्षा स्तम्म (१९०४) भी इसी प्रकारका था, किन्तु कालान्तरमें इस प्रकारकी आलोचनामें विद्यापन, दलबन्दी, मिथ्या प्रशंसा और दोषान्वेषणकी प्रवृत्ति ही विशेष रह गयी।

गवेषणा-प्रधान समाछोचनाका उन्मेष पाइचात्य प्रभाव और प्राचीन साहित्यके प्रति जायत् अनुरागके कारण हुआ। प्राचीन कवियोंके जन्म, स्थान, समय, जीवनी, उनकी कृतियोंमें तत्कालीन समय और समाजके प्रभाव आदिपर खोज करनेके लिए अध्ययन होने लगा। प्रारम्भ-में उत्साह अनुवादोंका रहा। सरयूप्रसाद मिश्रने बंगलासे 'भारतवर्षाय संस्कृत कवियोंका समय-निरूपण' और गंगा-प्रसाद अनिनहोत्रीने मराठीसे 'संस्कृत-कविषंचक'के हिन्दीमें

अनुवाद किये। महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'नैपथचरित-चर्चा', 'कालिदास', किशोरीलाल गोस्वामीके 'अभिद्यान शाकन्तल' और 'पवा पुराण' और चन्द्रथर द्यमी गुलेरीके 'विक्रमी-र्वशीकी मूल कथा ' ठेख भी कवियोंके समय, जीवन-चरित्र तथा कृतिकी प्रेरणा और गुण-दोष सम्बन्धी गवेषणाओं से पर्ण थे। साथ-साथ हिन्दी कवियोंका भी अध्ययन चलता रहा। खोजपूर्ण कार्य करनेमं 'नागरीप्रचारिणी सभा'को सबसे अधिक श्रेय है। हिन्दी कवियों और टेखकोंपर इयामसन्दर दास, इयामविहारी मिश्र और शबदेव विहारी मिश्रने सर्च रिपोर्डे प्रकाशित करायीं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका'में राधाकृष्ण दासके 'नागरीदासका जीवन-चरित', 'मसलमानी दर्पतरोंमें हिन्दी', 'एडविन श्रीन्सका गोसाई तुलसीदासजीका चरित्र', राधाकुष्ण दासके स्रदास-पर लेख भी खोजसे भरे थे। स्यामसुन्दर दासका 'बीसल-देव रासो'पर विस्तृत विवरण, 'हिन्दीका आदि कवि', मंत्री देवीप्रसादका 'पृथ्वीराज रासो'पर अध्ययन तथा तासी, शिवसिंह भेंगर, सर जार्ज श्रियर्सनकी इतिहास-परम्परामें मिश्रबन्धुके 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३-१९१५) जैसे लेख और प्रन्थ मी गवेषणात्मक समालोचनाकी कोटिमें आते हैं।

सिद्धान्त-प्रधान आलोचनामं संस्कृत साहित्य-शास्त्र, पीइचात्य साहित्य-सिद्धान्त तथा दोनोंके समन्वयपर लिखनेकी प्रशृत्ति मिलती है। भरतका रसवाद, मामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रदके अलंकारवाद, वामनका रीतिवाद, कुन्तक्का बक्रोत्तिवाद, आनन्दवर्द्धनके ध्यनिवादके सिद्धान्तोंके अनुसार लिखे गये। बाबूराम वित्थरियाके 'नवरस', कर्न्हेयालाल पोद्दारके 'अलंकार-प्रकाश', 'काव्यकल्पद्धम', अर्जुनदास केडियाके 'भारती-भूषण', लाला भगवानदीनके 'अलंकार-मंजूषा', जगन्नाथ प्रसाद भानुके 'छन्दप्रभाकर' जैसे प्रन्थ, शाल्याम शास्त्रीके 'साहित्यदर्पण'के अनुवाद, 'कविप्रिया', 'रसिक-प्रिया'को टीकाएँ, स्थामसुन्दर दासका 'भारतीय नाट्यशास्त्र' नामक लेख आदि है।

पश्चिमी सिद्धान्तोंके परिपादवेंमें समालोचना करनेकी प्रवृत्ति जगन्नाथदास 'रलाकर'के पोप-रचित 'एसे ऑन क्रिटिसिडम'के प्रधारमक अनुवाद 'समालोचनादर्श'में लक्षित होती है। आगे छोटे-छोटे निवन्धोंमें पश्चिमी आदर्श दिखलाई पढ़ते रहे। पद्धमलाल पुन्नालाल बुख्डिके विश्वस्साहिस्य'में पश्चिमी सिद्धान्तोंका प्रतिपादन भी है। पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तोंके समन्वयात्मक दृष्टिकोणसे लिखे गये रामचन्द्र शुक्कते लेख हैं तथा स्यामसुन्दर दासकृत 'साहित्यालोचन' (१९२२) है। बँगलासे द्विजेन्द्रलालकृत 'कालिदास और भवभूति'का हिन्दी अनुवाद भी इसी श्रेणीका ग्रन्थ है।

शास्त्रीय या शास्त्र-प्रधान आलोचनाका प्रारम्भ
महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रवन्धुने किया । इस कोटिकी
आलोचनाका आदर्श संस्कृत अलंकार-शास्त्रके अनुसार
कृतीकी कृतिकी आलोचना करना था। महावीरप्रसाद
द्विवेदोके 'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा,' 'नैषधचरित' तथा
मिश्रवन्धुकी 'हम्मीर हठ' काव्यपर और श्रीधरकी भूषणपर
आलोचनाएँ इसी प्रकारकी हैं। मिश्रवन्धुका 'हिन्दी नव-

रत' (१९१०-११) इस प्रकारकी आलोचनाका उत्तम ग्रन्थ है।

प्रभाव-प्रधान आलोचना सिद्धान्त-विरोधी है। इसने शास्त्रीय मान्यताओंसे अधिक महत्त्व व्यक्तिगत रुचि, भावना, जीवनादर्शको दिया। इसमें समालोचक समालोच्य कृतिकी आलोचना करते समय अपनी ही भावनाओके अनुसार निर्णय देता है। पद्मसिंह शर्माकी 'विहारीकी सतसई, 'सतसई-संहार' ऐसी ही रचनाएँ है।

तुलना-प्रधान आलोचनामं कवियो और लेखकोंकी कृतियोंकी अन्य भाषा-साहित्योंकी रचनाओसे तुल्ना की जाती है। इस कोटिमें पचिसह शर्माकृत 'विहारी और फारसी किन सादीकी समालोचना,' 'भिन्न भाषाओके समान्यार्थी पय,' 'संस्कृत और हिन्दी किनताका विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव,' 'मिन्न भाषाओका विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव,' 'मिन्न भाषाओका विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव,' जैसे लेख, 'विहारीकी सतसईकी गाथा सप्तश्रती और अमरुक शतकवाले अंश,' कृष्णविहारी मिश्रके 'देव और विहारी,' भगवानवीनके 'विहारी और देव' जैसे ग्रन्थ आते है। कृष्णविहारी मिश्रका 'विहारी और दास' लेख भी इसी प्रकारका है।

चिन्तन-प्रधान आलो चनाका स्त्रपात रामचन्द्र शुक्तने किया। इसमे वैद्यानिक पद्धतिपर कवि या लेखकके
काल, जीवन-चरित्र, वातावरण, परिस्थिति, इनका उनकी
कृतियोंपर प्रभाव, साहित्यिक परम्परामे उनका स्थान, लोक-संग्रह आदिपर दृष्टि केन्द्रित रहती है। रामचन्द्र शुक्ककी
'जायसी ग्रन्थावली' (१९२२), 'तुल्सी ग्रन्थावली' (तृतीय भाग), 'भ्रमर गीतसार'की भूमिकाएँ इसी भॉतिकी हैं।

बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थाशमें नवीन सांस्कृतिक उत्थान, पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति, उच्च कक्षाओमें हिन्दीके अध्ययन, भाषाकी बढी हुई अभिन्यंजना-शक्ति और राम-चन्द्र शुक्क तथा स्यामसुन्दर दासके कर्मठ व्यक्तित्व इत्यादि अनेक कारणोंसे आलोचनाका नवीन ढंगसे विकास हुआ। इस कालमें काव्य-कृतियाँ भारतीय आदर्शनादी रसनादकी कसौटीपर देखी जाने लगी और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य-रूपोंकी आलोचना पाश्चात्य सिद्धान्तोके अनुसार होने लगी। पाश्चाल प्रभावके कारण कृतियो और क्रतिकारोंको जीवनकी यथार्थ और वास्तविक परिस्थितियोंसे सम्बद्ध करके देखा जाने लगा। साथ-ही-साथ व्यक्ति और समाजके मनोविज्ञानको ध्यानमें रखकर न्याय और निर्णय करनेकी प्रवृत्ति बढी। विषय-प्रतिपादनमें निर्णयात्मक, विवेचनात्मक और निगमन भाषा-शैलियोंका प्रयोग हुआ। वस्तको वैज्ञानिक पद्धतिसे देखनेके आग्रहके कारण प्रभाव-वादी समालीचना समाप्तप्राय हो गयी, विन्तु रचनाके साथ रचियताका अभिन्न सम्बन्ध माना गया और रचनाको समझनेके लिए रचयिताको पहले समझ लेना अनिवार्य बताया गया। फलतः रचयिताके पूर्वाग्रह, व्यक्तित्व, प्रभाव, कुण्ठा, अतृप्ति, रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार आदिका भी अध्ययन आलोचना बनकर आया।

इस कालमे आलोचनाको कई रूप मिलते है। पहला रूप, इसमें आलोचनाका आदर्श रामचन्द्र शुक्तकी पद्धति है, जिसमें समालोच्यके जीवन, उसके वातावरण, परिस्थित, न्यक्तित्व, काल, समाज, जीवनादर्शकी न्याख्यां की

जाती है और शोल, लोक-संग्रह तथा रसकी कसौटीपर कस-कर निर्णय किया जाता है। कृष्णशंकर शुक्क 'किवर रक्षाकर', 'केशवकी काव्यकला', विश्वनाथप्रसाद मिश्रके 'बिहारीकी वाित्वभूति', गंगाप्रसाद सिंह अखीरीके 'पद्माकर-की काव्य साधना', रामकुमार वर्माके 'कबीरका रहस्यवाद' हजारीप्रसाद दिवेदीके 'सुरसाहिस्य', 'कबीर', राजबहादुर लमगोडाके 'विश्व साहित्यमे रामचरितमानस', धर्मेन्द्र महा-चारीके 'गुप्तजीकी काव्यथारा', गिरजादत्त शुक्क 'गिरीश'के 'महाकवि हरिऔय' जैसे ग्रन्थ इसी प्रकारके है।

दूसरा रूप, विश्वविद्यालयोकी डी॰ फिल्, पी-एच-डी॰ और डी॰ लिट्॰ की थीसिसोमे मिलता है। इनमे गम्भीर अध्ययन, तटस्य दृष्टिकोण, तथ्यकी मौलिक व्याख्या अथवा गवेषणा, बौद्धिक विवेचनका आग्रह रहता है। यह कार्य भाषा और भाषाविज्ञान सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यके इतिहास सम्बन्धी, काव्यकी विशेषधारा या प्रवृत्ति सम्बन्धी, विशेष कवि या लेखक या कृति सम्बन्धी, वर्गविशेषके कविसमूह सम्बन्धी, हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमि, परम्परा, प्रभाव और तुलना सम्बन्धी, साहित्यरूप सम्बन्धी, काव्यशास्त्र सम्बन्धी, लोकसाहित्य सम्बन्धी, अनेक रूपमें प्राप्त है।

तीसरा रूप, जिसमें कविकी विशेष रचनाका सूक्ष्मतम अध्ययन किया जाता है। ध्वनि, शब्द, पंक्ति, पद्य, प्रभाव, सभीपर गहरी दृष्टि डाली जाती है। भगवतशरण उपाध्याय-की 'नूरजहां' इसी प्रकार की है।

चौथा रूप, जिसमे समालोच्यके पात्रो द्वारा ही उसके दोषोंपर प्रकाश डाला जाता है। नगेन्द्रका 'हिन्दी उपन्यास' निवन्थ और नरोत्तमप्रसाद नागरका 'शुतुर्मुग पुराण' भी इसी प्रकारकी रचनाएँ है।

पाँचवाँ रूप, प्रगतिशील समालोचनाका है, जिसमें मार्क्सवादी सिद्धान्तोपर समालोचना की जाती है। कृति और कृतीके महत्त्वको यथार्थ सामाजिक जीवन और उसके कल्याणकी दृष्टिसे निर्धारित किया जाता है। मन्मथनाथ ग्रुप्त और रमेन्द्र वर्माका 'कथाकार प्रेमचन्द' ऐसा ही ग्रुप्त है।

छठा रूप, उन समालेचनाओंका है, जिनमें पूर्वा और पश्चिमी साहित्य-शास्त्रके सिद्धान्तोंके समन्वयपर आलेचनाएँ की गयी है। शिवनाथके 'आचार्य रामचन्द्र शुक्क' तथा नगेन्द्रके 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' ऐसे ही ग्रन्थ है।

सातवाँ रूप, पुस्तक-परिचय है, जो पाक्षिक और त्रेमा-सिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओंमें मिलता है, जिनमे पुस्तकके कलेवरसे लेखक और प्रतिपादित विपयतकका संक्षिप्त परिचय रहता है। — वि० रा०

पहता ह । ——विकर्ण अलोचना-पद्धित काफी पुरानी है और अंग्रेजी साहित्यमें इसकी मान्यता सिद्ध हो चुकी है। इस पद्धितिके मूलाधार है निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण। साहित्यिक क्षेत्रमें रचिवैचित्रयकों महत्त्व प्रदान करते हुए भी यह पद्धित व्यक्तिगत अनुभवोकों व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप प्रदान कर साहित्यिक कृतियोंके निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरणमें सहायक सिद्ध होती है और लेखकोंकी मूल भावना और उनकी कृतियोंका

वास्तविक रूप रपष्ट करती है। अनुभवात्मक आलोचक किसी कृतिकी उत्कष्टना, विशेषना आदिके आधारपर विभिन्न वर्ग बनायेगा और उनमे उन कृतियोको यथावन् स्थान देगा। वह कलाको प्रकृतिका ही एक अंग मानता है और उसपर वैसे ही और उसी प्रकारके नियम लाग करता है, जैसे प्रकृतिपर, ताकि उसकी आत्माका स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होने लगे । इस आलोचना-पद्धतिके अनुसार कलाको उन्नति-का कभी अन्त नहीं होता (निर्णयात्मक आलोचनामें प्राचीन युगकी कला पराकाष्टापर पहुँची हुई मानी जाती है), उसका प्रत्येक युगम, निरन्तर विकास होता है। -- ल० सा० वा० आलोचना, अभिव्यंजनावादी-अंग्रेजीमे अभिव्यंजना-वादको एक्सप्रेशनिज्स कहते है। इसका आदर्श वेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६ ई०)के सिद्धान्तपर आधारित है। आधुनिक युगमें रूढि और परम्पराके प्रति विद्रोह एक सामान्य तथ्य है। यूरोपीय साहित्यमे, लैसिंगके बाद कलाका उद्देश्य 'किसी वस्तकी रचना' मात्र न समझकर, भावकी अभि-व्यक्ति माना गया। कलाके सम्बन्धमें यह भावना उन्नीसवीं शताब्दीमें समस्त यूरोपमें प्रचलित थी। बीसवी शताब्दीमें भी कला और सौन्दर्यकी मूल अचेतन वृत्ति यही भावना रही है। क्रोचेने यहा था कि "अभिन्यंजना और ललित-कला एक ही है" अथवा "सभी ललित कलाएँ अभिन्यंजनाएँ है और फलतः सम्पूर्ण अभिन्यंजना ललित कला है।" हमारे मनमें पहले किसी वस्तु या दृश्यके सम्बन्धमें ज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् उसकी प्रक्रिया उत्पन्न होती है। यह ज्ञान भी या तो सहजज्ञान या प्रेरणा (इन्ट्यूशन)के रूपमे आता है, अथवा हमारी निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा उपलब्ध प्रत्यय (कन्सेप्ट)के रूपमें । सहजज्ञान या प्रेरणापर सौन्दर्य निर्भर रहता है और निश्चयात्मिका बुद्धिपर तर्कशास्त्र। क्रोचेने अपनी इस विचारधाराका सम्यक् विकास किया। वास्तवमे उसके मतानुसार मनका सहजज्ञान या प्रेरणा ही आत्माकी व्यक्तिगत क्रिया है और यहां मनुष्यके मनकी सौन्दर्यात्मक वृत्ति है, और कल्पना द्वारा विम्बोंकी खोज होती है, इसलिए कला उसके द्वारा अनुशासित है। सहजज्ञान या प्रेरणा जिस रूपमें प्रकट होती है, वही अभि-व्यंजना है। सहजज्ञान या प्रेरणा और अभिव्यंजना एक-दूसरेकी पर्याय हैं, अर्थात् दोनों साथ-साथ चलती हैं। मनुष्यकी आत्मा केवल द्रव्य (मैटर)की प्रतीति करती है। इसीके सहारे वह अपनेको प्रकट करती है। अभिव्यंजनाका आधार भौतिक न होकर मानसिक है, अर्थात् रूपकी कल्पना करते ही उसकी पूर्ण अभिन्यंजना हो जाती है। चित्र या कवितामें उसकी बाह्य अभिन्यक्तिमात्र होती है, वैसे मनो-भावोको बाम्पाकार प्रदान करते ही अभिन्यंजनावादीकी .स्वतन्त्रताका अपहरण हो जाता है। इस सिद्धान्तका प्रयोग अतियथार्थवादियों (सुररीयलिस्ट्स)ने भी अपने ढगसे किया है। क्रोचेके इन सिद्धान्तोंको अक्षरशः मान्यता प्रदान करनेमें कठिनाई रही है, क्योंकि जब कलाके विषयोका ्षनिष्ठ सम्बन्ध कलाकारके व्यक्तिगत मानसिक जीवनसे ही होगा, तो आलोचक किस बाह्य आधारपर आलोचना करेगा ? साथ ही कलाकारकी मानसिक स्वतन्त्रता अद्भुत्

और विनित्र रूप धारण कर सकती है, जो माधारण व्यक्ति-के लिए निलक्ल बोधगम्य न रह जायगी। बाह्य जगत्में आलोचकोका नियन्त्रण अभिन्यंजनावादिशोको स्वीकार नहीं। फिर इस सम्बन्धमें कलाके प्रसाव, समाजकल्याण, मौन्दर्य और जीवन आदिन सम्बन्धित अन्य अनेक समस्याएँ उठती है। तो भी क्रोचेके सिद्धान्तोको आलो चना-प्रणालीका आधार माना जाता रहा है। अभिन्यं जनावादी आहो पना-प्रणालीमे विषय और उसके गुणोंको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, येवल प्रभावकी अभिन्यक्ति देखी जाती है। उसके मूल या उपयोगिता आदिसे उसका कोई प्रयोजन नही रहता। -ल० सा० वा० आलोचना, आत्मगत-यह व्यक्तिपर आधारित एक नवीन प्रकारकी आलोचना-पद्धति है, जो खच्छन्द व्यक्तिवाद (रोमांटिक उण्डिविज्ञअलिडम) और आत्मचेतनाका परिणाम है। आत्मगत आलोचनाको ही आत्मप्रधान या प्रभावा-भिन्यंजक या प्रभावात्मक या प्रभाववादी आलोचना कहते हैं। दे० 'प्रभावात्मक' आलोचना।--ल० सा० वा० आलोचना, ऐतिहासिक-किभी कृतिकी व्याख्या करते समय रचयिताके पृर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहासका आश्रय ग्रहण करनेसे ऐतिहासिक आलोचना (हिस्टोरिकल क्रिटिसिज्म)का जनम होता है। आधुनिक कालमें इस आलोनना-पद्धतिको काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। इस पद्धतिका व्यवहार करते समय आलोचक साहित्यको समाजका प्रतिबिम्ब मानता है। वह लेखक कालमें उन शक्तियोंको खोजनेको चेष्टा करता है, जहाँ से साहित्यथिशेष-का उद्गम होता है। होमर, टैसीटस, लॉजाइनस, बेकन, मिल्टन, डाइडन, हाब्स, कारलाइल, मैध्यू आर्नाल्ड, फ्रेडरिक शागेल, टी० एस० इलियट आदि पाश्चात्य विचारकों और साहित्यिकोंने साहित्यको सामाजिक एवं ऐतिहासिक शक्तियों से सम्बद्ध करनेका बराबर थोड़ा-बहुत प्रयास किया है और उनके विचारका यह निष्कर्ष सामने आता है कि प्रत्येक कालकी जीवन-सम्बन्धी व्यापक परिस्थितियाँ अपने पूर्ववर्ती कालसे सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न होती है और वे कवि, कलाकार या लेखककी विचारधारा और पद्धतिको प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। फलतः, नये कालके साथ, आलोचना भी नवीन रूप धारण करती है। ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतिकी दृष्टिसे अंग्रेजी साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासकार टेनका विशेष महत्त्व है। उनके हाथों इस पद्धतिका विशेष स्पष्टीकरण और विकास हुआ। जाति (संस्कार) और परिस्थिति (बाह्य प्रभाव)के अतिरिक्त युगकी व्यापक शक्तियोंका प्रभाव उन्हें मान्य है। टेनके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें मतभेद है, विशेषतः मनुष्यके अपने विशिष्ट गुणपर, जिससे मनुष्यके व्यक्तित्वमें अद्भुत विशेषता आ जाती है, टेनने विचार नहीं किया। वास्तवमें कुछ आलोचकोंका तो यहाँतक कहना है कि इस आलोचना-पद्धतिसे युगजीवन समझनेमें अवस्य सहायता प्राप्त हुई, विन्तु कलाकारकी रचनाओंसे हमारा ध्यान हट गया। अधिकसे अधिक इस पद्धतिका कलाकृतिमें, काव्यरचना या नाट्यरचना आदिमें साहित्यिक धाराओं या विचारधाराओंके संकेत प्राप्त करनेमें उपयोग हो सकता है।

ऐतिहासिक अलोचनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत राजनीति, समाजविज्ञान, दर्शनविज्ञान, आर्थिक जीवन, रुढि, शिक्षा आदिसे सम्बन्धित पीठिकामे कालविशेषके साहित्यको समझनेकी चेष्टा तो की जाती है, किन्तु व्याख्यात्मक आलोचक इस पद्धतिका वैद्यानिककी भॉति प्रयोग नही करता । उसका मुख्य ध्येय तो युगकी आत्माको समझना होता है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमे मध्ययुगकी समाप्तिके पश्चात् आधुनिक युगका स्त्रपात हुआ, जिसका नेतृत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने किया। ऐतिहासिक आलोचना-प्रणालीके अनुसार अंग्रेजी राज्यकी स्थापना होनेपर देशमे कौन-कौनसे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, शिक्षा सम्बन्धी आदि परिवर्तन हुए और उनका सम्यक् प्रभाव युगमनपर किस रूपमे प्रडा, इन सब बातोंकी खोज आवश्यक हो जाती है। हमें यह देखना पडता है कि कविने समाजसे क्या लिया और क्या दिया ? ---ल० सा० वा० आलोचना, कार्यात्मक - यह आलोचना-प्रणाली कवि या कलाकारका कार्य सीमित कर देनेके कारण कार्यात्मक कही जाती है। इस प्रणालीके अनुसार कलाकारने जिस साहित्यिक रूपकी रचनाका कार्य अपने ऊपर लिया है, उसी रूपके तत्त्वों और गुणो एवं विशिष्टताओके आधारपर उसका मुल्यांकन किया जाना चाहिये। आलोचक स्वयं कलाकारको मनोनीत विशेष साहित्यिक रूपके रचनावैशिष्ट्यकी सीमासे बाहर जानेकी अनुमति नहीं देता । यदि कलाकार उपन्यास-की रचना करता है तो उसे उसमे नाटकीय समावेश करने-की आवश्यकता नहीं है। आलोचकको भी उसमें केवल उपन्यास-कलाके तत्त्व ही देखने चाहिये, उन्ही तत्त्वोंके आधारपर उसका मूल्यांकन करना चाहिये। उपन्यास-कलामे नाट्य-कलाकी विशेषताएँ देखना निरर्थक है। प्रत्येक साहित्यिक रूपके अपने अलग-अलग गुण है, उनकी अपनी अपनी शैली है। इसलिए एकके गुणो और शैलीका आभास दसरेमे देखना अनुचित है। किन्तु किसी साहित्यिक रूपके विशेष गुणों और शैलीका मूल्यांकन केवल नियमों और सिद्धान्तोंके आधारपर करना ही इस प्रणालीका उद्देश्य नहीं है। कवि या कलाकारकी शैलीका मृल्यांकन उसके व्यक्तित्वके साथ-साथ सम्बद्ध करनेमे कार्यात्मक प्रणाली सहायक सिद्ध होती है। कोरा 'सिद्धान्तवाद' इसमें नहीं है। साथ ही कवि या कलाकारको अपना निर्धारित मार्ग छोड़कर हृदयकी स्वच्छन्दता व्यक्त करनेका भी अधिकार नहीं है। कविकर्मका संयमन इस प्रणालीकी प्रधान विशेषता मानी जानी चाहिये। ---ल० सा० वा० आलोचना, गुणदोषात्मक - यह आलोचना-प्रणाली प्रधा-नतः रूढिपर आधारित रहती है। आलोचना-क्षेत्रमे प्रायः . सब देशोंमें सर्वप्रथम गुण-दोष-दर्शन ही आलोचकोका लक्ष्य रहा हैं। आलोचक रूढि-विपर्यय सहन नही करता। वह कवियों और लेखकोको नवीन विशेषताओं और अन्तःप्रकृतिके विश्लेषणकी ओर ध्यान नहीं देता । उसे रूढिका अनुगमन ही प्रिय और वांछनीय लगता है। इस प्रकारकी आलोचनामें - एक बड़ा खतरा यह है कि प्रायः आलोचक केवल छिदा-न्वेषणतक अपनेको सीमित रखते हैं। विरले आलोचक ही गुण-दोष-निर्देशनमें सन्तुलन रख सके है। हिन्दीमें उन्नीसवी

शताब्दी उत्तरार्द्धमें आलोचना गुण-दोष-विवेचनके रूपमे प्रकट हुई। 'प्रेमधन'ने 'संयोगिता स्वयंवर'की ब्रटियो और दोषोंका वडी सक्ष्मताके साथ उदघाटन किया। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत 'हिन्दी कालिदासकी आलोचना' केवल भाषा-सम्बन्धी दोषों और मूल भावोंको पहुँचे आघातोंकी ओर संदेत करनेतक ही सीमित है। द्विवेदीजीकी अन्य आलोचनाओंमें गुण-दोषोंका ही अधिक उल्लेख है। वास्तवमे आलोचक इस प्रणालीका अनुसरण कर लेखक या कविके व्यक्तित्वकी, उसके युग और युगानुकूल पड़े प्रभावोकी उपेक्षा करता है। केवल गुण-दोष-प्रदर्शन आलोचना-प्रणालीका प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। आलोचना, जीवनवृत्तांतीय-साहित्यका अध्ययन करते समय जाति, परिस्थिति और युगके सम्यक प्रभावान्तर्गत निर्मित साहित्यके व्यक्तित्वके अध्ययनसे भी यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है। इस कार्यके लिए उसके जीवनका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। यरोपमे यह प्रवृत्ति ईसाकी सोलहवी शताब्दीसे दृष्टिगोचर होती है। अठारहवी शताब्दीमे जान **बाइडन द्वारा उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । ब्राइडन और जान्सन-**ने जीवनचरित और आलोचनाका अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। अर्थहीन बातोंका उल्लेख करनेसे इस प्रणालीमें कोई सहायता नहीं मिलती। वास्तवमे जीवनका अध्ययन करना उन प्रभावोंका अध्ययन करना है, जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है। कृतियों और जीवनका पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध आलोचकके लिए उपयोगी सिद्ध होता है। चरित्रका जितना अधिक पूर्ण विइलेपण होगा, उतना ही अधिक विदलेषणमे स्पष्टता आयेगी। जीवनवृत्तान्तीय आले।चना-पद्धति प्रतिपादित करनेमे सेण्ट न्युवका प्रधान हाथ रहा है और ऐतिहासिक पद्धतिकी भॉति व्याख्यात्मक पद्धतिसे ही उसका विशेष सम्बन्ध है। सेण्ट व्युवके मतानुसार किसी कृतिकी जानकारी कलाकारके जीवनसे सम्बद्ध है। कृति उसके जीवनका ही सार अंदा है। परिवार, मित्रमण्डली, गोष्ठी, कान्यात्मक या आलो-चनात्मक केन्द्र—वह केन्द्र, जिसमे लेखक अपना रूप धारण करता है-जीवनचरितकी प्रगति, धार्मिक निष्ठा, प्रकृतिप्रेम आदिकी निरीक्षणशक्ति, अन्तर्रेष्टि और निष्ठा द्वारा अध्ययन कर कवि या कलाकारके व्यक्तित्वका स्पष्टीकरण करना जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-पद्धतिका लक्ष्य है। व्यक्तिका विश्लेषण होते ही कृतिका विश्लेषण हो जाता है। प्राचीन भारतवर्षकी आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत कविके सत्संग, देशज्ञान, व्यवहारज्ञान, वाग्विदग्धता, विद्वानींका सत्संग आदिका उल्लेख भी एक प्रकारसे जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका ही रूप है। हिन्दीमें सूर, तुलसी, कबीर आदिका साहित्य भी इसी प्रणालीके अनुसार परखा गया है। यद्यपि इस प्रणालीके सम्बन्धमें जीवनचरितपर प्रकाश डालनेवाली सामग्रीका अभाव, वंशके अनुसार प्रतिभाका ऑकना अथवा प्रतिभाको वंशानगत मानना आदि कठिनाइयाँ है, तो भी उसका प्रचार रहा है। अनेक कलाकार तो अपने जीवनसे अपनी कृतियोंको अलग रखनेमें सफल हुए है और अनेक कलाकार निम्न और साधारण वंशोंमे उत्पन्न होते हुए भी प्रतिभाशाली सिद्ध हुए हैं। अनेक कलाकारोके जीवनका

श्रीष्टा-सा भी विवरण प्राप्त नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें प्रमृत आलोचना-प्रणाली सहायक सिख नहीं होता। यस्तवमें ऐतिहासिक प्रणालीका कलाकारके व्यक्तित्वका दिग्दर्शन करानेमें सहायक न होनेका अभाव जीवनवृत्ता-तीय आलोचना द्वारा पूर्ण हो जाता है, क्योति, इस कला-का अप्रम और विकास द्वात करनेका साधन प्राप्त हुआ, उससे कलासम्बन्धी अनेक गुत्थियों मुल्झानेमें सहायता मिलती है। हमें कलाकारको निवर्धने देखनेका अवसर मिलता है और वह तथा उसकी रचना, दो भिन्न वर्त् एं नहीं रह जाती। कलाकारके जीवनसे सम्बन्धित अनेक वातें तो उसकी रचनाओंमें जाने या अनजानेमें आ जाती है। हम अपने सहानुभृतिपूर्ण अध्ययन द्वारा उनमें उसके विचारों, अनुभवों, भावनाओं आदिवा स्रोत प्राप्त कर सकते है। यह आलोचना-प्रणाली अव भी काफी लोकप्रिय है।

आलोचना, तुलनात्मक-अंग्रेजीमे इसे कम्परेटिव क्रिटि-सिज्म वहते है। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना-प्रणालियोंकी बहुत-कुछ पूर्ति तुलनात्मक प्रणालीसे हो जाती है। उसका सत्रपात उन्नीसवीं शताब्दीसे माना जा सकता है। साहित्यिक प्रभावोंकी खोज करना, अर्थात किसी रूप या शैलीपर किसी विशेष साहित्यिकका प्रभाव खोजना इस प्रणालीका मूल उदेश्य है। तुलनात्मक आलोचनामें बहुत-सी बातें आकर्षक रहती हैं और ऐतिहासिक दृष्टिसे ही उसमें तुलना नहीं रहती, वरन् विचारों और प्रकारोंकी दृष्टिसे भी तलना रहती है। वास्तवमें तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करनेवाला आलोचक व्युत्पत्तिपर विशेष ध्यान देता है। इस कार्यकी प्रतिके लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालोंकी मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगतिका भी अवलोकन करता है। एक ही देशकी विभिन्न साहित्यिक धाराओंका अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इन सबमें वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणालीमें सफल होनेके लिए आलोचकका बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कलाका मूल किसी भी रूपमें स्वीकार करे, किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिये कि उसका प्रधान कर्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है, निर्णय देना उसका कार्य नहीं। साथ ही इस बातपर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओंकी ही हो सकती है। यह बात विषयके अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिन्यंजना-प्रणालीके सम्बन्धमें भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आन्तरिक बातोंकी तुलनाका प्रयास करती है तो और भी दरूह हो जाती है। परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहासके बदले इसमें फिर विचारोंके इतिहासपर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचनामें साहित्य अभिव्यंजनाका साधनमात्र ही नही, मनुष्यके भावों और विचारोका प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतनाका दर्पण है। एक ही कविके कई अन्थोंके आधारपर विषयकी पारस्परिक रूपमें तुलना हो सकती है अथवा एक ही कविकी विभिन्न रचनाओंकी तुलना हो सकती है और अन्तमें एक ही भाषाके या अन्य भाषाओंके तदिषयक कवियों और ग्रन्थोंसे

तुलना हो सकता है—विषय, भाव, भाषा, शैली आदि मभी इष्टियोंने । हिन्दीमें देव और विहारीकी तुलना कुछ दिनोत्क वडी धमधामसे होती रही। -ल० सा० वा० आलोचनाः निर्णयात्मक-अंग्रेजीमें इसे किटिसिडम कहते है। यूरोपमे यह प्रणाली काफी पुरानी है और यह एदा प्रकारकी नैतिक आलोचना होती है। विद्वानोको यह बान बुद्धिमंगत भी जान पड़ती है, क्यों कि आलोचनाका मुख्य उद्देश्य निर्णय हो रहा है। आलोचना-प्रणालीके अनुसार उन मुल्योंकी खोज की जाती हैं, जिनके प्रभावान्तर्गत कवि या कलाकारकी सर्जनात्मक शक्तिका उद्घाटन हुआ है। साथ ही उसके द्वारा रूप और रचना-प्रक्रियाका मृल्यांकन भी होता है। ग्रीसमें आलोचना-प्रणालीका सत्रपात होमरसे माना जाता है। होमरके बाद युनानी आलोचना-क्षेत्रमे सोफिस्ट्स (ताकिको)का स्थान है। वे भाषणकला और व्याकरणमें निपुण होते थे और वे अपने वक्तव्योको अधिकसे अधिक गृढ और चमत्कारपूर्ण बनानेकी चेष्टा करते थे। प्लेटोने कलाका आधार नैतिक और दार्शनिक सत्य माना था और उसे उपदेशसे सम्बद्ध करनेकी चेष्टा की थी। अरस्तने कल्पनात्मक अनुकरण द्वारा सौन्दर्यको अधिक महत्त्व दिया था। हो ।। यसमने कला और साहित्यमें महान् और ऊँचे विचारों, तीव्र मनोवंग, अलंकारोंके जिस्त प्रयोग, पदरचना और वाक्य शैली और चमत्कार द्वारा जल्पन्न आनन्दमय प्रभागीत्पादकताको विशेष मानदण्ट माना । रोममें सिसरो और क्रिटीलियनने भी साहित्यके बाह्य गुणोंपर अधिक जोर दिया। होरेसने औचित्यकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। यूरोपीय मध्ययुगमें भी आलोचकोंका ध्यान अर्थकी अपेक्षा शब्द-योजना, रूप-सौन्दर्यकी ओर अधिक गया। पुनरुत्थान-कालमं इटली, इंग्लैण्ड आदि देशोंमें आलंकारिकता, रूप, शैली, सौन्दर्ययुक्त प्रस्ततीकरणके अन्तर्गत आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध किये गये। आलोचकोंका ध्यान बराबर शास्त्रीय मतकी ओर गया। फ्रांसमें भी अरस्तू, होरेस, वर्जिल आदिके नियमोंकी मर्यादाकी सुरक्षा बनी रही। नवशास्त्रीय कालमें शास्त्रीयताका पूरा पक्षपात दृष्टिगोचर होता है। इस कालमें कुछ नियम प्रचलित थे और उनमें एकरूपता थी। रोमांटिक कालकी आलोचना-प्रणालीमें कोई एकरूपता नहीं। उन्नीसवीं शताब्दीमें भी आलोचकोंका ध्यान शास्त्रीयताकी ओर रहा है। भारतवर्षमें भी काव्यशास्त्र और साहित्यालोचनका आविर्भाव अति प्राचीन कालमें ही हो गया था। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक, राजरोखर, धनक्षय, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्योंके नाम और यन्थ लोकप्रसिद्ध है, जिनमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण, काव्य-गुण, काव्य-दोष, गस, रीति, अलंकार, छन्द, नाटक आदि विविध विषयोंपर विचार किया गया है और साहित्यके मानदण्ड स्थापित किये गये हैं। भारत और यूरोपमे कुछ सिद्धान्तों के अनुसार कान्य-समीक्षाका प्रचार रहा है। साहित्यिक रचनाओं में रीति, गुण, अलंकार आदि देखना ही आलोचनाका मान-दण्ड था । कलापक्ष प्रधान था और भावपक्ष एक प्रकारसे छूटा हुआ मिलता है।

निर्णयात्मक आलोचनाके उपर्युक्त संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रणालीका मुख्य ध्येय कविओका मूल्यांकन कर पाठकोंकी सहायता करना रहा है। वह लेखको और कृतियोको श्रेष्ठता या अश्रेष्ठताके सम्बन्धगं निर्णय देती हैं। इस निर्णयमे वह साहित्य और कला सम्बन्धी नियमोंसे सहायता लेती है। किन्तु ये नियम साहित्य और कलाके सहजरूपसे सम्बन्ध न रख, बाह्य रूपसे आरोपित होते हैं और इस प्रकार आहोचनाका अपरिवर्तनकील मानदण्ड स्थापित हो जाता है, जो सदैव प्राचीन साहित्यके श्रेष्ठ गुणोकी अपेक्षा रखता है। निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति या तो बिलकुल ही रूढिसे अलग हटना नहीं चाहती या वह प्राचीन सिद्धान्तोको पूरे तौरसे मान्थता प्रदान नहीं करती और सुन्दरतामूलक सिद्धान्तोको भी उपयोगी मानती है। इन दोनो दृष्टिकोणोंका सामंजस्य भी किया जा सकता है, किन्तु इससे आलोचक भटक भी सकता है। वह रचनापर अधिक ध्यान केन्द्रित न कर मनी-विज्ञान, वानावरण अथवा इतिहासकी ओर अधिक आकृष्ट हो सकता है। इस प्रकारकी पद्धतिके अन्तर्गत आलोचकके ऊपर पडे हुए प्रभावकी अभिव्यक्ति भी कुण्ठित हो सकती है। निर्णयात्मक आलोचनाने साहित्य-समीक्षामें जीवन युग और वातावरण आदिके परीक्षणका महत्त्व कम कर दिया, क्योंकि युग, वातावरण आदि ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ तो सदैव परिवर्तनशील है, इसलिए उन्हें साहित्यका निश्चित मानदण्य नहीं माना जा सकता। कलाका विकास तो देश-कालसे परे हैं। वास्तविक कला किसी भी देश या कालमें आनन्दप्रदायिनी हो सकती है।

मुद्रण-कलाके प्रचारके फलस्वरूप प्रकाशित समाचार-पत्रोंमें पुस्तक-समीक्षाओं द्वारा पाठकोके पथप्रदर्शन और पुनजीवनकालमें यूनानी साहित्यके अध्ययन द्वारा यूरोपमें निर्णयात्मक आलोचना-प्रणालीको विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। क्रियात्मक आलोचना-प्रणालीमे उसका कुछ अंश विद्यमान रहता है। वह शास्त्रीय आलोचनाका व्यावहारिक रूप है। हिन्दीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीकृत और मिश्रबन्धु-कृत आलोचनाएँ निर्णयात्मक ढंगकी आलोचनाको उदाहरण प्रस्तुत काती है। एक आदर्श आलोचक केवल उन्हीं नैतिक मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा करेगा, जो खयं उस रचनामें भिष्यमान होंगे अथवा जो रचनामें निहित मानदण्डकं समीप होगे। वह मैथिली-शरण गप्तकी आलोचना 'निराला'के आधारपर नहीं करेगा अथवा उन्नीसवीं शताब्दीके उपन्यास-लेखक श्रीनिवास दास-की आलोचना प्रेमचन्द्रके आधारपर नहीं करेगा। यदि वह किसी कवि या लेखककी आलोचना उसकी रचनामें निहित नैतिक मानदण्डोंके स्थानपर कुछ भिन्न मानदण्डोंके आधारपर करना चाहता है तो ऐसा करनेसे पूर्व उसे यह स्पष्टतः प्रकट कर देना चाहिये, ताकि पाठक यह समझ सके कि वह निर्णायक के रूपमे हैं या दण्डनायक के रूपमे। दूसरी ओर, प्रशंसकोंको अपने पक्षके समर्थनके लिए भी पूरे तौरसे तैयार रहना चाहिये। निन्दा या प्रश्ला भी एक कलाका रूप ग्रहण कर सकती है, किन्तु केवल निन्दा था प्रशंसा ही साहित्यकी आलोचनाके नामसे अभिहित नहीं की

जा सकती। निर्णयात्मक आलोचनामे आलोचक न्याया-भीशके समान होता है। **अगुख्यात्मक** आलोचनामें आलोचक अन्रेषकके रूपमे रहता है। ---ल० सा० वा० **आलोचना, नेसर्गिक**-इस प्रणालीसे कलावी आलोचककी सहज, स्वामाविक, निरपेक्ष प्रतिक्रियाका चौतन होता है और उसमे व्यक्तिगत रुचि-अरुचि ही मुख्य निर्णायक तत्त्व है। कोई कृति हमे अच्छी लगती है, वस इतना ही यथेष्ट है। क्यो अच्छी लगती है, यह प्रश्न उठता ही नहीं । इसमें आलोचनाकी अन्य जितनी प्रणालियाँ है, सब निरर्थंक समझी जाती है। हमे न तो कलाकारके जीवनका अध्ययन करना है और न देश, काल और परिस्थितिका। कलाकारकी कृति स्वयं अपनेमें कैसी है, यही देखना उसका मूल्य ऑकना है। कलाकारकी अभिन्यंजना-शैलीसे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं । कलाकारकी कृतिकी जो उत्कृष्टता है, केवल उसे ही देखना आलोचकका उद्देश्य होना चाहिये। अन्य बाते अनावश्यक और कृत्रिम है। अन्य किसी उचित नामके अभावमें उसे केवल नैसर्गिक, सहज, खाभाविक आलोचना-प्रणाली कहा जाता है। आलोचना, प्रभावात्मक-इसे अंग्रेजीमे इस्प्रेशनिस्टिक कहते है। यद्यपि सामान्यतः आलोचनाका मूल सिद्धान्त है कि किसी कलाकृतिकी किसी व्यक्तिके मनपर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, इसी बातपर आलोचना निर्भर रहती है, किन्तु प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति स्वच्छन्द व्यक्तिवाद और आत्मचेतनापर आधारित है। यह पद्धति हालमे ही विकसित हुई है। तार्किक दृष्टिसे या मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे किसी कृतिके प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया ही इस आलोचनाका प्रथम सोपान है। कालकमके अनुसार व्यक्तित्व प्रधान आलोचना वादकी चीज है। प्रभावात्मक आलोचनाको ही आत्मगत या प्रभावा-भिन्यंजक आलोचना भी कहते है। कोई बात सनकर, कोई तथ्य देखकर या कोई सुन्दर वर्णन पढकर हममें स्वाभाविक हर्षोछास उत्पन्न होता है, जिसे अंग्रेजीमें 'इण्ट्यूटिव रेस्पोन्स' व.हते है। यदि एक आलोचकमे सत्-असत्का विवेक है और साथ ही उसमे हवीं छासकी भावना है, तो वह शीघ्र ही एक कलात्मक कृतिको भली मॉति हृदयं-गम करनेकी चेष्टा करता है और अन्तमे अपना निर्णय दे डालता है। इस आलोचना-पद्धतिका आदर्शकम रहता है; सहज, आन्तरिक प्रतिक्रिया, कृतिका स्वेच्छापूर्वक ज्ञान और अन्तमें मूल्यांकन । किन्तु साहित्यके इतिहासमे यह कम बदला हुआ मिलता है। प्राचीन कालमें हमें नैतिक मूल्यांकन सबसे पहले मिलता है। विवेकपूर्ण साधनोंका विकास बादको हुआ। इस पद्धतिके अन्तर्गत आलीचक कृति-की कुछ बातोसे प्रभावित होकर कहता है—"मेरा आनन्द स्वयं ही एक प्रकारका फैसला है, दूसरे लोग दूसरे प्रकारका आनन्द प्राप्त करते और व्यक्त करते है। उन्हें अपने जपर पड़ा प्रभाव न्यक्त करनेका पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार हम दोनो कळापूर्ण रचना या आळोचना-कळाकी सृष्टि करेंगे। सारी आलोचनाका उद्देश्य कलासे हटकर उसकी जगहपर कुछ और वस्तु रखना है। यहाँ मै अपनेको रखता हूँ।" किन्त जनतक प्रभाव एक ही व्यक्तितक सीमित रहा, तनतक

उसका विशेष मान नहीं होता—वह व्यक्ति विशेषज्ञ हुआ तो दूसरी बात है। जब उद्यास या प्रभावका साधारणीकरण हो जाता है तो उसका मूल्य दढ़ जाता है। इस पद्धतिका सामूहिक रूप भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें बतावी गयी सिद्धियोंमें मिलता है, जिनका प्रमाण दर्शकोंके हपोछास-स्चक चिह्नों या शारीरिक व्यापारोंसे होता है। हिन्दीमें इस प्रकारको आलोचनाके दर्शन पण्डित प्रवसिंह शर्माकी कृतियोंमें होते हैं। विन्तु इस पद्धतिमें एक दोप खटकता है कि हो सकता है, जो प्रभाव व्यक्त किया गया है, वह आंशिक हो या सम्यक् रूपसे पड़ा प्रभाव न हो और कलाको सम्पूर्ण आत्मा न परखी गयी हो। साथ ही प्रभावात्मक आलोचक होनेकी क्षमता प्रत्येक व्यक्तिमें नहीं पायी जा सकती। इसके लिए तीव्र संवेदनशीलता, चित्तकी गतिशीलता, भावानभृति, वल्पना-शक्ति आदि विशेष गुण अपेक्षित हैं। वास्तवमें प्रभावात्मक आलोचना-पद्धति द्वारा हम साहित्यकी शक्ति पहिन्ताननेमें समर्थ हो सकते हैं, वह हममें नवीन कलात्मक चेतनाका जन्म दे -- ल० सा० वा० सकती है। आलोचना, प्रभावाभिन्यंजक-कलाकृतियोंके निरन्तर अध्ययन द्वारा पाठवको हृदयपर एक प्रभाव या छाप (इम्प्रेशन) पड़ती जाती है, जिससे वह स्वयं यह जान जाता है कि क्या उदात्त और श्रेष्ठ है। यह आलोकना-पद्धति व्यक्तिपर आधारित है । दे०-'प्रभावात्मक --ल० सा० वा० आलोचना'। आलोचना, भौतिकवादी - कार्ल मानर्स द्वारा प्रतिपादित द्रन्द्रात्मक भौतिकवादसे सम्बद्ध होनेके कारण यह आलोचना-प्रणाली भौतिव,वादी आलोचनाके अभिहित भी जाती है। इसे मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना भी कहते हैं। कभी-कभी इसके लिए सामाजिक यथार्थवादी आलोचना अथवा सोवियत समीक्षापद्धति नाम भी प्रयुक्त मिल जाता है, किन्त माक्सैवादी या प्रगतिवादी आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित है।

भौतिकवादी आलोचना जीवनके बहुमुखी पक्षोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर साहित्यका मूल्यांकन करती है। जीवन स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं है, वह निरन्तर गतिशील है, किन्तु प्राचीनके प्रति मोह और नवीनके प्रति आकर्षणके फलस्तर जीवनमें, फलतः साहित्यमें, द्रन्द उपस्थित हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यही द्वन्द्व वर्ग-संवर्षके रूपमें प्रकट हुआ है। कार्ल मार्क्क मतानुसार मानव जातिके इतिहासका विकास उत्पादन और वितरणके साधनों और वर्ग-संघर्षके दो कूलोंके बीच प्रवाहित होता हैं और उसी संघर्षके अनुकूल समय-समयपर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक आदर्श, फलतः साहित्यिक आदर्श, निर्मित होते रहे हैं। सन् १९१८ ई०की रूसी राज्यक्रान्तिके पश्चात कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्भ-संघर्ष साहित्यके मूल्यांकनके आधार निश्चित हुए और अर्थ उसका मूलाधार बना । हमारे आधुनिक जीवनमें अनेकानेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ हैं, जिनसे आजके मानवका जीवन पीडित है।

ऐसी स्थितिमें साहित्यकार प्राचीनताक मोहमें पड़े रहें, यह भौतिकवादी आलोचकको मान्य नहीं। वह द्वनद्वारमक भौतिकवाद और वर्ग संघर्षके आधारपर कलाकारके जीवन और साहित्यकी क्रियात्मकता और गतिशीलताको उभारना चाहता है। कला और आनन्दका परम्परागत अर्थ भी उसे मान्य नहीं। प्रस्तत आलोचना-प्रणालीका राजनीतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है । यही कारण है कि मार्क्स-वादी साहित्य और आलोचनामें प्रचारका अंश भी विद्यमान है। जिस साहित्यका सम्बन्ध कोरी भावकतासे हो, वह भी उसे स्वीकार नहीं । स्वयं मावर्सके विचार यूरोपमें रोमांसवाद (रोमांटिसिज्म)के विरोध और बुद्धिवादी दार्शनिक अतिवा-दियोंके फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। इस आलोचना-प्रणालीके समर्थकोंका विश्वास है कि वर्ग-संवर्षमें प्रत्येक व्यक्तिका झकाव किसी-न-किसी एक वर्गकी ओर अवस्य रहता है। पुँजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक विरोधोंके कारण समाप्त होगी और उसके बाद सर्वहारा-वर्गके हाथमें सत्ता आयेगी, जिसे सर्वहारावर्गका अधिन।यकत्व कहा जाता है। किसी भी साहित्यिक या कलात्मक कृतिमें इसी सर्वहारावर्ग या श्रमिकवर्ग या, कहना चाहिये, व्यापक सामाजिक जीवनमें किसी भी उपेक्षित, पीड़ित और पदद लितके जीवन, उसके हर्प-शोक, सुख-दुःख, पीड़ा-व्यथा, वेदना आदिका मार्क्स-वादी चित्रण होना चाहिये। वास्तवमें साहित्यिक वर्गी-करणके मुलाधारी-सीन्दर्य और उपयोगिता-मेंसे भौतिक वादी आलोचना उपयोगिताको ही अपनी प्रधान कसौटी बनाती है। वह 'कला कलाके लिए हैं'के सिद्धान्तमें विश्वास नहीं रखती। भौतिकवादी या मार्क्सवादी आली-चक कुला और साहित्य द्वारा क्रान्तिकी अवतारणा होते देखना चाहता है ताकि उसका स्वर्णस्वप्न पूरा हो। सामन्तवादी और पूँजीवादी समाजकी छत्र-छायामें उत्पन्न कलात्मक मापदण्ड उसे स्वीकार नहीं। श्रमिकवर्गके अधि-नायकत्वमें निमित वर्गविहीन समाजकी कलाका मापदण्ड मानवकी सेवा होगा। उसमें तथा पिछले मापदण्डोंमें समझौता उपस्थित करना उसे मान्य नहीं, यद्यपि इस मतका पूर्णरूपेण निर्वाह हो नहीं सका। आधुनिक औद्यो-गिक सुगके लिए वह कलाके प्राचीन आदशौंका निर्वाह करना उचित नहीं समझता। इस आलोचना-प्रणालीके सिद्धान्तानुसार व्यष्टिके स्थानपर समष्टिका अधिक महत्त्व है। कार्ल मार्क्सको पारलौकिक या आध्यात्मिक शक्तियोंमें विश्वास नहीं था। उसका विश्वास था कि पार्थिव शक्ति ही सब कुछ है, जिसका मूल अर्थशास्त्र है। राजनीति अर्थशास्त्रकी चेरी है। संसारके निर्माणका कारण भी भौतिक है, न कि दैवी, और ज्ञान-विज्ञानके प्रकाशमें उसकी प्रत्येक स्थितिकी व्याख्या की जा सकती है। उत्पादन और वित-रणके साधनोंमें परिवर्तन होनेके साथ-साथ सामाजिक व्यवस्थामें भी परिवर्तन होता है। अतः कलात्मक और साहित्यिक आदर्श वर्गविशेषके ही हो सकते हैं। रागा-त्मकता अर्थात् हृदय-पक्षके स्थानपर, समाज-विमुखता और प्लायनवादके स्थानपर उसे बुद्धिवाद और समाज-सापेक्षतामें विश्वास है। ईश्वर और धर्मका वह मजाक बनाता है और संसारके बाहर या परे उसके लिए कुछ भी

शेप नहीं। इन सब सिद्धान्तोंके आधारपर भौतिकवादी आलोचक साहित्यका मूल्य समझनेकी चेष्टा करता है। वह मार्क्सवादी जीवनादर्शका पालन होते हुए देखना चाहता है। इस दृष्टिमे इस आलोचना-प्रणालीकी सीमाएँ संक्रचित है। भौतिकवादी था मार्क्सवादीका आर्थिक दृष्टि-कोण अतिपूर्ण है। उसे मानव जातिके सांस्कृतिक भाण्डार-में अभी बहुत-कुछ सीखना और लेना है।—ल० सा० वा० आलोचना, मनोवैज्ञानिक-यह आलोचना-पद्धति बीसवी शताब्दीकी देन है। कुछ रचनाओंका तो आधार ही मनी-वैज्ञानिक होता है, अर्थात् उनमें कवि या कलाकार अपने पात्रोंके मनको व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। ऐसी कृतियो-की आलोचना भी खभावतः मनोवैज्ञानिक ही होगी। किन्तु यह आलोचना वस्तुकी आलोचना होगी, उससे पद्धतिकी सूचना नहीं मिलती। जब पद्धति मनोवैज्ञानिक कही जायगी तो कविके आन्तरिक जीवन, वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावोंमें कृतिका आधार देखा जायगा। जनतक कलाजारका अध्ययन पूर्ण न हो जायगा, तनतक कलाका अध्ययन पूर्ण न हो सकेगा। जब कला कलाकारकी मानसिक प्रवृत्तियोंका ही प्रतिविम्ब है तो आलोचक पहले कलाका मूल स्रोत ही खोजता है। मूलका ज्ञान हो जानेपर शाखाओंका ज्ञान स्वयं हो जायगा। ऐतिहासिक आलो-चनामे देश और जीवनकी बाह्य परिस्थितियोका प्रभाव परखा जाता है, तो मनोवैज्ञानिक पद्धतिमें कलाकारकी आन्तरिक परिस्थितियोंका और जीवन-चरितात्मक आलो-चनामें कलाकारके निजी जीवनसे सम्बन्धित बाह्य परि-स्थितियोका मूल्य ऑका जाता है। इस कार्यमें अब मनो-विद्रलेषण-शास्त्रसे विशेष सहायता ली जाने लगी है। वास्तवमें ऐतिहासिक पद्धतिकी विस्तृत परिधिमे जीवन-चरितात्मक पद्धति दूसरी परिधि है और मनोत्रैज्ञानिक पद्धति भीतरी और तीसरी, फलतः सबसे छोटी परिधि है। किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धतिकी दृष्टिसे समकालीन कलाकारका मन समझनेमें आसानी होती है। पुराने कलाकारोके सम्बन्धमें यह सुविधा प्राप्त नहीं होती। तो भी आलोचक पुराने कलाकारकी कृतिमें गहनतम मानव-स्वभाववाले अंशोंकी महायतासे, जहाँ कलाकारकी आत्मानुभूति विशेष रूपसे व्यक्त होती है, उसका मन समझनेकी चेष्टा करता है।

यूरोपमे उन्नीसवीं शताब्दीसे पहले बहुत कम मनो-वैज्ञानिक आलोचना मिलती है। सर्वप्रथम १८वी शताब्दी-के पूर्वार्क्षमें एडीसनने इस पद्धतिको जन्म दिया। उन्नीसवी शताब्दीमें कवियों और नाटककारोंको व्यवस्थाओं में कभी-कभी मनोविज्ञानका उल्लेख होने लगा था। बीसवी शताब्दीमें तो इस पद्धतिका परिपोपण विशेप रूपसे हुआ है। हिन्दीमें मनोवैज्ञानिक पद्धतिके प्रभारके लिए काफी गुंजाइश है। भारतवर्षमें रचना-शक्तिऔर काव्य-सिद्धान्तों-में मनोविज्ञानका तक्त्व निहित है। रसका तो सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञानको तक्त्व निहित है। रसका तो सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञानको तक्त्व निहत है।

मनोवैज्ञानिक प्रणालीसे साहित्य-निर्माणकी समस्याके विद्रलेषणमें काफी सहायता प्राप्त हुई है। मानव जातिके आदिम जीवनमें कलाके जन्मपर यह पद्धति प्रकाश डालती

है। यद्यति आधुनिक कालमें यह पद्धति विशेष रूपसे लोकप्रिय हुई है, तो भी एक यह प्रश्न सामने आता है कि इस मनोवैज्ञानिक छान-बीनसे स्वयं साहित्यिक रस, आनन्द प्राप्त करनेमें कहाँतक सहायता प्राप्त होती है। उत्तर सम्भवतः बहुत उत्साहजनक नहीं होगा। वास्तवमे मनोवैज्ञानिक पद्धतिका प्रचार साहित्यपर आधुनिक वैज्ञा-निक युगकी छापका प्रमाण है। मनोविज्ञान साहित्यिक आलोचनाका एक अगमात्र हो तो अधिक स्वाभाविक ---ल० सा० वा० आलोचना, मार्क्सवादी-वह आलोचना-प्रणाली , जिसमें कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दृन्द्वात्मक भौतिक और वर्ग-संघर्ष तथा अन्य सभी सिद्धान्तोको साहित्यक। मूल्य निर्धारित करनेकी कसौटी बनाया जाता है, माक्सेवादी आलोचनाके नामने अभिहित की जाती है। दे०-'भौतिकवादी आलोचना'। ---ल० सा० वा० आलोचना, रचनात्मक-रचनात्मक (क्रिएटिव) आलो-चनाको हिन्दीमे क्रियात्मक नाम भी दिया गया है। इस प्रणालीके अन्तर्गत आलोचकके हृद्यमे कलाकारकी कृतिका पुनरुत्पादन ही मुख्य है। कुछ लोगोने इसे साहित्यिक समीक्षाके समान ही माना है। यूरोपमें साहित्यका मृल्यांकन करनेकी विविध प्रणालियाँ रही है। किन्तु स्थूलतः, उन प्रणालियोके अन्तर्गन या तो साहित्यिक कृतियोंका बाह्य रूप परखा गया है, अर्थात् आलोचना करते समय केवल कुछ नियमां और सिद्धान्तोकी कसौटीपर साहित्यको कसा गया है अथवा साहित्यको कवि या कलाकारके मानसिक जगत्वे सम्बद्ध कर, देखनेकी चेष्टा की गयी है। आलोचनाका इतिहास यह बताता है कि समय-समयपर इन दोनो मूल रीतियोंको आधार मानते हुए ही आलोचनाने विभिन्न दिशाओकी ओर विकास प्राप्त किया है। उन्नीसवी शताब्दीके लगभग अन्तमें बेनेदोत्ते क्रोचे तथा अन्य विचारकोने आलोचना-प्रणालीको बाह्य नियमों और सिद्धान्त्रोके स्थानपर—रूढि, व्याकरण सम्बन्धी अथवा छन्द-शास्त्र मम्बन्धी नियमोंके स्थानपर - कविके मनके श्रेष्ठ आधारपर आधारित किया। प्रभाववादी प्रणालीको भी उन्होने अपूर्ण समझा। कलाकारके जीवन और उससे सम्बन्धित बाह्य परिस्थितियोके आधारपर की गयी आलो-चनाको भी उन्होने दूषित ठहराया। वास्तवमे उनका उद्देश्य कलाकारके मनमें पैठकर उसकी कृतिका मूल्यांकन करनेका था। ऐतिहासिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोणींका आश्रय ग्रहण करते हुए आलोचकको कविकी भावानुभृतिको अपनी भावानुभूति बना लेना होगा, अपनेको कलाकारके स्थानमें रखकर अपनी तथा कलाकारकी अनुभृतिमे सामंजस्य उपस्थित कर आलोचना करनी होगी, तभी वह वास्तविक और श्रेष्ठ रूप धारण कर सकती है, ऐसा उन विचारकोंका मत था। इसी आलोचना-प्रणालीको रचना-त्मक आलोचना नाम दिया गया है। कवि या कलाकारके मानसिक बिम्ब और उसके कार्यमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना, जिस मूल चेतनाने कवि या कलाकारके भावजगत्-को आलोकित किया था, वह कहॉतक उसकी कृतिमे दृष्टि-गोचर होती है, ये बातें जानना ही रचनात्मक आलोचना-

का प्रधान उत्तर है। उसके कोई नियम नहीं होते। साहित्य या कलादी राम्यन्धमे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं भी हो सकती है। किन्तु कवि या कला-कारवी मूल चेतना और कृतिमें जितना अधिकरे अधिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकेगा, उतनी ही रचनात्मक आलोचना-प्रणाली सफल होगा। द्रह मनावैजानिकता लिये हुए आधुनिक रचनाओं के परस्वनेमे यह प्रणाली सम्भवतः अधिक सफल न हो, किन्तु प्राचीन सरलहदर कवियोंके आदशोंका मृल्यांकन करनेमे उसमे महायना प्राप्त हो सकती है। अपनी सृक्ष्म निरीक्षणराक्ति, चिन्तन-शक्ति, प्रेरणा, अनुभृति और अभिन्यक्तिके आधारपर कवि या कुलाकारके भाव-जगतका फिरमे उद्घाटन करना ही रचनात्मक आलोचनाकी सफलता मानी जा सकती है। इसमे स्वयं आलोचकका व्यक्तित्व भी उभर आयेगा और तभी कलाकार तथा आलोचकके भावजगत्मे तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। वास्तवमे मूल कृतिका पुनरुत्पादित अनुभव ही आलोचकके चेतनाप्राप्त व्यक्तित्वके सम्पर्कमें आकर स्वयं एक स्वतन्त्र कलाका रूप धारण कर लेता है और रचनात्मक आलोचनामे आलोचकका अपना व्यक्तित्व प्रमुख हो जाता है। भिटिस्टन मरेने अपनी पुस्तक 'कीइम एण्ड रोक्सपीयर'म ऐसा ही सफल और सुन्दर प्रयास किया है। कवि या वजाकार जीवनगत रूपों और दृश्योंका कल्पनात्मक चिन्तन करता है, तो आलोचक कवि या कलाकारकी कृतिका कल्पनात्मक चिन्तन करता है और रचनात्मक आलोचककी कृति ही कलाका रूप धारण कर लेती है। यह आलोनना-प्रणाली निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली, रूढ़ि, अलंकार, नैतिकता, विषयोंकी सीमितता आदिको प्रश्रय नहीं देती। आलोचकका ध्यान कृतिपर केन्द्रित न होकर उसके पुनरुत्पादनपर केन्द्रित हो जाता है, वह स्वयं कलाकार हो जाता है। ---ल० सा० वा० आलोचना, रीति-प्राचीन भारतमें रीतिको कान्यकी आत्मा बतानेका श्रेय आचार्य वामनको है। पदोंकी विशिष्ट रचनाको ही उन्होंने रीतिके नामसे पुकारा है, किन्तु पदोकी विशिष्टताका आधार उन्होंने गुणोंको माना है। इसीलिए रीति-सम्प्रदाय और गुण-सम्प्रदाय लगभग एक ही है। भारतीय आचार्योंने काव्यके अनेक गुणों और तीन रीतियों-का उल्लेख किया है। आगे चलकर इस सम्बन्ध में बहुत अधिक विस्तार हुआ। वास्तवमें रीतिका अर्थ शैली या कहनेका ढंग है। यद्यपि काव्य और रीतिके परस्पर सम्बन्ध की दृष्टिते आचार्योंमें मतभेद रहा है, तो भी इतना तो लगभग सभीने स्वीकार किया है कि रीतिके द्वारा काव्यके परीक्षणमें सहायता मिलती है। कान्यके अंगमें शब्द और अर्थका यथास्थान उचित संयोजन ही रीति है। आधनिक समयमें भी साहित्यके बाह्य रूप और आन्तरिक रूप दोनों-का परीक्षण हुआ है और इस सम्बन्धमें अनेक सिद्धानत भी स्थापित हुए हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि किसीने वाह्य रूपको प्रधानता दी है और किसीने आन्तरिक रूपको । आलोचनाके विकाससे यह अवस्य ज्ञात होता है िक आलोचकोका ध्यान अनुदिन उसके आन्तरिक रूपको - और ही अधिक होता गया है और होता जा रहा है। वे

माहित्य और कलाकी अन्तरातमाकी पहिचाननेकी चेष्टा कर रहे हैं। बाह्य रूपकी परीक्षा वारनेके स्थानपर वे कविकी आन्तरिक प्रेरणा, उसके भावनगत्की जानना चाहते हैं। वाह्य रूपका भी महत्त्व हैं। क्योंकि विना बाह्य रूपके आन्तरिक रूपका अस्तित्व सम्भव हो ही केंने सकता है ? किन्त रानि बाह्य रूपको ही प्रधान माननी है। यहा उसकी असंगति है। -ल० मा० वा १ आलोचनाः वैज्ञानिक-भाषित्य और कलाके क्षेत्रमें वैज्ञानिक प्रणालीका उपयोग हो सकता है या नहा, यह प्रश्न फंटोके समयमे चला आ रहा है। बैसे तो विज्ञान और साहित्य एवं कलामें भेद है। अंग्रेजीके प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड सने इस सम्बन्धम काफी विचार किया है, तो भी विद्यानके विकासके साथ-साथ आलोचनाके सम्बन्धमे वैज्ञानिक आदर्श स्थापित करनेका प्रदन उठता रहा है और यह प्रदन अति प्राचीन कालमें ही उठा था तथा वैज्ञानिक रूपसे साहित्यालोचनकी प्रणालीका प्रचार भी हुआ था, भले ही उसका बहुत अधिक प्रचार न हुआ हो । इतिहासके प्रति अशानके कारण मध्ययुग और पुन-र्जागरण-कालमें वैशानिक प्रणालीका अधिक प्रचार न हो सका। अठारहवीं शताब्दीमें जान्सन साहित्यालीयनमें विज्ञानकी स्थिरता देखनेका इच्छुक था। उन्नीसवी शतान्धी-में फ्रांसमें निश्चित रूपसे विज्ञानके सिद्धान्तीका साहित्यपर आरोपण वरनेका प्रयास किया गया, जिसले साहित्यम वैज्ञानिक प्रणालीकी आलो बनाका जन्म सम्मव हो सका। आधुनिक समयमें इस सम्बन्धमें बाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि विद्यानको तो वह न्यवस्थित तथ्य माना जाता है, जिसके आधारपर सत्य सिद्ध होता है और आली बना साहित्यिक या कलात्मक कृतियोंका अन्तरात्मामं परिभ्रमण द्वारा उत्पन्न प्रतिक्रिया है। इसमें भी विज्ञान किसी व्यापक वस्तु या सिद्धान्तपर विचार करता है और आलोचनामे वैज्ञानिकता होते हुए भी वह विशिष्ट निर्णय है। प्रयोगके फलस्वरूप निकाले गये सिद्धान्तपर भी वह आधारित नहीं रहती। अतः कोई भी वैज्ञानिक प्रणाली ज्योंकी त्यों साहित्यपर आरोपित नहीं हो सकती। आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका तो केवल यही तात्पर्य है कि आलीचक-का विशिष्ट निर्णय भी व्यवस्थित ज्ञान द्वारा समर्थित हो। अनर्गल और आवेगपूर्ण बातोंके वहनेसे आलोचना वैज्ञानिक नहीं होती। आवश्यकतानुसार अन्य वैज्ञानिक निष्वपींका प्रयोग आलोचनामें किया तो जा सकता है, किन्तु विज्ञान या वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपने जुद्ध रूपमें प्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि आलोचक समान परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न निर्णय दे और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित करे। साथ ही वैद्यानिक जितना निष्पक्ष होता है, उतना आलीचक नहीं हो सकता। फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियरने साहित्यके क्षेत्रमें विद्यान-की कार्यकारण और वर्गीकरण आदिकी प्रणाली ग्रहण करना प्रारम्भ किया था। उसने तथा उसके अनुगामियोंने विविध विज्ञानींका आश्रय भी यहण किया। बहुत शीघ आलोचना-क्षेत्रमे तत्सम्बन्धी वाद-विवाद चल पड़ा। इसका मूल कारण यही था कि साहित्यमें विज्ञानके नपे-तले सिद्धान्त

मान्य नहीं है। साहित्य और कलाके सत्य एवं सुन्दरका अनुसन्धान आले।चक भिन्न प्रकारसे करता है। विज्ञानमे वह स्वच्छन्द विचरण कहाँ जो आलोचनामे दृष्टिगोचर होता है। अतः इन सब कारणोंसे वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली सर्वप्राद्य सिद्ध नहीं हुई। साहित्यके क्षेत्रमे कवियो या कलाकारोंकी कृतियोंका अथवा स्वयं उन्हींके व्यक्तित्वका मल्यांकन करते समय 'गणितके नियम' लागू नही किये जा सकते । एक कृति या कविके सम्बन्धमें जो कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, वही सब कृतियों और क वियोके सम्बन्धमे व्यवहृत होगा, ऐसा नही हो सकता। अंग्रेजी साहित्यमे प्रसिद्ध इतिहास लेखक टेनने साहित्यके इतिहासके पीछे कार्यकारण सम्बन्ध खोजनेकी चेष्टा की थी। उसका प्रयास सफल नहीं हो सका, किन्तु उसके माध्यमके द्वारा अंग्रेजीमे आलोचनाकी वैज्ञानिक प्रणालीका जन्म हुआ और लोगोंने विकासवादके वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका साहित्यिक इतिहासपर आरोपण प्रारम्भ कर दिया। इसमें सबसे बडा खतरा साहित्यको गौण और विज्ञानको प्रधान मान लेनेका पैदा हो जाता है। जिस प्रकार आलोचनाकी ऐतिहासिक प्रणालीमे दोष है, उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रणालीसे भी स्वयं आलोचनाको आधात पहुँचता है। हाँ, साहित्यके किसी वर्गविशेषकी अध्ययन-प्रणालीमें वैज्ञानिकता आ सकती है, यधिप वह भी पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकती ! आलोचना-की वैज्ञानिक प्रणालीके सम्बन्धमें विचार-विनिमय बराबर होता रहता है और उसके सम्बन्धमें अनेक रोचक निष्कर्ष सामने आते रहते हैं। स्वयं कवि या कलाकार आली-चकके लक्ष्यमे दूर न हो, इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही वैज्ञानिक प्रणालीपर विचार किया जाना चाहिये। ---ल० सा० वा० आलोचना, व्याख्यात्मक-व्याख्यात्मक आलोचनाको अंग्रेजीमें 'इण्टरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' कहते है । आलोचना-के क्षेत्रमें बहुत दिनोंतक कट्टर रूढ़िवादी आलोचकोके बनाये हुए नियमोंका कठोरताके साथ पालन होता रहा, किन्तु ज्यों-ज्यों साहित्यका विकास होता गया और पाठकोंकी रूचिमें परिवर्तन होने लगा, त्यों-त्यों शास्त्रीय नियमोंकी सर्वभान्यताको आघात पहुँचता गया । खाभाविकताकी ओर लोगोंका ध्यान इतना आकृष्ट होता गया कि शास्त्रीय नियमोंके प्रति अधिक श्रद्धा न रह गयी। व्याख्यात्मक

कृतियों की बन्धनरहित न्याख्याका प्रयास है।
न्याख्यात्मक आलोचनाकी ओर झुकाव जर्मनीके
विचारकों के कारण हुआ। उन्होंने कलाकी बड़ी विशद
और सुक्ष्म न्याख्या की। इंग्लैण्डमें यह मत कार्लाइलके
माध्यम द्वारा हुआ। उसने साहित्यिक और पाठकों के बीच
न्याख्या करनेका भार आलोचनाको सौपा। केवल गुणदोष-विवे-चनवाली आलोचनात्मक पद्धित उसे प्रिय न थी।
कार्लाइलके वाद आर्नाल्डने न्याख्यात्मक आलोचनाको
लोकप्रिय बनाया और पेटरने उसका समर्थन किया।

आलोचना नियमोंके बन्धनोंसे मुक्त और साहित्यिक

किसी भी कलात्मक कृतिमे प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभवजन्य अभिव्यक्ति, ये तीन बार्ते प्रमुख स्थान धारण करती हैं। इस दृष्टिसे व्याख्याताका प्रधान उद्देश्य कृतिको उसके वास्तविक रूपमें देखकर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना है, जो काफो कठिन कार्य है। आलोचकको कलाकार या साहित्यिककी कृतिमें पूर्णनः लीन होकर उसके उस अनुभवका उद्धाटन करना पडता है जिससे उस कृतिकी रचना हुई। रुढि, आलोचकके पूर्वाग्रह, निरोध, भावुकता, सैद्धान्तिक आसक्ति, रचना-कौशल सम्बन्धी पूर्व-कल्पनाओ आदि बातोसे व्याख्यात्मक आलोचनामे बार्धा पड़ती है। न्याख्यात्मक आलोचनाका आश्रय ग्रहण करनेवाले आलो-चकको अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिए और निष्कपटतापूर्वक व्याख्या करनेकी क्षमता रखनी चाहिए। व्याख्या वास्तवमें कलाकारके भावलोकका फिरसे सर्जन करती है और आलोचना ऐसे भावलोकपर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है, साथ ही कृतिके साथ ऐक्य प्राप्त कर आनन्दका अनुभव प्रदान करती है। भारतवर्षमे जैमिनिकृत दर्शन (पूर्वमीमांसा)में व्याख्या-पद्धतिके दर्शन होते है। अरस्तूकी 'रेट्रिक' नामक रचनामें भी व्याख्याके सम्बन्धमे विस्तारसे विचार किया गया मिलता है।

वास्तवमें न्याख्यात्मक आलोचनाका मूल सिद्धान्त यह है कि हमें आलोचनाके व्यक्तिगत मानदण्ड स्थापित न करके निरपेक्ष मानदण्ड स्थापित करने चाहिए। काव्य या नाटक किसी भी युगके लिए वास्तविकताका चित्रण करते है और व्यक्तिगत रुचिके कारण जो क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती है, उनसे उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। ऐसी अनेक वातोकी दृष्टिसे, जो साहित्यिक या कलात्मक रचना-पर प्रकाश डालती है, इतिहासका विद्यार्थी भी सहायक सिद्ध हो सकता है। पाठ सम्बन्धी अध्ययन, कलाकारके जीवनका अध्ययन आदि सभी बातें आलोचन।त्मक निर्णय-में सहायक सिद्ध हो सकती है। ऐतिहासिक आलोचना भी कृतिके तात्विक रूपको समझनेमे सहायता देती है। अन्तमें ये सभी बातें किसी कृतिके वास्तविक मूल रूपका विवेचन करनेमे सफल हो जाती है। उधर निर्णयात्मक आलोचना आत्मप्रधान आलोचनाकी वैयक्तिक रुचिके कारण आथी हुई अनिश्चितताको यद्यपि बहुत हदतक दूर कर सकती है, तो भी प्राचीन नियमोंकी स्थिरताके कारण निर्णयात्मक आलोचना साहित्यकी प्रगतिमें नाथक सिद्ध होती है। एक युगके बने हुए नियम दूसरे युगमे खरे नहीं उतर सकते। इसलिए इन प्रश्नोंपर विचार कर कि कवि या कलाकारका क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, उसने अपने उद्देश्यका किस प्रकार निर्वाह किया है, उसने जो कुछ कहा है वह कहाँतक कहने योग्य था, आदि आलोचनाके मानदण्डको लचीला वनाना ही न्याख्यात्मक आलोचनाकी विशेषता है।

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचनामें प्रायः तीन मेद माने जाते हैं—(१) निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणियोंका भेद स्वीकार करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकारभेद स्वीकार करती है। वह विज्ञानकी मॉति वर्गभेद तो मानती है, किन्तु ऊँच-नीचके मेदमे उसे विश्वास नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी रचनाओंकी विशेषता बता देगी, ऊँच-नीचका

भेद नहीं वरेगी। (२) निर्णयात्मक आलोचना नियमोंको राजकीय नियमोंकी भारत किसी अधिकारसे प्राप्त छआ मानती हैं और उनका पालनकारका अनिवार्य समझनी हैं, किन्त व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमोंको किसी बाह्य अधिकारी द्वारा नहीं, वरन् अपनी ही प्रकृतिके नियम मानती है। पृथ्वी अपने ही नियमने घुमती है, किसी बाख अधिकारीके बनाये हुए नियमोंके अनुसार नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक कवि या कलाकारकी रचनाके नियम उसकी प्रकृति और परिस्थितियोंके अनुकुल होगे। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकारकी अपनी स्रष्टिकी विशेषताएँ स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे निर्जीव पत्थरकी कसौटीपर कसना चाहती है। (३) यह भेद दूसरे भेदके फलस्वरूप है। निर्णयात्मक आलोचना नियमों-को स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है। न्याख्यात्मक आलोचना नियमोंको प्रगतिकोल और परिवर्तनशील मानती है।

हिन्दीमें व्याख्यात्मक आलोचनाका स्त्रपात पण्टित रामचंद्र शुक्क द्वारा हुआ, जिन्होंने तुलसी, सूर और जायसीपर इतिहास, समाज, धर्म, सामान्य जीवन आदिको दृष्टिगत रखते हुए आलोचनाएँ लिखीं।

वास्तवमें निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचनाएँ बहुत कुछ एव-दूसरेपर निर्भर रहती है। बिना व्याख्याके निर्णयमें यथार्थता नहीं आती और साथ ही न्याख्यामे थोड़ा-बहुत नियमोंका आश्रय लेना ही पड़ता है। स्पिन्गानंके मतानुसार प्रभावाभिन्यंजक आत्मप्रधान आलीचना और निर्णयात्मक आलोचना भी एक-दूसरेकी पूरक -- ल० सा० वा० आलोचना, शास्त्रीय-यूरोपमें पुनरुत्थान-कालमें शास्त्रीय आलोचनाकी स्थापना हुई। उस समय प्राचीन ग्रीस और

रोममें ही काव्यात्मक प्रतिभा अपनी उच्च कोटितक पहुँची हुई मानी जाती थी और कविगण उसीका अनुकरण करनेमें अपनी सफलता समझते थे। अस्तु, पुनरुत्थान-कालमें अनेक शास्त्रीय नियम बनाये गये, जिनका अनुसरण कई शताब्दियोतक हुआ । पुनरुत्थान-कालमें मध्ययुगीन कान्य, नाटक, कथासाहित्य आदिकी उपेक्षा की गयी और अरस्तू, होरेस किन्दीलियन आदिका आश्रय ग्रहण किया गया। यूरोप-में शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार या तो मानववाद अथवा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्यके अनुसरणकी वृत्तिके रूपमें हुआ या अरस्तू-के प्रसिद्ध यन्थ 'पोइटिक्स'के प्रभावके रूपमें, या तर्क-प्राधान्यके कारण हुआ । मानववाद प्राचीन ग्रीस और रोम-की मानवताकी खोज, प्राचीन साहित्यकी खोज, प्राचीन साहित्यके अनुवाद और उसके अध्ययनके रूपमें अभिन्यक्त हुआ। फलतः प्राचीन रचनाओंने प्रेरणा ग्रहण कर साहित्यिकोंने काव्यमीमांसा सम्बन्धी यन्थोंकी रचना की और इस प्रकार शास्त्रीय अनुकरणकी परम्पराका जनम हुआ। आलोचकोंका ध्यान कान्यमें शब्दचमत्कार, पद-विन्यास, शब्दयोजना, छन्द, औचित्य आदि बाह्य वातोंकी ओर गया । यह प्रवृत्ति यहाँतक बढी कि पुनरुत्थानकालमें कला और प्रकृति सम्बन्धी मानदण्ड बदलने लगे। ईसाकी १६वीं शताब्दीके लगभग मध्यसे अरस्तुकी शास्त्रीय वृत्ति-

का प्रचार हुआ। तर्ककी प्रधानतासे उसे और भी बल मिला। शास्त्रीय पद्धतिका अनुसरण करनेवाला काव्यात्मक मून्य बाहरसे ग्रहण करता है और अरस्त तथा होरेसको अपना आदर्श मानता है। एलिजाबेथ-कालमे भाषा, छन्द, कविना, तक आदिके सम्बन्धमें शास्त्रीय आलोचनाका ही आश्रय ग्रहण किया गया । उन्नीसवी और बीसवीं शताब्दी-तकमें शास्त्रीय पद्धतिका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आर्नाल्ट, गिलबर्ट मरे और टी॰ एस॰ इलियट जैसे आलोचकोंने अरस्त , होमर अ।दिकी महत्ता किसी-न-किसी रूपमे स्वीकार की है।

भारतवर्षमं तो शास्त्रीय पद्धतिका प्रचार अति प्राचीन कालसे रहा है। उस समय जो साहित्यशास्त्र सम्बन्धी नियम स्थापित हो गये थे, उनके अनुसार आगामी कवियों एवं साहित्यकारोंने काव्यरचना की। श्रव्य काव्य, इदय काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रसनिरूपण, गथ, पद्म, चम्पू, नायक, नायिका, नाट्यरचना आदिके सम्बन्धमें जो नियम निर्धारित हो गये थे, उन्हींके अनुसार साहित्य-समीक्षा की जाती थी। शास्त्रीय शैलीके नियम साहित्यके आधारपर ही निर्मित होते हैं । वास्तवमें साहित्यके सम्बन्धमें जब लोकरुचि म्थायी हो जाती है, तो रचनाओंका विक्लेषण करके सिद्धान्त और नियम स्थापित किये जाते हैं शास्त्रीय पद्धतिको ही अग्रेजीमें 'बलैसिकल' कहते हैं और बाह्य सौन्दर्यकी खोज उसकी विशेषता है। नियमदद्धता उसे या शास्त्रीय शैलीको निर्धारित करती है। शास्त्रीय या 'क्लैसिकल' वृत्तिके विपरीत **रोमांसिकता** है, जिसमें कल्प-नात्मकता और म्बच्छन्दताका प्राधान्य रहता है। किन्त आधुनिक अलोचना शास्त्रीयता रोमांसिकतामें कोई परस्पर विरोध नहीं पाती। वह उसका विरोध यथार्थतासे मानती है। निर्णयात्मक आलोचना शास्त्रीय आलोचनाका ही व्यावहारिक रूप है और उसे सेद्धान्तिक आलोचना भी कहते है। —ल० सा० वा०

आवंती प्रवृत्ति-दे॰ 'प्रवृत्ति', तीसरी।

आवेग-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी; भरतके आधारपर धनक्षय तथा विश्वनाथ आदिने इसकी व्याख्या की है। विश्वनाथके अनुसार इसका लक्षण है—''आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डितां गता । उत्पातजे स्नस्ततांगे धुमाधाकुल-ताग्निजे । राजविद्रवजादेस्त शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादिपांस्वाचाकुलतानिलात् । इष्टाद्धर्पाः शुचोऽ-निष्टाज्ज्ञेयादचान्ये यथायथम्" (सा० द०, ३: १४३-१४५)। सम्भ्रम (घबराइट)को आवेग कहते हैं। यदि वह हर्षसे उत्पन्न होता है तो उसमें अंग संक्वित हो जाता है और यदि वह उत्पातजन्य होता है तो शरीर ढीला पड़ जाता है। युद्धादिके डरसे राजाओं के पलायन, झंझावात, जोरकी वर्षा, अग्नि, हाथी आदिके द्वारा उत्पन्न ध्वंससे लोगों-में जो घबराहट पायी जाती है, उस आवेगको भी संचारी कहते हैं। राजाओंके पलायनसे, हाथी आदिकी तैयारीसे सम्भ्रम उत्पन्न होता है। झंझावातजन्य आवेगसे लोग धृलि-धृसरित होते है, अग्नि-जन्य आवेगसे, धूम आदिसे भगदङ आदि अनुभाव होते हैं। इष्ट-जन्य आवेगमें हर्ष और अनिष्ट-जन्य आवेगमें शोक होता है। इसी प्रकार और भी समझ लेना चाहिये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसके लक्षणको प्रायः संक्षेपमे दिया है-"प्रिय अप्रिय देखे सुने, गात पातसे बेग। होय अचानक भूरि भ्रम, सी बरने आवेग" (दे॰ भाव॰ संचारी) । पद्माकर-'अति डरतें अति नेहते' (जगत०, ५५३) इसे मानते है। उपर्युक्त लक्षणसे स्पष्ट है कि मुख्यतः आवेग या तो हर्ष-जन्य होता है या भय-जन्य। यों तो यह मनका वह वेग है, जो क्रोध, शोक, उत्साह आदिसे भी उत्पन्न होता है। क्रोधमें मारने दौडना, शरीरकी नसोमें तनावका आ जाना दिखाई पड़ता है। शोकमें शरीर शिथिल पड़ जाता है और भावावेगमें लोग आत्महत्यातक कर लेते है। किसी भावकी अतिशयता हो आवेगको जन्म देती है। पद्माकरने हर्ष-जन्य आवेगका एक उदाहरण प्रस्तुत किया है-"ताही समै मोहन सु बॉसुरी बजायी, तामे मधुर मलार गायी और बंसी बटकी। तान लगे लटकी रही न सुधि घॅघटकी, घाटकी न औघटकी बाटकी न घटकी" (जगत०, ५५४)। तुलसीदासने भय-जन्य आवेगका चित्र अंकित किया है-"लागि लागि आगि, भागि-भागि, चले जहाँ तहाँ, धीयको न माय, बाप पूत न सॅभारही। छूटे बार, बसन उधारे, धूम धुंघ अंघ, कहें बारे बूढ़े, बारि बारि, बार बार ही" (कवितावली)। -व० सिं०

आवृत्ति दीपक-दे॰ 'दीपक', पहला प्रकार। आवृत्तिवक्रता-दे०. 'प्रकरणवक्रता', चौथा नियामक । आवृत्तिवाद-प्रायः सभी चक्रवादी (दे० 'सांस्कृतिक च्क्रोंकी आवृत्ति—आवृत्तिवाद—में आस्था रखते है। अनावृत्तिमूलक चक्रवादका उनके बीच कोई मान नहीं । आधुनिक अचक्रवादी समाजशास्त्र भी आवृत्तिवादको प्रश्रय देता हुआ पाया जाता है। सोरोकिनको सामान्य अर्थीमें चक्रवादी नहीं कहा जा सकता। वह न तो समाज अथवा संस्कृतिको शरीरी मानकर चलता है और न उसके जन्म और मरणकी उस प्रकार कल्पना करता है. जिस प्रकार अन्य चक्रवादी। वह महासंस्थानी (दे०)की आवृत्ति-मात्रमें विश्वास करता है, अतः उसे चक्रवादीकी अपेक्षा आवृत्तिवादी कहना ही अधिक ठीक होगा । उसके अनुसार यूरोपमें उसके महासंस्थान-त्रयकी दो बार आवृत्ति हो चुकी है। अब प्रत्यक्षोन्मुख महासंस्थान अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है और परोक्षोन्मुख महासंस्थानकी पुनरावृत्ति होनेवाली है।

अमेरिकाके प्रसिद्ध संस्कृतिशास्त्री क्रोबरकी मान्यता है कि कला, साहित्य, दर्शन, धर्म आदिके क्षेत्रोंमें प्रतिभाओं- का उद्भव प्रायः इक्का-दुक्का नहीं, बिल्क समुदायोंके रूपमे होता है और समाजके लम्बे जीवनमे प्रतिभा-समुदायोंके उद्भवके मौसमकी दो-चार बार आवृत्ति हो जाती है। उसके अनुसार भारतमें प्रतिभा-समुदायोंकी उत्पत्तिके मौसमकी अवतक दो बार आवृत्ति हो चुकी है—एकका काल है ८००-५०० ई० पू०, जिसमें उपनिषदोंका प्रणयन दुआ और बुद्ध, महावीर आदि द्वारा श्रमण-क्रान्ति सम्पन्न दुई और दूसरा वह युग है, जो भारतीय इतिहासका स्वर्ण-युग कहा जाता है और जिसमें विक्रमादित्य, भास्कराचार्य, आर्यभट्ट जैसी अनेक प्रतिभाओंका उदय हुआ था।

वस्तुतः आजके समाजशास्त्री सांस्कृतिक रूपोंकी आवृत्ति-योमें दृढ विश्वास करते हैं, उत्तरोत्तर प्रगति अथवा हासकी करपनाको वे अवैज्ञानिक समझने लगे है। आसक्ति-जब स्नेह क्रमशः अत्यधिक रागरंजित हो जाता है, तब वह आसक्तिका रूप धारण कर लेता है। नारद भक्ति स्त्रके अनुसार गुण-माहात्म्य, स्मरण, दास्य, सख्य, कान्तादि ग्यारह आसक्ति-प्रकार माने गये है (दे०-'आसक्तियाँ')। -वि० मो० श० आसक्तियाँ – आसक्तिका अर्थ है मनका लगाव। भागवत सम्प्रदायके अनुसार परमात्माके प्रति ग्यारह प्रकारसे प्रेम-भक्ति (मनका लगाव) हो सकती है। ये ११ प्रकारकी आसक्तियाँ कहलाती है-(१) गुणमाहात्म्यासक्ति-जिसमें भगवान् या उसके अवतारविशेषके गुणोंके माहात्म्यके प्रति भक्तका आकर्षण होता है, वह गुणमाहात्म्यासक्ति कहलाती है। यथा—"तुम अनादि, अविगत, अनन्त गुन पूरन परमानन्द" (सू० सा०, ना० प्र० स० संस्करण, १६३) । (२) रूपासक्ति-जिसमे भगवानके अवतारविशेषके रूपके प्रति भक्त या साधकका मन मुन्ध हो उठता है, उसे रूपासक्ति कहते है। यथा—"या मोहनके रूप छुभानी। सुन्दर बदन कमल दल लोचन बॉकी चितवन मद मुसुकानी" (मी० प०, हिं० सा० स० संस्करण, पृ० ३)। (३) पूजासक्ति—जिसमें भगवान्के अवतारिवशेषकी पूजा या अर्चना की जाती है, वह पूजासिक कहलाती है। यथा—"आगे देखि राम तन स्यामा । सीता अनुज सहित सुख्धामा ॥ परेउ लकुट इव चरनहिं लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी ॥ तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार । निज आश्रम प्रभू आनि करि, पुजा बिविध प्रकार ॥ रा० च० मा०, अ०का०, दोहा १०)। (४) स्मरणासक्ति-जिसमें भक्त भगवान्के गुण, कृत्य, नाम आदिका स्मरण कर सुखी होता है, वह स्मरणासिक्त कही जाती है। यथा-"जो सुख होत गोपालहिं गाये।सो सख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ नहाये॥" (स्०सा०, साहित्य भवन लिमिटेड संस्करण)॥ (५) दास्यासक्ति-जिसमें भक्त दास-भावसे अपने भगवान्की भक्ति करता है, उसे दास्यासक्ति कहते हैं। यथा—"अब लौ नसानी, अब न नसैही। मन मधुकर पन करि तुलसी र्घपतिपद-कमल बसैहौ॥' (वि०प०,प०सं० १०५, गीता प्रेस, गोरखपुर) । (६) सख्यासक्ति—भगवानुके प्रति सखा-भावसे की गयी भक्तिको सख्यासक्ति कहते है। यथा—"खेलत मे को काको गुसइयाँ" (सु०सा०सा०, पू० ३१)। (७) कान्ता-सक्ति-इस प्रकारकी भक्तिमें सगुण या निर्गुण भक्त अपने भगवान्की प्रेयसी भावमे उपासना करता है। यथा-'मैं तो सॉवरे रंग राची। साजि सिंगार बाँधि पग घुँघर, लोक लाज तिज नाची। मीरॉ श्रीगिरधर लाल सूँ, भगति रसीली जॉची ।। (मी० प०, हि० सा० स० संस्करण, पृ०६)। "हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव। हरि बिन रहि न सके मेरा जीव ।। किया सिगार मिलनके ताई। काहे न मिलौ राजाराम गुसाँई ॥" (क० अ०, ना० प्र० स०, पृ० १२५)। (८) वात्सल्यासक्ति-इसमें भगवान्के प्रति वात्सल्य भाव व्यक्त किया जाता है। यथा—"सिखवत

चलन जुलोहा भया। अरवराह कर पानि गहावन, डगमगाइ धरनी धरे पेया । नावरंवा सन्दर बदन बिलोकति उर आनँद भरि हेत वलेया ॥"-(मृ०सा०सा०, पृ० २७)। (९) आत्मनिवेदनासिक-इसमे भक्त शीलवश अपने अवगुणीका वर्णन करता है। यथा "अब में नाच्यो बहुत गुपाल। काम क्रोधको पहिरि चोलना कंठ विषयको माल। महामोह-के नुपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल। भूरदासकी सबै अविद्या दरि करी नंदलाल ॥"-(स्०सा०सा०, पृ० १४)। (१०) तन्मयासक्ति-भगवान्के प्रति आत्मविभोरके भावमे ळीन हो जानेको तन्मयासक्ति कहते है। यथा-"कहा कहति मोहि रे माई। नेंदनन्दन नहि जानत में को ही कब तै त मेरे दिग आई। कहाँ गेह, कह मात पिता है, कहाँ सजन गुरुजन केंह भाई।" (स्०सा०सा०, पृ० ७१)। (११) परमविरहासक्ति-इसमे भक्त भगवान्के विरहमें व्याकुल रहता है। यथा—"सखी मोरी नींद नसानी हो। पियको पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो। ज्यू चातक घन कें करै मछरी जिमि पानी हो। ज्यों ज्याकुल बिरहणी सुध बुध बिमरानी हो॥"—(मी० प०, --वि० मो० श० पु० ३३) ।

आसन्-दे॰ 'हठयोग्'।

आहार्य अनुभाव-दे० 'अनुभाव'।

इंगला-पिंगला—सन्त साहित्यमं पद-पदपर इंगला-पिंगला-का उल्लेख वरतुतः इड़ा-पिंगला नामकी उन दो नाड़ियोंसे है, जो सुपुद्राकी दोनों बगलोंमें स्थित मानी जाती है। बॉयी ओरकी नाड़ी इड़ा है, दाहिनेकी पिंगला। इड़ाको सूर्यनाडी—वरणा, गंगा भी कहा जाता है, इसी प्रकार पिंगला चन्द्रनाडी—जमुना और असी (काशीका एक नाला) कहलाती है। सन्तोंने अनुप्रास बैठानेके लिए इड़ाको पिंगलाके समानान्तर इंगला बना दिया है। सन्तोंमें यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट है। अधः ऊर्ध्वको भी इन्होंने ऊर्ध्वके तद्भवरूप उरधकी तौलपर 'अरध' बना दिया है और प्रायः 'अरध उरध' शब्दका प्रयोग 'नीचे-ऊपर', आकाश-पाताल, मूलाधार-सहस्रार आदि अथोंमें किया है। (१० 'हठयोग')।

इंडो-यूरोपियन-दे॰ 'भारत यूरोपीय'।

इंदिरा-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। मानुके 'छन्द-प्रभाकर' (पृ० १६६)के अनुसार नगण, दो रगण और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है। (।।।, sis, SIS, IS )। श्रीधर पाठक तथा मैथिलीशरण गुप्तने इसका प्रयोग किया है—''प्रियतंमे, तपोभ्रष्ट मै भला। मत छुओ मुझे, लौट मैं चला। तुम सुखी रहो हे विरागिनी । वस बिदा मुझे पुण्य ('साकेत', सर्ग ९)। —-ডু০ হ্যু০ इंद्रध्वज-इन्द्रध्वज एक प्रकारका उत्सव होता था। इस उत्सवके सम्बन्धमें 'बृहत्संहिता'में लिखा है कि एक समय असुरोंसे पीड़ित होकर देवताओंने ब्रह्मासे पीडासे मुक्त होनेका उपाय पूछा। ब्रह्माने उन्हें क्षीरसागरके पास नारायणकी स्तुति करनेके लिए भेज दिया। नारायणने प्रसन्न होकर उन्हे एक ध्वज प्रदान किया, जिसके प्रभावसे इन्द्रने असुरोंको मार भगाया। इसी ध्वजाका नाम इन्द्रध्वज

पडा। चेदिराज शिकापालने भी बॉसका खम्भा गाडकर इन्द्रध्वज स्थापित किया था । इसके फलखरूप इन्द्रने उसे वरदान दिया था कि ऐसा करनेवालेकी प्रजाको कोई रोग न होगा। कुछ विद्वानोंने नाटककी उत्पत्तिके मूलमें इसी इन्द्रध्वजको मान लिया है। उनकी दृष्टिमं इन्द्रध्वज-उत्सवके अवसरपर उसी तरहका नृत्य-गान होता है, जैसे यूरोपमं मई-दिवसके उत्सवपर । यूरोपीय नाटकांकी उत्पत्तिका सम्बन्ध मई-दिवसके उत्सवसे स्थापित किया जाता है। पर भारतीय नाटककी उत्पत्तिमे इन्द्रध्यजका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'भरत-नाट्यशास्त्र'में इस बातका उल्लेख अवस्य है कि सबसे पहला नाटक महेन्द्र-ध्वजोत्सव-के अवसरपर ही खेला गया। ब्रह्माने भरतसे कहा था-"महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः ॥५४॥ अय ध्वजमहः श्रीमन् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते। अथेदानीमयं वेदः नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥५५॥", अर्थात् नाट्यवेदके प्रयोगका यह बहुत अच्छा अवसर आ गया है। श्रीमान महेन्द्रके ध्वजका दिन है। इसीके उपलक्ष्यमे आप नाट्यवेदका प्रयोग करके दिखेलाइये।

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वरने कहा है कि नाट्य और नृत्य विशेष रूपसे उत्सव या पर्वके अवसरपर ही दिखलाने चाहिये-''द्रष्टञ्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः", पर इन्द्रध्वज महोत्सवके अवसरपर नाटकके अभिनीत होने और इन्द्रध्वजको ही नाटकोत्पत्तिका कारण मान लेनेमें स्पष्ट अन्तर है। दोनों दो चीजें हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इन्द्रध्वज उत्सव ही नाटकोत्पत्तिका मूल कारण है। **इंद्रवंशा**-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । 'पिंगलसूत्र' (६: ३०)के अनुसार दो तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (SSI, SSI, ISI, SIS) । मैथिलीशरण गुप्तने 'साकेत'में इसका प्रयोग किया है। उदा०-"आते यहाँ नाथ निहारने हमें। उद्धारने या सिख तारने हमें। या जाननेको किस भॉति जी रहे। तो जान हैं वे हम अश्र पी रहे" ('साकेत', 9) 1 इंद्रवज्रा-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका भेद; 'पिंगलसूत्र'

इंद्रवज्रा — वर्णिक छन्दों समक्तका भेद; 'पिंगलस्त्र' (६: १६) और 'नाट्यशास्त्र' (१६: २१)के छक्षणके अनुसार दो तगण, एक जगण और दो गुरुओंके योगसे कृत बनता है (ऽऽ।, ऽऽ। ।ऽ।, ऽऽ), प्रायः ५, ६ वर्णों पर यित होती है पर ६, ५, वर्णों पर यित वाले छन्द भी प्राप्त है। यह संस्कृतका विशेष प्रचिलत कृत्त है। वाल्मीकि, व्यास, अश्वषोष, कालिदास, माम, श्रीहर्ष, केशव (रा० चं०), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली) और अनूप शर्मा-(सिद्धार्थ)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा० — ''धन्या महीमें शक राजधानी। माया सशुद्धोदन धन्यधन्या। धन्या कथा श्रीष्ठन जन्मकी जो। धन्या बनाती कविकीतिको भी' (सिद्धार्थ, पृ० ३२)।

इंद्रिय-दे० 'जगतानुबोध'।

हंदियवाद - यह शब्द हिन्दी समीक्षामें पश्चिमसे आया है। कभी-कभी यह 'हेडानिज्म' या 'इन्द्रियसुखवाद' या केवल 'भोगवाद'के अर्थमें प्रयुक्त होता है और कभी-कभी उसके

दार्शनिक अर्थमें यानी 'सेन्स-परसेप्शन' या इन्द्रियानुबोधता' के अर्थमें प्रयुक्त होता है। साहित्यमें जब-जब निरा भोगवाद वढा — उदाहरणार्थ, रीतिकालीन हिन्दी कवितामें, तब-तब वहाँ 'सेन्सुअल' (इन्द्रिय-परक)की अपेक्षा 'सेन्सुअस' कल्पना-चित्रोका और प्रतिमाओंका काव्यमे अधिक प्रयोग हुआ। कभी-कभी जैसे रथूलके प्रति स्क्ष्म छायावादी विद्रोह था, वैसे ही स्क्मिकी अतिशयताकी प्रक्रिया स्थूलवादमें दिखाई दी। 'अपराजिता'की नन्दद्लारे वाजपेयीने 'अंचल'की कविताके समर्थनमे इसी प्रकारका तर्क उपस्थित किया है। कथा-साहित्यमे इन्द्रियवादकी प्रधानता 'नेचुरलिज्म' या प्रकृतिवादकी ओर साहित्यको ले जाती है। इधर फ्रांसीसी प्रतीकवादियोने, चित्रकलाके विम्बवादकी भाँति, इन्द्रिय-गोचर संकेतोका प्रयोग शुरू किया और हिन्दीकी अत्याधुनिक कवितामें भी उस प्रकारकी रचनाएँ लिखी जाने लगी है। भौतिक-वादी दर्शनके महत्त्वकी प्रस्थापनाके बाद इन्द्रिय-सुख कोई त्याज्य वस्तु नहीं माना जाता। कुछ आधुनिक भारतीय चिन्तकोंका विचार है कि 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शमय' महानन्द-मय सृष्टिका आस्वाद ही मुक्ति है, वैराग्य-साधन नही। इन्द्रियोंकी ईहा की तृप्ति सारे सौन्दर्यशोध और सर्जनात्मक प्रक्रियाके मूलमें है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इन्द्रिय-भोग ही परम साध्य हो, यह दर्शन मनुष्यको पशु-कोटिमें ले आता है। इन्द्रियवाद हो, परन्तु वह प्रज्ञासे नियन्त्रित और समन्वित होना चाहिये।-प्र० मा० इंद्रिय संवेदना-दे० 'संवेदना'।

इड—यह शब्द साहित्यको फायडके मनोविशानकी देन है। 'इड' शब्द जर्मन भाषाका है और इसका प्रयोग नपुंसकिलग सर्वनामके रूपमें होता है, शाब्दिक अर्थमें संस्कृतका 'इदम्' शब्द 'इड'को व्यक्त करता है। परन्तु 'इड'का विशिष्ट मनोवैश्वानिक अर्थ है और इस अर्थमें अभी 'इदम्' हिन्दीमें रूड नहीं हो पाया है, परन्तु कुछ साहित्यिक 'इड'के लिए 'इदम्'का उपयोग करने लगे है।

मानसके जन्मजात, नैसर्गिक पक्षको फायड 'इड' कहते हैं, यह 'लिबिड़ो' (कामशक्ति)का कीष है। इसमें वह सब निहित है, जो हम वंशानुक्रमसे पाते है, अर्थात् 'इड' व्यक्तिके अस्तित्वकी प्रेरक शक्तियों या मूल प्रवृत्तियों-का भण्डार है। फ्रायडके अनुसार ये प्रवृत्तियाँ दो हैं-जीवन-प्रवृत्ति और मृत्यु-प्रवृत्ति । ये प्रवृत्तियाँ ही विशिष्ट इच्छाओंका रूप लेकर परिवेशकी और उन्मुख होती है और इस प्रकार चेतन जीवनको प्रभावित करती है। 'इड'में किसी प्रकारका संघटन या व्यवस्था नही है, यह यथार्थसे पूर्ण उदासीन है और केवल सुखेच्छासे परिचालित होता है इसे शब्दोंमें व्यक्त कर सकना कठिन है-यह हमारे व्यक्तित्वका गृढ अगम्य भाग है। 'इड'में जो कुछ भी होता है, अचेतन रूपसे ही होता है, इसमे और अचेतन मानसमें अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इसका यह अर्थ नहीं कि 'इड' और अज्ञात मन एक ही है, क्योंकि इन दोनों धारणाओंमे थोडा अन्तर है। अज्ञात मनका कुछ भाग अहम्के अधिकारमे भी रहता है। 'इड'को हम प्रबल उत्तेजनाका अन्यवस्थित रूप मान सकते हैं, अहमके विपरीत इसमें कोई निषेध, कोई नियन्त्रण, दोई वर्जना नहीं है। स्वभावतः 'इड'के लिए शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक आदि मूल्योंका कोई अस्तित्व नहीं है, व्यक्तिकी जन्मजात सुखेच्छाकी तृप्ति ही इसका एकमात्र काम है। मानसका प्रारम्भिक और प्रमुख रूप 'इड' है और अहम्का इसीसे विकास होता है। यथार्थसे प्रभावित अहम् (दे०) जब 'इड'की वासनाओंका दमन करता है तो वे पुनः 'इड'में लौट जाती है। यह दमित अंश 'इड'के ही नियमोंका पालन करता है। परन्त यह उत्पत्तिमें भिन्न है, क्योंकि यह अहम् द्वारा दमनका परिणाम है। 'इड'मेसे अहमके विकासकालमे ही यह विभाजन होता है। अहम् 'इड'के कुछ भागपर अधिकार करके उसे पूर्वचेतनस्तरपर ले आता है और शेष 'इड'में ही रहता है। अचेतन और पूर्वचेतन मानस-क्षेत्रोमें परिवर्तन-की सम्भावना रहती है। 'इड'की अचेतन प्रक्रियाएँ पूर्वचेतन बन सकती है और अहम्की पूर्वचेतन प्रक्रियाएँ पुनः चेननमे लौट सकती है।

'इड' और अहम्में कोई मौलिक विरोध नहीं है, वस्तुतः अहम् 'इड'की अन्धवासनाओंकी पूर्तिका बौद्धिक और व्यावहारिक उपाय ही खोजता है। यदि वह सफल रहता है तो कोई समस्या नहीं उठती। जब वह यथार्थ और अन्धवासनाओंमें सामंजस्य नहीं कर पाता और 'सुपरईगो'के नियन्त्रणके कारण दमन अधिक हो जाता है, तो व्यक्तित्वमें अनेक समस्याएँ उठती है, जो जटिल होनेपर मानसिक रोगोंका रूप ले लेती हैं।

आधुनिक कथासाहित्यमें 'इड'की मनोवैज्ञानिक धारणा-का विशेष महत्त्व है। मनोविश्लेषणके प्रभावसे पात्रोंके व्यक्तित्वके इस गृढ और दिमत अंशकी खोज करके उनके अन्तर्बन्दको प्रस्तुत करना अधिकांश कथाकारोकी शैकी बन गयी है (दे० 'अहम्' और 'सुपरईगों')। —प्री० अ० इडा-दे० 'हठयोग'।

इंडिपस मनोग्रन्थि-दे॰ 'मनोग्रन्थि'।

इतिवृत्तात्मक काव्य-दे॰ 'कथाकाव्य', 'चरितकाव्य'। इमेजिज्म-'इमेजिज्म' या विम्ववाद या प्रतिमावाद शब्द-का सबसे पहले प्रयोग अमेरिकाके प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि एजरा पाउण्डने किया। शब्द सांकेतिक है और इंग्लैण्ड तथा अमेरिकाके काव्य सम्बन्धी एक आन्दोलनका निर्देश करता है। उस आन्दोलनका प्रसार १९१० ई० और १९१८ ई०के बीच रहा। आन्दोलनके सिद्धान्तोका आधार टी॰ ई० हुल्मका दर्शन है। हुल्मने काव्यके रोमांटिक दृष्टिकोण-पर गहरी चोट की थी और एजरा पाउण्ड उसके प्रधान समर्थकोंमेसे था। पाउण्डने नये आन्दोलनके समर्थनमें तत्कालीन विशिष्ट प्रतिमावादी कवियोंकी कविताओका एक संग्रह देजिमाजिस्ते भी निकाला, जो इंग्लैण्डमे १९१४ ई०मे प्रकाशित हुआ। इस संग्रहमे रिचर्ड आर्ल्डिस्टर्न, हिल्डा डूलिटिल, आमी लोबेल, एजरा पाउण्ड आदिकी कृतियाँ समाविष्ट थी। इसी प्रतिमावादी आन्दोलनके दृष्टान्तस्वरूप आर्विडन्टन और मिस लोवेलने अमेरिकामे १९१५-१६ और १७ ई०मे तीन-तीन कविता संग्रह . निकाले । इन संग्रहोंके नाम थे—'सम इमेजिस्ट पोएउ्स' (कछ प्रतिमावादी कवि)। इनमें अधिकतर एफ० एस०

प्लिंट, डी॰ एच॰ लारेन्स, जान गूल्ड प्लेचर आदिकी कविताएँ प्रकाशित हुई।

१९१५ ई०वे संग्रहकी स्मिफामे आन्दोलनकी जो घोषणा छपी, उसमें मुलतः ६ प्रतिमावादी सिद्धान्त परिगणित छुए—(१) अत्यलंकरण और अतिरंजनसे भिन्न साधारण भाषाका सही और शुद्ध प्रयोग, (२) नियन्त्रित छन्दों और विविध लयों (रिद्य)का उपयोग नये चमत्कारोके साथ, (३) विषयोंकी विविधता और उनके चुनावोमें आजादी, (४) प्रतिमाओं का निर्वन्ध उपयोग। एजरा पाउण्डने प्रतिमाकी व्याख्या इस प्रकार की 'जो पलवकी एक झपकमें बौद्धिक और भावात्मक (आवेगमय) प्रतिमाका रूप सिरज दे', (५) कविताके प्रभावमें प्रभृत स्पष्टता और शक्ति और (६) भावोंकी सघनता द्वारा प्रवाहकी व्यापकता सोमित कर दी जाय, जिससे प्रभाव केन्द्रित हो जाय।

आन्दोलनके समर्थन और प्रसारके लिए शिकागोस 'पोएटी' नामकी पक पत्रिका भी निकाली गयी, जिसके प्रधान व्यक्तियोंमें डूलिटिल, प्लेचर, ब्लिंट, लोवेल और आस्डिंग्टन थे। प्रतिमावादके आरम्भिक पिताओंमें हुल्म और पाउण्डके अतिरिक्त आनों होल्सके 'फ्रान्तासस्'का नाम भी लिया जाता है। अमेरिकी कवि कार्ल सैग्डवर्गने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लेटर्स दु डेड इमेजिस्ट्स' (मृत पुरोगामियोंमें प्रतिमावादियोंको पत्र)में आन्दोलनके एमिली डिकिन्सन और स्टिफेन क्रेनको भी गिना है। स्वयं सैण्डबर्ग भी प्रतिमावादी कवि है। प्रतिमावादी आन्दोलकोंमें पहले टी० एस० इलियट भी था, पर पाउण्डके साथ ही वह भी इससे कुछ काल बाद अलग हो गया। फिर भी कंराड आरकेन, मेरियन मूर, वालेस स्टीवेन्स और डी० एच० लॉरेन्स इसके सिद्धान्त अपनी कविताओंमें निरूपित करते रहे। प्रतिमावाद रोमाण्टिक विरोधो काव्यधाराका पहला आन्दोलन था, जो वर्तमान बीसवी शतीके मध्यतक —भ० श० उ० चलता रहा है।

ईषस्प्रगल्भवचना-दे० 'मध्या', नायिका । ईसाई धर्म-भारतवर्षमें ईसाई धर्मने कन प्रवेश किया, यह तो निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता, किन्तु ईसा मसीहके अन्यतम शिष्य सेण्ट टामसका ६५ ई०में भारतवर्ष आना कहा जाता है। उन्होंने सिरीयक सम्प्रदायकी स्थापना की । अन्य दो टामसोंका भी इस सम्बन्धमें उल्लेख किया जाता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन टामसोंके आनेसे पूर्व भी ईसाई धर्म भारतवर्षमें प्रवेश कर चुका था और दक्षिणमें मलाबार-तटसे उसका सम्पर्क स्थापित हुआ था। सिरीयक ईसाई धर्म-प्रचारकोंके बाद रोमन कैथोलिक भारतवर्ष आये । ईसाकी बारहवीं और चौदहवीं राताब्दियोंके बीच पोपके प्रवल प्रतापसे सभस्त यूरोपमें कैथोलिक धर्म फैल गया था। इसी धर्मसे जेसुइट सम्प्रदायका जन्म हुआ। १३वीं, १४वी और १५वी शताब्दियोमें जो कैथोलिक भारतवर्ष आये, उनमे अधिकतर पोर्चुगीज थे। उन्होंने तलवारके जोरपर धर्मका प्रचार करना चाहा। पुर्तगाली नरेशोंने धर्मप्रचारार्थ लोगोंको प्रोत्साहन प्रदान किया। .१५४२ ई०में सेण्ट जेवियर नामक प्रसिद्ध जेसुइटने मलाबार

मदरा, मद्रास आदि स्थानोंकी निम्न जातियोंको ईसाई धर्मकी दीक्षा दी। उनके नाद आनेवाले जेसइटॉके मार्गमें अनेक वाधाएं उपस्थित हुई, किन्तु उन्होंने अपना उत्साह न छोड़ा। उन्होंने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन कर कुछ यन्थोंकी रचना भी की। मदुरा, त्रिचनापही, तंजीर, सलेम, मद्रास आदि स्थानोंमें उनका प्रचार-कार्य बराबर जारी रहा। धीरे-धीरे उत्तरभारतमे भी उनका अस्तित्व मिलने लगता है। अंग्रेजी राज्यकी स्थापनासे बहुत पहले अंग्रेज, पोर्चुगीज आदि अनेक ईसाई आगरामें विद्यमान थे। फादर एन्तोनियों द आन्द्रे दे १६०० ई०में भारतवर्ष आये और उन्होंने आगरा अपना केन्द्र बनाया। १६२४ ई०-में वे जहाँगीरके साथ आगरासे दिही तक गये थे। तत्पश्चात् उत्तरभारतमं कई और मिशनों और धर्म-प्रचारकोंका उल्लेख किया जा सकता है, किन्त इस समय अपने प्रचार-कार्यमें उन्हें कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी थी। वास्तवमें जेसइटोका प्रधान केन्द्र दक्षिणभारत ही अधिक रहा। उन्होने दक्षिणकी भाषाओंका अध्ययन किया, अपने धर्मप्रचारके लिए ईसाई साहित्यका निर्माण स्थानीय भाषाओं मं किया, किन्त बाइबिलका अनुवाद वे न कर सके, सम्भवतः भाषा सम्बन्धी कट्टरताके कारण ।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियोंमें भारतवर्षका यूरोपकी विभिन्न जातियोंके साथ सम्पर्क बढता गया-व्यापारके माध्यम द्वारा-त्यों त्यां वह ईसाई धर्मप्रचारकोंका कार्यक्षेत्र बनता गया। तत्कालीन अराजकतापूर्ण राजनीतिक परिस्थितियोंके कारण विध्न-बाधाएँ तो अवस्य उपस्थित हुई, किन्तु कार्य बराबर जारी रहा। १७९३ ई०में विलियम केरे भारतवर्ष आये। १७९९ ई०में टीपू सुलतानके पतनके परचात् विभिन्न मिशनरी सोसाइटियाँ स्थापित हुई। यहींसे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्मप्रचारकोंका इतिहास प्रारम्भ होता है। इस सम्प्रदायका जन्म यूरोपमें १६ वीं शताब्दीमें हुआ था। १७०६ ई०में डेनमार्कसे चतुर्थ फ्रेडेरिककी प्रेरणासे बार्थल जीगनवाला और हेनरी प्लुचु नामक दो ल्रथर-मतावलम्बी भारतमें धर्मप्रचारके लिए मदासके तंजीर जिलेमें उतरे। भारतवर्षमें ईसाई धर्मके प्रचारमें ये दोनों नाम अमर हैं। उनके बाद अन्य अनेक लूथर-मतावलम्बी भारतवर्ष आये, विन्त भारतमें डेनमार्कके राजकर्मचारियोंकी उदासीनता और आर्थिक कारणोंसे उन्हें अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी । अंग्रेजोंकी ईस्ट इण्डिया कम्पनीके प्रारम्भिक दिनोंमें क्लाइव जैसे लोगोंका तो ईसाई धर्मप्रचारकोंसे कोई विरोध नहीं था, किन्त शीघ्र ही कार्नवालिस जैसे व्यक्तियोंको ईसाई मिशनरियोंकी आयोजनाओंमें कोई विश्वास न रह गया। उस समय तो ईस्ट इण्डिया कम्पनीके अधिकारियोंने कुछ ईसाई मिशनरियोंको देशसे निर्वासिततक कर दिया। ऐसे समयमें कैरे और उनके दो साथियों--मार्शमैन और वार्ड-के भारतागमनसे ईसाई धर्मप्रचारके इतिहासका नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। कम्पनीके विरोधके कारण उन्हें कलकत्तासे १५ मील दूर श्रीरामपुरको अपना केन्द्र बनाना पड़ा । तत्परचात् प्रोटेस्टेण्ट मतान्तर्गत् अन्य अनेक मिशनरी सोसाइटियाँ प्रचारक्षेत्रमें आयीं । प्रारम्भमें इन सोसाइटियों-

का कार्य बंगालतक सीमित था, किन्तु ज्यों-ज्यों अंग्रेजी राज्य गंगाकी घाटीमें उत्तर-पश्चिमकी ओर बढता गया. त्यो-त्यो इन मिशनरी सोसाइटियोंका प्रचार-क्षेत्र भी विस्तत होता गया। उन्होंने अनाथालय, शिक्षा-संस्थाएँ और प्रेस स्थापित किये तथा समाचारपत्रोंको जन्म दिया। ईसाई धर्मप्रचारका कार्य बुक सोसाइटियों द्वारा भी किया जाने लगा । इन सब बातोंने केवल प्रचारकार्यमे ही नही, वरन ईसाई साहित्यके निर्माणमें भी सहायता पहुँ चायी। ईसाई मिशनरियोको अपने प्रचारकार्यमे अनेक कठिनाइयोका सामना करना पड़ा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी और कोर्टके डाइरेक्टर भी उन्हें राजनीतिक दृष्टिसे भयावह समझते रहे. किन्त वे अदम्य उत्साहके साथ अपने कार्यमे लगे रहे। १८३३ ई०में पार्लीमेंटमें विल्बफोर्स ऐक्टके पास हो जानेके बाद उनपर लगे प्रतिबन्ध हट गये और अनेकानेक मिझनरी धडाधड भारतवर्ष आकर अपना प्रचारकार्य करने लगे। उन्नीसवीं राताब्दीके पूर्वार्द्धमें लगभग समस्त हिन्दी प्रदेशमे ईसाइयोंके प्रचार-केन्द्र स्थापित हो गये । ईसाई धर्मप्रचारकों-का प्रधान उद्देश्य तो अपने धर्मका प्रचार करना ही था, किन्तु घुणाक्षरन्याय द्वारा शिक्षा, प्रेस, सामाजिक सुधारों आदिके क्षेत्रमें उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया और देशको मध्ययुगीन पौराणिक वातावरणसे बाहर निकलनेका अवसर प्राप्त हुआ।

भारतवर्षकी विभिन्न प्रधान भाषाओं और बोलियोंमें बाइबिलका अनुवाद करनेकी एक बृहत् आयोजना कैरे और उनके साथियोंने बनायी थी। हिन्दीसे उनका तात्पर्य खडी-बोली हिन्दीसे था। इन श्रीरामपुर मिशनरियों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानोंके मिशनरियोंने आगे बढाया । वैसे तो बाइविलका हिन्दुस्तानी अनुवाद १८०५ ई०मे फितरतकी सहायतासे विलियम हण्टरने किया था, किन्तु हिन्दीका सर्वप्रथम अनुवाद टामस कोलबुकने किया, जिसका प्रकाशन १८०६ ई०में सरकारी व्ययसे हुआ। यह अन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हो सका । श्रीरामपुर मिशनरियोंने भारतकी चालीस विभिन्न भाषाओं में धर्मपुस्तकें प्रकाशित करनेकी बृहत् आयोजना निर्मित की, जिसका परिचय उनके दस संस्करणोंसे मिलता है। १८१२ ई० और १८१८ ई०के बीच विलियम वैरेने पाँच जिल्दोंमें बाइबिलका हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया। श्रीरामपुरकी आयोजनाके अन्तर्गत बापटिस्ट मिशनरियोने और उसके 'ब्रिटिश एण्ड फारेन बाइबिल सोसाइटी'ने १८०१ ई० और १८३२ तक हिन्दी (पश्चिमी हिन्दीका एक रूप), अवधी या कोसली, बघेली, बुन्देली, बीकानेरी, बज-भाषा, हडौती, जयपुरी, कन्नौजी, कुमाउँनी, मालवी, मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि हिन्दी प्रदेश तथा भारतवर्षकी अन्य साहित्यिक भाषाओं और बोलियोंमे धर्मपुस्तकोंके पूर्ण या आंशिक अनुवाद प्रकाशित किये।

ईसाई धर्मपुस्तकोंके अनुवादकार्यको दूसरी शाखा हेनरी माटिंन (१७८१-१८१२ ई०)से चली। ईसाई धर्मप्रचारकों-में कैरेके बाद माटिंनका नाम आदरके साथ लिया जाता है। १८०६ ई०से १८०८ ई०तक उन्होंने 'न्यू टेस्टामेण्ट'-की पाण्डलिपि तैयार कर ली थी, जो कुछ संशोधनोंके बाद १८१४-१५ ई०में श्रीरामपुर प्रेससे अरबी लिपिमें प्रकाशित हुई। १८१७ ई०में वह नागराक्षरोंमें मुद्रित हुई। किन्त मार्टिनकी भाषा जनसाधारणमें बोधगम्य नहीं थी। इसलिए 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'की अध्यक्षतामें 'चर्च मिरानरी सोसायदी'की चनार शाखाके ऐन्लो बंडियन मिशनरी, रेवरेंड बाउलेने अरबी-फारसी शब्दोंके स्थानपर संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर १८१९ ई० से उसका प्रकाशन प्रारम्भ किया। १८२६में पूरा 'न्यू टेस्टामेण्ट' छपकर तैयार हो गया। १८३८ ई०मे उसका संशोधित संस्करण श्रीरामपुर प्रेससे निकला । वास्तवमें बादमें जितने भी बाइबिलके अनुवाद हिन्दीमें प्रकाशित हुए, उन सबका मूलाधार बाउलेका यही ग्रन्थ रह । १८३४-१८३५ ई०मे बाउलेने ओल्ड टेस्टा-मेण्टका अनुवाद भी प्रकाशित किया। बादमें विलियम मेट्स, लेसली, इनाइडर आदिने भी बाइबिलके अनुवाद किये अथवा पुराने संस्करणोंका फिरसे सम्पादन किया। १८५० ई०के बाद कुछ पुराने और कुछ नये अनुवाद प्रकाशित हुए। १८५४ ई०में 'नार्थ इंडिया बाइबिल सोसाइटी'ने, १८८३ ई०में 'नार्थ इण्डिया आग्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी'ने और १८९५ ई० में 'कलकत्ता बाइबिल सोसाइटी'ने ओल्ड तथा न्यू टेस्टामेण्टोंका प्रकाशन किया। बीसवी शताब्दीमे बाइबिलका कोई नवीन महत्त्वपूर्ण अनुवाद हिन्दीमें नही हुआ। आवश्यकता पड़नेपर पुराने संस्करणोंकी भाषा सुधारकर उन्हींसे काम चला लिया जाता है। अंगेजीसे अनभिज्ञ अर्द्ध-शिक्षित या अशिक्षित भारतीय ईसाइयोंमे इन अनुवादोंसे लाभ उठाया गया !

वाइबिलके अनुवादोंके अतिरिक्त ईसाई धर्म-प्रचारकोंने खण्डन-मण्डन, उपदेश और भजन सम्बन्धी अनेक अन्य छोटी-बडी पुस्तकों प्रकाशित की । इन पुस्तकोंने उनके मत-प्रचारकी आयोजनामें महत्त्वपूर्ण योग दिया । यह साहित्य सोसाइटियों द्वारा और साथ ही व्यक्तिगत प्रयासोके फल-स्वरूप प्रकाशित हुआ। दाऊदके गीत (१८३६), इंजीलकी तफसीर (१८५०), मतपरीक्षा (१८६१), धर्मतुला (१८८०), हिन्द धर्मका वर्णन (१८९४), गंगाका वृत्तान्त (१८९६) आदि पुस्तकें ऐसी है, जो जे० टो० थाम्पसन, जान पारसंस, जान म्योर, ई० श्रीव्स आदि ईसाई लेखकों द्वारा अथवा 'आगरा एण्ड बुक सोसाइटी', 'क्रिटिचयन लिट्रेरी सोसाइटी', 'क्रिश्चियन वर्नावयूलर एच्युकेशन सोसाइटी', 'अमेरिकन मिशन', 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी' आदिके तत्त्वावधानमें प्रकाशित हुईं। ईसाई लेखकोंकी इन रचनाओं द्वारा खड़ी बोली गद्यकी परम्पराके विकासमे कुछ योग प्राप्त हुआ, किन्तु गद्यका यह रूप शिथिल है—यद्यपि सरल सुन्यस्थित गद्यका नितान्त अभाव नही है। ईसाई लेखकोंकी शैली साहित्यिक गद्य-शैलीको प्रभावित न कर सकी।

[सहायक ग्रन्थ—ए हिस्ट्री ऑव मिशन्स इन इण्डिया: जे० रिस्टर; आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका: लक्ष्मीसागर वाष्णेंय।] —ल० सा० वा० ईहामृग-अचार्य अभिनव गुप्त और रामचन्द्रने ईहामृग-के नामकरणके सम्बन्धमे बताते हुए लिखा है "ईहा चेष्टा मृगस्यैव स्त्रीमात्रार्थांत्रेतीहामृगः" अर्थात् इसमें मृगके तुल्य अरुभ्य कामिनीकी इच्छा नायुक अथवा प्रतिनायक करता

हो। धनंत्रय और विश्वनावनं इसका निवेश करने हुए खिला है 'दिजारायम निष्छन्तीमपहारादिनेष्ठतः' अशीत् समे (अनायक्त) किसी दिष्य नारोको अपहार (हरण) आदिके हार। माह करनेकी घटना दिखायी जाती है।

भरत मुनिने केवल २तना ही उल्लेख किया है कि इसमें किसी देवी नारीके लिए गुद्ध दिनाया जाता है। इस रूपककी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त आवेशके कारण युद्धका प्रसंग पूर्णतया समुप्रित होनेपर भी किसी-न-किसी बढ़ाने संग्राम टल जाता है।

थनंजयने ईहामृगकी कतिपय विशेषताएं संक्षेपमें रस प्रकार लिखी है—"ईहामृगका इतिवृत्त मिश्रित (जुल ऐतिहासिक और कुल कलिपत) होता है। इसमें चार अंक और मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण नामक तीन सिन्धयों होती है। मनुष्य और दिव्यपुरुपमें कोई नायक अथवा प्रतिनायक हो सकता है। किन्तु दोनो ही इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति होते है। प्रतिनायक धीरोद्धत होता है और विपरीत झानके कारण अनुन्तित कार्य किया करता है। इस रूपकमें दिव्यक्षीके वलात अपहरणकी इन्ला रखनेवाले नायक या प्रतिनायकी शृंगारमयी चेष्टाएं भी कहीं नहीं दिखायी जाती है। प्रवल उत्तेजनाके कारण युद्धकी स्थित उत्पन्न हो जानेपर भी संधर्षका टल जाना और किसी महात्माके वथकी पूर्ण तैयारी हो जानेपर भी उने बचा लेना इस रूपकमें प्रायः दिखाया जाता है" (दशरूपक, नृतीय प्रकाश: ७२: ७५)।

शारदातनयने इस रूपक ते रस, वृक्ति एवं पात्र-संख्यापर भी विचार किया है। उनका मत है कि इसमें कहीं कि शिक्ति अतिरिक्त शेष तीन वृक्तियाँ होती हैं और कहीं कहीं के शिक्ती वृक्ति भी प्राप्त होती है। इसमें भयानक और वीभत्सके अतिरिक्त शेष सभी रस पाये जाते हैं। नायकोंकी संख्या चार, पाँच या छः होती है। अंक चार होते हैं। इसमें स्त्रीके कारण संग्राम आवश्यक है। उन्होंने 'कुसुमशेखर' नामक ईहामुगका उदाहरण दिया है।

नाट्यदर्भणकार रामचन्द्र शारदातनयसे अंक पत्रं नायक-संख्याके सम्बन्धमें सहमत नहीं है। उनका मत है कि ईहामृगमें चार अंक आवश्यक नहीं, एक अंक भी हो सकता है। उन्होंने नायकोंकी संख्या बारह निश्चित की है (नाट्य-दर्भण, पृ० १३१)।

विश्वनाथका मत शारदातनय और रामचन्द्र दोनोंसे भिन्न है। उनका मत है कि इसमें एक ही अंक होता है। नायकके सम्बन्धमें उन्होंने अन्य आचायोंके आधारपर दो मत दिये हैं—(१) एक देवता ही नायक होता है और (२) छः नायक होते हैं।

अभिनव गुप्तने भी अंक एक और नायक संख्या बारह स्वीकार की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने चार अंक और नायक ईश्वरका अवतार तथा नायिका देवी मानी है। उनके मतसे इसमें प्रेम इत्यादि विणित होता है तथा नायिका द्वारा युद्धादि कार्य-सम्पादन होता है। उन्होंने उदाहरण नही दिया है। बाबू गुळावरायने इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक माना है। उनका मत है कि नायक किसी

कुमारीकी स्पृद्धा करता है। वह सुगकी सीति वृध्याप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायकसे छुटाना चाहता है। मिलन तो नहीं होता, किन्तु किसीका सरण भी नहीं होता। इससे अंक चार होते हैं। हिन्दीसे इसका उदाहरण नहा मिलना।

उग्रता (औप्रय)-प्रचलित नैतीसमे एक संचारी भाव। किन्धी कारणोसं उद्देख निर्वयताको उद्यता कहते है (वास्मदः का पात्रशासनः प्र ५८) । 'नाट्यशास्त्र'ने लक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि भरतके सामने कई उदाहरण अवस्य उपस्थित थे। भरतने उद्यताके विभाव एवं अनुभावोंका वर्णन करते हुए कहा है कि चोरीमे पकड़ जाने, राज्यके प्रति अपराध करने, झूठ बोलने इत्यादिसे यह उद्बुद्ध होता है और वध, बन्धन, गारना-पीटना, तर्जना करना इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिन्यक्ति होती है। (नाट्य०, ७:८१ ग)। इसकी संधिप्त न्याख्या 'दशरूपक' एवं 'नाट्यदर्पण'मे मिलती है। किसी अपराधी, दप्ट एवं कर व्यक्तिके प्रति जो मनोवेग आ उपस्थित होता है और निर्दयतासे व्यक्त होता है, उसे 'औग्रय' कहते हैं। 'दश-रूपक'के अनुसार इसमें स्पेट एवं शिरकम्पन अनुभाव हो सकते हैं (४-१५)। इसका अनुकरण विचानाथने किया है (प्र० रु० य०, ४: ४६)। शारदातनयने 'पत्र, मित्र, कलत्र इत्यादिके द्रोहसे' यह मनोभाव उत्पन्न होना बताया है (भा०, पृ० २३), पर यह अस्पष्ट एवं असंगत प्रतीत होता है। 'रसगंगाधर'में कोध एवं उग्रतामें यह भेद बताया है कि कोष स्थायी है तथा उद्मता संचारी। पर इस भेदके अति-रिक्त अमर्प और उद्यता दोनो ही संचारियोमें यह अन्तर पतीत होता है कि अमर्प तो अपमान होनेपर किसी भी व्यक्तिमें उद्भृत हो सकता है, पर उग्रता किसी अपराधी दुष्टको देखकर ही होती है और यह निर्दयता-रूप है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने उपर्धुक्त लक्षणको स्वीकार किया है—"दोष कीरतन भौरता, दुर्जनता अपराध! निर्जनता सो उग्रता, जह तरजन वध वाध" (भाव०: संचारी)। कुछने चलता हुआ लक्षण दिया है- 'निरदैपन सो उग्रता' (जगत०, ५३८)। तुलसी द्वारा वर्णित परश्-रामके इन वाक्योंमें उद्यता है-"मातु पितहिं जिन सोच बस, करिस महीप किसोर । गर्भनके अर्भक दलन, परस मोर अति घोर" (रा० च० मा०, १: २७२) । 'दश्रूपक'-में भी परशुरामकी उन्नताका उदाहरण 'वीरचरित'से दिया गया है। इसी उदाहरणको हमचन्द्रने 'कान्यान् शासन'में उद्धृत किया है। रीतिकालके आचार्यीने प्रायः शृकारके संचारीके रूपमें इसका उदाहरण दिया है-"कहा कहीं सखि कामको, हिय निरदैपन आज । तन जारत पारत बिपति, अपति उजारत लाज" (जगत०, 480)1 --ज कि व व ०

उच्च मध्यवर्ग — इस वर्गमें प्रधानतः वही लोग आते हैं जिनका सम्पर्क समाजके उच्च वर्गसे बहुत निकटका होता है। इस वर्गमें प्रधानतथा आवश्यकतासे अधिक धनसम्पन्न और बुद्धिवादीवर्गके लोग आते हैं। — रा० कृ० त्रि० उज्जवल रस—"उज्जवल रस'में प्रयुक्त उज्जवल शब्द 'शृक्षार' या 'माधुर्य'का वाचक है। भरत (३ श० ई०)के

'नाट्यशास्त्र'मे शृङ्गार रसका वर्ण तो 'इयाम' माना गया है, पर उसका वेष उड्डवल वताया गया है—''तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेपात्मकः" (नाट्यशास्त्र, ६:४५-४६), इनमें रति स्थायी भावसे शृङ्गार वनता है, उसका वेष उज्ज्वल होता है। ये दोनों परस्पर-विरोधी होते हैं, पर शृङ्गारके देवता विष्णुको दृष्टिमें रखकर विचार करने-पर स्थिति कुछ स्पष्ट होने लगती है। विष्णु इयामवर्ण है, पर उनका वेप पीताभ कान्तिमान् तथा उज्ज्वल ही है। इस दृष्टिसे उज्ज्वल शब्द निष्कलुषताका भी द्योतक हो सकता है। रूपगोखामी (१५-१६ श० ई०) द्वारा रचित शृङ्गार अथवा माधुर्य मक्तिविषयक ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' (१५४१ ई०)मे यह शब्द अलौकिक रागानुगा मधुर भक्ति-के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमे शृङ्गारका पूर्ण अन्तर्भाव माना गया है। नायक-नायिका-भेदकी तरह कृष्णकी नायक, राधिकाको नायिका मानकर इस यन्थमे कृष्ण-प्रेमका विशद निरूपण किया गया है। राधा-कृष्ण इस उज्ज्वल रसके आलम्बन और भक्त-रूप उनकी सखियाँ ही उसका आश्रय मानी गयी है। यन्थ-नाममे 'उज्ज्वल'के साथ 'नीलमणि' शब्दका योग इयामवर्ण विष्णु दैवतवाले उज्ज्वल वेपात्मक शृङ्गार रसके समानान्तर है, अतएव पवित्र भावनावाली रति ही उज्ज्वल रसके मूलमे है। भरतने अपने उक्त कथनको स्पष्ट करते हुए स्वयं ही उज्ज्वलताका आधार पवित्रता या 'शुन्ति' होनेको माना है-''संसारमे जो पवित्र, स्वच्छ और दर्शनीय हो वह श्रृंगारसे उपमित होता है। उज्ज्वल वेषवाला शृंगारवान् कहा जाता है" (नाट्य॰, ६। ४६)। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु'मे भक्तिके जो पाँच भाव बताये गये है, उन्हीमेसे पाँचवें भाव माधुर्यका परिविस्तार 'उडडवल रस'के रूपमे 'उडडवल नीलमणि'मे हुआ है। अतः दोनो यन्थ मिलकर भक्ति रसका पूरा स्व-रूप प्रस्तुत करते है। (दे० 'भक्ति रस')। उड़िया (भाषा तथा साहित्य) - उडिया शब्द उडीसासे आया है। उडीसाकी भाषाका नाम उडिया है। उड़िया एक जातिविशेषका नाम भी है। किन्तु उडियामें इसको 'ओड़िया' कहते है और देशको 'ओडिशा'।

कुछ विद्वानोंका कहरा है कि ओड्विषयसे ओडिशा शब्द आया है और इसका विकास-क्रम है—ओड्विपय > ओड्विष > ओडिप > ओडिषा या ओडिशा। तालव्य मागधीका लक्षण है। दूसरोंका अनुमान है कि द्राविड शब्द 'ओडिसु'से 'ओडिशा' आया है और उसीका संस्कृतीकरण 'ओड्र' है। द्राविड भाषामें 'ओडिसु'का अर्थ है खेती करने-वाला एक किसान।

भाषाके अर्थमें या अन्य किसी अर्थमे 'उडिया' शब्द प्रथम कब व्यवहृत हुआ, यह ठोक ठीक कहना तो मुश्किल है, किन्तु उड़िया भाषाकी उत्पत्ति बहुत प्राचीन है। उड़ विभाषाका भरतके नाट्यशास्त्रमे उल्लेख आता है—'शबराभीरचाण्डालसचलद्राविडोड्जाः। हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता।" विभाषाको बोली अर्थमें ले, तो भी यह कहा जा सकता है कि भरत मुनिके कालमे निश्चित रूपसे उड़िया भाषा एक विशेष रूप ले रही थी।

पूर्वोक्त उद्धरणसे यह भी स्चित होता है कि ओड़ी

विभाषाका शबर-आभीर-द्राविड आदि विभाषाओं के साथ संम्बन्ध था। भाषा-तात्त्विक दृष्टिते विचार करनेसे भी यह पता चलता है कि आर्थ, द्राविड और मुण्डारी भाषाओं के सम्मिश्रणसे उडिया भाषाकी उत्पत्ति हुई है। आधुनिक उडिया भाषाका मुख्य आधार भारतीय आर्थ-भाषा है। साथ-साथ उसमें सन्थाली, मुण्डारी, शबरी आदि मुण्डारी-वर्गकी भाषओं और ओरॉव, कुई (कन्धी), तेलगु आदि द्राविड-वर्गकी भाषाओं के लक्षण भी पाये जाते है। उडिया शब्द-भण्डारमे इन भाषाओं की देन तो है ही।

पहले कहा गया है कि आधुनिक उड़िया भाषाका आधार भारतीय आर्य-भाषा है। यहाँ भारतीय आर्यभाषासे मत-लब है प्राकृत भाषासे। प्राकृतके मुख्यतः चार रूप है— महाराष्ट्री, औररुनी, मागधी और पैशाची। उडिया भाषा-का मागधी या अर्द्धमागधीसे सम्बन्ध है। उडियामे तालव्य 'श'का उचारण उपलब्ध है। र-ल और न-ण दोनो पाये जाते है। उड़ियाकी भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि वह मागधी (मैथिकी, बॅगला), महाराष्ट्री (भतरी) और शौरसेनी (लरिया) भाषाओकी सीमाओको छूनी है। दक्षिणमे द्राविड़ भाषाका भी प्रत्यक्ष पूर्वपुरुषकी दृष्टिसे विचार करे तो उडियाका पूर्वी अपभ्रंशसे सम्बन्ध है। उडिया भाषा वर्त-मान उडीसा प्रान्तकी भाषा है। उडीसाका क्षेत्र-विस्तार ६०,१३६ वर्गमील है। उसकी जनसंख्या १,४६,४५,८४६ (१९५१ ई०) है। इसके अतिरिक्त बंगालके मेदिनीपुर (दक्षिण-पश्चिम), विहारके सिहभूमि, सराईकेला, खरसुआ आदि, मध्यप्रदेशमे पुग्लझर, विन्द्रानुआगड, रायगढ़, सारगढ, बस्तर, कॉकेर आदि और आन्ध्रके इच्छापुर, उद्यानखण्ड, तरला, टेक्कालि, चिकिविशाखापाटण आदि अंचलोमे भी उड़िया बोली समझी जाती है।

जिंदिया लिपि नागरी लिपिको समान ब्राह्मी लिपिको सन्तान है। उडिया लिपिको देखनेसे मालूम होता है कि यह नागरी लिपिसे विलक्षल भिन्न है, लेकिन जरा-साध्यानसे देखनेपर मालूम हो जायगा कि दोनोमे वैपम्यको अपेक्षा साम्य ही ज्यादा है। भिन्न प्रतीत होनेका कारण यह है कि नागरी लिपिको ऊपरको सीधी रेखा उड़िया लिपिमे वर्तुल हो जाती है और लिपिके मुख्य अंशकी अपेक्षा अपिक जगह अधिकार कर लेती है। नहीं तो लिपियोके नीचेके अंशमे बहुत साहश्य है। उड़िया लिपिके ऊपरका अंश वर्तुल होनेके वारेमें विद्वानोंका कहना है कि उड़िसामें पहले तालपत्रपर लैहसे लिखनेकी रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खीचनेमें तालपत्र कट जानेका दर था। इसलिए सीधी रेखाके बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उड़िया लिपिका कमशः आधुनिक रूप आने लगा।

'लिलतिवस्तर'में अंक उम्मिलिपका नाम आता है, लेकिन वह आता है द्राविड लिपि, किनारि लिपि, दक्षिण लिपिके साथ। इसलिए वह 'उड़ लिपि' हो सकता है। 'लिलित-विस्तर'का काल है कमसे कम नवी शताब्दी। नन्दी सूत्रमे भी उड़ लिपिका उल्लेख है और उसका काल दशम शताब्दीसे पूर्व नहीं है।

हिन्दी व्याकरणसे तुलना—उडिया व्याकरणकी मुख्य विशेषताएँ हैं—अतीत कालमें 'ने' प्रयोगका अभाव और लिंगके अनुसार क्रियाओं से परिवर्तनका असाव, उड़ियामें क्रियाने तो होता ही नहीं, विशेषणों में सियमतः नहीं होता परन्तु थिशेष्यों होता है। उटियामें ने का प्रयोग विलक्षल नहीं है। इमलिए अर्तात दल्ले लिए 'क्त' प्रत्यवान्त विकृत शब्दे का भी प्रयोग नहीं आता है। उटियामें क्रियाके अतीत कालमें धातुके वाद ल, ला, लि, लु, या इल, इला, दलु, इलुं आदि ल-युक्त प्रत्यय आते है। वर्तमान कालमें शतु प्रत्यथका अवशिष्ट हिन्दीया 'ता' भी नहीं आता है।

वाक्य-योजनामें हिन्दीसे उड़ियाकी एक और विशेषता यह है कि हिन्दीमें निषेधात्मक अन्यय क्रियाके पहले आता है, लेकिन उड़ियामें क्रियाके पीछे, वाक्यके अन्तमें।

काल और साहित्यिक प्रवृत्तिके अनुसार उड़िया माहित्यका काल-विभाजन इस प्रकार किया जाता है—
(१) आदियुग, इतिवृत्तयुग या सारलादासयुग—११ वी शताब्दीके प्रथमार्थसे १६ वी शताब्दीके प्रथमार्थपर्यन्त ।
(२) मध्ययुग—१६वी शताब्दीके प्रथमार्थपर्यन्त ।
(२) मध्ययुग—१६वी शताब्दीके प्रथमार्थपर्यन्त ।
(क) पूर्व मध्ययुग, भक्तियुग या धार्मिकयुग या पंच्यसायुग-१६वी शतीके प्रथमार्थके १८ वी शतीतका ।
(ख) उत्तर मध्ययुग, रीतिकाल या उपेन्द्र-भंजयुग—१८वी शतीके थागम्भ-पर्यन्त ।
(३) आधुनिकयुग या गालन्यकाल्य-१९वी शती शती शिंती शार्थके ।

(१) आदियुग—आदि युगमें सारलापूर्व साहित्य भी अन्तर्भुक्त है, जिसमें 'शैद्ध गान ओ दोहा' एक है। अन्य प्रान्तोंके समान उद्दासामें 'शैद्धगान ओ दोहा'को उद्दियान का पूर्वरूप और प्रथम उद्धिया साहित्य माना जाता हैं। भाषादृष्टिमें साम्य तो हैं ही, काहनुपा, शवरीपा, लुईपा आदि उद्दिया थे भी। साहित्यिक धाराको दृष्टिसे पंचसखा साहित्यसे उसका धनिष्ठ सम्बन्ध है। 'शैद्धगान ओ दोहा'- के 'ओडियाण'का 'ओडियान'से सम्बन्ध है, जो 'कालिका-तन्त्र'के चार क्षेत्रोंमेंसे एक है।

इस युगके साहित्यमें गोरखनाथका 'सप्तांगयोगधारणम्' भी शामिल है। 'सप्तांगयोगधारणम्'में सात वारोंकी स्वर-साधना वर्णित हैं और नाधपन्थकी एक पुस्तक-सी प्रतीत होती हैं। लेकिन सन्त्रमुच गोरखनाथकी लिखी हुई है या नहीं, इसमें सन्देह हैं, जैसा कि 'गोरखवानी' अदिके बारेमें।

दूसरा है 'मादलापांजि' जो जगन्नाथ-मन्दिरमें सुरक्षित है। आसाम बुरंजिके समान इसमें उड़ीसाके राजवंशका और जगन्नाथ-मन्दिरके नियोगोंका इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदन्तीके अनुसार गंगवंशके प्रथम राजा चोडगंगदेवने १०४२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्क दशमी दशहराके दिन)-में 'मादलापांजि'को लिखना शुरू किया था। लेकिन दूसरा मत है कि यह मुगलकालमें १६वीं शताब्दीमें रामचन्द्रदेवके राजत्वकालमें लिखवायी गयी थी।

'रुद्रसुधानिधि'भी सारलापूर्वकाल (१३वी या १४वी शती)की कही जाती है। यह पुस्तक सम्पूर्ण प्राप्त नहीं है और प्राप्त अंश सम्पूर्ण छपा भी नहीं है। इस शैव प्रन्थके लेखक नारायणानन्द अवभूत स्वामी है और इसमें एक योगभ्रष्ट योगीका कृत्तान्त वर्णित है। कुछ लोग कहते है कि यह कृत्तगन्धि गधमें लिखा गया है और कुछ कहते हैं दण्डिवनमें।

'कलवा चीतिया' भी सारलापर्वकालका बहलाता है और इसके लेखक है बस्मानास । इसमे शिवजीकी वरयाधा और विवाह हास्यरसभे वणित हैं।

सारलादास—सन कहा जाय तो सारलाहास धी छ भाके प्रथम जानीय कि धे और उभा माहित्यके आहिकालके प्रतिनिधि है। उन्होंने अपनेको 'शह्मुनि' और जन्ममें अज्ञान कहा है। उनका प्रथम न'म विशेषर परिटा (लण्टायन) था। वे कटक जिलेके शंकटवासिनी देवी चण्टी सारलाके वरप्रसादमें किय हुए। इसलिए उन्होंने अपनेको सारलाहास कहा और आज वे उसी नामसे परिनित और प्रसिद्ध है।

वे कपिलेन्द्रदेवकें सममामयिक थे ओर उनका वाल है १४३५-१४३७ ई०। कुछ लोग उनको गंगवंदाके कपिल नरिगटोवके समकालीन बताकर उनका काल १३२८-१३५२ ई० बताते हैं। उनको तीन कृतियाँ उपलब्ध है— 'विलंका रामायण', 'महाभारन' और 'ना ीप्राण'। इस सुगका अर्जुनदास लिखित 'रामिंक्मा' नामक एक काल्य-अन्थ भी मिलता है। जैनन्यदासकें 'पि णुगर्भपुर। ' और 'निर्णाभारात्म्य' अलखपन्थी निर्गुणिया सम्प्रदायके दो अन्थ भी पारे जाते हैं।

(२) मध्यपुगके वो विभाग है—(क) पूर्व मध्ययुग, (ख) उत्तर मध्ययुग। (ब) पूर्व मध्ययुगको भांक्तयुग कह सकते हैं, लेकिन यह भक्ति रागानुगा नहीं है, शानिमश्रा है, प्रेमप्रधान नहीं है, योगप्रधान है। इसमें कायसाधना प्रधान थीं। 'बौडगान ओ दोहा'के शन्यको पर्याप्त पर्यालोचना हुई है और पुरी जगन्नाथ ही उपास्थ देवता थे, जगन्नाथ ही शन्य और कृष्ण थे।

पंचविष्णव या पंचसखा इस युगके प्रधान थे, इसी समय चैतन्यदेव उड़ीसा आये थे और उन्होंने उनके साथ सख्य स्थापित किया था, जिससे वे पंचसखा कहलाये और वर्गीय वैष्णव ईर्ष्यान्वित होकर चैतन्यदेवको छोड़कर भाग गये थे।

वे पंचसखा थे हैं—नलरामदास, जगन्नाथदाग, यशो-वन्तदास, अनन्तदास और अच्युतानन्ददाम । वलरामदास, रामतारक मन्त्रके, अगन्नाथदाग पोडश नाम या बत्तीस अक्षर मन्त्रके, यशोवन्तदास पंचाधर गन्त्रके, अनन्तदास एकाक्षर मन्त्रके और अच्युतानन्ददास अष्टाक्षर मन्त्रके उपासक थे । पंचसखाओं मेंने प्रत्येकने अनेक यन्थ लिखे थे, जिनमेंसे कुछ सुद्रित हैं, कुछ असुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

उसी कालमें कुछ जीवनियों भी पद्यमें लिखी गयी थी। दिवाकरदासने 'जगन्नायचरितामृत' लिखा था, जिसमें पंचसन्वाओं के जगन्नायदासकी जीवनी दी गयी है और जिससे समकालीन गौडीय सम्प्रदायकी भी एक झलक मिलती है। दिवाकरदास पोडश शताब्दीके प्रथमार्थके हैं। सप्तदश शताब्दीके प्रारम्भमें ईश्वरदासने 'चैतन्य भागवत' लिखा था।

सालवाग नामके एक मुसलमान भक्त कविने भी भक्ति-

रसात्मक अनेक गान लिखे थे।

यह तो हुई धर्मधागकी प्रवृत्ति । आदि युगके अर्जुन-दासकी 'रामिनमा' कान्यधारा भी मरी नहीं थी । शिशु-शंकरदासका 'उपाभिलाप', किपलेश्वरदासकी 'कपटकेलि', हरिहरदासका 'चन्द्रावलिविलास', देवदुर्लभदासकी 'रहस्य-मंजरी' आदि पौराणिक कान्योंके साथ-साथ लौकिक या काल्पनिक कान्यकी भी उत्पत्ति उसी कालमे हुई थी, जिसका उदाहरण प्रनापरायकी 'शिशिमणा' है।

(ख) रीतिकाल-भक्तिकालके बाद रीतिकाल आता है, जिसका हिन्दीके रीतिकालसे साम्य है। इस कालमे पौराणिक और काल्पनिक, दोनो प्रकारके काव्य पाये जाते है। नायिकाओंमें सीता, राधानकका नखिशख वर्णन किया जाता है। इस युगका कान्य शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दों और शृंगाररससे भरपूर है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-लक्षण आदिके प्रति यथेष्ट दृष्टि दी गयी है। उपेन्द्रभंजने इसको पराकाष्टातक पहुँचा दिया। अतः इस युगका नाम भंजयुग पड़ गया, किन्तु यह काल इसके पहलेसे झुरू हो गया था। धनंजयभंज (१६३७-१७०१ ई०) उपेन्द्रभंजके पितामह थे और घुमसरके राजा थे। उन्होने रामायणपर आधारित 'रघुनाथविलास-काव्य' और 'त्रिपुरसुन्दरी', 'मदनमंजरी', 'रलमंजरी', 'अनंगरेखा', 'इच्छावती', आदि अनेक काल्पनिक कान्य लिखे थे। उनके 'रत्नपरीक्षा', 'अश्व और गज परीक्षा' आदि कुछ रुक्षणग्रन्थ और चौपदी, भूषण आदि संगीतग्रन्थ भी पाये जाते है। उनका प्रभाव उपेन्डमं जपर स्पष्ट है।

दीनकृष्णदास द्विनीय मुकुन्ददेव (१६५१-१६८६ ई०) और दिव्यसिंहदेव (१६८६-१७०३ ई०)के समसामयिक थे। उन्होंने राथाकृष्णपरक 'रसकल्लोल' काव्य लिखा था, जिसकी प्रत्येक पंक्तिका प्रथम अक्षर 'क' है। व्यक्तित्वके साथ इनका काव्य भी उच्च कोटिका है। इसके अतिरिक्त उनकी 'रामरलगीता', 'रसविनोद,' 'नावकेलि,' 'अलंकारकेलि', 'आर्त्तप्राण,' 'चौतिशा' आदि अनेक कृतियाँ पायी जाती है।

वृन्दावनी दासीने 'पूर्णतम चन्द्रोदय' लिखा था, जिसमें गौडीय सन्प्रदायके अनुसार रागानुगा भक्ति प्रतिपादित हुई है। श्रीकृष्ण ही पूर्णतम चन्द्र है।

भूपित पण्डित पश्चिमी सारस्यत ब्राह्मण थे और तिरहुत होकर दिन्यसिंहदेवके समयमे उड़ीसा आये। उड़िया सीख-कर उन्होंने भागवतके समान नवाक्षरी वृत्तमे 'प्रेम-पंचामृत' लिखा था, जिसमे उड़िसी सम्प्रदायके अनुसार कृष्णकी लीला प्रतिपादित हुई है। उनका एक चौतिशा भी उप-लब्ध है।

लोकनाथ विद्यालंकारने 'सर्वांगसुन्दरी,' 'पद्मावती-परिणय,' 'चित्रकला,' 'रसकला' और 'वृन्दावनविहार-काव्य' लिखा था। 'वृन्दावनविहार' एक पौराणिक-धार्मिक प्रनथ है और वाकी सब काल्पनिक है। इन कार्व्योमे रीति-कालके सब लक्षण विद्यमान है।

इस पृष्ठभूमिको लेकर उपेन्द्रभंज पैदा हुए थे १६८५ ई० में और उनका मृत्यु हुई थी १७२५ ई०मे। उनका भी जन्मस्थान धुमसर था और वे धनंजयमंजके पौत्र थे।

पहले कहा गया है कि पौत्रपर पितामहका यथेष्ट प्रभाव पडा था। 'रघुनाथविलास'की टक्करपर उन्होंने 'वैदेहीश-विलास' लिखा था। नामसे स्पष्ट है कि विषय-वस्त एक ही है, परन्त 'वेदेहीशविलास'में नामके सहश हर एक पंक्ति 'व'से शुरू होती है। छन्द(सर्ग)मे बाईस, बचीस आदि वकारादि संख्यक पद भी होते है। दीनक्रष्णके वकारादि 'श्सक्रलोल'की टक्करमे 'कलाकउलुक' लिखा था, जिसका आदि और अन्त दोनों नामके समान 'क' है। उनके अन्य पौराणिक काव्य है—'सुभद्रा-परिणय', 'बजलीला', 'कुंजविहार', 'रामलीलामृत', 'अवनारसतरंग' आदि । 'अवनारसतरंग'मे इकारादि कोई मात्रा नहीं है, 'सुभद्रा-परिणय' सकारादि है। उनके काल्पनिक काव्योमें प्रधान है 'लावण्यवती', 'कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी,' 'रसिक-हारावली,' 'प्रेमसुधानिधि,' 'भाववती,' 'शोभावती', 'इच्छा-वती', 'कलावती' इत्यादि। इन कान्योमे रीतिकालके सब लक्षणोंका सम्पूर्ण विकास हुआ है। कही-कहीं सीमा अति-क्रम कर अइलीलता भी आ गयी है। कथावस्तुमें हिन्दीके रीतिकालीन कान्योंके साथ अनेक साम्य है।

उन्होंने एक आलंकारिक प्रन्थ लिखा था 'रसपंचक', जिसके पाँच परिच्छेदोमे र, स, प, च, क पाँच अक्षरादि-का नियम पालित हुआ है। 'चित्रकाव्यवन्धोदय' चित्र-काव्यका एक अच्छा नमूना है। उन्होने एक द्योपप्रन्थ भी लिखा था, 'गीताभिधान', जिसमे कान्त, खान्त आदि अन्त्य अक्षरका नियम पालित है। इनके अलावा 'छन्द-भूपण', 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और पायी जाती है।

पर्वोक्त चर्चाते पता चलता है कि मध्यकालके उड़िया साहित्यमें दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट थी, एक उडीसी वैष्णव धर्म-की, दूसरी रीति-लक्षणोंकी। साथ-साथ यह भी लक्ष्य करने-की बात है कि पंचसखाओं के समय चैतन्यदेव उडीसा आये थे। धीरे-धीरे उनका भी सम्प्रदाय जड जमाने लगा। इसलिए भंजकालीन साहित्यके बाद उड़िया साहित्यमें गौडीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनोंका समन्वय देखनेमें आता है। इस कालके कान्य प्रायशः राधाकृष्ण-प्रेम-परक है और इनमें कभी-कभी अरुलीलता भी आ गयी है। इनमे प्रधान है—सचिदानन्द कविमूर्य (साधुचरणदास)की 'प्रेमतरंगिणी,' 'प्रेमलहरी,' 'प्रेमचिन्ता-मणि,' 'युगलरसामृतलहरी' आदि । भक्तचरणदासका 'मधुरामंगल,' 'मनबोध चौतिशा,' 'कलाकलेवर चौतिशा', 'मनशिक्षा' आदि । अभिमन्युसामन्तसिदारका 'विदय्ध-चिन्तामणि,' 'प्रीतिचिन्तामणि,' 'सुलक्षणी,' 'रसवती,' 'प्रेमकला,' 'रसकला' आदि । गोपालकृष्ण पट्टनायककी 'पद्यावली'। यद्मणि महापात्रका 'प्रवन्धपूर्णचन्द्र'। बलदेव कविस्यंका 'किशोरचन्द्रानन चम्पू,' 'रेत्नाकर चम्पू,' 'चन्द्रकला' आदि ।

इस क्रममे प्रधानतया दो व्यक्ति पाये जाते है—(१) ज्ञजनाथ बङजेना और (२) भीम मोई। ज्ञजनाथ बङजेनाने 'गुण्डिचाविजे' नामक एक खोरता (हिन्दी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्त्वपूर्ण अन्थ है—'समरतरंग' और 'चतुरविनोद'। 'समरतरंग'मे तत्कालीन ऐतिहासिक घटना नागपुरके चिमनाजी बाबूके साथ ढेंकानालके राजा

त्रिलीचन महेन्द्र वहादुरका युद्ध अनीखे ढंगसे वर्णित है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है। 'चतुरविनोद' एक हास्य रसात्मक गयकाव्य है और इसमें चार विनोद हैं-हास-विनोद, रसविनोद, नीतिविनोद और प्रीतिविनोद । इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अभिकाविलास', 'इयामरासीत्सव', 'केलिकलानिधि', 'विचक्षणा' आदि काच्य भी लिखे हैं।

भीम भोई जन्मते अन्ये थे और जातिके वन्य (आदि-वासी)। वे क्रिम्भिपाटिआ या महिमा धर्मके अनुयायी थे और महिमा गौसाईके उपासक। ये निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्ततिचिन्तामणि'में ब्रह्मनिरूपण और अनेक भजन पाये जाते हैं। उड़ीसामें वे अत्यन्त प्रख्यात हैं।

(३) आधुनिक युग-मध्य युगमें मुगल-काल और मरहट्टा काल समाप्त हो जाता है। उसके बाद ब्रिटिश-कालका आरम्भ होता है। अंग्रेजोंके आनेके बाद अन्य प्रान्तोंके समान उड़ीसाके साहित्यमें भी परिवर्तन आता है। यहाँसे आधुनिक युगका आरम्म होता है। आधुनिक युगकी प्रवृत्ति प्रायः सव प्रान्तोंमें एक-सी ही है।

प्रारम्भमें अंग्रेजी शासनके समान अंग्रेजी साहित्यके प्रति भी कुछ लोगोंको मोह उत्पन्न हो गया था, लेकिन साथ-साथ वे प्राचीन प्रान्तीय साहित्य और संस्कृत, फारसी साहित्यसे सम्पूर्ण रूपसे विच्छिन्न नहीं हुए थे। फारसी और हिन्दी साहित्यका प्रभाव भी थोड़ा-बहुत था। इसी कालके प्रधान कवि हैं राधानाथ राय। वे स्कूल-इंस्पेक्टर थे। उनपर अंग्रेजी साहित्यका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने कुछ ऐतिहासिक काव्य लिखे थे, जैसे-'पार्वती', 'निन्द-केश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि । 'महापात्र' अमित्राक्षर छन्द्रमें लिखित एक महाकाव्य है, जिसमें अंग्रेजी कवि मिल्टनका प्रभाव स्पष्ट है।

उन्होंने 'मेघदूत', 'वेणीसंहार' और 'तुलसी-पद्मावली'-का ('तुल्सी-स्तवक'के नामसे) अनुवाद भी किया था। इसके अतिरिक्त 'द्योंधनका रक्तनदीसन्तरण', 'शिवाजीकी उत्साहवाणी' आदि कुछ उनकी फुटकर कविताएँ भी पाथी जाती हैं। उनके कुछ गद्य 'इतालीय युवा', 'विवेकी' आदि पाये जाते हैं। लेकिन यह गध पदवाक्य नहीं है। किन्त पद्यकी भाषा और शैलीमें उन्होंने एक विष्लव ला दिया। उनकी सब रचनाएँ 'राधानाथ-यन्थावली' नामसे छपी है। आधनिक यगको कुछ लोग राधानाथ-यग भी कहते हैं।

इसी युगमें बंगालसे राजेन्द्रलाल मित्र आदि एक आन्दोलन चला रहे थे कि उड़िया एक स्वतन्त्र भाषा नहीं है। उसीका जवाब देनेके लिए उड़ीसाके कुछ लोगोंने कमर कसी । फकीरमोहन सेनापति उनमें मुख्य थे। गद्य-उपन्यास-में वे बेजोड़ हैं। गद्यकी भाषा और शैली उन्होंने प्रतिष्ठित की । उन्होंने 'लछमा', 'मामुँ', 'छमाण', 'आठरांठ', 'प्राय-श्चित्त' उपन्यास लिखे। उनके गल्प भी 'गल्पस्वलप' नामसे दो भागोंमें संगृहीत हैं। उन्होंने अपना 'आत्मजीवन-चरित' मी लिखा था। 'प्रायश्चित्त'का हिन्दीमें अनुवाद भी हुआ था, 'समाजकण'के नामसे। 'मामुँ'का भी अनुवाद हुआ है। पद्यमें भी उन्होंने 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला',

'उपहार', 'बौद्धावतार कान्य', 'अवसर-वासर' (छोटी कविताओंका संग्रह) आदि लिखे थे। उन्होंने 'छान्टोस्यो- पनिषद', 'रामायण', 'महाभारत' आदिका पद्मानवाद भी किया था।

इस कालके प्रधान कवि हैं मधुसुदन राय । वे भी स्कल-इंस्पेक्टर थे। उन्होंने अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखीं और उसी प्रसंगमें अनेक कविताएँ भी। वे बाह्यसमाजी थे। उनको कविताएँ भक्तिपरक है। इसलिए वे भवत कवि कहलाते हैं। मालम होता है कि रवीन्द्रनाथ और उनके परिवारका यथेष्ट प्रभाव उनपर पड़ा था। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'उप प्राणे देवतावतरण'। उसको देखनेसे माळम होता है कि हिमालयपर देवेन्द्रनाथ ठाकुरको ही सामने रखकर वह कविता लिखी गयी है। 'पद्म', 'ध्वनि' आदि कविनाओंमें छायावाद रपष्ट है। उन्होंने 'उत्तररामचरित'का भी अनुवाद किया था।

कान्य, उपन्यास और गल्पके समान नाटकपर भी लोगोंकी ६ ए पड़ी थी। उनमें प्रधान है रामइंबर राय। उन्होंने नाटक (पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक), गीति-नाट्य, प्रहसन और यात्रा सवपर हाथ दिया था। उनके नाटक है- 'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'रामवनवास', 'कंसवध', 'विषमोदक', 'युगधर्म', 'कांचनमाली', 'चैतन्य-लीला', 'लीलावती', 'रामाभिपेक' । गीतिनाट्य है-'विश्वयद्य'। प्रहसन हैं—'कलिकोल', 'बुढ़ोवर'। यात्रा है—'वडलोक'। उनको 'प्रमतरी' एक गाथा और 'विकासिनी' एक उपन्यास भी उपलब्ध है । ये सब भी एक ग्रन्थावलीमें मन्तिवेशित हैं।

उस कालको एक और प्रधान कवि हैं गंगाधर मेंदेर। वे प्रकृतिके उपासक थे और इसलिए प्रकृति-कवि कहलाते हैं। वे उड़ीसाके वर्ड सवर्थ कहे जा सकते हैं। कालिदास ही उनके आदर्श थे। उनकी 'प्रणयवल्लरी' 'अभिज्ञान शाकन्तल' पर आधारित है। 'तपस्विनी'का विषय सीतावनवास है। 'इन्द्रमती' 'रघवंदा'के अजविलापपर आधारित है। उन्होंने 'की चकवथ' काव्य भी लिखा था। इनके अतिरिक्त उनकी 'उत्कललक्ष्मी', 'भारती-भावना', 'अहल्यास्तव' आदि कविताएँ। इस युगमें पहीकवि नन्दिकशोरवल, प्रावन्धिक और सम्पादक विश्वनाथकर, व्यंगकारक गोपालचन्द प्रहराज आदिका नाम भी लिया जा सकता है।

आधुनिक युगके राधानाथ-युगके बाद सत्यवादी युग आरम्भ होता है। सारे हिन्दस्तानमें कांग्रेस और महात्मा गान्धीका प्रभाव पड़ा था। शान्तिनिकेतनके समान सत्यवादी (साक्षीगोपाल) में गोपबन्ध दासने एव वनविद्यालय-की प्रतिष्ठा की। जातीय भाव बढ़ रहा या। इसलिए इस युगकी कविताओं में जातीय भाव स्पष्ट है। और एक बात लक्ष्य करनेकी है कि राधानाथके 'पार्वती', 'नन्दिकेइवरी' आदि कान्योंने इतिहासको विकृत और जातीय चरित्रको कलंकित किया था। सत्यवादी युगमें उसका भी प्रतिवाद होता:है।

सत्यवादीके प्रवर्तक हैं गोपबन्धु दास। उनके लिखित 'धर्मपद', 'वन्दीर आत्मकथा', 'कारा कविता', 'अवकाश-चिन्ता' आदि प्रधान हैं। 'धर्मपद' कोणार्कके प्रधान बढई विशुमहारणका लड़का था । उन्होंने बारह सौ बढ़इयों-(शिरिपयों) की प्राणरक्षाके लिए अपने प्राण त्याग किये थे। नीलकण्ठ दाम भी इसी युगके है। उन्होंने टेनीसनकी 'प्रिसेस' के आधारपर 'प्रणयिनी' और 'इनौक आडेंन'के आधारपर 'दासनायक' भी लिखा था। इस युगके और एक प्रधान लेखक थे गोदावरीश मिश्र। उनके 'पुरुषोत्तम-देव' और 'मुकुन्ददेव' नाटक प्रख्यात है। उन्होंने अनेक 'लिरिक' और 'सॉनेट' कविताएँ भी लिखी थो। उनका संचयन 'गीतायन'मे हुआ है।

उसी कालमें छायावादी पद्मचरण पट्टनायक, हास्यरसिक लक्ष्मीकान्त महापात्र और नारी कवि कुन्तला कुमारी सावत आती है।

सत्यवादी युगके बाद रोमांटिक युग आता है। उसके प्रधान कि है मायाधर मान सिंह। उनके 'धूप', 'हेम- शस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान यन्थ है। उनकी लेखनी अभी भी बन्द नहीं हुई है।

रोमांटिक युगके बाद सबुज युग आया । यह एक मिलित उद्यम था। उसमे पॉच आदिमियोका सहयोग था। ये पॉच है—कालिन्दीचरण पाणिग्राही, वैकुण्ठनाथ पट्ट-नायक, हरिहर महापात्र, शरच्चन्द्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय। उनकी कविताएँ 'सबुजकवित्व' नामसे प्रसिद्ध है और प्रकाशित है। 'वासन्ती' उपन्यास उन लोगोके सम्मिलित लेखनका फल है।

पीछे वे लोग अलग-अलग हो गये। अन्नदाशंकर राय बंगलामें चले गये। हरिहर महापात्र और शरच्चन्द्र मुखर्जाने लिखना स्थिगत कर रखा है। बाकी दो अभी-तक लेखनी चला रहे है। कालिन्दीचरण पाणित्राहीका 'माटिर मणिप' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी 'छहारमणिप', 'मुक्तागढरक्षुधा', 'द्वादशी', 'सागरिका' आदि अनेक कृतियाँ उपलब्ध है। वैकुण्ठनाथ पट्टनायककी कविताओंका संग्रह काव्यसंचयनमे हुआ है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। इस युगके प्रसिद्ध छेखंक है सिचदानन्द राउत राय। उनकी रचनाओं पिछीचित्र', 'पाण्डुिकिप' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समयमें औपन्यासिक गोपीनाथ महान्ति, कान्दुचरण महान्ति, नित्यानन्द महापात्र, राधामीहन गडनायक, क्षुद्र गाळिक, गोदावरीश महापात्र आदि प्रसिद्ध छेखंक है।

उत्कंटिता (नायिका) - इसके लिए 'उत्का' शब्दका भी प्रयोग हुआ है। अवस्थानुसार नायिकाओं के विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरतने इसका उल्लेख किया है। मानुदत्तके अनुसार "संकेतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति", अर्थात् जो आहेट-स्थलपर पहुँचकर नायकके आनेकी प्रतीक्षा करती है। (र० मं०, ११७)। उत्कण्टाका अर्थ होता है उत्सुकता और इस नायिकामें प्रतीक्षाके साथ उत्सुकताका भाव विशेष देखा जाता है—"आप जाय संकेतमें पीव न आयो होय। ताकी मन चिन्ता करैं—।" (मितराम: रसराज, १५६)। कुछ आचार्योंने मुग्यामें इसका भेद नहीं माना है। इनके अतिरिक्त सभी, स्वकीयाके भेदों, परकीया तथा सामान्यामें इस रूपको मानते हैं। सुग्धा उत्कण्टता लक्ष्मके कारण अपनी उत्कण्टा प्रकट नहीं कर पाती—"अरे

सु मो मन बावरे इतिह कहा अकुलात । अटिक अटा कित पति रह्यो तितहि क्यों न चिल जात" (पद्माकर : जगद्वि-नोद, १:१९४)। मध्या उत्कण्ठिता अधिक व्यम् और विह्नल होती है-"बारहि बार बिलोकत द्वारहि चौकि परै तिनके खरके हूँ। सेज परी मतिराम विस्रति आयी अही अवही लखि मैं हूँ" (रसराज, १५९)। प्रौढ़ा उत्कण्ठिता अधिक मुखर है—"पिय पथ हेरति गोरिया भी भिनुसार। चलहु न करिहि तिरियवा तुव इतवार" (रहीम : बरवै० ५९)। परकीयाकी उत्कण्ठामे व्ययताके साथ गोपनका भी भाव रहता है-"तिनको तिनके खिरके खिरको तिनके मन को ठहरैबो करै। लखि बोलत बोल तमालके डोलत चाउसों चौकि चितैबो करैं" (दास : शृं० नि०, सामान्याकी उत्कण्ठा वास्तविक कहाँ तक हो सकती है। पर शृंगारके आलम्बन रूपमे उसे भी प्रेमयुक्त ही माना 'गया है-"कठिन नीद भिनुसरवॉ आलस पाय।" धन दै मितवा रहल लुमाय" (रहीम: बर्बै॰,-६१)। उत्कण्ठिता-कें रूपमें मक्ति तथा रीतिकाव्यमें नायिकाकी भाव-विह्वलता, चिन्ता, उत्सुकता, आकांक्षा तथा आतुरता आदिका सुन्दर चित्रण किया गया है।

उत्तमा (नायिका)—गुण अथवा प्रकृतिके अनुसार नायिकाओं के विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे०— 'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है। भानुदत्तके अनुसार यह नायिका ''अहितकारिण्यपि प्रियतमे हितकारिण्युत्तमा'' अर्थात अहित किये जानेपर मी हित करनेवाली नायिका उत्तमा है (र० मं०, पृ० १५२)। मितराम भी ऐसा ही कहते हैं— "प्रिय हितके अनहित करें आप करें हित वारि" पर अन्य 'दोष लिख सुनि' कर भी अपने प्रियपर रोप न करनेवाली इसे मानते हैं। इस नायिकाके वर्णनमें कवियों ने आत्मसन्तोष, निर्भरता तथा याचनाका भावमय तथा वैचित्र्यपूर्ण अंकन किया है— "विनती इती है के हमेसह मुहै तो निज राइनकी पूरी परिचारिका गने रहो। याद्दीमे मगन मनमोहन हमारो मन लगनि लगाइ लाल मगन वने रहो" (पद्माकर जगदिनोद, १: २७१)।

उत्तर-लोकन्यायमूल अर्थालंकार; इसको हिन्दीमें प्रदनोत्तर तथा गृढोत्तर भी कहा गया है। इसकी व्याख्यामें पर्याप्त अन्तर रहा है। इसको सर्वप्रथम रुद्रटने अपने वास्तववर्गमें स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार "उत्तर अलंकारमें या तो उत्तरके सुननेभरसे प्रश्नकी कल्पना कर ली जाती है या प्रश्नके रहते हुए भी ऐसे उत्तरकी कल्पना की जाती है, जिसकी सामान्यतः कोई सम्भावना नही होती" (का० प्र०, १०: १२१) । वस्तुतः उत्तर सम्बन्धी चमत्कार ही इसमे प्रधान रहता है। 'साहित्यदर्पण'की परिभाषा है- "उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादन्नयो यदि । यञ्चासकृदसम्भाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम्" (१०: ८२), अर्थात् जब उत्तरसे प्रश्नका अनु-मान किया जाय अथवा किये गये अनेक प्रइनोंसे अनेक असम्मावित उत्तर कहे जायं। हिन्दीमें 'कुवलयानन्द'के आधारपर जसवन्तसिंहने इसे लिया है, पर इनका दिया हुआ नाम गृढ़ोत्तर है। मतिराम तथा पद्माकर आदिने गढ़ों तर नाम दिया है। भूषण तथा दांस आदिने प्रदेनी तर कहा है। इनकी परिभाषाएं भी बहुत रपष्ट नहीं हैं।
— "कोई वृक्षे बात कछु कोऊ उत्तर देय' भूपणका यह
छक्षण श्रामक हैं" (शिवराजभूषण, ३१२)। दास भी
अस्पष्ट हें— 'विविध प्रश्नके विविध उत्तर'। प्रभाकरने
केवल 'साभिप्राय उचार' कहकर छुट्टी पा ली हैं (प्रभा०,
३४६); मितरामने 'अभिप्राय सो सहित जो उत्तर'
(ल० ल०, ३४८) कहकर उत्तर सन्बन्धी चमत्कारकी
ओर संकेत किया है। आधुनिक काञ्यशास्त्रियोंने संस्कृत
आचार्योंके आधारपर पुनः उत्तरकी प्रतिष्ठा की है।
कन्हैयालाल पोद्दारने इसका विस्तार मम्मटके आधारपर
दिया है।

प्रथम उत्तर वहाँ माना जाता है, जहाँ प्रतिवचनके ज्ञानसे प्रश्न (पूर्ववाक्य)का अनुमान कर लिया जाता है। इसके भी दो विभाजन है-(क) उन्नति प्रश्नमें व्यंग्ययुक्त उत्तर सुनकर प्रश्नको कल्पना की जाती है-"वसौ पिथक इत आज़ ही आगे नगर उजार" (पद्मा॰, २४६)में उत्तरमें चमत्कार है और साथ ही प्रश्नकी व्यंजना भी। (ख) निबद्ध प्रदनमें कई बार प्रदन किये जानेपर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिया जाता है। दासके उदाहरण—"को इत आवत-कान्ह हो, कहा काम-हित मान। किन बोलै-तेरे हगन, साखी-मृदु मुसिकान" (का०नि०, १७) में इसी प्रकारके पश्नोत्तर हैं। द्वितीय उत्तरमें प्रश्नमें ही उत्तर अथवा बहुत-से प्रश्नोंका एक ही उत्तर होता है। इसका आधार इलेष रहता है। वन्हैयालाल पोदारने काशि-राजसे उदाहरण लिया है-"को कहिये जलसों सखी, का कहिये पर स्याम । काकहिये जे रस बिना, कोकहिये सख वाम" जलसे कौन सुखी है प्रश्नका उत्तर इसीमें समाहित है, कोकका हृदय जलमें सुखी है आदि। इसी प्रकार भूषण-के उदाहरणमें कई प्रश्नोंका एक उत्तर है-"को दाता,को रन चढो, को जगपालनहार। कवि भूषन उत्तर दियो सिव नृप हरि अवतार" (शि० भू०, ३१४)। रीतिकालके कवियोंने इस अलंकारका प्रयोग किया है, पर इसकी कल्पना उनके मनमें स्पष्ट नहीं रही है। यह अलंकार आधुनिक कवियोंमें भी प्रचलित है, विशेषकर छायावादी कवि 'प्रसाद', पन्त तथा महादेवीके इस प्रकारके चमत्कारिक प्रश्नोत्तरों में गहरी व्यंजना है।

यह अलंकार कई अन्य अलंकारोंके निकट है। मम्मटके अनुसार यद्यपि कान्यिंलगमें हेतु-कथन होता है, परन्तु कान्यिंलगमें कारकरूप हेतु अपेक्षित है, जनिक उत्तरको प्रश्नका द्यापक कारणभर कहा जा सकता है। शापक हेतुके कारण इसे 'अनुमान' अलंकार भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अनुमान'में साध्य-साधन, दोनों राब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं जनिक 'उन्नति प्रश्न'में साधनरूप उत्तरवाक्यका कथन किया जाता है। 'निनद्ध प्रश्न'का 'परिसंख्या'से मेद भी स्पष्ट है। 'परिसंख्या'के समान 'उत्तर'में किसी दूसरी वस्तुका निषेध नहीं होता है, वरन् अप्रसिद्ध उत्तर होते हैं।

-र०
डत्तरमध्यकाल हिन्दी साहित्यके इतिहासको तीन भागों—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक कालभें बाँटा

खाता है। उत्तरमध्यकाल मध्यकालका उत्तरार्ध भाग है।

मध्यकाल दो युगो, भिक्तकाल और रीतिकाल या शृंगारयुगमें विभक्त किया जाता है। उत्तरमध्यकाल द्वितीयार्थ
रीतियुग है। उत्तरमध्यकाल सं० १७०० वि०से १९००वि०
या मोटे तौरपर सन् १६५८ मे १८५७ ई०—शाहजहांके
शासनकालकी समाप्तिसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्र-संग्राम (मन्
१८५७)—तक माना जाता है। कवियोंकी दृष्टिसे चिन्तामणि त्रिपाठीसे लेकर प्रताप साहितक या भारतेन्द्रके उदयके पूर्वतकका काल उत्तरमध्यकाल है। राजनीतिक दृष्टिमे
यह मुगल शासनका क्रमशः अवसानकाल है। औरंगजेबकी नीति और उसके उत्तराधिकार। शासकोंकी अयीग्यता
और विलासिनाके परिणामस्वरूप मुगल शासनका हास,
अनेक छोटे-वड़े राज्योंका उदय तथा अंग्रेजोंके पदार्पण और
क्रमशः अंग्रेजी प्रभावकी वृद्धिका काल है। इसी कालके
ठीक मध्यमें, सन् १७५७ ई०के ह्रासी युद्धसे अंग्रेजोंका
प्रभुत्व और शासन बंगालमें कायम हुआ था।

धामिक दृष्टिसे इस युगमें विभिन्न (सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, सृष्ती आदि) सम्प्रदायोंकी परम्पराका विकास हुआ। इस युगमें कृष्णोपासक सम्प्रदायोंका सबसे अधिक प्रभाव बढ़ा और गमोपासनामें भी शृंगारिक प्रवृत्तियोंका समावेश हुआ। प्रधानतया यह युग परम्परापालन या रूढिनिर्वाहका काल है, जिसमें शास्त्र हुआ। प्रधानतया यह युग परम्परापालन या रूढिनिर्वाहका काल है, जिसमें शास्त्र हुआ। प्रवृत्तमध्यकालके व्यापक समन्वयकी प्रतिभा इस युगमें कम देखनेको मिलती है। धर्म परम्परापालनके रूपमें अधिक था। इस कालका प्रधान दृष्टिकोण हिंदिक है।

साहित्यिक दृष्टिसे भी यह काल रूदिवादी है। वीरकान्य, रामभक्तिकात्र्य, कृष्णभक्तिकाच्य, प्रेमाख्यानकाच्य, सन्तकान्य आदिकी पूर्ववर्ती परम्पराओंका विकास इस कालमें होता रहा। प्रधान प्रवृत्ति रीतिकाव्यकी है, जिसमें संस्कृतके कान्यशास्त्रीय रस, अलंकार, ध्वनियन्थोंके लक्षणोंके आधारपर कविता लिखनेका प्रचार हुआ। इसी कारणसे उत्तरमध्यकालको रोतिकाल (दे०) भी कहते हैं। इस युगके साहित्यकी प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारिक है। हिन्दी साहित्यका उत्तरमध्यकाल भाषा-संस्कार एवं कलात्मक उत्कर्षका युग है। ब्रजभाषा (हिन्दी)का लिलत रूप इस कालमें देखनेको मिलता है। यह कहा जा सकता है कि इस कालमें बजभाषा साहित्यिक या सांस्कृतिक राष्ट्रभाषाका काम कर रही थी। दक्षिणमें हैदराबाद, पूना आदि स्थानों-से लेकर उत्तरमें कुमाऊँतक इस भाषाके काव्यका सम्मान था। इस कालमें व्यापक रीतिसे साहित्यिक अभिरुचिके दर्शन होते हैं। उत्तरमध्यकाल कलाकाल या शृंगारकाल भी कहलाता है। उत्पत्तिवाद-दे० 'रसनिष्पत्ति', पर्याय-आरोपवाद । उत्पाद्य कथावकता-दे॰ 'प्रकरणवकता', दूसरा नियामक। उत्पाद्य वस्तु - इतिवृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन भेदों-प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रमेंसे एक भेद है। 'उत्पाद्यं कविकल्पितम्' उत्पाद्य इतिवृत्त स्वयं कविकल्पित होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटकों तथा सेठ गोविन्ददासके सामाजिक नाटकांका इतिवृत्त कविकल्पित

है। शूर्वके 'मृच्छकटिक' और भवभूतिके 'मालतीमाधव'-

---व० सिं०

की कथा भी उत्पाद्य ही है।

उत्पाद्योत्पादकभाव –दे० 'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत ।

उत्प्रेक्षा-साद्दयगर्भ अभेदप्रधान अध्यवसाय अर्थालंकार, जहाँ प्रस्तुतमें अपस्तुतकी सम्भावना होती है। इसका शब्दार्थ है अन्य (उपमान)का उत्कटतासे ज्ञान अथवा बलपूर्वक प्रधानतासे देखना । भरतने उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं लिया, परन्त भामहने 'यथासंख्य'के साथ 'उत्प्रेक्षा'का वर्णन किया है। उनके मतमें प्रस्तुतका भिन्न अप्रस्तुतसे गुणलेशतः साम्य 'उपमा' है और गुणोंकी समतापर साम्य 'रूपक' है, परन्तु उत्प्रेक्षा अलंकारमे विशेष गुणसाम्य न हो, क्रिया-योग आवश्यक है- "अतद्गुणक्रियायोगाद् उत्प्रेक्षातिशयान्विता" (काव्यालंकार, २:९१) । भामहने 'उत्प्रेक्षावयव' अलंकारका भी वर्णन किया है, जिसका 🛚 उदाहरण है—''उदय और अस्तमें समान रहनेवाले सूर्यके अस्त हो जानेपर क्लान्त दिवस अन्थकाररूपी घरमें मानो ठिकाना पानेके लिए जा रहा है" (वही, ३:४८)। दण्डीने 'कान्यादर्श'नें चेतन और अचेतनकी अन्यथा स्थित वृत्तिकी 'मन्ये', 'शंके', 'ध्रवं', 'प्रायः' 'नूनम्' आदि शब्दों द्वारा अन्यथासम्भावनामे उत्प्रेक्षा अलंकार बतलाया है (वही, २:२२१,२३४)। नव्य आचार्यों में केशव मिश्रने उत्प्रेक्षाकी सबसे अधिक प्रशंसा की है, उनके मतमें उत्प्रेक्षा 'सर्वालंकारसर्वस्व' भी है तथा 'कवि-कीर्ति-विवर्धिनी' भीः नवोडाके स्मितके समान अपने सौन्दर्यसे वह पाठकके मनको आकृष्ट करती है। मम्मट उत्प्रेक्षाके प्रति उदासीन है। उन्होंने उत्प्रेक्षाका सामान्य वर्णन कर दिया है (का० प्र०, १०: ९२)। जयदेवने उत्प्रेक्षाके लक्षणमें 'निषेधके बिना' उन्नीयन (उत्कट कोटि सन्देह)को आवश्यक माना है (चन्द्रालोक, ५:२९)। विश्वनाथ और अपय दीक्षितके लक्षणों में कोई विशेषता नहीं।

केशवदासने 'और वस्तुमें और कीजिये तर्क' लिखकर उत्प्रेक्षाका स्वरूप बतलाया है। उन्होंने 'उत्प्रेक्षोपमा'का भी वर्णन किया है। मितराम, भूषण, पद्माकर आदिके लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथपर आधारित हैं—"आन बातकी आनमें जह सम्भावना होय" (शि० भू०, ९७)। दासके अनुसार "वस्तु निरिख के हेतु लिख, के आगम फल काज। किव के बकता कहित ये, लगे अवरसे काज।' (का० नि०, ९), और इसके अतिरिक्त वाचक शब्दोका कथन किया है। आधुनिक विवेचकोंने भी मम्मट और विश्वनाथका अनुसरण किया है।

उत्प्रेक्षाको स्वतन्त्र अलंकार-पद पीछे मिला, इस कारण इसके भेदोका विस्तार भी पीछे ही हुआ है। भामहने तो उत्प्रेक्षाके भेद बताये ही नहीं, दण्डीमे 'चेतन' और 'अचेतन'के आधारपर भेद नहीं माने जा सकते। परन्तु 'काञ्यादर्श'में "लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्चनं नभः" लिखकर जो मत ञ्यक्त किया गया, वह लगभग ८०० वर्षीतक काञ्यशास्त्रियोके ध्यानको आकृष्ट किये रहा।

उत्प्रेक्षाका पूर्ण विस्तार विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में होता है। उत्प्रेक्षाके र भेद हैं—'वाच्या' तथा 'प्रतीय-माना'। 'वाच्या' जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यगत होनेसे ४ प्रकारकी है, पुनः भाव अथवा अभावरूपसे ८ प्रकारकी हुई। इन आठों भेदोंके निमित्त, गुण और क्रिया होनेसे भेद १६ हो गये। इनमें से जाति, गुण और क्रियाओं के १२ भेदस्वरूप, फल तथा हेतके रहनेसे ३६ हए। द्रव्यमें केवल स्वरूप ही होता है, इन चार भेदोंको मिलाकर वाच्योत्प्रेक्षाके ४० भेद हुए । स्वरूपोत्प्रेक्षाके १६ भेद निमित्तके उपादान या अनुपादानके कारण ३२ बन जाते हैं। अस्त, स्वरूपोत्प्रेक्षाके ३२, फलोत्प्रेक्षाके १२ और हेतत्प्रेक्षाके १२ भेद मिलकर वाच्योत्प्रेक्षा ५६ प्रकारकी हुई। प्रतीयमानाके केवल ३२ भेद है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा-के ५६+३२=८८ भेद हो जाते है (सा० द०, १०: ५८-६२) । उत्प्रेक्षाके भेद 'सापह्नवा', 'इलेषहेत्रगा' तथा 'उपक्रमा' भी हैं, विश्वनाथने इनका वर्णन किया है। जिस उत्प्रेक्षामें अपहन्ति अंग बनकर आवे, वह सापह्नवा है। प्रायः 'छल' आदि शब्दों ने प्रयोगसे अपहन्तिका संकेत रहता है। यदि इलेष उत्प्रेक्षाका हेत् है, तो उत्प्रेक्षा 'इलेष-हेतगा' होगी। उपमावाचक शब्दके प्रयोगसे प्रारम्भ होकर जब अवसान सम्भावनामें होता है तो ऐसी उत्प्रेक्षा 'उप-मोपक्रमा' कहलाती है।

जयदेवने 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके ३ मेदों —कारण, फल और वस्तुको स्वीकार किया है (चन्द्रालोक, ५, २९) और गृढा (प्रतीयमाना) भेदको स्पष्ट लिखा है। यदि व्याख्या की जाय तो उनके अनुसार उत्प्रेक्षाके ६ मेद हो गये। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः इसी भेदक्रमको स्वीकार कर लिया है। किसी-किसीने लुप्तोत्प्रेक्षा तथा उत्प्रेक्षा-मालाका उल्लेख भी किया है। इसी क्रमको आधुनिक विवेचकोंने भी अपनाया है। कन्हैयालाल पोहार तथा रामदिहन मिश्रने इसके दो प्रधान भेद—वाच्या और प्रतीयमाना माने हैं और फिर वाच्याके वस्तु, हेतु तथा फल सम्बन्धी एवं प्रतीयमानाके हेतु और फल सम्बन्धी भेद माने हैं। पुनः इनके भी उक्त-विषया, अनुक्त-विषया अथवा सिद्ध, असिद्ध-विषया नामक दो-दो भेद किये गये हैं।

१ वस्तत्प्रेक्षा – उत्प्रेक्षाका एक भेद । 'हेत्वादि' लिखकर उत्प्रेक्षाके जो तीन भेद स्वीकार किये है, उनमेंसे एक । जगन्नाथने इसको स्वरूपोत्प्रेक्षा कहा है। इसमें एक वस्तकी दूसरी वस्तके रूपमें सम्भावना की जाती है. अर्थात उपमेयमें उपमानकी सम्भावना । यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय (आश्रय) उपमेय होना है। इसके दो भेद स्वीकत रहे हैं-उक्तविषया तथा अनुक्तविषया। इनको उक्तास्पदा और अनुक्तारपदा भी कहते है। उक्तविषयामें उत्प्रेक्षाका विषय (उपमेय) कहकर उपमानकी सम्भावना की जाती है—"रैन तिमहले धन चढ़ो, मुख छिब लिख नॅदनन्द । घरी तीनि उदयादि ते, जनु चिंद आयौ चन्द" (का० नि॰, ९) अथवा—''सोहत ओढ़े पीत पढ़, स्याम सलौनें गात । मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पन्यौ प्रभात" (वि० र०, ५८९)। यहाँ उत्प्रेक्षाके विषय 'सख' और 'स्याम गात'का कथन किया गया है। अनुक्तविषयामें उत्प्रेक्षाके विषयका कथन न करके उपमानकी सम्भावना की जाती है-"अाकाश अंजन बरसाकर मानी अन्ति क्षिकी तमसे लीप रहा है"। यहाँ अन्तरिक्षको 'तमसे लीपना' सम्भावना है, परन्तु किस विषयकी, वह कहा नहीं गया। अथवा—"फिरत विषिन नृप देखि वराहू। जनु बन दुरेहु सिसिह ग्रिन राहू" (रा० च० मा०, १:१५६)। यहाँ वराहके दाँतोंके विना उल्लेख किये राहुके मुग्वमें चन्द्रमामे उल्लेख दी गयी है।

रे. हेत्र्प्रेक्षा — उत्पेधावा एक भेद, जिसमें अहेतुमें हेतुको, अर्थाद् अकारणको कारण मानकर सम्मावना को जाती है। इसके दो उपभेद है— सिद्धविषया, असिद्धविषया। सिद्धविषयामें उत्प्रेक्षाका विषय सिद्ध अथवा सम्भव होता है— "तुम्हारे पदतल पृथ्वीके रपर्शसे मानो रक्त वर्ण है" अथवा— "मानो खोटी विरह-घटिका सामने देखके ही। कोई भी थी अवनतमुखी कान्तिहीना मलीना" (प्रियप्रवास)। यहाँ 'रक्तता' तथा 'घटिका' सम्भव कारण है। असिद्ध-विषया— जिसमें उत्प्रेक्षाका विषय असिद्ध या असम्भव हो— "विरहिनके असुवानने, भरन लग्यो संसार। में जान्यों मरजाद तजि, उमग्यो सागर खार" (का० नि०, ९) अथवा— "मोर मुकुटकी चन्द्रिकनु, यौ राजत नँदनन्द। मनु सिसनेखरकी अकस, किय सेखर सत चन्द" (वि० र०: ४१९)। यहाँ सागरका उमग्ना तथा शिश्वोखरकी प्रतिद्वन्द्विता असिद्ध है।

३- फलो-प्रेक्षा-उत्प्रेक्षाका एक मेद, जिसमें अफलमें फलकी सम्भावना की जाती है। इसके दो भेद हैं—सिद्ध-विषया तथा असिद्ध-विषया । सिद्ध-विषया-जहाँ उत्प्रेक्षा-का फल सिद्ध अथवा सम्भव हो- "आनन चन्द समान उग्यो मृद मंज़ हँसी जन जौन्ह छटा है"(ल० ल०, १०७) अथवा-"पायतर आय नित निडर बसायबेकों, कोट वाँधियत मानो पाग बाँधियत है" (शि० भू०, १०३)। यहाँ चन्द्रके उगनेसे ज्योत्स्नाका फैलना और 'पाग बॉधना' (सम्मान देना) फलके रूपकी सिद्ध कल्पनाएँ है। असिद्ध-विषया—जहाँ उत्प्रेक्षामे असिद्ध या असम्भव फलकी करपना हो-"खंजरीट नहिं लखि परत, कछु दिन साँची बात । बाल दगन सम होनकों, मनों करन तप जात ।" (का ० नि ०, ९) अथवा-"नाना सरोवर खिले नव पंकर्जो-को, ले अंकर्मे विहॅसते मन मोहते थे। मानो प्रसार अपने शतशः करोंको, वे माँगते सरस् से सुविभूतियाँ थे।" (प्रिय-प्रवास)। यहाँ 'तप करने जाना' तथा 'करोंको फैलाना' फलोत्प्रेक्षाके विषय असिद्ध हैं।

४ वाच्या और प्रतीयमाना—विश्वनाथ आदिने उत्प्रेक्षाके दो सामान्य भेद किये हैं—वाच्या और प्रतीयमाना। इन, मनु, जनु, मानो, मानहु, जानहु, सा, सी, से, प्रायः, मेरे जान आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दोंका जहाँ प्रयोग होता है, उसे वाच्या कहते हैं और जहाँ इन वाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं होता, उसे प्रतीयमाना कहते हैं—"वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः" (सा० द०, १०: ४१)। 'रसगंगाधर'में फिर प्रत्येकके तीन उपभेद दिये गये हैं—स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेत्त्र्प्रक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा। चन्द्राजीककारने 'प्रतीयमाना'को ही 'गृदोत्प्रेक्षा' कहा है। विश्वनाथके मतसे प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा तथा हेत्त्र्प्रेक्षा ही हो सकती हैं, वस्त्रुप्रेक्षा नहीं, क्योंकि इसमें यदि वाचक शब्दका

प्रयोग न किया जाय हो अति स्थोक्ति हो प्रतीति होने लगती है। यथा—''सिम मण्डलको छुवत हैं मनु या पुरके भीन" (अ० मं०, २२४)। इसमें यदि 'मन्' हटा दिया जाय तो असम्बन्धमें सम्बन्धकी कल्पना असम्बन्धाति श्योक्ति होगी। पर जगन्नाथ इसे गम्योत्प्रेक्षा ही मानते हैं, क्योंकि उत्प्रेक्षाकी सामग्री विद्यमान है । प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा-"नित्य ही नहाता क्षीरसिन्धमें व लाधर है। मन्दरि तवा-ननको समताकी इच्छामे" (काव्यदर्पण)। यहाँ समताके इच्छारूप फलकी कामना की गयी है, पर वाचक शब्द नहीं है। हेतृत्प्रेक्षा-"जानि पन चौथो अब भेष के भगौहीं भान, अस्ताचल थानमें पयान कियो चाहे हैं" (अ० मं०, २२७)। यहाँ कारण 'चौथापन' कहा गया है, जो कारण नहीं है पर वाचक शब्दका प्रयोग भी नहीं है। जहाँ उत्प्रेक्षा इलेपपर आधारित होती है, विद्वनाथने उमे इलेपमूला माना है, जहाँ निपेध करके उत्प्रेक्षा की जाती है, सापह्नवा कहा है। उत्प्रेक्षा भ्रान्तिमान, सन्देह तथा अतिशयोक्तिसे स्पष्टतः भिन्न है। उत्प्रेक्षामं वस्तुका वास्तविक ज्ञान रहता है, जब कि भ्रान्तिमानमें अन्य वस्तुको कल्पना वास्तविक नहीं होती। उत्प्रेक्षामें प्रस्तुत-अप्रस्तुतमें एक प्रबल रहता है, जब कि सन्देहमें दोनों समकक्ष प्रतीत होते हैं । उत्प्रेक्षामें अध्यवसाय साध्य (उप-

मानका अनिश्चित रूपमे कथन) रहता है और अनि-

श्योक्तिमें अध्यवसाय सिद्ध, क्योंकि उपनेयका निगरण

होकर उपमानमात्रका कथन होता है। उत्प्रेक्षामें सौन्दर्य-बोधका विस्तृत क्षेत्र है। इसमें 'प्रस्ततकी अप्रस्तनरूपमें सम्भावना' कल्पनाका मक्त प्रयोग किया जा सकता है और साहश्य तथा साथर्म्यकी नानाविध स्थिति, परिस्थिति अथवा भाव-स्थितियोंकी सम्भावनाके लिए प्रकृतिका व्यापक सौन्दर्य प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि उत्कृष्ट कान्यमें उत्प्रेक्षाका न्यापक प्रयोग मिलता है। उपमा और रूपकके समान ही इसका प्रयोग हुआ है। विद्यापति, जायसी और सूरने सम्भवतः उत्प्रेक्षाको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। इसका मुख्य कारण है कि इन तीनोंने सौन्दर्यका व्यापक तथा सूक्ष्म चित्रण किया है। इस सौन्दर्यके अन्तर्गत रूप, परिस्थिति तथा भावस्थिति सम्बन्धी सौन्दर्य आ जाता है। विद्यापतिने रूपसौन्दर्य और मनकी पीड़ा-ज्यथाको अभिन्यक्त करनेमें अनेक अप्रस्तुत करपनाओंका सहारा लिया है। जायसीने रूप-सौन्दर्यमें वस्तृत्प्रेक्षा औ प्रेम-विरहके वर्णनमें हेत्त्प्रेक्षाका विशेष प्रयोग किया है। यह अलंकार उत्कर्पकी व्यंजनाके लिए बहुत उपयुक्त है। सूरने उत्प्रेक्षाका प्रयोग सर्वाधिक और सबसे सुन्दर किया है। उनके सांग-रूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षाओं के द्वारा ही सघटित हुए हैं। सूरको रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्थके चित्रणमें समान रूपसे सफलता मिली है और उनमें उत्प्रेक्षाके माध्यमसे उन्होंने कल्पनाका प्रयोग किया है। रूपके अनेक पक्षी-स्थिति-जन्य, चंचल, स्फ़रित, क्रीडाशील, अलौकिक आदि-के चित्रणमें उत्प्रेक्षाका आश्रय है। इसी प्रकार भावोंकी विविध स्थितियोंकी व्यंजना सरने स्वतःसम्भावनी तथा प्रौढ़ोक्ति-सम्भव कल्पनाओं द्वारा की है। इसके अतिरिक्त जीवनकी अनेक अन्य स्थिति अथवा परिस्थितियों को चित्रमय करनेमें भी इसका प्रयोग हुआ है। तुल्सीने रूपात्मक अथवा भावात्मक सौन्दर्यके लिए उत्प्रेक्षा के अनेक रूपोंका प्रयोग किया है और उनके ये सारे प्रयोग सहज-सौन्दर्य-विधान है। अनेक बार वे वाचक राब्दोंका प्रयोग नहीं करते। वीर-काव्यमें युद्ध, नगर, घोड़ा, हाथी, सामग्री आदिके वर्णनमें प्रतीयमाना तथा उक्त-विषया वस्तृत्प्रेक्षाका विरोध प्रयोग किया है। रीतिकालीन कवियों सहज सौन्दर्यके स्थानपर कल्पनाकी उडान अधिक बढ़ती गयी। उनकी रुचि साहर्यमूलक अलंकारोमें भी चमत्कार उत्पन्न करनेकी अधिक है। यही कारण है कि इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। आधुनिक युगके काव्यमें उत्प्रेक्षाका व्यापक प्रयोग हुआ है। इसका प्रयोग दिवेदी-युगके कथा-काव्यमें हुआ, पर बादमें छायावादी काव्यमें कल्पनाकी सम्भावनाओंका क्षेत्र स्क्ष्म हो गया हं।

**उत्सवगीत** – लोकगीतोंकी परम्परामें प्रत्येक उत्सवके लिए गीत निश्चित और निर्धारित है। विनिन्न संस्कारोंके लिए विभिन्न प्रकारके गीतका विधान है। पुत्र-जन्मके अवसरपर गाये जानेवाले गीतोंका नाम सोहर है—"पनवॉ अइसन धनि पातरि, कुसुम अइसन सुन्दर हो। मोरे रामा उनहूंके भइलें नन्दलाल होरिलवा बड सुन्दर हो।" अष्टछापके कवियोंने ऐसे गीत लिखे हैं। विवाहोत्सवके समयके लिए भी विशेष प्रकारके गीत है। इनका एक प्रकार जोग है-"जाहि जोगे थिया हमार बससुना जोगिया हम लाइबना" तुलसीदासने विवाहोत्सव सम्बन्धी गीत लिखे हैं। राष्ट्रीय नवजागरणके कारण कुछ नये उत्सवींका विधान हुआ और स्वतन्त्रताप्राप्तिके कारण नये उत्सर्वोको मान्यता मिली है। स्वतन्त्रता-दिवसके उपलक्ष्यमे गाये जानेवाले उत्सवगीत अधिक लिखे गये है। प्रगतिवादियोंने 'मे डे'के सम्बन्धमे गीत लिखे है, जिनमें जनान्दोलनकी सफलताकी महत्ता प्रतिपादित की गयी है। नये उत्सवोके विधानसे नये उत्सव-गीतोंकी रचना सम्भव होती है। —रा० खे० पा० उत्साह—वीर रसका स्थायी भाव उत्साह है। 'नाट्यशास्त्र' (७:२० ग)में लिखा है-- "उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यत्यागादिभिविभावैरुत्पद्यते । तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तन्यः।" अर्थात् उत्साह उत्तम प्रकृतिके न्यक्तियोंसे सम्बद्ध है। यह विषादका अभाव (अविषाद) शक्ति, धैर्य, शौर्य, दानशीलता (त्याग) इत्यादि विभावोसे उत्पन्न होता है तथा धैर्य, दान-शीलता, किसी कार्यके आरम्भकी प्रगल्भता (ढिठाई) इत्यादि अनुभावोसे व्यंजित होता है। बादके श्लोकमे बताया गया है कि उत्साह प्रयत्नमूलक (व्यवसायात्मक) है तथा असम्मोह, अर्थात् जागरूकता इत्यादि गुणोसे विकसित होता है।

'अमरकोष'मे उत्साहको 'अध्यवसाय'का पर्याय कहा है तथा असाध्य-साधनमें नियोजित होनेपर इसकी संज्ञा 'वीर्य' बतायी गयी है। 'साहित्यदर्पण'में "कार्यके करनेमे स्थिरता तथा उत्कट आवेश (संरम्भ)"को उत्साह कहा गया है (३:१७८); 'रसगंगाधर'में पण्डितराजका कथन है कि "जिसकी, शत्रुके पराक्रम तथा किसीके दान आदिके स्मरण-से उत्पत्ति होती है तथा जिसका नाम उन्नतता है, उसे उत्साह कहते है ।"

उत्साहकी उपर्युक्त परिभाषाओं से उसके खरूपका निश्चय किया जा सकता है। "वह मनकी एक प्रयत्नमूलक उछास-पूर्ण वृत्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य उत्कट आवेशके साथ किसी कार्यको करनेमें प्रवृत्त होता है तथा जिसकी अभिन्यक्ति शक्ति, शौर्य एवं धैर्यके प्रदर्शनमे होती है।" यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उत्साहमे साहसका भाव भी अन्तर्निहित है, लेकिन जो तत्त्व उसे कोरे साहससे पृथक करता है, वह है उसकी चेतन उहासपूर्णता। इसीलिए रामचन्द्र शुक्क उत्साहको 'साहसपूर्ण आनन्दकी उमंग' बताते हैं। इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय यह है कि मनोविज्ञा-नियोंने उत्साहको प्रधान भावोंमे परिगणित नहीं किया है, क्योंकि इसमें आलम्बन एवं लक्ष्य उतने स्थिर एवं परिस्फुट नहीं होते, जैसे अन्य भावोके । लेकिन आचार्योंने इसे प्रधान भाव इसलिए माना है कि ''आश्रय या पात्रमे उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानभव होता है, जो और रसोंके समकक्ष है" (र० मी०,

गर्व, धृति, दया, हर्ष, मति, आवेग इत्यादि भाव उत्साहके संचारी है। उदा०—"तू मीन त्याग कर सिहनाद, रे तपी! आज तपका न काल। नवयुग शंखध्वनि जगा रही, तू जाग, जाग मेरे विशाल" (दिनकर)। उत्साह भावकी व्यंजना है, लेकिन स्थायीकी पृष्टि नहीं हो सकी है, क्योकि वैसा तो रस-परिपाकमे ही सम्भव है। -र० ति० उदात्त १-एक प्राचीन गृढार्थप्रतीतिमूलक अर्थीलंकार । यह अलंकार रुद्रटके 'कान्यालंकार'मे दिये 'सार' और उसपर ही आश्रित रुय्यक्के 'अलंकारसर्वस्व'के 'उदार' अलंकारसे भिन्न है। इतिहासकी दृष्टिसे यह बहुत प्राचीन अलंकार है। दण्डी, भट्टि, भामह एवं उद्भटने इसका उल्लेख किया है। मम्मटने 'काव्यप्रकाद्या'मे और उनका अनुकरण कर विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' (१०: ९४)में इस अलंकारका उल्लेख कर दो प्रकारका उदात्त बताया है। अप्पय दीक्षितने 'कुवलयानन्द'में जयदेवके 'चन्द्रालोक'के आधारपर इसे स्वीकार किया है। मम्मटने उदात्त अलंकारकी परिभाषामें वताया है कि किसी भी वस्तुकी समृद्धि तथा महान् व्यक्तियों-को उस समृद्धिका सहायक माननेसे यह अलंकार होता है (का० प्र०, १०: ११५)। उत्कर्षरूपसे किसी पदार्थका ग्रहण करना, उदात्त पदका यौगिक अर्थ है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है और इसके दो भेद माने है। प्रथम—'संपतिको अधिकार जो' (छ० छ०, ३७७) या 'अति संपति बरनन' (शि० मू०, ३३७)। उदा०—"लाल करै प्रात तहाँ नीलमनि करे रात, याद्दी नॉति सरजाकी चरचा करत हैं" (वही, ३३८) अथवा—"कामतरु विधिन कदम्ब उपवन सीरो, सुरिभ पवन डोलै मुदु-सी गवन मै।" (छ० छ०, ३७९)। द्वितीय—वर्णनीय अर्थमें महापुरुषोंके अंगभाव होनेका वर्णन—'अरु उपलक्षण और' (छ० छ०, ३७९) अथवा—'जह उपलच्छन बड़ेनको' (का० नि०: ११)। उदा०—"करत भये जाके तरे, राधा क्रस्न विहार। सो न होइ क्यों तरुनको वंसीबट सिंगार" (प्रधा०,

२६७), अथवा — "निकसन जीवहिं बाँधिकै तासौ राखति बाल । जमुना तट वा कुंजमें, तुम जु दई बनमाल।" (ल० ल०, १८०)। इन उदाहरणोंमें राधाकृष्णके विहारसे तथा कृष्णके द्वारा दी जानेके कारण वंशीवट तथा वनमालके उत्कर्पका वर्णन है। उदात्त (sublime) २-अंग्रेजी शब्द 'सवलाइम'का हिन्दी रूपान्तरण । पारचात्य साहित्यमें सौन्दर्यशास्त्रके साथ इस शब्दावलीपर भी एक दीर्घकालीन परम्परासे विचार होता चला आ रहा है। इस तत्त्वका सर्वप्रथम विचारक लोंजा-इन्स है, जिसने 'पेरिइप्सुस' ग्रन्थ कान्यके उदात्त तत्त्वके प्रतिपादनके लिए ही लिखा था। इसके अनुसार उदात्त तत्त्व शैलीका महत्तम गुण है, जो विभिन्न व्यंजनाओंके माध्यमसे किसी व्यक्तित्व या घटनाके रोमांसिक, आवेशपर्ण एवं भयंकर तत्त्वको प्रगट करनेके लिए प्रयुक्त होता है। अरस्तूने अपने विरेचन सिद्धान्त (दे०)के अन्तर्गत उदात्त-को उसके सर्वाधिक सहायक तत्त्वके रूपमें स्वीकार किया है। पारचात्य कला समीक्षकोंमें हीगेल, कांट, ब्रेडलै, कैरेट, बुक, वाल्टरपेटर, सांटायना, बोसाँके, युंग आदिने इस विषयका अच्छा विवेचन किया है।

कांट (एस्थेटिक)के अनुसार अध्यातम स्फूर्ति ही उदात्त-का सार या तत्त्व है। यह सौन्दर्यकी अनुभूतिको सुखकर एवं तृप्तिप्रद बनाकर उदात्तकी अनुभृतिके स्तर तक ले जाता है। फलखरूप वह सौन्दर्यचेतना आध्यात्मिक सन्तोपके समकक्ष पहुँच जाती है। उसके अनुसार भार, संकोच, स्फूर्ति एवं अर्न्तवोध इसके मूल तत्त्व हैं। किन्तु कांट-मत कलाकी अपेक्षा अध्यारमके अधिक निकट है। कला-की उदात्त वृत्तियाँ मात्र आध्यात्मिक नहीं होतीं। बैडले (ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री ) उदात्तके अन्तर्गत भय, रोमांच, अन्तश्चमत्कार एवं आन्तरिक आह्वादपूर्ण वृत्तियोंको प्रधान मानता है। वह कहता है कि जब हम उदात्त शब्द-का प्रयोग करते हैं तो इसका तात्पर्य केवल यह है कि हम सौन्दर्यवोधको विस्तार दे रहे हैं। उसने उदात्तको अधिक स्पष्ट करनेके लिए सौन्दर्यके विभिन्न स्तरोंके सूचक पाँच शब्दोंका प्रयोग किया है—सबलाइम, मैण्ड, ब्यूटीफुल घेसफुल तथा प्रेटी। ब्यूटीफुल (सुन्दर)को मध्यमान मानकर उसने उससे उत्कृष्ट भावनाको क्रमशः ग्रैण्ड एवं सबलाइम तथा निम्नतर भावबोधको ग्रेसफुल तया प्रेटी कहा है। उसके अनुसार 'उदात्त' कलाबोधका उच्चतम गुण है, जब कि प्रेटी निम्नतम। बैडलेने बुक आदिकी उन पकांगी धारणाओंका खण्डन किया है, जिनके अनुसार इसे भयका त्रासद तत्त्व माना गया है। उदात्तके सम्बन्ध-में युंगकी धारणा महत्त्वपूर्ण है। उसके अनुसार "ससीम-बंधनग्रस्त मानव व्यक्तित्वमें असीम और अनन्त तत्त्वके उदयसे अनन्त वेदना और अनन्त आनन्द का सामयिक अनुभव होता है। यही अनुभव उदात्तका अनुभव है।" डॉ॰ हरद्वारीलाल शर्माने भारतीय साहित्यमें प्रयुक्त उदात्त तत्त्वकी व्याख्या अपनी 'सौन्दर्य शास्त्र' नामक पुस्तकर्मे की है। उनके अनुसार "ब्रह्मलय वैराग्यकी चरम भूमि है और साथ ही अनन्तवेदना जो वैराग्यसे उत्पन्न होती है. इस चरमभूमिमें पहुँचकर अनन्त आनन्दको उत्पन्न करती

है। यही उदात्तकी अनुभृति हैं"। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियोमे उदात्तकी अनुभृति अपने उत्कृष्ट रूपमें मिलती है। उनके लीला वर्णनमें सुन्दरसे कही अधिक अभि-व्यक्ति इस तत्त्वकी हुई हैं। किन्तु इस दिशामें अभी इनका अध्ययन नहीं हुआ है।

[सहायक प्रन्थ—मोन्दर्यतत्त्वः सुरेन्द्रनाथदास गुप्त, अनु० आनन्द प्रकाश दीक्षितः, काव्यमं उदात्त तत्त्वः सं० डो० नगेन्द्रः, सोन्दर्य शास्त्रः टो० हरद्वारीलाल शर्माः, आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोण्ट्री—डो० ए० सी० बैडले।] —थो० प्र० सि०

उदारता गुण-दे॰ 'गुण', आठवॉ प्रकार।

उदारवाद - इस शब्दका अंग्रेजी पर्याय 'लिवरलिज्म' है। यह एक विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण-का प्रतीक है, जो व्यक्ति और समाजके बीच समन्वय स्थापित करनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिकोणके अनुसार न तो व्यक्ति आत्मिनर्भर है और न तो समाज ही निरंकुश है। व्यक्ति और समाज एक दूसरेके पूरक हैं और दोनों अपनी निःसंगतामें अधुरे है।

उदारवादका विकास आधुनिक युगकी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियोंके अन्तर्गत हुआ है। किन्तु इसका स्वरूप प्राचीन मीक दर्शन और मध्यकालीन राजनीतिक विचारोंमें भी दीख पड़ता है। ग्रीक विचारक अरस्त् और मध्ययगीन ईसाई विचारक सेण्ट टामस एक्वीनासके राजनीतिक विचार उदारवादी परम्पराका निर्माण करते है। इस परम्पराको आधुनिक युगकी परिस्थितियोंने और प्रोत्साहन दिया। १६वीं शताब्दीमें राष्ट्र राज्योंकी स्थापनाके पश्चात् यूरोपमें राजाओंकी निरंकुशताके विरुद्ध सैद्धान्तिक प्रतिक्रियाएँ होने लगीं। इन प्रतिक्रियाओंको अनुबन्ध सिद्धान्तमें मूर्त रूप प्राप्त हुआ । उदारवादका सर्वप्रथम आधुनिक रूप अनुबन्धवाद है। अनुबन्धवाद राज्यको कृत्रिम मानता है। यदि राज्य कृत्रिम है तो किसी उद्देश्यको ही लेकर इसकी रचना की गयी होगी। अनुबन्ध-वादियोंका इस बातमें मतभेद है कि राज्य किन उद्देश्योंको लेकर बनाया गया है। लेकिन इतना सब मानते हैं (रूसो और वर्कको छोड़कर) कि राज्य नैसर्गिक संस्था नहीं है। अनुबन्धवाद मूलतः राज्यकी निरंकुशतापर प्रहार करता है। इस सम्बन्धमें हॉब्सका अनुबन्धवाद एक अपवाद अवस्य है। केवल इस अपवादके अतिरिक्त जितने भी अनुबन्धवादी राज्यको कृत्रिम संस्था मानते हैं, वे सभी व्यक्ति और समाजके अधिकारोंमें सन्तुलन चाहते हैं। लॉकका अनुबन्धवाद पूर्ण रूपसे इंग्लैण्डमें उदारवादी परम्पराका सूत्रपात करता है। कालान्तरमें जब अनुबन्धवाद अनैतिहासिक और अमनोवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया गया तो अनुबन्धवाद और उदारवादका यह गठबन्धन टूट गया। उदारवादको इस परिस्थितिमें नयी पतिष्ठा प्रदान की गयी। उसको मनोविज्ञान और उपयोगितावादका आधार प्राप्त हुआ। किन्तु उदारवादकी राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन नहीं हुआ।

उदारवादके दो मूल प्रकार है। पहला आर्थिक और दूसरा सामाजिक। आर्थिक उदारवाद 'यक्कान्यम्' नीति

अर्थात् 'लेसे फेयर' सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्तके अनुसार निसर्गने आर्थिक क्षेत्रमें मनुष्यके व्यक्तिगत स्वाथोंमें प्राकृतिक एकरूपताकी स्थापना की है। प्राकृतिक एकरूपता होनेके नाते राज्य या किसी और वाहरी शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती कि वह आर्थिक क्षेत्रका संचालन करे। मुक्त प्रतियोगिता और व्यापार-स्वतन्त्रता इस सिद्धान्तकी तार्किक संगतियाँ है। पूँजीवादके आरम्भिक चरणोंमें आर्थिक उदारवादका प्रचलन होता रहा, किन्तु धीरे-धीरे पूँजीवादी परिस्थितियोंने आर्थिक परिस्थितियोंने आर्थिक परिस्थितियोंने आर्थिक परिस्थितियोंने अन्तिम दो दशकोंमें आर्थिक उदारवादकी परम्परा टूटने लगी। अमेरिकामें इस परम्परापर प्रहार २०वी शताब्दीमें प्रथम महायुद्धके पश्चात् हुआ।

राजनीतिक उदारवाद जनतन्त्रका आरम्भिक रूप है। पूर्ण जनतन्त्र इसे नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्ण जनतन्त्र समष्टिको हो अधिकारों और शक्तिका केन्द्रविन्दु मानता है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टिसे उदारवाद अर्द्ध-जनतन्त्र है। इसके अनुसार व्यक्तिके सुख और उद्देश्य वांछनीय है। इन्हीं सुखों और उद्देश्योंके लिए समाज और राज्यकी रचना हुई है। अतः समाज और राज्यकी प्रकृतिमे यह नहीं है कि वह व्यक्तिपर अनावश्यक अधिकारका प्रयोग करे। जहाँतक सामाजिक जीवनके लिए आवश्यक है वहींतक व्यक्तिपर राज्यका अंकुश है। राज्यका संचालन समाजके हाथमें होना चाहिये ताकि राज्यका प्रयोग समाजके हितमें हो सके। यह उदारवादी सिद्धान्त पूर्ण जनतन्त्र और पूर्ण व्यक्तिवादके मध्यमें स्थित है। धीरे-धीरे जब २०वी शताब्दीमें समष्टिवादी परम्पराष्ट्र सशक्त होने लगी तो राजनीतिक उदारवाद शिथिल हो गया।

ब्रिटिश शासनके समय भारतवर्षमें भी उदारवादकी लहर दौडी । कांग्रेसके प्रारम्भिक नेतागण उदारवादसे अत्यन्त प्रभावित थे। तत्कालीन साहित्यपर भी इस विचार-धाराकी छाप दिखाई देती है। छायावादी कान्य तथा प्रारम्भिक हिन्दी उपन्यासोंकी पृष्ठभूमिमें उदारवादकी भावनाको स्पष्ट देखा जा सकता है। —रा० कु० त्रि० **उटाहरण-**गम्यौपम्य आश्रय वाक्यगत जो दृष्टान्त अलंकारसे मिलता-जुलता है। कोई साधारण बात कहकर 'ज्यो', 'जैसे' इत्यादि वाचक शब्दों द्वारा किसी विशेष बातसे जहाँ समता दिखाई जाती है, वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। उदा०-"यों रहीम जस होत है, उपकारोके संग। बॉटनवारेके लगै, ज्यों मेहदीको रंग" (रहीम)। भगवानदीनके अनुसार "दृष्टान्त अलंकारमें कवि-का मख्य लक्ष्य उपमान वाक्य (उत्तरार्द्ध भाग)पर होता है, उदाहरण अलंकारमें कविका मुख्य लक्ष्य उपमेय वाक्य (पूर्वार्द्ध भाग)पर होता है, उत्तरार्द्ध केवल बानगाके तौरपर आता है।'' अर्थान्तरन्यासमें साधारणका विशेषसे और विशेषका साधारणसे समर्थन होता है, परन्तु दृष्टान्तमें साधारणकी समता साधारणसे और विशेषकी समता विशेषसे की जाती है। ---ओ० प्र० उद्घात्यक-यह रूपकगत प्रस्तावनाका एक भेद है। अप्रतीतार्थक पदोंके अर्थकी प्रतीति करानेके लिए जहाँ और पद साथमें जोड दिये जायँ, वहाँ उद्धात्यक होता है। 'मुद्राराक्षस'में सूत्रधारने ग्रहणके सम्बन्धमें नटीसे ज्यों ही कहा कि 'कृर ग्रह केतु यद्यपि पूर्ण चन्द्रमण्डलका पराभव करना चाहता है" त्यों ही नेपथ्यसे आवाज आयी कि ''अरे मेरे जीते कौन चन्द्रगुप्तका पराभव करना चाहता है।" यहाँ सूत्रधारका अभिप्राय चन्द्रगुप्तसे नहीं है पर नेपथ्यसे चाणक्यने 'चन्द्र'के साथ 'गुप्त' आदि पद जोड़कर उसे अन्य अर्थ दे दिया है। यहाँ चाणक्य सूत्रधारका अभिष्ट नहीं समझता है, वह उसे अपने ढंगसे ग्रहण करता है। कृर ग्रहका तात्पर्य वह अमात्य राक्षस समझता है। —व॰ सि॰

उद्यीपक हाव-दे॰ 'स्वभावज अलंकार', इक्कीसवॉ। उद्दीपन विभाव-विभावका सर्व-स्वीकृत भेद । विद्व-नाथके शब्दोंमें - "उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्बनस्य चेष्टाद्याः देशकालादयस्तथा" (सा० द०, ३: १३१), अर्थात् रसको उद्दीप्त करनेवाली आलम्बनकी चेष्टादि तथा देशकालकी स्थितियाँ उद्दीपन विभाव है। देवके अनुसार भी--''रसिंह जगावे दीप ज्यों उद्दीपन कहि सोइ" (भा० वि०, विभाव) । आश्रयके हृदयमे उत्पन्न रति आदि स्थायी भावोको अधिकाधिक उद्दीप तथा तीव करनेवाला कारण उद्दीपन विभाव कहलाता है। आलम्बनकी चेष्टा तथा देश, काल आदिको उद्दीपन विभाव माना जाता है। रसके अनुसार उद्दीपन पृथक्-पृथक् होते हैं। शारदातनयने प्रत्येक रसके अनुसार उद्दीपनका वर्गीकरण करते हुए उसके क्रमशः ललित, ललिताभास, स्थर, चित्र, रूक्ष, खर, निन्दित तथा विक्रत नामसे आठ भेद बताये हैं। लिलत मनको आह्वादित करते है और नत्तदिन्द्रियसे गोचर होते हैं। यह शृंगार रसके उत्कर्षक होते है। सूचित, दृष्ट या स्मृत हासकारक विभाव लिलताभास कहलाते है। इसी प्रकार श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत विभाव यदि स्थिरता देनेवाले हों तो बीर रसके उद्दीपक होते हैं। जिनका अनुभव सदा हृदयमे विचित्रताका अनुभव उत्पन्न करता है, वे अद्भुत रसके ऐइवर्य-भावक चित्र नामक विभाव कहलाते हैं। करुण रसके उद्दीपक कष्टदायक होनेके कारण रूक्ष कहे जाते है। कातरता उत्पन्न करनेवाले विभाव खर कहलाते हैं और रौद्रके उद्दीपक होते है। जिन्हे देखकर ऑखे बन्द कर लेनी पड़ती हैं और जिनकी ओर मन प्रवृत्त नहीं होता वे वीभत्सको उद्दीपित करनेवाले विभाव निन्दित और विकृति उत्पन्न करनेवाले भयानकके उद्दीपक विभाव विकृत कहलाते हैं।

सखा, (दे०) सखी, (दे०) चन्द्र, चिन्द्रका, दूती, (दे०) उनके वचन, षड्कतु, पुष्प आदि शृंगार रसके उदीपक माने गये है (देव: भा० वि०, विभाव)। प्रतापरुद्रयशोभूषणमें शृंगारतिलकके आधारपर आलम्बनके गुण, उसकी चेष्टा, उसके अलंकरण तथा तटस्थ, ये चार प्रकारके उदीपन माने है, जिनमें रूपयोवनादि गुण, यौवनोद्भूतहावभावादि उसकी चेष्टाएँ तथा नूपुरअङ्गहारादि उसके अलंकरण आलम्बनगत या अविच्छिन्त माने जाते हैं और मलयानिल, चन्द्रादि तटस्थ (१०१५९)। इन्हे क्रमशः विषयगत तथा स्वतन्त्र भी कह सकते हैं। तटस्थ, आलम्बनसे बाहुरी परि-

स्थितिके कारण ही सम्बन्ध रखते हें और विषयके अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। वातावरण सापेक्ष वर्णनके अव-सरपर यही उद्दीपक कहलाते हैं और अन्य निरपेक्ष अवस्था-में आलम्बनका रवरूप धारण कर सकते हैं। ये उद्दीपन देशकालानुसारी होकर प्रभावशाली होते हैं। गर्मामें उशीर-की शीतलनाका वर्णन प्रभावकर हो सकता है, सदींमें नहीं। इन सभी उद्दीपनोंका निर्वाह हिन्दीमे आधुनिक कालतक परम्परा-पालनके रूपमें होता आया है। आधुनिक कालमें कवियोंकी दृष्टि रसके अवयवोंकी प्रतिकी और नही रहती और आलम्बन भी बहुत-कुछ बदल गये है, अतः शृंगार रसमें दूती, सखी आदिका तिरस्कार ही चुका है और आन्तरिक भावोंकी छटा ही विशेष दीख पड़ती है। शेषमें उद्दीपनोंका रूप-परिवर्तन लक्षित नहीं --आ० प्र० दी० हुआ है। उद्देश्य-कथात्मक साहित्यके छः तत्त्वोंमेसे अन्तिम तत्त्व, जिसमे लेखककी उस सामान्य या विशिष्ट जीवनदृष्टिका विवेचन होता है, जो उसकी कृतिमें कथावस्तुके विन्यास, पात्रोंकी थीजना, वातावरणके प्रयोग आदिमें सर्वत्र निहित पायी जाती है। इसे लेखकका जीवनदर्शन अथवा उसकी जीवनदृष्टि, जीवनकी व्याख्या या जीवनकी आलोचना कह सकते हैं। उन कृतियोंको छोड़कर जिनकी रचनाका उद्देश्य मनबहलाव या मनोरंजन मात्र होता है, सभी कलाकृतियों में लेखकुकी कोई विशेष विचारधारा प्रकट या निहित रूपमें देखी जा सकती है। विना इसके साहित्यिक कृतित्व प्रयोजनहीन और व्यर्थ होता है (दे॰ 'उपयोगी साहित्य', 'उपन्यास')। परन्त प्रश्न यह उठता है कि यदि किन्हीं कतियोंमें कथात्मक साहित्यका यह तत्त्व नहीं पाया जाता. भले ही वे कृतियाँ महत्त्वहीन हों, तो इसे अनिवार्य तत्त्व क्यों कहा जाये ? इसका उत्तर यह है कि जिन कतियों में इस तत्त्वके अभावकी बात कही गयी है, उनमें भी वस्ततः इसका अभाव नहीं होता, केवल लेखककी दृष्टिमें कोई मौलिकता या कोई गम्भीरता नहीं होती। वह सर्व-साधारणकी जीवनदृष्टि ही उपस्थित करता है, जो नगण्य होती है। अपनी जीवनदृष्टि वही लेखक उपस्थित कर सकता है, जो विचारक भी हो। आधुनिक विचारकों में अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने कथात्मक कृतियाँ, विशेषकर उपन्यासके अपने दृष्टिकोणको उद्देश्यके रूपमें प्रकट माध्यमसे किया है। —सं∘

उद्भटकी वृत्तियाँ-दे॰ 'वृत्ति'।

उन्मनी—खेचरी, भूचरी आदि हठयोगकी पाँच मुद्राओं में से एक । इसमें दृष्टिको नाककी नोकपर गड़ाते हैं और मौको ऊपर चढ़ाते हैं । गोरख, कबीर आदिने उन्मनीकी साधनाको साधकके लिए बहुत उपयोगी माना है—"तूटी डोरी रस कस बहै । उन्मनी लागा अस्थिर रहें । उन्मनी लागा होइ अनन्द । तूटी डोरी विनसे कन्द" (गोरखवानी) । साधारण अर्थ है अन्यमनस्क, संसारसे निलिंस, अनमना—"हॅसै न बोल उन्मनी चंचल मेल्या भार । कह कबीर अन्तर विधा सतगुरका हथियार" (कबीर सा० सं०)।—उ० शं० शा० उन्माद प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। चित्तमें विष्लबं होनेको उन्माद कहते हैं। भरतने इसके कई विभाव

दिये हैं, जैसे प्रियजनका विरह, सम्पत्ति इत्यादिका नारा, वात, पित्त, रलेष्म आदिका प्रकोप । इसके अनुभाव तो अनेक हैं, जैसे अकारण हैंसना, रोना, चिलाना, अल-वल वकना, कभी लेटना, कभी बैठना, कभी उठकर भाग खड़ा होना, नाचना, गाना, जोरसे पढ़ने लगना, धूलमें लोटना फटे-पुराने कपड़े पहनना, तिनकों एवं मुरझाये फूलो और घडा, कपाल तथा सकोरोंको आभरणरूपमें पहनना, इत्यादि (नाट्य०, ७, ८४ ग) । इसमें वात-पित्त-रलेष्मके प्रकोपसे प्रेरित हो कदाचित् दशरूपककारने 'सन्निपालमहादि'को भी इस संचारीका कारण बताया है, पर यह अंश न्याधिमें भी है। विश्वनाथने—'कामशोकभयादि'से 'चित्तसम्मोह'को माना है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योंने "प्रिय वियोगतें जहं ग्रंथा बचनन लाय बिखाद" (भाव॰ : संचारी) अथवा 'अविचारित आचरन जो' (जगत॰, ५५९)को 'उन्माद' संचारी कहा है। देव और पद्माकरको इन लक्ष्णोमें भावात्मक पक्षपर अधिक बल है। पद्माकरको विरिष्टणी नायिकाको दशा 'उन्माद' संचारीके साथ अंकित हैं—"छिन रोवित छिन हाँस उठित, छिन बोलत छिन मौन। छिन छिनपर छीनी परित भई दशा धौं कौन" (जगत॰, ५६१)। इसी प्रकार 'हरिऔध' एक गोपीकी मनःस्थितिको चित्रित करते हैं—'आके जृही निकट फिर थों बालिका व्यय बोली। मेरी बातें तानक न सुनीं पातकी पाटलोंने। पीड़ा नारी-हृदय-तलको नारि ही जानती है। जूही! तूं है विकचवदना, शान्ति तू ही मुझे दे" (प्रि॰ प्र॰)। इसके उदाहरणोंको तो प्रायः प्रियजन-विरहमें इस भावका प्रदर्शन मिलता है, जैसे 'दशरूपक'में उर्वशिके अन्तर्थान होनेपर विक्रमकी अवस्था।

अनेक अनुभावोंके कारण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र और शारदातनयने उनकी व्याख्या कर उनका मनुष्यप्रकृतिकी दृष्टिमे वर्गीकरण कर दिया है। नाट्यदर्पणकारोंने तो कहा है - "उन्माद उत्तम प्रकृतिके व्यक्तियों में विप्रलम्भको अवस्थामें और अधम प्रकृतिके व्यक्तियों में करुणकी अवस्थामें व्यभिचारी होता है" (ना० द०, पृ० १८३)। इसको अपस्मारसे भिन्न बताते हुए कहा है कि अपसार वीमत्स एवं भयानकमें होता है, वह तो 'मनोवैकल्य' है और उन्माद 'मनोऽनवस्थिति'. और यही दोनोंमें भेद हैं। शारदातनयके अनुसार जोष्ठ वर्श के मनुष्योंमें इष्टके विरहमें, मध्यममें इष्टका नाश होनेसे और नीचोंमें धननाश इत्यादिसे यह भाव उद्बुद्ध होता है (भा० प्र०, पृ० २४)। परन्तु अनुभावींका वर्गीकरण नहीं किया गया । हमारे विचारमें उन्माद विप्रलम्भ शृंगारमें ही प्रधानतया दृष्टिगोन्वर होता है। - ज० कि० ब० उन्मीलित – लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें वस्तुका दूसरी वस्तुमें निलय हो जानेपर भी किसी कारणवश उसकी पृथकताकी प्रतीति होने लगती है। यह मीलित अलंकारके ठीक विपरीत है। इस अलंकारमें दो पदार्थों के समान धर्मों में भेद न होनेपर भी किसी विशेष कारणवश भेदकी प्रतीति की जाती है। सर्वप्रथम जयदेवने इसको माना है। मम्मटने इस स्थितिको 'सामान्य'में स्वीकार किया है। 'उद्योत'मे स्पष्ट किया गया है- "अमेदकी प्रतीति जब हो चुकी है, तब उसका अमेद दूर कैसे हो सकता है" अप्पय दीक्षितके आधारपर हिन्दीमें जसवन्तसिंहने 'भाषा-भूषण'में इसको स्वीकार किया है। मेद खुळनेका उक्लेख मितराम, पदमाकर आदिने किया है। भूषणकी परिभाषा अधिक स्पष्ट है—''सहश वस्तुमें मिळत पुनि जानत कौनेहु हेत" (शि०भू०, ३०३)। दासने मीळितमें 'कुछ भेद ठहराय' कहकर काम चळाया है।

विहारीका उदाहरण वैचिन्यका सुन्दर उदाहरण है—
"मिल चन्दन वेदी रही, गोरे मुख न लखाय। ज्यो-ज्यों
मद-लाली चढ़ै, त्यो-त्यों उघरत जाय" (सतसई, १८०)।
गौरांगी नायिकाके भालपर लगी चन्दनकी वेदीका भेद
मद-लालीके कारण प्रतीत हुआ है। मितरामने कोमल
कल्पनाका परिचय दिया है—"सरद चॉदनीमे प्रगट, होत
न तियके अंग। सुनत मंजु मंजीर धुनि, सखी न छोड़ित
संग" (ल० ल०, ३४६)। तुलसीदासने 'वरवै रामायण'में
इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"चम्पक हरवा अंग मिलि,
अधिक सुहाय। जानि परै सिय हियरे, जब कुम्हिलाय"।

हिन्दी काव्यशास्त्रमे इस अलंकारपर अधिक विचार
नहीं किया गया है। नायिकाओंके कोमल सौन्दर्य-वर्णनमे
इसका विशेष प्रयोग हुआ है। विहारीने इस अलंकारके
प्रयोगमे विशेषता प्राप्त की है। —वि० स्ना०
उपकार्योपकारकवकता—दे० 'प्रकरणवक्रता', तीसरा
नियामक।

उपक्षेपक-दे॰ 'अथींपक्षेपक'।

उपग्रहवेचित्र्यवक्रता-दे० 'पदपरार्धवक्रता', छठा प्रकार। उपचारवक्रता-दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार।

उपचेतन - (subconscious) - यह स्वीकार करनेके बाद कि मानसका एकमात्र पक्ष चेतन ही नहीं है, वरन् उसके अन्य पक्ष भी है-उन चेतनेतर पक्षोके नामादिके बारेमे कुछ मतभेद मिलता है। उपचेतन (अथवा अवचेतन)की कई धारणाएँ मनोविज्ञानमें प्रचलित है और उन सभीका प्रभाव आधनिक साहित्यमें दिखाई पड़ता है। उपचेतनके विषयमें सबसे अधिक प्रचलित दृष्टिकोण यह है कि मानस-का यह पक्ष चेतन और अचेतन दोनोंसे भिन्न बीचकी एक अवस्था है। जेम्सके अनुसार साधारणतः हम व्यक्त चेतनाको दो भागोंमें विभाजित कर सकते है-केन्द्रीय भाग और सीमान्त भाग अथवा चेतनाकी कोर । सीमान्त भाग या चेतनाकी कोरका ही नाम उपचेतन अथवा अवचेतन है। इस भागमें वे विचार, भाव और अनुभव रहते है जिनके विषयमें हमें अभी, इस स्थलपर तो कोई ज्ञान नही है. पर चेष्टा करते ही हमें उनका ज्ञान हो सकता है। जैसे साहित्य पढ़ते समय गणितका हमारा ज्ञान उपचेतन-में रहता है और जब हम गणितकी ओर ध्यान देते है तो साहित्यका ज्ञान उपचेतनमें आ जाता है।

मनोविच्छेषणमें 'उपचेतन' मानसका अधिक महत्त्व नहीं हैं, वहाँ चेतन और अचेतन ही मानसके दो महत्त्व-पूर्ण भाग हैं। किन्तु डॉक्टर मार्टन प्रिन्स, जिनके वर्णित रोगियोंकी समस्याओंसे प्रभावित होकर साहित्यमे अनेक कथाओंका सर्जन हुआ है, उपचेतन (subconscious) चन्दका प्रयोग विस्तृत अर्थमें करते हैं। उनके अनुसार

उपचेतनमें अचेतन और समचेतन दोनों पक्ष सम्मिलित रहते है। समचेतनसे उनका अभिप्राय मुख्य शात चेतनाके साथ अदल-बदलकर आनेवाली, पर मुख्य चेतनासे वियोजित चेतनासे है । यह खण्डित व्यक्तित्वमें होता है (दे॰ 'खण्डित व्यक्तित्व')। उपजाति १ - इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरणोंके मिश्रणसे यह वृत्त वनता है। उपजातिके १४ भेद है; 'प्राकृतपैगलम्' (२:१२१) और उसीके आधारपर भानके 'छन्द-प्रभाकर' (५० १४२)में । केशव और मैथिलीशरण ग्रप्तने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"परोपकारी बन वीर आओ । नीचे पड़े भारतको उठाओ । हे मित्र त्यागो मद, मोह माया। नहीं रहेगी यह नित्य काया" (मै॰ चा॰ गुप्त) । इसमें १, ४ पाद उपेन्द्रवजाके और २-३ इन्द्र-उपजाति २-वर्णिक छन्दोंमें मिश्रिन वृत्तका एक भेद। केशवने तोटक (४ स.।।ऽ) और मनोरमा (४ स×२ ल)के योगसे एक नवीन उपजातिका प्रयोग किया है। इसे अर्द्धसम न कहकर मिश्रित छन्द कहा जायगा, क्योंकि दोनों छन्दोके दो-दो चरण एक साथ प्रयुक्त हुए है। उदा०-"'सिगरे रणमण्डल माझ गये, अवलोकत ही अति भीत भये। दृह बालनको अति अद्भुत विक्रम, अवलोकि भयो मुनिके मन सम्ब्रम" (रा॰ च॰, ३९

उपजाति सवेया —दे॰ 'सवैया'।
उपदेश-काद्य —दे॰ 'प्रबोधक काव्य' और 'दृष्टान्त काव्य'।
उपदेश-काद्य —दि॰ 'प्रबोधक काव्य' और 'दृष्टान्त काव्य'।
उपदेशवाद — साहित्यके माध्यमसे उपदेश देनेकी प्रवृत्ति,
जिसे अँग्रेजीमे didacticism कहा जाता है। अंग्रेजीमें
इस वर्गका साहित्य पर्याप्त मात्रामें मिलता है। हिन्दीका
नीतिकाव्य इस वर्गमे सुविधापूर्वक नहीं रखा जा सकता,
क्योंकि उसमें उपदेशकी प्रवृत्ति और गहरी तथा बहुत-कुछ
साम्प्रदायिक हो गयी है। उपदेशवाद वस्तुतः एक व्यापक
साहित्यिक प्रवृत्ति है, जिसे शुद्ध कलात्मक स्तरपर स्पृद्धणीय नहीं माना जाता।

उपनागरिका वृत्ति-दे॰ 'वृत्ति', पहली।

उपन्यास - यह शब्द उप = समीप तथा न्यास = थातीके योगसे बना है, जिसका अर्थ हुआ (मनुष्यके) निकट रखी हुई वस्त, अर्थात वह वस्त या कृति जिसको पढकर ऐसा लगे कि यह हमारी हो है, इसमे हमारे ही जीवनका प्रति-बिम्ब है, इसमे हमारी ही कथा हमारी ही भाषामें कही गयी है। आधुनिक युगमें जिस साहित्यविशेषके लिए इस शब्दका प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृतिको स्पष्ट करने-में यह शब्द सर्वथा समर्थ है। यों तो उपन्यास शब्दका प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्यमें भी है। भरतने 'नाट्य-शास्त्र'मे इसका उल्लेख प्रतिमुख सन्धिके एक उपभेदके रूपमे करते हुए इसे 'उपपत्तिकृतोह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' कहा है, अर्थात् किसी अर्थको युक्तिपूर्ण ढंगसे उपस्थित करने-वाला तथा प्रसन्नता प्रदान क्रनेवाला। अतः यह स्पष्ट है कि उपन्यास हमारे लिए कोई नृतन शब्द नहीं है और गुणाट्यकी 'बृहत्कथा', 'पंचतन्त्र', 'बौद्ध जातक कथाओं'-तक मजेमें इसके सूत्रको खीच ले-जाया जा सकता है। अंग्रेजीके नावेळके तत्त्व भी जिसके समानार्थक रूपमें उपन्यास शब्दका प्रयोग किया जाता है, हिरोटोटसमें पाये जा सकते हैं। परन्तु हम दोनोंको एक नहीं कह सकते। उपपत्तिकृतत्व और प्रसादनत्व—इन दोनों मौलिक गुणोंकी रक्षा करते हुए भी उपन्यासने अपने क्षेत्रको इतना व्यापक कर लिया है कि दोनोंमे गुणात्मक अन्तर आ गया है।

उपन्यास आधुनिक युगकी उपज है—उस युगकी जिसका दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिवादी हो गया है, अराजकताका बोलबाला है, बाहरी दुनियामें तो कम, हमारे आन्तरिक जगतमें अधिक । समष्टिको दबाकर व्यक्ति अपर उठ आया है। इन्ही परिस्थितियोंका प्रतिफल हमारा उपन्यास-साहित्य है। इसमें जो लचीलापन है, वन्धन-हीनता है, यह कभी कोई भी रूप धारण कर सकता है। इसका यही कारण है। इसमें मदोन्मत्त साहसिकोंकी कथा रह सकती है, पूरे समाजकी कथा भी रह सकती है। कथानक न भी हो तो भी कोई परवाह नहीं। जीवित मनुष्योंकी कथाकी कोई बान नहीं, कबसे भी उठकर मनुष्य आ सकते है। अराजकताके युगमें साहित्यिक सराज कैसे सम्भव हो ? इसमें एक दिनकी, एक घंटेकी तथा एक युगकी कथा रह सकती है। एक या अनेक पात्र रह सकते हैं, उपन्यासमें केवल घटनाएँ ही घटनाएँ या केवल दश्य ही इश्य हो सकते हैं। कथा एक सर्वज्ञ, तटस्थ, ईरवरकी भाँति कही जा सकती है, उत्तम प्रवात्मक रूपसे कही जा सकती है अथवा एक या एकाधिक पात्रोंके सीमित दृष्टिकोणसे कही जा सकती है। साहित्यके जितने रूप-विधान हो सकते हैं, उनमें उपन्यासका रूपविधान सबसे लचीला होता है और वह परिस्थितिके अनुसार कोई भी रूप धारण कर ले सकता है। अंग्रेजीमें जीन आस्टिनकी 'अहंकार और पूर्वाग्रह' (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस) जैसी सुसंघटित कथाओं तथा ज्वायसके 'युलिसिस' तथा मार्शल पुस्तके 'ऐसा चर्च दुताप्येर्दृं' जैसी उच्छिन्न कथा-प्रवाह वस्तुके लिए नॉवेल शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। हिन्दीमें देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता सन्तति', प्रेमचन्द्रके 'सेवासदन' तथा 'अज्ञेय'के 'नदीके द्वीप' सबको उपन्यासके नामसे ही पुकारा जाता है। जो हो, जिस अर्थमें आज हम उपन्यासको समझनेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसमें तानाशाही नहीं चल सकती, चाहे लेखककी हो या घटनाओंकी। घटनाएँ कैसी भी हों, लोककी, परलोककी, आकाशकी, पातालकी, पर वे होंगी कार्य-कारणकी शृंखलामें आबद्ध, उनमें एक तारतम्य होगा, भले ही वे आन्तरिक तथा सूक्ष्म हों, वे हमारे जीवनके किसी पहलूको अवस्य रोशन करेंगी: घटनाएँ, व्यापारशृंखलाएँ और मानव-मन सब पारस्परिक रूपसे एक-दूसरेको स्पष्ट करते चलेंगे। घटनाएँ जीवनके केन्द्रसे निकलकर जीवनके ही रूपोंका प्रकाशन करेंगी। पशु-पक्षी तथा जड़ पाषाण भी पात्रके रूपमें उपस्थित हो सकते है, पर उनकी प्रतिक्रियाएँ वही होंगी, जो मानव-हृदयकी

उपन्यास वास्तविक जीवनकी काल्पनिक कथा है। "मैं उपन्यासको मानव-जीवनका चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्रपर प्रकाश टालना और उसके रहस्योंको खोलना ही उपन्यासका मूल-तत्त्व है" (प्रेमचन्द्र)। 'न्यू इंगलिश टिक्शनरी'में उपन्यासकी परिभाषा देते हुए कहा गया हे—''गृहत् आकार गद्य आख्यान या नृत्तान्त जिसके अन्तर्गत वारतिक जीवनके प्रतिनिधित्यका दावा करनेवाले पात्रों और कार्योंको कथानकमें चित्रित किया जाता हैं"। स्व गरिभाषाएँ एक ही बातपर जोर देती हैं कि उपन्यासमें मानव-जीवनका प्रतिनिधित्व हो, घटनाएँ शृंखलाबद्ध हों, वास्तविकताको सेवामें निथोजित करपना हो।

यदि हम उपन्यासकी तलना उस साहित्यरूपसे करें. जिसे रोमांस कहते हैं तो उमे समझनेमें कुछ आसानी हो सकती है। साहित्य और जीवनमें चार तरहके सम्बन्धकी कल्पना की जा सकती है-असम्भव, दुर्लभ, सम्भव और सुलभ । रोमांस प्रथम दो तरहके सम्बन्धोंपर ही आधा-रित है, परन्त उपन्यासने उन्हें सर्वथा त्यागकर शेष दोको ही अपनाया है, उसपर भी अन्तिम सम्बन्धपर उसका विशेष आग्रह है। इसी बातको क्लारा रीवने अपनी पस्तक 'प्रायेस आव रोमान्न'में इस प्रकार लिखा हैं—"उपन्यास अपने युगका चित्रण करता है। रोमांस उदात्त भाषामें उसका वर्णन करता है, जो न घटित है और न घटमान। उपन्यास दैनिक जीवनकी घटनाओंका सम्बन्ध बतलाता है, जो हमारे मित्रों तथा हमारे जीवनमें सम्भव हों। उप-न्यासकी सफलता इसमें है कि प्रत्येक इश्य इस सरलता और स्वाभाविकताके साथ प्रस्तत हो और उसे इतना सामान्य बनाया जाय कि उसकी वास्तविकतामें विश्वास हो जाय, कमसे कम जबतक हम उसे पढ़ते रहें। यहाँतक कि पार्त्राके सुखन्दः खसे हम वैसे ही प्रभावित हों, मानों वे हमारे अपने ही हैं"। आधुनिक युगके पूर्व कथासाहित्य-के नामपर हमें जो कुछ मिलता है, उसमें बहुत-कुछ रोमांस जैसी ही वस्तु है। अतः यह विभेद विशेष द्रष्टव्य —दे० रा० उ०

अंग्रेजीके 'नॉवेल'को गुजरातीमें 'नवलकथा', मराठीमें 'कादम्बरी' और बँगला तथा हिन्दीमें उपन्यास कहते हैं। उपन्यास शब्दके हिन्दी विश्वकोश (न० ना० वसु)में इतने अर्थ दिये गये हैं—(१) वाक्यका उपक्रम या बातका आरम्भ होना, (२) वाक्यका प्रयोग, (३) विचार (विश्वजन्मिममंपुण्यमुपन्यासं निबोधत—मनु०, ९:३१), (४) पस्ताव, (५) दान, (६) उपनिधि, धरोहर, (७) उपकथा, किस्सा। नाट्यशास्त्रमें उल्लिखित प्रतिमुख सन्धिका एक उपभेद भी 'उपन्यास' कहलाता है। परन्तु 'उपन्यास' 'नॉवेल'के लिए इतना रूढ़ हो गया है कि इसके अन्य शाब्दिक अर्थ तथा नाट्यशास्त्रीय अर्थ छप्तप्राय हो गये हैं।

नॉबेलकी तरह उपन्यास भी सम्पूर्ण कथासाहित्य-(फिनशन)के लिए सामान्यतः प्रयुक्त होता है, यद्यपि उसके अनेक रूप और प्रकार है। यूरोपमें अठारहवीं शतीतक उपन्यास सामान्य कथा-साहित्यके लिए प्रयुक्त होकर रोमांसको भी अपनी अर्थव्याप्तिमें सम्मिलित कर रहा था। परन्तु रोमांसके अन्तर्गत पद्मबद्ध कथात्मक कृतियाँ भी आ जाती है, जब कि उपन्यास एकमात्र गद्ममें लिखत कथासाहित्यको कहते हैं। प्रारम्भमे रोमांस उच्च वर्गकी मर्यादाओं, मृत्यों और प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धित होता था और उसमें यथार्थसे पलायन करनेकी प्रवृत्ति पायी जाती थी, परन्तु अठारहवी शतीमे लोकतन्त्रकी शक्तियोंके समाधातसे साहित्यमें उच्चवर्गाय रोमांसका स्थान उस कथा-साहित्यने ले लिया, जो मध्यवर्गके यथार्थ जीवन और उसके नैतिकता सम्बन्धी विचारोके अधिक निकट है। जीवनकी यथार्थताके अनुरूप यह कथासाहित्य सदैव गद्यकी भाषा और व्यावहारिक शैलीमें लिखा गया है। अतः आधुनिक उपन्यास साहित्यका एक नया रूप है, जिसने यूनान और रोमकी प्राचीन गद्य-कथाओं, मौखिक रूपमें प्रचलित वीराख्यानों, मध्ययुगीन गद्य-रोमांसों, प्रारम्भिक सूत्रों और इतिहासयन्थों तथा बहुत-कुछ पद्य-साहित्यसे भी प्रेरणा, उपकरण और सामग्री ग्रहण करके विकास किया है।

उपन्यासकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है, परन्त व्यापक दृष्टिसे कह सकते है कि यह गद्य-साहित्यका एक अन्यतम रूप है, जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्योंकी हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृतिकी अथवा चाहे वह सची हो या कल्पित। उसके उपस्थित करनेमें कल्पनाका प्रयोग आवश्यक है। कुत्हलकी सृष्टि तथा मानवीय मनोवेगोंके उद्दीपन द्वारा उसमे रोचकता और किसी नीति या सिद्धान्त सम्बन्धी विचारोके उत्तेजना द्वारा उसमें गरिमाका समावेश वांछनीय है। प्रारम्भमें उपन्यास केवल कुत्हलको जगावर मनोविनोद करने तक सीमित जान पड़ता था। परन्त वास्तवमे जिन सामाजिक परिस्थितिथोंने इस लोकतान्त्रिक साहित्यरूपको जन्म दिया। उनमें यह सम्भव नहीं था कि मनोविनोदमात्र उसका लक्ष्य बना रहे। उपन्यासमे कविताकी भाँति रागात्मक तत्त्वकी वह स्थिति साधारणतया सम्भव नही मानी जाती, जो मनुष्यको भावकी सात्त्विक अनुभृति करा सके। उपन्यास भी पाठकको उसके दैनिक जीवनको ठोस वास्त-विकतासे उठाकर एक अधिक परिपूर्ण और सत्य लगनेवाले कल्पनाजगत्में हे जाता है। परन्त ऐसा वह भावोत्तेजनके सहारे नहीं, कथाकी रोचकता और कुत्रहलके द्वारा करता है। काव्यके समीक्षकोंने इसे भावकी अपेक्षा निम्न स्थान दिया है। कविता जैसे उच्च, उदात्त रागात्मक तत्त्वकी सम्भावना न होनेसे ही कदाचित उपन्यास अधिक लोकप्रिय साहित्यरूप है। बीसवीं शताब्दीमें इसे जो महत्त्व मिला है, वह कदाचित किसी अन्य साहित्यरूपको-नाटकको भी कभी नहीं मिला था। इसमे लोकप्रियता और महनीयताका अद्भत समन्वय हुआ है तथा इसने समाजके समस्त ऊँचे और नीचे वर्गीको मिला दिया है। विश्वके अनेक महान चिन्तकोंने गम्भीर मनीषासे उपलब्ध स्थायी सत्यों और मानवमुल्योंको इसी माध्यमसे प्रचारित किया है, जिससे उपन्यास केवल मनोरंजनकी वस्तु नही रहा, वह महान् सत्यों और नैतिक आदर्शोंका एक अत्यन्त भूल्यवान् साधन बन गया है। परन्तु कुतूहलवर्धन और मात्र मनोरंजन तथा मानवमुल्योंकी खोज और स्थायी सत्योंके प्रतिपादनके बीच उपन्यासोंके इतने विविध प्रकारके भेद है कि उन्हें वर्गीकृत करना असम्भवप्राय है। वस्तुतः उपन्यास एक जीवित और विकासशील साहित्यरूप है जिसका सम्यक शास्त्रीय अध्ययन होना अभी शेष है।

भय और प्रेम दो प्रधान मानवीय भावोंके आधारपर उपन्यासके दो मुख्य भेद किये जा सकते हैं साहसिक कथा और प्रेमकथा। साहसिक कथा भौतिक जगतके विविध प्रकारके भयपर मनुष्यकी विजय पानेकी आकांक्षाको प्रकट करनेकी भावनासे संकटों और संकटोंके अतिक्रमणके संघातसे निर्मित करके उपस्थित की जाती है। साहसिक कथा कदाचित प्राचीनतम जीवन-कथा है, जिसका स्रोत 'ऑडेसी' जैसे वीररसप्रधान ग्रन्थोंमें पाया जाता है। परन्त उपन्यासका सच्चा और वास्तविक रूप प्रेमकथामें ही है। इसीमें चरित्र-चित्रण, मनीवैज्ञानिक अध्ययन और सक्ष्म संकेतोंकी सम्भावनाएँ हैं और इसीने साहित्यमें उच्च स्थान पाया है। इनके अतिरिक्त कुछ उपन्यास रहस्य-कल्पनासे यक्त अविश्वसनीय कथाओंसे निर्मित होते हैं। परन्त उनमें लेखकको किसी जीवन-दर्शनका प्रतिपादन अभीष्ट होता है। सरवांतीजका 'डान किग्जट' और स्विफ्ट-का 'ग्रलीवर्स दैवेल्स' इसके सुन्दर उदाहरण है, परन्तु असम्भव कल्पनाओंके ऐसे उपन्यासोंकी संख्या अधिक नहीं है। उपन्यासोंका एक चौथा भेद ऐतिहासिक उपन्यास भी है, यद्यपि कुछ लोगोंने इसके सच्चे साहित्यिक रूप होनेमें सन्देह प्रकट किया है। स्काट, बारजक, ड्यूमा आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार हो गये है।

उपन्यासके तत्त्वोंकी प्रधानताके आधारपर भी वर्गीकरण किया गया है। इस दृष्टिसे उसके दो मुख्य वर्ग हो सकते है- घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान। घटना-प्रधान उपन्यासोंमे पाठककी कुतूहलवृत्ति ही सन्तुष्ट होती है। वह निरन्तर 'आगे क्या हुआ ?', 'फिर क्या हुआ ?' इन्हीं प्रश्नोंमे उलझा हुआ उपन्यासके साथ अन्ततक चिपका रहता है। इन उपन्यासोंका साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं होता, सामाजिक दृष्टिसे भी इनका महत्त्व नहीं है। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका आकर्षण कथामें नहीं, कथाके पात्रों, उनके भावों, विचारों, चारित्रिक गुणों और दुर्वलताओं, उनके परस्परके व्यवहारों तथा उनके माध्यमसे प्रस्तुत सामाजिक रीति-नीति आदिमें केन्द्रित होता है। घटना-प्रधान उपन्यासोंके अन्तर्गत भय, विस्मय, साहस, आश्चर्य-कल्पना और रहस्योदघाटन सम्बन्धी उपन्यासोंके अनेक विभेद किये जा सकते है। साहसिक, जाससी, तिलस्मी, अय्यारी, खुनी तथा भूत-प्रेतोंकी कथाओंवाले अनेक प्रकारके उपन्यास घटना-प्रधान ही है। रहस्य-कल्पनावाले उपन्यासोमें भी घटनाकी ही प्रधानता रहती है, यद्यपि उसकी घटनाएँ असम्भव और अतिलौकिक होती हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यासोमे विषयकी विविधता कहीं अधिक है, अतः उनका सम्पूर्ण वर्गीकरण सम्भव नहीं है, क्योंकि मनुष्यकी व्यक्तिगत—वाद्य और आन्तरिक तथा सामाजिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंकी अनन्त सम्भावनाएँ हैं और जीवनके विकासके साथ उनके नये-नये उद्घाटन होते जा रहे हैं। फिर भी मोटे तौरपर उसके सामाजिक

और मनोवें ज्ञानिक, दो प्रधान उपगेद दंगित किये जा सकते है। एक तीसरा विभेद ऐतिहास्टिक भी इसीके अन्तर्गत आवेगा । परन्तु सासाजिक उपन्यास पुनः अनेक प्रकारके होते है, क्योंकि समाजके अनेक स्तर और विविध प्रकारके क्रिया-कलाप है। परिवार, माम, प्रदेश, राज्य, विद्य तथा सामाजिक प्रथाएं, व्यक्ति और समहकी समस्याए, आर्थिक परिस्थितियों, राजनीतिक विचारधाराधे, दाई निक सिद्धान्त आदि अनेक विषय है, जिनमें किसी या किन्हींको उपन्यासमे प्रधानता दी जा सकती है। संक्रचित अर्थमें सामाजिक प्रथाओं और समरयाओसे सम्बन्धित उपन्यासोंको ही प्रायः सामाजिक उपन्यास समझा जाता है। परन्त उस दशामे वर्गाकरणका कोई एक आधार नहीं रहता । कुछ उपन्यासोमे किसी प्रदेशविशेषका यथातथ्य और विम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है और उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। परन्त ये उपन्यास भो सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते हैं और चारित्रिक-के अन्तर्गत आते है क्योंकि पात्रोंके चरित्र-चित्रणको यथार्थता प्रदान करनेके लिए ही उनकी बाह्य परिस्थितिको जीवन्त रूपमें चित्रित किया जाता है। पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें जब सुध्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेपण किया जाता है तब इन्हीं चरित्र-प्रधान उपन्यासोंको मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जाता है। आधुनिक कालमें मनोविज्ञानके अनेक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित हुए है, यथा, फायटका यौन सिद्धान्त तथा एडलर और युंगका मनोविश्लेषणका सिद्धान्त । अतः कुछ मनोवैद्यानिक उपन्यास ऐसे होते हैं, जिनमें काम-वासनाको प्रधानता देकर उसीके आधारपर मनुष्यकी अन्तरचेतनाके रहस्यका उद्घाटन किया जाता है। इस प्रकारके उपन्यासों में प्रेमको, जो उपन्यासका सबसे अधिक प्रिय भाव है, शारीरिक और वासनाप्रधान रूपमें ही चित्रित कर उसे विकृत कर दिया गया है तथा इस सिद्धान्तकी ओटमें अइलीलतापूर्ण उपन्यासोंकी बाढ़ आ गयी है। कामवासनाको इतनी प्रधानता न देकर अन्य दमित वासनाओंको उभारकर मानस-प्रनिथयोंको खोलनेका प्रयत्न करनेवाले दूसरे ढंगके उपन्यासमें मनोविलेपणको प्रधानता दी गयी है। मनोविलेषणवादी उपन्यास मनोविज्ञानके विशेषज्ञोंके अध्ययन-जैसे हो जाते हैं और उनमें उस प्रकारकी कथा-रोचकता नहीं रहती, उपन्यासकी सबसे बड़ी विशेषता है। सैद्धान्तिक या दार्शनिक अध्ययन उपन्यासकाः प्रकृत विषय नहीं है। इसी प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए भी उपन्यासोंके माध्यमका प्रयोग किया गया है। साम्यवादी विचारधाराके प्रचारकोंने इस सम्बन्धमें साहित्यके इस सर्वाधिक लोकप्रिय रूपका सबसे अधिक दुरुपयोग किया है । निःसन्देह साहित्य मानवजीवनके सभी क्रिया-कलाप तथा उनसे सम्बन्धित ंसभी विचारों और सिद्धान्तोंको आत्मसात करता है। विंचारोंके प्रसार और सिद्धान्तोंके प्रतिपादन तथा प्रचारके लिए भी उसका उपयोग न वर्जित किया जा सकता है और ं न अवांछनीय ठहराया जा सकता है। परन्तु सुन्दरकी सृष्टि करना साहित्यका प्राथमिक धर्म है और साहित्यकारके

लिए मीन्दर्थभावनाका अभिनिवेश साहित्य स्वार्भ पहली द्यार्त है। सिद्धान्त, विचार और प्रचार उसके लिए, जहाँ-तक उमके साहित्यिक कृतित्वका सम्बन्ध है, गोण और आनुपांगिक है। परन्तु उपन्यामकी लोकप्रियताक ही कारण अर्थलोलुपों और राजनीतिक प्रचारकोके द्वारा उसका दुरुपयोग हुआ हैं और ऐसी सस्ती वाजारू पुस्तकोंके देर लग गये हैं, जिनमें या तो मनोविज्ञान और मनोविश्लेपणके नामपर उद्दाम कामुकताको उभाडा गया है या प्रगिनिश्लिपके नामपर कोरा राजनीतिक प्रचार किया गया है।

कथाके स्रोतोंके आधारपर वर्गाकरण करके इन्हीं उपन्यासोंके सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पौरा-णिक, धृतिहासिक और वैज्ञानिक, अनेक विभेद हो सकते है।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यासके भेद किये जाते हैं। उपन्यासलेखक अपने पात्रोंकी जीवन-कथा प्रायः सर्वज्ञके रूपमें उपस्थित करता है। वह उनके सभी कार्यों, व्यापारों, यहाँतक कि उनके ग्रप्त रहस्यों और सक्ष्मसे सक्ष्म मनो-भावोंका ज्ञाता होता है और आवश्यकतानुसार उन्हें पाठकके सम्मुख प्रस्तुत करता जाता है। इस शैलीको प्रायः ऐतिहासिक शेली भी कहा जाता है और अधिकतर उपन्यामों। यही अपनायी जाती है । इसके अतिरिक्त आरम-कथात्मक रौली है, जिसमें या तो उपन्यासके नायक या किसी अन्य पात्रकी आत्मकहानीके रूपमें सम्पूर्ण कथा उप-स्थित की जाती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न पात्रोंसे अपनी-अपनी आत्मवहानी कहलाकर उपन्यासकी कथा-के सूत्र जोड़े जाते हैं। डायरी और पत्रोंके रूपमें भी उपन्यासकी कथा कही जाती है। डायरी तो प्रायः एक ही पात्रकी होती है, परन्त पत्र अनेक पात्रोंके हो सकते है। इसी प्रकार अन्य प्रामाणिक कागज-पत्रोंको भी ज्योंका त्यों उपस्थित करके कथा कही जा सकती है। शैलीकी दृष्टिसे उपन्यासमें नित्य नये प्रयोग होते जा रहे है और उपर्युक्त शैलियोंके अद्भुत मिश्रण और उपयोग सामने आ रहे हैं. जिनमें नाटक, रेडियो और चलचित्रकी पद्धतियोंका अनुकरण करके प्रभावकी तीव्रता, रवाभाविकता तथा नवीनता उपस्थित करनेका प्रयत्न किया जाता है।

जिस प्रकार उपन्यासके प्रकार अगणित हैं, उसी प्रकार उसके आकारमें भी आइचर्यजनक विविधता पायी जाती हैं। जहाँ एक ओर विविधम कान्मेवका 'इन काग्निया' लगभग २०,००० शब्दोंका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर मार्सल प्रस्तका 'ए ला रिचर्च दु तोप्येर्दु' ४,००० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अधिकतर उपन्यासमें ६०,०००से १,२०,०००तक शब्द होते हैं। परन्तु इस सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। कथा-साहित्यमें उपन्यासके अतिरिक्त छोटी-कहानी या कहानीकों तो मित्र सत्ता स्वीकृत है ही और उपन्यास और कहानीमें तात्विक एवं कलासम्बन्धी अन्तर बहुत-कुछ स्पष्ट है, परन्तु कहानियों में भी इतनी लम्बी कहानियों के उदाहरणोंकी कमी नहीं है, जिनके छोटे-मोटे उपन्यास होनेका अम हो सकता है। उपन्यास और कहानीके बीच कथासाहित्यकी एक नयी विधाको भी

स्वीकृति मिली है, जिसे लघुउपन्यास (शार्ट नॉवेल) या उपन्यासिका (नॉबेलेट) कहा जाता है। इसकी भी पृथक् सत्ता और अपनी रचना-पद्धित और तात्त्विक विशेषताएँ हैं। यहाँ स्वयं उपन्यासके तत्त्वोंका संक्षेपमें परिचय देना आवश्यक है। यों तो सम्पूर्ण कथासाहित्यके मात्र छः नत्त्व वताये गये है—कथावस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उहेश्य—परन्तु उपन्यासमें इनका विशेष महत्त्व है। इनके अतिरिक्त कुछ लोगोने द्वन्द्व या संघर्ष (कान् क्लिक्ट) तथा कुत्हल या देशमाव (सस्पैस)को भी तत्त्व माना है, परन्तु वास्तवमें ये रचनाकौशलके अंग हैं। उपर्युक्त छः तत्त्वोंमें भी मुख्य कथावस्तु और पात्र है। देशकाल कथावस्तुका ही एक अंग है, जो उसे स्वामाविक और विश्वसनीय बनाता है। उद्देश्य वह परिणाम है, जिसे कथावस्तुके द्वारा प्राप्त किया जाता है और संवाद तथा शैली उसे प्राप्त करानेके साधन है।

सम्पूर्ण उपन्यासकी कहानी जिन उपकरणोंसे मिल-कर बनती है, वे कथावस्त कहलाते है। ये उपकरण कथासूत्र (थीम), मुख्य कथानक (प्लाट), प्रासंगिक कथाएँ या अन्तर्कथाएँ (एपीसोड), उपकथानक (अण्डर प्लाट), पत्र, समाचार, प्रामाणिक लेख (डाक्यनेटस), डायरीके पन्ने आदि है, जिनका उपन्यासलेखक आवश्य-कतानसार उपयोग करता है। उपन्यास जिस मख्य विचार. ष्टिकोण, आधारभृत कार्थ या विषयविशेषपर अवलम्बित होता है, उसीको उसका कथासत्र या थीम कहते है। जीवन और जगतके सम्बन्धमें नाना विचार और सिद्धान्त , आविष्कत हुए और हो रहे है । उपन्यासकार जाने या अनजाने उन्हीमेंसे किसीको अपनी कथावस्त्रका मुलाधार बनाता है। प्रायः उपन्यासोंमे एकसे अधिक कथाएँ कही जाती है। इनमें प्रायः एक कथा प्रमुख होती है, जो आदिसे अन्ततक चलती है और जो कथाके प्रमुख पात्र (नायक) या पात्रोंसे सम्बद्ध होती है। यही कथा मुख्य कथानक - कहलाती है (जैसे कि नाटकमें आधिकारिक कथा)। उपन्यासोंके नवीन प्रयोगोमें मुख्य कथानकका अभाव भी देखा गया है। परन्त वह तो एक विशेष स्थिति है। कभी-कभी एकसे अधिक, दो या तीन कथानक समान प्रमुखताके साथ-साथ चलकर इस प्रकार सम्मिलित हो सकते है कि दोनोंमें कौन प्रमुख है, यह कहना भी कठिन हो जाता है। उस दशामें उन दोनोंको प्रमुख कथानक कह सकते हैं। कथाके विकासमें प्रसंगवश ऐसे अनेक छोटे-छोटे इतिवृत्त आ जाते है जिनके द्वारा मुख्य कथानक पुष्ट होता है। ये प्रासंगिक कथाएँ वासुवेग या अन्य कारणोंसे उत्पन्न उन हिलोरों और भवरोके समान है, जो धाराकी गतिमें वेग या क्षणिक अवरोध उत्पन्न करती है। ये कथाएँ कथानकके साथ अन्ततक नहीं चलती । परन्तु कुछ उपन्यासोंमे मुख्य कथानकके अतिरिक्त एक उपकथानकका भी समावेश किया जाता है। इसका कार्य मुख्य कथानकको सहायता देना तथा उसके कथामूत्रको स्पष्ट करना होता है। कथानकको पृष्ट करने या उसकी सत्यताकी प्रतीति करानेके लिए उपन्यासकार किसी महत्त्वपूर्ण समाचार, किसी व्यक्तिगत पत्र, किसी सरकारी लेख, वसीयतनामा, अधिकारपत्र, न्यायालयके निर्णय अथवा किसीकी व्यक्तिगत डायरीके किसी महत्त्वपूर्ण अंशका भी आवश्यकतानुसार उद्धरण देता है।

जीवनमें नाना प्रकारकी घटनाएँ घटती रहती है। उप-न्यासकार अपने उद्देश्यके अनुसार उनमें से चनकर उनमें एक प्रकारकी एकता लाता है और अपनी कल्पनाके सहारे अपने कथानक और कथावस्तका निर्माण करता है। भय और विस्मय अथवा प्रेम और घूणाके आधारपर ही इन क्यानकोकी करपना की जाती है। इन्हीं मुख्य भावोको उपन्यासकार अपनी प्रतिभासे उच्चसे उच्चतर स्तरपर उठा-कर अपने कथानककी रोचकतामें भव्यता पैदा कर सकता है। इनमें भी प्रेमके भावते ही १००० ई० के मुरासाकीके 'गेजी' नामक उपन्यासते लेकर आजतक उत्क्रष्ट उपन्यासों-की सृष्टि करायी है। पनः इसी भावको लेकर निक्रष्टतम अर्छील उपन्यासोकी रचना भी हुई है। नारी और प्रुषके प्रेम और उसमें भी नारीके भावनापूर्ण व्यक्तित्वके ही चारों ओर विश्वके अधिकतर उपन्यासोके कथानक घुमते दिखाई देते हैं-भले ही उपन्यासोंके बाह्य उद्देश्य कुछ भी रहे हो। इस दृष्टिने कथानकोंकी संख्या गिनी-चनी है। परन्त ऐसा नहीं है कि कथानकके अभावमें उपन्यासलेखन ही समाप्त हो जाय। वस्तुतः कथानकमें घटनाओकी रोचकता और विविधता नयी परिस्थितियोकी उद्घावनाके द्वारा सम्पन्न की जा सकती है और फिर, उपन्यासमें घटनाएँ अब उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रही, जितना चरित्र-चित्रण तथा उसके माध्यमसे नानाविध उद्देश्योंकी सिद्धि। यही कारण है कि कथावस्तुके विन्यासमें स्वीकृत नियमोंके पालनकी ओर भी कछ उपन्यासलेखक उदासीन दिखाई देते हैं। मुख्य कथानककी प्रमुखताका पूर्ण निर्वाह, जो घटना-प्रसंग कथानकके विकासमें सहायक नहीं है उनका नितान्त बहिष्कार, उपकथानकका मुख्य कथानकके साथ स्वामाविक सम्बन्ध आदि वस्तु-संघटनकी अनिवार्य आवश्यकताओंकी भी कुछ लेखक उपेक्षा कर जाते है।

कथानकके संघटन और वस्त-विन्यासमें सत्याभास या विश्वसनीयता, कार्य-कारण-सम्बन्ध, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा, संघर्ष, भविष्य-संकेत और चरमोत्कर्षका होना साधारणतया आवश्यक है। यद्यपि ऐसे भी उपन्यास है, जिनमे असम्भव घटनाओंका वर्णन किया गया है और उनके द्वारा प्रतीकात्मक ढंगसे किसी उच सिद्धान्तका प्रति-पादन किया गया है, परन्त साधारणतया घटनाओं के सम्बन्धमे सत्यकी प्रतीति करा देना आवश्यक है; उनमें कार्य-कारणका सम्बन्ध दिखानेसे ही यह प्रतीति होती है। इसी सम्बन्धके आधारपर पाठकके मनमें किसी घटनाके द्वारा उत्कर आशा जगाना तथा तत्क्षण उसके घटित होने-का वर्णन करना सनोवैज्ञानिक क्षण कहलाता है, जिससे उत्कण्ठा या उत्सुकतापूर्ण प्रत्याशा उत्पन्न होती है। सभी सफल उपन्यास-लेखक पाठकको रुचिको आबद्ध रखनेके लिए इसका प्रयोग करते हैं। कभी तो भावी आकस्मिक और नाटकीय परिणाम पहलेसे कल्पित करा दिया जाता है और कभी पाठकको उसके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना करनेके लिए छोड़ दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि पाठकको

तो नायप्रपर अनेवाली विपत्तिकी स्त्रना होती है, स्वयं नायकको नहीं होती। इस व्यंग्यात्मक उत्कण्ठा तथा नाटकीय व्यंग्यका प्रयोग कथानकके आकर्षणकी वृद्धिमें सहायक होता है। घटनाओं के परस्पर घात-प्रतिघात संघर्षकी स्थिति पैदा होती है, जो पराकाष्टाकी ओर अग्रसर होकर चरमोत्कर्षकी सृष्टि करती है। यह कथानिकासका वह क्षण होता है, जब कथाकी धारा सहसा मुड़कर एक ओरको प्रवाहित होने लगती है। पाठकके कुत्हलको बढानेके लिए उपन्यासों में कभी-कभी भविष्य-संकेत भी दिये जाते हैं।

उपन्यासमें कथावस्तुके संघटन और विन्याससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र-चित्रणकी कुशलता है। उप-न्यासके पात्रोंके किया-कलापसे ही कथावस्तुका निर्माण होता है। अतः पात्र जितने ही अधिक सजीव और यथ र्थ होंगे, कथानकमें भी उतना ही आकर्षण लाया जा सकेगा। पात्रोंको सजीव और यथार्थ बनानेके लिए उपन्यासकारकी कल्पनाशक्ति, मानवमनके सूक्ष्म अध्ययन और उसकी कलात्मक योजनाकी परीक्षा होतो है। चरित्र-चित्रणके द्वारा ही कथानकमें वे समस्त खूबियाँ लायी जा सकती है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। चरित्र-चित्रणके ही आधारपर उपन्यासकार अपनी कृतियोंमें महान् उद्देश्यों-की अवतारणा करके उसे स्थायी मूल्योंसे समन्वित कर सकता है। चरित्र-चित्रणकी विशेषता यह होनी चाहिये कि पाठक विभिन्न पात्रोंको सरलतासे पहचान सके तथा उनके साथ यथावश्यक तादातम्यका अनुभव कर सके। मनुष्य-प्रकृतिके विभिन्न पक्षों और स्तरोंके सूक्ष्म अध्ययन और कमसे कम शब्दोंमें चित्र उपिथत कर सकनेकी योग्यता ही सफल चरित्र-चित्रणकी कसौटी है। महान् उपन्यासकार अपने पात्रोंको देश और कालकी सीमाके अनुकूल रखते हुए भी सार्वकालिक और सार्वजनिक बना लेते है (दे० 'पात्र') ।

संवाद या कथोपकथनका चरित्र-चित्रणमें बहुत महत्त्व है। पात्रोंकी बातचीतके द्वारा ही हम उनसे भली-भाँति परिचित होते हैं। वर्णनके द्वारा उनके सूक्ष्म मनो-भाव, प्रतिक्रियाएँ, संकल्प-विकल्प, विचार और वितर्क आदिका वैसा यथातध्य और प्रभावशाली नित्र नहीं दिया जा सकता । संवाद पात्रोंको सजीव बना देते हैं तथा कथानकमें नाटकीयताका समावेश करके उसके प्रभावको तीव कर देते हैं। कभी-कभी किसी पात्रके मुखसे निकला हुआ एक शब्द भी समस्त उपन्यासमें गूँजता सुनाई देता है। संवादके द्वारा कथावस्तुका विकास और पात्रोंका चरित्र-चित्रण अमीष्ट होता है, अतः उपन्यासमें इन्ही उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए उसका उपयोग होना चाहिये। उसमें देश, काल और पात्रके अनुकूल स्वाभाविकता, मनो-विज्ञानकी उपयुक्तता और उपन्यासकी रोचकता और आकर्षणको बढ़ानेवाली अभिनयात्मकता और सरसता आवश्यक है (दे० 'कथोपकथन')।

पात्रोंके व्यक्तित्वका चित्र उनकी बातचीतसे हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। परन्तु ये पात्र जिस परिस्थिति और वातावरणमें रहते और कार्य करते हैं,

उसके बिना पात्रोंके चित्रमें परिपूर्णता नहीं आती, वे शून्य-में लटके हुए-से अयथार्थ लगते हैं। अतः यह आवश्यक है कि कथानककी घटनाओंके घटित होनेकी सम्पूर्ण परि-स्थिति, उनका स्थान और समय हमारे कल्पनापटपर अंकित कर दिया जाय, जिससे कि हम पात्रोंकी सजीवतापर विश्वास कर सकें । वस्तृतः उपन्यासमें पात्रोंकी तरह देश-कालका भी अपना व्यक्तित्व होता है। प्राचीन कथा-साहित्यसे आधुनिक उपन्यासका सबसे बड़ा अन्तर चरित्र और परिस्थितियोंके चित्रणमें हैं। प्राचीन कथाओंके पात्र देश-कालनिरपेक्ष होते थे, जब कि आधुनिक उपन्यास कभी-कभी समय और स्थानका ऐसा यथातथ्य चित्र दे देते है कि उन्हें वास्तविक रूपमें देखा और जाना जा सकता है। कुछ उपन्यासोंमें देश-काल इतना सजीव बनाया जाता है कि वह स्वयं उपन्यासका एक पात्र बन जाता है। इसके महत्त्वकी सूचना इस बातसे मिलती है कि वास्तविक स्थानीय रंग (लोकल कलर) या प्रादेशिक (रीजनल) विवरण देनेवाले उपन्यासोंका **आंचलिक उप**-न्यासोंके नामसे एक विशेष वर्ग बन गया है। देश-कालके चित्रणका तात्पर्य यह है कि उपन्यासकी घटनाएँ जिस स्थान और समयकी हों, उसका ज्योंका त्यों चित्र उपस्थित कर दिया जाय। यह समसामयिक और ऐतिहासिक दोनों हो सकता है। लेखकको उसका धनिष्ठ परिचय आवश्यक है, जिससे कि वह भौगोलिक विवरण, सामाजिक रीति-नीति, शिष्टाचार, भाषा-प्रयोग आदिको उपन्यासमें सम्मिलित करके उसकी घटनाओं में सजीवता ला सके। परन्तु आंचिछिक और स्थानीय रंगवाले उपन्यासोंको छोडकर साधारणतया उपन्यासोंमें काल्पनिक स्थानों अथवा वास्तविक स्थानोंका काल्पनिक वर्णन होता है। यह कोई दोष नहीं माना जा सकता, शर्त केवल यह है कि जो भी देश-कालका विवरण हो, वह वर्णित घटनाओंके अनुकूल ही उत्को विश्वसनीय बनानेमें सहायक हो। ऐसे उपन्यासों की रचना हुई है, जिनमें किसी कालविशेष या स्थानविशेष-की ही नहीं, किसी युगविशेषमें समस्त देशकी सभ्यता सजीव करके खड़ी कर दी गयी है। परन्त यह स्मरण रखना चाहिये कि उपन्यासमें देश-कालका चित्रण करनेके लिए भौगोलिक, पेतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनका समग्र परिचय तो आवश्यक है ही, परन्तु कला-विधान करनेवाली करपना-शक्ति होना इससे कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसके बिना भौगोलिक और सामाजिक अध्ययनका उचित उपयोग नहीं हो सकता और विवरणोंमें सरसता नहीं लायी जा सकती। ऐतिहासिक उपन्यासोंमें इसका विशेष रूपमें ध्यान रखना पड़ता है कि देश-कालमें सचाईके साथ मनोरमता भी बनी रहे। विशेषश्वताके इस युगमें ऐसी रचनाएँ भी देखनेमें आती है, जिनमें स्थानीय रंग या आंचलिकता कुछ विशेष रुचिके पाठकोंके ही काम-की है, साधारण पाठकके लिए वह उपन्यासका भार बन गयी है।

देश-काल्के प्रयोगमें ही उपन्यासकार बाह्य प्रकृतिका कविताकी माँति उपयोग करता है और कमी उपन्यासके पात्रोंकी रागारिमका वृत्तियोंका प्रकृतिके साथ सामीप्य और तादात्म्य दिखलाता है और कभी उनकी भावनाओं के प्रतिकृत्ल प्राकृतिक वैभव-विलासका वर्णन करके गम्भीर व्यंग्यकी अवतारणा करता है।

शैलीको भी उपन्यासके तत्त्वोंमें गिनाया गया है, यद्यपि रौली, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रेवल एक साधन है। सभी साहित्यिक कृतियों में शैलीका महत्त्व है। परन्त. कदाचित् इसलिए कि उपन्यास समग्र जीवनका एक संश्चिष्ट चित्र उपस्थित करता है और उसके अनेक आकार और प्रकार हैं, उपन्यासमें उसका विशेष उल्लेख हुआ है। शैलीके ही द्वारा जपन्यासके विभिन्न तत्त्वोंको नियोजित किया जाता है। शैलीकी विविधनाका आकलन असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक लेखककी अपनी अलग शैली होती है और वह उसके द्वारा अपने व्यक्तित्वको प्रकाशित करता है। परन्त मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि कोई लेखक व्याख्यात्मक शैली पसन्द करते है, कोई अभिनयात्मक. किसीकी कला उस चित्रकारकी भाँति होती है, जो चित्रकी पृष्ठभूमिका सूक्ष्म अंकन करता है, अनेक रंगोंका प्रयोग करता है और चित्रके अंग-प्रत्यंगको सतर्कताके साथ प्रभाव-शाली रूपमें उतारता है और कोई केवल कुछ रेखाओं के द्वारा चित्रका भाव व्यंजित कर देता है। आधुनिक साहित्यमें व्यंजना, संकेत, प्रतीक और रूपककी शैलियोंके प्रयोगकी सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है, उपन्यासमें भी ये प्रयोग प्रचर मात्रामें हो रहे हैं।

उद्देश्य भी वस्तुतः उपन्यासका कोई पृथक तत्त्व नहीं है। उपन्यासमें जो कथा कही जाती है, उसका कोई-न-कोई परिणाम होता है। हो सकता है कि किसी कथाका सौन्दर्य सृष्टिके अतिरिक्त और कोई बाह्य परिणाम न हो, परन्त फिर भी उन उपन्यासोंको छोडकर जो केवल व्याव-सायिक उद्योगके रूपमें निर्मित होते है, कथानककी परिस्थितियों या चारित्रिक विशेषताओं में कोई-न-कोई विशिष्ट जीवन-दृष्टि पायी जाती है। उपन्यासकार कलाकार होनेके अतिरिक्त सामाजिक प्राणी भी होता है। जब वह किसी कथाको उपन्यासके रूपमें कहनेका निश्चय करता है, तभी उसके मनमें कथासूत्रके साथ वह जीवन-दृष्टि मर्त होने लगती है जो उसने अपने सांसारिक जीवनके अनुभवस्वरूप उपलब्ध की है। यह हो सकता है कि वह स्वयं उस जीवन-दृष्टिको उस समय स्पष्ट रूपमें बता सकनेमें समर्थं न हो सके, परन्तु वह जिन परिस्थितियोंका निर्माण करता है तथा जिन पात्रोंको जन्म देता है, वे स्वयं उस जीवन-दृष्टिको अपनेमें निहित किये दृए होते हैं। कलाकी दृष्टिसे वस्तुतः वही उपन्यास श्रेष्ठ है, जिसका लेखक पाठकोंपर सफलनापूर्वक यह प्रभाव डाल सके कि उसकी रचनासे जिस जीवन-दर्शनका सन्देश मिलता, है वह उसने बाहरसे आरोपित नहीं किया है, वरन् वही सामयिक अथवा शास्वत सत्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आधनिक युगमें अनेक चिन्तकों, दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंने अपने जिन्तन, मनीषा, गवेषणा और प्रयोगोंसे प्राप्त किये हुए विचार, सिद्धान्त, सत्य और मूल्य उपन्यासके सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक माध्यमके द्वारा संसारको प्रदान किये है। उपन्यासके उद्देश्यके रूपमें ही ये उसकी कथावस्तु और चिरित्र-चिन्नणमें निहित मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि ये उपन्यासकार वस्तुतः चिन्तक और दार्शनिक पहले है, उपन्यासकार बादमें। परन्तु उनके सन्देशकी दृष्टिसे ही यदि देखा जाय तो भी उन्हें सफलता तभी मिल सकती है, जब वे उपन्यास-कलाके प्रति पूर्ण रूपसे वफादार हों और सिद्धान्तों और विचारोके लेभमे उसके नियमोंकी तनिक भी उपेक्षा न करे। वस्तुतः इसी वातपर उपन्यासका भविष्य भी निर्भर है। — न्न० व०

कथाप्रवृत्तिका प्रारम्भ ऋखेड ब्राह्मणसूत्रों, उपनिषदोंकी व्याख्याओं तथा जैन-बौद्ध-साहित्योंके उपदेशोंमें प्राप्त होता है, जिनके माध्यमसे भारतीय जनता सामाजिक आचार, राजनीतिक क्रुटशता, धार्मिक परिष्कार, नैतिक आदर्श तथा दार्शनिक चिन्तनकी शिक्षा प्राप्त करनेके साथ मनोरंजन भी करती रही है। कथाकी यह प्रवृत्ति संस्कृतके 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', 'वेतालपंचविंदाति', 'सिंहासनद्रात्रिशिका', 'शुकसप्तति', 'कथासरित्सागर', 'ब्रहत्कथा' तथा 'बृहत्कथामंजरी'में भी द्रष्टव्य है। किन्त इनमें कहानीके क़त्रहरू और विचार-संवलित शुष्क उपदेशका प्राधान्य है । इनमें उपन्यासकी न तो भावशीलता है, न जीवनको न्यापक रूपसे देखनेकी दृष्टि और न शैलीकी ही सहज रोचकता है। औपन्यासिक तत्त्वोंकी दृष्टिसे बाणभड़की 'कादम्बरी' तथा दण्डीका 'दशकुमारचरित' ही, जिनमें घटना, चरित्र और शैली तीनोकी रमणीयता है, उपन्यासके निकट पहुँचते है।

किन्त्र हिन्दीमें उन्नीसवीं शताब्दीमें गद्यके प्रचारके साथ ही कथाकी अप्रकट प्रवृत्ति साक्षात हुई और इंशाअला खॉकी 'रानी केतकीकी कहानी' (उदयभानचरित), लल्लूलाल-रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्र-रचित 'नासिकेतोपाख्यान', जटमल-रचित 'गोरा-बादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद-रचित 'राजा भोजका सपना' इसके उदाहरण है। हिन्दी गद्यके इस प्रारम्भिक उन्मेषमें जनता एक ओर संस्कृतसे लिये गये पौराणिक और धार्मिक कथावृत्तों तथा 'शुक्बहत्तरी', 'सारंगासदावृक्ष', 'किस्सा तोता-मैना', 'किस्सा साढे तीन यौर'से मनोविनोद करती थी और दसरी ओर फारसीसे ली हुई 'चहार दरवेश', 'बागोबहार', 'किस्सा हातिमताई', 'गुलबकावली', 'छबीली भठियारिन', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे होशरुबा' आदि तथा लोकप्रचलित मौखिक कहानियोंसे जी बहलाती थी। किन्त इनमें घटनाओंकी स्वामाविकता, जीवनकी व्यापकता और चरित्रकी अवतारणा नहीं थी। इसी समय भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने भराठीसे अनुदित 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रमा' नामक हिन्दीका प्रथम सामाजिक उपन्यास प्रस्तुत किया। पाश्चात्य संस्कृतिके प्रभाव, राजनीतिक चेतनाके विकास, राष्ट्रीयताके जागरण, अतीत गौरवके पुनरुत्थानके कालमें भारतेन्दुके सहयोगी और समकालीन साहित्यकारोंने उपन्यासकलाके विकासमें पूर्ण सहयोग दिया। इस भारतेन्द्र युगके उपन्यासोंके कई स्रोत हैं। पहला, सामाजिक एवं ऐतिहासिक स्रोत है। इस स्रोतके उपन्यासोकी प्रमुख प्रेरणा प्रचलित करीतियोंका निराकरण

कर सामाजिय उन्नयन गरना है। इन उपन्यामोंने प्रेम, शौर्य और सतीत्व, जातीय गेंग्य और राष्ट्रीयताकी भी प्रस्तर भावनाएं प्रतितिम्बत है। किशोरीलाल गोखामीके 'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम,' 'हर्रयहारिणी,' 'लवंगलता,' 'कुसुम-गोत्यामीके 'विधवा विपत्ति,' कुमारी', राधार्मण 'हन्मन्तसिंह','कल्पलता,' 'चन्द्रकला', कार्त्तिकप्रसाद खत्री-का 'जया' (अनूदित), गोपालराम गहमरीका 'नये बाबू,' राधाकृष्णदासका 'निस्सहाय हिन्दू,' बालमुकुन्द दार्माका 'कामिनी', गोकुलनाथ शर्माका 'पुष्पावली' इत्यादि इस स्रोतके प्रमुख उपन्यास है। इस सामाजिक स्रोतमे ही मम्बन्धित नैतिक स्रोत भी है, जिसके उपन्यामोमें गुणदोष, पापपुण्य, नीति एवं सामाजिक आचरणकी शिक्षा दी गयी है। बालकृष्ण भट्टके 'नूतन ब्रह्मचारी,' 'सौ अजान एक सुजान,' रत्नचन्द्र प्लीटरका 'नृतन चरित्र,' किशोरीलाल गोस्वामीका 'सुखशर्वरी,' श्रीनिवासदासका 'परीक्षागुरु', मेहता लजाराम शर्माके 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी,' 'धूर्त रसिकलाल', गोपालराम गहमरीके 'बड़ा भाई,' 'सास-पतोह, 'का त्तिकप्रसाद खत्रीका 'दीनानाथ' इत्यादि प्रमुख उपन्यास हैं। दूसरा, तिलस्मी, अय्यारी और जासूसी स्रोत है। इस स्रोतको अपन्यासोंमें चमत्कारप्रदर्शन, कुतु-हलबृद्धि, जाद्, घटना-संयोगका वैचिन्य, प्रेम-प्रसंग, मिलनकी उत्मुकता, विरद्यकी व्याकुलना, कथानककी जिट-लता, चरित्र संघटन तथा मुखान्तकी प्रवृत्ति हैं। किशोरीलाल गोस्वामीके 'रवगींय कुसुम'में तिलस्मी घर, 'लवंगलत।'में गोल तिलस्मी कमरा, 'प्रणयिनी परिणय', 'कटे मूंदकी दो दो बातें'में तिलस्मी शीशमहलकी तिलस्मी कथाएँ प्राप्त हैं। उनका प्रभाव देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तित', 'नरेन्द्र मोहिनी,' 'कुसुमकुमारी', 'वीरे-न्द्रवीर,' देवीप्रसाद शर्मा उपाध्यायके 'सुन्दर सरोजिनी,' जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'वसन्तमालती', देवीसहाय शह-के 'दृष्टान्तप्रदीपिनी,' 'जादूभरी बातें' तथा 'भयानक भेडिया,' 'प्रवीण पथिक,' 'प्रमीला'में स्पष्ट प्रकट है। उपन्यासकलाकी दृष्टिसे 'चन्द्रकान्ता' हिन्दीका प्रथम साहि-त्यिक उपन्यास है। काशीनाथ शर्माके 'चतुर सखी' और विजयानन्द त्रिपाठीके 'सचा सपना' (अनुदित)में भी तिलस्मका चमत्कार है। गोपालराम गहमरीके उपन्थासोंमें जासूसी स्रोत स्पष्ट है। तीसरा, अनुवाद-स्रोत है। हिन्दीमें तिलस्मी और जास्सी उपन्यासोंकी प्रधानता थी, जिससे साधारण जनताका मनोरंजन तो हुआ, किन्तु साहित्यिक समाजका विनोद न हो सका। अतः उपन्यास-कार देशी और विदेशी भाषाओंसे अनुवाद प्रस्तुत करने लगे, जिनसे प्रेरित होकर हिन्दीमें सामाजिक, ऐतिहासिक और गार्हस्थिक उपन्यासोंका प्रणयन होने लगा। बँगलासे अनुवादित उपन्यासोंमें भारतेन्द्रका 'राजसिंह,' राधाकृष्णका 'स्वर्णलता,' पतिप्राणा अवलाका 'राधारानी', गदाधर सिंहके 'दुगेंशनन्दिनी,' 'बंगविजेता', किशोरीलाल गोस्वामीके 'दीपनिर्वाण,' 'विरजा,' बालमुकुन्द गुप्तका 'मडेलभगिनी' (४ भाग), रामशंकर व्यासके 'मधुमालती', 'मधुमती', विजयानन्द त्रिपाठीका 'सच्चा सपना', राधिकानाथ वंन्द्योपाध्यायका 'स्वर्णबाई', उदितनारायणलाल वर्माका

'दीपनिर्वाण', प्रतापनारायण मिश्रके 'युगलांधुराय', 'कपाल-कुण्डला', अयोध्यांसिह स्पाध्यार्ग'हर्र्लोध'के 'कृष्णकान्तका दानपत्र', 'राधारानी', कात्तिकप्रसाद खत्रीके 'कुलटा', 'मधुमालतो', 'दलिन कुसुम'के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमे प्रेम-प्रसंगोका बाहुल्य तथा वीरताकी भावनाका अतिरेक हैं; कथावस्तु, संवाद, मानवीय भावींका अकन, पानानीताच और मुन्दर रुचिर शैली संन्याप्त है। संस्कृतभे अनुवादित उपन्यासोमं गदाधर सिंहका बेंगलासे संस्कृतके 'दादम्यरी'का अनुवाद, काशीनाथ शर्माका पृर्वीनार्यकृतका अनुवाद 'चतुर सखी' प्रमुख है। काशीप्रसाद खत्रीका 'शेक्सपीयरके परम मनोहर नाटकोंक आशय', भारतेन्दुके 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' (मराठीसे अनू(दत), मेहता लज्जारामका 'कपरी मित्र' (गुजराती), किरानलालका 'मुद्राकुलीन' या 'इतिहास चन्द्रोदय', रामकृष्ण वर्माके 'अक्बर', 'अमला वृत्तान्तमाला', 'ठग वृत्तान्तमाला', 'पुलीस वृत्तान्तमाला' इत्यादि मुख्य हैं। किशोरीलाल गोस्वामीके 'उपन्यास' पत्र निकलनेके बाद कानन टायल तथा रेनाल्डके उपन्यासीके अनुवाद अधिकतासे हुए।

भारतेन्दु-युगमें अनुवादित उपन्यासोंको छोड़कर कथाकी दृष्टिसे मौलिक उपन्यास प्रौह और उच्च कोटिके नहीं हैं। उनमें मामाजिक उन्नयन और सुधार, जातीय गौरव, ऐतिहासिक तथ्यों, कान्य, नौति, धर्म, दर्शन तथा मानवताको स्थान मिला है। कथानक सीधे, सरल तथा दौली वर्णनात्मक है।

अद्यावि देवकीनन्दन खत्रीने हिन्दीके सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यास 'चन्द्रकान्ता'में वीरगाथाओंकी परम्परा, अलिफलैलाकी कथाओं, अमीर हमजाकी 'तिलस्म दिलस्वा' तथा अन्य लोकप्रचलित कहानियोंका प्रयोग किया है। उससे इतना कलात्मक सौन्दर्य आया है कि तिलस्मी उपन्यासोंको ही कलापूर्ण उपन्यासोंका प्राथमिक स्वरूप कहना पडता है। किन्तु इसके पश्चात् उपन्यासकी कलामें विभिन्न दृष्टियों से विकास हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीके बाद कुछ उपन्यासकारोंने संस्कृतके प्रेमनाटकों या रीति-कालीन शङ्कार-कान्यसे प्रेरणा न लेकर पारसी थियेटरों तथा उर्द कान्यसे प्रेरणा ली। रामलाल वर्माका 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' इसी प्रकारकी प्रेरणाका उपन्यास है। पारसी थियेटरोंके प्रभावसे अब हिन्दीमें पौराणिक कथानक. ऐतिहासिक वृत्त, लोकविश्रत मौलिक कथाओं, कुदम्ब, समाज आदिसे सामग्री जुटाकर नाटकोंके रूपमें उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमें संलाप और सम्भाषण द्वारा ही चरित्र तथा कथावस्तुका विकास किया जाता था। जब नायिका-भेद, रसपरिपाक, रामलीला, खाँग, नौटंकी, नकल-के रूपमें अवशिष्ट नाट्यकलाका आरोप होने लगा तो नाटकीयतापूर्णं उपन्यास सम्मुख आने लगे। भगवानदीन-का 'सतो सामर्थ्य', किशोरीलाल गोस्वामीका 'कुसुम-कुमारी', जयगोपालकृत 'उर्वशी' इत्यादिमें यह स्पष्ट रूपसे द्रष्टव्य है। इनमें नाटकीयता संलाप या सम्भाषणके रूपमें ही प्रयुक्त हुई थी, किन्तु नाटकीय कलाके विकासके साथ उपन्यासोंमें:भी अन्तर्द्वन्द्वन चरमसीमा, क्रियान प्रतिकिया, संकलन-त्रय इत्यादि नाट्यकलाके गुणोंका प्रयोग होने लगा। त्रजनन्दन सहायके 'राधाकान्त' तथा प्रेमचन्दके 'रंगमूमि'मे नाटकीय व्यंग्यादि बडी निपुणतासे प्रयुक्त हुए है।

उपन्यासके विकासक्रममें दूसरी शृंखला मनोवैज्ञानिकता है, जिसके कारण उपन्यास-कलाका सौन्दर्य खिल उठा है। अभीतक उपन्यासोमें देव-घटना, संयोग-वैचिन्न्य, जादू, कुत्ह्ल, तर्कपूर्ण सूझोका प्राधान्य था, किन्तु अव उपन्यासोन् में मानव-मनके विश्लेषणसे उसके रहस्य खोले जाने लगे। वंगलामें शरच्चन्द्र तथा रवीन्द्र मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत कर ही रहे थे। इसके अनुकरण तथा मनोविज्ञानके अध्ययनकी प्रेरणासे हिन्दीमें भी मनोवैज्ञानिकताका सूत्रपात हुआ। इससे उपन्यास-कलामें नाटकीयता और बढ़ गथी। प्रेमचन्दके 'रंगभूमि'में मानव-मनका सूक्ष्म निदर्शन है, किन्तु वास्तवमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी प्रवृत्तिकी प्रमुखता सन् १९२५के पश्चात् ही आती है।

वीरगाथाओको काव्य-परिपाटी, नाट्यकला तथा मनोवैज्ञानिकताके अतिरिक्त उपन्यासोमें गीतितत्त्वका समावेश भी है। उपन्यासोमें गीतिमत्ता छायावादका प्रभाव है। व्रजनन्दन सहायका 'सौन्दयोंपासक', प्रसादका 'कंकाल', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'का 'मनोरमा' उपन्यास गीति और नाट्यका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते है।

शैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-कलामें विकास हुआ है। अभीतक उपन्यासकार श्रोताओं-पाठकोका ध्यान ग्खकर पात्रों और दृश्योंका वर्णन निरपेक्षभावसे करते थे। उन्हे कहानी कहना ही आता था। संक्षेपमें यह वर्णनातमक शैली है। देवकीनन्दन खत्रीके 'चन्द्रकान्ता', 'काजरकी कोठरी', लज्जाराम शर्माके 'आदर्शहिन्दू', किशोरीलाल गोस्वामीके 'चपला', रामजीदास वैश्यके 'धोकेकी टट्टी', प्रियम्बदा देवीके 'कलियुगी परिवारका एक दृश्य' प्रभृति उपन्यासोमें यह द्रष्टव्य है। किन्तु अब मनोविज्ञानके समावेशसे यह शैली भी मंज गयी है। काल, स्थान, वातावरण और परिस्थितिके अनुसार वर्णन होने लगा है। 'कंकाल' इसका सुन्दर उदाहरण है। दूसरी शैली, **संलाप** या सम्भाषणके रूपमें विकसित हुई, जिससे कथा तथा पात्रके विकासके लिए दोसे अधिक पात्रोका सम्भाषण दिया जाने लगा। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिकके 'मां'में व्यंजक तथा मनोरंजक सम्भाषण है। तीसरी शैली, आत्मकथा-रमक अर्थात् उत्तम पुरुषमे कथा कहनेकी है। व्रजनन्दन सहायके 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त', रामचन्द्र शर्माका 'कलंक', इलाचन्द्र जोशीका 'घृणामयी', चन्द्रशेखरका 'वारांगनारहस्य' इत्यादि उपन्यास इस शैलीके उत्कृष्ट उदाहरण है। चौथी शैली, **पत्रकी शैली** है, जिसमें पत्रो-के द्वारा चरित्र और कथावस्तुका विकास होता है। बेचन शर्मा 'उय्र'का 'चंद हसीनोंके खतूत'मे यह द्रष्टव्य है। पॉचवीं शैली **डायरी**-उद्धरणकी है। 'शोणिततर्पण'मे स्वयं कथा कहनेकी रीति प्राप्त होती है।

वीसवीं शताब्दीसे पूर्व उपन्यासोंकी रचनाका उद्देश्य केवल मनोरंजन था। उपन्यास साधारण जनताकी वस्तु थे। अतः उपन्यासकार पौराणिक तथा लोक-प्रचलित कथानक लेकर कल्पनाके जादूसे कथाकी विचित्रता प्रकट करके उपन्यास-रचना करता था। किन्तु जब उपन्यास धर्म-प्रचार और समाज-सुधारके साधन बने तो सामाजिक उपन्यास भी लिखे जाने लगे। सास-बहू तथा ननद-भौजाईके झगडे, बाल-विवाह, श्लियोकी दासता, जाति-पॉत-का झमेला, दहेज, अस्पृह्यता आदि इनके विषय थे। वास्तवमे सन् १९०१से १९२५ तक लिखे गये उपन्यासोंका उद्देश्य मनोरंजन, उपदेश तथा कलाके लिए कलाका प्रतिपादन करना था।

बीसवी शताब्दीके प्रथम चतुर्थाशमें आकार और विधानकी दृष्टिसे घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भावना-प्रधान उपन्यास प्राप्त होते है। घटना-प्रधान उपन्यास, तिलस्मी, साहसिक, जासूसी, प्रेमाल्यानक, **ऐतिहासिक, पौराणिक** तथा विविध प्रकारके उपन्यास रूपोकी कोटियाँ है—(क) तिलस्मी उपन्यासोंमे नायक-नायिका अय्यार-तिलस्मोंको तोड़ने तथा प्रतिस्पर्दियोंके अय्यारोंको पराभूत करके बन्दी बनानेमे सफल होते है। अन्तमे नायक-नायिकाके मिलनसे उपन्यास सुखान्त बनते है। इनके लिए अद्भुत कल्पनाशक्ति, प्रतिभा और कौशल-की आवश्यकता होती है। खत्रीने फारसी एवं उर्दूसे तिलस्म लेकर हिन्दीमें उनका प्रयोग किया है। निहालचन्द्र वर्माका 'जादका महल' ऐतिहासिक उपन्यास है। (ख) साहसिक उपन्यास चोर, डाकू, डकैती और चोरीसे सम्बन्धित होते है। चन्द्रशेखर पाठकका 'अमीर अली ठग', देवकीनन्दन खत्रीका 'काजरकी कोठरी', दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'लाल पंजा', 'इकैती', जयराम गुप्तका 'राजदुलानी' दुर्गाप्रसाद खत्रीके 'रक्तमण्डल', 'सफेद शैतान', इसी कोटिके उपन्यास है। (ग) जासूसी उपन्यासोंमें चोरी, डाका, हत्या आदिका पता कोई जासूस लगाता है, वह प्रत्येक प्रकारके वातावरण, घटना, वस्तुपारिपादर्वकी सूक्ष्म परीक्षा करता है तथा ग्रप्तमेसे सत्य प्रकट करता है। जासूसी उपन्यास पश्चिमी जासूसी उपन्यासोंके अनुकरणपर लिखे गये हैं। इनमें कथानक स्वाभाविक होता है और कहानी बहुत स्वाभाविक रीतिसे कही जाती है। गोपालराम गहमरीके 'हत्याका रहस्य', 'गेरुआ बाबा', 'मेमकी लाश', 'जासूसकी जवानी' उत्कृष्ट जासूसी उपन्यास है। (व) प्रेमाख्यानक उपन्यास या रोमांसिक उप-न्यासोंमें एक ओर रीतिकान्यकी शृंगारिक और परम्परा-गत प्रेमकी व्यंजना है, दूसरी ओर फारसी-जर्दकी परम्परा-गत प्रेमकी अभिन्यक्ति है। प्रथम प्रकारके प्रेममे प्रथम दर्शनसे उत्पन्न प्रेम, अभिसार, उत्कण्ठा, मौन, रहस्यात्मक सूत्र आदिका वर्णन है। किशोरीलाल गोस्वामीके 'ॲगूठीका नगीना', 'कुसुम कुमारी' इसी प्रकारके प्रेंमके उपन्यास है। दूसरे प्रकारके प्रेममें नायक-नायिका मिलनके लिए साहिसक कार्य करते है। इसमें प्रेमका चित्रण शोखी, शरारत और चुहरुके साथ किया जाता है। प्रेमाख्यानोंमें अति-नाटकीय प्रसंगो तथा अस्वाभाविक अयथार्थ कार्योंकी विपुलता रहती है। रामलाल वर्माका 'गुलबदन', जी० पी० श्रीवास्तवका 'गंगा-जमुनी' इसके अच्छे उदाहरण है । (ङ) **ऐतिहासिक** उपन्यासोंमें ऐतिहासिकताके साथ प्रेम-प्रसंग, तिलस्म

और अय्यारी भी मिलती है। हिन्दीमें वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास कम हैं। किशोरीलाल गोखामीके 'लखनऊकी कन', 'शोणिततर्पण', 'कोहेन्र', 'शीशमहल', तथा 'रानी दुर्गावती', 'बीर पत्नी' या 'रानी संयोगिता', 'चौहानी तलवार', 'सोनेकी राख', 'अवधकी बेगम', इसी श्रेणीके उपन्यास है। वजनन्दन सहायका 'लालचीन', इयाम-बिहारी मिश्र तथा शकदेवबिहारी मिश्रका 'वीरमणि', वृन्दावनलाल वर्माका 'गढ कुण्डार' आदि भी ऐतिहासिक कोटिके उपन्यास है। (च) पौराणिक उपन्यास—'सती सीता', 'बीर कर्ण', 'एक्लब्य', 'परशुराम', 'सुभद्रा', 'अनुस्या', 'चन्द्रलेखा', 'सती सीमंतिनी', 'सती मदालसा' आदिके चरित्रोंकी अवतारणा करके लिखे गये उपन्यास इस कोटिमें आते हैं। (छ) विविध कथा-प्रधान उपन्यास-लक्ष्मीदत्त जोशीका 'जपा कुसुम अथवा नई सृष्टि', 'राविन्सन कृसो', वजनन्दन सहायका 'आरण्य वाला', जयराम ग्रुप्तका 'दिलका काँटा'में प्रेम-प्रसंग, अय्यारी, इतिहास, सभी कुछ है। (ज) चरित्र-प्रधान उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'ठेठ हिन्दीका ठाट', 'अथिखला फूल', लजाराम मेहताके 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श हिन्दू', पारसनाथ सिंहका 'मॅझली बहू', विजयकमार घोषका 'छोटी बहु', प्रियम्बदा देवीका 'कलियुगी परिवारका एक इश्य', मन्नन दिवेदीके 'राम-लाल', 'कल्याणी', शिवपूजन सहायका 'देहाती दुनिया' आदि प्रयोगकी स्थितिके चरित्रप्रधान उपन्यास है। प्रेमचन्दके 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'काया-करप', व्रजनन्दन सहायका 'राधाकान्त', यदनन्दन प्रसादका 'अपराधी', विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशि-कका 'माँ', अवधनारायणका 'विमाता', जगदीश झा विमलका 'आशापर पानी', शिवनारायण दिवेदीका 'छाया' इत्यादि उपन्यास प्रौढ चरित्र-प्रधान उपन्यासोंकी कोटिमें आते हैं। वास्तवमें अभीतकके चरित्र परम्पराबद्ध या कल्पित प्रकार-विशेषके प्रतिनिधि होते थे। उनमें साधारण व्यक्तिका जीवन नहीं दिखाई देता था। उनमें प्रायः सभी प्रेमी और अय्यार होते थे। किन्तु चरित्रकी वैयक्तिक गतिशीलता, गुण दोषके मिश्रण, यथार्थानुकारिताके साथ आदर्शवादितामें विश्वास प्रेमचन्द और बौशिकके द्वारा ही मिला। प्रारम्भमें चरित्र-प्रधान उपन्यासोंके लिखनेमें प्रेमचन्द अकेले थे। (झ) चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें वैज्ञानिक सत्यकी दहाई देनेवाले पाकृतवादी उपन्यास भी है, जिनमें मनुष्य और पश्जोंमें समानता प्रदर्शित की गयी है। विषय-वासनामें मनुष्य पशुसे भी गया-बीता है। विधवाश्रमसे कथानक लेकर लिखे गये बेचन शर्मा 'उग्र'के 'दिलीका दलाल' तथा चन्द्रशेखर पाठकके 'वारांगना रहस्य' ऐसे ही उपन्यास है। (ञ) भावनाप्रधान उपन्यास कवित्व-प्रशान होते हैं। 'कंकाल', 'सौन्दर्योपासक', 'मनोरमा' इसके उदाहरण हैं। किन्तु इनमें 'अँगूठीका नगीना', 'कुसुम-कुमारी' तथा कुछ रूपक उपन्यास 'मायापुरी' (जासूसी), चाँद करण शारदाकृत 'कालेज होस्टल', 'चपला', 'रंग-भूमि' आदि भी गिने जा सकते हैं।

हिन्दी उपन्यासीपर 'चन्द्रकान्ता', 'रक्तमण्डल' और

'भृतनाथ'का आश्चर्यजनक प्रभाव था। उनकी कथावस्तु-कौत्हल और आश्चर्यपर आधारित थी। मश्चराप्रसाद-के 'आनन्द महल' तथा गोपालराम गहमरीके 'झण्डा डाक भें यह प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षितं है। यद्यपि सन् '२'५ से अय्यारीकी कौत्रहल-प्रियता समाप्त हो चुकी थी, किन्तु आकस्मिकताका प्रयोग फिर भी बहुलतासे होता था। ज्योतिर्मयी ठाकरके 'मध्वन'में आकस्मिकताका अद्भत पट है। इसके सहारे कथाको मोड़नेका काम लिया जाता था, जिससे घटनाओंके विस्तार और सन्तुलनमें बाधा पड़ती थी। बीसवीं सदीका यह दूसरा चतुर्थाश राष्ट्रीय जागरणोत्थान-के प्रयत्न तथा क्रान्तिका काल है। अतः इसमें कथावस्तुकी महत्ता कम हो गयी। उपन्यास विचारोंकी अभिन्यक्तिका साधन बनने लगा। पहले नैतिकता या अन्य कल्पित आदशोंसे घटना और पात्रोंकी स्थिति निर्धारित होती थी, अब पात्र और उनके मनोविज्ञानसे कथावस्त्रकी दिशा निश्चित होने लगी। विचारोंके अनुसार कथा मोड़ लेने लगी। वर्णन, विवरण, व्याख्याओं, परिभाषाओं, तर्कों, विचारोंके अतिरेकके कारण कथावस्त्रमें असम्बद्धता भी आयी, किन्त पात्रके मनोविज्ञानके अनुकूल होनेके कारण दोष न मानी गयी। इस प्रकार अब कथाकार नेपध्यमें चला गया। अब पात्रोंके जीवन तथा उनके कार्य-न्यापारसे कथानक निर्मित होने लगे। वे पात्र-सापेक्ष्य हो गये। चरित्रकी संयोजनामें ही कथाके सूत्र विकसित होने लगे। शिलपकी दृष्टिसे इन उपन्यासोंके कथानक दीर्घ, व्यापक, विस्तृत और इतिवृत्तात्मक हैं। मुख्य कथानकके साथ गौण कथानक भी संयुक्त हैं। फिर भी कथानकों में एकस्वता, संवेदना, प्रसंगकी एकात्मकता है। कथासूत्र कलात्मक, सुगठित और सम्पूर्ण हैं।

चरित्रकी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे एक और ठाकुरदत्तके 'छिपा महल', गोपालराम गहमरीके 'झंडा डाकू' और राहुल सांकृत्यायनके 'शैतानकी आँखं'में पात्रोंके व्यक्तित्व घटनाओं-की बहुलता, कुतूहल और आइचर्यके आधिक्यमें अधिक नहीं स्पष्ट हो सके हैं, किन्त दूसरी ओर मनोविशानकी इतनी अधिक प्रधानता है कि आदर्शको छोड़कर पात्रोंके मन और उसकी असंगतियों, उसके रहस्योंका ही उद्घाटन किया जाने लगा है। आदर्श और मानवीय स्वभाव भिन्न-भित्र दिशाओं में चलने लगे। जैनेन्द्रके 'सुनीता', ऋषभचरण जैनके 'मास्टर साहब', गुरुदत्तके 'विकृत छाया', रांगेय राघवके 'विषादमठ' और अमृतलाल नागरके 'महाकाल', जोशीके 'परदेकी रानी', 'प्रेत और छाया', 'अश्चेय' 'शेखर-एक जीवनी', यशपालके 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', भगवती चरण वर्माके 'चित्रलेखा', अश्कके 'गिरती दीवारें'-में आदर्श और पात्र प्रायः एक-दूसरेसे विपरीत दिशाओं में जा रहे हैं। फिर भी मनोविज्ञानके साथ साधारण, प्रकृत तथा मानवीय चरित्रोंकी प्रतिष्ठा हुई है। उनके व्यक्तित्वमें तत्कालीन व्यक्ति, समाज, युग और समस्त परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित होने लगी हैं। 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान', 'तितली', 'कंकाल' युगके सजीव चित्र सिद्ध हुए हैं।

भाषा और रचनाशैलीकी दृष्टिसे भी उपन्यास-शिल्पमें

विकास हुआ। राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और 'उग्र'के उपन्यासोंमें आलंकारिक, चित्रात्मक, व्यंजना-प्रधान भाषा, प्रेमचन्दमें भाषाका मुहाविरेदार स्वाभाविक रूप, जोशी और 'अज्ञेय'के उपन्यासोंमें मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्थितियोके अनुसार भाषा तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज शब्दोंसे पूर्ण, सूर्यकान्त-त्रिपाठी 'निराला'के 'विल्लेम्रर वकरिहा' और 'चोटीकी पकड़'मे भाषा अलंकाररहित, व्यावहारिक और सशक्त है।

रचनाशैलीकी दृष्टिते उपन्यासोंकी अनेक शैलियाँ विकसित हुई । वर्णनात्मक शैलीमे मनोविज्ञानके समावेश-के कारण वर्णन, चित्रण, संकेत, संवाद, देश, काल, परिस्थिति तथा वातावरणके समन्वयसे पात्र पाठकोंके सामने शक्तिशाली और सजीव रूपमें सरलतासे प्रत्यक्ष होने लगे। राहरूका सिंह सेनापति' तथा हजारीप्रसाद द्विवेदीका 'बाणभड़ की आत्मकथा', प्रेमचन्दका 'गोदान', भगवतीचरण वर्माका 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' इत्यादि उपन्यासोंमे यह शैली द्रष्टव्य है। दूसरी शैली सम्भाषण और संलापके सन्निवेश-से प्रारम्भ होती है, जिसमें कथाकारकी तटस्थता, चरित्रकी व्यंजना, आत्मसम्भाषणोसे प्रकट होती है। इसमें व्यंग्य, हास्य, विनोद और नाट्यतत्त्वका भी समन्वय है। 'रंग-भूमि', 'कंकाल', 'माँ', 'घुणामयी'में इसका अच्छा प्रयोग है तीसरी शैली **व्याख्या-प्रधान** है, जिसमें कथाकार पात्रों और घटनाओंकी समस्त स्थितियोंकी मनोवैज्ञानिक, नीति-परक, दार्शनिक व्याख्याएँ करता है। जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', जोशीके उपन्यासोंमें इसका प्रयोग हुआ है। चौथी शैली, चित्रात्मक है, जिसमे बाह्य और अन्तःप्रकृति दोनोंका चित्रण किया जाता है। 'परख', 'घरौदे, 'सराय' इस शैलीके उत्कष्ट उदाहरण है। पॉचवी शैली आलंकारिक है, जो सीमाका अतिक्रमण करनेपर दोष बन जाती है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'में आलंबारिताकी अधिकता है। छठी डायरी-पन्न-शैली है। 'उय'के 'चन्द हसीनोंके खतूत'के कथानकका संघटन कुछ पत्रोंसे ही हुआ है। प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'का 'पाप-पुण्य' भी इसी शैलीका उपन्यास है। सातवीं स्वागत-शैली है। इसका उदाहरण 'संन्यासी' है। आठवी शैली **हास्यव्यं ग्य**की शैली है । प्रवासीलाल वर्माका 'मुर्खराज', 'निराला'का 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसर बकरिहा', अन्नपूर्णानन्दका 'महाकवि चचा' इस शैलीमें लिखे गये हैं। नवीं रौली कथा-गर्भ-उपकथा-शैली है। 'सूरजका सातवाँ घोडा' इसमा उत्तम उदाहरण है। 'पंचतन्त्र'की शैलीमें जी॰ पी॰ श्रीवास्तवके 'लतखोरीलाल' और 'स्वामी चौखरानन्द्र' लिखे गये है।

वास्तवमें प्रेमचन्द और प्रसादयुग साधारण मनोविज्ञान तथा राष्ट्रीय जागृतिका काल है, जिसमें सामाजिक कुरीतियोंके निराकरणका प्रयत्न, पतन और पराजयके प्रति आदशोंको स्थापनां, उत्पीढित, शोषित और दुःखी मानवताके लिए हादिंक संवेदना है। कथामें इतिवृत, निश्चित घटना, कार्य-व्यापारोंका आधिक्य, रचनाशैलोकी सरलता, सोदेश्यता है। किन्तु सन् ३६के पश्चात् हिन्दी उपन्यास एक तीसरा मोड लेता है। इस युगमें मार्क्सके द्वन्दात्मक भौतिक वाद तथा फायडके यौनवाद तथा युंगके मनोविश्लेषणने

व्यक्ति और समाजके मल्योंको नये सिरेसे समझनेके लिए प्रेरित किया। चरित्रके अध्ययनके लिए मन्ष्यके बाह्य संकेतों, स्वप्तों, सम्भाषणों, भाव-भंगिमाओं, कर्म-प्रेरणाओं-का अध्ययन होने लगा । विदोही, पापी, अपराधी, स्त्री-परुष सम्बन्धी नैतिक मूल्यों आदिपर मनोवैज्ञानिक गहराईसे विचार हुआ । इस युगका यह नवीन दर्शन मनोविश्लेषण-का आधार लेकर चला. जिससे उपन्यासको नयी और मौलिक दिशाएँ मिली। यगके समाज-निरपेक्ष व्यक्तिवादी दर्शनके कारण उपन्यास भी स्वच्छन्द और व्यक्ति-प्रधान हो गये । जैनेन्द्र, जोशी और 'अज्ञेय'के द्वारा उपन्यासके नये शिल्पकी प्रतिष्ठा हुई । भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्र-नाथ अइकके उपन्यासोंमें प्रेमचन्दके शिल्पका ही विकास हुआ है। जैनेन्द्रके 'परख', 'तपोभमि', 'सुनीता', 'कल्याणी' 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', जोशीके 'संन्यासी', 'ष्टणामयी', 'परदेवी रानी', 'प्रेत और छाया', अझेय'के 'शेखर', 'नदीके द्वीप'में चरित्रोंका आत्म-विक्लेषण प्रधान हो गया है। भगवतीचरण वर्माके 'चित्रलेखां', 'तीन वर्ष बाद', 'टेढे-मेढे रास्ते', अइकके 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', यशपालके 'दादा कामरेड'में यथार्थ और व्यंग्यका सन्दर समन्वय है।

रचनाशैलीका प्रौढ विकास इस ततीय उत्थानकी सर्व-प्रमख विशेषता है। इस कालके उपन्यासोंमें देश-काल-परिस्थितिका समन्वय तथा एकस्त्रना एवं कथाकार और पाठकके बीच समदृष्टिके द्वारा नवीन शिल्पका विकास हुआ है। वर्णन और चरित्र-चित्रणके स्थानपर चिन्तन और चरित्र-विद्रलेषण होने छगा । कार्यव्यापार-चित्रणके स्थानपर कर्म-प्रेरणाओं और चित्तवत्तियोंका अध्ययन हुआ। कथा-कार आलोचक न रहकर द्रष्टा बन बैठा और कथाके स्थान-पर भाव-राशि प्रस्तुत करने लगा। मुख्य तथा आत्म-विक्लेषणके आधारपर आत्म-कथात्मक और निरपेक्ष-चित्रणके आधारपर आत्मसंस्मरणात्मक ('शेखर-एक जीवनी', 'सुखदा') तथा व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठाके लिए कहानी-तोडकर पत्र-सम्भाषणात्मक के सत्रोंको शैलियाँ ('नदीके द्वीप', 'परख', 'तपीभूमि') विकसित --वि० रा० हई ।

उपन्यास, ऐतिहासिक — ऐतिहासिक उपन्यासके लिए तो इतिहासकी रक्षा करनेके साथ-साथ उसके स्वरूपको अपनी करपनाके द्वारा स्पष्ट करना भी आवश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिये कि उपन्यास इतिहासका अन्धानुकरण नहीं हो सकता, सबसे पहले यह उपन्यास है— साहित्यिक कथावस्तु। साथ ही वह इतिहास भी है, जिसकी मर्यादाकी भी रक्षा करनी पड़ती है। अतः यहाँ कल्पना अनियन्त्रित नहीं हो सकती। अकबर और शिवाजी दोनोंको एक साथ नहीं बिठा सकती। इस प्रकारके उपन्यासको भिन्न रिचवाले दो स्वामियोंकी सेवा करनी पड़ती है, दोनोंके रखकी रक्षा करते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखना पड़ता है। अतः इसमे अन्य प्रकारके उपन्यासोंसे अधिक सतर्क प्रतिभाको आवश्यकता पड़ती है। यूरोपीय साहित्यमें सफल ऐति-हासिक उपन्यासके लेखकके रूपमें सर बाल्टर स्कॉट तथा अलेकजेंडर ड्यमा जैसे कुछ ही नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दीका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास किशोरीलाल गोसामीका 'कु म ुगादी' कहा जाता है। पर वास्तवमें इसे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसका कोई भी पात्र ऐतिहासिक नहीं है। कथा ऐतिहासिक और सची घटनापर अवलन्त्रित है इतन। ही कह देना पर्याप्त नहीं । इस दृष्टिने तो नेठ गोविन्ददासका 'इन्द्रमर्ता' नामक उपन्यास ऐतिहासिक नामका अधिक अधिकारी है। सकता है, क्योंकि काँग्रेसके आन्दोलनका निथिवार इतिहास इसमें उल्लिखित मिल जाता है। पर यह ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें पात्रके व्यक्तित्वकी महिमा गायी गयी है। ऐतिहासिक उपन्यासका अस्तित्व वृन्दावनलाल वर्माके 'गढकुंडार' तथा 'विराटाकी पिकनी'से प्रारम्भ होता है। 'झाँसीकी रानी' तथा 'मृगनयनी', दोनों उपन्यास किसी भी साहित्यके प्रौढ ऐतिहासिक उपन्यासके समनक्ष उपस्थित किये जा सकते हैं। प्रतापनारायण श्रीवास्तव हिन्दोके दूसरे ऐतिहासिक उपन्यासकार है, जिनका 'बेकसी-का मजारे हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।

ऊपर कहा गया है कि ऐतिहासिक कथाकारको इतिहास-की मर्यादाका ख्याल रखना अत्यावश्यक है। परन्तु इति-हासका सचा रकरप क्या है, वह विगत ऐतिहाका शुक अनुकरण करे अथवा उसमें कल्पनाका भी थोड़ा योग हो और इतिहास-लेखकके सूक्ष्म मानसिक तत्त्वका उसपर हस्का प्रकाश पड़े, इस बातको लेकर विचारकोंमें मतभेद है। एक दल इतिहासको निर्वेयक्तिक तथा तटस्य मानता है। दूसरा कहता है कि इतिहासमें तटस्थता और वस्तुपर-कता नामकी चीजका कोई महत्त्व नहीं। हम लाख प्रयत्न करके भी इतिहास-लेखककी व्यक्तिगत धारणाओंसे उसे मुक्त नहीं कर सकते । इन्हीं दो सिद्धान्तोंके अनुरूप ऐतिहासिक उपन्यासोंकी दो श्रेणियाँ हिन्दीमें स्पष्ट रूपमें दिखलाई पड़ती हैं। एकके समर्थक वृन्दावनलाल वर्मा तथा रांगेय राधंव कहे जा सकते हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासोंमें इति-हासकी वफादारीको अच्छी तरह निभानेका प्रयत्न किया है। रांगेय राघवने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुदौंका टीला'में अपने पक्षकी वकालत की है। दूसरी ओर चतुरसेन शास्त्रीने 'वैशालीकी नगरवधू' नामक ऐतिहासिक उपन्यास-में 'इतिहासरस' वाले सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है और कहा है, भाव और रसमें जो अन्तर है, वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रसमें है। जिस तरह भावको रसान-भूतिकी श्रेणीतक पहुँचानेके लिए तथ्योंमें परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरहकी स्वतन्त्रताका अवसर यहाँ भी मान्य है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासमे इतिहासका सुखा ठट्ठर खड़ा करना नहीं होता, उसमें प्राणप्रतिष्ठा भी करनी चतुरसेन शास्त्रीका एकं उपन्यास वयं रक्षामः' भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है (दे० 'उप-· न्यासं') । --दे० उ०

उपन्यास, घटना-प्रधान - उपन्यासके दो ही आधार स्तम्भ है - व्यक्ति और घटना। कुछ व्यक्ति होते हैं, जिनके जीवनमें घटनाएँ घटती है और अपने अस्तित्वके द्वारा व्यक्तिके जीवनपर प्रकाश डालती रहती है। उपन्यांसकी

मार्थकता इसीमें है कि वहाँ घटनाओं तथा व्यक्तिमें पारस्प-रिक सहयोग तथा आदान-प्रदान होता रहे, परन्त कभी-कभी ऐसा होता है कि उपन्यासकी घटनाएँ अपनी स्वत-न्त्रताले घटनी हैं, मानों उनपर न्यक्तिका नियन्त्रण नहीं है अथवा है भी तो नाममात्रका । कभी वे इतनी प्रधान हो गयी है कि व्यक्तिको उन्होंने दबोच लिया है। माहसिक तथा जामुसी उपन्यास प्रायः घटनाप्रधान होते हैं। नायक किसी भी वन्त्रकी खोजमे चला, प्रेयमीकी या गुरुकी । बस क्या है, अनेकों घटनाएँ उसके जीवनमें आकर जुड़ जायँगी। 'मान न मान, में तेरा महमान"। अपराधी जरूर-न-जरूर कोई ऐसा मृत्र (क्लु) छोड जायगा, जो उसको खोज निकालने-में सहायक होगा। पैरके निशान ही सही, सिगरेटकी एक दृकड़ी ही सही, पर ये ही चायकी प्यालीमें तुफान उठानेमें समर्थ होंगी और ऐसी-ऐसी घटनाओंकी सृष्टि वरेंगीं, जो मानव बुद्धिको चुनौती दे जायं। प्राचीन कालमें घटना-प्रधान कथाओंका ही साम्राज्य था, उनमे घटनाओंकी प्रचरता अवस्य थी, पर जीवन दीपक लेकर खोजनेपर भी नहीं मिलता था। गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'की सुनकर पशु-पक्षियोंकी भूख-प्यास हराम हो गयी हो, 'पंचतन्त्र'की पढ़कर नीतिके उपदेश भले ही प्राप्त हो जाते हों, पर जीवनस्पन्दन-के नामपर तो कुछ भी नहीं है। आज प्रेमचन्दके 'गोदान', 'रंगभूमि' जैसे भारी-भरकम उपन्यासोंमें जीवनके कुछ उपकरण भले ही मिल जाते हों, पर आज जीवनकी माँग बहुत बढ़ गयी है। इस दृष्टिसे उपन्याम घटना-प्रधान ही कहे जायँगे (दे० 'उपन्यास')। उपन्यास, चरित्र-प्रधान-उपन्यासका वास्तविक स्वरूप चरित्र-प्रधान उपन्यासोंमें ही प्रकट होता है। कथाका प्रारम्भ तो मानवताके प्रारम्भसे ही हुआ होगा, पर जिस समय कथा मनोरंजन और उपदेशकी खूँट छोड़कर न्यक्तिकी तरफ मुड़ी होगी, उसी समय टपन्यास नामक नृतन साहित्यिक विधानका बीज भी पड़ा होगा। वास्तविक चरित्र-प्रधान उपन्यास तो वे कहे जायँगे, जिनमें पात्रकी कुछ विशेषताएँ प्रारम्भमें ही बता दी जायँ, बादमें जितनी घटनाएँ घटें, उन सबपर इन विशेषताओंकी छाप हो। 'सेवा सदन'में यह जानते देर नहीं लगती कि सुमन कैसी है ? मानिनी है, मनस्विनी है तथा जीवनकी सुखसुविधाओं पर फिसल पड़नेवाली है। इन गुणोंकी एक बार प्रतिष्ठा हो जानेपर हर एक अवसरपर इनका ही चमत्कार देखनेको मिलेगा। सुमन किसी भी अवस्थामें रहे, वह रहेगी वही, जो वहं है। घटनाएँ आर्येगी, उसे जरा हिला-इला देंगी, पर उखाड़ नहीं सकेंगी। चरित्र-प्रधान उपन्यासोंका दूसरा रूप वह भी होता है, जिसमें परिस्थितियोंके फेरमें पडकर पात्र कोई-सा रूप धारण कर सकता है, पर वह होगा मानवीचित ही। यशपालके 'मनुष्यके रूप'में सोमा न जाने क्यासे क्या हो जाती है, पर उन सब रूपोंमें एक आन्तरिक साम्य है। कह सकते है कि परिस्थितियोंके साथ संगति बैठा देना ही उसके चरित्रकी विशेषता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास ही आगे बढकर न्यक्तिपरक उपन्यासका रूप हे हेते हैं (दे॰ 'उपन्यास')। उपन्यास, जासूसी-यदि आपको एक सुसंघटित

कथावस्तुवाला उपन्यास पढ़ना हो, जिसके आदि, मध्य और अवसानके विन्दु स्पष्ट हों, जो कारण और कार्यकी शृंखलामें वॅधा हो तो आप जास्सी उपन्यास पढ़ें। हत्या हुई, अपराधीकी खोजमें जास्स प्रवृत्त हुए, एकाधिक लोगोंपर शंका हुई, प्रमाणोंकी नाप-तोल कर सच्चे अपराधीका पता लगा और उसे दण्डित किया गया। यही जास्सी उपन्यासका प्रधान सृत्र है और इसमें कथासंवरनके सब तत्त्व वर्तमान है। पो, कानन डायल, एडगर वैलेस, ये तीनों नाम जास्सी उपन्यास लेखकोंमें चिरस्मरणीय रहेगे। हिन्दीमें गोपालराम गहमरीने जास्सी उपन्यास और कहानियोंका अम्बार खड़ा कर दिया है। ठाकुरदत्त मिश्रका 'छिपा महल' तथा राजेश्वरप्रसाद सिंहका 'महान् अपराधी', ये दो प्रसिद्ध जास्सी उपन्यास हैं।

जासूसी उपन्यासके निर्माणका सूत्र सीधा है। पर एक सफल जासूसी उपन्यासकी रचना सहज नही। अपराधी और जासूस दोनोंको रंगमंचपर मुख्य अभिनेताकी तरह उपस्थित रहना चाहिये। पर यदि अपराधी किसी तरह भी पाठककी थोडी-सी सहानुभृति पा गया तो वह अपराधीकी फॉसीको पसन्द नहीं करेगा । अपराधीको उपन्यासके प्रारम्भमें ही उपस्थित नहीं करना चाहिये, नहीं तो पाठक मानवोचित दर्बलताके कारण प्रथम परिचयकी सहानभृति देने लगेगा। हत्याके लिए अथवा डकैतीके लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक कारण अवस्य होना चाहिये, परन्त उसके औचित्यका चित्रण इतने गाढे रूपमें नही होना चाहिये कि पाठकको अपराधीका दण्डित होना खटकने लगे। यदि अपराधीका चित्र अत्यधिक गाढी काली स्याहीसे चित्रित कर उसे शैतानियतका पुतला बना दिया जाय तो उसका पता लगा लेना पाठकके लिए सहज होगा और सारा उपन्यास ही बीचमे समाप्त हो जायगा, उसकी पढनेकी प्रेरणा ही नष्ट हो जायगी।

जास्सी उपन्यासोंकी समाप्तिपर पाठकके हृदयमे यह धारणा बननी चाहिये कि सचमुच ही बड़ी पेचीदी गुरथीको सुलझाया गया है, जो साधारणतया सहज सम्भव न था। गोस्वामीजीके उपन्यास 'जिन्देकी लाश'मे एक लड़कीको षड्यन्त्रकारियोंने मृत समझकर दफना दिया है, पर वास्तवमं वह मरी नही है। बादमं वह जाससकी सहायतासे निकाल ली जाती है। प्रारम्भमं थोडा कौतृहल अवश्य जगता है, पर समस्या बड़े ढंगसे हल हो जाती है। ऐसा नहीं लगता कि एक बड़ी कठिन समस्यासे पाला पड़ा था।

इधर जास्सी कथाओं में एक नया परिवर्तन आ रहा है और यह हुआ है यथार्थवादके नामपर। इसमें उस समाजन्का चित्रण हुआ है, जिसमें न्यायालयके कमरेमे दर्जनों शराबकी बोतलें रखनेवाला न्यायाधीश किसीको एक औं सशराब रखनेके लिए जेलकी सजा दे सकता है। एक सीधासा लगनेवाला धार्मिक पुरुष अष्टाचारके केन्द्रोंका संचालक हो जाता है। आजके युगमें ऐसे व्यक्तियोंके अस्तित्वके सम्बन्धमें विश्वास करना कठिन नहीं है। इस तरहके उपन्यासोंमें अपराधीके पता लगानेपर जोर नहीं दिया जाता। अपराधीका पता तो सबको है ही। उसको अपराधी साबित

करना कठिन होता है। अतः जासूस या वकीलके लिए सम्बन्धित व्यक्तिको अपराधी प्रमाणित करने तथा इस कार्यके खतरोका सामना करनेमें ही लेखककी प्रतिभा दृष्टिगोचर होनी है। ऐसी कथाओको अंग्रेजीमें 'हार्ड ब्वाइल्ड स्टोरी' कहते है।

हिन्दीमें इस तरहके जासूसी उपन्यास देखनेको नहीं मिलते। दुर्गाप्रसाद खत्रीके चार जास्सी उपन्यास प्रसिद्ध है-१. 'रक्तमण्डल', २. 'सफेद शैतान', ३. 'प्रतिशोध' और ४. 'लालपंजा'। आजकल हिन्दीमें तीन दर्जनसे भी अधिक जाससी पत्र निकलते है और जाससी उपन्यासोंकी संख्या वर्षमें हजारोंतक पहुँच जाती है। युगलकिशोर पाण्डे तथा ओम्प्रकाश शर्मा इस क्षेत्रमें प्रशंसनीय कार्य कर रहे है। —हे**०** उ० उपन्यास, तिलस्मी-यूनानी शब्द 'टेलिस्माने'से तिलस शब्द निकला है, जिसका अर्थ है इन्द्रजाल, जाद, अलौकिक कारनामे । जिस उपन्यासमें आश्चर्यजनक कारनामोंकी भरमार होगी, जहाँ पात्रोंके लिए कुछ भी करना असम्भव न होगा, जहाँ पात्र मौतकी घाटीसे भी किसी चमत्कारके कारण लौटकर सही-सलामत घर आ जायगा, विघ्न-बाध।ओंके जंगलमें घरे रहनेपर भी कैंचीकी तरह मार करता हुआ बाल-बाल बच निकलेगा, वह तिलसी उपन्यास कहा जायगा । हिन्दी तिलस्मी उपन्यासके लेखकों में देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामीका नाम सदा अमर रहेगा। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'लखनऊकी कन्न'को पढ़कर आनन्द प्राप्त करनेवाले पाठकोकी संख्या सदा अधिक रहेगी। वीरेन्द्र सिंह देखनेमें निरीह, कमर झुकी हुई बुढिया, पर आफतकी पुड़िया, लकलका-देहोश कर देनेवाली दवा, जरासे संकेतपर बोलने लगनेवाली तथा तलवार चलाने लगनेवाली पत्थरकी मूर्तियाँ, पलक मारते ही पैरोंके नीचे ख़ुल पड़नेवाली सुरंग जल्दी भूलनेवाली चीजें नहीं है। 'लखनऊकी कब्रमें' ऐसे पत्र है, जो दिनमें सफेद रहें, रातमें पढ़े जा सकें, 'मास्टर की' जो सब तालोंकी खोल सके, सरंग और जेबी खजानोंकी भरमार है। मनुष्यकी शक्तियाँ सीमित है, पर वह अपनेको सर्वसमर्थ देखना चाहता है। उपन्यासके पात्रोंको इस तरह सर्वशक्ति-सम्पन्न, अलौकिक कर्मदक्ष देखकर पाठक अप्रत्यक्ष रूपमे ही सही, पर अपनी ही शक्तिके विस्तारका दर्शन करता है और उसके हृदयकी किसी मॉगकी पूर्ति होती है। इधर लोगोंकी रुचि बढ़ली जरूर है और लोगोंमे यथार्थवादी दृष्टिकोणका उदय हुआ है, परन्त इससे तिलसी उपन्यासोंके प्रचारमे कमी नहीं होगी, कारण कि ये किसी गहरी और मौलिक माँगपर आधारित हैं।

अंग्रेजीमे १८वी शतीमे गोथिक रोमान्सके नामसे एक आन्दोलन चला था। इसके प्रभावमें बहुतसे उपन्यास लिखे गये, जिनमे तिल्साका रंग गावा था। गोस्वामीजीके सभी ऐतिहासिक उपन्यासोंमें तिल्सी रंग आ गया है। 'गुलबहार' और 'नुसुमकुमारी' जैसे उपन्यास भी तिल्सके रंगसे अधूरे नहीं है। —दे० उ० उपन्यास, पारिवारिक पारिवारिक उपन्यासमें एक ऐसी ही समस्या हाथमें ली जाती है, जिसका प्रभाव परिवार-

तक ही सीवित रहता है, फैल्कर समाजको नहीं छता।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण अंग्रेजी उपन्यास लेखिका

जेन आस्टिनका उपन्यास 'प्राइड एण्ड प्रेज्डिस' है, जिसमें एक सुखी पारिवारिक जीवनकी कथा कही गयी है। जिस समय जेन आस्टिनने अपने उपन्यासोंकी रचना की, थी, वे बड़े उथल-पथलके दिन थे-फांसकी राज्यकान्तिके, नेपोलियनके उत्थान और पतनके, साम्राज्योंके उत्कर्प और अपकर्षके: परन्तु इनके उपन्यासोंके कानोंपर जुँतक नहीं रेंगी। वे सबसे तटस्थ होकर एक परिवारकी कथा कहनेमें मग्न है। प्रेमचन्द्रका 'सेवासदन' एक पारिवारिक समस्याको लेकर अवस्य प्रारम्भ होता है, पर आगे चलकर उसकी सीमामें न जाने कितनी सामाजिक समस्याएँ जुड़ जाती हैं। राजनीति भी कृद पड़ती है। अतः 'सेवासदन'को विशुद्ध पारिवारिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। प्रेमचन्द्रका 'निर्मला' नामक उपन्यास अवस्य ही पारिवारिक उपन्यासका उदाहरण हो सकता है। 'निर्मला'में दहेज-प्रथा और अनमेल विवाहकी समस्याको सामाजिक स्तरपर ही छेड़ा गया है। पर जिस भावात्मकता और त्तरलीनताके साथ पारिवारिक सम्बन्धोंका वर्णन किया गया है, उसके सामने सामाजिक समस्याएँ फीकी पड़ जाती हैं। एक दृष्टिसे जैनेन्द्रकी 'परख'में पारिवारिक रंग अधिक गाड़ा मालूम पड़ता है, कारण कि वह कुल दो-चार व्यक्तियोंतक ही सीमित है, जो एक परिवारके ही सदस्य कहे जा सकते है, पर कथा कहनेका दंग कुछ ऐसा रहस्यमय, हृदयको गहराईमें इबानेवाला तथा आदशैवादी है कि उसका पारिवारिक रूप छिप जाता है। वह पारिवारिकसे अधिक मनोवैज्ञानिक या आदर्शवादी बन जाता है। जो हो, इतना सत्य है कि पारिवारिक जीवनको आधार बनानेवाली औपन्यासिक प्रतिभा उच्च कोटिके लघु उपन्यासोंकी सृष्टि कर सकती है। -दे० उ० उपन्यास, प्रवाहवादी-प्रवाहवादी उपन्यास-साहित्य भी मानव जीवनकी तरह किया और प्रतिक्रियाके रूपमें अपने रूपका विकास करता चलता है। १९वीं शताब्दीमें यथार्थ-वादिताकी माँग बढी, रोमांसोंकी काव्यमयता, जगमगाते पेंद्रिय चित्र तथा सोनेका संसार खड़ा करनेवाली पद्धतिके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई तो हमारे सामने सुसंघटित उपन्यास आये, जिन्हें अंग्रेजीमें प्लाट नॉवेल कहते हैं। उनमें घटनाओंको काट-छाँटकर रख दिया जाता था, उनके आदि, मध्य, अवसान-विन्दु एकदम स्पष्ट रहते थे, सारे भातावरणपर कारण-कार्यके नियमका नियन्त्रण रहता था। अतः इनमें जीवनको सच्ची अभिन्यक्तिका अभाव या। इसीके विरोधमें प्रवाहवादी उपन्यासोंकी रचना प्रारम्भ हुई। कहा जाने लगा कि इन उपन्यासोंमें एक कृत्रिम पूर्णता है, जिसमें पात्रोंके भाग्यका निर्णय स्वाभाविक रूपमें नहीं। परन्तु लेखकके पूर्वाग्रहके अनुसार हुआ है। जीवन तो आकस्मिक तथा असम्बद्ध घटनाओंका मेला है। यहाँ कहीं आदि, मध्य, अवसान नहीं। विधाताने कभी अपनी सृष्टि-को समाप्त-स्पर्श नहीं दिया है। सब कुछ प्रवाहमय है, हो रहा है। सब कुछ शतु-प्रत्ययान्त है, निष्ठा-प्रत्ययान्त नहीं। इसी प्रवाहमयताकी अभिन्यक्ति उपन्यास-कलाका ध्येय हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक बाह्य जगत्की कार्यकारणताको हटाकर आन्तरिक विचारजगत्की अनुक्रमताकी प्रतिष्ठा हुई और चेतना-प्रवाहवादी उपन्यास-का जन्म हुआ, जो एक तरहके दिवास्वप्नमग्न मस्तिष्को-त्यन्न साहसिक उपन्यासोंका ही रूप है।

चेतना प्रवाह मनोविज्ञानका शब्द है, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्सने करते हुए कहा था, "चेतना छोटे-मोटे टुकड़ों में विभक्त होकर उपस्थित नहीं होती, वह प्रवाहमयी होती है"। मिस सिन्कलेयरने मिस डोरोथी रिचार्ड्सनके उपन्यासकी आलोचना करते हुए १९१५ में इस शब्दका प्रयोग किया था। तभीसे आलोचनाके क्षेत्रमें भी इसका धड़ल्लेसे प्रयोग होने लगा है। इस पद्धतिका प्रयोग जेम्स ज्वायसके 'दुलिसिस' नामक उपन्यास तथा वरिजनिया बुल्फके द्वारा हुआ है।

हिन्दी में प्रभाकर माचवेका 'परन्तु' इसका उत्कृष्ट उदा-हरण है। पर 'अज्ञेय', जैनेन्द्र तथा भगवतीप्रसाद बाजपेयो-के ('चलते-चलते') उपन्यासोंमें भी इस पद्धतिका प्रयोग मिलता है। इसमें खगतोक्तियोंकी भरमार रहती है और चेतनाके उस स्तरके भावोंकी अभिन्यक्ति की जाती है, जो अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाये हैं। अतः यहाँकी भाषा व्याकरणके नियमोंकी पाबन्दीसे मुक्त है। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण जेम्स ज्वायसके 'युलिसिस'के अन्तिम ५० पृष्ठ हैं, जिनमें कहीं-कहीं विरामचिह्न नहीं, भाषाकी बोधगम्यताकी कोई परवाह नहीं, भाषा तात्कालिक भावोन्मादके दबावके कारण गढ ली गयी है। नाटकोंकी स्वगतोक्तियाँ सविकल्पक एवं शाब्दिक भावोंकी अभिव्यक्ति करती है और वे श्रोताकी अवस्थिति मानकर ही अपने स्वरूपका निर्माण करती हैं। परन्तु प्रवाहवादी नाहित्यकी स्वगतोक्तियाँ चेतनाके उस स्तरके भावोंको अभिव्यक्त करती हैं, जहाँ उन्होंने अभी शाब्दिक रूप धारण नहीं कर पाया है। साथ ही वे किसी श्रोताके सुननेके लिए नहीं लिखी जाती है। अतः दोनों दो प्रकारकी चीजें हैं। एकको स्वगतीक्ति ही कहकर रुक जाते हैं, पर दूसरेकी आन्त-स्वगतोक्ति कहकर पार्थक्य प्रकट किया जाता —दे० उ०

उपन्यास, मनोवैज्ञानिक—उपन्यासमें पात्रोंके क्रियाव्यापार तथा घटनाओंका वर्णन रहता है। प्राचीन कालके कथाकार इस बातकी ओर अधिक ध्यान देते थे कि पात्र क्या करते हैं, सागरको बाँधते हैं या हिमिगिरिको हिला देते हैं या आकाश-पातालके कुलावे एक कर देते हैं। पर जब इन बाह्य बातोंसे हटकर लेखकका ध्यान इस बातकी ओर केन्द्रित होने लगता है कि पात्रोंकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं, कैसे सोचते हैं, उनके क्रिया-कलापकी मूल प्रेरणा क्या है तो मनोवैश्वानिक उपन्यासका स्वरूप सामने आने लगता है। मनुष्य दो स्तरोंपर जीता है, स्थूल और सूक्ष्म—क्रिया और विचार। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि मनुष्यके दो रूप होते हैं—क्रियारत मानव (मैन इन पेक्शन) और विचार-रत मानव (मैन इन कण्टेम्प्लेशन), कह सकते हैं कि उपन्यासका क्रिया रत-मानव धीरे-धीरे विचार-रत होता गया है, साथ ही उसे

मनोवैज्ञानिक रूप देता गया है।

इस आन्तरिक अभियानमे उपन्यास-कलाको चार यगोंको पार करना पडता है। औपाख्यानिक (एपिसोडिक नॉवेल), कथानक-संघटित (प्लॉट नॉवेल), आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव नॉवेल) और मनोवैज्ञानिक (साइकोलॉजिकल नॉवेल) । प्रथम युगमे डील-डौलवाली बाह्य क्रिया-कलापकी प्रधानता थी। १८वी शताब्दीके डीफो, स्मालेट इत्यादिके उपन्यास इसी श्रेणीमें आते है। उनमें पात्रोंके कारनामो (किं क्रतं)का वर्णन रहता था। हिन्दीमे प्रेमचन्दके आग-मनके पूर्वतक यही अवस्था रही। दूसरे युगमें 'कि'से ध्यान हटकर 'कथ', केन कारेणन'की चर्चा प्रारम्भ हुई, अर्थात आन्तरिक मूल प्रेरणाकी प्रधानता होने लगी। क्रिया-कलाप विविध विचार-धाराओंके संवर्षके परिणामशेष (रिजल्टेण्ट)-के रूपमें दिखलाये जाने लगे। मनुष्यके अन्तर्जगतमें तरह-तरहके विचारोंका उत्कर्ष, अपकर्ष, संघर्ष-विसंघर्ष, कशमकश, रस्साकशी चलती रहती है और बाहरी क्रियाएँ इन्हीके स्थल रूप है। पहले बाहरी किया ही थी, आन्त-रिक प्रेरणा नहीं। अब आन्तरिक प्रेरणाके युगमे क्रियाएँ गौण हो गयी। विचार-संघर्षका महत्त्व बढ़ गया। तृतीय युगमें उपन्यास-कला बाहरी क्रियाओंकी रही-सही धूलको झाडकर अन्तर्जगत्मे जा बैठी और द्युद्ध आत्मनिष्ठ मनोबैज्ञानिक उपन्यासोंके दर्शन हुए। अंग्रेजीमें मेरिडिथ और हेनरी जेम्ससे यह युग प्रारम्म हुआ और हिन्दीमें जैनेन्द्र और 'अज्ञेय'से । हिन्दीमें शायद यह यग आज भी चल रहा है।

परन्तु यूरोपीय उपन्यासोमें मनोविज्ञानके समावेशको दृष्टिसे चौथा युग भी चल रहा है। हेनरी जेम्स या मेरि-डिथने जीवनकी कितनी ही गहराईमें प्रवेश क्यों न किया हो, पर वहाँ चेतन विवेकका स्पर्श आता ही था। चित्रण करते समय आन्तरिक विचार-प्रवाहको चेतना-स्तरपर ही लाकर देखा जाता था, अर्थात् आन्तरिकताको उसी विन्दुपर पकड़ा जाता था, जहाँ वह शब्दोका रूप धारण किये हुए होती है। उपन्यास-कलामें गहराईके उस स्तरपर जानेका सहारा नहीं था, जहाँ उसका रूप निविंकल्प होता था, जहाँ आन्तरिकता शब्दोंके ढॉचेमें ढलकर जमी हुई नहीं होती थी। आज उपन्यास-कला वहीं कर रही है। जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया बुल्फ इस तरहके मनोवैज्ञानिक उपन्यासोंके प्रणेता है। हिन्दोंमें कुछ-कुछ 'अज्ञेय'में और प्रभाकर माचवेके 'परन्तु'में इस कलाके दर्शन होते है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासमे तीन पद्धतियाँ विशेष रूपसे पायी जाती है—१. पूर्वदीप्ति । इसमे घटनाओं के क्रमकी सीधी रेखा न खींचकर कथाकार उन्हें पात्रकी स्मृति-तरंगो- के रूपमे उपस्थित करता है । नरोत्तम नागरका 'दिनके तारे' तथा 'अन्नेय'का 'शेखर—एक जीवनी' या उदयशंकर मट्टका 'वह जो मैने देखा' इसके अच्छे उदाहरण हैं । २. चेतना-प्रवाह-पद्धति और ३. कथाके क्रमिक विकासकी अबहेलना । इसमें कथा साफ-सुथरे दक्षसे नही चलती, वह कभी भी कहीं, किसी ओर सुड सकती हैं । 'नदीके द्वीप', 'शेखर—एक जीवनी', 'परन्तु'में यह बात देखी जा सकती हैं ।

मनो शैज्ञानिक उपन्यासमें अनुभूतिकी आत्मनिष्ठ अभिव्यक्तिपर जोर दिया जाता है। कुछ विषय मनोवैज्ञानिक होते है, उदाहरणार्थ, एक प्रेमीकी दो प्रेमिकाएँ, दो प्रेमिकाओंका एक प्रेमी, समाजके निन्दित व्यक्तिका चित्रण, बालकोंका, विशेषतः ज्येष्ठः, कानिष्ठ और एकलौते बालकोके क्रिया-कलापका वर्णन, अकर्मण्य, आत्मलीन तथा कल्पना-जगतमें निवास करनेवाले प्राणी। ये सब विषय ही ऐसे है कि जिनके आधारपर रचित उपन्यासमे मनोवैज्ञानिकता आ ही जायगी। बहत-से ऐसे उपन्यास होते है, जिनका विषय तो मनोगैज्ञानिक है, परन्तु जिस पद्धतिसे उनका स्वरूप खडा किया गया है, वह मनोवैज्ञानिक नही है। इलाचन्द्र जोशीके उपन्यास इसके उदाहरण है। परन्त मनो बानिक उपन्यासोंमे ये बातें देखनेको प्रायः मिल जायंगी-- १. सुसंघटित कथावस्तुका अभाव, २. लम्बी-चौड़ी, दीर्घकालीन कथाका अभाव। 'नदीके द्वीप'में डेट बरसकी क्या है, पहाड़ीके 'सराय' और 'निर्देशक'मे क्रमशः एक और तीन महीनोकी कथाएँ हैं, ३ पात्रोकी संख्यामें कमी, ४. वार्तालापकी अधिकता, ५. वर्णनात्मकतासे अधिक नाटकीयताकी प्रगति और ६. पाठककी प्रतिक्रिया, जो अन्य उपन्यासोंके पाठकसे भिन्न होती है। साधारण उपन्यासोंका पाठक उपन्यासकारके मुखकी ओर देखेगा, परन्तु मनोवैज्ञा-निक उपन्यासके पाठककी दृष्टि उपन्यासके पात्रोकी तरफ होगी।

**उपन्यास, रोमांस** – रोमान्स शब्द 'रोमन'से निकला है, जिसका अर्थ है असाधारण । अर्थात् रोमान्स (उपन्यास)में जो पात्र होंगे वे, ऐसे तो न होगे, जो इस पार्थिव जगत्में पाये ही न जा सकें, पर वे लाखों मे एक होगे और उनका दर्शन विरल होगा। रोमान्स (उपन्यास)में कथा कान्यके उपकरणोंके सहारे अपने स्वरूपको प्रकट करती है। काव्य-के क्षेत्रमें जब कथा साम्रह प्रवेश कर, वहाँके तत्त्वोंको अनु-रूप बनाकर उन्हें अपनी सेवामे नियोजित करती है तो रोमान्स (उपन्यास)की नीव पड़ने लगती है। उसमें कथा थोडी-बहुत जटिल हो जाती है। पात्रोंकी अधिकता रहती है। अनेक कथाएँ आकर जुड़ने लगती हैं, पर कवित्वपूर्ण और भावपूर्ण वातावरण भी बना रहता है। वीरोंकी अलंकृत साज-सज्जाकी, रणक्षेत्र-प्रयाणकी तथा युद्धकी झंकारकी विस्तृत विवृति पाठककी कल्पनाको तुप्त करती रहती है। रोमान्स उपन्यासोंकी वर्ण्य वस्तु बहुत ही सीमित होती है। पात्र न्यक्ति नहीं, 'टाइप' (प्रकार) होते है। नायक उच्च वंशोत्पन्न राजा अथवा धर्मात्मा होता है तथा नायिका सुन्दरताकी देवी-देखनेवालोंके हृदयमें शौर्यभावको जागरित करनेवाली। पात्र किसी महत्त्वपूर्ण वस्तुकी खोजमे रहते हैं, वीरवती होते है, विपन्नो, विशेषतः नारियोका उडार करना तथा प्रेमकी कठिन परीक्षामे अपने प्रतिद्वनिद्वयोको मात देना उनका व्रत होता है। क्रीड़ा, समारोह, रणप्रयास, इमञान-यात्राके दृश्य, धार्मिक युद्ध इत्यादिका वर्णन होता है। इन सबके बीच एक सुन्दरी कन्याकी प्रतिष्ठा होती है। यही रोमान्सके उपकरण है। हिन्दीमें विशुद्ध रोमान्स (उपन्यास) नही हैं। चण्डीप्रसाद हृदयेशका नाम किसी तरह रोमान्सिक कथाकारके रूपमें लिया जा सकता है।

खर्त्राजी तथा गोधामीजीके अनिरिक्त भगवतीचरण वर्मा-की 'चित्रलेखा'में भी कुछ रोमान्सिक तत्त्व पाये जाते है। प्रेमचन्द्रकी कहानी 'कामनातर' रोमान्सिक कथाका अच्छा उदाहरण है (दे॰ 'उपन्यास')। उपन्यास, सामाजिक-वास्तवमें वर्ण्य वस्तुकी दृष्टिसे उपन्यासोके दो ही विभाग हो सकते है— ऐतिहासिक और सामाजिक । धार्मिक तथा राजनीतिक दूसरेकी ही परिधिमें आ जाते हैं, क्योंकि धर्म और राजनीति भी सामाजिक जीवनके किसी विशिष्ट पहलूपर ही प्रकाश टालती है। प्रत्येक युगके समाजके जीवनको परिचालित करनेवाली कुछ समस्याएँ होती है, जिनसे उसे जुझना पडता है। चूंकि उपन्यास आया ही है जीवनका प्रतिनिधित्व करनेकी प्रतिज्ञा लेकर, अतः उसमें सामाजिकताका रंग गादा हो जाना स्वाभाविक है। हर देशके कथा साहित्यमें सामाजिक उपन्यासोंकी ही संख्या अधिक है। भारतेन्द्रका लिखा हुआ उपन्यास 'चन्द्रप्रभा' भले हो मौलिक न हो, पर सामाजिक अवस्य है। उसमें वृद्ध-विवाहकी समस्या छेड़ी गयी है। आगेके भी जितने उपन्यासकार हैं, उनमें भी समाजकी अवस्थाका ही चित्रण अधिक है, यहाँ तक कि प्रेमचन्द्र, कौशिक, 'निराला', गोविन्दवलभ पन्त, भगवतीप्रसाद वाज-पेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव इत्यादिके उपन्यास भी सामाजिक ही है। कम-से-कम उनमें कोई ऐसी विशेषता अधिक विकसित नहीं हो सकी है कि वेथड़क कोई दूसरा नाम दे दिया जाय।

परन्तु यह भी बात सही है कि उपन्यास व्यक्तिमूलक साहित्य है, अर्थात् उसमें लेखक समाजकी हाँ-में-हाँ मिलाने-वाला निष्क्रिय पदार्थ नहीं होता, उसका अपना व्यक्तित्व होता है और वह अपने विशिष्ट दृष्टिकीणसे सामाजिक समस्याओंपर विचार करता है। अतः सब-कुछ होते हुए भी समाजका यथातथ्य चित्रण उपन्यासमें नहीं आ सकता। सामाजिक व्यक्ति जीवनसे अधिक जीते रहते हैं, अतः औपन्यासिक जीवन जीवनसे कुछ अधिक होगा या कम-अधिक इस अर्थमें कि उसमें लेखकके मतमे जो समस्याएँ महत्त्वपूर्ण हैं, उनके सम्बन्धमें लम्बे-लम्बे वाद-विवाद आ जायँगे तथा अनेक अवान्तर प्रसंगोंका भी समावेश हो सकता है; कम इस अर्थमें कि जिनसे कथाकी प्रगतिमें कुछ भी योग न मिलता हो तथा जिनसे जीवनसे भी अधिक जीनेवाले पात्रों या घटनाओंकी यथातथ्यता नहीं आ सकी हो और जिन बातोंसे लेखकका तात्कालिक सम्बन्ध न हो, उन्हें छोड़ा जा सकता है। 'गोदान' सामाजिक उपन्यासका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें अनेक तरहकी समस्याएँ छेडी गयी हैं। इसमें खियोंके समानाधिकार, स्त्री-शिक्षा, मुक्त प्रेम सम्बन्धी कितने हीं विवाद आ गये हैं। नागरिक या प्रामीण जीवनका जो चित्र खींचा गया है, वह भी लेखककी भावनाओं में रंगे रहनेके कारण कुछ 'अधिक' या 'कम' हो गया है।

आजके हिन्दी उपन्यासमें सब तरहकी समस्थाएँ मिल जायँगी। मेहनतकश मजदूरों, गरीब किसानों और पूँजी-पतियों, जमींदारों तथा मिल-मालिकोंके संघर्षको लेकर इधर अनेक उपन्यास लिखे गये है। विधवा-विवाह, बुद्ध-

विवाह, अनमेल विवाह, स्त्रियोंकी दुईशा, अछतोद्धार, तलाक, पनि-पत्नीका पाररपरिक सम्बन्ध इत्यादि सब प्रश्नों-को उपन्यासमें स्थान मिला है। इधर विवाह-प्रथामें अनास्थाके भाव जागरित हुए हैं और इस समस्याको लेकर भी उपन्यास लिखे गये हैं (दे०—'उपन्यास')—दे० उ० उपन्यासः, साहसिक-रोमान्सिक उपन्यासका थोडा-सा सुधरा हुआ रूप साहसिक उपन्यास कहा जा सकता है। रोमान्सिक उपन्यास वर्णनप्रधान होते है। ये ऐसे हा विषयोंको तथा प्रणालीको लेकर चलते हैं, जिनमे काञ्यपर्ण वर्णना तथा अनेक लघु कथाओंकी संगति बैठायी जा सके। नीलम देशकी राजकन्या तथा किसी राक्ष्सके पंजेमें बन्दिनी निरीह कन्याका उद्धार रोमान्सके लिए प्रिय क्यों है? इसीलिए कि उद्धारकर्ताके यात्रापथमें पड़े साहसिक कार्योंको दिखलानेका उसमें अधिक अवसर मिल जाता है। इन्हीं रोमान्सिक उपन्यासोंका थोडा परिवर्तित रूप संघटित **उपाख्यानात्मक उपन्यास है।** सात समुद्रपर बसनेवाली परीकी खोजमें निकलनेवाले वीर नायक और 'दङ्कमार-चरित'के राजकुमारों तथा खत्रीजीके 'वीरेन्द्रसिह'मे जो अपनी प्रेयसीकी रक्षा तथा उद्धारके लिए प्राणींकी बाजी लगा देते हैं, थोड़ा-बहुत अन्तर भले ही हो, पर हैं वे एक ही जातिकी चीजें। इन उपन्यासोंमें भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र-जैसी कथाओंका जमघट होता है। यदि उन्हें पृथक् रूपमें भी देखा जाय तो भी कोई विशेष हानि नहीं है। ये घटनाएँ एक प्रधान नायकके जीवनमें ही घटती है, अतः इसी सूत्रके सहारे उपन्यासमें आकर बॅधी-सी द्यात होती हैं। अनेक उपन्यासोंमें ऐसा पाया जाता है। 'रंगभूमि', 'गोदान'की कथाएँ समानान्तर चलती रहती हैं, केवल कभी-कभी एक-दूसरेको छूभर देती हैं। यह प्रवृत्ति साहसिक उपन्यासोंके नायकके सूत्रसे आबद्ध भिन्न कथाओंके भग्नावशेष-रूप-में हैं। ---दे० उ०

उपपति-दे॰ 'नायक' (शृंगार)।

उपमा – शब्दार्थ है साद्दय, समानता तथा तुल्यता आदि। अलंकारके सौन्दर्यका मूल साइश्यमें है और यही कारण है कि साद्यमूलक अलंकार ही प्रधान हैं। उपमा इन समस्त साद्यमूलक अलंकारोंका भी प्राण है, क्योंकि स्वतः साद्य है। उपमाकी श्रेष्ठता और महत्त्वके सम्बन्धमें प्रारम्भसे अन्ततक आचार्य सहमत रहे हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी आचार्योंने अथीलंकारोंमें उपमाको सर्वप्रथम स्वीकार किया है। राजशेखरके अनुसार "अलंकारशिरोरलं सर्वस्वं कान्यसम्पदाम् । उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम" (अलं ) शें अद्भृत, पृ० ३२), अर्थात् उपमा सम्पूर्ण अलंकारोंमें शिरोभूषणके समान काव्यकी सम्पत्ति है और कविवंशकी माताके समान है। इसी प्रकार रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में अनेक प्रकारके वैचित्र्यके आधारपर उपमाको सम्पूर्ण अलंकारोंका बीजरूप माना है-"उपमैवानेकप्रकारवैचिब्येणानेकालंकारबीजभूतेति निर्दिष्टा" (पृ० २६) । अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमांसा'में उपमाकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन सुन्दर उक्तिसे किया है-"काव्यकी रंगभूमिपर अनेक भूमिका भेदोंसे विविध रूपोंमें, उपमा-नटी सभी काव्यरसिकोंका मनोरंजन करती है"। हिन्दीमें केशवकी 'कविप्रिया'को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख अलंकारग्रन्थोंमें उपमाको प्रथम स्थान मिला है।

उपमा शब्द तथा उसके साहरय अर्थका इतिहास बहत पुराना है, अलंकारशास्त्रकी प्रतिष्ठाके बहुत पहलेसे प्रयक्त. ऋग्वेदमें उपमा शब्दका प्रयोग मिलता है। प्रारम्भमे उपमा शब्दका प्रयोग व्याकरणके अन्तर्गत हुआ है। यास्कने 'निरुक्त'में उपमाको 'सादृश्य' माना है और उसका कर्म गुणवान् अथवा प्रसिद्धसे गुणन्यून तथा अप्रसिद्धकी समता। यह तुलना न्यूनगुणसे गुणवानकी भी की जा सकती है। भरतके पूर्वके वैयाकरणोंने साद्यके आधारणर उपमाका जो विवेचन और विस्तार किया है, उसे बादके आलंकारिकोंने उनके अनलंकृत ६ष्टिकोणका प्रत्याख्यान करते हुए भी स्वीकार किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कलाकी दृष्टि अपने सौन्दर्यबोधके लिए सादृश्यका आश्रय ग्रहण करती है। भारतीय सौन्दर्यका मलाधार साहदय रहा है और यह उपमा उसीका पर्याय है। इस कारण अलंकारशास्त्र प्रारम्भमे सौन्दर्यशास्त्रका (कान्यशास्त्रके रूपमें) पर्याय रहा हो तो कोई आश्चर्य नही (कुमारस्वामी: ट्रान्सफरमेशन ऑव नेचर)। भरतसे लेकर आधुनिक कालतक अलंकारोके विवेचनके साथ उपमाका इतिहास जुड़ा हुआ है और वास्तवमें सम्पर्ण अलंकारोंके विकासमे आलंकारिकोका उपमा सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। अलंकारोका विवेचन जिस सीमा-तक उन्नत तथा सन्दर काव्यके आधारपर चला है, उसमे साद्दरयमुलक अलंकारोकी स्वीकृति अधिक रही है और जब उसमें कारण-कार्यकी शृंखला, लोकन्याय तथा आधार-आधेयकी वैचित्रय-प्रधान कल्पनाओको स्थान मिलता गया. तब समझना चाहिए कि आचार्योंकी दृष्टिसे सौन्दर्यकी भावना हटती गयी है और उनकी विवेचनाके आधारमे उत्क्रष्ट काव्य नहीं रहा है।

काव्यशास्त्रके अन्तर्गत सर्वप्रथम भरतने उपमाकी व्याख्या की है-"यत्रकिंचित्काव्यबन्धेषु साद्द्येनोपमीयते। उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया" (नाट्य॰, १७: ४४), अर्थात् काव्यवन्धोमे साद्दयके आधारपर गुण-आकृति-के आश्रयसे जो तुलना की जाती है, वह उपमा कहलाती है। भरतके अनुसार यह ४ प्रकारसे दी जाती है-एककी एकसे, एककी अनेकसे, अनेककी एकसे और अनेककी अनेक-से (वही, ४५,४९) और ५ प्रकारकी होती है :-प्रशंसा, निन्दा, कलिपता, सदृशी और किंचित सदृशी (वही, ५०, ५५) । भामहने उपमाकी परिभाषामे उपमान और उपमेय-का देश, काल, क्रिया आदिके आधारपर गुणलेशसे साम्य माना है (काव्यालंकार, २:३०)। वामनने सूत्रमे इसी भावको ग्रहण किया है-- "उपमानेनोपमेयस्य 'गुणलेशतः साम्यमपमा' (का० सू०वृ०:४:२:१)। मम्मटने भामहके 'विरुद्ध' शब्दसे प्रेरणा ग्रहण कर ''भेद होनेपर भी समान धर्मसे सम्बद्ध होना उपमा कहा है" (साधर्म्यमुपमा भेदे--का० प्र०, ८:८७)। मम्मटने 'साद्यय'के स्थान-पर 'साधर्म्यं'का प्रयोग किया है। वस्तुतः 'साधर्म्यं'मे आचार्यका ध्यान उपमान तथा उपमेयके सार्घारण धर्मकी ओर है और 'साह्रय' उनका काव्यात्मक विशेष गण है।

जयदेवकी परिभाषा अधिक व्यंजक है "उपमा यत्र साइइय-लक्ष्मीरुष्टसति द्वयोः" (चन्द्रालोकः ५: ११), अर्थात् दोनों उपमान-उपमेयमें जहाँ चमत्कृत सौन्दर्यमुलक साहर्य कहा जाता है। हिन्दीमें आचार्यों ने उपमाकी सामान्य परिभाषा दी है। केशवके अनुसार "रूप शील गुन होहि सम, जौ क्यों हूँ अनुसार" (कवि०, १४:१)। मतिराम और भषणके लक्षणपर बादके आचार्योका प्रभाव है—"जहाँ बरनिये दहनिकी सम छिबको उल्लास" (ल० ल०, ४०); 'जहाँ दहनको देखिये, शोभा बनत समान" (शि॰ भृ॰, ३२)। इनपर 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'की छाया स्पष्ट परि-लक्षित होती है। कलपतिके 'रसरहस्य'में उपमाका लक्षण अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है "शब्द अर्थ समता कहै, दोउनकी जेहि ठौर। नहिं कलपित उपमान जहें, सो उपमा सिरमौर।" यहाँ शब्द-अर्थ कहकर अलंकारको ध्वनिसे अलग किया है और अक्रलिपत उपमान कहकर इसे उत्प्रेक्षासे अलग किया गया है। अनेक आचार्योंने मम्मट तथा विश्वनाथका आधार ग्रहण किया है—"उपमेय हु उपमानको इक सम धरम जुन्होइ" (पद्मा०, ७)।

 पणीपमा—उपमाके प्रमख दो भेदोमें प्रथम। वामनके अनुसार "गुणद्योतकोपमानीपमेयशब्दानां सामग्रये पूर्णां (का० सू० वृ०, ४:२:५), अर्थात् गुण द्योतक (वाचक) शब्द, उपमान और उपमेयके समग्र रूपसे उप-स्थित होनेपर पूर्णीपमा होती है। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने इसी बातको यो रखा है---"पणीं-पमामे उपमान, उपमेय, साधारण (सामान्य) धर्म और वाचक शब्द स्पष्टतया निर्दिष्ट होते हैं।" (का॰ प्र॰, १०: ८७ वृ०; सा० द०, १०: १५) । पूर्णोपमाका लगभग इसी प्रकारका लक्षण हिन्दीके सभी आचार्यीने दिया है—"वाचक अरु उपमेय जहॅं साधारन उपमान" (रु० ल०, ४३)। मतिरामका लक्षण स्पष्ट नही है। पद्माकरके लक्षणमे अधिक स्पष्टता है—"उपमानरु वाचक धरम, उपमेय हु जो कोइ। ये चारह परसिद्ध जहॅ, परन उपमा सोइ" (पद्मा०, ८)। भूषण तथा दास आदि कतिपय आचार्योंने सामान्य उपमाको पूर्णा उपमा ही मानकर उसका रुक्षण अलग नहीं दिया है। उदा०—"दाबदार निरखि रिसानो दहि दलराय, जैसे गड़दार अड़दार गज-राजको " (शि॰ भू॰, ३४)।- "सुमग सुधाधर तुल्य मख, मधर स्थासे बैन" (पद्मा०, ९)। "तापस बाला-सी गंगा कल शशि मखसे दीपित मृद करतल, लहरे उरपर कोमल कुन्तल" (सु॰ नं॰ पन्त : नौकाविहार)।

२. श्रौती-पूर्णोपमाके दो भेदोंमेंसे एक । मम्मय्के अनुसार—"जहाँ उपमानोपमेयभाव 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोके श्रुतिमात्रसे प्रतीत हो जाय, श्रौती उपमा कही जाती हैं" (का० प्र०: १०, ८७ वृ०) । विश्वनाथने ऐसे ही 'यथा', 'इव' आदि शब्दोंका प्रयोग इस उपमामें माना है, क्योंकि इनसे सुनते ही साहश्यका बोध हो जाता है (सा० द०, १०: १६) । हिन्दोंके आचार्योमें जसवन्त सिंह, भूषण आदिने इस विभाजनको छोड़ दिया है। कुलगतिने मम्मय्कें आधारपर इनको स्वीकार किया है। दासने दो भेदोंका उल्लेख किया है, पर लक्षण नहीं दिये।

भगाकर ते अनुमार "सी श्रीनी सन्दिह सुनत, जहूँ, बाचक-की ज्ञान" (पद्मा०, २०)। लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। वरनुतः इव, यथा, सी, से, सौ, लौ, जिमि आदि बाचक ज्ञन्दोंके प्रयोग जहाँ साइश्यको प्रत्यक्ष कर देते है, वहाँ यह उपमा मानी जाती है। उदा०—"चन्द्रमुखी न हले न चले निरवात निवासमें दीपसिखा-सी" (मितराम)। "ऐसा न हो कि में फिरू खोजता तुमको, है मधुप हूँ उता यथा मनोज्ञ सुमनको" (साकेत)। इनमें 'सी' और 'यथा' इसी प्रकारके वाचक है।

३. आर्थी-पूर्णोपमाका दूसरा भेद । मम्मटके अनुसार उपमामें 'तल्य' आदि शब्दोंके प्रयोगसे साधर्म्यकी प्रतीति आक्षेपगम्य (शब्दलभ्य या साक्षात् नहीं) होनेपर आर्थी उपमा होती है (का॰ प्र॰, १०:८७ वृ)। इन्हीके अनु-सरणपर विश्वनाथने भी माना है कि 'तुल्य', 'समान' आदिक तुल्याथी वाचक शब्दोके प्रयोगसे आधी उपमा होती है (सा० द०, १०: १६)। हिन्दीके आचार्योंने इतकी स्पष्ट विवेचना नहीं की है- 'अर्थ निरूप आरथी' (पद्मा०, २०)। वस्तुतः तुल्य, समान, सदश, तृल, सम, सरिस आदि शब्दोंके प्रयोगसे जहां साह्यकी स्थापना की जाती है, वहां आर्थी उपमा मानी जायगी। इन शब्दों-का सम्बन्ध उपमान और उपमेय दोनोंके साथ रहता है। ऐसी स्थितिमें 'चन्द्र इव मुख'मे जिस प्रकार साक्षात साहदय या साधर्म्य कथन है, वैसा 'चन्द्रतुल्य मुख'में नहीं है। 'इव' आदि वाचक जिन शब्दोंके बाद प्रयुक्त होते हैं, उनको उपमान समझ लिया जाता है, पर 'तुल्य' आदि जिस शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं, उसका उपमान होना आव-इयक नहीं होता। उदा०- 'विजय करन दारिद दमन दरन सकल दुख दंद। गिरजा पद मृदु कंज सम बन्दत हों सुख कंद" (पोदार: अ० मं०, ५९)। इन दोनोंका प्रयोग छप्तोपमाके अन्तर्गत हो सकता है—"कुंद इंद सम देह उमा रमन करुना अयन" (रा० च० मा०, १:३) इसमें धर्म-लप्त है (सन्दर)।

 लुप्तोपमा—उपमाके प्रचलित प्रथम भेदोंमेंसे एक। वामनने कहा है 'लोपे लुप्ता" (का॰ सू॰ वृ॰, ४: २:६), अर्थात गुणादिके लोप होनेपर लुप्तोपमा होती है। मम्मद तथा विश्वनाथने पूर्णीपमा और लुप्तोपमाका भेद-विस्तार किया है और इसका लक्षण यही स्वीकृत रहा "लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः" (सा० द०, १०: १७), अर्थात् उपमान-उपमेय आदिक चारोंमेंसे एक, दो, तीनका लोप होता है तो लुप्ता कहते हैं। विश्वनाथने इसे भी श्रौती तथा आधींमें विभाजित किया है। पर मम्मटके समान ही इन्होंने वाक्यगा और समासगा श्रीता, वाक्यगा, समासगा और तिद्धतगा आर्थीमें पूर्णोपमाके भेदोंको स्वीकार किया है, केवल तद्धितगा श्रौतीकी सम्भावना नहीं मानी है। हिन्दीमें इन उपभेदोंका प्रचलन नहीं है। एक तो ये हिन्दीकी प्रवृत्तिके अनुकूल नहीं है और दूसरे जिन संस्कृत के नवीन आलंकारिकोंका हिन्दीके आचार्योंने अनुसरण किया है, उन्होंने इस प्रकारके भेदोंका विस्तार प्रायः नहीं दिया है। उन्होंने केवल उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचकके लोपके आधारपर भेदविस्तार किया है। जसवन्त मिहने 'भाषाभूषण'मे लुप्तोपमाका विन्तार मम्नट तथा विश्वनाथके अनुसार त्रिलुप्तातक स्वीकार किया है, यद्यपि यह भेद हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं पडता। मतिरामके लक्षण हैं—"होत एक है तीन कों, इन चारिह में लोप" (ल० ल०, ४६)। भूषणने पूर्णोपमाकी परि-भाषा देकर कह दिया है 'लुप्त घटते लो माने' (शि० भ०: ३६)। कलपति त्रिलप्तातक भेद मानते है। हिन्दीमे यह विस्तार इस सीमातक बढ़ाया गया कि चारोंके लोपका भेद भी माना गया है "इक दै तीनरु चारको, जहाँ लोप पहि-चान। यो स पंचदस भेद जुत, लुप्तोपमा प्रमान" (पद्मा॰, १०)। इस प्रकार पद्माकरने १५ प्रकारकी लुप्तोप-माएँ बतायी और उनके उदाहरण भी दिये हैं। धर्मछुप्ता-जिसमें धर्मकथन न किया जाय 'कंद इंदु सम देह उमा-रमन करुना अयन" (रा० च० मा०, १:४)। इसमें शिवकी देह उपमेय, कुंद इंदु उपमान और 'सम' आर्थी उपमावाचक शब्द । यहाँ 'गौर' वर्ण आदि धर्मका लोप है। उपमान लुप्ता-उपमानका कथन न किया जाना 'गज सम गमन समन्द' (पद्मा०, १२)। यहाँ गज उपमेय है (अन्य उपनेयकी अनुपस्थितिमें), सम आथीं उपमावाचक तथा गमन धर्म। वस्तुतः यह श्रौती उपमाका भेद नहीं हो सकता, क्योंकि इव आदिके प्रयोगसे शब्द उपमान साक्षात हो जाता है। वाचकलप्ता-जिसमें वाचक शब्दों-का कथन न हो-"नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन" (रा० च० मा०, १:३)। यहाँ वाचक शब्दका कथन नहीं है, नयन उपमेय, सरोरुह और वारिज उपमान तथा नील और अरुन धर्म । उपमेथ लुप्ता--जिसमें उपमेय-रूप प्रस्तुतका कथन न किया जाय-'अति उत्तम ज्यों चन्द' (पद्मा॰, १२), अथवा 'पड़ी थी बिजली-सी विकराल' (साकेत)। इन दोनों उदाहरणोंमें 'मुख' तथा 'कैकेयी' उपमेयोका संकेत किया है, उल्लेख नहीं। संकेत आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना उपमा ही सम्भव नहीं होगी।

वाचकधर्म छुप्ता—जिसमें वाचक शब्दों के साथ साधारण धर्मका भी कथन न हो—''सुनि कुल वधू झरोखिन झॉकति रामचन्द्र छिव चन्द्र वदिनयां" (गीता०)—तथा ''दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखाओं" (प्रियप्रवास)! इनमें वाचक तथा धर्मका कथन नहीं किया गया है, साथ ही उपमेयके धर्मकी प्रधानता होने के कारण यहाँ रूपक नहीं माना जायगा, 'झाँकित' और 'दिखाओं' आदि धर्म वदन और मुखकी प्रधानता सिद्ध करते हैं। धर्मोपमानछुप्ता—जिसमें धर्मके साथ उपमानका उल्लेख भी न हो—'गज-सी गित अवरेखु' (पद्मा०, १५) तथा—''तदिष कहूँ कोई नहीं का॰यानन्द समान'' (काव्यदर्पण)! इनमें उपमेय तथा वाचक शब्द 'गजगित', 'काव्यानन्द' और 'सी' 'समान' है; पर मन्द्र, सुख धर्म और कामिनीकी गित, सुख साधन उपमान नही है। यह भेद भी श्रौतीमें ही सम्भव है, क्योंकि इव आदिसे प्रस्तुत उपमेय उपमान हो जायगे!

वाचकोपमेयलुप्ता—जिसमें वाचक और उपमेयका कथन न हो—'चपल चंचला देखु' (पद्मा०, १५) अथवा— "छिव सो रति आचरति है चिल अवलोकहु लाल" (रस-मंजरी)। इनमें चंचला, रति उपमान तथा चपल, छिव

समान धर्म हैं, पर उपमान और वाचक शब्द नहीं है। वाचकोपमान लुप्ता-जिसमे वाचक शब्द तथा उपमानका कथन न हो-"दाडिम दसन सु सित अरुन है मृग नयन बिसाल" (रसमंजरी)। इसमें दसन नयन उपमेय तथा सित अरुन, विसाल साधारण धर्म है, वाचक शब्दोंके साथ दाड़िमके दाने, मृग-नेत्र आदि उपमान है। धर्मोपमान-वाचक लुप्ता-जिसमें इन तीनोंका कथन न हो-"वृषभ कंध केहरि ठवन" (रा० च० मा०)। या-"खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि' (सु० नं० पं०)। इनमें वृषभ, केहरि तथा मृग उपमेय नहीं है, क्योंकि इनकी ऑखी, ठवनि तथा कन्धोंसे उपमा दी जाती है, इनसे नहीं। अतः केवल उपमेय आँख, गति और कन्धेका कथन है और सब लुप्त है। वाचक-धर्म-उपमेयलुप्ता-- "मत्त गयंद हंस तुम सोहै कहा दुरावति हम सों" (सू० सा०) । यहाँ गयंद और हंस उपमान है, नायिकाकी गति तथा रूप आदि उपमेयकी सुन्दरता वर्णित है, अतः यहाँ वाचक, धर्म तथा उपमेय तीनोंका कथन नहीं है और कोई रूपक नहीं बॉधा गया है, इसलिए रूपकातिशयोक्ति भी नहीं है (का॰ द०, पृ० ३५५) । वस्तुतः इन भेदोमें कई केवल विस्तार करनेकी प्रवृत्तिके द्योतक है, उनका समुचित निर्वाह नही हो सकता ।

उपमाके अन्य भेदोंमें प्राचीनोंका मत हिन्दीमें किसीने प्रहण नहीं किया है। वस्तुतः दण्डी द्वारा किये गये उपमाके भेद स्वतन्त्र रूपमें प्रतिष्ठित हो गये। हिन्दीके कुछ आधार्योंने जयदेव और अप्पय दीक्षितके आधारपर उपमाके भेदोकी चर्चा नहीं की और कुछने मम्मट और विश्वनाथके आधारपर मालोपमा तथा रसनोपमा आदिकी चर्चा कर दी है। आधुनिक विवेचकोने विश्वनाथके एक-दो भेदोंको और स्वीकार कर लिया है।

५. बिम्बप्रतिबिम्बोपमा जहाँ उपमेय और उपमानके कहे हुए विभिन्न धर्मोंका आपसमें प्रतिबिम्ब-भाव विणित हो। विश्वनाथने इस उपमाका उल्लेख ऐसी उपमाओं के अन्तर्गत किया है, जिनका साधारण धर्म छप्त नही है। उनके अनुसार उपमाके सभी साधारण धर्म उपमेय तथा उपमानमें अलग-अलग कथित रहते है और उनमें विम्बप्रतिबिम्ब-भावसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है (सा० द०, १०: २३), अर्थात् उनमे केवल शाब्दिक अन्तर रहता है। यथा—"तरा नीला वपुष जिससे होयगा कान्तिधारी, जैसे वर्हावृत मुकुटसे गोपवेशी मुरारी" (रसमंजरी)। इसमें इन्द्रधनुष-युक्त नील-मेघ और मयूर-पुच्छके मुकुट धारण किये कृष्णकी उपमा दी गयी है—साधारण धर्मका शाब्दिक कथन भिन्न है—मेघका इन्द्रधनुष और कृष्णका मयूरपुच्छ। परन्तु इन दोनोंमे समान धर्मका प्रतिबिम्बन है।

६. रसनोपमा—मम्मटके अनुसार करधनी(रशन)की एक किंकिणोका दूसरी किंकिणोसे जिस प्रकार क्रमशः सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार इसमें उपमेय-उपमान एक-दूसरेसे जुड़े रहते है (का० प्र०, १०:९० वृ०) ! विश्वनाथने इसी बातको दूसरी तरह कहा है—''यदोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता'' (सा० द०, १०: २५), अर्थात् जब

उपमेय अगले क्रममें ही उपमान हो जाय। मितराममें इसीका भाव ग्रहण किया गया है—"जहाँ प्रथम उपमेय सो होत जात उपमान" (ल० ल०, ५१)। पद्माकरका लक्षण भी समान है—""उपमेय जहूँ, होत जात उपमान" (पद्मा०, २४)। उदा०—"सुगुन ज्ञान सम उद्माहु, उद्यम सम फल जान। फल समान पुनि दान है, दान सिरस सनमान" (वही, २५)।

७. मालोपमा—मम्मटके अनुसार एक ही उपमेयके लिए अनेक उपमानोंके गुम्फनके कारण मालोपमा कहते है (का० प्र०, १०: ९० वृ)। विश्वनाथने इसीको दुहरा दिया है—"मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु इश्वते" (सा० द०, २६)। मतिराम, पद्माकर आदि हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको दुहरा दिया है—"जहाँ एक उपमेयको होत बहुत उपमान" (ल० ल०, ५८)। उदा०—"रूप जाल नॅदलालके, परि करि बहुरि छुटैन। खंजरीट मृग मीनसे, बजबनितनके नैन" (ल० ल०, ५०)। और "पछनावेकी परछाँही-सी तुम उदार छायी हो कौन दुर्वलता-सी ॲगडाई-सी अपराधी-सी मयसे मौन" पहलेमें नैनके लिए और दूसरेमें छायाके लिए उपमानोका कथन है।

उपमा मौलिक अलंकार है और उसके साद्यकी कल्पनामें सौन्दर्यकी काल्यात्मक उद्भावना है। अतएव इसका सफल और सुन्दर प्रयोग प्रत्येक युगके उत्कृष्ट किन मिलता है। उपमाके प्रयोगमे तुल्सीकी कल्पना सबसे अधिक प्रखर है। कथाके प्रयोगमे तुल्सीकी कल्पना सबसे अधिक प्रखर है। कथाके प्रवाह और उसके भानात्मक उतार-चढावके साथ उपमाएँ सहज रूपमें आकर सौन्दर्य-बोधके उत्कर्षको बढाती है। अन्य कथा-काल्योंमें भी इस अलंकारका पर्याप्त प्रयोग हुआ है। सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त किन्योंके पदोंमें उपमाके सुन्दर और सहज प्रयोग है। रीतिकालको कहात्मक तथा उक्तिवैचित्यको प्रवृत्तिके साथ अन्य अलंकारोंका मेल अधिक रहा है। आधुनिक युगके कथाकाल्योंमें पुनः इसका सुन्दर प्रयोग हुआ। छायावादी तथा नवीन काल्यमे भी छप्तोपमाके विविध रूप मिलते है।

उपमान - अलंकार-शास्त्रमे उपमाके चार प्रमुख उपादानों-में एक उपादान (दे०—'उपमा')। वर्णनीय वस्तुकी अथवा उपमेयकी जिस उत्हृष्ट गुणवाले पदार्थसे उपमा दी जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं। इस शब्दका प्रयोग उपमाके विकासके साथ जुड़ा हुआ है। निरुक्ततक इसका प्रयोग इसी अर्थमें चल पड़ा। पणिनिके समयतक उपमाके चारों अंग निदिष्ट हो चुके थे। पतंजलिने उपमानकी व्याख्या की। उनके अनलंकृत उदाहरण' गौरिव गवय'का उल्लेख वादके आचार्योंने किया है। संस्कृत तथा हिन्दीके सभी आचार्योंने उपमाके अन्तर्गत उसके चारों अंगोंका उल्लेख किया है।

रीतिकालीन आनार्य कुलपित मिश्रके शब्दोंमे 'उपमेय' और 'उपमान'का पारिभाषिक रूप इस प्रकार है—"उपमान अरुं उपमेय है, अलंकारके प्रान । ताते इनको प्रथम ही, कहियत रूप बखान । होय बड़ाई सम किये, जाके सो उपमान । जाको बर्नन कीजिये, सो उपमान बखान"

(ग्सरहरा)। उदा०—"अधिकार न सीमामें रहते। पावस-निर्झरसे व बहते" ('प्रसाद': कामायनी)। इसमें 'पावस-निर्झर' उपमान अथवा अप्रस्तुत वस्तु है, जिससे 'अधिकार'-रूप उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तुकी समता की गयी है। इसी प्रकार—"सखि! भिखारिणी-सी तुम पथपर फैलाकर अपना अंचल, स्खे पत्तोंको ही पा क्या, प्रमुदित रहती हो प्रतिपल" (छाया: पंत)। भिखारिणी जिस प्रकार रखा-स्खा खाकर ही सन्तुष्ट हो जाती है, वैसे ही छाया भी स्खे पत्ते पाकर क्या प्रमुदित रहती है? इसमे उपमेय 'छाया'-की 'भिखारिणी'-रूप उपमानसे उपमा दी गयी है। यहाँ साहहय या उपमान सुन्दर वन पडा है।

हिन्दीमें 'उपमान'को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत, अप्रासंगिक और अप्राकरणिक भी कहते हैं। सर्वाधिक प्रचलित और प्रयुक्त शब्द 'उपमान' और 'अप्रस्तुत' है। रामचन्द्र शुक्कने 'उपमान'के लिए 'अप्रस्तुत-योजना' और 'अप्रस्तुत-विधान' दो नये शब्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु इनमेसे 'अप्रस्तुत-योजना' शब्द अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त एवं सम्यक् अर्थका प्रतिपादक प्रतीत होता है। इनके अनुसार यह शब्द उपमानको अपेक्षा इसलिए उपयुक्त है कि उपमान उतने व्यापक अर्थका बोधक नहीं, जितने व्यापक अर्थकी प्रतीति 'अप्रस्तुत-योजना' अथवा 'अप्रस्तुत-विधान' शब्दसे होती है। विशेपके लिए दे०— 'अप्रस्तुत'। —वि० स्वा०

उपित कथाकाव्य -दे॰ 'इष्टान्तकाव्य'।

उपमेय - उपमाके चार अंगोंमेले एक, जिसकी किसी अन्य उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुसे समता की जाय । उदा० - 'हरिपद कोमल कमलसे', इनमें 'हरिपद' उपमेय अथवा प्रस्तुत वस्तु है, जिसकी कमलसे समता दी गयी है। और भी - ''पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लाई, सौ बार धन्य वह एक लालकी माई' (मै० श० गुप्तः साकेत)। यहाँ सभा उपमेय है, जिसकी 'पागल' उपमानसे समता की गयी है।

हिन्दीमें उपमेयको वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत, प्रकृत, प्रासंगिक या प्राकरणिक भी कहते हैं। इनमेंसे वैसे तो उपमेय शब्द परिपाटीसे प्रचलित है, किन्तु आज प्रस्तुत शब्द अधिकांशमें उपमेयका स्थानापन्न हो गया है। रामचन्द्र शुक्तने भी उपमेयके स्थानपर प्रस्तुतका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया है।

उपमाके विकासके साथ इसका प्रयोग भी सम्बद्ध है। उपमाके अन्तर्गत उपमेयका विचार किया गया है, हिन्दीके आचायोंने 'जिसका वर्णन किया जाय, उसे उपमेय' समान रूपसे माना है—"जाको वर्णन कीजिये, सो उपमेय प्रमान" (मितराम: छ० छ०, ३९)। —वि० स्ना० उपमेयोपमा—साहश्यगर्भ मेदामेदप्रधान अलंकारका मेद। यह अलंकार कुछ आचायोंके द्वारा स्वतन्त्र माना गया है—भामह, उद्घर, वामन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने और कुछने उपमानके अन्तर्गत माना है जैसे दण्डी, रुद्रट तथा मोज आदिने। हिन्दीमे प्रायः आचायोंने इसे स्वतन्त्र अलंकार माना है—मितराम, भूषण, कुलपित, दास तथा पद्माकर आदिने। केशवने इनकी चर्चा नहीं की है और देवने 'काल्य-रसायन'में इसे उपमाके भेदके रूपमें

स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार-'विपर्यास उपमेयोपमा तयोः" (का॰ प्र॰, १०: ९१), अर्थात् जहाँ दोनोंमें (उप-मेथ-उपमानमे) परस्पर परिवृत्ति (परिवर्तन) प्रतिपादित किया जाय । विश्वनाथ तथा जयदेवने 'पर्यायेण' कहकर मम्मटका लक्षण ले लिया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसीका अनुवाद प्रस्तुत किया है—"जहाँ परस्पर होन है उपमेयो-पमान" (शि० भू०, ५३)। दासका लक्षण किचित् अलग है— "उपमा दोऊ दुहुनकी, सी उपमा उपमेय" (का० नि०, ८)। इसमें परस्पर उपमा देनेसे अन्य उप-मानोके निरादरका भाव व्यजित है, जो इस अलंकारकी विशेषता है। उदा०—''तेरो तेज सरजा समत्थ दिनकर सो है, दिनकर सोहै तेरे तेजके निकरसों" (शि॰ भू॰, ५४) । अथवा—''तरल नैन तुव बचनसे, स्याम तामरस तार । स्याम तामरस तारसे तेरे कच सुकुमार" (का० नि०, ८) । यहाँ शिवाजीके तेज और दिनकरकी तथा कच और नामरसतारकी परस्पर उपमा दी गयी है। उपयोगितावाद-किसी भी वस्त, विचार अथवा कार्यका महत्त्व आँकनेके लिए उपयोगिताकी कसौटी बहुत दिनोंसे चली आ रही है। किसी कालविशेषके सामाजिक उद्देश्योंके अनुरूप ही उपयोगिताके प्रतिमान भी बदलते रहे है, पर उपयोगिताका सिद्धान्त अक्षणण रहा है। उपयोगितावादको साहित्यमें सोहेश्यतावादकी भी संज्ञा दी गयी है और इसका विरोधी सिद्धान्त 'कला कलाके लिए' अथवा कलावाद (दे०)के रूपमे उपस्थित किया गया है।

उपयोगितावाद शब्दका प्रचार १९वी शताब्दीमें यूरोपमें हुआ है । वहाँ इसका प्रतिरूप 'यूटीलिटैरियनिज्म' (utilitarianism) है। कहा जाता है कि यह शीक एपीकरस (epicurus)के आनन्दवादका पुनरुत्थान है। यरोपमें यह अठारहवीं शताब्दीके वायवी आदर्शवादके विरुद्धं प्रतिक्रियाके रूपमें आया। इसके प्रयोक्ता वैथम (bentham), आस्टिन (austin), मिल (mill) आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे । उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्यकी नीतियाँ आदि विसी आदर्श, काल्पनिक मानवीय अधिकारों एवं कर्तव्योंके लिए नहीं है, उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धोंकी एक निश्चित, स्थिर उपयोगिताके लिए सहायक होनेमें है। इन लोगोंके अनुसार समाजके नियमनका एकमात्र सिद्धान्त होगा 'सर्वाधिक संख्याका अधिकतम सुख'। इसका स्वरूप इस कालमें व्यक्तिवादी है। यह मुक्त व्यापार, पेशेकी स्वतन्त्रता, व्यापारके क्षेत्रमें अवाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्ति-वादी सुधारोंकी माँग करता हुआ आभिजात्य श्रेष्ठताकी चनौती देता है। उपयोगिताबादकी विचारधारामें एक विचित्र विकास परिलक्षित होता है; इस व्यक्तिवादिताकी परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारामें । मिल-ने यह अनुभव किया कि व्यक्तिकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता 'सर्वाधिक संख्याके अधिकतम सुख'के विपरीत जाती है। अन्ततः उसे वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगितामे भेद करते हुए द्वितीयको श्रेष्ठतर स्थान देनेके लिए विवश होना पड़ा। समाजवादी विचारधारा (दे०—'समाजवाद')की पृष्ठभूमिमें उपयोगितावादी दर्शनका गहरा हाथ है। समाजवादी विचारधाराके ही चरम रूप 'मार्क्सवाद'में सर्वहारावर्गको मिली श्रेष्ठताके अनुरूप उपयोगिताको कसौटी भी इसी वर्गका कल्याण हो गयी तथा समाजशास्त्रीय विचारकोंने कलाको वर्गयुद्धका अस्त्र माना, उसे विचारोंके प्रचारका साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एवं साहित्यकी उपयोगिताको सामाजिक संघर्ष एवं विकासके साथ जोड़ दिया गया।

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, साहित्यका उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नही है। किसी-न-किसी रूपमे उपयोगिताका प्रश्न साहित्यके साथ सम्बद्ध रहा है। भामहने 'काव्यालंकार'में काव्यके तीन प्रयोजन माने थे-शास्त्रादि ज्ञान, आनन्द और कीर्ति । रुद्रटने भी यश, इष्टकी प्राप्ति, पुरुषार्थ-सिद्धि आदिको कान्यका प्रयोजन माना है। ध्वन्यालोककार कुन्तकने 'सरसोपदेशरूप प्रयोजन' स्वीकार किया है- कान्य हृदयको प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्यका सरस विश्लेषण किया करता है। 'काव्यसे रसप्रतीति और रसप्रतीतिसे जीवनादशींकी और प्रगति। ऐसी कुछ विचारधारा ध्वनि-सम्प्रदायकी रही है। मम्मटने इस 'रसरूप काव्यप्रयोजन'को और परिष्कृत करके उपस्थित किया। उन्हें ने काव्यके छः प्रयोजन माने-(१) यज्ञ-प्राप्ति, (२) अर्थलाभ, (३) आचारज्ञान, (४) अमंगल-निवारण, (५) रस या आनन्द, (६) सरस उपदेश। इनमें कविके प्रयोजन प्रथम चार है तथा कवि और सहदय दोनोंके अन्तिम दो। मन्मटकी इस बातको परवर्ती आचार्योंने लगभग स्वीकार कर लिया है। आधुनिक युगमे रामचन्द्र शुक्कने भी कान्यका उद्देश्य लोकमंगल और आत्मविस्तार स्वीकार किया है। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे कान्यशास्त्रमे विशुद्ध कलावादी इष्टिकोण अपनाकर विवेचन प्रायः नही हुआ है। प्रत्येक आचार्यने काव्यप्रयोजनोंमे उपयोगिताके किसी-न-किसी रूपको स्वीकार किया है, यह दूसरी बात है कि प्रारम्भमें यह उपयोगिता कवितक सीमित थी, बादमें वह सहृदय-तक विस्तृत हो गयी।

पश्चिमी काव्यदर्शनमें भी उपदेशसे सम्बन्धित उपयोगिताको प्रमुख स्थान मिला है । ग्रीसमे प्लेटो-(plato)के समयसे ही यह मत प्रचिलत है कि काव्य-का पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षाके क्षेत्रमें भी कान्यका महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विदवास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओं बारेमें जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्यसंचालन जैसे अनेक विषय होमर (homer) द्वारा प्रशंसनीय ढंगसे बताये गये है। इस शिक्षक-दृष्टिका विरोध भी श्रीसमें कम नहीं हुआ। प्लेटोने स्वयं संकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। एक भी आदमी देशमें सेनानायक इसीलिए नही चुना गया कि उसकी शिक्षा होमरके काव्यके माध्यमसे हुई है तथा एचिलीस (achilles) जैसे चरित्र अनुकरणीय नहीं है। अरस्त (aristotle) ने भी कान्यके सौन्दर्यबोधवाले पक्षपर अधिक बल दिया है। पर होरेस (horace)ने कान्यके उपदेशवाले पक्षको महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। उसने कहा कि "काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है या दोनों करता है" यह बात कुन्तक और मम्मटसे बहुत दूर नहीं है।
लुक्नेसिक(lucrecie)ने भी उपयोगितावादी दृष्टिकोणको
ही प्रधानता दी।

आगे आकर रिस्कन (ruskin)ने तो काव्यको मुख्य रूपसे उपदेशप्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'बाई प्रॉडक्ट' (गौण उत्पादन) है, मुख्य बात तो धर्मभानवनाको तीव्र करना, नैतिक स्तरको पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है (अर्थां अभ मम्मदने भी स्वीकार किया है)। टॉल्सटाय (tolstoy) भी काव्यके धार्मिक और नैतिक पक्षपर जोर दिया।

१९वी शतीके अन्तिम और वीसवीं शतीके प्रारम्भिक भागमें 'कलाके लिए कला' आन्दोलनको अधिक वल मिला। वाल्टर पेटर (walter pater), आस्कर वाइल्ड (oscar wilde), ब्रेडले (bradley)' जैसे समर्थ लोगोंका इसे समर्थन मिला।

स्थूल उपयोगितावादमें कुछ परिष्कार भी इस कालमें हुए। एक तो यह विचार आया कि कला आत्माको कँचा उठाती है, बगैर किसी प्रकारको प्रत्यक्ष शिक्षाका आश्रय लिये, और दूसरा यह सुझाव कि वह आत्माके लिए रंजनकारी है, मानसिक शक्तिप्रदायिनी है। नवमानवतावादी [मोर (more), इर्त्विंग वैविट (irwing babbitt)] आदि लेखकको मानवीय नियमोंके प्रति जिम्मेदार देखते हैं और और ये नियम वस्तुगत नियमोंसे भिन्न है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उपयोगिताके रूप और प्रतिमान बदलते रहे हैं। कलाओको शैक्षिक और उपदेशात्मक उपयोगिता प्राचीन कालसे मान्य रही है और किसी-न-किसी रूपमे वह आज भी मान्य है। कलाकी नैतिक उपयोगिता भी स्वीकार की जाती रही है। आधुनिक युगमे रस्किन, टॉल्सटाय और गॉधी नैतिक-आध्यात्मिक उपयोगितावादके समर्थक हुए है। कलाएँ आनन्द देती है, रंजन करती है, यह भी उपयोगितावादी ष्टिकोण ही है। भारतीय काव्य-चिन्तनमे तो काव्यको पुरुषार्थचतुष्ट्यकी प्राप्ति करानेवाला माना गया है। कम्युनिस्ट सिद्धान्तोंमें ढलकर कला वर्गयुद्धका शस्त्र बन जाती है और अब कम्य-निष्ट ही नहीं, भारत जैसे देशमें वह योजना प्रचारका अंग बन गयी है। इतना ही नहीं, शीतयुद्धने कलाओंकी एक नयी उपयोगिताको जन्म दिया है-एक दूसरेके ऊपर तीव प्रहार करनेका । इस प्रकार कलाओका उपयोग शेष सृष्टिके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करनेमें नहीं, विद्वे-षात्मक सम्बन्ध रखनेमें होने लगा है। इस तरहके उपयोगीं-मे यह मुला दिया जाता है कि कला मानवीय अनुभव-का प्रकाशन है एवं यदि मानवीय अनुभव मूल्यवान होता है तो कथाएँ भी मूल्यवान होती है। साहित्यिक-कलात्मक क्रतियोके माध्यमसे पाठक जीवनके अधिक समीप गहरे और ताजे सम्पर्कमें आता है; वह अधिक समृद्ध जीवन जीता है। कलाओंकी यही वास्तविक उपयोगिता होतो है। स्थूल भौतिक उपयोगिताओंसे उसका बहुत दूरका सम्बन्ध होता है। – ই০ হাঁ০ अ০ उपयोगी कला-कलाओंको सामान्यतः दो वर्गीमे विभक्त

किया जाता है-लिलित कला तथा उपयोगी कला।

ळित वळाएँ मनुष्यके सौन्दर्यबोधकी प्रतीक है, उपयोगी कलाओं में बौद्धिकता तथा उपयोगिताका सम्मिश्रण रहता है। ललित कलाओं में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला तथा कान्यकलाकी गणना होती है। उपयोगी कलाएँ मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओंकी पृतिसे सम्बद्ध है। उपयोगी कलाओं में भी थोड़ा-बहुत सौन्दर्यवीधका भाव तो रहता है, पर वह गौण है। कुसीं, मेज आदि वस्तुओं में 'डिजाइन'का ध्यान रखा जाता है, किन्त्र यह डिजाइन प्रायः उपयोगिताकी दृष्टिसे बनायी जाती है। सामान्यतः-कला कहनेसे ललित कलाओका ही बोध होता है। आधु-निक प्रयोगकी दृष्टिसे ललित कलामें तो ललित शब्द अब अनावस्यक हो गया है और इसी बातसे उपयोगी कलामें 'उपयोगी' तथा 'कला' शब्द अव एक दूसरेके विरोधी-से जान पड़ते है। इस दृष्टिसे आधुनिक चिन्तनके क्षेत्रमें लिलत कला तथा उपयोगी कलाका विभाजन मात्र पुस्तकोंतक ही सीमित रह गया है। अब कलाको अपने आपमे पूर्ण तथा विश्रद्ध माना जाता है। उसके लिए सफल तथा असफल जैसे विशेषणोंकी भी अब आवश्यकता नहीं समझी उपयोगी साहित्य-प्राचीनोंने जिसे 'शास्त्र' कहा है, उसे ही आज 'उपयोगी साहित्य'के नामसे अभिहित किया जाता है। 'शास्त्र' दो प्रकारके कहे गये है-(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र श्रुति है, जिसमें वेद (ऋक, साम, यजुः, अथर्व) और छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) आते हैं। इनके अतिरिक्त 'अलं-कार' नामका एक सातवाँ वेदांग भी माना गया है। पौरुषेय शास्त्र चार हैं-पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा और स्मृतितन्त्र (धर्मशास्त्र) । इनमें पुराण और स्मृतियोंकी संख्या १८ है। इस प्रकार वेद ४, वेदांग ६, पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय) और स्मृति मिलाकर १४ शास्त्र-भेट हुए, जिन्हें विद्यास्थान भी कहा गया है। कुछ लोग १८ विद्यास्थान मानते है, जिनमें पूर्वोक्त विद्यास्थानींके अतिरिक्त वार्ता (वाणिज्य-कृषिविद्या), कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीति (राजतन्त्र) सम्मिलित है। इनके अतिरिक्त एक साहित्यविद्याकी भी परिकल्पना है, जो वार्ता, कामसूत्र, शिल्पशास्त्र और दण्डनीतिका सारांश कही गयी है। इस प्रकार भारतीय विचारधारामें 'शास्त्र'के रूपमें उपयोगी साहित्यकी विपुल कल्पना है। इन विभागोंका विकास धीरे-धीरे हुआ है, परन्त पहली शताब्दोंके लगभग सभी यथेष्ट विकासकी स्थितिमें थे। इस शास्त्रके विकासके लिए अनेक शैलियोंका प्रवर्तन हुआ था, जैसे सूत्र, वृत्ति, पद्धति, भाष्य, समीक्षा, टीका, पंजिका, कारिका, वार्तिक । आधुनिक युगके उपयोगी साहित्यमें विषय-विस्तार भले ही हुआ हो; परन्त उसकी शैलियोंमें इतनी विविधता और परिपक्वता नहीं है। प्राचीन युगमें शास्त्रके किसी एक अंशपर लिखे ग्रन्थ भी थे, जिन्हें 'प्रकरण' कहते थे और ग्रन्थोंके अवान्तर अध्यायोंके लिए 'अध्याय', 'परिच्छेद', 'उल्लास' आदि शब्दोंका उपयोग किया जाता था। प्राचीन युगका उपयोगी साहित्य अधिकांश पद्यमें है, क्योंकि पद्यमें कण्ठस्थ करनेकी सुविधा थी। अपने देशमें यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी- तक चली आती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमे शास्त्र-ज्ञानकी विस्तृत निधि प्रस्तुत है। कान्यके अतिरिक्त वाङ्मयके रूपमें जो भी उपलब्ध है, उसे 'शास्त्र' या 'उपयोगी साहित्य' कहा जा सकता है। आधुनिक युगमें वाङ्मयका यह ज्ञानोपयोगी अंग पद्यमें न होकर गद्यमें ही लिपवड़ होता है।

'उपयोगी साहित्य'के रूपमे आज हमें जो साहित्य प्राप्त होता है, वह प्राचीनोंके 'शास्त्र'को आत्मसात करता इआ कुछ आगे बढ गया है, क्योंकि पिछली दस शताब्दियोमें ज्ञान-विज्ञान एवं विवेचनाके अनेक नये क्षेत्र उद्घाटितं हुए है। अतः आज 'उपयोगी साहित्य'की व्याप्ति कही अधिक है। यूरोपकी औद्योगिक क्रान्तिने आधुनिक जीवनको कर्म-संकुल बना दिया है और 'साहित्य' कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध आदिकी कछ विशिष्ट कोटियोंने सिमट आया है। साहित्यमें उपयोगिता-की स्थापना एक पक्षके द्वारा हुई है, परन्तु साहित्येतर समस्त लिपिबद्ध सामग्रीको 'उपयोगी साहित्य' कहा गया है। 'उपयोगी साहित्य'को आज हम (१) वैज्ञानिक साहित्य (२) टेकनीकी साहित्य, (३) मानवीय सम्बन्धींके साहित्य, जैसे अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति आदि, (४) मनोविज्ञान एवं मनोविद्यलेषण, (५) चिकित्साञास्त्र, (६) क्रीडा और आमोद-प्रमोदका साहित्य, (७) साहित्यशास्त्र, (८) दर्शन, (९) धर्म और (१०) विविध आदि अनेक वर्गीमें रख सकते है। वास्तवमें गद्यके विकास और मुद्रण-कलाके आविष्कारके साथ मानवीय ज्ञान-चेतना अधिक विस्तृत होती गयी है और उन्नीसवी शताब्दीमें उसने मनुष्यके अन्तर्वाद्य अनेकानेक क्षेत्रोंको स्पर्श किया है। प्राचीन युगोंमें धर्म, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र दर्शनमें ही अन्तर्भक्त थे, परन्त अब इनमेंसे प्रत्येक अवान्तर उपसर्गीमें विभक्त है और विश्लेषण-बुद्धिके उत्तरीत्तर विकासके साथ नये-नये चिन्ता-क्षेत्र सामने आते जा रहे हैं। विवेचनकी जिन विभिन्न पद्धतियोंपर प्राचीन उपयोगी साहित्यकी समृद्धि आश्रित थी, उनको पीछे छोड दिया गया है और एक तरहसे विवेचन-पद्धतिके क्षेत्रमें आज स्थिरीकरण है, परन्त नयी अभिव्यंजना-शैलियोंकी दृष्टिसे भी उपयोगी साहित्यका विभाजन सम्भव है। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक तर्कवादी तथा तथ्यप्रधान शैलियोंका उपयोगी साहित्यमें विशेष महत्त्व है। भावात्मक, कल्पनासत्री और लालित्यमय (अलंकत) शैलियाँ उपयोगी साहित्यके क्षेत्रके बाहर हैं। उनका उपयोग विश्वद साहित्यके क्षेत्रमें अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि जहाँ उपयोगी साहित्यका लक्ष्य, तथ्यज्ञान एवं बौद्धिक ऊहापोह है, वहाँ विशुद्ध साहित्यका सम्बल रसानुभूति और कल्पनानन्द

उपयोगी और लिलत साहित्यमें प्रयोजन और क्षेत्रकी भिन्नता स्पष्ट है। पाण्डित्य और कवित्व दो भिन्न वृत्तियोंके प्रतिफल है और वे अनिवार्यतः अन्तरावलम्बित नहीं है। परन्तु मनुष्यके समस्त क्रिया-कलाप, जीवन और जगत्के नाना रूप और व्यापारोंकी ही प्रतिक्रिया होते है, अतः उनके प्रयोजन और क्षेत्र सापेक्षरूपमें ही पृथक् कहे जा सकते हैं। इस प्रकार उपयोगी और ठिलत साहित्यमें सम्पर्क और परस्पर संक्रमणकी सम्भावनाएँ स्वाभा-विक हैं।

'काव्यमीमांसा'के राजशेखरने द्वितीय अध्यायमे वाड्ययके दोनों भेदों--शास्त्र और काव्य-अर्थात उपयोगी और लिलत साहित्यमे तीन प्रकारका सम्बन्ध बताया है— गद्य-पद्यमयत्व, व.वि-धर्मत्व और हितोपदेशकत्व (काव्य-मीमांसा, तृतीय संस्करण, बढौदा, पृ०४)। इस सम्बन्ध-विवेचनके प्रारम्भमें ही राजशेखरने कहा है कि काव्य-रचना करनेके पूर्व शास्त्रमें अभिनिवेश होना आवश्यक है। शास्त्र, अर्थात् जीवनके विविध व्यापारोसे सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञानके परिचयके बिना काव्य-रचना करना दीपकके बिना ॲधेरेमें टटोलनेके समान है (वही, पृ०२)। उपयोगी और लिलत साहित्यके उपर्युक्त तीन सम्बन्धोमें पहला-गद्य-पद्यमयत्व-वास्तवमें दूसरे कवि-धर्मत्वका मूलाधार है। अनेक विचारक और वैज्ञानिक कठिन बौद्धिक प्रयासके द्वारा उपलब्ध तथ्योंको जब भाषाके माध्यमसे व्यक्त करते हैं. तब प्रायः कवि-धर्मत्वके नाते ही वे उसमे कदाचित अना-यास कलात्मक रमणीयता ले आते है। कैसेलके साहित्य-विश्वकोश (कैसेल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर)के पाण्डित्य और साहित्य (लर्निङ एण्ड लिटरेचर) शीर्षक लेखमें अनेक ऐसे विद्वानोंका उल्लेख किया गया है, जो मूलतः अध्ययन, मनन और अन्वेषणके क्षेत्रमे कार्य करते हुए भी प्रसिद्ध शैलीकार हो गये है और जिन्होंने विचार और चिन्तनकी परिधियोंका ऐसे ललित ढंगसे विस्तार किया है कि उनके साहित्यमें व्यावहारिक उपयोगिता और शुद्ध आनन्दप्रदायिनी उदात्त कलाका अदुभुत समन्वय हुआ है। राजशेखरने अपने उपर्युक्त विवेचनमे उपनिषद्के "द्रा सपर्णा सयुजा सखाया समानवृक्षं परिषस्वजाते" आदि मन्त्रोंका उद्धरण देकर उस विपुल शास्त्रीय (उपयोगी) साहित्यकी ओर संकेत किया है, जिसमे आलंकारिक शैलीमे महान् सत्योका उद्घाटन हुआ है। वस्तुतः प्राचीनतम साहित्यमे उपयोगी और लिलत साहित्यका वह पृथवत्व, जिसकी आधुनिक विशेषज्ञताके युगमे इतनी चर्चा है, बिल-कुल नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य माना जाता है। परन्त ऋग्वेदसंहितामें अग्नि, इन्द्र, वरुण, सविता आदिकी स्तुतियाँ कवित्वके किसी भी लक्षणसे हीन नहीं हैं। भाव-संवेदनाकी सम्पन्नता और करपनाके वैभवके साथ उनकी शैलीमे अद्भृत अलंकरण और चमत्कारके साथ गृढ न्यंजनापूर्ण शब्द-शिल्प पाया जाता है। अध्यात्मविद्याका उद्घाटन करनेवाली उपनिषदों-की शैलीमें तो वर्ण्यविषयकी रहस्यात्मकताने द्विगुणित कला-त्मक सौन्दर्य पैदा कर दिया है। आगे चलकर श्रीमद्भगव-द्गीतामें शास्त्र और कान्यका ऐसा सहज समन्वय मिलता है कि यदि काव्यके प्रति गौरवकी भावनाका अपेक्षाकृत अभाव न समझा जाय तो गीताको काव्य कहनेमें संकोच नहीं हो सकता। पुराणोंका उद्देश्य भी धार्मिक ही है, परन्त उनमे रूपक और अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-शैलीका व्यवहार करके साहित्यिक प्रसाद भी सुरक्षित किया गया है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं उपयोगी साहित्यं का अब भी बहुत अभाव है। मध्यकालीन साहित्यमें तो उपयोगी विषयोंका साहित्य नहींके बराबर लिखा गया, परन्तु गयके विकासके साथ-साथ अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दीमें कुछ धार्मिक साहित्य लिखा जाने लगा था, जिसमें कथावाचकोंकी पौराणिक रौलीकी साहित्यकता लानेका प्रयास देखा जाता है। आधुनिक कालके चिन्तकों और विचारकोंमें स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गान्धी, सर्वपल्ली राधाकुण्णन् और जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक विचारको और चिन्तकोकी रौलीमे साहित्यसौष्टव प्रचुर परिमाणमे मिलता है। इन लेखकोंने अधिकतर अंग्रेजी भाषाका माध्यम ग्रहण किया, अन्यथा उनका साहित्यक महत्त्व कदाचित कही अधिक होता।

परन्तु ज्ञान-विज्ञानके व्यावहारिक और विषयोंके लिए साहित्यिक हौलीका उपयोग अपवाद मानना चाहिये। वह विचारकसे उसके प्रकृत गुण पाण्डित्यके अतिरिक्त संकीर्ण अर्थमें कवि-धर्मत्वकी भी मॉग करता है। वस्ततः विषयको स्पष्ट और निर्भान्त रूपमे उपस्थित करनेके लिए भाषाका अनावृत अलंकरणकी प्रवृत्तिसे, यथासाध्य, मुक्त होना आवश्यक है। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए प्राचीनतम समयसे ही वेदांग-साहित्यमे शास्त्र और काव्यके दिशा-विच्छेदका प्रमाण मिलने लगता है। प्राचीन भारतीय शास्त्र अर्थात् उपयोगी साहित्यके अन्तर्गत दर्शन, तन्त्र, स्मृति, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, गणित, भौतिकी, रसायन, आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत और साहित्यशास्त्र आदि अनेक विषयोंपर लिखे गये अनेकानेक यन्थ चिन्तनकी गरिमा और गम्भीरता प्रमाणित करते है। इस विपुल उपयोगी साहित्य-में लालित्य और शैलीका चमत्कार भी कहीं-कही अवस्य मिलता है, परन्त उसे रचयिताकी स्वभावगत विवशता ही कहना चाहिये। कण्ठगत करनेकी सुविधासे पद्यमे रचे जानेके कारण भी उसमे यदा-कदा काव्यकी झलक अनायास आ जाती है। परन्तु यह समस्त साहित्य-वेद, पुराण, उपनिषद् , गीता, महाभारत, रामायण, वैदिक, बौद्ध और जैनदर्शन आदि लिलत साहित्यके अक्षय उपजीव्य रहे है और कवियों और नाटककारोंने उससे अनेक रूपमें लाभा-न्वित होकर अपनी कृतियोंको प्राणवान् बनाया है। वस्तुतः उपयोगी साहित्यका अनुशीलन, जिसे राजशेखरने कविके लिए अन्धकारको विदीर्ण करनेवाले दीपकके समान बताया है, उसे नित्य नये प्रत्यय, अपूर्व विवेचन-बुद्धि और पुराने भाव-चित्रोंके स्थानपर अधिक जीवन्त और व्यंजक प्रतीक एवं संकेत तो प्रदान करता ही है, प्रायः नवीन शैलियों और शिल्प-विधान-सम्बन्धी नवीन तन्त्र और पद्धतियोंके अन्वेषणमे भी वह सहायक होता है। प्राचीन भारतीय साहित्यके सौन्दर्य और ऐश्वर्यका मुख्य श्रेय उस उपयोगी साहित्यको ही है, जो हमारे शास्त्रोमें सुरक्षित है।

धामिक आदर्श और दार्शनिक चिन्तन, जो भारतीय संस्कृतिके प्रतिमान निश्चय करते हैं, सम्पूर्ण भारतीय काव्य-मे न्यूनाधिक रूपमे झलकते हैं। परन्तु कुछ कवियोंने प्रधान रूपसे उसे अपना उद्देश बनाकर कान्ता-सम्मित उपदेशके सिद्धान्तानुसार काव्यमें उपयोगिताका समावेश किया हैं।

एक जोर यदि अश्रघोष अपने काञ्योंके द्वारा बौद्ध धर्म और सर्वास्तिवादके प्रचारका उपक्रम करते है तो दसरी ओर श्रीहर्ष अपने 'नैषधीय चरित'मे कलि और देवताओके वाद-विवादके बहाने नास्तिकवादका तीव्र खण्डन करते देखे जाते हैं। काव्यमे यग-धर्मको निष्पक्ष भावसे प्रतिविभिवत करके भी कल कवियोने पाण्डित्य और जागरूकताका परिचय दिया है। नवी शताब्दीके शिवस्वामीने स्वयं शैव होते हए भी तत्कालीन लोकधर्म-बौद्धमतकी प्रतिष्ठा की है। जैन कवियों द्वारा रचे गये नाटक और काव्य धर्मके आग्रहसे प्रसत होंनेके कारण ही जैन काव्य नामसे प्रथक वर्गीकृत किये जाते है। 'धर्मशर्माभ्युदय' (हरिचन्द) महाकाव्य और 'मोहराज पराजय' (यद्य:पाल) जैसे प्रतीक-नाटकका इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेख किया जा सकता है। प्रतीक-नाटकोंमे कृष्ण मिश्रके 'प्रवीधचन्द्रोदय'का उल्लेख भी आवश्यक है, जिसमे औपनिषदाद्वेतदर्शनकी प्रष्ठभमिमे वैष्णव धर्मकी श्रेष्ठता दिखाकर उसके प्रचारका प्रयत किया गया है। वेदान्त देशिक और कविकर्णपूरने भी इसी प्रकार अपने पाण्डित्य और धर्म-चिन्तनको साहित्यमें नियोजित करके उपयोगिता और लालित्यका समन्वय किया है।

इन सभी कियोंने धर्मप्राचारार्थं साहित्यके माध्यमका उपयोग किया और उसीमें अपनी शास्त्रीय विद्वत्ताको सार्थक बनाया। परन्तु बिना किसी धार्मिक आग्रहके काव्यको शास्त्रीय ज्ञानसे संवित्त करके उसकी शक्ति, गरिमा तथा प्रयोजन-शील्तामें संवृद्धि करनेवाले कवियोके उदाहरण भी कम नहीं है। 'मुद्राराक्ष्रस' (विशाखदत्त) और 'मुच्छकटिक' (श्रूद्रक) यदि राजनीति और समाज-विज्ञानके पाण्डित्यसे पुष्ट है तो भवभूतिके नाटक कविके वेदशास्त्रके गम्भीर ज्ञानसे मरपूर होकर काव्यको उच्च भूमिपर प्रतिष्ठित करनेमे समर्थ हुए है। कल्हणने यदि इतिहासको काव्यके परिधानमें वेष्टित किया है तो राजशेखरने अपने व्यापक मौगोलिक ज्ञानको काव्यके प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी भाषाका तो विकास ही जीवनकी अत्यन्त यथार्थ और कठोर परिस्थितियोकी मॉगका प्रतिफलन है। इस लोक-माषाने जिस भक्ति-काव्यके माध्यमसे उन्नति की, वह वास्तवमें एक जीवन-व्यापी मिशन था। वह एक महान् सन्देश लेकर आया था, जिसकी तात्कालिक व्यावहारिक उपयोगिता कदाचित उसके शाश्वत सौन्दर्य और रसानन्दकी अपेक्षा कही अधिक थी। यह कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियोंकी कोमल संवेदनशीलताका परिणाम है कि उनकी कृतियाँ सामयिकताकी आवश्यकताकी पूरा करके इतनी ऊपर उठ गयी कि वे आज शुद्ध काव्यानन्दका विषय बनी हुई है। परन्त उनकी महत्ता अब भी उनमें निहित उपयोगिता, नवीन दृष्टिकोणपर ही आधारित है, भले ही उनका प्रतिपाद्य आज व्यावहारिकता खो बैठा हो। यह समस्त भक्ति-साहित्य समयके दार्शनिक चिन्तन और मनीषापूर्वक स्थिर किये गये जीवनके उच्च मूल्योकी समाहत किये हुए है। राम वरितमानसमें बहुशुत कविका पाण्डित्य ही उसके काव्यके गौरवको बढाकर उसे एक साथ ही धर्म-श्रंन्थ भी बना देता है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें इसका भी प्रमाण मिलता है कि जब काव्य जीवन-व्यापी प्रयोजन-शेलतासे विच्छिन्न हो जाता है और किव, कोश और काव्यकी सीमित परिधिकी भाषामें ही, अपना कृतित्व हूँ इने लगते है, तब काव्य किस प्रकार निम्न धरातलपर उतर आता है। रीनिकालके किव यदि काव्यशास्त्रकों भली भॉति हृदयंगम करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेते, तो भी उनकी रचनाओमे वह जीवनी-शक्ति नहीं आ सकती थी, जो शास्त्रीय अध्ययन और चिन्तनमें उपलब्ध होती है।

आधनिक कालमे हिन्दी साहित्य पुनः समाजके नव-निर्माणकी आकांक्षासे प्रेरणा पाकर अग्रसर हुआ है। नवीन वेदान्तदर्शन, सर्वात्मवाद, मानववाद, समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयके सिद्धान्तोंसे परिपृष्ट होकर उसने अपनी प्रयोजन-शीलतामें बृद्धि की है। पश्चिमके नवीन मनस्तत्त्वके सिद्धान्तों—मनोविश्लेपण और अन्तश्चेतना तथा अरविन्दके अतिचेतना सम्बन्धी अनुनन्धानीने भी लाभान्वित होकर वह नवीन कला-प्रयोग करनेमें समर्थ हुआ है। परन्त इस सम्बन्धमें यह न भूला देना चाहिथे कि साहित्यपर शास्त्रका आरोप या कवि द्वारा शास्त्रीय सिद्धान्तोका अन्धानुकरण न तो काव्यका स्थायी हित कर सकता हैं और न उससे सिद्धान्तोकी सचाई परखी जा सकती है। राजशेखरकी इस सलाहका कि कविके लिए शास्त्रका अभिनिवेश आवश्यक है, केवल यह तात्पर्य समझना पर्याप्त नहीं है कि कवि अपनी जानकारीका क्षेत्र बढ़ा ले। केवल इतनेसे उसे वह दीपक हस्तगत न होगा. जिससे उसका अन्यकार दूर हो सके। उसके लिए तो अध्ययनके द्वारा अर्जित ज्ञानको अपने भीतरसे प्रदीप्त करना पडेगा । तभी वह अपने कवि-कर्ममे शास्त्रीय ज्ञानसे वास्त-विक रूपमें लाभान्वित हो सकता है।

अतः ललित साहित्यके लिए उपयोगी साहित्यका अत्यधिक महत्त्व है। जो भाषा उपयोगी साहित्यसे समृद्ध नहीं है, उसमें लिलत साहित्यका स्तर भी व्यापक रूपमें अधिक ऊँचा नहीं हो सकता। उपरूपक-नाट्यपर आधृत दृश्यकाव्य रूपक कहलाते है और नृत्यपर आधृत उपरूपक। उपरूपकोंका स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक नाट्याचार्योने कहीं नहीं किया । धनंजयके नाट्य-प्रनथका नाम 'दशरूपक' इस तथ्यका साक्षी है कि उनकी दृष्टिमे उपरूपकोंका महत्त्व नहीं था । उन्होंने उप-रूपकोंका प्रसंग स्पष्ट रूपसे कही नहीं उठाया है। 'भाव-प्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदिमें दिये गये विविध उपरूपकों-का विस्तृत लक्षण इसका प्रमाण है कि उनके कालतक आते-आते नृत्यपर आधृत इश्यकाव्य साहित्यकी कोटिमें परिगणित होने योग्य बन गये थे। इनके पूर्व 'नाट्यशास्त्र', 'अग्नि-पराण', 'दशरूपक', 'प्रतापरुद्रीय', 'रसार्णवस्रधाकर'में उपरूपकोंका उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि १७ उपरूपकोंके नाम सर्वप्रथम 'अग्निपराण'में प्राप्त होते है, किन्त न तो उन्हें उपरूपककी संज्ञा दी गयी है और न उनके लक्षण या उदाहरण दिये गये है। इसी प्रकार यद्यपि धनंजयने एक स्थानपर लिखा है "डोम्बी श्रीगदितं भाणी, भाणी प्रस्थानरासकाः । काव्यं च सप्त नृत्यस्य, भेदाः स्यस्तेऽपि- भाणवत् ॥", पर उन्होंने कही भी इनके लक्षण एवं उदाहरण नहीं दिये। इसी प्रकार अभिनव गुप्तने दोिस्बका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेक्षणक, रासाकीड, हर्लीशक, रासक नामक उपरूपकोंका उल्लेख तो किया है, किन्तु इनका विवेचन कहीं नहीं किया। हेमचन्द्रने 'काव्यानु-शासन'में अभिनव गुप्तके नामोके अतिरिक्त श्रीगदित और गोष्ठीको भी संयुक्त कर दिया है।

शारदातनयने 'भावप्रकाश'में जिन बीस उपरूपकोंकी युथाविधि व्याख्या की है, उनकी नामावली इस प्रकार है-तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदितः भाणीः प्रस्थानः काच्यः प्रेक्षणकः सदृकः नाट्यरासक, लासक (रासक), उल्लोप्यक, हल्लीका, दुर्मिल्लेका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक। इस प्रकार यदि इन बीस उपरूपकोमें 'अग्निपुराण'का 'नाट्यदर्पण'का नर्त्तनक, 'साहित्यदर्पण'का विलासिका और अभिनवगुप्त द्वारा संकेतित तीन उप-रूपक और जोड दिये जायं तो सम्पूर्ण स्चीमे 🄏 उप-रूपक सम्मिलित हो जायँ। शारदाननयके पूर्व रामचन्द्र-ने 'नाट्यदर्पण'में जिन उपरूपकोंका नामोल्लेख किया है, वे है—सट्टक, श्रीगदित, दुर्मीलिता, प्रस्थान, गोष्टी, हल्लीशक, नर्त्तनक, प्रेक्षणक, रासक, नाट्यर।सक, काव्यः भाणः भाणिका ।

आज जो १८ उपरूपक सर्वमान्य वन गये है, उनके नाम एवं लक्षण आचार्य विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में विस्तारके साथ लिखे है, किन्तु उन्होंने उपरूपककी परिभाषा देनेकी आवश्यकता न जाने क्यो नहीं समझी। रूपकोकी नग्मावलीके साथ-ही-साथ १८ उपरूपकोंका नाम देकर वे लिखते हैं "अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिण-"। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वनाथके युगमे मनीषी व्यक्तियोमें १८ उपरूपक मान्य वन गये थे, इसी कारण इन उपरूपकोंकी पूरी व्याख्या और उनके उदाहरण देनेकी उन्हे आवश्यकता प्रतीत हुई।

विद्वानोने यह प्रश्न उठाया है कि भरत मुनिकी दृष्टिसे उपरूपक क्यों बच गये ? रामास्वामी शास्त्रीने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि उस कालमे नृत्य-रूपकोंका विकास नहीं हो पाया था। भरतने जिन नृत्य-प्रकारोका वर्णन किया है, उनमेसे कतिपय कोहलतक उपरूपककी स्थितितक पहुँच रहे थे, अतः कोहल तथा अन्य व्याख्याकारोंने उपरूपकोंकी सृष्टि की। हर्षकी तोटक नामक उपरूपककी व्याख्या, जिसका उल्लेख शारदातनयने वारहवी शताब्दीमें किया, इस तथ्यकी साक्षी है कि हर्षके युगमें उपरूपकोंका सर्जन हो चुका था।

उपरूपकोंके सर्जनकालके सम्बन्धमे विभिन्न मत है। कितपय विद्वान् कोहलको इसका श्रेय देते है (भावप्रकाश, भूमिका, पृष्ठ ५१)। दूसरा मत यह है कि उपरूपककी परिकल्पना रूपक शब्दके प्रचलनके उपरान्त ही सम्भव है। यद्यपि रूपक शब्दका प्रयोग धनंजयसे पूर्व आचार्योंने भी किया है, किन्तु रूपकके १० भेदोको रूपक नामसे अभिहित करनेका श्रेय सर्वप्रथम धनंजयको ही दिया जाता है। इसी प्रकार उपरूपकके निश्चित नामकरणका गौरव

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथको देना चाहिये। इसका कारण यह है कि विश्वनाथसे पूर्व आचार्य हेमचन्द्रने इन नृत्यमेदोको गेय रूपक और रामचन्द्रने 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर सम्बोधित किया है। अभिनव गुप्तने एक स्थानपर लिखा है—"एते प्रबन्धा नृत्तात्मकाः, न नाट्यात्मका नाटकादिविलक्षणाः"। इससे प्रमाणित होता है कि नृत्तपर आधृत होनेके कारण जिन प्रबन्धोमे नाटकीय तत्त्वोंका अभाव था, उन्हे रूपक या उपरूपककी कोटिमें परिगणित करना आचार्योंको अभीष्ट न था। कालान्तरमें जब वे प्रबन्ध नृत्यका अवलम्बन लेने लगे तो वे उपरूपकोंके समीप पहुँचने लगे। विश्वनाथके युगमें थे नृत्यपर अवलम्बन प्रबन्ध इतने प्रेक्षणीय और प्रिय बन गये कि आचार्योंने इन्हें उपरूपक नामसे विभूषित किया है।

जहाँ रूपकता उद्देश्य प्रेक्षकोके अन्तःकरणमें स्थित स्थायी भावको रसस्थितितक पहुँचा देना है, वहाँ उपरूपकका

प्रयोजन है उपयुक्त भावभंगिमाके द्वारा प्रेक्षकोके सम्मुख

किसी भाव-विशेषको प्रदर्शित करना । बाबू गुलाबरायका मत है कि इन उपरूपकोंकी हिन्दी-नाट्यकारोको आवश्य-कता नहीं प्रतीत हुई। उपहास काव्य, उपहास महाकाव्य-उपहास काव्य हास्य रसके अन्तर्गत आता है, जिसमे किसी व्यक्ति, वस्तु, रीति या पद्धतिकी उपहासपूर्ण निन्दा रहती है। इसमें किसी क्षद्र या हास्यास्पद आलम्बनको आधार बनाकर उसीके बहाने किसी गम्भीर तथ्य या ख्यात व्यक्तिकी हॅसी उड़ायी जाती है। पाश्चात्य देशोमें उपहास काव्य प्रधानतया दो प्रकारका होता था-(१) बरलेस्क या उप-हास काव्य, जिसमे पैरोडी, चरित्रोपहास (कैरीकेचर), व्याय (सैटायर) आदि सम्मिलित है, (२) उपहास महा-कान्य (मॉक हीरोइक या मॉक एपिक)। वस्तुतः उपहास महाकाव्य उपहास काव्यका ही एक रूप या अंग है। उपहास महाकाव्यमें किसी वीरकाव्य वीरभावना-प्रधान महाकान्य)की बाह्य शैली, भाषा, वर्णनविधि आदिका अनुकरण किया जाता है, किन्तु वर्ण्य विषय अत्यन्त क्षुद्र, महत्त्वहीन और हास्यास्पद होता है। अंग्रेजीमे पोपका उपहास महाकाव्य 'द रेप ऑन द लॉक' बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दीमे उत्तरमध्यकालके कवि अलीमुहिब खॉ 'प्रीतम'की 'खटमल बाईसी' (१७३० ई०) उच्च कोटिका उपहास काव्य है जिसमें बहुत ही उदात्त और अलंकृत शैलीमें खटमलकी महिमा वर्णित है, पर आलम्बनकी क्षद्रताका उस रौलीसे मेल न बैठने तथा खटमलकी महिमाका अति-श्योक्तिपूर्ण वर्णन होनेसे हास्य रसकी निष्पत्ति होती है। अतः उस कान्यमें प्रशस्ति कान्यकी अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति-का उपहास किया गया है। वेनी बन्दीजन (कविताकाल १७९२से १८२३)ने बहुतसे भंडीवे लिखे थे, जो हिन्दीके उपहास काव्यके उदाहरण है। आधुनिक युगमे कई कवियोंने हास्य रसकी कविताके अन्तर्गत उपहास कान्यकी रचना की है, जिनमे कान्तानाथ पाण्डेय 'चोच'का प्रबन्ध-काव्य 'चूनाघाटी' विशेष उल्लेखनीय है। उसकी रचना, आधुनिक युगीन वीरकान्य 'हल्दीघाटी'की शैलीमे, परन्तु उसीका उपहास करनेके लिए, हुई है। पति-पत्नीका गृह-पुद्ध उसका पर्ण्य विषय है। अतः उसे अंग्रेजीके उपहाम महाकात्यके ढंगका काव्य माना जा सकता है। — शं० ना० सि०

उपाख्यान – उप + आख्यान (ब्युत्पत्तिके लिए दे० — 'आख्यान')। किसी कथाके अन्तर्गत समाविष्ट अन्य कथा, जो स्वतः पूर्ण होती है, परन्तु उसका प्रयोग प्रधान कथाके अंगरूप होता है (दे० 'उपन्यास')।

उपादान लक्षणा- राद्धा लक्षणाका पहला भेद। यहाँ 'उपादान'का अभिप्राय है शब्दके मुख्य अर्थका अपने आपको संगत बनानेके लिए अपने अमुख्य अर्थका आक्षेप (स्वसिद्धये पराक्षेपः, का० प्र०, २:१०)। विश्वनाथके अनसार "वाक्यके अर्थकी अन्वय(तार्किक)सिद्धिके लिए जब मुख्य अर्थ किसी अपनेसे भिन्न अर्थका संकेत देता है, तो वहाँ उपादान लक्षणा होती है" (सा० द०, २:६)। वस्तुतः इस लक्षणाके प्रयोगमे मुख्यार्थका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थके साथ मुख्यार्थ संलग्न रहता है । इसी कारण कुछ आचार्योंने इसे अजहत्स्वार्थी कहा है। मम्मटने उपादान लक्षणाके उदाहरणमे 'कुन्ताः प्रविशन्ति, (भाले चले या चल रहे हैं) दिया है, यहाँ 'क़न्त' शब्दके अपने 'भाले' रूप मुख्य अर्थकी संगति (अन्विति) विठानेके लिए अपने अर्थसे सम्बद्ध 'कुन्तधारी' पुरुषरूप अमुख्य अर्थका आक्षेप लक्षित है। साथ ही इस शब्दकी लक्षणा 'उपादान'के कारण है, क्योंकि मुख्य अर्थके परित्यागपूर्वक एक भिन्न अर्थका ग्रहण है। विश्व-नाथने रूढि उपादान लक्षणाका उदाहरण भी दिया है-'इवेतो धावति' (सफेद दौडता है), यहाँ घोड़ेके लिए श्रेतका प्रयोग परम्परापर आधारित है, अतः रूढ़ि उपादान है। अजहत्स्वार्थाके उदाहरणके रूपमें विश्वनाथने दिया है-'कौओंसे दहीकी रक्षा करो'। यहाँ 'कौआ' शब्द उपलक्षण-मात्र है, अर्थात कौएके साथ अन्य सभी दहीके मक्षक जीवों-का संकेतग्रहण भी है। अतः यहाँ मुख्यार्थके साथ अन्य अर्थ भी लक्ष्यार्थमे सम्मिलित है। काञ्यगत उदा०— "स्वर्णलोंककी तुम अप्सरि थी, तुम वैभवमें पली हुई" (का० द०, पृ० ३६)। यहाँ 'अप्सार' शब्द अपने अर्थकी सिद्धि-के लिए 'अप्सराके समान सुन्दर' आदिक। आक्षेप कर लेता है। अतः इसमें उपादान लक्षणा है। उपाय-दे॰ 'महायान'।

उपाय कौशल ने द्ध पारिमताओं में से उपाय कौशल वह पारिमता थी, जिसके द्वारा बौद्ध मिश्च घूम-घूमकर जनतामें बुद्धका सन्देश और महायान धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करते थे। इसी उपाय कौशलके अन्तर्गत सन्धाभाषाका प्रयोग तथा चैत्य-निर्माण, प्रतिमांकन, संगीत आदि कलाओं के उपयोगका विधान था। बाद मे जब मैथुन-मावनाका विकास हुआ, तब उपाय कौशलसे तात्पर्य वैयक्तिक साथनामें मुद्रा-मैथुनकी गुह्य साधनासे हो गया।

उपालंभ-दे॰ 'सखी-कर्म'।

उपालंभ काव्य – संस्कृत काव्यशास्त्रके अन्तर्गत उपालम्भ शब्दकी स्वीकृति सखी-कर्म (दे०)के अन्तर्गत रही है। सखीके चार कर्मोंमें इसकी गणना की गयी है और हिन्दीके

नायक-नायिका-भेदके कुछ आचायोंने भी इसकी इसी रूपमें स्वीकार किया है। नायकको उलाहना देकर उसको नायिकाके मनोनुकूल कराना ही उपालम्भ है। परन्त काव्यशास्त्रकी यह स्वीकृत परिभाषा काव्यकी व्यापक अभि-व्यक्तिकी दृष्टिसे अत्यन्त संकुचित है। हिन्दी भक्ति-काव्यमें व्यापक रूपसे और गीति-काव्यमें परम्पराके रूपमे उपा-लम्मका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस काव्यमें मानवीय हृदयकी गहरी और मार्मिक अभिन्यक्ति हुई है। वस्तुतः उपालम्भ हमारी विशेष भावस्थितिका परिणाम है, जो केवल शृंगारकी सीमाओंमे नहीं बॉधा जा सकता! इसका मख्य आधार है साहचर्यकी सहानुभृति । उपालम्भ उलाहनामात्र नहीं है, उसमें न वास्तविक शिकायत रहती है और न प्रेम-पात्रकी निन्दा, यद्यपि इस काव्याभिव्यक्तिमे आभासित यही होता है। इसका आधार गहरी आत्मीयता और प्रेम है। प्रेमी अपने प्रेम-पात्रसे अलग होकर विकल और विह्वल हो जाता है। उसकी मिलनकी उत्कण्ठा तीव होकर उसे व्यथित कर देती है। पर इस भावावेगमें भी उसके मनमे प्रेमकी अनुभूति अधिक गहरी होती है। ऐसी ही मनः-स्थितिमें प्रेमी किसी सहदय सहचर या सहचरीको माध्यम बनाकर अपने प्रेमीको उपालम्म देता है। इस बहाने प्रेम-पात्रकी चर्चाके पक्ष सामने आते है, प्रेमका आवेग आश्रय पाकर विविध रूपोमे प्रकट होता है। इस सम्पूर्ण अभि-व्यक्तिकी केन्द्रीय भावना रहती है मिलनकी आशा-अभिलाषा। किसी-किसी स्थितिमें केवल अपने विश्वास और प्रेमकी अभिन्यक्ति इस प्रकार होती है। प्रेमके स्वरूप-के अनुसार यह आशा और विश्वास विभिन्न रूपोंमे प्रकट होता है।

शृंगारके वियोगपक्षमें उपालम्भ संयोगकी आकांक्षासे अनुगुंजित रहता है। उसमे प्रियका सारा पिछला प्रेम-व्यापार उमकी निष्ठुरताके रूपमें चित्रित किया जाता है, पर उसके मूलमे प्रेमिकाकी अपनी सुखद कल्पनाओंकी स्मृति अन्तर्निहित रहती है। साथ ही वियोगकी परिस्थिति-का दोषारोपण प्रियपर करके मिलन-कामना भी व्यक्त की जाती है। संयोग-शृंगारमें यही उपालम्भ नायकको स्वयं नायिका देती है, जिसके अन्तर्गत रीतिकालीन कवियो-ने नायकके अन्य नायिकाके रतिचिह्नोंका तथा उसके प्रति मुख्य नायिकाके इर्ष्याभावका कौशलपूर्ण वर्णन किया है। परन्तु यह संयोगका उपालम्भ केवल मानका अंगमात्र है, स्वाभाविक हृदयकी वेदनाकी अभिन्यक्तिका साधन नहीं। वियोगपक्षमें भी इस उपालम्भकी कई स्थितियाँ हैं। नाथिका विरह-वेदनाके बीच स्वगत रूपमें अपने प्रियको उपालम्भ देती है, परन्त्र इस उपालम्भमे वह स्वाभाविक तन्मयता और आञा-निराञाका स्पन्दन नहीं रहता। इसमें आन्त-रिक वेदनाका उद्देग रहता है, जो इस प्रकार मुखरित होकर वेदनाके क्षणोंको सत्य बनाता है। यही उपालम्भ जब किसी प्रकृतिरूप(पक्षी आदि अथवा मेघ-पवन आदि)का आश्रय लेकर प्रकट होता है तो भावोकी अभिव्यक्ति अधिक गहन हो जाती है। अपने आत्मीय विश्वासके सहारे प्रेमिका उसको सप्राण मानकर अपने साहचर्यमें ले लेती है और उससे अपने मनकी बात उपालम्भके रूपमें व्यक्त

करती है। परन्तु इस प्रसंगमें उपालम्म प्रायः सन्देश काड्यका अंग वन जाता है। कभी प्रियके सहचरके मिल जानेपर तो यह उपालम्म और भी मुखर रूप धारण कर लेता है। परन्तु इस प्रकारका उपालम्म हिन्दीके भक्तिकान्यमे ही विशेष रूपने मिलता है। वस्तुतः हिन्दी उपालम्म कान्यकी भावात्मक अभिन्यक्तिका उत्कृष्ट स्वरूप इसीमे रक्षित है। भक्तिसाहित्यमें गोपी, राधा आदिके उपालम्मके साथ ही कतिपय खलोपर यशोदाके मातृ हृदयका कोमल उपालम्म भी मिल जाता है और भक्तीकी, अपने आराध्यके प्रति अभिन्यक्त, विनय-भावनाके अन्तर्गत भी यह भाव मिलता है।

इस भावात्मक प्रवृत्तिका मूल लोक-भावना है, जो युगोसे प्रेम-विरहके गीतोके रूपमे अभिन्यक्त हुई है। लोक-नायिका अपने प्रवासी नायकके प्रति उपालम्मशील होती है और उसको चील्ह, कागा आदि पिक्षयोंके प्रति निवेदन करती है—साथ ही सन्देश देती है। कभी-कभी वह आगन्तुक पिथकको लक्ष्य करके भी निर्मोही प्रियको उपालम्भ देती है। परन्तु लोक-गीतोमें यह भावना न्यापक आधार भी प्रहण करती है। उस दृष्टिने नविवाहिता वधू अथवा विवाहिता बहिन अपने आत्मीय परिजनोंके बिछोहको अनेक बार उपालम्भके माध्यमसे न्यक्त करती है। वह अपने भाईको सुधिन लेनेके लिए उपालम्भ देती है। वस्तुतः इस कोमल संवेदनाको साहित्यमें अभिन्यक्तिका अवसर नही मिला है, पर लोक-कान्यमे इसका महत्त्व अत्यिक है।

भक्ति-काव्यके अन्तर्गत उपालम्म काव्यका प्रमुख आधार कृष्णका मथुराप्रवास है। कृष्ण गोकुल छोडकर मथुरा जाते है। गोपियाँ—वादमे राधा भी, गोप, यहोदा, नन्द, ग्वाल-वाल, सभी उनके वियोगमें दुःखी और व्यथित हो जाते है। कृष्णके वापस आनेकी आशा जब धीरे-धीरे नष्ट हो जाते है। कृष्णके वापस आनेकी आशा जब धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है तब उनकी आकुलता अधिक बढ़ जाती है। अन्ततः गोपियोकी वियोग-वेदना उपालम्भके रूपमें व्यक्त होती है। इसी बीच कृष्ण उद्धवको गोपियोकी समझानेके लिए भेजते है। उनको पाकर तो गोपियोकी वेदना जैसे मुखर हो उठती है। वे सब उद्धवको उपलक्ष्य करके कृष्णको नाना प्रकारसे उपालम्भ देती है (श्रीमद्भागवत, स्क० १०)।

इसी प्रसंगको काव्यमें 'अमरगीत'का नाम भी मिला है। आगे चलकर कृष्ण-काव्यमें उपालम्भ काव्य तथा अमरगीत पर्यायरूपमें प्रयुक्त हुए है। हिन्दी साहित्यमे सर्वप्रथम मैथिली किव विद्यापतिके पदोंमें राधाका कृष्णके प्रति उपालम्भका उद्देगपूर्ण चित्रण है। विद्यापतिकी राधाके उपालम्भमें भी उनकी यौवनोद्देलित विकलताका आवेग है। स्रकी गापियोंके उपालम्भके दो स्थल है। पहली स्थितिमे गोपियाँ कृष्णके न आनेपर उनकी निष्ठुरता आदिके प्रति उपालम्भरील अपनी विरह-वेदनाके क्षणोमे होती हैं। दूसरा स्थल वह है, जब उद्धवका आगमन होता है और गोपियाँ उनके निर्णुणके उपदेशके उत्तरमें उपालम्भका व्यंग्यके साथ समावेश करती हैं। अमरगीतके इस प्रसंगमें उपालम्भको सावना निरन्तर सिन्नहित रही है और

वास्तवमें गोपियोंके व्यंग्य और कट्रक्तियोंकी व्यंजना यही है। स्रके आधारपर अन्य कृष्ण-भक्तोंने इस प्रसंगकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है। नन्ददासके भ्रमरगीतमे यही भावना श्रीमङ्गागवतके आधारपर व्यक्त हुई है। आधुनिक काल्मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने स्रके आधारपर 'चन्द्रावली'में इसका व्यापक चित्रण किया है। इसी प्रकार 'रत्नाकरके' 'उद्धव-शतक'में रीतिकालीन शैलीमें यही प्रसंग विदग्धताके साथ प्रस्तुत किया गया है।

दास्यभावके भक्तीकी अभिन्यक्तिके अन्तर्गत भी उपालम्भकी भावना मिलती है। अपने प्रभुके प्रति दृ विश्वासके साथ सूर आदि भक्त अपने प्रभुको उपालम्भ भी देते
है—प्रभुने सबको तारा है तो उनकी बार विलम्ब क्यों?
तो उनके प्रति यह उदासीनता कैसी?—इसी प्रकारकी
जिक्तयाँ इन भक्तीके विनयपदोमे पद-पदपर मिलती है।
आधुनिक कालमे इस भावनाकी अभिन्यक्ति देशप्रेमके
अन्तर्गत हुई है। सत्यनारायण कविरत्नने अपने 'भ्रमरगीत'मे देश-माताको यशोदाके रूपमे चित्रिन किया है,
जो कृष्णको देशके उद्धार न करनेके लिए उपालम्भ देती
है। इसी प्रकार कई अन्य कवियोने अपनी भावनाको व्यक्त
किया है।

उपेंद्रवज्रा—विर्णिक छन्दोंने समवृत्तका एक भेदः 'पिंगलस्त्र' (६:१७) और 'नाट्यशास्त्र' (१६:३३)के लक्षणके अनुसार जगण, तगण, जगण और दो गुरुओके योगसे यह वृत्त बनता है (ISI, SSI, ISI, SS) तथा ५, ६ वर्णो-पर यित होती है। इन्द्रवज्राके प्रथम वर्णको लघु करनेसे यह वृत्त बनता है। ई० वर्नन आर्गांडने 'हिस्टारिकल डेवेलप्मेण्ट् ऑव वैदिक मीटर'मे इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राको एक ही माना है, क्योंकि दोनोकी लय समान है। 'रामचन्द्रिका' और 'साकेत'मे इस छन्दका प्रयोग हुआ है। उदा०—''अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो। अनेकथा वेदन गीत गायो। तिन्हे न रामानुज वन्धु जानो। सुनी सुधी केवल ब्रह्म मानी'' (रा० चं०, १०, ४०)।

उर्जस्वत्-दे० 'रसवत्' आदि ।

उद्-उर्द् शब्द मूलतः तुर्कीं भाषाका है (अंग्रेजी 'होर्ड' तथा रूसी 'ओर्द' इसीमे प्रस्त है)। यह शब्द ईरानमे मंगोलीकालका एक स्मारक है। इसका वास्तविक अर्थ है 'उमरा एवं सलातीतकी फिरोदगाह' या 'शाही शिविर'। भारतमें यह शब्द सम्भवतः बाबरके साथ आया और शाही शिविर या शाही किलेके अर्थमें सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ।

किन्तु आज इस शब्दका प्रयोग पाकिस्तानकी राजभाषा-के लिए तथा भारतवर्षमे हिन्दीके उस दूसरे रूपके लिए होता है, जो भारतके शिक्षित मुसलमानोकी साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा है। उर्दू खडीबोलीका हो वह आधु-निक या साहित्यिक रूप है, जो फारसी लिपिमे लिखा जाता है और जिसमें फारसी-अरबी शब्दोंका बाहुल्य रहता है। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू, दोनोका एक ही मूल होनेके कारण भी साहित्यिक वानावरण, शब्दसम्इ तथा लिपिमें भेद होनेके कारण दोनोंमे बहुत अन्तर दिखाई पडता है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे मूलतः दोनों ही एक है, किन्तु साहित्यिक दृष्टिने दोनों दो भाषाएँ प्रतीत होती है।

अपने आरम्भिक अर्थसे किस प्रकार यह शब्द एक

विशिष्ट भाषाका द्योनक हुआ, इसका शताब्दियोंका इतिहास है। भारतमें आकर मुसलमानोने दिही-मेरठकी बोलीको अपनी बोलचालके लिए चुना । दरबारोंमे राज्यकार्य फारसी-मे होता रहा, किन्तु साधारण व्यवहारके लिए देशी बोलीका प्रयोग होता रहा, जिसे मुसलमानोने हिन्दी या हिन्दवी नाम दिया (दे०—'हिंदी, हिंदवी')। मुसलमानी सेनाके सैनिकों, शामकों तथा निर्गुण सन्तोके द्वारा इसे अन्तः-प्रान्तीय रूप मिला। बीजापुर, गोलकुण्डा आदि दक्षिणी मुसलमानी राज्योंने राजभाषाके रूपमें इसे अप-नाया और साहित्यमें इसका प्रयोग किया। दिक्खनी हिन्दी या हिन्दवीका ही समानार्थक शब्द है। रेखता नामक छन्दमे इस भाषाके साथ-साथ कुछ फारसी और अरवीके शब्द भी मिलाये जाने लगे। धीरे-धीरे कविताकी इस भाषाको रेखतेकी बोली कहने लगे। बादमे 'रेखता' शब्द ही भाषाके अर्थमे रूढ हो गया। उत्तरी भारतमें मुगलोकी राजधानी बजप्रदेश आगरामें होनेके कारण देशी भाषाओमें कविता, संगीतके क्षेत्रमे ब्रजको विशेष प्रश्रय मिला, यद्यपि खडीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवी रूप भी बोलचालमें प्रयुक्त होता रहा। शाहजहाँने अपनी राजधानी आगरासे दिली बदली और शाहजहानाबादके नामसे नयी दिल्ली बसायी। अतः दिही-मेरठकी बोलीको उन्नत करनेका फिरसे अवसर मिला। शाहजहानाबादके लालकिलेको अथवा शाही महलमें जो बाजार अमीर, उमरा अथवा बादशाह और बेगमोके लिए लगता था, उसे उर्दू-ए-मुअलाकी संज्ञा दी गयी। उर्दू-ए-मुअलाके ये लोग खडीबोलीसे विकसित हिन्दी या हिन्दवीमें आगराकी ब्रजभाषाकी मिठास मिलाकर अपने साथ लाये थे। धीरे-धीरे उसमें फारसीका शरीफाना रंग चढता गया। इन लोगोंकी जबानको ही जबान उर्दू-ए-मुअला कहा गया। जिस समय वली औरंगाबादी दिक्खनसे उत्तरकी ओर शाहजहानाबादमे आये, उस समय-तक भी इस जबान उर्दू-ए-मुअछामें कविता नहीं लिखी जा रही थी। वलीके दीवानसे प्रेरणा लेकर शिष्ट, शिक्षित मुसलमान कवियोने जनान उर्दू-ए-मुअलाको कविताके लिए अपनाया और सामान्य दिनखनीकी तुलनामे इसे अत्यन्त शिष्ट और सुसंस्कृत पाया । धीरे-धीरे जबान उर्दू-ए-मुअलासे पहले 'मुअल्ला' शब्द, फिर 'जबान' शब्द छूट गये और केवल 'उर्दू' शब्द ही शाही किले, शाही वातावरण-से सम्बन्धित सुसंस्कृत मुसलमानोकी शिष्ट भाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। इंशाअल्ला खॉ (दरिया-य-लताफत, १८०८ ई०)में स्वयं लिखते है "बादशाहों, और उमरा और उनके दरबारियों और हाजिरबाशोसे उर्दकी सनद लेनी चाहिये" (देखिये, वही, पृ०६५, उर्दू अनुवाद)। शाहजहानाबादके समस्त निवासियोंकी जबानको 'उर्दू' कहनेके लिए इंशा तैयार नहीं है। उनके अनुसार "उर्दू जो फसाहत और बलागतकी कान मशहूर है, वह हिन्दोस्तानके बादशाहकी और चन्द अमीरों और उनके मुसाहिबों और बेगम व खानमकी और कस्बोंकी जबान है। जो लक्ज उनमें इस्तेमाल हुआ उर्दू हो गया। यह बात नहीं कि जो कोई भी शाहजहानाबादमें रहता है, वह जो कुछ बोले, सनद है" (देखिये, दिरया-य-लताफत, पृ० १०८)। उर्द्के निर्माणकी कहानी खयं इंशा इस प्रकार कहते है, "यहाँ (शाहजहानाबाद)के खुश बयानोने मुत्तलक होकर मुतादद जबानोसे अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अलफाजमें तसर्फ करके जबानोंसे अलग एक नयी जबान पैदा की, जिसका नाम उर्दू रखा" (वहीं, पृ० ४)। मीर अम्मन देहलवींके अनुसार 'उर्दू बाजारी और लटकरी माषा' है। उपर्युक्त कथनसे मीर अम्मनका कथन प्रामाणिक भी प्रतीत होता है। उर्दू यदि बाजारकी भाषा है तो वह शाही बाजार ही है, सामान्य बाजार, सामान्य लटकर नहीं।

प्रो॰ शेरानीके अनुसार "खान साहब (सिराजुद्दीन अली खॉ) गालिबन पहले शख्स है, जो उर्द्का लफ्ज बमानी जबान इस्तेमालमें लाये है" (देखिये, ओरियण्टल कालेज मैगजीन, १९३१ ई०, पृ० १४)। कुछ लोगोके अनुसार मुसहफीने उर्दू नामका प्रयोग भाषाके अर्थमे सर्व-प्रथम किया । मीर तकी मीरने १७५२ ई०मे निश्चित रूपसे जबान उर्द-ए-मुअल्ला नामका प्रयोग किया । वाकर आगाह नामक दक्षिणके शायरने १७७२ ई०में और अली इबाहीम खॉने १७८३ ई०में तथा अता हुसेन खॉ तहसीनने 'नौ तर्ज मरस्सा' (१७७०-१७९३ ई०)मे जबान उर्दू-ए-मुअछा-का उल्लेख किया। मीर अम्मन तथा इंशाने इसी भाषाको उर्दू कहा। फोर्ट विलियम कालेजके हिन्दुस्तानी विभागके अध्यक्ष गिलकाइस्ट इसे ही हिन्दुस्तानीकी दरबारी शैली मानते है। कालेजमें हिन्दुस्तानीके नामसे इसका ही अध्ययन-अध्यापन होता था। धीरे-धीरे १८२३ ई०के पश्चात् विलियम प्राइस आदिके समयसे हिन्दीका महत्त्व बढ़ने लगा, किन्तु किसी विशेष कारणसे अंग्रेजोंने हिन्दस्तानी उर्दको विशेष प्रश्रय दिया। —मा० व० जा० उर्द (साहित्य) - मुहम्मद गोरीने जब ११९९ ई०में देहलीपर विजय पायी और कुतुबुद्दीन ऐबकने शासन सँभाला तो फारसी और पंजाबीके वे शब्द जो, लाहौरमें पहलेसे बोले जाते थे, यहाँकी खडीबोलीमें घुल-मिल गये और व्रजमाषा, राजस्थानी तथा हरयानी भाषाओंके शब्द मिल-मिलाकर एक नयी बोली तैयार हो गयी, जिसको अमीर ख़ुसरो (१२५५-१३२५ ई०)ने 'हिन्दवी' य। 'देहलवी' कहा है। अमीर ख़ुसरो फारसीके प्रसिद्ध शायर थे। उन्होंने 'हिन्दवी' जबानमे भी पहेलियाँ, दोहे-चौपाइयाँ और शेर लिखे हैं। उन्होंने ऐसी गजले भी लिखी है, जिनमें एक बोल फारसीका है और दूसरा हिन्दवीका, इसीलिए इस भाषाको आगे चलकर रेखता कहने लगे, जिसका अर्थ है बहुत-सी चीजोंका सम्मिश्रण।

अमीर खुसरोसे पहले इल्तुतिमिशके जमानेमें सुफी कुतुब साहबने देहलीको अपना केन्द्र बना लिया था। तबसे दिल्ली स्फियोका केन्द्र बन गयी। प्रारम्भसे ही इन स्फियोकी नीति यह रही कि वे धर्मप्रचारमे 'हिन्द्वी' जबानका प्रयोग करते थे, क्योंकि इसी भाषासे वे जनता-तक पहुँच सकते थे।

अलाउद्दीन खिलजीने जब गुजरात और दकनपर विजय पायी तो उधर भी सुिफयों द्वारा हिन्दवी भाषा पहुँची। ख्वाजा गेस दराजने 'मेराजुलआशिक्षीन' लिखी, जो उर्दू गद्यकी पहिली पुस्तक कही जाती है। इसके अतिरिक्त देहलीके सूफियोंके चेले देशके कोने-कोनेमे फैल गये और हर तरफसे 'हिन्दी' द्वारा अपने विचारोंको प्रकट करते रहे। अपनी कविताओमे वे जो छन्द प्रयोग करते थे, वे कभी फारसी होते थे और कभी स्थानीय । शब्दोंके प्रयोगमे भी इन सुफियोंने फारसीके मौलिक रूपपर ध्यान नहीं दिया, वल्कि उसी उच्चारणका प्रयोग किया, जो जनता प्रयोग करती थी। उन्होंने अपने उपदेशोंमें भारतीय विचारोंसे भी बहुत-कुछ लिया। हिन्दीके कुछ कवियोंपर इन स्फियोंका प्रभाव साफ देखा जा सकता है, जैसे नामदेव, कवीर, रविदासकी भाषा इन स्फियोंसे बहुत-कुछ मिलती-ज़लती है। केवल अन्तर है तो इतना कि ये कवि हिन्दी छन्दोंका प्रयोग करते है और विशिष्ट शब्दावली हिन्दू धर्मसे ग्रहण करते है।

्रकनमें बहमनी वंशका राज्य ट्रटनेके बाद हिन्दवी भाषाकी उन्नतिके दो बड़े केन्द्र बीजापुर (१४९० ई०) और गोलकुण्डा (१५१८ ई०) हो गये। गोलकुण्डाके कुतुव शाही राजा केवल लेखकोंकी सहायता ही नहीं करते थे, बल्कि स्वयं शायरी भी करते थे; इस वंशके चौथे राजा मुहम्मद कुली कुतुव शाह (१५८०-१६११ ई०)का विस्तृत प्रन्थ विद्यमान है, जिसमे हर प्रकारकी कविताद है। इनके दरवारसे जो प्रसिद्ध कवि सम्बन्धित थे, उनमे पजहीं, गञ्चासी और इन्नेनिशाती मशहूर है। बीजापुरके आदिल शाही राजा कला और शायरीके बड़े संरक्षक थे। उनके दरवारके प्रसिद्ध कि मुकीमी, रुत्तमी, नुसरती आदि है। इन कियोने दकनके विशेष वातावरणको समाहित करते हुए देहलवी या हिन्दवीकी विशेष दकनी शैलोमे लिखा।

तैम्र्के हमले (१३९८ ई०)के बाद दो स्फी कुतबुल आलम और शेख अहमद गुजरात चले गये थे, जहाँ उन्होंने अपने विचारोंके साथ-साथ हिन्दवी भाषाका भी प्रचार किया। धीरे-धीरे यहाँके वातावरणसे प्रभावित होकर देहलवीकी एक गुजराती शैली हो गयी, जिसका प्रयोग गुजरान, काठियावाड तथा आसपासके लोग करते थे। 'खूब' मुहम्मद हुसेनकी 'खूब तरंग' और अमीनकी 'यूसुफ-जुलेखा' इस शैलीके प्रसिद्ध नमूने है।

मुगल-शासनके बाद हिन्दवी जबानकी और उन्नित हुई। फारसीके शब्दोंका प्रयोग बढ गया और इस भाषाका नाम हिन्दवीसे रेखता हो गया। फिर शाहजहाँके समयमें रेखतासे इसका नाम बदलकर 'उर्दू' पड़ गया, परन्तु उर्दू शब्दके लिए रेखता शब्द मुगल-शासनके अन्तिम समयतक (१८५७ ई०) प्रयोग होता रहा।

औरंगजेबके दकनपर विजयी होनेके बाद (१६८७ ई०) उर्द्की दकनी और गूजरी शैलियोपर फारसीका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वली जब देहली आये तो एक स्फी बुजुर्ग शेख सादुल्लाह 'गुलशन'ने उनको निर्देशित किया कि फारसी परम्पराओंका उर्द्भें प्रयोग करें। उन्होने यह बात मानकर बिलकुल फारसीके ढंगपर उर्द्भें शेर कहना आरम्भ किया।

यह तर्ज लोगोंको ऐसी पसन्द आथी कि उनके बाद सबने यही राह पकड़ ली। देहलीमे फायना, आवरू, हातिम, मजहर आदिने पिगलको एक स्थिर रूप दिया और वाक्योंको भी फारंसी तर्जपर ढाला और फारसीमे जितने काव्य-रूप प्रचलित थे, उन सबको सफलतासे अपनाया।

हातिम, आबरू आदिके बाद मीर, सौदा, दर्दने उर्द कान्यको प्रोत्साहित किया। उनके कारण यह जमाना उर्द्का स्वर्णयुग कहलाता है। सामाजिक दशाओंसे घबराकर मीर, सौदा और बहुतसे शायर लखनऊ चले आये, जहाँका शासन बहुत अच्छा था। वहाँके नवाब भी कलाके बड़े प्रेमी थे। यहाँ इंशा और मुसहफी और उनके बाद नासिख, आतश आदिने गजलमे नाम पैदा किया। मसनवीमे मीर इसनने अपना क्रमाल दिखाया और मरसियेमें जमीर, अनीस, दबीर आदिने परम्परासे हटकर एक विस्तृत साहित्यको जन्म दिया, जिसमें इमाम हुसेनके बलिदानको महाकाव्यके ढंगपर वर्णित किया । भाषाका भी उन्होने क्षेत्र और बढा दिया । लखनऊ स्कूलने जवानकी सफाई और घुलावटमें बडी उन्नति की। नासिख इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। अवधके नवाबोंने, विशेषकर वाजिदअली शाहने उर्दू साहित्यको बडा प्रोत्साहन दिया। कवियोंकी सहायताके अलावा उन्होंने स्वयं पचहत्तर छोटी-बडी पुस्तके लिखी, जिनमे कुछ रहस्य भी है। इन रहस्योको रंगमंचपर खेळनेका भी प्रबन्ध किया गया । इन्हींके प्रभावसे उर्द्का पहला नाटक 'इन्दर-सभा' अमानतने लिखा।

इसी समयमे देहलीमें जौक, मोमिन और गालिबने उर्दृ कविताको ऊपर उठाया और उसमे दाईनिक विचार प्रकट किये। उधर कलकत्तामे फोर्ट विलियम कालेजकी अधीनतामे गचकी पुस्तकें लिखी जा रही थी और सरल उर्दू भाषाकी नयी शैलीका प्रचार किया जा रहा था।

गजलमें तो गालिव (१७९७-१८६९ ई०)ने भावना और आध्यात्मिक विचारोंके साथ दार्शनिक तत्त्व बढ़ाये। इसके साथ-दी-साथ उन्होंने अपने खतोंमे ऐसी सरल भाषा लिखी कि उर्दू गद्य, जो (फोर्ट विलियम और सैयद इंशाकी 'रानी केतकीकी कहानी'के अलावा) बड़ी सुसज्जित लिखी जाती थी, सरलताके मार्गपर चल पड़ी। इसके साथ-दी-साथ यह भी हुआ कि इस समयसे उर्दूके विद्वान् उर्दूमें पत्रव्यवहार करने लगे, वर्ना इस कामके लिए अधिकतर फारसीका प्रयोग होता था।

१८५७ ई०के असफल स्वतन्त्रता-संग्रामने भारतके सामाजिक ढाँचेको नया रूप दिया। अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी शिक्षा हर तरफ फैल्ने लगी और पाश्चात्य संस्कृतिका प्रभाव बढ़ने लगा। इस कालमे सर सैयद अहमद खाँ (१८१७-१८९५ ई०) प्रमुख है, जिन्होंने सरल उर्दूके साथसाथ बौद्धिकताका भी प्रचार किया और 'अलीगढ़ साइंटिफिक सोसाइटी' स्थापित करके उर्दूमें गम्भीर साहित्य उत्पन्न किया। उनके असरसे पाश्चात्य विचार लोगोमे फैले। दास्तानोंको छोड़कर नजीर अहमद-(१८३१-१९१२ ई०)ने १८६९ ई०में उर्दूका पहला उपन्यास 'मिरातुल अरुस' (दूल्हनका) आहना लिखा। इसके बाद

नजीर अहमदकं अलावा रतननाथ 'सरशार' (१८४६-१९०२ ई०), सज्जाद हुसेन, मुहम्मद अली, शरर, हादी रुसवा, राशिद्रल खैरी आदिने उपन्यास-लेखनमे प्रसिद्धि प्राप्त की। गजलके पुराने ढंगमें दाग और अमीर मीनाईने शोखी और मुहाविरेके गुण दिखाये, साध-ही-साथ लाहौरमें मुहम्मद हु तेन 'आजाद'ने वहाँके शिक्षाविभागके अंग्रेज डाइरेक्टरकी सहायतासे 'अंजुमने पंजाब' स्थापित की (१८६७ ई०)। इस अंजुमनकी अधीनतामे १८७४ ई० से ऐसे मुशायरे होने लगे, जिनमे मिसरा, तरहके बजाय कोई त्रिषय दिया जाने लगा और लोग उस विषयपर नज्मे लिखकर उन मुशायरोमे पढने लगे। इस तरह उर्दूमे नथी कविता प्रारम्भ हुई, जिसका शुरूमे तो लोगोने मजाक जडाया, परन्तु हाली, इस्माईल आदिकी सहायतासे यह आगे वढी और फिर इकबाल (१८७५-१९३८ ई०), जोश, जफरअली खाँ आदिने इसमें दर्शन, प्रकृतिकान्य तथा राजनीतिके तत्त्व भरे। २०वी शताब्दीमे भारतके राज-नीतिक आन्दोलन और अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक वातावरणसे उर्दू कविताने बहुत असर लिया। उर्दू कवियोने 'होमरूल' अन्दोलनसे लेकर स्वतन्त्रतातक तमाम राजनीतिक उतार-चढ़ावपर बडी जोरदार और जोशीली नज्मे लिखीं, विशेष-कर ब्रिटिशसाम्राज्य शाहीके विरुद्ध तो उर्दू कवियोकी नज्में देशभरमे प्रसिद्ध हुई है। पहली बडी लडाई (१९१८ ई०)-के बाद रूसी क्रान्तिने भी उर्दू कवियों और लेखकोंको प्रभावित किया। इसके साथ-साथ रोमाण्टिक उर्दू कवियो और लेखकोका भी एक स्कृल पैदा हो गया, जिसने बडी खुबसुरत कविताएँ और कल्पनाके सुन्दर रूपोमें उपन्यास और लेख लिखे। अख्तर शीरानी, सज्जाद हैदर आदि इस मतके अनुयायी हैं।

१९३५ ई०से उर्द्मे प्रगतिवादका प्रचार हुआ और यह वाद उर्दूपर इतना छा गया कि आज निन्यानवे प्रतिशत चोटीके लेखक उसके माननेवाले है। कहानी, उपन्यास, समालोचना, सब शाखाओमें उन्नति हो रही है और भारतके कोने-कोनेमें इसकी कविताओ और गजलोने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि फिल्मते लेकर बाजारतककी जबानपर उर्दू छायी हुई है।

उर्दूमें साइंटिफिक कितावें अवध दरवारकी अधीनतामें सन् १८४० ई० से लिखवायी और अनुवाद करवायी जाती थी। सर सैयदने भी इसमें हाथ बॅटाया और बीसवी शताब्दीमें हैदराबादके निजामने जो 'ट्रान्सलेशन ब्यूरो' स्थापित किया, उसने कुछ दिनोमें उर्दूमें भिन्न-भिन्न विषयोंपर प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तकोका अनुवाद कर दिया, जिससे हैदराबाद और जामिया मिलिया देहलीमें बी० ए०तक सब विभागोमें उर्दूके माध्यमसे पढाई होने लगी। इसके अलावा भी बहुतसे प्रसिद्ध विद्वानोंने कितावें लिखी और उर्दू साहित्यको समृद्ध किया।

डर्ट्को पढ़ते समय यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि यह खास भारतकी भाषा है और उस सभ्यताकी निश्चानी है, जो मुसलमानीके हिन्दुस्तानमें बसने और हिन्दुओं से भाईचारा रखकर सम्मिलत हो जानेसे उत्पन्न हुई है।

स्वतन्त्रताकी घोषणाके बाद साम्प्रदायिक दंगोने जो हलचल मचायी, उसमें भी उर्दू किवयो और लेखकोंने अच्छा काम किया। कृष्णचन्दर, मंटो, ख्वाजा अहमद अब्बास, इस्मत चगताई आदिने कहानियोंमें और जोश, सरदार जाफरी, वामिक आदिने किवताओंमे शान्तिमय वातावरणकी आकांक्षा व्यक्त की। गान्धीजीकी मृत्यु और उसके पश्चात् शान्ति-आन्दोलनमें भी उर्दू किव अपना कर्तव्य पूरा करते रहे हैं।

उलटा कुवाँ-दे० 'हठयोग'। **उलटा साधना** – न केवल नाथ-पन्थ और सन्त-मतमे, वरन् उस युगकी तमाम छोटी-छोटी धर्मसाधनाओमे भी साधनाके साथ उलटा विशेषण जोडनेकी प्रथा थी। इसका एक विशेष अर्थ था। लगभग सभी तान्त्रिक पद्धतियों मे वामाचारकी प्रधानता थी। उसके दो अर्थ थे, एक तो वामा-युक्त साधना और दूसरे लोकप्रचलित साधनाके सर्वथा विपरीत साधना । सिद्धोमे मुद्रा-मैथुन तो प्रचलित था, किन्त उलटा साधना शब्दका प्रयोग उन्होने नहीं किया। सूर्यको उलटकर चन्द्रमें लीन करनेका रूपक अवइय चर्याण्दोंमे मिलता है। नाथ-योगियों और सन्तोमे इसका मुद्रा-मैथुनपरक अर्थ तो विछप्त हो गया, हठयोग-परक अर्थ प्रचलित हो गया। उसमे उलटा साधनाके अर्थ थे श्वास-निरोध द्वारा गंगा (इडा)को उलटकर यमुना (पिंगला)मे मिलाना या सूर्यको उलटकर चन्द्रमें विलीन करना। ---ध० बी० भा० उलूक-इसका आजकल अर्थ उल्लू लिया जाता है-पक्षी तथा व्यक्ति दोनोंके लिए। 'सर्वदर्शन संग्रह'मे कणादके वैशेषिक दर्शनको औऌक दर्शन कहा गया है। टीकाकार इसके दो कारण देता है—(१) कणाद उल्लक ऋषिके वंशज थे, (२) शिवने उल्काका रूप धारण कर कणादको छः पदार्थींका ज्ञान दिया था। पाणिनि (४,१,१०५) तथा 'वायुपुराण'में उऌूक नामक न्यक्ति (पुराणमे ऋषि)का उल्लेख है। 'महाभारत' तथा 'हरिवंश'में उलूक जातिकी चर्चा है। 'महाभारत'मे शकुनिके भाईका नाम उल्लुक कहा गया है। लगता है शकुनि तथा उल्रुक, गिद्ध तथा उल्लुके,

शिव और उल्लंका सम्बन्ध प्रतिपादित करनेवाले अन्य सूत्र भी है। भण्डारकरने शिवको एक अवतारका नाम बताया है (ज॰ ए॰ सो॰, बम्बई, जिल्द २२)। वैशेषिक दर्शनमे शिवको बहुत महत्त्व दिया गया है—"जिस प्रकार चमड़ेसे आकाश मढ़ाना असम्भव है, उसी प्रकार शिवको जाने बिना दुःखोंका नाश (मुक्ति) भी असम्भव है। आगम, अनुमान और पूर्ण ध्यानके सहारे मनको शिवमें लगानेसे उत्तम योग प्राप्त होता है"। स्पष्ट है कि शिवमें इतनी आस्था पाशुपतोंकी आस्थाकी समशीला है।

टोटमवाली जातियाँ थी । जाति तथा देशके नामपर

व्यक्तियोके नामकी प्रथा मिलती है।

उल्लंक पर्यायनाची 'कौशिक' है। प्राचीन साहित्यमें कुशिक नामके एक मुनिका उल्लेख मिलता है, जो लाकु-लीश (दे॰ 'लाकुल')के शिष्य थे और उन्हींके नामपर सम्चे उल्लं सम्प्रदायकों कौशिक कहा जाता है। उल्लंक लोग लाकुलीश पाशुपत मताबलम्बी थे, अतः लाकुलीशकों

शिष्य कुशिक निरुचय ही पाशपत शैव होंगे। कौशिकका उल्लू अर्थ इसका सबसे बडा गवाह है। 'शून्य पुराण'में धर्म और कर्मके अतिरिक्त निरंजन देवके दो सहायक और बताये गये है-हंस और उल्का । लक्ष्य है कि 'शून्य पराण'वाली कहानीका झकाव शिवकी ओर अधिक है. अतः उल्काका शिवसे कोई निकटका रिश्ता लेखककी पूर्व-वर्ती परम्परासे जरूर होगा। आगे चलकर हंस, कुर्म, धर्म सभीके सन्धान मिल जाते है, पर उल्लक्का कही पता नही उल्लाप्य-एक अंक, धीरोदात्त नायक, दिव्य कथा, चार नायिकाओंका उपरूपक है। इसमें शृङ्गार, करुण, हास्यकी प्रधानता रहती है । इसकी अभिनय-प्रणाली संग्राम-बहुल होती है और शिल्पकके सत्ताइस अंगोंका निर्वाह होता है। कुछ विद्वान् तीन अंकोंका भी उल्लाप्य मानते है । उदा०—'देवी महादेव' । अन्य वातोंमे नाटकसे समानता है। उल्लाला – मात्रिक अर्द्धसम छन्द । 'प्राकृतपैगलम्' नथा अन्य अपभ्रंश छन्द-ग्रन्थोमें उल्लालाका विवेचन किया गया है (प्रा० पै० १: ११८) । अपभ्रंश-साहित्यमे इसका प्रयोग इस प्रकार निश्चित रूपमे अनुमित किया जा सकता है। इसके पहले और तीसरे पदमे १५, १५ और दूसरे और चौथे पदमें १३, १३ मात्राएँ होती है। उल्लालाका प्रयोग स्वतन्त्र भी मिलता है, किन्तु छप्पय जैसे छन्दोके साथ इसका प्रयोग बहुत प्रचुरताके साथ हुआ है। भानुने इसका नाम 'उछाल' दिया है। उदा०-"'हरिहर भगवत सुन्दर स्वामी, सबके घटकी तुम जानी। मेरे मनकी कीजे पूरी, इतनी हरि मेरी मानो ।"(छं० प्र०, पृ० ८९) । सूदनने इसका प्रयोग 'सुजानचरित'मे किया है।—रा० सिं० तो० उल्लास १ - अर्थालंकार, एकके गुण तथा दोषके प्रभावसे दूसरेमे गुण तथा दोषके आधानके चमत्कारपूर्ण (उल्लसित) वर्णनमें 'उल्लास' अलंकार होता है। सम्भवतः जयदेवने इसका सर्वप्रथम लक्षण दिया है—''अन्यमहिम्ना चेदोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते" ('चन्द्रालोक', ५: १०१), अन्यकी महिमा और दोष अन्यत्र वर्णित हों। 'क़ुवलयानन्द'मे 'उछास'को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, किन्तु मम्मट आदि आचार्यींने इसका उल्लेख नही किया है। 'रसगंगाधर'-में लिखा है कि कुछ आचार्योंके मतमे यह 'काव्यलिंग'के अन्तर्गत है। उद्योतकार इसके दो भेदों (दोषसे दोष और गुणसे दोष)को 'विपम'के अन्तर्गत मानते है। हिन्दीमें जसवन्तसिंहने जयदेवके आधारपर एकका उदाहरण दिया है, पर मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि अधिकांशने 'क़ुवलयानन्द'के आधारपर चारो स्थितियोंके उदाहरण दिये है। मतिरामने इसकी परिभाषा दी है—'औरैके गुण दोष ते औरैको गुण दोष' (ल० ल०, ३१३)। इसी प्रकार

उदाहरण—१. गुणसे गुण—"तिजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग। जिहिं बज केंछि निकुंज मग, पग पग होन प्रयाग" (वि० रत्ना०, २०१)। यहाँ कृष्ण और राधाके शरीरकी द्यति (उज्ज्वल नखप्रभा, लाल

पद्माकरका लक्षण है—"ज़ गुन दोष ते औरके, थपै अनत

गुन दोष" (पद्मा०, २२३)।

तलवा तथा ज्यामल चरण-पृष्ठ)की आसा पडनेसे गंगा, सरस्वती और यमुनाका संगम अर्थात् तीर्थराज प्रयाग प्रकट होता है। २. दोष ते दोष—''संगति दोषु लगै सबै, कहे ति साँचै बैन । कुटिल बंक अवमंग भए, कुटिल बंक गति नैन" (बि॰ रला॰, ३०३)। यहाँ भौहोंकी कटिलताके संसर्गसे ऑखोंमे कुटिलताका समावेश वर्णित है। ३. ग्रणसे दोष-"देह दलहियाकी वढै, ज्यों ज्यों जोबन जोति। त्यों-त्यो लखि सौतें सबें, बदन मलिन दुति होति" (बि॰ रता०, ४०)। यहाँ दलहिनकी उभरती हुई जवानीके प्रभावसे सौतोंके मुखमण्डल मलिन हो जाते है। ४. दोषसे गुण—''दिध छुडाय मोहन लियो, सखी सघन बन ठौर। बड़ो लाभ मनमें गुन्यी, जो न किये कछ और" (ल॰ ल०: ३१६)। अथवा—"डावरेकी बुद्धि हैके बावरे न कीजै बैर, रावरेके बैर होत काज शिवराजको" (शि॰ भृ०, २७७)। यहाँ औरंगजेबसे उसके मन्त्रिगण यह कहते है कि वह शिवाजीसे सुलह कर ले, क्योंकि जितना ही वह शिवाजीसे वैर करता है, उतना ही अधिक उनका काम

उल्लास २—तान्त्रिक कुल साधनामें मद्यादि द्रव्यके सेवनसे चित्तमें उल्लासकी जो अनुभूति होती है, उसे ये सिद्धिका सोपान समझते है। इस प्रकार इनके यहाँ सात उल्लासोंकी कल्पनाकी गयी है—१० आरम्भ—इसमें साधक तीन चुल्लू- से अधिक नहीं पी सकता, २० तरुण, ३० यौवनोल्लास, ४० प्रौड उल्लास, ५० तदन्तोल्लास, ६० उन्मनी उल्लास, तथा ७० अनवस्था उल्लास। इस सातवी अवस्थातक पहुँचकर जीव या साधक परमात्मामे लीन होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लगता है (कौल मार्ग रहस्य, पृ० ४०-४१)।

उल्लेख—साइइयगर्म अमेदप्रधान आरोगमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद । इस अलंकारपर प्राचीनोंके साथ
मम्मटने भी विचार किया है। रुव्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में
सम्भवतः सर्वप्रथम विवेचन किया है—"यत्रैकं वस्तु
अनेकधा गृह्यते स रूपवाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः" (पृ० ४७) ।
जहाँ किसी एक वस्तुको अनेक रूपोमे प्रहण किया जाय तो
उसके इस प्रकार अनेक रूपोमे कथनको उल्लेख कहा
जायना । आगे रुव्यकने इसके दूसरे भेदका संकेत भी दिया
है—"पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकथात्वोल्लेखः इह तु विषयभेदेन"
(पृ० ४९) । विश्वनाथने उल्लेखके दोनो भेदोंको स्पष्टतः
स्वीकार किया है—"एक वस्तुका, ज्ञाताओंके भेदके कारण
अथवा विषयभेदके कारण अनेक रूपोमें वर्णन किया जाना
उल्लेख है" (सा० द०, १०: ३७) ।

हिन्दीके आचार्योंने विश्वनाथ तथा अपय दीक्षितके आधारपर उल्लेखके दो भेद प्रारम्भते स्वीकार किये है, यद्यपि इनमेंसे अनेककी प्रेरणाके मूलस्रोत जयदेव है और उन्होंने 'बहुभिर्बद्धयोल्लेखादेकस्य' (चन्द्रालोक, ५:२३), एक वस्तुका अनेकके द्वारा बहुत प्रकारका उल्लेखमात्र कहा है। इसका कारण 'कुवल्यानन्द'का विवेचन माना जा सकता है। जसवन्त सिंह, मितराम, भूषण तथा पद्माकर आदिने लगभग समान लक्षण दिये हैं—"के बहुते के एक जहॅं, एक वस्तुको देखि। बहु विधि किर उल्लेख हैं, सो

उल्लेख उल्लेख'' (शि॰ भू०, ७०)। पद्माकर 'साहित्यदर्भण'के अधिक निकट है—"द्वि उल्लेख इककों जु बहु, बहु
विधि समुझे जत्र। विषय भेद सो दक्षि इक, बरने बहु
विधि तत्र'' (पद्मा॰, ४१)। उदा॰—"किव जन कल्पद्रुम
कहें, ज्ञानी ज्ञान समुद्र। दुरजनके गन कहत है भाव
सिंह रन रुद्र'' (ल॰ ल॰, ७८)। अधवा प्रथम—"पीतम
प्रीतिमयी अनुमाने परोसिन जाने सु नीतिन सों ठई।
सौति हलाइल सी तो कहें सखी सुन्दिर सील सुधामई"
(का॰ नि॰, १०)। द्वितीय—"तेरो करवाल भयो
दिन्छनको ढाल भयो, हिन्दुको दिवाल भयो काल
पुरकानको" (शि॰ भू०, ७३) अधवा "विन्दुमें थी तुम
सिन्धु अनन्त एक सुरमें समस्त संगीत। एक कलिकामें
अखिल वसन्त धरापर थी तुम स्वर्ग पुनीत ?" (सु॰ नं॰
पं॰: ज्योत्स्ना)।

दासने उल्लेखका लक्षण 'परम्परित मालॉन'के समान-सा होकर भी विशेष रूपसे भिन्न है, कहकर स्पष्ट किया है। वस्तुतः मालारूपक आदिमे ग्रहण करनेवाले अनेक व्यक्ति नही होते और साथ ही उल्लेखमे एक वस्तुमें दूसरीका आरोप न होकर एक ही वस्तुका उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकारसे ग्रहण किया जाता है। उल्लेख और भ्रान्तिमे अन्तर इस प्रकार है कि प्रथममें निमित्तभेद होता है और दूसरेमे एक ही निमित्त होता है (चि० मी०)। जगन्नाथके अनुसार भ्रान्तिमें एक भ्रम होता है और उल्लेखमे अनेक (र० गं०, पृ० २६७)। उष्णीष कमल-हिन्दू परम्परामे छः चक्रो (दे० 'चक्र')की कल्पनाकी गयी है। सहस्रार उनसे परे सातवाँ और सर्वोच चक्र है। इन चक्रोंको कमलकी आकृतिवाला माना जाता है और उनमेंसे हरमें अलग-अलग संख्यामें दलोकी कल्पना भी की गयी है। इन परम्पराका प्रथम चक्र मूलाधार है, जो नीचे लिंग और उपस्थके बीच अवस्थित माना गया है। सबसे ऊपर सहस्रार चक्र या सहस्रदल कमल है। बौद्ध दर्शन तथा सिद्ध साहित्यमें चक्रोंकी कल्पना थोड़ी भिन्न है। उनके मतसे सर्वोच चक्र यह उष्णीष कमल है, जिसमे कुल ६४ दल हैं। मेरु गिरिके शिखरपर, जहाँ महासुखका निवासस्थान है, वहीं चारमृणालोंपर स्थित यह उण्णीष कमल विराजता है। प्रत्येक मृणालके चार-चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रमके चार-चार दल हैं। इस प्रकार यह ४×४×४×४=६४ दलींका यह कमल है। जिस प्रकार मूलाधार, आज्ञा आदि चक्रोंमे स्थित कमल दलोंपर एक-एक बीजाक्षरका अधिष्ठान माना गया है, उसी प्रकार उष्णीष कमलके चार दलोंको चार शून्योंके अनुसार चार नाम दिये गये हैं - शून्य, अति शून्य, महाशून्य और सर्वशून्य । डाकिनीके मायाजालसे विरा जालन्थर नामक हेमगिरि शिखर सर्वशून्यका आवास है और जो सर्वशून्यका आवास है, वही उष्णीप कमल है। भुसुकपा इसीको नलिनीवन या पद्मवन कहते हैं और बताते हैं कि इसमें प्रवेशकर चित्त दिधाहीन हो जाता है (बागची: चर्यापद, पृ० १३०)। भगवती नैरात्या इसीमें नास करती है, इसीलिए उन्हें कमिलनी कहा गया है (बौद्धगान वो दोहा, प्र०१६६)। अपने दोहों (बा॰ दोहाकोष, पृ०१५१)में कण्हपा इसी उष्णीष कमलका उल्लेख करते है और इसमें महासुखका वास मानते हैं।

बौद्ध दर्शनके अनुसार चक्र चार है, छः नर्हा, और इनके नाम भी हिन्दू परम्पराकी चक्र कल्पनासे भिन्न है-निर्माण चक्र, धर्मचक्र, सम्भोग चक्र और उष्णीष कमल। इन चार चक्रोंपर चार वेधन क्षणोंकी कल्पना की गथी है— विचित्र, विपाक, विमर्द तथा विलक्षण। यही विलक्षण उष्णीष कमलके वेधनका क्षण है (दे० 'वज्रतन्त्र')। तन्त्र एवं हठयोगके अन्थोंमे इसे 'सहस्रदल' कहा गया है और इसीकी कर्णिकाके मध्य वज्रगुरुका आसन बताया गया है। इनके मतसे इस स्थानको मध्यमार्गके अवलम्बनसे पाया जा सकता है। **ऊढा (नायिका)**-परकीयाका भेद, विशेष दे०-'नायिका-भेद'। इसके लिए परोढा शब्दका प्रयोग भी किया गया है। ऊढाका अर्थ है विवाहिता; क्योंकि यह नायिका दूसरेसे प्रम करती है और विवाहिता दूसरेकी होती है, अतः इसको परोढा कहा गया है। इसकी सामान्य परिभाषा इसी प्रकार सबने दी है-"ब्याही और पुरुषसों औरैसों रसलीन" (मितराम: रसराज, ५९)। इस नायिकाके प्रेममें विविधता तथा भावात्मक विषमता अधिक है, अतएव यह रीतिकाव्यमें व्यापक विस्तार पा सका है। भक्तिकाल्यमें गोपियोंका प्रेम इसी कोटिका है। इस नायिकामें गोपनका भाव प्रधान होता है, इस कारण प्रेमकी विविध स्थितियोंका चित्रण अधिक आकर्षक तथा उद्देगपूर्ण हुआ है। नायिकाके उद्देग, आकांक्षा, चिन्ता, आक्रोश, द्विविधा तथा वेदना आदिका वर्णन इसमे प्रधान है-"क्यों इन ऑखिनसों निरसंक है मोहनको तन पानिप पीजै। नेक़ निहारें कलंक लगे इहि गाँव बसे कही कैसे के जीजे" (मितराम: रसराज, ६१)। शंकाके कारण नायिकाके मनमें आन्तरिक क्केश है, वह व्याकुल है—"धूमति है घर ही मै घनी यह घायल लों घर घाल घरीक ते' (देव: भा० वि०, नायिका०)। पद्माकरने उसकी उद्विग्नताका वर्णन उक्तिके साथ किया है—"हौ तो स्याम रंग मै चुराई चित चोरा चोरी बोरत तो बोरचो पै निचोरत बनै नहीं" (जगित्रनोद, १:७९)।

अध्येंचेतन — अध्वंचेतन या अतिचेतन शब्दका प्रयोग दो अधोंमें होता है, एक मनोवैज्ञानिक, दूसरा दार्शनिक। मनोवैज्ञानिक अर्थमें स्नायुसंघटनकी अत्यधिक उत्तेजनशीलताको, जिसका परिणाम असाधारण रूपसे तीव्र चेतना होती है, कहते है। ऐसा प्रायः ज्वर या स्नायिक रोगोमे होता है। दार्शनिक अर्थमे अतिचेतन और अर्ध्वचेतन समानार्थक है। इन शब्दोंसे योगियों और द्रष्टाओंकी श्रीरेन्द्रियसीमातीत चेतनाका बोध होता है। योगाभ्यास और समाधि द्वारा अन्य देशकालमें स्थित और अगोचर घटनाओं, वस्तुओ आदिका ज्ञान ही अर्ध्वचेतना है। इस चेतनाको विभिन्न दर्शनोंमें विभिन्न नाम दिये गये है। आधुनिक साहित्यमें विशेष रूपसे अर्ध्वचेतनासे श्री अरविन्दके अर्ध्वचेतनका बोध होता है। — श्री० अ० ऋचा— कि पूर्ववितनका वोध होता है।

इति ऋक् ]। (क) साधारण अर्थ १. स्तुति, २. चमक, पूजा। (ख) विशेष अर्थ—१. ऋगोदके मन्त्र। इन्हीका संकलन ऋक्संहिताके नामसे प्रसिद्ध है। ये मन्त्र 'ऋच' इसलिए कहलाते है कि इनमे अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु, सवितृ आदि देवोंकी स्तुति की गयी है। २ वहवचनमे प्रयुक्त (ऋचः) होनेपर यह शब्द समस्त ऋग्वेदके लिए आता है। (ग) हिन्दीमें यह शब्द सभी वैदिक मन्त्रोके अर्थमे प्रयुक्त होता है। (घ) इसका पर्याय 'मन्त्र' शब्द है, जो ऋक्के अतिरिक्त यजुस् और सामन्का भी वाचक है। (ड) ऋचुका व्यापक अर्थ-- 'वैदिक मन्त्र' (ऋक, यज़्स और सामन्) तथा सीमित अर्थ-'ऋग्वेदका मन्त्र' है। एकदेशविवति-रूपक-दे० 'रूपक', पाँचवाँ प्रकार। एकपात्रीय नाटक-एकपात्रीय नाटक उसे कहते है, जो इस प्रकार लिखा गया हो कि केवल एक अभिनेता द्वारा उसका अभिनय सम्भव हो सके। बीसवी शताब्दीमें वाईबेट गिलबर्ट, रूथ डेपर तथा कार्नेलिया ओटिस स्किनर-ने इसे लोकप्रिय बनाया। प्रायः इसे स्वगतभाषण भी कहते है। एकपात्रीय नाटकमें प्रेक्षक समस्त कार्य-व्यापार एवं चरित्रोका एक ही पात्रके मस्तिष्क द्वारा दर्शन करता है, जैसे जार्ज कैसर-लिखित 'फ्राम मार्न द मिडनाइट,' श्रीमती एलेन ग्लासगी-लिखित 'बैरेन ग्राउण्ड' तथा हिन्दी-में सेठ गोविन्ददास-लिखित 'चतुष्पथ' और 'शाप और वर'

स्तूयन्ते देवा अनया इति ऋक् ; अथवा ऋचति स्तौति देवान्

इत्यादि ।

एकपक्षीय संवादको भी एकपात्रीय नाटक कहते है, जिसमें एक अभिनेता किसी किएत न्यक्ति या न्यक्ति-समूहको लक्ष्य करके सम्भाषण करता है । उदाहरणके लिए, रावर्ट ब्राउनिगके भाई लास्ट डचेस, तथा 'आंद्रिया देल सातों' है, अल्फेड टेनीसन भी अपनी 'माड' शीर्षक रचनाको एकपात्रीय नाटक घोषित करता है।

एकपात्रीय नाटक मनोवैज्ञानिक कथावस्तुके चित्रणके लिए सर्वोत्तम नाट्य-शैली है। -- इया ० मो ० श्री० एकांकी-आधुनिक एकांकी पाइचात्य साहित्यकी देन है। पश्चिममे एकांकीकी रूप-रेखा दशवी शतीके 'मिरेकिल्स' और 'मारेलिटीज' जैते नाटक-रूपोंमें मिलती है, जिनमें धर्म-प्रचारके लिए ईसाई सन्तोंके चरित्रकी किसी एक आक-र्पक कहानीको चुना गया है या उनके धर्म-कार्य सम्बन्धी नैतिक उपदेश-प्रधान किसी एक विषयको ग्रहण किया गया है। इसके परचात जनताके मनोरंजनके लिए लिखे गये विनोदपूर्ण 'इण्टरल्यूड्स'में इसका विकसित रूप मिलता है, जिनमे अधिकसे अधिक तीन पात्रोके द्वारा किसी एक भावनाके पदर्शनकी प्रवृत्ति प्रकट हुई है। किन्तु उन्नीसवी-वीसवी शतीमें पेरिस (ई० १८८७, १८९३, १९१४), बर्लिन (१८८९), लन्दन (१८९१), डबलिन (१९०४), शिकागो (१९०६) आदि नगरोंके लघुमंचीय आन्दोलनो (लिटिल थियेटर मूवमेट)के विकास, प्रीतिभोजोंमे भोजनसे पूर्वके समयका उपयोग करनेके लिए लिखे गये प्रहसनों तथा प्रेक्षागृहोंमें इन प्रहसनोंके प्रारम्भमे प्रेक्षकोंके बीचमें आ जानेवाली भीड़के लिए द्विपात्रीय संवादात्मक 'कटेंन रेजर'-

के प्रचलनने एकांकियों के सर्जनको अभूतपूर्व प्रेरणा दी है। जे. एम. बेरी, जे. बी. शॉ, लार्ड डनसेनी, हॉप्टमेन, गाल्सवरीं, इयोजीन ओग्नील, काकमेन, सिंज, ग्राहम प्रीस्टले, गेटे, लेसिंग, मोलियर, बूयूइ, इन्सन, स्ट्रिण्डवर्ग, आस्कर वाइल्ड, टॉल्सटाय, चेखव, गोकीं, पिरेन्देलो, टी. एस. इलियट, चार्ल्स मार्गन, ग्राहम ग्रीन, क्रिस्टोफर फाइ, लोकीं, क्लाउडेल, जिराउदो, सार्ज, एनाउल, विलियम्स और मिलर आदिकी नाट्य-प्रतिभाओंने एकांकीका आधुनिक रूप प्रस्तुन किया है, जो आज एक स्वतन्त्र शक्तिशाली साहित्यरूपमें प्रतिष्ठित हो गया है। हिन्दी साहित्यमें भी आधुनिक एकांकीका रूप इसी साम्प्रतिक पिरचमी रूपके सिक्रकट है। अतः संस्कृत नाटककलाके सिद्धान्तोंके अनुसार उसके स्वरूपका निर्णय नहीं हुआ है।

इस प्रकार स्वरूपके ऐतिहासिक विकास—आवश्यकता, और प्रयोगकी दृष्टिसे स्पष्ट है कि एकांकी नाटक साहित्यका वह नाटक प्रधान रूप है, जिसके माध्यमसे मानव-जीवनके किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक कार्य, एक परिपाइवं, एक भावकी ऐसी कलात्मक व्यंजना की जाती है कि से एक अविकल भावसे अनेककी सहानुभूति और आत्मीयना प्राप्त कर लेते हैं।

कलेवरकी दृष्टिसे एकांकी एक अंकका नाटक है, किन्त दृश्य-विधानके अनुसार इसके दो भेद किये जा सकते है— पहला, एक दरयका एकांकी; दूसरा, अनेक दरयोंका एकांकी । पहली श्रेणीके एकांकीमें कथा किसी घटित घटनाके मार्मिक स्थलते आरम्भ होती है और भावी घटनाओंके अवरोधसे जिज्ञासा तथा कुत्हलकी वृद्धि करती हुई तीव गतिसे विस्मयपर्ण संक्रमण-विन्दतक पहुँच जाती है। इसमे कथाका प्रवाह उस निर्झरके समान होता है, जो किसी पहाडीते अकस्मात् फूटता है, कुछ दूरतक दिखाई पडता है और शीव्र ही ऑखोसे ओझल हो जाता है। इस प्रकार-के नाटकोमें एक ही स्थानपर, एक ही समयमें कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार त्रिक-संगतिका पूर्ण निर्वाह रहता है। भवनेश्वरके 'रोमांस-रोमांच' और 'प्रसाद'के 'एक घूँट'के एक इइयकी परम्परामे आनेवाले रामकुमार वर्माके सभी एकांकी इसी वर्गके हैं। दूसरी श्रेणीके नाटकोमें विभिन्न स्थलो और समयोकी घटनाओं द्वारा कथामे वकता या विचित्रता उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है, जिसके फलस्वरूप दो या दोते अधिक दश्योंकी योजना करनी पड़ जाती है। इस प्रकारके नाटकोमे स्थल, काल और कार्यकी एकता नहीं रह पाती। इसमें कथाकी धारा भूपदेशकी प्रवाहशीला, विस्तृत मूलवती सरिताके सहश होती है, जो ऋज या वक्र गतिसे अग्रगामी होकर उद्देश्य-सिन्धते मिल जाती है। ऐसे नाटकोंमें चरम विन्दुकी उत्कटता नही होती। उनमें किसी समस्याके उत्पन्न करने या तथ्यको उद्घाटन करनेमे ही नाटककी सफलता मानी जाती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और भिखारिणी' छ, 'चन्द्रापीड और चर्मकार' तेरह, सद्गुरुश्ररण अवस्थीके 'मुद्रिका' आठ दरयवाले एकांकी है। जगदीशचन्द्र माथुरके 'भोरका तारा'में दो इइयोंके स्थानपरः १ःः २ः जैसे संकेतोंमें दो भाग मिलते हैं। उदयशंकर भट्टके 'बड़े आदमीकी मृत्यु'में कीतूहलोत्पादक चरम सीमा नहीं है। उनके दो दश्योंवाले 'दुर्गी'में केवल संघर्ष-चित्रण ही मुख्य लक्ष्य बन गया है।

मर्यादाकी दृष्टिसे एकांकीमें केवल आधिकारिक कथा होती है। वही अतर्कित आरम्भ होकर अन्तकी ओर तीव गतिसे विकास करती है। इसीलिए उसमें जटिलता नही होती । उसमें प्रायः एक मुख्य घटना अनेक लघु घटनाओके सहारे आगे बढती है और कौतूहलके नये-नये स्थल उप-स्थित करती जाती है। उसमे कम-से-कम पात्र होते है, जो किसी-न-किसी प्रकार कथासे निकटका सम्बन्ध रखते है। यदि गौण पात्र हुए तो वे भी मुख्य कथा और मुख्य पात्रों-के सहायक ही होते है। उसमे किसी सुनिश्चित ध्येयकी अभिन्यंजना अन्यर्थ शब्दोंमे सन्तुलन और मितन्ययिताके साथ की जाती है। उसमें बाह्य या अन्तःसंवर्ष भी रहता है, जो परिस्थिति, वातावरणके अनुसार उदीप्त होकर कथा-के विकासमे सहायता देना है या कभी स्वयं उद्देश्य बनकर अभिन्यक्त हो जाता है। उसमे स्थान-कालकी एकता अनिवार्य नहीं मानी जा सकती, किन्तु विकल्पसे शिल्प-कौशलके द्वारा स्थल, काल, कार्यका उचित संकलन उपस्थित किया जा सकता है। उसका क्षेत्र संकुचित है। उसमें अन्तकी आकिसमकता, विषयकी एकायता, संवेदनकी तीवता, समयकी स्वल्पता और घटनाओंकी अत्रिक्तिता रहती है।

सीमा, विस्तार और प्रभावकी दृष्टिसे एकांकीका अनेकांकी नाटकसे वही अन्तःसम्बन्ध है, जो साधारणतया कहानीका उपन्याससे होता है। जहाँ अनेकांकी नाटकमें जीवनकी विविधता, पात्रबहुळता, कथासूत्रोकी सुविमर्शता, अंकोंकी अनेकता, चरित्र-चित्रणकी विचित्रता, कौतूहळकी अनिश्चितता, परिचयकी अधिकता, चरम विन्दुकी व्यापकता तथा कथाकी मन्दगामिता है, वहाँ एकांकीमें जीवनकी एकपक्षता, पात्र-परिमितता, कथाके प्रमुख सूत्रकी बाह्यता, एकांकता, चरित्र-चित्रणकी सघनता, कौतूहळ्की आह्यता, एकांकता, चरित्र-चित्रणकी सघनता, कौतूहळ्की आह्यत्ता, व्यंजनाकी निर्देशता, चरम विन्दुकी केन्द्रीयता और कथाकी क्षिप्रगामिता होती है।

कभी-कभी भ्रमवश एकांकी और कहानीमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता, किन्तु ऐसा है नहीं । आकारकी लघुतामें वे दोनों भले ही एक-से प्रतीत हों, किन्तु उनकी प्रकृति और आत्मामें मूलतः भेद है। जहाँ एक ओर कहानीका लक्ष्य पाठक होता है, उसमे चरित्र, घटना या वातावरणमेंसे किसी एककी ओर ही दृष्टि केन्द्रित रहती है, उसमें कहानीकारके न्यक्तित्वका सीधा संस्पर्श होता है, उसकी संवेदना विचार और अनुभूतिको झकझोरकर चित्त-को द्रवित करती है, वहाँ दूसरी ओर एकांकीका ध्येय अभिनय है, किन्तु वह अभिनेयके साथ पाठ्य भी है, वह पाठक और प्रेक्षक दोनोंको आनन्द देता है, उसमे घटना, चरित्र और वातावरणमेंसे तीनोंकी संगति और समन्त्रितपर दृष्टि रहती हैं; उसमें लेखक तटस्थ रहता है, उसका व्यक्तित्व पात्रोंके माध्यमसे, अप्रत्यक्ष रूपसे ही व्यक्त हो सकता है। उसका प्रभाव नाटकीयताके सहदय सामाजिकोंके चित्तका विस्तार करता है।

यविष गीति और एकांकी दो भिन्न रूप हैं, किन्तु आज गीति-नाट्यके विकसिन हो जानेसे एकांकी गीतिके निकट आ गया है। यतः यहां दोनोंके स्वरूपका विचार कर लेना अनुचित नहीं है। गीति गीतिकारकी किसी अनुभूतिकी अभिन्यक्ति है, किसी रागको वाणी देना है, जब कि एकांकी-की आत्माको, अनुभव, अनुभूति और विचारसे किसी रहस्यका उद्घाटन कर, रागको न्याप्ति देना है। एकमें सहजता है, दूसरेमें कृत्रिमता हे। एकमें केवल भावकी न्यंजना है, दूसरेमें कृत्रिमता हे। एकमें केवल भावकी न्यंजना है, दूसरेमें कृत्रिमता हे। एकमें केवल भावकी न्यंजना दोनों है। एकमें कविकी अन्तरात्माकी स्फूर्ति है, दूसरेमे पात्रोंका वाग्विलास है। एककी भाषामें संगीतात्मक अर्थ है, दूसरेमें संगीतात्मक ध्वनि है। एककी शैलीमें भाव-संकेत है, दृसरेमें की शैलीमें आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्ये—चतुर्विध अभिनय तथा रंग-व्यवस्था है।

एकांकीके कथानक-चयनमें एकांकिकारकी प्रेरणा ही प्रमुख है। वह अपने स्वभाव, रुचि, अरुचि और जीवन-दर्शनके अनुसार किसी भी क्षेत्रके कथानकके विषय और उपादान चुननेके लिए स्वतन्त्र है। वह मनुष्यकी युग-युगीन अपराजेय शक्तिकी ऐतिहासिक यात्राके गौरव-पूर्ण कार्यी, घटनाओं, दश्यों, धर्मप्रवर्तकों, उनके सिद्धान्तो, राजाओं और वीरोंके चरित्रो, लोकगाथाओं, उत्सवी,संस्कारी, ऋतुओं, सांस्कृतिक उत्थान-पतनों, अतीत या वर्तमान समाजकी रूढ़ प्रथाओं, कुरीतियो, दुष्प्रवृत्तियों, व्यक्ति या समाजके संघर्षी, यौन आकर्षणी, राज्य-व्यवस्थाओं, दैनन्दिन जीवनके हृदय-दावक चित्रों, घृणा-प्रेम, राग-द्वेष, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, त्याग-भोग, राग-विराग, मोह-निर्मोह, हास्य-औदासीन्य, श्रेय-हेयके द्वन्द्वोंमेंसे किसीसे भी अपने कथानकका आधार निर्मित कर सकता है। अनुभव या अनुभूतिमें जितनी अधिक सत्यता और घट-नाओंमे विस्मयकी जितनी अधिक तीव्रता होगी, एकांगी उतना ही अधिक खिल जायगा। कुरुचिपूर्ण यथार्थके परित्याग और व्यावहारिक आदर्शके परिग्रहण उसके सौन्दर्य-वर्धक गुण है।

किन्तु एकांकी कथानकका विस्तार अनेकांकी नाटकोंके समान नहीं होता। उसमें कथानकको इस कौशलसे स्वार-कर कथावस्तुका संघटन किया जाता है कि उसमे एकामता, उत्तेजना, सावधानता और उद्देश्योन्मुखता आ जाती है। वस्तुकी यह संघटन-क्रिया दुरूह नही होती। इसमें कार्यका आरम्भ और प्रयत दो ही अवस्थाएँ होती हैं और प्राप्त्याशाके पूर्व ही कार्यकी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार मुख और प्रतिमुख सन्धियोके बीच इन दोनो अवस्थाओं के कार्यके बीजका वपन कर दिया जाता है, जो तैल विन्दु-सा शीघ्र प्रसार पाकर प्रत्याशित या अप्रत्याशित अवरोधोके रहते हुए भी आश्चर्य, जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयुकी स्थितियाँ उत्पन्न करना है और तीव्र वेगके साथ लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। यह लक्ष्य कार्यकी परिस्थिति अथवा चरित्रकी गतिके अनुसार सुखान्त या दुःखान्त होता है। इसके सदैव सुखान्त होनेकी सम्भावना नही र हती, क्योंकि इसमें असाधारण व्यक्तित्वसम्पन्न नायककी प्रतिनायक या प्रतिकृत परिस्थितियोंपर निश्चित विजयका

आदर्श नहीं रखा जाता।

प्रायः एक दृश्यके एकांकीमें छक्ष्य कार्यका आकर्तिमक चरम उत्कर्षपर पहुँचना रहता है और उसमें कार्यारम्भ चरमकी स्थितिसे कुछ ही पूर्वकी स्थितिका होता है। इसिछए एकांकीके कार्यारम्भ और कार्यान्तमे कुछ ही दूरीका अन्तर रहता है। कार्यकी यह स्थिति आश्चर्य, ज्ञातन्यकी जिज्ञासा, कौतूहल और विस्मयको उत्पन्न करनेमे विशेष सहायता देती है। रामकुमार वर्माके 'ज्ञारुमित्रा'में कार्यका आरम्भ किंग-युद्धके उस स्थलसे होता है, जहाँ कार्यके चरमोत्कर्ष—अशोकका हृत्य-परिवर्तन—कृरसे कृपालु बन जानेकी सम्भावना निकट ही है।

अनेक दृश्योंवाले एकांकीमे कार्य चरम विकासके रूपमें प्रस्तुत होता है। अतः उसमें या तो वस्तुस्थितिका चित्रण किया जाता है या किसी तथ्यका उद्घाटन या सत्यके प्रतिपादनकी कल्पना रहती है। सेठ गोविन्ददासके 'आलोक और मिखारिणी'में जालीककी व्रतादिको छोड़कर अपने राज्यमें किसीको निराहार न रहने देनेकी प्रतिज्ञा और किसी पशु-पक्षीतकको न मारनेकी आज्ञाका प्रजाके द्वारा सहर्ष परिपालन चित्रित हुआ है। 'भोरका तारा' ऐतिहासिक एकांकीमें कवि शेखरके द्वारा कर्तव्यके लिए प्रेमका बलिदान करना व्यंजित किया जाता है और उसकी सूचना प्रथम दृश्यमें होनेवाले सौन्दर्य तथा कर्तव्य सम्बन्धी संवादमें ही दे दी जाती है। प्रारम्भमें प्रभात द्वारा रजनी बालाके खीचे हुए पटके छोरमें स्वर्णकणकी भॉति टॅके हुए भोरके नारेकी कल्पना की गयी है, जो किसी पूर्व और भावी परिस्थितिका संकेत कर जाती है। भवनेश्वरके 'रोमांस-रोमांच'मे अमरनाथके सुधारवादकी विडम्बना व्यंजित की गयी है।

कथावस्तुके मुख्य घटना-प्रसंगमे अनेक गीण घटना-प्रसग अवरोधके रूपमें उपस्थित होकर संघर्षकी सृष्टि करते है और संघर्ष कथाका विकास करता है। इस अवरोध और संघर्षका मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढंगसे ही प्रस्तुत करना ठीक होता है। 'चारुमित्रा'मे तिष्यरक्षिताके सम्मुख चारुके नृत्य करते समय अशोकका आगमन, कलिंग-युद्धमें मृतवत्स-विरहिता माताका चीत्कार, उपगुप्तकी उपस्थिति, चारुका स्वदेशके लिए प्राणदान इत्यादि अवरोधकी स्थितियाँ है। 'भोरका तारा'में कवि शेखरके एकांकी गायनमें माधव-का आगमन, प्रेम और सौन्दर्यकी चर्चाके बीच एक मिख-मंगीका प्रसंग, स्कन्दगुप्तके दरवारमें युवतीके गायन, राजासे शेखरके बुलानेकी उसकी प्रार्थना, समुद्रके संकेत, दूसरे दृश्यमें वीरमद्रका विद्रोह, तोरमाणके आक्रमणकी स्चना, देवदत्तकी वीरगतिका सन्देश, कान्यकी शक्तिसे जन-जीवन-की रक्षा करनेके लिए शेखरको प्रेरित करनेका प्रयत्न-सभी, कथामे नया संघर्ष लाते गये है और कथा अपने लक्ष्य-शेखर अवतक भोरका तारा था, अव वह प्रभातका सूर्य होगा-को प्राप्त कर लेता है।

एकांकीमें कार्य, स्थान और कालकी संगति या उनके संकलन-निर्वाहका कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यह एकांकिकारकी प्रवृत्ति और उसके रचना कौशलपर आधारित है कि वह कथाके विभिन्न कोणोंको एक ही इदयमें मिलाये

और समय, स्थान तथा कार्यको दूरियोंको एक कर दे। पेसी अवस्थामें एकांकिकारको पहले ही कथाकी समस्त तीव्रतम स्थितियोंका संकलन सावधानीसे कर लेना पडता है। रामकुमार वर्माके सभी एकांकियोमे त्रय-निर्वाहका अनिवार्थ आग्रह है। 'चारुमित्रा'में कथा किंग-युद्धके राजशिविरमें आरम्भ होती है और वही समाप्त हो जाती है, किन्तु कथामे वदलती हुई परिस्थिति, घटना, पात्र, हस्य, वातावरणमे वैचित्र्य और सौन्दर्थ दिखलानेके लिए अनेक हस्योंवाले एकांकीमे त्रिक-संगति नहीं रह पाती। 'भोरका तारा'के पहले हस्यमे रंगमूमि कवि शेखरका साधारण गृह है और दूसरे हस्यमे उज्जयिनीके आर्य देवदत्तका विशाल भवन है, जिसमें यशस्थी महाकिव शेखर अपनी प्रेमपत्नी छायाके साथ सुख और वैभवसे रहने लगा है।

यद्यि पूर्व और पश्चिमके प्राचीन और मध्ययुगीन नाटकसाहित्यमें प्रधान पात्रोंका चयन समाजके आभिजात्य वर्गसे ही हुआ है, केवल प्रहसनोमे इतर वर्गको स्थान मिला है और गौण पात्रोमे निम्न एवं मध्यवर्गके नारी-पुरुपोको भी स्थान दिया गया है, किन्तु आजके बदले हुए समय और समाजमे इस प्रकारको मान्यता रूढ नहीं है। आज नाटकमे समाजके किसी भी वर्गका प्रवेश सम्भव है। चौकीदारसे राष्ट्रपति, चतुवेंदीसे चन्दुवा धोबीतक, पत्तीके हिलनेसे विश्वके विध्वंसतक, किसीको भी प्रहण किया जा सकता है।

पात्र-विधानके सम्बन्धमें पहली बात यह है कि एकांकी-मे उनकी संख्या पाँच-छःसे अधिक नही होती। दूसरे, उसमे केवल मुख्य और गौण, दोनों प्रकारके पात्र रखे जा सकते हैं। साहस, प्रणय और वीरताकी कहानीमें नायकके साथ प्रतिनायककी कल्पना भी एकांकीको प्रभावशाली बना देती है। तीसरे, पात्रोमेसे किसी एकको विदूपक बना दिया जाता है या उसकी अपेक्षा न समझी गयी तो कुछ पात्रोके संवादोमें ही हास्य, विनोद, व्यंखकी सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है। चौथे, पात्रोका सजीव, व्यक्तित्ववान और आकर्षणपूर्ण होना परमावश्यक है, अन्यथा न तो कथा ही रोचकताके साथ दर्शकोंके सम्मुख आयेगी और न कुशल अभिनयके द्वारा विस्मयकी सर्जना ही हो सकेगी। पाँचवें, पात्रोंके चरित्रका निर्माण उनके संस्कार, मनोविज्ञान और बाताबरणके अनुसार ही होना उचित है। उनमे अन्तर्द्धन्द्व उपस्थित करते समय एकांकिकारको ऐसी पद्धताकी आवश्यकता है कि जिसे पाठक या दर्क पढ या देखकर स्वयं विचारोके द्रन्द्रमे पड जाये कि ठीक क्या है। बलिदान होनेसे पूर्व चारुमित्राके चरित्रमे अशोकके प्रेम प्राप्त करने और कलिंग देशकी मर्यादा-रक्षाका अन्तर्द्वन्द्व है। गणेश-प्रसाद द्विवेदीके 'सोहागविन्दी'में जब काली बाबू अपनी पत्नी प्रतिमाके अस्थिखण्ड रो-रोकर वक्समे रखने जा रहे है तब वे विनोद बाबूको लिखे गये पत्रमे प्रतिमाके शब्दो ""मै हर घडी तुम्हारी राह देखा करती हूँ फिर किससे पूछूं तुम्हारा पता ? कैसे पूछूं ? " "को पढकर सन्न रह जाते है। उनके मनमें पत्नीके पातिव्रतके सम्बन्धमें भाव-संघर्ष इतनी जल्दी उठता है कि उनके हाश्वसे अस्थिखण्ड गिर जाता है और वे चारपाईपर गिर पडते है।

संवाद एकांकीका सर्वस्व है, क्योंकि संवादके द्वारा ही क्या और चरित्रके खल सम्मुख लाये जाने है। अतः संवाद एकांकिकारके शिल्प-कौशलका प्रधान निकष है। स्वाभा-विकता, संक्षिप्तता, वाग्विद्ग्धता, रोचकता, प्रभावोत्पादकता संवादके उत्कर्प-विधायक गुण है। संवादकी भाषाका निर्णय पात्रोंकी जाति, गुण, कर्म, स्वभाव, मनोवृत्ति, कथाकी प्रकृति तथा उद्देश्यकी स्थितिपर निर्भर रहता है। उसकी भाषाके वाक्योंमे सरलता, सुबोधता, प्रभावपूर्णता तथा शब्दोमें अन्यर्थता और मितन्ययिताका होना अपेक्षित है। हास्य एकांकीकी ज्योति है। अतः संवादमे हास्य-विनोद तथा व्यंग्यके प्रसंग लाने या संकेत करनेका पूर्ण प्रयत भी वांछनीय है। पात्रोंके आन्तरिक गूड भावोंको व्यक्त करनेके लिए जिन स्वगत, आकाशभाषित या पृथक् सम्भापणकी प्राचीन प्रथाका प्रयोग एकांकीमें नहीं होता, पात्रोके उन आन्तरिक मनोभावोको व्यक्त करनेके लिए किसी दृश्य या वस्तुकी परिकल्पना करनी पडती है।

नाट्य-संकेत या रंग-संकेत कथाके परिपार्व्यसं सम्बन्ध रखते हैं। ये वे प्रतिन्यास या स्चनाएँ है, जिनका प्रयोग एकांकिकार कथा, चरित्र, संवादका संयुक्त प्रभाव बढ़ानेके लिए करता है।

संस्कृत नाटकोमें रसोन्मेषके आदर्शपर ध्यान केन्द्रित किये जानेके कारण रंग-संकेतोंकी प्रचुरता नही है। हिन्दीमे रंग-संकेतका प्रयोग-बाहुल्य पश्चिमी प्रभाव है। पश्चिमी नाट्य-कलामें रसके स्थानपर कार्य और चरित्रपर ही सम्पूर्ण दृष्टि रहती है। रंगभूमिकी सज्जा करने, प्रेक्षकोको नाटकोका पूर्ण स्वरूप बताने, घटनाके कब और कहाँकी सूचना देने और अभिनयमे योग देने, उपन्यास, कहानी, कविताकी रोचकता लाने, पात्रोंकी वृत्तियों और मुद्राओंको प्रकट करनेकी दृष्टिसे इन रंग-संकेतींका अत्यधिक महत्त्व है। अतः रंग-संकेतोके कार्योंकी विविध दिशाएँ हो जाती है। रंगभूमिकी न्यवस्था और पात्रोंकी आयु, वेश-भूषाका निर्देश, कथाके जटिल प्रसंगोंकी व्याख्या, पात्रोंके मानस-इन्दोंकी न्यजना तथा उनके भावों-विचारोंको सम्प्रेषणीय और अभिनयात्मक बनानेके उपाय तथा कथामे प्रयक्त होनेवाले भाव और वस्तुके प्रतीकोका स्पष्टीकरण रंग-संकेतीं-के द्वारा ही किया जाता है।

रूपकी दृष्टिसे आधुनिक एकांकीमें विविध प्रकारके प्रयोग हुए है, जिनकी अनेक कोटियाँ है, जिन्हें अन्य साहित्य-रूपोंकी माँति विषय, उद्देश्य, शिल्प-विधान तथा आकार-विस्तारकी दृष्टिसे अनेक वर्गोंमे विभक्त किया जा सकता है। कहानीकी माँति एकांकी भी एक नवीन विकासशील साहित्य-रूप है। आधुनिक व्यस्त जीवनमें जिसकी उन्नतिको अपार सम्भावनाएँ हैं, साहित्यिक महत्त्वके साध-साथ उसका सामाजिक महत्त्व भी है। हिन्दीमें रंगमंचके अभावकी अवस्थाकी, प्रधानतया आधुनिक एकांकीके रूपमें ही नाट्य-परम्पराका पुनरुत्थान हुआ है। शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी संस्थाओं तथा साहित्यक गोष्ठियोके शौकिया अभिनेताओंने एकांकीके अभिनय द्वारा ही सामाजिक जीवनके एक भारी अभावकी आंशिक पूर्ति की है। रंगमंचके

भावी विकासके साथ हम एकांकीके उज्ज्वल भविष्यकी करपना कर सकते हैं।

यद्यपि संस्कृतके दस रूपकोमेंसे भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, ईहामृग, प्रहसन तथा अठारह उपरूपकोंमें गोष्ठी, नाट्यरासक, कान्य, प्रेखण, रासक, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश, भाणिका एकांकी है और प्रयोग-दृष्टिसे अन्य विभेदोके साथ भासके 'उरुभंग', 'मध्यम व्यायोग', वत्सराजका 'किरातार्जुनीय', प्रह्लादनदेवका 'पार्थ-पराव्राम', कांचनाचार्यका 'धनअय-विजय व्यायोग', रामचन्द्रका 'निर्भय भीम', विश्वनाथका 'सौगन्धिकाहरण' जैसे व्यायोगः 'उभयसारिका', शूद्रकका 'पद्मप्राभृतक', वररुचिका ईश्वरदत्तका 'धूर्तविटसंवाद' इयामलिकका 'पादताडितक', वत्सराजका 'कर्प्रचरित', जैमे 'भाण', वत्सराजका 'त्रिपुर-दाह', राम कविका 'मन्मथोन्मथन', वैकट वर्माका 'कृष्ण-विजय' जैसे डिम; 'हास्यचूटामणि' जैसे प्रहसन; 'माधनी' जैसे 'बीथी'; वरसराजका 'श्रेमिष्ठा-ययाति', भास्कर कविका 'उन्मत्तराघव' जैसे 'अंक'में एकांकियोकी परम्परा प्राप्त है। किन्तु हिन्दीमें यह परम्परा छप्त हो गयी थी। केवल धार्मिक प्रेरणाओसे लीला, स्वॉग और भगत आदि लोक-नाट्योकी परम्परा चलती रही। आधुनिक युगमे भारतीय और यूरोपीय संस्कृतिसे सम्पर्क, राष्ट्रभेम, अतीतके प्रति अनुराग, गद्यके प्रचलन, वैज्ञानिक आविष्कार, व्यक्तिपर बल, अंग्रेजी और बॅगला साहित्यके सम्बन्ध इत्यादिसे नाटकोको फिर विकास-का अवसर मिला। भारतेन्दु हरिश्न-न्द्रने प्राचीनता और नवीनताके इस संघर्षकालमे बीचका मार्ग चुना । एक ओर उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्परामें रूपकों और उपरूपकोंके अनेक भेदोके अनुवाद प्रस्तुत किये है, एक सट्टक, एक नाट्यरासक, एक भाण लिखा है; दूसरी ओर अपनो रचनात्मक प्रतिभासे मौलिक नाटकांकी रचना की है। उनके नाटकोंमें एकांकी भी है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होने एकांकीकी नाटकसे पृथक् सत्ता नहीं मानी है और उन्होने तथा उनके समकालीन नाटककारोमेसे किसीने भी ज्ञातभावसे एकांकी लिखनेकी चेष्टा नहीं की है, तथापि उनके एकांकियोंमे एकांकीका स्वरूप स्पष्ट है। इस प्रकार नाटकोंकी भाँति भारतेन्द्र ही हिन्दी एकांकी रूपकके भी जनक है। उनका 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' हिन्दीका प्रथम एकांकी है। भारतेन्द्र, राधाचरण गोस्वामी, बाल-कृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, शालियाम, देवकीनन्दन खत्री, राधाकृष्णदास, अम्बिकादत्त व्यास तथा अन्य अज्ञात लेखकोने इस एकांकी रूपके विकासमें योगदान किया है।

भारतेन्दु-युगके एकांकी, एकांकी विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाके चोतक है। इस युगके एकांकी दो अथों से रूपक- एकांकी हैं। पहले अर्थमे हिन्दी नाटककारोने संस्कृत शैलीके एकांकियोंसे भिन्न एक या अनेक अंकोंमें पूर्ण होने- वाले लघु नाटकोंको कुछ तो बॅगला रूपक-एकांकियोंके अनुकरणपर और कुछ इस नये रूपके उचित नाम न दे सकनेके कारण रूपककी संज्ञा दी है। दूसरे अर्थमें उपलक्षण या रूपक (एलिगरी) के रूपमे रूपक कहा है, जिसमे अमूर्तमें मूर्तकी, अपकटमें प्रकटकों, परोक्षमें अपरोक्षकों और निरिन्द्रयमें इन्द्रियवान्की कल्पना कर वस्तुओंका मानवीकृत रूप

प्रस्तत किया गया है। 'भारत-जननी' और 'भारत-दुर्दशा' ऐसे ही रूपक-एकांकी है। प्रायः नाटककारोंको एकांकी-लेखनकी मूल प्रेरणा धार्मिक कृत्यो एवं कथाओं, पुराणके आख्यानों, इतिहासके प्रसिद्ध इतिवृत्तों, समाजकी दष्प्रवृत्तियों, राष्ट्रके प्रति अनुराग, प्राचीन भारतके गौरवसे मिली है। इस कालके एकांकियोकी पहली विशेषता ज्ञिल्पादर्शकी हीनता है। इनमें संस्कृत नाट्यशास्त्रकी परम्पराएँ शिथिल हो गयी है। नाटककारोंने प्ररोचना प्रस्तावना, सूत्रधार, नान्दी, मंगलाचरण, कथा-संविधानकी प्रकृतियों तथा अवस्थाओं, दृश्य-योजना, पट-परिवर्तन, भरत-वाक्य इत्यादिका विकल्पानसार स्वतन्त्रतासे प्रयोग कही किया और कही नहीं भी किया है। इनमें अंक भी हरय और हरय भी गर्भांकके समानाधीं हो गये है। इनमें स्थान और कालकी एकताका अभाव, शिथिल संवादोका बाह्रल्य, विकास और विन्यास-होन कथा-योजनाका प्रामुख्य है। एक वाक्यमे भारतेन्द-युगीन एकांकिकारकी दृष्टि एकांकी शिलपर नहीं है। उन्होंने किसी अभिप्राय या उद्देश्यकी प्रतिके लिए एकांकियोकी रचना की है। सम्भवतः इसी सोददेश्यताकी प्रमुखताके कारण उनके एकांकी शिल्पप्रधान न होकर विषयप्रधान हो गये है। दूसरे, उनमे नृत्य, संगीत, पद्यप्रयोग, हास्य, वेशविन्यासके संकेनकी प्रवृत्ति अधिक है। तीसरे, वे अस्निय होनेकी अपेक्षा पाठ्य अधिक है। उनमे उच्च कोटिका अभिनय नहीं है। चौथे, उनमे नाटककारोकी रुचि जीवनकी स्थलताका वर्णन करनेकी ओर है। इसलिए उनमे वृत्तियोकी सक्ष्म विवृति नही है। कल्पित या प्रख्यात कथानकको कथोपकथनका रूप देकर जैसाका तैसा धर दिया गया है। उनमे कलाकी काट-छॉट और स्वच्छता नहीं है।

भारतेन्द्-कालके रूपक-एकांकियोंकी दो कोटियाँ है। पहली, अनुवादित या छायांकित रूपक-एकांकी; दूसरी, मोलिक रूपक-एकांकी। पहली कोटिमे भारतेन्द्रका वॅगलाके 'भारतमाता'का अनुवाद 'भारतजननी' और मौलिक रूपक 'भारत-दर्दशा' (नाट्यरासक या लक्ष्यरूपक) तथा राधाचरण गोस्वामीका बॅगलाके 'भारतेर यवन'का अनुवाद 'भारतवर्ष-मे यवन लोग' जैसे राष्ट्रीय रूपक (एलिंगरी) है। कांचना-चार्यकृत 'धनंजयविजय'का छायाविष्ट रूपक, अयोध्यासिंह उपाध्यायका 'प्रद्युम्नविजय' व्यायोग है। दसरी कोटिमें भारतेन्द्रके 'विषस्य विषमौषधम्', राधाचरण गोस्वामीकृत 'तन मन धन गोसाईजीके अरपन', किशोरीलाल गोस्वामीका 'चौपट चपेट' तथा अज्ञात लेखकका 'जैसा काम वैसा परिणाम', जैसे सामाजिक प्रहसन-रूपक; भारतेन्द्रका 'प्रेमयोगिनी' (अपूर्ण), राधाकृष्ण दासका 'दुः खनी बाला', अम्बिकादत्त व्यासका 'कलियुग और घी', श्रीशरणका 'बाला-विवाह', बालकृष्ण भड़के 'किलराजकी सभा', 'रेलका विकट खेल', 'बाल-विवाह', प्रतापनारायण मिश्रका 'कलिकौतुक', देवकीनन्दन त्रिपाठी-का 'जय नरसिंहकी' और अज्ञात लेखकका 'धर्मालाप' जैसे सामाजिक रूपक; काशीनाथ खत्रीके 'सिन्धु देशकी राजकुमारियाँ', 'गुन्नौरकी रानी', 'लजवोका ख़प्न', भारतेन्द्रका गीतरूपक 'नीलदेवी', राधाचरण गोस्वामीके 'सती चन्द्रावली', 'अमरसिंह राठौर' जैसे ऐतिहासिक रूपक; अग्विकादत्त व्यासका 'मनकी उमंग' जैसे संवाद-रूपक तथा भारतेन्द्रका 'सती-प्रताप' (अपूर्ण), लाला श्रीनिवास दासका 'प्रह्लादचरित', बदरीनारायण 'प्रेमघन'-का 'प्रयाग रामागमन', राधाचरण गोस्वामीका 'श्रीदामा', कृष्णशरण सिंह गोपका 'माधुरी' जैसे पौराणिक रूपक-एकांकी आते है।

बीसवी शतीके प्रथम चतुर्थाशमें निबन्ध, लेख, समालीचना, कहानी और गीति रूपकोंके प्रति विशेष आकर्षण और नैतिकताकी मान्यताओके कारण एकांकियोंका विकास अवरुद्ध रहा है। किन्तु सन् १९२९ मे 'प्रसाद'के 'एक प्ट'के प्रकाशनसे एकांकीके विकासकी दसरी अवस्थाका आरम्भ हो जाता है। 'एक घूँट' पात्रोकी मनोवैज्ञानिकता, वातावरणकी प्रभावशाली सृष्टि, समय और स्थल-संकलनका निर्वाह, सुगठित कथा-संघटन, घटनागत संघर्षकी उत्तरोत्तर क्षिप्रता, संवादकी स्वामाविकता, मार्मिकता, भावनाके स्पर्श, रचना-कौशल आदि सभी दृष्टियोसे अपने पूर्वगामी भारतेन्द्रकालीन रूपक-एकांकियोसे नितान्त भिन्न है। रवीन्द्रनाथ ठाकरके 'मक्तधारा' एकांकीसंग्रह तथा सिज, बेरी, ज्ञां, ओनील, गाल्सवदीं, इब्सन जैसे पश्चिमी नाटककारोकी शिल्पविधिके प्रभाव, स्कूल, कालेज, युनिवसिंटीके वार्षिकोत्सव, मनोरजन, रेडियोके कार्यक्रमको सफल बनानेके लिए रोचक और सरल लघ्न नाटकोंकी मॉग, वैयक्तिक अभिरुचिके परितोष, जीवनके व्यस्तताजन्य समयाभाव, वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे व्यक्ति एवं समाजके आदशों और प्रतिमानोंकी नवीन व्याख्या, भाषाकी बढी हुई अभिव्यंजना शक्ति इत्यादि अनेक कारणोसे एकांकी एक स्वतन्त्र साहित्यके रूपमें सम्मुख आता है। सत्येन्द्रके 'कुनाल', पृथ्वीनाथ शर्माके 'दुविधा', रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी ऑखें', भुवनेद्यवरके 'कारवॉ', सूर्यदारण पारीकके 'बौलावण या प्रतिज्ञापित के प्रकाशनसे वर्तमान एकांकियोका धाराके रूपमे प्रणयन होने लगता है, जो आजतक द्रत गतिसे चलता जा रहा है।

वर्तमान यगमें एकांकी स्वतन्त्र सत्ताके रूपमें सचेष्ट भावसे लिखे गये है। फलतः उनमें विषयकी अपेक्षा एकांकी-शिल्प प्रमुख हो गया है। अब उनमे बौद्धिक उत्सुकता, मनोवृत्तियोंका विश्लेषण, अतः संघर्षकी व्यंजना, हारय-व्यंग्यकी हल्की मुसकान, कथोपकथनकी चारुता, मार्मिक स्थलोंका चयन, यथार्थकता, मनोविज्ञानकी यन्थियोंको सलझानेका प्रयतन, पद्यका प्रायः अभाव, संस्कृतके आदर्श नायकका अनस्तित्व, रंग-संकेत इत्यादि क्रमशः बढ्ते गये है। आजके मनुष्यकी असंख्य अभिरुचियोंके अनुसार वर्तमान एकांकी प्रेरणाके विषय लोकविश्रुत राजाओ, वीरो, नेताओं, सुधारकों और सेनानायकोके जीवन-चरित, लोकगाथाओ और पुराणोंमे वर्णित देवी-देवताओं, दैत्य-दानवोंके आचार, विचार, आदर्श, कृत्य, भक्तोंकी लीला, प्रेम, घृणा, सहानुभूति, देष, वीरता, कायरता, आशा, निराशा, निर्दयता, क्रूरता, हत्या, अज्ञान, देशभक्ति, सामाजिक करीतियाँ, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-वैमनस्य, साम्यवाद, प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, धनता, निर्धनता, विवाह और त्याग,

कॅच-नीच, श्रेय-देय, ऋणी-महाजन, किसान-मजदूर, हिन्द्-मुसलमान, सत्यायही, नियम-अपराधी, सहयोग-असहयोग, यौन आकर्षण, नारी-पुरुपोंके सम्बन्ध, प्राकृतिक जीवन, हिसा-अहिसा, सत्य-असत्य, युद्ध-शान्ति रत्यादि रहे है। इसके अतिरिक्त इस कालके एकांकियोकी प्रायः दो श्रेणियाँ है। पहली विषयप्रधान है, जिसमे या तो प्रसाद या बॅगलाके आदर्शपर अथवा अपनी रुचि और अन्तः-प्रेरणाके अनुकूल चुने विषय तथा कथा-विधान लेकर लिखे गये है। पारीक, जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर पहाडी, हरिकृष्ण प्रेमी, धर्मप्रकाश, आनन्द, राहुल सांक्रत्यायन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सेठ गोविन्ददास आदि द्वारा रचित एकांकी इसी श्रेणीके है। दूसरी शिल्प-प्रधान है, जिसके एकांकियोंमें या तो पाश्चात्य रचना-प्रक्रियाको कठोरताके साथ ग्रहण' किया गया है अथवा उसमें अपनी प्रतिभा और बुद्धिसे और संस्कृत नाट्यशास्त्रके आधारोसे नये कथा-संविधान, नयी अभिन्यंजनाके द्वारा एक स्वदेशी मौलिक रूपका निर्माण कर लिया गया है। भुवनेश्वरने अंग्रेजी एकांकी रचना-शैलीका कठोर, पर सफल अनुकरण किया है। रामकुमार वर्मा, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अइक, विष्णु प्रभाकर, एस० पी० खत्रीने एकांकीकी स्वनिर्मित शैली प्रस्तुत की है, विशेषतया रामकुमार वर्माने संकलन-त्रयके पूर्ण निर्वाह और एक ही दृश्यमें वातावरण चरम सीमातक पहुँचानेकी एक नयी शैली प्रवर्तित की है।

वर्तमान युगमें प्रकारकी दृष्टिसे पहाडीका 'युग-युग द्वारा शक्तिपूजा', सेठ गोविन्ददासके 'जाति-उत्थान', 'हंगर स्ट्राइक', 'सहित या रहित', 'अट्रानवे किसे' जैसे सोहेश्य एकांकी; रामकुमार वर्माके 'ऐक्ट्रेस', 'रजनीकी रात', भवनेश्वरके 'शैतान', प्रो॰ आनन्दके 'प्यास', भगवतीचरण वर्माके 'सन्देहका अन्त' जैसे समस्या-एकांकीः रामकुमार वर्माके 'एक तोले अफीमकी कीमत'. 'नहींका रहस्य', अश्कके 'जोंक', 'समझौता', 'घड़ी', उदयशंकर भट्टके 'दो अतिथि', 'वर-निर्वाचन', 'मंशी अनोखेलाल', 'नकली और असली' जैसे प्रहसन एकांकी; उदयशंकर भट्टका 'नेता', सेठ गोविन्ददासके 'विटेमन', 'अधिकार-लिप्सा', 'वह मरा क्यों ?', भुवनेइवरका 'स्ट्रा-इक', रामकुमार वर्माका 'कहाँ से कहाँ', 'भगवतीचरण वर्मा-के 'दो कलाकार', 'सबसे बड़ा आदमी', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उम्र'का 'राम करे सो होय', वृन्दावनलाल वर्माके 'पीले हाथ', 'सगुन', प्रो० आनन्दका 'मिस्टर मौलिक', एस॰ पी॰ खत्रीका 'चौराहा', हरिशंकर शर्माका 'चिडिया-घरके संवाद', जैसे हास्य और व्यंग्यमूलक एकांकी; रामकुमार वर्माका 'बादलकी मृत्यु', अइकका 'छठा बेटा' जैसे कल्पनामूलक (फेंटेसी) एकांकी; सूर्यकरण पारीकका 'बौलावण या प्रतिज्ञापूर्ति', राहुलके मोजपुरीमे लिखित जनपदीय एकांकीः रामकुमार वर्माके 'चारमित्रा', 'दस मिनट', अदक्का 'लक्ष्मीका स्वागत', भुवनेश्वरका 'ऊसर' जैसे शिल्पमूलक एकांकी; सेठ गोविन्ददासके 'चतुष्पथं', 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'सचा जीवन' जैसे एकपात्रीय एकांकी (मोनोड़ामा); प्रेमचन्दका 'दुनिया', 'दिल्ली और दिवाली', नगेन्द्रका 'बिहारी' जैसे छक्षण या सूचनामूळक एकांकी (फीचर); विष्णु प्रभाकरके 'मॉका हृदय', 'संस्कार और भावना', 'रक्तचन्दन', रामकुमार वर्माके 'ऋतुराज', 'क्योंकी त्यों धरि दीन्ही चदिरया', जैसे रेडियो एकांकी; सेठ गोविन्ददास-रचित उपक्रम एवं उपसंहारवाले एकांकी; 'उत्तररामचित्त' जैसे नाटकसंक्षिप्त एकांकी; अश्वके 'विवाहके दिन', 'मेमना', एस॰ पी॰ खत्रीके 'मॉ', 'मछुएकी मॉं', 'ठाकुरका घर', जैसे दुःखान्त शेलोंके एकांकी; उदयशंकर मट्टके 'जवानी' जैसे नाट्य-रूपक एकांकी; 'कालिदास', 'मेषदूत', 'विक्रमोवंशीय' तथा रामकुमारके 'प्रतिशोध' जैसे ध्वनिरूपक एकांकी; उदयशंकर मट्टके 'जीवन' जैसे प्रतीकरूपक एकांकी लिखे गये है ।

विषयकी दृष्टिसे रामकुमार वर्माका 'दस मिनट', सेठ गोविन्ददासके 'कंगाल नहीं', 'ईद और होली', अइकके 'विभा', 'आदि मार्ग', जगदीशचन्द्र माश्ररका 'रीढ़की हुङ्की', उमका 'भाई मियां', उदयशंकर भट्टका 'सेठ लाभचन्द', धर्मप्रकाश आनन्दका 'दीनू', चन्द्रिकशोर जैनका 'कानून', अविनाशचन्द्रका 'विडम्बना', लक्ष्मीनारायण मिश्रका 'एक दिन' जैसे सामाजिक; सद्गुरुशरण अवरथीका 'मुद्रिका', उदयशंकर भट्टके 'मनु-मानव', 'आदिमयुग' जैसे पौरा-णिक; रामकुमार वर्माके 'प्रतिशोध', भरतका भाग्य', शम्भ-दयाल सक्सेनाके 'बल्बल', 'प्रहरी', 'आतिथ्य', 'सोनेकी मूर्ति' जैसे सांस्कृतिकः सेठ गोविन्ददासका 'हंगर स्ट्राइक', उदयशंकर भट्टके 'एक ही कब्रमें', 'पिशाचोंका नाच' जैसे राजनीतिकः, रामकुमार वर्माके 'चारुमित्रा', 'उत्सर्ग,' 'रेशमी टाई', सेठ गोविन्ददासका 'धोकेबाज', एस० पी० खत्रीका 'बन्दरकी खोपडी' जैसे चारित्रिक द्वन्द्वप्रधान; सेठ गोविन्ददासके 'सुदामाके तन्दुल', 'मानव मन', 'यूनो', 'फॉसी', गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागकी विन्दी' जैसे याथार्थिक; रामकुमार वर्माके 'पृथ्वीराजकी ऑखें', 'शिवाजी', 'दीपदान', जगदीशचन्द्र माथुरका 'भोरका तारा', सेठ गोविन्ददासका 'आलोक और भिखारिणी', सुदर्शनका 'राजपूतनीकी हार', उम्रका 'अफजलन्वध,' उदयशंकर भट्टके 'समुद्रगुप्त पराक्रमांक,' 'कुमारसंभव', वृन्दावनलाल वर्माके 'जहाँदारशाह', 'काश्मीरका काँटा' जैसे ऐतिहासिक; भुवनेश्वरके 'शैतान,' 'ऊसर', अइकका 'पापी', गणेशप्रसाद दिवेदीके 'दूसरा उपाय ही क्या है ?', 'शर्मीजी', 'परदेका अपर पार्श्व', 'सर्वस्व-समर्पण', 'सोहाग-विन्दी,' उदयशंकर भट्टका 'उन्नीस सौ पैतीस', सेठ गोविन्ददासका 'सपर्था' जैसे मनोविश्लेषणमूलकः रामकुमार वर्माका 'अन्धकार', जैनेन्द्रका 'टकराहट' जैसे दार्शनिकः विष्णु प्रभाकरका 'मॉ-बाप', अविनाशचन्द्रका 'देशरक्षाके लिए' जैसे **राष्ट्रीय एकांकियों**की रचना हुई है। आज हिन्दी एकांकी-कलाकी वक्रता, अभिनयकी सफलता, बात कहनेकी कुशलता, मनके रहस्योंकी खोलने और विचारोको सूक्ति एवं व्यंजना शैलीमें व्यक्त करनेकी ओर जा रही है। पुकारगता -दे॰ 'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

एकार्थं काव्य — यह प्रबंध-काव्यका एक वर्ग है। प्रबंध-काव्यके वर्गोंके पारस्परिक अंतर बहुत-कुछ आकारजनित है। आकार-क्रमसे प्रबंध-काव्यके वर्गोंमें एकार्थ काव्यका स्थान मध्यम है, ज्येष्ठ वर्ग महाकाव्य और कनिष्ठ खण्ड-काव्य है।

'एकार्थ-काव्य'का प्रथम प्रयोग आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने किया (वाड मय विमर्ज, प्र० सं०, प्र० १४)। किन्त इस कान्यरूपकी कल्पना साहित्यदर्पणकार 'काव्य'की संज्ञा विश्वनाथने की थी और उन्होंने इसे दी थी (साहित्यदर्पण, ६।३२८) । तत्सम्बन्धी इलोकके दो पाठ मिलते है। प्रथम पाठ "भाषा-विभाषा नियमात्काव्यं सर्ग समुत्थितम् । एकार्थं प्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्रय वर्जि-तम् ॥" है और द्वितीयमें 'समुत्थितम्'के स्थानपर 'समु-जिझतम् है। प्रथम पाठके अनुसार एकार्थ काव्य सर्ग-यक्त और दितीयके अनुसार सर्गविहीन हो जाता है। चार संस्करणों (निर्णय सागर संस्करण, शालग्राम शास्त्री द्वारा सम्पादिन संस्करण, नवलिक्शोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित द्वितीय संस्करण और डॉ॰ नगेन्द्र—सम्पादित 'भारतीय काव्यशास्त्रकी परम्परा'में संकलित पाठ)मे 'समुत्थितम्' और दो ही संस्करणो (काणे एवं डॉ० सत्यव्रतसिंह द्वारा सम्पादित संस्करण)में 'समुज्झितम्' पाठ होनेके कारण पहला पाठ ही प्रामाणिक अनुमित होता है। इस तरह विश्वनाथके अनुसार भाषा अथवा विभाषामें स्थित, सर्गींसे युक्त, संधियोंकी समग्रतासे रहित और एक ही अर्थको लेकर चलनेवाला पद्य 'काव्य' है। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने अंतिम लक्षणको प्रमुख मानकर इसे 'एकार्थ काञ्य'की अभिधा दी। यह सर्वथा उचित है। एक तो 'काव्य' शब्द सामान्य अर्थमें प्रचलित है, जिसके अंत-र्गत प्रबंध और मुक्तक, दोनों समाविष्ट हो जाते है, अतः प्रबंध काव्यके एक वर्गके लिए उस शब्दका प्रयोग वांछनीय नहीं है। दूसरे, 'एकार्थ कान्य' नामसे इस प्रकारके कान्यरूपका वह लक्षण भी स्पष्ट हो जाता है, जो इसे इसके सहोदर काव्यरूपो-महाकाव्य और खंड काव्यसे पथक करता है। महाकाव्यमें नायकका प्रायः समग्र जीवन आ जाता है और समय जीवनमें अर्थकी विविधता अनि-वार्य है। एकार्थ काव्यमे नायकके जीवनका उतना ही भाग गृहीत होता है, जितना किसी अर्थ विशेषकी सिद्धिमें लगा रहता है। यही नहीं, जीवनके इस सीमित भागमें भी नायकका कार्य-कलाप विविध अर्थीमें विखरा न होकर एक अर्थमें सिमटा रहता है। तात्पर्य यह कि इस काव्य-रूपकी एकार्थात्मकता इसके तत्त्वोमे सर्वप्रमुख है। अतएव इस कान्यरूपके लिए 'एकार्थ कान्य' नाम सब प्रकारसे उचित है।

इस एकार्थ कान्य-कल्पनाका आदि रूप रुद्र-प्रति-पादित 'लघुकान्य'में दृष्टिगत होता है। उन्होने कान्यको महान् कान्य और लघुकान्य, दो वर्गोमे विभक्त कर लघु कान्यका लक्षण इस प्रकार बताया—"ते लघवो विश्वेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्। असमग्रानेकरसा ये च सम-ग्रैकरसग्रुक्ताः॥" (कान्यालंकार, १६१६)। रुद्रटका 'महान् कान्य' वस्तुतः महाकान्य है और उनका 'लघु कान्य' एकार्थकाव्य है। विश्वनाथकी एकार्थप्रवणता यहाँ 'येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात'के रूपमें विद्यमान् है। इसके
अतिरिक्त विश्वनाथने सर्गबद्धतापर, तो रुद्रटने रसकी
स्थितिपर जोर दिया है। विश्वनाय और रुद्रटके लक्षणोमे
मुख्य अंतर यही है कि प्रथमने एकार्थ काव्यके अंतर्वाह्य
दोनों स्वरूपोंको स्पष्ट किया है, वहाँ रुद्रटने लघुकाव्यके
केवल आंतरिक स्वरूपपर ही अपना ध्यान केंद्रित रखा
है। जो हो, दोनोको मिलाकर एकार्थकाव्यके निम्नांकित
लक्षण स्थिर किथे जा सकते हैं—१० एकार्थकाव्यकी रचना
भाषा या विभाषामें होती है। २० यह सर्गयुक्त होता है।
३० यह एकार्थप्रवण होता है, अर्थात् चतुर्वर्गमेसे कोई एक
ही इसका उदेश्य होता है। ४० इसमे सभी संधियाँ नही
होतां, कुछ ही संधियाँ होती है। ५० इसमें अनेक रस
असमग्र रूपमे अथवा एक रस समग्र रूपमे रहता है।

इनमेंसे सर्गवद्धतान्ने नियमको हिन्दीने एकार्थकान्यकारोंने शिथिल कर दिया है। हिंदीने एकार्थकान्य सर्गीकृत होते है और नहीं भी होते है। सर्गका काम कभी-कभी वर्णन संकेतसे भी ले लिया जाता है। सम्भाषणमे 'अमुक उवाच' एवं वर्णनात्मक स्थलोंमें 'अमुक वर्णन', इस शब्दाव्योग किया जाता है। पर सर्गीकृत कथामें कहीं-कही ये संकेत देखनेको मिल जाते है। हिंदी एकार्थकान्यके स्वरूपको निर्धारित करनेवाला दूसरा तत्त्व होता है—छंद। एकार्थ कान्यमें छंद की स्थिति पर रुद्रट और विश्वनाथ, दोनों मौन है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतके एकार्थ कान्य एक ही छंदमें लिखे जाते थे। किन्तु हिन्दीने एकार्थ कान्य आद्यन्त एक छन्दमें लिखे गये हैं और अनेक छंदोंमें भी।

अपभ्रंश तथा हिन्दीमे 'चरित', 'रास' आदि नामोंसे जो काव्य लिखे गये है, उनमें एकार्थ काव्यकी संख्या प्रचर है। इनमेसे जैन कवियो द्वारा हिखेगये कान्योमेंसे तो नब्बे प्रतिशतसे अधिक काव्य ही है। जैनियों द्वारा लिखे गये इस प्रकारके कान्योंमें व्यक्तिके जन्मसे लेकर उसकी कैवल्य प्राप्तितक की कथा कही जाती है। सारी कथा नायकके जीवनके इसी एक अर्थमें सिमटी रहती है और इस अर्थके सिद्ध हो जानेपर कथा एकाएक समाप्त हो जाती है। पुष्पदंतके 'नागकमार चरित' और 'यशोधर चरित' ऐसे ही एकार्थ काव्य है। इसके बाद सूफी एवं सूफीतर प्रेमकाव्योमे भी पर्याप्त संख्यामें एकार्थ काव्य उपलब्ध होते है। कित प्रेम काव्योमे आकर एकार्थ काव्यका अर्थ बदल गया। वहाँ जीवनका अर्थ धर्म था, यहाँ काम भी उसकी पंक्तिमें जा बैठा। जिस प्रकार जैन एकार्थ कान्योके नायकका प्रयोजन कैवल्य-प्राप्ति है, उसी प्रकार सूफी और सूफीतर एकार्थ कान्योंके नायकका प्रयोजन किसी रूपवती नायिकाकी प्राप्ति है। मध्ययुगीन कृष्णकान्यमे एकार्थ कान्यके उदा-हरण प्रायः नही मिलते। एक तो कृष्ण-कान्यका अधिकांश मुक्तकमे लिखा गया है और अगर प्रबंध है भी तो वह खंड-काञ्यकी परिधिसे आगे नहीं बढ़ता। इसके विपरीत राम-काव्यमें एकार्थकाव्यके उदाहरण सर्वथा अलभ्य नहीं है।

आधुनिक युगमें भी हिन्दीमें एकार्थ कान्योकी संख्या

कम नहीं है, बरिक सत्य तो यह है कि जो भी प्रबंध-काव्य लिखे गये. अथवा लिखे जा रहे हैं, प्रायः वे सब एकार्थ काव्य और खंड-काव्य ही है। वर्तमान कालके एकार्थ कान्योंको देखकर यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि इनके रचयिताओका उद्देश्य महाकाव्य-प्रणयन था। अधिकतर कृतियोंके शीर्षकोंके साथ 'महाकाव्य' इब्दका संयोग तथा उनमे महाकाव्यके स्थल लक्षणों-मगींकरण, सर्गातमे छंद-परिवर्तन आदिका अनिवार्यतः पालन इस बातके प्रमाण है। यही कारण है कि आधुनिक युगका कदाचित् ही कोई एकार्थ-काव्य सर्गहीन है। फिर भी युगांतर-व्यापी सत्य, गम्भीर जीवन-दर्शन, विराट कल्पना एवं शैलीमे गरिमा और उदात्तताके अभावके कारण ये एकार्थ-काव्यकी सीमासे आगे नहीं जा सके। बलदेवप्रसाद मिश्रका 'कौशलकिशोर', सूर्यदेव मिश्रका 'ध्रवचरित्र', ताराचंद हारीतकी 'दमयंती', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'की 'उमिला', परमेश्वर 'द्विरेफ'की 'मोरॉ', रामकमार वर्माका 'एकलब्य', इयामनारायण प्रसादकी 'झॉसीकी रानी' आदि आध-निक युगके उल्लेख्य एकार्थ काव्य है। एकालाप-एक व्यक्तिके कथनको एकालाप कहते है। -शाब्दिक अर्थकी दृष्टिसे समवेत कथनको छोडकर सब भापण एकालाप ही है, पर एकालापका न्यवहार किशेष रूपसे उस रचनाके लिए किया जाता है, जिसमे प्रारम्भसे लेकर अन्त तक एक ही पात्र बोलता हो-उसके कथनमें ही अन्य व्यक्तियोंके कार्यों, शब्दों और उपस्थितिका सकेत रहता है। एकालाप मुख्यतः नाट्य-प्रकारके अन्तर्गत आता है। इसे स्वगत-नाट्य (दे॰ रेडियो स्वगत-नाट्य) भी कहा जाता है। अंग्रेजीमे इसे 'मोनोलाग' कहते हैं।

एकालापमे पात्र विशेषको किसी नाटकीय स्थितिमें रखकर मुख्यतः उसके मनोभावोंका अंकन किया जाता है। एक प्रकारसे इसमे पात्र विशेष स्वयं अपनेसे ही बातें करता है। मैथ्यू आर्नाल्डने इसे मनके साथ मनका संलाप कहा है। जहाँ नाटक कार्यरत चरित्रका अंकन होता है. वहाँ एकालाप कार्यरत आत्मा का । इसमें पात्र अपने और अपने परिवेशका परिचय देता है, अन्य पात्रोसे अपने सम्बन्धका ज्ञान कराता है, जिस नाटकीय स्थितिमें वह रहता है, उसे स्पष्ट करता है और अपने आन्दोलित मनो-भावोंको प्रकट करता है। आधुनिक मनोविज्ञानने चेतना-प्रवाहको जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, उसके फलस्वरूप एकालापकी सम्भावनाएँ बढ गयी हैं और अनेक कवि एवं नाटककार इसका उपयोग कर रहे हैं। हिन्दीमें एकालापके रूपमें अभी बहुत कम रचनाएँ ही लिखी गयी है। एकांकी नाटकके क्षेत्रमें सेठ गोविन्ददास, विष्णु प्रभाकर, कत्तीरसिंह दुग्गल आदिकी कुछ रचनाएँ एकालापके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत की जा सकती है। कुछ ऐसी लम्बी कविताएँ भी लिखी गयी है, जो एकालाप कही जा सकती है। — सि० कु० एकावली-एक शृंखलामूलक अशीलंकार, जिसमे शृंखला-रूपमें वर्णित पदार्थींमे विशेष्य-विशेषणभाव-सम्बन्ध पूर्व-पूर्व विशेष्य, पर-पर विशेषण, पूर्व-पूर्व विशेषण, पर-पर

विशेष्य, इन दो रूपोमे स्थापित अथवा निषिद्ध किया जाता है। रुद्रद द्वारा उल्लिखित इस अलंकारको मम्मदके (का॰ प्र॰, १०: १३१) आधारपर विश्वनाथ इसी रूपमें स्वीकार करते है—"पूर्व पूर्व प्रति विशेषणत्वेन पर परम्। स्थाप्यतेऽपोद्यते वा चेत स्यात्तदैकावली द्विधा" (सा० द०, १०: ७८) । दोनोने स्थापना और निषेधके रूपमे दो भेद माने है। जयदेवने 'चन्द्रालोक'में इसको केवल 'गृहीत-मुक्त रीतिसे विशेषण-विशेष्यके वर्णनकम''के रूपमें माना है। हिन्दीमें जसवन्त सिहने 'कुवलयानन्द'के आधार-पर इसीका अनुकरण किया है, पर उसकी वृत्तिपर ध्यान न देनेसे लक्षण स्पष्ट नहीं है। हिन्दीके मध्ययुगीन आचार्यों-ने प्रायः जयदेवका अनुसरण किया है और लक्षणके अनुसार एक ही उदाहरण दिया है। मतिराम, भूषण तथा पद्माकरके लक्षण समान है- "गहब तजब अर्थालिको जॅह" (पद्मा॰, १७५) और—''एक अर्थ लै छोडिये और अर्थ लै ताहि। अर्थ पॉति इमि कहत है" (ल० ल०, २५९)।

यहाँ विशेषण शब्दका प्रयोग सामान्य रूपमें ऐसे किसी शब्दके लिए हुआ है, जो किसी वस्तुको अन्य वस्तुसे अलग करता अथवा उसे विशिष्टता प्रदान करता है। भोजने इसे 'परिकर'के अन्तर्गत स्वीकार किया था। जगन्नाथके अनुसार 'मालादीपक' (दे०)को इसका भेद मानना चाहिये।

विशेषणभावसे स्थापनके रूपमें चिन्तामणिका उदाहरण है-"धाम बामजुत बाम जो रूपवन्त बहुरूप। सहित विलास, विलास जो मनमथवान अनूप''। इसमें उत्तरोत्तर कथित वस्तुका विशेषणभावसे स्थापन किया गया है। इसका प्रयोग आधुनिक युगके कवियोंमें भी पर्याप्त मिलता है। गुप्तजीका यह सुन्दर प्रयोग है-- "वृन्दा-वनमें नव मधु आया, मधुमें मन्मथ आया। उसमें तन, तनमें मन, मनमें एक मनोरथ आया" (काव्यदर्पण)। विशेषणभावसे निषेधके उदाहरणमें कन्हैयालाल पोदार तथा रामदहिन मिश्रने केशवदासका यह सवैया प्रस्तुत किया है— "सोहत सो न सभा जह वृद्ध न, वृद्ध न ते ज पढ़े कछ नाही। दान न सो जह सॉच न केसव, सॉच न सो जु बसै छल छाँही"। इसमें सभा आदिके उत्तरोत्तर रूपमें वर्णित बद्धादिक विशेषण है, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषणभावसे निषेध किया गया है। इस प्रकार पर-पर विशेष्यका उदाहरण है-"'रस सो काव्यरु काव्यसी, सोहत बचन महान । बचनन ही सौ रसिक जन, तिन सौं सन्त सुजान" । इसमें 'कान्य' आदि पर-पर विशेष्य है। --वि० स्ना०

एकीकरण—एकता या एकत्व । कलाओंमें एकीकरणसे तात्पर्य है विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलाना कि सम्पूर्ण कृति विदिल्ष्ट न लगकर संलिष्ट या एक-रूप मालुम दे।

एकीकरण रूपगत भी हो सकता है और भावगत भी। रूपगत एकता वन्तुतः सन्तुल्नका ही अर्थ रखती है, अर्थात् विभन्न खण्डोका परस्पर समतोल होना (दे॰ 'संतुल्नने')। भावगत एकतासे अभिप्राय है विभिन्न विचारोंका किसी-न-किसी रूपमें एक मूल विचारसे परिचालित या घटित होना।

रूप एवं भावकी एकता जितनी ही निश्चित और स्पष्ट होगी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव उतना ही सफल; इसलिए आवश्यक है कि मूल भाव या तर्क सर्वांग और असन्दिग्ध हो। — कु० ना० एकेश्वरवाद — एकेश्वरवाद अंग्रेजी शब्द मॉनोधीज्मका अर्थ है वह धर्म या धार्मिक दर्शन, जिसमें एक ईश्वरका विधान हो। ईश्वर परमात्मा है। वह जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय करता है। वह नित्यज्ञान और आनन्दका आश्रय है। वह निर्दोष तथा समस्त गुणोका आकर है।

ईश्वर और जगत्के सम्बन्धको लेकर तीन प्रकारके एकेश्वरवाद हो गये।

- (क) सर्वेश्वरवाद—इसमें ईश्वर जगत् है और जगत् ईश्वर । दोनोंमें तादात्म्य-सम्बन्ध है । यही ब्रह्मवाद है । अंग्रेजीमें इसे पैनथीज्म कहते है । हिन्दी सन्तोंने इसे निर्गुणवाद या निर्गुण ब्रह्मवाद कहा । प्लाटिनस, स्पिनोजा और सूफी सन्त भी ईश्वरको इसी रूपमें मानते है ।
- (ख) ईश्वरकारणवाद इसमें ईश्वर जगत्से वाह्य है। वह जगत्को उत्पन्न करके पृथक् हो जाता है और जगत्व्यापार अपने-आप चळता रहता है। तात्त्विक दृष्टिसे इस मतमें ईश्वर जगत्का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। अरिस्टॉटिल, डेकार्ट, भारतीय नैयायिक तथा वैशेषिक, इंग्लैण्ड तथा फ्रांसके १८वी शतीके कितपय दार्शनिक तथा इस्लामके अनुयायी इसी रूपमें ईश्वरको मानते है। अंग्रेजीमें इसे डोइजम कहते है। भारतीय शब्द ईश्वरकारणवाद इस अर्थमे ही प्राचीन साहित्यमें प्रयुक्त हुआ है।
- (ग) ईश्वरवाद—इस मतमे ईश्वर जगतमे व्याप है। वह अन्तर्यामी और नियन्ता है। जैसा कि तुल्सीदासने कहा है, इस मतके अनुसार, ईश्वर 'अन्तर्यामी' और 'बाहरजामी' (बिहर्यामी) दोनों है, अतः यह उपर्युक्त दोनों मतोंका समन्वय है। इसीको सगुणवाद या सगुण ब्रह्मवाद भी कहा जाता है। गीतामें ऐसे ईश्वरको पुरुषोत्तम कहा गया है। अंग्रेजीमें इस वादको थीइज्म कहते है। ईसाई-मतानुयायी, लाइबनीज तथा भारतमें वैष्णव, शैव और पांचरात्र सम्प्रदायके अनुयायी और हिन्दीके सगुणोपासक मक्त ईश्वरको इसी रूपमें मानते है। नानक और उनके अनुयायी भी इसी मतको मानते है। इन तीन प्रकारके ईश्वरवादोंसे भिन्न पातंजल योगका चौथा ईश्वरवाद है।
- (व) योगेश्वरवाद—इसमें जो पुरुष कर्म, कर्मफल तथा आशय (कर्मफलके अनुरूप संस्कारके सम्पक्षी से शून्य रहता है, वह ईरवर कहलाता है (योगसूत्र, १:२४)। ईरवरमे ऐरवर्य तथा शानकी पराकाष्ठा है। वह गुरुओंका भी गुरु है। वह प्रसन्न होकर योगियोंके मार्गमे विष्करूप क्लेशोंका नाश करके समाधिकी सिद्धि देता है (भोजवृत्ति, २:४५)। वह तारक शानका दाता है। वह प्रकृति और पुरुषोंमें अन्तर्यामी नहीं है। वह उनका कर्ता भी नहीं है। इस कारण यह योगेश्वरवाद सर्वेश्वरवाद, ईश्वरकारणवाद तथा ईश्वरवादसे भिन्न है। हिन्दीके योगियोका मत भी यही ईश्वरवाद है।

एकेश्वरवादके सभी रूपोंने अपने-अपने ढंगसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करना चाहा है।

- (क) सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण अलगसे द्रष्टव्य है।
- (ख) ईश्वरकारणवादके अनुसार ईश्वरकी सत्ताके लिए नैयाथिक उदयनाचार्यने कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनमेंसे तीन मुख्य है और इस प्रसंगमे सर्वत्र उल्लेख योग्य है।

जगत्के समस्त पदार्थ कार्य (उत्पन्न वस्तु) है। उनका कोई निमित्त कारण (उत्पादक) होना चाहिये, जैसे घड़ेका निमित्त कारण कुम्भकार है। अतः ईश्वर है। मलिक मुहम्मद जायसीकी व्यंग्योक्ति "मोका हॅसेसि कि कोहरेहिं" की पृष्ठभूमिमें ईश्वरकी सत्ताका यही प्रमाण छिपा है। इसे कार्यसे कारणका अनुमान कहा जाता है। निग्रंण और सगुण कवियोंने जब ईश्वरको कुम्भकार या शिल्पी कहा है तो उनका भी आशय यही तर्क था।

प्रकृतिके जड पदार्थमे आयोजन (अनुक्रम, सोदेश्यता) है। इस आयोजनका भी कारण होना चाहिये। कोई जड वस्तु आयोजनकी प्रदात्री नहीं हो सकती, क्योंकि जड़ वस्तु आयोजनकी प्रदात्री नहीं हो सकती, क्योंकि जड़ वस्तुमें संघटन-शून्यता है और आयोजनपूर्ण वस्तुओंमे संघटनकी पराकाष्ठा है। अतः कोई महामहिम चेतन प्राणी ही इस आयोजनका रचयिता है, और वही ईश्वर है। शंकराचार्यने आयोजनापूर्ण जगतको रचना कहा है। एक चित्रकार (चितेरा) चित्रकी योजना (या आयोजना) विचारपूर्वक करता है। जैसे चित्र देखनेसे ही उसकी योजना या आयोजनाके आधारपर किसी चतुर चितेरेकी कल्पना करनी पड़ती है, वैसे शंकराचार्यके मतसे जगतकी रचना या आयोजना देखनेसे ईश्वरका अनुमान करना पडता है। शंकरके इस तर्कको उदयनाचार्यने स्पष्ट किया है।

तुलसीदासकी "देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनिह मन रहिये" और कवीर आदिकी 'रचनहार', 'चितरा' आदि पदाविल्योंकी पृष्ठभूमिमे आयोजनसे अनुमानित ईश्वरकी सत्ताका ज्ञान है।

संसारमें मनुष्य अपने कर्मोंका फल पाता है। जो जैसा बोता है, वह वैसा काटता है। इस नैतिक विधानका भी कोई विधाता होना चाहिये, अन्यथा इसका व्याख्यान सम्भव नहीं है। अतः नियन्ताके रूपमें, कर्मफल देनेवालेके रूपमें कोई चेतन प्राणी अवस्य है और वहीं ईश्वर है।

यही तीन तक ईश्वरवादी भी देते है। उनके मतसे पहला तर्क उपादान कारणके रूपमें भी ईश्वरको सिद्ध करता है।

पश्चिममें डेकार्ट (१७वां श्रती) से लेकर आजतक इन तकोंका मण्डन और खण्डन होता रहा है। निष्पक्ष अनु-शीलनसे यही सिद्ध होता है कि कोई चेतन प्राणी जगतके मूलमें है। वह ईश्वर, अर्थात् सबसे बडा चेतन प्राणी, उपास्य आदि है यह सिद्ध नहीं होता। वैज्ञानिक विकास-वादने जगतकी उत्पत्तिमें चेतन प्राणीकों भी अनावश्यक और व्यर्थ बताया है। इस मतसे चेतनता जडपदार्थका ही विकास है। आधुनिक युगके प्रत्ययवादियोंने विकासवाद और ईश्वरवादके समन्वयपर जोर देकर उपर्युक्त तकोंके साथ विकासवादकी संगति दिखलाई है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और दार्शनिक कांट (१८वीं शतीं) उपर्युक्त तकोंमें दूसरे और तीसरे तर्कको सही मानता है और पहलेको निष्फल।
(ग) पतंजिलने ईश्वरको सिद्धि यों की है—

ज्ञानमें तारतम्य (न्यूनाधिक्य) है। जहाँ तारतम्य है, वहाँ पराकाष्टा भी है। अतः ज्ञानकी भी पराकाष्टा है, जो ईश्वर है।

पर यह तर्क लचर है। यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक न्यूनाधिक गुणकी पराकाष्ठा है। अनुभवमें ज्ञान, आनन्द, ईमानदारी, सफेदी, किसी गुणकी पराकाष्ठा नहीं आती। अतः तर्कसे यह प्रमाण गलत है। हाँ, रहस्यानुभूति द्वारा इसका अनुमोदन हो सकता है।

वस्तुतः ईश्वरके विषयमें दिये जानेवाले सभी प्रमाण प्रत्यक्षमूलक तर्कसे कट जाते है, केवल वे ही प्रमाण शेष रहते हैं, जो सन्त, भक्त, महात्मा आदि रहस्यवादी अपने दिव्य अनुभवके आधारपर देते है। हिन्दीका सन्त और मक्त साहित्य ऐसे अनुभवोका विश्वकोश है।

ऋग्वेदमे एकेश्वरवादका उल्लेख है। विष्णु, वरुण, इन्द्र आदिको विभिन्न लोगोंने अपना परमेश्वर माना । पुरुषसूक्त-मे शुद्ध ईश्वरवाद है और यही कारण है कि आज भी वैष्णव जन प्रतिदिन इसका ध्यान करते है। एक देवको जानना, उसकी उपासना परमात्माके रूपमे करना, उसके लिए यज्ञादि करना, वैदिक ऋषियोंका धर्म था । ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपासनाकाण्डके नामसे उनकी त्रिविध साधनाका सुन्दर वर्णन वेदमे मिलता है। 'इवेताश्वतर उपनिषद'में ईश्वरवादका दार्शनिक वर्णन किया गया है। महाभारतकालमें गीताकी रचना द्वारा ईश्वरवादका ऐसा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया कि आज भी वह अतुल-नीय है। इसीसे ज्ञात होता है कि उस समयतक एंकेश्वर-वादकी भावना पूर्णतया विकसित हो गयी थी। सूत्रकालमें न्याय-वैशेपिक, योग और वेदान्त द्वारा एकेश्वरवादके उपर्युक्त चारों वादोंका वर्णन हुआ। पुराणकालमे ईश्वर-वादमें भक्ति-साधना, अवतारवाद और मूर्तिपूजाका प्रवेश हुआ । भागवत पुराण आज भी ईश्वरवादके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थो-मेसे एक है। पांचरात्रों, शैवां और शाक्तोमें भी एकेश्वर-वादकी भावनाका वैते ही विकास हुआ, जैसे ऋग्वेदमे भागवत पुराणतक वैष्णवोमें। दोना धाराओंमे परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ । सगुण बह्मवादियोंमें रामानुजने नारायणको और मध्वने विष्णुको परमेश्वर माना तो अन्य लोगोंने कृष्णको । स्वामी रामानन्द, कशीर और तुलसी-दासने रामको ही परमेश्वर माना। इस प्रकार मुख्यतः कृष्णोपासना और रामोपासनाका सर्वत्र प्रचार हुआ। कृष्णोपासनामें राधा तथा अन्य गोपियोंको अधिक महत्त्व देनेसे कालान्तरमें अनैतिक आचारोंको भी अवकाश मिला। रामोपासना प्रायः सदैव विशुद्ध नैतिक बनी रही।

हिन्दीके निर्गुण सन्तोंमें प्रायः नानक और उनके अनुयायियोंको तथा राधास्वामी-सत्संगको छोड़कर सभी रामोपासनाके अन्दर आते हैं, पर उनके राम तुल्सी जैसे सगुणोपासकोंके रामसे भिन्न है। वे ब्रह्म है, न कि दश्रधमुत । नानक-पन्थ हिन्दू धर्मका ही अंग है। नानकका एकेश्वरवाद बहुत-कुछ दैतवादी एकेश्वरवाद या नहानाद है।

एक्सप्रेशिनिज्म (expressionism)—'एक्सप्रेशनिज्म' कलात्मक अभिन्यक्तिके रूपको कहते है, जो किसी परि-स्थितिके मूल आवेगको बाह्याकृतिको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करती है। आधुनिक अर्थोंमे 'एक्सप्रेशन' शब्दका अर्थ या तो किसी आन्तरिक तथ्यका बाह्याकार प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिनिधित्व करना और या सामान्य रूपमे एक वस्तु द्वारा दूसरीकी ओर संकेत करना होता है।

सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि इस वादका प्रारम्भ, आधुनिक युगमें सन् १९२० ई०के लगभग जर्मनीमे हुआ। यो उन्नीसवी शताब्दीके अन्तिम वर्षीमे भी कही-कही इसके संकेत मिलते है। प्रथम महायुद्धके बाद यह जर्मन साहित्यमे, विशेष रूपसे नाटकोंमे (दे० 'द एडिंग मैशीन'—१९२३ ई०: एमर राइस आदि नाटक) अपने पूर्ण विकसित रूपमें मिलता है। यह फ्रेक वेडकाइंडके 'अवेकनिंग ऑफ स्प्रिंग' तथा आगस्ट सिट्टडन्बर्गके 'दि स्पूक सोनाटा' आदि नाटकोमे वीजरूपमें मिलता है। ये उनके चित्रोके अवगुणों या विशेषताओंको कल्पनाशैलीमें बनाते थे। इनकी भाषा बहुत प्रभावपूर्ण होती थी, लेकिन उसमें आत्माभिन्यक्तिपूर्ण स्वगत कथन भी हो सकते थे। इनका कार्य आक्सिमक, काल्पनिक या बहुआधारित भी हो सकता था, जिसका निर्माण कला-चातुर्य और गम्भीर प्रभावयुक्ततासे होता है।

'एक्सप्रेशनिष्म' एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी-किसी रचनामे किसी अपनायी हुई विधिके बजाय प्रेरणा देता या प्रकाशित करता है।

क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०)ने यह तथ्य स्पष्ट रूपसे बताया है कि कला सदैव आत्माभिन्यक्तिका एक रूप है। उसके विचारसे, जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, वह बाह्य नहीं है, यद्यपि मस्तिष्क अवस्य ही, अपने स्वयंके उद्देश्योंको ग्रप्त रंख सकता है। स्काट जेम्सने क्रोचेके सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए लिखा है कि कोचेने पृथ्वीपर जिस भवनका निर्माण किया है, उसका कोई आधार नहीं है। वह कलाके विषयमे लिखता है और वह कलाकारसे सलाह लेना भूल गया है। यदि वह उससे राय लेता, तो वह उसे बताता कि कलाका सम्पूर्ण कार्य संसारको कुछ सन्देश देना है और यह कि वह कोई सुन्दर वस्तु होगी। क्रोचे सन्देशके विषयमें विलकुल भूल गया है। उसका विचार है कि कोचेका किव कोई भाषा नहीं बोलता। अधिकसे अधिक उसका भाषण एक स्वगत-कथन हो सकता है। उसका कलाके विषयमे अपना विचार यह है कि कला भाषासे सम्बन्ध रखती है। वह किसी भी माध्यमसे प्रकट की गयी हो, यह गौण बात है (दे० द मेकिंग ऑफ लिट्रेचर': आर० ए० स्काट जेम्स)। उसने क्रोचे तथा आर्नाल्ड, दाँते, अरस्तू या गेटे आदिकी वैचारिक भिन्नताको भी स्पंष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

लैटिन तथा होरेस किंवटेलियन और ओविड आदिके उदाहरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि किसी रचनामें अभिव्यक्ति करनेके प्रयोगकी भाषा-कथन या शब्द कथनके सन्दर्भमें तीन प्रकारसे व्याख्या हो सकती है—
(१) उदेश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, (२) समान रूपसे उदेश्यपूर्ण

प्रदर्शन अथवा संकेत और (३) मनो वैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति।

उपर्युक्त मानसिक विचारोंके अतिरक्त तीन मुख्य सिद्धान्त है, जिनकी सहायतासे एक्सप्रेशनिज्मको कही भी पहचाना जा सकता है—(१) जिसे अभिन्यक्त किया जाना है (अर्थात् experimend), (१) जो अभिन्यक्त करता है (अर्थात् experiment) और (३) जिसके माध्यमसे अभिन्यक्त किया जाय (अर्थात् expressor)। इनमेंसे प्रथम (अर्थात् experimend)से सम्बन्धित एक और आधुनिक सिद्धान्त है, जो किसी अभिन्यक्तिके बाह्या-कारके प्रकटीकरणको यह समझता है कि वह उसे मस्तिष्कत्त से विलकुल निकाल देना है। यह एक महत्त्वपूर्ण वात है कि प्रभावोकी अभिन्यक्ति और पहिचानी हुई अभिन्यक्तिमें पर्याप्त अन्तर है।

किसी कलामें अभिन्यक्तिको सदैव उसकी प्रक्रियामें एक मुख्य तक्त्व तथा अभिन्यंजनाको कार्यमे एक प्रमुख तक्त्व माना जाता है। क्लैसिकल कान्यशास्त्रमे अभिन्यंजनाको आकार या रचनासे कम महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्लैसिकल नियमका न्यवहार और सिद्धान्त सदैव यह रहा है कि यद्यपि कलामें किसी विचार या अनुभूतिकी अभिन्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो सकती है, परन्तु विना किसी रचनाके यह असम्भव है, जो अभिन्यक्त करने योग्य होती है।

अभिन्यंजनाकी रचनाके विरुद्ध, निस्सन्देह, आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियोंकी मुख्य समस्या लेसिंगके 'लायाकून'का उस नियमसे अलग हट जानेका विषय है। लेसिंगके बाद यरोपीय सिद्धान्त अभिव्यंजनाके महत्त्वपर अधिक जोर देने लगा है और इस प्रकार अन्तमें एक ऐसी स्थितिको पहुँचता है, जहाँ से लिलत कलाको एक उद्देश्यके निर्माणके लिए प्राथमिक नहीं माना जाता, लेकिन किसी विचारकी अभि-व्यक्तिके समान, या व्यवहारमें, एक अनुभवकी रिपोर्ट समझा जाता है। लिलत कला-विषयक यह धारणा यूरोप-मे सम्पूर्ण उन्नीसवा शताब्दीमें व्याप्त रही। और यद्यपि बीसवी रातान्दीमें इसकी बहुत आलोचना हुई है, तब भी अनभिज्ञतासे यह हमारे समयको सौन्दर्यशास्त्र-विषयक सामान्यतम धारणा है। क्रोचे इसका प्रमुख वैज्ञानिक प्रचारक है। उसके सिद्धान्तका आधार यह है कि अभि-व्यक्ति और लिलत कला दोनों एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं, और इस प्रकार, चूंकि सब लिलत कलाएँ अभिन्यक्ति हैं, सब अभिन्यक्ति ललित कला है।

कोचे कलाकी समानता और सौन्दर्यका समर्थन करता है और उसे उनसे पृथक् करता है, जिन्हे सामान्य रूपसे कला कहा जाता है। उसका विचार है कि सौन्दर्य वस्तुओंका कोई गुण नही है, चाहे वे पेड़ हों या पत्थरके उकड़े, लेकिन अन्य प्रत्येक महत्त्वके समान, केवल किसी आत्मिक कियाशीलके स्वमावके रूपमे उत्पन्न होता है (दें० 'द थ्योरी ऑव ब्यूटी' कोरिट)। इसलिए कोचे, हीगेल, शोपेनहावर तथा किसी सीमातक कांटके विचारके अनुसार कला ज्ञानका एक रूप है या वह हमारी प्रकृतिके ब्यावहारिक पक्षके विरुद्ध, सम्मवतः, सैद्धान्तिक हैं।

[सहायक अन्थ— हिस्टरी ऑव एरथेटिक :
बोसाँके]। — प्र० ना० टं०
एिलगरि—दे० 'रूपककथात्मक काव्य', 'द्रष्टांत काव्य'।
एिलगि—दे० 'शोक गीति'।
एलेक्ट्रा मनोग्रंथि—दे० 'मनोग्रन्थि'।
एसे—दे० 'विवन्ध'।
ऐकांतिक—दे० 'भक्ति'।

**ऐतिहासिकताबाद-**इतिहास-दर्शन अथवा इतिहासकी व्याख्याके आधारपर धर्म, दर्शन, आचार-शास्त्र, संस्कृति, साहित्य, कला आदिका स्वरूप स्थिर करनेकी प्रवृत्तिके जनवरीं, १९५७ ई०के अंक्रें लिए 'साहित्यकार'के 'साहित्य शास्त्रमें ऐतिहासिकताबाद' शीर्थकके अन्तर्गत प्रकाशित 'मुद्राराक्षस'के लेखने 'ऐतिहासिकतावाद' संज्ञा दी गयी है। शायद अंग्रेजीमे इस प्रवृत्तिका अभी कोई नामकरण नहीं हुआ है । वहाँ इस प्रसंगमे 'इतिहास-दर्शन' (historicism, historiology at philosophy of history), ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective) जैसे सामान्य शब्दोंसे ही काम चलाते है। वैसे 'ऐतिह्वासिकतावाद'के लिए अंग्रेजीमे historicalism शब्दका प्रयोग हो सकता है। सन् १९५१ ई०मे न्यूयार्क-से प्रकाशित 'अमेरिकन लिटरेरी क्रिटिसिज्म १९००-१९५०' नामक संग्रहमें एडमण्ड विलसनका आलोच्य विषयपर एक लेख है, जिसका शीर्षक है 'the historical interpretation of literature', जिसका रूपान्तर होगा 'साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्या' और जो 'ऐति-हा सिकताबाद' अथवा 'साहित्यमें ऐतिहासिकताबाद' जैसे शब्दोसे अधिक भिन्न नहीं है।

यों तो इतिहास-दर्शन आदिम, प्राचीनतम, प्रागैति-हासिक सभ्यताओं में भी किसी-न-किसी रूपमे पाया जाता है, जैसा कि हिन्दओं में यूग-चक्रोकी कल्पनाके रूपमें, किन्त इसका व्यवस्थित रूप हमें इटलीके सेण्ट आगस्तिन (३५४-४३० ई०) भी पुस्तक 'द सिनितेत देइ' (de civitate dei अर्थात् ईश्वरका नगर)में मिलता है। आगस्तिन ऐति-हासिक विकासके मार्गको रेखाकार मानता था। इटलीमें उसके बाद विको और हर्डरके नाम प्रसिद्ध है। **फ्रां**स और जर्मनीके इतिहास-दर्शनका सारे यूरोपपर भारी प्रभाव पडा । विको (१६६८-१७४४ ई०), हर्डर (१७४४-१८०३) और हीगेल (१७७०-१८३१ ई०)का उल्लेख आगे आयेगा । हीगेलके बाद उसका बाह्यार्थवादी शिष्य कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) सबसे प्रभावशाली इतिहास-दार्शनिक हुआ, जिसका परवतीं इतिहास-दर्शनपर व्यापक प्रभाव पड़ा है। वह समाजकी अर्थ-व्यवस्था तथा आर्थिक प्रवृत्तियोको ऐतिहासिक विकासके मूलमे मानता है। वर्तमान शतीमे जर्मनीने एक और वड़ा इतिहास-दार्शनिक पैदा किया, जिसका नाम ओस्वाल्ड स्पैग्लर (१८८०-१९३६ ई०) था। इंग्लैण्डका प्रसिद्ध इतिहास-दार्शनिक आर्नाल्ड जाजेफ ट्वायनवी (१८८९ ई०) इसका बहुत ऋणी है। अमेरिकाके समाजशास्त्रियोंमें ते अनेकने इतिहास की नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत की है, जिनमें पितिरिम ए० सोरोकिन अग्रगण्य है। स्पैग्लर और सोरोकिन अपने-अपने ढंगके चक्रवादी (दे॰ 'सांस्कृतिक चक्रवाद') इतिहास-दार्शनिक है।

हम यहाँ केवल साहित्यके सन्दर्भमें 'ऐतिहासिकतावाद' पर विचार करेंगे। साहित्यिक ऐतिहासिकतावादका अर्थ है साहित्यके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रक्षोंका उद्घाटन और विश्लेपण कर उसके स्वरूप, प्रतिमानों और मुल्योका निर्णय करना। ऐतिहासिक्रनावादी समाजके विकास-स्तर और तत्कालीन साहित्यके बीच आंगिक सम्बन्ध देखता है। कई तो उनमें कारण-कार्य-भावका सम्बन्ध माननेके पक्षमें है। इसका यह अर्थ नहीं कि ऐति-हासिकताबादी साहित्यमै स्थायी तत्त्व स्वीकार ही नहीं करुद्धे । अधिकांश ऐतिहासिकतावादियोने साहित्य सम्बन्धी शाइवत प्रतिमानो एवं साहित्यमे स्थायी तत्त्वोकी सत्ता मुक्तकण्ठते स्वीकार की है। कार्ल मार्क्स भी यूनानी साहित्यमें स्थायी तत्त्व मानता ही था। ऐतिहासिकतावादी केवल यह देखता है कि समाजविशेष अथवा अगविशेषका साहित्य, युग तथा समाजका कितना और कैसा प्रतिबिम्बन करता है, वह किन-किन तत्त्वोंसे अनुशासित है, उसने समाजकी विकास-दिशाके निर्धारणमें कहॉतक योग दिया है, उसका व्यापक साहित्य-परम्परामे क्या स्थान है।

उपर्युक्त अमेरिकन समीक्षकने टी० एस० इलियट और जार्ज सेण्ट्सवेरी जैसे सफल समीक्षकोंको अनैतिहासिकता-वादी बतलाया है। वे आलोचनाके समय आलोच्य साहित्यिक कृतिके निर्मायक तत्त्वोंकी मीमांसामें रुचि नहीं लेते, बल्कि अन्य कृतियोंसे उसकी तुलना करके झट मृल्य-निर्णय कर लेते है। उन्हें बस शुद्ध निरपेक्ष मूल्यांकनसे मतलब है, साहित्यकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके वैचित्र्यकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती । मूल्यांकनकालमें वे साहित्य-को मानो कालातीत, इतिहासशून्य, मान लेते है। भारतकी प्राचीन, संस्कृत साहित्यकी आलोचना-शैली भी शुद्ध अनैतिहासिक थी। साहित्यशास्त्रियोंके लिए मानो सारा संस्कृत साहित्य एक ही क्षणमे रचा हुआ हो। "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् , दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः" । बस इसी प्रकारकी आलोचनाका विकास प्राचीन भारतीय साहित्यमें हो सका था। वस्तुतः आधुनिक शैलीकी इतिहासविद्या उस समय थी ही नहीं, पेतिहासिकतावादी साहित्यशास्त्र कहाँ से विकसित होता ?

सम् १७२५ ई०में इटलीके दार्शनिक विकोकी 'ल साइआ नुओवा' (la scienza nuova अर्थात् the new science, 'अभिनव विज्ञान') नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उसने साहित्यकी सामाजिक व्याख्या की नींव डाली थी । उसने होमरकी रचनाओंकी व्याख्या इतिहास और भूगोलके आधारपर की हैं। अठारहवीं शतीके आठवें दशकमें तदेशीय हर्डरने अपनी 'आइडियाज ऑन द फिलों सफी ऑफ हिस्टरी' (ideas on the philosophy of history)में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि काव्य माधा, व्यवहार, जल-वायु आदिके अनुसार अपना रूप बदलता रहता है। सन् १८२२-२३ ई०में हीगेलने इतिहासदर्शनपर दिये हुए अपने व्याख्यानोंमें, जो 'लैक्चर्स ऑन द फिलों सफी

ऑव हिस्टरी' (lectures on the philosophy of history) नामसे अंग्रेजीमें पुस्तकाकार प्रकाशित है, कहा है कि कलाएँ और साहित्य युग-आत्माके व्यंजक एवं तद्द्वारा अनुशासित होते हैं। ओस्वाल्ड स्पैग्लरका भी ऐसा ही मत है। हिपोलाइट टेन नामक फ्रांसीसी समीक्षकने अपने 'हिस्टरी ऑव इंग्लिश लिटरेचर' (history of english literature, १८६३ ई०)मे यह दिखलाया है कि साहित्य जानीय तत्त्व (race), परिसर (milieu) तथा काल (moment)का परिणाम है। उसके अनुसार मनुष्य कविनाकी रचना कुछ उसी प्रकार करता है, जैसे रेशमके कीड़े कोवेका और मधुमक्खियाँ छत्तेका निर्माण करती हैं। टेनके समसामयिक इतिहासदार्शनिक मिकेलेट, रेनान, सेण्ट बौव भी साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्याके पक्षपाती थे। कार्ल मार्क्सके अनुसार कला और साहित्य तथा संस्कृतिके अन्य रूप भी अर्थन्यवस्थाकी आधार-शिलापर प्रतिष्ठित प्रासाद-स्वरूप है। साहि त्यक परिवर्तनोका अन्तिम कारण अर्थ-व्यवस्थान्तर्गत परिवर्तन ही है। उसी कालके फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्त कोम्त मानवीय इतिहासको तीन युगो-पौराणिक-पारलौकिक (theological), (metaphysical) और वैज्ञानिक या ऐहिक(scientific or positive)में विभक्त करता है। उसके अनुसार कला और साहित्य पौराणिकता-पारलौकिकतासे आरम्भ होते देखे जाते है । अमेरिका-प्रवासी रूसी समाजदार्शनिक पितिरिम ए० सोरोकिन संस्कृति और साहित्यके तीन रूपो-इन्द्रियवाद (sensatism), अतीन्द्रियवाद (ideationalism) तथा अध्यात्मवाद (idealism)की प्रन:-पुनः आवृत्तिमें विश्वास करता है।

इस प्रसंगमे सौन्दर्यमूलक इतिहास-दर्शन (दे० 'सौन्दर्य-मूलक समाजदर्शन') अत्यन्त दिलचस्प है। सौन्दर्यवादी व्याख्याकार लिजेटीका कहना है कि संस्कृतिकी बाल्या-वस्थामे स्थापत्य-कला, परिपकावस्थामे मूर्ति-कला तथा जीर्णावस्थामे चित्र-कलाका प्राधान्य होता है। हीगेलने अपने विशाल ग्रंथ 'फिलॉसफी ऑव फाइन आर्ट्स' (philosophy of fine arts)में एक महत्त्वपूर्ण सौन्दर्यदर्शनकी उद्भावना की है। वह कलाके विकासकी महाप्रत्यय (great idea) अथवा विश्वातमा (worldspirit)की अभिव्यक्तिका प्रकारविशेष मानता है। इस अभिव्यक्ति-प्रक्रियाके तीन सोपान हैं-प्रतीकात्मक, क्वासिकी और रोमानी। विक्टर ह्यगोने क्रामवेल (cromwell)के आमुखमें कहा है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं से पार होता है। वे अवस्थाएँ हैं-प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय। सौन्दर्यवादियोंने कला और संस्कृतिके बीच अन्योन्य-सम्बन्ध बड़े विस्तारसे दिखलानेका प्रयत्न किया है। लिजेटीके अनुसार कला संस्कृतिका बैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है।

हिन्दीमें ऐतिहासिकतावादी प्रवृत्तिके दर्शन हमें मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धतियोंमें ही होते हैं। साहित्यके व्यापक ऐतिहासिकतावादी दृष्टिकोणसे अध्ययनकी परिपाटी अभी प्रचलित नहीं हुई है। 'मुद्राराक्षस'के लेखका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'आलोचना'में हर्षनारायणने भी एक-आध एतद्विषयक लेख लिखे है।

[सहायक ग्रन्थ—सोशल फिलॉसफीज इन एन एज ऑव क्राइसिस : सोरोकिन: फिलॉसफी ऑव फाइन आर्म : हीगेल; स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म : लूकाक्स ।] ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (historical perspective)-इतिहासकी कई परिभाषाएँ देखनेको मिलती है, लेकिन यह बात सर्वसम्मत है कि वह परिवर्तन, विशेषतः मान-वतामे परिवर्तनका अध्ययन करता है। प्रत्येक समाज, संस्था, वस्तकी अपनी एक अतीत अवस्था होती है। उस समाज, संस्था या वस्तका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उसके केवल वर्तमान स्वरूपको समझना पर्याप्त नहीं हैं। उसके अतीतका भी यथासाध्य ठीक परिचय होना अपेक्षित है। भारतीय संस्कृतिका यथावत परिचय प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि युग-युगान्तरमें उसमे जो परिवर्तन होते आये है उनका पता लगायें, केवल उसकी वर्तमान अवस्थाके आधारपर उसका स्वरूप-निर्णय भ्रामक सिद्ध होगा। समाजवादकी सुन्दर योजनाएँ कार्ल मार्क्सके पूर्व भी विद्यमान थी, किन्तु मार्क्सने उन सबमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यकी कमीकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इतिहासकी गति-विधिका पर्यवेक्षण कर जो योजना बनायी जायगी, वही अधिक व्यवहार्य हो सकती है। वस्तृतः वर्तमान ही सब-कुछ नहीं, अतीत भी बहुत-कुछ है, जिसका परिज्ञान वर्तमानको समझने और भविष्यको सॅवारनेके लिए नितान्त आवश्यक है।

इतिहास, प्राचीन परिभाषाके अनुसार, अनुभवके आधारपर शिक्षा देनेवाले दर्शनका नाम है। इस परिभाषामं बहुत सार दिखायी देता है। पशुओकी अपेक्षा मनुष्यमे यह विशेषता है कि वह अनुभवसे सीखता है, उसका जीवन सहज प्रवृत्तियोके बदले अधिकांशतः अनुभवजन्य विवेकसे परिचालित है। अतः यदि मनुष्यको अनुभव प्राप्त करना है, यथार्थ अनुभवपर अपनी जीवन-प्रणाली प्रतिष्ठित करनी है, तो उसे इतिहासका सहारा लेना ही होगा। ऐतिहासिक परिप्रक्ष्यके बिना वह अतीत द्वारा प्राप्त विकास-स्तरसे आगे जानेकी आशा नहीं कर सकता।

इतिहास-विद्याके विकासके पूर्व मनुष्यका तत्त्वज्ञान ही नहीं, अपितु व्यवहार भी कोरी, अनुभवज्ञ्च कल्पनापर आश्रित था। इतिहास हमे उन कल्पनाओको जॉच कर उनके गुण-दोषकी परीक्षाका अवसर प्रदान करता है। वस्तुतः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यके विकासके ही परिणामस्वरूप जीव-विज्ञान, नृतत्त्व-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि अनेक विज्ञानोका उदय सम्भव हो सका है, अन्यथा या तो इन विज्ञानोकी सत्ता ही नहीं होती या होती तो कोरी कल्पनापर आधारित होती। आजकल धर्म, आचार, कला, कानून—प्रत्येक संस्था अथवा प्रवृत्तिको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमे देखनेकी परिपाटी चल पडी है। यही कारण है कि आजका मनुष्य अतीतको अधिक प्रामाणिक रूपमें समझने एवं उसपर पहलेकी अपेक्षा अधिक समीचीन निर्णय देनेकी

स्थित में है। ऐतिहासिक परिमेध्यके अभावमे तो पुराने लोग अपने समयमें प्रचलित मृल्यों और प्रतिमानीको ईश्वर-निर्धारित समझनेको भूल करते थे। अब हम इनकी सापेक्षतासे परिचित है। —ह० ना० ऐतिहासिक भौतिकवाद—यह शब्द 'हिस्टॉरिकल मेटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति मार्क्सवादी विचारो और लेखोसे होती है। ऐतिहासिक भौतिकवाद मनुष्यके इतिहास और समाजकी एक विशिष्ट व्याख्या करनेका प्रयास करता है। इसके अनुसार मनुष्यका सामाजिक जीवन उसकी आर्थिक, राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों द्वारा अनुशासित होता है। इन सब परिस्थितियों मार्थिक परिस्थितियों अपना विशिष्ट स्थान रखतो है। ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहासको रहस्यात्मक शक्तियोंका प्रकाशन नहीं मानता। इस दृष्टिसे ऐतिहासिक भौतिकवादका दृष्टिकोण पदार्थवादी है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सामाजिक रूपको हो ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके मूलभूत सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवादके भी आधार है। ऐतिहासिक भौतिकवाद जीवनकी भौतिक परिस्थितियोंपर ही जोर देता है। निम्नलिखित रूपोंमे उन भौतिक परिस्थितियोके सैद्धान्तिक रूपका निदर्शन किया जा सकता है—

- (१) भौतिक परिस्थितियोसे हमारा तात्पर्य सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों से हैं। भौगोलिक परिस्थितियाँ मनुष्यके चरित्रका निर्माण करती है, किन्तु केवल इन्हींसे उसके चरित्रका निर्माण नहीं होता और न तो यह परिस्थितियाँ उसके परिवर्तनका प्रधान कारण ही है। मुलभत परिस्थिति आर्थिक परिस्थिति है। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार जीवन-यापनके जो साधन है और उनके उपार्जन-के लिए जिस उत्पादन-प्रणालीकी आवश्यकता है, वही हमारे समूचे सामाजिक अस्तित्वका अनुशासन करती है। प्रत्येक मनुष्यके जीनेके लिए भोजन-वस्त्र और अन्य सामाजिक वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। इनके उत्पादनके औजार, जनता और उत्पादनशक्तिके संयोगसे ही उत्पादन शक्तियोकी सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादनके सम्बन्धमे मनुष्य एक-दूसरेके निकट आते है, जिससे आर्थिक मानवीय सम्बन्धींकी सृष्टि होती है। अतः उत्पादनप्रणाली और मानवीय आर्थिक सम्बन्धोके समन्वय-से ही समाजका इतिहास निर्मित होता है।
- (२) उत्पादन निरन्तर गतिशील है, क्योंकि मार्क्सवादी किसी भी सामाजिक व्यवस्थाको स्थायी नही मानते, इसलिए मनुष्य विभिन्न युगोमे विभिन्न प्रकारको उत्पादन-प्रणालीको रचना करता रहता है।
- (३) उत्पादनके समूचे परिवर्तन उत्पादनशक्तियोंके परिवर्तनके नाते होते हैं, जिनका प्रभाव मनुष्यके आर्थिक सम्बन्धोंपर भी पडता है और इस प्रकारसे सामाजिक वातावरणमें इन दोनोंकी अन्तः क्रियाएँ चलती रहती है। अवतक इन्हीं अन्तः क्रियाओंके कारण मनुष्यने चार प्रकारने सामाजिक व्यवस्थाओंका निर्माण किया है— १. प्रारम्भिक साम्यवाद, २. दास-व्यवस्था, ३. सामन्तवाद,

४. पॅजीवाद ।

और वर्नमान समयमे जन उत्पादनकी शक्तियो नये रूपोमे परिवर्तित हो रही है तो हम एक नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाकी सूचना पा रहे है वह व्यवस्था है समाजवाद।

- (४) ऐतिहासिक भौतिकाबादके अनुमार इतिहासकी एक मूलभूत एकता है और इस मूलभूत एकताका यह कारण है कि समूचा इतिहास निश्चित नियमोंसे परिचालित है। ये नियम इन्द्रात्मक भौतिकवादके सामाजिक संस्करण है।
- (५) ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओंकी रचना की जाती है।
- (६) ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण यान्त्रिक दृष्टिसे नहीं करता । वह यह नहीं मानता है कि सामाजिक परिस्थितियाँ केवल मानव-मित्तिष्कको प्रभावित ही करती है, प्रत्युत ऐतिहासिक भौतिकवाद इसके स्थानपर यह स्वीकार करता है कि भौतिक परिस्थितियाँ और मानव-मित्तिष्क, दोनों एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते है । इन्हींकी अन्तःक्रियाएँ इतिहासकी गति-विधिका नियन्त्रण करती है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल ऐतिहासिक विकासके एक पक्षपर जोर देता है, जो १९वी शताब्दीके उत्तरार्द्ध-तक नगण्य माना जाता था। हमारी वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थितिमे ऐतिहासिक मौतिकवादके समूचे इतिहासका समग्र दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आज हमें यह ज्ञात है कि इतिहास विभिन्न शक्तियोंका समन्वित रूप है (दे॰ भाक्सीवाद)। —रा॰ कु॰ ति॰

ओज गुण-दे॰ 'गुण', दूमरा प्रकार। ओड-दे॰ 'सम्बोध(न) गीति'।

ओहं-दे॰ 'सोहं'।

औघड-नाथपंथी योगी । ब्रिग्स (गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज, पृ०६७)ने लिखा है कि योगी जनतक कान फडवाकर मुद्रा नहीं धारण कर लेते, तबतक औघड रहते हैं और जब ये मुद्रा धारण कर लेते है तब 'कनफटा' वन जाते है। उसी पुस्तकके पृ० ७२पर बिग्सने हेनरी बालफ़ोरकी कृति 'लाइफ हिस्टी ऑव ऐन अघोरी फकीर'-का हवाला देकर लिखा है कि अघोरपंथ गोरखनाथ द्वारा चलायी गयी एक शाखा है, जिसकी तीन उपशाखाएँ है-औवड़, सर्वगी और घरे। अघोरपंथके अनुयाया भक्ष्या-भक्ष्यका विचार नहीं रखते । जनतामें इनके प्रति आदर-भाव और श्रद्धाकी जगह भय और घृणा अधिक होती है। स्वयं ब्रिग्सने लक्ष्य किया था (दे॰ 'कनफटा') कि जनता औघड़ोंको योगियोकी अपेक्षा आधी मिक्षा देती थी। बनारस, प्रयाग आदिके आस-पासके इलाकोंमे अब भी इस प्रकारके औवड़ साथ मिलते हैं और आस्तिक जनता इनसे डरती तो है, पर आदर-सन्मान नहीं दे पाती। पूर्वी उत्तर-प्रदेशमे किसीको औषड़ कहना बहुत बडी गाली है। औषड (और 'अघोरी' भी)को कितना हीन समझा जाता है। लगता है जिन दिनों औघडोंको कन- फटोंसे मात्र इसी अर्थमें भिन्न समझा जाता था कि वे कानफडवाकर मुद्रा नहीं पहनते थे, उसके बाद इनका आचार-व्यवहार गोरखपन्थी साधुओंसे भिन्न आचार-व्यवहारवाले किसी अन्य सम्प्रदायसे प्रभावित होता गया। सम्भवतः औघड लोग कापालिकोसे सर्वाधिक प्रभावित हुए है। औघड शब्दकी पुरानी अर्थ-परम्परासे अपरिचित किन्तु पढ़े-लिखे लोग औघड़ और 'कापालिक'में कोई भेद नहीं कर पाते। —रा० सि० औडमागधी प्रवृत्ति—दे० 'प्रवृत्ति', पहली।

औत्सक्य-प्रचलित तैतीस संचारियोमेसे एक संचारी भाव । अग्निपुराणमें इस संचारी भावकी यथार्थ परिभाषा दी गयी है—''औत्सुक्यमीर्ण्सताप्राप्तर्वाञ्छया तरला स्थितिः'' (३३९: ३०), अर्थात् मनकी वह अस्थिर अवस्था, जो इष्टकी प्राप्तिकी इच्छाके कारण हो । भरतने इसके विभाव एवं अनु-भाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये है (नाट्य॰, ७:७० ग)-"प्रियजनके वियोगमे उसके स्मरण और उद्यान इत्यादि उदीपनोके दर्शनसे यह भाव जायत होता है। दीर्घरवास, चिन्तामग्न अधोमुख, निद्रा एवं शयनकी अभिलाषासे इस भावकी अभिन्यक्ति होती है"। पर कालान्तरमे इस भावकी आगे न्याख्या हुई और दशरूपककारने इसके विभावो और अनुभावोंको दूसरा रूप दिया। उनके अनुसार किसी मनोहारी अभिलापा, सम्भोग या सम्भ्रमके कारण वांछित वस्त्रकी प्राप्तिमे विलम्बको सहन करनेकी क्षमता न होनेसे औत्सुक्य होता है। उच्छ्वास, त्वरा (शीघता), श्वास, हृदयमे ताप, स्वेदकण या भ्रम इसके अनुभाव है।

हिन्दीमें सामान्यतः विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिया गया है—''जहाँ हित्के मिलन-हित चाह रहित हिय माँह'' (जगत, ५२३)। देवके 'देस न काल सह्यो परें' (भाव०। संचारी)मे विश्वनाथके 'कालक्षेपासिहण्णता' (सा० द०, ३: १५९)का भाव यही है। पद्माकरकी नायिकाको प्रिय-प्रतीक्षा असह्य लगती है—''सजे विभूषन वसन सब, सुपिय मिलनकी हौस। सह्यो परत निहं कैस-हू, रह्यो अध्वशी चौस'' (जगत, ५२५)। रसखानके प्रसिद्ध सबैया ''मानुष हो तो वही रसखान बसी मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन। जो पशु हो तो कहा बस मेरो चरो नित नन्दकी धेनु मझारन''मे यही व्यप्रता व्यक्त हुई है। अयोध्यासिंह उपाध्यायके 'प्रियप्रवास'में कृष्णके लिए गोप-गोपियोकी उत्सुकताका चित्रण है—''वयवती युवती बहु बालिका सकल बालक वृद्ध वयस्क भी। विवशसे निकले निज गेहसे स्वहगके दुखमोचनके लिए"।

रामचन्द्र शुक्कने इसका वर्गीकरण सुखात्मक मनोभावोमें किया है (र० मी०, पृ० २००), परन्तु यह वास्तवमें कहना कठिन है। निश्चय रितके कारण औत्सुक्य होता है और वह आशाजनक भी, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इस अवस्थाके परिणाम सुखान्त और दुःखान्त दोनों ही हो सकते हैं। यह बात दूसरी है कि काव्यशास्त्रियोंने प्रायः उल्लासपूर्ण ही उसके उदाहरण दिये है।—ज० कि० व० औदार्य-दे० 'अयत्नज अलंकार', छठा प्रकार तथा 'सात्त्वक गुण', 'नायक'।

कंकालदंड - शरीरका मेरुदण्ड ही कंकालदण्ड है। 'श्री

सम्पट तन्त्र'मे कहा गया है कि "कंकालदण्डरूपोहि सुमेरुगिरिराट तथा" अर्थात् यही कंकालदण्ड ही गिरिराज सुमेर है। इसी कंकालदण्डरूप गिरिराजके कन्दर-कहरमें नैरात्य धातु-जगत् उत्पन्न होता है। इस गिरिके कहरमें अवस्थित पद्ममें यदि बोधिचित्त पतित हो जाय तो कालाग्निका प्रवेश होता है और सिद्धिमे बाधा पड़ती है (बैं! गा दो , पृ १२७ ) क्यों कि सभी प्रकारकी सिद्धियोंके निधान वोधिचित्त (शुक्र, विन्दु)के नीचेकी ओर पतित होने तथा स्कन्धविधानके मूर्चिछत हो जानेपर सिद्धि वहाँ मिल सकती है (शक्रसिद्धि) ? **कंचुक** – कंचुकका अर्थ है आवरण या वेष्ठन । माया इन कंचकोंमें लपेटकर ही शिवको जीव बना देती है। परम शिवमे जब सृष्टि करनेकी इच्छा होती है, तो उनसे दो तत्त्व उत्पन्न होते है—शिव और शक्ति । परम शिव निर्ग्रण और निरंजन है, शिव सगुण और सिसृक्षारूपी उपाधिसे युक्त। शक्ति शिवका धर्म है। समस्त सृष्टिका मूल कारण शक्ति ही है। जिस समय शक्ति जगतकी सृष्टिमे प्रवृत्त होती है, शिवके दो रूप प्रकट होते है-सदाशिव और ईश्वर । सदा-शिव जगत्को 'अहं' रूपमे देखते है, अर्थात् 'जगत् मै ही हूँ।' सदाशिवकी इस अहंबृत्तिको 'शुद्ध विद्या' कहते है। ईरवर जगतको अपनेसे भिन्न रूपमे देखते है, अर्थात यह जगत मुझसे भिन्न है। ईइवरकी इस इदन्तवृत्तिका नाम माया (दे०) है। यही माया शिवको अपने कंचुकोंमे लपेटकर उन्हे 'जीव' बना देती है। मायाके पाँच केंचुक है-नाल, नियति, राग, विद्या और कला। कुछ लोग मायाको भी कंचुकोमें गिनते है और इस प्रकार छः कंचक मानते है। परन्तु इतना स्वीकार करते है कि माया अन्य पाँच कंचुकोंका मूल है (बुडरफ: गा० ले०, पृ० १४६)। यही माया 'आत्मा'के विभावों (अर्थात् शक्तियों)के सकोचन-का मूल और कारण है, क्योंकि माया समस्त व्यक्तियों और वस्तुओंमें मेदबुद्धि उत्पन्न करती है। इसीलिए मायाको भेद-बुद्धि भी कहते हैं। इस प्रकार कंचक परम सत्ताकी शक्तियों और उसके स्वरूपको सीमित और संकुचित करते है।

काल नामक कंचुकसे आवेष्ठित होकर परब्रह्म या परिशवकी नित्यता परिच्छेद (सीमा)में बदल जानी है। परिणामस्वरूप जन्म और मृत्युका चक्र चल पडता है। नियति द्वारा ब्रह्मकी सर्वव्यापकता संकृचित होकर किसी नियत देशमें संकीर्ण और सीमित हो जाती है। नियति नामक कंचुकमे आवेष्ठित होनेके पूर्वतक ब्रह्म स्वतन्त्र रहता है, किन्तु इसके कंचुकित हो जानेपर कृत्याकृत्य सम्बन्धी एक नियत नियमसे नियमित हो जाता है (तत्त्व-संदोह, ५।१२)। पंचरात्र आगममे नियतिको 'सूक्ष्म सर्व-नियामक' कहा गया है (अहिर्बुधन्य संहिता, ६।४६) और विद्या, राग तथा कला नामक तीन शैव-शाक्त कंचुकोंको इसीके अन्तर्गत माना गया है। जिसके द्वारा ब्रह्मकी नित्य परिपूर्ण तृप्ति परिमित होकर भोगोंमें प्रवृत्त होती है, उसे रागतत्त्व कहते है (तत्त्वसन्दोह, ५।१०)। ब्रह्म पूर्ण है। लेकिन जब उसकी यह पूर्णता सीमित हो जाती है, उसमें द्वैत आ जाता है यह व्यक्ति और वस्तुके रूपमें द्विधा विभक्त हो जाता है, तो उसमें अपनेसे भिन्न वस्तुओंके प्रति

रुचि उत्पन्न हो जाती है, वह उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करने लगता है। इच्छा अपूर्णताकी सूचक है। जो वस्तु अपने पास नहीं है, उसे ही पानेकी इच्छा होती है और यही इच्छा वस्तुओ और व्यक्तियोके प्रति राग उत्पन्न करती है। अतः राग ब्रह्मकी नित्य परिपूर्ण तृप्तिको संकुचित कर अपूर्ण तृप्तिमे बदल देता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है। जब उसकी सर्वज्ञता संकृचित हो जाती है, वह 'किविज्ञ' अर्थात थोडा जाननेवाला हो जाता है। यह स्थिति नामक कंचुकसे वेष्ठित होनेपा आती है (तत्त्वसन्दोह, ५।९) । इसी प्रकार बहा "कर्तु अकर्तु अन्यथा कर्तुं समर्थं" है। यही उसका सर्वकर्तृत्व है। कला नामक कंचुकसे कंचुकित होकर वह किचित्कर्ता ही रह जाता है (तत्त्वसंदोह ५।८)। इस प्रकार कला ब्रह्मकी असीम शक्तिको सीमित करके सर्वकर्तत्वके स्थानपर अल्पकर्तत्व देनेवाला कंचक है। कंथा-जोगीके बारह भेषोंमें कंथाकी भी गणना की गयी है (चित्रा०, २०९: १-४)। यह गेरुए रंगकी सुजनी या चोलना होती है, जो गलेमें डाल लेनेपर अंग दँक लेती है। इसे गुदरी भी कहते है। सु० चं०, पृ० २४० के मतसे इसे फटे-पुराने चिथड़ोंको बटोरकर सी लेना —रा० सिं० चाहिए।

कंप-दे॰ 'सात्त्विक अनुभाव', पाँचवाँ। कॅंहरऊ-कॅहार जातिके लोग पानी भरने और पालकी ढोनेका काम प्रायः किया करते है। जब ये वर या दलहिनकी पालकीको अपने कन्थोंपर उठाकर चलते हैं तब शृंगार रसके रमीले गीतोको गाकर उन्हें गुदगुदाते चलते है। इन गीतोको 'कॅहरऊ' या 'कॅहरवा' कहते है। कॅहार लोग वैवाहिक उत्सवोंपर नाचते भी है। इस समय ये 'हुडुक' नामक बाजा बजाते हैं, जो एक हाथसे पीटकर बजाया जाता है। इन गीतोमे समाजका व्यंग्य-चित्रण किया गया है। हास्यका पुट भी इनमें वर्नमान रहता है। बृढा कॅहार किस प्रकार घरके लिए भारभूत हो जाता है, इसका वर्णन अनेक गीतोमें हुआ है। बाल-विवाहकी झाँकी भी इनमे उपलब्ध होती है। —कु० दे० उ० कजरी-सावनके मासमे जो लोकगीत गाये जाते है, उन्हें कजरी या कजली कहते है। इस शब्दकी व्यत्पत्ति श्रावण मासमें आकाशमे आच्छादित बादलोकी कालिमासे हुई है, जो काजलके समान काले होते है। इसी काजलसे कजली या कजरी शब्द बना है। ग्रियर्सनने लिखा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके मतानुसार मध्यभारतके परोपकारी राजा दॉदूरायकी मृत्युपर वहाँकी स्त्रियोंने अपने दुःखको प्रकट करनेके लिए कजरी नामक एक नये गीतकी तर्जका आविष्कार किया । इस महीनेकी शुक्का तीजका नाम कजली तीज है, अतः इस कारण भी इस शब्दकी निष्पत्ति

कजली गीतोंको सर्वप्रथम किसने लिखा, यह कहना कठिन है। परन्तु आजसे लगभग १००-१५० वर्ष पूर्व भोजपुरी सन्त कियों, विशेषकर लक्ष्मी सखीकी रचनाओं में कजलोंके गीत उपलब्ध होते है। मीरजापुरकी कजली बडी प्रसिद्ध है। वहाँ इसके दंगल भी हुआ करते हैं, जहाँ पुरुपांसे साथ स्त्रियां भी इसमें भाग लेती हैं। इसके विषयमें यह उक्ति प्रचलित हैं कि ''लीला रामनगरकी भारी, कजली मिर्जापुर सरनाम''।

कजलीके गीतोमें शृंगार रसकी मात्रा प्रचुर परिमाणमें पायी जाती है। सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगारके उभय पक्षोंका चित्रण इनमें बड़ी सुन्दरतासे किया गया है। गवैये दो दलोंने विभक्त होकर इन गीतोंको गाते है। एक प्रश्न करता है तो दूसरे दलका ज्यक्ति उसका उत्तर देता है। यह क्रम कभी-कभी पूरी राततक चलना रहता है। यह क्रम कभी-कभी पूरी राततक चलना रहता है। कजलीकी लय बड़ी सुन्दर तथा मनमोहक होती है, जिसे सुनकर श्रोतागण सुग्य हो जाते है। उदा०—'कइसे खेले जइबू सावनमें कजरिया, बदरिया विरि आइल ननदी। तूत चललू अकेली, साथे संगी न सहेली, गुण्डा घेर लीहें तोहरी डगरिया, बदरिया विरि आइल ननदी'।

कजरीवन—महाभारतमें ऋषिकेशसे बदरिकाश्रम तकके वनप्रदेशको कदलीवन कहा गया है। उसके अनुसार इस
कदलीदेशमें अश्वत्थामा, विल, व्यास, हनुमान्, विभीषण,
कृपाचार्य और परशुराम—ये सात अमर पुरुष सदा
निवास करते है। हनुमानजीने भीमसेनको बताया था कि
इसके आगे दुर्गम पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते
हैं (वनपर्व, अध्याय १४६, ७५-७९; ९२-९३)। सुभाकर
द्विवेदीने भी लिखा है कि देहरादूनसे लेकर हपीकेश,
बदरिकाश्रम और उसके उत्तरमें स्थित हिमालयके प्रान्त
कजरीवन कहे जाते हैं (सुभाकर चिन्द्रका, पृ० २५२-५३)।

मध्यकालीन साहित्यमें सिडोंके सम्बन्धमें कदलीदेश या कजरीबनका बार-बार उछेख मिलता है। मत्स्येन्द्रनाथके सम्बन्धमें अनेक यन्थों, जनश्रुतियो एवं जनकथाओमें इस बातका उल्लेख मिलता है कि वे इसी कदलीदेशमें पहुँचकर एक नये भोगप्रधान आचारमें फॅस गये थे और उनके शिष्य गोरक्षनाथने उनका उद्धार किया था। लक्ष्य करनेकी बात है कि महाभारतमें प्राप्त उक्त उछेखमे भी सिद्धोंका स्पष्ट नाम लिया गया है। 'पद्मावत' (जोगीखण्ड, ५ तथा बसंत खण्ड ११)में क्रमशः 'कजरीवन' और 'कजरी आरन' (कदली अरण्य)का उल्लेख गोपीनाथ और भर्तृहरिके प्रसंगमें हुआ है और राहुल सांकृत्यायनकी 'वाज्रयानी सिद्धोंकी सूची'में दोनोंको सिद्ध कहा गया है । मत्स्येन्द्रनाथके उद्धार-के सम्बन्धमें बंगलामें दो पुस्तकें प्राप्त हुई है—'मीनचेतन' (स्यामादास)और 'गोरक्ष विजय'(फयजुल्ला)। इनमें बताया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथने कौलमार्गकी साधना कदली-देशमें की थी। एक बार चारों दिशाओंमें तप करनेवाले चार बड़े सिद्धोंकी परीक्षा लेनेके लिए गौरीने भुवनमोहिनी रूप धारण करके उन्हें भोजन कराया। चारों सिद्ध उस रूपपर मुग्ध हुए । मीननाथ (मत्स्येन्द्रनाथ)ने मन-ही-मनमें सोचा कि अगर ऐसी सुन्दरी मिले तो आनन्दकेलिसे रात काटूँ। परिणामतः देवीने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूलकर 'कदलीदेश'में सोलह सौ सुन्दरियोंके साथ काम-कौतुकमें रत होगे। एक व्यक्ति सोछह सौ सुन्दरियोंका भोग किसी स्त्रीप्रधान देशमें कर सकेगा। अतः कदलीदेश कोई स्तीप्रधान देश अवश्य होगा। 'योगिसंप्रदायाविष्कृति'में मस्स्येन्द्रकी उक्त स्वधन्य् ि 'त्रियादेश' कहा गया है। स्वयं श्रंथकारने इस त्रियादेशकी व्याख्या करते हुए उसे 'सिहल्दीप' कहा है। इस प्रकार कदलीवनको प्रायः सर्वत्र कजरीवन, सिहल्द्वीप और त्रियादेश आदि विभिन्न नामों—अथोंमे समझाया गया है और अनिवार्य रूपसे इनके स्त्रीप्रधान देश होनेका उल्लेख या संकेत सर्वत्र मिलता है।

इस सम्बन्धमें एक बात अवस्य लक्ष्य करने योग्य है कि पद्मावतमे जायसीने दो स्थलोंपर कजरीवन और कजरी-आरनका प्रयोग किया है और दोनो बार राजा गोपीचंद और भर्तहरिके सम्बन्धमे । 'वर्णरत्नाकर'की 'नाथ सिद्धोंकी सूची'में ४५ वॉ नाम भर्तृहरिका है। गोपीचन्दका नाम इसमें नहीं है। राहुलजीकी 'वज्रयानी सिद्धोकी सुची'मे भर्तृहरि (सं०८६) और गोपीचन्द्र (सं०३४)दोनोका उल्लेख है, अतः कदलीवनका सिद्धोंसे कोई गहरा सम्बन्ध है इसे जायसी भी स्वीकार करते। लगते है। लेकिन वह कोई स्त्री देश है या भोग-विलासकी वहाँ कोई सुविधा है, ऐसा जायसी नही मानते। जिन प्रसगोमें उन्होने कजरीवनका उल्लेख किया है, वे इस तरहकी धारणाके प्रतिकृल ही अधिक पडते है। रहासेन न तो गोपीचन्दकी भॉति विरक्त थे न भर्तृहरिकी भॉति छले गये थे। वे तो अपूर्व सुन्दरी पद्मावतीके लिए योगी वन रहे थे। साथही जा भी रहे थे, सिंहलद्वीप ही, जिसे 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'के लेखकने कदलीवनसे अभिन्न माना है। यहाँ यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि छठीं शताब्दी (सरह आदि)से नवीं शताब्दी (मत्स्येन्द्र आदि)तकके सिद्धोंमें मुद्रा और योगिनीके साथ रसकेलि और सहज महासुखके उपभोगको जितना मान मिल सकता था, दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों रूपोंमें वे स्त्रीके साथ चलनेवाली साधनाओंको जितनी स्पष्टता, निर्द्धनद्वता और उन्मुक्ततासे कर-कह सकते थे, सोलहवीं शताब्दीके जायसीको उतनी छट नहीं मिल सकती थी । शायद अपने संस्कारोंवश वे इस बातको उतनी स्पष्टतासे कहनेको उचित भी न मानते हों, अतः वे जानबृझकर कजरीवनके स्त्रीदेश या स्त्री-साहचर्य-प्रधान साधनोंका देश बतानेकी बातको जानबूझकर छोड गये हों-वैसे ही जैसे तुलसीदास अहल्याके इन्द्रके साथ होने-वाले रति-प्रसंगको छोड गये हैं। क्योंकि व्यक्त रूपसे जायसी कजरीबनको स्त्रीदेश या स्त्री-साहचर्य-प्रधान साधनवाला देश भले न कहें और गोपीचन्द तथा भर्तहरिका नाम लेकर उसे वैराग्य-भूमि प्रमाणित करना चाहें, पर प्रसंग इस ओर संकेत करता ही है कि रत्नसेन सिंहलगढ उसी तरह जा रहे हैं, जैसे कजरीबन (सिंहलद्वीप)मे मत्स्येन्द्रनाथ गये थे।

[सहायक प्रनथ नाथ सम्प्रदाय : हजारीप्रसाद दिवेदी।] — रा० सिं० करता— उर्दू किवतामे जब कुछ शेर ऐसे लिखे जाते है, जिनका विषय क्रम-सम्बद्ध हो और उनके पहलेके शेरके दोनों मिसरोंमें 'काफिया' और 'रदीफ'न हो तो उन्हें कता कहते है। कतामें दो शेरसे लेकर एक सौ सत्तर शेरतक हो सकते हैं। — मसी०

कथनी - केवल कथन करना। सन्तिंकी साधना अनुष्ठानमूलक न होकर आचरणमूलक थी, अतः सन्तिंने बराबर
'कथनी' और 'करनी'के अभेदपर वल दिया है। जो लोग
केवल कहते रहते हैं और धर्मके नियमोंको आचरणमे नही
ढालने उनका निस्तार नही। वास्तवमें तो जो आचरण
करते हैं, वे ही भवसागरके पार उतर सकते है। "कथनी
थोथी जगतमें करनी उत्तम सार। कहै कबीर करनी मली
जगतमे, करनी उत्तम सार। कहै कबीर करनी मली उतरै
भौजल पार॥" (बीजक: कबीर)। —उ० शं० शा०
कथा —दे० 'कथाकाव्य'।

कथा आख्यायिका-दे॰ 'कथाकाव्य'।

कथाकाव्य-प्रारम्भिक वीरयगमें प्रचलित गाथाचक्रोंसे ही विकसनशील वीरकान्य (महाकान्य), कथाकान्य और इतिहास-पुराण इन तीनों काव्य-रूपोंका विकास हुआ। वे गाथाचक प्रधानतया तीन प्रकारके होते थे-१ वीर-भावनाप्रधान, २. रोमांसिक तत्त्वोसे युक्त प्रेमभावना-प्रधान और ३. लोक-विश्वासी और निजंधरी पात्रोसे सम्बन्धित तथा धर्मभावनाप्रधान । इन तीनों प्रकारके गाथाचकोसे ही क्रमशः वीरभावनासे युक्त विकसनशील महाकाव्य, रोमांतिक कथाकाव्य और प्राचीन इतिहास-पुराणका विकास हुआ। विकासोनमुख सामन्तयुगमें समाज-के वर्ग विभक्त हो जाने और अभिजातवर्गके उदयके वाद सामन्ती दरबारी वातावरणमें विशिष्ट कवियो द्वारा विक-सनशील महाकान्योंके अनुकरणपर अलंकृत महाकान्यों और खण्ड-काव्योंकी और विकसनशील रोमांसिक कथा-काव्यों या गाथाचक्रोंके अनुकरणपर रोमांसिक कथा आख्या-यिकाओं या प्रेमाख्यानोकी रचना होने लगी। इस तरह प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) तथा कथाकाव्य ये दो भिन्न रूप हो गये।

प्रबन्धकाव्य और कथाकाव्यका यह भेद भारतवर्षमें ही नहीं, पारचात्य देशोमें भी बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। यूनानमे चौथी शताब्दीमे इलियड ओडेसीके रोमांसिक तत्त्वों और साहसपूर्ण कार्योंके अनुकरणमे गद्य-बद्ध रोमांसिक कथाओंकी रचना हुई और पुनर्जागरण-युगमे महाकान्योके पुनः उत्थानके पहलेतक सारे यूरोपमे इस काव्यरूपका बहुत प्रचार रहा। मध्ययुगके अन्तिम भागमे ये कथाएँ गद्यबद्ध और पद्यबद्ध दोनो प्रकारकी होती थीं। इन कथाओं के चक्र बन गये थे, जैसे ट्राय सागा या नावेला और पद्मबद्ध रोमान्सको बैलेड, ले अथवा केबल्य कहा जाता था। उत्तर मध्ययुगमे पद्यबद्ध कथाकाव्य बहुत ही लोकप्रिय कान्यरूप था। यही आगे चलकर वर्णनात्मक प्रबन्ध-काच्य या 'नेरेटिव पोइट्टी'के रूपमे विकसित हुआ। गद्यबद्ध रोमान्सको आगे चलकर इटली और स्पेनमे नावेला और इंग्लैण्डमे नावेल कहा जाने लगा और वही आधुनिक उपन्यास या कहानीका आदि रूप था। मध्ययुगमे अभि-जातवर्गीय रोमन क्लासिकल परम्पराके विरुद्ध रोमांसिक स्वच्छन्दताकी प्रवृत्तिने जो विद्रोह किया, उसके परिणाम-स्वरूप महाकाव्यके शास्त्रीय और गुरुगम्भीर काव्यरूपकी जगह सरल और रोमांसिक कथाकान्यका बहुत प्रचार हुआ। सर्वप्रथम फ्रांसमें १२वीं शतीके उत्तरार्द्ध तथा १३वीं शतीके पूर्वार्द्धमें किंग आर्थर और उसके सामन्तींके वीरतापूर्ण कार्यों तथा प्रेमकी रोमांसिक कथाओंको पखन कथाकाव्य (ले)का रूप दिया गया (इनसाइक्लोपीडिया ऑव िल्टरेचर: शिपले, ए० २९२, २९३)। इंग्लैण्डमें भी १३ वी शताब्दीमें आर्थर-गाथा-चक्रसे सम्बन्धित अनेकानेक पद्यवद्ध कथाकाव्य लिखे गये। चौदहवी शतीमें 'पियर प्लाउमैन', 'सर ग्रापेन एण्ड द ग्रीन नाइट', 'द पर्ल', 'कनफेसिया एमैटिस' आदि रोमांसिक तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे गये। उसी समय चॉसरने 'कैण्टरवरी टेल्स' तथा अन्य कई कथात्मक काव्य लिखे, जिनमें विविध प्रकारके चिरतों और घटनाओंको लेकर वर्णनात्मक कथाएँ कही गयी है। इन सभी कथाकाव्योंमें कालपनिकता, रोमांसिकता, उद्दाम साहस और सामन्ती प्रेम भावनाकी अधिकता दिखाई पड़ती है।

कथाकाव्यके विकासका यह क्रम बहुत-कुछ इसी रूपमें भारतवर्षमे दिखलाई पडता है। रामायण-महाभारतके अनुकरणपर, किन्तु अलंकत शैलीमें, संस्कृतके महाकान्योंकी परम्परा विकसित हुई और उन्हीं दीनों महाकान्योंके रोमांसिक तत्त्वो और साहसिक कार्योंका अनुकरण करके 'बृहत्कथा'की तथा उनकी पञ्चकथाओके आधारपर 'पंचतन्त्र'की रचना हुई। इनमेसे 'बृहत्कथा'के सम्बन्धमें तो अधिकांश विद्वान् एकमत है कि उसका मूल रूप भी पद्मबद्ध रहा होगा। उसके संस्कृत रूपान्तर तो पद्मबद्ध है हो । 'पंचतन्त्र' यद्यपि गद्यबद्ध है, किन्तु उसमे बीच-बीचमें छन्दोंकी संख्या भी कम नहीं है। भारतमें यूरोपकी तरह अभिजातवर्गीय शास्त्रीय परम्परा और संस्कृत भाषाके विरुद्ध नवोत्थित पण्यजीवी मध्यवर्गने विद्रोह किया, जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध और जैन साहित्य तथा कलामे विणक वर्ग और सामान्य जनताके जीवन और भाषाके प्रति समादर दिखाई पड़ता है। 'जातकमाला', 'बृहत्कथा' तथा 'पंचतन्त्र'की कथाओमे अभिजात-भावना और शास्त्रीय प्रवृत्तिका प्राधान्य नही है। उदाहरणार्थ, गुणाढ्यने 'बृहत्कथा'मे राजाओं राजदंशोका उतना वर्णन नहीं किया है, जितना विशको, समुद्रके व्यापारियों और कारीगरीका। इसीसे कीथने 'बृहत्कथा'को मध्यवर्गका कान्य कहा है (ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृ० २७१) । जैन साहित्यमे इस प्रकारकी मध्यवगीय कथावस्त और पात्रोंपर आधारित बहुत-सी पद्मबद्ध रोमांसिक कथाएँ लिखी गयी। इन कान्योमे कुछ तो रोमांसिक महाकान्यकी ऊँचाईतक पहुँच गये हैं और शेष रोमांसिक कथाकाच्य ही है। 'पंचतन्त्र', 'बृहत्कथा' और 'जातकमाला'की कथाओंकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर अभिजातवर्गीय संस्कृतकी शास्त्रीय परम्पराके कवियोने भी इस काव्यरूपको यहण किया, यद्यपि उन्होने इसका माध्यम पद्यको नहीं, गद्यको बनाया। इस तरह संस्कृतमें गद्यबद्ध कथाकाव्य कथा-आख्यायिकाके नामसे प्रचलित हुआ।

संस्कृतके आलंकारिकोने कथाकान्य नामसे किसी अलग कान्यरूपका निर्धारण नहीं किया है। भारतीय साहित्य-परम्पराके अनुसार कान्य पद्यबद्ध, गद्यबद्ध और मिश्र, तीनों प्रकारका होता है और गद्य, पद्य दोनोंमें कथाप्रबन्ध

होते हैं। एदात्मक प्रवन्थको सर्गवन्थ काच्य (महाकाध्य और खण्डकाव्य) कहा गया है और गचात्मक प्रवन्धके दृश्य और श्रन्य या अभिनेय और पाट्य, ये दो भेद मान-कर पाठ्य गद्यात्मक प्रवन्थोंके फिर कथा-आख्यायिका, परि-कथा, खण्डकथा, सफल कथाप्रवन्ध, प्रवह्निका, मतक्लिका, मणिकल्या आदि कई भेद किये गये है (हेमचन्द्र: 'काव्या-नशासन', अध्याय ८; अभिनव ग्रप्त: 'ध्वन्यालोक' टीका उद्योत ३, कारिका ७)। अतः न्यापक दृष्टिसे देखनेपर तो गद्यबद्ध और पद्यबद्ध सभी श्रन्य प्रवन्थोंको प्रवन्थकान्य या कथाकाव्य कहा जा सकता है, किन्त सीमित और विशेष अर्थमे पद्यात्मक श्रव्यप्रबन्धोंको प्रबन्धकाव्य और गद्यात्मक श्रव्य प्रवन्धों (कथा, आख्यायिका, परिकथा आदि)को कथासाहित्य कहा जा सकता था। रुद्रटने तो प्रवन्थके स्पष्ट दो भेद कर दिये है, काव्य और कथा-आख्यायिका आदि (सन्ति द्विधा प्रबन्धा काव्यकथाख्यायि-कादयः); और कहा है कि कन्या-लाभफलवाली तथा सकल शृंगारसे यक्त कथाएँ संस्कृतमें गद्यमे तथा अन्य भाषाओं में (प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें) पद्यमें लिखी जानी चाहिये। हेमचन्द्रके अनुसार धीरशान्त नायकसे युक्त कोई भी प्रबन्ध, चाहे वह गद्यमें हो या पद्यमें, कथा कहा जायगा (कान्यानुशासन, आठवॉ अध्याय)। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ प्राचीन आचार्योंने कथाकाव्यको श्रव्य प्रवन्थ-कान्यके एक अंगके रूपमें तथा प्रबन्धकाच्य (महाकाव्य या खण्डकाव्य)से भिन्न श्रेणीका काव्यरूप माना था भिर्श्वभिनव ग्राप्तने महाकाव्य और खण्डकाव्यको सर्गबन्ध तथा गद्य-प्रबन्धको कथा, आख्यायिका आदि कहा है और दोनोंके रसान्मक और इतिवृत्तात्मक, दो भेद्र किये हैं (अभिनव ग्रप्त ध्वन्यालोककी टीका, उद्योत ३, कारिका ७)। इस दृष्टिसे श्रन्य प्रबन्ध कुल चार प्रकारके होंगे—(१) रसातमक और सर्गवन्ध पद्मप्रबन्ध, (२) रसात्मक गद्मप्रबन्ध कथा, आख्यायिका, (३) इतिवृत्तात्मक सर्गवन्ध प्रवन्ध, (४) इतिवृत्तात्मक गद्यप्रवन्थ । किन्तु यह विभाजन भी पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसमें सर्गबन्ध प्रवन्ध और कथा-आख्यायिकाका मौलिक अन्तर रपष्ट नहीं किया गया है और न यही बताया गया है कि सर्गबन्ध-रूपमें भी कथा-आख्यायिका लिखी जा सकती है या नहीं।

प्रबन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य) और कथाआख्यायिकाका जो अन्तर रुद्रटने बताया है, वह अवस्य
सत्यके अधिक निकट है, परन्तु पूर्ण वैज्ञानिक वह भी नही
है। यदि कथा-आख्यायिकाको ही कथाकाव्य माना जाय
तो रुद्रटके अनुसार कथाकाव्य वह काव्यरूप है, जो संस्कृतमें गद्यमें और अन्य भाषाओंमें पद्यमें भी लिखा जाता है
और जिसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्म श्रृंगार, नायकका
अभ्युद्रय आदिसे समन्वित सरस, रोमांसिक कथानक होता
है तथा जिसके आदिके मंगलाचरण, गुरुवन्दना, किन और
उसके वंशका परिचय तथा कथान्तर आदिकी योजना होती
है। अनः अभिनवगुप्त और रुद्रटके काव्य-भेदोंको एक साथ
रखकर देखनेपर प्रबन्धात्मक रचनाओंके तीन भेद किये जा
सकते हैं—१. रसात्मक प्रवन्धकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य),
२. रसात्मक कथाकाव्य (गद्य या पद्यमें लिखी आख्यायिका).

इ. अनलंकृत या इतिषृत्तात्मक कथासाहित्य (गद्य या पद्यमे िलली परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, धर्मकथा-प्रवन्ध और आधुनिक उपन्यास, कहानी आदि)। उदाहरणार्थ, 'कुमारसम्भव', अपभ्रंशके 'भिनस्यत्तकहा', 'पउमिसिरीचरिउ' आदि रसात्मक प्रवन्धकाव्य हैं; 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित', प्राकृतकी 'लीलाबाइकहा' आदि कथा-काव्य हैं और 'हितोपरेश', 'कुवल्यामाला', 'कथासरित्सागर', 'मल्यसुन्दरी कथा', 'प्रवन्धिचन्तामणि', भोजप्रवन्ध', 'बैताल पचीसी' आदि केवल कथा या कथासाहित्यके भीतर आते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने भी ऐसे इतिष्ठत्तात्मक प्रवन्थोंको केवल कथा कहा है और उसे काव्यसे भिन्न माना है (जा० प्र०, भूमिका, पृष्ठ ७०), किन्तु उन्होंने रसात्मक प्रवन्थोंको इन दो भिन्न रूपों—प्रवन्धकाव्य और कथाकाव्यके भेदकी ओर ध्यान नही दिया है।

इस प्रकार कथाकान्य वह अन्य प्रबन्ध है, जो एक ओर गम्भीरता, महत् उद्देश और महचरित्रके अभावमें प्रबन्ध-काव्योसे भिन्न हो गया है, दूसरी ओर रसात्मक और अलंकृत होनेके कारण इतिवृत्तात्मक कथाओंसे भी अपनी अलग सत्ता रखता है। कथाकाव्यके विशिष्ट लक्षण, जो उसे अन्य काव्यरूपोंसे भिन्न करते हैं, ये है-१ उनका कोई महान् उद्देश्य नहीं होता, मनोरंजन ही उनका प्रधान लक्ष्य होता है। इस कारण उनमें महानता, गुरुत्व और गाम्भीर्य भी महाकाव्यों जैसा नहीं होता। उसी तरह उनके चरित्र भी महान् या आदर्श (धीरोदात्त) न होकर प्रायः धीरललित या धीरज्ञाना होते है। २. उनका कथानक जीवन्त, प्रवाहमय और आकर्षक अवश्य होता है, किन्त वह यथार्थ जीवनपर आधारित नहीं होता और न उसमें नाटकीय सन्धियोंसे युक्त अन्विति और सुसम्बद्धता ही होती है। इससे वह प्रायः स्फीत, विश्वंखल और जटिल (काम्प्लेक्स) होता है। कथाके भीतर कथा करनेकी प्रवृत्ति होनेसे उसमे अवान्तर कथाओंकी भरमार होती है। ३. उसमें काल्पनिक कथाका चमत्कार बहुत अधिक होता है, क्योकि उसमें असम्भव और अविश्वसनीय बातों, आश्चर्यजनक कार्यों और अप्राकृत या अमानवीय शक्तियों-की भरमार होती है। फलनः उसमें रोमांसिकता और अतिराय भावकता विशेष रूपसे पायी जाती है, साथ ही उसमें युद्ध, प्रेम, भयंकर यात्रा, अनहोने कार्यों आदिका अतिश्योक्तिपूर्णं चित्रण होता है। ४ उपर्युक्त-प्रवृत्तियोंके कारण कथाकांच्य लोकतत्त्वों और कथानक-रूढ़ियोंसे भरा होता है। ५ कथाकाव्योंके नायकोंका वीर-रूप उनके प्रेमी-रूपसे दबा रहता है। उनकी वीरता या तो नायिकाकी प्राप्तिके लिए होती है या चमत्कारप्रदर्शनके लिए, उसका उपयोग देश या जातिकी रक्षा जैसे महत् उद्देश्यके लिए नहीं होता। यह प्रेम भी अतिशय भावुकतापूर्ण सामाजिक दायित्वसे रहित, एकान्तिक और प्रायः स्थूल शारीरिक होता है। सुफी कथाकाच्योंका प्रेम भी यथार्थ नही, आदर्शात्मक (प्लेटोनिक) या प्रतीकात्मक होता है। ६. उसमें रसात्मकता, भावव्यंजना और अलंकृति तो होती है, किन्तु विचारों और भावोंकी गम्भीरता, उद्देश्यकी महत्ता, बौद्धिक उँचाई और भावभूमिकी व्यापकता नहीं

होती । (दे०—'चरितकाव्य')'। -- ग्रं० ना० सिं० कथा, कथासाहित्य-कथ धातुसे न्युत्पन्न कथा शब्दका साधारण अर्थ है 'वह जो कहा जाये।' कहनेमें कहनेवालेके अतिरिक्त सननेवालेकी स्थिति अन्तर्भक्त है, क्योंकि सनने-वालेके बिना एक क्षणको हम 'बोलने'की कल्पना तो कर सकते है, 'कहने'की नहीं। परन्त वह सभी कछ, जो कहा जाय. 'कथा' नहीं कहलाता । कथाका विशिष्ट अर्थ हो गया है किसी ऐसी कथित घटनाका कहना, वर्णन करना, जिसका निश्चित परिणाम हो। घटनाके वर्णनमें भी कालानक्रम आवश्यक है, जैसे सोमवारके बाद मंगल, यौवनके बाद वृद्धावस्था, प्राणान्तके वाद क्षय आदि । घटना किसीसे भी सम्बन्धित हो सकती है-मनुष्य, अन्य जीवधारी, पश-पक्षी आदि तथा जगतके नाना पदार्थ, जिनका अनुभव किया जा चुका है या जो कल्पित किये जा सकते है। जिस किसीसे सम्बन्धित घटना हो, उसकी किसी विशेष परिस्थिति या परिस्थितियोका निश्चित आदि और अन्तसे यक्त वर्णन ही कथा कहलाता है।

कथाएँ अनेक प्रकारकी होती है। परन्त उन्हें दो प्रधान वर्गोंमे बाँटा जा सकता है-(१) इतिहास-पराणकी कथाएँ और (२) कल्पित कथाएँ । ऐतिहासिक कथाओंके आधारपर निर्मित महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदिको साधा-रणतया कथासाहित्य या कथाकाव्य नहीं कहते। यद्यपि उपन्यास और कथा-कहानियोंका एक वर्ग ऐतिहासिक भी माना जा सकता है, किन्तु ऐतिहासिक कथा, उपन्यास या कहानीमें प्रयक्त होनेपर अनिवार्यतः कल्पनामिश्रित हो जाती है। कल्पनाप्रसूत या प्रधान रूपसे कल्पनाप्रसूत कथाएँ ही कथासाहित्यका आधार बनती है। यो तो साहित्य और काव्य समानार्थी शब्द है और काव्यका पद्मबद्ध होना अनिवार्य नहीं है (दे॰ 'कान्य', 'साहित्य'), परन्तु साधा-रणतया पद्मबद्ध कथाओको कथाकाव्य और गद्ममें रचित कथाओंको कथासाहित्य-उपन्यास, उपन्यासिका, कहानी आदि कहते है। आधुनिक साहित्यमे कथा-साहित्य राब्दका प्रयोग अंग्रेजीके फिक्शनके अर्थमें होता है। विशेष विवरणके लिए दे० 'कथाकाव्य', 'उपन्यास',

कथानक — कथासे व्युत्पन्न (दे॰ 'कथा')। 'कथानक'का शाब्दिक अर्थ होगा कथाका छोटा रूप या सारांश। अपने विशिष्ट अर्थमें इससे अभिप्राय है साहित्यके कथात्मक रूपों — लोकगाथा, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास कहानी आदिका वह तत्त्व, जो उनमें विणित, कालकमसे शृंखलित घटनाओकी रीढकी हड्डिकी तरह दृढता देकर गति देता है और जिसके चारों ओर घटनाएँ बेलकी मॉति उगती, बढ़ती और फैलती है। सीधे तौरपर कह सकते है कि कथानकका अर्थ है कार्य-व्यापारकी योजना। कथा या कहानी भी साधारणतः कार्य-व्यापारकी योजना ही होती है, परन्तु कैसी भी कोई कथा, कथानक नहीं कही जा सकती। ई० एम० फास्टरने कथा और कथानकका अन्तर बताते हुए कहा है कि ''कथा है घटनाओंका कालानुक्रमिक वर्णन कलेवाके बाद ब्याल्, सोमवारके बाद मंगलवार, मृत्युके बाद नाश आदि' जब कि कथानक भी घटनाओंका

वर्णन होता है, परन्तु उसमें कार्य-कारण-सम्बन्धपर विशेष बल दिया जाता है। 'राजा मर गया और वादमें रानी मर गयी' कहानी है। 'राजा मर गया और फिर उसके वियोगमें रानी मर गयी' कथानक है। कालानुक्रम यथावत है, परन्तु कार्य-कारणकी भावनाने उसे अभिभूत कर लिया है। कथानकमे समयकी गति घटनावलीको खोलती जाती है और साथ ही यह भी प्रमाणित होता जाता है कि विश्वका सघटन युक्तियुक्त है, उसमें कार्य-कारणका अन्तःसम्बन्ध है तथा वह बुद्धिगम्य है।

परन्तु युक्तियुक्तता और बुद्धिगम्यताका तात्पर्य प्राकृतन्वाद नहीं है। कथानककी घटनाएँ यथार्थ घटनाओंकी ठीक प्रतिकृति नहीं होती, उनकी संयोजना कलाके स्वनिर्मित विधानके अनुसार होती है। कथानक देव-दानव, अति प्राकृत और अपाकृत घटनाओंसे भी निर्मित होते है, रार्त केवल यह है कि उनका निर्माण परम्परा द्वारा स्वीकृत विधानके अनुसार हो। कथामे विश्वसनीयता ही सलकी कसौटी है। उस सत्य घटनासे, जिसकी सम्भावनाका विश्वास नहीं जमाया जा सका, वह असम्भव या असत्य घटना कही अधिक उपयोगी है, जिसे विश्वसनीय बनाकर कहा गया है। कथानकमे विश्वास जमानेका गुण होना चाहिये, कथाकार एक सिद्ध मिथ्यावादी होता है।

कथानक अंग्रेजीके प्लाट शब्दका पर्याय हो गया है। प्लाटका एक अर्थ कपट-योजना या षड्यन्त्र भी है। इस अर्थकी छाया कथानकके परिवर्तनशील रूपमें पायी जाती है। कथानककी गतिशील घटनाएँ सीधी रेखामें नहीं चलती। उनमें उतार-चढाव आते है। भाग्य बदलता है, परिस्थितियाँ मनुष्यको कुछसे कुछ बना देती है, अपने संगी-साथियोंके साथ अथवा बाह्य शक्तियो—अपने वाता-वरणके विरुद्ध उसे प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। कथानकमें जीवनके इसी गतिमान्, संघर्षशील रूपकी अवतारणा की जाती है।

कथानक कलाका एक साधन है, अतः जीवनकी प्रत्यय-जनक यथार्थताके साथ उसमें आकिस्मकताका तत्त्व भी आवश्यक है। इसीके द्वारा उसमें भावोत्तेजना आती है। टामस हाडींके शब्दोंमे, "सार्वकालिक और विश्वजनीनके साथ असाधारणके सामंजस्य"मे, ही कथा और नाटकके संघटनका रहस्य छिपा है। किसी उपन्यास या नाटककी कथाकी यदि यह प्रतिक्रिया हो कि वह कितनी सची है और फिर भी कितनी आश्चर्यजनक, तभी उसकी सफलता है।

कथानकके विन्यास अर्थात् रूप-रचनाके विषयमे भी विचार किया गया है। अरस्तूके अनुसार कथानकमें कार्य-व्यापारकी एकता, स्वयं अपनेमे परिपूर्णता, आरम्म, मध्य और अन्तका होना आवश्यक है बात बहुत साधारणसी है, परन्तु जीवनकी सम्बद्ध घटनाओंकी अनन्त शृंखलामेसे किसी ऐसे कार्य-व्यापारका, जिसका निश्चित प्रारम्भ दिखाया जा सके अर्थात् जिसके पूर्व कोई ऐसी घटना न हो, जिसका वर्णन करना आवश्यक हो, जिसके मध्यकी घटनाएँ पूर्व और पश्चात्की घटनाओंसे सम्बद्ध हों तथा जिसका निश्चित अन्त हो अर्थात् जिसके बाद कुछ भी वर्णनीय न रहे—संक्षेपमे ऐसे कार्य-व्यापारको, जो स्वतः पूर्ण हो,

पृथक् कर सकनेका प्रश्न कथाकारके सम्मुख एक प्रमुख समरया बनकर आता है। परन्तु कार्य-संकलन या कार्य-ज्यापारकी एकताका तात्पर्य यह नहीं है कि कथानकमें सरल कार्य-व्यापारका ही वर्णन हो। जटिल कार्य-व्यापार भी हो सकता है। कथानकके भीतर उपकथानक भी आ सकते है, परन्त कथानकके सभी अंग उसकी केन्द्रीय योजनाके सहायक होकर ही आते है, उसमे प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द कथाको अग्रसर करनेमे सहायक होना चाहिये। कथानकके कार्य-संकलनका रूप भिन्न-भिन्न साहित्यिक माध्यमोंमें थोड़ा-बहुत बदल जाता है। उदा-हरणके लिए, लोकगाथा (बैलेड)का कथानक महाकान्यके विस्तीर्ण प्रसारवाले कथानककी अपेक्षा अधिक कसा हुआ होता है, नाटकमे कार्य-न्यापारको दर्शकोंके समक्ष प्रदर्शित करना पड़ता है जब कि उपन्यासके कथानककी योजना आन्तरिक कार्य-च्यापारपर अधिक निर्भर होती है, साथ ही उपन्यासका कथानक नाटककी अपेक्षा देश और कालके विस्तारमें अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक फैलाया जा सकता है।

कथामें कथानकके साथ चरित्र मी होते हैं। प्रश्न होता है कि कथात्मक कलाकृतिमे कथानक पहले आता है या चरित्र ? परन्त यह ऐसी समस्या है, जिसका समाधान मुगीं और अण्डेकी पुरानी पहेलीके समान असम्भव है। जहाँतक आदर्शका सम्बन्ध है, कथानक और चरित्र परस्पर इस प्रकार गुँथे हुए होने चाहिये कि उन्हें अलग-अलग किया ही न जा सके, कथानक चरित्रसे निकलता हुआ दिखाई दे तथा चरित्र कार्य-व्यापारके द्वारा निर्मित जान पड़े। परन्त व्यवहारमें सभी कथाकार ऐसा नहीं कर पाते, कथानक और चरित्रकी योजनामे उनकी कल्पना एक साथ क्रियाशील नहीं हो पाती। कभी कथानकके कठोर बन्धनमें जकड़कर चरित्र कुरूप बना दिये जाते हैं और कभी चरित्रोंके इड स्वभाव और स्वच्छन्द प्रकृति द्वार। कथानककी सीमाएँ टूट जाती है। प्राचीनोने चरित्रकी अपेक्षा कथानकको प्राथमिकता दी थी। अरस्तू ने कथानकको ही दःखान्त नाटककी प्रथम आवश्यकता, उसका प्राण और उसकी आत्मा बताया था। परन्तु आधुनिक कालमे मनो-विज्ञानके आधारपर चरित्रको प्रमुखता दो गयी है। फिर भी अरस्तूका यह कथन कि कथामे घटनाओंका प्रवाह अर्थात् कार्य-व्यापारकी गतिशीलता आवश्यक है, आज भी न्यूना-धिक रूपमें सभी कथात्मक कृतियोंपर लागू होता है। कथानककी रचनाके सम्बन्धमें कथाकारोंको इस वस्तुस्थिति-का बराबर सामना करना पड़ता है कि कथानकमें मौलिकता और विचित्रता कैसे पैदा की जाय। जीवनमें विविधता अवस्य है, और उसमें नाना प्रकारके सम्बन्ध दिखाई देते हैं, परन्तु उस विविधतामे मूलतः ऐसी समानता निहित है कि जगत्के सम्बन्ध अन्ततोगत्वा कुछ एक गिने-चने नमूनोंके रूपोंमें ही बँधकर रह जाते है। इसीलिए अनेक लेखकोंने घटनाओंकी विविधता और सम्बन्धोकी अनेकरूपतापर आधारित कथानकोंकी गिननीतक कर डाली है।

कथानक-रचनाकी इस कठिनाईके अनुभवकी दो भिन्न प्रतिक्रियाएँ देखनेमें आती हैं। एक ओर तो वे व्यावसायिक

लेखक है, जो सामयिक पत्र-पत्रिकाओं या सस्ते बाजारू प्रकाशनोके लिए लिखते है। कथानकके बने-बनाये ढाँचे उनके लिए तैयार है, प्रेमी और प्रेमिकाका संयोग-मिलन, आकस्मिक वियोग और पुनर्मिलन, किसी वीर पुरुपका शत्रुओंके घेरेसे साहसपूर्वक निकल आना, आदि-आदि । कथानकोके इन्ही चौखडोमें चरित्रोको बिठाकर नयी-नयी कथाओंकी रचना करना बहुत सरल हो गया है। प्रतिमास प्रकाशित होनेवाला ढेरो कथासाहित्य कथाकारोंकी इस सुविधाका प्रमाण है, परन्तु दूसरी ओर कथानककी बँधी-बॅधाई परिपाटीके विरुद्ध मौलिक प्रतिभाशाली लेखकोमे यह प्रतिक्रिया दुई है कि उन्होंने कथानकको कृत्रिम बन्धन मानकर उसका यथासाध्य पूर्ण वहिष्कार करनेका निश्चय कर लिया है। विश्वविख्यात लेखकोंकी ऐसी कृतियाँ है, जिनमें कथानक अत्यन्त क्षीण है, उसका कोई निश्चित ढाँचा खडा नहीं हो सकता। आधुनिक कालमे कविता नाटक, रंगमंच, चित्रपट, संगीत, चित्रकला, सभी क्षेत्रोंमे 'शुद्धता'का जो आन्दोलन चला है, उसी क्रममे आन्द्रे जीद जैसे लेखक, उपन्यासको भी उन समस्त तत्त्वोसे मुक्त करना चाहते है, जो विशिष्ट रूपमे उपन्यासके लिए अनिवार्य नहीं है। उनकी दृष्टिमें घटनाओं, संयोग और दुर्घटनाओं आदि-के लिए उपयुक्त स्थान सिनेमा है, उपन्यास नहीं। कुछ लेखक कथानकके ढाँचेमे प्रस्तुत किये हुए जीवनको अयथार्थ और कृत्रिम कहते है। वजींनिया बुल्फने उपन्यासींकी परम्पराभुक्त रूपरेखाका उल्लेख करते द्वप बडे सन्देहके स्वरमें प्रश्न किया है कि "क्या जीवन ऐसा ही होता है? क्या उपन्यास इसी प्रकारके होने चाहिये ?"

साहित्यमें कथानकके विरुद्ध विद्रोहकी भावना वस्तुतः उस सामान्य विद्रोहकी भावनाका एक अंशमात्र है, जो अन्य कलाओंके क्षेत्रोंमें भी अबतक सार्थक समझे जाने-वाले स्वीकृत रूपमात्रके प्रति जागरित हुई है। इसके लिए साहित्यिक 'शुद्धतावाद', आत्मलीनता, अतियथार्थवाद आदि विभिन्न अधिनिक प्रवृत्तियाँ उत्तरदायी है, जिनके कारण लेखक एक ऐसे निजी संसारकी रचना कर लेता है, जिसमे किस सीमा तक प्रवेश मिल सकेगा, यह लेखककी इच्छापर ही निर्भर है। कला और साहित्यमें प्रेषणीयताके गुणका अभाव इसका अनिवार्य परिणाम है। कला और साहित्यके इन साहसपूर्ण नवीन प्रयोगोंकी सराहना करते द्वए भी प्रश्न उठता है कि क्या प्रेषणीयताको दुर्बल कर देनेसे कलाका हितसाधन सम्भव है? परम्परावादी, यक्ति और न्यायवादी तथा मार्क्सवादी-भौतिकवादी अपने-अपने दृष्टिकोणसे इसका विरोध करते हैं। अनेक लेखकोंका अब भी विश्वास है कि कलामें जीवनसे नित्य नवीन सामग्री प्राप्त करते रहनेकी शक्ति विद्यमान है तथा उसे सार्थंक 'रूप'मे रूपायित किया जा सकता है। जीवनमें अपार विविधता है और उसकी परिवर्तनशीलता उसमें नित्य नया रंग भरती रहती है, अतः समरूप तत्त्वोंके नये-नये समवाय रचकर कथानकके प्रयोग द्वारा कथाकृतियोको संघटन और योजना प्रदान करना असम्भव नही है। वास्तवमें कथानकके भविष्यपर ही बहुत-कुछ नाटक, उपन्यास, कहानी आदि कथात्मक साहित्यका भावी

रूप निर्भर है (दे॰ 'उपन्यास', 'कथावस्त्', 'कहानी', 'ताटक'।) कथानक रूढि-सामान्यतया रूढ़ि और अभिप्रायका प्रयोग एक-दूसरेके पर्यायके रूपमे किया जाता है। अभिप्राय-जिसे अंग्रेजीमें 'मोटिफ' कहते है, उस शब्द अथवा एक सॉचेमें ढले हुए उस विचारको कहते है. जो समान परिस्थितियोंमें अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जातिकी विभिन्न कृतियोमे बार-बार आता है। विभिन्न कलारूपोंके अपने अलग-अलग अभिप्राय भी होते है। चित्रकलामे अभिप्रायका अर्थ होता है, "कोई चल या अचल, सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्त, जिसकी अलंकत एवं अतिरंजित आकृति मुख्यतः सजावटके लिए किसी कलाकृतिमे बनायी जाय"। प्रत्येक देशके साहित्यमे भी अनकरण तथा अत्यधिक प्रयोगके कारण कुछ साहित्य सम्बन्धी रूढियाँ बन जाती है और यान्त्रिक ढंगसे उनका प्रयोग साहित्यमे होने लगता है; इन सभी रूढियोंको साहित्यिक अभिप्राय कहते है।

भारतीय साहित्यमें परकायप्रवेश, लिगपरिवर्तन, पशु-पिक्षयोकी बातचीत, किसी बाह्य वस्तुमें प्राणोंका बसना आदि कितने ही अभिप्राय है। ये सभी कथानक रूढियाँ प्रधानतया दो प्रकार की है। एक लोक-विश्वासपर आधारित, दूसरी किन-किश्वत। हिन्दी साहित्यमें सबसे पहले हजारीप्रसाद दिवेदीने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल'में इन साहित्यक अभिप्रायोकी ओर ध्यान आकर्षित किया।

कथावस्तु, वस्तु (कथात्मक साहित्य) – काव्य, नाटक, जपन्यास, कहानी आदिके उस भागको कथावस्तु कहते है, जिसमें मूल कथाभाग या इतिवृत्तके साथ सम्बद्ध वे समस्त घटनाएँ भी आ जाती है, जिनसे मिलकर कथात्मक साहित्य-विशेषकी विषयवस्तु बनती है। अनेक नाटको या जपन्यासोंमें एकमे अधिक कथा-धाराएँ होती है और उनके अलग-अलग नायक होते हैं। कभी-कभी उनकी फलप्राप्ति भिन्न-भिन्न होती है और कभी-कभी वे सब कथा-धाराएँ अन्तमें एक ही फलगमको प्राप्त होती है। कथाओंकी ये समस्त धाराएँ और उनकी श्वंखलाएँ, घटनाओंको पुष्ट करने-वाले प्रमाण-पत्र, समाचार, दस्तावेज आदि मिलकर कथा-वस्तु कहलाते हैं। इस प्रकार कथानक अर्थका द्योतक है, यद्यपि दोनों शब्दोंका प्रयोग बहुधा समानाथीं रूपमें होता है (दे० 'कथानक', 'उपन्यास')।

कथावस्तु - रूपवोंके मेदक तत्त्व तीन है - वस्तु, नेता और रस- "वस्तु नेता रसस्तेषां मेदकः"। इन तत्त्वोंकी भिन्नताके कारण रूपकोंमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है। वस्तु या कथावस्तु रूपकोंका पहला मेदक तत्त्व है।

इतिवृत्त, अधिकारी, अभिनय और कथोपकथन-की दृष्टिसे वस्तुके कई भेद किये जाते है। इतिवृत्तकी दृष्टिसे वस्तुके तीन भेद किये जाते है—प्रख्यात, उत्पाद्य और भिश्र (दे०)। प्रख्यात वृत्त इतिहास-पुराणादिसे प्रहण किया जाता है, जैसे 'प्रसाद'के 'चन्द्रगुप्त'का वृत्त ऐति-हासिक प्रख्यात वृत्त है और 'जनमेजयका नागयन्न' पौरा- णिक इतिवृत्त । इतिहास-पुराणसे इतिवृत्त ग्रहण करके भी नाटककार उसपर अपनी करपनाकी कूँची फेरता है, पर ऐसा करनेमे इस बातका ध्यान अवस्य रखा जाता है कि करपनाके समावेशसे वृत्तकी ऐतिहासिकता या पौराणिकता-मे किसी तरहका विकार न उत्पन्न हो। उत्पाद्य इति-वृत्त लेखककी करपना द्वारा प्रस्त होता है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके समस्या-नाटक इसी कोटिमे आते है। मिश्रवस्तुके वृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रख्यात होती है, पर अनेक कथाएँ करपनाप्रस्त भी होती है।

अधिकारी या नायक के सम्बन्ध से वस्तु के दो में ते होते है—आधिकारिक और प्रासंगिक । रूपककी मूळ-कथावस्तु आधिकारिक कही जाती है, क्यों कि इसका सीधा सम्बन्ध अधिकारी या फलमोक्तासे होता है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी गौण कथाएँ भी होती है, जो प्रसंगानुकूल आधिकारिक कथावस्तुकी सहायता किया करती है । ये कथाएँ प्रासंगिक कही जाती है । प्रासंगिक कथाके पुनः दो भेद होते है—पताका और प्रकरी । सानुबन्ध या दूरतक चलनेवाली कथाको पताका तथा थोड़े कालतक चलकर समाप्त हो जानेवाली कथाको प्रकरी कहते हैं । रूपकोंमे चमत्कार लानेके लिए पताका-स्थानककी भी योजनाकी जाती है (दे॰ 'पताका-स्थानक')।

रूपकका मुख्य प्रयोजन फल में निहित है। यह 'फल' ही कथाका कार्य है। रूपककी सम्पूर्ण रचनामें कार्यका फैलाव होता है। यह कार्य कई अवस्थाओं में दृष्टिगोचर होता है। यह कार्य वर्ष अवस्थाओं में दृष्टिगोचर होता है। इन्हें कार्यावस्थाके नामसे अभिहित किया जाता है। ये कार्यावस्थाएँ सख्यामे पाँच है—आरम्भ, यत, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलामम। फल-लामकी उत्सुकता आरम्भ कहलाती है। फलप्राप्तिके लिए अत्यन्त शीव्रतापूर्ण जो व्यापार किये जाते है, वे यत्न है। प्राप्त्याशामें प्राप्तिकी आशा तो होती है, पर वह उपाय और विकासे विरी रहती है। फलप्राप्तिकी निश्चयात्मक अवस्थाका नाम नियताप्ति है। जब सम्पूर्ण फल प्राप्त हो जाता है तव फलामकी अवस्था होती है (दे० पूर्यक टिप्पणियाँ)।

फलिसिस्ती दृष्टिसे वस्तुका प्रयोजन पाँच मागोंमें बॅटा हुआ है—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। इन्हे अर्थप्रकृतियोंके नामसे अभिहित किया जाता है। रूपकके आरम्भमे स्वल्पसंकेतित वह हेतु, जो अनेकविध विस्तृत होता हुआ इष्ट या फलका कारण होता है, बीज कहलाता है। किसी दूसरे अर्थ या कथासे विच्छिन्न हो जानेपर इतिनृत्तके जोडने या आगे बढानेके कारणको विंदु कहते है। रूपकमे दूरतक चलनेवाली सानुबन्ध कथा, जो आधिकारिक कथाके सहायतार्थ आती है, पताका कहलाती है। पताका प्रासंगिक कथा होती है। प्रासंगिक कथाका एक दूसरा मेद भी होता है, जिसे प्रकरी कहते है। प्रकरी उन छोटी-छोटी कथाओको कहते है, जो समय-समयपर उपस्थित हो, मुख्य कथाकी सहायता कर समाप्त हो जाती है। कार्य रूपका वह प्रधान साध्य है, जिसके लिए सव उपकरण एकत्र किये जाते हैं।

रूपकमे कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियोंको जोड़नेके छिए पंच सन्धियोंका विधान किया गया है। ये संख्यामें पाँच है: मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण (उपसंहति)। मुख सिथ बीज और प्रारम्भको मिलती है, प्रतिमुख, यब और विन्दुको, गर्भमें प्राप्त्याशा और पताकाका संयोग होता है। विमर्शमें नियताप्ति और प्रकरीको सिथ होती है। कार्य और फलागमके साथ ही जहाँ अन्य सभी अधौंका पर्यवसान हो जाता है, वहाँ निर्वहण सिथ होती है। (विस्तारके लिए दे० 'संधि', 'मुख' आदि।

अभिनेताकी दृष्टिसे विचार करनेपर कथास्तुको दो कोटियोमे विभाजित किया जा सकता है—वाच्य और सूच्य । कार्यावस्था, अर्थप्रकृति तथा सन्धियोंको वाच्यको श्रेणीमे रखा जायगा । रूपकमें कुछ ऐसी कथाएँ भी होंती है, जिनकी केवल सूचना दी जाती है । ये कथाएँ मूल कथाकी अखण्डताकी रक्षाके लिए ही स्चित की जाती है । इन्हें सूच्य कहते है । सूच्य कथाओंको अर्थोपक्षेपक, विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंक-मुख भी कहते है (विस्तारके लिए दे ० 'अर्थोपक्षेपक') ।

कथोपकथनको दृष्टिसे शास्त्रकारोंने कथाको तीन कोटियों-में बॉटा है—सर्वश्राब्य, नियतश्राब्य और अश्राब्य। किसी पात्रके कथोपकथनको यदि रंगमंचपर उपस्थित सब पात्र सुन सकें तो वह सर्वश्राब्य, कुछ ही सुन सकें तो नियतश्राब्य और यदि केवल कथन करनेवाला पात्र ही अपना कथन सुन सकें तो अश्राब्य होता है (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक शब्द)।

रूपकके प्रारम्भमें आनेवाले पात्र सूत्रधार, नटी, स्थापक, नांदीको भी कथावस्तुके अन्तर्गत ही समझना चाहिये, क्योंकि इनके द्वारा रूपककी प्रस्तावना प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तावनाके कई भेद किये गये है—उद्धातक, कथोद्धात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, अवगिलत (विस्तारके लिए दे०—ये पृथक शब्द)।

संस्कृतके शास्त्रीय यन्थोंने रूपककी कथावस्तुके सम्बन्धमें जो विस्तृत वर्गीकरण किया गया है, वह बहुत ही यान्त्रिक हो गया है। संस्कृतके दो नाटकों ('वेणीसंहार' और 'रत्नावली')के अतिरिक्त अन्य नाटकोंको शास्त्रीय कसौटीपर खरा नही उतारा जा सकता। भारतेन्दुकालीन कुछ हिन्दी नाटकोंपर संस्कृतके शास्त्रीय निर्देशोंका प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात्के हिन्दी नाटक संस्कृतको शास्त्रीय परम्पराको उतना न अपनाकर पाच्चात्य शास्त्रीय परम्पराको उतना न अपनाकर पाच्चात्य शास्त्रीय परम्पराको अवना न अपनाकर पाच्चात्य शास्त्रीय परम्पराको अधिक अपनाने लगे हैं।

अंग्रेजीमें कथावस्तुको 'प्लाट' कहते है । शिप्लेके अनुसार सरल या उलझनपूर्ण घटनाओके संगुंफनको वह हंग, जिस आधारपर रूपक या नाटकका निर्माण किया जाता है, प्लाट या कथावस्तुके नामसे अभिहित होता है।

अरस्तूने अपने 'पोइटिक्स'में कथावस्तु (प्लाट)को नाटकका प्रथम तत्त्व माना है। कथावस्तुमे प्रारम्भ, मध्य और अन्त होता है। प्रारम्भमें आगे होनेवाला कार्य संन्निहित रहता है, मध्यमें विगत तथा भावी कार्यकी संन्निहिति मानी जाती है और अन्त पिछली धटनाओंकी परिसमाप्तिमें देखा जाता है। कथावस्तुकी अन्विति विभिन्न घटनाओं उचित सम्बन्धों द्वारा सम्पन्न होती है। रोमन नाटकों के प्रभावके कारण नाटकों में समय, स्थान और कार्यकी अन्वितियों पर विशेष जोर दिया जाने लगा, पर कालन्तरमे नाटककारों को यह बन्धन स्वीकार नहीं हुआ। मोल्टनने एक स्थानपर लिखा है कि इन अन्वितियों की चर्चा पुरानी पड गयी है। फिर तो नाटक शास्त्रीय बन्धनों की चिन्तासे प्रायः मुक्त हो गये। लेकिन आज भी नाटकीय कथावस्तुके लिए आवश्यक है कि मनोवैशानिक दृष्टिसे आधारभूत अन्वितिको बनाये रखे। —व० सि० कथाविच्छेद-वक्रता –दे० 'प्रबन्धवक्रता', तीसरा नियामक। कथासाम्य-वक्रता –दे० 'प्रबन्धवक्रता', छठा नियामक। कथास्त्र ने० 'थीम'।

कथित पद-दे० 'शब्द-दोष', छठा 'वाक्य दोष'।

कथोद्धात – रूपककी प्रस्तावनामे जहाँ कोई नाटकीय पात्र सूत्रधारके वाक्य या वाक्यार्थको अपनी उक्तिमे प्रयुक्त करता हुआ **रंगमंच**पर प्रवेश करता है, वहाँ कथोद्धात होता है। उदाहरणार्थ, संस्कृतके 'वेणीसंहार'में सूत्रधारने ज्यों ही 'निर्वाणित्यादि' पढा त्यों ही क्रोधमे भरे भीमसेन 'आह दुरात्मन्' कहते हुए आ धमके। कथोपकथन, कथनोपकथन-कथासाहित्य और नाटक-का एक तत्त्व, जो पात्रोंको जीवन्त रूपमे स्थित करते हुए उनकी प्रकृतिको प्रत्यक्ष रूपमे प्रकट करता है। यह कार्य कथोपकथन, संलाप या वार्तालापमें प्रयुक्त शब्दोंसे ही नहीं, उनके स्वराघात या लहजे, लय और प्रवाह, शैली, अन्रंजकता और अलंकरण, सभीके सम्मिलित प्रभावसे सम्पन्न होता है। कथोपकथनके द्वारा ही विभिन्न पात्रोंमें एक-दूसरेके विरुद्ध सन्तुलन पैदा होता है तथा प्रत्येकके चरित्रचित्रणमें परिपूर्णता आती है। यह सही है कि साहित्यमें प्रयुक्त वार्तालाप शब्दशः जीवनसे नहीं लिया जाता, परन्तु वह कार्य-व्यापारको वास्तविकता अवस्य प्रदान करता है। साथही, मूलभूत संघर्षसे उदय होकर वह उसे अग्रसर करता है और इस प्रकार कार्य-च्यापारको विकसित करता चलता है। कथोपकथनमें वर्तमान कालका

विविधता, विश्रान्ति और स्वाभाविकताकी वृद्धि होती है।
नाटकमें कथोपकथनका प्रयोग अधिक परम्पराभुक्त
रूपमें होता है। नाटकमें अभी कुछ दिनो पहलेतक पद्यका
ही प्रभुत्व था और पात्रोंका वार्तालाप भी पूर्ण रूपमें या
कमसे कम आंशिक रूपमें पद्यबद्ध तथा काव्यमय हुआ
करता था। बीसवी शतीके गद्यके युगमे भी नाटकके कथोपकथन वास्तविक जीवनकी तुल्नामें कहीं अधिक लम्बे,
सुधरे और सन्तुलित होते हैं। उनमें वाक्वातुर्य और वचनविदग्धताका सावधानीसे समावेश किया जाता है। नाटकमें
कभी-कभी अधिक अलंकृत भाषाका भी प्रयोग होता है तथा
कुछ नाटककार पात्रानुकूल भाषाका प्रयोग न करके सभी
पात्रोंसे एक ही प्रकारकी परिमार्जित शैलीमें वार्तालाप कराते
हैं। कुछ नाटक विवादप्रधान कहे जा सकते हैं, क्योंकि

प्रयोग होता है, जिसके कारण कार्य अत्यन्त निकट, आँखोंके

सामने तीव्र गति और गहनताके साथ घटित होता हुआ

जान पडता है तथा साहित्यमें इसके द्वारा कहीं अधिक

उनमे कार्यकी न्यूनता होती है और कथोपकथनमे ही नाटकका समस्त चमत्कार सीमित होता है। परन्तु अधिकांश प्रभावशाली नाटकोंमे कथोपकथन न केवल पात्रानुकूल होता है, वरन् रंगमंचपर उपस्थित किये गये शारीरिक कार्य-च्यापारकी अपेक्षा नाटकीय संघर्षको प्रगति देनेमें कही अधिक सहायक होता है (दे० 'उप-न्यास')।

कदलीदेश - दे० 'कजरीवन'। कदलीवन - दे० 'कजरीवन'।

कनक कलश-सन्तोने सहस्रारके लिए कनक कलश शब्दका ब्यवहार किया है। कुण्डलिनी रूपी नदी इसी कनक कलश-में जाकर समा जाती है—''एक बिरख भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ"—कनीर। अर्थात् (शरीररूपी) एक वृक्ष है, जिसके भीतर नदी (कुण्डलिनी) वह रही है, जो कनक कलरा (सहस्रार)मे जाकर लीन हो जाती है। गोरखबानी, सबदी १६९मे इसे कंचन-कॅवल भी कहा कनफटा-गोरखपंथी योगी, जो कानोको फड़वाकर उसमें मिट्टी, धात, हरिणके सीग, बिह्हौर या लकडीकी मुद्रा, अर्थात् कुण्डल पहनते थे। कहते है, जब गोरखनाथने सबसे पहले भर्तृहरिके कानमें कुण्डल पहनाया था तो वह मिट्टी-का बना हुआ था। आज भी कुछ योगी मिट्टीका ही कुण्डल धारण करते है। गोरखपंथी साधु वसन्तपंचमी या किसी भी शुभ दिन कान चिरवाकर मन्त्र-पूत मुद्रा धारण करते है। सम्प्रदायमें दीक्षित होनेवाली विधवाएँ और गृहस्य योगियोकी स्त्रियाँ भी इसे धारण करती है। कान फडवाकर मुद्रा धारण करनेके कारण ही इन्हे 'कनफटा' कहा जाता है। इस मुद्राको 'दरसनी' (दे०) भी कहते है। ब्रिग्स ('गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज', पृ० ६७)ने कनफटा और औघड़ में भेद किया है। उनका कहना है कि योगी जबतक कान चिरवाकर मुद्रा नहीं धारण कर लेते, तबतक औघड रहते है और मुद्रा धारण कर लेनेपर 'कन-फटा' हो जाते हैं। जालन्धरनाथको मत्स्येन्द्र और गोरख-नाथसे भिन्न बतानेके लिए जालन्धरनाथको औषड् बताया गया है और मत्स्येन्द्र-गोरक्षको कनफटा। इससे लगता है कि औघड और कनफटामें कान फडवानेके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं था। कुछ लोग कहते है कि इस प्रथाको मत्स्येन्द्रनाथने चलाया । दूसरोका कहना है कि इसे जाल-न्धरनाथने गोपीचन्द्रकी प्रार्थनापर इसलिए चलाया कि अन्य पंथके योगियोसे इस पंथके योगियोको अलग समझा जा सके। एक तीसरी धारणाके अनुसार इसका प्रवर्तन गोरखनाथके हाथों हुआ है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति'में बताया गया है कि श्रीनाथने यह प्रथा अनिधकारी व्यक्तियो-को पंथमे प्रविष्ट होनेसे रोकनेके लिए चलायी थी, क्योंकि कान फडवानेमे पीड़ा बहुत होती थी। सम्भवतः यह कन-फटा योगियोकी हठ-साधनाकी प्रथम महत्त्वपूर्ण दीक्षा है।

कान फाड़कर मुद्रा धारण करनेकी प्रथा मत्स्येन्द्र या गोरखनाथने ही चलायी होगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है, वैसे इस तरहकी मुद्रा धारण करनेके बहुत पुराने प्रमाण मिलते हैं। मद्रासके उत्तरी अरकाट जिलेमे स्थित परशुरामेश्वर मन्दिरमें स्थापित लिंगपर शिवकी एक मूर्ति बनी हुई है, जिसके कानोंमें वैसे ही कुण्डल है, जैसे ये कनफटे योगी धारण करते है। टी० एस० गोपीनाथ राव (इण्डियन एण्टिक्वरी, जिल्द ४०)ने इस लिंगको ईसा सन्की टूसरी-तीसरी शताब्दीका माना है। किंग्सने भी लिखा है कि सालसेटी, एलोरा और एलिफेण्टाकी गुफाओमे शिवकी ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ है, जिनके कानोंने कनफटा योगियोकी तरह ही बड़े-बड़े कुण्डल पहनाये गये है। ये मूर्तियाँ आठवी शताब्दी की है। अतः यह प्रथा काफी पुरानी है। योगि-परम्परासे यह विश्वस किया जाता रहा है कि शिवने अपना सम्पूर्ण वेश ज्यो-का-त्यों मत्स्येन्द्रनाथको दे दिया था। इससे भी स्पष्ट है कि कान फड़वाकर मुद्रा धारण करनेकी प्रथा पुरानी है। कनफटा योगियोंके लिए अनिवार्य प्रतीकके रूपमे इसे मत्स्येन्द्र या गोरखनाथने वादमे चला दिया होगा।

इस बातके बहुत-से प्रमाण मिलते है कि कनफटा योगियोने सोलहवी शताब्दीमे अपना सैनिक संगठन भी तैयार कर लिया या और सिक्खोसे इनका घमासान युद्ध हुआ था। दिनोधर मठकी दीवालोमें शस्त्र फॅकनेके लिए बने हुए निशान इसके प्रमाण है। एच० ए० रोज (ग्लासरी ऑव दि ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स् ऑव द पंजाब एण्ड द नार्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज, जिल्द ३, पृ० १६५)ने लिखा है कि कच्छके योगियोने सोलहवी शताब्दीमें अतीथोको वलपूर्वक कनफटा बनानेका एक भयंकर अभियान चला रखा था। अन्ततः संगठित होकर अतीथोने इनसे लोहा लिया था और इनकी शक्तिको तोड़ दिया था। कवीरदास (वीजक ६९वी रमैनी)ने अस्त्र-शस्त्रका व्यवहार करनेवाले इन योगियोंकी 'गफिलाई' पर करारी चोट की है।

[सहायक ग्रन्थ—हजारीप्रसाद द्विवेदी: नाथ सम्प्र-दाय] —रा० सिं०

कन्नड (भाषा तथा साहित्य)—जनश्रुतिके अनुसार दिक्षण भारतकी भाषाएँ पंचद्राविड' भाषाएँ कहलाती है। ये पांच भाषाएँ हैं—तिमल, कन्नड, तेलुगु, मलयालम तथा तुल्ज । प्रथम चारों भाषाएँ समृद्ध साहित्यिक भाषाएँ हैं, जिनकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ है। ग्राम्य गीतोको अतिरिक्त तुल्ज-का न अपना कोई साहित्य है, न कोई लिपि ही। यह कन्नडकी ही एक पृष्ट बोली है, जो दिक्षण कन्नडके अधिकां होमें बोली जाती है।

तुलु के अतिरिक्त कन्नडभी अन्य बोलियाँ है कोडगु, तोड, कोट, बडग । कोडगु तुलु के अति निकट है और कोडगु अथवा क्र्ममे बोली जाती है। क्र्म वर्तमान मैसूर राज्यका सबसे छोटा जिला है। तोड, कोट और बडग ये तीनों बोलियाँ नीलिगिरिभी तीन अलग-अलग पहाड़ी जातियोमे बोली जाती हैं, जो अब भी बहुत अविकसित अवस्थामे पड़ी हुई है। नीलिगिरि मद्राम राज्यके अन्तर्गत है।

कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द अति प्राचीन प्रत्थोमें समानार्थमे प्रयुक्त हुए है। महाभारतमें कर्नाट शब्दका प्रयोग कई बार हुआ है (कर्नाटकाश्च कुटाश्च पश्चजालाः सतीनराः; समापर्व, ७८, ९४; कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा; भीष्मपर्व ५८-५९)। दूसरी शताब्दी-

में किखे हुए तिमल 'शिल्पिदिकार' नामक काल्यमें कन्नड भाषा बोलनेवालोका नाम 'करुनाडर' बताया गया है। वराहमिधिरके 'वृहत्संहिता', सोमदेवके 'क्यासिरत्सागर', गुणाट्यके पैशाची 'बृहत्कथा' आदि मन्थोंमें भी 'कर्नाट' शब्दका बराबर उल्लेख मिलता है।

यद्यपि कन्नड भाषा महाभारत-रामायण कालमें भी बोली जाती थी तो भी ईसाके पूर्व लिखा हुआ कन्नडका न कोई ग्रन्थ मिलता है, न कोई शिलालेख ही। कर्नाटकमें अवतक प्राप्त शिलालेखों ने वेल्ररके पास हिल्मिड नामक गाँवमे प्राप्त शिलालेख ही एक ऐसी चीज है, जिसमें कन्नडके गचका सर्वप्रथम दर्शन होता है। यह शिलालेख सन् ४५० ई०में लिखा माना जाता है। सातवीं शताब्दीमें लिखे गये वादामि (बीजापुर जिलेका एक गाँव) और श्रवण-वेगोलके शिलालेखोंसे कन्नडकी सुन्दर पद्यरचनाका परिचय मिलता है (कन्नड साहित्य: प्रो० के० वेंकटरामण्या, पृष्ठ १, ३)।

यद्यपि उपर्युक्त शिलालेखों के आधारपर यह बताया जा सकता है कि कन्नडमें ईसाकी सातर्या शताब्दीके पहले ही गद्य-पद्यकी रचना हुआ करती थी तो भी नवी शताब्दीके पहलेका कोई मन्थ अवतक प्राप्त नही हो सका है। अवतक प्राप्त रचनाओमें सबसे प्राचीन मन्थ है 'कविराजमार्ग'। यह रीति-मन्थ है, जो दण्डीके 'काव्यादर्श'पर आधारित है। इसका रचनाकाल सन् ८१५-८७७के बीचका माना जाता है। इस बातमे विद्वानोंमें मतभेद है कि इसके रचिता मान्यखेटके राष्ट्रकृट चक्रवर्ती स्वयं नृपतुंग थे या उनके कोई दरवारी कि । प्रो० मुगलि-का यह निश्चित मत है कि नृपतुङ्ग इसके लेखक नही थे। उनका अनुमान है कि इसके लेखक नृपतुंगके दरवारी कि श्रीविजय थे (कन्नड साहित्य चरिने: प्रो० आर० एस० मुगलि, पृष्ट ५२)।

कन्नड और कर्नाटक शब्दोकी व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत एक नहीं है। कन्नडमें 'नाडु'का अर्थ है देश। कुछ विद्वानोंका विचार है कर्नाट शब्द 'करु + नाडु'से निकला है। करुनाडुका अर्थ होता है काली मिट्टीका प्रदेश। कुछ वैयाकरणोका मत है कि 'कन्नड' शब्द संस्कृत शब्द 'कर्णाट'का तद्भव रूप है और कुछ लोगोकी राय है कि कम्पितु + नाडु, अर्थात् सुगन्धित देशसे कन्नाडु और 'कन्नाडु'से 'कन्नड' बना है। इसके अनुसार सुगन्धित देशमें बोली जानेवाली भाषा 'कन्नड' है। कर्नाटकमें चन्दन खूब मिलता है, इसलिए सम्भव है कि ऐसा नाम पड़ा हो।

कर्नाटक शब्द अंग्रेजीमें विगडकर 'कर्नाटिक' (karnatic) अथवा 'केनरा' (kanara) हो गया है और 'केनरा'से भाषाका नाम 'केनरीस' (kanarese) एड गया है। हिन्दीमें 'कन्नड', 'कनाडी' तथा 'केनरा', 'कनारी' भी हो गये है। आजकल कन्नड और कर्नाटकका प्रयोग कमशः भाषा और प्रदेशके लिए होता है।

चारों द्राविड भाषाओंकी अपनी-अपनी पृथक् लिपियाँ हैं, जिनमें कन्नड और तेलुगुकी लिपियाँ करीब-करीब एक ही हैं। इन दोनोमें जो कुछ अन्तर है, वह नाममात्रका है। यद्यपि विद्वानोंने यह स्वीकार किया है कि इन चारों भाषाओकी लिपियोंका विकास प्राचीन ब्राह्मी लिपियोकी दक्षिण शाखासे हुआ है तो भी कन्नड और तेलुगुकी लिपियों देवनागरी लिपियोंसे जितनी मिलती-जुलती है, उतनी तमिलकी लिपियोंसे नहीं। तेरहवी शताब्दीके पूर्व लिखे गये तेलुगु शिलालेखोंके आधारपर यह बताया जाता है कि तबतक तेलुगु और कन्नडकी लिपियाँ एक ही थी।

वर्तमान कन्नडकी लिपियों बनावटकी दृष्टिसे देवनागरी लिपियोंसे भिन्न दिखाई देती है, किन्तु दोनोंके ध्वनि-समूहमे अधिक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कन्नडमे रवरोंके अन्तर्गत 'ए' और 'ओ'के इस्व रूप और व्यंजनोंके अन्तर्गत वर्त्स्य 'ल'के साथ-साथ मूर्धन्य 'ल' वर्ण पाये जाते है। बाकी वर्ण देवनागरीके समान है।

अवतक कन्नड साहित्यके इतिहासपर जितने छोटे-बडे ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनका अवलोकन करनेसे यही मालूम होता है कि काल-विभाजनके सम्बन्धमें विद्वानोंका एक मत नहीं है। स्वीधिक मान्य काल-विभाजन प्रो० मुगलि-का है। (१) पम्पपूर्वयुग (सन् ९५० तक), (२) पम्पयुग (सन् ९५० से ११५०तक), (३), बसवयुग (सन् ११५०से सन् १५००तक), (४) कुमारव्यास युग (सन् १५०० से १९०० तक) और (५) आधुनिक युग (सन् १९०० से)।

(१) 'कविराजमार्ग' इस युगका सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ यन्थ है। यह माना जाता है कि इसकी रचना सन् ८१५-८७७के बीचमें हुई थी। प्रतीति यह है मान्यखेटके राष्ट्रकृट चक्रवतीं नृपतुंगने इसे लिखा था, किन्तु आधुनिक विद्वानोंने इसपर सन्देह प्रकट किया है। प्रो० मुगिल-का यह निश्चित मत है कि राजा नृपतुंग इसके लेखक नहीं थे। उनका अनुमान है कि नृपतुंगके दरवारी कि शिविजयने इसे रचा था।

इस कालका दूसरा ग्रन्थ है 'बड्डाराधने', जिसमें १९ जैन महापुरुषोंकी कहानियाँ गद्यमें निरूपित है। इसके लेखक और रचना-कालके सम्बन्धमे मतभेद है। यही समझा जाता है कि शिवकोट्याचार्य नामक जैन किन हसे सन् ९००-१०७०के बीचमे रचा था। यद्यपि इसकी रचना प्राकृतकी 'भगवती आराधना' नामक श्रन्थके आधारपर हुई है तो भी इसमें उत्तम काव्य सौन्दर्यकी छिब मिलती है। इस श्रन्थकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमे कन्नडके गद्यका सर्वप्रथम रूप प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दो रचनाओं के अतिरिक्त अवतक दूसरा कोई प्रनथ प्राप्त नहीं हुआ है। इस कालमें असग, गुणनन्दी, गुणवर्मा आदि कवि दुए है, इसका उल्लेख कुछ परवर्ती कवियोंने अपनी रचनाओंमें किया है, लेकिन किसी भी कविकी कोई कृति उपलब्ध नहीं हुई है।

(२) कन्नड साहित्यके इतिहासमे पम्पका काल महत्त्व-पूर्ण युग है, जो स्वर्णयुगके नामसे भी प्रसिद्ध है। इस कालका दूसरा नाम है 'जैन युग', क्योंकि इस अविधमें कन्नड साहित्यकी श्रीष्टुडि करनेवालोंमें जैनमतावलम्बी कवियोंका विशेष हाथ रहा। इन जैन कवियोंमे प्रत्येकने प्रधानतया दो प्रकारके काव्य रचे—एक जैन धर्म सम्बन्धी काच्य अथवा धार्मिक काच्य, दूसरा ठौकिक काच्य अथवा भुद्ध काव्य। धार्मिक काव्यकी वस्तु किसी तीर्थकर या महापुरुषकी कहानी होती थी और लौकिक कान्यमें वैदिक धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक काव्योके कथानकोंका चित्रण होता था। इस प्रकार दो-दो ग्रन्थ रचनेका उद्देश्य एक ओर जैन-धर्मके तत्त्वोका प्रचार करना था और दूसरी ओर लोकप्रिय संस्कृतके महाकान्योंका कन्नडमें प्रतिरूप प्रस्तुत करके लोगोंको अपने धर्मकी ओर आक्षित करना था। यद्यपि जैन कवियोका मुख्य उद्देश्य अपने धर्मका प्रचार करना ही था तो भी उनके रचे हुए काव्योमे साहित्यिक सौष्ठवकी कमी नहीं है। ये जैन कवि संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओंके विद्वान् थे, साहित्यशास्त्र-के मर्मज्ञ थे और प्रतिभासम्पन्न कवि भी। इन कवियोने आवश्यक परिवर्तनके साथ पौराणिक कथानकोको अपने धर्मके अनुकूल अवश्य बनाया, किन्तु उनकी मौलिकताको नष्ट न होने देकर रोचकताको बनाये रखा। जैन कवियोंकी रचनाओंसे कन्नड भाषा और साहित्यका बडा उपकार हुआ। पहले-पहल कन्नड भाषाभाषियोको संस्कृतके महाकान्योका रसास्वादन करनेका अवसर मिला। समृद्ध संस्कृत भापाके सम्पर्कमे आनेके कारण कन्नडका शब्दभण्डार बढा और अभिन्यंजनाशक्ति विकसित हुई। इसके अतिरिक्त संस्कृत-की कान्यरौलियोंका कर्नाटकमें प्रचार ही नहीं हुआ, वरन् कन्नड और संस्कृत-शैलियोमे समन्वय भी हुआ। इस अवधिमें चम्पू-काव्य-शैलीका विशेष प्रचार हुआ। इस समयके धार्मिक कान्योंमें अदभुत तथा शान्त और लौकिक कान्योमे वीर तथा रौद्र रसोंकी विशेष रूपसे अभिन्यंजना हुई। उपर्युक्त दो प्रकारके कान्योंके अतिरिक्त छन्द, रस, अलंकार, न्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विभिन्न विषयों पर भी अन्य रचे गये। इस प्रकार इस युगमें कन्नड साहित्यकी सर्वतोमुखी उन्नति हुई।

इस युगके प्रमुख कि तीन थे—पम्प, पोन्न तथा रन्न, जो 'रलन्नथी'के नामसे प्रसिद्ध है। महाकि पम्प अथवा आदि पम्पने दो कान्य रचे—'आदि पुराण' और 'विक्रमा-र्जुन-विजय' अथवा 'पम्प-भारत'। 'आदि पुराण'में जिन-सेनाचार्यकृत संस्कृत पूर्वपुराणके आधारपर प्रथम तीर्थकर दृपमनाथका जीवन-चरित्र चित्रित किया गया है और 'विक्रमार्जुन-विजय'मे महाभारतके कथानकका निरूपण किया गया है। ये दोनो चम्पूकान्य है। पम्प कन्नडके आदि किव माने जाते है। इनका जन्म सन् १०२ ई०मे हुआ था।

पोन्न पम्पने समकालीन थे। इन्होंने तीन ग्रन्थ रचे थे— 'शान्तिपुराण', 'जिनाक्षरमाला' तथा 'भुवनैकरामाभ्युदय'। अन्तिम ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। रन्नकी मुख्य रचनाएँ दो ही है—'अजिन पुराण' तथा 'साहस मीम-विजय' अथवा 'गदायुद्ध'। गदायुद्धके नायक भीम है। गदायुद्धमे भीम जैसे पात्रके द्वारा वीर रसकी अनुठी व्यंजना हुई है। इसी काव्यसे रन्नकी कीर्ति अचल हुई है।

पम्प-युगके अन्य कवियोमे चाउण्डराय, नागवर्म (प्रथम), दुर्गिसिह, चन्द्रराज, नागचन्द्र, नागवर्म (द्वितीय) आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। चाउण्डरायका चाउण्डराय- पुराण' प्राचीन कन्नड गणका एक सुन्दर नमूना है प्रचार वर्म (प्रथम)के दो अन्थ प्राप्त हुए है—'कर्नाटक क तथा 'छन्दोबुधि'। 'कर्नाटक काद म्वर्ग' वाणकी काद ने भी कन्नड प्रतिरूप है। इसकी दौली है चम्पू। प्रो॰ मुग्मन्थोन्मत है कि कन्नड में अनुवादित जितने अन्थ है, उनमे ना जा (प्रथम)की 'कर्नाटक काद म्वरी' सर्वश्रेष्ठ है (कन्नड संवर्तां चित्रेन, पृष्ठ ११७)। चन्द्रराज और श्रीधराचार्य नार्णिक (प्रथम)के समकालीन कवि है। चन्द्रराजका कामशाः का लिखा हुआ 'मदनतिलक' नामक अन्थ और श्रीधराचारि 'जातकिलक' नामक ज्योतिप अन्थ, दोनों उत्तम हर्ति । हे । इसी कालमें दुर्गिसहने, जो भागवत सम्प्रदायके कि थे, संस्कृत 'पंचतंत्र'का अनुवाद प्रस्तुत किया, जो बहुत ही लोकप्रिय हुआ।

ग्यारहवी और बारहवी शताब्दियोंके बीचमें दूसरे एक प्रसिद्ध कि हुए, जिनका नाम था नागचन्द्र । चूँकि इन्होंने 'पग्पमारत'का अनुकरण करते हुए रामायणकी रचना की, इसलिए इनका दूसरा नाम अभिनव पम्प पडा । नागचन्द्रने भी पूर्ववर्ती जैन कवियोंकी भाँति दो काव्य रचे—'मिल्लिनाथ-पुराण' तथा 'रामचन्द्र-चरित पुराण' अथवा 'पम्परामायण' । 'पम्परामायण' ही कन्नडके उपलब्ध रामकथा सम्बन्धी का ब्लीमें सबसे प्राचीन है ।

पम्प-युगमें महाकवियोका आविर्माव हुआ और उन्होंने अपनी महान् कृतियों से कन्नडको समृद्ध बनाया। इसिलए इसका नाम स्वर्णयुग पड़ा। यद्यि इस कालमे बड़े-बड़े कलात्मक प्रौढ कान्यों का निर्माण हुआ तो भी समाजके साधारण लोगों के जीवनके साथ साहित्यका सम्पर्क नहीं रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समयके किव राजाओं के आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखने थे, या तो अपने आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखने थे, या तो अपने आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखने थे, या तो अपने आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखने थे, या तो अपने आश्रयमें रहते थे और वे जो कुछ लिखने थे, या त्रवारके अन्य पण्डितों के बीचमें वाहवाही लूटने के लिए या अपने धर्मका प्रचार करने के हेतु। इसका परिणाम यह हुआ कि न बोलचालकी भाषा साहित्यके सर्जनके लिए उपयुक्त समझी गयी, न कन्नडके देशी छन्दों का प्रयोग किया गया। सर्वत्र संस्कृतका प्रभाव पड़ा। चम्पू-शैलों जो प्रौढ कान्य रचे गये, वे साधारण जनताकी वस्तुएँ न हो कर पण्डितों तक ही सीमित रहे।

(३) बारहवी शताब्दीके उत्तराधेंसे पन्द्रहवीं शताब्दीतकका काल बसवयुग कहलाता है। इस युगका दूसरा
नाम है 'क्रान्तियुग'। इस समय कर्नाटकमे बड़ी क्रान्ति
मची। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आदि
ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा, जो इस क्रान्तिसे अछूता रह
सका। इस क्रान्तिके उन्नायक थे बसव, बसवण्ण अथवा
बसवेश्वर । इसीलिए इस युगका नाम 'बसवयुग' रखा
गया है, जो सार्थक कहा जायगा।

इस कालकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संस्कृतिनिष्ठ कन्नडके स्थानपर बोलचालकी कन्नड, साहित्यके निर्माणके लिए उपयुक्त समझी गयी और संस्कृतकी काव्य-शैलोके बदले देशी छन्दोंको विशेष प्रोत्साहन दिया गया। क्रिक्ति शताबिद्योंमे जैन मतावलिद्योंका साहित्य-क्षेत्र स्थितिको धिकार था। इस युगमे मिन्न-भिन्न मतावलिद्योंने निर्मे शिकार था। इस युगमे मिन्न-भिन्न मतावलिद्योंने

में लिखे हुंम योग दिया। और एक महत्त्वपूर्ण विषय यह था कि भाषा वोल्यकी श्रीवृद्धिमें भक्ति एक प्रवल प्रेरक शक्तिके रूपमें वराहिमिहिक हुई।

गुणाढ्यभेद्यपि इस कालमे अन्यान्य धर्मावलम्बियोने साहित्यकी इाब्दका की, तो भी कन्नट साहित्यमे एक क्रान्तिकारी नृतन

यद्यभि निर्माणमे वीरशैव भक्तों तथा उनके अनुयायियोका बोली कोष हाथ रहा । वारहवी शताब्दीके उत्तरार्धमे बसवेश्वर-कोई म आविर्माग हुआ। उन्होंने वीर शैव मतका पुनः संघटन अवतक्कों कर्नाटकके धामिक एवं सामाजिक जीवनमे बडी उथल-गाँवमें थल मचायो। वसव तथा उनके अनुयायियोने अपने मतके

प्रचारके लिए बोलचालकी कन्नडको माध्यम बनाया। वीरशैव भक्तोने भक्ति, ज्ञान, वैराभ्य, सदाचार, नीतिपर निराडम्बर शैलीमें अपने अनुभवकी बातें सुनायी, जो 'वचन'-साहित्यके नामसे प्रसिद्ध हुई। इन वीरशैव भक्तों अथवा शिवशरणोंके वचन एक प्रकारके गद्यगीत है, जिनमे न किन्ही छन्दोका प्रयोग हुआ है, न किसी कान्यशैलीका अनुकरण किया गया है। यद्यपि इन वचनोंका निर्माण करते समय किसी नियमका पालन नहीं किया गया है, तो भी इनमें अपनी ही एक लय है, माधुर्य है और है आकर्षण भी। शिवशरणोने साहित्यके लिए साहित्य नही रचा । उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारोंका प्रचार करना ही था। उनके विचारोंमे सरलता थी, सचाई थी और थी सच्चे जिज्ञासकी रसमग्नता। इसलिए उनकी वाणीमे साहित्यक सौष्टव अपने-आप आ गया। इन शिवशरणोके वचनोने कर्नाटकभे वहीं कार्य किया, जो कबीर तथा उनके अनुयायियोने उत्तर भारतमे किया।

बसव एक मतप्रवर्तक ही नहीं थे, वरन् उच्च कोटिके भक्त, विचारक और समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने भक्तिका उपदेश दिया और इस भक्तिकी साधनामे वैदिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, जाति-पॉतिका भेद-भाव, अवतारवाद, अन्धश्रद्धा आदिको बाधक ठहराया। जातिरहित, वर्णरहित, वर्णरहित समाजके निर्माण द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक साधनाका मार्ग सर्वसुलभ बनाना चाहा। बसवके असाधारण व्यक्तित्वका प्रभाव कर्नाटकमे ही नहीं, प्रत्युत दक्षिणापथके विशाल भू-भागपर भी पडा।

इन बचनकार शिवशरणोंके अतिरिक्त वीरशैव मताव-छम्बी बहुतसे ऐसे कवि हुए, जिन्होंने भक्तिभावप्रधान नाना प्रकारके काव्य-ग्रन्थ देशी छन्दोंका प्रयोग करते हुए. प्रस्तुत किये। बारहवी और तेरहवी शताब्दियोंके बीचमें तीन श्रेष्ठ कवि हुए। वे थे हरिहर, राधवांक और पद्मरस।

वीरशैव भक्तों तथा कवियोंके अतिरिक्त इस कालमें अनेक जैन एवं ब्राह्मण कवियोंने भी नाना देशी छन्दोंमें विभिन्न विषयोंपर कान्योंका निर्माण करके कन्नड साहित्यकी वृद्धिमे योग दिया। जैन कवियोंमें नेमिचन्द्र, वन्धुवर्मा, जन्न, अण्डप्पा, मिलकार्जुन, केशिराज, रट्टकवि, कुमुदेन्दु मुनिके नाम उल्लेखनीय हैं।

बारहवी शताब्दीके उत्तराईमें वीरशैव सम्प्रदाय
क्रिक्मे चरम उत्कर्षको पहुँचा और जैन धर्म राजाश्रयसे
हो हैं। इन्होकर प्रभावरहित होने छगा। तेरहवी शताब्दीमे
यद्यपि विद्वी धार्मिक स्थितिमे फिरसे उथछ-पुथछ हुई। एक

ओरसे कर्नाटक रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित श्रीवेष्णव सम्प्रदायमे प्रभावित हुआ ओर दृसरी ओरमे उसमे मध्याचार्यके द्वेत मतको भक्तिकी नथी लहर चली । इन दोनों वेष्णव सम्प्रदायों द्वारा चलार्था गयी भक्तिथारामे कन्नड साहित्यमे नृतन द्यक्तिका संचार हुआ। परिणामस्वरूप पौराणिक महाबाक्योंके कथानकोका कन्नउमे नये सिरेमं विद्युद्ध मूल रूपमें निरूपण हुआ।

(४) पन्द्रह्वा शतार्ब्याने उन्नीसवीं शतार्ब्याके अन्ततकः का काल कुमारव्यास-युग कहलाता है। इस अविधिमे विजयनगरके सम्राटों तथा मैस्र्रके राजाओंने कन्नट साहित्य की श्रीवृद्धिमे विशेष हाथ बंटाया। बैण्णव धर्मकी प्रतिष्ठा वढी, जिसकी प्रतिक्रिया कन्नट साहित्यमें दिखाई पडी। वैण्णव धर्म द्वारा प्रचारित मक्ति, साहित्य-मर्जनमे, प्रेरक शक्तिके रूपमें प्रकट हुई। फल्टतः वैण्णव भक्तों तथा कवियोंने जैन तथा वीरशैव मतावलम्भी कवियोको साहित्य-निर्माण-क्षेत्रमे मात ही कर दिया। साहित्य जनताके अति निकट सम्पर्कमें आया। इस कालके सर्वश्रेष्ठ कवि नार्णप्प (नारणप्प) है, जो अपनी लोकप्रियताके कारण कुमारव्यासके अभिधानसे प्रख्यात हुए। कुमारव्यास भागवत सम्प्रदायके प्रमुख कवि थे।

नार्णप अथवा कुमारब्यासकी जन्मतिथि, जन्मस्थान तथा उनके रचनाकालके सम्बन्धमें विद्वानोंमे मतभेद है। प्रो० मुगलि-के अनुसार चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियों- के बीचमें कुमारब्यास जीवित थे। कुमारब्यासने 'कन्नट भारत' अथवा 'गदुगिन भारत' और 'ऐरावत' नामक दो काव्य लिखे थे, ऐसा माना जाता है। लेकिन 'ऐरावत' के उनकी कृति होनेमें सन्देह प्रकट किया गया है। 'कन्नट भारत'में व्यासरचित महाभारतके प्रथम दस पवाँकी कथानका निरूपण किया गया है। यद्यपि पम्पने अपने 'पम्पभारत' द्वारा भारतकी सारी कथान कन्नड प्रतिरूप किया गया है। यद्यपि पम्पने अपने 'पम्पभारत' द्वारा भारतकी सारी कथान कन्नड प्रतिरूप किया गया है। व्यापि पम्पने अपने 'पम्पभारत' द्वारा भारतकी सारी कथान कन्नड भारत'की तरह लोकप्रिय नहीं हो सका। इसके दो कारण है—एक यह है कि 'पम्प भारत'में पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति अधिक थी, दूसरा यह कि उसमे जैन धर्मका रंग चढा था। कुमारव्यासका 'कन्नड भारत' इन बुटियोंसे मुक्त है।

कुमारन्यासके 'कन्नड भारत'के उपरान्त भारत, रामायण, भागवतके कथानकोंके आधारपर बहुतसे उत्तम कान्य 'षट्पदि'-शैलीमें प्रस्तुत किये गये। कुमारन्यासके बताये मार्गपर चलकर नरहिर अथवा कुमारन्यासके नामक किवने वाल्मीकि-रामायणके आधारपर कन्नडमें 'तोरवेरामायण'की रचना की। यह भी भक्तिप्रधान प्रबन्धकान्य है, जो प्राचीन कन्नडकी एक उत्तम कलाकृति है। भागवत मतावलम्बी किवयोमे तिम्मण्ण किव, चाडुबिट्ठलनाथ, लक्ष्मीश, नागरसके नाम उल्लेखनीय है। कुमारन्याससे प्ररणा पाकर तिम्मण्ण किवने महाभारतके अन्तिम आठ पर्वोकी कथाका निरूपण 'कृष्णराज-भारत' नामक अपने कान्यमें किया। सबसे पहली बार समग्र भागवतका कन्नड पद्मानुवाद चाडुविट्ठलनाथ नामक भागवत किवने प्रस्तुत किया। लगभग इसी कालमें एक बड़े प्रतिभासम्पन्न किव हुए, जिनका नाम था लक्ष्मीश। इनका लिखा हुआ

'जैिमिनि-भारत' एक अनुपम काव्य है। जिसमें भारतके कितपय रोचक प्रसंगोंका सुन्दर एव मर्मस्पशीं वर्णन किया गया है। कोकप्रियनाकी दृष्टिने कर्नाटकमे कुमारव्यासके भारतके बाद 'जैिमिनि-भारत'का स्थान है। कि रह्मपृत्ते 'जगन्नाथिवजय' द्वारा संस्कृतके वेण्णव काव्योका कन्नट प्रतिरूप प्रस्तुत करनेकी जो परम्परा चळायी थी, एक प्रकारसे नागरस नामक किने अपने 'वासुदेवकथामृतसार' नामक भगवद्गीताके कन्नट पद्यानुवाद द्वारा उसकी पूर्ति की।

जिस प्रकार इस अवधिमें कुमारव्यास, कुमार वाल्मीकि, लक्ष्मीश जैसे भागवत सम्प्रदायके कवियोने भारत, रामा-यण, भागवत आदि महाकान्योसे कथावस्तुएँ लेकर कन्नडमें भक्तिप्रधान प्रवन्धकान्योका प्रणयन किया, उसी प्रकार माध्वमतावलम्बी भक्तोंने बोलचालकी कन्नडमें गीत, भजन, कीर्तन रचकर भक्तिका सन्देश कर्नाटकके घर-घरमें पहुँचाया। जैसा कि ऊपर वताया गया है, इन भक्तोकी परम्पराका आरम्भ तेरहवीं शताब्दीमें नरहरितीर्थं द्वारा हुआ था। इस समय इन भक्तोंकी एक वडी मण्डली जुट गयी थी, जो प्रधानतया दो भागोमें विभाजित थी। एक दलका नाम था 'व्यासकृट' और दूसरेका 'दासकृट'। इन दोनों में अन्तर यही था कि वे भक्त व्यासकूटके कहलाते थे, जो अधिकांदा ब्राह्मण थे और जो अपने विचारोंकी अभि-व्यक्तिके लिए संस्कृतको ही उपयुक्त समझते थे एवं वे भक्त दासकृटके माने जाते थे, जिनमे सभी जातियोंके लोग सम्मिलित थे और जो कन्नडके माध्यमसे भजन, कीर्तन रचते थे। सम्प्रदायकी तत्त्व सम्बन्धी बातोंमें 'व्यासकूट' और 'दासकट'के भक्तोंमें कोई अन्तर नहीं था। इन दोनों दलोंके भक्त कर्नाटकमे हरिदासके नामसे प्रसिद्ध है। इन हरिदासोंने भक्ति, ज्ञान, सदाचार, नीति, प्रेम, लोकव्य-बहार आदि नाना विषयोपर सरस, किन्तु व्याकरणबद्ध कन्नडमे हजारों-लाखों पद रचकर कन्नड साहित्यका भण्डार भरा । हरिदासोंकी परम्परा तेरहवी शताब्दीसे अठारहवी शताब्दीतक चलती है। हरिदासोंके गीतोंका कन्नडभाषी जनतापर गहरा और व्यापक प्रभाव पडा है।

सत्रहवी शताब्दीमे मैस्रके राजा चिक्कदेवरायके आश्रय-में रहते हुए कतिपय वैष्णव किवयोंने उत्तम काव्योंका निर्माण किया। इन किवयोंमे तिरुमलार्य, चिकुपाध्याय, सिंगरार्य, होन्नम्मा, हेलवन कट्टे गिरियम्मा, महा लिगरंग आदिके नाम उल्लेखनीय है। इसी समय पहली बार श्रीवैष्णव सम्प्रदायका प्रभाव कन्नड साहित्यपर प्रत्यक्ष रूपमें दिखाई पड़ा। 'चिकदेवराय विन्नप' तथा 'गीतगो-पाल' नामक अपनी रचनाओंमें तिरुमलार्यने श्रीवैष्णव सम्प्रदायके साथ-साथ ऐकांतिक भक्तिका निरूपण किया है। 'हदिबदेयधर्म' होन्नम्माका एक सुन्दर काव्य है, जिसमें सतीधर्म (गृहिणी-धर्म)का प्रांजल भाषामें वर्णन किया गया है। महलिगरंग किवके लिखे हुए 'अनुभवामृत'में शंकरके अद्दैत-सिद्धान्तका सार सरस कन्नडमें प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार वैष्णव भक्तों तथा कवियोंने कन्नडके माध्यम-से जनतामें संस्कृतके वैष्णव कार्व्योका कन्नडप्रतिरूप प्रस्तुत करते हुए भागवत धर्ममें प्रतिपादित भक्तिका प्रचार किया है।

इस युगमें बीरशैव मतावलम्बी भक्ती एवं कवियोंने भी नाना प्रकारके अन्य रचकर कन्नडकी सेवा की । इन अन्थेंन का विभाजन प्रतिपादित विषयोंके आधारपर यो किया जा सकता है—(१) नृतन वचनोंका निर्माण और पूर्ववतीं भक्तों के वचनोंकी टीकाएँ, (२) वीरशैव मतके दार्शनिक तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले अन्य, (३) शैव पुराणोंका अनुवाद तथा वीरशैव भक्तोंकी जीवनियोंका वर्णन करनेवाले पुराण, (४) भक्ति तथा नीतिका उपदेश देनेवाले अन्य । इनमें कुछ 'शतक'-शैलीमें भी लिखे गये है । बचन-शैलीके अतिरिक्त कुछ गद्यअन्य भी लिखे गये और सांगत्य, त्रिपदि, वृत्त, चम्पू, गीत आदि छन्दोंका विशेष प्रयोग किया गया। इतनी लम्बी अविधिमें जितने वचनकार हुए, वे इने-गिने ही है।

चिरतकाव्य प्रस्तुत करनेवाले वीरशैव कवियों में चामरस, विरूपाक्ष पण्डित, षडक्षरदेव अग्रगण्य थे। चामरसके लिखे काव्यों में प्रमुलिगलीलें एक श्रेष्ठ चरितकाव्य है। 'प्रमुलिगलीलेंमें अल्लम प्रमुक्ते जीवनवृत्तका विस्तार किया गया है। वीरशैव कवियों में श्रेष्ठ प्रवन्धकाव्य रचनेवालों में हरिहरके बाद चामरसका नाम आदरके साथ लिया जाता है। विरूपाक्ष पण्डितका लिखा हुआ 'चेन्नवसव पुराण' भी एक उत्तम प्रवन्धकाव्य है, जिसमे प्रसिद्ध वीरशैव मक्त चेन्नवस्वकी कहानी कही गयी है। हरिहरके 'वसवराजरगलें तथा चामरसके 'प्रमुलिंगलीलें जैसे चरितकाव्यों में जैसा मतधर्म तथा काव्यधर्मका सुन्दर समन्वय हुआ है, वैसा समन्वय 'चेन्नवसवपुराण'में नहीं हो पाया है। इसे एक धार्मिक ग्रन्थ ही कहना पडता है।

पम्प-युगमे जैन कवियोने अपने श्रेष्ठ प्रवन्धकाव्योंके द्वारा कन्नडमे चम्पूरौलीको अत्यन्त लोकप्रिय बनाया था, लेकिन आगे चलकर इस शैलीका उपयोग कम होता गया कुमारव्यास-युगमें फिरसे यह शैली अपनायी गयी। इसे अपनानेवाले कवि जैन नहीं थे, किन्तु वीरशैव कवि थे। सत्रहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमे षडक्षरदेव नामक एक प्रतिमासम्पन्न वीरशैव कविने चम्पूरौलीमे तीन प्रवन्धकाव्य रचे, जिनके नाम है—'राजशेखरविलास', 'शवरशंकरविलास' तथा 'वृषमेन्द्रविजय'। 'राजशेखरविलास' तथा 'शवररंकर विलास'मे शिवलीलासे सम्बन्ध रखनेवाली कहानियोका वर्णन किया गया है। 'वृषमेन्द्रविजय'की कथावस्तु बसवका जीवनवन्त है।

इस युगमे एक महान् वीरशैव सन्तका अवतार हुआ। उनका असली नाम क्या था इसका कुछ पता नहीं लगा है। इनका साहित्यिक उपनाम 'सर्वद्य' था। इन्होंने 'त्रिपदि' नामक छन्दमे अपनी अमृतवाणी सुनाथी है। प्रत्येक छन्द 'सर्वद्य' शब्दके साथ समाप्त होता है और हिन्दीके दोहेकी तरह स्वतन्त्र अर्थ रखता है।

इस अवधिमें जैन धर्मका प्रभाव छुप्त हो चला था, फिर भी कुछ जैन मतावलम्बी कवियोंने अपनी शक्तिभर कन्नडकी सेवा की। समाजकी बदली हुई परिस्थितिको ध्यानमे रखकर जैन कवियोंने प्रचलित देशी काव्य-शैलियों- में काव्यरचना की। ऐसे कवियोंमें भास्कर, तेरकणांबि बोम्मरस शिशुमायण, तृतीय मंगरस, साल्व किन, रत्नाकर-विणे के नाम उल्लेखनीय है। इनमे रत्नाकरविणे सर्वश्रेष्ठ है, जिनकी कृतियोंमें 'भरतेशवैभव' मुख्य है। प्रथम तीर्थ-क्कर आदिदेवके पुत्र भरत और बाहुवलिके उज्ज्वल चिर्त्रों-का वर्णन ही 'भरतेशवैभव'की कथावस्तु है। पम्प, हरिहर, कुमारव्यास जैसे कन्नडके महाकवियोकी श्रेणीमे रत्नाकर-विणेका नाम भी लिया जाता है।

इस युगकी अन्तिम शताब्दीमे अर्थात् उन्नीसवी शताब्दीमें कुछ अच्छे कि हुए। देवचन्द्र नामक जैन किवने 'रामकथावतार' लिखकर जैन रामायणकी परम्परा-को आगे बढाया। मैस्रके राजा मुम्मुडि कृष्णराज ओडे-यरके दरवारी किवयोमे केम्पुनारायण नथा करिवसवप्प शास्त्रीने संस्कृत एवं अंग्रेजीके कुछ नाटकोका अनुवाद प्रस्तुत करके कन्नडमे नाटक-साहित्यके निर्माणके लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया। कालिदासके 'शाकुन्तल' आदि नाटकोका बसवप्प शास्त्रीने इतनी सफलतासे अनु-वाद किया कि ये अभिनव कालिदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। केंपु नारायणने 'मुद्राराक्षस' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। नंदवंशकी कहानी इसकी कथावस्तु है, जिसपर मुद्राराक्षसका प्रभाव लक्षित होता है। यही कन्नडका सर्वप्रथम उपन्यास है। इसमें प्रयुक्त गद्यका कन्नड साहित्यमे विशिष्ट स्थान है।

उन्नीसवी शताब्दीके अन्तमें मुद्दण नामक एक सफल किव हुए, जिन्होंने तीन सरस काव्य लिखे—'अद्भुतरामायण', 'रामपट्टाभिषेक' और 'रामादवमेध'। 'अद्भुतरामायण' और 'रामादवमेध' दोनों गद्यग्रन्थ है और 'रामपट्टाभिषेक' षट्पदि-शैलीमे लिखा हुआ खण्डकाव्य है। इनके गद्यकी यह विशेषता है कि प्राचीन कन्नडकी प्रौढता एवं मधुरताके साध-साध आधुनिक कन्नडकी सरलताका परिचय मिलता है। इस दृष्टिसे इस सन्धिकालकी इन तीनों कृतियोंका कन्नड साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(५) भारतीय जीवनके इतिहासमें उन्नीसवी शतीका उत्तरार्द्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस अविधमें भारतमें अंग्रेजी भाषा तथा साहित्यके माध्यमसे जहाँ, पाश्चात्य-विचारधाराके प्रभावसे भारतीय जीवन आन्टोलित हुआ, वहाँ उस प्रभाव की प्रतिक्रियाकी प्रवल लहरें भी उठने लगी। इसी संक्रांति-कालमें भारतीय समस्त भाषाओं के साहित्योमे आधुनिक कालका स्त्र-पात हुआ। चूँकि समान परिस्थितियों एवं प्रभावोंसे सारा भारतीय जीवन मिथत हुआ, अतः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कन्नड साहित्यकी गतिविधिकी कहानी अन्य प्रादेशिक भाषाओं-की कहानीले कुछ भिन्न नहीं है।

आधुनिक कन्नड साहित्य प्रधानतया चार भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) सन् १९०० तक प्रथम उत्थान, (२) सन् १९०१से सन् १९२०तक द्वितीय उत्थान, (३) सन् १९२१से सन् १९४०तक तृतीय उत्थान तथा (४) सन् १९४१से अचतन काल। आधुनिक कन्नडका प्रथम उत्थान गद्यके साथ प्रारम्म होता है। सन् १९००से सन् १९२१तकका काल अधिक

निश्चित और विविध उपलब्धियोंका काल है। सन् १९२१से सन् १९४०तककी अवधिमे कन्नडका आधुनिक साहित्य अपने स्वर्ण-युगमे प्रवेश करता है। इस समय आधुनिक कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि सभी विधाओका प्रस्फटन तथा विकास होने लगता है। प्रथम तथा द्वितीय उत्थानमे राष्ट्रीयताका स्वर मुखरित हुआ। तदुपरान्त समाज सुधारकी भावनापर वल दिया गया। आगे चलकर पौराणिक विषयो तथा भावोका मानवीकरण तथा प्रकृतिके प्रति रोमांटिक दृष्टि-कोणका निरूपण होने लगा। जहां लेखककी व्यक्तिगत भाव-व्यंजनाका महत्त्व बढा, वहाँ प्रगतिशील विचारधारा-का समावेश हुआ और यथार्थवाद और परम्परागत आदर्श-वादके बीच संघर्ष भी दृष्टिगोचर होने लगा । कविताके क्षेत्र-मे नयी कविताका सूत्रपात हुआ। इस प्रकार कन्नडका आधुनिक साहित्य सर्वतोमुखी उन्नतिके पथपर तीव्र गतिसे अग्रसर हुआ। कन्नौजी-श्रियर्सनके अनुसार पश्चिमी हिन्दीकी बोलियोंमेसे एक तथा धीरेन्द्र वर्माके अनुसार ब्रजभाषाका ही पूर्वीरूप। इस बोलीका क्षेत्र व्रजमापा और अवधीके बीचमें पडता है। इसका केन्द्र उत्तरप्रदेशमे कन्नीज (फर्र-खाबाद जिला) है। कन्नौजके उत्तरमें यह हरदोई, शाहजहाँ-पुर तथा पीलीमीततक और दक्षिणमें इटावा तथा कानपुरके पश्चिमी भागमें बोली जाती है। कन्नौजी बोलनेवालोकी संख्या त्रियर्सनने ४५ लाख दी थी। इस बोलीका प्रयोग साहित्यरचनाके लिए नहीं हुआ, किन्तु साहित्यिक ब्रजभाषापर इसका पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है, बजभाषाके अनेक कवि कन्नौजी बोलनेवाले --धी० व०

कन्या (गोपी)-दे॰ 'गोपी'।

कपाली-चर्यापदोंमें कपाली अथवा कापालिकके अर्थ है चर्याधर, अर्थात् चर्याओंमे निष्णात । कापालिक शब्दकी उत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है-"कम् महासुखम् पालयति इति कपाली" अर्थात् 'क' महासुखके बीजको जो पालता है, वह कपाली है। इसीलिए डोम्बीके साधकको कपाली कहते है। कपास-सिद्ध और सन्त-साहित्यमें मनका प्रतीक । 'तुला धुनि धुनि आंशुके आंशु शान्तिया' (चर्यापद)। 'धुन धुन धुन डाल अब मनको?—सन्त शिवदयाल (विस्तारके लिए दे० 'जुलाहा')। कबीरपंथ-'कबीरपन्थ'का शाब्दिक अर्थ वह सम्प्रदाय है, जिसे सन्त कबीरने किसी समय चलाया था और जो अबतक इस नामसे प्रचलित भी चला आता है। कबीर-पन्थी साहित्यमें इस बातकी चर्चा आती है कि कबीर साहबने अपने चार प्रमुख शिष्योंको चारों दिशाओं में अपने मतके प्रचारार्थ मेजा था। उनमेसे तीन, अर्थात् चत्रभुज, वंकेजी और सहतेजीके विषयमें अधिक पता नहीं चलता, किन्तु चौथे, अर्थात् धर्मदासके लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने इस पन्थकी 'धर्मदासी शाखा'का मध्यप्रदेशके अन्तर्गत प्रवर्तन किया था और यह भी अपनी विविध उपशाखाओं के रूपमें प्रचलित है। कबीरपन्थके ग्रन्थों में

कबीर साहबके नामपर प्रचलित किये गये ऐसे बारह पन्थोकी भी चर्चा आती है, जिनमे वस्ततः उनके सिद्धान्तो-के विरुद्ध प्रचार किया जाता है। 'अनराग-सागर' नामक ग्रन्थ (पृ० ९०)में इनके प्रवर्तकोके नाम क्रमशः भूत्य अन्धा,' 'तिमिर दूत,' 'अन्ध अचेत', 'मनभंग', 'ज्ञानभंगी', 'मकरन्द,' 'चितभंग', 'अकिलमंग,' 'बिसम्भर', 'नकटा', 'दरगदानि' और 'हंसमुनि' दिये गये मिलते है, जो प्रत्य-क्षतः किरपत-से लगते है और इनके विषयमें कहा गया है कि ये सच्चे मार्गसे दूर थे। सन्न तुल्सी साहबकी रचना 'घटरामायण' (पृ० २३४) तथा परमानन्द साहबके 'कबीर मन्शूर' (पृ० २९६) से यह पता चलता है कि स्वयं कबीर साहबने अपने शिष्य धर्मदासके प्रति भी ऐसे बारह पन्थों-की चर्चा की थी और वहाँ इन्हें क्रमशः नारायणदास, भागोदास, सरतगोपाल, साहेबदास, टकसारीपंथके प्रवर्तक, कमाली, भगवान्दास, प्राणनाथ, जगजीवनदास, तत्त्वा-जीवा तथा गरीबदास नाम देकर कम-से-कम ग्यारहकी चर्चा की गयी पायी जाती है। परन्त स्पष्ट है कि इनमेंसे कई व्यक्तियोका आविर्भाव सन्त कवीर साहबके बहुन पीछे हुआ होगा तथा इनमें 'धर्मदासी शाखा'के प्रवर्तकका नाम न आनेसे यह भी सन्देह किया जा सकता है कि कदाचित इसके ही प्रचारकोंने इन नामोंका उल्लेख अपने प्रतिद्वनिद्वयों के रूपमें कर दिया होगा।

वास्तवमें आजतक उपलब्ध किसी भी प्रामाणिक सामग्री-के आधारपर, यह बतलाना कठिन है कि सन्त कबीर साहबने ऐसे किसी भी पन्थका कभी प्रवर्तन किया था अथवा इसके लिए उन्होंने अपने शिष्योंको कोई स्पष्ट आदेश ही दिया था। ऐसी दशामें यह अधिक सम्भव है कि उनके निजी विचारोके पन्थ-निर्माणके प्रतिकूल होते हुए भी, उनके शिष्यों तथा प्रशिष्योंने ऐसा करना, प्रचारकी दृष्टिसे, उचित समझ लिया हो। तद्नुसार 'अनुरागसागर' प्रनथ(रचनाकाल सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी)से यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उस कालतक ऐसे बारह पन्थ प्रचलित हो चुके थे तथा इसके आधारपर यह भी अनुमान कर लेना कठिन नहीं कि इस पन्थके प्रचारका क्षेत्र वर्तमान उत्तरप्रदेशसे लेकर मध्य-प्रदेश, उडीसा, गुजरात, काठियावाड, बड़ौदा, बिहार आदि प्रदेशोंतक विस्तार पा चका था। उन पन्थोके बीच पारस्परिक प्रति-स्पर्धाका भाव भी जायत होने लग गया था। तबसे उनकी शाखाओ एवं उपशाखाओकी संख्या प्रायः निरन्तर बढती ही चली गयी है और इस समयतक सारे देशमें कदाचित् ऐसे कम स्थान मिलेंगे, जहाँ कबीर साहब द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित किसी-न-किसी सन्तके मत अथवा उसके द्वारा प्रचारित सम्प्रदायकी कुछ चर्चा न सुन पड़े।

फिर भी 'कबीरपन्थ'की शाखाओमेसे सभी एक ही प्रकार प्रसिद्ध नहीं है और उनमेंसे केवल तीनके नाम विशेष रूपसे लिये जाते हैं। इन शाखाओंको हम क्रमशः 'काशी शाखा', 'छत्तीसगढी शाखा' एवं 'धनौती शाखा' कह सकते हैं और इनकी भी कतिपय उपशाखाएँ बतलायी जाती है। काशी शाखाके संस्थापक सुरतगोपाल कहे जाते हैं, जिनका नाम सन्त कबीर साहबके प्रमुख शिष्योंमें भी

लिया जाता है, परन्तु इन सुरतगोपालके जीवनका कोई ऐतिहासिक वृत्त अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ हैं और न इस शाखाके मठ 'कबीरचौरा'में मिलनेवाली शिष्य-परम्परा-की सूची द्वारा ही उसपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। काशी शाखावाले कवीरचौरा मठके अन्तर्गत उसके निकटवर्ती लहरताराके मठ तथा बस्ती जिलेके मगहरवाले मठके भी नाम लिये जाते है तथा उसीके महन्तकी अधीनता गया (बिहार प्रान्त)के कबीर बागवाले मठ तथा उड़ीसाके कुछ मठोंवाले महन्त भी स्वीकार करते कहे जाते है। इसी प्रकार कवीर-पन्थकी दसरी 'छत्तीसगढी शाखा' या 'धर्म-दासी शाखा' भी प्रसिद्ध है और उसके संस्थापक धर्मदासको भी सन्त कबीर साहबका एक प्रमुख शिष्य ही बतलाया जाता है। धर्मदासके ऐतिहासिक जीवनवृत्तका हमे पता नहीं और न उनका हम ठीक जीवनकाल ही बतला सकते है। सन्त दरिया साहबकी रचना 'ज्ञानदीपक'(पू० १५९-६०)से तो पता चलता है कि स्वयं कशेर साहबने ही दो सौ वर्ष बाद पुनः धर्मदासके रूपमे जन्म लिया था, कण्ठी तोड़ दी थी और कवीरपन्थ चलाया था, जिसमे आगे चलकर १२ उपशाखाएँ हुई। फिर यह भी कहा जाता है कि धर्मदासकी शिष्य-परम्परा उनके वेशवाली द्वारा ही चलायी गयी, जहाँ काशीवाली शाखामे ऐसी बात देखनेमें नहीं आती। धर्मदासी या छत्तीसगढी शाखाके एक प्रमुख केन्द्रका नाम धामखेडा है और दूसरीका खरसिया है तथा इन दोनोंकी अनेक उपशाखाएँ भी वर्तमान है। छत्तीसगढी-की उपशाखाओंमें ही कबीरचौरा मठ, जगदीशपुरी (उड़ीसा), कबीर मठ हटकेसर और 'कबीर निर्णय मन्दिर', बुरहानपुर (मध्यप्रदेश) तथा फत्रहा मठ (पटना) और लक्ष्मीपुर वगीचा रुसडा, दरभंगा (बिहार)के भी नाम लिये जाते है, किन्त इनसे उसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया मी समझा जाता है। कबीर-पन्थकी तीसरी प्रसिद्ध शाखा धनौती (बिहार)की है, जिसे उसके प्रवर्तक भगवान् गोसाईके नामानुसार 'भगताही शाखा' भी कहा जाता है। भगवान गोसाईको पिशौरा (बन्देलखण्ड)का निवासी बतलाया जाता है, जैसे धर्मदासके लिए बान्धवगढ (बघेलखण्ड)का निवासी होना कहा गया है। इनकी भी जीवनीका कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है, किन्त इतना सर्वमान्य-सा है कि ये कबीर साहबके साथ भ्रमण करते थे और इन्होंने ही 'कवीर बीजक'में संगृहीत रचनाओको उनके मुखसे समय-समयपर सुनकर उन्हें एक जगह कर दिया था। फिर भी इनकी शिष्य-परम्परावाली तालिकासे ऐसी बात सिद्ध नहीं होती। 'धनौती शाखा'का प्रमुख केन्द्र बिहार प्रदेशके दानापुरमे था, किन्तु फिर धनौती चला गया। इसकी एक उपशाखाका किसी लढिया स्थानमे भी होना प्रसिद्ध है। कबीर-पन्थकी एक चौथी शाखा विद्युर (मुज-फ्फरपर)मे है, जिसके प्रवर्तक जाग्दास माने जाते है। कहते है कि कटकमें कबीर साहब द्वारा दीक्षित होकर ये भ्रमण करते हुए विद्युर आये और यहीं पीछे उनका देहान्त भी हुआ। इस शाखाकी भी कुछ उपशाखाएँ वन-कठा (शिवपुर, काशी), सुँगेर (बिहार) तथा नैपाल आदि-में पायी जाती है। इन चार शाखाओके अतिरिक्त आचार्य गद्दी वर्ष्ट्रैया, जौनपुर (उत्तर प्रदेश) तथा वचनवंशी गद्दी रुसडा, दरभंगाकी भी शाखाएँ है, जिनके प्रवर्तक क्रमशः मदन साहब (यू० सं० १९११) एवं कृष्णदास कारख (यू० सं० १९२६) बतलाये जाते है।

कबीरपन्थकी अन्य शाखाएँ तथा उपशाखाएँ भी विशेषतः उत्तरप्रदेश, विहार, उडीसा एवं मध्यप्रदेशमे ही पायी जाती है और वहीं से उनका सुदूर दक्षिण एवं परिचमके प्रदेशोंमे भी प्रचलित होनेके सम्बन्धमे अनुमान किया जा सकता है। और इनमेसे, कबीरकी पुत्री कही जाने-वाली कमालीके नामपर, मेरठ और लुधियानाकी ओर प्रचलित 'कबीर-वंशी पंथ', कबीर-शिष्य पद्मनाथ द्वारा प्रवर्तित 'राम कवीर पंथ', 'ऊदा पंथ' तथा 'पनिका कवीर पंथ' (मध्यप्रदेश)के भी नाम लिये जा सकते है। उडीसामे तो सुरतगोपाल, ज्ञानदास, धर्मदास जैसे प्रसिद्ध कशीर-पन्थियोकी समाधियाँ भी वर्तमान है और वहाँ एक ऐसी ही समाधि रवयं कवीर साहबकी भी बतलायी जाती है। उडीसाका प्रदेश बहुत दिनोतक वैप्णव धर्मका एक प्रधान केन्द्र रहा और पता चलता है कि कबीर साहबके लगभग सौ वर्ष पीछे वहाँ छः बहुत प्रसिद्ध उडिया वैष्णव कवि भी हुए थे। उन कवियोकी रचनाओंपर वहाँके प्रचलित बौद्ध-धर्मका भी प्रभाव लक्षित होता है, जिससे कबीरपन्थी साहित्य भी अछता नहीं जान पड़ता। वहाँ के वैष्णव कवि महादेवदासकी 'धर्मगीता'मे जो सृष्टि-रचना-विषयक पौरा-णिक संकेत मिलता है, वह मूल बातोंमे कबीरपन्थके 'अनुराग-सागर'की बातोंसे भी मिलता-जुलता है। धर्म, शून्य, निरंजन, त्रिदेव आदि सम्बन्धी अनेक विचित्र विवरण इन दोनोंमे तथा बौद्धोके 'क्न्य पुराण'मे भी पाये जाते है और इनके आधारपर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन सभीमें यह अंश किसी परम्परागत सृष्टि-कथाके आधारपर लिखा गया होगा अथवा इनमेसे एकने दूसरेको प्रभावित किया होगा। कबीर-पन्थी साहित्यकी विशेषता यह है कि उसमे सर्वत्र कवीर साहबको ही किसी-न-किसी रूपमे महत्त्व दिया गया है तथा उन्हे अलौकिकता भी प्रदान की गयी है। कबीर साहब केवल एक विचार-धाराके प्रमुख प्रवर्तक और प्रचारकमात्र ही नहीं रह जाते, प्रत्युत वे स्वयं सत्यपुरुषका भी स्थान ग्रहण कर लेते है। कबीर साहबका प्रत्येक युगमे प्रधान बनकर रहना तथा सृष्टिरचनादिके कार्योंको व्यवस्थित रूप देनातक भी यहाँ एक विचित्र पौराणिक रचनारौली द्वारा प्रस्तत किया गया है।

इसी प्रकार, जैसे, सृष्टि-रचना तथा ब्रह्मा, विष्णु, दिव आदि देवोके जन्म एवं कर्मके विवरणोंमे एक विचित्र पौरा-णिकताका समावेश दीख पडता है, और वे उडीसाके 'धर्म-सम्प्रदाय' द्वारा प्रभावित भी जान पड़ते है। कवीर-पन्थकी छत्तीसगढ़ी शाखाके कर्मकाण्डीपर भी तान्त्रिकताकी छाप छगी प्रतीत होती है। इसके 'चौकाविधि', 'जोतप्रसाद', 'परघाना' आदि सम्बन्धी कृत्योंका विधान इस प्रकार किया गया पाया जाता है, जिससे कवीर साहबके मूळ मतका कोई छगाव नहीं। आटेके चूर्णके द्वारा विशिष्ट रेखाओंका अंकन, फूछबत्ती, नारियल, पान, कछश जैसी वस्तओंका

उपयोग, प्रसाद-वितरण तथा महन्तादि सभी व्यक्तियोका किसी नियमविशेषके ही अनुसार परम्परागत विधियोंका पूरा करना, ऐसी बातें हैं, जो सन्तमतकी मौलिक विचार-थारासे बहुत दूर जाती समझ पड़ती है। फिर भी इन बातोंको बहुत बढ़ा महत्त्व दिया जाता है और इन्हें किन्ही गृढ रहस्योंका प्रतीक मानकर, इनका विस्तृत समाधान भी किया जाता है। इसके सिवा कशीरपन्थी साहित्यमे अनेक ऐसी कल्पित कथाएँ भी मिलती है, जो हमे कभी-कभी बौद्ध जातकों और अवदानोंका स्मरण दिलाती है। उसके अन्त-र्गत कबीर साहबके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन, उनकी लीलाओंका वर्णन तथा उनकी अलौकिक शक्तिका निरूपण भी प्रचुर मात्रामें पाया जाता है और आध्यात्मिक बातोंका प्रतिपादन करते समय किसी ऐसी वर्णन-शैलीका प्रयोग किया गया मिलता है, जिसके कारण उनकी गुत्थियाँ और भी रहस्यमयी बन जाती है। कबीरपन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमे अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दोंका भी बाहुल्य दीख पडता है, जिनके आशयका स्पष्टीकरण साधारण ढंगसे नहीं किया जा सकता और 'कबीर बीजक' जैसे मान्य यन्थोके भाष्यों तथा टीकाओकी रचना करते समय-तक भी उनके प्रासंगिक उल्लेख कर दिये जाते है।

अतएव, कवीरपन्थकी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर यह अनुमान करना कि इसकी बहुत-सी बातोमे किसी साम्प्रदायिक प्रवृत्तिका ही समावेश हो गया होगा और इस प्रकार यह कबीर साहबकी मूल विचारधारासे क्रमशः पृथक पडता गया होगा, कदाचित अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसकी प्रमुख शाखाओं तथा उपशाखाओके एक विस्तृत क्षेत्रतक फैल जानेके कारण उनपर स्थानीय विशेप-ताओंका प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं था और सन्त-मतके अन्तर्गत नानकपन्थ, दादूपन्थ, बावरीपन्थ आदि साम्प्र-दायिक वर्गोंकी संख्यामे निरन्तर वृद्धि होती जानेके भी कारण इसमें अनुयायियोका झकाव अधिकतर ऐसी बातोंको ही महत्त्व देनेकी ओर होता गया और यह उसके साथ कदाचित् होडतक भी करने लग गया। फलतः इसके प्रचार-साहित्यमे निरन्तर वृद्धि होती चली गयी तथा इसका विशिष्ट रूप क्रमशः निखरता भी चला गया। सन्तमतके उन्नायकोमें अनेक ऐसे लोग भी हुए, जिन्होने न केवल कबीर साहबके प्रति अपनी श्रद्धा प्रदक्षित की, अपित कभी-कभी उन्हें अपने सद्गुरुतकके रूपमे स्वीकार किया और एकाथ सन्तोंने तो यहाँतक बतलाया कि वे उस आदि सन्त-के अवतार भी माने जा सकते हैं। इन वातोंसे इस पन्थको अधिकाधिक प्रेरणा ही मिलती चली गयी और इस दृष्टिसे वह विशिष्ट जीवनदर्शन भी ओझल हो गया, जो कभी सन्तमतका शिलाधार वन चुका था। इसी कारण कबीरपन्थका वर्तमान रूप उन बहुत-से सम्प्रदायोसे भिन्न नहीं जान पड़ता, जो आज हिन्दू धर्मके साधारण अंग बने पाये जाते है। वर्गविशेषकी भावना, परम्पराप्रियता, भेष-धारणका आग्रह, धर्मग्रन्थके प्रति श्रद्धा, बाह्य कृत्योंकी व्यवस्था आदि कुछ ऐसी बाते है, जिनके कारण यह पन्थ उस व्यापक विश्वधर्मके स्तरतक पहुँचता नहीं जान पड़ता, जो कभी सन्तमतके प्रवर्तकोंका आदर्श रहा होगा। और,

इसके विपरीत, कभी-कभी दूसरी बुरहानपुरकी जैसी एकाध जपशाखाएँ, अपने विचार-खातन्त्र्यके कारण किसी ऐसे निर्णयतक भी पहुँचती जान पडती है, जिसे हम अभाववादी (nihilistic) विचारोंकी कोटिमे रख सकते है।

[सहायक ग्रन्थ-उत्तरी भारतकी सन्तपरम्परा: परश-राम चतुर्वेदी; कवीर और कवीरपन्थः डा० केदारनाथ द्वे ।] —-प० च० कबीरा - उत्तरभारत, राजपूताना, मध्यप्रदेश और विहारमे ऐसे कई लोकपरक निर्गुणी गीत उपलब्ध है, जिनकी अन्तिम पंक्तियोमें कबीरकी छाप मिलती है। "कहे कबीर सुनी भई साधो" जैसी पंक्तियोंवाले गीत 'कबीरा' कहलाते है। 'कबीरा' गीतोंके प्रचारका कारण स्वयं कबीरकी लोकप्रियता तो है ही, किन्तु परवर्ती सन्तों और निम्न वर्गके प्रति उत्कट लगाव भी इसके मूलमें है। ऐसे गीतोंपर कवीरका अपरोक्ष रूपसे प्रभाव पड़ा है। निम्न जातियोके लोक-गायक अपने इकतारों और मजीरोकी संगतमे इन्हे रात-रातभर गाते है। राजस्थान और मारवाड्के रामदेव भगत भी कवीरा गानेमे गौरव अनुभव करते है। अस्तु 'कवीरा' कवीरकी रचनाएँ नहीं है, बल्कि कबीरकी भावधारासे प्रभावित लोकोन्मुखी लोकगीतविशेष है, जिनमे साक्षी-स्वरूप अथवा श्रद्धावश कबीरकी छाप लगायी गयी -इया० प०

कमल-विणेक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद । केशवने ३ सगणो, नगण और गुरुके योगसे इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है (॥ऽ, ॥ऽ, ॥ऽ, ॥, ऽ)। यह 'प्राकृतपैगलम्'के इस नामके छन्दसे भिन्न है (२:२६)। उदा०—"तरु चन्दन उज्ज्वलता तन धरे। लप्टी नव नागलता मन हरे। नृप देखि दिगम्बर वन्दन करे। जनु चन्द्रकलाधर रूपहि भरे" (रा० चं०, ३२:१७)। —पु० शु० कमल-दे० 'हठयोग'।

कमला छन्द-विणिक छन्दोंने समवृत्तका एक भेद । नगण, सगण और लघु गुरुके योगसे यह वृत्त वनता है (॥,॥ऽ,।ऽ)। केशवकी परिभाषा—"नगन आदि दै सगन पुनि, लघु गुरुन्दीनै अन्त। आठ बरण प्रतिपद लखौ, कमला छन्द कहन्त॥" भरत (नाट्यशास्त्र, ३२: १३४)ने मही और 'प्राकृतपैगलम्' (२: ७४) और दामोदर मिश्र (वाणीभूषण, २: ७३)ने कमल नाम दिया है। उदा०— "तुम प्रवल जो हुते, मुज बलनि संगुते। पितिह भुवि ल्यावते, जगत यश पावते"(रा० चं०, ४:१३)।—पु०श्चु० कमलिनी—दे० 'महामद्रा'।

करखा — मात्रिक सम दण्डक छन्दो (दे०)का एक भेद।
भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमे ८, १२, ८, ९की
यितसे ३७ मात्रा तथा अन्तमे यगण (ISS)का प्रयोग होता
है (छं० प्र०, पृ० ७६)। चन्द (पृ० रा० रा०) तथा स्द्रन(स्० च०)ने इसका प्रयोग किया है। तुल्सीने स्तोत्र-शैलीमें इस छन्दका सुन्दर प्रयोग किया है— "मोहतम तरणि,
हर रुद्र शंकर शरण, हरण मम शोक, लोकामिरामम्"
(वि० प०, पृ० १०)।

करनी-दे० 'कथनी'।

करभ-मनका प्रतीक । "एमड करहा तेक्खु सहि विहरिअ

मेंहु पडहाइ" (दोहाकोश: प्र० चं० बागची)। "न्यूँति जिमाऊँ अपनौ करहा छार मुनिसकी डारी रे"-(कबीर करहा - सन्तोंने करहा शब्दका 'कॅट' और 'किया परायण साधक'के अर्थमे बहुत बार प्रयोग किया है। गुरु रामदास-ने 'करहले' शीर्षकके अन्तर्गत दो पदोंकी रचना की है. जिसमें राह चलते इधर-उधर मुँह मारनेवाले ॲटकी तरह अपनी इच्छाओंको द्विगुणितकर उसीमें भटकते रहनेवाले मनको सम्बोधित करके सन्देश दिया गया है। मनके लिए मैमंत, मैगल (मदमत्त, मदगज) और बिल्ली, कुत्ता आदिका प्रयोग सन्तोमे पदे-पदे मिलता है । सन्तोंकी एक विशेषवृत्ति सहज ही लक्षित भी जा सकती है कि सामान्य-सा ध्वनि-साम्य पाते ही वे किसी शब्दमे नया अर्थ भर देते हैं। अलभ्य और अलक्ष्यका अपम्रंश रूप अलह बनता है। अलहमें अलाहकी ध्वनि आयी नहीं कि उन्होंने इसका नाता अल्लाहसे जोड लिया । अनाहतसे निष्पन्न अनहद शब्दको ध्वनिसाम्यके सहारे अरबी शब्द 'हद्द'से जोडकर उन्होंने जहाँ अनहदका पराना अर्थ अनाहत सरक्षित रखा, वही उसका 'असीम' अर्थ भी कर लिया। इतना ही नही अनाहत और असीमका अर्थ देनेके लिए एक नया शब्द ही गढ लिया 'देहद'। करहाके साथ भी ऐसा ही हुआ है। यह एक ओर जहाँ संस्कृतके करम (ऊँटका वचा, अर्थात ऊँट)का अर्थ देता है, वही जन्त्र-मन्त्र, पूजा-पाठ, ध्यान-धारणा आदि बाह्योपचारों द्वारा उपासना करने-वाले साधकोंका अर्थ भी देता है। यहाँ एक बातका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ध्वनिसाम्य आदिके सहारे शब्दोमे नया अर्थ भरनेकी यह वृत्ति सन्तोमे थोड़ी प्रबल और कही-कही कष्टकल्पना प्रसूत अवस्य है, पर भारतीय धर्मसाधनाके साहित्यसे परिचित व्यक्ति जानता है कि यह सन्तोंकी कोई नयी विशेषता नहीं है। तान्त्रिकों, सिद्धों, नाथों आदिमे मी यह वृत्ति जहाँ-नहाँ देखी जा सकती है। जहाँ तक करहाका सम्बन्ध है सरहपादने एक स्थानपर इसका प्रयोग किया है—"बद्धो धावइ दह दिसहि मुक्को णिच्चल ठाइ। एमइ करहा पेक्खुसहि विहरिअ महुँ पड़िहाइ ॥" (बागची, दो० ४३) । कह नही सकता कि सरहने करहाका प्रयोग केवल ऊँट अर्थमे ही किया है या क्रियापरायण साधकका अर्थ भी उनके मनमे था। जहाँ तक अर्थ संगतिका सवाल है, वह ऊँटके साथ तो बैठती ही है, क्रियापरायण साधकके साथ भी पूरी-पूरी बैठ जाती है। उक्त दो हेका अर्थ किया जा सकता है—''यह चित्तरूपी करहा (१. ॲटका बच्चा २. क्रियापरायण साधक, जो सरहके 'एक्कणकिष्जिय कम्म न धम्म'के विपरीत चलनेवाला है) यदि विधि-निषेधोंसे बॉध दिया जाय तो (चंचल होकर) दसों दिशाओंमें भागता फिरता है, किन्तु यदि उसे इनसे मुक्त कर दिया जाय (खाअहु पीअहु बिलसहुचगे—सरह)की पूरी छूट दे दी जाय तो वह स्थिर हो जाता है। लेकिन इस क्रियापरायण (यज्ञयागादिमे लीन) ऊँट (नासमझ)को देखों (जो न बॅथ ही सका है न मुक्त ही हो सका है)। सखि, यह मुझे ठगा हुआ (विहृत) प्रतिभात होता है"। दोहेके करहाकी अर्थ-संगति उक्त दोनों अर्थोंमें इतनी

पूर्णतासे बैठ जाती है कि लगता है, सरह इसके दोनों अथोंिके प्रति सचेत थे। <del>-</del>रा० सि० करुण गीति-हिन्दीमे एलिजीके लिए प्रायः करुण गीतिका प्रयोग होता है। सोलहवी शताब्दीके प्रारम्भसे अंग्रेजीमे एलिजी-मृत्यु और शोकका गीत-वनने लगी, अन्यथा प्राचीन ग्रीसगे युद्ध और प्रेमकी अभिन्यक्ति इसमें होती थी । जान्सनकृत इसकी परिभाषा थी कि यह संक्षिप्त कविता है, जिसमे न तो केन्द्रीयता होती है और न मोड, जो अपर्याप्त और अपूर्ण थी। इसके लिए विशेष छन्दकी योजना है, जिसके चरण हेक्सामीटर और पेण्टा-मीटरके होते और क्रमपूर्ण आते हैं। हेक्सामीटर चरणमे ६ विराम हो जाते है और पेण्टामीटरमे ५ विराम होते है। रपेंसरकृत 'डैफनैडा' और मिल्टनकृत 'लिसिडास' इसी प्रकारकी रचनाएँ है। शेलीने कीट्सकी मृत्युपर 'एडोनैस' और आर्नाल्डने अपने मित्र इफ़्की मृत्युपर 'थाइसिंस' नामक रचना लिखी। टेनिसनकृत 'इन मेमोरियम' इतनी लम्बी है कि इसकी गणना प्रकृत शोकगीतिमे संकोचके साथ की जाती है। टामस ग्रेकृत 'ओड आन दि डेथ ऑव ए फेवरिट कैट'मे विपादको एलिजिक न्याप्ति है, यद्यपि इसे कविने ओड (सम्बोधगीति) कहा है। सोलहवी शताब्दी-से ही मृत्युजन्य शोक और करुणाकी अभिव्यक्ति इसमें होने लगी और इस समय इसका यही प्रधान अर्थ हो गया। सन् १७५१ ई० मे प्रकाशित ग्रेक्टन 'एलिजी रिटेन इन ए कण्टी चर्चयार्ड'ने अशेष कीर्ति अजित की। इसमे उद्देगहीन विषादकी अभिन्यक्ति है, निराशाकी झलक नहीं और जीवनकी तिक्तता और अन्यायके प्रति आक्रोश भी नहीं है। क्रेवल व्यापक विषाद, मानवीय समवेदना एवं सहानुभूतिकी व्याप्ति है, क्योंकि येने सामान्य यामीण जीवनमे व्याप्त कारुणिकताका अनुभव किया था। चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमधन'ने 'दुर्दशा दत्तापुर'मे अपनायी है, यद्यपि गोल्डसिथ-कृत ऊजङ्ग्राम (डेजरेंड विलेज)का स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दीमे इसे करुणगीत कहते हैं, क्योंकि इसमे कारुणिक आर्द्रता और तटस्थ विषादकी अभिन्यक्ति होती है। राजनीतिक चेतनाके जागरित होनेपर किसानों और मजदूरीके प्रति समवेदना प्रकट करनेवाले गीतोकी रचना हुई है, जिसमे गिरिधर शर्मा कविरत्नकी रचना 'जय जय किसान' सर्व-प्रथम है।

किसी खजन या अत्यन्त प्रिय जनकी मृत्युको लक्ष्यकर लिखे गये गीत पाश्चात्य दृष्टिमे पिलजी हैं, जिन्हें शोकगीति कह सकते हैं। शोकगीतिमें वैयक्तिक हानिकी तीवानुभूति और जहेगपूर्ण विषाद एवं अपिरिसीम निराशाकी कारुणिक शोकाविष्ट अभिव्यक्ति होती है, यह अधिकाधिक वैयक्तिक है, अतः इसमें अधिकाधिक गीतिकाव्यात्मकता मिलेगी। ऐसा रचनाओमे विकटर ह्यूगोकृत 'त्रिलिसि दि ओल्मियो' अदितीय है। प्रेमी अधिक समयके अन्तरपर अपने प्रेमके रंगस्थलकी यात्रा करता है, वहाँ पहुँचनेपर सभी वस्तुर परिवर्तित दीख पड़ती है, यहाँ तक कि प्रकृति भी परिवर्तित हो चुकी है एवं पगडण्डीके स्थानपर विस्तृत राजपथ निर्मित हो चुकी है। आधिक कालमे भारतेन्द

हरिश्चन्द्रके देहावसानपर अनेक शोककाच्य लिखे गये थे, जिनमें प्रेमघनकृत 'शोकाश्रुविन्दु' अति प्रसिद्ध है, किन्त यह रचना गीतात्मक नहीं, छन्दात्मक है। उर्द-फारमीमें इसे मरसिया कहते है, किन्तु उसमें गेयता और वैयक्तिकतापर विशेष बल नही रहता है। प्रतापनारायण मिश्रने हसन-दुसैनकी मृत्युके सम्बन्धमे एक मरसिया लिखा था। 'बडोहियागीत'के प्रसिद्ध कवि रघ्नवीरनारायणने 'प्यारे शिवेश्वर'मे प्रियः न्यक्तिकी मृत्युपर शोकगीत लिखा था। इस कोटिकी रचनाओंमे निरालाकृत 'सरोज-स्मृति' श्रेष्ठ रचना है (दे॰ 'शोकगीति')। — रा० खे० पा० करुण रस-भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०)मे प्रति-पादित आठ नाट्यरसोंमे शृंगार और हाखके अनन्तर तथा रौद्रसे पूर्व करुणकी गणना की गयी है। 'रौद्रात्तु करुणी रसः' कहकर करुण रसकी उत्पत्ति रौद्र रससे मानी गयी है और उसका वर्ण कपोतके सददा है (कपोतः करुणद्यैव) तथा देवता यमराज बताये गये हैं (करुणो यमदैवतः)। भरतने ही करुण रसका विशेष विवरण देते हुए उसके स्थायी भावका नाम 'शोक' दिया है (अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः) और उसकी उत्पत्ति 'शापजन्य क्लेश्विनिपात', 'इष्टजन-विप्रयोग', 'विभवनाश', 'वध', 'बन्धन', 'विद्रव' अर्थात् 'पलायन', 'अपघात', 'व्यसन' अर्थात् आपत्ति आदि विभावोंके संयोगसे स्वीकार की है। साथ ही करुण रसके अभिनयमें 'अश्रुपातन', 'परिदेवन' अर्थात् विलाप, 'मुखशोषण', 'वैवर्ण्य', 'त्रस्तगात्रता', 'निःश्वास', 'स्मृतिविलोप' आदि अनुभावोंके प्रयोगका निर्देश भी किया है। फिर निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जहता, उन्माद, अपसार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदिको व्यभिचारी या संचारी भावके रूपमें परिगणित किया है (६: ६१ ग)।

धनंजय (१० श० ई०), विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदि आगेके संरक्तत आचार्योंने करुण रसके उत्पादक विविध कारणोंको संक्षिप्त करके 'इष्ट-नाश' और 'अनिष्ट-आप्ति' इन दो संज्ञाओं मे निबद्ध कर दिया है, जिनका आधार उक्त 'नाट्यशास्त्र'मे ही मिल जाता है। धनंजय—'इष्टनाशाद-निष्टाप्ती कोकात्मा करुणोऽनुतम्" (द० हः०, ४:८१)। विश्वनाथ-"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्" (सा० द०: ३: २२२)। हिन्दीके अधिकांश काव्या-चार्योंने इन्हीको स्वीकार करते हुए करुण रसका लक्षण रूढ़िगत रूपमे प्रस्तुत किया है। चिन्तामणि (१७ श० ई० पूर्वा०)के अनुसार "इष्टनास कि अनिष्ट की, आगम ते जो होइ। दुःख सोक थाई जहाँ, भाव करुन कह सोइ" (क ब कु क त र र )। देव (१७ श र ई र पूर्वा र )---"विनठे ईठ अनीठ सुनि, मनमें उपजत सोग । आसा छटे चार विधि, करुण बखानत लोग" (शब्द र०, ३)। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)मे भरतके नाट्य-के अनुरूप विभावोंका उल्लेख किया है और केशवदासने 'रिसकप्रिया'मे 'प्रियके विप्रिय करन'को ही करुणकी उत्पत्तिका कारण माना है।

जहाँतक करुण रसके देवताका प्रश्न है, हिन्दीके

कवियोंने अधिकतर 'यम'के स्थानपर 'वरुण'को मान्यता प्रदान की है और इस प्रकार भरतसे लेकर विश्वनाथतककी परम्परासे भिन्न पथका अनुसरण किया है। करुण रसके उद्दीपन-विभावका निरूपण प्रायः 'साहित्यदर्पण'के 'दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनम्' (सा० द०, ३: २२३)के प्रभावसे किया गया है।

करुण रसकी परिन्याप्ति और परिसीमनका निर्धारण एक जटिल प्रश्न है। यद्यपि करुणका स्थायी भाव शोक माना गया है, पर शोक तभी सम्भव है, जब उसके मूलमें 'राग' या 'रित' किसी-न-किसी रूपमे निहित हो। आदिकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण'से सम्बद्ध क्रौंचवधकी कथामे ही इसका सूत्र मिलता है। जिस क्रौच-मिथ्नमेंसे एकके वधका परिणाम 'शोक'के 'श्लोकत्व'में घटित हुआ, वह 'काममोहित' था। इस आधारपर कुछ कान्य-चिन्तकोंने करुणका क्षेत्र अन्य रसोंकी अपेक्षा अत्यन्त व्यापक बताया है और शृङ्गारादि रसोंको उसीकी परिधिमे समाविष्ट करने-की चेष्टा की है। इसका सबसे अधिक श्रेय 'उत्तररामचरित'-के रचियता भवभूतिको है। इन्होंने काव्यमें करुण रसकी महत्ता और व्याप्तिका मुक्त उद्घोष किया है—"एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथकपृथगिव श्रयते विवर्तान् । आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारानम्भो यथा सलिल-मेव हि तत्समग्रम्" (३:४७)। मानव-हृदयको सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करनेकी क्षमना रखता है, कदाचित इसी आधारपर उक्त स्थापनाकी मनोवैज्ञानिक न्याख्या प्रस्तत की जा सकती है।

एक ओर जहाँ करुणको इतनी व्यापक महत्ता प्रदान की जाती है, वही दूसरी ओर आचार्योंने उसकी सीमाओका भी निर्देश शृङ्गारादि अन्य रसोंकी तुलनामे सुक्ष्म रीतिसे किया है। अनुभावों और संचारियोकी दृष्टिसे विप्रलम्भ शृङ्गार करुणके सबसे निकट पडता है, इसीलिए भरतसे लेकर वर्तमान कालतक काव्यके तत्त्वज्ञोको दोनीका मौलिक अन्तर स्पष्ट करनेकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ा है। 'नाट्यशास्त्र'में करुणको निरपेक्ष और विप्रलम्भको सापेक्ष कहकर दोनोका पार्थक्य प्रदिशत किया गया है-'करुणम्तु '''निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमृत्थः। सापेक्ष-भावो विप्रलम्भकृतः । एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः" (६:४५)। उक्त उद्धृत अंशके साथ भरतने "एवमेष सर्वभावसंयुक्तः शृङ्गारो भवति" अर्थात् "इस प्रकार यह श्रुङ्गार सब भावोंसे संयुक्त होता है"; यह टिप्पणी जोड़कर स्पष्ट निर्देश कर दिया कि वे करुणकी तुलनामें शृङ्गारको अधिक व्यापक भाव-भूमिपर आधारित मानते थे।

जो करुण इष्टनाशसे उत्पन्न होता है, वह तो विप्रलम्भसे सरलताते पृथक् किया जा सकता है, क्योकि नायक-नायिका, दोनोंकी सत्ता 'रित'की स्थितिके लिए अनिवार्य है। यदि दोनोंमेंसे किसीका अवसान हो जाता है तो 'रित'की स्थिति ही नहीं होती, अतः ऐसी दशामें केवल करुण ही सम्भव है। परन्तु अनिष्टप्राप्तिसे उत्पन्न होनेवाला करुण विप्रलम्भसे तबतक अलग नहीं किया जा सकता, जबतक 'रित' और

'शोक'की सम्मिलित स्थितिमें किसी एककी प्रधानता व्यक्त नहीं हो जाती। 'रत्यनालिंगित शोक'की विशेष स्थितिको मानते हुए मिश्र रसके रूपमें 'करुण शृहार' और 'करुण वात्सल्य'की भी कल्पना की गयी है (आनन्दप्रकाश दीक्षित: काञ्यमे रस, अप्र० थीसिस, पृ० ४३७, ३८) । कृष्ण-काञ्य-में भ्रमरगीतके प्रसंगमे गोपी-विरह, यशोदा-विलाप और 'अभिज्ञानशाकुन्तल'के चतुर्थ अंकर्मे कण्वके आश्रमसे शकुन्तलाकी विदाई तथा ऐसे ही अन्य स्थल शास्त्रीय परिभाषाके अनुसार करुण रसके अन्तर्गत न आते हुए भी न्यनाधिक करुण प्रभाव उत्पन्न करते है। उर्मिला-विरह तथा रामवनगमनकी स्थिति भी समानान्तर ही है, कदाचित् इसीलिए इनके वर्णनमें कवियोने 'करुणा' या 'करुण रस'-का स्पष्ट प्रयोग किया है। मैथिलीशरण गुप्त "करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर'मे और अधिक तूरोई। मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभृति' क्यों कहे कोई ?" (साकेत, ९)। तुलसीदास-'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहि सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ" (रा० च० मा०: २: ५६)। रामचन्द्र शुक्कने ऐसे ही स्थलोको ध्यानमे रखकर करुण और विप्रलम्भका अन्तर वताते हुए लिखा है कि वियोगमें प्रियके अपनेसे विछुड़नेकी विह्नलता प्रधान होती है, किन्तु शोकमे अपने कष्टकी भावना उतना काम नहीं करती, जितना प्रियके कष्टकी चेतना जीको जलाती है। इससे भी भावकी प्रधानता और अप्रधानताके आधारपर ही करुण और शृङ्गारके बीच अन्तर करनेकी पृष्टि होती है। केशवदासने वियोग शृंगारके चार मेदोमे एक करुण भी रखा है, जो इस बातका प्रमाण है कि दोनोकी सीमा एक विन्द्रपर मिल जाती हैं।

करुण रसके साथ जो इससे भी महत्त्वपूर्ण समस्या सम्बद्ध रही है, वह है दुःखके द्वारा आनन्दकी उपलब्धिकी। करुणके द्वारा प्रत्यक्ष तो दुःखकी अनुभूति होती है, परन्तु भारतीय काव्यशास्त्रमें रसोको आनन्दोत्पादक माना गया है, अतः सैद्धान्तिक दृष्टिसे करुण रसकी निष्पत्तिसे भी भावकको आनन्दकी ही उपलब्धि होनी चाहिये। करुण कान्यसे दुःखकी अनुभूति होती ही नहीं, यह कहना प्रत्यक्ष अनुभवका विरोधी समझकर अचार्योंने विविध प्रकारके तर्कों से इसका समाधान प्रस्तुत करनेका यत्न किया है। कुछ विद्वान् करुण प्रसंगोंसे आनन्दकी उपलब्धि सम्भव मानते है और कुछ इसके विरोधी है। संस्कृत काव्यशास्त्रमे इस विवादका मूल पर्याप्त प्राचीन है, इधर पारचात्य नाटकोमे प्राप्त ट्रेजिडीकी समस्या तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन यीक मनीषियोंके मतोपर भी इसीके साथ विचार किया जाने लगा है। 'ध्वन्यालोक' (२:८)मे आनन्दवर्धन-(९ श० ई० उत्त०)ने न केवल करुणमे 'माधुर्य' एवं 'आर्द्रता'की स्थिति मानी है, वरन् उसे शृङ्गार और विप्र-लम्मसे उत्तरोत्तर अधिक प्रकर्षमय भी बताया है, जिससे व्यंजित होता है कि वे करुण रसको शङ्कारसे भी अधिक तृप्तिकर अथवा आनन्ददायक मानते थे। मुक्तिवादके प्रतिपादक भट्टनायकने कहा है कि रसदशामें सत्त्वोद्रेक होनेसे भावकके लिए भावके क्षेत्रमें 'स्व' और 'पर'का भेद समाप्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप भावके सारिवक

आस्वादनसे उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। करुण रसमें भी यही बात चरितार्थ होती है। मधसदन सरस्वतीने 'मक्तिरसायन'में सांख्य दर्शनके आधारपर करुण आदि दःखात्मक रसोमें शुद्ध सत्त्वकी रिथति न मानकर गुणांमें तारतम्य स्थापित किया है। उनकी दृष्टिसे सतीगण उद्रेक-श्चन्य होता है, जब कि 'क्रोध' और 'शोक'मे रजोगुण और तमोराणकी प्रधानता रहती है, जिससे इनमे न्यूनाथिक उद्रेक अवस्य मिलता है। इसी कारण रौद्र रस और उससे उत्पन्न करुण रस विश्रद्ध आनन्दकी सृष्टि नहीं कर सकते। पर इसीके साथ अनुभृतिके लौकिक और अलौकिक रूपको भी स्वीकार करते है, जो रस-सिद्धान्त और उसके आनन्दवादका मूल आधार है। अभिनव गुप्तने रसदशाकी अलौकिक अनु-भृति और उसकी विलक्षणताका सूक्ष्म विवेचन करते हुए हृदयकी मुक्त-दशासे आनन्दकी प्राप्ति मानी है, जो उनके विचारसे सभी रसोमें अनिवार्थ रूपसे रहती है, अन्यथा रस-निष्पत्ति ही असम्भव है। विश्वनाथने केवल सचेतस व्यक्ति-योंको करुण रसके प्रति आकर्षित होनेमें सक्षम बताया है और करुणकी रसात्मकताको सीमित किया है। भोजने धन-अय और विश्वनाथके ही तर्कके आधारपर "दुःखदातापि सखं जनयति"का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार रितमे नखक्षतादि कष्टदायक होते हुए भी सुखसंवृद्धिके साधन होते है, उनके विचारसे उसी प्रकार करुण रसमे भी दःखद वस्तु ह सुखानुभृति उत्पन्न करती हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्रने अपने 'नाठ्यदर्पण'में इसी बातको 'पानक रस'का उदाहरण देकर प्रतिपादित किया है, जिसमे सुखास्वादकी तरह तीक्ष्ण आस्वाद भी रुचिकर लगता है—"पानकरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन, सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते। (प० १५९)।

कदाचित् इसी समस्यासे प्रेरित होकर अनेक आचार्यीने रसोको दो भागोंमें विभाजित कर दिया। शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त, ये पाँच रस अनुकूळवेदनीय होनेके नाते सुखात्मक वर्गमें रखे गये तथा करुण, रौद्र, वीमत्स और भयानक, ये चार रस प्रतिकूलवेदनीय होनेसे दु:खात्मक वर्गमे माने गये। रसोंके इस वर्ग-विभाजनका मूल स्रोत काफी पुराना है, यद्यपि सर्वाधिक प्रसिद्धि इसके लिए रामचन्द्र गुणचन्द्रको ही मिली। उनके 'नाट्यदर्पण'-की १०९वीं कारिका है-'सुखदःखात्मको रसः'। 'नाट्य-शास्त्र'की 'अभिनव भारती' टीकामे भी कहा गया है---'सख-दुःखखभावो रसः', अर्थात् रस मुख-दुख स्वभाववाले होते है। यह 'नाट्यदर्पण'से पहलेकी रचना है। हरिपालके 'संगीतसुधाकर', रुद्रभट्टके 'रसकलिका,' 'दशरूपक' आदि अनेक ग्रन्थोंमें भी करुण रसको दुःखात्मक मानकर उसकी आनन्दात्मकतापर विचार किया गया है। रसिकोंकी उसमें उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होती है, इसको करुण रसमें स्थिर आनन्दका प्रमाण माना गया है यथा—''अत्रोत्तरोत्तरारसिकानां प्रवृत्तयः। यदि वा लौकिककरणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेतं" (धनिककृत न्याख्या : द० रू०, ४: ४४,४५) । इस समस्यापर अनेक आधुनिक मराठी विद्वानीने भी विचार किया है। द० के० केलकरने अपने 'काव्या-

लोचन' नामक अन्थमें करुणकी दुःखात्मकताके पक्षमें तर्क प्रस्तुत किया कि यदि अश्रपात आदि दुःखबोधक अनुभाव आनन्दके व्यंजक माने जाय तो इनकी उपस्थिति रति आदि सुख्दशाओं में भी होनी चाहिये, जो नहीं होती। अतः ये दुःखके ही लक्षण है और करुण दुःखात्मक रस ही है। उन्होंने एक मौलिक प्रश्न यह भी उठाया कि आनन्दको ही क्यों इतनी प्रमुखता दी जाय, दःख भी प्रमुख है। करुणके नियतिकृत, व्यक्तिगत और आदर्शात्मक, ये तीन रूप मानते हुए उन्होंने आनन्दकी उपलब्धि केवल आदर्शात्मक करूपसे ही सम्भव मानी । आगरकर और जोग आदि विचारकोने भी लगभग ऐसी ही धारणाएँ व्यक्त की है। दा० ना० आपटेने मनके अणु और विभु, दो भेद माने है और कहा कि अणुरूप मन निरन्तर आनन्दलीन रहता है। केवल विभुरूप मन दुःखादि लौकिक दशाओंसे सम्प्रक्त होता है। आधुनिक मनोविज्ञान इन भेदोको स्वीकार नहीं करता, अतः इनपर आधारित करुण रसकी न्याख्या भी मान्य नहीं हो सकती। दि० के० वेडेकरने रसीके पूर्वोल्लिखित सुख-दुःखात्मक विभाजनको 'देवासुरकथा'की पौराणिक परिकल्पनापर आधारित बताया, जिसके अनुसार करुण रस आसरी रसोंकी कोटिमे आता है। (दे० 'आलो-चना' अंक ४)पर उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि "आधुनिक साहित्यमें करुण रस रौद्रका ऐसा अनुचर नहीं है। वह स्वतंत्र है। व्यक्तित्वका गौरव और श्रेष्ठ व्यक्तियो-में हिरपे किसी दोपके कारण उदात्त व्यक्तिको जो दारुण व्यथा सहनी पडी, वह आजकी करुण कथाओंका विषय है" (दे० वही) । मराठी साहित्यके एक अन्य विवेचक वामन मल्हार जोशीने करुण रसकी आधुनिक व्याख्या करते हुए उससे आनन्दकी सृष्टि सम्भव मानी है। बाटवे व्यक्ति-भेदके आधारपर ही करुणमें आनन्दकी स्थिति मानते है, उसी प्रकार जिस तरह विश्वनाथने सचेतस् व्यक्तियोंको ही करुणसे आनन्द्र पानेमे सक्षम बताया है। संक्षेपमे कहा जा सकता है कि आधुनिक रस-विशेचकोने करुण रसके आनन्द-प्रद होनेकी प्राचीन स्थापनाका सर्वथा तिरस्कार नहीं किया है।

ट्रैजिडीको टेकर योरोपीय समीक्षकों द्वारा जो समाधान करूण हरयोके प्रभावके सम्बन्धमें व्यक्त किये गये, उनके मूलमे प्रायः अरस्तू (४ इा० ई० पू०)का 'कैथासिंस' सिद्धान्त किसी-न-किसी रूपमें अवस्य मिलता है। 'कैथासिंस'(दे०)का अर्थ है मनोरेचन। भयद एवं कारुणिक हरयोके देखनेसे अन्तर्भनके विकारोंका रेचन हो जाता है और यह अन्तरः चित्तवृत्तिके लिए स्वस्थ होता है। शेक्सपीयर (१५६४-१६१६ई०)के प्रसिद्ध दुःखान्त नाटकोंकी व्याख्या बहुधा इसी दृष्टिकोणसे की जाती रही है। निरुचय ही मनोरेचनका सिद्धान्त करण भावोके विवेचनमे एक महत्त्वपूर्ण विचार-कोण प्रस्तुत करता है। होगेल (१७७०-१८३१ ई०)ने मनुष्य और ईरवरके सम्बन्धकी रहस्यात्मकता तथा मानव-आचरणकी नैतिक भावनाको ट्रैजिडीका मूल माना। कारुणिक और दुःखद घटनाएँ मानव-जीवनको परिचालित करनेवाली किसी महान् रहस्यमयी शक्तिका बोध कराती है, अतएव साहित्यमें करुण हर्योंका चित्रण

हीगेलके मतसे एक उद्देश्यविशेषको भी व्यक्त करता है और यह उद्देश्य नैराइयका प्रसार न होकर जीवनके प्रति श्रद्धा और विश्वासका प्रसार है। शापेनहावर (१७७८-१८६०ई०), नीत्शे (१८४४-१९००ई०) आदि दार्शनिको तथा ड्राइडन (१६३१-१७००ई०), एडिसन (१६७२-१७१९ई०), डि० किंवसी (१७८५-१८५९ई०) आदि समीक्षकोंने ट्रेजिडीकी समस्यापर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किये है, जिनका स्वतन्त्र महत्त्व है।

करुण रसके भेद: साधन, आलम्बन धर्म-अपचय, मन-वचन-क्रिया तथा प्रभावकी मात्राको आधार मानकर करुण रसके अनेक भेद काव्यशास्त्रमे मिलते है। साधनके आधारपर 'इष्टजन्य', 'स्मृत अनिष्टजन्य' तथा 'श्रुत अनिष्ट-जन्य' आदि भेद मिलते है, जो मूलतः करुण रसके उत्पादक कारणोंके ही, 'इष्टनादा' और 'अनिष्टप्राप्ति', जिनका उल्लेख प्रारम्भमें किया जा चुका है, समानान्तर है। स्मृत और श्रत केवल अनिष्टबोधके प्रकारको व्यक्त करते है, जिनके और भी प्रकार हो सकते है। 'रसतरंगिणी'में भानुदत्तने करुणके आलम्बनको दृष्टिमे रखकर 'स्वनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' नामक दो भेद किये है। जब शाप, बन्धन, क्लेश, अनिष्ट आदि अपने अर्थात् आश्रयसे ही सम्बद्ध हों, दूसरे शब्दोंमें जब आश्रय ही स्वयं करुण रसका आलम्बन - हो तो उसे स्वनिष्ठ करुण कहा जायगा, पर जब उक्त वस्तुओंका सम्बन्ध अपनेसे पृथक आलम्बनसे हो तो वह परनिष्ठ करुण होगा। आनन्दप्रदाश दीक्षितने इनके स्थानपर 'करुणाजनक' और 'करुणाजनित' रान्दोंका प्रयोग वांछित माना है (काव्यमे रसः अप्र० थीसिस, पृ० ४३३, ३४)। भरतके 'नाट्यशास्त्र'में करुणके तीन भेद मिलते है-१. (अध्याय ६ : ७८) धर्मोपवातज, २. अपचयोद्भव, ३. शोककृत । इनमें अन्तिम शोककृत सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। भावप्रकाशकारने मन, वचन और क्रियासे अभिन्यक्ति लक्षित करके करणको मानस, वाचिक और कर्म तीन प्रकारका माना है। इन्हें अनुभाव-भेद कहा जा सकता है।

मात्राके अनुसार किये गये करुणके पाँच भेद उक्त-भेदोंकी अपेक्षा हिन्दीमें अधिक प्रसिद्ध है--१ करुण, २. अतिकरण, ३. महाकरण, ४. लघुकरण, ५. सुखकरण। रीतिकालीन आचार्य कवि देवने अपने 'शब्दरसायन'के अन्तर्गत इन भेदोका उहेख किया है-"करना अतिकरना अरु महाकरुन लघु हेत। एक कहत है पॉचमे, दुखमें सुखिं समेत" (पृ० ३८) । गुलाबरायने अपने 'नवरस' नामक यन्थमें इनपर विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रथम तीन भेदोंमें तो करणाकी मात्रा उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है, पर लघुकरूणमें कुछ कम हो जाती है। वहाँ वह केवल चिन्ताके रूपमे रहती है। अनिष्टका नाम रहता है, पर आशा नहीं टूटती। चित्त दुविधामें रहता है। अनिष्ट-निवारणका पूरी तरहसे प्रयत्न होता रहता है। सुखकरण वह करण है, जो हर्पमें बदलनेवाला हो, किन्तु वहाँ पिछले वियोगजन्य करुणका प्रबल आवेग हर्षको प्रभावित कर मनुष्यको रुला देता है। हर्षके ऑसू इसी प्रकारके होने हैं" (पृ० ४४१) । संस्कृत काव्यशास्त्रके

प्रमुख अन्थोंमें इनका उछेख नहीं मिलता, कदाचित् इसीलिए, आनन्दप्रकाश दीक्षितने इन भेदोकों निस्सार बताया है। वे किसी-न-किसी दूसरे रसमें इनके अन्तर्भावके पक्षमें है। रसाखादमे स्तरभेद उन्हें अभीष्ट नहीं, यद्यपि आनन्दवर्धन आदि आचार्योतकने रसोंमे प्रकर्ष-भेद माना है। ये भेद निश्चय ही करुण रसकी अनुभृतिके विभिन्न स्तरोंको व्यक्त करते है और इन्हें सर्वथा निराधार या असिख नहीं कहा जा सकता।

हिन्दी साहित्यके वीरकाव्यमें करुण रसकी अभिव्यक्ति बहुत कम हुई है, यद्यपि मृत्यु और अनिष्टकी परिस्थितियाँ आयी है। कही-कही रसाभासके रूपमे करुण आया है। मान कविमे कही करुणाका दर्शन होता है (रा० वि०, १:३७) । यत्र-तत्र आभासभर मिलता है । भक्ति-साहित्यके आशा-उल्लासमें करुणको अधिक अवसर नहीं था, यद्यपि कृष्णके मथुरा जानेका प्रसंग अपनेआपमें करुण है और सूर जैसे कविने अत्यधिक भावात्मक शैलीमें अंकित भी किया है। वस्तुतः इस अवसरपर यशोदा तथा गोपियोके मनमे कृष्णके विषयमें आ शंकाका भाव करणाकी सृष्टि करता है। आगे गोपियोंकी वियोग शृंगारकी सघन मनोदशा यत्र-तत्र करुण जान पडती है। राधाका चित्र अपनी वियोग-व्यथामे मौन तथा करुण है। तुलसीके कथा-काव्यमें करुण रसको अवसर मिला है। कैकेयीके वरदानोंको सुनकर दशरथके मनकी करुणाका सुन्दर चित्रण तुलसीने किया है। इसके अन्तर्गत कविने राजाके मनके आशंका, मोह, विषाद, दैन्य, जड़ता, उन्माद, त्रास, स्तम्भ, मूर्च्छा आदि अनेक संचारियोका सहज और सूक्ष्म अंकन किया है। इस करुणाके प्लावनमें सारी अयोध्या नगरी वह जाती है। राम-वन-गमन और बाटमें दशरध-मरणकी परिस्थितियाँ करुण रसके अनुकूल है और कविने इसका विशद वर्णन किया है। सुमन्त्रका अयोध्या वापस आना, दशरथका समाचार पाना, उनका मरण, भरतका अयोध्या आना आदि ऐसे प्रसंग है। इन करुण प्रसंगोको तुलसीने 'कवितावली' तथा 'गीतावली'में भी चित्रित किया है। सूफी प्रेमी कवियोंने वियोगके वर्णनके अन्तर्गत करुण परिस्थितियोका अवस्य अंकन किया है, उदाहरणके लिए जायसीका 'नागमती-वियोग' लिया जा सकता है। रीतिकालके कवि इसका समुचित निर्वाह नहीं कर सके, उनके उदाहरण कमजोर है। मुक्तकोमे यह सम्भव भी नहीं था। भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने 'हरिश्चन्द्र' नाटकमें इसकी सफल अवतारणा की है। भारतेन्द्रने तथा इस युगके कई कवि और लेखकोने देश-दर्दशापर भी करुण रसकी कविता की है। आधुनिक महाकाव्यों तथा प्रवन्धकाव्योमे यत्र-तत्र इसका वर्णन मिलता है। छायावादी कवियोमे महादेवीके काव्यमें करुणाका विशेष उल्लेख किया जाता है, पर यह भावाभिन्यक्ति वियोग शृंगारके अन्तर्गत आती है। —सं०

**करूण विप्रलम्भ**-दे॰ 'विप्रलम्भ शृंगार'।

करणा-दे॰ 'महायान'। कप्र-दे॰ 'बोल-कक्कोल-योग'।

कलमा—वह वाक्य, जो इस्लाम धर्मका मूल मन्त्र है। वह वाक्य है ''ला इलाह इल्ल्लाह सुहम्मद यून रस्ल इलाह' अर्थात् अलाहको छोडकर दूसरा कोई परमात्मा नहीं और मुहम्मद अलाहका रस्ल है। इसमें 'ला इलाह इलाह' तो कुरानमें श्राया है, लेकिन बादका अंश नहीं। इस्लामके अनुयायियोंका कहना है कि मुसलमानको जीवनमें कम-से-कम एक बार जोरसे इसका उच्चारण करना चाहिये। —रा० पू० ति० कलहंस —विणक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। दे०—'मनोहंस'।

कलहांतरिता (नायिका) - अवस्थानुसार नायिकाओं के विभाजनका एक भेद । विशेषके लिए दें --- 'नायिका-भेद'। 'अभिसन्धिता'के नामसे सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। क्लहके कारण अलग हुई, इस शब्दका अर्थ है। भानदत्तने इसे 'पतिमवमत्य पश्चात्परितप्ता' कहा है (र० मं०, पृ० १०४)। अर्थात पतिका अपमान करके पुनः पश्चात्ताप करनेवाली नायिका। मतिरामने कारण 'कह्यो न मानै कन्तकी' स्वीकार किया है, पर पद्माकरने 'प्रथम कछु अपमान करि' कहा है। नायिकाके इस रूपके अन्तर्गत स्वकीयाके मन्धादिक भेद, परकीया तथा सामान्याको माना गया है। मन्धाका मान सहज रिसके कारण है, इसी कारण उसके पश्चात्तापमें मामिकता अधिक है- "आयहु अबिह गवनवाँ जुरुते मान । अब रस लागहिं गोरियहिं मन पछतान' (रहीम: बरवै०, ४७)। "लाजके अठीट कै कै बैठती न ओट दै दै, घूँघटकौ काहेकों कपट पट तानती।' (देव: ब्र॰ भा॰ ना, रे: ५२०)। मध्या कल्हान्तरिताकी आकुलता अधिक स्पष्ट हो जाती है—"थिक गइ मन-बनहरिया फिरिगो पीय। मैं रुठि तुरति न लायउ हिमकर हीय' (रहीम: बरवै०, ४९)। मुन्धा जब "अतन ताप तन ही सहै मन ही मन अकुलाइ', तब मध्या 'कलह कहरकी लहरमे परी तिया पछिताय" (पद्माकर: ज० वि०, १: १७२, १७४) । प्रौढाका पश्चात्ताप समर्पणकी सीमापर पहुँच जाता है-"अंजुलि जोर निहारि गरें परि हौं हरि प्यारेके पॉय परौंगी" (देव: ब्र० भा० ना०, ५२६)। वह अपनी विकलताको सँभाल पानेमें असमर्थ जान पडती है-"प्राननकी हानि-सी दिखान-सी लगी हाय कौन गुन जानि मान कीन्हौं प्रान प्यारे सों" (पद्माकर: ज वि०, १: १७५)। परकीया अपने मानके लिये अत्यधिक उद्धिग्न तथा विकल है, उसके लिए यह स्थिति अधिक मार्मिक व्यथा की है—''जेहि लगि कीन विरोधवा ननद जेठानि । रखिउ न लाय करेजवा तेहि हित जानि" (रहीम: बरवै०, ५०)। वह दोनों ओरसे क्लेश पा रही है-- "जोरत हू सजनी विपति तौरत विपति समाज। तेह कियो बिन काज पुनि तेहि कियो बिन काज" (मतिराम: र० रा०, १४१) । सामान्याके पश्चात्तापमें धनहानिका भाव प्रधान रहता है-"'जिहि दीन्हेउ बहुँ बिरिया महि मनिमाल । तिहिते रुठेउ सखिया फिरि गये भाग" (रहीम: बरवै०, ५१)। रीतिकान्यमे इस नायिकाके रूपके अन्तर्गत विह्वलता, पश्चात्ताप, मनोव्यथा तथा ग्लानि आदि मनोभावोका अंकन है और इन वर्णनोंमें उक्तिवैचित्र्य-का निर्वाह किया गया है। कला १-(१) मायाके पाँच कंचुकोमेंसे एक (दे० कंचुक) । छः परिश्रहों मेंसे ब्रह्मका दूसरा परिश्रह (दे॰ परिश्रह)। र. कलाशक्ति या विभूतिका व्यक्त रूप है। किसी भी देवताकी शक्ति सोलह कलाओं विभाजित मानी जाती है। देवताका वह स्वरूप, जिसमें सभी कलाएँ वर्तमान हों, 'पूर्णकला मूर्ति' कहलाता है। 'कलामूर्ति' वह है, जिसमें सीलहमें एक या उस (सोलह)का कोई हिस्सा वर्तमान हो। कलामूर्तिंसे भी जिसमे कम कला हो, उसे 'अंशमूर्ति' और उससे भी कम कलावालेको 'अंशांश मूर्ति' कहते है।

शिवके दो स्वरूप है—निष्कल (निर्गुण) और सकल (सगुण)। निष्कल कलाहीन है, जब कि सकल कलायुक्त। सकलशिव शक्तिस्वरूप है। उनमें और शक्तिमें कोई अलगाव नहीं, वे दोनों एक ही है। शिवका धर्म शक्ति है। धर्मी और धर्म अलग-अलग नहीं रह सकते। मत्स्येन्द्रनाथने कौ० झा० नि० (१७।८)में कहा है कि "शक्ति बिना शिव नहीं रहते और शिवके बिना शक्ति नहीं रह सकती"। शक्तिहीन शिव शव है, निर्गुण और निष्कल हैं। निष्कल शिव कलाहीन है, शक्ति कलावती है। इसीलिए उन्मनीमें—जो शिवतत्त्वमें अवस्थित होती है, कलाएँ नहीं मानी जातीं। शक्तितत्त्वमें अवस्थित समनीमें कलाएँ होती हैं। 'नेत्रनन्त्र'के अनुसार समनीमें सात कलाएँ है।

षटचक्र निरूपण तथा उसकी कालीचरण और विश्वनाथ-की टीकाओंमें विलीनशक्ति नामकी एक शक्तिका उल्लेख मिलता है। इसकी दो कलाएँ बतायी गयी है- निर्वाण-कला और अमाकला और इन्हें क्रमशः सत्रहवी कला माना गया है। उन्मनी शिवपद है, जो काल और कलासे अतीत है। अतः शक्तितत्त्व ही उक्त दोनों कलाओंका उद्गम स्रोत है। शक्तितत्त्वमें सर्वोच शक्ति समनी है। परिशव और परशक्तिके सम्मिलनसे क्षरित अमृनकी वह ग्राहिका है। वस्तुतः एक ही शक्ति सत्रहवी कलाके रूपमें अमृताकाररूपिणी है और सोलहवी कलाके रूपमें अमृतकी ग्राहिका। अमा सुष्टयुनमुखी भी है और अर्ध्वशक्तिरूपा भी। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि शक्ति-तत्त्वमें दो कलाएँ है, जो शक्तिके पररूप और कर्तृरूपकी उपस्थापिकाएँ है—चाहे हम उन्हें निर्वाणकला अमाकला कहे, चाहे अमृताकारा और अमृतकला कहें। इनमेंसे सोलहवी कारयित्री शक्ति है और सत्रहवी चिन्मात्र-स्वभावा। स्पष्ट है कि कलाओं के नाम और उनकी संख्याके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद हैं। मुण्डकोपनिषद्(३।२।७)में तीन पुरुषों (दे॰ पुरुष)में से हरएककी पॉच-पॉच (अर्थात् कुल पन्द्रह) कलाओका उल्लेख है। सोलहवी कला 'ईश्वराम्नाय' (दे॰ पुरुष)के भी 'परात्पर' (दे॰ पुरुष)में लीन हो जानेपर उत्पन्न होती है। अतः मुण्डकोपनिषद्के अनुसार ब्रह्मकी सोलह कलाएँ है (विस्तृत विवरणके लिए देखिये—वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति : चतुर्वेदी) । —रा० सिं० कला २—कला मानव-संस्कृतिकी उपज है। निसर्गसे युद्ध करते हुए मानवने श्रेष्ठ संस्कारके रूपमें जो कुछ सौन्दर्यबोध प्राप्त किया है, 'कला' शब्दमें उसका अन्तर्भाव है। परि-स्थितियोको इष्ट आकार देकर ही मनुष्यने मानव-संस्कृति-को जन्म दिया और उसे विकासके 'पथपर आरूढ किया।

पद्मा और मनुष्यमे सबसे वडा अन्तर ऊर्ध्वोन्मख चेतनाका है, जो उसे प्रकृतिपर विजय प्राप्त करने और परिस्थितिको इच्छित स्वरूप देनेमें समर्थ बनाती है। आहार-भय-मैथनादि सामान्य पद्म-क्रियाओसे ऊपर उठकर मनुष्यने जब आत्मचैतन्य प्राप्त किया, तब उसमें एक नयी दीप्तिका आविर्माव हुआ। जीवन-कलहसे थोडा अवकाश पाते ही मनुष्य अपने संघर्षपूर्ण अनुभवोसे लाभ प्राप्त करता हुआ सख-सविधाकी ओर बढता है। पर्णकटीसे प्रासादतक बढते हुए मनुष्यने अपनी निरन्तर वृद्धिमान् आवश्यकताओकी पूर्ति ही नहीं की, अपितु उसने अपने भीतर उत्कृष्ट सौन्दर्य-चैतनाका विकास किया और ज्ञारीरिक आवज्यकताओंसे ऊपर उठकर मनकी सन्तृप्तिको अपना लक्ष्य बनाया। पकान्न और सुगन्धित द्रव्योंका आविष्कार, रंगोलीकी कला, चाँदी-सोनेके आभूषणोका वैचित्र्य, चित्र और मूर्तिका निर्माण, इष्ट-मित्रो-के हास-विनोद, कथा और काव्य, ये सब मानवकी सतत विकासोनमख कला-चेतनाके ही विभिन्न स्वरूप है। मानसिक दृष्टिसे आह्नादकारक ये चेष्टाएँ मनुष्यके भाव-जगत्को निरन्तर तरलता और सन्दरता प्रदान करती रही है।

कलाका 'उपयोगी कला' और 'लिलत कला'मे विभाजन किया जाता है और यह बताया जाता है कि उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है तथा लिलत कला मनके सन्तोषके लिए है और उसमे उस विशिष्ट मानसिक सौन्दर्यकी योजना है, जो उपयोगितावादसे भिन्न वस्तु है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कलाके इन दोनों भेदोंका विकास साथ-साथ हुआ और मानवके सहजीवन और उसकी माधुर्य-साथनाके फलस्वरूप ही ये दोनों नित्य विकासमान् रहे। कर्म-कुशलता ही कला है। कला और मनुष्यका सम्बन्ध अविभाज्य है। मानवके द्वारा कलाको प्रतिष्ठा हुई और कलाके द्वारा मानवने आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त किया। पाश्चिक विकारोकी तीव्रता कम करनेमें 'साहित्य, संगीत, कला'का योग-दान अप्रतिम रहा है। कलाके द्वारा ही मानव-जीवनमे माधुर्य और सौन्दर्यशीलता-का जन्म हुआ और कर्तव्य-कर्म सुन्दर एवं मधुर बना।

कलाका उद्गम सौन्दर्यकी मूलभूत प्रेरणासे हुआ है। सौन्दर्यामिरुचिका प्रमाण मनुष्यकी अनुकरणप्रवृत्ति है। प्रकृतिका अनुकरण और अतिक्रमण मानवकी सर्वोपरि चेतना है। प्रकृतिके रमणीय दृश्य, जैसे सूर्योदय, सूर्यास्त, मानव-मनको आनन्दसे भरते रहे है। इन दश्योका वह स्वतः भी निर्माण करे, ऐसी इच्छा मनुष्यके मनमे जागरित हुई। कोकिलके पंचम स्वरने उसे संगीतकी प्रेरणा टी। इसी प्रकार निर्झरने उसे नृत्यके लिए अग्रसर किया। दुर्दम्य शत्रुओंके पराभवके उपरान्त अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिए अथवा दैवकी कृतज्ञतामें बलिदानके अवसरपर मनुष्यके सामृहिक नृत्यगीत-अभिनयके आयोजनसे नाट्य-कलाको जन्म मिला। दुःखमय परिस्थितिको कल्पनामें द्धवाकर जीवनके संघर्षीमें उसने रस लिया और हर्ष-शोक, सुख-दु:खको रस-निष्पत्तिका विषय वनाया। कलामे क्षोम और श्रमका परिहार है, मनका रंजन और उद्घोधन है, विगत अनुभवोंकी सुखद पुनरावृत्ति है, यह जब मनुष्यने जाना तभी तो आकांक्षा-मधुर कळा-निर्मिति और कळानन्द का जन्म हुआ।

कलाकी निर्मितिमें कलाकारको एक विशिष्ट आनन्दकी उपलब्धि होती है और आनन्द-दान ही कलाका उद्देश्य है। इस कलानन्दमें अनेक कोटियाँ है। परन्त कलानन्द शास्त्रज्ञानसे उत्पन्न आनन्द (ज्ञानानन्द)से भिन्न और उत्क्रष्ट है। ज्ञानानन्द अपने श्रेष्ठ स्वरूपमे अमूर्त और कष्ट-साध्य है। कठिन बौद्धिक श्रमके बाद ही उसकी उपलब्धि होती है, परन्तु कलानन्द भावनात्मक और मूर्त-खरूप होनेके कारण सरल-ग्राह्य और सार्वजनीन है। शास्त्रमे जहाँ तात्त्विक सत्यका विकास है, वहाँ कलामें अनुभूत सत्य अथवा काल्पनिक सत्यका प्रसार है। एक तरहसे ज्ञानानन्द-का मूळ खण्डानुभवांका सम्बन्ध-निर्धारण है, परन्त कलानन्द समय दर्शन है। दोनोके मूलमें उत्कण्ठाका भाव है। परन्तु यह उत्कण्ठा दो प्रकार की है-ज्ञानमें ज्ञेय वस्तकी पर-परता लक्षित है तो कलाग्रसत आनन्दानुभृतिमे उसकी आत्मपरता अथवा स्वीयताकी: स्वीकृति है। इस प्रकार कलानन्द ज्ञानानन्दसे श्रेष्ठतर है। इसीलिए उसे लोकोत्तर एवं 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है।

क्लाका एक लक्ष्य कुतूहलपृति भी है। मनुष्यको इन्द्रिय-बन्धनों एवं देश, काल, परिस्थितियोकी मर्यादाओंसे जपर उठाकर कला कल्पनाकी सहायतासे कलाकारकी कुत्हलपृति एवं इच्छापृतिका साधन बनती है। इस कुतूहरुपृतिं एवं इच्छापृतिंसे जिस उत्कर्यमय आनन्दका जन्म होता है, वही कलाका आनन्द है। अतः कलामें प्रत्यक्षकी अपेक्षा अप्रत्यक्ष, वस्तु स्थितिकी अपेक्षा सम्भान्य और सत्यकी अपेक्षा कल्पनाका अधिक महत्त्व है। कल्पना द्वारा मनुष्य अपनी अनुभृतिमे नये प्रत्यय जोड़ता है, नये अनुभवोमे जीता है। फलस्वरूप उसमे नवचैतन्यका जनम होता है। यही कलाका आनन्द है। मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है। अतः उसका सुख-दुःख अन्य प्राणियोके सुख-दःखते बॅधा है। इसीलिए उसका व्यक्तित्व समरस नहीं हो पाता । भावनाओ और विचारोके संवर्धस्वरूप उसके भीतर जो आन्दोलन होते रहते है, वे उसे अपूर्णताकी दुःखद सचना देते है। ऐसी स्थितिमे 'कला' उसके भीतर सन्तुलन स्थापित करती है। प्रणय-भंग, महत्त्वाकांक्षाका विरोध, किकर्तव्यविमृदता, अन्तर्मनका क्षोभ, ये कुछ ऐसे कारण है जिनपर मनुष्यका बस नहीं चलता। इसीसे मनुष्य अन्त-र्मुखी बनता जाता है और अपने भीतर ऐसे लोकका निर्माण करता है, जहाँ इन दुःखोका बाध है अथवा अखण्ड आनन्द-की स्थिति है। यहीं से कलाका जन्म होता है। कलाके द्वारा मनष्यका मानस-क्षितिज उदार, व्यापक और उन्नत बना है। उसने दःखमे भी सुखकी अनुभृति की है। पीड़ा उसके लिए चन्दन वन गयी है।

क्यो मनुष्य त्रासकीय कलामें आनन्द प्राप्त करता है ? कारण है मनकी अन्तर्भुखता, जो सुखद घटनाकी अपेक्षा करुण-गम्भीर घटनासे अपिक रस ग्रहण करती है। प्रेक्षक अपने क्षुद्र दुःखोंको भूलकर रंगमंचपर स्थित महान् व्यक्ति-(नायक)के दुःखमें विभोर हो जाता है, इस प्रकार सम-रसत्वको प्राप्त करता है। मानव मनका एक भव्य पहलू यह है कि वह तटस्थ वृत्ति ग्रहण कर सकता है और साधारणीकरण द्वारा सबके सुख-दुःख अपना सकता है। कला इस अतिक्रमणमें उसकी सबसे अथिक सहायक है। कलाके आखादसे अमपरिहार और मनके उद्घोधनकी भी सृष्टि होती है। कलाके नन्दन वनमे प्रवेश करते ही भाव-कका सारा मनस्ताप गल जाता है और परिस्थितियों से ऊपर उठकर प्रेक्षक अप्रत्याशित सफलताओं का अनुभव करता है। इस प्रकार कलानन्दके स्वरूप और कार्यके सम्बन्धमें अनेक्र प्रकार से विचार किया जा सकता है।

√कलाएँ अनेक है, परन्तु कलाका ध्येय सर्वत्र एक ही है-सीन्दर्यका अनुसन्धान अथवा रसानुभूति। कलाका जन्म मनकी जिस मधुमयी भूमिकासे होता है वह सर्वत्र एक है। प्रणय-वंचनाके दारुण दुःखकी अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनयमे हो या मूर्तिमे या चित्र-संगीतमे अभि-व्यंजनका खरूप भिन्न होनेपर भी मूल सवेदनामे कोई भेद नहीं होगा। समस्त कलाएँ परस्पर सम्बद्ध है और उनका लक्ष्य समान है। चित्र, नाट्य, संगीत, काव्य इत्यादि कला-प्रकारोंमें तेरितमता स्थापित की गयी है, परन्तु यह भुला दिया गया है कि प्रत्येक कलामें आंशिक रूपसे सभी कलाओंका उपयोग सम्भव है। संगीतमे खर प्रधान है, काव्यमे शब्द, परन्त्र श्रेष्ठ काव्यमें गेयताका कम उपयोग नहीं है। संगीत स्वतन्त्र कला है। परन्तु कवितामे वह शब्द रस-परिपोषक बनकर ही सार्थक होता है। प्राचीनोने गीत, नृत्य और वाद्यका संगीतके भीतर ही समावेश किया था, क्योंकि उनका मूलाधार है गतिमानता। यही गतिमानता छन्द्रपद्धतिके द्वारा प्रकट होती है। चित्रकलाकी भाषा है 'रंग' अथवा 'रेखा', परन्तु वाड्मयमे शब्दचित्रोंका कम महत्त्व नही है। क्रील्पको तो मूक काव्य ही कहा जा सकता है। वास्तवमे महान् कलाकृतियाँ समान रूपसे सभी कलाओंको प्रभावित करती रही हैं। समस्त भारतीय चित्रकला और शिल्पकला 'रामायण' और 'महाभारत'पर आधारित है और महान् कला-मन्दिरों एवं चित्रोने कवियोंको बराबर स्फूर्ति दी है। ऐसी स्थितिसे यह प्रश्न उठता है कि कलाके भिन्न-भिन्न प्रकारभेद किन आधारोपर अवलम्बित किये जायँ । वास्तवमे कलाओंका अन्तिम ध्येय एक होनेपर भी माध्यमकी विभिन्नता और उसकी मर्यादा उनकी अभिन्यंजना-शैली एवं सामर्थको सीमित कर देती है। इसीसे उनके आकार और वैशिष्ट्य भिन्न-भिन्न होते है, जैसे शिल्पकी साकारता चित्रमे नहीं है और न चित्रका रंग-वैशिष्ट्य चित्रमें है। नृत्यकी गतिमयता शिल्प, चित्र और अन्य स्थिर कलाओं में नहीं है। संगीत अन्य कला है, उसके श्रुति-माधुर्यका अनुभव चित्रकलामे कहाँ मिलेगा ? केवल नाट्य ऐसी कला है, ज़िसमें संगीत, नृत्य, शिल्प और वाड्मय, सबको संहति है, इसीलिए नाट्यकला जैसी सार्वजनीयता अन्य कलाओंमें नहीं है। नाट्यकला भिन्न-भिन्न रुचिके रिसकोंमें जिस प्रकार प्रियता प्राप्त कर सकती है, वैसा शेष कलाओके लिए सम्भव नहीं है। अन्य कलाओंमें माध्यम बदलनेसे ही कलाका स्वरूप और उसका शास्त्र ब्रदल जाता है।

्रकलानुभृति एकरस और अखण्ड है, यह ऊपर बता चुके हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कलानुमृतिका स्वरूप क्या

है ? पहली वस्तु जो स्पष्ट है, वह यह है कि कलानुभूति निर्वेयक्तिक है। उत्कृष्ट कलाकृति हमें व्यक्तिगत सकीर्ण-ताओसे ऊपर उठा देती है और हम आत्मविभीर हो जाते है। कलानंद (रस)के आस्वादनमे प्राथमिक स्तरोंपर चाहे जितनी भी चेष्टा करनी पड़े, यह स्पष्ट है कि कलानुभृतिके अन्यतम क्षणोमे रसिक कलाकृतिमात्रसे साक्षात्कार प्राप्त करता है; उसके लिए जैसे शेप संसारकी रिथति है ही नहीं। दूसरी वात यह है कि भावकको व्यक्तित्वसे मुक्ति देफर अथवा आत्मविभोर करके कला उसके भीतर लोकोत्तर आनन्दका संचार करती है। ब्रह्मानन्दकी कल्पना भी कुछ ऐसी ही है, परन्तु ब्रह्मानन्द स्थायी वृत्ति है, कलानुभूति (रसानुभृति) क्षणिक और स्वल्प है। दोनो प्रकारके आनन्दका आधार 'भूमा' (आत्मविम्तृति)का सुख है। 'भूमामें सुख है, अल्पमें नहीं', ऐसा श्रुति कहती है। साथ ही ब्रह्मानन्दमें सत्यका भी प्रत्यक्षीकरण है, अर्थात् प्रत्यक्ष (वास्तव)का दार्शनिक ज्ञान भी सम्मिलित है तथा नैतिक दृष्टिकोणका भी समावेश है। कलानुभूति निर्विशेष रसानुभृतिमात्र है, उसके लिए न दर्शनज्ञानकी अपेक्षा है, न उसके साथ कोई नैतिक दायित्व चिपटा हुआ है। वह अपनेमे पूर्ण है। मोक्ष-सुखसे वह न्यूनतर इसलिए है कि वह अचिरस्थायी है और उसका स्रोत भोक्ताके बाहर है, भीतर नहीं। फिर भी अनुभूतिकी एकान्विति और उसकी विचक्षणता उते सामान्य लोकानुभूतिसे उत्कृष्ट बना

यह कहा जा सकता है कि कला जीवनसे पराङ्मुख हो सकती है, वह नीति-निरपेक्ष बन सकती है, परन्त ब्रह्मानन्दमें जीवन और नीति दोनोका अन्तयोंजन है। इसीसे कला सार्वजनीन और सहजसाध्य भी है। परन्तु कलाकारका दायित्व मात्र कलाके प्रति है। इसी प्रकार क्ला-रसिक अपनी अनुभूतिकी सच्चाईके प्रति ही उत्तरदायी है। जहाँ रसानुभूति जीवनसे पराङमुखन होकर जीवनको अन्तर्योजित करनेमें समर्थ हो जाती है अथवा उच्च नैतिक भूमियोका उद्घाटन करने लगती है, वहाँ वह अपनी सीमाका विस्तार ही करती है। उत्कृष्ट कलाका स्थायी मान मानवीयता है, जिसमें लोकमंगल और नीतिमयताका समाहार है। वह समय और समष्टिगत अनुभव है। इस दृष्टिसे वह मानवकी विशुद्धतर और चरमतर संवेदना है। सम्भवतः इसीलिए श्रुति 'कविर्मनीषी' कवि और द्रष्टा (ऋषि)को एकीकृत कर कहकर देती है।

कलामें जीवनके प्रति पलायन नहीं है, उसमें जीवनकी रसपूर्ण स्वीकृति है। जहाँ कला जीवन-वैषम्यसे भागकर कलाके आदर्शलोकका निर्माण करती है, वहाँ वह अन्ततः जीवनको ओर लौटकर उसे देवीपम बनाना चाहती है। इसीते उत्कृष्ट किव और कलाकार जीवनके प्रति अपने दायित्वको अवहेलना नहीं करते। उत्कृष्ट कलामें दुःखवादको कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कला जीवनके प्रति आस्थाको पुष्ट करती है और जीवनके प्रति आस्था, मनुष्यके प्रति आस्थाको हो दूसरा नाम है। कलाकारका विशद एवं गहन मानव-प्रेम ही उसे देवत्व प्रदान करता है। कलाकार

मूर्त्तके भीतरसे उस अमूर्त्त सोन्दर्य और अक्षय प्रेमकी झॉकी देता है, जो समस्त दृश्यमान् वस्तुओको एक स्त्रमे ग्रिथत करता है। इसीलिए कलामें ही मनुष्य वस्तृनमुख जगत् और मानव-स्वभावकी दृश्लताओं एवं असंगतियोका अतिक्रमण करनेमे सफल होता है।

कलानुभवकी प्रक्रियाके सम्बन्धमे भी पूर्व और पश्चिममें विस्तारपूर्वक विचार हुआ है। कलानुभवमें कलाकारके मन-की स्थिति क्या है ? कलाविदोंका विचार है कि कलानुभवी मानस कला-विषयकी समय अनुभृतिको प्राप्त होता है। यह 'समाधि'की अवस्थामें ही सम्भव है, जब कलाकारका मन अनुभूति विषयसे तद्र्प हो जाता है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या मन द्वारा सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादन पूर्वापर प्रक्रियाएँ है अथवा उनमे नैरन्तर्य तथा तादात्म्य हैं ? भारतीय कला-मतमें सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादनकी प्रक्रिया तात्क्षणिक और एकान्वित है और इसीलिए कला-सर्जन एवं रसास्वादनकी प्रक्रियामे निरन्तर आनन्दबोध होता चलता है। इसी नैरन्तर्यके कारण कला-चेतना समीक्षात्मक है, अर्थात सर्जन-बेलामें कलाकारका मन अपनी कृतिको अपने सम्मुख रखकर उसके गुण-दोषकी सूक्ष्म विवेचना करते हुए निर्माणके अग्रचरणोंकी ओर अग्रसर होता है।

भारतीय कला-दर्शनके अनुसार कलाचेतना भावमूलक है। इसीलिए स्थायी भावोंका कलामे महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवनमें भी इन स्थायी भावोंकी अनुभूति हमें होती है, परन्तु यह अनुभूति व्यक्तिगत स्तरपर होती है और उसमे रसानुभवका निर्लेप एवं साधारणीकरण नही होता। कलाचेतना हमारे भावोद्रेकको व्यक्तिगत चेतनासे अपर जठाकर उसे तटस्थता एवं सार्वभौमिकता प्रदान करती है। इसीसे त्रासकीय दःखका लोकोत्तर आनन्दमे परिहार हो जाता है, परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि रसानुभवमे बुद्धिका बाध है अथवा मानवीय चेतनाके अन्य अगोका उसमें किचिन्मात्र भी उपयोग नहीं होता। ध्वनिकारने वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनिके रूपमें कलानुभूतिके तीन स्वरूपोंका निर्देश किया है, जिनमे कलाचेतनाकी सर्वमंहति है। इनमें रसध्वनिकी प्रमुखता होनेके कारण 'रस'को ही कलानुभूति मान लिया गया है, परन्त इस माननेमें अन्य चेतनाओकी अस्वीकृति नहीं है। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमी कला-दर्शन भी 'रस'के उसी रूपको स्वीकार करे, जो भारतीय कला-दर्शनने माना है। पश्चिममे कलात्मक सौन्दर्यको बुद्धियाह्य ही माना गया है और वहाँ अलंकार-ध्वनिकी भूमिकापर ही रसानुभृतिकी स्थापना की गयी है।

मनुष्यकी समग्रगत चेतनाको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्त्रमे ही बॉधा जा सकता है। सत्य दर्शनका विषय है, शिव धर्मका अनुसन्धान है और सुन्दरका शोध कलाका मूल्स्रोत है। इस प्रकार मानवीय चेतनाका एक प्रमुख अंग ही कलासे परितोष प्राप्त करता है। दर्शन ज्ञानमूलक है तो धर्म नीतिमूलक। कला ज्ञान और नीतिसे पुष्ट होकर अपने सीमित क्षेत्रका अतिक्रमण करती है। उसका ज्ञान और नीतिसे प्रकृतिगत विरोध नहीं है, परन्तु अपने मूल-

रूपमे वह दुद्धिनिरपेक्ष और नीतिपराड्मुख है। कलाकी इन सीमाओको समझकर ही हम उसके साथ न्याय कर सवेगे।

कलापक्ष-साहित्य तथा काव्यका अन्तरंग उसका बोधपक्ष है और बहिरंग कलापक्ष । दोनो ही महत्त्वपूर्ण है। वहिरंग कान्यको उत्कर्षमय बनाते है तो अन्तरंग कलापक्ष अववा बहिरंगको सार्थकता प्रदान करते है। काव्यके सम्बन्धमें एक प्राचीन रूपक है, जिसमे कविताकी तुलना ला वण्यवती युवतीसे की गयी है। शब्दार्थ जिसका शरीर है, अलंकार आभूपण है, रीति अवयवोंका गठन है, गुण स्वभाव और रस आत्मा है। इस रूपकमे शरीरस्थ आत्माकी तरह रसको सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्यके बाह्यांग छन्द (वृत्त), शब्दार्थ, अलंकार और गुण-रीति है। कान्यका अन्तरंग भावना, कल्पना और विचारके अन्तर्भावसे निर्मित होता है। कुछ रसिकजन बाह्यांगको अधिक श्रेय नहीं देते, परन्तु असुन्दर बाह्यांगमें सुन्दर आत्माकी कल्पना बहुत कुछ भ्रान्त है। यह अवस्य है कि अन्तरंग सौन्दर्यका वाह्यांगसे अधिक महत्त्व है, परन्त्र खरादपर चढनेके बाद मणिका सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। वास्तवमे सौन्दर्यकी प्रतीति वहिरंग और अन्तरंग दोनोंके समन्वयसे होती है और ये विविध अग परस्पर पूरक है तथा इनके समयगत प्रभावसे ही रसनिष्पत्ति होती है। काव्यस्वरूप समग्रगत है, अतः कलापक्षका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है । अध्ययनकी स्रविधाके लिए ही उसे अलग कर लिया गया है।

वैमे गद्य-पद्य, दोनों प्रकारकी रचनाओंमे कलापक्षका विवेचन सम्भव है, परन्तु गद्यमे कलापक्षका उतना विस्तार नहीं है, जितना पद्यमे। गद्य विचार-शक्तिको जाग्रत् करता है, पद्य कल्पना-शक्तिको। गद्यका उद्देश्य अर्थवीष, पद्यका उद्देश्य आनन्द है। गद्य तर्कनिष्ठ है, पद्य भावनानिष्ठ। अतः जहाँ गद्यमें न्यवहारोपयोगिता देखी जाती है, वहाँ पद्यमे संगीतोपयोगिता और भावोत्कृष्टता। ओजस्विता और समासप्राचुर्य श्रेष्ठ गद्यके गुण है तो पद्यका गुण है 'मधुर कोमलकान्त पदावली'। इसीलिए कलानिष्ठा पद्यका विषय है, गद्यका नहीं।

पद्यका कलापक्ष छन्दोबद्धतासे आरम्भ होता है, क्योकि कविताके लिए लयबद्ध होना अनिवार्य है। मनुष्यके भीतर आन्दोलनकी जो मूल इच्छा है, उसकी तृप्ति छन्दके द्वारा ही होती है। प्रदीप्त-भावना लयबद्धता और ताल-बद्धताका ही आश्रय लेती है। क्रीच-वधका शोक 'श्लोक'के रूपमें प्रकट हुआ, यह कोई चमत्कार नहीं था। प्रकृतिकी योजना ही ऐसी है कि उदीप्त भावना छन्दका रूप ग्रहण कर लेती है। नाद और लयमे विलक्षण सामर्थ्य है और इसीलिए छन्द मनको अधिक भावनाग्राही और संवेदना-मूलक बना लेता है। अनुकूल छन्द पाकर कविकी भावना अत्यन्त आकर्षणमयी वन जाती है। छन्दकी नादमयता और उसका आन्दोलन गद्यानुवादमें नहीं आता । इसीलिए उत्कृष्ट काव्यकृतिका रसास्वादन मूळमें ही सम्भव है। **इ**स प्रकार छन्दोमयतामें कान्यका महत्त्व सन्निहित है। छन्दमें ही काव्य माधुर्व और गतिको प्राप्त होता है। कविताका गृद् गुञ्जन बहुत कुछ छन्दोमयता और गतिमानतापर

आधारित है। अर्थके सम्बन्धमं विद्वानोंमें भले ही मतभेद हो, परन्तु 'छन्द' (नाद-रूय)के प्रभावको अस्वीकार करन। भवके लिए कठिन है।

वृत्त ( छन्द ) और विषयकी अनुरत्पता आधुनिक कान्य-मे भी स्वीकृत है, यद्यपि वह प्राचीन कलावादिताके विष-रीत एक नयी प्रकारकी कला-प्रणालीकी सृष्टि करती है। वास्तवमे कलापक्षका एक महदंश छन्द-योजनापर परिसमाप्त हो जाता है।

परन्तु कला-योजनाका एक दूसरा रूप कान्यगत शब्द योजनाको लेकर है। पारिमाधिक शब्दायलीमें इसे शब्दायलीमें इसे शब्दायलीमें इसे शब्दायलीमें उपयोग कह सकते है। यमक, अनुप्रास, इलेष—तीन प्रमुख शब्दालंकार है। यमक और अनुप्रासके समुचित उपयोगसे कान्यकी शोमा बढ़ती है, इसमें किंचिनमात्र भी शंका नहीं है। संवादी स्वरोंके उच्चारणसे एकतानता और सुरीलेपनका आमास होता है और कान्यकी सुरिल्ष्टता एवं सौष्ठवकी वृद्धि होती है। यमक और अनुप्रास कान्यको अर्थगौरव मले ही न दें पर वे उसे सरणीय और रमणीय बना देते है। नार-माधुर्यके निर्माणमे अनुप्रासका कम महत्त्व नहीं है। फिर भी यह निश्चित है कि इन अलंकारोंके अतिरंकसे कान्य शोभाहीन बन जाता है। इलेषमें कौतकस्रष्टि है। उसमें भी संयम अनिवार्य शर्त है।

प्राचीन कवितामें अलंकारोका प्रावल्य था, उसीकी प्रतिक्रियामें आधुनिक काव्यमें अनलंकृत रचनाकी चाल चल पड़ी है। आधुनिक जीवन जिस प्रकार अनपेक्षित भारको उतारकर फेंकनेमे समर्थ हुआ है, उसी प्रकार आधुनिक कान्यकी चाल भी चपल है और उसमें गरिमाको छोडकर चपलताका आदर्श ग्रहण किया गया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य सुसंस्कृत समाजके लिए नही रचा जाता, वह सामान्यजनके लिए है। परन्तु सामान्य अशिक्षित स्त्री-पुरुष भी पद-पदपर आलंकारिक भाषाका आश्रय ग्रहण करते है। समाचारपत्र जैसे व्यव-हारोपयोगी वाड्मयमें भी आलंकारिकताकी छाप रहती है। सम्भव है कि यह आरोप कृत्रिम हो। कलामात्र ही क्रत्रिम है। उसमें सत्यकी अपेक्षा सत्याभासका अधिक महत्त्व है। अलंकार कृत्रिमत्वका सर्जन करते है तो शोभा-की वृद्धि भी करते है। कलावन्तका कौशल क्रत्रिमताको इस प्रकार छिपा लेता है कि वह घनीभृत वास्तविकता बन जाती है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि अलंकार भावनाके मारक है, पोषक नहीं, परन्त केवल अतिरेक होनेपर ही यह सिद्ध होता है। श्रेष्ठ कवि और कलाकार अलंकारसे अभिन्यक्तिमे सहायता लेते है। ऐसे सैकडों उदाहरण दिये जा सकते है, जहाँ अलंकत प्रयोग द्वारा विवेच्य, आकर्षक और मनोरम बन गया है। साहित्यकी सौन्दर्य-वृद्धिमें अलंकार निश्चय रूपसे सहायक है और उनके समुचित उपयोगसे कान्यानुभूति मुसङ्जित और प्रभावशाली बनती है।

कान्यमें स्पष्ट अर्थनीयकी अपेक्षा स्चकता अथवा ध्वन्यर्थ-का अधिक महत्त्व है, क्योकि शास्त्रीय विवेचनामे जिस स्पष्ट प्रतिपादनकी आवश्यकता होती है, वह कान्यमे भिन्न वस्तु है। पूर्ण विकसित फूलकी अपेक्षा अस्फुट कलीमें अधिक प्रियता है, क्योंकि उसमें अभी विकासकी सम्भाव-नाएँ सिन्निहित है। इसी प्रकार अभिधार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक सक्ष्म और आकर्षक होता है। सच तो यह है कि सभी कलाओंमें व्यंजना-तत्त्वकी प्रधानता है, चाहे चित्र-कला हो या संगीत या म्रिंकला। काव्यगत प्रत्येक शब्दके उच्चारणसे भावकमे अनेक भावकल्पना-तरंगे आन्दोलित हो उठती है, तभी शब्दप्रयोग सार्थक होता है। जलाशयके स्थिर जलमे कंकड मारनेसे जिस प्रकार दूरगामी आवर्तोंका जन्म होता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यंजक शब्द सहदयके मानसमे अनेक भावावर्तोंकी सृष्टि करता है। विशिष्ट मानसोपकरणके अनुकूल सहदय उनमेंसे कुछ तरंगावर्तोंको ग्रहण कर लेता है।

ध्वनि रस-निष्पत्तिमें भी सहायक होती है। वास्तवमें रसको अभिथेय नहीं, व्यंग्य माना गया है। रस अन्तर्विती भावस्थिति है और ध्वनि या स्चकता अन्तर्मनके निगृद अनुभवो और स्क्ष्म भावावर्तनोंको तलपर उमारनेमें समर्थ होती है, जिससे भाव-स्थिति पुष्ट होकर रसका रूप प्रहण करती है। ध्वनि-काव्यपर गृदता अथवा किल्ष्टताका लांछन लगाया जाता है, परन्तु ध्वनिमूलक गृद गुंजना दुवेंधता नही है, उसमें रसप्रतीतिकों स्फीत धारा अन्तर्निहित है। उसमें वाचककी वृद्धिमत्ता अथवा प्रज्ञाशीलताके विषयमें समादर भी निहित है। ध्वनिकाव्यका मूलाधार भाषाका विलक्षण और चमत्कृत प्रयोग है और इसीलिए उसके वाचकको रसज्ञ ही नहीं, विदय्य भी होना चाहिये।

कलापक्षमे भाषाका अध्ययन भी आता है। काव्यके गाध्यमसे प्रसंग, स्वभाव, भावना, विचार, अन्तर्द्वेन्द्र इत्यादि भाषामे चोतित होते है, अतः भाषा काव्य था साहित्यका व्यवहार-पक्ष है। काव्यमें किस भाषाका उपयोग हो, इस सम्बन्धमें कोई भी नियम बनाना कठिन है, परन्तु लयबद्ध, नादानुक्ल, आलंकारिक एवं व्यंजक भाषा आदर्श काव्यभाषा है। भाषा भावाभिव्यक्तिका एक साधन है, परन्तु यह एक अत्यन्त लचीला साधन है। व्यक्तिके मनस्संघटन एवं स्वभावका परिणाम ही उसकी भाषा-शैली है। अतः भाषा-शैली व्यक्तित्वका सम्पूर्ण प्रकाश है और उसके माध्यमसे व्यक्तित्वका भी अध्ययन हो सकता है। व्यक्तिनिष्ठ होनेके कारण ही साहित्यके बोधपक्ष और रूपपक्षको अलग करना सम्भव नहीं है, क्योंकि भाषा और विचार अन्योन्याश्रित है।

भाषा-सम्बन्धी विशेषता शब्दार्थ-सम्बन्धको लेकर है अर्थात् भाषा दृष्टार्थबोधका परम साधन है। परन्तु जहाँ विचार-दारिद्रय है, वहाँ शब्दोंका व्यर्थ इन्द्रजाल भी खड़ा हो सकता है। अतः योग्य शब्दका संगत प्रयोग ही अभीष्ट है और यही कलापक्षका प्रथम सोपान है। परन्तु भाषाका सामर्थ्य उसकी व्यंजना-शक्तिमें ही है। इसी व्यंजना-तत्त्वके पोषणसे अर्थ-गौरवकी सृष्टि होती है। रीति और गुण भाषाके ही तत्त्व है। प्रसाद, ओज और माधुर्य अथवा वैदमीं, गौडी और पांचालीके रूपमें प्राचीन काव्य-शास्त्रने जिन भाषा-तत्त्वोंकी ओर संकेत किया था, वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इन्हीके व्यक्तिगत प्रयोगसे विशिष्ट लेखन-शैलीका निर्माण होता है।

परन्तु काव्यमें इन गुणोंके अतिरिक्त एक और भी गुण है, जिसे 'गेयता' कह सकते है। गेयताका आधार नाद-माधुर्य है, जो अनुकूल शब्द-योजनाके द्वारा माधुर्यमयी चित्तवृत्तिको जन्म देता है। शृंगार, शान्त और करुण रसों-में माधुर्य गुणकी प्रतीति विशेष होती है। गीतिकाव्यमे कलापक्षका महत्त्व कुछ अधिक वढ जाता है, क्योंकि उसमे कविकी अन्तर्मुखी दृष्टि और तज्जन्य भाववृत्तिको शब्दका रूप देना होता है। अस्फुट, मधुर, अव्यक्त भाव संगीतके सृक्ष्मनम आवर्तीमें वॅधकर ही श्रेष्ठ 'गीति'की सृष्टि करते है।

प्राचीनोंने काव्य-गुण और काव्य-दोषके रूपमे जो विस्तृत विवेचन किया है, उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो काव्यके करुगपक्षपर लागू होता है। गुण-दोष अनेक है और कला-पारखीके लिए उनका अध्ययन अनिवार्थ हो जाता है। यतिमंग, वृत्तदोष, पुनरुक्ति, असंगत कल्पना आदि अनेक दोषोका विस्तृत विवेचन हुआ है। गुणोको ध्यानमे रखकर और दोषोंसे ऊपर उठकर ही कलापक्षको समृद्ध बनाया जा सकता है।

अन्तमे हमं 'औचित्य'के सम्बन्धमं भी कुछ निर्देश कर देना है, जिसे एक सम्प्रदाय-विशेष काव्यका प्रमुख उपकरण मानता है। जहाँ तक कलापक्षका सम्बन्ध है, औचित्य अतिरेकमें नहीं, संयममें है। देश, काल, परिस्थितिके अनुसार शब्द, अलंकार, वर्णन इत्यादिका सम्यक् प्रयोग औचित्य कहलाता है। उत्कृष्ट कोटिके शैलीकारके लिए शब्द-मम्पत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी उस मानसिक गुणकी आवश्यकता है, जो उपयुक्त स्थानपर योग्यतम शब्द-की स्थापना कर सके। छन्द, अलंकृति, भाषा, शैली, सभी क्षेत्रोंमें उपयुक्त रूप-विन्यास और सम्यक् योगायोग औचित्यकी योजनापर ही आश्रित हैं।

कलापक्षको बहुधा भावपक्षसे स्वतन्त्र और अधिक श्रम-साध्य समझा जाता है। परन्तु वह वम्तुतः कविके व्यक्तित्व और उसके मनःसंगठनमे अनन्यतः सम्बन्धित है। कविके व्यक्तित्वकी विभिन्नतासे ही कलापक्षमे विभिन्नता आ जाती है, क्योंकि रुचि-वैचिन्य और दृष्टिकोणकी विलक्षणताके अनुसार कोई कवि छन्दपर बल देता है तो किसीको अलं-कार प्रिय है, कोई रीतिवादी है तो किसीको वाग्वैचित्र्य अथवा गृढ व्यंजना प्रिय है। भावकी तरलता, गहनता और अनन्यताके रूपमें भी कलापक्षमें विशदता, संकोच अथवा गूढताका योग हो जाता है। वस्तुतः भावपक्षसे स्वतन्त्र कलापक्षकी कोई स्थिति है ही नही।—रा० र० भ० कलाली-कलालीका अर्थ शराव पिलानेवाली है। इस शब्दका प्रयोग सफियोंने नहीं किया है, लेकिन निर्गुणिया सन्तों, जैसे रैदास आदिने इसका प्रयोग किया है। गुरु तथा परमात्माके लिए इसका प्रयोग सांकेतिक रूपमे किया गया है। सफियोने 'साक़ी'का प्रयोग इसी अर्थमें किया है (दे॰ 'साक्ती', 'शुण्डिनी')। —रा० पू० ति० कलावाद - कलावाद (कला कलाके लिए)को उस अर्थमें 'वाद' मानना कदाचित् कठिन होगा, जिस अर्थन अन्य साहित्यिक, दार्शनिक अथवा राजनीतिक 'वाद' यहण किये जाते हैं। यह कलाके प्रति एक दृष्टिकोण-विशेषका परिजायक

है, जिसकी सत्ता यूरोपमें प्लेटो तथा अरस्तूसे लेकर वर्तमान समयतक किसी-न-किसी रूपमें बराबर मिलती है। भारत-वर्षमें भी काव्यके अलंकार, रीति आदि ऐसे अनेक सम्प्रदाय मध्यकालमें मिलते है, जिन्होने कलापक्षको अधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हुए उसपर विशेष वल दिया। आधुनिक कला और साहित्यके क्षेत्रमें कलावादकी स्थिति उपयोगितावादके प्रतिलोम अर्थमे उसके प्रतिपक्षीकी तरह दृष्टिगत होती है। एक पक्ष द्वारा कलावादको संकीर्ण एवं व्यक्तिनिष्ठ कहा जाता है तो दूसरे पक्षकी ओरसे उपयोगितावादको स्थूल सामाजिकताका आग्रही बताया जाता है। कलावादी कलाको लोकातीत वस्त, कलाकारको लोकोत्तर प्राणी और कलाजन्य आनन्दको अलौकिक आस्वादयुक्त एवं समाज-निरपेक्ष मानता है, जब कि उपयोगितावादी कलाको समाज-की मनोवृत्ति परिवर्तित करनेका एक सशक्त अस्त्र मानते हुए उसे सिद्धान्त-प्रचारका सर्वप्रमुख साधन समझता है। ये दोनों सीमाएँ है। कुछ विचारक मध्यमार्गका अनुसरण करते इए कलाके व्यक्तिपक्ष और समाजपक्षका समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा भी करते हैं। इस प्रकार कलावादके प्रति मुख्यतया तीन प्रकारकी दृष्टियाँ और तदनरूप तीन विचारधाराएँ मिलती है।

योरोपीय कलाका वास्तिविक इतिहास प्रीक और रोमन धार्मिक शिल्पकी परम्परासे प्रारम्भ होता है। प्लेटो और अरस्तूने किवयों एवं कलाकारोंके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त की उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनानमे हेलेनिस्कि कालमे कलावादी विचारधारा पर्याप्त प्रमुखता रखती थी, अन्यथा उसके सजग सामाजिक परिसीमनका कोई आधार ज्ञात नहीं होता। प्लेटोके 'रिपब्लिक'में कल्पनाशील कलाकारोंके अनियन्त्रित प्रभावको नैतिक एवं सामाजिक दृष्टिसे अवांछित माना गया है। अरस्तूने कलान प्रति अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तोंके एक प्रसिद्ध समीक्षक बूचरका कथन है कि अरस्तू पहले विचारक थे, जिन्होंने सौन्दर्य-शास्त्रसे नीतिशास्त्रका पृथक्करण किया और यह भी बताया कि एक परिष्कृत आनन्दानुभृति ही काव्य-कलाका चरम ध्येय है।

इतना होते हुए भी अरस्तूने अपने गुरु प्लेटोकी नैतिक सामाजिक धारणाका तिरस्कार नहीं किया। कलामें नैतिक प्रयोजन तथा उपदेशात्मकता उन्हे अमान्य नहीं हुई। रोमन विचारक सिसरोने 'डेकोरम' और भन्यताको कलाका प्रधान प्रतिपाद्य माना । लोजाइनसने अवस्य मध्यमार्गका अनुसरण किया। एक ओर उसने शिक्षासे और दूसरी ओर मनोरंजनसे कलाको भिन्न एवं श्रेष्ठ माना तथा उसे संप्रे-रणाके उच्च धरातलपर प्रतिष्ठित करके उसके स्वतन्त्र मूल्यांकनका प्रश्न उठाया । भावनाके उदात्तीकरणको उसने कला तथा कान्यका मुख्य ध्येय बताया। डायोनीसियस और डिमेट्रियस आदि अन्य रोमन आचार्योंने कलावादी वृत्तिके अनुरूप शैली पक्षपर ही विशेष विचार किया और प्रायः उसीको अधिक महत्त्व दिया। अन्धकार-युगके एक विस्तृत व्यवधानके बाद दांतेने पुनः कलाके क्षेत्रमे उदात्त गुणोंकी नवप्रतिष्ठा की, साथ ही शैली-पक्षकी भी उपेक्षा नहीं की। दॉतेके पश्चात् योरीपीय साहित्यमें शास्त्रीय अथवा क्लासिकल दृष्टिकोण क्रमदाः रोमाण्टिक दृष्टिकोणके द्वारा स्थानान्तरित होने लगा और कला सम्बन्धी मूल्योनं भारी परिवर्तन घटित हुआ। कुछ दूरतक इस कालमें भी सन्तुलित दृष्टि बनाये रखनेका प्रयत्न किया गया। शास्त्रीयताका आग्रह कलाके क्षेत्रसे सहसा विलुप्त नहीं हो गया। सन्नहवीं शतीमें फ्रांसमे नियोन्क्लासिसिज्म अथवा नव्य-शास्त्रवादकी प्रवृत्ति, कलाके प्रति मध्यकालीन चिन्तन-का नवीन संस्करण बनकर उदित हुई।

क्लासिकल या शास्त्रीय कला बहुत कुछ ईसाई धर्मकी छत्रच्छायामे पल्लवित हुई। रोमको केन्द्र बनाकर बाइजैण्टा-इन कलाका जो प्रसार सातवीसे पन्द्रहवी राती ईसवीके बीच योरोपमें हुआ, उसका क्षेत्र ईजिप्टसे लेकर रूसतक विस्तृत है। इस 'चर्च'-आश्रित धार्मिक कलामें नैतिक-धार्मिक मूल्योंके आगे कलागत मृल्य निश्चित रूपसे गौग रहा। एक दृष्टिने कला और कलाकार दोनों धार्मिक प्रचारके साधन बने; शुद्ध कलावादी दृष्टिका प्रायः इस क्षेत्रमें अभाव ही रहा। धार्मिक कला और साहित्यकी प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही। चर्वसे अनुप्राणित कला यद्यपि प्रचारात्मक, सो देश्य तथा उपदेशात्मक थी, तथापि उसमे विविध कल्पनाओं एवं भावनाओंके चित्रणके लिए पर्याप्त छट भी थी। धार्मिक आस्थावान् कलाकार विना किसी बाह्य नियन्त्रण एवं वाध्यताके आत्मप्रेरणासे शिल्प-सर्जन करते थे। टॉल्स्टायने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ह्वॉट इज आर्ट'में कलाके सम्बन्धमें जो धारणाएँ व्यक्त की है, उनकी पूर्व-पीठिका उक्त धार्मिक कलाकी परम्परामें निहित है। कलावादी विचारधारा (कला कलाके लिए)का सबसे सज्ञक्त विरोध कदाचित् टॉल्स्टायने ही किया। उन्होंने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाते द्वप न सौन्दर्यको कलाका साध्य माना और न आनन्दको । सुधारवाद उपयोगितावादका ही दूसरा रूप है और कलाको वह अनिवार्यतः एक गौण साधनमात्र मानकर चलता है। टॉल्स्टायके मतसे धर्मके प्रति अविश्वास ही कलावादी विचारोको जन्म देता है।

रिनेसॉ (१४५३ई०)के बाद फ्रांस कला-आन्दोलनोंका प्रमुख केन्द्र बना । नैतिक मूर्ल्योकी विश्वंखलतासे कलाकार आत्मस्य हो गये । परम्परावादी तथा स्वातन्त्र्यमूलक विचारोके बीच सुद्द सामाजिक दर्शनके अभावमें अस्थिरताका वातावरण बना रहा।

सन् १८६६के लगभग फ्रांससे एक ऐसी विचारधाराका उद्गम हुआ, जिसका कलावादसे सीधा सम्बन्ध माना जाता है। 'कला कलाके लिए', जो फ्रेच स्वन्त्रथन 'ल आर्त पोर ल आर्त के अंग्रेजीका हिन्दी अनुवाद है, इसीकी देन है। इसके परिपोषकों एवं उद्भावकों में जेम्स एवाँट मैकलीन ह्वीम्लर (१८३४-१९०३ ई०)का नाम अग्रगण्य है। यह एक अमेरिकी चित्रकार था और फ्रांसके अतिरिक्त उसका कार्यक्षेत्र इंग्लैण्डमें भी रहा । विख्यात अंग्रेजी समालोचक रिक्तन और ह्वीस्लरके बीच कलाके उद्देशको लेकर सन् १८७०के आसपास एक महत्त्वपूर्ण वाद विवाद चला, जिससे प्रेरित होकर ह्वीम्लरने 'कला कलाके लिए' मतका आग्रहपूर्वक प्रवर्तन किया। रिस्कनने नैतिक पक्षका तिरस्कार करके कलाके स्वतन्त्र एवं स्वतःपूर्ण होनेका

उद्धोप िक्या, जो अतिवादकी सीमातक पहुँच गया। हीस्लर अपने चित्रोके ऐसे शीर्षक दिया करता था जो गूढ़ व्यंजनात्मक होते थे और साधारण जनके लिए सर्वथा अबोध्य भी। इसका कारण उसका अतिवादी कलावाद ही था।

कलावादी विचारधाराको बैडले, क्लाइव बेल, रोजर फाइ तथा जार्ज इन्नेस आदि समालोचको द्वारा गम्भीर समर्थन प्राप्त हुआ। बैडलेने नैतिक पक्षको कवितामें बाह्य स्थान दिया और उसकी श्रेष्ठताके लिए उसे नियामक तत्त्व नही माना । इस धारणाका खण्डन आई० ए० रिचर्ड्सने अपने 'प्रिसिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिजम' नामक समीक्षा-यन्थमे सैद्धान्तिक आधारपर किया। रिचर्ड्सने कान्यकी रोप जगत्से भिन्न सत्ता नहीं स्वीकार की और न उसके अनुभव सामान्य अनुभवोंसे भिन्न माने। प्रेषणी-यताको उसने विशेष महत्त्व प्रदान किया । क्लाइव बेलने आधुनिक चित्र-कलामें रूप-तत्त्वको प्रधानता देने हुए significant form का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । रोजर फाइका क्लाइब बेलसे तथा जार्ज इन्नेसका ह्वीस्लरसे विचारसाम्य दिखाई देता है। समन्वित रूपसे सभीकी दृष्टि कलावादी ही रही। कुछ कला-समीक्षकोकी धारणा है कि चित्रकलाके क्षेत्रमे आनेवाले प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाव-वाद, अभिन्यं जनावाद, धनवाद तथा अतियथार्थवाद, सभी-की आधारभूमि कलावादी विचारधारासे अभिसिंचित हुई है। क्रोचेके सौन्दर्यदर्शन द्वारा इस कलावादको सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्राप्त हुआ है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है। "सौन्दर्यका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं हैं," काण्टकी इस स्थापनाको मूलमें रखकर क्रोचेने अपने 'इस्थेटिक्स' नामक यन्थमे सौन्दर्यबोधके लिए कल्पनाके एक विशिष्ट रूप 'सहज ज्ञान' (intuition)की सत्ताका प्रतिपादन किया। सौन्दर्यसृष्टि और सौन्दर्यानुभूति, दोनोंको स्क्ष्म मानसिक प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार करते हुए अभिन्यंजना और वर्णवस्तुके बीच तात्त्विक एकता स्थापित की । इस प्रकार कलापक्ष और वस्तुपक्षको विच्छिन्न करके देखनेवाली सुदीर्घ परिपाटीकी निस्सारता प्रकट की। कलाकी मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया बताते हुए क्रोचेने अभिन्यंजनाके अतिरिक्त उसका कोई अन्य उद्देश्य स्वीकार नहीं किया। उपयोगितावादी दृष्टिका एक प्रकारसे उच्छेदन क्रोचेके सौन्दर्य-सिद्धान्तसे हो जाता है। कलाको क्रोचे स्पष्टतः नैतिक अथवा शैक्षणिक सीमाओंसे मुक्त मानता है, किन्तु यह सब कलाके अमूर्त व्यापारपर ही लागू होता है। मूर्त होनेपर क्रोचे भी कलाको सामाजिक बन्धनोंसे परे नहीं मानता। क्रोचे द्वारा दी गयी कलाकी व्याख्या तत्त्वतः समाजविरोधी नहीं है।

आधुनिक युगमें मार्क्सवादके प्रचार-प्रसारके साथ एक नये सौन्दर्थबोधका उदय हुआ, जिसका कोई स्वतन्त्र शास्त्र तो नहीं बन सका, परन्तु उसके द्वारा प्राचीन कलावादी विचारोका तीत्र उन्मूलन अवस्य घटित हुआ। मार्क्सके अर्थशास्त्रने कलाके प्रति उपयोगितावादी रिष्टकोणको नयौ व्याख्या एवं आस्थाके साथ प्रस्तुत किया। स्टैलिन और माओने रूस और चीनमें कला तथा साहित्यको राजनीतिके प्रचारका अस्त्र मानकर उसे राजशक्ति द्वारा पूर्णनया मर्या-दित रखा। कला जनताके लिए, मुख्यतया सैनिकों और श्रमिकोंके लिए ही है, अतएव कला एवं कलाकारका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उन्हे अमान्य है। 'प्रॉवलेम्स ऑव आर्ट एण्ड लिट्रेचर' नामक परिपन्नमें माओने मार्क्स और लेनिनके मतकी साक्षी देते हुए इसी प्रकारकी भावना व्यक्त की है।

मार्क्सवादी विचारकों में ट्रॉट्स्कीने अवश्य कलाके क्षेत्रमे राजनीतिक पार्टीके हस्तक्षेपको अनुचित बताया है। अपनी 'ल्टिट्रेचर एण्ड रिवोल्यूशन' नामक कृतिमें उसने माना है कि कलाका क्षेत्र वह नहीं है, जिसमें पार्टीको आदेश देनेकी आवश्यकता हो। कलाकी रक्षा करना और सहायता करना पार्टीका काम है, परन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूपसे ही हो सकता है। कॉडवेल जैसे मार्क्सवादी समालोचकोंने ट्रॉट्स्की-की यह दृष्टि नहीं अपनायी और कलावादी विचारों को विशुद्ध बुर्जुआ संस्कृतिकी कुत्सित वृत्तिका परिणाम घोषित किया।

हिन्दी साहित्यमें आधुनिक कालमें प्रेमचन्द द्वारा उपयोगितावादी दृष्टि और 'प्रसाद' द्वारा आनन्दवादी या कलावादी दृष्टि अपनायी गयी। आलोचकोंमें भी इसी प्रकार प्रमुखरूपसे दो वर्ग दिखाई देते है। मार्क्सवादी समीक्षकोंमें कुछ तो कट्टर उपयोगितावादी है, पर कुछ कलागत मृल्योंको भी महत्ता देते है और क्रोचेके अभि-व्यंजनावादसे विशेष प्रभावित रहे है। 'साहित्यालीचन'मे इयामसन्दर दासने 'कला कलाके लिए' नामक कलावादी सूत्रवाक्यके पीछे निहित वास्तविक अभिप्रायकी समुचित व्याख्या करते हुए लिखा है—"उस अवस्थामे 'कला कलाके लिए'का हमारे लिए केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजनाके कुछ अपने नियम है।" करुपना - पूर्व अनुभूतियोकी पुनर्योजनासे अपूर्वकी अनुभूति उत्पन्न करनेकी क्रिया या शक्तिको कल्पना कहते है। 'वर्तमान'का अवगाहन करनेवाला प्रत्यक्ष, अवगाहन करनेवाली स्मृति तथा 'अनागत'का अवगाहन करनेवाली कल्पना। क्षीर-सागर, दशमुख, स्वर्ण-शृंग आदि अननुभूत पदार्थ कल्पना द्वारा ही अनुभव-गम्य होते है। चरम-मनोविज्ञानके अनुसार 'अचेतन' अनुभूतियोंसे भी कवि और कलाकार अपनी कृतिके लिए पर्याप्त सामग्री पाते है। इस सामग्रीका संकलन कल्पना द्वारा होता है। संगीत, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं में भी ध्वनि आदिका नवीन संयोजन कल्पनापर निर्भर रहता है। सुन्दर वस्तुमें अंगोका विन्यास और सन्तुलन तथा अंगांगीभाव और भावकी एकता, 'रेकरेण्ट मोटिफ' इसीके परिणाम हैं।

कल्पना, मनो-व्यापारके स्तरोंके अनुसार कई स्तरोंपर कार्य करती है। शुद्ध 'अनुकरण', जिससे छायात्मक मनो-मूर्तिका सजन होता है, कल्पनाका प्रथम स्तर है। 'रूप'को अहण करनेमें ज्यो-ज्यों उत्तरोत्तर उच्चस्तरीय मनोव्यापारों-की आवश्यकता होने लगती है त्यों-त्यों वह अधिक मौलिक, अनुकरणसे दूर और सुजनात्मक कल्पना (creative imagination) कलामें 'रूप'के आविष्कारका

अनन्यतम साधन है और मौलिक प्रतिभाकी क्रिया-— ह० ला० হা০ करुपळता-भारतीय पुराण, करपनाके अनुसार मनोवांछित फल देनेवाले वृक्षको कल्पवृक्ष और लताको कल्पवल्ली या कल्पलता कहा गया है। देवलोककी हरवस्तु निस एवं अवि-नश्वर होती है, अतः यह कल्पलता भी अविनश्वर है। सिद्धों, नाथो और सन्तोको पौराणिक स्वर्गमे कोई आस्था नही। वे मात्र मुक्ति या कैवल्यमे विश्वास करते है और गीतामे भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा व्याख्यात परमधाम (८,२१) जैसे दिव्यलोकमे आस्था रखते है, जिसे परमपद, शून्य, सहजा-वस्था, परममहासुख, कैवल्य आदि नामोसे अभिहित करते है। नाथ योगी और सन्त उस सहजावस्था या कैवल्यकी प्राप्तिके लिए उन्मनी (दे॰ 'उन्मनी')को अन्यर्थ साधन मानते है। यह उन्मनी उनकी सभी कामनाओंको पूरी करनेवाली है और स्वयं तो अविनश्वर है ही, जिसे मिल जाती है, उसे भी अविनश्वर बना देती है अतः इनके सहजशून्य, परमपद या अल्लाह और रामकी गमके बाहर पडनेवाले लोकको कलपलता है। उन्मनी अर्थमे कलपलताका व्यवहार उक्त साहित्यमे बार-बार हुआ है। बहुत बार वेलि, वहुरी, लता आदि शब्द भी उन्मनीके अर्थमे प्रयुक्तः कल्पवल्ली-उपरूपकका एक भेद विशेष। भाव० प्र०के अनुसार इसमें हास्य और शृङ्गार रस होता है, नायक उदात्त या उपनायक हो सकता है। नायिकाको अभिसा-रिका या वासकसञ्जा होना चाहिए। इसमे मुख, प्रतिमुख एवं निर्वहण सन्धियोके प्रयोग तथा कथाकी उदात्तता अनिवार्य है। इसमें लास्यके तत्त्व आवश्यक रूपसे आने चाहिए। उदा० माणिक्य विलिका। —यो० प्र० सि० कुरुब - सूफी एक उच्चतर आत्माको स्वीकार करते है और उसके तीन विभाग करते है : क़ल्ब, रूह और मिर्र । क़ल्ब मनुष्यकी बौद्धिक क्रियाओका आधार है। इसका बुद्धिसे योग है। सूफियोके अनुसार कल्ब भौतिक स्थूल जगत् और अध्यात्मिक जगत्के बीच स्थित है। दृश्यमान् जगत्-मे अभिन्यक्त होनेवाले परमात्मा-विषयक ज्ञानको यह बाह्य इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है और अन्तरकी सूक्ष्म इन्द्रियों-को उससे अवगत कराता है। सुफियोका कहना है कि यह रूह और नफ़्सके बीच स्थित है। यह कुप्रवृत्तियों और सुप्रवृत्तियोंका युद्धक्षेत्र बना हुआ रहता है। एक ओर यह परमात्मा सम्बन्धी ज्ञानके लिए खुला रहता है तो दूसरी ओर इन्द्रिय-जनित वासनाका भी प्रवेश होने कविचर्या-कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के दसवें अध्यायमें कवि-चर्याका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि कवि निरन्तर शास्त्रो, और कलाओंका पारायण करे, मन, वाणी, कर्ममें पवित्र रहे, सितिपूर्वक संलाप करे, उसका भवन साफ-सथरा तथा सब ऋतुओके अनुकूल होना चाहिये, उसके परिचारक अपभ्रंश भाषामे बोले, अन्तःपुरके लोगोको प्राकृत-संस्कृतका ज्ञान हो और इसके मित्र सर्वभाषाविद हों, लिखनेके लिए खड़िया, कलम, दवात, भूजीपत्र इत्यादि

सामग्री हमेशा उसके पास रहे, कवि अपनी अधूरी रचना-को दसरोक सामने न पढे, वह अपने समयके चार विभाग करे, प्रातःकाल सन्ध्यासे निवृत्त होकर सक्त-पाठ करे, तब अध्ययन-कक्षमें जाकर विद्याओं और कान्योंका अनुशीलन करे, दूसरे प्रहर काव्य-रचना करे, मध्याह्नके लगभग स्तान कर भोजन करे, भोजनके पश्चात काव्य-गोष्ठी करे, चतर्थ याममें स्वरचित काव्यकी परीक्षा करे। राजशेखरका यह वर्णन वात्स्यायन-कामसूत्र (१. ४)मे वर्णित नागरिक-वृत्त और अर्थशास्त्र (१. १९)मे वर्णित राजवृत्तसे मिलता-जलता है। वस्तुतः इन विवरणोसे तत्कालीन सामाजिक जीवनपर प्रकाश पडता है। <del>\_\_</del>#০ স০ ত০ कविता - काव्यात्मक रचना (कविकी कृति)। 'काव्य'से जहाँ रचनाके भावपक्ष और अन्तःसौन्दर्यका अधिक बोध होता है, वहाँ 'कविता' शब्दके प्रयोगसे प्रायः उसके कलापक्ष और रूपात्मक भौन्दर्यको प्रधानता मिलती है। कान्य, कविता, पच-इन तीनों शब्दोंको हम क्रमागत रूपमें निम्नतर भावस्थितिमें रखते हैं। पद्य गद्यका विपक्षी रूप है जो छन्दोबद्ध भाव या विचारतक सीमित है। मात्र छन्दोबद्ध रचनाके लिए 'पद्य' शब्दका प्रयोग उचित है. परन्त 'कविता' शब्द 'पद्य'से ऊँची स्थितिका द्योतक है और उसमे 'कविता' (कवि-कर्म), अर्थात काव्यकलाको अधिक महत्त्व दिया गया है। सामान्यतः तीनों शब्द समान अर्थमें प्रयक्त होते है।

यद्यपि व्यापक रूपसे छन्दोबद्ध रचनामात्रके लिए 'कविता' शब्दका प्रयोग होता है, संकीर्ण अर्थमें, आधुनिक कालमें विशेष रूपसे, 'कविता' शब्दका प्रयोग अपेक्षाकृत आकारमे छोटे, ऐसे पद्य-विशेषके लिए किया जाता है, जो आधुनिक गीति, प्रगीति या मुक्तकके अनेका-नेक प्रकारों मेसे किसी रूपमे रचा गया हो। पद्यकी ऐसी रचनाओंका पृथक निदेंश करनेके लिए 'काव्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। 'काव्य' शब्द जब किसी रचना-विशेषके लिए प्रयुक्त होता है तब उससे अपेक्षाकृत बडी, प्रायः सदैव ही प्रबन्धात्मक रचनाका अर्थ सूचित होता है। काव्य और कविता शब्दके प्रयोगका एक अन्तर यह भी है कि जहाँ 'कान्य' सामान्यतः 'साहित्य'के पर्यायवाची अर्थमे ऐसी रचनाओं को भी कह सकते है, जो पद्यमें न रची गयी हों, वहाँ 'कविता' हमे अनिवार्थ रूपसे पद्यातमक, लय और तालयुक्त शब्दावलीकी सूचना देती है; मले ही उसमे काव्यकी आन्तरिक विशेषता विद्यमान न हो और वह मात्र पद्यबद्ध हो। इसके अतिरिक्त काव्यका अभिधान ऐसी रचनाओं को नहीं दिया जा सकता जो अरस्तू के 'पोइटिक्स'-मे निर्दिष्ट 'पोइट्रो'से भिन्न 'वर्स' मात्र है।

हिन्दी साहित्यमें आधुनिक कालके पूर्वतक 'कविता' शब्दका प्रयोग 'कविताई' या 'कविन्ता' (कविन्कर्म) के अर्थ-में ही होता था। तुल्सीदासने 'रामचरितमानस'की भूमिकामें कहा है "चली सुभग किवता सिवता सी। रामिवमल जस जल भरिता सी'। इसी अर्थमें उन्होंने 'भनिति' शब्दका भी कई बार प्रयोग किया है। इसी अर्थमें कहा गया है कि "'कविता' कर्ता तीन है तुल्सी केसव सूर। 'कविता' खेती इन लुनी सीला विनत मजूर।" अठारहवीं

शतीमें भिखारीदासने लिखा था, "आगेके सुकवि रीझि हैं तो 'कविताई', न तो राधिका कन्हाईके सुमिरनको बहानो है"। भिखारीदासने इसी अर्थमे 'कान्य' शब्दका भी प्रयोग किया है, "इनके 'कान्यन'में भिली, भाषा विविध प्रकार"। हिन्दीमें 'कविता' शब्दका यह प्रयोग परम्परानुमोदित है, यद्यपि कदाचित् यह कथन अयुक्त न होगा कि संस्कृत साहित्यमे 'कविता'की अपेक्षा 'कान्य' शब्दका अधिक प्रयोग हआ है।

संकीर्ण अर्थमें किसी रचना-विशेषके लिए 'कविता'का प्रयोग, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, आधुनिक काल में ही होने लगा है। प्राचीन कालमें अधिकतर या तो प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती थी या मक्तक काव्यकी । एकसे अधिक छन्डोंमे एक विषयपर छोटी पद्यरचनाएँ स्तोत्र, स्तवन, प्रशस्ति, माहात्म्य आदिके रूपमें मिलती है। हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोंने भी इस प्रकारकी स्तोत्रादि रचनाएँ की है और यह क्रम भारतेन्द्र हरिइचन्द्रतक चला आया है। परन्त भारतेन्द हरिइचन्द्रने सामयिक विषयोंपर विचारोत्तेजक और उद्घोधनपूर्ण स्फुट रचनाओंकी नवीन पद्धति चलायी । उनकी 'भारत-भिक्षा', 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती', 'श्रीराजकुमार-शुभागमन-वर्णन','मानसोपायन', 'वर्षाविनोद' आदि रचनाओने हिन्दीमे पद्य निवन्धोंकी उस परम्पराका सत्रपात किया, जो आधुनिक कालमें अनेकथा विकसित हुई। ऐसी रचनाओंकी ही जातिवाचक संज्ञा 'कविता' है, जो अंग्रेजीकी 'पोइम' और उर्दूकी 'नज़्म'का पर्याय है। भारतेन्द्रकालमें देशभक्ति, राजभक्ति, समाज-सुधार और प्राकृतिक वर्णन सम्बन्धी असंख्य गम्भीर और व्यंग्यात्मक 'कविताएँ' रची गयी। द्विवेदीकालमें सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे इन कविताओका प्रचलन और अधिक हो गया। वस्तुतः उन अनेक आधुनिक रूपोमें 'कविता' भी है, जिसका उदगम और विकास समाचार-पत्रो और पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे हुआ है। परन्तु 'कविताएं' इतिवृत्त, विवरण, शिक्षा और उद्देश्य-विषयक ही नहीं, भावात्मक भी हो सकती है, यह छायावादकी उन असंख्य कविताओते सिद्ध हो गया, जो आधुनिक गीति-काच्य (दे०-गीति-काव्य)के विविध प्रकार-भेदोके अन्तर्गत आती है। 'प्रगतिवाद', 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता'के आन्दोलनोंके अन्तर्गत ऐसी ही रचनाएँ हुई हैं, जो पृथक्-पृथक 'कविता' नामसे पुकारी जाती हैं। कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध-अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि-का तीसरा भेद । यह ध्वनि वहाँ होती है, जहाँ कवि स्वयं किसी प्रौढोक्तिको न कहकर स्वनिर्मित पात्र द्वारा किसी कल्पित उक्तिको कहलाता है। कविप्रौढोक्ति तथा कविनिबद्ध-पात्रप्रौढोक्तिमे कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि पात्रकी उक्ति भी अन्ततोगत्वा कविकी ही उक्ति है । फिर भी वक्ता-की विशेषताके कारण कभी-कभी उक्तिमे विशेष चमत्कार आ ही जाता है। कविश्रौढोक्तिमात्रसिद्धके समान ही इसके भी १२ भेद है—(१) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तकी ध्वनि—"करी विरह ऐसी तऊ, गैल न छाँड़त नीच। दीन्हेक चसमा चखनि, चाहत लखे न मीच" (का० क०: पृ० २७३) । इस उदाहरणमें मृत्युके चइमा

लगानेका कथन प्रौढोक्ति है और इस उक्तिका वक्ता कवि-करिपत दूती है, जो नायिकाकी अत्यन्त शोचनीय स्थितिका परिचय नायकको दे रही है। नायिकाकी अत्यधिक कुशता-के कारण चश्मा लगाकर खोजनेपर भी मृत्यु उसे नही देख पारही है। इस वस्तुने यह बात (वस्तु) ध्वनित हो रही है कि नायकको नायिकासे मिलनेमें अब अधिक विलम्ब न करना चाहिये। (२) कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध वस्तसे अलंकारको व्यंजना—"दियो अरव नीचे चली, संकट मानै जाइ। सचिती है औरौ सबै, ससिहि बिलोके आइ" (का० द०, पृ० ३१६)। यहाँ नाथिकासे यह व्यंजित करना चाहती है कि उसके मुख-चन्द्रके कारण अन्य स्त्रियाँ भ्रमित हो रही है '''नायिकाके मुखमे चन्द्रके आरोप द्वारा इस उदाहरणमें रूपक अलंकार हो रहा है। (३) कविनिवद्धपात्रपौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला" (मानस)। यहाँ दशरथ अपने मनोरथ (उपमेय)पर कल्पतरु (उपमान)का आरोप कर रहे है, अतः इस उदाहरणमे कवि-करिपन पात्रकी प्रौढोक्ति है और रूपक अलंकार है। इस रूपकके विधान द्वारा दशरथ अपनी अत्यन्त दयनीय स्थिति (वस्तु)को व्यंजित करते है। (४) कविनिवद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"नित संसी, हंसी बचत, मनहुँ सु यहि अनुमान। बिरह अगिनि लपट न सकत झपटिन मीचु सचान" (का० द०, पृ०३१७)। सखी द्वारा मृत्यको बाज कहनेमे कवि कलिपत पात्रकी प्रौढोक्ति है। मृत्युरूप बाज विरहकी लपटोके कारण ही नायिकाके हंस (जीव)पर झपट नहीं पाना । अतः यहाँ रूपकसे विशेपोक्ति अलंकार ध्वनित हो रहा है, क्योंकि पर्याप्त कारणकी विद्यमानतामें भी कार्य (मृत्यु) नहीं होता ।—उ० शं० श्र० **कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध** - अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका दूसरा भेद । जो कथन केवल कवि-कल्पना द्वारा निर्मित हो और बाह्य जगतमें जिसकी स्थिति न हो, उसे 'प्रौढ' कहते है (कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्निप निर्मितः-का० प्र०, पृ० ८५)। चकोरका आग खाना, हंसका क्षीर-नीर-विवेक, कीर्तिका इनेत वर्ण आदि ऐसे अनेक कथन काव्यमे मिलते है, जो लोक-व्यवहारमे असंगत अथवा असम्भव समझे जाते है। इन्हें कविप्रौढोक्तिकी संज्ञा दी गयी है। स्वतःसम्भवी ध्वनिके समान कविप्रौडोक्तिमात्रसिद्धके भी चार भेद है— वस्तुमे वस्तु अथवा अलंकार और अलंकारसे वस्तु अथवा अलंकारकी व्यंजना। (१) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुकी व्यंजना-"सिय वियोग दुख, केहि विधि कहउँ बखानि । फूल बानते मनसिज बेधत आनि"(का० द०, पृ० ३१३)। कामका पुष्पबाणसे विद्ध करना कवि-कल्पनामात्र है। इस कथन (वस्तु) द्वारा इस बात (वस्तु)की व्यंजना हो रही है कि सीता रामके विरहमें अत्यन्त कातर है, अतः यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे वस्तुका उदाहरण है। (२) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे अलंकारकी व्यंजना— "निसि ही मे सिस करतु है, केवल भुवन प्रकास। तेरी जस निसि-दिन करत, त्रिभुवन धवल उजास' '(का० क०, भा० १, पृ० .२७०)। यशका त्रिभुवनको प्रकाशान्वित ।

कर देना कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। यश रात-दिन प्रकाश फैलाता है, इस कथन (वस्त)से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित होता है, क्योंकि उपमेय (यश)से उपमान (चन्द्र)की अपेक्षा कुछ उत्कृष्टताकी ध्वनि निकलती है। (३) कवि-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे वस्तकी व्यंजना—"पत्रा ही तिथि पाइए, वा घरके चहुँ पास । नित प्रति पन्यौ ही रहत आनन ओप उजास" (विहारी)। 'आनन ओप उजास'का कथन कविप्रौढोक्तिसिद्धमात्र है। वाच्यार्थमे परिसंख्या अलंकार है, क्योंकि तिथिका ज्ञान सभी स्थानीसे वर्जित करके केवल पत्रामे ही सीमित कर दिया गया है। वाच्यार्थ-से व्यंग्यार्थं रूपमे नायिकाके रूपातिशयकी व्यंजना हो रही है। (४) कविष्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"पहिरे स्याम न पीत पट, घनमे बिज्जु विलास", इस पंक्तिमे उपमेय 'पीत पट'को असत्य कहकर उपमान 'विज्जु-विलास'को सत्य ठहराया गया है, अतः इसमें अपहनुति अलंकार है। वाच्यार्थ रूपमे प्रस्तुत इस अलंकार द्वारा दो उपमाएँ ध्वनित हो रही है-स्याम-तन घनके सदरा है और पीत पट विज्जु-विलासके समान है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकारसे अलंकारकी ध्वनिका उदाहरण है। उक्त चारो उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके है। पदगत व्यंजनाको सम्मिलित कर लेनेपर कविशौढोक्तिमात्रसिद्धके कुल १२ भेद है। — उ० शं० शु० कवि-भेद-कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत राजशेखरने तीन प्रकारके शिष्यों (दे०)के अनुसार कवियोके तीन भेद किये हैं-(१) सारस्वत, पूर्व जन्मके संस्कारोके फलस्वरूप जिसे सरस्वतीका प्रसाद प्राप्त हो, (२) आभ्यासिक, जो इस जन्मके अन्याससे कवि बना हो और (३) औपदेशिक, जो दर्वछि किसी मन्त्र-तन्त्रके प्रभावसे कवि वन गया हो (का० मी०, अ०४)। पुनः राजशेखरने कान्यशास्त्रके विभिन्न अंगोमे विशेष निपुणताके अनुसार कवियोके ८ भेद किये है (का० मी०, अ० ५)—(१) रचना-कवि, जो पदोके संयोजनमें निपुण हो, (२) शब्द-कवि, जो शब्दके प्रयोगमे विशेष कुशल हो, (३) अर्थ-कवि, जिसकी कवितामे अर्थ-सौन्दर्य विशेष रूपसे हो, (४) अलंकारकवि, जो अलंकारोंके प्रयोगमे विशेष पद हो, (५) उक्तिकवि, जिसकी उक्तियोंमे विशेष चमत्कार हो, (६) रस-कवि, जो रस-निर्वाहमे विशेषतः निपुण हो, (७) मार्ग-कवि, जो रीतियोके प्रयोगमे कुशल हो तथा (८) शास्त्रार्थ-कवि, जो अपने कान्यमे शास्त्रोके अर्थका समावेश निपणता-से कर सकता हो। इन समस्त गुणोंसे युक्त कविको 'महाकवि' कहते हैं। केशवदासने कवियोंके तीन भेद किये है-(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३) अधम-"उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि रस लीन । मध्यम मानत मानुषनि दोषनि अधम प्रवीन" (कविप्रिया, ४:२)। —म० प्र० छ० कवि-शिक्षा-संस्कृत कान्य-शास्त्रके सभी आचार्योंने कविके लिए बहुश्रुत एवं सुशिक्षित होना आवश्यक माना है। भामह (५००—६३०ई०के बीच)ने कहा है कि "राब्दार्थका ज्ञान प्राप्तकर, राब्दार्थवेत्ताओंकी सेवा कर तथा अन्य कवियोंके निबन्धोको देखकर काव्य क्रियामे प्रवृत्त

होना चाहिये" (काट्यालंकार, १:१०)। वामन (८०० ई०के लगभग)ने कविके लिए लोकन्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, काम-शास्त्र तथा दण्डनीतिका ज्ञान तथा कान्य-शास्त्रका उपदेश करनेवाले गुरुओकी मेवा आवश्यक मानी है (काव्यालंकारसूत्र, १: ३:१: ११)। राजशेखर (८८०-९२० ई०)ने 'कान्य-मीमांसा'मे कविशिक्षोपयोगी विविध विषयों, शास्त्र-परिचय, पदवाक्य-विनेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्यके स्रोत, अर्थव्याप्ति, कविचर्या, राजचर्या, काव्यहरण, कवि-समय, देशविभाग, कालविभागका वर्णन किया है। कवि-शिक्षापर लिखनेवाले राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने 'कान्यमीमांसा'से बहुत कुछ लिया है। क्षेमेन्द्र (१०५० ई०)ने 'कविकण्ठाभरण'मे कवि-शिक्षापर प्रकाश डालने हुए कहा है कि कवि बननेके अभिलाषी अधिकारी शिष्यको साहित्यमर्भज्ञ गुरुकी सेवा करनी चाहिये, वाक्यार्थ-शून्यपदोंके सन्निवेशमे पद्यरचना-का अम्यास करना चाहिये, प्रसिद्ध कवियोके काव्योंका अनुशीलन करना चाहिये तथा नाटक, शिल्पियोके कौशल, सुन्दर चित्र, प्राणियोंके स्वभाव तथा समुद्र, नदी, पर्वत इत्यादि विभिन्न स्थानोंका निरीक्षण करना चाहिये (कविकण्ठाभरण, सन्धि: १:२)। 'वाग्भटालंकार'के कर्ता वाग्भट (१२वी श० ई० पूर्वार्ड)ने कविशिक्षाका क्रम यह बताया है-"अर्थहीन, परन्तु पद्यमे चारुता लानेवाली पदावलो द्वारा काव्यरचनाके लिए समस्त छन्दोको वशमें करे" (१:७)। तदनन्तर "एक ही अभिधेयको संक्षिप्त एवं विस्तृत रूपमे विभिन्न अलंकारोका प्रयोग करते हुए पचबद्ध करनेका अभ्यास करे" (१: १६) । इस प्रकार "उद्योगपूर्वक शास्त्रोंका अध्ययन कर, अभ्यास द्वारा शब्दार्थको वशमे कर, कवि, समयोका ज्ञान प्राप्त कर, मनके प्रसन्न होनेपर कविता करें" (१: २६)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) तथा नेमिकुमारके पुत्र वाग्भट (१३वी श० ई० उत्त०)ने अपने काव्यानुशासनोंमें प्रायः राजशेखरके आधारपर काव्यके स्रोत, कवि-समय, काव्यहरण तथा देश एवं काल-विभागका वर्णन किया है। अमरचन्द्र (१३वी श० ई०)ने 'काव्य-कल्पलता'में, देवेश्वर (१४वीं श० ई०)ने 'कविकल्पलता'में तथा केशव मिश्र (१६वी श० ई० उत्त०)ने 'अलंकार-शेखर'में छन्द एवं अलंकार-योजनाका अभ्यास, कविके वर्ण्य विशय तथा वर्णन-परिपाटीका वर्णन किया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंमेसे केशवदास (१५५५-१६१७ ई०)ने 'कविप्रिया'मे काव्य-रचनाके ढंग, कविताके विषय, वर्णन-परिपाटी तथा काव्य-समयोंका वर्णन किया है। केशवका वर्णन बहुत कुछ 'अलंकारशेखर' तथा 'काव्यक्रस्यल्ता'पर आधारित है। केशवके बाद कवि-शिक्षाका प्राचीन परिपाटीके अनुसार विन्तृत वर्णन जगन्नाथप्रसाद 'मानु'के 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई० प्रकाशित)में मिलता है। यथि हिन्दी काव्य-शास्त्रमें काव्य-शिक्षा सम्बन्धी प्रन्थोंका प्रचलन कम रहा है, पर रीतिकालका सम्पूर्ण काव्य-साहित्य संस्कृतके इन प्रन्थोंसे प्रभावित है। इन मान्यताओं-का परम्पराके रूपमें अनुसरण किया गया है।

बीसवी शताब्दीके प्रारम्भसे हिन्दी साहित्यके नयी दिशाकी ओर अग्रसर होनेपर काव्यांगोंके साथ-साथ कवि-

शिक्षा-विषयक धारणाओंमें भी परिवर्तन हुआ। कविने किसी बंधी-बंधायी परिपाटीसे मुक्त होकर स्वतन्त्र दृष्टिसे प्रकृति और समाजकी ओर देखना प्रारम्भ किया। परन्तु कविताकी कल्याणकारिणी शक्तिको बनाये रखनेके लिए कविका भाषा, छन्द, लोकन्यवहार एवं विविध शास्त्रोसे परिचित होना आज भी उतना ही आवश्यक है, जितना प्राचीन कालमें माना जाता था। अतः कवि-शिक्षा आज भी अपेक्षित है। — ন০ স০ ল০ कवि-समय-कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत 'कवि-समय'-का अर्थ है कवि-समाजमें प्राचीन परम्परासे मानी आती हुई बातें और परिपाटियाँ। इस शब्दका प्रयोग सबसे पहले राजशेखरने 'वान्यमीमांसा' (अध्याय १४)में किया है और इसकी परिभाषा दी है कि "परम्परासे चली आती हुई जिन अशास्त्रीय एवं अलौक्ति बातोंका कवि वर्णन करते है उन्हे 'कवि-समय' कहते है"। कवि-समयोंकी निदोंषताका समर्थन करते हुए राजशेखरने कहा है कि "पिछले विद्वानोंने सहस्रशाख सांग वेदका अवगाहन कर, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरो एवं द्वीपान्तरोंमें भ्रमण कर जिन बातोंको जाना और उन्हें अपने कान्योंमें स्थान दिया, वे बातें भले ही आज उस रूपमें न मिलती हों, फिर भी उनका वैसा वर्णन करना 'कवि-समय' है"। राजदोखरने आगे कहा है कि "कुछ कवि-समय तो पूर्वपरम्परासे प्रतिष्ठित है, परन्तु कुछको धूर्तोंने अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए चला दिया है।" इससे स्पष्ट है कि राजशेखरकी प्राचीन मान्य कवियों द्वारा वर्जित ऐसी बातें ही, जो आज उस रूपमे नहीं मिलती, कवि-समय द्वारा अभिप्रेत है। राजशेखरसे पहले वामनने 'काव्य-समय' शब्दका उपयोग किया है (काव्यालंकारसूत्र, ५: १)। परन्तु 'काव्य-समय' राजशेखरके 'कवि-समय'से भिन्न है और उसका प्रयोग वामनने व्याकरण, छन्द एवं लिंगके सम्बन्धमें प्रतिष्ठित कवि-परिपाटीके अर्थमें किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंने कवि-समयोंका जो वर्णन किया है, वह प्रायः राजशेखरके आधारपर । कवि-समयके सम्बन्धमें राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमेसे हेमचन्द्र (काव्यानु शासन, अध्या० १), वाग्भट (काव्यानुशासन, अध्या० १), अमरचन्द्र (काव्य-कल्पलतावृत्ति, प्रतान १), केशव मिश्र (अलंकारशेखर, रत्न ६) तथा हिन्दीके आचार्योमेंसे केशवदास (कविप्रिया, चौथा प्रभाव) 'और जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (काव्य प्रभाकर, मयुख ११)के नाम उल्लेखनीय है।

राजशेखरने 'किन समयों'के तीन प्रधान विमाग किये हैं—(१) स्वर्ग्य—स्वर्ग छोककी वातोंसे सम्बन्धित, यथा "चन्द्रमाके कलंकको खरगोश या हिरन मानना, कामदेवके ध्वजमे मकर या मीनका वर्णन करना, चन्द्रमाका जन्म अत्रिके नेत्र अथवा समुद्रसे मानना, शिवके माथेके चन्द्रको नवोदित मानना, कामदेवको मूर्त तथा अमूर्त दोनो रूपोंमें समझना, द्वादशादित्योंको, नारायण-माधव-दामोदर-शेष और कूर्मको, कमला और सम्पत्तिको एक मानना', (२) पातालीय—पातालसे सम्बन्धित, यथा नाग और सपोंको, दैत्य, दानव, असुरोंको एक मानना, (३) भौम-पृथ्वीलोक सम्बन्धी। पृथ्वी लोक सम्बन्धी किवि-समय चार श्रेणियोंमें

विभक्त होते हैं (क) जातिरूप, (ख) द्रव्यरूप, (ग) क्रियारूप और (घ) गुणरूप । इनमेंसे प्रत्येकके पुनः तीन मेद है— (१) असत्, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है, उसका वर्णन करना, (२) सत्, अर्थात् जिसका विद्यमान होनेपर भी वर्णन न करना, (३) नियम, किसी वस्तुका किसी विद्रोष स्थानके प्रसंगमे ही वर्णन करना और उसके अन्यत्र मिलनेपर भी उस स्थानके प्रसंगमे वर्णन न करना ।

इस प्रकार भौम कवि-समय १२ श्रेणियोमे विभक्त होते है—(१) असत जातिरूप, यथा नदियोंमे पद्म, उत्पल आदिका वर्णन, जलाशय मात्रमे हंसोंका वर्णन, सभी पर्वतोमे सुवर्ण, रत्न आदिका वर्णन, (२) तत् जातिरूप, यथा वसन्तमे मालतीका, चन्दन वृक्षपर फल-फलोंका, अशोक बृक्षमे फलोंका वर्णन न करना, (३) जाति-नियम-रूप, यथा समुद्रमें ही मकरोंका वर्णन करना, मोतियोंका स्रोत ताम्रपणींको ही बताना, (४) असत् द्रव्यरूप, यथा अन्धकारका मुष्टिग्राह्यत्व और सूचीभेद्यत्व, ज्योत्स्नाका घड़ोंमें भरकर ले जाया जा सकना, (५) सत् द्रव्यरूप, यथा कृष्णपक्षमें ज्योत्स्नाका और ज्ञाक्ल पक्षमे अन्धकारका वर्णन न करना (६) द्रव्य-नियम, यथा मलय गिरिको ही चन्दनका उत्पत्ति-स्थान और हिमालयको ही भूर्जपत्रका प्रभव-स्थान मानना, (७) असत् क्रियारूप, यथा चक्रवाक-मिथुनका रातमे अलग रहना, चकोरोका चन्द्रिका-पान, (८) सत् क्रियारूप, यथा दिनमे नीलोतपलोके अविकास तथा शेफालिकाके पृष्पोंके झडनेका वर्णन करना, (९) किया नियम, यथा को यलके कुकनेका केवल वसन्तमें ही वर्णन, वर्षामें ही मयूरोंके कूजन एवं नृत्यका वर्णन, (१०) असत् गुणरूप, यथा यश, हास आदिकी शुक्लता, अयश, पाप आदिका कालापन, क्रोध, अनुराग आदिका रक्तत्व, (११) सत् गुणरूप, यथा कुन्द, कुड्मल तथा दाँतोकी लालीका, कमल-मुकुल आदिके हरे रंगका तथा प्रियंगके फलोके पीलेपनका वर्णन न करना, (१२) गुण नियम, यथा सामान्यतः माणिक्यमे रक्तत्व, फूलोंमें शुक्लता, मेघोमें कृष्णताका वर्णन । — म० प्र० ल० कव्वाली-कव्वालोका गीत। यह सामूहिक गान है। 'कव्वाल'की न्युत्पत्ति 'कौल' (फारसी)से मानी जाती है और इसका अर्थ है—कहना अथवा प्रशंसा करना। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें इसका मूल अरबीकी 'नक्ल' धात है और इसका भी अर्थ है बयान करना। किन्तु वास्तवमें इसका मूल स्रोत फारसी ही है, क्योंकि कव्वालीकी पद्धति ईरानमें ही आविष्कृत हुई। यह राग या रागिनी नही. बल्कि एक विशेष प्रकारकी धुन है और कई प्रकारके काव्य-विधान इस धनमें गाये जा सकते है और गाये जाते है। कव्वाली जातिगत पेशा नहीं, बल्कि कर्मगत है, अतः कव्वालोंकी कोई विशेष जाति नहीं, बल्कि कव्वालीका पेशा होता है। सूफियोंके माध्यमसे इसे लोकप्रियता मिली. क्योंकि उपासना-सभाओंमें वे भावोन्मादके कारण गा उठते थे और सारा उपासक-समाज उनका अनुकरण करता था। पीछे चलकर आवेश उत्पन्न करनेके साधन और माध्यम-रूपमें कव्वालको स्वीकृति मिली और क्रमशः ऐसे लोगोके दल संघटित होने लगे, जो इस प्रकारकी सभाओंमें गाया

करते थे। प्रारम्भमें ये लोग सफी साधक ही थे, बादमें पेशे-वर हो गये। कव्वालीके विषयानकल कई भेद होते है। हम्द-मे परमात्मा सम्बन्धी प्रशंसात्मक गीत रहते है और नातमे रसूलकी शानमे कुछ कहा जाता है। मनकबतमें औलियाके सम्बन्धमें वर्णन किया जाता है। रसलके वंशजोंकी प्रशंसा भी इनमें होती है। भारतवर्षमे इस सामृहिक गायनका प्रवेश ख्वाजा मोइन्द्रीन चिश्तीके कारण हुआ, जो १० वी मुहर्रम ५६१ हिजरीको अजमेर पहुँचे थे। ख्वाजाने फारसीमे गजलें कही थी, जो उपासना-समाओमें समनेत रूपमे गायी जाती रही। कव्वालीकी धुनमे कसीदा गजल अथवा रुबाई, कोई भी गायी जा सकती है।-रा० खे० पा० करमीरी-(भाषा तथा साहित्य)-करमीरी भाषा मुख्यतः करमीर घाटीमे बोली जाती है, यद्यपि जम्मू प्रान्तके किरतवाड़ जिलेमें बोली जानेवाली 'किरतवाडी' भी इसीकी एक उपभाषा है। कुल मिलाकर इसका क्षेत्र कोई १०,००० वर्गमील है और बोलनेवालोकी संख्या लगभग १५ लाख है ।

इस भाषाके लिए 'कइमीरो' नामका सर्वप्रथम उच्लेख अमीर खुसरो (१३वी शती)की 'नुहसिपिह्न' (सि॰ ३)मे मिळता है, जहाँ इते 'सिन्धी,' 'लाहौरी,' 'तिलंगी' आदि-के साथ परिगणित किया गया है। पर कश्मीरमें १७ वी शतीतक इसे 'देशभाषा' या 'भाषा' नामसे ही सूचित किया जाता रहा। स्पष्ट है कि दूसरे प्रान्तवालोंने ही इसे 'कश्मीरों' नाम दिया और बादमे कश्मीरियोने भी इसे अपना लिया। आजकल इसे "का'शुर" कहते है।

पर इससे यह न समझा जाय कि सोलहवी रातीतक इस भाषाका विकास हो ही नहीं पाया था। ललचंद-(१४वी राती)की वाणीमें करमीरीका जो लालित्य निखर उठा है, उसे अपभ्रंशमेंसे उभरते-उभरते कम-से-कम दो सौ वर्ष लगे ही होंगे। और उधर, 'महानयप्रकाश' (१३वी शती)मे शिनिकण्ठने (कश्मीरकी) 'सर्व गोचर देशभाषा'के जो नम्ने दिये है, वे प्राकृतकी अपेक्षा अपभ्रशके निकट होते हुए भी लल्बदकी करमीरीसे विशेष दूर नहीं। स्पष्ट है कि जब शैव सिद्धोने कश्मीरीको शैव तन्त्रोका लोकसलभ माध्यम बनाया, तो धीरे-धीरे कश्मीरी साहित्यका भी माध्यम बनती गयी। अतः कहमीरीको दारद परिवारकी सन्तान बताना युक्तियुक्त नहीं। यियर्सनने शीना और करमीरीके जो तुलनात्मक रूप-चित्र दिये है, उनमे इतना मौलिक साम्य नहीं कि कइमीरीको भारतार्थ परिवारसे बाहर माना जाय। रही बात ककुव (कुकवाक्), ओश (अश्र), अ'छ (अक्षि) और न्यश (स्नुषा) जैते शब्दोंकी, जो मध्य भारतीय भाषाओकी अपेक्षा दारदके निकट दिखाई देते है। निश्चय ही ये शब्द करमीरी अपभ्रंशमेंसे होकर आधुनिक करमीरीमे आये है, क्योंकि 'महानयप्रकारा', 'छुम्मा सम्प्रदाय', 'ललवाख्य', 'बाणासुरकथा', 'सुखद्ख-चरित्र' आदि सभी झन्थोकी भाषा एकमत्ते भारतार्थ परिवारकी ओर संकेत करती है।

आजसे कोई छः सौ वर्ष पूर्व करमीरी शारदा लिपिमें लिखी जानी थी, पर १४ वी शतीमे जब फारसी करमीरकी राजमाषा बनी तो करमीरीके लिए भी फारसी लिपिका उपयोग वहता गया और आजकल भी इसी लिपिका एक अनुकूलित रूप प्रचलित है। करमीरी ध्वनिमालामे कुल ५२ ध्वनिमान (फोनीम) है। पदान्तमें जब अति हस्व इ, उ, आयें तो इन्हें 'मात्रा स्वर' कहते है। शारदा लिपिमे इनके नीचे विराम लगाया जाता था।

कश्मीरीमे नपुंसकर्लिंग केवल कुछ सर्वनामोंमें पाया जाता है, जैसे तस या त'मिस ज'निस (उस जनको) पुं०; पर तथ गरस (उस घरको या घरमे) नपुं०।

करमीरी कारक बहुत सरल हो चुके है, पर प्राचीन संक्लेषणपद्धतिके अवशेष अब भी पाये जाते हैं, जैसे:—

बचन (प्र० एक०) < श्वच्चेन < वत्सेन; वचन (द्वि० बहु०) < श्वच्चान् < वत्सान्; बचस (द्वि० एक०) < श्वच्चस, < वत्सस्य; बचस क्युत (चतु० एक०) < श्वच्सस किते < वत्सस्य कृते।

देसे ही क्रियापदोंमें भी भारतार्थ विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती है, जैसे—गछान छु<गच्छन् अस्ति; गव गतो; <गछि <\*गच्छितहः, गंछिथ <\*गच्छित्वाः; चांविथ <\*चाविवता । परन्तु इस मौलिक साम्यके ऊपर कुछ ऐसी विलक्षणताएँ जमती गयी है कि आज ये क्रियाएं बहुत जटिल हो चुकी है । यहाँतक कि लिंग, वचन, कर्ता, कर्म और कालके अनुसार एक-एक धातुके सैकडों रूप बनते है । अकेले भूतकालके साठसे ऊपर रूप बनते है, जैसे : पोंक्थक (तूने पढा); पोंक्थम (तूने पढ़ा उसकों); पांक्थ (तूने पढा उनकों); पोंक्थम (तूने पढ़ा मुझकों); पंरिथ (तूने पढ़ा), आदि-आदि; पंक्थ (तूने पढ़ा), आदि-आदि; पर्वथ (तूने पढ़ा), आदि-आदि; पर्वथ (तूने पढ़ा), आदि-आदि । संक्लेषणको इस प्रक्रियापर दारद भाषा कोई प्रकाश नहीं डालती।

कश्मोरी साहित्यका विकास-क्रम भी उसकी भारतार्थ परम्पराका ही चोतक है। सुविधाके लिए इसे हम पाँच कार्लोमें दर्शा सकते है:—

१. आदिकाल (१२५० ई०से १४०० ई०)—इसमें सन्तोंकी मुक्तक वाणीका ही अधिक जोर रहा। शितिकण्ठ-का 'महानयप्रकाश,' लल्खदके 'वाख', नुन्दयोंशके 'श्लोक' और दूसरे रे'सों '(ऋषियों)के पद इस कालकी प्रतिनिधि रचनाएँ है, जिनमें शैव दर्शन, तसन्त्रुफ, सहजो-पासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना और पाखण्डप्रतिरोध तथा आडम्बर-त्यागका प्रतिपादन ही अधिक हुआ है। संवे-दनशील अभिन्यक्ति केवल 'लल्ल-वाखों'में मुखरित हुई है।

२. प्रबन्धकाल (१४०० से १५५० ई०)—जैनुलाबिदीन(बडशाह, १४ वीं शती)ने कश्मीरी साहित्यको जो प्रोत्साहन
दिया, उसके फलस्वरूप कई पौराणिक, लौकिक एवं इतिवृत्तात्मक कान्योंकी रचना हुई, जिनमे वर्णनोंकी ही प्रधानता
रही । पर महाभट्टावतारके 'बाणासुरवध' तथा प्रशस्तके
'सुख-दुख-चिरत'के अतिरिक्त इस कालके सभी कान्य लुप्त
हो चुके है। संगीतात्मक कृतियोंकी भी इस कालमें धूम
रही, ऐसा साक्ष्य मिलता है।

३. गीतिकाल (१५५० से १७५० ई०) — इस कालमें लोक-जीवन (विशेषतः पारिवारिक), विरह-मिलन, हर्ष-विषाद और हास-रुदनका विश्वजनीन मावचित्रण हुआ। हवाखात्न और अरिशमाल इस कालके अथ और इति हैं। दोनोंके गीत संवेदनाके करूण मधुर संगीतसे अनुप्राणित हैं। १६०० ई० के लगभग ह्वीबउल्लाह नौशहरीने स्फी रहस्यवादकी उद्भावना की और १६५० ई० के लगभग साहिब कौलने कृष्णचरित रचा जो गीत शैलीमें ही कृष्ण-लीलाका चित्रण करनेमें काफी सफल रहा है।

४. प्रेमाख्यान काल (१७५०से १९०० ई०)—इस कालमें गीति-परम्पराको आख्यान-काव्यका सहारा मिला, तो एक ओर रामचिरत, कृष्णलीला, पार्वतीपरिणय और नलदमयन्तीपर आधारित मार्मिक 'लीला'काव्य रचे गये, और दूसरी ओर प्रेममार्गी स्फीधारा 'मसनिवयो'में उमडती चली। फारसी मसनिवयोका रूपान्तर जोरों-पर रहा और पंजाबी, उर्दू तथा अरबीसे भी सामग्री ली गयी। इस कालकी सैकडों रचनाओंमेसे भी अधिकांश अप्रकाशित ही पडी है। प्रमुख कृतियोमेंसे कुछ ये है—

प्रकाशरामकी 'रामायण'; रमजान वठका 'अकतन्दुन'; महमूद गामीके 'शीरी-खुसरो', 'ठैला-मजनू', 'यूसुफ-जुलेखा'; परमानन्दके 'यदास्वयंवर', 'शिवलगन' और 'सुदामचरिय'; वलीउल्लाहकी 'हीमाल'; मकबूलकी 'गुलरेज'; हक्कानीकी 'मुमताजे वेनजीर' और कृष्ण राजदानका 'हरिहरकल्याण'।

इनमेसे अधिकांश कार्न्योंके अन्दर लौिकिक और अलौिक प्रेमके चित्रणमें कश्मीरी परिवारोके व्यथित जीवनकी परछाइयाँ खूब झलकी है।

, ५. आधुनिक काल (१९०० ई०से)—भारतके आधुनिक युगकी विचारधाराएँ ज्यों-ज्यों कश्मीरके अवरुद्ध जीवनको स्पर्श करती गयीं, त्यों-त्यों कश्मीरी साहित्य भी आधुनिकतामे पैर धरता गया । वहाव परेका 'शाहनामा', मकबूलका 'ग्रीस्तिनामा' और रस्ल मीरकी 'गजलोंने इस नये युगकी पूर्वपीठिका तैयार की है, तो महजूरनें इसकी 'प्रमाती' गायी और आजादने एक नवीन 'चेतना' देकर इसे दूसरे प्रदेशोंके भारतीय सःहित्यका सच्चा सहयोगी बना दिया।

गद्यका प्रथमोन्मेष भी इसी कालमें होने लगा है। आरम्भमें केवल धार्मिक चर्चा ही गद्यका अन्तरंग रही, पर अब कहानी और नाटकका भी विकास होने लगा है और निबन्ध भी उभरता आ रहा है।

वर्तमान साहित्यकारोंमें मास्टरजी, आरिफ, नादिम, राही, रोशन, कामिल, फाजिल, अलमस्त, अस्तर, उमेश कौल, लोन, पुश्करमान और हाजिनी विशेष उल्लेखनीय है। इनमेंसे प्रायः सभी आजके भारतीय साहित्यकी प्रगतिशील प्रकृतियोंसे प्रेरित रहे है। अपने युगकी वस्तुस्थितिको झलकाते हुए भी इन्होंने इतिवृत्तारमकता तथा कोरी भाषुकताकी अवियोंसे अपने यथार्थ चित्रणोंको सुरक्षित रखा है और कश्मीरके प्राकृतिक वैभवमें नये कश्मीरके निर्माणकी उद्घावना द्वारा मानववादकी संजीवक रागिनी गायी है। भाषा, भाव, छन्द-विधान, सभीमे आज बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हो रहे हैं और अभिव्यक्तिके नये साँचे तराशे जा रहे हैं। पर अधिकांश कश्मीरी साहित्य अभी आज'की अपेक्षा आनेवाले 'कल'से अधिक सम्बद्ध है।

कष्ट-कल्पना - दे० 'रस-दोष', दूसरा। कष्टार्थ - दे० 'अर्थ-दोष', दूसरा।

कसीदा - यह उर्दू काव्यके उस रूपका नाम है, जिसमें किसीकी प्रशंसा की जाय। इसमें हर शेरका दूसरा मिस्रा एक ही रदीफ और काफिये (तुकान्त)मे होता है। अगर किसी शेरके दोनो मिस्रोकी रदीफ और काफिया एक ही हो तो उसको 'मतला' कहते है। गजलके आरम्भमें कमसे-कम एक 'मतला' अवस्य रखा जाता है। गजलके बीचमें भी इसका प्रयोग कई बार किया जा सकता है (दि॰ गजल)।

कसीदे दो प्रकारके होते है। एक वह, जिसमें कवि प्रारम्भसे ही प्रशंसा करने लगता है और दूसरा वह, जिसमें प्रारम्भमें एक तरहकी भूमिका दी जाती है और कवि और वातोंके अलावा वसन्त, बहार, दर्शन, ज्योतिष आदिके विषयमें कुछ कहता है। इन प्रारम्भिक वर्णनोंको 'तहबीब' कहते हैं। 'तरबीब'के बाद कवि प्रशंसा करनेकी ओर अपने शेरोको मोडता है। इस मोडको 'ग्ररेज' कहते है। इसका वर्णन बड़ा मुश्किल समझा जाता है और इसीके द्वारा शायरके कमालका अनुमान होता है। अच्छी 'गुरेज' वह है, जिसमे कवि 'तरबीब'से 'तारीफ' (प्रशंसा)पर इस तरह आ जाय कि पढनेवालोंको यह पता ही न चले कि प्रशंसाका विषय ठूस-ठांसकर लाया गया है। कसीदेके तीसरे अंग 'मदह' (प्रशंसा)के बाद चौथा अंग 'दआ' होता है, जिसमे कवि ममदृह (प्रशंसित व्यक्ति)के लिए ग्रुभ-कामनाएँ करता हुआ उससे कुछ याचना करता है। इसीके बाद कसीदा समाप्त हो जाता है।

दरवारोंके प्रभावसे कसीदोंकी शैलीमें बड़े भारी-भरकम शब्दोका प्रयोग किया जाता है। प्रशंसा करनेमे प्रशंसित व्यक्तिकी वीरता तथा उसके घोड़े और तलवारका अत्यक्ति-पर्ण वर्णन होता है। पुरानी कवितामें क्सीदेका महत्त्व इतना था कि कोई कवि उस्ताद (गुरु) तभी समझा जाता था, जब वह अच्छा कसीदा लिख लेता हो। केवल गजल कहने-बाला चाहे वह कितनी ही सन्दर गजल लिखता हो. उस्ताद नहीं माना जाता था, क्योंकि कसीदेमें ही उसकी भावनाकी उड़ान और योग्यताकी परीक्षा होती थी। --म० कहानी-गद्य कथा साहित्यके एक अन्यतम भेदके रूपमें कहानी सबसे अधिक, किसी अंशमे उपन्याससे भी अधिक, लोकप्रिय साहित्यका रूप है। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह रूप भी बंगलाके माध्यमसे पाश्चात्य साहित्यसे आया है। अंग्रेजीमें जिसे शार्ट स्टोरी कहते है, वही वॅगलामें गल्प तथा हिन्दीमें कहानी नामसे प्रचलित है। हिन्दीमें भी गल्प नामका किसी मात्रामे प्रचलन रहा है, परन्त कहानी शब्द ही सर्वाधिक स्वीकृत है। शार्ट स्टोरीके शब्दा-नुवादरूपमें कभी-कभी इसे छोटी कहानी और 'लघुकथा' भी कहा जाता है, परन्तु कहानी नाम ही अधिक सुकर और सहज है।

कथासाहित्यके बड़े रूपों, उपन्यास और उपन्यासिका-(लघु उपन्यास)की तरह कहानीमें भी कथासूत्र (थीम), कथानक, पात्र और देश-काल था परिस्थिति उसके प्रमुख तत्त्व बताये गये हैं तथा इसमें भी पात्रोंके पारस्परिक अथवा परिस्थितिके विरुद्ध द्वन्द्व या संघर्ष, संघर्षकी पराकाष्ठा, चरम सीमा तथा संघर्षकी जटिलताओं विविद्यनमें कहानीके अन्तकी विकास-रेखा बतायी गयी है। उसे भी उत्तम पुरुष, सर्वज्ञ या सीमित अन्य पुरुषके रूपमे उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु कथासाहित्यके उपर्युक्त बड़े रूपोंसे कहानीकी मिन्नता इतनी ही नहीं है कि उसका कथानक बहुत छोटा होता है, उसमे घटना-प्रसंग और दृश्य तथा पात्र और उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त न्यून, स्टूक्त और संक्षिप्त होता है, वरन् कहानी प्रस्तुत करनेमें छेखकके दृष्टिकोणसे तथा कहानीका वातावरण, अर्थात समस्त कहानीमे परिच्याप्त सामान्य मनोद्यासे उसके शिल्प-विधानमे ऐसी एकता और प्रभावान्वित आ जाती है, जो कहानीकी निजी विशेषता है और उसके रूपात्मक व्यक्तित्वकी पृथक्ता प्रकट करती है।

यद्यपि कहानीके उपर्युक्त तत्त्व परस्पर अभिन्न रूपमें संपृक्त होकर प्रत्येक कहानीमें न्यूनाधिक रूपमे वर्तमान रहते है, किन्तु किसी कहानीमे चरित्र, किसीमें कथानक, किसीमे केवल कथासत्र, किसीमे वानावरण और इसी प्रकार अन्य किसी तत्त्वको प्रधानता देकर शेषकी अपेक्षाकृत उपेक्षा की जा सकती है। कहानीके किसी एक तत्त्वपर अधिक बल दे देनेके कारण उसमे इतनी अधिक रूपात्मक विविधता दिखायी देती है कि कभी-कभी यह कहना कठिन हो जाता है कि यह कहानी निवन्ध नहीं, कहानी ही है, यह रेखाचित्र या संस्मरण या साधारण चटकला नही है। यदि कहानीमे कथासूत्र या आधारभूत विचार या भावपर अधिक बल दे दिया जाय तो वह अपने प्रयोजनमें निबन्धके निकट जा पहुँचती है, यदि उसमें चरित्रको प्रधानता देदी जाय तो वह कभी-कभी ब्यक्तिका रेखाचित्र बन सकती है और यदि कार्य-व्यापारको ही उसमे प्रमुख रूपमे दर्शाया जाय तो साधारण वर्णनसे उसका अन्तर बताना कठिन हो जाता है। निरुचय ही कहानीमें वर्णनात्मकता हो सकती है, उसमे किसी एक भावना, विचार या भावको एकान्ततः विकसिन किया जा सकता है, उसमे किसी चरित्र-की विशेषता प्रस्तृत की जा सकती है और फिर भी वह साधारण वर्णन, निवन्थ या रेखाचित्रसे पृथक् इस कारण समझी जाती है कि उसमे किसी एक तत्त्वपर बल देते हुए पात्रोकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओके माध्यमसे जीवन और उसकी व्याख्याको प्रस्तुत किया जाता है। कहानी निबन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें व्यापक मानवीय सत्योका अन्वेषण या उद्घाटन होता है, केवल तथ्यपरक अभिधा-मलक सत्योका नहीं। वह साधारण वर्णन भी नहीं है, क्योकि वर्णन करनेके साथ-साथ वह जीवनकी व्याख्या भी करती है, उसे सार्थकता प्रदान करती है, उसका दिशा-निर्देश करती है। कहानीमे सीमित और आंशिक उपन्यास की अपेक्षा अत्यन्त छोटे पैमानेपर, जीवनका एक सुसंघटित, अपनेमे परिपूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, अतः वह रेखाचित्रसे भिन्न है, जिसमे वर्णनकी मनोहारिता या विषयकी प्रभावीत्पादकता होते हुए भी, उस प्रकारका संघटन और सम्पूर्णता नही होती।

गद्य कथा-साहित्यके इस रूपका अपेक्षाकृत अल्प कालमें

ही इतना शिंकशाली विकास हुआ है और आकार-प्रकारकी विविधतामें वह शतना समृद्ध हो गया है कि उसकी परिभाषा देना सम्भव नहीं है। उपर्शुक्त विशेषताओं-से ही हम उसे पहचान सकते हैं और इतना कहकर ही सन्तोप कर सकते हैं कि कहानी गद्य साहित्यका एक छोटा, अत्यन्त सुसंघटित और अपनेमे पूर्ण कथारूप है।

कहानीकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि आधुनिक साहित्यिक कहानीका इतिहास उन्नीसवी शतीसे प्रारम्भ होता है, जिसमे प्राप्त सबसे प्राचीन लिखित साहित्यमे ऐसी कहानियाँ मिली है, जिनमे पर्याप्त साहित्यिक कौशल पाया जाता है। अनुमान है कि 'जादूगरोकी कथाएँ' किसी-न-किसी रूपमे ४,००० ई० पू०से ३,००० ई० पू०तक प्रचलित थी, यद्यपि 'वेस्ट कार्पोरिस', जिसपर वे लिखी हुई मिलती है, कुछ समय बादका जान पड़ता है। भारतीय कहानीकी परम्परा अत्यन्त सम्पन्न है। इसका कुछ विस्तृत परिचय बादमे दिया गया है, परन्तु यहाँ इतना संकेत करना आवश्यक है कि ऋग्वेदमे, जिसकी गणना संसारके प्राचीनतम साहित्यमें होती है, काल्पनिक कहानी अपनी अनेक साहित्यिक विशेषताओके साथ विद्यमान है। इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी अवदान और जातक कथाओंके अक्षय भण्डार है। गुणाद्यकी 'बृहत्कथा' जो अब केवल संक्षेपों और संग्रहोंमे प्राप्त है तथा 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कहानियों-में उस प्रकारका धार्मिक आग्रह भी नहीं है और नीति-शिक्षाके साथ मनोरंजनको प्रधानता दी गयी है। इन कहानियोंका विश्वव्यापी प्रचार हुआ है और इन्होने विश्व-के कहानी-साहित्यका भण्डार भरा है। 'पंचतन्त्र' (पॉचवीं, छठी शती)का छठी शतीमें ही खुसरो नौशेरवॉने पहला पहलवीमे अनुवाद कराया था। पहलवीसे छठी शतीमे ही इसका सीरियन भाषामे ईसाई पादरी बुदके द्वारा अनुवाद हुआ। अगली दो शताब्दियोमें इसके सीरियनसे अरबीमें कई अनुवाद हुए। अरबीसे इसकी कहानियाँ यूरोपकी लैटिन, म्रीक, जर्मन, फ्रेन्च, स्पेनिश और अम्रेजीमे अनूदित हुईं। १६वीं रातीतक इनके अनेक अनुवाद हो चुके थे और इस प्रकार इन कहानियोंने परोक्षरूपसे ही सही, साहित्यमें कहानीके आधुनिक रूपको जन्म देनेमें सहायता दी। प्राचीन यूनानी साहित्यमे भी गद्य और पद्यमें रचित अनेक कथाएँ मिलती है। बाइबिल तो कहानियोंका भण्डार है।

मध्ययुगमें यूरोपमें कहानियोंकी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। चांसरकी 'कैण्टरबरी टेल्स' और बोकेसियोंकी गद्यमें लिखित 'डिकेमेरॉ' प्रसिद्ध कहानी-संग्रह है। १७वीं, १८वी शतीतक छोटी-बड़ी कहानियोंके अनेक प्रकारके नमूने मिलते हैं, जिनमें कुछ आधुनिक कहानीके निकट पहुँच सकते हैं। परन्तु जान-बूझकर पृथक् साहित्य-रूपमें निर्मित सुनियोजित कहानियोका उदय १९वी शतीके प्रथम चरणमें हुआ है। १८वी शतीके अन्ततक तो उपन्यासकों ही एक गम्भीर साहित्यरूपमें मान्यता मिली थी। कहानियोंको मांग उस समय हुई, जब अनेकानेक समाचार-पत्रों तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आरम्म हुआ

और पक्ष-व्यवसायको बढ़ानेके लिए सम्पादकगण ऐसी कहानियोको लिखानेमें एक दूसरेसे होड करने लगे, जो पत्र या पत्रिकाके एक ही अंकमें पूरी हो जाय ।

आधुनिक कहानीका प्रारम्भ १९वी शतीके चार देशोंके लेखक-समूहके द्वारा हुआ, जिनमे परस्पर १५ वर्षसे अधिक-का अन्तर नहीं है। जर्मनीके ई० टी० डब्ल्यू० हौफमैनके कहानी संग्रह १८१४ और १८२१के बीच प्रकाशित हुए, जेकव और विव्हेल्म ग्रिमके परियोंकी कथाओं और पुराण-कथाओंके संग्रह १८१२ और १८१५के बीच निकले तथा जॉन छुडविंग टीकने भी इसी कालमे तत्परतासे कहानियाँ लिखी। इंग्लैण्ड निवासी अमेरिकन लेखक वाशिगटन इर्विग-की 'स्केच बुक' १८१९-२०में तथा तीन अन्य कहानीकी पुस्तकें १८३२के पूर्व प्रकाशित हुई। इसी समयके लगभग नैथनील हॉथॉर्न और एडगर एलन पो कहानी-लेखकके रूपमें प्रकट हो रहे थे। रूसमें एलेक्जेण्डर पुश्किन और निको-लाइ गोगोलने १८३१मे लिखना आरम्भ किया तथा फ्रांस-के प्रॉस्पर मेरिमोका कहानी-संग्रह १८२९मे.प्रकाशिन हुआ। थियोफिल गौतिए और बालजककी कहानियाँ भी १८३०में प्रारम्भ हुईं। ये सब कहानीको एक पृथक् साहित्यका रूप मानकर लिखनेवाले सजग कहा नीकार थे। इनमे इर्विगके शब्दों में "विचारकी निरन्तर क्रियाशीलता और क्रतित्वका सुघरपन" पाया जाता है। इर्विगके 'रिप वॉन विकिल', 'द लेजेण्ड ऑव स्लीपी हालों' और 'द स्टाउट जेण्टिलमैन' कहानीकलाके आदर्श कहे जाते है। परन्तु इर्विगने कहानी कलाको एक ऐसा बंधा-बंधाया रूप देनेकी चेष्टा की, जिसमे गतिशीलता और नाटकीयताका अभाव था। हॉथॉर्न और पो-को इर्विगके द्वारा स्थापित विधानमें परिवर्तन करना पड़ा। पाठकको तीव्रतासे प्रभावित करने तथा कहानीमे जीवन्त-शक्ति लानेके लिए हॉथॉर्न प्रसिद्ध है। गोगोलके विषयमे प्रसिद्ध है कि वह रौली और वृत्तिकी दृष्टिसे निर्दोष वनाने-के लिए एक कहानीको आठ-आठ बार लिखता था। कहानीकलाके परिश्रम-साध्य शिल्पविधानको इस प्रकार १८३०-४०के बीच पूर्ण स्वीकृति प्राप्त हो गयी।

पो-ने तो कहानीकलाके सम्पूर्ण सिद्धान्तींका ही प्रति-पादन कर डाला और कहानी-रचनाके सुनिश्चित नियम बना दिये। उसके अनुसार कहानीमे पूर्वनिश्चित प्रभावा-निवति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसीके द्वारा कहानी में पूर्ण एकात्मकता या संकलन (यूनिटी) आता है, अतः कहानीमें कुछ भी ऐसा न होना चाहिये, जो उस प्रभावा-न्वितिमें सहायक नहीं है। कहानीके समस्त तत्त्वोंकी, उसके सम्पूर्ण आकार-प्रकारकी उसी पूर्व-निश्चित प्रभाव या केन्द्रीय संवेदनाके आधारपर योजना की जाती है। पो-की कहानियोंमें कथानकका उत्सुकतापूर्ण अनिश्चय या द्वैधीभाव-(सस्पेन्स)पूर्ण वातावरण और मनोदशा (मूड)की प्रधानता होती है। उनमे कलाकी परिपूर्णता लानेके प्रयत्नमे प्रायः जीवनकी यथार्थता नष्ट हो जाती है। पो-ने कहानीको अत्यधिक नियमबद्ध कर दिया, जिससे कि उसमे कुछ सम-झनेके लिए गतिरोध आ गया। गाँइ दि मोपासाँको इस बातका श्रेय है कि उसने कहानीको नियमोंके कठोर बन्धन-से सदाके लिए मुक्ति दिलायी। मोपासाँकी कुछ कहानियाँ वास्तवमें महान् हैं, उसकी उत्कृष्ट कहानियोंकी संख्या भी कम नहीं है, परन्तु निकृष्ट कहानियाँ भी उसने ढेरों लिखी। उसकी कहानियोंकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि चाहे वे महान् हो, अच्छी हों या बुरी, प्रत्येकमे वास्तविक जीवनका संस्पर्श मिलता है और सम्पूर्ण कहानियोमे कुल मिलाकर ऐसा लगता है मानों लेखकने नश्वर मानवता की सुख-दुःखात्मक अनुभृतियोंको बड़े समारोहके साथ वर्णित किया है। चेखवने कहानीके रूपको और अधिक प्रगति देकर उसे नवीन प्रकारकी स्वतन्त्रता, अवसाद, आकर्षण और सुषमासे सम्पन्न किया। अमेरिकाके ओ० हेनरीने भी कहानी-साहित्यके विकासमें योग दिया। परन्तु उसकी कहानीके अन्त करनेकी कलामें ही जादू था, जो कुछ दिनोंतक ही पाठकोको मुग्ध कर सका, क्योंकि उसकी कहानियाँ प्रायः यन्त्रमें ढली जैसी लगती है। उनमें वाक-चातुर्य है और हादिक संवेदना भी, परन्तु लेखकका मानव व्यक्तित्व उनमें नहीं मिलता। डिकेन्सने भी कुछ कहा-नियाँ लिखी है और उनमें खच्छन्दता, मानवता और प्रभावोत्पादकता पायी जाती है।

कहानी साहित्यका सबसे स्वाभाविक और इसीलिए अत्यधिक स्वच्छन्द रूप है। कहानीके अनन्त प्रकार अलि-खित रूपमें चलते है। दृष्टान्त, चुटकुले, हॅसी-मजाक, साहसिक वर्णन, परियोंकी कथाएँ आदि न जाने कितने रूपमें कहानी हमारे जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कालमें युली-मिली रहती है। इसके अतिरिक्त स्वयं हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन सैकडो कहानियोंके बीचसे गुजरता है। कहानी प्राण-वायुकी तरह अनिवार्य जान पडती है। इसीलिए साहित्यिक चेष्टाका अभिन्न अंग है। उसमें अग-णित प्रयोग इ.ए. है और होते रहेगे। मानवीय प्रेषणका वह सरलतम रूप हो सकती है और अत्यन्त जटिल उलझा हुआ भी। वह अत्यन्त व्यवस्थित अभिव्यक्तिका रूप धारण कर सकती है और अत्यन्त शिथिल भी। सच्चे कहानीकार-के हाथमें कहानी, कथानक, विकास और परिणति आदि उसके तथाकथित मूल तत्त्वोंसे सम्बद्ध उसके कला-सिद्धान्तों-के किसी भी झमेलेमें न पडकर अत्यन्त प्रभावशाली बन सकती है। ये तत्त्व उपयोगी भी हो सकते है और व्यर्थ भी, प्रश्न केवल लेखकका है। लेखक ही कहानी कलाके नियम अपने लिए निर्मित करता है, अपनी शैलीके द्वारा ही वह अपनी सफलता या असफलता प्रमाणित करता है।

कहा जाता है कि कहानी इतनी ही लम्बी हो कि वह एक बैठक या लगभग आधे घण्टेमे पढी जा सके। परन्तु कोई जल्दी पढता है कोई धीरे, अतः कहानीकी लम्बाईकी दूसरी माप यह बतायी गयी है कि कहानीका आकार २५०० शब्दोंसे १०,००० शब्दोंतकका हो सकता है। २५००से कम शब्दोंकी कहानी छोटी कहानी या छघु कथा (ऑर्ट शॉर्ट स्टोरी) तथा १०,०००से अधिक शब्दोंकी बडी कहानी (लॉग ऑर्ट स्टोरी) कही जायगी। और यदि उसमें २०,००० शब्दोंसे अधिक हों तो उसे लघु उपन्यास या उपन्यासिका (नावेलेट) समझना चाहिये। परन्तु यह नाप-जोखका पैमाना केवल कुछ विशेषकोंके

कामकी चीज हो सकती हैं। ५०० शब्दोंसे भी कमकी कहानियाँ है और २०,००० शब्दोंसे अधिककी भी, और ये दोनों साधारणतया कहानी नामसे ही अभिहित है।

साहित्यमात्र और कदाचित् उसमें सबसे अधिक कहानी, लेखक और पाठकके बीचकी चीज है। उसके कला सम्बन्धी सिद्धान्तींकी प्रायः दोनों ही अवहेलना करते है। नियम और सिद्धान्त तभी अधिक बनते है, जब कहानी-लेखनमें ताजगी नहीं रहती और पिष्टपेषण होने लगता है। नियमोंको ध्यानमें रखकर अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती। अच्छी कहानी तो स्वतः लिख जाया करती है, क्योंकि लेखक भी स्वतः निकल आता है (दे० उपन्यास, उपन्यामिका)

मारतीय साहित्यमें कहानीका प्राचीनतम रूप ऋग्वेदके यम-यमी, पुरुरवा-जर्वशी, सरमा और पणिगण-जैसे लाक्षणिक संवादों, ब्राह्मणोके सौपणीं-काद्रव जैसे रूप-कारमक व्याख्यानों, जपनिषदोंके सनत्कुमार-नारद जैसे ब्रह्मषियोंकी भावमुलक आध्यात्मिक व्याख्याओ, महाभारत-के गंगावतरण, शृंग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल आदि जैसे जपाख्यानों, गीताके प्रवचनों, हरिवंश परिशिष्ट, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, शिव, स्कन्द जैते पुराणोंके वार्तालापोमें खोजा जा सकता है। इनमें कहानीकी प्रेरणाका आधार धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन तथा नीति और कर्तव्यकी शिक्षा देना है। यही कहानी व्यंजनापूर्ण रूपको-से वर्णन-प्रधान चरित्रों तक रमी हुई है।

भारतवर्षमे कहानीका प्राचीनतम रूप कथा है। कथा-शैलीकी कथाओके विषय वीरों तथा राजाओके शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान और वैराग्य, समुद्री यात्राओंके साहस, आकाश तथा अन्य अगम्य पर्वतीय प्रदेशोमें प्राणियोंके अस्तित्व आदि है। इनमें कथानक या घटना-प्रधान रूप ही अधिक मिलते है। इस प्रकारकी कथाएँ भी शतियों-तक प्रचार पाती रही। सम्भवतः वे प्राकृतमे लिपिवद्ध की गयी होंगी। इन कथाओंमें सबसे प्राचीन कथा गुणाड्यकी 'बृहत्कथा' है, जिसका निर्माण रामायण, उदयन, वासव-दत्ता, समुद्री व्यापारियों तथा राजकुमारियोके पराक्रमी घटना-प्रधान कथाओसे हुआ है। यद्यपि यह अप्राप्त है, किन्त इसके संक्षिप्त रूपोंमें बुधस्वामीके 'बृहत्कथाइलोकसंग्रह' क्षेमेन्द्रकी 'ब्रहत्कथामं जरी' और सोमदेवके 'कथादिरताकर'-से इसके स्वरूपपर प्रकाश पड़ता है। दण्डीके इसके लिए प्रयुक्त 'क्या' शब्दसे ज्ञात होता है कि यह यन्थ अनुमानतः गद्यमें रहा होगा। सम्भव है कि वीच-बीचमें रलोकादि भी रहे हों। 'बृहत्कथा'की अनेक मनोरंजनपूर्ण कथाओंका विषय और शैलीका प्रभाव दण्डीके 'दशकुमारचरित', वाणभट्टकी 'कादम्बरी', सुबन्धुकी 'वासवदत्ता', धनपालकी 'तिलक्षमंजरी' और सोमदेवके 'यशस्तिलक'पर भी लक्षित है। यहाँतक कि कान्यग्रन्थ 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' 'रत्ना-वली', 'मृच्छकटिक' आदि भी इस कहानी-परम्परासे प्रभा-

'कथा'की परम्परामे एक शाखा नीति-कथाओंकी भी है। पतंजलिके 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' शब्द

भी किसी-न-किसी नीतिकथासे ही सम्बन्धित जान पडते है। इस दृष्टिसे इनका प्रारम्भ भी ई० सन्के पूर्वसे ही मानना होगा। इन नीतिकथाओकी विशेषता यही है कि इनमे मनुष्यके स्थानपर पशु, पक्षी, वृक्ष पात्रके रूपमे गृहीत हुए है। वे मानवीय स्वभाव, गुणोसे युक्त है। इनका उद्देश्य राजनीतिक एवं नैतिक शिक्षा देना तथा दैनिक जीवनके द्विविध पक्षों का प्रतिपादन करना है। इनमें कथाशिल्पकी अपेक्षा नीति विषयके समर्थनपर अधिक बल दिया गया है, अर्थात् ये शैलीप्रधान न होकर विषय-प्रधान हैं। इनकी शैली कथागमोपकथा—कहानीके भीतर कहानीकी है। किसी नीतिके विषयमें कहानीका प्रारम्भ होता है और जैसे ही किसी नैतिक शिक्षाके साथ उसका अन्त होने लगता है, वैसे ही एक पात्र दूसरे पात्रको एक · नयी कथा का संकेत कर देता है। ये कथाएँ गद्यमें है। बीच-बीचमें पद्यका भी प्रयोग हुआ है। शैलीकी मनोरंज-कता तथा कुतूहरूताके कारण इन कथाओका अत्यधिक प्रचार हुआ। विदेशमें भी 'अरेबियन नाइट्स' जैसे कथा-यन्थ बने । भारतमें इस कथा-शैलीका कथासंग्रह 'पंचतन्त्र' है। इसके पाँच तन्त्रों—'मित्रभेद'मे भेदनीति, 'मित्रलाभ'-में मित्रता और पारस्परिक सहयोग, 'विग्रह'मे युद्ध, उसके कारण और सन्धिकी उपयोगिता, 'लन्धप्रणादा'मे असाव-धानीसे प्राप्त वस्तुकी भी हानि होने और 'अपरीक्षित कारक'मे बिना विचारे काम करनेसे नाश होनेके विषयमे सूक्ष्म और विदलेषक-बुद्धिते विचार किया गया है। यह गधमें है, किन्तु बीच-बीचमें यथा-स्थल इलोक भी उद्धृत किये गये है। 'पंचतन्त्र' जैसे कथा अन्थोकी परम्परामे ही 'तन्त्राख्यायिका', 'बृहत्कथामंजरी', 'कथासरित्सागर', नारायणकृत 'हितोपदेश', जैनसिद्धार्थका 'उपमिति', 'भाव-प्रपंचकथा', हेमचन्द्रका 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' इत्यादि ग्रन्थ आते है।

कथाओं और नीति-कथाओं के समान ही बौद्ध विचारों के पोषण और प्रसारके लिए संस्कृत गद्यमे अवदान प्रन्थों की भी परम्परा प्राप्त है। इसमें 'अवदान शतक' मुख्य है। इसका उद्देश पूर्वजन्मकी प्रामाणिकता प्रमाणित करना है।

अवदानोंके अतिरिक्त बोधिसत्त्वके पूर्वजन्मोंसे सम्ब-न्धित जातक कथाएँ भी है। इनमे आर्थशूरकी 'जातकमाला' प्रमुख है। कुमारलात्का 'स्त्रालंकार' या 'कल्पनामण्डितक' भी जातकों और अवदानोंका संग्रह है। इनमे अवदानो और जातकों में कथा-प्रवान और यत्र-तत्र कार्य-प्रधान कहानीके रूप सम्मुख आते है।

संस्कृतमें कथाकी कथानक-प्रथान नीतिपरक कथाओंकी परम्परा दूरतक मिलती है। इनमें विक्रमादिल, भरथरी, मुंज, भोजके विद्या-प्रेम, न्याय, शौर्य आदि विर्णत है। शिवदासके 'वेतालपंचिवंशतिका', 'शालिवाहन कथा', 'कथाणंव', 'सिहासनद्वात्रिशिका' या 'द्वात्रिशत्पुत्तलिका' या 'विक्रमके', यूसुफ जुलेखापर आधारित श्री वीरकविका' 'कथाकौतुक', आनन्द-कृत 'माधवानलकथा', 'शुक सप्तति', अनन्त-विरचित 'वीरचरित', 'विक्रमोदय', 'पंचदण्डक्षत्र-प्रवन्य', 'बल्लालसेनका 'भोजप्रवन्य' आदि प्रन्थ इसी

परम्पराकी कहानियाँ है।

इस प्रकार प्राचीन कालसे कहानीका प्रवाह व्यंजना-प्रधान कथारूपकोसे इतिवृत्त, कार्य, चरित्र और वातावरण-की प्रधानताकी ओर रहा है।

जनताकी अपने चिरतनायकोके प्रति अट्ट श्रद्धा तथा युग-प्रेमकी स्वामाविक प्रवृत्तियोके कारण कथा-साहित्यकी परम्पराका निरन्तर विकास होता रहा है। संस्कृत, पाली, प्राकृतके कथा-साहित्यकी परम्परा अपश्रंशमें भी प्राप्त होती है। इसमे राजाओके आख्यान और चिरत्र लिखे गये। हिन्दीके आदि कालसे रीतिकाल गद्यके अभावमें भी कथा-प्रेमकी प्रवृत्ति देखी गयी है। उसने गीतों, प्रवन्थों और मुक्तकोमे अपना स्थान बनाया है।

हिन्दीके पूर्व-मध्यकालमे भारतमें मुसलमानोके स्थिर हो जानेपर विदेशी संस्कृतिके प्रभावसे 'लैला-मजनू,' 'शीरी-फरहाद,' 'युसुफ-जुलेखा' इत्यादि कथाओंका भी आगमन हुआ। लोक-कथाओंके आधारपर कथाकाल्य लिखनेवाले प्रेममार्गी स्फी कवियोंके प्रेमाख्यानोंमे कथा, मालामें धागेके समान बनी हुई है। किन्तु ये उड़नखटोला, उड़ाकू घोड़ा, देवी-देवता, राक्षस-देव, अप्सरा-प्रेमके अद्भुत चमन्कारोके प्रसंगोंसे अलौलिक, अतिलौकिक और अस्वामाविक हो गयी है।

वैष्णव कान्यमें प्रवन्ध और नीतिके रूपमे कथाका सुगुम्फन है। इसके अतिरिक्त इस कालमे अकवर-बीरवलकी न्यंग्य-विनोदपूर्ण कहानियाँ भी लोक-प्रचलित रही है।

रीतिकालके मुक्तकोंमें राधाकुष्णकी कथाओको प्रश्रय मिला ही है, कुछ अन्य पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं-पर आधारित कान्योंकी भी रचना हुई। इनमे कथा कहीं अभौतिक, कहीं अतिभौतिक और कहीं भौतिक आलम्बनोंके आश्रित है। इस प्रकार इन तीनों ही कालोमें पौराणिक, अतिदिन्य कथाओके प्रमंगों और ऐतिहासिक, अतिभौतिक वृत्तो, जीवनियोको लेकर लिखे गये कान्यमें कथाका प्रवाह सतत गतिशील रहा है।

किन्त्र हिन्दीके आधुनिक कालकी 'कहानी' कथाके विकासमे एक नितान्त नवीन दिशा है, यद्यपि आधुनिक कहानीकी कथात्मकताकी झलक इन्शाअला खाँकी 'रानी केतकीकी कहानी' या 'उदयभान चरित', लल्लू लाल-रचित 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधवानलकाम-कन्दला', 'श्रकुन्तला', 'प्रेमसागर', सदल मिश्रके 'नासिकेतो-पाख्यान', जटमलकी 'गोरावादलकी कथा', राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द'का 'राजा भोजका सपना' या 'वीरसिंहका वृत्तांत' इत्यादि मौलिक और अनुवादित कथायन्थोंमें मिलती है। कहानीके इस प्रारम्भिक कालमें कहानियाँ प्रायः दो स्रोतोंसे सम्बन्धित थी-एक संस्कृत कथा या लोकप्रचलित मौखिक कथाओका स्रोत, दूसरा उर्दू फारसीकी कहानियोंका स्रोत । पहलेमें संस्कृतकी धार्मिक एवं पौराणिक कथाओंके अनुवाद तथा 'शुक बहत्तरी', 'सारंगा सदाबृज', 'किस्सा तोता-पैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'किस्सये चार यार' आते हैं और दूसरेमें 'बागोबहार', 'किस्सा हातिम-ताई', 'चहार दवेंश', 'दास्ताने अमीर हमजा', 'तिलस्मे हों शरुबा' जैसी कहानियाँ रखी जा सकती है। इस प्रकार

इस समय ये जादू, कुत्हल और वासनामूलक प्रेमकी कहानियाँ ही भारतीय जनताका मनोरंजन कर रही थी।

किन्त पाश्चात्य संस्कृति तथा उसके भौतिक दृष्टिकोणके प्रसार, राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक आन्दोलन, व्यक्ति-स्वातन्त्रयकी वृद्धि, गद्यके प्रचार, मुद्रणकी सुविधाओ और पत्रोंके इस युगमें 'हिन्दो प्रदीप', 'सरस्वती' और 'सुदर्शन'-के प्रकाशनसे कथा-साहित्यमे अभूतपूर्व क्रान्ति हुई। यद्यपि प्रारम्भमे 'हिन्दी प्रदीप'मे 'कात्यायन वरक्चिकी कथा', 'उपकोशाकी कथा', 'सुदर्शन'में पौराणिक आख्यान और 'सरस्वती'मे 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र', 'कादम्बरी', 'सीम्बलीन', 'एथेन्सका टाइमन', 'पेरीक्लीज', 'कामेडी ऑव एरर' (औतकमय मिलन) जैसी देशी-विदेशी कहानियों, कान्यों, नाटकोंके अनुवाद ही प्रकाशित हुए, किन्तु 'सरस्वती'मे १९००मे किशोरीलाल गोस्वामीकी 'इन्दमती' कहानी प्रकाशित हुई, जो परम्परागत अनुदित या तथा-कथित मौलिक कहानियोसे सर्वथा भिन्न प्रकारकी थी। यद्यपि इसपर शेक्सपियरके 'टेम्पेस्ट' तथा किसी राजपत कहानीका प्रभाव माना गया है, किन्तु शिल्पकी दृष्टिसे यह एक नवीन कहानी थी। इसके पश्चात कुछ समयतक रूपान्तरित और अनुवादित कहानियोका बाहुल्य रहा। बॅगलासे कहानियोके अनुवादकोमें गिरिजाकुमार घोष, लाला पार्वतीनन्दन तथा 'वंग महिला'का प्रमुख स्थान है। 'सदर्शन'में माधव मिश्र पौराणिक आख्यायिकाओंके अनुवाद कर रहे थे। इन अनुवादोके अतिरिक्त हिन्दीमे छन्दोबद्ध कहानियाँ भी लिखी गयी, जिनमे न तो विषयका आदर्श है और न रौलीका निश्चित रूप है । 'जम्बुकी न्याय' 'निन्नानबेका फेर', 'नकली किला', 'कुलीनाथ पाण्डे', 'विद्या-विहार' इत्यादि इसी शैलीकी रचनाएँ है । इसके साथ प्रारम्भमें बंग भाषाके गल्पकी शैलीका भी अनुकरण हुआ। किशोरीलाल गोस्वामीकी 'गुलबहार', मास्टर भगवानदासकी 'प्लेगकी चुडैल', रामचन्द्र शुद्धकी 'ग्यारह वर्षका समय', गिरिजादत्त वाजपेयीकी 'पण्डित और पण्डितानी' इत्यादि आधुनिक कहानीके निकट है, किन्तु इनमेसे कुछ विदेशी शैलीकी है, कुछ जीवन, स्केच, इतिहास, निबन्धके निकट हैं। कहानी-शिल्पका सौन्दर्य इनमे नहीं है। 'वंग महिला'-की 'दुलाईवाली' 'सरस्वती'में १९०७मे प्रकाशित हुई, जो हिन्दीकी प्रथम मौलिक आधुनिक कहानी है और दमरी 'इन्दु'मे १९११में प्रकाशित 'प्रसाद'की कहानी 'याम' है। १९११ ई०में ही 'भारतिमत्र'मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरीकी 'सुखमय जीवन' कहानी भी प्रकाशित हुई। १९१२ ई०मे 'इन्दु'में 'प्रसाद'की 'रसिया बालम', जी० पी० श्रीवास्तवकी कहानियाँ, 'सरस्वती'में 'कौशिक'की 'रक्षाबन्धन' (१९१३), गुलेरीकी 'उसने कहा था' (१९१६), ज्वालादन रार्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा 'अदीब', 'जमाना'से निकलकर प्रेमचन्दकी कहानियाँ तथा 'प्रसाद'की 'इन्दु'में 'पुरस्कार', 'आकाशदीप', 'विसाती', 'स्वर्गके खण्डहर', 'प्रतिध्वनि', राधिकारमण सिंहकी 'कानोंमें कंगना' (१९१३) और 'बिजली'के प्रकाशनमें हिन्दीकी आधुनिक प्रगति अबाध गतिसे आगे बढ़ने लगी।

हिन्दीकी आधुनिक कहानीके विकासमें एक ओर

मानव-जीवनके प्रेम, करुणा, विनोद, हास्य, व्यंग्य, विस्मय, आश्चर्यपूर्ण साधारण और यथार्थ परिस्थितियोंके आधात-प्रतिधात सहायक हुए हैं, दूसरी ओर प्राचीन प्रमप्रधान खण्डकाव्य, प्रवन्धकाव्य, नाटकों और प्रेमाख्यानोंसे प्राप्त काव्यात्मक कल्पनाने योग दिया है।

विषय और वातावरणकी दृष्टिसे जहाँ प्राचीन कहानीमें राजा, राजकमार, राजकमारियोंकी प्रणयकथाओंका आधिक्य, मानवके बाह्य क्रिया-कलाप, स्वभावके वर्णनपर दृष्टि है तथा संयोग, आकस्मिक घटनाओंसे कृतहरू, आश्चर्य और जिज्ञासाको शान्त करनेकी प्रवृत्तिको अतिरंजकता तथा प्रेम-वृत्तिकी एकच्छत्रता है, वहाँ आधुनिक कहानीमे सामाजिक समानताके भाव जगनेके कारण, समाजकी सभी संस्थाओं, वर्गों और वर्णोंके मनुष्योंके व्यक्तिगत जीवनकी साधारण घटनाओको कहानीका विषय बनाया गया है. मानवकी अन्तःप्रकृति चित्रित करनेका प्रयत्न किया गया है, संयोग और दैवघटनाको केवल कथानकके विकासमें साधनमात्र माना गया है, प्रेमके साथ अन्य प्रवृत्तियोके चित्रणपर भी ध्यान दिया गया है, मानवको देव-दानवों जैसी अतिभौतिक सत्ताओं के हाथका क्रीड़ा-कन्दक नहीं बनाया गया है, उनकी प्रवृत्तियोंका मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है और जीवनके महत् तथ्यों एवं शाश्वत सत्योंका भी उद्घाटन किया गया है। शैलीकी दृष्टिसे जहाँ प्राचीन कहानीका प्रारम्भ सीधे-सादे नियमित और व्यवस्थित ढंगसे होता था, वहाँ आधुनिक कहानी कथानकके किसी भी स्थलसे प्रारम्भ हो सकती है। यही उसकी वक्रता या विचित्रता है और उसमे चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक है। दसरे, जहाँ प्राचीन कहानी वर्णन-प्रधान होती थी, वहाँ आधुनिक कहानी रूपकों और प्रतीकोका सहारा लेकर क्लात्मक होती जा रही है। उसकी शैलीमें निरन्तर विकास होता जा रहा है।

बीसवी शताब्दीके प्रथम चतुर्थीशमें आधुनिक हिन्दी कहानी रूपककी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'खूनी', प्रेमचन्दकी 'आत्माराम', 'शंखनाद', 'बड़े घरकी वेटीका गुमान', 'बूढ़ी काकी', 'मुक्तिमार्ग', 'अग्निसमाधि', 'दीक्षा', 'दफ्तरी', गुलेरीकी 'उसने कहा था', 'प्रसाद'की 'मिखारिन' 'गुण्डा', कौशिककी 'ताई' जैसी **चरित्र-प्रधान**, प्रेमचन्दकी 'शतरंजके खिलाडी', विशम्भरनाथ जिज्जाकी 'परदेशी', राधिकारमण सिंहकी 'कानोमें कंगना', 'विजली', चण्डी-प्रसाद 'हृदयेश'की 'प्रेम-परिणाम', 'उन्माद', 'योगिनी', 'प्रसाद'की 'आकाशदीप', 'प्रतिध्वनि', 'विसाती', 'स्वर्गके खण्डहरमें', 'हिमालयका पथिक', 'समुद्र सन्तरण', गोविन्दवल्लभ पन्तकी 'जूठा आम', 'मिलन मुहूर्त', प्रेमचन्दकी 'प्रेमतरु', सुदर्शनकी 'हार-जीत' जैसी वातावरण-प्रधानः कौशिककी 'पतितपावन', ज्वालादत्त शर्माकी 'भाग्यका चक्र', पदुमलाल पुन्नालाल बरूशीकी 'झलमला'- संग्रहकी कहानियाँ जैसी **कथानक-प्रधान**; गोपालराम गहमरीकी जासूसी कहानियाँ; दुर्गाप्रसाद खत्रीकी वैज्ञानिक कहानियाँ—'संसारविजय', 'रूप-ज्वाला', मथुराप्रसाद खत्रीकी 'शिखण्डी' जैसी **कार्य-प्रधान** राय कृष्णदासकी 'कला और कृत्रिम कला', 'प्रसाद'की

'कला' जैसी प्रतीक-प्रधानः पाण्डेय वेचन शर्मा 'उय'की 'निर्लब्ज, 'इन्द्रधनुष' संग्रहकी तथा चतुरसेन शास्त्रीकी 'रजकण' संग्रहकी मानव-जीवनके कुरूप, सुरुचिपूर्ण और अज्ञुम प्रसंगोको लेकर लिखी प्रकृतवादी तथा विषयकी दृष्टिसे चतुरसेन शास्त्रीकी 'भिक्षुराज', 'प्रसाद'की 'ममता', 'देवरथ', प्रेमचन्दकी 'वज्रपात', 'सारन्धा', सुदर्शनकी 'न्यायमन्त्री', वृन्दावनलाल वर्माकी 'तातार वीर' और 'एक वीर राजपूत', 'राखीवन्द भाई' जैसी इतिहास-प्रधान कहानियोसे होकर विकसित हुई है। शैलीकी दृष्टिसे आधनिक कहानी सदर्शनकी 'तीर्थयात्रा', प्रसाद'की 'ममता' जैसी वर्णनात्मक, कौशिककी 'ताई', 'द्विज'की 'मोक्षकी मिक्षा' जैसी संलापात्मक, प्रेमचन्दकी 'ब्रह्मका स्वॉग', सुदर्शनकी 'अन्धेर', 'अन्धेरी दुनिया' जैसी आतम-चरितात्मक, 'प्रसाद'को 'देवदासी', राधिकारमणप्रसाद सिंहकी 'सुरबाला' प्रेमचन्दकी 'कुसुम' और सुदर्शनकी 'बलिदान' जैसी **पत्रात्मक शैलियों**मे व्यक्त हुई है।

किन्त बीसबी शतीके द्वितीय चतुर्थाशमें जीवनके तथा-कथित शाश्वत कहे जानेवाले प्रतिमानों और आदशींको वैज्ञानिकता छुने लगी। परिणामस्वरूप शाश्वत सत्यकी व्यंजना युगसत्य, अतीत सत्य तथा मनोवैज्ञानिक सत्यके रूपमें होने लगी। राय कृष्णदासकी 'तापसीकी तितिक्षा', 'अन्तःपुरका आरम्म', हरिवंश राय बच्चनकी 'चुन्नी-मुन्नी'में सत्य इसी रूपमे उद्घाटित किया गया है। इसके अतिरिक्त पहले जहाँ ईर्ष्या, क्रोध, भय, आशंका, प्रेम, घृणा, सन्देह जैसी वृत्तियोंके चित्रणपर बल दिया जाता था, वहाँ मनकी गहराइयोंमें पैठ होने लगी है और व्यक्ति-समाजकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओंको चित्रित किया जाने लगा है। जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'चलितचित्त' तथा जोशीकी 'अभिनेत्री'में इन्हीं वृत्तियोंका विश्लेषण किया गया है। जैनेन्द्रकी 'टाइप', यशपालकी 'पुलिसकी दफा'में यही लक्षित है। दूसरी विशेषता बुद्धिवादका तीव्र आग्रह है, जिसके कारण भावनाकी अप्रधानता बढी है और सामाजिक विषमताओंके प्रति भीषण विद्रोहकी भावना जागी है, आलोचनाकी शक्ति विकसित हुई है, विचारों-सिद्धान्तोंकी पृष्टिके लिए सुभाषित जैसे वाक्यों, सुक्तियों, निर्देशोंका प्रयोग होने लगा है। अज्ञेय, पहाड़ी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा तथा जैनेन्द्रकी कहानियोंमें यह बौद्धिकता द्रष्टव्य है। आज तर्कसंगत, मनोदेशानिक तथा यथार्थ जीवनके सत्योंकी व्यंजना और अन्तर्द्रन्द्रके विश्लेषणकी ही ओर अधिक रुचि है।

रौलोकी दृष्टिसे आधुनिक कालको कहानी वर्णनसे चित्रण, चित्रणसे विरुष्टेषण और विरुष्टेषणसे सूक्ष्म विरुष्टेषणकी ओर वह रही है तथा विषयकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष आवश्यकताओं से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समस्याओं अगेर प्रगति कर रही है।

—वि० रा० कहानीके भेद—कहानी-कलाके विभिन्न तत्त्वोकी प्रधानताको अन्तरसे कहानियोंका वर्गीकरण निम्नलिखित ढंगसे किया जा सकता है—१० कथानक या घटनाप्रधान कहानी, २० चरित्रप्रधान कहानी और

४. भावप्रधान कहानी।

इस वर्गीकरणके अतिरिक्त कुछ कहानियाँ ऐसी भी रह जाती है, जो किसी वर्गमे नहीं आती, वस्तुतः यही कहानी-कलाकी विकासशीलता और मोलिकता है। प्रकृतवादी, प्रतीकवादी और सांकेतिक कहानियोंके लिए एक मिश्रित वर्ग बनाना पड़ेगा।

विषयवी दृष्टिसे कहानियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती है—ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविद्रले-पणात्मक, साहसिक, रोमांसिक और जास्सी आदि। शिल्पविधिकी भी किंचित विशेषताएँ इनमे आ जाती है, अतः इनका परिचय पृथक्-पृथक् दिया गया है।

घटना या कथानक-प्रधान कहानी-घटना कहानीके अन्तर्गत घटना-प्रधान, कार्य-प्रधान और चिरित्र-प्रधान तीन रूप होते है और ये तीनों रूप इसके मुख्य धरातल है, जहाँसे कहानीकार अपनी संवेदनाओंकी कलात्मक अभिव्यक्ति उपस्थित करता है।

घटना-प्रथान कहानियोंने घटनाएँ ही कथानक-निर्माणमें मुख्य होती हैं। इन्हीं घटनाओंके माध्यमसे समूची
कहानी निर्मित होती हैं। मूल्यकी दृष्टित ऐसी कहानियाँ
अत्यन्त साधारण कोटिकी होती हैं। कह्ब्ही अपने आविर्माव
युगमें मुख्यतः इसी रूपमें थी और इसका विकास आजतककी कहानियोमें मिलता आ रहा है। घटना-प्रधान कहानियोंमें दैवघटना और संयोगका विशेष सहारा लिया जाता है।
'कौशिक'की प्रसिद्ध कहानी 'ताई' इसके उदाहरणमें सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः कार्य-प्रधान कहानी घटना-प्रधान
कहानीका ही एक विकसित रूप होती है। इस रूपके अन्तगंत जास्सी, रहस्यपूर्ण तथा अद्भुत् कहानियाँ आती
है। इस प्रकारकी कहानियोंके प्रतिनिधि-कहानीकार गोपालराम गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री उल्लेखनीय है।

चरित्र-प्रधान कहानियोंका मुख्य उद्देश्य चरित्र-चित्रण और चरित्र-विश्लेषण होता है, फलतः इन कहानियोंका मुख्य धरातल मनोविज्ञान होता है। प्रेमचन्द्रकी 'कफन', 'बूढी काकी', 'प्रसाद'की 'आकारादीप', 'मधुआ', गुलेरीकी 'उसने कहा था' आदि कहानियाँ इस दिशामें सुन्दरतम उदाहरण है। 'कफन'में गरीब चमार बाप-बेटे, जाड़ेके दिनोंमें बाहर अलावको घेरे बैठे हैं, भीतर बहू प्रसव-पीड़ासे कराह रही है, लेकिन उसे देखने मात्रके लिए उन दोनोंमेंसे कोई भीतर नहीं जाता । क्यों ?-इसलिए कि वे दोनों भूखे थे और अलावमे कुछ आलू पड़े थे। उन्हें डर था कि अगर कोई भीतर जायगा, तो दूसरा आलू निकालकर खा जायगा। स्त्री मर जाती है। कफनके लिए गॉववाले चन्दा करके उन्हें रुपये देते हैं। बाजारमें पहुँचकर दोनों उस रुपयेसे शरान पी डालते है। कहानीमे कार्य-न्यापार, घटनाएँ और प्रसंग बिलकुल नाममात्रके है और वे भी केवल उन दोनो चरित्रोंकी छायाके निमित्त हैं। अपने कालमें प्रेमचन्द सामाजिक धरातल तथा 'प्रसाद' ऐति-हासिक धरातलकी चरित्र-प्रधान कहानियोंके सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। संक्रान्ति-युगमें मनोविज्ञानकी उन्नति और उससे पायी हुई मनोविद्रलेषणकी पद्धतिसे चरित्र-प्रधान कहानियाँ और भी सुदृढ तथा समुन्नत हुईं। जैनेन्द्रकुमार, 'अन्नेय', इलाचन्द्र

जोशी और थशपाल आधुनिक मनोविश्लेषणके धरातलसे चिरित्र-प्रधान कहानियोंके सुन्दर कृतिकार है। अब इन कहानियोंमें चिरित्रके बाह्य विश्लेषणकी अपेक्षा चिरित्रके आन्तरिक विश्लेषणकी प्रतिष्ठा हुई है। चिरित्र-प्रधान कहानियाँ घटनाओंको छोड़कर स्थूलतासे स्क्ष्मताकी ओर अम्रसर हुई है। इनमे विश्लुद्ध व्यक्ति-विश्लेषण तथा आत्म-विश्लेषणकी प्रवृत्ति आयी है। जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'मास्टर जी'; 'अश्चेय'की 'रोज', 'छाया'; इलाचन्द्र जोशीकी 'एकाकी'; यशालकी 'एक राज', 'उत्तराधिकार'; अश्ककी 'उबाल', 'पिजरा' आदि कहानियाँ इस क्षेत्रकी उत्कृष्ट कृतियाँ है।

वातावरण-प्रधान कहानी—कहानी कल्पनालोककी वस्तु न होकर जीवनकी वस्तु है और जीवन सर्वथा वाता-वरण-सापेक्ष्य है। हमारे दैनिक जीवनके कार्यव्यापारोमें किसी-न-किसी परिवेदा तथा वातावरणकी प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणाको कहानीकी संवेदनाके साथ-साथ पूर्ण रूपसे चित्रित करनेसे कहानी वातावरण-प्रधान हो जाती है। वातावरणके निर्माणमें प्रकृति-चित्रण तथा रूप-चित्रण इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं। सामाजिक कहानियोंने वातावरणका निर्माण, उनमें ऐकान्तिक प्रभाव और स्वामाविकताके साथ-साथ सौन्दर्यकी अवतारणा होती है और कहानीके चरम उद्देशका प्रभाव पाठकपर अनन्य ढंगसे पड़ता है, जैसे, 'प्रसाद'की 'विसाती', 'वनजारा', 'आँधी' तथा प्रेमचन्दकी 'अल्ग्योझा', 'पूसकी रात' और 'गुली-डण्डा' आदि कहानियाँ।

पेतिहासिक कहानियोंमें वातावरणकी प्रतिष्ठा एक परम आवश्यक तस्त्र हैं। इसके विना कहानीमें न तो ऐतिहासिकता ही आ सकती हैं और न वह प्राणतस्त्र, जिसके भीतरसे कहानीका उद्देश्य उभरता है। 'प्रसाद'की प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियों, जैसे 'देवरथ', 'साल्वती', 'आकाशदीप'में यह एक तस्त्र पूर्ण सफल्यासे चरितार्थ हुआ है। ये कहानियों वातावरण-प्रधान कहानियोंके उत्कृष्ट उदा-हरण हैं। वस्तुतः वातावरण-प्रधान कहानियोंके कित्वपूर्ण भावना, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और उनमें चरित्रोंके संघर्ष, इसकी मुख्य विशेषतार्थ है।

भाव-प्रधान कहानी — चिरत्र प्रधान और वातावरण-प्रधान कहानियों के बीचमे भाव-प्रधान कहानियों आती है। ऐसी कहानियों, जिनमें चिरत्र, घटना या कार्य-व्यापारपर बहुत बल न होकर केवल किसी भाव-विशेषपर बल होता है और उसीके आधारसे समूची कहानी अपनी एक लयके साथ निर्मित होती है, जैसे जैनेन्द्रको नीलम देशकी राजकन्या' और 'अज्ञेय'की 'कोठरीकी बात।' भाव-प्रधान कहानियोमे टैगोरकी कुछ कहानियों, जैसे 'मूखा पत्थर', उल्लेखनीय है। ऐसी बहानियोंमें एक मुख्य भावनाका प्राधान्य रखा जाता है। भाव-प्रधान कहानियों प्रायः प्रतीकवादी कहानियोका रूप धारण कर लेती है। जैनेन्द्रकी 'लाल सरोवर', 'राज पथिक'; 'अज्ञेय'की 'पैगोडा वृक्ष,' 'चिड़ियाचर' आदि कहानियों अपने भाव-चित्रोंमें किंचित् प्रतीकोंके सहारे मानसिक चित्रों एवं सत्योंकी अभिव्यक्तिमें अस्यन्त सफ्ल है। ऐसी कहानियाँ प्रायः सक्ष्म तन्त्वों तथा भावनाओको साकार रूप देनेमें सफल होती है। अमूर्त विषयों और मनुष्यके अन्तःसीन्दर्य तथा मानसिक संघर्षोंके चित्र प्रस्तुत करनेमें ऐसी कहानियाँ अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध होती है।

ऐतिहासिक कहानी-संस्कृत गध-साहित्यमें असंख्य लिलत कथाएँ ऐतिहासिक आधार लेकर लिखी गथी है और उनका मुख्य उद्देश्य नीति-स्थापना, आदर्श एवं दृष्टान्त उपस्थित करना रहा है। हिन्दीमें आधुनिक दृष्टिकोणसे ऐतिहासिक सामग्रीको विलकुल भिन्न उद्देश्यसे कहानीका वर्ण्य विषय बनाया गया है। इतिहासको यथार्थवादी ढंगसे ग्रहण करना इसकी पहली विशेषता है। इसी दृष्टिकोणसे प्राचीनताके मोह, जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम, आदर्श-स्थापना एवं वीर-पूजाकी भावनाने कहानीकारोको इतिहासकी ओर प्रवृत्त किया है।

कलाकी दृष्टिसे सामाजिक कहानी एवं ऐतिहासिक कहानीकी सम्भावना एवं उपलब्धिमें कोई विशेष अन्तर नहीं। एकमे ऐतिहासिक यथार्थ और मनोविशान है, तो दूसरीमे वर्तमान यथार्थ। इस प्रकार वर्तमानसे अतीनको जोड़ने अथवा दोनोमें रसमय सम्बन्ध स्थापितं करनेका माध्यम केश्ल कल्पना है। अतएव ऐतिहासिक कहानीमें कल्पना एवं तर्कजनित भाषुकताका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचन्द और जयशंकर 'प्रसाद' ऐतिहासिक कहानी लिखनेवालोमें विशेष उल्लेखनीय है। वृन्दावनलाल वर्माकी 'राखीवन्द भाई' तथा 'खजुराहोकी दो मृतियां' आदि कहानियोंने ऐति-हासिक तथ्योके प्रति रसमय निष्ठा तथा पुनरुत्थानकी भावना है। चतुरसेन शास्त्रीकी 'दुखवा मै कासे कहूँ मोरी सजनी', 'सिंहगढ-विजय', 'वसन्त' आदि कहानियोंका निर्माण कल्पना एवं इतिहासके रूमानी धरातलपर किया गया है। प्रेमचन्दकी 'राजा हरदौल', 'मर्यादाकी वेदी' और 'शतरंजके खिलाड़ी' आदि कहानियाँ वर्तमानको शक्ति-शाली बनानेके लिए अतीतसे प्राणशक्ति खोजनेके सुन्दर प्रतिमान है। इस दिशामें 'प्रसाद'का स्थान अद्वितीय है। इनकी अनेक अमर ऐतिहासिक कहानियाँ जीवनके अनेका-नेक पक्षों और उद्देश्योको लेकर लिखी गयी है। जैसे-'देवरथ', 'सालवती', 'स्वर्गके खण्डहरमे', 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'गुण्डा' आदि । इन कहानियोंमें इतिहास और अतीतके स्वर्णिम पृष्ठांसे रसलिप्तताकी सहज भावना, जातीय गौरव, आदर्श-स्थापन, जीवनको इतिहासकी कसौटी पर रखकर नये ढंगसे मूल्यांकन करनेका विचार और साथ ही वर्तमानसे पलायनकी प्रवृत्ति—ये अनेक विशेषताएँ एक ही व्यक्तित्वमें मिल जाती है।

शिल्पकी दृष्टिसे ऐतिहासिक कहानियों में वातावरणकी अवनारणा परम आवश्यक तत्त्व है। क्योंकि इसके विना कहानीमें न इतिहासकी रसमयता एवं प्राणवत्ता आ सकती है, न कहानीका वह चरम उद्देश्य ही चरितार्थ हो सकता है, जिसके आधारपर ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जाती है। 'प्रसाद'की ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें परिपार्श्व और वातावरणका इतना मोहक

भाकतेल और देश है .क पाठवा उनमें लिए हो जाता है।

गैतिहासिक कहानियोमें साधारणतया कथावस्तुकी स्पष्टता, वहुलता, चित्रण-वर्णनमें भावुकता एवं कवित्वपूर्ण उद्भावना, नाटकीय स्थितियोंकी अवतारणा और संघर्षका वेग आदि विशेषनाएँ विशेष उल्लेखनीय है।

सामाजिक कहानी — आधुनिक वहानी नि.लाका विकास आधुनिक सामाजिकताके प्रतिनिधित्वके लिए हुआ है। जिस सचाई, जितनी यथार्थ पैठके साथ हमारी सामाजिकता का प्रत्येक पक्ष, प्रत्येक स्तर एवं अंग इस कलामे वँधता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आजकी सामाजिकतामें सम्भवतः यही कारण है कि कहानी अत्यन्त लोकिपिय और जीवनको परस्वने और साधनेमें सफल हुई है।

अतएव सामाजिक कहानी वह है, जिसका उपजीव्य सारा समाज है, हर व्यक्ति है, और इन दोनोकों सम्पूर्ण गित है, दिशा है; जिसके व्यक्तित्वमें समाजका सारा व्यक्तित्व वॅथा है, कसौटोमें स्वर्ण-रेखा खिंची रहती है, जिसकी रचनामें सम्पूर्ण समाजका रहस्य, अन्तर्मन और सारा दर्शन छिपा रहता है; जिसका हर पात्र हमारा प्रतिनिधि होता है, जो वह बोलता है, सोचता है, जिस इन्द्र और करुणामें वह फंसा है, जिस कुण्ठा, जिस आर्थिक, नैतिक, संस्कारगत, परम्परागत दलदलमें वह जूझ रहा है, वह सब हम है, हमारा समाज है, हमारे समाजकी उपलब्ध एवं मान्यताएँ हैं।

हिन्दी कहानी अपने प्रारम्भते ही सामाजिक रही है। विकास सामाजिक चेतनाके आग्रह एवं तनावने कहानीको विकास ही दिया है। ज्यों ज्यों जीवन जटिल एवं द्वन्द्वमय होता गया है, त्यों त्यों सामाजिक कहानियोंके स्तरमें विकास होता गया है, क्योंकि समाजिक कहानियोंके स्तरमें एवं विचार तथा दर्शनका सीधा प्रभाव सामाजिक कहानियोंपर पडता है। संप्रेषणीयताका सारा दायित्व इन्हीं कहानियोंपर आता है, यही कारण है कि सामाजिक कहानियोंपर आता है, यही कारण है कि सामाजिक कहानियोंपे जितने शिल्पगत प्रयोग होते है, उतने कहीं। नहीं।

हिन्दी कहानियोंका विकास ऐसे युगसे आरम्भ हुआ, जब भारतीय सामाजिकताका वास्तविक संक्रान्ति-काल था, एक ओर स्वतन्त्रता-संग्राम, दूसरी ओर पाइचात्य संस्कृतिके सम्पर्कसे भारतीय सामाजिकतामें विद्रोहकी भावना उभर रही थी । अनेक सधारवादी आन्दोलनोंके कारण व्यक्ति. समाजको अपूर्व मुक्ति मिल रही थी। इन सब कारणोंके फलस्वरूप व्यक्ति, समाज, धर्म, जीवन, दर्शन, विवाह, छुआछूत, नारी-समस्या, परिवार, किसान और उसके जीवनसे सम्बन्धित समाजके सारे वर्ग, सारी शक्तियाँ, सारे संस्थान कहानीकी सामाजिकतामें स्थापित हुए। प्रेमचन्द इस युगके सर्वोत्कृष्ट, सम्भवतः महान् कहानीकार सिद्ध हुए, जिनकी कहानियोंकी सीमामें समूचा तत्कालीन समाज चित्रित हुआ है। 'सप्तसरोज' (१९१७ ई०)को कहानियोंसे लेकर 'मानसरोवर' प्रथम भाग (१९३६ ई०)की कहानियों-तकका प्रायः समूचा भारतीय समाज, उसका निम्न वर्ग, निम्न मध्यवर्ग, मध्यवर्ग, उच्च मध्यवर्ग अपनी विविध परिस्थितियोंके साथ अभिव्यक्त हुआ है। प्रारम्भिक अवस्थाके आदर्शवादी स्तरसे विकासकी अवस्थामें अत्वर्शोन्मुख यथार्थवादी ढंगसे और अन्तिम अवस्थामे प्रम यथार्थवादी धरातलसे, उदाहरणके लिए क्रमशः 'बड़े घरकी वेटी', 'शतरंजके खिलाड़ी' अथवा 'बृढ़ी काकी' और अन्तमें 'क्फन'।

सामाजिक स्तरपर प्रेमचन्द सदा यथार्थवादी थे। उनकी सामाजिक कहानियोंमें शोषण, अत्याचार, सामाजिक कुरीतियोंके प्रति सुधारका आग्रह, पराजय, पतनके प्रति आदर्शकी प्रतिष्ठा और दुःखी, पीड़ित, शोषित मानवताके प्रति अथाह संवेदना थी। यही कारण है कि प्रेमचन्दकी सामाजिक कहानियाँ भारतवर्षमें क्या, समूचे संसारमें प्रसिद्ध हुई है, क्योकि उनकी कहानियोके माध्यमसे भारतीय समाजका सच्चा परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द और 'प्रसाद'-युगके उपरान्त हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनको प्रभावित करनेवाली कुछ क्रान्ति-कारी शक्तियाँ आयी, जैसे मार्क्सवाद और फायडकी विश्लेषणपद्धति । मार्क्सवादके समाजशास्त्र, विशेषतया उसके आर्थिक दर्शनसे सामाजिक सम्बन्धों एवं उसके समूचे ढाॅ चेपर जो नया प्रकाश पड़ा, सामाजिक जीवनमें सापेक्ष-वादके व्यापक सन्दर्भमे जीवनका नया मुख्यांकन शुरू हुआ, यह सब सामाजिक कहानियोंमें प्रतिविम्बित हुआ। दूसरी ओर फायडकी मनोविश्लेषणकी पद्धतिने जीवनकी बाह्य घटनाओंको नगण्य सिद्ध कर, व्यक्तिके चेतन-अचेतन जगत्के मान सिक-उद्वेगों, स्व निवित्रों तथा बिलकुल नये ढंगसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धोंपर ध्यान आकर्षित किया और इस कालमें इस दिशाकी सामाजिक कहानियोंमें 'काम', 'प्रेम' तथा उनकी समस्त विकृतियांका चित्रण खुलकर हुआ और इन दोनों युगीन शक्तियोंने जहाँ एक ओर सामाजिक प्रक्तों और उनके निर्णयोंमें आमूल परिवर्तन ला खडा किया, उसी तरह उन प्रवृत्तियोंने कहानीकारोंके मापदण्ड और दृष्टिकोणमें भी अपूर्व क्रान्ति की । युगका जितना बौद्धिक दृष्टिकोण 'जीवन'के प्रति हुआ, उतनी ही बौद्धिकता, कहानी-की परिभाषा, रचना-कौशल और शिल्प-विधानके प्रति प्रकट हुई तथा कहानी-कलामें स्वभावतः आश्चर्यजनक वैविध्य उपस्थित हुआ । जैनेन्द्रकुमारने मूलतः चरित्रकी कहानियाँ और विशुद्ध मानसिक ऊहापोहकी कहानियाँ लिखीं। नयी साम।जिकता और उसकी अभिन्यक्तिकी सफल कहानियाँ 'एक रात', 'मास्टरजी', 'ग्रामोफोनका रिकार्ड', 'मित्र विद्या-धर' और 'राजीवकी भाभी' आदि हैं। 'अज्ञेय'ने मुख्यतः व्यक्ति-चरित्रके 'टाइप'से आगे बढकर स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओं के सुक्ष्म विश्लेषणकी कहानियाँ लिखी। सामाजिक वैषम्य और संघर्षीका चित्रण तथा अन्यायके प्रति विद्रोहका स्वर भी उनमें है। पर उन्होंने स्वयं कहा है, "मेरी दृष्टि मूलतया कविकी दृष्टि है। सामाजिक संघर्षेकि व्यक्तिगत पहलुओंको ही वे अपना विषय बनाते है"।

यशपाल मुख्यतया समाजालीचनके कहानीकार हुए। उनपर माक्सीयमतका प्रभाव अधिक है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि भी नयी सामा-जिकताके मूल्यांकन और सफल अभिन्यक्तिके कहानीकार है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवनमें विशुद्धतः साधारण घरेल् जीवनके चित्र उपस्थित करनेवाले सामाजिक कहानी- कारोंने कुछ हिन्दी कहानी-लेखिकाओंके नाम उल्लेखनीय हैं, जैमे होमवती, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी और महादेवी वर्मा।

कला-कौशलकी दृष्टिमें आजकलकी सामाजिक कहानियों-में देशकाल-परिस्थितिके अन्तर्गत परिस्थिति-तत्त्वके चित्रणमें अपूर्व बल दिया जाता है। इसका कारण यह है कि यह कहानी-कला मुख्यतया व्यक्ति-चरित्रके धरातलसे निर्मित होकर अपने मूल रूपमें मनोवैज्ञानिकताकी ओर विकसित हो रही है, तभी इसमे व्यंजनाके तत्त्व अपूर्व ढंगसे स्थापित हुए है। 'अज्ञेय'की कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ, जैसे 'साँप', 'परम्परा', 'कोठरीकी वात', 'होलोबोन्की बत्तस्वें' और 'वे दूसरे', इस दिशामे अपूर्व हैं।

वर्गांकरणकी दृष्टिसे सामाजिक कहानियोंके मुख्यतया तीन वर्ग है:—(अ) व्यक्तिगत जीवनसे सम्बन्धित, (आ) पारिवारिक जीवनसे सम्बन्धित, (इ) व्यापक सामाजिक जीवनसे सम्बन्धित। पहले वर्गमें चरित्र, मनोभाव तथा विश्लेषणके चित्र मिलते हैं। दूसरेमें पारिवारिक समस्याओं- के परिवेशमें सामयिक एवं परम्पराके संवर्ष-चित्र उभरते हैं। प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कुछ कहानियाँ क्रमशः 'बड़े घरकी वेटी', 'शान्ति', 'अलग्योझा' तथा 'परिवर्तन', 'भीखमें', 'सन्देह' आदि उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ व्यापक समाजके संदर्भमें समस्त सामाजिक शक्तियो, संस्थाओं तथा संस्थानों- से व्यक्तिकी संवर्षमयी कहानियाँ आती है। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'अज्ञेय', जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्वर' आदि इस क्षेत्रके प्रतिनिधि कहानीकार है।

मनोवेज्ञानिक कहानी – मनोवेशानिक कहानियोंका उदय उस क्षण हुआ, जब कि घटनाकी कहानीसे बढकर चित्रकी कहानियों हिन्दीमें आयीं। चित्रत्र ऐसे जो सर्वथा सजीव और स्वाभाविक हों और उनकी प्रतिष्ठा कल्पनाके धरातल्से न होकर कहानीकारकी आत्मानुभूतिके धरातल्से हो, जिससे चरित्र और पाठकमे सहज ही साधारणीकरण हो जाय।

इस तरह मनोवैज्ञानिकता कहानीका परम धर्म है, क्योंकि कहानीकार जो वस्तुतः जीवनद्रष्टा है, ऐसा सजीव चित्र कहानीमे उपस्थित करता है, जिसके पीछे चेतन पात्रों-की मानसिक स्थितिका दृश्य है और कुशल कहानीकार उस मानसिक स्थितिका चित्रण उसके कार्यव्यापारो और कर्म-प्रेरणाओंके अनुकूल मानवमनोविज्ञानकी शर्तीपर ही करता है। जहाँ यह मनोविज्ञान कहानीका उद्देश्य बनकर आता है, विशेषतया उसे ही मनोवैज्ञानिक कहानीकी संज्ञा मिलनी चाहिये। अच्छी कहानीकी कसौटी यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रेमचन्दने कहा है, "सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्यपर हो"। उदाहरणके लिए उन्होंने बताया है, "बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कही-न-कही देवता अवस्य छिपा रहता है, यह मनोवैद्यानिक सत्य है। उस देवताको खोलकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका-(कहानी)का काम है"। जैसे 'प्रसाद'की 'गुंडा' नामक कहानी और प्रेमचन्दकी 'बड़े घरकी बेटी'।

लेकिन प्रेमचन्द और 'प्रसाद'की कहानियोंमें जिस स्तरके मनोविज्ञानका सहारा लिया गया था, वह अपेक्षाकृत चरित्रके साधारण मनोविज्ञानसे सम्बन्धित था। 'प्रसाद'के चरित्रोमे घात-प्रतिघात तथा प्रेमचन्दके चरित्रोंका अन्तर्द्दद बाह्य जीवनसे अधिक सम्बद्ध था, आन्तरिक प्रेरणाओसे कम।

प्रेमचन्द-युगके उपरान्त मनोवैज्ञानिक कहानियोंके स्तरमें बहुत विकास हुआ। व्यक्तिके स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओंकी भूमिपर कहानियोंके सर्जनका आरम्भ हुआ। जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी इस दिशामें प्रमुख उदाहरण है। इस कालमें आकर वस्तुतः मनोविज्ञानशास्त्रमें अद्भुत उन्नति हुई, जिसमेंसे मनोविश्लेषणपद्धतिका प्रयोग हिन्दी कहानी-कलामें हुआ। इस तरह मनोविज्ञानका प्रयोग मानवजीवनके सभी अंगों तथा स्तरोंको समझनेके लिए किया गया। इस दशामें नये स्तरकी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ मुख्यतः स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंपर लिखी गयीं, जैसे, जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'अज्ञेय'की 'साँप'।

इस स्तरकी कहानियों से हमारे साहित्यका मस्तक बहुत ही ऊँचा उठा है। इन कहानियों मानवजीवन तथा उसकी कर्म-प्रेरणाओं प्रति अद्भुत दृष्टि है। हिन्दी कहानियों ने नये विज्ञानके प्रयोगोको जैनेन्द्रने अपनी 'एक रात' कहानी-संग्रहकी भूमिकामें 'विकास'की संज्ञा दी है, "शरीरसे प्राणोंकी ओर बढना, दनावटले स्वाभाविकताकी ओर बढना होगा, सजावटले रुचिरताकी ओर और आडम्बरसे प्रसादकी ओर बढ़ना होगा। स्थूल वासनाके नीचे धरातलपर इस प्रगनिशील जगत्में टिकना नही हो सकेगा, स्वक्षमकी ओर अग्रसर होना ही होगा"। इस स्क्षम सत्यकी पकड वस्तुतः मनोवैज्ञानिक कहानियोका धर्म बना।

ऐसी कहानियोंमे साधारण चरित्रके स्थानपर विशिष्ट चरित्र, अन्तर्मुखी चरित्र और संदिल्ह चरित्रोंको ही प्रधानता मिली। इनमें विशुद्ध व्यक्ति-विश्लेषण, आत्म-विश्लेषण और मानसिक ऊहापोहकी प्रवृत्ति आयी। जैनेन्द्रकुमारको 'मित्र विद्याधर'; 'अन्नेय'को 'छाया', 'सॉप', 'नम्बर दस'; इलाचन्द्र जोशीको 'दुष्कमीं'; यशपालकी 'एक राज'; उपेन्द्रनाथ 'अश्क को 'उबाल' कहानियाँ इस क्षेत्रको प्रतिनिधि और उत्कृष्ट कृतियाँ है।

मनोविश्लेषणात्मक कहानी—मनोवैश्वानिक कहानियों के विकासक्रममें मनोविश्लेषणात्मक कहानियों आती है। मनोविश्लेषण इन कहानियोंकी उन्नति और उसकी देन मनोविश्लेषण इन कहानियोंकी मुल प्रेरणा बना। जिस तरह बाह्य जगत्में हम इतने जटिल मानव-व्यापार और दुवोंध समस्याएँ देखते है, उसी तरह इस विश्वानने यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्यका एक अन्तर्जगत् भी है, और यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत्में कही अधिक शक्तिशाली और जटिल है। यह सारा बाह्य जीवन इसी अन्तर्जगत्में प्रेरित एवं निदेंशित है। मनोविश्लेषण ने इसके अध्ययनके लिए यह एक नयी पद्धति भी दी है कि मनुष्यके बाह्य संकेतों, कर्म-प्रेरणाओं और भावभंगिमाओं द्वारा हम उसके संशिल्ष्ट गृद अन्तर्जगत्को समझ सकें।

मनोविज्ञानसे प्राप्त मनोविश्लेषणकी इस पद्धतिने

कहानियों के स्तर एवं भावालों कमे एक क्रान्ति उपस्थित की । इन कहानियों अपूर्व ढंगसे, नये दृष्टिकोणसे सामाजिक मृल्यों और प्रश्नों को देखा गया। विद्रोह, पाप और अपराधिक विश्लेषण हुए तथा पापी, विद्रोही और अपराधिक प्रति करुणा, सहानुभृति और दयाकी भावना लायी गयी, स्त्री-पुरुषके सम्बन्धों पर मौलिक ढंगसे विचार हुए।

हिन्दीमें मनोविश्लेषणात्मक कहानियोका सफल आरम्भ जैनेन्द्रकुमारसे हुआ। इन्होंने चरित्रोकी अवतारणा और विकास विद्याद्ध मनोविश्लेपणपद्धतिपर किया। कहानियोंमे घटनाओं और कार्योंकी अपेक्षा मानसिक ऊहापोह और विक्लेषणको प्रमुखता मिली। इस पद्धतिका विकास 'अद्येय'-में अधिक मिला। जैनेन्द्रके चरित्रोमें जहाँ सामाजिकता अधिक है, वहाँ 'अज्ञेथ'के चरित्रोंमें उत्क्रष्ट ढंगकी वैयक्तिकता है। 'अज़ेय'की कहानियोमे चरित्रोंकी कर्म-प्रेरणाएँ और उनकी मानसिक स्थितियोके सूक्ष्म विक्लेषण है। इस प्रसंग-में इलाचन्द्र जोशोका भी नाम आता है। लेकिन 'अज्ञेय' जहाँ अपने मनोविद्यलेषणमे वैयक्तिकतासे अधिक प्रेरित होनेके कारण मानवीय पहलुओं और उनकी संवेदनाओंके चित्रणमें अधिक आकर्षक और प्रभावशाली सिद्ध होते है, वहाँ जोशीजी 'अहं'का ही मनोविश्लेषण उपस्थित कर एक चितकके रूपमें अधिक उमर आते है और कहानियाँ अपेक्षा-कृत बौद्धिक हो जाती है।

कल। एवं विधानकी दृष्टिसे मनोविश्लेषणात्मक कहा-नियोमे चरित्र-विक्लेपणको निम्नलिखित शैलियाँ मिलती है—(१) आत्मविद्रलेषण—उदाहरणके लिए जैनेन्द्रकी कहानी 'क्या हो,' इलाचन्द्र जोशीकी 'मै' और 'अशेय'की 'अमरवछरी,' 'विपथगा' और 'मेजर चौधरीकी वापसी'। 'मै'के माध्यमसे आत्मानुभूतियों, स्मृतियों तथा अन्य स्तरके मानसिक चित्रोंके विद्रलेषण प्रस्तुत होते है। दौलीकी दृष्टिसे इसमे स्वगत भाषणके तत्त्व उभर आते है। विशेषकर उन स्थलोपर जहाँ चरित्रके मानसिक द्वन्द्व और ऊहापोहकी अभिन्यक्ति अधिक होती है। (२) मानसिक ऊहापोह-जैसे जैनेन्द्रकी कहानी 'ग्रामीफोनका रिकार्ड', 'अज्ञेय'की 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर' और 'नम्बर १०'। (३) अव-चेतन विज्ञप्ति-जैनेन्द्रकी 'एक रात', 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य' और 'हीलीबीन्की बत्तखे' कहानियाँ। (४) संकेतों और कार्यों द्वारा पृष्ट-जैनेन्द्रकी 'मास्टरजी', 'राजीव' और 'अज्ञेय'की 'पुरुषका भाग्य' 'पुलिसकी सीटी', 'सॉप' और 'कोठरीकी बात' कहानियाँ।

इसके अतिरिक्त प्रतीकोंके सहारे मानसिक संघषों तथा उनके विच्लेषणोके चित्र कहानियोमें उठते है। 'अज्ञेय' इस कलामें अदितीय है, 'पठारका धीरज', 'सिगनेलर', 'नम्बर १०', 'सॉप', 'कोठरीको बात', 'पुलिसको सीटी' और 'हीलीबोन्को बत्तखें' इस दिशाकी सुन्दरतम कहानियाँ है।

वस्तुतः ऐसी कहानियोंमें शिल्पविधिकी इतनी विभिन्नता तथा प्रयोग देखनेमे आता है कि उनसे कहानीकी आश्चर्य-जनक उन्नति और शक्तिसम्पन्नताका पता रुगता है। इनमे कला-विधानको पद्धता और हस्तलाधव कलापक्षकी मूल विशेषताएँ है। लेकिन भावपक्षकी दिशामे विधानकी

जिटलिनाके प्रयोग बहुत अयस्कर नहीं है, इससे कहानीकी सामाजिकता और प्रेपणीयतामे बडा विघटन उपस्थित हुआ है।

साहसिक कहानियाँ - इन्हें अंग्रेजीमे 'एडवंचरस स्टोरी' कहते है। बनारसके उपन्यास बहार आफिस और 'जासम' पत्रिकामे ऐसी कहानियाँ सर्वप्रथम हिन्दीमे आया। दुर्गाप्रसाद खत्रीका नाम इस प्रसंगमे उहेखनीय है। ऐसी कहानियोमे कुछ स्वामाविक और अधिक अस्वामाविक तथा रोमांचकारी कार्योंकी स्थापनाके वीचसे कला निखरती है। इसके अतिरिक्त साइसिक कहानियोमे रहस्यो और अनेक पड्यन्त्रोंकी भी अवतारणा की जाती है और उनके बीचसे कहानियोमे अत्यधिक शक्तिसम्पन्नता आ जाती है। मथुरा-प्रसाद खत्री लिखित कहानी 'शिखण्डी' इस दिशामें एक सुन्दर उदाहरण है। जंगलकी कहानियाँ, सम्बन्धी कहानियाँ, जिसके प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा है, इस क्षेत्रमे आती है। सर्जन और लोकप्रियताकी दृष्टिसे कहानियोंका यह प्रकार भी हिन्दीमे अपेक्षाकृत कम ही है। हमारे जीवनमे साहसिकताकी कमी इसका बहुत बड़ा कारण है।

साहसिक कहानियोको कलाकी दृष्टिसे कथा कहना बोई असंगत नहीं है, इसमे भी अद्भुत यात्राओं एवं आद्शोंन्मुख कृत्योंकी स्थापना होती है। अनेक जीवनगत कठिनाइयो, अवरोधोंपर आशापूर्ण विजय पानेकी प्रेरणा मिलती है।

रोमांसिक कहानी-रोमांस उस कथाको कहते है, जिसमे आदर्श, उदात्त और अघटित प्रेम अथवा रोमांसकी स्थापना हो। यूरोपीय कथा-साहित्यमें चौदहवीं शती तक रोमांसका प्रचलन अत्यधिक था। इसी शतीमें रोमांससे अलग वास्तविक जीवनकी कथाओको 'नोवाल' कहते थे, जिसे आगे चलकर नावेला, नावेले और एलिजावेथकालमे नॉवेल-की संज्ञा मिली (उपन्यास और रोमांसके अन्तरको देखनेके लिए दे० क्लेरारीवकी पुस्तक 'दी पोग्रेस ऑव रोमांस', १७७५ और क्रांस रचित 'डेवलपमेण्ट ऑव इंगलिश नावेल', १८९९)। इस भाँति कहानीके प्रसंगमें रोमांसका स्थान कहानीसे बहुत दूर जा पडता है। प्रेमाख्यान अथवा काल्पनिक साहसिकता एवं अतिस्वच्छन्द प्रेमातुरना इसकी परिधिमे है। प्रारम्भिक उपन्यासोमे कथाके ऐसे रूप देखने-को मिल सकते है। प्रेमी-प्रेमिकाकी काल्पनिक आदर्शपूर्ण, साहसिक, चमत्कारपूर्ण उदात्त कथाएँ, एक-दूसरेकी प्राप्तिमें अनेक यात्राएँ, साहसिकता एवं जीवनकी बाजीतक लगाना, इसकी विशेषताएँ है। चमत्कारपूर्ण ढंगसे कथाका विकास होना, इसकी कलागत विशेषता है। दुर्गाप्रसाद खत्रीकी एक कहानी 'रूपज्वाला' रोमांसिकका एक उदाहरण है। रोमांसका प्रेमी एक विवाह-विज्ञापन पढ़कर भावी पस्नीके लिए प्रार्थनापत्र भेजता है और उत्तरमें उसे एक सुन्दरी-का फोटो मिलता है। इस फोटो-मात्रसे प्रेमी प्रेमिकाके लिए अनेक त्याग करता है, पर अन्तमें प्रेमी एक ठग द्वारा छला जाता है, क्योंकि प्रेमिका काल्पनिक थी, सत्य नहीं। इस तरह कासके शब्दोमे जीवनके सहज, दुर्लभ, असम्भव, अद्भुत रोमांसोंकी पीठिकापर, मानवकार्यी एवं कृत्योंमें निहित उदात-अनुदात्त भावोंमें सर्वथा आदर्शकी स्थापना

करनेवाले गद्य कथा-साहित्यको रोमांस कहते है।

जासूसी छहानी — कहानीके समस्त प्रकारोमे एक प्रकार है, कार्यप्रधान कहानी का । वस्तुतः संसारकी समस्त भाषाओमे कहानीकलाके प्रथम उत्थानमे कार्यप्रधान कहानी ही आती है, इसीके अन्तर्गत जास्सी, साहसिक एवं रोमांस-की कहानियाँ आती है।

कहानियों के उक्त समस्त प्रकारों में सबसे अधिक वल 'कार्य'पर दिया जाता है। पर जास्सी कहानीमें कार्यके साथ-साथ बुद्धिकौशल, इस्तलाघव और कभी-कभी तिलिस और ऐयारी तत्त्वोंकों भी समेटना पड़ता है। गोपालराम गहमरीको प्रसिद्ध जास्सी कहानियाँ इस दिशामें सुन्दरतम उदाहरण है। गहमरीने 'जास्स' पित्रकामें अनेक जास्सी कहानियाँ लिखी और अपने समयके लेखकों से लिखनायी। पर हिन्दीमें जास्सी कहानियाँ जास्सी उपन्यासको अपेक्षा उत्तनी लोकप्रिय न हो सकी। यों भी जास्सी कहानियोंको लोकप्रियता आज भी पाठकों के एक निच्ले वर्गके लोगोतक ही सीमित है। इसकी प्रतिष्ठा हिन्दीमें हो नहीं सकी है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि हिन्दीमें उच्च कोटिकी जास्सी कहानियोंका नितान्त अभाव है।

इसकी तुलनामे मराठी, बगला आदि भाषाओं मे जासूसी बहानियोका स्तर और लोकप्रियताका धरातल उच है। अंग्रेजी भाषामे मुख्यतः जासूसी कहानियोका स्तर हर दृष्टिसे उच्च है और इसका एक गौरवपूर्ण इतिहास और मूल्यवान् परम्परा है। सम्भवतः इसके पीछे अपने-अपने देश, समाजकी संस्कृतिका हाथ अधिक है।—ल० ना० ला० कहानीके शैलीभेद - कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, क्थोपकथन तथा देश-काल, वातावरण आदि कहार्रा-कुलाके विभिन्न तत्त्व है, लेकिन शैली-तत्त्व कहानी-कलाकी वह रीति है, जो इसके अन्य तत्त्वोंका अपने विधानमे उप-योग करती है। फलतः इसमें एक तरहसे विधानकी स्पष्ट व्यंजना है। कहानी-कलामे रूप-विधानके चातुर्य और हस्तलाघवका सबसे बड़ा प्रभाव इसी शैलीके सन्दर्भमे देना पड़ता है। एक तरहसे इस कलामे इसके भावपक्षकी सफलता इसकी कलापक्षके अधीन है और कलापक्षके अन्तर्गत शैली-तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शैलीके अन्तर्गत इसके दो पक्ष आते है, प्रथम भाषा-पक्ष, दितीय रूपविधान-पक्ष। भाषाशैली गद्यकी वह ब,लात्मकता है जिसके विविध प्रयोग और रूपोंसे कहानी-कार अपने भावचित्रको मूर्त करता है।

शैलीके रूपविधान-पक्षके अन्तर्गत कहानी-निर्माणकी विभिन्न प्रणालियाँ आती है, जैसे—ऐतिहासिक शैली, प्रशासक शैली, नाटकीय शैली, आत्मचरित शैली, डायरी शैली और मिश्रित शैली।

ऐतिहासिक शैंळी—इसके अन्तर्गत कहानीकार एक कथावाचककी भॉति पूर्णतः तटस्थ होकर कहानीकी सृष्टि करता है। यह सृष्टि पूर्ण रूपसे वर्णनात्मक होती है, वर्णनात्मकशैंळी इसीके अन्तर्गत है। अतः समूची कहानीका सूत्रधार कहानीकार ही होता है और इसका नायक 'वह', अन्यपुरुष, ही होता है। कुशळ कहानीकार पात्रोके चरित्र-चित्रण तथा अन्य समस्त तत्त्वोंको अपनी वर्णनात्म-

कतामे समेटकर कहानीको समपर पहुँचाकर शान्त होता है। स्थान-स्थानपर बौद्धिक वि । चन, भावात्मक वर्णन और विश्लेषण आदिको भी स्थान मिलना है। फलतः यह शैली कहानीकी समस्त शैलियोमे सबसे अधिक सरल, सुगठित और बोधगम्य शैली है, "येदो गॉवमे महादेव सुनार एक सुविख्यात आदमीथा। वह अपने सायबानमे प्रातःसे सन्ध्यातक अंगीठीके सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था" (प्रेमचन्द—'आत्माराम') और इस तरह कहानीकार सम्ची कहानीको सुना जाता है। इसके विकासमें वह कभी स्थिति-विवचन और चरित्र-चित्रण करना है और कभी प्राकृतिक वर्णन और मानसिक अन्तर्द्दन्द्देके चित्र उपस्थित करता है।

आत्मकथात्मक शेळी—इसके अन्तर्गत कहानीकार अथवा कहानीका कोई पात्र 'मे'के धरातलसे आत्मिचत्रण अथवा आत्मकथा द्वारा पूरी कहानी कहता है। इस तरह पूरी कहानी 'में'मे केन्द्रित और उसीसे प्रेरित होकर उसीकी सीमामे विश्व होती है। यही कारण है कि इस रौलोको उत्तम पुरुषात्मक शैली भी कहते हैं। स्पविधानको दृष्टिसे इसके अन्तर्गत तीन शैलियाँ आती है—१. कहानीका मुख्य पात्र आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण कहानी स्वयं कहता है, जैसे, इलाचन्द्र जोशीको 'दीवाली और होलो' शीर्षक कहानी। २. कहानीको विभिन्न पात्र कमशः आत्मकथा सुना जाते है, जैते, सुदर्शनको 'किविकी स्त्री'। ३. कहानीकार स्वयं आत्मभाषणके रूपमे समूची कहानी पूरी करता है, जैसे, 'अझेय'को 'मसो'। वस्तुतः जिस कहानीमे एक ही पात्र प्रमुख होता है, रोष गौण होते है, उसके लिए यह शैली अस्वन्त राक्तिशाली हिन्द होती है।

पत्रात्मक शैली—कहानीकार पत्रोके माध्यमसे कहानी-की रचना करता है। प्रभावकी दृष्टिसे यह शैली अन्य शैलियोकी अपेक्षा असफल शैली है। इसमे प्रयोगशीलता और कलात्मक आडम्बर ही अधिक है, फलतः कहानीकी मूल आत्मा अप्रस्फुटित ही रह जाती है। यही कारण है कि इस शैलीका प्रचलन और विकास बहुत ही कम हुआ है।

इस शैटीके अन्तर्गत कहानी-रचनाकी निम्निलिखत तीन प्रणाटियाँ है—(१) एक ही पत्रके माध्यम ते समूची कहानीका निर्माण, जैसे विनोदशंकर व्यासकी कहानी 'अपराधी' तथा इलाचन्द्र जोशीकी कहानी 'चौधे विवाहकी पत्नी'। (२) कई पत्रोके माध्यमसे, जैसे चन्द्रगुप्त विद्या-लंकारका 'एक सप्ताह', 'अदक'का 'नरवदा चुनाव'। (३) आरम्भ और विकास-भागकी रचना विभिन्न पत्रो द्वारा, किन्तु इस कहानीका अन्त स्वतन्त्र विवचन द्वारा, जैसे, 'अज्ञेय'की 'सिगनेलर' कहानी।

प्रभावकी दृष्टिसे पत्रात्मक शैलीकी उक्त तीसरी प्रणाली प्रथम और द्वितीयकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसमे कहानीका ऐकान्तिक प्रभाव और कहानीकारकी आत्मानुभूति दोनोंकी अभिव्यक्ति हो जाती है।

डायरी शैली—पत्र शैलीके बहुत समीप है। डायरीके विभिन्न पृष्ठो द्वारा सम्पूर्ण कहानी कही जाती है। इस शैलीमें भूतकालका चित्र वडी ही सजीवनासे उभारा जा सकता है। भायुकताका स्तर इसमें सहज-सम्भाव्य है। किन्ही अथोंमे डायरी शेंडी और आत्मकथात्मक शेंडी-में बहुत ही सामीप्य है। इसमें आत्म-विश्लेषण और विवेचनकी सारी स्थितियाँ प्राप्त होती है। इलाचन्द्र जोशोकी प्रसिद्ध कहानी 'मेरी डायरीके दो नीरस पृष्ठ' और मगवतीप्रसाद वाजपेयीकी 'अन्ना' इस शैंडीकी दो सुन्दर कृतियाँ है। — ७० ना० ला० कांति –दे० 'अयलज अलंकार', दूसरा प्रकार, 'गुण', नवाँ प्रकार।

काँसा-दे॰ 'खप्पर'। काक वकोक्ति-दे॰ 'वकोक्ति'।

काकाक्षिस व्यंग्य-गुणाभूत व्यंग्यका एक भेद, जिसमे व्यंग्यार्थ काक अथवा केण्ठध्विन द्वारा आक्षिप्त अर्थात खीचकर लाया जाता है। यह गुणीभूत व्यंग्य इसलिए है कि इसे शीव्रतापूर्वक मनीगत किया जा सकता है। "सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि निलनी करइ विकासा । (मानस)। इस उदाहरणमे काक्षाक्षिप्त व्यंग्य भिन्न है। प्रस्तत उदाहरणमें काकाक्षिप्त व्यंग्य तो यही बताकर रह जाता है कि निलनी खबोतके प्रकाशसे नहीं विकसित होती है, किन्तु काकुवैदिष्ट्योत्पन्न आधीं व्यंजना यह गूढार्थ शान होता है—'मै (सीता) नलिनी हूं, रामरूपी सूर्यकी ओर देखनेपर ही विकसित होती ਛੱ⋯" । —- র০ হাঁ০ <u>হা</u>০ काग-अज्ञानी चित्रका प्रतीक । सिद्धोंने इससे अवधूतीको भयभीत होते हुए चित्रित किया है-"'दिवसइ बहुड़ी काग डरे भाअ" ('चर्यापद', २)। कबीरने लिखा है-"कागिल गर फॉदिया, बटेरै बाज जीता" (कबीर यन्थावली) --- ध० वी० भा० काजला (या कजरा) - जन्मोत्सवके अवसरपर छठीके दिन गाया जानेवाला जच्चाका अन्तिम गीत। इसमें जचाको उसकी ननद द्वारा या बचेको उसकी बुआ द्वारा काजल लगानेका उल्लेख रहता है। इसी नामका एक गीत विवाहोत्सवमे रतजगेके अवसरपर भी गाया जाता है-इसमे काजर पारने और उसे वरको लगानेका उल्लेख रहता है। कादिरी-दे० 'सूफी संप्रदाय'।

कापालिक — (कपाल = खोपड़ी, खोपड़ी धारण करनेवाला) तान्त्रिकों काममार्गके अघोर साथकोको ही कापालिक कहा जाता है। इनका मूल आदिमयुगीन नरबलि-प्रथाओमें है इनको एक नरहसे प्राचीनतम आचार-विधियोका उत्तराधिकारी ही मानना चाहिये। इनका उल्लेख सबसे पहले 'महाभारत'में मिलता है, परन्तु उसमें शैव रूपमें उनका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये। सातवी शतीके उत्तराईमें पुलकेशिन् दितीयके भतीजे नागवर्द्धनके कपालेश्वर-मन्दिरके दानपत्रमें महात्रती रूपमें कापालिकोंका उल्लेख है। आठवीं शतीके भवभृति-विरचित 'मालतीमाधव'मे कापालिक सम्प्रदायका विशद चित्रण है। 'विधारण्य' और 'आनन्दिगिर'में यह वर्णन दिया गया है— वे जटाएँ रखते है, जटाओंमें नवचन्द्रकी प्रातेमा रहती है, हाथमें नरकपालका कमण्डल रहता है आर मध-मांसका वे उसीमें सेवन करते

है। ११वी शतीमे चन्देल राज्याश्रित कृष्ण मिश्रकृत 'प्रवोधचन्द्रोदय नाटक'मे नरबलि, श्रीचक्र, योगसाधन आदिके विशद चित्रणके साथ कापालिकोंका वर्णन किया गया है।

पुराणोंमे कापालिक शब्दका एक और रोचक इतिहास है। शिवने ब्रह्माकी हत्या करनेके अनन्तर कपाली-वृत लिया, ब्रह्माका ही कपाल उनके हाथमे लगा रहा। इस उन्मत्त व्रतको धारण करनेसे ही वे ब्रह्महत्यासे छूटे। कापालिक भी समाजके दुरितका भार अपने ऊपर वहन करनेके लिए यह अघोर व्रत हेते है। ऐसी उनकी मान्यता है। 'ब्रह्माण्ड पुराण'में एक दूसरी कथा है, जिसकी पुष्टि 'नीलमत पुराण'में भी हुई है कि शिव जब विष्णुके मोहिनी रूपसे मुग्ध होकर उन्मत्त हुए थे तो उच्छुह्बल हो गये थे। कृष्णपक्षकी चतुर्थीको करमीरी शैव नृत्य, गीत और गणिका-विहारके द्वारा शिवके इस मोहका उत्सव मनाते थे। वस्तुतः कापालिक सम्प्रदायमे पापण्डका बोध उसकी समाजवाह्यताके कारण होता है, वैसे उनका यह लोकवाह्यरूप भी अन्तरसे लोकमंगलकी भावनासे ही तत्त्वतः धारित है। लोकमानसमं इसीसे उनके प्रति उद्देग नहीं रहा है। वे अपने अभय-साधनके कारण लोकजीवनमें बहुत प्रभाव रखते रहे हैं। --वि० नि० मि० काफ़िया-उर्दू कवितामे 'रदीफ' (तुकान्त)के पहले आम तौरपर शेरोंमें एक ही आवाजके शब्द लाये जाते है। ऐसे सारे शब्द जिनकी आवाज एक ही हो और वे रदीफ-के पहले लाये जायं, 'काफ़िया' कहलाते हैं, जैसे बहार, हजार, करार, मजार, आदि।

का**मचांडाली** –दे॰ 'महामुद्रा'। का**म-दशाएँ** –(दे॰ विप्रलंभ श्वंगार)।

कामनापूर्ति (wish fulfilment) -कामनाका साधा-रण मनोवैज्ञानिक अर्थ है—किसी अभिल्षित पदार्थ या स्थितिको, उसकी उपलब्धिके प्रति एक उत्कण्ठाकी अनुभूति-के साथ, आदर्शरूपमें प्रस्तुत करना। फ्रायड और उसके अनुयायी कामना शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थमे करते है और उसे कोई प्रेरणा, प्रवृत्ति, प्रेरक शक्ति आदि मानते हैं। फ्रायडीय मनोविश्लेषणमे कामनापूर्ति शब्द विशेष महत्त्व रखता है और उसका अर्थ है—(फायडीय) कामना-के लक्ष्यकी प्राप्ति, चाहे वह कामना अंगीकृत हो या न हो और चेतनास्तरपर व्यक्ति उसकी पूर्तिकी इच्छा करे या न करे। कामनापूर्त्यात्मक विचारका अर्थ है-यह सोचना कि स्थिति वैसी ही है या हो जायगी जैसी हम चाहते है और इसके विपरीत धारणाओं या तथ्योको अस्वीकार करना। फायडीय मनोविस्टेषणकी यह मान्यता है कि व्यक्ति अपनी दमित कामनाओंकी पूर्ति येन-केन-प्रकारेण किया ही करता है। फायडके अनुसार हमारे स्वप्न प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूपसे कामनापूर्ति किया करते है। यह कहनेका तात्पर्य है कि प्रत्येक स्वप्नमे कोई-न-कोई कामना अवस्य वर्तमान रहती है और यही कामना स्वप्नकी गुप्त अन्तर्वस्तु होती है। कान्य, कथा-साहित्य, नाटक और चित्रकलाके माध्यमसे भी लेखक या कलाकार अपनी कामनापूर्ति कर लिया करता है। यह भी देखा गया है कि बहुतसी व्युत्पन्न

मानसिक व्याधियाँ भी कामनापूर्तिके कारण ही हो जाती है (दे० 'स्वप्त-प्रतीक')। —आ० रा० शा० कामरूपा भक्ति—यह पृष्टिमार्गीय भक्ति है, जिसमें भगवान् कृष्णके प्रति हो आसक्तिभाव रहता है। भक्तके लिए यही भाव साध्य है, रागानुराग भक्तिका यह एक प्रकार है। गोपी-प्रेम इसी कोटिका है। —वि० मो० श०

कामवृत्ति-दे० 'मनोविइलेषण'। कामिक-कामिक शब्दका अर्थ है कामेडी (दे०)-सम्बन्धी, जो वास्तवमे विशेषण है, किन्तु आधुनिक कालमें इस शब्द-का प्रयोग संज्ञाके रूपमें हास्योदीपक नाटकके अर्थम होता -- इया० मो० श्री० है (दे० 'प्रहसन')। कॉमेडी-कॉमेडी सुखान्त नाटकको कहते है। यह शब्द यनानी शब्द कॉमससे आया है। कॉमसका अर्थ है हर्षो छास मनाना । अधिकांश विद्वानोके अनुसार ट्रेजेडी (दे०)की ही भॉति कॉमेडीका भी उद्भव धार्मिक है। सम्भ-वतः कॉमेडीका नाम प्राचीन यूनानके यामोमे डायनिसस देवताके सम्मानमे होनेवाले आनन्दोत्सवोमे गाये जानेवाले गीतोंपर पड़ा है, क्योंकि उन गायकोंको कॉमस कहते थे। इन गायकोंका दल प्रेक्षकोके मजाकोका गीतोमे उत्तर दिया करता था। इन उत्तरोमे प्रायः प्रेक्षक-समृहमे उपस्थित विशिष्ट व्यक्तियों पर आक्षेप भी हुआ करते थे। अन्तमे यह गीत ईश्वरकी प्रार्थनासे समाप्त किया जाता था। इसके बाद एक दावत होती थी, जिसमे पुरुष एवं स्त्रियाँ सम्मिलित होती थी और संगीतका कार्यक्रम रहता था। इन आनन्दो-त्सवोके पीछे जन-मनमे विश्वके रचयिता द्वारा मनुष्योंको जीवन प्रदान करनेके उपलक्ष्यमे धन्यवाद देने अथवा आभार प्रदर्शन करनेकी भावना हुआ करती थी। अरस्तुके मतानुसार कॉमेडीमे किसी ऐसे दोप या असौन्दर्यका चित्रण होना है, जो दुःखद अथवा विनाशकारी नहीं होता। आधुनिक धारणाके अनुसार कॉमेडीका मुख्य उद्देश्य मनो-रंजन करना है। इलियट डॉनेट्सका मत है कि कॉमेडी वह कथा है, जिसमें व्यक्तिके समष्टिगत और व्यक्तिगत जीवन व्यवहारोमे व्यक्त प्रथाओं और स्वभावोंका मनोरजक चित्रण होता है और इस चित्रणसे एक ओर तो पाठक यह सीखता है कि जीवनमे उसे क्या करना चाहिये और दूसरी ओर यह कि क्या त्यागना चाहिये। कॉमेडीके चरित्रोकी सृष्टि जीवनके निरीक्षण एवं अनुभवके फलस्वरूप होती है। उसका हास्य व्यक्तिगत स्तरपर न होकर सम्पूर्ण सामाजिक स्तरपर होता है और परिहासके उन्मुक्त क्षणीमे भी हमें सोचनेपर विवश कर देता है—हमें हमारी ब्रिटियोंका विश्वास दिलाता चलता है। कॉमेडीके पात्र विभिन्न यथार्थ स्थितियोंका अतिरंजनापूर्ण चित्रण करते हैं। सिसरोके अनुसार कॉमेडी जीवनकी प्रतिलिपि, प्रथाओका दर्पण और तथ्यकी छाया है। नाटकके अन्य रूपोंमे संवेगोका कथानक-की प्रमतिकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व होता है, किन्तु कॉमेडीमें कथानकका विशेष महत्त्व नहीं होता, वह तो केवल एक ऐसी डोर होती है कि जिसपर विविध घटनाएँ वस्त्रोंकी भॉति लटका दी जायं और वे मानवीय दुर्बलताओंके चित्र प्रस्तुत करें। एक उत्कृष्ट कॉमेडी अपने परिहासके साथ-साथ मानव स्वभावके मूलतक पहुँच जाती है तथा प्रेक्षकको उसकी महान् सम्भावनाओं तथा विभिन्न सीमाओके प्रति जागरूक बनाती है।

कॉमेडी और ट्रेजेडी तथा कामेडी और फार्स (मॅड़ैती) या बर्लेस्क (नकल) इत्यादिके बीचका अन्तर ध्यान देने योग्य है। कॉमेडी और ट्रेजेडीमे मुख्य अन्तर यह है कि ट्रेजेडीका अन्त दःखमय होता है, जब कि कॉमेडीका अन्त सुखमय होता है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडीकी तुलनाम कॉमेडीमे अपनी विशेषताएँ है, यथा विचित्र एवं हास्यास्पद स्थितियाँ, हलके-फ़लके तथा मजाकिया संवाद एवं चारि-त्रिक विशेषताओका दिग्दर्शन । कॉमेडी फार्ससे इस बातमे भिन्न है कि उसमें फार्सकी मॉित मोड़े एवं अपरिष्क्रत मजाक नहीं होते और उसके संवाद एवं कथानकमें एक गाम्भीर्य एवं परिष्कार होता है। यह सत्य होते हुए भी इनके बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि आजकल कॉमेडी तथा फार्सके लक्षणोंके समन्वयकी प्रवृत्ति अधिक है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है म्युजिकल कॉ मेडी, जो घेट ब्रिटेन तथा अमेरिकामे १९वी शताब्दीके उत्तरार्द्धसे ही अत्यन्त लोकप्रिय रही है।

काॅमेडीको प्रायः पाँच मुख्य प्रकारोमे विभाजित किया जाता है: १.शास्त्रीय कॉमेडी, जिसमे रूदिगत आदशीं एवं प्रथाओंका पालन तथा नैतिक मुल्योंकी स्वीकृति होती है, २. रूमानी कॉमेडी, जिसमे रुढियोकी उपेक्षा तथा स्वच्छन्द कल्पनाका उपयोग किया जाता है, ३. भावप्रधान कॉ मेडी, जिसमे किसी एक अन्तर्वृत्तिके असन्तुलनका हास्यास्पद एवं व्यंग्यात्मक चित्र होता है। इसके पात्र टाइप (प्रकार) बनकर उभरते है, ४. सामाजिक कॉमेडी, जिसमे समाजकी कृत्रिम सभ्यता एवं कृत्रिम व्यक्तित्वका मजाक रहता है और ५ समस्यामुखक काँ मेडी, जिसमें समसामयिक जीवनके अन्तर्शेख रूपोका मनोवैज्ञानिक विवेचन होता है । वर्तमान जीवनकी मान्यताओं एवं परम्परागत आदशींकी असंगतिका इसमें दिग्दर्शन होता है, साथ ही उसके प्रति घोर असन्तोष एवं विद्रोहकी भावना भी होती है। काया-दे॰ 'पिड'।

कायापळट—योग-साधनाकी एक विशेष किया, जिसमें योगी लोग अपनी साधनाओं के द्वारा शरीरका कायाकल्प करते है। गोरखने कहा है कि रेचक प्राणायामके द्वारा श्वामे च्छ्यासे करो और नवो द्वागेंको रोक दो, और छठेछमासे कायान्करपके द्वारा शरीरको नवीन करो, तब उन्मनी अवस्था प्राप्त होगी—"अवधू नवधाटी रोकिलै बाट। बाई बाणिजै सौसठि हाट। काया पल्टै अविचल विथ। छाया विवरजित निपजै सिद्ध"। (गोरखवानी, १९)।

कायिक अनुभाव-दे॰ 'अनुभाव'। कारक दीपक-दे॰ 'दीपक', दूसरा प्रकार। कारकवैचित्र्यवकता-दे॰ 'पदपरार्धवक्रता', दूसराप्रकार। कारण-निबन्धना-दे॰ 'अप्रस्तुत प्रशंसा', पहला भेद। कारणमाला (अथवा गुम्फ)-एक श्वंखलामूलक अथीलंकार, जिसमे श्वंखलारूपमें विणित पदार्थोंमें परस्पर कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध होता है। श्वंखलारूपमें विणित पदार्थोंमें यह कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध दो प्रकारसे सम्भव है। १. पूर्वपूर्व विणित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थका कारण होता
है। उत्यरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्वके प्रति कारण होता
है। अर्थात् इसमे पूर्व-पूर्व कार्य होता है और पर-पर कारण।
रह्टते इसका उल्लेख मिलता है। मम्मटके अनुसार इस
अलंकारमे उत्तरोत्तरवर्ती अर्थके प्रति पूर्व-पूर्ववर्ती अर्थ
कारणरूपसे कहा जाता है—"यथोत्तरं चेत् पूर्वस्थ
पूर्वस्थार्थस्य हेतुता" (का० प्र०, १०: १२०)। विश्वन्
नाथका भाव ऐसा ही है—"परं परं प्रति यदा पूर्वप्रवस्य
हेतुता" अर्थात् प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थका परवर्ताका कारण
कहा जाना (सा० द०, १०: ७६)। जगन्नाथके
अनुसार "पूर्व पूर्व कार्य परं परं कारणम्"मं भी यह
अलंकार अन्योंके द्वारा माना जाता है (र० गं०,
पृ० ४६१)।

हिन्दीमे केशवदासने इस अलंदारका उल्लेख 'किविप्रिया'मे नहीं किया है। 'भाषाभूषण'मे इसे 'गुम्फ' कहा
गया है और अप्पय दीक्षितका अनुसरण करके भी वृत्तिमें
उल्लिखित दो भेदोको नहीं प्रहण किया गया है। मितरामने 'हेतमाला' नाम देकर इसके दोनों रूपोका उल्लेख किया
है—''प्रव प्रव हेतु जहूँ उत्तर उत्तर काज" अथवा ''उत्तर
उत्तर हेतु जहूँ पूरव पूरव काज" (७० ००, २५५,
२५७)। केशव और देवनो छोडकर अन्य आचायोंने इसको
स्वीकार किया है। कुलपितने 'रसरहरय'मे अधिक स्पष्ट
लक्षण दिया है—''पिहलो पहिलो हेत जहूँ, पिछले कारन
होय। हेतन ही कौ गृथिको"। सोमनाथने 'रसपीयृष'में
हेतुकी परम्पराको 'गुम्फ' कहा है जो 'गुम्फ' ही है। भूपणने लक्षणमें प्रथम स्थितिका उल्लेख किया है, पर उदाहरण
दोनों स्थितियोका दिया है।

तुलसीके इस दोहेमें इसका सहज उदाहरण है—"बिनु विस्वास भगति नहि, तेहि विन द्रवहिं न राम । राम कृपा बिन सपनेहुँ, जीव न लह विश्राम" (रा० च० मा०)। इसी प्रकार दासका उदाहरण है-"'विद्या देती विनयको, बिनय पात्रता मित्त । पात्रत्वे धन, धन धरम, धरम देत सुख नित्त' (का० नि०, १८)। यह चिन्तामणिके उदाह-रणका अनुवादसा है। इन दोनोंमें पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थके कारण है। इसके विपरीत भूषणके इस दोहेमें- "सुजस दान अरु दान धन, धन उपजे किर-वान। सो जगमे जाहिर करी, सरजा सिवा खुमान" (शि॰ भू॰, २३४) तथा मतिरामके उदाहरणमे—''दुःख मूल गनि पाप, पाप कहं कुमति प्रकासै। कुमति मोह बिस्तरै क्रोध मोहै उल्लासै" (ल० ल०, २२५) उत्तर-उत्तर कारण और पूर्व-पूर्व कार्य है। कारिका - [कृ + ण्वुल (अक) भावे + स्त्री प्रत्यय आ] (क) साधारण अर्थ (१) क्रिया, कार्य। (२) नटी, नर्तकी। (३) शिल्प, वाणिज्य, न्यापार । (४) यातना, रोग । [इस अर्थमें इस शब्दकी व्युत्पत्ति कु(हिंसार्थक) + ण्वुल कर्तरि 🕂 स्त्री प्रत्यय आ होगा और इसका विग्रह 'कृणाति हन्ति इति कारिका' इस प्रकार होगा।] (५) रोगनाशिका कण्ट-कारि (सुश्रुत) [कृणाति हन्ति रोगमिति कारिका-व्युत्पत्ति सं० ४की भॉति] (ख) विशेष अर्थ-दर्शन, व्याकरण,

साहित्य आदि शास्त्रोंपर लिखे गये एवं थोडे शब्दोंमें बहुत-सा शास्तार्थ व्यक्त करनेवाले श्लोक-विशेष । छन्दोबद्ध होनेसे इन्हें सरण रखना सरल होता है। कारिकामें पद्यकी भाति रमरण करने तथा सूत्रकी भाति अधिक बातोको थोड़े शब्दोमे कहनेकी सुविधा होती है (राहुल सांकृत्यायनकृत 'वौद्धदर्शन', किताय महल प्रकाशन, पृ० ६३)। संस्कृतका कारिका-साहित्य बहुत विशाल, साथ ही गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण है। नागार्जुनकी माध्यमिक कारिकाएँ, जो शुन्यवाद (वस्तुशन्यता)की प्रतिपादक है, कारिका-शैलीकी सर्वाधिक प्राचीन प्रतिनिधि है। माध्यमिक कारिकाके अतिरिक्त नागार्जुनकी 'युक्तिषष्ठिका' तथा 'विमहव्यावतिनी' या 'शून्यतासप्तति' नामक कृतियाँ-भी कारिका-शैलीमे ही है। नागार्जुन (ईसवी द्वितीय शता-ब्दीका उत्तरार्ध)को इस शैलीका प्रवर्तक कहा जाता है। नाट्यशास्त्रपर भरत मुनिकी कारिकाएँ, जो भरतसूत्रोके नामसे अभिहित है, अत्यन्त प्रसिद्ध है। मौलिक कारिकाएँ सम्भवतः नागार्जुनकी कारिकाओसे भी प्राचीन है। इनके अतिरिक्त सांख्यशास्त्रपर ईश्वरकृष्ण (ईसवी द्वितीय या तृतीय शताब्दी) की 'सांख्यकारिका' (सांख्यसप्तति), व्याकरण शास्त्रपर भर्तृहरिकी कारिकाएँ, साहित्यशास्त्रपर मम्मट-की १४३ कारिकाएँ, जिनपर उनकी स्वरचित वृत्ति है और सम्पूर्ण यन्य साहित्यशास्त्रमे कान्यप्रकाशके नामसे सर्वप्रसिद्ध है तथा न्यायशास्त्रपर विश्वनाथ न्यायपंचाननकी 'कारिकावली', जिसका दृसरा नाम 'भाषा-परिच्छेद' भी है, एवं जिसपर अन्थकारकी स्वरचित वृत्ति 'न्यायमुक्तावली'के नामसे दर्शनसाहित्यमें अत्यन्त प्रसिद्ध है, इत्यादि यन्थ संस्कृतके कारिकासाहित्यके अमूल्य अंश है। कार्य-अर्थप्रकृतिकी पाँच स्थितियों मेंसे अन्तिम स्थिति। रूपकका वह प्रधान साध्य या प्रयोजन, जिसके लिए सब उपकरण एकत्र किये जाते है, कार्य कहा जाता है दि० अर्थप्रकृति)। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' (प्रसाद) नाटकका कार्य है गुप्त साम्राज्यकी विचलित लक्ष्मीको सम्पन्न और निरापद बनाना। इसीलिए भव प्रयत्न और प्रयास एकत्र किये गये है। अतएव इस कार्यके अनुकूल स्थिति जहाँसे उत्पन्न होने लगी है, वहाँसे कार्य 'अर्थप्रकृति'का आरम्भ हो जाता है। विरोधी दलका नेता भटार्क जहाँ यह निश्चय करता है कि सब भूलकर, अब स्कन्दगुप्तकी छन्नच्छायामें राष्ट्रके उद्धारमे लगूँगा और कहता है—(स्कन्दके सामने घुटने टेककर) "श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यकी जय हो। जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करूँगा"। वहींसे यह 'अर्थ प्रकृति' आरम्भ हो जाती है। कार्यकी पूर्णता वहाँ आती है, जहाँ खिंगिलको परास्तकर स्कन्दगुप्त पुरगुप्तको टीका लगाता है। इस प्रकार आक्रमणकारियोंसे आर्थ-राष्ट्रका पूर्ण उद्धार होता है और अन्तःकल्रहके मूल-कारणका भी नाश हो जाता कार्य-निबन्धना-दे॰ 'अप्रस्तुत प्रशंसा,' दूसरा भेद। कार्य-विकास - पाश्चात्य नाट्यसिद्धान्तोके अनुसार नाटककी

प्रारम्भिक घटनाके बाद नाटकीय कार्य-व्यापारका प्रारम्भ

होता है, जिसका पूर्व भाग उछझन तथा समस्याओंसे पूर्ण

होता है और उसमें कार्य नाटकीय संघर्षकी दिशामें अयसर होता है। प्रस्तावनामें जो चिरत्र तथा परिस्थितियाँ प्रकट हुई थीं उन्हींको लेकर घटनाएँ स्वाभाविक गतिसे आगे बढती है। सम्पूर्ण कार्य-व्यापारमें प्रमुख घटना अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रधान होनी चाहिये। चिरतीं एवं कार्यके पारस्परिक सम्बन्धोंका निर्वाह अति आवश्यक है। प्रत्येक दश्यमें या तो कोई नवीन स्थिति उत्पन्न करके या चिरत्रोंके विषयमे कुछ जानकारी प्रस्तुत करके अथवा दोनों ही प्रकारसे नाटकीय कार्यका विकास करना चाहिये।

इस प्रकार किसी भी नाटकमें प्रस्तावनासे चरम उत्कर्ष-तकका भाग कार्य-विकासका होता है। उदाहरणके लिए 'स्कन्दराप्त' (प्रसाद) नाटकमें प्रस्तावनाके बादसे, मालवपर विदेशियोंदा आक्रमण, स्कन्दग्रप्त द्वारा उसकी रक्षा, सम्राट-की मृत्यु और स्कन्दगुप्तका सिंहासनारोहण, हूणोंको पराजित करनेके लिए उसके द्वारा सैन्य-संगठन और आक्रमण, किन्तु कुचक्रों-षड्यंत्रोंके कारण विफलता, पुनः सैन्य-संघटन और ्प्र-राज्यवे बचे-खुचे वीरोको साथ लेकर युद्धकी तैयारी, इतनी सारी घटनाओं के क्रम द्वारा कथानक चरम सीमापर पहुँचता है, अतः कथाका यह सारा भाग कार्य-विकासके — इया० मो० श्री० अन्तर्गत समझना चाहिये। कार्य-व्यापार-पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तोके अनुमार किसी नाटकमे घटनाओंकी शृंखलाको कार्य या कार्य-व्यापार कहते है। अरस्तूके मतानुसार कार्य-व्यापार नाटकमें अनिवार्य है। किन्तु ड्राइडनका कथन है कि कथानकका नाटकमे न्यूनतम महत्त्व है। वेनब्रफ इस विरोधी धारणाको और भी स्पष्ट करता है, "मुझे विश्वास है कि में यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक सन्देश, घटना-क्रम अथवा कार्य-न्यापारकी अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदरध्यपर अधिक निर्भर होता है"। इस विषयमे मतभेद है। एडिथ हैमिल्टन (थ्री ग्रीक प्लेज, १९३७) अपने मनका प्रतिपादन करते हुए कहता है कि एशिल्स-लिखिन प्रोमेथ्यूज बाउण्डकी प्रधान वस्तु है उसके नायकका बन्दी होना, जब कि अन्य लेखक सम्मिलित स्वरमे कहते है कि वार्तालापीं द्वारा प्रोमेथ्यूजके चरित्रका उद्घाटन ही उस सम्पूर्ण नाटकका सर्वस्व है। नाटकके कार्य अर्थात् प्रोमेथ्यू जके बन्दी होनेका महत्त्व तो केवल इस वातके साक्ष्यमे है कि दुःखान्त नाटक मूलतः एक महान् आत्माका प्रपीड़न है, जिसमे उसे महान् क्षति उठानी पडती है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य—जैसे प्रपीड़न, क्षति आदि घटनाओंका नाटकमें नगण्य महत्त्व है। वास्तवमें कार्यका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शरीरके किसी अंगके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा आवश्यक है, कौन-सा नहीं।

कार्य-व्यापारकी अवस्थाओके विषयमे भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्रोको आचार्योको विचार प्रायः मिलते है। दोनोने कथानकके पाँच भाग किये है। दोनोंने अपने-अपने उद्देश्यके अनुसार पाँच चढ़ाव-उतारके स्थल निर्दिष्ट किये है। पाश्चात्य नाट्य-रचनाको लिए विरोध ही मूल भाव होता है। अतएव उन्होंने कथानककी पाँच भूमिकाएँ मानी है—(१) आरम्भ, (२) कार्य-विकास, (३) चरम-सीमा। (४) निगति और (५) समाप्ति। पर भारतीय प्राचीन नाटक केवल धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिसे रचे, खेले और देखे जा सकते हैं। उनमे सुखकारी फलका लाभ ही प्रधान कार्य रहता है। इमलिए उनमें कार्यकी चार अवस्थाओं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्तिके उपरान्त पाँचवी अवस्था फलागम या परिणाम रखी गथी है। —ह्या० मो० श्री०

**कालचक्रयान-**वज्रयानके एक दूसरे भेद कालचक्रयानका भी उल्लेख मिलता है। कालचक्रयानका भी परवर्ता सिद्ध-साहित्यसे निकटका सम्बन्ध मालूम होता है। कालचक्रयान-के बारेमे विद्वानोंमें काफी भ्रम और विवाद रहे है। कुछ विद्वान् उसे वज्रयानका पूर्ववर्ती धर्म मानते है, कुछ उसे दसवी शताब्दीमे प्रचलित वैष्णव धर्मकी बौद्ध शाखा मानते है, जिसमे विष्णुके चक्रकी कल्पनाका समावेश हो गया था। कुछ इसका उद्भव चीनी तुर्किस्तानके निकट शम्भल नामक किमी प्रदेशसे आगत साधनासे बताते है, जहाँ के राजा 'कुलिक' वहलाते थे और जहाँ १२ पशुओंके चिह्नोसे समय-चक्रका संकेत दिया जाता था, जिसका उपयोग अतिश दीपकरने नये तिब्बती संवत्मे किया था। पद्मकार पो (१६ वी शताब्दी)नामक तिब्बती इतिहासकारने अनुश्रतियोके आधारपर 'पि॰ तो' नामक सिद्धको इसका प्रमुख आचार्य माना है, जिसने नालन्दामे इसके सिद्धान्त-को स्वीकार कराया।

इधर 'सेकोदेशटीका', 'कालचक्र-तन्त्र' आदि कई ग्रन्थ प्राप्त इए है, जिनसे ज्ञात होता है कि यह वास्तवमें योग-प्रधान साधना थी, जिसमें धर्म, धातु और आकाशके लक्षणों-वाले अच्युत क्षणको काल कहते है। वही काल वज्रयान है, वही विन्दरूप है। कालचक्रके सांकेतिक अर्थ भी है। 'का'के अर्थ है कारण, 'ल'के अर्थ है 'लय,' 'च'के अर्थ है 'चलचित्त', 'क्र'के अर्थ है क्रम-बन्धन। कालकी स्थिति भी देह में है और वह प्राणवायुकी गतिके रूपमे है। उसीकी वशमें करना चाहिये। कालमुख-(काले मुँहवाले) शैव साधकोंका एक विशिष्ट सम्प्रदाय । 'सर्वदर्शनसंग्रह'मे कापालिकोके एक कट्टरपन्थी उपसम्प्रदायके रूपमे इनका उल्लेख है। ये शिवकी नील-कण्ठ, कृष्णवर्ण और मुण्डमालाधारी रूपमें उपासना करते है, इसीलिए अपनेको भी कालमुख रखते है। इनका नाम वासवसिद्धान्ती भी है। ये अपने अघोर आचरणको सिद्धियाँ कहते है। (१) कपाल-भोजन, (२) भस्मलेपन, (३) चिना-भस्मसेवन, (४) दण्डधारण, (५) सुरापात्रधारण, (६) सुरापात्रमे भैरवका पूजन। इनका उल्लेख रामानुजर्मे मिलता है, साथ ही लाकुलो (लकुलीश पाज्यपतो)की शाखाके रूपमें १११७ ई०के मैस्रके एक शिलालेखमे भी काल-विभाग-कविशिक्षा (दे०)का एक अंग । क्राव्यण स्रके आचार्योंने कालविरुद्ध वर्णनको दोष माना है। अतः कविके लिए काल-विभागोका सम्यक ज्ञान आवश्यक है। राज-शेखरने 'कान्यमीमांसा'के अठारहवे अध्यायमे काल-विभाग

तथा विभिन्न ऋतुओंका विस्तृत वर्णन विया है, जिसका

अनुसरण परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र (कान्यानुशासन, अध्या० ३) और वाग्भट (कान्यानुशासन, अध्या० ५)ने किया है।

कालके कला-काष्ठा आदि विभाग होते है। पन्द्रह निमेषोंकी एक काष्ठा, तीस काष्ठाओंकी एक कला, पन्द्रह कलाओंकी एक घटिका, दो घटिकाओ (घडियों)का एक मुहुर्न और तीस मुहुर्तीका अहोरात्र (दिन-रात) होता है। चैत्र और आश्विन मासमे दिन-रात बराबर होते है। चैत्रके बाद दिन एक-एक मुहुर्त बढने लगता है और रात घटने लगती है । तीन महीनेतक यह क्रम चलता है। इसके बाद दिन एक-एक मुहूर्त घटने लगता है और रात एक-एक मुहूर्त बढ़ने लगती है। आश्विन मासके बाद यह क्रम बदल जाता है। पन्द्रह अहोरात्रका पक्ष होता है। एक मासमें दो पक्ष, कृष्ण और शुक्क होते है। दो-दो महीनोंकी ऋतु होती है। ६ महीनोंका एक अयन होता है। वर्षा ऋतुसे दक्षिणायन और शिशिरसे उत्तरायण प्रारम्भ होता है। दैवज्ञ चैत्रसे वर्पका आरम्भ मानते है और लोक-व्यवहारमे वर्षाते वर्पका प्रारम्भ माना जाता है। श्रावण, भाद्रपदमें वर्षा ऋतु, आश्विन, कात्तिकमे शरद, मार्गशीर्ष, पौषमे हेमन्त, माघ और फाल्गुनमें शिशिर, चेत्र-वेशाखमें वसन्त और ज्येष्ठ, आषाढमे श्रीष्म ऋत होती है।

कवि-शिक्षा यन्थोमे विभिन्न काल-विभाजनके रूपोंके वर्णनकी निश्चित परम्पराओंका निटेंश किया गया है। इस बातकी शिक्षा दी गयी है कि किस समय (प्रातः, सायं, सन्ध्या, रात्रि, ज्योतरना, दोपहर आदि) तथा ऋतुमे किन-किन वस्तओ तथा स्थितिथोंका उल्लेख करना चाहिये। संस्कृतके कवि-शिक्षा ग्रन्थकारोंके अतिरिक्त हिन्दीमे केशवका इस दृष्टिने महत्त्व है (कविप्रिया, १०)। --- म० प्र० छ० काळवेचित्र्यवकता -दे॰ 'पदपरार्धवक्रता', पाँचवा प्रकार। कालाशिरुद्र-हठयोगकी साधनामें चांचल्यधमी प्राण, मन और विन्दु (या शुक्र)के संयमनपर बहुत बल दिया गया है। इन्हें संयमित किये बिना कोई भी सिद्धि दर्लभ है। मन, प्राणके संयमित होनेपर भी विन्दुके चांचल्यका नाश न हो, ऐसा हो सकता है, किन्तु जिसका विन्दु अर्ध्वगामी हो चुका है ऐसे ऊर्ध्वरेताके मन और प्राण अपने आप अचंचल हो जाते है और कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर अर्ध्व-गामी हो जाती है। परमिशवसे सामरस्यकी कामनासे उद्-बद्ध कण्डलिनी लिङ्गत्रयको भेदती हुई सहस्रारमें पहुँचकर परमिश्वित मिल जाय तो साधकको मोक्ष मिल जाता है। विन्दुके अर्ध्वगमनको इतना महत्त्वपूर्ण माननेके कारण ही वज़ोली मद्राका हठयोगमे इतना माहात्म्य बताया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने लक्ष किया है कि सम्भवतः शुक्रकी अधोगतिको 'कालाग्नि' कहते थे और ऊर्ध्वगनिको 'कालाग्नि-रुद्र'। संम्भव है ये दोनों शब्द कभी पारिभाषिक रूपमें प्रचलित रहे हों। अपने अनुमानके लिए प्रमाण देते हुए उन्होंने बताया है कि कृष्णपादके दोहाकोषके चौदहवें दोहेमे 'कालाप्न' शब्द आता है। उसकी संस्कृत टीका (मेखळा)में कहा है कि 'कालाग्निरच्युत्यवस्था'। इसी प्रकार 'सिद्ध सिद्धान्त-संग्रह (३,५)में कालाग्निरुद्रकी व्याख्या करते द्रए कहा गया है- "ऊर्ध्वस्वभावो यः पिण्डे स स्यात्

कालाग्निरुद्रकः"। उन्होने यह भी बताया है कि 'कालाग्नि-रुद्रीकरण' योग-मार्गकी एक महत्त्वपूर्ण साधना थी। उनका अनुमान है कि "जिस प्रकार विन्दुके अधः पतनके देवता विपहर, नंदिनीवृत्तिके देवता काम, स्थिरीभावके देवता निरंजन है (अमरौघशासन, पृ० ८), उसी प्रकार अर्ध्व-कालाग्निरुद्र है"-(नाथ सम्प्रदाय, १७२)। —-रा० सि**०** कारुपनिक सत्य-यद्यपि अधिकां इत कलानुभूतियाँ वस्तु सत्यसे ही प्रतिष्ठित होती है किन्तु उनकी कलात्मक गहराई केवल काल्पनिक सत्य द्वारा ही अनुभव की जा सकती है। प्रत्येक कला मूलतः स्थल रूपमे दो आयामोंमें ही न्यक्त होती है और तीसरे आयामको संकेत द्वारा व्यक्त करती है। काल्पनिक सत्यकी अनुभृति, कलाके तीसरे आयाम. उसके गहराईको समझने और परखनेमे सहायक होती है। कवि या कलाकार अपने काल्पनिक सत्यको केवल दो आयामोंमे ही बॉध पाता है और शेषको वह भावक वर्गकी बोधशक्तिपर छोड देता है, इसीलिए काल्पनिक सत्यको जाननेके लिए बहुधा भावकवर्गकी अभिरुचिको परिष्कृत होना पड़ना है ताकि वह उसे जान-समझ ले।

कॉडवेलने 'इल्यूजन एण्ड रियेलिटी'म काल्पनिक सत्यकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि काल्पनिक सत्य मूल सत्य न होते हुए भी सत्य है, क्योंकि वह असंगत और असत्य होते हुए भी मौतिक यथार्थमें किन्ही रूपोमें सम्बद्ध होता है। यहाँतक कि 'फैण्टेस्टिक रियेलिटी'के रूपमें भी वह इस सत्यकों स्वीकार करता है और कहता है कि यथाप कलात्मक सत्यके सामने उसका मृत्य कुछ नहीं है, फिर भी उसमें यह क्षमता होती है कि वह भौतिक सत्यकों प्रभावित करता है और उसे विशिष्ट चेतना प्रदान करनेमें सहायक होता है। कहनेका सारांश यह कि काल्पनिक सत्यका अस्तित्व करामिश्चि और रचना-प्रक्रियाका एक अनिवार्य अंग है।

किन्तु प्लेटोने करपनाको ही वर्जित करनेका प्रस्ताव किया है और इसी आधारपर करपना-जगत्मे रमनेवाले किया है और इसी आधारपर करपना-जगत्मे रमनेवाले किया है और इसी आधारपर करपना-जगत्मे रमनेवाले किया हो। उसका कथन है कि सत्यके बाह्य उपकरण कभी-कभी उतना अधिक प्रभाव नहीं उरपन्न कर पाते, जितना कि सत्यके करपनात्मक मूल भाव प्रभावित करते है। करपना द्वारा वस्तु-सत्यके सम्भावित अंगोको भी देखनेको दृष्टि हमें मिलती है, इसलिए उसका महत्त्व जहाँतक कला-श्रेत्रका सम्बन्ध है, विशेष है। यहाँतक कि उसकी अवहेलना करके कला-सर्जन और कलाभिरुचि दोनोंका ही विकास नहीं हो सकता।

—ल० का०व० का०व० का०व १—उपरूपकका एक भेद विशेष। इसका सर्वप्रथम

सकता।

काड्य १ — उपरूपकका एक भेद विशेष। इसका सर्वप्रथम
उक्केख अग्निपुराणमे मिलता है। 'भाव प्रकाश'के अनुसार
इसे एक अंकका होना चाहिए। नायक लिलत तथा उदात्त
परम्परासे विष्ठ, अमात्य या विषक हो सकते है। रस
हास्य एवं शृंगार होना चाहिए। नायिका कुलजा तथा
वेश्या हो। इसमें भग्नताल, मात्रा एवं लास्यका प्रयोग अपेक्षित है। विद्षक एवं विटका प्रयोग आवश्यक है।
उदाहरण गौडविजय, सुग्रीव केलनम्। इसकी परम्पराका

प्रकाश'मे प्रयुक्त रासककी परिभाषाकी दहरा दिया गया है। भोजके 'श्रंगार प्रकाश'में इसका समर्थन मिलता है। भोजने इसके दो भेद शुद्ध एवं चित्र किये —यो० प्र० सि० काव्य २-कविके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो, उसे 'काव्यं' कहते है :- 'कवेरिदं कार्यभावी वा' (ष्यञ) मेदिनी कोष । अभिनवगुप्ताचार्यने 'ध्वन्यालोक-लोचन'मे 'कवनीयं काव्यं' महाकाव्य लिखा है, जिससे इसी अर्थकी पृष्टि होती है। अतः कान्यकी न्याख्याके लिए 'कवि' शब्दके अर्थको समझना आवश्यक हो जाता है। 'कु' धातुमें अच् प्रत्यय (इ) जोड-कर 'कवि' शब्दकी व्यत्पत्ति बतलायी गयी है और 'कु'का अर्थ है 'व्याप्ति', 'आकाश', अर्थात् 'सर्वज्ञता'। फलतः कवि सर्वज्ञ है, द्रष्टा है। श्रति कहती है 'कविर्मनीषी परिभः स्वयम्भः'। 'परिभः', अर्थात् जो अपनी अनुभृतिके क्षेत्रमें अथवा दृष्टिक्षेपमें सब कुछ समेट ले और 'स्वयम्भः' जो अपनी अनुभृतिके लिए किसीका भी ऋगी न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषीकी सृष्टि है, जो स्वयं सम्पूर्ण और सर्वेश हो । वैदिक साहित्यमें कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक है और वेदोंके प्रकाशक ब्रह्माको 'आदि कवि' कहा गया है। लौकिक साहित्यमें कवि शब्द अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थीमे प्रयुक्त होता है और विशिष्ट रमणीय शैलीमे काव्य रचने-वालेके लिए उसका प्रयोग होता है। 'वाल्मीकि-रामायण'को 'आदि काव्य' और 'महाभारत'को 'काव्य'को संज्ञा दी गयी है, क्योंकि वाल्मीकि 'आदि कवि' है और व्यास 'कवि'। इसमें स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक कालमे 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न एक विशेष प्रकारकी शैलीमे रचना करनेवाले विद्वान्के अर्थमे योगरूढ हो गया था और बादमे इसी अर्थमे प्रयुक्त हुआ। कविके लिए 'नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा' और 'वर्णनिन्युणता' अनिवार्य धर्म है। प्रन्तु यह वर्णनिनपुणता असाधारण होनी चाहिये। ''काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि-कर्म .....'' प्र०, प्रथमोलास, पृ० १२)। कवि-कर्मको 'काव्य-संसार'

विकास एक दूसरे ही तरहसे हुआ । 'नार्यदर्पण' एवं 'भाव

यह तो हुई 'किंव'के नाते उसकी कृति 'कान्य'की चर्चा, परन्तु स्वतन्त्र इकाईके रूपमें भी 'कान्य'के सम्बन्धमें विचार किया गया है। कान्यका लक्षण क्या है, इस विषयको विभिन्न आचार्योंने विभिन्न रूपोमे उपस्थित किया है। वास्तवमे इन आचार्योंने विभिन्न रूपोमे उपस्थित किया है। वास्तवमे इन आचार्योंके सामने या तो विशिष्ट कान्यकोटियाँ थी, जैसे भरत मुनिका कान्य-लक्षण नाटकपर आधारित है, अथवा विशिष्ट कान्य-सम्प्रदाय। फलस्कर्प, कान्य-लक्षण सम्बन्धी उनके मतवाद निवेंयक्तिक नहीं हो सके है। भरत मुनिने शुभ कान्यके सात लक्षण माने है। (१) मृदुललितपदावली, (२) गृद्ध शब्दार्थहीनता, (३) सर्वसुगमता, (४) युक्तिमत्ता, (५) गृत्यमे उपयोग किये जानेकी योग्यता, (६) रसके अनेक स्रोतोको बहानेका गुण, (७) संधियुक्तता। इनमेंसे पाँचवें और सातवें लक्षण नाटक (हश्यकान्य)को ध्यानमें रखकर लिखे गये हैं। शेषमें गुण,

कहा गया है और कविको इस संसारका स्रष्टा या प्रजापति।

(अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापितः --अग्निपुराण,

३३९: १०)।

रीति, अलंकार और रसका निर्देश है। 'अग्निपुराण'में काव्यको इतिहाससे अलग करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—काव्य ऐसी पदावली है, जो दोषरहित, अलंकारसहित और गुणयक्त हो तथा जिसमे अभीष्ट अर्थ संक्षेपमे भली भॉति कहा गया हो (अग्निपुराण, ३३७:६-७)। यह लक्षण स्पष्ट ही कान्यके वहिरंगकी प्रधानता देता है। परन्त एक अन्य स्थानपर 'अग्निपुराण' रसको काव्यकी आत्मा मानता है (वाग्वैदग्ध्य-प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवि-तम्)। भामह और दण्डी कान्यके सम्बन्धमे इसी आदर्श-को लेकर चलते है। दण्डी 'पदावली'को काव्य-शरीर मानकर इस मन्तव्यको और भी स्पष्ट कर देते है (शरीरं तावदिष्टार्थव्यच्छिन्ना पदावली, १:१०) और भामह शब्द और अर्थके समवायको काव्य कहकर (शब्दार्थी सहितौ कान्यम-कान्यालंकार, १:१६) उस आदर्श कान्यस्थितिकी सूचना देते हैं, जब शब्द और अर्थ अपनी खतन्त्र स्थिति खोकर एकात्म हो जाते है। वामनने 'काव्यालंकारसन्न'-(१०:१:१,२, ३)में काव्यको अलंकारसहित और दोषरहित माना है। परन्तु 'अलंकार' सम्बन्धी वामनकी भावना सुक्ष्म है। सौन्दर्य ही अलंकार है, कहकर उसने 'अलंकार'की विस्मृति की है। परन्तु जब 'वामन' रीतिको काव्यकी आत्मा और शब्दार्थको काव्य-शरीर कहते है तो उनका मत भामह और दण्डीसे भिन्न हो जाता है। रुटटने काव्य-लक्षण देते हुए भामहका ही अनुसरण किया है। परन्तु ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धनाचार्यने पूर्ववर्ता सभी लक्षणोको अनुपयुक्त समझकर ध्वनि-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की और ध्वन्यर्थको ही काव्यात्मा सिद्ध किया। इसी तरह राजानककुन्तकने 'वक्रोक्तिजीवित'मे वक्रोक्ति-गर्भित अर्थात् उक्तिवैचित्र्यमूलक काव्यार्थको काव्य माना है। मम्मटने 'कान्यप्रकाश'मे कान्यका जो लक्षण दिया है, वह भामहादि-से भिन्न होते हुए भी इस अर्थमें भिन्न नहीं है कि उसने ऐसे शब्दार्थको भी काव्य माना है जो अनलंकत हो। बादके आचार्योंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अधिक अपनाया, जैसे 'चन्द्रालोक'मे जयदेवने कान्यलक्षण देते हुए कहा है: "निर्दोषा लक्षणवती नरीतियुगसृतिना, सालंकाररसानेकवृत्तिर्वा काव्यनामभाक्"। इसमे काव्यमे दोपराहित्य, लाक्षण्य (व्यंग्य), रीति, गुण, अलंकार, रस, वृत्तिकी स्थापना की गयी है। कान्य-सम्बन्धी अन्तिम विवेचन हमे साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज और रसगंगाधरकार जगन्नाथ पण्डितराजमें मिलते है। विश्वनाथने काव्यको रसात्मक बतलाया है (सा० द०, १: ३) और पण्डितराजने रमणीय अर्थके प्रतिपादक शब्द-को काव्य कहा है। इस प्रकार काव्यके अर्थकी व्याप्तिमें कही संको च और कही विस्तार दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि काव्यके सम्बन्धमे सर्वग्राही दृष्टिकीण उत्पन्न नहीं हो सका। जिन तत्त्वोंकी ओर ये आचार्य इंगित करते है, वे सूक्ष्म तत्त्व है, जैसे रस (भरतमुनि), शब्दार्थकी समवायवृत्ति (सम्मट), सौन्दर्य (दण्डी), रीति (वामन) और ध्वनि (ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन) और इनमेंसे प्रत्येक तत्त्व अपने बलपर खतन्त्र रूपसे कान्यकी आत्मा होने योग्य है। परन्तु प्रत्येक आचार्यका यह आग्रह रहा है कि उसके मतवाद और अन्य मतवादोंमें अंगांगी सम्बन्ध रहे।

मम्मदने काव्यके तीन भेद किये हैं: उत्तम, मध्यम और अधम। यह वर्गीकरण शब्दार्थके वाचक, लाक्षणिक और व्यंग्य प्रयोगोंके आधारपर किया गया है। व्यंग्यकाव्य उत्तम, लाक्षणिक मध्यम और वाचक अधम है (का० प्र०, १, ५-६) । मम्मट कान्यमें रस, गुण और अलंकारकी स्थिति मानते है, परन्तु रसको सर्वोपरि वतलाते है। रस यदि आत्मा है तो ग्रण रसका उत्कर्ध करनेवाले और उसे अचल स्थितिमें रखनेवाले है। (का॰ प्र॰, उ०८: ६६), अलंबारके सम्बन्धमें भी कदाचित् उनका यही मत है। यद्यपि उन्होंने 'अनलंकृत' वाक्यको भी (जिसमे अलंकार अस्फुट अथवा अप्रकाशित हों) काव्य माना है। अलंकार रसके धर्म नहीं है, अतः वे रसके साक्षात् उत्कर्षक न होकर शब्दार्थ द्वारा पररपर सम्बन्धसे रसका उत्कर्प करते है। विश्वनाथने रसको ही काव्यकी आत्मा माना है और उत्तम कान्यमें रसकी सर्वोपरि स्थिति वतलायी है। वर्णना-त्मक कान्यको जहाँ रसकी स्थिति नहीं है, उन्होंने गौण काव्य कहा है। इनके अतिरिक्त किसी भी अधम काव्यकी श्चिति उन्हें अमाननीय है।

काव्यप्रयोजन और काव्यहेतुपर भी प्राचीन आचायोंने विचार किया है। जहाँतक काव्यप्रयोजनका सम्बन्ध है, प्राचीनोंने न्यावहारिक दृष्टिको प्रधानता दी है और कान्यको अर्थ, धर्म, कामके अतिरिक्त मोक्षका भी साधन बतलाया है। भामहने 'कान्यालंकार'मे इस चतुर्वर्गके साधनके अतिरिक्त कला-वैलक्षण्य, प्रीति और कीतिको भी कलाका प्रयोजन कहा है—''धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्ति च साधुकाव्यनिबन्धनम् (काव्या-लंकार, १,२)। मम्मटके अनुसार "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासिम-तयोपदेशयुजे ॥" स्पष्ट है कि यह दृष्टि कान्यको लोकोपजीवी ही मानती है और उस लोकोत्तर पक्षको महत्त्व नहीं देती, जो उत्कृष्ट का व्यका रुक्षण है अर्थात् रस, चमत्कार, ध्वनि या न्यंग्यार्थ, कल्पनाका आनन्द आदि । पाइचात्य विद्वानीं-ने काव्यप्रयोजनके इन सूक्ष्म रूपोंपर भी विचार किया है। मनोविज्ञान और मनोविद्यलेषणात्मक दास्त्र इस सम्बन्धमें हमारे सहायक रहे है, क्योंकि उनके द्वारा हमने कविकी मनः प्रक्रियाको सुरपष्ट रूपसे जाना है और पाठक अथवा श्रोताकी ग्रहणशीलता एवं कान्यगत संवेदनासे भी आज हम अधिक व्यापक रूपमें परिचित है। काव्यहेतुके सम्बन्ध-में भी पश्चिममें अधिक गहराईसे विचार किया गया है। प्राचीनोंने राक्ति (प्रतिभा), निपुणता (न्युत्पत्ति) और अभ्यास, काव्यके तीन प्रमुख हेतु बतलाये। किसी आचार्य-के मतमें इन तीनांका स्वतन्त्र अस्तित्व है, परन्तु आचार्य मम्मट इन तीनोको सम्मिलित रूपमे एक ही कारण मानते हैं। कोई-कोई प्रतिभाको ही मुख्य और प्राथमिक काव्यहेत मानते है, यद्यपि काव्यको संस्कारी और शाणोत्तीर्ण बनाने-के लिए निपुणता और अभ्यास भी वांछनीय है, क्योंकि उनके द्वारा कान्यकी चमत्कृति बढ़ती है। प्रतिमा, न्युत्पत्ति - और अभ्यास जिसमें तीनों है, वही कवि है। राजशेखरने काव्यकी उत्पत्तिके प्रमुख कारण 'समाधि' (मनकी एकायता अथवा मानसिक प्रयत्त) और अभ्यास (बाह्य प्रयत्त) माने हैं। इन दोनोंके द्वारा जो शक्ति उत्पन्न होती हैं, उसका प्रसार, विस्तार या व्यापार 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति'के द्वारा होता है। 'प्रतिभा'का रुक्षण इस प्रकार दिया गया है:— ''प्रश्चा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'' अर्थात् जिस प्रश्चाके द्वारा नयी-नयी करपना सम्भव हो। इस प्रतिभाके दो प्रकार माने गये हैं:—कारयित्री (काव्य-रचना करनेवाली) और भावयित्री (बोध करानेवाली)। कारयित्री प्रतिभा तीन तरहकी हैं:—सहजा (पूर्व जन्मके संस्कारसे प्राप्त), आहार्या (इस जन्मके संस्कारसे प्राप्त) और औपदेशिका (मन्त्र-तन्त्र शास्त्रादिक द्वारा प्राप्त)। पश्चिमी साहित्य-शास्त्रमें 'इमेजिनेशन', 'इन्ट्यूटिव फैकल्टी' अथवा 'पोइटिक सेन्स'के अन्तर्गत कवि-प्रतिभाकी विस्तृत विवेचना हुई है।

यह स्पष्ट है कि काव्यके सम्बन्धमें पूर्व-परिचममे अनेक प्रकारके विचार है और उन्हें एक केन्द्र विन्दुपर लाना बहुत कठिन है। समीक्षको और कवियोंने अपनी-अपनी प्रवृत्तियों-के माध्यमसे काव्यको देखा और समझा है और प्रवृत्तियोंकी विभिन्नताके कारण काव्यके मूल तत्त्वके सम्बन्धमे भी उनके आग्रहमे भेद है। हमारे यहाँ 'रस'की व्याख्या 'वेदान्त दर्शन'के आधारपर हुई है और रसानुभवको स्पष्ट करनेके लिए अन्य मतवादोसे भी सहारा लिया गया है, परन्त्र पश्चिममे काव्यविवेचनाका दार्शनिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वहाँ सौदर्यशास्त्र दर्शनका ही अंग है। इस विवेचनामें हम काव्यसमीक्षकको अत्यन्त ऊँची और सैद्धान्तिक भूमिपर पाते है। अरस्तूके इस कथनमें कि 'काव्य प्रकृतिको अनुकृति है', इस प्रकारका सिद्धान्त सामने आता है कि काव्य कोई स्वतन्त्र वस्तु नही-प्राथमिक अनुभव नहीं है। प्लेटो तो उसे नकलकी नकल कहता है। वॉन नार्फका कहना है कि काव्य सत्यकी अनुभूतिका प्रयासमात्र है, यद्यपि छद्मवेशमें। कान्यकी तथ्यमूलक भित्तिपर कई पश्चिमी लेखकोने बल दिया है। कैम्पबेलके अनुसार काव्य सत्यका मुखर रूप है। ओ० डब्ल्यू ० हेल्मने कान्यकी अलंकत वर्णच्छटाको वर्ण्य वस्तु-(सत्य)की रूपरेखासे अलग करके देखा है। उसका कहना है कि कविताका लक्ष्य सत्यकी शुभ्र ज्योति है, परन्तु उसको प्रभावशाली बनानेके लिए वह इन्द्रधनुष-सी वर्णच्छटाको यहण कर लेती है। एक दूसरे प्रकारके कथन वे है, जो काव्यके लिए दार्शनिक भूमि नहीं खोजते, मनुष्यके मनोविज्ञानमे ही उसका खरूप देखते है। कार्लाइलका यह कहना कि कविताके द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्वको संतुलित एवं समन्वित बनानेका प्रयत्न करता है, ऐसा ही एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसी प्रकार शेली जब काव्यको प्रसादचेता और मेधावी महाप्राणोंके सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक आनन्दमय क्षण मानता है तो वह काव्यका मनोवैज्ञानिक निरूपण ही करता है। आधुनिक मनोवैज्ञा-निकोने तो अत्यन्त विशदतासे कान्यप्रेरणाके मूल स्रोतों और उसकी प्रक्रियापर विचार किया है।

पश्चिमी आलोचकोंने भी काव्यको कविके अंतरंग और वहिरंगसे सम्बन्धित करना चाहा है। अंतरंगसे सम्बन्धित करनेकी प्रक्रिया जॉन ड्रिंकवाटरमें दिखलाई देती हैं, जिनका कहना है कि काक्य पिवित्रीकृत जीवन है। उसमें दुःख या ल्ल्जाके भावका उदात्तीकरण मात्र नहीं है, वह भावको क्षुद्रताकी भूमिसे ऊपर उठाकर उसे असाधारणस्वकी कोटि दे देता है। बहिरंगसे सम्पर्कत करनेवाला समीक्षक आरनॉल्ड काक्यका नाता जीवनसे जोड़ता है और उसे जीवनकी समीक्षा कहता है। वस्तुतः ये दोनों एकदम विरोधी ध्रुव है। पहले दृष्टिकोणमे काव्य कविके अन्तःकरणका विस्फोट है, तो दृसरेमे वह बाह्य परिस्थितियोकी प्रतिक्रियामात्र है। व्यक्तिनिष्ठ काव्य (गीतिकाव्य) पहली कोटिके अन्तर्गत आता है और वस्तुनिष्ठ काव्य (प्रबन्धकाव्य) दूसरी कोटिके अन्तर्गत । दोनो ही दृष्टिकोण स्वतः एकांगी है, परन्तु उन्हे परस्पर पूरक समझा जा सकता है। यह आवस्यक नहीं है कि किसी विशिष्ट कविके व्यक्तित्वमें दोनोंका समाहार न हो सके।

विश्रद्ध साहित्यिक दृष्टिसे विवेचन करें तो कुछ पश्चिमी विद्वान कान्यको आनन्द-कोटिमें रखते है। वेकन इनमे पहले हैं। उनका कहना है कि काव्य असत्य भाषण है, परन्तु यह असत्यवाचन आनन्दप्रद है। एक दूसरे आलोचक हेमरटनके शब्दोंमे काव्य सन्दर झठ है। इस काव्यगत आनन्दकी विवेचना करते हुए आलोचकोंने विभिन्न तत्त्वोको अधिक महत्त्व दिया है। काव्यशास्त्री काव्यगत आनन्दकी व्याख्या रस, अलंकार, रीति, गुण, औचित्य एवं चमत्कारके तत्त्वोके आधारपर करते हैं। ये तत्त्व पूर्व और पश्चिम दोनों ओर समान रूपसे स्वीकृत है, अन्तर उनकी व्याख्या और व्याप्तिमें है। भारतीय आचारोंने जहाँ इनमेसे प्रत्येककी स्वतन्त्र और सर्वोपिर सत्ता स्वीकार की है, वहाँ एकको प्रधान स्वीकार करते हए उन्होने अन्य काव्यांगीको उसीमे समीकृत कर दिया या उसीका अंग वना लिया है। इस प्रकार उनकी काव्य-विवेचना अतिव्याप्ति दोषसे दृषित है। वास्तवमें भारतीय शास्त्रीय चिन्ता मौलिक चिन्तनसे कुछ आगे बढकर शीघ्र ही सम्प्रदायोमे बॅध गयी और प्रत्येक सम्प्रदाय अपनेको सर्वश्रेष्ठ और सर्वग्राही सिद्ध करनेकी धनमे औचित्यकी सीमाका उल्लंघन करता हुआ अतिव्याप्तिसे द्पित हो गया और सन्तुलन खो बैठा। इन व्याख्याओमे काव्यकी रस-व्याख्या सबसे अधिक लोकप्रिय हुई। भारतीय कान्यशास्त्रमें मूलतः रसको ही कान्यकी आत्मा माना गया है और रसात्मक वाक्यको ही काव्यकी संज्ञा दी गयी है। पश्चिममें भी यह रसवादी दृष्टिकोण मिलता है। जैसे जॉन डिकवाटरकी स्थापना है कि कविता मुलतः भाव-संवेदनाओंसे सम्बद्ध है, जो परिवर्तनशील संसारमें नित्य है। जे० सी० पॉवेके मतानुसार भी काव्यमें रसात्मकता और मानवीयताके उपादान परमावद्यक है। भारतीय काव्य-समीक्षामें आलंकारियोका वड़ा महत्त्व है, परन्तु पश्चिममें भी कान्यगत कल्पनाको प्रमुख उपकरण मानकर उसके तथ्योंपर विश्वद रूपसे विचार हुआ है। रोलीके अनुसार कान्य कल्पनाकी ही अभिन्यंजना है और 'ला मारतीन'का कहना है कि काव्य महाप्राणोंका प्रभात-स्वप्न है। रीति और गुण भाषा-शैलीके तत्त्वोंसे सम्बन्धित है। पिरचममें इन तत्त्वोंकी विशद व्याख्या हुई है। वास्तवमें कान्यका बहिरंग ही आकर्षणकी पहली वस्तु हैं और फलस्वरूप समीक्षकोका ध्यान पहले इसी पक्षपर गया है। पश्चिमी कान्य-समीक्षकोंका एक ऐसा वर्ग भी है, जो चमत्कारको प्रधानता देता है। यह मत भारतीय आचार्यों-के 'वक्रोक्ति' मतसे मिलता-जलता है।

काव्य हृदय और बुद्धिकी संहिलष्टि है। उसे केवल रसवादके अन्तर्गत लाना असम्भव है। आज हम कान्यको (प्रवन्धकाव्य), भावमूलक विचारमूलक (निवन्धकाव्य), चमत्कारमूलक (सुक्तिकाव्य और ध्वनिकाव्य) और परिहासमूलक (परिहास या विडम्बनाकान्य) मान सकते है । रस एवं भाव कान्यके हृदयपक्ष है और विचार, चमत्कार (वास्वैदग्ध्य) एवं परि-हास बौद्धिक पक्ष । इस प्रकार काव्यकी ये पाँच कोटियाँ है। इससे भिन्न एक कोटि कल्पनामुळक काव्य (आलंकारिक काव्य) भी मानी जा सकती है। परन्तु काव्यमें रस और अलकारका बहुत कुछ अन्योयाश्रित सम्बन्ध है। कमसे-क्म श्रेष्ठ कान्यमे । जहाँ अलंकार भावसृष्टिसे पृथक स्वतन्त्र सृष्टि है, साध्य है, वहाँ वे चमत्वारवाद अथवा वारवैदरध्यके अन्तर्गत आयंगे। गीति-काव्यमे केवल भावतक पहुँचा जा सकता है। प्राचीनोने उनमे रसको व्यंग्य माना है और अन्य काव्यतत्त्वोसे स्वतन्त्र ध्वनितत्त्वकी कल्पना की है, परन्त रसवादके आग्रहके कारण वास्तवमे भारतीय कान्य-शास्त्रका यह परवर्ती विकास रसदृष्टिसे ही नियोजित एवं सीमित है।

कान्य-तत्त्वोमंसे रीति, गुण, औचित्य और शब्दालंकार कान्यके बहिरंग माने जा सकते है और अन्तरंगके अन्तर्गत किविका भाव-जगत्, उसका हास-परिहास और चमत्कार-भाव आता है। इन्हींके आधारपर कान्य प्रवन्ध, गीति, निवन्ध, परिहास या विडम्बना और स्किके विभिन्न भेदोंमें विभाजिन किया जाता है। किविके भाव-जगत्मे जहाँ रक्ष ओर रस और भाव हैं, वहाँ दृसर्ग और अर्थ:लक्तरोंने संयोजित प्रस्तुत विधान भी, जो कल्पनाम्लक सौन्दर्य-सृष्टिकी रचना करता है। इस प्रकार कान्यमे केवल रस या अल्कारकी स्थिति न मानकर, विचार, परिहास एवं वाय्वेदरस्थकों भी स्थिति मान की जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि रसमूलक क न्यमें अल्कार रहे ही नहीं या निवन्ध-कान्यमे रसमूलक या अल्कार रहे ही नहीं या निवन्ध-कान्यमे रसमूलक या अल्कार स्थित न होंग। किवन्ध-तान्यमे स्थित न सार्वभी कि एपमें लेना होगा। तभी हम कान्य-तत्त्वोको अंग-अंगीके रूपमें लेना होगा। तभी हम कान्य-तत्त्वोको अंग-अंगीके रूपमें लेना होगा। तभी हम कान्य-तत्त्वोको अंग-अंगीके रूपमें लेना होगा।

कान्यके निर्माणमें कविके स्वभाव, संस्कार और देश-कालकी परिस्थिनियोंका भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। प्रत्येक कविके कान्य-लेखनकी भूमिका अन्य कियकी कान्य-लेखनकी भूमिकासे भिन्न रहती है और फलस्वरूप कान्यका स्वरूप भी बदल जाता है। प्रत्येक कलाके बाह्यांगपर उस युगकी बदलती लोकरुचिका प्रभाव पडता है। अपूर्व प्रतिभासम्पन्न किव अपनी प्रतिभाके बलपर लोकरुचिको भी बदल सकता है, परन्तु अधिकांश किव लोकरुचिका अनुगमन करते है। युगधर्मके बदलनेपर प्राचीन संकेत जीर्ण पड़ जाते हैं और किवके लिए नये प्रतीकों और संकेतोंको खोजना आवश्यक हो जाता है। मक्तियुग अथवा रीतियुगके प्रतीकोंसे आजके काज्यके प्रतीकोंकी तुल्ना करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है। साहित्यके इतिहासके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनपद्धतिके अन्तरसे काव्यपद्धतिमें भी परिवर्तन हो जाता है। युगधर्म और काव्यपद्धतिमें भी परिवर्तन हो जाता है। युगधर्म और काव्यपद्धतिमें अनन्य सम्बन्ध है। देशकालवैशिष्ट्य और युगवैशिष्ट्य प्रत्येक कलाकृतिमें स्क्ष्म रूपसे रहते है, यद्यपि युगातीत जातीय एवं राष्ट्रीय विशेषताओंकी फल्गुधारा भी उसमें निरन्तर प्रवाहित होती रहती है

कविताके क्षेत्रमें जिन अपरिहार्य परिवर्तनोने नये काव्यरूपोंको जन्म दिया, वे हमारे मनमे यह शंका उठाते है कि क्या कविताका तेजोमय युग समाप्त हो गया और क्या महाकाव्यसे गीतिकाव्यकी ओर बढते हुए हम निरन्तर ह्रासकी ओर बढ़ रहे है ? कविता ही क्यो, सभी कला-क्षेत्रों में इस प्रकारकी शंका उठती है। स्वयं महाकाव्यकी भीतरी स्थितिमे कितना परिवर्तन हुआ है, यह 'महाभारत' और 'रघुवंश'के तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है। मुद्रण-कलाके आविष्कारसे पहले कान्य कण्ठस्थ कर लिया जाता था और उसमें तत्त्वज्ञान, उपदेश, चरित्र, इतिहास, कान्य सब कुछ था। वास्तवमें महाकान्यका विराट म्बरूप विश्वकोशको भॉति समस्त युगशानका समु-च्चय था। गद्य वाड्मयके विकासके बाद इतिहास, चरित्र, तत्त्वज्ञान और कथाके लिए नया क्षेत्र खुला और काव्य केवल काव्यानुकूल विषयोंतक सीमित रह गया। कालान्तर-में दीर्घ काव्यकी परम्परा भी समाप्त हो गयी और गीति-काञ्यका जनम हुआ। गीति-काञ्य प्रजातन्त्र और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी उपज है। व्यक्तिगत अनुभवकी उत्कट भावतरंग ही गीति-काव्यका निर्माण करती है और उत्कट भावना दीर्घ कालतक टिक नहीं सकती। फलस्वरूप, आज काव्य-क्षेत्रमें स्वरंप गीतोंका प्राधान्य है। इस उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि कविताके सम्यक् अध्ययनके लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोणकी आवस्यकता है। नयी कविताके प्रति जो आज कुत्साका भाव है, वह इसीलिए कि हम उसे नये सामाजिक परिवेशमें रखकर देख नहीं पाते।

ऐतिहासिक अध्ययनके अभावमें कान्यकी सभी न्याख्याएँ एकांगी, अतः अपूर्ण वन गयी है। उनमें सम्प्रदायाग्रह ही अधिक है। आज इस प्रकारका अतिवाद सम्भव नहीं है और कान्यके सम्बन्धमें नयी दृष्टिकी आवश्यकता है। यह नयी दृष्टि सार्वभौमिक होगी, साम्प्रदायिक नहीं। —रा० म०

कान्य-कळा — कान्यमें अनुभूतिकी प्रधानता है और कोचेके अनुसार अनुभूति ही अभिन्यंजना है। फलस्वरूप,
कान्य-कलाका वास्तविक स्वरूप कविके मनका सौन्दर्य-बोध
है और उस सौन्दर्य-बोधको कला-माध्यमों द्वारा तद्वत् रूप
देना ही श्रेष्ठ कला है। इस चिन्तन-पद्धतिमें 'कला' कान्यसे
निचले स्तरकी चीज है। कला-माध्यमों द्वारा जो हमे
मिलता है वह किव कलाकारके मनके सौन्दर्य-बोधसे कुछ
कम, कुछ हीन ही होता है। प्राचीनोंने कान्यको कलासे
अलग रखकर अपनी सुरुचिका परिचय दिया है और
चौंसठ कलाओंकी गणना करते हुए 'समस्यापूर्ति', 'अक्षर-

च्युतक' और 'मात्राच्युतक' आदि कविकर्मके भीतर उिल्लाखित किये है। परन्तु आधुनिक संदर्भमें हम कविताके विहारंगसे सम्बन्धित कौशलको काव्यकलाका नाम देते है। फलतः काव्यानुभूतिके स्थिरीकरणके लिए जिन प्रतीकात्मक उपकरणोंका उपयोग होता है, वे काव्यकलाका निर्माण करते है। काव्य-कलाको हम रचना-कौशल कह सकते है। कविके हेतुके अनुरूप कविता कही कल्पनामय, कही भावनामय और कही विचारात्मक होती है। रस-पोपणके लिए भी कवि अनेक युक्तियोका प्रयोग करते है। रचनाका लघु-दीर्घ आकार, अनुभूतिके वेग एवं उसकी व्याप्तिपर आधारित है। वास्तवमे काव्य-कलाका क्षेत्र वड़ा व्यापक है और उसका एकमात्र मापरण्ड यह है कि उसके द्वारा रसोत्वर्ष होता है कि रसापकर्ष।

काव्य-कलाका सम्बन्ध रचनाके विविध अंगोसे है। पहली वस्तु जिसपर हमें विचार करना है, वह पार्वभूमि है। कवितामें पार्वभूमिका उपयोग इस प्रकार होता है कि वर्ण्य वरतुके स्थापन एवं निर्वाहको एक योजना कवि प्रारम्भमें अपने मनमें बना लेता है और परचात उस पार्वभूमिसे तिलभर भी हटना उसके लिए सम्भव नही है। पार्श्वभूमिका विशद उपयोग नित्र-कलामे होता है, परन्तु काव्य-कलामें भी सीमित रूपसे उसका उपयोग होता है। उदाहरणस्वरूप, गीताके उपदेशकी पृष्ठभूमिके लिए कुरु-पाण्डव-सेनाओंकी तैयारी और सज्जाका विशद पार्श्वपर्ट भाहाभारत'मे उपस्थित किया गया है। यह पार्श्वभूमि कभी मूल विषयकी संवादी रहती है और कभी विरोध पद्धतिपर सज्जित की जाती है। विरोध पद्धतिपर प्रतिष्ठित पार्श्वभूमि अधिक आकर्षक होती है, क्योंकि उससे विपयान्तर्गत द्वन्द्वका आभास मिलता है।

कही-कही प्रकृतिको भी पार्श्वभूमिके लिए चित्रित किया जाता है, विशेष रूपसे उद्दीपनके अन्तर्गत अथवा भावारोपमूलक पद्धतिमें, जिसे अंग्रेजीमे 'पैथेटिक फैलेसी' कहते है। काव्य-कलामें प्राकृतिक सदभौं और प्रतीकोंका अप्रतिम महत्त्व है।

कान्य-कलाका एक अन्य उपकरण वातावरण निर्माण है। यह निर्माण रस-परिपोषका सहायक होता है। पिरपादवे (पादवेमूमि)की अपेक्षा वातावरणकी योजना अधिक अमसाध्य है। रसग्रहणकी अनुकृत मनःस्थितिकी निर्मितिमें वातावरण सबसे अधिक सहायक होता है। कभी-कभी किन्हीं संकेतों अथवा उल्लेखोसे एक उदात्त भावनाका निर्माण हो जाता है, परन्तु ये संकेत या उल्लेख विशिष्ट होते है अथवा स्थानिक विवरणसे उन्हें ग्रहण किया जाता है। वास्तवमें संवादी वातावरणका निर्माण काव्य-कलाकी सर्वोपिर साधना है, जैसे करुण रसके प्रसंगमे करुण रसका परिपोषक वातावरण अनिवार्य है। उसके अभावमे रसान्स्वादन अपूर्ण रहेगा। वातावरण-निर्माणमें कल्पना सबसे अधिक सहायता करती है। पौराणिक और ऐतिहासिक सन्दर्भोंका उपयोग भी वातावरणको पुष्ट करता है।

काव्य-कलाका तीसरा तत्त्व वर्णन है। वर्णन स्वयं एक सम्पूर्ण कला है। महाकाव्य, कथाकाव्य और खण्डकाव्यमें वर्णनोंकी प्रधानता रहती है। प्रेम-विलासका वर्णन, नायक- नायिकाके सौन्दर्यका वर्णन, प्रकृति-वर्णन, स्वयंवर वर्णन, युद्ध-वर्णन इत्यादि महाकाव्य-प्रथित वर्णनोकी साहित्यमे भरमार है। गीतिकाव्यमे वर्णन सांकेतिक और मधुर होता है। वर्णनमे अलंकारोंका उपयोग आवश्यक नहीं है, क्योंकि इसमें कृत्रिमताका आभास हो सकता है। वर्णनका एक स्कृत रूप केर व्यक्तिके वर्णनसे अलग अन्तर्द्धन्द्व अथवा मनःशौर्यतक सीमिन है। वक्तृत्वपूर्ण वर्णनोंकी एक सुन्दर परम्परा वीर-काव्य और धार्मिक-काव्यमें दिखलाई देती है। आधुनिक काव्यमे वर्णन सांगोपांग नहीं किया जाता क्योंकि ऐसे वर्णनमे अद्भुत रस और अलंकार-प्राचुर्यको स्थान नहीं मिल सकता। अतः नया कवि वर्णनकी सहेतुकताका अधिक कायल है और प्रसंगके अनुरूप दो-चार रेखाओसे ही समग्रताका आमास देनेकी चेष्टा करता। है।

काव्यकलाका एक अन्य तत्त्व शब्द-चित्र है। व्यक्ति अथवा प्रसंगके मूर्तिमन्त चित्र श्रेष्ठ काव्यकी विशेषता है। शब्द-चित्र काव्य-रिसको विशेष आनन्द देते है, क्योंकि उनके द्वारा सुक्ष्म सौन्दर्यकी प्रतीति होती है। यह आवश्यक नहीं है कि शब्द-चित्र ध्रथ्यत सौन्दर्यसे ही सम्बन्धित हों, स्क्ष्म मानसिक तारतम्यका भी उनमे संकेत मिल सकता है, जैसे 'प्रसाद'के 'आँस्' काव्य में। शब्द-चित्रका स्क्ष्म होना आवश्यक है, क्योंकि सूक्ष्म वर्णनसे ही शब्द-चित्र साकार होता है।

पुनरुक्ति भी काव्य-कलाका एक प्रमुख अंग है। सामान्य पुनरुक्ति दोषके अन्तर्गत आती है, परन्त जहाँ कल्पना, भावना या विचारको बल देने या मृतिमान् करनेके लिए उसका उपयोग होता है, वहाँ वह कलात्मक हो जाती है। गीतिकाव्यमे श्रवपदकी पुनरुक्ति गीतिके भावसौधवका प्रमुख अंग मानी जाती है। कान्य-सज्जाको लेकर अनेक विशिष्ट पद्धतियोका निर्माण हुआ है और परिणामस्वरूप काव्यक्लामे नये अध्याय जुड़े है। प्रत्येक युग काव्यके द्वारा युगके नये उपादानोको अपना संस्कार बनाता है, अतः नये भाव-विकास एवं नये संस्कारोके कारण काव्यके क्लापक्षका नित-नूतन विन्यास होता रहता है। विविध काव्य-प्रकार विविध काव्यकलाके स्चक है। भावगीत, नाट्यगीत, गजल, रुवाई, सॉनेट, मुक्तक जैसे अनेक नये कलारूप आधुनिक काव्यके अंग बन गये है। काव्यकलाका मर्यादित रूप महाकाव्य और खण्डकाव्यमें सुरक्षित है, तो उसका स्वच्छन्द रूप प्रगीतकाव्य एवं मुक्त छन्दमें प्रकट हुआ है। नये काव्यरूप रसग्रहणके क्षेत्रमें नयी समस्याएँ लेकर आते है और इसलिए प्रत्येक युगमे कवि-कौशलका रूप बदलता रहता है। --रा० भ०

काव्य-दोष—संस्कृत साहित्य शास्त्रमे प्रारम्भसे ही दोष-विवेचन मिळता है। भरतने (४ श० ई०) 'नाट्यशास्त्र'मे (१७: ८८, ९४) केवळ इतना ही लिखा है कि दोषकी स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है। भामहने (७ श० ई०) 'काव्यालंकार'मे (परि० ४) कहा है कि काव्य-में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते। दण्डीने (७ श० ई०) 'काव्यादर्श'मे (परि० १ दोषनिन्दा) सामान्य दोषके विषयमें केवळ दो बातें कडी हैं:—१. दोष काव्यमें विफलताके कारण होते हैं तथा २. विद्वानोको काव्यमें इनका परिहार करना चाहिये। अग्निपराणमें कहा गया है कि दोष उद्देश-जनक है। वामनने (९ द्या० ई० मध्य) 'काव्यालंकारसत्र'-(अधि० २. अ० १२)में दोपके लक्षणोंका विवेचन करते हुए बतलाया है कि दोषके अन्तर्गत उन तत्त्वोंकी गणना होती है, जो काव्य-सौन्दर्यकी हानि करते है। मम्मटके (११ श॰ ई॰ उत्त॰) 'कान्यप्रकाश' (उल्लास ७)-के अनुसार मुख्य अर्थका जिससे अपकर्थ हो, उसे दोष कहते है। उद्देश्यकी प्रतीतिका विघातक होना ही मुख्यार्थका अपकर्ष है। यह मुख्य अर्थ है रस और उसके आश्रयसे गौण रूपमें वाच्य भी। विश्वनाथने (१३, १४ श० ई०) 'साहित्यदर्पण' (परिच्छेद ७)मे इसी बातको और भी सरल ढंगसे कह दिया है कि जिससे मुख्य अर्थका अपकर्ष हो वह दोष है। इस प्रकार जो रसका अपकर्षण करे अथवा हानि करे, वह दोष है। रसकी हानि तीन प्रकारसे सम्भव है:= १. रसकी प्रतीतिमे विलम्ब द्वारा, २. अवरोध द्वारा और ३. रस-प्रतीतिके पर्ण विघात द्वारा । सारांश यह कि मल रूपमें रस और गौण रूपमे इ.व्द और अर्थके अपकर्ष द्वारा काञ्यका अपकार करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते है। 'काञ्य-प्रकाश'के 'प्रदीप' टीकाकारका कथन है कि उद्देश्यकी प्रतीतिके विघातक तत्त्वोंको दोष कहते है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकारके विषय आ जाते है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे रसके ही परिपादकर्ता होते है।

हिन्दीके आचार्यों में केशवने 'रिक्कप्रया' (१५९१ ई०) तथा कविप्रिया (१६०१ ई०) में दोषके तीन वर्ग तथा उनके भेदोका उल्लेख किया है, पर उसके सामान्य लक्षणका विवेचन नहीं किया है। वैसे केशव काव्यमें दोषको असहा मानते है-"प्रभु न कृतवनी सेइये, दृषण सहित किन्त"। चिन्तामणिने 'कदिकुल करपतरु' (१६५० ई०)के चौथे अध्यायमे दोषोंका वर्णन किया है। इसका अधिकांज्ञ आधार 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' है। तोष्रनिधिने 'सुधानिधि (१६३४ ई०)में रसदोषका चित्रण वि.या है। जसवन्तिसह, पद्माकर, मितराम तथा भूषणके अन्थोंमें दोषोंका उल्लेख नहीं है। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य'के (१६७० ई०), जिसका आधार 'कान्यप्रकाश' है, पाँचवें वत्तान्तमे दोषोपर विचार किया है। इन्होने 'काव्यप्रकाश'के आधारपर लगभग सभी दोषोक्षे लक्षण एवं उदाहरणो और अन्तमे दोष-समाधानके अन्तर्गत उन दोषोंको दूर करनेके उपायोका वर्णन किया है। इन्होने विवेचनमे बड़ी ही क्षमता दिखलायी है। इनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवने 'कान्यरसायन' (१७०३ ई०)में रसदोषका विवेचन किया है।

स्रति मिश्रने 'काव्यसिद्धान्त' (१८ द्या० पूर्वा०)मे दोषों तथा उनको दूर करनेके उपायपर विचार, 'दोषांकुश' शीपंकके अन्तर्गत अधिक विस्तारसे किया है। यह प्रन्थ महस्वपूर्ण है। काव्यशास्त्रके सभी अंगोपर प्रकाश डालनेके कारण स्रति मिश्रकी गणना हिन्दी काव्यशास्त्रके प्रधान आचारोंमे होती है। कुमारमणि भट्टकृत 'रसिक्ररसाल'-(१७१९ ई०)का आधार 'काव्यप्रकाश' है। लगभग सभी काव्यांगोंपर इसमें विवेचन किया गया है। इसमें दोषोका

भी विरतृत वर्णन मिलता है।

श्रीपति प्रमुख आचायों में है। इन्होंने दोषोंका विवेचन विस्तृत और स्वतन्त्र रीतिसं किया है। इन्होंने उदाहरणोंके लिए केशव तथा अन्य किवयोंके पद्योको रखा है। इनके 'काव्यसरोज' (१७२० ई०)के चतुर्थ दलमे दोषोका वर्णन है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने दोषोकी यह परिभाषा की है— "जा पदार्थके दोप ते आछे किवत नसाइ। दूषन तासों कहत है श्रीपित पण्डित राइ"। (प्रथम दल, १३, १५, १७)। इन्होंने 'काव्यसरोज'मे दोषोका वर्णन संक्षेपमें किया है, एर इनके 'किविन्कलपद्रुम' (१७२३ ई०)मे अधिक विस्तारसे वर्णन मिलता है। अन्य कियोको किवतामें दोष दिखाकर श्रीपितने अपनी स्कष्म दिखा है।

सोमनाथका 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०) कान्य-शास्त्रका एक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दोषोंका वर्णन है। यह यन्थ 'काव्यप्रकाश'के आधारपर है। इसकी बीसवी तरंगमे दोषोंके लक्षण और उदाहरण बड़े ही सुन्यवस्थित ढंगसे दिये गये है। भिखारीदासके 'कान्य-निर्णय' (१७४६ ई०)मे दोपोंका सुन्यवस्थित एवं विस्तृत वर्णन 'काव्यप्रकाश'के आधारपर है। रतन कविने 'फतेह भूषण' (१७७३ ई०)में दोपोका विस्तृत वर्णन किया है। जनराजकृत 'कवितारसविनोद'के (१७७६ ई०) ९वें विनोदमे दोषोंका विस्तृत वर्णन है। जगतसिंहके 'साहित्यसुधानिधि'का आधार 'चन्द्रालोक', 'नाट्यशास्त्र', 'काव्यप्रकारा', 'साहित्यदर्पण' आदि है। उसकी दराम तरंगमें दोपोंका वर्णन है। अधिकांश दोष 'काञ्यप्रकाश'के ही आधारपर है। जगतसिंहने दस दोषोंका वर्णन किया है और इनका विचार है कि अन्य सभी इनके अन्तर्गत आ जाते है।

थान किनका 'दलेल प्रकाश' (१७८३ ई०), रसिक गोविन्दकुत 'रसिक गोविन्दानन्दघन' तथा ग्वाल किनुकुत 'दूषणदर्पण'(१८३३ ई०)में भी दोषोंका विवेचन मिलता है। लिलिरामकुत 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८९० ई०)में भी दोषोंका निरूपण है। इसमें चार प्रकारके दोष— १. शब्द-दोष, २. वाक्य-दोष, ३. रस-दोष तथा ४. अर्थ-दोषका सिवस्तर वर्णन है। इन्होंने केशव द्वारा 'किनिप्रया'में वर्णित अनेक दोषों, जैसे, विधर, मृतक, दुष्ट आदिपर स्पष्ट प्रकाश डाला है। केशवके समान इनका आधार 'चन्द्रा-लोक' है। कन्हेयालाल पोद्दारकी 'रसमंजरी' (१९३४ ई०), सीताराम शास्त्रीकृत 'साहित्यसिद्धान्त' (१९२३ ई०)में भी दोषोंका उल्लेख मिलता है। विहारीलाल मट्टकृत 'साहित्यसागर' (१९३७ ई०)में भी कुछ दोषोंका उल्लेख है।

भरतने दोषोंकी संख्या दस मानी है। 'अग्निपुराण'में मुख्य तीन दोष और उनके कुछ भेद निरूपित किये गये हैं। भामहने तीन प्रकारके दोष माने हैं:—१. सामान्य दोष ११; २. वाणी दोष ४ तथा ३. अन्य दोष ११ स्वीकार किये हैं। इनके अनुसार ये समस्त दोष एक दूसरेमे समन्वित होकर ११ रह जाते है। दण्डीने ११ दोषोंका उल्लेख किया है। वामनने दोषोंका निरूपण कुछ अधिक

किया है। उन्होंने दोघोके शब्दगत और अर्थगत भेद किये है। फिर इन्हे पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष तथा वावयार्थदोषमे विभाजित किया है। इन्होने शब्दगतके तीन भेद:--१. पदगत, २. पदार्थगत, १. वाक्यगत तथा अर्थगतके दो भेद:-- १. पदार्थगत और २. वाक्यार्थगत किये हैं। सम्मदने 'काव्यप्रकाश'में दोषोका अधिक स्पष्ट विवे-चन किया है। इन्होने तीन प्रकारके काव्यदीष माने है:-१. इाब्ददोप ३७; २. अर्थदोष २३; ३. रसदोष १०। पदगत, पदांद्यागत और वाक्यगत दोष द्याब्ददोपके अन्तर्गत ही परिगणित कर दिये गये है। 'ध्वन्यालोक' (९ श० ई० उत्त०)मे रसविषयक दोषोके निरुपण मे दोपशब्दके स्थानमे 'अनौचित्य' शब्दका प्रयोग फिया गया है। 'ध्वन्यालोक'-का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विपथपर 'औचित्य-विचारचर्भा (१०६३ ई०) नामक ग्रन्थ लिखा है। भोज-(११ श० ई० पूर्वा०)ने वाक्यदोषोके अन्तर्गत अरीतिमत्को विपर्ययदोष माना है तथा रसदोषकी अनित्यताके आधार-पर उन्होने वैशेपिक गुणोंकी कल्पना कर डाली है। विज्ञवनाधने 'साहित्यदर्पण'मे दोषोका अधिक विवेचन किया है, किन्तु वह 'कान्यप्रकाश'पर ही अवलम्बित --- टी० सिं० तो० कान्य-नाटक-काव्य-नाटक अंग्रेजीके 'पोइटिक जामा'का अनुवाद है। इससे छंदोबद्ध नाटकका अर्थ ग्रहण किया जाता है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि छंदमुक्त गद्य-नाटकोंमे काव्यात्मकता नही होती। काव्य और नाटक-का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाटकका जन्म ही नृत्य, संगीत और काव्यसे हुआ था। संसारके सभी देशोके प्राचीनतम नाटक कान्य-प्रधान हैं। प्रसिद्ध आलोचक विलियम आर्चरके शब्दोंमे, "संसार भरमे नाटक नृत्य और गीतसे समान रूपमें विकसित हुआ है"। भारतीय काव्यशास्त्रमें इसीलिए नाटकको दृश्य-काव्य कहा गया है। चूंकि प्राचीन कालके नाटक काव्य-प्रधान होते थे—काव्यमय होना उनका स्वभाव ही था-उनके लिए काव्य-नाटक शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं थी। लेकिन यथार्थवादी दृष्टिकोणके प्रभावसे नाटक पूर्णतः गद्य-प्रधान हो गये, तब आधुनिक युगमें नाटकोंमे कान्यको पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिए कुछ नाटककारोकी ओरसे एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। 'काव्य-नाटक'राब्द उसीकी देन है। इसके द्वारा नाटककी काव्यात्मकताकी ओर विशेष रूपसे संकेत करनेका प्रयत्न किया गया।

छन्दोबद्ध होनेके कारण कान्य-नाटकको पद्य-नाटक कहा जाता है, पर मात्र छन्दोबद्धताके कारण ही कोई नाटक नहीं हो जाता । किसी गद्य-नाटको पद्य-नाटकों परिवित्त कर देनेसे ही वह कान्य-नाटक नहीं हो जायगा। कान्य-नाटक और गद्य-नाटकके स्वरूप-विधानोमे केवल बाह्य स्वरूपका अन्तर नहीं, बल्कि आन्तरिक स्वरूपका भी अन्तर हैं। उनका अन्तर उनकी आत्माओं का अन्तर हैं। कान्य-नाटककी आत्मा, उसकी कथावस्तु, उसके पात्र, सबके सब कान्यमय होते हैं। इस सम्बन्धमें आलोचक एवरकाम्बीने यही कहा है। तात्पर्य यह कि कान्य-नाटकका स्वरूप-विधान (छंद,

चित्र, अलंकार, भाषा आदि ) उसपर बाहरसे आरोपित तत्त्व नही, उसकी अनिवार्यता है। अतः न किसी गद्य-नाटकको पद्यबद्धकर काव्य-नाटक बनाया जा सकता है, न किसी काव्य-नाटकको गद्यमे रूपान्तरितकर गद्य-नाटक।

काव्य-नाटक काव्यत्व और रूपकत्वका संगम-स्थल है। काव्य-तत्त्व और नाटक-तत्त्व आकर इसमे एक ऐसे स्वरूप-विधानकी सृष्टि कर देते है, जिसमे काव्यत्वके कारण मानव जीवनके रागतत्त्व बडी स्पष्टतासे उभरकर आते है, भावनाएँ और अनुभृतियाँ अपनी तीव और वेगवती धारामें हमें अपने साथ वहा ले जाती है। नाटक-तत्त्व भी काव्य-नाटकके निर्माणमे महत्त्वपूर्ण योग देता है। नाटकोंमे किसी-न-किसी कथावस्तकी अपेक्षा होती है, भले ही वह भाव-प्रधान हो। कथावस्तुके अभावमे नाटककी रचना संम्भव नहीं। इसीलिए काव्य नाटकोमे कथावस्तुके माध्यमसे हम बहिर्जगतका भी चित्र देखते है। इस प्रकार काव्य-नाटकोंमे मनुष्यका अन्तर्जावन और बहिर्जावन एक साथ ही चित्रित होता है। यह चित्रण हमे कहानी, उपन्यास, गद्य-नाटक आदि साहित्यके दूसरे स्वरूप-विधानोंमे भी देखनेको मिलता है, लेकिन कान्य-नाटककी सबसे बड़ी विशेषता जो उसे साहित्यके दूसरे स्वरूप-विधानोंसे पूर्णतः पृथक् कर देती है, वह यह है कि आवेगोंकी तीव्रताके कारण काव्य-नाटकमे छन्दोबद्ध, लयपूर्ण और अलंकृत भाषाका व्यवहार किया जाता है।

आधुनिक युगके टी॰ एस॰ इलियट, लुई मेकनीस, श्रेन्डर मेथ्यूज और वास्टर कर—जैसे प्रसिद्ध कवियों, नाटककारों और आलोचकोने वडे प्रभावकाली हंगसे काव्य-नाटकका समर्थन किया है। इनके अनुसार, वर्तमान यगमें निष्प्राण होते हुए गद्य-नाटकोंका स्थान काव्य-नाटक ही ले सकते है। काव्य-नाटक मे ही इसकी ६ मता है:-काञ्य व्यंजनाप्रधान होता है, वह शब्दोसे परे भी बहुत कुछ कह सकता है; वह गद्यके घिसे-पिटे शब्दोमे नये अर्थ भर सकता है; अपने विम्बोके कारण वह अपने परिवेशको प्रभावशाली रूपमें चित्रित भी कर सकता है, मानव-मदकी गहराईमे भी उतर सकता है; अपनी छन्दोबद्धता और लयात्मकताके द्वारा वह आवेगोको उनकी तीव्रताके साथ प्रस्तुत कर सकता है और कम-से-कम समयमे अधिक-से-अधिक रस-सृष्टिमें सहायक हो सकता है। इस तथ्यपर सबने जोर दिया है कि काव्य-नाटक भी नाटक है, और उसकी भी सार्थकता एवं सफलता उसकी अभिनेयतामे है, पुस्तकालयोकी शोभा बढाने और पाट्य होनेमें नहीं।

यूरोपमे गेंटे और शिलरके युगमें हुए रंगमंचकं पुनर्जन्म तथा साहित्यमे नवीदित रोमेटिसिज्मने काव्य-नाटकोके विकासको प्रेरित किया। इंग्लैण्डमे उन्नीसवी शताब्दीमें उस युगके प्रमुख कवियोने तत्कालीन प्रसिद्ध अभिनेताओके सहयोगसे काव्य-नाटकोंको अभिनीत करानेमे योग दिया। बायरन, ब्राउनिंग, शेली, टेनीसन, शेरीडन आदि काव्य-नाटककार विशेष उल्लेखनीय है। बीसवी शताब्दीके चौथे दशकमें टी० एस० इल्यिट, स्टीफन, स्पेण्डर, डबस्यू० एच० आडन और क्रिस्टोफर फाइ—जैसे कवियोने अंग्रेजीके काव्य-नाटक-क्षेत्रमें एक नये युगका श्रीगणेश किया। मुक्त

छन्दमं िखित इनके काव्य-नाटकोंमे सामाजिक चेतना, व्यंग्य और आधुनिक प्रतीकोंको स्थान मिला। रेडियो-प्रसारणने भी वहाँके काव्य-नाटकोंको नये अवसर प्रदान किये। रेडियो-काव्य-नाटक लिखनेवालोंमे छुई मेकनीस, आचींबाल्ड मेक्लीश और नामेंन कार्विन विशेष उल्ले-खनीय है।

हिन्दीमें कान्य-नाटकका जन्म 'प्रसाद' जीसे माना जाता है। उनके बादके प्रसिद्ध कान्य-नाटककार है—मैथिलीशरण ग्रस, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त, धर्मवीर भारती आदि! इन सभी कवियोंके नाटक सफल ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि इनमें कान्यत्व ही अधिक हैं, नाटकत्व कम। रंगमंच पर तो इनमेसे ए कन्दो ही अभिनीत हो सके है। हाँ, रेडियो-प्रसारणने कान्यनाटकोंके सुजन एवं विकासमें सहायता पहुँचायी है। अधिकांश कान्य-नाटक रेडियोंके लिए ही लिखे गये हैं, और अभी लिखे जा रहे हैं।

सिहायक ग्रंथ—सृष्टिकी सॉझ और अन्य कान्य-नाटक (भूभिका): सिद्धनाथ कुमार; पोइट्टी ऐण्ड ड्रामा: टी० एस० इलियट; ए स्टडी आफ दि ड्रामा : वैन्डर मैथ्यूज; हाउ नाट टु राइट ए प्ले : वाल्टरकर !] काच्य-पाक-कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत प्रचलित शब्द । वामनके अनुसार "गुणोकी स्फुटना और पूर्णताको कान्य-पाक कहते है, इसकी उपमा आमके पकनेसे दी जाती है" (काव्यालंकारसूत्र, ३: २ का संग्रहस्रोक १)। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'के पाँचवे अध्यायमे काव्य-पाक-पर विस्तृत विचार किया है। उनका कहना है कि "निरन्तर अभ्याससे सुकवि वाक्य परिपक्ता प्राप्त करता है"। अपने पूर्वाचार्यीका मत उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि मंगलके मतानुसार सुप् (संज्ञापद) एवं तिङ् (क्रियापद)-के परिज्ञानसे परिपक्वता आती है, इसे 'ब्युत्पत्ति' भी कहते है । परन्तु आचार्य भौराव्य (ठीक शब्दोंके सन्निवेश-की योग्यता)को, शब्दोके ऐसे सन्निवेशको कि उन्हें हटाकर दूसरे शब्द न रखे जा सके, कान्य-पाक कहते है। वामनने पदोंकी इस परिवृत्ति असहिष्णताको 'शब्द-पाक' कहा है, परन्त राजशेखरकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी इस मतका खण्डन करते द्रुए कहती है कि "यह पाक" नहीं, अपित कविकी अशक्ति है, क्योंकि महाकवियोके एक ही वस्तुके विभिन्न शब्दोमे किये वर्णन परिपक्वतासे पूर्ण होते है। इसलिए रसके अनुरूप शब्दार्थींसे पद्य रचना करना ही 'पाक' है"।

वामनने वृन्ताक-पाक (बैगन जैसी परिपक्वता)का उल्लेख किया है ''जिसमें केवल सुप्-तिङ् (नामपदो एवं क्रियापदों)का संस्कार ही सारभूत हो और वस्तु (अर्थ) गुण क्रिष्ट हो, ऐसे कान्यको वृन्ताक-पाक कहते हैं। लोग इससे घृणा करते हैं' (कान्यालंकारस्त्र, ३:२:२)। राजशेखरने ९ प्रकारके कान्य-पाक वताये हैं—१. पिचुमन्दपाक, जो आदि और अन्तमे अस्वादु हो, २ वदरपाक, जो शुरूमे अस्वादु, परन्तु परिणामतः मध्यम कोटिका हो, ३ मृद्धीकापाक, जो प्रारम्भमें अस्वादु परन्तु परिणामनं स्वादु हो, ४ वार्ताकपाक, जो आदिमें मध्यम

तथा परिणामतः अस्वादु हो, ५. तिन्तिडीकपाक, जो आदि-अन्तमें मध्यम कोटिका हो, ६. सहकारपाक, जो प्रारम्भमं मध्यम, परन्तु अन्तमें स्वादु हो, ७. क्रमुक्षपाक, जो आदिमें उत्तम परन्तु अन्तमें अस्वाद् हो, ८. त्रपुस पाक, जो आदिमें उत्तम परन्तु अन्तमें मध्यम हो, ९ नालिकेरपाक, जो प्रारम्भसे अन्ततक स्वादु हो। इनमेसे १, ४, ७ संख्यावाले त्याज्य; २, ५, ८ संस्कार्य तथा ३, ६, ९ उपादेय है (का० मी०, अध्या० ५)। — म० प्र० ल० काव्य-पुरुष (सारस्वतेय) - कवि-शिक्षा (दे०)के अन्तर्गत कविकी कल्पना। 'सारस्वतेय'का अर्थ है सरस्वतीका पुत्र। राजशेखरने इसको 'कान्य-पुरुष' भी कहा है। सारस्वतेयके जन्मकी कथा 'महाभारत'मे दो रूपोंमें मिलती है, एक तो यह कि भगवान्ने सरस्वतीसे एक पुत्र 'सारस्वतेय' उत्पन्न किया और उसे वेदाध्ययन करने तथा संसारमें वेदोंका प्रचार करनेका आदेश दिया (शान्तिपर्व, अध्या० ३५९); दूसरा यह कि एक बार ऋषि दधीचि अलम्बुसा नामक एक अप्सराको देखकर विचलित हो उठे और सरस्वती नदीमें उनका वीर्यपात हुआ, जिसके फलस्वरूप सरस्वतीने एक पत्रको जन्म दिया। सरस्वती इसे दधीचिके आश्रममे छोड़ आयी, सारस्वतेयने वेदाध्ययन किया और जब एक बार बारह वर्षके दुर्भिक्षके फलस्वरूप ऋषिगण वेदोंको भूल गये, तब सारस्वतेयने उन्हें पुनः वेद पढ़ाया (शल्यपर्व, अध्या० ५२)। 'वायपराण'में सारस्वतेयकी कथा इस रूपमें मिलती है कि ब्रह्माके प्रथम पुत्र भूगु अथवा कविको पौलोमीसे एक पुत्रकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम च्यवन रखा गया । च्यवनके दो पुत्र हुए-द्यीचि और आलवान । द्यीचिने सरस्वतीसे विवाह किया और इस दम्पतीने सारस्वतेयको जन्म दिया। उसने अपनी माताके आशीर्वादसे समय शास्त्रोंका इ।न प्राप्त किया (अध्या० ६५) । बाणभट्टने 'हर्षचरित'के प्रथम उच्छ्वासमें सारस्वतेयकी कथा दी है, जो 'वायुपुराण'की कथासे मिलती है। राजशेखरने सारस्वतेयके जन्मकी कथा यह दी है कि एक बार 'सरस्वती पुत्रेच्छासे हिमालयमें तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माने उसे एक पत्र प्रदान किया। यह सारस्वतेय काव्यपुरुष कहलाया। इससे छन्दोमयी वाणी निःसृत हुई और काव्य-शास्त्रका प्रवर्तन हुआ (का० मी०, अध्या० ३)। - म० प्र० ल० काव्य-प्रयोजन - आधुनिक शब्दावलीमे प्रयोजनका ताल्पर्य काव्यहेतु, काव्योद्देश्य, काव्यरचनाकी आन्तरिक प्रेरणा-शक्ति एवं मुख्यांकनसे लिया जाता है। कभी-कभी इसका काव्य-फल भी समझा जाता है। संस्कृतके काव्यशास्त्रियोने किसी विषयके अध्ययनके चार क्रम निर्दिष्ट किये है-प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध और विषयवस्त । इन्होंने इस समुचयको अनुबन्ध चतुष्टय (दे०)की संज्ञा दी है। इस अनुबन्ध चतुष्टयमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रयोजन ही है। इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्रियोंका मत है कि "यावत प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते"।

काव्यप्रयोजन विषयक आरम्भिक संकेत भरतके नाट्य-शास्त्र (अध्याय १: इलोक ११४—१२०)में प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, लोकोपरेश, विश्राम, बुद्धिविकास, नैतिक शिक्षा, हित एवं विनोद कान्यके

प्रयोजन है। भामहने (कान्यालंकार, १: ६-१०) भरतके सददा ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष एवं प्रीतिको काव्यका प्रमुख तत्त्व खीकार किया है। इसी प्रसंगमें उन्होने सामान्य काव्य (अकाव्य)के भी लक्षण स्वीकार किये है. वे हैं-धर्म प्रचार, दण्डसे रक्षा एवं व्याधिसे सरक्षा। भामहकी भाँति वामन (कान्यालंकार, सूत्रवृत्ति १:१:५)ने कान्यको दृष्ट (ऐहिक) एवं अदृष्ट (आमुध्मिक) फलदायी माना है। साथ ही, उन्होंने उत्तम कवियोंके लिए कीर्तिको भी एक प्रच्छन्न प्रयोजन बताया है। इस प्रकार वामन भामहके मतका अनुसरण मात्र करते है। दण्डीने 'कान्या दर्श के काव्य प्रयोजनसम्बन्धी आरम्भिक चार इलोकोंमे सहृदयोकी प्रियता, कीतिका विस्तार, धनार्जन, विपत्तिसे असाधारण आनन्द एवं मनोवांछित फलकी प्राप्ति, कान्यका प्रयोजन स्वीकार किया है। कुन्तक (वक्रोक्ति जीवितम्, १।३,५,६)के अनुसार मन्दबुद्धि राजकुमारोंको शिक्षित करना, धर्माद चतुर्वर्ग पुरु-षार्थींकी प्राप्ति करना, लौकिक पुरुषोंके लिए नित्य नृतन व्यवहार एवं चतुर्वर्ग-फलके आस्वादसे भी तीव एवं उत्कृष्ट अन्तइचमत्कार काव्यके प्रयोजन है। परवर्ती रस तथा ध्वनि सम्प्रदाय तक इन प्रयोजनोमे स्थिरता आ चुकी थी। आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक)ने काव्यमें इसकी निष्पत्तिको ही उसका सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन मानते हुए चतुर्वर्ग फलकी प्राप्तिको भी प्रयोजन रूपमे स्वीकार किया है। परवर्ती कान्यशास्त्रियोंने मम्मटने कान्य प्रयोजन सम्बन्धी परम्पराको स्थिरता प्रदान की । उन्होंने काव्यके प्रयोजनोको यश, अर्थ-प्राप्ति, व्यवहारज्ञान, शिवेतररक्षा, कान्तासम्मित उपदेश एवं सद्यः परिनिवृत्तिमें अन्तर्भुक्त करनेका प्रयास किया है। सद्यः परिनिवृत्ति उनके अनुसार अलौकिक रसानन्दकी अनु-भृति है, जो कान्यका प्राण है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने चतुर्वर्ग सुख एवं कान्यानन्द, दो ही कान्य प्रयोजनोंको स्वीकार किया है।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों द्वारा आनन्दकी सृष्टि, राजकुमारोंको संस्कृत करना, अर्थार्जन, राजाका विश्वास-पात्र बने रहना, शिवेतर तत्त्वों संरक्षण, धर्मप्रचार, लोकविश्राम, व्यवहारकुशलता, व्याधिसे रक्षा आदि काव्य-प्रयोजन गिनाये गये है । यदि इन प्रयोजनोंका वर्गीकरण करें तो संस्कृत आचार्यांकी विस्तृत कान्यदृष्टिका प्रमाण मिलता है। इनके अनुसार कान्यका मुख्य प्रयोजन प्रीति, आनन्द, रसचर्वणशीलता आदि ठहरते है। व्यावहारिक दृष्टिसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, लोक व्यवहारकी शिक्षा, लोकविश्राम, सामाजिक उद्देश्यकी पूर्ति कान्यके मुख्य प्रयोजन हैं। भारतीय दृष्टिमें समाजके संरक्षणका मुलाधार धर्म एवं नैतिक सदाचरण है। इस तत्त्वको ध्यानमें रखकर ऊपर कहे हुए सामाजिक प्रयोजन एक निश्चित लक्ष्यकी पृतिमें सहायक है। व्यक्तिगत हितकी दृष्टिमें कृपापात्रता, देवस्तुतिसे न्याधि रक्षा, अर्थार्जन आदि आते है। कान्य-प्रयोजनके अन्तर्गत कान्यकी आन्तरिक प्रेरणा कीर्ति या यशको भी सम्मिलित किया गया है। हिन्दीके मध्यकालीन भक्ति साहित्यमें इन काव्य प्रयोजनोंमें विकास, विस्तार, संशोधन तथा अनेक स्थलोंपर पिष्टपेषण पाया जाता है।

यह विकास या संशोधन प्रायः लोक तत्त्व या कलाके संरक्षणको केन्द्र बनाकर किया गया है। —यो० प्र० सिं० काव्य-भाषा-साहित्यिक भाषा मूलतः बोलचालकी ही वह भाषा है, जो विभिन्न रचनाकारोंकी स्जन प्रक्रियामे समाहित होकर अपने स्वरूपको परिवर्तित कर लेती है। कवि विशेष-के अनुभवकी अद्वितीयतासे संयुक्त होनेपर उसकी अर्थ-क्षमतामें कई प्रकारके अन्तर उत्पन्न होते है। साहित्यिक भाषाके विशेषतः पिछले कई सौ वर्षीमे दो रूप हो गये है-कविताकी भाषा और गद्यकी भाषा । काव्य-भाषा रहनेपर सामान्यतः दोनों रूपोंको ही संकेतित किया जाता है, यों अधिकतर भाव कविताकी भाषा होता है। कविताकी भाषाका ेकेंन्द्रीय तत्त्व भावचित्रों अथवा विम्बोंका विधान है। कवि, र्वपरम्परामें स्वीकृत, भाव-चित्रोंका अधिक प्रयोग नही करता, आवश्यकता पडनेपर सामान्यसे सामान्य शब्दके आधारपर अपना इच्छित भाव-चित्र स्वयं निर्मित करता है। काव्यमे सामान्य अर्थ-बोधसे ऊपर उठकर वह अपने अनुभवसे संपृक्त करके किसी भी शब्दको एक विशिष्ट अर्थ देता है।

इस प्रसंगमें यह रमरणीय है कि आधुनिक कालमें कान्य-भाषाका आधार क्रमशः बीलचालकी भाषाके निकट जा जानेपर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों के बीचका अन्तर छप्त हो गया है या कि निकट भविष्यमें छप्त हो जानेकी संभावना है। क्यों कि गब और कविताके बीच अन्तर मात्र शब्द-समूहका न होकर भाषा-प्रयोग-विधिका होता है। बोलचालके शब्द अपना लेनेपर भी कविताकी भाषा उनका प्रयोग अपने ढंगसे करती है और कविताको भंततः इस प्रयोगका ही महत्त्व है। कोई एक शब्द जो प्रचलित संदर्भों अर्थहीन और चुका हुआ लगता है, रचनाकार द्वारा भिन्न सन्दर्भमें व्यवहृत होनेपर अर्थकी नयी छाया व्युत्पन्न कर सकता है, करता है।

काव्य-रूप-दे० 'साहित्य-रूप'।

काव्य-लक्षण-भरत (३ श० ई०)ने अपने 'नाट्यशास्त्र'में काव्य-बन्धकी शोभा बढानेवाले ३६ लक्षणींका वर्णन किया है। अभिनवगुप्तके समयमें इन काव्य-लक्षणोके दो रूप प्रचलित हो चुके थे, जिनमें पर्याप्त अन्तर है। वस्तुतः वे लक्षण अलंकार तथा गुणसे भिन्न है । भरतने इसी अध्याय (१६ अथवा १७)में अलंकार, दोष तथा गुणकी चर्चा की है। यहाँ लक्षणका भाव 'महापुरुषके लक्षण'के समान समझना चाहिये। लक्षणोंकी इस सूचीमे कई नाम, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, तुल्यतर्क, माला, अर्थापत्ति, लेश आदि ऐसे हैं, जिनको इन्ही नामोके अलंकारोके मूलमें माना जा सकता है। पर शब्दसाम्यके अतिरिक्त व्याख्या सम्बन्धी कोई साम्य इनमें परिलक्षित नहीं होता, यह इनकी परिभाषाओंसे स्पष्ट है। परन्त इनपर विचार करनेसे ओम्प्रकाशके इस मतमें सत्यका अंश जान पड़ता है—''यूनानी काव्यशास्त्रके अनुसार अलंकार उन विधानोंका नाम है, जिनके प्रयोग द्वार श्रोताओंके मनमें वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर उनको अपना समर्थक बना सकता है। भरतके 'काञ्यविभूषण'मे भी वे युक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग वक्ताको दूसरेके समक्ष अधिक सफल सिद्ध कर सकेगा" (हि॰ अ॰ सा॰, पृ॰ ६, ७)। यूनानके विचारकों तथा कान्यशास्त्रियोंने वक्तृत्व-कलापर विस्तारसे विचार किया है और इस कलाको उन्होंने कान्य और नाट्यकलाके समकक्ष प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनके (साक्रेटीज तथा अरस्तू आदि) द्वारा प्रतिपादित इस कलाके विभिन्न तस्वोपर विचार करनेसे प्रस्तुत कान्य-लक्षणोंसे इनकी समनाका आभास अवस्य मिलता है। यहाँ भरतका 'कान्य'से अभिप्राय निश्चय ही दर्यकान्य है, जिसमे गद्यका प्रयोग आवश्यक है। अतएव इन लक्षणोंका अभिप्राय भाषण-शैली अथवा कथोपकथन-शैलीकी विशेषताके रूपमें अवस्य समझा जा सकता है।

१. भूषण-रचनाको अलंकरणके समान अनेक अलंकारों तथा गुणोसे विभूषित करना 'भूपण' लक्षण है। अरस्त्के अनुसार वक्तृत्व-कला तथा गद्यशैलीमें आलंकारिक प्रयोगसे अनेक गुण, सौष्ठव तथा चमत्कार उत्पन्न हो जाते है। २**. अक्षरसंघात**—जब कुछ दिलष्ट अक्षरोंके प्रयोगसे विचित्र अर्थकी अभिन्यक्ति होती है, उसे अक्षरसंघात कहा जाता है। यह लक्षण भी वाक्कीशलका अंग है। ३. शोभा—सिद्ध अर्थकी समतामे असिद्ध अर्थके प्रयोग द्वारा इलेषार्थेसे सन्दर तथा विवित्र अथवा विशिष्ट अर्थ व्यक्त किया जाना 'शोभा' है। अरस्तूने भी स्पष्टता तथा औचित्य-पर विचार करते हुए स्तीकार किया है कि अपनी वार्ताको आकर्षक तथा सुन्दर बनानेके लिए अप्रचलित शब्दोका प्रयोग अपेक्षित है, पर इस विषयमे सावधानी अपेक्षित है। ४. **उदाहरण**—समान अर्थवाले वाक्योके प्रदर्शनसे निपुण जनोका अपना अभिप्राय सिद्ध करना 'उदाहरण' कहलाता है। आइसाक्रेटीज तथा अरस्तुके प्रमाणके अन्तर्गत यह स्वीकृत है। ५. हेतु-प्रयोजनके औचित्यके अनुसार इष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाला मनोहर तथा संक्षिप्त वाक्य 'हेतु' है। आइसाक्रेटीजके 'औचित्य'मे यह आ सकता है। ६. संशय-विचारोंकी संकुलताके कारण अनेक दृष्टियोंसे जब प्रस्तुत अर्थको बिना पूर्णतः प्रकट किये ही वाक्यको समाप्त कर दिया जाता है, तब उसे संशय कहते हैं। स्पष्ट ही यह वक्तत्व-कलाका एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग है और प्लेटोने भाषण-कला ही नहीं, वरन् समस्त कलाओंके समुचित प्रयोगके लिए मनोविज्ञानका अध्ययन उपयोगी माना है। ७. दृष्टान्त-अपने पक्ष तथा प्रतिपाद्य तथ्यको सिद्ध करनेवाले हेतुको प्रकट करनेवाला वचन दृष्टान्त कहलाता है। स्पष्टतया यह तर्कपर आधारित लक्षण है। ८. प्राप्त-कुछ अंशोको देख या जानकर सारे भावका अनुमान करना 'प्राप्त' है । इसका आश्रय नाटक है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये लक्षण नाट्यकाव्यसे अधिक सम्बद्ध है। ९. अभिप्राय-साद्दय द्वारा अभूतपूर्व अर्थको भी लोकको लिए हृदयग्राही कल्पनाका विषय बना देना 'अभिप्राय' कहलाता है। यूनानी आचार्योंने इस प्रयोगको स्वीकार किया है-"यह सर्वसिद्ध है कि अपरिचित शब्द प्रचलित अलंकार अथवा परिचित शब्द और अप्रचलित अलंकारके सम्मिश्रणसे वाक्यमे नवजीवन आ जाता है" (एस० पी० खत्री: आलोचना-इतिहास

सिद्धान्त, पृ०६५)। १०. निदर्शन-प्रसिद्ध अर्थको प्रतिष्ठित करके, विरोधी मनको अस्वीकार करना निदर्शन है। ११. निरुक्त-किसी निर्दोष वाक्यके पूर्वकथनको प्रमाणित करनेके लिए कहा गया वचन निरुक्त है। १२. सिद्धि-अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करनेके लिए पूर्ववक्ताओं अथवा प्रधान जनोंके नामका उद्देख सिद्धि कहलाता है। १३. विशेषण-बहुत-से सिद्ध तथा प्रधान अथीका कथन करके उनसे भिन्न विशिष्ट वचनका प्रतिपादन करना विशेषण कहा जाता है। १४. गुणातिपात--विपरीत अर्थीमें प्रयुक्त निष्ठ्र व्यंजनावाले मधुर वचनोमे अनेक गुणोंका कथन गुणातिपात कहा जाता है। १५ अतिशय-साधारण जन-मुलभ अनेक गुणोंका कथन करके विशेष गुणोंका कथन करना अतिशय है। १६. तुल्यतर्क समानार्थ रूपक तथा उपमान द्वारा प्रत्यक्ष अर्थको स्पष्ट करना तुल्यतर्क कहलाता है। १७. पदोच्चय-अनेक प्रयुक्त पदोंका अनेक दूसरे पदोंके साथ उसी अर्थकी सिद्धिके लिए जब विस्तार किया जाता है, उसे पदोच्चय कहते है। १८. हुए-देश, काल तथा परिस्थितिके अनुरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष वस्तु या घटनाका वर्णन दृष्ट है। १९. उपदृष्ट-विद्वान्-जनोंको प्रसन्न करनेवाला शास्त्रकी साक्षीपर कहा गया अपना वचन लपदिष्ट है। २० विचार - पूर्व-प्रसंगके अनुकूल भ्रमनिवारण करनेवाला बौद्धिक साधनोंसे युक्त तत्त्व-चिन्तन 'विचार' नाममे प्रसिद्ध है। २१. विपर्यय-प्रत्यक्षको देखकर सन्देहके कारण विचार पद्धतिके विपरीत चिन्तन करना विपर्यय है। २२. अंश-विविध कारणोंसे वाच्यार्थका परित्याग करके अन्य अर्थमें शब्दका प्रयोग करना भ्रंश कहलाता है। २३. अनुनय—दो भिन्न मतवाले व्यक्तियोको समान रूपसे प्रसन्न करनेवाला तथा साथही प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला वाक्यविन्यास अनुनय है। २४ माला—चाहे हुए अर्थको सिद्ध करनेके लिए किसी व्यक्तिसे उसके अनेक प्रयोजनोंका उहेख करना माला कहलाना है। २५. दाक्षिण्य-हिषत तथा प्रसन्नमुख होकर तथा अनेक चतर-वचनो और चेष्टाओं द्वारा किसीका अनुवर्तन (कार्य) करना दाक्षण्य है। २६. गर्हण-किसी के दोषोंका कथन करके उनको गुण सिद्ध करना, अथवा गुणोंका उल्लेख दोषके समान करना गईण कहलाता है। २७. अर्थापत्ति - वचनमाधुर्यके साथ दूसरे अर्थके कथनमे किसी अन्य अर्थकी प्रतीति अर्थापत्ति कहलाती है। २८. प्रसिद्धि-अनेक लोक-प्रसिद्ध कथनोसे किसीके कृत्योंकी महत्ताका कथन 'प्रसिद्धि' है। २९. पृच्छा-शास्त्रसम्मत वचनों द्वारा अपने आपसे अथवा दूसरे (काल्पनिक)से प्रश्न करके अर्थकी व्यंजना करना पृच्छा है। इस प्रकार वक्ता अपनी बातको अधिक बलपूर्वक न्यक्त करता है। ३०. सारूप्य-आकस्मिक रूपसे कुछ सुनकर अथवा देखकर साद्दयके कारण साक्षात् कथनसे वस्तुके स्वरूपके विषयमें दूसरी वस्तुकी सम्भावनाको सारूप्य कहते है, अर्थात् साह्ययके आधारपर वक्ता प्रत्यक्ष वस्तुके कथनमें दूसरी वस्तुका संकेत सम्भावित कर देता है और इस प्रकार अपने अर्थकी सिद्धि करता है। ३१. मनोरथ-अपने हृदय-स्थित गूढ मनोमावोंका कथन दूसरेकी स्थिति-कथनके बहाने

करना मनोरथ है। ३२. लेश-तर्क-वागीशोके प्रस्तुत युक्तिपूर्वक सदृश अर्थकी सिद्धि करनेवाला कथन लेश कहलाता है। यहाँ स्पष्टतः तर्क-शैलीका उल्लेख किया गया है। ३३. संक्षेप — निर्दोष होकर भी दूसरोके अपराधोंको अपने ऊपर लेनेकी घोषणा करना संक्षेप है। इसीको अन्यत्र दोप भी कहा गया है, जिसका अर्थ है विचित्र अर्थीवाले दूसरोंके दोषोका अपने आपके विषयमें कथन करना अथवा दूसरोके अप्रत्यक्ष दोषोंसे आत्मकीर्तन करना। ३४ गुणकीर्तन-विशिष्ट लौकिक गुणोंका किसी एक व्यक्तिके सम्बन्धमे कथन करना अथवा किसी व्यक्तिके सम्पूर्ण गुणोंका कथन करके उसके दोषोका उल्लेख न करना गुणकीर्तन कहलाता है। ३५ सिद्धि-प्रस्तावना-मात्रसे, वास्तविक शब्दोमे विना उल्लेख किये निर्दिष्ट (विवक्षित) अर्थका कथन करना अथवा बोध होना सिद्धि कहलाता है। ३६. प्रियोक्ति - प्रसन्न मनसे पूज्य व्यक्तिके आदरके लिए अथवा हर्ष प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त वचन प्रियोक्ति कहलाते है।

इस प्रकार ये काव्य-लक्षण अथवा विभूषण वस्तुतः कथन या वक्तृत्व-शैलीसे सम्बन्ध रखते हैं। आगे चलकर इस कलाका विकास इस देशमे नहीं हो सका और न ये गुण गद्य-शैलीमे ही विकसित हो सके। अतएव इनका विकास या विस्तार न संस्कृत साहित्यमें हुआ है और न हिन्दीमे। आधुनिक हिन्दी साहित्यमें गद्य-शैलीके अन्तर्गत वक्तृत्व-कलाका प्रभाव भी है, पर इसका विवेचन और अनुशिलन शास्त्रीय स्तरपर नहीं हुआ। (दे॰ 'वक्तृत्वकला')।

[सहायक ग्रन्थ: १. एसं० के० डे: ओमप्रकाश, हिन्दी अलंकारसाहित्य। एस० पी० खत्री आलोचना—इतिहास तथा सिद्धान्त ।] काव्यलिंग-तर्कन्यायमूल अर्थालंकारः 'काव्यलिंग'मे दो शब्द है 'काव्य' और 'लिंग'। 'लिंग शब्दका प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्रके 'लिंग' शब्दसे भिन्न अर्थमें हुआ है, क्योंकि 'काव्यलिंग'के अलंकारमें चमत्कारकारक वर्णन अपेक्षित है। अतः 'लिंग'से यहाँ तात्पर्य है 'हेतु' अर्थात् 'कारण'से। कान्यमें किसी बातको सिद्ध करनेके लिए जहाँ युक्ति अथवा कारणका कथन करके उसका समर्थन किया जाय, वहाँ 'काव्यिंग' अलंकार होता है। इसमें जिस बातको सिद्ध करना अपेक्षित हो, उसको सिद्ध करने लिए चमत्कारपूर्वक उसका कारण वाक्यके अर्थमे अथवा पदके अर्थमें कहा जाता है। अतः यह दो प्रकारका होता है। १. वाक्यार्थता —जहाँ सारे वाक्यमें कारण कहा जाय । २. पदार्थता— जहाँ एक पदके अर्थमें कारण कहा जाय। सर्वप्रथम संस्कृतमें उद्भटने इसे माना है। उनके बाद मम्मट तथा रुय्यकके अनुसार जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थरूपसे हेतुका कथन किया जाय-"कान्यलिंगं हेतीर्वाक्यपदार्थता" (का॰ प्र॰ १०: ११४) । इसमें समर्थनीय अर्थका अन्य अर्थ द्वारा समर्थन किया जाता है। 'साहित्यदर्पण'की परिभाषा मम्मटके समान है।

हिन्दीमें इसका स्पष्ट उछेख जसवन्त सिंह द्वारा किया गया है।सोमनाथने अपने रीतियन्थ 'रस-पीयूष-निधि'में जो लक्षण दिया है, वह अधिक संगत एवं पूर्ण है—"समरिथवो जह अर्थको, कळू जुगित सों होय" हिन्दीके आचार्योंमें इसके लक्षणके सम्बन्धमें मतभेद तथा अस्पष्टता है। मति-रामने इस अलंकारको जोड दिया है। भूषण—"दिढ़ाइवे जोग जो ताको करत दिढाव" (शि० भू०, २६३), पद्माकर— "अर्थ समर्थिह जोग जो करै समर्थन तासु"(पद्मा०, २००) लक्षण देते है। दास तथा पद्माकर आदिने इस 'जुक्तिबल' समर्थनको शब्दार्थ तथा पदार्थगत भी स्वीकार किया है, पर दासने 'वहै निरुक्ति न आन' कहकर उन्हे एक ही माना है।

बिहारीके इस दोहेमें वाक्यार्थताका उदाहरण है-"मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय। जातनकी झॉई परै, स्याम हरित दुति होय" (सतसई, १)। प्रशंसाकी अस-मर्थताका कारण सारे वाक्यमें कहा गया है। तलसीके वर्णनमें — "इयाम गौर किमि कही बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी" (रा० च० मा०)। इसमें पूर्वार्द्धका समर्थन उत्तराईके वाक्यार्थमें प्रस्तुत युक्तिके द्वारा किया गया है। यहाँ वाक्यार्थमें कारण है। दासने कई सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये है-"दास जू आनन चन्द्र प्रकास ते फूले सरोज कली है जात है। ठौर ही ठौर बॅथे अगविन्द मिलन्दके बृन्द घने भननात है' (का० नि० १७)। पदार्थ-ताका उदाहरण—समित्रानन्दन पंतकी इन पंक्तियोंमे है-"और भोले प्रेम । क्या तुम हो बने, वेदनाके विकल हाथोसे ? जहाँ, झूमते गजसे विचरते हो, वहीं, आह है, उन्माद है, उत्ताप है" (का० द०से)। इस पद्यांशमें प्रेमका वेदनाके विकल हाथोंसे बना होना सिद्ध करनेके लिए चतुर्थं पंक्तिमें 'आह है ......' कारण (युक्ति) प्रस्तुत करके समर्थन किया गया है। इसी प्रकार पद्माकरका उदाहरण है—'ब्रथा बिरस बातै करित लेति न हरिको नाम। यह न आचरज है कछु रसना तेरो नाम" (पद्मा०, २०२)।

यद्यपि हिन्दीके भक्ति-साहित्यमें इस अलंकारका प्रयोग पर्याप्त रूपमें हुआ है, किन्तु वह प्रयोग प्रायः स्वामाविक है, कलात्मक प्रयास नहीं। इसका कलात्मक प्रयोग रीति-कालीन साहित्यमें विशेष रूपसे मिलता है। स्वतन्त्र कवियोमे घनानन्द तथा ठाकुर आदिमे तथा बिहारीके भक्ति एवं नीति-विषयक दोहोंमे इसका प्राचुर्य है। वस्तुतः बिहारीने इसकी कलात्मक योजनामे प्रशंसनीय सफलता प्राप्तकी है।

संस्कृतमें दण्डी तथा भोजने काव्यिलंगको 'हेतु' अलंकारके अन्तर्गत 'कारकहेतु' नामसे लिखा है। रीति-कालीन आचार्य केशवने 'किविप्रिया'में 'हेतु' अलंकारका स्वरूप आचार्य दण्डीके मतानुसार निर्धारित किया है, किन्तु सम्भवतः केशव दण्डीके हेतु अलंकारके स्वरूपको यथार्थतः समझ नहीं सके है, अतः उनके उदाहरण प्रायः दूषित है। भगवानदीनने अपनी 'अलंकारमंजूषा'में 'काव्यिलंग'के लक्षणमे ज्ञापक कारण द्वारा अर्थसमर्थन माना है, किन्तु ज्ञापक कारणकी स्थिति 'अनुमान' अलंकारमे होती है, न कि 'काव्यिलंग'में।

कान्यिंग और अर्थान्तरन्यासमे अन्तर स्पष्ट है। कान्यिंग अलंकारमें एक वाक्यार्थ दूसरे वाक्यार्थपर, सिद्धिके लिए आश्रित रहता है अर्थात् इसमें वाक्यार्थको सिद्ध करनेकी अपेक्षा रहती है। जिस बातकी सिद्धि अपेक्षित रहती है उसका कारण वाक्यार्थमें अथवा पदके अर्थमे कहा जाता है। किन्तु अर्थान्तरन्यासमे वाक्यार्थ सर्वथा सिद्धि-निरपेक्ष रहता है। इसमें दो वाक्याथीं में सामान्य-विशेष-भाव सम्बन्ध होता है। विश्वनाथके अनुसार हेतु तीन प्रकारका होता है, ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक । हेतुकी स्थितिमें अर्थान्तरन्यास अलंकार माना जाता है, किन्तु जहाँ निष्पादक हेतु हो, वहाँ 'काव्यिलंग' अलंकारकी स्थिति होती है। पर वस्तुतः निष्पादक तथा ज्ञापक दोनो कारण कारण ही है, इनमे भेद करना सदा सम्भव नहीं। जैसे विहारीके दोहे "कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय। उहिं खाये बौराइ इहिं पाये ही बौराय", (सतसई, १९२)मे स्वर्णको धतूरेसे अधिक मादक कहनेकी बात नबतक मिद्ध नहीं होती जबतक कि दोहेके उत्तरार्द्धमें इसके कारणका कथन नहीं किया जाता। अतः इस वाक्यार्थको सिद्ध करनेकी अपेक्षा रहती है। उत्तरार्द्धमें कथित कारणसे पूर्वार्द्धके वाक्यार्थकी सिद्धि होती है । अस्तु, 'काव्यलिंग'मे वाक्यार्थ सिद्धि-सापेक्ष होता है और अर्थान्तरन्यासमें सिद्धि-निरपेक्ष । यही दोनोमे सूक्ष्म अन्तर है।

काव्य-विद्या -दे॰ 'साहित्य-रूप'। काच्य-शास्त्र-संस्कृत-परम्परामे सम्पूर्णवाङ्मय (दे०)को शास्त्र (दे०) तथा काव्य (दे०)के दो स्वतन्त्र प्रकारोमें विभाजित किया गया है "इह हि वाड्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च" (राजशेखर, का० मी०, अ०२)। काव्यके अनुशीलनके लिए शास्त्रका ज्ञान आवस्यक माना गया है। राजशेखर (१० श० ई०)का कहना है कि जैसे दीपकके प्रकाशके विना पदार्थीका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञानके विना काव्य-ज्ञान असम्भव है। उन्होंने ही चार वेद, छः वेदांग, चार शास्त्र—इन चौदह विद्याओं साथ काव्य-विद्याको पन्द्रहवॉ स्थान दिया है और इसे चौदहों विद्याओका एकमात्र आधार माना है। कुछ विद्वानोने आन्वीक्षिकी, त्रथी, वार्ता और दण्डनीति (या अर्थशास्त्र)—इन चार विद्याओको माना है और राजशेखरने उनके साथ साहित्य विद्याको पाँचवीं विद्या माना है, जो उक्त चारो विद्याओंका सार है। उन्होने कान्य-विद्या (पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम् का० मी०, २) तथा साहित्य-विद्याको (पंचमी साहित्यविद्या: वही) समान अर्थ(पर्याय-रूप)मे यहण किया है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'शब्द और अर्थके सहभावको बतानेवाली विद्या (शास्त्र) साहित्य-विद्या है। इस विद्याकी चौसठ उपविद्याएँ है, जिन्हे विद्वान कला (दे०) कहते है। उपविद्याएँ या क्लाएँ कान्यका जीवन है।' (का॰ मी॰: २)।

संस्कृत कान्य-शास्त्रके इतिहासमे सर्वप्रथम अलंकार-शास्त्र (दे०)का महत्त्व रहा है। वस्तुतः संस्कृत-परम्परामें बहुत समयतक अलंकार-शास्त्र कान्य-शास्त्रके पर्यायके रूपमें प्रचलित रहा है। मामह (६ श० ई०)के 'कान्या-लंकार', दण्डी (६ श० ई०)के 'कान्यादर्श' तथा उद्घट (८ श० ई०)के 'कान्यालंकार-संग्रह'के नाम तथा विषय-प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि इन आचार्योंने कान्य-शास्त्रको

अलंबार-शास्त्रके रूपमें ही लिया है। वामन (९ श० ई०)के 'काव्यालंकार-सत्रवृत्ति', रुद्रट (९ श० ई०)के 'काव्या-लंकार'में क्रमञः रीति-गण तथा रस आदिकी प्रतिष्ठा बढ़ी है, पर फिर भी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण प्राचीनोसे भिन्न नहीं है। आगे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन (९ श० ई०) तथा वक्रोक्तिवादी कुन्तक (१०-११ श० ई०)-ने अपने-अपने सिद्धान्तोंके माध्यमसे काव्य-शास्त्रका प्रतिपादन किया है। मम्मट (११ श० ई०)के 'काव्यप्रकाश'-में व्यापक रूपसे ध्वनिके अन्तर्गत अन्य सिद्धान्तोंको ग्रहण किया गया है और एक प्रकारसे उन्होंने उसे काव्य-शास्त्रके रूपमें स्वीकार किया है। विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने 'साहित्यदर्पण'में इसी दृष्टिकोणको अपनाया है और काव्य-शास्त्रके पर्याय-रूप साहित्यशास्त्रको व्यापक आधारपर प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि ऐसा इन आचार्योंने कही स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है। भोजराज (११ श० ई०)के 'शृंगार-प्रकाश', भानदत्तकी 'रसमंजरी' आदिमे रस-सिद्धान्तकी प्रधान रूपसे विवेचना है। इस प्रकार काव्य-शास्त्र-प्रन्थोंमें काव्यके अंग-उपांगोको विभिन्न सिद्धान्तोके रूपमें विशेचना होती रही है। इन सिद्धान्तोंके विभिन्न प्रतिपादकोंने अन्योंने अपने सिद्धान्तको सहत्त्व दिया है और कुछ अन्य आचार्योंने समन्वयके मार्गसे पर्ण काव्य-शास्त्रकी रूप-रेखा प्रस्तुत करनेका भी प्रयत्न किया है। तार्किक तथा दार्शनिक शैलियोंका आश्रय लेकर काव्य-शास्त्रके आचार्यीने इस शास्त्रको गरिमा प्रदान की है।

हिन्दीमे भी प्रायः काव्य-शास्त्र-ग्रन्थोंकी तीन परम्पराएँ मिलती हैं। एक ऐसे अन्थोंकी परम्परा जिनमें केवल अलंकारोंकी न्याख्या अथवा विवेचन है, जैसे जसवन्त सिंह-का 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०), मतिरामका 'ललितललाम' (१६६१ ई०), भूषणका 'शिवराजभूषण' (१६७३ ई०) आदि । दूसरे ऐसे अन्थोंकी परम्परा जिनमें रस अथवा नायिका-भेदका विवेचन है, जैसे केशवदासकी 'रसिकप्रिया' (१५९५ ई०), मतिरामका 'रसराज' (१६४६ ई०), कुलपतिका 'रसरहस्य' (१६६७ ई०), देवका 'रसविलास' (१७२६ ई०) तथा भिखारीदासका 'रससारांश' आदि। इनके अतिरिक्त एक ऐसे अन्थोंकी परम्परा है जिनमें 'काव्य-प्रकाश'के अनुसरणपर 'काव्य-शास्त्र'के विभिन्न अंगोंका निरूपण समन्वित रूपसे किया गया है, जैसे केशवदासकी **'कविप्रिया', चिन्तामणिका 'कविकुलकरपतरु'** (१६५० ई०) तथा भिखारीदासका 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०) आदि। परन्तु इनमें कई आचार्योंने दोनों या तीनों प्रकारके यन्थोंकी रचना की है, अथवा उनके एक ही यन्थमें कई दृष्टियाँ मिलती हैं। इस कारण सिद्धान्तगत कोई स्पृष्ट दृष्टिकोण इनमें परिलक्षित नहीं होता। आधुनिक कालमें इयामसुन्दर दास, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय तथा रामदहिन मिश्र आदिने अपने काव्य-शास्त्र सम्बन्धी यन्थोंमें सभी अंगोंकी समुचित विवेचना की है। वस्तुतः पाश्चात्य प्रभावसे आधुनिक कालमें एक न्यापक कान्य-शास्त्रकी कल्पना अधिक स्पष्ट और विकसित हुई है। काच्य-हरण-कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत "अन्य कविके प्रयुक्त शब्दोंको अपनी रचनामें लेना 'काव्य-हरण' कहलाता है" (का॰ मी॰, अध्याय ११)। राजशेखर (८८०-९२० ई०) पहले आचार्य हैं, जिन्होने 'कान्य-हरण'- के विविध प्रकारोंपर विस्तृत प्रकाश डाला है। उनसे पहले वामन (८०० ई०के आसपास) और आनन्दवर्धन (९वा श॰ ई० उत्त०)ने कान्य-हरणका केवल संकेत मात्र किया है और कहा है कि किवयोंको इसमें प्रवृत्त न होना चाहिये। राजशेखरके पश्चात् क्षेमेन्द्र (क० कं०, दितीय सन्यि) तथा हेमचन्द्र (कान्यानुशासनः १००के विविध प्रकारोंका उल्लेख किव-शिक्षाके कममें किया है। वाग्यट-(१२ श० ई० पूर्वा०)ने किवके अभ्यासक्रममें भी दूसरे किवयोंके परोंको लेनेकी निन्दा की है, परन्तु समस्यापूर्तिम अन्य किवयोंके परोंके उपयोगको किवका गुण बताया है (वाग्यटलंकार, १, १२, १३)।

राजशेखरने पहले कान्य-हरणके दो भेद किये है, (१) पित्याज्य, अर्थात् छोड देने योग्य और (२) अनुम्राह्म, अर्थात् महण करने योग्य । अनुम्राह्म कान्य-हरणके विषयमे राजशेखरने अपनी पत्नी अवन्तिसुन्दरीका यह मत उद्धृत किया है किसी हीन कविके कान्यके किसी अंशको उत्कृष्ट रूपसे अभिन्यक्त करनेके लिए किया हुआ कान्य-हरण अनुम्राह्म है। इसके अतिरिक्त अन्य कान्य-हरण परित्याज्य है।

आगे राजशेखरने काव्य-हरणके दो और भेद किये है, (१) शब्द-हरण और (२) अर्थ-हरण। शब्द-हरणके भी पाँच भेद है—पद-हरण, पाद-हरण, अर्थ-हरण, कृत्त-हरण और प्रबन्ध-हरण। राजशेखरका कहना है कि किसी किन की रचनाको मोल लेकर अपनी बना लेना भी काव्य-हरण ही है।

अर्थ-हरणके भी चार भेद है-(१) प्रतिविम्बकल्प, जिसमें अन्य किवके अर्थको वाक्यान्तरोंकी रचना कर हरण किया जाय, (२) आलेख्यप्रख्य, जिसमें अन्य किवकी रचनाका ऐसा संस्कार किया जाय कि वह सर्वथा भिन्न प्रतीत हो, (३) तुल्यदेहितुल्य, विषयके भिन्न होनेपर भी नितान्त साह्यके कारण किसी अन्य रचनासे अभिन्न प्रतीत होना और (४) परपुरप्रवेशप्रतिम, जहाँ मूलके एक होनेपर भी वर्णन भिन्न प्रकारसे किया जाय। — म० प्र० ल० काव्य-हेतु—कविशिक्षा (२०)के अन्तर्गत कियो काव्य-िन्मीणकी सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाले साधनोंको 'काव्य-हेतु' अथवा 'काव्यके कारण' कहा जाता है। वामनने 'काव्यहतु'के स्थानपर 'काव्यांग' शब्दका व्यवहार किया है।

भामहने काव्यहेतुके रूपमें केवल प्रतिभाका उल्लेख किया है—"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडिथयोऽप्यलम्। काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।" अर्थात् गुरूपदेशसे जड़बुद्धि भी शास्त्राध्ययन कर सकता हैं, परन्तु काव्य तो कोई प्रतिभावान् ही बना सकता है (काव्यालंकार, १.५)। दण्डी (६-७ श० ई०)ने प्रतिभा, शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास, तीनोंको काव्यका कारण कहा है — 'नैसिंगिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोष शास्त्राध्ययन तथा अमन्द अभ्यास काव्यसम्पत्तिके कारण होते हैं"(काव्यादर्श, १. १०३)। रहट (९ श० ई० पूर्वां)ने भी शक्ति

(प्रतिभा), न्य़त्पत्ति एवं अभ्यासको कान्यहेत् मानते हुए कहा है-"कान्यमें असार वस्तुको दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारता लानेके कारण शक्ति, व्यत्पत्ति और अभ्यास, ये तीनो म्यान पाते है" (कान्यालंकार, १, १४)। वामनके अनुसार 'लोक, विद्या और प्रकीर्ण कान्यांग होते है' (काव्यालंकारसत्र, १, ३, १)। लोकमे आचार्यका अर्थ है लोकव्यवहार (१. ३. २), विद्याके अन्तर्गत उन्होंने शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीतिको लिया है (१. ३. ३)। इससे स्पष्ट है कि विद्यासे उनका अर्थ 'व्यत्पत्ति' है। प्रकीर्णके अन्तर्गत उन्होंने 'लक्षशत्व (काव्यपरिचय), अभियोग (काव्यरचनाका उद्योग), बद्धसेवा, प्रतिभा और अवधान (चित्तकी एकाम्रता)" (१. ३. ११)की लिया है। राजशेखरने कान्यहेतकी भीमांसा करते हुए इयामदेव तथा आचार्य मंगलके मतोंका उल्लेख किया है। इयामदेवके मतके अनुसार "काव्यकमेमे कविकी समाधि (मनकी एकायता)सर्वोत्कृष्ट साधन है" तथा आचार्य मंगल अभ्यास-को प्रधान कारण मानते है, परन्त राजशेखर समाधि एवं अभ्याससे उत्पन्न 'शक्ति'को ही काव्यका एकमात्र कारण मानते हैं और उसे प्रतिभा तथा व्यत्पत्तिसे बहुत दूर बताते है। राजशेखरका कहना है कि शक्ति ही प्रतिभा और व्यत्पत्तिको जन्म देती है (का० मी०, अ० ४)।

मम्मट (११ श० ई०)ने शक्ति (प्रतिमा), ब्युत्पत्ति और अभ्यासके समन्वयको काव्यहेतु माना है-"शक्ति (प्रतिभा), लोकन्यवहार, शास्त्र एवं कान्य आदिके परिशीलनसे प्राप्त निपणता (न्पत्पत्ति) तथा कान्यज्ञकी शिक्षासे अभ्यास-ये उसके (काव्यके) उद्भवमें हेत वनते है' (का॰ प्र॰: १: ३)। आगे इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि शक्ति, न्यत्पत्ति और अभ्यास पृथक-पृथक कान्यहेतु नहीं है, अपित तीनों मिलकर काच्य-के हेतु बनते है। वाग्भट (१२ श० ई० पूर्वा०) ने प्रतिभा, न्युतपत्ति और अभ्यासके सम्बन्धको स्पष्ट करते हए कहा है--"प्रतिभा उसका (कान्यका) कारण है, न्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सर्जनको बढानेवाला है, ऐसा आद्यकवियोंका कथन है" (वाग्मटालंकार, १:३)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०)के अनुसार "प्रतिभा इस-(काव्य)का हेत् है। व्यत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभाका संस्कार करनेवाले है" (कान्यानुशासन, १:४)। जयदेव-(१२५० ई०)ने 'चन्द्रालोक'में इसी बातको यो कहा है-'श्रत (ब्युत्पत्ति) और अभ्याससहित प्रतिभा ही कविताका हेतु है, जैसे मिट्टी-पानीके संयोगसे बीज बढ़कर लताके रूपमें व्यक्त होता है" (१:६)। कविराज जगन्नाथ-(१५९०-१६६५ ई०)का मत अन्य आचार्यीसे कुछ विलक्षण है। उनका कहना है कि "उस (काव्य)का कारण केवल कविमें रहनेवाली प्रतिभा है" (र० गं०, १ आनन)। व्युत्पत्ति और अभ्यासको वे प्रतिभाका हेतु मानते है-"और उस(प्रतिभा)का हेतु कही तो किसी देवता, महा-पुरुष आदिके प्रसादसे उत्पन्न अदृष्ट होता है और कहीं विलक्षण न्युत्पत्ति तथा कान्यरचनाका अभ्यास" (वही)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः सम्मटके

'कान्यप्रकारा' अथवा जयदेवके 'चन्दालोक'का आधार लिया है। सरति मिश्र(१७०९ ई०के लगभग)ने अपने यन्थ 'काव्यसिद्धान्त'में शक्ति, व्यत्पत्ति और अभ्यासको कान्यकारण कहा है—''कारण देव प्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोइ। बितपति और अभ्यास मिल त्रय विन काव्य न होइ।" और आगे इनके सम्बन्धको 'चन्द्रालोक'की उपमाको टेकर यो कहा है-"जैसे बीजरु मत्तिका, नीर मिलै सब आन । तबही तरु उपजे स त्यों इनते कविता जान ।" श्रीपतिने अपने 'काव्यसरोज' (रचनाकाल १७२० ई०)में काव्यहेतके विषयमे कहा है कि-"शक्ति निपणता लोकमत बितपति अरु अभ्यास । अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास ।" शक्तिको उन्होंने सपण्य-विशेष कहा है और उसका प्रतिभासे भेद किया है। जगननाथप्रसाद 'भान'ने अपने 'काव्यप्रभाकर' (१९१० ई०में प्रकाशित)-में शक्ति, निपुणता (ब्युत्पत्ति) और अभ्यासको काव्यहेतु माना है (का॰ प्र॰, २ मयुख)। बिहारीलाल भट्टने भी अपने 'साहित्यसागर'में पर्वसंस्कार (प्रतिभा), सदयन्थों-का अध्ययन (व्यत्पत्ति) और अभ्यासको का व्यकारण माना है।

9. प्रतिभा—भट तौत (९५० ई०के लगभग)ने प्रतिभा-की व्याख्या इन शब्दोंमें की है-"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता"नये-नये भावोके उन्मेषसे यक्त प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं (क्षेमेन्द्र द्वारा 'औचित्यविचारचर्चा'की कारिका ३५ की व्याख्यामें उद्धृत)। वामन (८०० ई०के लगभग) ने इसे "जन्मान्तरसे प्राप्त कोई 'संस्कार' कहा है, जिसके बिना काव्य-रचना नहीं हो सकती या होती भी है तो हास्यका कारण बन जाती है"(काव्यालंकारसूत्र, १.३.१६)। रुटट (८००-८५०के वीच)ने प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्द-का उपयोग करते हुए इसकी व्याख्या यों की है—''मनकी एकाग्रावस्थामें जिसमें अभिधेयका अनेक रूपोमे विस्फरण होता है और जिसमे अक्लिष्ट पद सूझ पडते है, उसे 'शक्ति' कहते है (काव्यालंकार, १.१५)। राजशेखर-(८८०-९२० ई०)के शब्दोंमे 'जो (बुद्धि) सार्थक शब्दसमृह-को, अलंकारतन्त्रको, कहनेके ढंगको तथा ऐसी ही अन्य बातोको हृदयमें प्रतिभासित करती है, उसे प्रतिभा कहते है (का० मी०, अ० ४)। मम्मट (११०० ई०)ने भी प्रतिभाके लिए 'शक्ति' शब्दका प्रयोग किया है और वामनके ढंगपर कहा है कि 'शक्ति कवित्वका बीजरूप कोई संस्कारविशेष है, जिसके बिना काव्य प्रसृत नहीं होता और यदि हो भी तो उपहसनीय होता है (का॰ प्र॰, १. ३) । वारभट (१२वी शताब्दीका पूर्वार्ध)ने प्रतिभाकी व्याख्या इस प्रकार की है-"प्रसन्न पदावली, नये-नये अर्थी तथा उक्तियोंका उद्बोधन करनेवाली कविकी स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धिको प्रतिभा कहते है" (वाग्भटा-लंकार, १,४)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२) तथा जगन्नाथ-(१५९०-१६६५ ई०)ने भट्ट तौतकी ऊपर उद्धृत व्याख्याका समर्थन किया है।

प्रायः सभी आचार्योंने प्रतिभाको सहज तथा कान्यका प्रधान हेतु माना है। वामनने यद्यपि प्रतिभाको 'प्रकीर्ण'के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसे कवित्वका बीज मानकर इसकी महत्ता उउद्योपित की है। रुद्र अवस्य इसके अपवाद है। उद्योने प्रतिभाकी उत्पाय भी माना है और दण्डीने यथि प्रतिभाका महत्त्व स्वीकार किया है, परन्तु यह भी कह दिया है कि न्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा इसके अभाव-की पूर्ति हो सकती है।

रह्रटने प्रतिभाक दो भेद किये है—सहजा अर्थात् स्वाभाविक और उत्पाद्या अर्थात् जो किन्ही साधनोसे (यथा शास्त्राध्ययन और अभ्यास) उत्पन्न की जा सके। राजशेखरने भी प्रतिभा दो प्रकारकी बतायी है—"कारियत्री और भावियत्री। कविका उपकार करनेवाली प्रतिभा कारियत्री कहलाती है। इसके भी तीन भेद है, सहजा, आहार्या तथा औपदेशिकी। जन्मान्तरके संस्कारोंकी अपेक्षा रखनेवाली सहजा होती है, वर्तमान जन्मके संस्कारोसे उत्पन्न आहार्या तथा मन्त्रतन्त्रादि साधनोसे उत्पन्न औपदेशिकी होती है। भावक (दे०) का उपकार करनेवाली प्रतिभा भावियत्री कहलाती है। यह प्रतिभा कविके अम तथा अभिप्रायका वोध कराती है" (का० मी०, अ० ४)।

२. च्युरपित्ति — राजशेखरने प्राचीन आचार्योंके मतका उल्लेख करते हुए न्युत्पित्तका अर्थ 'बहुज्ञता' दिया है। यही अर्थ कान्यशास्त्रके सभी आचार्योंको मान्य है। परन्तु राजशेखरने स्वयं अपना मत यह दिया है कि "उचित-अनुचितका विवेक न्युत्पित्त है" (का॰ मी॰, अ॰ ४)। सभी आचार्योंने न्युत्पित्तको प्रतिभाका संस्कारक माना है (दे॰ 'कान्य-हेतु')। इसके अपनादस्वरूप राजशेखरने आचार्य मंगलका मत उद्धृत किया है कि "चुत्पित्त, प्रतिभाते श्रेष्ठ है" और अपना मत यह दिया है कि "प्रतिभा और न्युत्पत्ति दोनों समवेत रूपसे 'श्रेयस्कर' है" (वही)।

३. अभ्यास—"निरन्तर प्रयास करते रहनेको अभ्यास कहते है" (का० मी०, अ० ४)। सभी आचार्योने अभ्यासको प्रतिभाका पोषक माना है। दण्डीने प्रतिभाका सर्वोपिर महत्त्व स्वीकार करते हुए भी कहा है कि "पूर्ववासना-जन्य अद्भुत प्रतिभाके न रहनेपर भी शास्त्राध्ययन और अभ्याससे वाणीकी उपासना करनेपर वाणी अवस्य ही अनुमह करती है" (काब्यादर्श, १:१०४)।

४. समाधि—"मनकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं" (का॰ मी॰, अ॰ ४)। राजशेखरने इयामदेवका मत उद्धृत किया है कि "कान्यकर्ममें कविकी समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है" और स्वयं समाधिको आभ्यन्तर प्रयत्न माना है तथा इसको शक्तिका एक कारण बताया है। वामनने 'समाधि'को 'अवधान' शब्दसे अभिहित किया है (काव्यालंकारसूत्र, १. ३. १७)। — म० प्र० ल० काव्यार्थ योनियाँ - कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत जिन विविध स्रोतोसे कान्यके विषय प्राप्त होते है, उन्हे 'कान्यार्थ योनियाँ कहा गया है। संस्कृत कान्यशास्त्रके आचार्यांने कविका बहुज्ञ होना आवस्यक माना है और विविध शास्त्रों, कलाओं और लोक-व्यवहारोके ज्ञानको 'व्युत्पत्ति' संज्ञा देकर, इसको एक प्रधान कान्यहेतु (दे०) माना है। भामह-ने शब्द-शास्त्र, छन्दःशास्त्र, अभिधानोमे प्रतिपादित अर्थ. इतिहासपर आश्रित कथाएँ, लोकबृत्त, युक्ति तथा कलाएँ-

इनको काव्य-योनियाँ बताया है (काव्यालंकार, १.९)। वामनने लोक-ज्ञान और विद्याओंको 'काव्यांग'के अन्तर्गत रखा है (काञ्यालंकारसूत्र, १. ३. १)। रुद्रदने भी भामहके उल्लिखित शास्त्रोको गिनाया है। राजशेखरने अपने पर्वाचायोंके इस मतका उल्लेख किया है कि काव्य-योनियाँ १२ है--श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समयविद्या (धर्म-मत्त), राजिसद्धान्तत्रयी (नाट्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र), लोकशान, विरचना (कविकी अपनी बुद्धिसे कल्पित कथा या अर्थ) और प्रकीर्णक (ऊपर कहे शास्त्रोसे अन्य शास्त्र, जैसे हस्ति-शिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनवेंद, योगशास्त्र)। इसके अतिरिक्त उसने अपनी ओरसे अन्य चार बातें, उचित संयोग (वस्तुओ या अथींका ठीक संयोग), योक्त-संयोग (वर्णित वस्तुका अन्य वस्तुओके साथ संयोग), उत्पाद्य-संयोग (भिन्न वस्तुओ-में संयोगकी उद्भावना), संयोग-विकार (संयोगके कारण होनेवाले विकार), जोडकर इस संख्याको सोलह कर दिया है (का॰ मी॰, अ॰८)। इस प्रकार सभी शास्त्र, कलाएँ और वर्णन-परिपाटियाँ काव्य-योनियोमे अन्तर्भत हो जाती है। राजशेखरके परवर्ती आचार्योंमें क्षेमेन्द्र, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र इत्यादिने भी प्रायः इन सोलह कान्य-योनियोंका परिचय दिया है। --- म० प्र० ल० काट्यार्थापत्ति-अर्थापत्तिका पर्याय है (दे॰ 'अर्थापत्ति')। कान्यास्वादरोधक -दे० 'अपकर्ष'।

काज्यास्वादराधक – द० 'अपक्ष'।
काज्यास्वादिवलम्बक – दे० 'अपक्ष'।
काज्यास्कर्षविनाशक – दे० 'अपक्ष'।
किंगरी – छोटी चिकारी या सारंगी, जिसे योगी लिये फिरते

है। जायसीने योगीके वेशमे इसका उल्लेख किया है (पद्मावत, १२६: १, ३६१: ८)। किंगरीका संस्कृत तत्सम रूप 'किन्नरी' है, जो वीणाका एक भेद है। गोपीचन्द द्वारा चलायी गयी होनेके कारण सारंगीको गोपीयन्त्र भी कहते है। किंवदंती-यह संज्ञा उन समस्त आख्यायिकाओको प्राप्त है, जो स्थानीय और ऐतिहासिक दोनों है। संस्कृत, प्राकृत, पाली आदिमें इसका कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं है। लोकसाहित्यके अन्तर्गत किंवदन्ती उन कथाओके लिए प्रयुक्त होता है, जो विपर्यस्त अथवा असम्बद्ध इतिहासकी घटनाओंपर निर्भर होकर लोक-जीवनमे बच रही है। प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ लोकपरक भावनाओंसे विकृत होकर ऐसा रूप धारण कर लेती है कि उन्हें इतिहास माननेकी अपेक्षा किंवदन्ती ही कहना पड़ता है। मराठीमें इसके पर्यायस्वरूप 'दन्तकथा' शब्द प्रयुक्त होता है। हिन्दीमे भी यह शब्द प्रचलित है। अभिप्रेत अर्थ दन्तकथाओका नहीं होता है। हॉ, इतिहासका सूक्ष्म तत्त्व अवस्य उनमे निहित होता है। संस्कृतके 'उदन्त' शब्दका अर्थ है निवेदन, बात अथवा लोकवार्ता। सम्भवतः 'उ'का लोप हो जानेपर 'दन्त'का लोकप्रचलित कथाओके साथ सम्बन्ध जुड़ जानेसे 'दन्तकथा'का प्रयोग चल पड़ा है। किंवदन्ती, अर्थात् 'किम्' (कुछ) तथा वद् (कहना) - कुछ कहना। यह 'कुछ कहना' धीरे-धीरे लोकप्रचलित दृष्टान्तोंका साधन बन जानेपर पूर्व

है। भर्तृहरिके गीत गानेवाले इसे वजाकर भीख मॉगते

कालमें घटित प्रसंगोंकी कथामात्र हो गया।

किंवदन्तीके दो वर्ग है-स्थानीय किंवदन्ती एवं बाहरसे प्राप्त किंवदन्ती । वस्तुका जहाँ तक सम्बन्ध है, घटित सत्य दोनोंके मूलमें होता है। --- इया० प० किरपान या कृपाण-मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमे आठ-आठकी यतिसे ३२ वर्ण होते है। यतियोंके स्थानपर अनुप्रास और अन्तमें गुरु लघु होना आवश्यक है। प्रायः इस छन्दमे वीर रसका वर्णन उपयुक्त होता है, किन्तु मध्यकालके कवियोंने विरह, संयोग आदि भावोंके लिए भी इसको चुना है। वास्तवमें यह आलंकारिक छन्द है, जो रीति-कालके कवियों द्वारा नाना प्रकारसे प्रयुक्त हुआ है। भानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० ११९)मे लिखा है कि प्रत्येक चरणके अन्तमें नगणकी योजना करनेसे छन्दमें लालित्य आ जाता है। ३२ वर्णोंके इस छन्दमे आठ-आठकी यतिपर अनुप्रास लगाना एक प्रयोग-मात्र ही लगता है। सम्भवतः यही कारण है कि पूर्ववर्ती छन्द-ग्रन्थोंमें प्रायः इस नामका छन्द नहीं मिलता। उदा०-"विन गुन तेरी आन, भृकृटि कमान तानि, कुटिल कटाक्ष बान, यह अचिरज आहि" (कविप्रिया, पृ० १५२)। —ह० मो०

किरीट सवैया—दे॰ 'सवैया', पॉचवॉ प्रकार । किल्लिकिचित्—दे॰ 'स्वभावज अलंकार,' पॉचवॉ । कीर्त्री—यह सामृहिक गीतका एक रूपान्तर है। इसके दो

रूप है—लोकप्रिय अथवा असाम्प्रदायिक तथा संकीर्ण अथवा साम्प्रदायिक । चैतन्यदेवके कारण यह रूप अथिक लोकप्रिय हुआ। —रा० खे० पा०

कुंडल-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । भानुके अनुसार २२ मात्राके चरणका छन्द, जिसमे १२, १० पर यति तथा अन्तमे २ ग (SS) रहते है। इस छन्दका प्रयोग सूरने 'सूरसागर'मे तथा तुलसीने 'विनयपत्रिका'के पदोमें विशेष रूपसे किया है। वस्तृतः यह छन्द भावावेगको प्रकट करनेमे सफलतासे प्रयक्त हुआ है। सुरका प्रयोग—"चलन चलन इयाम कहत, कोउ लेन आयो। नन्द भवन भनक सुनी, कस कहि पठायों" (सू० सा०, वें० प्रे०, पू० ४५६) तथा त्रलसीका भावावेग 'विनयपत्रिका'में व्यक्त हुआ है-''त् दयाल दीन हों, तू दानि हो भिखारी। हों प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी" -इस छन्दके चरणके अन्तमें यदि एक ही ग (S) रहता है तो उड़ियाना कहलाता है। सूर तथा तलसीने पदोमे इसका भी प्रयोग किया है-"द्रुमिक चलत रामचन्द्र, बाजत पैजनियाँ। धाय मातु गीद लेत, दशरथ-की रनियाँ" (गीता॰) । यह छन्दरूप प्रभातीके रूपमें अधिक प्रयुक्त हुआ है। **--**₹0 कुंडलिनी-दे० 'हठयोग'।

कुंडिलिया – मात्रिक विषम छन्द । 'प्राकृतपैगलम्' (१ः १४६)में इसका लक्षण दिया गया है। यह संयुक्त छन्द है। छः पंक्तियो क्षेष्ट्र छन्द होता है, प्रथम दो दल दोहेके होते है और अल्ब्स चार रोलाके। दोहेके चार पाद दो ही गिने जाते हैं। दोहेको छन्दका पूर्वार्द्ध कहा जा सकता है और रोलाको उत्तरार्द्ध इस प्रकार कुण्डिलियाके प्रत्येक पादमें २४-२४ मात्रार्ष होती हैं। दोहेको चौथे पाद-

को रोलाके प्रथम पादमे दोहराया जाता है और दोहेका प्रथम पाद जिस शब्दसे प्रारम्भ होगा, वही शब्द रोलाके चतुर्थपादके अन्तमें दोहराया जाता है। यति दोहा और रोलाके अनुसार ही रखी जाती है। अपभ्रंश छन्द-मन्थोंमे भी कुण्डलियाका परिचय मिलता है। हिन्दीमे गिरधर-की कुण्डलिया काफी लोकप्रिय है। उनके अनिरिक्त केशव (रामचन्द्रिका), जटमल (गोराबादल०), मूदन (सुजान-चरित) तथा गुलाव (करहियोको रायसो)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। यह छन्द वीर रस तथा उपदेशके लिए अधिक उपयुक्त है। उदा०—दोहेके दो चरण जो इसका प्रथम चरण बनाते है-"बिसबी बृन्दाबन करी, यह चाहत जिय मोर" तथा रोलाका एक चरण जो इसका नीसरा चरण बनाता है—"कर मुरलीकी घोर, भोर जमुनाको अन्हैबो"। इसका प्रथम अंश वस्तृतः दोहेका चौथा चरण ही है और इसी प्रकार दोहेका प्रथम चरण रोलाके बन्दावन बसिबो' दोहराया गया अन्तमें —रा० सिं० तो०

कुट्टिसत-दे॰ 'स्वभावज अर्लकार', सातवाँ। कुतहरू-दे॰ 'स्वभावज अर्लकार', पन्द्रहवाँ।

कुमार छिलता—विशेष छन्दोमे समवृत्तका एक भेद; 'पिगलमूत्र'मे इसकी परिभाषा दी है—'जसौ ग्' (६:३), जगण, सगण और गुरुके योगसे इस वृत्तका चरण बनता है (ISI, IIS, S)। छगभग सभी आचार्योंने यह नाम माना है। उदा० "क्रिया भरत कीनी—वियोगरस भीनी। तजी गति नवीनी—मकुन्द पद छीनी' (रा० चं०, १०. १२)। —पु० शु०

कुल, अकुल-कौल मार्गियोंकी दृष्टिते कुलका अर्थ 'शक्ति' है और 'अकुल'का अर्थ शिव। कुल और अकुलका सम्बन्ध स्थापित करना ही 'कोलमार्ग' है। 'सौभाग्य भास्कर'के अनुसार "कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते । कुलेऽ कुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥" कुल शब्दका यही मुख्य अर्थ है। वैसे इसके और भी कई अर्थ किये गये है। कुलका एक अर्थ वंश या वंश परम्परा भी होता है और अकुलका वंश या वंशपरम्पराहीन। इस दृष्टिसे शिवकी 'अकुल' संज्ञा उचित ही है क्योंकि दिवका कोई कुलगोत्र नहीं, आदि अन्त नहीं । वे अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अवि-नश्रर, धर्महीन और निरंग है। इसके विपरीत शक्ति सृष्टि-की हेतु है, वही सम्पूर्ण जगत्प्रपंचका प्रवर्तन करती है, अतः वह 'कुल' है (दे० सि० सि० सं० ४।१०-१३)। शक्तिसे सभी पदार्थ उत्पन्न दुए है, शक्ति शिवकी प्रिया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि शक्ति-शिव भिन्न-भिन्न है। वस्तुतः उनमे कोई भेद नहीं है; चन्द्रमा और चॉदनीका जैसा सम्बन्ध है, वैसा हो शिव और शक्तिका है (दे०--गो० सि० सं० तथा कौ० ता० नि०, १६-४१) । शिवकी सिस्क्षा-का नाम ही शक्ति है, अतः न तो वह शिवते भिन्न है न शिवके विना उसका होना सम्भव है। इधर शक्तिके विना शिव भी शवकी तरह हैं, कुछ भी करनेमें असमर्थ है। 'शिव' शब्दका 'इ'कार शक्तिका वाचक है। शिवमें से इकार निकाल देनेसे 'शिव' शव हो जाता है (देवी भागवत)।

कुल-(१) दार्शनिक अर्थ-यह संसार ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेयके रूपमें त्रिप्टीकृत् है। इस जगत्के सभी पदार्थ ज्ञान रूप धर्मके एक होनेके कारण 'सजातीय' है, इसलिए एक जाति (= कुल)में पडनेके कारण वे 'कुल' कहे जाते है। (२) वंदापरक अर्थ—कुलका बहु प्रचलित अर्थ वंदा है। यह दो प्रकारका होता है १. जन्मवंश और २. विद्यावंश । परम-शिवसे लेकर परमगुरु तक एक ही ज्ञान-परम्परा चली आ रही है, ऐसा कौलमागियोंका विश्वास है, इसलिये वे विद्या-क्रमको कलको संज्ञा देते है और इस कुलके अनुवर्गी कौल कहलाते है। (३) रहस्यपरक अर्थ-कुलका अर्थ जाति है। एक ही जातिकी वस्तुओंमे भिन्न जातीयताका आभास मायाजन्य है। (कौलवली निर्णय, पृ० १७-१७१)। इस भ्रमका उच्छेद करके उपास्य और उपासक दोनोंको सजातीय बताना कौलमार्गका मूल लक्ष्य है। उनके अनुसार उपास्य भी चेतन है और उपासक भी चेतन है, अतः दोनो एक ही 'कुल'के है (सीभाग्य भास्कर, पृ०३५)। (४) योगपरक अर्थ-१. 'कु'का अर्थ पृथ्वी है और 'ल'का अर्थ लीन होना है। पृथ्वी तत्त्व मूलाधार चक्रमें रहता है। अतः मूलाधारचक्रको 'कुल' भी कहा जाता है। २. इसो मूला-धारसे सुपुन्ना नाडी जुड़ी हुई है। कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्रमें स्थित परमशिवसे मिलनेके लिए इस सुषुम्ना नाड़ी-के भीतरसे उठकर ऊपर जाती है, अतः लक्षणाके सहारे सुषुम्नाको भी कुल कहते है-- "वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव । सा पुनः शंकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ॥" (गो० सि० सं०, पृ० १३)। ३. कुण्डलिनी शक्तिरूपा है, शक्ति ही सृष्टि है और सृष्टि ही कुण्डली—"सृष्टिस्त कुण्डलीख्याता सर्वभावगता हि सा ॥" (सि॰ सि॰ सं॰, ४।३०) । अतएव कुण्डलीको भी कुलकुण्डली कहा जाता है ।

'कुल' राब्द भारतीय साधना साहित्यमे बार-बार प्रयुक्त हुआ है, लेकिन ऊपर बताये गये अर्थमें इसके प्रयोगका पता हमें आठवी राताब्दीसे पूर्व नही मिलता। बौद्धतान्त्रिकोंमे होम्बी हेरक (७७७ ई०) नामक आचार्यने कुल राब्दका प्रयोग उक्त अर्थसे मिलते-जुलते अर्थमें किया है—''कुल सेवातो भवेत सिद्धिः सर्व कामप्रदा शुभा।'' (दे० साधन माला)। अर्थात् ''कुल सेवासे ही सभी कामनाओंको तुष्ट करने वाली शुभ सिद्धि प्राप्त होती है''। 'साधनमालां'में 'कुल' राब्दकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धोंसे पाँच कुलोंकी उत्पत्ति हुई है—''अक्षोभ्यसे वज्रकुल, अमिताभमे पद्मकुल, रक्तसम्भवसे भावरत्नकुल, वैरोचनसे चक्रकुल और अमोधसिद्धिसे कर्म कुलकी उत्पत्ति हुई थी''।

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; सौभाग्य भास्कर और साधन माला।] —रा० सिं० कुळटा—(नायिका)—परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद : विशेषके लिए दे० 'नायिकाभेद'। सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने किया है। इसका शब्दार्थ है पतित स्त्री। अनेक पुरुषोंसे प्रीति करनेवाली कामानुरा नायिका। मितरामके अनुसार—"जो चाहत बहु नायकन सरस सुरति परप्रीति" (रसराज, ७९)। सामान्यासे इस नायिकाका भेद केवल इतना माना जाता है कि यह कामनासनासे प्रेम करती है और गणिका धनकी आकांक्षासे। इस नायिकाको वर्णनके

माध्यमसे रीतिकालके किवयोंने नारी-मनोविज्ञानके इस पक्षका चित्रण किया है—"जाति चली यहि भाँति गली विथ्री अलकें अंचरा न संभारें" (मितराम: रसराज, ८०)। देवने उसकी भंगिमाका वर्णन किया है—"चंचल नैनी द्यांचल मोरि हॅसे मुख रंचक अंचल दैकें" (ब्रज-भाषा नायिका०, २: ३३३)। पद्माकरने उसकी लज्जा-हीनताका अंकन किया है—"एकनकों तिक चूँघटमे मुख मोरि कनैखिन दै चलें दै चलें" (भा० वि०, १: १०८)। क्रिक्टा—दे० 'वज्र'।

कुसुमविचित्रा-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६:३५)के लक्षणके अनुसार नगण, यगण, नगण और यगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, ISS, III, ISS) । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०--"तेहि अति रूरे रघुपति देखे। सब गुन पूरे तन मन लेखें" (रा० चं०, ५:६)। कुसुमस्तबक-साधारण दण्डकका एक भेद। यह हेमचन्द्र (१४ श० ई०)कालीन छन्द है। हेमचन्द्रने इस छन्दका नाम 'कुसुमास्तरण' दिया है। लगता है कि सवैयाके विकासमे प्रस्तुत छन्दका हाथ अवस्य रहा होगा। 'छन्दो-Sत्रशासन'में इसका लक्षण दिया है—'सः कुसुमास्तरणः' अ०२: ३०१)। भानुने इसका लक्षण—'सगण ९ वा अधिक' (छन्दःप्रभाकर) दिया है। 'जयदामन' (पृ० १४७)-पर वर्णवृत्तः दण्डकका अक्षरानुसार अंकन करते हुए वेलेणकरने १० वी संख्यामें कुसुमास्तरणका लक्षण कितना भी सगण दिया है। भानुके लक्षणके साथ यह तुलनीय है। रीनिकालीन कवियोंने इसका यदा-कदा प्रयोग किया होगा, क्योंकि एक सगण निपात कर देनेसे ध्वनिकी दृष्टिसे सबैया-का सन्दर रूप उपस्थित हो जाता है। उदा०—"छहरै सिर पै छवि मोर-पखा उनके नथके मुकता थहरै थहरै", अन्तिम 'थहरै'का पात कर देनेसे रीतिकालीन कवियोंको अपना प्रिय सवैया आसानीसे प्राप्त हो जाता है। सम्भवतः इसी लिए प्रस्तुत छन्द बहुत प्रचलित नहीं हो सका, यहाँतक कि केशवदासने भी इसका प्रयोग नहीं किया है। फिर भी अपनी ऐतिहासिकताके कारण वह छन्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। —ह० मो० क्प-दे॰ 'हठयोग'।

कृति: कृतित्व — कलात्मक रचना। लेखक अथवा कलाकारके कर्तृत्वसे उद्भृत साहित्य, संगीत, मृति अथवा चित्र।
प्रत्येक कलात्मक कृति विचारों, भावनाओं और संवेदनाओंकी संहति है, जिसका व्यक्त स्वरूप विभिन्न माध्यमोंके
द्वारा विशिष्ट संकेतके रूपमें प्रकट होता है और यही व्यक्त
स्वरूप प्रतीक बनकर मोक्ताके मनमें कलाकारके विचारों,
उसकी भावनाओं अथवा संवेदनाओंकी निष्पत्ति करता है।
इस प्रकार कृति शब्दका व्यवहार स्थूल कलासंकेतो और
सूक्ष्म एवं विशिष्ट संवेदना-जगत्, दोनोंके लिए होता है।
क्रोचे कलाकृतिको मानसिक ही अधिक मानता है और
अनुभृतिसे उसका तादात्म्य कर देता है। 'अनुभृति
ही व्यंजना है', यह कोचेका कला-सिद्धान्त है और इसमे
अभिव्यंजनाको कृतिका बहिरंग न मानकर उसका अन्तरंग
ही माना गया है (दे० रचना, सर्जन)। — रा० म०

कृष्णकाव्य-भारतीय धर्म और संस्कृतिके इतिहासमें कृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विरुक्षण है। कृष्ण (आंगिरस)का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१, ११६: ७; १, ११६, २३; ८, ८५, १-९; ८, ८६, १-५)में पाया जाता है। इन सन्दर्भीमे कृष्ण एक स्तोना ऋषि है, वे तथा उनके पुत्र क्रमद्याः अपने पौत्र और पुत्र विश्वक-विष्णुको पुन-जीवन और आरोग्य देनेके लिए अधिवनीकुमारोंका आह्वान करते है। ऋग्वेदमें एक कृष्णासुरका भी उल्लेख है, जिसे इन्द्रने पराभूत किया था(१, १०१, १; ८, ९६, १३-१५)। परन्तु महाभारतके वीर राजनीतिज्ञ कृष्णके व्यक्तित्वसे इन प्राचीन सन्दर्भीमें कोई समता नहीं मिलती। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (३, १७, ४-६)के घोर अंगिरसके शिष्य कृष्ण देवकीपत्र कहे गये है, जिन्हें गुरुसे यज्ञकी सरल रीति प्राप्त हुई, जिसकी दक्षिणा थी तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य। महाभारतके शान्ति-पर्वमें वासदेव कृष्णकी पूजाविधि बताते हुए जिस बैष्णव यज्ञका प्रतिपादन किया गया है, उससे उपनिषद्के इस सन्दर्भका सरलतासे सामंजस्य हो जाता है। 'घत' और 'महाउमग्ग' जातकों में भी कण्ह वासुदेवकी क्रमशः एक पूरी कथा तथा संक्षिप्त उल्लेख मिलता है, जिसका थोड़ा-बहुत साम्य भागवतमे वर्णित प्रसिद्ध कृष्ण-कथासे दिखाया जा सकता है। हरिवंश, विष्णु, भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि अनेक जैन पुराणोमे क्रष्णकी कथाको अधिकाधिक महत्त्व मिला है, परन्तु इनमे भागवतकी कृष्णकथा ही सबसे अधिक विस्तृत और सांगी-पांग तथा व्यवस्थित कही जा सकती है। ऐसा लगता है कि कृष्णकी कथा मौखिक रूपमें लोक-प्रचलित थी। पुराणों-में उसका धीरे-धारे धार्मिक रूपककी भाति उपयोग होने लगा, जो क्रमशः बढता चला गया और कवियोंकी कल्पना उनमे नये-नये प्रसंग और सन्दर्भ जोडती गयी। कृष्णकी कथा करपनाके लिए सबसे अधिक उर्वर क्षेत्र रही है।

इस कथाके कई रूप और पक्ष है। लिखित और मीखिक रूपमें कृष्णाख्यानपर विहंगम दृष्टि डालनेसे कृष्णके तीन रूप हमारे सामने आते है—(१) योगी, धर्मात्माका रूप— जिसकी गीताके कृष्णमें चरम परिणति मिलती है, (२) लिल मधुर गोपालका रूप-संस्कृत साहित्यमे जिसकी चरम परिणति श्रीमञ्जागवत, पद्म और ब्रह्मवैवर्त पराणमें हुई है तथा (३) वीर राजनियकका रूप—जो महाभारत और पुराणोंमे युद्धके सन्धि-विश्रह सम्बन्धी प्रसंगोंमे प्रकट हुआ है। ये रूप मनुष्यके ज्ञान, राग और कर्मकी तीन प्रधान मानसिक वृत्तियोंके प्रतिनिधि कहे जा सकते है। ये तीनों रूप पर्याप्त प्राचीन जान पड़ते है और बाह्यतः असंगतसे लगते हुए भी उनमे एकसूत्रता देखी जा सकती है। उदाहरणके लिए कृष्णके व्यक्तित्वकी सबसे प्रमुख विशेषता-निःसंगता या तटस्थताकी वृत्ति समान रूपसे उनके सभी रूपोंमे मिलती है और ध्यानसे देखनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी वृत्तिको मानो जीवनके इन तीन विभिन्न पक्षोंमें उदाहृत करनेके लिए इन तीन रूपोंकी अवतारणा हुई है। परन्तु ये तीनों रूप कृष्णके उस दैवत रूपके ही अधीन विकसित हुए, जो अत्यन्त प्राचीन कालसे इष्ट देवता व सदेव कृष्णके रूपमें लोकप्रिय होता आया

था (दे॰ 'भागवतधर्म') । इस दैवत रूपकी परिणति अन्त-तोगत्वा साक्षात् परब्रह्ममें हुई। ऐसा जान पड़ता है कि इष्ट देव वास्तदेव कृष्णके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषता उनका सौन्दर्य और माध्र्य हो था, और इसी रूपमें वे वृष्णिवंशीय सात्वत जातिके कुलदेव माने जाते थे। मौखिक रूपमें लिलन मधुर गोपाल कृष्णको कथाएँ अवस्य प्रचलित रही होगी, जो काव्य (उदाहरणार्थ-गाथासप्तशती १, ८९; ध्वन्यालोक २,६; बुद्धचरित १,५०) तथा मृतिकला और शिलालेखो (उदाहरणार्थ-घोसण्डी, वेसनार, नानाघाट-बाह्यी इन्स्क्रिप्शंस-लूडर्स संख्या ६, ६६९, १११२)मे यदा-कदा आभासित हो जाती है। परन्तु पुराणोंने इन कथाओको बहुत धीरे-धीरे अपनाया। प्राचीन पुराणीमं केवल भागवतमे गोपाल कृष्णकी कथा सम्यक रूपसे वर्णित की गयी, परन्तु उसमें भी राधाका नामोल्लेखतक नहीं हुआ। पद्म और सबसे अधिक ब्रह्मवैवर्त पुराणमे ही राधा-कृष्णकी प्रेम (रोमांस) गर्भित-कथा विस्तारसे दी गथी है। परन्त लोकसाहित्य, गीत और कथाओंमें कृष्णके असंख्य आख्यान चलते रहे होगे, यह बात मध्यकालमे निर्मित देशभाषा कान्यसे प्रमाणित होती है।

संस्कृतमे राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रथम काव्यरचना जयदेव-(बारहवी राती)का गीतगोविन्द है, जो भक्ति और शृंगारका अनुपम माधुर्य-मण्डित गीतिकाव्य है। अनुमान है कि कवि-को उसकी रचनाकी प्रेरणा राधा-कृष्ण सम्बन्धी लोकगीतो तथा लोकप्रचलित आख्यानोसे ही मिली होगी। इसी लोकपरम्पराकी देशभाषामे सबसे पहली साहित्यिक अभिन्यक्ति चौदहवीं-पन्द्रहवी शतीमे विद्यापतिके मैथिल-पदोमे हुई। पदावली हिन्दी-कृष्णकान्यकी पहली रचना कही जा सकती है। विद्यापतिकी पदावर्लीकी भावधाराके सम्बन्धमे मतभेद है कि उसमे लौकिक शृंगार है अथवा भक्तिका माधुर्यभाववाला शृगार। यह मतभेद वस्तुतः सम्पूर्ण कृष्णकाव्यके विषयमे न्यूनाधिकरूपमें उठता रहता है। बात यह है कि कृष्णके उपर्युक्त तीन रूपोमेसे कवियोने केवल लिलत-मधुर गोपाल कृष्णको ही कान्यका विषय बनाया है, अन्य रूपोको इसी रूपकी पृष्टि या महत्ताके लिए यदा-कदा प्रयुक्त किया है। अतः स्वभावतया इस रूपमे शृंगारकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी है, राधा और अन्य गोपियोसे सम्बन्धित प्रेमप्रसंगोकी भरमार होती गयी है। परिणामतः यह कहना असम्भवप्राय हो गया है कि कहाँ लौकिक श्वंगारकी मूल प्रेरणासे रचना की गयी है और कहाँ वह भक्ति-भावनापर आधारित है। परन्तु विद्यापितकी पदावलीके विषयमे विभिन्न मतोके बीच वास्तविकता यह जान पड़ती है कि भूलतः कविने अपने आश्रयदाताओकी प्रसन्नताके लिए राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसंगोपर शुद्ध शृंगारिक रचना की थी, परन्तु कदाचित् कालान्तरमें अन्त समय निकट आते-आते उसके हृदयमें शिव और शक्तिकी तरह राधा-माधवके प्रति भी भक्ति-भावना जागरित हो गयी होगी। जो हो, विद्यापतिकी पदावली रसिकोका मनोरंजन तो करती ही रही है, चैतन्य सरीखे भक्तोंको भी वह अपनी विदग्ध-माधुरी और गृढ-गम्भीर प्रेम-प्रवणतासे रसमग्न करनेमें सफल हुई है। भक्तिकाल (दे०)का वातावरण ही ऐसा भावावेशपूर्ण था कि उसमें विद्यापतिके पद क्या, भक्तीं-की ध्वन्यालीकमें दिये हुए घोर श्रंगारके उदाहरण भी भक्तिरसमे डूवे हुए जान पड़ते थे। इसी वातावरणमें हिन्दी-के कृष्णकाव्यकी जो अधिकांशतः कृष्ण-भक्ति-काव्य है, रचना हुई।

विद्यापतिके बाद हिन्दी कृष्णकान्यके प्रथम कवि सूरदास हुए, जिनकी प्रतिभाको पुष्टिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभ वछमा-चार्यने अपने सम्प्रदायके प्रचारमें लगाया। स्रदासने गोपाल कृष्णके गोकुल, वृन्दावन और मथुराके जीवनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण आख्यानको स्रसागरमे एक गीति-प्रबन्ध-का रूप दिया। कथाकी सामान्य रूप-रेखा तो उन्होंने भागवतसे ही ली, परन्त उसके प्रसंगों और विवरणोंको उन्होने बहुत अधिक विस्तार दिया, अनेक नवीन घटनाओं और उपकथाओंकी अवतारणा की तथा सम्पूर्ण कथाको भक्ति-भावनाके साथ इस प्रकार संघटित किया कि उसमें उद्देश्य-की एकताके साथ-साथ उपकथाओं और प्रसंगोकी बहलता तथा शैलीकी मुक्तता होते हुए भी संयोजन और संघटनमे एकसूत्रता आ गयी। इसके अतिरिक्त विविध उपकथाएँ और घटनाप्रसंग, जिन्हें लीला कहा गया है और जो सम्पूर्ण कृष्णलीलाके अंग है, स्वयं विधिवत् प्रारम्भ, कथाके आदि, मध्य, अवसानकी योजना तथा निश्चित उद्देश्यके साथ रचे गये है, स्वतन्त्र खण्डकथा या खण्डकान्यके रूपमें पढे जा सकते है और प्रत्येक पद जो पहले छोटी घटना या वर्णन-प्रसंग, फिर खण्डकाच्य और अन्तमें सम्पूर्ण कृष्ण-कथाकी एक कड़ी मात्र है, स्वतन्त्र रूपमें पूर्णतया आस्वाद-नीय है। वस्तुतः ये पद इसी रूपमें अलग-अलग ही पढ़े या गाये जाते हैं। कथाके सन्दर्भकी नो पाठक, गायक या श्रोता पृष्ठभूमिके रूपमें स्वयं कल्पना कर लेते है। इसीलिए प्रायः यह कहा जाता है कि 'स्रसागर' मुक्तकपदोंका संग्रह है। परन्तु वस्तुतः वह एक साथ ही गीति-प्रबन्ध, कृष्णकी विविध लीलाओं तथा मुक्तकपदोंका संग्रह है। कृष्णकान्य-की एक सामान्य प्रकृति यह भी है कि वह अधिकतर मुक्तकरूपमें रचा गया है, क्योंकि कृष्णकाव्यमें वर्णित कृष्णकी कथा अत्यन्त सीमित है। सूरदासने ही उसके सभी घटना-विवरण दे दिये है। कृष्णके जन्म, शैशव, गोपोंके साथ कीड़ा, गोचारण, राधा तथा गोपियोंके साथ रस-केलि, छद्मवेशधारी असुरोंका वध, गोवर्धनधारण और इन्द्रदमन, मथुरा-प्रवास, कंस-वध, उद्धव-सन्देश, द्वारिका-गमन तथा प्रभासक्षेत्रमें गोप-गोपियों और राधाके साथ पुनर्मिलन । परन्तु सूरदास द्वारा दिया गया कथाका यह विस्तार अन्य कवियोंमें नहीं मिलता । उन्होंने इसीमेंसे कुछ प्रसंगोंपर ही लेखनी चलायी है। अष्टछाप (दे०)के कवियो-में नन्ददासको छोड़कर अन्य सभी कवि सूरदासका अनुकरण करते देखे जाते है। पृष्टिमार्गीय कृष्णकाव्यकी एक विशेषता यह है कि इसमें गोपालकृष्णकी बाललीलाको विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्य सम्प्रदायोके कवियोंने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है। कृष्ण-कथाका सर्वाधिक प्रिय विषय राधा-कृष्णकी प्रेम-लीला है। स्वयं सूरदासने भी इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है। 'सूरसागर'की कथाकी एकसूत्रता राधाकृष्णके प्रसंगपर ही आधारित है। सुरदासके सहयोगी

अष्टछापके अन्य कवियोने भी उसे यथेष्ट महत्त्व दिया और निकंजलीलाके वर्णनमे सर्वाधिक रुचि दिखायी। सुरदासके समकालीन गुसाई हितहरिवंश (दे०-'राधावलभ सम्प्रदाय') और उनके अनुयायी राधावल्लभी भक्त, स्वामी हरिदास और उनके अनुयायी सखीसम्प्रदाय (दे०)के भक्त तथा महाप्रभु चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित भक्तकवि सभी लगभग एकान्तरूपसे राधा और गोपियोके साथ कृष्णकी प्रेम-क्रीड़ाओं के वर्णनमे ही मग्न दिखाई देते है। सूरदासके प्रेम-चित्रणोंकी सूक्ष्मता और गूढ़ व्यंजना-त्मकता तो अन्य कविथोंको दुर्लभ हो ही गयी, उनके काव्य-की यह सीमित विषयवस्तु भी और अधिक सीमित और संकुचित होती गयी और यमुना-कृल, लता-निकुंज और अन्तःप्रकोष्ठके कुछ चुने हुए प्रेम-प्रशंगोका ही थोड़े-थोड़े अन्तरोंके साथ चर्वित-चर्वण होने लगा। धीरे-धीरे कृष्णके व्यक्तित्वका वह वीतरागत्व भी, जो इस माधुर्यभावके रूपमें भी कम-से-कम सुरदासने निरन्तर सुरक्षित रखा था, भूला दिया गया।

सूरदासके बाद सम्पूर्ण कृष्ण-कथा रचनेका प्रयत भक्ति-कालके बाद वहुम सम्प्रदायके ही वजबासीदासने वजन विलास' (१,७७०)में किया, जो वर्ण्य विषयमे 'स्रसागर' और शैलीमें 'राभचरितमानस'का अनुकरण है। परन्तु कान्यकी दृष्टिसे उसका कोई महत्त्व नही है। कृष्ण-कथा सम्बन्धी कुछ प्रबन्धात्मक रचनाएँ नन्ददासने भी की थीं-जैसे 'इयामसगाई', 'भॅवरगीत' और 'रासपंचाध्यायी', परन्तु इस प्रकारके लघु-प्रबन्ध तो 'सूरसागर'में अनेक पाये जाते हैं। नन्ददासका 'रुक्मिणीमंगल' अवश्य कृष्णके ऐश्वर्यरूपकी ओर ध्यान आकृष्ट करता है, जिसे 'सूरसागर'में गौण स्थान दिया गया है। राधावलभी ध्रवदास, वलभ-सम्प्रदायके नागरीदास तथा राधावलभी हितवृन्दावनदास आदि कुछ परवर्ती भक्त कवियोने भी कृष्णकान्य सम्बन्धी छोटे-छोटे प्रवन्धोंकी रचनाएँ की । परन्तु ये भी काव्यकी दृष्टिने अत्यन्त साधारण कोटिकी है। वास्तवमें कृष्णका ऐश्वर्य रूप ही प्रवन्थ-रचनाका प्रकृत विषय हो सकता था, परन्तु कृष्ण-भक्तिके साथ उसका सामंजस्य न होनेके कारण बहुत थोड़े भक्त-कवियोने उसकी ओर ध्यान दिया। कृष्ण-के ऐश्वर्य-रूपसे सम्बन्धित केवल एक-दो प्रसंग ही काव्यके विषय बनाये गये। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय प्रसंग है रुक्मणी-हरण । नन्ददासके पहले अकबरी-दरबारके कवि महापात्र नरहरि बन्दीजन (१५०५-१६१०) भी रुक्मिणी-मंगल लिख चुके थे। राजस्थानीमें पृथ्वीराजने 'बेलि किसण रुक्सिणी री' (१५८०) नामसे इस विषयपर एक सुन्दर काञ्यकी रचना की थी, परन्त वह सर्वथा इहलौकिक रचना है, भक्ति-भावका उसमें कोई संकेत नही है। रीति-कालमें नवल सिंहने भी 'रुक्मिणी मंगल' नामसे एक छोटे-से प्रबन्ध काव्यकी रचना की। उन्नीसवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमें महाराज रघुराज सिंहने भी 'रुक्मिणी परिणय'-की रचना की। 'सुदामा चरित'के छेखक नरोत्तमदास (सोलहवी राती) भी भक्त कवि नहीं कहे जा सकते, यद्यपि उसी प्रकारकी दैन्य भावकी भक्ति-भावना उसमें भी मिलती है, जैसी कि 'रुक्मिणी मंगल' सम्बन्धी काक्योंमें है। गौडीय

सम्प्रदायके क्रष्णभक्त कवियोंने विपुल साहित्यकी रचना की है। इन कवियोंमें सरदास, मदनमोहन, आनन्दधन (प्रथम), गदाधर मट्ट, चन्द्रगोपाल, विष्णुदास, भगवानदास आदिके नाम अधिक प्रसिद्ध है। इनमें भी प्रबन्धात्मक कान्योंका अभाव मिलता है। फुटकर लीला विषयक कान्य संकलन बाललीला, रथलीला, वाणीसंग्रह आदि नामोसे संकलित है। निम्बार्क सम्प्रदाय (दे०)के हरिकासी तथा हरिदासी शाखाके कृष्णभक्तकी भी ठीक यही स्थिति है। इन दोनों-सम्प्रदायोंके लगभग ६० कवियोंमें में किसीने भी प्रबन्धात्मक रचना नहीं प्रस्तुत की है।

इस प्रकार साधारणतया सम्पूर्ण कृष्णकाव्य और विशेष रूपमें कृष्ण-भक्ति-काव्यकी प्रकृति गीतिके ही अधिक अनुकुल है। फलतः अधिकांश प्रकृत कृष्णकाव्य गीतिपदोमें ही रचा गया है। भक्तिकालीन वातावरणको भावाविष्ट करने-का अधिकांश श्रेय कृष्ण-भक्ति और कृष्णकी ललित लीलाओं-के काव्यमय गायनको ही है। उसीने जन-जनके हृदयमें गीति-भावनाका संचार कर दिया था। फलस्वरूप उस शैलीको कान्यमे प्रतिष्ठा मिली, जिसे संस्कृत कवियोने काञ्यके गौरवके उपयुक्त न मानकर तिरस्कृत कर दिया था। रामकान्यके यशस्वी प्रणेता तुल्सीदासनकने उसे अपनाया । उनपर कृष्णकाव्य और उसकी गीति-भावनाके प्रत्यक्ष प्रभावका प्रमाण उनकी 'कृष्णगीतावली' है। कृष्णका लिलत-मधुर रूप ही वस्तुतः गीति-भावनाका सहज प्रेरणा-स्रोत है, शताब्दियोसे वह लोक-हृदयको रस-प्रावित करता आया है। यही कारण है कि कृष्ण सम्बन्धी अचि-कांश गीतिकान्य, मीरॉकी पदावलीको छोडकर, प्रत्यक्षतः आत्मनिष्ठ न होते हुए भी गीतिकी स्वात्मानुस्तिके गुणसे हीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि सहज ही उन पात्रोंके भावोमें अपनेको तल्लीन कर लेता है, जिनके माध्यमसे कृष्णके प्रति घनिष्ठ अनुराग व्यक्त किया जाता है। संगीतात्मकता तो कृष्ण-भक्ति-कान्यमे ओत-प्रोत है। लगभग सभी भक्त कवि संगीतज्ञ भी थे। अष्टछापके अनेक कवियोंके विषयमे उनकी संगीत-निपुणता सम्बन्धी कथाएँ पसिद्ध है। स्वामी हरिदासकी ल्याति तो कदाचित् काव्य-की अपेक्षा मंगीतके क्षेत्रमे ही अधिक है। लोक-विश्रुत आख्यानपर रचना करते हुए भी कवियोने कृष्ण सम्बन्धी गीतिपदोंकी रचनामें पर्याप्त स्वच्छन्दता, सहजोद्रेक और नवीन भावोन्मेषका परिचय दिया है, क्योंकि सीमित क्षेत्रमें ही सही, कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंमें कवि-कल्पनाको उदीप्त करनेकी अनुपम क्षमता रहती है। कृष्णकाव्यके गीति-पदोंमे गीति-काव्यके सभी गुण-तात्त्विक और रूप-रचना सम्बन्धी न्यूनाधिक रूपमे पाये जाते है और हम इसी कान्यके आधारपर भक्तिकालको हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ गीतिकाल कह सकते है। यह अवस्य है कि काव्य-रचनाकी प्रचुरतामे कृष्णकाव्यमें भी गीति-पदोके रूपमें ही ऐसी रचनाओकी कमी नहीं है, जो मात्र वर्णनात्मक और उपदेशात्मक है तथा जिनमें बाह्य रूप-रेखाके अतिरिक्त गीतिका कोई लक्षण नहीं मिलता। 🗽

कृष्णकाव्यके श्रीकृष्णका व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उन्हें तत्त्वतः साक्षात् परमहा, अद्वैत, परमेश्वर मानकर अपने-अपने भावके अनुसार कवियोंने वात्सल्य, सख्य और माधुर्यके आलम्बन-रूपमें अपने उदात्तीकृत लौकिक जीवन-का अभिन्न अंग बनाया है। विशेषतः सुरदास तथा साधा-रणतः अन्य कवियोने नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके भावोकी प्रतिमाके रूपमें कृष्णका चित्रण करते हुए जहाँ भावकी पूर्ण तन्मयता लानेके उदेश्यसे उनके ब्रह्मत्वका प्रतिवाद किया, वहीं उनके ब्रह्मत्वकी गृढ व्यंजना हुई है। यशोदाके वात्सल्य-भाजन कृष्ण पूर्णतः बाल (पुत्र) है, उनके किसी अन्य रूपका संकेत भी उसे स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रकार गोपियोंके कृष्ण, प्रेमीके अतिरिक्त और कुछ भी नही है। सभी भक्त उनके ब्रह्मत्वको अस्वीकार करते है। परन्त वास्तविकता यह है कि न वे पुत्र है, न सखा, न प्रेमी; वे किसीके शत्रु या मित्र नहीं; वे न नर है, न नारी; वे क्या है, यह कैसे कहा जाय ? इसीलिए वे भक्तोंके भावके अनुरूप उनके भगवान् है। कृष्णकान्यमे यह तत्त्ववाद कहा नहीं गया, रूपक, प्रतीक संकेत और व्यंजनाकी शैलीमे अनुभूत कराया गया है। भावकी अनन्य परिपूर्णताके कारण कृष्णकाव्यके पात्र प्रतीकरूप है। अतः सूरदासके बाद कवियोंने उन्हे लगभग ज्योका त्यों स्वीकृत करके ही प्रयुक्त किया है और जिस प्रकार भावकी दृष्टिसे कृष्णकाव्य थीरे-थीरे सीमित हो गया, उसी प्रकार पात्रोकी दृष्टिसे भी उसमे संकोच आता गया और अधिकांचा कवियोंकी दृष्टि कृष्ण, राधा और गोपियोतक ही सीमित रह गयी। अन्य पात्रोंकी ओर यदि उन्होंने देखा भी तो केवल इन्हीके नाते।

भक्त कवियोके हाथमे कृष्णकान्य उन मानवीय भावोंके सहज परिष्करण और उदात्तीकरणका व्यावहारिक और प्रत्यक्ष दृष्टान्त वनकर प्रयुक्त हुआ था, जो मनुष्यको संसारके विषयोमे लिप्त किये रहते है तथा पतनकी ओर ले जाते है । परिवारके जो नाते मनुष्यके आध्यात्मिक विकासमें उसके सबसे बड़े वैरी है, श्रीकृष्ण उन्हींके रूपमें भक्तोको प्राप्त होकर उनके तत्सम्बन्धी राग-द्रेषको अपनेमे समर्पित करा लेते है। गीताके श्रीकृष्णने जिस निःसंगताका उपदेश दिया था, उसीको भक्त कवियोने चित्रित किया है तथा उन्होंने आत्म-समर्पण-युक्त भक्तियोगका जो रूप अर्जुनको समझाया था, वहीं कान्यमे उदाहत किया गया है।

परन्तु भावावेशकी वह उदात्त स्थित कवतक स्थिर रह सकती थी ? कौन कह सकता है कि भक्तिके प्रारम्भिक उन्मेषमें भी स्खलनकी कितनी सम्भावनाएँ रही होंगी और काम-वासना जैसी आकर्षक और पतनोन्मुख भावनाको स्वच्छतापूर्वक अभिव्यक्ति देते हुए न जाने कितनी बार कितने भक्तोंके मनमें भावकी इहलौकिकता ही ठहरकर रह गयी होगी ? परन्तु इन दुष्कल्पनाओं के वावजूद, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्यने, कमसे-कम मित्तकालीन कृष्णकाव्यने, जीवनकी जड़ताको भंग कर उसे गतिशील बनाया, उद्देश्यहीनताको दूर कर उसे ऊँचा लक्ष्य प्रदान किया तथा जीवनकी असुन्दरता और नीरसता मिटा-कर उसे सुपमा, सौन्दर्य और आनन्दसे अनुप्राणित किया। जहाँतक सदाचार और चित्रका सम्बन्ध है, कृष्णकाव्यने उसे मनोवैज्ञानिक आधारपर सहज प्रवृत्तिके रूपमें ऊँचा उठानेका सफल उद्योग किया। उसने मनुष्यकी सबसे

प्रमुख दुर्वत्ताको परम्परागत धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोणले दमन-पूर्वक दूर करनेके स्थानपर उसे स्वामाविक रूपमे ऊँचा उठानेका उपाय वताया। कृष्णकाव्यमे उस युगकी सर्वोच्च जन-भावना सुरक्षित है, वह धर्म और समाजके क्षेत्रमें सर्वोत्तम लोकतन्त्रात्मक शक्तियोंका प्रतिनिधित्व करता है।

परन्त, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, भक्तिकालका यह आदर्श वातावरण जो भावापन्नतापर आधारित था, अधिक दिनों नही रह सका। भक्ति सम्प्रदायबद्ध होकर रूढि और कर्मकाण्ड-प्रधान होने लगी। साम्प्रदायिक प्रचारक धन-वैभवमें लिप्त होने लगे। उनका दृष्टिकोण सांसारिक हो गया और उन लोगोंका आदर घट गया, जो सांसारि-कताकी उपेक्षा करते हैं। अनजाने ही जीवनके वे मूल जो भक्तिकालने पुनर्निर्मित किये थे, भुटाये जाने लगे। शक्ति-धर्ममें ही गतिशीलताके स्थानपर जड़ता आने लगी। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि कृष्णकाव्यका वर्ण्य विषय और उसकी भावधारा थीरे-धीरे सीमित और संक्रचित होनी गयी थी। जिस प्रेमीकी भावनाको उसमें प्रमुखता दी गयी थी, वह अपनी सांकेतिकता और सक्ष्मता खोकर जडता और विलास-की ओर जाने लगी। यह परिस्थिति बदले हुए वातावरणमें अत्यन्त स्वाभाविक थी । सम्प्रदायोंके केन्द्र भी वैभव-सम्पन्न थे और धनिक और अधिकारी वर्ग भी कवियोंको संरक्षण देने लगे थे। कुम्भनदासने सम्राट् अकबरके आमन्त्रणपर फतेहपुर सीकरी जाकर पश्चत्ताप किया था, सुरदासने एक बार सम्राट्से मिलकर स्पष्ट कह दिया था, दुबारा कभी मिलनेका प्रयत्न न करना। परन्तु अब स्थिति बदल गयी। कविगण सम्राटों और राजाओंकी तो क्या, छोटे-मोटे सामन्तों और जमीदारोंकी शरण ढूँढ़ने लगे। परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल (दे०)में कविताका वर्ण्य विषय लगभग वही रहा, जो कृष्ण-भक्तिकान्यका था, परन्तु उसकी आत्मा बदल गयी। सर्वोच्च स्थितिसे वह निकृष्ट धरातलपर उतर आया। कृष्ण लौकिक नायकका प्रतीक नाम हो गया, कृष्ण-की अभिन्न ह्वादिनी शक्ति, राधा एक साधारण नायिका बनकर रह गयीं, गोपियाँ उनकी प्रिय, नर्म आदि सखियाँ हो गयी। सुरदासने गोपियोंके प्रेम-भावकी अनन्यता और सम्पूर्णता सम्पादित करनेके लिए 'स्रमागर'में 'खण्डिता प्रकरण' लिखा था, जिसमें कृष्णके दक्षिण-नायक रूपका सृक्ष्म, आध्यात्मिक व्यंजनापूर्ण चित्र दिया था। उन्होंने गोपियों और राधाके प्रेम-विकासकी अत्यन्त सुक्ष्म और स्वाभाविक स्थितियोंका चित्रांकन किया था। रीतिकालीन कवियोंको उसीके आधारपर नायक-नायिका भेद (दे०) नामसे एक बृहत् काव्य-शास्त्रीय विवेचनका विषय मिल गया । विषयकी दृष्टिसे लगभग समूचा रीतिकालीन साहित्य कृष्णकाव्य है। काव्य-धाराकी दृष्टिसे भी, जैसे कृष्ण-भक्ति-कान्यमें माधुर्य भावकी प्रधानता थी, वैसे इसमें भी शृंगार-की प्रधानता है। परन्त वास्तविक यह है कि विषय-वस्त प्रायः नाम-मात्रको ही कृष्णपरक है, उसमें कृष्ण और राधाका बहाना-मात्र है तथा भाव-धारा बाह्यतः समान होते हुए भी विषयके अनुरूप सर्वथा लौकिक, अतः हीन कोटिको है। उदान्तताके स्थानपर उसमें विलासिताका वातावरण है, आध्यात्मिक पिपासाके स्थानपर वासनाकी अनुप्ति है।

परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है। आधुनिक कालकी सुधारवादी भावनाके प्रभावमें रीतिकालके शृंगारी काव्य और उसके तथाकथित पूर्वरूप, कुष्ण-भक्तिकाव्यकी अत्यधिक निन्दा की गयी है। माधुर्य भक्ति और लौकिक शृंगारका अन्तर तर्क और वाद-विवादके द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। तर्कके आधारपर तो बड़े-से-बड़े भक्तकविका माधर्य भाव मानसिक रुग्णता और दमित वासनाका प्रकाशन कहकर निन्दित किया जा सकता है। परन्तु कलामें यदि उदात्ती-करणकी स्थिति स्वीकार्य है, तो कृष्ण-भक्तिकाव्य उसका सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। रीतिकालीन कवि भी सर्वदा लौकिक वासनात्मक प्रेरणासे ही काव्यरचनामें प्रवृत्त होते रहे हों, यह भी दावेके साथ नहीं कहा जा सकता। अनेक रीतिकालीन कवियोमें (केवल उन कवियोंमें ही नहीं, जो निश्चितरूपमें भक्ति-प्रेरित थे और जो शुक्कजीके इतिहासके 'रीतिकालके अन्य कवि' शीर्षकमें रख दिये गये हैं) प्रायः भक्ति-भावनाकी प्रेरणा झलक जाती है और उनकी चित्तवृत्ति सांसारिकतासे ऊपर उठती हुई जान पड़ने लगती है। और फिर, रीनिकालमें कृष्णकान्यकी धारा क्षीण भले ही पड़ गयी हो, दूटी कदापि नहीं। घनानन्द रीतिकालमें ही हुए, जिन्होंने सुजानके प्रेमको सहज ही कृष्ण-प्रेममें परिणत करके सांसारिकतापर विजय पायी। नागरीदास, बख्शी हंसराज, हितवृन्दावनदास, भगवत रसिक, हठीजी, बजवासीदास आदि अनेक भक्तकवि जो वहुम, राधावहुम या सखी सम्प्रदायके अनुयायी थे, रीतिकालमें ही हुए हैं। इन्होंने कृष्ण-भक्तिकाव्यकी परम्पराको जीवित रखा और समसामयिक रीतिकालीन कृष्णकाव्यके प्रणेताओके लिए चेतावनीका काम किया। इनमे और रीतिकालीन कवियोंमें एक अन्तर शैलीका भी है। जहाँ इनमेंसे कुछ कवि भक्तिकालीन कृष्णकाव्यकी पदशैलीके अनुकरणका प्रयतन करते दिखाई देते है, वहाँ रीतिकालीन कवियोंकी शैली एकदम भिन्न, स्कि और उक्ति-वैचिन्य-प्रधान मुक्तकोंकी शैली है। गीतिकाञ्यकी भावापन्नता उसमें नहीं है। कलात्मक चमत्कारपर ही कविका विशेष ध्यान है। दोहा, कवित्त, सवैया, हरिगीतिका आदि कुछ छन्दोंका मुक्तक क्पमे सुरदास, हित हरिवंश, नन्ददास तथा कुछ अन्य भक्त-कवियोंने भी व्यवहार किथा था, परन्त्र रीतिकालमें तो राधा-कृष्णका गुणगान कवित्त और सवैयामें ही सीमित रह गया।

आधुनिक कालमें जब गद्यके रूपमें साहित्यका बहुविध विकास प्रारम्भ हुआ, तब भी किवताका विषय बहुत दिनों-तक कृष्णवार्ता ही बनी रही। हिन्दीके किव राधा-कृष्णके प्रेम-प्रसंगोंपर इतने मुग्ध थे कि उन्हें कान्यका और कोई विषय सञ्जता ही न था। आधुनिक कालके प्रारम्भिक युगमें लिलतिकशोरी जैसे वास्तविक भक्तकि तो होते ही रहे, शुद्ध कान्यकलामें प्रवृत भारतेन्द्र सरीखे किव भी, न केवल राधा-कृष्ण-प्रेमवार्ता विषयक किवन्त और सबैया लिखते थे, जिनकी प्रेरणाके विषयमें संदेह किया जा सकता है, बिक स्रदासकी परम्परामें पदरचना भी करते थे। पदरचनाकी प्रवृत्ति वर्तमान कालतक समाप्त नहीं हुई है। अनिगनती अज्ञान भक्तोंके अतिरिक्त वियोगी हरि जैसे प्रसिद्ध साहित्यिकका नाम इस श्रेगीके कवियों में लिया जा सकता है। रीतिकालके प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदासने कहा था, "आगेके कवि यदि प्रसन्न होंगे तो समझा जायगा कि मै भी कोई था, अन्यथा मुझे इसीमे सन्तीष है कि मैने कविताई करनेके बहाने राधा-कन्हाईका स्मरण तो कर लिया।" अनेक रीतिकालीन और आधुनिककालीन कृष्ण-काव्य लिखनेवाले कवियोका यही भाव रहा है। भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रसे लेकर आधुनिककालीन ब्रजभाषाके शिल्पी जगन्नाथदास 'रलाकर' तक अनेक कवि कृष्णकाव्यपर पूर्ण अधिकार और आत्मीयताके साथ लिखते रहे है। छायाबाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा आजकी 'नयी कविता'के युगमें भी ब्रजभाषाके कृष्णकान्यकी परम्परा समाप्त नहीं हुई है। उसका चमत्कार ऐसा विलक्षण है कि अति आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित कलाकार भी उसपर रीझे बिना नहीं रहते।

कृष्णकान्य सोलहवी शताब्दीसे आज बीसवी शताब्दी-तक बजभाषाको काव्य-भाषाके रूपमे निखारता आया है। ब्रजभाषाको उसीके द्वारा देशन्यापी मान्यता प्राप्त हुई और गुजरातसे बंगालतक उसको प्रचार हुआ। उसीके प्रभावसे बंगालमे कान्यकी एक नवीन शैली और प्रवृत्ति 'ब्रजबूलि' (दे०) नामसे विकसित हो गयी। परन्तु कृष्ण-कान्य आधुनिक कान्य-भाषा खडीबोलीमैं भी रचा गया है, अतः यह कहा जा सकता है कि कृष्णकान्यसे ब्रजभाषाकी गौरव मिला है, न कि ब्रजभाषासे कृष्णकान्यको। खड़ी बोलीके कृष्णकान्यमे, जिसके प्रमुख प्रणेता अयोध्यासिह उपाध्याय और मैथिलीशरणं गुप्त है, अधिनिक सुधारवाद, देशभक्ति, विश्व-मैत्री आदि भावनाओंको भी सम्मिलित किया गया है। आधुनिक कालमे जो भी मध्यकालीन अवरोष है, उनमे स्वाभाविक है कि अधिकांश कृष्णकाब्य ही है। वस्तुतः आधुनिककालीन कृष्णकान्य, चाहे वह भक्ति-प्रेरित हो या रीति-प्रेरित अथवा देश-भक्ति और सुधारवादसे ही प्रेरित क्यों न हो, मध्यकालीन अवशिष्ट ही कहा जा सकता है। <del>--</del>ब्र० व० कृष्ण-भक्ति शाखा-हिन्दी साहित्यके इतिहासके पूर्व-मध्यकाल (दे०)को अध्ययनकी सुविधाके लिए भक्तिके सम्प्रदायगत अन्तरों और उसीके परिणामखरूप काव्य-विषयोंके आधारपर रामचन्द्र शुक्कने चार प्रमुख शाखाओंमे विभाजित किया था। यह विभाजन स्वाभाविक और स्पष्ट होनेके कारण सर्वस्वीकृत हो गया है। पूर्व-मध्यकाल काव्यकी प्रमुख प्रवृत्तिके आधारपर भक्तिकाल (दे०) कहा जाता है। यह भक्ति मोटे तौरपर निर्गुण और सगुण दो पृथक् धाराओंमे विभक्त की जाती है। सगुण-धाराका अध्ययन पुनः रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखामें विभाजित करके किया जाता है। जैसा कि रामकाव्य (दे०) और कृष्णकाच्य (दे०)की प्रवृत्तियोके साधारण पिरिचयसे ही स्पष्ट हो जाता है, इन शाखाओंमें केवल विषय-वस्तुका ही अन्तर नहीं है, दृष्टिकोण और प्रवृत्तियोंका भी स्पष्ट अन्तर है। कृष्ण-भक्ति शाखासे कवि परम-सत्यको सौन्दर्य और आनन्दके रूपमें मूर्तिमान् करते है और उसी निःशेष परिपूर्णतामें शिव और सत्यको अन्तर्भुक्त मानते है। वे मानसी और रागानुगा भक्तिके समर्थक है। बाह्य आचरण, मर्यादा आदिको वे तच्छ मानते हैं। फलस्वरूप उनके कान्यमें भावात्मकता और रसात्मकता कही अधिक है। काव्यके कलात्मक सौन्दर्यके लिए भी उसमें कही अधिक उर्वर क्षेत्र है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य ही अधिक सम्पन्न और समृद्ध हुआ, उसीकी परम्परा आगे चली और आधुनिक युगतक पर्याप्त धूमधामसे जीवित है। उसीकी सहज परिणति कान्यके उस रूपमे हो सकी, जिसे बहुत अंशमे इहलौकिक (तेक्यूलर) कह सकते हैं। कृष्ण-भक्ति शाखाका काव्य आगे चलकर कृष्ण-काव्य होकर रह गया। भक्ति-भावना बधुत कुछ दव गयी या गौण हो गयी। भक्ति और काव्यकी सीमाओंको इतना निकरसे मिलाकर बहुत कुछ समान रूप कर सकनेकी क्षमता कृष्ण-भक्ति शाखाके काव्यमें हो है। वह हिन्दी-साहित्यका एक प्रधान अंग है।

कृष्णाभिसारिका –दे॰. 'अभिसारिका', नायिका । केलि–दे॰ 'स्वभावज अलंकार', सत्रहवॉ । केतवापहुनुति–दे॰ 'अपहुनुति', छठा भेद ।

कैलास — कैलास का प्रयोग जायसीने 'स्वर्ग'के अर्थमें किया है। 'पद्मावत'में योगिया और नाथपन्धियोकी साधनाका प्रत्यक्ष प्रभाव दीख पड़ता है। उनकी साधनामें शिवका विशिष्ट स्थान है और शिवका स्थान कैलास है, इसीलिए सम्भवतः जायसीने 'कैलास'का प्रयोग स्वर्गके अर्थमे किया है (विस्तारके लिए दे०—'हुठयोग')। —रा० पू० ति०

कैलास—(१) कैलास पर्वत जहाँ मगवान् शिव अपनी प्रिया पार्वतीके साथ रहते है काँगडीसे आगे उत्तरकी ओर स्थित है और मानसरोवरके उत्तर-पश्चिममें काफी ऊँचाई तक इसकी हिमाच्छादित चोटियाँ उठती चली गयी हैं। पुराणों, तन्त्रों तथा सम्पूर्ण भारतीय धार्मिक साहित्यमें कैलास पर्वतका बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। 'स्कन्दपुराण'में तो यहाँ तक कहा गया है कि "वह व्यक्ति जो हिमाचलको देख भी नहीं सकता, केवल उसका स्मरण या ध्यान करता रहता है, काशीमें विधि सहित सम्पूर्ण पूजाची करने वालेसे भी महान् हैं"। 'महानिर्वाण तन्त्र'के प्रथम उल्लासके दो पृष्ठोंमें कैलासका बड़ा ही चित्रात्मक वर्णन किया गया है।

(२) तान्त्रिक साधकोंका विश्वास है कि जो कुछ ब्रह्माण्डम है, वह सब पिण्डमे भी है। उसकी कल्पनाके अनुसार शिव और कैलास भी इस पिण्डमे ही वर्तमान है। 'ललिता सहस्रनाम'के १७ वें इलोककी टीका करते हुए भास्कराचार्यने 'त्रिपुरासार'से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमे कहा गया है कि "कुलतत्त्वमे पारंगत साधकके लिये शिवकी प्राप्तिक निमित्तसे हिमालयस्थ कैलासपर जानेकी आवश्यकता नहीं, उनका कैलास सहस्रदल कमलमे ही स्थित है और यह सहस्रार कमल प्रत्येक न्यक्तिके पिण्डमे प्राप्य है। वस यही जाननेकी देर है कि वहाँ तक पहुँचा कैसे जाय। घर्चकों कामशः पार करती हुई उद्दुद्ध कुण्डलिनी शक्ति सबसे छपर ब्रह्माण्डमे स्थित सहस्रार नामक सातें चक्रमे परम शिवमे मिलती है। परमशिवका निवास होनेके कारण

महस्रारको शिवस्थान या कैलास भी कहा जाता है।

(३) 'पद्मावत'में जायसीने अनेक बार 'कविलास' शब्दका स्वर्गके अर्थमें व्यवहार किया है (जा० अ०; प्रमा०; २६: ५, २७: १, २६: २, ४३: ४)। — रा० सिं० केवल्य — शाब्दिक अर्थ है केवलभाव यानी आत्माके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार। यह शब्द योगशास्त्रका है, परन्तु अन्य शास्त्रोमें भी मोक्षके पर्यायके रूपमें प्रयुक्त होता है। भारतीय दर्शनके सभी सम्प्रदायोंने अञ्चानकृत आत्माके स्वरूपावरण या स्वरूप-संकोचरूपी बन्धका ज्ञान या विद्या द्वारा अपगमकर आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार ही मोक्ष या केवल्य माना गया है। केवल्यका स्वरूप विभिन्न दर्शनोंने भिन्न रूपोंने वर्णित हुआ है। परन्तु सर्वत्र यह ज्ञान द्वारा लब्ध तथा आत्म-साक्षात्कार और तत्वके यथार्थ स्वरूपावबोधके रूपमे वर्णित हुआ है।

हिन्दीमे कैवल्यका प्रयोग परम पद या मोक्षके पर्यायके रूपमें हुआ है। इसका वर्णन प्रायः राम-भक्ति-साहित्यमें उपलब्ध होता है। तुलसीने इसे अत्यन्त दुर्लम कहा है, जो कहनेमें कठिन, समझनेमे कठिन है और कठिनाईसे विवेक द्वारा ही इसका साधन किया जाता है, क्योंकि इसकी प्राप्तिमें अनेक प्रत्यूह और अन्तराय उत्पन्न हो जाते है— "कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक। होइ धुनाक्षर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक"। यही मुक्ति है जो रामकी भक्तिसे लब्ध होती है। —क॰ शु॰ कैशिकी चुक्ति—दे॰ 'नाट्यवृक्ति', पहली।

कोमला बत्ति -दे०: 'वृत्ति', तीसरी। कोश-वेदान्तमें आत्माको आवृत करने वाले पाँच कोश माने जाते है-अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, ज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष । शक्र-शोणितसे निर्मित शरीर ही अन्नमय कोष है और शेष चार कोशोंमे सबसे अधिक स्थूल है। अन्य कोष अन्नमय कोष (अर्थात् शरीर) से क्रमशः सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होते जाते हैं। गीता (३, ४२)मे यही बात कही गयी है। अन्नमय कोषको छोडकर शेष चार कोषोंको वेदान्तमें लिंग शरीर कहा जाता हैं (दे॰ लिंग शरीर) और माना जाता है कि मृत्युके बाद भी यह लिंग शरीर आत्माके साथ जाता है। कवीरपंथी साहित्यमें कोषोंकी संख्या नौ मानी गयी है-अन्नमय, शब्दमय, प्राणमय, आनन्दमय, मनोमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, आकाशमय एवं विज्ञानमय। कोशिक-उल्लक (दे०)का एक पर्यायवाची शब्द 'कोशिक' है। क़ुशिक नामके एक प्रसिद्ध मुनिका उल्लेख भी मिलता है, जिन्हें ठकुलीश (दे॰ 'लाकुल')का शिष्य बताया गया है। इनके नाम पर ही समूचा उल्ले सम्प्रदाय कौशिक कहलाता है। कह नहीं सकता कि ऋषि विश्वामित्र तथा वर्तमान कौशिक गोत्रीय क्षत्रियोंका प्राचीन उल्क सम्प्रदाय या वैशेषिक (शैव) दर्शनसे कोई सम्बन्ध है या नहीं। कालक्रमसे कौशिकका मूल अर्थ तो भूला दिया गया, पर यह परम्परा बची रही कि कौशिक उल्लूको कहते है। स्पष्ट है कि कौशिकका अर्थ उल्लू होता है। यह बात पुरानी है, बस उल्लू एक बेवकुफ और दिनमें एकदम न देखने तथा रातके अँधेरेमें सब कुछ देख सकने वाला पक्षी है और कौशिक इसी पक्षीको कहते है, यह अर्थ नया है। ऐसा होता ही है। बोधि-प्राप्त 'बौद्ध'का बुद्धू (मूर्ख, बेवकूफ) इसी तरह बना। इसी प्रकार बुद्धसे बुत बन गया। अशोकने जिन्हे आदरसहित बहुत-सा दान दिया। ऐसा पाषण्डी (सम्प्रदाय), छली, धूर्त आदिका अर्थ देनेवाला बहु प्रचलित शब्द बन गया। वैभाषिक सम्प्रदायको 'उल्टा-पल्टा बोल्ने वाला' कहकर समझा-समझाया गया (दे॰ 'सर्व-दर्शन-संग्रह'), जब कि इसका मूल अर्थ था 'विशिष्ट भाषा' या 'विशिष्ट भाष्य'को माननेवाला। कौशिकका 'उल्लू पक्षी' सम्बन्धी अर्थ ऐसे ही विकसित हो गया या कर दिया गया होगा।

क्रम-३० 'अर्थदोष', पॉचवॉ।

किया—साधककी अवस्थानुसार साधना-पद्धति अपनानेकी दृष्टिसे चार पद्धतियाँ प्रमुख थीं। इन्हींके नामपर वज्रयानके चार तन्त्र हो गये—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तर-तन्त्र। इनमेंसे क्रिया तथा चर्या केवल रौक्षोंके लिए आवश्यक है, क्योंकि वे अविकसित मनवाले होते है। क्रिया आदि कर्मप्रधान पद्धतिका नाम है, जिसमें प्रज्ञापार-मिताओंके संयम-पालनका विधान है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञाका सेवन ही क्रिया-साधना है। —थ० वी० भा०

क्रियाचतुर नायक-दे० 'नायक' (शृंगार) ।

क्रियात्मक आलोचना-शैली तथा वस्त अन्योन्याश्रित माननेवाले दर्शनशास्त्रज्ञोंने १९वीं शतीके अन्तिम चरणमें इस आलोचना-प्रकारका प्रवर्तन किया। इस वर्गने आलोचनाके बाह्यारोपित मानों, रूढ़ियों और व्याकरणात्मक सिद्धान्तोंके साथ-साथ व्यक्तिगत अनुभूतिके आधारपर टिकी प्रभाववादी आलोचनाका भी विरोध किया। इस वर्गका विश्वास है कि किसी कलाकृतिकी वास्तविक परख न तो साहित्यकारकी जीवनी, उसके धर्म या उसकी परिस्थितियोके ज्ञानके आधारपर की जा सकती है और न कलाकृतिमे प्रदर्शित रूढि, पाण्डित्य, व्याकरणात्मक विवे-चन, ज्ञब्दज्ञोधन अथवा छन्द-ब्यवस्था आदिके आधारपर ही। इन उपादानोंसे हम कलाकृतिकी अन्तरात्मातक नहीं पहुँच सकते। श्रेष्ठ आलोचना वही होगी, जिसमें आलोचक उक्त ऐतिहासिक तथा सौदर्यात्मक, दोनों दृष्टियोंको ध्यानमें रखता हुआ उनके समन्वयके साथ-साथ कलाकारके अनुभवोंको अपने मनमें जन्म देगा। आलोचकका काम है कलाकार और स्वयंके भाव-संसारमें एकरूपता स्थापित करना, अपने आपको उस कलाकारके व्यक्तित्वसे अभिन्न वर देना। इस प्रकारकी आलोचनाकी सफलताके लिये यह भी आवश्यक है कि आलोचक कविके लक्ष्य तथा उसके प्रतिपादन, दोनोके पारस्परिक सम्बन्धका पर्ण ज्ञान प्राप्त करें। लक्ष्य तथा उसकी सिद्धिमे जिस कृतिमे जितना अधिकतम निकट सम्बन्ध होगा, वह कृति उतनी ही श्रेष्ठ समझी जायगी। अतः क्रियात्मक आलोचनाके द्वारा यह जाना जाता है कि कृतिकारका लक्ष्य क्या है, उसे उसमें कितनी सिद्धि मिली, उसके लक्ष्य तथा उसकी कृतिमें सम्बन्ध स्थापित हो सका है या नही ? आदि। वस्तुतः कलाकारकी क्रियात्मकताका पुनर्निर्माण

क्रियात्मक आलोचनका मूल आधार है। कलाकृतिके आरम्भसे लेकर उसकी पूर्णतातक कलाकारको जो अनेकानेक अनुभव हुए है, जिन अनुभवोके आधारपर उसकी कलाकी स्थिति, विकास और पूर्णता निर्भर है, उन सब अनुभवोका क्रमशः पुनर्निर्माण करना ही इस आलोचनाका लक्ष्य है। इस आलोचनाकी सफलताके लिए आलोचकमें निरीक्षण, मनन, प्रेरणा, अनुभूति तथा अभिन्यक्ति, ये पाँच बातें आवश्यक मानी गयी है।

इस प्रकार इस आलोचना-प्रकारने अरस्त द्वारा निर्धा रत काव्य-समीक्षाके सिद्धान्तोंकी उपेक्षा करनेके साथ-साथ नाटक तथा काव्य आदि पृथक् रूढिवादी वर्गीकरणको भी महत्त्वहीन घोषित कर दिया । इस प्रणालीने न तो साहित्य-निर्माणमें काव्यात्मक विषयोंको ही मान्यता दी और न अलंकार-प्रयोग या नैतिकताको ही उपयोगी स्वीकार किया। इतना होते हुए भी इस प्रणालीमें कुछ ब्रुटियाँ अवस्य रह गयी। किसी विशेष नियमावलीके अभावमें रुचि-वैभिन्य या व्यक्तिगत क्षमता-अक्षमताके कारण कविके मनके साथ आलोचकके मनकी अभिन्नताकी सिद्धि एक कठिन कार्य जान पडता है। साथ ही विभिन्न कालों और परिस्थितियोंमें प्राचीन तथा नवीन साहित्य या कलाकृतिके मुल्यांकनकी समान-सिद्धि भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सौन्दर्यके अनेक स्तर तथा वर्ग हो सकते है, ऐसी अवस्थामें किसी कृतिकी श्रेष्ठता अंकित करना भी असम्भव हो जायगा। सामंजस्य कभी किसी कृतिकी श्रेष्ठ-ताका घातक नहीं हो सकता, क्योंकि सामंजस्यका निर्वाह करने पर भी कवियोंकी कोटियाँ वनी रहती — আ০ স০ বী০

किया-दोष-दे॰ 'शब्द-दोष', बीसवॉ 'वाक्य-दोष'। कियाविदग्धा-दे॰ 'विदग्धा', नायिका।

कियावैचित्र्यवकता-दे॰ 'पदपूर्वार्धवक्रता', छठा प्रकार । कोध-रौद्र रसका स्थायी भाव कोध है। 'साहित्यदर्पण'-में इसका लक्षण है-"प्रतिकूलेपु तैक्षण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते" (३: १७७), अर्थात् शत्रु इत्यादि प्रतिकुल विषयोमें तीक्ष्णताका उदबोध कोध कहलाता है। रामदहिन मिश्रका लक्षण अधिक स्पष्ट है, 'असाधारण अपराध, विवाद, उत्ते-जनापूर्ण अपमान आदिसे उत्पन्न हुए मनोविकारको क्रोध कहते है' (काव्यदर्पण, पृ०९५)। पण्डितराजने क्रोधकी अन्य संज्ञा 'जलन' कही है। यह स्मरणीय है कि यदि यह जलन किसी साधारण अपराधसे उत्पन्न हुई हो, तो वह कठोर वचन बोलने तथा मौनावलम्बन इत्यादिके रूपमे प्रकट होती है और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलायेगी, क्रोध नहीं। क्रोध प्रवल, उत्कट तथा 'शत्रु-विनाश आदिका कारण' होता है। हृदयके प्रिय और अनुकूल भावोंपर आघात होनेसे भी क्रोधका प्रादुर्भाव होता है (हरिऔध)।

मृकुटिमंग, ओठ चनाना, ताल ठोंकना, डाँटना, अपने पिछले कामोंकी नड़ाई करना, शस्त्र घुमाना, उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, दाँत निकालना, नेत्रोका लाल हो जाना इत्यादि क्रोध 'स्थायी'के व्यंजक अनुभाव है। दाँत निकालने, स्वेद आदि अनुभावोंके सम्बन्धमें विकासवादियोंन

की व्याख्या मनोरंजक है। उनका कथन है कि सभ्यताके आविर्मावके पूर्व जब विरोध अस्त्र-रास्त्रादि नहीं बने थे, राष्ट्रको देखकर लोग उसे क्रोधमें आकर काट खानेको दौड़ जाते थे। अब सभ्य हो जानेपर राष्ट्रके प्रति यह दौड़कर काटनेवाला आचरण समाप्त हो गया है, किन्तु दौड़नेकी क्रियाके साथ सहचार करनेवाले तत्त्व दॉत निकालना, दॉत पीसना, नथुनोंका फुला लेना, स्वेद इत्यादि अब तक बने हुए है और क्रोधकी व्यंजनामें सहायक होते हैं। लेकिन जैसा गुलाबरायने कहा है, श्रृंगारमें पसीना आनेकी व्याख्या विकासवादी क्योंकर करेंगे? यह भी रोचक प्रसंग होगा।

मद, उग्रता, अम्पं, स्मृति, चंचलता, अस्या, आवेग इत्यादि चित्तवृत्तियाँ क्रोध 'स्थायी'के साथ सहचार करने- वाले व्यभिचारी भाव है। उदाहरण—"उठ वीरोंकी भाव रागिनी, दलितोंके दलकी चिनगारी। युग-मदित यौवनकी ज्वाला, जाग-जाग री क्रान्तिकुमारी" (दिनकर)। यहाँ क्रिकी ललकारसे 'क्रोध' भावकी व्यंजना हुई। स्थायीका प्रस्फुटन नहीं हुआ है, क्योंकि वह तो रौद्र रसमे ही सम्भव है। —र० ति०

क्लिष्ट-दे० 'शब्द-दोष', बारहवॉ 'पद-दोष'।

क्लेश-योगदर्शनमें समाधिको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस दर्शनके मतसे थोगका अर्थ ही होता है 'समाधि', क्योकि चित्तवृत्तिके निरोधसे समाधि सम्पन्न होती है और 'चित्तवृत्तिनिरोधको ही योग' कहा गया है (यो० सु० १।२) । इस समाधि अर्थात योगकी सिद्धि-प्राप्ति तथा क्लेशोंको दूर करनेके लिए (यो० सू० २,२) क्रिया-योगको अनिवार्य बताया गया है। योग दर्शन (२,३)के अनुसार "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेद्याः पंच क्लेद्याः"—अर्थात् अविद्या, असिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश-ये ही पाँच क्लेश है। भाष्यकार व्यासने इन्हें 'विपर्यय' कहा है और इनके अन्य पाँच नाम बताये है-तम, मीह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र (यो॰ सु॰ १, ८का भाष्य) । इन क्लेशोंका साधारण लक्षण है कष्टदायकता। परिणामतः इनके रहते आत्मस्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता। इनमें प्रथम (और सभी क्लेशोंका मूल कारण) अविद्या है, जो प्रसुप्त, तन्, विच्छिन्न और उदार नामक चार रूपोंमें प्रकट होती है। पातंजल 'योग दर्शन' (सू० २,५)के अनुसार "अनित्य, अञ्चाचि, दुःख तथा अनात्म विषयपर क्रमशः नित्य, श्चि, सख और आत्म स्वरूपताकी ख्याति 'अविद्या' है।" अर्थात अविद्या वह भ्रांनज्ञान है, जिसके द्वारा अनित्य नित्य मालूम पड़ता है। अभिनिवेश नामक क्लेशमे यही भाव प्रधान होता है। अशुचिको शुचि समझना भी अविद्या है, जैसे अनेक अपवित्रताओं और मलोंके आश्रय शरीरको पवित्र समझना। पण्डित जेन "स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निस्यन्द, निधन और आधेयशौचत्वके कारण शरीरको अशुचि मानते है, लेकिर जो अविद्यायस्त है ऐसा नही मानते"। राग नामक क्लेशमें इसका प्राधान्य होता है । जो दुःखदायक है, उसको सुखदायक समझना भी अविद्या है। इस प्रकार एक ओर जहाँ अविद्याको पाँच क्लेशों में एक क्लेश माना गया है, वहीं इसे सभी क्लेशोंका मूल भी कहा गया है। नित्यता शुचिता, सुख और आत्म नामक चार झमोंका आश्रय लेकर रहनेके कारण इस अविद्याको असुष्यदा कहा गया है। संतोंने अविद्या (= माया)को बहुआ गाय कहा है वह इन्हों चार पदोंको ध्यानमें रखकर।

इसरा वलेश अश्विता है। अश्विता—अर्थात्, अहंकार-बुद्धि और आत्मा को एकही मान छेना। 'मै' और 'मेरा'-पनकी अनुभूति ही असिता है। तीसरा क्लेश राग है। पतंजलिको मतमे 'सखानुज्ञायी रागः' (यो० सू० ७), अर्थात् मुख और उसके साधनोके प्रति खिंचाव, तृष्णा या लोभ ही 'राग' है। किसीके प्रति राग होनेपर मन विवश होकर अनायास ही उसकी ओर खिच जाता है और यों क्लेशका कारण बनता है। चौथा क्लेश द्वेप है। पतंजलिने इसे 'द्खानुरायी' कहा है (यो० सू०८)। दुःख या दुःख-जनक वृत्तियोंके प्रति जिघांसा या क्रोधकी अनुभृति होती है, वही डेप है। क्रोध, क्षोभ, जिघांसा और प्रतिघातकी भावना तभी जगती है, जब हम किसी व्यक्ति या वस्तुको किसी अनुचित या अननुक्ल कार्यका कर्त्ता मान लेते है। लेकिन यह मान्यता अविद्याजन्य है । वस्तुतः आत्मा अकर्त्ता है, अतः द्वेपके वश होना अकारण क्लेशको आमंत्रित करना है। अभिनिवेश पॉचवॉ क्लेश है। अभिनिवेशका अर्थ है—"जो सहज या स्वाभाविक क्लेश अविद्वान् और विद्वान् सभीको अनुभूत होता है, वही अभिनिवेश है", (पतंजिल थोग, २: ९)। अभिनिवेश, जिजीविषाका दूसरा नाम है। प्रत्येक विद्वान् अविद्वान्की यह निरपोषित अभिलाषा रहती है कि उसका नाश न हो, वह सदैव जीवित रहे। यक्ष द्वारा पाण्डवोंसे पूछे गये चार सवालोंमें एक सवाल यह भी था कि "इस दुनियाका सबसे बडा आश्चर्य क्या है ?" और युधि छरने जवाब दिया था, "नित्य प्राणी मरते जा रहे हैं, पर जो बचे है, वे सदैव जीवित रहना चाहते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा" ? अभिनिवेश यही आश्चर्य है और अनन्त कष्टों तथा पीड़ाओंको उत्पन्न करता रहता है। इसी जिजीविषाके वशीभृत होकर आदमी न्याय-अन्याय, कर्म-कुकर्म, बुरा-भला, नीच-ऊँचका विचार नहीं कर पाता और अपनेको नित्य नये क्लेशों में बाँधता जाता है। योगशास्त्रमें इन क्लेशोंका क्षय आवश्यक बताया गया है। जब तक इनका शमन नहीं कर लिया जाता, कैवल्यकी उपलब्धि कठिन है। क्रिया योगकी सहायतासे योगी इन क्लेशोंको क्षीण करता है और अन्तमें इनका नाश करके परमार्थको सिद्ध कर लेता है। क्लेंसिसिडम-'क्लैसिसिडम'का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय, गम्भीरतम आदि । अतः 'क्लासिक्ल'का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ शास्वत, उच्च कोटिकी वस्तु ।

वस्तुतः इस शब्दका प्रयोगं यूनान और रोमके साहित्य-के लिए हुआ। यूरोपमें १५वीं, १६वीं शताब्दीमें साहि-रियकोंकी रचनाकी कसौटीके लिए ग्रीक और रोमीय साहित्यको आदर्श माना गया। इसी तरह १८वीं शतीमें इंग्लैण्डके साहित्यिकोंके आदर्श थे होमर, वर्जिल, होरेस तथा अरस्तू। इस युगको 'नव्य शास्त्रवादी' कहा गया।

अरस्तूने यह देखा कि कलाकृतियोंमें विभिन्नताओंके बावज़ूद एक ही सत्य है। उन सबकी महनीयताका एक ही सत्य है—वह सत्य अनेकत्वमे एकत्व है। अतएव उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि समस्त कलाकृतियोंमें एकत्व होनेका कारण उनका उद्देश्य है। तात्पर्य यह कि उद्देश्यकी एकता ही कलाकृतियोंमें एकत्व स्थापित करती है। इसी दृष्टिकोणसे रचनामें बाह्य रूप-सौष्ठव प्रधान हो उठता है और आलोचक उसकी खोज-बीन करता है। इसी विचारधाराको 'क्लासिकल' विचारधारा कहते है।

सबसे पहले ह्यमने एक प्रश्न उठाया कि होमर आजसे हजार-दो हजार साल पहले रोम तथा एथेन्समें पढ़े जाते थे और वे आज भी लन्दन और पेरिसमें पढ़े जाते है। अनेक विभिन्नताओं और परिवर्तनोंके होते हुए उनका महत्त्व अक्षण है, इसका क्या कारण है ? साहित्यिकोंने यह अन-भव किया कि जो साहित्य कालकी कसौटीपर खरा उतरता है, वही साहित्य उच्च, श्रेष्ठ अथवा क्लासिकल कहलायगा। इस प्रकार क्लासिकल साहित्य जीवनके उन तत्त्वोंकी चेतना-का वहन करता है, जिनकी उपयोगिता या सार्थकता प्रत्येक युग तथा देशमें अक्षुण्ण रहती है। अतएव, आलोचक साहित्यके इसी स्वरूपकी परीक्षा करता है, क्योंकि क्लासि-कल साहित्यके अध्ययनका अर्थ हुआ रसात्मक संवेदनका आकलन, जो वस्तृतः मनुष्य-चेतनाके अंग और प्रतीक है। इस प्रकार इस पद्धतिका आलोचक साहित्यकी श्रेष्ठता. उच्चताके स्वरूप तथा उसके हेतुओंका विश्लेषण-विवेचन करता है। इस पद्धतिके आलोचकका विश्वास है कि कुछ साहित्य शाइवत, अविचल अथवा क्लासिकल है और क़ुछ गत्यात्मक, स्वच्छन्द या रोमांसिक हैं।

संस्कृत आचार्योंके चिन्तनकी प्रणाली इनसे सर्वथा भिन्न थी। उन लोगोंने इस दृष्टिसे न तो साहित्यका अध्यन्यन किया, न विवेचन। समस्त संस्कृत साहित्यकास्त्रका केन्द्रविन्दु था शरीर और आत्मा, रस, ध्विन, वक्रोक्ति, रीति और अलंकार। वैसे कुछ विद्वानोंने संस्कृत साहित्यके हासोन्मुखी कालको लक्ष्य करते हुए अतीतके साहित्यके श्रेष्ठ और शाश्वत माना। इस दृष्टिते संस्कृत साहित्यके इतिहासमें इस सिद्धान्तको घटित किया जा सकता है, किन्तु वह कहाँतक उचित होगा यह विवादास्पद है।

हिन्दीमें निश्चय ही इस पद्धतिका स्वरूप देखा जा सकता है, परन्तु उस रूपमें नहीं, जिस रूपमें अंग्रेजी या यूरोपीय साहित्यमें । हिन्दीका रीतियुग अतीतके साहित्य-को इसी रूपमें ग्रहण करता है। इस युगके आचार्योंके प्रेरणा-स्रोत थे संस्कृतके हासोन्मुखी साहित्यिक आचार्य। इनकी दृष्टि उन्हीपर टिकी थी और इन लोगोंने जो कुछ भी लिखा, वह उन्हींको आदर्श मानकर। कुछ लोगोंकी रायमें रामचन्द्र शुक्ल भी शाइवतवादी हैं, क्योंकि सूर, तुलसी और जायसीको उन्होंने श्रेष्ठ और क्लासिकल माना। उन्होंने इन्ही श्रेष्ठ कवियोंके आधारपर श्रेष्ठ साहित्यके कुछ मापदण्ड भी बताये। फिर भी इन्हें रसवादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। आधुनिक आलोचकांमें विश्वनाथ मिश्र, कृष्णशंकर शक्ल, गुलाबराय, देवराजके नाम लिये जा सकते हैं। साहित्यके निश्चित, शास्त्रीय सिद्धान्तोंमे इनका अटल बिश्वास है। -रा० कु० स० काँरी-जिसका विवाह न हुआ हो। सन्तीने मायाको सदा क्वाँरी शब्दसे सम्बोधित किया है :—''तुम बूझहु पंडित कवन नारि। काहू न वियाहल है कुमारि" (कबीरबीजक, --उ० शं० शा०

खंडकथा-दे॰ 'कथाकाव्य', 'खण्डकाव्य'। खंडकाच्य-यह प्रवन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप है। संस्कृतके पूर्ववर्ती आलंकारिकोने प्रवन्धकाव्य शब्दका प्रयोग अधिक न करके प्रायः सर्गवन्य या सर्गवन्यकाव्य शब्दका ही प्रयोग किया है, क्योंकि प्रबन्धके भीतर वे सर्गबन्धकाव्य-के अतिरिक्त रूपक, कथा, आख्यायिका आदि सभी प्रबन्धा-त्मक साहित्यरूपोंको ग्रहण करते थे। भामह और दण्डीने सर्गवन्यकाव्यका अर्थ विशेष रूपसे महाकाव्य ही लिया है और खण्डकान्यकी चर्चा ही नहीं की है दि० कान्यालंकार, १: १९: २१ और काव्यादर्श, १: १३: १४) । रुद्रटने सभी प्रवन्धो (प्रवन्धकाव्य, कथा, आख्यायिका आदि)को महत् और लघु, इन दो प्रकारोंमें विभक्त कर उनका अन्तर इस प्रकार बताया है-"तत्र महान्तो येषु च वितस्तेष्विभ-धीयते चतुर्वर्गः सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि। ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः' (काव्यालंकार, ८:५:६)। इस तरह सर्वप्रथम रुद्रटने प्रबन्धकाव्यके दो रूपो-महान काव्य (महाकाव्य) और लघ (खण्डकाव्य)पर मौलिक ढंगसे विचार किया है। आनन्दवर्द्धनने (ध्वन्यालोक, ३:७) कान्यभेदोंका विवरण देते हुए प्रवन्धकान्यके लिए सर्गबन्ध शब्दका ही प्रयोग किया है। यद्यपि कथाके भीतर उन्होंने खण्डकथा, परिकथा और सकलकथाका उल्लेख किया है, पर सर्गवन्धकान्यके भीतर महाकाव्य, खण्डकाव्य आदिका रूप-विभाजन नहीं किया है। उसी तरह हेमचन्द्रने कान्यानुशासनमें अन्यकान्यमें कथा, आख्यायिका और चम्पुके साथ केवल महाकान्यकी गणना की है। सम्भवतः उन्होंने प्रबन्धकाव्यके अर्थमे ही महाकाव्य शब्दका प्रयोग किया है और उसमें खण्डकान्यका उल्लेख नही किया है। विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमे महाकाव्यका लक्षण बतानेके बाद खण्डकाव्यका उल्लेख इस प्रकार किया है-"भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमृत्थितम्। प्रवर्णः पद्यैः सन्धिसामस्यविज्ञतम् । खण्डकाव्यं भवेत्काव्यन स्यैकदेशानुसारि च।' (सा० द०, ६: ३२८-३२९)। इस परिभाषाके अनुसार किसी भाषा या उपभाषामें सर्ग-बद्ध एवं एक कथाका निरूपक पद्ययन्थ जिसमें सभी सन्धियाँ न हों, 'काव्य' कहलाता है और काव्यके एक अंश-का अनुसरण करनेवाला खण्डकाव्य होता है। विश्वनाथकी इस परिभाषाका अनुसरण करके हिन्दीमें विश्वनाथ-प्रसाद मिश्रने 'वाड्ययविमर्श'में प्रवन्धकाव्यके तीन भेट किये है:--महाकान्य, एकार्थकान्य और खण्डकान्य । उनके अनुसार महाकाव्य और खण्डकाव्यके बीचकी कड़ी एकार्थ-कान्य है, जिसे विश्वनाथने केवल 'कान्य' कहा है। उन्होंने खण्डकाव्यकी परिभाषा यह बतायी है, "महाकाव्यके ही ढंगपर जिस काव्यकी रचना होती है, पर जिसमे पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकान्य कहते है। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है, जिससे वह प्रस्तृत रचनाके रूपमें

स्वतः पूर्ण प्रतीत होता है" (वाड्ययिवमर्श, द्वितीय संस्करण पृ० ३९)। एकार्थकाव्य और खण्डकाव्यका अन्तर उन्होंने यह बताया है, "खण्डकाव्यका विस्तार भी थोडा होता है। एकार्थ काव्यकी मॉति पूर्ण जीवनका कोई उद्दिष्ट पक्ष उसमें नहीं होता" (वही)।

सामान्यतया ८ या ८ से अधिक सर्गीवाले प्रबन्ध-काव्योंको महाकाव्य और ८ से कम सर्गीवाले काव्योंको खण्डकाव्य माना जाता है, परन्तु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वहीं प्रवन्धकाव्य माना जायगा, जिसमें महदुदेश्य, महच्चरित्र, समग्र युगजीवनका चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्यके सभी गुण पाये जायॅ (दे०-'महाकाव्य') । जिन प्रबन्धकाव्योंमें महाकाव्यके उपर्यक्त लक्षण नहीं मिलते, वे चाहे आकारमें वडे हों या छोटे, चाहे आठसे कम सर्गवाले हो या अधिक सर्गवाले, महाकाव्य नहीं माने जायँगे। ऐसे प्रबन्धकाव्य दो प्रकारके होते है-एक तो वे, जिनमें किसी व्यक्तिके सम्पर्ण जीवनका चित्रण तो होता है, पर समय युग्जीवनका चित्रण नहीं होता और न महाकान्यके अन्य सभी लक्षण पाये जाने हैं। इसरे वे, जिनमें जीवनका खण्ड दश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तुकी र घुता तथा उद्देश्यकी सीमाओंके कारण बृहदाकार तथा महान नहीं वन पाते। इनमें से प्रथम प्रकारके प्रवन्धकाव्यको एकार्धकाव्य और दसरेको खण्डकाच्य कहना उचित ही है। इस प्रकारके खण्डकान्योको ही रुद्रटने लघुकान्य कहा है। लघुकान्य या खण्डकाञ्यके सम्बन्धमें रुद्रटका यह कथन सर्वथा उचित है कि उसमें चतुर्वर्ग फलमेसे किसी एक फलको उद्देश्य रूप-में अपनाया जाता है और अनेक रस असमग्र रूपमे पाये जाते हैं अथवा कोई एक ही रस समग्र रूपमे निष्पन्न होता है। आधुनिक काव्यमे रस-दृष्टि प्रधान नहीं रह गयी है, चरित्रांकनको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और चतर्वर्ग फलवाला सिद्धान्त भी आज मान्य नही रह गया है। अतः रुद्रदक्षी परिभाषा आजके खण्डकाव्यपर पूर्णतया नहीं घटित हो सकती । विश्वनाथ कविराजकी यह परिभाषा कि खण्डकाव्य काव्यके एक अंशका अनुसरण करनेवाला होता है, अधिक स्पष्ट नहीं है क्योंकि कभी-कभी किसी चरित्रके खण्ड जीवनका चित्रण करनेवाले काव्य भी महाकाव्य होते हैं। जिस जीवन-खण्डको चित्रित किया जाता है यदि उसमे महत्ता है और उस काव्यकी शैली भी उदान्त और गरिमामधी है, तो उस कान्यको महाकान्य-के गुणोंसे युक्त मानना चाहिये। वस्तुतः महाकान्यात्मक उपन्यास (एपिक नॉवेल), सामान्य उपन्यास और कहानीमें जो अन्तर है, वही अन्तर महाकान्य, एकार्थकान्य और खण्डकाव्यमें है। सीमित दृष्टिपथसे जीवनका जितना दृश्य दिखाई पडता है, उसीका चित्रण कहानी और खण्डकाव्य दोनोंमें होता है। ऐसे जीवन दश्यमें महाकान्य और महाकान्यात्मक उपन्यास जैसी न्यापकता, उँचाई और गहराई नही होती और न उसमें एकार्थकाव्य तथा सामान्य उपन्यासकी तरहका फैलाव, उनार-चढाव और मोड ही होता है, विन्तु उसमें अन्विति और क्साव अधिक होता है। इसी कारण खण्डकाव्य और कहानीमें प्रासंगिक और जवान्तर कथाएँ नहीं होतो और न कथामें अनावश्यक रफीति ही होती है। —शं० ना० सि०

संस्कृत काव्यशास्त्रमें खण्डकाव्यकी कोई परिभाषा नहीं मिलती। साहित्यदर्पणके 'एकदेशानुसारी काव्य खण्डकान्य होता है' इस कथनके ही आधारपर आधुनिक लेखकोंने खण्डकाव्यके लक्षण देनेका प्रयतन किया है। परन्त इस विषयमें संस्कृत काव्यके उदाहरणोसे भी कोई सहायता नहीं मिलती, क्योंकि संस्कृतमे महाकाव्यकी महनीयता और जीवन-व्यापिनी समग्रतासे रहित, किन्तु उसीकी भॉति सर्गबद्ध कथात्मकतासे समन्वित कोई ऐसे उदाहरण नहीं मिलते, जिन्हे नवीन परिभाषाके अनुसार खण्डकाव्य कहा जा सके और जो किसी अन्य काव्य-रूपमे अन्तर्भृत्त न माने गये हो। वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत साहित्यके देशी-विदेशी सभी समीक्षकों और इतिहास-लेखकोंने मेघदूत, घटकपर, चौरपंचाशिका और मेघदूतके अनुकरणमे लिखे गये अनेकानेक सन्देश-काव्योंको, जिन्हे खण्डकान्य कहा जा सकता है, गीतिकान्यमे ही सम्मिलित किया है। वास्तवमें संस्कृत साहित्यके समीक्षक खण्डकाव्यों-को ही गीतिकाव्य कहते है। गीतिकाव्य मंज्ञाका व्यवहार संस्कृत कान्यरूपोंके सम्बन्धमे नहीं हुआ है। यह बात अवस्य विचारणीय है कि संस्कृतका यह तथाकथित गीति-कान्य उसकी स्वीकृत परिभाषापर कहाँतक खरा उतरता है (दे० 'गीतिकान्य')।

प्राकृत और अपभ्रंशमें सैकड़ों ऐसे कथात्मक काव्य-यन्थ हैं, जो महाकाव्य नहीं कहें जा सकते, अतः उनके लिए प्रवन्धकाव्य या कथा-प्रवन्धकाव्यकी सामान्य परिभाषाका प्रयोग किया गया है। इनमें अनेक चरित-काव्य हैं, जिनका उद्देश्य किमी आदर्शकी शिक्षा देना अधिक है, काव्यगत आनन्द साधन-मात्र है। इन्हीं प्रवन्ध और चरित-काव्योंके अन्तर्गत कुछ उदाहरण खण्डकाव्यके भी प्राप्त हो सकते है। आदि और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्यमें भी छोटे-

जाद जार मध्यक्षालान हिन्दान्साहित्यमं मा छाट-बड़े सैकड़ों कथात्मक काव्य मिलते हैं। इनमेंसे यदि रासो नामक काव्य यन्थोंको वीरगीत या नृत्यगीत या लोक-गाथा (बैलेड) मानकर अलग कर दिया जाय, तो 'पद्मावत' को छोड़कर समस्त प्रेमाख्यानक काव्य (दे०—'प्रेमाख्यानक काव्य') तथा राजाश्रित किवयों द्वारा रचा गया समस्त प्रशस्तिकाव्य (दे०—'वीर काव्य') खण्डकाव्यकी परिभाषा-में अन्तर्भुक्त हो। सकता है। इनके अतिरिक्त वैष्णव भक्ति-भावनाको प्रेरणासे लिखे गये कुछ कथा-प्रबन्धात्मक काव्य इसी कोटिमें आ सकते है। इनमे एक और कृष्ण-कथासे सम्बन्धित विशिष्ट लीलाएँ—कालिय-दमन, गोवर्धन-पूजा, रासलीला आदि तथा अन्य कथात्मक प्रसंग—सुदामा-चरित, रुकिमणी-मंगल आदि हैं और दूसरी और राम-कथाके प्रसंगोंपर आधारित स्वयंवर, अद्वमेध आदि सम्बन्धित काव्ययन्थ हैं।

आधुनिककालीन हिन्दी साहित्यमें अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती है, जो कथा-प्रबन्धके लक्षणोंसे पूर्णतया समन्वित होते हुए भी महाकाव्य नहीं कही जा सकती। इनकी रचनाकी प्रेरणा बहुत कुछ पाइचात्य साहित्यसे मिली है और वे अंग्रेजीके पेस्टोरल (ग्रामकान्य) इडिल और एकलोग् (प्रत्युत्तर कान्य) अथवा बैलेड (लोकगाथा) आदि कान्यरूपोंके अन्तर्गत रखी जा सकती है। परन्तु उनकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यदि उन्हें किसी सामान्य कान्यरूपकी परिभापाके अन्तर्गत रखा जा सकता है, तो उसके लिए सबसे अधिक उपयक्त परिभाषा खण्डकान्य ही है।

उपलब्ध साहित्यको ध्यानमें रखते हुए खण्डकाव्यके जो आधुनिक लक्षण बताये गये है, उनमें अभावात्मक लक्षणोंकी ही प्रधानता है। परन्त इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो महाकाव्यके लक्षणोंपर खरा नहीं उतरता, वह अनिवार्यतः खण्डकाच्य कहा जा सकता है। असफल महाकाव्य या लघु आकारके किसी एक घटना-प्रसंगपर आधारित लीलाकाव्य या चरितकाव्य मात्रको खण्डकाव्यकी संज्ञा दे देना समीचीन नहीं है। खण्डकाव्यकी स्वतन्त्र और निइचयात्मक विशेषताओका निरूपण सम्भव है। परन्त इनके लिए इस नामसे अभिहित समस्त रचनाओंका विवेचन, विश्लेषण आवश्यक होगा। मोटे ढंगसे कहा जा सकता है कि खण्डकाव्य एक ऐसा पद्यबद्ध कथाकाव्य है, जिसके कथानकमे इस प्रकारकी एकात्मक अन्विति हो कि उसमें अप्रासंगिक कथाएँ सामान्यतया अन्तर्भक्त न हो सकें, कथामे एकांगिता-साहित्यदर्पणके शब्दोमे एकदेशी-यता हो तथा कथा-विन्यासमें क्रम-आरम्भ, विकास, चरमसीमा और निश्चित उद्देश्यमें परिणति हो। कथाकी एकांगिताके परिणाम स्वरूप खण्डकाव्यके आकारमें लघुता स्वाभाविक है और साथ ही उद्देश्यकी महाकान्य जैसी महनीयता सम्भव नहीं है। कथाकी एकांगिताके ही फल-स्वरूप खण्डकाव्यमें गीतिके अनेक लक्षण स्वतः आ जाते है। खण्डकाव्यका प्रतिपाद्य चाहे कोई चरित्र, घटना-प्रसंग, परिस्थिति-विशेष या कोई सामयिक अथवा जीवन-दर्शन सम्बन्धी सत्य हो, कवि अपने व्यक्तित्वका उसके साथ अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठतापूर्वक तादात्म्य कर लेता है। अतः खण्डकाव्यके कविका दृष्टिकोण उतना व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तपरक नहीं रहता, जितना महाकाव्यके लिए अपेक्षित है। कथा-विन्यासमें नाटकीयता खण्डकाव्यके आकर्षणको बढा देती है। खण्डकान्यमें वर्णन-विस्तार नही हो सकता । उसकी वस्तु भावात्मक अधिक होती है, अतः गीतिकाव्यकी भावप्रवणता और तीव्र अनुभृति उसमें जितनी अधिक होती है, उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार उसकी कथाका विकास बहुत कुछ भाव-विकासपर आधारित होता है। खण्डकान्यका यही लक्षण उसे चरितकाव्य या साधारण प्रबन्धकाव्यसे भिन्न करता है। खण्डकाव्यका कथानक पौराणिक, कल्पित, प्रतीकात्मक-किसी भी प्रकारका हो सकता है। बाह्य रूपरचना सम्बन्धी सर्गबद्धताका नियम जिस प्रकार महाकाव्यकी रचनामें कठोरताके साथ पालन नहीं किया गया है, उसी प्रकार खण्डकान्यके लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी वस्तु भिन्न-भिन्न सगींमें अनिवार्य रूप-से विभाजित होनी चाहिये। सर्गोंकी संख्या निर्धारित करना तो और भी अप्रासंगिक है। साधारणतया खण्ड-

काव्यमें छन्दोंकी विविधता नहीं होती, प्रायः समपूर्ण काव्य एक ही छन्दमें रचा जाता है। परन्तु इसके अनेक अपवाद भी हैं। बीच-बीचमें गीतोंका प्रयोग भी खण्डकाव्यकी एक विशेषता कही जा सकती है। आधुनिक कवियोमें दिवेदी-कालके कवियोंने सुन्दर खण्डकान्योंकी रचना की है। मैथिलीशरण गुप्तके 'जयद्रथवध', 'पंचवदी', 'वन-वैभव', 'वक-संहार', 'सिद्धराज', 'कुणालगीत', और 'नहुष'; रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वम'; जगन्नाथदास 'रलाकर'का 'गंगावतरण': सियारामशरण ग्रप्त-के 'मौर्य-विजय', 'अनाथ', 'आत्मोत्सर्ग' और 'उन्मुक्त'का खण्डकाव्यके अच्छे उदाहरणोंमें उल्लेख किया जा सकता है। कुछ छायावादी कवियोंने भी खण्डकाव्यकी रचना की है। जयशंकर 'प्रसाद'के 'प्रेमपथिक', पन्तके 'ग्रन्थ', निरालाके 'तल्सीदास' और रामकमार वर्माके 'चित्तीरकी चिता'में अन्तर्मखी आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणकी प्रवृत्ति अधिक है। रामायण, महाभारत, पुराण और बौद्धसाहित्य तो खण्डकाव्योंके कथानकोंके सबसे अधिक उपजीव्य रहे ही है, मध्यकालीन भारतीय इतिहासकी वीरता और आत्मत्याग-पूर्ण कथाओं तथा रोमांसिक प्रेम और आधुनिक देशभक्तिके भावोंको उदबद्ध करनेवाली कल्पित कथाओंको भी खण्ड-काव्यका विषय बनाया गया है (दे०—'कथाकाव्य', प्रबन्धकाव्य, 'महाकाव्य')। खंडित व्यक्तिरव (split personality)-सामान्य व्यक्तित्व अपने सभस्त घटकोंका सामंजस्यपूर्ण समेकित रूप होता है और एक स्थायी इकाईकी भाँति व्यवहार करता है। विकारग्रस्त होनेपर उसके ये घटक असम्बद्ध या विकीर्ण हो जाते हैं, समेकन भंग हो जाता है। मनोवैद्या-निक भाषामे इस दशाको खण्डित व्यक्तित्व कहते है। यह स्थिति प्रवल मानसिक संघर्षसे उत्पन्न होती है, जिसके कारण व्यक्तित्वके कुछ अंशोंपर चेतनाका अधिकार नही रह जाता । असंबद्ध अंश कोई विचार, भाव या प्रवृत्तियाँ हो सकती है। किसी सुपरिचित नाम या घटनाका भूल जाना असम्बद्ध विचारका उदाहरण है। इसी प्रकार संवेगको उत्पन्न कर सकनेवाली स्थितिके मध्य होते हुए भी व्यक्ति पहलेकी तरह उससे प्रभावित नहीं हो पाता। प्लांचेट द्वारा स्वसंचालित अथवा तथाकथित दिवंगत आत्माओंसे प्रेरित लेखन और त्राटकके द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यक्तित्वके असम्बद्ध सरल घटकोकी प्रक्रिया ही होती है। दिवंगत आत्माओंसे तथाकथित बातचीत करने और उनसे सन्देश प्राप्त करने-वाले 'माध्यमो'मे व्यक्तित्वके असम्बद्ध अंशोंका संघटन अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत होता है। ये अपने ही असम्बद्ध विचारोंको मृतककी वाणी मानकर स्वयं तथा दूसरोंको धोखा देते है।

असम्बद्ध विचारों, भावों और प्रेरणाओंकी संख्या कभी-कभी काफी प्रचुर हो जाती है और सुसंघटित होकर एक ही व्यक्तिमें एक दूसरे स्वतन्त्र व्यक्तित्वका रूप छे छेती है। यह दूसरा व्यक्तित्व पहछेके साथ-साथ भी रह सकता है अथवा वे एक दूसरेके बाद प्रकट होते रहते हैं। कभी-कभी एक ही व्यक्तिमें दोसे अधिक व्यक्तित्व भी उत्पन्न हो जाते हैं। अंग्रेजीके प्रसिद्ध छेखक रावर्ट छुई स्टीवेंसनकी

प्रख्यात कृति 'डाक्टर जेकिल और मिस्टर हाइड' इस विषयका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

साधारण जीवनमें भी खण्डित या असम्बद्ध व्यक्तित्वके

पर्याप्त दृष्टान्त मिलते रहते है। हमारे आदशों और

आचरणमें अन्तर इसी असम्बद्धताका चोतक है। भीतरसे शाक्त, बाहरसे शैव और सभामे वैष्णव रूपोको धारण करनेवाले प्राचीन कौलोके प्रतिरूप आजकल भी मिलते हैं। मार्क्सवाद और अद्वेत वेदान्त अथवा ईसाई धर्ममें एक साथ विश्वास रखना, व्यक्तित्व, जीवन और व्यवसायकी नैतिकताओंको भिन्न समझना आदि इसी स्थितिके उदाहरण है। सम्भवतः सम्पूर्ण विश्व एक ऐसी ही नैतिक और आत्मिक असम्बद्धता या खण्डिततासे पीड़ित है। महाभारत-कालमे भी कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति थी। भीष्म, द्रोण और विदर जैसे धर्मप्राण व्यक्ति पाण्डवोंके प्रति दयोंधन-के अन्यायोंका विरोध या उनसे विद्रोह नहीं कर पाते -आ० रा० शा० खंडिता (नायिका) - अवस्थ नुसार नायिकाओके विभाजन-का एक भेद; विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित। भानदत्तने कहा है कि जिसका प्रिय 'अन्योपभोगचिह्नितः प्रातरागच्छति', अर्थात रात्रिमे अन्यत्र रमकर प्रातः परस्त्री-संसर्गके चिह्नोसे युक्त आया हो। इस परिभाषामें मतिराम तथा पद्माकर आदिने 'दुखित होत' और जोड़ा है, अर्थात् इस स्थितिमें वह ईर्घ्यासे दुःखी भी होती है। मुग्धा खण्डिता पतिपर अपना क्षेम प्रकट करनेमें भी संकृष्टित है—''बिन गुन माल गोपाल उर क्यों पहिरी परभात । चिकत चित्त चुप है रही निरखि अनोखी बात" (पद्माकर: जगद्विनोद, १: १५९)। मध्या खण्डिता अपना आक्रोश व्यंग्यसे व्यक्त करती है-"वोऊ करी कितेक यह तजो न टेव गुपाल! निसि औरनिके पग परी दिन औरनिके लाल" (मतिराम : रसराज, १२६)। प्रौढा खण्डिताके निःसंकोच आदर-मानमे स्वतः एक व्यंग्य छिपा है—"पिय आवत ॲगनैया उठिकै हीन। सार्थे चतर तिरियवा बैठक दीन ।' (रहीम: बरवै०: ४३) । परकीया खण्डिताको दःख तथा आन्तरिक हेद है—"रावरे नेहको लाज तजी अरु गेहके काज सबै बिसराये। क्रोऊ किलेक उपाय करौ कहुँ होत है आपने पीउ पराये" (मतिराम: रसराज, १२९) । परन्तु यह रूदे विरह-पीडाकी ही अभि-न्यक्ति है— "जेहि लगि सजन सनेहिया छुटि घरवार। आपन हित परिवरवा सोच परार" (रहीम: बरवै०, ४५) । सामान्या खण्डिताके उदाहरणोंमें धनका उल्लेख अनिवार्यतः हुआ है—"मितवा ओठ कजरवा जावक भाल । लिहेसि काढि बरिअइया तकि मनिमाल" (रहीम: वही, ४६) । रीतिकाव्यमें खण्डिताके वर्णनोमे वंचिता नायिकाओं-की मानसिक स्थितियोंका अंकन किया गया है। नायिकाके दःख, ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, व्यथा तथा आकांक्षाका सुन्दर चित्रण हुआ है और साथ ही इसके अन्तर्गत उपालम्मकी व्यंग्यपूर्ण उक्तियोंका आलंकारिक वर्णन भी है। खड़ीबोली - (वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी, जनपदीय हिन्दु-स्तानी) भाषाशास्त्रकी दृष्टिमे 'खड़ीबोली' शब्दका प्रयोग दिल्ली-मेरठके समीपस्थ ग्राम-समुदायकी ग्रामीण बोलीके लिए होता है। प्रियर्सनने इमे 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' तथा सुनीतिकुमार चटर्जीने 'जनपदीय हिन्दुस्तानी' कहा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे खडीबोली ही स्टैण्डर्ड हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानीकी मूलाधार बोली है। साहित्यिक सन्दर्भमें कभी-कभी अवधी, ब्रज आदि बोलियोंके साहित्यसे अलगाव करनेके लिए आधुनिक हिन्दी साहित्यको 'खडी-बोली' साहित्यसे अभिहित किया जाता है और इस प्रसंगमें खडीबोली शब्द 'स्टैण्डर्ड हिन्दी'का समानार्थक हो जाता है। प्रथमको हम 'खडीबोली' शब्दका विशिष्ट अर्थ और दितीयको सामान्य अर्थ वह सबते है।

किन्त 'खडीबोली' शब्दके आरम्भिक अर्थ तथा नाम-करण और उसके रूप, अर्थ, प्रयोगके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतवैभिनन्य दिखाई पडता है। खड़ीबोली नामकी व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपसे की है। उन विद्वानोंकी विचार-धाराओं वो निम्नलिखित वर्गोंमे बॉट सकते हैं--(१) कुछ विद्वान् 'खडीबोली' नामको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य मानते है और यह प्रतिपादन करते हैं कि लल्लूजी-लाल (१८०३ ई०)से बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषाकी मधुर मिठासकी तुलनामें उस बोलीको दिया गया था, जिससे कालान्तरमें स्टैण्डर्ड हिन्दी और उर्द्का विकास हुआ। ये विद्वान् 'खडी' शब्दसे कर्कशता, कटुता, खरापन, खड़ापन आदि अर्थ लेते हैं (दे० वंशीधर विद्यालंकार: उर्दू, भाग १४, पृ० ४७१, १९३४ तथा धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दीभाषाका इतिहास, तृतीय संस्करण, भूमिका पृ० ३४)। (२) कुछ लोग इसे उर्द-सापेक्ष्य मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत, 'शुद्ध', ग्रामीण ठेठबोली मानते है [तासी (१८३९-१८७० ई०) : हिस्ट्री द ला हिन्दई एण्ड हिन्दुस्तानी, प्रथम संस्करण, भाग १, पृ० ३०७ तथा चन्द्रबली पाण्डे : खड़ीबोलीकी निरुक्ति, उर्देका रहस्य]। (३) कुछ खडीका अर्थ 'सुस्थिर, सुप्रचलित, सुसंस्कृत,' परिष्कृत या परिपक्वसे मानते है (दे॰ टी॰ घेहमबोली: द हिन्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर, पृ० ४, जै० आर० ए० १९३६, अक्टूबर, पृ० ७१) । (४) कुछ लोग उत्तरीभारतकी ओकारान्त बज आदि बोलियोंको 'पडीबोली' और उसके विरोधमें इसे 'खडीबोली' मानते है (सनीति-कुमार चटजीं : ओ० डी० बी० एल०, पृ० ११ तथा भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १६५)। (५) जब कि कुछ लोग रेखता शैलीको 'पडी' और इसे 'खडी' मानते हैं।

वास्तवमें 'खडीबोली'में प्रयुक्त 'खडी' शब्द गुणबोधक विशेषण है और किसी भाषाके नामकरणमें गुण-अवगुण-प्रधान दृष्टिकोण अधिकांशतः अन्य भाषा-सापेक्ष्य होता है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और उर्दू आदि इसी श्रेणीके नाम हैं, अतएव 'खडी' शब्द अन्य भाषा सापेक्ष्य अवश्य है, किन्तु इसका मूल खडी है अथवा खरी ? और इसका प्रथम मूल अर्थ क्या है ? इसके लिए शब्दके इतिहासकी खोज आवश्यक है। बोलीके अर्थमें इस नामका उल्लेख हमें मध्यकालमें कहीं नहीं मिलता है। निश्चित रूपसे इस शब्दका प्रयोग १९वों शतीके प्रथम दशाब्दमें लल्लुजीलालने र बार, सदल मिश्रने २ बार, गिलक्राइइटने ६ बार किया है।

ल्ल्ब्ज़िलाल तथा सदल मिश्रने 'प्रेमसागर' तथा

'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नागरीलिपिमें लिखा था। इन प्रन्थोंमे 'खडीबोली' ही शब्द मिलता है, जिसका उचारण निश्चय ही खडी रहा होगा। इस प्रकार हिन्दू लेखकोंमें खडीबोली शब्द ही प्रचलित रहा होगा, किन्तु रोमनिलिपिमें 'प्रेमसागर' के मुख्यप्रधपर खरी (kharee) ही मुद्रित है। रोमनिलिपिमें हिन्दीके ख्या ड्को र या र से प्रकट करते हैं। इसीसे हिन्दी 'खडी' को 'खरी' लिखा गया। सम्भवतः विदेशी अंग्रेजोमे खरी शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ। आजका सामान्य अंग्रेज 'खडी' शब्दका उच्चारण 'खरी' के आसपास ही करेगा। भारतीय ध्विनिकासमें भी र और ख्धिनें पारस्परिक विनिमय होता रहा है। सम्भवतः उच्चारणकी दृष्टिसे खडी और खरी उस समय बहुत ही निकटके शब्द थे।

इस शब्दके वास्तविक अर्थशानके लिए हमें लल्लुजी-लाल, सदल मिश्र तथा गिलक्राइस्टके उद्धरणोंपर पुनः गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इन उद्धरणोसे किसी प्रकार भी यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रजभाषाकी अपेक्षा अधिक 'कर्कश,' 'कड़' होनेके कारण इस बोलीको यह नाम दिया गया। यदि १९वी शतीसे बहुत पूर्व ही ब्रजभाषाके विरोधमे यह नाम प्रचलित रहा होता तो स्टैण्डर्ड उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी सबके लिए यह शब्द प्रयुक्त होता, क्योंकि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे तीनोंकी मूलाधार बोली यही है और 'प्रेमसागर' तथा 'बागो बहार' दोनोंको खड़ीबोलीका यन्थ कहा जाता, किन्त्र ऐसा कही भी नही क्हा गया । स्वयं लल्लूजीलालने 'लाल चन्द्रिका'की भूमिका-में अपने अन्थोंकी भाषाके तीन भेद किये है-(१) बज, (२) खडीबोली, (३) रेखतेकी बोली (उर्द्)। यदि खडी॰ बोलीको ब्रजभाषा-सापेक्ष्य समझते तो लल्लूजीलाल अपने यन्थोंकी भाषाके दो ही भाग करते। वास्तवमें 'खड़ीबोली'-के लिए कर्कश, कटु आदि अर्थ भारतेन्द्र-युगकी देन है, जब कि हिन्दी कविताके लिए ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनोंमें प्रतियोगिता हो रही थी। सम्भवतः ब्रजभाषा पक्षवालोंने उसी युगमें 'खडीबोली'का इस प्रकार अर्थ किया होगा।

बेली महोदयके अनुसार 'खड़ां' ही मूल शब्द है (खरी नहीं), जो 'खड़ा'का स्त्रीलिंग रूप है। खड़ी शब्दका अर्थ है 'उठी' और जब यह शब्द किसी भाषाके लिए प्रयुक्त होता होगा, तब इसका अर्थ प्रचलित रहा होगा। इस प्रकार इनके अनुसार 'खड़ी'का अर्थ है परिपक्व, प्रचलित या स्रस्थिर।

चन्द्रवली पाण्डेने अपने लेख (दे॰ 'खड़ीबोलीकी निरुक्ति')में बोलीके 'परिपक्व', 'प्रचलित' अर्थका खण्डन करते हुए यह प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया है कि खड़ी-बोली सदल मिश्रकी निजी या उनके यहाँकी प्रचलित बोली नहीं है। किन्तु उनका खण्डन मान्य नहीं, क्योंकि इस बोलीका प्रचलन (हिन्दवी रूपमें) अन्तःप्रान्तीय व्यवहारके लिए बहुत पहलेसे था, अन्यथा सिन्ध-गुजरातके स्वामी प्राणनाथ (कुलजम स्वरूप) और लालदास (वीतका), पिट्यालोके रामप्रसाद निरंजनी (योगवाशिष्ठ), राजस्थानके दौलत राम (पद्मपुराण) और विहारके सदल मिश्र इस बोलीमें रचना न कर सकते। अत्रव्व 'खड़ी' शब्दका अर्थ

परिपक, प्रचलित मान लेनेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। साथ ही इस बोलीको खड़ी (स्टैण्डर्ड केवल वाच्यार्थ लेकर ) इसलिए मानना कि इसकी तुलनामें उत्तर प्रदेशकी ब्रजभाषा आदि अन्य बोलियाँ 'पडी' बोलियाँ थी, भी न्याय-संगत नहीं है। किन्तु बेलीका अर्थ भी पूर्ण नहीं है। खड़ी शब्दका केवल 'स्टैण्डर्ड', 'करेण्ट' अर्थ लेनेसे उर्दुसे उसका स्पष्ट अलगाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि हिन्दी (सामान्य अर्थ)की उर्दू शैली दिल्ली-आगरेमे मली-भॉति प्रचलित और सुस्थिर थी, किन्तु उर्दूका झुकाव 'यामिनी' भाषा (फारसी-अरबी)की ओर अथिक था, अतएव मूल रूपसे हिन्दी या हिन्दुस्तानी होनेपर भी गिलकाइस्टके पूर्व हेलहेडने इस हिन्दुस्तानीको मिश्रित हिन्दुस्तानी कहा था, जब कि उसके अनुसार हिन्दुस्तानीकी हिन्दवी शैली शब्द हिन्दस्तानी थी (अथवा शुद्ध हिन्दी थी) । 'प्रेमसागर'के प्रथम तीन संस्करणोंके मुखपृष्ठपर मुद्रित pure hindee language or kharee bolee (१८०५ ई०), पुनः इसके संस्करणमें hinduwee (१८११ ई०) और तीसरे संस्करणमे hindee (१८४२ ई०) शब्द इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हैं। खडी-बोली नाम सर्वप्रथम हिन्दी (या हिन्दस्तानी)की उस शैलीके लिए दिया गया, जो उर्द्की अपेक्षा अधिक शुद्ध हिन्दी (भारतीय) थी और जिसका प्रयोग संस्कृत परम्परा अथवा भारतीय परम्परासे सम्बन्धित लोग अधिक करते थे। अधिकांशतः वह नागरी लिपिमें लिखी जाती थी। १८०५ ई०से हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू शब्द गिलक्राइस्टके अनुसार समानार्थक थे, अतएव इनसे अलगाव सिद्ध करनेके लिए 'शुद्ध' (pure) विशेषण जोडनेकी आवश्यकता पडी तथा 'खडीबोली' नाम सार्थक हुआ। इस प्रकार छड़ी-बोलीका वास्तविक अर्थ होगा शुद्ध, परिष्कृत या परिनिष्ठित (प्रचलित) भाषा। उर्दू भी दिल्ली-आगरेकी बोली थी, किन्तु वह यामिनी मिश्रित थी, अतएव वह दिल्ली-आगरेकी खडी (शुद्ध, परिष्कृत) और प्रचलित बोली नहीं थी। लल्लुजीलालके उद्धरणका यही वास्तविक अर्थ है। खडी-बोली शब्दका अर्थ १८२३ ई०के बाद हिन्दी हुआ। यही कारण है कि 'प्रेमसागर'के १८४२ ई०के संस्करणमें हिन्दी राब्द ही मुखपृष्ठपर मुद्रित है।

खड़ी-बोली शब्दका प्रयोग आरम्भमें उसी भाषा-शैलीके लिए हुआ, जिसे १८२३ ई०के बाद हिन्दी कहा गया। किन्तु जब प्राचीन तथा प्रचलित शब्दने 'खड़ी-बोली' शब्दका स्थान ले लिया तो खड़ीबोली शब्द उस शैलीके लिए बहुत कम प्रयुक्त हुआ, केवल माहित्यिक सन्दर्भमें कभी-कभी ही प्रयुक्त होता रहा और आज भी कभी-कभी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार जब यह मत प्रसिद्ध हो गया कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीकी मूलाधार बोली ब्रजभाषा नहीं, बल्कि दिल्ली और मेरठकी जनपदीय बोली है, तब उस बोलीका अन्य उपयुक्त नाम प्रचलित न होनेके कारण उसे खड़ीबोली ही कहा जाने लगा। इस प्रकार खड़ीबोलीका प्रस्तुत भाषाशास्त्रीय प्रयोग विकसित हुआ। प्राचीन कुर जनपदसे सम्बन्ध जोड़कर कुछ लोग अब इसे 'कौरवी' बोली भी कहने लगे हैं, किन्तु जब तक पूर्ण रूपसे यह न सिद्ध हो जाय कि इस बोलीका विकास उस जनपदमें

प्रचलित अपभ्रंशसे ही हुआ है, तबतक इसे कौरवी कहना वैज्ञानिक दृष्टिसे युक्तियुक्त नहीं।

खडीबोली निम्नलिखित स्थानोके यामीण क्षेत्रमें बोली जानी है—मेरठ, विजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर-देहरादूनके मैदानी भाग, अम्बाला, कलिया और पिट-यालाके पूर्वी भाग, रामपुर, मुरादाबाद । वॉगरू या जाट-की या हरियानी एक प्रकारसे पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खडीबोली ही है, जो दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार और पिट्याला, नाभा, झीदके यामीण क्षेत्रोमें बोली जाती है। खड़ीबोली क्षेत्रके पूर्वमे ब्रजभाषा दक्षिण-पूर्वमें मेवाती, दक्षिण-पश्चिममें पिरचमी राजस्थानी, पिरचममें पूर्वी पंजाबी और उत्तरमें पहाड़ी बोलियोका क्षेत्र है। बोलीके प्रधानतः दो रूप मिलते है—पूर्वी या पूर्वी खड़ी-बोली तथा परिचमी या परिचमी खड़ीबोली।

साहित्यके क्षेत्रमे खडीबोळीके आदि प्रयोग 'गोरख-वाणी' तथा बाबा फरीद शररगंजकी बानियोंमें मिळते हैं। मुसलमानोंने इसी बोलीको अपनाकर इसे अन्तःप्रान्तीय रूप दिया। निर्शुण सन्तोने भी इसके प्रचारमें सहयोग दिया। धीरे-धीरे इस बोलीमे व्याकरणके क्षेत्रमें तथा शब्द-कोशमें अन्य भाषाओंका मिश्रण होने लगा, जिससे हिन्दी (आधुनिक अर्थ), उर्दू और हिन्दुस्तानीका विकास हुआ। आज इस बोलीके कुछ लोकगीत मिलते है, जो प्रकाशित भी हुए हैं।

खडीबोली नागरीलिपिमे ही लिखी जाती है। हिन्दी-की रूपरेखा जाननेके लिए खड़ीबोलीका ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। खप्पर-शेगियोंके वेशमें खप्परका उल्लेख बराबर मिलता है। मिट्टीके घडेके फोड़े हुए अर्थखण्डको खप्पर कहते है। आजकल यह दरियाई नारियलका बनता है। पर मूलतः यह मिट्टीके वर्तनका दुकडा ही रहता होगा। आज भी मिट्टीके ठीकरेंको खपरा या खपडा कहते है। भड़भूजे जिसमें अनाज भूनते है, उस मिट्टीके वर्तनके दुकड़ेकी 'खपडी' कहा जाता है। बहुतसे योगी कॉसेका खप्पर रखते हैं, अनः खप्परको कॉसा भी कहा जाता है। खप्पर-का एक अवशेष चौड़े मुहका वह घड़ा भी है, जिसमे जोगीड़ा (दे०) गाते समय गुरु लोग ऑख रखकर जादूसे हाथपर लिये फिरते है (सु० चं०, पृ० २४१)। खसम-हठयोग साधनाका उद्देश्य चित्तको सब सांसारिक धर्मों से मुक्त कर उसे निर्लिप्त बना देना था। इस सर्वधर्म-श्रन्यताको बराबर मनकी श्रन्यावस्था कहा जाता रहा है। श्चियका परिचायक गगन है, अतः परिशुद्ध, स्थिर, निर्मल चित्तकी उपमा आकाशसे दी जाती रही है। ख-समके मूल अर्थ है खके समान या आकाशके समान।

बौद्ध परम्पराओमे भी खसम शब्दका व्यवहार इसी रूपमें हुआ है। सिद्धाचार्य बोधिचित्तकी साधनामे मनको श्रून्य-स्वरूप या खसम-स्वरूप धारण करनेका उपदेश देते थे—"सब्बरूअ तर्हि खसम करिज्जइ। खसम सहावे मणह धरिज्जइ" (दौँहाकोष: सरहपा)।

सन्तोने इस अर्थके अतिरिक्त एक दूसरे अर्थमें भी इसका प्रयोग किया है, पतिके या प्रियत्तमके अर्थमें। सम्भवतः इसका आधार अरबीमा खसम शब्द है (दें ०—'कबीर': हजारीपसाद द्विवेटी)। पर सरहपाके एक दोहेंमे भी इसी अर्थमे खसम शब्दका व्यवहार मिल जाता है—'अवखह अधेर परग्मपहु खसम महासुह नाह" (दोहाकीप: सरहपा) कहीं-कही सन्तोने इस खसम(ब्रह्म, पित)के प्रति पाति-व्रत्यके बजाय इसके मरणपर प्रसन्नता भी व्यक्त की है। पल्टू ने अपनी एक कुण्डिल्यामें कहा है—''पल्टू ऐसे पद कहें बृझै सो निरवान। खसम विचारा मर गया जोरू गावे तान" ऐसे खलोंपर खसमकी मृत्युका अर्थ है शून्य-स्वभाव धारणकर चित्तकी निर्वाणप्राप्ति। सरहपाके दोहा-कोषमें इसी प्रकार गृहपतिके मरणपर धरनीका प्रसन्न होना वर्णित किया गया है।

परवर्ती कवीरपन्थी साहित्यमें कही-कही स्वतः कवीरको खसम बताया गया है (दे॰ 'कवीर': हजारीप्रसाद द्विवेदी। सिद्धसाहित्यः धर्मवीर भारती)

खुमार-इसका अर्थ नहा है। आध्यात्मिक प्रेमका नहा।

(दे॰ 'अमृत') -रा० पू० नि० खेचरी-योगसाधनकी एक मुद्रा, जिसमें जबानको उल्टकर ताळुसे लगाते है और दृष्टिको दोनो भौहोंके बीच मस्तकपर लगाते हैं। इस स्थितिमें चित्त और जीभ दोनों ही आकाश-में स्थित रहते हैं, इसीलिए इसे खे(आकाश)-चरी मुद्रा कहते हैं। इसके साधनसे मनुष्यको किसी प्रकारका रोग नहीं होता है। "मुख मध्ये खेचरी मुद्रा खाद विस्वाद ले उत्पनी। स्वाद बिस्वाद समोकृतवा, मुद्रा तो भई खेचरी" (अष्टमुद्रा: गोरखवानी)। इसीको प्रतीकात्मक पद्धतिमें गोमांस-भक्षण भी कहते हैं। गोका अर्थ इन्द्रिय या जीभ और उसे उलटकर तालूसे लगाना गोमांस-—-তত হাত হাত खेळवना - सोहरके गीतोंके समान ही पुत्र-जनमके सुखद अवसरपर जो गीत गाये जाते है, उन्हें 'खेलवना' कहते है। परन्तु सोहरसे इनमे कुछ भिन्नता रहती है। सोहरमें विशेषकर पुत्र-जन्मकी पूर्वपीठिकाका वर्णन रहता है, परन्तु खेलवनाके गीतों मे उत्तरपीठिकाका उल्लेख होता है। पुत्र-जन्मके लिए ललचनेवाली माता, गर्भकी वेदनासे न्याकुल तरुणी, बहुकी मंगल-साधनामें लगी हुई सास, धायको दौडकर बुलानेवाला पति, पुत्रके उत्पन्न होनेपर राजपाट मॉगनेवाली धाय, ये सब सोहरके प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु सद्योजात शिशुका रोदन, माताका पुत्र-जन्मके कारण असीम आनन्द, सासकी प्रसन्नता, अपने कुलांकरके रूपमें पुत्रके पैदा होनेसे अपना सर्वस्व छुटा देनेवाले पिताका हर्ष 'छेलवना'के मुख्य विषय हैं। 'छेलवना'में आनन्द और उछाह्की मात्रा अधिक पायी जाती है।

ख्याल — 'ख्याल' लोकभाषाका परम्परागत शब्द बताया जाता है। 'ख्याल' लोकनाट्यका एक प्रकार, गीतकी एक शैली, हास्यप्रधान मालवी गीत अथवा चित्रके लिए प्रयुक्त लोकप्रचलित शब्द है। ख्यालवाजोके दो अखाड़े हैं— कलगी अखाडा और तुर्रा अखाड़ा। गानेकी शैली और धुनोंके अनुसार ढाडा या खडी रंगतका ख्याल, लम्बी रंगत या तावील ख्याल, सिकस्ता ख्याल या लंगड़ी रंगत-

का ख्याल, लावनिया ख्याल, डेढ रंगती ख्याल, छोटी रंगतका ख्याल आदि उपभेद उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि १८वी शताब्दीके आरम्भमें आगराके इर्दगिर्द एक नयी कविताकी शैली प्रचलित हो गयी थी, जो आगे चलकर 'ख्याल' कहलाने लगी। राजस्थानमें 'ख्याल' शब्द खेलके अर्थमें महण किया जाकर, १९वी शताब्दीके उत्तरार्थमे लोक-प्रचलित ऐतिहासिक एवं परम्परागत कथाओंको नाट्य-रूपोमे अभिनीत करनेकी शैली-विशेषके लिए रूढ हो गया । आजकल 'ख्यालों'की अनेक पुस्तकें बाजारमे मिलती है। ख्यालको लोकनाट्य-शैली मालवाके 'नाच' और उत्तर प्रदेशकी 'नौटंकी'से बहुत मिलती है। पात्र प्रायः पद्यबद्ध संवाद भिन्न-भिन्न रंगतों में गाकर अभिनय करते है। गद्य-का प्रयोग बहुत ही सीमित होता है। नगाड़ा, सारंगी और ढोलकका प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः ख्याल गीति-नाट्यकी कोटिमे आते है। शेखावटीके चिढ़ावा (राजस्थान) ग्रामके निवासी नानूलालके ख्याल उत्तरप्रदेशमें बहुत प्रचलित है। उसने लगभग ४०-५० ख्यालोंकी रचना की। उसके पोते अभी उन ख्यालोका प्रदर्शन करते है। ख्यालों-की लगभग ३०० पुस्तकें इस समय उपलब्ध है। ख्यालमें लावणी, दूहा, चौबोला, दुबोला, चौपाई, शेर, उड़ान, कवित्त आदि छन्द मिले है। दृहे 'चन्द्रायणी' और 'घूमणी' तथा लावनी 'लॅगडी' और ज्यानकी 'जानकी' रंगतों मे गायी जाती है। गंगा-दे० 'हठयोग'।

गगा—द० हठवाग । गंगोदक सवैया—दे० 'सवैया', छठा प्रकार । गगनमंडल-दे० 'हठयोग'। गज-गज उन कुछ उपमानोंमेंसे एक है, जो सिद्धोके

दोहो तथा चर्या-पदों और परवर्ता नाथों अथवा सन्तोंके साहित्यमें समान रूपसे न्यवहृत किये गये हैं (दे॰ 'बोधिचित्त')। ---ध० वी० भा० गुज़ल १-गजलमे प्रेम भावनाओंका चित्रण होता है। गजलका शाब्दिक अर्थ नारियोंके प्रेमकी बातें करना है। अतः अच्छी गजल वही समझी जाती है, जिसमें इस्को-महब्बतकी बातें सच्चाई और असरके साथ लिखी जायें। यह बात तभी पैदा होती है, जब उसे सरल और मीठी बोलीमें लिखा जाय कि दिलमे घर कर जाय। लेकिन गजलके शेरोंका सादा होना कोई जरूरी नियम नहीं है। बहुतसे उच्च कोटिके शेर साहे नहीं है, फिर भी वे गजल-के अच्छे नमूने माने जाते है। गजलकी असली कसौटी प्रभावीत्पादकता है। गजल वही अच्छी होगी, जिसमें असर और मौलिकता हो, जिसके पढ़नेवाले समझें कि यह उन्हीं-की दिली बातोंका वर्णन है।

सांसारिक प्रेमके अलावा गजलमें तसन्तुफ और भक्ति-रसका भी वर्णन होता है। बहुतसे स्फी किवयोंने इसी रंगमें गजले कहीं है। दूसरे किवयोंने भी अपनी गजलोंमें भक्ति-रसको रखा है। तसन्तुफमे भगवान्तक पहुँचनेके लिए एक प्रेमका प्रतीक होना चाहिये। कोशिश यह की जाती है कि इस प्रतीकमें वासनात्मक प्रभाव न आने पाये। इसी वजहसे स्फियोंने अपने प्रेमका प्रतीक लड़कोंको रखा, जिसमे यह प्रभाव न उत्पन्न हो। इसीके प्रभावमे फारसी और उर्दू गजलमे यह परम्परा थी कि माश्कृके लिए हमेशा पुलिंगका प्रयोग होता था चाहे और वार्तोंसे उसका स्नीलिंग होना जाहिर हो जाय, जैसे—"अंगडाई भी वो लेने न पाये उठाके हाथ, देखा मुझे तो छोड़ दिये सस्कराके हाथ"।

इसके अलावा उर्दू गजलमें और तरहकी मुहब्बत भी लिखी जार्ती है, जैसे देश-प्रेम, पारिवारिक प्रेम आदि । परन्तु इसमें शायर प्रतीकोंका प्रयोग करता है । इस प्रकार वह जीवनके अन्य पहलुओपर भी अपनी राय देता है । उदाहरणार्थ 'चमन'का अर्थ कही अपना देश है, कही अपना घर, कही अपना गाँव, कहीं अपनी संस्था। 'कफस'- का अर्थ जेल या कोई ऐसी जगह जहाँ आदमी दृसरेकी पराधीनतामे रहे । इसी प्रकार 'गुल', 'आशियाँ', 'सव्याद', 'वागवान', 'साकी', 'खंजर', 'शमशीर', 'रकीव' आदिसे गजल कहनेवाला उनके शाब्दिक अर्थपर नहीं जाता, विक्त उनके भावपर, जीवनके अन्य रूपोपर अपनी राय देता है।

अक्सर गजलका हर होर स्वयं पूर्ण होता है। इसके दो बरावरके दुकड़े होते है, जिनको 'मिसरा' कहते है। जितने शेरोका आखिरी शब्द एक हो और उसके पहलेका शब्द एक ही आवाजका हो, उनको एक साथ लिखते है, और ऐसे पॉचसे सन्नह शेरोंके संग्रहको गजल कहते हैं। परन्तु इस संख्याके पालनमे उर्दूमें कोई खास पावन्दी नहीं है। बहुतसे शायरोने अपनी गजलोंमे सत्रहसे ज्यादा शेर भी रखे हैं । हर शेरके अन्तमे जितने शब्द बार-बार आये, उनको 'रदीफ' और रदीफके पहलेके एक ही आवाजवाले शब्दोको 'काफिया' कहते है, जैसे मीरके इस शेरमे "पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा हाल हमारा जाने है। जाने-न-जाने गुल ही न जाने बाग तो सारा जाने है"। 'जाने है' रदीफ है और 'हमारा', 'सारा' काफिया है। उर्दू कसीदेके इतिहास-में "सौदा" का नाम सबसे पहले आता है। सौदाके कसीदे उनके पाण्डित्य एवं अद्वितीय प्रतिभाके परिचायक है। उनकी भूमिकाएँ जिन्हें वह क़सीदोकी 'तइबीब'में बॉधते थे, आज भी उनकी विद्वत्ताका पता देती है। उनके अलावा क्रसीदा लिखनेवालोंमें 'नुसरती', 'इनशा', 'जौक' और 'मोमिन'के नाम प्रसिद्ध है। 'सौदा'की भॉति 'जौक़'ने भी बड़े उच्चकोटिके कसीदे लिखे। 'जौक' आदिके बाद आनेवाले कवियोंमें 'अमीर मीनाई', 'मुनीर शिकोहाबादी', 'मोहसिन काकोरवी' तथा 'अजीज लखनवी' विशेष उल्लेखनीय है।

बीसवी शताब्दीमे जीवन-धारा ऐसी बदली और सामा-जिक वातावरणमे ऐसा परिवर्तन आया िक कसीदेकी परम्पराको इससे बहुत धक्का पहुँचा। दरबारी जीवनने कसीदेको जन्म दिया था और जब वह युग बीता तो धीरे-धीरे इसकी अवनति शुरू हुई। धार्मिक कसीदोंका चलन प्राचीन परम्पराओंके अनुसार फिर भी जारी है।

अक्सर गजलके पहले शेरके दोनों मिसरे एक ही 'काफिया' और 'रदीफ'में होते हैं। ऐसे शेरको 'मतला' कहते हैं। अन्तमें जिस शेरमें शायरका उपनाम या तख- खुस हो, वह 'मक्ता' कहलाता है। गजल उर्दू काव्यका

सबसे अधिक लोकप्रिय रूप हैं। इसी लोकप्रियताके कारण गजल लिखनेवालोंने 'मुशायरों'का आयोजन किया, जिसमें प्रत्येक किव अपनी-अपनी गजलें सुनाता था। इस प्रकार एक परम्परा चल पड़ी, जिसका चलन आज भी बहुत है। गजलोंको रदीफके अनुसार उर्दू भाषाके अक्षरोंपर ध्यान रखते हुए संग्रह तैयार किया जाता है, जिसे 'दीवान' कहते है और 'साहवे दीवान शायर' उसको कहते है, जिसकी कम-से-कम एक गजल हर अक्षरकी रदीफमें हो। उर्दू गजलके नमूने बहुत पहलेमें मिलते है परन्तु उर्दूका पहला, 'साहवे दीवान शायर' मुहन्मद कुली कुतुवशाह (१५८०-१६११ ई०) है, जिसके दरवारमे बहुतसे किव थे।

वैसे तो दक्षिणी भारतमे उद् काव्यके अन्य रूपोंका चलन अधिक रहा फिर भी गजले बराबर लिखी जाती रही। बादके दक्षिणी भारतके कवियों मे, 'बहीं', 'नुसरतीं', 'सिराज' और 'वली' उल्लेखनीय है, जिनमें 'वली'को इसलिए अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि वे १८वी शताब्दीके आरम्भमें दो बार दिल्ली आये और यहाँ लोगोंने हाथों-हाथ लिया।

औरंगजेबकी मृत्युके बादसे उत्तरी भारतमें उर्दू गजल-के नमने मिलने लगते है। 'फ़ाएज' उत्तरी भारतके पहले साहवे-दीवान शायर हैं। इनके अलावा 'शाह हातिम', 'शाह मुबारक आबरू' और 'मुहम्मद शाकिर नाजी' प्रसिद्ध है। अट्ठारहवी द्याताब्दीके दूसरे चरणमें उर्दू गजलमे बडी उन्नति हुई। 'मीर तक्की मीर' इसी कालमे हए, जिनको बहुतसे लोग उर्द गजल कहनेवालोमें सबसे अच्छा मानते है। इनके अल वा 'सौदा' और 'मीर-दर्द' उच्च कोटिके गजल कहनेवाले थे। 'इंशा', 'मुसहफी' और लखनक स्कूलके 'नासिख' और 'आतिश' भी बहुत मशहर है। इन लोगोके बाद 'मोमिन', जौक और गालिब-का नाम लिया जाता है, जिन्होने अपने माधुर्य एवं चमत्कारसे गजलको बड़े उच्च विचार दिये। इन उस्तादों-के बाद 'हाली', 'दाग', 'अमीर मीनाई' और 'जलाल' गजलके उस्ताद समझे गये। वीसवी शताब्दीके सर्वश्रेष्ठ गजल कहनेवालोंमे 'हसरत', 'फानी', 'असर लखनवी', 'जिगर' और 'फिराक गोरखपुरी' उल्लेखनीय हैं। --म० गुजल २-ब्राउन (हिन्ट्री ऑफ पर्शियन लिटरेचर, भाग २, प० २७)का मत है कि मकता, अर्थात् अन्तिम शेरमें उपनाम या तखल्लस देनेकी अनिवार्य परम्पराका प्रवर्त्तन मुगल आक्रमणके पश्चात् हुआ। भारतमें गजलकी सर्वप्रथम रचना करनेवाले व्यक्ति ख्वाजा मुईनुद्दीन चिस्ती थे, जिनके सम्बन्धमें उल्लेख मिलता है कि उन्होने फारसी और भारतीय भाषाओं में गजलें बही थी। दक्खिनीमे रचना करनेवाला प्रथम व्यक्ति बीजापुरकी आदिलशाही राज्यवंश-परम्पराका पाँचवाँ नरेश इब्राहीम आदिलशाह (सन् १५७९-१६२६ ई०) हुआ। इसकी रचनाएँ उपलब्ध नही है। दिक्खनीमे मुहम्मद कुली कुतुबशाह (सन् १५८०-१६१२ ई०) तककी रचनाएँ मिलती है। उर्दके प्रारम्भिक कवियोमे वली (ई० स० १६६८-१७४४) ने गजलें लिखी है। मीर गजलोंके सम्राट माने जाते है। इनकी रचनाके सम्बन्धमें गालिबने कहा है-"रेखतेके तम्ही उस्ताद नहीं हो गालिब,

कहते है अग्छे जमानेमें कोई मीर भी था"। जौककी सम्मति है कि-"न हुआ पर न हुआ मीरका अन्दाज नसीव, 'जौक' यारोंने बहुत जोर गजलमे मारा"। हिन्दीके कवियोमें भारतेन्द बाब हरिश्चन्द्रने गजल कही। उसकी भाषा खडीबोली है, जो उर्द्के समीप है। जयशंकर 'प्रसाद'की 'भूल' शीर्षक कविता इसी पद्धतिकी है। 'निराला'जीने गजलकी शैली अपनायी है। 'दिनकर'जीने भी इसे सजाया-संवारा है। -रा० खे० पा० गत्यात्मक आलोचना-प्रणाली-अंग्रेजीमें इसका समानाथीं शब्द 'डायनमिक' है, जिसका अर्थ है गतिशील शक्ति। इसी शब्दसे 'डायनमिक्स' शब्द बना है, जिसका अर्थ उस विज्ञानसे है जो वस्त्रकी गतिकी तथा प्रकृतिकी परीक्षा करता है। इसी प्रकार 'डायनमिज्म' भी इसीसे बना है, जिसका अर्थ होता है-शक्ति-संचालनका विद्यान । सारांश यह कि गति ही 'डायनमिक' या 'गत्यात्मक'का मूल तत्त्व है।

अविचल सिद्धान्तवादी जीवनको, सृष्टिको सत्य शाश्वत, चिरन्तनके घेरेमे बॉध देते हैं और वर्तमानको अतीतकी कसौटीपर कसते है। इनका यह प्रयास कुछ वैसा ही प्रयास है, जैसा कि गंगा नदीको एक छोटेसे घेरेमे बॉधना और उसके जलको उतनी ही सीमामें सड़ने-गलने देना। यह आलो-चना-पद्धति साहित्यकी समस्त प्रगतिको अपने सिद्धान्तोंके कट्ट घरेमें घेरकर रख देना चाहती है। इसके समर्थक यह नहीं सोचते कि साहित्य एक विकसनशील संस्था है और इसीलिए साहित्यके मानदण्डोंमे युगानुकूल परिस्थितिके अनुकूल परिवर्तन अपेक्षित है। आजका आदमी यह जानता है कि एक निश्चित अवधिके बाद चाँद अपनी शीतलता खो देगा, सूरज अपना ताप खो देगा, पृथ्वीपर समुद्र अपना आधिपत्य जमायेगा । कैलासका ऊँचा शिखर हजारों फुटकी गहराईमें नीचे धॅस जायगा। हमारे पूर्वज इसकी कल्पनातक नहीं कर सकते थे। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि सत्य, चिरन्तन, शाश्वत, ये सबके सब सापे-क्षिक शब्द है। इस सृष्टिमे यदि कुछ सत्य है तो सृष्टिकी गति । गतिशीलता ही एकमात्र सत्य ठहरती है ।

इसीलिए इस शिविरके आलोचकोका यह आग्रह है कि साहित्यकी गतिशीलताको कुछ निश्चित मान्यताओके घेरेमें न बॉध दिया जाय, क्योंकि साहित्य अन्ततोगत्वा एक गतिशील संस्था है। गति ही साहित्यकी आत्मा है। युग, परिवेश, समाज, व्यक्तिके अनुकूल साहित्यका स्वरूप बदलता रहता है। पूर्व-युगमें राम-कृष्ण जैसे उदात्त चरित्रों-का चित्रण किया जाता था और आज चोर, इत्यारा, डाकू, समाज-उपेक्षित पात्र नायकके रूपमें चित्रित किये जाते है। घीस, माघी, हलकू अथवा गुलकी बन्नोंकी तरह उपेक्षित, हेय, तुच्छ पात्र साहित्यकी मर्यादाको एक नवीन ढंगसे प्रतिष्ठित करते हैं। अविचल सिद्धान्तवादी ऐसे साहित्यको साहित्य नहीं मानता, क्योंकि प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें इनकी व्यवस्था नहीं की गयी है। इसलिए लीकसे, बताये हुए रास्तेसे अलग हटनेपर वे तुरन्त साहित्य-को मर्यादाहीन घोषित कर उसकी उपेक्षा करते हैं। इसके विपरीत गत्यात्मक आलोचनाका समर्थक यह मानता है कि रूढि, परम्परा अथवा प्राचीनताको एकमात्र सत्यके रूपमें हम नहीं मान सकते। जीवनके मान बदलते हैं, साहित्यके मान एवं रूप बदलेंगे ही। अस्तु, बदले हुए यथार्थके परिवेशमें हमें नये दृष्टिकोणको अपनाना होगा। हमें नये ढंगसे, मौलिक ढंगसे पुनः चिन्तन करके साहित्यके मान स्थिर करने होंगे।

यूरोपका चिन्तन अत्यिधिक विकसित है, फलतः स्वच्छ-न्दतावादियोंमे लेकर अतिवस्तुवादी, प्रयोगवादीतक इस प्रणालीके अन्तर्गत माने जायगे । मार्क्सके अनुयायी, क्रायड, एडलर, युंगके अनुयायी तथा हर्वर्ट रीडके समर्थक, सार्त्रके अस्तित्ववादके पोषक एवं अति आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारोके आधारपर विकसित होनेवाली समस्त चिन्तन-परम्पराएँ इसी प्रणालीके अन्तर्गत आयंगी। इस प्रकार यूरोपमे नव्य-शास्त्रकालके बाद जो कुछ भी चिन्तन किया गया है, वह सब इस प्रणालीका समर्थक है।

संस्कृतमें इसका स्वरूप हम उस समय देख सकते हैं, जब कि वहाँकी चिन्तन-परम्परा विकसित थी। रसवादी, ध्वनिवादी, अलंकारवादी, वक्रोक्तिवादी, रीतिवादी—ये सबके सब गत्थात्मक आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत माने जायँगे। युगके अनुकूल, परिवेशके अनुकूल इन लोगोंने अपनी-अपनी स्थापनाएँ की। वादमें चलकर ये ही सिद्धान्त हासोन्मुख संस्कृत-साहित्यकारोंके हाथ पडकर एउ, परम्परागत हो गये और उन लोगोंने इन्हीं सिद्धान्तोको अविचलके रूपमें ग्रहण किया। प्रारम्भमें जब संस्कृत-साहित्यमें चिन्तनकी मौलिक परम्परा थी तब अविचल सिद्धान्तका कभी भी समर्थन नहीं किया गया। इसका उल्लेख तभीसे मिलता है, जबसे चिन्तनकी मौलिक परम्परा नट हो जाती है और पुरानी बार्तोंके पिष्टपेषणमें लोग लग जाते है।

हिन्दीमें रीति-युग अविचल सिद्धान्तका अनुयायी माना जायगा। बादमे तो हिन्दीमें चिन्तनकी मौलिक परम्परा-की नींव रामचन्द्र शुक्क द्वारा पडती है। ऐतिहासिक आलो-चना-प्रणाली, मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली, समाज-शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली, प्रभाववादी आलोचना-प्रणाली और अन्य प्रणालियाँ हिन्दीमे जन्म लेती है और आज भी इनका त्रिकास होता चला जारहा है। सच पूछा जाय तो रीति-युगके परचात् हिन्दीकी समस्त आलोचना-गत्यात्मक आलोचना-प्रणालीके अन्तर्गत प्रणालियाँ आती है। —रा**०** क० स० गद्य-संस्कृत-साहित्यमें श्रव्यकाव्यका एक भेद (दे०-'साहित्यरूप')। संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें गद्यको गद्यकाव्यके अर्थमें ग्रहण किया गया है, इसीलिए भामह, दण्डी, वामन-से लेकर विश्वनाथतक सभी आचार्योंने गद्यके प्रभेदोंमें आख्यायिका, वृत्त, कथा आदिका उल्लेख किया है। भामह-ने गद्यको प्रकृत, अनाकुल, श्रद्य शब्दार्थ पदवृत्ति कहा है (काव्यालंकार, १, २५) और दण्डीने 'अपाद'—गण-मात्रारहित (काव्यादर्श, १, १३)। वामनने परिभाषा न देकर उसकी विशेषताओंको दुर्जेय तथा उसकी रचनाको कठिन बताते हुए 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' (गद्यको कवियोंकी कसौटी कहते हैं) उद्धरण देकर साहित्यमें उसकी महत्ताका निर्देश किया है (कान्यालंकारस्त्रवित्त

१, ३, २१)। 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ)में गद्यकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। केवल उसे कान्य कहकर उसके चार भेद बताये गये है-मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। मुक्तक समासरहित होता है, वृत्तगन्धिमें छन्दकी गन्ध आती है, अर्थात् उसके वाक्यो और वाक्यांशों-में प्रायः छन्दोंके गण-मात्राका विधान पाया जाता है, उत्कलिकाप्राय गद्य दीर्घ समासयुक्त होता है तथा चूर्णकमें छोटे-छोटे समासोका प्रयोग होता है (सा० द०, ६ : ३३०, ३३१)। विश्वनाथने गद्यके अन्तिम तीन भेद वामनके ही आधारपर दिये है, मुक्तक नामका भेद वामनने नहीं किया। काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें गद्यके इन भेदोंकी, जिन्हें शैलीका ही भेद समझना चाहिये, किंचित अधिक स्पष्ट परिभाषा मिलती है। पद्यभागसे युक्त या उसके समान प्रतीत होनेवाला गद्य, जिसमे वृत्त या छन्दकी गन्ध मिले, वृत्तगन्धि होता है, दीर्व समाससे रहित और ललित पदोंसे युक्त गद्य चूर्णक कहलाता है तथा इसने विपरीत दीर्घ समासयुक्त और उद्धत पदोंसे युक्त गद्यको उत्कलिकाप्राय कहते हैं (कान्यालंकारसूत्रकृत्ति, १: ३: २२--२५)।

संस्कृत-साहित्यशास्त्रमे कथा, आख्यायिका, आख्यान आदिके लिए ही गद्यका उपयोग बताया गया है। कथात्मक साहित्यके अतिरिक्त विचारात्मक लेखनके लिए गद्यके साहित्यक प्रयोग तथा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयोके लिए उसके व्यावहारिक उपयोगकी और कोई संकेत नहीं किया गया है।

गचकी सबसे सरल, न्यापक और सर्वमान्य परिभाषा यही हो सकती है कि जिस शब्दार्थयुक्त भाषाका साधारण बातचीतमे प्रयोग किया जाता है, वही गद्य है। इससे भिन्न पद्यमे असाधारण भाषाका प्रयोग होता है। उसमे विशेष प्रकारके क्रमबद्ध ताल और लयकी योजनाके लिए वाक्यगत शब्दोके साधारण क्रममे परिवर्तन करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गद्यका लक्ष्य सहज, सरल, सीधे और निश्चित प्रयोजनयुक्त, भामहके शब्दोंमें प्रकृत और अना-कुल शब्दार्थको प्रेषित करना है। पद्यका भी व्यवहार निश्चित प्रयोजनके लिए हो सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय शास्त्र और विज्ञानके विषय भी पद्यमें लिखे जाते थे। परन्तु उसमें सर्तत्र शब्दार्थकी सरलता और सीधापन सुरक्षित नही रह पाता था, क्योंकि शब्दोंकी विशिष्ट छन्दो-बद्ध योजनाके लिए उसमें कृतिमता, भंगिमा और वकता आ जाना स्वाभाविक है। अतः गद्य-पद्यका भेद स्पष्ट है। काव्यकी सौन्दर्यवृत्तिमे सर्वथा असंप्रक्त रहकर भी दोनों समानुरूप नहीं हो सकते, उनके रूप और प्रकृतिका अन्तर निर्विवाद है। इस दृष्टिसे पद्य और काव्यमे अन्तर किया गया है। परन्तु जैसा कि साधारणतः होता है, यदि काव्यको अनिवार्यतः पद्मबद्ध न मान लिया जाय तो गद्य और काव्यमे कोई विभाजक रेखा नहीं खीची जा सकती। वस्तुतः जैसा कि ऊपर देख चुके है, काव्यके अनेक रूप गद्य में ही रचे जाते है। फिर भी गद्य शब्द-रचनाके वाद्य रूपका ही नहीं, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका भी बोतक है। हम अनेक पचबद्ध कान्यकृतियोंको गद्यात्मक कहते हैं, क्योंकि उनमें संवेदनशीलताकी अपेक्षा बोधवत्तिकी प्रधानता होती है। गद्य मुख्यतः बोध, व्याख्या, तदः, वन्धुक और कथाने क्षेत्रोंमें ही सीमित है।

प्रयोगकी दृष्टिने गद्यका साधारण रूप वह है, जो व्याव-हारिक उपयोगमे आता है, परन्तु दो व्यक्तियोके बीच साधारण वार्तालापसे लेकर बड़ी-बड़ी सभाओके कलापूर्ण प्रभावशाली भाषणोतक तथा क्षेमकुशल सम्बन्धी साधारण पत्र-व्यवहारसे लेकर शास्त्र और विज्ञानके विविध विषयोंके विञ्लेषण, विवेचन, अनुशीलन और अनुसन्धानपूर्ण प्रवन्धों (थीसिसो)तक गद्यके इस व्यावहारिक उपयोगमें प्रयोग सम्बन्धी इतनी विविधता और अनेकरूपता है कि सामान्यतः उसकी गणना नहीं की जा सकती। गद्यके इन विविध प्रयोगोंमे जहाँ एक और पारिभाषिक शब्दावली उसे विशेषता प्रदान करके उसके प्रेपण-क्षेत्रको सीमित कर देती है, वहाँ दूसरी ओर गद्यके व्यावहारिक क्षेत्रमे ही अलंकत पदावली—साहित्यिक शैली—का प्रयोग उसे उपयोगिताके साथ-साथ सौन्दर्यसे समन्वित कर देता है, जिससे उसकी प्रेषणीयताके क्षेत्रमें विस्तार आ जाता है। गद्यका इसी प्रकारका लिखित प्रयोग आधुनिक कालमें साहित्यकी एक विशिष्ट विधाके नामसे अभिहित होने लगा है। जब कोई कहता है कि रवीन्द्रनाथ ठाकरकी कविता, कहानी और उपन्यासकी अपेक्षा उनका गद्य अधिक प्रभावशाली है, तब उनके गद्यमे लिखे गये उन छोटे-बड़े निबन्धों और प्रबन्धों की ओर संकेत होता है, जिनमे प्रतिपादित विषय और प्रतिपादनशैली, लेखकके विचार तथा उसका न्याकत्व, दोनो समानतः प्रभावित करते है। यह कहना कठिन होता है कि इनमेंसे कौन प्रधान है। साहित्यके इस गधसे लेखा निबन्ध, प्रबन्ध आदि तो अभिष्रेत होते है, परन्त कथा, कहानी, उपन्यास आदि नहीं।

शास्त्र और विशान उपयोगी साहित्य (दे०)में प्रयुक्त इस प्रकार न्यावहारिक गधके अतिरिक्त छिलत साहित्यमें प्रयुक्त गधके दो प्रमुख प्रयोग-क्षेत्र हो जाते हैं—एक कहानी, उपन्यास, नाटक आदिका क्षेत्र, जिसका उल्लेख संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें मिलता है और दूसरा साहित्यिक गधका क्षेत्र, जो छेख, निबन्ध, संस्मरण, यात्रा, प्रबन्ध आदिक इतने छोटे-बड़े रूपोमें मिलता है कि उसका निखिल वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

लिखित रूपमे गद्यका प्रयोग पद्यके बहुत बाद प्रारम्भ हुआ । इसका प्रधान कारण यही है कि मूलतः गद्यमें भाषाका रूप प्रकृत, अकृतिम और व्यावहारिक रहता है । कमसे-कम शब्द-प्रयोगके द्वारा जितना तीव और तुरन्त प्रभाव
पद्यका होता है, जतना गद्यका नही हो सकता । परन्तु
सामाजिक जीवनके विविध प्रकारके विकासके साथ-साथ
गद्यके विकास तथा जसकी ज्यादेयता और महत्तामे वृद्धि
होती गयी और आज वह व्यावहारिक क्षेत्रसे ही नहीं,
साहित्यके अनेक रूपोसे भी पद्यको अपदस्थ कर चुका है ।
नाटक और कथा-साहित्यमें भी पहले पद्यका व्यवहार होता
था, परन्तु आज इनमे गद्यका एकान्त साम्राज्य है । किताके क्षेत्रमे भी गद्य-गीति (दे०) नामसे ऐसी रचनाएँ होती
है, जिनमें सहन शब्दार्थकी नहीं, हार्दिक संवेदनकी प्रधानता होती है ।

कहते हैं जो बिष्टिसे गणके केवल चार भेद संस्कृतके आचार्यों-न वताये हैं और इन भेदोंमें भी शब्दावलीके बाह्य रूपको ही लक्ष्य किया गया है, परन्तु गध शैलियोंके साहित्यरूप— लेख, निवन्ध, प्रवन्थ, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी आदिमे वर्ण्य-विषय और लेखकके व्यक्तित्वके अन्तर-से असख्य भेद होते हैं। स्वयं उपयोगी साहित्य-इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति, शिक्षा-विश्वान आदि विषयोंमें अनेकानेक शैलियोंका प्रयोग होता है।

हिन्दी गद्य, जो उन्नीसवी शताब्दीके पहले अपने वर्तमान रूपको प्राप्त नहीं कर पाया था, साहित्यिक प्रयोगमे भार-तेन्दु-युग, द्विवेदी-युग तथा छायावाद एवं 'प्रसाद'-प्रेमचन्द युगमे विविधरूप विकास करता हुआ वर्तमान कालमे प्रौढताकी ओर अग्रसर हो रहा है और साहित्यिक रूपोंमें ही नहीं, विविध उपयोगी विषयोंके माध्यमरूपमे शक्तिसंचय कर रहा है।

[सहायक प्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इति हास (आधुनिक काल) : रामचन्द्र शुक्क; आधुनिक हिन्दी साहित्यकी भूमिका तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य : लक्ष्मीसागर वाष्णेय; आधु-निक हिन्दी साहित्यका विकास: श्रीकृष्णलाल; हिन्दी साहित्य : भोलानाथ ।] **गद्य-काल** – आधुनिक काल (दे०)को ही गद्य-काल कहा जाता है, क्योंकि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें आधुनिक कालसे पूर्व केवल काव्यका प्राधान्य था। साहित्यिक विषयोंका निर्ह्मपण तो कान्यके माध्यम द्वारा होता ही था, उपयोगी विपर्योतककी विवेचनाके लिए पद्यको उपयुक्त साधन स्वीकार किया जाता था। सरल सामन्ती जीवन-क्रमके लिए और ऐसे साहित्यके लिए जिसका प्रणयन समाजके अल्पसंख्यक शिक्षित व्यक्तियोंतक सीमित था, काव्य उपयुक्त साधन बना रह सकता था, किन्तु अंग्रेज यूरोपीय औद्योगिक क्रान्तिका जो दृष्टिकोण अपने साथ भारतमें लाये थे, उसके लिए गद्य ही उपयोगी सिद्ध हो सकता था। इसीलिए उनके शासनकालके प्रारम्भसे ही गद्यका विकास दृष्टिगोचर होता है। प्रेस जैसे वैज्ञानिक साधनके आश्रयसे उसकी क्रमबद्ध परम्परा स्थापित होनेमें देर न लगी। गद्यके प्रारम्भकी दृष्टिसे हिन्दी साहित्यके इतिहासमें उन्नीसवी शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। इसी शताब्दीके पूर्वार्द्धमे लगभग सभी उपयोगी विषयोंसे सम्बन्धित यन्थ पहले-पहल गद्यमें प्रस्तुत किये गये, जिनका अध्ययन कर हिन्दी-भाषियोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया। --ल० सा० व० गद्य-काव्य - संस्कृत साहित्यशास्त्रमें गद्य-काव्यके अन्तर्गत कथा, वृत्त, आख्यायिका आदिका निर्देश किया गया है, परन्तु गद्य-काव्यके अन्तर्गत और भी अनेक साहित्य-रूप आ सकते है (दे॰ 'साहित्य रूप' तथा 'गद्य')।

गच-कान्यके इस न्यापक अर्थके अतिरिक्त इसका विशिष्ट अर्थ भी है और आधुनिक कालमे यह प्रयोग इसी अर्थमें सीमित हो गया है। विशिष्ट अर्थमे गच-कान्य वह रचना है, जिसमें किवता जैसी संवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। फलस्वरूप उसका वाह्य रूप भी साधारण गचकी अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलंकृत और सधा हुआ होता है। संस्कृतके वृत्तगन्थि और चूर्णक (दे॰

'गय')की शैलियों इसी रूपमें प्रयुक्त होती हैं। गय-काव्यसे वस्तुतः गयगीतिका ही बोध होता है। परन्तु कहानी, संस्मरण, निवन्ध आदि भी गय-काव्यात्मक हो सकते हैं तथा नाटकके कथोपकथन और स्वकथन तथा उपन्यासके वर्णन, चित्रण तथा कभी-कभी कथोपकथनमें भी गय-काव्यात्मक शैलोका प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गय-काव्यात्मक शैलीका प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गय-काव्या एक साहित्य-रूप भी है और एक शैली-वैशिष्ट्य भी।

गद्य-कान्यके उदाहरणोमे 'गीतांजिल' (अनुवाद) और 'साधना' (रवीन्द्रनाथ ठाकुर), 'साधना', 'छायापथ', 'पगला' और 'संलाप' (राय कृष्णदास), 'ठंढे छीटे' और 'श्रद्धाकण' (वियोगी हरि), 'अन्तस्तल' (चतुरसेन शास्त्री), 'हिमहास' (रामकुमार वर्मा), 'झरोखे' (सुदर्शन), 'उन्मन', 'सारङ्ग', 'स्पन्दन', 'श्रवनम' और 'श्रारदीया' (दिनेश-निन्दनी डालिमया), 'जीवन-कण', 'जीवन-धूलि' और 'शेष स्मृतियां' (रघुवीर सिंह), 'गेहूँ और गुलाव' (रामचृक्ष वेनीपुरी) तथा 'अन्तरात्मासे' (रङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर)-का निर्देश किया जा सकता है।

ये प्रायः सभी रचनाएँ गद्य-गीति कही जा सकती है, क्योंकि इनमें वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अन्तिनिहित ध्वनि-संगीत, भावकी एकात्मकता या भाव-संकलन और गीतिके लिए अपेक्षित भाव-विकास और उसकी परिणति—सभी लक्षण न्यूनाधिक रूपमें पाये जाते है।

—व० व०

गद्य-गीति-दे० 'गद्य-काव्य'।

गम्यगमक भाव-दे॰ 'रसनिष्पत्ति',आरोपवादके अन्तर्गत । गर्बा-गुजराती लोकगीतोंका एक प्रसिद्ध प्रकार; प्रथा; एक गुजराती लोकनृत्यकी शैली एवं मिट्टीका वह पात्र, जो देवी अम्बाकी पूजाके लिए मंगल-कलशके रूपमे सजाकर प्रस्थापित किया जाता है और जिसपर चार ज्योतियाँ प्रज्विलत की जाती हैं। नवरात्रमें गर्वा पात्र स्थापित कर स्त्रियाँ उसके आस-पास परिक्रमा करते हुए गीत एवं नृत्य-का आयोजन करती है। इन्ही नृत्य एवं गीतोको गर्वाकी संज्ञा प्राप्त है। किंवदन्तीके अनुसार यह प्रथा सबसे पहले द्वारिकाके मन्दिरसे आरम्भ हुई । तभीते बॉझ स्त्रियाँ पुत्रवती होनेकी कामनासे द्वारिका जाकर अपने वस्त्रींपर हाथके छापे लगवाने लगीं। गर्बा गीत कृष्णकी प्रणयचेष्टाओं और देवी अम्बाके स्तुतिविषयक होते हैं। गर्भ-संधि-रूपककी पंच सन्धियों मेंसे तीसरी सन्धि। दशरूपककारका कहना है "गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्या-न्त्रेषणं मुद्धः । द्वादशांग पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः" (१: ३६)। जब बीज दिखाई पड़ जानेके पश्चात् फिरसे नष्ट हो जाय, लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय तब गर्भसन्थि होती है। इस सन्थिमे बीज बिलकुल नष्ट नहीं होता, बल्कि वह दब-सा जाता है। उसके अन्वेषणमें बीजका और भी विकास करना पडता है। फलके गर्भस्थ होनेके कारण इसे गर्भसन्धि कहा गया है।

इसमें साधारणतः पताका अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा अवस्थाका मिश्रण रहता है, पर पताकाका रहना आवश्यक नहीं है, वह हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, किन्तु 'प्राप्तिसम्भव'का होना बहुत जरूरी है। जिस बीजको प्रतिमुख सिन्धमें लक्ष्यालक्ष्यरूपमें देखा गया है, वही यहाँ आकर विशेष रूपसे प्रस्फुट हो जाता है, किन्तु फिर भी फलप्राप्तिका निश्चय सिन्दिग्ध हो उठता है, क्योंकि इसमें कभी विध्न आ उपस्थित होता है तो कभी अन्य व्यवधान। इस प्रकार बार-बार बीजकी खोज की जाती है। जैसा पहले भी संकेतित किया गया है कि यहाँ फल या प्राप्तिकी सम्मावना तो रहती है, पर उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता।

'स्कन्दगुप्त' ('प्रसाद')में "मगधमें अनन्तदेनी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क सम्मेलनमें गर्भसन्धिका प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि फिर तो क्षण-क्षणपर बीज अथना फलका आविर्माव और तिरोभाव होने लगता है और कुत्रहलकी तीव्रता बढ उठती है। अनन्तदेनी और भटार्कके कारण फलप्राप्तिमें आशंका उत्पन्न होती है और स्कन्दगुप्तके प्रयत्नोंको देखकर आशाका उदय होने लगता है। यह दिधाकी अवस्था चतुर्थ अंकके दितीय दश्यतक चली है, अतप्य वही गर्भसन्धिकी समाप्ति समझनी चाहिये"। (जगन्नाथ शर्माः प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)।

गर्भसन्धिके सन्ध्यंग निम्नलिखित हैं—असूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिवल, उद्देग, सम्भ्रम, आक्षेप।

इन सन्ध्यंगींको प्रायः प्रयोगमें नही लाया गया है (दे॰ 'सन्धि')। ——व॰ सिं॰

गर्भित-दे० 'शब्द-दोष', चौदहवाँ 'वाक्य-दोष'। गर्व-प्रचित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। वाग्भटके अनुसार दूसरोंका अनादर (परावशा—'काव्यानुशासन, पृ० ५८) गर्व है। यह लक्षण वास्तवमें गर्वके भावके वैयक्तिक स्वाभिमान और दसरोंपर उसकी अभिव्यक्तिका संक्षेपमात्र है। 'अग्निपुराण' (३३९-२९) में इसका लक्षण ठीक है—'गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना', अर्थात् अपने उत्कर्षकी भावनासे दूसरोंकी अवज्ञा करना। भरतने इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये है—'वैभव, उच कुल, सुन्दर रूप, युवावस्था, विद्या-प्रवीणता, बल अथवा धनका लाभ गर्वके विभाव हैं। दूसरोंका अनादर, अविनय प्रश्न पूछनेपर उत्तर न देना, बात न करना, उपेक्षावृत्ति, उपहास, कठोर वचन कहना, पूज्योका अनादर करना अकारण उपालम्भ करना इत्यादि अनुभावोसे व्यक्त होता है, (नाट्य० ७।६७ ग)। विश्वनाथके अनुसार "गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कलतादिजः । अवज्ञासविलासांगदर्शना-विनयादिकृत्"। (सा० द०, ३:१५४)। प्रभाव, ऐश्रर्य, विद्या तथा उच्च कुल आदिके गर्वसे अविनय, अवज्ञा तथा उपेक्षा आदि करना इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः यही लक्षण दिया है—"बहु बल धन कुछ रूपतें, सिरु उन्नत अभिमान । गिने न काह आप सम" (भाव०: संचारी)।

आधुनिक कि उदयशंकर भट्टकी इन पंक्तियों में 'गर्व' संचारी है—"मेरे तपका तीव्र तेज हैं बढ़ रहा; रिवमण्डलको भेद ब्रह्मके शीर्षतक। फैला है आतंक जगत परमाणुमें; मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्यकी" (विश्वामित्र)। रूपजनित गर्वेकी व्यंजनाका उदाहरण—"मन नैनन नील

सरोज गुनै र उरोजन कंज-कली अनुमानहिं, अम बन्धुक फूलनके अधरानरु पानन पद्म सनाल सुजानहिं। मनि मोतिन चारु गुही कबरी लखि बन्धुनकी अवली मन ठानहिं, अतिमन्द मिलिन्दके बृन्द सखी दुरबार घनो दुख देत न मानहिं" (र० मं०, पृ० १३८)।

गर्व एक प्रकारका मनोविकार है। गर्वकी भावनासे अभिभृत मनुष्य स्वसन्तुष्ट है, अतः वह दूसरोपर यह अभिन्यक्त भी करता है और इस अभिन्यक्तिसे उसे सखका ही अनुभव होता है। उत्साहप्रधान गर्वसे वीर रसकी व्यंजना होती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकोंने इसको स्थायी गर्विता अथवा वक्रोक्तिगर्विता (नायिका)-नाय-काओंके अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेद: विशेष विस्तारके लिए दे०—'नायिका-भेद'। अपने श्रियके प्रेमपर और अपने रूपपर गर्व करनेवाली नायिका-यह विभाजन भानदत्त द्वारा सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है। प्रेमगर्दिता-प्रेमपर गर्व करनेवाली-"निज नायकके प्रेमको गरव जनावै बाल'' (मितराम: रसराज, १०१)। इस नायिकाको नायककी निर्भरतापर गर्व होता है-"मेरे हॅसे हॅसत हैं मेरे बोले बोलत है, मोहीकों जानत तन मन धन प्रान री" (मतिराम: रसराज, १०२)। देवकी नायिका अपने प्रियके एकरस प्रेमपर गर्व करती है-"अङ्गन सङ्ग वसै अनुराग, ह्यौ जीवनतें जीवनमूरि न फूटै" (ब्रजभाषा नायिका०, २:३४८)। पर इस प्रसंगमे नायक द्वारा नायिकाके शृंगार किये जानेका वर्णन रीतिकाव्यमें विस्तारसे मिलता है-"आपहि देत जवकवा गूँदत हार। चुनि पहिराय चुनिरया प्रान अधार" (रहीम वरवै०, ३२) । **रूपगर्विता**—अपने सौन्दर्यपर गर्व करनेवाली नायिका-"जाकें अपने रूपको अति ही होय गुमान" (मतिराम: रसराज, १०४)। कभी यह गर्व स्वतः नायिका-की उक्तिमें भासित होता है और कभी अन्यकी उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है। मतिरामकी यह नायिका स्वयं गर्वोक्ति करती है-"दिन हूँ मैं मुखचन्दको लखि ललचात चकोर', अतः उसका आना नहीं हो पाता (वही : १०६)। पद्माकरने अन्यकी उक्तिमे नायिकाके गर्वकी व्यंजना की है-"चन्द्रमुखी कहें होती दुखी तौ न कोऊ कहेगी सुखी रहिबो करो" (भा० वि०, १: १३९)। इस रूप सम्बन्धी गर्वके माध्यममे कवियोने नायिकाके रूपसौन्दर्यका चमत्कृत और ऊहात्मक वर्णन किया है।

गल्प और छोटी कहानी - लघुकथाके सन्दर्भमें गल्प और छोटी कहानी भी देखी जा सकती हैं। वस्तुतः ये दोनो द्रान्द कहानीके छोटे रूप, संक्षिप्त रूपकी ओर संकेत करते हैं। पर लघुकथाकी अपेक्षा गल्प एवं छोटी कहानीका धर्म आधुनिक कहानीके अधिक समीप लगता है। गल्प बॅगला-को छोटी कहानियोंकी संशासे प्राप्त शब्द है और छोटी कहानी अंग्रेजीके शार्ट स्टोरी शब्दसे। शिल्परचना और उद्देश्यकी दृष्टिसे गल्प, छोटी कहानी और लघुकथा—ये तीनों रूप किसी-न-किसी स्तरसे समानधर्मा है (दे०—किहानी)। — ए० ना० ला० गांधीवाद गांधीवाद, महात्मा गान्धी (१८६९-१९४८)की

विचारपद्धतिका व्यापक नाम है। गान्धीके व्यक्तित्वके अनेक पक्ष थे। वे राजनेता थे, समाज-सुभारक थे, अर्थवेत्ता थे, शिक्षाशास्त्री थे और धर्मोपदेशक भी थे। समाज और शासनके संघटन तथा जीवनके अन्य अनेक पक्षोंके बारेमें उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी दैनिक साथनाके मध्यसे गुजरते हुए किया था। मार्क्सवादके समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन गांधीवादके पीछे नहीं है, इसी कारण उसमें किसी प्रकारकी तर्कजन्य पद्धतिका अभाव है। उसका आधार तर्क नहीं, स्वानुभृति है। इस विचारधाराका प्रत्येक खण्ड आत्मशक्तिको लेकर चलता है। इसी कारण उसमें एक प्रकारकी आध्यात्मिकता और विचार-स्वातन्त्य है।

गान्धीबादको किशोरलाल मशरूवालाने तीन भागोमें विभक्त किया है-(१) वर्णव्यवस्था, (२) ट्रस्टीशिप, (३) विकेन्द्रीकरण । विनोबाके अनुसार गान्धी समाजकी बॅधी हुई कल्पनाओंको तोडनेके स्थानपर उनका परिष्कार कर विकसित रूप प्रदान करना चाहते है। वर्णव्यवस्थाके अन्तर्गत उन्होंने (१) पारिश्रमिककी समानता, (२) होडका अभाव तथा (३) आनुवंशिक संस्कारोंसे लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजनाका प्रस्ताव किया । द्रस्टीशिपके अन्तर्गत आत्मविश्वासके साथ समस्त प्राणिमात्रके कल्याणके लिए कार्य करना होता है। विकेन्द्रीकरणके अन्तर्गत उद्योगोंका ही नहीं, राजसत्ताका भी विकेन्द्रीकरण उनका अपना अभीष्सित था। लक्ष्यतक पहुँचनेके लिए सत्य, अहिंसा और सेवा इन विशिष्ट साधनोंका उपभोग आवश्यक माना गया है। गान्धीवादकी सबसे बड़ी देन उसकी यह विचार-धारा है कि हमको साध्यके साथ-साथ साधनकी पवित्रताका भी ध्यान रखना चाहिये।

सर्वोदय (दे०) गान्धीका सामाजिक आदर्श है, सत्यायह, जीवनादर्श और रामराज्य शासनादर्श। सर्वोदयका अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदयपरिवर्तन— हृदयपरिवर्तन अन्यायी, शोषक और अनीतिवान्का। गान्धीवादके मूळ स्तम्भ दो है-सत्य और अहिसा। सत्यका ही दूसरा नाम उन्होंने परमेश्वर माना है, तथा समस्त सृष्टिमें एक ही तत्त्वकी व्याप्ति स्वीकार कर ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य एवं अन्य जीवधारियोंकी एकता स्वीकार की है। इस अन्तर्भृत एकत्वके कारण ही उन्होने माना था कि "जो घटना एक शरीरधारीपर घटती है उसका समग्र जड़ पदार्थपर और उसकी आत्मापर प्रभाव घड़ता है"। इस प्रकार सत्यके साक्षात्कारसे समनुद्धि प्राप्त होती है और समबुद्धिसे सबके प्रति अहिंसाका भाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए उन्होंने अहिंसाको सत्यका दूसरा पहलू कहा है। अहिंसामें केवल देषका अभाव ही नहीं, प्रेमकी सम्प्राप्ति भी है। यह प्रेम स्वार्थ, मोह, आसक्ति आदिसे भिन्न होता है। इस अहिंसामे (अभावात्सक) वैरत्याग, (भावात्मक) चराचरप्रेम और पूर्ण निष्कामभावका समन्वय है। इस समन्वयका पहला तत्त्व जैन, बौद्ध अहिंसाका है, दूसरा वैष्णव भावनाका प्रसाद है और तीसरा तो स्पष्टतः गीनाका प्रभाव है। ऐसी अहिंसाकी प्राप्तिके लिए गान्धीने आत्मशुद्धि-को आवश्यक माना है और आत्मशुद्धिके लिए अन्य सन्तोंकी भाँति अहन्ताके त्यागको अनिवार्य माना। अहंकारका त्याग, तप और भगवद्भक्तिसे ही सम्भव है। तपके लिए रागभोगका त्याग और आत्मपीडन करना होता है तथा उनके लिए शक्ति, भगवान्पर अटल विश्वास होनेसे प्राप्त होती है। यह तप या आत्मशुद्धि केवल उस व्यक्तिका ही कल्याण नहीं करती, आत्माकी अखण्डताके कारण सारे समाजको उन्नत बनाती है।

प्रकट है कि गान्धीके जीवनदर्शनमें त्याग और तपका प्राधान्य है तथा भोग और आनन्दका तिरस्कार । कलामें भी उन्होंने शिवं और सत्यंपर ही बल दिया, सुन्दरंको उन्होंने इन दोनोंसे या तो अभिन्न माना या अस्वीकार किया । गांधीवादी विचारधारा सम्पूर्णतः जटिलताकी अपेक्षा सरलताके चारों ओर घूमती है। गांधीजीका कहना था कि मानवीय स्वभाव उतना जटिल नही होता, जितना कि मनोवैज्ञानिकोंने उसे बना रखा है। इसीलिये कलाओंको भी यदि आनन्द और संतोषका स्रोत बनना है तो उन्हें भी सरल एवं प्रत्यक्ष होना चाहिये एवं प्रकृतिके समान ही उसकी अपील तात्कालिक होनी चाहिए। स्वयं वैयक्तिक रूपसे गांधीजी प्रेरणाके लिये किसी कलाकी आवश्यकता नहीं समझते थे। एक बार किसीने उनसे पूछा कि क्या आप अपनी दीवालोको चित्रोंसे युक्त देखना नहीं चाहते हैं ? गांधीजीने अपने विशिष्ट ढंगसे उत्तर देते हुए कहा, "मै तो दीवालें भी नहीं चाहता । नक्षत्रोंकी छायामें मै यथेष्ट रूपसे प्रसन्न होजँगा"। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे कलाओं के सूजनके मूल्यको स्वीकार न करते हों । पर इस मूल्यके संबंध-मे उनके अपने निजी विचार थे। उनके लिये प्रकृति वह आदर्श है, जहाँ पर पहुँचनेके लिए कलाओंको प्रयास करना चाहिए। प्रकृति भी हमे इसलिए अपने सौन्दर्यसे इतना, आन्दोलित कर पाती है, क्योंकि वह सृष्टिके केन्द्रमे स्थित सत्यको प्रतिच्छायित या विम्बित करती है। इस आदर्शके अनुरूप श्रेष्ठतम कला सर्वाधिक प्राकृतिक होती है क्योंकि वह सर्वाधिक सत्यपूर्ण भी होती है। कीट्सके इस कथन 'सौन्दर्य ही सत्य और सत्य ही सौन्दर्य के अन्तिम हिस्सेको ही गांधी जी मान्यता दे सकते थे। वे सौन्दर्यको सत्यमे और सत्यके द्वारा देखते थे, उनके अनुसार इसी दृष्टिकोणसे ही श्रेष्ठतम कुळा उपज सकती है। इस दृष्टिकोणके कारण तमाम रोमाण्टिक साहित्यको अपनी सराहना वे नहीं दे सके।

इस दृष्टिकोणका स्वाभाविक विकास है कि गांधीवादी विचारधारामें कलाओंके साथ नैतिकताका संबंध अभिन्न रूपसे जुड़ा हुआ है। "शुद्ध जीवन ही श्रेष्ठतम एवं सत्य-तम कला है"। इस सम्बन्धमें उनके ऊपर रिक्कन(ruskin) एवं टाल्सटॉय (tolstoy)के विचारोंकी स्पष्ट छाया है। आन्तरिक अनुशासन, आत्म-त्याग एवं सहानुभृतिको भी इस संबंधमे महत्त्व प्रदान किया गया है। गांधीजीका विचार था कि वास्तविक साधु कलाकी साधना ही नहीं करता, उसमें रमता भी है। इसीलिये उन्होंने ईसामसीहको 'श्रेष्ठतम कलाकार' एवं कुरानको अरबी साहित्यकी सर्वाधिक पूर्ण कृति माना है। यक्षमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है।

गांधीजीके कला संबंधी दृष्टिकोणको हम एक प्रकारका आध्यात्मिक उपयोगितावाद कह सकते हैं। वास्तविक

कलाको मानवकी अन्तरात्माकी अभिव्यक्ति देना चाहिये। पर यह अन्तरात्मा उनके अनुसार निरपेक्ष न रहकर सोदेश्य नैतिक-सामाजिक कार्योंने प्रकाशित होती रहती है। इसी कारण 'कला कलाके लिए' जैसे सिद्धान्तोंके प्रति गांधी-दर्शनमें कोई सहान्मति नहीं मिलती। अस्त, कला कुछ लोगोके आधिपत्यमे ही न रहे, उसकी अपील सार्वभौम हो-और तभी वह प्रकृतिके सन्निकट पहुँच सकेगी-यह गांधीजीका आग्रह था। कलाकार जनताके प्रति अपने कर्तव्योके विषयमे सदैव जागरूक रहे, तभी कला अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। कलाकी श्रेष्ठताकी कसौटी गान्धीने उसकी उपयोगिता स्वीकार की, "कलाका सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगितासे नहीं है. केवल सौन्दर्यसे है-यह कहना सौन्दर्य और कलाको न समझने जैसा है। सत्य ही ऊँची-से-ऊँची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगितासे भिन्न नहीं हो सकता"। गान्धीके अनुसार संगीत इसलिए श्रेष्ठ है कि "वह प्रार्थना और नैतिक उन्नतिमें सहायक है", किसी रससिद्धान्तके कारण नहीं। उनका विश्वास था। "चित्र, गायन आदि बाह्य आकारोंकी अपेक्षा शुद्ध आचरण-में अभिन्यक्त मनुष्यकी नैतिक पवित्रता कलाका उच्चतर प्रकाशन है"।

गान्धीवादमे कला आत्म-मन्थनका प्रसाद है। "मै कला-के दो भेद करता हूं आनतर और बाह्य। इनमेंसे किसपर तुम अधिक जोर देते हो, यही सवाल है। मेरे नजदीक तो बाह्यकी कीमत तबतक कुछ नहीं है—जबतक अन्तरका विकास न हो"। "समस्त कला अन्तरके विकासका आवि-भीव ही है। जो कला आत्माको आत्मदर्शन करनेकी शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है तथा प्राकृतिक कलाकृतियोंकी अपेक्षा मानुषी-कला तुच्छ और अपूर्ण है। "जिसमे सत्यकी अभिव्यक्ति है, जिसमे अर्थगामिनी प्रकृतिकी अभिव्यंजना या सहायता होती है, वहीं सच्ची कला है"।

वास्तवमें गान्धीजी एक ओर तो कलाओंकी आध्यात्मिक रूपसे ऊपर उठनेवाला मानते थे और दूसरी ओर ठोस सामाजिक दायित्वोंकी मॉग भी करते थे। उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि जिन कविताओं—स्र, मीरा, तुल्सी, नरसी मेहता आदिकी कृतियों—की ओर थी, उनसे थे दोनो उद्देश्य पूरे भी होते थे।

गान्धीवादकी सास्विक तापसी भावना और आनन्द तथा सौन्दर्यका तिरस्कार, कला सर्जन या आस्वादनके अधिक अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त कला सम्बन्धी यह दृष्टिकीण, साहित्य आदिकी अवतक स्थापित अपनी परम्पराओं एवं अभिव्यंजना-पद्धतियों के, बहुत अनुकूल नहीं पडता है। इसी कारण उसकी सीधी तात्विक अभिव्यंक्ति हिन्दीमें ही नहीं, गुजरातीमें भी विरल है। कहना तो यों चाहिये कि राजनीतिमें भी, जो गान्धीका प्रमुख क्षेत्र रहा, उनके अनुयायियोंने अहिंसा, त्याग आदिको साधनरूपसे ही अपनाया, बहुत कम लोग उनकी जीवन-प्रणाली अन्तिम रूपसे ग्रहण कर उसे सिद्धिरूपमें अपना सके हैं।

हिन्दी साहित्यमें गान्धी-व्यक्तित्वके अनेक पक्ष, उनकी व्यवहार-प्रक्रियाके विविध रूप तथा विचार-सरणिके अंश खण्डशः अभिन्यक्त हुए है। प्रेमचन्दके उपन्यासीं और कहानियोंमें सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन, स्वाधीनता-संग्राममें सत्य-अहिंसाके शस्त्रोंका प्रयोग, आश्रमोंकी स्थापना द्वारा सुधार आदि गान्धीवादके अनेक पक्ष अभिन्यक्त हए है। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गवन' उपन्यासों तथा 'नमकका दारोगा', 'समरयात्रा' एवं अन्य कहानियोंमे गान्धीवादका व्यवहारपक्ष जितना उभरकर आया है, उतना किसी अन्य लेखकमें नहीं मिलता। 'कौशिक', सदर्शन, भगवतीचरण वर्मा एवं जैनेन्द्र अन्य कथाकार है, जो गान्धीवादकी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति करते है । कवियोमे मैथिलीशरण गुप्तकी 'यशोधरा' और 'साकेत'मे गान्धीवादी विचारोकी सराक्त अभिन्यक्ति हुई है। वालकृष्ण रामी 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, 'बच्चन' एवं समित्रानन्दन पन्त जैसे कवियोंने भी गान्धीबादको काव्यकी वाणी दी है। यों 'कामायनी'मे भी यत्र-तत्र गान्धीवादकी झलक आलोचकोंने देखी है। गान्धीका तत्त्व-दर्शन अपने मूल रूपमें जितना कवि सियारामशरण ग्रप्तमें उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसीमें नहीं। नगेन्द्रके अनुसार "सियारामशरण 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'नोआ-खाली'मे नो प्रत्यक्ष रूपसे गान्धीबादके सिद्धान्तोकी स्थापना करते ही है, इनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी'की काव्यबद्ध कहानियों और 'नकुल'मे भी गान्धीदर्शनकी ही अभिन्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदिकी विचारा-त्मक स्फूट कविताओंमें है"। " ि हिन्दीमें मूलतः दो लेखक ऐसे है, जिन्होंने गान्धीदर्शनको गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है-जैनेन्द्र और सियारामशरण ग्रप्त। इनमेसे जैनेन्द्रकी स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है। उनकी आत्मा गान्धीदर्शनके शम सात्त्विक प्रभावको ग्रहण नहीं कर सकी है। पन्तजीको गान्धीदर्शनकी शान्त परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है, परन्तु वे कदाचित् उसमें अभीष्ट कलाका अभाव पाते हैं, इसलिए अरविन्दके प्रति उन्हे अधिक आकर्षण है, किन्तु सियाराम-शरण गप्तके हृदय और बुद्धि दोनोंका गान्धीदर्शनके साथ पूर्ण सामंजस्य है, वह उनकी आत्मामे रम गया है"। गान्धीजीकी जीवन-प्रणालीकी सधी अभिव्यक्ति रामनरेश त्रिपाठीके 'पथिक'मे भी प्राप्त होती है। इधर आचार्य विनोबा भावेके प्रभावमे बहुत-सा स्फुट साहित्य गान्धीवादी विचारधाराके अनुकुल रचा गया है।

गान्धीका व्यक्तित्व इतना महान् था कि समकालीन जीवनका प्रत्येक पक्ष उनसे किसी-न-किसी रूपमे प्रभावित हुआ है। कला और साहित्य भी इससे अछूते नही रहे। इस दृष्टिसे हिन्दीके अधिकांश किव और लेखकोंने उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होकर उनकी जीवन-दृष्टिको अभिव्यक्ति दी है। पर इस अभिव्यंजनामें सतहपरका उद्घोष और न रेक्टीको सनुनि अधिक है, गहरो अनुभूतिका अभाव है।

[सहायक अन्थ—सर्वोदय-तत्त्वदर्शनः गोपीनाथ धवनः गान्धीवाद-समाजवादः किशोरलाल घ० मशरूबालाः वाधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ नगेन्द्रः हिन्दी कवितामें युगान्तरः सुधीन्द्रः हिन्दी-साहित्यमें विविधवादः प्रेमनारायण शुक्लः गान्धीवादकी रूपरेखाः

रासनाथ सुमन ।]

-दे० शं० अ०

गांभीय-दे॰ 'सात्त्विक गुण', नायक।

गाथा १-गाथा लोक-साहित्यका वह प्रकार है, जिसमें गेयताके साथ ही कथानककी प्रधानता रहती है। कीट्रीज-ने इसकी परिभाषा बतलाते इए लिखा है कि गाथा वह लोकगीत है, जिसमें किसी कथाका वर्णन हो अथवा यह वह कथा है, जो गीतोंमें कही गयी हो-(कोट्रीज-ह॰ स्का॰ पा॰ वै०, भूमिका भाग)। सर्वप्रथम गाथा शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमे पाया जाता है (ऋग्वेद, ८:३२:१)। यज्ञके अवसरपर गाथा गानेकी प्रथा उस समय प्रचलित थी। इनके गानेवालोंको 'गाथिन्' कहा जाता था (ऋग्वेद, १: ७:१)। जातकोंमें इलोकबद्ध रचनाको गाथाका नाम दिया गया है (बटुकनाथ शर्मा: पाली जातकावली, प० ९)। प्राकृत भाषामें लिखी गयी हालकी गाथा-सप्तशती सुप्रसिद्ध रचना है, जिसमें शृंगार रसके बड़े सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। भोजपरी भाषामें गाथाका अर्थ कथा है और इसी अर्थमें इसका प्रयोग सर्वत्र किया जाता है। अतएव गाथा वह छन्दोबद्ध रचना है, जिसमें कथाकी प्रधानता हो। अंग्रेजी बैलेडके लिए लोक-साहित्यमें अब गाथा शब्दका प्रयोग होने लगा है। लोकगाथा और लोक-गीतमें बडा अन्तर है। इन दोनोंमें स्वरूपगत भेद और विषयगत भेद उपलब्ध होता है। आल्हा, ढोला-मारू तथा विजयमलकी गाथा इसके उदाहरण हैं। ये गाथाएँ कई प्रकारकी होती हैं, जिनमें प्रेमकथात्मक, वीरकथात्मक, रहस्य-रोमांच कथात्मक आदि भेद प्रसिद्ध है।

लोकगाथाओंकी प्रधान दस विशेषताएँ होती हैं-(१) लोकगाथाके रचयिताका अभाव-लोकगाथाकी रचना किस व्यक्तिविशेषने की, यह कहना बड़ा कठिन है। देश और कालके अनुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहता है। (२) प्रामाणिक मूल पाठका अभाव—किसी लोक-गाथाका कौन-सा मूल पाठ है, यह बतलाना सम्भव नहीं। उसके सभी पाठोका महत्त्व समान है। लोरकी तथा विजयमल आदि गाथाओंका कौन-सा पाठ शुद्ध है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। (३) आवृत्तिमूलक संगीत -- लोकगाथाओंका संगीतसे अभिन्न साहचर्य होता है। संगीत-जिसकी बार-बार आवृत्ति की जाती है-के बिना ये निष्प्राण है। (४) स्थानीयताका पुट-गाथाओं में स्थानीय इतिहास, रीति-रिवाज तथा प्रथाओंका वर्णन उपलब्ध होता है। (५) मौखिक—लिपिबद्ध नहीं; जनतक गाथाएँ मौखिक रहती हैं तभीतक इनकी जीवनी शक्ति है। लिपिबद्ध होने-पर इनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। (६) उपदेशात्मक प्रवृत्तिका अभाव-इन गाथाओंमें धर्म या नीतियन्थोंके समान उपदेश देनेकी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। (७) कथामें स्वाभाविक प्रवाह—कथामें प्रवाहका होना आव-इयक है। व्येकगाथाका प्रवाह पहाड़ी नदीकी भॉति गति-शील होता है। आल्हामें कितना प्रवाह है यह किसीसे छिपा नहीं है। (८) अलंकृत शैलीकी अविद्यमानता— लोंकगाथा सहज, सरल तथा बोधगम्य शैलीमें होती है। वह अलंकारोंके कारण कहीं बोझिल नहीं पायी जाती। (९) टेक-पर्दोकी पुनरावृत्ति—टेक-पर्दोकी बार-बार आवृत्ति- से गाथाओं में जीवनका संचार होता है। (१०) लम्बा कथानक—लोकगाथाओं का कथानक बड़ा लम्बा होता है। कथा ही इनकी प्रधानता है। आल्हा, लोरकी, विजयमलकी लम्बी गाथाएँ इसका उदाहरण है।

लोकगाथाओंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे विद्वानोंमें बड़ा मत-

भेद है। कोई इसे व्यक्तिविशेषकी रचना मानता है तो कोई इसे समदाय-विशेषकी कृति स्वीकार करता है। इस सम्बन्धमें निम्नांकित पाँच मतभेद है-(१) यिमका सिद्धान्त-सम्-दायबाद । (२) स्टेन्थलका मत-जनताबाद । (३) इले-गलका-व्यक्तिवाद। (४) विशप पर्सीका-चारणवाद। (५) चाइल्डका--व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद । श्रिमका मत है कि किसी समदायविशेषके लोग सामाजिक उत्सवोंपर सामृहिक रूपसे गीत गाते है। एक व्यक्ति गीतकी कोई एक कडी बनाता है तो दूसरा दूसरी कड़ी जोड़ता है। इस प्रकार सबके सामुहिक प्रयाससे गाथाओंका निर्माण होता है। स्टेन्थलका जनतावादी सिद्धान्त श्रिमके सिद्धान्तका विशेषीकरण है। परन्त इलेगलका मत है कि गाथाएँ व्यक्तिविशेषकी रचनाएँ है। जिस प्रकार इलियड, ऑडेसी आदि महाकान्योंका लेखक एक न्यक्ति था, उसी प्रकार ये गाथाएँ भी किसी एक व्यक्तिकी ही रचना है। यह दूसरी बात है कि अधिक काल बीत जानेके कारण उन लेखकोंका नाम आज हमे ज्ञात नहीं है। विश्वप पसींका कथन है कि इन गाथाओके रचयिता चारण लोग थे, जो राजदरवारोंमें काव्योंकी रचना कर राजाओका मनोरंजन किया करते थे। चाइल्ड इस मतका समर्थक है कि इन गाथाओंका रचयिता कोई व्यक्ति तो अवस्य है, परन्तु उसके व्यक्तित्वका इन गीतों में अभाव है। परन्त सत्य तो यह है कि गाथाओं की उत्पत्तिमें इन सभी सिद्धान्तोका समन्वय उपलब्ध होता है। —कु० दे० उ० गाथा २-( गै+धन्+स्री प्रत्यय टाप् ) । साधारण अर्थ १. गान, गीत (यथा 'गायदगाथं सुतसी-मोदरायन' ऋ० १।१६ ७६ तथा 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' ऋ० १।१।१३।१ इत्यादि मन्त्रोमे); २. स्तोत्र । (ख) विशिष्ट अर्थ १. आर्या छन्द (इस अर्थके प्रामाण्यके विषयमे तारा-नाथने अपने 'शब्दस्तोममहानिधि'में छन्दोमंजरी नामक यन्थका उद्धरण दिया है-"'पादे द्वादश विषमे मात्राश्चाष्टा-दश दितीये हि । पंचदश चेत्रीये कथिता तथैवार्या''), २ प्राकृत भाषाका कोई भी छन्द या पद्य । (हालकृत 'गाहा सत्तसईमें 'गाहा' शब्द, जो संस्कृत शब्द, 'गाथा'का ही प्राकृत रूप है, सम्भवतः प्राकृत छन्दके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है), ३. एक प्रकारकी प्राकृत। ४. 'ललित-विस्तर, इत्यादि बौद्ध साहित्यके ग्रन्थोंमें बीच-बीचमें आने-वाला पद्यात्मक या छन्दोबद्ध भाग । ५. ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थोंमें आये हुए गद्यात्मक आख्यानींके बीच-बीचमें आनेवाले श्लोक या पद्यात्मक अंश । इन गाथाओं में उन आख्यानोंके बड़े प्राचीन उल्लेख मिलते हैं (जैसे ऐतरेय ब्राह्मणके ज्ञानःशेप-आख्यानमें आयी हुई गाथाएँ)। (ग) हिन्दीमें यह शब्द वृत्तान्त या जीवनके अर्थमें प्रयुक्त होता है। गाथाओं में आख्यानोंका सूक्ष्म उल्लेख या संकेत होनेके कारण कालान्तरमें यह शब्द आख्यान, कहानी या

जीवन-वृत्तान्तके ही अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, ऐसा प्रतीत होता है। (घ) मौलिक अर्थमें इसके पर्याय गान, गीत, गीतिका इत्यादि तथा परिवर्तित (नवीन) अर्थमें कथा, कहानी, वृत्तान्त इत्यादि है। —आ० प्र० मि० गाथा ३-जिस प्रकार इलोक या अनुप्दुप् लौकिक संस्कृत-का और दोहा अपभंश तथा हिन्दीका प्रमुख छन्द बन गया, उसी तरह गाथा प्राकृतका सर्वप्रमुख छन्द था। इसका यह अर्थ नहीं कि गाथा छन्द संस्कृतमे था ही नहीं। वैदिक कालमे भी गाथा या गाता छन्दको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला होगा और उस समयकी ऐतिहासिक-पौराणिक कथाएँ गाथा-बद्ध ही रही होगी। इस अनुमानका आधार यह है कि उस समय उन पद्यबद्ध कथाओंको गाथा ही कहा जाता था और वे गाकर सुनायी जाती थी। ऐसे आख्यानों-को गाथा और गाथा-नाराशंसी कहा जाता था । अथर्ववेद भे गाथा और गाथा-नाराशंसीका नाम इतिहास-पराणके साथ लिया गया है (अथर्व, १५:६:१०, ११, १२)। लोका-श्रित वैदिक साहित्यका ही विकसित रूप प्राकृत-साहित्यमें दिखाई पड़ता है। वैदिककालीन गाथा छन्दका प्राकृत-साहित्यमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करना आश्चर्यजनक नही है। प्राकृत और अपभ्रंशमें इस गाथा शब्दका रूप गाहा हो जाता है। प्राकृतमें यह छन्द कितना प्रचलित था, इसका प्रमाण 'गाथा सप्तशती' है। सम्भवतः सातवाहन हालने लोकप्रचलित गाथाओंमेंसे सर्वश्रेष्ठ सात सौ गाथाओंको चनकर 'गाथासप्तशती'का संकलन किया था। गाथाकाव्यका प्रभाव संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके मक्तक काव्यपर कितना अधिक पडा है, यह संस्कृतकी 'आर्या-सप्तशती'में हेमचन्द्र द्वारा संकलित अपभ्रंशके दोहों और हिन्दीके सतसई काव्यकी सुदीर्व परम्परासे स्पष्ट है। - शं० ना० सिं० गाथागीत-दे॰ 'लोकगाथा' और 'साहित्यक गाथा'। गाथाचक-दे॰ 'कथाकान्य', 'महाकान्य'। गान-'अमरकोश'के अनुसार गीत और गान समानार्थक हैं—'गीतं गानमिमे समे।' गीतका षड्विथ छक्षण है— "सुस्वरं सरसं चैव सरागं मधुराक्षरम्। सालङ्कारं प्रमाणं च षड्विधं गीतलक्षणम्"। गानके सम्बन्धमें धारणा है कि स्वयम्भ शिवने रागरागांगभाषांगक्रियांगोपांग सहित गान-विद्याका सर्जन किया और उसे नारदको सिखलाया। नारदके द्वारा यह गान-विद्या पृथ्वीपर उत्तरी (तदेतन्नारदा-दिभ्यो दत्तमादौ स्वयम्भवा। नारदेन ततो गानं प्रथिव्या-मवतारितम्)। गानका बडा च्यापक प्रभाव दिख्लाया गया है और कहा गया है कि सभी-की-सभी चित्त-वृत्तियाँ गानमें विलीन हो जाती हैं। गीतका कर्र्यू गान है; गीतका सम्बन्ध जहाँ रचनाविशेष से है, वहाँ गानका सम्बन्ध गेयताकी पद्धति, अर्थात् संगीततत्त्वके प्रयोगात्मक रूपसे है। गानेकी पद्धतिका सम्बन्ध रससे है। शृंगार और हास्यमें मध्यम और पंचम; वीर, रौद्र और अद्भुतमे षड्ज तथा ऋषभः करुण रसमें गान्धार और निषाद तथा वीभत्स और भयानकमें धैवत समीचीन है। गान-पद्धतिके कई विधि-निषेध है। मुख-विकृतिको गानिक्रयाका दोष माना गया है। -रा० खे० पा०

गाना-गाना गान शब्दका सरलीकरण है और जिस प्रकार गान कियासे नाम हो गया, उसी प्रकार गाना भी केवल किया नहीं, बल्कि संज्ञा भी है। सामान्य दृष्टिसे शास्त्रीय संगीत-पद्धतिसे मुक्त रचना और गान-पद्धतिकी संज्ञा गान अथवा गाना है। सस्ते प्रकारके गीतोंकी भी यह -रा० खे० पा० गाय-सन्त-साहित्यमें गायके कई प्रतीकार्थ है। आत्मा, "एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ। एक फूल सोलह करण्डियाँ मालनि मनमें हरिष न माइ" (गोरखवानी, ११३)। वाणीके अर्थमें---"चारि ब्रिछ छव साषा वाके पत्र अठारह भाई। एतिक लै गम कीहिसि गइया, गैया अति हरहाई" (कबीर-बीजक, १६५)। मायाके अर्थमें-"इंसा संसै छुरी कुहिया, गैया पियै बछरुहिं दुहिया" (कबीर-बीजक, १७१)। जनजीव प्रपंचमें रत हो गया तब गैया (माया)ने बछड़ेरूपी जीवका ज्ञानरूपी दृध दुहकर पी लिया। "अवधू काम धेनु गहि राखी। वसि कीनी तब अमृत सरवै आगे चीर न नाखी" (दाद)। गायन-गायन और गायक प्रायः समानार्थी शब्द है। अष्टाध्यायीके अनुसार नर्तक, गायन (गायक) और वादक सभी शिल्पी हैं। गायन एक जातिविशेषका भी नाम है, जिसका पेशा नाच-गाना है। इसे गन्धवींकी एक जाति माना जा सकता है। इसका उल्लेख मनुस्मृतिमें भी हुआ है। गायन गान-क्रियाका प्रचलित रूप है ('गायन चले हृदयसे'-- 'दिनकर')। गायनका स्त्रीवाची रूप है 'गायिनी' जो एक प्रकारका मात्रिक छन्द है, जिसके पादोंमें क्रमशः १२-१८ और १२-२० मात्राएँ होती हैं: प्रत्येक चरणके अन्तमें एक गुरु होना चाहिये। बीस मात्राओंके पश्चात् एक जगण आता है। जगणके स्थानमें चार लघु होना भी दोषहीन माना जायगा—''आदौ बारा मत्ता दूजे है नौ सजाय मोद लहो। तीजै भानू कीजै चौथे वीसेजु गायिनी गीत-भगवान् शंकरसे ही खर और सुर दोनोंका उद्गम है। वे नादब्रह्म ही है। नादके एक विशेष नियन्त्रणकी संज्ञा व्याकरणशास्त्रीय स्वर है, जिसकी सहायतासे ही व्यंजनोंका उच्चारण सम्भव होता है और उसी नादके दसरे प्रकारके नियन्त्रणकी संज्ञा लय, ताल, सुर आदि है। संगीतशास्त्रके अनुसार शंकरने संमारको दःखाक्रान्त देखकर सांसारिकोके दुःख-निवारणार्थं गीत और वाद्य प्रकाशित किया और गीतज्ञ गीत द्वारा मुक्ति पा सकता है। साम-संहिता-भाष्यके अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्नसे स्वर-ग्रामकी अभिव्यक्ति गीत है। मीमांसा (९, ३, २९)के मतसे सामवेदमे सहस्र प्रकारके गीतोंके साधन है। गायक इच्छानुसार किसी एकका अवलम्बन कर सकता है। गीतके दो भेद माने गये हैं - वैदिक और लौकिक। वैदिक गीतोकी चर्चा गेयपद (दे०)के अन्तर्गत हुई है। शास्त्रीयताके आधारपर लौकिक गीतके भी दो विभेद है- मार्ग और देशी । शास्त्रनिरूपित परम्पराका निर्वाह मार्गमे होता है, जिसके लिए नाट्यशास्त्रकर्ता भरतको भी प्रमाण माना गया है। भगवान् शंकर इसके आद्याचार्य है, अतः उनके प्रीत्यर्थ इसका विधान है। विभिन्न भूभागोंके निवासियोंकी रुचि और रीतिके विभेदसे गीतके रूपोंकी भिन्न-भिन्न परिणितयाँ है और इनकी संज्ञा देशी है। साहित्यमे जिसे गीत कहते है, उसका सम्बन्ध विशेष रूपमें देशी विभेदसे है। गायकों द्वारा मान्य पदोंकी स्वीकृति साहित्यिक तत्त्वोके कारण नहीं, बल्कि संगीत-तत्त्वके कारण है। लोकगीतोका परिस्फटित रूप ही साहित्यिक गीत है और साहित्यमे यह गीतिकाव्यका प्रारम्भिक रूप तथा अब उसका प्रथम भेद है। गेय पदींमें जहाँ शास्त्रीय संगीतके विधानको काव्यकी समकक्षता प्राप्त है, वहाँ गीतोंमे देशी संगीत-पद्धतिका नियमन रहता है। लौकिक कण्ठ्य संगीतका यह साहित्यिक अभियान है। 'आदियन्थ'मं जो गीत संगृहीत है, उनमें जयदेव और रामानन्दके गीतोंको सर्वाधिक प्राचीन माना जा सकता था, किन्त उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है और वे प्रसिद्ध जयदेव और रामानन्दके न होकर इन्ही नामधारी किन्ही व्यक्तियों के होंगे। गेय पदोंके अन्तर्गत इनकी परिगणनाका प्रयास बादमें चलकर हुआ। प्रारम्भिक गीत लौकिक जीवन सम्बन्धी थे, जिस विधानका उपयोग धार्मिक विचारोकी अभिन्यक्तिके लिए किया गया। सन्तकान्यकी अधिकांश गीतात्मक रचनाएँ इसी कोटि की है। कई व्यक्ति समृह बनाकर जब गाते है तो यह समवेत गीतका रूप धारण करता है। उपरूपकों मेंसे कई एक ऐसे है, जो समीत गीतके विकसित और अभिनयात्मक रूप है। नाट्यरासकमे नाट्यकी प्रधानता तो है, किन्त समवेत गानका रूप मिलता है। हुन्नीशके समवेत गीतका अभिनयात्मक रूप स्पष्ट है। चर्चरी और बेलि, समवेत गीतके ही रूप है। --रा० खे० पा०

गीतकाच्य - दे॰ 'गीतिकाच्य'।

गीतिका १ — मात्रिक सम छन्दका एक भेद । २६ मात्राओं के चरणका यह छन्द माना जाता है, जिसमें १४-१२को यति तथा अन्तमे लग (IS) होता है, भानु (छं० प्र०, पृ० ६५) तथा भिखारीदास (छन्दो०, पृ० ३८)। इसीके अन्तमें यदि ग ल (SI) होता है तो गीता छन्द हो जाता है। स्पष्टतः यह बहुत गौण अन्तर है। इसका प्रयोग हिन्दीमें चन्द (पृ० रा०), केशव (रा० च०) तथा भूषण (शि० भू०)ने किया है। अन्य कवियोंने इस नामसे हरिगीतिका छन्दका प्रयोग किया है (दे०)। भूषणने हरिगीतिकाके नामसे गीता छन्दका प्रयोग किया है (रि०)। भूषणने हरिगीतिकाके नामसे गीता छन्दका प्रयोग किया है "भनिमय महल सिवराजके, इमि रायगढ़में राजहीं" (शि० भू०, १६)। यहाँ मात्राऍ केवल २६ है। उदा०—"लै संग भक्ति मलाह करि, आरूप सो लै जाउ"—भिखारीदास (छन्दो०, पृ० ३९)।

गीतिका २-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक मेद । हिन्दी-में इसके मात्रिक रूपको हरिगीतिका कहते है, पर प्राचीन परम्पराक्षे अनुसार केशवने इसको वृत्तरूपमें प्रयुक्त किया है। स, ज, ज, भ, र, स, छ, गके योगसे यह वृत्त बनता है (IIS, ISI, ISI, SII, SIS, IIS, IS); 'प्राकृतपेगलम्'में (२:१९६) इस छन्दका गीता नाम दिया गया है। उदा०—''कोंड आजु राज समाजमे वल सम्भुको धनु किंहै। पुनि श्रीणके परिमाण तानि सो चित्तमे अति हिंषेहै। वह राज होई कि रंक केशवदास सो सुख पाइहै। नृपकन्यका यह तासुके उर पुष्पमालहिं नाइहै—(रा०वं०,

3:38)1 —্দু০ হা০ गीतिकाच्य-'लिरिक'के तत्त्वबोधके लिए निर्मित आधुनिक शब्द है, जिसका मूलभूत आधार **गीत** अथवा **गीतकाव्य** है। गीतका प्रयोग प्राचीनतम है और नाट्यशास्त्रमें इसके प्रयोग मिलते है-'गीतं शन्दितगानयोः' (हमचन्द्र) और 'गीतं गानमिमे समे' (अमरकोश, १-६-२६)। गीति-कान्य शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग लोचनप्रसाद पाण्डेयने 'कविता-कुसुम-माला' (प्रथम संस्करण जून, १९०९)-की भूमिकामें किया और 'पाठकोंसे एक निवेदन'के अन्तर्गत लिखा कि काव्यके तीन प्रकार है-गीतिकाव्य. श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य । गीतिकाव्य गीतशैलीका नन्यतम विकास है। गीत और गीतिकान्यका विकास लोकगीतोंसे हुआ है। जयदेवकृत 'गीतगोविन्द'के गीतोको इसका आदि स्रोत माननेका भ्रम होता रहा है। बौद्धोंने लोक-भाषाको अधिक मान्यता दी थी, यद्यपि संस्कृतमें लिखे गये बौद्ध साहित्यका अभाव नहीं है। सिद्धोंने लोक-भावाओको आधार बनाया, उनके 'चर्यागीत' लोकगीतोंके उपदेशात्मक अभियान है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने इन गीतोको प्राचीनतम बॅगला रचनाका आदर्श और उदाहरण माना है, किन्तु आधुनिक शोधकोंने इसकी अयथार्थता सिद्ध कर दी है। 'चर्यागीत' शास्त्रीय राग-रागिनियोंके अन्तर्गत वर्गाकृत है, किन्तु राग-रागिनियोंके नाम सचित करते है कि इनके वर्गीकरणमें स्वतन्त्रता थी और देशविशेषमें भिन्न-भिन्न राग प्रचलित थे। देशविशेषमें प्रचलित लोकगोतोंकी लयात्मक पद्धतिका नामकरण उस देशके नामपर हुआ। राग गुर्जर, सोरठ, गौड आदि इसी वर्गके हैं । गुर्जरसे गुजर और गुजरसे गुजरी बनता हुआ यह सन्त-साहित्यमें आया । गौडीसे गवडी और गवडाका रूप बना, जो सन्त-साहित्यमें मिलता है । गौरी-के शास्त्रीय विधानवाली शैलीसे इसमे भिन्नता है। 'कबीर-बीजक'का चाँचर चौराहेपर गाया जानेवाला लोकगीत है, जिसके चाँचर चर्चरीरूपका उल्लेख 'पालि महाव्याकरण'में आया है। 'बीजक'की बेली राजस्थानीमें प्रचलित बेलि नामक काव्यका पूर्वरूप है। सिद्ध-साहित्यमें प्रचलित गीत नाथ-सम्प्रदायमें सबदी, सबद + ई = सबदी हुआ । गुरुके शब्द होनेके कारण ऐसा नामकरण हुआ। छौकिक गीतोंकी परम्परा विद्यापतिकी पदावलीमे मिलती है और उपासना-मुलक गीतोंकी नाचारोमें । राधा-कृष्णविषयक गीतों रर जयदेवकी छाया और छाप है। आदि-यन्थमें संकलित जय-देवकृत पद किसी निर्गुण सम्प्रदायानुयायी जयदेवका है, प्रसिद्ध पीयूषवर्षी जयदेवकृत नहीं। 'आदियन्थ'में रामा-नन्दकृत दो पद है, जो प्रसिद्ध रामानन्दके नहीं, किसी अन्य रामानन्दके है। पदोंको राग-रागिनियोके अन्तर्गत वर्गीकृत करनेकी प्रथा सिद्धकाल से भी प्राचीन ज्ञात होती है, क्योकि उस कालके गीत इसी प्रकार वर्गीकृत है। यह परम्परा वीसवी शताब्दीके द्वितीय दशकतक किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित रही, लोचनप्रसाद पाण्डेय और मुकुटधरकी रचनाएँ इसी प्रकार की है। इस स्थितिसे स्पष्ट हो जाता है कि गीतोंका सम्बन्ध शास्त्रीय संगीतसे बना रहता है। यद्यपि संगीततत्त्व अविच्छिन रहा, किन्तु वह क्रमन्नः गौण होता गया और कान्यत्वकी मात्रा उसी अनुपातमें बढती गयी, अतः गीत गीतिकान्य होते गये। गेय पर्दोमें संगीततत्त्व प्रधान है, गीतमें कान्यत्व और संगीतकी शास्त्रीयताका सन्तुलन तथा गीतिकान्यमे संगीततत्त्वसे कान्योत्कर्पको अधिक प्रधानता मिलने लगती है।

गीतिकाव्य पश्चिमसे आया हुआ विधान है, जिसकी वहाँ संशा थी लिरिक । लिरिकके अर्थविकासका इतिहास गीति-कान्यके नात्त्विक विश्लेषणके लिए आवश्यक होगा । अरस्त-ने लिरिकपर विचार नहीं किया, केवल तीन स्थलोंपर स्तीत्र और मन्त्रोचारण (डिथीहैम्ब्स और नोम्स)के सम्बन्धमे उल्लेखमात्र किया है। काव्यके तीन वर्गस्वीकृत थे-प्रबन्ध-काव्य (एपिक), रूपक (डामा) और गीत (सांग) तथा सांगका सामान्य नाम था लिरिक । लिरिक सम्बन्धी धारणाओं मे परिवर्तन और विकास होते रहे है। गीति-काठ्यमें विकसित धारणाका यही आधार है। साहित्यिक वर्गांकरणमे विभिन्न विधानोंकी निश्चित रेखा अमान्य होगी. क्योकि पारस्परिक अन्तरावलम्बनकी प्रक्रिया सतत क्रिया-शील रहती है। 'साकेत'का नवम सर्ग गीतात्मक है, 'कामायनी'के अनेक अंश स्वतन्त्र गीतिकाच्य है और 'प्रेम-पथिक'में कथात्मक गीतावेश है। इसी प्रकार वर्णनात्मक गीति और नाट्य गीतिके विधान होते है। यूनानी काव्य-शास्त्रने एपिक, डामा और लिरिकके लिए विभिन्न छन्दों-का विधान किया था, किन्तु ऐसा क्रत्रिम वर्गीकरण टिक नहीं सका। प्रारम्भमें संगीतकार और कवि एक ही व्यक्ति था, अतः गीतोंमे भी कान्य-तत्त्वकी प्रधानता थी । इस प्रकार गीतिकाच्य गीत ही था और यूनानी आदर्शपर लिखे गीतोकी संज्ञा गीतिकाच्य थी। कविने अनुभव किया कि उसकी रचनाओके लिए वाद्य-यन्त्रोंकी अपेक्षा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसके शब्दोमें संगीततत्त्वका मूल निहित है, अतः गेय पद गीत हुए; एवं इस प्रकार संगीतका शास्त्रीय अभिनिवेश गीतिकाव्यवी कसौटी नहीं रहा, यद्यपि सगीतसे इसकी अविच्छिन्नता वर्तमान रही। गीतिकाव्यमे कविका स्व अधिकाधिक स्वीय रूपमें अभिन्यक्त होता है। प्रबन्धकाच्य अथवा रूपकमें कवि ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक पात्रींपर अपने व्यक्तित्वका प्रक्षेपण करता और उनकी अनुभूतियों तथा भावनाओंको निजत्वके अनुरूप रूपायित करता है, गीतिमें दह निर्वाध और प्रत्यक्ष व्यक्तित्वको अभिव्यक्ति देता है, अतः इसमे पर-प्रत्यक्ष, संकोच और कुण्ठाहीन वैयक्तिक व्यक्तित्व और उच्छासित भाव तरंगको वाणी दे पाता है, इसलिए इसमे सहज तरलता, अबाध मुक्तता और प्रत्यक्षा-नुभतिका स्वर मिलता है। वैयक्तिकता इस प्रकार गीति-कान्यकी अन्यतम कसौटी है। अबाध कल्पना, असीम भावुकता, विशुद्ध भावात्मकता, कर्म-कोलाहलकी चिन्तासे मुक्त विचारधारा अथवा निष्कर्षोपल्बिधके भारसे मक्त भावधारा गीतिकान्यके प्रकृत विषय है, इसमें सिद्धान्ती-करणका अवकाश नहीं। विचारको भी गीतिमें भावात्मक माध्यम ग्रहण करना पड़ना है। भावात्मक स्थिति क्षण-स्था-यिनी होती है, अतः उसे अभिन्यक्त करनेवाली रचना भी नातिदीर्घ ही रहती है, संक्षिप्तता गीतिकाव्यका प्राण है। कविकी वैयक्तिक भावधारा और अनुभू तिको उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देनेके विधानको गीतिकाव्य कहते हैं। वह उन पूर्ण और समग्र क्षणोंको वाणों है, जिनकी स्थितिमें वे क्षण ही पूर्ण और समग्र जीवन प्रतीत होते हैं। क्षणोंकी महत्ता इसमे रहती है कि वे क्षण अपने स्थितिकालने में समग्र जीवन प्रतीत होते हैं और अभिव्यक्तिकी सार्थकता इसमें है कि वह उन समग्र क्षणोंकी समग्रताको अखण्डित और प्रभावान्वित अभिनिवेश देनेका प्रयास करती है। कलावी कृत्रिमता भी इतनी सहज और नैसर्गिक रहती है। कि उसमे सहजताका ही बोध सम्भव होता है।

इस सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना होगा कि केवल आत्मनिष्ठता, स्वपरता और वैयक्तिकता ही गीतिकान्यके लिए पर्याप्त वसौदी नहीं हैं: 'निरांला'के 'तुलसीदास'में स्वानुभृतिका अभाव नहीं; 'ऑसू'में स्वविवृति ही प्रधान है, किन्त इनमें सीमित गीतिकाच्यात्मकता है। गीतिकाच्यके लिए गीतिकाव्यात्मक अनभति और भावनाकी अपेक्षा है. जो गोतिकाव्यात्मक विधानके माध्यमसे अभिव्यक्त होगी। एक विचार, एक अमिश्र अनुभृति और भावना अथवा एक संक्षिप्त स्थितिकी संगीतात्मक एवं भावाविष्ट, अतः संक्षिप्त अभिव्यक्ति गीतिकाव्यमें होती है। छन्दोंमें संगीततत्त्व है. किन्त छन्द्रोके अन्तर्निहित संगीतसे परिपृष्ट भावात्मक संगीतात्मकतासे मण्डित गीतिकान्यमें महत्त्वकी अखण्डता रहती है, यद्यपि तुकान्तहीन, छन्द-विमुक्त गीतिकात्यकी कुछ रचनाएँ अत्यधिक आधुनिक कालमें आयी हैं। गीतिकाव्यमें मानवीय वत्तियाँ अपनी सहज स्थितिमे अभि-व्यक्त होती हैं, अतः उनमें आन्तरिक सौन्दर्य-गठन और अन्तर्वेगकी तरलता रहती है; बौद्धिकताकी भावात्मक परि-णतिसे भिन्न पाण्डित्यका बोझ इसके लिए असहा होता है, इसे अन्तरकी आकुलता और वेदनाकी आईतासे निचित करना पडता है, सहज ही वशीकृत होनेवाली यह परिणीता —रा० खे० पा०

पाश्चात्य साहित्यकी लिरिक पोइटीके लिए हिन्दीमें गीतिकान्य राब्द रूढ हो चला है, यद्यपि अब भी कुछ लोग इसके लिए गीतकाच्या प्रगीतमुक्तक और प्रगीतकाव्य शब्दोंका भी व्यवहार करते है। परन्तु गीत (सांग) शब्द लिरिक के पूर्व ह प और अब उसके एक भेदके लिए अधिक उपयक्त है, क्योंकि उसका यही अर्थ हमारी भाषाओं में प्राचीन कालसे चला आया है, अतः गीतकान्य नाम भ्रामक है। लिरिकका एक बाह्य लक्षण उसकी पूर्वापर प्रसंग-निर-पेक्षता अवस्य है और इस कारण वह मुक्तकके अन्तर्गत आ जाता है, परन्तु मुक्तक नामसे हम जिस काव्यरूपको जाननेके अभ्यस्त हो गये हैं, उसकी प्रकृति और रूपरचना, दोनों लिरिकसे भिन्न है, अतः उसे मुक्तकके एक भेदके रूप-मे मानना उसकी महत्ताको घटाना है (दे० 'मुक्तक')। प्रगीत भी गीतिकी तरह नव-निर्मित शब्द है, परन्तु उसकी अपेक्षा गीति राब्दमें अधिक सुकरता जान पडती है। प्रगीत विशेषण है, जिसे सम्पूर्ण अर्थ देनेके लिए 'मुक्तक' या 'काव्य' विशेष्यकी अपेक्षा रहती है और वह स्वयं गौण रह जाता है; प्रधान शब्द 'मुक्तक', 'कान्य' रह जाते है, जिनमें पहला भिन्न अर्थका द्योतक है और दूसरा अत्यधिक सामान्य होनेसे अतिन्याप्ति दोषसे दूषित है। कही-कहीं लिरिकका शाब्दिक अनुवाद वैणिक भी देखनेमें आया है, परन्तु 'लायर'से ब्युत्पन्न लिरिक न जाने कवका उस वाद्ययन्त्रसे अपना नाता सदाके लिए छोड़कर कहीं अधिक व्यापक अर्थमें रूढ़ हो गया है, तव वीणापर लायरके अर्थका आरोप करके उससे वैणिक शब्द गढ़ना हास्यास्पदसा है, अतः लिरिक लिए गीति शब्द सबसे अधिक उपयुक्त है। इसी कारण उसका भी चलन अधिक व्यापक हो रहा है।

पाश्चात्य समीक्षामें गीतिकाव्यकी जो अनेक विशेषताएँ बतायी गयी है, उन्हें चार प्रमुख लक्षणोंमें बॉटा जा सकता है। ऐतिहासिक क्रमसे चलनेपर गीतिकान्यका प्राथमिक लक्षण संगीतात्मकता है, परन्तु अपने विकास-क्रमसे यह संगीतात्मकता न केवल 'लायर' या अन्य वाद्ययन्त्रोंका सहारा छोड चकी है, वरन वह सूक्ष्मते सूक्ष्मतर होती गयी है, यहाँतक कि अब वह गीतिके शब्दोंकी ध्वनिमे निहित स्वर-तालमें ही सीमित होती जाती है। इतनी संगीतात्मकता तो किसी भी काव्यके लिए अनिवार्य कही जा सकती है और गीति तो तीव भावावेग-पूर्ण कान्य है, परन्त गेयता अब गीतिकाव्यका प्रधान लक्षण नहीं माना जाता, क्योंकि गेयताके इतने अधिक रूप और प्रकार है कि यह कहना असम्भव है कि गीतिकान्यके लिए किस प्रकारकी गैयता अपेक्षित है, अन्य काव्यरूप भी किसी-न-किसी मात्रामें गेय होते है। फिर भी आधुनिक गीतिकार शब्दोंके अन्तर्नि-हित ध्वनि-संगीतको जितना अधिक महत्त्व देते है, उतना अन्य काव्यरूपोंमें रचना करनेवाला नहीं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कविका भावावेश जब उस कोटिका होता है कि उसकी अभिन्यक्ति गीतिके रूपमे हो, तब उसकी भाषामे लय और तालका नैसर्गिक संयोग हो जाता है। पहले गीतिकान्यका एकमात्र लक्षण गेयता (वाद्ययन्त्रोंके साथ गेयता) थी, अब गेयता उसका सबसे प्रमुख लक्षण भी नहीं है। निःसन्देह यह उसका मुल लक्षण अवस्य है और अपने परिवर्तित अर्थमे उसका अनि-वार्य लक्षण भी है।

अन्य काव्यरूपोंसे गीतिकाव्य जिस लक्षणके आधारपर पृथक् पहचाना जाता है, वह है उसका आन्तरिक प्रगतिगत लक्षण, उसका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण। गीतिकारकी दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती है। रिक्तिक राज्यों निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहजशुद्ध भाव, खच्छन्द कल्पना, तर्कवाद और न्यायमूलकतासे मुक्त विचार, ये ही गीतिकाव्यकी वास्तविक विशेषताएँ हैं"। गीतिकी संगीतात्मकता इसीका अनिवार्य परिणाम कही जा सकती है। ब्रूनेतियरने कहा है, "गीतिकाव्यमें कि भावानुकूल ल्योंमे अपनी आत्मिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है"।

यों तो कान्यमात्र किवकी आत्माभिन्यक्ति है, परन्तु गीतिकान्यकी वैयक्तिक आत्माभिन्यक्तिका तात्पर्य है कि वह अपरोक्ष होनेके साथ ही तीत्र मावात्मक होती है। आत्मक्या, भले ही वह पश्चबद्ध हो, गीतिकान्य नहीं हो सकती। गीतिकान्य हृदयके उस गम्भीर भावावेशका परिणाम है, जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेगके साथ निःसृत होता है। तीत्र भावापन्नताके कारण गीतिकान्यमें कान्यका वह

गुण सबसे अधिक विद्यमान रहता है, जिसके कारण उसे रसात्मक वाक्य (विश्वनाथ), सरल, ऐन्द्रिय और भावावेश-पूर्ण (मिल्टन) और सबल भावोंका स्वतःप्रवर्तित प्रवाह अधवा कल्पनाके द्वारा रुचिर मनोवेगोंका स्रष्टा (रिस्कन) कहा गया है।

प्रारम्भमे गीतिकी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता समृह्गत होती थी, उसका सीधा उद्देश्य जातीय जीवनका रंजन था। उस समय गीति अधिकतर समवेत (कोरिक) गायनके लिए रचा जाता था। परन्तु आधुनिक कालमे यह कान्यरूप कभी-कभी अत्यन्त असामान्य और दुरिधगम्य भावनाओंका माध्यम बन गया है, परन्तु असाधारण व्यक्ति-वैचित्र्य और अभिन्यक्तिकी विलक्षणताके बावजूद गीतिकारका उद्देश्य घनिष्ठ और अनावृत आत्माभिन्यंजन ही होता है। उसकी रचनाकी दुरूहता बहुत-कुछ अहंपूर्ण, कुण्ठाग्रस्त व्यक्तित्व-का परिणाम कही जा सकती है।

गीतिकाव्यकी स्वानुभूति-मूलकताके अन्तर्गत उन रचनाओंको भी सम्मिल्त करना चाहिये, जिनमे किवकी भावानुभृति भिन्न माध्यमसे व्यक्त हुई है। हिन्दीका विपुल वैष्णव भक्ति-काव्य, जिसमें कृष्ण या रामकी कथाओंके विभिन्न पात्रोके माध्यमसे कवियोंने अत्यन्त घनिष्ठ आत्म-निवेदन किया है, सच्चे अर्थमें गीतिकाव्य ही है। आधुनिक काल्के गीतिकाव्यसे भी इस पद्धतिके उदाहरण प्रचुर संख्यामें दिये जा सकते है। यह अवश्य है कि कृष्ण और राम-कथा सम्बन्धी गीतिकाव्यके प्रचुर परिमाणमे ऐसे उदाहरण भी है, जिनमें गीतिकी विशेषताएँ उत्कृष्ट रूपमें नहीं मिलतीं और इसका एक कारण माध्यमकी भिन्नता भी है, परन्तु यह बात तो क वकी व्यक्तिगत अनुभूतिसे सम्बन्ध रखती है कि उसकी रचनामें भावानुभूतिकी मात्रा किस कोटिकी है।

गीतिकान्यमें नाटकीयता और कथनोपकथनका ढंग भी कभी-कभी अपनाया जाता है, परन्तु इस पद्धितमें भी वर्णनात्मकता या तार्किकता अवांछनीय है। नाटकीय शैठीके अन्तर्गत भी भावकी अभिन्यितिका आत्मनिष्ठ और वैयक्तिक रहना अनिवार्य है।

अन्तिनिहित संगीतात्मकता और तीव अनुभूतिपूर्ण स्वानुभूतिमूलकता, ये ही दो गीतिकान्यके तात्त्विक लक्षण है, जो उसकी आत्मा कहे जा सकते है। उन्हीके परिणाम-स्वरूप गीतिमे सहज उद्रेक, नवीन्मेष, सद्यःस्पूर्ति, स्वच्छन्दता, अनाडम्बर आदि विशेषताएँ आ जाती है। गीतिके इन्हीं आन्तरिक-प्रकृतिगत-गुणीपर उसकी रूपगत अर्थात् आङ्गिक रचना-विधान सम्बन्धी विशेषताएँ आधारित है।

गीति-रचनाकी प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें संवेगात्मक एकता या भाव-संकलन सुरक्षित रहे। उसमें किसी एक ही विचार, भाव या परिस्थितिका चित्रण सम्भव है। गीतिकी भावमूलक इकाई नाटकके कार्य-संकलनसे भिन्न है। भावको उद्दीप्त करनेवाली गीतिकी मूल प्रेरणा निरन्तर स्पष्टतया व्यक्त रहती है, भावका विकास उसीके द्वारा नियन्त्रित होता है, जब कि नाटकके कार्यको प्रेरणा देनेवाला भाव या परिस्थिति कार्यमे घुल-मिलकर विलीन हो

जाती है। दूसरे, गीतिका प्रारम्भ बिना किसी भूमिकाके सहज उद्रेक और सद्यास्फूर्तिके रूपमें होता है। मूल प्रेरणासे उद्दीप्त भाव अत्यन्त अखण्डित, सुसंहत ढंगसे व्यक्त होता है, कोई अन्य भाव या विचार उसके सहज विकासमें वाधक नहीं हो सकता। अन्य भाव सञ्चारीके रूपमें उसे पृष्ट अवस्य कर सकते है, परन्त उनके लिए गीतिके सीमित आकारमे बहुत कम गुआइश होती है। गीतिका भाव-विकास ज्यों ही चरम सीमापर पहुँचता है, त्यों ही गीतिका अवसान हो जाता है। कभी-कभी श्रेष्ठ गीति भावोत्तेजनाके अन्तके पर्व ही समाप्त होकर एक विशेष अपेक्षित प्रभाव छोड जाती है। इस प्रकार गीतिकी भाव मुलक एकतामें उसके आकारकी लघुताका गुण भी निहित है। किसी एक तीव अनुभूत भावकी स्थिति अधिक देरतक विकासकील नहीं रह सकती। यदि उसे बढाया जायगा तो उसमें पनरुक्ति, उपदेशात्मकता, वर्णनात्मकता और परिणामस्वरूप प्रभावहीनता आ जायगी। कविकी आत्म-निष्ठ तीव्र भावानुभृति अखण्ड और सुसंहत रूपमे गीतिके लघ आकारमें ही सरक्षित रह सकती है। प्रेरणा-प्राप्त सौन्दर्य-कल्पनासे प्रसूत गम्भीर मनोवेगकी अभिव्यक्तिमे गतिकी तीवता भी स्वाभाविक है, जो लम्बी रचनामें सम्भव नहीं है।

गीतिकी आङ्गिक रूप-रचनाके लिए कोई कठोर नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते । स्वच्छन्दता गीतिकाव्यका आवश्यक लक्षण है, परन्तु भाव-सङ्कलन और भाव-विकास सम्बन्धी उपर्श्वक्त विशेषताके कारण गीतिकी अङ्ग-रचनाके सहज ही तीन अंश हो जाते है। गीतिका प्रारम्भ भावको जागरित करनेवाली प्ररणासे होता है, जो किसी सम्बोधनके रूपमें, भाव-प्रेरक परिस्थिति-विशेषके सङ्केत रूपमे अथवा भावोत्तेजना देनेवाले विचार, सरण आदिके कथनरूपमे ब्यक्त की जा सकती है। यह अंश अत्यन्त संक्षिप्त होता है और उसमें स्वतः बौद्धिकता या नर्क-वृत्ति नहीं होती, यद्यपि वह बोध-वृत्तिका आधार अवश्य होता है। गीतिके इस प्रथम अंशमे प्रेरक परिस्थिति, विचार, स्मृति, प्राकृतिक इस्यके सङ्केत आदिके द्वारा कवि एक कुत्रहल-सा जगा देता है। गीतिके दूसरे अंशमें उदीप्त भाव विकसित होता है, जब कि बोध-वृत्ति या तर्कके सहायतासे भावकी तीव्रताको आवश्यकतानुसार अधिकाधिक वृद्धि दी जाती है। चरम सीमापर पहुँचकर गीतिका भाव तीसरे अंशमे, किसी स्थिर विचार, मानसिक दृष्टिकोण अथवा सङ्कल्पके रूपमें परिवर्तित होकर मनकी सामान्य स्थितिमें विलीन हो जाता है। इसीलिए गीति एक स्वतःपूर्णं और प्रसंग-निरपेक्ष रचना है। उसमें व्यंजना और संकेतकी प्रमुखता है। अभिनव गुप्तके शब्दोमें पर्वापर प्रसंग-निरपेक्ष होनेपर भी उसके द्वारा रस-चर्वणा होती है, इस अर्थमे वह मुक्तक काव्य है।

गीतिकाव्यके सम्बन्धमें प्राचीनों — प्राच्य और पाश्चात्य दोनो — की धारणा ऊँची नहीं थी। संस्कृतमें उसे कोई स्थान ही नहीं दिया गया। यूनानी विचारक अरस्तूने उसका उल्लेखमात्र करके छोड दिया। इस उपेक्षाका कारण यह है कि गीति-कविकी दृष्टि, कहा जाता है, सापेक्ष होती है, वह पूर्ण सत्यका उद्घादन करनेमें समर्थ नहीं होती।

परन्त वास्तवमें ऐसे गीति-कवियोंकी कमी नहीं है, जिन्होंने विस्तृत जगत्पर दृष्टिपात किया है और गीतिके माध्यमसे महान सत्योकी उपलब्धि की है। गीति-तत्त्वोके साथ उनकी रचनाओं में नाटकत्व और महाकाव्यत्वके भी गुण मिलते है। सूरदास, मीराँ, वर्ड सवर्थ, शेली, रवीन्द्रनाथ, 'प्रसाद' आदि ऐसे ही कवि हो गये है। यह भी कहा गया है कि जब युगकी अन्तइचेतनामें काम-वासनाकी प्रधानता होती है, तभी गीतिकाच्य फलता-फलता है। यह कथन सत्य है; केवल इसमें जो लांछनका संकेत है, वही अनुचित है। काव्यमात्र तभी फलता-फलता है, जब युग-चेतनामें भाव-प्रवणताकी तीवता होती है। न विलासके वातावरणमे काञ्यकी उन्नति होती है और न भौतिकतापूर्ण यान्त्रिक सभ्यता इसे पनपने देती है। प्रेमका व्यापक भाव ही तो काञ्यका सबसे अधिक प्रिय भाव है, वही मानव-मनकी नाना वृत्तियोंका मूल उत्स है। विश्वके महान् गीतिकारोने उसे उदात्त भूमिपर प्रतिष्ठित करके मनुष्यको पशु-सामान्य स्थितिसे ऊपर उठाया है। गीति-कवि उपदेश और आदर्शपूर्ण-चित्रण नहीं करता, वह व्यक्तित्वका अत्यन्त निरुक्क उद्घाटन करता है। जीवनके व्यापारोमें भी हमारी दृष्टि व्यक्तिपर पड़ती है। गीति-कवि सहज ही हमारा आत्मीय बन जाता है। वह जन्मना कवि होता है, उसकी कृति ध्वनि-काव्य है। कम-से-कम शब्दोके सहारे लय और स्वर-तालकी अनन्त संगतियोको मिलाकर वह हृदयकी विस्मृत भावनाओं और प्रसुप्त संस्कारोको जगा देता है। उसमे विचारोंको भाव-संविक्त करके क्रियाशील बना सकनेकी अद्भुत क्षमता होती है। उदात्त कल्पनाओंको उद्बुद्ध करके वह इतिवृत्तपूर्ण सांसारिकतासे ऊपर उठानेकी शक्ति रखता है।

गीतिकाव्यके अनेक भेदोपभेद किये गये है—गीत, भावगीति और उसके अनेक रूप, जिनमे सम्बोध-गीति प्रमुख है, शोक-गीति, वगं-गीति या समाज-गीति, राष्ट्रीय गीति आदि। इन सवपर पृथक् विचार किया गया है।

—व० व०

भारतमें गीतिका प्राचीनतम रूप संहिताओं में प्राप्त होता है। यद्यपि वैदिक काल आर्योंके सामुदायिक योग-क्षेमका काल है। जिसमें व्यक्तिके लिए स्थान नहीं है, उसके अश्रु, हास, उछास, विषाद सभी सामूहिक रूप लिये हुए हैं, तथापि तद्युगीन व्यक्तिमें धार्मिक प्रेरणाओंसे सामुदायिक रागात्मक अनुभूति जागरित करनेके लिए यज्ञ तथा संस्कारादिके अवसरों पर वेदोकों अधानि, तुनव, कन्धवीणा, नाद इत्यादि वाद्ययन्त्रोंके साथ सस्वर गानेकी प्रथा रही है। इस प्रकार वैदिक ऋचाओंके समवेत गायनमें उच्चारण, स्वर, लय, ताल तथा नाट्य-विधानकी कहोरताके कारण गीतिके संगीततत्त्वकी रक्षा तो अवदय हो गयी, किन्तु कुछ प्राकृतिक हर्योंके वर्णन, रूपक-कथाओं तथा संस्कारविशेषके समयके भावाभिव्यंजनको छोड़कर उसमे वैयक्तिक भावनाकी तरलता सुरक्षित नहीं है, अतः वैदिक गीतमें गीतिका प्राथमिक गुण अवस्य पाया जाता है।

वैदिक कालकी अपेक्षा बौद्ध काल वैयक्तिक साधनाका काल है, अतएव उसमें वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठताकी अधिक सम्भावना है, किन्तु नैतिक आचरण और धार्मिक उपदेशके आग्रहके कारण तत्कालीन साहित्यमें व्यक्तिके स्वाभाविक मनोरागोकी अभिव्यक्तिके लिए स्वतन्त्र अवसर नहीं मिल पाया और विरक्तिमें निष्ठाके कारण संगीतात्मकता भी अक्षुण्ण नहीं रह सकी है। फलतः पाली साहित्यमे गीतिकाव्यका अभाव ही है, यद्यपि थेर या थेरी गाथाओंकी बौद्ध भिक्षुणियोकी आत्माभिव्यक्तिमे यत्र-तत्र गीत्यात्मकता-का आभास मिल जाता है।

संस्कृतमे वाल्मीिक-रामायण, पाठ्यके साथ गेय भी कही गयी है, किन्तु उसके इतिवृत्तात्मक कलेवरमें गीतिकी सखः-संजात भावना खोजनेपर ही मिलती है। दूतकाव्यकी परम्परामें कालिदासका मेवदूत कथात्मक होते हुए भी इतना व्यक्तिनिष्ठ और भावुकतापूर्ण है कि उसे गीतिकाव्यके निकट माना जा सकता है। वस्तुतः संस्कृतमें गीतिकाव्यका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पीयूषवर्षी जयदेवका 'गीतगीविन्द' है, जिसमे एक ओर रागोका शास्त्रीय विथान है और दूसरी ओर राधा-कृष्णकी विलास-क्रीड़ाओंका लिलत पदावलीमें चित्रात्मक वर्णन है। इस प्रकार यहाँ गीत और गीतिकाव्य एक दूसरेके समानान्तर हैं।

हिन्दी साहित्यके आदिकालीन प्रवन्यकाव्यों तथा बीरग थाओं में भी गीतिकी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इतमें रण और प्रणय, वीर और शृङ्गारके वर्णनोमें उत्साह और रतिकी गेयात्मक अभिन्यजना हुई, जिसमें छन्दनिहित गेयता भी है और हार्दिकता भी। इस दृष्टिसे चन्द बरदाईके 'पश्वीराजरासो'के 'कनवज्जसमय', 'बड़ी लड़ाईके समय' तथा नरपति नाल्हके 'बीसलदेवरासो'के प्रबन्धमें भी गीनिके तत्त्व पाये जा सकते हैं। जगनिक्तके वीरगीत 'आल्हखण्ड'मे लोकगाथा (बैलेड)का स्वरूप सुरक्षित है, जिसमे लोक-मानस संगीत और कान्यात्मकताके साथ सम्मुख आया है। डिंगल साहित्यमें पृथ्वीराजकी 'क्रिसन-रुक्मिणी-बेलि', कशललामके 'ढोलामारू रा दृहा' और नरोत्तमस्वामीके 'राजस्थान रा दूहा'में भी गीतिकी प्रकृतिका सम्मिलन है। वास्तवमें लोकगाथा गीति और प्रबन्धके सीमा-मिलनका काव्य-विधान है, अतः उसमे दोनों काव्यरूपोके तत्त्व पाये जाते हैं।

मैथिल-कोकिल विद्यापित पर्दोंसे हिन्दीमें गीतिकी एक स्वतन्त्र परम्पराका प्रवर्तन होता है। यद्यपि उन्होंने जय-देवकी मॉित ही राधा-कृष्णका प्रेम अपनी पदावलीका विषय बनाया है, किन्तु उनके गीतिपदोंमें राधा-कृष्णका जो प्रणय, शिव-गंगाकी जो भक्ति व्यक्त हुई है, उसमें हृदयकी अनेक स्वाभाविक वृत्तियों तथा दशाओंका सुकुमार चित्रण है। विभिन्न रागोंके विधान और मानव-मनकी सौन्दर्यके प्रति लालसाकी जो आत्मिनष्ठ व्यंजना यहाँ द्रष्टव्य है, उसके आधारपर विद्यापित हिन्दीके प्रथम गीतिकार कहे जा सकते हैं, जिनमें शब्द और स्वर अपने क्षेत्रोंमे व्यापक प्रभाव लिये हुए है। निर्गुणाश्रित अनुभव-मार्गी सन्त कवियों—कवीर, दाद्दयाल, सुन्दरदास, मल्कदास, दरिया साहब आदिके पदोंमें गीतकाव्यका अधिक उन्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है। इन्होंने एक और धर्मों प्देशकके रूपमे व्यक्तिवादी सामाजिक उन्नयन, संघटन, ऐक्य, अभेद और सहानुभृति-

की भावनाओंके प्रचार, कर्मकाण्ड, मिध्याडम्बर और पाखण्डके खण्डन, गुरु, सत्संग-सदाकार तथा मानव-धर्मकी स्थापनाके लिए प्रयत्न किया है, दसरी ओर साधकके रूपमें 'पहपवाससे पातरे' निर्धर्मक निराकार ब्रह्मको 'प्रिय' मानकर अपनेको उसकी प्रिया स्वीकार किया है और दाम्पत्य भावकी प्रेम-साधनामे लीन होकर मिलन-विरहकी भावस्थितियोके सजीव चित्र उपस्थित किये है। इस प्रकार उनके पदोमे जहाँ-जहाँ स्पष्टवादिता, तीवता, व्यंग्य, आत्मविश्वास और हदता है, वही उनमें आन्तरिक अवस्थाओके स्वच्छ, मधर और मर्मरपञ्जी आवेशमय चित्रण भी है। उन्होने धार्मिक सत्योंके उद्घाटनमे रूपको तथा उलटवाँसियोंमें गीतिकी ध्वनिप्रधान प्रतीकात्मक शैलीका प्रयोग किया है, किन्त वैराग्य, ऐकान्तिक साधना, उपदेशके अतिरेक, भाषाकी अस्पष्टता, गहन लाक्षणिकता तथा खण्डनात्मक प्रवृत्तिके कारण उनमे गीतिकान्यकी उनमक्त प्रेषणीयना, सहज प्राह्मता तथा आश्र प्रभावोत्पादकता अपेक्षाकृत कम आ पायी है। फिर भी सन्तोंकी इस पद-पद्धतिमे गीतिका सचा रूप पहली बार प्राप्त होता है, जिसमे संगीतसे काव्य कुछ विचा हुआ है।

वैष्णव भक्तकवियोके कृष्णकाव्य और रामकान्यमे गीति-काव्यका सर्वोत्क्रष्ट नैसर्गिक रूप मिलता है। इन्होने निरा-कार ब्रह्मको भी नाम और रूपमय लीलावतारीके रूपमें प्रतिष्ठित किया है, जिसका साक्षात्कार लोकके बीच भी किया जा सकता है। कृष्णभक्त कवियोने राधा-कृष्णके जिस रूप और रसपर्ण पक्षको लीला-कीर्तनके लिए चुना, उसका अपरिमित सौन्दर्य इन कवियोंको अतिशय संवेदनशील और भावक बनानेके लिए पर्याप्त है। संवेदनशीलता और भावकता गीतरचनाके लिए प्राथमिक उपादान है। इसके अतिरिक्त दैन्य, हास्य, वात्सल्य, सख्य, कान्ताभक्तिका अनुसरण करनेके कारण इनके काव्यमे करुणापूर्ण आत्म-निवेदन, मातृत्व, मैत्री, रति-भावका जो सहजोद्रेक मिलता है, उसमें गीतिकी आत्मा सहज रूपमे देखी जा सकती है। ये कवि यद्यपि प्रायः गोपी, गोप, यद्दोदा, राधा-कृष्ण, कुब्जा आदि पात्रोंके माध्यमसे भावाभिव्यक्ति करते हैं. पर उसमें भी तन्मयता और भावशीलताके कारण सद्यः-स्फूर्ति, आत्मीयता तथा नवीनता आ गयी है। पात्रोंका सुखःदुख, हास-रुदन, संयोग-वियोग जैसे उनका ही बन गया है, यहाँतक कि प्रकृति भी उन्हीके मनोरागोकी सहचरी है। भजन या कीर्तनके लिए गाये जानेके कारण उनके ये पद सङ्गीतमय भी है। इस प्रकार ब्रजभाषाके मधुर गायक सूरके विनय, मुरली-माधुरी, रासलीला, भ्रमरगीत आदिके पदों तथा परमानन्ददास, नन्ददास, हितहरिवंश आदिके पदोमें गीतिकी प्रगीतात्मकता पूर्ण रूपसे सुरक्षित है। सूर-का 'भ्रमरगीत' विरहृ्वयथा, व्यंग्य और विनोदपूर्ण उपा-लम्भ-गीतिका अन्यतम उदाहरण है। तुलसीदासकी 'गीतावली', 'श्रीकृष्ण गीतावली' और विशेष रूपसे 'विनय-पत्रिका'मे गीत्यात्मकता साकार हो गयी है। इस प्रकार भक्तिकालके प्रगीनोमे अनलंकृत संक्षिप्त अर्थाभिन्यक्ति तथा शास्त्रीय सङ्गीत-विधान दोनो उच्चस्तरपर विद्यमान है।

रीतिकालमें जमत्कार-चातुर्य, अलंकरण-आधिक्य और

अवनरोपयुक्त उक्ति-वैचित्र्यके कारण मुक्तक कान्यका ही प्रणयन हुआ, गीतिकान्यकी रचनाके लिए अवकाश नहीं मिल पाया।

आधुनिक काल अपेक्षाकृत व्यक्ति-स्वानन्त्र्य, अतीत-गौरवके प्रति आस्था तथा राष्ट्रीय जागरणका काल है, जो गीतिकाव्य-धाराके प्रसारके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। अतः भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने एक और विद्यापति, चण्डीदास, सूर, तुलसी, मीरॉकी परम्परामें राधा-कृष्णके आलम्बन लेकर व्रजभाषामे भक्तिपूर्णं स्फ्रट पद और 'चन्द्रावली'मे गीत लिखे है, दूसरी ओर राष्ट्रीयतापरक कविताओंकी भी रचना की है। परन्त वस्ततः राष्टीय गीतोंकी परम्परा श्रीधर पाठक ने प्रारम्भ की। उन्होंने भारत-स्तवन तथा राष्ट-प्रेमके गीतोंकी रचना की है। इसके पश्चात् द्विवेदी-युग देश-प्रेम, नीतिपरक आचार-शीलता, इतिवृत्तात्मकता और भाषा-परिष्करणका युग है। अतः इस युगकी कविता समाज-सेवा, पुरातनप्रेम, सामाजिक व्यंग्य एवं सुधारकी भावनाओंसे पूर्ण है। महावीरप्रसाद द्विवेदीकी 'विधि-विडम्बना', नाथ-राम शङ्कर शर्माकी 'पञ्चपुकार', गयाप्रसाद शुक्क 'सनेही'के 'अहिंसा-संग्राम', 'कविराजसे सम्बोधन', मैलिथीशरण गुप्त-के 'सुकवि-कीर्तन', 'स्वर्ण-सहोदर', 'स्वर्ण-सङ्गीत', मन्नन द्विवेदीकी 'चमेली', रामचरित उपाध्यायके 'कन्हेया', 'नौकरशाही', माधव शुक्क तथा मुकुटधर पाण्डेयकी स्फुट कविताएँ इसके उदाहरण है। किन्तु विषयकी एकरूपता, अभिन्यक्तिकी स्थूलता, वर्णनात्मकता और भाषाकी रूक्षताके कारण इनमे भावाईता और व्यञ्जकता नही है, जिसके कारण ये रचनाएँ पद्य-निबन्ध होकर रह गयी है। इस युगके प्रतिक्रियास्वरूप **छायावाद** और रहस्यवादका युग आता है, जिसकी गीति-शैलीपर एक ओर लावनी, कजली, दादरा, विरहा आदि लोकप्रसिद्ध लोक-गोनोंका प्रभाव है और दूसरी ओर इंग्लैण्डके रोमांसिक युगकी 'लिरिक'-शैली-की छाप है। इस प्रकार छायावाद-युगीन गीतिकान्यमें भावकी दृष्टिसे आध्यात्मिक मिलन-विरह, संसारकी नित्यता-अनित्यता, जीवन-दर्शन, लौकिक प्रणय, प्रकृतिमें मानवीय भावोंका प्रक्षेपण, उसमे दिन्यानुभूति, वैयक्तिक आज्ञा-निराशा, हर्ष-विषाद, राष्ट्रीयता, निम्न वर्गीके प्रति करुणा आदिकी व्यंजना हुई है और कलाकी दृष्टिसे चित्रोपम ध्वन्यात्मक भाषा, स्वच्छन्द छन्दोयोजना, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाके विस्तार, सुकुमार कल्पना, मूर्तका अमूर्त और अमूर्तका मूर्त-विधान, विशेषण-विपर्यय, समासोक्ति और अर्थान्तरन्यासकी शैली जिसकी विशेषता है। इस यगमे गीतिके विविध कलात्मक रूप प्रस्तुत हुए है। 'निराला'के 'परिमल', 'गीतिका', 'प्रसाद'के 'झरना', 'लहर', पन्तके 'गुञ्जन', 'पछव', महादेवीके 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत','दीप-शिखा', रामकुमार वर्माके 'चित्ररेखा', 'आकाशगड़ा', 'बच्चन'के 'निशानिमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', सियारामशरण गुप्तके 'दूर्वादल', 'दूरागन गान', मैथिलीशरण गुप्तके 'झङ्कार', सुमद्राकुमारी चौहानके 'कलह-हरण', रामनाथ 'सुमन'के 'अपने कलेजेका तुफान', गोपालशरण सिंहके 'कादम्बिनी', 'दिनकर'के 'द्वन्द्वगीत', 'रसवन्ती', 'दिगम्बरि', 'नवीन'के 'नंगे-भूखोंका यह गाना',

भारतीय आत्माके 'अपने सपूतसे', रायकृष्णदासके 'साधना', वियोगी हरिके 'तरिक्षणी', 'अन्तर्नाद'मे अध्या-न्तरिक भावगीति, 'निराला'के 'वनवेला', 'कुक्ररमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'खजोहरा', 'बच्चन'के 'वृद्ध जगको अखरने-वाले वासना-गीत'मे सामाजिक व्यंग्यगीति, 'प्रसाद'के 'ऑसू', 'प्रभात'के 'क्लेजेके दुकड़े','दिनकर'के 'नयी दिल्ली', कामताप्रसाद गुरुके 'ग्रामीण विलाप'मे शोक-गीति, 'प्रसाद'के 'हिमाद्रि तुंगशृङ्ग'वाले अभियानगीत तथा चन्द्रगप्तकी कार्नेलियाके राष्ट्रगीत, 'निराला'के प्रभाती और उद्घोधनगीत तथा सोहनलाल दिवेदीके अभियान-गीत, राष्ट्रीय गीत, 'दिनकर'की 'बोधिसल्व', 'हिमालयके प्रति', पन्तकी 'परिवर्तन' नामक कविताओंमें राष्ट्रगीत और वीरगीत, मैथिलीशरण ग्रप्तकी 'पत्रावली', द्वारकाप्रसाद ग्रप्त 'रसिकेन्द्र'की पत्रगीति, जनाईनप्रसाद झा 'द्विज'-के 'ट्टा हियहार'मे पत्रगीति', 'निराला'की 'यमुनाके प्रति', भगवतीचरण वर्माकी 'नूरजहाँकी कबपर', 'नववधू', पन्तकी 'छाया', दिनकरकी 'बालिकासे वधू', रामकुमार वर्माकी 'नूरजहाँ', 'दिनकर'की 'समाधिके दीपसे', 'निर्झरिणी'-मे सम्बोधगीति, 'प्रसाद'के 'करुणालय', 'महाराणाका महत्त्व', पन्तकी 'ज्योत्स्ना', 'निराला'के 'पंचवटीप्रसंग', उदयशङ्कर भट्टकी 'मत्स्यगन्धा', भगवतीचरण वर्माकी 'तारा', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'के 'संवर्त्त', मैथिली शरण ग्रप्तके 'लीला', 'अनव' और सियारामशरण ग्रप्तकी 'कृष्णा'-मे गीतिनाट चका विकास परिलक्षित है। इसके अतिरिक्त ॲग्रेजीकी **सानेट**-पद्धतिपर प्रभाकर माचवे और बालकृष्ण-रावकी चतुर्दशपदियाँ भी गीतिप्रधान है। इस प्रकार छायावादी गीतिकाव्यमें स्वाभाविक भावकताके साथ छन्द-गत संगीत ही प्राप्त होता है, उसका शास्त्रीय रूप पृथक् हो गया है।

प्रगतिवाद छायावादकी प्रतिक्रियाके स्वरूप आया । अतः इस युगकी कविताओमे सामाजिक विषमताके प्रति विद्रोह, साम्यवादके प्रति आग्रह, शोषक पूँजीवादी प्रथाके नाश, शोषित किसान-मजदूरोके प्रति सहानुभूति, ईश्वरके प्रति क्षोभ, अन्तरराष्ट्रीयता, इन्द्रात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास-की अर्थमूलक व्याख्याके प्रति श्रद्धा, जीवनकी स्थूल समस्याओंके समाधानकी चेष्टा, प्राचीन रूढ़ियोंके प्रति क्रान्ति, यौन-आकर्षण, ऐन्द्रियता, मानवप्रेम आदिकी भावनाएँ व्यक्त हुई है। अभिव्यक्तिमे स्पष्टता, सरलता और भाषाका अभिधाप्रधान रूप ही अधिक प्रस्तुत हुआ है। पन्तके 'युगान्त', 'युगवाणी', 'याम्या', 'अंचल'के 'मधूलिका', 'अपराजिता', शिवमङ्गल सिहके 'जीवनके गाने', 'लाल सेनाके प्रति', नरेन्द्रके 'शल-फल', 'कर्णफुल', 'दिनकर'को 'सामधेनी', गोपालशरण सिहकी 'मानवी', श्रीमन्नारायणके 'रोटीका राग'में इसके उदाहरण प्राप्त है। प्रगतिवादमे गीतिकी संगीतात्मकता प्रायः खोनेको है और काव्यत्व भी मन्द है।

प्रयोगवादी कविताके विषय वर्ग-चेतना, सामाजिक बैषम्योसे उद्धृत, गुम्फित और जटिल संवेदनाएँ, पुरातन आदर्शोंकी अस्वीकृति, आदर्श जीवनकी वास्तविकताको बन्धन मानना, नारीके कायिक सौन्दर्यके प्रति लालसा,

छन्दहीनता, पूर्ण प्रतिष्ठित कान्यादशौँमें अविश्वास, जीवनकी कहेलिकामें नये प्रतिमान-अन्वेपणकी प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, जिसमें कवि अछते नवीन विषयोपर लिखने-के लिए आतुर है और साम्यके लिए खोज-खोजकर नये उपमान लानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रयोगवादी गीतिकाव्य सचेष्ट काव्यके अन्तर्गत आता है, जिसमें भाषा, भाव-व्यंजनाके नये-नये प्रयोग देखनेको मिलते है, फलतः अभी वे लोक-मानसकी वस्तु नहीं बन पा रहे है। 'तार-सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक', 'अज्ञेय'के 'बावरा अहेरी', धर्म-वीर भारतीके 'ठंडा लोहा', जगदीश ग्रुप्तके 'नावके पॉव' तथा रामधारी सिंह 'दिनकर'के 'नील कमल'मे यह प्रवृत्ति गीति-नाट्य-गीति-नाट्योके आधुनिक रूपका, जिसकी भाषा गीतात्मक है, सर्वप्रथम सन् १९५४ ई०में जन्म हुआ था, जब कि रिन्यूसिनी-लिखित डेफ्नेको यूनानी दुःखान्त नाटकोको पुनरुज्जीवित करनेके उद्देश्यसे रंगमंच-पर प्रस्तत किया गया था। अतः पहले गीति-नाट्य संगीत-पूर्ण दःखान्त नाट्यके रूपमें होता था। विषय भी युनानी पौराणिक कथाओसे लिये जाते थे। इन गीति-नाट्योमें संगीत, चित्रकारी, गीत-रचना, नृत्याभिनय, मंच-प्ररचना इत्यादि कलाओंके संयोजनसे प्रेक्षकोपर मोहक प्रभाव-सृष्टि की जाती थी। १९ वी शताब्दीतक यूरोपीय देशोंके सामन्त-समाजोंमे इसकी अधिक धूम रही। इसके पश्चात सर्व-साधारणमें भी यह लोकप्रिय होने लगा। फ्रांसमें गीति-नाट्योंकी बडी उन्नति हुई। वहाँ इनमें यथार्थवादी प्रवृत्तियो-का समावेश हुआ तथा इनके अनेक रूप प्रचलित हुए। इनमें सुखान्त और दःखान्त, भावात्मक एवं यथार्थवादी-सभी प्रकारके विषय उठाये गये। गीति-नाट्यके अंग है-१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. संवादाभिनय, ४. गीत, ५. नर्तन । इसमें सारी कथा गीतोके माध्यमसे प्रस्तुत की जाती है। इसकी दो शैलियाँ है-प्रथम, मूक अभिनया-त्मक, दूसरी संवादात्मक। प्रथममें एक दल-विशेष वाद्य-यन्त्रोंकी सहायनासे भावयुक्त एवं संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंकी अनुरूप भूमिकामे गीतके भावोंके अनुरूप अभिनय करता है। भारतमे इस प्रकारके गीति-नाट्योंका प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकरने अपने शान्ति-निकेतनमें किया था। उनका 'चाण्डालिका' नामक गीति-नाट्य रंगपीठपर बड़ी सफलता पा चुका है। दूसरी शैलीमें गीति-नाट्य वे है, जिनमें केवल पद्य-संवादमात्र रहते हैं। संवादके अतिरिक्त जितना कथा-भाग है, उसे या तो गायक-मण्डली गीत द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनटी या भावनट आकर कथा-भागको नृत्य द्वारा प्रस्तुत करता है। अतः गीति-नाट्योके प्रदर्शन-विधानमे तीन दल होते है-१. अभिनेता, २. भावनट या भावनटी या कथाभिनेता, ३. गायक-वादक-मण्डलीके दो दल. जिनमेंसे एक पात्र प्रतिनिधि होता है और दूसरा समवेत गायक। - इया० मो० श्री० गुँड्ररी-दे० 'हठयोग'।

गुजराती - गुजरात प्रदेशकी भाषा। गुजराती शब्द गुज-रातसे बना है। गुजरातकी व्युत्पत्तिके बारेमें कई मत हैं, परन्तु सर्वमान्य व्युत्पत्ति आज यह मानी जाती है—
गुर्जर + त्रा = गुर्जरत्रा > गुज्जरत्ता > गुजरात । आठवी
शताब्दीसे दसवी शताब्दीतक्षे उत्कीणं ठेखोंमें गुर्जरत्रामण्डल, गुर्जरत्रा-भूमि, गुज्जरत्ता आदि शब्द मिलते हैं।
प्रसिद्ध अरव यात्री अल्वरूती (ई०९७०-१०३०)ने 'गुज्जात'
तथा और दो अन्य अरव यात्री अनुजेद (ई०९१६)
और अलमसूदी (ई०९४३)ने क्रमशः गुर्जर और गुजरात
शब्दोंका प्रयोग किया है।

ऐसा माना गया है कि शक-कुल्की गुर्जर नामकी एक जाति पाँचवी शताब्दीके उत्तरार्द्धसे छठी शताब्दीके पहले दशकतकके समयमं दक्षिण पंजाबसे राजपृतानेकी ओर गयी थी। वहाँसे यह जाति धीरे-धीरे नर्मदा नदीके आस-पासके और सौराष्ट्रके प्रदेशोंमें भी फैल गयी थी। चीनके प्रसिद्ध यात्री हुएनत्सांगकी यात्राके समय इन गुर्जरोंकी राजधानी राजपूतानेमें भिन्नमालमें थी। मुसल्मानोंके आक्रमणके कारण दसवी शताब्दीके मध्यमे गुर्जरोको भिन्नमाल छोडना पड़ा और वे आजके गुजरातके उत्तर-भागमें आकर रहने लगे। इस मूमिमे गुर्जरोको आश्रय मिला, इसलिए इसको गुर्जरता मूमि कहने लगे।

गुजराती भाषाके लिए केवल गुजराती शब्दका ही प्रयोग मिलता है, दूसरा कोई पर्याय प्रचलित नहीं है। परन्तु प्राचीन कालमें इसी भाषाको अपभ्रंश, गुर्जर भाषा अपभ्रंश गिरा, प्राकृत या भाषा कहा जाता था।

सत्रहवी शताब्दीमें हुए रसकवि प्रेमानन्दने (१६४९१०१४ ई०) पहले-पहल अपने कान्य 'दशमस्कन्ध'मे
गुजराती शब्दका प्रयोग अपनी भाषाके लिए किया—''बांधुं
नागदमण गुजराती भाषा"। इसके बाद १७३१ ई०मे
जर्मनीके मुख्य नगर बिलनके एक लाइबेरियन ला कोझने
अपने एक लेखमें गुजराती भाषाका उल्लेख किया है।
उसके बाद तो धीरे-धीरे गुजराती शब्द व्यवहारमे आने
लगा और आज वही एक शब्द प्रचलित है।

गुजराती भाषाकी उत्पत्ति शौरसेनी अपश्रंशमे हुई है। ई० १०००से लेकर आजतकका उसका क्रमशः विकास भाषाकी दृष्टि जितना सुस्पष्ट है, उतना अन्य किसी भारतीय आर्थ-भाषाका नहीं है। प्रत्येक शतककी भाषाके नमूने प्राप्त है। अर्वाचीन गुजरातीके मूल किस शताब्दीतक देखे जा सकते है, इस विषयमें मतैक्य नहीं है, फिर भी इन हजार वर्षोंको निम्नलिखित प्रकारसे सुविधापूर्वक बाँटा जा सकता है—

- १. गौर्जर अपभ्रंश अथवा प्राचीन गुजराती—
  - क. प्रथम भूमिका, बारहवी राता ब्दीतक।
  - ख- द्वितीय भूमिका, चौदहवी शताब्दीके पूर्वार्द्धतक ।
- २. गुर्जर भाषा अथवा मध्यकालीन गुजराती— क. प्रथम भूमिका, शुद्ध, लगभग १३५०से १४२५ ई०
  - ख- द्वितीय ,, मिश्र, ,, १४२५मे १५०० ,,
  - गः तृतीय ,, शुद्ध ,, १५००से १५७५ ,,
  - घ चतुर्थ ,, मिश्र ,, १५७५से १६५० ,,
- ३. अर्वाचीन गुजराती-
  - क. प्रथम भूमिका लगभग १६५०से १८२५ ई०तक।
  - ख दितीय ,, ... ,, १८२५ ई०से आजतक।

इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें मतभेद भाषा-स्वरूपके बारेमें नहीं है, बिल्क समय-विशेषकी भाषाके नामकरणके सम्बन्धमें ही है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि ईसवीके ग्यारहवें शतक-तक अपभ्रंश भाषा प्रचित्त थी। उसके बाद दो सौ वर्षतक अपभ्रंश और पुरानी गुजरातीका अन्तराल-रूप रहा। इस रूपको कुछ लोग अन्तिम अपभ्रंश या गौर्जर अपभ्रंश कहते है। उसके बाद उस भाषाका उद्भव हुआ, जिसे टेसिटोरी प्राचीन परिचम राजस्थानी (OWR) कहते है। समहवीं शताब्दीके मध्यसे अवीचीन गुजरातीके चिह्न स्पष्ट दिखाई पडते है।

आज गुजरात प्रदेशकी सीमा उत्तरमें कच्छ और मेवाड-मारवाडतक, दक्षिणमें बम्बईके थाना जिलेतक, परिचममें अरब समुद्रतक और पूर्वमें मालवा-खानदेशतक सामान्यतः मानी जाती है। गुजराती जिन प्रदेशोंमें बोली जाती है, उसका क्षेत्रफल .७,१०,०७२ वर्गमील है। एक करोड साठ लाख लोग गुजराती भाषा बोलते है। गुजराती लिपि देवनागरीका ही एक रूप है। उसने देवनागरीकी शिरोरेखाके बन्धनसे अपनेको मुक्त कर लिया है और कुछ अक्षरोंकी आकृतियाँ बदल दो है।

गुजरातीमें विवृत अं और ऑका प्रयोग अच्छी तरह होता है। लिखनेमें वह बताया नहीं जाता, मगर बोलनेमे खास ध्यान रखना चाहिये। मों, बेठो, छे, गोर, कोयल आदि शब्दोंमे विस्तृत अं ऑ है।

गुजरातीमे कण्ड्य ह्वे उपरान्त औरस्य ह्वा प्रयोग भी कभी-कभी होता है—उदाहरण, ब्राह्मण, आह्वान। यहाँ ह् ध्विन छातीमेसे निकाली जाती है। कुछ तद्भव शब्दोमे भी यह ह् ध्विन थोडी-सी. मात्रामे सुनाई पडती है। अमे, तमे, ज्यारे, त्यारे आदि शब्दोंमे यह ह् ध्विन सुनाई पडती है। इसे हु श्रुति कहते है।

इसी प्रकार कुछ शब्दोंमें यू ध्वनि भी थोडी-सी सुनाई पडती है। जैसे, ऑखको ऑख्य; लावको लाब्य; दोरडुंको दोयडुं लोग बोल देते है। इसे य-श्रुति कहते है।

गुजरातीमें कोमल चन्द्रविन्दु (ँ)का लिखनेमे उपयोग नहीं होता है, परन्तु उच्चारणमें वरावर ध्यान रखा जाता है।

गुजरातीमें कहीं-कहीं च्, छ्, ज्, झ्के उचारण प्राकृतसे आये है, किन्तु साहित्यिक एवं सरकारी भाषामें इाद्ध तालन्य उचारण ही होता है।

इका उच्चारण गुजरातीमें ग्न होता है। इस प्रकार इानको गुजरातीमें ग्यान नहीं, ग्नान बोटा जाता है।

गुजरातीमे स्वराघात (accent)का तत्त्व सुक्ष्म तौरपर देखा जा सकता है। यह स्वराघात द्विविध है। शब्दमे वह

वर्ण या वर्णोंके ऊपर होता है। जैसे घर, मेज, कबाद, । । । । घरबार, षावरापणुं।

गुजरातीमे अनेक शब्दोंके अन्त्यवर्ण त्विरतोचार्य होते । । । है, जैसे रमण्, शाक्, गाम्। उसका कारण कदाचित् है कि इन वर्णोपर स्वरभार नहीं आता है। गुजराती स्वराघातला द्वितीय स्वरूप है—वाक्य अन्वयानुसार शब्दपर स्वरभार लगता है। कवि न्हाना-लालने अपने अनोखे काव्य छन्द, डोलन छन्दमें इसका पूरा उपयोग किया है।

गुजरातीमें प्रयुक्त फारसी अक्षरोके नीचे न बिन्दी लगायी जाती है और न उनका उच्चारण फारसी उच्चारण-की तरह होता है। ड और ढके नीचे भी बिन्दी नहीं लगायी जाती।

गुजरातीमें पूर्ण विरामकी जगह अंग्रेजीकी तरह छोटी विन्दी (-) रखी जाती है। खडी पाई (1)का उपयोग नहीं होता। अन्य विराम-चिह्न हिन्दी जैसे ही है।

गुजरातीमे प्रत्यय शब्दके साथ ही लगते है। मात्राएँ हिन्दीकी तरह लगायी जाती है।

गुजरातीमे संस्कृतकी तरह तीन लिंग है। नपुंसक लिग-को नान्येतर जाति कहते है। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुर्छिग, इकारान्त शब्द स्त्रीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसक लिंगके होते है।

गुजरातीमें सामान्यतः ओ लगानेसे एकवचनका बहुवचन होता है। दो ही वचन है।

गुजरातीमे हिन्दीके सर्वनामोंके उपरान्त एक अन्योन्य-वाचक सर्वनाम भी चलता है।

हिन्दी और गुजरातीमे संज्ञा और विशेषणमे कुछ नामोंके सिवा साम्य ही है।

गुजरातीकी क्रियाएँ, इदन्त तथा काल हिन्दीकी तरह ही है। अन्यय भी हिन्दीकी तरह है। सब जगह नामकरण मेद है।

प्राचीन गुजराती साहित्य—तेरहवी शताब्दी ईसवीके मुख्य प्रन्थ निम्नलिखित है—शालिभद्र स्रिकृत भरतेश्वर बहुबलिरास', विजयसेन स्रिकृत 'रेवन्तगिरि रासु'; विनयचन्द्र स्रिकृत 'नेमिनाथ चतुष्पादिका' आदि । उस समयके गद्य-लेख भी मिलते है ।

चौदहवीं शताब्दी ईसवीके मुख्य प्रन्थ है—जिनधर-कृत, 'कंछूकी रास', राजशेखरकृत 'नेमिनाथ फागु', किसी अज्ञात कविकृत 'वसन्त विकास फागु', जैनेतरकवि असाइत-कृत 'हंसाउकी', श्रीधर व्यासकृत 'रणमळ छन्द' आदि।

पन्द्रह्वी शतार्ब्दा ईसवीके मुख्य मन्थ—जयशेखरकृत 'प्रवोध-चिन्तामणि', अब्दुर्रहमानकृत 'सन्देश रासक', माणिकचन्द्र स्रिकृत 'पृथ्वीचन्द चरित्र', भारुणकृत 'कादम्बरो', पद्मनाभकृत 'कादम्बरो', पद्मनाभकृत 'काट्रह्वे प्रवन्थ' इत्यादि ।

कविवर नरसिंह मेहताकी कृतियाँ—'शामलदासनी विवाह', 'राससहस्रपदी', 'श्रंगारमाला', 'चातुरीओ', 'हिंडोलाना पदो', 'वसन्तनां पदो', 'सुदामाचरित्र' आदि इसी शतकमे लिखी गयी है।

सोलहवी शताब्दी ईसवीमे मीरॉ, नाकर, उद्धव, विष्णुदास आदि अनेक कवियोंके ग्रन्थ मिलते है।

इंस प्रकार प्राचीन गुजरातींमे रास, फागु, कथा, कथानक, चरित्र, चतुष्पादिका आदि अनेक जैनकाव्य-स्वरूप और आख्यान, कथा, बारहमासी, पद, गरबी आदि अनेक ब्राह्मणकाव्य-स्वरूप मिलते हैं।

मध्यकाळीन गुजराती साहित्य-इस युगको प्रेमानन्द-

युग कहा जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दीके हुए इस रसिसद्ध कविकी कीतिं गुजराती साहित्यमें स्थायी है। अपने आख्यानोमें उसने नवों रसोंका सफल चित्रण किया है। यह किय सो फीसदी गुजरातीत्वसे भरा था और उसकी कृतियों गुजरातियोंको जैसा आनन्द देती रही है, वैसा आनन्द उस युगके किसी किवकी कृतियोंके द्वारा नहीं मिल सकता है। इस युगका दूसरा वेदान्ती किव अखो है। कवीरकी वाणीकी तरह अखोकी वाणी भी हृदयपर सीधा असर करती है। उसके छण्पय आज भी गुजरातमे घर-घर-की कहावतें वन गये है। उसकी 'अखेगीता'मे चिन्तन और साधनाकी परिपक्वता मिलनी है। अखोकी रचनाएं सामान्यतः वार्शनिक है।

इस युगके कवि शामलने पद्यमे कहानियाँ लिखी है। इन पद्य-कथाओंका औपन्यासिक रस आज भी पढनेवालोको मुग्ध कर लेता है।

बादके किवयोंमें प्रीतम, घीरो और भोजो उल्लेखनीय है। इनके पद और भजन आज भी बहुत लोकप्रिय है।

इस युगका अन्तिम महान् किव दयाराम है। गरबी साहित्यका वह चक्रवतीं सम्राट् माना जाता है। वह पुष्टिमागीं था और मुख्यतः श्रंगार रसका किव था। गुजरातकी नारियाँ आज भी दयारामकी गरिवयाँ गाकर रास खेळनेमें धन्यता अनुभव करती है।

अर्वाचीन गुजराती साहित्य—अर्वाचीन गुजराती साहित्यकारोंमें आच है वीर नर्मद । अंग्रेजोका शासन शुरू हो गया था। अंग्रेजी शिक्षा गुरू हो गयी थी। चारों ओर सुधारका वातावरण था। गुजरातीमें सुद्रण शुरू हो गया था। गुजरातीका पहला समाचारपत्र 'मुंबई समाचार' १० जून, १८२२ ई०से मोवेद फरदुनजी मर्जवानने प्रकाशित करना शुरू किया था। नर्मदने कॉलेजमें अध्ययन भी किया था। उस जमानेमें इस सरस्वती-पुत्रने प्रतिज्ञा की थी कि कलमके द्वारा जो धन मिले, उससे ही जीवन-निर्वाह करना है। उसकी कविताने लाखोंको मुग्ध किया, उसके गद्यने लाखोंको प्रेरणा दी। वह प्रेम-शौर्यका किय था। नर्मदने कोशकी भी रचना की थी।

नर्मदके समकालीन कवीश्वर दलपतरामको भी हम नहीं भूल सकते। गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी (आजकी गुजरात विद्यासभा)को स्थापनामें फार्वस साहबको उनसे ही विशेष सहायता मिली थी। इस सभाने गुजराती साहित्य-की अत्यन्त सेवा को है और आज भी यह इस कार्य-में संलग्न है।

आधुनिक गुजरातीके सर्वप्रथम आलोचक नवलराम पण्ड्या भी इसी युगमें पैदा हुए थे। गुजरातीका पहला प्रमुख उपन्यास लिखनेवाले नन्दशङ्कर मेहता, प्रार्थना समाजके संस्थापक भोलानाथ साराभाई, सुधारक महीपत-राम नीलकण्ठ, विदेश जानेवाले पहले गुजराती करसनदास मूलजी, वैज्ञानिक भगवानलाल इन्द्रजी और ऐसे अनेक महान व्यक्तित्व इसी युगकी देन हैं।

१८८७ ई०में गुजरातीके श्रेष्ठ उपन्यास 'सरस्वती चन्द्र'-का पहला भाग प्रकाशित हुआ। इस उपन्यासके लेखक साक्षरवर्ष गोवर्धनराम त्रिपाठी १९०५ ई०में पहली गुजराती साहित्य परिषद्के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।
गुजराती गद्य-शक्तिका इतना शक्तिपूर्ण प्रस्फुटन उनके पहले
कभी नही हुआ था। यह युग पण्डित-युगके नामसे
गुजरातीमें प्रसिद्ध है। गोवर्षनराम त्रिपाठी, नरसिह राव
दिवेटिया, निकाल नमुभाई, रमणभाई नीलकण्ठ, केशव
हर्षद श्रुव, आनन्दशङ्कर श्रुव, किव कान्त, किव व० क०
ठा०, अहमदाबाद साहित्य सभा तथा गुजराती साहित्य
परिपद् आदिके प्रथम संयोजक रणजीत राम, ये सब ऐसे
दिग्गज पण्डित थे, जो किसी भी साहित्यके लिए गौरवपूर्ण
व्यक्तित्व माने जा सकते है। गुजराती साहित्य इन्हे पाकर
धन्य हुआ है।

बादका श्रेष्ठ व्यक्तित्व है कि नानालालका। गुजराती कि कि निकास-शिखरपर वे ले गये, उससे आगे अवतक कोई नहीं ले जा सका है। नानालाल गुजरातके रवीन्द्रनाथ ठाकुर है। उनके गीत और रास सदा लोक-प्रिय रहेगे।

इसके बादका युग गान्धी-मुन्शी-युगके नामसे प्रख्यात है। महात्मा गान्धी जैसा व्यक्तित्व गुजराती साहित्यकों और दूसरा कौन मिल सकता था! उन्होंने स्वयं तथा उनके शिष्य गान्धीवादी लेखकोंने गुजराती साहित्यका अत्यन्त उपकार किया। उसी समय उपन्यास-सम्राट् कन्हैयालाल मा० मुन्शीने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों, लेखों द्वारा गुजराती अस्मिताकों जाग्रत् किया। इनके बाद आज गुजराती साहित्य सभी क्षेत्रोमें प्रगति कर रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, चिन्तन, आत्मक्था, जीवनी, निवन्य, आलोचना, पत्रकारिता सभी क्षेत्रोंने गुजराती साहित्य समृद्ध हो रहा है। लोकसाहित्यमें में गुजराती साहित्य समृद्ध हो रहा है। लोकसाहित्यमें में गुजराती अभृतपूर्व कार्य किया है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ गुजरातीका विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक माताकी—शौरसेनी अपभ्रंशकी—पुत्रियाँ है। प्रारम्भसे दोनोपर एक-दूसरेका प्रभाव पड़ा है। ब्रजभाषाका प्रचार गुजरातमें काफी था। गुजरातके अनेक वैष्णव किवाने ब्रजभाषामें रचनाएँ की है। भुज, कच्छमे ब्रजभाषाकी बहुत बड़ी पाठशाला थी, जहाँ उत्तरभारतसे भी लोग पढ़नेके लिए आते थे। हिन्दीके सुप्रसिद्ध किव गोविन्द गिलाभाई सौराष्ट्रके शिहोर गॉवके थे। ठल्लूजीलाल गुजराती थे। गुजराती किव दयारामने सैकड़ों रचनाएँ ब्रजभाषामें की है। आजके नवोदित किव-लेखक गुजरातीके साथ-साथ हिन्दीमें भी किवताएँ, कहानियाँ तथा उपन्यास आदि लिख रहे है।

हिन्दीको राष्ट्रभाषाका पद दिलानेमें अहिन्दी-भाषियोंका प्रमुख हाथ रहा है। उसमें भी गुजरातका हाथ कम नही है। स्वामी दयानन्द और महात्मा गान्धीके नामोंके उछेख इस सम्बन्धमें पर्याप्त होंगे। राष्ट्रभाषा-प्रचारके क्षेत्रमें तथा राष्ट्रभाषाकी परीक्षाओमे भी सबसे बड़ी संख्या गुजरातियोनकी है।

साहित्यके प्रवाहको देखें तो भी विरुक्षण साम्य नजर आता है। वीरगाथाकाल तथा भक्तिकालमें जैसी रचनाएँ हिन्दीमें मिलती है, वैसी गुजरातीमें भी मिलती है। रीति-कालका गुजरातीमें अभाव है। भारतेन्द्र-मण्डलीने जो काम जिस समय किया, वहीं काम उमी समय नर्मद-मण्डं लीने किया। आधुनिक कवितामें हिन्दीमें जिन वादोकी कविताएँ लिखी गयी है, उन वादोंकी कविताएँ गुजरातीमें भी लिखी गयी है, यद्यपि गुजराती कवितामें वादोंके लेवल कभी नहीं लगे।

गुजराती शब्द-समृह और हिन्दीके ७५ प्रतिशत शब्दममृहमें समानता है। खड़ीबोलीमेंसे ब्रजमाषाके तथा
अपभ्रंशके शब्द अब हटते जा रहे है, किन्तु ऐसे शब्द
गुजरातीमें है। — ज० त्रि०
गुड़-योग-साधनामें सोमरस या मिदरा बनानेका एक
साधन—''अमृत दाखी भाठी मिरया ता मथे गुड़ झकोत्या''
(गोरखवानी)। यहाँ गुड़का अर्थ सुरित माना जाता है।
कवीरने गुरुके शब्दको भी गुड़ माना है—''कवीर गुड़की
गिम नहीं पांहण दिया बनाइ। सिष सोधी बिन सेविया
पारिन पहुँच्या जाइ॥''(कवीरग्रन्थावली)।—उ० शं० शा०
गुण—शब्दार्थ है विशेषता, शोभाकारी या आकर्षक धर्म,
दोषाभाव। (काव्यशास्त्रके अन्तर्गत) दोषाभाव, दोषका
वैपरीत्य, काव्यकी शोभा करनेवाले धर्म (वामन), रसरूप
अंगीके आश्रित रहनेवाले (आनन्दवर्थन), रसरूप अंगीके

भरत (४ श॰ ई॰) के अनुसार दोषका विपर्यय कान्यमे गुण माना जाता है—"एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येष कीर्तिताः" (नाट्य०, १७: ९५) । इस प्रकार उन्होने इसे अभावात्मक तत्त्व माना है। विपर्ययके सम्बन्धमें मतभेद है। कोई इसका अर्थ दोषका अभाव करता है, कोई अन्यथा-भाव और कोई विपरीतभाव। अभिनव ग्रप्त (१०, ११ श्र हैं ) ने असावके अर्थमें ही ग्रहण किया है, परन्त भरतके गुणोके लक्षणोंसे स्पष्ट है कि कुछ गुणोको छोडकर अन्य सभी भावातमक है। दण्डी (७ श० ई०) की अलंकारी-की व्यापक परिभाषा 'काव्यशोभाकरान्'के अन्तर्गत गुणका अन्तर्भाव हो जाता है। सामान्य अलंकारोंपर विचार करते समय उन्होंने 'कादिचन्मार्गविभागार्थमुक्ताः' (काव्यादर्शः, २: ३) कहकर जिन पूर्वमार्गीका निर्देश किया है, वे गुण ही है। वामन (९ शर् ई० मध्य) गुणके प्रतिष्ठाता आचार्य है। उनके अनुसार 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' (३:१:१)। अर्थात् गुण काव्य-मूल शोभा(सौन्दर्य)के तत्त्व है। गुण शब्द और अर्थके धर्म है और काव्यके लिए अनिवार्थ है। ध्वनि-सिद्धान्त निरूपित हो जानेके उपरान्त गुणका अर्थ निर्दोषताके रूपमें ग्रहण किया गया। आनन्द-वर्धन(९ श० ई०)ने गुणोंके स्वतन्त्र अस्तित्वको नही माना. रसाश्रित स्वीकार किया है। मम्मट(१२ श० ई०)ने इन्ही-का अनुसरण किया है—'ये रसस्यांगिनो धर्माः', अर्थात रसके अंगरूप धर्म गुण है, जो 'उत्कर्षहेतवस्ते' उनके उत्कर्षके कारण है (का० प्र०, ८:६६)। विद्वनाथ (१४ श् र् र् पूर्वा) तथा अन्य आचार्यांने मन्मटका अनुसरण किया है। जगन्नाथ (१७, १८ २० ई०)ने रसको काव्यकी आत्मा मानकर उसे गुण-जून्य कहा है और गुण शब्दार्थको धर्म माना है। परन्तु अभावात्मक या निषेधात्मक रूपमें गुणका स्पष्टीकरण नही होता। गुण तो निरचय रूपसे भावात्मक हैं। अतः ग्रणके प्रसंगमे विपर्ययका अर्थ है दोषका वैपरीत्य। काव्यकी शोभाको सम्पादित करनेवाले या काव्यकी आत्माको प्रकाशित करनेवाले तत्त्व या विशेषता गुण है। ये गुण शब्द और अर्थके धर्म है। ये वर्णसंघटन, शब्दयोजना, शब्दचमत्कार, शब्दयभाव और अर्थकी दीप्तिपर आश्रित है।

गुणोंकी संख्याके सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतवैषम्य है। भरतम् निने गुणोंकी संख्या दस मानी है। उनके द्वारा प्रतिपादित दस गुण है- इलेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधर्य, ओज, पदसौकमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति। आचार्य दण्डीने भी ये ही दस गुण माने है. परन्त दण्डीकी धारणा समाधि, कान्ति आदि कुछ गुणोंके सम्बन्धमे भरतसे भिन्न है। आचार्य वामनने भी दस ही गुण माने है, परन्त प्रत्येक गुणके दो भेद, शब्दगुण और अर्थगुणके रूपमें कर दिये है। इस प्रकार दोनों प्रकारके भेदोंको मिलाकर बीस गुण हुए। भोजने गुणोकी संख्या चौबीस मानी, जो बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक भेटोंमें कल बहत्तर होते है। वाह्य अधिकांश शब्दगुण, आभ्यन्तर अर्थगुण है। वैशेषिक गुण ऐसे दोष है, जो विशेष प्रसंगमे गुण बन जाते है। बाह्य तथा आभ्यन्तरमे पर्वकथित दस मेदोके अतिरिक्त भोजके नये चौदह भेद है-उदाहरण, ओजत्व, प्रेयस् , सुशब्दता, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, प्रौढि।

'अग्निप्राण'मे अठारह गुण माने गये है, जो शब्दगुण, अर्थगण और उभयगणोमे विभक्त है। शब्दगुण छः है-इलेप, लालित्य, गाम्भीर्य, सकुमारता, औदार्य, ओजस। अर्थगुण है-माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौदि, सामयिकता । उभयगुण है-प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक, राग। आगेके आचार्यीने इस संख्यामे कमी करना ही उचित समझा। आचार्य कन्तकने ग्रणका नितान्त भिन्न विवेचन किया। उन्होंने दो अनिवार्य सामान्य गुण माने, जो है-औचित्य और सौभाग्य। इसके अतिरिक्त चार विशिष्ट ग्रण माने, जो है-माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य । आनन्दवर्धनाचार्यने रसके धर्मरूपमें ग्रणको माना और इस प्रकार चित्तकी तीन अवस्थाओं-दिति, दीप्ति और न्यापकत्वके आधारपर केवल तीन गुणों माध्ये, ओज और प्रसादको स्वीकार किया। वामनके द्वारा दस गुण इन्हीं तीन गुणोके भीतर समाविष्ट मिद्ध किये गये। मम्मटने दस गुणोका खण्डन कर तीन गुणोंको सिद्ध किया।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः मन्मट और विश्वनाथका अनुसरण कर तीन गुणोको ही मान्यता प्रदान की है। चिन्तामणिने 'कविकुलकल्पतर' (१६५० ई०)में तीन गुणोके अन्तर्गत अन्योंका अन्तर्भाव माना है। चिन्तामणि माधुर्यको कवित्वका मूल मानते हैं। उन्होंने वामन तथा मन्मट, दोनोके विवेचनको आत्मसात् किया है। कुलपतिने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)मे रीतिके मूल तत्त्वरूप गुणका वर्णन किया है। मन्मटका 'काव्यप्रकाश' इनका मुख्य आधार है। २० गुणोंमें इन्होंने भी तीनकी स्थापना की है, कुछ अन्तर्भाव हो जाते है, कुछ दोष-भावमात्र है और कुछ दोषस्प ही। देवने 'काव्यरसायन' (१७०३ ई०)में मन्मट-

से पहलेके आचार्यीका अनुसरण किया है। देवने १० गुणोंको रवीकार किया है और उनमें यमक तथा अनुप्रासको मिलाकर संख्या १२ कर दी है। दासने 'काव्यनिर्णय' (१७४६ ई०)मे परम्परासे कुछ भिन्न अर्थमें गुणका भाव ग्रहण किया है। दासके अनुसार "त्यों विदग्ध हियमे रहे, दस गुन सहज स्वभाव" (१९), अर्थात् गुण सहृदयके हृदयमें स्वभावरूपमें अवस्थित रहते है (स्थायी भावके समान)। उनका दस गुणोंका विभाजन परम्परासे अलग है-अक्षरगुण-माधुर्य, ओज, प्रसादः दोषाभावरूप-समता, कान्ति और उदारता; अर्थगुण-अर्थव्यक्ति और समाधिः वाक्यगण-इलेष और पनरुक्तिप्रकाश । दासने यह अन्तिम ग्रण सौक्रमार्यके स्थानपर रखा है। आधुनिक कालमें कन्हैयालाल पोदार तथा रामदिहन मिश्र आदिने संस्कृत-परम्पराका अनुसरण किया है। इनके अतिरिक्त रामचन्द्र शक्कने गुणको रसाश्रित माना है और स्याम-सुन्दर दासने शैलीके अन्तर्गत माना है। और इसके सम्पूर्ण विवेचनसे यह स्पष्ट ही है कि इनके माध्यमसे आचार्योंने विभिन्न शैलियोंपर विचार किया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वस्तु (content) तथा अभि-व्यक्ति (expression)के सम्बन्धपर प्राचीन समयसे विचार होता आया है।

 माधुर्य—माधुर्यका शब्दार्थ है मधुर होनेकी विशे-षता, मिठास, रोचकता। कान्यगुणके प्रसंगमें माध्य शब्दका अर्थ विभिन्न विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपमें यहण किया है। भरतने श्रतिमधरताको माना है (नाट्य०, १७: १०१) । दण्डीके अनुसार माधुर्यका तात्पर्य है रस-मयता, रससे सम्पन्नता। यह माधुर्य शब्दगत रूपमें श्रत्यनुप्रास और अर्थगत रूपमें अम्रान्यताका अर्थ रखता है। अतः माधुर्यका अर्थ सरसता, शिष्टता एवं सुसंस्कृतता है। वामनके मतानुसार पदोकी पृथक्ताका अर्थ है समास-रहित होना। इसमे दीर्घ समासताका निषेध होता है। अर्थगुणके रूपमें माधुर्यका अर्थ है उक्तिवैचित्र्य (काव्य० सूत्र० वृ०; ३:१:२१। ३:२:११)। ध्वनिवादी आचार्य माधुर्यका दूसरा ही अर्थ करते है। सहृदयोको द्रवित करनेवाला गुण माधुर्य है। मम्मटने माना है कि आह्नादकता और शृंगार रसमें द्रवित करनेकी विशेषता ही माधुर्य है (का० प्र०, ८:६८)। इस प्रकार माधुर्यका अर्थ हुआ श्रुतिसुखदता, समासरहितता, उक्तिवैचिन्य, आर्द्रता, चित्तको द्रवित करनेको विशेषता, भावमयता, आह्वादकता।

साहित्यदर्पणकारके मतसे ट ठ ड ढको छोडकर क से लेकर म तकके वर्ण तथा मूर्थन्य वर्ण और अन्त्य वर्णोंके प्रयोगसे माधुयै गुणका सम्पादन होता है। इस प्रकारका वर्णप्रयोग संयोग, करुण, वियोग और शान्त रसोंमें कमसे आधिक्यके साथ पोषक होता है (सा० द०, ८:१,३)। इस प्रकारकी रचना समासरहित या अल्पसमास युक्त होनी चाहिये, तभी माधुयै गुणयुक्त कही जा सकती है।

हिन्दीके आचार्योंमें चिन्तामणि माधुर्यको 'चितकी द्रति' कहते है, विश्वनाथके अनुसार रसोंमें उसका प्रयोग मानते हैं। कुलपित आदिने मम्मटका अनुसरण किया है। देवने

माधुर्यंकी परिभाषा दण्डीसे ठी है। दासने विश्वनाथके अनुसार टवर्गहीन सम्पूर्ण वर्गके मृदु अक्षरोंके प्रयोगको माना है। उदा०—"निरख सखी ये खंजन आये। फेरे उन मेरे रंजनने इथर नयन मन भाये" (साकेत)।

२. ओज-ओजका शाब्दिक अर्थ है तेज, प्रताप, दीप्ति । काव्यके अन्तर्गत जो गुण सननेवालेके मनमे उत्साह, वीरता, आवेश आदि जायत करनेकी क्षमता रखता हो, वह ओज कहलाता है। भरतके अनुसार अनेक तथा विभिन्न प्रकारके समस्त पदोंवाली अर्थ-गाम्भीर्यकी अवणसुखद शैली (नाट्य०, १७-१०२) । दण्डीके विचारसे समासयुक्त पदोंकी बहुलतासे ओज गुण सम्पन्न होता है। ओज गुणका प्रयोग वैदर्भ मार्गके गद्य तथा गौड़ीय मार्गके पद्य और गद्य, दोनोमें होता है। वामनके अनुसार रचनाका गाडत्व, अर्थात अवयवों या अक्षरविन्यासका संदिलष्टत्व, संयुक्ताक्षरोका संयोग, ओज गुणके लिए आवश्यक होता है (काव्य० सू० वृ०, ३:१: ५) । अर्थगुणके रूपमें अर्थकी प्रौढता अर्थात् संयत, संक्षिप्त शब्दोंमें अधिक भाव या अर्थकी अभिन्यक्ति ओज गुणका लक्षण है (वही, ३:२:२)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतसे चित्तका विस्तारक या चित्तका दीप्तिकारक गुण ओज है। इसकी स्थिति वीर रस, वीभत्स रस और रौद्र रसमे क्रमशः अधिक मानी गयो है, अर्थात सामाजिकका हृदय वीर रसकी अपेक्षा वीभत्स रसमें और वीभत्स रसकी अपेक्षा रौद्र रसमे अधिक धधक उठा करता है (का॰ प्र॰, ८:६९,७०)। इसके लिए वर्गीके आच और तृतीय वर्णोंकी संयुक्ताक्षरता, टठ ढ राष आदिका प्रयोग, दीर्ध समास और उद्धतपदसंघटना आवस्यक होती है। इस प्रकार ओजमे उदात्त भाव तथा कर्कश, क्लिष्ट वर्ण-संघटन और संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग होता है (सा० द०, ८:४,६)।

चिन्तामणिने ओजको दीप्तिका कारण कहा है। देवका लक्षण प्रायः दण्डीके आधारपर है। अन्योंने मम्मटसे प्रेरणा ग्रहण की है। दासने 'साहित्यदर्पण'के अनुसार उद्धत अक्षरोके वर्णविन्यासका यह गुण माना है। उदा०— "मारिह चपेटन्हि डाटि दॉतन्ह काटि लातन्ह मीजही। चिक्करिंह मर्कट भालु छलवल करिंह जेहि खल छीजही" (रा० च० मा०, ६: ८१)। साहित्यमें वीर रसमें इसका प्रयोग हुआ, अतः हिन्दी वीरकाव्यमें इस गुणका विशेष प्रयोग है।

३. प्रसाद प्रसादका शब्दिक अर्थ तो है प्रसन्नता, खिल जाना या विकसित हो जाना किन्तु भरतके अनुसार जिसमे स्वच्छता, सरलता और सहजग्राद्यता हो, अर्थात् सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसादगुण कहलाता है (नाट्य०, १७:९८)। दण्डीके मतानुसार प्रसिद्ध अर्थीमे शब्दका ऐसा प्रयोग जिसे सुनते ही अर्थ समझमें आ जाय, प्रसाद है। वामनने प्रसादमे शैथिल्यकी विशेषता मानी है और यह बन्ध गाइत्वरूप ओज गुणका विरोधी है (काव्य० स्० ह०, ३:१:६)। प्रसाद गुणकी यह शिथिल्यता दोषरूपिणी नहीं है, वरन् ओजकी तुलनामें स्पष्ट करनेसे यह उसकी विशेषता प्रकट होती है (वही, ३:२:३)। ध्वनिके अनुयायी आचार्योके मतानुसार सभी रसीं

और सभी रचनाओं में ऐसा धर्म जो कि सामाजिकके हृदयमें भाव या अर्थकी शीघ्र व्याप्ति कर दे, प्रसाद गुण है। जैसे सूखे इन्धनमें अग्नि और जैसे स्वच्छ वस्त्रमें जल तुरन्त फैल जाता है, उसी प्रकार चित्तको रसों में और रचनामें जो तुरन्त व्यक्त कर दे, वह गुण प्रसाद है (का॰ प्र॰, ८: ७०: ७१)। इस प्रकार प्रसाद गुण वहाँ होता है, जहाँ सरल, सहज भावव्यंजक शब्दावलीका प्रयोग किया जाता है। अर्थकी निर्मलता या स्वच्छता इसकी विशेषता है। यह सभी रसों में व्याप्त रहता है।

हिन्दीके आचार्योने प्रायः मम्मट तथा विश्वनाथका अनुसरण किया है। चिन्तामणिके अनुसार प्रसाद गुणमे अक्षरोमे अर्थ इस प्रकार व्यक्त रहता है, जिस प्रकार ख्ले ईधनमें अग्नि और जलमें तरलता। कुलपतिने रचनारूपमें माना है। देवके लक्षणका आधार प्रायः दण्डी है। दासके अनुसार—"मन रोचक अक्षर परें, सो है सिथिल शरीर। गुण प्रसाद जलस्कि ज्यो, प्रघटे अरथ गॅमीर" (का०न०, १९)। उदा०—"वह आता, दो टूक कलेजेके करता, पछताता पथपर आता", 'निराला': भिखारी)। सभी युगोके श्रेष्ठ कियोने इसका प्रयोग किया है।

 ४. इलेप—इलेपका शब्दार्थ है मेल या जोड़। अनेक शब्दों, अथौं या वर्णीका एकमें संघटन(भरत: नाट्य०, १७: ९७)। यह दण्डी, वामन आदि आचार्योंके द्वारा ही कान्यगुण माना गया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि इसे पृथक् गुणके रूपमें स्वीकार नहीं करते है, वरन् ओजमें ही इसे समाविष्ट कर लेते है। लक्षणकी दृष्टिसे दण्डी और वामनकी शब्दावलीमें भी भिन्नता है। दण्डीके अनुसार गाढवन्थता अर्थात् रचनाका सघन संघटन क्लेष है। महाप्राण वर्णीके द्वारा भी यह विशेषता सम्पादित होती है। वामनके अनुसार गाढबन्धता ओजका गुण है। इलेषमे घटनाकी विशेषता होती है (कान्य० सू० वृ०, ३: २: ४)। क्रम अर्थात् अनेक क्रियाओंकी परम्परा, कौटिल्य, अनुरुवणत्व या प्रसिद्ध वर्णनशैली और युक्तिविन्यासका योग घटना कहलाता है। अतः इलेष गुणमे इन सभीका योग रहता है। जिसमें अनेक पद एक पदके समान भासित होते है, ऐसी आभायुक्त रचनाकी विशेषता इलेष कहलाती है। यह सन्धिसौष्ठव और मस्रणत्व ओज गुणमें समाहित माना गया है। इलेष गुण इलेषालंकारसे भिन्न है। वामन और दण्डीके क्लेष, समाधि और उदारता ओजके अन्तर्गत आ जाते है। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके गुणत्वका खण्डन किया है।

हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमे देव और भिखारीदासने इस
गुणको स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने भी तीन प्रमुख
गुणोंका उल्लेख किया है। दासके अनुसार:बहुतसे शब्दोंके
अर्थको समझानेके लिए उन्हे एक स्त्रमें आबद्ध करते
हुए 'समास' किया जाना यह गुण है। उदा०—"लिख
लिख सिख सारस नयन, इन्दु बदन घनस्याम। विज्जु
हास दारिम दसन विंवाधर अभिराम" (का० नि०: १९)।
भिखारीदासने समासके आधारपर इसके दीरघ, मध्यम
तथा लघु भेद किये है। इस गुणका प्रयोग स्र्र, तुल्सी,
जायसी आदि महाकवियोंने सफलतासे किया है। आधुनिक

कालमे इसका प्रयोग कम होता जा रहा है।

प. समता—समताका शब्दार्थ है समान, तुल्य या एक-सा होनेका भाव। भरतके अनुसार जहाँ रचनामे अधिक, असमस्त, कठिन तथा व्यर्थ पद न हो (नाट्य०, १७: ९९) । दण्डीके अनुसार बन्धो या रचनाओंकी एकरूपता है। बन्ध (रचना)के तीन प्रकार है—(क) मृद बन्ध, जिसमे अल्पप्राण अक्षरोंकी प्रचरता रहती हैं; (ख) स्फुट बन्ध, जिसमें कर्कश वर्णोंकी बहुलता रहती है; (ग) मध्यम बन्ध, जिसमे दोनों प्रकारके वर्णोंका मिश्रण रहता है। समतामे दोनोका सम्मिश्रण रहता है और औचित्यके साथ एकरस प्रयोग होता है। यह वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतसे मार्ग या रचनाशैलीका अभेद अर्थात् प्रारम्भसे अन्ततक एकरूपता समता है (काव्य० सू० वृ०, ३: १: १२) । समता अवैषम्य है । जिस शैलीमें रचनाका प्रारम्भ किया जाय, अन्ततक उसी शैलीका निर्वाह समता गुणकी विशेषता है (वही, ३:२:५)। जिसमे प्रक्रममे भेद न हो तथा सुगमता हो, वह गुण समना है। वामनके अनुसार यह अर्थगुण है। ध्वनिके अनुयायी आचार्योंके मतानुसार यह समताका गुण प्रसादके अन्तर्गत समाहित हो जाता है (मम्मट तथा विश्वनाथ आदि)। हिन्दीमें भी प्रायः ऐसा ही हुआ है, देव तथा दासने इसका वर्णन किया है—"प्राचीननकी रीति सों, भिन्न रीति ठहराइ" (का० नि॰, १९)। उदा॰—"मेरे दग कुवलयनको, होत निसा सानन्द। सदा रहे बज देस पै, उदित साँवरो चन्द" (वही, वही)।

**६. सुकुमारता**—सुकुमारताका शब्दार्थ है कोमलता। काव्यके अन्तर्गत इस गुणका समावेश वहाँ होता है, जहाँ रचनाके अन्तर्गत परुष अर्थात् कर्णकटु कठोर वर्णोंका परिहार तथा कोमल वर्णोंकी योजना होती है और इस प्रकार कोमलताके साथ सुकुमार भावनाकी अभिव्यंजना की जाती है (भरत: नाट्य०, १७:१०३)। इस गुणके प्रसंगमें दण्डी और वामनका लगभग एक समान हो मत है। दण्डीके विचारसे 'अनिष्ठराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते', अर्थात् अपरुष अक्षरोंकी योजनासे सुकुमार गुण आता है। यह दीप्तत्व गुणका विपर्यय है। वामनने भी रचनाकी अजरठता या अपरुषताको सौकुमार्य माना है— अजरठत्वं सौकुमार्यम्' या 'अपारुष्यं सौकुमार्यम्' (काव्य० स० वृ०, ३: १: २२ । ३: २: १२) । इस प्रकार परुषताका उलटा सुकुमारता है। जिसमें कठोरताका अभाव हो, वह रचना सुकुमारताके गुणसे युक्त मानी जाती है। यह सुकुमारता वैदर्भी रीतिकी विशेषता मानी गयी है। सुकुमारताके गुणका ध्वनिवादी आचार्योंने माधुर्य गुणमें समावेश कर लिया है (मम्मटादिने) । हिन्दीके आचार्योंने इसको स्वतन्त्र नहीं माना है । देवने इसका स्वतन्त्र विवेचन दण्डीके आधारपर किया है। दासने इसके स्थानपर पुनरुक्तिप्रकाशको रखा है। सम्भवतः उन्होंने इसके अलग अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया अथवा इसके विशिष्ट गुणको पुनरुक्तिप्रकाशमे स्वीकार किया है।

 अर्थन्यक्ति—अर्थन्यक्तिका शब्दार्थ है अर्थका प्रकाशन। जहाँपर शब्दों और पदोंके द्वारा समग्र अर्थकी

(लोक-घटनाकी) पूर्ण अभिन्यक्ति हो जाय, वहॉपर अर्थव्यक्तिका गुण माना गया है (भरत: नाट्य०, १७: १०४) । दण्डीके मतानुसार 'अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य', जिन पदोंके द्वारा अर्थ उद्दिष्ट अभिप्रायसे अन्यत्र न जा सके, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। दण्डीने इसे वैदर्भ और गौड, दोनों ही मार्गोंकी विशेषताके रूपमे यहण किया है। इसमे शब्दोंके नपे-तुले प्रयोगकी विशेषताकी महत्ता है। अभिप्राय-की सिद्धिके लिए जितने शब्दोंकी आवश्यकता होती है, उतने ही शब्दोका प्रयोग, न उतनेसे कम और न अधिक, इसमें वांछनीय है। वामनके विचारसे शब्दगुणके रूपमे अर्थकी स्पष्ट प्रतीतिके हेतुस्वरूप 'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थ-व्यक्तिः' (काव्य० सु० व०, ३:१:२४) तथा अर्थगुणके रूपमे वस्तु और भावोके स्वभावकी स्फुटता अर्थव्यक्ति होती है, 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थन्यक्तिः' (वही, ३:२: १४)। इस प्रकार अर्थन्यक्ति गुणके सम्बन्धमे मतभेद नहीं है। ध्वनिवादी आचार्योंके विचारसे यह अर्थत्र्यक्ति प्रसाद गुणके अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती है। हिन्दीमें देवने इसके लक्षणमें प्रायः दण्डीका अनुसरण किया है। दासने इस प्रकार लक्षण दिया है-"जासु अरथ अति ही प्रघट, वह न समास अधिकाइ। अर्थ 'व्यक्तगुन' बात ज्यों, बोलै सहज सुभाइ"। उदाहरण भी स्पष्ट है-- "इक टक हरि राधे लखे, राधे हरिकी और। दोऊ ऑनन इन्द्र औ, चार्यौ नैन चकोर" (का० नि०: १९)।

 उदारता—इसका तात्पर्य है व्यापकता, उत्कर्प, असंकीर्णता, प्रभावात्मकता । जिसके होनेसे प्रतिपाद्य अर्थमें उत्कर्षकी प्रतीति हो, वह औदार्यगुण है। भरतके अनुसार किसी रचनामें अलौकिक चरित्रोंका शृंगार तथा अद्भुत रसका उनसे सम्बद्ध अनेक अवस्थाओं में वर्णन होना (नाट्य०, १७:१०५)। दण्डीने अपने 'कान्यादर्श'में लिखा है—"उत्कर्धवान् गुणः कश्चित् उक्ते यस्मिन् प्रतीयते । तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः" जिस गुणके द्वारा उक्तिविशेष खिल जाती है, वह उदारताका गुण है। वामनके विचारसे रचनाका विकटत्व, जिसमे पदावली नाचती-सी जान पडती है, शब्दगत उदारता 'विकटत्वमुदारता' (काव्य० सू० वृ०, ३:१:२३) और जिसमें ग्राम्यत्वका अभाव हो, वह अर्थगत उदारता 'अग्राम्यत्वमुदारता' (वहीं, ३ : २ : १३) है । इस ग्रणके अन्तर्गत प्रांजल, सुष्ठ, संस्कृत शब्दावलीका प्रयोग अर्थके उत्कर्षके लिए होता है। कतिपय आचार्यीके विचारमें मनोरम, ललित एवं मंज़ल विशेषणोंका प्रयोग इस गुणमे होना चाहिये। इसका अन्तर्भाव माधुर्य गुणके भीतर माना गया है (मम्मट आदिके द्वारा) । हिन्दीके आचार्योंमें देवने-"जाहि सुनत ही ओजको दूर होत उत्कर्ष" (शब्दरसायन) इसका लक्षण दिया है। स्पष्ट ही 'जाहि सुनत' तथा 'उत्कर्ष' दण्डीके शब्द है, पर ओजके उत्कर्षके दूर होनेकी बात देवकी अपनी है। दासने "औरोंको समझनेमें कठिन होते हुए भी जो अन्वय केवल चतुरोंकी समझमे सरलतासे आ जाय" माना है। उदा०- "कॅदन अनेकन विधनके, एकरदन गनराइ। बन्दन जुत बन्दन करो, पुसकर पुंसकर पाइ'' (का० नि०, १९)।

कान्ति—कान्तिका शब्दार्थ है आभा, उज्ज्वलता और कमनीयता । भरतके अनुसार इसके अन्तर्गत श्रुतिमधुर तथा मनको प्रसन्न करनेवाली क्रीडाशीलताका वर्णन होता है (नाट्य॰,१७:१०६)। दण्डीका मत है कि जहाँ लौकिक अर्थका अतिक्रमण नहीं किया जाता और ऐसा स्वाभाविक वर्णन किया जाता है कि कान्त जगतको कमनी-यता व्यक्त हो, वहाँ कान्ति गुण होता है—''कान्तं सर्व-जगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्। तच्च वार्तामिधानेपु वर्णनास्वपि दृश्यते" । यह अत्यक्तिका विपर्यय रूप है और वैदर्भ मार्गकी विशेषता है। वामनके मतसे रचनाकी उज्ज्वलता या नवीनता जहाँपर है, वहाँपर कान्ति शब्दग्रण है (काव्य० सू० वृ०, ३ : १ : २५), परन्तु 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' अर्थात् जिस रचनामे शृगार आदि रस दीप्त होते है, वह कान्ति अर्थगुण है (वही, ३:२:१५)। जहाँ कवि नवीन कल्पनासे किसी वस्त या भावका उज्ज्वल प्रकाशन करता है वह कान्ति है। कान्तिका अन्तर्भाव ओज गुणमें माना जा सकता है, (मम्मट आदिने) । हिन्दीमें प्रायः इसी मतका अनुसरण किया गया है। देवके अनुसार "अधिक लोक मर्जादते, सनत परम सख जाहि। चारु बचन पै कान्त रुचि, कान्ति बखानत ताहि" (शब्दरसायन)। इसमे दण्डीके विपरीत लोकमर्यादाकी अपेक्षा कुछ विशेषता-का निर्देश है। दासने ऐसी रचनामें माना है, जिसके रुचिर शब्दोंका अर्थ 'न गूड, न प्रघट' हो, नागरिक हो तथा सुमति जनोंके द्वारा समझी जानेवाली हो। उदा०---"ये मूरति ध्यानमे लावनको सुर सिद्ध समूहन साथ मरे। बड भागिनी गोपी मयंकमुखी अपनी-अपनी दिसि अंक भरे ॥ (का० नि०, १९)।

१० समाधि - समाधिका अर्थ है सम्यक रूपसे आधान या उपचार, अर्थात एक वस्तुके धर्मका दूसरी वस्तुमे ठीक ढंगसे आरोपित करना। रचनाका विशिष्ट अर्थ, जिसे प्रतिशासम्पन्न व्यक्ति प्राप्त करते है (भरत: नाट्य०, १७: १००)। दण्डीके विचारसे जहाँपर लोकसीमाके अनुरोधसे अन्यके धर्मका अन्यत्र आरोप किया जाता है, वहाँ समाधि गुण होता है । दण्डीने लिखा है ?—''अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र टोक्सीम:नुरेधिर । सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्पृतो यथा" (१: ९३)। आरोह और अवरोहके निमित्तके रूपमें वामनने शब्दगुण समाधि माना है (काव्य० सू० वृ०, ३:१:१३)। जहाँ अचानक नही, वरन क्रमके साथ आरोहके बाद अवरोह हो, वहाँ समाधि गुण है (वही, ३:२: ७)। अर्थ-समाधि गुण अर्थ-दृष्टिके रूपमें है। जहाँ किव या तो अकारण किसी नवीन अर्थका दर्शन करता है अथवा उसे दूसरे कविके काव्यकी छायासे नवीन अर्थकी दृष्टि प्राप्त होती है, वहाँ अर्थगत समाधि गुण है। ध्वनिवादी तथा कुछ अन्य आचार्यीने इसके गुणत्वपर शहा की है और इसे अलग गुण नहीं माना (मम्मट) आदिने)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसी मतको माना है। देवने समाधिका लक्षण दण्डीके आधारपर दिया है, पर 'लोक सींव उलंधे अरथ' कहकर भाव उलट दिया है। दासका लक्षण वामनके निकट है। उदा०—"वर तरुनिनके बैन सुनि, चीनी चिकत सुभाइ। दुखित दाख मिसरी मुरी,

स्था रही सक्चाइ" (का० नि०, १९)। --- भ० मि० गणपर्व-पातंजल 'योगसूत्र'के अनुसार विशेष, अविशेष, लिंगमात्र एवं अलिंगको गुणपर्व वहा गया है (२, १९)। विशेषका अर्थ है 'जो मामान्यतया बहुतोमें नहीं होता । नीला, पीला, खड़ा, मीठा, कडवा, कसैला आदि भेदीवाले द्रव्य 'विशेष' है। इसीलिए सोलह भतेन्द्रिय विकार-नाक, कान, ऑख, जिह्ना और त्वचा नामक पाँच ज्ञाने निर्यां—मख, हाथ, पैर, पाय(गदा) एवं उपस्थ नामक पाँच कर्नेन्द्रियो. ग्यारहवी इन्तिय मन तथा पाँच अस्मिताओ-की पारिभाषिक संज्ञा 'विशेष' है। विशेषको ज्ञान्त. अर्थात सुखकर, घोर अर्थात दुखकर एवं मूढ अर्थात् मोहजनक बताया गया है। इसके विपरीत 'अविशेष' है, जो बहत कार्योंका साधारण उपादान है। 'अविशेष' नीला-पीला, खद -मोठा आदि भेदोंसे रहित है। यह शान्त, घोर और मढ भावोंसे शन्य है। ऊपर बनाये गये सोलह भतेन्द्रिय विकारोकी छः प्रकृतियोको अविशेष कहते है। लिंगमात्र महत्तत्त्वको कहते है। लिंगका अर्थ गमक किया जाता है। महत्तत्त्व आत्माका गमक है, अतः यह उसका लिंग है। इसीलिए इन्द्रियादिको परुष या प्रकृतिका लिंग है। वै ते लिंग सम्पूर्ण वस्तुओंका ब्यंजक है। विज्ञान भिक्ष-ने लिंगमात्रका अर्थ हो किया है तन्मात्र । अलिंग प्रकृति है। प्रकृति कसीका लिंग नहीं है, क्योंकि इसका कोई 'करण' नहीं हैं--"न वा किंचिल्लिगयति गमयतीति अलिंगम्"। 'लीनं गच्छतीति लिंगम'के अनुसार जिसमे सब कुछ लीन हो जाय, वह लिग है, अतः अलिग वह हुआ जो और लय नहीं होता। यही विशेष, अविशेष, लिगमात्र और अलिंग गुणपर्व कहलाते हैं (विस्तृन विवरणके लिए दे॰ 'पातंजल योग दर्शन', हिन्दी अनुवाद. सं० भगीरथ मिश्र एवं अन्य, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्र० १४८-१५६)। <del>---</del>रा० सि०

गुणसंप्रदाय-वह सम्प्रदाय, जो कान्यके अन्तर्गत गुणोंको सर्वोत्कृष्ट महत्त्व प्रदान करता है, गुणसम्प्रदाय है। यह रीति सम्प्रदायके अन्तर्गत है, क्योंकि रीति-सिद्धान्त गुणपर ही आश्रित माना गया है, जैसा कि वामन(९ श० ई० मध्य)का स्पष्ट मत है 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। 'विद्योषो गुणात्मा' (काव्य० सू० वृ०, १:२: ७,८)। अतः रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हुए भी जो गुणको विशिष्ट महत्त्व देते है, वे ही गुणसम्प्रदायके आचार्य माने जाने चाहिये। भिन्नतया 'गुणसम्प्रदाय'का कोई अलग सिद्धान्त नहीं माना गया। अतः गुणसम्प्रदायकी अलग कोई सत्ता भी नहीं मानी जाती। परन्तु काञ्यमे गुणको जिन आचार्योंने विशेष महत्त्व दिया, वे ही गुणसम्प्रदायके अन्तर्गत माने जा सकते है। इन आचार्योंमे दण्डी (७ श० ई०) और वामन प्रमुख हैं। दण्डीने यद्यपि अलंकारकी महत्त्व दिया, फिर भी वे मार्ग या रीतिके निरूपणमे गुण-को महत्त्वपूर्ण स्थान देते है। उनकी दृष्टिसे वैदर्भी कान्यकी उत्तम शैली है और उस शैलीके प्राण दस गुण हैं ('इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश्गुणाः स्मृताः') । वामनने तो गुणों-को कान्यका सर्वस्व ही माना। उन्होने स्पष्ट कहा है कि "कान्यशोभायां कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्व- लंकाराः" (वही, ३:१:१,२), अर्थात्र कान्यकी शोमा करनेवाले धर्म गुण हैं और उसको अधिक उत्कर्ष देनेवाले अलंकार है। मार्गनिरूपणके प्रसंगमे कुन्तक (१०,११ श० ई०)ने भी गुणोको महत्त्व दिया है। उनका सहज- सुकुमार मार्ग उनके द्वारा निरूपित माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य, चारो विशिष्ट गुणोले सम्पन्न रहता है। परन्तु यह गुणोको धारणा वामनके गुणोसे भिन्न है। वामन गुणोको कान्यका नित्यधर्म मानते है। अतः 'गुण- सम्प्रदाय'के प्रधान आचार्यके रूपमे वामनको ही मानना चाहिये। बादके आचार्योने रीतिके विवेचनमे गुणको अपेक्षा समासके आधारपर अधिक वल दिया, अतः रीतिका वर्णन करते हुए भी वे गुणसम्प्रदायके माननेवाले नहीं कहे जा सकते। हिन्दीमे किसी आचार्यने गुणको इस प्रकारका महत्त्व प्रदान नहीं किया।

—भ० मि०
गणातीता—दे० 'गोपी'।

गुणावतार — जब भूमा पुरुष प्रकृतिके गुणोंको श्रीविमह बनाकर आविभूत होता है तब उसे गुणावतार कहते है। त्रिदेव — ब्रह्मा, विष्णु और महेश — गुणावतार कहलाते है। — वि० मी० श०

गुणीभृत व्यंग्य-जहाँ व्यंग्यसे सम्बन्ध होनेपर वाच्यका चारुत्व अधिक प्रकर्षयक्त हो जाता है, वह गुणीभूत व्यंग्य नामका कान्यका दूसरा भेद होता है ("प्रकारोऽन्यगुणीभत-व्यंग्यः काव्यस्य ६३यते । यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्"—हि० ध्व०, पृ० ३८९)। इसे मध्यम काव्य कहते है, क्योंकि इसमे व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलनामे गौण, अर्थात् अप्रधान हो जाता है। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्यके उदाहरण बहुधा मिले-जुले रहते है, किन्तु अप्रधानताकी दृष्टिने ही दोनोंमे अन्तर कर लिया जाना है—जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान हो, वहाँ ध्वनि और जहाँ वह अप्रधान हो, वहाँ गुणीभत व्यंग्य होता है। इसोलिए ध्वनिकारकी स्थापना है कि "यह गुणीभून व्यंग्यका प्रकार भी रस आदिके तात्पर्यका विचार करनेसे फिर ध्वनि हो जाता है" ("प्रका-रोऽयं गुणीभृतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम् । धत्ते रसादितात्पर्य-पर्यालोचनया पुनः"-हि० ध्व०. पृ० ४०९) । व्यंग्यार्थ अगृद्ध, अपरांग, वाच्यसिद्धचङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्धप्रधान, तुल्यप्रधान, काकाक्षिप्त तथा असुन्दर होनेके कारण गौण हो जाता है। इसीलिए गुणीभृत व्यंग्यके उक्त आठ भेद माने गये है। ध्वनिके शुद्ध एवं संकीर्ण भेदोके साथ मिलनेसे गुणीभृत व्यंग्यके अनेकानेक भेद सम्भव है। - उ० इं। इन्। ग्रप्ता (नायिका)-परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद; विशेषके लिए दे॰ 'नाथिका-भेद'। सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा उल्लिखित। परपुरुषके प्रेमको छिपानेवाली नाथिका, विशेषकर चतुराईसे छिपानेकी चेष्टा करती है। भूतगृहा अथवा वृत्तसुरतगोपना-व्यतीन घटना और इसके अवशेष चिह्नको छिपानेवाली नायिका। इस गोपनमें नायिकाका वचन-चातुर्थ देखने योग्य है-"चुनत फूल गुलववा डार कटील। द्वटिगो बन्द ॲंगियवा फटि पट नील।" (रहीम: बरवै॰, ३०)। कभी वह अपने चिह्नोको छिपाती है-"मोहि झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी तोरि डारी कसनि बथोरि डारी बेनी त्यो।" (पद्माकर:

जगद्विनोद, १:८८)। उसका कहना है कि यह सब राधाने होली खेलनेमें किया है। कभी सात्त्विक अनुभावोंको भी छिपाया गया है—"रोम उठे तन कंप छुटै मतिराम भई श्रमकी सरसाई।" (रसराज, ६८।) मतिरामकी नायिका डरनेको व्याज बनाती है। भविष्यद्गुप्ता अथवा वर्ति-प्यमाण स्रत्गोपना-होनेवाली घटनाको पहलेसे छिपाने-का चातुर्य करनेवाली नायिका। रहीमकी नायिकाकी सरलतामें चातुर्यकी गहरी व्यजना है—"जैहौ चुनन कुसुमिऑ खेत बड़ि दूर। नौवन केरि छोहरिया मुहि संग कूर।" (बरवै०, १६) । बेनीप्रवीनकी नायिकाकी इस युक्ति-में कितनी चतुराई है—''नेह कै जोही पठावती है करिहै फिर तेहि भरी विपु बातें।" (मीतल : ब्र॰ भा॰ नायिका॰, २: ३१८) । इसके उदाहरणोमें वचन-चातुर्व अधिक है। वर्तमान गुप्ता अथवा भविष्य सुरतगोपना-इस भेद-को भानुदत्तने वृत्तवर्तिष्यमाण कहा है, जिसका भाव भिन्न है। यह नाथिका अपनी प्रेमविषयक वर्तमान स्थितिको चातुर्यसे छिपानेका प्रयत्न करती है। परिस्थितिसे रक्षा कर लेनेका भाव प्रधान रहता है—'इन्हें भेंटती भेटिहौं तोहिं अली भयौ आज़ तौ मो अवतार नयौ।" अथवा—"चिरजी-वहि नन्दकौ बारो अरी गहि बॉह गुविन्दने ठाढ़ी करी।" (दास तथा मण्डन, वही: २: ३२०, ३२१)।

गुरु — लगभग समस्त मध्यकालीन धर्म-साधनाओं में गुरुका महत्त्व बहुत अधिक माना गया है। सम्भवतः यह तान्त्रिक युगका अवशिष्ट प्रभाव था, क्योंकि जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, सभी सम्प्रदायों जब गुद्ध साधनाओका समावेश हुआ तो गुरुकी स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण होती गयी, क्योंकि साधनाकी प्रकृति दुरूह थी और अज्ञानी साधकको गुरुका निर्देशन आवश्यक था। साथ ही विद्वानोंका कथन है कि तन्त्र-सम्प्रदाय नये सम्प्रदाय थे, अतः अनुदार पुराने आचायोंकी तुलनामे अपने सम्प्रदायोंके आचायोंको प्रतिष्ठित करनेके लिए भी सहसा गुरुको अत्यधिक श्रद्धासे मण्डित किया जाने लगा था। यह प्रतिइन्द्रिता कभी-कभी जातीय और प्रादेशिक आधारपर भी चलती थी (दे० 'स्टडीज इन तन्त्राज': प्रवोधचन्द्र वागची)।

सन्तों और नाथों पूर्ववर्ती सिद्धोंने गुरुको अधिक महत्त्व दिया था। यह प्रवृत्ति बौद्ध धर्ममें पहले नहीं थी। कहा जाता है, एक बार बुद्धसे पूछा गया कि उनका गुरु कौन है तो उन्होंने कहा कि उन्होंने अपने अभिज्ञानसे सब प्राप्त किया, उनका गुरु कौन है ? किन्तु 'गुह्य समाजतन्त्र'-में प्रत्येक तथागतका गुरु एक वज्राचार्य बताया गया है, जिसकी पूजा वे स्वतः करते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार सिद्धोंने गुरुकी महिमाका गान किया है। तिछोपा कहते हैं कि समस्त लोक तथा पण्डितोंके लिए भी जो अगम्य है, पर श्रीगुरुपादके प्रसन्न होनेपर कौन ऐसी वस्तु है, जो अगम रह जाय (दोहाकोष: तिल्लोपा)। अद्धयवज्रके 'प्रेम-पंचक'-में गुरुको दूती कहा गया है, जो प्रज्ञा तथा उपायकी मध्यस्थता कर दोनोंका मिलन सम्पन्न करा देता है।

नाथों और सन्तोमें यह प्रवृत्ति बरावर चली आयी है, किन्तु नाथों और सन्तोंके गुरुमें एक अन्तर है। नाथोंका गुरु योगसाधनाका ज्ञाता है, सन्तोंका गुरु वैष्णव प्रतीत होता है और वह शब्द-सुरितके साथ-साथ हिरभक्ति और प्रेमसाधनाका भी उपदेश देता है। नाथपन्थी बानियों में अवश्य कई स्थलों पर ऐसा झात होता है कि शिष्य गोरखनाथ अपने गुरु मच्छीन्द्रनाथको उपदेश दे रहे हैं। पर यह सम्भवतः उस घटनाकी स्मृति है, जिसमे किंवदन्तियों के अनुसार कहा जाता है कि गोरखने योगिनियों के जालसे मच्छीन्द्रको मुक्त कराकर तान्त्रिक अनुष्ठानोंका बहिष्कार किया था।

किन्तु सभी पद्धतियोंने यह माना है कि जो निगुरा है या गुरुहीन है, उसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं हो। सकती, पर साथ-ही-साथ उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि अज्ञानी शिष्यको यदि अज्ञानी गुरु मिल गया तो वे दोनों विनष्ट हो जाते हैं (दे॰ 'सेवा'--गुरु-सेवा)। --ध॰ वी॰ भा॰ गृह्य साधना - तन्त्रोंके उदयकालमे ऐसी धर्म-साधनाओंका आरम्भ हुआ, जो परम्परागत साधनाओं सर्वथा पृथक थी। उनमे मैथुन-साधनाका जो महत्त्व था, उसके कारण इनका प्रवल विरोध हुआ होगा, अतः ये साधक छिपकर साधनाएँ करते थे । हिन्दू, बौड, जैन, सभी धर्मों के तान्त्रिक यन्थोमें इस बातपर बल दिया गया है कि इन साधना-प्रणालियोंकी बिलकुल गुह्य रखना चाहिये और प्रकट कर देनेपर इनका निष्फल हो जाना बताया गया है। इसीलिए इन्हे गुह्य साधना कहा जाने लगा। इनके सिद्धान्तोका विवचन भी प्रतीकोके द्वारा किया गया है, ताकि सिवा सम्प्रदायमे दीक्षित साधकोंके अन्य लोग उसका अर्थ न समझ पाये। इस भाषाको गुद्ध वाणी कहा जाता था और तान्त्रिक अनुष्ठानोंका बहिष्कार होनेपर भी सन्तोंतक इस गुद्ध भाषा या 'गुह्य बानी'की परम्परा चली आयी है। बौद्ध सिद्धा-चार्योंमें प्रज्ञोपाय युगनद्भकी साधनाको गुह्य साधना कहते थे। इसमें हठयोगके द्वारा चित्तका विशोधन किया जाता है-अन्दर श्वासका निरोध कर और बाहर मुद्राके साथ समागमके द्वारा। दोनों साधनाएँ एक-दूसरेका समर्थन करती चलती हैं। विभिन्न क्षणोंमे विभिन्न मुद्राओंसे युगनद्ध स्थापित कर विन्दुको ऊर्ध्वमुखी कर विभिन्न चक्रोंमें धारण किया जाता है। --- ध० वी० भा० गृढच्यंग्या लक्षणा - मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों-ने रुक्षणाके गौणी तथा शुद्धा आदिक मेदोंको गूढ़ तथा अगृढ न्यंग्यके रूपमें स्वीकार किया है। इसमें न्यंग्यरूप अर्थ केवल काव्य-मर्मज्ञों द्वारा ही वस्तृतः ठीक-ठीक ग्रहण किया जा सकता है। "चालेकी बातें चली, सुनति सखिन के टोल । गोपे हू लोयन हँसत, बिहँसत जात कपोल" (का॰ द०, पृ० ३८)। बिहारीके इस दोहेमें 'लोयन हॅसत' तथा 'बिहँसत जात कपोल'में गौणी सारोपा गूढ़व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है, हर्षोल्लास एवं लब्बाकी व्यंजनासे नायिकाका 'मध्या' होना व्यंजित होता है। सामान्य जन इसे सुगमतासे नही समझ पाते, इसी कारण यह व्यंजना गूढा है। — ভ০ হাঁ০ হা০ गूढोक्ति - गूढार्थ-प्रतीतिवर्गमें यह अलंकार माना जा सकता है। अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका उल्लेख किया है। उनके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—

"गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेबदन्यं प्रति कथ्यते" (कुवलयानन्द,

८७, पू० १७०), अर्थात किसी व्यक्तिके प्रति कहनेवाली बातको(लोक-लाजवरा) अन्य व्यक्तियोंकी उपस्थितिके कारण उससे न कहकर किसी तीसरे व्यक्तिसे कहा जाय तो गृढोक्ति अर्थात् गुप्त उक्ति अलंकार होता है। चमत्कार यह होता है कि उस बातको वह व्यक्ति समझ ही लेता है. जिसके लिए वह कही जाय । उदा०-"वृष ! अपेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः" (वृष = बैरु; ध्वनित कामुक । क्षेत्र = सस्यादि-वाला क्षेत्रः ध्वनित पत्नी) । 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्यांने इसीके आधारपर लक्षण दिया है-"कहिबेको कछ औरसों, कहै औरसों बोल"। अथवा-"अभिप्राय जुग जह कहिय, काहसीं कछ बात'। (का॰ नि०, १६) । उदा०—"यौ न प्यार विसराइये, लई मोहिं तै मोल। मुख निरखत नॅदलालको, कहै सखीसों बोल।' (ल० ल०, ३६१)। अथवा-"पहिले ही मराल मयर चकोर मिलिन्दनको मँडरावनो है। हॅसि बोली अली भली मैथिलीकी फिरि काल्डि इते संग आवनो है" (लिछिराम: अ० मं०)। जनकपुरको फुलवारीमें सीताजीके साथ सखी रामचन्द्रजीते यह कहना चाहती है कि वे कल वहाँ फिर आयेंगी, पर अन्य लोगोसे यह छिपानेके लिए वह आपसमे एक दूसरी सखीने ऐसा कहती है।

अप्पय दीक्षितने इस अलंकारको अप्रम्तुत-प्रशंसा अलंकारसे भिन्न बताया है, क्योंकि यहाँपर कार्यकारणका व्यंग्य नहीं है, न यह दलेषमात्र है, क्योंकि यहाँपर अन्य लोगोंने छिपानेके लिए चमत्कृत शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। वास्तवमें 'काव्यप्रकाश'की व्याख्या 'उद्योत'के लेखकने वहा है कि गूढोक्ति ध्वनिकाव्य है, क्योंकि अलंकारमे तो व्यग्यार्थकी अभिव्यक्ति होती है, अर्थकी व्यंग्य ध्वनि नहीं। —ज० कि० व०

गृहिणी-दे॰ 'महासुद्रा'।

रोय काव्य-सामवेदकी संहिता 'आचिक और गेय' भागोंमे विभक्त है। गेय भाग यज्ञकालमें गाया जाता था। नाट्यो-त्पत्तिके प्रकरणमे कहा गया है कि संगीतका भाग सामवेदसे लिया गया (नाट्य-शास्त्र, १:१७)। पाणिनिने सामकी गेयताका उल्लेख किया है (गेयो माणवकः साम्नाम्-- ३: ४: ३८)। यज्ञकालमे गान करनेवाले न्यक्ति होते थे, जिनकी उदगाता संज्ञा थी। 'छान्दोग्योपनिषद'में सामो-पासनाके प्रसंगमें उदगाताको गानादिका उपदेश दिया गया है (अध्याय २, खण्ड २२)। इस प्रसंगमे प्रधान वैदिक देवताओसे सम्बद्ध गानका विधान है और उनके लक्षणोंका निरूपण है। सोमगानको निरुक्त और स्पष्ट तथा वायुदेव सम्बन्धी गानको मृदु एवं इलक्ष्ण कहा गया है। सामगानके प्रकरणमे स्वरो और वर्णीके उच्चारणींका जो निरूपण है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सामगान गेय पद थे, अर्थात् अर्थ और संगीततत्त्व, दोनोंकी समान भावसे रक्षा की जाती थी। वैदिक साहित्यमे गेय पद स्तुतिपरक थे और इनका क्रमिक विकास होता रहा। सामवेदके उपवेदकी संज्ञा गान्धर्व है, जिसके लिए विधान है-"पदरय स्वरसंघातस्तालेन संगतस्तथा। प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्व-मिभिधीयते ॥"। गेय पदोंने 'ध्रुवक' होता है। ध्रुवकके सम्बन्धमे 'रागार्णव'में कहा गया है-" न विवेकं विना ज्ञानं, ध्यानं नात्र रसं विना । श्रद्धया न विना दानं न गानं श्रुवकं विना ॥" जिसे बादमें चलकर ध्रुव, टेक कहा गया । 'आदि अन्थ'में टेकके स्थानमें 'रहाउ' शब्दका प्रयोग हुआ है । 'चर्याचर्यविनिश्चय'में प्रथम गीत लुईपाका 'राग पटमंजरी'में है, जिसकी आदि पंक्ति है—"काआ तरुवर पंच विडाल चंचल चीए पहठो काल" । गेय पदोंका क्रम गोरखनाथसे प्रारम्म हुआ और भक्तिकालीन साहित्यमे पहुँचा । कबीर, सूर, तुलसीके पद गेय काव्य है । उनका क्रम विभिन्न रागोके अन्तर्गत रखा गया है । कुछ ऐसे राग है, जो शास्त्रीय नहीं है । कुछका सम्बन्ध देश-विशेषसे हे और कुछका विषय-विशेषसे । गेय काव्यमें काव्य और गेयताकी समप्रधानता रहती है । प्रारम्भमे वाद्यकी अपेक्षा थी, किन्तु अब इसकी संगति अपेक्षित नहीं रहीं । गीतिमें जहाँ अन्तर्निहित संगीतकी मुख्यता रहती है, वहाँ गेय पदमे संगीतके वाह्य विधानकी अपेक्षा ।

नाट्यशास्त्रमें लास्यके ग्यारह अंगोंका वर्णन किया गया

है, जिनमें एक अंग है गेय पद और इसमें वीणा आदि संगीतके उपकरणों, अर्थात वाद्योको सामने रखकर सांगोपांग विधिसे कोई नारी अपने प्रियतमके गुणोंका शुष्क गान -रा० खे० पा० गोचारण-काव्य (ग्राम्य काव्य) - गोचारण-काव्य पाश्चात्य साहित्यका एक प्रमुख और अत्यन्त प्राचीन काव्यरूप है। यद्यपि गोचारण-कान्यके भीतर प्रत्युत्तरकान्य (एकलॉग), ब्राम्य गीति (इडिल, पेस्टोरल लिरिक), ब्राम्य शोकगीति (पेस्टोरल एलिजी), ग्राम्य कथाकाव्य (पेस्टोरल रोमांस), ग्राम्य नाटक (पेस्टोरल जामा), ग्राम्य प्रशस्तिकाच्य (पेस्टोरल पेनेजेरिक), ग्राम्य महाकाच्य (पेस्टोरल एपिक) आदि अनेक काव्यरूपोका विकास हुआ, पर सभी प्रकारके गोचारण या माम्य काव्यकी सामान्य और स्थिर विशेषता यह है कि उसमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नागरिक और ग्राम्य जीवन तथा उसके परिवेशका अन्तर दिखाना ही प्रमख उद्देश्य होता है। गोचारण-काव्यका अर्थ लोकगीत या मौखिक रूपमे प्रचलित ग्रामीण जनताका परम्परागत काव्य नहीं है। इसके विपरीत वह शिष्ट नागर समाजके कवियों द्वारा रचित काव्य होता है, जिसमे दरबारी या नागर परिवेशमे रहनेवाला कवि ग्राम्य जीवनकी ताजगी. जीवन्तता और वातावरणको विविध शैलियोमे अभिव्यक्त करता है। गोचारण-कान्य लिखनेवाला प्रथम कवि युनानका थियाक्रिटस (२८० ई० पू०) था, जिसने भेड़ चरानेवालोंको पात्र बनाकर उनके संलाप या स्वगत-भाषणके रूपमे काव्य-रचना की थी। तबसे अबतक सारे यूरोपमें किसी-न-किसी रूपमें उसीकी दौली या विषयवस्तुका अनुकरण करके

भारतीय साहित्यमें गोचारण-काव्य नामक किसी स्वतन्त्र काव्यरूपकी परम्परा नहीं मिलती, यद्यपि माम्य वातारण और पशुचारण करनेवाली जातियोंके जीवनसे सम्बन्धित काव्यका यहाँ भी नितान्त अभाव नहीं है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यमे आभीरों और गोपोके जीवनसे सम्बन्धित तथा माम्य परिवेशका चित्रण करनेवाला पर्याप्त काव्य मिलता है। हेमचन्द्रके प्राकृतव्याकरणमें अपभ्रंशको

गोचारण-काव्यकी रचना होती आयी है।

संगृहीत दीपोंमें गोचारण-काव्यका सुन्दर उदाहरण मिलता है। हिन्दीमें स्रदासके पदों, विहारीके दोहो, रसखानके छन्दों और रीतिकालके कुछ कवियोकी कवितामे ब्रज, विशेष रूपसे वृन्दावनके परिवेश और गोप या आभीर जातिके जीवनका बहुत ही स्वामाविक और विवृत चित्रण मिलता है। ऐसे काव्यको गोचारण-काव्य तभी माना जायगा, जब कि गोचारण-काव्यका व्यापक अर्थ लिया जाय। यूरोपीय ढंगके गोचारण-काव्य या प्रत्युत्तर-काव्यका प्रतिरूप हिन्दी साहित्यमें खोजना व्यर्थ है, क्योंकि यहाँ उसे स्वतन्त्र काव्यरूप माना ही नहीं गया और न कवियोने जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक उस प्रकारका काव्य ही लिखा है।

गोप-सखा-दे॰ 'गोपी'। यह बताया गया है कि गोपीभाव-की भक्ति अपनेको सखीरूपमें कल्पित करके की जाती है। उसी प्रकार सखा-भावकी भक्तिमें भक्त अपनेको श्रीकृष्ण-के गोप-संखाके रूपमें कल्पित करता है। श्रीकृष्णकी बाल्य और कैशोर लीलाके सङ्गी गोप सखा वयःक्रमके अनुसार तीन प्रकारके माने गये है। कुछ गोप अवस्थामे तिनक बड़े है, परन्त फिर भी वे मैत्रीके भावसे गोचारण और तत्सम्बन्धी क्रीडा-विनोद आदिमे श्रीकृष्णके साथ रहते है। हलधरका वात्सव्य-मिश्रित संख्य प्रेम इन संखाओंका प्रतिनिधि-भाव कहा जा सकता है। इन सखाओकी रुचि श्रीकृष्णकी उन लीलाओं अपेक्षाकृत अधिक रहती है, जिनमें उनका पराक्रम प्रकट होता है तथा वे दुष्टोंका संहार करके सखाओकी सुरक्षा सम्पादित करते है। ये वयस्क सखा श्रीकृष्णकी राधा और गोपी सम्बन्धी निकुंज-लीलामें सम्मिलित नहीं होते । श्रीकृष्णसे अवस्थामें छोटे सखा भी गोकुलकी गलियों, यमुनातट, वन-प्रान्त और गोचारणकी विनोदपूर्ण क्रीडा, कन्दुक-चेलि, छाक आदि तथा माखन-चोरी लीलामें तो सम्मिलित होते है, परन्त गोपियोंके काम-भावकी प्रेम-क्रीडासे उनका कोई सम्पर्क नहीं रहता। श्रीकृष्णके प्रति वे मैत्रीके साथ श्रद्धा और गौरवका भाव भी रखते हैं। तीसरे प्रकारके गोप-सखा वे है, जो श्रीकृष्णके समवय, समशील और समन्यसन है। वे उनके अन्तरंग सखा है और उनकी प्रत्येक लीलामें उनका साथ देते है। उन्हें राधा और इयामके अभिन्न अनुरागका भी परिचय है तथा वे पनघट, दिधदान तथा निकंज-लीलामे काम-भावसे उद्वेलित गोपियोको परितष्ट करनेमें अपने प्रिय सखाकी सहायता करते है। इन्हीं सखाओं मे प्रेमकी वह स्थिति दिखायी गयी है, जो संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओमें अनन्य भावसे क्रियाशील रहती है और भक्ति-धर्मकी भावात्मक पूर्णताको प्राप्त करती है।

गोप-सखाओं के कुछ नाम 'विष्णु' और 'श्रीम झागवत' पुराणों में भी दिये गये है। परन्तु 'प बा' और 'श्रह्म वैवर्त' पुराणों से उनकी एक लम्बी सची बनायी जा सकती है। पृष्टिमागींय साहित्य, विशेषतः 'स्रसागर' में भी अनेक छोटे- बड़े और समवय सखाओं के नाम मिलते है तथा गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके माहित्यमें नामों साथ उनका वर्गांकरण और विवेचन भी दिया गया है। इन्हीं आत्मीय सखाओं में आठ विशिष्ट सखा पृष्टिमागों अष्ट्रसखा नाम अभिहत

हैं, जिनके भावकी अनुरूपता अष्टछाप कियों में देखी जाती हैं (दे०—'अष्टसखा')। — न्न० व० गोपी—क्रम्बेदमें विष्णुके लिए प्रयुक्त 'गोप', 'गोपित', और 'गोप' राब्द गोप-गोपी-परम्पराके प्राचीनतम लिखित प्रमाण कहे जा सकते हैं। इन उरुक्रम त्रिपाद क्षेपी विष्णुके तृतीय पाद क्षेप—परमपदमे मधुके उत्स और भूरिश्यंग अनेक सीगोंवाली गउँ हैं (क्रम्द, १:१५५:५)। कदाचित् इन गउओके नाते ही विष्णुको गोप कहा गया है। इस आलंकारिक वर्णनमे अनेक विद्वानो, यथा मेकडानेल, ब्लूम-फील्डने विष्णुको सूर्य माना है, जो पूर्व दिशासे उठकर अन्तरिक्षको नापते हुए तीसरे पाद क्षेपमे आकाशमे फैल जाता है। कुछ लोगोने यह नक्षत्रोको ही गोपी कहा है, जो सूर्य-मण्डलके चारों ओर घूमते हैं।

परन्तु गोपी शब्दकी प्रतीकात्मक व्याख्या कुछ भी हुई हो, इसका साधारण अर्थ पशु-पालक जातिकी स्त्री है और यही अर्थ न केवल इसका मूल अर्थ है, बल्कि अनेकानेक धार्मिक व्याख्याओके बावजूद काव्य और साधारण व्यवहार, दोनोंमे निरन्तर समझा जाता रहा है। पशुपालक आभीरो या अहीरोंकी जाति परम्परासे कीडा-विनोदप्रिय आनन्दी जाति रही है। इसी जातिके कुलदेव गोपाल कृष्ण थे, जो प्रेमके देवता थे, अत्यन्त सुन्दर, ललित, मधर-गोपियोके प्रेमाराध्य । ऐसा जान पडता है कि इस जातिमे प्रचलित कृष्ण और गोपी सम्बन्धी कथाएँ और गीत छठी शतांब्दी ईसवीतक सम्पूर्ण देशमे प्रचलित होने लगे थे। धीरे-धीरे उन्हें पुराणोंने सम्मिलित करके धार्मिक उद्देश्यपरक रूप दिया जाने लगा। दक्षिणके भागवत धर्म (दे०) आल्वार भक्तिके गीतोमें गोपी-कृष्ण-लीलाके अनेक मनोहर वर्णन मिलते है। कान्यमे सबसे पहले 'गाहा सत्तसई' (गाथा-सप्तशती)मे गोपी और उनमे विदिष्ट नामवाली राधा तथा कृष्णके मिलन-विरह सम्बन्धी प्रेम-प्रसंग सर्वथा लौकिक सन्दर्भमे वणित मिलते है। ऐसा जान पड़ता है कि गोपी-कृष्णकी कथाके अनेकानेक प्रसंग लोक-कथाओ और लोक-गीतोंके रूपमें देशभरमें प्रचलित रहे होंगे। इन कथाओ और गीतोंके भाव तथा प्रसंग साहित्यमें भी यदा-कदा अभिन्यक्ति पाते रहे होंगे, जिसके बहुत थोड़ेसे प्रमाण दोष रह गये है। कदाचित् साहित्यके इस अंशको शिष्ट जनोंमें अपेक्षाकृत कम महत्त्व मिला और इसी उपेक्षाके कारण यह नष्टप्राय हो गया । जो हो, संस्कृतमं 'गीतगोविन्द' (बारह-वी शती)में उसका वह रूप मिलता है, जो आगे चलकर भाषा-काञ्यमें विकसित हुआ। 'गीतगोविन्द' और विद्या-पतिको 'पदावली'से इस बातका अनुमान लगाया जा सकता है कि गोवी-कृष्ण और राधा-कृष्णकी कथाका लोक-साहित्य उस समय भी भाव-लालित्यकी दृष्टिने कैसा सम्पन्न और मनोहर रहा होगा।

मध्ययुगमे कृष्ण भक्ति-सम्प्रदायोंने पुराणों, मुख्य रूपमें श्रीमद्भागवतका आधार लेकर गोपी-कृष्णके प्रेमाख्यानको धार्मिक सन्दर्भमें आध्यात्मिक रूप दे दिया और गोपी, गोपी-भाव तथा राधा-भावकी अत्यन्त गम्भीर और रहस्यपूर्ण ज्याख्याएँ होने लगी। निश्चय ही इन ज्याख्याओं मूलाधार पुराण ही है, परन्तु उनके विवरण और विस्तार कहीं-

कहीं स्वतन्त्र रूपमें कल्पित किये गये जान पडते हैं। उनका प्रयोजन प्रतीकात्मक है।

'महाभारत'मे गोपियोके सम्बन्धमे कोई आध्यात्मिक व्याख्या नहीं मिलती। हरिवंशमे, जिसे महाभारतका 'खिल' कहा जाता है, कृष्णावतारका हेतु बताते हुए कहा गया है कि वसुदेव पहले कश्यप थे और कुवेरकी गौ हरण करनेके अपराधमें शापित होकर उन्होंने गौओंके बीच स्थित गोप-रूपमें जन्म लिया था। कदयपकी स्त्री अदिति और सुरभी, देवकी और रोहिणी थी। इन्हींके यहाँ कृष्णने, देवताओंको ब्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा देकर, स्वयं जन्म लेनेकी इच्छा की थी। सैकड़ों-सहस्रो देवता पांचाल देशके कुरुवंश और वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए (हरिवंश-आदिपर्व, अध्याय ५३-५५) । हरिवंशमें स्पष्टतः कहा नहीं गया है, परन्तु यह ध्वनित होता है कि गोप-गोपियाँ भी देव-देवियाँ ही थे। हरिवंशके बाद वैष्णव पुराणोमे गोप-गोपियोंका दैवी उत्पत्ति-विषयक न्यूनाधिक उक्षेख बरावर पाया जाता है। श्रीमद्भा-वतमें भी गोपियोंको देवताओंकी स्त्रियाँ वाहा गया है, जो वसुदेवके भवनमे जन्म लेनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु-का प्रिय करनेके लिए पृथ्वीपर अवतरित हुई थी (द० स्कं० पू०, १:२३) । परन्तु 'हरिवंश्न', 'विष्णुपुराण' और भागवत की गोपियाँ फिर भी लौकिक रूपमें ही चित्रित की गयी है, उनके विषयमें कोई रहस्य-संकेत नही है।

'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराणोंमे गोळोकके नित्य वृन्दा-वनकी विशद करपना मिळती है, जिसमे परमानन्दरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण राधा तथा गोपियोके साथ नित्य कीडारत रहते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त'(श्रीकृष्णजन्मखण्ड)मे वर्णन है कि नन्दब्रजमे अवतीर्ण होनेके पूर्व श्रीकृष्णने राधा तथा गोलोक-के सब गोप और गोपियोको ब्रजमे जन्म लेनेकी आज्ञा दी (अ०६, ६३-६९)। साथ ही देवी-देवताओने भी ब्रजमे जन्म लेनेके लिए गोप-गोपीका रूप धारण किया था (वही, ११९)। 'पद्मपुराण'के अनुसार दण्डकारण्यवासी कृष्ण-मक्त मुनियोने भी सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करनेके हेतु गोपियोका जन्म पाया था। यही एक दूसरे खलपर तांत्रिक प्रभावके कारण वंशीरवको अनाहत नाद, कालिन्दीको मुमुग्णा तथा गोपियोंको योगिनी कहा है (पाताल०, ७५: १०-१३)। एक तीसरे खलपर इन्हे 'श्रुतिरूपिणी' मी बहा गया है (वही—७७: ७५)।

मध्ययुगके कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोंने ही वस्तुतः गोपियों-की उत्पत्ति सम्बन्धी रहस्यात्मक कल्पनाएँ की है और कुछ आलोचकोंने यहाँतक अनुमान किया है कि 'पन्न' और 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराणोके राधा और गोपी सम्बन्धी अनेक विवरण उसीके प्रभाव है। जो हो, गोपियोका उत्पत्ति सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त रोचक और विचारणीय है।

निम्बार्कते सनकादि या हंस-सम्प्रदायमे कृष्ण-ब्रह्मकी अचिन्त्य शक्तिको द्विविध बताया गया है—एक ऐश्वर्य और दूसरी माधुर्य। रमा, छक्ष्मी या 'भू' नामकी उनकी ऐश्वर्यशक्ति हैं और गोपी और राधा माधुर्य या प्रेम-शक्ति। इस प्रकार राधा तथा अन्य गोपियाँ कृष्णकी आह्वादिनी शक्ति है। निम्बार्करचित 'दश्क्षोकी'मे कहा गया है—''अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौमगाम्। सखी-

सहस्रेः परिसेवितां सदा स्रोत्म देवी सबलेष्टकामदाम् ॥" अर्थात् अनुरूप सीभगारूपमे कृष्णके वामांगमें आनन्दपूर्वक विराजमान, समस्त मनोकामनाओको पूर्ण करनेवाली खणमानुजाको नमस्कार करता हूँ, जो सहस्रो सिखयों द्वारा परिसेवित है।

गोपी सम्बन्धी सबसे अधिक विस्तार गौडीय वैष्णव (चेतन्य)सम्प्रदाय और पृष्टिमार्ग (ब्रह्मस-सम्प्रदाय)मे भिलते है। गौडीय वैष्णव मतके अनुसार गोपियाँ भगवान् श्री-कृष्णकी ह्यादिनी शक्ति है। वे अप्रकट तथा प्रकट दोनो लीलाओं में उनके नित्य परिकर के रूपमे निरन्तर उनके साथ रहती है। श्रीकृष्णकी तरह गोप-गोपियों भी प्रकट और अप्रकट, दोनों शरीर होते है। बृन्दावनकी प्रकट लीलामें गोपियों भगवान्की स्वरूप-शक्ति-प्रादुर्भाव-रूपा है। भगवान्की ह्यादिनी गुह्य विद्याके रहस्यका प्रवर्तन उन्हीं के हारा होता है। वे नित्यसिद्धा है। रूपगोस्वामी प्रभृति चैतन्य-मतके विवेचकोंने गोपियोंका वर्गाकरण करके कृष्णकी व्यवन्दावनकी प्रेमलीलामें उनके विभिन्न स्थानोंका निर्वेश किया है।

'उड़्बल नीलमिण' के 'कृष्णवहामा' अध्यायके अनुसार कृष्णवहामाओंको पहले स्वकीया और परकीया—इन दो सागों मे वाँटा गया है। रुक्तिमणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि कृष्णकी विवाहिता पित्वयां स्वकीया है तथा उनकी प्रेयसी गोपियाँ परकीया है। परन्तु गोपियोंका परकीयात्व लौकिक दृष्टमात्रसे हैं। वास्तवमे तो वे सभी स्वकीया है, क्योंकि उन्होंने प्राण, मन और द्यरीर सभी कुछ कृष्णार्पण कर रखा है। फिर भी प्रकट लीलामे इन गोपियोंका परकीयात्व ही स्वीकार किया गया है। परकीया गोपियोंका परकीयात्व ही स्वीकार किया गया है। परकीया गोपियोंक्क कन्या और परोढा दो प्रकार की है। कन्या अविवाहित कुमारियों है, जो कृष्णको ही अपना पित मानती है। प्रेम-भक्तिमें श्रेष्ठता परोढाओंकी ही है। परोढा गोपियाँ पुनः तीन प्रकार की है—नित्यप्रिया, साधन-परा और देवी।

जो गोपियाँ नित्यकालके लिए नित्य वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-के लीला-परिकरकी अंग है, वे नित्यप्रिया है। ये वस्तुतः वे भक्त जीव है, जिन्होंने प्रेम-भक्तिके द्वारा भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश पा लिया है और जो नित्यसिद्ध गोपी-देहसे उनकी लीलाके अभिन्न अंग वन गये है। नित्यप्रिया गोपियोंको प्राचीना भी कहा गया है, क्योंकि ये वे जीव है, जो बहुत लम्बी साधनाके फलस्वरूप गोपी-देह पाते है। इनका गोपी-भाव भक्तोंका साध्य नहीं है। उनका साध्य साधना-परा गोपियोंका रूप है।

ये साधना-परा गोपियाँ योथिकी और अयोथिकी, दो प्रकार की है। योथिकी अपने गणके साथ प्रेम-साधनामें संलग्न रहती है। योथिकी पुनः दो प्रकार की होनी है— मुनि और उपनिषद्। पौराणिक प्रमाणोके अनुसार अनेक मुनिगण जो कृष्णके माधुर्यरूपका आखाद लेनेके लिए गोपी-भावकी आकांक्षा करते हैं, गोपियोका जन्म पाकर कृष्णकी बजलीलामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य लाभ करते हैं। ये ही मुनि-यूथकी गोपियाँ है। उपनिषद्-यूथकी गोपियाँ पूर्वजन्मके उपनिषद्गण है, जिन्होंने तपस्या करके

ब्रजमे गोपीरूप पाया है।

अयोथिकी गोपियोंका रूप उन कृपाप्राप्त जीवोको मिलता है, जो गोपी-भावसे भगवान् कृष्णके प्रेममें रत रहते है और अनेक योनियोमें जन्म लेनेके बाद गोपीरूप पाते है। ये अयोथिकी गोपियाँ नवीना भी कहलाती है और इन्हें भक्तिके फलस्वरूप प्राचीना नित्यप्रिया गोपियोंके साथ सालोक्य (दे॰ 'मुक्ति') प्राप्ति होती है।

देवी उन गोपियोंका नाम है, जो नित्यप्रियाओंके अंशसे श्रीकृष्णके सन्तोषके लिए उस समय देवीके रूपमें जन्म लेती है, जब स्वयं श्रीकृष्ण देवयोनिमे अंशावतार धारण करते है। उपर्युक्त कन्या गोपियाँ ये ही देवियाँ है जो नित्यप्रियाओकी परम प्रिय सिख्योंका पद पाती है।

नित्यप्रिया गोपियों भाठ प्रधान गोपिया यूथेश्वरी होती है। प्रत्येक यूथमे यूथेश्वरी गोपीके भावकी असंख्य गोपियाँ होती है। राधा और चन्द्रावली सर्वप्रधान यूथेश्वरी गोपियाँ है। इनमें भी राधा सर्वश्रेष्ठ—महाभाव-स्वरूपा है। रूपगोस्वामीके अनुसार ये सुष्ठुकान्तस्वरूपा, धृतषोडश-धृङ्गारा और द्वादशाभरणाश्रिता है। उनके अनन्त गुण है। राधाके यूथकी गोपियाँ भी सर्वगुणसम्पन्न है।

राधाको ये अष्टसिख्याँ पाँच प्रकारको होती है—सखी (कुसुमिका, विद्या आदि), नित्य-सखी (कस्तूरिका, मणिमंजरिका आदि), प्राण-सखी (शशिमुखी, वासन्ती आदि), प्रिय सखी (कुरङ्गाक्षी, मदनाल्सा, मंजुकेशी, माली आदि) तथा परम श्रेष्ट सखी। राधाकी परम श्रेष्ट सखियाँ आठ है—लल्ता, विशाखा, चम्पकलता, चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी है। चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी है। चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखा, रङ्गदेवी और सुदेवी है। चित्रा, सुदेवी तुंगविद्या और इन्दुलेखा स्थानपर सुमित्रा, सुन्दरी, तुंगदेवी और इन्दुरेखा नाम भी मिलते है (दे० 'युमलमर्वस्व': भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, खल्गविलास प्रेस, पटना १९११)।

ये अष्टसिख्याँ सब गोपियोंमें अग्रगण्य है। इनकी एक-एक सेविका भी है, जो मंजरी कहलाती हैं। मंजरियों- के नाम ये हैं — रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी और कस्तूरी-मंजरी, विलासमंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी और कस्तूरी-मंजरी। इनके नाम-रूपादिके विषयमें भिन्नता भी मिलती है। ये सिख्याँ वस्तुतः राथासे अभिन्न उन्हींकी कायव्यू-हरूपा है। राथा-कृष्ण-लीलाका इन्हींके द्वारा विस्तार होता है। कभी वे, जैसे खण्डिता दशामें, राधाका पक्ष-समर्थन करके कृष्णका विरोध करती है और कभी, जैसे मानकी दशामें, कृष्णका विरोध करती है और कभी कृष्णके प्रति प्रवृत्ति दिखाने हुए राधाकी आलोचना करती है। परन्तु उन्हे राधासे ईर्ष्या कभी नहीं होती, वे कृष्णका संग-सुख कभी नहीं चाहती, क्योंकि उन्हें राधा-कृष्णके प्रेम-मिलनमें ही आत्मीय मिलन-सुखकी परिपूर्णताका अनुभव हो जाता है। अतः वे राधा-कृष्णके मिलनकी चेष्टा करती रहती है।

वस्त्रभ-सम्प्रदाय (पृष्टिमार्ग)मे भी शब्दोने निश्चित् हेर-फेरसे गोपियोंके सम्बन्धमें इसी प्रकारके विचार मिलते है। वहाँ भी गोलोकके नित्यरासकी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके परमानन्दस्वरूपका विस्तार करनेवाली, उन्हींकी सामर्थ्यशक्ति है। उनकी उत्पक्ति स्वयं श्रीकृष्ण ब्रह्मके आनन्दकायसे हुई है। उनके बिना ब्रह्मका परमानन्द-स्व-रूप अपूर्ण है। गोपियों कृष्ण-धर्मीकी धर्म-रूपा है। राधा उन गोपियोंमे पूर्ण आनन्दकी सिद्ध-शक्ति है, अतः वे स्वा-मिनी है। राधा और गोपियोंके रूपमे रस-रूप कृष्ण-ब्रह्म अपना प्रसार करके उसी प्रकार प्रसन्न होते है, जैसे बालक अपना प्रतिबिम्ब देखकर प्रसन्न होता है।

अवतार-दशामें परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण-ब्रह्म अपने सम्पूर्ण रस-परिकर—राधा, गोपी, गोप, गो, वत्स आदि—तथा छीछाधामके साथ बजमे प्रकट होते हैं। अवतार-छीछाकी गोपियों वछममतमे भी स्वकीया और परकीया, दो मेद किये है, केवल उनके नाम मिन्न हैं। एक प्रकारकी गोपियाँ अनन्यपूर्वा कही गयी है, जो पुनः दो प्रकारकी है—एक कुमारियाँ, जो कृष्णको पतिके रूपमें पानेकी साधना करते हुए सदैव अविवाहित रहती है और दूसरी वे, जिनका कृष्णके साथ विवाह होता है। ये दोनो प्रकारकी अनन्यपूर्वा गोपियाँ कृष्णका ही वरण करती है। ये गोपियाँ पूर्वरागकी अवस्थाके बाद कुळकी मर्यादा और छोककी छज्जा त्यागकर कृष्णसे मिलती है। अनन्यपूर्वा गोपियाँ वस्तुतः स्वकीया है।

अन्यपूर्वा गोपियाँ परकीया कही जा सकती हैं, क्यो-कि वे विवाहित। होती हैं और अपने लौकिक पतियोंसे सम्बन्ध त्यागकर जार भावसे श्रीकृष्णको प्रेमी-रूपमें प्राप्त करनेकी लालसा रखती है। लोक, वेद और कुलकी मर्या-दाओंका उन्हे उल्लङ्घन करना पड़ता है।

इन दो प्रकारकी गोपियोंके अतिरिक्त एक सामान्या गोपियाँ और कही गयी है, जो निरन्तर कृष्णके बाल्रूपके प्रति यशोदाकी तरह वात्सल्य स्नेह करती है। चैतन्यमतके स्वक्षीया-परकीयाके अतिरिक्त तीसरे प्रकारकी साधारणी बल्लभाएँ कही गयी है, जो कुष्जाकी तरह केवल कामवासनाकी परितृप्तिके लिए प्रेम करती है। वल्लभमतकी सामान्या गोपियोसे वे नितान्त भिन्न है। वल्लभमतमें वात्सल्यभावको जो महत्ता दी गयी है, उसे देखते हुए इस भावकी गोपियोका एक भिन्न वर्ग रखना समीचीन है।

पृष्टिमागींय भक्तिका प्रथम सोपान वात्सल्यभावकी भक्ति ही है, जिसे प्रवाही पृष्टि भक्ति कहते है। प्रवाही पृष्टि भक्त सामान्य गोपियाँ उच्च भक्त हैं। अनन्यपूर्वा गोपियाँ उच्चतर भक्त है, क्योंकि उनमे पूर्वरागकी अवस्थामें मर्यादाका माव रहता है। उनकी भक्ति मर्यादा-पृष्टि भक्ति है। उच्चतम भक्ति पृष्टि-पृष्टि भक्ति होती है, जो जार भावकी होती है। अन्यपूर्वा गोपियाँ ही इसकी अधिकारिणी होती है। इस प्रकार वछभमतमें भी चैतन्यमतकी भाँति परकीया-भावकी ही सवींच महत्ता है। रास-रसका सुख केवल अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा गोपियोंको ही मिलता है।

श्रीमद्भागनतकी सुनोधिनी टीकाके रासपंचाध्यायी 'फलु-प्रकरण'में वल्लभाचार्यने रासकी इन दो प्रकारकी गोपियोंको पुनः तामस, राजस, सारिवक, तीन गुणोंके प्रभावसे उनके मेलके अनुसार नौ और नौ अठारह भेदोंमें वर्गीकृत किया है। इनके अतिरिक्त उन्नीसवी प्रकारकी गोपी गुणातीता या निर्गुणा कहलाती है। वल्लभाचार्यने इन गोपियोमे राधाका कोई उल्लेख नहीं किया। वल्लभ-सम्प्र-दायमें राधाका माहात्म्य विट्ठलनाथके समयमे प्रतिष्ठित हुआ। यह अनुमान निराधार नहीं है कि पुष्टिमार्गमे राधा और गोपी-भावकी इतनी महत्ता बहुत कुछ गौडीय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायोंके सम्पर्कका परिणाम है। गोपियोके उपर्युक्त वर्गीकरणसे इसकी पुष्टि होती है।

यद्यपि गोपियाँ कृष्णकी रस-शक्ति है, उनसे अभिन्न है, परन्तु लीलामें वे भिन्न तथा भक्तोंमें आनन्द-भावका अविभाव करनेवाली रसात्मक शक्तिकी प्रतीक भी है। राधा रस-सिद्धिकी प्रतीक है तथा अन्य गोपियाँ गोपीस्वरूप वननेकी कामना करनेवाले भक्तोंकी प्रेमभक्ति-साधनाको विविध स्थितियोंकी प्रतीक है।

वल्लभ-सम्प्रदायमें चैतन्यमतकी तरह गोपियोके यूथोंके विवरण तो नहीं है, परन्तु राया और चन्द्रावलीको अन्य शक्ति-स्वरूपा गोपियोकी स्वामिनी, सिद्धशक्ति-स्वरूपा कहा गया है। अन्य गोपियाँ इन्होंकी सखियाँ है। यहाँ भी मुख्य आठ सखियाँ मानी गयी है, परन्तु नामोंमे कुछ अन्तर है । पृष्टिमार्गा अष्टसिवयाँ है-चम्पकलता, चन्द्रभागा, विशाखा, लिलता, पद्मा, भामा, विमला और चन्द्ररेखा। मधुरभावके भक्त सखीरूप होते है। पुराणीमे विशेषरूपसे 'ब्रह्मवैवर्त्त'मे अष्टमखियोंके नाम किचित् परि-वर्तनसे इस प्रकार मिलते है:-चन्द्रावली, इयामा, शैन्या, पद्मा, राधा, लिलता, विशाखा तथा भद्रा। अष्टछापके परम भगवदीय आठ भक्त, जो सख्य भक्ति करनेके कारण गोचारण-लीलाके अष्टसखा (दे०) कहे गये है, मधुरभाव सिद्ध कर लेनेके कारण निकुब्बलीलाकी अष्टसखी भी बताये गये है। इस प्रकार सूरदास-चम्पकलता, परमानन्ददास-चन्द्रभागा, कुम्भनदास-विशाखा, कृष्णदास-लिलता, छीतस्वामी-पद्मा, गोविन्दस्वामी-भामा, चतुर्भुजदास-विमला तथा नन्ददास-चन्द्ररेखाका भाव सिद्ध किये हुए सखीभावके भक्त है।

अष्टछाप-कवियोंमें सूरदासके काव्यमें माधुर्य भक्तिका सबसे अधिक विशद और विस्तृत रूप मिलता है। उन्होंने राधा और कृष्णको प्रकृति और पुरुषरूपमें वर्णित किया है तथा अन्य गोपियोंको राधाकी विविध प्रेमावस्थाकी सखियो-के रूपमें । इन सभी कवियोने राधा और गोपियोको एक ओर तो कृष्ण-ब्रह्मकी आनन्दरूप-प्रसारिणी शक्तिके रूपमे चित्रित किया और दूसरी ओर दाम्पत्य या कान्ताभावसे भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तोके रूपमें। सूरदासने राधाके अतिरिक्त ललिता और चन्द्रावलीका विशेष उल्लेख किया है और उन्हें राधाकी परम प्रिय, घनिष्ठ सखियोंके रूपमें 'मान' और 'खण्डिता'के प्रकरणोंमें चित्रित किया है। 'खण्डिता' प्रकरणोंमें इन दोके अतिरिक्त सूरदासने शीला, सुखमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा और प्रमदाका उल्लेख किया है। गोपियोंमें कृष्ण-प्रेमकी अधिकारिणी ये ही है। परन्तु इनमेंसे किसीका राधासे ईर्घ्याभाव नहीं है। वास्तवमें ये राधासे ही नहीं, कृष्णसे भी अभिन्न है। सूरदासने कहा है-"राधिका गेह हरि-देहवासी। और तिय घरनि घर तनुप्रकासी ।। ब्रह्म पुरन दितिय नहीं कोऊ । राधिका सबै,

हरि सबै वोऊ ॥ दीप सौ दीप जैसे उजारी। तैस ही ब्रह्म घर घर बिहारी॥"' (सू० सा०, समा: पद ३११३)।

सूरदासने 'दानलीला'के प्रसंगमें गोपियोंकी महिमा बताते हुए उन्हें श्रुतिकी ऋचाएँ बताया है। कृष्णके सगुण परमानन्दस्वरूपके देखनेकी श्रुतियोकी इच्छा पूरी करनेके लिए ब्रह्मने जब निज धाम नित्यवृन्दावन दिखाया, जहाँ प्रकृतिकी रमणीय शोभाके बीच किशोर स्याम गोपियोके साथ क्रीडा करते है, तब श्रुतियोने गोपीरूप पाने-का वरदान माँगा। पूर्ण परमानन्दे ब्रह्मने वरदान दिया कि जब मैं भरतखण्डके मथुरामण्डलमे, जो हमारा निज धाम है, गोपवेश धारण करूँगा तब तुम गोपी होकर मुझसे प्रेम करोगी। इस प्रकार वेद-ऋचाओंने गोपी बनकर हरिके साथ विहार किया । ब्रह्मा कहते है-"जो कोउ भरताभाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै। नारि-पुरुष कोउ होइ श्रुतिऋचा गति सो पावै।। तिनकी पदरज कोउ जो वृन्दावन भू मॉह। परसे सोऊ गोपिका-गति पावै संशय नाहि॥" 'सूर-सागर'के इस पद (सभा: पद १७९३)के वेकटेश्वर प्रेसके सस्करण (सं० १९८० वि०)के पाठमें त्रिपद वामन-पुराण-की साक्षी दी गयी है। वास्तवमें गदाधरदास द्विवेदी लिखित 'सम्प्रदाय-प्रदीप' नामक पुस्तकके द्वितीय प्रकरणके १ से ३० इलोकोका इस पदसे शब्दशः साम्य पाया जाता है। विद्याविभाग, कांकरोलीसे प्रकाशित यह पुस्तक संवत् १६१०की लिखी कही गयी है। प्रश्न उठता है कि इन दोनोंमे मूल कौन है और अनुवाद कौन ? जो हो, पुष्टि-मार्गमें गोपियोंकी इस प्रकारकी महिमा प्रचलित रही है। उपर्युक्त भर्ता-भाव, अर्थात् गोपी-भाव भक्तिका सर्वोच भाव माना गया है।

गौडीय वैष्णव और वल्लभसम्प्रदायोंमे गोपी और गोपी-भावकी जो महत्ता दी गयी, उसे ही थोडे-बहुत विवरण और अवथान सम्बन्धी अन्तरोंके साथ कृष्ण-मन्तिके अन्य सम्प्रदायोमे भी अपनाया गया है। इन सम्प्रदायोमे राधा-वल्लभीय (दे०) और सखी सम्प्रदाय विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनोंमे ही राधाकृष्णको अद्यय मानकर उनकी सखियोंको भी उन्हींका एक अभिन्न अंग माना गया है। अतः भक्तगण गोपियोके सखी-भावको अपनानेके लिए ही लालायित रहते हैं। वे गोपियोके स्वरूपका ध्यान करते हुए उन्हींकी तरह आचरण करते है तथा उनके भावको इट करनेकी चेष्टा करते है उनकी सबसे वडी आकांक्षा यही होती है कि किसी प्रकार उन्हे युगल मूर्तिके सन्निकट रहकर उनकी परिचर्या करनेका अवसर मिले।

[सहायक ग्रन्थ—उज्ज्वल नीलमणि (संस्कृत): रूपगोस्वामी; श्रीमुवोधिनी माध्यः वल्लभाचार्यः सम्प्रदायप्रदीपः गदाधरदास द्विवेदी; स्रसागरः स्रदासः अष्टल्लाप् और वल्लभसम्प्रदायः दीनदयालु गुप्तः स्रदासः व्रजेश्वर वर्माः व्रजबूलि (अंग्रेजी): सुकुमार सेनः श्रीराधाका क्रम-विकासः (हिन्दी अनुवाद) शशिभूषणदास गुप्तः।—व्र० व० गोपीचंद्र—गोपीचन्द्रकी लोकगाधा उत्तरी भारतमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाथसम्प्रदायके अनुयायी साधु जो 'जोगी'के नामसे विख्यात है, सारंगी बजाते हुए गोपीचन्द्रकी गाथा-को गा-गाकर भिक्षाकी याचना करते है। पहिले लोगोंका यह विश्वास था कि गोपीचन्द्रकी गाथा जोगियों उपजाऊ मित्तिष्ककी उपज है, परन्तु आधुनिक अनुसन्धानोंसे पता चला है कि यह गाथा ऐतिहासिक आधारपर प्रतिष्ठित है। बुकानन हैमिल्टन तथा ग्रियर्सनने प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध किया है कि गोपीचन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति है।

गोपीचन्द्रके गीतमें सन्निहित परम्पराके अनुसार इनकी जन्मभूमि उत्तरी बंगालके रंगपुर जिलेमें मानी जाती है। खियर्सनने उस स्थानका भी पता लगाया है, जो गोपीचन्द्रकी माता 'मयनामती'के नामके कारण 'मयनामतीर कोट' कहलाता है। गोपीचन्द्रके पिताका नाम मानिकचन्द्र था, जो उत्तरी बंगालमें रंगपुर जिलेमे राज्य करते थे। इनकी जाति गन्धवणिक् थी। इनकी स्त्रीका नाम 'मयनामती' था, जो योगविद्यामे बडी निपुण थी। मानिकचन्द्रके माईका नाम धर्मपाल था। बुक्राननने लिखा है कि इनका सम्बन्ध बंगालके सुप्रसिद्ध पाल-राजाओंसे था। ब्रियर्सनका भी यही मत है।

मानिक चन्द्रकी मृत्युके पदचात् उनकी स्त्री मयनामतीने अपने अलौकिक योग-प्रभावसे यमपुरीको घेर लिया। तब उसके गुरु गोरखनाथने उसे पुत्रोत्पत्तिका वरदान दिया। इस प्रकार गोपीचन्द्रकी उत्पत्ति हुई। जब गोपीचन्द्र बडे हुए तव उनका विवाह राजा हरिश्चन्द्रकी पुत्री अद्नासे हुआ। साथ ही पुरस्काररूपमे अदुनाकी बहन पदुना भी प्राप्त हुई। मयनामती योग-बलसे यह जानती थी कि अठारह वर्षकी आयुमे यदि मेरा पुत्र योगी न हुआ तो उसकी मृत्य हो जायगी। अतः राज्य-सुख तथा विषय-वासनामें फॅसे हुए गोपीचन्द्रको उसने संन्यास ले लेनेका उपदेश दिया । गोपीचन्द्रने हाडीसिद्धको अपना गुरु बनाया और घर तथा राज्य छोडकर जोगी हो गये। अद्ना तथा पदनाने इन्हें ऐसा न करनेके लिए बड़ा आग्रह किया, परन्तु उन्होने किसीकी बात नहीं मानी। हाडीसिद्धने अपने शिष्य गोपीचन्द्रकी साधनाकी परीक्षा लेनेके लिए इन्हे हीरा नामक वेदयाके हाथों वेच दिया, जिसने अपनी वासनाकी पति न करनेके कारण बड़े कठोर तथा नीच कामोंको करने-के लिए कहा। मयनाको जब अपने पुत्रकी दयनीय दशाका पता चला तो उसने हाडीसिद्धकी सहायतासे इन्हे हीरा वेश्याके यहाँसे बारह वर्षोंके पश्चात मुक्त कराया। गोपीचन्द्र फिर घर लौटकर आये और पुनः राज्य-सुख भोगते लगे।

विद्वानोंने अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंके आधारपर गोपी-चन्द्रका आविर्माव-काल ११वी शताब्दीका पूर्वार्ध माना है। दक्षिणके राजा राजेन्द्र चोलके तिरुमलाईके शिलालेखसे तथा फरीदपुर और ढाकामे प्राप्त ताम्रलेखोंसे इस सिद्धान्त-की पुष्टि होती है।

गोपीचन्द्रकी गाथाका प्रचार पंजाबसे लेकर बंगालतक पाया जाता है। साथ ही गुजरात तथा महाराष्ट्रमें भी इनकी कथाका प्रचार है। इसके श्रेय-विस्तारके द्वारा ही इस कथाकी लोकप्रियताका अनुमान किया जा सकता है। विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित गोपीचन्द्रके गीतोके कथानकमें थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। मोहन सिंहने 'उदास गोपीचन्द्र' नामक पंजाबी लोकगाथाका उल्लेख किया है।

लक्ष्मणदासने गोपीचन्द्रके हिन्दी गीतका सम्पादन किया है। बंगलामे गोपीचन्द्रके गीतोका संकलन तथा सम्पादन भवानीदासने किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालयसे 'गोपी-चन्द्रेर गान' नामसे इनका प्रकाशन हुआ है।

गोपीचन्द्रकी गाथा बडे सुन्दर तथा मनोहर पद्योमें कहीं गयी है। जब राजा गोपीचन्द्र संन्यास लेनेके लिए घरसे विदा हो रहे है, उस समय उनकी रानियोका विलाप बडा मर्मस्पर्शी है। यह पाषाण-हृदयको भी एक बार पिवला देता है। सारंगी बजाकर जब 'जोगी' इस गीतको लयसे गाने लगते है तो श्रोताओंकी ऑखे ऑसुओसे छलछला उठती है। अठारह वर्षकी भरी जवानीमे राज्यके सुखों तथा अदुना और पदुनाके प्रेमको ठुकराकर योगी होनेकी कहानी गोपीचन्द्रके अलौकिक त्यागकी कथा है। इसी कारण यह श्रोताओंको इतनी मार्मिक लगती है।

गोपी-भाव-दे॰ 'गोपी'। गोपीयंत्र-दे॰ 'किंगरी'।

गोमांस-'कौलज्ञान निर्णय'के ग्यारहवे पटलमे पाँच उत्तम भोज्योका उल्लेख है-गोमांस, गोष्टत, गोरक्त, गोक्षार एवं गोदिध । और लक्ष्य करनेकी बात है कि वहाँ इनको अभिधार्थमे ग्रहण किया गया है। लगता है कतिपय कारणोंसे आगे चलकर इस तरहकी बातोको अच्छा नहीं माना गया या बुरा माना जाने लगा, अतः शब्द तो पुराने चलते रहे, पर उनकी न्याख्याएँ बदल दी गयी। गोमांसकी योगपरक न्याख्या करते हुए 'हठयोग प्रदीपिका'में कहा गया है कि "नित्य गोमांसभक्षण और अमरवारुणीका भक्षण एवं पान करना चाहिए। जो योगी ऐसा करता है वहीं कुलीन है शेष सभी कुलघातक है" (३,४६)। लेकिन इतना ही कहकर बात समाप्त नहीं की गयी है। लगता है शास्त्रकारको इस बातकी चिन्ता थी कि उसकी बातको अवस्य गलत समझा जायगा अतः वह अपने तात्पर्यार्थको खोलकर समझा देता है—'गो' शब्दका अर्थ (गाय न होकर) जिहा है और इस जिहाको उलटकर कपाल क़हरमें ले जाना और इस प्रकार चन्द्रमण्डलसे क्षरित होनेवाले अमृतरसको पीना ही 'गोमांस भक्षण' है। परवर्ती कालमें ये ऊपरसे गढ़ी हुई न्याख्याएँ ही प्रमुख बन गयी और इनके मूल अभिधार्थ मुला या नकार दिये गये। सन्तोने अमरवारुणी, गोमांस, सुरही भच्छन, मद्य-पान आदिकी जितनी भी बातें की है, वे सभी इन परवर्ती व्याख्याओंको ध्यानमें रखकर। कबीर जब कहते है-"नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राह्न ग्रास तन छीजै। 'सुरही भच्छन' करत बेदमुख घन बरिसै तन छीजै''। तो प्रसंग और परम्परा दोनोंके अनुसार 'सुरभि (गाय) भक्षण'का अर्थ खेचरीमुद्रा बॉधकर चन्द्रमासे क्षरित होनेवाले अमृतको पीनेवाली हठयोगी साधनाकी बात ही करते है। मुलाको गाय मारनेके लिए बुरा-भला कहनेवाले कबीर अभिधार्थमें गोमांसमक्षणकी बात कभी सोच भी नहीं मकते थे। गोरखर्घंघा-गोरखपन्थी साधु लोहे या लकड़ीकी सलाइयों-

के हेर-फेरसे चक्र बनाकर उसके बीचमें एक छेद करते

है। इस छेदमे कोडी या मालाकार धागेको डालकर मन्त्र पढकर उसे निकाला करते है। यही 'गोरखधन्था' या 'धन्धारी' है। योगियोंके वेषमे इसका उल्लेख प्रायः सर्वत्र मिलता है (दे० पद्मावत, १३६।४, ६०१।७, ६०६।४; चित्रावली, दो० २०९, २१०, २२० तथा सुधाकर चित्रका, पृ० २३९)। गोरखधन्थे या 'धन्यारी'मेसे, क्रिया जाने विना छोरे या कौडीको निकालना बहुत ही उलझनका काम है। इसीलिए गोरखधन्या शब्द आजकल उल्झन और झंझट-वाले कामोका वाचक बन गया है। —रा० सि० गोरखपंथ-दे० 'नाध-संप्रदाय'।

गोलोक लीला-दे॰ 'अक्षर-धामलीला' तथा 'नित्यलीला'।
गोष्ठी-एक अंकका उपरूपक है। पात्रोमे नौ या दस
पुरुषों तथा पाँच या छः स्त्रियोका न्यापार रहता है। इसमें
काम-धारकी प्रधानता, कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, उदात्त
वचनोंकी योजना तथा गर्भ और विमर्श सन्धियोको छोडकर
शेष सन्धियोंका निर्धाह रहता है। शेप सब बातोमे नाटकसे
समानता है। उदाहरण--'रैवत-मदनिका।' --वि॰ रा॰
गौडी रीति-दे॰ 'रीति', दूसरी।

गोण वस्त-दे॰ 'प्रासंगिक वस्तु'।

गीणी भक्ति-देवार्चन, भजन-नेवाको और प्रवृत्तिका नाम गौगभक्ति अथवा साधनभक्ति है। यह प्राभक्तिकी भूमिका मे प्रविष्ट होनेका प्रथम सोपान है। पराभक्तिकी साधनामे जो नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती है, वे गौगी भक्ति द्वारा दर हो जाती है। नारदीय भक्तिसूत्रमें गुणभेद अथवा आर्तादि भेदमे इसके तीन प्रकार निर्दिष्ट है—''गौणी त्रिधा गुणभेदादार्ताहिभेदाद्वा।" (५६)। गुणभेदने प्रकार (१) सारिवकी-भक्तिके लिए ही की जानेवाली पूजा (श्रीमद्-भागवत, ३।२९।१०), (२) राजसी—विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे प्रेरित होकर की जानेवाली पूजा (भाग-वत, ३।२९।९), (३) तामसी—हिसा, दम्भ, मत्सरता सहित की जानेवाली पूजा (भागवत, ३।२९।८)। आर्तभेदसे प्रकार (१) अर्थार्थी — संसारी पदार्थ — धन, पुत्र, कलत्रा-दिके लिए की गयी पूजा, (२) आर्त-दःख या संकट-निवा-रणार्थ की जानेवाली पूजा, (३) जिज्ञासु—भगवान्को जाननेकी इच्छासे की जानेवाली पूजा । अर्थायीं, आर्त और जिज्ञासु—इन तीनों प्रकारके भक्तोकी पूजा सकाम भक्ति कहलाती है। गौणी भक्तिने तपोभक्तिकी अपेक्षा राजसी और र जोगुणी (राजसी) भक्तिकी अपेक्षा सान्त्रिकी भक्ति श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अर्थार्थांकी अपेक्षा जिज्ञास, जिज्ञासकी अपेक्षा आर्त भक्ति श्रेष्ठ है (शाण्डिल्यसूत्र, ५६)। श्रीमद्मग्वद्-गीतामे भक्तोके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञास और ज्ञानी-ये चार प्रकार बतलाये गये है और ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (अध्याय ७।१६) । -वि० मो० श० गौणी लक्षणा-प्रयोजनवती लक्षणाके सारोपा तथा साध्य-वसाना भेदोंका एक प्रकार, जिसमे लक्ष्यार्थ साद्द्रय सम्बन्धके आधारपर ग्रहण किया जाता है। सादश्यका अर्थ है गुणोकी समानता। इस लक्षणाका मूल 'उपचार' कहा गया है, 'साहित्यदर्पण'के अनुसार जिसका अर्थ है ''दो अत्यन्त विभिन्न प्रतीत होनेवाले पदार्थीमें साह्यको अति-शयसे भेदका न जान पड़ना"। उदा?—"उदित उदयगिरि मंचपर, रघुवर बाल पनंग। विगते सन्त-सरो त सब, हरेषे लोचन-भूंग"। (तुल्सी: रा० च० मा० से)। इसमे रामको 'बाल पतंग' कहनेमं मुख्य अर्थका बाध है और रामकी प्रभा उदयकालीन स्वंके समान है, यह भिन्न अर्थ(लक्ष्यार्थ) प्रहण किया गया है। साथ ही रामकी श्रीर-कान्तिका सौन्दर्य व्यक्त करना प्रयोजन है, जो साह्दय-सम्बन्धपर आधारित है। अतः यहाँ गौजी लक्षणा है।

गौर गीति-दे० 'प्रशस्तिगीति'।

यामगीत-ग्रामगीत शब्दसे ग्रामविषयक या श्राममें गाये जानेवाले, गॉवसे लिये गये या ग्रामनिवासियोके गीत-जैसे अर्थ मिलते है, किन्त हिन्दीमें कही-ऋही इने लोकगीत-का पर्याय मान लिया गया है। वस्तुतः ग्रामगीत शब्दका प्रयोग करनेवाले आरम्भमें लोक्गीनका उतना विस्तत अर्थ नहीं समझते थे कि उसमें ग्रामगीत भी सम्मिलित किये जा सकें। उन्होंने सामान्यतः मनुष्यके तीन समदाय समझे। पहला जंगली या आदिम। इन्हे ही मूल अर्थमे 'फोक' या लोक कहा गया। बहुधा लोकवार्ताके विद्वानोने जंगली जानिके गीतोंको ही लोकगीत माना, उन्होंको लोकगीतके रूपमें रखा। दूसरा मनुष्य-समुदाय था ग्रामवासी या यामीण । ये यामीण जन चतर्दिक सभ्यताके क्षेत्रमे आवृत्त रहते हैं। इनके गीत ही यामगीत कहे गये। ये यामीण 'फोक'के संकचित एरातन अर्थमे लोक नहीं थे। तीसरा समदाय नागरिकोका था। इनके पास था शास्त्रीय संगीत। इस दृष्टिने ग्रामगीतोंका रूप स्पष्ट होता है। ग्रामगीत वस्तुतः वे गीत है, जो यामोंमे प्रचित मिलते है। याम तो एक नागरिक इकाई है। उनमें भी लोक मानस विद्यमान है। इस सिद्धान्तसे ग्रामगीत भी लोकगीत है, केवल ग्रामके स्थानीय तत्त्वो ते वे गीत-विशेषित हो जाते है । ग्राम्य – दे॰ 'अर्थ-दोप', छठा तथा 'शब्द-दोष', दसवॉ 'पद-दोष'।

रळानि-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार-वमन, रेचन, रोग, अनाहार, मानसिकं चिन्ता, मदपान, प्यास तथा निद्रा आदिते यह उत्पन्न होता है और इसके अनुभाव है, निर्मल वाणी, कान्तिहीन दृष्टि, पीला चेहरा, मन्द गति तथा निर्बलता आदि (न ट्य) ७: ३१)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है—"रत्यायासमनस्तापश्चरिपपासादिसम्भवा । ग्लानिर्नि-ष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्"(सा० द०, ३: १७०)। अर्थात् रतिजन्य परिश्रम, मनारताप, भूख, प्यास आदिसे उत्पन्न विकलताको ग्लानि कहते है। इसमें कमजोरी, कम्प, काम करनेमे अनुत्साह आदि अनुभाव पाये जाते हैं। रामचन्द्र शुक्कने ग्लानिकी परिभाषा कुछ दूसरे ढंगकी दी है—"किसी भावके वेगके कारण जो मानसिक देशिल्य होता है, उसे ग्लानि कहते है"(र०मी०, पृ० २२४)। इसके अनन्तर उन्होने अपनी परिभाषाको और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि "दुःख और मनस्तापने उत्पन्न शिथिलता ही मंचारीके रूपमें कही जा सकती है"। परिश्रमजन्य ग्लानिको वे श्रम (३०)से भिन्न नहीं मानते।

हिन्दीके गीतिकालके आचार्योंने प्रायः संस्कृत परम्परा-का अनुसरण किया है। देव तथा पश्चाकर आदिके लक्षण

समान हैं-"भूखिह तें कि पियास तें, के रितश्रम तें अंग। विह्नल होत गलानि सो, कम्पादिक स्वर भंग।" (जगद्र , ४७५)। पद्माकरके उदाहरणमें नायिकाकी शिथिलतामे ग्लानिके स्थानपर श्रमका भाव प्रधान है—"राजि रही रति ऑखिनमें मनमें थी कहा तनमें सिथिलाई।" (जगद०, ४७६) । परन्तु रति-श्रमको संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्योने समान रूपसे इसके अन्तर्गत माना है। अयोध्यासिंह उपाध्यायने यशोदाके चित्रणमे इस संचारीकी व्यंजना की है-- "आवेगोसे विपलविकला शीर्णकाया कृशांगी। चिन्तादग्धा व्यथितहृदया शुष्कओष्ठा अधीरा। आसीना थी निकट पतिके अश्रनेत्रा यशोदा। छिन्ना दीना विनत-वदना मोहमग्ना मलीना" (प्रि॰ प्र॰)। घना-मात्रिक अर्द्धसम छन्द्र। घत्ताके विषम चरणोंमें १८ और सम चरणोमें १३ म त्राएँ होती है और अन्तमें तीन लघु होते हैं। यत्ता अपभ्रंशका एक बहुत प्रिय छन्द है। अपभ्रंशके चरित-कान्यों में सन्धियों के प्रारम्भमे प्रायः धत्ताका प्रयोग कवियोंने किया है। जिस प्रकार हिन्दीमें चौपाई-दोहा-शैलीमे चौपाईके पश्चात दोहेका, उसी प्रकार अपभंश चरित-पुराण-कृतियोंमें घत्ताका प्रयोग मिलता है। स्वतन्त्र रूपसे घत्ताका प्रयोग अपभ्रंश-कृतियोंमे भी कम ही मिलता है। 'प्राकृतपैगलम्'मे घत्ताको द्विपदी कहा है (१: ९९)। हिन्दीने घत्ताका प्रयोग बहुत कम मिलता है। केशवदास तथा सूदन जैसे कवियोंने इसका प्रयोग किया है। घत्ता शब्दकी व्युत्पत्ति बहुत स्पष्ट नहीं है। उदा०-"'पोहन मुख आगे अति अनुरागे मैं जु रही सिस छिब निदिर" (भिखारीदास)। 'स्वयम्भृ छन्द' तथा कुछ अन्य कृतियों मे घत्ताके अनेक भेदोंका भी उल्लेख किया गया है। अपभ्रंशका यह प्रसिद्ध छन्द हिन्दी कवियोंका प्रिय क्यों नहीं बन सका, कदाचित इसका कारण दोहेकी लय और लोकप्रियता है। —रा० सिं० तो० घत्तानंद - मात्रिक अर्द्धसम छन्दः 'प्राकृतपैगलम्'-(१: १०२)के अनुसार घत्ताके समान दो ही पंक्तियों मे घत्तानन्द भी लिखा जाता है। इस प्रकार इसको भी द्विपदी कहा जा सकता है। घत्तानन्दकी प्रत्येक पंक्तिमे ११, ७, १३के विरामसे ३१ मात्राएँ होती है। घत्तानन्दका प्रयोग अपभंशमे मिलता है। हिन्दीके कवियोंने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। सूदनने 'सुजान-चरित'में प्रयोग किया है। उदा०—"जय कन्दिय कुलकंस, बलि-विध्वंस केशिय वक दानव दरन" (गदाधर: छन्दोमंजरी, -रा० सिं० तो० घनवाद-धनवाद (नयुविदम) चित्रणकी एक शैली है, जिसका विकास प्रथम महासमरके पूर्व इसी शतीमे हुआ। इसका आरम्भ प्रसिद्ध फ्रेंच चित्रकार सेजानकी अंकन-दौलीसे सम्बन्ध रखता है। सेजान पहला कलावन्त था, जिसने भंग-रेखाओं (कर्व)को कोणिक रूप दिया और घन रूपको निखारकर स्पष्ट किया, उसपर बल दिया। वस्तुओंकी घनताकी परिचायक इस शैलीकी शक्ति लोगोंने पहचानी और अनेक चित्रकारोंने तत्काल इस पद्धतिसे वर्ण और रेखाओं द्वारा अंकन करना प्रारम्भ कर दिया। वनवादकी इष्टि प्रारम्भमें छोगोंको खनिज-विज्ञानसे मिली। उसके अनुसार कण अथवा अणु (रवा) ही सारे भौतिक पदार्थीका प्राथमिक रूप था। इससे चित्रको 'क्रिस्टल' या कणत्व प्रदर्शित करना चाहिये। पदार्थीके सारे अनन्तर विकार-रूप इन्हीं कणोंके बदलते रूपसे प्रभावित होते हैं। किनारे और कोण इस दिशामें बड़े महत्त्वके होते है, इससे मनुष्य और अन्य प्राकृतिक अवयवोंको प्राथमिक रूप देनेके लिए यह आवश्यक है कि वर्तुल या भंग-रेखाएँ सर्वथा त्याग दी जायँ और वे प्राथमिक रूप ज्यामितिक आकृतियोंसे उपरुब्ध की जायेँ। इसीसे प्रारम्भिक घनवादी चित्रोंकी भूमि खादार मिश्रीके रूपमें तैयार की गयी। इसी प्रकार समुद्री दश्योमे भी लहरोके किनारे बहुत पैने कर दिये गये। इस नयी चित्र-शैलीके प्रधान चित्रकार पांक्लो पिकासी और जार्ज बाक है। इनमेसे किसकी इसका प्रवर्तक माना जाय, इस विषयमे चित्रालोचकोंका मतैक्य नहीं, परन्त निस्सन्देह ये दोनों ही असाधारण प्रतिभासम्पन्न है।

घनवादका प्रधान सिद्धान्त यह है कि शक्ति सौन्दर्थ है। दूसरे, सीधी रेखा टेढ़ी या गोल (भंग) रेखासे अधिक मजबूत होती है। विवेकतः इस सिद्धान्तको स्वीकार करना कठिन है; क्योंकि शक्ति ही यदि सुन्दर होती तब कम-जोर-कोमल कुसुम सुन्दर नहीं कहा जा सकता और यदि केवल सीधी रेखाएँ ही मजबूत समझी जातीं और गोल रेखाएँ कमजोर, तो पहलेसे बनते आते सीधे द्वारोंको मेहराबदार नहीं बनाया जाता।

जो भी हो, घनवाद अनेक प्रकारसे विकसित हुआ और चित्रणके क्षेत्रमें उसने असाधारण प्रगति की । उसीके प्रभावसे मूर्त अमूर्त होने लगा और भविष्यवाद (दे०), निर्माणवाद आदि अनेक चित्र-शैलियों कालान्तरमें विकस्ति हुई । घनवादको साधारणतः हम पूर्व और उत्तर, दो शैलियों में बाँट सकते हैं । पहली शैलीका आरम्भ पिकासोने अपने प्रसिद्ध चित्र 'मातिलामे महिलाका मस्तक'- में किया । इसमें और इस प्रकारके दूसरे चित्रोमे मानव शरीरको ज्यामितिक खण्डोमें प्रस्तुत किया गया । इस प्रकार मस्तकका कणीकरण लगता तो लकड़ीके तिक्षित मस्तक-सा है, पर पारखी नेत्रोंके लिए उनका अर्थ है ।

पहले कालमे तो मानव-पिण्डको ज्यामितिक खण्डों में बाँटकर ही छोड़ दिया गया था, जिससे उनकी कई सतहे या तल बन गये, अब इस उत्तरकालीन घनवादी शैलीमें उन कतलों, तलों, सतहों या प्लेन खण्डोंको फेंट दिया जाने लगा, जिससे ऑखें कही चली गयीं, नाक कहीं जा पड़ी, हाथ और बाहें मिन्न-भिन्न दिशाओं मे जा लगीं। यह आवश्यक नहीं था कि दोनों नेत्र या दोनों बाहे बराबर-बराबर अपने नियत स्थानपर हों। यह कलाकार उनका प्राथमिक मौलिक तथ्य देख रहा था, अपनी विधित्ते, विश्लेषणात्मक हिंसे। संघातरूपमें पिण्डके अवयव प्रकट न थे, नेत्रोंको उनका स्वरूप गोचर नहीं होता था। इससे अनेक कोणोंसे देखनेके लिए उन्हें खण्डशः तोड़ डाला गया। फिर बिना किसी पद्धति या तरतीवके एकस्थ कर दिया गया। रूप अब प्रधान न था, कण प्रधान थे, खण्ड प्रधान थे। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण पिकासोके चिन्न

'काननाइलरका चित्र'मे प्रस्तुत है। उस चित्रमें घड़ीका चेन लगे वेस्टकोट, बायीं आँख, बायों कान और नाकके एक रखका धुंघला आभास मिलता है, शरीरका शेष-सर्वस्व रसीदों और फाइलोंमें खो गया हैं। इनमें पहला यानी पूर्वकाल घनवादका विश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करता है और उत्तरकाल उसका संशिल्ष्ट रूप। भविष्यवाद, निर्माण-बाद आदि इसी उत्तरकालीन घनवादके प्रसार है।

टेकनीफकी दृष्टिसे घनवादका आरम्भ सेजानने किया। उसने अंकनमें वजनकी व्यंजनाके लिए रंगका प्रयोग ब्लाक-रूपमें किया, परन्तु मूर्तनको उसने अक्षुण्ण रखा। रूपकी अरूपता उसने सिद्ध न की, उसका प्रतिनिधीकरण फलकपर बना रहा। परन्तु उस रूपकी इयत्ता सेजानके घनवादी अनुयायियों—पिकासो, ब्राक, देरें और लेगेने नष्ट कर दी। उन्होंने रूपको सर्वथा गौण कर दिया और सेजानकी भौमिक प्रक्रियामें एक नयी भाषाका विकास किया। घनवादकी इस नथी दृष्टिने यथार्थको सर्वथा तजकर वर्ण और रेखाके सौन्दर्यपर अपनी दृष्टि आरोपित की और प्रयास केन्द्रित किया और रूपका प्रायः पूर्णतः बहिष्कार किया। अवाविध कलालोचनके सारे स्वीकृत सिद्धान्तोंको इस दृष्टिने चुनौती दे दी।

घनवाद भी प्रभाववाद (दे॰) की ही भोँति पहले शाब्दिक रूपमें उपहासस्वरूप ही प्रयुक्त हुआ। चित्रकार मतीसने १९०८ ई॰ में घनवाद शब्दका प्रयोग एक ऐसे चित्रके सम्बन्धमें किया था, जिसके रूपायित विषयका निरूपण स्पष्टतः घनात्मक हुआ था। रूपात्मक प्रभाववादसे तो यह शैली नितान्त द्र थी ही, आभ्यन्तरवादी उत्तर-प्रभाववादी दिशकोणसे भी यह एक पग आगे थी, क्योंकि रूप-आकलनको इसने कोई महत्त्व नहीं दिया, केवल शुद्ध अमूर्न रूपके तथ्यको ही निरूपित करनेका प्रयास किया। इसके एक विशिष्ट रूप-वैद्यानिक घनवाद-का व्याख्याता पिकासो है। उसने उसे उसके चरम निर्विकार रूपतक पहुँचाया। पिकासो और जाकके अतिरिक्त घनवादी शैली-के अन्य प्रधान चितेरे लेगे, ग्लीज, मैत्जिंगे और लोते हैं।

पाब्लो पिकासो (१८८१ ई०) मूल रूपमें स्पेनका निवासी है, पर अब पेरिसमें रहता है। आजके संसारका वह सबसे यशस्वी कलाकार है। आधुनिक चित्रांकनकी अनेकानेक शैलियाँ उसकी तूलिकासे आविर्भूत हुई हैं। आधुनिक फ्रेंच चित्रणकी घनवादी आदि अनेक-प्रायः सभी—शैलियोंका वह अग्रणी है। चित्रण, ग्राफ, पाटरी मूर्नन (तक्षण), सभी क्षेत्रोंमें उसकी अप्रतिम मेथाने सफल प्रयोग किये हैं। उसकी प्रतिभा प्राचीनोंसे किसी मात्रामें कम नहीं है। १९०९ ई० और १९११ ई०के बीच उसने ब्राकके साथ-साथ विश्लेषणात्मक घनवादका अभ्यास किया, सन् १९१२ ई०के बाद .संख्लेषणात्मक घनवाद-का। फिर तो उस दिशामें वह विविध प्रयोग करता गया और उसके प्रत्येक प्रयोगने चित्रकलाको एक नयी शैली दी। १९३७ ई०में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'गेरनिका' अतियथार्थवादी—घनवादी शैलीमें अंकित कर जर्मन आतंकवादका विरोध किया।

जार्ज ब्राक (१८८२ ई०) भी फ्रेंच चित्रकार है और

वह भी पिकासीके साथ घनवादका जन्मदाता माना जाता है। उसके साथ ही उसने भी घनवादकी विविध पूर्व और उत्तरकालीन शैलियाँ निर्मित कीं, बादमें फोव-आन्दोलनमें भाग लिया और घनवादी शैलीको फोवीको शैलीके चटख रंग दिये। उसने चित्रमें दीवार कागज (wallpaper)- के उकड़ोंका प्रयोग किया। इसके घनवादी चित्रोंमे गजब-का वर्ण-प्रयोग हुआ है।

फरनान लेगे (१८८१ ई०) भी प्रधान फेंच बनवादी चित्रकार है। वितिध शैलियोंके भावसे गुजरता वह १९१० ई०में पिकासो और बाकसे मिला और उसने भी बनवादी शैली अपना ली। अलंकती होनेके कारण उसके चित्रोमें बडी सफाई भी है। उसका चित्र 'वाजके ऊपर प्रोफील' बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

आल्बर ग्लीज (१८८१ ई०-१९५३ ई०) फ्रेंच धनवादी चित्रकार और उस शैलीका सिद्धान्त-निरूपक था। मैटिंजगे-के साथ उसने घनवादी शास्त्रकी पहली पुस्तक 'दु क्युबिडम' १९१२ ई०में प्रकाशित की। १९१९ ई० के बाद वह धार्मिक प्रेरणाओके वशीभूत हो गया और अधिकतर धार्मिक चित्र ही बनाने लगा, पर उसकी शैली घनात्मक वनी रही। चटख रंगोका घनवादी विश्लेषण उसके चित्रों-का प्राण था। जॉ मेरिंजरे (१८८३ ई०) भी ग्लीजकी ही भॉनि घनवादी चित्रकार और सिद्धान्त-निरूपक था। पहले वह नवप्रभाववादियोके प्रभावमें आया। फिर पिकासी और बाक्के प्रमावसे घनवादके दायरेमें उसने ग्लीजके साथ घनवादके सिद्धान्तोंकी 'दु क्युविज्म'मे ज्याख्या की। आन्द्रे लोते (१८८५ ई०) भी फ्रेंच घनवादी चित्रकार था। उसने अंवनके साथ-साथ सिद्धान्तका चिन्तन किया। ज्यामितिक आकारोंपर उसने बड़ी सूझ और अर्थके साथ लिखा। क्लासिकल (शास्त्रीय) कलाका प्रशंसक होता हुआ भी प्रवृत्तिने वह आधुनिकतावादी था और पिकासी और ब्राक्के सान्निध्यमें आते ही जैसे उसने अपनी सहजभूमि और प्रेरणा पा ली। उसने दलोनेकी प्रेरणासे धनवादी शैलीमें शोख रंगोंका प्रयोग किया।

[सहायक ग्रन्थ- मॉडर्न मूवमेंट इन आर्ट : –্ম০ হা০ ব০ घनाक्षरी-मुक्तक दण्डकका एक भेद। इसके अन्य नाम कवित्त और मनहरण भी हैं। इसे मुक्तक वर्णिक छन्द-की कोटिमें माना जाता है। इसमें ३१ अक्षर होते हैं. १६ और १५ अक्षरपर यति होती है। गुर्वन्त होना आवश्यक है। घनाक्षरीवृत्तोंमें ३१ वर्षका कवित्त छन्द अन्य कवित्तोंसे सर्वाधिक प्रचलित और लोकप्रिय है। हिन्दी ब्रजभाषाका यह अपना छन्द है। विद्वानोंमें प्रायः इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कोई निश्चित मत नही स्थापित किया जा सका है। कहते है, १४ वीं शताब्दीमे मार्दगिकसेन कविने इस छन्डका आविष्कार किया था । यह छन्द ध्रुपदमें ठीक बैठता है। भक्तकालीन कवियो-विशेषतः सूरदास (स्रसागर) और तुल्सीदास (विनयपत्रिका)ने पढोंमे इस छन्दका प्रयोग किया है। स्रदासके पूर्व किसीने कवित्त लिखा था, इसका उदाहरण नहीं प्राप्त होता। इसका प्रारम्भिक प्रयोग अकबर दरबारके कवि गंग, 'कवितावली'

और 'रामचिन्द्रका'में मिलता है। ऐसा माना जाता है कि चारणों और भाटोने इस छन्दका प्रयोग किया है, पर रासो प्रन्थों (पृथ्वीराजरासों, परमालरासों)में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। कवित्त संज्ञाका प्रयोग छप्पय छन्दके लिए किया गया है। इस छन्दके निर्माणमें अनुष्टुप् वर्णिक छन्दकी प्रिशा विद्यमान है। वस्तुतः ये छन्द वैदिक छन्दोंके वास्तविक उत्तराधिकारी है, जिनमें गण, मात्रा आदिका कोई बन्धन नहीं होता। संगीत और नाद-व्यंजनाका जिनना अच्छा उदाहरण रीतिकालीन तथा रीतिमुक्त कियोंने इसमें प्रस्तुत किया है, वह अन्य छन्दोंमें दुर्लभ है। यद्यपि अपनी मुक्तताके कारण ये वृत्त मुक्तक है, किन्तु इनमें लालित्य लानेके लिए अनेक बातोकी ओर ध्यान रखना आवस्यक है।

इस छन्द्रके ३१ वर्णीमें प्रायः १६ और १५ पर यति होती है, परन्त समन्त चरणमे ८, ८, ८, ७, वर्णीके बाद यतिका प्रयोग भी होता है। कभी-कभी शब्दके बीचमें यति पडती है तब ७ या ९ वर्णों पर यति प्रतीत होती है. परन्त लयानसार यतिका क्रम पहले जैसा ही रहता है। इसके चारो चरणोमे समान अन्त्यानुप्रास या लालतान्त्या-नुप्रास होता है। चरणान्तमें मगण, रगण और सगण ही आ सकते है। सक्ष्मतः विचार करनेपर समविषम अक्षर-मैत्रीका नियम भी अनिवार्य है, केवल वर्णसंख्या पूरी करने-से छन्दभी लय नहीं बन जाती। सम-वर्णिक शब्दके पश्चात सम-वर्णिक शब्द और विषम-वर्णिक शब्दके पश्चात् विपम-वर्णिक शब्दका प्रयोग अनुकृल पडता है। घनाक्षरीके अष्टक पर्वको दो चतुष्कोंमे विभक्त किया जा सकता है। वर्णिक चतुष्ककी मात्रा-संख्या ४ से ८ तक हो सकती है और ६ मात्राका वर्णिक चतुष्क धनाक्ष्रीके लिए सर्वाधिक अनुकूल है। इससे अधिक मात्राओं के चतुष्कों में धनाक्षरीका प्रवाह गम्भीर और मन्द हो जाता है तथा इससे कम मात्राओं के चतुःकोंका प्रवाह सरल और क्षिप्र हो जाता है।

इस छन्दमें सम और विषम प्रयोगोंका ध्यान रखना इसलिए उचित है कि सम प्रयोग कर्ण मधुर होते हैं, इसी प्रकार विषम प्रयोगमें विषमके साथ विषम रख देनेसे 'विषस्य विषमौषधम्' हो जाता है, अर्थात् सुन्दर हो जाता है। एक, तीन या पाँच वर्णोंमें पूर्ण हो जानेवाले पद विषम और दो, चार और छःमें पूर्ण हो देवाले सम कहलाते हैं। लयकी धष्टिसे कवित्तों में माधुर्य लानेके लिए सम तथा विषम प्रयोगोके सम्बन्धमे भानुने 'छन्दप्रभाकर'में ध्यान आक पिन किया है। इसके रूप-विधानके सम्बन्धमें जगन्नाध-प्रसाद 'रताकर'ने विचार किया है। यह नियम प्रायः ३ अक्षरोंसे न्यूनके शब्दमे लागू नहीं होते, क्योंकि उनमे मगणादिकी सम्भावना नहीं होती, परन्तु अन्यत्र इस सम्भावनापर यथोचित विचार कर लेना चाहिये। यह भी ध्यान रख़ना चाहिये कि ये नियम उसी अवसरके निमित्त हैं, जहाँ एक ही शब्दमे गण पड़े। पर जहाँ शब्दोके जोड-तीड़में गण होगा, वहाँ ये नियम लागू नहीं होगे।

इस छन्दमे प्रवन्ध-क्षमता कम है, अतः इसका प्रयोग स्फुट रचनाओमे अधिक हुआ है। यही कारण है कि यह रीतिकालका प्रचित्र और प्रिय छन्द है। अनेक रसीमें सफलतापूर्वक प्रयुक्त होनेपर भी यह छन्द शृङ्गार और वीर रसका विशिष्ट छन्द है। आधुनिक युगमे भी बजभाषाके कवियोंमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'रलाकर' तथा खडीबोलीके कवियोमे 'हरिऔध'(रसकलदा), मैथिलीशरण गुप्त (साकेत), अनूप शर्मा (सुमनांजिल), गोपालशरण सिंह, दिनकर (कुरुक्षेत्र) आदिने इंसका प्रयोग किया है। वस्तुतः इसे हिन्दीका राष्ट्रीय छन्द्र माना जा सकता है।

रीतिकालके कवियोंने इस छन्दमे बहुतसे प्रयोग किये है। सदनने अपने 'सजान-चरित'में इसका वावित्त-यनाक्षरी नामसे विशेष प्रयोग किया है—"जब होत असवार, भूव-भारके निवारक बन्दि सरदार, बदनेसकी कुँवार" (२७: ३, ४)। इसमें १७, १५ पर यति है और पहिले और तीसरे चरणमें ८, ९, ८, ६ तथा दूसरे और चौथेमें ८, १०, ८, ६ पर यति है तथा अन्तमें गुरु-लघु है। देवके प्रयोगोंमे कई विशेषताएँ है। कभी-कभी एक चरणकी मात्राएँ ३२ या ३३ हो गयी है-"कुँवर किशोरी मुख मोरी करै सखियन सों चोरा चोरी चितगति रोरी सी रची रही" (र० वि०, पृ० ५३) । इसमे ३२ अक्षर है । तुलसीदास और पद्माकरके कवित्तों में ८, ८, ८, ८, यतियोंसे १६ अक्षरोंका प्रयोग भी मिलता है। केशवदासका उदाहरण—"वानी जगरानीकी उदारना बखानी जाय, ऐसी मति कही थी उदार कौनकी भई" (रा० च०, प्र०१:२)। इस छन्दमे लयके अनुसार भाव और चित्रको व्यंजित करनेकी अपूर्व शक्ति है। —पु॰ ज़ु॰ और ह॰ मो॰ घासलेटी साहित्य-'घासलेटी' शब्द (विकृत या नकली धीके लिए सामान्यतः प्रयुक्त)का अर्थ है-निकृष्ट, निकम्मा गंदा। अनैतिकताको प्रश्रय देनेनाले तथा लेगिक विकृतियो-को चित्रित करनेवाले साहित्यके लिए 'घासलेट' विशेषणका सर्वप्रथम प्रयोग बनारसीदास चतुर्वेदीने किया, जब वे 'विज्ञाल भारत'के सम्पादक थे। घासलेटी साहित्य विरोधी आन्दोलन लगभग दो वर्षते भी ऊपर चला ! इसमें कई लेखकोंने भाग लिया। सन् १९२८, १९२९ और १९३०-की हिन्दीकी पत्र-पत्रिकाओंमें घासलेटी साहित्यपर बहुत कुछ लिखा गया है। 'विशाल भारत'में कई प्रतिष्ठित व्यक्तियोंने बनारसीदास चतुर्वेदीके विचारोंका समर्थन किया तथा गोरखपुरके सम्मेलनने तो प्रस्ताव भी पास किया। महात्मा गांधीतकने इस विषयपर ध्यान दिया था एवं ऐसी कुछ कृतियाँ भी स्वयं पढी थी। इस प्रसंगमें बनारसीदास चतुर्वेदीसे उनका पत्र-व्यवहार एवं वार्तालाप भी हुआ। पत्र व्यवहार काफी बादमे स्वयं बनारसीदासजीने प्रकाशित कराया । गांधीजीने ऐसी चीजोंको उस अर्थमे तो यहण नहीं किया, जिस रूपमें बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने प्रस्तुन किया था (गांधीजीका मत ऐसी एक या दो पुस्तकोतक ही सीमित है, जो उन्होंने पढी थी)।

घासलेटी साहित्य सम्बन्धी विवाद बहुत कुछ पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्न'की कथा-कृतियोंकी लक्ष्य करके उठा ('चाकलेट', 'अबलाओंका इन्साफ', 'दिल्लीका दलाल' आदि)। 'उग्न'के ऐसे साहित्यकी भत्सेना आदर्शवादी-नीति-वादी समीक्षकोंकी ओरसे होना स्वोभाविक ही है। 'उग्न'ने अपनी हन रचनाओंका मन्तव्य यही बेताया कि वे समाज-

की निकृष्टताको प्रोत्साहित करनेके लिए नहीं, प्रत्युत उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करनेके छिए लिखी गयी है। अतः इस प्रसंगपर मतैक्य नहीं हो सकता। आज भी तथाकथित मनो बानिकताके नामपर उपन्यासोमे नग्न चित्रण देखने को मिलते है, जो सामाजिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बडे घातक है। वस्तुतः अधिकांश घटनाएँ लेखकके अपने मस्तिष्ककी उपज होती है, उनका यथार्थमे कोई सम्बन्ध नहीं होता। यथार्थ होनेपर भी यह युक्तियुक्त नहीं कि साहित्यकार, मानवकी पतनशील प्रवृत्तियोको ब्यौरेवार लिपिनद्ध करे. फिर भले ही उनको पढकर उनके प्रति चाहे आक्रोश उत्पन्न हो, चाहे ललक। घोड़ी-घुड-चढीके गीत; दूरहेको घोडीपर विठाते समय गाया जाता है। इसमें घोडीकी सज्जा, चाल, उसके हाव-भाव और उसपर चढ़नेवाले वरके सौन्दर्य आदिका उल्लेख रहता है। घोडीके गीत मुसलमानोंके यहाँ खास तौरसे गाये जाते है। चंचरी-वर्िक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद। भानुके अनुसार 'छन्दप्रभाकर' (पृ० ८७)मे इसका लक्षण र, स, ज, ज, भ, रके योगसे बताया गया है। (SIS, IIS, ISI, ISI, SII, SIS), 'प्राकृतपैगल'मे चर्चरी (२:१८४), 'छन्दोन्शासन' (हेमचन्द्र)मे उज्ज्वल (२:३१३) और 'छन्दः सूत्र'मे विव्रधप्रिया (८:१६) नाम दिया गया है। इस छन्दमे १०,८ वर्णोपर यति होती है, पर भिगलने ८,१० वणोंपर यति मानी है। इसका मात्रिक रूप गीतिका-छन्द है। सृदनने चर्चरी नामसे प्रयुक्त किया है (सुजान-चरित), पर केशवने चंचरी नाम ही दिया हे। उदा०--'माल श्रीरघुनाथके उर शुभ्र सीतहि सो दयी। अपियो हनुमन्तको तिन दृष्टि के करुणामयी।' (रा० च०, २६ँ: २३)। चंचला - विभिक्त छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृत-पैगलम्' (१४ श॰ ई॰)मे उल्लिखित वर्णवृत्त (१७२)। ८ गुरु-लघु-के योगसे यह छन्द बनता है। 'स्वयभुच्छन्द'मे (१, ४३) इसका नाम चित्रशोभा दिया है। केशवने इसका नाम ब्रह्मरूपक दिया है। उदा०—'अन्न देह सीसदें इराखि लेइ प्राणजातः राज बाप माल्लै करै जु पोषि दीह गात। दास होइ पुत्र होय शिष्य होय कोई माय, शासन न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ।' (रा० च०: ९: ९)।--पु० ञु०

चंचलातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति', छठा मेद ।
चंडाग्नि — वज्रयोगमे पवन-निरोधके उपरान्त अवधूती मार्गमे
चण्डाग्निके प्रज्वलित करनेकी क्रियाका विधान है। यही
चण्डाग्निके प्रज्वलित करनेकी क्रियाका विधान है। यही
चण्डाग्नि समस्त क्लेश और वासनाओको सस्म कर देती
है। शैव पद्धतिमें इसीको ब्रह्माग्नि कहा गया है। नाथपन्थी
तथा सन्तोमें यद्यपि इसे चण्डाग्नि नामसे नही पुकारा
गया, किन्तु इसका वर्णन अवस्य मिलता है। इस अग्निको
प्रज्वलित करनेके लिए नौ इन्द्रियद्वारोको प्रवन्तन्थ द्वारा
बन्द कर केवल दसवें द्वार—ब्रह्मरन्ध्र अथवा वैरोचन द्वारको उद्घाटित करना पड़ता है। —थ० वी० भा०
चंद्ग-दे० 'इठयोग', 'पिंड'।

चंद्र-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । भानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें १७ मात्राएँ होती है। सूरने वर्णनात्मक स्थलोपर इसका भी प्रयोग किया है—"कियो अति मान वृषभानु वारी। देखि प्रतिविम्व प्रिय हृदय नारी" (स्॰ सा॰: ना॰ प्र॰, प्र॰ ३६५)।

चन्द्रगिरि - मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथसे सम्बद्ध कथाओंमें चन्द्रिंगरी और चन्द्रद्वीप नामक स्थानका उल्लेख बार-बार आता है। 'योगि संम्प्रदायाविष्कृति' (अध्याय ३)मे एक कथा है, जिसमे बताया गया है कि गोदावरी गंगाके समीप स्थित चन्द्रगिरि नामक स्थानके एक सुराज नामके ब्राह्मण की पत्र मिलापिणी पत्नी सरस्वतीको मत्स्येन्द्रनाथने भभत दी थी, जिसको खानेके फल्स्वरूप उसने गोरखनाथको पुत्र रूपमे जन्म दिया था। मत्स्येन्द्रनाथमे सम्बद्ध कथाओं-की परीक्षाके वाद हजारीप्रसाद दिवेदीने यह निष्कर्ष निकाला है कि "चन्द्रगिरि कामरूपसे बहुत दूर नही था और या नो बंगालके समुद्री किनारेपर कही था, या जैसा कि तिब्बती परम्परासे स्पष्ट है, ब्रह्मपुत्रसे घिरे हुए किसी द्रीपाकारं भूमिपर अवस्थित था। इतना निदिचत है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्षमें कामरूपके पास कही था।" (नाथ संप्रदाय, पृ० ५५-५६) । चन्द्रगिरि ही चन्द्रद्वीप भी है। कुछ लोगोका अनुमान है कि यह कलकत्तेके दक्षिणमें स्थित सुन्दरवनका ही ध्वनि परिवर्तित रूप है। सुन्दरका चन्द्र होना सम्भव भी है विशेष विवरणके लिए दें 'नाथ सम्प्रदाय', पृ० ४३-४४) । चंद्रवरमी-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। रगण, नगण, भगण, सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (SIS, III, s॥, ॥s); 'रत्नमंजूषा' (५:३)में इसका वितान नाम दिया है। हेमचन्द्र (छं० २: १६१), जयदेव (छन्दो०, ६:४३), विरहांक (वृत्त०३:४४)ने चन्द्रवर्त्म नाम माना है। तुलसीकी चौपाइयोमे इस छन्दके चरण मिल सकते हैं- 'राम भक्तजन जीवन धनसे' (बालकाण्ड)। केशवने इस छन्द्रका प्रयोग किया है-"स्नान दान जप जाप जु करियो । सोधि सोधि उर मॉच जु धरियो । जोग जाग हम जा लग गहियो। रामचन्द्रं सबको फल लहियो" (रा० चं०, ११: २)। —पु० ञु० चंद्रसखी - स्त्रियोके भक्तिनीतः चन्द्रसखी कृष्णाश्रयी शाखा-

चंद्रसखी - स्त्रियोके भक्तिनीतः चन्द्रसखी कृष्णाश्रयी शाखाकी लोकनायिका है। इनके गीत मालवा, राजस्थान,
निमाड और ब्रजकी जनतामें प्रचलित है। इस कविष्यत्रीका
काल १७ वी या १८ वी शताब्दी अनुमानित किया
जाता है। चन्द्रसखीके भजन स्त्रियोमें खूब प्रचलित
है।
—श्यान पर्

चंद्रावल — सावनके दिनोमें कुरुपदेश, वुन्देलखण्ड, राजस्थान और गंगाके मध्यवर्ता मैदानोमे 'चन्द्रावल' अथवा 'चन्द्रावल' नामक एक गीत-कथा प्रचलित है। किसी-न-किसी रूपमे यह कथा प्रायः सभी जनपदोमें उपलब्ध है। कथा-की रूपरेखा इस प्रकार है— "एक दिन मुगलोकी सेनाने चन्द्रावलिके गॉवके निकट देरा डाला। चन्द्रावलि माताके करजनेपर भी घडा लेकर पानी भरने पहुँची। मुगलोंने उसे तम्बुओके बीच डाल लिया। तब उसका पिता, माई आदि बारी-बारीसे उसे छुडानेके लिए मुगलोंके पास पहुँचे। चन्द्रवलिको उन्होंने नहीं छोडा। तब थोहेसे चन्द्रावलिने तम्बुओमे आग लगा दी और जल गथी"। 'चन्द्रावल्ल' वस्तुतः

चन्द्राविक सम्बन्धमें गेय गीतोंक कथा-रूपकी संज्ञा है। बुन्देलखण्डमें 'मश्रावली'के नामसे जो गीत-कथा गायी जाती है, उसकी कथावस्त भी चन्द्रावलके अनुरूप है। केवल चन्द्रावलिके स्थानपर मथुरावलीका प्रयोग किया जाता है। चन्द्राविल कहीं-कहीं ब्याहता बतायी गयी है। वह अपने पति और ससरकी लाज रखनेके लिए तथा पिता और भाईका मुख उज्ज्वल करनेके लिए मुगलोंको समर्पित होनेकी अपेक्षा अग्निकी लपटोंमें अपनी आहति देकर कथाको कारुणिक स्थितिमें समाप्त करती है। पाठ-भेदकी दृष्टिसे शब्दोंमे यहाँ-वहाँ भेद स्वाभाविक है। कहीं मुगलोंके स्थानपर 'तुरुक'का प्रयोग है। इस प्रकार जलकर 'चन्द्रावल' या 'मथुरावली' कुल-पुरुषोंकी पगड़ीकी लाज रखती है। 'रोय चले बाकें साहिबा, बिहँस चले राजा बीर, राखी बहना पगड़ीकी लाज, ठाडी जरै मथुरावलि।' (चन्द्रावलि)।' उक्त गीतकथा श्रावणमें झूलेपर गायी जाती है। अनुमानतः गीत पाँच-छः शताब्दीसे अधिक प्राचीन नहीं है।

मालवामें 'चन्द्रावल' नामक एक और गीत-कथा दीपावलीके दूसरे दिन गायी जाती है। उसमे चन्द्रावलि एक गुजरी है, जो कृष्णको अपने यहाँ आमन्त्रित करती है। सेजपर छिलया कृष्णने चन्द्रावलिको बिलमाया और रात छ मासकी हो गयी। परिणामस्वरूप गौशालामें प्रतीक्षा करता हुआ उसका पति 'गोरधन' गायोंके खुरोंसे कुचलकर मर गया। उसीकी स्मृतिमें 'गोरधन' छापे जाते है और चन्द्रावल गाकर स्त्रियाँ लोकाचार पूर्ण करती है। भारतीय लोकगीतों में चन्द्राविल नाम और भी कथा-प्रसंगोंके बीच आता है। स्थूल रूपसे मुगलोंके अत्याचारसे पीडित चन्द्राविल ही 'चन्द्रावल'की नायिका है। चंपू-अन्य कान्यका एक भेद। दे० 'साहित्यरूप'! "गद्यपद्यमयं कान्यं चम्पूरित्यभिधीयते"-(सा० द०, ६,३३६), अर्थात् गद्य-पद्यके मिश्रण कान्यको चम्पू कहते है। कान्यकी इस विद्याका उल्लेख साहित्यशास्त्रके प्राचीन आचार्यों-भामह, दण्डी, वामन आदिने नहीं किया। यों गद-पद्यमय शैलीका प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक, जातकमाला आदि अति प्राचीन साहित्यमें भी मिलता है। चम्पू नामके प्रकृत कान्यकी रचना दसवीं शतीके पहले नहीं हुई। 'नल चम्पू'(त्रिविक्रमभृष्ट्), जो दसवीं सदीके प्रारम्भ-की रचना है, चम्पूका प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'यशःतिलक' (सोमदेव सुरि), 'चम्पू रामायण' (भोजराज), 'आनन्दवृन्दावन' (कवि कर्णपूर), 'गोपाल चम्पू' (जीव गोखामी), 'नीलकण्ठ चम्पु' (नीलकण्ठ दीक्षित) और 'चम्पू भारत' (अनन्त कवि) दसवीसे सन्नहवीं रातीतकके चम्पू-काव्योंके उदाहरण है।

वस्तुतः यह काव्यरूप अधिक लोकप्रिय न हो सका और न काव्यशास्त्रमें उसकी विशेष मान्यता हुई। हिन्दीमें 'यशोधरा' (मैथिलीशरण गुप्त)को चम्पू-काव्य कहा जाता है, क्योंकि उसमें गद्य-पद्य दोनोंका प्रयोग हुआ है। -- ब्र० व० **चउपैया** – मात्रिक सम छन्दका एक भेद । 'प्राकृतपैंगलम्'में इसके प्रत्येक चरणमें ३० मात्रा तथा अन्तमें ग (S) माना गया है (१:९७)। भिखारीदासने इसी लक्षणके छन्दका नाम चौनोल दिया है (छन्दो०, पू० ३३)। मानने

'प्राकृतपैगलम्'के अनुसरणपर इसमें १०,८,१२पर यति मानी है और अन्तमें एक सगण (IIS) और ग (S)का प्रयोग कर्णमधुर कहा है (छं० प्र०, पृ० ६९)। तुलसीने प्रयोग 'रामचरितमानस'में, केशवने इस छन्दका 'रामचन्द्रिका'में तथा रघुराजने 'रामस्वयंवर'में किया है। इनके अतिरिक्त नन्ददास तथा सुन्दरदास द्वारा भी यह प्रयुक्त हुआ है। प्रायः स्तुति या प्रशंसामें इसका अच्छा प्रयोग हो सका है; विशेषकर तुल्सीने-"जय-जय अबि-नासी, सब घटबासी, ब्यापक परमानन्दा" (रा० च० मा०, १:१८६)। यह छन्द अलंकार-छन्द कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी यतिके साथ यमकका प्रयोग भी होता है। उदा०-"भए प्रगट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।' (रा० च० मा०, १: १९२) तथा-"गुनगन प्रतिपालक रिपुकुल-घालक, बालक ते रण्रन्ता" (रा० चं०, ३६ : ९)।

चकवा-एक पक्षी जो जाड़ेमे नदियों और बड़े जलाश्योंके किनारे दिखाई देता है और वैशाखतक रहता है। अधिक गरमी पडते ही यह भारतवर्षसे चला जाता है। यह दक्षिणको छोड़ सारे भारतवर्षमें पाया जाता है। यह पक्षी प्रायः झण्डमें रहता है। यह हंस जातिका पक्षी है। इसीलिए सन्त लोग इसे जीवका भी पर्यायवाची मानते है। यह अपने जोड़ेसे बहुत प्रेम करता है। बहुत कालसे इस देशमें ऐसा प्रसिद्ध है कि रात्रिके समय यह अपने जोड़ेसे अलग रहता है। सन्तोंने इसके रात्रिकालके वियोगजनित दःखको लेकर जीवका ईश्वरसे विछोह होनेकी कल्पना की है। "चकवा चकई दो जने, इन मारो मित कोय। ये मारे करतारके रैनि विछोहा होय।" — তত হাত হাত

चिकत-दे॰ 'स्वभावज अलंकार', सोलहवॉ।

चतुर्व्याह-पांचरात्रके अनुसार भगवान् लोककल्याणके लिए (दे॰ 'गीता', अ० ४, श्लो० ८) चार प्रकारका रूप धारण करते है-(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार, (४) अन्तर्यामी अवतार । व्यूहमें वासुदेव (सर्वकामी पर-मातम्य), संकर्षण (जीव), प्रद्युम्न (मन), अनिरुद्ध (अहंकार) की गणना है (विशेष-दे० 'ब्युहवाद')। -वि० मो० श० चपलता – प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी। भरतने इसके विभाव प्रेम, घूणा, अधैर्य, ईर्ष्या, विरोध आदिको माना है और कठोर वचन, प्रतारणा, पीटना, मारना, बॉधना आदिको अनुभाव स्वीकार किया है (नाट्य०, ७:६०)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है- मात्सर्यद्वेषरागा-देश्चापरुयं त्वनवस्थितिः। तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाः चरणादयः।' (सा० द०, ३: १६९)। मात्सर्य, द्वेष, राग आदिके कारण मनका स्थिर न रहना चपलता है। इसमें भर्त्सना, परुषता, स्वच्छन्दता आदिका आचरण पाया जाता है। हिन्दीके कुछ आचार्यीने इसका अनुसरण किया है-"रागरु क्रोध बिरोध तें चपल चेष्टा होय" (भाव०,

चपलता भी दो प्रकार की होती है-प्रकृतिगत और आगन्तुक । प्रकृतिगत चपलता भावदशाके रूपमे अभिन्यक्त होती है। आगन्तुक चपलता ही संचारी हो सकती है, क्योंिक इसीका सीधा सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे होता है। रीतिकालीन किवयोंने रागको प्रधानता दी है। पद्माकरका लक्षण है—"जहँ अति अनुरागादि तें, थिरता कछू रहै न। तित चितचाहे आचरण, वहै चपलता ऐन।' (जगत्०, ५६५)। पद्माकरने रागजन्य संचारीका ही उदाहरण दिया है—"शॉकित है कबहूँ झॅझरीन झरोखिन त्यों सिरकी सिरकी मै। झॉकित ही खिरकी में फिरै थिरकी-थिरकी खिरकी-खिरकी में'' (जगत्०, ५६६)। तुलसीदास-ने सीताके मनोभावमें इसीकी व्यंजना की है—"चितवित चिकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मनचीता'' (रा० च० मा०, १)। —व० सिं० चपलातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति', छठा भेद।

चरखा-लकडीका बना हुआ एक प्रकारका यन्त्र, जिसकी सहायतासे ऊन, कपास या रेशम आदिको कातकर सत बनाते है। सन्तसाहित्यमें चरखेके रूपकसे शरीरके म्थूल रूपका ग्रहण किया गया। चरखेके समान ही शरीरके सारे व्यापारको स्पष्ट करनेके लिए एक-एक चीजका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। "जो चरखा जरि जाय बढैया ना मरे। मैं कातौं सत हजार चरष्ठा जिन जरें (कबीर-बीजक, २२७), अर्थात् यद्यपि चरखारूपी शरीर जल जाता है, परन्तु उसका बनाने या कल्पना करनेवाला बढई (मन) नहीं मरता है। जो इस चरखेंको समझ ले और उसे मनके ये संकल्प-विकल्प विदित हो जायँ तो फिर आवागमन मिट जाता है। चरण-कि , छन्दकी प्रधान यतिपर समाप्त होनेवाली पूर्ण पंक्तिको उसका एक 'चरण' कहा जाता है। 'पद' और 'पाद' इसके पर्याय है । सामान्यतः छन्दकी कल्पना चतुष्पादके रूपमें मि न्ती है, अतएव अधिकांश छन्द चार चरणोवाले होते हैं। चरणकी समानताका अर्थ है मात्रिक यति-गति तथा मान्रा-संख्याकी एकरूपता । वर्णिक छन्दोंमें वर्ण-क्रम तथा वर्ण-संख्यासे यह समानता मापी जाती है, साथ ही यति-गतिका विचार भी रहता है। कुछ छन्द चारसे कम और चारसे अधिक चरणोंवाले भी होते हैं। वैदिक छन्दोंमें त्रिपाद गायत्री, त्रिपाद अनुष्टुप् आदि तीन ही चरणोंके होते हैं तथा 'षट्पद', जिसका अपभ्रंशरूप 'छप्पय' हो गया है और 'मिलिन्दपाद' नामक छन्द छः चरणींवाले होते हैं। इसी कारण इनका नामकरण भौरेके समानाथीं शब्दोंसे किया गया है।

सम, विषम, अर्द्धसम-जिन छन्दों में सब चरण समान होते हैं, उन्हें 'सम'; जिनमें दोसे अधिक चरण समान न हों, उन्हें 'विषम' और जिनमें कुछ चरण (पहला, तीसरा) एक समान हों तथा अन्य (दूसरा, चौथा) कुछ उनसे मिन्न, किन्तु परस्पर समान हों, उन्हें 'अर्द्धसम' कहा जाता है। इस प्रकार सम, विषम और अर्द्धसम ये मात्रिक और विणंक, दोनों प्रकारके छन्दोंके विभाजन है, जिनका आधार चरणोंकी समानता, असमानता तथा अर्द्धसमानता मानी जाती है। विषम संख्याके चरणोंवाले छन्द विषम कोटिमे ही आते हैं, चाहे सभी चरण परस्पर समान हो। यह एक प्रकारका अपवाद जैसा है, विषमताका निर्णय चरणोंके रूपसे न होकर चरण-संख्यासे होता है। —ज० गु०

चरितकाड्य-चरितकाव्य प्रबन्धकाव्यका ही एक विशेष रूप या प्रकार है। प्रबन्धकादय, कथाकादय, और इतिवत्तात्मक कथा (पराणकथा आदि), तीनांके लक्षणों-का समन्वय हुआ है। यही कारण है कि प्रायः चरित-काव्योंको कभी चरित, कभी कथा और कभी पराण कहा गया है, जैसे, 'पडमचरिउ', 'रिट्रणेमिचरिउ', 'पञ्जूण्ण कहा', 'भवित्त कहा', 'जसहरचरिउ', 'महापुराण', 'हरिवंशपुराण' आदि । वस्तुतः चरितकाव्यों-में इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है और सबका अभिप्राय प्रबन्धकाव्यसे ही है, ऐतिहासिक चरित्र, पराणकथा या साहित्यिक कथाकाव्यसे नहीं। किन्त चरित, कथा और पुराण नामवाले सभी प्रन्थ चरितकाव्य नहीं होते, जैसे 'बुद्धचरित', 'श्रीकण्ठचरित', 'नैषधीय चरित' आदि शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य हैं, 'श्रतपंचमीकथा', 'लीलावई कहा', 'समराइच कहा', 'दशकमारचरित', 'हर्षचरित' आदि कथाकाव्य और इतिवृत्तात्मक कथाकाव्य हैं तथा 'अग्निपुराण', 'वासुपुराण', 'आदिपराण', 'उत्तरपराण' आदि पुराणग्रन्थ हैं।

चरितकाव्यकी कछ निजी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण वह पुराण, इतिहास और कथासे भिन्न तथा एक विशेष प्रकारका प्रवन्धकाव्य माना जाता है। संस्कृतमें चार जैलियोके प्रबन्धकाच्य मिलते हैं। शास्त्रीय शैलीं, ऐतिहासिक दौली, पौराणिक दौली और रोमांसिक दौली। इनमेंसे प्रथमके अतिरिक्त अन्य तीन शैलियोंमें चरितकान्य होते हैं। अपभंशमें पौराणिक और रोमांसिक, इन दो ही हैं लियों के प्रबन्धकान्य मिलते हैं और वे सभी चरित-काव्य हैं। 'पउमितिचरिख'की भूमिकामें इरिवहाम भायाणीने चरितकाव्यका खरूपनिर्देश करते हुए लिखा है कि "खरूपकी दृष्टिसे अपभ्रंशके पौराणिक कार्त्यों और चिरतकाव्योंमें बहुत अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्योंमें विषयका विस्तार बहुत अधिक होनेसे सन्धि-संख्या पचास-से सवा सौतक होती है, किन्त चरितकाव्योंमें विषय-विस्तार मर्यादित होता है, जिससे सन्धि-संख्या अधिक नहीं होती। शेष बातों, जैसे सन्धि, कड़वक, तुक, पंक्ति-यगल आदिमें दोनोंमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु सभी चरितकाव्य कडवकवद्ध हों, यह बात भी नहीं है, हरिभद्र-का 'णेमिणाइचरिउ' आद्यन्त रङ्खाछन्दमें है'' (पउमसिरि-चरिउ, भूमिका, पृ० १५)। किन्तु यह अन्तर बाह्य स्वरूपका अन्तर है, भायाणीजीने दोनोके आन्तरिक स्वरूप-का कोई अन्तर नहीं बताया है। वस्तृतः पुराण, पौराणिक सामग्रीवाले काव्य और पौराणिक शैलीका काव्य, इन तीनों-में बहत अन्तर होता है। इनमे पुराण तो काव्य होता ही नहीं। पौराणिक सामग्री लेकर शास्त्रीय या रोमांसिक शैलीके प्रबन्धकाव्य भी लिखे जाते है और ऐतिहासिक और उत्पाद्य सामग्री लेकर भी पौराणिक शैलीके महाकान्य लिखे जा सकते है। अतः काव्य पौराणिक नहीं होता, बल्कि उसकी शैली पौराणिक ऐतिहासिक, रोमांसिक या शास्त्रीय होती है। इनमे तीन शैलियों में चिरतकाव्य होते हैं, शास्त्रीय शैलीमें नहीं होते। उदाहरणार्थ-पौराणिक शैलीके चरित-काव्य-'पशचरित', 'पाइर्वनाथचरित', 'पडमचरिय'. 'पडमचरित', 'महापुराण', 'पासपुराण', 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' आदि । ऐतिहासिक शैलीके चरितकाव्य— 'पृथ्वीराजविजय', 'विक्रमांकदेवचरित', 'राजतरिगणी', 'कुमारपालचरित', 'हम्मीर महाकाव्य', 'गउडवहो' आदि । रोमांसिक शैलीके चरितकाव्य—'नवसाहसांकचरित', 'चन्द्र-प्रभचरित', 'शान्तिनाथचरित', 'मलयसुन्दरीकहा', 'अंजष्गा सुन्दरीचरिय', 'मविसयत्तकहा', 'करकण्डुचरिय', 'जसहर-चरिख' आदि ।

इस प्रकार प्रवन्ध-काव्यके मुख्यतः दो रूप होते है, (१) शास्त्रीय प्रबन्धकान्य, (२) चरितकान्य। चरितके लक्षण ये है: १. निरितकाच्यकी होली जीवनचरितकी होली होती है। उसमे प्रारम्भमें या तो ऐतिहासिक ढंगसे नायकके पूर्वेज, माता-पिता और वंशका वर्णन रहता है या पौराणिक ढंगसे उसके पूर्व भावोका कृतान्त तथा उसके जन्मके कारणों-का वर्णन होता है अथवा कथाकाव्यकी तरह उसके माता-पिता, देश और नगरका वर्णन रहता है। उसमे चरित-नायकके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्ततककी अथवा कई जन्मों-(भवान्तरों)की कथा होती है। उसमे शासीय प्रवन्धकान्यों-की तरह महत्त्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करनेवाली मुख्य घटनाओंका चुनाव और वर्णनात्मक अंशोंकी अधिकता नहीं होती। अतः वह कथात्मक अधिक और वर्णन त्मक कम होता है। चरितकाव्यका कवि कथाको छोडकर वस्तु-वर्णन या प्रकृति-चित्रणमें अधिक देरतक नहीं जलझता। इसी कारण वह कथाकान्यके अधिक निकट तथा शास्त्रीय प्रबन्धकान्योकी अपेक्षा अधिक स्वामाविक, सरल और लोकोन्मुख होता है। २. चरितकाव्यमे प्रायः प्रेम, वीरता और धर्म या वैराग्य-भावनाका समन्वय दिखलाई पड़ता है। सबमें कोई-न-कोई प्रमक्या अवस्य होनी है और उसका स्थान गौंण नहीं, महत्त्वपूर्ण होता है। उसमें पौराणिक कथानकमें भी प्रेमाख्यानक रंग भरनेका प्रयतन दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी चरितकाव्योंमे प्रेमका प्रारम्भ समान रूपमें स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या प्रथम साक्षात्कार द्वारा होता है। विवाहके पहले या · बादमें नायक-नायिकाके मार्गमें अनेक विवन-बाधाएँ आती है, युद्ध करने पडते है और अन्तमें उनका मिलन होता है। जैन चरितकाव्योंमें प्रायः अन्तमें नायक किसी प्रेरणा या उपदेशसे संसारसे विरक्त होकर जैन मुनि बन जाता है। ३. प्रायः सभी चरितकाव्योंमें कथारम्भके लिए वक्ता-श्रोता-योजना अवस्य होती है। यह प्रश्नोत्तर योजना इतने रूपोंमें मिलनी है :-(क) धर्मगुरु और शिष्य, पौराणिक कथाविद् और भक्तजन अथवा श्रावक और श्रोताके बीच; (ख) शुक-शुकी, शुक-सारिका, भृंग-भृंगी अथवा किसी वक्तापक्षी और मानव-श्रोताके बीच; (ग) कवि और कवि-परनी या कवि और उसके किसी शिष्यके बीच। ४. उसमे अलैकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय राक्तियों, कार्यों और वस्तुओका समावेश अवस्य रहता है, जो पौराणिक और रोमांसिक शैलीके कथाकान्यों, पौराणिक कथाओं और लोककथाओकी देन है। इस कारण उसमें साहसपृर्ण, आइचयोंत्पादक और रोमांसिक कार्यों तथा तत्त्वोंकी अधि-कता होतो है और उन सभी कथानक-रूढियोंकी भरमार

होती है, जो लोककथा और कथा-आख्यायिकामें बहुत अधिक मिलती है। ५ उनका कथानक शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्यों जैसा पंचसन्धियोंसे युक्त और कार्यान्वितिवाला नहीं होता, वह कथाकाव्योंकी तरह स्फीन, विश्वंखल, गुम्फित या जटिल होता है। ६. उसकी शैली कथाकान्योसे अधिक उदात्त होती है, पर शास्त्रीय प्रवन्धकाव्यों जैमी अतिशय अलंकत, चमत्कारपूर्ण या पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्तिसे युक्त नहीं होती, जिमसे उसमें अधिक सरलता, सादगी और सामान्य जनताके लिए पर्याप्त आकर्षण होता है। ७. चरितकाव्य प्रायः उद्देश्यप्रधान होता है, कथाकाव्योंकी तरह केवल मनोरंजन करना उसका लक्ष्य नहीं होता। यह उद्देश्य कभी धार्मिक, कभी प्रशस्तिमूलक और कभी लोककल्याणाभिनिवेशी होता है। परन्तु उसका उद्देश्य अधिक उभरा हुआ और स्पष्ट होता है, शास्त्रीय प्रबन्ध-काव्यों जैसा कलात्मक सौन्दर्यके भीतर निहित नहीं होता। इसी कारण चरितकाव्य उपदेशात्मक, प्रचारात्मक या प्रशस्तिमूलक प्रतीत होते हैं।

उद्देश्य और विषयवस्तुकी दृष्टिसे चरितकाव्य छः प्रकारके ह्रांत है—१. धार्मिक, २. प्रतीकात्मक, ३. वीरगाधात्मक, ४. प्रेमाख्यानक; ५. प्रशस्तिमूलक, ६. लोकगाधात्मक । हिन्दीके अधिकांश मध्यकालीन प्रवन्धकाव्य अपभ्रंशके प्रवन्धकाव्योकी भाँति चरितकाव्य ही है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—१. धार्मिक पौराणिक—'रामचरितमानस', 'कृष्णचन्द्रिका', 'दशावतार'। २. प्रतीकात्मक—'प्रधावत', 'लोरिकचन्दा', 'मृगावती', 'मधुमालती' आदि। ३. वीरगाधात्मक—'पृथ्वीराजरासो', 'हम्मीररासो' आदि। ४. विशुद्ध प्रेमाख्यानक—'वीसलदेव रास', 'छिताईवार्ता', 'नल दमन' आदि। ५. प्रशस्तिमूलक—'वीरसिंहदेवचरित', 'छत्रप्रकाश'। ६. लोकगाधात्मक—'वीलामार रा दृहा', 'आव्हखण्ड', 'उदयवत्स सावलिंगा' आदि।

चरित्र, चरित्र-चित्रण-दे॰ 'पात्र'।

चर्चरी – चर्चरी १३वीं शताब्दीसे पूर्वका लोक-प्रचलित गीत है। जिनदत्त सूरि नामक जैन कविने इस गीतको अपनाया था । चर्चरी यद्यपि कोई निश्चित छन्द-प्रकार नहीं है, तथापि १२वी शताब्दीके लगभग वसन्तके दिनोंमे आगरा और उसके निकटवतीं क्षेत्रोमे यह गीत खूब गाया जाता था। कबीरने बीजकमे 'चॉचर'का प्रयोग किया है, वह कदाचित 'चर्चरी'का ही विकृत स्वरूप है। यह गीत नृत्य करते समय गाया जाता था । कालिदास और श्रीहर्षके नाटकों में 'चर्चरी'का उल्लेख आया है। कतिपय टीकाओं मे 'चॉचर'को खेल बताया है, जो कदाचित् चर्चरीसे भिन्न होगा। 'चर्चरी' शृंगार-प्रधान लोकगीत होना चाहिये, जो अपनी लोब प्रियताके कारण कतिपय जैन कवियोको आक-षित करनेमे सफल हुआ। चर्या - महायानके धर्म और साधना-पथमें बोधिचित्तको उत्पन्न करनेके लिए ६ पारिमताओकी साधना करनी होती है, जिनमेंसे सबसे अन्तिम और महत्त्वपूर्ण प्रज्ञा-पारमिता हैं। इसकी साधनाके बाद बोधिचित्तीत्पाद होता है, उसके उपरान्त उते ऊपरकी ओर उद्बुद्ध किया जाता है, तब

अनन्त करुणाका उदय होता है। यह समस्त प्रणाली चर्या कहलाती है, जो जनसुलम नहीं, िकन्तु जो साथक इसे सम्पन्न कर लेता है, वह अल्प बन्धनसे मुक्त अनुत्तर सम्बोधिको प्राप्त कर लोकका बन्धु और रक्षक हो जाता है। चर्या तथा क्रिया, दोनोका ही उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपायका अद्भय है। विधि देवी-देवता, उनकी साधनाएँ, दीक्षा, अभिषेक, मण्डल आवेश आदि क्रियाओं और चर्याओं अन्तर्गत आते हैं। —थ० वी० भा० चर्यापद—दे० 'सिद्ध-साहित्य'।

चांडाली-दे॰ 'महामुद्रा'।

चांद्रायण-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । भानके अनुसार इसके २१ मात्राके चरणमे ११, १०की यति होती है तथा ११ मात्रा जगणान्त (ISI) तथा १० मात्रा रगणान्त (SIS) होती है। यह प्रवंगम छन्दके निकटका छन्द है, जिसका उल्लेख 'प्राकृतपैगलम्'मे हुआ है (दे०)। भान द्वारा निर्दिष्ट नियमका पालन प्रायः कवियोंने नहीं किया है। हिन्दीमे चन्द (पृ० रासो), सूर (सू० सा०), मान (रा० वि०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने इसका प्रयोग किया है। सूरने रोला-दोहाके संयुक्त छन्दोके कथानकोके प्रारम्भमें टेकके रूपमे इस छन्दका प्रयोग किया है, पर जगण-रगणका नियम सदा एक-सा नही है-"यह अति अचरज मोहि, कहा कारन ठयो" (सू० सा०: सभा, पद १११०)। उदा०--''अपनी दया विचारि, पाप सव मीजिये" (भानु: छ० प्र०, पृ० ५६)। चादर, चुनरी-संतोने चादर और चुनरी जैसे शब्दोंका प्रयोग मात्र इनके अभिधार्थमे नहीं किया है। कबीरका पद 'झीनी झीनी वीनी चदरिया' बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें उन्होंने इडा, पिगला और सुपुम्नाके ताने-बाने और तारसे वुनी हुई पंचभौतिक मानव देहको चादर बताया है। लक्ष करनेकी बात है कि यहाँ अभिव्यक्त विचारधारा कवीरकी कोई नयी विचारधारा नहीं है। केवल चादर शब्द नया है उसके ताने-वानेकी बुनावट नयी है। कबीरके पूर्ववतीं दार्शनिक-चिन्तनमें इसे कंचुक कहा गया है। कंचुक, जिससे आवृत होकर ब्रह्म जीव बन जाता है। दौवोंके दर्शनमें इसे पादा कहा जाता है, जिसमे बँधकर निर्गुण, निरंजन परमशिव, सगुण अंजन 'पशु' बन जाते है। कबीर या अन्य संत चादर कहकर इसी कंचकका अर्थबोध कराना चाहते है, पर थोड़े नये ढंग से। मायावादी इस शरीरको बडी चीज नही मानते। उनकी दृष्टिमें एकमात्र पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म है। जगत् मिथ्या है, भ्रम है, माया है, अतः इस जालको छिन्न करना, मायाके कंचुकोका उच्छेद करके इनसे मुक्ति पाना, यही उनका प्रमुख लक्ष्य था। कबीर भी माया-के इस अर्थसे सहमत थे, कबीरके साथ ही अन्य संत कवि मायाको उसी रूपमे समझते थे। लेकिन ये शरीरको व्यर्थ नहीं मानते थे । यह माथा है, पर व्यर्थ नहीं है। साईने दस महीने लगाकर जिस चादरको स्वयं सिला हो, ठोंक-ठोंककर बड़ी एहतियातसे सवाँरा सजाया हो, कबीर पियकी उस रच-पचकर तैयार की गयी उपहारकी वस्तको व्यर्थ नहीं मान सकते थे। हठयोगमे आस्या रखने-

वाला कोई भी संत (जो हठयोगी होते हुए भी मूलतः भक्त ही था) ऐसा मान नहीं सकता, क्योंकि वह इसी प्रियके उपहारको धारण करके सहागिनी पतिव्रता बन सकता है। इसी पिण्डको साफ-सुथरा एवं पवित्र रखकर वह पियसे वेझझक मिल सकता है और इस चिन्तासे मुक्त हो सकता है कि ''हौं मैली पिअ ऊजरा कैसे लागूं पायॅ?'' क्योंकि ब्रह्माण्डमें जो कुछ है हठयोगीकी समझसे पिण्डमे वह सब है। मूलाधारको तीन वलयों में वेष्टित करके बैठी कुण्ड-लिनी ही शक्ति है, जो ठीकसे उद्बुद्ध की जा सकी तो सह-स्नारमे स्थित शून्य महलके वासी प्रियसे भेट करा देती है। इस प्रकार कभी 'मायाका कंचुक' कही जाकर समझी जाने-वाली यह 'चादर' कबीरके यहाँ ब्रह्माण्डके छोटे (पर भिन्न नहीं) रूप, अर्थात पिण्ड या शरीरका वाचक बनकर संतोंके साहित्यमे प्रयुक्त हुई है। लोभ, मोह और पापसे यह चादर मैली होती है, ज्ञानके साबुनसे इसे साफ किया जा सकता है और यह कि इसे यलपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिए, क्योंकि सुहागकी यह साडी बार-बार नहीं मिलती-"सोच समुझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी । "करि डारी मैली पापन सौ लोभ मोहमे सानी। ना यहि लग्यो ज्ञानकै साबुन ना घोई भल पानी।" कहत कबीर धरि राखु जतन ते फेर हाथ नहि आनी ॥" ('कबीर': हजारीप्रसाद द्विवेदी, संगृहीत वाणी सं० २१३)। इससे थोडे विशिष्ट अर्थको ध्वनित करनेवाला शब्द 'चुनरी' है। इसका अर्थ भी वही है, जो चादर का है और यह भी उसी परमप्रेयान खसमकी दी हुई है, पर थोडी विशिष्ट इसलिए है कि यह और भी अधिक प्रेमसे, प्रेमके घनीभृत क्षणमे—शादीके अवसरपर दी चामर – विणिक छन्दोमें सम वृत्तका भेद। 'प्राकृतपैगलम्'-

चामर-विणिक छन्दोंमें सम वृत्तका भेद। 'प्राकृतपेगलम्'(२:१५९)के अनुसार ७ गुरु, लघु एवं गुरुके योगसे यह
वृत्त बनता है (र ज र ज र)। केशवने इस छन्दका प्रयोग
किया है। जयकीतिंने उत्सव (छन्दो०, ६:३०) और
हेमचन्द्र (छन्दो०, २:२५४)ने तूणक नाम दिया है।
उदा०—'वेदमन्त्र तन्त्र शोधि अस्त्र शस्त्र दै भले, रामचन्द्र
लक्खने सु विप्र छिप्र लै चले'' (रा० चं०, २:
२८)। —पु० शु०

चार आनंद - वज्रयानी सिद्धोंने चार क्षणों, चार आनन्दों और मुद्राओका उल्लेख बार-बार किया है। चार क्षणोंको विचित्र, विपाक, विमर्द और विलक्षणकी संज्ञा दी गयी है। इन्हीं चार क्षणोंको भेदसे चार आनन्द बताये गये हैं, जिनके नाम है प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। प्रथमानन्द विचित्र क्षणका आनन्द है, जिसकी अनुभूति आलिंगन, चुम्बनादिसे मिलती जुलती है। परमानन्द ज्ञान सुसका योग है। विरमानन्द समागम सुसकी भाँति है। इन सभी राग-विरागोंसे वर्जित चतुर्थ आनन्द है सहजानन्द, जो सर्वश्रेष्ठ है और साधकको महासुसकी अनुभूति देता है। — ध० वी० भा० चार काया जिकाय सिद्धान्तके द्वारा बुद्धके दिव्यरूपकी जो परम्परा महायानी आचार्योंने प्रारम्भ की थी, उसका चरम विकास सिद्धोमें हुआ। महायानी आचार्योंने बुद्धकी तीन कायाओके मूलमे तीन धातुओकी कल्पना की थी, जो

इस प्रकार है—रूपधातसे निर्मित निर्माण-काया, काम-धातुसे सम्भोग-काया और धर्मधातुसे धर्म-काया। सिद्धोंने प्रज्ञोपाय सिद्धान्तको प्रतिष्ठा इस दिशामे भी करनेके लिए एक चतुर्थ कायाकी प्रतिष्ठा की, जिसे वे वज्र-काया, खभाव काया, सह-काया या महासुख-काया कहते थे। निर्माण-कायामे बुद्ध मानुषी रूप धारण कर संसारके अनुरूप जीवनयापन करते है। सम्भोग-कायाभे आनन्द अथवा करुणाकी प्रधानता होती है, यह काया बोधिसत्त्वके रूपमे होती है। धर्म-काया तीनो लोकोमे अपनेको अभिन्यक्त करते हुए भी सभी आवासों, क्लेशो और संस्कारोंसे मुक्त, अनादि, अनन्त, अजर, अमर और अपरिवर्तनशील होती है। चौथी सहज-काया इन चारोमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह समस्त द्वयताओं और क्लेशादि मलावरणोंसे निरावत, शुद्ध, सहजरूप होती है, इसीको निरंजन कहते हैं। बुद्धके इसी सहज-काया-स्थित निरंजन रूपमें करोडों साधकोंनेसे कोई ही लीन हो पाता है। ---ध० बी० भा० चार-चक्र-दे० 'हठयोग'।

चिंता-प्रचित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार इसके विभाव है—धनहानि, प्रिय वस्तुका अपहरण, निर्धनता आदि और अनुभाव है—उच्छ्वास, चिन्तन, मनन, नतमुख होना तथा दुर्वछता आदि (नाट्य०, ७: ५१)। विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—''ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः श्न्यताथासतापकृत्' (सा० द०, ३: १७१)। अभीष्टकी प्राप्ति न होनेके कारण तदिषयक ध्यानको चिन्ता कहते हैं। हिन्दिके रीतिकाछीन आचायोंने इसीका अनुसरण किया है। देवके अनुसार ''इष्ट वस्तु पाये विना, एक आस चितु होइ। स्वांस ताप वैवरण जहॅं, चिन्ता कहियतु सोइ'' (भाव०: संचारी)। इस छक्षणमें 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका प्रभाव है, पर अन्य ऐसे आचार्य है, जिन्होंने सामान्य ढंगसे— ''जहाँ कौन ह् बातकी चितमें चिन्ता होय'' (जगत्०, ५०४) मान छिया है।

अभीष्टकी प्राप्तिकी इंढ कामना एक तरहकी आकांक्षा है। जब यह आकांक्षा बाधित होती है तब चिन्ताका उदय होता है। यह रागात्मक प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए बाधाओं-को दूर करनेके लिए लोगोंको प्रयत्नवान बनाती है। इस प्रयत्नकालके बीच-बीचमे आशा, निराशा, शंका, ईर्ष्या, व्याकुलता आदिका प्राद्भीव होता रहता है। चिन्ताका निष्क्रियात्मक रूप भी होता है, जो चिन्ता करनेवालेको और भी अशक्त, पंगु और निरीह बना देता है। इसका प्रादुर्भाव स्वतन्त्र रूपमें भी होता है और संचारीके रूपमें भी । चिन्ता संचारीका वियोग-शृंगारके अन्तर्गत उदा०-"आँसुनि मोचित सोचित यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै" (भाव ० : संचारी)। तुलसीदासने 'कवितावली'-में माँ कौसल्याकी पुत्रविषयक चिन्ताका सुन्दर चित्रण किया है—''भोर ही भुखात हैहै, कन्द मूल खात हैहे, दुति कुम्हलात हैहै मुख जलजातको"। चित्त-दे० 'जगतानुबोध', 'बोधिचित्त', 'हठयोग'।

चित्तभूमिका – योग शास्त्रमे पॉच चित्तभूमिकाऍ मानी गयी है — क्षिप्त, मृढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध । चित्तभूमिका का अर्थ हैं चित्तकी स्वाभाविक अवस्था। योगको चित्तवृत्तिका निरोध कहा गया है (यो॰ स्०, १, २)। योगशास्त्र
का योग शब्द समाधिका पर्याय है। लेकिन यह समाधि
थोड़ी विशेष तरहकी है। विभिन्न चित्तभूमियोमे भी बहुधा
समाधिकी अवस्था देखी जाती हैं, पर वह योगकी काम्य
समाधि नहीं। चित्तकी प्रथमभूमि क्षिप्त है। स्वभावतः
अत्यन्त अस्थिर, तत्त्व-चिन्तनमे असमर्थ चित्तको क्षिप्तभूमिक
कहते है। प्रवल हिंसा, वैरभाव आदिके कारण क्षिप्त चित्त
च्यक्ति भी कभी समाधिस्थ हो सकता है। पाण्डवोसे हारकर प्रवल देखसे दग्ध जयद्रथका चित्त शिवमें समाहित हो
गया था, ऐसा भहाभारत'मे बताया गया है। —रा० सिं०

चित्त-मारण-दे॰ 'बोधिचित्त'। चित्त-विशोधन-दे॰ 'बोधिचित्त'।

चित्त-हनन – दे० 'बोधिचित्त'।

चित्रतुरग-न्याय-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', अन्तर्गत अनुमान-नाद ।

चित्रपदा-वर्णिक छन्दोमे सम वृत्तका एक भेद; विरहांक (बृ० जा० स०, ५:११) और जयकीतिं (छन्दो०, २:६७)ने इस छन्दका वितान नाम दिया है। यह वृत्त दो भगणों और दो गुरुओके योगसे बनता है (ऽ॥, ऽ॥, ऽऽ)। केशवने प्रयोग किया है—"रूपिहं देखत मोहै; ईश कहौ नर को है। सम्रम चित्त अरूझै; रामिह यों सब ब्ह्रै" (रा० चं०, ९:३२)। —पु० शु०

विज्ञात्मकता—चित्रात्मकताका अर्थ है शब्द या शब्दों द्वारा चित्र-निर्माण । काव्यमें चित्र कभी विशेषण द्वारा निर्मित होते है, कभी उपमा-रूपक आदि अलंकारों द्वारा, कभी शब्दविशेष द्वारा, कभी अनेक वाक्यो द्वारा, कभी सम्पूर्ण कृति द्वारा चित्रात्मकताको काव्यका गुण माना जाता है। कुछ विचारकोके अनुसार तो काव्यकी सबसे बडी शक्ति उसके चित्रोंमे ही होती है और कविकी श्रेष्ठताका परिचय भी उसके काव्यमे उपलब्ध चित्रोंसे ही मिलाता है। चित्रात्मकताको चित्रमयता, मूर्त्ति-विधान या बिस्व-विधान भी कहा जाता है।

काव्यात्मक चित्र काव्यके अलेकार या सौन्दर्य मात्र नहीं, उसके अनिवार्य अंग है। इनसे कान्यकी शक्तिमे वृद्धि होती है। विम्व एवं प्रतीक-निर्माण मानव-अभिव्यक्ति-के स्वाभाविक साधन हैं। एक विद्वानका कथन है कि जब कभी हम कल्पनाको स्वतन्त्र छोड़ देते है, तो वह अभि-व्यक्तिके सहज माध्यमके रूपमें विम्बों और प्रतीकोंका ही उपयोग करती है। कवि अपनी अनुभूतियों और संवेगोको मूर्त रूप देनेके लिए विम्बोंका ही सहारा लेता है। विम्बका जन्म शून्यमे नहीं होता, कविके मानसमें होता है-उस मानसमें, जिसके निर्माणमें परम्पराका भी योग रहता है और कविके समसामयिक परिवेशका भी। फलतः काव्या-त्मक चित्रोंमे कवि अपने समसामयिक युग-जीवनको भी प्रतिबिम्बित करता है। किसी कृतिमें प्रस्तुत विभिन्न चित्रों-में जो परस्पर सम्बन्ध एवं तारतम्य बना रहता है, उससे कविके संवेगों एवं अनुभृतियोंके पारस्परिक सम्बन्ध एवं क्रमिक विकासका भी परिचय मिलता है।

काव्यात्मक चित्रोंकी विशेषता इस बातमे है कि वे स्पष्ट

एवं ऐन्द्रिक हो—चित्र ऐसे हों, जो रूप, रंग आदिको स्पष्टतः मानस-चक्षुके सम्मुख प्रस्तुत कर सकें। ऐसे चित्र भी होते हैं जो स्पर्ण, गन्ध और ध्वनिकी भी व्यंजना कराते हैं। काव्यात्मक चित्रोंचे लिए यह भी आवश्यक हैं कि वे वास्तविक जीवनकी अनुभूतियोंपर आधारित हों और रागात्मक आवेगो द्वारा प्रेरित एवं निर्मित हो; मात्र बौद्धिक व्यायाम द्वारा सायास निर्मित चित्र, विलक्षण और चमत्कार-पूर्ण भले ही हो, पाठकमें उस संवेगकी स्तिष्ट नहीं कर सकते, जो काव्यात्मक चित्रोका उद्देश्य होता है।

कान्यात्मक चित्रोकी विशेषता उनकी ताजगी और तीव्रतामें होती है। ताजगीसे तात्पर्य उस शक्तिसे है, जो कविकी वैयक्तिक अनुभूतिको उसकी वैयक्तिकता एवं नवी-नताके साथ मूल रूपमे पाठकके हृदयतक पहुँचा सके। एक ही चित्रकी दीर्घकालीन आवृत्ति एवं व्यवहारसे उसकी ताजगी और संवेग-सृष्टिकी क्षमता समाप्त हो जाती है। बासन अधिक घिसनेसे मुलम्मा छूट जानेकी बात 'अज्ञेय'ने इसी प्रसंगमे कही है। यही कारण है कि प्रत्येक युगका जागरूक कवि अपनेकी व्यक्त करनेके लिए नये चित्रों और विम्बोकी आवश्यकताका अनुभव करता है। सघनताका अर्थ है कम-से-कम चित्रोंमे अधिकाधिक अर्थको केन्द्रीभूत करना। अत्याधुनिक कविता काव्यात्मक चित्रोकी इन विशेषताओपर विशेष वल देती है।

ित्रोंका निर्माण कविकी कल्पना शक्ति द्वारा होता है। उनका क्षेत्र वडा विस्तृत है। किव अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवनके अनुभवोंको तो अनजाने ही अपने अवचेतनमे संजोता चलता है, परम्परासे उपलब्ध अनुभ्रित्यों भी उसकी सम्पत्ति वन जाती है। चित्रोके निर्माणमे उसका अवचेतन मन और उसकी संक्षेपण, विस्थापन, आरोपण, तादात्म्य, दमन, उदात्तीकरण आदिकी क्रियाएँ काम करती है। जिस कविकी अनुभूतिप्रवणता, संवेदनशिलता और प्रहणशक्ति जितनी ही अधिक होती है और जिसका मानस स्मृतियोंकी हिष्टेसे जितना ही अधिक समृद्ध होता है, उसके काव्यमे चित्रोंकी सम्पन्नता और विविधता उतनी ही अधिक दिखायी पड़ती है।

कुछ चित्र जिटल होते हैं, कुछ सरल। कुछ प्रतीकात्मक होते हैं, कुछ रूपकात्मक, कुछ लाक्षणिक और कुछ उपमा अथवा रूपक अलंकारमूलक। इस प्रकार चित्रोकी अनेक कोटियाँ होती है। ये चित्र विभिन्न प्रयोजन सिद्ध करते हैं, पर कुछ चित्र मात्र अलंकरण बनकर भी आते हैं, पर जैसा कि पहले कहा गया, निष्प्रयोजन चित्रोको महत्वपूर्ण नहीं माना जाता है।

—सि॰ कु॰

चित्रिणी-दे० 'हठयोग'।

चिइती-दे॰ 'सूफी-सम्प्रदाय'।

चूिलका — यह अथींपक्षेपकता एक मेद है। "अन्तर्जव-निकासंस्थैरचूिलकार्थस्य स्चना" (द० स०१, ६१), अर्थात् नेपथ्यमें स्थित पात्रके द्वारा अर्थ (कथावस्तु) की स्चना चूिलका कहलाती है, जैसे भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रकृत 'सत्य हरिश्चन्द्र'में जब हरिश्चन्द्र कफन मॉगने लगते है, तब नेपथ्यसे आवाज आती है "अहो धैर्य्यमहो सत्यमहो दान-महो बलम्। त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्वलोकोत्तरं कृतम्। उसी नाटकमे एक स्थानपर जब हरिइचन्द्रका मन चंचल हो उठता है, तब नेपथ्यसे आवाज आती है "पुत्र हरिश्चन्द्र, सावधान! यही अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकुसे लेकर त्रिकंकुपर्यन्त आकाशमें नेत्रभरे खडे एकटक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आजतक इस वंशमें ऐसा कठिन दुःख किसीको नहीं हुआ था। ऐसा न हो, इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्यका स्मरण करों"। यह चूलिका है।

चेटक-दे॰ 'नर्मसचिव', नायक।

चेतन (conscious) - मानसका चेतन-पक्ष मनुष्यके मामान्य व्यवहारमे व्यक्त होता है। चेतन मानसमे वे अनुभव और व्यापार आते है, जिनका हमे पूर्ण ज्ञान है। स्नायविक दृष्टिकोणसे हम कह सकते है कि जब स्नायविक क्रिया एक आवश्यक मात्रातक गहरी हो जाती है, हमे अनुभव होने लगता है और यही चेतना है। मनोविइलेषण के प्रभावसं चेतन मनकी धारणामे परिवर्तन हो गया है, पूर्वकालीन मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि मानस सदा चेतन है, अचेतन मानसकी कल्पना ही इनके लिए असम्भव थी। परन्त अब यह सभी स्वीकार करते है कि चेतन मानस हमारे सम्पूर्ण मानसका एक अंशमात्र है। यह वह अंश है, जो बाह्य जगत्के सम्पर्कमे आता है और पूर्णतः व्यक्त होता है। मानसका यह भाग हमारी जायत् अवस्थामे क्रियाशील रहता है, यह यथार्थसे संचालित होता है, विचारशील है, विवेक, तर्क, ध्यान, संवेदना तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान इसकी प्रक्रियाएँ है। इस पक्षमें व्यक्तित्वके अहम और सुपरईगोका सम्बन्ध रहता है, पर इंड इसकी पहुँचके बाहर है।

चेतना - चेतन मानसकी प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओ, विषयो, व्यवहारोका ज्ञान । चेतनाकी परिभाषा कठिन है, पर इसका वर्णन हो सकता है। चेतनाकी प्रमुख विशेषताएँ है, निरन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाहके साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओमे एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतनाका प्रभाव हमारे अनुभव-वैचित्र्यसे प्रमाणित होता है और चेतनाकी अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्यके अनुभवसे। विभिन्न विषयोंकी अलग-अलग समयपर चेतना होनेपर हम सदा यह भी अनुभव करते है कि "मैने अमुक वस्तु देखी थी"। यदि हमारी चेतना अखण्ड और अविच्छिन्न न होती तो यह अनुभव हमे न होता। लेकिन यह अखण्डता और अविच्छिन्नता साहचर्यसे ही सम्भव होती है। विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं में साहचर्य (अथवा आसंग)के द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि वे मिलकर एक चेतनाका अंग बन जाती है। मानसिक संघर्ष, अत्यधिक दमन और भावात्मक आघातोंसे ये साह चर्य नष्ट भी हो जाते है और तब चेतना भी विखरी-विखरीसी हो जाती है और न्यक्तित्व खण्डित । चेतनामे साहचर्य नष्ट होनेकी अनेक मात्राएँ हो सकती है, यदि कम मात्रामें हो तो कोई विशेष व्यवहार, कोई विशेष मानिसक क्रिया सम्पूर्ण चेतनासे वियोजित हो जाती है, पर व्यक्तित्वके लिए गम्भीर समस्या नही उठती। पर यदि अधिक मात्रामे होतो बहुन्यक्तित्व, खण्डित न्यक्तित्व आदि रोग हो जाते हैं (दे॰ 'चेतन', 'आसंग', 'खण्डित न्यक्तित्व')।

चेतना शब्दका उपयोग प्रायः उपर्यक्त मनोवैज्ञानिक अर्थमे ही होता है, पर कभी-कभी इसका प्रयोग दार्शनिक अर्थमे भी हो सकता है। विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिक चेतना या विज्ञानको शाश्वत और एकमात्र सत्ता मानते है। इस अर्थमें 'चेतना' शब्द 'आत्मा'का समानार्थक हो जाता है-परन्त साहित्यमें और दर्शनमे भी इस अर्थमे प्रायः 'चैतन्य' शब्दका उपयोग किया जाता है, 'चेतना' शब्द सामान्य मनोवैज्ञानिक अर्थमे ही अधिक आता है । चैता-चैत्र मासमे जो गीत गाये जाते है, उन्हे चैता कहते है। जिस प्रकार फाग्रन (फाल्ग्रन)के महीनेमे गाये जानेवाले गीतोंका नाम 'फगुआ' पड़ गया है, उसी प्रकारसे चैन (चैत्र) मासमें गेय होनेके कारण इन गीतोका नाम चैता है। जितनी पेशलता, मनोहरता तथा द्रावकता चैतामें उपलब्ध होती है, उतनी अन्य गीतोंमे नहीं । चैताका वर्ण्य विषय सम्भोग तथा विप्रलम्भ-शृंगारसे परिपूर्ण है।

चैता दो प्रकारका होता है—(१) झलकुटिया, (२) साधारण। झलकुटिया चैता उसे कहते है, जो सामूहिक रूपमे झाल 'कूटकर' (बजाकर) गाया जाता है। साधारण चेता वह है, जिसे व्यक्तिविशेष बिना किसी वाधकी सहायताके गाता है। झलकुटिया चैता जब सामूहिक रूपमें गाया जाता है। पहले टकके व्यक्ति गीतकी प्रथम पंक्तिको गायेगे तो दूसरे दलवाले उसके टेकको समवेत स्वरमें तारस्वरसे गायेंगे। इस प्रकार चैताके गानेका कम बहुत देरतक चलता रहता है। कभी-कभी गवेये भावावेशमे आकर धुटनोंके बल खड़े हो जाते है और आहो रामा' तथा 'हो रामा'की गगनमेदी ध्वनिसे समस्त वायुमण्डलको प्रतिध्वनित कर देते है।

चैताको प्रायः प्रत्येक पंक्तिके प्रारम्भमे 'रामा' और अन्तमें 'हो रामा' उपलब्ध होता है। जैसे "रामा निदयाके तीरवा चनन गाछि विरवा हो रामा"। इस गीतके गानेमे प्रथम क्रमिक आरोह होता है आर अन्तमे अवरोह होता है। इसी आरोहावरोहके क्रमसे यह गीत गाया जाता है। चैता प्रेमके गीत है, अतः इनमें शृंगारके दोनो पक्षोकी कहानी रागोंमें लिखी गयी है। इनमे कही स्थोंदयतक सोनेवाले किसी आलसी पतिके जगानेका उल्लेख मिलता है, तो कही पति-पत्नीके प्रणयकी झाँकी उपलब्ध होती है। कहीं यमुनामे जल भरते हुए किसी स्त्रीके 'मानिक' खोनेका वर्णन मिलता है, तो कहीं श्रीकृष्णके द्वारा गोपियोको छेडनेका प्रसंग।

'चैता'को 'घाँटो' भी कहते हैं। इन गीतोंके रचियता किसी लोककि बुलाकीदासका उल्लेख बार-बार इनमें हुआ है। जैसे ''दास बुलाकी चहत घाँटो गावे हो रामा, गाई गाई बिरहिन समुझावे हो रामा'। ये बुलाकीदास उत्तर-प्रदेशके बलिया जिलेके निवासी थे। इनकी कुटिया आज भी इस जिलेके रसड़ा गाँवके पास विद्यमान है। मोजपुरीके सन्त कवियोंने अनेक 'चैता'-गीतोंकी रचना की है।

मैथिली में इन गीतोको 'चैतवार' कहते है, जिनमे

वसन्तकी मस्ती और रगीन भावनाओका अनोखा सौन्दर्थे अंकित है। इनमें एक अपूर्व लोच हे जो अन्य लोकगीतोंमे उपलब्ध नहीं होता। —कृ० दे० उ० चोर-दे० 'ताला-कुंजी'। चोला-दे० 'जलाहा'।

चौपई-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । सम्भवतः 'प्राकृत-पैगलम्'के चडपइया (दे०) नामक छन्दसे इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है (१:९७)। भानके अनुसार इस छन्दमे प्रत्येक चरण १५ मात्राओंका होता है और अन्तमे ग ल (SI)का विधान है। भिखारीदासके 'छन्दार्णव-पिंगल'मे भी इसका रूप मिलता है (पृ०२२)। हिन्दीमे इस छन्दका प्रयोग चन्द्र (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (शा० मं०, वि० मं० आदि), केशव (वी० च०)ने किया है। सूरके पदोंमे इसके पदोका मिश्रण है-''नारद कह्यो अब पूछौ जाइ। बिनु पूछै नहि देहि बताह।" (सभा सं०: पद २२६)। इसी प्रकार नन्ददासने चौपइयोका बीचमे प्रयोग किया है—'तबकी कहि न परत कछ बात। इक-इक पलक कलप सम जात" (वि० मं०, पं० ३०)। सूदनने 'हरान-ररित'रें जयकरी नामसे इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका दूसरा नाम जयकरी प्रसिद्ध भी है। इस छन्दका उपयोग वर्णनात्मक स्थलोंमे अच्छा होता है। चोपड – चौपड़ खेलनेसे ज्ञान-क्रीडाका संकेतार्थ सिद्धो और

सन्तोने लिया है। "करुणा पिहाडि खेलहु न अवल" (चर्यापद, १२)। "चौपड माही चौहटे अरध-उरध बाजार" (क० म०)। ---ध० बी० भा० चौपाई - मात्रिक सम छन्दका भेद । प्राकृत तथा अपभ्रंशके १६ मात्राके वर्णनात्मक छन्दोंके आधारपर विकसित हिन्दीका सर्वप्रिय और अपना छन्द। 'प्राकृतपैगलम्'का चउपइया (दे०) १५ मात्राओका भिन्न छन्द है। इसका विकास पादाकुलकके चौकलोंके नियमके शिथिल होनेसे सम्भव जान पड़ता है। भानने चौपाईके १६ मात्राके चरणमे न तो चौकलोंका कोई क्रम माना है और न लघु-गुरुका। उन्होंने समके पीछे सम और विषमके पीछे विषम करुके प्रयोगको अच्छा माना है तथा अन्तमे जगण (ISI) और तगण (SSI)को वर्जित माना है (छं०प्र०, पृ०४९)। सम-समका प्रयोग---"गुरु-पद-रज-मृदु-मं-जुल-अं-जन"। विषम-विषम, सम-समका प्रयोग---"नित्य-भजिय-तजि-मन-कुटि-ला-ई"। विषम-विषम सम, विषम-विषम समका प्रयोग--- "कहद्ग-राम-की-कथा-सुहा-ई" । दो विषम समके समान प्रयुक्त--"बंदौं राम-नाम-रघु-बरको"(भानुके छन्द० प्र०से)। तुल्सीने इन नियमोंका 'रामचरितमानस'मे बहुत अच्छा निर्वाह किया है और उनके छन्द-प्रवाहका सौन्दर्य भी यही है। चन्द, जायसी, सुन्दर, सूर, नन्ददास तथा जोधराज आदिने इन नियमोमें शिथिलता दिखलायी है। कभी-कभी १५ मात्राके चरणोंका प्रयोग मिलता है और कभी लघुगुरु (IS)से अन्त किया गया है। यद्यपि १५ मात्राका चौपई (दे०) छन्द अलग है, परन्तु उसके अन्तमे ग छ (SI) आवश्यक है। चरणके अन्तमे छ ग(IS)का प्रयोग इस छन्दमें स्वतन्त्रतासे मिलता है। जायसीमें ऐसे अनेक छन्द हैं तथा नन्ददासने अपनी तीनों मंजरियोंमें ऐसे बहुत प्रयोग किये हैं— "चले-चले तुम जैयो तहाँ। बैठे हों सॉवरे जहाँ" (वि० मं०, पं० ५)। इनकी चौपाई ही माना जायगा, यद्यपि १५ मात्राके चरण है। सुन्दरमें १५ मात्राके चरणमे ल ग (IS) तथा ग ग (SS) दोनो प्रकारके अन्त पाये जाते है, जो चौपईके ग ल (SI) से भिन्न है— "ये चौपाई त्रयोदस कही। आतम साक्षी जानो सही" (आत्मभेद)। वस्तुतः अनेक कवियोमे चौपाई तथा चौपई छन्दके प्रयोगमें अमकी स्थिति पायी जाती है।

जैसा कहा गया है, हिन्दीमे यह छन्द चन्दके काव्यसे ही मिलता है। यह सामान्यतः वर्णनात्मक है, जिसमें किसी भी प्रकारकी स्थिति आ जाती है। सभी रसोका निर्वाह इसमे हो जाता है। कथा-काव्योमें इस छन्दकी लोकप्रियता-का मुख्य कारण यही है। वीरकाव्यके कवियोमें केशव, जटमल, गोरेलाल, सूदन, गुलाब तथा जोधराज आदिने चौपाईका प्रयोग प्रसंगानुकूल किया है, पर प्रेमाख्यानक कवियों मे कुतुबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद आदि सभीने इस छन्दको दोहाके साथ अपनाया है। सूरने 'सुरसागर'के कथात्मक अंशोंको जोड़नेके लिए प्रायः इस छन्दका आश्रय लिया है। नन्ददासने मंजरियोंमें प्रयोग किया है। कथा-काव्यके लिए इस छन्दकी उपयुक्तताके कारण कृष्ण-कथा भी इस शैलीमे कई कवियोने लिखी है। आधुनिक कालमे द्वारकाप्रसाद मिश्रने 'कृष्णायन'में इसका उपयोग किया है। लाल कविका 'छन्न-प्रकाश' इसी शैलीमें हैं। सन्त कवियोंमे सुन्दरदासने भी ग्रन्थोकी रचना दोहा-चौपाई-शैलीमे की है (उदा०—सर्वागयोग, पंचेन्द्रियचरित्र)। चौबोला-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । 'प्राकृतपैंगलम्'मे इसका लक्षण दिया है (१: १३२), इस छन्दके द्वितीय और चतुर्थ चरणमे १४ मात्रा और प्रथम तथा तृतीयमें १६ मात्रा । इस दृष्टिसे हो यह अर्द्धसम छन्द माना जायगा । परन्त हिन्दीका चौबोला छन्द समचरण है। सम्भवतः इसपर चौपाईका प्रभाव है। भानुके अनुसार यह १५ मात्राओंका समचरण छन्द है, जिसके अन्तमे ल ग रहता है। हिन्दीके कवियोमें केशव (वी० च०), सूदन (सु० च०) तथा रघराज (रा० स्व०) ने इसका प्रयोग किया है। इस छन्दमें वीर तथा शृंगारका उचित निर्वाह हो सका है। उदा०—"सन्त समागम सन्तत सजी, शरणागत है प्रभुको भजौ" (छं० प्र०, पृ० ४७)। च्युतसंस्कार-दे० 'शब्द-दोष', दूसरा 'पद-दोष'।

च्युतसंस्कार — दे० 'शब्द-दोष', दूसरा 'पद-दोष'।
छंद — अक्षर, अक्षरोकी संख्या एवं कम, मात्रा, मात्रा-गणना
तथा यति-गति आदिसे सम्बन्धित विशिष्ट नियमोसे
नियोजित पद्य-रचना, छन्द कहलाती है। छन्द शब्दका
सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति
छद् धातुसे मानी गयी है, जिसका अर्थ आवृत करने या
रिक्षत करनेके साथ-साथ प्रसन्न करना भी होता है। प्रसन्न
करनेके ही अर्थमें निषण्डमे छन्द धातु भी मिलती है।
कुछ विद्वानोंका मत है कि इसीसे छन्द शब्दको सम्बद्ध
मानना अधिक युक्तिसंगत है। वेदके छः अंगोंमे छन्द
भी एक अंग है। पिंगलाचार्यके 'छन्दःसूत्र' और 'अग्निपुराण'में छन्दोके दो विभाग किये गये है—एक वैदिक और

दूसरा लौकिक । इन दो वगोंमें छन्दोंका विभाजन शास्त्रीय होनेकी अपेक्षा न्यावहारिक अधिक है । इस विभाजनका मुख्य आधार छन्दगत विशेषता न होकर वह साहित्य है, जिसमे वगीवशेषके छन्दोंका प्रयोग हुआ है । वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त छन्द वैदिक और वेदेतर, अर्थात् लौकिक साहित्यमें प्रयुक्त छन्द लौकिक माने जाते है । शास्त्रीय दृष्टिसे इनमें वर्णसंख्या और पाद-न्यवस्थाका भी अन्तर होता है । —ज० गु०

छंद्रमुक्त - 'मुक्त छन्द'मे छन्द तो मूलतः रहता है, पर उसकी प्रकृति मुक्त होती है, परन्तु 'छन्दमुक्त' कहनेसे साधारणतया छन्दहीनताका बोध होता है। 'अन्नेय'ने इसे 'मुक्तछन्द' और 'छन्दहीन'के बीचकी स्थितिका बोधक माना है, जिसमें छन्दका अभाव सर्वथा हो ही, ऐसा आवश्यक नहीं है। बहुत-सी ऐसी कविताएँ जो स्पष्टतया छन्दयुक्त प्रतीत नहीं होती और जिन्हें सहसा छन्दहीन भी नहीं कहा जा सकता, वे इसी शब्दसे व्यंजित की जा सकती है। — ज० गु० छंदशास्त्र – छन्दोंकी उत्पत्ति, आदि आचार्य, परम्परा, भेद-प्रमेद, जाति, लक्षण-उदाहरण, रचनाविधि, विस्तार-मंख्या, वर्गीकरण आदि छन्द सम्बन्धी विविध पक्षोका निरूपण करनेवाला शास्त्र 'छन्दशास्त्र' कहलाता है। इसे 'पिंगलशास्त्र' भी कहते है। कुछ विद्वान् काव्य-शास्त्रसे छन्दशास्त्रवो भिन्न मानते है।

भारतीय छन्द्रशास्त्रका उद्गम वैदिक साहित्यमें मिलता है। छन्द वेदांग है और उन्हे वेदोंका चरण माना गया है-'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। शांखायनके श्रौतसूत्र-(७--२७)में तथा निदानस्त्रमें, ऋक्प्रातिशाख्यके षोडश पटलमे, कात्यायनकृत ऋग्वेद और यजुर्वेदकी अनुक्रमणीमें तथा स्फुट रूटसे अन्य वैदिक यन्थोमे प्रयुक्त छन्दोंका विव-रण मिलता है, किन्तु छन्दशास्त्रकी व्यवस्थित परम्पराका सृत्रपात पिगलाचार्यके 'छन्दःसूत्र'से ही होता है, जिसका समय ई० पू० २००के लगभग अनुमानित किया जाता है। इस ग्रन्थमें मात्राछन्द, वर्णवृत्त, दण्डक आदिके विभाजन भी दिये है और यतिका विचार स्वतन्त्र रूपसे किया गया है। अष्टम अध्याय, जिसमें गाथा-छन्दोंका समावेश है, प्रक्षिप्त माना जाता है। 'अग्निपुराण'मे प्राप्त होनेवाला 'आग्नेय छन्दःसार' पिगलके उक्त सत्रयन्थका परवर्ती और उसीपर आधारित है। 'पिंगलोक्तं यथाक्रमम्' लिखकर पुराणकारने इसे घोषित किया है। भरतके 'नाट्यशास्त्र'मे भी छन्दोका संक्षिप्तनिरूपण है। कालिदासरिवत 'श्रुतवोध' (५ वी राती ई०के लगभग) छन्द सम्बन्धी संस्कृतका प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ है। कुछ लोगोके मतसे यह वररुचिकी रचना है। इसमे वृत्तोंके लक्षण गणात्मक पद्धतिपर न दिये जाकर गुरु वर्णींकी क्रमसंख्या बताकर दिये गये है, जो छन्द-शास्त्रके इतिहासमे अदितीय एवं विचित्र विधान है। इसके अतिरिक्त संस्कृतके अन्य महत्त्वपूर्ण पिगल-यन्थ हलायुधकृत 'छन्दःशास्त्र', क्षेमेन्द्रकृत (११वीं २१०), गंगादासकृत 'छन्दोमंजरी' (१२वीं, १३वीं श् ई॰के बीच), केदारभट्टकृत 'वृत्तरत्नाकर' (१४वी श॰ ई०के लगभग), दामोदर मिश्रकृत 'वाणीभूषण' (१४वीं श॰ ई॰ उत्त॰)। प्राकृत और अपभंशके छन्द सम्बन्धी यन्थों में 'प्राकृतपैगलम्' (१४वी द्या॰ ई०), जिसकी रचना विविध व्यक्तियोके योगसे हुई मानी जाती है तथा हेमचन्द्र-कृत 'छन्दोनुद्यासनम्' (१२वी द्या॰ ई०)का स्थान सर्वोपिर है। आचार्य हेमचन्द्रकी रचना विशद एवं वैद्यानिक रीतिसे लिखित है और 'प्राकृतपैगलम्' हिन्दीके पिंगलकारों द्वारा अधिक अनुकृत होनेकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है। हेमचन्द्रसे पूर्व सिद्ध शान्तिपाकृत 'छन्दोरत्नाकर' (१०वी इा० ई०) भी प्राप्त होता है।

उपर्युक्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके आधारपर छन्दशास्त्र-लेखनकी निम्नलिखिन चार प्रमुख शैलियाँ उपलब्ध होती है—१. सूत्रशैली—पिंगलाचार्य तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा व्यवहृत, २. श्लोकशैली—'अग्निपुराण' और 'नाट्यशास्त्र'मे प्राप्त, ३. एकनिष्ठ शैली—जिसमें लक्षण उदाहृत छन्दमे ही निहित रहता है—गंगादास और केदारमट्ट द्वारा व्यवहृत, ४. मिश्रित शैली—लक्षण अलग छन्दोमे भी और कही-कही उदाहृत छन्दोमे भी, जैसे 'प्राकृतपुंगलम'मे।

हिन्दी छन्दशास्त्र-विषयक रचनाओंपर इन सभी शैलियों-का न्युनाधिक प्रभाव पड़ा है और विकासक्रमकी दृष्टिसे देखा जाय तो वे निश्चय ही पिंगलशास्त्रकी अखण्ड पर-म्पराका अविभाज्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध होती हैं। उनमे कही-कही पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन प्रन्थोंका उल्लेख भी मिलता है। हिन्दी छन्दशास्त्रके यन्थोमे मतिरामके नामसे विख्यात 'छन्दसार पिंगल', चिन्तामणिका 'छन्द-विचार' (१७वीं श० ई० पूर्वा०), सुखदेवका 'वृत्तविचार' (१६७१ ई०), माखनका 'छन्दविलास' या 'श्रीनाग पिंगल' (१७०३ ई०के लगभग), नारायण दासका 'छन्दसार' (१७७२ ई०), भिखारीदासका 'छन्दोर्णव' (१७४२ ई०), दशरभका 'वृत्तविचार' (१७९९ ई०), 'वृत्ततरगिणी' (१८१६ ई०), कलानिधिकी 'वृत्तचन्द्रिका', पद्माकरकी 'छन्दसारमंजरी'; नन्दिकशोरका 'पिंगल-प्रकाश' (१८०१ ई०), गदाधर भट्टकी 'छन्दोमंजरी' (१८८३ ई०) तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु'का 'छन्दप्रभाकर' (१९२२ ई०) प्रमुख हैं। छन्दविषयक इन सम्पूर्ण प्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य रीतियन्थोंमें भी इस विषयका समावेश मिलता है, जैसे सोमनाथके 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०)की तीसरी, चौथी, पाँचवी तरगोंमे तथा देवके 'शब्दरसायन'के दसवें और ग्यारहवें प्रकाशमें। फजल अलीका 'फजल अली प्रकाश भी इसी कोटिमें आता है।

उक्त अनेक प्रन्थोंमें प्रायः पिंगलाचार्यको वन्दना मिलती है और उन्हें शेषका अवतार माना गया है। 'फनपित भाख' (मृत्ततरंगिणी), 'फनपित करत विनान' (मृत्तिवचार) आदि लिखकर बराबर उनकी साक्षी दी जाती है, जो वास्तिवक न होकर परम्परा-परिपालनमात्र है। सुखदेवने पिंगल, भामह और अगस्त्यके छन्दप्रन्थोंका आभार स्वीकार करते हुए छन्दके वेदांग होनेका उल्लेख किया है—"पिंगल माम अगस्त कृत छन्दोग्रन्थ अगाध। सारु लियौ तेहिको कछू छमियो कवि अपराध। ४। वेद अंग है छन्द, ताते पिंदयत प्रात नित। भाषत किव कुल चन्द, भाम अगस्त फर्निद सुनि। ४।" पिंगलाचार्यका 'छन्दस्त्र' तो प्राप्त है,

परन्तु भामह और अगस्त्यके किसी छन्दग्रन्थका उल्लेख-तक नहीं मिलता। कविके कथनसे उनकी सत्ताका आभास मिलता है, जो सन्दिग्ध भी हो सकता है। दासने भी अपने 'छन्दोर्णव'में संस्कृत, प्राकृत और भाषाके अनेक छन्द्रप्रन्थों-के देखनेकी बात लिखी है-"प्राकृत भाषा संस्कृत लखि बहु छन्दोग्रन्थ। दास कियो छन्दोरणव, भाषा रचि शुभ यन्थ । ७।" इसी प्रकार भानु भी इन शब्दोंमें पूर्वयन्थोंका उल्लेख करते है-"इस यन्थको हमने श्रीयुत भट्ट हलायुधके सटीक प्राचीन संस्कृत छन्दःशास्त्र, 'श्रुतबोध', 'वृत्तरत्नाकर' 'छन्दोमंजरी', 'वृत्तदीपिका', 'छन्दःसार-संग्रह' इत्यादि यन्थोंके आधारसे बनाया है" (छं० प्र०, पृ०३: भूमिका)। इस प्रकार छन्दशास्त्रके प्रणयनकी लगभग अखण्ड परम्परा वर्तमान समयतक चली आती है। हिन्दी शास्त्रकारोंने गद्यका भी प्रयोग किया है, जैसे सुखदेव, गदाधर भट्ट और भानुने । छन्दोके नये वर्गीकरणका प्रयास भी दशरथ और रामसहाय आदिके द्वारा हुआ है तथा तुक आदि नये विषय भी समाविष्ट कर लिये गये है। हिन्दोकी तरह सम्भवतः किसी भी आधुनिक भारतीय भाषामें छन्दशास्त्रका विकास नहीं हुआ । छः पुत्र-'कबीर मंसूर'के अनुसार सत्य पुरुष सम्पूर्ण जगत्-को उत्पन्न करनेवाले है। सृष्टिके लिए उन्होने छः पुत्र उत्पन्न किये थे। ये सभी बड़े तेजस्वी और तपस्वी थे। इनका नाम है-सहज, अंकुर, इच्छा, सुहंग (= सोहं या स्वयं), अचिन्त (= अचिन्त्य) और अक्षर । कवीरपंथी साहित्यमें लोकों, पातालों (नरकों) और पुरियोंकी भी बाकायदा कल्पना मिलती है। जिस पृथ्वीपर हम निवास करते हैं वह कर्मलोक है। इसके नीचे सात पाताल है और ऊपर देवताओ और सिद्धोंकी पुरी। पाताल नर्क है और पुरियाँ स्वर्गे। कबीरपंथी साहित्यमें जिन नौ लोकोंका उल्लेख मिलता है, उनमेंसे छः सत्यपुरुषके उक्त छः पुत्रोके नामपर है। ये क्रमशः एकके ऊपर दूसरेके क्रमसे विराज-मान है। इनमेसे प्रथम तीन दहा, विष्णु और निरजनके द्वीप है, जिनमें क्रमशः सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य मुक्ति मिलती है। चौथा अक्षरका अरण्यद्वीप, पाँचवाँ अचिन्तका अचिन्त दीप, छठाँ सोऽहंका सुहंगद्वीप, सातवाँ इच्छाका इच्छादीप, आठवाँ अंकरका अंकरद्वीप, सहजका सहज द्वीप । इन सबके ऊपर सत्यपुरुषका सत्य लोक है। (दे० हजारी प्रसाद द्विवेदी: 'कबीर', पृ० छठ-छठीके गीत। इनके दो प्रकार हैं-१, पत्र प्राप्तिकी कामनासे कार्त्तिकमासमें शुक्ल-पक्षकी षष्ठीके दिन सूर्य-पुजनके अवसरपर गाये जानेवाले धार्मिक गीतः २. जन्मो-त्सवके अवसरपर शिशु-जन्मके छठे दिन 'छठी'को गाये जानेवाले गीत। —र० **अ**० छत्तीसगढ़ी - छत्तीसगढी पूर्वी हिन्दीकी एक बोली है। इसका स्थान अवधी (बघेली समेत)के दिक्खनमे पड़ता है। मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़ प्रान्तके सामान्य जनकी यही भाषा है। इसमें साहित्यिक रचना प्रायः कुछ भी नही है। इधर कुछ वर्षीसे जनसाधारणमें प्रचारार्थ सरकारने इसका

उपयोग किया है। अवधीसे मुख्य भेदक रुक्षण निम्निकिश्वित

है—१. संज्ञा और सर्वनामके बहुवचनका प्रत्यय-मन। २. कर्म-सम्प्रदान कारकके परसर्ग क्-के विकल्पमें छ्। ३. करण-के परसर्ग से-के विकल्पमें के। ४. सम्बन्ध परसर्ग किंग-भेदसे बदलता नहीं। ५. निश्चयात्मक प्रत्यय ह और मर्यादित प्रत्यय च (अवधी-इ)। ६. सर्वनाम अवधीसे मिन्न और भोजपुरीसे मिलते हैं। —बा॰ रा॰ स॰ छप्पय—मात्रिक विषम छन्द। 'प्राकृतपैंगलम्' (१:१०५)-में इसका लक्षण और इसके भेद दिये गये है। छप्पय भी संयुक्त छन्द है, जो रोला (११+१३) चार पाद और उल्लाला (१५+१३)के दो पादके योगसे बनता है। उल्लालाके दो भेदोंके अनुसार छप्पयके पाँचवे और छठे पादमें २६ या २८ मात्राय हो सकती हैं। प्रधान रूपसे २८ मात्राओं वाले भेदको किया है।

छप्पय अपभ्रंश और हिन्दीमें समान रूपसे प्रिय रहा है। इसका प्रयोग हिन्दीके अनेक कवियोने किया है। चन्द (पृ० रा०), तुलसी (कवितावली), केशव (रा० च०), नाभादास (भ० मा०), भूषण (शि० रा० भू०), मतिराम (ल० ल०), सूदन (स० च०), पद्माकर (प्र० वि०), तथा जोधराज (ह० रा०)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। इस छन्दका प्रयोग वीर तथा समान रसोंमें चन्दसे लेकर पद्माकरतकने किया है। इस छन्दके प्रारम्भमें प्रयुक्त रोलामें गतिका चढाव है और अन्तमें उल्लालामे उतार है। इसी कारण युद्ध आदिके वर्णनमे भावोके उतार-चढावका इसमे अच्छा वर्णन किया जाता है। पर नाभा-दास, तुलसीदास तथा हरिश्चन्द्रने भक्ति-भावनाके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"डिगति उर्वि अति गुनि, सर्व पब्ने समुद्रसर। ब्याल निधर तेहि काल, निकल दिगपाल चराचर । दिग्गयन्द लरखरत, परत दसकण्ठ मुक्खभर । सुर बिमान हिम भानु, भानु संघटित परस्पर । चौंकि बिरंचि शंकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ। ब्रह्मण्ड खण्ड कियो चण्ड धृति, जबहिं राम शिव धन दस्यौ ॥" (कविता०: बाल० ११) । 🔑 रा० सिं० तो० छल-एक नया संचारी भाव । सम्भवतः भानुदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'मे इस संचारी भावकी सर्वप्रथम चर्चा की है (५, पृ० ११०)। अवमान, विपरीत पक्ष एवं कृत्सित चेष्टा इसके विभाव है वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित और चपके-चुपके देखना एवं अपने विकारोंको छिपाना इसके अनुभाव है। स्पष्ट है कि यह संस्कृतके अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित अवहित्था संचारीसे विशेष भिन्न नहीं। 'रस-तरंगिणी'में शृंगार एवं संयाममें 'छल'के भावके उदाहरण दिये गये है। कदाचित इनका अनुसरण कर हिन्दीके कवि देवने इस संचारीका प्रचार किया। उनके 'भावविलास'में निम्नलिखित उदाहरण मिलता है—''स्याम सयाने कहावत हैं कहा आजुको काहि सयानु है दीनो। देव कहै दुरि टेरी कुटीरमें आपनो बैर बधू उहि लीनो। चूमि गयी मुँह औचक ही पद्ध लै गयी पै इन वाहि न चीन्हों। छैल भले छिनहीमें छले दिनहीमें छबीली भलो छल कीन्हो" (भावनः संचारी)। अतः देवके अनुसार अपने अवमानका बदला ेलेना छल दुआ। यदि हिन्दी कान्यशास्त्रमें इसका विकास इस प्रकार हुआ तो समझना चाहिये कि छल कोई संचारी भाव नहीं, प्रस्तुत सुविचारित योजना है। वैसे भी जैसा कपर दिखाया जा चुका है, यदि भानुदत्तके अनुसार ही इसकी परिभाषा ली जाय तो यह अवहित्थाके अन्तर्गत है, इसकी स्वतन्त्र संचारी मानना आवश्यक नहीं।

—ज० कि० व०

छायानाट्य- जेम्स जे० हेजने पुत्तिका-नाट्यमें प्रयुक्त पत्तिलकाओंके १८ प्रचलित भेद माने है, जिनमे प्रमुख चार हैं-स्टिंग पपेट (सूत्रचालित पुत्तलिका), हैड पपेट (इस्तचालित पुत्तलिका), शेडी फिगर (छायाकृति) तथा रॉड पपेट (दण्डचालित पुत्तलिका) । छायाकृति द्वारा अभिनीत पत्तिका-नाट्यको छायानाट्य कहते है। ये छायानाट्य चीनमें ईसासे पर्व प्रचलित थे। जार्ज जैकवर्का 'गोशीइते डेश शैटेन थिएटर्स नामक पुस्तक (१९२५मे प्रकाशित)के अनुसार छायानाट्योंका प्रचार चीनसे भारतमे, भारतसे फारस, अरेबिया तथा अफ्रीका एवं यूरोपीय देशों में हुआ। चीनमें इन छायाओको पारदर्शी रंगोंके द्वारा रंगीन बना दिया जाता था, किन्तु यूरोपमें पहुँ चते-पहुँ चते इस युक्तिका लोप हो गया था। १९वीं शताब्दीके प्रारम्भमे छायानाट्य यरोपमे विशेष रूपसे लोकप्रिय होने लगे। मुख्यतः पत्तिका-नाट्यशालाओंके पर्दीपर ये छायानाट्य बहुत बड़ी संख्यामे दिखाये जाने लगे। चित्रपटोंके आविष्कारके कुछ काल पूर्व (१८८०से १८९०के बीच) इन छायानाट्यों-की बहुत अधिक धूम थी। मैजिक लैण्टर्नकी मॉति ही छायानाट्योंने भी चलचित्रोंके आविष्कारको प्रेरणा दी है। वास्तवमे चलचित्रोंके आविष्कारके सहस्र वर्ष पूर्व ही इस प्रकारके छायापटों, ध्वनि, रंग एवं चल आकृतियोंका संयोग प्रचलित हो चुका था। चलचित्रोके आविष्कारसे छायानाट्योका प्रचार बहुत कम अवस्य हो गया है, किन्त अब भी यूरोपमे अनेक छायानाट्य-मण्डलियाँ जनतामें लोकप्रिय है।

भारतमें छायानाट्योंकी बड़ी उन्नति हुई थी। ये छायानाट्य आधुनिक चलचित्रोके मानों मुल रूप थे। उनमें चमडेकी कठपुतलियाँ बनाकर प्रकाशके आगे साधारण कठपुतलियोंकी भॉति नचाते थे और उनकी छाया आगे पड़े हुए पटेंपर पड़ती थी । दर्शक-समृह पदेंपर पडनेवाली उसी छायाके रूपमें नाटक देखता था। इस प्रकार छोटी-छोटी पुतलियोकी सहायतासे पर्देपर सजीव मनुष्योंकी आकृतियाँ दिखायी जाती थीं । ऐसे छायानाट्यो-के तो रूपक भी अलग बनते थे, जिनके मुख्य आधार प्रायः 'रामायण' और 'महाभारत'के आख्यान हुआ करते थे। ऐसे नाटकोंमें सुभटकृत 'दूतांगद', भवभूतिकृत 'महावीरचरित', राजशेखरकत 'बालरामायण' और जयदेवकृत 'प्रसन्नराधव' मुख्य है। भारतमे, विशेषनः दक्षिणभारतमे, ऐसे नाटक सोलहवी और सत्रहवी शताब्दीतक खेले जाते थे। जावा द्वीपमें ऐसे छायानाट्योंका प्रचार बहुत दिन पहले भारतकी देखा-देखी ही हुआ था। पिशलका तो यहाँतक कथन है कि मध्ययुगमें यूरोपमें कठपुतिलयो आदिका जो नाम हुआ करता था, वह भारतका ही अनुकरण था। उनका यह भी मत है कि अंग्रेजी नाटकोंमें जो 'क्षाउन' या मसखरे

होते है, वे भी भारतीय नाटकोंके विदूषकोंके ही अनुकरणपर रखे गये है, क्योंकि विद्रषकोंकी सबसे अधिक प्रधानता भारतीय नाटकोमे ही पायी जाती है। - इया मो० श्री० **छायावाद** - छायावाद आधुनिक हिन्दी कविताकी उस धाराका नाम है, जो १९१८ ई०के आसपास दिवेदी-युगीन (दे॰ 'द्विवेदी-युग') नीरस, उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधाराके बीचसे प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियोंके विरुद्ध विद्रोहके रूपमें प्रवाहित हुई। यह नयी काव्यधारा अंग्रेजीके रोमाण्टिक कवियों तथा बॅगलाके कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कान्यधाराके ढंगकी या उससे प्रभावित थी। रामचन्द्र शुक्क मतानुसार "पुराने ईसाई सन्तोंके छायाभास (phantasmata) तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्रमें प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद-(symbolism)के अनुकरणपर रची जानेके कारण बंगालमे ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थी", अतः हिन्दीमे भी इस तरहकी कविताओका नाम छायावाद चल पड़ा (हि॰ सा॰ इ॰, पृ॰ ६१५, आठवॉ संस्करण)। हजारीप्रसाद द्विवेदीका कहना है कि बॅगलामें 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं (हि॰ सा॰ उ॰ और वि॰, पृ० ४६१) । अस्तु, छायावाद नाम पड़नेका चाहे जो भी कारण रहा हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९२० ई०के आसपास ही इस नवीन काव्यधाराका 'छायावाद' नाम प्रचलित हो गया था, जैसा कि 'श्रीशारदा'में १९२० ई०के चार अंकोंमें प्रकाशित मुकुटधर पाण्डेयके 'हिन्दीमें छायावाद' शीर्षक निबन्ध तथा उसी शीर्षकसे जून, १९२१ ई०की 'सरस्वती'मे सुशीलकुमारके व्यंग्यात्मक निबन्धते स्पष्ट है।

उपर्युक्त निबन्धोंसे यह प्रतीत होता है कि उस समय छायावाद शब्दका प्रयोग अंग्रेजीके (mysticism)के अर्थमें होता था। १९२७ ई०के मई मासकी सरस्वतीमें महावीरप्रसाद द्विवेदीने 'सुकवि किंकर' उपनामसे एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने रविबाबकी कविताको मिस्टिक या रहस्यवादी माना था और हिन्दीमे प्रचंलित छायावादपर छीटाकशी करते हुए लिखा था कि 'छायावादसे लोगोंका क्या मतलब है, कुछ समझमें नही आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविताके भावोंकी छाया यदि कही अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिये।' इससे स्पष्ट है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावादको बँगलाकी रहस्यवादी कविताओंका अनुकरण या छायानुवाद मानते थे। १९२७ **ईं॰में ही** कृष्णदेवप्रसाद गौड़ने महावीरप्रसाद दिवेदीके उक्त निबन्धके उत्तरमें 'छायावादकी छानबीन' शीर्षक एक लेख लिखा। उस लेखमे भी 'छायाबाद' शब्दका प्रयोग रहस्यवाद (mysticism)के अर्थमे ही हुआ था (सा॰ प्र॰: कृष्णदेवप्रसाद गौड, पृ० ३४)। इस तरह प्रारम्भमें अधिकतर विद्वानोंका यही मत था कि रहस्यवाद और छायावाद एक ही है। बादमें रहस्यवाद और छायाबादमें भेद किया जाने लगा और रहस्यवादको मिस्टिसिडम और छायावादको रोमाण्टिसिडम (romanti-'cism)का द्योतक माना जाने लगा।

रामचन्द्र शुक्क छायावादको स्वच्छन्दतावादसे भिन्न मानते थे। उनके अनुसार छायावादके प्रारम्भके पूर्व मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खडी-बोली-काव्यको अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भाव-व्यंजक रूप-रंग देनेमे प्रवृत्त हुए थे और वही स्वामाविक स्वच्छन्दतावादी काव्यथारा थी। छायावादको वे दो अर्थोंमें ग्रहण करते थे, एक तो रहस्यवादके सीमित अर्थमें और दूसरे प्रतीकवाद या चित्र-भाषावादकी अभिन्यंजना-प्रणाली या काव्यशैलीके व्यापक अर्थमे। उनका कहना है कि "हिन्दीमें छायावाद शब्दका जो न्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओके अतिरिक्त और प्रकारकी रचनाओके सम्बन्धमे भी महण हुआ, वह इसी प्रतीकरौलीके अर्थमें। छायावादका सामान्यतः अर्थहुआ प्रस्तुतके स्थानपर उसकी व्यंजना करनेवाली छायाके रूपमें अप्रस्तुतका कथन। इस शैलीके भीतर किसी वस्त या विषयका वर्णन किया जा सकता है" (हि॰ सा॰ इ॰, पृ॰ ६६९, आठवॉ संस्करण)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्क स्वच्छन्दतावादको छायावादसे भिन्न और रहस्यवादको छायावादका पर्यायवाची अथवा उसीमें अन्तर्भुक्त मानते थे। विश्वनाथप्रसाद मिश्रने एक कडम आगे बढकर स्वच्छन्दतावादको सामाजिक रूढियोंसे विद्रोह, रहस्यवादको सांसारिक जीवनसे विद्रोह और छायावादको अभिन्यंजनावाद मानकर कान्यशैलीके विद्रोहकी अभिन्यक्ति माना, परन्तु यह भी स्वीकार किया कि "आगे चलकर छायावाद नाम इतना व्यापक हुआ कि नये रूप-रंगकी कोई रचना 'छायावाद'मे ही अन्तर्भुक्त हो गयी। "तात्पर्य यह कि अभिव्यंजनाका नूतन विधान छायावादका मुख्य लक्षण रहा है" (हि० सा० सा०, पू० ५९)। इस तरह विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी रामचन्द्र शुक्ककी तरह स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवादको विषयवस्तु-व्यंजक और छायावादको अभिव्यंजना-पद्धति-न्यंजक संज्ञाएँ मानते हैं।

किन्त इन सभी विद्वानोने इस बातकी ओर ध्यान नहीं दिया कि विषयवस्तु और अभिन्यंजना-पद्धति एक-दूसरेसे अविभाज्य और अन्योन्याश्रित है। इस दृष्टिसे छायावाद केवल अभिन्यंजनाकी विशेष पद्धति नहीं हो सकता। उसके वैविध्यपूर्ण विषयवस्तुमे भी कोई ऐसा तत्त्व अवस्य होना चाहिये, जिसके कारण कविको उस पद्धति-विशेषका सहारा लेना पड़ा होगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर जयशंकर 'प्रसाद'ने छायावादकी यह परिभाषा दी है- 'जब वेदनाके आधारपर स्वानुभृतिमयी अभिन्यक्ति होने लगी तब हिन्दीमें उसे छायाबाद नामसे अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परासे, जिसमें बाह्य वर्णनकी प्रधानता थी, इस ढंगकी कविताओं में भिन्न प्रकारके भावोंकी नये ढंगसे अभिन्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्शेसे पुरुकित थे। आभ्यन्तर स्ध्मभावोंकी प्रेरणा बाह्य स्थूल आकारमे भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर मावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन रौँली, नया पदविन्यास आवश्यक था। हिन्दीमें नवीन शब्दोंकी मंगिमा स्पृष्ट्णीय आभ्यन्तर वर्णनके लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यासमे ऐसा पानी चढा कि उसमें एक तडप उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिन्यक्तिका प्रयास किया गया" (काव्यकला तथा अन्य निवन्ध, पू० १४३)। यह परिभाषा छायावादका बहुत-कुछ सही स्वरूप उपस्थित करती है और यह स्पष्ट कर देती है कि छायाबाद केवल अभिव्यंजनाकी विशेष प्रणाली या प्रतीक-पद्धति नहीं है, बल्कि उसमें ऐसे सूक्ष्म और नवीन भावोकी योजना भी हुई है, जिनकी अभिव्यक्ति इस विशेष शैलीके अतिरिक्त अन्य किसी पद्धतिसे नहीं हो सकती थी। नवीन आभ्यन्तर अनुभृतिको व्यक्त करनेके लिए नवीन अभिव्यंजना-शैली आवश्यक थी और इसी शैलीके काव्यका नाम छायावाद पडा। छायावाद नामकी सार्थकता बताने तथा उसे विदेशी काव्य प्रवृत्तिका अनुकरण नहीं, बल्कि भारतीय काव्य-परम्पराके अनुरूप सिद्ध करनेके लिए जयशंकर 'प्रसाद'ने लिखा है—''छाया भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्ति-की भंगिमापर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषताएँ है। अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तरस्पर्श करके भावसमर्पण करनेवाली अभिन्यक्ति-छाया कान्तिमयी होती है"। इस कथनसे छायावादकी तीन प्रधान विशेषताओ-स्वानभृतिकी विवृति या आत्मव्यंजकता, सौन्दर्यप्रेम और अभिन्यक्तिकी भंगिमा या सांकेतिकताका उल्लेख हुआ है। किन्तु छाय।वादकी अन्य विशेषताओंका उल्लेख न करनेसे 'प्रसाद'की परिभाषामे अतिब्याप्ति दोष आ गया है, क्योकि उसके अनुसार आधुनिक प्रयोगवादी रचनाओ-मेसे भी बहुत-सी छायावादी मानी जा सकती है।

नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेथीने छायावादकी जो परिभाषाएँ बतायी है, उनमें छायाबादकी कुछ अन्य तात्त्विक विशेषताओंका समावेश हुआ है। नगेन्द्रके अनुसार ''छायावाद स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्मका विद्रोह'' है । छायावाद-मे विद्रोहकी जो व्यापक प्रवृत्ति दिखाई पडती है, उसकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया था। किन्तु उस विद्रोहका स्वरूप क्या है, इस बातका उल्लेख नगेन्द्रने नहीं किया है, जिससे उनकी परिभाषामे अस्पष्टताका दोष है। वाजपेयीजी छायावादको रहस्यवाद अथवा आध्यात्मिक काव्यसे भिन्न मानते है। उनके अनुसार "नयी छायावादी काव्यधाराका भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवी शताब्दीकी मानवीय प्रगतिकी प्रतिक्रिया भी कह सकते है। "उसकी एक नवीन और स्वतन्त्र काव्यशैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाजव्यवस्था और विचार-जगत्मे छायावाद भारतीय आध्यात्मिकताकी, नवीन परिश्वितिके अनुरूप स्थापना करता है।… छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियोंसे ही मुख्यतः अनुप्राणित है। "छायावाद मानव-जीवन-सौन्दर्य और प्रकृतिको आत्माका अभिन्न स्वरूप मानता है। "नवीनकाव्य (छायावाद) में समस्त मानव-अनुभूतियोकी व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।" (आ॰ सार्व, पृ० ३१९-२०)। नन्ददुलारे वाजपेयीकी

परिभाषामें छायावादकी प्रायः सभी मौलिक विशेषताएँ समाविष्ट हो गयी है। यदि छायावाद केवल आध्यात्मिक-काव्य होता तो उसे अवस्य रहस्यवादका पर्याय माना जा सकता था। उसी तरह यदि वह केवल प्राचीन रूढ़ियोंके विरुद्ध विद्रोहकी अभिव्यक्ति होता तो उसे स्वच्छन्दताबादसे अभिन्न माना जा सकता था, किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक नहीं, बल्कि रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृतिकी जीवन्त परम्परा, राष्ट्रीयताकी सज्ञक्त आकाक्षा और नवीन मानवताबादी आदशींकी प्रेरणासे अनुप्राणित है। अतः छायावाद रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, स्वच्छन्दना-वाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सक्ष्म सौन्दर्यवोध आदि विविध प्रवृत्तियोका समग्र रूप है, अर्थात् वह उस जागरण-यगकी प्रवद्ध आत्मा (या नवीन आध्यात्मिक चेतना)की का व्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टिसे नन्ददुलारे वाजपेयी-की परिभाषा अन्य लोगोकी परिभाषाओं से अधिक स्पष्ट, पूर्ण और समीचीन है। यहाँ आध्यात्मिकताका अर्थ धार्मिकता, अलौकिकता या दार्शनिकता नहीं, बल्कि स्थूल लौकिकता और जड़ताके भीतर निहित सूक्ष्म चेतनता है, जिसे 'प्रसाद'ने 'वेदना' कहा है। इसी न्यापक वेदना और नवीन आध्यात्मिक चेतनाकी सूक्ष्म अनुभूतियोंकी नवीन भंगिमामयी शैलीमे जो अभिन्यक्ति हुई, उसीका नाम 'छायावाद' पड़ा ।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि रहस्यवाद (दे०) छायावादका एक लघु अंशमात्र है, दोनो एक नहीं है, अर्थात सभी रहस्यवादी कविताएँ छायावादी नहीं होती और न सभी छायावादी कविताएँ रहस्यवादी ही होती है। उसी तरह स्वच्छन्दतावाद (दे०)की प्रवृत्ति छायावादमे अवस्य है, पर छ। यावाद स्वच्छन्दतावाद नहीं है, वह उससे और भी आगे बढा हुआ तथा अन्य कई प्रवृत्तियोंका समय रूप है। स्वच्छन्दतावाद या रोमाण्टिसिज्म यूरोपमे अठारहवी शताब्दीके अन्त और उन्नीसवी शताब्दीके पूर्वार्द्धमे उत्पन्न और विकसित हुआ और उसके मूलमे यूरोपकी तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाका ही प्रमुख हाथ था। इसके विपरीत छायाबाद उसके सौ वर्ष बाद भारतीय भूमि-में भिन्न आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियोके बीच विकसित हुआ। यद्यपि दोनोमें ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्थूल बन्धनो और रूढियोके विरुद्ध विद्रोह, सौन्दर्य-प्रेम और आत्मामिन्यंजनाकी प्रवृत्तियाँ समान रूप-से पायी जाती है, पर दोनोंके बीच देश और कालकी जो दरी है, उससे दोनोंके स्वरूपमे पर्याप्त अन्तर भी है। अतः छायावाद शब्द रोमाण्टिसिज्मका हिन्दी अनुवाद नहीं है और न वह यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका अन्धानकरण है। वह तो भारतीय संस्कृतिसे अनुप्राणित, भारतीय परि-स्थितियोसे अनुप्रेरित और प्रथम महायुद्धके बादके नवीन मानवतावादी आदर्शवादपर आधारित हिन्दीकी मौलिक काञ्यधारा है। यूरोपीय रोमाण्टिक कविताका विद्रोह केवल सामन्तवाद और उसका समर्थन करनेवाली प्रवृत्तियो और रूढ़ियोंके विरुद्ध था, किन्तु छायावादका विद्रोह सामन्त-वादके साथ विदेशी साम्राज्यवादके विरुद्ध भी था। युरोपमे **छायावाद-युग**-छायावादके जन्मके सम्बन्धमें कई मत प्रचलित है। रामचन्द्र शुक्कता मन्तन्य है, "हिन्दी कविता-की नयी धारा (छायावाद)का प्रवर्तक इन्हीको - विशेषतः मैथिलीशरणगुप्त और मुकटधर पाण्डेयको समझना चाहिये". अर्थात् शुक्कजीके अनुसार छायावादका जन्म-काल ई० सन् १९०५के लगभग माना जाना चाहिये। परन्त इस सम्बन्धमे अनेक विद्वानोंको आपत्ति है। इलाचन्द्र जोशी तथा शिवनाथ, शुक्कजीके इस मतका खण्डन करते है। ये छायावादका प्रारम्भ ई० सन् १९१३-१४के लगभग मानते इए जयशंकर 'प्रसाद'को छायावादका जनक मानते है । इलाचन्द्र जोशी लिखते है, 'छायाबादकी उत्पत्ति और विकासके सम्बन्धमे आचार्य रामचन्द्र शुक्लका वक्तव्य एक-दम भ्रामक, निर्मूल और मनगढन्त है। "'प्रसाद'जी अवि-वादारपद रूपसे हिन्दीके सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३-१४के आसपास 'इन्द्र'में प्रतिमास उनकी जिस ढंगकी कविताएँ निकलती थी (जो बादमे 'कानन-कुसुम'के नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई), वे निश्रय रूप-से तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें युग-विवर्तनकी सूचक थी"। शिवनाथ भी इसी मतके पोषक है- "मै यो कहूँ कि आचार्य शक्क जहाँसे नवीन काव्यकी भारतीय पद्धतिका प्रवर्तन मानते हैं, उसके पहलेसे ही 'प्रसाद' नवीनताका प्रारम्भ कर चुके थे। छायावादके प्रारम्भकर्ता 'प्रसाद' है ""।

कुछ लोग 'भारतीय आत्मा' (माखनलाल चतुर्वेदी)को छायावादको प्रवर्तनका श्रेय देना चाहते है। इस मतको समर्थक है, विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचने। इन लोगोंका आग्रह है कि छायावादका प्ररम्भ ई० सन् १९१३- से अवश्य हुआ, परन्तु छायावादको प्रारम्भकर्ता जयशंकर 'प्रसाद' न होकर माखनलाल चतुर्वेदी है।

नन्ददुलारे वाजपेशीका दूसरा ही मत है। सुमित्रानन्दन पन्तको इसका श्रेय देते हुए आप लिखते है— "साहित्यिक दृष्टिसे छायावादी कान्यशैलीका वास्तविक अभ्युदय सन् १९२०के पूर्व-पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्तकी 'उच्छ्वास' नामकी कान्य-पुस्तिकाके साथ माना जा सकता है"।

इस मत-वैभिन्यके पर्याप्त कारण है। द्विवेदीयुगकी कविताकी भाषा ब्रजभाषा थी। खडीबोलीमें कविताका सिनिश्चित एवं क्रमिक प्रवाह लगभग सन् १९०४ ई०से देखा जाता है और छायावादका प्रारम्भ-काल यदि १९१३-१४ माना जाय तो छायावाद एवं व्रज-काव्यका मध्यकाल दस-बारह वर्षोंसे अधिक नहीं ठहरता । अस्त, सन् १९१३-१४ ई० और १९०३-४के बीच यदि कुछ समता या अधिक निकटता दीख पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं । इसका एक कारण और है। रीतिकालके विरुद्ध द्विवेदी-कालमें विद्रोह हुआ। स्वच्छन्दतावादका प्रथम काल, जिसे सैद्धान्तिक स्वच्छन्दना-वाद कहना अधिक उपयुक्त होगा, यही काल माना जाना चाहिये, अर्थात् '१९००-१९१४तकके कालको सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावादके नामसे पुकारा जा सकता है, जिसका सिद्धान्त १९वी शताब्दीकी कविताके संकुचित दृष्टिकोणके प्रति असन्तोष और उसकी अतिशय नियमबद्धता और साहित्यिक पाण्डित्यके प्रति विरोध था। यही कारण है कि कुछ आलोचकोंको मैथिलीशरण ग्रप्त और 'प्रसाद'के काव्य- में भी छायावादकी गन्ध मिलती है। नन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीकृष्णलाल और सियारामशरण गुप्तने इस तथ्यका स्पष्टी-करण बड़े मुलझे ढंगसे किया है। इस प्रकार छायावादका प्रारम्भ १९१३-१४ ई०से होता है और १९३६तक आते-आते इसकी धारा मन्द पड़ जाती है।

वस्ततः छायावाद मध्यवगीय चेतनाके विद्रोहका दूसरा नाम है। उस विशिष्ट कालकी परिस्थितियों और विचार-धाराओंने विविध रूपमें जीवन और काव्यको प्रभावित किया था। पॅजीवादका विकास और व्यक्तिवादका जन्म. स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियोका उदय, प्रथम महायुद्धका प्रभाव, राजनीतिके क्षेत्रमें महात्मा गान्धीका आन्दोलन और सम्पूर्ण समाजमें स्वातन्त्र्य-प्रेमका जागरण, नयी पीढीपर पश्चिमी सभ्यताका रंग चढना तथा अंग्रेज रोमाण्टिक कवियोंसे प्रभावित होना, कवीन्द्र रवीन्द्रके प्रति श्रद्धा, बंगालमें ब्राह्म-समाजका आन्दोलन और राजा राममोहन रायके क्रान्ति-कारी विचार, स्वामी दयानन्द सरस्वतीका कर्मकाण्डी वैष्णव धर्मके विरुद्ध आन्दोलन-इन विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थि-तियोंने मिल-जुलकर छायावादको जन्म दिया । साहित्यके क्षेत्रमें यद्यपि रीतिकालके विरुद्ध आवाज उठ चुकी थी, भाषा बदली थी, किन्तु छन्दके वर्णवृत्त पूर्ववत् थे। वासना-का रंग छटा था तो उपदेशकी रंगहीनता आ गयी थी। रसके ऊपर इतिवृत्त चढ़ बैठा था, यहाँतक कि स्थूल सौन्दर्य-बोधके विरोधमे पुनरुत्थान-युगके काव्यने सौन्दर्यकी ही निर्वासित कर दिया था। फलतः नये कवियोका उन्मक्त मन अपनी अभिन्यक्तिके लिए दूसरा रास्ता हॅढने लगा। संघर्षशील मध्यवर्गकी चेतनामें अभृतपूर्व परिवर्तन लक्षित होने लगे। न्यक्तिवाद, न्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आदशौंकी नीव पडी। बुद्धिके विरुद्ध हृदय और स्थूलके विरुद्ध स्कम विद्रोह कर उठा। महादेवीके शब्दोमे—"उस युगकी कविताकी इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली कि मनुष्य-की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएँ विद्रोह कर उठी। ... स्थल सौन्दर्यकी निर्जीव आवृत्तियोसे थके हुए और कविता-की परम्परागत नियम-शृंखलामे अवे हुए व्यक्तियोको फिर उन्ही रेखाओं में बंधे स्थूलका न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उसका रूदिगत आदर्श भाया। उन्हें नवीन रूप-रेखाओंमे सूक्ष्म सौन्दर्यानुमृतिकी आवश्यकता थी, जो छायावादमे पूर्ण हुई"।

१९१३ ई०से पहले 'प्रसाद' ब्रजभाषामे किताएँ लिखा करते थे, परन्तु 'इन्दु'के माध्यमसे उन्होने नथी किताओं- का प्रारम्भ किया। खडीबोलीमें उनकी पहली पुस्तक 'कानन-कुसुम' है। 'कानन-कुसुम', 'महाराणाका महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ है, जो १९२० ई०के पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी। १९१८ ई०में इनकी २४ किताओंका संग्रह 'झरना' नामसे प्रकाशित हुआ। 'झरना'मे यौवनका स्वर है—आत्मदान एवं आत्मप्रकाशनकी अभिलाषा है। मान-प्रवणता एवं आर्द्रता स्पष्टतथा परिलक्षित है। पुनः १९२७ ई०में 'झरना'का दूसरा संस्करण ३१ नयी किताओंको जोड़कर प्रकाशित हुआ। यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि अवतक पन्तकी 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पळ्व' प्रकाशित हो चुके थे। 'निराला'की स्फुट

कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं छपने लगी थी। तात्पर्य यह कि छायावादी कविता अपने पूर्ण उन्मेषको प्राप्त कर चुकी थी। १९३१ ई०में 'प्रसाद' अपनी प्रौढ़ रचना 'ऑस्'के साथ हिन्दीमे आये। 'ऑस्' एक श्रेष्ठ विरहकाव्य है-विलिक विरहके अन्तर्गत भी यह मुख्यतः एक स्मृति-काव्य है। इसमे प्रेम-वेदनाको 'प्रसाद'ने बडी दिव्यतासे अंकित किया है। अपने अगले कविता-संग्रह 'लहर'मे 'प्रसाद'ने अन्यान्य भाव-भूमियोंपर अपनी कल्पनाको दौडाया है। इन कविताओमे आनन्दवादकी झलक, अज्ञात प्रियतमसे रहस्यमय अभिसारोंके चित्र, सजीले खप्नोसे अतृप्तिको मिटानेका प्रयास, 'बीती विभावरी जाग री'का आह्वान और 'अब जागो जीवनके प्रभात'की कामना स्पष्टतया देखी जा सकती है। १९३६ ई०में 'कामायनी' प्रकाशित हुई। यह छायावाद-युगका महाकाव्य है। इसमें एक उदात्त आदर्शवादी स्तरपर सामंजस्यपूर्ण आनन्दवादकी धारणा स्थापितकी गयी।

छायावाद-युगके दूसरे सशक्त एवं प्रौढ प्रतिभाके कवि सर्यकानत त्रिपाठी 'निराला' है। 'जूहीकी कली' 'निराला'-की प्रारम्भिक कविताओमेसे हैं। इसकी रचना १९१६ ई०-में हुई थी और 'मतवाला'में इनकी कविताएँ प्रारम्भमे प्रकाशित हुई, लेकिन १९२९ ई०से ही ये प्रकाशमें आये, जिस वर्ष इनका 'परिमल' प्रकाशित हुआ। 'परिमल'की कविताओं मे कविका संयम, उदात्त अन्तःस्वर, करुणासे सहज द्रवित हृदयकी विशालता, भावोंके सूक्ष्म सौन्दर्य एवं दार्शनिक गहराई आसानीसे देखी जा सकती है। 'जुहीकी कली', 'पंचवटी', 'जागृतिमें मुक्ति', 'छः बादलगीत', 'भिक्षक', प्रसिद्ध गीत 'भर देते हो'—'परिमल'की प्रमुख कविताएँ है, जिनमे छायावादी अनेकमुखी प्रवृत्तियोकी उदात्त झलक मिलती है। 'परिमल'के बाद 'गीतिका' एव तत्पश्चात् 'अनामिका' (१९३७)का प्रकाशन हुआ । 'अना-मिका' इनका प्रतिनिधि काव्य-प्रनथ है। 'तोडती पत्थर', 'बादल गरजो', 'तोडो-तोडो कारा' आदि कविताएँ कविकी प्रगतिशील चेतनाकी सूचक है। 'दुःख ही जीवनकी कथा रहीं', 'क्या कहूं आज जो नहीं कहीं', 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन', 'मैं अकेला देखता हूं', 'स्नेह निर्झर वह गया है', 'रेत ज्यो तन रह गया है' आदि कविताओं में कविकी घोर निराशा और अवसादकी अनुभूतियोके बीच भी उसकी परुष तेजस्विता देखी जाती है। 'अनामिका'मे ही 'रामकी राक्ति-पूजा' छपी है। 'अनामिका'के बाद 'तुलसी-दास' प्रबन्ध-काच्य प्रकाशित हुआ । तत्पश्चात् 'निराला'ने न्या मोड लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना' और 'आराधना'का प्रकाशन हुआ।

सुमित्रानन्दन पन्त छायावादके तीसरे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। इनका रचना-काल सन् १९१८ ई०से प्रारम्भ होता है। 'वीणा', 'ग्रन्थि' १९२० ई०तक प्रकाशित हो चुकी थी। १९२१ ई०में 'उच्छ्वास' और 'ऑस्' किवताएँ लिखी गयी। 'पछव'का प्रकाशन १९२६ ई०में हुआ। १९१९से १९३२ ई०तककी रचनाएँ 'गुंजन'में संगृहौत हैं। 'युगान्त' किवकी नयी दिशाका स्वक है, जिसमे १९३४, ३५, ३६ ई०की किवताएँ संगृहीत हैं। इसके

पश्चात १९३९ ई०तककी रचनाएँ 'युगवाणी'में संगृहीत है। इनकी 'ग्राम्या' १९४० ई०के मध्यतककी कविताओका संग्रह है। 'वीणा'मे प्रारम्भिक रचनाएँ है, जिनमे कविकी अप्ररतुत रूपोंका मूर्त-विधान करनेवाली लाक्षणिक शैली स्पष्ट है। प्रकृति और मानवके प्रति जिज्ञासा एवं रहस्य-भावनाकी प्रधानता है, किन्तु 'ग्रन्थि'मे कविका यह किशोर उल्लास असफल प्रेमकी सवन वेदनामे परिणत हो जाता है। 'ग्रन्थि' एक खण्डकान्य है। दृश्य-जगत्के नाना सुन्दर रूपोंका मूर्त एवं मांसल चित्रण 'पछव'मे हुआ है। 'वीचि-विलास' 'बादल', 'नक्षत्र', 'मौन निमन्त्रण', 'ऑसू', 'विश्व-वेण', 'उच्छास' आदि सौन्दर्यमयी कल्पनाकी श्रेष्ठ कविताएँ है। 'परिवर्तन' इनकी एक नयी उपलब्धि थी। इस कवितापर आध्यात्मिक दर्शन-विशेषकर उपनिषदी-का प्रभाव देखा जाता है। 'गुञ्जन'मे इनके आत्म-चिन्तन एवं लोककल्याणके चिन्तन गुञ्जित है। यहाँ भी आध्या-तिमक दर्शनका प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'मे इनका खर सर्वथा बदल जाता है। दलित-शोपित मानवताके प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही इन पुस्तकों-का मुख्य विषय है। १९३८ और १९४५ ई०के बीच इनकी कविताएँ प्रगतिशील धाराको एक नया रूप-संस्कार देती है। अपने नये काव्य-संकलनो--- 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धृलि', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा'मे पन्तने अरविन्द-दर्शनसे विशेष प्रेरणा ग्रहण की है।

छायावादके किन-चतुष्टयकी चौथी कवियत्री महादेवी वर्मा है। महादेवीको निराशावाद अथवा पीड़ावादकी कवियत्री कहा गया है। स्वयं महादेवी लिखती है, 'दुःख मेरे निकट जीवनका ऐसा काव्य है, जिसमे सारे संसारको एक स्त्रमं वॉध रखनेकी क्षमता है''। इनकी किवताओं में सीमाके बन्धनमे पड़ी असीम चेतनाका कन्दन है। 'नीहार', 'रिश्म', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा'— इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है। अतिरंजित भावना, सूक्ष्म कल्पना, सुन्दर शब्द-विन्यास, अमिट वेदना, एक अनन्त खोज इनकी किवताओं के प्रमुख तत्त्व है।

छायावादी कान्यके वृत्तमें रामकुमार वर्मा, भगवती-चरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', हरि-कृष्ण 'प्रेमी', मोहनलाल महतो वियोगी, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिनहा, विद्यावती कोकिल, हंस-कुमार तिवारी आदि उल्लेखनीय है। छायावादके बहुतसे परवर्ती कवि इस कान्य-धाराके प्रभावसे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सके।

इस कालके कवियोंने आलोचकका भी काम किया है।
महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, पन्त, 'निराला' एवं
'प्रसाद'ने छायावादके स्पष्टीकरणके लिए काफी सामग्री
दी है।
—रा० कृ० स०
छिनाली—दे० 'हठयोग'।

छेकानुप्रास - अनुप्रास अलंकारका एक भेद । 'छेक' शब्द-का अर्थ है 'प्रिय़', अर्थात् विद्वानोंको प्रिय लगनेवाला । इसका विवेचन सर्वप्रथम उद्घटने अपने 'काव्यालंकारसार-संग्रह' (८०० ई०)में किया है । मम्मटके अनुसार 'सोऽ नेकस्य सकुत्पूर्वः' (का० प्र०, ९:७९), अर्थात् एकसे अधिक व्यंजनका एक बारका साम्य । इसी प्रकार विश्वनाथ-का कथन है—'छेको व्यंजनसंघस्य सक्वत्साम्यमनेकथा' (सा० द०, १०), जहाँ अनेक व्यंजनोंकी, स्वरूप और क्रमसे एक बार आवृत्ति हो, वहाँ 'छेकानुप्रास' अठंकार होता है । छेकानुप्रासमे वर्णोंका उसी क्रमसे प्रयोग होना चाहिए । जैसे 'रस' 'सर'में छेकानुप्रास नहीं है । 'सर' 'सर'में छेकानुप्रास है, क्योंकि इसमे आवृत्त वर्णोंका स्वरूप और क्रम समान है ।

हिन्दीमे जसवन्त सिंहके 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)मे लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"आवृत्ति वर्न अनेककी दोय-दोय जब होय। है छेकानुप्रास स्वर समता बिनह सोय" (१९८)। इसमें विना स्वरसमताके भी छेकानप्रास-के प्रयोगकी बात 'साहित्यदर्पण'के 'वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्'-के आधारपर कही गयी है। कुछ आचार्योंने इसके लक्षण स्पष्ट नहीं दिये है, जैसे भूषण, दास तथा भगवानदीन आदि । चिन्तामणि तथा कुलपति मिश्रने मम्मटका अनु-सरण किया है। भूषण कहते है- "स्वर समेत अच्छर पदनि, आवत सहस प्रकास" (शि० भू०, ३५५)। दासके अनुसार "वर्न बहुतकी एककी, आवृति एकहि वार" (का॰ नि॰, १९) 'छेकानुप्रास' है। पर 'साहित्यदर्पण'मे एक वर्णके एक बारके साद्यको छेकानुप्रास नहीं कहा गया है। इसमे तथा 'कान्यप्रकाश'की 'प्रदीप' और 'उद्योत' व्याख्याओमे एक वर्णकी एक बार आवृत्तिको 'वृत्यानुप्रास' कहा गया है। आधुनिक विवेचकोमे भगवानदीनने भी एक वर्णकी आवृत्तिको भी 'छेक' माना है। आचार्य रुद्रटसे 'छेक'मे अनेक वर्णोंकी आवृत्ति मानी गयी है।

देवने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है-"रीझि रीझि रहिस रहिस हॅसि हॅसि उठै, सॉसै भरि ऑसू भरि कहत दई दई" । आधुनिक कालमे ब्रजभाषाके कवि 'रलाकर'को विशेष सफलता मिली है—"मुक्ति मुकताको मोल माल ही कहाँ है जब मोहन लला पै मन मानिक ही बारि चुकी" (उ॰ श॰)। इसका प्रयोग खड़ीबोलीके कवियोमे भी मिलता है—''लपटसे झट रूख जले जले, नद नदी घट सूख चले चले। विकल ये मृग मीन मरे मरे, विकल ये हग दीन भरे भरे" (मै॰ श॰ गुप्त: 'काव्यदर्पण'से उद्धृत) । इसका प्रयोग हिन्दी साहित्यमे प्रायः सर्वमान्य रहा है; आदिकालके वीरकाव्यमे रसकी अनुरूपताके लिए, भक्त कवियोंने सहज वर्णन सौन्दर्यके रूपमे तथा रीति-कालीन परम्परामें चमत्कारकी दृष्टिसे। भगवानदीनने 'अलंकार मंज्रुषा'में छेकानुप्रासका एक यह भी उदाहरण दिया है-"बॉधे द्वारका करी चतुर चित्तका करी, सो उम्मिर वृथा करी न रामकी कथा करी"। इसमें काकरी, थाकरी, आदि शब्दोंके प्रयोग द्वारा 'यमक' अलंकारका उदाहरण हो सकता है, न कि छेकानुप्रासका ।-वि० स्ना० छेकापहृनुति-दे० 'अपहृनुति', पॉचवॉ भेद ।

छेकोक्ति—एक गौण अर्थालंकार । अप्पय दीक्षितने छेकोक्ति-को नया अलंकार बताया है। कदाचित् उन्हें छेकानुप्रास एवं छेकापह्नुति शब्दोंमे छेक-चतुरसे प्रेरणा मिली हो, इसीलिए उन्होंने इस अलंकारकी परिभाषा की है—"छेको-क्तियंत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगिंभता" (कुवलयानन्द, ९१), अर्थात् लोकोक्तिसे किसी अन्य अर्थकी व्यंजना होने-पर छेकोक्ति अलंकार होता है। यथा—'भुजंग एव जानीते भुजंगचरणं सखे।' (वहीं)। इस उदाहरणमे एक व्यक्तिने किसीके सम्बन्धमें दूसरेसे पूछा तो इसने एक चौथे व्यक्ति-की ओर संकेत करके कहा कि उसकी दशा यही जान सकते हैं, क्योंकि सॉप ही सॉपको गति जानते हैं। यहाँ पर लोकोक्तिके अन्यार्थकी व्यंजना होती है। 'कुवल्यानन्द' के आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इसे ग्रहण किया है— ''और अर्थ छीन्हें सु जो, छेक उक्ति अभिराम।''(ल० ००, ३६६) अथवा—''लोकोक्तिमें गर्भित अरथ जु आन।'' (प्वा०, २५८)। उदा०—''सिगरे तनु मोह में मोहि रहे तन ओट पहार न देखि परैं" (ल० ००, ३६८)। इसमे लोकोक्ति भिन्न अर्थकी व्यंजना करती है—सर्वव्यापी तथा सक्ष्म होनेकी। यहाँपर भी लोकोक्तिका अन्यार्थ व्यंजित होता है।

भोजने (शृं० प्र०: के० राघवण, पृ० ३८५)
लोकोक्ति एवं छेकोक्तिको शब्दालंकार 'छाया'के अन्तर्गत
माना है।
— ज० कि० व०
जंगमभेस – जोगीके वेशको 'जंगमभेस' कहा गया है
(चित्रा०,१५,५)।

जगतानुबोध – शून्यवादियो और विज्ञानवादियोमे एक सक्ष्म दार्शनिक अन्तर यह था कि शून्यवादियोने चित्तका अनस्तित्व और अनुत्पाद माना था, किन्तु विज्ञानवादी चित्तका अस्तित्व मानते थे और संसारको चित्तको ही एक भ्रान्तिके रूपमें स्वीकार करते थे। इस संसारके वास्तविक स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर चित्तका भ्रान्तिसे मुक्त होना ही जगतानुबोध है।

जगत्के स्वरूपका विवेचन करते हुए सिद्धोंने बराबर 'कन्ध, भूअ, आअत्तण, इन्दी' (दोहाकोष), अर्थात् स्कन्ध, भत, आयतन और इन्द्रियोंकी ओर संकेत किया है, जिनकी चेतनाका प्रवाह ही वास्तवमे संसार है। इसीलिए इसे 'चर्यापद'में बार-बार भव-नदी कहा गया है। इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वपर अलग-अलग विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मूलतः बौद्ध परम्परामे चार महाभूतोंको ही मान्यता दी गयी थी (अ० ४० को०: वसुबन्ध्)। इसका अनुसरण करते हुए सरहपाने चार महाभूत माने है:-पृथ्वी, अप् (जल), तेज (अग्नि), गन्धवह (वायु), किन्तु काण्हपाने गगनकी भी गणना की है। इन्हें भूत इसलिए कहा जाता है कि ये भवके आधार है। इन्द्रियाँ और उनके विषय भी इन्हीं पंचभूतोंके आश्रित है। पृथ्वीका विषय है गन्ध; इन्द्रिय-नासिका। जलका विषय है रस या स्वादः इन्द्रिय-जिह्ना या रसना । तेजका विषय है रूपः इन्द्रिय—नेत्र । वायुका विषय है स्पर्शः इन्द्रिय-त्वचा। आकाशका विषय है शब्द: इन्द्रिय-श्रोत्र । इन्हीपर आधारित पाँच प्रकारके विज्ञान है। चाक्षष, श्रोत्रिय, प्राण, रसना, काया (त्वचा)। इन विज्ञानोंकी अधिष्ठात्री पाँच इन्द्रियाँ है। किन्तु विज्ञानवादमें इनके अलावा मनको छठी इन्द्रिय माना गया है और उसे मनोविज्ञानकी अधिष्ठात्री इन्द्रिय माना गया है । सिद्धोने कही-कही छः इन्द्रियोंका उल्लेख इसी सिद्धान्तके अनुसार किया है।

इन्द्रियोके साथ आयतनोंका भी उल्लेख है। आयतनका अर्थ हैं निवासस्थल। उदाहरणके लिए, यदि हम पुष्पको देखते है तो यह पुष्पका दर्शन चाक्षुषविज्ञान है। इसके दो आयतन हुए। पुष्प इसका रूप-आयतन या विषय-आयतन हुआ और चक्षु इसका इन्द्रिय-आयतन। इस प्रकार छः विज्ञानोंके बारह आयतन हुए। छः विज्ञान और वारह आयतनकी समवेत संख्या १८ हुई। १८ धातुओंसे यह संसार निर्मित है (दे० 'चर्यापद', १३वी चर्याकी टीका)।

चित्तगत दृष्टिकोणसे तो सारा संसार इन १८ धातुओसे

बना है, किन्त वस्त्गत दृष्टिकोणसे सभी वस्तुओं के धर्मीका समवेत रूप संसार है। श्न्यवादने तो प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तसे सभी धर्मीका नैरात्म्य सिद्ध कर दिया था, किन्त विज्ञानवादने इन धर्मोंको भी चित्तगत माना था। इन धर्मीमें पाँच प्रकारके साम्य माने गये है - रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान । समस्त धर्म इन्हीं पाँच स्कन्धों में वर्गीकृत कर दिये गये है। अतः स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रिय और विषयका विकार यह संसार है। "कन्ध, भअ, आअत्तण, इन्दी विषय विआरु" ('दोहाकोष': सरहपा)। --ध० वी० भा० जच्चा - जन्मोत्सवका गीतः बज-लोक और अवध-लोकमें विशेष प्रचलित; जचाकी आशाओं-आकांक्षाओं, उसकी प्रसव-पीडा और शिशाजनमके अवसरपर उसके सम्बन्धियो-के नेग और ठनगनसे सम्बद्ध । सत्येन्द्रने इसके तेरह उपप्रकारोंका उल्लेख किया है (दे॰ 'ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन', पृ० १२३)। जड़ता (जड़ता एवं जाड्य) - प्रचिलत तैतीसमेसे एक संचारी भाव। निश्चेष्ट हो जाना (सर्वकार्याप्रतिपत्तिः) जडता है। 'नाट्यशास्त्र'में इसके विभाव एवं अनुभाव निम्नलिखित प्रकारसे दिये है-"इष्टानिष्टश्रवणदर्शनन्याध्यादिभिविभावै-रुत्पद्यते । तामभिनयेदकथनाभाषणत्रणीभावानिमेषनिरी-क्षणपरवशत्वादिभिरनुभावैः" (७: ६६), अर्थात् इष्ट एवं अनिष्टका देखना और सुनना और न्याधि इत्यादि इसके विभाव है और किंकर्तन्यमूढ, मौन, अनिमेषदर्शन एवं परवशताके अनुभावोंसे इसका अभिनय होता है। धनंजय-(द० रू०, ४: १३)ने इष्टदर्शन एवं अनिष्टश्रवणके कारण जड़ताके उदाहरण दिये है। विश्वनाथका लक्षण 'नाट्य-शास्त्र'पर आधारित है (सा० द०, ३: १४८)।

हिन्दीमें देवके लक्षणमें भी यही मान है—''हित अहितहिं देखे जहाँ, अचल चेष्टा होइ। जानि बूझि कारज थके, जड़ता बरने सोइ'' (भाव०: संचारी)। अन्य आचार्योमें प्रायः यही लक्षण है। कुछने स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है—''उतकंठादिक ते जु है, अचल चित्त अरु अंग'' (ल० ल०, ४२४)।

देवका उदाहरण—''ठौर ही ठाढे चितौत इतौ तन नेकऊ एक दकी दहली सी। देवको देखित देवता-सी वृषभान लली न हली न चली-सी" (भाव० : संचारी)। इसी प्रकार पश्चाकरका उदाहरण है—''हलै दुहूँ न चलै-दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह। इक टक दुहुनि दुहूँ लखें, अटिक अटपटे नेह" (जगत०, ५६४)। इन उदाहरणोसे स्पष्ट है कि

एकदम ठक हो जाना जडता है। इस अवस्थामें अनुभव होते ही, व्यक्तिके मानसिक एवं शारीरिक व्यापार क्षणभर-के लिए स्थगित हो जाते है। आज्ञातीत सुख, अद्भुत विषय तथा अपार दुःखसे भी यह भाव व्यक्त होता है। अतः यह सुख-दुःखात्मक है। प्रधानतः यह मानसिक अवस्था है। मोह इससे भिन्न है, क्योंकि वह दःखात्मक —ज कि ब **जन**—सामान्य अर्थीमे इस शब्दसे समाजमें रहनेवाले लोगोका बोध होता है। --रा० क० त्रि० जन-आंदोलन - जब जनता किसी संघटित लक्ष्यके लिए सामूहिक प्रयास करती है तो उस प्रयासको जन-आन्दोलन कहते है। जन-आन्दोलनकी सैद्धान्तिक एकता व्यापक और संकीर्ण दोनों हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, किसी विदेशी सत्ताको ह्यानेके लिए विभिन्न राजनीतिक दल अपने सैद्धान्तिक विभेदोका परित्याग करते है। -रा० क्र० त्रि० जनकवि – जिस कविकी दृष्टि मात्र अन्तर्मुखी न हो, जिस कविकी विषयवस्त व्यक्ति-निष्ठ भावनाओका चित्रण न हो और जिस कविके काव्यका सम्पर्क जनताके व्यापक जीवनसे हो, वही कवि जनकवि कहलानेका अधिकारी है। वर्तमान समयमें कुछ राजनीतिक पार्टियोंने इस शब्दका गलत प्रयोग किया है। उसके अनुसार उनकी पार्टी जनताकी पार्टी है और जिस कविका सम्पर्क उनकी पार्टीसे हो, वही जनकवि है। किन्तु जनकविका मापदण्ड उसका काव्य है। वह काव्य जितना ही व्यापक होगा, उतना ही उसका सम्पर्क समाजके जीवनसे निकट होगा और उसी काव्यका स्रष्टा सच्चे अथींमे जनकवि है। --रा० क० त्रि० जनतंत्र-जनतन्त्र शब्द अंग्रेजी शब्द 'डेमोक्रेसी'का हिन्दी पर्याय है। इस शब्दका प्रयोग चिन्तनके इतिहासमें विभिन्न अर्थीमे किया गया है। अपने व्यापक रूपमें जनतन्त्र एक निश्चित प्रकारकी समाजव्यवस्था और शासनप्रणालीका द्योतक है। समाजव्यवस्थाके रूपमे जनतन्त्र समता और स्वतन्त्रताकी स्थापना कर समाजको एक विशाल भातृत्वके बन्धनमे बॉधनेका प्रयास करता है। इस दृष्टिसे जनतन्त्र एक विशिष्ट मानववादी चिन्तनका प्रतीक है। इसके मानववादके मूलमें समष्टिकी नैतिक प्रतिष्ठा की गयी है और समष्टिकी ही परिधिमे न्यक्तियोंका प्रक्षेपण सम्भव है। इस नाते जनतन्त्र सामाजिक जीवनमे उन सभी परि-स्थितियोका निवारण करना चाहता है, जो व्यक्तिगत प्रशस्तिका मार्ग रोकती है। अतः जनतन्त्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक न्यायकी रचना करता है। शासनप्रणालीके रूपमे जनतन्त्र अपने नैतिक आदर्शीकी पूर्तिके लिए राज्यकी सम्प्रभुतापर नियन्त्रण करना चाहता है, क्योंकि यह आदर्श जनता और समाजके बीचका जीवित विश्वास है। जनतन्त्रके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह जनता और समाज द्वारा ही इन आदर्शी-की प्राप्तिका प्रयास करे।

जनतन्त्रके अंग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी'में 'डेमो' शब्दका अर्थ 'जनता' है। अतः व्युत्पत्तिक रूपमें भी 'डेमोक्रेसी' शब्द समाज और जनताकी प्रधानताको स्वीकार करता है। इतिहाससे ज्ञात होता है कि समाज और जनताकी

उच्चता सर्वप्रथम शासनप्रणालीके रूपमें व्यक्त हुई । ग्रीसमे जनतन्त्र एक राजनीतिक व्यवस्थाके रूपमे पाया जाता है। परन्त ग्रीक जनतन्त्रने अपने शासनकालमें कभी कभी ऐसी कठोरता और मानसिक शिथिलताका परिचय दिया है कि महान् श्रीक विचारक प्लेटो(४२८-३४८ ई० प्०)का विक्वास ही इस ज्ञासनप्रणालीके औचित्यसे उठ गया। परन्तु उसके शिष्य अरस्तु (३८४-३२२ ई० प०)ने पुनः जनतन्त्रमें विश्वास जगानेका प्रयास किया। फिर भी इतना स्पष्ट है कि जनतन्त्रकी पिछली भूलोको देखकर अरस्त्रने मिश्रित शासनव्यवस्थाको ही अपना व्यावहारिक आदर्श माना । उसकी न्यावहारिक आदर्श-न्यवस्थाको अंग्रेजीमे 'पॉलिटी' कहते है। इस शासनप्रणालीके अनुसार शासनमे गुण और संख्याका योग प्राप्त होता है। गुणकी प्राप्तिके लिए समाजका उच्च कुल अपना बौद्धिक सहयोग देता है और संख्याकी प्राप्तिके लिए सामान्य जनतासे योग मॉगा जाता है। अतः अरस्तुकी व्यावहारिक आदर्श-व्यवस्थामें उच्च कुल और जनताका समन्वय किया गया है। रोमन-कालमें भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे जनताको ही अधिकार-स्रोत माना गया था। मध्ययगमे राज्याभिषेक-शपथ-ग्रहणकी परम्परा द्वारा जनताकी शक्तिको ही उन्नत बनानेका प्रयास किया गया। ट्यूटॅनिक जातियोसे प्रभावित होकर सेण्ट टामस एक्यनास(१२२०-१२७४ ई०)ने भी जनताको राजासे श्रेष्ठ मानकर वैधानिक राज्यतन्त्रकी व्यवस्थाको ही वांछनीय स्वीकार किया है। आधनिक यगकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमे अनुबन्ध सिद्धान्त द्वारा (हॉब्सका दर्शन इस तथ्यका अपवाद है) परोक्ष रूपसे जनताको राक्तिका केन्द्र स्वीकार किया गया। जनतान्त्रिक विचारोंकी परम्पराकी व्यवस्थित और संयत परिणति फ्रांस-की राज्यकान्ति (१७८९ ई०) में दृष्टिगत होती है। फ्रांसकी राज्यकान्तिने सर्वप्रथम जनतन्त्रको शासनप्रणालीका ही रूप न मानकर जीवनके व्यापक आदर्शके रूपमे प्रतिष्ठित किया और तबसे लेकर आजतक जनतन्त्र केवल राजनीतिक मुल्योकी ही नहीं, प्रत्युत जीवनके न्यापक प्रतिमानोकी समस्या हो गया है।

जनतन्त्रकी मूलगत विशेषता थें किसी निश्चित विधिमं वॉधी नहीं जा सकती। इसका कारण यह है कि जनतन्त्रके मूल्य राजनीतिक परिस्थितियोकी सापेक्षतामे ऑके जा सकते हैं। १६वी, १७वी और १८वी शतीमें अनुबन्ध-सिद्धान्त द्वारा जनतन्त्र व्यक्तिवाद (दे०)से सम्बन्धित था, किन्तु जैसे-जैसे व्यक्तिवादकी परम्पराथ टूटती गयी, जनतन्त्र में व्यक्तिके स्थानपर समष्टिका दर्शन होता गया। आधुनिक राजनीतिक दर्शनके इतिहासमें जनतन्त्र और समष्टिका समन्वय रूसो(१७१२-१७७८ ई०)के सर्व-इच्छा-सिद्धान्त, अर्थात् 'जनरल विल थियरी'में प्राप्त होता है।

अतः सैद्धान्तिक स्तरपर जनतन्त्र व्यष्टिवादी और समिष्टिवादी परम्पराओका प्रतीक है। व्यक्तिवादी रूपमें यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तिगत हितोंको ही प्रधान मानता है। इस दृष्टिसे समाज केवल इन हितोंकी साधनाका माध्यम है। समिष्टिवादी रूपमें जनतन्त्र समाज और सामहिक जीवनको व्यक्तिसे ऊँचा मानता है। व्यक्ति समाजका केवल एक अंग है और समाजसे हटकर उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता । इस रूपमें जनतन्त्र राज्यकी निरंकुशताके स्थानपर जनताकी निरंकुशताकी प्रतिष्ठा करना है। ऐसी व्यवस्थामे व्यक्ति सामाजिक दासतामे उतना ही बॅथा है, जितना वह आधनिक यगके प्रारम्भमे राजाओंकी दासतामे था। कहा जाता है कि जनतन्त्रका समष्टिवादी रूप ही शुद्ध और पूर्ण जनतन्त्र है। पुर्ण जनतन्त्र केवल व्यवहारमे ही व्यक्तिको अपना दास बनाता है, नहीं तो सैद्धान्तिक दृष्टिसे समष्टि-शक्तिका मलभत तत्त्व व्यक्ति है। उसके व्यक्तित्वका नैतिक प्रक्षेपण ही समष्टिकी नैतिक शक्ति है। समष्टिमे लीन होकर न्यक्ति अपने व्यक्तित्वका उज्ज्वल और परिष्कृत रूप पाता है। इस दृष्टिकोणकी यह अन्तर्हित मान्यता है कि समष्टिका उद्देश्य व्यक्तिके नैतिक उद्देश्योसे अलग नहीं है। इस भॉति जनतन्त्र व्यक्तिको सीमाहीन स्वच्छन्दता न देकर उसके कर्मीपर नैतिक बन्धन लगाता है, किन्तु उन्ही नैतिक बन्धनोसे उस परिस्थितिका जन्म होता है, जो सच्ची स्वतन्त्रताके विकासके लिए आवश्यक है। जनतन्त्रके अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक जीवनमे ही सम्भव है।

शासन-प्रणालीके रूपमे जनतन्त्रकी आधारभूत मान्यता है कि किसी व्यक्ति या वर्गको यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह समुची जनताके भाग्यका निर्णय करे। वरन स्वाभाविक तो यह है कि जनता स्वयं ही अपने भाग्यका निर्माण करे। अब्राहम लिकन (१८०९-१८६५ ई०)का यह वाक्य कि "जनतन्त्र वह शासन है, जो जनताका है, जो जनता द्वारा होता है और जो जनताके लिए होता है, और जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीको ठीक रूपसे व्यक्त करता है"। यह जनतन्त्र दो प्रकारका होता है। पहला प्रकार है अपरोक्ष जनतन्त्र और दूसरा है परोक्ष जनतन्त्र। अपरोक्ष जनतन्त्रमे जनता बिना किसी प्रतिनिधि-संस्थाके माध्यमसे ही अपनी शासनप्रणाली सँभालती है। इस प्रकारका जनतन्त्र पुराने युगमें श्रीक नगरराज्योकी कुछ व्यवस्थाओं मे पाया जाता था। आधुनिक युगमे जेनेवाकी जासन-प्रणाली भी इसी प्रकार की थी। इस वर्गके जनतन्त्रकी न्यावहारिकता इस तथ्यपर आधारित है कि जिस देशमे इस प्रकारका शासन हो, उस देशका भौगोलिक परिधि छोटी हो, किन्त आजके युगमे यह असम्भव है। इस नाते अपरोक्ष जनतन्त्रके स्थानपर परोक्ष जनतन्त्रका ही प्रचलन है। अपरोक्ष जनतन्त्रमे जनता प्रतिनिधि-संस्थाओके माध्यम-से ही अपनी राजनीतिक शक्तिका संघटन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली, जो पूर्णतया प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था है, परोक्ष जनतन्त्रका ही एक रूप है। परोक्ष जनतन्त्रको प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्र भी कहते है।

जनत्त्रके आदर्श और शासन-प्रणालीकी कड़ी आलोचनाएँ भी वर्तमान युगमे की गयी है। अधिकतर इन आलोचनाओंके मूलमे सामान्य मनुष्यके प्रति असहानुभूति और अश्रद्धाका ही भाव है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि सामान्य जनताका बौद्धिक स्तर इतना ऊँचा नहीं होता कि वह शासनभारको कुशलतासे सँभाल सके। इसीसे सम्बन्धित दूसरी आलोचना यह है कि किस तर्कके नाते यह म्बीकार किया जाय कि बहुमतका निष्कर्ष ही सत्य और ठीक है। समाजवादी भी अपने हंगमे जनतन्त्रकी भालोचना करते है। उनके अनुसार वर्तमान जनतन्त्र, जो रंग्लैण्ड, पश्चिमी यूरोप और अमेरिकामे फैला है, शुद्ध जनतन्त्र न होकर पूँजीवाद (दे०)का ही एक रूप है। शुद्ध जनतन्त्र केवल समाजवादी व्यवस्थामे ही सम्भव है, जहाँ उचित न्यायकी परिस्थितियाँ हो। आर्थिक वर्गसंघर्ष और जनतन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते । अतः समाजवादी जनतन्त्रके विरोधी नहीं है, वे केवल उस आर्थिक परिस्थिति-पर जोर देते है, जो जनतन्त्रके लिए आवश्यक है। प्रथम और द्वितीय महायुद्धके बीचका समय जनतन्त्रके जीवनके लिए काफी संकटका समय था। यूरोपीय देशोंमें जनतन्त्रके विरोधमें काफी प्रतिक्रियाएँ हुई। इसी नाते यूरोपके कुछ देशोंमें जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणालीके स्थानपर अधिनायक-वादी व्यवस्थाएँ वनायी गयी। द्वितीय महायुद्धके पश्चात् जनतन्त्रके सामने अधिनायकवादकी समस्या तो नहीं रह गयी, परन्तु राजनीतिक और आर्थिक संघटनकी समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी है कि जनतन्त्रके लिए यह आवश्यक है कि उन समस्याओंका सुलझाव पेश करे। जनतन्त्र एक विश्वास है और वह भी बौद्धिक विश्वास । हो सकता है कि विश्वासका बल ही जनतन्त्रको इतनी शक्ति दे कि वह इन समस्याओंको सुलझा सके।

हिन्दीमें जनतन्त्रात्मक साहित्य खड़ीबोलीमें भारतेन्दुयुगसे प्रारम्भ होता है। यह सत्य है कि इस साहित्यमें
राजनीतिक आदशोंकी बहुलता ही है। जहाँतक इसके
साहित्य-सौष्ठवका प्रश्न है, यह साहित्य एक दृष्टिसे बहुत
उन्नत नहीं कहा जायगा। इन राजनीतिक आदशोंकी
पृष्ठभूमिमे साहित्यकारोकी देश-प्रेमकी भावना थी। विदेशी
शासनकी दासताकी प्रतिक्रियाके रूपमें ही इस साहित्यका
जन्म हुआ। राष्ट्रवादी साहित्य मूल रूपमे जनतन्त्रात्मक ही
होता है। वैसे तो हिन्दीके आधुनिक साहित्यमें विभिन्न
राजनीतिक आदशोंको लेकर साहित्यकार कलाका सर्जन
कर रहे है, किन्तु उनमें शुद्ध जनतन्त्रात्मक परम्पराको
माननेवाले कोई ही है। मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल
चतुर्वेदीके नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है।

आजके हिन्दी साहित्यके सामने दोहरी समस्याएँ है। पहली समस्या है कलात्मक मृल्योकी और दूसरी नैतिक और राजनीतिक आदशोंकी। जब राजनीतिक और नैतिक आदशोंका समन्वय कलात्मक मृल्योसे हो जायगा तो वह दिन साहित्यका अमर दिन होगा। अभीतक जनतन्त्रात्मक आदशोंके साहित्यक रूपमें कलात्मक प्रतिमाका अभाव ही दीखता है।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थियरी: सी० ई० एम० जोड ।] —रा० क्व० त्रि० जनता – यह शब्द विभिन्न रूपोमें प्रयुक्त होता है । कभी-कभी यह समाजकी रहस्यात्मक एकताका प्रतीक माना जाता है, किन्तु अधिकांश लोग इस शब्दसे केवल समाजके सम्पूर्ण सदस्योंका संघटित स्वरूप ही समझते है । —रा० क्व० त्रि० जनपद —अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक उल्लेखोंके अनुसार आर्यजात 'जन' अथवा समुदायों या गिरोहोंमें संघटित

थी। एक आर्थ जनके सब लोग अपनेको सजात, अर्थात् किमी एक मूल पुरुषसे उत्पन्न समझते थे। आर्योंके मूल प्रधान जन केवल पाँच थे, किन्तु बादको ये अनेक आर्य जनोके रूपमे विकसित हुए।

आर्य जनोंकी राष्ट्रीय भूमियां 'जनपद' कहलाने लगी, अर्थात् जनपदका अर्थ उस भूमि-भागसे होता था, जहां कोई आर्य जन वस गया हो। प्रत्येक जनपदका एक पुर अथवा प्रधान नगर होता था, जहां जनपदका राजा रहता था। प्रत्येक जनको राजनीतिक संघटनकी दृष्टिसे राष्ट्रकी संशा दी जाती थी। राजाका बड़ा पुत्र प्रायः जनपदके शासनका उत्तराधिकारी होता था। राजाको सहायता देनेके लिए दो संस्थाएं होती थी, जो सभा और समिति कहलाती थी। इन्हींका नाम आगे चलकर पौर और जानपद पड़ गया था।

धीरे-धीरे आर्यावर्तके कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न होते गये। बौद्ध साहित्यमें निम्निलिखित सोलह महाजनपदोका उल्लेख अनेक स्थानींपर हुआ है—कुरु, पांचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, वृजि, मह, मगध, अंग, चेदि, वत्स, अवन्ति, अश्मक, गान्धार तथा कम्बोज। अन्तिम तीनको छोडकर शेप तेरहका सम्बन्ध आर्यावर्तके मध्यदेश (दे०)मे था।

जनपदोंका पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व साम्राज्यकालमें ही छप्त हो गया था, किन्तु उनकी इकाइयाँ आज भी उत्तर-भारतकी भाषाओ तथा बोल्योंके रूपमे पृथक्-पृथक दिखलाई पड़ती है। —धी० व० जनवाद — जनवादके मूलमें स्थित 'जन' शब्द काफी पुराना है। भारतीय वाड्ययमे जानपद जनकी प्रतिष्ठा काफी प्राचीन कालसे चली आ रही है। यह शब्द समूहवाची है। जनवादके लिए हम कह सकते है कि यह कला, साहित्य और जीवनके प्रति विशिष्ट दृष्टकीण है, जो जनसामान्यको महत्त्व देता है। परन्तु यह परिभाषा अत्यिषक व्यापक है, जनवाद जिस विशेष अर्थमें आज हमारी साहित्य-समीक्षामे प्रयुक्त होता है, वह हालकी ही बात है तथा उसके विकासका एक मनोरंजक इतिहास भी है।

कला और साहित्यमें आज जनवाद जिस अर्थमें प्रयुक्त होता है, उसके पीछे एक विशिष्ट दर्शन है। कार्ल मावर्स (karl marx)ने जो समाज और उसके विविध रूपों और विचारोंकी ऐतिहासिक व्याख्याएँ की, वे कला और साहित्य-पर भी लागू होती है। साहित्यकी जो मावर्सवादी विवेचना हुई, उसीसे जनवादका प्रादुर्भाव हुआ।

रूसमें अक्टूबर क्रान्तिके बाद संकीर्ण मार्क्सवादियोने 'प्रोलेट कल्ट' तथा 'ऑनगार्ड' जैसी संस्थाओकी स्थापना की और साहित्यमें मार्क्सके वर्ग-संवर्षको पूरी तरहसे लागू करनेका जोर देते हुए इन लोगोंने सर्वहारा-साहित्यकी मांग की। इन 'कुत्सित समाजशास्त्रियों'का बोलबाला १९३२ ई०तक रहा। फिर मैक्सिम गोर्की (maxim gorky) जैसे कलाकारोकी आवाजपर इन संस्थाओंको मंग करके 'सोवियत लेखक संब'की स्थापना हुई तथा लेखकोंके सामने एक ठोस, इतिहाससम्मत तथा क्रान्तिकारी पहलुओ-वाला ब्यापक जीवनदर्शन 'सामाजिक यथार्थवाद' (दे०)के

नामसे रखा गया। मार्क्सवादी विचारधाराके प्रचारके साथ-साथ सामाजिक यथार्थवादको अभिन्यक्ति देनेवाले साहित्यका प्रचार-प्रसार भी बढा और उस समय ऐसे 'प्रगतिशील साहित्य' (progressive साहित्यको literature) कहा गया है। भारतवर्षमे भी यह विचार-धारा आयी और १९३६ ई०मे 'प्रगतिशील लेखक संघ'की स्थापना हुई, परन्तु रूसके समान ही साहित्यिक क्षेत्रमें यहाँ भी एक लम्बे असेंतक काफी खीच-तान और संकीर्णता चलती रही। द्वितीय विश्वयुद्धने संसारके साधारण जनको झकझोर दिया। उसने अनुभव किया कि राजनेता तथा कतिपय अन्य न्यस्त-स्वार्थीवाले थोड़ेसे व्यक्ति किस प्रकार उसे युद्धकी आँचमे झोंककर आहुतियाँ देते हैं। अतः एक प्रकारकी राजनीतिक चेतना सारे विश्वमे आयी, फलतः साधारण जनका, विश्वके सामान्य नागरिकोंका महत्त्व बढा । इस सम्बन्ध-मे आजके दोनों शक्ति-संघटनोंमे यह तथ्य द्रष्टव्य है कि कम्युनिस्ट भूप 'पीपुल्स डेमोक्रेसी'की वात करता है और अमेरिकी समृह 'पीपुल्स कैपिटलिज्म'का नारा लगाता है। चीनकी अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें हुई क्रान्तिने भी साम्यवादी चिन्ताधारामें लोकतान्त्रिक भावनाको समाविष्ट किया और वहाँ भी जनका आदर बढा। इस प्रकार पेतिहासिक स्थिति ऐसी हो गयी, जिसमे जनवाद एक अनिवार्य आवश्यकता वन गया, पर यह सारण रखना चाहिये कि हमारे साहित्य-विवेचनमे 'जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतोसे ही आया है। १९४७ ई०के आस-पास भारतीय कम्युनिस्ट पाटींने 'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था। इस तरहकी चिन्तनधाराका जो विकास हुआ, उसे यो भी कह सकते है-सर्वहारा साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियोंके अतिरिक्त मार्क्स-वादी समीक्षापद्धतिमें भी यह अनुभव किया जाने लगा कि रूढ वर्ग-संघर्षके आधारपर प्राचीन क्लासिकल साहित्यका मुल्यांकन कठिन है। ऐसी स्थितिमें एक ऐसे मानदण्डकी आवश्यकता पड़ने लगी, जिसके अनुसार मार्क्सवादको मूलतः न छोडते हुए भी उदार दृष्टिकोणको अपनाया जा सके । इस नये दृष्टिकोण (मार्क्स, ऐंगिल्स, लेनिनने पहिले भी संकीर्णताका विरोध किया था, पर उनके जोशीले अनुयायियोंने प्रारम्भमें ध्यान नहीं दिया)के अनुसार हर युगके श्रेष्ठ कविका दृष्टिकोण जनवादी होता है। वह अपनी वर्गगत सीमाओका उल्लंघन कर सामान्य जनका साथ देता है। 'बहुजनहिताय बहुजन-सुखाय'के सिद्धान्तपर यो सहानुभाते वह हर वर्गको दे सकता है, पर नजर अन्ततः सामान्य जनकी ओर होती है। यह जनवादी परम्परा हर युगके श्रेष्ठ साहित्यमे देखी जा सकती है, जब कि प्रगतिवाद एक विशेष युगके साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है। यह युग हिन्दीमे १९३६ ई०से आया है और इस धाराके माहित्यकार सचेष्ट भावसे मावर्स-वादी दर्शनका उपयोग करते हैं।

यों भी कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद (दे०)की एक विशेषता उसका जनवादी दृष्टिकोण है। मार्क्सके दर्शनसे, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसका धनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार उत्पादनके प्रकारोके साथ समाजमे व्यक्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलना जाता है और तदनुसार आचारशास्त्र, साहित्य आदि भी बदल जाते हैं। परन्तु ऐंगिल्सने अर्थ और साहित्यके सीधे सम्बन्ध को अस्तीकार किया है। उसके अनुसार दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि आकाशचारी विचारधाराएँ है, इसलिए इनका अर्थसे अप्रत्यक्ष और घुमावदार ही सम्बन्ध है। विचार अन्ततोगत्वा अर्थके द्वारा ही निर्मित होते है, पर निर्मित हो जानेपर वे अपने विकासका स्वतन्त्र मार्ग अपना लेते है, बल्कि साहित्य, दर्शन आदि भी मानवके आर्थिक सम्बन्धोंके परिवर्तनके प्रेरक बन जाते है। यहीपर जनवादी स्थिति सम्भव है, जब कि वह जनताके साथ मिल-कर क्रान्तिको आगे बढानेमे प्रेरणा देती है। मार्क्साय साहित्यशास्त्रके अनुसार कलाकारके व्यक्तित्वका निर्माण उसके वर्गकी मान्यता द्वारा होता है। परन्त इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने वर्गकी विचारधाराओका विरोध नहीं करता। वह अपने युगकी ऐतिहासिक सीमाके भीतर समसामयिक विचारोंका विरोध भी करता है, क्योंकि वह केवल उपभोक्ता नहीं, निर्माता भी है और निर्णायक-रूपमे वह एक वर्गका सदस्य होते हुए भी उसके प्रतिक्रिया-वादी तत्त्वोका विरोध कर सकता है। साथ ही कला-विशेषकी अपनी परम्परा भी उसपर प्रभाव डालती है।

मार्क्सपोषित इस जनवादी विचार-सरणिके अनुसार साहित्यमे मानवके सामूहिक भावाकी ही अभिव्यक्ति होनी चाहिये। व्यक्ति-वैचिन्यके लिए उसमे स्थान नही है। लेखकमें राक्ति जनतासे आती है, जनताके साथ उसका सम्बन्ध जितना ही धनिष्ठ होता है, उसमे उतनी ही अधिक रचना राक्ति आती है और उसकी रचनामे उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है। साहित्यकारको अनिवार्य रूपसे जनताका पक्षथर होना हो पड़ेगा। इन सामूहिक मावोपर भी युगका नियन्त्रण होता है, परन्तु प्रत्येक युगमे भविष्यके बीज भी विद्यमान रहते है। उसमे विरोधोका निरन्तर संघर्ष चलता है। युगके विकसनशील तत्त्व ही कलाकारके लिए उपादेय होते है। सच्चे कलाकारको प्रतिभा और अन्तर्धष्ट उन तत्त्वोंका दर्शन कर लेती है, जो कि सामूहिक भावोमे ही अन्तर्भूत रहते है, बिक्त यो कहें कि सच्चे सामूहिक भावोमे ही जन्तर्भूत रहते है, बिक्त यो कहें कि सच्चे सामूहिक भावोमे ही निर्माण उन्हीं तत्त्वोसे होता है।

इस विचारधाराके अनुसार 'साहित्य' आर्थिक परि-स्थितियोंसे नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है । उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है । साहित्यके सभी तत्त्व समान रूपसे परिवर्तनशील नहीं है, इन्द्रियबोधकी अपेक्षा भाव और भावोंकी अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तन-शील होते हैं । दो विभिन्न युगोमें अपने अभ्युदय और हासकी विभिन्न परिस्थितियोमें एक ही वर्ग दो तरहके साहित्यका पोषण करता है । सचेत लेखक सामाजिक विकासकी समस्याओंके प्रति उदासीन न रहकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृतिके लिए संवर्ष करते है । उनके चिन्तन, लेखन और कलाका लक्ष्य ऐसा होना चाहिये कि पीड़ित वर्ग मुक्ति पाये । वे अपने साहित्य और कलासे सामाजिक परिस्थितियोंपर तभी असर डाल सकते है, जब वे इन परिस्थितियोंको समझें और उनके बदलते हुए रूपको अपनी रचनाओंमें जगह दें।

जनवादी कलाकार वर्ण्य विधयकी तरह शैली और भाषाकों भी जनवादी बनानेका समर्थक है। चमत्कारिक और ऊहा-प्रधान शैलीका वह विरोधी होता है। जनवादी साहित्यकी भाषाको सरल और प्रवाहपूर्ण बनाना चाहता है। उसमें अलंकरण और कलावाजीके स्थानपर अनुभूतिपर अधिक जोर दिया जाता है। अत्यधिक कोमलता और मिठासको वह हासजन्य मानता है। परन्तु घटनाओंका सखा वर्णन भी उसे अभिप्रेत नहीं, बिक्त उसके अनुसार उनके अन्तस्तलमें प्रवाहित जीवनी शक्तिका विकासमान रूप ही चित्रित होना चाहिये। कलाकारका कार्य उस शक्तिका अनावरण और घटनाओंसे सम्बन्धित करना है। सौन्दर्यका स्त्रोत वह वास्तविकताको मानता है और वास्तविकताका यह बोध अपनी सामयिक समस्याओंमे भाग लेनेसे आता है।

मार्क्सवादी समीक्षाओमें यों तो हर युगके श्रेष्ठ कि कीर कान्यको जनवादी माना गया है, चाहे वे वाल्मीिक, व्यास और कालिदास हों अथवा कवीर, सूर, तुल्सी या मीरों हों। आधुनिक काल्में जनवादी धाराके प्रारम्भकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र है। 'प्रसाद', प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्कने उसे आगे बढ़ाया और आधुनिक काल्के जनवादियोंमेसे कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'निराला', वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, 'अश्वत', नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव तथा राहुल सांकृत्यायन। यों किसी जमानेमें सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा प्रभृति साहित्यकार भी जनवादी थे।

सिहायक ग्रन्थ-१. प्रगतिशील साहित्यकी समस्याएँ :

रामविलास शर्मा; २. प्रगतिशील साहित्यके मानदण्डः

रांगेय राघवः ३. प्रगतिवाद—एक रूपरेखाः धर्मवीर भारतीः ४ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य : रामविलास शर्मा ।] --दे० शं० अ० जन-साहित्य-जनकाव्यको परखनेका जो मापदण्ड है, वह मापदण्ड जन-साहित्यको ऑकनेका भी है। हर एक साहित्य जन-साधित्य नहीं हो सकता । जन-साहित्य बननेके लिए समाजकी आत्माके साथ तादातम्य स्थापित करना पड़ेगा, किन्त वर्तमान समयमे राजनीतिक दलोंने जनकाव्यकी जो दुर्दशा की है, वहीं दुर्दशा जन-साहित्यकी भी दुई है। प्रगतिशील साहित्यको ही कुछ लोग जन-साहित्य मानते हैं, किन्तु यह उनकी भूल हैं। साहित्य मुक्त और निर्वन्ध आत्माका स्वर है। इसकी आकृति, रूपरेखा किसी भी बाहरी बाध्यताको स्वीकार नहीं करती। जन-साहित्यका सम्पर्क सामाजिक हित और कल्याणसे है, न कि दल-विशेषसे । -रा० कु० त्रि०

ावश्यस ।

जनहित-यह शब्द वस्तुतः सामाजिक कल्याणसे सम्बन्ध
रखता है। सारे समाजका जो कल्याण है, वही वस्तुतः
समाज़में रहनेवाले लोगोंका भी कल्याण है।—रा॰क़॰न्नि॰
जनांतिक-नियतश्राध्य (दे॰)के दो भेदोंमेंसे एक। जहाँ
रंगमंचपर दूसरे पात्रोंके उपस्थित रहते हुए मी दो पात्र इस

तरह बात करें, मानो दूसरोको उन्हे कुछ सुनाना अभीष्ट न हो और दूसरे पात्रोंकी ओर 'त्रिपताका कर'के द्वारा संकेत कर सामाजिकोंको इस बातकी स्चना दें कि उनका निवारण किया जा रहा है, वहाँ जनान्तिक नियतश्राच्य होता है। रंगमंचपर उपस्थित जिस पात्रको कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथकी सारी अंगुलियाँ अध्वोंन्सुखी कर अनामिकाको वकाकार रखना 'त्रिपताका' कहा जाता है। इस तरहसे हाथको विशेष स्थितिमें रखना 'त्रिपताका कर'का

जिल्हरण-मुक्तक दण्डकका एक भेद । इसमें ३२ अक्षर होते है । आठ, जाठ, नौ फिर सातपर यति होती है । साधारण-

जबरूत-दे० 'सूफीमार्ग ।'

लक्षण है ।

तया नियम यह है कि पादान्तके दोनों वर्ण लघ्न हों अथवा अन्तके पूर्व एक वर्णका लघु होना आवश्यक है और अन्त यदि गुरु भी हो तो उसका उच्चारण लघुकी ही भॉति होगा। प्रस्तत दण्डक भक्ति और रीतिकालसे लेकर घनाक्षरी वृत्त लिखनेवाले आधुनिक कालतकके कवियोंका प्रिय छन्द रहा है। केशव, मतिराम, पद्माकर, धनानन्दसे लेकर भारतेन्द्र और 'रलाकर'तक प्रायः सभी धनाक्षरी लिखनेवाले कवियोंने जलहरण दण्डकका प्रयोग किया है। उदा०-१. "सीता जूके मुख सुख सुखमाकी उपमाको कोमल न कमल न अमल न रयनपति" (केशव: क॰ प्रि॰)। २. "फ़िल रहे फिल रहे फैलि रहे, फिन रहे, झिप रहे, झिल रहे, झुकि रहे झुमि रहे" (पद्माकर), ३. "हरी प्रानप्यारी बिन देखे मुख तेरी मेरे, जियमें घटा घहरि-घहरि उठे" (हरिश्चन्द्र)। जालन्धर पीठ-'गोरक्षपद्धति' (पृ० १५)में कंठदेशमें स्थित विशुद्ध नामक पाँचवें चक्रका विवरण देते हुए पंडित महीधर शर्माने बताया है कि यह चक्र रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख और सोलह दलोका कमल है। इसकी स्फटिकवर्णकी किंग्कामे वर्तुलाकार आकाश-मण्डल है, जिसमें निष्कलंक पूर्णचन्द्रमा स्थित है। इसका बीज 'हं' है और इस बीजके पादवंमें शाकिनी नामक शक्तिके साथ सदाशिव अवस्थित है। इसे जालंधर पौठ कहा जाता है। जिकडी - वजमे प्रचलित गीतविशेष, जो होलीके अवसरपर याम-मण्डलियो द्वारा गाये जाते हैं। ये मण्डलियाँ कभी-कभी होड़ बद लेती है। गीतोंमें ही प्रश्नोत्तर होते हैं। जिसका उत्तर ठीक बैठता है, वह मण्डली जीत जाती है और हारी हुई मण्डलीका जिकड़ी भजन कटा हुआ गिन लिया जाता है। जिकड़ी भजनका स्वर धार्मिक होता है। साधारणतया उसमें चार चौक होते है। उन्हें गानेवाले रसिये, जो गाते समय बोल उठाते हैं, अगेड़िया, जो दुहराते हैं, पिछेड़िया और जो लम्बा खींचते हैं, हेकड़ा कहलाते हैं। जिकड़ीका प्रारम्भ गाहुंसे होता है। गाहे छः चरणोंका होता है। इस प्रकार जिकड़ीके पॉच अंग उल्लेखनीय हैं-१. गाह्यो, २. टेक, ३. साखी या फूल, ४. झड़ावन और ५. उड़ान या टूटन । जिकडीमें व्यंग्योक्तियाँ 'फुटकर' कहलाती हैं। ब्रजके मथुरा, अलीगढ़ और आगरा के क्षेत्रमें जिकड़ी चैत मासकी विशेष प्रिय गीत-शैली -- इया० प०

जिक्र — 'जिक्र' शब्दका अर्थ सरण करना है। परमात्माके नामका सरण ही स्फियोंका 'जिक्र' है। परमात्माके सतत सरणसे साधक एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त होना चाहता है, जिसमें परमात्माके सिवा अन्य सभी वस्तुओंका ज्ञान उसके भीतरसे तिरोहित हो जाय। प्रारम्भमे 'जिक्र'से यही समझा जाता रहा, लेकिन बादमें चलकर और कई बाते इसके साथ जुड़ गयी और इसका अर्थ ही पलट गया। इसमें नाना प्रकारकी क्रियाएँ शामिल हो गयी। कहते है कि 'जिक्र'की इन क्रियाओं द्वारा साधकको 'हाल' (भावाविष्टावस्था)की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें साधकके मनमें परमात्माके सिवा अन्य किसी प्रकारका ख्याल नहीं आता।

'जिक्न'की नाना प्रकारकी क्रियाएँ स्फी सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत-सी क्रियाएँ थोड़े-बहुत अन्तरसे भिन्न स्फी सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में प्रचलित हैं। मिस्नमें 'जिक्न'की इन क्रियाओंका बहुत प्रचलन हैं, वैसे सभी मुसलिम देशोमें ये क्रियाएँ देखनेकों मिलती हैं। 'जिक्न'की ये क्रियाएँ काय-साधना जैसी हैं।

'जिक्न'की क्रियाओं का वर्णन यहाँ सम्मव नहीं, फिर भी इनका अनुमान इस बातसे लगाया जासकता है कि 'जिक्न'-की इन क्रियाओं के सम्पादन द्वारा साधक एक ऐसी स्थितिमे पहुँच जाता है कि शारीरिक पीड़ा नामकी कोई वस्तु उसके लिए नहीं रह जाती। जलते हुए लाल छड़ोको वे मुँहमें ले लेते है तथा शरीरमे घुतेडते है, फिर भी किसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव नहीं करते। ये सभी क्रियाएँ वे अपने शेख या पीरकी उपस्थितिमें करते हैं। मुर्शिद (गुरु)-के बिना इन क्रियाओंका सम्पादन अकेले भी किया जा सकता है और समूहमे भी।

'जिक्न'के दो प्रकार है। एकमें साधक जोर-जोरसे अल्लाहका नाम लेता है और दूसरेमें इसके ठीक विपरीत चपचाप शान्त भावसे मन-ही-मन परमात्माका सरण करता है। इनमे प्रथमको जिन्ने जली और द्वितीयको जिन्ने खफी कहते हैं। जिक्ने जलीमे साधक जोरसे 'अल्लाह' कहता है और उत्तरोत्तर उसकी आवाज तेज होती जाती है। उसे लगता है कि जैसे आवाज कभी दाहिने धटनेसे आती है, तो कभी बायेंसे और कभी पार्श्वसे। इसका एक निश्चित क्रम है, उसीका अनुसरण साधक करता है। एक विशेष अवस्थामें वह प्रार्थनाकी मुद्रामे मक्काकी दिशामे मुंह फेर ऑखें बन्द कर लेता है। आवाजको नामिसे खींचकर बायें कन्धेकी ओर ले आता है और 'ला' शब्दका उचारण करता है, तब वह 'इलाह' कहता है, मानो वह अपनी आवाज मस्तिष्वसे खीचता है और अन्तमे बायें पाइवेंसे आवाजको खीचता है और पूरी शक्ति लगाकर 'इल्लाल्लाह' कहता है।

जिक्ने खफी—की कियाओंका कम निम्नलिखित है— इसमें साधक बहुत धीरे-धीरे अथवा मन-ही-मन शब्दोंका उच्चारण करता है। ऑख और जिह्ना बन्द कर लेता है और इसके बाद मानों अपने हृदयकी जिह्नासे कहता है— 'अल्लहु समीयून' (परमात्मा जो सुनता है), 'अल्लहु बसीरुन' (परमात्मा जो देखता है), 'अल्लहु आलीमुन' (परमात्मा जो जाननेवाला है)। पहलेकी वह नाभिसे हृदयतक ले जाता है, दूसरेको हृदयसे मस्तिष्कतक और तीसरेको मस्तिष्कसे अन्तरिक्षतक और फिर उसी क्रमसे पीछे लौटता है। इसी प्रकारसे वह बार-बार करता है। वह धीमे स्वरसे 'अल्लाह' कहता है। पहले दाहिने घुटनेसे और तव बायें पादर्वसे; प्रत्येक बार जब वह सांस छोडता है तो 'ला इलाह' कहता है और जब खीचना है तव 'इल्ला-ल्लाह' कहता है। यह तीसरा जर्ब बहुत ही अम-साध्य है और इसे सैकड़ों-हजारों बार दुहराया जाता है और बहुत ही महत्त्वका और पुनीत माना जाता है।

जिक्ने खफी – दे० 'जिक्न'। जिक्ने जली – दे० 'जिक्न'। जिज्ञासु भक्ति – दे० 'गौणी भक्ति'। जीवन-चरित – दे० 'जीवनी'।

जीवनी, जीवनी साहित्य — किसी व्यक्तिविशेषके जीवन वृत्तान्तको जीवनी कहते हैं। जीवनीका अंग्रेजी पर्याय 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' हैं। हिन्दीमे जीवनीको जीवन चरित अथवा जीवन-चरित्र भी कहा जाता है। इनमे कोई मौलिक अन्तर नहीं जान पड़ता। जीवन-चरित कालान्तर-में किंचित शुद्ध होकर जीवन-चरित्र बन गया और इसीका आधुनिक एक संक्षिप्त रूप जीवनी अब सर्वाधिक प्रचलित है। जीवन-चरित्रमें निहित दोनो शब्दोको अलग करें तो जीवनके अन्तर्गत स्थूल बाह्य घटनाओको और चरित्रके अन्तर्गत चरित्रनायककी आन्तरिक विशेषताओको ले सकते हैं। इस प्रकार जीवन-चरित्र अथवा जीवनीमें किसी मनुष्यके अन्तर्वाह्य, दोनों ही जीवनोंका लेखा होता है।

सामान्यतः जीवन-चरित सारे जीवनमे किसीके किये हुए कार्योंका वर्णन होता है। उसमें नायकके सम्पर्ण जीवन या उसके यथेष्ट भागकी चर्चा होनी चाहिये, पर यह कोई ऐसा नियम नहीं है, जिसका पालन करना हर समय सम्भव हो सके। अनेक लोगोंके जीवन-चरित्र उनके जीवन-कालमें लिखे जाते है और यह स्पष्ट है कि जीवन-कालमें लिखे गये जीवन-चरित्रोंमें जिन्दगीभरका हाल दे सकना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जीवनी-साहित्य का एक छोर स्फट संस्मरणको माना जा सकता है और दूसरा छोर उस जीवनीको, जिसमे जन्मसे ठेकर मृत्युतकका इतिहास हो। शिष्ठेके अनुसार जीवनीको नायकके सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके यथेष्ट भागकी चर्चा करनी चाहिये और अपने आदर्शरूपमें एक विशिष्ट इतिहास होना चाहिये। यह ठीक है, पर जीवनी साधारण इतिहास और काल्पनिक कथा—दोनोसे बहुत अधिक भिन्न होती है। पाइचात्य साहित्यमें जीवनीको बहुत पहलेसे एक विशेष साहित्यरूप माना जाता रहा है, उपन्यास या इतिहास नहीं। रिनेसॉसे पहले किन्हीं विचारों अथवा सिद्धान्तोकी न्याख्या करनेके दृष्टिकोणसे जीवन-चरित लिखे जाते थे, उनका प्राथमिक उद्देश्य जीवनी लिखना नहीं होता था। मध्ययुगमें सामान्यतः सन्तों अथवा राजवंशोंसे सम्बन्धित जीवनियाँ लिखी गयी और इनमें मनुष्यको प्रकारोंके अन्तर्गत रखनेकी प्रवृत्ति प्रधान हुई, फिर भी जीवन-चरित लिखनेके पीछे सदासे ही यह भावना रही है कि मनुष्योको न्यक्तियोंके रूपमें समझा और माना जाय । यही भावना 'रिफामेंशन'-कालमे इस तरह विक-सित हुई कि प्रत्येक न्यक्तिमें कुछ-न-कुछ विशेषता होती है । फलतः प्रोटेस्टेण्ट जीवनियोंकी रचना हुई ।

जीवनी लेखनके सम्बन्धमे समय-समयपर अनेक दृष्टिकोण विकमित हुए हैं। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विकसात हुए हैं। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विकसात हुए हैं। आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, विकसात जीवनी, कलात्मक जीवनी ओर लिटन स्ट्रैची द्वारा विकसित व्यंग्यात्मक जीवनी । परन्तु शिष्लेके अनुसार जीवनियोके ये समस्त प्रकार किसी-न-किसी रूपमें एक ही मोटे वर्गके अन्तर्गत आ जाते हैं, जिमे उपदेशात्मक जीवनी कहा जा सकता है। ऐसा होते हुए भी जीवनी-लेखको लिए उचित हैं कि वह चिरत-नायकके जीवनको कमशः अन्वेषित एवं उद्घाटित करें। प्रारम्भमे ही चिरत-नायकमे महत्ता और विलक्षणताके दर्शन करने लगना अच्छा नहीं रहता, वयोंकि ऐसा करनेसे नायकका चिरत स्वाभाविक रूपसे निर्मित नहीं हो पाता।

यदि जीवनीको कथा-साहित्यसे अलग रखना है तो यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि वास्तविक जीवनी वही है, जिसमें तथ्योंके अन्वेपणमें और उन्हें प्रस्तुत करनेमें विशेष ध्यान रखा जाय और जीवनी प्रामाणिक तथा सम्यक जानकारीपर आधारित रहे। जीवनी-लेखकको उन सभी तथ्योंकी जानकारी कर लेनी चाहिये, जिन्होंने उसके चरितनायकके जीवनपर प्रभाव डाला हो। साथ ही, जीवनी-लेखकको चरितनायकके जीवनकी घटनाओंको उसी क्रममे प्रस्तत करना चाहिये, जिसमें कि वे घटित हुई हों। जीवनीकी सामग्रीके कुछ स्रोत कैसेलने गिनाये हैं—(क) उसी विषय अथवा सम्बद्ध विषयोंपर पहले लिखी गयी पुस्तकें, (ख) मूळ सामग्री, यथा-पत्र, डायरी या प्रामाणिक गवेषणा-सामग्री, (ग) समकाली नोंके संस्मरण, (घ) यदि वर्ण्य समय बहुत पहलेका नहीं है तो जीवित व्यक्तियोकी यादगारें, (ङ) जीवनी-लेखक यदि अपने चरितनायकके सम्पर्कमें रहा है तो उसके अपने संस्मरण, यथा बासवेल और (च) उन स्थलोंका भ्रमण तथा पर्यवेक्षण जहाँ चरित-नायक रहा था।

हमारे देशमें जिस प्रकार इतिहास लिखनेकी कोई
प्राचीन परम्परा नहीं रही, उसी प्रकार जीवन-चिरत
लिखनेकी भी नहीं थी। पुराणों, महाकाव्यों और नाटकोंमें
राजपुरुषों, महापुरुषों और वीरोंका वर्णन अवश्य होता
था, पर इन प्रन्थोंमें इन व्यक्तियोंका अतिरंजित और
अतिप्राकृत स्वरूप अंकित किया जाता था। इसी प्रकार
भक्तिकालीन वार्ताओं, नाभादासकृत 'भक्तमाल' तथा अन्य
कुछ प्रन्थोंमें जीवन-सम्बन्धी जो भी इतिवृत्त मिलते है,
वे उपर्श्वुक्त गुण-दोषोंसे युक्त है। फलतः जीवनी-लेखनकी
वारतविक एवं वैज्ञानिक दृष्ट हमारे प्राचीन साहित्यमे
विरल ही है। यह दृष्ट हमें आधुनिक कालमे परिचमसे
मिली।

हिन्दीमे अपेक्षाकृत आधुनिक रीतिसे जीवनियोंका लिखा जाना लगमग १८८२ ई०से प्रारम्भ होता है। कार्तिक प्रसाद खत्रीने १८९३ ई०में मीरॉबाईका जीवन-चरित्र लिखा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्ण दास, मुंशी देवी-प्रसाद आदिने जीवन-चरित्र-लेखनमें रुचि ली और बज़ कार्य किया। बालमुकुन्द गुप्तने प्रतापनारायण मिश्रका जीवन-चरित्र लिखा। अतिरंजित उपाख्यानों, इतिवृत्ता-त्मक ब्यौगे और स्फुट प्रसंगोकी स्थितिसे आगे बढकर हिन्दीका जीवनी-साहित्य नायकके जीवन-तथ्योको वैद्यानिक विश्लेषण, सम्यक निरूपण और मनोनेज्ञानिक अध्ययनकी दिशामे गतिशील हो रहा है।

[सहायक प्रनथ—राष्ट्रीय जीवनियोंका कोश: इंग्लैण्ड. रवीडेन, हालैण्ड, आस्ट्रिया, जर्मनी, अमेरिका। महात्मा तेन्दुलकर (अंग्रेजी) ।] जीवनवृत्तान्तीय आङोचना (बायँग्राफ़िकल क्रिटिसिज्म) -जीवनवृत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीका यह मत है कि क्रितकार और उसकी क्रितिमें एक ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है कि कृति मुख्यतः उसके जीवन और जीवनदृष्टिको पूर्ण रूपसे न्यक्त करती है। इस प्रणालीका यह मत है कि कृतिकार अपनी कृतिमें अपने जीवनके विकास और उसके संघषोंको व्यक्त करता चलता है। वस्तुतः प्रत्येक कृतिको कलाकारके जीवनसे पृथक भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवनके सुख-दुःख, अनुभव, आनन्द, तिक्त और रिक्त क्षणोंकी अनुभूतियाँ उसे प्रत्येक क्षण प्रभावित करती हैं और उसके उतार-नढाव, आरोह-अवरोहमें उसकी चेतना आन्दोलित होती रहती है। इन्हीं संघर्षींके क्षणोंने कृतिकार-की रागात्मक भावनाएँ भी उद्वेलित होती रहती है और उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमें इन क्षणोंको व्यक्त करती ही है। जैसे निरपेक्ष सत्यका अस्तित्व आजके युगमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नितान्त निर-पेक्ष अनुभूतियोंका भी अस्तित्व नही स्वीकार किया जा सकना । अस्तु इस दृष्टिसे इस प्रणालीका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह रहा है कि कृतिकार और उसकी कृतिमें उस सम्बन्ध-को ध्यानमे रखकर मूल्यांकन किया जाय, जो परिवेश, यथार्थं और वस्तस्थिति और परिस्थितिके रूपमे कलाकारके चिन्तन और विवेकको प्रभावित करती रही। जीवनवृत्ता-न्तीय प्रणाली कृतिकारके मानवीय सन्दर्भमे उसको क्रिया-शील चेतनाके निर्णय, निश्चय, भाग और योग लेनेवाला व्यक्ति मानती है, इसलिए उसके क्षतित्वसे उसकी क्रिया-शील संवेदनाको भी नापनेकी चेष्टा करती है।

स्थापनारूपमें जीवनवृत्तान्तीय आलोचनाकी तीन मुख्य स्थापनाएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि कृतिकारका जीवन जिस देश-कालमें जीता और जागता है, उस देशकालसे निरपेक्ष साहित्यका निर्माण नहीं कर सकता। उस देश-कालका परिवेश उसकी चिन्तनशक्ति, भावानुभूति और विचारको प्रभावित करता है। ये प्रभाव उसके समृचे जीवनवृत्तको मर्यादित भी करते रहते हैं और उसका संघर्ष उसकी स्वीकृतियों और अस्वीकृतियोंमें प्रतिविन्वित होकर उसकी कृतिमें अभिन्यक्ति पाता रहता है।

दूसरा यह कि कृतिकारका जीवन और उसकी कृति, दोनों प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें एक दूसरेको व्यक्त करते हैं। कृति कृतिकारकी उपलब्धि है और प्रत्येक उपलब्धि जीवन-कृत्तसे विकसित होकर उसके अंगकी पृति करती है। इस दृष्टिमे यदि देखा जाय तो प्रत्येक कृति कलाकारके दो पक्षोंका प्रतिनिधित्व करती है—एक तो उसकी वर्तमान स्थितिका और दूसरे उसके विचार-दर्शनके रूपमें प्राप्त उपलब्धिका। इन दोनोके माध्यमसे उसके व्यक्तित्वको अधिक जाना जा सकता है।

तीसरी यह कि इस आलोचना-प्रणालीके माध्यममे हम क्वितकारके जीवनमे भाग लेकर, उसकी अनुभूतिको घ्रहण कर लेनेपर, उसकी क्वितको अधिक सहानुभृतिपूर्ण दृष्टिके साथ देख और समझ सकते हैं। अस्तु, यदि पाठकके सामने किसी भी रूपमें यह दृष्टि प्रस्तुत हो सके तो बहुत-सी ऐसी रचनाएँ, जो अधिकांश सन्दर्भहीन-सी लगती है, उनका भी महत्त्व पर्याप्त मात्रामे झात हो जायगा।

अस्तु विशेचनार पमें जीवनवृत्तान्तीय प्रणालीके दो स्तर है। एक तो यह कि प्रत्येक कृतिको उसके शिल्प और स्पाकारके आधारपर देखनेका प्रयास किया जाय और द्सरा यह कि उस वस्तुपरक दृष्टिके साथ उस कृतिकारकी मनःस्थिति और परिशेशका भी एक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। यद्यपि यह ठींक है कि कृतिकारके व्यक्तित्वकी गहराई, ऊँचाई और व्यापकताकी पकड़ कलामें ही व्यक्त होती है, फिर भी उसके विचारों और कल्पनाओकी काव्यानुभृतिकी परखके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके जीवनकी अनन्त झाँकियोंका एक ऐसा चित्रपट प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जाय, जिसमे उसकी सिक्रयना और उसका कृतित्व, दोनो ही समान रूपसे चित्रित हो सकें।

मनोवैज्ञानिक स्तरपर एक सीमातक सत्य होनेके बाव-जुद इसमें कुछ विरोधामास है, जिसे जान लेना आवश्यक है। कृतिकारके व्यक्तित्व और उसकी जीवनीसे आत्मीयता प्राप्त करनेमें जहाँ कुछ सुविधाएँ है, वही इसके कई दोष भी हो सकते है। यदि उस जीवनीसे पाठकको सहानुभूति उत्पन्न हुई तो वह, सम्भव है, उसकी रचनाओं साथ सन्तुलित, विवेकपूर्ण मत न रखकर अनिप्रशंसावादी धारणा वना ले। साथ ही यदि उसकी आत्मीयताने उसके सामने केवल उसके व्यक्तित्वकी ब्रिटियो और कम जोरियोंको ही उभारकर प्रस्तुत किया, तो सम्भव है कि वह उस आधार-पर उसकी उच्चतम कृतिको भी न्यूनतम सिद्ध करनेको तत्पर हो जाय। दोनो ही स्थितियोंने साहित्यिक अथवा कलापूर्ण विवेचन न होकर पाठककी भावनामें पक्षधरताकी सम्भावना पायी जा सकती है। जहाँ एक ओर यह कमी है, वहीं दूसरी ओर यह भी है कि इस प्रणालीकी मूल प्रकृतिमें ही ये सीमाएँ हैं, जो उसकी स्वतन्त्रताको पृष्ट करती है, क्योंकि अधिकांश रूपमे किसी भी कृतिकारके वास्तविक और प्रामाणिक जीवनको जानना स्वयंमे एक सीमित सम्भावना है। दूसरी दृष्टिसे यदि देखें तो इस आलोचना-प्रणालीमे वे तत्त्व है, जो अतिरिक्त तथ्योंपर बल देकर अनावश्यक तत्त्वोंको महत्त्व देते है। अस्तु, जीवन-आलोचना-प्रणालीके विकाससे सम्भव है कि साहित्यिक तथ्योंसे अधिक उन ऐतिहासिक तथ्योंको विशेष महत्त्व दिया जाने लगे जो केवल गौण रूपमें जीवनमे आते और प्रभावित करते हों। जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना ऐतिहासिक अन्वेषणात्मक प्रवृत्तियों- का एक विकृतिपूर्ण रूप भी हो सकता है। वैद्यानिक आलोन् चनाके लिए यह आवश्यक है कि कृतिकी आलोचना और मूल्यांकन करते समय उसके व्यक्तित्वको केवल उतना ही महत्त्व देना चाहिये, जितना कि कृतिमे हो। उससे परे जानेसे कृतिकी आलोचना न होकर कृतिकारकी आलोचना की जानेकी सम्भावना होती है। यदि ऐसा हुआ तो परि-णाम यह होगा कि कृतिकारके आचार-विचार, व्यवहार और आचरणको व्याख्या करते-करते कृतिकी आलोचना नहीं हो पायेगी, उसका मूल्यांकन नहीं हो पायेगा।

वस्तुतः कृति सर्वप्रथम एक कलाकृति है और इस प्रकार वह स्वयं एक कलानुभूति और सौन्दर्यानुभूतिको व्यक्त करती है। सम्पूर्ण जीवन कुत्सित, कुण्ठायस्त, असामाजिक और अराजकतापूर्ण व्यतीत करनेवाला कृतिकार एक क्षण ईमानदार, उदान्त और सर्जनशील भी हो सकता है। ऐसी स्थितिमें यदि कृतिकारकी जीवनीके आधारपर उसकी कलाकृतिका मूल्यांकन करनेवाला उसके सम्पूर्ण जीवनको दृष्टिमें रखकर आलोचना करने बैठता है तो सम्भव है सम्पूर्ण जीवनवृत्तान्तके आधारपर वह उस एक क्षणके महत्त्वको न समझ पाये, जिसमे कृतिकार इतना ईमानदार और संवेदनशील रहा है। अस्तु, प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली जहाँ एक ओर मानवाय पक्षपर वल देती है वही वह साहित्यक एवं कलाकी दृष्टिमें वे खतरे भी मोल लेती है, जो मूल्यांकनकी गतिविधिको दृष्टित कर सकते है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनवृत्तान्तीय शैलीकी अनिवार्य सीमाएँ है। अंग्रेजी साहित्यमे इस शैलीपर विशेष बल देनेवाला अठारहवी शताब्दीका प्रसिद्ध कवि ड्राईडेन था, जिसका यह मत था कि प्रत्येक कृति कृतिकारके व्यक्तित्वके मूल्यां-कन बिना न तो अच्छी तरह समझी जा सकती है और न उसका मृल्यांकन किया जा सकता है। सर्वप्रथम इस पणालीका प्रचार एव प्रसार उस समय हुआ, जब कुछ कवियोंका जीवन-चरित्र लिखनेका प्रयास किया जा रहा था और उस प्रयासके विस्तारमें उन कृतियोंका भी विवेचन किया गया था, जो उन कवियोके जीवनकी झॉकियाँ प्रस्तुत कर रही थी। जैसा कि स्पष्ट है, जिन परिस्थितियोमे इस प्रणालीका विकास हुआ, उसमे महत्त्वपूर्ण तत्त्व जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत करना था, न कि साहित्यिक मूल्यांकन। अस्त, जहाँ प्रस्तुत आलोवना-प्रणालीमें एक सीमातक अधिकांज्ञ सत्य है, वहीं उसमे अतिशय आग्रह भी है, जो साहित्यिक सन्दर्भीकी अपेक्षा अन्य सन्दर्भोंको बल देता है। इन ऐतिहासिक जीवनी लिखनेवालोका एकमात्र आश्य देश-कालकी सीमाओ, कृतिकारके व्यक्तित्वकी क्रिया, प्रति-क्रिया, दायित्व, अनुत्तरदायित्वका विवेचन करना था। इन समस्त स्थितियोमे कविकी समसामयिकता और उसकी मानवीय क्रियाशीलताको चित्रित करनेका उद्देश्य था। कृति इन सीमाओसे उपजकर भी इनसे परेकी सम्भावना हो सकती है, क्योंकि जीवनवृत्तान्त तो केवल वास्तविकताके सन्दर्भको प्रस्तुत करता है, कृति दृष्टिका वाहन है और दृष्टि सन्दर्भकी सीमामें सर्वथा नयी भावभूमिको भी प्रस्तुत करने-की क्षमता रख सकती है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिसे इस

प्रणालामें कई कमियाँ है, जो इने वैद्यानिक होनेसे रोकती -- छ० का० व० ुर्दशः -वीयत्म रसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। 'रसतरं-गिणी'मे कहा है-"अप्रियदर्शनस्पर्शनसमरणजनिता मनी-विद्वतिपरिपूर्ण जुगुप्सा", अर्थात् अप्रिय वस्तुके दर्शन, रपर्श अथवा सरणसे उत्पन्न मनोविकार, जो साधारणतया अपूर्ण तथा रसपरिपाकमे ही पूर्णतया प्रस्फुटित होता है, जुगुल्सा है। 'साहित्यदर्पण'के अनुसार दोषदर्शनारिके कारण किसी वरतुमे उत्पन्न घृणाको जुगुप्सा कहते है (३: १७९) । किसी अरुचिकर अशवा प्रतिकृल वस्तुके साक्षा-त्कार अथवा कल्पनामात्रसे जनित चित्तवृत्तिका संकीच ही ज़ुगुप्सा है। इमशान इत्यादिमे शव, रक्त, मांस, मज्जा इत्यादियो दर्जनसे अथवा कभी उनके स्मरणमे, मनमे एक उद्देग उत्पन्न होता है, जो मनुष्यको इन वस्तुओंसे दूर खिंच जानेके लिए प्रेरित करता है, क्योंकि तभी वह उस तीव असन्तोप, गईणा एवं विकलताकी भावनासे मुक्ति पाना है, जो उसके भांतर उनके दर्शन या सारणसे उद्-भूत हुई है। यह विकर्पणकी प्रवृत्ति भय एवं क्रोधमे भी लक्षित होती है। लेकिन, भयमे वह पलायन अथवा अन्य प्रकारमे दैन्यप्रदर्शनको रूपसे प्रकट होती है तथा क्रीधमें वह मनुष्यको उस प्रतिकृल विषयके विनाश या मर्दनमें प्रवृत्त करती है, जब कि ज़ुगुप्सामे वेवल दूर हटनेकी कामना ही प्रवल होती है। जुगुष्साको अक्षीलताके साथ लपेटना भी युक्तिसंगत नहीं है। अश्रीलता मर्यादाका उलंघन है तथा वह शृंगारमे दृष्टिगीचर होती है, जहाँ वह ष्टणा या जुगुप्सा उत्पन्न नहीं करती।

मोह, न्याथि, जडता, ग्लानि इत्यादि जुगुप्साको पुष्ट करनेवाले व्यभिचारी भाव है। उदा०—"सपनखाको रूप लखि, स्रवत रुधिर विकराल। तिय सुभाव सिय हृटि कछक, मुख फेरचो तिहिं काल" (पोद्दार: र० मं०)। यहाँ 'कछक सुँह फेरबो'के कथनसे जुगुप्साभावकी व्यंजना है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हो सका है। -र० ति० जुलाहा - योग-साधनाओंमे साधकका प्रतीक, जो सिद्धोसे लेकर सन्तींतकके साहित्यमे व्यवहृत होता रहा । तन्तिपा-की चर्यामे साधकको जुलाहा, मनोवृत्तियोको सूत्र, तनको चादर और कर्षेके शब्दको अनाहदनाद माना गया है। कबीरमें भी यह रूपक इसी प्रकार मिलना है। एक स्थानपर ईश्वरको कोरी मानकर सारी राष्ट्रिको उसका ताना-वाना बताया गया है ('सन्त कबोर': रामकुमार वर्मा)। तनको चादर या चदरिया मानकर मैले होने (या वासना-मलिन होने) या चोलेके जर्जर होने और बदलनेका भी उल्लेख सन्तोंने बार-बार किया है। जंभा-दे॰ 'सात्त्विक अनुभाव', नवाँ।

जैन चिरत-साहित्य-संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधु-निक भारतीय भाषाओं, सभीमें लिखे हुए जैन साहित्यमें विषयवस्तुकी एक ऐसी समानता मिलती है, जो उसे अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। यह समानता प्रायः बहुर्त-कुछ नीरस है। जैन किवके सामने कथानकोका स्व-रूप प्रायः निश्चित रहता था, प्रतिभासम्पन्न किव परम्परा-में वैधी कथामें काव्यानुकुल प्रसंगोपर किवस्वका प्रदर्शन तरते है, अन्यथा व्युसंस्यक रचनाओंमें नवीनता बहुत कम मिळती है।

जैन चिरत-काव्योके दो प्रकार मिलते हैं — अनेक पात्रों की कथावाल प्रम्थ और एक पात्रकी कथा कहनेवाली कृतियाँ। प्राकृत और अपभंशमें जैनकियों द्वारा लिखित चिरतकाव्योकी जो परा मिलती हैं, वह हिन्दीमें भी चलती रही। परिवर्तनकालीन भाषा और सारी नवीनताओं को इन कियोंने अपनाया है। पौराणिक पात्रों, लोककथाओं प्रसिद्ध पात्रों या प्रसिद्ध वीर, दानी व्यक्तियोंकी जीवन-कथाओं को इन कियोंने चुना है और नाना प्रसंगोंकी कल्पना उनको बीचमें रखकर की है। अनेक व्रत-कथाओं, धामिक प्रतिज्ञाओंका पालन करनेवाले धामिक पुरुपोक्षी कहानियाँ इन प्रम्थोंमें कहीं गयी हैं।

जैन चरित-काव्य और अन्य उपदेशप्रधान कोकप्रिय क्याकाव्य प्रायः अप्रकाशित है और साहित्यके विद्यार्थियोने उनकी ओर बहुत ही कम ध्यान दिया है। इस प्रकारकी अनेक कृतियोमें कई तो बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिनके अस्तित्वका समाचार इधर हालके वर्षींग ही मिला है। चरित, चउपई और रास आदि नामोसे युक्त इन जैन रचनाओमें केवल आकार और शैलीका अन्तर भले ही मिले, इनके धर्मप्रधान स्वरमे विशेष भेद नहीं है। श्रावकों-(गृहस्थो)को उपदेश देनेके लिए इन रचनाओकी सृष्टि इनके र वियताओं ने की । नाना जैन भाण्डारोकी प्रकाशित राचियोम इस प्रकारके यन्थोंके उल्लेख मिळते है, उनमेरी कुछके नाम यहाँ दिये जा रहे है। इनमे कुछकी भाषा अपभंशके प्रभावसे सर्वथा मुक्त नहीं हो पायी है और दूसरी ओर अन्य कृतियोकी भाषा कैनेतर कवियोके समान ही है। जैसे धर्मस्रिकी १२०९ ई०गे रचित 'श्रीजम्बूस्वामी रासा की भाषामे अपभ्रंशका आभास मिलता है, शब्दावली तद्भव-प्रधान है। इसी प्रकारकी अम्बदेवकृत चरितकाव्य 'संवपति समरा राष्' (१४वी शती वि०)मे दानवीर समर-शाहका थश इस प्रकारकी माषाने वहा गया है "निसि (णिसि नहीं) दीनी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायण । पावल पारु न पामियए येगि बहद सुखसणु""आदि । आगेकी कृतियों में भाषा निरन्तर विकसित होती गयी है। अन्य कृतियोमं १३५५ ई०मे रचित उदयवन्तकी कृति 'गौतम रासा? (प्रकाशित), विद्धणकृत १३६६ ई०मं रचित 'शान पंचमी चउपई', १४८९ ई०में दयासागर सूरिरचित 'धर्म दत्तचरित', ईश्वरसूरिकृत 'ललितांगचरित' (१५०५ ई०), 'सारसिखा-मनरास' (१४९१ ई०), 'यशोधरचरित्र' (१५२४ ई०), 'क्रपणचरित्र' (१५२३ ई०), ठकरसीकृत, कुश्ललामकृत १५५९ ई०में रचित 'माधवानल चौपाई', विद्याभूषण सूरिकृत 'भविष्यदत्तरास', रायमहाकृत 'हनुमन्त-चरित्र' (१५५९ ई०) और 'भविष्यदत्तचरित्र', जिनदास-कृत 'जम्बूचरित्र' (१५८५ ई०), बनवारीलालकृत 'भविष्य-दत्तचरित्र' (१६०९ ई०), कल्याणदेवकृत 'देवराज वच्छराज चौपई' (१५८६ ई०), नन्दकृत 'यशोधरचरित्र' (१६२३ ई०), कर्मचन्द्रकृत 'मृगावती चौपई' इत्यादि । इस प्रकारके यन्थोंकी रचना अठारहवी-उन्नोसवी शतीतक होती रही। उदाइरणके लिए, आमेर शास्त्रभाण्डारमें प्राप्त खुशाल- चन्दकृत 'हरिवंशपुराण' (१७२३ ई०), 'पद्मपुराण' (१७२६ ई०), 'धन्यकुमार चरित्र', 'जम्बृ-चरित्र' जैसी कृतियोंका उच्लेख किया जा सकता है।

इन कृतियोंके केवल नाम देखनेसे ही बिना किसी तुटिके भयके कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध धार्मिक व्यक्तियों जैसे भविष्यदत्त, यशोधर, गौतमस्वामी, जम्बूस्वामी आदिके ही चिरित्रोको बरावर अनेक कवियोंने अपनी कथाका विषय बनाया है और यह भी बिना विवादके कहा जा सकता है कि कथाके पूर्वस्वीकृत ढाँचेमे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किये गये हैं। इन चरितकाव्योंमे फिर भी कही कहीं नवीनताएँ मिलती है। समसामयिक समाजके उल्लेख मिलते है और यत्र-तत्र समसामयिक प्रसिद्ध व्यक्तियोंको भी कविताका आधार बनाया गया है। इस सम्पूर्ण साहित्य-में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी बहुत हैं।

सिहायक यन्थ-जैन साहित्य और इतिहास: प्रेमी; हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास: कामता-प्रसाद जैन 1] -रा० सि० तो० जोग-'जोग' उन गीनोंको कहते हैं जिनका वर्ण्य विषय ्रप्रायः विवाह है। परन्तु इसके अतिरिक्त इनमें जादू और टोनाका भी उल्लेख पाया जाता है। 'तिलक चढने'के पश्चात् जब वर और कन्याके घरमें 'सग्रन' गाया जाता है, तब उसी समय 'जोग' गानेकी भी प्रथा पायी जाती है। इन गीतोंमे कही वैवाहिक विधिका वर्णन है, तो कहीं (असम) जाकर जादू-टोना सीखकर आनेका उल्लेख उपलब्ध होना है। भोजपुरीमे जोग करनाका अर्थ जाद या टोना करना होता है। परन्तु जोगके गीत प्रधानतया विवाहके सम्बन्धमें ही उपलब्ध जोगी-जोगी या योगीके स्पष्टतः दो अर्थ है:-- १. योगिकया करनेवाले तथा २ योगी या जोगी जाति वाले (इस दूसरे अर्थ वाले जोगीके लिए दे० आचार्य हजारीप्रसाद दिवेदीकी पुस्तक 'कबीर', प्रस्तावना)। सन्तीके साहित्यमे प्रयुक्त जोगी शब्द इन दोनों अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कदीरमे ऐसे प्रयोग भी बहुतसे मिलते हैं, जहाँ एक ही स्थानपर मात्र एक बार प्रयुक्त जोगी शब्द उक्त दोनो अर्थ देता है। सन्तोंने जोगी को 'जगी' रूपमे भी व्यवहृत किया है और 'जौगी' रूपमें भी। ऐसे खलीपर सांसारिक पचड़ेमें फॅसे योगियोंका भी अर्थ संकेतित होता है। यस इस तरहके प्रयोग विरल है। 'जुगी' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। -रा० सिं० जोगौटा-राजा रत्नसेनके योगी-वेषके चित्रणमें जायसीने जोगौटाका उल्लेख किया है-"मेखल सिंगी चक्रधारी। जोगौटा रुद्राक्ष अधारी ॥" (पद्मावत, १२६) । जोगौटा, सं० योगपट्ट > अप० जोगवट्ट, का ध्वनि परिवर्तित रूप है। 'हर्षचरित'मे सरस्वतीके वेषका वर्णन करते हुए बाणने 'योगपट्ट' शब्दका व्यवहार वित्या है। 'यशोधरचरित'-मे 'जोगवट्ड'का उल्लेख भी मिलता है। वासुदेव शरण अग्रवालने ('पद्मावत', १२६की टिप्पणीमे) जोगौटाका अर्थ दिया है-"वह वस्त्र जिसे योगी ध्यान करते समय सिरसे पैरों तक डाल लेते हैं। ध्यानके अतिरिक्त अन्य अवस्थामे यह कन्धेपर पडा रहता है"। -रा० मि०

ज्ञातयौवना (नायिका) - मुग्धा नायिकाका दूसरा भेदः भानदत्त द्वारा सर्वप्रथम उहिन्दितः, हिन्दी लेखको द्वारा प्रायः सर्वमान्य । विशेष दे० 'नायिका-भेद' । इस नायिका-को अपने तारुण्यका आभाम होने लगता है। मतिरामने इस प्रकार कहा है—''निज तनु जोवन आगमन जानि परत है जाहि।" (रसराज, २१)। लगभग इन्ही शब्दोंमे इसकी परिभाषा अन्यो द्वारा भी दी गयी है-"तनभें जोबन आगमन जाहिर जब जिहि होत" (प०: जगद्वि०, साग १, ३२)। नारीमे जत्र यौवनकी भावना स्पष्ट रूपने प्रकट होकर उने ही भामित हो जाती है, तब वह ज्ञानथीवना कही जाती है-"अीचक आय जोबनवाँ मोहि दुख दीन ! छुटि गो संग गोइयवॉ नहि भल कीन" (रहीम, ३)। नायिका अपनी स्थितिसे परिचित हो चुकी है। मतिरामकी नायिकाको अपने तारुण्यका भान हो गया है-- "कानन लौ लागे मुसुकान प्रेम पागे लौने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनंगते" (रसराज, २२) । दामकी अज्ञातयौवनामे भावना स्फ़रिन हो रही है—''आननमें मुसुकानि मोहावनी बंकुरता ॲखियान छई है" (शृं० नि०, १३०) । पद्माकरने शारीरिक विकासका ज्ञान अधिक चित्रित किया है—"छोरि धरी हरी कंचुदी न्हानको, अंगन ते जगे जोतिके कौथे" (जगद्वि०, भा० १: ३३) । विद्यापितने राधाके क्रमविकास-मे अज्ञातयौवनाका वयःसन्धिके रूपमे और ज्ञातका उसके भावात्रेगके साथ चित्रण किया है। सुरने भी राधाका इन दोनों रूपोमे अंकन किया है। पर सूरमे शारीरिक उन्माद विद्यापितकी अपेक्षा कम है और भावात्मक उल्लास अधिक है। अन्य सूफी प्रेमी कवियोके साथ जायसीने अपनी नायिकाके इस रूपका व्यापक वर्णन विया है, पर उसमे वियोगकी पीडा अधिक है, जो एक प्रकारकी मदनपीडा ही जान पडती है। छायावादी कविताओं मे प्रकृतिपर मुग्या नायिकाके विविध रूपोका आरोप मिलता है। उदा०-'निराला'की कविता 'जुहीकी कली'। (ज्ञातयौगनाके १. नवोडा, २. विश्रब्धनवोडा भेडके लिए इन्ही शब्दोको देखे। केशवकी नवलअनंगा तथा लजाप्राय और देवकी नवयौवना, नवलअनंगा तथा सलज्जरीति ज्ञातयौवना नायिकाएँ है)। **ज्ञानाश्रयी शाखा**-मध्यकालमें 'निर्गुणधारा' कही जानेवाली साहित्यिक प्रवृत्तिका वह रूप, जिसका सम्दन्ध प्रधानतः परमात्माको ज्ञान द्वारा उपलब्ध करनेकी चर्चाके साथ हो, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'के नामसे अभिहित दिया जाता है और इसका कबीरादि सन्तोंकी रचनाओमे लक्षित होना बनलाया गया है। निर्गुणधाराकी एक दूसरी शाखा, जिसे इससे भिन्न समझा गया है, 'शुद्ध प्रेममागीं' कही गयी है और उसका सम्बन्ध प्रधानतः परमात्माको विश् द प्रेम द्वारा प्राप्त करनेके विषयसे है तथा उसके उदाहरण जायसी आदि सूफी कवियोकी कृतियोमे मिलते है। 'ज्ञानाश्रयी' अथवा 'शुद्ध प्रेममार्गी' शब्दोंकं प्रयोगका अभिप्राय यहाँ यह नही कि उक्त प्रकारकी रचनाओं में क्रमशः केवल शान अथवा प्रेमका ही वर्णन पाया जाता है। सन्तों द्वारा निर्मित साहित्यमे प्रेम एवं विरह्भी चर्चा प्रचुर मात्रामें दीख पडती है और इसी प्रकार स्फियोकी प्रेम-गाथाओं में भी हमें ज्ञान-

साधनाके प्रसंग मिल सकते हैं। इनके प्रयोगकी सार्थकता इस बातसे स्चित होती है कि सन्तोंकी रचनाओं में ज्ञान-साधनाके महत्त्वपर विरोष वल दिया गया प्रतीत होता है, जहाँ प्रेमाभक्तिको उसका एक आवश्यक अंग ही ठहराया गया है, किन्तु स्फियोंने इसके विपरीत प्रेम एवं विरहका ही वर्णन अधिक विस्तारके साथ किया है। सन्तोकी दृष्टिसे परम तत्त्वकी उपलब्धि एवं स्वानुभू निमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता ओर प्रेमानन्द वहां उसकी सिद्धिका एक परिणाम भी समझा जा सकता है, किन्तु स्फियोंके अनुसार, ईश्वरीय प्रेमका उदय खुदाके न्रकी और आकर्षणसे हुआ करता है और उसके वस्ल (मिलन)की स्थिति आ जानेपर हमे उस मआरिफ (ईश्वरीय ज्ञान)का अनुभव होता है, जो 'हाल' या उन्मादकी अवस्थामे भी परिणत हो जा सकता है।

'ज्ञानाश्रयी' शब्दमें प्रयक्त 'ज्ञान' शब्द किसी साधारण जानकारी अथवा तकींपर आश्रित दार्शनिक तत्त्वगोधका सूचक नही है। साधारण जानकारी या लौकिक ज्ञान इन्द्रियजन्य हुआ करता है और उसका क्षेत्र स्थल पदार्थी-तक सीमित रह सकता है। इसी प्रकार दार्शनिक ज्ञानका भी वास्तविक आधार तत्त्वचिन्तन होता है, जिसमे बुद्धि अपनी चरम शक्तिका उपयोग करती है और वह सक्ष्मसे-सक्ष्म भावोंतकको भी अपना विषय बना छेता है। परन्त 'ज्ञानाश्रयी'के ज्ञान शब्दसे अभिप्राय उस प्रतिभा या अती-न्द्रिय बोधसे है, जो आपसे आप उदय हो सकता है। इस ज्ञानके लिए इन्द्रियजन्य अनुभव अपेक्षित नहीं और न इसकी उपलब्धि बुद्धिके प्रयासपर ही निर्भर है। इसे हम बाह्य ज्ञानकी कोटिमें नहीं रख सकते। यह मूलतः अन्तर्ज्ञान है, जो सहज रूपमे तथा बिना किसी प्रत्यक्ष साधनके आधारसे उत्पन्न होता है और इसीलिए यह 'सहजज्ञान' भी कहा जा सकता है। सन्त कबीरने इसी ज्ञानको 'ब्रह्मगियान' (ब्रह्मज्ञान)का भी नाम दिया है तथा उसके निरन्तर बने रहनेकी दशाको 'सहज समाधि' कहा है। उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर करोडों कर्पोतक भी सहज समाधिमें विश्राम किया जा सकता है। इसके कारण हृदयकमल पर्णतः विकसित हो जाता है और परम ज्योतिका प्रकाश होते ही, भ्रमके निराकरण द्वारा सभी कुछ आपसे आप सझने लगता है। कालपर सदाके िए विजय मिल जाती है, आवागमनका झमेला दूर हो जाता है और एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता। इसे ही अन्यत्र उन्होंने 'ज्ञानलहर'की धुनका जगना अथवा 'ज्ञानकी आँधी'का उठना भी कहा है तथा इस ज्ञानका स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे उन्होंने अन्य पदोंकी भी रचना की है।

'ज्ञानाश्रयी शाखा' वाले 'ज्ञान'का सम्बन्ध जितना मस्तिष्कसे नही, उतना हृदयसे हैं और इसीलिए इसे भक्तिसे भिन्न नहीं ठहराया जाता। केवल मस्तिष्कप्रस्त ज्ञान एकांगी हो सकता है और उसमें नीरस विवेचनके प्रति-पादनके अतिरिक्त अन्य व्यापारोंकी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु हृद्यप्रस्त ज्ञानमें समस्त इन्द्रियाँ अपना-

अपना काम एक साथ करती हुई प्रतीत होती हैं और इसी कारण इसका परिणाम सच्चे 'अनभव'के रूपमें दिखाई पडता है। एक साधारण ज्ञानीको तत्त्वचिन्तन द्वारा बस्त-स्थितिका परिचयमात्र मिल सकता है, उसे इसका परा बोध नहीं हो पाता । वह प्रत्येक बातको विदलेषण द्वारा पथक-पथक समझकर तद्विषयक धारणा वना सकता है. किन्त वह उन्हें एक साथ और एक रूपमें प्रत्यक्ष कर उनमे प्रवेश भी नहीं कर पाता। इसके विपरीत सहजज्ञानी अपनेको, वस्त-तत्त्वके अन्तस्तलतक पहुँचकर, उसके साथ एकरूप हो गया भी पाता है। वह परम तत्त्व अथवा पर-मात्माको अपनेसे प्रथक रूपमें नहीं जानता, प्रत्यत अभेट-रूपसे उसमें लीन ही जानेका अनुभव किया करता है। हिन्दी साहित्यकी अनेक रचनाओंमे ब्रह्म, जगत एवं जीवकी चर्चा शष्क वेदान्तकी दृष्टिसे की गयी दीख पड़ती है और उनमें इनका दार्शनिक निरूपण भी पाया जाता है, जो ज्ञानमुलक कहा जा सकता है। परन्त वहाँ हमे उनके रचयिताओंके वे व्यक्तिगत उदगार नहीं मिलते, जो पर-मात्माके प्रति किसी रागात्मक आकर्षण द्वारा ही सम्भव हो सकते है, जिनके शब्दोमे या तो श्रद्धामुलक भक्तिके भाव भरे रह सकते है अथवा उस प्रेमकी अभिन्यक्ति ही हो सकती है, जो अभेदपरक आत्मीयताका परिचायक होती है।

अतएव, 'ज्ञानाश्रयी शाखा'का सम्बन्ध उस भक्तिमूलक साहित्यके साथ जोडा जा सकता है, जिसमें निर्श्यभाराकी प्रवत्ति पायी जाती है। इसके अन्तर्गत गिनी जानेवाली रचनाओमे हमें अधिकतर भारतीय ब्रह्मज्ञानके साथ चलने-वाली उपासनाकी चर्चा मिलती है। इनमे निर्मण पर-मात्मतत्त्वके प्रति प्रदक्षित प्रेमाभक्ति-विषयक उद्गार मिलते हैं, आत्मज्ञानजनित आनन्दकी अभिन्यक्ति पायी जाती है और एक ऐसे आध्यात्मिक जीवनकी रूपरेखा भी प्रस्तत की गयी दीख पडती है, जिसमें पूर्ण शान्ति, सद्भाव तथा विद्वजनीन कल्याणकी सम्भावना रहती है। ऐसी रचनाओं में प्रायः भावगत सौन्दर्यके साथ-साथ भाषा पवं जैलीपरक आकर्षण भी उतनी ही मात्रामे लक्षित नहीं होता, जिस कारण उन्हे 'साहित्यिक' नहीं समझा जाता और इस 'शाखा'के अन्तर्गत संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणीका वह विकास भी नहीं देखा जाता, जो शिक्षित समाजको अपनी ओर आकर्षित कर मके । इनके रचियाओंका उद्देश्य वस्तुतः यह कभी नहीं रहा कि वे इनके द्वारा किन्ही 'विद्वानो'को परितोप प्रदान करें अथवा इनके कारण 'सुजानो'का आदर प्राप्त करें। प्रधानतः ज्ञानमागी होनेके कारण उन्होंने अपना जीवन आत्मचिन्तनमें ही बिताना अधिक उचित समझा और यदि उन्होंने अपनी निर्ग्रणोपासनाके फलस्वरूप किन्ही मार्मिक मार्वेकी अभिन्यक्ति भी की तो उन्हें स्वभावतः ज्यों-का-त्यों रख देना ही पसन्द किया, उनके माध्यमको सजानेकी चेष्टा नहीं की। इसके विपरीत निर्गुणधाराकी शुद्ध प्रेममार्गी शाखावाले कवियोने प्रेमतत्त्वको महत्त्व देते समय प्रेमी-प्रेमिकाओंकी प्रेमगाथाओंकी रचना तथा उनके अन्तर्गत मामिक स्थलींकी योजना करके उनमे सभी प्रकार-से सरसता लानेका भी प्रयक्त किया। ---प० च०

झलिक्याँ — झलिकयाँ रेडियो-नाटकके अन्तर्गत आती है। स्वरूपविधानकी दृष्टिसे इन्हे पॉच-छः छोटी-छोटी रेडियो-नाटिकाओंका समूह कह सकते है। आकाशवाणीके विभिन्न केन्द्रोसे झलिक्याँ, इन्द्रधनुष, लहर, रंग-तरंग नामसे प्रसारित किये जानेवाले कार्यक्रमोमे पॉच-पॉच, छः-छः मिनटकी छोटी-छोटी नाटिकाएँ रहती है, जो बीच-बीचमें दो-चार पित्तयोंके 'नैरेशन'से परस्पर सम्बद्ध कर दी जाती है। मनोरंजकता झलिक्योंकी सबसे बडी विशेषता होती है। इनमें जीवनके हल्के-फुल्के क्षणोका ही अंकन होता है।

[सहायक प्रम्थ—रेडियो-नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना; रेडियो-नाट्य-शिल्प : सिद्धनाथकुमार ।] — सि० कु० झाँझी-झेझी या झाँझी, शारदीय नवरात्रके दिनोंमे गाया जानेवाला वालिकाओंका गीत; बजलोकमे विशेष रूपसे प्रचलित; वालिकाएँ झाँझी (मिट्टीकी छेददार हाँडी—जिसमे दिया जलता रहता है) लेकर एक घरसे दूसरे घरका फेरा करती है, झाँझीके गीत गाती है और पैते माँगती है; ये गीत कथाकी दृष्टिसे अद्भुत किन्तु मनोरंजक होते है।

बजके लोक-जीवनमे प्रचलित मनोरंजन-प्रधान गीतोके अन्तर्गत 'झाँझी' या 'झैझी'के गीत आते हैं। क्वार-के महीनेमें शारदीय नवरात्रके अवसरपर लड़के 'टेस्'के गीत गाते हैं और लड़िक्यॉ 'झॉझी' गाती है। ये दोनों गीत टेसू और झॉझीके खेलसे सम्बद्ध है और इन्हे बच्चे ही गाते है। झॉझीके गीत प्रायः संवादात्मक होते है और इनमे छोटी-छोटी कहानियाँ भी अनुस्यूत होती है। विषयकी दृष्टिसे ये गीत बड़े अद्भुत और सरस होते है। एक झाँझी गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है—"बाबा जीके चेली-चेला भिच्छ्या मॉगन आए जी। भरि चुटकी मैने भिच्छा डारी, चूँदरिया रॅगि लाए जी ॥" टेसू और झॉझीके खेलके अन्तमे टेस्का विवाह झॉझीसे कर देते है और टेसूका सिर उखाडकर फेक दिया जाता है। विस्तारके लिए दे० डॉक्टर सत्येन्द्र : 'ब्रजलोक साहित्यका अध्ययन'।

**झाण साधना** –दे० 'हठयोग', 'बोधिचित्त'।

**झुंझना** — जन्मोत्सवमें छठीके दिन गाया जानेवाला एक लघु-गीत। इसमें शिशुको उसके सम्बन्धियों द्वारा झुनझुना खिलानेका उल्लेख रहता है।

चुळना ─ इसे झूळणा या तीज भी कहते है। व्रज तथा कुरु जनपदमें प्रचिलत लोकगीतों में इसका स्थान विशिष्ट है। जिस प्रकार पूर्वी हिन्दी प्रदेशमें सावनके महीने में 'कजली' गायी जाती है, उसी प्रकार पश्चिमी प्रदेशमें झुळना या झूळना गाते हैं। ये गीत बहुषा कथापरक होते है और इनमें लोक-मानसकी कल्पना शक्ति तथा लोकजीवनके विविध पहळुओं के दर्शन होते है। चॅदरावळी नामक एक 'झुळना' गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है ─ 'अब रत आई बाबा बीजणे की। सास्सु बरजे, बऊ री, पणिया मत जाई, डेरा पड़ा है मोगळ का, दे लेगा तमुओं के बीच। अब रत आई…।।''! 'झुळना नामका एक अन्य गीत दाइयों अथवा माताओं द्वारा शिशुको झूळा झुळाते समय गाया जाता है—'झुळो मेरे ळाळन झूळना जी'। 'झुळना' गाया जाता है—'झुळो मेरे ळाळन झूळना जी'। 'झुळना'

या 'झलना' नामक एक छन्द भी होता है, जिसके प्रत्येक चरणमे ७, ७, ७, और ५ के विरामने २६ मात्राएँ और अन्तमे गुरु-लघु SI होते हैं। झूमर-झूमर वे गीत है, जो प्रत्येक मांगलिक अवसरपर गाये जाते है। यामीण स्त्रियाँ विवाहादि उत्सवके समय सामृहिक रूपसे झम-झमकर इन गीतोको गाती है, अतः इनका नाम झूमर पड गया है। ये गीत बडे प्राचीन जान पडने है। मैथिल-कोकिल विद्यापतिने "गावहु ए सखि झमर लोरि" लिखकर इनका उल्लेख किया है। इससे शात होता है कि विद्यापितके पूर्व ये लोकसाहित्यमे प्रचलित थे। भोजपुरी झूमरके गीतोमे शृंगारके दोनो पक्षों-सम्भोग एव विप्रलम्भका बड़ा ही सरस तथा सुन्दर वर्णन पाया जाता है। जब स्त्रियाँ झूम-झूमकर समवेत स्वरसे इन्हें गाने लगती हैं, तब एक समाँ वँध जाता है और श्रोताओंके हृदयमे गुदगुदी पैदा होने लगती है। ये झूमरके गीत क्या है, शृंगारके रस-कलश है, जिन्हें कोकिलकण्ठी स्त्रियाँ अपने लोचभरे स्वरोंसे सहदयोंके ऊपर उँड़ेलकर उन्हे रससिक्त कर देती है। लोकगीतोंके विभिन्न प्रकारोंमे इससे रसीला तथा मधुमय गीत सम्भवतः दूसरा नहीं है।

मैथिली झूमर बड़े मधुर होते है, जिनके प्रधान दो भेद है—१० सन्देशात्मक, २०भावात्मक । सन्देशात्मक झमरोमें काक या कोयलके द्वारा प्रवासी साजनको सन्देश भिजवाया गया है। भावात्मक झूमरोंमे रसात्मक अनुभूति और आनन्दका साधारणीकरण है। झूमरका मजमून प्रेमसे सराबोर है। इसकी पंक्ति-पंक्तिमे वारुणी और शब्द-शब्दमें जादका असर है। झूमरके गीतोकी एक विशेष तर्ज होती है। इनको प्रायः स्त्रियाँ ही गाती है। झूळना १-मात्रिक सम दण्डक छन्दोका एक मेद । 'प्राकृत-पैगलम्'के अनुसार झुलुण छन्दके प्रत्येक चरणमें १०, १०, १७की यतिसे ३७ मात्राएँ होती है। उदाहरणसे इस वातका आभास मिलता है कि यतिके खलोपर तुक मिलना चाहिये। भानुने यति १०, १०, १०, ७ और अन्तमे यगण (ISS)का निर्देश किया है। इसी छन्दके चरणमे जब २०, १७पर यति होती है, तब इसे हंसाल कहते है, क्योंकि दोनोके अन्तमे यगणका प्रयोग भी होता है। तुलसीने यतिके नियमका प्रायः अनुसरण नहीं किया है, २०, १७-पर यति दी है और मध्यतुकका प्रयोग भी नही किया है—"कनक गिरि श्टंग चड़ि, देखि मर्कट कटक, बदत मन्दोदरी परम पुनीता । सहसभुज मत्त गजराज रन-केसरी, परसधर गर्व जेहि देखि बीना (गीता०, ५)। इसमें प्रथम चरणमें यतिका प्रयोग नियमानुकूल है, पर दसरे चरणमें यति २०, १७पर है। अतः तुलसीके प्रयोग-में झलना और इंसालका संयोग समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त केशव (रा० चं०) तथा रघुराज (रामस्व०)ने भी इसका उपयोग किया है। सूरने भी इस छन्दका प्रयोग पदोंकी गतिमे उतार-चढावके द्वारा रोचकता पैदा करनेके लिए किया है-"किरिक के नारि दें, गारि गिरिधरहिं तब, पॅछपर लात दै, अहि जगायो" (स्० सा०, सभा०, पदं ११७०)।

सूलना २-वर्णिक छन्दोमे सम वृत्तका एक भेद। स, ज,

ज, भ, र, स, लघुके योगसे यह वृत्त बनता है। इस छन्दमें १२. ७ वर्णोपर यति होती है (॥५, ।५।, ।५।, ८॥, ८।५, ॥५,।)। भानुने (छं० प्र०, पृ० १९४) इसका नाम मणिमाल दिया है, पर केशवने झलना। 'रामचन्द्रिका'मे इसका प्रयोग हुआ है। यह छन्द मात्रिक झूलनासे भिन्न है। रूपमालाके आदिमें दो लघु रखनेसे यह छन्द बन जाता है-- "तुम हो अनन्त अनादि सर्वत्र सर्वज्ञा सरवज्ञ । अब एक हो कि अनेक हो महिमा न जानत अइ" (रा० चं०, २७:१)। टिटोवाद-यूगोस्लावियाके मार्शल टिटो साम्यवादी होते हुए भी राष्ट्रीयक्षेत्रोंमें अन्तरराष्ट्रीय कामिनफार्मसे यूगोस्ला-वियाकी कम्युनिस्ट पार्टीकी स्वतन्त्रता चाहते थे। यही सिद्धान्त टिशेवादका मूल आधार है। ट्राट्स्कीवादकी भाँति सभी प्रगतिवादी इते भी निन्दावचनके रूपमें प्रयुक्त —रा० कु० त्रि० टिप्पणी-[टिप्+िक्वप्=िटपा, सा पण्यते स्तूयते इति टिप्पणी = टिपा पण् + अच्] (क) १. संक्षिप्त टीका, विषम-स्वलोका व्याख्यान । २. टीकाकी टीका (जैसे महाभाष्यकी कैयटकत प्रदीप टीकाकी नागेशकत 'उद्योत' टिप्पणी)। (ख) हिन्दीमे 'टिपप्पी' शब्द प्रायः अंग्रेजीके 'नीट' शब्दका अर्थ देता है। 'टीक' 'टीका'के साथ समास (टीका-टिप्पणी)-के रूपमे प्रयुक्त होनेपर अगलोचना, दोषप्रदर्शन, छिद्रा-न्वेषण या नुक्ताचीनीका अर्थ देता है। (ग) इसके पर्याय टीका, विवृति, व्याख्या इत्यादि शब्द है। व्याख्या विस्तृत होती है, टीका भी टिप्पणीकी अपेक्षा विस्तृत ही कही जायगी। टिप्पणी तो टीकाकी टीका है, उसके दुरूह या अस्पष्ट स्थलको सरल और स्पष्ट करती है।—आ० प्र० मि० टीका - [टीक् गतौ (भ्वादि०) + अः + स्त्री प्रत्यय दीक्यते गम्यतेऽथीं यया सा] (क) सामान्य अर्थ-१. व्याख्यान-ग्रन्थ, व्याख्या, विवृति । (ख) विशेष अर्थ--- १. विषम-पदव्याख्या (भानुजी दीक्षितकी रामाश्रमी), विषम-पदन्या ख्यानरूपा वृत्ति (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि)। इस अर्थके अनुसार 'टीका' भी वृत्तिकी ही मॉति संक्षिप्त होनी चाहिये, क्योंकि उसमें केवल कठिन और दुरूह पदोका ही व्याख्यान होता है। परन्तु इसका विरोधी मत भी है, जिसके अनुमार टीका विषमपदोकी ही व्याख्या नही, अपितु मूलके सुगम और दुर्गम समस्त पदोंकी निरन्तर व्याख्या है ('टीका निरन्तर-व्याख्या'—'सुगमानां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या'—हेम)। यों तो संस्कृतके विशाल टीकासाहित्यमें शायद ही कोई टीका ऐसी मिले, जिसमे प्रतिपद न्याख्यान हो, परन्तु प्रायः उपलब्ध सभी टीकाओमें · मूलके प्रायः आवश्यक सभी पदोकी न्याख्या मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो-चार टीकाओं मे भले ही केवल विषम पदोंका व्याख्यान हो और वे बहुत संक्षिप्त हों, परन्तु प्रायः सभी टीकायन्थोंके सम्बन्धमें 'टीका'का दितीय लक्षण ही अधिक घटित होता है। संस्कृतका यह टीकासाहित्य मौलिकमे कही अधिक विशाल है। इसका कारण ग्रन्थकारी-में मौलिकता या स्वतन्त्र चिन्तनका अभाव या उसकी न्यूनता नही, अपितु संस्कृत भाषा और उसके शास्त्रोंकी गम्भीरता और गहनता ही है, क्योंकि टीकाओंमें भी पुराने

वादोंपर नये विचार, उन वादोंका नयी दिशाओं में विकास, उनका नये ढंगसे मूल्यांकन आदि सभी कुछ मिलता है। इतने विशाल साहित्यके प्रमुख यन्थोका भी परिगणन कठिन है, पर कुछ सर्वाधिक प्रसिद्ध ये है- उद्योतकरकृत न्याय-वार्तिकपर वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्य टीका, सांख्यकारिकापर उनकी सांख्यतत्त्वकौमुदी, योगभाष्यपर तत्त्ववैद्यारदी तथा शंकरकृत वेदान्त भाष्यपर उनकी भामती तथा आनन्द गिरि-की न्यायनिर्णय टीका, न्याकरणमें महाभाष्यपर कय्यटकत प्रदीप, भट्टोजिदीक्षितकी सिद्धान्तकौमुदीपर ज्ञानेन्द्रकी तत्त्वबोधिनी, काव्योमे 'कुमारसम्भव', 'रघुवंश', 'मेघदृत', 'किरात', 'शिद्यपालवध' (माघकाव्य) तथा 'नैपधचरित'पर मिलनाथकी टीकाँ तथा 'नैषथ'पर नारायणकी टीका, इसी प्रकार काव्यशास्त्रमें मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर चालीससे ऊपर टीकाएँ हैं। नाटकोपर राघव मट्टकी टीकाएँ सर्वविदित है। (ग) हिन्दीमे 'टीका'के अर्थमें कोई परिवर्तन नही हुआ है। मध्यकालीन भक्ति और रीतिकान्यपर ब्रजभाषा-गद्यमे अनेक टीकाएँ मिलती है, जैसे चौरासी और 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता'पर गुसाई हरिरायकी भावप्रकाश टीका, 'साहित्यलहरी'पर सरदार कविकृत टीका, 'भक्तमाल'पर प्रियादासकी टीका (पद्यमे), हितहरिवंशके 'चौरासी पद'पर तथा बिहारीकी सतसईपर अनेक टीकाएँ हैं। 'रामचरितमानस'पर भी अनेकानेक टीकाएँ लिखी गयी है। ---आ० प्र० मि० टेक-गीनके आरम्भकी वह कड़ी, जो प्रत्येक चरणके अन्तमे दुहरायी जाती है; लोकगीतोंमे प्रायः तुक और मात्राका ध्यान नहीं रखा जाता, इनमें नैसर्गिक सन्तुलन-बोधपर आधारित एक स्वाभाविक लयात्मकता होती है और बार-बार दुहरायी जानेवाली टेकके कारण ये सगेय बने रहते हैं; टेकके अभावमें किसी भी गीत-लौकिक या शास्त्रीय-की संगीतात्मकताका निर्वाह सम्भव नहीं। **टेबलो-**अवाक् तथा स्थिर्मुद्रा-स्थित अभिनेता-मण्डली द्वारा किसी चरित्र, घटना अथवा दृश्य (प्रायः ऐतिहासिक)-का अभिनयांकन 'टेबलो' कहलाता है। नाटकका एक पृथक् भेद होनेके अतिरिक्त 'टेबलो' कभी-कभी उस अभिनय-क्षणके लिए भी आता है, जहाँ अभिनेता एवं रंगपीठ नाटकीय वातावरणके अनुकूल एक विशेष अभीष्ट प्रभावकी सृष्टिके उद्देश्यसे सम्मिलित रूपसे चित्रलिखित हो जाते है, उदाहरणके लिए मूकनाट्य, नृत्यनाट्य तथा नृत्य - इया भो शि **टेलिविजन नाटक**-टेलिविजनके अत्याधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारने हमारी दृश्य और श्रन्य शक्तिका विस्तार कर दिया है। इसके माध्यमसे दूरस्य स्थानोंके दृश्य और शब्द हमारे सामने सहज ही आ जाते है। इस नवीन माध्यम-के लिए लिखित नाटकको टेलिविजन नाटक कहा जाता है। बहुत कम अवधिमें ही इस नये नाट्य-रूपका अन्यान्य पाश्चात्य देशोमे पर्याप्त विकास हुआ है, पर अपने देशमे टेलिविजन कार्यक्रम अभी प्रयोगात्मक रूपमें दिल्लीमे पारम्भ हए हैं।

माध्यमके साथ ही नाट्य-रूप परिवर्त्तित होते रहे है।

इस रिष्टिसे टेलिविजन नाटक रेडियो नाटक, रंगमंच नाटक और फिल्म नाटकसे बिल्कुल भिन्न हो गया है। इसका अपना स्वतन्त्र रचना-तन्त्र बन गया है। टेलिविजन नाटक इस अर्थमें रेडियो नाटकसे साम्य रखता है कि दोनों अपने दूरस्थित नाट्य-प्रेमियोका मनोरंजन अभिनय-स्थानसे करते है, पर दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। रेडियो नाटक जहाँ मात्र श्रन्य है, वहाँ टेलिविजन नाटक श्रन्य और इस्य दोनों है। इस दृष्टिसे टेलिविजन नाटक रंगमंच नाटकके बहुत निकट है। रेडियो नाटकमे तीन उपकरण होते है— संलाप, ध्वनिप्रभाव और संगीत। टेलिविजन नाटकमें भी इन तीनों उपकरणोंका न्यवहार होता है, पर इसमे इनके अतिरिक्त अभिन्यक्तिके अन्य साधन भी उपलब्ध है-प्राकृतिक अथवा विशेष प्रयोजनसे निर्मित दृश्य, वेश-भूषा, भाव-भंगिमाएँ और मुखकी विभिन्न मुदाएँ, रंगमंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, विभिन्न कोणोसे प्रयुक्त कैमरे आदि। टेलिविजन नाटकमें दृश्य साधनोपर ही विशेष जोर रहता है। जैसा कि एक टेलिविजन नाट्य-विशेषश्का कथन है, टेलिविजन नाटककारको सारण रखना होता है कि वह मुख्यतः ऑखोंके लिए लिख रहा है, बादमे कानोके लिए। स्पष्ट है कि टेलिविजन नाटकमे संलापकी अपेक्षा कथानक और कार्य-व्यापारपर अधिक जोर रहता है। रेडियोमे दीर्घ शान्तिका उपयोग नहीं किया जा सकता, टेलिविजनमे इसका उपयोग प्रभावपूर्ण रूपमे किया जा सकता है। रेटियो नाटकके पात्र अदृश्य रहते है, फलतः उनकी संख्या बहुत कम रखनी पढ़ती है, पर इस्य माध्यमके कारण टेलिविजनमें अपेक्षाकृत अधिक पात्र आ सकते है। रेडियो नाटकमें कार्य व्यापारो एवं भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए, समय एवं स्थानके परिवर्त्तनके लिए तथा वातावरण-निर्माण-के लिए ध्वनि-प्रभावोंका व्यवहार किया जाता है, पर इत्र्यत्वपर अधिक जोर रहनेके कारण टेलिविजन नाटकमे ध्वनि-प्रभावोका महत्त्व कम हो जाता है। यही बात संगीतके उपयोगके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है, पर टेलिविजन नाटकका निर्देशक भावाभिन्यक्ति तथा प्रभाव-बृद्धिके लिए उपयुक्त स्थलोंपर संगीतका व्यवहार करता है।

रंगमंच नाटकसे टेलिविजन नाटकका अन्तर दो कारणो-से होता है- हरय-पट छोटा रहता है और दर्शक रंगशाला-से दूर रहते है। सीमित इदय-पटके कारण टेलिविजन नाटकमे एक साथ ही अधिक पात्रोंको प्रस्तुत करना कठिन होता है और पात्रोंकी भीडमें मुख्य पात्रोकी वैयक्तिकता स्थापित करना सरल नहीं होता-जिन टेलिविजन कार्य-क्रमोंमें रंगीन चित्रोंका व्यवहार किया जाता है, उनमे वेश-भषाके विरोधी रंगोंके प्रयोगसे ऐसा करनेका प्रयत्न किया जाता है। सीमित दृश्य-पटकी क्षति-पृत्तिके लिए, जैसा कि विशेषश लॉरेन्स लेंग्नरने कहा है, टेलिविजन नाटकमें संवेगात्मक तीव्रतापर विशेष ध्यान देनेका प्रयत्न रहता है। दर्शकोंके दूर रहनेसे टेलिविजन नाटक उनकी प्रति-कियाओंसे वंचित रह जाता है—रंगमंच नाटकका अभिनय दर्शकोंकी प्रतिक्रियाओंसे प्रतिक्षण प्रभावित होता रहता है। हास्य-प्रधान नाटकोंके अभिनयपर प्रेक्षागृहमे बैठे हुए दर्शकोंका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इसीलिए

टेलिविजन सेटपर हास्य-नाटक अपेक्षाकृत कम प्रभावपूर्ण हो पाते है। टेलिविजन नाटककी एक सीमा और विशेषता यह भी है कि वास्तविक एवं यथातथ्य कार्यक्रमोके बीचमें प्रसारित होता है, जबिक रंगमंच नाटक पूर्वापर सम्बन्धसे मुक्त होकर स्वतन्त्र कृतिके रूपमे प्रस्तुत किया जाता है। फल यह होता है कि रंगशालामे विश्वास-सृष्टिकी शक्ति सहज ही होती है और विश्वास-सृष्टि नाटककी पहली शर्त है। पूर्वापरके यथार्थवादी कार्यक्रमोके बीचमे होनेके कारण टेलिविजन नाटक कुछ अंशतक एक सीमामे वॅथ-सा जाता है, पर दूसरी ओर इसकी विशेषता है कि यह अति-कल्पनाओको भी प्रस्तुत कर सकनेकी क्षमता रखता है, मानव-आकृतियोको छोश-बड़ा किया जा सकता है अथवा हस्यान्तर बड़ी सरलतासे शिव्रताके साथ किया जा सकता है।

रंगमंच नाटककी तुलनामें टेलिविजन नाटककी कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त है। इसमे क्लोज-अपके द्वारः पात्रोकी मुखाकृतियोको इस प्रकार दिखलाया जा सकता है कि उनसे, बिना शब्दतः कुछ कहे भी, भावनाओंकी अभिन्यक्ति हो सके । टेलिविजन नाटक संलापोंकी स्पष्टता, सुक्ष्मता एवं स्वाभाविकताकी रक्षामे विशेष रूपसे सहायक होता है-इसमे फुसफुसाहटकी ध्वनियाँ भी स्वाभाविक रूपमे दर्शको तथा श्रोताओको पास पहुँच सकती है। विभिन्न कैमरोके व्यवहारसे इसमे दश्योको वडी जल्दी-जल्दी बदला जा सकता है। इसमें सजीव पात्रीका व्यवहार तो किया ही जाता है, आवश्यकतानुसार फिल्मोका भी उपयोग किया जा सकता है। फलतः रंगमंचपर असम्भव लगने-वाले दश्योको भी इसमे प्रस्तुत किया जा सकता है। क्लोज-अपकी सुविधाके कारण इसमे 'नैरेटर'का भी व्यवहार किया जा सकता है अथवा पात्रोका उपयोग भी 'नैरेटर'के रूपमें होता है। भावाभिन्यक्तिके लिए स्वगतका न्यवहार भी खाभाविकताके साथ किया जा सकता है।

टेलिविजन-कला-विशेष मैकडोनाधने टेलिविजन नाटक-कारोको यह सरण रखनेका निर्देश दिया है कि (१) टेलि-विजन कैमरामे फोकसकी गहराईका अभाव रहता है। (२) किसी एक समय कैमराके सम्मुख अधिकसे अधिक तीन या चार व्यक्ति रह सकते है, यो फिल्मोके सहारे भीडके दृश्य भी प्रस्तुत किये जा सकते है। (३) स्टूडियो छोटे होते है और सेटोको यह सीमा स्वीकार करनी पड़ती है। (४) दृश्य, वेश-भूषा आदिके परिवर्त्तनके समय भी नाटकका कम भंग नहीं होना चाहिए। फिल्मोकी सहायता-से दृश्यान्तर और आसान हो जाते है। कभी-कभी फ्लैश-वैक आदिका भी उपयोग किया जाता है। (५) कार्य-व्यापार अनिवार्य है—मात्र वार्त्तालाएसे शीघ्र ही शिथिलता आ जाती है।

शिल्पकी दृष्टिसे टेलिविजन नाटक फिल्म नाटकके सबसे अधिक निकट है, पर फिल्म नाटक जितना लचीलापन इसमे नही रहता। माध्यम और शिल्पकी अपनी विशेष-ताओं के होनेपर भी टेलिविजन-नाटक नाटक है और नाटकके सभी उपकरण इसमे भी आवश्यक है—कथानक, चरित-

चित्रण आदिपर इसमें भी ध्यान देना पड़ता है। चूंकि पूर्वापरके टेलिविजन-कार्यक्रमोंके साथ इसकी प्रतियोगिता रहती है, इसे रोचकता, कुत्हल, आकर्षण आदिके लिए विशेष प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इसके प्रकार भी अनेक होते है—मौलिक टेलिविजन नाटक तो प्रसारित किये ही जाते है, कहानियो, उपन्यासो और रंगमंच नाटकोके टेलिविजन रूपान्तर भी प्रस्तुत किये जाते है। यह राट्य-रूप अभी नया है और आशा की जा सकती है कि इसकी सम्भावनाओका विकास कमशः होता जायगा।

सिहायक यन्थ-ए गाइड द रेडियो-टेलिविजन राइटिंग: कैम्पबेल, हेथ और जानसन: दि प्ले इज दि थिंग : लारेन्स लेंग्नर: टेलिविजन इन दि मेविंग: पाल रोथा। हाउ ट राइट फार टेलिविजन : एलन होग। टेस - शारदीय नवरात्रके दिनोमे गाया जानेवाला बालकोका गीत। ब्रजलोकमे विशेष रूपसे प्रचलित। लड़के 'टेस्' मनुष्यकी आकृतिका खिलौना लेकर द्वार-द्वारपर घुमते है, टेसूके गीत गाते है और पैसे माँगते है। विषयकी दृष्टिसे ये गीत बड़े ऊटपटॉग और अद्भुत कहे जा सकते है, किन्त ये होते है बड़े मनोरंजक। टेस्को जनश्रति एक प्राचीन वीरके रूपमें स्मरण करती है। पूर्णिमाके दिन टेस तथा झॉझी (दे०)का विवाह भी रचाया जाता है। -र० भ्र० टोटेमिज्म (totemism) - टोटेमिज्म या टोटेमवाद आदिम जातियोंकी एक विश्वासप्रवृत्ति है, जिसके अनुसार वे अपनी उत्पत्ति किसी अमानव पूर्वजसे मानती हैं। विविध आदिम जातियोंका विश्वास है कि उनके पूर्वज पक्षी, नाग आदि थे। वे अपने उस स्वीकृत पूर्वजकी पूजा करती और नाम आदि धारण करती है। उनका विश्वास है कि वही उनकी रक्षा भी करते हैं। अपने घरों, लिबास, पताकाओं आदिपर भी वे उनके चित्र धारण करती है, अपने शरीरपर उन्होंके प्रतीकरूपमे गोदना आदि भी गोदवाती हैं। इन्हीं पद्म, पक्षियों आदि अमानव जीवोके उल्लेखसे उनका अलिखित लोकसाहित्य भी मुखरित है। हमारे साहित्यकी वानर, ऋक्ष आदि जातियाँ भी खभावतः मनुष्य होकर भी इसी परम्पराके अनुसार बन्दर और रीछको अपना पूर्वज माननेके कारण अपने उन नामों से प्रसिद्ध हुईं। नाग आदि जातियाँ भी नागपूजक अथवा नाग-पूर्वज-प्रधान होनेसे नाग संज्ञासे विभूषित हुई । ऐसी आदिम जातियाँ आपसमे लडकर मानव-भक्षणतक तो करती है, पर अपने पक्षी-पशु आदि कल्पित पूर्वजकी जातिके जीवोंका आहार नहीं करतीं। उनके नामपर ही उनकी पूजा, टोना, टोटका आदि होते हैं । टोटम या जीव-जन्तुओंमे आदि पुरखेपनके विश्वासकी संज्ञा टोटेमिज्म या टोटेमवाद है। - भ० श० उ० ट्राट्स्कीवाद-ट्राट्स्की सोवियत क्रान्तिकी सफलताके उपरान्त यह चाहता था कि सोवियत शक्तियाँ अन्य पूँजीवादी देशोंपर आक्रमण करें। वह क्रान्तिको रोकना नहीं चाहता था। इसी क्रान्तिको चिरन्तन क्रान्ति-(permanent revolution)के रूपमे उसने व्यक्त ं किया है । कुछ समयतक प्रगतिवादी आलोचक इस शब्दको निन्दावचनके रूपमे प्रयुक्त करते रहे हैं। -रा० क्र० त्रि० ट्रैक्ट ∸र्यो तो किसी भी छोटे आकारवाले निबन्ध, प्रतिपादन अथवा विवेचनको ट्रैक्ट कह सकते हैं, पर मुख्यतः उसी मुद्रित प्रवन्ध अथवा प्रवचनको ट्रैक्ट माना गया है, जो ज्यावहारिक धर्म अथवा नैतिकतासे सम्बद्ध किसी विषय-पर हो। ट्रैक्ट छोटी पुस्तिका या पैम्क्लेटके रूपमें प्रकाशित किया जाता है और उसे कभी-कभी टैक्टे भी कहते है।

यूरोपके धर्म-आन्दोलनोमे ट्रैक्टोंके प्रकाशनने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इंग्लैण्डमें 'आक्सफोर्ड ट्रैक्ट्स' या 'ट्रैक्ट्स फार द टाइम्स'के नामसे १८३२से १८४१के बीच ९० ट्रैक्ट प्रकाशित हुए और प्रसिद्ध विद्वानो द्वारा लिखित इन ट्रैक्टोने उस आक्सफोर्ड स्कूलकी नीव डाली, जो आगे चलकर आक्सफोर्ड आन्दोलनमे विकसित हुआ। इन ट्रैक्टोंमें चर्चके अधिकार तथा परम्पराको लेकर महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थी और ३९ आर्टिकलोकी कैथोलिक व्याख्या की गयी थी।

भारतमे ईसाई मिश्चनिरयोंके आगमन और 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियों'की स्थापनासे ट्रैक्ट-साहित्यका प्रकाशन प्रारम्भ बुआ। १८५४में 'नार्थं इण्डिया ट्रैक्ट एण्ड बुक सोसाइटी'ने हिस्ट्री ऑव बाइविल्वा अनुवाद 'धर्म पुस्तकका इनिहास' नामसे प्रकाशित किया। १८७८मे यही पुस्तक 'अमेरिकन ट्रैक्ट सोसाइटी'ने प्रकाशित की। बनारस, आगरा आदि अनेक स्थानोंकी 'ट्रैक्ट बुक सोसाइटियाँ' कुछ-न-कुछ धर्म-प्रचारका कार्यं किया ही करती थीं। इन सोसाइटियोंका कार्यक्षेत्र यु० पी०से लेकर पंजाबतक था।

न्यावहारिक धर्म तथा नैतिकतासे सम्बद्ध पुस्तिकाओं के लिए ट्रैक्ट शब्द हिन्दीमें अधिक प्रचित्त नं हो सका। विभिन्न भारतीय धार्मिक आन्दोलनोंसे सम्बद्ध पुस्तिकाएँ हिन्दीमें बराबर लिखी जाती रही है, पर उनके लिए ट्रैक्ट शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। इससे ज्ञात होता है कि ट्रैक्ट नाम ईसाई धर्मसे सम्बन्धित प्रचार-साहित्यके लिए ही सीमित होकर रह गया और धर्माचरणविषयके अन्य पैम्फ्लेट, साहित्यके अर्थमें हिन्दीमें नहीं अपनाया गया।

यो ट्रैक्ट शब्दसे, जिसे विशेष प्रकारके साहित्यका बोध होता है, उसे बखानना ही चाहे तो कह सकते है कि हिन्दीमें ट्रैक्टों-पैम्फ्लेटों द्वारा बाइबिलकी चमत्कारपूर्ण कहानियोका प्रचार, आर्यसमाजके विद्वानों द्वारा हिन्दू धर्मके विरोधियोंकी उक्तियोका खण्डन, हिन्दू समाजकी कुरीतियों-पर प्रहार और वैदिक रीतियोंका प्रचार, सम्मेलनोंके सभापतियोके भाषणके मुद्रित रूपकी प्राप्ति और सरकारकी बातोंका जनतामे प्रचार आदि होता रहा है। —अ० कु० **ट्रैजेडी-ट्रै**जेडी (द:खान्त नाटक)का उद्भव आदि जातियोंमे प्रचलित विभिन्न धार्मिक कृत्योसे हुआ है, जो कि सामाजिक इष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। उदाहरणके लिए, मृतककी आत्माको अमरत्व प्रदान करनेके लिए तथा उसे प्रसन्न करनेके लिए उसके नायकोचित कार्योंका अभिनय (समाधि कुत्य)। इस प्रकारके धामिक कृत्योंमें बहुधा कथावस्तु नायक (पौराणिक, मृत अथवा ऐतिहासिक) तथा खुळ पात्र-के संघर्षके विषयमें होती थी और उसकी चरम सीमा नायककी मृत्यु तथा पुनर्जीवनमे निहित रहती थी। सर्व-प्रथम धार्मिक दुःखान्त नाटक जो हमें ज्ञात है, वे हैं मिस्र तथा सीरियाके भावावेशपूर्ण नाटकं (पैशन प्लेंज), जो ओसिरिस, एटिस तथा एडोनिसिस नामक पौराणिक चरित्रीं-पर लिखे गये हैं । जहाँतक सुदूरपूर्वका प्रदन है, जापानके 'नोह' नाटकोंको छोडकर दुःखान्त नाटकोंकी रचनाके अधिक प्रमाण नहीं मिलते। यूरोपमें ट्रेजेडीका सर्वप्रथम विकास यूनानमें प्राचीन कालमे प्रचलित प्रकृतिदेवता डायनिसिससे सम्बन्धित जातीय धार्मिक कृत्यों द्वारा हुआ।

ट्रैजेडी यूनानी शब्द 'ट्रैगास'से आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—अजागीत । प्राचीन कालमें बकरेकी बिल देनेकी प्रथासे इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है। अरस्तू-ने टैजेडीका सम्बन्ध उन नाट्य-रचनाओंसे स्थापित किया है, जिनके नायक आदि आधे मनुष्य और आधे बकरे होते थे। द्रैजेडी शब्दका व्यवहार समस्त गम्भीर नाटकोके लिए होता था, उनका त्रासद अन्त आवश्यक नही था। पौराणिक नाटकोंके . चित्रणमे अतिरंजना और रूढ़िगत काव्यात्मक शैलीका व्यवहार होता था, परन्तु बादमे चलकर यूरिपिडेसकी कृतियों द्वारा यथार्थवादी विवरण भी नाटकमें आये, स्वच्छन्द एवं रूढि-विरुद्ध कथानक अपनाये गये। अरस्तुने अपने काव्यशास्त्रमे ट्रैजेडीकी जो व्याख्या की है, वह प्राचीन यूनानी ट्रैजेडीपर विलकुल ठीक उतरती है—''अतः देजेडी उस कार्यकी कलानुकृति है, जो कि गम्भीर एवं स्वतःपूर्ण एवं भव्य हो"। भव्यमे अरम्तूका तात्पर्य महाकाव्योंकी ही भॉति ऐसे उच्च कोटिके चरित्रोकी कलानुकृतिसे है, जिनके व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण हों। द्रैजेडीकी विशद विवेचना करते हुए अरस्तूने फिर कहा है-"दैजेडी उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है। जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलंकारोसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकार नाटकके भिन्न-भिन्न भागोंमे पाये जाते हो, जो वर्णनात्मक न होकर दृशत्मक हों, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोका उचित सुधार और परिष्कार कर सके "दु:खान्तके ६ अंग है-१. इति-वृत्त, २. आचार, ३. वर्णन-शैली, ४. विचार, ५. दृश्य और ६. गीत। इनमेसे प्रथम दो अंग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका ढंग है और शेष तीन अनुकरणके आधार है "सबसे महत्त्वपूर्ण है घटनाओका गुम्फन। ट्रैजेडी वास्तवमे व्यक्तियोंका ही नहीं, वरन् कार्य और जीवनका, सुख और दुःखका अनुकरण होता है। सम्पूर्ण मानवीय सुख और दुःख, कार्यका स्वरूप धारण करते है। जिस अन्तके लिए हम जीवन धारण किये हुए है, वह एक प्रकारकी कार्यशीलता है, कोई गुण नहीं। यद्यपि आचारसे मनुष्योंके गुण निर्धारित किये जाते है, किन्तु वे अपने कार्यों से ही सुखी या दुःखी होते है। अतः नाटकीय कार्य आचरणका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे नही आता, वरन आचार ही कार्योंका सहायक वनकर आता है। अतः कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही ट्रैजेडीके अन्न या परिणाम है और अन्त या परिणाम ही सब बातोमें मुख्य माना जाता है"। अरम्तूके सिद्धान्तके अनुसार ट्रैजेडीमे दुःखानु-भूति(मृत्यु, शारीरिक कष्ट आदि)का अत्यधिक महत्त्व है। इस प्रकारकी ट्रैजेडीके लिए अरस्तूने ऐसे नाटकका विधान किया है, जो न तो असाधारण रूपसे महान हो

और न पूर्णतः बुरा ही हो, वरन् जो किसी बुटिवश पतन-का भागी बन गया हो। चरित्र-चित्रण तथा कथानककी दृष्टिसे इस प्रकारकी शुटियोंका बहुत महत्त्व है। आधुनिक सामाजिक नाटकोमे यह ब्रिट नायककी अपेक्षा, जो कि केवल बाह्य परिस्थितियोका शिकार होता है, समाजम ही अधिक दिखायी जाती है। अतः अरस्तके अनुसार ट्रैजेडीका उदेश्य प्रेक्षकोंमें करुणा एवं भयकी अनुमृति इस प्रकार कराना है कि धार्मिक अपवित्रताओकी परिशुद्धि (कैथासिंस) हो जाय। यह ट्रैजेडीका विशेष लक्षण है। यद्यपि अरस्तूके ट्रैजेडी सम्बन्धी सिद्धान्त यूनानी नाटकोके प्रसंगमे आये है, फिर भी उनमे गिनाये गये टैजेडीके ये लक्षण भव्यता, कथानक, स्थिति-विपर्यय (रिवर्सल), नाटकीय कार्यमें निर्णयात्मक मोड़ उत्पन्न करनेवाला तथ्य (डिस्कवरी, उदाहरणके लिए यह तथ्य कि एडिएसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह कर लिया), पात्रोंका नैतिक निर्णय (इथॉस) तथा नायककी न्याय-बुद्धि (डायनिया), ऐसे आवश्यक तत्त्व है कि किसी भी युगकी पूर्ण-विकसित ट्रैजेडीमे प्राप्त होगे। कालान्तरमे ट्रैजेडीका एक और भी लक्षण पाया जाने लगा। वह है कार्यकी एकता—अर्थात् घटनाओंका ऐसा संघटन कि एक भी घटनाके हटाने या बदलनेसे सम्पूर्ण घटना-क्रम छिन्न-भिन्न एवं क्रमहीन जान पड़े। बादमें चलकर (यूरोपके पुनर्जागरण-कालमें) फ्रांसमें स्थान एवं समयकी एकताओं-के सिद्धान्त भी अपनाये जाने लगे, जो कि सम्पूर्ण यूरोपमें मान्य हो गये। कार्यके अतिरिक्त इन दोनों एकताओंकी अरस्तुके काव्यशास्त्रमे चर्चा नहीं है।

ट्रैजी-कामेडी (जिसमे सुखान्त एवं दु:खान्त, दोनों ही प्रकारकी घटनाएँ मिश्रित होती है) के उदयके साथ-साथ, अर्थात स्वच्छन्दतावादी नाटकों के प्रादुर्भावके परचात इन तीनो एकताओं के सिद्धान्तों का महत्त्व उठ गया, किन्तु घटनाओं के कार्य-कारणका सिद्धान्त अब भी व्यवहृत होता है।

१८वी शताब्दीके बादसे ट्रैजेडीम भन्यतावाले सिद्धान्तमें भी परिवर्तन हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार केवल उच्च कोटिके ही पात्र ट्रैजेडीके नायक हो सकते थे, किन्तु १८वी शताब्दीके बादकी ट्रेजेडीमे सामान्य व्यक्ति भी नायक होने लगे। भन्यताका अर्थ अब कुलीनता, सामानिक सम्मान, ऐश्वर्य आदि नहीं रह गया, वरन् अब वह आत्मिक एवं बौद्धिक उच्चताके अर्थमे व्यवहृत होने लगा। सामान्य व्यक्तिको यह महत्त्व प्रदान करनेका फल यह हुआ कि सामाजिक यथार्थवादका विकास हुआ और सामाजिक सवर्पवाले ट्रैजेडी नाटकोका प्रादुर्माव हुआ।

यथार्थवादी नाटकोमें कुछ ऐसी मी स्थितियाँ एवं पात्र होते है, जो वास्तविक अधेमें दुःखान्त नाटककी सृष्टि नहीं करते। वे ट्रैजेडी एवं कामेडी (दे०) दोनोके वीचकी कोटि-में आते है। ऐसे नाटकोको ट्रैजेडीकी अपेक्षा गम्भीर नाटक (सीरियस ड्रामा) कहना ही उपयुक्त होगा; उदाहरणके लिए 'राकेट टू दि मून' ऐसा ही नाटक है। इस प्रकारके नाटकोको सामाजिक नाटक (सोशल ड्रामा) तथा समस्या-नाटक (प्रांग्लम प्ले) भी कहा गया है। भिन्न-भिन्न युगोंके दुःखान्त साहित्यमें भिन्न-भिन्न दार्शनिक धारणाएँ मिलती है। यूनानी नाटकोंमे हमे नियतिवाद मिलता है। आधुनिक युगमे दुःखान्तकी सृष्टि, व्यक्ति तथा समाज एवं उसकी रूढियों, पूर्वाघहो, नियमों आदिसे, उसके संघर्ष द्वारा की जाती है: उदाहरणके लिए इब्सनके 'ए डाल्स हाउस', वनांड शॉके 'सेण्ट जोन' इत्यादिमे। एमिली जोलाने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यमे काम (यौन)वृत्तिका होना बताया है। उसके अनुसार इस काम (यौन)वृत्तिके कारण ही समस्त पाप होते है। इस प्रकार नियतिवादवाली प्राचीन धारणाका अभिनवीकरण हो गया है। अब भाग्य और कुछ नहीं, वरन् केवल वृति एवं जन्मगत संस्कार रह गया है।

चेखनने ट्रैजेडीकी दूसरे ढंगसे न्याख्या की है। उसने ट्रैजेडीका कारण मनुष्यकी, संवर्षको जन्म देनेवाली इच्छाकी, असन्तुष्टि एवं तज्जन्य मानसिक कुण्ठा या घुटनको बताया है। ब्रिउनटियरने अपनी पुस्तक 'दि ला ऑव ड्रामा'में ट्रैजेडीकी न्याख्या इस प्रकार की है—''ट्रैजेडी मानवीय इच्छाकी वह शाखा है, जो संवर्षको जन्म देती है। मनुष्यका यह संवर्ष रहस्यमय शक्तियों, प्राकृत शक्तियों, नियति, सामाजिक नियमों, समकालीन न्यक्तियों और यहाँतक कि स्वयं अपने विरुद्ध भी हो सकता है"।

बीसनी शताब्दीमें राष्ट्रीय एवं नर्गीय संवर्षी तथा उनके साथ-साथ नौद्धिक एवं संवेगात्मक संवर्षीपर श्रेष्ठ नाटकोकी रचना हुई, किन्तु उनमें अरस्त्के सिद्धान्तके अनुसार घटना-संघटन अथवा कार्यकी प्रधानता बराबर बनी रही। महान् दार्शनिक हीगेळके शब्दोंमें कार्यकी प्रणति, मनुष्यकी इच्छा तथा उसके वातावरण—अर्थात् अन्य मनुष्योंकी इच्छाओं, समाज एवं प्रकृतिकी शिक्तयों आदिके वीच होनेवाले सतत संवर्ष—द्वारा होती है।

ट्रैजेडीको चार मुख्य प्रकारोंमें विभाजित किया जा सकता है-१ मर्यादावादी या संस्कृत (क्लासिकल), जिसमें कथानक, कथावस्त, चरित्र, भाषा, आदर्श आदिकी मर्यादापर विशेष बल दिया जाता है; २. स्वच्छन्दतावादी (रोमांसिक), जिसमें मर्यादावादी बन्धनोंका विरोध एवं स्वच्छन्द होनेकी प्रवृत्ति है; ३ मिश्र (मिक्स्ड), जिसमे मर्यादावाद तथा स्वच्छन्दतावादका मिश्रण है। यह स्वच्छन्दतावादकी अतिशय स्वतन्त्रताके विरोधमे उत्पन्न हुई और ४. यथार्थवादी (रियलिहिटक), जिसमें मर्यादा-वाद, स्वच्छन्द्रतावाद तथा मिश्रणवाद-सभी सिद्धान्तोंकी उपेक्षा की गयी तथा सर्वसाधारणके सामान्य जीवनके यथार्थ चित्रणको लक्ष्य माना गया। इसका वर्णन ऊपर हो --- इया० मो० श्री० डायरी-डायरी सीमित अर्थमें तो कापी, नोटबुक या पुस्तिका है, जिसमे हर रोजकी घटनाओका या दिन-भरमें किये गये कार्यींका लेखा रखा जाय, पर प्रचलित अर्थमें डायरी दैनिक व्यापारों या घटन। ओंका ब्यौरा है। डायरीमें लोग अपने कुछ या सब अनुभवों तथा निरीक्षणों-

डायरीके माध्यमसे लेखकके सद्यःस्फुरित भावों तथा विचारोंको अभिन्यक्ति मिलती है। डायरीके लिए रोज़-

का दैनिक विवरण रखते हैं।

नामचा, दैनिकी, दैनन्दिनी आदि पर्याय हैं और ये पर्याय हस दृष्टिसे सार्थक भी है कि वे डायरीके इस प्रमुख गुणकी ओर संकेत करते है कि डायरीमे लेखकका अनुभव उसके सबसे अधिक निकट रहकर अंकित होता है। डायरीमें लेखकके मनपर पड़े प्रभाव उसी दिन लिखित रूप पाते है। इस प्रकार डायरी लेखकके व्यक्तित्व-प्रकाशनका सर्वाधिक प्रामाणिक माध्यम है। प्रामाणिक इस अर्थमे कि प्रायः डायरियाँ अपने निजी भावो-विचारोको नोटकर लेनेके उद्देश्यसे लिखी गयी है, पुस्तक-प्रकाशनके उद्देश्यसे नहीं। विशुद्ध डायरी सम्भवतः इस दृष्टिसे कभी नहीं लिखी जाती कि कालान्तरमें वह पुस्तकरूपमे प्रकाशित हो सकेगी।

डायरी लेखकके अत्यधिक निकट होती है, इसलिए ऐसा भी सम्भव है कि उसमें कलात्मक तटस्थताका अभाव रह जाय। अतः यह कहा जा सकता है कि डायरी कोई विशेष कलापूर्ण साहित्यरूप नहीं है, पर अपने मूल अभिप्रायमें वह कदाचित साहित्य-रूप है ही नहीं। साहित्यक हिसे डायरीमें सम्बद्धता या संगति और शिल्पगत कलात्मकताकी कमी हो सकती है, पर स्पष्टकथन, आत्मीयता और निकटता आदि विशेषताएँ डायरीकी उक्त कमीको पूरा कर देती है।

डायरी आत्मकथाका ही एक बदला हुआ रूप है। डायरीमें सामान्यतः ताजे अनुभवोंको लिखा जाता है या सम्भव है कि कभी-वभी बीते हुए अनुभवोंका पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाय, जब कि दूसरी ओर, आत्मकथामे सारे अतीतपर अपेक्षाकृत बही अधिक परिपक और तटस्थ्रष्टि डाल सकनेकी सम्भावना रहती है। डायरीमें वैयक्तिकता होती है और 'जर्नल' डायरीकी अपेक्षा किंचित् अधिक विचारप्रधान निर्वेयक्तिक रचना है।

सिहायक यन्थ-महादेव भाईकी डायरी (तीन भाग) : सं० नरहरि पारीखः; बालमुकुन्द स्मारक यन्थः सं० झाबर-मल शर्मा; बनारसीदास चतुर्वेदी : ग्रप्तजीकी १८९२-१९०७-तककी डायरीका कुछ अंश ।] डिंगळ-राजस्थानकी साहित्यिक भाषाओंमेंसे पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ीके साहित्यिक रूपको डिगल नामसे पुकारा जाता है। मारवाड़ीका यह नाम बहुत प्राचीन नहीं है। इस भाषाके लिए 'डिंगल' नाम क्यों दिया गया, इसका कोई ऐतिहासिक या भाषाविषयक लिखित उचित समाधान प्राप्त नहीं होता। इस शब्दका मारवाड़ी भाषाके लिए प्रयोग उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर सर्वप्रथम जोधपुरके कविराज बॉकीदासके सं० १८७१में लिखित अन्य 'कुकवि बत्तीसी'में मिलता है। बॉकीदास और उनके वंशज बुधाजीने 'डीगल' नाम दिया है, अतः डीगल ही सही शब्दरूप है। डीगलको 'पिंगल'के आधारपर 'डिंगल' कहा जाने लगा और तबसे साहित्यजगत्में 'डिंगल' नाम ही प्रचलित हो गया।

डीगल या डिंगल शब्दकी न्युत्पत्ति और अर्थके सम्बन्धमें विद्वानोंने नाना प्रकारकी कल्पनाएँ की है, किन्तु उनसे 'डींगल'के अर्थपर कोई भी प्रामाणिक प्रकाश नहीं पड़ता। सर्वप्रथम हरप्रसाद शास्त्री और एस॰ पी॰ तेस्सीतोरीने डिंगल भाषा और साहित्यपर विचार किया, किन्तु 'डिंगल'

शब्दके अर्थके सम्बन्धमें उनके तर्क काल्पनिक है। तेस्सीतोरीने बहुत ही परिश्रमसे डिंगळकी तीन सुन्दर कृतियों—वचिनका राठौड रतनसिंहजीरी, महेसदाससौतरी, खिडिया जगरी कही (रचनाकाल, लगभग १६६० ई०) वेलि क्रिसन रुक्मणीरी, राठौडराज प्रिथीराजरी कही (ई० सोलहवीं शतीं) और छन्द राउ जइतसी रउ, वीटू स्जइ रउ कहिथउ (सोलहवीं शतीं ई० लगभग)का सम्पादन कर प्रकाशित कराया। वेलि क्रिसन रुक्मणीरीके आजकल अन्य कई संस्करण प्राप्य है। 'ढोला मारू रा दूहा' डिंगळ साहित्यका एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशित ग्रन्थ है।

चारण, भाट, राव, मोतीसर आदि राजस्थानके जाति-विशेषके लोगोने डिंगलमे विशेष रूपसे रचना की है, किन्त इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि केवल इन्ही जातियोने डिंगलमें साहित्य-सर्जन किया। जिस प्रकार डिंगलकी अपनी भाषाविषयक अलग विशेषता है, उसी प्रकार छन्द, अलंकारके सम्बन्धमें भी डिंगलकी अपनी पृथक परम्पराएँ है और काव्यरूपोंके सम्बन्धमे भी डिगलकी परम्पराएँ प्रायः क्लिकुल भिन्न है। इतिहासविषयक गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ ख्यात, बान आदि नामोके अन्तर्गत मिलती हैं। दूसरी ओर पद्यात्मक काव्यकृतियोके नाम कही चरितनायकोंके नामके अनुसार, कही प्रधानप्रयुक्त छन्दके अनुसार रखे गये मिलते है। डिंगल कान्यका इस प्रकार अपना स्वतन्त्र और काफी प्रभावशाली साहित्य मिलता है, जिसका सम्यक् —रा० सिं० तो० अध्ययन अभी प्रारम्भ ही हुआ है। डिम - नाट्यदर्पणकार लिखते है "डिम डिम्बो विष्ठव इत्यर्थः, तद्योगादयं डिमः, डिमेः संघातार्थत्वादिति"। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्रने इस रूपक-प्रकारको दो और नामोंसे पुकारा है-डिम्ब और विद्रोह (काव्यानुशासन, प्० ३२२) । सम्भवतः इस रूपकमें विविध प्रकारके विष्ठवके कारण इसका नाम आचार्यने डिम्ब और विद्रोह रखा है। डिमका अर्थ समूह भी होता है। भरतमुनिके मतसे इसमे देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि १६ पात्रोके परस्पर वैमनस्य एवं संघर्षके कारण नाना प्रकारके मायावी तथा ऐन्द्रजालिक किया-कलापोंका प्रदर्शन होता है। सम्भव है, इसी कारण इसका नाम डिम पड़ा हो।

भरतमुनिके लक्षणका अनुसरण करते हुए धनंजय, शारदातनय एवं विश्वनाथने डिमका लक्षण इस प्रकार किया है—"जिसका इतिवृत्त प्रसिद्ध हो, देव, गन्धर्व, यक्ष-राक्षस और महासर्प इत्यादि जिसके नेता हों, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि १६ अत्यन्त उद्धत पात्र हो, जो माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उन्मत्तादिकोंकी चेष्टाओं तथा स्य्य-चन्द-यहणके वृत्तसे व्याप्त हो, जिसमे चार अंक हों, जो विष्करभक एवं प्रवेशकसे रहित हो, जिसमे केशिकीको छोडकर अन्य वृत्तियाँ एवं शान्त, हास्य एवं श्रंगारको छोडकर दीप्त छः रस हों, विमर्शको छोडकर चार सन्धियाँ हों"।

नाट्यदर्पणकारने इसके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उनका मत है कि डिममें शान्त, हास्य एवं श्वंगार—इन तीन रसोको स्थान नही है। डिमका मुख्य अंगी रस रीद्र होता है और वीभत्सादि शेष रस अंग बनकर आतं हैं। संग्राम, बाहुयुद्ध, बलात्कार और पराभव आदिका वर्णन अनिवार्य रूपसे पाया जाता है। संक्षेपमें आचार्य रामचन्द्रने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—"अज्ञान्त-हास्यश्रंगारविमर्ज्ञः स्यातवस्तुकः। रौद्रमुख्यश्रतुरंगः ऐन्द्रजाल रणो हिमः ॥८६॥' (ना० द०, पृ० १२९)। भरतमुनिने 'त्रिपुरदाह' नामक हिमका उल्लेख किया है। 'भावप्रकाश'मे शारदातनयने 'वृत्रोद्धरण' और 'तारकोद्धरण'-का भी उदाहरण दिया है। सागरनन्दीने सोलह नायकयुक्त हिमके लिए 'नरकोद्धरण', विख्यात वस्तुविषयके लिए 'वृत्रोद्धरण'का नामोल्लेख किया है।

भारतेन्दुने हिन्दीमे इस शैलीका अभाव देखकर संक्षेपमे इतना ही लिखा है कि "इसमे उपद्रवन्दर्शन विशेष होता है। अंक चार, नायक देवता या दैत्य या अवतार"। बाबू गुलावरायका मत है कि 'इसके चार अंक और सोलह नायक होते है। इसमे रौद्र रसका प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य या अवतार होते है और जादू तथा माया-जाल रहता है। इसमे श्रंगार और हास्य वर्जित है"। उनकी दृष्टिमे भी हिन्दीमे हिमका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है।

**डेन्य्रमाँ** – यह फ्रांसीसी शब्द है, जिसका अर्थ है गॉठ खुलना। पाइचात्य धारणाके अनुसार नाटकके उस स्थानको डेन्यूमॉ कहते है, जहाँ से नाटकीय संघर्षका अन्त एवं निष्कर्ष-का प्रारम्भ होता है। यह ठीक नाटकके चरम बिन्दुके परचात आता है। सखान्त एवं दःखान्त नाटकोंमे इसके रूप भिन्न होते है। सुखान्त नाटकमे वाधाएँ शनैःशनैः हटने लगती है, कठिनाइयाँ एवं भ्रान्तियाँ समाप्त होने लगती है तथा नायक एवं नायिकाकी मनोकामनाओकी पूर्तिके साधन उपस्थित होने लगते है। दुःखान्त नाटकमें डेन्यूमाँ उस स्थलको कहते हैं, जहाँसे नाटककी दुष्ट शक्तियाँ प्रवल होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने लगती है, उन्हे रोक रखनेवाली शक्तियोका पतन हो जाता है और नाटकका दःखमय अन्त आता है। शेक्सपीयरके 'मैकनेथ' नाटकके तृतीय अंक्रके प्रथम इस्यमे फिल्एन्ससे बचकर भाग निकलने तथा बैकोंकी प्रेतात्माके प्रकट होनेके पश्चात्से ही मैकबेथके द-खान्त भाग्य-परिवर्तनका प्रारम्भ हो जाता है। अतः नाटकका यह स्थल डेन्यूमॉ कहा जायगा। 'ओथेलो'के चतुर्थ अंकके प्रथम दश्यमें जहाँ मूरको अपनी पत्नीकी दुश्चरित्रता-का विश्वास हो जाता है, वहाँसे डेन्यूमाँ प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार 'किंग लियर'में जहाँ लियर गोनेरिल और रीगैनके दिखावटी व्यवहार तथा कार्डेलियाके प्रकट रूपसे रूक्ष व्यवहारसे भ्रान्त होकर अपना राज्य उन दोनोंको दे देता है तथा कार्डेलियाके भागमें केवल अपना श्रम सुरक्षित रखता है, वहीं नाटकीय चरम-विन्दु आ जाता है और किंग लियरके भाग्यका निर्णय हो जाता है। इस नाटकका डेन्यूमॉ इसी स्थलपर प्रारम्भ होता है। डेन्यूमॉमे अनिश्चितता, आशंका एवं द्विविधाका शमन हो जाता है और नाटककी कथा एक निश्चित दिशा पाकर अन्तकी ओर बढती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल'मे राजा दुष्यन्त द्वारा भीवरसे सुद्रिका-प्राप्तिकी घटना नाटकके सुखद अन्तका निश्चय करा देती है। अतः इसी स्थलको इस नाटकका हेन्यूमों समझना चाहिये। — इया० मो० श्री० होम्बी-दे० 'महामद्वा', 'हठयोग'।

दकोसला-दकोसला एक ओर तो सामान्य शब्द है जिसका अर्थ होता है कोई आडम्बर अथवा मिथ्या दोग-'हिन्दी शब्दसागर'में इसकी ब्युत्पत्ति ढग कौशलसे मानी गयी, जो भाषा तत्त्वकी दृष्टिसे ठीक नहीं विदित होती-दूसरी ओर लोकसाहित्यका एक विभेद भी ढकोसला कहलाता है। शब्दकोशोंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। फैलनके शब्दकोशमे दकोसलाके कई अथौंमे एक अर्थ 'फेबिल' भी है। उसी उदाहरणमे गालिबकी एक पंक्ति दी गयी है। ढकोसलेमें कलिपत कथा-वार्ताका तत्त्व होना चाहिये। लोकसाहित्यमें ढकोसला ऐसी ही लोकोक्ति या वार्ताको कहते है, जिसके सिर पैर नहीं दिखाई पड़ते, वे सिर-पैरकी उक्तियाँ। ये वे सिर-पैरकी उक्तियाँ, प्रभाववादी कथन-शैलियाँ है, जिससे तत्काल अभिषेत अर्थ सिद्ध होता है। कम-से-कम बढ़ती हुई बात अटक जाती है। ध्यान कही-से-कही चला जाता है। ब्रजमे ऐसे ही दकोसलेका एक रूप है परसोकला, जैसे "भैसिया चढी पेडपै लपलप गलर खाय"।

ऐसे ही बुझौली अथवा पहेलियोंकी तरहके भी दकोसले होते है, इनमें किसी विचित्र स्थितिकी कल्पना करके पहेली जैसी शैलीमे प्रस्तुत कर दिया जाता है। "पीपर बैठी भैसि उगारै ऊँट खाट पै सोबै। पीछे फेरिके देखि लुगाई अँगियाये कुत्ता धोवै।" ऐसा ढकोसला अनमिल्ला कहा जाता है। अचका भी इसीके अन्तर्गत आयेगा। "मेरी परोसिन कुटे धान, भनक परि गई मेरे कान, वाइ परयौ धाननको लाली, मेरे हाथनु परि गयौ छाली"। ढाँक-ब्रजप्रदेशमे प्रचलित लोकगीत तथा विधान । किसी व्यक्तिके सॉपके द्वारा काटे जानेपर इसका आयोजन किया जाता है। एक व्यक्ति घड़ेपर थाली रखकर काठकी लकडी से उसे बजाता है तथा उपस्थित गायक लोग सम्मिलित स्वरमें नाग देवताको तष्ट करनेके लिए गीत गाते है। ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस उपचारसे सर्पका विष खिंच जाता है तथा काटा हुआ व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। -रा०स्व०च० तत्त्व-तान्त्रिकोके अनुसार तत्त्व ३६ हैं। शैवयोगी भी तत्त्वों-की संख्या ३६ मानते हैं। तात्रिकोकी धारणा है कि भगवान् शिवने अपने पाँच मुखोसे पाँच आम्नायों (दे० आम्नाय)का उपदेश किया है। इन पॉच आम्नायोमें इन्हीं ३६ तत्त्वोंका निर्णय किया गया है। ये ३६ तत्त्व क्रमशः यों है-१ शिव, २ शक्ति, ३ सदाशिव, ४. ईरवर, ५ शुद्ध विद्या, ६ माया, ७ विद्या या अविद्या, ८. कला, ९. सत्र, १०. काल, ११. नियति, १२. जीव, १३. प्रकृति, १४. मन, १५. बुद्धि, १६. अहंकार, १७. गोत्र, १८ त्वक , १९ चक्षु, २० जिह्वा, २१ घ्राण, २२. वाक् , २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८, स्पर्श, २९, रूप, ३०, रस, ३१, गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. तेज, ३५. जल और ३६. पृथ्वी । इन ३६ तत्त्वोंको उनकी प्रकृतिका विश्लेषण करके मुख्य तीन वर्गीमें रख दिया गया है। जहाँ सत्, चित् आर आनन्द - तीनों अनाच्छादित या प्रकट रहते है ऐसे प्रथम दो शिव और शक्ति तत्त्वोंको 'शिवतत्त्व' या शुद्ध-तत्त्व कहा जाता है, जहाँ सत् और चित् अंश तो अना-च्छादित और सस्पष्ट रहता है किन्त्र आनन्द अंश प्रच्छन्न (आवृत) रहता है, उते 'विद्यातत्त्व'की संज्ञा दी जाती है। इन्हे शुद्धाशुद्धतत्त्व भी कहते हैं। इस विद्यातत्त्वके अन्दर सदाशिव, ईश्वर एवं शब्द विद्याकी गणना होती है। शेष इकतीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहलाते है क्योकि इनमें मात्र सत् (अर्थात् होना, या सत्ता) अंश ही व्यक्त और अनावत रहता है। इन्हें अशुद्ध तत्त्व भी कहते है। शेप चित और आनन्द तत्त्व पूर्णतया छिपे हुए और अन्यक्त रहते है। आत्मतत्त्वमें 'आत्म' राब्द थोड़ा भ्रामक है, अतः यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तान्त्रिकोने इस 'आत्म' शब्दका प्रयोग 'जड शरीरको ही आत्मा समझने'के अर्थमे किया है। अतः आत्मको देखकर यह भ्रम नही होना चाहिए कि आत्मतत्त्व चैतन्य प्रधान है। वस्तृतः वह ग्रप्त चैतन्य है। आनन्द भी वहाँ ग्रप्त रहता है। केवल सत अनावत रहता है।

सांख्यों के अनुसार तत्त्व २५ है। १. प्रकृति, २. पुरुष, ३. महान् या बुद्धि, ४. अहंकार, ५. शब्द तन्मात्र, ६. स्पर्श्च तन्मात्र, ७. रूपतन्मात्र, ८. रसतन्मात्र ९. गन्धतन्मात्र (नामक ५ तन्मात्र), १०. कान, ११. त्वचा, १२. ऑख, १३. रसना, १४. नाक (नामक ५ ज्ञानेन्द्रियाँ), १५. हाथ, १६. पॉव, १७. जीभ, १८. पायु, १९. उपस्थ (नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ), २०. मन, २१. पृथ्वी, २२. जल, २३. तेज, २४. वायु तथा २५. आकाश (नामक पंच महाभूत)। वेदान्ती सांख्योंकी भाँति उक्त तत्त्वोकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनके मतसे एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है, इस नाम रूपात्मक जगत्को वास्तविक समझना अज्ञान है।

—रा० सिं० तत्त्वाभिनवेशी—दे० 'भावक'।

तथता –दे॰ 'विज्ञानवाद'।

तद्गुण-लोकन्याय-मूल अर्थालंकार, जिसमें प्रस्तुत अपने-अपने गुणको त्यागकर समीपस्थ अन्य वस्त (अप्रस्तुत)के संसर्गसे उत्क्रष्ट गुणके ग्रहणका वर्णन होता है। जहाँ अपना गुण त्यागकर समीपस्य अन्य वस्तुके गुणग्रहणका वर्णन हो, वहाँ 'तद्गुण' अलंकार होता है। 'तद्गुण'से अभिप्राय है 'किसी वस्तमें अन्य वस्तका गुण होना' । 'गुण' शब्दका अभिप्राय यहाँ रंग और रूप लिया गया है। सर्वप्रथम यह अलंकार रुद्रटके 'काव्यालंकार'में अतिशय वर्गके अन्त-र्गत स्वीकृत हुआ है। मम्मटके शब्दों में 'तद्गुण' अलंकार-की परिभाषा ऊपर दी गयी है-"स्वमुत्सुज्य गुणं योगाद-त्यज्ज्वलगुणस्य यत् । वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स्तु तद्गुणः" (का॰ प्र॰, १०: १३७)। हिन्दीमें इसको सर्वप्रथम जसवन्त सिहने अपने 'भाषाभूषण'मे 'कुवलया-नन्द'के प्रभावसे लिया है। मतिरामने "जहाँ आपनी रंग तिज लेत औरको रंग' (रसराज, ३३१) कहा है, पर यह परिभाषा स्पष्ट नहीं है। कुलपति मिश्रने प्रस्तुत अलंकार-की परिभाषा अपने 'रसरहस्य'में अधिक स्पष्ट दी है-"अधिक और गुण जोगतें, निज तिज औरहि लेइ। सोई तद्युन जानिये, ताको गुण कहि देइ"। भिखारीटासकी

परिभाषा कुछ भिन्न है—"तद्गुन तिज गुन आपनो, संगतिन को गुन छेत। पाये पूरवरूप फिरि, स्वगुन सुमित कि हि देत" (का० नि०, १४)। स्पष्टतः दूसरेका गुण झहण करनेके बाद जहाँ फिर अपना गुण झहण किया जाता है, वहाँ भी 'तद्गुण' अलंकार होता है। कन्हैयालाल पोहारने भी इस स्थितिमें 'तद्गुण' अलंकारकी स्थिति मानी है। किन्तु अप्पय्य दीक्षितने अपने 'कुवल्यानन्द'में ऐसी स्थितिमें पूर्वरूप अलंकार माना है (दे० 'पूर्वरूप')। भूषणकी तद्गुणकी परिभाषा स्पष्ट नहीं है—"जहाँ आपनो रंग तिज, गहैं औरको रंग" (शि० भू०, २२८)।

विद्यारीका तद्गुणका यह प्रसिद्ध उदाहरण है—"अधर धरत हरिके परन, ओठ-डीठि-पट-जोति । हरित वॉसकी बॉसुरी, इन्द्र-धनुष-रॅग होति" (सतसई, ४२०)। मैथिली-शरण गुप्तके इस प्रयोगमे आन्तिका आधार तद्गुण है— "नाकका मोनी अधरकी कान्तिसे। वीज दाड़िमका समझकर आन्तिसे" (साकेत)।

हिन्दी काव्यशास्त्रमें इस अलंकारका शास्त्रीय विश्लेषण जपर निर्दिष्ट रीतिकालीन आचार्यों के अतिरिक्त चिन्तामणि, सोमनाथ आदिने और ही किया है। प्रायः उदाहरणोमे परम्परागत मालाओ तथा हारोके रंगपरिवर्तनका वर्णन है। स्वणके उदाहरण—"महत उतंग मिन ओतिनके संग आति, कैयो रंग चकहा गहत रिव रथके", (शि॰ भू॰, २८९)में भी 'शिशुपालवथ'के रैवतक-वर्णनकी छाया है। तुल्सी, रहीम तथा विहारीमें इसके काव्यमय प्रयोग मिल जाते हैं। आधुनिक छायावादी किवयोमें इसका प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है। पन्तकी इस पंक्तिमें—"यह ऊषाका नव विकास है, जो रजको है रजत बनाना"मे तद्गुणका प्रयोग है।

तनुजा सेवा-दे॰ 'सेवा'।

तपन-दे॰ 'स्वभावज अलंकार' बारहवाँ।

तिमळ (भाषा तथा साहित्य)—तिमळ भाषा द्राविड भाषा-परिवारकी प्राचीनतम भाषा मानी जाती है। इसकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे अभीतक यह निर्णय नहीं हो सका है कि किस समय इस भाषाका प्रारम्भ हुआ। विश्वके विद्वानोने संस्कृत, ग्रीक, छैटिन आदि भाषाओं समान तिमळको भी अति प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा माना है। अन्य भाषाओंकी अपेक्षा तिमळको विशेषता यह है कि यह अति प्राचीन भाषा होकर भी लगभग २५०० वर्षों ते अविरत रूपसे आजतक जीवनके सभी क्षेत्रों ने व्यवहृत है। इस भाषामें उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर यह निर्विवाद निर्णय हो चुका है कि तिमळ भाषा ईसासे कई सौ वर्ष पूर्व ही सुसंस्कृत एवं सुव्यवस्थित हो गयी थी।

इस भाषाके नामको 'तिमिल' या 'तामिल' के रूपमें हिन्दी भाषा-भाषी उच्चारण करते हैं। तिमल भाषाके साहित्य तथा निघण्डमें 'तिमिल' शब्दका प्रयोग मधुर अर्थमें हुआ है। कुछ विद्वानोंने संस्कृत भाषाके द्राविड शब्दने तिमल शब्दकी उत्पत्ति मानकर द्राविड द्रविड द्रमिड द्रमिल दिमल तिमल आदि रूप दिखाकर तिमलको उत्पत्ति सिद्धकी है, किन्तु तिमलको अधिकांश विद्वान् इस विचारसे सर्वथा असहमत है। भाषाके प्रथम नामकरणकी तिथिपर विचार करनेके लिए हमारे पास तिमलका प्रामाणिक प्रन्थ 'तीलगाप्पियम्' नामक व्याकरण है। तिमल भाषा-साहित्यके विकासमें आधारभूत तीन किवसंघोंका विवरण तिमल वाड्ययमें उपलब्ध होता है। 'तोलगाप्पियम्' द्वितीय किवसंघकालका प्रन्थ है। विद्वानोने इसे पाणिनि (४०० ई० पू०)से पूर्वका माना है। इस प्रन्थमे पूर्ववतीं प्रन्थ-लेखकोका भी उल्लेख है। इस प्रन्थमें तिमल पदका प्रयोग हुआ है। अतः इस प्रमाणके आधारपर तिमल भाषाको कहनेवाला यह तिमल पद पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'से भी पूर्वका है।

भाषामूलक प्रान्तोके वर्गीकरणसे तमिलप्रदेश आज अतीव संकुचित हो गया है। तमिलके सर्वप्राचीन प्रन्थ 'तोल्गाप्पियम्'में तमिलप्रदेशकी सीमा उत्तरमें तिरूपति तथा दक्षिणमें कुमरी मानी गयी है। कुमरीते अभिप्राय आजकलकी कन्याकुमारीसे नहीं है। पुरातनकालमें कुमरी नामक नदी थी। उस समय कुमरी तथा पहुली(pahruli) नदीके मध्य तमिलके ४९ देश विद्यमान थे। समय-समय-पर हुए सागर-प्रलयमें तामिलका सारा विशाल भूभाग तथा वे देश विलीन हो गये है। किस प्रकार तमिलप्रदेश नष्ट हुआ, इसका विवरण तमिलके प्रमुख एवं प्राचीन महाकाव्य 'शिलपदिकारम्'की टीकासे जाना जाता है। तमिल भाषाके तुलनात्मक व्याकरण लिखनेवाले काल्ड-वेलने अपने यन्थमे लिखा है कि तमिल प्रदेशकी सीमा समस्त कर्नाटक, पूर्व और पश्चिम-घाटके नीचे पालघाटसे लगाकर कुम:री अन्तरीप तथा उत्तरमें वंगीपसागरके उप-कुलतक है। उन्होने तमिलपदेशका क्षेत्रफल ६०,००९ वर्ग-भील माना है। कुछ अन्य विद्वानोंके अनुसार ईसासे अनेक श्ताब्दियों पूर्व तमिलभाषी प्रदेश पूर्वमें जावा डीपसमूह-से लेकर दक्षिण पश्चिममें अफ्रीकातक विस्तृत था। आज की गणनाके अनुसार तमिलप्रदेशके १२ जिलोमें तथा लंकामें तमिल-जन-भाषा है। आज संसारमें इस भाषाके बोलनेवालोकी संख्या लगभग तीन करोड़ है।

भाषाओं के समान तिमल लिपिका भी विद्वानोंने अध्ययन कर निर्णय किया है। कुछ विद्वान् भारतकी सभी लिपियों- का सम्बन्ध ब्राह्मी लिपिसे ही जोड़ते हैं, जो नागरी लिपिका आधार है। तिमलके महान् विद्वान् राधवय्यंगारका मत है कि तिमलको आदिम लिपिका सम्बन्ध प्राचीन मिस्री लिपिसे है।

भारतीय भाषाओं में तिमल ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसकी वर्णमाला अन्य भाषाओंकी वर्णमालाकी अपेक्षा अति न्यून है। इस भाषामे १२ स्वर, १८ व्यंजन तथा एक विसर्ग सहश अर्थस्वर है।

पाण्डिय राजाओं के संरक्षणमे तिमलसाहित्यका संवर्धन हुआ, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। 'इरैयनाकल-वियल्धरें' नामक अन्थमे तिमल किवसंघोंका जो विवरण दिया गया है, उसका सारांश यहाँ देना उचित होगा। इस अन्थके अनुसार प्रथम किवसंघ ई० पू० ९,९५०से ई० पू० ५,५५०तक, अर्थात् ४,४०० वर्षतक काव्य-निर्माणके कामकी देखमाल करता रहा। इस किवसंघके सदस्य ८९ किव थे। इस संघका प्रधान अन्थ 'अगत्तियम्' नामक

व्याकरण है, जो सम्प्रति अप्राप्य है। यह ग्रन्थ १२,००० स्त्रोंमे निमित तमिल भाषाका आलोचनात्मक ग्रन्थ माना गया है। इस कालमें 'परिपाडल', 'मुदुनारै', 'मुदुगुरुकु' तथा 'कलवियलुरे' आदि ग्रन्थ थे। सामुद्रिक प्रलय होनेके कारण पाण्डियोंकी राजधानी दक्षिण मदुरा सागरमग्न हो गयी। तदनन्तर कपाटपुरम् नामक स्थानपर पाण्डियोंने अपनी राजधानी निर्माण कर दितीय कविसंघकी स्थापना की। इस संघके सदस्य ५९ थे। यह संघ लगभग २,७०० वर्षतक साहित्य-निर्माणका कार्य करता रहा। ई० पू० १८५०में इस संघकी भी समाप्ति हो गयी। समाप्तिका कारण सागरकी उथल-पुथल ही है। दितीय संघकालके ग्रन्थ 'तोलगाप्पयम्', 'महापुराणा', 'इसैनुणुक्कम्' तथा 'भूतपुराणम्' आदि हैं।

अन्तमे वर्तमान मदुरामें तृतीय किवसंघकी स्थापना हुई। इसमें नक्कीरर आदि ४९ किव सदस्य थे। यह संघ १,८५० वर्षतक रहा। परचात् किन्ही अज्ञात कारणोसे इस किवसंबक्ता विघटन हुआ। प्रथम और दितीय किवसंबोंके दीर्घकाल तथा विवरणोके बारेमें कुछ लोग सन्देह करते है। उन दोनों किवसंबोंके उन्थ भी आजकल उपलब्ध नहीं है। उन दोनों किवसंबोंके उन्थ भी आजकल उपलब्ध नहीं है। उन दोनों किवसंबोंके उन्थ भी आजकल उपलब्ध नहीं है। उन दोनों किवसंबोंके उन्थ भी आजकल उपलब्ध नहीं है। उन दोनों किवसंबों सन्यत्थ तृतीय किवसंबों है। अतः तृतीय किवसंबों साह होने वाली ऐतिहासिक सामग्री है। तृतीय किवसंबों साहित्यमें विधित मन्दिर तथा मृतियोंका प्राप्त होना तृतीय किवसंबों सत्ता-को प्रमाणित करता है।

आजनकके प्राप्त तिमल्लाहित्यको तिमल्के विद्वानोंने अध्ययन कर विभिन्न कालोंमें विभाजित किया है। इस काल-विभाजनके आधारपर पाठक तिमल्साहित्यके क्रिमक विकासको ठीक-ठीक समझ सकते है। कालोंका विभाजन इस प्रकार है—संवपूर्वकाल, संवकाल, संवोत्तरकाल, भिक्त-काल, कग्वनकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल।

सागर-प्रलयका उल्लेख पूर्व ही किया गया है। सागर-प्रलयके कारण प्रथम तथा द्वितीय कविसंघका साहित्य विल्लप्त हो गया है। सम्प्रति द्वितीय कविसंघका ग्रंथ सिर्फ 'तोलगाप्पियम्' तथा तृतीय कविसंघक ग्रन्थ ही हमें उपलब्ध होते है। इन्हीं ग्रन्थोंको तिमल भाषामे संघसा-हित्यके नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं ग्रन्थोंके अध्ययनके द्वारा पुरातन तिमल जातिके प्राकृतिक जीवन तथा संस्कृ-तिका ज्ञान होता है।

द्वितीय कविसंघका एकमात्र यन्थ 'तोलगाप्पियम्' लक्षण-यन्थ है। इसके लेखक अगस्त्यके शिष्य तोलगाप्पियर है। 'तोलगाप्पियम्' पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'के सहश अद्भुत रचना है। यह अन्थ ऐन्द्र व्याकरणसे प्रभावित है।

संघकालके प्रमुख कान्यप्रन्थ-संग्रहोके नाम एट्डुत्तोगे (आठ संग्रह), पत्तुपाटड (दस किवताएँ) और पदिनेण्कीलक-णक्कु (अठारह लघुकविता-संग्रह) हैं। ये सभी प्रन्थ लम्बी किवताओं संग्रह है। इन प्रन्थोंने शृगार रस तथा वीर रसके भावात्मक पद्योक्ता संग्रह है। प्राकृतिक वर्णन तिमल किवताओं का विशेष विषय है। इन प्रन्थोंके अध्ययनसे प्राचीन तिमल समाज, तिमल राष्ट्र, तत्कालीन चेर, चोल,

पाण्डिय राजाओका विवरण, उनकी राजनीति, धर्म, युद्ध तथा आर्थिक दशाका विशद परिचय मिलता है। इन्हीं अन्थों में जगत्प्रसिद्ध 'तिरूक्कुरल' नामक अन्थ भी है। इसमें धर्म, अर्थ तथा कामकी बहुत सुन्दर एवं सजीव व्याख्या की गयी है। भारत या संमारकी किसी भी भाषामें धर्मार्थ कामकी इतनी सरल, सुन्दर एवं संक्षिप्त व्याख्या नहीं मिलती। इस अन्यका लेखक सन्त तिरूबल्लुवर है। इस अन्यमें कबीर या विहारीके दोहों समान छोटे-छोटे भावपूर्ण १,३३० दोहे है। 'गागरमें सागर भरना' यह उक्ति इस अन्यके लिए सर्वथा चरितार्थ होती हैं।

तिमल भाषाके इस सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थके लेखककी जनमभूमि, कुल तथा वैयक्तिक धर्मके सम्बन्धमे निरन्तर अनुस्मिन होता आ रहा है। आजतक यह निर्णय न हो सका कि ये किस धर्मके अनुयायी थे। शैन, वैष्णन, बौद्ध, जैन और ईसाई सन्त बल्लुवरको अपने ही धर्मका अनुयायी सिद्ध करनेके लिए सतत प्रयत्न करते है और 'तिरूक्कुरल'को ही अपनी बातकी पृष्टिके लिए प्रमाणरूपमें उद्धृत करते है। 'कुरल' संस्कृत भाषामे 'सुनीतिकुसुममाला'के नामसे अनुदित हो गया है। संसारकी विभिन्न भाषाओंमे अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, लैटिन, हिन्दी, कन्नड़, मलयालम, बॅगला आदि भाषाओंमें भी इसका अनुवाद हो चुका है। हिन्दीमे इसका अनुवाद तिमल्वेदके नामसे प्रकाशित है।

संघोत्तरकालमें महाकान्योंकी रचना हुई। तृतीय संघके अन्तिम कालमे उत्तरापथसे वैदिक, बौद्ध और जैन-धर्माव-लम्बी दक्षिणापथ आकर अपने-अपने धर्मका प्रचार करने लगे। इस युगमें ही संस्कृत और पाली भाषाका प्रचार हुआ। इसी समय इन भाषाओंका तिमलके साथ सिम्मश्रण हुआ। इस युगमें पॉच सर्वश्रेष्ठ महाकान्योंकी रचना हुई। ये है—१. शिल्प्पदिकारम्, २. मिणमेकलै, ३. जीवकि चिन्तामणि, ४. बल्यापदि, ५. कुण्डलकेशि।

संघोत्तरकालमें महाकाव्यकी ओर लोगोकी प्रवृत्ति हुई। इसी कालमे शैव, बौद्ध, जैन तथा आजीवक धर्मावलिन्वयों-का महान् धार्मिक संघर्ष हुआ। इस समय विभिन्न धर्म और आदर्शोंका प्रचार भी हुआ। अन्तमें तिमल-प्रदेशका पुरातन शैव धर्म विजयी हुआ। लगभग ई० सन् ६००में समस्त दक्षिणभारतमे शैव धर्मका व्यापक प्रचार हुआ। इसी समय वैष्णव धर्मका भी प्रचार धीरे-धीरे होने लगा। शैव नायन्मार और वैष्णव आलवार सारे देशमें पद्दात्रा कर धर्म तथा भक्तिका प्रचार करने लगे। इस प्रकार भक्तिका युग प्रारम्भ हुआ और शैव एवं वैष्णव धर्मसम्बन्धी भक्ति-गान और काव्योंकी रचना विपुल मात्रामं हुई।

भक्तिधाराको प्रभावित करनेवाले बारह आलवार हैं। इन लोगोंने भी शैव सन्तोके समान सारे देशमें भ्रमण कर वैष्णव धर्म और भक्तिका प्रचार किया। इनकी रचनाओंको 'नालायिरदिव्यप्रवन्थम्' (४,००० पद्य) कहा जाता है। इन आलवारोंने सभी जातिमे उत्पन्न सन्त थे।

इन आलवारोके गेय पदोंका आजतक मन्दिरोंमें वेदोंके समान पारायण किया जाता है। इन्ही आलवारोंमें प्रसिद्ध आण्डाल एक मक्तिन हुई है। यह भगवान् के प्रेममे मस्त होकर गीत गाती थी। इसका विवाह पश्चात् भगवान् विष्णुसे हुआ है। इनके भक्ति-पूर्ण पद्य हिन्दीकी प्रसिद्ध कवित्री मीरॉके सहश्च है। आण्डालके गीतोका संग्रह 'तिरूपावे' तथा 'नाच्चियार तिरूपोलि'के नामसे विख्यात है।

भक्तिकालीन शैव-वैष्णव सन्त कवियोने तिमल-साहित्य-की सुरसिरतामें वह गति उत्पन्न की, जिससे पुनः कवियो-की प्रवृत्ति प्रवन्ध-काव्य-रचनाकी ओर झुकी। इमीका परि-णाम है कि भक्तिकालके अन्तमे अनेक प्रवन्ध-काव्योकी रचना हुई। इस कालको विद्वानोंने प्रवन्ध-कालके नामसे कहा है। इसी सुगमें 'पेरियपुराण', 'कम्बरामायण' तथा 'नलवेन्वा' आदि प्रवन्ध-काव्योंकी रचना हुई है। इस काल-के प्रमुख कवि कम्बन है। कुछ लोगोने प्रवन्ध-कालको कम्बनके नामसे 'कम्बनकाल' भी माना है।

कम्बन (१२वी शती)की रामायण वृत्तम् नामक छन्दमे १२ हजार पर्धोमें निर्मित है। यह ग्रन्थ प्रवन्ध-काव्य होकर भी नाटकीय अंशोंसे पूरित है। अतः इसे विद्वान् लोग दश्य-काव्य भी मानते है। तमिल काव्य-परम्पराका चरमोत्कर्ष कम्बनकी रामायणमें पाया जाता है।

१३वी शतीके पश्चात् लगमग २०० वर्षतस्का काल टीका-काल समझा जाता है। इस युगमे नवीन कान्योकी रचना न होकर संवकालीन तथा भक्तिकालीन प्रन्थोकी टीकाएँ लिखी हुई है। इसी समयसे तिमल भाषामे गचका युग प्रारम्भ होता है। प्रसिद्ध व्याकरण-प्रन्थ 'तोलगा-िष्यम्'पर 'इलंपूरणम्' नामक टीका इसी युगमे बनी है। 'तिरुक्कुरल'की प्रामाणिक टीका इस युगकी प्रसिद्ध कृति समझी जाती है। इस टीकाका लेखक प्रसिद्ध भाष्यकार परिमेललगर है। टीका-कार्योंमे निच्चनाकिनियार अतीव प्रसिद्ध सर्वश्रेष्ठ टीकाकार समझे जाते है। इन्होंने तिमलके प्रसिद्ध कार्योंपर टीका लिखी है। इन्होंने तिमलके प्रसिद्ध कार्योंपर टीका लिखी है। इन्होंने टीका व्याकरण-प्रस्थपर भी मिलती है।

अठारहवी शतीमें दक्षिणापथमें पाश्चात्योका आगमन तथा ईसाई धर्मका प्रचार होने लगा। धर्म-प्रचारके लिए ईसाई पादरियोंने तमिलका व्यवस्थित अध्ययन किया। यह काल तमिल गद्यका विकास-काल माना जाता है। ईसाइयो-ने तमिल सिखानेके लिए उपयोगी पाट्य-पुस्तक तथा सरल व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण विया है। काल्डवेलने द्राविड-भाषाओका तुलनात्मक व्याकरण लिखा। जी० यू० पोपने 'तिरुक्कुरल', 'नालडियार' तथा 'तिरुवाचगम्'का अंग्रेजी अनुवाद किया है। इनका सरल व्याकरण बहुत ही प्रसिद्ध है और अवतक उसका ७०वाँ संस्करण निकल चुका है। तमिलके प्रसिद्ध लेखक वेदनायकम् पिल्लैने, जो पहिले हिन्दू थे, ईसाई होकर ईसाई धर्मका प्रचार करते हुए तमिल भाषामे भी अनेक अच्छे यन्थोंका निर्माण किय। है। 'सर्वसमरसकीर्वन', 'नीतिनूल' तथा 'पेणमणिमाले' आदि यन्थ इनके प्रसिद्ध है। ईसाइयोकी तमिल-सेवा सदा सर-णीय रहेगी। इन्हीं लोगोने तमिल भाषामे सरल व्याकरण तथा कोशोंका निर्माण प्रारम्भ किया है। प्रसिद्ध ईसाई सन्त वीरमामुनि (फादर वैस्की)ने तमिल भाषामें 'तेम्बावाणी' नामक काव्य सहात्मा ईसाके बारेमें बनाया। इनका

हास्य रससे पूर्ण 'परमार्थ गुरुकदे' व्यंग्यप्रधान ग्रन्थ है । इसी प्रकार इस गुगमें मुसलमानीने भी तमिलमें कविता और गद्य लिखकर तमिल भाषाका पोषण किया है । मुसलमान लेखकोंम मुहम्मद इबाहीम, मुहम्मद हुसेन, नायिनार, मस्तान साहिब, गुलाब कादिर आदि उल्लेखनीय व्यक्ति है ।

१९वी शतीके प्रसिद्ध गद्य-लेखक आरुभुगनावलर है। इस युगमे नाटक, गद्य, उपन्यास, कहानी तथा गीतोका विस्तार हुआ। संस्कृतके ग्रन्थ 'मेयदूत', 'कादम्मरी', 'गीता', 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', उपनिषदों, 'रामायण' तथा 'महा-भारत' आदि ग्रन्थोका अनुवाद हुआ। इस कालके प्रसिद्ध लेखकोमे नागनाद पिडदर, दामोदरम् पिल्लै, मीनाक्षीस-दरम् आदि है। मीनाक्षीस-दरम् पिल्लैन अनेक लघु-काव्योकी रचना की। ये प्रकाण्ड पण्डित एवं कुशल अध्यापक थे। इन्हीं वी शिष्य-परम्परामे दाक्षिणात्य कलानिध उ० वे० सामीनाद अय्यर हैं, जिन्होंने तिमल्के ग्रन्थोका विद्यत्तापृणं सम्पादन किया है। इस युगका ग्रन्थ 'नन्दनचित्रि' लोकगीतकी दृष्टिसे सुप्रसिद्ध हैं। इसके लेखक गोपालकृष्ण भारतीय हैं।

२०६१ शतीमे समस्त दक्षिणपर अंग्रेजीका न्यापक प्रभाव हो गया । इससे मात्भाषाका प्रभाव घटा। अंग्रेजीका प्रभाव भारतकी सभी भाषाओपर हुआ। तमिल भी इससे मुक्त न रह सकी। अंग्रेजी सम्पर्कके कारण तमिल भाषाके लेखको-का चिन्तन विभिन्न क्षेत्रोंमे हुआ । अंग्रेजीसे प्रभावित होकर साहित्यकी सभी शाखाओमे विकास होने लगा। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा पत्र-पत्रिकाओकी वृद्धि इस युगकी विशेष वात है। भाषामें नवीन शैलीका सूत्रपात हुआ। इस सुगमे अन्थ-सम्पादनकी कलाका भी विकास हुआ है। पुराने महाकाव्य और उनपर लिखे गये टीका-प्रन्थोंका सम्पादन इसी युगमें हुआ। इस कार्यसे तमिलका गौरव बढा और पाठकोको तमिल काञ्य-ग्रन्थ सुलभताने प्राप्त हुए। तमिल भाषामे महाकाव्य, प्रबन्ध-कान्य, लघुकान्य तथा गीतकान्य पर्याप्त मात्रामें है, लेकिन आधुनिक ढंगके नाटक नहीं थे। प्राचीन प्रन्थीमे नाटक तथा नाटकके लक्षण-ग्रन्थोका विवरण मिलता है, किन्त्र वे सब ग्रन्थ कालकविलन हो जानेसे सम्प्रति अप्राप्य है। नाटकोके अभावको दूर करनेके लिए तिरुवनत्तपुरम् महा-राजा कालेजके दर्शनाध्यापक सुन्दरम् पिल्लैने भनोन्य णीयमं नामक काव्यनाटककी रचना की। इसके पश्चात सूर्यनारायण शास्त्रीने शेक्सपीयरकी शैलीका अनुकरण करके 'मानविजय', 'कलावती', 'रूपवती' तथा नाटकका लक्षण-ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात अनेक लेखकोने नाटक लिखे। नाटक-कम्पनियोंके अत्यधिक प्रचार होनेपर भी तमिल भाषामें उच्च स्तरके नाटकोंका अभाव ही है। नाटककी कमीको पुरा करनेवाले सम्बन्ध सुदलियार है। इन्होंने तमिल और संस्कृतके कान्य-यन्थोके आधारपर लगभग ८० नाटक लिखे हैं। ये स्वयं सुन्दर अभिनेता है। इनके नाटक तमिलप्रदेशमें व्यापक रूपसे पढ़े तथा खेले जाने है।

इस युगके अमर कवि सुब्रहाण्यभारती हैं। उन्होंने जयशंकर 'प्रसाद'के समान अनेक विषयोंपर रचना की है। ये राष्ट्रीय कि माने जाते हैं । इन्होंने क्रान्तिकारी किताओं द्वारा देशमें स्वातन्त्र्यभावका जागरण किया है । महात्मा गान्थीके रवदेशी आन्दोलनको जनताके कानतक पहुँचानेमें इनकी किताओंने बहुत काम किया । इस किवका तिमलके आवालवृद्धपर भारी प्रभाव देखा जाता है । इनकी भाषा सरल तथा भाव उच्च है । ये ब्राह्मण-कुलमे उत्पन्न होकर भी परम सुधारवादी थे, निर्धनतासे पीड़ित होकर भी अत्यन्त उदार हृदयके थे। करणा और क्रान्ति इनके जीवनमे साक्षात् दृष्टिगोचर होती है । भारतीने साधारण बोल-चालकी भाषामे समयानुकूल रचना करके सारे देशमें क्रान्ति मचा दी।

इस युगमें तमिल भाषामें उपन्यास तथा कहानियोका आशातीत विकास हुआ और हो रहा है। १९वीं शतीके अन्तमें ही तमिल भाषामें 'प्रताण्मुदः लियारचरित्रम्', 'कमलाम्बालचरित्रम्', 'पदमावतीचरित्रम्' और 'जटावल्लवर' आदि उपन्यास लिले गये है। पश्चात् आरणी कुप्पुसामी मुद्दलियारने अंग्रेजी उपन्यास किलेवेवालोमें बडबूर डरैसामी अथ्यंगार तथा रंगराज प्रसिद्ध है। सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेमें रा० कृष्णमूर्ति सिद्धहस्त थे। इनका 'शिवगामियिन् शपदम', 'पर्तिवनकनक' स्थायी महत्त्वके है। उपन्यासके क्षेत्रमें वरदराजन्, महादेवन्, कृष्णन्, मणि, जीवा, अनुत्तमा, सरस्वती तथा गुहप्रिया आदिके नाम उल्लेखनीय है।

उपन्यासके समान कहानीके क्षेत्रमे भी तमिलकी प्रगति प्रशंसनीय है। तमिलप्रदेशमें कहानियोंकी मासिक पत्रिकाएँ दिनों-दिन बढती जा रही है। पुराने कहानीकारोंमें ब॰ वे॰ स॰ अय्यर भारती तथा बंकटरमणीके नाम उल्लेखनीय है। बादके कहानीकारोंमें राजाजी, पुद्मैप्पित्तन, अिकलन, कल्की, जीवा, राजगोपालन् और पिच्चमूत्ति आदि हैं। इन लोगोने सामाजिक, मनीवैज्ञानिक तथा हास्य रसप्रधान कहानियाँ लिखी हैं। स्वतन्त्र एवं मौलिक कहानी लेखन-कलाके विकासके साथ ही अंग्रेजी, मराठी, बॅगला तथा हिन्दीके कहानी-साहित्यका भी तमिलमें पर्याप्त मात्रामे अनुवाद हुआ है। प्रेमचन्द तथा खाण्डेकरसे तमिल जनता सुपरिचित है। आलोचनाके क्षेत्रमें खामीनाद अय्यर, रा० राधवय्यर, मु० राधवय्यर, का० पिहु, सोमसुन्दर भारती, वैयापुरि पिछै, व० वरदराजन्, अ० श्रीनिवास राधवन् , सेतुपिछै तथा मीनाक्षीसुन्दरम् पिछै आदि हैं । सम्प्रति ज्ञानसम्बन्धन् आलोचनाके क्षेत्रमें उदीयमान नक्षत्र समझे जा रहे है। इनका 'इलक्कियकलै' नामक प्रन्थ आलोचनाके क्षेत्रमें उच्च स्तरका ग्रन्थ माना गया है। निबन्ध-लेखकोमे कल्याणसुन्दर मुदलियार अद्वितीय हैं। ये गान्धीवादी थे, पश्चात् समाजवादी विचारके अनुयायी हो गये । इन्होंने धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक विषयोंपर प्रौढ गद्यमें अनेक ग्रन्थ लिखे है। तमिलकी दैनिक पत्र-पत्रिकाओं में 'खदेशिमत्रन्', 'दिनमणि', 'तमिलनाड' आदि पत्र प्रसिद्ध हैं। साप्ताहिक तथा मासिक पत्रोंमें 'आनन्दविकटन्', 'कल्की', 'कल्मगल कलेकदिर कावेरी', 'अमदसुरभी मंजरी' आदि हैं। बच्चोंके लिए 'कन्नन' तथा 'कलकण्ड' उपयोगी पत्र है। —चं०
तरिणजा-वर्णिक छन्दके समकृत्तका एक भेद । इस कृत्तके
प्रत्येक चरणमे नगण और गुरुका योग होता है (॥, ऽ)।
केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—''बरिणनो,
वरणसो । जगतवो, शरण सो" (रा० चं०, १:
१२)। —पु० शु०
तरीकत-इसका अर्थ आध्यात्मिक मार्ग है। ईसाकी नवीदसवी शताब्दीतक इसका अर्थ कुछ और ही था। उस
कालमे साधकोको साधनाके पथपर अग्रसर होनेका
व्यावहारिक ज्ञान करानेकी एक पद्धिनका बोध इससे होता
था। सन् ईसवीकी ग्यारहवी शताब्दीके बाद जब नाना
स्फी सम्प्रदायोंमें प्रचित्र धार्मिक क्रिया और अनुष्ठान
हो गया, जिनका सहारा लेकर उस सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त
साधक साधनाके पथपर अग्रसर होते रहे (दे० 'स्फीमार्ग')। —रा० प० ति०

तसब्द्रफ-दे॰ 'स्फी' और 'स्फीमत'। तांत्रिक मत-६०० ई०से १२०० ई०तकका समय ऐसा रहा है, जब सारे भारतवर्षमे छोटे-छोटे तान्त्रिक सम्प्रदायोका प्रचलन हुआ। अपनी समस्त विविधताके आवरणमे भी इन सम्प्रदायोंमे एकसूत्रता यह थी कि इन सबमें तत्त्व-चिन्तनकी अपेक्षा साधना-पद्धतिकी प्रधानता थी। किसी एक देवता या शक्तिको सृष्टिका मूल तत्त्व मानना, उपासना-की पद्धतिका प्रचुर प्रसार और विस्तारसे उसकी व्याख्या करना, यन्त्रोंका महत्त्व, देवताओके प्रतीक बीजाक्षरों और वणौंका विधान, भूतसिद्धि, कुण्डलिनी योग, रहस्यमयी साधनाएँ, बाहरसे मर्यादा-विरुद्ध दीखनेवाले गुह्य वामाचार, दीक्षाएँ और गुरुका महत्त्व, ये समी तत्त्व इनमे एक समान हैं। उनमे इतनी अधिक समानता है कि शैवोंने यदि उसे शैव परिभाषा दी है, बौद्धोंने बौद्ध, तो इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, मूल स्वर उन सभीका एक है। वे सभी तान्त्रिक मत है। तन्त्रकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तत्त्व-मन्त्रोंसे समन्वित जो विपुल अथींका विस्तार करता है और त्राण भी करता है, उस तन्त्र कहते हैं। इस साधनापरक धर्मपद्धतिको 'तन्त्र' क्यों कहते थे, इसके विषयमें कहा जाता है कि तन्त्रकी न्युत्पत्ति तन् धातुसे हुई है और 'तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्'के अनुसार किसी भी ज्ञानको जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते है। इसीके अनुसार इमें न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते है । ज्ञात यह होता है कि धर्म-साधनाओंमें जिन नयी पूजाओ, मन्त्र-पद्धतियो, देवी-देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओंका प्रवेश हो रहा था, उन्हें पूर्ण रूपसे एक ज्ञान या एक चिन्तना-पद्धतिके अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासनमें सुयोजित कर देनेवाली प्रणालीका नाम तन्त्र पड़ गया।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तन्त्राचार आया कहाँसे ? कई विद्वानोंने तन्त्रोंके विदेशी उद्गमका उल्लेख किया है। हरप्रसाद शास्त्रीने तन्त्रोंका भारतमें आगमन शकोंके मगपुरोहितोंके साथ बताया है। यद्यपि इसके साथ

उन्होने कोई विशेष प्रमाण नहीं दिये, किन्तु उनके इसी मतके आधारपर विनयतोष भट्टाचार्यने इस सम्भावनाकी कल्पना की कि योगाचारमतका प्रमुख आचार्य और वज्र-यानमनमें तन्त्रोंके प्रथम उपदेशके लिए प्रख्यात 'असंग' गान्धार देशका निवासी था और सम्भव है वह मगपुरोहितों-की तान्त्रिक साधना-पद्धतिसे परिचित हो। इसके अन्य कई प्रमाण मिलते है, जो अधिक प्रवल है। पहला तो यह है कि प्राचीन वाड्मयमें कभी-कभी तन्त्रोंकी साधना-पद्धतिको अपरिचित और अद्भुत बताया गया है और उसे अवैदिक भी कहा गया है। दूसरे स्वतः तन्त्रग्रन्थोंमें भी कभी-कभी ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि तन्त्रोका प्रचार करनेके लिए देवता बाहरसे आये और फिर लौट गये। जहाँतक पुराने तन्त्रोंका प्रश्न है, उनका नाम 'आगम' भी यह सचित करता है कि सम्भवतः वे वैदिक परम्पराके नहीं थे। हमें मध्यकालीन धार्मिक साहित्यसे यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भमे इन्हें अवैदिक कहा जाता रहा और अन्तमे जो मत लोक-प्रचलित हो गया, उसे बाह्मण-परम्परा द्वारा बहण कर लिया गया। 'कूर्मपुराण'से कम-से-कम एक बात और वहुत महत्त्वपूर्ण ज्ञात होनी है कि ये तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे बाह्मणों द्वारा प्रवतित थे, जो रूढिवादी बाह्मणों द्वारा नीची निग'हसे देखे जाते थे और जिन्होंने अपना दिज-सुलभ वेद-पाठनका अधिकार खो दिया था।

दूसरी ओर भारतीय वैदिक वाड्मयके अध्ययनसे हमे यह ज्ञात होता है कि अथर्व वेदमे मारण, मोहन, उचाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्धि, गुह्य साधनाओका प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी अथर्व वेदको आर्यपरम्परामे नहीं गिना जाता था । ऐसा विश्वास किया जाता है कि अथर्ववेदकी गुह्य साधनाएँ भारतके अनार्य आदिवासियोंकी थी, जिन्हे पूर्वागत आर्योंने अपना लिया था। इसी कारण बादमे आनेवाले अन्तरंग आर्थ उन्हे 'ब्रात्य' कहा करते थे। इन ब्रात्योका आचार-विचार बहुत-कुछ अनार्य जातियोसे प्रभावित रहता था। इन्ही ब्रात्योंके साथ-साथ बहुत-सी भारतके मूल निवासियोकी आदिम प्रवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, यन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना आ गया होगा। इसके अति-रिक्त कई स्थानोंपर आयोंने इन मूल निवासियोंकी रूपवती कन्याओसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था। इस प्रकार धीरे-धीरे आर्थोंकी विचारपरम्परामे आर्थेतर साधनाएँ और देवी-देवता भी प्रवेश पाने लगे।

बहुत सम्भव है कि प्रारम्भमे इन पूजोपचारांके लिए कुलीन ब्राह्मण न प्रस्तुत होते हों, अतः बहुतसे ब्राह्मण जो निम्न वृत्ति अपनानेके कारण या आचारभ्रष्ट हो जानेके कारण रूढिवादियों द्वारा तिरस्कृत कर दिये गये हो या जो स्वयं उनके प्रति विद्रोही हो और लोकधर्म और लोकाचारको ग्रहण कर चुके हों, वे इन जातियो और इनकी पूजाओके पुरोहित बन गये।

इस प्रकार तन्त्र वास्तवमे उन अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियो तथा लोकप्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणत रूप हैं, जो आदिनिवासियोंने सृष्टिसे संप्राम करते समय अपना लिये थे और जो सदैव हमारे देशके निम्न वर्गमे प्रचलित रहे। तान्त्रिक कालमे यह लोकधर्म उभरकर ऊपर आ गया और इसकी ग्रहण करनेके लिए कितने ही सम्प्रदाय प्रत्येक धर्ममें बन गये, जिनमें साधना प्रधान थी और उसी साधनाके अनुरूप उन्होंने अपने देवी-देवताओं का स्वरूप, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी चर्या, किया-अभिचार, मन्त्र आदि परिकल्पित कर लिये। इसीलिए तन्त्रोंका 'आगम' नाम सर्वथा उपयुक्त है। जो लोकप्रचलित, आदिम परम्पराओंपर आधारित अनुष्ठान उच्चवर्गीय चिन्तनामे आये, वे शुद्ध वैदिक दृष्टिसे बाहरी तत्त्व थे और कालान्तरमे विदेशी साधनाएँ भी उनमें समाहित होती रही। तान्त्रिक आचार्योंने तो घोषणा यहाँतक की कि श्रुतियों-स्मृतियों तथा पुराणोंका युग बीत गया और अब केवल तन्त्रोका युग है और धीरे-धीरे तन्त्र-साहित्यका महत्त्व इतना बढा कि वह भी वैदिक श्रुतियोंके समकक्ष गिना जाने लगा।

तान्त्रिक साधनाओं के आम्नायके अनुसार कई मेन्न है। स्थूळ रूपसे ये समस्त आचार दो वगों में वंटे हैं—दक्षिण तथा वाम। दक्षिणाचारमे प्रभातमे सन्ध्या, मध्याह्नमें जप, ऊनके आसनपर वैठना, दूध-शर्कराका पान, रुद्राक्षकी माला धारण करना तथा अपनी पत्नीसे सम्भोग करना—यह विहित था। वामाचार इसका प्रतिकूळ था। नृदन्तकी माला, कपाळका पात्र, छोटी कच्ची मछळियोंका चर्वण, मांसभक्षण और सभी जातियोंकी परिस्तियों समानरूपसे मैश्न—यह वामाचार था।

वामाचारमें पाँच प्रकारोका विधान है—"मधैर्मांसैस्तथा मत्स्यैमुंद्रया मैथुनैरिप"। इनके आधारपर भैरवीचक्रोंकी नियोजना होती थी। उन चक्रोंमे स्त्री-साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे और मचपानके उपरान्त मनोरथ सुखोकी परस्पर पूर्ति होनी थी। इस प्रकार के चक्रोंमे वर्ण और जातिका कोई भेद नहीं रहता था। "प्रवृत्ते भैरवीचके सवें वर्णा दिजातयः"। जैसे गंगामे मिलकर बाहरी जल या दूधमें मिलकर जल एकात्म हो जाता है, उसी प्रकार भैरवीचक्रमें सब उच्च वर्णके हो जाते है। इन चक्रोके तीन भेद होते हैं—वीर, राज और देव। राजचक्रमें यामिनी, थोगिनी, रजकी, दवपची, कैवर्तक नारी, ये पाँच शक्ति रूपमे व्यवहत होती है। देवचक्रमे राजवेदया, नागरी, ग्रप्त-वेदया, देव-वेदया तथा ब्राह्म-वेदया, ये पाँच शक्तियाँ सम्मिलित होती है। नागरीमे कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।

'आगमसार'से ज्ञात होता है कि इन साथनाओं के सांकेतिक अर्थ भी थे। इसीलिए इसे खड़-धार या सक्ष्म पथ बताया गया है और कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान करनेसे व्यक्ति सिद्ध हो जाता तो सभी मद्यपियोको सिद्धि मिल जाती। यदि स्त्री-सम्भोगसे मुक्ति मिलती होती तो कौन बचता। वास्तवमे यह पथ बाघके कान पकड़ने या खड़की धारपर चलनेसे भी ज्यादा कठिन है।—ध०वी०भा० तार्टक मात्रिक सम छन्दका एक भेद। इसका लोकप्रचलित नाम मानुने लावनी दिया है। इसके प्रत्येक चरणमें १६, १४ की यतिसे ३० मात्राऍ होती है और अन्तमें मगण (SSS) रहता है। सूदनने तार्टक नामसे १४, १४की यतिसे २८ मात्राका चरण तथा अन्तमें मगणका प्रयोग किया है, जो परम्परासे भिन्न है। सूर तथा तुलसीने पद-

रांटीमें इसके लावनी रूपका प्रयोग किया है। यह छन्द लावनीके लोक-प्रचलित छन्दके रूपमें भारतेन्द्रकालके कवियो द्वारा ग्रहण किया गया है। होकछन्दके रूपमे लावनीका विशेष महत्त्व है। परन्तु लावनीमे गुरु-लघुका विशेष नियम नहीं रहता। आधुनिक कवियोंने इसको शास्त्रीय रूपमे भी अपनाया है। उदा०-"देव तुम्हारे कई उपासक, कई ढंगसे अ.ते हैं। सेवामे बहुमूल्य भेंट, वे कई रंगके लाते है" (समद्राक्मारी चौहान)। ताःपर्यावृत्ति - कुछ आचार्यो द्वारा स्वीकृत एक विशेष प्रकारकी शक्ति, जिसके द्वारा वाक्यका वास्तविक मन्तव्य जात होता है। कुमारिल भट्ट और उनके मतानुयायी मोमांसकोको 'अभिहितान्वयवादी' कहा गया है, क्योंकि वे अभिहित (अभिधा द्वारा उपस्थित) अर्थोंका अन्वय सम्बन्ध मानते है। अभिधा तथा लक्षणाके अतिरिक्त वे तात्पर्यको भी एक प्रकारकी शब्दशक्ति मानते है। उनका कहना है कि शब्दों में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ ज्ञात करानेकी शक्ति तो रहती है, किन्तु वाक्यमे उनके एक-दूसरेसे अन्वित होनेपर ही वे वक्ताके वास्तविक तात्पर्यको व्यक्त कर पाते है। वाक्यसे विच्छिन्न तथा एक-दूमरेसे असम्बद्ध पद इस तात्पर्यार्थको नहीं व्यक्त कर सकते है। योग्यता, सन्निधि ('आसत्ति'-सामीप्य) तथा आकांक्षासे संयुक्त पद-समूहको ही वाक्य कहते है। वाक्यमे प्रयुक्त विभिन्न पदोका एक-दूसरेसे सम्बन्ध होनेमे किसी प्रकारकी बाधाका न होना ही योग्यता है। 'अग्नि से सीचता है', इस वाक्यके क्रियापद 'सीचता है' तथा 'अग्निसे'मे अर्थ-बाधा है, किन्त 'जलसे सीचता है', इस वाक्यमे योग्यता है। वाक्यमे प्रयुक्त सम्बन्धित पदोमे सामीप्यका होना आवश्यक है, जो कि "पहाड खाता है, अग्निमान् है देवदत्त"मे नहीं है। इसे "पहाड अग्निमान् है, देवदत्त खाता हैं' होना चाहिये। वाच्यार्थकी पूर्तिके लिए किन्ही पदोंकी आकांक्षा शेष न रह जानी चाहिये, जैसे 'देवदत्त घरको' आदि पद-समृहमें क्रियापदकी आकांक्षा बनी ही रहती है। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों-का मत है कि इन तीन बातोंसे सम्पन्न होनेपर जब शब्दोका तर्कसंगत सम्बन्ध (अन्वय) ज्ञात होता है, तभी शब्दोका वास्तविक अर्थ ज्ञान होता है। इमीलिए तात्पर्यावृत्तिका मानना आवश्यक है।

प्रभाकर-मतानुयायी अन्य मीमांसकोको 'अन्विता-भिधानवादी' कहा गया है, क्योंकि वे एटोसे हो अन्वित अर्थका अभिधान मानते हैं। वे उपर्युक्त अभिहितान्वय-वादियोकी तारपर्यावृत्तिका विरोध करते है। उनके मतानुसार वाक्य द्वारा प्रस्तुत सुसम्बद्ध अर्थ स्वयं शब्दो द्वारा भी व्यक्त होता है, क्योंकि प्रयुक्त शब्दोंके अर्थके अतिरिक्त शब्दोंका कोई स्वतन्त्र अर्थ होता ही नहीं है, उनमें जो भी अर्थचोतनका सामर्थ्य होता है, वह वाक्यमें निरन्तर प्रयुक्त होनेके कारण ही उन्हें प्राप्त हुआ है। अभिहितान्वयवादमें पहले पदोंसे अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते है, पीछे तारपर्या-वृत्तिसे उनका परस्पर सम्बन्ध होनेसे वाक्यार्थका बोध होता है। परन्तु प्रमाकरके अन्विताभिधानवादमें पदोंसे अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होते हैं, इसलिए उनके अन्वयके लिए तारपर्यावृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस अन्वित अभिधानवादका प्रतिवादन प्रभाकरने इस आधारपर किया है कि पदोसे जो अर्थकी प्रतीति होती है, वह शक्तिग्रह या सकेतग्रह होनेपर ही होती है। "इस प्रकार व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होगा, वह केवल पदाधोंमें नहीं, अपितु अन्वित-पदार्थमें ही होगा, क्योंकि व्यवहार अन्वितपदार्थका ही सम्भव है, केवल पदार्थका नहीं। इसीलिए अन्वित अर्थमे ही शक्ति मानते हैं (हि॰ ध्व॰, पु॰ २९-३०)।

'कान्यप्रकाश'के द्वितीय उल्लासके प्रारम्भमे उपर्युक्त दोनों मतोंका संक्षिप्त उल्लेख मिलता है और आचार्य मम्मट अभिहितान्वयवादको स्वीकार करते हैं, किन्तु तारपर्यार्थको स्वीकृत करते हुए भी ध्वनिके आचार्य उसे व्यंजनाका स्थानापन्न नहीं मानते हैं। अभिधा, लक्षणाकी भाँति ही तारपर्यशक्ति भी व्यंग्यार्थका बोध करानेमे असमर्थ मानी गयी है। —उ० शं० शु०

तादुरूप्य रूपक-दे० 'रूपक', दूसरा प्रकार।

तानाशाही—तानाशाही व्यवस्थामे व्यक्तिका योग-क्षेम राज्य वहन करता है और उसकी प्रत्येक गतिविधिपर अंकुश रखता है। फासिज्म (दे०) तानाशाहीको पूरा प्रश्रय देता है। वह इस वातका पूरा ध्यान रखता है कि व्यक्ति राज्य द्वारा निर्धारित साँचोमे ढळे हुए हो। इसके लिए उसे विचार-नियन्त्रण (दे०) और 'सेसरशिप' (दे०)का मार्ग प्रहण करना होता है। तानाशाहीके लिए व्यक्ति-स्वातन्त्रयका कोई महत्त्व नहीं।

तामरस—वर्णिक छन्दों समवृत्तका एक भेद । हेमचन्द्र(छं० २: १८३) ने कमलविलासिनी, जयकीति (छं० २: १३५) ने लिलतपदा नाम दिया है। यह वृत्त नगण, दो जगण और यगणके योगसे बनता है (॥, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽऽ) । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"जब ऋषिराज विनै कर लीनो, सुनि सबके करुणा रस भीनो । दशरथ राय यहै जिय मानी, यह वह एक भई रजधानी" (रा० चं०, ६: २२)। —पु० शु०

तामसी भक्ति-दे॰ 'गौणी भक्ति'।

तारक-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृत-पैगलम्' (२: १४४)के लक्षणके अनुसार चार सगण और गुरुके योगसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, ISS, S)। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"यह कीरति और नरेसन सोहै। सुनि देव अदेवनको मन मोहै। हमको बपुरा सुनिये ऋषिराई, सब गाँउँ छ सातककी ठकुराई" (रा० चं०, ५ : २३)। तार्किक सत्य - आजके युगकी सौन्दर्यात्मक भावनामे सौन्दर्यको केवरु 'तर्कसन्दर्भ'में प्रयुक्त होनेकी अपेक्षा सिक्रय रूपमें स्वीकार करनेका विशेष आग्रह है। तार्किक सत्य द्वारा किसी भी निष्कर्षपर पहुँचनेसे यथार्थ और वास्तविक तुष्टि नहीं मिल सकती। अस्तु, कार्डवेलने 'तार्किक सत्य'को क्रियाशील दृष्टिके अभावमे बौद्धिक पिजरा माना है (दे॰ इल्यूजन एण्ड रीयलिटी: क्रिस्टोफर कार्डवेल)। तर्कगत संगति भी एक सत्य है, किन्तु कियाशीलताके अभावमे वह केवल प्राणहोन वस्तु बनकर निरर्थक सिद्ध होती है।

तार्किक सत्यका प्रारूप दार्शनिक विवेचनकी प्रक्रियामे

जन्म पाता है। यथार्थवादी इसे बूर्जुआ विचारकी परिणित भी मानते हैं। तर्क द्वारा शास्त्रीय रूपसे हम कई निष्कर्षी-का परीक्षण कर सकते हैं और स्वयं भी केवल निष्कर्ष निकाल सकते हैं। किन्तु प्रत्येक ताकिक सत्य अनुभूति-सत्यके मर्म और यथार्थके सौन्दर्यकी क्रियाशील गतिविधिका साक्षात्कार कर सकेगा, इसमें सन्देह हैं, क्योंकि भावजगत्की रागात्मक अनुभूतिकी परखके लिए निरा तर्क अपूर्ण होगा।

तार्किक सत्यका बोध हमे केवल परीक्षण और निष्कर्पकें माध्यमोसे होता है। अतः केवल तार्किक सत्यसे रसानुभूति और मूल्योंकी स्थापना नहीं की जा सकती। मूल्योंकी स्थापना नहीं की जा सकती। मूल्योंकी स्थापनाके लिए सत्यके गतिशील रूपको लेना पडेगा। अस्तु, तार्किक सत्य केवल असंगत, रूढ़िवादी सत्य है, जिसमे गतिशीलताके अभावके नाते बुद्धिविलासका दोष वर्तमान रहता है।

तार्किक सत्य केवल विवेचनका माध्यम वन सकता है, अन्तिम परिणति नहीं, क्योंकि उसमें परिप्रेक्ष्य- (perspective)का अभाव होता है, सम्भावनाओंका या तो अतिरेक होता है या सम्भावनाओंका शुष्क विवरण । जीवनकी समग्रताको देख सकनेकी या उसे वहन करनेकी क्षमता तार्किक सत्यमें कभी भी नहीं हो पाती । जीवनकी सिक्रयताका वास्तविक बोध भी तार्किक सत्य दे सकनेमें असमर्थ होता है। कलाकी दृष्टिसे तार्किक सत्य तो वैज्ञानिक सत्यसे भी कड़ और अन्यावहारिक शुष्कताके साथ अवतरित होता है।

किन्तु तार्किक सत्यके कुछ गुण भी है, जिनको ध्यानमे रखना आवस्यक है। सर्वप्रथम तो यह कि तार्विक सत्य रूढियोंका खण्डन करनेमे कटु यथार्थका परिप्रेक्ष्य वडे संशक्त ढंगसे प्रस्तुत करनेमें सहायक होता है। दूसरा यह कि द्वन्द्वात्मक प्रणालीका विश्लेषण करनेमे उससे विशेष सहायता मिलती है। तीसरे यह कि काल्पनिक स्वप्नोकी मिथ्यावादितासे कलाको मुक्ति मिलती है। चौथे यह कि तार्किक सत्यके परिप्रेक्ष्यमे मूल्योंकी व्यावहारिकता एवं उनकी गतिशीलताकी परखनेका विशेष साधन मिल जाता है। --- ल० का० व० तार्किकीकरण-अपने कार्यों, विश्वासी, असफलताओ, च्यतियों आदिको सकारण और तर्कसंगत सिद्ध करनेके लिए युक्तिसंगत अथवा लचर कारणोकी खोज करना तथा उनको अपने कार्यों आदिकी प्रेरणा अथवा हेतु मानना मनोत्रैज्ञानिक भाषामे तार्किकीकरण कहलाता है। किन्तु ये कारण सच्ची प्रेरणा अथवा सच्चे हेत न होकर वास्तविक प्रेरणा या हेत्को छिपानेका प्रयासमात्र होते है। व्यक्तिको वास्तविक कारणोंका या तो पता ही नहीं होता या उनका आभासमात्र होता है। अतः तार्किकीकरण शुद्ध झूठसे भिन्न होता है। वास्तविक कारण अथवा प्रेरक, प्रकट किये कारणो और प्रेरकोकी अपेक्षा कही अधिक निम्नस्तरीय होते है। जब हमारी वास्तविक प्रेरणा निम्न कोटिकी और निन्दनीय होती है तब ताकिंकीकरणके द्वारा इम स्वयं अपनी तथा समाजकी आलोचनासे बच जाते है। ताकिकी-करणमे सत्यका अंश थोड़ा-सा होता है, किन्त अधिक सत्यको दबाकर इस अल्पांशको अतिरंजित कर दिया जाता

है। दैनन्दिन जीवनमे तार्किकीकरणके उदाहरण हमें प्रायः नित्य मिलते रहते है। किसी आयोजनमे समयपर न पहुँचनेकी व्याख्या समयकी कमी अथवा व्यस्ततामे की जाती है। अपनी असफलताके लिए भाग्य, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था, निकृष्ट माधन, किन्ही प्रमुख व्यक्तियोंकी अप्रसन्नता आदिको उत्तरदायी ठहराया जाता है। 'अंगर खड़े है', 'नाच न आवे, ऑगन टेढा' जैसी कहावतें इसी मनोवृत्तिके प्रति व्यंग्य करती है। दुर्योधन अपनी अधर्मप्रवृत्तिका दायित्व चत्राईसे ही ईश्वरके ऊपर डाल देता है—"जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः। त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥"। ताल-लयकी तरह ताल शब्द भी क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है। स्वरकी गतिके विशिष्ट रूपका परिचय तालसे मिलता है। स्वरकी अपेक्षा तालका स्थान गौण माना जाता है। स्वर अंग है तो ताल उपांग। प्रचलित कहावत है-''सर गया तो सिर गया, ताल गया तो बाल गया"। लय खर-प्रवाहके साथ एकरस हो जाती है, ताल उस प्रवाहकी गतिके उतार-चढावके क्रमको सूचित करता है। ताल एक प्रकारकी माप भी है और त्रिताल, झपनाल आदि भेद कदाचित इसी आधारपर विकसित हुए है। तालकी स्थिति स्वरसन्धियोके बीच होती है। मात्रिक छन्दोकी लय तालके अधीन रहती है। त्रिकल और पंचकलकी आवृत्तिने वने छन्दमे ताल पहली मात्रापर होता है। त्रिकलमे वह तीन-तीन मात्राओंके अन्तरमे १-४-७-१०-१३-१६ आदि संख्याओंकी मात्रापर रहता है और पंचकलमे पॉच-पॉच मात्राओके अन्तरसे १-६-११-१६-२१-२६ आदिपर । सप्तकलमें पहली दो मात्राएँ ताल बिना छूट जाती है और ताल तीसरी और छठी मात्रापर पडता है, यथा-1 1 1 1 1 1

हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका हरिगीतिका (खड़ी पाइयाँ ताल सूचक है)। मात्राएँ पूरी होनेपर भी तालभग होनेसे लय बिगड जाती है। उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्तकी एक पंक्ति-''वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो" शब्दोको यदि निम्नलिखित क्रमसे रख दिया जाय तो ताल भंग हो जायगा-"वाचक सर्वत्र ही प्रथम जय जीवन जानकी कहो"। कारण यह है कि इस रूपमे सप्तकल-मे मात्राओका विभाजन नहीं हो सकता। फलतः जहाँ ताल आना चाहिये, वहाँ वह नहीं आ पाता। मात्रिक छन्दोमे दो लघु तो दीर्घ मात्राका बीध करा सकते है, पर दीर्घको आधा करके मात्रा-गणना पूरी नहीं की जा सकती। 'वाचक प्रथम'मे सात मात्राएँ अलग हो जाती है, पर 'वाचक सर्वत्र'मे उनका अलग हो पाना सम्भव नहीं। इसी प्रकार 'जय जानकी'के स्थानपर 'जय जीवन' आ जानेसे कठिनाई उपस्थित हो जाती है और ताल भंग हो जाता है। मात्राएँ निश्चित होनेपर भी तालकी स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है जैसे सात मात्राके ध्वनि-खण्ड 'सप्तकल'में निम्नलिखित चार प्रकारका तालक्रम स्पष्टतया सम्भव है-111

१. दादालदा; २. दादादाल; ३. लदादादा; ४. दालदादा।

इनमेंसे प्रत्येककी आवृत्तिसे स्वतन्त्र जातिके छन्द बन सकते हैं। इस प्रकार छन्दका स्वरूप निर्धारित करनेमें तालका अपना अलग महत्त्व है। हः ल: कुंजी - प्राणायाम द्वारा श्वासके बन्धन या निरोधको वज्रयानी सिद्ध अध और ऊर्ध्वके मार्गमें ताला लगानेके रूपकसे व्यक्त करते थे। "पवण गमण दुआरे दिंद ताला वि दिजुई" (काण्हपा : दोहाकोष) । नाथपन्थी बानियोमें ताला लगानेका रूपक तीन प्रसंगोंमे आया है-कुम्भकके प्रसंगमें, खेचरी मुद्राके प्रसंगमे, शब्द-योगके प्रसंगमे । अन्तमें वे यह भी कहते है कि शब्द ताला है, निःशब्द कंजी है (गोरख-बानी)। सन्तोमें भी अधिकतर कुम्भक द्वारा श्वासनिरोधके अर्थमे ताला-कुंजीका रूपक मिलता है। ताला-कुंजीकी आवश्यकता चौरसे बचानेके लिए पड़ती है। चोर है वासनात्मक मन। इस चोरसे सावधान रहनेकी चेतावनी सिद्धों, नाथों और सन्तोंने बराबर दी है, किन्त सन्तोंने एक ऐसा धन पा लिया था, जो न चोर चुरा सकते थे, न जिसका क्षय हो सकता था। वह धन था हरि भक्ति। "तस्वर लेइ न पावक जाले, प्रेम न छूटै रे। चहुदिस पसऱ्यो बिन रखवारे, चोर न ल्हें रं" (दादूदयालकी बानी, द्वितीय खण्ड)।

तिअड्डा-दे० 'हठयोग'।

तिरस्कार-विशेष।लकारके अन्तर्भृत अर्थालंकार। यद्यपि तिरस्कार एवं अवज्ञा शब्दोके अर्थमे कोई विशेष भेद नहीं, तथापि कान्यशास्त्रमें ये दो भिन्न अलंकार है। अवज्ञाका उल्लेख पीयूषवर्ष जयदेवने सबसे पहले किया (चन्द्रालोक, ५: १०७) और तिरस्कारका पण्डितराज जगन्नाथने । अवज्ञा अलंकार उल्लास (चन्द्रालोक, ५-१०१)के विरुद्ध है, तिरस्कार अनुज्ञाके । वास्तवमे 'काव्यप्रकाश'की 'नागेश्वरी' व्याख्या (पृ० २९४)में अनुज्ञा एवं तिरस्कार अलंकारोंके सारको विशेषालंकारके अन्तर्गत बताया है। यह विशेषके ही दो पक्ष समझने चाहिये। दूषित वस्तुमे गुण ढूँढ़कर उसकी इच्छा करना अनुज्ञा है, तो गुणान्वित वस्तुका निरादर करना तिरस्कार है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्यों-ने प्रायः इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। उदा०--"निर्मण होना भला, ग्रणके गौरवपर धिवकार है। क्योंकि जब कि अन्य बृक्ष तो स्वस्थ खड़े शोभा देते है तो चन्दनके वृक्षको काटा जाता है"। चन्दनमे गुण होना भी दोष है क्योकि उसकी कामना होती है। अथवा—"जिन होवह श्रिय विभव औ गज तुरंग बर बाग । जिनमे रत नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग" (अ० मं०, पृ० ३८१)। यहाँ भगवद्भक्तिके विरोधी होनेके दोषके कारण वैभवादिका तिरस्कार वर्णित है। ---ज० कि० व० तीर्थवारि-तान्त्रिक साधनामे मद्यको तीर्थवारि कहते हैं (दे० 'पंचमकार')।

तीवानुभृतिवादी आलोचना-प्रणाली – जिस आलोचना-में कृतिके स्नष्टाकी तीवानुभृतिका स्पष्ट आकलन होता है, उसे तीवानुभृतिवादी आलोचना कहते हैं । किसी भी कलाकृतिकी श्रेष्ठताका निर्णय करनेके पूर्व स्वयंसे दो प्रश्न पूछना चाहिए—पहला, क्या कलाकारने जिस अपूर्व रूपकी अलक देखी है, वहीं मैं भी देख रहा हूँ ? यदि हाँ, तो मैं

उससे वशीभूत हूँ या नहीं ? दूसरे, क्या कलाकारने जिस अपूर्व जगत्का निर्माण करना चाहा है, उसमे काल्पनिक वास्तविकता है अथवा नहीं, और है तो कहॉतक ? यदि हम सभी वर्गोंके कलाकारोंसे व्यक्तिगत प्रदर्शन, निष्कपट अभिन्यक्ति तथा मौलिकताकी मॉग न करके केवल एक ही विशिष्ट गुणकी मॉग करें तो कडाचित् आलोचना-क्षेत्रकी बहुत कुछ विश्वंखलता कम हो जायगी। वह विशिष्ट गुण है अतिशय तीवानुभूति । कलाकार जितनी ही तीवानुभूति दे सके, उतनी ही उसकी कृति श्रेष्ठ होगी। तीवानुभूति-वादी आलोचना-प्रणालीमे कलाकारकी तीवानुभूति ही खोजी जाती है और उसके रूपोंको प्रस्तुत किया जाता है। नाटक या काव्यमें पात्रोंका भावावेशमय आक्रोश, अतिश्योक्तियोकी स्थिति आदि तीवानुभूतिके ही रूप है। तीवानुभूतिको प्राचीन यूनानी समीक्षकोने भव्य-भावना-प्रसार, रोमीय समीक्षकोंने तेज और शक्ति तथा पुनरुत्थान-कालके समीक्षकोंने प्रेरणा कहा है (विशेष दे०—'आलो-चना, इतिहास तथा सिद्धान्त': खत्री) ।-वि॰ मो॰ श॰ तुक, तुकांत-किसी छन्दके दो चरणोंके अन्तमे जब अन्त्यानुप्रास आता है तो उसे तुक कहा जाता है। चरण-के अन्तमें होनेके कारण उसे तुकान्त भी कहते है। तुकमें स्वर और व्यंजन, दोनोकी समानता और आंशिक एकता रहती है। उर्दू और फारसी काव्यमे केवल स्वरसाम्यसे भी तक बन जाता है, जैसे अलिफका काफिया 'देखा' और 'भला'मे हो सकता है। हिन्दीमें साधारणतया इस प्रकारके तुक ब्राह्म नहीं माने जाते, उनमे व्यंजनोकी एकता भी आवश्यक रहती है, जैसे 'देखा' 'लेखा', 'भला' 'गला'-में । संस्कृतमे स्तोत्रो और अष्टपदियों षट्पदियोको छोडकर सभी प्रचलित छन्दों (वृत्तों)में तुकका अभाव मिलता है। वस्तुतः तुकका विकास लोकभाषाओकी गेय-परम्परासे हुआ और संस्कृत साहित्यमे जयदेव आदिके गीतोमे ही वह अपवादरूपमे पाया जाता है- 'किव संस्कृतके वृत्तमे, तुक विकलप थल होत । भाषा छन्दनिमें अवसि, सनियम करत उदोत" (वृ० त०, ३)।

हिन्दीमे कुछ किवयोंने संस्कृतके वृत्तोंमें भी तुकका समावेश कर दिया। उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्तका निम्नलिखित वसन्तितल्का वृत्त लिया जा सकता है— "ओहो ! मरा यह वराक वसन्त कैसा ! ऊँचा गला रूँथ गया अब अन्त जैसा । देखो, बढा ज्वर, जरा जड़ता जगी है । लो ऊर्ध्व श्वास इसकी चलने लगी है" (साकेत, नवम सर्ग) । कुछ तुकोंके साथ स्थायी अंश भी संयुक्त रहता है, जिसे उर्दू और फारसीकी शायरीमे रदीफ नाम दिया जाता है । उपर्युक्त वृत्तमे प्रयुक्त जगी है, लगी है, में 'है', इसी प्रकारका अंश है । कुछ तुक दोहरे होते है, जैसे उपर्युक्त वृत्तमे ही 'वसन्त कैसा' और 'अन्त जैसा'। वसन्तका तुक अन्त है और कैसाका तुक जैसा। इस तरहके दोहरे तुक मैथिलीशरण गुप्तके द्वारा ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुए है।

तुकान्तके सम्बन्धमें शास्त्रीय विवेचन मुख्यतया भिखारी-दासके 'कान्यनिर्णय', रामसहायकी 'वृत्ततरंगिनी' और जगन्नाथप्रसाद 'मानु'के 'छन्दप्रभाकर'मे उपलब्ध होता है। 'काव्यनिर्णय'के इक्षीसर्वे उछासमें तुकोंका वर्गीकरण इस प्रकारसे किया गया है—१. उत्तमः—(क) समसिर, (ख) विषमसिर, (ग) कष्टसिर। २. मध्यमः—(क) असंयोग-मिलित, (ख) स्वरमिलित, (ग) दुर्मिल । ३. अधमः—(क) अमिलसुमिल, (ख) आदिमत्त अमिल, (ग) अन्तमत्त अमिल । वीप्सा, याम और लाटिया, ये तीन मेद दासने और दिये हैं। लाटिया तुक, रदीफके साथ आनेवाला काफिया है।

'भानु'ने सम-विषमादि चरणोंमें तुकोंकी स्थितिके आधार-पर उनका विभाजन छः भेदोमे किया है (काव्य-प्रभाकर, पृ० २९६-९८)--१. सर्वान्त्य, २. समान्त्य विषमान्त्य, ३. समान्त्य, ४. विषमान्त्य, ५. समविषमान्त्य, ६. भिन्न-तुकान्त । उत्तम, मध्यम और निकृष्टके नामसे दासने पूर्वोल्लिखित तुकभेदींकी सत्ताको भी स्वीकार किया है। समसरि तुक-दरसी, सरसी, परसी, बरसी (धनानन्द: सुजान ०)। विषमसरि -- नीरन, गंभीरन, धीरन, तीरन (भिखारीदास: का० नि०, २२), इसमे एक चार अक्षरका तुक है। कष्टसरि-मुसकात हैं, सरसात है, प्रभात है, जात है (वही), इसमे प्रभात तुक कष्टसरि है। मध्यम तुकमे असंजोग-व्याहि, चाहि (वही), चाहिके स्थानपर च्याहि होना चाहियेथा। सुरमिलित-रोई, कोई, (साकेत, ९)। द्रिंकित—उज्ज्वल, निरमल, स्रीफल, हिमंचल (का० नि०, २२), इसमें हिमंचल ऐसा तुक है। अथम तुक्रमें अमिल-पलके, अलके, झलकेके साथ छकें अमिल है (वही) । वीप्सा--धनु धनु, छनु छनु, तनु तनु, वनु बनु । लाटिया-फिरत है, फिरत है, फिरत है, फिरत है (वही)। तुरंगम-वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद । यह वृत्त दो नगण और दो गुरुओंसे (III, III, SS) बनता है। दामोदर मिश्रने तुंगा (वा० भू०, २: ७२), 'प्राकृतपैगल'मे तुंग; भरतने (नाट्य॰, ३२, १३६) मधुकर सहज्ञाख्या; दुःख-भंजन (वाग्वहभ, समवृत्त ३५)ने तुंगा; भानुने तुंग (छं० प्र०); दासने तुंगा (छं० ५: ६८) नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०-"बहुत वदन जाके, विविध वचन ताके। बहुभुज युत जोई, सवल कहिय सोई" (रा० चं०, ४:१०)। तुल्यदेहित्त्वय-दे० 'काव्य-हरण', 'अर्थ-हरण'का भेद। त्तत्यप्राधान्य व्यंग्य-ग्रणीमृत व्यंग्यका एक भेद, जहाँ वाच्यार्थं तथा व्यंग्यार्थं दोनों समान रीतिसे उत्कृष्ट हों। संदिग्धप्राधान्य व्यंग्यमें वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थकी सापेक्षिक उत्कृष्टताका निर्णय नहीं हो पाता, किन्तु इस भेदमें दोनो निश्चित रूपसे समकक्ष कहे जा सकते हैं। पन्तकी इन पंक्तियोंका वाच्यार्थ तथा उनका व्यंग्यार्थ (--"मनुष्यके दिन एक-से नहीं रहते, उत्थान-पतन यही सृष्टिका नियम है"), दोनों ही समान रीतिसे उत्कृष्ट हैं-- "आह बचपनका कोमल गात, जराका पीला पात । चार दिन सखद चाँदनी रात । और फिर अन्धकार अज्ञात" (का॰ द०, पृ० — ড০ হা০ হা০

रहा है। अभिप्राय है तुल्य-परस्पर समान-योगका सम्बन्ध अथवा अन्वयका होना। दण्डीने 'काव्यादर्श'में अधिक गुणवान् जनोंके सादृश्य-प्रतिपादनमे तुल्ययोगिता मानी है। उद्भट, रुय्यक तथा विद्याधरके अनुसार इसमे औपम्य-का अन्तर्निहित होना अनिवार्य है-"प्रस्तुत या अप्रस्तुत वस्तुओंमे, जो एक ही गुण-धर्मके आधारपर सम्बद्ध हो जायँ, सादश्य भी होना चाहिए" (अलं॰ स॰) । इनकी दृष्टिसे मात्र वस्तुओंका एक धर्म होना ही तुल्ययोगिता नहीं है। परन्तु मम्मट तथा विश्वनाथ प्रकृत अथवा अप्रकृतके साधारण धर्मके ग्रहणको पर्याप्त मानते है-"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।" (सा० द०, १०: ४८), अर्थात् प्रम्तुत या अप्रम्तुतका एक-दृसरेके साथ समान धर्मसे मम्बद्ध होना । जयदेवने 'चन्द्रालोक'में 'क्रियादि'के द्वारा प्रस्तुनों और अप्रस्तुनोंकी तुल्यतामें यह अलंकार माना है (५:५१)। अप्पय दीक्षितके लक्षणमें 'कान्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'के 'धर्मेंक्य'का प्रभाव है। भोजने 'सरस्वती-कण्ठाभरग'में हित तथा अहितमें व्यवहारतुल्यताको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने तुल्ययोगिताके इस सम्पूर्ण विकासकमको अपने विवेचनमें स्थान दिया है। जगत सिंह-ने 'भाषाभूषण'में भोजके लक्षणको प्रथम भेद, 'चन्द्रालोक'-के लक्षणको दूसरा भेद तथा दण्डीके लक्षणको तीसरा भेद माना है। अन्य आचार्योंमें मतिराम, भूषण आदि कतिपय-ने दण्डीके लक्षणको छोडकर केवल दो भेद माने हैं और दास तथा पद्माकर आदिने तीनों भेदोको स्वीकार किया है। कुछने मम्मट आदिके समान वर्ण्य तथा अवर्ण्यका अलग उल्लेख किया है।

प्रथम—केवल अनेक प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुतोंका एक ही साधारण धर्म एक बार कहा जाय—"जहाँ अवर्ण्यनको धरम के वर्ण्यनको एक" (ल० ल०, १३०)। पद्माकरने इसके दो भेद किये है—'वर्न्यनको जह धर्म इकैई' तथा धर्म इके जु अवर्न्यन केरी' (पद्मा०, ७१)। उदा०— "लखि तेरी सुकुमारता, एरी या जग माँ हि। कमल गुलाव कठोरसे किहिंको लगन नाहिं" (अ० मं०, २५३)। यहाँ कमल और गुलाव, दोनों अप्रस्तुतोंका एक धर्म कथन किया गया है तथा—"काहू के क्यों हूं घटाये घटै नहिं सागर औ गुन-आगर प्रानी" (का० नि०, ८)। यहाँ 'सागर' औ गुन आगर प्रानी'के मात्र 'घटाये घटै नहिं का एक धर्म कहा गया है। इसी प्रकार—"अभिनव जोवन जोति सौ जगमग होत विलास। नियके तन पानिप बढ़ै, पियके नैन पियास" (ल० ल०, १३२)। यह वर्ण्यका उदाहरण है।

द्वितीय—हित-अनहितमे तुल्यवृत्तिके वर्णनमें—"हित अनहितको एक्सों जह बरतन व्यवहार" (शि० भू०, १२६) अथवा—"सम फलप्रद हित अहित करें, काह्कौ ये कर्म" (का० नि०, ८)। उदा०—"जे निसि दिन सेवन करें, अरु जे करें विरोध। तिन्हें परम पद देत हरि, कहीं बौन यह बोध" (ल० ल०, १३४) अथवा—"दास न पापी सुरापी तपी औ जापी हितू अहितू विलगाई। गंग तिहारी तरंगनिसों सब पांचे पुरन्दरकी प्रभुताई" (का०

तुल्ययोगिता - साद्यगर्भ गम्यौपम्याश्रयका

अर्थालंकार । यह प्राचीनों (भामह, दण्डी आदि)से स्वीकृत

नि॰, ८)। यहाँ हित-अनहितके प्रति गंगाकी समानवृत्ति कहीं गयी है।

तृतीय—प्रस्तुत (उपमेय)की उत्कृष्ट गुणवालोंके साथ गणना—"जा-जा सम जिहिं कहन को वहैं-वहैं कि ताहि" (का॰ नि॰, ८) अथवा—"बहुत बड़ेनि संग बन्येंहू आनौ" (पद्मा॰, ७५)। उदा॰—"कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामिन मन मानि। चौथो तेरो सुजस हू, है मनसाके दानि" (अ॰ मं॰, २४७)। यहाँ यराको उत्कृष्ट वस्तुओके साथ गिनाकर उनके समान फल्टदायक कहा गया है। अथवा "प्रवल सुरेस रमेस महेसा। सेस गनेस हु तुम हु नरेसा" (पद्मा॰, ७५)।

दीपक (प्रथम)में भी एक धर्मका निर्देश अभिप्रेत है, किन्तु वहाँ प्रस्तुत-अपस्तुत, दोनोंके विषयमें यह कथन होता है, जब कि तुल्ययोगितामें दोनोमेसे एकको लिया जाता है।

तेज-दे॰ 'सात्त्वक गुण', नायक।

तेलुगु (भाषा तथा स्माहित्य) — तेलुगु आधुनिक भारतीय भाषाओमें एक प्रधान भाषा है। यह १,१३,११० वर्गमील के विस्तृत क्षेत्रमे तीन करोड़ बीस लाख जनसमूहकी मातृ-भाषाके रूपमें बोली जाती है। आधुनिक भारतीय-भाषाओमें हिन्दीके बाद सबते बडी संख्यामे बोली जानेवाली भाषा यही है। इसकी अपनी स्वस्थ एवं समुन्नत सांस्कृतिक परम्परा रही है, अपनी लिपि अलग रही है तथा साहित्य विशाल रहा है।

तेलुगु, तेनुगु, आन्ध्र-ये तीनों शब्द आजकल एक ही भाषाके लिए पर्याय बने हैं। इनमेंसे 'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग क्रमशः 'जातिबोधक', 'देशवाचक' और अन्तमे 'भाषासूचक' अथोंमें होता आया है। 'तेनुगु' और 'तेलुगु' ये शब्द 'आन्ध्र'के परवतीं रहे हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (तस्यह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा असुः, पंचाशत् एकज्यायांसो मधुछन्दसः पंचाशत् कनीयांसः, तद्रै ज्यायांसी न ते कुलम् मेनिरे, तान् अनुव्याजहारन् तानवः प्रजा भक्षिस्तेतित प्तेन्धाः पुण्डाः शवराः पुलिन्दा मृतिवा इत्युदन्त्था बहुवो भवन्ति वैश्वामित्र। दस्यूनां भ्यिष्ठा) । महाभारतके सभा-पर्व, रामायण (वाल्मीकि-रामायण, किष्किन्याकाण्ड, ४१)-मे, गिरनार पहाडके शिलालेख ('अन्धिपिरिन्देष्' अशोकके गिरनार शिलालेख)मे, शाहबाजगढ़ीके शिलालेखमे, 'मनु-स्मृति', 'मत्स्य', 'वायु', 'ब्रह्माण्ड' इत्यादि पुराणोमे तथा इतिहासकार प्लिनीकी रचनामे आन्ध्र जातिका उल्लेख मिलता है। इतना सब होनेपर भी स्वयं आन्ध्र शातकणी या सातवाहन और इक्ष्वाकु शासकोंने अपने अनेक शिला-लेख (ई॰ पू॰ २२१से ई॰ सन् २१८तक, राज चलाने-वाले आन्ध्र सम्राटोंके शिलालेख, नासिक, कन्हेरी, काली, नानाधाट, अमरावती, चिन्नचिन्ना वगैरह स्थानोमें प्राप्त हुए है) आदिमे अपने जातिसूचक इस शब्दका उल्लेखतक न किया था। सम्भवतः वे लोग विश्वामित्र द्वारा अभिश्वाप्त सन्तितिके अनुयायी कहलाना न चाहते थे। फिर तीसरी शताब्दीके आसपासके पहनराज शिव स्कन्दनर्भाके एक ताम्रपत्र (मैदवोलुमें प्राप्त) और हरिहडगिह्नवाले लेखमें आन्ध्र राजाओंके राज्यके लिए पहले-पहल 'अन्धापथीयो'

(आन्ध्रपथ) और 'सातवाहनिरट्ठ' (सातवाहन राष्ट्र) नाम मिलने हैं। चीनीयात्री हेनत्सांगकी रचनाओं में भी इस राज्यके लिए 'आन्ध्रमण्डल' नाम मिलता है। शातकणिराज्य तो अपने शिलालेखोमे 'दक्षिणापथ' यही नाम ही देते थे। नासिकके गोतमीवालाश्रीके लेखमें (दक्षिण) 'पथेसरो' यह उल्लेख मिलता है।

'आन्ध्र' शब्दका प्रयोग भाषाके लिए होने लगा है। तेलुगुके सर्वप्रथम महाकाव्य 'भारतमन्य'के रचियता नन्नय महारकके समयमें उनके आश्रयदाता राजराज द्वारा प्रदत्त एक ताम्रपत्रमें नन्नयके सहयोगी नारायण भट्टको 'आन्ध्र किताविशारद' कहा गथा है। इनका समय ११वी शती रहा। किन्तु उस समयके पूर्व ही यहाँकी भाषाके लिए 'तेनुगु' नाम व्यवहारमे था और 'तेलुगु' नाम १२०० ई०के आसपास चल पड़ा था। 'तेरुगु', 'तेनुगु' इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्तिके बारेमे पण्डितोमे मतैक्य नही रहा है। तेलुगु शब्दको कुछ लोग 'त्रिलिंग'का विकार मानते है तो दूसरे 'त्रिक्रिंग'का।

भाषाद्यास्त्रियोंके अनुसार तेलुगु भाषाकी उत्पत्तिके बारे-मे दो मत पाये जाते है। द्राविड भाषाओका सर्वेक्षण करके उनका तुलनात्मक न्याकरण प्रस्तुत करनेवाले काल्डवेल तथा उनकी तरह सोचनेवाले तेलुगुको द्राविडभाषा-परिवार-का एक सदस्य मानते हैं। भारत-यूरोपीय परिवारसे उसे भिन्न मानते है। किन्तु आन्ध्र भाषा तथा अन्य भारतीय माषाओंका समन्वयातमक अध्ययन करके 'आन्ध्र भाषा चरित्र' नामक बृहदाकारयन्थ प्रस्तुत कर नेवाले चिलु-करि नारायण रावका मत है कि तेलुगु आर्य परिवारकी भाषा है। जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाएँ प्राकृत, पालि, अपभंश आदि अपने-अपने क्षेत्रीय भाषा-विकारोंकी परिणाम हैं, उसी प्रकार तेलुगु भी दक्षिण-भारतमें ईसाके पूर्व और बादकी सदियोंने प्रचलित प्राकृतका ही, जिसमें हालकृत 'गाथासप्तराती' और गुणाढ्य-की 'बहत्कथा' वगैरह है, क्रमानुसार विकसित रूप है। पश्चिमी पण्डित ओल्डनवर्गने अपने 'तिपिटक' नामक यन्थ-के दूसरे खण्डकी भूमिकामें लिखा है कि लंकामे प्राप्त 'तिपिटक' आदि बौद्ध यन्थोंकी भाषा 'पालि' उस समय आन्ध्र जनपदोंमे व्यवहृत प्राकृत ही थी। दोनोंमें अन्तर नहीं है। तेलुग भाषाके व्याकरण-ग्रन्थ 'आन्ध्र शब्द-चिन्तामणि'में नन्नय भट्टारकने तेलुगुके प्रादुर्भावके बारेमे आजसे लगभग ९०० वर्ष पूर्व स्पष्ट लिखा है कि "आद्य-प्रकृतिः प्रकृतिश्चाये, एषा तयोविकृतिः।" नारायण राव लिखते है कि 'सच बात तो यह है कि ई० पू० ३००से लेकर ई० सन् ५००तक दक्षिण-भारतमें व्याप्त प्राकृतोको लेकर शोधकार्य पर्याप्त मात्रामे नहीं हुआ । दक्षिणी प्राकृतों मे एक 'द्राविडी प्राकृत' भी थी। अन्य भारतीय प्राकृतोंकी तरह उसका भी विकास हुआ था। दूसरी प्राकृतोंपर द्राविड प्राकृतका जैसा प्रभाव पड़ा था, उसी तरह द्राविड भाषाओं-पर भी अन्य प्राकृतोका उतना ही असर रहा। प्राचीनतम आर्य भाषाओंसे ही जिस प्रकार दूसरी प्राकृतें निकली थी, उसी प्रकार द्राविड भाषाओंका भी विकास हुआ है।"

जहाँतक तेष्ठगु लिपिका प्रश्न है, यह तो सभी लोग

मान चुके हैं कि वह प्राचीन बाह्मीकी दक्षिणी शाखाका ही परिणाम है। दक्षिणकी चारो लिपियोमें कन्नड लिपिके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो प्रायः एक सी लगती हैं। लोग यह मानते है कि ३-४ शताब्दियोंके पूर्वतक दोनों भाषाओंकी एक ही लिपि रही थी।

तेलुगुवर्णमाला अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सम्पूर्ण है। उसमे ५६ अक्षर है। तेलुगु भाषाके सभी शब्द अजन्त या स्वरान्त होते हैं। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओंकी तरह व्यंजनान्त नही। इससे यह भाषा संगीतके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। कर्नाटक संगीतके सभी वाग्गेयकारोंने इस भाषामे कृतियाँ रची है। तेलुगुकी इसी संगीतात्मकताको देखकर काल्डवेलने उसे 'पूर्वी इटालिया' कहा है। तेलुगु भाषा-भाषी जनताका उच्चारण प्रायः स्पष्ट एवं ग्रुद्ध रहता है। समस्त ध्वनियोंका उच्चारण वे कर लेते है।

अधिक विस्तृत क्षेत्रमें फैले रहनेके कारण विभिन्न प्रान्तोंकी व्यावहारिक तेलुगुके रूपोंमें थोड़ी-बहुत भिन्नताका आ जाना खाभाविक है। करनूल, अनन्तपुर कड़या आदि पश्चिमी जिलोंकी तेलुगुमें नेल्लूर, चित्र्र, अंगोल जैसे दक्षिणी सरहदकी भाषामें, उत्तरमें विशाखपट्टण, गोदावरी जिलोंकी बोलीमे और तेलंगानेकी भाषामें उच्चारण एवं शब्द-प्रयोगको लेकर एकरूपता नहीं रह गयी है, किन्तु इसका मतलव यह नहीं कि यह कोई अलग-अलग बोलियाँ हैं। तमिल, कन्नड, महाराष्ट्र एवं उत्कल, इन पार्श्ववित्ती भाषाओंका प्रभाव सरहदी जिलोंके भाषा-व्यवहारपर सहज ही लक्षित होता है। राजनीतिक कारणोंसे तेलंगानेकी तेलुगुमें उर्दू शब्दोंका अंश पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है।

किन्तु कुछ बोलियाँ भी, जो केवल मौखिक हैं और जिनका सम्बन्ध तेलुगुसे दिखाया जा सकता है, वर्तमान आन्ध्र प्रदेशके कुछ पार्वत्य क्षेत्रोंमे और उसके बाहर भी पायी जाती है।

य्रियर्सनने यह राय प्रकट की है कि तेलुगुका अन्य द्राविड भाषाओंसे विलक्षण, अपना स्वतन्त्र स्थान रहा है। तेलुगुको प्राप्त इस विलक्षणताका कारण, नारायण रावके अनुसार, अन्य द्राविड भाषाओंसे अधिक प्राचीन प्राकृतोंके साथ उसका नैकट्य ही है। उन्होंने अपना यह दृ विश्वास प्रकट किया है कि तेलुगुके बारेमे विचार करते समय केवल द्राविड भाषाओंके साथ उसके सम्वन्थकी मीमांसा करनेसे ही काम न चलेगा। अन्य द्राविड भाषाओंके साथ-साथ प्राचीन प्राकृतो तथा वर्तमान आर्य भाषाओंके सम्बन्थका भी परीक्षण करना, तथ्यप्रकाशनके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तेलुगुमें स्फुट साहित्यका दर्शन हमें सन् १०५० ई०के आसपास होता है। तबसे लेकर लगभग ९०० वर्षोंका हितहास इस वाड्ययका पाया जाता है। महाकि नन्नय भट्टारकका संस्कृत भारतका काव्यानुवाद इस साहित्यकी सर्वप्रथम और सर्वांगसुन्दर कृति है। महाकि नन्नयके ही साथ तेलुगुके अवतक उपलब्ध साहित्यका प्रारम्भ माना जाता है। ये न केवल महाकि थे, बल्कि तेलुगुके सर्वप्रथम वैयाकरण भी रहे। किसी भी साहित्य-परम्पराका श्रीगणेश उत्तम श्रेणीकी काव्यरचना एवं व्याकरण-ग्रन्थके साथ एकदम नहीं माना जा सकेगा। शताब्दियोंकी पूर्ववरीं

साहित्य-साधनाके परिणामस्वरूप ही वैसी परिणित लक्षित होगी। नन्नथकृत व्याकरण-प्रन्थ 'आन्ध्र शब्दिबिन्तामणि'- का प्रणयन संस्कृतमें हुआ था। इस कृतिमें पूर्ववतीं अनेक काव्योंका उल्लेख भी, उदाहरण प्रस्तुत करते समय, किया गया है। इसके अलावा इनके पूर्वके साहित्यस्वरूपपर प्रकाश डालनेवाले कई प्राचीन शिलालेख, तॉवेंके बने दानपत्र प्राप्त हुए है, जिनपर उत्कीर्ण स्वस्थ काव्यमय रचनाओंसे प्रकट होता है कि तरुवोजा, मध्याकरा वगैरह व्यवस्थित देशी तेलुगु छन्दोंमे सुन्दर साहित्य-प्रणयन होता था। शिलालेखों और दानपत्रोके इन प्रमाणोंके बलपर यह कहा जा सकता है कि तेलुगुमे साहित्य-रचना ग्यारहवीं शतीसे काफी पूर्व प्रारम्भ हुई थी और ईसाकी ७वी शतीको उसका प्रारम्भिक विन्दु माना गया है।

आधुनिक तेलुगु साहित्यके युगप्रवर्तक कं॰ वीरेशिंलगम् पन्तुलुके अनुसार नेलुगुके १२५० वर्षीके साहित्यका काल-विभाग इस प्रकार है—

- (१) अज्ञात युग—ई० सन् ७००से लेकर १०५०तक ।
- (२) आदियुग-ई० सन् १०५० से लेकर १५०० तक ।
- (३) मध्ययुग-ई० सन् १५००से लेकर १७५०तक ।
- (४) वर्तमान युग—ई० सन् १७५० ते लेकर आजतक । साहित्यमे प्रतिपादित विषयके अनुसार मोटे तौरसे इनके क्रमशः चार और भी नाम दिये जा सकते है—
- (१) शासनयग-लेखो और ताम्रपत्रोंका काल।
- (२) पुराणयग-संस्कृतके पुराणयनथोका अनुवाद-युग ।
- (३) प्रबन्धयुग-अनुकृत या स्वतन्त्र कान्यरचनाका युग ।
- (४) गद्ययग-नवीन विकासका युग ।

इन चारों युगोंका संक्षेपमें परिचय नीचे दिया जाता है—

- (१) अज्ञात युग—वैसे तो ई० पूर्व २००के करीब आन्ध्र सातवाहन राजाओके समयसे इसका प्रारम्भ माना जा सकता है, किन्तु सन् ७०० ई०के पूर्वके जो भी शिलालेख मिले हैं, उनकी भाषा या तो संस्कृत रही या प्राकृत । तेलुगुका रूप तो ७वें शतकके बादवाले शिलालेखोंने देखा जाता है। इनमे वर्तमान अनन्तपुरम् जिलेमे प्राप्त बादामी चालुक्य नरेशोके दो शिलालेख तथा जिला गुण्टूरमे उपलब्ध वेंगी चालुक्य राजाका शिलालेख विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इनमे प्रयुक्त भाषाका रूप काफी प्राचीन रहा। लेखोंके अतिरिक्त इस युगके साहित्यके दूसरे प्रकार है—'तुम्मेदपदमुलु'(भ्रमरगीत), गोविवपदमुलु', 'मेलुकोलुपुलु' (प्रमातिवा), सुद्दलु' आदि।
- (२) पुराणयुग—इस युगके साहित्यका प्रणयन धर्म-प्रचार, धर्म-रक्षा एवं सांस्कृतिक उत्थानवाले तीन लक्ष्योको लेकर चला था। आदिकित नन्नयके पूर्व देशमें बौद्ध एव जैन विचारधाराओंकी प्रवलताके कारण सनातन धर्मका हास-सा हो चला था। सनातन वैदिक धर्मके प्रति फिरसे जनताको आकृष्ट करनेके लिए उन महाभट्टारकने अपने आश्रयदाता चालुक्य-नरेश राजराज नरेन्द्रकी प्रेरणासे, पावनी गौतमीके तीरपर, पंचम वेद 'महामाग्त' प्रन्थका कान्ता-सम्मित-कान्यमय शैलीमे सरस अनुवाद किया था, किन्तु 'अरण्य' पर्वका थोड़ा ही अंश अनूदित कर पाये कि असमयमें ही

उनका देहान्त हो गया। नन्नयके करीब दो सौ साल बाद किनहां तिकन सोमयाजी हुए थे, जिन्होंने शेष १५ पर्नोंका अनुवाद, अद्भुत क्षमता एवं सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किया था। अधूरे अरण्यपर्वका शेषांश, पीछे १४वी शतीके मध्यभागमें जाकर, एक तीसरे महाकवि 'प्रबन्ध-परमेश्वर' यर्राप्रगडाने पूरा किया था। इस प्रकार 'महाभारत' यन्थका अनुवाद तीन महाकवियो द्वारा तीन शताब्दियोंमे जाकर सम्पन्न हुआ था। इन्हीको 'कवित्रयी'के नामसे श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है।

इस युगके अन्य उल्लेखनीय कवि है: -राजा नन्नेचोड, नाचन सोमनाथ, पाल करिक सोमनाथ, रायनि भारकर, बमोर पोतना, महाकवि श्रीनाथ । साहित्यके गौरवग्रन्थ है:-'कुमारसम्भवम्', 'उत्तर हरिवंशम्', 'भास्कर रामायणम्', 'आन्ध्र महाभागवतमु', 'काशीखण्डमु', 'शृंगारनैषधमु', 'बसवपुराण्म्' वगैरह । इनमें अन्तिम रचना स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस युगतक आते-आते काव्यरचनामे दो विधान जोर पकड़ने लग गये थे। एक मार्गी, अर्थात् संस्कृत काव्यरीतियों का अनुसरण करनेवाली संस्कृतशब्दबहुला रचना और दूसरी देशी, यानी जनसमूहकी रुचिके अनुसार उनकी ठेठ तेलुगुमें चलनेवाली शैली। 'महाभारत', 'भागवत', 'भास्कर रामायण', 'नैषधम्' वगैरह मागीं कविताकी रचनाएँ रहीं। 'कुम।रसम्भवम्' 'बसवपुराणम्' वगैरह शैव धर्मप्रतिपादक यन्थ देशी शैलीमें मागीं रचनाओंके लिए प्रतिक्रियाके रूपमें लिखे गये। क्रमशः वैदिक धर्मके प्रति आस्था कम होती गयी और वीर शैव और वीर वैष्णव धर्म जनतापर हावी होने लगे। ऐसे समयमें महाकवि तिकना, अपने यन्थोंमें ठेठ तेलुगु शब्दोंका प्रचुर प्रयोग कर, मार्गी साहित्यको भी साधारण जनताके बहुत समीप ले गये।

(३) प्रबन्धयुग-यह तेलुग साहित्यका स्वर्णयुग माना जाता है। महाकवि श्रीनाथके साथ अनुवादोंकी परम्परा रुक-सी गयी और कान्यप्रयासियोंकी दृष्टि मौलिक प्रबन्ध लिखनेकी ओर हुई। सोलहवीं शतीके प्रारम्भसे प्रबन्धरचना, यानी स्वतन्त्र महाकाव्य-प्रणयनका सूत्रपात हुआ । देशमें काकतीय शासकोके समयसे ही मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे। एक प्रवल हिन्दू राष्ट्रकी स्थापना करके आर्य धर्म एवं संस्कृतिकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे महात्मा विद्यारण्यके दिशा-दर्शनमें प्रतापी विजयनगर राज्यकी स्थापना हुई। विजयनगरके राजाओंमे सबसे प्रतापी और आदर्श प्रभु हुए कृष्णदेवरायलु । वे स्वयं बड़े विद्वान् एवं किव थे और उन्होंने अपने दरबार 'मुवन-विजय सभा'में 'अष्ट दिग्गज' महाकवियोंको प्रश्रय दिया था। अलुसानि पेदना, नन्दितिम्मना, तेनालिरामकृष्ण, धूर्जंटि, भटुमूर्ति मादयगारि महना, अय्यलराजु रामभद्रकवि, कन्दुकूरि रुद्रकवि धरन्धर दिग्गज कवि थे, जिन्होने 'मनुचरित्रमु', 'पारिजातापहरणम्', 'पाण्डरंगमाहात्म्यसुम', 'कालहस्ती-इवरशतकमु', 'वसुचरित्रमु' आदि अनमोल महाकाव्य रचे थे। स्वयं श्रीकृष्णदेवरायने 'आमुक्तमाल्यदा' नामक महायन्थ लिखा था। भटुमूनिने 'वसुचरित्रम्' नामक प्रवन्धके अलावा 'नरसभूपालीयमु' नामक रीतिग्रन्थ एवं 'हरिश्चन्द्र नलोपाख्यानम्' नामक द्रवर्थी काव्य रचे थे। इनके अलावा पिंगलि स्राचा नामक एक और महा-कविने 'कलापूर्णोदयमु' नामक अद्भुत महाकान्य रचा था, जिसकी टक्करका सर्वेलक्षणसम्पन्न कान्य दूसरा नहीं मिलता।

इस युगके उत्तरार्द्धमें साहित्यका रंगमंच विजयनगर राज्यके पतनके बाद, दक्षिणमे तंजाऊरके राजाओं के आश्रयमें चला गया। रघुनाथरायलु, अच्युत विजयराघव बड़े ही विद्वत्कवि एवं कविपोषक नरेश थे। तंजाऊरकी ही भॉति मदुरैमें भी तिरुमल नायक आदि राजाओं ने साहित्यको बहुत प्रश्रय दिया था। सुकवि चेमक्र्रवेंकटकविका 'विजयविलास', शेषम वेंकटपतिका 'ताराशशांकविजय', स्त्री-कि मुद्दुपलिका 'राधिकास्वान्तनमु' विजयराघवका 'रघुनाथनायकास्युदयमु', स्त्री-कि रंगाजम्माका 'उषापरिणयमु' वगैरह अनुपम प्रस्थ किसी भी साहित्यको गौरव प्रदान कर सकेंगे। इस युगके पूर्वार्द्धको स्त्री-कवि आतुक्रिर मोल्लाने एक छोटी, किन्तु सरस रामायण प्रस्तुत की है, जो अत्यन्त लोकप्रिय है।

इन अनुवादों तथा प्रबन्धोंके अतिरिक्त प्राचीन तेलुगुका शतक-साहित्य भी विशेष महत्त्व रखता है। शतक-काव्य-प्रणयनकी परम्परा अनुवाद-युगमे ही प्रारम्भ होकर अन्य साहित्यिक रचनाओके समानान्तर बराबर चलती रही है। ई० सन् ११७१के सुप्रसिद्ध शैव कवि पण्डिताराध्यकी रचना 'शिवतत्त्वसारम्'के साथ इस रचनाका स्त्रपात हुआ था। कुल मिलाकर तेलगुमे १०००से भी अधिक शतककान्य लिखे गये थे, जिनमे ६००के करीब उपलब्ध हुए हैं। ये शतक भक्ति, शृंगार और नीतिपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनमें सौ या उससे अधिक संख्यामें, मुक्तक शैलीमें छन्द गुॅथे रहते है। प्रत्येक शतकका एक 'मकुट' होता है, जो प्राचीन हिन्दीके सतसईकारोंके नामोकी तरह, रचनाके प्रत्येक छन्दमें जोड़ा जाता है। तेलुगुके अत्यन्त प्रचित शतक-अन्थोंमे 'वृषाधिपशतक', 'नारायणशतक', 'दाशरथि-शतक', 'वेमनशतक', 'सुमतिशतक', 'आन्ध्रनायकशतक', 'भास्करशतक', 'नरसिंहशतक' वगैरह उल्लेखनीय है। यथावाक्कुल अन्नमय्या पालकुटिकि सोमनाथ, पोतनामात्य, गोपन्ना, वेना, बद्देन, भास्कर, कूर्मनाथ कवि, कासुल पुरुषोत्तम कवि वगैरह अत्यन्त प्रौढ एवं सफल शतककार इए है।

गीति-साहित्य—शतकोंकी तरह प्राचीन तेलुगुका गीति-साहित्य भी अत्यन्त सम्पन्न रहा। ये गीत भी भक्ति, शृंगार और नीतिप्रधान रहते थे और साहित्यके साथ संगीत एवं नाट्य गुणोंसे सराबोर रहते थे। इन गीतिकारोने अधिकांश सन्त-महात्मा रहे। गीति-साहित्यकी इस स्वस्थ परम्परामें १५वीं शतीके नाल्लपाक अन्नमाचार्य वगैरह तथा तिरुपतके भक्त कि क्षेत्रय्या, गोपन्ना (रामदास), नादयोगी त्याग-राज आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। त्यागराजकी कृतियाँ रामभक्तिसे अनुप्राणित थीं और तेलुगु साहित्यके विद्यापति 'क्षेत्रय्या'के पद शृंगारके सम्राट् मुळ्च गोपाल भगवान्की मधुर भक्तिथारासे मण्डित थे।

यक्षगान प्राचीन तेलुगु साहित्यके दृश्यप्रबन्धेंको यक्षगान कहा जाता है। संगीत, अभिनय एवं नृत्य, इन

तीन कलाओं मे प्रवीण कलाकार इनके प्रदर्शन किया करते थे। कन्दुक्किर रद्रकविकृत 'सुप्रीविवजयमु' तंजाऊरके राजा विजयराधवकृत 'रधुनाथाभ्युदयमु', सन्तप्रवर त्यागराजकृत 'प्रकृति भक्तविजयमु' ऐते दश्यप्रवन्धों प्रधान है। 'रामायण', 'महाभारत' एवं 'भागवत'की कथाओंको यक्षगानोंके रूपमे अभिनीत करनेकी अत्यन्त प्राचीन परम्परा तेलुगु जन-जीवनमे रही।

(४) वर्तमान युग-गद्ययुग या नवीन विकासका युग। ई० सन् १७५०तक देशमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासनके जम जाने और देशी साहित्यके पोषक राजा-महाराजाओंके अधिकारोंके कुण्ठित हो जानेसे साहित्यके क्षेत्रमे एक प्रकारका अवसाद-सा छा गया। विजयनगर राज्यके पतन-के वाद प्रभुसत्ताका विकेन्द्रीकरण जो हुआ, उससे सन् १६५० ई०से ही दक्षिणमे तंजाऊर, मद्राके अलावा पेनुगोंडा, चन्द्रगिरि, वेंकटगिरि, कावेंटिनगर, विजयनगर, (वर्तमान विशाखपट्टण जिलेके) पेदापुरम्, पिठापुरम्, तेलिगानेके गद्वाला नामक स्थानोमे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। इनके शासक तेलुगु साहित्यको करावलम्बन देते रहे। इनमेंसे दक्षिणके तंजाकर और मदराके राज-दरवारोंमें, जैसा अभी कहा गया है, साहित्यका काफी संवर्द्धन हुआ, किन्तु फिर भी १६५० ई०से लेकर १९०० ई०तकके ढाई सौ वर्षोंका समय साहित्यिक विकासके विचारसे हासयुग ही माना गया है। सन् १६५० ई०से १८५० ई०तकके उल्लेखनीय कवियोमें समुखं वेकटकुष्णप्प नायक, कृचिमन्त्रि तिम्मकवि, एनुगु लक्ष्मणकवि, अडिद्मु सूरकवि, कंकटि पापराजु पुष्पगिरि तिम्मकवि, गोपीनाथ वैंकटकवि वगैरहके नाम प्रसिद्ध है।

विदेशी शासनने यदि एक ओर साहित्यके विकास-पथमे अवरोध प्रस्तुत कर दिये तो दूसरी ओर कुछ अग्रेजी अधिकारी और ईसाई धर्मप्रचारकोंने तेलुगु गद्य-रचनाको प्रोत्साहन देकर, भाषा एवं साहित्यका अनमोल उपकार किया था। सी० पी० ब्राउन महोदयका नाम तेलुगु भाषा एवं साहित्यके उद्धारकके रूपमें अमर हो गया है। इन्होने एक बहुत बडा तेलुगु शब्दकीष 'ब्रोन्य निघंटुलु' बनाया था। जूलूरि अप्यशास्त्री और चिन्नयस्रि आदि देशी पण्डितोने भी भाषाकी उल्लेखनीय सेवाएँ की थीं।

फिर १९वी शतीके अन्तिम चरण और २०वी शतीके प्रथम चरणमे कन्दुकृरि वीरेशिलगम् पन्तुल दुए थे, जो आधुनिक तेलुगु साहित्यके जन्मदाता कहे जा सकते हैं। हिन्दीमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका जो स्थान है, वही तेलुगुके लिए पन्तुलुका रहा है। किवता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रोमे इस महान् लेखकने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया। अंग्रेजी साहित्य एवं बंगीय विचारधाराओंका, इनकी रचनाओंपर काफी प्रभाव पडा है।

वीरेशिंक्णम् पन्तुछके अनन्तर बहुतसे ऐसे साहित्यकार हो गये हैं, जिन्होने गद्य, किवता, नाटक, प्रहसन, भाषा एवं साहित्यका इतिहास, निवन्ध, समालोचना, कहानी आदि सभी साहित्य-शैलियोंमें ग्रन्थ-प्रणयन किया था। इनमेंसे गुरजाड अप्पाराव मण्डयाक पावंतीश्वरकिव, बहु-जनपिल्ल्सीतारामाचार्युछ, वेंद वेंकटरायशास्त्री, धर्मवरम्

रामकृष्णमाचार्य, वड्डादिसुब्बारायकवि, जयन्तीरामय्या, गिडुगुराममूर्ति पन्तुल, चिलुक्रि वीरभद्रराव, कोमरीजु लक्ष्मणराव, कोटू स्यामल कामशास्त्री, वाविल्ल रामस्वामिशास्त्री, तिरुपति वेंकटकडुल, वेंकट पार्वतीश्वर कडुल, सुरवरम् प्रतापरेड्डी आदि प्रसिद्ध है। तिरुपति वेंकट कडुल और वेंकट पार्वतीश्वर कडुल और वेंकट पार्वतीश्वर कडुल अत्यन्त प्रतिभाशाली आशुकवि एवं शतावधान चतुर थे। इनकी साहित्यिक यात्राओंने समूचे देशमे कवितान्प्रेम एवं प्रणयनकी लहर दौड़ायी। कोप्परपुक्तवल नामक कविवन्ध भी इसी खेवेंके आश्वकवि थे।

इनके अतिरिक्त आन्ध्र विद्यानमण्डली, विद्यानचित्रकान्मण्डली, साहितीसमिति, नन्य साहित्यपरिषद् आदि सारस्वत संस्थाओं द्वारा भी तेलुगु साहित्यकी श्रीवृद्धि हुई है। इस समय तेलुगु साहित्यकी सेवा करनेवाली संस्थाओं मे तेलुगु भाषासमिति, अखिल साहित्य कलाभिवर्द्धक आन्ध्र संसद, आन्ध्र सारस्वत परिषद् आदि साहित्य एवं लित-कलाओं के उत्थानके लिए प्रयास कर रही हैं।

तेलुग साहित्यकी सेवा आज भी अपने कृतिरत्नों द्वारा करनेवालोमे इनके नाम उल्लेखनीय है—रायप्रोल, सुब्बा-राव, तल्लावज्झल शिवशंकर स्वामी, महोपाध्याय काशी कृष्णाचार्य, कविसार्वभौम श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री, विश्व-नाथ सत्यनारायण, राल्लपिष्ठ अनन्तकृष्ण शर्मा, गडियारम् शेषशास्त्री, कालोजी नारायणराव, श्रीरंगम् श्रीनिवासराव, तुम्मल सीताराममृति चौधरी, गुर्रम् जाषुआ, पुट्टपति नारायणाचारी, पिंगलि काटूरि कविद्य, देवुलपिह कृष्ण-शास्त्री आदि । इन ख्यातनामा कवियोंके साथ स्वर्गीय वेट्टरि प्रभाकरशास्त्री, जनमचिशेषादि शर्मा, चिलुकृरि नारायणराव, अडिवि बापिराजुने क्रमशः शोधकार्य, कान्यरचना, भाषाका इतिहास, चित्र और शिल्पके क्षेत्रमे विशेष योगदान दिया था। मलंपलि सोमशेखर शर्मा परातत्त्व एवं इतिहासके उद्भट पण्डित है, जिन्होने शुष्क एव नीरस प्रतीत होनेवाले अनीतका सरस काव्यमय प्रतिपादन अनेक यन्थोंने किया है। मौलिक उपन्यासके क्षेत्रमें उन्नवलक्ष्मीनारायणपन्तुल, विश्वनाथ सत्य नारायण, नोरिनरसिंहशास्त्री, अडिवि वापिराज, मीक्कपारि नरसिंह शास्त्री, मधिरसुब्बन दीक्षित, गुडिपाटि वेंकचलम्की रच-नाएँ प्रसिद्ध है। कहानीके क्षेत्रमें श्रीपादकृष्णमूर्ति शास्त्री, चिन्तादीक्षितुलु, अडिनि नापिराजु, मुनिमाणिक्यम् नरसिह राव, विश्वनाथ सत्यनारायण, गोपीचन्द्र, कोडवटिगटि कुटम्बराव, पालगुम्मिपबराजु आदि प्रतिनिधि-लेखक है। हास्य और व्यंग्यके सबल लेखकोमे भमिडिपाटि कामेश्वर-राव प्रसिद्ध है। संस्कृतके अलंकारशास्त्र-प्रन्थोंके प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करनेवाले पण्डित लेखकोंमे वेदाल तिरु-वेंगलाचारी, सन्निधानम् सूर्यनारायण हास्त्री, जम्मुलपडक माधवराव दामी आदि प्रमुख है। साहित्यिक समालीचकी-में राह्यपछि अनन्तकृष्ण शर्मा, विश्वनाथ सत्यनारायण, शिष्टला सूर्यनारायण शास्त्री, पुरूपति नारायणाचार्य आदि-की सेवाएँ अनमील हैं। तेलुगु साहित्यका इतिहास प्रस्तुत करनेवालोंमें करुगंटि सीताराम भट्टाचार्य, चागंटि शेषय्या, पी० वें० हनुमन्तराव, मधुनापन्तुलु सखनारायण शास्त्री, अटुकूरि लक्ष्मीकान्त झा आदि प्रधान है। भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य करनेवालों में कोराड रामकृष्णपा, निडद्दबेल वंकटराव, गिडुगु सीतापित गंठि जोगि सोम्याजि आदि है। खण्डविल्ल लक्ष्मीरंजनम्ने 'आन्ध्रल संस्कृतचित्र' लिखा है। अनुवादके क्षेत्रमें काफी कार्य हुआ है, रवीन्द्र, शरत, प्रेमचन्द आदिक्षी रचनाओके अनुवाद हो चुके है। अनेक अंग्रेजी कृतियोके अनुवाद मी हुए है। इनके अलावा एकांकी नाटक, 'हरिकथा', 'पुराण', 'उपाहरणा', 'शतक', 'रेडियोरूपक', 'रिपोर्ताज', व्यंग्य-चित्र आदि अनेक साहित्य-रीतियों में ग्रन्थ-प्रणयन प्रचुर मात्रामें हो रहा है। देशके कोने-कोनेमें विखरे हुए सैकड़ो प्रचलित लोकगीतों एवं ख्रियोके गीतोको संकिलत करनेमें नेद्नुरि गंगाधरम्ने प्रशंसनीय कार्य किया है।

सिहायक ग्रन्थ-आन्ध्र भाषा चरित्र : विद्वान् गण्टि -रा० म० रे० जोगि सोमयाजि] तोटक-वर्णिक छन्दों समवृत्तका एक भेद। 'पिंगलसूत्र' (६ : ३२) तथा भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६:४१)के अनुसार, चार सगणोंसे यह वृत्त बनता है (IIS, IIS, IIS, lls) । संस्कृतमें यह बहुत प्रचलित वृत्त है । विरहांकने इसका नन्दिनी (बृत्त०, ३:२०) नाम दिया है। तुलसीने उत्तरकाण्डकी 'रामस्तुति' और 'कलिवर्णन'मे इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका प्रयोग चन्द, केशव, सदन तथा जोधराज आदिने किया है। इसका प्रयोग हुत गतिके कारण वीर रसके वर्णनमें अच्छा हुआ है। सूदनने अन्य वर्णनोंमें भी इसका प्रयोग किया है। वीर रसका उदाहरण-"जह हिन्दअ साहि लरन्त रिनं। तह बान परै बरसा सुघनं" (पृ० रा०, पृ० २०९१)। 'रामचन्द्रिका'मे स्फुट प्रयोग (२: १६, ५: ३, ५: ११ आदि) है। तुलसी द्वारा इस छन्दका प्रयोग-- "अवला कचभूषण भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा। सुख चाहृहिं मृद न धर्मरता। मति थोरि कठोर न कोमलता" (कलिवर्णन: उत्तर-तोमर १ - मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भिखारीदासके

'छन्द्रोर्णव पिंगल'में इसका उल्लेख है। भानके अनुसार यह १२ मात्राओंका छन्द है, जिसके अन्तमे ग ल (SI) होता है (छं० प्र०, प्र०४४)। सम्भवतः इसका प्रयोग हिन्दीमे ही अधिक हुआ, क्योंकि 'प्राकृतपैगलम्'मे इसका उल्लेख नहीं है। हिन्दीके कवियों में तुल्सी (रा० च० मा०), केशव (रा० चं०), सूदन (मु० च०), श्रीधर (जं० ना०) और रघुराज (रा० ख०)ने किया है। इस छन्दका प्रयोग प्रायः वीर रसके प्रसंगमें युद्ध-वर्णनके लिए किया गया है। तुलसीने लंकाकाण्डमे इस छन्दका उपयोग युद्धके भयानक तथा वीभत्स दृश्यके चित्रणमें किया है। उदा०-"धरु मारु बोलिह घोर, रहि पूरि धुनि चहुँ ओर। मुख बाइ धाविह खान, तब लगे कीस परान" (रा० च० मा०, ६:१०१) तोमर २-वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद । हिन्दीमें यह छन्द मात्रिकरूपमें प्रचिलत है, पर केशवने इसे वृत्त-रूपमें प्रयुक्त किया है, जिसमें सगण और दो जगणोंसे एक चरण बना है। 'प्राकृतपैंगलम्' (२:८६)में तीमर बन ही माना गया है। दामोदर मिश्र (वा० भू०, २: ९०) और देव (श० र०, प्र० १०)ने भी इसे कृत माना

है। उदा०-"सुनि रामचन्द्र कुमार। धनु आनिये इक बार । सुनि वेग ताहि चढ़ाउ । जस लोक लोक बढ़ाउ" (रा० चं०, ५:३९)। म्नास-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी। आकस्मिक भयसे उत्पन्न चित्तक्षोभको त्रास कहते है(प्र० रु० य०, पृ० २६०)। भरतके अनुसार वज्रपात, उल्कापात, मेघगर्जन, भयानक वस्त अथवा पशके दर्शनसे यह मनोवेग होता है। संक्षिप्त कम्पन, रोमांच, गद्भद वाणी इत्यादि अनुभावोंसे इसकी अभिन्यक्ति होती :है (नाट्य॰, ७: ९१ ग)। सागर-नन्दी एवं रामचन्द्र और गुणचन्द्रने इसको भयसे पृथक बताया है। 'नाट्यदर्पण'के अनुसार विद्युत्पात, महाभैरव-नाद एवं भयानक प्राणियों तथा शव इत्यादिके दर्शनसे जो आकस्मिक उद्देगकारी मनःक्षोभ होता है, वह त्रास है, परन्त अनर्थकी सम्भावनासे निरुत्साह होना भय है। दूसरे शब्दोंमें त्रास संचारी एवं भय स्थायी है, एक आकरिमक तो दूसरा 'पूर्वापरके विचार'से उत्पन्न होता है। 'दशरूपक'में इसका बहुत सुन्दर उदाहरण माघके 'शिशुपालवध' महा-काञ्यके जलविहार वर्णनसे दिया गया है, जब कि तरु-णियोंके जलमें रहनेपर पासते उनको छकर छोटी मछलियाँ जाती है तो उन्हे त्रास संचारी भाव होता है।

हिन्दीके रीतिकालके आचायोंने उपर्युक्त लक्षणका अनुसरण किया है। देवने 'त्रास'की परिभाषा देकर 'भय'से उसका अन्तर भी स्पष्ट किया है—''घोर अवन दरसन सुमृति, तम पुलक भवगात। छोभ होइ जो चित्तमें, त्रास कहत कि तात" और अन्तर है "अकसमात ते त्रास अरु विचार तें भयरीति" (भाव०: संचारी०)। अन्योने इसी प्रकारका सामान्य लक्षण ही दिया है—"जहाँ कौन हूँ अहित तें, उपजत कछु भय आय" (जगत०, ५५६)।

प्रकृतिके उद्दीपक रूपसे नायिका सन्त्रस्त है—"कवि ग्वाल चमक अचानककी लखतै। ललना मुरझाय गायी-सी। थहराय गयी, हहराय गयी, पुलकाय गयी, पुल न्हाय गयी-सी" (र० मं०, पृ० १५०)। इसी प्रकार 'कान्य-दर्पण'में विद्यापतिसे एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है--- "सखि परबोधि सपन तल आनी। पिय हिय हरष थयल निज पानी। छुइते राइ मलिन भै गैली। विधु करे कुमुदिनी मलिन मैली"। कृष्णके स्पर्शसे राधाके मलिन होनेमें 'त्रास'की व्यंजना है। त्रिक-कश्मीर शैव साहित्यकी संज्ञा त्रिक है। यह त्रिक आगम-शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र, इन तीनोंका बोध कराता है। साथ ही यह परा, अपरा और परात्परा इन तीन अवस्थाओंका बोध कराता है। इसके अलावा शैव दर्शनके अभेद, भेद और भेदाभेद, तीन पक्षीं-का चोतन कराता है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों तथा परयन्ती, मध्यमा और वैखरी, तीन वाचाओको भी संकेतित करता है। इसीलिए कभी-कभी कश्मीर शैव दर्शन 'त्रिक दर्शन'के नामसे भी आख्यात होता है। इस त्रिक दर्शनका सबसे वडा अनुशासन समरसता है। यह प्रकृतिको सांख्यकी तरह एकदम निरपेक्ष सत्ता नहीं देता और अद्वैत वेदान्तकी तरह निष्केवल ब्रह्मके रूपमें भी इसे नहीं स्वीकार करता है। यह मानवस्वभावके सभी पक्षोंको निर्दिष्ट करनेका प्रयत्न करता है, क्योंकि इसके अनुसार चैतन्यस्वरूप होनेके कारण शिव प्रत्येक वस्तुके साथ तादात्म्य स्थापित कराके ज्ञान कराते हैं, अपनी शक्तिके साथ सदा छीछारत होनेके कारण प्रीति जगाते है तथा शक्तिके अपर वशी होनेके कारण अप्रतिहत इच्छाशक्ति भी पैदा करते है। ——वि० नि० मि० विकाया—वे० 'चार काया'।

त्रिकटी-दे॰ 'हठयोग'।

त्रिभंगी १-मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैगलम्'के अनसार ही (१: १९४) भानने इसके प्रत्येक चरणमे १०, ८, ८, ६की यतिसे ३२ मात्रा मानी है तथा अन्तमें ग (८)का निर्देश किया है (छं० प्र०, पृ० ७२)। यह छन्द अलंकृत छन्द कहला सकता है, क्योंकि इसके चरणकी प्रत्येक यतिपर यमकका प्रयोग 'प्राकृतपैगलम्'में ही स्वीकृत रहा है। इसका प्रयोग तुलसी (रा० च० मा०), केशव (रा॰ चं॰), मान (रा॰ वि॰), सदानन्द (रासालग॰), सूदन (सु० च०), पद्माकर (हि० वि०), जोधराज (ह० रा०) तथा रघराज (रा० स्व०)ने प्रधानतः किया है। तुलसीने इसके प्रत्येक चरणमे केवल १०,८, १४पर यति तथा यमकका प्रयोग किया है और इसका एक सीमातक अनुसरण केशव तथा रघराजने भी किया है—''परसत पद पावन, शोक-नसावन, प्रकट भई तप पुंज सही" (रा० च० मा०, १: २११)। इस छन्दकी उत र-चढावके साथ चलनेवाली गृति वर्णनोमे क्षिप्रता अथवा भावावेग व्यक्त करनेके उपयुक्त है। तुल्सीने स्तृतिमे इसका प्रयोग किया है। वीरकान्योमें वीर तथा सहकारी रौद्र और वीमत्स रसो में यह प्रयुक्त हुआ है-"फिरि फेरि झटके, सॉग सटके, मारु करें" (सु० च०, २:८)। सन्दरने 'ग्रुदेव-सतपदी', 'ब्रह्मविद्यांश अष्टक' तथा 'गुरु-कृपा अष्टक'मे प्रायः इसका उपयोग किया है। केशवने शृंगार रसमें भी इसका प्रयोग किया है-"नाचै नव नारी, सुमन शृंगारी, गति मनुहारी, सुख साजै" (रा० चं०)।

भानुके अनुसार त्रिमंगीके चौकलों में जगण (151)का प्रयोग विजेत होता है। जगणका प्रयोग होनेपर इस छन्द-का नाम गुद्धध्वनि होता है—"अति बल उदग्ग नृप, साह अग्ग जब, समर मग्ग चिल, खग्ग करें" (चिन्तामणि: भानु)। यमकका प्रयोग :आवश्यक नहीं माना गया है।

न्त्रभंगी र-मात्रिक छन्द भी होता है और दण्डक वर्णिक भी। मात्रिक त्रिमंगीमें ३२ मात्राएँ होती हैं, १०,८,८, और ६पर यति होती हैं तथा अन्तमें गुरु होता है। हिन्दीमें मात्रिक छन्दका ही विकास हुआ है। प्रार्थना-परक भाव तथा स्तुतिपरक भावोंके लिए भक्तिकालमें इसका व्यवहार बहुत प्रचलित था। तुलसी, केशव आदि कवियोंका यह प्रिय छन्द रहा है। यों इसका प्रयोग पुष्पदन्त-(१० श० ई०)के काव्यमे भी मिलता है। त्रिमंगी अपभ्रंशकालके मुख्य छन्दों यथा तोटक, तोमर, दोहाके साथ गिना जाता है। तुलसीदासकी स्तुतियोंमें इस छन्दका विशेष प्रयोग दिखलाई पड़ता है—यथा "परसत पद पावन, शोक नसावन, प्रगट भई तप पुंज सही" अथवा "मये प्रकट

कृपाला दीन दथाला कौशल्या हितकारी" (रा० च० मा०, १)। वीर रसके वर्णनमें भी इसका प्रयोग हुआ है:—जोध-राजने 'हम्मीर रासो' तथा सूदनने 'सुजान चिरत'में : उदा०—"भुव छुट्टे उद्दे, जम ज्यों कट्टे, बॉधे सुट्टे, रोस भरे" (सु० च०, २:२;१७)। सुन्दरने भी इसका प्रयोग 'गुरुद्यासतपदी' आदि रचनाओं में किया है।

त्रिभंगी दण्डककी लक्षण-योजनाके सम्बन्धमे पर्याप्त मत-भेद है। जयकीर्तिने 'छन्दोन् शासन' (अ०२: २६८)मे त्रिभंगीका लक्षण दिया है- 'नसभन तजतसय'। इस दृष्टि-से त्रिभंगी छन्द २७ वर्णका होता है। किन्तु 'छन्दप्रभाकर'-(प॰ २११)के अनुसार त्रिभंगी छन्दका लक्षण है न ६+ ससममसग = ३४ वर्ण । विणक त्रिभगीका प्रयोग हिन्दीमें नहींके बराबर हुआ है। त्रिमार्ग-सिद्धांत - रीतिके स्थानपर कुन्तक (१०, ११ श० ई०)ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'मे तीन मार्गवाला त्रिमार्ग-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुन्तकने मार्गको काव्य-रचनामे प्रवृत्त होनेके हेतुरूपमे माना है। उनका कथन है कि "सम्प्रति तत्र ते मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः"। मार्गका आधार उन्होने देशविशेष या प्रादेशिक शैलीको न मानकर कविके स्वभावको स्वीकार किया है। कवि-स्वभावभेदमे ही कान्य-प्रस्थान या मार्गके भेद है, क्योंकि वे स्वभावको सर्वोपरि मानते हैं- 'स्वभावो मूर्धन वर्तते'। स्वभाव तीन प्रकारके हैं - सुकुमार, विचित्र और मध्यम। इसीके आधारपर कुन्तकने सकुमार, विचित्र और मध्यम, इन तीन मार्गीका निरूपण करते हुए त्रिमार्गका सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मार्गके इस प्रकार निर्णयका तर्क देते हुए उन्होने कहा है कि काव्यकी कसौटी सहदयोको आनन्द प्रदान करना है। अतः यदि एक रीति या मार्ग एक प्रदेश-के लोगोंको आनन्द दे सकता है तो सभी प्रदेशोंके लोगोंको आनन्द दे सकता है। दूसरे प्रदेशोंके लिए दूसरा मार्ग या शैली निश्चित करना न्यर्थ है, अतः उन्होंने सबको आनन्द देनेवाले सकुमार मार्गको निश्चित किया-"सकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः"। दूसरा मार्ग अरमणीय नहीं है। वह विचित्र विशिष्ट रमणीयतापर आधारित मार्ग है। इस प्रकार यह सिद्धान्त बड़ा तर्कसंगत सिद्धान्त है। अ

- 3. सुकुमार मार्ग कुन्तकके मतानुसार सुकुमार सत्कवियोका मार्ग है। इसमे कविकी प्रतिभा नवीन शब्द-अर्थकी उद्भावना करती है। इसमे स्वल्पालंकारोंका मनो-हारी प्रयोग विना प्रयत्नके होता है। यह स्वामाविक वर्णन-सौन्दर्यसे युक्त रसादिका मंजुल समन्वय करनेवाला सहज कौशलसे युक्त होता है। यह मनको रमानेवाला, विधाताके रचनावैचित्र्यके समान प्रतिभासे उद्भृत नविनर्माणकी शोभावाला मार्ग है। इस प्रकार भव्यता, सहज सौन्दर्य, सरसता, मधुरता, प्रतिभाजात चमत्कृति, रमणीय, अनायास रचित अलंकारोकी शोभासे दीप्त सुकुमार वह मार्ग है, जिसमें सत्कवि चलते है, जैसे कि भौरे प्रफुल्ल काननके मार्गमें। सुकुमार मार्ग माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजाल इन चार गुणोंसे सम्पन्न होता है।
- २. विचित्र मार्ग विचित्र मार्ग आलंकारिक मार्ग है। इस मार्गमे अलंकारोंकी छटाका आकर्षण और चमत्क

प्रधान रहता है। एक अलंकारमें दूसरे अलंकार जुडते जाते है। यह मार्ग विभिन्न शब्दार्थ-वक्रताकी रंगानीसे जगम-गाता रहनेवाला होता है। इसमे अनिशयोक्तिका विलास क्रीड़ा करता है। यह सहज और अनायास मार्ग न होकर यत्नसाध्य और कृत्रिम सजावटवाला सार्ग माना गया है। आलंकारिक अतिरजना और उक्तिवैचिन्य इसका प्राण है।

३. मध्यम मार्ग-सहज शोभावाले सुकुमार मार्ग तथा आहार्य (बनावटी) चमत्कारवाले विचित्र मार्ग, दोनोकी विशेषताओंसे सम्पन्न मार्ग मध्यम मार्ग है। ---भ० मि० त्रिवेणी-सन्तो द्वारा प्रयुक्त उपमानों, प्रतीकों और रूपकोको ध्यानसे देखनेपर स्पष्ट होगा कि उनमे बहुतसे ऐसे है, जो परम्परासे किसी अर्थ-विशेषमें प्रयुक्त होते आये है और सन्तोंने उन्हे ठीक उसी अर्थमें ग्रहण कर लिया है। त्रिनेणी भी इसी तरहका शब्द है। 'हठयोग प्रदीपिका' (३,१०२)-में इडाको गंगा और पिंगलाको यमुना कहा गया है। 'शिव संहिता'मे भी इन्हें गंगा-यमुना और इनके मध्यमें स्थित सुष्मनाको सरस्वती बताया गया है। तीनोंका संगम ब्रह्मरन्ध्रमे होता है, जहाँ स्नान करने (लीन होने)से साधकोंको अवश्य मुक्ति मिल जाती है (७, १३१)। तीर्थादिको नकारनेवाले हठयोगियोंने सभी तीर्थीकी कल्पना पिण्डके भीतर ही करली है, क्योंकि वे मानते है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमे है, वह सारा-का-सारा पिण्डमे है। जिस प्रकार हिन्दू मानता है कि त्रिशेणीमें स्नान करनेपर अवस्य मुक्ति मिलती है, उसी तरह हठयोगी भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्नाके संगमसे निर्मित त्रिवेणीकी वैसी ही महिमाका बखान करता है। तीर्थव्रतके प्रति अनास्थावान् सन्तोके साहि-त्यमे बहुधा उल्लिखित त्रिवेणीका यही अर्थ है ।—रा० सिं० न्नेधातक नौद्ध-दर्शनमें धातु शब्दका लोकके अर्थमें प्रयोग मिलता है। धातुका शाब्दिक अर्थ है जो धारण करे ( 🗸 धृ-धारण करना) । ये लोक-धातु तीन है —कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु । इन्हीके समूहका नाम त्रैधातुक है। कामसम्प्रयुक्त धातु काम-धातु है। नरक, प्रेत, तिर्यक (पशु-पक्षी) और मनुष्य-ये चार गतियाँ, देवगतिका एक प्रदेश और भाजन लीक, जिसमे प्राणी निवास करते है, कामधातुके अन्तर्गत आते हैं। कामधातु-के ऊपर रूपधातु है। रूप भौतिक होनेके कारण स्थान-सम्प्रयक्त होता है। बौद्ध शास्त्रोंमें इसके सोलह स्थान . बताये गये हैं। इसमें चार ध्यान (या पॉच ध्यान, स्थविरवादियोंके अनुसार) होते है। चौथे ध्यानमें आठ मूमियाँ बतायी गयी है। आरूप्यधात रूपसे हीन है। अतः अरूपो धर्मीसे संसुष्ट होनेके कारण यह देश या स्थानसे सम्बद्ध नहीं है। यह चार प्रकारका बताया गया है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्या-यतन, नैवसंज्ञानाऽसज्ञानायतन ।

हिन्दी साहित्यमें सिद्धोंने जहाँ जगत्के अनित्य स्वरूप-का वर्णन किया है, वहीं त्रैधातुककी ओर भी संकेत किया है। सम्पूर्ण त्रैधातुक उनके मतानुसार चित्तसम्भूत है। यह निश्चित रूपसे वैभाषिक और योगाचार सिद्धान्तोका त्रोटक- इसमें पाँच, सात, आठ या नौ अंकोंका विधान

होता है। इसके पात्रोंमें मनुष्य और देवता दोनों रहते है। इसमें अंगी रस शृंगार रस और प्रत्येक अंकमे विदूषककी योजना की जाती है। शेष वातोंमें नाटकसे समानता रखता है। उदा०—'स्तम्भितरंम' (७ अंक), 'विक्रमोर्वशीय' (५ अंक) ।

थीम-संवाद, सम्भाषण, प्रवचनका विषय, आधारभूत कार्य या चेष्टा अथवा वह सामान्य प्रकरण या विषय, जिसे कथा-विशेषके द्वारा उदाहृत किया गया हो। हिन्दीमे थीमको कथासूत्र कह सकते है। सी० ई० डब्ब्यू० एल० डाल्हस्ट्राम (द एन।लेसिस ऑव लिटरेरी सिचुएशन)ने कथावस्तुको पाँच भागोंमे विभाजित किया है—(१) भौतिक, अर्थात् व्यूहाणु (मालीक्यूल्स)के रूपमें मानव, (२) अंगीय (आरगैनिक) अर्थात् प्ररसिपड (प्रोटोप्लाज्म)के रूपमें मानव, (३) सामाजिक, अर्थात् सामाजिक प्राणीके रूपमे मानव, (४) अहंभूत, अर्थात् व्यक्तिके रूपमें मानव तथा (५) दैवी, अर्थात् आत्माके रूपमें मानव। इन मूल कथा-सत्रोके आधारपर कलाकृतियोंके नवीन प्रकारके विश्लेषणका मार्ग खुल गया है । डाल्हस्ट्रामने थीम (कथासूत्र)को विषय (सब्जेक्ट), स्थिति (सिच्चएशन) और कथानकसे भिन्न बताते हुए उसे दिशानिदेशक विचार, अभिप्राय या तात्पर्य, उपदेश या शिक्षा और निश्चितोक्ति कहा है (दे०-'उपन्यास', 'कहानी')।

थीसिस-जिस प्रस्तावनाके प्रतिपादनका उद्देश्य यह हो कि उसे सिद्ध किया और तर्क द्वारा पुष्ट बनाया जायगा, उसे थीसिस कह सकते है। कभी-कभी प्रस्तावनाओं और मन्तन्यों मे निहित सत्य स्वतः प्रकट नही होता । उसके लिए व्याख्या करने और प्रमाण जुटानेकी आवश्यकता पड़ती है। इस रूपमें प्रस्तुत मन्तव्योंको थीसिसकी कोटिमे रखा जा सकता है। न्यापक दृष्टिते तो किसी भी विशेष अथवा निश्चित विषयपर लिखे गये निवन्धको शीसिस कह सकते हैं, पर थीसिसका इन दिनों प्रचलित वास्तविक अर्थ है-अध्येता द्वारा किसी डिग्री या डिप्लोमाके लिए प्रस्तुत प्रबन्ध ।

छन्दशास्त्र और तर्कशास्त्रमें भी थीसिसका प्रयोग होता है, पर लेखनके अन्तर्गत थीसिस व्यक्ति-विशेषके अन्त्रेपण और विचारका परिणाम है। साथ ही वह मानव-**ज्ञानमे कुछ-न-कुछ योग देती है। थीसिसमें किसी समस्या-**का विवेचन और निदान होना चाहिये। थीसिस और पेपर, दोनोंमे व्यक्तिगत अन्वेषणका तत्त्व विद्यमान रहता है और सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनोंमें केवल आकारका अन्तर जान पड़ता है, पर वास्तवमे ये दोनों अनु-सन्धानके दो प्रकार है। थीसिस वह शोध है, जिसमे कोई केन्द्रीय स्थापना की गयी हो और जो किसी विषयपर नया प्रकाश डालती हो। थीसिसका उद्देश्य यह नहीं होता कि विषयसे सम्बद्ध सारी सामग्री एकत्रमात्र कर दी जाय, अपित यह कि वैज्ञानिक अन्वेषणकी दृष्टिसे उस सामग्रीकी व्याख्या हो और विवेचन तथा विश्लेषणके बाद कोई शोधगत तथ्य दूँद निकाला जाय। अस्तु, थीसिसकी चार प्रमुख आवश्यकताएँ है-व्यक्तिगत अन्वेषण, विद्वत्तापूर्णं लेखनके सिद्धान्तोको मान्यता देना, प्रामाणिकता और किन्हीं - निश्चित निष्कर्षीकी उपलब्धि ।

अंग्रेजीमें डाक्टरकी डिग्रीके लिए प्रस्तुत प्रबन्धकी डेजरेंशन भी कहते है और थीसिस शब्दका उपयोग प्रायः एम० ए० कक्षाके लिए लिखे प्रबन्धके अर्थमें किया जाता है। इस दृष्टिमें डेजरेंशन थीसिसकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और गम्मीर प्रबन्ध माना जाता है पर हिन्दीमें थीसिस शब्दका प्रयोग एम० ए० और डाक्टरेट, दोनोंके ही लिए लिखे गये प्रबन्धोंके अर्थमें किया जाता है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य: भोलानाथ। (परि-शिष्ट क: १९३१-४७ तककी हिन्दी थीसिसोंकी सूची); अनुसन्थानका स्वरूपः सावित्री सिनहा।] —अ० कु० थेरगाथा-पालीका 'थेर' शब्द संस्कृतके 'स्थविर' वृद्ध शब्दसे निकल। है। 'गाथा' शब्द संस्कृत तथा पाली, दोनोमे ही समान रूपसे प्रयुक्त होता है (दे० 'गाथा' १)। यह शब्द संस्कृतकी 'गै' (गाना) धातुसे थन प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग प्रत्यय टाप लगकर बना है। इस प्रकार 'थेरगाथा' शब्द स्थविरों अर्थात् वृद्ध, पुराने या प्राथमिक बौद्धोके गीतोंका बोधक है। ये गीत या छन्द साधनाके उन्नत सोपानोंपर पहुँचे हुए बौद्ध सन्तोंके मुखमे बलात एवं अकस्मात् निकले हुए वचन है, जिनमें उनके अमूल्य अनु-भव भरे हुए हैं। इसी प्रकार प्राथमिक वौद्ध साधिकाओके गीत थेरीगाथा कहलाते है। इन गाथाओंका संग्रह 'थेरी-'थेरीगाथा' नामसे 'सुत्तपिटक'के 'ख़द्दकनिकाय'के अन्तर्गत हुआ है। --आ० प्र० मि० दकनी-(दे० दक्खिनी।)

दकना – (द० दाक्खना ।) दकनी साहित्य – (दे० 'दिक्खनी')।

दिक्की (दकनी, दखनी)—भाषा तथा साहित्यिक सन्दर्भने इस शब्दका प्रयोग उस भाषाके लिए किया जाता है, जिसका प्रयोग दक्षिणके बहमनी वंश तथा बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगरसे सम्बन्धित मुसलमान कियों और लेखकोने साहित्यके क्षेत्रमे १५वी शतीसे १८वी शतीन किया और जो इन राज्योकी राजभाषाकी तरह सम्मानित थी तथा जो आज भी इन जिलोंमे बसनेवाले शामीण, अशिक्षित मुसलमानों द्वारा प्रयुक्त की जानेके कारण मुसलमानी नामसे प्रसिद्ध है।

दकनी या दिन्खनी शब्दका प्रयोग इन कियोंने हिन्दी और हिन्दनी (मध्यकालीन विशिष्ट अर्थ)के समानार्थक रूपमे किया है । हिन्दी या हिन्दनीका दिन्खनी कहलाना केवल इन दिन्खनी राज्योंके सम्बन्धके कारण है, क्योंकि हिन्दी या हिन्दी या हिन्दनीका दिन्खनी केवल इन दिन्खनी राज्योंके सम्बन्धके कारण है, क्योंकि हिन्दी या हिन्दनी बोलनेवाले उत्तरके ये शासक या सैनिक (मूफ्ती) दक्षिणमें कस गये थे। इस प्रदेशमे उस समय मी भारतीय आर्य भाषाकी मराठी अथवा द्राविड भाषाओंकी तिमल, तेलुगु और कन्नड बोली जाती थी। उत्तरसे आये इन मुसलमानोंने इन भाषाओंको न अपनाकर बोलचाल तथा साहित्यमे उसी भाषाका प्रयोग किया, जिसे वे उत्तरसे लाये थे। ये मुसलमान शासक तथा सैनिक दिल्ली और मेरठक्षेत्रसे ही आये थे, अतएव इनके द्वारा प्रयुक्त भाषामें मध्ययुगीन खडीबोली और बाँगरका नमूना सुरक्षित है।

द क्खनका साहित्य हिन्दी साहित्यको बहुत बडी निधि है। ज़िस समय उत्तरी भारतमें खडीबोली केवल बोलचाल-की भाषा थी, उस समय दक्षिणमें इन राज्योंका संरक्षण पाकर उसमें साहित्य िल्खा गया। दिक्खिनीके प्रथम प्रन्थ-कार ख्वाजा वन्दानवाज (१३१८-१४३२ ई०) माने जाते है। इनका 'प्रन्थ 'मिराजुल आशिकीन' खडीबोलीगयका प्राचीनतम नमूना है। दिक्खिनीका पहला कि निजामी था, जो बहमनी सुलतान अहमदशाह तृतीयके शासनकाल-(१४६०-६२)मे मौजूद था। 'कदमराव व पदम' पहली रचना है। सुल्ला वजहीका प्रसिद्ध गय प्रन्थ १६३५ ई०में लिखा गया। गवासीकी 'मसनवी सैफुलमुल्क' एवं 'वदी-उज्जमाल' (१६२६ ई०) एवं 'तृतीनामा' (१६३९), वजहीकी 'उतुल सुरतरी' (१६०९ ई०), इल निशातीकी 'मसनवी फूलबन' (१६५५ ई०) प्रसिद्ध काव्यकृतियाँ है। गोलकुण्डाके कुतुबशाही सुलतान खुद अच्छे कि थे। मु० उली कुतुबशाहको रचनाएँ कुल्लियातके रूपमे प्रकाशित हो चुनी है। वली औरंगावादी दिक्खनीके अन्तिम कि और उर्देके प्रथम कि कहे जाते है।

दिविखनीके किव यद्यपि सभी मुसलमान थे, किन्तु किसीने क्या भाषा, क्या भाव, प्रत्येक क्षेत्रमें भारतीयता नहीं छोड़ी। लिपि केवल फारसी है। धार्मिक साहित्यमें अवस्य फारमी-अरबीके शब्द है, किन्तु आजकी उर्दूसे बहुत ही कम, जो हैं भी वे तद्भवरूपमें मिलते हैं। अनेक संस्कृत शब्द तत्सभ और तद्भव रूपमे प्रयुक्त हुए है। इस साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह राज्य-संरक्षण पाकर सब प्रकारसे प्रामाणिक साहित्य है।

[सहायक प्रन्थ—दिक्खनी हिन्दी : नाबूराम सक्सेना।] —मा० न० जा० दक्षिण नायक—दे० 'नायक' (शृङ्गार)।

**दाक्षण नायक**-६० नायक (८ **दाघाक्षर**-दे० 'वर्ण'।

दयावीर-दे० 'वीर रस'।

दरसनी-नाथ पन्थियोंका मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियोका है। ये लोग कान फाडकर उसमें 'दर्शन' नामकी मुद्रा धारण करते है, इसीलिए इन्हे कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। यह मुद्रा अनेक धातुओंकी बनती है। हाथी दॉतकी भी। ये साध दो प्रकारकी मुद्राऍ धारण करते है-कुण्डल और दर्शन। कुण्डलको 'पवित्री' भी कहते है । कुमायूँके योगी रुईके सूतका 'जनेव' भी धारण करते हैं। 'पवित्री'को ये इसी सतमें बॉधे रखते है। पवित्री हरिणकी सीग या पीतल, तॉबा आदि घातुसे बनती है। इसीमे रुईके सफेद धागेसे. 'सिंगीनाद' नामकी सीटी भी बॅधी रहती है और रुद्राक्षकी एक मनियाँ भी लटकती रहती है। प्रातः और सन्ध्याकालीन उपासना तथा भोजनके पूर्व योगी लोग इसे बजाते हैं। सिंगीनादके बॅधे रहनेके कारण 'जनेव'को 'सिगीनाद जनेव' कहते है। योगी लोग मूंजकी रस्सीका कटिबन्ध भी पहनते है, जिने 'मेखला' कहा जाता है।

दलगत मूल्य-दे॰ 'मूल्य'।

दिलत वर्गे - यह समाजका निम्नतम वर्ग होता है, जिसको विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ दास-प्रथामें दास, सामन्तवादी व्यवस्थामें किसान, पूँजीवादी व्यवस्थामें मजदूर समाजका दिलत वर्ग कहलाता है। ---रा० कृ० त्रि०

दसद्वार-शरीरके दस छिद्र-एक मुखका छिद्र, दो नासिका-के छिद्र, दो आँखें, एक पायका छिद्र, एक उपस्थका छिद्र और एक ब्रह्मरन्ध्र । ये दस पिण्डस्थ द्वार है । सन्त जव एक महलके दस दरवाजींका उल्लेख करते है तो उनका तात्पर्य शरीरके इन्ही दरवाजीसे होता है। ब्रह्मरन्ध्रके अर्थ-में 'दसवे द्वार' शब्दका प्रयोग भक्तिकालीन साहित्यमें बहुत अधिक मिलता है। 'गढ तस बॉक जैसि तोरि काया' कहकर सिंहलगढका जो वर्णन जायसीने किया है पद्मावन, २१५), उसमें 'नौ पौरी'का अर्थ ब्रह्मरन्ध्रके अति-रिक्त अन्य द्वारों या छिद्रों से हैं और 'दसवॅदुआर' स्वयं ब्रह्मरन्ध्र है। पद्मावत (२१६)मे जायसीने 'दसवँदुआर'-को तालबक्षकी तरह ऊँचा बताया है, जिसे देखनेके लिए दृष्टिको उलटा करना (अर्थात् १. दृष्टिको बाह्यदृश्योंसे हटाकर अन्तर्मुखी करना, २. दृष्टि जो प्रकृतितः नीचे देखनेकी अभ्यस्त हैं, उसे ऊर्ध्वमुखी करना) आवश्यक है। दशक-दे० 'मुक्तक काव्य'।

दशधा भक्ति—नवथा भक्तिमे प्रेमलक्षणा भक्तिके जुड़ जानेसे भक्तिके दस प्रकार हो जाते है (दे० 'ग्रेमलक्षणा भक्ति', 'नवथा भक्ति')। —वि० मो० श० दशम द्वार—दे० 'दसदार'।

दाक्षिणात्या प्रवृत्ति-दे० 'प्रवृत्ति', चौथी।

दादावाद-दादा या दादावाद आधुनिक यूरोपीय कलामे एक आन्दोलन था, जिसका आरम्भ १९१६ ई०मे ज्रिकमें हुआ। जीन आर्प (जॉ आर)ने अपने साथियोंके साथ इस आन्दोलनका प्रवर्तन किया और यह प्रथम महासमरके पूर्व ही अपनी पराकाष्ठाको पहुँच गया। इसका संचालन और प्रचार 'कबरे वोल्त्येर', 'तीन सौ इक्यानवे', 'दादा' आदि पत्र-पत्रिकाओ और निहिलिस्त चित्र-प्रदर्शनियों द्वारा हुआ । कुछ जीवनसे जले-कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए, जिनका कहना था कि जीवनने उनके साथ दगा किया है और उन्होने इस संसारके इस अनैतिक स्वभावके भण्डाफोड़का बीड़ा उठाया । यह उन्होंने, सारे परम्परागत, तर्क, कला, संस्कृति आदिपर प्रहार कर, किया । चित्रमें आकस्मिक और अप्रत्याशितका आधान कर उन्होंने कलामें एक नयी धारा प्रवाहित की । आर्प और अन्स्र्येके 'फातागागा' चित्र इसी परम्पराके है। उनका कलाके साधारण रसवादी सौन्दर्यसे कोई सम्बन्ध नहीं । अन्य भी अनेक रूपोसे उन्होंने परम्प-रागत संस्कृतिका उपहास किया । जैसे लियोनादों द विचीके प्रसिद्ध चित्र 'मोनालीजा'में मोनालीजाके मुंछें बनाकर फिरसे चित्रित किया। दूशोंका चित्र 'चइमों' भी इसी प्रकारका था, जो वांस्तवमें चदमा या फव्वारा नही, ·मात्र मूत्रालय था और जिसे उसने १९१७ ई०में नियो-जित न्यूयार्ककी एक चित्रप्रदर्शनीमें प्रदक्षित किया था।

दादावादका अतियथार्थवाद (दे०) से घना सम्बन्ध है। उसे समझे बगैर इसको समझ सकना जरा कठिन है, इससे उसपर भी दो शब्द यहाँ कह देना अनुचित न होगा। सुरिरियलिज्म या अतियथार्थवादमें साधारणतया परस्पर सम्बन्धित वस्तुओं को एकत्र कर उनसे प्रजनित शुद्ध यथार्थे से ऊपर एक नये अतियथार्थंका दर्शन किया जाता है। यह दादावादकी ही उत्तर-संज्ञा थी। दादावादके परम्परागत

प्रहारको इसने और आगे बढ़ाया और साधारण सर्जनात्मक अंकनकी जगह अवचेतनको विश्वंखिलत कर स्वप्न अथवा सुपप्त चेतनाको कलामें प्रतिबिम्बित किया। फिर भी इसने कला और साहित्यका विनाश न कर एक नये कलात्मक सर्जनकी न्यवस्था की। अतियथार्थवादियोका दावा है कि हमारी सारी प्रकट क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ हमारे अवचेतन और अर्थचेतन स्वभावसे प्रमावित रहती है, जिन्हे रसरूपसे हम कलाधारमे व्यक्त कर सकते है। इस दृष्टिके बावजूद अतियथार्थवादी कृतियोमे अनायास और आक्रिमक-अप्र-त्याशितकी जगह असाधारणतया आयोजित करपनाका समावेश होता है। आकस्मिक और अप्रत्याशित उसमें केवल निरूपित वस्तुओ और चित्रित पदार्थी या विषयोंके सान्निध्यमे है, पर यह सान्निध्य स्वयं अत्यन्त चिन्तित व्यवस्थाका परिणाम होता है, नितान्त सचेत और तर्क-सम्मत प्रयासका । अतियथार्थवादी चित्रणके विशेषतः हो प्रकार हमें आज उपलब्ध है। एकके प्रतिनिधि तो साखादीर दाली और तागुईके चित्र है, जिनमें कालकी गति और स्विप्नल वातावरणका फैली अग्रभूमिमें प्रचुर समावेश होता है और जिसके अवयव नितान्त स्पष्ट और रंग साफ होते है। इसके दूसरे प्रकारके चित्रो (मासों और आपके बनाये)में प्रातिनिधिक रूपकी छाया कम, विकरालता अधिक होती है। इसमे प्रक्षिप्त वस्तुका रूप विकृत कर दिया जाता है।

दादावादके प्रधान चित्रकार जीन आर्प और अन्स्ट माक्स है। आप (१८८८ ई०) अतियथार्थवादी दृष्टिकोण-का चित्रकार, मूर्तिकार और सिद्धान्त-निरूपक है और उसका प्रभाव फ्रांस, जर्मनी और स्विटजरलैण्डके चित्रकारों-पर गहरा है। वह प्रभाव अब अमेरिकाके कलाकारोंकी भी वशीभृत कर चुका है । उसके चित्रणमें रूप अधिकतर काष्ट्रवत होता है, जिसे वह विविध रंगोके सम्पंजनसे प्रस्तृत करना है। उसमें एक उपहासास्पद प्रवृत्ति होती है, जो अप्रत्याशित वस्तुओंके एकत्रीकरणसे और भी घनी हो जाती है। अन्स्ट माक्स (१८९१ ई०) भी दादावादके प्रवर्तको और अग्रणी चित्रकारों में है। वह अपनी शैलीके दो लक्षणोसे विशेष प्रसिद्ध हुआ है। इन लक्षणोंके अब विशिष्ट नाम पड़ गये हैं - कोलाज और फोताज । कोलाजके माध्यमसे अन्हर्टने प्रकट किया कि दो नितान्त असम्बन्धित क्षेत्रोंके विचार और रूप एकत्र कर दिये जानेपर एक सर्वथा अप्रत्याशित अनुभूति अभिन्यंजित कर सकते हैं। इस प्रकार वह कागजके अपर दो फोटोग्राफके दकड़े पास-पास चिपकाकर उनके बीचकी जमीनपर रंग भरकर एक नया यथार्थ और वस्तु-तथ्य प्रस्तुत कर देता है, जो उन द्वकडोंसे पृथक्तः द्योतित नहीं होता । कोलाजका अर्थ ही चिपकाना होता है। अन्स्ट और आर्पके दादावादी फातागागा-चित्र इसी परम्पराके है। इस प्रवृत्तिकी दूसरी टेकनीक फोताज कहलाती है। फोताजका अर्थ है (वर्षण द्वारा) रगड़ना। इस दृष्टिमें एक सिद्धान्त है। वह यह कि दादावादी मानता है कि काष्टादिके कणोमे गति और रूप निहित है . इससे उसका विश्वास है कि जब वह उस पदार्थपर कागज रखकर उसपर प्रेफाइटसे रगड़ता या घिसता है, तब वह दगगजपर मूल पदार्थका रूप-गतिक माव खीच छेता है। अन्स्र्ट्रं माक्सने दादावादके प्रचारमे जीन आर्पका बडा साथ दिया। फिर वह शुद्ध सुरियिलिस्ट हो गया। वस्तुतः अतियथार्थवाद और दादावादमें बहुत कम अन्तर है, इसीले अन्स्र्ट्रं और आर्प दोनो अतियथार्थवादी भी कहे जाते हैं (दे०— 'अतियथार्थवाद'।

सहायक यन्थ<del>—सु</del>ररियलिज्म रीड । — মৃ০ হা০ ૩০ दाद्पंथ-इस सम्प्रदायके संस्थापक सन्त दादू (१५४४-१६०३ ई०) थे। यह सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय या परब्रह्म सम्प्रदायके नामसे भी प्रसिद्ध है। दादृके सुप्रसिद्ध शिष्य सन्त कवि सुन्दरदास एवं रज्जब साहबने अपनी रचनाओं में पारब्रह्म या परब्रह्म-सम्प्रदायका उल्लेख किया है। दाद्के आदिगुरु स्वयं परब्रह्म थे। इसी कारण इसका नामकरण परब्रह्म-सम्प्रदाय हुआ । परशुराम चतुर्वेदीके मतसे इस सम्प्रदायका स्थापनाकाल १५७३ ई० है। क्षितिमोहन सेनके मतसे सम्प्रदायकी स्थापना दादूने गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश होनेको अनन्तर की। 'दादू जन्म-लीला परची'से ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदायका संस्थापन १५८३ ई०के निकट हुआ। दादूपन्थकी नाद-कुल-परम्परा बुहुनसे प्रारम्भ होती है। एच० एच० विल्सनके मतसे बुद्दन सन्त कबीरके शिष्य थे। दादूने प्रस्तुत पन्थकी स्थापना अपने साथियोकी मण्डलीमें आध्यात्मिक विषयोंपर चर्चाके द्वारा-की थी। पन्थकी स्थापनाका प्रमुख उद्देश्य एवं आदर्श निम्नलिखित पदसे स्पष्ट हो जाता है-"भाई रे, ऐसा पन्थ हमारा।

हैपष रहित पन्थ गहि पूरा, अवरण एक अधारा। वाद विवाद काहू सो नाहीं, माही जग थै न्यारा। समदृष्टि सुभाइ सहज में, आपिंड आप विचारा॥१॥ में तें मेरी यहु मित नाहीं, निवेंरी निरकारा। पूरण सबै दें पिथा आधा पर, निरालंब निर्धारा॥२॥ काहूके सँग मोह न मिता, संगी सिरजनहारा। मन ही मन सो समिश्च सयाना, आनंद एक अपारा॥३॥ काम कल्पना कदें न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा। - इहि पंथि पहुंचि परगहि दादू, सोतत सहजि सँमारा॥४॥"

दादूपन्थकी विचारधारापर कवीरपन्थ(दे०), स्फी दर्शन, तथा उपनिषद् साहित्यका प्रभाव स्पष्ट रूपसे पडा है। 'दादू जन्म-लीला परची'से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकवर, अबुलफजल, राजा भगवन्त सिंह, वीरवल, बुलन्द खॉ, जैमल, माधवदास आदि दादूपन्थके उच्चादशों से प्रभावित थे। दादूके निधनके अनन्तर अच्छे प्रचारकों और संवटनकर्ताओं के अभावमे दादूपन्थका विकास कई उपसम्प्रदायोमे हो गया। महन्त जेतरामके समयमे इस पन्थके अन्तर्गत उपसम्प्रदायों का विकास हुआ। ये उपसम्प्रदाय है—खालसा, नागा, उत्तरगढी, विरक्त, खाकी। खालसाका केन्द्र नरानेमे है। नागा सम्प्रदायके प्रवर्तक बड़े सुन्दरदास थे। उत्तरगढ़ीके संस्थापक बनवारीदास थे। विरक्त सम्प्रदायके अनुयायी घूम-चूमकर दाद्के उपदेशोंका प्रचार करते रहे, अतः इनका कोई एक विशेष स्थान नहीं है। खाकी भी विरक्तीके समान भ्रमणशील हैं। १९११ ई०की जयपुर

राज्य-जनसंख्यामें दादूपिथयोंकी संख्या ७,०४१ उछिखित है। सन् १९२१ ई०की जनसंख्यामें दादूपिथयोंकी संख्या ५,१४० मानी गयी है। परन्तु इन उल्लेखोसे दादूपिथ्योंकी जनप्रियताका ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो सकता। दादूके प्रमुख शिष्योंकी संख्या ५२ है, जिनमें सुन्दरदास, रज्जव, गरीवदास, जगजीवन, वषनाजी, भिस्किनीदास, वाजिदजी, ककोरदास आदि अपनी काव्यप्रतिमा एवं साधनाके कारण विशेष प्रसिद्ध हुए। पन्थके वर्तमान महन्तके अनुसार आज भी दादूपिथ्योंकी संख्या एक लाखसे कम नहीं है।

दादूपन्थमें जितने कवियोका आविर्भाव हुआ, उतने निर्गुणधाराके किसी भी सम्प्रदायमे नही हुआ। दादूने स्वयं बीस सहस्र पद, साखियों और बानियोंकी रचना की । दाद्रके शिष्य सन्तदास एवं जगन्नाथदासने 'हरदेव-वाणी' नामसे एक काव्य-संग्रह किया है। जनगोपालने 'जीवन-परची'की रचना की। रज्जबने प्रायः ५,३५२ छन्दोकी रचना की। 'वाणी' और 'सर्व्यांगी' इनकी दो प्रमुख रचनाएँ है। सुन्दरदासने बयालीस ग्रन्थोंकी रचना की। 'ज्ञानसमुद्र' और 'सर्वांगयोगप्रदीपिका' इनके श्रेष्ठ चन्थ है। गरीबदासने २३,००० छन्दोकी रचना की। इन्होने भी १५ प्रन्थोकी रचना की । राधोदास दादूके प्रमुख शिष्य थे। इनका 'भक्तमाल' बहुत प्रसिद्ध है। साधु निश्चल-दासके 'विचार-सागर'मे वेदान्त और योगका प्रतिपादन हुआ है। वषना, जगजीवन आदिने भी सहस्रो छन्दोकी रचना की। सुन्दरदास इस पन्थके सर्वश्रेष्ठ कवि थे। ये भाषा और व्याकरणके पण्डित थे।

दाद्पन्थी साहित्यमें परमतस्व या ब्रह्म परमपद, निर्वाण, शृत्य, सहज सत्य आदि नामों द्वारा अभिहित हुआ है। परमतस्व अनिर्वचनीय और प्रेमका प्रदर्शक है। वह जगन्मय और जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म जगत्का निमित्त एवं उपादान है। वह सहज 'सुन्न' है, इसी सहज शृत्यसे स्प्र्यं, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, जल, पावक आदि उत्पन्न हुए है। उसने रहस्यमय विनोदके लिए संसारकी रचना की है। सिष्टिका कारण ओंकार है। सब घटोमे एक ही आत्मा व्याप्त है। वह परमतत्त्व संसारका सर्वश्रंष्ठ सेवक है। वह वासनारहित होकर सबकी समान रूपसे सेवा करता है। वायु, स्प्र्यं, चन्द्रादि उसीके सेवा-भावका अनुकरण किया करते है। साधकको इन्द्रलोक, सत्यलोक, शिवलोक, विहिश्त या परमपद इसी जीवनकालमे प्राप्त हो जाता है। जिस शरीरके संश्रंय नष्ट हो गये है, वही जीवनमुक्त है। वाद्याल्यकर त्याज्य और माया है।

कान्य-कलाकी दृष्टिसे दादू, सुन्दरदास और रज्जबका साहित्य महत्त्वपूर्ण है। दादू साखी-रचनामे बहुत कुशल थे और सुन्दरदास सवैया लिखनेमे। जगजीवन अरिलोके लिए प्रसिद्ध है और रज्जब अपने पदोंके लिए। वेदान्त और उपनिषदोका शान दादूपन्थियोके साहित्यमे भरा पड़ा है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें दादूपन्थका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। सम्भवतः इतने उत्कृष्ट कि हिन्दीसे सम्बन्धित किसी सम्प्रदायमे नहीं हुए। इनकी रहस्यानुम्ति बहुन सुन्दर और प्रभावशाली है।

[सहायक प्रन्थ—हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्रदाय:

पीताम्बरदत्त वडध्वाल, दादृः क्षितिमोहन सेन, सुन्दर दर्शनः त्रिलोकीनारायण दीक्षित। — त्रि॰ ना॰ दी॰ दानवीर—दे॰ वीर रसं।

डास्यरस-दे० 'भक्ति'।

दिवाभिसारिका-दे॰ 'अभिसारिका', नायिका।

दिवास्वप्त (day-dreams) - दिवास्वम कल्पनाका एक रूप तथा मनुष्यके स्वभावका अंग है। वास्तविक जीवनमें कण्ठित, निराश अथवा असफल व्यक्ति दिवास्वप्नोके द्वारा अपनी दमित अथवा अतृप्त इच्छाओंकी पृतिं करता है। छोटे बच्चे अपने प्रखर दिवास्वप्नो और वास्तविकतामे अन्तर नहीं कर पाते । किशोरावस्थामे हवाई किले बनाना और उनमें खोये रहना, एक सर्वव्यापी लक्षण है। बचपन और कैशोरमें दिवास्वप्त प्रायः तीन प्रकारके होते है-पोपित सन्तान, वीर नायक और अपनी मृत्यु सम्बन्धी । पहले प्रकारके दिवास्वप्नोमे न्यक्ति यह कल्पना करता है कि उसके प्रस्तत माता-पिता असली माता-पिता नहीं है, वे केवल उसके तत्कालीन अभिभावक है और असली माता-पिता श्रेष्ठतर तथा अभिजात कुलोत्पन्न है। वीरनायक सम्बन्धी दिवास्वप्नोमें व्यक्ति अपनेको किसी यद्धमे विजेता अथवा विज्ञान, साहित्य, खेल आदिके क्षेत्र-मे अन्यतम रूपसे सफल या किसीकी रक्षा करके लोगोंकी प्रशंसाका पात्र हो जानेकी कल्पना करता है। मृत्यविषयक दिवास्वप्रमे व्यक्ति कल्पना करता है कि मै मर गया हूँ, सब सम्बन्धी और मित्र शबके पास खडे रो रहे है और एक लम्बे जलसमें इमशानकी ओर शवयात्रामें जा रहे है। इसके अतिरिक्त दिवास्वप्त यौन विषयों अथवा किसी भी महत्त्वाकांक्षाको लेकर हो सकते है। कविता, कथासाहित्य और चित्रकलामें दिवास्वप्नोंकी अभिन्यक्ति हमें प्रायः मिलती रहती है। --आ० रा० शा० दिव्य १- 'दिव्य'का अर्थ है शपथ लेना अथवा भोजपुरीमें

'किरिया लेना'। यह संस्कृत शब्द 'दैविकी क्रिया'का बिगडा रूप है, जो सत्की परीक्षाके लिए की जाती थी। 'दैविकी'का धीरे-धीरे लोप हो गया और मात्र 'किरिया' अपने अपभंश रूपमें प्रचलित रहा । लोकसाहित्यने दिव्य-का उल्लेख केवल स्त्रियोके सतीत्वकी परीक्षाके सम्बन्धमें आता है। याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियोंके मतसे दिव्य सूर्य उगनेपर अथवा पूर्वी को देना चाहिए। 'किरिया लेने'के लिए लोकगीतोंमें छः प्रकारके दिन्योका उल्लेख उपलब्ध है-अग्नि, आदित्य, जल, तुलसी, तैल और सर्प-दिन्य। जल दिन्य 'गंगा विचार', तैल दिन्य शास्त्रा-नुसार 'तप्तमापदिन्य' और सर्प-दिन्य 'घटसर्प दिन्य' है। तुलसी और आदित्य-दिन्योका स्मृतियोमें उल्लेख नही है । प्रायः परदेशी पतिके लौटनेपर पत्नीके पातिव्रत धर्मका प्रमाण किरिया लेकर ही गीतोंमे दिया गया है। यही प्रथा कहीं-कहीं 'विचरवा लेना' भी कही जाती है।--इया० प० दिव्य २-कौल साधनामें तीन भाव माने जाते हैं:--दिव्य-भाव, वीरभाव और पशु भाव। और 'इन तीनों भावोके अनुसार तीन प्रकारके साधक या अधिकारी होते है। दिव्य इनमें से उत्कृष्ट अधिकारी होता है। वीर मध्यम कोटिका और पश्च विश्वनिन्दित अधम कोटिका। वीर साधक सहज ही आत्मा और परमात्माकी अद्वैतता या एकात्मकताको पहचान जाता है। जिस प्रकार दिव्यामाव सर्वोत्कृष्ट भाव है, वैसे ही दिव्य साधक सर्वोत्कृष्ट साधक है। यह साधककी अन्तिम और सर्वोच्च स्थिति है। पशु, सभाव पशु, विभाव पशु, वीर, सभाव वीर और विभाव वीर नामक कमशः उच्चतर स्थितियोंसे गुजरता हुआ साधक यहाँ आकर जीवन्मुक्त हो जाता है। 'कुन्जिकातत्व'(अध्याय-७)में दिव्य साधक लक्षण बडे विस्तारसे बताये गये है। —रा० सिं० दिव्यानुभूति –रहस्यानुभूति, विलक्षण अनुभूति। दे० 'अनुभूति'।

दीपक-साद्दयगर्भके गम्यौपम्याश्रयवर्गका एक अर्थालंकार, जो दीपक-न्यायपर आधारित है। एक स्थानपर रखा हुआ दीपम बहुत-सी वस्तुओंको प्रकाशित करता है। यह भरत-के समयसे स्वीकृत रहा है। भरतने वस्तृतः इसमे प्रस्तृत-अप्रस्तुत भाव स्वीकार नहीं किया है। उनके अनसार दीपक एक किया द्वारा भिन्न अधिकरण शब्दोका चमत्कारी संयोगमात्र है। उद्भट तथा वामन आदिने दीपक अलंकार-में उपमानीपमेय मावका अन्तर्भत होना आवश्यक माना है—''उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्'' (का० सू० वृ०, ४:३:१८)। परन्तु रुद्रदके अनुसार दीपकके बन्ध-विन्यास,अर्थात् अनेक वाक्यार्थों मे एक क्रियापद अथवा उनमें एक कारकपदकी रचनाका चमत्कार अपेक्षित है-''यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति । तद्वतकारक-पदमपि तदेतदिति दीपकं द्विधा" (काञ्यालंकार, ७: ६४)। इसी आधारपर उन्होने इसके भेद भी माने है। मम्मटने अपनी परिभाषामें उद्घट तथा रुद्रट, दोनोके दृष्टिकोणका समन्वय किया है—''दीपक अलंकारमें प्रकृत और अप्रकृतके धर्मका एक बार कथन हुआ करना है तथा वहाँ भी, जहाँ एक ही कारकका अनेक क्रियाओसे सम्बन्ध विवक्षित रहता है" (का॰ प्र॰, १०:१०३)। मम्मटने प्राचीन आलंकारिकोके निरूपित भेद आदि, मध्य आदिक नहीं माने है। विश्वनाथने प्रस्तुत-अप्रस्तुतके एक धर्मसे सम्बन्धित होनेका कथन करके मम्मटका अनुसरण ही किया है (सा० द०, ४९) तथा भेदोके सम्बन्धमे भी दृष्टिकोण समान है। जयदेवने प्रस्तुत-अप्रस्तुतकी तुल्यता-को ही दीपक माना है (चन्द्रालोक, ५:५३)। जगन्नाथने दीपकको तुल्ययोगिताके अन्तर्गत स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसे स्वीकार किया है—'वन्यं अवन्यंनिको जहाँ, धरम होत है एक'' (ल० ल०, १३५)। चिन्तामणि तथा कुलपित आदि कुछ ही आचार्योंपर 'काव्यप्रकाश'का प्रभाव स्पष्ट है। दासका लक्षण भिन्न है—'एक सबद बहुमें लगे' (का० नि०, १८)। इसमें मम्मट तथा विश्वनाथके दूसरे भेदका भाव आ जाता है। उदा०—''और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊथी, सॉस रोकिने कौं कहा जोग ही कुढंग है। कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति, जमुना तरंग है तिहारी सतसंग है" (अ० मं०)। यहाँ 'सतसंग' प्रस्तुतके साथ अटारी आदि अप्रस्तुतोंका 'स्वास रोकना' (मृत्यु)रूप एक धर्म कहा गया है। अथवा—''रहिमन पानो राखिये, विन पानी सब सून।

पानी गये न जबरै, मुक्ता मानिक चून" (का० द०) । आवृत्तिदीपक-जयदेवके अनुसार जहाँ दीपक पदोंकी आवृत्ति हो, वहाँ आवृत्तिदीपक होता है (चन्द्रालोक, ५: ५४) । इसके शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थको आवृत्तिके तीन भेद भी माने गये है। हिन्दीके कई आचार्योंने इसे स्वीकार किया है-"जह होत है आवर्तनको जोग" (ल० ल०, १३७) अथवा--'दीपककी आवृत्तिमैं' (पद्मा० ७७)। अन्य कुछने भिन्न रूपमें भी लक्षण दिया है—"दीपक पद-को अर्थ जहॅ, फिरि-फिरि करत बखान" (शि० भू०, १३०) अथवा- 'वहै सबद फिरि-फिरि फरें (का० नि०, १८)। उदा०-"जागत हौ तुम जगतमे, भावसिंहकी बान। जागत गिरिवर कन्दरनि, अरिवर तिज अभिमान'' (ल० ल०, ३८) अथवा-"सिव सरजा तव दानको, करि को सकत बखान । बढत नदीगन दान जल, उमइत नद गजदान" (शि॰ भू॰, १३१) तथा—"लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे, लाली भरे लाड़ भरे लोचन है लालके" (अ० मं०, २७०)। इनमें क्रमशः शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थकी आवृत्ति है। कई विवेचक पदावृत्ति (शब्दा-वृत्ति) दीपक तथा पदावृत्ति यमक और पदार्थावृत्ति अनुप्रासमें भेद नहीं मानते है। कुछका कहना है कि दीपकमे क्रियावाचक पद और पदके अर्थ, दोनोकी आवृत्ति होती है, यमक तथा अनुप्रासोंमे क्रियावाचक पद और पदार्थींका नियम नही माना जाता। इसके अतिरिक्त दीपकमें क्रियाकी आवृत्ति मानी गयी है और यमकमें अक्रिया-पदोंकी आवृत्ति । फिर भी भेद स्पष्ट नहीं है ।

कारकदीपक—मन्मट तथा विश्वनाथने दीपकका एक रूप माना है। दासके अनुसार—"एक मॉतिके बचनको, काज बोहौत जह हो हा"। इस अलंकारमें अनेक क्रियाओंका एक ही कर्ता कहा जाता है—"कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात। मरे मौनमें करत है नैनन ही सब बात" (बि॰ र०, ३२)। यहाँ नायिकाको अनेक क्रियाओंका कथन है। इसी प्रकार—"किन्तु शिशिरमे ठण्डी सॉर्स हाय कहाँतक थारूँ? तन जारूँ मन मारूँ पर क्या में जीवन भी हारूँ" (साकेत, का॰ द०)।

मालादीपक—मम्मट तथा रुय्यक्ते इसका सम्भवतः सर्वप्रथम विवेचन किया है। मम्मटके अनुसार इसमे "पूर्व-पूर्व विजित वस्तु उत्तरीत्तर वर्ण्य वस्तुमें उत्कर्षका आधान करती प्रतीत" हो (का० प्र०, १०: १०४)। आगे चलकर इसके लक्षणमे 'दीपक तथा एकावली'का योग स्वीकृत हो गया (चन्द्रालोक, ५: ८९) तथा 'कुवलयानन्द' और हिन्दीके प्रायः सभी आचार्योंने इसी लक्षणको अपनाया—"जह दीपक एकावली होत दुहुनिको जोग" (ल० ल०, २६१) अथवा 'दीपक एकावलि मिले' (का० नि०, १८)। दास आदिने मम्मटके समान इसे दीपक समीप रखा है, पर अन्योंने जयदेवके अनुसार एकावलीके बाद। वस्तुतः बादकी परिभाषा प्रथमका विकासमात्र है, क्योंकि पूर्वकथित वस्तुओसे उत्तरीत्तरकथित वन्तुओंका एक धर्मसे सम्बन्ध दोनोंमें स्वीकृत है। उदा०—"जगकी रुच ब्रजवास, ब्रजकी रुच ब्रजचन्द हरि। हरि रुच नंसीदास, बंसी रुच मन

बाँधिबौ" (का॰ नि॰, १८) अथवा "नभमें सुन्दर विजली-सी, विजलीमें चपल चमक-सी। आँखोंमें काली पुतली, पुतलीमें स्याम झलक-सी।' ('प्रसाद' : ऑस्)।

दीपक तथा तुल्ययोगिताके अन्तरके सम्बन्धमें प्रथममें एक या अधिक प्रस्तुत और एक या अधिक अप्रस्तुत पदार्थ समान धर्मसे सम्बद्ध होते है, जब कि दूसरेमे या तो प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत वस्तुएँ ही रहती है। इनमे अन्तिनिहित औपम्य माननेवालोके अनुसार दीपकमे उपमेय प्रस्तुत रहता है और उपमान (अन्तिनिहित रूपमे) अप्रस्तुत रहता है; तुल्ययोगितामे, क्योकि एकमात्र प्रस्तुत या अप्रस्तुत रहते हैं, यह सुननेवालेकी इच्छापर निर्मर है कि किसको उपमेय माने और किसे उपमान। इसी प्रकार कारणमाला तथा मालादीपकमे पूर्वोल्लिखत तथा उत्तरोत्तर आनेवाली वस्तुएँ सम्बद्ध रहती है, परन्तु प्रथममे पूर्ववर्ती वस्तु आगे आनेवालीका कारण होती है, जब कि दूसरेमे यह सम्बन्ध विशेष रूपमे रहता है।

दीप्ति-दे॰ 'अयत्नज अलंकार', तीसरा प्रकार। दुःखवाद-दुःखवादका लक्षण—दे० 'सुखवाद'। ज्ञात इतिहासके आधारपर यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम गौतमबुद्ध (जन्म ५४४ ई० पृ०के लगभग)ने इस सिद्धान्तकी घोषणा की कि सब कुछ दुःख है (सब्बं दुक्खं-सर्वं दुःखम्)। फिर इस लोकको ही दुःखलोक और मृत्युलोक (मृत्यु सबसे बड़ा दु:ख है) माना गथा। जरा और मरण घोर दु:ख समझे गये। जरामरण बौद्ध धर्म तथा दर्शनमें दुःखसामान्य-का पर्याय बन गया। जन्म, इच्छा, तृष्णा आदि भी दुःख-रूप समझे गये। संक्षेपमे समस्त भौतिक और मानसिक प्रपंच दुःखस्वरूप समझ लिये गये । उपनिषदोमें भी इतना कहा गया कि जो सान्त, अनित्य, नश्वर है, वह दुःख है और जो अनन्त, नित्य तथा अमर है, वह सुख है। बुद्धने किसी पदार्थको नित्य, अनन्त और अमर नही माना । अतः उनके मतसे सुख कुछ नहीं है और सब कुछ दुःख ही है। अनित्यवादी तत्त्ववादका ही नैतिक रूप दुःखवाद है। बुद्ध ने इस दु:खसे बचनेका मार्ग भी बतलाया, जो अष्टांग-साधना-पद्धतिके नामसे विख्यात है। सम्यक दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि-ये आठ क्रमिक सोपान है, जिनसे दु:खोको निवृत्ति सम्भव बतलायी गयी है। इस निवृत्तिका नाम निर्वाण है। दुःख-अभाव होनेसे निर्वाणको सुख न समझ लेना चाहिये। यह दुःखकी शान्ति ही है, मुख नही। तत्त्वतः यह मुख-दुःखसे उदासीनता है।

बौद्ध दर्शनके दुःखवादने हिन्दू दर्शनोंको भी प्रभावित किया। सांख्यने प्रकृतिको ही त्रिगुणमयी बतलाकर सब बस्तुओंको सत्त्व (सुख), रज (दुःख) और तम(मोह)से निर्मित माना है। अतः शुद्ध सुख कही नही है। सर्वत्र दुःखिमिश्रत ही सुख है। दुःख त्रिविध है—आध्यात्मिक (आधि-व्याधि), आधिमौतिक (जलना, गिरना, इबना आदि), आधिदैविक (प्रेत-पिशाचका इण्ड)। इनसे मुक्त होना ही अपवर्ग या मोक्ष है।

मध्ययुगके सन्तोंने भी दुःखवादको अपने वैराग्य-

वादकी भूमिका कहा है। जन्म-मरण, दोनों दुःखद है-'जनमत-मरत दसह दख होई' (तुल्सीदास) । आत्मा शरीरमे कारावास भोग रही है। संसार, परिजन, मित्रजन, सभी दःख देनेवाले है। इन्द्रियाँ दःख देती है। जैसे हरिण अपनी अवणेन्द्रियके कारण मार डाला जाता है, पतिंगा अपनी दृष्टिके कारण दीपकमें जल मरता है, वैसे ही मनुष्य अपनी पाँचो इन्द्रियोंसे दुःख भोगता है। इस दःखसे बचनेका एक ही उपाय है-वैराग्य। वैराग्यसे भगवद्भक्ति आती है, जो आनन्ददायिनी है। दुःखवादका फल वैराज्यवाद है और वैराज्यवादका फल आनन्दस्वरूपा भक्ति । भारतकी हिन्दू जनता यदि मध्ययुगमे ऐसा सोचती है तो अनुचित नहीं है, क्योंकि उस समय वह अपनी ऐहिक शक्ति खो बैठी थी और उसपर विदेशी मुसलमानो-का करतापूर्ण शासन था। उसके पास एकमात्र आनन्द वैराग्य और भगवत्-शरणागति थी । आज भी वैराग्यवादी जगज्जीवनके प्रति दःखवादी है।

१९वी शताब्दीमे जर्मनीमें शोपेनहार और हार्टमन प्रसिद्ध दुःखवादी हो गये है, जिनपर बौद्ध विचारधाराका प्रचुर प्रभाव पड़ा था। वर्तमान समयमे आस्वाल्ड स्पेंगलर पश्चिमका प्रसिद्ध दुःखवादी दार्शनिक है।

नित्य दुःखवाद और अनित्य दुःखवाद, ये दुःखवादके दो प्रकार है। नित्य दःखवादमें दःखका शमन कभी नहीं होता और अनित्य-दुःखवादमे दुःखकी शान्ति निर्वाण या मक्ति मिलनेसे हो जाती है। दार्शनिक रूपमें नित्य-दु:खवादको कोई भी नहीं मानता है। बुद्ध निर्वाणमे, शोपेनहार विचारमें, हार्टमन युक्तिमें, आस्वाल्ड स्पेंगलर संस्कृतिके पुनर्जन्मभे तथा हिन्दू दार्शनिक भक्त मुक्तिमें, सभी दःखोंका (शमन) अभाव मानते हैं, पर साहित्यजगत्में वियोग, शृंगार रस तथा करुण रसके कुछ लेखक नित्य-दुःखवादको मानते है। मैथिलीशरण ग्रप्तके 'साकेत'में उर्मिला नित्यदःखवादी है। महादेवी वर्माके काव्यमें भी यही दःखवाद मिलता है। इस साहित्यिक नित्यःदुग्नवाद-का क्या प्रमाण है ? लगता है, ग्रीक 'टैजेडी' (दःखान्त नाटकों)के आधारपर ही यह दुःखवाद बना है और इसके पीछे वही सिद्धान्त काम कर रहा है, जो ग्रीक 'टैजेडी'के मूलमें है।

दुःखका सम्बन्ध त्याग तथा बिलदान से है और सुख का सम्बन्ध भोग तथा परिग्रह से। यदि भोग और परिग्रह मनुष्यको वासनाके स्तरपर रखते हैं तो त्याग तथा बिलदान उसे वासनासे ऊपर उठाते हैं और संयम तथा मर्यादाका मूर्तिमान पाठ पढ़ाते हैं । इससे जहां सुख मनुष्यके अधःपतनका हेतु है, वहाँ दुःख उसके उत्थान का। इस मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सिद्धान्तसे लाभ उठाते दुए हिन्दी साहित्यकी प्रयोगशील धाराके कुछ लेखकोंने दुःखवादको एक रचनात्मक तथा प्रेरक शक्तिके रूपमे ग्रहण किया है। इन लेखकोंमें 'अन्नेय'का नाम विशेष रूपने से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने दुःखको शक्ति देनेवाला तथा आत्माका परिष्कार करनेवाला माना है। नयी कविताके कुछ अन्य वर्तमान लेखकोंने भी वेदना तथा दुःखको अपने चिन्तनमें महत्ता दी है, परन्तु ऐसा लगता है कि इन लेखकोंका दुःखवाद किसी दार्शनिक चिन्तनधारासे सम्बद्ध न होकर वर्तमान युगके संक्रान्तिकालीन विषटनसे पेरित है।

अनित्य-दुःखवाद दार्शनिक सत्य है। वस्तुतः यही दुःखवाद है। सुखवाद केवल अर्थ और कामको पुरुषार्थ मानता है तो दुःखवाद केवल धर्म और मोक्षको। सुखवाद ऐहिक भोग-विलासपर जोर देता है तो दुःखवाद आत्मिक विकासपर। सुखवाद प्रवृत्तिमार्ग है तो दुःखवाद निवृत्तिमार्ग। पहला भोगवाद है तो दूसरा वैराग्यवाद। सुखवाद क्षणिक आनन्दको लक्ष्य बनाता है तो दुःखवाद चिर आनन्दको।

सुखवादकी भॉति दुःखवाद भी एकांगी मत है। यह भी एक 'अन्त' या 'अति' है। दोनो असन्तुलित विचारधाराएँ है। सुख और दुःख, दोनो एक द्वन्द्वके दो अंग है। दोनोंका अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। एकके अभावमें दूसरेका भी अभाव होना अवश्यम्भावी है। सबसे अधिक उक्लेख-योग्य बात तो यह है कि दोनों क्षणिक, अनित्य और परिवर्तनशील हैं। संसार न सुखलोक है, न दुःखलोक; वह दोनोंका मिश्रण है। इस प्रसंगमें सांख्यमत बहुत न्यायसंगत है। मनुष्यके लिए दोनो आवश्यक है, यद्यपि वह दुःख नहीं चाहता। पर जैसा कि सुमित्रानन्दन पन्तने 'सुख-दुःख' शीर्षक कवितामे कहा है, सभीको दोनोंका सम्मिश्रण ही अभीष्ट है। दुःखके न रहनेपर, उसके अनुभूत न होनेपर, सुख भी वस्तुतः अनुभवमें नहीं रहेगा।

दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टियोंसे उपर्युक्त साधारण समन्वयके अतिरिक्त सुखवाद और दुःखवादके द्वन्द्वका समाधान आनन्दवादमें होता है। दुःखवाद भी अन्ततः आनन्दमें परिणत होता है और सुखवाद तो आनन्दका वाद है ही। कभी उसमें यह है कि वह स्थायी आनन्दको छोड़कर क्षणिक आनन्दको ही अपना लक्ष्य बनाता है।

गीताने सुखवाद और दुःखवादका समन्वय अनासक्त कर्मवादमें किया है। यहाँ दुःखवादसे अनासक्तिका भाव याह्य समझा गया और सुखवादसे कर्मकी प्रवृत्ति की गयी। दोनोंको मिलाकर अनासक्तभावसे कर्म करनेका सिद्धान्त बना, जिससे सुखकी प्राप्ति भी होती है और जीवनके महान् मूल्योंका लाभ तथा सामाजिक मर्यादाका पालन भी होता है। गीताके इस निष्कर्मवादका भारतमें बहुत प्रभाव पड़ा। आधुनिक युगमें भी लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्यों और विनोवा भावेने इसी मतका प्रतिपादन किया है।

[सहायक प्रनथ— न्यायकोश : भीमाचार्य झलकीकर।] — सं० ला० पा० दुर्मिल्लिका— इसमे चार अंक होते हैं। पहले अंकमें छः घड़ीका न्यापार रहता है और विटकी कीड़ा रहती है। दूसरे अंकमें विदूषकका वाग्विलास दस घड़ी तक चलता है। तीसरे अंकमें पीठमदंका विलास बारह घड़ी तक चलता है। तीथरे अंकमें पीठमदंका विलास बारह घड़ी तक कीडा रहती है। उसमें कैशिकी एवं भारती वृत्तियोंका प्रयोग होता है और गर्मसन्धिका अभाव रहता है। नायक निम्न जातिका होता है तथा पुरुष पात्रोंमे सभी चतुर होते है। उदाहरण-विन्दुमती'। —वि० रा०

दुर्मिल सबैया-दे॰ 'सबैया', चौथा प्रकार। दृतकाच्य -दे॰ 'पत्रगीति', 'गीतिकाच्य'।

दती (नायिका) - शृंगाररसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत दूती भी आती है-"सखी दूतिका जानिये उद्दीपनके भेद। नायक अरु नायिकाको हरै बिरहको खेद" (म० रा०: र० रा०, २८७) । भरतने द्तीके विभाजनको ही प्रधानता दी है, पर उनका दृष्टिकोण भिन्न है (दे॰ 'सखी') । दूसरी और रुद्रभट्टने सिखयोंके भेदोंमे दूतीको स्वीकार किया है तथा किंचित् अन्तरके साथ धनंजय, शारदातनय, शिगभूपाल तथा विश्वनाथने दूतीके मेदोंमें तथा विद्यानाथने सहायाके भेदों में कुछ कम या अधिक, वही नाम दिये है। सामान्यतः संस्कृतके आचार्योंमें दूती और सखीके मौलिक भावमें अन्तर नहीं माना गया है। भानुदत्तने अवस्य दूतीकी विवेचना सखीसे स्वतन्त्र रूपमें की है। उनके अनुसार—"दौत्यव्या-पारपारंगमा दूती" (र० मं०, ९७)। जो दूतकार्य करने में चतर हो, उसे दृती कहा जायगा। उनके अनुसार सखी-का भाव भिन्न हैं (दे० 'सखी')। दतीके भावको हिन्दीके कवियों और लेखकोंने प्रायः इसी रूपमे अधिक लिया है। कछने सखीके विभाजनके अन्तर्गत दतीको स्वीकार किया है और उनका विचार संस्कृतके अन्य आचार्योंके निकट है (दे॰ 'सखी')।

कृपारामने द्तीका विभाजन उत्तमा, मध्यमा तथा अधमामें किया है और इसका अनुसरण अधिकांशने किया है। उत्तमा-अपना कार्य मधुर चातुर्यसे निकालती है और इसके लिए पैर पडनेमे भी नहीं हिचकती। मतिरामके अनुसार—"मोहै जो मृद बोलिक मधुर बचन अभिराम" (र० रा०, ३००) और पद्माकरके अनुसार—"हरै सोच उचरै बचन मधर-मधर हित मानि" (ज॰ वि॰, भा॰ २: २८)। भानुने पद्माकरका उदाहरण प्रस्तुत किया है-'कान्ड कलिन्दीके निकट निरखि रहे हो जाहि। आयी खेलन फाग वह तमहीं सीं चित चाहि" (वही, ३२)। मध्या-जो अपनी बातपर बल देकर कहती है और अपना कार्य मधुर तथा परुष न्यवहारसे निकालती है। वस्तुतः इसकी परिभाषामें मतिरामने जो 'हित' तथा 'अहित' वचनोंका उल्लेख किया है, उससे पद्माकरका कहना अधिक ठीक है—"कछुक मधुर कछु-कछु परुष कहै बचन जो आय" (बही, ३२) । पर मतिरामके कथनका भाव भानुकी परिभाषामें स्पष्ट होता है—"मध्या द्ती हित अहित कहत सिखाई बात" (र० र०, पृ० ६५) । वस्तुतः वह हित-अनहित, दोनोंको समझाती है। मतिरामका उदा॰—"रीझि रही रिझवारि वह तुम ऊपर ब्रजराज! लाज सिन्धुकी इन्दिरा क्योंकर 'आवै हाथ ?" (र० रा०, २०५)। अधमा—जो स्वभावसे उग्र होती है और कार्य साधनके लिए कठोर वचनोंका प्रयोग भी करती है। मतिराम उसे 'बचन कहत सतराय' कहकर भी उसकी 'यन्थनको मित देखिकै' दूती मान छेते हैं और भानुने कहा है कि वह 'काज'के लिए 'कुपित बचन' कहनेवाली है। पद्माकरका उदा०—''कै गुमान गुणरूपके तैं न ठान गुन मान। मनमोहन चित चढ़ि रहीं तोसी किती न आन।' (ज० वि०, भा० २: ३६)।

इन तीनों भेदोंके अतिरक्त स्वरंदूतिकाका उल्लेख भी किया गया है। स्वयंदूतिका—जब नायिका अपने आप दूतकार्य करती है—"आपुिह अपनो दूतपन करें जो अपने काज" (वही: ४३)। उदा०—"मंजु महाछिकिकी कक्की यह नीकी निकुंज परी सब खाली। हौ इह बागकी मालिनि हौं इत आये भले तुम हौ बनमाली।" (वही, ४४)। तोष, रसलीन तथा गुलाबरायने दृतीके अन्य भेद किये है—हिन, हिताहित तथा अहित, जो पहले भेदोंके रूपान्तर है। दूतियोंके अन्य अनेक भेद भरत तथा संस्कृतके अन्य आचार्योंके आधारपर पेरोके अनुसार किये गये हैं। इस विभाजनको तोष, दास, बेनी प्रवीन, देन तथा स्यामसुन्दरदासने अपनाया है, पर इन्होंने संख्याएँ भिन्न स्वीकार की है। तोषने २६, दासने १८, बेनीने १२, देवने १३ तथा स्यामसुन्दर दासने ८ जातियोंकी दूतियाँ बतायी है।

द्तीकर्म-संखीके समान द्तीके कार्योंपर भी विचार किया गया है। जिन लेखकों मे सखी तथा दृतीका विभेद स्पष्टतः स्वीकृत है, उनमें द्तीके कमौंका उल्लेख अलग और स्पष्ट हुआ है, अन्यथा दोनोके कर्तव्योंमे स्थिति भ्रामक है। भानुदत्तके अनुसार—"संषट्टनविरहनि दनादीनि कर्माणि ।' (र० मं०, पृ० १६२), अर्थात् मंबट्टन तथा विरहनिवेदन, द्तियोके दो कर्म हैं। केशव, देव तथा दासने इन भेदोको सखियोंके कर्ममें माना है। परन्तु हिन्दीमें भी कवियोंने दृतीको स्वतन्त्र माना है, उन्होने इन दो भेदोंको स्वीकार किया है। संघटनका अर्थ मिलाना है, दूरी रायक-नायिकाके मिलानेका सुयोग जुटाती है। पद्माकरके अनुसार—''दोउनको जु मिलाइबो सो संघट्टन मानि" (ज० वि०, भा० २: ३८)। उन्हींका उदाहरण है—"गोरीको जु गोपालको होरीके मिस ल्यायि। विजन साँकरी खोरिमें दोऊ दिये मिलाय" (वही, ४३)। विरह-निवेदन-विरहका वर्णन करके संयोगकी परिस्थिति उत्पन्न करनेमे सहयोगी होना अथवा नायकके मनको प्रभावित करना। पद्माकर इसे 'विरहविथानि सुनाइवो' कहते हैं। उदा॰—"को जिवावतो आज लों बाढे बिरह बलाय। होती मैं जुन तोहि-सी ताकी नेक सहाय" (वही, ४०)।

कृपारामने मर्मग्रहण (िकसीके हृदयके रहस्यको जानना), संगदेन (साथ-साथ रहना), प्रतिज्ञा (िमलानेकी प्रतिज्ञा करना) अन्य भेदोके साथ दिये हैं। रसलीन, भानु, 'हरिऔध' तथा 'गुलाबराय'ने स्तुति, विनय, प्रबोध और निन्दा द्तीके कर्म माने है, जिनमेसे प्रथम दोका उल्लेख केशव और देवके सिख्योके कर्मके अन्तर्गत हुआ है।

**दृश्यपरिवर्तन**-दे० 'रेडियो नाटक' ।

हरय-श्रव्य — इन्द्रियों (चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय)को ध्यानमें रखते हुए काव्यके दो मेद किये जाते हैं— हरय काव्य और श्रव्य काव्य। "हरयश्रव्यत्वमेदेन पुनः काव्य हिंधा मतम्" (सा० द०)। हर्य काव्य वह है, जिसका रसास्वादन मुख्य रूपसे चक्षुरिन्द्रय द्वारा िलया जाता है। श्रव्य काव्यका आनन्द कानों द्वारा प्राप्त क्रिया जाता है। श्रव्य काव्यका आनन्द कानों द्वारा प्राप्त क्रिया जाता है। यों तो हर्य काव्यका आनन्द भी श्रवणेन्द्रिय

द्वारा लिया जा सकता है, पर दृश्योके विधानके कारण चिक्षिरित्रय द्वारा जो आनन्द उससे प्राप्त होता है, वह अवणेन्द्रिय द्वारा नहीं। दृश्य कान्य अपनी अभिनेयताके कारण विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीको रूपक कहते है। रूपकमे रूपका आरोप किया जाता है, इसलिए इसे रूपककी संज्ञा दी गयी—'तद्र्पःरोपात्तु रूपकम्' (सा० द०, ६:१)। इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारने लिखा है कि नट (नाटकके पात्र)में रामादिक कान्य-पुरुषोका स्वरूप आरोपित किया जाता है और सामाजिकको उसमें 'यही राम है'का आरोपात्मक ज्ञान होता है।

हरय काव्यको हिन्दीमें नाटक कहते है। संस्कृतमें इसे प्रायः रूपक ही कहा गया है, क्योंकि नाटक रूपकका ही एक भेद है। .—व० सिं०

दृश्यांतर -दे० 'रेडियो-नाटक'। दृष्ट अद्भत-दे० 'अद्भृत रस'।

हष्टांत—साहरयगर्भके गम्योपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार । शब्दार्थ है—प्रामाणिक निश्चयको देखना । प्रथम उद्भट तथा रुद्रटने इसका विवेचन किया है और इसके बाद मम्मट तथा रुय्यकके अनुसार "इस अलंकारमे उपमेय तथा उपमान, दोनों वाक्योमें इन सबका (उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्मका) विम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकता है।' (का० प्र०, १०: १०२)। विश्वनाथने संक्षेपमे केवल "वस्तुओके समान धर्मका प्रतिबिम्ब-भाव-कथन'' मान लिया है (सा० द०, १०: ५१)।

हिन्दीके आचार्योंने यही लक्षण जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके आधारपर बहुण किया है-"पद समूह जुग धर्म जहॅं, जिमि बिम्बहि प्रतिबिम्ब" (ल० ल०, १४५)। अथवा-"लखे बिम्ब प्रतिबिम्ब गति उपमेयोपमान।' (का० नि०, १८)। किसी-किसीने मम्मटके साधर्म्य तथा वैधर्म्यके आधारपर दो भेद माने है। उदा०—"कान्हर क्रपा कटाक्षकी करै कामना दास। चातक चितमे चेत ज्यों, 'स्वाति बूंदकी आस'' (का० नि०, ८) अथवा-"निरखि रूप नेंदलालको, दगनि रुचै निहं आन। तिज पियूष कोऊ करत, कटु औषधिको पान" (पद्मा०: ८३)। यहाँ साधर्म्यका दृष्टान्त है। इसी प्रकार वैधर्म्यका उदा०-"भवके ताप रहै तबलौ नरके दृढ़ मूल बने हिय माहीं। तब पंकज कोस छिप्यो तमतोम कही वह देत कहा दिखराई" (अ० मं०, २८०)। यहाँ पूर्ववाक्यमें तापकी स्थिति और उत्तरवाक्यमें (उपमान) तमका अभाव कहकर विम्ब ग्रहण कराया गया है।

ह्यान्त तथा प्रतिवस्तृपमाका अन्तर स्पष्ट है, प्रथममें उपमेय-उपमान-वाक्योंमें अलग-अलग समान धर्मका कथन होता है और द्वितीयमे एक ही समान धर्म शब्दमेदसे कहा जाता है। द्यान्तका विम्व-प्रतिविम्ब-भाव प्रतिवस्तृपमामें नहीं रहता। अर्थान्तरन्यासमें सामान्यका विशेषते या विशेषका सामान्यसे समर्थन होता है, जब कि ह्यान्तमें दोनों ही सामान्य या दोनों ही विशेष होते हैं। —िश् प्र० सि० ह्यांतकाच्य-यूरोपीय साहित्यमे तीन काव्यरूप—'एली-गरी', 'फेबिल' और 'पैरेबिल' ऐसे हैं, जिनमे परस्पर बहुत

कम भेद है। इसी कारण इन सबको प्रायः 'एलीगरी'के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है। जिस न्यापक अर्थमे एलीगरी शब्दका अंग्रेजीमें व्यवहार होता है, उसे हिन्दीमें रूपक-कथा कहा जा सकता है। पर सीमित अर्थमें एलीगरी वह कथा होती है, जिसमें पात्र अशरीरी हों या सूक्ष्म भाव, गुण या प्रवृत्ति-रूप होते है, जिनका मानवीकरण किया जाता है। ऐसा कथाको प्रतीककथा कहते है। फेबिलको उपदेशकथा कहना चाहिये, क्योंकि उसमे पश-पक्षी या वृक्षोंको भी पात्र बनाकर उपदेशात्मक कथा कही जाती है। पैरेविलको दृष्टान्तकथा या उपितकथा कह सकते है। उसमें पात्र तो प्रायः मानव होते है और उसकी घटनाएँ किसी नीति, धर्म या आचार सम्बन्धी सिद्धान्तके प्रतिपादन-के लिए दृष्टान्तरूपमें नियोजित होती है। संस्कृतमें 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि और हिन्दीमे 'प्रसाद'के 'कामना' और 'एक घूँट' प्रतीकात्मक नाटक है। 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'की कथाओ तथा 'महाभारत'मे प्राप्त पश-क्याओंको उपदेशकथा मानना चाहिये, क्योंकि उनके पात्र पश-पक्षी है। पाली-साहित्यमे 'जातक-कथाएँ' और संस्कृतमे सिद्धिषेकी 'उपिमतभव-प्रपंचकथा' इष्टान्तकथा या उपमितकथा है। यूरोपीय साहित्यमे प्रतीक और दृष्टान्त-कथाएँ गद्य-बद्ध और पद्य-बद्ध, दोनो प्रकारकी होती थी, पर संस्कृतमे वे गद्यात्मक रूपमें ही अधिक मिलती है, पचबद्ध काव्यके रूपमे नहीं। इसी तरह दृष्टान्तकाव्य या उपितत-कान्यका हिन्दीमे भी अभाव है काव्य')। ---शं० ना० सि० **दृष्टि**-बरटेंड रसेलने एक स्थानपर लिखा है कि 'देखना क्या होता है ? देखनेकी क्रिया बहुत उलझी हुई है। जिसे हम वस्त (आब्जेक्ट) कहते है, उसमेसे सब ओरसे प्रकाश-लहरियाँ निकलती और दौड़ती रहती है। जिस वातावरण-मेसे वे प्रकीरित होती है, जिस क्षेत्रफलमे वे चलती है, उन सबकी अपेक्षासे इन प्रकाश-लहरियोंमे बहुत आन्तरिक परिवर्तन घटित होते रहते है। इन प्रकाश-लहरियोकी अन्तिम मंजिल है मेरे अन्तर्नेत्रके रेटिनापर आकर टकराना। यहाँ से 'आप्टिक नवें'की दूसरी क्रिया शुरू होती है, जो कि शारीरिक है। इसके आगे जो होता है, उसके बारेमे निश्चित कुछ कहना कठिन है, क्योंकि एक मानसिक क्रिया शुरू होती है, जिसमे पूर्वानुभूति भी संचित रहती है"। साधारण ऑखोंकी दृष्टि जब इतनी उलझी हुई क्रिया

'दृष्टि' किविको अपेक्षामे किसी विषयमें उसकी पैठ है। सूरकी अन्तर्दृष्टिकी प्रशंसा की जाती है। चर्म-चक्षु न होनेपर भी बाल-लीलाओंका ऐसा सूक्ष्म वर्णन ! क्या यह 'कल्पनाकी ऑख' तो नहीं है। 'पेनेट्रेशन'से 'इनसाइट' और 'विजन'तक यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। किविको जब उपनिषदोंने द्रष्टा कहा तो इसी अर्थमें कि वह त्रिकालदर्शी है। वह भूतकालको वर्तमानमें सजीव करके सामने उपस्थित कर देता है तो भविष्यत्को भी मुट्टीमे हस्तामलकवत् देखता है।

है तो साहित्यमे जब यह शब्द प्रयुक्त होता है तो वह

अनेक विभिन्न अर्थीमे आता है।

समीक्षाके क्षेत्रमें जब समीक्षक लेखक या कविके हेतुको

नहीं समझ पाता, लेखककी दृष्टिमे गहराईसे देख नहीं पाता, उसके रूप-रंग, रेखाओका आकलन नहीं कर सकता, तब कहते है कि समीक्षककी दृष्टि पैनी नहीं है, ऊपरी-ऊपरी है या उसने अमुक रंगका चरमा पहन रखा है। इसीलिए सत्य-शोध या 'सत्य-प्रेम' (फिलो + सौफी)को हमारे यहाँ 'दर्शन' कहा गया। साहित्य अथवा अन्य कला-सृष्टियोमे सौन्दर्यका जो दर्शन होता है, वह ऐसी ही अन्तरानुभृतिसे, दिव्य-दृष्टि या 'इंटयूरान'से। क्रोचेका भी यही विचार है. जिसके आधारपर वह साम्यवादियोका आलोचक बना । अव इस दृष्टिपर कहाँतक पूर्व-कल्पनाओका जोर हो, यह वहुत मतभेदका प्रश्न है। राजशेखरसे लगाकर टी॰ एस॰ इलियटतक इस विषयमे कई प्रकारके अनुमान किये गये हैं। —प्र० मा० देवधनाक्षरी-मुक्तक दण्डकका एक भेद। ३३ वर्णीका यह घनाक्षरी वृत्त है। सर्वप्रथम देवने इस छन्दका प्रयोग किया था और उन्होंके नामपर इस वृत्तका 'देवघनाक्षरी' नाम पड गया। उसके पूर्व ३१, ३२ वर्णतकका ही घनाक्षरी वृत्त होता था । अपनी ध्वन्यात्मकता और नाद-व्यंजनाके कारण परवर्ती कवियोमे यह बहुत लोकप्रिय रहा, देवका तो यह प्रिय छन्द रहा ही-"झिली झनकारै पिक चातक पुकारै बन मोरिन गुहारै उठै जुगुनू चमिक चमिक"। देवके अतिरिक्त किसी अमरनाथने भी ३३ अक्षरोका दण्डक वृत्त माना है। 'काव्यरसायन'में देवने जिन चार प्रकारके अनियत-दण्डक दण्डकोंका भेद किया है, उनमेसे ३० वर्णवाले और ३३ वर्णवाले कवित्त देवकी प्रतिभाके द्योतक है। पूर्ववर्ती आचार्योंने केवल ३१ वर्ण और ३२ वर्णके दण्डकोंका वर्णन किया था। देवने उनमें यह संशोधन किया कि ३१ वर्णवाले दण्डकमें एक अन्तिम अक्षर कम देनेसे तीस वर्णका दण्डक बन जायगा और ३२ वर्णवालेके अन्तमे एक वर्ण वढा देनेसे ३३वर्णवाला कवित्त बन जायगा। इन दोनो कवित्तों (तीस वर्णवाले कवित्त)में १६-१४पर यति होगी, जब कि ३१ वर्णवालेमे १६-१५पर यति होगी, अन्तका कम करनेसे ही पूर्व-वर्ती वर्णींपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार ३२ वालेमें एक अक्षर बढा देनेसे यनिका नियम १६-१७का हो जायगा । ऐसा नियम जगन्नाथदास 'र लाकर'ने 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (५० १९)मे दिया है, जब कि 'छन्द प्रभादार'में भानने देवधनाक्षरीका नियम ८, ८, ९ ९ पर यित और अन्तिम तीनो वर्णीका लघु होना बतलाया है (पू० २२१) । किन्त इस नियमकी व्यापकता अन्तिम तीनों-को लघु मान लेनेसे कम हो जाती है, अतः 'रत्नाकर'का नियम ही विशेष मान्य होना चाहिये। उदा० (१)-"रतियाँ ॲंधेरी धीर तिया न धरत, मुख बतियाँ कढ़ित उठे छतियाँ तपिक तपिक" (देव: श० र०, पृ० १५९), (२) — "झिल्ली झनकारै पिक चातक प्रकारै बन, मोरनि ग्रहारै उठै जुगुन चमिक चमिक " (जसवन्त सिंह)। —ह० मो० **देवनागरी** – हिन्दी, संस्कृत तथा मराठी भाषाएँ देवनागरी लिपिमे लिखी जाती हैं। भारतवर्षकी प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मीकी यह प्रतिनिधि उत्तराधिकारिणी लिपि कही जा सकती है।

ब्राह्मीका प्रचार भारतमें लगभग १५० ईसवीतक रहा। इस समयतक उत्तर और दक्षिणकी ब्राह्मी लिपिमें पर्याप्त अन्तर हो गया था। दक्षिणकी दौलीसे दक्षिणभारतकी लिपियाँ विकसित हुई तथा उत्तरभारतकी दौली गुप्त-लिपि और कुटिल-लिपिमे परिवर्तित होती हुई देवनागरी तथा उत्तरभारतकी अन्य लिपियोंके रूपमें विकसित हुई।

नागरी अथवा देवनागरी लिपिका प्रयोग उत्तरभारतमें दसवी शताब्दीके प्रारम्भसे मिलने लगता है। बारहवी शताब्दीकक यह पूर्णतया विकसित हो गयी थी। अन्य भारतीय लिपियोंके समान देवनागरी लिपि भी बांयेंसे दाहिनी ओरको लिखी जाती है।

देवनागरीमें लगभग ४५ मूल लिपिचिह्न है। स्वरोंके मात्राचिह्न तथा अंकोंके चिह्न इनसे पृथक् हैं। कुछके आधारपर नयी ध्वनियोंके लिए नये लिपिचिह्न भी बनाये गये है। देवनागरीके व्यंजन-चिह्नोमें हस्व 'अ' ध्वनि भी सम्मिलित रहती है, अर्थात् यह वर्णमाला अक्षरप्रधान है, ध्वनिप्रधान नहीं है।

देवनागरी वर्णमाला संस्कृत ध्वनियोंके वैज्ञानिक क्रमके आधारपर वर्गाकृत है, यद्यपि आजके उज्ञारणोमे कुछ अन्तर अवश्य हो गये है। इसी दृष्टिसे यह अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि मानी जाती है। लिपिन्दिहोंके आकारकी दृष्टिसे यह बहुत सरल अथवा वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती।

छपाई तथा टाइपराइटर आदि मशीनोंके सुभीतेकी दृष्टिसे इसमें कुछ सुधार करनेके प्रश्नपर बहुत विचार होता रहा है। कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन प्रयोगस्वरूप किये भी गये हैं, किन्तु कोई सर्वसम्मत सुधरा हुआ रूप अभी स्थिर नहीं हो सका है।

—धी० व० देवी(गोपी)—दे० 'गोपी'।

देश-काळ - कथात्मक साहित्यमें विणंत कार्योंकी वास्तविकता की प्रतीति करानेके लिए उनके घटित होनेके स्थान तथा समयका निर्देश करना आधुनिक कलाकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। परन्तु देश-कालके अन्तर्गत केवल स्थान और समय ही नहीं, रीति-रिवाज, रहन-सहनके ढंग, पात्रोंकी वेश-भूषा, उनके शिष्टाचार, आचार-व्यवहार, विचार-चिन्तन, वार्तालापकी भाषा-शैली तथा कथाकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि आदि सभी वार्ते आ जाती है, जो कथाको स्वाभाविक वातावरण प्रदान करती है। इस देश-काल या वातावरणको सामाजिक और भौतिक, दो भागोंमे वॉटा जा सकता है।

आधुनिक कथासाहित्यमे अनेक महान् लेखकोंने कथाके देश-कालके रूपमें अपने समयके समूचे युगजीवनको अमरत्व प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए प्रेमचन्दके उपन्यास और कहानियाँ गंगा-यमुना प्रदेशकी गान्धीयुगीन राष्ट्रीय प्रगतिका जीवित-जाधत चित्र उपस्थित करती है। बालजक और जोलाने अपने उपन्यासोंमें सम्पूर्ण फांसीसी सम्यताको जीवन प्रदान किया है। जटिल और विस्तृत युगजीवनको एक ही उपन्यासमे समेटकर उसकी समस्याओके समाधानकी चुनौती देनेवाले उपन्यासोंके साथ-साथ ऐसी प्रवृत्ति इधर कुछ विशेष बढ़ी है, जिनमें सामाजिक दृष्टिसे जीवनके किसी एक पक्ष अथवा मौगोलिक

दृष्टिसे किसी एक शेकिने वाणी और गति प्रदान की जाती है। मजदूर, किसान, सेना, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग, स्त्री-जीवन आदिसे सम्बन्धित विशेष अध्ययनपूर्ण उपन्यास और कहानियों में ठेखक अपनी विशेष रुचि और सहानुमृतिके साथ विविध सामाजिक प्रश्नोंकी शोध करते है। विविध वर्गोंके ये चित्र प्रायः किसी क्षेत्रविशेषसे सम्बन्धित होकर रचनाको क्षेत्रीय (रीजनल) या आंचिलक विशेषता प्रदान करते है। ऐसी रचनामें ठेखककी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, संदिल्ध वर्णन-कौशल तथा विवरणोकी नीरसताको दूर करनेवाली भावना या कल्पनाशक्तिकी कठिन परीक्षा होती है।

ऐतिहासिक उपन्यासोंमे भी युगिवरोष और क्षेत्रविरोषमें देश-कालके चित्रण द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास देश और कालकी पृष्ठभूमिको लेते हुए भी इनकी सीमाओंका अतिक्रमण कर जाते है और स्थायी तथा सार्वभौम मूल्योका अन्त्रेषण करते है। दूसरी ओर ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास है, जो मानव मनी-वृत्तियोके चित्रणमे देश और कालकी सीमाओका अतिक्रमण करते हुए भी युगजीवनके सत्यको ही उद्घाटित करते है। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासमें दृष्टिकोण कोई भी हो, देश-कालका यथातथ्य और इतिहाससम्मत चित्रण आवश्यक है।

सामाजिक पृष्ठभूमिके अतिरिक्त कथासाहित्यमे भौतिक या प्राक्तिक परिस्थितियोंका चित्रण भी किया जाता है। यह चित्रण साहित्यमे प्रकृतिके विविध प्रकारके प्रयोगोंके आधारपर या तो केवल वर्णनको सम्पूर्णता प्रदान करनेके लिए केवल चित्रोपम, किन्तु पृष्ठभूमि मात्रके रूपमे हो सकता है या वर्ण्य विषयके साथ साम्य या विरोधके रूपमें सम्बद्ध किया जा सकता है।

वातावरणके वे दोनों पक्ष सामाजिक और प्राकृतिक साहित्यके अन्यतम तत्त्वों—कथावस्तु और चरित्र-चित्रणको सार्थकता और सजीवता प्रदान करते है (दे० 'उपन्यास')। — व्र० व०

देश-विभाग-काव्यशास्त्रमें देशविरुद्ध रचनाकी दोषोंमे गणना की गयी है। अतः कविके लिए देशका ज्ञान अपेक्षित है। कवियोको देश-ज्ञान करानेके लिए राजशेखरने अपने कविशिक्षा (दे०) यन्थ 'काव्यमीमांसा'के सत्रहवें अध्याय-मे देश-विभागका वर्णन किया है। राजशेखरके परवर्ती आचार्यों —हेमचन्द्र (कान्यानुशासन: अ० २, सू० ३ के विवेकमें) तथा वाग्भट(काव्यानुशासन: अ०१)ने राज-शेखरके आधारपर देश-विभागका वर्णन किया है। राज-शेखरने जगत् और जगत्के विभिन्न विभागोंको 'देश' संज्ञा दी है। विभिन्न आचार्योंके मतानुसार जगत् एक, दो, तीन, सात या चौदह मार्न गये है। इनमेंसे भूलोक पृथिवी है। इसमे विभिन्न मतोंके अनुसार एक, तीन, चार या सात समुद्र हैं। मेरु आद्य वर्षपर्वत है। इसके चारो ओर इलावृत नामक वर्ष है। इसके उत्तरकी ओर तीन वर्षपर्वत हैं —नील, इवेत और शृंगवान्। दक्षिणकी ओर भी तीन वर्षपर्वत हैं-निषध, हेमकूट और हिमवान् । इनको घेरकर क्रमशः हरिवर्ष, किन्नरवर्ष और भारतवर्ष अवस्थित है। भारतवर्षको राजशेखरने पाँच भागों में बाँटा है--१. पूर्व- देश, २. दक्षिणापथ, ३. परचादेश, ४. उत्तरापथ और ५. मध्यदेश।

'वायुपुराण'के आधारपर है और भारतके प्राचीन भूगोलके

राजशेखरका यह वर्णन बहुत-कुछ 'बृहत्संहिता' और

शानमे बहुत सहायक है। देश-विभागके अन्तर्गत कवि-शिक्षाका व्यापक विस्तार हुआ है। विभिन्न प्रदेशोके वर्णनके लिए निश्चित वस्तुओंके निर्देशकी शिक्षा दी गयी है। प्रदेशोंके अतिरिक्त नदी, पहाड, वन, सरीवर, समुद्र आदि-के वर्णनकी परम्पराकी निश्चित रूपरेखा प्रस्तत की गयी है। संस्कृतके आचार्योंके साथ हिन्दीमे केशवका इस दिशा-मे महत्त्वपूर्ण योग है (कविप्रिया, ७)। -- म० प्र० ७० देह-कवीरपंथी साहित्यमे छः देहोंकी कल्पना की गयी है। पहला देह 'स्थूल देह' कहलाता है। पचीस तत्त्वों (दे० 'तत्त्व'), दस इन्द्रियों (पॉच ज्ञानेन्द्रियऔर पॉच कमेंन्द्रिय), पाँच प्राणों, चार अन्तःकरणों (दे० अन्तःकरण) और जीवके योगसे यह देह निर्मित है। इसकी अवस्थाका नाम 'जायत अवस्था' है। दूसरा 'सूक्ष्म देह' है। यह पॉच प्राणी, दस इन्द्रियो, मन तथा बुद्धिके योगसे बनता है। स्वम इसकी अवस्था है। तीसरा 'कारण देह' चित्त, अहंकार एवं जीव नामक तीन तत्त्वोंसे बनता है। सुषुप्ति इसकी अवस्था है। अहंकार और जीव नामक दो तत्त्वोंसे निर्मित चौथे देह का नाम 'महाकारण देह' है। तुरीया इसकी अवस्था है। पॉचवॉ कैवल्य देह है, जो जीवात्मा नामक एक तत्त्वसे निर्मित, तुरीयातीत अवस्थाका देह है। छठा देह 'हंस देह' कहा जाता है। इसमें कोई तत्त्व नहीं है-अर्थात् यह तत्त्वातीत है। यहं हंस देह ही जीवका विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है और यही कबीरपंथी साधकका परम प्राप्तव्य है। पूर्णगुरुके बिना इस हंस देहकी प्राप्ति असम्भव है। -रा० सिं० देहस्थ पीठ-वज्रयानी सिद्धोंके साधना-केन्द्रोंमें जालन्धर, कामरूप, ओडियान तथा श्रीहट्ट प्रमुख तन्त्रपीठ माने जाते थे। बौद्ध हठयोग-साधनामें इन बाह्य तन्त्रपीठोकी स्थिति कायाके अन्दर भी बतायी गयी है। चर्यापदोंमे उड्डीयान तथा कामरूपका उल्लेख देहस्थ पीठके रूपमे महासुखनक-में मिलता है। शैव पद्धतियोंमें भी ये तन्त्रपीठ कायामें स्थित माने जाते हैं और उनके नामपर उड्डियानवन्ध, मूलबन्ध आदि प्रक्रियाएँ प्रचलित थी । गोरखबानीमे भी उड्डियान, श्रीहट्ट (सुरहट), मुलतान (मूलस्थान), कामरूप (कॉवरु) आदि देहस्य पीठोंका उल्लेख मिलता है। सन्तोंने भी समस्त देहमें तीथोंकी स्थिति मानी हैं।—४० वी० भा० दैन्य-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुसार निर्धनता तथा मनस्ताप आदि इसके विभाव है और असंयम, शरीर-शिथिलता, मलिनता तथा मनका विक्षेप इसके अनुभाव है (नाट्य ०, ४९ ग)। विद्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—"दौर्गत्याचैर-नौजस्यं दैन्यं मिलनतादिकृत्" (सा० द०, ३:१४५), अर्थात् दुर्गति आदिसे उत्पन्न ओजिस्वताके अभावको दैन्य कहते है। मलिनता आदि इसके अनुभाव हैं। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने प्रायः 'दीनता'के नामसे इसे स्वीकार किया है और इसमें — "दर्गति बहु बिरहादि तें उपजे दुःख अनन्त" (भाव ः संचारी ) माना है।

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता आदिको रामचन्द्र शुक्कने मानसिक अवस्थाओं के रूपमें रखा है। उनके अनुसार ये अवस्थाएँ दो प्रकारकी होती है—प्रकृतिगत और आगन्तुक। किसी एक स्थिर प्रणालीके प्रकृतिस्थ हो जानेपर अभिन्योक्त-कालमे किसी भावसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। इस तरहकी प्रकृतिगत अवस्थाओं को चित्र-चित्रणके लिए उन्होंने काफी उपयोगी माना है। दैन्य, मद आदि आगन्तुक रूपमे ही संचारी माने जा सकते है, क्योंकि ऐसी स्थितिमें वे भावोंसे प्रत्यक्ष सम्बद्ध हो जाते है। 'रामचिरतमानस'की भूमिकामें "किव न हो हुं नहिं कच प्रवीन्ये" लिखकर तुलसीदासने अपने प्रकृतिगत दैन्यका परिचय दिया है।

आगन्तक रूपमें आनेपर दैन्य कुछ संचारियोंकी भाँति भावावेगको बढा देता है। रति और भक्तिके अन्तर्गत आने-वाले दैन्य संचारी इस प्रकार मूल भावोंको वेगयुक्त बना देते हैं-"मो अवला तिक जान तुम्हे विन यौ वल के बलकै जु बलाहक । त्यो दुख देखि हॅसे चपला अरु पौन हॅ दूनो बिदेह तें दाहक" (घनआनन्द कवित्त, १४५) । इसी तरह सूरदासकी इस विनयमें 'दैन्य' है—''मो सम कौन कुटिल खल कामी । तुमसौं कहा छिपी सबके अन्तरजामी" (सू॰ सा॰ : सभा॰ करुनामयः सं० १४८)। दोजक (दोजग) - दोजक या दोजग मूलतः फारसीके दोजस्त्र शब्दका ध्वनिपरिवर्तित रूप है। मुसलमानोके अनुसार दोजल सात विभागोंवाले नरकका नाम है। संतोंने दोजक या दोजग शब्दका प्रयोग वैसे मुख्य रूपसे नरकके लिए ही किया है, पर कही-कहीं प्रसंगके आग्रह और कथनकी भंगी एक भिन्न अर्थका संकेत भी देती जान पड़ती है। कबीरदास 'भिस्त' शब्दका प्रयोग कभी-कभी 'अभीष्ट' अर्थमें करते दिखाई पडते हैं (दे० 'भिस्त')। ऐसे अवसर जहाँ भिस्त 'अभीष्ट' अर्थकी ओर संकेत करने लगता है, उसके साथ-साथ प्रयुक्त होने-वाला 'दोजग', नरक अर्थके साथ ही (नरकके अर्थसे नितांत विपरीत पड़नेवाले) 'अपर लोक' दूसरी-दुनियाँ या 'स्वर्ग'के अर्थका हलका-सा संकेत करना जान पडता है। कबीर ग्रंथावली (डॉ॰ पारसनाथ तिवारी)में पद संख्या १८२ (१८४)में भी 'दोजग' शब्द भिसतिके साथ प्रयुक्त है-"दिलनापाक पाक नहिं चीन्हा तिसका मरम न जाना । कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना ॥" अर्थात् "तुम्हारा हृदय अशुद्ध है, अतः उस निर्मल पाक परवरदिगारको न तू पहचान ही सका और न उसका रहस्यही समझ सका। अपने अभीष्ट (लक्ष्य)को तुमने (अनेक दिशाओं में) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोक = स्वर्ग)की प्राप्तिमें ही मानसिक तोष पा रहे हो"। दोजगका स्वर्ग अर्थ पहली दृष्टिमे विचित्र लग सकता है। शायद अग्राह्य भी लगे। लेकिन अगर ऐसा अर्थ नहीं है तो 'दोजग ही मनमाना'का क्या अर्थ होगा? . यह कि नरकमें ही तुम्हारा मन मान गया है, नरकको - तमने स्वीकार कर लिया है यह अर्थ अस्वीकार्य नहीं।

सामान्यतया कहा भी जाता है "नरकका कीड़ा नरकमें ही सुख पाता है"। हो सकता है उक्त पदमे कबीरदास भी यही कहना चाहते हो। लेकिन जैसा अर्थ मैने किया है, कबीर भी वैसा ही अर्थ करना चाहें, इसकी संभावना भी हो सकती है और संतोंकी विचारधाराके काफी अनुकूल भी पड़ेगी।
—रा० सिं० दोधक —विणंक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद। भरत (नाट्य-शास्त्र, १६:२७)के लक्षणके अनुसार तीन भगणों और दो गुरुओंके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥ ऽऽ)। केशवने मधु और बन्धु नामसे यही छन्द दिया है। 'प्राकृत-पैगलम्' (२:१००)में बन्धु, 'वृत्त जाति समुच्चय' (४:५५)मे भित्तक नाम दिया गया है। सुद्रन और केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"राम गये जबते वन माही। राकस बैर करें बहुधा हों। रामकुमार हमें नृप दीजै। तो परिपूरन यह करीजै" (रा० चं०, २:

दोहा—मात्रिक अर्द्धसम छन्द । 'प्राकृतपैगलम्' (१: ७८)के अनुसार इस छन्दके प्रथम तथा तृतीय पादमे १३-१३
मात्राएँ और दूसरे तथा चौथेमे ११-११ मात्राएँ होती है।
यिन पादान्तमें होती है; विषम चरणोंके आदिमे जगण
नहीं होना चाहिये। अन्तमे लघु होता है। तुक प्रायः
सम पादोकी मिलती है। मात्रिक गणोका क्रम इस प्रकार
रहता है—६+४+३,६+४+१।

प्राकृत साहित्यमें जो स्थान गाथाका है, प्रयोगकी दृष्टिसे अपभ्रंशमें वही स्थान दोहा छन्दका है। अपभ्रंशमें मुक्तक पद्योके रूपमें अनेक दोहे मिलते है। प्राकृतमें जिस प्रकार 'गाथासप्तशती' तथा 'वडजालग्ग' जैसे गाथाबद्ध संग्रह मिलते है। उसी प्रकार अपभ्रंशमें और हिन्दीमें दोहोंके संग्रह मिलते है। उपदेश, मुक्तक पद्योके रूपमे तो दोहेका प्रयोग मुनि योगीन्द्र, रामसिह, देवसेन तथा वौद्ध मिद्धोने किया है। हेमचन्द्र तथा अन्य अलंकारशास्त्र, व्याकरण ग्रन्थ-लेखकोंने अनेक दोहे अपनी कृतियोमें उद्धृत किये है। स्वयम्भूके 'पडमचरिड'में भी दोहेका प्रयोग मिलता है। यह छन्द हिन्दीको अपभ्रंश मिला है। सभी अपभ्रंश छन्दशास्त्र-विषयक कृतियोंने दोहे तथा उसके भेदोका विवेचन मिलता है।

'प्राक्टतपैगलम्' आदि छन्द-प्रन्थोंमें दोहेके भ्रमर, भ्रामरादि २३ भेदोंकी चर्चा की गयी है। वर्णोंके लघु आदि भेदके अनुसार भी दोहेकी जातिकी चर्चा की गयी है, जैसे यदि दोहेमें १२ लघु वर्ण हो तो वह विप्र होता है। हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य छन्दशास्त्री दोहेके प्रति दलमे मात्राओंकी संख्या १४ + १२ मानते है। 'दोहा'की व्युत्पत्ति 'दिएथा'से मानते है। जर्मन विद्वान् याकोशी और अल्सडोर्फ-ने अपभ्रंश दोहोंका वडे विस्तारसे विवेचन किया है।

हिन्दीमे यह प्रायः सभी प्रमुख कवियोके द्वारा प्रयुक्त हुआ है। पद-शैलोके किव स्र, मीरॉ आदिने अपने पदीमे इसका प्रयोग किया है। सतसई (दे०) साहित्यमे दोहा छन्द ही प्रयुक्त हुआ है। दोहा मुक्तक काव्यका प्रधान छन्द है। इसमें संक्षिप्त और तीखी भावव्यंजना, प्रभावशाली ल्रष्टु चित्रोको प्रस्तुत करनेको अपूर्व क्षमता है। सत-

सर्रके अतिरिक्त दोहेका दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग भक्तियुगकी प्रवन्ध-काव्यज्ञेलीमें हुआ है, जिसमे तुल्सीदासका रामच-रितमानस' और जायसीका 'प्बावत' प्रमुख है। चौपाईके प्रवन्धात्मक प्रवाहमे दोहा गम्भीर गति प्रदान करता है और कथाक्रममे समुचित सन्तुलन भी लाता है। दोहेका तीसरा प्रयोग रीतिप्रन्थोमें लक्षण-निरूपण और उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए किया गया है। अपने संक्षेपके कारण ही दोहा छन्द लक्षण प्रस्तुत करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण सम्भवतः स्मरणकी सुविधाकी दृष्टिसे दिये गये है।

कबीरकी साखियाँ दोहेके ही रूप है, यद्यपि छन्दशास्त्रके-ज्ञानके अभावमे इनमें दोहोंका विकृत और अञ्यवस्थित रूप है। इनमें भी दोहेकी सामान्य विशेषताएँ विद्यमान है। जायसीका भारतीय छन्दशास्त्रसे सीमित परिचय है और ऐसा जान पडता है, इन्होने अपने दोहेको सन्तोंकी साखियोके माध्यमसे ग्रहण किया है, अतः उनके इस छन्दके प्रयोगमें भी अस्थिरता है। जायसीके दोहोंमे प्रायः विषम पद १२ ही मात्राका है और सम ११ मात्राका-"रूपवन्त मनि माथे, चन्द्र घटि वह बाढि। मेदनि दरस लुभानी, असतुनि बिनवै ठाढि" (पद्मा॰, १३)। जायसीके कुछ दोहोमे तो विषम पदोंमें १६ मात्राएँतक है। तुलसी-दासने एक विषम पदमे १२ मात्राओका प्रयोग नवीनता लानेके रूपमें किया है-"भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ" (राम०, १:२३५)। - रा० सिं० तो० दोहा-साखी-'दोहा' या 'दृहा'की उत्पत्ति कतिपय लेखकों-ने संस्कृतके दोधक से मानी है। 'प्राकृतपैगलम्'के टीकाकारोंने इसका मूल 'द्विपदा' शब्दको बताया है। यह उत्तरकालीन अपभ्रंशका प्रमुख छन्द है। "दोहा वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलानेका प्रयत्न हुआ" (ह० प्र०)। प्राचीन अपभ्रंशमे इस छन्दका ययोग कम मिलता है, तथापि सिद्ध कवि सरहपा (९वी शताब्दीका आरम्म)ने इसका सबसे पहले प्रयोग किया। एक मतानुसार 'विक्रमोर्वशीय'मे इसका सबसे प्राचीन रूप उपलब्ध है। फिर भी पॉचवी या छठी शताब्दीके पश्चात् दोहा काफी प्रयोगमे आता रहा। हालकी सतसईसे भी इसका सूत्र जोडा जाता है। यह तर्क प्रवल रूपसे प्रस्तुत किया जाता है कि कदाचित यह लोक-प्रचलित छन्द रहा होगा। दोहा दो पंक्तियोंका छन्द है। 'बड़ो दृहो', 'तूँवेरी दूहा' तथा 'अनमेल दृहो', तीन प्रकार राजस्थानीमें और मिलते हैं। प्राचीन दोहाके पहले और तीसरे चरणमें १३-१३ मात्राएं तथा दूसरे और चौथेमें ११-११ मात्राऍ होती है। 'बडो दूहो'मे १ और ४ चरण ११-११ मात्राओंके तथा २ और ३---१३-१३ मात्राओंके होते है। 'त्र्रेरी दृहा'में मात्राओंका यह क्रम उलटा है। पहले और चौथे चरणकी तुक मिलनेसे 'अनमेल दूहो' और दूसरे और तीसरे चरणोंकी तुक मिलनेसे 'मध्यमेल दृहों बनते हैं। दोहा लोकसाहित्यका सबसे सरलतम छन्द है, जिसे साहित्यमें यश प्राप्त हो सका।

साखी 'साक्षी'का अपभ्रंश स्वरूप है। दोहा और साखी समानार्थक है। सम्भवतः बौद्ध सिद्धोंको इस शब्दका ज्ञान था। 'साखि करव जाळन्थर पाएँ' पंक्तिमें जाळन्थरपादको

साक्षी करनेका उल्लेख आया है। गोरखपन्थियोंने प्रभावित होकर यह शब्द कवीरपन्थियोंकी रचनाओंमें आया और बादके साहित्यमे दृहेका अर्थ भी 'साखी' ग्रहण किया ----इया० प० दोही -दोही और दोहरा नये खतन्त्र छन्द नहीं कहे जा सकते। भिखारीदासने दोही और दोहराका लक्षण देते हुए कहा है कि दोहेके विषम पादोमें दो-दो मात्राएँ बढा देनेसे दोही और एक-एक घटा देनेसे दोहरा हो जाता है। केशवके 'वीरसिहदेवचरित'में दोहरा मिलता है। उदा॰—"जिन बाँह गहो हौ जानती, लाल तिहारी रीति" (भिखारीदास) । --रा० सिं० तो० द्वतविलिम्बत-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद। 'पिंगल-सूत्र' (६:३१)के अनुसार--नगण, दो भगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (॥, ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥, ऽ।ऽ)। 'प्राकृत-पैगलम्' (२: १३९)में इसे सुन्दरी और 'नाट्यशास्त्र' (१६:५१)में हरिणीप्छता नाम दिया है। केशव (रा० चं०, ९:२९), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, स० १, २, ३, ४, ५, ८, १०, १२, १६), अनूपशर्मा (सिद्धार्थ, स० १, ३, ६, ७, ९, ११, १३, १५, १६, १७; वर्द्धमान पृ० ८१, ८५, ९७, ११४ आदि) एवं मैथिलीशरण गुप्त (साकेत, ९: पृ० १९४)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"गिरि हिमालयके उपकूलमें। कपिल वस्तुपुरी अति रम्य थी। वह प्रसिद्धिमयी धन अन्नदा, सुभग शासन भूषित भूमि थी" (सिद्धार्थ, पृ०१)। द्वंद्वात्मक नियति (dialectical destiny) - द्वन्द्वन्यायके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखती है। उसका नष्ट होकर वस्तवन्तरके रूपमें पुनरूतपन्न हो जाना सर्वथा अनिवार्य है। इस अनिवार्यतातत्त्वको नियति कहते है। इन्द्रात्मक नियतिमें विश्वास कर मार्क्स साम्यवादी क्रान्तिको अनिवार्य बतलाता है। पूँजीवादी (दे० 'पूँजीवाद') समाजके गर्भसे साम्यवादी (दे० 'साम्य-वाद') समाजका जन्म होकर रहेगा, चाहे हम चाहे या न चाहें। इस दृढ विश्वासका एकमात्र आधार है द्वन्द्वात्मक नियतिकी कल्पना।

सोरोकिन-प्रतिपादित इन्द्रियाग्रही, अनीन्द्रियाग्रही तथा अध्यातम प्रधान महासंस्थानोंका निरूपण अन्यत्र किया गया है (दे॰ 'महासंस्थान')। प्रत्येक महासंस्थान सत्य और असत्यका सम्मिश्रण माना गया है। सत्यांशसे आकृष्ट होकर मानवता एक महासंस्थानको अपनाती है, किन्त काल-क्रमसे जब असत्यांशका प्रावल्य होता है, तब वह भिन्न महासंस्थानकी उद्भावना करती है। इस प्रकार देखा गया है कि प्रत्येक महासंस्थान अपने विनाशका बीज अपने भीतर रखता है। इस क्रमको सोरोकिन इन्द्रात्मक नियति कहकर प्रकारता है। सोरोकिनने यहाँ स्पष्ट ही हीगेल और मार्क्सके द्वन्द्व-न्यायका सहारा लिया है। आरम्भिक महासंस्थानका सत्यांश है स्थापना (थीसिस), असत्यांश है प्रतिस्थापना (एण्टी-थीसिस) और स्वयं महा-संस्थान है समन्वय (सिन्थीसिस) । इसी प्रकार प्रथम महासंस्थान है स्थापना, दिताय महासंस्थान है प्रतिस्था-पना और तृतीय महासंस्थान है समन्वय । यह क्रम निर-

पवाद, नियत है।

हंद्वात्मक भौतिकवाद-यह शब्द अंग्रेजीके 'डायलेक्टि-कल मैटीरियलिज्म'का हिन्दी रूपान्तर है। इस शब्दका पारिभाषिक प्रयोग सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स (१८१८-८३ ई०)-के लेखोंमें प्राप्त होता है। इन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं है, प्रत्युत उसकी एक विशिष्ट प्रणाली भी है, जिसके अनुसार वह सृष्टि और समाजका भौतिकवादी अध्ययन करता है।

द्वन्द्वात्मक मौतिकवाद हमारे वैनिक अनुभवों और पर्य-वेक्षणोंपर आधारित है। नित्यप्रतिके जीवनमे हम यह देखते है कि संसारकी हर एक वस्तु अन्तमे नष्ट हो जानी है। जिसे जीवन प्राप्त हुआ, मरण उसका अनिवार्य उपसंहार है। समूची प्रकृति इसी सत्यकी साक्षी है। परिवर्तन ही इस सृष्टिका मूल सत्य है; गत्यात्मकता उसका जीवन। यहाँ स्थायित्व नहीं है।

यदि कही है भी तो वह केवल एक दीर्घकालीन यात्रा-की भूमिका है। न जाने कबसे मानव-इतिहास और प्रकृतिने इस अन्तहीन यात्राका प्रारम्भ किया । यह व्यापक सत्य प्रत्येक भौतिकवादी स्वीकार करता है। किन्त इस व्यापक सत्यकी स्वीकृति ही परिस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह स्वीकृति परिस्थितिके केवल बाह्य रूपतक सीमित है। जबतक हम उसकी मूल प्रकृति और उसके अन्तररहस्योका उद्घाटन नहीं करते, तबतक इस परिस्थिति-का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इन परिवर्तनोकी मूल प्रकृति किन्ही निश्चित नियमोसे संचालित होती है। ये नियम गणित और विज्ञानके नियमोंकी तरह कठोर और स्थिर है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन नियमोंको सार्वभौमिक मानता है। चाहे जोव-सृष्टि हो या समाज-सृष्टि, परिवर्तन इन्ही नियमोके अनुसार होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संकेत करता है, जिनके अनुसार सृष्टिका सारा परिवर्तन होता है। संक्षेपमे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक **द**ष्टिकोण है, जिसके अनुसार सृष्टिका तत्त्व 'मैटर' है, जिसका निरन्तर रूपपरिवर्तन हो रहा है। इस परिवर्तनकी प्रणाली द्दन्द्वात्मक है, जिसके अनुसार हर एक परिस्थितिके मूलमे संघर्ष स्थित है और संघर्ष इसलिए है कि उस परिस्थिति-विशेषमें ही उसके नाशके उपकरण सन्निहित हैं। परि-स्थितिविशेषके इन्हों विरोधी उपकरणोमें संघर्ष होता है, जो कालान्तरमे नयी व्यवस्थाका सर्जन करता है।

द्वन्द्वात्मक मौतिकवाद दर्शनकी दो विभिन्न धाराओंसे सम्बन्धित है। जहाँतक इसकी प्रणालीका सम्बन्ध है, यह होगेलके द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद, अर्थात् 'डायलेक्टिकल आइडियलिंडम'से प्रभावित हुआ है और जहाँतक दार्शनिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, द्वन्द्वात्मक मौतिकवाद अन्य पूर्ववर्ती भौतिकवादियोंके अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक फायरवाखके यान्त्रिक मौतिकवाद, अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिंडमसे प्रभावित हुआ है।

द्वन्द्व-सिद्धान्त वस्तुतः श्रीक शब्द 'डायलेगो'से उद्भूत हुआ है, जिसका वास्तविक अर्थ वाद-विवाद करना होता है। प्राचीन श्रीसमे वाद-विवाद एक साधन था, जिसके द्वारा लोग एक:दूसरेकी वातोमें तार्किक असंगतियों और आत्म- विरोधकी ओर संकेत कर सत्यका अन्वेषण करते थे। उस समय कुछ ऐसे भी विचारक थे जो यह स्वीकार करते थे कि सत्यकी उत्पत्ति दो विरोधी वातोके संघर्षमें स्थित है। च्छेटो, जिसकी दार्शनिक रचनाएँ इस पद्धतिका अनुसरण करतो है, यह स्वीकार करता था कि इन्द्र, अर्थात् डायले-विटक्स सत्यको पानेका एक बौद्धिक साधन है। प्रोफेसर जेटलशिपने भी वाद-विवाद-प्रणालीकी महत्ता इसी रूपमे स्वीकार की है।

आधुनिक युगमे जब होगेळने द्वन्द्व-सिद्धान्तको अपने दर्शनमे प्रतिष्ठित किया तो उसने ग्रीसवासियोकी द्वन्द्व-कल्पनाकी मूळ प्रकृतिको ग्रहण किया । अतः होगेळके द्वन्द्व-सिद्धान्तका यह अर्थ नही है कि हम कथोपकथन या बहस द्वारा सत्यका अन्यषण करते हैं । वाद-विवादमे दो विरोधी मतोंमे संघर्ष होता है और उसी संघर्षसे नये मतको सृष्टि होती है। इस प्रणाळीमे संघर्ष अनिवार्य है और उसीसे सत्यका जन्म होता है। होगेळने इसी तथ्यको ग्रहण किया है। उसके अनुसार मनुष्यका सम् चा इतिहास विरोधी तत्त्वोके आपसी संघर्षोंने निर्मित हुआ है। हीगेळ प्रत्ययनवादी विचारक था। अतः उसका द्वन्द्व-सिद्धान्त मनुष्यके बाहरी इतिहास और प्रकृतिपर लागू न होकर उनके सापेक्ष प्रत्ययोपर लागू होता है। सर्वप्रथम मनुष्यके मस्तिष्कमें विरोधो प्रत्ययोमे सघर्ष होता है और वाहरी इतिहास केवळ उन संघर्षोंकी छाया है। हीगेळ इस प्रकार भैटरको प्रधान नहीं मानता।

कार्ल मार्क्स भौतिकवादी होनेके नाते प्रत्ययको गौण और मैटरको प्रधान मानता है। इस प्रकार वह मनुष्यके सारे इतिहासको बाहरी प्रकृति और समाजमे देखता है। इसिलए कार्ल मार्क्स और हीगेलकी समता इस बातमें नहीं है कि दोनोका दार्शनिक दृष्टिकोण एक है। दोनोंकी समता इसी वातमें स्थित है कि दोनोंके अनुसार परिवर्तनकी प्रणाली इन्द्रात्मक है। हीगेल और मार्क्सको इन्द्रात्मक प्रणालीकी निम्नलिखिन विशेषताएँ हैं:—

(१) इन्द्रात्मक प्रणाली प्रत्येक विकासका एक लक्षण है और इतिहास उसी लक्ष्यकी प्राप्ति करता है। हीगेलके अनुसार यह लक्ष्य पूर्वनिर्धारित है। समूची सृष्टि विकसित होकर उसी लक्ष्यकी पूर्ति करना चाहती है। इन लक्ष्योंके विभिन्न साधन हैं। ये साधन लक्ष्यसे अलग नहीं है, वरन् लक्ष्यका एक भाग है। इन साधनोकी सार्थकता इसीमे है कि समुचा लक्ष्य उनमें न्याप्त है। तर्ककी दृष्टिसे हर एक वस्तु साधन और साध्य दोनों है। अतः सम्ची सृष्टिका आदिसे अन्ततक विकासका पथ तभी उद्देश्यवादी होता है, जब उसमें आर्थिक शक्तियोंका प्रश्न खडा हो जाता है। शारीरिक परिवर्तन या सौरमण्डलका विकास उद्देश्य-वादी नही है, क्योंकि इन परिस्थितियोका अध्ययन इच्छा, आवश्यकता और उद्देश्यके अनुसार नहीं किया जा सकता । परन्त सामाजिक इतिहासके परिवर्तनोंमें इच्छाका अंश है। इसलिए सामाजिक विकासमे हम उद्देश्यसिद्धान्त-को स्वीकार कर सकते है। मनुष्यकी आवश्यकताएँ या इच्छाएँ ही उसके उद्देश्यको जन्म देती हैं, जिसके नाते हीगेलकी सार्वभौमिक एकताका जो सिद्धान्त था, वह विभिन्न

भागों में वंट जाता है। वे उद्देश्य सर्जनातमक नहीं होते और चूंकि यह मनुष्यकी इच्छापर आधारित है, इसलिए इनकी प्राप्तिको सामान्य बनानेके लिए बाहरी परिस्थितियाँ और उद्देश्यों में एकरूपता होनी चाहिए। जबतक एक रूपता नहीं होगी, तबतक उन उद्देश्योंकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए जब पूँजीवाद बहुत अधिक विकसित हो जाता है, तब उसकी परिस्थितियाँ समाजवादी उद्देशकी सृष्टि करती है और ये उद्देश्य उन परिस्थितियोंके अनुकुल होते है।

(२) द्वन्द्व-सिद्धान्त विराट्का तर्क है। सरल शब्दोमें इस वाक्यका यह अर्थ है कि मार्क्स और हीगेल्के अनुसार द्वन्द्व-सिद्धान्त किसी एक विशेष अंगका अध्ययन नही करता, क्योंकि अंगका अध्ययन बिना सम्पूर्णके अध्ययनके नही हो सकता। अतः सम्पूर्ण पूर्ण सत्य है और अंग आंशिक सत्य। दूसरे शब्दोमे सम्पूर्णकी सापेक्षतामें ही अंगोका अस्तित्व है।

(३) द्वन्द्व-सिद्धान्तके अनुसार समूचा अस्तित्व गत्या-त्मक है। गत्यात्मक होनेके नाते इसकी विभिन्न अवस्थाएँ है। द्वन्द्व-सिद्धान्तने इस गत्यात्मकताको ही विकास माना है। उसके अनुसार एक अवस्थाको दूसरी अवस्थामें बदलने-के लिए एक निश्चित प्रणालीका पालन करना पडता है। इसको पारिभाषिक दृष्टिसे विकासत्रयी, अर्थात् डेवलपमेण्ट दायो कहते है। विकासत्रयीके अनुसार जो अवस्था स्थिर है और जिसका हम अध्ययन करते है, उसको वाद, अर्थात थीसिस कहा जाता है। जब उस अवस्थाके विरोधी उपकरण प्रकट रूपसे वादका विरोध करने लगते है तो उस अवस्था-को प्रतिवाद, अर्थात् 'एण्टी-थीसिस' कहते है। इन दोनो व्यवस्थाओं से एक तीसरी व्यवस्थाका भी जन्म होता है, जिसे संवाद, अर्थात् सिन्थीसिस कहते है। तीसरी परि-स्थितिमें पिछली दोनों परिस्थितियोंके कुछ अंश विद्यमान रहते हैं और उनका समुचय नयी परिस्थितिमें धीरे-धीरे होता है। यह विकास मात्रात्मक परिवर्तनसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर चलता है। अतः द्वन्द्व-सिद्धान्त विकासकी दृष्टिसे चार स्त्रोंमें पूर्ण रूपसे व्यक्त होता है—(क) विरोधोंकी एकता (ख) विरोधोंका आपसी संघर्ष, (ग) इस संघर्षसे एक नयी समन्वित परिस्थितिका जन्म, (घ) वादसे संवादतकका परिवर्तन । यह मात्रासे गुणोकी ओर जाने-वाला परिवर्तन है। हीगेल और मार्क्सके द्वन्द्व-सिद्धान्तकी यह समता सत्यके गत्यात्मक रूपका दर्शन करती है और जब हीगेलके लिए सत्य प्रत्ययमें है तो मार्क्सके लिए जीवनकी भौतिक परिस्थितियों में। कार्ल मार्क्स यहीपर जर्मन दार्शनिक फायरबाखसे प्रभावित था।

जर्मन दार्शनिक पायरबाख अपनेको न तो भौतिकवादी मानता था और न आदर्शवादी, किन्तु फायरबाखके दर्शनमें कुछ अंश ऐसे हैं, जो भौतिकवादी है और जिनसे कार्ल मार्क्स प्रभावित हुआ था। फायरबाख यह कहा करता था कि मनुष्य ही उसके दर्शनका केन्द्रविन्दु है और वही समूची सांस्कृतिक परम्पराका प्रतिबिम्ब है। फायरबाख इस हिंसे भौतिकवादी हैं, किन्तु जिस मनुष्यको अपने दर्शनका केन्द्रविन्दु मानता है, वह केवल करपनाजगतकी वस्त है।

इसको पारिभाषिक दृष्टिसे 'एशेन्सियल मैन' कहते है।

कार्ल मार्क्सका मौतिकवाद फायरवाखके भौतिकवादसे कई अथॉमें भिन्न है। मार्क्स न तो आदर्शवादियोंकी तरह भूल ही करता है कि मनुष्यकी चेतना ही सब कुछ है और जड पदार्थ उसकी छाया है और न वह भौतिकवादियोंकी तरह यह मानता है कि जड़ पदार्थ ही सब कुछ है और चेतना केवल निष्क्रिय अनुभवोंका भोक्ता है। उसके अनुसार चेतना और बाह्य परिस्थितियोंमें संघर्ष होता है। यह संघर्ष निश्चित मौनिक परिस्थितियोंमें जन्म लेता है। इसलिए मनुष्यको समझनेके लिए उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका अवलोकन आवश्यक है। इन्द्रात्मक भौतिकवाद मनुष्यको उसकी ठोस परिस्थितियोंकी सांपेक्षतामे देखता है और उनके परिवर्तनोंको प्रणाली उनके आन्तरिक संघर्षोंके अनुसार ही मानता है।

सृष्टि और प्रकृतिका यह दृष्टिकोण कई रूपों में मस्तिष्क और पदार्थके परम्परागत एकांगी महत्त्वको नष्ट कर देता है। इतना होते हुए भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथ्य और सत्यकी प्रकृतिका अन्वेषण नहीं कर पाता। वह केवल इसी बातका अध्ययन कर पाता है कि मनुष्यके विचारोंका जन्म कैसे होता है। — रा० कृ० त्रि० द्विविधा—नाटकके आरम्भ (दे०)से लेकर नियतासि-

(दे०)के पूर्वतकके कार्य-च्यापारकी अवस्था दिविधासे पूर्ण होती है। इसमें परिणामके प्रति जिज्ञासाका भाव बना रहता है। प्रेक्षक उत्कण्ठापूर्वक यह जाननेका प्रयत्न करता है कि आगे क्या होगा और नाटकका अन्त दुग्खमय होगा या सुखमय।

नाटकमे रुचि उत्पन्न करनेके लिए द्विविधाका होना अति आवश्यक है। इसीलिए उसमें रहस्य-गोपन (कन्सील-मेण्ट) तथा आकस्मिक विस्मय (सर्प्राइज)का विधान किया जाता है। जवतक रहस्य ग्रुप्त रहता है, प्रेक्षककी द्विविधा बनी रहती है। किन्तु रहस्योद्धाटनके पश्चात् जो आकस्मिक विस्मय होता है। वह इस द्विविधाको समाप्त कर देता है। उदाहरणके लिए 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें आरम्भके बादसे मालवपर विदेशियोंका आक्रमण, स्कन्दगुप्त द्वारा उसकी रक्षा, सम्राक्षी मृत्यु और स्कन्दगुप्तका सिंहासनारोहण, हूणोंको पराजित करनेके लिए उसके द्वारा सैन्य-संघटन और आक्रमण, किन्तु कुचकोंके कारण विफलता, पुनः सैन्य-संघटन और ग्रुप्त-साम्राज्यके बचे-खुचे वीरोंको साथ लेकर युद्धकी तैयारी—यहाँ तककी सारी कथामें प्रेक्षक द्विविधाकी स्थिति समाप्त हो जाती है।

कथा-वस्तुके रचना-विधानमे नाटककार द्वारा द्विविधा उत्पन्न करनेकी दो शैलियाँ अपनायी जा सकती हैं—प्रथम वह शैली है, जिसमें प्रेक्षक आरम्मसे अन्ततक चिरत्रों, घटनाओं तथा मनोवृत्तियों आदिके विषयमे भी अनजान एवं उत्सुक रहता है और अन्तमें वास्तविक घटनाओं के उद्घाटनसे वह प्रमावित एवं आइचर्यचिक्षत हो जाता है। दूसरी शैली वह हो सकती है जिसमें नाटककार प्रारम्भसे ही सुख्य पात्रों, उनकी मनोवृत्तियों आदि बार्तोका प्रकाशन कर देता है और तब उनके लक्ष्योंको साथ लेकर कहानी

आगे बढ़ाता है। शेक्सपीयरने अपने नाटकोंमें इस दूसरी शैलीको ही अपनाया है। वास्तवमें यही शैली अपेक्षाकृत अधिक उत्क्रष्ट होती है।

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किये गये द्विविधाके एक और प्रभेदको समझ लेना उचित होगा। वह है विडम्बनापूर्ण द्विविधा (आयरिनक सस्पेंस), जिसमे प्रेक्षकको पात्रके पतनका पूर्विनश्चय हो जाता है, िकन्तु स्वयं पात्र उस समय उस पतनसे अनिभन्न रहता है। कभी-कभी उस समय भी जब कि दुर्भाग्य निश्चित रहता है, अन्तिम बार द्विविधाको स्रष्टि करनेमें लेखक सफल हो जाता है, जैसे 'मैकविथ'के उस स्थलपर जहाँ मैकविथ विद्यासपूर्वक कहता है िक कोई माईका लाल (नो मैन बार्न ऑव वूमन) उसे नहीं मार स्कृता।

**र्द्धिवेदी-युग** – इस युगका नामकरण महावीरप्रसाद द्विवेदीके नामके आधारपर किया जाता है और उसका स्थान भारतेन्द्र-काल (दे०)के तुरन्त वादसे माना जाता है। १९०३ ई०में 'सरस्वती'का सम्पादकत्व ग्रहण करनेके पश्चात् महावीरप्रसाद द्विवेदीने खड़ीबोलीका परिष्कार प्रारम्भ किया और इस युगके मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों और लेखकोने उनके द्वारा निर्धारित साहित्यादशींका अनुसरण किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकोंको प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप वे आचार्य-रूपमें स्वीकार किये गये। उन्होंने अपने समकालीन कवियों और लेखकोंपर अपनी प्रतिभाकी अमिट छाप लगा दी और जनतक उनके सम-कालीन कवियों और लेखकोकी कृतियाँ जीवित रहेगी, तब-तक महावीरप्रसाद द्विवेदीके व्यक्तित्वकी छाप स्पष्ट दिखाई देती रहेगी। द्विवेदीजी एक तीखे विनोदशील व्यंग्यकार, पुष्ट गद्य-लेखक, कवि, समर्थ समालोचक और एक सफल सम्पादक थे। उन्होंने असीम प्रतिभा द्वारा खड़ीबोली साहित्यकी गतिविधि निर्धारित की। द्विवेदी-युग उनके सम्पादनकालके प्रारम्भसे १९२५ ई०के लगभगतक माना जाता है।

जिस समय द्विवेदीजीने 'सरस्वती'का सम्पादन-भार स्वीकार किया, उस समय हिन्दी-प्रचारके साथ-साथ व्याकरणके नियमोंकी अवहेलना, स्थानीय प्रयोगोंकी बहुलता, अनुपयुक्त उर्दृ तथा अंग्रेजी शब्दोंका प्रचार, मनमाने ढंगसे गढ़े गये नवीन शब्द, आर्यसमाज-आन्दो-लन, बँगलासे किये गये अनुवादो और नवोत्थान-कालीन भावनाके कारण हिन्दीकी निजी शैलीमें न खप सकनेवाले शब्दोंका प्रयोग, इन सब कारणोसे बीसवी शताब्दीके प्रारम्भमे हिन्दी गद्य एक अराजकतापूर्ण परिस्थितिसे गुजर रहा था। द्विवेदीजीने भाषाको स्थिरता प्रदान की और भाषाका आदर्श स्थापित किया। भाषाके शब्दभण्डार और उसकी अभिन्यंजनात्मक शक्तिकी वृद्धिका जो कार्य भारतेन्दु-कालमें प्रारम्भ हुआ था, वह द्विवेदी-युगमें और भो आगे बढ़ा । भाषाको परिष्कृत करने और शब्द-भण्डार बढ़ानेके उत्साहमें खड़ीबोली आवश्यकतासे अधिक संस्कृत-गिभत हो गयी। किन्तु गद्यमें विविध शैलियोंका आविर्भाव अवस्य हुआ। इस समय अंग्रेजीकी लाक्षणिकता, बँगला-

की कोमलकान्त-पदावली, अलंकारों, उर्दकी मुहावरेदानीसे समन्वित शैलीके जन्मके साथ-साथ प्रेमचन्द जैसे लेखकोकी क्रतियोंमें हिन्दीकी निजी शैलीका विकास हुआ । वालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, पूर्ण सिंह, इयामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल आदिने अपने-अपने व्यक्तित्वके अनुरूप आत्मकथात्मक, वर्णनात्मक, विवेचना-भावात्मक, आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक, कवित्वपूर्ण, रूपकात्मक आदि विविध प्रकारकी शैलियोको जन्म दिया। इन शैलियोके माध्यम द्वारा वे मानव-मनकी अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म बातोका विश्लेषण करने लगे। 'प्रमाद' और 'हृदयेश'की अलंकृत भाषा-शैलियाँ भी दिवेदी-युगमें उत्पन्न हुई । हिन्दीकी इन विविध शैलियों-मेसे कुछ तो मौलिक थी, कुछ अनुकरणमात्र थी। आज हिन्दीकी केवल अपनी विशेषताओसे सम्बन्धित शैलियाँ रह गयी हैं।

विविध प्रकारकी भाषा-शैलियोके साथ-साथ द्विवेदीयगर्मे गद्य-साहित्यके विविध रूपोमें प्रतिपादित विषय और कलाकी **दृष्टि**से अधिक विकास हुआ । उपन्यास-साहित्यने निश्चित रूपसे कला, विषय और उपादान, तीनों दृष्टियोसे भारतेन्दु-कालकी अपेक्षा अधिक उन्नति की । मनोविज्ञान और संघर्षका आश्रय ग्रहण कर उपन्यास-लेखकोने मानवमन और मानव-जीवनका स्वाभाविक चित्रण करना प्रारम्भ किया। सामाजिक, थामिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक, चरित्रप्रधान, भावप्रधान आदि प्रकारोंके उपन्यास लिखे गये। इस प्रकारके उपन्यासकारोंमे किशोरीलाल गोस्वामी, प्रेमचन्द, गोपालराम गहमरी, वृन्दावनलाल वर्मा, कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदि-के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमेंसे कुछकी वास्तविक प्रतिभा बादको प्रस्फुटित हुई। इस युगके सबसे अधिक प्रसिद्ध उपन्यासका प्रेमचन्द है। उनमे अद्वितीय वर्णनात्मक शक्ति है और वे मानव-मनका अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन करते है। कहानी तो निश्चित रूपसे द्विवेदी-युगकी देन है । उसका प्रारम्भ १९०० ई०मे 'सरस्वती' मासिक पत्रिकासे होता है। प्रारम्भमे अंग्रेजी और संस्कृत कथाओंके कहानी रूपान्तर प्रकाशित हुए । धीरे-धीरे सामयिक जीवनमें घटित होनेवाली साधारण घटनाओंके आधारपर कहानियोका निर्माण होने लगा चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान, कथानकप्रधान, कार्यप्रधान, प्रतीकवादी आदि अनेक प्रकारकी कहानियाँ वर्णनात्मक, सम्भाषणात्मक, आत्म-चरित, पत्र, डायरी आदि शैलियोंने लिखी गयी। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सुदर्शन इस युगके प्रमुख कहानी-लेखक है।

बॅगलासे किये गये अनुवादो और पारसी रंगमंचके लिये लिखे गये नाटकोके कारण इस युगमे श्रेष्ठ, मौलिक नाट्य-कृतियोंका अभाव मिलता है। बेताब, कइमीरी, शैदा, जौहर, राथेश्याम आदिकी नाट्य-कृतियोंमें नाट्य-कलाका हीन रूप दृष्टिगोचर होता है। नाट्य-साहित्यका यह पतन भारतेन्द्र-कालमें ही प्रारम्भ हो गया था। द्विवेदी-युगमें परिस्थिति बहुत अधिक न सुधर पायी। साहित्यिक नाटकोंके रसास्वादनके लिए हिन्दी पाठक बॅगलाकी अनृदित

क्रतियाँ पढ़ते थे। भारतेन्द्-कालकी भाँति साधु रंगमंचका अभाव भी वरावर बना रहा। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१९ ई०)के समयतक हिन्दीमे उत्तम कोटिकी मौलिक नाट्य-रचनाएँ एक प्रकारसे उपलब्ध नहीं होती-वदरीनाथ भद्रकृत 'कुरुवन-दहन' जैसे अपवादस्वरूप नाटकोमे नाटकीय तत्त्व, चरित्रचित्रण, कथासंघटन, साहित्यिकता आदिकी दृष्टिसे नाट्य-साहित्यके उज्ज्वल भविष्यका सकेत मिल जाता है। यद्यपि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'कृत 'चन्द्रकला-भानकमार' नाटक एक मौलिक और साहित्यिक नाटक था, किन्त यह कल्पनापर अधिक आधारित था और उसका आकार बृहत था। ऐसी परिस्थितिमे जयशंकर 'प्रसाद'ने नाट्य-क्षेत्रमे पदार्पण किया। १९२५ ई०के लगभग उनकी 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायदिचत्त', 'राज्यश्री', विशाख', 'अजातशञ्च' और 'कामना' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुई। द्विवेदी-युगमे उनकी प्रतिभाका प्रथम विकास अवस्य दृष्टिगोचर होता है, किन्त उनकी वास्तविक प्रतिभा परवर्ती कालमें प्रस्कृटित हुई। 'प्रसाद'ने शिक्षित समुदायके सामने भारतके प्राचीन गौरवका चित्र प्रस्तुत करते हुए आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओका पोषण किया । यद्यपि आन्तरिक एवं बाह्य संवर्ष, आदर्श, चरित्र-चित्रण, कथानकसंघटन, कथोपकथन आदिकी दृष्टिसे इनके नाटक महत्त्वपूर्ण है, तो भी नाट्यकला तथा रंगमंचकी दृष्टिसे वे सर्वथा निर्दोष नही है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा अन्यान्य नाटककारोंने 'प्रसाद' शैलीका ही अनुसरण किया।

निबन्ध-रचनाकी दृष्टिसे द्विवेदी-युग उसका विकासकाल है। भारतेन्द्रकालमे निवन्धकारोके विषय, उपादान और शैली सीमित रही, किन्तु द्विवेदी-युगमे महावीरप्रसाद दिवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, केशवप्रसाद सिह, पूर्ण सिह, यशोदानन्दन असौरी, चतुर्भुज औदीच्य, पश्चिस शर्मा, इयामसुन्दर दास, रामचन्द्र शक्क आदिने कथात्मक. वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि विविध प्रकारके निबन्ध प्रस्तुत कर निबन्धोंमे विषयविस्तार और विविध शैलियाँ उपस्थित की। पत्र-पत्रिकाओंकी भी दिवेदी-युगमें यथेष्ट वृद्धि हुई; यद्यपि अंग्रेजीके प्रचार और भाषा-सम्बन्धी यान्त्रिक साधनोंकी कठिनाई होनेके कारण हिन्दीके दैनिक पत्रोंका स्तर और सम्पादन अधिक उन्नति न कर सका। साहित्यिक दृष्टिसे 'सरस्वती', 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'इन्द्र' मासिकं या त्रैमासिक पत्रोमे उल्लेखनीय है । १८९७ ई०मे 'नागरीप्रचारिणी पत्रिवा'के प्रकाशनसे हिन्दी समालोचना-साहित्यकी विशेष वृद्धि हुई। पिछली प्रणालीके साथ-साथ उसमें नूतन प्रणालियोका जन्म हुआ। उसमे गम्भीर अध्ययनके बाद गवेषणात्मक और समालोचना-सिद्धान्त-सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित होने लगा। इस सम्बन्धमें इयामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रवन्धु और पद्मसिंह शर्माका कार्य प्रशंसनीय है। आगे चलकर ज्यों-ज्यों भारतीय एवं पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तोका अध्ययन होता गया, त्यों न्यों हिन्दी समालोचना साहित्य भी समृद्ध होता गया।

द्विवेदी-युगका काव्य-साहित्य भारतेन्दु-कालके पश्चात् आधुनिक हिन्दी कविताका दूसरा और तीसरा परिवर्तनकाल है। पिछले कालमें प्रबन्धकाल्यों और गीतिकाल्योंका एक प्रकारसे नितान्त अभाव था। बीसवी शताब्दीके प्रथम बीस-पचीस वर्षोंमे महाकाल्य, खण्डकाल्य, आख्यानककाल्य, प्रेमाख्यानककाल्य और गीतिकाल्यकी रचना हुई और शब्दभण्डार, भावप्रकाशन-शक्ति आदिकी दृष्टिसे खड़ीबोलीका नवीन विकास और उत्कर्ष उपस्थित हुआ। यह काल्य बुद्धिपर प्रभाव डाल्नेवाला, भावो तथा विचारीपर आधारित कल्पनाप्रसृत रूपवाला था। द्विवेदी-युगमे प्रधानता इतिवृत्तात्मक काल्यकी रही, किन्तु उसके लगभग अन्तमे इतिवृत्तात्मक ताल्यकी सावपूर्ण कविताकी और, अलंकार, रस, गुण आदिसे मानव जीवनकी उच्च वृत्तियों और भावनाओको ओर और प्रकृति-वर्णनमे मनःकल्पित दृश्योंकी व्यंजनाकी और विकसित हुआ।

कवियोंने कालके हिन्दीकाव्य-सहित्यकी प्रस्तत परम्पराओं और रूढ़ियोंके प्रति विरोध प्रकट कर प्रकृति, मानव और जीवनके सम्बन्धमे न्यापक दृष्टिकीण ग्रहण किया। भाषा, छन्द आदिकी दृष्टिसे रोतिकालीन परम्पराकी अतिज्ञय नियमबद्धता और पाण्डित्य-प्रदर्शनका उसमे परित्याग कर दिया गया। प्रथम महायुद्धके लगभग अन्ततक काव्य-साहित्यमे प्रधानतः साहित्यिक परिवर्तन प्रकट हुए, किन्तु उसके बाद साहित्यिक परिवर्तन ही नहीं हुए, वरन् दार्शनिक और कलात्मक परिवर्तन भी हुए। विश्वकी चेतना, सृष्टिका रहस्य, एकान्त वेदना, अनन्त निराज्ञा, सर्वचेतनवाद, प्रेम, प्रकृतिपर चेतनताका आरोपण आदि उसके नवीन पक्ष है। उसमे गीतितत्त्वको भी प्रधानता मिली । मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, मुक्टधर पाण्डेय, बदरीनाथ मट्ट, नाथू रामशंकर शर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' आदि इस युगके अन्ततकके प्रमुख कवि है। १९०४ ई०मे रूसपर जापानकी विजय, बंग-भंग-आन्दोलन, होमरूल-आन्दोलन तथा अन्तमं असहयोग-आन्दोलन द्वारा हिन्दीमे इस समय राष्ट्रीय काव्यथाराका, जो भारतेन्दु-युगमे जन्म ले चुकी थी और भी अधिक विकास हुआ। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण ग्रप्त आदिने इस कान्यधाराका पोषण किया । श्रीधर पाठकने प्रकृति-वर्णन करते समय नवीनता प्रदिशत की और 'हरिऔथ'कृत 'प्रियप्रवास' महाकाव्यकी रचना भी इसी समय हुई। काव्यमे एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और रूढियों तथा परम्पराओंका तिरस्कार कर क वियोने एक नवीन युगकी भूमिका बॉधी।

द्विवेदी-युगमे यद्यपि कान्यभाषाके रूपमें खडीबोलीकी स्थापना हो गयी थी, तो भी ब्रजभाषाकी प्राचीन कान्य-परम्परा भी क्षीण रूपमें वरावर बनी रही। इस परम्पराका पालन करनेवाले कवियोंमे जगन्नाथदास 'रलाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरल' आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। 'रलाकर'ने भक्ति और रीतिकालका सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया।

[सहायक अन्थ-महावीरप्रसाद दिवेदी और उनका युग: उदयभानु सिंह!] . — ७० सा० वा०

द्वैतवाद — अन्तिम सत् एक है या दो है या दोसे अधिक है ?
जो एक कहते हैं, उनके सिद्धान्तको एकत्ववाद, जो दो
कहते हैं, उनके सिद्धान्तको द्वित्ववाद और जो दोसे अधिक
कहते हैं, उनके सिद्धान्तको द्वित्ववाद और जो दोसे अधिक
कहते हैं, उनके सिद्धान्तको वहुत्ववाद कहा जाता है।
द्वित्ववादको कभी-कभी द्वैतवाद कहते है। पर द्वित्ववाद,
द्वैतवाद या बहुत्ववाद दोनोंका पर्याय हो गया है। भारतीय
दर्शनमे एकत्ववादको प्रायः अद्वैतवाद समझा जाता है और
इसके विरोधमें जो सिद्धान्त रहता है, उसको द्वैतवाद। इन
दोनोंमे बहुत विरोध है। इस विरोधको दूर करके दोनोका
समन्वय करनेवाले सिद्धान्त है शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद
और द्वैताद्वैतवाद। द्वैतवाद भी उक्त वादोंकी माँ ति वेदान्त
है, क्योकि इसको भी श्रुति, स्मृति और ब्रह्मसूत्रके प्रमाण
मान्य है। इसका भी लक्ष्य ब्रह्मको प्राप्त करना है। यह
भी ब्रह्मवाद है, पर इसमें जीव, जगत् और ब्रह्मको परस्पर
भिन्न समझा जाता है, अभिन्न नही।

द्वेतवादके प्रथम प्रवर्तक और आचार्य मध्वाचार्य है। वे इसको परम्परागत बतलाते है, पर उनका कथन ऐतिहासिक दृष्टिसे निराधार है। मध्वका जन्म दक्षिण-भारतमें तुलवदेशके वेलियाममें उदीपिके पास मधिजीभड़ नामक एक वेदवेदांगपारंगत ब्राह्मणके घर ११९९ ई०में हुआ था । घरका इनका नाम वासुदेव था । ये दौड़ने, कूदने-फॉटने, तैरने और कहती लड़ने आदिमें पारंगत थे। अतः इनका नाम भीम पड गया। कहा जाता है कि ११ वर्षकी उम्रमे इन्होंने अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यसे संन्यासकी दीक्षा ली। अब इनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया। जब ये वेदान्तमें पारंगत हो गये तो गुरुने इनका नाम आनन्दतीर्थ रख दिया। इसी नामसे इन्होंने कई ग्रन्थोंकी रचरा की, जिनमें उपनिषदोंके भाष्य, गीताभाष्य और ब्रह्ममूत्रके भाष्य मुख्य है। १३०३ई० में इनका देहान्त हुआ । इनके मनके प्रसिद्ध अनुयायी और विद्वान् रचयिता जयतीर्थ (१४वीं शती), व्यासतीर्थ (१५वी शती), रामाचार्य (१६वी जती), बनमाली मिश्र (१७वीं राती), विजयीन्द्र (१८वी शती), वेदेशतीर्थ (१८वी शती) आदि हैं। इस मतके अनुयायी आज भी अधिक संख्यामें बम्बई राज्यके कन्नड-भाषी प्रदेश, मैसूर और पश्चिमी तटपर गोवासे लेकर कन्नाडतकके प्रान्तमें रहते है। उत्तरी भारतमें ये लोग इधर-उधर सर्वत्र विखरे हुए है, पर दक्षिण भारतकी भाँति बहुमंख्यामें कहीं नहीं है। दक्षिण कन्नाडमें इस मतके ८ मठ है और तीन मठ शेष भारतमे है। ये आज भी इस मतका प्रचार-प्रसार करते रहते है।

द्वैतवाद अद्वैतवादको प्रतिक्रियामें आविर्भृत हुआ। मध्वाचार्यने श्रुति तथा तर्कके आधारपर सिद्ध किया कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्मका आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवादके अभेदका खण्डन करते हुए उन्होंने पाँच नित्य भेदोंको सिद्ध किया—(क) ईश्वरका जीवमे नित्य भेद है, (ख) ईश्वरका जड़ पदार्थसे नित्य भेद है, (ग) जीवका जड़ पदार्थसे नित्य भेद है, (व) एक जीवका दूसरे जीवसे नित्य भेद है, (ङ) एक जड़ पदार्थकों दूसरे जड़ पदार्थसे नित्य मेद है। इस सिद्धान्तकों पंचभेद-सिद्धान्त कहा जाता है।

जयतीर्थने 'वादावली' और व्यासतीर्थने 'न्यायामृत' जैसे उत्कृष्ट यन्थोंमें अद्वैतका खण्डन किया। अद्वैतवादी मधु-सूदन सरस्वतीने इन सबके खण्डनोंका खण्डन करनेके लिए, विशेषतः 'न्यायामृत' जैसे सर्वश्रेष्ठ मध्ववादी ग्रन्थका खण्डन करनेके लिए, भेदका खण्डन करनेके लिए तथा अमेदकी सिद्धिके लिए 'अद्वैतसिद्धि' जैसे उत्कृष्ट प्रनथकी रचना की । मधुसुदन सरस्वतीको अपने प्रयासमें पर्याप्त सफलता मिलो । द्वैतवादी रामाचार्यने 'न्यायामृत'को टीका 'तरंगिणी' नामसे लिखी। इसमें उन्होने 'अद्वैतसिद्धि'की युक्तियोका खण्डन किया और इस प्रकार पुनः 'अद्वैतवाद'-का खण्डन करके द्वैतवादकी स्थापना की। 'तरंगिणी'की आलोचना अद्वैतवादी ब्रह्मानन्द सरस्वर्ताने अद्वैतसिद्धिको टीका 'गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका' नामसे लिखकर की। इनके इन अन्थोंको 'गौड-ब्रह्मानन्दी' भी कहते हैं। अद्देतवादी अप्पय दीक्षितने भी 'मध्वमतमुखमर्दन' लिखा। द्वैतवादी वनमाली मिश्रने 'गौड-ब्रह्मानन्दी' और 'मध्वमत-मुखमर्दन'का खण्डन किया और दैतवादको अद्वैतवादके खण्डनोंसे बचाया। इसके अनन्तर तो अद्वैतवाद तथा द्वैतवादका संघर्ष भारतीय दर्शनमे प्रधान बन गया। 'न्यायामृत'की टीकापर टीका लिखी जाने लगी। इनका उद्देश्य था अद्वैतवादका खण्डन । उथर 'अद्वैतसिद्धि'की व्याख्यापर व्याख्या होने लगी, जिनका उद्देश्य था द्वैतवाद-का खण्डन । इन दो अन्थोंका इस संघर्षमे केन्द्रीय स्थान है। इनके अतिरिक्त द्वैतवादी भेदोब्जीवन और अद्वैतवादी भेद-धिक्कार लिखते रहे। एक भेदका जीवनोद्धार करते रहे और दूसरे इसको धिक्कारते रहे।

उपनिषदोमें बहुतसे वाक्य है, जो अद्वैतवादकी स्पष्ट पृष्टि करते हैं। मध्वाचार्यने इन वाक्योकी द्वैतवादी व्याख्या की है। कुछ-एकका यहाँ उदाहरण दिया जाता है, क्योंकि श्रुतियोंके समन्वयको ही वेदान्त कहते हैं और उतवादके वेदान्त-सिद्धान्त होनेके कारण उसकी श्रति-व्याख्या समझना आवश्यक है। 'तत्त्वमिस' (वह तू है) स्पष्टतः अद्देतपरक है, पर मध्व इसका अर्थ छेते है—'तदीयः (तस्य) त्वम् असि' (तू उसका है) । अर्थात् तुझमें और उसमें भेद है। 'अयम् आत्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), अद्वैतपरक वाक्य है, पर मध्व इसका यों द्वैतपरक अर्थ करते हैं- अयम् जीवात्मा (आत्मा) ब्रह्म (वर्धनशील) अस्ति'—यह आत्मा बढ़ती रहती है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मविद ब्रह्म ही होता है), इस अद्वेतपरक वाक्यका द्वेतपरक अर्थ यो किया जाता है—ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मके समान हो जाता है। जब हम कहते हैं कि यह पुरोहित राजा हो गया है तो हमारा अर्थ है कि यह पुरोहित राजाके समान हो गया है। इसी तरह जब कहते हैं कि बहाविद् बहा है, तो उसका अर्थ है कि ब्रह्मविद् ब्रह्मके समान है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'सर्व खिल्वदं ब्रह्म' आदि वाक्योका अर्थ है कि ब्रह्म बेजोड है और उसको कोई पार नहीं कर सकता है, वह अपार है। इन वाक्योका यह अर्थ नहीं है कि सिर्फ ब्रह्म ही एकम।त्र सत् है और अन्य सब कुछ मिथ्या है। जो वाक्य द्वैतवादकी स्पष्ट निन्दा करते हैं, जैसे ''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (जो यहाँ नानात्व या भेद देखता है, वह एक मृत्युके बाद दूसरी मृत्यु पाता रहता है), उनको मध्व पूर्वपक्ष मान छेते है और कहते है कि विरोधीके सिद्धान्तको पहले स्थापित करके श्रुति स्वयं उसका खण्डन सिद्धान्तको पहले स्थापित करके श्रुति स्वयं उसका खण्डन सिद्धान्तरूपमें उत्तरपक्षमें करती है। 'असद एवेद अग्रासीत' (पहले असत् ही था), इसको अद्वैतवादी मी पूर्वपक्ष मानकर परवर्ता वाक्योंमे इसका खण्डन मानता है। वस इसी प्रणालीसे द्वैत-निन्दक वाक्योंका भी द्वैतवादी उनके परवर्ती वाक्योंमें खण्डन देखता है। स्पष्ट है कि अद्वैतपरक श्रुतियोंकी द्वैतवादी व्याख्यामे दूरकी कौड़ी अधिक है। यह धुमा-फिराकर अर्थ निकालनेका फल है। सीधा अर्थ सही अर्थ होता है। अतः द्वैतवादी व्याख्याको अर्थ-विज्ञान तथा श्रुतिके ज्ञाता कभी प्रामाणिक नहीं मान सकते।

इस मतमे कुछ दस पदार्थ माने जाते है—द्रन्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, साह्य और अमाव। प्रथम पॉच और अन्तिम वैशेषिक पदार्थ ही है। इनमें विशिष्ट, अंशी, शिक्त और साह्य जोड़ देना मध्य मतकी वैशेषिक मतसे विशिष्टता है। द्रन्य बीस प्रकारका माना जाता है—परमात्मा, छक्ष्मी, जीव, अव्याकृत, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, अहंकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, मृत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्यकार, वासना, काल और प्रतिविम्ब। इनमेसे अधिकांश सांख्यके तत्त्वोंसे लिये गये हैं। मध्यमतका ईश्वर या परमात्मा बहुत कुछ न्यायके ईश्वरसे मिलता-जुलता है। उसकी प्रकृति सांख्यकी प्रकृति मिलती है। इस तरह मध्यमत कुछ बातोंमें न्याय-वैशेषिक और कुछ बातोंमे सांख्य-दर्शनसे मदद लेता है।

मध्वमतका प्रचार-प्रसार कन्नड-भाषी प्रान्तमें ही अधिक है। हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्रमें इस मतका अपेक्षाकृत कम प्रचार है। अतः हिन्दीमें इस मतको साक्षात या परम्परासे माननेवाले सन्त कम ही है, पर उनकी बानियोमें कभी-कभी मध्वके दैतवादकी स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। वे प्रायः दैतवादियोंका वैसे ही खण्डन करते है, जैसे अद्वेतवादियोंने दैतवादका खण्डन किया था। मध्वमतके पंचभेद-सिद्धान्तका प्रायः बडा प्रभाव है। ज्ञानके तारतम्य, आनन्दके तारतम्य और मुक्तिके तारतम्य—इन सिद्धान्तों- का साहित्य तथा जन-जीवनपर आज भी प्रभाव स्पष्ट है।

[सहायक अन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; 'कल्याण'का वेदांतांक ।] —सं० ला० पा० द्वेताद्वेतवाद —संसार और ब्रह्मके सम्बन्धको लेकर दार्शनिकों मे कई मत प्रचलित हैं। शंकरने अद्वेत, रामानुजने विशिष्टाद्वेत और निम्बार्कने देताद्वेत माना। निम्बार्कके मतमे संसार ब्रह्मसे भिन्न और अभिन्न दोनों है। रामानुजने संसारको ब्रह्मसे भिन्न मानते हुए भी दोनोंको अभिन्नतापर ही अधिक जोर दिया और शंकरने तो दोनोंको भिन्न न मानते हुए अभिन्न ही माना। निम्बार्कके मतानुसार ब्रह्मसे संसारको भिन्नता और अभिन्नता, दोनों समान महत्त्व की हैं। इसीलिए इस मतको देत (भिन्नता माननेवाला मत) और अद्वेत (अभिन्नता माननेवाला मत), दोनों एक साथ कहा जाता है। यह कहनेमें न्याधातक अवश्य लगता है, पर वास्तवमें यही सत्य है। जैसे कार्य (धर) कारण (भिन्नी)-

से अभिन्न है, क्योंकि दोनोंकी सामग्री एक ही है और साथ ही भिन्न भी है, क्योंकि दोनोंके नाम, रूप, आकार, प्रयोजन आदि पृथक्-पृथक् है। वैसे ही संसार (कार्य) ब्रह्म-(कारण)से भिन्न और अभिन्न दोनों है। ब्रह्म अद्देत है, संसार द्देत (नाना) है। दोनो नित्य सत्य है। अद्देत ब्रह्म (कारण) ही द्देत संसार (कार्य)का वास्तविक रूप धारण करता है। जो भी कार्य-कारण-सम्बन्धपर विचार करेगा, उसे तास्विक दृष्टमें द्देताद्देतवादको ही मानना पड़ेगा। इस मतका दसरा नाम भेदाभेदवाद है।

निम्बार्क तेलंग ब्राह्मण थे। ११वीं शताब्दीमें रामानुज-के परवर्तीं कालमें इनका जन्म हुआ। ये ही दैताद्वेतवादके मुख्य प्रवर्तक है। इनके मुख्य प्रन्थ 'वेदान्तपारिजात' (ब्रह्मसूत्रका माण्य), 'दशहलोकी' और 'श्रीक्रण्णस्तवराज' हैं। इनके साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य थे, जिन्होंने 'वेदान्तपारिजात'की टीका 'वेदान्तकौस्तुम'की रचना की। केशव मट्ट कश्मीरी (१५वीं शताब्दी) इस मतके प्रमुख प्रन्थकार हैं। इनके लिखे कई ग्रन्थ है। इस मतके अन्य सम्मानित लेखक पुरुषोत्तमाचार्य, देवाचार्य, अनन्तराय और माधव मकन्द है।

पर इस मतका इतिहास निम्बार्कसे भी प्राचीन है। ब्रह्मसूत्रकार बादरायणके पूर्व औडुलोमि और आइमरथ्य भेदाभेदवादी थे, ऐसा ब्रह्मसूत्रसे ही ज्ञात होता है। इनके मतसे कारणात्मना जीव तथा ब्रह्मका ऐक्य है और कार्यात्मना अनैक्य। शंकराचार्यके पूर्व भर्तृप्रभंच नामके एक प्रसिद्ध उपनिषद्-भाष्यकार और भेदाभेदवादी दार्शनिक थे। शंकरके पश्चात्, पर रामानुजके पहले भास्कर नामके एक ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार हुए है, जो भेदाभेदवादी ही है। इसके अनन्तर यादव नामके एक और भेदाभेदवादी हुए, जो निर्गुणवाद और मायावादको अन्य भेदाभेदवादियोंकी भाति नही मानते थे।

सभी भेदाभेदवादी क्षानकर्म-समुच्चयवादी और ब्रह्म-परिणामवादी है। वे जीवन्मुक्तिको नहीं मानते। उनके मतसे केवल विदेह मुक्ति ही सम्भव है। भास्कर भेद-(नानात्व)को औपाधिक मानते थे और यादव तथा निम्बार्क स्वाभाविक।

हिन्दिके समस्त सन्तो और भक्तींपर भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवादका प्रभाव स्पष्ट है। जीव और ब्रह्मके भेदको समझानेके लिए वे जिन रूपकोंका प्रयोग करते हैं, उनसे यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है। पर सिद्धान्तरूपसे जैसा पीताम्बरदत्त बडथ्वालका कहना है, नानक तथा उनके अनुयायी ही विशेष रूपमें भेदाभेदवादी है। पर यह सिर्फ तत्त्ववाद और आभ्यन्तर धर्मसाधनाका भेदाभेदवाद है। वाद्य रूपसे निम्बार्क और नानकके मतोंमें पर्याप्त भेद है। विम्बार्क वैष्णव हैं और नानक सत्य और नामके उपासक; निम्बार्क सगुण ईश्वरकी ओर अधिक झुके हैं और नानक निर्गुणको ओर। पर दोनोका तत्त्ववाद भेदाभेद ही है। दोनोमें ब्रह्म या सत्, जीव और जगत्की समान व्याख्या है।

रामानुजकी माँति निम्बार्क भी ईश्वर, चित् (जीव) और अचित (जड़ पदार्थ), तीन परम तत्त्व मानते हैं। ईश्वरमें अनन्त वस्तुओंको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। उस शक्तिमें ही सभी वस्तुएँ सारतः विद्यमान है। ईश्वर अपनी शक्तिका अनुभवमात्र करनेसे संसारका रूप धारण करता है। रामानुजके मतमें चित् और अचित् ईश्वरके अंगभूत है, पर यह निम्बार्कको अमान्य है। चित् और अचित्को ईश्वरको शक्ति मानना—शक्तिबाद—इस मतकी अपनी विशेषता है। जीव और जड़ पदार्थ ईश्वरके अंश नही है, अपित शक्ति हैं।

जीव या चित् ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह अणु है। मुक्तावस्थामें भी वह कर्ता रहता है। उस समय वह ईश्वरसे केवल एक बातमें भिन्न रहता है। वह यह कि ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। जड पदार्थ तीन प्रकारका है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृतका तात्पर्य है महत् तत्त्वसे लेकर महाभूततक प्रकृतिसे उत्पन्न जगत्। अप्राकृतका अर्थ उन पदार्थोंसे है, जिनसे प्रकृतिका सम्बन्ध विलकुल नहीं है। इनमें विष्णुपद, परमपद आदि है।

ईश्वर सगुण है। वह निरोष है। जो कुछ मी दृष्टिगोचर और वोधगम्य है, उसके भीतर और वाहर ईश्वर व्याप्त है। उसको ही परमब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि नामोंसे पुकारा जाता है। निम्बार्क ही प्रथम वैष्णव है, जिन्होंने कृष्ण और राधाको सर्वप्रथम विशेष महत्त्व दिया। सहस्रों सखियोंसे घिरी हुई राधा और उसके वछम कृष्ण, निम्बार्क आराध्य देव हैं। दोनोंको लीला ही सृष्टिका रहस्य है। कृष्णके ही चार व्यूह और अनेक अवतार है।

नानकने ब्रह्मको 'सत्य' नाम दिया, वह स्वयं रसरूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी है। "वही देखता है, वही समझता है और वही कम एवं अधिक अनुभृत भी हुआ करता है"। वह निर्विशेष होकर भी अपना व्यक्तित्व रखता है। वही सर्वत्र है। "जैसे बूँदमें सागर है और सागरमें बूँद है, वैसे ही जीवमें ब्रह्म है और ब्रह्ममें जीव है"। स्पष्ट है कि नानकके ऐसे विचार भेदाभेदवादके अन्तर्गत ही आते हैं।

इस मतके अनुसार मुक्तिके लिए जीवको प्रपत्ति या ईश्वरके प्रति आत्मसमर्पणसे अपनी चर्या आरम्भ करनी चाहिये। प्रपत्तिके छः अंग है-समर्पण करनेका संकल्प (आनुकूल्यस्य संकल्पः), विरोधका परिहार (प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्), यह विश्वास कि ईश्वर गोप्ता है (रक्षिण्यनीति विश्वासः), ईश्वरके गोप्तृत्वको स्वीकार करना (गोप्तृत्ववरणम्), अपनेको उसके ऊपर न्योछावर करना (आत्मनिक्षेपः) और निःसङ्घायताका ज्ञान (कार्पण्यम्) । निम्बार्ककी यह धर्म-साधना रामानुजीय टेंकलै मतकी साधनासे मिलती-जुलती है। भेद यह है कि प्रस्तुत मत लक्ष्मी, भू और लीला तथा उनके पति नारायणके स्थानपर सखियों सहित राधा और उसके वछम कृष्णकी भक्तिपर जोर देता है। रामानुजके पूर्व भक्तिका अर्थ परमेश्वरके प्रति अनन्य प्रेम ही था। रामानुजने इस अर्थमें औपनिषदिक उपासना (सतत अर्चन और चिन्तन)को मिला दिया। निम्बार्कने इसको अमान्य समझकर भक्तिका मुख अर्थ ही 'ग्रहण किया। रामानुजने ऐश्वर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। उनके मतमें ईश्वरकी भक्ति इसलिए होती है कि ईश्वर उदात्त, अनुल्नीय, महान्-से-महान् और अनन्त है और इन गुणोंके कारण उसके प्रति आकर्पण, श्रद्धा और भक्ति होती है। निम्बार्कने इस ऐश्वर्यप्रधान भक्तिके स्थानपर माधुर्यप्रधान भक्तिकी शिक्षा दी। भगवान्के ऐश्वर्यसे उसकी ओर आकृष्ट होना धर्म-साधनाका आरम्भमात्र है। सची साधना तो उसके प्रेम तथा जीवन्त साहचर्यमें वँधना है, उसकी मधुरिमाका आखादन करना है और उसे मधुर रूपमें देखना है। जीव और ईश्वरके सम्बन्धमें माधुर्यका पुट देना निम्बार्कका ही काम था।

निम्बार्कके मतका प्रचार वृन्दावन और बॅगालमें विशेष हुआ। ये स्वयं वृन्दावनमें बस गये थे। उनकी और उनके अनुयायियोंकी दृष्टि सदा समन्वयपर रही है। अद्भैतवाद और दैतवादका ये सदा समुच्चय करते रहे।

यूरोपमें तात्त्विक तथा तार्किक दृष्टिसे दैतादैतवादका १९वीं और २०वीं शताब्दीके पूर्वार्डमें विशेष जोर रहा। जर्मन दार्शनिक हीगेल वहाँ इस आन्दोलनका प्रवर्तक था। उसके बाद उसके मतने हीगेलवादका रूप धारण किया। जर्मनीके बाहर इंग्लैण्ड, इटली, अमेरिका और भारतमें भी इस मतका प्रचार हुआ। इन देशोंमें इसने नव-हीगेलवादका रूप धारण किया। यह प्रत्ययवाद या विज्ञानवाद था। इसका मूल सिद्धान्त दैतादैतवाद या भेदाभेदवाद था। इसमें सत् और असत्को, अभेद तथा भेदको समान महत्त्व दिया गया और वोधको ही वास्तविकताका सच्चा स्वरूप माना गया। धर्ममें इसने भारतीय दैतादैतवादकी भाँति सगुण ईश्वर या ब्रह्मका समर्थन किया। यद्यपि इस भेदाभेदवाद और भारतीय भेदाभेदवादमे पर्याप्त भेद है, तथापि दोनोंका तत्त्ववाद और तर्कशास्त्र बहुत-कुछ एक-सा है। धर्मसाधना दोनोंकी बिलकुल भिन्न है। हीगेलवाद तथा नव-हीगेलवादकी धर्म-साधना ईसाई मतकी है। इसके तत्त्ववाद और तर्कशास्त्रसे लाभ उठाकर आधुनिक भारतीय दैतादैतवादने अपने सिद्धान्तोंकी व्याख्या वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक ढंगसे करके दैताई तवादकी अकाट्य पृष्टि की है।

भक्तवर नाभादासने निम्बार्क, केशन करमीरी, श्री
भट्ट, हरिन्यास प्रभृति दैतादैतवादियों भिक्तकी सराहना की है। निम्बार्क मतके आचायों तथा भक्तोंने
ब्रजभाषामे किवता की है। इनमें सबसे पहले केशन
करमीरीके शिष्य श्रीभट्ट है। इनका 'जुगलसतक'
'आदिवानी'के नामसे प्रसिद्ध है। ये तथा इस मतके
अन्य भक्तगण नित्यविहारी राधा-माधव, अर्थात् लीला
करनेवाले कृष्ण और राधाकी युगलमूर्तिके उपासक
थे। 'जुगल किसोर हमारे ठाकुर'—यही ध्यान इस मतके
भक्तोंका आराध्य है। श्रीभट्टके शिष्य हरिन्यासने 'आदिवानी'पर एक विस्तृत भाष्य लिखा है, जिसका नाम
'महाबानी' है। 'जुगलसतक' के दोहों मे जो भाव संक्षेपमें
वर्णित है, उन्होंको गेयपदों में विस्तार पूर्वक 'महावानी' में
अभिन्यक्त किया गया है। हरिन्यासनी अपने सम्प्रदायमें
रिसक-सम्प्रदाय नामक शाखाके प्रवर्तक है। इस शाखाको

हरिन्यासी भी कहा जाता है। हरिन्यासजी मधुरभावके उपासक थे। कवितामे ये अपना नाम हरिप्रिया रखते थे। 'एक स्वरूप सदा द्वे नाम' नामक इनका पद द्वेताद्वेतवाद का यथार्थ चित्रण करता है। कहा जाता है, कि वन्लभमतानुयायी कवियोंमें जो स्थान सूरदास का है वही स्थान निम्बार्क मतानुयायी कवियोमे हरिन्यासजी का है। हरिन्यासके १२ शिष्योमे हिन्दीमे सबसे प्रसिद्ध परशुरामाचार्य है। इनके लिखे १३ ग्रन्थ है।

निम्बार्क मतके भक्त किशोर कृष्ण और किशोरी राधाके उपासक है। हिन्दीके महाकवि बिहारीलाल, केशवदास,
धनानन्द, रिसक गोविन्द और रसखान निम्बार्क मतानुयायी वैष्णव है। ब्रह्मचारी विहारीशरणजीने 'निम्बार्कमाधुरी' लिखकर निम्बार्क मतके कवियोंका अच्छा परिचय
कराया है। इन कवियोंमें ऊपर वणित कवियोंके अतिरिक्त
रूपरिसक देव, वृन्दावनदेव, गोविन्द देव, नागरीदास,
शीतलदास आदि प्रमुख है। यह उल्लेखनीय है कि
देतादैतवादने हिन्दीमें सगुण और निर्गुण भक्तों, दोनोंको
प्रभावित किया है। यह सम्मान किसी अन्य दार्शनिक
विचारधाराको नहीं प्राप्त हो सका है। कुछ लोगोंके मतसे
सखी-सम्प्रदाय (दे०) निम्बार्कमतकी एक शाखा है, किन्तु
सखी-सम्प्रदायवाले इसे निम्बार्कमतसे स्वतन्त्र मानते है।
वे इसे इच्छाद्वेत कहते है। सखी-सम्प्रदायके प्रवर्तक
हरिदासजीका कहना हैं—

नाहीं द्वैताद्वैत है, नाहीं विशिष्टाद्वैत । बंध्यो नाहीं मतवादमें, ईश्वर इच्छाद्वैत ॥

[सहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय; 'कल्याण'का वेदान्तांक; हिन्दी काश्यमे निर्गुण सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बडधवाल; भागवत संप्रदाय : बलदेव उपाध्याय; निम्बार्क माधुरी : ब्रह्मचारी बिहारीशरण; स्वामी हरिदासजी तथा अष्टाचार्य : प्रभुदयाल मीतल ।] —सं० ला० पा० धमन चमन—दे० 'हठथोग'।

धर्म (बौद्ध मतानुसार पदार्थीका स्वरूप)-बौद्धोंक अनुसार सम्पूर्ण जगत् क्षणिक पदार्थीका संघात है। जिसे दूसरे शास्त्रकार पदार्थ या भाव शब्दसे व्यवहृत करते है, बौद्ध लोग उसे ही धर्म कहते है। धर्म शब्दसे तात्पर्य उन सभी सूक्ष्म पृथग्भूत तत्त्वोसे है, जो भूत और चित्तमे निहित होते है और जगत्की उत्पत्तिके हेत् है। एक क्षणमे एक ही धर्म ठहर सकता है, इसलिए धर्मीको 'स्वलक्षण'को संज्ञा प्राप्त है। धर्म परस्पर मिलकर किसी दूसरे पदार्थको उत्पन्न करते है, वे किसी कारणान्तरसे उद्भृत होते है और स्वयं निरोधके प्रति अभिमुख होते है। सभी धर्म कारण-कार्य नियमकी व्यवस्थासे नियमित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् इन सूक्ष्मधर्मीके संघातसे ही निर्मित हुआ है। वसुबन्ध्के अनुसार आकाश, प्रतिसङ्ख्यानिरोध और अप्रतिसङ्ख्यानिरोधके अतिरिक्त सभी धर्मोंके जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता—ये चार लक्षण है। यद्यपि सभी धर्म स्वलक्षण, क्षणिक और पृथग्भृत, अनात्म तथा परस्पर व्यतिरिक्त है, तथापि ये कारण-कार्यभावसे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसीका नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है।

अविद्याके कारण जगत्का यह कारण-कार्य-व्यवहार

तीव्र गतिसे प्रवर्तित होता है और प्रज्ञा या धर्म-प्रविचयसे निरुद्ध होता है (दे० 'अभिधर्म को शं, ११२)। यह निरोध बुद्धत्वका स्चक है। अविद्याके क्षणमें धर्मोंका सन्तान पृथग्जनोको उत्पन्न करता है। धर्म तीन प्रकारके होते है—सास्रव (मलिन), अनास्रव (मलरहित) और सास्रवानास्रव।

वैभाषिक (या सर्वास्तिवादी) और सौत्रान्तिक विशेष-रूपसे धर्मीकी सत्तामे विश्वास रखते है और उनका सुक्ष्म-वर्गीकरण भी करते है । विज्ञानवादियोंने भी अपनी प्रणालीके अनुसार धर्मीका वर्गीकरण किया है। वैभाषिक इन धर्मीका वर्गीकरण मुख्यतः दो प्रकारसे करते है:-विषयगत वर्गीकरण और विषयिपरक वर्गीकरण । विषयगत वर्गीकरणकी दृष्टिसे धर्म संस्कृत और असंस्कृतके भेदसे द्विविध बताये गये है । असंस्कृतका अर्थ है अनुत्पन्न, यानी हेत-प्रत्ययोसे उत्पन्न संस्कृत धर्मीसे व्यतिरिक्त धर्म असंस्कृत कहे जाते है। ये सङ्ख्यामे तीन माने जाते है-प्रति-सङ्ख्यानिरोध, अप्रतिसङ्ख्यानिरोध और आकादा । संस्कृत धर्म हेतु-प्रत्यय-सम्भूत होते है। जाति, जरा-मरण, स्थिति, अनित्यता (क्षणिकत्व) और स्वलक्षणत्व-ये इनके सामान्य धर्म है। रूप, चित्त, चैतसिक (चैत्त) तथा चित्तविप्रयुक्तके भेदसे ये चार प्रकारके बताये गये है। **रूप** समस्त भौतिक तत्वों और पदार्थीके लिए प्रयक्त पारिभाषिक शब्द है (रूप्यत इति रूपम्)। पाँच शाने-न्द्रियाँ, उनके विषय और अविज्ञप्तिके भेदसे रूपके न्यारह प्रकार बताये गये है।

सौत्रान्तिकों और विज्ञानवादियोंने वैभाषिकोके इस विभाजनको कुछ हेर-फेरके साथ स्वीकार कर लिया। योगाचारियोंने केवल चित्त या विज्ञानकी सत्ता मानी और सम्पूर्ण बाह्य हरयमान जगत्को उन्होने चित्तकी ग्राह्य- ग्राहकनासनाका ही विकल्प माना। शून्यवादियोंने इन समस्त धर्मोंको प्रतीत्यसमुत्पन्न होनेके कारण सापेक्ष, निःस्वभाव और शून्य बताया। उनके अनुसार बुद्धने कही भी किसी भी धर्म के स्वाभाविक अस्तित्व)का उपदेश नहीं दिया है—"न कचित् कस्यचित् करिचद् धर्मों बुद्धेन देशितः" ('माध्यमिक कारिका', २५।२४)।

हिन्दी साहित्यमे सिद्धोंने सम्पूर्ण जगत्को क्षणिक धर्मौ-का संघात मानते हुए भी उसे मायाके निर्माण और स्वप्न के समान अवास्तविक बताया । विज्ञानवाद और माध्यमिक विचारधाराओंस प्रभावित इन सिद्धोंने जगतको चित्तमय बताया । सभी धर्म नैरात्म्य स्वभाव है और उनका अस्तित्व चित्तमे ही है। सिद्धोंमें सरह और तिलोपाने बार-बार स्कन्य, भूत, आयतन, इन्द्रियो और उनके विषयका उल्लेख किया है। सरह बार-बार इन्द्रियो और उनके विषयोंके विलयनपर बल देते है, क्योंकि ये ही उनके अनुसार संसार और जागतिक अनुभवकी विधायिका है। सरह, कण्हपा और लुईपाने स्कन्ध, धातु, आयतन और इन्द्रियोंस निर्मित इस जगत्को बार-बार भ्रान्तिरूप बताया है और इसके त्यागनेका उपदेश दिया है। सरह कहते है:-- "मै बार-बार गुरुके उपदेशके अनुसार, जैसा मैंने गुरुसे सुना है, स्कन्ध भूत, आयतन, इन्द्रिय और विषयके विचार (मायात्मकता, चित्तरूपता, भ्रान्तता)को व्यक्त कर रहा हुँ" (स्कन्ध, भूत आअत्तण इन्द्रिअ विस्तिअ विआर अपहुअ। णउ णउ दोहा-च्छन्देण, कहुं विभिष्ण गोप्पु)।

स्त्रन्थ, घातु और आयतनोको अतिरिक्त सिद्धोने इन्द्रियोन के साथ मन (पडायतन) और पॉच महाभूनोंका भी ग्रहण किया है, जो निहिचत रूपसे वैभाषिकोंके धर्म-विचारसे ही प्रभावित है। सरहके दोहाको शमें पॉच स्कन्धो, धातु, आयतन तथा इन्द्रियों और विषयके साथ असंस्कृतका भी वार-बार उल्लेख और वर्णन मिलता है। महासुख (या निर्वाण) प्रतिसङ्ख्यानिरोधका ही विकसित रूप माना जा सकता है।

[सहायक ग्रन्थ—नरेन्द्रदेव : बौद्धधर्म दर्शन; बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन; भिक्खु जगदीश कश्यप : अभि-धम्म फिलासफी । धर्मकथा - 'धर्मकथा' अथवा 'धर्मगाथा' शब्दका प्रयोग संस्कृत तथा विशेष रूपसे वौद्ध एवं जैन साहित्यमें उपलब्ध है। अंग्रेजीके 'मिथ' शब्दके पर्यायरूपमे हिन्दीमे 'धर्मकथा' शब्द ग्रहण किया गया है। मानव-समाजकी आद्यतम कथाएँ धर्मकथाकी सम्पत्ति है। भाषाका आरम्भ होनेपर विविध प्राकृतिक दृश्योसे संगति बैठाते हुए जो कथाएँ निःसत हुई, वे ही आगे चलकर परिष्कृत होती गयी। धर्मकथा अपने वास्तविक रूपमे कहानी है, जिसमें प्रकट अर्थसे भिन्न, कोई अभिप्रेत अर्थ निहित होता है। धर्मकथा-मे प्रायः तीन तत्त्व निहित होते है। मूल तत्त्वकी निहिति प्राकृतिक सत्तामें होती है। उसका व्यक्तिपरक स्वरूप दूसरे-मे विकसित होकर, तृतीय तत्त्वके द्वारा वस्तुकी नैतिक मान्यताओं और उपयोगिताओंसे सम्बद्ध होकर प्रकट होता है। कतिपय विद्वानोकी रायमे धर्मकथा कारण-निरूपक कहानी है, जिसके अभिप्रेत अर्थ प्रकृति और मानवके चिर सम्बन्धोंके धार्मिक एवं सामाजिक व्यापारोंके भीतरी रहस्यसे प्रभावित होकर उद्घाटित होते है। धर्मकथाको एक मत द्वारा प्रकाश और अन्धकारके संघर्षकी रूपकवत् घटनाओंका लेखा माना गया है। सुदूर इतिहासके अन्थकारमें आदिमानवने प्राकृतिक व्यापारोको जिन अनगढ शब्दोमे व्यक्त किया, वे शब्द क्रमशः मूल अर्थसे भिन्न स्वरूप धारण करते गये। कालान्तरमें उनका रूपक स्पष्ट हो गया। दूसरे मतके अनुसार धर्मकथा मानवकी असभ्य अवस्थामें उत्पन्न हुई है। वस्तुतः धर्मकथाकी उत्पत्ति कदाचित् किसी समय समूह द्वारा किये गये अनुभव-विशेष अथवा समान मानसिक अवस्थाके परिणामस्वरूप धुई है। आंग्ल भाषामें इस विपयपर कतिपय यन्थ उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलरके मतसे धर्मकथा 'भाषाका रोग अथवा विकृति' या 'प्रकृति-रूपकोकी विडम्बना' है। इस मतका खण्डन अण्डूलंगने 'मॉडर्न माइथोलॉजी, ए रिप्लाइ दु मेक्समूलर' यन्थमें किया है। 'कस्टम एण्ड मिथ' तथा 'मिथ रिचुअल एण्ड रिलीजन' यन्थ भी लंगके है, जिनमें धर्मकथापर विस्तारसे विवेचन किया गया है।

धर्मकथाकी गणना लोकसाहित्यके अन्तर्गत होती है। वस्तुतः दोनों एक-दूसरेसे निकटतः सम्बन्धित है। फ्रेजरके मतानुसार इसका सम्बन्ध कृषि और प्रजनन-कर्ममें उत्पन्न भय और आज्ञंको अनोक

लोककथाओके मूल विन्दू धर्मकथाओं में छिपे हैं।-- इया प० धर्मगत लक्षणा-विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते है (सा० द०, २: ११) । जहाँ लक्षणाका प्रयोजनरूप (न्यंग्यार्थ) लक्ष्यार्थके धर्ममें हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा मानी जाती है। प्रचलित उदाहरण 'गंगापर बस्ती'मे 'गंगा' पदका लक्ष्यार्थ 'तट' लिया गया है और तटका धर्म पवित्रता-रांचिता आदि हैं। तटके धर्मका अतिशय सूचित करनेके प्रयोजनमे यहाँ धर्मगत लक्षणा है। धर्मगाथा-धर्मगाथा शब्द अंग्रेजी 'मिथ'के लिए प्रयोगमें आता है। धर्मभावमे युक्त गाथा, देखनेमे नो स्पष्टतः कहानी ही होती है किन्तु इसके पात्र, विशेषतः नायक, देवी-देवता होते है। इन देवी-देवताओं में लोगोंकी आस्तिक आस्या रहती है, इन धर्मगाथाओंमे सृष्टिका जन्म विविध प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारोंके मूल कारण, जातियोंका उदय, सांस्कृतिक तत्त्वोकी व्याख्या, जैसे कौन कब पृथ्वीपर आग लाया आदिका उल्लेख रहता है। धर्मगाथाओंके सम्बन्धमे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमे लोक और मनीषी, दोनोको आस्या रहती है। कुछ इसीलिए यह भी कहते है कि धर्मगाथाका सम्बन्ध मनीपी काव्यरचनासे ही है। वास्तविक बात यह है कि धर्मगाथाकी अभीतक ठीक-ठीक न्याख्या हो नहीं सकी है। फिर भी लेवीज स्पेन्सने 'ऐन इण्ट्रोडक्शन दु माइथोलॉजी'मे इनमेसे कुछ रूपोकी व्याख्या दी है, जिसे संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है:-

यह किसी देवता अथवा पराप्राकृत सत्ताका एक विवरण होता है, इसे साधारणतः आदिम विचारोंकी शैलीमें लाक्षणिकतासे अभिन्यक्त किया जाता है। यह वह प्रयत्न है, जिसके द्वारा मनुष्यका विद्यसे सम्बन्ध समझाया जाता है और जो इसे दुहराते हैं, उनके लिए प्रमुखतः धार्मिक महत्त्व रखता है अथवा इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीति-रिवाज अथवा परिस्थितियोंकी किसी विशेषता-की व्याख्या करनेके निमित्त होता है। इस परिभाषाके अनुसार धर्मगाथामें (१) देवता अथवा पराप्राकृतिक शक्तिका विवरण होता है। (२) इसमे आदिम मानस विद्यमान रहता है। (३) इसका धार्मिक महत्त्व होता है। इसे जो दुहराना या पढता है, वह किमी धर्मलाभकी आकांक्षा रखता है। (४) इसके निर्माणके दो प्रमुख कारण हो सकते है—

(क) मनुष्यकी शेष सृष्टिके साथ सम्बन्धोकी व्याख्या करनेके लिए।

(ख) सामाजिक संस्था-प्रथा आदिकी न्याख्याके लिए।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मगाथा यह बताती है कि आदमको पसलीसे हन्याका जन्म कैसे हुआ ? पशु अथवा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए ? किसी प्राणीमे कुछ विशेषताएँ क्यों है ? कीवेके एक आँख क्यों है ? विशेष प्राकृतिक न्यापार क्यों होता है ? चन्द्रको राहु प्रस लेता है, अतः चन्द्रमहण होता है।

विद्वानोंके मतमें धर्मगाथामें धार्मिक आस्था नहीं, धार्मिक पृष्ठभूमि अवस्य होनी चाहिये। उसमें किसी देवता या देवी पुरुषका समावेश होना आवस्यक है। यदि ऐसा न होगा तो उसे लोककहानी कहा जायगा। किन्तु यह बात ध्यानमे रखनेकी आवश्यकता है कि केवल देवी-देवताओं के आनेसे कोई लोककहानी धर्मगाथा नहीं हो सकती। कितनी ही लोककहानियाँ ऐसी प्रचलित है, जिनमें शिव-पार्वती, विष्णु आदिका उल्लेख मिलता है, पर उन्हें धर्मगाथा नहीं कहा जा सकता। किसी तथ्यकी व्याख्या करनेवाली कहानियोमे देवताओं समावेश होता है, पर उन्हें धर्मगाथा नहीं कह सकते—उदाहरणार्थ, गिलहरीकी पीठपर रेखाएँ क्यों है ?—सीताके वियोगमे गिलहरीने रामको सहायता दी, राम प्रसन्न हुए, उन्होंने उसपर हाथ फेरा और रेखाएँ वन गयी—यह लोककहानी है, धर्मगाथा नहीं।

कारण यह है कि धर्मगाथाके लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि उनमें देवताओं का सिन्नवेश हो, यह भी आवश्यक नहीं कि कहानीमें कहीं गयी बातमें आस्था हो। जपरकी कहानीमें वर्णित बातपर कहने-सुननेवाले, दोनों ही विश्वास करते है। किन्तु धर्मगाथाके लिए आवश्यक है कि उक्त दोनों बातों के साथ उसमें धामिक आस्था हो, उसके कहने-सुननेमें किसी धामिक लामकी सम्भावना हो, उसके साथ माहात्म्यकी भावना हो।

कुछ विद्वान् धर्मगाथाको लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं मानते। कुछका तो कहना यह है कि धर्मगाथाका पूर्वमें कुछ भी रूप रहा हो, हमारे समक्ष तो वह महान् कियों की रचनाके रूपमें आती हैं। इन विद्वानोंका लक्ष्य 'ईलि-यह' जैसी रचनाओंकी ओर होता है। कुछका विचार है कि लोकवार्ता-तत्त्वका सम्बन्ध आदिम मानसके वर्तमान अवशेषोंसे होता है, किन्तु धर्मगाथा तो अतीत कालसे सम्बन्ध रखती है। यह भी कहा जाता है कि धर्मगाथामें आदिम मानसकी अभिन्यक्ति नहीं, क्योंकि आदिम मानसक का विकास-क्रम कुछ भिन्न प्रकारसे हुआ है—

(१) मन शब्दका प्रयोग एक रहस्यात्मक शक्तिके अर्थमें मेलेनेशियन द्वीपसमूहमें होता है। यह वस्तुतः आत्मा अथवा आत्मशक्तिका भी मूल सार है। कुछ विद्वान् इस क्रमविकाससे सहमत नहीं। वे आत्मयत्वाद-(ऐनिमेटिज्म)से ही लोकमानसका मूल मानते है। (२) पराप्राकृतिकवाद—प्राकृत पदार्थोंके श्रद्धाभयोदेकी व्यापारोंमें किसी शक्तिकी उद्भावना। (२) आत्मवत्वाद (एनिमेटिज्म)—आत्मवत् सर्वभूतेषु, मेरे जैसी बुद्धि, शक्ति, विवेक पशु-पक्षियों, पदार्थों मे है। (४) पदार्थोत्मवाद— समस्त पदार्थोंमें आत्मा है (एनिमिज्म)। (५) देववाद— देवताओंकी कल्पना।

इन विद्वानोंके विचारसे इस पॉचवी स्थितिमें पहुँचनेपर ही धर्मगाथाओंका उदय हुआ, अतः ये मूल लोकमानससे सम्बद्ध नही । भाषामें भी जैसा कि मैक्समूलरने माना, पहली अवस्था (१) धातु-निर्माणकी है (दी मेटिक पीरियड), (२) भाषाओंकी मूल जातियोंके जन्म की है—डायलेक्टिक । इस अवस्थामे आर्थ, सेमेटिक, टर्की जाति-भाषाओंने जातीय धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया, (३) धर्मगाथापरक (माइथोलंकिक) है—इस अवस्थापर आकर धर्मगाथाएँ बनीं, (४) लौकिक (पापुलर)—इस अवस्थापर पहुँचकर राष्टीय

भाषाओका निर्माण हुआ। धर्मगाथाओके निर्माणमे भाषाका बहुत हाथ रहा है। मैक्समूळरने यही धारणा बना ली थी कि धर्मगाथा केवल भाषाका रोग (मैलेडी ऑव लेग्वेज) है। भाषा जब अपनी इलेषशक्ति अथवा असमर्थताके कारण एकके स्थानपर साम्यके कारण दूसरे शब्दको ग्रहण कर लेती है और अर्थविषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है, तब धर्मगाथा जन्म लेती है। अतः धर्मगाथाका सम्बन्ध लोकमानससे नही हो सकता। किर धर्मगाथासे लोककथाएँ उत्पन्न हुई है, अतः लोककथाओ और लोकवार्ताओकी जननीको पृथक् ही मान्यता देनी पड़ेगी। इसी प्रसंगमे विद्वानोंके एक सम्प्रदायने धर्मगाथाओको सूर्य, चन्द्र, तूफान जैसे किसी प्राकृतिक व्यापारका रूपक सिद्ध किया। किसीने धर्मगाथाओको किसी-न-किसी ऐतिहासिक व्यक्तिकी ही रूपान्तरित तथा लोकपरिवर्दित कहानी माना।

इन युक्तियोंने विदोष बल नहीं माना जा सकता। धर्मगाथामें मूलतः आदिम मानस (प्रिमिटिव माइण्ड) ओत-प्रोत है। उसमे समस्त विकार, विकास और उद्भावना लोकमानसके परिणामसे है, संस्कृत मानसकी मनीषा उसमे नहीं। यद्यपि यह विषय पर्याप्त विवादकी गुंजाइश रखता है कि आदिम उद्गार धार्मिक भावनाके मूलसे संयुक्त थे, जैसा कि फ्रेजरने माना है। मैजिक (जादू-टोना)के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए फ्रेजरका कहना है कि लोकवार्ताका मूल मानस 'मैजिक भाव'का परिणाम है। टेलरने उधर ऐनिमिज्मकी स्थापना की थी और रूसके विद्वानोंकी मान्यता यह हो रही है कि आदिम मानवकी मूल अभिव्यक्ति धार्मिक मूलसे युक्त नही थी, वह शुद्ध लौकिक थी। किन्तु इस समस्त विवादपूर्ण स्थितिके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि वह धर्म भी लोकतत्त्वका अंग था और धर्मगाथाऍ उसी लोकतत्त्वके आधारपर बनी। अतः धर्मगाथाएँ लोकवार्ता साहित्यका ही अंग है और लोकगाथाओंका अध्ययन लोकवार्ताओंके अध्ययनके लिए अत्यन्त आवश्यक है तथा लोकवार्ताओक स्वरूपको समझे विना धर्मगाथाओंका भी अध्ययन असम्भव है। दोनोका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। —-स०

धर्मचक-दे० 'हठयोग'।

धर्ममेघ (समाधि) — पातंजल योग शास्त्रमें चित्त वृत्तिके निरोधको योग (समाधि) कहा गया है। चित्त त्रिगुणात्मक है। चित्तसे यदि रजोगुण और तमोगुणका संसर्ग रहे, तो उसे विषय एवं ऐश्वर्य प्रिय लगते है। तमोगुणसे संयुक्त चित्तकी प्रवृत्ति आसक्ति, दुःखद परिणामवाले कर्म, अनैश्वर्य एवं अधर्ममें होती है। रजोगुणप्रधान चित्तके चांचल्य होता है, वह एक भावसे दूसरे भावकी ओर निरन्तर प्रभावित होता रहता है। लेकिन जब रजोगुणकी चांचल्य धर्मी वृत्ति भी चित्तसे अपवारित हो जाती है, उस अवस्थामे सत्त्वगुणका पूर्ण विकास होता है और चित्तके स्व-स्वरूपमे स्थित हो जानेसे उसमें विवेकस्थाति विषयक समापत्ति (अर्थात् बुद्धि और पुरुष स्वरूपके भेदज्ञानकी प्राप्ति) हो जाती है। विवेकस्थातिकी इसी विप्नवृद्दीन अवस्थाको धर्ममेष समाधि कहते है। 'योगस्त्र' (४, २९)में पतंजलिने कहा है— "विवेकज ज्ञान (प्रसंख्यान)में भी विरागयुक्त

(कुसीदास) होनेपर सर्वथा विवेकख्याति होनेसे धर्ममेघ समाधि उत्पन्न होती है"। चूँकि यह आत्मदर्शन रूप परम-धर्मको सीचती है, इसीलिए इसे धर्मका मेघ या धर्ममेघ कहा जाता है। जिस प्रकार मेघ पानी बरसाकर सृष्टिके कण-कणको सीच देते है, उसी प्रकार आत्मदर्शन रूप परम-धर्म, अर्थात् कैवल्यकी वर्षा करके साधकके चित्तको सीच देनेके कारण ही यह धर्म-मेघ है। इसलिए धर्ममेघ समाधि साधनाकी अन्तिम सीमा है। इसीकी उपलब्धिसे सम्यक् निवृत्ति या सम्यक निरोध सिद्ध होता है। इस समाधिके लग जानेपर सम्पूर्ण क्लेशों (३० 'क्लेश')से निवृत्ति मिल जानी है ('ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः', यो० सू० ४, ३०)। यही क्लेशकर्म-निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है। इसी अवस्थाको प्राप्तकर 'जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति', वयोकि धर्ममेघकी प्राप्तिसे, जिन कर्मोंसे भोग और अपवर्ग प्राप्त होता है, उनका परिणामक्रम समाप्त हो जाता है (यो० सू०, ४:३२) और पुरुषार्थशून्य गुणोका प्रलयरूप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। बौद्धदर्शन भी धर्ममेघकी कल्पनाको स्वीकार करता है। उसके अनुसार इस अवस्थामे बोधिसत्त्व सभी प्रकारकी समाधियोंको प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व-भूमियोंका यही चरम परिणाम है (विशेष विवरणके लिए दे॰ 'महायान बुद्धिजम': ले० एन० दत्त, पू० २३८-२८९)। बौद्ध-दर्शनमे धर्ममेघका एक नाम 'अभिषेक' भी मिलता है। सन्तोंके काव्यमें मेघके वरसनेके सम्बन्धमें जो गढोक्तियाँ मिलती है, उनका तात्पर्य इसी धर्ममेघ समाधिसे होता है। जब कबीर कहते है-"गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिए हिलोर। विगसत कॅवल मेघ बरमाने चितवत प्रभुकी ओर"। तो उनका तात्पर्य धर्ममेवकी कैवल्यदायिनी धारा-सारवृष्टिसे ही होता है। 'ज्ञानकी आँधी' आनेपर जो जल बरसता है, वह भी धर्ममेघ समाधिकी कैवल्य-सुखकी वर्षाका ही अर्थ देनी है।

धर्मवीर-दे॰ 'वीर रस'।

**धर्मसंप्रदाय**-पश्चिमी बंगाल, उडीसा और छोटा नागपुरसे रीवॉतक किसी समय धर्मदेवताकी पृजा प्रचलित थी। बंगालके वीरभूमि जिले तथा उडीसाके कुछ भागोंमे अब भी यह सम्प्रदाय जीवित है, यद्यपि उसका रूप बहुत कुछ भागों में वैष्णव या शैव हो गया है। यह सम्प्रदाय किसान, डोम, बागदी, मछुवे, बढई तथा इसी प्रकारकी निम्न जातियोमे प्रचिलत था। कहा जाता है कि इस सम्प्रदायसे बौद्ध प्रभावोंकी परम्पराका सम्बन्ध है। वैसे तो सहजयानी महामुद्रा-साधना या वज्र-योगका कोई भी विशेष प्रभाव इस सम्प्रदायके साहित्यमे नहीं उपलब्ध होता, किन्तु 'क्रियासंग्रह' आदि वज्रयानी ग्रन्थोमें उपलब्ध तान्त्रिक अनुष्ठान-पद्धतियोंसे धर्मसम्प्रदायके पुराने प्रन्थोंकी विषयवस्तु बहुत मिलती-जुलती है। धर्मठाकुरकी अर्द्धांगिनी शीतलादेवी वास्तवमे बौद्ध देवी हारीति ही है, जो वेश और नाम बदलकर धर्मसम्प्रदायमें स्वीकृत कर ली गयी है। यह धर्मठाकुर वास्तवमें बौद्धोके बुद्ध, धर्म और संघमेसे लिया गया धर्म है, ऐसा कुछ विद्वानोंका मत था, किन्तु इन मतोंका कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं है। इस धर्मसम्प्रदायका संयोजन १२वी शतीके लगभग रमाई पण्डितके द्वारा किया गया है और उसमे उस समय जनतामें व्याप्त अनुष्ठानों, विश्वासो और देवी-देवताओंको एक नियमित शृंखलाबद्धता देकर धर्मठाकुरके पूजा-विधानमें सम्मिलित कर लिया गया है। यह 'धर्म' संज्ञा भी वास्तवमे संथाल, मुण्डा ओरॉव आदि आस्ट्रो-एशियाई जानियोमे प्रचलित एक शब्दका संस्कृत रूपान्तर है। वह शब्द है 'दुलि', जिसका अर्थ कछुआ होता है। यह शब्द उत्तर-कालीन संस्कृत भाषामे भी यहण कर लिया गया है और चर्यापदों मे एक स्थानपर कछ एके अर्थमे इसका प्रयोग हुआ है—"दुलि दुहि पिटा धरणि न जाअ" (चर्यापद २)। टीकाकार यहाँ 'दलि'का सांकेतिक अर्थ 'महासुख-चक' बनाता है, जिसमे द्वयाकार लीन हो जाते है। स्वार्थक प्रत्यथ ओम जोडकर इसका रूप दुलोम, दुरोम, दुरोम आदि हो जाता है। यह 'ड़रोम' या कच्छप ओरावों और मंथाल आदि जातियोका सर्वमान्य देवता था। ज्ञात होता है कि वादमें इसे संस्कृतके 'धर्म' शब्दके कच्छप-रूपमें और कभी कच्छपको धर्मके वाहनके रूपमें परिकल्पित किया जाता रहा। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् जो आदिवासियोंकी इस कच्छपपूजा और दुलि शब्दके इतिहाससे अवगत नहीं थे, वे धर्मठाकुरके कच्छपरूपको बौद्ध स्तूपका ही रूपान्तर मानते रहे। कालान्तरमे कवीर-पन्थी साहित्यमे धर्मसम्प्रदायसे एक विशिष्ट प्रभाव-परम्परा समाविष्ट हो गयी-वह है सृष्टि-प्रकिया सम्बन्धी गाथाएँ और उसमे निरंजनका स्थान । निरंजनकी प्रजापति ब्रह्मके समानान्तर कल्पना कर निरंजन और मायाके सहरामनसे समस्त सृष्टिके उद्भवकी कथा धर्म-सम्द्रायके 'शन्य-पराण' और परवर्ती मंगल-ग्रन्थोमें, उडीसाके वैष्णव साहित्यमें, बंगालके नाथ साहित्यमे और कवीरपन्थके साहित्यमे थोडे-बहुत रूपान्तरसे लगभग एक-सी मिलती है। कुछ विद्वानी-ने इस सृष्टिकथाका मूल स्रोत बौद्ध यन्थो तथा हिन्दू पुराणो-में ढूँढनेका असफल प्रयास किया है। किन्तु दारच्चन्द्र राय द्वारा संगृहीत ओरावोमे प्रचलित सृष्टिकथा इन कथाओकी मूल प्रेरणा प्रतीत होती है।

[सहायक ग्रन्थ-आब्स्क्योर रेलीजस कल्टस : एस० धर्मिगत लक्षणा-विश्वनाथके अनुसार लक्षणके भेदोपभेद धर्मगत तथा धर्मिगत होते है (सा० द०, २:११)। जहाँ लक्षणका प्रयोजन रूप (व्यंग्यार्थ) लक्ष्यार्थमे हो, वहाँ धर्मिगत लक्षणा मानी जायगी। उदा०-"सहिहौ सब हौ राम मे, किमि सहिहै सिय हाय" (र० मं०, १७)में 'हौ राम'के मुख्यार्थका बाध है, 'कठोर राम हूं' लक्ष्यार्थ है। कठोरताके अतिशय रूप प्रयोजनके सूचित होनेके कारण लक्ष्यार्थमें प्रयोजन है, अतः धर्मिगत लक्षणा है। — सं० धागा-सूत्र। संतोने इस शब्दका 'ध्यानका सृत्र' अर्थमे बार-बार प्रयोग किया है-"सन्तो, धागा ट्रटा गगन विनसि गया, सबद जु कहाँ समाई ?"-कबीरदास । 'तारी' और 'बरत' (रस्ती तथा व्रत)का भी इस अर्थमे बार-बार प्रयोग मिलता है। ध्यानकी एकामता जब अतीव घनीभूत हो जाती है तो उसे समाधि कहते है। मंतोंने धागाका व्यवहार समाधि अर्थमे बहुधा किया है। समाधि और ध्यानका

अर्थ देनेके लिए थागा, सूत बरत आदिके साथ ही 'डोरी' शब्दका व्यवहार भी नाथी-सन्तोने बहुधा किया है। गोरखनाथने ('गो॰ बा॰', सबदी, १२८) कहा है—''उनमनि लागा होइ अनन्द। तूटी डोरी बिनसै कन्द'' अर्थात् उन्मनी (दे॰ उन्मनी)की समाधि लगनेसे आनन्द उपलब्ध होता है, यदि 'डोरी' टूट गयी तो कन्द (१ स्कन्ध = शरीर, २ कन्द = मूल) ही विनष्ट हो जाता है।

धामी संप्रदाय सन्त प्राणनाथ द्वारा संस्थापित धामी-सम्प्रदाय महाराजपन्थ, मेराजपन्थ, खिजला, चकला, धाम एवं धामी नामोंसे प्रख्यात है। इन नामोंमें महाराज शब्द सम्प्रदायके प्रवर्तकके लिए श्रद्धा और आदरका चोतक है। मेराज महाराजका अपभ्रंशरूप है अथवा मेराज अरवी-के मीराज, सजीव स्वर्गयात्राका बोधक हो सकता है। खिजला नाम एक वृक्षविशेषके आधारपर दिया गया, जो देववन्दकी नीनन प्रिकृति समाधिके निकट विद्यमान है। उस वृक्षको गुजराती भाषामें खिजला कहा जाता है। चकला नाम देववन्दके पुत्र बिहारीदासने दिया था। बिहारीदास-ने यह पन्थ १६५५ ई०मे चलाया जो धामीसे किसी प्रकार भिन्न न था। धाम शब्द श्रह्मका पर्याय है, जो सर्वोच्च आध्यात्मिक दशा या विशुद्ध प्रेमका केन्द्र और धाम है। धाम शब्द श्रह्मके अलौकिक प्रदेशका बोधक है।

धामी सम्प्रदायमें प्रेमान् भृतिनत्त्वकी प्रधानता है। इसी कारण किसी अन्य पन्थ, सम्प्रदाय या धर्मसे इसके भेद-भाव अथवा पृथक्ताका कोई प्रदन नहीं है। सभी ब्रह्मके प्रेमी है। प्रेम प्रत्येक दार्शनिक विचारधाराका मूल तत्त्व है। इसीलिए हिन्दू, ईसाई, यहदी तथा इसलाम धर्म इसी प्रेमके सूत्रमे बँधे है और इसी एक रस प्रेममें भीगनेके अनन्तर समस्त संसार आत्मीय प्रतीत होने लगता है। प्राणनाथने अपने समयतक प्रचलित सभी धर्मीका अध्ययन किया और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनकी मौलिक एकतापर विचार किया । इस अध्ययन और मनन-के फलस्वरूप प्राणनाथने धामी सम्प्रदायको स्थापित किया। धामी सम्प्रदाय वर्तमान थियासोफिकल या अहम-दीय सम्प्रदायोंकी भॉति सब धर्मीकी विशेषताओको लेकर गढा हुआ एक नया सम्प्रदाय है। इस दृष्टिसे धामी सम्प्रदाय कबीरपन्थ, दादूपन्थ, नानकपन्थ आदिसे सर्वथा भिन्न और पृथक है। इस सम्प्रदायके प्रवर्तक तथा अनुयायी दसरेके साहित्य और साधनात्मक प्रक्रियाओंके प्रति उदार दृष्टिकोण रखते है।

प्राणनाथके मतमें प्रेमको बडा महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मकी मूळ शक्ति ही प्रेमस्वरूपिणी है। प्रेमकी शक्ति पाकर जीव ब्रह्माकार बन जाता है। सत्संग अध्यात्मिक अभ्युत्यानके ळिए परमावश्यक है, यही धामी सम्प्रदायकी मूळ विचारधारा है। इसके सबदातीथ साख्यात, अर्थात् प्रेम साक्षात् और खानुभूतिके अन्तर्गत रहनेपर भी शब्दातीत और अनिर्वचनीय है। ब्रह्मसृष्टि और जगत् एवं ब्रह्म, दोनों ही अळौकिक आनन्दस्वरूप है। शुद्ध प्रेम वास्तविक पुरुषार्थकी सच्ची अवस्था है। सृष्टि ब्रह्मके नामसे मुखरित हो उठती है।

प्राणनाथ अच्छे किव थे। इनके ग्रन्थोंके नाम है। १. राम ग्रन्थ, २. षड्कतु, ३. खुळासा, ४. कीरतन, ५. कळस, ६. सम्बन्ध, ७. प्रकाश ग्रन्थ, ८. खेळवात, ९. प्रकरण हळाही दुळहन, १०. सागर सिगार, ११. कथामतनामा, १२. सिन्धी भाषा, १३. मारफत सागर, १४. वडे सिगार, १५. राजिवनोद, १६ प्रकटबानी, १७. ब्रह्मबाणी, १८. बीस गिरोहोंका बाव, १९. बीस गिरोहोंकी हकीकत, २०. कीर्त्तन, २१. प्रेमपहेळी, २२. तारतम्य, २३. राजिवनोद, २४. विराट् चिरतामृत, २५. पदावळी, २६. कळजमे शरीफ। इनमेंसे सबसे अच्छा और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'कळजमे शरीफ'। 'कथामतनामा'की भाषा फारसी शब्दोंसे दबी हुई है। प्राणनाथको गुजराती, फारसी, अरबी, संस्कृत तथा अन्य प्रान्तीय बोळियोंका सम्यक ज्ञान था।

[सहायक ग्रन्थ—१. उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा:
परशुराम चतुर्वेदी; २. धार्मिक साहित्यका इतिहास: शिवशंकर मिश्र।] — त्रि॰ ना॰ दी॰
धारणा—दे॰ 'हठयोग'।

धीर-वर्णिक छन्दों समवृत्तका एक भेद; तीन तगणों और दो गुरुओके योगसे यह वृत्त वनता है। जयदेवने लयग्राहि (छन्दो०, २: १०८), विरहांकने विध्यंकमाला (वृत्त०, ३: ४३) और भानुने विध्यंकमाला नाम दिया है। केशवने 'रामचन्द्रिका'में इसका प्रयोग किया है—''योद्धा भगे बीर शञ्चन आये। कोदण्ड लीन्हे महारोष छाये। ठाढ़ो तहाँ एक वाले विलोक्यो। रोक्यो तहीं जोर नाराच मोक्यो'' (रा० चं०, ३५: १५)। —पु० शु०

धीरल्लित – दे॰ 'नायक' (नाटक) । धीरशांत – दे॰ 'नायक' (नाटक) । धीरा – दे॰ 'धीरादि' (नायका) ।

धीरादि (नायिका) - नायिकाके अपने अपराधी पति-(अन्य स्त्रीके सम्बन्धमें)के प्रति व्यवहारके आधारपर किया गया विभाजन (दे०-- 'नायिका-भेद')। सर्वप्रथम रुद्रटने प्रस्तुत किया है। धीरा-गुप्त कोप करनेवाली, व्यंग्योक्तिसे कोप प्रकट करनेवाली नायिका, भानदत्तके अनुसार 'व्यंग्य-कोपप्रकाशा'। मध्याधीरा—जो "बचननिकी रचनानि सौ पियहि जनावत कोप" (मतिराम: र० रा०, ३७), पर पद्माकरने इसमें 'तजै न पति सनमान' जोड़ा है। इस प्रकार इस नायिकाके चित्रणके माध्यमसे कवियोंने नारीके मनोभावो और उसके वाक्चातुर्यका सुन्दर प्रदर्शन किया है-"तुम कहा करो कान काम तें अटिक रहे, तुमको न दोस सो तो आपनोई भाग है" (मतिराम: र० रा०,३८)। देवकी नायिका भी मीठी चुटकी लेती है—''लाल भले हौ भलौ सुखदीनौ भली भइ आज़ भले बनि आये" (भा० वि॰: ना॰)। प्रौदाधीरा-यह नायिका रिस न प्रकट करके भी 'रतिते रहे उदास'। पद्माकरने उदास रहनेवाली इस नायिकाको 'आदरकी खानि' भी कहा है। कई कवियोने इस नायिकामें अन्तर्निहित कोपको सुन्दर रूपमें व्यंजित किया है। देवकी नायिकाके "लोइन कोइन है उझक्यो सु बताइ दियो किव कोप कपोलिन" (भा० वि०: ना०)। कभी इसके उदाहरणमें नायक अथवा सखी द्वारा नायिका-के भावगोपनका वर्णन होता है-"मान जानियत रूखी

मुख मुसकानि सौ" (मतिराम: र० रा०, ४७)। इस नायिकाके अति उत्साहमे कभी-कभी व्यंग्य उभरा है-"आवत देखि लिये उठि आगे है आपृहि केसव आसन दीनों" (के शव: र० प्रि०, ३।६०) । अर्थारा-प्रकट रूपसे कद वचन कहकर कोप करनेवाली नायिका। भानदत्तके अनुसार 'अन्यग्यकोपप्रकाशा'। मध्या अधीरा-पतिका अनादर करके कट्टक्ति द्वारा कीप प्रकट करनेवाली नायिका, जो 'बोल कठोर'से 'पियहि जनावति कोप' (मतिराम) । इसके अन्तर्गत नारीकी खीझ और आक्रीशका सन्दर चित्रण किया गया है-"कोउ नहीं बरजे मतिराम रही तितही-जितही मन भायो। काहे को सीहं हजार करी तुम तौ कबहूं अप-राध न ठायो" (र० रा०, ४१)। साथ ही नायककी अमित स्थितिमें भी व्यंग्य छिपा है—''भूलेसे अमेसे काहि सोचत स्रमेसे, अकुलानेसे विकानेसे ठगेसे ठीक ठायेसे" (पद्मा०: जगद्भि०, भा० १: ५९) । प्रौढा अधीरा-- 'गरजन-ताडन' और 'रोस' प्रकट करनेवाली नायिका, भानदत्तके 'तर्जन-ताडन'का यह अनुवाद ही है। मतिरामने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है-"इरु दैकें प्रियको प्रिया देय समनकी मारु" (र० रा०, ४९)। फूलकी मार इसके उदाहरणमें रूढि हो गयी है-"ताहि चितौति बडी ॲखियानतें नीकी चितौनि चली अति ओजकी। बालम ओर बिलोकिकै बाल दई मनों खैचि सनाल सरोजकी" (देव०: भा० वि० ना०) । धीराधीरा-इस नायिकामें कोप गुप्त और प्रकट रहता है: भानदत्त 'अव्यंग्यप्रकाशा' कहते है। मध्या धीराधीरा-मतिरामने "पियसौ कहिके बचन कछ रोस जतावै रोय" कहा है और पद्माकरने उसमे 'धीर वचन कहि' और जोड़ा है। नारीका क्रोध और व्यंग्य अधिक व्यक्त हो गया है- "कौन तिनै दुख जिनकें तुमसे मनभावन छैल छ्वीलें (मतिराम: र० रा०, ४४)। नायिकाका आक्रोश तीखा तथा मुखर है- "वाहांके जैये बलाइ ल्यो बालम हो तुम्हें नीको बतावित हो ढंग" (देव: भा० वि०: ना०)। कभी भावाभिव्यक्ति सन्दर बन पड़ी है-"करि आदर तिय पीयको देखि हगन अल्सानि । सुपुख मोरि बरसन लगी लै उसास ॲसआनि" (पद्मा०: जगढि०, भा०१:६२)। प्रौढा धीराधीरा-वक्रोक्ति तथा भयप्रदर्शनसे पतिको दुःखी करनेवाली और मानपूर्वक रतिकलासे उदासीन रहने-वाली नायिका । प्रायः रतिसे उदास अथवा रूखी और डर दिखलानेवाली नायिका यह मानी गयी है (मितराम और पद्माकर)। यह नायिका अपना क्रोध स्पष्टतः प्रकट करती है—''बोली न बोल कछ सतरायकें भौह चढाय तकी तिरछौही" (र० रा०, ५३)। "परसत गात मनभावनके भावतीकी चढि भौहें रही ऐसी उपमाने छैं (जगदि ०, ---सं० १: ७१) ।

धीराधीरा—दे॰ 'प्रौढा', नायिका। धीरोदात्त—दे॰ 'नायक', (नाटक)। धीरोद्धत—दे॰ 'नायक', (नाटक)।

पृति-प्रचिति तैतीसमेसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके विभाव हैं—वीरता, आध्यात्मिक ज्ञान, ऐइवर्य, पवि-त्रता, सच्चरित्रता, वड़ोंके प्रति आदरभाव तथा क्रीडाका आनन्द आदि तथा अनुभाव है—नृप्ति, सन्तोष आदि (नाट्य०, ७: ५६ ग) । विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा है—'ज्ञानाभीष्टागमाधैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः । सौहित्यवचनोङ्घाससहासप्रतिभादिकृत्" (सा० द०, ३: १६८), अर्थात् तत्त्वज्ञान तथा इष्टप्राप्ति आदिके कारण इच्छाओका पूर्ण हो जाना धृति कहलाता है। इसमे सन्तृप्ति, वचनोङ्घास आदि चिह्न दिखाई देते हे। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योने प्रायः इसीका भाव प्रहण किया है—'ज्ञान- शक्ति उपजै जहाँ" (भ:द०: संचारी०) अथवा "साहस झान ससंग तें, धरे धीरता चित्त" (जगत०, ४९०)।

रामचन्द्र शहने धृतिको धैर्यसे भिन्न नहीं माना है। उन्होने लिखा है-"नायकके गुणोंने धर्यका जो लक्षण कहा गया है, उसीको ग्रहण कर संचारीका नाम मैने 'धैर्य' ही रखा है। हिन्दीवालोने यही अर्थ ग्रहण किया है। बड़े-वडे विष्न उपस्थित होनेपर भी अपने व्यवसायमे अवि-चिंत रखनेवाली मानसिक अवस्थाका नाम 'धैर्य' है। युद्ध-यात्राके समय विकट पर्वत, नदी आदि पड़नेपर भी वरावर अग्रसर होनेका प्रयत किये जाना धैर्य सूचित करता है। इसी प्रकार किसी वस्तको दान करते समय उस वस्तके अभावसे होनेवाले कष्ट आदिकी कछ परवाह न करना, किसी धर्म-साधनके मार्गमे घोर कष्ट देखकर भी उसपर अग्रसर होते जाना धैर्यका सूचक होगा" (र० मी०, प्र० २२७) । तत्त्वज्ञान जन्य सन्तोपको राम चन्द्र शुक्लने संचारी नहीं माना है। पर प्रश्न यह उठता है कि जब तत्त्वज्ञान जन्य निवेंद संचारी हो सकता है तब तत्त्वज्ञान जन्य प्रति संचारी क्यो नहीं हो सकता ? तत्त्व-ज्ञानजन्य निवेंद संचारीमे भौतिक उपमोगोके प्रति एक प्रकारका वैराग्यभाव उत्पन्न होता है तो तत्त्वज्ञान जन्य सन्तोषसे आत्मानन्द । तत्त्वज्ञान जन्य धृति, तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेदक ही अगला सोपान है। दोनो ही शम स्थायीके संचारी है।

तत्त्वज्ञान जन्य धृतिका उदाहरण—''या जग जीवनको है यह फल जो छल छाँडि भजे रघुराई। सोधिके सन्त महन्तन हूँ पद्माकर बात यह ठहराई'' (जगिद्धि०, ४९२)। विरहिणी नायिकाको धृति—''रे मन साहसी साहस राखु सुसाहस सो सब जेर फिरेंगे। एक दिनों निर्हे एक दिनों कबहूं फिर वै दिन फेर फिरेंगे'' (ज०, ४९१)। —व० सिं० छष्टनायक—दे० 'नायक' (श्वंगार)।

धेर्य-दे॰ 'अयत्नज अलंकार', सातवाँ।

**ध्यान**—दे० 'हठयोग'।

ध्येय-कथात्मक कृतियों—उपन्यास, कहानी, नाटक आदि-के छः तत्त्वोमेसे एक उद्देश्य भी है। इसीको कभी-कभी ध्येय भी कह देते है। कहानीके मुख्य या केन्द्रीय भाव अथवा उसके मुख्य संवेदनास्थलको भी ध्येय कहा गया है (दे० 'उद्देश्य', 'कहानी')।

भिनि सामान्य व्यवहारमे कानोको सुनाई पडनेवाले नाद-को ध्वनि कहा जाता है। पारिभाषिक शब्दके रूपमें ध्वनिके आचार्योंने उसका व्यवहार कई अथोंमे किया है। उनके मतानुसार ध्वनि शब्दका प्रयोग निम्नलिखित रूपोंमे हो सकता है—१ ब्रह्म व्यंजक शब्द, जो ध्वनित व्यापारविचार'में अभिधा और लक्षणाका विस्तृत विविचन किया है। इस प्रकारके सभी विवेचनोका मुख्य उद्देश करे या कराये, २० वह व्यंजक अर्थ, जो ध्वनित करे या कराये, ३० वह (अर्थात् रस, वस्तु और अलंकार), जिसकी व्यंजना करायी जाये, ४० वह (अर्थात् शब्दशक्ति व्यंजना), जिसके द्वारा व्यंजना करायी जाय, ४० वह काव्य, जिसमे रम, वस्तु और अलकार ध्वनित होते हैं। अतः ध्वनि शब्द, व्यंजक शब्द, व्यंजक शब्द, व्यंजक व्यंजना-व्यापार तथा व्यय्यकाव्यके अर्थोमे प्रयुक्त होता है। स्पष्ट हो ये पाँचों अर्थ परस्पर एक दूसरेसे धनिष्ठ सम्बन्ध रखते है और एक संदिल्ष प्रक्रियाके विभिन्न रूपोका द्योग व्यंजनार्थके लिए हुआ करता है।

काव्य-मिद्धान्तके रूपमे ध्विन शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग 'ध्वन्यालोक' प्रम्थमे मिलता है, जिसकी रचना लगभग ८७५ ई० या उसके कुछ बाद हुई थी। इस प्रम्थके कृतित्व-के सम्बन्धमें बहुन मतभेद है। कुछ विद्वान् इसके तीन भागों—कारिया, वृत्ति, उदाहरणको आनन्दवर्धनकृत मानते है तथा कुछ अन्य विद्वान् केवल वृत्ति और उदाहरणोको ही उनका लिखा हुआ मानते है; मूल कारिकाओंको वे किन्ही अन्य पूर्ववर्ती अद्याननामा आचार्यको कृति मानते है, जिसे व्यक्तिवाचक नामके अभावमें ध्वनिकारको संज्ञा देते है। कुछ विद्वानोने यह भी कल्पना की है कि कारि-काओंके रचियताका नाम अथवा सम्भवतः उसको उपाधि 'सहदय' थी। सम्पूर्ण प्रन्थको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले आलोचक आनन्दको ही ध्वनिकार नामसे पुकारते है।

'ध्वन्यालोक'में ध्वनिक्षी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है-- "जहाँ अर्थ अपनेको अथवा शब्द अपने अर्थको गुणी-भूत करके उस (प्रतीयमान)को अभिन्यक्त करते है, उस कान्य विशेषको विद्वान् लोग ध्वनि (कान्य) कहते है"-"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्धमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरित सूरिभिः कथितः"(हि० ध्व०, पृ० ५३)। इस परिभाषाका आशय यही है कि विद्वान् उस काव्यको ध्वनि वहते हैं, जिसमे कथित शब्द और अर्थ अपनेको अप्रधान बनाकर व्यंग्यार्थकी अभिव्यक्ति करते है ! वैसे तो किमी भी शब्द अथवा वाक्यसे कोई-न-कोई व्यंग्यार्थ निकाला ही जा सकता है, परन्तु प्रत्येक व्यंग्यार्थको काव्य नहीं कहा जा सकता है-चमत्कारी व्यंग्य ही काव्यके रूपमे समाहत हो सकता है। महाकवियोंकी वाणीमें यह चमत्कारी व्यंग्य अर्थ एक विरुक्षण अर्थ ही हुआ करता है—रमणियोंके लावण्यके समान यह केवल सहृदयो द्वारा मनोगत किया जा सकता है। शाब्दिक परिभाषा द्वारा उसे बाँध सकना सम्भव नहीं। इसीते वह 'कुछ और ही है' (अन्यत् एव) आदि शब्दों द्वारा उसकी महत्ता व्यंजित की गयी है। ध्वनिकी इसी विशेषताके कारण 'ध्वन्यालोक'-की पहली कारिकामे यह घोषित किया गया है कि काव्यकी आत्मा ध्वनि है। 'ध्वन्यालोक'का यह भी कथन है कि पूर्ववर्ती विद्वानोंने ही ध्वनिको इस ऊँचे पदपर आसीन कर दिया था। इस कथनसे तो यह ज्ञात होता है कि यह स्थापना 'ध्वन्यालोक'मे ही पहली बार नहीं हुई थी, वरन उसके पूर्व ही हो चुकी थी।

ध्वनिका सिद्धान्त वैयाकरणोंके स्फोटवादके सिद्धान्तपर

आधारित है। 'ध्वन्यालोक'में इस बातका स्पष्ट उस्लेख मिलता है कि ध्वनि-सिद्धान्त तथा उसका नामकरण वैयाकरणोके स्फोटवादके साह्यपर कर लिया गया था— प्रथम विद्वान् वैयाकरण है, क्योंकि व्याकरण सब विद्याओं-का मूल है। वे मुनाई देनेवाले वर्णोको ध्वनि कहते है। उसी प्रकार उनके मतको माननेवाले काव्य-तत्त्वार्थद्यां अन्य विद्वानोने भी वाच्य, वाच्क, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार और काव्यपद-व्यवहार्यको ध्वनि कहा है—''प्रथमे हि विद्वांसो येयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्र्यमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्य-स्तन्मतानुसारिमिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदिशिभवीच्यवाचक सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्या-द्ध्वनिरित्युक्तः'' (हिं० ध्व०, ७४)!

प्राचीन वैयाकरणोंका कहना था कि श्रोत्रेन्द्रियतक पहुँचनेवाली ध्वनियाँ शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है अथवा उनका तिरोमान हो जाता है। अतः विभिन्न ध्वनियोंके सम्होंसे बने हुए शब्दोसे अथवा विभिन्न शब्दोसे बने हुए वाक्योसे अर्थबीध कैसे हो सकता है-जबतक पूरे शब्द अथवा पूरे वावय निर्मित हो पाते है, तवतक उनकी विभिन्न ध्वनियोंके स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जाती है। शब्दका स्थूल उच्चरित रूप उच्चारण-भेदके अनुसार बदलत। रहता है। इसीलिए उसे शब्दका विकृत रूप कहते है और उसे अनित्य माना गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शब्दका सक्ष्म प्रतिरूप (prototype) भी होता है, जो मानवीय मनमें विद्यमान रहता है-वह नित्य है और अविभाज्य है। इसी सूक्ष्म एवं नित्य ध्वनि-विम्वको शब्दके स्फोटकी संज्ञा दी गयी है। स्फोटमे शब्दकी विभिन्न ध्वनियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, वरन उनके एक मिले-जुले रूपका भान होता है। शब्दकी अन्तिम ध्वनिके उच्चरित हो जानेके बाद ही स्फोट अर्थकी प्रतीति कराता है।

वैयाकरणोंके इसी स्फोटके आधारपर अलंकारशास्त्रियोंने ध्वनि-सिद्धान्तको परलवित किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी शब्दकी पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ (वर्ण) अर्थका बोध करानेमें असमर्थ रहती है और उनके स्फोट द्वारा हो अर्थकी अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्यमे केवल वाच्यार्थसे काव्यगन मूल सौन्दर्यको नही जाना जा सकता है। काञ्यका वास्तविक अर्थ वस्तुतः व्यंग्यार्थ ही प्रकट कर सकता है। इस अकथित अर्थका बोध कराना अभिधा और लक्षणा नामक शब्द-शक्तियोके बसके बाहर है। इसका ज्ञान मात्र न्यंजना करा सकती है। यह जिस प्रच्छन्न अर्थका उद्घाटन करती है, उसीमे काव्यका सौन्दर्य निहित रहता है। जिस प्रकार किसी घण्टेके बजाये जानेपर पहले कर्कश ध्वनि सुनाई पडती है और पुनः वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हो जाती है, उसी प्रकार काव्यमें पहले वाच्यार्थका भान होता है और पुनः सहृदय-हृदय-आह्नादकारी गृढ व्यंजनाका बोध होता है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि ध्वनि-सिद्धान्तका भव्य प्रासाद शब्द-शक्तियोंपर निर्मित किया गया है। इसी कारण सभी ध्वन्याचार्योंने शब्द-शक्तिका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। मम्मटने अपनी एक अन्य कृति 'शब्द- विभिन्न शब्द-शक्तियों के स्वरूपका निराक्तरण करना तथा अभिषा और लक्षणाकी तुलनामें व्यंजनाको अभिक महत्त्व- शाली प्रतिपादित करना था। कुछ आलोचकोंकी धारणा है कि व्यंजना-व्यापारको मान्यता देनेके विचारसे ही ध्वन्या- चार्योंने वैयाकरणोंके स्फोटवादकी शरण ली थी। उन्हे यह बहुत रुचिकर न था कि व्यंजना-व्यापार एक मौलिक आविष्कार-सा प्रतीत हो; 'प्रथमे विद्वांसः'की दुहाई देना उनके लिए बहुत ही आवश्यक हो गया। सिद्धान्ततः व्यजना- व्यापार ही ध्वनिके सिद्धान्तको आधारशिला माना जा सकता है, स्फोटवाद तो वास्तवमें साहश्य-पद्धतिपर ध्वनिके स्वरूपका स्पष्टीकरणमात्र करता है।

व्यंग्यार्थके महत्त्वकी दृष्टिते आनन्दवर्थनिने काव्यके तीन भेद किये है—(१) उत्तम काव्य—इसे ध्वनि-काव्य भी कहते है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थते अधिक उत्कृष्ट होता है; (२) मध्यम काव्य—इसे गुणीभूत काव्य कहा गया है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थके समान उत्कृष्ट अथवा निकृष्टतर होनेके कारण गौण या कम महत्त्ववाला हो जाता है; (२) अथम काव्य—इसे चित्र-काव्य कहा गया है, इसमे किसी प्रकारका व्यंग्यार्थ नहां रहता और केवल अलंकारोका ही कौतुक विद्यमान रहता है। वे सभी अलंकार, जिनमें व्यंग्यार्थका सर्वथा अभाव रहता है, इसी भेदके अन्तर्गत रखे जाते है। आनन्दवर्थनके मनानुसार इस भेदको काव्य न कहकर काव्यानुकृति ही समझना चाहिये।

इन तीनो प्रकारके कान्योके, बड़े ही मृक्ष्म और पाण्डित्य-पूर्ण विक्लेपणके अनन्तर, हजारों मेदोपमेद किये गये हैं और ध्वनिके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत सभी पूर्ववर्ती स्थापनाओंको समन्वित करनेका अत्यन्त सबल और सफल प्रयत्न किया गया है।

ध्वन्या चार्योंने ध्वित-काव्यके दो प्रधान भेद किये है—
(१) अविवक्षित वाच्यध्विन, जो लक्षणापर आधारित है
और जिसमें वाच्यार्थकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) नहीं
रहती है। इस काव्यमे वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थमे मंकमण कर जाता है अथवा पूर्णतया तिरस्कृत हो जाता है।
दोनो ही स्थितियोंमें मुख्यार्थ वाधित रहना है और दूसरा
अर्थ देने लगता है। अलंकार-सिद्धान्तके आचार्य दण्डीने
समाधिगुणके अन्तर्गत इसी प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगोका समावेश किया था और समाधि-गुणको उन्होंने काव्यका सर्वस्व
माना था। इसी प्रकार रीतिमतानुयायी आचार्य वामनने
भी इसी लाक्षणिक विलक्षणताका समावेश वक्रोक्तिके अन्तगंत किया था। इस प्रकार ध्विनवादियोंने अलंकारशास्त्रियों
एवं रीतिकारोंकी स्थापनाको ही अंशतः स्वीकार किया है।

ध्वनि-काव्यका दूसरा मेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि है, जो अभिधापर आधारित है और जिसमे मुख्यार्थको विवक्षा रहती तो अवश्य है, किन्तु वह अन्यपर होती है, अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थको प्रकाशित करता है। वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थको प्रकाशित करता है। वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थको प्रतीतिका क्रम जहाँ अलक्षित रहता है, वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती है। भाव तथा रस आदिकी व्यंजनाएँ असंलक्ष्यक्रमध्वनिमें ही समाविष्ट हो जाती है। इस युक्तिसे ध्वनिके प्रवर्तकोंने सम्पूर्ण रससिद्धान्तको ध्वनिके विशाल प्रासादमें प्रतिष्ठित कर दिया। रसको ध्वनिके विशाल प्रासादमें प्रतिष्ठित कर दिया। रसको ध्वनिके

अन्तिन हित करनेका सबते वडा तर्क यह है कि रस और भाव नामक मानसिक स्थितियाँ अनिर्वचनीय है, राब्द द्वारा कहकर उन्हें नहीं प्रकट किया जा सकता है; उनकी व्यंजना ही सम्भव है। विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक है और रस व्यंग्य है। विविक्षतान्यपरवाच्यध्वनिके दृसरे भेद संलक्ष्यक्रमध्वनिमे वाच्यार्थ वे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिका क्रम लक्ष्यित रहना है और इसके अन्तर्गत वस्तु एवं अलंकारकी व्यंजनाएँ होनी है, जो या तो शब्दकी या अर्थकी अथवा शब्द और अर्थ दोनोकी शक्तियों उद्भृत हुआ करती है। अतः विविक्षतान्यपरवाच्यध्वनिके अन्तर्गत रस, वस्तु तथा अलंकारकी व्यंजनाओका स्वरूप दृष्योचर होता है।

तीन प्रकारकी व्यंजनाओमे आनन्दवर्धनने रमध्वितको सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। उनके मतसे रसध्वनि अंगी है, रीति, गुण, दोप और अलंकार उसके अंग है। इनका चमत्कार तभी देखा जाता है, जब ये रसध्वनिकी भाँति अभिन्यंजित होते है। माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणोंकी रसके साथ अचल स्थिति हुआ करती है। वे रसके साथ उसी प्रकारसे सम्बद्ध है, जिस प्रकार शौर्यादिक गुण मानवीय आत्मासे सम्बद्ध है और रसास्वादके समय उनकी अभिन्यक्ति स्वयमेव होती है। रीति अर्थात् पद-संघटना शब्द और अर्थसे सम्बन्धित है। काव्यातमा ध्वनि अथवा रमध्वनि रीतिरूप अंग-संस्थानमे प्रतिष्ठित रहती है। शारीरिक सौन्दर्य मनुष्यके बाह्य स्वरूपको शोभान्विन करता हुआ उसकी आत्माको ही गौरवान्वित करता है। अतः रीति भी काव्यात्मा रसध्वनिकी उपकत्रीं हुआ करती है। अलकारोका स्थान निवृष्टतर है। वे भी इब्द और अर्थसे सम्बद्ध है। वे हारादि आभूषणोके समान अनित्य है। रीतिके समान शब्द और अर्थसे उनका सम्बन्ध स्थिर न होकर 'अस्थर' हो है। उनसे शरीरकी शोभा बढती है, अतः वे अप्रत्यक्ष रीति ने कभी-कभी काव्यात्मामें सौन्दर्यको कुछ अधिक चमत्कृत कर देते है, किन्तु अलंकारोंके अभावमे भी अंग-संस्थान एवं उसमे प्रतिष्ठित आत्माका सौन्दर्य अक्षण्ण रहता है । जहाँ रसध्वनिके साथ अलंकार भी रहता है, वहाँ ध्वनिकी मनोमोहकता बढ जाती है, जहाँ केवल अलंकार रहता है, वहाँ उसे उक्ति-वैचिन्यमात्र कहा जायगा।

इस प्रकार उत्तम काव्य अथवा ध्वनि-काव्यके सार्वभौम सिद्धान्तके अन्तर्गत रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता ही नहीं प्रति-पादित की गयी, वरन् सभी पूर्ववर्गी आचार्योकी गवेपणाओके विच्छिन्न स्त्रोंको सर्वोत्कृष्ट ध्वनि रससे अन्तःसम्बन्धित करके काव्य-जिद्यासुओके समक्ष एक अत्यन्त पूर्ण, व्यापक और सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्त उपस्थित कर दिया गया। इस विश्वद सिद्धान्तकी महत्ता इस बातसे भी देखी जा सकती है कि इसके बाद प्रतिपादित होनेवाले वकोक्तिवाद एवं औत्रित्यवाद भी इसके काव्यलक्षणकी परिधिसे बाहर न जा सके और न कोई परवर्ती आचार्य इसके मूल स्वरूप-को विकृत ही कर सका।

उत्तम काव्यके अतिरिक्त ध्वनि-काव्यके दूसरे भेद मध्यम काव्य अथवा गुणीभूत व्यंग्य-काव्यमे व्यंग्यार्थं वाच्यार्थके चमत्कारका पोषक होनेके कारण गौण हो जाता है। अतः इस भेदमें समासोक्ति तथा रसवत् आदि ऐसे अलंकारोंको

भी काव्यकी परिधिके भीतर प्रतिष्ठित किया गया, जिनमें कल व्यंग्यार्थ भी रहता है, यद्यपि उससे वाच्यार्थका ही चमत्कार बढता है। साथ ही यह भी सरणीय है कि प्राचीन आचार्योंने अलंकारोके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए ऐसी बातोकी ओर बराबर संकेत किया है, जिनका शब्द द्वारा कथन तो नहीं किया जाता, परन्तु उनके अस्तित्वको माना अवस्य जाता है। उदाहरणार्थ, वामन सभी अलंकारोको औपम्यमलक सिद्ध करते है और भामह तथा दण्डी सभी अलंकारोंमें अतिशयोक्तिकी स्थिति अनिवार्य रूपसे मानते है। किन्तु उपमा और अतिश्योक्ति स्वतन्त्र अलंकार है। अतः वे जब दूसरे अलंकारोमें भी विद्यमान रहते है तो अकथित, अर्थात् व्यंग्यार्थरूपमे ही आते है और प्रधान अलंकार (अर्थात् वाच्यार्थ)की ही सहायता करते है । ध्वन्या-चार्य इन्हे गुणीभृत व्यंग्यके अन्तर्गत रखकर समादत करते है। अधम काव्यके अन्तर्गत वे चित्रालंकार आदि शब्द-कौतकपथान अलंकारोंको रखते है, जो व्यंग्यार्थसे सर्वथा रहित है। इस युक्तिसे शाब्दिक क्रीडाप्रधान अलंकारींको काव्यकी संज्ञा मिलनेका गौरव प्राप्त हो गया। स्पष्ट ही ध्वन्या वार्य कोरे सिद्धान्तशास्त्री ही न थे, वरन् व्यवहारविद् भी थे और काज्य-जगत्की वास्तविकताको जानते हुए भी अनजान नहीं बनना चाहते थे। उनकी विशेषता इस बातमे है कि उन्होंने वस्तुस्थितिकी उपेक्षा भी न की और अपने सिद्धान्तपर भी दृढ रहे।

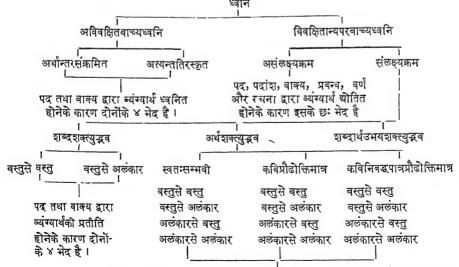
ऊपर अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिके दो भेदोकी चर्चा की गयी है और यह भी कहा गया है कि अविवक्षितवाच्यध्वनिके दो भेद (अर्थान्तर-संक्रमित, अत्यन्तितरस्क्रत) किये गये है। यह ध्वनि कभी तो किसी पदमें अथवा कभी वाक्यमे हुआ करती है। अतः अविवक्षितवाच्यध्वनिके चार भेद है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दो भेद होते है। इसके पहले भेद असंलक्ष्यक्रम-ध्वनिकी स्थिति पद,

पदांश, वाक्य, प्रबन्ध, वर्ण और रचनामें हुआ करती है। फलस्वरूप इसके भी छः भेद होते है। विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका दूसरा भेद संलक्ष्यक्रमध्वनि जब शब्द-शक्तिपर आधारित रहता है, तब उसमें या तो किसी वस्तुकी ध्वनि होती है अथवा किमी अरुंकारकी और वस्त अथवा अलंबारकी ध्वनियाँ किसी पद अथवा वाक्य द्वारा ध्वनित होती है। इसीलिए शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके चार भेद किये गये है। संलक्ष्यक्रमध्वनिके दूसरे भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके तीन रूप होते है-स्वतःसम्भवी, कविनिबद्ध-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध, कविनिबद्धपात्रशैढोक्तिमात्रसिद्ध । अर्थ-शक्तुद्भव ध्वनिके उक्त तीनों भेदोमे वस्तुसे वस्तुकी, वस्तुसे अलंकारकी, अलंकारसे वस्तुकी तथा अलकारसे अलंकारकी व्यंजनाएँ होती है और इन चारोकी स्थिति किसी पदमें अथवा किसी वाक्यमें अथवा किसी प्रबन्धमे होती है। अतः अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके प्रत्येक भेदके १२ उपभेद है, जो सब मिलाकर ३६ हो जाते है। सलक्ष्यक्रमध्वनिका तीसरा भेद शब्दार्थडभयशक्त्युद्भव ध्वनि है और इसके कोई भेद नहीं किये गये।

उपर्युक्त विवरणका सारांश यह है कि ध्वनिके सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ४ है—अर्थान्तरसंक्रामित, अत्यन्तितरस्कृत तथा असंलक्ष्य, संलक्ष्य। कुछ और विस्तारमें जानेपर इसके प्रमुख भेद १८ ठहरते हैं—अविविक्षितवाच्यध्विन २ भेद — विविक्षतान्यपरवाच्यध्विन १६ भेद = १८ भेद। असंलक्ष्यक्रमध्विन १ भेद — संलक्ष्यक्रमध्विन १५ भेद = १६ भेद।

शब्दशक्तयुद्भव २ भेद + अर्थशक्तयुद्भव १२ भेद + उभयशक्तयुद्भव १ भेद = १५ भेद ।

पदवाक्य आदिकी दृष्टिसे किये गये भेदोंको ध्यानमं रखते हुए ध्वनिके कुल मिलाकर ५१ शुद्ध भेदोपभेद किये गये है। नीचे दिये वंशवृक्षके आधारपर इन्हे मनोगत किया जा सकता है—



पद, वाक्य तथा प्रवन्ध द्वारा व्यंजना होनेके कारण स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिमात्र तथा कविनिवद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रमेंसे प्रत्येकके १२ भेद तथा कुरू ३६ भेद होते हैं।

उपर्युक्त वंशवृक्षसे ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंकी संख्या इस प्रकार प्राप्त होती है—अविवक्षितवाच्यध्वनि = ४ भेद + विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि ४७ भेद = ५१ भेद ।

> { असंलक्ष्यध्वनि ६ मेद } संलक्ष्यध्वनि ४१ मेद

> > ४७ भेद

इन ५१ शुद्ध भेदोंके परस्पर मिश्रणसे ध्विनके ५१ × ५१ = २६०१ मिश्रित भेद किये गये है। ध्विनयोका मिश्रण भी दो प्रकारका होता है—संकर, जो पुनः तोन प्रकारका होता है: संद्यास्पद, अनुम्राह्म-अनुम्राह्मक, एकव्यंजकानुप्रवेश तथा संसृष्टि। मिश्रित भेदोको साथ इन चार भेदोका लेखा मिलानेसे ध्विनके भेदोको संख्या २६०१ × ४ = १०,४०४ तक पहुँचती है। इन मिश्रित भेदोमे ५१ शुद्ध भेद जोड़ देनेसे ध्विनके कुल मिलाकर १०,४०४ — ५१ = १०,४५५ भेद किये गये है (द्रष्टव्य काव्यप्रकाशः, चतुर्थ उल्लास)।

—उ० शं० शु० ध्विन-एकांकी—दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वनिकाब्य (उत्तम काब्य) —काब्य (दे० काब्य)के भेदोमें ध्वनि-काब्य सबसे प्रमुख भेद है। जिस काब्यमे वाच्य या अभिधेय अर्थकी अपेक्षा ध्वनि या व्यंग्यकी प्रधानता होती है, उसे ध्वनिकाब्य कहते है। कही-कही इसे उत्तम काब्य भी कहा गया है। उदाहरण—रामचरितमानस', 'स्रसागर', 'सुजानचरित' (धनानन्दकृत), देवः भामिनी विलास, 'प्रसाद': कामायनी।

ध्वनिनाटक – दे० 'रेडियो नाटक'। ध्वनिप्रभाव – दे० 'रेडियो नाटक'।

ध्वानप्रभाव - द० 'राड्या नाटक' ध्विनवाद - दे० 'ध्विनिसिद्धांत'।

ध्वतिसंकर-ध्वनिके विभिन्न भेदोके परस्पर सम्मिलनसे ध्वनिके अनेकानेक मिश्रित भेद होते है। काव्यमे प्रायः ऐसे मिश्रित (संकीर्ण) भेद ही अधिक प्राप्त होते है। ध्वनियोका मिश्रण दो प्रकारका होता है-ध्वनिसंकर, ध्वनिसृष्टि । जहाँ एक ध्वनि दूसरी ध्वनिसे 'क्षीर-नीरन्याय'-से मिली रहती है, वहाँ ध्वनिसंकर माना जाता है। ध्वनिसंकरमे दो या कई ध्वनियाँ दूध-पानीकी भाँति एक-दूसरेसे मिली-जुली रहती हैं। ध्वनिसंकर तीन प्रकारका होता है-(१) संशयास्पद संकर-यह भेद वहाँ होता है, जहाँ दो या दोसे अधिक ध्वनियाँ इस रीतिसे विद्यमान हो कि यह निश्चय न किया जा सके कि वहाँ कौन-सी ध्वनि प्रधान है। उदाहरणके लिए "सीताहरण तात जनि कहेड़ पिता सन जाय । जो मै राम तो कुल्सहित कहिह दसानन आय" (का० क०, पू० २८३)मे 'जो मै राम'का अर्थ बाधित है, क्योंकि राम तो क्ता है ही । अतः 'जो मै राम'-का अर्थ 'यदि में स्वनामधन्य रघवंशके प्रतापी राजा दशरथका पुत्र हूं तो "' आदि अर्थान्तरमे संक्रमित होनेके कारण इस उदाहरणमे लक्षणामूला अविवक्षितवाच्यध्वनि है। किन्तु इसमें अभिधामुला विवक्षितान्यपर अर्थशक्त्युद्भव वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि भी है। रामके कथनसे यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि वे रावणको सपरिवार नष्ट कर देंगे। इन दोनों ध्वनियोंने किसे प्रधान कहा जाय, यह निश्चय नहीं हो पाता । इसलिए इस उदाहरणमे संशयास्पद ध्वनि है। (२) अनुपाह्य-अनुपाहक संकर-यह ध्वनिभेद वहाँ होता है, जहाँ एक ध्वनि दसरी ध्वनिके सहायकके रूपमें प्रयुक्त होती है। "तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन" (पन्त) । इस उदादरणमे 'आत्मा' शब्द तथा "हे चिर पुराण, हे चिर नवीन" आदि विरोध-सचक वाक्यांशका अर्थ वाधित होनेके कारण अर्थान्तर-संक्रमित अविवक्षितवाच्यध्विन है। किन्तु इन लाक्षणिक प्रयोगो द्वारा कवि अपने हृदयमे स्थित गान्धी-प्रेमकी व्यंजना भी कर रहा है। पूज्य पुरुषविषयक रितभावकी व्यंजना होनेके कारण यहाँ विवक्षितान्यपर असंलक्ष्यध्वनि (रसध्वनि) भी है। अविवक्षितध्वनि विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनिका पृष्टीकरण कर रही है, अतः यहाँ अनुमाह्य-अनुमाहक संकर है। (३) एकव्यंजकानुप्रवेश संकर-यह भेद वहाँ होता है, जहाँ एक ही आश्रयमे, अर्थात् एक ही पद अथवा वाक्यमे एकाधिक ध्वनियाँ विद्यमान हो । उदाहरण-के लिए, महादेवी वर्माके गीत "मै नीर भरी दुखकी बदली । विस्तृत नमका बोई बोना, मेरा न कभी अपना होना, परिचय इतना, इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली "आदि" (का० द०, पृ० ३१९)मे एक ही कथन द्वारा एक और अर्थशक्तयुद्धव संलक्ष्यक्रम वस्तुसे व्यतिरेक अलंकारकी ध्वनि है—उपमेय (मै)मे उपमान (बढरी)की अपेक्षा अपकर्ष दिखलाकर उपमानकी श्रेष्ठता व्यंजित की गयी है-दूसरी ओर गीतसे करुण रसकी व्यंजना होनेके कारण असंलक्ष्य ध्वनि (रसध्वनि) सी है। —-ত০ হা০ হা০

ध्वितसंप्रदाय — संस्कृत काव्यशास्त्रका सबसे प्रमुख एवं प्रौड सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायकी स्पष्ट और वहुत कुछ पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करनेवाला सबसे पहला ज्ञात प्रन्थ 'ध्वन्या-लोक' है। इस युग-विधायक प्रन्थमे पहले छन्दोब द कारिकाएँ दी हुई है, जिनमे प्रतिपाच विषयका स्त्रशैलीमे व्याख्यान किया गया है, तदनन्तर वृत्तियों है, जिनमें कारिकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तोका गद्यमे विस्तृत विवेचन ही नहीं है, वरन् मूलसिद्धान्तोको विश्वदीकरणका भी यत्न किया गया है। वृत्तियों इस विवेचनमे ही कभी-कभी कुछ इलोक भी दिये है, जिन्हें 'परिकर इलोक', 'संम्रह कोक' अथवा 'सारांश कोक' कहा गया है। गद्यके इस विवेचन के अनन्तर अन्तमे उपयुक्त काव्यांशोको देकर आलोच्य विषयोको उदाहरण भी दिये हुए है। इस प्रकार 'ध्वन्या-लोक'के तीन पृथक भाग किये जा सकते हैं — कारिका, वृत्ति, उदाहरण।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कृतित्वका विषय बहुत ही विदाः ग्रस्त रहा है। ग्रन्थके वृत्तिभागमे प्रस्तुत गण्यके विनेचनका श्रेय सर्वसम्मतिसे आचार्य आनन्दवर्धनको है। अन्तमं अदाहरणस्वरूप प्रम्तुत काव्यखण्ड 'ध्वन्यालोक'के पूर्वदर्शा संस्कृत कवियोके तथा स्वयं आनन्दवर्धनको भी है। मतभेद इस बातमें है कि सूत्र-वद्ध कारिकाएँ भी आनन्दवर्धन द्वारा विरचित है अथवा उन्हे किमी अन्य अज्ञातनामा आचार्यने बनाया था। इस मतभेदका सूत्रपान आजसे लगभग नौ सौ वर्प पूर्व हो चुका था। 'ध्वन्यालोक'की पाण्टित्यपूर्ण एवं प्रगल्म टीका करनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक एवं आचार्य

अभिनवगुप्त हुए। इनकी 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन' नामसे प्रख्यात है। आधुनिक यूरोपीय तथा भारतीय पण्डितोने प्रधान रूपसे 'लोचन'के उल्लेखोके आधारपर ही कारिकाओके कृतित्वके सम्बन्धमें उक्त दो प्रकारके मतोकी स्थापना की है। कारिकाओंको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले पण्डित, 'लोचन'से कुछ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत करते है, जिनका स्पष्ट आज्ञाय है कि कारिकाओं के लेखक भी आनन्द ही थे। अभिनवगुप्तकी दसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'अभिनवभारती'के कछ स्थलोंसे भी इसी प्रकारको समर्थन प्राप्त है। 'ध्वन्या-लोक'के परवर्ती लेखकोंके साध्योका उल्लेख भी किया जाता है। 'ध्वन्यालोक'के एक शताब्दी बाद 'वक्रोक्तिजीवित'के रचयिता कुन्तक कारिकाओ और वृत्तियोंके आनन्दकृत होनेका स्पष्ट कथन करते है। इसी प्रकार कुन्तक तथा अभिनवके समसामयिक महिम भट्ट भी कारिकाओं एवं वृत्तियोंके कृतित्वकी चर्चा करते हुए केवल एक ही व्यक्ति-'ध्वनिकार'का उल्लेख करते है। स्वयं 'ध्वन्यालोक'की वृत्तियोके कुछ अन्तरंग साक्ष्योके आधारपर भी यह कहा गया है कि उनमें आनन्द इस बातका दावा करते है कि उन्होंने ही ध्वनिसिद्धान्तका आविष्कार कर विद्वज्जनोको उपकृत किया है। विद्वानोका तर्क है कि यदि आनन्द कारिकाके रचयिता न होते तो वे इस प्रकारका झूठा दावा कदापि न करते। तत्कालोन कइमोरी पण्डितोकी प्रचलित परम्परा भी यही थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्ति-की भी रचना करता था।

उपर्युक्त स्थापनाके बिलकुल विपरीत अन्य आलोचकोका यह मत है कि कारिकाओं के लेखक आनन्दवर्धन से भिन्न कोई अन्य आचार्य थे। ऊपर दी हुई प्रायः सभी युक्तियों-को वे भ्रममूलक मानते है। निस्सन्देह वे इस बानको अंशतः स्वीकार करते है कि अभिनवके 'लोचन' तथा 'अभिनव-भारती'मे कुछ ऐसे उल्लेख अवइय है, जिनके आधारपर आनन्दवर्धन ही कारिकाओंके लेखक जान पड़ते है। पर इन थोड़ेसे स्थलोंके अतिरिक्त ऐसे बहुतेरे उल्लेख है, जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ध्वन्यालोक'से १५० वर्ष बाद अभिनवगुप्त कारिकाकार तथा वृत्तिकारको पृथक्-पृथक व्यक्ति मानते थे। उन्होंने नियमित रीतिसे कारिका-कारके लिए 'मूलयन्थकृत्' (मूलयन्थकार) तथा वृत्तिकारके लिए 'मन्यकृत' (मन्यकार) राब्दका प्रयोग किया है। इस पृथक्करणकी आवश्यकता लोचनकारको क्यो पड़ी, इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर अद्याविध नहीं दिया जा सका है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि कारिकाकारके लिए 'यन्थकृत्' शब्दका प्रयोग 'लोचन'में कही भी नही हुआ है। यह अवस्य है कि 'लोचन' के बादके आचार्यों में कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र तथा विश्वनाथ आदि कई लेखकोने आनन्दको ही कारिकाकार माना है, किन्त इस प्रकारके बहुसंख्यक उल्लेख पस्तुत समस्याका समाधान नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे विषयोमे बहुमत द्वारा निर्णय नहीं दिया जा सकता। अभिनवगुप्तकी टीकासे भी पहले 'ध्वन्यालोक'-की 'चन्द्रिका' नामकी एक टीकाकी चर्चा 'लोचन'मे प्राप्त है। ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रिकाकार भी कारिकाकार और ध्वनिकारको पृथक मानता था। दुर्भाग्यवश 'चन्द्रिका'

तथा भट्टनायककृत 'हृदयदर्शन' प्रन्थ अप्राप्य है। सम्भव है, इनसे प्रस्तुत समस्यापर बहुत कुछ प्रकाश पड़े। कारिका-कारके व्यक्तित्वको पृथक माननेवाले आचार्याका कहना है कि आनन्दकृत वृत्तियोमें विवेचित विषयको 'कारिकाकार-सम्पत' कहा गया है। यदि वृत्तिकार ही कारिकाओका रचयिता भी था, तब तो 'सम्मति'का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे तो केवल यही कहना चाहिए कि कारिका रचते समय उसने इसी मतको प्रतिपादित किया था। वृत्तियोंके विवेचनके बीचमें दिये गये 'परिकरक्लोको'मेसे कुछ तो कई कारिकाओंसे भी कही अधिक सारगिंभत एवं मार्मिक हैं, अतः आलोचकोंका तर्क है कि यदि यह मान लिया जाय कि इन इलोकोंकी रचना बादमें वृत्तियोंके लिखते समय आनन्दने की थी, तब भी यह शंका बनी ही रहती है कि वृत्तिकारने इन्हें कारिकाओके साथ न रखकर अपेक्षाकृत गौण स्थानपर क्यों रखा ? लेखक जब कभी अपने प्रन्थमे परिवर्तन-परिवर्द्धन करता है तो अपनी सामग्रीको छौट-पौट करनेका अधिकार उसे रहता ही है। अतः सम्भावना यही जान पडती है कि वृत्तिकारने अपनी रचनाको पृथक रखने-के उद्देश्यसे ही इन इलोकोको कारिकाओके साथ न मिलाकर वृत्तियोंके साथ रखा है। ध्वनिसिद्धान्तके आविष्कार करनेका आनन्दवर्धनका दावा भी नितान्त अनिधकारपूर्ण नहीं माना जा सकता है। वृत्तियों में उसका जो महत्त्वपूर्ण तथा विशद विवेचन प्राप्त है, वही इस दावे-की बहुत कुछ पृष्टि करता है। कई विश्वसनीय उल्लेखोंके आधारपर यह कल्पना की गयी है कि कदाचित आनन्द ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तक 'सहृदय'के समसामयिक तथा शिष्य थे। सम्भव है, अपने गुरुसे अत्यधिक घनिष्ठता एवं आत्मीयनाके कारण उन्होंने इस प्रकारका दावा कर दिया हो। वृत्तिकार कारिकाकारके मतोंको अपने मतके रूपमे लिख दिया करते है, इसके उदाहरण भी अप्राप्य नहीं है। आनन्दकी वृत्तिके अन्तिम इलोकमें 'सहदयोदयलामहेतोः' आदि शब्द आते है, जिनका अर्थ यह भी किया जा सकता है—यदि सहृदयको व्यक्तिवाचक संज्ञा मान लिया जाय— कि सहदय (की कीर्ति)के अभ्यदयके निमित्त ('सत्का-व्यतत्त्वनयवर्त्म चिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु यदासीत् । तद्व्याकगेत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः" (हिं० ध्व०, पृ० ४८१) । इस प्रकारके कथनोंको गुरुकी महत्ताको अभिन्यंजित करनेवाला भी माना जा सकता है। तत्कालीन कश्मीरी पण्डितोकी प्रचलित परिपाटी यह अवस्य थी कि एक ही लेखक कारिका तथा वृत्ति, दोनोंकी रचना करता था। किन्तु प्रस्तुत समस्यापर उस परम्परासे विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। प्रश्न यह है कि क्या वृत्तिकार आनन्दने भी उस परम्परा-का अनुसरण किया था?

इस प्रकार हम देखते है कि कारिकाओं और वृत्तियोंको पृथक्-पृथक् व्यक्तियोकी रचना माननेके पक्षके तर्क संख्या तथा महत्त्व, दोनों ही दृष्टियोंसे बहुत ही आकर्षक प्रतीत होते हैं, यद्यपि दोनोको आनन्दवर्धनकृत माननेवाले तर्क मी नितान्त निराधार नहीं कहे जा सकते। वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञात सामग्रीके अनुशीलनसे हम किसी निर्विवाद

निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकते है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यदि कुछ अप्राप्त कृतियाँ सुलभ हो सकें तो सम्भवतः इस विवादका निराकरण हो सकें। 'लोचन'कें पाठका प्रामाणिक पुनरुद्धार भी वहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह विवाद प्राचीन कालसे ही चल पड़ा था। अतः मत-विशेषके माननेवालोने 'लोचन'की हस्तलिखित प्रतियोंके पाठको अपने विचारानुकृत परिवित्त करनेका यह अवश्य किया होगा (प्रस्तुत समस्याके विस्तृत अध्ययनके लिए दे०—ए० संकर्मकृत 'द यियोरीज ऑव रस एण्ड ध्वनि' (१९२९), पृ० ५०-६० तथा पी० वी० काणेकृत 'द साहित्यदर्पण ऑव विश्वनाथ'—तृतीय संस्करण, १९५१, 'द हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयेटिवस' पृ० १५३-१९०)।

'ध्वन्यालोक'की हस्तलिखित प्रतियोंकी पुष्पिकाओमे इस य्रन्थके कई नाम मिलते है—'ध्वन्यालोव', 'कान्यालोक', 'सहदयालोक', 'सहदयहृदयालोक', 'काञ्यालंकार'। कारि-काओको आनन्दवर्धनमे भिन्न किन्ही अन्य आचार्यको रचना माननेवाले विद्वानोका अनुमान है कि मूल प्रन्थका नाम 'काव्यध्वनि' (संक्षिप्त रूप 'काव्य' या 'ध्वनि') अथवा 'सहृदयालोक' था । 'लोचन'की रचनासे लगभग सौ वर्ष पर्व मुकल भट्टकृत 'अभिधावृत्तिमातृका' (९००-९२५ ई०)-में इस बातका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है कि आदरणीय सहदर-ने ध्वनिके नवीन सिद्धान्तको प्रतिष्ठित किया था। अतः बहुत सम्भव है, ध्वनिसिद्धान्तके प्रवर्तकका नाम अथवा उसकी उपाधि 'सहृदय' थी । इस प्रकारके सामान्य विशेष-तामूचक नामोका व्यक्तिवाचक संज्ञाके रूपमे प्रयुक्त होना कुछ विचित्र अवस्य है, परन्तु ऐसे उदाहरण संस्कृत तथा हिन्दी साहित्यमें भी मिलते अवस्य है - मेथाविन, दण्डिन, धनिक, सेनापति, भषण।

आनन्दवर्धनका समय ज्ञात करना अपेक्षाकृत सरल है। कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' (११४८-५१)में डॉल्लिखित है कि कइमीरके राजा अवन्तिवर्मन्के शासनकाल (८५५-८३ ई०)मे कवि आनन्दवर्धनने ख्याति प्राप्त की थी। अन्य आधारोंसे भी इस कथनकी पृष्टि होती है-आनन्दने उद्भट-(८०० ई०)का उद्धरण दिया है, जब कि राजशेखर (लग-भग ९००-२५ ई०)ने आनन्दके मतको उद्घृत किया है। अवन्तिवर्माके शासनकालकी तिथियोको ध्यानमे रखते हुए आनन्दका रचनाकाल ९वी शताब्दीके अन्तिम चरणमें मानना पडता है। आनन्दकी अन्य क्रतियाँ विषमवाण-लीला', 'अर्जुनचरित' तथा 'देवीशतक' हैं। 'ध्वन्यालीक' तथा 'देवीशतक'मे 'विषमबाणलीला' तथा 'अर्जुनचरित'के नाम आये है, अतः उन्हे इन दोनोसे पहले रचिन माना जायगा । 'देवीशतक'मे यमक तथा चित्रालंकारके चमत्कार-की प्रधानता है। इसीसे आलोचकोंकी धारणा है कि उसकी रचना भी 'ध्वन्यालोक'के पहले ही हो चुकी होगी। फलस्वरूप 'ध्वन्यालोक' आनन्दकी प्रौढ़ कृति ठहरती है और उसकी रचना ८७५ ई०के लगभग या उसके बाद ही हुई होगी। यदि कारिकाओंके रचयिता आनन्दवर्धनसे भिन्न कोई अन्य आचार्य थे तो कारिकाओंका रचनाकाल ८७५ ई०से कुछ पहले मानना पहेगा।

'ध्वन्यालोक'से पहले ध्वनिसम्प्रदायके अस्तित्वके कोई निश्चित प्रमाण अभीतक नहीं ज्ञात है। ध्वनिसम्प्रदाय-की जैसी पर्ण और विशद व्याख्या इस अन्यमें प्राप्त है, उसे देखते हुए ऐसा प्रनीत होता है कि इसकी कोई पूर्ववर्ती परम्परा अवस्य रही होगी। 'ध्वन्यालोक'वी पहली कारिका "काव्यकी आत्मा धानि (है), जिसे बुद्धिमान् लोग पहलेसे बहुने आते है..." (काव्यस्यातमा ध्वनिरिति समाम्नातपूर्वः) ही सूचित करती है कि पूर्ववर्ती पण्डिताम ध्वनिसिद्धान्तकी चर्चा पहलेसे थी। 'लोचन'ने इस कथन-पर टोका करते हुए लिखा है कि इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि इस सिद्धान्तका विवेचन किसी विकिष्ट पुस्तकमे नहीं हुआ था, तथापि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न रीतिसे इसे कहा अवस्य गया था (अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तौ एनद् उक्तम् , विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनात्)। इस कथनसे तो यही अनुमान होता है कि 'ध्वन्याटोक'के पहले ध्वनिसिद्धान्तकी स्थिति केवल भौखिक परम्पराके रूपमे ही थी। उसका व्यवस्थित विवेचन सर्वप्रथम इसी यन्थमें हुआ। किन्तु यह परम्परा व<u>ह</u>त प्राचीन नहीं। प्रतीत होनी, क्योंकि भामह, दर्ण्डा और वामन आदि पूर्ववर्ती आचार्य ध्वनिसम्प्रदायसे कुछ भी प्रभावित नहीं जान पडते है, जब कि रससम्प्रदायसे उनका परिचय अवइय ही था।

'ध्वन्यालोक'का विषय-'ध्वन्यालोक'ने ध्वनिसिद्धान्त-का विवेचन चार उद्योतोंमे विभक्त है। प्रथम उद्योतमे पहले ध्वनिविरोधी मतोकी चर्चा करके उनकी निस्सारता प्रतिपादित की गयी है। तदनन्तर काव्यके दो अर्थौ-वाच्य तथा प्रतीयमानका पृथकरण प्रदक्षित किया गया है। वाच्य अथवा मुख्य अर्थकी महत्ता, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारोके क्षेत्रमे प्रतिष्ठित की ही जा चकी थी, किन्त 'प्रतीयमान' अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे भिन्न कोई अन्य ही वस्तु होती है। महाकवियोंके कान्यमें वह रमणियोंके ऑख, कान, मुख आदि प्रसिद्ध अवयवोंसे भिन्न लावण्यके सहश शोभित हुआ बरता है। (प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु"—हि० ध्व०, पृ० १९)। केवल न्याकरण आदिके नियमोको जाननेवाला प्रतीयमान अर्थके मर्मको मनोगत नही कर पाता, काव्यमर्मज्ञ सहृदय जन उसे सरहतासे ही समझ लेते है। समासोक्ति आदि जिन अलंकारोमे यरिकचित व्यंग्यार्थ रहता भी है, उन्हे ध्वनिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनमे वाच्यार्थकी ही प्रधानता हुआ करती है। कान्यको ध्वनिकी संज्ञा तभी दी जा सकती है, जब उसमे व्यंग्यार्थ सर्वोपरि तथा सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। कान्य द्वारा अभिन्यंजित प्रतीयमान अर्थ या तो किसी वस्तुको अथवा किसी अलंकारको अथवा किसी रसको ध्वनित करता है। वस्तु, अलंकार तथा रसकी ध्वनियोमे रसध्वनिका महत्त्व सर्वोपरि है। ध्वनिका जैसा चारुत्व रसध्वनिके अन्तर्गत दृष्टिगोचर होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जिस कान्यमें न्यंग्यार्थ प्रधान होता है, उसे उत्तम कान्य तथा जिसमे वह बाच्यार्थके समकक्ष और उससे निक्रष्ट

होता है, उसे मध्यम काव्य कहते हैं। व्यंग्यार्थसे सर्वथा रहित आलंबारिक रचनाको अधम काव्यको सज्ञा दी गयी है। प्रतीयमान अर्थको इस प्रकार प्रतिष्ठित करनेके अनन्तर ध्वनिके दो प्रमुख भेदों (अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपर-वाच्य)का निरूपण किया गया है। दूसरे उद्योतमे इन दोनों भेदोंके चार प्रधान उपभेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिराकृतवाच्य और संलक्ष्यक्रमन्यंग्य, असंलक्ष्य-व्यंग्य) तथा उनके अन्यान्य भेदोको निरूपित किया गया है। इस वर्गीकरणका मुख्य आधार व्यंग्यार्थ है। तीसरे उद्योतमे व्यंजना करानेवाले, अर्थात् 'व्यंजक'-पद, वाक्य, प्रवन्थ आदिकी दृष्टिसे ध्वनिके उपर्युक्त चार भेदोके पुनः अन्य प्रकारके उपभेदोंका विवरण प्राप्त है। इस विवरणमें ध्वनिसिद्धान्तकी व्यापकता तथा उसके विस्तारको प्रतिपादित करनेका यत दृष्टिगोचर होता है। ध्वनिका चमत्कार उपसर्ग-प्रत्यय, तद्धित-क्रदन्त, पद, वर्णवाक्य, रचना, प्रवन्ध आदि सभी क्षेत्रोमें अक्षण्ण है। अलंबार, रस, गुण, रीति -आदि पूर्ववर्ती सिद्धान्तोको ध्वनिसिद्धान्तके अन्तर्गत यथास्थान प्रतिष्ठित करनेकी प्रवल चेटा इस विभेचनका प्रमुख लक्षण है। चौथे तथा अन्तिम उद्योगमे कविप्रतिभाकी अनन्तता और असीमताका व्याख्यान है। अपनी नैसर्गिक कल्पनाशक्तिके सहारे कविगण पुराने एवं बार-बार दहराये हुए भावो और उद्गारोको नित्य नये रूपोंमे उसी प्रकार प्रस्तुत किया वरते है, जैसे वसन्त ऋतुमे वृक्षोकी छटा नयी-सी प्रतीत होती है। व्यंग्य तथा व्यंजक भावोके ऐसे नाना रूप सभ्भव है, जो अर्थोंकी अनन्तताके मूल हेतु हुआ करते है, फिर भी लोकोत्तर चमत्कारकारी काव्यार्थकी सिद्धिके लिए कवियोको केवल रमध्वनिकी अभिन्यंजनाके निमित्त ही प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रबन्धकाव्योमे एक ही प्रधान रसकी अभिन्यंजना होनी चाहिये, जैसे 'रामायण'मे करुण रस तथा 'महाभारत'मे शान्त रस । प्रसंगात जिन अन्य रसोंकी व्यंजना प्रबन्धकाव्यमे यत्र-तत्र की जाय, उसे प्रवन्धके प्रधान रसका सहायक ही होना चाहिये। प्रतिभा-सम्पन्न कवियोंकी वाणीमे उक्ति-साद्दयका पाया जाना स्वामाविक ही है। यह साम्य प्राणियोके प्रतिबिम्बके समान, उनके चित्रके समान और दूसरे देहधारी मनुष्यके समान होता है। बुद्धिमान् कविको प्रतिबिम्बरूप तथा चित्ररूप काव्यवस्त्रको त्याग देना चाहिये, किन्त तीसरे प्रकारके साम्यको नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि कोई मनुष्य दूसरे देहधारी मनुष्यके सददा होनेपर भी उससे अभिन्न नहीं माना जा सकता है—दोनोकी व्यक्तिगत विशेषताएँ हुआ ही करती है और इन्हीके कारण वे समाहत हुआ करते है। इसी भॉति प्रतिभाशाली कवियोकी वाणी पुराने कवियोंसे उक्तिसाम्य रखते हुए भी सहृदय जनोके मनमें नव-आह्रादका संचारण करती रहती है।

ध्वनिसम्प्रदायका प्रवर्तन करनेवाले सर्वप्रथम ज्ञातग्रन्थ 'ध्वन्यालोक'का संक्षेपमें यद्दी मूल प्रतिपाद्य विषय है। ध्वनिसम्प्रदायको पूर्णतया पल्लवित एवं विकसित करनेका श्रेय अभिनवगुप्त (९८०,१०२० ई०)को है, जो एक प्रतिमाशाली कवि एवं आचार्य ही न थे, वरन् एक उच्च कोटिके दर्शनशाली भी थे। मध्यशुगीन संस्कृत साहित्यके

पण्डितोमे इनका स्थान अन्यतम है। नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्रपर अभिनवके मतोकी मान्यताका पता तो इसी बातसे चलता है कि सभी परवर्ता आचार्याने उन्हें मुक्त कण्ठसे स्वीकार किया है। अभिनवने भरत मुनिके नाट्यशास्त्रकी अत्यन्त विश्वद टीका 'अभिनवभारती' नामक पस्तकमे की है। उनके नाट्यशास्त्रके गुरु भट्ट तौन थे। कान्यशास्त्रकी दीक्षा उन्हें भट्ट इन्द्राजसे प्राप्त हुई थी, जिन्हे कुछ विद्वान् कोंकण-निवासी प्रतीहारेन्दुराज (रचनाकाल ९२०-९५० ई०) ने अभिन्न मानते है। 'ध्वन्यालोक'पर अभिनवकी प्रसिद्ध टीका 'लोचन'का उल्लेख किया जा चुका है। यह टीका कई अन्य नामोसे प्रसिद्ध है—'सहदया-लोकलोचन', 'ध्वन्यालोकलोचन', 'काव्यालोकलोचन'। सैद्धान्तिक दृष्टिसे 'लोचन'मे 'ध्वन्यालोक'के सिद्धान्तोंका ही विश्वदीकरण एवं पृष्टीकरण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्रके स्वरूप और उसकी अभिन्यक्तिके सम्बन्धमे अभिनवग्रप्त द्वार। प्रवर्तित 'अभिव्यंजनावाद' (दे०—'रसनिष्पत्ति') नाट्यरसकी ही नहीं, वरन् काव्यरसकी समस्याका भी अन्तिम एवं व्यवस्थित समाधान उपस्थित करता है। अभिनवने यह निर्विवाद रीतिसे स्थापित कर दिया कि ध्वनिवादियांकी व्यंजनाशक्ति ही रसकी अभिव्यक्तिके रहस्यको स्पष्ट रूपते समझा सकती है, क्योंकि रस, भाव आदिका बोध व्यंग्यरूपमें ही हुआ करता है। इस प्रकार अभिनवने रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तोको अन्तन्सम्बन्धित कर दिया । ध्वनिके तीन रूपो-वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसध्वनिकी प्रतिष्ठा 'ध्वन्यालोक'मे हो ही चुकी थी। ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना जिस रूपमे की गयी थी, उसे देखते हुए ध्वनिकार अथवा आनन्दवर्धन इससे आगे नहीं जा सकते थे। अभिनवग्रप्तने इस दिशामे एक कदम और आगे बढाया और यह घोषित किया कि काव्य रसके द्वारा ही जीवित रहता है ("रसेनैव जीवित सर्वम् कान्यम्") और रसके अभावमे कान्य कान्य नहीं कहा जा सकता। ध्वनिके दोष दो रूप, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि, अन्ततोगत्वा रसध्वनिकी ही प्रतीति कराते है। अतः रस तथा ध्वनिके सिद्धान्तों में कोई तार्किक विरोध नहीं माना जा सकना है। अभिनवके इस विवेचनकी एक उल्लेख योग्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने नाट्यरस एवं काव्यरसके चारुत्वका पुष्टीकरण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्तरपर किया है। उनके करमीरी शैव दर्शनके ग्रह लक्ष्मणग्रप्त थे, जो स्वयं उत्पलदेवके शिष्य थे। 'लोचन'मे उत्पलका उल्लेख 'परमगुरु'के रूपमें हुआ है। अभिनवने उत्पलकृत 'प्रत्यभिज्ञानशास्त्र' तथा 'प्रत्यभिज्ञाकारिका'पर क्रमशः 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमिर्शिनी' (लघुवृत्ति) तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमिशंनी' नामक दो महत्त्वपूर्ण भाष्योकी रचना की थी। स्वभावतः अभिनवके रसध्वनिके विवचनोंपर उनके दार्शनिक विचारोकी छाप प्रायः सर्वत्र ही विद्यमान है। अभिनवका कहना है कि निस्सन्देह काव्यकी आत्मा ध्वनि है, किन्तु मात्र ध्वनि ही कान्यका सर्वस्व नहीं है, उसमें शब्दार्थगुणालंकारसंयुक्त रसात्मकताका होना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तब तो 'गंगायां घोषः' जैसी नीरस उक्तियांको भी काव्य मानना

पडेगा। तार्किक दृष्टिते सार्वभौम आत्मतत्त्व सीमित जगत्के सभी पदार्थों में ज्याप्त है, अतः वह घटमे भी ज्याप्त है, फिर भी 'घटमें जीव है' इस प्रकारका कथन नहीं किया जाता— जीवका कथन केवल जीवित चारीरधारियों के लिए ही किया जाता है। इसी सादृश्यपर मात्र ध्विन ही नहीं, वरन् रसात्मक सौन्दर्यसे अभिहित ध्विन ही काव्यकी आत्मा मानी जा सकती है। अभिनवके इस विवेचनमें मौलिकता अथवा नवीनताका आभास मले ही बहुत अधिक न मिलता हो, पर उनकी प्रगल्भ एवं पाण्डित्यपूर्ण ज्याख्याके फलस्वरूप ध्विनसम्प्रदायने बहुत अधिक शक्ति और वल प्राप्त किया।

किन्त ध्वनि जैसे सवल तथा सशक्त सिद्धान्तको भी निविरोध रीतिसे नही स्वीकार किया गया। स्वयं अभिनव-गुप्तके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि भट्टनायक (रचनाकाल ९३५-८५ ई०)कृत अप्राप्त यन्थ 'हृदयदर्पण'मे 'ध्वन्यालोक'में प्रवर्तित सिद्धान्तका विरोध किया गया है। रसकी अभि-व्यक्तिमें व्यंजनाशक्तिकी महत्ताको भट्टनायक नहीं स्वीकार करते है। इसके स्थानपर वे 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियोको प्रतिपादित करते है और 'रसचर्वणा'को काव्यकी आत्मा मानते हैं। वे ध्वनिके सिद्धान्तको पर्णतया अस्वीकृत तो नहीं करते, पर उसे शाब्दिक परिभाषासे परे केवल 'खसंवेद्य' मानते है। वक्रोक्तिको कान्यमे जीवित माननेवाले प्रसिद्ध आचार्य कुन्तक (ईसाकी ग्यारहवी शताब्दीका पूर्वार्ड)ने भी अपने ग्रन्थ 'बक्रोक्तिजीविन'में ध्वनिके स्वतन्त्र अस्तित्वको अस्वीकृत किया है और रसध्वनिके पूरे चमत्कारको प्रवन्धवक्रताके अन्तर्गत पूर्णतया प्रतिष्ठित किया है। कुन्तकके पाण्डित्यपूर्ण विवेचनका लक्ष्य ध्वनिसिद्धान्तको अपदस्य करना न था, वरन् वक्रोक्तिके सर्वन्यापी चमत्कारको प्रतिष्ठित करना था। ध्वनिके भेदोपभेदोंको वक्रोक्तिके विविध प्रकारोंमे अन्तर्भृत करनेका प्रयत्न ही यह सिद्ध करता है कि वे व्यंग्यार्थके महत्त्वको स्वीकार करते थे। ध्वनिसिद्धान्तको 'ध्वंस' करनेके उद्देश्यसे रचना करनेवाले कश्मीरी आचार्य राजानक महिम भट्ट (१०२०-११०० ई०) हुए, जिन्होने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। काव्यका कोई समीचीन लक्षण न प्रस्तुत कर सकनेके कारण वे ध्वनिकारकी खिली उडाने है। 'न्यक्ति' अथवा न्यंजनाको वे शब्दकी कोई शक्ति नहीं मानते। उनके मतानुसार वाक्यार्थमे व्यंग्यार्थकी प्रतीति शब्द और अर्थकी व्यंजकताके कारण न होकर अनुमानकी प्रक्रिया द्वारा हुआ करती है। 'ध्वन्यालोक'में ध्वनिका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसे महिम भट्ट 'काव्यानुमिति' बतलाते है। उनके मतसे शब्दके केवल दो ही अर्थ होते है-वाच्य तथा अनुमेय। अनुमेय अर्थके अन्तर्गत वे लक्ष्य एवं न्यंग्य अर्थीको समाविष्ट करते है—उनकी स्वतन्त्र स्थिति वे मानते ही नही। अनुमेय अर्थ पुनः तीन प्रकारका होता है। कभी वह वस्त्रकी, कभी अलंकारको अथवा कभी रसकी अनुमिति कराता है। वस्तु और अलंकारका व्यवहार वाच्यार्थके रूपमें हो सकता है, किन्तु रस सदैव अनुमेय होता है और वही कान्यका सर्वस्व है । वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थमें व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्धके स्थानपर महिम भट्ट 'लिंग-लिंगी' सम्बन्धकी

कल्पना करते है। जहाँ 'लिग' (हेत)की स्थिति होगी, वहीं 'लिंगी' (अनमेय वस्त)की स्थिति होगी, यद्यपि इस कथनके अपवाद हो सकते है । महिम भड़के इन विचारोंपर नैया-यिक श्री शंककके 'अनुमितिवाद'का प्रभाव प्रतीत होता है। किन्त महिम भट्टसे सहमत होनेमे एक बडी कठिनाई यह है कि केवल स्थायी भावके अनुमान द्वारा रसध्वनिमें विलक्षण हृदयग्राहिता आ ही नहीं सकती, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान ही वह चमत्कारपूर्ण स्थिति पैदा कर सकता है। विभावादि तथा स्थायी भावको 'साधन' तथा साध्यके रूपमें सम्बन्धित मानना भी आपत्तिजनक है, क्योंकि विभावादिको रसका 'शापक हेत्र' नहीं माना जा सकता है। अनुमान वस्तुतः एक विशुद्ध मानसिक प्रक्रिया है, किन्तु वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति तर्काश्रित वौद्धिक प्रक्रिया नहीं मानी जा सकती। मावक 'रसिक' अथवा 'सहदय' ही एक अत्यन्त संशिष्ट रागात्मक प्रक्रिया द्वारा व्यंभ्यार्थको मनोगत करनेमे समर्थ होता है। निस्तन्देह महिम भड़के ध्वनिध्वंसका विवेचन वहुत ही विद्वत्तापूर्ण है, किन्त यह विरोध वहुत-कुछ विरोधके लिए ही किया गया था। 'व्यक्ति' अथवा व्यंजनाका विरोध करते हुए भी वे वस्तु, अलंकार एवं रसध्वनिके चमत्कारको मानते है, रसकी अभिव्यंजनाको भी वे वही महत्त्व देते है, जो ध्वनिसम्प्रदायके आचार्योंको मान्य था। यहा कारण है कि उत्तरध्वनिकालके आचार्योंमें उन्हे तथा आचार्य कन्तक-को कोई अनुगामी आचार्य न मिल सके और फलतः उनके सिद्धान्तोंको विकसित नहीं किया जा सका।

अभिनवग्रप्तके अनन्तर ध्वनिसम्प्रदायके प्रसिद्ध उन्नायकोंमें 'काञ्यप्रकाश'(रचनाकाल १०५०-११०० ई०-के बाद)के निर्माता कश्मीरी विद्वान् मम्मटका स्थान सर्वोपरि है। नाट्यशास्त्रको छोड़कर अन्य सभी काव्यशास्त्रीय मत-मतान्तरोका सारांचा मम्मटने अपने ग्रन्थमें यथास्थान देनेका यत्न किया है। उनके यन्थकी सबसे महत्त्वपर्ण विशेषता यह है कि उसके विवेचन अत्यन्त पूर्ण और विशेद होनेके साथ ही बहुत ही संक्षिप्त है। 'काव्यप्रकाश' अद्याविष, निर्विवाद रीतिसे काव्यशास्त्रको एक आदर्श पाठ्यपुस्तक, माना जाता है। उसने सभी परवर्ती आलोचकोको प्रेरणा प्रदान की है। ध्वनिसिद्धान्तके व्यवस्थित स्थिरीकरणका पूरा श्रेय इसी कृतिको प्राप्त है। सिद्धान्ततः मम्मट ध्वनिवादी है, फिर भी अन्य मतावलम्बी आचार्योके मतोको भी उन्होने यथास्थान समाहत किया है, यद्यपि ऐसा करनेमे उन्हे कभी-कभी विशेष कठिनाईका सामना करना पड़ा है। काव्यकी परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि कान्यके शब्दो तथा अथींमे दोष न होने चाहिये, यद्यपि गुण अवस्य होने चाहिये, अलंकार चाहे कहीं-कहींपर न भी हो ("तददोषौ शब्दार्थी सग्रणानलंकती पुनः क्वापि")। इस परिभाषामे 'शब्द' और 'अर्थ'का उल्लेख स्पष्ट ही प्राचीन आचार्य भामह (ईसाकी सानवी शताब्दी)की परिभाषा 'शब्दाथों सहितौ प्रभाव सूचित करता है। आलोचकोने इस बातपर आश्चर्य प्रकट किया है कि ध्वनि और रसकी महत्ताको स्वीकार करते हुए भी मम्मटने इस परिभाषामे 'ध्वनि' तथा 'रस'का नामोल्लेखतक नहीं किया है, जब कि 'गुण', 'दोष' तथा 'ग्रलंकार'तकका नाम इसमें आ गया है। यह भी स्मरणीय है कि उन्होंने 'गुण' तथा 'दोष'का विवेचन स्वतन्त्र रीतिसे न करके उत्कर्षांपकर्षकी दृष्टिसे ही किया है। 'गुण'के सम्बन्धमें उनकी स्थापना है कि जिस प्रकार 'शौर्य' आदि गुण आत्मासे सम्बद्ध है, उसी प्रकार माधुर्यादिक गुण इसके धर्म है, रसके साथ उनकी अचल स्थिति हुआ करती है। काव्यालंकार शारीरिक आभूषणोंके समान 'काव्यशरीर'—शब्द और अर्थको चमत्कृत करते है। रसोपकारी होनेपर ही उनका महत्त्व है, अन्यथा वे उक्तिवैचित्यमात्र है। आलोचकोंकी धारणा है कि 'ध्वन्यालंक'के स्थापनाओं तथा प्राचीन आचार्योंकी मान्यताओमे एकस्त्रता लानेके प्रयत्नके कारण ही मम्मटकी परिभाषामें उपर्युक्त प्रकारकी विशेषताएँ आ गयी है।

'साहित्यदर्पण' (ईसाकी १४वी शताब्दी)के रचयिता विश्वनाथने मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यकी उपर्युक्त परिभाषा-की तीखी आलोचना की है। आनन्दवर्धनने रसध्वनिकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की थी, अभिनवग्रप्तने सर्वश्रेष्ठता ही नहीं, अनिवार्यता भी सिद्ध की थी, किन्त विश्वनाथने रसात्मक वाक्यको ही काव्यकी संज्ञा प्रदान की ('वाक्यं रसात्मकं कान्यम्')। वस्तुतः उन्होने अभि-नवगुप्तके आश्यको ही कुछ अधिक स्पष्टताके साथ प्रकट किया है। किन्तु ऐसा करनेमें उन्होंने वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनिको काव्यकी परिधिसे बाहर कर दिया। विश्वनाथने काञ्यके प्रथम दो भेदों-ध्वनि तथा गुणीभृत व्यंग्य-को ही मान्यता दी है और मम्मद द्वारा स्वीकृत चित्रकान्यको रसके अभावके कारण काव्यक्षेत्रसे बिहिष्कृत कर दिया है। रसात्मकताके विशेष आग्रहके अतिरिक्त विश्वनाथका मम्मटसे कोई विशेष मतभेद नहीं है और उन्होंने प्रायः 'काव्यप्रकाश'के मतोका ही समर्थन

पण्डितराज जगन्नाथने भी अपने 'रसगंगाधर' (१६४१-५० ई०)में 'काव्यप्रकाश'की परिभाषामें गुण, दोष और अलंकारके प्रयोगपर आपत्ति की है। उनके मतसे कान्य केवल शब्द और अर्थका ही द्योतन नहीं करता, वरन एक विशेष प्रकारके शब्द और अर्थको अभिन्यक्त करता है। विश्वनाथकी परिभाषा ('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्') भी उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि का॰यके व्यापक क्षेत्रमें सर्वत्र रसकी स्थिति नहीं हुआ करती है। जिस काव्यमें वस्त अथवा अलंकार ही व्यंजना है, उसे भी काव्य न माना जा सकेगा। अतः वे 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द'-('रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः')को ही काव्य मानते है। यह रमणीयता कान्यरसिकके हृदयमें तटस्थता एवं निस्संगताकी अवैयक्तिक स्थिति पैदा कर देती है और उसे अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। यही रसास्वादकी अलौकिक मनःस्थिति पैदा करती है। रमणीयताकी दृष्टिसे ध्वनि भी समाद्दत की जाती है। पण्डितराजने काव्यका चत्विंधि विभाजन किया है-उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम । जगन्नाथका पहला वर्ग 'ध्वन्यालोक'के उत्तमकाव्य-(ध्वनिकाव्य)के समानान्तर है और इस ध्वनिको उन्होंने

'परम रमणीय' बतलाया है। विस्तारोंमे उनका ध्वनिका वर्गीकरण परम्परागत है। द्वितीय वर्ग 'उत्तम काव्य'के अन्तर्गत 'ध्वन्यालोक'के गुणीभूत व्यंग्यको रखा गया है। 'ध्वन्यालोक'की भॉनि गुणीभूत व्यंग्यको वे मध्यम काव्यकी संज्ञा देनेको प्रस्तुत नहीं है क्योंकि वाच्यार्थकी समकक्षतामे व्यंग्यार्थिके गौण हो जानेपर भी काव्य चमत्कारकारी हो सकता है। अतः 'मध्यम'की संज्ञा देकर उसकी महत्ताको गिरा देना युक्तिसंगत नही है। तीसरी (अर्थात् उनके मतसे मध्यम) श्रेणीके कान्यमें पण्डितराज उस कान्यको रखते है, जहाँ व्यंग्यकी अपेक्षा वाच्यार्थका चमत्कार स्पष्ट रीतिसे उत्कृष्ट हो। चतुर्थ (अथवा अधम) श्रेणीके काव्यमें वह काव्य आता है, जिसमे शब्दचमत्कारका प्राधान्य हो और अर्थचमत्कार शब्दचमत्कारको सुशोभित करता हो। उनका यह भी कहना है कि अर्थकी रमणीयतासे सर्वथा रहित शब्दचमत्कृति प्रस्तुत करनेवाले एकाक्षरी छन्द, पन्नबन्ध आदिका एक पाँचवाँ भेद (अधमाधम काव्य) भी माना जा सकता है और प्राचीनोके काव्यमें इनकी स्थिति भी पायी जाती है, किन्तु रमणीय अर्थकी कसौटीपर खरा न उतरनेके कारण वे उसकी स्थापना यक्तिसंगत नही समझते। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, 'ध्वन्या-लोक'के ध्वनि(उत्तम)काव्यको उन्होने उत्तमोत्तम काव्य माना है। 'ध्वन्यालोक'के शेष दो नेदों-एणीभुनव्यंग्य तथा चित्रकाव्य-को उन्होंने तीन वर्गीमें विभक्त किया है। उनका यह प्रयास बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है। उनका काव्यलक्षण अत्यन्त व्यापक, तर्कानमोदित और बोधगम्य है। ध्वनिसिद्धान्तका मूल रूप उन्हें मान्य था, पर वे अन्धानुसरण करनेवाले न थे। अधिकारी आलोचकोने उन्हे प्रथम श्रेणीका आचार्य माना है। अपनी स्वतन्त्र चिन्तनशक्ति एवं असाधारण प्रतिभाके बलपर उन्होने ध्वनिको एक नये रूपमें समझने-समझानेका अद्भुत प्रयत्न किया, क्योंकि आचार्य मम्मटके कान्यलक्षणसे उन्हें सन्तोष न था। साहित्यदर्पणकारके समान उन्होंने ध्वनिके दो रूपों (वस्त और अलंकार)को कान्यक्षेत्रसे बहिष्कृत नही कर दिया और साथ ही रसकी सर्वश्रेष्ठताको भी उन्होने सरक्षित रखा। वक्रोक्ति तथा अर्थचमत्कृति उपस्थित करनेवाले अलंकारोंको भी उन्होंने काव्यकी परिधिके भीतर ही अधिक युक्तिपूर्ण रीतिसे प्रतिष्ठित किया। सच तो यह है कि मूल ध्वनि-सिद्धान्तको सुरक्षित रखते हुए भी उन्होंने उसे नयी व्यवस्था प्रदान की और अपने काव्य-लक्षणके भीतर संस्कृत काव्य शास्त्रसम्बन्धी सभी सिद्धान्तोको व्यवस्थित रीतिसे प्रतिष्ठित कर दिया, ताकि वे ध्वनिसिद्धान्तके अंग-से ही जान पड़ें।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्यमें भी ध्वनिसिद्धान्तकी यित्किचित् चर्चा होती रही। हिन्दीमें रीतिकालके बहु-संख्यक आचार्य सिद्धान्ततः रसवादी थे। उन्होने मुख्यतया उत्तर-ध्वनिकालके उन संस्कृत आचार्योंसे प्रेरणा ग्रहण की थी, जिन्होंने शृंगार रसपर विशद विवेचन प्रस्तुत किये थे। यही कारण है कि हिन्दी रीतिकारोंने शृंगार रस—विशेषतया उसके आलम्बन विभाव (नायक-नायिका-भेद) तथा उद्दीपन विभाव (षड् ऋतु वर्णन)—पर ही अपनी दृष्ट

केन्द्रित की। दूसरा विषय अलंकारोंका था, जिसने बहुतेरे रीतिकारोंको आकर्षित किया था। रीतिकारोंकी तीसरी परम्परामें उन थोडेसे प्रत्यकारोंका उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने ध्वनिसम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठापित व्यापक काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोणका अनुगमन किया था। इस वर्गके अन्तर्गत निम्नलिखित आठ प्रन्थोंका उल्लेख किया जा सकता है—१. कुलपित मिश्र: 'रसरहस्य' (१६७० ई०), २. कुमारमणि मिश्र: 'रसिक रसाल' (१७१६ ई०), ३. श्रीपित: 'काव्यसरोज' (१७२० ई०), ४. सोमनाथ: 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०), ५. देवदत्त: 'काव्यसपायन' (लगभग १७४३ ई०), ६. मिखारोदास: 'काव्यनिर्णय' (१७५० ई०), ७. सूरित मिश्र: 'काव्यसिद्धान्त' (लगभग ई० १८वी शताब्दीका मध्य)।

इन सभी यन्थोंका विषय-विवेचन मुख्य रूपसे मम्मटके 'काव्यप्रकारा' तथा विरुवनाथके 'साहित्यदर्पण'पर आधारित है। इन दो ग्रन्थोसे भी उपर्युक्त लेखकोका बहुत घनिष्ठ परिचय न था-जिटिल एवं उल्झेन पैदा करनेवाले विषयों-का नामोल्लेखमात्र करके वे आगे वढ जाते हैं। उनकी परिभाषाओं मे वह स्पष्टता, सूक्ष्मता तथा कसावट नहीं है, जो शास्त्रीय विषय-विवेचनके लिए नितान्त आवश्यक होती है और जिसके अभावमें अध्येता मूल विषयको सम्यक रीतिसे नहीं समझ पाता है। इस दिशामें भिखारीदासको अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है, किन्तु उनके लक्षणोमे भी अपूर्णता एवं भ्रामकता सहजमे ही खोजी जा सकती है। उदाहरणार्थ, लक्षणाकी परिभाषा दासजी इस प्रकार देते है--"मुख्य अरथको वाध करि सब्द छच्छना होत। रूढि और प्रयोजनवती है लच्छना उदोत" (का० नि०, पृ० १९)। जब कि 'काव्यप्रकाश'मे उसकी परिभाषा यह है—"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात । अन्यो-Sथीं लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया" (का॰ प्र॰, २: १९)। दासजीने केवल मुख्यार्थके वाधकी बात कहकर परिभाषाको चलता कर दिया है— "प्रयोजन अथवा रूढिके कारण मुख्यार्थसे सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ लक्षित कराती है, उस आरोपित कियाको लक्षणा कहते है" आदिको वे छोड ही गये । अतः इस कोटिके यन्थोको आदर्श पाठ्यपस्तक होनेका श्रेय भी नही दिया जा सकता है। इसी प्रकार विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनिके इस लक्षण—"कहे विवक्षितवाच्य धुनि, चाह करे किह जाइ। असंलच्छकम लच्छकम, होत भेद है ताइ" (का० नि०, पृ० ११८) से भी वर्ण्य विषयके प्रति लेखकके अनुरागकी व्यंजना स्पष्ट ही हो जाती है। 'कान्यरसायन'मे देवने यह स्थापना की है कि प्रत्येक शब्दार्थमें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्दशक्तियोंकी स्थिति रहती है। अतः उन्होंने इन तीनों वृत्तियोंके अनेक मिश्रित भेद बना डाले हैं। विचारणीय यह है कि लक्षणाकी स्थिति सर्वत्र कैसे हो सकती है? उसके लिए मुख्यार्थ बाधित होना आवश्यक है और क्या मुख्यार्थकी बाधा सर्वत्र ही हो सकती है ? इस विलक्षण स्थापनाके कारण देवका विवेचन बहुत ही भ्रामक हो गया है।

इन कठिनाइयोके कारण हिन्दी रीतिकारोके विवेचन वहुत ही ब्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः न तो उनमे शास्त्रकारोंकी-सी प्रतिभा थी और न उनके पास शास्त्रकारोंकी शैली ही थी। उनके लक्षण दोहोमें लिखे गये है और उनके साथ गयमय विवेचनकी कोई परम्परा न थी। सच तो यह है कि उनके आचार्यत्वका व्यक्तित्व आरोपित-सा जान पडता है। वे प्रधानतया कि ही थे और उनका सारा ध्यान काव्य-रचनामे ही संलग्न था। निस्सन्देह उनके अधिकांश उदाहरण बहुत ही मौलिक और ममंस्पर्शों है और इस क्षेत्रमे उन्हे बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। इसकी महत्ताको देखते हुए उनके सैद्धान्तिक पक्षकी न्यूनताके दोषका बहुत-कुछ परिहार हो जाता है।

सिहायक प्रनथ—पी० वी० काणे : द साहित्य-दर्पण आॅव विश्वनाथ, तृ० संस्करण १९५१ ई० (भूमिका); एस० के० डे : द हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयेटिक्स, भाग २ (१९२५ ई०); के० सी० पाण्डे : कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, (१९५० ई०); विक्वेश्वर तथा नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक (१९५२ ई०); अनु० हिरिमंगल मिश्र : कान्यप्रकाश (सं० २००० वि०); शालिग्राम शास्त्री : विमलाविभूषित साहित्यदर्पण (सं० १९९१ वि०); नगेन्द्र : देव और उनकी कविता तथा रीतिकान्यकी भूमिका (१९४९ ई०); भगीरथ मिश्र : हिन्दी कान्यशास्त्रका इतिहास ।]—उ० शं० शु०

ध्वतिसंयोजक-दे० 'रेडियो नाटक'। ध्वनिसंसृष्टि-ध्वनिके विभिन्न भेदोपभेद जहाँ परस्पर एक-दूसरेसे मिले-जुले न होकर 'तिल-तन्दुल-न्याय'से स्वतन्त्र रीतिसे पृथक-पृथक स्थित हों, वहाँ ध्वनियोंकी संसृष्टि मानी जाती है। "हे अभावकी चपल बालिके, री ललाटकी खल लेखा। हरी-भरी-सी दौड-धूप, ओ जल मायाकी चल रेखा" ('प्रसाद'), इन पंक्तियोंमे तीन स्थलीपर लक्षणा-मूला ध्वनि स्वतन्त्र रीतिसे स्थित है—'चपल वालिका', 'ललाटकी खल लेखा' तथा 'जल-मायाकी चल रेखा'में साध्यवसाना लक्षितलक्षणाकी सहायतासे चिन्ताकी उत्पत्ति, उसके दृष्ट स्वरूप तथा उसकी अतिशय चंचलताकी व्यंज-नाएँ हो रही है। -- उ० शं० श्र० नकारवाद-इस दृष्टिकोणके अनुसार समस्त जगत्, जीवन, आदर्श और मूल्य निरर्थक, संयोगज तथा निस्सार है। जीवन दोक्सपीयरके शब्दोंमे, एक जड मूर्ख द्वारा कही हुई कहानी है, जिसमे गर्जन-तर्जन तो बहुत है, लेकिन जिसमें सार कुछ भी नहीं है। जो लोग इतिहासमें किसी भी अभिप्राय अथवा आदर्शकी अभिन्यक्ति नहीं मानते, उन्हे ऐतिहासिक नकारवादी कहा जाता है। इन लोगोंका मत है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ऐसे कारणोंसे हुई है, जिनकी अपने लक्ष्य और उद्देश्यका कोई भी ज्ञान नहीं था। मानवीय अभियान अणुओंके आकिस्मक संयोगसे प्रति-फिलत हो गया है। अतः इसी प्रकार, मानवताने जो उन्नति और सफलताका भवन निर्मित किया है, वह एक

दिन नष्ट-भ्रष्ट सृष्टिके खँडहरोमे दव जायगा। इस तरह मनुष्य तथा उसकी प्रगति और इतिहासके सम्बन्धमें यह

एक अत्यन्त निराज्ञावादी, हासोन्मुख और रुग्ण दृष्टिकोण

है। अधिकांच तत्त्ववेत्ताओं और इतिहासके दार्शनिकोका ऐसा मत नहां है। ——आ०

नवशबंदी-दे॰ 'सूफी-सम्प्रदाय'।

नचारी-विहारके मिथिला जनपद तथा वहांके प्रभावसे अन्यत्र भी प्रचलित शिवभक्ति अथवा शिवोपासनापरक गीतोंको 'नचारी' कहा जाता है। ये गीत बहुधा मिक्त-भावनाकी तरंगमे नाचकर गाये जाते है। नाचना क्रियासे ही इसकी शाब्दिक न्युत्पत्ति बतायी जाती है। 'नचारी' नामक गीत मिथिलामे बहुत लोकप्रिय हुए है। मैथिल साध अथवा भिखमंगे इन गीतोंको गाकर भिक्षार्जन करते है। मैथिल स्त्रियाँ विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों-पर 'नचारी'का उपयोग हास्य तथा व्यंग्य गीतोके रूपमें करती है। 'मैथिल कोकिल' विद्यापतिने बहुत-सी नचारियाँ लिखी थी। उनकी इस शैलीकी अनेक रचनाएँ अभी लोक-जीवनमें ही प्रचलित है और इनका संकलन तथा सम्पादन ठीक तरहसे नहीं हो पाया है। विद्यापतिकी पदावलीसे इस कोटिकी एक रचना आंशिक रूपमें द्रष्टव्य है-"क्खन हरव दुख मोर हे भोलानाथ। दुखहि जनम मेल, दुखिह गमाएव, सुख सपनहुँ नहि भेल, हे मोलानाथ"।

नज़्म — नज्म शब्दका अर्थ किवता है। उर्द् काव्यके समस्त स्पोंको नज्म कहा जा सकता है, विशेषकर इसका प्रयोग उन किवताओं के लिए होता है, जो किसी एक विषयपर हों। इसका प्रचलन उर्दू काव्यमें शुरूते ही मिलता है। गोल-कुण्डाके राजा सुलतान मुहम्मद कुली कुतुवशाह (१५८०-१६११ ई०)के दीवानमें भी वसन्त, नौरोज, ईद, दीवाली आदिपर नज्में है। परन्तु अंग्रेजी राज्यसे पहले काव्यका यह रूप चमक नहीं सका। उत्तरी भारतमें केवल 'नजीर' अकवरावादीने इस तरफ अधिक योग दिया। नज्मका असली रंग उन्नीसवी शताब्दीके अन्तिम चरणमें उभरना शुरू हुआ।

महम्मद हुसैन 'आजाद'ने कर्नल हालरायडकी मददसे १८६७ ई०में यह कोशिश शुरू की कि ऐसे मुशायरे होने लगे, जिनमे मिसरा तरहके बजाय किसी विषयपर नज्मे लिखी जायँ। उनकी यह कोशिश सन् १८७४मे कामयाव हुई, जब 'अंजुमने उद्''की ओरसे लाहौरमें नियमित रूपसे इस तरहके मुशायरे होने लगे और लोग तरह-तरहके विषयोंपर नज्में लिखने लगे। ये नज्में ज्यादातर वर्णनात्मक होती थीं। कांग्रेसका संघटन और हिन्दुस्तानियोंमे राज-नीतिक चेतनाके विकास तथा अंग्रेजी शिक्षाके प्रसारसे अधिकांश लोग नज्में लिखने लगे। आजादके अलावा 'हार्ला', 'दुर्गासहाय सुरूर', 'अख्तर शिरानी', 'ज्वाला-प्रसाद बर्क', 'इक्नबाल', चक्नबस्त, अक्नबर, 'जोश', 'हफीज' 'मजाज', 'सरदार जाफरी', 'फैज' तथा साहिर आदिने इस रूपमें उर्दू -कान्यको सम्पन्न किया और उसमें राजनीति, रोमांस, सामाजिक आलोचना, वर्गसंघर्ष आदि विषयोंको शामिल किया।

आधुनिक नज्मोको तीन मोटे-मोटे भागोंमे विभाजित किया जा सकता है: (१) वे नज्में, जो मानव-प्रेमका गीत गाती हैं। साथ-ही साथ प्रेमी तथा प्रेमिकाके मिलनमे जो

रुकावरें उत्पन्न होती है और इन स्थलोपर जो भावनाएँ हृदयमे उठती है, उनके चित्रणमे अस्तर 'शिरानी' तथा 'हफीज जालन्धरी' बहुत दक्ष है। (२) ऐसी नज्मे, जिनमे कवि अपने देशमे होनेवाले अत्याचारोंका वर्णन करता है, उन अग्रेज शासकोंकी क्र्रता एवं वर्वरताकी कहानी दोह-राता है, जो देशको बरी तरह छूट रहे है। कवि उनसे असन्त्रष्ट होकर इनकिलावकी आकांक्षा करता है और स्वदेशियोमे 'स्वदेश-प्रेम'की भावनाको उद्दीप्त करता है। इस प्रकारकी नज्में लिखनेवालोंमे 'इकबाल', 'चकबस्त' तथा 'जोरा' आदि है। (३) वे नज्में, जिनसे नाना प्रकारकी समस्याओंपर प्रकाश पडता है। कभी कवि समाजके सदस्योंकी असमानतापर खूनके ऑमू रोता है तो कभी समाजके अन्दर शिक्षाके अभावके कारण फैले हुए अन्ध-विश्वासोंको दूर करनेकी आवाज लगाता है, कभी वह धर्मके ठेकेदारोकी खबर लेता है, जो अपनेको ही भगवान और अलाहका सबसे बड़ा सेवक समझते है, कभी पूँजीपति तो कभी रोज धर्मके नामपर होनेवाले ढंगे उसकी नज्मोंका विषय बननी है। कहनेका तात्पर्य यह कि आधुनिक युगकी सारी समस्याएँ नज्मोका विषय बनी हुई है। कवि न केवल इन समस्याओका वर्णन ही करता है, वरन् इनके हल-के लिए अपने सुझाव भी प्रस्तुत करता है। आधुनिक कालमें इस प्रकारकी नज्में लिखनेवाले 'जोश', 'सरदार जाफरी', 'फैज' तथा 'साहिर' आदि बहुन प्रसिद्ध है।

इन नज्मोने उर्दू-काव्यको उच्च विचार तथा उच्चकोटिको भावनाएँ प्रदान की। स्वदेशी एवं अन्तरराष्ट्रीय समस्याओपर राय देनेके साथ-साथ कवियोने दर्शन शास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदिके दृष्टिकोणसे समाज और वैयक्तिक जीवनपर प्रकाश डाला है और उसे नवीन युगकी आत्माका बीध कराकर समृद्ध किया है।

फारसीके आधारपर उर्दू-काव्यमे 'मुसम्मत'के नामसे ऐसे रूप मौजूद थे, जिनमे नज्में लिखी जा सकें। लोगोंने कभी-कभी इसका भी प्रयोग किया। जब नज्मोंका रिवाज हुआ तो मिसरोंके तारतम्यको परिवर्तित करके अपने-अपने ष्टिकोणसे शायरोने नज्में लिखी। आजकल नज्म उर्दू-काव्यकी प्रमुख शाखा है। नट-नाटक-रूपकादिमें अनुकार्य(ऐतिहासिक पात्र)का रूप धारणकर उनकी अवस्थाओंके अनुकरण करनेवाले व्यक्तिको नट कहते है। इस प्रकार नट अभिनेता होता है और नाट्य करता है। रंगशालाके व्यवस्थापक सूत्रधार तथा वस्तुकी स्थापना करनेवाले स्थापकको भी नट कहा जाता है, जो नाट्यकी समस्त विधियों और रीतियोमें पारंगत होता है। इसके अतिरिक्त नट एक प्रकारकी जाति भी होती है, जो गानों, आंगिक व्यायामों और ऊँचे-ऊँचे बॉसों, रस्सियोंपर चढ़नेके खेलों द्वारा अपनी जीविका कमाती है।-वि० रा० नटवा-जाति-विशेषका गीत । नटोंकी एक जाति होती है, जो गॉवमें घूम-घूमकर शारीरिक व्यायाम और तत्सम्बन्धी अन्य कळाबाजियोंका प्रदर्शन करती है। उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध है; जो पुरुषों और महिलाओं, दोनोंके द्वारा गाया जाता है। प्रायः ढोलक और नाचके साथ ही इसे गाते है। —र० भ<u>्</u>र०

सौन्दर्य-बोधकी दृष्टिसे नयी कविता सौन्दर्यको यथार्थसे पथक वस्त नहीं मानती। यथार्थका क्रियाशील(dynamic) तत्त्व गौन्दर्यके आयामोंको निर्धारित एवं परिमार्जित करता रहता है। यथार्थहीन सौन्दर्य, निरपेक्ष सौन्दर्य या सन्दर्भहीन सौन्दर्य-बोध, जिसमे भक्त क्षणोकी सार्थकता और नितान्त समसामयिकताका आग्रह नहीं है, वह कही-न-कही मानवदृष्टिको क्रिण्ठित एवं विकृत भी करता है। अस्तु, नयी कविताका आग्रह सौन्दर्यके प्रति नहीं है, जो मात्र अलौकिक या अरहयके संयम-नियमसे शासित होकर व्यक्त होता है। यही कारण है कि नयी कविताके लिए यथार्थसे विकसित हुई वह तथाकथित विकृति भी महत्त्वपूर्ण है और अपने आग्रहपूर्ण अस्तित्वसे नये कविके भाव-बोधको प्रभावित करती है। यही कारण है कि नयी कविताका सौन्दर्यवाद बौद्धिक अनुभृति और बुद्धिवादको भी स्वीकार करता है। इस बुद्धिवादके साथ-साथ नयी कविताका आग्रह भुक्त क्षणोंकी आस्थामें होनेके नाते सौन्दर्यको भोगने और उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियोको स्वीकार करनेमे भी व्यक्त हुआ है। प्रयोग इसी सौन्दर्यानुभूतिके स्तरपर उसके भावबोधको वहन करनेकी क्षमताके साथ स्थापित हुआ है। जब यह कहा जाता है कि नयी कविता भक्त क्षणोकी सत्ताको स्वीकार करती है और उपलब्धियोंको अंगीकार करती है तो इसका आश्य यह है कि वह उस सहानुभूतिसे द्रवित है, जिसमें विवेचन-विश्लेषणके साथ-साथ बौद्धिक सहानुभूति भी शामिल है। प्रस्तुत कारणोसे ही नयी कविता कुछको चौकानेवाली लगती है और कुछको मात्र चमत्कारिक लगती है, कुछको उसमे रसहीनताका आभास मिलता है और कुछ मात्र विकृतियोतक उसके भावको सीमित कर पाते है। वे उन नये तत्त्वोको नहीं देख पाते, जो आजकी मानव अनुभृतियोके साथ उनके परिवेशमे विद्यमान है और जिनके प्रति उसका दायित्व है।

परिवेशके महत्त्वपूर्ण दायित्वके प्रति नयी कविताका हिष्टकोण दो विचारोसे प्रभावित है। सर्वप्रथम तो नितान्त समसामयिकताको हिष्टसे और दूसरे अस्तित्वपूर्ण क्षणके प्रति जागरूक चेतनाकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्तिको हिष्टसे। समसामयिकताको दायित्वका निर्वाह करनेके लिए यह आवश्यक है कि कविके अन्दर आधुनिकताको प्रति एक वैज्ञानिक हिष्टको साथ-साथ 'लघु मानव'के लघु परिवेशको आस्था भी हो। नितान्त समसामयिकताका उद्देश्य यह है कि कविकी उस अनुभूतिका भी महत्त्व स्थापित हो, जो वह भुक्त क्षणोंके साथ-साथ उपलिचके रूपमें पाता है, अहण करता है। आधुनिकता जिस परिवेशका निर्माण करती है, समसामयिकता उस परिवेशको प्रति व्याप्त जागरूकताको क्रियाशीलना प्रदान करती है।

अस्तु, नयी कविताका आग्रह जिस विशेष तत्वपर है, वहं उस मानविन्यक्तित्वको स्थापना और उसकी उपयो-गितासे विकसित होता है, जो समस्त विद्रूपनाओं और कड़ताओंके बावजूद मनुष्यको उसकी मूल मर्यादाके प्रति, निजत्व और अस्तित्वके प्रति जागरूक रखना चाहता है। यह आग्रह निरा कपोल-किएपत नहीं है, वरन् इसके पीछे समस्त मानव-चेतनाका वह अनुभव है, जो एक सीमापर यथार्थको पकड़ना चाहता है, किन्तु जो उसको कुण्ठाका साधन न बनाकर सम्पूर्ण चेतनाको वास्तविकताके सन्दर्भमे प्रस्तुत करनेका अधिक सद्यक्त माध्यम रहा है। देश-कालको गतिके अनुसार नयी कविताको अनुभूति-शक्ति इसीलिए और भी उत्तरोत्तर विकसित हो रही है, क्योंकि आजके यथार्थ जीवनके बाह्य और आन्तरिक सत्योके साथ वह अधिक भाव-किग्ध और स्वपरिचित हो पाती है। छायावादको भाँति इसमें वस्तुस्थितिमे पलायनकी प्रवृत्ति न होनेके नाते यह आजकी मानसिक स्थितिको अधिक प्रतिबिभ्वित करती है। ठीक उसी प्रकार प्रगतिवादके मतप्रधान काव्यको होन और संकीर्ण मनोवृत्तिसे पृथक् वह यथार्थको गतिशोलताको अंगीकार करके दिग्झमित नहीं होती। यही कारण है कि वह अपनी विधिताके बावजद विकास पा रही है।

वर्तमान स्थितिमें नयी कविताके प्रति जो आरोप लगाया जाता है, उसमें यह कहा जाता है कि यह मात्र वैयक्तिक और एकांगी मतवादी कविता है, जिसमे साहित्यिक मर्यादाओका और परम्पराओंका उल्लंघन करके केवल व्यक्तिगत सीमाओंको ही स्वीकार किया जाता है। नयी कविताके विरोधमें प्रस्तुत की गयी इन आलोचनाओं-का उत्तर स्वयं आजकी नयी कविताके भाव-क्षेत्रका विस्तृत रूप है, जो एक साथ और एक गतिसे विभिन्न भाव-स्तरोपर अभिन्यक्ति पा रहा है। नयी कविता आज जिस मोड़पर है, उससे यह आशा की जाती है कि वह शीघ्र ही उन प्रतिमानो और आधारोंको विकसित करनेमे समर्थ होगी, जिससे उसके विखरे हुए स्वर और अनुभृतियाँ एकत्र होकर उसके मूल्यो और मानव-आस्थाओको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ होगी । नयी कविताका विश्वास किसी मतवादकी अपेक्षा मानव-सन्दर्भमें उस व्यक्तिकी जागरूकता-में है, जो अभीतक उपेक्षित अथवा वंचित रहनेके कारण अपनी किसी भी अनुभृतिको व्यक्त करनेमे असमर्थ था।

र्नियी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ पाँच प्रकारोंमें विभाजित की जा सकती है। पहली प्रवृत्ति यथार्थवादी अहंवादकी है, जिसमें यथार्थकी स्वीकृतिके साथ-साथ कवि अपने अस्तित्वको उस यथार्थका अंश मानकर उसके प्रति जागरूक अभिन्यक्तियाँ देता है। दूसरी प्रवृत्ति न्यक्ति-अभिन्यक्तिकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, जिसमें अत्मानुभृतिकी समस्त संवेदना-को बिना किसी आग्रहके रखनेकी चेष्टा की जाती है। तीसरी प्रवृत्ति आधुनिक यथार्थसे द्रवित व्यंग्यात्मक दृष्टिकी है, जिसमें वर्तमान कद्वताओं और विषमताओंके प्रति कविकी व्यंग्यपूर्ण भावनाएँ व्यक्त हुई है। चौथी प्रवृत्ति ऐसे कवियोंकी है, जिनमें रस और रोमांचके साथ-साथ आधनिकता और समसामयिकताका प्रतिनिधित्व सम्पर्ण रूपमें व्यक्त हुआ है। पॉचवी प्रवृत्ति उस चित्रमयता और अनुशासित शिल्पकी भी है, जो आधुनिकताके सन्दर्भमे होते हुए भी समस्त यथार्थको केवल विम्बात्मक रूपमे ग्रहण करता है। यथार्थवादी अहंवादके कवियोमे 'अज्ञेय', गजानन मुक्तिबोध, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना इत्यादि-की रचनाएँ आतो है। व्यक्ति-अभिव्यक्तिकी प्रवृत्ति प्रभाकर माचवे और मदन वात्स्यायनमे है, रस रोमांच और यथार्थका संकेतरूप गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन और धर्मवीर भारतीमें है। आधुनिक यथार्थसे द्रवित व्यंग्यात्मक प्रवृत्तिके अन्तर्गत लक्ष्मीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर-द्याल सक्सेना, भवानीप्रसाद मिश्र और विजयदेवनारायण साद्योंकी रचनाएँ आती है। चित्रमयता और अनुशासित शिल्पके अन्तर्गत जगदीश ग्रुप्त, केदारनाथ सिंह और शमशेरवहादर सिंहकी रचनाएँ प्रस्तृत होती है।

आज जिस स्थितिमें नयो कविताकी नवीनतम प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही है, उसमे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि आजका नया कान्य-नोध एवं उसके सन्दर्भमे विकसित नयी कान्य-रौली, दोनोंका ही आग्रह विशिष्टताको स्थापित करना चाहता है। वह सामान्य अनुभूतियोंकी वास्तविकतासे ओत-प्रोत होते हुए उस न्यापक मानवताके प्रति आस्थावान् है, जो समूह-मानव और समूह-चेतनोंके आतंकमे आजतक केवल अपनी लघुताका अनुभव करती रही है, किन्तु उस लघुताको अर्थ देने औद उसकी सत्ताको स्वीकार करनेमे जिसे भय और संकोच, दोनो ही मालूम होता था। इसीलिए नयी कविताकी मूल अनुभृति भी वौद्धिक और विवेकमय है (दे० 'प्रयोगवाद', 'प्रयोगयुग')

सिहायक ग्रन्थ-'नयी कविता' १, २, ३; नयी कविताके प्रतिमान : लक्ष्मीकान्त वर्मा : हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी ।] —ल० कां० व० नरंगफल, नरंगफल-पुत्रजन्मके छठीके अवसरपर दिन गाया जानेवाला एक कथा-प्रधान गीतः जचाके विभिन्न गीतों में से एक: इसमें पति अपनी गर्भिणी स्त्रीकी 'दोहद-कामना'की पूर्तिके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता है और सफल होता है; ब्रजलोकमें प्रचलित है। नर्तनक -- उपरूपकका एक भेद विशेष । इसका सर्वप्रथम उल्लेख भावप्रकाशन (शारदातनय)म हुआ है। उसके अनुसार जब कोई नर्तकी लयसे युक्त ललितपदार्थाभिनय फरती है, तब नर्तनक होता है। 'नाट्यदर्पण'मे भी इसकी लक्षणकी पुनरावृत्ति हुई है। उसमें इस नर्तनकको तीन प्रकारका बताया गया है-लास्य, शम्या तथा द्वलित। इ.म्या किन्नरविषयक लास्य नृत्य है। द्वलित शृंगार एवं वीररसमे युक्त होना चाहिए तथा लास्यमें मात्र शृंगार रस ही रहता है। इसमे गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ, मागधी तथा शौरसेनी भाषा, उत्तम तथा अधम नायक एवं भारती तथा आरभटी वृत्तिका प्रयोग होना चाहिए। उदा० 'नृसिंह विजय'। --यो० प्र० सि० नर्मसचिव (नायक) - नायकके सहायकोंका विभाजन 'अग्निपुराण', 'काव्यालंकार' तथा 'शृंगारतिलक'से प्रायः बराबर मिलता रहा है। नर्मका अर्थ है आनन्दोल्लास, रतिविलास तथा हास। नायकके ये सहायक शृंगार रसके प्रसंगमें आते है। इनको नायकके सहायक अथवा हीनपात्र भी कहा गया है। शारदातनयने कामसचिव और वागभट दितीयने अनुचर माना है तथा अनुचरके अन्तर्गत नर्म-सचिवको एक भेद स्वीकार किया है। हिन्दीमें सर्वप्रथम सुन्दर तथा तोषने इनका उल्लेख किया है। प्रधान आचार्यों में देव और पद्माकरने इस विभाजनको प्रस्तुत

किया है । पीठमर्द-प्रचलित विभाजनका प्रथम भेद ।

भानुदत्तके अनुसार-स्त्रीको प्रसन्न करनेवाला सखा पीठ-

मर्द कहलाता है 'क्रिपितस्त्रीप्रसादकः', अर्थात् क्रिपित (र० मं०, पृ० १८५) । पद्माकरके अनुसार 'मोचै मान तियानको' पीठमर्द होता है। देव इसका चित्रण करते है—"सोर करै सब ओर अलीगन कोप कठोर हिये अजहूँ है। देखी ज बुझ मने अपने हुँ को ऐसो समी सपने हूँ कहं है" (भा० वि०: नायक०)। विर-प्रचित विभा-जनका दूसरा भेद है। भानुदत्तके अनुसार-- कामतन्त्र-कलाकोविदः', अर्थात् कामशास्त्रकी कलाओंमे निपण विट कहलाता है (र० भं०, पृ० १८६)। देवके अनुसार-"वचन चातरीको रचै जानै सकल कलानि" और पद्माकर-ने साथ ही उसे 'दुहुने मिलावैमै चतुर' भी कहा है (जगद्वि०, २:८)। पद्माकर सखाकी चतुराईकों इस प्रकार व्यक्त करते है--"कोिकल-कोिकल कैसी कुहू-कुहू कोेमल कोककी कारिका भाखी। रूसि रही बृजवालाके सामुहे आइ रसालकी मंजरी राखी" (वही : वही ९) । विद्धक-प्रचलित विभाजनका एक भेद । भानुदत्तने इसे 'अंगादि-वैक्रत्येहीस्यकारी', अर्थात् अंगादिको विकृत करके हास्यकी सृष्टि करनेवाला सखा कहा है (र० मं०, पृ० १८८)। देवने इसे "अंग भेष भाषानुकारी करै अन्यथा भाइ" कहा है, पर पद्माकरके अनुसार—"स्वॉग ठानि ठानै ज कछ हॉसी वचन विनोद" करनेवाला विदूषक है। देवका विदूषक नायिकाकी हॅसी करता है—''मेरो कह्यो किन मानती मानिन आपुहिते उतकी उनिरोगी। भौनके भीतर हीं भ्रम भोरी लों बौरी लों नैक में दौरी फिरौगी"। चेटक-सर्वप्रथम भोजने अपने विभाजनमे इस भेदको जोड़ा है। भानदत्तके अनुसार—'सन्धानचतुरइचेटकः', अर्थात् नायक नायिकाको मिलानेमें जो चतुर है, वह चेटक कहलाता है (र० मं०, पू० १८७)। पद्माकरने भी यही स्वीकार किया है 'दुहुन मिलावेमे चतुर'। उदा०---"उतन ग्वालि तू कित चली ये उनये घनघोर। हो लखि आयो तब घरै पैठत कारो चोर" (पद्माकर: जगद्वि०, २: १२) ।

नवजागरण-१४ वी शतीके आते-आते यूरोपमें प्राचीन रोमीय साम्राज्यके ध्वंससे उत्पन्न अन्यवस्था और गड़बडी शान्त हो चुकी थी। आक्रमणकारी त्यूतन जातियाँ पुरानी लातीनी जातियों द्वारा सुमंस्कृत, स्वधर्म(ईसाई धर्म)मे. दीक्षित और आत्मसात् कर ली गयी थी। उस समय यूरोपीय संस्कृतिमें एक नये जीवनका संचार हुआ था, जिसका वेग लगभग १६वी शतीतक बना रहा। यह युग, मोटे तौरपर, दो सौ वर्षों (१३५०-१५५० ई०)का माना जाता है। इस युगमें नये-नये अन्वेषण और आविष्कार हुए, धर्म और दर्शनका नया संस्करण किया गया, कला और विज्ञानकी नयी साधनाका समारम्भ हुआ, राजनीति और समाजन्यवस्थामे मौलिक क्रान्तिका सूत्रपात हुआ। पश्चिमी यूरोप-विशेषतया इटली, नेदरलैण्ड्स, स्पेन, फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड-एक नयी सांस्कृतिक चेतनासे अनुप्राणित हुआ, जिसका प्रथम उन्मेष इटलीमें देखनेको मिलता है। इस प्रकार यूरोपका एक प्रकारसे नया जन्म हुआ और इसी कारण उस युगको 'नवजनम' या 'पुनर्जनम'-के पर्यायभूत 'नवजागरण'या 'पुनर्जागरण' (रेनेसाँ)का अभिधान प्रदान किया गया है। 'नवजागरण'की करपनाके प्रचारका श्रेय इटलीके नयजागरणके प्रथम इतिहासकार वर्कहार्टको है, यचि 'रेनेसां' (नवजागरण) राब्दका प्रयोग सर्वप्रथम प्रसिद्ध फ्रान्सीसी इतिहास-दार्शनिक मिरोसेटने १९वी शतीके पूर्वार्द्धमें किया था।

'नवजागरण<sup>?</sup> शब्द यूरोपके मध्ययुग और आधुनिक यगके बीचकी संक्रान्तिकी अवस्थाका वाचक है। नवजागरण युग क्लासिकी (यूनानी-रोमीय) विद्याके पुनरुद्धार और प्रत्यावर्तन (रिवाइवल)का युग था । किन्तु पुनरुद्धार अथवा प्रत्यावर्तनमात्रको 'नवजागरण' समझ लेना भूल होगी। यह प्रत्यावर्तन वस्तुतः उस विशाल सर्जन-शक्तिका अभि-व्यक्तिविशेषमात्र था, जो उस समय पश्चिम यूरोपको नवनवोन्मेषशाली कर रही थी। नवजागरण-कालमें साम्राज्य-का अस्त और आधुनिक राष्ट्रीय राज्यकी परम्पराका उदय, सामन्तशाहीका हास और पूँजीवाद तथा उसके परिणाम-स्वरूप एक नये अवकाशभोगी वर्गका उदय एवं भाषाओंका विकास देखनेको मिलता है। उस समय विज्ञानके प्रथम चरणके भी दर्शन हुए थे। विज्ञानके उदयके फलस्वरूप कागज, कुतुबनुमा और मुद्रणकलाका आविष्कार हुआ। समद्रपारीण महाद्वीपोंकी खोज तथा भूकेन्द्रक (बतलीमुसी) ज्योतिषका पतन और सूर्यकेन्द्रक (कोपरनिकी) ज्योतिषकी प्रतिष्ठा हुई । सुख-ज्ञान्ति और भौतिक समृद्धिका बाहुल्य हुआ तथा अञ्चान्ति और कठोर जीवनका अन्त । इन तथ्यों-से स्पष्ट हो जाता है कि नवजागरणको क्लासिकी विद्याके प्रत्यावर्तनसे समीकृत नहीं किया जा सकता।

नवजागरण-युगमे पश्चिमी यूरोप मध्ययुगीनताके वन्धनो-से मक्त हो भ्यक्तित्व-चेतना विकसित करने लग गया था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य (दे०)की प्रतिष्ठा हुई और चर्चका प्रभाव घटा। मनुष्यकी दृष्टि, जो मध्य युगमे सदा परलोकपर टिको रहती थी, अब इस लोकका संचरण करने लगी। पर-लोकके ऊपर इहलोककी प्रतिष्ठा हुई। ऐहिक मुल्योका मान बढा । मनुष्य ईश्वरकी उपेक्षा कर अपनेको समझनेमे दत्त-चित्त हुआ-वह अपनेमें लौट आया । धर्मकी अपेक्षा दर्शन-का महत्त्व बढ़ा। धर्मनिरपेक्ष मानववादका पथ प्रशस्त हुआ । एक प्रकारसे ईसाई जीवन-प्रणाली एवं जीवन-दर्शन-का ही विघटन हो गया और उसका स्थान यूनानी-रोनीय जीवन-प्रणाली तथा जीवन-दर्शनमे उत्प्राणित नयी चेतनाने ले लिया। संतका स्थान दार्शनिकने लिया। संन्यासियोंके स्थानपर ऐसे बुद्धिजीवियोंका पदार्पण हुआ, जो स्वभाव अथवा मनको वशमें करनेके बदले उसके विकास एवं परिणतिमें आस्था रखते थे। नवजागरण-युग वस्तुतः संन्यासवादके प्रति उपभोगवादके विद्रोहका युग था।

यूरोपकी इस सांस्कृतिक महाक्रान्तिका एक बडा कारण है यूनानी-रोमीय जीवनदृष्टि एवं जीवन-मानोंका प्रत्या-वर्तन । यूनानी-रोमीय साहित्य, दर्शन और कळाने यूरोप-की मध्ययुगीन कूपमण्डूकता मंग कर उसमें नये मूल्योंकी वासना उत्पन्न कर दी । यूनानी संस्कृतिकी उदारता, इह-छोक-केन्द्रकता (सेक्यूलैरिटी) और धर्म, ईश्वर आदिके सम्बन्धमें अनाग्रह प्रसिद्ध है । पश्चिमो यूरोपपर इन प्रवृत्तियोंका प्रभाव पड़े विना नहीं रह सका।

यूरोपमें यूनानकी बौद्धिक-वैज्ञानिक जीवन-दृष्टिका प्रचार-प्रसार अरव विचारकोंके हाथों सम्पन्न हुआ था। यूनानी साहित्यको नष्ट होनेसे बचाने तथा उसका मलीमॉित अध्ययन-अध्यापन करते हुए उसे पश्चिमी यूरोप तक पहुँचानेका यश्अरबोंको ही प्राप्त है। अतः नवजागरण-संज्ञक सांस्कृतिक आन्दोलनमे अरबोका महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

भारतमे गुप्तयुगको हम नवजागरण-युग कह सकते है।

इसके अतिरिक्त अभी एक नवजागरणका श्रीगणेश प्रायः अंग्रेजी सभ्यताके सम्पर्कके फलस्वरूप १८५७ ई०के

आन्दोलनके बाद, अपेक्षाकृत छोटे पैमानेपर, प्रारम्भ हुआ था। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, कांग्रेस-आन्दोलन, थियोसाफिकल सोसायटी जैसे विविध आन्दोलन तथा विवेकानन्द, टैगोर, गांधी, राधाकुष्णन् , अर्विन्द, मानवेन्द्रनाथ राय जैसे विचारक इस नवजागरण-कालके मुख्य वरदान है। नवधा भक्ति-नव प्रकारकी भक्ति । विष्णु-भक्तिके नव प्रकार माने जाते है। 'श्रीमद्भागवत'मे इनका वर्णन है-" श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं बंदनं दास्यं सख्य-मात्मनिवेदनम्" (७: ५: २३)। वेदोंमें भी नवधा भक्तिके आंशिक संकेत मिलते है (ऋज्वेद, १:१५६: २, १: १५४: १, १: १५५: ४४, १: १५४: ४)। 'बृह-दारण्यक'में श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कारका उहेख है। प्रतीत होता है कि भक्तिके इन चार प्रकारोंका ही, जिन्हें आत्मा सम्बन्धी चार प्रतिपत्तियाँ कहा गया है, भागवतकारने नव प्रकारोंमें विस्तार कर दिया है। 'गीता'में भी नवधा भक्तिका उहेख है (दे०—अ० ३: ३०, अ० ४: २४, ३४, अ० ९: ३४, १४, अ० १३: २५, अ० ११ : ३९, ४०, ४१, अ० १८ : ७३)। 'अध्यात्म रामायण'मे नवधा भक्तिका स्वरूप भागवतसे किंचित् पृथक है। उसके अनुसार भक्तिके नव साधन ये है—सतसंग, भगवत्कथालाप, गीतादि वाक्योंकी व्याख्या, भगवत्वाक्योकी व्याख्या, गुरुकी निष्कपट सेवा, पवित्र स्वभाव, मंत्रोपासना, भक्तोंके प्रति श्रद्धाका भाव एवं वैराग्य तथा तत्त्व विचार (अध्या० रा०, अरण्य कांड, सर्ग १०, इलोक २२-२७)। वैष्णवभक्त कवियोंकी रचनाओमे नवधा भक्ति परक पद प्रचुर संख्यामें मिलतेहै । -वि० मो० इा० नवमानववाद-पश्चिमी जगत्मे मध्यकालकी समाप्ति करने-मे जिन विचारधाराओंने विशेष योग दिया, उनमेसे मानव-वाद एक प्रमुख विचारधारा है। मध्यकालमे धार्मिक घटा-टोपके कारण समस्त मूल्यो और प्रतिमानोंका स्रोत किसी-न-किसी दिव्य सत्ताको माना जाता था और मनुष्यको आरम्भसे ही उस दिव्य प्रतिमानसे नीचे गिरा हुआ प्राणी माना जाता था । मानववादियोंने इस मान्यताका निरस्कार किया। उन्होने यह घोषित किया कि सम्पूर्णतम मनुष्य ही मनुष्यका प्रतिमान है। इसके लिए मानववादियोंने एक ओर मानवोपरि दिव्य सत्ताका निषेध किया और दूसरी ओर अमानवीय यान्त्रिकताका । मानवववादी यह मानते है कि मनुष्यमें जो पाशविक है और जो दिव्य है, उन दोनोंके मध्यमे कुछ ऐसा है, जो पूर्णतः मानवीय है और उसीको नैतिकता, कला, सौन्द्येवोध तथा अन्य आचार-विचारका प्रतिमान मानना चाहिये। कालान्तरमें मानववादके अन्तर्गत बहुतसे विचार और वहुत प्रकारकी प्रवृत्तियों समाहित होती गर्या, जिनमेसे बहुत-सी तो परस्पर विरोधी भी थी और कभी-कभी मानवताकी ऐसी व्याख्याएँ उपस्थित करती थी, जो एक दूसरेसे पृथक थी।

पिछली अर्थ जाताब्दीमें कई ऐसी विचारधाराओंका उदय हुआ, जो नवमानववादको अपना आधारभत सिद्धान्त मानती रही है। इन विचारधाराओं मानवताओं एक स्थिर और मदा एक-मा रहतेवाला तत्त्व न मानकर चिरन्तन विकासकील तत्त्व माना जाता है और उसी मिद्धान्तके अनुसार वर्तमान मनुष्यको विकासकी एक कडी मानकर भावी मनव्यको इस यात्राकी आगामी कडी माना जाता है और उसके विकासमें सहायक होतेवाले आचार-विचारको ही वर्तमान मनुष्यके लिए आदर्शके रूपमें स्वीकार किया जाता है। उदाहरणके लिए, अरविन्द यह मानते हैं कि जैसे निरन्तर विकासकी शृंखला हमे पश्चास मनुष्यताकी स्थितिमे लायी है, वैसे ही वह हमें इसके आगे भी ले जायगी और आगामी मनुष्यमें वे कतिपय आन्तरिक शक्तियोंका विकास अनुमानित करते हैं। अरविन्द द्वारा निर्दिष्ट नव-मानववाद और रोमन कैथोलिकों द्वारा निर्दिष्ट नवमानव-वाद मुलतः आस्तिक है और मनुष्यके अन्दर दिव्यके क्रमिक साक्षात्कारमें विश्वास करता है, किन्त नास्तिक मार्क्सवाद भी नवमानववादकी प्रवृत्तियोंको स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि वर्गविभाजित होनेके कारण वर्तमान मनुष्यमे मनुष्यताके गुणोका पूर्ण विकास रही हो पाया या हुआ भी है तो वह कुण्ठित या एकांगी हुआ है। आगामी वर्गहीन समाज-व्यवस्थामे मनुष्यके अन्तरिक गुणोंका सम्पूर्ण विकास होगा । मार्क्सवादी मनुष्यके समस्त आन्तरिक विकासका केन्द्र-विन्द 'सामाजिकता' जानते हैं। यद्यपि अराजकतावादी विचारक भी नवमानववादकी कल्पना करते हुए व्यवस्थासे निरपेक्ष पूर्ण व्यक्तिको स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार बहुधा परस्पर विरोधी वृत्तिके विचारक भी इसी एक वर्गमें आ जाते है। ध्यानसे देखनेपर ज्ञात होता है कि आगामी मानवशी करपना कर और उसके सम्मख वर्नमान मानवको महत्त्वहीन बताकर या व्यक्ति-मानवको समाज-म:नव या दिव्य-मानवके सम्मुख गौण सिद्ध कर बहुधा ये विचारक मानववादकी मूल धारणासे काफी दर हट जाते है। --- ध० वी० भा०

नवयौवना –दे० 'अज्ञात-यौवना'। नवरुअनंगा –दे० 'नवोढा'।

नवलेखन — नयी किवता (दे०) के केन्द्रीय रूपसे आरम्भ हो-कर १९५५के आस-पाससे समूचे साहित्यमें विकसित और विस्तृत हो जानेवाले आधुनिक हिन्दी साहित्यके समग्र नये परिदृश्यको नवलेखन नामसे अभिहित किया जाने लगा है। नामकरणके पीछे अंग्रेजी अभिधान 'न्यू राइटिंग' स्पष्टतः देखा जा सकता है। 'अज्ञेय'के कृतित्वसे इस साहित्यिक आन्दोलनको प्रथमतः प्रतिष्ठा मिलती है और फिर 'सप्तकों'के माध्यमसे आगे विकास होता है। 'प्रतीक', 'नये पत्ते', 'नयी किवता', 'निकष' आदि पत्रोंसे इस कलात्मक और वैचारिक आन्दोलनको न्यापकता मिलती है। संप्रति सभी गतिशील युवा लेखकोंका कृतित्व नवलेखन-के अन्तर्गत सामा है।

नवलेखनकी मूल वृत्ति है कलाकार द्वारा आधुनिक दृष्टि विकसित करनेकी चेष्टा। आधुनिक भाव-बोध अथवा आधुनिकता (दे०)के अन्तर्गत कृतिकारकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई स्वचेतनता और बौद्धिक तटस्थता मुख्य रूपसे आती है। मृ्ख्योपर आधारित प्रजातांत्रिक युगके अनुकृल नवलेखन मानवीय नियतिके प्रति अधिकाधिक चितनशील है। वर्तमानसे संसक्त रहने पर भी उसकी दृष्टि भविष्योन्मुखी है।

दिल्पकी दृष्टिसे नवलेखनका कृतित्व उत्तरीत्तर स्क्ष्म उपकरणोको अपनाता जा रहा है। वास्तविकताको समझनेके लिए वह घटनाओका आश्रय न लेकर उनके मानवीय व्यक्तित्व पर पड़े संघातको समझना चाहता है। इस स्क्ष्मताके कारण नथी कला-कृतियोंका संप्रेषण पहलेसे अधिक आकुल और प्रशिक्षित पाठककी माँग करता है। और यह भी सही है कि साहित्यके कुछ हल्के-फुल्के माध्यमों (सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन, नथी व्यावसायिक कहानी)के विकसित हो जाने पर उसका मूल, केन्द्रीय रूप पहलेकी अपेक्षा अब रसिसक्त कम और बौद्धिक अधिक हो गया है।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी।] —रा० स्व० च०

नववधू-दे॰ 'अज्ञात-यौवना'।

नवोढा (नायिका) - इसका शब्दार्थ है नव विवाहिता स्त्री। सर्वप्रथम भानदत्तने इसको सन्धाके स्वतन्त्र भेदके रूपमे स्वीकार किया है और इनके अनुसरणपर हिन्दीमे मतिराम, दास तथा पद्माकर आदिने । वेनी प्रवीन, भान तथा मीतल आदिने इसे झातयीवनाका भेद माना है। विशेषके लिए दे०—'नायिका-भेद'। भानदत्तने इसे 'लब्जाभयपराधीनरितः' कहा है और मितराम भी स्त्रीकार करते है कि 'भयलाजजत रित न चहै'। पद्माकर भी 'डर' तथा 'लाज'को रति न चाहनेका कारण मानते है, अतप्त इस नवविवाहिता लब्जाशीला तथा भयाकुलाको ज्ञातयौवना-के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। रहीमने नवोढाके उल्लास और उसकी आकांक्षामे लज्जा तथा आशंका व्यक्त की है-''पहिरति चूनि चुनरिया भूषन भाव। नैनन देति कजरवा फलनि चाव" (बरवै०: ५)। मतिरामने नवोदा-की लज्जाका सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है-"बात कही न गयी सु रही गहि हाथ दुहूँ सों सहेलीको अंचल" (रस-राज, २५)। पद्माकरने इस चित्रमें भय व्यक्त किया है-"चौकि चकी चमकी चितमें है रही चंचल अंचल वारी" (जगद्वि०, भा०१:३९)। रीतिकालीन कान्यमें नायिकाके माध्यमसे नवविवाहिता स्त्रीके लज्जा, भय तथा आतरता आदि मनोभावोंको अंकित किया गया है।

केशव और देवकी नवलअनंगा एक सीमातक नवोहाके समान है, पर इस नायिकामें भय तथा लज्जाकी इतनी कोमल भावस्थिति नहीं है। केशवके अनुसार—"देलै बोलै बाल विधि इसे ऋसै सविलास" (र० प्रि०, १:२२)। इसमें नायिकाकी अपेक्षाकृत अधिक विकसित स्थिति हैं—"नैकु जिते चितवे नित दें तित मैन मनो दिन हैंककों ठाढ्यों" (भा० वि०: नायिका०)। देवके उदाहरणमें केशवमें अधिक नवोडाकी रुज्जाशीरुता है, पर फिर भी भयाकुरुताके स्थानपर मुग्धाका सामान्य भाव व्यक्त हुआ है। —सं०

नव्य आदर्शवाद-नव्य आदर्शवाद नामसे प्रचलित आन्दोलन आधुनिक आदर्शवादी दर्शनमे नवीनतम विकास है और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक माना जाता है। यह नव्य आदर्शवाद इसलिए कहलाता है कि यह जिस आदर्शवादका प्रतिपादन करता है, वह हीगेल और उसके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादिन आदर्शवादसे भिन्न एक नयी विचारधारा है। नव्य हीगेलवाद विचारको चरम तत्त्वकी परम सम्पूर्णता मानता है और न्यक्तिगत अनुभवको उसकी तत्त्वरचनामे उस विचारात्मक सत्तामे केवल भाग लेता हुआ मानता है, जो उसके भीतर व्याप्त होकर काम करती है और उसे (न्यक्तिगत अनुभवको) सार्थक और बुद्धिग्राह्य बनाती है। नव्य आदर्शवादका नव्य हीगेलवादसे यहीपर मतभेद है। नन्य आदर्शवाद न्यक्तिगत अनुभवको क्रिया-शील, तत्त्वके निर्माता और शाता विषयी (subject)के एक स्वतन्त्र व्यापारके रूपमें महत्त्व देता है, केवल विचार-की प्रतिकृतिरूपमे नहीं। उसका मुख्य तर्क यह है कि होगेल और उसके अनुयायियो द्वारा प्रतिपादित चरम तत्त्व स्थिर होनेके कारण परिवर्तन और इतिहासका स्पष्टीकरण करनेम असमर्थ है और विद्वका चरम संघटन एक ऐसी सम्पूर्णता है, जिसमे अब कोई परिवर्तन या विकास सम्भव नहीं, वह जो है, उससे अधिक नहीं हो सकता। नन्य आदर्शवाद इसका विरोधी है, उसके अनुसार वैयक्तिक विचार रच-नात्मक है, निष्क्रिय विश्व-विचारका प्रतिबिम्बमात्र नहीं। विश्वके विभिन्न:तत्त्वोका विकास जो कुछ प्रस्तुत स्थायी और अपरिवर्तनशील है, उसीका व्यक्तीकरण अथवा प्रस्कृटन (imfoldment) नहीं माना जा सकता। दर्शन, परिवर्तन-शील चरम तत्त्वके दृष्टिकोणसे, वैयक्तिक अनुभव और चरम तत्त्वके पारस्परिक सम्बन्धोंका इतिहास है। —प्री० अ० नांदी-यह पूर्वरंग (दे०)का एक प्रकार है। इससे देवता, बाह्मण तथा राजादिकोंको आशीर्वचनसे संयुक्त स्तुति की जाती है, अतएव इसे नान्दी कहते है। नान्दीका अर्थ है आनन्दित करनेवाला, इससे लोग आनन्दित होते हैं। इसमें शंख, चक्र, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुदादिक मांगल्य वस्तुओंका वर्णन आवस्यक है। नान्दी अष्टपदा अथवा द्वाद शपदा होती है। 'अनर्घ राघव' नाटकमें 'निष्प्रत्यह ...' अष्टपदा नान्दी है। किन्तु 'साहित्यदर्पण'की 'विमला' टीकामें बतलाया गया है कि किसीके मतानुसार इसे नान्दी कह दिया गया है, वस्तुतः यह 'नान्दी' नही है। यह पूर्वरंगका रंगद्वार नामक अंग है, इसमें सर्वप्रथम वाचिक या आंगिक अभिनयकी अवतारणा की जाती है।

सच पृछिये तो रंगद्वारके पूर्व ही जो मंगलार्थक सामूहिक स्तुति की जानी है, वह नान्दी कही जानी है। इसे बान्दीपाठ या मंगलपाठके नामसे भी पुकारा जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके प्रायः सभी नाटकोंमें नान्दीपाठकी योजना है। उदाहरणके लिए, 'प्रेम जोगिनी'का 'नान्दी-पाठ' उद्धृत किया जाता है— "भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर। जयित अपूरव धन कोऊ लिख नाचत मन मोर" (भा० ग्र०: ना० प्र० स०, प्र० सं०, पृ० ३२१)। — व० सिं० नांदीपाठ—दे० 'नांदी'।

नाग — नाग या नांग शब्दका व्यवहार सन्तोने नग्न, अर्थात् नंगे रहनेवाले साधुओं के लिए भी किया है, पर अपने पारिभाषिक अर्थमें यह निरंजनका वाचक है। ब्रह्माण्डमें जो निरजन है, पिण्डमें वही नाग है। —रा० सि० नागरी —दे० 'देवनागरी'।

नागिन-मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके मध्यभागमे जुडता

है, वहाँ अग्निचक्र नामक एक त्रिकोण चक्र है। इस अग्नि-चक्रमें स्थित स्वयंभू लिगको साढ़े तीन वलयोंमें लपेटकर सिंपणीकी भॉति कुण्डलिनी अवस्थित है। हठयोगियों एवं सन्तोंमे यह नागिन, सॉपिन आदि नामोंसे बार-बार अभि-हितकी गयी है। मायाके लिए भी नागिन शब्दका बहुत अधिक प्रयोग सन्तोंने किया है। इनके मतसे ब्रह्माण्डमें जो माया है, पिण्डमे वही कुण्डलिनी है। अतः आद्याशक्ति, माया, ठगिनी, नागिन, भुजंगी आदि नाम इसी कुण्डलिनी-के ही है। प्रणव इसी नागिनकी फ़ुंकार है। मायाकी ही तरह ब्रह्माण्डमें जो निरंजन है वही पिण्डमे 'नाग' है। इसी 'नाग' (निरंजन) और नागिन(माया या कुण्डलिनी)ने यह सारा जगत्प्रपंच फैलाया है। निरंजनरूपी नागकी शक्ति होनेके कारण माया 'नागिन' कहलाती है। —रा० सिं० नाज़ीवाद-यो तो फासिज़मके (दे०) अनेक भेद-प्रभेद है, किन्तु उनमे नाजीवाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'नाजी' शब्द हिटलरके दल राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दल-के मूल जर्मन नामका संक्षेप है। नाजीवाद फासिज्मके समान व्यक्ति-स्वातन्त्र्य (दे०), जनतन्त्र, वैयक्तिक अधिकार अन्तरराष्ट्रीय सहयोग और शान्ति आदिका प्रवल विरोधी है और व्यक्ति-व्यक्ति और जाति-जातिकी असमानता, 'जिसकी लाठी उसकी भैस'की नीति और अधिनायकवाद (दे०)का प्रबन्ध समर्थक। नाजीवाद और फासिज्ममें कोई मौलिक नाटक-पाणिनि नाट्यकी उत्पत्ति 'नर्' धातुसे मानते है (पाणिनि, ४।३।१२९) और रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्य-दर्पण'में इसका उद्भव 'नाट' धातुसे माना है (ना० द०: गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, पृ० २८)। वेबर और मोनियर विलियम्सका मत है कि 'नट' धातु 'नृत्' धातुका प्राकृत रूप है। माकण्डका मत है कि 'नृत्' धातु बहुत प्राचीन है और 'नट्'का प्रचलन अपेक्षाकृत कम पुराना है। किसी-किसीका मत है कि 'नद' और 'नृत्' दोनों धातुएँ ऋग्वेदकालसे प्रचलित है। दोनोंका प्रयोग स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूपसे होता आया है। सायणने अपने भाष्यमें 'नट्'का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है (४।१०५।२३) और 'नृत'का गात्र-विक्षेपण (१०।८।३)। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तरकालमे दोनों धातुएँ समानार्थक होती गयी, किन्तु कालान्तरमे 'नट्' धातुका अर्थ अधिक व्यापक बन

गया और 'नृत्'के अर्थके साथ-साथ अभिनयका अर्थ इससे

सिमटता चला गया। 'सिद्धान्तकों मुदी'के तिडन्त प्रकरणमें नाट्यकी न्युत्पित इस प्रकार है—"नट् नृतौ। इत्थमेवपूर्वमिप पठितम्। तत्रांगिविञ्चेषः! पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिष नटन्यपदेशः।" इससे यह निष्कर्ष निकला कि 'नट्' धातुका अर्थ गात्रविञ्चेषण एव अभिनय दोनों ही था। किन्तु कालान्तरमें 'नृत्' धातुका प्रयोग गात्रविञ्चेषणके अर्थमें होने लगा और 'नट्'का प्रयोग अभिनयके अर्थमे। दशरूपककारने नृत्त, नृत्य और नाट्यका अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताल-लयके अश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य साश्रित होता है। "अन्यद्भानाश्रित होता है, किन्तु नाट्य साश्रित होता है। "अन्यद्भानाश्रित होता है, किन्तु नाट्य साश्रित होता है। "अन्यद्भान्वाश्रयं नृत्यम्, नृत्तं तालल्याश्रयम्। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्, दश्यैव रसाश्रयम्" (द०रू०: प्र० प्र०, ९: ७)। इस प्रकार गम्भीरतासे विचार करनेपर नृत्त और नृत्य नाट्यकी ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती है।

रूपक और नाटक दोनों राब्द पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अन्तरवाले प्रतीत होते हैं। नाट्यमे अवस्थाओंकी अनुकृतिको प्रधानता प्रदान की जाती है, किन्तु रूपकमें अवस्थाओंकी अनुकृतिके साथ-साथ रूपका आरोप भी आवश्यक है, अर्थात् अवस्थाकी अनुकृति और रूपानुकृतिका मिश्रित रूप रूपक कहलानेका अधिकारी बनता है।

संस्कृत साहित्यमें नाटकको भी प्रधानतः काव्य ही माना गया है। दोनोंका मुख्य उद्देश्य आनन्द-प्राप्ति बताया जाता है। दोनोंका गौण उद्देश्य अपनन्द-प्राप्ति बताया जाता है। दोनोंका गौण उद्देश्य उपदेश एवं व्युत्पत्ति भी विधि-निपेषके रूपमे समान रोतिसे पाया जाता है, केवल उद्देश्यप्राप्तिके साधनमें भेद है—"सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्ति-फलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम् उपायमात्रभेदः, न फलमेदः" (व्य० यि०, अ० १: पृ० २०)।

महिम भट्टका मत है कि अनुभाव-विभावादिके वर्णन ते जब आनन्दोपल निष्ठ होती है तो रचना कान्य कहलाती है और जब गीतादिसे रंजित, नटो द्वारा उसका प्रयोग दिखाया जाता है, तो वह नाटक वन जाता है—"अनुभाविभावनां वर्णना कान्यमुच्यते। तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीताहिरंजितम्" (न्य० वि०, अ० १: पृ० २०)।

सागरनन्दी नामक आचार्यने त्रैलोक्यके स्थानपर केवल इसी लोकके सुख-दुःखपर वल दिया है। उनका कथन है कि इसी लोकके सुख-दुःखपे उत्पन्न अवस्थाके अभिनयका नाम नाट्य है—"अवस्था या तु लोकस्य सुख-दुःखसमुद्भवा। तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्य-भिधीयते"। सागरनन्दीकी यह व्याख्या भरतसुनिके एक दूसरे श्लोकपर आधारित प्रतीत होती है। भरतसुनिके एक दूसरे श्लोकपर आधारित प्रतीत होती है। भरतसुनिक कहते है—"योऽयं खमावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः। सोऽङ्गाधभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते। भरतसुनिके मतकी विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं—'प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्या दिविलक्षणत्वात् यच्छन्दवाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणत्या स्वस्तेन भाव्यमानश्चव्यमाणोऽधोनाट्यम्", अर्थात् नाटक वह हश्य काव्य है, जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवतायका विषय बन सत्य एवं असत्यसे समन्वित विलक्षण रूप धारण

करके सर्वसाधारणको आनन्दोपलब्धि कराता है।

मरतमुनि नाटककी कथावस्तुके विषयमे अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते है कि देवता, मनुष्य, राजा एवं महात्माओंके पूर्ववृत्तकी अनुकृतिको नाटक कहते है— "देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम्। पूर्ववृत्तानुचिरितं नाटकं नाम तद्भवेत्" आचार्योंने इस लक्षणपर यह शंका लठायी कि प्रख्यात राजा अथवा ऋषिका वृत्त लेकर ही नाटककी रचना होती है, तो 'प्रवोधचन्द्रोदय' आदि उन नाटकोको, जिनमे गुण-दोष, श्रद्धा-मोह, विरक्ति, काम-धर्म, विद्या-अविद्या, चैतन्य आदि पदार्थ पात्र बनकर आते है, नाटककी संज्ञा किस प्रकार दी जा सकती है ?

आचार्योंने इस शंकाका समाधान करते हुए नाटकोंका एक और विभाग गौण नाटक नामने किया है। उन्होंने अश्ववोषकृत 'राजपुत्री', जिसमें बौद्ध धर्मके सिद्धान्तोको पात्र वनाकर बुद्धका गुणगान किया गया है तथा जयन्तकृत 'आगमडम्बर'को जिसमे बौद्धभूपणक, कापालिक, नीलाम्बर, चार्वाक, मीमांसक एवं तार्किक आचार्य पात्ररूपने उपस्थित होकर अपने-अपने मत एवं आचारकी प्रशंसा करते हैं, गौण नाटकको कोटिमे रखा है। इसी प्रकार 'मोह-पराजय', 'संकल्पसूयोदय', 'पूर्तपुरुष' धन्दोदय', 'चैतन्य-चन्द्रोदय' आदिको भी गौण नाटक माना है।

सुबन्धने नाटकका पाँच प्रकारने लक्षण किया है और प्रत्येक लक्षणके साथ-साथ नाटककी जातिका नाम भी दे दिया है। शारदातनयने सुबन्धुका मत देते हुए लिखा है कि उन्होंने नाटककी पाँच जातियाँ-पूर्ण, प्रशान्त, भास्तर, लिलत एवं समग्र निश्चित की है। उन्होंने यह भी बताया कि प्रत्येक जातिमे उपक्षेप, परिकर, परिन्यास एवं विलोमन नामक अंगोंका होना समान रूपसे पाया जाता है-"सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पंचधा। पूर्णं चैव प्रशान्तं च भारवरं लिलत तथा ॥ समग्रमिति विशेषा नाटके पंच जातयः । उपक्षेपः परिकरः परिन्यामो, विलोमनम्। एतान्यङ्गानि कार्याणि सर्वनाटकजातिषु"। भरतमुनिके कथनानुसार पाँच सन्धियों, चार वृत्तियों, चौसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों सहित नाटकालंकारोने सुशोभित, अत्यन्त सरस, उत्कृष्ट भावोंसे समन्वित, चमत्कारपूर्ण रचनासे यक्त, महापुरुषोंके सत्कारते सम्पन्न, अनिन्दित आचरण-सन्निविष्ट, सन्धियोंमे सुश्लिष्ट, प्रयोगमें रमणीय, सुखका आश्रय, मृद्ल शब्दोते समन्त्रित रचना करनी चाहिये। ऐसी ही रचना नाटक नामसे अभिहित होती है—"पंच-सन्धिचतुर्धृतिचतुःषष्ट्यङ्ग-संयुतम् । षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतम-लंकारोपशोभितम् ॥ महारसं महाभोगमुदात्तर वनान्त्रितम् । महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ॥ सुश्विष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् । मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्त नाटकम्"।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्रने नाटकका लक्षण बताते हुए लिखा है कि जो प्रसिद्ध आद्य (पौराणिक एवं येतिहासिक) राज-चरितका ऐसा वर्णन हो जो धर्म, काम एवं अर्थका फलदाता हो और जो अंक, आय (पंच अर्थ-प्रकृति), दशा (पंचावस्था)से समन्वित हो, वह नाटक कहलाता है—"स्याताद्यराजचरिनं धर्मकामार्थसत्फलम्। साङ्गोपायदशासन्धिदिन्याङ्गं तत्र नाटकम्" (ना॰ द०, पृ० १, इलोक ५)।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ नाटकका रुक्षण करते हुए लिखते है-नाटक वह रचना है, जिसकी कथावस्तु रामा-यणादि एवं इतिहासमें प्रसिद्ध हो, जिसमे विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकारके ऐइवयोंका वर्णन हो, जहाँ सुख-दुःखकी उत्पत्ति दिखायी जा सके और अनेक रसोंका समावेश हो सके, जिसमें ५ से १०तक अंक हों, जिसका नायक पुराणादिमें प्रसिद्ध वंशमे उत्पन्न, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजिं अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो, जहाँ शृंगार अथवा वीर रस प्रधान हो तथा अन्य रस अंगभूत हों, जिसकी निर्वहण सन्धि अत्यन्त अद्भुत हो, जिसमे चार या पाँच पुरुष प्रधान कार्यके साधनमे व्याप्त हो, गौक्षी पूंछके अग्रभागके समान जिसकी रचना हों (सा० द०, षष्ट परिच्छेद: ७,११)। जब नाटकमें दससे अधिक अंक हो जाते है तो वह नाटक नहीं रहता. महानाटक वन जाता है। 'हनमन्नाटक' इसी कोटिमें आता है।

नाटक साहित्यकी वह विद्या है, जिसकी सफलताका परीक्षण रंगमंच (दे०) पर होता है और रंगमंच युग-विशेषकी जनरुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके आधारपर निर्मित होता है। रंगमंचके व्यवस्थापकों एवं कलादाारोको नाट्यरचनाफे साहित्यिक एवं कलागत मूल्यके साथ-साथ रंगमंचके संस्थापकोकी रुचिका भी ध्यान रखना पड़ता है, अतः नाटक स्वरूप प्रत्येक युगमे परिव-र्तित होना रहता है। नाटकके स्वरूपके बदल जानेसे उसका <del>लक्षण भी बदलना पडता है। हमारे देशमें संस्कृत</del>के साहित्यिक नाटकोंका अभिनय राजप्रासादोंतक ही प्रायः सीमित था । इस कारण जनरूचिसे द्र होनेके कारण उसमे अधिक परिवर्तन नहीं आया और संस्कृत नाटकका जो लक्षण भरतमुनिके समयमें प्रचलित था वही प्रायः आचार्य विश्वनाथतक प्राप्त होता रहा । नृत्य-रूपकोंकी धारा स्वतन्त्र रूपसे अवस्य विकसित होती हुई विश्वनाथतक कतिपय नवीन उपरूपकोका स्वरूप धारण कर गयी और ये नयी मान्यताएँ आचार्योंका प्रमाणपत्र पाकर शास्त्रीय बन गयी।

संस्कृतमें स्रपंक दो प्रकारसे विकसित हुए। एक प्रकार तो मानविकासकी पूर्णताको आदर्श मानकर चला, दूसरा समाजके यथार्थ रूपको दर्पणके समान प्रतिविन्वित करता हुआ विकसित हुआ। जिसमें मानवताका उदात्त रूप सम्मुख आया, वह नाटक हुआ और जिसमे समाजका वास्तविक रूप झलकने लगा, वह प्रकरण (दे०)कहलाया। नाटकमें जहाँ किसी महान् राजाके उदात्त रूपकी कल्पना की जाती है, वहाँ प्रकरणमें सामान्य जनताकी वास्तविक स्थिति दिखायी जाती है। प्रथमका उदाहरण कालिदासकृत 'शुकुनतला' है और दूसरेका शृद्धक-विरचित 'मृच्छ-कटिक'।

अदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख नाटककी ये दो पद्धतियाँ हमारे देशमे सदासे चली आ रही हैं। भारतेन्दुने दोनों शैलियोंका अनुसरण किया। यदि नाटकशैलीमें 'हरिश्चन्द्र'-की रचना हुई तो प्रकरणशैलीमे 'पाखण्ड-बिडम्बन'की।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने नाटकका लक्षण देते हुए लिखा है—''नाटक शब्दका अर्थ है नट लोगोंकी क्रिया। नट कहते है विद्याके प्रभावसे अपने एवं किसी वस्तके स्वरूपके फेर या स्वयं दृष्टिरोचनके अर्थ फिरना। दृश्यकाव्यकी संशा रूपक है। रूपकोंमें नाटक ही मबसे मुख्य है, इससे रूपकमात्रको नाटक कहते है। इस विद्याका नाम कुशीलव-शास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान, व्यास, वाल्मीकि, लवकुरा, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुम्बुरु आदि इसके आचार्य है। इनमें भरतमुनि इस शास्त्रके मुख्य प्रवर्तक है" (भा० ना०, भा० २ : प० शि० पृ० ४२१-४२२)। भारतेन्दु नाटककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि ''कान्यके सर्वगुणसंयुक्त खेलको नाटक कहते है। इसका नायक कोई महाराज (जैसे दृष्यन्त) या ईश्व-रांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) होना चाहिये। रस शृंगार एवं वीर। अंक पॉचके ऊपर और दसके भीतर । आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिये" (भा० ना०, भा० २: प० शि० पृ० ४२३) ।

आधुनिक कालमें नाटकके लक्षण जनरुचिके कारण वदलने पड़े हैं। वाबू गुलाबराय कहते हैं: "नाटकमें जीवनकी अनुकृतिको शब्दगत संकेतींमें संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राणरूपमें अंकित किया जाता है। नाटक जीवनकी सांकेतिक अनुकृति नहीं है, वरन् सजीव प्रतिलिपि है। "नाटकमें फैले हुए जीवन-ज्यापारको ऐसी व्यवस्थाके साथ रखते हैं कि अधिकसे-अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके।" —द० ओ०

यूनान तथा अन्य देशोंकी ही भाँति भारतमे भी नाटक-का उद्भव धार्मिक है। नाट्यशास्त्रमे वर्णित भारतीय धारणाके अनुसार एक बार देवताओंने ब्रह्मासे एक ऐसे मनोरंजन अथवा क्रीडाकी रचना करनेके लिए प्रार्थनाकी, जिसे सभी जानियोंके लोग देख और सुन सकें। अतः ब्रह्माने ऋग्नेदसे पाठ्य (आख्यान एवं संवाद), सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लेकर एक पॉचवें वेद - नाट्यवेदकी अवतारणाकी, जिसका विषय इतिहास (पौराणिक आख्यान) था। उन्होने एक रंगशाला-का निर्माण कराया और भरत मुनिसे, जिन्हे नाट्यशास्त्रका प्रणेता माना जाता है, उसे रंगशालामें नाट्यके सिद्धान्तों-को कार्यान्वित करके प्रदर्शित करनेके लिए कहा। इस प्रकार जो पहला नाटक खेला गया, उसमें देवताओं और दानवींका युद्ध प्रदर्शित था। दानवींने इस वातपर बहुत रोष प्रकट किया कि उसमें उनकी पराजय दिखायी गयी। ब्रह्माने उन्हें शान्त करनेके लिए नाटककी व्याख्या की, जिसे भरत मुनिने उन्हे समझाया । उस न्याख्याके अनुसार नाटकमें पक्षपातके लिए स्थान नहीं, वरन् उसमे तो विश्वभी समस्त परिस्थितियों एवं घटनाओंका अनुकरण रहता है; नाट्य केवल देवताओं अथवा दानवोका ही अनुभावन नहीं, वह तो त्रैलोक्यका भावानुकार्तन—भावोकी अभिव्यक्ति है : "नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्। द्वेळीक्य-स्यास्य सर्वेस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्'' (नाटचशास्त्र, प्रथम अध्याय, १०७)। उसका प्रणयन सबके लामके लिए होता है तथा वह समस्त चिरतो एवं आवश्यकताओको ध्यानमे रखकर लिखा जाता है, उसमें सभी वार्तोका वर्णन रहता है तथा वैदिक एवं अन्य गीतोका समावेश रहता है।

करनेदमें असंख्य रूप धारण करनेवाला इन्द्र अपने नायकोचित कार्योंको नृत्यमें प्रस्तुत करता हुआ बताया गया है। पुराणोमें देवताओंके कार्योंको लीलाकी संज्ञा दी गयी है। अधर्ववेदमे संगीत एवं नृत्यको देवी वरदान बताया गया है। बिलको प्रया भी प्रारम्भमे देवताओं द्वारा कृत कार्योंका परिणाम थी। ब्राह्मण प्रन्थोमें पुरोहितोंको नृत्य तथा अभिनय करते हुए बताया गया है। इन्द्र द्वारा नृत्यों के लपने नायकोचित कार्योंके प्रस्तुतीकरणको लुलना रंगमंचपर नायकके अभिनयसे की जा सकती है। देवी कार्योंको लीला समझने तथा रंगशालाकी सम्पूर्ण प्रतीक-योजनाओं द्वारा यह सिद्ध होता है कि भारतीय नाटकोका उद्भव धार्मिक एवं पावन है। गायक, कित तथा अभिनेताओंको प्रतिक्रियाओको केवल मनोरंजनका साधन न समझकर महत्त्वपूर्ण कृत्य समझा जाता है।

स्वयं भगवानको आदि अभिनेता माना गया है, जिसकी स्वतः भूत भाव-मुद्राएँ संसारके कार्य-कलापके रूपमे, वाणी संसारके भाषा-समृहके रूपमे, आभरण चन्द्र एवं तारक-गणोके रूपमे गोचर हैं। नाटकमे अभिनेता उसी प्रकार सज्जागृहसे रंगमंचपर प्रवेश करता है, जैसे कि दैव संसार-में अवतार लेता है तथा अज्ञातसे ज्ञात बन जाता है, अतः नाटकके नायकका रंगमंचपर प्रवेश अवतारणा कहलाता है, जो यह सूचित करता है कि वह सैद्धान्तिक रूपसे एक अवतार है। रंगमंचपर उसके इस व्यक्तित्वसे यह निविवाद सिद्ध है कि उसे स्वयं उन भावो एवं संवेगीसे निर्विकार रहना है, जिनका कि वह अभिनय करता है। शंकराचार्य-का यह प्रदन इसी बातकी पृष्टि करता है-क्या वह अभि-नेत्री, जो पत्नीका अभिनय करती है, वास्तवमें पतिका अभिनय करनेवाले पात्रकी चाहना करती है ? कुशल अभिनेता अपने अंगोका संचालन उसी प्रकार करता है, जैसे पुत्तिका-संचालक अपनी पुत्तिकाओंको इच्छानुसार नचाकर इच्छित भावोकी अभिन्यक्ति करता है, परन्त स्वयं उन भावोसे आक्रान्त नहीं होता । प्रेक्षक वास्तव पात्रो द्वारा चित्रित प्रेम या भय आदि संदेगोंकी वास्तविक अन-भृति नहीं करता, वरन वह स्वयं निविकार रहकर उस अवर्ण्य रसकी अनुभृति करता है, जिसके द्वारा उसे बाह्य नहीं, वरन आन्तरिक आवन्द प्राप्त होता है। यह रसानुभृति प्रेक्षककी अपनी रस-याह्यता, अर्थात् रसको यहण करनेकी शक्तिपर निर्भर है; नाटक तो रसानुभूतिका निमित्तमात्र है। रसानुभृति तथा संवेग एवं प्रेक्षकपर होनेवाली प्रति-क्रिया इन दोनोंके बीचका अन्तर समझ लेना आवश्यक है। रसानुभूतिमें संवेगका निहित होना सम्भव है, किन्त वह स्वयं संवेग एवं प्रतिक्रिया नहीं है। इससे हमे इस बातका संकेत मिलता है कि नाटकका चरम उद्देश्य प्रेक्षक-को उसके स्व-मे ऊपर उठाकर परब्रह्मके स्तरतक ले जाना है, जो कि अपनी ही रचनाका अवलोकन कर उससे रसा-नुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटकका वास्तविक लक्ष्य उपदेश देना या प्रेरणा देना न होकर प्रेक्षकको आनन्दित करना है। उसका प्रयोजन वही है, जो वैदिक यज्ञोंका रहा है, जिनमें यज्ञका कर्ता अल्पकालके लिए स्वयं देवता वन जाता है तथा यज्ञ समाप्त होनेके पश्चात वह पुनः अपना मानवीय व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

'अग्निपुराण'मे नाटककी परिमाषा एवं उसके लक्षणादि-का निरूपण है। उसमे एक प्रकारके कान्यका नाम प्रकीण कहा गया है। इस प्रकीर्णके दो भेद है—श्रन्य और अभिनेय। सामने लाने, अर्थात् इच्च सम्मुख उपस्थित करनेको अभिनय कहते है। यह अभिनेय प्रकीर्ण ही नाटक है।

नाटकीय अवस्थाओंकी अवस्थानुकृति अथवा अभिनय (दे०) चार प्रकारका होता है-१. आंगिक, २. वाचिक, आहार्य तथा ४. सात्त्विक । आंगिक अभिनयके अन्तर्गत अनु करणात्मक नृत्यकी विभिन्न भाव-भंगिमा एवं मद्रायक्त भाषा होती है, जिसके द्वारा गीति-नाट्यका अथवा तत्सद्य गीतात्मक रचनाका पदार्थ व्यंजित होता है। नेत्र, मुख आदि द्वारा सम्पादित समस्त अभिनय इसके अन्तर्गत आते है, जैसे चलना, उठना, दौडना, हॅसना इत्यादि। आंगिक अभिनयका सबसे अधिक बोध हमे कथाकली नृत्यमें होता है, जिसमे केवल अनुकृत्यात्मक चेष्टाएँ होती है और स्वरका, अवाक् चलचित्रोकी भॉति, लेशमात्र भी व्यवहार नहीं होता। वीभत्स, करुण, रौद्र प्रभृति रसयुक्त वाक्य द्वारा मानसिक भावोके अनुकरणको वाचिक अभिनय कहते है। वस्त्राभरण आदि रचना द्वारा प्रकृत मृतिके अनु-करणको आहार्य कहते है, जैसे लब-कराके अभिनयके लिए अभिनेताकी अवस्था बारह वर्षकी तथा वस्त्र ऋषि-बालकों जैसे होने चाहिए-यह अनुकरण आहार्य है। सान्विक भावोको प्रदर्भित करनेवाले अभिनयको सात्त्विक कहते है. जैसे, मुख, हस्त आदिकी विशेष भंगी द्वारा रोमांच, स्तम्भ, रोद आदि सात्त्विक भावोका चित्रण।

अभिनय एवं अनुकरण, नृत्यशैली एवं उद्देश्य, दोनों ही दृष्टियोले परस्पर मिलते हैं; दोनोमे ही मुद्राओं एवं भंगि-माओं द्वारा अर्थ एवं भावकी अभिन्यक्ति की जाती है तथा दोनोका ही उद्देश्य प्रेक्षक समृहको रसानुभृति कराना होता है। नाटकके उपकरणोमे नत्य और नत्त भी गिने जाते है। इन तीनोके बीचका अन्तर प्रारम्भमे ही दिया गया है। अतः हम देखते हैं कि नृत्यमें आंगिक अभिनय-की प्रधानता रहती है। किसी भावको प्रदर्शित करनेके लिए व्यक्ति-विशेषके अनुकरणको नृत्य कहते है। जब अभिनय एवं नृत्यका गीत एवं कथनसे संयोग होता है, तब रूपक-का सम्पर्ण रूप उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार रसोंका संचार करनेमे अनुभाव-विभाव आदि सहायक होते है, उसी प्रकार नाटकीय रसकी परिपृष्टिमे नृत्य और नृत्त आहि सहायकका काम देते हैं। इन्ही बातोको ध्यानमे रखकर रूपकोके दो भेद किये गये हैं-१. रूपक, २. उपरूपक। रूपकोमे रसकी प्रधानता रहती है और उपरूपकोमे नत्य. नृत्त आदिकी। नृत्य मार्ग (सम्पूर्ण देशोरे एक समान) और नत्त देशी (भिन्न-भिन्न देशोंमे भिन्न-भिन्न प्रकारका) कहलाता है।

नृत्य दो प्रकारका होता है, ताण्डव और लास्य । स्रक्षण-

अन्थोंके अनुसार ताण्डवका आविष्कार शिवने और लास्यका आविष्कार पार्वताने किया है। ताण्डवका प्रधान गुण उद्भटता तथा लास्यका मधुरता है। लास्यके दस नेद है, जिनमेरी अधिकांशका सम्बन्ध नृत्यसे न होकर गायनसे है—१. गेय पद, २. स्थित पाट्य, ३. आसीन पाट्य, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिगृह, ७. सैन्धव, ८. दिगृह, ९. उत्तमोत्तमक तथा १०. उत्त-प्रयुक्त। नृत्तके इन मेदोंका रूपकोसे प्रायः विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। केवल शोभाके लिए नाटक आदिके आरम्भमे (कभी-कभी नाटकके मध्यमे भी) इनका प्रयोग होता था।

रूपक (दे०)के दस भेद होते हैं। रूपकोके अतिरिक्त नाट्याचार्योंने १८ उपरूपक (दे०) माने हैं। रूपको भेदों-मेंसे नाटक सबसे अधिक सर्वागपूर्ण है। यह वर्गीकरण— कथावस्तु, नायक तथा मुख्य रस—इन तीन दृष्टियोंसे किया गया है, जो कि नाटकके मुख्य तत्त्व माने जाते हैं। अधिकांश महान् नाटकोंके कथानक महाकाव्योसे तथा इसी प्रकार अप्रत्यक्ष रीतिसे पौराणिक कथाओसे लिये गये हैं।

वस्तु अथवा दृश्य, कान्यके कथानकके दो भेद किये गये है-आधिकारिक और प्रासंगिक। मूल कथावस्तुको आधि-कारिक और गौण कथावस्त्रको प्रासंगिक कहते है। नाटक-के प्रधान फलको स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्तिकी योग्यता, अधिकार कहलाती है। उस फलका खामी, अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारीकी कथाको आधिकारिक वस्तु कहते है। इस प्रधान वस्तुके साधक इतिवृत्तको प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तुके भी दो भेद है-१ पताका (दे०), २ प्रकरी (दे०) । बराबर चलनेवाले अवान्तरप्रसंगको पताका और कुछ काल चलकर रुक जाने एवं समाप्त हो जानेवाले प्रसंगको प्रकरी कहते है। कथामें चमत्कारपूर्ण धारावाहि-कता लानेके लिए पताकास्थानक (दे०)का प्रयोग किया जाता है। पताकास्थानक वह प्रासंगिक कथा है, जिसमें किसीके भाषण दारा किसी नये पदार्थ या भावके वशीभृत होकर कोई दूसरा ही अर्थ स्चित हो जाय । पताकास्थानक-के भी चार भेद किये गये है।

कथावस्तुको फलप्राप्तिकी और अग्रसर करनेवाले चमत्कारयुक्त अंशको अर्थ प्रकृति (दे०) कहते है। प्रत्येक नाटकमें कार्य (दे॰) या न्यापार-शृंखलाकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं। कथात्मक पाँच अवस्थाओके योगने अर्थ-प्रकृतियों-के रूपमे विस्तारी कथानवको पाँच अंदा हो जाते है। एक ही प्रधान प्रयोजनकी, साधक, उन कथाओंका मध्यवतीं किसी एक प्रयोजनके साथ सम्बन्ध होनेको सन्धि (दे०) कहते है। कुछ शास्त्रकारोंने सन्धियोंके अन्तर्गत अन्तः-सन्धियाँ भी मानी हैं। अन्तःसन्धियोंका उद्देश्य व्यापार-शृंखलाकी शिथिलताको दूर कर उसे अग्रसर एवं चमत्कृत करना होता है। इनकी संख्या इक्कीस निश्चित की गयी है। इस प्रकार ५ सन्धियोमें ६४ अंग और २१ अन्तःसन्धियाँ हुई । उनका प्रयोग ६ निमित्तोसे होता है-१. इष्टार्थ, २. गोप्य-गोपन, ३. प्रकाशन, ४. राग, ५. आश्चर्य-प्रयोग और ६. वृत्तान्तका अनुपक्ष । साहित्यदर्पणकारका कथन है कि जिस प्रकार विना अंगके मनुष्य किसी कार्यको करनेसे

अयोग्य रहता है, उसी प्रकार अंगहीन कान्य भी प्रयोगके योग्य नहीं होता।

वस्तु-विन्यासमे एक बात और ध्यान देने योग्य है। इसमें बुछ बातें तो ऐसी है, जिनका अभिनय अत्यन्त आवश्यक है, जिसमे कि मधुर और उदान्त रस तथा माय निरन्तर उद्दीप्त हो सके। जिनका विस्तार अपेक्षित है, उन्हे दृश्य(दे०) तथा जिनकी केवल स्चना देनी चाहिये, उन्हे स्च्य(दे०) कहा जाता है। कुछ बानें ऐसी भी है, जिनका अभिनय निषद्ध है: उदाहरणके लिए, स्च्य विषयोमे लम्बी यात्रा, मृत्यु, वध, युद्ध, देशका विष्लव, नगरका घरा डालना, भोजन, स्नान, चुन्वन, अनुलेपन, वस्त-धारण आदि। किन्तु कई नाटकोमे (उदा०—भास तथा राजशेखरकृत नाटकोमे) इसका उल्लंघन भी हुआ है और विवाहकृत्य, मृत्यु आदि दिखाये गये है। शास्त्रोमे मृत्युको स्च्यके अन्तर्गत आनेकी अनुमित केवल इस दशामे दी गयी है, जब कि मृत व्यक्ति पुनः जी उठे। अधिकारी (नायक)का वध नाटकमे नहीं होना चाहिए।

भारतीय नाटकोका उद्देश्य अर्थ, धर्म या कामकी प्राप्ति है, अर्थात् नाटकमे जीवनके आदर्शोंकी व्याख्या होनी चाहिए, साथ ही वह सामाजिकोको आनन्द देनेवाला भी होना चाहिए। दुष्टोंका दण्डित होना और सज्जनोंका उपकार ही इन नाटकोंका चरम लक्ष्य रहा है। अतः भारतीय प्राचीन नाट्यसाहित्यमें शोकान्त नाटकोंका अभाव है।

हश्यवस्तुके अन्तर्गत आनेवाली बातें अंकों (दे०)मे दिखलायी जाती है। एक अंकमें एक दिनसे अधिककी घटनाओका समावेश नहीं होना चाहिये। प्रायः दो अंकोंके बीचमें एक वर्षतकका समय अन्तिहित रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कमका कर देना चाहिये। इस अन्तरकी स्चना देनेके लिए पॉच प्रकारके दश्योंका विधान किया गया है, जिनके द्वारा स्च्य अंश भी प्रकट किये जाते है—१.विष्कम्भक (दे०), २. प्रवेशक (दे०), ३. चूळिका (दे०), ४. अंकास्य (दे०)।

नाट्यके अनुरोधसे नाटकीय वस्तुके तीन और भेद है—

1. श्राच्य (दे०), २. अश्राच्य (दे०) तथा ३. नियतश्राच्य (दे०)। नियतश्राच्य दो प्रकारका होता है—
अपवारित (दे०) और जनांतिक (दे०)। इनके अतिरिक्त
आकाश-भाषित (दे०) द्वारा भी आगे-पीछेकी बातोंकी
सूचना दी जाती है।

नाटकके प्रधान पात्रको नायक (दे०) कहते है। धनंजयके अनुसार उसे १. विनीत, २. मधुर, ३. त्यागी, ४. दक्ष, ५. प्रियंवद, ६. द्युचि, ७. रक्तलोक, ८. वाग्मी, ९. रूढवंश, १० स्थिर, ११. युवा, १२. बुद्धिमान, १३. प्रज्ञावान्, १४. रसृति-सम्पन्न, १५. उत्साही, १६. कलावान्, १७. शास्त्रचश्च, १८. आत्मसम्मानी, १९. शूर, २०. हढ़, २१. तेजस्ती तथा २२. धार्मिक होना चाहिये। उसमे १. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गाम्भीर्य, ५. स्थिरता, ६. तेज, ७. लालित्य तथा ८. औदार्य—ये आठ सात्त्रिक गुण मी होने चाहिये। नाटकके अन्य पात्र—

'नायिका भेद')।

विद्षक, भृत्य, पुरोहित आदि सहायक पात्र होते है।
नायककी प्रिया या पत्नीको नायिका (दे०) कहते है,
यह आवश्यक नहीं कि वह उसकी पत्नी ही हो। भरत
मुनिने नायिकाके चार भेद किये है—१. दिव्या, २.
नृपत्नी, ३. कुलकी और ४. गणिका। किन्तु यह वर्गीकरण
सर्वमान्य नहीं हो सका। सर्वमान्य वर्गीकरणके अनुसार

नायिकाके स्वकीया, परकीया और सामान्या—ये तीन मुख्य भेद किये गये है। स्वकीयाके वयःक्रमानुसार तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्मा। परकीयाके दो भेद है—ऊढा (विवाहिता) तथा अनुढा (अविवाहिता) दि०

इनके अतिरिक्त नायिकाके हाव-भाव एवं व्यवहारके अनुसार कई अछंकार (दे०) है। वृत्तियों (दे०), अर्थात् नायक-नायिका आदिके आचरणके ढंगोके भी कई भेद किये गये है।

भाषा-प्रयोगके लिए भी भारतीय नाट्यशास्त्रमें पर्याप्त निर्देश किये गये हैं । भाषाके दो विभाग किये गये हैं — संस्कृत एवं प्राकृत । देवताओं तथा उच्च कोटिके पुरुषोंसे संस्कृत एवं स्त्रियो तथा नीच पात्रो द्वारा उनकी देशज भाषाका प्रयोग कराना विहित है । पात्रोंके वर्गोकरणके अनुसार उनके द्वारा वोली जानेवाली अपेक्षित भाषाओंको सूची भी नाट्यशास्त्रोमें दी गयी है । साथ ही उचित सम्बोधनोंकी सूची भी दी गयी है । पात्रोंके नामकरणपर भी नाट्यशास्त्रमें विस्तृत विवरण मिळते है ।

नाटककी मुख्य कथाको प्रारम्भ करनेसे पूर्व कुछ कृत्योंका विधान है। इन्हे पूर्वरंग (दे०) कहते है। पहले एक प्रकारको स्तुति होती है, जिसे नांदी (दे०) कहते है। नान्दीके बाद रंगद्वार (दे०) होता है, जिसमे देवताओको वन्दना सम्मिलित है। नृत्य भी होता है तथा स्त्रधार, विद्षक तथा स्त्रधारको सेवकको बीच वार्ता होती है और उसके द्वारा नाटकके कथानकको भी स्चना देनेके बाद वे चले जाते है। भरत मुनिके अनुसार इसके पश्चात् स्थापकका प्रवेश होता था, जिसके वेश द्वारा नाटककी कथाके देवी अथवा मानवी होनेका पता चलता था और जिसके द्वारा नाटकका प्रारम्भ होता था। भरत मुनिके पश्चाद्वर्ता नाटक शास्त्रियोने इसके बड़े स्टूम विवेचन तथा प्रभेद किये हैं। अधिकतर स्त्रधार द्वारा ही नाटकके प्रारम्भ करानेको व्यवस्था दी गयी है। ऐसा करनेमे वह भारती वृत्ति (दे०)का अनुसरण करता है।

भारतीय साहित्यका रस-सिद्धान्त भरत मुनिके नाट्य-शास्त्रका चिर ऋणी है, क्योंकि चाहे उन्होंने रस-सिद्धान्तका स्वयं प्रवर्तन न किया हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि आगे चलकर विद्वानोंने रसके सम्बन्धमे उन्हींका अनुकरण किया। रसकी चर्चा बहुत कालतक नाट्यशास्त्रसे सम्बद्ध होकर ही चलती रही।

रस (दे०)का अर्थ है आस्वाद्य (आस्वाद्यत्वाद्रसः)। जैसे भोज्य, पेय आदि पदार्थोंका स्वाद लिया जाता है, उसी प्रकार काव्य-रसका भी स्वाद लिया जाता है। भरत मुनिके अनुसार कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिये— 'न रसाहते कश्चिद्धर्थः प्रवर्तते'। इसीसे रस ह्वय-काव्यका एक अत्यावश्यक तत्त्व माना जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि नाटक रसका आश्रित है। भरत मुनिके अनुसार रसके आधार भाव (दे०) है। भाव मनके विकारोको कहते है। "वागंगसत्त्वोपेतान् का॰यार्थान् भावयन्तीति भावाः", अर्थात वाणी-अंग-रचना और अनुभृतिके द्वारा भाव कान्यार्थोंकी प्रतीत कराते है। इस बातपर बहुत विवाद हुआ है कि वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसमे रसका परिपाक होता है और इस सामग्रीसे उसका क्या सम्वन्थ है। भरत मुनिने तो केवल इतना ही लिखा है कि "विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भिन्न-भिन्न आचार्यांने संयोग तथा निष्पत्तिके भिन्न-भिन्न अर्थ किये और फलतः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद (दे०) जैसे विभिन्न रस-सिद्धान्त चल पड़े। नाटकोमे शृंगार और वीर रसको अत्यधिक महत्त्व दिया गया है तथा अधिकांद्य नाटक इन्हीं दोनोंपर आधारित है।

नाटकके प्राचीनकालीन रूप अव प्रायः लग्न हो गये है। पश्चिमी नाटकोके अनुकरणपर ही अब प्रायः सभी नाटक खेले जाते है। प्राचीन नाट्यरूपोके नामपर रास-लीला तथा यात्रा उत्तरभारतमे तथा कथाकली दक्षिणमें अवशिष्ट रह गये है। ये रास और यात्राऍ तत्त्वकी दृष्टिसे रहस्य-नाटक है, जिनमे कि कृष्णकी कथा वर्णित है। इस प्रकारके रास एवं यात्राएँ कम-से-कम गत दो सहस्र वर्षींसे लगातार होती चली आ रही है; पतंजलि(दूसरी शताब्दी)-ने 'जो कंसका वध हमारे सम्मुख करते है' कहकर उनकी चर्चा की है तथा उन्होंने इस प्रकारके प्रस्तुतीकरणोंकी तुलना चित्रकार द्वारा निर्मित चित्रोंसे की है। जयदेवका 'गीत गोविन्द' कृष्णकी रहस्य-लीलाओको साहित्यिक रूपमे अभिन्यक्ति प्रदान करना है। बहुत-कुछ इसीके समान रामलीलाका प्रस्तुतीकरण वार्षिक त्थोहार दशहरेमें होता है तथा जिसका सब-कुछ मूक नाट्यके रूपमे होता है। इन सबमे जो कुछ भी धार्मिक है और जो कुछ भी नाटकीय है, उनके बीच भेद करना असम्भव है। मलाबारकी कथाकलीमे शब्दोंका प्रयोग बिलकुल नहीं होता, किन्त उसमें समस्त अवस्थाओको मुद्राओं एवं रूप-सज्जाके माध्यमसे अभिन्यंजित करनेकीं शक्ति है।

नाटककी पाश्चात्य धारणा भारतीय धारणासे भिन्न है, अतः पाश्चात्य धारणाकी विवेचना आवश्यक है। अंग्रेजीमे नाटकके लिए ड्रामा शब्दका प्रयोग होता है। आइवर बाउनने ड्रामाका निम्नलिखित शब्दोमे विवेचन किया है— ड्रामा जिस यूनानी शब्दसे निकला है, उसका अर्थ है 'क्वत' अथवा किया हुआ। थियेटर (प्रेक्षागृह) जिस यूनानी शब्दसे निकला है, उसका अर्थ है प्रेक्षण खल। ऑडिएन्स (= प्रेक्षक समूह) लैटिन भाषासे आया है। नाटकके इतिहासका अधिकांश परिवर्तनोन्मुख नाटकीय मूल्योंकी कहानी है। प्राचीम कालमें नाटकोमे संवेगोंका प्रस्तुतीकरण प्रधान था, किन्तु धीरे-धीरे नाटकोमे विचार-प्रधानताका भी समावेश हुआ और दोनोंको समान महस्व दिया जाने लगा। आधुनिक नाटकोंके कार्य-च्यापारमें

बोर्द्धिकताको ही सम्पूर्ण महत्त्व दिया जाता है। प्रायः आधुनिक नाटक पठित रूपमे भी उतने ही प्रभावोत्पादक सिद्ध होते है, जितने अभिनीत रूपमे। ड्रामाकी 'कृत'वाली प्राचीन धारणाके अनुसार नाटक उन वयस्कोके लिए मनोरंजन एवं शिक्षाका साधन है, जो विचारोके भूखे है। अगर हम नाटकको एक ऐसी परिभाषा देना चाहे, जिसके अन्तर्गत आदि मानवकी मूक अनुकृतियों एवं धार्मिक कृत्योंसे लेकर आधुनिक मानवकी दार्शनिक विचारप्रधान नाट्य-रचनाएँ आ जायँ तो यह परिभाषा इतनी अस्पष्ट होगी कि लगभग व्यर्थ हीं सिद्ध होगी। सुविधाके लिए हमें 'कृत'-वस्तुके विषयमे दो प्रश्नोंके उत्तर खोजने चाहिये— १. क्यों ? २. केसे ?

क्योंवाले प्रइनके उत्तर दो दृष्टिकोणोसे दिये जा सकते है-- १. मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे और २. ऐतिहासिक दृष्टिसे। इन दोनों दृष्टिकोणोका समन्वय भी सम्भव है। अरस्तूने अपने कान्यशास्त्रमें ऐसा ही किया है। यूरोपकी जागर्तिके बादसे पाश्चात्य-विचारधारापर प्राचीन साहित्यके बढते हुए प्रभावके कारण अरस्तूके काव्यशास्त्रका नाटककी साहित्यिक धारणाओं पर अत्यधिक प्रभाव है। अरस्तूने नाटकके भेदोंका विशेष विवेचन किया है। अरस्तू द्वारा स्थापित (कार्य, समय एवं स्थानकी) एकताओं (त्रिसंकलन)का सिद्धान्त फेंच साहित्यमें बहुत लोकप्रिय हुआ तथा शैपलेन, रिशन्यू, कानींल तथा वॉयल्यूने इन सिद्धान्तोंके विशद विवेचन किये। ए० बी० वाकलेको, जो कि अरस्तूके नाट्य-सिद्धान्तोंका पक्षपाती था, बर्नार्ड शॉसे सदा यह शिकायत रहा करती थी कि वह सुपरिचित शास्त्रीय नाट्य-सिद्धान्तों-का पालन नहीं करता । बीसवी राताब्दीके पूर्वार्थमें शास्त्रीय नाट्य-सिद्धान्तोंका उल्लंघन काफी प्रचलित हो चुका था।

अरस्त्ने दोनों ही प्रकारोंसे नाटककी व्याख्या की। उसने यूनानी नाटकोंके उत्थानकी ऐतिहासिक व्याख्या धार्मिक कृत्योंमें होनेवाले सहगानोंके उल्लेख द्वारा की तथा नाटकीय संवेगोंकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक विवेचन द्वारा की (काव्यशास्त्र, ४)। बाल्यावस्थासे ही अनुकरण मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। संस्तिके अन्य जीवोसे वह इसी बातमें श्रेष्ठ है कि, वह सर्वाधिक अनुकरणशील प्राणी है और सर्वप्रथम अनुकरण द्वारा सीखता है। अरस्तूका यह कथन नितान्त सत्य है। मनुष्य पशु-पक्षियोंकी भॉति ही अनुकरणशील है। मानव-विज्ञान (एन्थ्रापालाँ जी)के अनुसार नाट्य-अभिनयके पीछे मनुष्यकी अपनेको प्रदर्शित करनेकी जन्मजात प्रवृत्ति भी निहित है। संसारके सर्वप्रथम अभिनेताने अपने परिजनोंके अणुकरण अथवा पड़ोसीकी हास्यानुकृति आदिसे चाहे जितना आनन्द उठाया हो, किन्त उसमेंका हास्य जैसे ही एक धार्मिक कृत्यके रूपमें नियन्त्रित हुआ होगा, उसी क्षणसे अभिनयमे गम्भीरताका समावेश हुआ होगा और बौद्धिक चिन्तन द्वारा उसका परिचालन प्रारम्भ हो गया होगा। सम्भवतः सर्वप्रथम 'कृत'वस्तु हास्यके प्रयोजनसे ही की गयी होगी, जैसा कि अरस्तूने अनुकरणकी पृष्ठभूमिमे सार्वभौम हास्यका उल्लेख करते हुए मुझाया है। किन्तु यह निर्विवाद है कि जब 'कृत' वस्तुएँ धार्मिक कृत्योंमें परिवर्तित हो गयी तो उनके उद्देश्य

भी गम्भीर एवं पवित्र हो गये। आदि कालमे आधुनिक कालकी भाँति लोग अभिनय मनोरंजनके लिए देखने नही जाते थे। दुःखान्त नाटकोके उद्भवके पूर्व ही सुखान्त नाटकोंका धार्मिक महत्त्व उठ चुका था ! सभ्यताके विकासके साथ-साथ अनुकृत वस्तुओके साथ सम्बन्धित धार्मिक भावनाका लोप होता गया और नाटककी धारणा बदलकर अवकाशके क्षणोंके मनोरंजनके रूपमें प्रतिष्ठित होती गयी। इस प्रकार नाटकके विकासमे दो प्रकारके परिवर्तन सन्निहित है—एक ओर तो आंगिक चेष्टाओ द्वारा संवेगात्मक संवर्षका प्रस्तुतीकरण नाटकका श्रेष्ठ गुण नही रह गया, वरन विचार-संवर्ष श्रेष्ठ गुण माना जाने लगा तथा दूसरी ओर प्राचीनकालिक देवी-देवताओंका स्थान मनोरंजक एवं भावोत्तेजक पात्रोने ले लिया। वास्तवमें नाटकका प्रारम्भ गीत एवं नृत्यके संयोगसे हुआ और आज भी नाटकका लोकप्रिय रूप गीत एवं नृत्यंका समन्वय ही है। किन्तु प्राचीन कालके नाटको, जो कि देवताओंकी प्रसन्नताके लिए खेले जाते थे तथा आधुनिक संगीतात्मक सुखान्त नाटकोंके उद्देश्यों एवं प्रकृतिके बीच जो अन्तर है, वह दोनोंके बीचका आधारभूत परिवर्तन सचित करता है। किन्तु यह परिवर्तन अन्तिम नहीं है, क्योंकि नाटकीय सुधारकर्ता अब भी नाटकको सामाजिक हित-साधन बनाना चाहते है, ठीक वैसे ही, जैसे प्राचीन धार्मिक न टक सामाजिक हितके लिए देवताओं के प्रसन्नतार्थ खेले जाते थे।

धार्मिक कृत्योंको नाटकका मूल स्रोत बताया जाता है। धार्मिक कृत्योंकी उत्पत्तिके प्रश्नपर अनेक मत है, जिनमेसे केवल मुख्य मतोंका ही हम यहाँ उल्लेख करेगे। पहले मतके अनुसार नाटकोंका उद्भव वर्ष अथवा ऋतु-परिवर्तनोंके अवसरोंपर आदिम जातियों द्वारा किये गये लोक-नृत्यो एवं लोक-गीतोंसे हुआ है। इस मतके अनुयायी अपने सिद्धान्त-की पृष्टिमें कुछ देशोंमें अब भी प्रचलित वर्ष एवं ऋतु-परिवर्तनके त्यौहारोपर होनेवाले लोक-गीतों एवं नृत्योंके आयोजनोंके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक दूसरे मतके अनुयायियोंने आदिकालीन लोक-नृत्योंका पर्यवेक्षण किया और समाधि-कृत्यको ही सबका मूल स्रोत बताया। उनके अनुसार 'कृत'वस्तु मृत व्यक्तिके सम्मानमें होती थी और उसका उद्देश्य मृतात्माको अमरत्व प्रदान करना था, जिसमे कि वह अमर होकर अपने परिजनों एवं समाजका उपकार एवं पथ-प्रदर्शन कर सके। विद्वानोंका मत है कि अभिनयका प्रारम्भिक रूप प्रार्थना-उपासनाका एक प्रकार-मात्र था। प्राचीन कालमे प्रार्थना इस उद्देश्यसे की जाती थी कि देवतागण मनुष्यकी पुकार सुनकर तदनुसार कामना-पूर्ति करें। उदाहरणके लिए, उगते हुए अनाजके पौधोंकी इसलिए लॉघा जाता था कि अनाजका पौधा खूब बढे और धरती उपजाऊ हो; धरतीपर पानीकी धार इसलिए गिरायी जाती थी कि वर्षाके देवता इस संकेतको ग्रहण करके वृष्टि करे। इन्हीं धार्मिक कृत्यों द्वारा नाट्यकलाका उद्भव हुआ तथा यह कला अवान्तरमे मनोरंजनका एक साधन बन गयी। अतः यदि इम नाटककी मूल प्रेरणा एवं उसके विभिन्न प्रकार-भेदोको उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें अच्छी तरह समझना चाहे तो हमें यह बात बराबर ध्यानमें

रखनी चाहिये कि नाटकोंका जन्म धार्मिक स्थानोंमें हुआ है। आदि नाटकोंके प्रदर्शक पुरोहित अथवा उनके सहकारी हुआ करते थे। उस समय पुरोहित सामाजिक कार्यकर्ला होते थे और राजनीतिशोंकी ही भॉति उनका भी दायित्व अपने सम्प्रदायकी रक्षा करनाथा। लोगोका यह विश्वास था कि पुरोहितकी ही कृपासे समाजका हित एवं रक्षा सम्भव है; पुरोहितकी ही उपासना एवं तन्त्र-मन्त्र आदिके प्रभावसे सूर्य प्रकाशमान् है तथा वृष्टि समयपर होती है। जैसा कि बताया जा चुका है, जब प्राचीन कालकी जनता अनाजके पौभोंकी लाँवती थी तो उसका यह विश्वास होता था कि डायनिसस (धरतीको उर्वरा बनानेवाले देव) भी उसके साथ-साथ अनाजके पौधोंको लॉघ रहे है और इस प्रकार धरतीको अधिक उर्वर शक्ति प्रदान कर रहे है। इसी प्रकार जब जनता मृत व्यक्तियोंकी समाधिपर धार्मिक कृत्योंका सम्पादन करती थी तो उसे यह विश्वास होता था कि इस मृतककी आत्मा अमर होकर अतिमानवी शक्ति प्राप्त करेगी तथा कठिनाइयों एवं संकटमे अपने सम्प्रदायकी रक्षा करेगी।

नाटकका अस्तित्व क्यों है अथवा कृत'वस्तुका उद्देश्य क्या है, इसके अनेक उत्तर है। स्वभावतः ही ये उत्तर समय एवं स्थानकी विशिष्ट परिस्थितियोके अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे। सभ्यताएँ एवं संस्कृतियाँ अपने आवश्यकतानुसार नाटकका सर्जन करती है। दूसरे प्रश्न 'कैसे'के उत्तर भी अनेक एवं भिन्न-भिन्न हो सकते है। नाटक पूर्णतः साम्प्रदायिक भी हो सकता है और व्यक्तिगत भी; पद्यात्मक भी हो सकता है और गद्यात्मक भी; उसका अभिनय व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों द्वारा भी हो सकता है तथा उसे पुत्तलिकाओं आदि द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। उसका साहित्यिक रूप रंगमंच एवं सामाजिक उद्देश्यसे प्रभावित रहता है। नाटकके लिए किसी विशेष नियम-बन्धनकी न्यवस्था नहीं की जा सकती और न ही अनुकृति शब्दके प्रयोग द्वारा कोई सीधी-सादी परिभाषा ही बनायी जा सकती है। नाटकके वहुतसे प्रारम्भिक एवं कुछ थोड़ेसे परवर्ती रूपोंमें जीवनका वास्तविक अनुकरण देखनेको नही मिलता। जीवनकी अनुकृतिके स्थानपर उनमें कल्पनाजन्य परिस्थितियोके चित्रण हैं। यह सच है कि उनमें भी किसी-न-किसी प्रकारकी अनुकृति अवस्य रहती है, किन्तु यह अनुकृति रूढिगत प्रतीकवादसे पेरित होती है। इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण प्राचीन यूनानी अभिनेता है, जिसने सामान्य मनुष्यकी अनुकृति करनेका प्रयत्न नहीं किया, वरन् जीवनसे भी अधिक विराट् वस्तु प्रकट करनेका प्रयत्न किया। इसीलिए वह नकली चेहरा लगाकर क्रत्रिम उपायों द्वारा अतिमानवी कद तथा रूप बना लेता था। इससे यथार्थवादी अभिनय असम्भव अवस्य हो जाता था, किन्तु धार्मिक कृत्यके वातावरणको उससे सहायता मिलती थी। इसी प्रकार मध्यकालीन रहस्यवादी नाटकोंमें अभिनेता प्रायः अपने अभिनयका परम्परागत चिह्न धारण करता था। जिस वस्त्रका अनुकरण असम्भव होता था, उसे यह चिह्न ही प्रकट करता था। यदि हम नाटकके इतिहासपर दृष्टि डालें नो हमें यह

विदित हो जायगा कि हर तरहके नाटकोंका प्रस्तुतीकरण अवतक हो चुका है—विशुद्ध कल्पनात्मक एवं प्रतीकात्मक अभिनयोसे लेकर आधुनिक रंगमंचींपर प्रस्तुत की जानेवाली जीवनकी वास्तविकताओंतकके अनुकरण हमें मिलेंगे।

इस प्रकार हम नाटकके विस्तृत अर्थमें किसी भी अनु-करणात्मक कार्यको नाटक कह सकते है, अर्थात्, 'हेमलेट'के प्रदर्शनसे लेकर प्रहसनमें विदूषकतकके अभिनय, मूक नाट्य, अथवा आदिकालीन धार्मिक कृत्य, सभी नाट्यकी श्रेणीमे आ जाते है। विशिष्ट अर्थमें 'नाटक' उस रूपकके लिए प्रयक्त होता है, जो अभिनेताओ द्वारा प्रदर्शनके लिए लिखा जाता है। यदि हम नाटकका और भी सीमिन अर्थ लें तो हम देखेंगे कि "नाटक वह गम्भीर तथा सामान्यतः यथार्थवादी रूपक-रचना है, जिसका उद्देरय दु:खान्त नहीं है, किन्त जो सुखान्तकी कोटिमे भी नहीं रखा जा सकता"! (फ्रेच लेखक डाइडराट रचित 'डि ला पोएजी ड्रामाटीक')। फ्रांसके डाइडराट, ब्यूमाकेंयस ('एसाय सरिकजेनरे ड्रामा-टीक सीरियक्स' नामक पुस्तकमे) तथा अन्य कई लेखकोने नाटकको वह भावात्मक रूपक माना है, जिसका कार्य समसामयिक समस्याओंकी विवेचना करना है। नाटकका विस्तृततम अर्थ है-"वह रूपक, जिसमें व्यक्तियोंका एक समृह (चाहे मध्यकालीन समाजका और चाहे आधुनिक व्यावसायिक नाट्य-निर्माताओंका) कुछ निश्चित चरित्रोका रूप धारण करके उनका अनुकरण जन-समूहके सम्मुख प्रदर्शित करता है"। यह अनुकरण धार्मिक अनुकरणके रूपमें भी हो जाता है और मनोविनोदके लिए भी। किन्त उद्देश्य जो भी हो, यह अनुकरण ही नाटकका मूलभूत सिद्धान्त है। नाटकका दूसरा अनिवार्य तत्त्व है-प्रेक्षक समाजकी उपस्थिति । मनुष्यकी अनुकरण-वृत्ति मूलरूपेण आत्म-प्रदर्शन एवं आत्मप्रतीतिका संदिल्ष्ट रूप है। यही कारण है कि इस वृत्तिको सन्तृष्टिके रिना देशकासन्दर्भ होता नितान्त आवश्यक है। उपन्यास और कविता एकान्तमे पढ़ी जा सकती है, किन्तु जब नाटककार नाट्य-रचना करता है तो उसकी मानसिक ऑखोके सम्मुख प्रेक्षकोंका समूह अवस्य रहना चाहिये। 'नाटक' शब्दसे अधिकतर उस संवादका बोध होता है, जो अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुतीकरणके लिए हो। इस सामान्य परिभाषाके अन्तर्गत दुःखान्त नाटक(ट्रैजेडी)से लेकर मँडैती (वर्लेस्क), प्रहसन (कॉमिक) तथा भाव-नाट्यतक आ जाते हैं।

यूरोपमे सबसे प्राचीन नाट्य-साहित्य यूनानमे मिलता है। नाटकोंका जन्म उन ग्राम्य समारोहोसे हुआ, जो प्राचीन एटिका प्रदेशमे विशिष्ट अवसरोंपर प्रकृतिदेवता डायिनसिसके सम्मानमें होते थे। अनुमान किया जाता है कि बैक्कस—मधके देवताकी पूजासे इनका चलन हुआ। उपर्युक्त समारोहोमें कुछ विशिष्ट लोग, जिनका आधा शरीर अजाचमंसे ढंका रहता था, बेक्कस देवताकी स्तुति(अग्रा-गोत)के मन्त्र गाते हुए वेदीके चारो ओर नृत्य करते थे। यह ६०० ई० पू०से पहलेकी घटना है। आधी शताब्दीके बाद एटिका निवासी थेरियसने गीतोंके बीचका समय भरनेके लिए कथा, व्यंग्यानुकरण और छोटे संवाद बढा दिये, जिन्हें एक अभिनेता समवेत गायकोंके नेताके साथ वार्तालाफो

द्वारा ब्यक्त करता था। उसने आगे चलकर रंगशालामे शिष्यका वेश पहनाकर पुरुषो द्वारा संवाद पढवाये और उन्हीं संवादोके पात्रको किनिशसने ५१२ ई० प्०मे पहले-पहल स्त्रीके वेशमे सबको दिखाया। प्राचीन यूनानमे दो प्रकारके नाटक होते थे—१. ट्रैजिक [दुःखान्त (दे०)] एवं .कॉमिक [प्रहसन (दे०)]। प्रहसनको लोग भूलसे सुखान्त अथवा कॉमेडी (दे०) कहते है। साधारणतः दुःखान्त नाटकका अन्त दुःखमय होता था और प्रहसनका सुखमथ। परन्तु दोनोंमें विशेष अन्तर यह था कि दुःखान्तमे मनुष्यके जीवनकी गम्भीर समस्याओंपर विचार होता था और उसकी विपत्तियों और कष्टोंका विवरण दिया जाता था, परन्तु प्रहसनमे हास्यास्पद और निम्न कोटिके मनुष्योंकी मूर्छताओं एवं असंगत कार्योंका विवरण दिया जाता था। दुःखान्त नाटक गम्भीर होनेके कारण सन्य लोगोंमे खेले जाते थे और प्रहसन ग्रामीणोमे।

मध्य कालमे इंग्लैण्डके ईसाई पादरियोंने बहुदेववादियों-के मनोविनोदात्मक नाटकोके समकक्ष नाटकोकी प्रनिष्ठा की थी, जो कालान्तरमें अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज), रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज) और भावावेश-प्रधान नाटक-(पैशन प्लेज)के रूपमें प्रचलित हुए थे। इन्हीके साथ-साथ नैतिक नाटको (मॉरेलिटीज)का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्हे पादरी अपने धर्म-प्रचारके उद्देश्यसे नगर-नगर घूमकर खेलते थे। यूरोपीय नाटकोंके आधुनिक रूपोका श्रीगणेश इन्ही नाटकोसे हुआ है, जिनमे ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नामसे ही ज्ञात है। संगीतनाट्य (मेली-डामा) वास्तवमे इटलीमें उत्पन्न हुआ, जिसमे दुःखान्त और प्रहसन दोनोंका सम्मिश्रण रहता है और जो हमारी भावनाओको अतिरंजित रूपमे चित्रित करता है। रिज्यविनी और उसके अनुयायियोंने काल्पनिक (रोमांसिक) नाटकोमे संगीतका समन्वय करके नाटकके इस रूपकी उद्भावना की थी। प्रहसनके भी अनेक रूप प्रचलित हुए जो अठारही शताब्दीमें शिष्टाचार-विषयक प्रहसनों (कॉमेडी ऑव मैनर्स)से चलकर भॅड़ैती (फार्स), नकल (मास्क), स्वॉग (बर्लेस्क), हास्य-प्रधान नृत्य-गीत-नाट्य (वादेविले), मूक अभिनय (पेण्टमाइम) तथा नृत्याभिनय (बॉले)तक विकसित हुए । अपर उल्लिखित संगीननाट्य (नेलीट्रामा) है नाटकके एक अन्य रूप संगीतनृत्यमय नाटक (म्यूजिक ऑपरा)की सृष्टि हुई। इसे गीतिनाट्य भी कहते है। नाटक-के इस रूपने धीरे-धीरे दु:खान्त एवं सुखान्त नाटकोंका स्थान ले लिया । जेनाने इस रूपको साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया।

१६वीं शताब्दीमें नाटककी प्राचीन रूदिगत सीमाएं टूटने लगीं और विभिन्न प्रकारके दुःखान्त एवं सुखान्त (कॉमेडी) नाटक लिखे जाने लगे। बादमे चलकर टूरेजी-कॉमेडी (सुख-दुःखान्त) नाटक भी लिखे जाने लगे, जो न तो सुखान्त थे, न दुःखान्त। सवाक् छायाचित्रोके आविष्कारके साथ-साथ यूरोपमें एकांकी नाटकोंका भी बंडुत प्रचार हुआ। कुछ लोग समझते है कि एकांकी दिं०) दसवीं शताब्दीमें उद्भूत हुए, किन्तु वास्तवमे इनका एजात बंडुत पहले ही हो चुका था। प्राचीन यूनान और इटलीमें लघु-प्रहसनं स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और

मध्ययुगमें प्रचिलत थे। अंग्रेजीमें रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और गर्भांक नाटक (इण्टरल्यूब्स)—सभी एकांकी ही थे। भ्रमणशील अभिनेता स्थान-स्थानपर 'ब्राल्स' नामसे छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे।

प्राचीन कालमें नाटक केवल पद्यमें ही लिखे जाते थे। सर्वप्रथम १६वी शताब्दीमें सुखान्त नाटकोंमें गद्यका व्यवहार हुआ। १८वी शताब्दीमें मध्यवर्गीय प्रेक्षक-समूहोंकी बढ़ती हुई मॉगके अनुसार नाटकोंमें गद्यका विशेष व्यवहार होने लगा तथा समसामयिक कथाओं एवं घटनाओंको भी उनमें स्थान दिया जाने लगा। इसके पश्चात् नाटकमें गद्यकी प्रधानता बराबर रहीं। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि नाटकमें पद्योंके लिए रुचि नहीं रह गयी। अधिकांश विद्वानोंका मत है कि नाटकमें संवेगात्मकता एवं तीवना पद्यके प्रयोगसे लायी जा सकती है।

नाट्यशास्त्रके प्रथम पाश्चात्य आचार्य अरस्तूने ड्रामाके ५ प्रधान तस्त्व माने है—१. कथावस्तु, २. चरित्र, ३. शैली, ४. विचार तथा ५. शिल्प एवं संगीत । उन्होंने इन तस्त्वोंपर विस्तारमे तथा गम्भीरतापूर्वक विचार किया है और अपने सिद्धान्त स्थापित किये है ।

विद्वानों में इस बातपर बहुत विवाद रहा है कि नाटक में कथावस्त (दे०) अधिक मुख्य है अथवा चरित्र-चित्रण (दे०) । अरस्तूके मतानुसार घटना-संघटन द्वारा चरित्र-चित्रण अनिवार्यतः हो ही जाता है, अतः नाटकमें प्रधान तत्त्व घटना-सघटन है, चरित्र-चित्रण नही। किन्तु डाइ-इनका विचार है कि कथानकका नाटकमे न्यूनतम महत्त्व है। वैनब्रफ इस विरोधी धारणाकी और पुष्टि करता है। वह कहता है, "मुझे विश्वास है कि मै यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक सन्देश घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापारकी अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य-पर अधिक निर्भर होता है"। इस विषयपर मतभेद है। एडिथ हैमिल्टन अपने मतका प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'श्री ग्रीक प्लेज' (१९३७)में करते हुए कहना है कि एशि-लस-लिखित 'प्रोमेथ्यूज बाउण्ड'में मुख्य वस्त उसके नायकका बन्दी होना है, जब कि अन्य लेखक सम्मिलित स्वरमें कहते हैं कि वार्तालाप द्वारा प्रोमेथ्यूजके चरित्रका उद्घाटन ही उस सम्पूर्ण नाटकका सर्वस्व है। नाटकके कार्य, अर्थात् प्रोमेथ्यूजके बन्दी होनेका महत्त्व तो केवल इस बातके साक्ष्यमें है कि दुःखान्त नाटक मूलतः एक महान् आत्माका प्रपीड़न है, जिसमें उसे महान् क्षति उठानी पडती है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि नाटकीय कार्य जैसे प्रपीडन, क्षिति आदि घटनाओंका नाटकमे नगण्य महत्त्व है। वास्तवमें कार्यका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे शरीरके किसी अंगके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा आव-स्यक है, कौन-सा नहीं।

पारचात्य धारणाके अनुसार नाटकमें ऐसे मावात्मक वस्तु-तत्त्वका होना अति आवश्यक है, जो संघर्ष उत्पन्न करे। इस संघर्षका चाहे अन्तमे समाधान हो या न हो,

पर नाटकमें इसकी उपस्थिति अनिवार्य है। मन्ष्यकी अनुकरण-प्रवृत्ति तभी नाटकका रूप ग्रहण कर सकती है, जब कि वह कोई मानसिक एवं भौतिक संघर्ष प्रस्तत करती हो, अर्थात जब वह कार्यमें परिणत होती हो। पाइचात्य नाट्यशास्त्रियोने नाटकके कार्य-व्यापारकी पाँच स्थितियाँ मानी है-१. आरम्भ या प्रस्तावना (एक्सपोजीशन). २. कार्यविकास (राइज ऑव ऐक्शन), ३. संघर्ष या चरम सीमा (क्राइसिस, क्लाइमेक्स), ४. निगति (डेन्यमॉ) और समाप्ति (कनक्ल्यजन)। प्रस्तावना या आरम्भ (दे०)मे नाटककारका उद्देश्य होता है प्रेक्षकोंको वे सारी सचनाएँ दे देना, जो नाटकको समझनेके लिए आवश्यक हों। वास्तवमें इससे पर्व कि वे विविध चरित्रोंके भाग्य-निर्णयके विषयमें उत्सक हों, उसके पहले चरित्रोके विषयमे यह जान लेना आवश्यक है कि वे कौन है, क्या है, नाटकीय कार्य-व्यापार प्रारम्भ होनेसे पहले उनका परस्पर क्या सम्बन्ध था, इत्यादि-इत्यादि । यनानी नाट्यकार सपरिचित कथाओंको प्रारम्भमे रख देते थे अथवा प्रोलोगम सारी कथाका सारांश दे देते थे। उत्कृष्ट प्रस्तावनाकी विशेषता यही होती है कि वह स्वाभाविक वातचीतके रूपमे होती है और प्रारम्भिक घटनासे इतनी सम्बद्ध होती है कि दर्शकको यह अनुभव नहीं हो पाता कि उसे वे सूचनाएँ जान-बझकर दी जा रही है। उदाहरणके लिए, इब्सनके 'ए डाल्स हाउस' तथा 'गोस्ट्स' इत्यादि नाटकोमे यह विशेषता मिलती है। इसी प्रकार शेक्सपीयरके 'हैमलेट'में भी कार्य-व्यापारके वीच अपेक्षित सचनाएँ हमे ठीक समय-पर मिलती जाती है। किन्तु 'ऐज यू लाइक इट'में "नये दरवारमे कौन-सा नया समाचार है ?" "कछ नहीं: बस वही पुराना समाचार है"के बाद वह पुराना समाचार दर्शकोके लिए दुहराया गया है। आरम्भ या प्रस्तावनाके बाद प्रारम्भिक घटना आती है, जिससे कार्य-विकासका प्रारम्भ अथवा संघर्षका सत्रपात होता है। प्रारम्भिक घटना तथा प्रस्तावनामे अन्तर यह है कि प्रस्तावना नाटकके कार्य-व्यापारसे प्रथक एवं उसकी भूमिका है, अर्थात नाटकीय कथा-वस्त जहाँ प्रारम्भ होती है। वहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है। नाटकीय कार्यका आरम्भ किसी मानसिक अथवा बाह्य घटना द्वारा होता है, जो कि नाटकीय संघर्षका बीजारोपण करता है। इसे प्रारम्भिक घटना कहते है। उदाहरणके लिए, 'रोमियो एण्ड जूलिएट'मे जूलिएटके माता-पिता द्वारा जूलिएटका विवाह काउण्टी पेरिससे करनेका निश्चय नाटकीय संघर्षको जन्म दे देता है, अतः वह प्रारम्भिक घटना है। प्रारम्भिक घटना (दे०)से ही कार्य-विकासका प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक घटनासे लेकर सघर्षतकका भाग कार्य-विकास होता है। कार्य-विकासका पूर्वभाग उलझन तथा समस्याओसे पूर्ण होता है और उसमे कार्य नाटकीय संघर्षकी दिशामें अयसर होता है। प्रस्तावनामें जो चरित्र एवं परिस्थितियाँ प्रकट हुई थी, उन्हींको लेकर घटनाएँ स्वामाविक गतिसे आगे बढ़ती है। कार्य-विकासके बाद संघर्ष(दे०)की स्थिति आती है। यह वह स्थिति है, जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती है तथा कथावस्तुको निर्णयात्मक क्षण प्रदान

करती है। संघर्षके बादसे ही एक शक्ति बलवती तथा दसरी क्षीण एवं निरुपाय होने लगती है। संघर्षमें केवल दो विरोधी शक्तियाँ होती है, अधिक नहीं, क्योंकि प्रेक्षककी सहानुभति केवल एक ही शक्तिके साथ होती है नथा अन्य समस्त ज्ञक्तियाँ या तो उसको सहायता करती है या विरोध । इस प्रकारके विरोधोक कई रूप हो सकते है, यथा नायक एवं खलनायक, व्यक्ति एवं समाज, प्रेम और कर्तव्य. आस्था एवं अनास्थाके वं च होनेवाले विरोध अथवा मनष्यके अपने ही मनमें होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व । संघर्षके लिए नाटकीय हेत अथवा चरम लक्ष्यका होना आवश्यक है। संघर्षकी घटनाएँ कार्य-व्यापारका ही अंश है। नाटक-का वह स्थल, जहाँ विरोधी शक्तियोकी हार-जीतका अन्तिम निर्णय होता है, संघर्ष एवं चरम सीमा कहलाता है। संघर्षके बाद समाप्ति अथवा परिणाम (कनक्ल्यूजन अथवा कैटास्टाफी) आता है। परिणाम (दे॰) कथावस्तुकी वह अन्तिम स्थिति है, जिसमे संघर्षका अन्त हो जाता है और नाटकका अन्तिम परिणाम हमारे सम्मख आता है। अरस्तके मतानसार परिणामका स्वाभाविक होना अति आवश्यक है। यदि नाटकका परिणाम कार्य-कारणके मिद्धान्तपर आधारित न होकर केवल संयोगपर आधारित हो तो वह निम्न कोटिका और बुटिपूर्ण माना जायगा।

नाटकीय वस्तु-विधानकी कुछ अन्य विशेषताएँ भी है, जो पाइचात्य नाट्यसाहित्यको समझनेके लिए, अत्यन्त आवश्यक है । प्रायः पाइचात्य नाटककारोंने अपने नाटको-की कथा-योजनामे समानान्तरवाद(पैरेलेलिज्म)का प्रयोग किया है। समानान्तरवाद वहाँ होता है, जहाँ कार्यके एक भागका प्रधान भाव उसके दूसरे भागमे फिरसे दिखाई देता है और इस प्रकार कार्यके दोनो ही भाग एक-दूसरेके प्रधान भावकी पृष्टि करते है। शेक्सपीयरने समानान्तर-बादका काफी प्रयोग किया है। उदाहरणके लिए, 'ए मिड-समर नाइटस डीम'मे प्रेमको एक निर्वाध शक्तिके रूपमे चित्रित किया गया है, जिसके कारण एक ओर तो लडिकयाँ अपने मात-पिताओंके विरुद्ध विद्रोह कर देती है और दसरी ओर प्रेमीगण अद्भुत दृद्ताका परिचय देते हैं। आलोचकोके अनुसार इस नाटकके दोनों ही अंशोमे एक ही मुख्य भावना आयी है, अर्थात् प्रेम एक ऐसी शक्ति है, जिसे कोई वन्धन स्वीकार नहीं। दूसरे प्रकारके समा-नान्तरवादका उदाहरण हमें 'किंग लियर'मे मिलता है, जिसमे दो कथानक है जो कि लगभग प्रत्येक बातमें एक-दसरेसे मिलते हैं। एक कथामें एक पिता अपनी पुत्रियों द्वारा प्रवंचित होता है और केवल उस पुत्रीमे उसे सच्चा प्रेम मिलता है, जिसके प्रेमकी उसने सदैव उपेक्षा की थी। दुसरी कहानीमें एक पिता अपने पुत्रोका चरित्र परखनेम धोंखा खाता है और अन्तमें उसे सच्चा प्यार उसी पुत्रमें मिलता है, जिसे उसने हत्यारा समझकर मार डालनेका निश्चय किया था। इस प्रकार लेखकने दो विभिन्न कथा-नकोको समानान्तरबादको महायतासे मिलाकर तथा उनमें एक-सी ही भावनाका दिग्दर्शन कराकर शक्तिशाली करुण नाटककी सृष्टि कर दी है।

असाद्दय (कण्ट्रास्ट) नाटकीय वस्तु-विधानकी दूसरी

विशेषता है। विना इस सिद्धान्तके प्रयोगके नाटकमें सशक्तता कभी नहीं आ सकती। असाद्यमें ही संवर्षके वीज निहित होते हैं, अतः व्यक्तियों, भावावेगो तथा स्वाथों—किन्हीं भी वीच होनेवाले संघर्षों पीछे असाद्ययका होना निश्चित है। उदाहरणके लिए, 'मैकवेथ'के प्रारम्भमे ही हमें मैकवेथकी उच्च कोटिकी विशेषताओ एव महान् गुणोंका परिचय मिलता है, जिसके कारण अन्तमे होनेवाली दुष्टताकी विजय प्रेक्षकोंमे बहुत गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेमें सफल होती है। इसी प्रकार 'रोमियो एण्ड ज्लिएट'के प्रारम्भमे जो उक्लास एवं हर्षयुक्त वातावरण है तथा गीत्यात्मक संवेगोंवाले दृश्य है, वे नाटकके दुःखद अन्तकों और भी गहरा रंग प्रदान करते है। यह प्रारम्भिक एवं अन्तिम कथाभागोंके असाद्द्यका ही फल है।

उपर्युक्त उदाहरण कथानक-सम्बन्धी असाद्दर्योंके है। असाद्दर्य चिर्त्रोंके बीच भी होते है, भिन्न-भिन्न पात्रों अथवा नायक तथा खलनायक आदिकी व्यक्तिगत विशेषताएँ असाद्दर्यके सिद्धान्त द्वारा उभरती है। असाद्दर्यके सिद्धान्त द्वारा उभरती है। असाद्दर्यके सिद्धान्तका नैतिक उपयोग भी सम्भव है, अर्थात् विभिन्न नैतिक आदर्शोंकी तुलना द्वारा उनके आपेक्षिक गुणों या अवगुणोंका निर्णय हो सकता है। नाटकीय विडम्बनाओं (ड्रामेटिक आयरनीज)मे भी असाद्दर्यके सिद्धान्तका प्रयोग होता है, जिससे एक ही विषयके दो पक्षोका असाद्दर्य प्रदर्शित कर विचित्र स्थिति उत्पन्न करनेकी चेष्टा की जाती है। शेक्सपीयरके 'हेनरी फिप्पथ' (अंक २, दृश्य २)में इसी प्रकारका स्थिति-वैचित्र्य मिलता है। सोफाक्लीजके 'इलेक्ट्रा' नाटकों भी इसी प्रकारकी परिस्थिति है।

नाटकमे रुचि उत्पन्न करनेवे लिए रहस्यात्मक शैलीका भी उपयोग किया जाता है, इसीलिए उसमें रहस्य-गोपन तथा आकस्मिक विस्मय (कन्सीलमेण्ट, सर्पाइज)से भी काम लिया जाता है। कथा-वस्तुके रचना-विधानमें नाटककार द्वारा दो शैलियाँ अपनायी जा सकती है-वह शैली, जिसमें प्रेक्षक प्रारम्भसे अन्ततक चरित्रों, घटनाओं तथा मनोवृत्तियों आदिके विषयमें अनजान एवं उत्सुक रहता है और अन्तमें वास्तविक घटनाओं के उद्घाटनसे वह प्रभा-वित एवं आइचर्यचिकत हो जाता है; दूसरी शैली वह हो सकती है, जिसमे नाटककार प्रारम्भसे ही मुख्य पात्रों, उनकी मनोवृत्तियों आदि वातोका प्रकाशन कर देता है और तब उनके लक्ष्योंको साथमें लेकर कहानी आगे बढाता है। शेक्सपीयरने दूसरी शैलीको ही अपनाया है, उसके खल पात्रों आदिक्षां मनोवृत्ति प्रारम्भमे ही प्रकट रहती है और उसीके आधारपर आगेकी कथा बढ़ती है। यही रौली अपेक्षाकृत उत्तम होती है।

नाटक-रचनाके सम्बन्धमे कार्य, देश और कालकी एकता(संकलन-त्रय)की भी बराबर चर्चा हुई है। सबसे पहले अरस्तूने इस सिद्धान्तका विवेचन किया था। उसने कार्यकी एकता या संकलनका सिद्धान्त इस प्रकार प्रति-पादित किया है—नाटकीय कथानक केवल एक घटनाके अनुकरणपर होना चाहिये तथा सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु एवं उसके विभिन्न अंश इस प्रकार संघटित होने चाहिये कि यदि उनमेंसे एक अंग भी निकाल दिया जाय अथवा

स्थानच्युत हो जाय तो सम्पूर्ण नाटकमे परिवर्तन आ जाय (कान्यशास्त्र, ८)। उसने कालकी एकतापर भी यह कहकर जोर दिया है कि दुःखान्त नाटकका घटनाकाल केवल एक दिनका होना चाहिये, किन्तु इस अविधमें स्वरूप परिवर्तन मी हो सकता है (कान्यशास्त्र, ५)। अरस्तुका यह कथन 'काल-संकलन'के इस परवती सिद्धान्तके बहुत निकट पडता है कि महाकाव्योंकी तुलनामें दुःखान्त नाटक लघु होते है तथा अपेक्षाकृत संकुचित सीमाओं एवं संकीर्ण क्षेत्रमें घटित होते हैं (कान्यशास्त्र, २६)। यूरोपके पुन-र्जागरणके पश्चात् १५७० ई० में उपर्युक्त संकलन-त्रयके सिद्धान्तका कैस्टेलवेट्रो-लिखित 'पोएटिका' (काव्यशास्त्र)मे वर्गीकरण एवं विवेचन हुआ है। कैस्टेलवेट्टोके इतालवी तथा बादमे फ्रान्सीसी समर्थकोने इस सिद्धान्तको अपनाया तथा प्रचारित किया। इस प्रकार इस सिद्धान्तके अनुसार (१) नाटकका कार्यव्यापार संघटित एवं सम्पूर्ण होना चाहिये, (२) घटना-काल २४ घण्टोका होना चाहिये, यद्यपि कुछ नाट्यशास्त्रियोंके अनुसार यह समय ३६ घण्टेका होना चाहिये तथा (३) दृश्य अपरिवर्तित होना चाहिये अथवा कम-से-कम एक नगरमें ही सीमित होना चाहिये।

उपर्शुक्त सिद्धान्तका वर्तमान नः स्त्रसाहित्यने कड़ाईसे पालन नहीं होता और नाटकोंकी रचनामें इन नियमोकी अपेक्षा न करके स्वतन्त्रतासे काम लिया जाता है।

आधुनिक धारणाके अनुसार नाटक जीवनकी व्याख्या है, जो हमारी समस्याओं एवं उनके हलोंको हमारे सममुख प्रस्तुत करता है। नाटक नैतिक मूल्योंकी दृष्टिसे मानवीय अभिव्यक्तिका एक श्रेष्ठ साधन है। सैद्धानिक रूपसे यह साहित्यका आत्म-निरपेक्ष रूप है, इनमे लेखकके व्यक्तित्वका प्रवेश नहीं होता। लेखक इसमें जो कुछ भी कहना चाहता है केवल संवादोंके माध्यमसे कहता है, अन्यथा सब कुछ घटनाओसे स्वतः व्यंजित होता है। आज नाटक आकारमें लघुता, उद्देश्यमें सूक्ष्म मनोविद्यलेषण तथा माध्यममें पाट्य और कलात्मक अभिनयकी ओर जा रहा है।

भारतवर्षमें नाटक-परम्परा चिर प्राचीन है। मनुष्यमे अनुकरणकी प्रवृत्ति जन्मसे ही आरम्भ हो जाती है और इस प्रकार नाटक अनादि कालसे मानव-सृष्टिका चिरसहचर रहा है। परन्तु साहित्यमें उसके प्रथम रूपके उपकरण ऋग्वेदके यम-यमा और पुरुरवा-उर्वशी जैसे सुक्तोमे सिन्निहित संवाद, सामवेदके गीत, यजुर्वेदके अभिनय तथा अथर्ववेदके रसमे प्राप्त होते है। सम्भवतः संहिता-कालमें याज्ञिक क्रिया-कलापके अवसरपर सोमराजके क्रय-विक्रयके सम्बन्धमें यजमान विक्रेता तथा अध्वर्यके वार्तालापमें अभिनय भी होता था। भरतके अनुसार देवासुर-संग्रामके पश्चात् इन्द्रध्वजके महोत्सवपर देवताओने नाटकका आरम्भ किया था। वैदिक कालके अनन्तर नाटकमें नृत्यका योग हुआ। 'रामायण' और 'महाभारत' तथा अन्य प्रचलित लघु-कथाओं से भी नाटकको पाठ्य और संगीतकी प्राप्ति हुई, जो यज्ञादिके अवसरपर 'रामायण' और 'महाभारत'के संगीतमय पारायणसे स्पष्ट है। इस प्रकार नाटकका जन्म भारतमें भी धार्मिक लौकिक वातावरणमें हुआ है।

'वाल्मीकि-रामायण'के बालकाण्डमे नाटकमंघ, 'महाभारत'मे रंगाभिसारके विशद वर्णन तथा पाणिनिके 'अष्टाध्यायी'के नट, कुशीलव जैसे शब्दोसे यही अनुमान होता है कि आठवी राती ईसवी पूर्व नाटक-ग्रन्थ रहे होगे। पतंजिक 'विलवन्ध' तथा 'कंसवध' जैमे नारकोके अस्तित्व-विषयक निर्देश तथा अभिनय, चित्रण, पाठ जैसे शब्दोके प्रयोगसे भी नाटकीय अभिनयकी सम्भावना होती है। 'हरिवंश'मे उल्लेख है कि रामने 'रामायण'की कथाका अभिनय किया और नारदने कृष्ण, बलराम, अर्जुन, सत्यभामा आदिके हाव-भावोका अनुकरण करके दिखाया। बौद्ध कालकी जनतामें भी नाट्यकलाके प्रति अभिरुचि थी। अवदान-शतकोमे नाट्यकलाका निर्देश है। भरतके 'नाट्य-शास्त्र'मे 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपरदाह' जैसे नाटक ग्रन्थोका उल्लेख है।

संस्कृत साहित्यमें कालिदासके पूर्व सौमिल्ल, कविपुत्र जैसे नाटककारोके होनेका उल्लेख मिलता है, किन्तु केवल भासके 'प्रतिमा' नाटक, 'अभिषेक' नाटक 'पंचरात्र', 'दूतवाक्य', 'मध्यम व्यायोग', 'दृत वटोत्कच', 'कुर्णभार', 'उरुभंग', 'बालचरित' 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'स्वप्नवासव-दत्ता', 'चारुदत्त', 'अविमारक' जैसे नाटक ही शेष रहे है। किन्तु कालिदाससे दसवी शतीतक नाटकोकी अविच्छिन्न परम्परा प्राप्त होती है। इस बीच कालिदासके 'मालवि-काग्निमित्र', 'विक्रमोर्वद्यीय', 'अभिज्ञानश्कुन्तल्', शूद्रक-के 'मृच्छकटिक', अदव्योषके 'सारिपुत्तप्पकरण', दिङ्नाग-के 'कुन्दमाला', विशाखदत्तके 'मुद्राराक्षस', 'विशाखदेव', 'देवी चन्द्रदेव', 'अभिसारिकावचितक', अज्ञात लेखकके 'कौमुदीमहोत्सव', हर्षदेवके 'रत्नावली', 'प्रियदशिका', 'नागानन्द', भझ्नारायणके 'वेणीसहार', भवभूतिके 'उत्तर-रामचरित', 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित', हनुमान्के 'हनुमन्नाटक', राजशेखरके 'कर्परमंजरी', 'बालरामायण', 'विद्यशालमंजिका', 'वालमहाभारत', क्षेमीदवरके 'चण्ड-कौशिक', 'नैपदनन्द' जैसे नाटकोकी धारा प्रवहमान है। तत्पश्चात् संस्कृत नाटकोको धारा क्षीण हो गयी, क्योंकि राजाश्रयकी समाप्तिके साथ-साथ रंगमच भी समाप्त हो गया। तथापि क्षेमेन्द्रके 'चित्रभारत', 'कनकजानकी', विल्हणके 'कर्णसुन्दरी', वत्सराजके 'रुक्मिणीहरण', 'समुद्र-मन्थन', जयदेवके 'प्रसन्नराघन', विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रिय-क्ल्याण', उद्दण्डके 'मल्लिकामारुत', रूपगोस्वामीके 'विदग्धमाधव', 'ललितमाधव', 'दानकेलिकौमुदो', कृष्ण मिश्रके 'प्रबोधचन्द्रोदय', वेदान्तकेशिकके 'संकल्पस्योदय', गोकुलनाथके 'अमृतोदय', 'रत्नखेत', श्रीनिवास दीक्षितके 'भावनापुरुषोत्तम', वेदभावके 'विद्यापरिणय', भूदेव शुक्तके 'धर्मविजयनाटक' मेघप्रभाचार्यके 'धर्माम्युदय', 'पाण्डवा-भ्युदय' जैसे नाटक लिखे गये। इन संस्कृत नाटकोमे रसोन्मेष, महनीय और आदर्श चरित्रोंकी अवतारणा, काञ्यात्मक वातावरण, नायककी विजय, सुखान्त आशीः, रसानुकूल वस्तु-प्रकृति, अवस्था और सन्धिके निर्वाह, कथाकी सरलता, रंगमंचीय सज्जा, वेश और वचनके विन्यास, धर्म, अर्थ, कामके समसेवनपर वल दिया गया है। प्राकृत और अपभ्रंशमें नाटकोंका प्रायः अभाव है।

हिन्दी साहित्यमे अठारहवी शतीतक काव्यका एकाधिपत्य रहा । प्रायः इस कालकी दीर्घ अवधिमे सामाजिक अवस्था, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, दुःखवाद और वैराग्यकी ओर प्रवृत्ति, अन्तर्मखता, राजाओं-नवाबोकी कहापोहात्मक काव्य-सूक्तियोमे अभिरुचि, कवियोंकी कविताके प्रति एकान्त रुचि, राष्ट्रीय रंगमंचका अभाव तथा गद्यसाहित्यकी हीनता इत्यादि अनेक कारणोंसे नाटकोंका अभाव रहा । विवाहोंसे शास्त्रार्थकी योजना, गाँवोके स्वाँग, नकल, निम्नवर्गाय जन-समूहके नाच-गान, कठपुतलीके नृत्य, छायाचित्र, भॉड्भडेती, रामलीला, रासलीला जैसे लोकनाट्योके रूपमे नाटकके दर्शन अवस्य हो जाते है । लिपिक्दरूपमे चौदहवी शतीके विद्यापतिके 'रुक्मिणीहरण', 'पारिजातहरण' नाटकों तथा सोलहवी शतीके 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका'-के संवादोमे भी नाटकीयताकी झलक है। सत्रहवी रातीके केशवके 'विद्यानगीता', कृष्णजीवनके 'करुणाभरण', हृदय-रामके 'हनुमान् नाटक', यश्चवन्त सिहके 'प्रवोधचन्द्रोदय', अठाहरवी शतीके नेवाज कविके 'शकुन्तला', देवके 'देवमायाप्रपंच', आलमके 'माधवानलकामकन्दला' और उन्नीसवी रानीके महाराज विश्वनाथ सिहके 'आनन्दरघु-नन्दन', मंजुके 'हनुमान् नाटक', मनसारामके 'रघुनाथ-रूपक', कृष्णशर्मा साधुके 'रामलीलाबिहार नाटक', हरिरामके 'जानकीरामचरित नाटक', ब्रजनासी दासके 'प्रवोधचन्द्रोदय नाटक' जैसे नाटकोकी परम्परा मिलर्ता है। पर ये वास्तवमे नाममात्रके ही नाटक है। ये या तो अधिकां रा अनुवादित है या 'रामायण' और 'महाभारत'की कथाओंपर आधारित पद्यात्मक कृतियाँ है। अतः नाट्य-कलाकी दृष्टिसे ब्रजभाषामे लिखा गया गोपालचन्द्र 'गिरिधर-दास' कत 'नहुष' ही हिन्दीका प्रथम नाटक है।

भारतेन्दुसे पूर्व रामलीला, रासलीला, हनुमान्कीला, ढोला-मारू, इन्दल-चित्रलेखाकी प्रेमकथाएँ, पूरनचन्द, गोपी-चन्द, हकीकतरायकी सगीतपूर्ण नौटंकियाँ, सांगीत, नकल, नट, भॉडोके खेल इत्यादिमें नाट्यकलाकी जो सामग्री है उसने कोई साहित्यिय नाटक नहीं दिया, किन्त अठारह सौ पचास ईसवीके पश्चात एक और अमानतवृत 'इन्दर-सभा' (गीतिनाट्य) और उसके अनुकरणपर लिखे गर्ये 'मुछन्दर-सभा', 'बन्दर-सभा', 'नाटक छैल बटाक मोहना रानीका', रौनक बनारसीका 'गुलबकावली' और 'इंसाफे महमूद'से जनिवय नाटकोकी और दूसरी और मुद्रणयन्त्रकी सुविधा, अंग्रेजी साहित्यके सम्पर्क, संस्कृत, अंग्रेजी, बॅगलाके अनुवादों-रूपान्तरोसे साहित्यिक नाटकोकी परम्परा आरम्भ होती है। भारतेन्द्रने सबसे पहले १८६८ ई०मे बॅगलाके 'विद्यासुन्दर' प्रेमप्रधान नाटकका अनुवाद किया। फिर उनके समकालीन श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, अम्बिकाटत्त न्यास, राधाकृष्ण दास, वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', राय देवीप्रसाद 'पर्ण'-के आगमनसे खड़ीबोलीमे लिखित साहित्यिक नाटकोंकी परम्पराके मौलिक और अनुवादित नाटकोंका सर्जन आरम्भ

उन्नीसवी शतीकी जनरुचिमे आदर्शहीनता, नैतिक पतन और प्रेमके विकृत रूपकी पूजा देखकर पारसी थिएटरोने

जिन नृत्य और मगीतप्रधान किन्तु आदर्शहीन, अश्रील नाटकोको प्रोत्साहन दिया था, उनके विरुद्ध भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने जनताकी रुचिका परिष्कार करनेके लिए आदर्शवादी नाटचकलाके उत्थानका प्रयत्न किया। उन्होने संस्कृत और पारसी रंगमंचीय शिष्टतामे प्रयक्त पाश्चात्य नाट्यकलाके तत्त्वोसे अपनी स्वतन्त्र नाट्यकलाका विकास किया। 'श्रीचन्द्रावली' (नाटिका), 'विषस्य विपमौषधम्' (भाण), 'नीलदेवी', 'सती-प्रताप', 'भारतदुर्दशा' (नाट्य-रासक) और 'प्रेमयोगिनी'मे संस्कृत नाट्यकलाका प्रभाव है। दूसरी ओर 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति भे पारसी थियेटरोकी कलाका रंग है। भारतेन्द्रके सहयोगी नाटककार रीतिकवियोसे प्रभावित है। उनके नाटकोमे जीवनकी चमत्कारपूर्ण घटनाओंका चयन, प्रवाहहीन कथानक, कार्यकी अनेकरूपता, निरुद्देश्य दश्य-विधान, अस्वाभाविक कथोपकथन, वाग्वैदग्ध्य, व्यक्तित्वहीन पात्रोंके आनयनका आधिक्य है। भले ही उनके नाटकोंमे अन्य रंगमंचके अभावके कारण पारसी रंगमंचकी पद्यप्रधान कलाको ग्रहण किया गया हो, किन्त उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर देशहितैपिता, समाज-स्रधार और राष्ट्रप्रेम है। वास्तवमें उन्नीसवी शती उत्तरार्थमे नाट्यकला दो दिशाओमे विकसित हुई है। एक ओर उसने शेक्सपीयर-के रंगमंचसे प्रभावित पारसी रंगमंचको अपनाया है, जिसमें उर्दू कविताकी रंगीनी है, जिसके कथानक फारसीकी प्रेम-कथाओ, पुराणोकी रोचक कहानियों, अंग्रेजीके रोमांचकारी साहसपूर्ण नाटकों, आख्यानो, कथाओसे ग्रहण किये गये है। दूसरी ओर वह गोष्ठी नाटकोंकी कलामें न्याप्त हो गयी है, जिसका वातावरण रीतिकवियों जैसा ही है, जिसके कथानक संस्कृत नाटकों तथा पौराणिक आख्यानोंपर आधारित है, जिनमे कथाकी वैचित्र्यहीनता और अलंकृत एवं क्रित्रमतापूर्ण शैली मिलती है। ये दोनों ही नाट्यकलाएँ बीसवी शतीके प्रथम दशकतक प्रवाहके साथ प्रयोगमें आती रही है।

भारतेन्द्रकालमें प्रकारकी दृष्टिसे संस्कृत नाट्यकलाके आदशौंपर रचे गये साहित्यक, अभिनयकी सुविधाओके अनुकूल लिखे गये रंगमंचीय, व्यंग्थ और हास्यपूर्ण सो देश्य प्रहसन, पारसी शैलीके प्रचारप्रधान तथा संस्कृत, अंग्रेजी और बॅगलासे अनुवादित या रूपान्तरित पाँच प्रकारके नाटकोंकी रचना हुई है। श्रीनिवास दासके 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता-स्वयंवर', राधाकृष्ण दासके 'दु:खिनी बाला', 'पशावती', 'महाराणा प्रताप', किशोरीलाल गोस्वामीके 'मयंकमंजरी', कृष्णशरण देव सिहके 'माधरीरूपक', अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध'के 'श्रीरुक्मिणीपरिणय' जैसे नाटक साहित्यिक नाटकोंकी कोटिमे आते है। भारतेन्द्रकी प्रेरणासे रंगमंचको ध्यानमें रखकर लिखे गये देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'सीता-हरण', 'रुक्मिणीहरण', 'रामलीला', 'कंसवध', 'नन्दोत्सव', 'लक्ष्मी-सरस्वती-मिलन', 'प्रचण्ड गोरक्षण', 'बालविवाह', 'गोवधनिषेध', लाला खड्गबहादुर मलके 'रतिकुसुमायुध', 'महारास', 'हरतालिका', 'कल्पवृक्ष', अम्बिकादत्त न्यासके 'लिलता', 'गोसंकट', 'भारत सौभाग्य', बदरीनारायण चौधरी

'प्रेमघन'के 'भारत सौभाग्य', बल्देवप्रसाद मिश्रके 'मीरॉ-बाई', 'नन्दविदा', तोताराम वर्माके 'विवाह-विडम्बना', दामोदर शास्त्रीके 'रामलीला', प्रतापनारायण मिश्रके 'भारतदर्दशा', 'सीता-वनवास', लालीके 'गोपीचन्द', दर्गाप्रसाद मिश्रके 'प्रभास-मिलन' जैसे रंगमंचीय नाटक है, जिन्में गायन और नृत्य तथा पद्योंका प्रयोग पारसी नाटकोंके जैसा ही है, किन्तु जिनका उद्देश व्यक्ति, समाज और राष्ट्रका हित है। भारतेन्द्रके 'अन्धेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति', बालकृष्ण भट्टके 'शिक्षादान', देव-कीनन्दन त्रिपाठीके 'रक्षाबन्धन', 'एक-एकके तीन-नीन', 'स्त्री-चरित', 'वेश्या-विवाह', 'बैल छः टकेको', जयनाथ सिहके 'सैकडोंमें दश-दश', 'कलियुगी जनेऊ', खड्गबहादुर मलके 'आरत भारत', देवकीनन्दन त्रिपाठीके 'कलियगी विवाह', चौधरी नवल सिहके 'वेदया', गोपालराम गहमरी-के 'जैसाका तैसा', विजयानन्द त्रिपाठीके 'महाअन्धेर नगरी', देवदत्त शर्माके 'अति अन्वेर नगरी' जैसे प्रहसन-नाटक है, जिनकी मूल प्रेरणा बहुविवाह्, वेश्यावृत्ति, बालविवाह, नशे-बाजी, स्त्रीशिक्षा-विरोध, अविद्या, सदखोरी, पाश्चात्य आचारो-विचारोंकी कृत्रिमता, आचर-भ्रष्टता जैसी सामाजिक दुष्प्रवृत्तियोसे मिली है। अनुवादित या रूपान्तरित नाटकोमे संस्कृतसे राजा लक्ष्मण सिंहके 'शक्तन्तला', भारतेन्द्रके 'विद्यासन्दर' (संस्कृतके चोर कविकृत-पर बॅगलासे रूपा-न्तरित), 'पाखण्डविडम्बन', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'रलावली', 'मुद्राराक्षस', 'कर्परमं जरी', 'धनंजयविजयव्यायोग', लाला सीताराम बी ए के 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक', 'नागा-नन्द', देवदत्त तिवारीके 'उत्तररामचरित', नन्द विश्वनाथ-के 'उत्तररामचरित', रामेश्वर भट्टके 'रत्नावली', बालमुकुन्द गुप्तके 'रत्नावली', ज्वालाप्रसाद मिश्रके 'वेणीसंहार', कृष्ण-बलदेव वर्माके 'भर्तृहरि-राजत्याग', शीतलाप्रसादके 'प्रबोध-चन्द्रोदय', अंग्रेजीसे तोताराम वर्माके 'दो वृत्तान्त', रत्नचन्द्रके 'अमजाल', भारतेन्द्रके 'दुर्लभ बन्ध्', मथुरा-प्रसाद उपाध्याय शर्मांके 'साहसेन्द्र साहस', गोपीनाथके 'मनभावन', 'प्रेमलीला', आर्याके 'वेनिस नगरका व्यापारी', बँगलासे रामकृष्ण वर्माके राजिकशोर दे-कृत 'पद्मावती', द्वारिकानाथके गांगुलीकृत 'वीर नारी', मधुसूदनकृत 'कृष्णा-कुमारी', उदिवनारायणके मनमोहन कृत 'सती नाटक', 'दीपनिर्वाण', 'अश्रमती', व्रजनाथके माइकेल मधुसूदनके 'एकी की बोले सभ्यता ?'के 'क्या इसीको सभ्यता कहते है', के शवराम भट्टके 'शरत और सरोजिनी'के आधारपर रचित 'सज्जाद सम्बुल', 'सुरेशमोहिनी'के आशयपर लिखित 'रामशाद शौसन' जैसे नाटक आते है। हाफिज महम्मद अब्दल तथा मिर्जा नजीर वेगके 'इस्क शीरी व फरहाद', 'राजा सखी कृष्ण अवतार', 'किस्सा माहगीर व दिलवरका', 'नयी चन्द्रावली लासानी' इत्यादि नाटको-की पारसी शैलीपर, चुन्नीलालके 'हरिश्चन्द्र', महताब राय कायस्थके 'हरिरचन्द्र', 'रामलीला', मधुरादासके 'चन्द्रा-वली', बख्दा इलाही नामीके 'नागर सभा', 'नामी सभा', 'आज्ञिक सभा' जैसे नाटक लिखे गये। इनकी भाषा-शैली उद्-फारसीके शब्दोंसे भरी-पूरी है तथा इनमे दुमरी-दादरा,

दोहा-छप्पय, गजल-गानोकी भरमार है।

बीसवी शतीके द्वितीय दशकसे हिन्दी नाटकके विकासकी दूसरी अवस्था आरम्भ होती है । सन् १९१२ ई०मे 'कुरुवनदहन'से नाट्यकलाके रूपमे एक नवीन परिवर्तन आरम्भ हुआ, जो माधव गुड़को 'महाभारत', मिश्रबन्धको 'नेत्रोन्मीलन', 'पूर्व भारत', बदरीनाथ भट्टके 'दुर्गावती', 'बेनचरित्र', 'तुलसीदास', माखनलाल चतुर्वेदीके 'कृष्णा-र्जुन-युद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', गोपालराम गहमरीके 'वनवीर नाटक', चन्द्रराज भण्डारीके 'सिद्धार्थ कुमार', 'प्रसाद'के 'अजातश्रव'में और अधिक प्रगाद रूप ले लेता है। इनमेसे प्रत्येक नाटकमे एक साथ ही कथानक-का वैचित्र्य, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, हास्यके दृश्योकी योजना, आधुनिक जीवनका वातावरण, स्वाभाविक संलाप, साहित्यिक भाषा, स्थितिके अनुकूल सुरुचिपूर्ण गीत्यात्मक पद्यका प्रयोग, रसवत्ता इत्यादि गुण विकसित हो गये है। इनका एक साथ सम्मेलन इससे पूर्वके किसी भी नाटकमें नहीं मिलता। 'प्रसाद'के 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायदिचत्त', 'राज्यश्री'से स्वच्छन्दतावादी कलाका जन्म होता है, जिसमे कथानककी जटिलता, स्वच्छन्द चरित्रोकी दार्शनिकता, भावकता, भाषामे गद्या-त्मकता, अलंकृत शैली, भाव, विचार, सभी काव्यके रसमें इवे हुए है। रूपके साथ नाटकीय विधानमे भी विकास हुआ। शिक्षाके प्रसार, बहुमुखी रुचिके विकास, विविध विषयोके विस्तार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पाश्चात्य नाट्यकला-के प्रभाव, सामयिक जीवनमें अभिरुचि इत्यादि अनेक कारणोंसे संस्कृत नाट्यकलाके धर्म और रसके प्राचीन आदर्श शिथिल हो गये। अब उनके स्थानपर कथानक और चरित्र नाटकके प्राण हो गये। अतः इस कालके नाटकोमे नान्दी, प्रस्तावनाके त्याग, कथानकके सौन्दर्यके लिए घटना-वैचित्र्य और कथाकी वक्रताके प्रदर्शनके लिए अंकोंमे अनेक दृश्योकी अवतारणा, सन्धि-निर्वाहकी शिथि-लता, प्रायः तीन अंकोंमें ही कार्य-समाप्ति, विकल्पानसार अंक-विधान, कार्यके स्थानपर वार्तालाप, स्वगत-भाषण और पृथक् सम्भाषणकी विवेकपूर्ण आयोजना, शब्द-ध्वनियोके स्थानपर शब्दार्थींसे वातावरणकी सृष्टि, भिन्न-भिन्न पात्रोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा तथा गीतिपूर्ण पद्यके प्रयोगकी प्रवृत्ति है।

वीसवी शतीके प्रथम चतुर्थांशमे नाटकोकी मूल प्रेरणा 'रामायण', 'महाभारत', पुराणोके महिमामय चिरत्रो, लोक-कथाओ, लेला-मजनू, शीरी-फरहादकी प्रेम-कहानियो, अंग्रेजीके प्रेमाख्यानों, रोमांसिक नाटको, ऐतिहासिक पुरुषों एवं घटनाओ और राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सुधारोसे प्राप्त हुई है। चिरत्र और कथानककी दृष्टिमें इस कालमे रामलीला, रासलीला, सगीतके अतिरिक्त प्रेमप्रधान साहसिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामयिक, सामाजिक तथा रूपारमक नाटकोंकी धारा मिलती है। साहसिक नाटकोंमें अतिनाटकीयता, प्रेम, घृणा, देवके रोमांचकारी स्थल, सत्य और धर्मकी विजयके प्रदर्शन, अयथार्थता, अस्वामाविकता, अश्लीलता, दैव-घटना और संयोग-विषयकी एकांगिता, जीवनके प्रति एकपक्षीय दृष्टि, स्थी-पुरुष

पात्रोंमे प्रकारविशेष और निश्चित वर्गके होनेकी प्रवृत्ति है। ये नाटक अधिकांश पारसी कम्पनियोंकी ओरसे उपस्थित किये गये है। जलाल अहमदशादकत 'ख्वावे हस्ती' इसी कोटिकी रचना है। पौराणिक नाटकों में विनायकप्रसाद तालिव 'बनारसी'से चली आती हुई परम्पराका विकास नारायणप्रसाद 'वेताव'के 'महाभारत'-(१९११) से पुनः आरम्भ होता है। इस कोटिके नाटकोंमे धार्मिक कथानक, अतिप्राकृत प्रसंग, उपदेशकी प्रवृत्ति, प्राचीन वरिष्ठ चरित्रो-की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । अतिमानवीय प्रसंगोपर आधारित बदरीनाथ भट्टके 'कुरुवनदहन', 'बेनचरित', 'तुलसीचरित', माधव शुक्क 'महाभारत', 'रामायण', माखनलाल चतुर्वेदीके 'कृष्णार्जुन-युद्ध', मैथिलीशरण ग्रप्त-के 'चन्द्रहास', 'तिलोत्तमा', चन्द्रराज भण्डारीके 'सिद्धार्थ कुमार', विश्वम्भरनाथ कौशिकके 'भीष्म', सुदर्शनके 'अंजना', मिश्रबन्ध्रके 'पूर्व भारत', 'प्रमाद'के 'सज्जन', 'जनमेजयका नागयज्ञ', वलदेवप्रसाद मिश्रके 'शंकर-दिग्विजय', 'प्रभास-मिलन', 'राजा शिवि', इसरतके 'महात्मा कवीर', तुल्सीदत्त शैदाके 'जनकनन्दिनी', विल्वमंगल' तथा उपदेशात्मकतापूर्ण 'वेताब'के 'पत्नीप्रताप' या 'सती अनस्या', यमनादास मेहराके 'विश्वामित्र', राधेदयाम कथावाचकके 'उषा-अनिरुद्ध', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'वरमाला', विचित्र कविके 'द्रौपदी-चीरहरण' जैसे पौराणिक नाटक है।

ऐतिहासिक नाटकोके कथानक मिश्र, जटिल और उलझे हुए है। उनका विकास स्वछन्दतावादी है। उनमें स्वाभा-विक वार्तालाप, उक्ति-वैचिन्य, पात्रोंमे न्यक्तित्वकी स्थापना, रमणीय भाव-व्यंजना, प्रशस्त काव्य-प्रवाह, कवित्वपूर्ण भाषा-शैलीकी ओर झकाव है। 'प्रसाद'के 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', सुदर्शनके 'अंजना', 'उम्र'के 'महात्मा ईसा', बदरीनाथ भट्टके 'चन्द्रगुप्त', प्रेमचन्दके 'कर्वला', गोपालराम गहमरीके 'वनवीर', मनसुखलाल सोजातियाके 'रणबॉकरा चौहान', कृष्णलाल वर्माके 'दल-जीत सिंह' जैमे नाटक इसी कोटिके है। सामधिक सामाजिक नाटक-समाजकी अनेक क़ुरीतियो, प्रथाओ-को लक्ष्य करके कुछ गम्भीर और कुछ हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैलीमे लिखे गये है। आगा हश्र कश्मीरीने एक ही नाटकमे पुराणोसे गृहीत गम्भीर कथानक तथा सामाजिक कुरीतियोसे सम्बन्धित हास्यपूर्ण कथानक रखनेकी प्रथा चलायी। इस कोटिका प्रारम्भ जी० पी० श्रीवास्तव और राधेक्याम कथावाचकके नाटकोसे होता है। जी० पी० श्रीवास्तवके मोलियरके रूपान्तरित 'मार-मारकर हकीम साह्ब' उर्फ 'चड्डा गुलखैरू' तथा 'मरदानी औरत', 'नोंक-झोक', 'उल्टेफर', 'दुमदार आदमी' संग्रहके नाटक, 'उम्र'के 'उजवक', 'चार बेचारे', 'लवड धो-धों', राधेश्याम मिश्रके 'कौसिलकी मेम्बरी', सुदर्शनके 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' जैसे नाटक हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैलीमे और गम्भीर शैलीमें मिश्रबन्धुके 'नेत्रोन्मीलन', आगा हश्र करमीरीके 'पति-भक्ति', राधेश्याम कथावाचकके 'परिवर्तन', यमुनादास मेहराके 'पाप-परिणाम', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीके 'मधुर मिलन', प्रेमचन्दके 'संग्राम', लक्ष्मण सिंहके 'गुलामीका

नशा', 'भारत-दर्पण या कौमी तलवार', 'भारतवर्ष' जैसे नाटक सित्रविष्ट किये जा सकते हैं। रूपात्मक नाटकोंकी कोटिमें 'प्रसाद'के 'कामना', शानदत्त सिहके 'मायावी' जैसे नाटक आते हैं, जिनमें निश्चेतन पटार्थ तथा अमूर्त भाव सी-पुरुषके प्रतीक बनकर आये हैं।

इस प्रकार वीसवी शतीके पचीसवें अब्दतक नाट्य-साहित्य पारसी थियेटरोंके मनोरंजनप्रधान और सुरुचिपूर्ण गोष्ठी-नाटकोंसे नैतिकताप्रधान तथा नैतिकताप्रधान नाटकों-से कलाप्रधान नाटकोंकी ओर विकसित हुआ है।

वीसवी शतीके प्रथम चतुर्था शके पश्चात् नाटकका विकास उसके एकांकी (दे०) और अनेकांकी, दोनों रूपोमे हुआ है। अनेकांकी नाटकोमें तीनसे पाँच अंकतकके नाटक मिलते है। 'प्रबद्ध यामन' और 'गरीबी या अमीरी'में पॉच अंक है, किन्त लक्ष्मीनारायण मिश्रके नाटक तीन अंकोंमें ही समाप्र हो गये है। वास्तवमे दश्योंकी योजनाके कारण अंकोंकी संख्या कम हो गयी है। यह दृश्य-विधान ऐच्छिक है। कथाकी विचित्रता, किसी प्रधान उद्देश्यकी पूर्ति या अभिनयकी आवश्यकताके अनुमार दृश्योका विभाजन कर लिया गया है। उदाहरणके लिए, रूपनारायण पाण्डेयका 'सम्राट अशोक' लिया जा सकता है। शैलीकी दृष्टिसे आधनिक नाटकोंके दो वर्ग किये जा सकते है; एक संस्कृत नाट्यकलाके आदशींपर या उनके प्रभावसे रचे गये नाटक. दूसरे, पाश्चात्य शैलीके अनुकरण या विचारोसे प्रभावित होकर लिखे गये नाटक । पहली श्रेणीके नाटकोंमें प्रस्तावना, नायकके असाधारण व्यक्तित्व, उसकी निश्चित विजय, सखान्तकी दृष्टि, रंग-संकेतोंके अभाव, काव्यात्मक परिस्थिति, भावकता, कविता, संगीत-नृत्यकी योजना, अन्तःसंघर्षकी कमी, कथाकी उद्देशोन्मुख प्रगति, विदूषक या उसके अभावमें किसी पात्रके द्वारा हास्यमय प्रसंगोकी अवतारणा, स्वगत कथनके यथास्थान प्रयोगकी प्रवृत्ति लक्षित है, जो 'जयन्त', 'प्रतापप्रतिज्ञा', मिश्रवन्ध्रके 'शिवाजी', हरिकष्ण 'प्रेमी'के नाटको, 'प्रसाद'के 'स्कन्दग्रत', 'चन्द्रग्रत', लक्ष्मी-नारायण मिश्रके 'अशोक', आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तवके 'अछत', सियारामशरण गप्तके 'पण्यपर्व' तथा 'आधी रात' में स्पष्ट हो गयी है।

दूसरे वर्गके नाटक फायड, जुंग, एडलरके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, मार्क्सके बन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहासकी अर्थ-मूलक व्याख्या और मोलियर, व्यूइ, गेंटे, लेसिंग, शॉ, इब्सन, स्ट्रिण्डवर्ग, गोगल, टाल्स्टॉय, चेखन, गोर्भां, मेतरलिंक, इयोजीन ओनील, काकमैन, पेरेन्देलों, लोकां, कलाउदेल, एनाउल, सार्वं, विलियम्स, चार्ल्स मार्गन, घेहमग्रीन, क्रिस्टोफरकाई, टी० एस० इलियट, जीन काकतो जैसे नाटककारोंकी नाट्यकलाके प्रभावसे लिखे गये हैं। यह प्रभाव या तो बँगला साहित्यसे होकर आया या अंग्रेजी साहित्यसे। बँगला साहित्यसे होकर आया या अंग्रेजी साहित्यसे। बँगला साहित्यके प्रभावसे हिन्दी नाटकोमे राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना, नारी-सम्मान, कवित्वमय शैली, भावात्मकता, कथानककी इतिवृत्तात्मकता, भावोंकी व्यंजनात्मकता आयी है। पश्चिमसे सीधे आनेवाले प्रभावोंने भी नाटककी कलामें परिवर्तन उपस्थित किये हैं। अतः नाटकोंमे स्वच्छन्दतावाद ज्याप्त हो गया है, जिसके कारण

प्राचीन आदशोंके प्रति उदासीनता, समाजके सभी वगोंके प्रवेश, प्रकृतिके भावनामय रूपांकन, नारी-पुरुषके मानसिक इन्द्र-चित्रणका आग्रह, यौनाकर्षण, मनोवैद्यानिक चरित्र-चित्रणकी अधिकता दृष्टिगोचर होती है, जो 'दुर्गावती', 'राजमुकुट', 'प्रतिशोध', 'मुक्तिका रहस्य', 'पुरस्कार' जैसे नाटकोमे म्पष्टतया देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त बौद्धिक दृष्टिकोणके कारण विवेककी जागरूकता, तटस्थता, नाटकोके विषयोके छिए प्रागैतिहासिक कालसे आजतककी सामग्रीके ग्रहणकी रुचि, स्वाभाविकता, नाटकीयता, साहित्यकता इत्यादि मिलती है, जिसका उपयोग 'संन्यासी', 'कर्तव्य', 'कैकेयी', 'धीरे-धीरे', 'आवारा' जैसे नाटकोंमे हुआ है।

पाश्चात्य प्रभावने नाटकके स्वरूपमे भी परिवर्तन कर दिया है। फलतः नाटकोंमें पॉचसे तीन अंकोंमे संकोच, एकांकी-प्रलेखन, सापेक्ष्य दृश्य-योजना, संगीत-कवित्वकी अवांछित अतिशयताके त्याग, प्रस्तावना, नान्दी, भरतवाक्य-से अलगाव इत्यादिकी प्रवृत्ति मिलती है। सुखान्तके दृष्टिकोणसे दर, रूक्ष्य और प्रभावकी दृष्टिमे कथाको सुखान्त या दःखान्त बनानेका प्रयत किया गया है। पात्रोंकी वेशभूषा, उनके चरित्र, अभिनयके स्थान, नाटकके आरम्भिक कार्यो सम्बन्धी तथा रंगमंचीय शिष्टाचारके लिए प्रतिन्यास और सचनाओं तथा नाटकके ध्येयको व्यंजित करनेके लिए प्रतीकोंका प्रयोग हुआ है। इनका व्यवहार 'अपराधी', 'विवाहके दिन', 'देवताओंकी छायामे' देखा जा सकता है। नाट्यशैलीकी दृष्टिसे भी नवीन प्रकारोंके नाटकोकी रचना हुई है। कृष्ण मिश्रकें 'प्रबोधचन्द्रोदय', स्पेन्सरकी 'फेयरी क्वीन', 'पिल्यिम्स प्रोग्रेस', 'क्रिश्चियन पैरेबिल्स'की परम्परामे नाट्यरूपक लिखे गये है। प्रस्तुत पात्रोंसे अप्रस्तुत भावोकी व्यंजना करानेवाले 'प्रसाद'के 'एक घूँट', सेठ गोविन्ददासके 'नव रस', प्राकृतिक तत्त्वोंमें सेन्द्रिय नारी-परुषोकी प्रतिष्ठा करनेवाले चन्द्रभान सिंहके 'चिन्द्रका', सुमित्रानन्दन पन्तके 'ज्योत्स्ना' और माबोके विचारोंका सामूहिक रूपक उपस्थित करनेवाले भगवतीप्रसाद वाजपेयीके 'छलना', उदयशंकर भट्टके 'जवानी', शम्भनाथ सिंहके 'धरती और आकाश' जैसे नाटक इसी श्रेणीकी कतियाँ है। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्माके 'तारा', उदयशंकर भड़के 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा', 'राधा', समित्रानन्दन पनतके 'रजतशिखर', 'फूलोंका देश', 'शरत चेतना', 'शिल्पी', 'ध्वंसशे ष', 'अप्सरा', 'निराला'के 'पंचवटी-प्रसंग' जैसे पद्यप्रधान गीतिनाट्य; गोविन्द-वल्लभ पन्तके 'वरमाला', 'अन्तःपुरका छिद्र', उदयशंकर भट्टके 'अम्बा', चतुरसेनशास्त्रीके 'राधाकुष्ण', मुरारिशरणके 'मीरॉ' जैसे गद्यप्रधान भावनाट्य; सेठ गोविन्ददासके 'चतुष्पथ', 'शाप और वर' जैसे एकपात्रीय नाटक (मोनोड़ामा); 'अइक'के 'पहेली' जैसे झाँकी; सेठ गोविन्द-दासके 'विकास', अइकके 'छठा वेटा' जैसे स्वाम नाटक और रामकुमार वर्माके 'बादलकी मृत्यु' जैसे कल्पना मुलक (फैण्टेसी) नाटकोंका प्रणयन हुआ है।

उपादान और विषयकी दृष्टिसे आधुनिक कालमे यमुनादास मेहराके 'मोरध्वज', उदयशंकर भट्टके 'विश्वा- मित्र', 'राधा', 'सगरविजय', रामनाथ त्रिपाठीके 'श्रवण-कुमार', लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी बीणा', राधेश्याम कथावाचकके 'सती पार्वती', चतुरसेन शास्त्रीके 'सीताराम', 'राधाकुष्ण', सेठ गोविन्ददासके 'कर्त्तव्य', मुरारिलाल मांगलिकके 'मीरा', 'राम' जैसे पौराणिकः 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी', गोविन्ददासके 'शशिगुप्त', हरिकृष्ण प्रेमीके 'स्वप्नमंग' जैते ऐतिहासिक; रामकुमार वर्माके 'शिवाजी', 'अइक'के 'जयपराजय', गौरीशंकर सत्येन्द्रके 'मुक्तियज्ञ', मिश्रवन्ध्रके 'शिवाजी', उदयशंकर भट्टके 'दाहर', गोविन्दवल्लभ पन्तके 'राजमुक्ट' जैसे **नैतिक**; भुवनेश्वरके 'कारवॉ'के एकाकी, गणेशप्रसाद द्विवेदीके 'सोहागिबन्दी' रामकुमार वर्माके 'छोटी-सी बात', 'फेल्ट हैट', 'ऑखोंका आकाश' इत्यादि व्यक्तिकी समस्याके नाटक है। सेठ गोविन्ददासके 'गरीवी या अमीरी','अइक्र'के 'लक्ष्मीका स्वागत','देवताओकी छाया-मे', गोविन्दवहम पन्तके 'अंगूरकी वेटी', उदयशंकर भट्टके 'दस हजार', आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तवके 'अछृत', रामनरेश त्रिपाठीके 'जयन्त', 'बफाती चाचा', सेठ गोविन्ददासके 'विकास' जैसे **सामाजिक समस्या**के नाटक तथा 'अइक'के 'जोंक', 'आपसका समझौता', रामकुमार वर्माके 'रूपकी बीमारी', वियोगी हरिके 'प्रबुद्ध यामुन', जनार्टन रायके 'आधी रात' जैसे हास्य-व्यंग्यप्रधान या हास्यके मधर प्रसंगोसे पूर्ण नाटकोंकी सृष्टि हुई है।

आज नाटक आकारमे रुघुता, उद्देश्यमें स्क्ष्म मनी-विश्लेषण तथा माध्यममे पाट्य और कलात्मक अभिनयकी ओर जा रहा है। — वि० रा०

नाटकीय व्यंग्य-नाट्य स्थापत्यमे, पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियो-की दृष्टिमे, नाटकीय व्यंग्यका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अंग्रेजीके 'ड्रामेटिक आइरनी'का हिन्दी पर्याय है। व्यापक अर्थमे इसे एवं ही वस्तुके दो पहलुओका अन्तर कहा जाता है-यह अन्तर प्रारम्भमे ही स्पष्ट रहता है या बादमें स्पष्ट हो जाता है। आलोचनाके क्षेत्रमे नाटकीय व्यंग्यका व्यवहार उस स्थितिके लिए किया जाता है, जिसमें नाटकके दर्शक रंगमंचपर होनेवाले कार्य-व्यापारी और मंलापोके अर्थसे परिचित रहते है, पर मंचपर उपस्थित कुछ पात्रोको उसकी जानकारी नहीं रहती। इस प्रकार एक ही स्थिति या शब्दके दो अर्थ हो जाते है—एक रंगमंचके पात्रोके लिए, दूसरा दर्शकोके लिए। यदि किसी नाटकमे दर्शक इस बातको जानते रहें कि न्यायाधी शका पुत्र ही वास्तविक अपराधी है, पर स्वयं न्यायाधीशको इस वातकी जानकारी न हो और वह कहे कि अपराधीको अवस्य दण्डित किया जायगा, तो यह स्थिति नाटकीय व्यंग्यकी कही जायगी। कही नाटकीय व्यंग्य स्थितिपर आधारित रहना है, कही शब्दोंपर। फलतः नाटकीय व्यंग्य दो प्रकारके कहे जाते है-स्थितिगत व्यंग्य और वाचिक व्यंग्य । पाइचात्य नाट्य-सिद्धान्तोंके प्रभावस्वरूप आधुनिक हिन्दी नाटकोमें भी नाटकीय व्यंग्यका व्यवहार होने लगा है। —सि० कु० नाटिका १ - नृत्य और नृत्तप्रधान भावाश्रित उपरूपकका भेद है, जो नाटक और प्रकरणके संकरसे बना है। उसकी कथावस्तु प्रकरणसे ली जाती है, जो कविकरिपत

होती है। उसका धीरलवित नायक नाटकसे गृहीत होता है। उसमे स्त्री पात्रोंकी प्रधानता होती है। दो नायिकाएँ होती है। ज्येष्ठा नायिका प्रगल्भा, राजवंशीय, गम्भीर स्वभावकी देवी (महारानी) होती है, किन्तु अतिशय मान करती है। कनिष्ठा नायिका भी नृपवंशजा, मुन्दरी, किन्तु मुन्धा होती है। नायकका इससे मिलन कष्टपूर्ण होता है और वह भी ज्येष्ठा देवीके हाथमें रहता है। अन्तःपुर आदिसे सम्बन्ध रखनेके कारण राजा उसते प्रेम करने लगता है, जो धीरे-धीरे परिपक्क हो जाता है। नायक महारानीसे सद्दंकित रहनेके कारण छिप-छिपकर अनुराग-चेष्टा किया करता है। उसमे अंगी रस शृगार और चार अंकोंकी योजना की जाती है और कैशिकीके नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मरफोट तथा नर्मगर्भ भी क्रमशः चारो अंकोम प्रयुक्त किये जाते हैं। उसमे विमर्श सन्धिका या तो अभाव या कुछ भाव रहना है, किन्तु शेष चारो सन्धियाँ व्यवहृत होती है। कुछ विद्वान् एक या दो-तीन अंकोकी नाटिका भी मानते है। उदा०—'रत्नावली', 'प्रियदशिका' 'चन्द्रप्रभा', 'विद्धशाल-भंजिका', विल्हणकृत 'कर्णसुन्दरी'। हिन्दीमें भारतेन्द्रकी 'चन्द्रावली नाटिका' है। नाटिका २.-नाटिका उपरूपक सम्भवतः भरत सुनि-वृशित नटीका विकसित रूप है। भरत मुनिका मत है कि नाटक और प्रकरणके योगसे नाटिकाका उद्भव होता है-"प्रत्याख्यातिस्त्वतरो वा नाटक्योगे "करणी च"। उनका मत है कि इसकी वस्तु कल्पित हो और नायक राजा हो। इसमें स्त्री पात्रोंकी बहुलता, चार अंक, ललित अभिनय, सुगठित अंग, विविध गीत-नृत्य-वाच हो और रित-सम्भोग वर्णनकी विशेषता हो, राजोपचारयुक्त व्यवहारमे क्रोध एवं उसकी प्रशान्ति तथा दम्ममय कृत्य हो, राजा नायक, उसकी रानी, नायक-दूती एवं परिजन जिसके पात्र हों (नाट्यशास्त्र, १८ अध्याय, १०९, १११)।

अभिनव गुप्तने नायिकाके सम्बन्धम एक नयी धारणा उपस्थित की है। उनका मत है कि भरत मुनिने रित-सम्भोगादिका वर्णन तो नव-नायिकाके लिए किया है और क्रोध-प्रसादनदम्भादि देवीके लिए।

दशरूपककारने नाटिकाके इतिवृत्तको प्रकरण और नायकको नाटकके नियमानुसार बताया है। अंकके विषयमं उनका मन है कि इसके एक, दो, तीन अथवा चार अंक हो सकते हैं। देवी (बडी रानी) मानिनी होनी चाहिये और नायिका मुख्या, दिन्या और सुन्दरी हो। नायिका राजाकी पादर्ववर्तिनी हो, किन्तु वह देवीके क्रीध-भयसे सर्शकित रहे (द० रू०, ३, ४६, ५२)।

नाट्यदर्पणकार दो नायिकाएँ—देवी और कन्या—मानते है। दोनो प्रसिङ या अप्रसिद्ध हो सकती हैं (पृ० १२०, १२२)।

शारदातनयका नत है कि नायक प्रख्यात व्यक्ति और धीरलिलत हो, रस श्रुगार, वृक्ति कैशिकी, अवसर्श-रहित अन्य सन्धियाँ, विटका अभाव हो (भा० प्र०, पृ० २४३)।

विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में पूर्वाचार्योंके मतका समाहार करते हुए नाटिकाका इस प्रकार लक्षण दिया है—

नाटिकाकी कथा कविकलिपत होती है। इसमें चार अंक होते हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती है। नायक प्रसिद्ध एवं धीरलिलत राजा होना है। रिनवाससे सम्बन्ध रखनेवाली या राजकुलोत्पन्ना कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानीके भयसे नायक राजा अपने प्रेमको सशकित होकर प्रकट करता है। महारानी राजवंशकी प्रगल्मा नायिका होती है। वह पद-पदपर मान करती है। नायक और नवीन नायिकाका समागम उसीके अधीन रहता है। इसमे खंगार रसकी प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्तिकी योजना चारो अंकोमे होती है। विसर्ष सिन्ध बहुन कम होती है, शेप चारो सन्धियाँ होती है। इसके उदाहरण है 'रतावली', 'प्रियदर्शिका', 'चन्द-प्रभा', 'विद्धशालभंजिका' आदि।

भारतेन्द्रने नाटिकाका लक्षण इस प्रकार लिखा है-नाटिकामे चार अंक होते है और स्त्रीपात्र अधिक होते है तथा नाटिकाकी नायिका कनिष्ठा होती है, अर्थात् नाटिकाके नायककी पूर्वप्रणयिनीके वशमे रहती है। उदा॰—'रतावली', 'चन्द्रावली' इत्यादि । नाट्यमहाकाव्य-नाटक और महाकाव्यके काव्यरूपोंमे प्रधान अन्तर यह है कि नाटकमें लेखक स्वयं कुछ नहीं कहता, उसे जो कुछ कहना होता है, पात्रीके अखसे कथोपकथनके रूपमं कहलाता है, किन्तु महाकाव्यमे वर्णनात्मक पद्धति अपनायी जाती है। अर्थात् उसमे कथी गक्षथनके साथ-साथ कविको वर्णनके रूपमे स्वयं भी बहुत-कुछ कहनेकी स्वतन्त्रता होती है। इस दृष्टिसे महाकाव्यमे नाटक, गीतिकाव्य और कथाकाव्य, तीनोके रूप-तत्त्व वर्तमान होते है। किन्तु कुछ महाकाव्य ऐसे भी होते है, जिनके आद्यन्त नाटकोकी कथोपकथनवाली पद्धति ही अपनायी गयी रहती है, यद्यपि वे नाटक नहीं होते और न अभिनयके लिए उनकी रचना ही होती है। ऐसे ही महाकान्योंको नाट्यमहाकात्र्य कहा जाता है।

प्राचीन कालमे यूनानमें दुःखान्त नाटक पद्मबद्ध होते थे और यही पद्धति अंग्रेजीमे शेक्सपीयर आदि अनेक मध्यकालीन नाटककारोंने भी अपनायी। किन्तु पद्मबद्ध होनेके कारण ही इन नाटकोंको नाट्यमहाकाल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी रचना अभिनयके लिए हुई थी, वे हश्यकाल्य हैं, अल्यकाल्य नहीं। नाटकके हश्य और महाकाल्यके अल्यकाल्य होनेके कारण दोनोंके कथानककी संघटना, वर्णन-विधि, शैली और प्रमावमे भी बहुत अन्तर आ जाता है। अतः केवल आद्यन्त कथोपकथनकी पद्धति अपनानेके कारण ही कोई महाकाल्य नाटक नहीं कहा जा सकता। यदि उसमे अल्यकाल्य अथवा महाकाल्यके अन्य गुण वर्तमान है तो वह काल्य या महाकाल्य ही माना जायगा।

नाटक और महाकान्यके इस भेदको अरस्त्ने बहुत . अच्छी तरह समझा है। उसके अनुसार "महाकान्यका कथानक इतना लम्बा नही होना चाहिये कि एक दृष्टिसे . उसका आदि, मध्य और अन्त न दिखलाई एडे, पर उसे नाटकके समान बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि नाटकमे एक ही समयपर घटित होनेवाली अनेक घटनाओं-

का वारी-वारीसे वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि उसमे कालान्विति (युनिटी ऑव टाइम) उतनी आवश्यक नहीं है। इसीसे महाकाव्य स्वभावतः नाटकसे बहुत बड़ा हो जाता है" (पोइटिक्स ऑव एरिस्टाटिल—एब्री मैन्स लाइबेरी— १९४९, पृ० ४७-४८) । अरस्तने वस्त-योजनाकी दृष्टिसे नाटक और महाकाव्यका यह अन्तर बताया है—''नाटकोंमे दर्शकतो आश्चर्यचिकत करनेकी ही आवस्यकता होती है। पर महाकाव्यमे उससे आगे बढकर असम्भव और अविश्वसनीय बातो और घटनाओंका भी वर्णन किया जाता है, महाकाव्य अभिनेय नहीं होता, इसीसे उसमे इस तरहकी अनभिनेय या असम्भव बातोंकी योजना की जाती है" (वही, पृष्ठ ४९)। प्रभावकी दृष्टिसे अरस्तने यह अन्तर वताया है कि 'अवान्तर कथाओसे महाकाव्यके गाम्भीय और गुरुत्वकी बृद्धि होती है और साथ ही पाठकों-श्रोताओको औत्सक्य-शान्ति और विश्रान्ति भी प्राप्त होती है। नाटकोमे घटनाओं और चरित्रोंका यह रूपवैविध्य नहीं होता, जिससे उन्हें वैसी सफलता नहीं मिलती जैसी महाकान्योंको मिलती है" (वही, पृ० ४०)।

नाटक और महाकाव्यका यह अन्तर जानना इसलिए आवश्यक है कि नाट्यमहाकान्यमें नाटक और महाकाच्य, दोनोके रूपतत्त्वोंका सम्मिश्रण होता है और बिना इस अन्तरको समझे, यह स्पष्ट नहीं हो सकता कि कोई छन्दोबद्ध नाटक नाट्यमहाकाव्य क्यो नहीं है अथवा कोई कथोप-कथनात्मव महाकाव्य या नाट्यमहाकाव्य छन्दोबद्ध नाटक क्यों नहीं है। अरस्तके विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि केवल क्योपकथनकी पद्धति अपनानेसे ही न तो कोई पद्य-प्रवन्ध नाटक माना जा सकता है और न पद्यवद्ध होनेके कारण ही कोई नाटक महाकान्यकी कोटिमे गिना जा सकता है। वस्तुतः दोनोके गुण और जातिमें भेद है। अतः नाट्य-महाकाव्य वह पद्मबद्ध काव्य है, जिसमें नाटककी कथीप-कथनकी पद्धति और नाटकीय संधियोसे युक्त अन्विति तो होती है, पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि उसका तथानक नाटककी अपेक्षा अधिक छम्बा, वैविध्यपूर्ण और अवान्तर कथाओं तथा अनिभनेय दृश्योंसे युक्त होता है और जिसमें नाटककी अपेक्षा, गुरुत्व और गाम्भीर्य अधिक होता है। निष्कर्ष यह है कि महाकाव्यके जो स्थिर लक्षण होते है, वे यदि किसी नाट्य पद्य-प्रबन्धमे पाये जायं तो उस प्रबन्धको नाट्य-महाकाव्य कहा जायगा। यदि वह प्रवन्ध न तो महाकाव्य बन पाया है और न नाटक तो उसे नाटकीय शैलीका प्रबन्धकाव्य कहा जायगा और यदि वह अभिनेय है और उसमें नाटकके गुण अधिक है तो उसे पद्यनाटक या गीतिनाट्य कहेगे। यूरोपीय साहित्यमें जर्मन कवि गेटेका 'फाउस्ट' तथा अंग्रेजी कवि टामस हार्डीका 'द डाइनेस्ट' नाट्यमहाकाव्य है। हिन्दीमे वेद्यवदासकी 'रामचन्द्रिका'-को यदि महाकान्य माना जाय तो उसे भी नाट्य-महाकाव्य कह सकते है क्योंकि उसमे आद्यन्त कथोपकथनकी पद्धति अपनाथी गयी है और बोलनेवालोंके नाम छन्दोंके बाहर अलगसे दिये गये हैं, जैसा नाटकोंमें होता है। साथ ही 'रामचन्द्रिका' अभिनेय नहीं है और न उसमें नाटकों के अन्य गुण ही पाये जाते है, पर बहुतसे

बिद्वानोंने 'रामचन्द्रिका'के महाकाव्य होनेमें शंका प्रकट की है, अतः उसे नाट्यप्रबन्धकाव्य कहना ही अधिक -- गं० ना० सिं० समीचीन है। नाट्यरासक-इसमें एक अंक, उदात्त नायक, पीठमई उपनायक, शृंगारका समावेश और हास्य रसका प्राधान्य रहता है। इसमे नायिका वासकसज्जा, मुख और निर्वहण-सन्थियोंका प्रयोग रहता है। कोई-कोई विद्वान इसमे प्रति-मख-सन्धिको छोडकर चारों सन्धियाँ मानते हैं। यह दो सन्धियोंका भी होता है। इसमे लाखके गेय पद, स्थित पाट्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगृढक, सैन्धव, द्विगृह, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रयुक्त जैसे इसों अंगोंकी योजना रहती है और ताल और लयका भी विधान होता है। उदा०—'विलासवती' (चार सन्धियोंका), 'नर्मवती' (दो सन्धियोंका) । हिन्दीमें भारतेन्द्र हरिश्चनद्रका भारत-दुर्दशा' नाद्यरासक है। -वि० रा० नाट्य-वृति - नाटकके प्रसंगमे भरत (४ श० ई०)के अनुसार वृत्तियोंका बड़ा महत्त्व है। 'वृत्तयो नाट्यमातरः' वृत्तियाँ नाटक या अभिनयकी जननी है, यह कथन उनका है। अभिनव गुप्तके विचारसे पुरुषार्थ-साधक व्यापार, वत्ति है। वत्तिके उद्भवके सम्बन्धमे अनेक मत प्रचलित है। भरतने अपने 'नाटयशास्त्र'मे लिखा है कि प्रलयके बाद नारायण विष्णुका मधु-कैटम नामक दैत्योसे जो युद्ध हुआ, उस युद्धमे विष्णुकी चेष्टाओसे नार्यवृत्तियोकी उत्पत्ति हुई, जो चार है-भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। भारती विष्णुके युद्ध-समय पद-संचालनसे पड़े पृथ्वीपर भारसे उत्पन्न हुई। उनकी ओजस्विनी, वीर रसोचित चेष्टाओंसे सात्वती वृत्तिका जन्म हुआ। विष्णुने जो ललित लीला तथा विचित्र आंगिक अभिनयके साथ शिखा बॉधी. उसमे कैशिकीका उद्भव तथा उन्होने जो आवेगसे यक्त होकर नाना प्रकारकी विचित्र युद्ध-चेष्टाएँ की, उनसे आरमटी वृत्तिका विकास हुआ (नाट्य०, २२)।

इसके अतिरिक्त भरतने इनका सम्बन्ध बेदोसे भी माना है। ऋग्वेदसे भारती, यजुर्वेदसे सात्वती, सामवेदसे कैशिकी और अथवंवेदसे आरभटीका उद्भव हुआ। ऋग्वेदमे स्तुतियाँ हैं, इसीलिए भारती शब्द-प्रधान वृत्ति हैं, सात्वती कार्य-प्रधान-वृत्ति है, कैशिकी सुकुमार संगीतमय और आरभटी विलक्षण विचित्र कार्यसंयुक्त वृत्ति है। शारदातनयने ब्रह्माके चारों मुखोसे चार वृत्तियोंका जन्म माना है। एकके अनुसार इसका सम्बन्ध रांकरके नृत्यसे माना गया है। नाटय-वृत्तिका सम्बन्ध रसाभिनयसे है।

नाट्य-वृत्तियोंकी चर्चा काव्य-शास्त्रके यन्थोमें पायी जाती है। आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव-गुप्त (१०-११ श० ई)ने वृत्तियोक्ता विभाजन अर्थ-वृत्तियों और काव्य-वृत्तियोंमें किया है (दे० 'वृत्ति') और भारती आदिको अर्थ-वृत्तियों माना है। नाट्य-वृत्तियों ही अर्थ-वृत्तियों हैं। भरतके बाद इनकी कल्पनामें कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। काव्यशास्त्रके जिन यन्थोंमें नाटकके अन्य तत्त्वोंकी चर्चा हुई है, उनमें नाट्य-वृत्तियोक्ता विवेचन भी है, जैसे विश्वनाथ (४ श० ई०)के 'साहित्यदर्पण' तथा शिंगभूपाल (१४ श० ई०)के 'रसाणवसुधाकर'में। भनंजय-

(१० श० ई०)के 'दशरूपक'मे इनकी चर्चा है, पर इन सबका आधार भरतका 'नाट्यशास्त्र' ही है। हिन्दी रीतिकालमे केशवने 'रसिक्षप्रिया' (१५९१ ई०)मे तथा देवने 'काट्य-रसायन' (१७०३ ई०)मे इन वृत्तियोका विवेचन किया है, परन्तु ये रस-वर्णनकी शैलियॉभर है। आधुनिक युगके आलोचकोमे श्यामसुन्दर दासने 'रूपक-रहस्य'मे इनका विशेष रूपने विवेचन किया है। इन सबका आधार भरत और धनजय ही है।

वृत्तियाँ नाट्यमे अनेक हो सकती हैं, पर भरतने चार वृत्तियाँ ही मानी हैं। इनमे अभिनव गुप्तकी व्याख्याके अनुसार वाणीका व्यापार मारती वृत्तिके अन्तर्गत, मनका व्यापार सात्वतीके अन्तर्गत और कायचेष्टा शेष दो वृत्तियोने के अन्तर्गत है। उद्य कायचेष्टा आरभदी और सुकुमार कायचेष्टा कैशिकी वृत्तिके भीतर मानना चाहिये।

9. केशिकी (नाट्य-वृत्ति)—केशिकीका सम्बन्ध केशसे है। कैशिकीकी इससे सम्बन्धित पौराणिक व्याख्या तो भरत मुनिकी है और अभिनव ग्रप्तकी वैज्ञानिक। इसके अतिरिक्त मल्लिनाथ, रामचन्द्र, राघवन् आदिने अपने-अपने मतानुसार इसकी व्याख्या की है। भरतने केश बॉधते समय विष्णुके अंग-विक्षेपमे कैशिकीका सम्बन्ध मानकर इसे कोमल, सकुमार शरीर चेष्टाओके रूपमे यहण किया है। अभिनव ग्रप्तने पौराणिक आधार न लेते हुए यह माना है कि केश जिस प्रकार अर्थ और भावसे सम्बन्ध न रखते हुए भी शरीरको शोभा बढाते है, उसी प्रकार यह वृत्ति भी नाट्यमें शरीर चेष्टाओं द्वारा शीभा बढाती है। इसी प्रकार केशकी शोभा स्त्रियोमे होती है। अतः स्त्रियोंकी चेष्टाओके समान चेष्टा या स्त्री-चेष्टा प्रधान होनेस यह कैशिकी कही जाती है, यह मत नाट्य-दर्पणकारका है। कैशिकीकी कथाका कैशिकसे सम्बन्ध मानकर राधवन्ते इसे विदर्भ देशसे सम्बन्धित ललित वैदर्भा रमणीयतासे सम्बन्धित माना है। शैव मतके आधारपर इस वृत्तिका सम्बन्ध ताण्डवसे न होकर लास्यसे हैं। इस वृत्तिका प्रयोग नाटकमे स्त्री-पात्रोंको करना चाहिये, यह भरतके द्वारा मान्य है। इसके अन्तर्गत नृत्य, गीत, कामोद्भव मृदल-सुकुमार चेष्टाएँ रहती है । इस वृत्तिका प्रयोग शृंगारादि रसोंके प्रसंगमें किया जाता है।

स्त्रियों ते युक्त, अनेक नृत्यगीतोंवाली, नेपथ्यकी स्त्रियता-विचित्रता और आकर्षणसे सम्पन्न कैशिकीवृक्तिके चार भेद है—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्म।

ईच्यां, क्रोध, उपालम्म-वचनसे युक्त, विप्रलम्भ आदिसे सम्पन्न नर्म कैशिकी वृत्ति होती है। नविमलनवाले सम्मोग, तथा रितके प्रेरक वचन, वेशादिसे युक्त जो भयमे अवसान रखती हो, वह वृत्ति नर्मस्फूर्ज है। नर्मस्फोट विविध भावोके क्षण-क्षणमे विभूषित होनेवाले विशिष्ट रूपवाली वृत्ति होती है, जो समग्रतया रसत्वमे परिणत न हो, जहाँ नायक कार्यवश विशेष शानयुक्त सम्भावनादि गुणोसे पूर्ण प्रच्छन्न न्यवहार करता है, वहाँ नर्मगर्म वृत्ति होती है।

२. सात्वती (नाट्यवृत्ति)—सात्वती वृत्तिका प्रयोग उम्र रसोमे होता है। इसका सम्बन्ध चित्तकी दीप्तिले है। वीर, रौद्र, अब्भुत रसोंके वर्णनमें इस वृत्तिका प्रयोग होता है, शृंगार, करुणादि रसोंमें बहुत कम । इसका प्रयोग उद्धत स्वभावके पुरुष ही करते हैं। यह भरतके मतानुसार है। अभिनव गुप्त इसका सम्बन्ध सत्त्व या मनसे मानते हैं। इस प्रकार सात्त्विक अभिनय इस वृत्तिके भीतर आना चाहिये। यह मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी वृत्ति है। इस वृत्तिका प्रयोग न्यायोचित रूपमे किये गये संम्रामादिके वर्णन-प्रसंगमे होता है। यह विशोका वृत्ति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सत्त्वसे माना गया है, अतः हर्षादि भावोकी ही इसके द्वारा अभिव्यंजना होनी चाहिये। सात्वतीमे इस प्रकार झान, न्याय, औचित्य आदिकी प्रधानता अनिवाये है।

'नाट्यशस्त्र'के अनुसार वाणी और अंगोके अभिनयसे युक्त बचनोसे सत्त्वको जाग्रत करनेवाली सात्वतीके चार मेद है—उत्यापक, परिवर्तक, संलापक, संवातक । जहाँ "में उठूँगा, तुम अपनी शक्तिको दिखलाओं, इस प्रकारके संवर्षसे सम्बन्धित उत्तेजक वृत्ति होती है, वहाँ उत्थापक मेद माना गया है। जहाँ उत्थानसे प्रारम्भ होनेवाले अर्थको छोडकर संयोगवश अन्य अर्थोंको स्वीकार किया जाता है, वहाँ परिवर्तक, जहाँ विविध भाव-वचनयुक्त वार्तालाप चलता है, वहाँ संलापक और जहाँ मित्रके अर्थ, वाक्य या युक्तिसे, दैववशात् या आत्मदोषसे मेद उत्पन्न होता है, वहाँ संघातक भेद होता है।

३. आर्भरी (नाट्यवृत्ति)—आर्भरी वृत्ति, सात्वती वृत्तिसे विपरीत पडती है, क्योंकि इसमे न्यायोचितके स्थानपर छल, कपट रहता है। यह वृत्ति अभिमान, अहंकार आदिकी द्योतक है। अतएव धीरोद्धत नायकके प्रसंगमें यह वृति प्रधानतया उपयुक्त होती है।

अनेक प्रकारकी माया, इन्द्रजाल, कपट-वचन, दम्भ, अनृतसे युक्त आरमटी वृत्तिके भेद है—संक्षिप्तक, अवपात, वस्त्र्थापन और सम्केट। अर्थपूर्ण शिल्पयुक्त, अनेक प्रकारके वैचिन्यसे पूर्ण नेपथ्यमे वस्तुका संक्षिप्त संकेत संक्षिप्तक होता है। भय और हर्पको प्रकट करनेवाला, विविध वचनोंसे चमत्कार उत्पन्न करनेवाला, पात्रोके तुरन्त प्रवेश और निर्गमनसे युक्त अवपात होता है। सभी रसों-के संक्षिप्त वर्णन-युक्त पलायन या भगदड़ जिसमें हो या उसपर आश्रित मयका संचार हो, वह वस्त्र्थापन वृत्ति है। अनेक प्रकारके उपद्रवो और उत्तेजनाओ, अनेक युद्धों, छल-युद्धों और शक्ष-प्रहार आदिका संयोजन जिसमें हो, वह सम्फेट नामक आरमटीका भेद है।

४. भारती (नार्यवृत्ति)—भारतीका सम्बन्ध करुण और अद्भुत रसोंसे हैं । यह शब्द या वाग्वृत्ति है । अभिनव ग्रुप्ते इमे पाठ्य-प्रधान वृत्ति माना है । यों भी भारती सरस्वती या वाणीका पर्याय हैं । भरतने इसे करुण और अद्भुत रसोंसे इसलिए सम्बन्धित माना है कि इन रसोंमें विलाप और वाग्विलास अधिक रहता है, परन्तु इसका प्रयोग रौद्र, वीर आदिमें भी हो सकता है । श्रृंगार, हास्यमे भी इसे विजित नही किया जा सकता । इसीलिए कुछ आचार्योंका मत है कि इस वृत्तिका प्रयोग सभी रसोंमें हो सकता है । भरतोंके द्वारा प्रयुक्त होनेसे इसका नाम भारती पड़ा ('प्रयुक्तत्वेन भरतैः भारतीति निगद्यते') । भरत नर्टोसे भिन्न हैं । जो वाचिक अभिनय करते हैं, वे भरत

है और जो मूक अभिनय करते है, वे नट है। भारतीका उद्देश्य रसकी अभिन्यक्ति है, रस चाहे कोई भी हो। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'मे इसका लक्षण दिया है—''या वाक्प्रधाना पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता। स्वनामधन्यैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भनेत्तु वृत्तिः।'' (२२, २५)। आगे चलकर भारतीका सम्बन्ध सभी पाट्य अभिनय और मभी रसाभिनयसे जोडा गया। इस प्रकार यह एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण वृत्ति है।

भारती वृत्तिके भरतने चार भेद माने है—प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन। जयकी सूचना देनेवाली मंगल और विजयसे पूर्ण, सभी पापोंको शान्त करनेवाली पूर्वरामें प्ररोचना होती है। जहाँ नटी, विदूपक, परिपाइवंक आदि सूच्यारसे अपने कार्यसे सम्बन्धित रूपमे विचित्र वाक्योसे वार्तालाप करते है, वहाँ वीथी होती है। जहाँ युक्तिसे कोई थिष्ट योजना की जाती है, वहाँ आमुख है। हास्यादिपूर्ण विचित्र वार्तालाप प्रहसन है।

 भोजकी वृत्तियाँ –मोजका मत है कि जो विकास, विक्षेप, संकोच और विस्तारमे चित्तमे वर्तमान या व्याप्त रहनी है, वह वृत्ति है। यह छः प्रकारकी होती है-कैशिकी, आरमरी, सात्वती, भारती, मध्यभारती तथा मध्यमकैशिकी । जो सुकुमार अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करे, वह केशिकी; जो प्रौड अर्थ-सन्दर्भको प्रकट करती है, वह आरभटी: जो प्रौढ अर्थवाली और कोमल प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करती है, वह सान्वती; कोमल अर्थमें प्रौढ सन्दर्भको प्रकट करनेवाली मध्यमकेशिकी; कोमल सन्दर्भमे प्रौढ अर्थको प्रकट करनेवाली मध्यमारभटी तथा कोमल अर्थ एवं कोमल प्रौढ़ सन्दर्भवाली वृत्ति **भारती**वृत्ति है । मोजकी वृत्तियोंकी धारणा इस प्रकार अपनी विशेषता रखती है। स्पष्टतया रसके माध्यमसे इनका स्पष्टीकरण नही किया गया है। इसके साथ ही भोजने इनकी संख्या छः मानी है, जब कि अन्य आचार्योंने वृत्तियोकी संख्या चार ही स्वीकार की है। मध्यमारभटी और मध्यमकैशिकी ये दो बृत्तियाँ नवीन है, जिनका उल्लेख भोजके यन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-मे हुआ है, 'शृंगार-प्रकाश'में नहीं। नाथ-नाथसम्प्रदाय सहजयानियोंकी भॉति केवल पूर्वी भारतमें ही सीमित न होकर सारे देशमे ज्याप्त धर्मसाधना रहा है। नाथसम्प्रदाय तथा उसकी शाखा-प्रशाखाएँ दूर-दूर-तक फैली हुई है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि इसमे और बहुत-सी छोटी-छोटी धर्मसाधनाएँ कालान्तरमें विलीन होती गयी है। वैसे तो नाथसम्प्रदायके धर्माचार्योंमें गोरखनाथ सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रख्यात है, परन्तु वे इस सम्प्रदायके संस्थापक नहीं थे। वे पहलेसे चली आती हुई इस धाराके संघटनकर्ता और उन्नायक थे। इसीलिए निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता है कि इस धाराका सूत्रपात कब और कैसे हुआ। नाथसम्प्रदायके योगी योगके द्वारा जिस रसायनकी खोजकर अपनी कायाको अजर-अमर बनानेमें विश्वास करते थे, उस रसायनकी खोजका उल्लेख पतंजिलतकने किया है, अतः यह अनुमान किया गया है कि इस धाराके मूल तत्त्व तो पतंजिलसे भी पहलेके हैं। एक समय ऐसा अवस्य आया है, जब नाथ-योगियों और

वज्रयानी सिद्धोंकी साधनाओं में काफी पारस्परिक मिश्रण हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ विद्वानोंका यह मत है कि गोरखनाथ और उनके अनुयायी वज्रयानी थे और बादमें शैव हो गये। नेपालके बौद्धोंमे यही दन्तकथा प्रचलित है। किन्त कुछ विद्वानोकी मान्यता है कि म्वतः वज्रयानपर शैवसाधनाका प्रभाव पडा था और वज्रवानियोमे वज्रनाथी सम्प्रदाय विकसित हो गया था। जिसका चित्त विस्करित हो गया हो उसे सरहपा नाथखरूप मानते हैं--"जत वि चित्तिह विस्फरई तत्त वि णाह सरूअ" (दोहा कोप)। किन्त इतना प्रमाण किसी भी मान्यताको स्थापित करनेके लिए यथेष्ट नहीं है। वास्तवमें एक ही भूभागमें शैवो और बौद्धोंको योगपरक तान्त्रिक साधनाएँ बहुत दिनोतक प्रचलित रहीं, अतः उनमें बहुतसे तत्त्वोका आदान-प्रदान होता रहा । हजारीप्रसाद डिवेदीका मत है कि "गोरखनाथने शैव-प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके आधारपर बहु विस्तृत काया-योगके साधनोको न्यवस्थित किया, उन दिनों अत्यन्त प्रचित बज्जयानी तान्त्रिक साधनाके पारिभाषिक शब्दोंके सांवृतिक अर्थोंको पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गमसे उद्भन ब्राह्मण-विरोधी साधनामार्गको इस प्रकार संस्कृत किया कि उसकी रूढि-विरोधी परम्परा तो बनी रही, किन्त उसके अन्य वामाचारोंका बहिष्कार कर दिया गया। इस प्रसंगमे जो किंवदन्तियाँ प्रचलित है, उनसे प्रतीत होता है कि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और शिष्य गोरखनाथमें कुछ मतभेद - था और गोरखनाथ मैथुनपरक गुद्धसाधनाओके पूर्ण बहि-ष्कारके पक्षमे थे।

सम्प्रदायका संघटन करते समय कुछ दूसरी गौण धर्मसाधनाएँ भी नाथसम्प्रदायमे अन्तर्भुक्त हो गयी है। वाममागीं, शास्त्र, बौद्ध और आजीवक सम्प्रदायोके भी बहुतसे अनुयायी गोरखनाथके शिष्य हो गये। वे अपने पुराने अनुष्ठान, साथनाएँ और संस्कार नहीं छोड पाये। इसीलिए गोरखके अनुयायियोंका जो साहित्य मिलता है, उसमे कई प्रकारके प्रमाव लक्षित होते है।

वज्रयानियोकी ही भाँति नाथसम्प्रदायके प्रमुख आचायाँ-को भी सिङ कहा जाता रहा है। 'हटयोग-प्रदीपिका'के आरम्भमे ऐसे कुछ महासिद्धोंका नाम दिया हुआ है। परम्परासे सिद्धोकी संख्या चौरासी मानी जाती रही है, किन्तु जो विभिन्न स्चियाँ बौद्धो और शैवोकी मिलती है, उनमे बहुनसे नाम दोनों स्चियोमे है। वास्तवमें ये स्चियाँ ऐतिहासिक नहीं और चौरासीकी संख्या भी प्रतीकात्मक है, किन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि कुछ सिद्धाचार्य थे, जो बौद्धो और शैवों द्वारा समान रूपसे पृजित थे।

नाथोंकी संख्या नौ मानी गयी है। 'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह'के अनुसार आठ दिशाओं में आठ नाथ हैं और केन्द्र-में आदिनाथ हैं। उसी ग्रन्थमें २४ काप। कि नाथोंका भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कई साम्प्रदायिक गुरु-परम्पराओंकी स्वियाँ भी मिलती है। लोकश्रुतियों में नाथोंका सम्बन्ध सिद्धियों और अतिप्राकृतिक चमत्कारोंसे जुड़ा हुआ है। योग-साधनाके द्वारा अपनी कायाकों अमर करने और विभिन्न चमत्कारोंका प्रदर्शन करनेके लिए थे नाथ

योगी प्रख्यात थे। जनतापर इन नाथु-योगियोंका बहुत गहरा प्रभाव था। देशके विभिन्न भागोंमें आज भी जो योगी जातियाँ पायी जाती हैं, उनमें अपनी-अपनी विशेष-ताएँ हैं। दक्षिणके कुछ योगी नागपूजक है। महाराष्ट्रमें योगी गृहस्थ जीवन विताते हैं और भैरवकी पूजा करते है। मलयाली योगी कालीपूजक है और मैथुन-साधना करते है। कई बयनजीवी यवन जातियाँ भी ऐसी है, जो पहले योगी थी और अब भी योगी-साधनाओं में विश्वास करती हैं।

सिहायक अन्थ-नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विनेदी; आब्स्क्योर रेलोजस कल्ट्स : शशिभूषणदास ग्रप्तः नाथसम्प्रदायेर साधना ओ साहित्य : कल्याणी मल्लिक । --- ध० वी० भा० नाथसंप्रदाय-'नाथ' शब्दका प्रयोग 'रक्षक' या 'शरण-दाता'के अर्थमे 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'मे मिलता है। 'महाभारत'मे 'स्वामी' या 'पति'के अर्थमें इसका प्रयोग पाया जाता है। 'बोधिचर्यावतार'मे बुद्धके लिए इस शब्दका व्यवहार हुआ है। जैनो और वैष्णवोमे भी इस शब्दका प्रयोग सबसे बड़े देवताके अर्थमे पाया जाना है। परवर्ती कालमे योगपरक पाञ्चपत शैव मतका विकास नाथसम्प्र-दायके रूपमे हुआ और 'नाथ' शब्द 'शिव'के अर्थमें प्रचलित हो गया। मत्स्येन्द्रनाथके शिष्य गोरक्षनाथ या गोरखनाथ इस मतके सबसे बड़े परस्कर्ता थे। उनके द्वारा प्रवर्तित कहा जानेवाला बारहपंथी मार्ग नाथसम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदायके साधक अपने नामके आगे 'नाथ' शब्द जोडते हैं। कान छिदवानेके कारण 'कनफटा'(दे०) और 'दर्शन' धारण करनेके कारण 'दरशनी' साध भी कहते है। गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ मत बारह शाखाओमे निभक्त है। ऐसा कहा जाता है कि शिवजीके १८ सम्प्रदाय और गोरखनाथके १२ सम्प्रदाय परस्पर कलह किया करते थे। गोरखनाथने इन परस्पर लड्नेवाले मतोको विनष्ट करके इन्हें १२ पन्थोमे विभाजित कर दिया था। ये वारह पन्थ है—(१) सत्यनाथी, (२) धर्मनाथी, (३) रामपन्थ, (४) नटेश्वरी, (५) कन्हण, (६) कपिलानी, (७) वैरागी, (८) माननाथी, (९) आईपन्थ, (१०) पागल-पन्थ, (११) धजपन्थ और (१२) गंगानाथी। इन बारह पन्थोके कारण ही शंकराचार्यके दसनामी संन्यासियोकी भॉति इन्हें बारहपन्थी योगी कहा जाता है। बारहके अति-रिक्त 'वामारग' नामका जो मार्ग है, उसे आधा पन्थ मानते है। इनमें भजके (१) कण्ठरनाथी, (२) पागलनाथी (३) रावल सम्प्रदाय, (४) पंख, या पंक, (५) मारवाइके वन, (६) गोपाल या रामके पन्थ शिवके सम्प्रदाय माने जाते है, (७) चॉदनाथ कपिलानी, (८) हेठनाथ, (९) आई-पन्थ चोलीनाथ, (१०) मारवाडका वैराग पन्थ, (११) जय-परके पावनाथ और (१२) धजनाथ, गोरक्षनाथके सम्प्रदाय माने जाते है (विस्तारके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीकृत 'नाथसम्प्रदाय', पृ० १४८-१५६ देखिये)।

'हठयोग-प्रदीपिका'मे नाथपन्थके अनेक योगियोंके नाम दिये हुए हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये सिद्ध लोग चिरंजीवी हैं और कालदण्डको खण्डित करके आज

भी ब्रह्माण्डमें विचर रहे है। 'हठयोग-प्रदीपिका'में आदि-नाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानन्द, भैरव चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मन्थानभैरव, बोध, कन्हडीनाथ, कोरण्टकनाथ, सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्परीनाथ, काणेरीनाथ, पूज्यनाथ, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, विन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, भयनाथ, अक्षय-नाथ, प्रभुदेव, घोडाचूळीनाथ, टिण्टिणीनाथ, भल्ळरी, नाग-बोध और खण्डकापालिकका उल्लेख है। चौदहवी शताब्दीके मैथिल ग्रन्थ 'वर्णरत्नाकर'में चौरासी नाथसिद्धोके नाम दिये हुए हैं, जिनमें कई सहजयानी सिद्धोसे अभिन्न जान पडते है। इन नामोमें अनेक ऐसे है, जिनके विषयमे बहुत कम जानकारी है, परन्तु कुछ ऐते हैं, जिनकी थोडी-बहुत चर्चा तान्त्रिको, योगियों और निर्गुणमागीं सिद्धोके यन्थोमें मिल जाती है। सभी परम्पराओंसे जान पडता है कि आरम्भमें नौ मूलनाथ हुए है, परन्तु इनके नाम भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भिन्न-भिन्न तरहसे प्राप्त होते है। भहा-र्णवतन्त्र'में भिन्न-भिन्न दिशाओं में नाथोंके न्यासकी विधि बतायी गयी है। उससे नौ नाथोके नाम इस प्रकार मालूम पडते हैं - गोरक्ष, जालंधर, नागार्जुन, सहसार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जडभरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। सधाकर दिवदीने 'पद्मावत'की टीकामे एकनाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, उदयनाथ, दण्डनाथ, सत्यनाथ, सन्तोषनाथ, कूर्मनाथ और जालन्धरनाथको नौनाथ माना है। सम्प्र-दायमें प्रचलित दन्तकथाओं और भिन्न-भिन्न अन्थोमें प्राप्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि आदिनाथके शिष्य मत्स्येन्द्र-नाथ और जालन्थरनाथ थे। मत्स्येन्द्रके शिष्य गोरक्षनाथ और जालन्धरनाथ कान्हपा या कृष्णपाद थे। आदिनाथ साक्षात शिव थे, बाकी चार ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ते हैं। इन चारोंके नाम सहजयानी सिद्धों भी सूचीमे भी प्राप्त होते हैं। अनुश्रुतिके अनुसार मन्स्येन्द्रनाथ कदलीदेश या कजरीदेशमें, जिसे स्त्रीदेश भी कहा गया है, विलास-कीलामें फॅस गये थे और गोरक्षनाथने उनका उद्धार किया था। गोरक्षनाथका मत सम्पूर्ण भारतवर्ष, पाकिस्तान, नैपाल और अफगानिस्तानमें फैला हुआ है। इन मूल चार पन्थप्रवर्तकों, अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ, कृष्णनाथके विषयमें सैकडो दन्तकथाएँ भारतवर्षमें फैली हैं और अनेक पुरुषों और स्त्रियोके साथ इनके नाम जुड़े हुए हैं। हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही इनके अनुया-यिथोंमें है। जार्ज वेस्टन ब्रिंग्सने अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड द कनफटा योगीज'में विस्तारपूर्वक इसके व्यापक प्रचारका विवरण दिया है।

मत्स्येन्द्रके कालको लेकर दन्तकथाएँ बहुत ही उलझी हुई है। परन्तु इधर कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, जिससे यह सिछ होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरक्षनाथ तथा जालन्धरनाथ और उनके शिष्य गोरक्षनाथ तथा जालन्धरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद समसामयिक सिद्ध थे। प्रसिद्ध करमीरी आचार्य अभिनव गुप्तने अपने 'तन्त्रालोक'में 'मच्छन्द' विभुको नमस्कार किया है। ये मच्छन्दनाथ निश्चित रूपसे मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौल्ज्ञान-निर्णय' ग्रन्थमें उन्हें मच्छन्द्रनाथ भी कहा गया है।

अभिनव गुप्तका समय निश्चित रूपसे ज्ञात है। वे सन् ई॰की दसवीं शताब्दीके अन्त और ग्यारहवींके आरम्भमें वर्तमान थे, इसलिए मत्स्येन्द्रनाथका आविर्माव उसके बहुत पहले हो गया होगा। हजारीप्रसाद द्विवेदीकी 'नाथ-सम्प्रदाय' नामक पुस्तकमे यह सिद्ध किया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ नवी शताब्दीके मध्यभागमें वर्तमान थे। इसीसे शेष तीन नाथोके सम्बन्धमें भी नवीं शताब्दीका उत्तराई स्थिति-काल माना जा मकता है। मत्स्येन्द्रनाथ पूर्वी प्रदेशके निवासी थे, जो सम्भवतः कामरूपके पास चन्द्रगिरि या चन्द्रहीप नामक कोई स्थान था। लेकिन गोरक्षनाथ पश्चिम भारतमे उत्पन्न हुए थे। जालन्धरनाथका साधनास्थान पंजाबका जालन्धर नामक नगर है।

हालमें ही प्रवोधचन्द्र बागचीने मत्स्येन्द्रनाथ-रचित 'कौलज्ञान-निर्णय'का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थके सोलहवें पटल (४६-४९)से जान पडता है कि आदियगमे जो कौलज्ञान था, वह त्रेतामे 'महत्कौल', द्वापरमे 'सिद्धा-सत' और कलिकालमे 'मन्स्योदरकौल' नामसे प्रकट हुआ। इसी मत्स्योदरज्ञानका नाम 'योगिनी कौल' है, इसीको 'सिद्धमार्ग' या 'सिद्धकौलमार्ग' भी कहते है। 'कौलज्ञान-निर्णय'मे इसकी साधना-पद्धति और सिद्धान्तोंका विस्तार है। मत्स्येन्द्रनाथका दूसरा यन्थ 'अकुलवीरतन्त्र' है। मत्स्येन्द्रनाथने इसमें बताया है कि जबतक अकुल वीररूपी ज्ञान नहीं होता, तभीतक बालबुद्धिके लोग नाना प्रकारकी जल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह छोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह शेय है, यह श्रद्ध है, यह अश्रद्ध है, यह साध्य है, यह साधन है, यह तत्त्व है, यह ध्यान है-ये सब बालबुद्धिके विकल्प हैं (अ० वी० तं०, ७८-८७)। जिसे यह अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया रहता है, उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणाकी आवश्यकता नहीं रहती (१७-२०), वह ब्रह्मा, शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपायोंसे अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है (२६-२८), यज्ञ-उपवास, अर्चना-पूजा, होम, नित्य नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थयात्रा, धर्म-अधर्म, ध्यान, सबके अतीत हो जाता है (४३-४६), वह व्यक्ति समस्त इन्द्रोसे रहित हो जाता है।

जैसा ऊपर बताया गया है, गोरखनाथ सन् ई० नवी शताब्दीके उत्तराईमें पश्चिमभारतके किसी स्थानमें उत्पन्न हुए। उनके नामपर प्रचिलत संस्कृत यन्थोंसे पता चलता है कि वे बाह्मणवंशमे उत्पन्न हुए थे और उसी परम्परामे लालित-पालित भी हुए थे। उन्होंने मार्गको बहुत व्यवस्थित रूप दिया। शैव प्रत्यभिन्नादर्शनके आधार-पर बहुधा विस्नस्त कायायोगके साधनोको निश्चित रूप दिया, आसन, बन्ध, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधिके सिद्धान्तों और नियमोको सुज्यवस्थित किया, आत्मानुभृति और शैव परम्पराके सामंजस्यसे छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच व्योमका नियमन किया और उन दिनो असन्त प्रचिलत वज्रयानी साधनाके पारिभाषिक शब्दोंको बल्पूर्वक पारमार्थिक रूप दिया। सङ्गी-गली प्राचीन सामाजिक रूढ़ियोंका कड़ा विरोध किया और कठोर

ब्रह्मचर्यपर अधिक वल दिया। गोरक्ष्माथके नामपर लगभग तीस संस्कृत पुस्तकें प्राप्त होती है, जिनमें 'अमनस्क', 'अमरोध', 'शासन', 'गोरक्षशतक', 'गोरक्षसंहिना', 'योग-मार्तण्ड', 'योगनीज', 'विनेकमार्तण्ड', 'हठसंहिता' और 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' मुख्य है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' वरतुतः नित्यानन्दकी रचित पुस्तक है। और पुस्तकोके बारे-में भी काफी सन्देह है। पुरानी हिन्दीमें भी गोरक्षनाथकी लगभग चालीस छोटी-मोटी रचनाएँ प्राप्त होती है। पीताम्बरदत्त बडथ्वालने इन रचनाओको 'गोरखवानी' नाम देकर सम्पादित किया है। इनमेसे कई पुस्तकें कुछ पंक्तियो-तक ही सीमित है। इस ग्रन्थमे सबदी और पद अधिक प्रामाणिक हैं।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'में बताया गया है कि 'ह'का अर्थ सूर्य है, 'ठ'का चन्द्रमा। सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायुका है और चन्द्रसे अपानवायुका, ऐसा ब्रह्मानन्दका मत है। इन दोनोंका योग, अर्थात् प्राणायामसे वायुका निरोध ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाडीको कहते है और चन्द्र पिंगला नाडीको। इसलिए इडा और पिगला नाडियोंको रोककर सुपुम्नामार्गसे प्राण संचारित करनेको भी 'हठयोग' कहते है। इस शब्दका सबसे पुराना प्रयोग 'ग्रह्म समाजतन्त्र'में आता है। वहाँ बोधिप्राप्तिकी विधि बता लेनेके बाद आचार्यने कहा है कि ऐसा करनेपर भी सिद्धि प्राप्त न हो, तो हठयोगका आश्रय लेना चाहिये। 'योगस्वरोदय'मे हठयोगके दो भेद बताये गये हैं। प्रथममे आसन, प्राणायाम तथा घोती आदि षर्कर्मीका विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती है और उनमे पूरित वायु मनको निश्चल बनाता है। दूसरेमे नासिकाके अग्रभागमे दृष्टि निबद्ध करके आकाशमे कोटिमूर्यके प्रकाशका स्मरण और इवेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगोके ध्यानका विधान है। यही सिद्धसेवित मार्ग हठयोग कहलाता है। परम्पराप्ते यह भी प्रचलित है कि गोरखनाथके पूर्व हठयोगकी जो विधि थी, उसका उपदेश मृकण्डुपुत्र, अर्थात् मार्कण्डेयने किया था। मार्कण्डेयने योग(दे०)के आठो अंग, अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिको स्वीकार किया था और गोरक्षनाथने प्रथम दोको छोड़ दिया था, इसीलिए उसे षडंग योग भी कहते हैं, परन्तु नाथपन्थके अन्थोमे दोनो ही प्रकारके योगोकी चर्चा आती है। 'गोरक्षशतक'मे षडंगयोगकी बात है और 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह'मे अष्टांगयोगकी।

[सहायक प्रन्थ—नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी ।] —ह० प्र० द्वि० नाथ-साहित्य—गोरखनाथकी ४० छोटी-मोटी रचनाओंका संग्रह 'गोरखनानी' नामसे पीताम्बरदत्त बड़थ्वाळने किया है । इनके नाम इस प्रकार है—१- सबदी, २- पद, ३- शिक्षा-दर्शन, ४- प्राण सांकळी, ५- नखे बोध, ६- आत्म-बोध, ७- अभैयात्रा योग, ८- पन्द्रह तिथि, ९- सप्रक्खर, १०- महेन्द्र गोरखबेध, ११- रोमावळी, १२- ज्ञान-तिळक, १३- ज्ञानचौतीसा, १४- पंचमात्रा, १५- गोरख गणेश गोष्ठी, २६- गोरख दत्त गोष्ठी, १७- महादेव गोरख गुष्ट, १८- शिष्ट पुराण, १९- दयाबोध, २० जाति भौरावळ,

२१. नवग्रह, २२. नवराम, २३. अष्ट पार्छया, २४. रह-रास, २५. ज्ञानमाला, २६. आत्मवीध, २७. ब्रत, २८. निरंजन पुराण, २९ गोरखवचन, ३० इन्द्री देवता, ३१. मुल गर्भावली, ३२ खॉड़ी वाणी, ३१ गोरख शत, ३४. अष्टमुद्रा, ३५. चौबीस सिद्धि, ३६. षडक्षरी, ३७. पंच अग्नि, ३८. अष्टचक्र, ३९. अवलि सिल्क्ष, ४०. काफिर बोध। इनके अतिरिक्त इकतालिसवाँ एक और 'ज्ञान-चौनीसा' है, जो समयपर नहीं मिलनेके कारण 'गोरख-बानी'मे नहीं सम्मिलित किया जा सका । बडथ्वाल प्रथम चौदहको प्रामाणिक मानते है, परन्त यह कहना कठिन ही है कि इनमे कितना अंश सचमुच गौरखनाथका लिखा है और कितना वादके लोगोंने उनके नामपर चला दिया। इन पदोमेसे कई दादू, कबीर, नानकदेवके नामपर भी पाये जाते हैं। इनमेसे कुछ पदोने लोकोक्तिका रूप धारण किया है, कुछने जोगीडोंका रूप ले लिया है और कुछ लोकमे अनुभविमद्ध शानके रूपमे चल पड़े है। इन रचनाओंमें यद्यपि योगियोके लिए उपदेश हैं, अतएव वैसी साधना-मूलक वानें पायी जाती है, परन्तु कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनसे लेखकके नैतिक विश्वासका पता चलता है। उनमे काम-क्रोधका वर्णन, सहज जीवन, दृढ ब्रह्मचर्य, संयत आचरण और सहज शीलका उपदेश है।

गोरखनाथके बाद और भी अनेक सिद्धोकी हिन्दी वाणियाँ पायी जाती है। कुछ तो राम, लक्ष्मण, हनुमान्, दत्तात्रेय, महादेव, पार्वती आदि पौराणिक व्यक्तियोंके नामपर पद मिलते हैं, जो वस्तुतः परवर्ती कालके साधुओं-की रचनाएँ है और पौराणिक पुरुषोके नामपर चला दी गयी है। अजयपालके नामकी कुछ सबदियाँ प्राप्त हुई है, जिनकी भाषा काफी प्राचीन जान पडती है। सती काणेरीके नामपर पाये जानेवाले पद परवर्ती जान पड़ते है। फिर गरीव, गोपीचन्द, घोडाचोली, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, जलन्ध्रीपाद, ध्रॅथलीमल, प्रिधीनाथ, भरथरी, मच्छन्द्रनाथ, मेडकीपाव, लालजी, हडबन्तनाथ आदि सिद्धोकी रचनाएँ विभिन्न मूलोसे प्राप्त हुई है। इन पदोका विषय योग, ज्ञान, वैराग्य, आत्मशान, शील, सन्तोष और सहज जीवन है। गुरु नानकके नामपर चलनेवाली एक योगमागीं पुस्तक 'प्राणसंकली' प्राप्त हुई है। इस पुस्तककी प्रामाणिकताके विषयमे सिख सम्प्रदाय-के विद्वानोमे मतभेद है। इसे गुरुयन्थ साहबमें स्थान नहीं दिया गया है। पंजाबीके सुप्रसिद्ध विद्वान् भाई सन्तोष सिंहने इसकी सबसे पुरानी प्रतिको छठे गुरुके समयका बनाया है, परन्तु सन्त पूरन सिंह इसे गुरुवाणी ही स्वीकार करते हैं। इस यन्थमे नाथिसद्धोकी ही चर्चा है। कुछ प्रसिद्ध नाथसिद्धोके नाम इस प्रकार है-पर्वतिसिद्ध, ईश्वरनाथ, चर्पटनाथ, घृग्च्यूनाथु, चन्दानाथ, खिन्यड़नाथ, झंगरनाथ, धूरमनाथ, धंगारनाथ, मंगलनाथ, प्राणनाथ। ये सिद्ध सन् ई०की १५वी शताब्दीके पूर्ववर्ती होगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनसे गुरु नानककी बात-चीतका ब्यौरा दिया गया है। अधिकांश बातचीत निरंजन-के खरूप, प्राणायाम आदि योगप्रक्रियाएँ, खरोदा, रस-सिद्धि, आत्मतत्त्व आदि विषयोपर है। चर्पटनाथके नामपर मिलनेवाली बहुत-सी उक्तियाँ अन्य स्रोतोमे भी उनके नामसे मिल जाती है, परन्तु इस ग्रन्थमें इन सिद्धोके नामपर जो उक्तियाँ है, वे इनकी ही रचनाएँ होगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

हिन्दीके अनिरिक्त बॅगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में भी गोरखनाथकी उक्तियाँ प्राप्त होती है। सर्वत्र लोकभाषाम निवद्ध इन उक्तियोंका तात्पर्य एक जैसा ही है; उनमें कायायोग, सहज जीवन, रूढिविरीध, संयत आचरण और ब्रह्मचर्यपर जोर दिया गया है। रस-पाक-साहित्यकी दृष्टिसे इनका मृत्य बहुत अधिक नहीं है।

सिहायक प्रनथ-नाथसम्प्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी; नाथसिद्धोंकी बानियाँ : सं० हजारीप्रसाद द्विवेदी; गोरख-बानी: सं० पीताम्बरदत्त बङ्थ्वाल ।] — ह० प्र० द्वि० नाद-कुण्डलिनीको जामत् कर योगी लोग जब उद्बुद्ध कर लेते है, तब वह ऊपरकी ओर उठती है। उसकी इस कर्ध्वगतिसे जो स्फोट होता है, उसे नाद कहते है। यह नाद अनाहत रूपसे सारे ब्रह्माण्डमे न्याप्त है। यही पिण्डमे भी है, पर इसे अज्ञानी नहीं सुन सकते, क्योंकि उनका सुषुम्ना-पथ बन्द है। जब हठयोगसे उनका वह पथ खुल जाता है तो वे उस अनाहत ध्वनिको सुनने लगते है। अनुभवी साधकोने उस ध्वनिको पहले समुद्र-गर्जन, मेघोकी गड़गडाहर, शंख-घण्टे आदिकी ध्वनि और अन्तमें किकिणी, वंशी, भ्रमर आदिकी ध्वनिके समान बताया है। यही नाद वास्तवमें उपाधियुक्त होकर सात खरोंमें विभाजित हो जाता है, पर निरुपाधि होकर प्रणव या ओकार कहलाता है। इसीको शब्दब्रह्म कहते है। वैष्णव पद्धतियोमें इष्टदेवके नामको शब्दब्रह्म कहा गया है । इसी शब्दब्रह्मको वैयाकरणोंने स्फोट कहा है। सन्तोंने अनाहतनादको सोहं ध्वनि भी कहा है। —ध० वी० भा० नानकपंथ-नानकपन्थके संस्थापक गुरु नानक(संवत् १५२६-१५९५) थे। गुरु नानक द्वारा संस्थापित यह पन्थ दो नामोंसे अभिहित है-नानकपन्थ तथा सिख धर्म। सिख शब्द शिष्यका अपभ्रंश-रूप है। गुरु नानकके शिष्य कालान्तरमे सिख नामसे प्रख्यात हुए। कालान्तरमे सिख शब्द एक धार्मिक विचारधाराका वाहक बन गया। नानक-पन्थमें दस प्रमुख गुरु हुए, जिनमे अधिक प्रसिद्ध है-गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह। इन दसों ग्रहओको अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक बाधाओंका सामना करना पडा। गुरु अर्जुनदेवके जीवन-कालतक पन्थमें साधना, शान्ति, सद्भावना तथा सहन-शीलताकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, परन्तु गुरु गोविन्द सिंहके जीवनकालमें प्रतिकार, वैमनस्य और भेदभावकी प्रवृत्ति प्रमुख हो गयी। तबसे यह पन्थ राज-नीति क्षेत्रमे अधिक महत्त्वशाली बनता गया। गुरु गोविन्द सिंहके नेतृत्वमे यह पन्थ खालसा सम्प्रदायके रूपमें विक-सित हो गया। यहाँसे सिख जातिका एक पृथक इतिहास प्रारम्भ होता है। सिख धर्म या नानकपन्थ निरा सैद्धान्तिक या आदर्शवादी मत नही है। इसे शुद्ध व्यावहारिक मत कहना उपयुक्त होगा। इस पन्थमें चरित्र-निर्माण तथा चारित्रिक विकासकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नानकने वर्णव्यवस्थाकी संकुचित परिधिसे ऊपर उठाकर मानव-समाजको 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का उपदेश दिया। उनके अनुसार आदर्श मानव वही है, जिसमे ब्राह्मणकी-सी साधना, सत्यप्रियता और चरित्रबल हो, क्षत्रिय जैसी आत्म-रक्षा-भावना हो, दैश्य जैसी व्यावहारिक बुद्धि हो और शृद्ध जैसी सेवा-भावना हो।

गुरु नानकदेवके अनन्तर होनेवाले अन्य गुरुओंने कभी अपनेको उनसे भिन्न नहीं माना। गद्दीपर वैठनेके अनन्तर उन्होंने अपनेको नानक ही बतलाया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी रचनाओंमें रचिताके स्थानपर नानक नाम ही उल्लिखित किया है। 'द आदि अन्थ-इन्ट्रोडक्शन' शीर्षक अपने अन्थमे ट्रम्पने नानकको इस्लामका अनुयायी ही माना है। 'द सिख रेलिजन'में एम० ए० मेकॉलिफ उन्हे एक भिन्न धर्मका प्रचारक मानते है। नानकका जन्म और पालन-पोपण हिन्दू परिवारमें हुआ था। उनकी रचनाओंमें हिन्दुओंके उत्पीडनके कारण क्षोभ दिखाई देता है।

सिख धर्ममें आत्मिक विकासपर विशेष बल दिया गया है। मनुष्यको निरन्तर साधना और अभ्यास करते रहना चाहिये। जहाँ मनुष्य अपनेको ज्ञानी या पण्डित समझ लेता है, वहीं उसका विकास समाप्त हो जाता है। नानक-पन्थमे ब्रह्म सत्य रूप माना गया है। सब:कुछ उसी सत्यमें व्याप्त है। उससे परे कुछ नही है। वह ब्रह्म स्वयं रस-रूप है और उसका अनुभव करनेवाला भी वही है। वह सर्वत्र रमा हुआ है। वह स्वयं गुण है। वही उसका कथन करता है। वही उसका मूल्य भी है। वह दृष्टि और वर्णनसे परे है। फिर भी वह सर्वत्र दृष्टिगोचर है। वह ज्योति सदा सहज स्वभावसे जानी जाती है। उसकी अनुभूतिके लिए कायाको कष्ट देना आवश्यक नहीं है। गुरु नानक और उनके अनुयायी भेदाभेद दर्शनके समर्थक थे। मनोमारणके लिए नानकपन्थमें नाम-स्मरण ही साधना और साध्य माना गया है। नाम समस्त जीवोके लिए आश्रयस्वरूप है। इसी नामके आधारपर समस्त विश्वका अस्तित्व है। नामका कथन, गान, मनन करना परम साधना है। बिना गुरु ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। गुरुके शब्दोमे अद्भुत शक्ति है। संसारमे सब बराबर है। जातिभेद अहंकार और माया है।

सिख भर्म अनेक सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विकसित हुआ। वीरबन्दाबहादुरके समयमें सिखोके मध्य भेदभाव और दलबन्दी प्रारम्भ हुई। नानकदेवके जीवनकालमें ही उनके पुत्र श्रीचन्द(जन्म सं० १५५१)ने उदासी सम्प्रदायकी स्थापना की और कदमीर, काबुल, कन्धार, पेशावर जैसे सुदूर देशोमें केन्द्र स्थापित किये। चौथे गुरु रामदासके पुत्र प्रिथीचन्दने मीनापन्थकी स्थापना की। हन्दलजाटने हन्दली मतकी स्थापना की। गुरु हररायके पुत्र रामरायने रामैयापन्थ चलाया। गुरु गोविन्द सिंह द्वारा संस्थापित खालसा सम्प्रदायके आगे चलकर दो दल हुए, जिनमे प्रथम था सत्त खालसा और द्वितीय था बन्दई खालसा। उदासी सम्प्रदाय भी चार शाखाओंमें विकसित

हुआ। सिख धर्मकी विकृतियों या उपसम्प्रदायोंके रूपमे नागा या नानकशाही, निर्मला, नामधारी, सेवापन्थी, मिहधारी, भगतपन्थी, गुलाबदासी, निरंकारी तथा अकाली भी उल्लेखनीय है। नामधारीके प्रवर्तक छुधियानाके भाई रामसिंह थे, सुथराशाहीकी स्थापना सुथराशाहने की थी। इसी प्रकार कन्हैयाने सेवापन्थ, गुलाबदासने गुलाबदासी तथा दयालदासने निरंकारीकी स्थापना की।

'गुरु प्रन्थसाहव' सिखोंका प्रमुख धार्मिक प्रन्थ हैं। गुरु अर्जुनदेवने भाई गुरुदास द्वारा आदियन्थ लिखवाया था। नानककी रचनाओं विशेष प्रसिद्ध हैं 'जपुजी' तथा 'असा दी वार'। गुरु अंगदने गुरुमुखी लिपिमें पहली वार नानककी रचनाओं को एकत्र करवाया। 'अन्थसाहव'के महला रमे गुरु अंगदकी रचनाएँ संगृहीत है। गुरु अमरदासकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'आनन्दू' है। गुरु अर्जुनदेवने 'सुखमनी', 'वावन अखरी', 'वारामासा'की रचना की। गुरु गोविन्दसिहकी रचना 'दसवाँ पातसाहका प्रन्थ' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके दरवारमें ५२ कवियोको आश्रय मिला। उन्होंने संस्कृतके अनेक महत्त्वपूर्ण अन्थोंका अनुवाद भी करवाया। सिख धर्ममे अनेक कवियोंका आविमीव हुआ, जो प्रतिभा और साथनाकी दृष्टसे बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सिखधर्ममें साधना, वीरता और माबुकताका अद्भुत समन्वय उपलब्ध होता है। इस धर्मका इतिहास वीरताकी पृष्ठभूमिमे लिखा गया है।

सिहायक अन्थ—हिन्दीकाव्यमे निर्गुणसम्प्रदाय : पीता-म्बरदत्त वडथ्वाल; उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी; द आदि अन्थ : ट्रम्प]। —निश् नाश्दीश नामकरणवैचित्र्यवक्रता—देश 'प्रवन्थवक्रता', पाँचवाँ नियामक।

नायक (कथा साहित्य)—नायक कथाका मुख्याधार है। सम्पूर्ण कथाकी गतिशीलता उसके चरित्र एवं क्रिया-व्यवहारोकी गतिशीलता पर निर्भर करती है। इसीलिए कथा चाहे वह कान्यकी शैलीमें हो, या नाट्य शैलीमे उसके लिए नायककी अनिवार्यता अपेक्षित है (दे० नायक: शास्त्र, नाट्य एवं काव्यमे)। कथा साहित्यका आरम्भिक स्वरूप उपदेशवादिता, नैतिक संरक्षण, ऐन्द्र-जालिक सत्य, जादू-टोने आदिसे सम्बन्धित होनेके कारण नायकके स्वरूप-पर पूर्ण प्रभाव डालता है। आरम्भिक भारतीय कथा साहित्यका नायक इन्ही प्रेरणाओंसे संयुक्त मिलता है। पशु-पक्षी, देव, असुर, अप्सरा, किन्नर, गंधर्व तथा अन्य ऐन्द्रजालिक चमत्कारपूर्ण नायकोंकी इन कथाओं मे प्रधानता मिलती है। भारतीय नीति कथाओमे 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' एवं लोककथाओमे 'बृहत्कथा', 'बृहत्कथा रलोक संग्रह', 'बृहत्कथा मंजरी', 'कथा सरित्सागर', 'वेताल पंच-विंशतिका', 'सिहासन द्वात्रिंशिका', 'विक्रम चरित', ' शुक-सप्तति' आदि कथा संग्रहोमें नायककी यही स्थिति है। कथा-साहित्यसे पृथक भारतमें सामन्तवादी व्यवस्थाके कारण वीर भावनाकी उदात्तना तथा धार्मिक पृष्ठभूमिके फलस्वरूप आदशोन्मख नायकोंके उच्चताकी परिकल्पना की गयी। अंधविश्वासपूर्ण उद्देश्य-साधित नायकके अलौकिक, चरित्रोंकी भी अनेकानेक कल्पनाएँ हुईं। विशेष रूपसे थार्मिक साहित्यमे इसकी बहुलता मिलती है। पुराण तथा उससे प्रभावित अन्य भारतीय कथा साहित्यमे नायककी स्थिति साम्प्रदायिक धर्म भावनासे प्रेरित उदात्त एवं आदर्शी-नमुख ही अधिक है। लौकिक वातावरणमे लिखी गयी कथाओका नायक उच्च सामन्तवर्गीय है। दशकुमार-चरित्र, स्वप्नवासवदत्ता, हर्पचरित आदि कथाओं मे नायक संभ्रान्त, सर्वविद्यासम्पन्न अनेक दैवी शक्तियोंसे पूर्ण कथा-के मुख्य फलके भोक्ताके रूपमें मिलते है। आधुनिक युग-मे मध्यकालीन पौराणिक प्रभावमे निर्मित कथाएँ पूर्णतः आदर्शोन्मुख है। आधुनिक भारतीय कथा साहित्यमें नव जागरण (दे०)के प्रभावसे नायककी स्थितिमे अधिकाधिक विस्तार हुआ है। नायककी एक विशिष्ट दृष्टिसे संयमित रूढिबद्ध स्थितिमें पर्याप्त परिवर्तन किया गया। वह अपनी गतिविधिमे अपने सम्पूर्ण वातावरण, प्रतिक्रियाओं, सामाजिक उद्देश्यों तथा जीवनगत विभिन्न मान्यताओको लेकर आगे बढनेमे समर्थवान् सिद्ध हुआ । इस पुनर्जागरण युगने कथा साहित्यको अनेक दिशाएँ दी। उसने प्राचीन आस्थायस्त, रूढ एवं कुंठित नायकके व्यक्तित्वको त्रस्त कर दिया। इस युगमे मानव अस्तित्व पूर्णतः बदल गया। वैज्ञानिक संघटनसे प्रभावित समाजकी संघटनाने 'वर्ण-व्यवस्था'के प्राचीन मानदण्डको पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। जाति विशिष्टता, वर्ण उच्चताके आधार पर वर्गीकृत जातियो-के स्थान पर दो ही जातियाँ शेष बर्चा। वे थी-पुंजीपति तथा मजदूर । औद्योगोकरणके फलस्वरूप आर्थिक सम्पन्नता पूंजीवादी वर्गके हाथ आ गयी। इसी समय नीत्मेके अति-मानववाद (दे०)ने इन मजदूर तथा निम्नवर्गीय व्यक्तियों-के अस्तित्वको और भी कुचल दिया। हिटलर तथा मुसी-लिनी उसीके शिष्य थे। द्वितीय महायुद्धके परिणाम-स्वरूप अनेक मानववादी दृष्टिकोण यूरोपमें प्रचारित किये गये। रूसोने 'एमिली' अन्थमे 'यूरोपिया'का खप्न देखा। उसने महायुद्ध, मानव व्यक्तित्वकी विश्वंखलता, औद्योगी-करणमे अट्टट श्रद्धा तथा नागरिक कृत्रिमताका खण्डन किया। किन्तु वैज्ञानिकतावादके पुनर्प्रचारसे रूसो द्वारा निर्मित काल्पनिक-मानव सत्ता छिन्न-भिन्न हो गयी। इसी समय एक और भी महत्त्वपूर्ण आन्दोलन शुरू हुआ। वह था-मार्क्सवार (दे०)। मार्क्सवादने समस्त सामन्तवादी तथा पुंजीवादी आर्थिक न्यवस्थाको बदलकर उसके स्थान-पर परस्पर समता, एकता तथा मानवहितके सिद्धान्तत्रयकी स्थापना की । पूंजीवादने दो वर्ग वना दिया था-मध्यवर्ग तथा शोषित, मध्यवर्ग शोषकसे घृणा करता था क्योकि उसे सुख-स्वप्नकी उत्कट लालसा थी। निम्नवर्ग मध्यवर्गमे संघर्ष करता रहा, क्योंकि उसकी दृष्टिमें वही सामने पडता था। पूंजीवाद अपने स्थान पर सुरक्षित था। मार्क्सने इस मध्यवर्गको निरर्थक, स्वतः नष्टचेता बताकर पूंजीवादी आर्थिक मानदण्डको नष्ट करनेकी और वल दिया। इस प्रकार संसारके इतिहासमे पहलीबार मजदूरोकी महत्ता बढी। किन्तु इस प्रकारके राष्ट्र भी है तो कितने ? अतः अधिकांश देशोंमे तथाकथित सामाजिक स्थिति ही वर्तमान रही। आधुनिक कथा साहित्य समाजकी इन विचारधाराओं -से पूर्णतः प्रभावित है। कथाका न्यक्ति समाजका न्यक्ति है और गाजकी सामाजिक रचना इसी प्रकारकी है। आधुनिक कथा साहित्य एक और सिद्धान्त-विशेषसे प्रभावित है। वह है फायडका काम सिद्धान्त। इस विचारधारासे भी संसारका एक महत्त्वपूर्ण भाग प्रभावित रहा है। इस सामाजिक परिवेशमे नायकोके वर्गीकरणकी समस्या अत्यधिक जिटल हो गयी है।

नायकका प्रथम वर्गाकरण यथार्थ और आदर्शके आधार-पर किया जाता है। आदर्श नायकोंका भविष्य अब अधिक नहीं रह गया है। वे जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिमे तौले जाते है। इनके स्थानपर यथार्थवादी एवं प्रकृत नायकोंका प्रभुत्व बढ रहा है। प्रेमचन्द, टालस्टॉय, रवीन्द्र जैसे कुछ उपन्यास लेखकोंने आदर्श और यथार्थकों लेकर कथा साहित्यमें अनेक प्रयोग किये है, किन्तु इसका भी भविष्य अधिक स्पष्ट नहीं है।

नायकोका दूसरा वर्गाकरण उनके चरित्रकी गतिशोलता-के आधारपर किया जाता है। इस तरहसे भी नायक दो प्रकारके ठहरते है—स्थिर नायक तथा गतिशील नायक। स्थिर नायक आदशों-मुख, एक ही प्रकारसे रूढ तथा गति-शील कथाके लिन्न आदशोंमें पड़े घटनाचकोंके प्रवाहमें बनते और नष्ट होते रहते है। राबर्ट लिडिलने आदशों-मुख यथार्थवादीकी भाँति मिश्रित नायककी भी करपना की है।

विभिन्न सामाजिक वर्गोंके अनुसार नायकता एक तीसरा भी वर्गाकरण मिलता है। अभिजात वर्गके नायकोंकी अनेक श्रेणियाँ मिलती है। विलासी, उत्पीडक, सामन्तवादी, पूंजीपति, राजन्यवर्ग आदि पकारके नायक उच्चवर्गमें मिल जाते है। मध्यवर्गमें भी नायकोंकी यही स्थिति है। वे मध्यवर्गीय विद्रोही, शोषक, पथन्नष्ट, यौन कुंठाग्रस्त आदि है। निम्नवर्गीय नायक अपनी परिस्थितिके अनुसार अनेक रूपके है। इन नायकोंकी स्थितिमें स्थिरता अधिक है। वे निम्नवर्गीय जागरूक, शोषित, आदर्शोन्मुस, लंपट आदि अनेक प्रकारके हो सकते है।

काम सिद्धान्तके आधारपर भी नायकोंका वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमें कई श्रेणियाँ बन सकती है। ये कुंठायस्त आदर्शोन्मुख, दुर्बल, व्यक्तिवादी, उन्मुक्त, समाजप्रेरक, यौनपीडित प्रणयीके रूपमें रखे जा सकते है। वर्तमान पृंजीवादी व्यवस्थाके समर्थक देशोंमें यौन तथा प्रणय-समस्या सम्बन्धी कथा साहित्यका अधिकाधिक विस्तार हो रहा है। यह पूर्णतः अदलीलता तक पहुँच चुका है। निष्कर्षतः आधुनिक कथा साहित्यमे अनेकोन्मुखी नायक व्यक्तित्वोंके दर्शन होते है।

[सहायक प्रन्थ—नावेळ एण्ड द पीपुल्स : फॉक्स रालेफ; मानव मूल्य और नया साहित्य : धर्मवीर भारती; हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : त्रिभुवन सिंह; हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : त्रिभुवन सिंह; हिन्दी उपन्यासमे नायक : (अप्र० शोध प्रवन्ध, प्रयाग विश्व०) : कुस्रम वार्ष्णेय ।] —यो० प्र० सिं० नायक (नाटक)—सर्वप्रथम भरतके 'नाट्यशास्त्र'में नाटकके प्रमुख तत्त्वोंके रूपमे स्वीकृत नायकका वर्गीकरण नाटकीय कथावस्तुके आधारपर किया गया है। इसको नाट्यशास्त्रियोंने स्वीकार किया ही है, कई काव्यशास्त्रियोंने

भी माना है (दे॰ 'नायक-भेद')। 'दशरूपक'में नायकके गुणोको गिनाते हुए उसे नेता, विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, वाग्मी, रूढवंश तथा स्थिर माना गया है। उसे बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा तथा कलावान् स्वीकार किया गया है। वह शूर, दढ, तेजस्वी, शास्त्र-दृष्टिवाला और धार्मिक कहा गया है। इस नायकको चार प्रमुख भेदोंमे बाँटा गया है:—

धीरललित-भनंजयके अनुसार-"निश्चन्तो धीर-लितः कलासक्तं सुखी मृदुः", अर्थात् निश्चिन्त स्वभावका, कलाओंसे प्रेम रखनेवाला, कोमल स्वभाववाला तथा सखी नायक धीरललित होता है (द० रू०, २: ३)। उदा०---'स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'रत्नावली'का नायक उदयन. 'मालविकारिनमित्र'का अरिनमित्र । **धीरशान्त**—धनंजयके अनुसार—"सामान्यगुणयुक्तस्त धीरशान्तो द्विजादिकः", अर्थात् सामान्य गुणोसे युक्त ब्राह्मण अथवा वैद्यादिक नायकको धीरशान्त कहते है। उदा०- मालतीमाधव'का नायक माधव तथा 'मृच्छकटिक'का चारुदत्त । धीरोटान —धनंजयके अनुसार—"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावान-विकत्थनः । स्थिरो निगढाहंकारो धीरोदात्तो इढव्रतः" धीरोदात्त नायक भावनाओंपर अधिकार रखनेवाला, गम्भीर, क्षमावान् , अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा न करनेवाला, स्थिर चित्तका, विनयी तथा दृढवती होता है (द० रू.०, २ : ४)। उदा०--'नागानन्द'का नायक 'जीमतवाहन' तथा 'उत्तररामचरित'के नायक राम । धीरोद्धत-धनंजयके अनुसार-"दर्पमात्सर्थभृयिष्ठो मायाछबपरायणः। धीरोद्धत-स्त्वहंकारी चलरचण्डो विकत्थनः", अर्थात् इस नायकमे ईर्ष्या और दर्प अधिक होता है, माया और छल करनेमें चत्र होता है, चंचल, क्रोधी और आत्मप्रशंसक होता है। (द० रू०, २:५)। उदा०-रावण।

हिन्दी साहित्यके मध्ययुगमें नाटको और नाट्यशास्त्रका नितान्त अभाव रहा है। आधुनिक कालमे नाटकका विकास संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्यके आधारपर हुआ है, पर क्रमशः उसके तत्त्वोमें आधुनिक विधारधाराके कारण पाश्चात्य प्रभाव ही बढ़ता गया है। इसके साथ ही नायको-की यह मध्ययुगीन कल्पना नाटकोंगे स्वीकृत नहीं हो सकी है। भारतेन्दुयुगमे नाटकके विन्यासमे संस्कृत नाट्यशास्त्रसे मा प्रभाव ग्रहण किया गया था, पर प्रायः कथानक आधुनिक समाजसे लिये गये थे, इस कारण उनमे नायकका यह रूप नहीं मिलता। बादके हिन्दी नाटकोमे ऐतिहासिक पुरुषोंका चरित्र भी आधुनिक आदर्शोंसे अनुप्राणित रहा है। — सं० नायक-नायिका-भेद (शास्त्र)—प्रमुखतः इस विषयके अन्तर्गत श्वंगार रसके आल्डम्बन-विभावके रूपमें नायक-

नायक-नायिका-भंद (शास्त्र) — प्रमुखतः इस विषयकं अन्तर्गत शृंगार रसके आलम्बन-विभावके रूपमें नायक-नायिकाओंका विवेचन और वर्गांकरण किया गया है। नायक-नायिका-भेदका विषय नाट्यशास्त्रसे प्रारम्भ होता है, क्योंकि सर्वप्रथम नाटककी कथावस्तु तथा उसके प्रधान रसकी धिष्टे नायकका विभाजन किया गया था (दे० 'नायक' (नाटक)। संस्कृत नाट्यशास्त्रके साथ काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदका विकास शृंगार रसके आलम्बनके रूपमे हुआ है। जहाँतक हिन्दी साहित्यके

अन्तर्गत इस विषयका सम्बन्ध है, नाटकका आधार विल्कुल नहीं लिया जा सका है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी माहित्यमे उस समय नाट्यसाहित्य और नाट्यशास्त्र होनोका नितान्त अभाव है। हिन्दीमे यह विषय शृंगारके आलम्बनके रूपमें ही लिया गया है। वस्तुतः संस्कृतमे भी जब यह विषय रित-भावनाके अन्तर्गत आया है, उस समय शृंगार रसके सन्दर्भमे ही इसका विस्तार प्रस्तुत किया गया है।

शृंगार रस जिस रति स्थायी भावपर आधारित है, वह भाव स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमे ही अभिव्यक्त होता है। अतएव श्रंगारके आलम्बनके रूपमे स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धकी ही अनेक स्थितियाँ आती है और इन्हींके आधारपर नायक-नायिका-भेदका विकास हो सका है। शृंगार रसके आधार-कें कारण इस विषयकी सीमाएँ भी उसीसे निर्धारित होती हैं और प्रायः इस विषयके आचार्य कवियोने इनका अति-क्रमण नहीं किया है। इस विषयकी सामान्य स्वीकृत वातें इस प्रकार रखी जा सकती है-१- इस विषयके अन्तर्गत सामान्य तथा स्वाभाविक रति-भावनाको, अर्थात् स्त्री-पुरुषके रति-सम्बन्धको ही लिया गया है। अन्य समस्त प्रकारकी अस्वाभाविक, अप्राकृतिक तथा सहजाति योनि-सम्बन्धोंपर आधारित रतिभावनाको स्वीकार नहीं किया गया है। २. यौवनयुक्त तथा आकर्षक स्त्री-पुरुषोके प्रेमको ही स्वीकार किया गया है। ३. रसवीधकी दृष्टिसे सामाजिक मर्यादाका भी सामान्यतः ध्यान रखा गया है। केशवने 'रसिकप्रिया' में इस प्रकारकी स्त्रियोकी सूची दी है, जिनसे रति-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाना चाहिये। ४. स्त्री-पुरुष, दोनोमें रतिभावना अनिवार्य मानी गयी है, विना इसकी पार-स्परिक स्थितिके रसकी निष्पत्ति सम्मव नहीं है। ५ प्रेमके अतिरिक्त अन्य कोई प्रसंग इसके अन्तर्गत नहीं लिया गया है। इस प्रकार नायक-नायिका-भेदका विषय सीमित क्षेत्रके अन्तर्गत विकसित हुआ है और उसके अध्ययनके लिए इस बातको ध्यानमे रखना आवश्यक है।

सम्भवतः इस विषयका सर्वप्रथम विवेचन और प्रति-पादन वात्स्यायनके 'कामसूत्र'मे किया गया है, परन्तु उसका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। नायक, नायिका, सखी तथा दूतियोंका सविस्तर वर्णन 'कामस्त्र'मे है, परन्तु यह कान्यशास्त्रसे भिन्न है। 'कामसूत्र'के अनुसार स्वकीया-का महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके दृष्टिकोणसे नायिकाको प्राप्त करना होता है, जब कि काव्यशास्त्रमे प्रेमकी स्थिति स्वीकार किये विना कोई स्त्री नायिका नहीं कही जा सकती । स्वकीया(विवाहिता)का वात्स्यायनने विचार नहीं किया है, केवल गृहस्थ जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्यों-की शिक्षा दी है। 'कामसूत्र'मे नायक-नायिकाओका विभा-जन कामशास्त्रको दृष्टिमे रखकर किया गया है। हिन्दीके नायक-नायिका-भेदमे कुछ ही छेखकोंने कोक्कोकके 'रति-रहस्य'के आधारपर नायिकाओंके पश्चिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी जैसे विभाजन किये है। 'कामसूत्र'में परि-स्थिति तथा व्यवहारपर आधारित नायक-नायिकाओके भेदोंको नहीं लिया गया है। इसी प्रकार 'कामसूत्र'में दूतीका प्रमुख कार्य नायिकाको प्रलोभन देकर नायकके पास ले जाना है, जब कि नायक नायिका भेदके अन्तर्गत ऐसा दृष्टिकीण नहीं है।

नाट्यशास्त्रके अन्तर्गत रससिद्धान्तका विकास हुआ है। रस नाटकका प्रधान अंग माना गया है। नाटकमे रसकी निष्पत्ति करानेमं उसका प्रथान पात्र सहायक होता है, अतः उसे नायककी संज्ञा दी गयी। परन्त भरतने आठ नाट्य रसोको माना है और उनकी दृष्टिमे स्त्री-पुरुप अथवा नायक-नायिकाका विभाजन मात्र शृंगार रसपर आधारित नहीं हैं। इसी कारण उन्होंने सामान्यनः नाटकीय पात्रोंका विभाजन किया है, न कि शृंगार रसके आलम्बन-विभावका । भरतके 'नाट्यशास्त्र'के बाद धनंजयके 'दश-रूपक'मे नाटकीय पात्रताकी दृष्टिसे विभाजन तो किया ही गया है, साथ ही उसमे काव्यशास्त्रीय विभाजन भी अपनाया गया है। उन्होने प्रतिनायकका उल्लेख भी किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्रके 'नाट्यदर्पण'में नाट्यपरम्पराका विभाजन भी नहीं है, उसके स्थानपर केवल प्रधान, अप्रधान तथा प्रतिनायकका विभाजन दिया गया है। परन्तु नाट्यशास्त्रके विभाजनको काव्यशास्त्रियो तथा रस-शास्त्रियोंने भी अपनाया है, यद्यपि यह उनमे महत्त्व नहीं पा सका, केवल परम्परा-पालनके रूपमे स्वीकार किया गया है।

नायक-नायिका-भेदके प्रमुख विषयका विवेचन वस्तुतः काव्यशास्त्र तथा रस-सिद्धान्तके अन्तर्गत हुआ है। 'अग्नि-पुराण'(९वी शती)मे यह विषय शंगार रसके अन्तर्गत लिया गया है। कालक्रमानुसार संस्कृतमे निम्नलिखित काञ्यशास्त्रके अन्थोमे इस विषयका विस्तार है-'काञ्या-लंकारस्त्र': रुद्रट (९वी शती), रुद्रभट्टका 'श्रंगारतिलक' (९वीसे ११वी शतीनक), भोजका 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' (११वी शती), वाग्मट प्रथमका 'वाग्भटालंकार' (१२वी शती), हेमचन्द्रका 'काव्यानुशासन' (११वी-१२वी शती), शारदातनयका 'भावप्रकाश' (१२वी शती पूर्वार्ड), भानुदत्तका 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' (१३वी शती), विद्यानाथका 'प्रतापरुद्रयशीभूषण' (१४वी शती पूर्वार्द्ध), शिगभूपालका 'रसार्णवसुधाकर' (१४वी शती पूर्वार्ड), वाग्भट द्वितीयका 'काञ्यानुशासन' (१४वी शती), विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' (१४वी शती), रूपगोस्वामीका 'उज्ज्वलनीलमणि' (१६वी राती), केराव मिश्रका 'अलकार-शेखर' (१६वीं शती उत्तराई), अच्यत शर्माका साहित्यसार' (१९वी राती)। इन समस्त यन्थोंसे स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्रकी व्यापक विवेचनाओमे अथवा रसकी विवेचनाके अन्तर्गत इस विषयको प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्रमे प्रमुखतः रसके अन्तर्गत ही इस विषय-को लिया गया है और वह भी प्रायः शृंगार रसको विस्तार-से विवेचित करनेवाले अन्थोमे । कालक्रमानसार हिन्दीके इस विषयसे सम्बद्ध अन्थ इस प्रकार है—कृपारामकी 'हिततरगिनी (१५४१ ई०), सुरदासकी 'साहित्यलहरी' (संदिग्ध: १५५० ई०), नन्ददासकी 'रासमंजरी' (१५६६ ई०), केशवदासकी 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०), रहीमका 'बरवै नायिका-भेद' (१६०० ई०), सुन्दरका 'सुन्दरशृंगार' (१६३१ ई०), तोषकी 'सुधानिधि' (१६३४ ई०), चिन्ता मणिका 'कविकुलक्रहपतरु' (१६५० ई०), जसवन्त सिंहका 'भाषाभृषण' (१६५६ ई०), मतिरामका 'रसराज' (१७१० ई०), कुमारमणि शास्त्रीका 'रसिकरसाल' (१७१९ ई०), देवके 'भावविलास', 'रसविलास', 'भवानीविलास' तथा 'सुखसागर तरंग' (१८वीं शतीका उत्तराई), रसलीनका 'रसप्रबोध' (१७४२ ई०), भिखारीदासका 'शृंगारनिर्णय' (१७५० ई०), ब्रह्मदत्तका 'दीपप्रकारा' (१८०८ ई०), पद्माकरका 'जगदविनोद' (१८१०), बेनी प्रवीनका 'नव-रसतरंग' (१८२१ ई०), प्रतापसाहिकी 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५ ई०), चन्द्रशेखर वाजपेयीका 'रसिकविनोद' (१८४६ ई०), स्कन्दगिरिका 'रसमोदकहजारा' (१८४८ ई०), नन्दरामका 'शृंगारदर्पण' (१८७२ ई०), लिछरामका 'महेश्वरविलास' (१८७९ ई०), प्रतापनारायण सिंहका 'रसकुसुमाकर' (१८७२ ई०), दौलतरामका 'रसमौर' (१८९७ ई०), गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रसवाटिका' (१९०३ ई०), जगन्नाथप्रसाद 'भान'का 'काञ्यप्रभाकर' (१९१० ई०), बाबुराम बित्थरियाका 'हिन्दी काव्यमें नवरस' (१९२६ ई०), इयामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' (१९३१ ई०), 'हरिऔध'का 'रसकलश' (१९३१ ई०), गुलाबरायका 'नवरस' (१९३४ ई०), विहारीलाल भट्टका 'साहित्यसागर' (१९३७ ई०), कन्हैयालाल पोद्दारका 'कान्यकल्पद्रम (१९४१ ई०) और प्रभुदयाल मीतलका 'ब्रजमाषा साहित्य-का नायिका-भेद' (१९४८ ई०)। छैलविहारीलाल ग्रप्त 'राकेश'का 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद' (अप्र०) इस विषयका एक वैज्ञानिक अनुशीलन है। हिन्दीमें इस अध्ययन-का आधार संस्कृत काव्यशास्त्र अवस्य रहा है, परन्त उसमें मौलिकता, विस्तार तथा नवीनता पर्याप्त मात्रामें पायी जाती है। वस्तुतः हिन्दी साहित्यके अन्तर्गत शृंगारके महत्त्वके साथ ही इस विषयका विशद विवेचन किया गया है। अधिकांश यन्थोंमें रसचर्चाकी अपेक्षा नायक-नायिकाओं के वर्गांकरण और वर्णनका विस्तार अत्यधिक है। इससे रीति-कालमें इस विषयकी लोकप्रियताका पता चलता है।

नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी विवेचनाओंके साथ दृती और सिखयोंका वर्गीकरण और विवेचन भी किया गया है। वस्तृतः दृती और सखियाँ उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत आती है। परन्तु इनका सम्बन्ध नायक तथा नायिकाओंसे है, उद्दीपनरूपमें ये रसके इन्हीं आलम्बनोंकी सहायता करती हैं। अतएव इस विषयके अन्तर्गत इनको स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार नायिकाओं के अलंकार तथा हाव, जो प्रायः अनुभावके रूपमें स्वीकार किये गये हैं, इसी विषयके अन्तर्गत आये हैं। नायकके सात्त्विक गुणोंकी स्थिति भी इस विषयके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है। वस्तुतः नायिकाओंके अलंकार तथा नायकके सान्त्विक ग्रण केवल उद्दीपनके रूपमें और नायिकाके हाव उद्दीपन तथा अनुभाव, दोनों ही रूपोंमें (उसकी आलम्बन अथवा आश्रयकी स्थितिके अनुसार) प्रस्तुत विषयके अन्तर्गत आते हैं (विशेष जानकारीके लिए इन्हीं शब्दोंको देखे)। नायक-नायका-भेद (साहित्य) - हिन्दी नायिका-भेद-साहित्यके दो प्रमुख स्रोत हैं, एक संस्कृतका कान्यशास्त्र तथा दूसरा कृष्ण-साहित्य। वस्ततः कृष्णभक्तिके विकासमें

रसिखान्तका प्रभाव देखा जा सकता है। रसिखान्तके अन्तर्गत शृंगारको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है और कृष्णभक्तिका आधार रतिभाव ही है। इन दोनों परम्पराओं-ने एक-दसरेको प्रभावित किया है। कृष्ण, गोपी तथा बादमें राधाकी कल्पनाके साथ नायक तथा नायिका-भावका विकास होता रहा है। इनकी प्रेम-क्रीडाओं में गोपियों तथा राधाका चरित्र अनेक नायिकाओंके रूपमें अंकित हुआ है। 'हरिवंश'के 'हल्लीशक्तीडन' अध्यायमें कृष्ण तथा गोपियोंके प्रेम-प्रसंगका वर्णन है। 'पद्मपुराण'के उत्तरखण्डमें कृष्ण-कथा है, पर उनकी प्रेमकी इनका वर्णन नहीं है। चौथे पातालखण्डमें कृष्ण, राधा तथा गोपियोंके आध्यात्मिक अर्थकी व्याख्या अवस्य की गयी है। 'विष्णुपराण'के पाँचवें खण्डमें कृष्णका सम्पूर्ण जीवनवृत्त है, पर गोपियोंके साथ उनकी प्रेमक्रीड़ाका विस्तार दो अध्यायों (१३, १४) में है। इसका सबसे अधिक विस्तार 'भागवतपराण'के दसवें स्कन्धमें है। इसमें कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका परा विकास दिखाया गया है। गोपियाँ कृष्णके प्रति आकर्षित होती हैं, उनकी आकांक्षा करती हैं, विरहका अनुभव करती हैं और अन्ततः रासलीलामें भाग लेती हैं। कृष्णके मथुरा जानेके बाद गोपियाँ विरहमें निमग्न हो जाती हैं, उद्धवके सन्देश लानेपर उपालम्भशील होती है। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण'के चौथे खण्डमें कृष्णलीलाका वर्णन है, जिसमें कृष्णके साथ राधाका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। पुराण-साहित्यके साथ ही दक्षिणके आलवार सन्तोंने गोपी-कृष्णकी प्रेम-लीलाओंका वर्णन किया है और अनेक बार स्वतः अपनी प्रेम-लीलाओंकी भावाभिव्यक्ति की है। इन भक्तोंने प्रेमकी कुछ अन्य परिस्थितियोंको भी उपस्थित किया है, जैसे पूर्वानु-रागके लिए दतीकी सहायता । परन्त इन आलवार भक्तोंमें भावोंकी तीव्रता प्रधान है, शारीरिक सम्बन्धोंकी तीव्रता कम । भक्ति आन्दोलनके प्रवर्तक आचार्योंने दक्षिणके इन भक्तोंकी भक्तिभावनासे प्रेरणा प्रहण की है। रामानजने दार्शनिक पीठिका प्रस्तुत की है, पर वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्यने कृष्णभक्तिकी स्थापना की। इन्होंने गोपी या राधा-कृष्णकी रतिक्रीडाको भक्तके अनन्य समर्पणके रूपमें स्वीकार किया और लीलाके माहात्म्यको प्रतिपादित किया। वछभने वात्सल्य-भक्तिको अधिक महत्त्व दिया है, पर 'भागवतपुराण'की स्वीकृतिके साथ माधुर्य-भक्तिको स्थान दिया है। वस्तुतः इस भक्तिपरम्पराका प्रत्यक्ष प्रभाव चैतन्यके प्रमुख शिष्य रूपगोस्वामी द्वारा काव्यशस्त्रके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इनके 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्तिके आधारपर रसका निरूपण हुआ है और विभिन्न भक्तियोंमें 'प्रेमाभक्ति' उज्ज्वल अथवा माधर्य रसके रूपमें विस्तार पा सकी है। 'उज्ज्वलनील-मणि'में विभिन्न गोपियाँ तथा उनकी विभिन्न स्थितियाँ नायिका-भेदका आधार प्रस्तृत करती हैं। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-मक्तिका रूप और कान्यशास्त्रके विवेचनमें शृंगार रसके महत्त्वका अद्भुत संयोग हिन्दी साहित्यके मध्ययगमें उपस्थित हुआ था।

काव्यशास्त्रमें श्रृंगार रसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदका विस्तृत विवेचन हुआ है और उसीके समानान्तर भक्ति-साहित्यमे गोपियों तथा राधाकी कृष्णके प्रति माधुर्य-भावनाके आधारपर विभिन्न नायिकाओकी स्थिति विकसित हुई है। १२वी शतीके उत्तराईमे जयदेवके 'गीतगोविन्द'मे कृष्ण और गोपियोंके प्रेमका सजीव तथा चित्रमय वर्णन है। इस काव्यमें गोपियाँ परकीया नायिकाएँ हैं, जो प्रगल्भा-के रूपने अंकित है। राधामें भी मुग्थाभाव नहीं है। प्रेमलीलाके प्रसंगमे गोपियोके तथा राधाके मनोभावोंका चित्रण किया गया है, जिनके आधारपर अनेक नायिकाओके भेदोंकी करपना की जा सकती है। राधा सखीकी सहायता भी लेती है। जयदेवकी राधा कामवासनासे अत्यन्त विह्वल जान पडती है। बॅगला कवि चण्डीदासकी राधामे परकीया-भावकी चरम परिणति देखी जा सकती है। राधा किसी अन्यकी विवाहिता है, पर वह कृष्णके प्रेममे वेदना और पीडा सह रही है। जयदेवकी राधाकी अपेक्षा चण्डीदासकी राधामे मांसल काम-पीड़ाके स्थानपर वेदना न्य भावा-कुलता अधिक है, यहाँतक कि मिलनके क्षणोंमें भी वह वियोगकी सम्भावनासे विकल जान पड़ती है। विद्यापितने अपनी नायिका राधाका वर्णन वयःसन्धिसे प्रारम्भ किया है। कविने मुग्धाभावमे काम-चेतनाका जागरण बहुत कोमल तथा सहज रूपमे उपस्थित किया है। यहाँ राधाका प्रेयसीरूप प्रधान है। विद्यापितने दूती तथा अभिसार-प्रसंगको पर्याप्त विस्तार दिया है। उनकी राधामें मांसल वासनाका उद्देग तथा भावाकुलता एक साथ चित्रित की गयी है।

कवियोंमे चण्डीदासने परकीया-भावके चरमोत्कर्पमं माध्यं-भक्तिका आधार ग्रहण किया है, उनकी राधाकी अनन्यता और भावाकुलता इसमे सहायक सिद्ध हुई है। पर अन्य दोनो कवियोमे छौकिक प्रेमका शारीरिक विलास तथा उद्वेग अधिक है, आध्यात्मिक भूमिका भी पर्याप्त नहीं है। सुरने बड़े विस्तारसे गोपियों, राधा तथा कृष्णके प्रेमका वर्णन किया है। इनमे स्वकीया-भावकी प्रधानता है। सूरके संयोगपक्षमें वासनाके मांसल चित्र अवस्य है, उसका तीव उद्देग भी है, पर वियोगपक्षमे उनकी गोपियाँ तथा राधा पीड़ा और वेदना-के सूक्ष्म मनोभावोमे अंकित है। अपनी इस भावस्थितिमे वे प्रेमके बहुत ऊँचे स्तरतक उठी है। उनकी विरहव्यथामे, आत्मनिवेदनमे, उपालम्भशीलनामे परम विरहासक्तिका आध्यात्मिक आधार है। साथ ही सूरने कथा और आध्या-त्मिकताका जो व्यापक आधार प्रस्तुत किया है, वह उनके प्रेमके वासनापूर्ण चित्रोको भी अलौकिक कर देता है। अष्टछापके नन्ददास तथा कृष्णदास आदि कवियोंने इस सम्बन्धमे प्रेरणा 'भागवत' अथवा सूरसे ग्रहण की है। अन्य मक्त कवियोमे हितहरिवंशने अपने राधावछभीय सम्प्रदायमे राधा-कृष्णकी प्रेमक्रीड़ापर ध्यान केन्द्रित करना परमानन्दकी प्राप्ति माना है। इन्होंने अपने पदोंमे राधा-कृष्णकी प्रेमलीलाका तन्मयताके साथ वर्णन किया है। हरिदासके सखी-सम्प्रदायमें भी राधा-कृष्णकी प्रेमकीड़ाको सखी-भावसे अवलोकनको परम काम्य माना गया है। मीराँबाईके कृष्णके प्रति प्रेमका उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है।

इस प्रकार माध्य-भाव भक्तिके अन्तर्गत शृंगार रसको अलौकिक आधार भक्तियुगमे मिल सका था और राधा तथा अन्य गोपियोकी अभिव्यक्तिमे अनेकानेक नायिकाओके भेदका विकास इसी युगमे हो चुका था। खकीया तथा परकीयाके विविध रूपोका बडा सजीव अंकन भक्ति-साहित्य-मे मिलता है। स्थितिके अनुसार तथा अवस्थाके अनुसार नायिकाओं के विभिन्न रूपोका चित्रण भी कोमल तथा भावपूर्ण है। रीतिकालके नायिका-भेद-साहित्यपर इस भक्ति-साहित्यका प्रभाव अवस्य माना जायगा। जैसा पहले कहा गया है, भक्ति-साहित्यने स्वतः शृगार रसके काव्य-शास्त्रीय आधारको महण किया था और रीतिकालके शृंगार रसके विवेचनमें पुनः इस भक्ति-साहित्यने प्रभाव डाला। रीतियगके अन्तर्गत विकसित होनेवाले नायिका-भेद-साहित्यमे व्यापक रूपसे नायक कृष्ण तथा नायिकाओमे राधा तथा गोपियाँ स्वीकृत हुई है। ऐसा नहीं कि इन रीतिकालीन कवियोंने केवल इनके नाम लिये हैं, वरन् ये भक्तियुगीन भावनासे पूर्ण परिचित है और इसी परम्परासे नायक-नायिकाके रूपमे इन्हें स्वीकार किया है। केशवदासने कृष्णको 'परमपुरुष' और राधाको 'माया' माना है और 'जग नायककी नायिका' (र० प्रि०, ३: ७४) कहा है। देवने भी 'प्रेमचन्द्रिका'मे "मायादेवी नायिका, नायक परुप आप" कहा है। बादतक दास तथा द्विजदेव जैसे आचार्योंने "राधिका कन्हाईके सुमिरनकौ बहानौ" अथवा "न तर सदा सुखदाान श्री राथा हरि की सुजस"की घोषणा की है। इस सम्पूर्ण साहित्यके अध्ययनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह कान्यशास्त्रकी परम्परामे एक और शृंगारकी महत्ताका द्योतक है और दूसरी ओर भक्तिभावना-की परम्पराम मात्र श्रुगारिक मनोवृत्तिकी स्वीकृतिका स्चक है।

आधुनिक कालके सामाजिक जागरण तथा राष्ट्रीय चेतनाके साथ हिन्दी साहित्यमं रीतिकालीन, विशेषकर नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी शृगारिक काव्यके प्रति वितृष्णाका भाव दिखाई देता है। पुनरुत्थान-कालके लेखकों और आलोचकोमे सामाजिक आदर्शवादका अधिक आग्रह था और उससे प्रेरित होकर उन्होंने इस साहित्यकी तीव आलोचना भी है। महावीरप्रसाद दिवदीने 'नायिका-भेद' नामक निबन्ध (र० रं०, पृ० ५७-६३)में स्पष्ट शब्दोमं कहा कि इस साहित्यका भक्तिसे कुछ सम्बन्ध नही है, इसके कवियोका उद्देश्य अपने संरक्षकोको प्रसन्न करके पुरस्कार प्राप्त करना था, इनके आश्रयदाता राजा-महाराजाओंको विलासी होनेके कारण इस प्रकारका काव्य पसन्द था तथा इस साहित्यमे केवल परकीया तथा सामान्या-के चरित्रका वर्णन है, जो नैतिक आचरणकी दृष्टिसे अनुचित है। इसी युगके प्रसिद्ध कवि मैथिलीशरण गुप्तने अपने 'भारत भारती' (पृ० १२०-२१)मे इस युगकी शृगारिक कविताकी प्रतारणा की है और अपने युगके कवियोको नवीन आदशौंकी ओर उन्मुख होनेकी प्रेरणा दी है। छायावादी युगके प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पन्तने भी अपनी 'पछव'की भूमिकामें इस साहित्यको नग्न तथा अञ्जील बताया है और उनके अनुसार इसमे भारतीय

मरल नारीको प्रगल्भ तथा विदग्धा परकीया नायिकाके रूपमे ही चित्रित किया गया है। रामचन्द्र शुक्कका मत भी उदार नहीं है-"शृंगारके वर्णनको बहुतेरे कवियोने अञ्लीलताकी सीम तक पहुँचा दिया है। इसका कारण जनताकी रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओंकी रुचि थी, जिनके लिए कर्मण्यता और वीरताका जीवन बहुत कम रह गया था" (हि० सा० इ०, पृ० २६८)। इयामसन्दर दासने भी इस साहित्यको अनैतिक माना है (हि॰ वि॰, पु॰ ३१३-३३४)। ऐसा ही नहीं, वरन् रीति-साहित्यके समर्थक विचारकोंने भी इस विशिष्ट साहित्यको अति शृगारिक, वासनाप्रवण तथा संकुचित माना है। परन्त 'हरिऔध'ने इमका कारण फारसी साहित्य तथा दरबारी वातावरण माना है। विश्वनाथ मिश्रने इस युगके आश्रयदाता राजाओको विषयी तथा ऐश्वर्यप्रिय माना है और कवियोको धनलोलुप । प्रभुदयाल मीतलने इस साहित्यका विस्तृत अध्ययन करके इसकी विशेषताओकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, पर फिर भी यह माना है कि इस साहित्यमे भक्तोंका आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेममे बदल गया है, यह युग ऐश्वर्यविलासका युग था और विकासप्रिय राजाओका आश्रय पानेके लिए इस प्रकार-की काव्यरचना आवश्यक थी (बजमापा साहित्यका नायिकाभेद)।

इन सब आरोपोंका प्रत्याख्यान करनेका प्रयत्न राकेश गुप्तने अपने प्रबन्ध 'स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद'मे किया है। वस्तुत इनके साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस सीमित साहित्यके आधारपर सम्पूर्ण युगजीवन को भोग-विलासिय नहीं कहा जा सकता है। परन्तु उनके तकोंके आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि मक्ति-आन्दोलनके साथ माधुर्य-भावका प्रचार जनतामे हो चुका था और जनताके वीच आध्यात्मिक स्तरपर शृंगारी-साहित्यको पढने अथवा सुननेका प्रतिबन्ध नही रह गया था। राकेश गुप्तने यह सिद्ध भी किया है कि इस युगके राजा-महाराजा केवल ऐस्वर्यप्रिय और विलासी ही नही थे, वे वीर शासक भी थे। इसके अतिरिक्त पिछले युगोंके राजा या सम्राट् कम ऐश्वर्य-विलासप्रिय नहीं रहे है। वस्तुतः यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सामन्ती युगोंमें शृंगारी भावना वीर भावनाके साथ ही चलती है, दोनोमें कोई विरोध नहीं होता । इस कारण यह कोई महत्त्वपूर्ण तर्क नहीं है। इसके अतिरिक्त राजाश्रयप्राप्त संस्कृत-साहित्य भी शृंगारप्रधान है। यह बात भिन्न है कि गुप्तकालमें ऐश्वर्य-विलासके साथ स्वस्थ कलाका दृष्टिकोण भी था, जो तत्कालीन संस्कृत साहित्यके महाकान्योंमें अभिन्यक्त हुआ है। इन महाकान्योंकी शृगारभावना विराट कथा और सौन्दर्यकी पीठिकापर आधारित है, जब कि रीतिकालीन कान्यकी शृंगारिकतामें इस पीठिका तथा वातावरणका अभाव है; साथ ही भक्तिसाहित्यकी परम्परामें होकर भी उसकी लौकिकता अधिक उभरी है। रीतिकाञ्यके मुक्तकोंमें महाकान्य-शैलीकी वह गरिमा, नहीं जो अपने विस्तारमें श्रंगारके स्क्ष्म चित्रणोंको स्वस्थ इंगमे आत्मसात् कर ले, और न इसमें भक्तिसाहित्यकी आध्यात्मिक पीठिका है.

जिसके आधारपर कृष्ण, गोपी तथा राधाकी समस्त रतिकीडा भक्तकी उल्लासमयी भावनामें डूब जाय। नायिका-भेद-साहित्यके रतिविलाससे न तो संस्कृतके श्रेष्ठ महाकाव्योंमे चित्रित रतिक्रीडाकी तुलना की जा सकती है और न भक्तिसाहित्यके कृष्ण, राधा और गोपियोके रास-विलास की । किसी काव्यकी अभिव्यक्तिकी उसकी पीठिका, वातावरण तथा सौन्दर्भवोधकी पूर्ण उपलब्धिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। संरकृत महाकाव्योंका रतिविलास सम्पूर्ण कथाका अंग है, योजनाका अंश है। मानवजीवनके सम्पूर्ण क्रममे यह एक सहज स्थितिके रूपमें आता है और प्रकृतिके व्यापक सौन्दर्यके वातावरणमे उसकी नग्नता भव्य हो जाती है। इनमें नग्नता अपने-आपमे काव्यकी उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियोंके लीला और रासके वर्णनोमें व्यापक आध्यात्मिक पीठिका है, कथाका भी विस्तार है और पग-पगपर कृष्णके परब्रह्मतत्त्वकी स्थापना है। इस आधार और वातावरणमें रतिक्रीड़ाका वर्णन निश्चय हो एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। रीतिकालके शृंगारी काव्यमें ऐसा कुछ नहीं है। इस युगके कवियोंने काव्य-शास्त्र तथा भक्ति-भावना, दोनोंकी परम्पराओंको एक रूप प्रदान किया। एकके माध्यमसे वे आश्रयदाताओं के मनोरंजनका साधन जुटा सके और दूसरेसे उनको जनताके वीच प्रतिष्ठित भक्तिभावनामे भी स्थान मिल सका। इतना अवदय है कि उस युगमे इस काव्यको सहज स्वीकृति मिल सकी और उसमें अशीलता आदिका वह रूप नहीं माना गया, जिसकी ओर आधुनिक आलीचकोंने बार-बार ध्यान आकर्षित किया है।

हिन्दीका सम्पूर्ण नायक-नायिका भेद-साहित्य काव्यकी दृष्टिसे महत्त्वका है । यद्यपि वह समस्त काव्य बहुत उन्नत तथा उच्च परम्परा और स्तरका साहित्य नहीं माना जा सकता, फिर भी काव्यात्मक सौन्दर्यके अनेक पक्ष इसमें अभिव्यक्त हुए है। यह सारा काव्य मुक्तकोंमे लिखा गया है, इस कारण रसके अन्तर्गत आते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य-प्रधान है। यह वाग्विदग्धता इस युगके दरवारी वातावरणसे प्रभावित है, पर इसमें सीन्दर्यके अनेक स्थल है। इस काव्यका कलापक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमे माधुर्य, गुण, व्यंग्यार्थ, छन्दप्रवाह तथा अलंकारोंका सुन्दर प्रयोग आदि आता है। कवियोंने सूक्ष्म कल्पनाशीलताका परिचय दिया है। इस कमनीय कल्पनाका प्रयोग कवियोंने नायिका-के सौन्दर्यवर्णन, उसकी मानसिक स्थितियोके चित्रण तथा अनेक प्रेमसम्बन्धी स्थिति-परिस्थितियोंके निर्माणमे किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भेदोंके उदाहरणोमें कवियोंने मानवजीवनके रति सम्बन्धी सूक्ष्म मनोविज्ञानका परिचय भी दिया है।

इस कान्यमे नायिकाके रूपसौन्दर्यका कल्पनाशील वर्णन है, जो अपने अद्भुत आकर्षणमे स्वामाविक है। मतिरामके इस रूपवर्णनमें सौन्दर्यका यही नवोन्मेषकारी अंकन है—"कुन्दनकी रॅग फीको लगे झलके अस अंगन चारु गुराई। ज्यॉन्ज्यों निहारिये नेरे हैं नैनिन त्यॉन्त्यों खरी निखरें सी निकाई" (रसराज, ६)। देवन्की नायिकाके सौन्दर्यको देखकर नयन चिकत रह जाती है—

"देव स्वरूपकी रासि निहारित पॉयते सीतलों सीसते पाँयनि । है रही ठौरई ठाड़ी ठगी-सी हँसे कर ठोड़ी दिये ठकुरायन" (ब्र॰ सा॰ सा॰ ना॰, १: १०)। भावात्मक चित्रणके स्थानपर अलंकृत वर्णन भी कवियोंने किये है। केशवमें वैचित्रयका अधिक मोह है-"भौरसे भवत अभिलाष लाख भाँति दिव्य, चंपैकी-सी कली वपमानकी कमारिका" (र० प्रि०, ३:३)। कहीं-कहीं परिस्थितिका सहज सौन्दर्य भी अंकित हुआ है-"धॉघरेकी वमन सुऊरुन दुशीचै दावि ऑगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है। दन्तिन अधर दावि दूनिर भई सी चापि चौवर पचौवरके चूनरी निचोरे हैं" (पद्माकर: जगदि०, १: १४) । इन कवियोंने मुग्धा नायिकाकी कोमलता, लज्जाशीलता तथा वयःसन्धि आदिका भावपूर्ण अंकन किया है। मतिराम यौवनके प्रवेशका वर्णन करते हैं-"कानन हों लागे मुस्कान प्रेम पागे लौने, लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते। "पानिप अमलकी झलक झलकन लागी, काईसी गई है लिरकाई कढ़ि अंग ते" (रसराज, २२) । परन्तु इन समस्त वर्णनोमें उक्तिका आग्रह विशेष है तथा मानसिक भावोंके स्थानपर शारीरिक विकासका चित्रण अधिक हुआ है। सिसनाथ भावपरिवर्तनका सकेत देते हैं—"लरकाईके खेल पछेल कछूक सयानि सखीन पत्यान लगी । पिय नाम सुनै तिय धौसकतें दुरिकै मुरिकै मुस्क्यान लगी" (व्र० भा० सा० ना०, १: १०) । मध्याके चित्रणमें यौवनकी मादकता तथा रुजाका भाव संघर्षके रूपमें व्यंजित हुआ है । विहारी इस भावस्थितिके संघर्षको व्यंजक रूपमें प्रस्तृत करते हैं— ''देखत बनै न देखिशै अनदेखै अकुलाहिं। इन दुखिया ॲखियानको सुख सिरज्यौई नाहिं" (सतसई)। 'हरिऔध'के इस चित्रमें लज्जा और उल्लासका संयोग है—"नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही दग मोरि लजाइ कै" ( वर्ण भार सार नार, २: १३)। धीरादिक भेदोके उदा-हरणोमें नायिकाके दोष, व्यंग्य तथा उदासीनता आदिका वर्णन है, जिनमे उक्तिवैचित्र्यका विशेष आश्रय लिया गया है। परकीयाकी भावस्थितिके चित्रणमे इन कवियोंने उसकी वेदना, पीड़ा, क्लेश, आवेग, उद्देग तथा उसकी लोकलज्जा आदिका मार्मिक वर्णन किया है। वस्तुतः इस युगके प्रेमी कवियोकी मुक्त भावाभिन्यक्तिमे परकीयाकी वेदनाकी गहरी अनुभृति है । घनानन्दकी नायिकाको-"जासों प्रीति ताहि निदुराई सों निपट नेह" और वह बेचारी ''कैसें करि जियकी जरिन सो जताइये" उसकी 'आँखिनके उर आरति' सदा रहती है और वह उपालम्भ देती है-"काहू कलपायहै सु कैसें कलपाय है" (सु० सा०, ७: ८: ९)। रसखानके प्रेमकी भी यही स्थिति है--"चित्र लिखी सी गई सब देह न बैन कड़ै मुख दीनि दहाई। कैसि करी जित जाउँ तिनै सब बोलि उठें जे तो वावरि आई" (सजान: रसखान)। ठाकरकी नायिका लोक-लाजकी अवहेलनामें इंढताका परिचय देती हैं—"कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सो टेरै कहाँ सुनौ ऊँचै गलै। हमें नीकी लगी सो करी हमनें तुम्हें नीकी लगी न लगी तो मलैं" (ब्र॰ मा॰ सा॰ ता॰, १:१०)।

इस साहित्यमे गर्विता नायिकाकी उक्तिमे आकर्पण है; अन्यसम्भोगदःखिताके उपालम्भमे तीखा व्यंग्य है; स्वाधीनपतिकाके हृदयमें उल्लास और संकोच हैं; वासक-सज्जाओंके वर्णनों मे आनन्दोल्लास तथा उत्सकता है तथा उत्कण्ठिताकी प्रतीक्षामें व्याकुल उत्कण्ठा है। अभिसारि-काओके शृंगारमें मनोरथका आन्दोलन तथा मिलनका संकल्प है और विप्रलब्धाकी निराशामे हृदयकी व्याकुलता है। खण्डिता वंचनाके कारण ईष्याल है; कलहान्तरिताके मनमे पश्चात्ताप है तथा गच्छत्पतिका वियोगकी आशंकासे विह्नल है। प्रोषितपतिकाकी विरह्नव्यथामे मार्मिक पीड़ा और भावविह्नलता है। इस नायिकाकी भावाभिन्यक्तिका आश्रय घनानन्द तथा रसखान जैसे प्रेमी कवियोने अधिक लिया है। विरहकी तन्मयताके कारण इनका प्रेम आध्या-त्मिक स्तर पा सका है। घनानन्दका यह कवित्त मामिक संवेदनके लिए बहुत प्रसिद्ध है—"बहुत दिनानिकी अवधि आसपास परे, खरे अखरान भरे है उठि जान को"। इसी प्रकार आलमकी इस विरह-उक्तिमे व्यथा छिपी है-"आलम जौनसे कुंजनमे करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करें । नैननमें जे सदा रहते तिनको अब कान कहानी सुन्यौ करै।" (आ॰ के॰) रीतिकालीन कवियोने ऋतुओकी उद्दीपक रूपका इस नायिकापर पड्नेवाले घातक प्रभावका विस्तारसे वर्णन किया है-"चातक न गाव मोर सोर ना मचाव, घन घुमड़िन छाँव जो लौ लाल घर आवे ना" (व्र० भा० सा० ना०, १:१०)। अन्तमे आगतपिकाओं-की उल्लासपूर्ण प्रतीक्षा है, जिसमे नायिका उत्सक हृदयसे शकुन मनाती हुई और आये हुए पतिसे मिलनेके लिए अपने भावावेगको सँभाले हुए अंकित हुई है। तोषकी नायिका कौवेको मना रही है-"करती करार तौन पहिले करौगी सब, आपने पियाकों फिरि पाछै अंक भरिहौं" (व० सा० सा० ना०, १: १०)। मतिरामकी आगत-पतिकाका भावसंघर्ष सुन्दर बन पडा है—"भीनर भौनेके द्वार खरी सुकुमार तिथा तन कंप विनेखे। घुँघटकी पट ओट दिये पट ओट कियें पियको मुख देखें" (रसराज, ६३०)। परन्तु इस सम्पूर्ण काव्यमे भावसौन्दर्यके स्थानपर उक्ति-बैचित्र्य तथा आलंकारिक चमत्कारकी प्रवृत्ति तथा स्थूल वर्णनोका आग्रह अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ—नगेन्द्र : रीतिकान्यकी भूमिका; प्रभुदयाल-मीतल : ज्ञजभाषा-साहित्यमे नायिका-भेद; राकेश
गुप्त : स्टडीज इन नायक-नायिका-भेद (अप्रा०) । —र०
नायक-भेद —नायिका-भेदकी अपेक्षा नायक-भेदका विस्तार
इस साहित्यमे वहुत कम है । किसी एक भी किब अथवा
आचार्यने नायक-भेदकी नायिका-भेदकी अपेक्षा छठे अंशसे
अधिक स्थान नहीं दिया है । महावीरप्रसाद दिवेदीने कहा
है कि इस नायक-भेदकी भी नायिका-भेदके समान विस्तार
दिया जा सकता था (र० रं०: ना०)। परन्तु आधुनिक
मनोविकान और योनिविकान इस बातका साक्षी है कि
पुरुषकी अपेक्षा नारीका रित सम्बन्धी मनोभाव अधिक
विषम और जटिल होता है । इसके आधारपर यह कहा
जा सकता है कि नायक-भेदका विस्तार-संकोच स्थामिक
ही था। स्वीकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिनिके

कारण जायिकाको, नायककी अपेक्षा, इस शास्त्रके अन्तर्गत अनेकानेक भेद-प्रभेद विकसित हुए है।

नाट्यशास्त्रके वर्गीकरणका आधार भिन्न था, उसमें नाटकीय कथावस्तकी पात्रताकी दृष्टिसे धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रज्ञान्त और धीरोद्धत चरित्रके आधारपर नायकोंका विभाजन किया गया है। इस नाटकीय विभाजनको काव्यशास्त्रके अन्तर्गत महत्त्व नहीं मिला। परन्तु कुछ आचायोंने इस विभाजनको परम्पराके रूपमें स्थान अवस्य दिया है। 'अग्निपुराण' तथा 'दशरूपक'के बाद भोजने अपने 'श्रंगारप्रकाश'में धीरीदात्तको धर्म-श्रंगारका नायक, धीरोद्धतको अर्थ-शृंगारका नायक, धीरललितको काम-शृंगारका नायक तथा धीरप्रज्ञान्तको मोक्ष-शृंगारका नायक माना है। संस्कृतके हेमचन्द्र, शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट द्वितीय, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी तथा अच्यत मिश्र आदि आचार्योंने इस निभाजनको भी रखा है, परन्तु बिना किसी विशेषताके । हिन्दीमें इस विभाजन-को कुमारमणि जैसे अप्रसिद्ध आचार्यने 'साहित्यदर्पण' तथा 'दशरूपक्त'के आधारपर अपने ग्रन्थमें स्थान दियां है। इसके बाद केवल आधुनिक कालगें 'हरिऔध' तथा गुलाब-रायने इस विभाजनको स्वीकार किया है। इयामसुन्दर दासका 'रूपकरहस्य' तो नाट्यशास्त्रका यन्थ ही है।

भोजने नायक, प्रतिनायक, उपनायक तथा अनुनायक का विभाजन प्रस्तुत किया था। यह विभाजन भी कथानक पर आधारित है, अतएव हिन्दीके किसी आचार्यने इसे स्वीकार नहीं किया। भोजने मूल प्रकृतिके आधारपर नायकका विभाजन सारिवक, राजस और तामसमें किया है। इसी प्रकार एक स्त्री और अनेक स्त्रियोके विचारसे उन्होंने साधारण तथा असाधारण नायकका भेद भी किया है। परन्तु इन विभाजनोको संस्कृत काव्यशास्त्रमे ही स्वीकृति नहीं मिल सकी। इसी कारण हिन्दीमें ये नहीं आ सके। भानुदत्तका दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्यका विभाजन केवल रसलीन तथा स्यामसुन्दर दास द्वारा स्वीकृत हुआ है।

काव्यशास्त्रका स्वीकृत विभाजन पति, उपपति तथा वैशिकका है, जो स्त्री-पुरुषके सामान्य सम्बन्धपर आधारित है। संस्कृतमे यह अधिक प्रचलित नहीं रहा है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख भानुदत्तने १३वी शतीमे किया है। संस्कृत शिगभुपाल तथा रूपगोस्वामीके सामान्य उल्लेखके अतिरिक्त बादमे यह विभाजन अधिक प्रचलित नही रहा। परन्तु हिन्दीमें इसकी प्रमुख विभाजनके रूपमें स्वीकृति रही है। सर्वप्रथम रहीमने और उनके बाद मतिराम तथा पद्माकर जैसे नायिका-भेदके आचार्योंने इसे स्वीकार किया है। नन्ददास और केशवने इसको नहीं लिया है और देवने वैशिकके स्थानपर साधारणका उल्लेख किया है। यहाँ देवका भाव भी किंचित् भिन्न है। उनके अनुसार यदि नायकको प्रथम दो वर्गीमें नही रखा जा सकता तो वह 'साधारण' कहा. जायगा । दूसरा महत्त्वपूर्ण विभाजन अनु-कूल, दक्षिण, राठ तथा धृष्ट नायकका है। सर्वप्रथम इसका उरुजेख 'अग्निपुराण'मे हुआ है। वस्तुतः 'नाट्यशास्त्र'के विभाजन-दक्ष, ज्येष्ठ, मध्यम, अधम तथा संप्रवृद्धमे और

इसमें समता है। ये दोनों पुरुषके स्त्रीके प्रति व्यवहारपर आधारित है। कुछ आचार्योंने इसको स्वतन्त्र विभाजन माना है और कुछने इसे प्रथम विभाजनोंसे अनेक रूपोंमें सम्बद्ध किया है। प्रथम मतके प्रवर्तक संस्कृतमें रुद्धट. रुद्र भट्ट, वाग्भट तथा केशव मिश्र है और हिन्दीमें इनका अनुसरण नन्ददास, केशव तथा देवने किया है। 'अग्नि-पुराण'मे इन चारो भेदोंका विचार धीरोदात्त आदिके अन्तर्गत किया गया है, हिन्दीमे कुमारमणि तथा इयामसुन्दर दासने इसका अनुसरण किया है। वाग्भट दितीयने केवल धीरललितमे यह विभाजन माना है, क्योंकि उनके अनुसार वही रतिभावनासे सम्बद्ध है। भानुदत्तने अपनी 'रसमंजरी'मे पति तथा उपपतिका विभाजन अनुकूल आदिमे माना है और इसका अनुसरण शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामीने किया है। परन्तु हिन्दीमे सम्भवतः केवल दास इस मतके है। अन्य सभी एकमत है कि यह चार प्रकारका अनुकूल आदिका विभाजन केवल पतिके सम्बन्धमे लागु हो सकता है।

एक अत्यन्त सामान्य प्रकारका विभाजन उत्तम या ज्येष्ठ, मध्यम, अधम या कनिष्ठमे किया गया है। यद्यपि यह विभाजन नायिकाओं सम्बन्धमे अधिक प्रचलित है, फिर भी संस्कृतमें इसका प्रचलन दो रूपोंमें पाया जाता है। एक रूपमे इसके अन्तर्गत नायकके गुणोके आधारपर विभाजन किया गया है और दूसरे रूपमे वैशिकके उपभेद-के अर्थमे (रसार्णव)। हिन्दीमे इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है और वह भी सामान्य विभाजनके रूपमे। इस सन्दर्भमें इसका आधार नायकके गुण न होकर उसका नायिकाके प्रति व्यवहार है। सुन्दरके अनुसार उत्तम हर प्रकारसे नायिकाको प्रसन्न करता है, मध्यम न तो उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करता है और न रुष्ट ही करता है और अथम नायिकाके मानके प्रति उपेक्षाकील रहता है— ''उत्तम तियको लेत रस मध्यम समय विचार। अधम पुरुष सो जानिये, निलज निसंक अगार" (सुधानिधि, पृ० ७७) । तोष और रसलीनकी परिभाषाएँ इसके समान है।

नायक-भेदका विवेचन मानी, चतुर, अनिभेज्ञ तथा प्रोषितके रूपमे भी किया गया है। मानी और चतरका सम्बन्ध केवल शठसे माना गया है और अनभिज्ञको नायकाभासके रूपमें ही स्वीकार किया गया है (भानदत्त)। नायिकाओंके आठ प्रकारोमे केवल एक प्रोषित नायकको स्वीकार किया गया है। चतुरके दो भेद-वचनव्यंग्य-समागमचत्र और चेष्टाव्यंग्यसमागमचतुर, जिनको सामान्यतः वचनचतुर और क्रियाचतुर कहा गया है, माने गये है। हिन्दीके बहुतसे लेखकोंने इसी विभाजनको माना है, पर उनके विवेचनमें पर्याप्त अन्तर है। जिन्होंने इनको स्वतन्त्र रूपमें लिया है, उनमें रहीम, तोष मतिराम, नन्द-राम, बिहारीलाल भट्ट हैं। चतुरके दोनो भेदोंका सम्बन्ध कुछ लेखकोंने अन्य विभाजनोंसे जोडा है। दासने दक्षिण नायकके उपभेद माने है और इनको बेनी प्रवीन, प्रतापनारायण सिंह, भान आदिने उपपतिके भेद माने हैं। चन्द्रशेखरके अनुसार दोनों चतुर और मानी केवल शठके उपभेद हैं और यहाँ उन्होंने भानुदत्तका अनुसरण किया है। मानी और प्रोपित प्रायः उनके द्वारा भी स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किये गये है, जिन्होंने चतुरको किसी अन्य विभाजनके अन्तर्गत रखा है। सुन्दरने मानीको रूपगर्व-मानी और 'अपनी गौको मानी', दो उपभेदोमें बॉटा है। रसलीनने इसके स्थानपर रूपमानी और गुनमानी माना है और स्वयंद्रत-नायकका भेद भी स्वीकार किया है। मानुदत्तके अनुसरणपर पद्माकरने अनिमन्न नायकको नायकाभास माना है, पर सुन्दर, स्कन्दिगरि, लिछराम और दौलतरामने इसे स्वतन्त्र भेद माना है। भान, वाबूराम तथा 'हरिऔध'ने अनुकूल आदिके साथ पाँचवाँ स्थान दिया है। केशवने वाग्भटके आधारपर शृगारके दोनों भेदों, वियोग तथा संयोगको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमे विभाजित किया है और फिर नायक-नायिकाओंका विभाजन भी इस आधारपर किया है। कुमारस्वामीने इसको केवरु शठ नायकके सम्बन्धमे माता है। मिश्र-वन्धुओंके अनुसार यह विभाजन सभी रसोके सन्दर्भमें लग सकता है।

रसलीन अकेले ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने उपपतिके

विभेद-गृह, मूड और आरूढमें और वैशिकके भेद-अन्रक्त और मत्तमें किये हैं। मत्त भी तीन प्रकारका हो सकता है-काममत्त, सुरामत्त तथा धनमत्त । ब्रह्मदत्तने पश्चिनी आदि नायिकाओके समानान्तर, वृषभ, मृग तथा अरवमें नायकोका विभाजन किया है, जिसका आधार कामशास्त्र जान पड़ता है। राकेश ग्रप्तने अपने प्रबन्धमे नायक-भेदके चार वैज्ञानिक आधार स्वीकार किये है-१. सामाजिक सम्बन्धके आधारपर-पति तथा उपपति। २. नायिकाओके वीच अपने प्रेम-विभाजनके आधारपर —अनुकूल आदि । ३. सम्बन्धकी परिस्थितिके आधारपर —वियोगी, संथोगी तथा अपराधी । ४. प्रकृतिके आधारपर -- उत्तम, मध्यम तथा अन्य । नायक(श्रंगार)-श्रंगार रसका आलम्बन-विभाव । विशेष विभाजनके लिए दे०—'नायक-भेद'। इस रूपमे नायककी स्वीकृति 'नाट्यशास्त्र'में भी मिलती है, यद्यपि उसमें प्रधान दृष्टिकोण नाट्य कथावस्तु है। इसी कारण नायकके गुणोंकी चर्चा कथावस्तुके आधारपर की गयी है। शृंगार रसके प्रमंगमे इसे-"तरुन सुघर सुन्दर सकल काम कलानि प्रबीन! नायक सो मतिराम कहि कबित गीत . रस लीन" कहा गया है (रसराज, २३७)। "कविता राग रसज्ञ" प्रायः इसे कहा गया है। पति-सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्तने किया, हिन्दीमें प्रायः स्वीकृत । भानदत्तके अनुसार, 'विधिवत्पाणिचाहकः', अर्थात जिसका विधिवत् पाणियहण हुआ हो, उसे पति कहते है (र० मं०, पृ० १६५) । अनुकूल पति - सर्वप्रथम 'अग्निप्राण'-मे उल्लिखित । भानुदत्तके अनुसार "सार्वकालिकपरांगना-पराड्मुखत्वे सित सर्वकालमनुरक्तोऽनुकृलः", अर्थात् जो नायक सदा-सर्वदा दूसरी स्त्रियोमे विमुख होकर अपनी प्रियामें अनुरक्त रहता है। मतिरामकी परिभाषामें यही भाव है-"सदा आपनी नारि सौ राखे अति ही प्रीति। परनारी तै बिमुख जो "" (रसराज, २४४)। रहीमका अनुक्छ नायक-"करत न हिय अपर्थवा सपनेहु पीय। मान करनकी बिरियाँ रहिंगी हीय" (बरवै०, ७५)। दक्षिण नायक-सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'मं उल्लेख किया गया है। भानुदत्तके अनुसार—"सकलनायिकाविषयकसम-सहजानुरागो दक्षिणः", अर्थात् जो नायक सभी नायिकाओके विषयमे समान अनुरागका व्यवहार करता है। मतिरामने ऐसा ही कहा है-"एक भॉति सब तियन सो जाको होय सनेह" (रसराज, २४७)। देवने 'न्यारो है सब सों मिले कहकर अधिक स्पष्ट किया है। नायक कृष्ण सब गोपियोंके मानकी रक्षा करते हं- "आपनि आपनि पौरि बताय के बोल कह्यो सिगरीनि नवलो। त्यो हॅसिकै ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरिमें खेलो" (वही, २४८)। शाठ नायक-सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'मे उल्लेख। भानुदत्त द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है — "कामिनीविषयक-कपटपट्टः" अर्थात् जो स्त्रियोके विषयमे कपट व्यवहार करनेमे चतुर हो, उसे शठ नायक कहते है। 'रसार्णव'में इसे 'गुडापराधक्रत' माना गया है। मतिरामकी परिभाषा-में दोनो बातें आ जाती हैं—''हरै करत अपराध नहि करैं वापटकी प्रीति" (रसराज, २५०)। पश्चाकरने इसकी व्याख्यामे अधिक विस्तार दिया है—"सहिन काज मधुरै मधुर बैननि कहै बनाइ" (भा० वि०, ना०) । रहीमका शठ नायक-"छटल लाज डगरिया औ कुल कानि। करत जात अपरथवा परि गइ बानि" (वरवै०, ७७)। पद्माकरका शठ नायक चतुराईसे क्षमा मॉगता है-"हैं न कियो अपराध बिल बूधा तानियत भौह । तुव उरसिज हरि परिस के करत रावरी सौह" (जगदि०, १: २९७)। **ध्रष्ट नायक**-सर्वप्रथम 'अग्निपुराण'मे उल्डेख किया गया है। भानुदत्तके अनुमार—"भूयो निश्शंककृतदोषोऽपि भूयो निवारितोऽपि भूयः प्रश्रयपरायणी धृष्टः", अर्थात् जो बार-बार दोप करनेपर भी निदशंक रहे तथा मना करनेपर भी अनुनय करनेमे चतुर हो, ऐसा नायक भृष्ट है। मतिरामने लगभग ऐसा ही लक्षण दिया है—"करै दोष निरसंक जो **डरै न** तियके मान । लाज धरै मनमे नहीं नायक धृष्ट निदान" (रसराज, २६३)। देव ऐसे नायकका उदाहरण देते है-"दार ते दूरि करौ बहु बारनि हारनि वॉधि मृणालनि मारी । छाडतु ना अपनो अपराधु असाधु सुभाइ अगाधु निहारी" (भा० वि०, ना०)। नायिकाके व्यन्यमें इस नायकका चरित्र स्पष्ट उभरा है-"जहवाँ जात रङ्गनियाँ तहवाँ जाहु। जोरि नयन निरलजना कत मुसुकाहु" (रहीम: वरवै०, ७८)। उपपति-सर्वप्रथम भानुदत्त द्वारा स्वीकृत विभाजनका एक भेद- 'आचारहानिहेतुः', अर्थात् आचारहीनताके कारण पतिको उपपति कहा गया है (र० मं०, पृ० १७१)। इसी वातको मतिराम 'जो परनारिको रसिक' कहकर व्यक्त करते है। यह नायक अनेक स्त्रियोने प्रेम करता है-"मन्द हॅमिन दगकोर लखि बस कर लेत प्रवीन । छिन त्रिछुरै गति होति यौ ज्यो जल त्रिछरत मीन" (मतिराम: रसराज, २५९)। वैशिक-भानुदत्तने ही इसको 'बहुलवेदयोपभोगरसिकः', अर्थात जो अनेक वेदयाओका उपभोग करनेवाला हो, ऐसा नायक माना है। मतिरामने भी 'प्रीति करै गनिकान सां' कहा है तथा पद्माकरने इसे 'अलज अभीत' भी माना है। मतिराम ऐसे

भौरनमें, मांगकी मुकतमाल-गंगमें मगन भौ" (रसराज, २६०) । सानी-भानदत्तके द्वारा शठके अन्तर्गत स्वीकृत, पर हिन्दीमे प्रायः स्वतन्त्र नायकका एक भेद । मतिरामने 'करत मन अभिमान' कहा है और पद्माकरने 'करै जु तिय पै मान' कहा है। नायिकाकी उक्तिके रूपमे रहीम कहते हैं-"अब भरि जनम सहेलिया तकव न ओहि। एेठलिंगो अभिमनियाँ तजिगी मोहि" (बरवै०, ७९)। सखी नायकको मना रही है—"ऐसै मनमावन ग्रमान है जु मन भायो, प्यारीके मनाइवे कों तुमको मनाइये" (मति-राम : रसराज, २६४) । वचनचतुर-भानुदत्तने इसे शठ-के अन्तर्गत ही माना है, पर हिन्दीमे प्रायः सामान्य भेदके रूपमें मान्य । मतिराम, पद्माकर आदिने इसे वचनोमे चतु-राई करनेवाला माना है। रहीमका नायक किस चतुराईसे नायिकाको संकेत देना है—"सघन कुंज अमरैया सीतल छाँह। झगरति आय कोइलिया एनि उड़ि जाइ" (बरवै०, क्रियाचतुर—भानुदत्तने वचनचतुरके साथ रखा है—'तयन वेष्टात्यंग्यसमः जनद-नुरः' (र० मं०, पृ० १७८)। हिन्दीके आचार्यीने कियाकी चतुराईसे संकेत करनेवाला कहा है। रहीमके कृष्ण किस चत्राईसे नायिका-का सामीप्य प्राप्त कर लेते है-"खेलत जानिसि टोलवा, नन्दिभोर । छुइ वृषभान कुँअरिया होइ गइ चोर"। प्रोपित-पति आदिक विभेदोमे यह नायक हो सकता है (भानुदत्त) । हिन्दीमे इसे भी प्रायः स्वतन्त्र रूपमें माना है। मितरामके अनुसार "नायक होय बिदेस मै जो वियोग अकुलाय" उसे प्रोषित कहते हैं। नायिकाकी सुधिमे नायक सन्तोष प्राप्त करता है—''ह्वे है तब निसा मेरे छोचन चकोरनिको, जब वाको आनन अमल इन्द्र देखिही" (रसराज, २७३)। **--**50 नायिका-सामान्य अर्थ है नायककी पत्नी या प्रिया। नाट्यशास्त्रके अर्थमें नाटककी प्रधान पात्री; काव्यशास्त्रमे शृंगार रसका आलम्बन । वह सुन्दरी तथा यौवनपूर्ण स्त्री, जिसके देखनेसे रति स्थायी भाव जागरित हो, जिसका विस्तार ही शृंगार रस होता है। मतिराम कहते हैं-"उपजत जाहि बिलोंकि कै चित्त बीच रस भाव। ताहि बखानत नायका जे प्रवीन कविराव" (रसराज, ५)। पद्माकरने इसी प्रकार परिभाषा देते हुए 'शृंगार'का उच्लेख विशेष रूपसे किया है। नायिकाके सोन्दर्यवर्णनमे रीति-कालीन कवियोने उत्कर्ष प्राप्त किया है। मतिराम, देव, विहारी तथा द्विजदेव जैसे कवियोंने नायिकाओक सौन्दर्य-वर्णनमे मात्र शरीरको महत्त्व नहीं दिया है, उन्होंने उसके

भावसौन्दर्यको भी अभिन्यक्त किया है। पर बादके पद्माकर आदि अन्य कवियोने नायिकाओके शारीरिक हाव-भावका

अधिक वर्णन किया है; इनमें वर्णनवैचित्रय भी अधिक

है। पुराने कवियोंमें इनके साथ केशवका नाम लिया जा

सकता है। नायिकाके वर्णनमे उसकी सुकुमारता, भाव-

प्रवणता तथा भावावगका सजीव चित्रण हुआ है। मतिराम-

के रौन्दर्यवर्णनमे कोमल भावसौन्दर्य तथा सुकुमारता

है- "कुन्दनको रंग फीको लग झलकै अस अगन चारु

गुराई। ऑ खिनमें अलसानि चितौनिमे मंज्र बिलासनकी

नायकका वर्णन करते है-"बार-वार भ्रमि वारवध्रुवार-

सरसाई। को बिन मोल विकात नहीं मतिराम लहै मस-कानि मिठाई । ज्यो-ज्यों निहारिये नेरे हैं नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई" (रसराज, ७)। सौन्दर्यको नवन व उन्मेष महण करनेवाला कहा गया है, उसकी देखनेसे नये-नये भावस्तर उभरते है। रूपसौन्दर्यवर्णनकी दृष्टिसे विद्यापतिने राधाके रूपका वर्णन यौवनकी चंचलता और मानसिक उद्देगके साथ किया है। सूरने राधाके सौन्दर्यवर्णनमं रूपात्मक सौन्दर्यके साथ भावात्मक सौन्दर्य-का अंकन भी किया है। उन्प्रेक्षाओं के माध्यमसे वे सौन्दर्य-की अनेकानेक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ चित्रित कर सके है। तुल्रसीने सीताका रूपवर्णन मर्यादाके साथ किया है, जो सक्ष्म सौन्दर्यबोध प्रस्तुत करता है-"सुन्दरता कॅह सुन्दर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई" इसी प्रकार गीतावलीमे ''अग अंग तरंग उठे दुतिकी परिहै मनी रूप अबै धर च्वै"। पद्मावतीका रूपसौन्दर्यवर्णन करते समय जायसीने उसे अलौकिक कर दिया है। वस्तुतः प्रेममागीं कवियोकी "सौन्दर्य योजना रूपको पकड़नेका प्रयास है, उसको सीमामें घेरनेका प्रयास है। नारीके प्रतीकात्मक सौग्दर्यसे यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृतिमें फैलकर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण कर लेता है" (रघुवंश: प्रकृति और कान्य, पू० २६३)। कबीर आदि सन्त कवियोने भी रूपका अत्यन्त सूक्ष्म आधार अपने अलौकिक प्रेमके लिए ग्रहण किया है। आनन्दधन जैते प्रेमियोंने रीतिकालीन शैलीमे अपने आलम्बनके सौन्दर्यका वर्णन किया है। आनन्द्रधनके सौन्दर्यवर्णनमें भावात्मक व्यंजना अधिक सुक्ष्म है—''लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी, लसति लित लोचं चख तिरछीनमैं। छिवको सदन गोरो बदन रुचिर भाल, रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानमै" (सु॰ सा०, १)। रीतिकालीन उक्तिवैचित्र्यके विकासके साथ नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमें भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है-" 'कोमल कमलके गुलाबनके दलके सुजात गड़ि पायन बिछौना मखमलके" (पद्माकर: जगद्वि०, भा० १, १२)। आधुनिक काळके छायावादी काव्यमें सौन्दर्यवीधका स्तर सुक्षम हो गया और उसके साथ ही नारीसौन्दर्यकी कल्पना अशरीरी और वायवी हो गयी है। बहुत कुछ आलम्बनके, इसी सूक्ष्म रूपके कारण भी इस काव्यमे, आध्यात्मिक रहस्यका आभास मिलता है। नायिका-भेद-नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी समस्त अध्ययन और काव्य रचनामें नायककी अपेक्षा नायिकाका महत्त्व प्रारम्भसे रहा है। स्पष्टतः उसका कारण पुरुषकी अपेक्षा नारीका रतिभावनाके क्षेत्रमें अधिक महत्वपूर्ण होना है। इस सम्बन्धमें आधुनिक मनोविज्ञान तथा रारीरविज्ञान-(कामशास्त्रके सन्दर्भमे) का साक्ष्य दिया जा सकता है कि कामभावनाके क्षेत्रमें नारीकी स्थितियाँ और प्रतिक्रियाएँ अधिक विविध, जटिल तथा विषम होती है। यही कारण है कि इस विषयके अन्तर्गत नायिका-भेदका विस्तार अत्यधिक है और उसमे ही आचार्यी तथा कवियोंने अपनी विवेचनात्मक शक्ति और काव्यात्मक प्रतिभाका परिचय दिया है। हिन्दी साहित्यके रीतिकालके अन्तर्गत यह सारा कान्यसाहित्य एक प्रकारसे स्वतन्त्र रूपमें विकसित हुआ

रुद्रश्ने मध्या और प्रगल्माका विभाजन धीरा, मध्या और अधीरामे, फिर ज्येष्ठा और कनिष्ठामें किया है। भान-दत्तने इनके विभाजन नहीं किये और हिन्दीके अधिकांश कवियोने भी उनका अनुसरण करके मध्याका विभाजन नहीं किया है। परन्त कपाराम, तोष, केशव, चिन्तामणि, कुमारमणि, देव, रसलीन तथा नन्दराम आदिने विभाजन किया है। कपारामने अतिविश्रब्धनवोदाका उल्लेख मध्याके साथ किया है। तोषने इसके साथ प्रगल्भवचनाको और एक भेड माना है। अन्योंने विश्वनाथके मध्याके भेदोको स्वीकार किया है-विचित्रसरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमत्रीडिता। केशवदासने इसके जो चार भेद किये है, वे विश्वनाथके आधारपर ही है, केवल शब्दों में कछ अन्तर है, जैसे दसरेके लिए पादर्भ्त मनोभवा, तीसरेमे प्ररूढके स्थानपर आरूढ और चौथेमें ईषत अधिक है। पॉचवॉ भेद केशवमे नहीं है, पर कुमार-मणि तथा रसलीनका पॉचवॉ भेद लघुलज्जा इससे मिल जाता है। चिन्तामणि, देव, नन्ददासने प्रायः केशवके वर्गीकरणको क्रम तथा नामके किंचित हेर-फेरके बाद स्थीकार कर लिया है। प्रगल्माका विभाजन नन्ददास, रहीम, मतिराम तथा दासने नहीं किया है। क्रपाराम, तोष, रसलीन, पद्माकर, वेनी प्रवीन, चन्द्रशेखर, प्रताप-नारायण सिंह, भान तथा 'हरिऔध'ने इसके रतिप्रिया और आनन्दसम्मोहिता, दो भेद किये है। स्वतन्त्र विभाजन करनेवालोमे केशव प्रमुख है, जिन्होने प्रौढाको समस्तरस-कोविदा, विचित्रविश्चमा, आक्रमित तथा छुब्धापति भेद माने है। चिन्तामणिने प्रौदयौवना, मदनमत्ता, रतिप्रीति-मती और सरतिमोदपरवज्ञा भेद किये है। इसमे अन्तिम दोनो कपाराम आदिकके भेदके समान है। कुमारमणिके पाँच भेटोमेंसे सकलतारुण्या, विविधमावा तथा लघुलज्जा, विश्वनाथके गाढतारुण्या, भावोन्नता और दरब्रीडाके समान हैं तथा अधिककामा और रितमोहनी, केशवकी रितिप्रिया और विचित्रविश्रमामे भिन्न नहीं है। देवने आक्रमितके स्थानपर आकान्त देकर केशवके विभाजनको ही प्रस्तुत कर दिया है। रसलीनने प्रौढाको उद्घटयीवना, मदनमत्ता, लब्धापति और रतिकोविदामे तथा नन्दरामने समस्तरस-कोविदा, विचित्रविभ्रमा, आकामितप्रौढा और लज्जाप्राया-रतिमें विभाजित किया है। ये सभी भेद परिचित है, केवल रसलीनका प्रथम विश्वनाथके गाढतारुण्याका तथा नन्दराम-का अन्तिम उनके दरबीडाका ही रूपान्तर है।

संस्कृतमे भोजको छोडकर रुद्रटले छेकर रूपगोस्वामीतक, सबने नायिकाके अपने अपराधी पतिके प्रति व्यवहारके अगधारपर किये गये विभाजन धीरा, मध्या या धीराधीरा और अधीराको केवल मध्या तथा प्रगल्भाके साथ
स्वौकार किया है। अधिकांश हिन्दी किव भी इसी मतके
है, फिर भी कुछ अपवाद है। कृपारामने इसे स्वतन्त्र
रूपसे मानवतीका विभाजन माना है और मध्या तथा
- प्रौढ़ाके साथ परकीया और सामान्याको भी स्तीकार किया
है। जसवन्त सिहने भोजके अनुसरणमे इसे स्वतन्त्र
विभाजन माना है। कुमारमणि, दास तथा ब्रह्मदत्तने इसे
स्विष्टताका विभाजन मानकर एक प्रकारसे स्वतन्त्र ही

माना है। अन्य अधिकांशने प्रौढाधीराके अन्तर्गत आकृतिगुप्ताका विभेद भी स्वीकार किया है। रसलीनने इसे मध्यधीराधीरासे सम्बद्ध किया है और खिण्डतासे इनको (धीरादिकको) भिन्न माना है। रुद्ध तथा संस्कृतके बादके
आचार्योने ज्येष्ठा तथा किनिष्ठाको भी मध्या और प्रौढाका
विभाजन स्वीकार किया है, पर हिन्दीके कवियोंमे केवल
मतिराम, देव, रसलीन तथा पोद्दार आदि कुछने ऐसा
स्वीकार किया है। अधिकांशने इसे स्वकीयामात्रका विभाजन माना है। कुपारामने इनके साथ समाहिताका एक
भेद और स्वीकार किया है। दासने इसको दक्षिण, शठ
तथा धृष्टनायकोके साथ अलग-अलग दिखलाया। नन्ददास,
रहीम, केशव जैसे कुछ कवियोने इसका उल्लेख तक नहीं
किया है।

सकीयाके अन्य भेदोंमं, देवने वयके आधारपर—देवी (७ वर्ष), देवगन्थवी (७से १४ वर्ष), गन्थवी (१४से २१ वर्ष), गन्थवी (१४से २१ वर्ष), गन्धवी (१८से २१ वर्ष), गन्धवी (१८से ३५ वर्ष), गन्धवी (१८से ३५ वर्ष), गन्धवी (१८से ३५ वर्ष) का विभाजन दिया है। केवल रसलीनने इस प्रकारका विभाजन किया है—गौरी (१० वर्षतक), लक्ष्मी (सवा १२से साढ़े २४ वर्ष) और सरस्वती (३५ वर्षतक)। एक दूमरे प्रकारका स्वकीयाका विभाजन रसलीन तथा दौलतरामने दुःखिताक अन्तर्गत किया है—मुधापति-दुःखिता, वालपतिदुःखिता, वृद्धपतिदुःखिता। दौलतरामने चौथा भेद नपुंसकपतिदुःखिता और जोडा है। अनिम् चायकके समान इन नायिकाओंको भी रसका आलम्बन नही माना जा सकता है। क्योंकि यहाँ रतिका अभाव है। दासने ऊढा-अन्दाके भेदको, स्वकीयाके साथ भी माना है, पर अन्योके द्वारा स्वकीया सदा विदाहिता स्वीकार कर ली गयी है।

सेस्कृतमे परकोयाका जिसने भी विभाजन किया है, उसने इसके ऊढा तथा अनुढा भेदोको भी माना है। परन्त हिन्दीमें नन्ददास, सुन्दर, जसवन्त सिंह तथा ब्रह्मदत्त जैसे कुछ कवियोने परकीयाका विभाजन करके भी इस विभेदको स्वीकार नहीं किया। कृपारामने परोढाको पुनः परप्रिया और परविवाहितामे विभाजित किया है। अन्य कवियोने परोढा (ऊढा)को मात्र परविवाहिता माना है। तोषने परकीयाके दो विभाजन प्रस्तृत किये है, एकके अनुसार—दृष्टिज्येष्ठा, असाध्या तथा साध्या और दूसरेके अनुसार-उद्बुद्धा तथा उद्घोधिता। असाध्याको पाँच प्रकारसे विभाजित किया है-गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अतिकान्ता तथा खल्धिष्ठता और साध्याको चार प्रकारसे - वृद्धवधु, बालकवधू, रोगीवधू तथा याम-वध । रसलीनने इनमेसे प्रथम विभाजनसे दृष्टिज्येष्ठाको छोड दिया है, असाध्याकों उसके समस्त भेदो सहित दिया है और सुखसाध्या (साध्या)मेसे ग्रामवधको छोड़कर उसके ये भेद और जोड दिये है--नपुंसकवधू, विधवावधू, गुनीवधू, गुनरिज्ञावती, सेवकवधू तथा निरंकुसा । रसलीनका दूसरा विभाजन भी समान है, केवल नाममे किचित अन्तर है-उद्भूता तथा उद्बोधिता और उन्होंने उद्भूताके साथ स्वयंद्रतीको संयुक्त किया है। बादके कुछ कवियोंने तोषका दूसरां विभाजन स्वीकार किया है। उदा०-प्रतापनारायण

नायिका भेद

सिंह और 'हरिऔध'। दासने कुछ नवीनता जोड़नेका प्रयत्न किया है, उद्भूताकी दो स्थितियाँ अनुरागिनी तथा प्रेमासक्ता तथा उद्दोधिताकी असाध्या और दःखसाध्या और मानी है।

भानुदत्तने परोढाको गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना तथा मुदितामे विभाजित किया है:—पुनः गुप्ता-विभाजन वृत्तसुरतगोपना, वर्त्तिष्यमाण सुरतगोपना तथा वृत्तवित्तं व्यमाण सुरनगोपनामे किया है; विदग्धाका वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धामें तथा अनुशयानाका प्रथम, द्वितीय और तृतीयमे किया है। बहुत कम शाब्दिक परिवर्तनोके साथ यह विभाजन अधिकांश हिन्दीके लेखको-के द्वारा स्कीकार किया गया है। उदा०-रहीम, सुन्दर, पद्माकर, चन्द्रशेखर, नन्दराम, प्रतापनारायण सिंह, भानु, 'हरिऔध',मीतल आदि। जसवन्त सिंह, चिन्तामणि, मति-राम और देवने गुप्ताके भेटोंको छोडकर इसे पूर्णतः स्लीकार किया है। तोष, बेनी प्रवीन तथा गुलाबरायने लक्षिताके दो उपभेद और जोडे है, हेतुलक्षिता और सुरतिलक्षिता। कपाराम, नन्ददास, कुमारमणि, रसलीन, भान तथा ब्रह्म-दत्तने इस स्वीकृत विभाजनसे वहुत भिन्न रूप स्वीकार किया है। कृपारामने स्वयंदृतीको सातवा भेद माना है, लक्षिताके अन्तर्गत तीन भेद लिये है, क्रिया, वचन तथा प्रत्यक्ष-लक्षिताएँ और गुप्ताके भेदमे वर्तमानसुरनगोपना एक चौथा भेद जोडा है। नन्ददासने परकीयाका सुरतिगोपना, वाग्विदस्था तथा रुक्षितामें, सरल विभाजन किया है। कुमारमणिने प्रथम निपुना, रतिगोपना तथा लक्षिता नामक प्रधान भेद दिये है, पुनः निपुना (विदग्धा) और रित-गोपना (गुप्ता)के क्रमशः दो तथा तीन सामान्य स्वीकृत भेद किये है। उन्होने निपुनाके साथ स्वयंद्रतीका उल्लेख भी किया है। लक्षिताको प्रच्छन्न तथा प्रकाशमे विभाजित किया है। प्रकाशलक्षिताके तीन भेद मुदिता, अनुशयाना तथा साहसिकामे माना है। अनुशयानाके तीन प्रचलित भेद प्रस्तुत करनेके बाद प्रथम विघटितसंकेताको वर्तमान तथा भविष्यत्संकेताके रूपमें विकसित किया है। इस प्रकार कुमारमणिने कुलटाको छोडकर अन्य सभी भेद-उपभेदोमें भानदत्तके वर्गांकरणको ग्रहण कर लिया है; कुलटा सम्भवतः रसाभासको उत्पन्न करनेके कारण गृहीत नहीं हो सकी। रसलीनने इस विभाजनको अत्यधिक बढाया है, यहाँतक कि कुछ भेद बिलकुल अपरिचित हैं। छः भेदोके उल्लेखके बाद इन्होंने सरिनगोपनाके चार भेद क्रपारामके आधारपर कहे है; वचनविदग्धाके साथ पुनः स्वयंद्तीका उल्लेख किया है तथा क्रियाविदग्धाके अन्तर्गत पतिवंचिता और दूतीवंचिता, दो नये भेद दिये है। लक्षिता-के दो भेदोमें सुरतिलक्षिता तो तोष आदिके द्वारा उछिखित हो चुकी है; दूसरी प्रकाशलक्षिता है। अनुशयानाको सामान्य तीन भेदोमें विभाजित किया गया है, पर इसके तीसरे भेदको पुनः दो भेदोंमे बॉटा गया है, जो अस्पष्ट है। रसलीनने एक भेद पयमनीरथाका भी दिया है, पर उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।

दासने इस विभाजनमे कुलटाको छोड दिया है और गुप्ताको विदग्धाके भेदके रूपमें रखा है। विदग्धा, गुप्ता तथा अनुश्ंयानाके भेद सामान्य है, पर लक्षिताको सुरति-

लक्षिता, हेतुलक्षिता तथा धीरलक्षितामे विभाजित किया गया है और इस विभाजनको छोडकर दासका सारा विभाजन विदग्धाका ही विस्तार हो जाता है, क्योंकि उन्होंने मुदिता तथा अनुरायानाके उदाहरण विदय्धाके साथ ही प्रस्तुत किये है। ब्रह्मदत्तने क्रियाविद्रशा, वारिव-दग्धा, रूयंद्रतीको परकीयाके स्वतन्त्र भेद माने है और केवल अनुशयानाके उपभेद किये है। इस प्रसंगमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि भानदत्तने केवल अपना विभा-जन ऊढ़ाको लेकर किया था, पर हिन्दीमें इस मतको केवल चिन्तामणि और देवने पूर्णतः स्तीकार किया है। अन्योंने या तो इनके सम्बन्धमें कुछ कहा ही नहीं, अथवा दोनोमें स्वीकार किया है। रसलीनने एक नया भेद दिया है, जो स्वकीया तथा परकीयामे समान रूपते लागू होता है, कामवती, प्रेम-अशक्ता और अनुरागिनी। तोपने इनके पर्ले ही अपने एक स्वतन्त्र विभाजनमे इन भेदोंको स्वीकार किया है। दासने उद्बुद्धाकी प्रथम स्थितियोके रूपमे इसके अन्तिम दो भेदोको माना है और उनका भाव तोपके समान है।

सामान्यके सम्बन्धमें स्वक्षीयाके भेदोंको स्वीकार करने-वार्लोमें अकेले कृपारामने ही इन भेद-उपभेदोके उदाहरण भी दिये हैं। इन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौदा सामान्याका विचार किया है; मुग्धाके चारों मेदोके साथ सुरत और सुरतान्तका विवेचन तीनो नायिकाओका किया है। सुख्यतः सामान्याका विभाजन करनेवालोमें मोजने ऊढा, अनूदा, स्वयंवरा, स्वैरिणी तथा वेश्या माना है और वेश्या-के तीन भेद पणिका, विलासिनी तथा रूपाजीवा स्वीकार किया है। शिगमूपाल तथा विश्वनाथने इसके केवल दो भेद रक्ता और विरक्ता माना है। हिन्दीमे सम्भवतः किसी-ने भी इनका अनुसरण नहीं किया है। कुमारमणिने स्वतन्त्रा, जनन्याधीना तथा नियमिता भेद दिये है; रसलीन-ने इसमे प्रेमदुःखिताको और जोडा है तथा भानुने केवल पहले दो भेदोको स्वीकार किया है।

स्वकीया आदिकके विभाजनके वाद भानुदत्तने नायिका-का एक स्वतन्त्र विभाजन इस प्रकार किया है-अन्यसम्भो-गदुःखिता, वक्रोक्तिगविंता, मानवती । पुनः मानवतीके लघु, गुरु तथा मध्य मानवती और वक्रोक्तिगविंताके प्रेम तथा सौन्दर्यगर्विता उपभेद किये है । नन्ददास, केशव, चिन्ता-मणि तथा कुछ अन्य कवियोको छोडकर अधिकांश हिन्दी लेखकोने इस विभाजनको किसी-न-किसी रूपमें प्रस्तुत किया है। कुछ लेखकोने इन भेदोमेसे कुछ छोड दिये हैं और उनमें रहीम, मतिराम, देव, पद्माकर, भान तथा 'हरिऔय' प्रधान हैं। इन्होने मानवतीके तीन भेद दिये हैं। परन्त इन लेखकोंमेसे प्रमुखने इस विभाजनको वियोग शृंगारके तीन या चार भेदोंके साथ अलग प्रस्तुत किया है। मतिराम, देव तथा नन्दराम आदिने वक्रोक्तिगर्विताके दो उपभेदोको स्वतन्त्र भेदोंके रूपमे लिया है। परन्त इन उपमेदोंमे कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा दास आदिने गुनगविंता और जोडा है। कृपाराम तथा रसलीन-ने इन तीनोंके पुनः दो भेद किये है, वक्रोक्ति तथा सरलोक्ति या सुधागर्विता । कुमारमणिने चौथी यौवनगर्विता भी

मानी है और दासने नायिकाके आठ अंगोंके साथ गर्विताएँ भी आठ प्रकारकी मानी है। तोषने भानदत्तके तीनके विभाजनमे कामवती, अनुरागिनी तथा प्रेम-अशक्ताको जोड़कर संख्या छः कर दी है। भानुदत्त तथा अधिकांश हिन्दी लेखकोंने भी इसे सामान्य विभाजन माना है, जो किसी भी वर्गकी नायिकाओं में लगाया जा सकता है। परन्त कछ हिन्दी कवियोने ऐसा नहीं किया है। कृपाराम-के अनुसार अन्यसम्भोगदःखिता केवल स्वकीया और सामान्यामें लग सकता है, परकीयामें नही। प्रतापनारायण सिहके अनुसार ये समस्त भेद केवल प्रौढाके हो सकते है और इन्होंने प्रौढाके अन्तर्गत परकीया तथा सामान्या, दोनो-को लिया है। भानूने मुग्धाको छोड़कर सबमे इस भेदको स्वीकार किया है। 'हरिऔध'ने माना है कि इसका उचित प्रयोग मध्या और प्रौढाके सम्बन्धमे ही हो सकता है, पर परकीया तथा स्वकीयाके सम्बन्धमे भी लग सकता है। मीतलने इसे मध्या और प्रौढाका भेद ही माना है। यद्यपि हिन्दीके अधिकांश कवियोने इस विभाजनको स्वतन्त्र माना है, पर बहुत समयतक वे इसके लिए कोई आधार नहीं प्रस्तुत कर सके। प्रतापनारायण, भानु, 'हरिओध' तथा पोहार जैसे नये लेखकोंने इसे स्वभावपर आधारित माना है और मीतलने इसे दशानुसार माना है। इस विभाजनको उचित आधार देनेकी भावना पहले भी देखी जा सकती है। कुमारमणिने गर्विताको स्वाधीनपतिका तथा मानवती और अन्यसम्भोगदः खिताको खण्डिताके अम्तर्गत रखा है। दासने कुमारमणिका अनुसरण किया है, केवल अन्यसम्भोग दःखिताको उन्होंने विप्रलब्धासे सयक्त किया है। बिहारी-लालने भी कुमारमणिका अनुसरण किया है, पर ब्रह्मदत्तने अवस्थानुसार नायिकाओके विभाजनके अन्तर्गत इन तीनों भेदोंको रखा है।

भरत द्वारा अवस्थानसार किये गये नायिकाओंके आठ भेदोंको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है कि इस विभाजनको किसी भी महत्त्वपूर्ण किव या लेखकने नहीं छोड़ा है। भरतके विभाजनमे वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीन-पतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता और विप्रलब्धा इन छः भेदोंको प्रायः लेखकोने ऐसे ही स्वीकार कर लिया है, केवल प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिकाका विस्तार आदि किया है। प्रोषितभर्तृकाकी विभिन्न स्थितियोंके आधारपर बादमें या तो उसके उपभेद किये गये अथवा उनको स्वतन्त्र रूपमे भेदोंके साथ स्वीकार कर लिया गया है। प्रोषित-भर्तृकाके साथ इससे मिलते-जुलते दो रूप प्रवत्स्यत्पतिका तथा आगतपतिका और माने गये हैं। भानुदत्तने पहलेके लिए प्रोध्यत्पतिका नाम देकर नवें भेदके रूपमे स्वीकार किया है। इन दोनोंको स्वतन्त्र भेदके रूपमे बहुत अधिक लेखकोंने स्वीकार किया है। उदा०—कृपाराम, रहीम, तोष, मतिराम, पद्माकर, लिछराम, प्रताप, भानु, 'हरिऔध' तथा मीतल । नन्ददास, सुन्दर तथा जसवन्त सिंहने भानदत्तके समान नवाँ भेद प्रवत्स्यत्पतिकाको ही बढाया है। बेनी प्रनीन और गुलान रायने ग्यारहनों भेद आगमिष्यत्पतिकाको माना है। ब्रह्मदत्तने गर्विता आदिक भेदोको साथ रखकर तेरहकी संख्या पूरी की है। केशव और चिन्तामणिने

किचित नामभेदके साथ इन आठ भेदोंको स्वीकार किया है। कुमारमणि, देव, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, इयामसुन्दर, विहारीलालने अन्य भेदोंको उपभेदोके रूपमे स्वीकार कर लिया है। कुमारमणिके अनुसार एष्यत्पतिका (आगत) वासकसज्जाके अन्तर्गत स्वीकार की गयी है और प्रोषितपतिकाको प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसतपतिका और प्रवसित-पतिकामे विमाजित किया है। देवने इसके चार भेद किये हैं, प्रवत्स्यत्पतिका, शुद्धप्रोषितपतिका, आगतपतिका तथा चौथेका नाम नहीं दिया है। रसलीनने पॉच भेद इसके अन्तर्गत दिये है:-गिमिष्यत्, गच्छत्, आगिमिष्यत्, अगच्छत तथा आगतपतिका । इन्होने आगतपतिकाके साथ संयोग-गर्विनाका उल्लेख किया है। वस्तुतः अधिकांश लेखकीं-ने आगतपतिकाके अन्तर्गत उसकी तीनो स्थितियाँ आग-मिष्यत्, आगच्छत् तथा आगत स्वीकार कर लिया है। दासने इसका विभाजन (प्रोषितभर्तकाका) प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोपित, आगच्छत् तथा आगतमे किया है, इसमे अन्तिमका उल्लेख वासकसज्जाके अन्तर्गत भी हुआ है। चंन्द्रशेखर, इयामसुन्दरने विरहिणीका विभाजन भूता, भविष्या या भावी तथा वर्तमानमे किया है।

भानुदत्तने अभिसारिकाके अन्तर्गत ज्योत्स्ना, तमिस्रा और दिवसा अभिसारिकाके भेद माने है; समयसूचक इस भेदको हिन्दीके अधिकांश कवियोने स्वीकार किया है। परन्त पद्माकर, लिछराम, दौलतराम तथा भान आदिने अभिसारिकाके साथ सामान्य रूपसे इनको सम्बद्ध किया है; पर मतिराम, रसलीन, बेनी प्रश्नीन, 'हरिऔध' और मीतलने इनको परकीया या अभिसारिकाका भेद माना है। क्रपाराम, रहीम, दास और स्कन्दगिरिने केवल दो भेद दिये है और नन्ददास, जसवन्त सिह, देव, श्यामसुन्दर दास तथा पोदारने इसके भेदोंका बिस्कुल उल्लेख नहीं किया है। अभिसारिकाके इन तीनों भेदोके अतिरिक्त केशवने अनुभूतिके आधारपर उसके तीन भेद और दिये है:-प्रेमा, गर्वा तथा कामा । तोषने भानदत्तके प्रथम दो भेदोके साथ अभिसारिकाका उल्लेख और किया है। कुमारमिन इसके साथ चौथा भेद व्याजाभिसारिका जोड़ा है। नन्दरामने रंग (वस्त्र)के आधारपर अरुणा, पीता तथा हरिताभिसारिका और गिनाये है।

जैसा कहा गया है, प्रथम छः भेदोंको अधिक विस्तार नहीं मिल सका, केवल कुमारमणिने उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और कलहान्तरिताके भेद दिये हैं। इनके अनुसार उत्कण्ठिता या तो क्रियाविलम्बिता सुरता होती है या अनुत्पन्नसम्भोगा। यह दूसरा भेद पुनः स्थितिभेदके अनुसार साक्षाइर्शना, गुणश्रवणदर्शना, चित्रदर्शना तथा स्वप्नदर्शनानुतापामे विभाजित किया गया है। विप्रलब्धाका पतिवंचिता तथा सखीवंचितामें और कलहान्तरिताका ईर्ष्या तथा प्रणयकलहान्तारितामे विभाजन किया गया है। जहाँतक इस विभाजनके अन्य विभाजनमे प्रयुक्त होनेकी बात है, अधिकांश लेखकोंने मुग्धा, प्रौदा, मध्या, परकीया और सामान्यामे इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कुछने इन अवस्थाओका उदाहरण देते समय स्वकीयाको केवल एक रूपमे माना है और कुछने केवल इनके सामान्य

उदाहरणमर दिये हैं । केशवने अपने श्रंगारके दोनों— प्रच्छन्न तथा प्रकाश—मेदोमें इन अवस्थाओके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और केवल अभिसारिकाको स्वकीया, परकीया तथा सामान्यामे स्वीकार किया हैं । देवने अपने पहले प्रन्थोंमे इनको स्वतन्त्र विभाजनके रूपमें माना है, पर 'भामिनीविलास'में केवल मध्या स्वकीयाके अन्तर्गत माना है। दासने इनको दो भागोमे बॉटा है, स्वाधीनपतिका, वासकसञ्जा तथा अभिसारिकाको संयोग-श्रंगारसे सम्बद्ध किया है और शेषको वियोग-श्रंगारसे । स्थामसुन्दर दासने हेमचन्द्र तथा शारदातनयका अनुसरण करते हुए माना है कि इनमें तीन—विरहोत्किण्ठता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धाका ही सम्बन्ध परकीयामे हैं । साथ ही गुलाब रायके साथ इन्होंने अभिसारिकाके अन्तर्गत प्रेष्या और दासीका उल्लेख भी किया है ।

नायिकाके उत्तमा, मध्यमा तथा अथमा नामक भेदोको हिन्दीमें अधिकांश नायक-नायिका-भेदके लेखकोने अपनाया है। नन्ददास, जसवन्त सिंह, कमारमणि तथा श्यामसन्दर दास ऐसे कुछ लेखकोंने अवस्य इस विभाजनको ग्रहण नहीं किया है। 'हरिऔध'ने उत्तमाके आठ प्रकार दिये है-पति, परिवार, जाति, देश, जन्मभूमि, धर्म-प्रेमिका तथा निजतानुरागिनी और लोकसेविका । मध्यामे व्यंग्यविदग्धा, मर्मपीडिता दो भेद माने गये है, पर 'हरिऔध'के ये विभिन्न विभाजन शृंगारके आलम्बन-विभाव-रूप नायिकाके नहीं माने जा सकते । शरीर-मनोविज्ञानके आधारपर नायिकाके पश्चिनी, शंखिनी, हस्तिनी तथा चित्रिणी नामक भेद संस्कृतके काञ्यशास्त्रके ग्रन्थोमें नहीं मिलते। हिन्दीमें केशवने इनका समावेश किया है, जिसका आधार संस्कृतके कामशास्त्रके प्रन्थ है। हिन्दीमे भी यह अधिक प्रचलित नहीं हो सका; मतिराम, कमारमणि, दास, प्याकर जैसे कवियोने इसे छोड़ दिया है। भानुदत्तका दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्याका विभाजन हिन्दीके लेखकोमें केवल रसलीन तथा भान द्वारा स्वीकार किया गया है। देवने अपने 'रसविलास'में नायिकाओका विभाजन जातियों तथा पेशोंके अनुसार भी किया है और चौबीस नायिकाएँ देशके अनुसार बतायी है। वैद्यकमें उछिखित शरीरकी प्रकृतिके अनुसार भी देवने कफ, पित्त तथा बात-प्रकृतिकी नायिकाएँ बतायी है। भरतके शिलपर आधारित विभाजन के अनुकरणपर देवने नायिकाओका विभाजन देवसत्त्व, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, नाग, कपि तथा काक आद सत्त्वोमे किया है। -रा० ग० नार्म-यह अंग्रेजी शब्द मूल लातीनी धातुसे आया है, जिसका अर्थ है आदर्श माप-दण्ड। इसीसे आगे 'नार्मल', 'सब-नार्मल' आदि शब्द वने। जो विज्ञान आदि सत्ताके 'सत्'को ही परखते हैं, वे भौतिक विज्ञान बने और जो शास्त्र-सत्ताको भूतमात्रा और सम्भावनाओको परखते हैं, वे 'नामेंटिव' शास्त्र बने । अतः नार्म वह 'जो होना चाहिये', की दिशा बताये। नीतिशास्त्र आदि ऐसे ही आदर्शशास्त्र हैं। प्रश्न इतना ही है कि सौन्दर्यका कौन-सा मर्म है। साहिल-कलामें ऐसा कोई सार्वजनीन माप-दण्ड, जो सर्वव्यापी और सर्वसम्मत हो, निश्चित करना कठिन है। -प्र० मा०

नारायणीय धर्म-दे० 'भागवनधर्म' । नासत-दे० 'सफीमार्ग'।

निघंट-[नि+घटि+ड= निश्चयेन घण्टयति पठति शब्दान इति निघण्टः ] इस पदकी व्यत्पत्ति निरुक्तकारने पाणिनिके उणादि प्रकरणके शब्दोंकी भाँति भी है। यह त्रिविध है। एक तो नि + गम्मे 'निगन्तु' शब्द और फिर वर्ण-न्यापत्तिके द्वारा ग-के स्थानमे घ तथा त-के स्थानमें ट करके 'निघण्ट' शब्द सिद्ध करने है। इसके अनुसार वैदिक शब्दोके कोषका 'निघण्ड' नाम पड़नेका यह कारण है कि इसमे उन शब्दोंका संग्रह है, जो मन्त्रार्थके निगमक या द्यापक है, अर्थात जिनका अर्थ अत्यन्त गढ़ है और जिनका ठीक-ठीक अर्थ जाने बिना मेधावियोंको भी मन्त्रार्थ अज्ञात या अस्पष्ट ही रहेगा। दूसरी न्युतपत्ति पाठार्थक 'हन' धातुसे पूर्वमे सम् उपसर्ग लगाकर तथा उपसर्ग-न्यत्पयसे उसके स्थानमें नि उपसर्ग लाकर एवं पूर्वोक्त वर्ण-व्यापत्तिके द्वारा ह-के स्थानमे घ तथा त-के स्थानमे ट करके की है। इस व्यत्पत्तिके अनुसार गूढ वैदिक शब्दोके इस कोषमे पठित होनेके कारण इसका नाम 'निघण्ट' है । इस व्यत्पत्ति मे सम्के साथ आइ उपसर्गके भी अर्थका अध्याहार निरुक्तकारने किया है, वह यह प्रदर्शित करनेके लिए कि जितने शब्द 'निषण्द्र'मे पठित है, केवल उतने ही वेदार्थ-ज्ञानके लिए विशेष रूपमे ज्ञातन्य है। तीसरी न्यत्पत्ति 'ह्र' धातुसे की है। शेष समस्त प्रक्रिया दितीय व्युत्पत्ति-की हैं। इसके अनुसार वैदिक राब्दोका इस कीषमें समाहार होने, अर्थात उनके इस कोषमें इकट्टा कर दिये जानेके कारण इसका नाम 'निघण्द्र' है।

इस वैदिक कोषमें पाँच अध्याय है। प्रथम तीन अध्यायोंमें एकार्थक राष्ट्र (अर्थात एक एक राष्ट्रके अनेक पर्याय), चतुर्थ अध्यायमे अनेकार्थक या नानार्थक राष्ट्र (अर्थात एक एक राष्ट्रके अनेक अर्थ) तथा पंचममे देवता-वाचक राष्ट्र विशेष रूपसे संगृहीन है। वर्तमान समयमें उपलब्ध निधण्डपर ही यास्कका निम्क है।

आगे चलकर यह शब्द आयुवेंदके शब्द-कोषके लिए भी प्रयुक्त हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द शब्द-कोषमात्रका वाचक रह गया। हिन्दीमे यह इसी अर्थमे प्रयुक्त होता है। —आ० प्र० भि०

नित्यप्रिया-दे॰ 'गोपी'। नित्यकीला-दे॰ 'लीला'।

निदर्शना—साद्यगर्भके गम्योपम्याश्रय वर्गका प्राचीनों से खीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार । इसका अर्थ है दृष्टान्तकरण अथवा उदाहरण-प्रदर्शन । उद्भटके अनुसार इसका लक्षण है—"अभवन् वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् । उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना" (का० सा० स०, ५:१०), अर्थात् वस्तुमे सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्धकी कल्पना कर लेना तथा उपमान और उपमेयत्व-का कथन करना निदर्शना है । मम्मटके लक्षणपर उद्भटका प्रभाव है:—"अभवन् वरतुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः" और उन्होंने वामनके लक्षण—"क्रियके द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजनके सम्बन्धका बोध करना" (का० स्० वृ०, ४: ३: २०)को इसका भेद स्वीकार किया है।

विश्वनाथने परिभापाको अधिक विस्तार दिया है—"वस्तुओंके सम्भन्न अथवा असम्भन भी सम्बन्धमें जहाँ विम्नप्रतिविम्बमान निहित हों" (सा० द०, १०: ५१-५२) और इसी
भावको जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इस प्रकार रखा है—
"वाक्यार्थयोः सहश्योरैक्यारोपो निदर्शना" (चन्द्रालोक,
५: ५८), अर्थात् जिसमे दो परस्पर भिन्न वाक्योमे भावसाम्यके कारण एकताका आरोप किया जाय।

हिन्दीके आचार्योंने मुख्यतः 'कुवलयानन्द'के नीन भेदोंको स्वीकार कर लिया है, परन्तु कई बार अन्य भेदों-को भी स्वीकार किया है। भेदोंके लक्षण अलग-अलग दिये गये है।

प्रथम—जहाँ वाक्य अथवा पदके अर्थके असम्भव सम्बन्ध के लिए उपमानकी परिकल्पना की जाय—"सहरा वाक्य जुग अर्थको, जहाँ एक आरोप" (छ० छ०, १४८) । भूषण, पद्मात्रर आदिकी प्रथम निदर्शना यही है, पर दासका छक्षण भिन्न राब्दावलीमे है—"सम अनेक वाक्यार्थको, एक कहै धरि टेक" (का० नि०, ८)। उदा०—"रावरे तेजको पुंज प्रचण्ड सो आतप मूर्जमे रुचि साजै। जो नृप भाजके हाथ कुपान सो पार्थके कर बान विराजै" (छ० छ०, १४९)। अथवा—"सिंसमे छसत जो जोन्ह छिन, नरमें सुमति प्रकारा" (पद्मा०, ८६)। यहाँ असम्भव-सम्बन्धमे किएत उपमासे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जो, सो, तो, जे, ते आदि वाचक राब्दोंसे असमान वाक्यों-की एकता प्रकट की जाती है।

द्वितीय—जहाँ उपमेयका गुण उपमानमें और उपमान-का गुण उपमेयमे आरोपित हो—"वन्ये धर्म जु अवन्येंमें थपै जु वन्येंद्व मॉहि" (पद्मा०, ८७)। उदा०—"तुव वचननकी मधुरता, रही सुधा महॅ छाइ। चारु चमक चल मीनकी, नैनिन गही बनाइ" (वही, ८८)। यहाँ प्रथममे उपमेयका गुण उपमानपर तथा दूसरेमें उपमानका गुण उपमेयपर आरोपित है।

तृतीय—अपने स्वरूप और अपने खरूपके कारणका सम्बन्ध अपनी सत्-असत् क्रिया द्वारा बोध कराना— "करत असत सन अर्थको एक क्रियासो बोध" (छ० छ०, १५२)। दासने इसीको प्रथम निदर्जना माना है—"एक क्रिया ते देति जहॅ, दूजी क्रिया छखाइ। सत असत हूँ ते कहत है…" (का० नि०, ८)। उदा०—"दै सु फूछ फळ दळ जु द्रुम, यह उपदेसन ज्ञान। छहि सुख सम्पति कीजिये, आयेको सनमान" (पद्मा०, ९०)। यहाँ सत् क्रियासे सत्का बोध कराया गया है। इसी प्रकार—'दीप जोति सिर धुनि सुसुकि, पौनहि सो घर होइ। यह उपदेसत सबनकों, इसको हितू न कोइ" (वही, ९१)। यहाँ असत् क्रियासे असत्का बोध होता है।

द्धान्तमे दो निरपेक्ष वाक्य रहते हैं, यद्यपि उसमें भी उपमेय और उपमान-वाक्योका परस्पर विम्ब-प्रतिविम्बभाव दिखाया जाता है तथा केवल उपमानके वाक्यार्थमे द्धान्त दिखाकर उपमेय वाक्यार्थका निरुचय कराया जाता है। निदर्शनामें दोनों वाक्य सापेक्ष रहते हैं, क्योंकि उपमेय वाक्यमें उपमान वाक्यके अर्थका आरोप किया जानेके कारण परस्पर सम्बन्ध रहता है। निडा-प्रचित तैतीसमेसे एक संचारी भाव। मनकी निवृत्तिको प्रायः निद्रा कहा जाता है (दशरूपक-'मनः-सम्मीलनम्', ४: २३)। भरतने इसके विभावो एवं अन-भावोको निम्नलिखित प्रकारसे दिया है—दर्बलता, परिश्रम मदिरा इत्यादिके पान, आलस्य, चिन्ता, अधिक आहार इत्यादि विभावोसे निद्रा संचारी भाव होता है। मुँह भारी होने, अंगोको सहलाने, ऑखोंके विलोडनसे और जॅमाई लेनेसे, उच्छास, शिथिल गात्री, ऑखोको बन्द करने इत्यादिसे इस भावकी अभिन्यक्ति होती है (नाट्य०, ७: ७१ ग)। इस गद्यके साथ 'नाट्यशास्त्र'की आर्यामे, रातके जागरणसे भी निद्राका होना बताया है। विश्वनाथने इसी बातको स्वीकार किया है-"चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रम-क्लममदादिजा। पृन्सादिनीङगोच्छास्नात्रसंगादिकार-णम्" (सा० द०, ३: २५७)। निद्राके प्रभावसे ऑखे आधी बन्द होना एवं वार्तालापके समय धीरे-धीरे तथा सार्थक और निरर्थक शब्दोका प्रयोग इस भावका भली भॉति प्रदर्शन करते है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योने अनुसरण करके भी प्रायः स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है—"चिन्ता आरस खेदतें, बसे तुचां चितु जाय। सुपन दरस अवयव चलन, एकड नीद सुभाय" (भाव० संचारी०)। इसमे तथा अन्य कई आचार्योमें भाव आ गया है, पर पश्चाकर तथा भानु आदिने तो केवल "सपन कहावत सोइयो वहै सु निद्रा होइ"भर कहा है (जगद्वि०, ५३८)।

हिन्दीके आचार्योंने उदाहरणमें भी प्रायः सोती हुई नायिकाका वर्णन किया है, जब कि वस्तुतः इस सचारीका भाव वास्तिवक निद्रासे न होकर अलसतासे सम्बद्ध है। देव इसके अन्तर्गत स्वप्नका उल्लेख करते है—'देव अबै लगि ऑ खिनतें वह बाँकी चितौनि टरैं नही टारे। सापनेमें चित चोरि लियो वह मोर री मोरपखौवनवारे'' (भा॰, सं॰)। रामदिहन मिश्रने वियोगीहरि द्वारा विणत जयचन्दके इस संचारीका उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—''चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवनमें, होकर विदेहसा विसार आत्मचेतना, बन्द हुई ऑख हुआ शिथिल शरीर भी'' (का॰ द०)।

इस संचारी भावका विश्वदत्तम लक्षण रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'मे दिया है। उनके अनुसार (ना० द०,
३, १३८) निद्रा उस समय होती है, जब इन्द्रियाँ अपने
विषयोंका ग्रहण नहीं कर पाती। इसीकी व्याख्या करते
उन्होंने कहा है कि स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी 'अव्यादृत्ति'का
अर्थ है विषयग्रहणके व्यापारका विराम होना, क्योकि
मन तो निद्रावस्थामे भी व्यापारशील रहता है। यह
उदासीन मनोभाव अवश्य है, पर मनकी विशेष स्थिति
होनेसे शारीरिक अवस्था नहीं। —ज० कि० व०
निबंध-इसका मौलिक अर्थ नि+वन्ध(बॉधना)+ग्रञ्
(संग्रह) रोकना (वाचस्पत्यम्) या [नि+वन्ध (बॉधना)
+अच्] नीमका वृक्ष और उसके सेवनसे कोष्ठ-रोग रोध
है (जटाधर)।

याज्ञवल्वयस्मृतिमें निवन्ध (निवन्धो द्रव्यमेव) द्रव्यके लिए प्रयुक्त हुआ है। हेमचन्द्रने संग्रह-ग्रन्थ, मूत्ररोधरूप

रोग, बन्धनके अर्थमें इसका प्रयोग किया है। गीता (निबन्धायासुरी मता, १६: ५)में भी यह बॉधनेकी क्रियाके अर्थमें आया है। निबन्धका प्रयोग लिखे हुए भो जपत्रोंको सँवारकर बॉधने या सीनेकी क्रियाके लिए भी होता था, किन्तु कालान्तरमें अर्थसंको चके रूपमें केवल साहित्यिक क्रितिके लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा।

संस्कृतमे निबन्धका समानाथीं किन्तु, अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ [प्र+ बन्ध (बॉधना)+ अच ] सन्दर्भ या प्रन्थ-रचना है। आधार(कथा-विषय)-पर कल्पनासे अन्ध-रचना करना भी प्रवन्ध कहा जाता था। दूसरे शब्दोंमें, परम्परानुमोदनके साथ किसी विषय या कथाका गद्य या पद्यमें प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता था। धीरे-धीरे यह शब्द आख्यान या कथाके सम्यक तारतम्यपर आधारित केवल काव्यके लिए प्रयुक्त होने लगा और प्रबन्ध-काव्यके लिए रूढ हो गया। वाल्मीकि-रामायण प्रवन्ध-काव्य है। दण्डीका 'दशकुमारचरित' प्रबन्ध-काट्यात्मक है। किन्तु आज निवन्ध और प्रबन्ध, दोनो ही अपने मूल या रूढ़ अथॉमे प्रयुक्त नही होते है। प्रवन्थका प्रयोग आज उस गद्य-रचनाके लिए होता है, जिसमे लेखक किसी विषयका सांगोपांग विस्तारके साथ अपनी भाषारौलीमें विवेचन करता है। इसे अंग्रेजीके 'ट्रीटाइज' और 'थीसिस'का समानार्थी कहा जा सकता है। हिन्दीमें निबन्धका प्रयोग गोस्वामी तुलसीदासने प्रबन्ध कान्यके लिए ही किया है (भाषानिबन्धमतिमंज्लमात-नोति)। (दे० 'प्रबन्ध-काच्य')।

निबन्धके पर्यायके रूपमे प्रवन्धके अतिरिक्त लेखा **सन्दर्भ, रचना** और प्रस्ताव शब्द भी प्रचलित है। लेख मूल अर्थमें समस्त लिखी सामग्रीके लिए आता है, किन्तु वास्तवमे यह उस गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमे लेखक प्रमुखतया निवेंयक्तिक ढंगसे किसी विषयपर शास्त्रीय ढंगसे प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजीका आर्टीकल कह सकते है। सन्दर्भका अर्थ पिरोना, प्रसंग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बॉधना या बुनना है, संकलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ है, जिसमें किसी अन्थके दुरूह स्थलोंका अर्थ दिया गया हो। यह लेखसे कम न्यापक है। निबन्धके पर्यायके रूपमे यह वह गद्य रूप है, जिसमे किसी विषयके किन्ही प्रसंगीपर विचार प्रकट किये जाते है। रचनाका मूल अर्थ कृतिके लिए होता है। निबन्धके अर्थमें यह किसी विषय या वस्तुपर उसके न्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदिकी दृष्टिसे लेखककी गद्यात्मक अभिन्यक्ति है। अंग्रेजीका करपोजीशन इसके समान अर्थ रखता है (दे॰ 'रचना')।

किन्तु आज निवन्थ अपने मूल और रूढ़ अर्थोंसे भिन्न अर्थमे प्रयुक्त होता है। वह अपने सभी समानान्तर पर्थायों के मौलिक तथा परम्परानुमोदित अर्थोंसे भी भिन्न अस्तित्व रखता है। वास्तवमे यह आज लैटिनके 'एनजीजियर'- (निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना)से निकले फ्रेंचके 'ऐसाइ' तथा अंग्रेजीके 'एसे'का पर्याय हो गया है, जिनका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग या परीक्षण होता है, और प्रयोगकी इष्टिसे जो छष्टु अथवा समर्याद दीर्घ कलेवरकी उस अन-

वस्थित गद्यरचनाके लिए प्रयुक्त होता है जिसमे निवन्धकार आत्मीयता या अनात्मीयता, वैयक्तिकता या निर्वेयक्तिकताके साथ किसी एक विषय या उसके किन्ही अंशो या प्रसंगों पर अपनी निजी भाषाशैलीमें भाव या विचार प्रकट करता है। अग्रेजीकी तरह ही हिन्दीमे निवन्धका विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओके माध्यमसे हुआ है। ऐसा नहीं है कि वह अग्रेजी 'एस'-रूपके अनुकरणमात्रस विकसित हुआ हो। यहीं कारण है कि हिन्दीम मौन्तनकी परम्परामे अग्राहम काउली, स्विपट, लेम्ब, हेजलिट, स्टील, गोल्डिसिथ, ली हण्ट, स्टीवन्सन जेस न तो व्यक्तिप्रधान निवन्धकार है और न वक्तकी परम्परामे वेनजानसन, सेल्डन, एडीसन, जानसन, जेफरी, डी॰ विवन्सी, मेकाले, वाल्टर पेटर जेसे विषय-प्रधान निवन्धकार ही है। प्रायः एक ही लखकके दोनो प्रकारके निवन्ध मान्त है।

११वी शताब्दांके बाद सस्क्षतमे दीकाओ — स्त्र, वृत्ति, भाष्य, समीक्षाक संग्रहके लिए निवन्ध शब्दका प्रयाग होने लगा था। निवन्धके साथ इसी अर्थमे प्रायः प्रवन्ध शब्दका भी प्रयोग हुआ है, अन्तर कदाचित् यह है कि किसी एक विषयपर अनक व्याख्याओं सग्रहको निवन्ध तथा अनक विषयपर अनक व्याख्याओं सग्रहको निवन्ध तथा अनक विषयपर अनक मतोके सग्रहको प्रवन्ध कहते हैं। परन्तु । हन्दीम सग्रह-ग्रन्थको नहीं, एक ।विशिष्ट साहित्य-रूपको निवन्धको सश्चा दी गयी है। निश्चय ही यह आधुनिक कालका रूपविधान है और बहुत कुछ अग्रेजी 'एस'के अर्थम रूढ़ हो चला है।

यो तो किसी भी साहित्यरूपकी सर्वसम्भव परिभाष देना कठिन है, परन्तु निवन्थको परिभाषामे बॉधना कदाचित् कान्यको परिभाषित करनस भी कठिन है। इस दृष्टिस निवन्थ अपन शाब्दक अर्थक विपरात बन्धनहीन है। अग्रेजीम 'एस' भी, जिसका शाब्दिक अथं 'प्रयास' है, परिभाषाओम नहीं बॉधा जा सका है और अनक लखकोने 'एस' (निवन्थ) एस लेखका(निवन्थकार)की कृति है, यही कहकर सन्तोष किया है। कारण यह है कि इस 'प्रयास' के अन्तर्गत छोटी-वड़ी, सरल-गम्भीर, गद्य-पद्यम लिखी हुई अनेक प्रकारको रचनाएँ आ जाती है, जिनके समान लक्षणोका निरूपण असम्भवप्राय है। 'एस'की अर्थव्याप्ति अत्यन्त विस्तृत है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह कोई स्वतन्त्र साहित्यरूप ही नहीं है। अनेक ऐसे लेखक है, जो निवन्यकारके रूपमे ही विश्वविख्यात है और उनके निवन्य साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति है।

'एसे' या निवन्यकी परिभाषा देनेमे जानसनके इन शब्दोको प्रायः दुहराया जाता है—''मुक्त मनकी मौज, अनियमित, अपक-सी रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति'' इसीके आधारपर कहा गया है कि निवन्थमें कलात्मक परिष्कारका अभाव रहता है। उसमे लेखक स्वच्छन्दतापूर्वक अपने मनकी बात कहता जान पड़ता है, जिसमे उसे मनमानी उछल-कृद करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, वह किसी विधि, पद्धति, विषय या विचारका बन्धन नही मानता। 'एसे'की इन विशेषताओंके निरूपणमें फ्रान्सीसी लेखक माइकेल दि मौन्तेन (सोलहवीं शती) तथा अंग्रेजी 'एसे'के जनक अन्नाहम काउली(सत्रहवीं राती) तथा अंग्रेजी 'एसे'के जनक अन्नाहम काउली(सत्रहवीं राती) तथा अंग्रेजी 'एसे'के जनक अन्नाहम काउली(सत्रहवीं

शती), अठारहवीं शतीके और प्रसिद्ध अंग्रेजी निवन्धकार रिचार्ड स्टील और जोजेफ एष्टीसनकी कृतियोंकी ही विशेषतया ध्यानमें रखा गया है। निशन्धके लक्षणोंमें स्त्रच्छन्द्रता, सरलता और आडम्बरहीनता तथा धनिष्ठता और आत्मीयताके साथ हेखरके वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणका भी उल्लेख किया जाता है। परन्त ये रूक्षण विभिन्न छेखकोंकी कृतियोंमें कितने विविध रूपोंमें मिलते हैं, इसे स्मरण रखना आवश्यक है। निवन्धकारकी स्वच्छन्दता उच्छंखलता नहीं है । उसकी अनियमिततामें भी एक नियम है और उसकी अन्यवस्थामें भी एक व्यवस्था। जान पडता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्त वास्तवमें ऐसा भ्रम पैदा करनेके लिए उसे स्वतः अपनी मौलिक पद्धति खोजनी पड़ती है। अतः निबन्ध एक ऐसी कुलाकृति बन जाता है, जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कत होते हैं। इसी प्रकार सहज, सरल, आडम्बरहीन आत्माभिन्यक्तिके लिए एक परिपक्ष और विचारशील गम्भीर व्यक्तित्वकी अपेक्षा है, यद्यपि उसकी कृतिमें प्रायः रचनाकी परिपक्षताका अभाव-सा दिखाई देता है। परन्त पाठकके साथ लेखककी निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। इसके अभावमें सफल कलात्मक निवन्ध-रचना सम्भव नहीं है। लेखक बिना किसी संकोचके अपने पाठकोंको अपने जीवन-अनुभव सुनाता है भौर उन्हें आत्मीयताके साथ उनमें भाग हेनेके लिए आमन्त्रित करता है। उसकी यह धनिष्ठता जितनी सची और सघन होनी, उसका निवन्थ पाठकोंपर उतना ही सीधा और तीव असर करेगा । इसी आत्मीयताके फलस्वरूप निबन्ध-लेखक पाठकों-को अपने पाण्डित्यसे अभिभूत नहीं करना चाहता और अधिकाधिक ऋज और उदार रूपमें प्रकट होता है। निबन्धकी वैयक्तिकता या आत्मनिष्ठता भी इसी आत्मीय दृष्टिकोणका परिणाम कही जा सकती है। स्वभावतः इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। अनेक ऐसे निवन्ध-लेखक है, जिनकी रचनाएँ निवेंयक्तिक कही गयी है और वे विषयवस्तुपर तटस्थरूपमें विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तवमें निवन्ध-लेखककी आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता व्यक्ति-सापेक्ष्य है। उसकी मात्रामें न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा सम्भव नहीं है। निबन्ध-लेखकको विचार-प्रगल्भता, अनुभवशीलता और प्रौड़ताका परिचय देती है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा (मृड)में लिखा जाता है। इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावतः नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखकके किसी विषय-सम्बन्धी विचारोंका संक्षेप या सार होता है, प्रत्यत सीमित दृष्टिकोणसे किसी विशेष मनोदशाके अन्तर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निबन्धका आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता ।

निवन्थके ये लक्षण केवल उस प्रकारको कृतियोंको ध्यानमें रखकर दिये गये हैं, जिनका आदर्श मौन्तेन और अंग्रेजीको पूर्वोछिखित लेखक हैं। ऐसे निवन्योंके विषय भी अधिकले-अधिक गम्भीर और गहन तथा अत्यन्त क्षुद्र और तुच्छ भी हो सकते हैं। परन्तु विषय कोई हो, प्वरेस्टकी चोटी या

साँपकी बाँबी अथवा उद्जन बम-विस्फोटका मानवताके लिए संकट या खटमलों और मच्छरोंके कारण रातका जागरण । पाठककी रुचि तो लेखककी प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रिया-के प्रकाशन, उसकी बचन-भंगिमा, उसकी सम्पूर्ण अभि-व्यक्तिकी मामिकता—संक्षेपमें उसके व्यक्तित्वके प्रकाशन-में, होती है। प्रायः विषय पीछे छूट जाता है, परन्तु पाठककी रुचिको लेखक मन्त्र-द्रष्टाकी तरह बाँधे रहता है और एक विलक्षण प्रभाव छोड़कर अपनी बात समाप्त करता है।

परन्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, निबन्धका एक ही रूप नहीं है। यों तो उपर्यक्त लक्षणोंके अन्तर्गत भी अनेकानेक रूपके निवन्थ हो सकते हैं, परन्त इन लक्षणों-का न्यनाधिक अतिक्रमण करनेवाली रचनाएँ भी उत्क्रष्ट कोटिके निवन्ध कही जाती हैं। यदि निवन्धोंके इस आधार-पर भेद किये जायँ तो उन्हें प्रधान रूपसे तीन वर्गोंमें रखा जा सकता है-१ कथात्मक (आख्यानात्मक-नैरेटिव), २. वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव) और २. चिन्तनात्मक (रिफ्ले-विटव) । कथात्मक निवन्धमं कोरे काल्पनिक इतिवृत्त, पौरा-णिक आख्यान, आत्मचरितात्मक वृत्तान्त अथवा ऐति-हासिक, प्रतीकात्मक, काल्पनिक आदि अनेक प्रकारकी कहानियोंका उपयोग किया जा सकता है। वर्णनात्मक निवन्धमें प्राकृतिक दृश्य अथवा मानव-जीवन सम्बन्धो किसी भी घटनाका वर्णन हो सकता है। चिन्तनप्रधान निबन्धोंके विषयोंके लिए मानव-जीवनके अनन्त कार्यों और व्यापारोंकी राशि खुली पड़ी है, उनका संकेत करना भी व्यर्थ है। परन्त चिन्तन-प्रधान निबन्धोंमें लेखक, अपनी प्रवृत्ति, स्वभाव या परिस्थितिके अनुसार, भावनाको मुख्य आधार बना सकता है या विचारको अथवा भावना और विचारका सहज समन्वय करके पाठकके हृदयको द्रवीभत करते हुए उसकी बुद्धिको प्रेरित कर सकता है।

आधुनिक युगमें जो गद्यका युग कहा जाता है, निवन्ध-का महत्त्व अत्यधिक हो गया है, क्योंकि इसके माध्यमसे गद्यको शैलियोंके निखार और विकासको अनन्त सम्भाव-नाएँ हैं। 'निवन्थ हो गद्यको कसौटी है', यह कहना अत्युक्ति न होगी, क्योंकि निवन्ध-लेखक एक ऐसे पथका अनुसरण करता है, जो किसीका जाना-समझा नहीं है। उसे अपनी भाषाकी शक्तिते ही प्रमाणित करना पड़ता है कि यह अन-जाना पथ उसके लिए सर्वथा परिचित और अपना है।

अन्तमं इतना कह देना और आवरयक है कि इस साहित्यिकरूपके नामकी ओटमें ऐसी अनेकानेक रचनाएँ चलती हैं, जिनमें साहित्यिक कृतित्व विल्कुल नहीं हैं, जो रचनात्मक प्रवृत्तिसे रहित हैं, भले ही वे विषय प्रतिपादनकी दृष्टिसे मृत्यवान् हों। ऐसे लेखोंके लिए लेख या यदि वे अधिक गुरुनामीर हों तो प्रवन्धकी संज्ञा अधिक उपयुक्त है।

— प्रवि

साहित्यरूपकी दृष्टिसे हिन्दीमें निवन्धका जन्म और विकास आधुनिक युगकी देन हैं। राष्ट्रीय जागरणकी स्फूर्ति, उत्साह, उमंग, देशभेम, जनवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अन्तर-राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक कर्लोका प्रयोग, भावश्यकताओंकी वृद्धि, गश्चका प्रचलन, सुद्रुणकलाका प्रचार, समचार-पन्नोंका प्रकाशन और उनके माध्यमने लेखक और पाठकम आत्मीय-सम्बन्धकी स्वापना, अंग्रेजी साहित्यदा सम्पर्क आदि अनेक कारणोंने साहित्यको अनेक रूपोके साथ निवन्ध-रूपका भी आविर्भाव हुआ। इसके प्रारम्भिक प्रचार और विकासमे प्रमुख प्रोत्साहन और साहाय्य 'कविवचनस्था', 'हिन्दी प्रदीय', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादिम्बनी', 'हिन्दस्थान' आदि प्रमुख पत्रोंसे मिला। इनके पृष्ठांमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुख्य भट्ट, प्रनापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालमुक्द गुप्त, जगमोहन भिंह, अभिवकादत्त त्यास, श्री-निवास दास, केशवराम भट्ट तथा राषाचरण गोस्वामी जैसे निवन्धवारोको प्रतिभाएँ प्रकाशमे आया । संयुक्त रूपने इन मभीके निवन्धोंकी मूल प्रेरणा मनोविनोद और सम-कालीन समाजके नैनिक और राजनीतिक जीवनके स्तरको उच्च बनानेकी भावना है। अतएव इनके निवन्धोम जीवन, चेतना, समाजसुधार, राष्ट्रभेम, देशभक्ति, अनीत-गौरवका प्रेम, विदेशी शासनको प्रति मधुर आक्रोश, हास्य, विनोद और व्यंग्यपूर्ण शैलीमें सजीव चित्रण प्राप्त होता है। व्यक्तित्वका सहज समावेश होनेके कारण इस प्रारम्भिक उत्थानमें निबन्धोंकी प्रमुख विशेषता आत्मनिष्ठता है। वे गम्भीर और विवेचनात्मक न होकर हलके, रसिक्त, चुटकी और चिकोटीसे भरे पड़े हैं। प्रायः उनकी शैली आगमन या निष्कर्ष निकालकर शिक्षापूर्ण निर्देश और उपदेश देनेकी है। यद्यपि भाषा मुहावरों, लोकोक्तियों, तत्सम, तद्भव और अरबी-फारसी-उर्दुके शब्दोसे भरी है, किन्तु वह शिथिल है और व्याकरणकी ब्रिटियोंने निर्दोष नहीं है।

इतिहासकी दृष्टिसे बालकृष्ण भट्ट हिन्दी निबन्धके जनक हैं। उनकी, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालमुकुन्ड गुप्त और अम्बिकादत्त व्यासकी शैली इस युगके निबन्धोका पूर्ण प्रति-निधित्व करती है। बालकृष्ण भट्टने 'चारुचरित्र', 'साहित्य जनसमूहके हृदयका विकास हैं', 'चरित्रपालन', 'प्रतिभा', 'आत्मनिर्भरता' जैसे विचारात्मकः 'ऑस्', 'मुग्ध माधुरी', 'पुरुष अहेरीकी स्त्रियाँ अहेर हैं', 'प्रेमके बागका सैलानी', 'हमारे मनकी मधुपवृत्ति' इत्यादि भावात्मकः, 'संसार महा-नाट्यशाला', 'चन्होदय', 'पौगण्ड या कैशोर', 'शंकराचार्य' और 'नानक' जैसे वर्णनात्मक; 'ऑख', 'नाक', 'कान', 'बात-चीत' जैसे साधारण विषयोंपर विविध निवन्ध लिखे है, जिनमें उनकी रुचि-अरुचि, स्वभाव और उनके जनजीवनको देखनेके दृष्टिकोणका, हास्य एवं व्यंग्यकी उद्धरण और उदाहरणपूर्ण चुटीली शैलीमें, समावेश मिलता है। प्रतापनारायण मिश्र-ने जहाँ एक ओर 'भौं', 'बुढापा', 'होली', 'धोखा', 'मरेको मारें शाह मदार' जैसे विनोद और सृझपूर्ण निवन्थ लिखे हैं, वहाँ दूसरी ओर 'शिवमूर्ति', 'काल', 'स्वार्थ' जैसे गम्भीर विषयोंपर भी लेखनी चलायी है। बालमुकुन्द ग्रप्त-के 'शिवशम्भुका चिट्ठा'के आठो चिट्ठे बड़े व्यंग्य, मीठी हँसीसे पूर्ण शैलीमें देशभक्तिकी भावनासे ओतप्रोत है। अम्बिकादत्त ज्यासने 'धैर्य', 'क्षमा' जैसे मनोवैज्ञानिक और 'ग्रामवास', 'नगरवास' जैसे वर्णनात्मक निवन्ध लिखे हैं।

हिन्दी निवन्थका दितीय उत्थान 'नागरीप्रचारिणी पित्रका' तथा 'सरस्वती'के प्रकाशनसे प्रारम्भ होता है। महानीरप्रसाद द्विवेदीने 'सरस्वती'में अनेक प्रकारके उप-

योगी, ज्ञान-विषयक, ऐतिहास्तिक, पुरातत्त्व-सर्माक्षा सम्बन्धी निवन्ध और लेख लिखे। उन्होंने गद्यकी अनेक शैलियोका प्रवर्तन तथा भाषाका संस्कार किया। अंग्रेजीके 'वेकन'के नियन्थोंका अनुदार भी 'नेकन विचार-रहावर्ला'के नामने प्रस्तन किया, जिसने हिन्डीके अन्य अनेक लेखकोको निवन्ध लिखनेकी प्रेरणा मिली और इस क्षेत्रमें माधवप्रमाद मिश्र, गोविन्द्रनारायण मिश्र, चन्द्रधर दामी गुलेरी, गोपालराम गहमरी, अध्यापक पूर्व सिंह, गर्वेशांकर विघार्थी, सिया-रामक्रण गुप्त, गंगाप्रसाद अस्तिहोत्री, जगन्नाथप्रसाद चतुर्देदी, यहोटानन्द्रन अखौरी, चतुर्भूज और्वाच्य, केशव-प्रसाद सिंह, पार्वतीनन्दन, वेकटेशनारायण निवारी जैसे अनेक निवन्यकार सम्मुख आये। इस पुगके निवन्ध प्रमुखतया साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक समाचारपत्रोंके हेखों, प्रचारप्रपत्री (पेम्फलेट), प्रसाकीकी भमिकाओ और पुस्तकीं-के रूपमे प्रस्तुत हुए। वास्तवमें यह सुग वड़ती हुई राष्ट्रीय जागति, विधंत्रम, सामाजिव, एकता, भारत और पश्चिमके सम्पर्क, अतीत-गौरव, सांस्कृतिक एनरुत्थान तथा भाषाके परिष्कारका सुग है। अतः दोसबी शतीके इस अतुर्थांशमे निवन्थोंमें विषयोंको विधिधता, विचारोको गम्भीरता, भाषा-की सशक्त स्वच्छता अधिक मिलती है। जीवनको सांगो-पाग और गहराईसे देखनेके कारण विनोद और हास्यकी मात्रा कम होती गया है और व्यंग्य भावनाक स्पर्शमे तरल हो गया है। रूपकी दृष्टिले इस कालमे निवन्धने गद्य-गीत और चरितात्मक कहानीके रूपोको भी अपनेमे समेटकर निकसित किया है। रायकृष्ण दासकी 'साधना', वियोगीहरिकी 'तरंगिणी', लक्ष्मण गोविन्द आठलेकी 'वर्षी विजय' तथा गणे शशंकर विद्यार्थाका 'प्रताप चरित' आदि इसके उदाहरण है।

महावीरप्रसाद दिवेदीले कार्यको रामचन्द्र शुक्क, दयामसुन्दरदास, गुलाव राय आदिको निवन्य-प्रतिभाओने और
अधिक वढाया। गुक्कजी गम्भीर विचारक और विनोदी
स्वभावके व्यक्ति थे। अनः उन्होंने प्रायः विचारपृर्ण विपयोको ही निवन्थका विषय बनाया है। उनके निवन्थोमे सन
या निगमन-दौलीका प्रयोग हुआ है। वे प्रारम्भमं ही किसी
सिद्धान्नको उपस्थित कर देते है और अन्ततक उसकी विवेचनामे लीन रहते हैं। द्यामसुन्दर दास तथा गुलाव राय
आगमन-दौलीके निवन्थकार हैं। तथ्योकी व्याख्याके साथ
सारांश निकालते चलते हैं और अन्तमे उद्दिष्ट सत्यका उद्धादम्म करते हैं। इन निवन्थकारोने प्रायः तत्सम, देशी, तद्भव
प्रव्यक्ति पूर्ण भाषा लिखी है, किन्तु भावप्रकाशनकी सुगमताके लिए विदेशी—अंग्रेजी, अरबी, फारसीके शब्दोंकी
भी सहजभावसे अपना लिया है।

वीसवीं शतीके इस उत्थानने विभिन्न विषयोंपर निवन्य लिखे गये है, जैसे १. सांस्कृतिक—माधवप्रसाद मिश्रके 'होलों', 'श्रीपंचमी', 'रामलीला', 'ब्यासपूजा', 'अयोध्या', 'द्वारका', 'मथुरा' आदि और चन्द्रथर शर्मा गुलेरीका 'संगीत'। २. मनोवैज्ञानिक—रामचन्द्र शुक्लके 'क्रीप', 'श्रमा', 'ग्लानि', 'करणा' आदि। ३. समीक्षात्मक—महावीरप्रसाद द्विवेदीके 'क्रिव और कविता', 'साहित्यकी महत्ता' आदि: रामचन्द्र शुक्लके 'साथारणीकरण और

व्यक्तिश्वित्रयवाद', कविता क्या है' आदि, ग्रलाव रायके 'सर्वोत्तम काव्य', 'हास्यरस' आदि, जगन्नाथप्रसाद चतु-वंदीके 'अनुप्रास अन्वेषण', 'हमारी क्षिक्षा किस भाषामें हो' आदि समित्रानन्द्रन पन्तके 'पह्नव'का 'प्रवेश' आदि। 'तिराला'के 'परिमल'को 'प्रस्तावना' आहि। ४: विचारप्रधान-माधव सप्रेका 'जीवन संग्राममें विजय पानेके उपाय', मिश्र-बन्धका 'आत्मशिक्षा', रामचन्द्र शुक्कका 'आदर्श जीवन', पूर्ण सिंहका 'पवित्रता', चन्द्रधर शर्मा गुलेरीका 'कछआधर्मे' आदि । ५ भावप्रधान-चतुर्भज औदीच्यका 'कवित्व', चन्डधर झर्मा गलेरीका 'मारेसि मोहिं कठाँव', पर्ण सिंहके 'सची वोरता', मजदूरी और प्रेम', मातादीन शुक्रका 'आशा', चतुरसेन शास्त्रीका 'कहाँ जाते हो', रायकृष्ण दासकी 'साधन'के गद्यगीत, लक्ष्मण गोविन्द आठलेका 'वर्षा-विलास', वियोगीहरिका 'तरंगिणी'के गद्यगीत, पद्मसिंहका 'गणपति शर्माकी मृत्यपर'। ६. वर्णनप्रधान-मिश्रबन्धका 'रूस-जापानका युद्ध', जी० पी० श्रीवास्तवका 'चुम्बन'में मेलेका वर्णन, महावीरप्रसाद दिनेदीके 'एक योगीकी साप्ताहिक समाधि' और 'अद्भुत इन्द्रजाल', जगमोहन सिंहका 'इयामास्वप्न', क्रव्णबलदेव सर्माका 'बन्देलखण्ड पर्यटन' ७ आत्मचरितात्मक-यशोदानन्दन अखौरीका 'इत्यादिकी । आत्मकहानी', महेन्द्रलाल गर्गका, 'पेटकी आत्मकहानी', पार्वतीनन्दनका 'तुम हमारे कौन हो'। ८. स्वप्नकथात्मक-केशवप्रसाद सिंहका 'आपत्तियोंका पहाड-एक स्वप्न', कमलाप्रसाद 'क्या था', लल्लीप्रसाद पाण्डेयका 'कविता-दरवार'।

बीसवीं शतीके द्वितीय चतुर्थाशमें निबन्धने अनेक साहित्यरूपोंको अपनेमें आत्मसात करके विकास किया है। अतः इस कालके निवन्धोंमें जीवनकी वास्तविकता, कहानीकी संवेदना और जिज्ञासा, नाटककी नाटकीयता, उपन्यासकी चारु कल्पना, गद्यकाञ्यकी भवातिशयता, महाकाव्यकी गरिमा, विचारोंकी उत्कृष्टता-सभी कुछ एक साथ प्राप्त होती हैं। इस कालके निवन्थ प्रायः समाचारपत्रोंके लेख, गद्यगीत (रायकृष्ण दास-छायापथ), पत्र (रामनाथ 'सुमन'-भाईके पत्र), भाषण (राहुल-साहित्य निबन्धावलि, रामचन्द्र शुक्क-कान्यमें अभिन्यंजनावाद), संस्मण (महादेवी-स्मृतिकी रेखाएँ). प्रचारप्रपत्रों (पैम्फलेट), पुस्तकोंकी भूमिकाओं (रघुवीर सिंहकी 'शेष स्मृतियाँ'की भूमिका) और पुस्तकों-(सदग्रहशरण अवस्थी-भ्रमित पथिक)के रूपमें प्राप्त होते हैं। इनकी रचना मनस्तुष्टि, सामाजिक सुधार, व्यक्तिके चारित्रिक उत्थान, प्राचीन साहित्य और इतिहासकी खोज, अध्ययन और पाण्डित्य-प्रदर्शन, मनके रहस्योद्घाटन, हास्य, न्यंग, विनोद तथा शिक्षा एवं उपदेश देनेकी प्रेरणाओं से हुई है। इस कालके निवन्ध अधिकाधिक गम्भीर. साहित्यिक, प्रौद्र विवेचनापुर्ण, शास्त्रीय और तर्कसंकुल हो गये हैं। इनमें भारतेन्द्रयुगीन निबन्धोंकी-सी न तो वैयक्तिकता है और न हृदयको खिलानेवाली भावनाकी तरलता है। सम्भवतः इसका कारण जीवनको अधिक गम्भीरतापूर्वक देखनेकी प्रवृत्ति है। इस उत्थानके प्रमुख निबन्धकार ये हैं — 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, धीरेन्द्र वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पीताम्बरदत्त वड्डवाल, स्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र ग्रुष्ट, जैनेन्द्र, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, गुलाव राय, इलाचन्द्र जोशी, रचुवीर सिंह, रायकृष्ण दास, पदुमलाल पुन्नालाल वस्त्री, सियारामशरण ग्रुप्त, राहुल, मोहनलाल महतो, रामकुमार वर्मा, 'हरिऔप', रामनाथ 'सुमन', सम्पूर्णानन्द, भगवान् दास, उमेशचन्द्र मिश्र, वियोगीहरि, प्रभाकर माचवे, सद्गुरुशरण अवस्थी, पद्म सिंह, पूर्ण सिंह, हरिभाक उपाध्याय, किशोरीलाल मशरुवाला, काला कालेलकर, रामदास गोइ आदि। इनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी और महादेवी वर्माक निवन्धोंमें व्यक्तित्व और आत्मीयताको झलक अधिक है। महादेवी निगमन एवं द्विवेदी आगमन चित्रशैलोके निवन्धकार हैं। उनके 'अशोकके फूल', 'वसन्त आ गया', 'श्रृंखलाकी कड़ियाँ' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् निवन्ध पुनः व्यक्तिप्रधानताकी ओर बढ़ा है और वह विचारोंके प्रकट करनेका प्रमुख एवं सद्यक्त माध्यम बनता जा रहा है। उसका आकार भी लघुतर होता जा रहा है। भाषा बोलचालकी-सी हो रही है। उसमें तत्समताके स्थानपर तद्भव और देशी शब्दोंका प्रचुर प्रयोग हो रहा है। अब कीई भी विषय निवन्धका विषय वन जाता है। विषय तो जैसे विचारोंको प्रकट करनेका बहाना-सा बन रहा है। यद्यपि आज हिन्दीमें निवन्ध विकासके उच्च शिखरपर है, फिर भी निवन्धकी आत्मा पहचानकर लिखनेवाले अभी अधिक निवन्धकार नहीं हैं।

इस ततीय उत्थानके निवन्थोंकी अनेक कोटियाँ हैं, जैसे १. विचार प्रधान-'प्रसाद'का 'कान्य और कला तथा अन्य निबन्ध', स्यामसन्दर दासके साहित्यिक निबन्ध, रामचन्द्र शुक्क 'चिन्तामणि'के निबन्ध, धीरेन्द्र वर्माके 'विचारधारा'-के निबन्ध, पीताम्बरदत्त बढ्ध्वालका 'योगप्रवाह', हजारी प्रसाद दिवेदीके 'विचार और वितर्क', 'अशोकके फूल' और 'गतिशील चिन्तन', सद् गुरुशरण अवस्थीका 'श्रमिक पथिक', नगेन्द्रके 'विचार और अनुभूति' तथा 'विचार और विवेचन', सम्पूर्णानन्दका 'शिक्षाकी समस्या', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण', इलाचन्द्र जोशीका 'विवेचना', 'अज्ञेय'का 'चिन्ता', रघुवीर सिंहका 'शेष स्मृतियाँ की भूमिका, महादेवी वर्माका 'विवेचनात्मक गद्य', जैनेन्द्रका 'राही' और 'समाज', उमेशचन्द्र मिश्रका 'सफलता', जयविजयनारायण सिंहका 'चरित्रविकास' और भगवान् दासका 'समवन्य'। २. भावप्रधान गद्यगीतात्मक निबन्ध-विश्वम्भर मानवका 'सोनेसे पहले', सत्यनारायण शर्माका 'जीवनयात्रा', रायकृष्ण दासका 'छायापथ', दिनेश-नन्दिनी चोरड्याका 'शवनम', तारा पाण्डेयका 'रेखाएँ', माखनलाल चतुर्वेदीका 'साहित्य देवता', सियारामशरणका 'हाँ, नहीं'। ३. प्रतीकात्मक—रायकृष्ण दासके 'संलाप', 'सागर और मेघ', 'सोना और लोहा' । ४. मनोवैज्ञानिक-'अद्येय'का 'चिन्ता', जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'मिलिन्द'का 'चिन्तनकण'। ५. कथात्मक—पद्मलाल पुत्रालाल बरूशीके 'चर्चा', 'एक प्रानी कथा', 'बन्दरकी शिक्षा', सिवाराम-शरणका 'झूठ-सच', बजलाल बियाणीका 'कल्पनाकानन'।

६. संस्मरणात्मक-पद्मलाल पुत्रालाल बस्कीके 'रामलाल पण्डित', 'कुंजबिहारी', सियारामशरणका 'हिमालयकी झलक', महादेवीका 'स्मृतिकी रेखाएँ'। ७. हास्य-व्यंग्या-त्मक—सियारामशरणका 'घोडाशाही', आनन्दकमारका 'बातचीत', वियोगीहरिके 'पगली', 'मेरी हिमाकत', प्रभाकर माचवेका 'मुँह'। ८. वर्णनप्रधान—(यात्रा) महादेवी वर्माका 'बदरीनाथको यात्रा', राहुलके यात्रा-सम्बन्धी निवन्ध, धीरेन्द्र वर्माका 'यूरोपके पत्र'। —वि० रा**०** निम्न-मध्यवर्ग - इस वर्गके अन्तर्गत दफ्तरके साधारण कुर्क, बाबू आदि आते हैं, जिनकी जीविका साधारण • माहवारी वेतनपर आधारित है। —रा० क्व० त्रि० निम्नवर्ग -यह समाजका वह भाग है, जो अपनी जीविका-का उपार्जन श्रमसे करता है और अधिकतर इस वर्गका ही शोषण किया जाता है । इस वर्गके अन्तर्गत किसान, मजदूर आते हैं। -रा० क्र० त्रि० निम्बार्क मत-दे० द्वेताद्वैतवाद।

नियतश्राव्य – संवादके विचारसे रूपककी कथावस्तुः का यह एक भेद है। यदि किसी पात्रकी उक्तिको रंगमंचपर उपस्थित कुछ ही पात्र सुनें तो उसे नियतश्राच्य कहते हैं। नियतश्राव्यका अर्थ है नियत पात्रोंके ही सुनने लायक।

स्वगतकी माँति नियतश्राच्य भी कृतिम और अमनोवैज्ञानिक है। रंगमंचपर उपस्थित किसी पात्रकी उक्तिको कुछ नियत पात्रोंका सुनना और शेषका न सुनना सर्वथा अस्वाभाविक है।

नियतशान्यके दो भेद हैं—जनान्तिक और अपवारित (३०)।
—व० सिं०
नियताप्ति—रूपककी पाँच अवस्थाओं में चौथी अवस्था।
"अपायाभावतः प्राप्तिनियताप्तिः सुनिश्चिता" (६० रू०,
१:२१)। विका-वाधाओं के हट जानेपर फलप्राप्तिके
निश्चयकी स्थितिको नियताप्ति कहते हैं। प्राप्त्यायामें
नायक फलप्राप्तिके सम्बन्धमें आदांकाओं से यस्त रहता है,
पर नियताप्तिमें उते फलप्राप्तिका पूर्ण निश्चय हो जाता
है। 'श्रुवस्वामिनी' नाटकमें निरीह द्यकों के वधपर सामन्तकुमारका यह कथन "में सच कहता हूँ कि रामगुप्त जैसे
राजपदको कलुषित करनेवालेके लिए मेरे हृदयमें तनिक
श्रद्धा नहीं" फलप्राप्तिका पेकान्तिक निश्चय करा देता है।
यहींपर नियताप्ति अवस्था समझनी चाहिये। —व० सिं०
नियम—दे० 'हठयोग'।

नियमपरिवृत्त-दे॰ 'अर्थदोष', अठारहवाँ। निरंगरूपक-दे॰ 'रूपक', छठा प्रकार।

निरंजन – निरंजनका अर्थ है अंजन-रहित, अर्थात् निर्लंस, मायाविनिर्मुक्त। कई धर्मसाधनाओं में यह शब्द समान रूपसे आदर पा रहा है। 'हठयोग-प्रदीपिका' में नादानुसन्धानके बाद साधकके चित्त और माहतका निरंजनमें विलीन होना बताया गया है। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में भी निरंजनका साक्षात्कार ही परमपद माना गया है। कितिपय विद्वानोंका मत है कि उड़ीसाका उत्तरी भाग, रिवाँका प्रदेश, छोटा नागपुर और पश्चिमी बंगालमें आदिवासियोंका एक सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसका आराध्य देवता धर्म या निरंजन था और वहाँसे उसकी शासाएँ

राजस्थानतक गर्यो । उस सम्प्रदायके कुछ अवशिष्ट उपरुष्ध अन्थ 'शून्य पुराण', 'धर्माष्टक' आदिमें इस निरंजनकी न्याख्या मिलती है। उसमें भी इसका स्वरूप शून्य, निराकार, निरंधात्मक है। अलक्ष्य होनेके नाते कालान्तरमें अलखनिरंजन भी प्रचलित हो गया।

सिदोंने भी निरंजन शब्दका व्यवहार शून्यरूपके अर्थमें किया है। तिलोपाने कहा है कि साधकतो यह विचार करना चाहिये कि "हँउ जग, हँउ वुद्ध, हँउ निरंजन"। काण्हपाने शून्य तत्त्वको निरंजन कहा है, क्योंकि वह अंजनविरहित है (दोहाकोप: प्र० चं० वागची)

नाथोंके साहित्यमें भी निरंजनका सर्वोच स्थान माना गया है। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कुछ निरंजनियोंकी बानीके आधारपर निर्मण साहित्यकी एक निरंजनी धाराको मान्यता दिलानेके पक्षमें थे (दे० योगप्रवाह: पी० द० बड़ध्वाल)। कबीरने निरंजनको सम्मानपूर्वक स्मरण किया है, पर उन्होंने आदिपुरुषको वृक्ष और निरंजनको उसकी डाल माना है (बीजक: कवीर), किन्तु बादमें ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मसम्प्रदायकी प्रतिद्वन्द्वताके कारण निरंजनका अनादर कबीरपन्थमें हुआ और परवर्ती क्वीरपन्थी साहित्यमें निरंजनको क्वीरका प्रतिद्वन्द्वी चित्रित किया गया, जो साधकों और जिज्ञासुओंको सदा भटकाता रहता है। अलखनिरंजनको मायावी मान लिया गया, जो सृष्टि उत्पन्न कर समस्त संसारको भटकाता रहता है। किन्तु कवीरका निजी मत ऐसा नहीं था दि०-कवीर : हजारीप्रसाद दिवेदी)। —ध० वी० भा० निरंजनी संप्रदाय-निरंजनी सम्प्रदायका नामकरण उसके संस्थापक स्वामी निरंजन भगवान्के नामपर हुआ। निरंजन भगवानके जन्म और परिचयके विषयमें कुछ भी नहीं शात है। हिन्दीके विद्वानोंमें पीताम्बरदत्त बढ्थवाल तथा परश्राम चतुर्वेदीका मत है कि निरंजनी सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय और निर्गुण-सम्प्रदायकी एक लड़ी है। इस सम्प्रदायका सर्वप्रथम प्रचार उड़ीसामें हुआ और प्रसारक्षेत्र पूर्व दिशा बनी । राघोदासने अपने 'भक्तमाल'में लिखा है कि जैसे मध्वाचार्य, विष्णु खामी, रामानुजाचार्य तथा निम्बार्क महन्त चक्कवेके रूपमें चार सराणोपासक प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार कबीर, नानक, दादू और जगन निर्गुण-साधनाके क्षेत्रमें ख्यातिके अधिकारी वने और इन चारोंका सम्बन्ध निरंजनसे है।

निरंजनी सम्प्रदायके बारह प्रमुख प्रचारक हुए। इनके नाम हैं:—१. लपट्यो जगन्नाथदास, २. स्यामदास, ३. कान्हडदास, ४. ध्यानदास, ५. वेमदास, ६. नाथ, ७. जगजीवन, ८. तुरसीदास, ९. आनन्ददास, १०. प्रण्यास, ११. मोहनदास, १२. हरिदास। राघोदासके अनुसार जगन्नाथदास थरोलीके निवासी थे, स्यामदास दत्तवासके, कान्हडदास चाडूसके रहनेवाले थे, आनन्ददासका निवास-स्थान िवालो था। मोहनदासका स्थान देवपुर, तुरसीदास का स्थान शेरपुर, प्रणदासका भन्भोर, पेमदासका सिवहाड, नाथका टोडा, ध्यानदासका झारि तथा हरिदासका डीडवाणेमें था। निरंजनी सम्प्रदायके इन सभी साथकोंमें हरिदासका स्थान श्रेष्ठ है। हरिदासजी वड़े अनुभवी थे। इनका

ति उस-समय संउत् १७०० है। वाद्ने भी हरिदासकी वडी प्रशंसा की थी। गोग्खनाथ और कवीग्दासपर दसकी वटी अद्धा थी। भर्तृहरि और गोपीचन्दके प्रति भी हरिदास वडे श्रद्धाल थे।

निरंजनी सम्प्रदायकी साधनामें उल्टी रीतिको प्रधानना दी गयी है। माधकको अपनी बहुर्मखी वृत्तियोको अन्तर्मखी करके मनको निरजन ब्रह्ममे नियोजित करना चाहिये। उलटी इवकी लगाकर अलखकी पहिचान कर लेनी चाहिये, तभी गुण, इन्द्रिय, मन तथा वाणी स्ववश होती है। इडा और पिंगला नाडियोको मध्यविनिनी सुषुम्नाको जाञ्जन् करके अनहदनाट अवण करता हुआ वंकनालिके माध्यमसे शुन्यमण्डलमे प्रवेश करके अमृतपान करनेवाला सचा योगी हैं। नाम वह धागा है, जो निरंजनके साथ सम्पर्क या सम्बन्ध म्थः पित करता है। परमतत्त्व या निरजन न उत्पन्न होना है, न नष्ट । वह एकभाव और निर्लिस होकर अखिल चराचरमें व्याप्त हैं। निरंजन अगम, अगोचर है। वह निराकार है। वह नित्य और अचल है। घट-घटमें उसकी मायाका प्रसार है। वह अप्रत्यक्ष रूपसे समस्त सृष्टिका संत्रालन करता है। निरंजन अवनारके बन्धनमे नहीं बँधता है। इस सम्बन्धमे हरिदासकी निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं- "दस औतार कही क्यू भाया, हरि औतार अनंत करि आया । जल थल जीव जिना अवतारा। जलसमि ज्यूँ देखो ततसारा ॥" (श्री हरिपुरुषकी वाणी, पुरु २३५) ।

निरंजनी सन्प्रदाय वेदान्तसे प्रभावित नाथ-सम्प्रदायका विकसित रूप है। इसका दृष्टिकीण उदारतासे पूर्ण है। इसमें सहनञीलता और अविरोधकी प्रन्तुरता मिलती है।

हरिदास निरंजनी सम्प्रदायके सर्वश्रेष्ठ कवि है। इनकी कविताओंका संग्रह 'श्री हरिपुरुषजीकी वाणी' शीर्षकसे प्रकाशिन हो चकी है। निपट निरंजन महान् सिद्ध थे और इनके नामपर दो यन्थ 'शान्त सरसी' तथा 'निरजन संग्रह' प्रमिद्ध हैं । भगवान् दाम निरंजनीने अनेक प्रन्थेकी रचना की, जिनमेंने 'अमृतधारा' (रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ३, सं० १७२८), 'प्रेमपदार्थ', 'गीता माहात्म्य' (रचनाकाल सं० १७४०) उल्लेखनीय है। इन्होंने 'भर्नृहरिशतक'का हिन्दी अनुवाद भी किया था। तरसीदास निरंजनी सम्प्र-दायके बड़े समर्थ कवि थे। इनकी ४२०२ साखियों, ४६१ पदों और ४ छोटी-छोटी रचनाओंका संग्रह पीताम्बर-दत्त बड्थ्वाल द्वारा किया गया था। सेवादासकी ३५६१ साखियों, ४०२ पर्दों, ३९९ कुण्डलियों और १० यन्थोंका उल्लेख बङ्थ्वालने किया है। निरंजनी सम्प्रदायमें कई अच्छे और समर्थ कवि इए हैं। इनकी रचनाएँ अच्छी कवित्व-शक्तिकी परिचायक हैं।

[सहायक ग्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा: परशु-राम चतुर्वेदी!] — त्रि॰ ना॰ दी॰ निरति—िलप्त होनेका भाव। लीन होनेका भाव। निरति-के साथ ही सुरति शब्दका प्रयोग सन्त-साहित्यमें बहुधा होतः है। "सुरति समानी निरतिमें निरति रही निरधार! सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यम्मु दुआर" (कवीर ग्रन्थावली, १४)। (दे॰ 'सुरति')। निरर्थक-दे॰ 'शब्द-तोष', सातवाँ 'पद-दोष'।

निराशावाद-आदर्शान्सख साहित्य जब अपने स्थापित मल्योंसे च्युन हो जाना है और यथार्थकी वास्तविक स्थितिसे उसका साक्षात्कार होना है तो उसे उन विस्थापित स्थितियों में जो निराशा होती है, उसका प्रभाव साहित्यपर भी पडता है। बहुधा यह निराज्ञा केवल गौण रूपमें ही पायी जाती है, किन्त यह भी देखा गया है कि यही गौण रूप वास्तविक भाव-भूमिको ग्रहण न करनेके बाद आत्मोन्मख कण्ठा और विवशतामें, पुनः घोर निराशा और उपहासमें भी परिवर्तित हो जाता है और जब यह आत्मोन्मख कुण्ठा केवल रिक्ततासे टकराती है अथवा जब आदर्शवादकी कल्पना-भूमिसे गिरती है और अपने लिए किसी नयी भाव-भूमिका निर्माण नहीं कर पाती तो उसकी समस्त चेतनामें एक व्यापक असन्तोष, एक प्रकारकी मानसिक विक्षिप्तता प्रवेश कर जाती है। छायावादकालमें ही हिन्दी साहित्यमें एक प्रकारकी निराशावादी भावधारा विकसित हो रही थी, जो धीरे-धीरे सम्पूर्ण छायावादी कान्यपर छा गयी और जिससे मुक्त होकर प्रायः कुछ ही कवि होंगे, जिन्होंने छायाबादकी विचलित उत्सुकता, वैभवप्रियताके समक्ष अपने अस्तित्वकी सार्थकताका आग्रह किया हो। ऐसा होना स्वामाविक था, क्योंकि जिस उदात्त एवं अज्ञात रहस्यवोधसे द्रवित होकर छायावादी कविता विकसित हुई थी, उसमे ऐसे तत्त्व निहित थे, जो आत्मपीड़ा और आत्मोन्मखनाके ऐसे स्थल थे, जहाँ से समस्त चेतना-को केवल एक हल्के स्पर्शसे निराशाकी ओर ले जाया जा सकता था।

मनोविज्ञानके अनुसार निराशावाद एक मानसिक रोग है, जिसे मैलंकोलिया (melancholia) भी कहते हैं। इस रोगके दो मुख्य कारण हैं। पहला कारण तो आत्मोन्मुख विकृति हैं और दूसरा कारण आत्मविश्वासके अभावमें आस्थाहीनताका विकास है। मैलंकोलियाका लक्षण वर्तमानकी अपेक्षा भविष्यकी आशंकासे अधिक सम्बद्ध है। निराशाकी पृष्ठभूमिमें वर्तमानसे असन्तोषके साथ-साथ भविष्यकी अनास्था उसी प्रकार सम्बद्ध है, जैसे आदर्शोन्मुख साहित्यके साथ केवल अनावश्यक स्वर्णस्वप्नका दिवालोक और उसकी प्रतिक्रियामें नैतिक विरोधाभास उस प्रवृत्तिकी प्रकृतिमें पिरोया हुआ रहता है।

हिन्दी साहित्यमें यह निराशावाद तीन कारणोंसे विक-सित हुआ। प्रथम तो यह कि आदर्शोन्मुख भावधारा जब विकसित भावबोधको ग्रहण करनेमें असमर्थ सिद्ध हुई और उसके बाद छायावाद (दि॰)को स्वच्छन्द प्रवृत्तिको मजबूर होकर यथार्थकी ओर उन्मुख होना पडा तो उसके संस्कारोंकी रिक्तताको अन्तिम रूपमें समस्त वेदनाओंके साथ यथार्थको भी स्वीकार करना पड़ा। इन दो विरोधी तत्त्वोंसे जिस भावनाका सहज ही प्रस्फुट न होना अनि-वार्यथा, वह था निराशावाद।

निराशावादी प्रवृत्तियोंके अवतरित होनेका दूसरा कारण था देश-काल्के प्रति उपेक्षा । सारी छायावादी कान्यधारामें गत्यवरोध मात्र इस कारण उत्पन्न हुआ कि उसने देशकाल की सौमाके परे अपनी समस्त सौन्दर्यानुभूति और वौद्धिक चेतनाको निष्क्रिय और निष्प्रयोजन रूपमें प्रस्तुत करनेकी चेष्टामें अपनी सारी जागरूकता लगा देनी चाही। छाया-बादकी बौद्धिक चेतनाको उस दायित्वके प्रति कोई बोध ही नहीं हो सका, जो वर्तमानके प्रति कियाशील बनकर भिविष्यमे आस्था प्रदान करा सकती। इसीलिए उसकी समस्त रहस्यमयता और उसका चमत्कार-वैभव केवल एक सीमा-तक विकसित हो पाया, उसके बाद उसकी समस्त सम्भाव्य शक्तियोंको अन्तर्मुखी होकर स्वयं अपनेमे ही जूझकर टूटना पड़ा।

एक तीसरा कारण जिससे इस निराशावादको शीष्ठता-पूर्वेक हिन्दी काव्यके क्षेत्रमें विकसित होनेका अवसर मिला, स्वयं वह परिवेश था, जिसमें एक ओर यथार्थ अपने कट सत्योंके साथ उभरकर सामने आ रहा था और दूसरी ओर वह बौद्धिक अकर्मण्यता थी, जो उसके तत्त्वोंको स्वीकार करनेमे असमर्थ थी। आदशोंन्मुख साहित्यधाराके दूटनेका यही कारण था। छायावादियोंने जिस आदर्शवादी विचारधाराका विरोध किया था, उसी भावधाराके अयथार्थ रूपको उन्होंने स्वयं अपना लिया।

छायावादी कवियोंमेंसे 'प्रसाद' और महादेवीमे यह निराशावाद विशेष रूपसे मिलता है। 'प्रसाद'का 'ऑसू' उस मैलंकोलियाका ज्वलन्त प्रमाण है, जिसमें निराशाकी शतनी तीव व्यंजना है कि स्वयं वह निराशावादी मानसिक स्थिति एक आनन्दविशेषका उद्देक करने लगती है।

निराशावाद इन्ही मनःश्वितियोंको अभिव्यक्ति देता है। छायावादकी भव्य विशाल कल्पनाने जिस चमत्कार और चकाचौथको प्रस्तुत करना चाहा था, वह मानवीय सन्दर्भसे और उसके यथार्थसे वंचित होनेके नाते केवल गहन वेदना और मिथ्या पीड़ा-विलासका एक प्रतिरूप वनकर रह गया। 'कामायनी'में निरूपित 'प्रसाद'के आनन्दवादतकको एक सीमातक केवल सिक्रय निराशावाद ही कहा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि 'प्रसाद'के गीनोंमें विशेषकर 'आँसु'में जो वेदना मिलती है, उसमें काव्यका प्रौद रूप मिलता है और उनके बाद जो निराशावाद विकसित हुआ, उसमे न काव्य है, न प्रौदता है और न सुक्तमोगीकी अनुमृति।

उत्तर-छायावादकालमें यह निराशावाद पतनोन्मुख किवीं और गीतिकारोंमें तो इस वेगके साथ अवतरित हुआ कि समस्त काव्य-बोध और उसके साथ उस काल-विशेषके किवींकी अनुभूति केवल एक मुद्रानुभूति वनकर रह गयी! निराशावादने मनःस्थितिसे अधिक विशिष्ट शिल्पका रूप ग्रहण कर लिया और उससे सारी माव-भंगिमा ही इस अतिरेकसे डूवी हुई रीतिमें वँध गयी कि विशुद्ध अनुभृतियोंका हास और पतन-सा अनुभव होने लगा।

किन्तु ऐसा नहीं है कि यथार्थनादी इस प्रवृत्तिसे मुक्त रहे हों। गजानन माधव मुक्तिबोध और 'तार सप्तक'के अन्य किवयोंकी मनोवैज्ञानिक स्थिति यह स्पष्टनः सिद्ध करती है कि नये यथार्थने छायानादके, निराशानादसे, किविकी मनःस्थितिको मुक्त तो कर दिया था, किन्तु जिस श्लेककुल स्थितिको पुक्त तो कर दिया था, किन्तु जिस श्लेककुल स्थितिको परम्पराओंको तोङ्कर नयी काल्यचेतना विक्रिमित हो रही थी, उसमें कम निराशा नहीं थी। प्रगतिवादने जिस रेचन भाव (Catharsis)को अपना लिया था, उसमें भी यही निराशा कार्य कर रही थी और उसने भी उसे सन्दिग्यता और घुउनके विषमें सरावोर कर दिया था। भाव-भूमि नो बदल गयी थी, किन्तु भाव-बीधमें निराशा थी।

निराशावादकी परिणित पतनोन्मख प्रवृत्तिमे होती है, क्योंकि वस्त-इष्टिके अभावमं व्यापक निष्ठा नहीं पनप पाती। व्यापक निष्ठा जब पूर्णतः संकृतिन हो जाती है, तव कलाकारकी दृष्टि भी कुंठिन एव संकीण हो जाती है। निराशावाद, इस प्रकार दो रूपोंमे व्यक्त होता है, एक तो मैलंकोलियाके रूपमें, जिसमे दृष्टि नकारात्मक तत्त्वोंसे विकृत हो जाती है और दूसरे, बहुधा उस व्यापक दृष्टिके अभावमे भी जो वस्तुपरक न होनेके कारण केवल आत्म-र्लान होकर रह जाती है। यदि मैलंकोलिया विकृतिकी मिथ्यारूपमें विकसित दृष्टि है तो दृष्टिहीनता उन नकारा-त्मक तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा है, जो किसी भी परम्परा या रीतिके रूपमें समस्त चेतनाको कुण्ठित कर देनी है। अस्तु, निराशावाद मूळतः साहित्यमें पतनोन्मुख परम्पराको ही प्रतिष्ठित करता है। ---ल० कां० व० निहक्त-[निर्+वच+क्त-निश्चयेन उच्यन्ते अस्मित्रिनि (क) साधारण अर्थ-१. कथिन, उचारित, व्याख्यात । २. उद्घोषित (महाभारत) । ३. स्पष्ट निर्दिष्ट या विहित (आश्वलायन-गृह्यमूत्र)। ४. ब्युत्पत्यात्मक अर्थ (छान्दोग्य०, ८।३।३) । (ख) विशिष्ट अर्थ-वैदिक शब्दोंका व्युत्पत्यात्मक अर्थ या व्याख्यान करनेवाले प्रन्थ, जो वेद-अध्ययनके आवश्यक अंग होनेके कारण छः वेदांगोंमेंसे पक कहे जाते हैं। छः वेदांग ये हैं-"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गनि । छन्दोविचितिरि-

निरुक्त गृहीन होता है।

निषण्डुके प्रथम तीन अध्यायोंका व्याख्यान निरुक्तके प्रथम तीन अध्यायोंका व्याख्यान निरुक्तके प्रथम तीन अध्यायोंके चतुर्थ अध्यायका अग्रिम तीन अध्यायोंके तथा पंचमका निरुक्तके अन्तिम छः अध्यायोंके हुआ है। ये क्रमशः नैषण्डुक, नैगम तथा दैवत काण्डके नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार निरुक्त द्वादशाध्यायी ग्रन्थ है। अन्तमें दो अध्यायोंका परिशिष्ट है। तरहवें अनिस्तुति तथा चौदहवें अध्यायोंका परिशिष्ट है। तरहवें अनिस्तुति तथा चौदहवें अध्यायोंका परिशिष्ट है। (ग) हिन्दी में यह शब्द व्युत्पत्यात्मक अर्थ या व्याख्यानका वाचक है।

—आ० प्र० मि०

त्येतैः पडंगो वेद उच्यते"। २. यास्काचार्यवृत निरुक्त ।

यास्कके ही कथनसे ज्ञात होता है कि वे निरुक्तकारोंकी

परम्परामे चौदहवें थे। उनके पूर्व तेरह निरुक्तकार हो चुके थे और प्रत्येकके अपने-अपने निषण्द्र, वैदिक शब्दसंग्रह थे।

वर्तमान निघण्ड, जिसपर यास्यका निरुक्त है, यास्यकृत ही

है। पर कुछ लोग इसे यास्कक्षत नहीं मानते। अन्य निरुक्तोंके अभावमें अब निरुक्त वेदांगमे यही यास्कक्षत

निरुक्ति – एक गौण अर्थालंकार । निरुक्तिका सामान्य पर्याय शब्द-ब्युत्पत्ति है, पर कवि शब्दोंका विश्लेषण भी चमत्कारितासे करता है और तब यह अलंकार हो जाना है। अप्पय दीक्षितने कहा है — "निरुक्तियोंगतो नाम्नामन्यार्थत्व-

प्रकल्पनन्" (क्वलयानन्द ९७), अर्थात् यदि अर्थविशेषके अभिधायक शब्दोंका योगवश दूसरा ही अर्थ लगाया जाय और वह अर्थ व्याख्यात्मक हो तो निरुक्ति अलंकार होता है। हिन्दोंके आचार्योंने भी इसी प्रकार लक्षण दिये हैं-'जहाँ जोगतें नामशी अर्थ कल्पना और" (ल० ल०, ३८४) अथवा-"जहाँ नामके जीग तें, कियो अरथ कछ आन" (पद्मा०, २७२)। उदा०-"ताप करत अवलानको दया न कछ चित आतु । तुम इन चरितन साँच ही दोषा-कर बिख्यातु" (अ० मं०, ६२९)। कहनेका तात्पर्य यह है कि चन्द्रमाका नाम दोषाकर है-अर्थात रजनीकर। परन्त चन्द्रमा विरहिणी नारियोंके लिए दुःखकर होता है और इसीलिए दोषाकर ज्ञब्दकी व्याख्या ऊपरके उदाहरणोंमें अन्यथा-दोषोंका आकर (कोष)-हुई। और उस शब्द-की न्याख्याकी दृष्टिने ही यहाँ निरुक्ति अलंकार हुआ। अथवा-"कविगनको दारिद द्विरद, याही दल्यो अमान । यातें श्री सिवराजको, सरजा कहत जहान" (शि० भ०, ३४६) । यहाँ सरजाकी न्याख्यासे अर्थकी सिद्धि होती -- ज० कि० ब० है।

निरूपक - दे० 'रेडियो नाटक'। निर्गुणधारा - हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल (दे०)की एक विशेष शाखा । दे० 'निर्गुण-सम्प्रदाय', ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा।

निर्गण-संप्रदाय-'निर्गण' शब्द, अपने पारिभाषिक रूपमें सत्त्वादि गुणोंसे रहित या उनसे परे समझी जानेवाली किसी ऐसी अनिवंचनीय सत्ताका बोधक है, जिसे बहुधा परमतत्त्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभि-हित किया जाता है। परन्तु प्रस्तृत सन्दर्भमें, 'सम्प्रदाय' शब्दके पूर्व आ जानेके कारण, यह उन व्यक्तियोंकी और भी संकेत कर सकता है, जो उक्त प्रकारकी शक्तिमें विश्वास करते हों और तदनुसार उन्होंके समुदायको 'निर्गुण-सम्प्रदाय' भी सचित कर सकता है। इसी प्रकार जहाँ 'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ गुरुपरम्परागत उपदेश होगा, वहाँ 'निर्गुण-सम्प्रदाय'से अभिप्राय उस पद्धतिका हो सकता है, जिसमें उक्त प्रकारकी सत्तामें आस्था रखनेका उपदेश दिया जाता हो अथवा जहाँ इस सम्बन्धमें विशिष्ट नियम प्रचलित हों। ऐसे लोगोंकी विचारधाराकी 'निर्गण-मत' कहा जाता है और उसी अभिपायको और भी अधिक स्पष्ट करनेके लिए कभी-कभी 'निर्गुण-सन्तमत' भी कह दिया जाता है। निर्गण-मतको माननेवाले तथा इस प्रकार निर्गुण-सम्प्रदाय-में सम्मिलित सदस्योंको कुछ लोगोंने 'निर्गुनिया' शब्द द्वारा भी अभिहित किया है। इस दृष्टिसे 'निर्गुण-सम्प्रदाय'-को ही. दूसरे शब्दों में, हम निर्गुनियों का सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'निर्गण-सम्प्रदाय' शब्दके पर्यायरूपमें 'निर्गण-पन्थ' एवं 'निर्गुण-मार्ग' शब्दोंके भी प्रयोग दीख पड़ते हैं और वे दोनों ही उक्त निर्गुण-मतका प्रचार करनेवाली साम्प्रदायिक मण्डलीविशेषके उस संघटनको स्चित करते है, जिसका निर्माण वैसे उद्देश्यके अनुसार किया गया हो। इसे कमी कमी 'सन्त-सम्प्रदाय' भी कह देते हैं।

'निर्गुण' शब्द 'श्वेताश्वतरोपनिषद' (६ : ११)में उस अद्वितीय दिव' (परमारमा)का यक विशेषण बनकर आया है, जो सभी भूतोंमें अन्तहित है, सर्वन्यापी है, सभी कमोंका अधिष्ठाता है, सबका साक्षी है, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला तथा निरुपाधि भी है। उसीकी ओर संकेत करते हुए श्रीकृष्ण द्वारा 'गीता' (१३-१४) में भी कहलाया गया है-"उसमें सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है, पर उसके कोई भी इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त रहकर, अर्थात अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होनेपर भी गुणोंका उपभोग किया करता है"। तथा इसी प्रकार, श्रीकृष्णने अन्यत्र (७: १२:३) भी कहा है-"पह समझ लो कि जो कुछ सारिवक, राजस या तामस भाव, अर्थात पदार्थ है, वे सब मझसे ही हुए हैं, किन्त वे मुझमें हैं, में उनमें नहीं हूँ। इन तीन गुणात्मक भावोंसे, अर्थात् पदार्थीमे मोहित होकर यह सारा संसार इनसे परेके (अर्थात निर्पण) मुझ अव्ययको नहीं जानता"। अत्रव, जो कुछ भी पदार्थ त्रियणात्मक रूपमें दीख पडता है, वह मेरी 'गुणमयी' मायाका अंश है, जैसा इसके आगे-वाले इलोक्से ध्वनित होता है और जो परमात्मतत्त्व है, उसे 'मायातीत' भी कह सकते हैं। प्रसिद्ध 'नासदीय सक्त'के अन्तर्गत भी यही बात इस प्रकार कही गयी है कि "जब सृष्टिका आविभीन नहीं था, तब न सत् था, न असत् था और न रजस ही था" इत्यादि ।

सन्त कबीर 'निर्गुण' शब्दका एक पर्याय 'अगुन' भी देते जान पड़ते हैं (क० ग्रं०, पद १८३)। वे उसके द्वारा सूचित किये जानेवाले तत्त्वको 'गुन अतीत' बतलाते हैं और फिर उसे 'निर्गुण ब्रह्म' भी कहकर उसकी उपासना-का उपदेश देते हैं (प० ३७५)। वे उसे अन्यत्र 'निर्गण राम'की भी संज्ञा देते हैं और उसकी 'गति'को अगम्य ठहराते हैं (प० ४९) तथा उसे केवल 'निरगुण' कहकर भी, उसी प्रकार, अकथनीय बतलाते हैं (प० १८६) । परन्त एक स्थल (प० १८४) पर वे इसके विषयमें इस प्रकार भी कहते हें-"राजस, तामस और 'सातिन' (सात्तिक) ये तीनों ही उसकी माया है तथा वह इन तीनोंसे परेका 'चौथा पद' है। वह गुणातीत होनेके कारण 'निर्गुण' कहलाता है, नहीं तो वह वस्ततः निर्विषय नहीं ठहराया जा सकता तथा उसे समझ लेना घोलेकी बात होगी। गुणमें ही निर्गण है और निर्गुणमें गुण है, यह बात बहुत सीधी-सादी-सी है और ऐसा न कहना सच्चे मार्गको छोड़कर बहकते फिरना है। लोग उसे 'अजर' कहते हैं और उसे 'अमर' भी बतलाते है, किन्त सची वात तो यह है कि वह 'अलख' होनेके कारण, अनिवर्चनीय है। यह ठीक है कि उसका कोई रूप नहीं और न उसका कोई वर्ण ही है, किन्त इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि वह घट-घटमें व्याप्त है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी भी बातें कही जाती है, परन्त, चाहे पिण्ड हो, चाहे ब्रह्माण्ड हो, ये सभी देश और कालतक सीमित हैं, किन्तु उसका न तो आदि है और न अन्त ही है। क्वीरका हरि इन सभीसे विलक्षण है" (प० १८०)। फिर "वह जैसा है वैसा समझ लेनेमें ही आनन्द है, उसे वस्ततः न जानते हुए भी, उसका कथन करना ठीक नहीं" तथा इसी कारण, कबीरने अपनेको उसे 'सरगुन'की अपेक्षा 'निर्मुन' रूपमें ही जाननेवाला कहा है।

'निर्गुणपन्थ'के लिए कहा गया है कि वह सर्वप्रथम मसलमानोके भारतमे आकर वस जानेकी नवीन परिस्थितिमे एक 'सामान्य भक्तिमार्ग'के रूपमें चला था और यह उस कालकी प्रचलित संगुणोपासनामे भिन्न एक ऐसी साधनाको लेकर विकसित हुआ था, जो एकेश्वरवादके किसी अनिश्चित स्वरूपके ऊपर आधारित रही और वह कभी ब्रह्मवादकी ओर ढलता था तो कभी पैगम्बरी खुदाबादकी ओर । इसकी और ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति ँच-नीच और जाति-पाँति सम्बन्धी भावके त्याग एवं ईश्वरभक्तिके लिए मनुष्यमात्रके समान अधिकारकी स्वीकृतिमें दीख पड़ी थी। इसके सिवाय इस 'निर्गुण-मार्ग'का प्रधान प्रवर्तक कवीरको समझा गया है, जिन्होंने इस कथनके अनुसार एक ओर तो भारतीय अहैतवादकी कुछ स्थूल बातें ग्रहण कर ली थी और दूसरी ओर कुछ स्फी फकीरोंके संस्कार भी प्राप्त कर लिये थे। उनका उद्देश्य यह था कि उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियोंसे ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्ममें भेदभाव फैला हुआ है, शुद्ध ईश्वरप्रेम और सात्त्विक जीवनका प्रचार किया जाय । इसके परिणामस्वरूप, भक्तिकाव्यके अन्तर्गत, सगुण और निर्गुण नामते दो भिन्न-भिन्न धाराएँ, विक्रमकी पन्द्रहवी शताब्दीके अन्तिम भागसे लेकर सत्रहवीके अन्त-तक समानान्तर चलती रही और निर्धणधारा भी दो शाखाओं में विभक्त हुई, जिन्हें 'ज्ञानाश्रयी' और 'शुद्ध प्रेममागीं' नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'निर्गणधारा' एक साहित्यक प्रवृत्ति है, जो 'निर्गुणपन्थ' या 'निर्गुण-सम्प्रदाय'के प्रभावमे, सन्त-कवियोंकी रचनाओंमे ही नहीं, अपितु सूफी कवियोकी प्रेमगाथाओमें भी पायी

निर्गुण-सम्प्रदायको अपना रूप धारण करनेकी प्रेरणा देनेवाले विकासक्रममे स्वामी रामानन्दसे बहुत बल मिला था, किन्तु जिन बातोंको उसने इसलामी आधारोंकी ओरसे महण किया था, वे जितनी निरेधात्मक थी, उतनी विधेयात्मक नहीं। स्वामी रामानन्द और उनके गुरु राधवानन्दकी उपलब्ध रचनाओं मे ऐसी अनेक बातें मिलती हैं, जो निर्गुण-सम्प्रदायकी विशेषताओका बीजरूप समझी जाती है। परन्त प्रायः वैसी ही बातें जयदेव तथा नामदेवकी भी बहुत-सी पंक्तियोंमें दीख पड़ती हैं, जो उन दोनोंके पूर्ववतीं हैं। इसके सिवाय, जहाँतक दार्शनिक विचारधाराका प्रश्न है, इन सभीके मूल स्रोतोका पता प्राचीन उपनिषदोमे चल जाता है। 'निर्गुण-सम्प्रदाय'तक आते-आते वे सभी बातें अधिक स्पष्ट रूप धारण कर लेती हैं और वे यहाँ पूर्ववत् केवल प्रासंगिक-सी ही लक्षित न होकर प्रचारकार्यका प्रमुख विषयतक बन जाती हैं। इसं प्रकार जिन विशिष्ट उक्तियोकी यहाँ इस्लाम धर्मके अनुयायियों द्वारा प्रभावित समझा जाता है, उनमेंसे भी बहुतोंका पता हमे अन्य स्रोतोंमें मिल सकता है। निर्गुण-सम्प्रदायके प्रचित होनेसे पूर्व, लगभग पॉच-छः शताब्दियोके समयसे ही, बौद्ध सिद्धों एवं जैन सुनियोंकी रचनाओं में वैसी आलो वनाएँ दीख पड़ने लगी थीं। वास्तवमें निर्गुण-सम्प्रदायकी प्रायः सारी बातोंका मूल स्रोत किसी-न-किसी परम्परागत विचारधारामें ढूँढ़ा जा सकता है। इस कारण इसे हम न तो सर्वथा नवीन मिद्धान्नोका प्रचारक ठहरा सकते हैं और न इसके साहित्य-को ही नितान्त अपूर्व कह सकते हैं।

इसी प्रकार निर्गुण-सम्प्रदायका कशेरके प्रयत्नों द्वारा संघटित किया जाना भी सिद्ध नहीं होता। उनकी रचनाओंसे पता चलता है कि उन्होंने न तो प्रचलित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको अपनाना आवश्यक समझा और न उसके मतका पुनरुद्धार कर किसी नवीन पन्थकी ही नीव डाली। उन्होंने अपने समयके प्रमुख धर्मीका नाम अवस्य लिया, किन्तु ऐसा करते समय भी उन्होंने केवल उनके अनुयायियोंकी साम्प्रदायिक मनीवृत्ति एवं तदनुक्ल आचरणकी खरी आलोचना की तथा उन्हें बाह्य बानोकी अपेक्षा धर्मके वास्तविक स्वरूपकी और अधिक ध्यान देनेका उपदेश दिया। उन्होंने किसी मान्य धर्मग्रन्थको भी केवल उतना ही महत्त्व देनेके लिए कहा, जितना उसकी बातोंके विवेककी कसौदीपर कसे जानेपर सचा सिद्ध होना सम्भव था। व्यर्थके पश्चपान, अन्धानुसरण, बाह्याडम्बर, शास्त्रीय विडम्बना जैसी धर्मके नामपर प्रदक्षित की जानेवाली बातोको उन्होंने हानिकर ठहराया और प्रत्येक व्यक्तिके लिए अपने-अपने हृद्यकी सचाई एवं स्वानुभृतिका सर्वाधिक महत्त्व भी बतलाया । तदनुसार कवीर साहवकी दृष्टिन यह किसीके भी लिए अनिवार्य नहीं था कि वह अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेके लिए किसी एक जनसमूह या समदायका सदस्य भी बन जाय । ऐसी दशामें और विशेष-कर इसके विरुद्ध पृष्ट प्रमाणोंके अभावमे भी, कदाचित् यही कहना अधिक युक्ति संगत है कि उन्होने साम्प्रदायिक संघटनकी अपेक्षा विचार-स्वातन्त्र्यको ही विशेष महत्त्व दिया । उनके समयतक निर्मण-सम्प्रदाय जेसे किसी धार्मिक संघटनका सूत्रपात भी नहीं हुआ था। पीछे गुरु नानक, दादू अथवा स्वयं उनके अनुयायियोने भी अपनी-अपनी संस्थाएँ स्थापित भी जो विविध पन्थोंके नामसे प्रसिद्ध हुई, किन्त इनका भी कोई ऐसा सम्मिलित संघटन कभी नहीं बन सका, जिमे निर्गुण-सम्प्रदाय जैसे किसी एक नाम द्वारा अभिहित किया जा सके।

अतएव जान पहता है कि निर्गुण सम्प्रदाय अथवा उसके पर्यायवाची दान्द निर्गुण पन्थका प्रयोग पहले, सगुणोपासक मक्तोंके सम्प्रदायोंसे इसकी भिन्नता प्रकट करनेके लिए हुआ और निर्गुणमतका सर्वप्रमुख प्रचारक होनेके नाते सन्त कवीर साहवकी इसकी स्थापनाका श्रेय भी प्रदान कर दिया गया। इसी प्रकार इस राज्यको किसी ऐसे जनसमुदायका द्योतक भी समझा गया, जिसमे निर्गुणमतवाले उपर्युक्त सभी पन्थोंके अनुयाथी सम्मिलित हो और कभी कभी कमी तो इस राज्यको अर्थकी व्यापकता यहाँतक पहुँचती दीख पड़ी कि निर्गुणोपासनाके नाते इसके द्वारा शुद्ध प्रेममानीं स्फियोंतकका भी बीध करा दिया गया। फलतः निर्गुणधाराकी प्रवृत्ति भी इन सभीकी रचनाओमें व्यक्त होती देखी गयी और भक्तिकालीन हिन्दी साहित्यमे उन्हे तदनुसार विश्वष्ट स्थान भी दिया गया।

[सहायक ग्रन्थ—हिन्दीकान्यमें निर्शुण-सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बङ्थ्वाल; उत्तरी भारतकी संत परम्परा : परशुराम चतुर्वेदी !] —प० च०

निर्गाणी अन्ति-श्रीमद्भागवनके नृतीय स्कन्थमे इसका उन्देख है। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे गुणोंको सुनते हो मनकी गतिको अविच्छित्र रूपसे गंगाके समुद्रकी ओर अखण्ड रूपने प्रवाहित होनेके समान मुझ अन्तर्यामीमे संचरित कर देते हैं और मुझमें अहेतक प्रेमभाव रखते हैं, वे निर्गुणी भक्तिके साधक कहलाते हैं (अ०२३, इलोक ११-१२) 1 --वि० मो० श० निर्नन-भक्तिभावनासे ओत-प्रोत गीतोंको 'निर्नुन' कहते है। यद्यपि भजन तथा निर्शुनके गीतोंका वर्ण्य विषय एक ही है, परन्तु निर्धन गीत एक विशेष लयमे गाया जाता है, जिसमे हृदयद्रावकताकी मात्रा प्रचर परिमाणमे पायी जाती है। ये गीन बड़े ही मधुर होते हैं और श्रोताओंको आनन्द-सागरमें डुवो देते हैं। इन गीतोंकी दूसरी विशेषता यह है कि इनकी प्रत्येक दूसरी पंक्ति 'आहो रामा' अथवा 'कि आहो मोरे रामा'से प्रारम्भ होती है और इनका अन्त 'हो राम'से होना है। जैसे "पॉच दे पचीस कोसे बसेले महाजन हो। कि आहो मोरे रामा, कवना अवगुनवा हरि मोरे रूपेले हो राम"॥

कवीरदासकी वाणी, जिसमें निराकार ईश्वरकी उपासना-का उपदेश दिया गया है, 'निर्गुन'के नामसे प्रसिद्ध है। कवीरके निरगुनिये पदो तथा इन गीतोंका वर्ण्य विषय प्रायः एक ही है। अतः इनकी भी संज्ञा 'निर्गुन' पड गयी। लोककवियोंने इन गीतोंकी रचना करते समय इनकी महत्ताको बढानेके लिए 'कवीरदास'का नाम इनमे पिरो दिया है। परन्तु वास्तवमे बीजकके कर्ता कवीर इन गीतोंके रचियता नहीं है।

निर्गुन लिखनेकी परम्परा क्वीरदासके समयसे चली आ रही है। मोजपुरीके अनेक सन्त किवयोंने निर्गुन पर्दोन्की रचना की है। निर्गुनके गीत रहस्यवादी मावनाओंसे भरे है। इनमें कहीं तो ईश्वरको 'महाजन' कहा गया है। और कहीं 'छयला' कहकर सम्बोधित किया गया है। स्पकालंकारके माध्यमसे आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धका मधुर चित्रण इन गीतोंमें उपलब्ध होना है। वँगलाके बाउल गीतोंमें जो रहस्यात्मकता उपलब्ध होनी है, उसका दर्शन निर्गुन गीतोंमे मिलता है। —कु० दे० उ० निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली—दे० 'निरचयात्मक आलोचना-प्रणाली

निर्माणचक्र-दे॰ 'हठयोग'।

निर्मुक पुनरुक -दे॰ 'अर्थ-दोष', सोलहवाँ।

निर्वहण संधि - रूपककी पंच-सन्धियों में पाँचवी सन्धि। दशरूपककारने इसकी न्याख्या करते हुए लिखा है: "वीज-वन्तो मुखाद्यर्था विप्रशीर्णा यथापथम्। ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्" (१० रू०, १:४८), अर्थात्, खहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजनमें कार्य और फलागमके साथ ही अन्यान्य अर्थोका पर्यवसान हो जाता है, वहाँ निर्वहण सन्धि होनी है। प्रधान अर्थकी परिसमासिके कारण इसे निर्वहण सन्धि कहा जाता है।

'स्कन्दगुप्त'में जहां भटार्क अपने सुधारका संकल्प कर लेता है और विपत्तियाँ टल जाती है, वहाने आगे निर्वहण सन्दि आरम्भ हो जाती है। अब विरोधी शिविरके लोग या तो नायकके अनुकृत होने लगते हैं या फिर अपनी इहलीकिक लीला संवरण कर लेते हैं। 'चन्द्रगुप्त'में सेल्यू-कसके परास्त होनेके पश्चात् जो सन्धि होती हैं, वह निर्वहण सन्धिका ही रूप हैं।

इसके निम्नलिखित सन्ध्यंग हैं —सन्धि, विवोध, प्रधन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगृहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति ।

इन सन्ध्यंगोके प्रयोग प्रायः नहीं किये गये है (दे॰ 'सन्धि')। निर्वाण-निर्वाण बहुत प्राचीन शब्द है, जिसका प्रयोग गीतामे भी हुआ है। उसमें ब्रह्म-निर्वाण उस अवस्थाको बताया गया है, जहाँ योगी इन्द्रियजित् और वामनामुक्त होकर पहुँचना है (श्रीमद्भगवद्गीना-अध्याय ५) । बौद्धोने इस शब्दको अपनाया और साधकके प्राप्य परमपदके रूपमे इसीका व्यवहार किया । शून्यवाद और विज्ञानवाद, दोनो-की निर्वाण सम्बन्धी अपनी पृथक मान्यताएँ थी (दे० 'शुन्य-वाद', 'विज्ञानवाद'), किन्तु सिद्धोंने यह माना था कि सहजावस्था भव और निर्वाण, दोनोसे परे है और उसमें प्राप्त होनेवाला महासुख ही साधकका लक्ष्य होना चाहिए। "आइण अन्त ण मञ्झण, एउ भव णउ निब्बाण, एइ सो परम महासह णउ पर णउ अप्पाण" ('दोहाकोष' : प्र॰ चं॰ वागची) । नाथ-पन्थमें आत्मान भव-को ही निर्वाण बताया गया है जिसे नाद-साधनासे प्राप्त किया जाता है-"नासिका अग्रे पवन छुकाइवा, तब रहि गया पद निरवान ।" "नाद ही ते पाइये परम निरवाना" (गी० बा०: पी० द० बड्थ्वाल) । सन्तोंने भी परमपदकी संज्ञा निर्वाण मानी है-"आपा पद्निरवान न चीन्हिआ इन विधि अभिडन चुकै" (सन्त कवीर : रामकुमार वर्मा) । शब्द या नाद द्वारा प्राप्त होनेके कारण इसे शब्द-निर्वाण भी कहा जाता था। परवर्ती कवीर पन्थी साहित्यमें निर्वाणको आदिपुरुषका विशेषण मानकर निर्वाणपुरुषको सहजपुरुषके भी आगे मान लिया गया था (पं० मु० सा०)। कहीं-कहीं इमें साधनमात्र माना गया और इसके द्वारा सामीप्य मुक्तिकी उपलब्धि बतायी गयी (ज्ञा० स्थि० बी०, 'बोधासागर')। --- ध० वी० भा० निर्वेद १-तैतीस संचारियोंका नामोल्लेख करते हुए भरतने सर्वप्रथम निर्वेद संचारीका नाम लिया है। इसके सम्बन्धमें आचायौंने विविध तर्क दिये हैं। उनका कहना है कि भरतने स्थायी भावोंके ठीक बाद और संचारियोंके ठीक पहले निर्वेदका उल्लेख विशेष प्रयोजनसे किया है। लौकिक विषयों ने उदासीन रहनेके कारण यह अमंगलत्वका

स्वायो भाव होनेते इमका पूर्विनिर्देश हो चुका है, अतः अमंगल्खका परिहार हो जाता है। कुछ लोगोंने निर्वेदको दिहरी-दीप'की संज्ञा दी है। राववन् (द नम्बर ऑव रसाज)का कहना है कि भरतके विचारसे इसं स्वायो और

द्योतक है। मांगलिक मुनि इस प्रकारका अमांगलिक विधान

नहीं कर सकते । इमके मूलमें कोई रहस्य है। यद्यपि यह

अमंगलत्वका बोबक है, फिर भी इसका प्रथम उल्लेख किया

गया है, क्योंकि यह स्थायी भाव भी है (अ० न० भा०,

२६९-९०: ३३४) ।

संचारी दोनों ओर परिगणित करना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि भरतने आठ ही रस माने है और शान्त रसको भी उन्हींके नामपर चाल करनेके प्रलोभनने ही उपर्युक्त तकोंकी उद्भावना की गयी है।

निवेंद सचारीकी व्याख्या करने हुए भरतने निवेंदो-त्पादक कई कारणोंका उल्लेख किया है-दारिद्रच, न्याधि, इष्टजनवियोग, तत्त्वज्ञान आदि (नाट्य०, ७:२८)। कुछ आचार्योंका कहना है कि तत्त्वज्ञानजन्य निवेद ही ज्ञान्त-का स्थायी भाव है। दारिद्रथ, व्याधि, क्रोध, इष्टजन वियोग आदि जन्य निवेंद संचारी है। शारंगटेवका कहना है-"स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि । इष्टानिष्ट-वियोगः प्रिकृतस्त् व्यभिचार्यसौ"। इससे इतना तो स्पष्ट है कि एक संस्थानके विचारक निवेदको शान्त रसका स्थायी माननेको तैयार नहीं है तथा दूसरे संस्थानके आचार्य उसे शान्तके स्थायीके रूपमे प्रतिष्ठित करनेको कटिवद है। पर भरतके आधारपर सभी लोगोने इसे संचारीके रूपमे स्वीकार किया है। विश्वनाथ (१४ श० ई०) और धनंजय (१० श० ई०) ने भरतके अनुरूप इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है-"तत्त्वज्ञानादीर्ष्यदिनिवेंदः स्वावमाननम् । तत्र चिन्ता-श्रनिःश्वासवैवण्योंच्छ्रासः निताः" (द० रू०, ४ : ९), अर्थात् तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्घ्याके कारण स्वयंका तिरस्कार, निवेंद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। चिन्ता, अश्र, वैवर्ण्य, उच्छास तथा दीनता इसके अनुभाव हैं।

रीतिकालीन कवियोंने भी मंस्कृत आचार्योंकी ही उद्धरणी प्रस्तृत की है। देव (१६-१७ श० ई०)के अनुसार "चिन्ता, अध्, प्रकाश करि अपनोई अपमानु । उपजिह जहें "सो निवेंद बखानु" (भाव०: संचारी) और पद्माकर (१७-१८ श् ई०) परिभाषा देते हुए लिखते तथा उसके अनुभावों-को प्रस्तुन करते हैं-"उर उपजै कछ खेद लहि, विपति ईरप:द्यान, ताही तें निज निदरिबो, सो निरबेद बखान । अति उसास अरु दीनता, विवरन अशु-निपात ! निरवेटह तें होत है, ये सुभाव निज गात" (जगद्वि०, ४७१-७२) और उन्हींका उदाहरण है—"यों मन लालची लालचमें लगि लोभ तरंगनमे अवगाह्यो । त्यों पद्माकर देहके गेहके नेहके काज न काहि सराह्यो । पाप किये पै न पातकी पावन जानिकै रामको प्रेम निवाह्यो। चाह्यो भयो न कछू कवहूँ जमराजहूसे बृथा बैर विसाह्यो" (वही, ४७३)। निर्वेद २-शान्त रसका स्थायी भाव निर्देद है। निर्वेदका सामान्य अर्थ है सांसारिक विषयोमें विराग या विरक्ति। यह चित्तकी अभावात्मक वृत्ति है, जो संसारके भौतिक आनन्दों एवं सुखोंकी ओरसे उसे मोड़कर परमार्थ अथवा ईश्वरकी और उन्मुख करती है। इस रूपमे निर्वेद रितका ठीक विरोधी है तथा उसकी चरम परिणति मानसिक किंवा आध्यातिमक शान्तिमें होती है।

लेकिन, शान्त रसके स्थायी-रूपमें 'निवेंद'के अतिरिक्त विस्मय, शम, उत्साह, जुगुप्सा तथा धृति भी माने गये हैं। विन्तु 'विस्मय' सभी रसोंमें संचार करता है तथा वह अद्भुत रसका स्थायी माव है ही। जुगुप्सामें केवल मनः संकोच होता है तथा उसमे विरक्तिशी कोई शक्तिमती प्रेरणा नहीं मिलती। उत्साह, धृति इत्यादि ऐसी चित्तवृत्तियाँ हैं, जो मनको लौकिक सखोपभोगकी ओर प्रवृत्त करनी है। अतएव शान्त रमका स्थायी निवेंद ही है। मन्मट प्रभृति आचार्योंने निर्वेदको शान्त रसका स्थायी स्थीकार किया है, यद्यपि वह व्यभिचारी भी होता है। नाट्याभिनयके लिए अनुपयक्त समझनेके कारण भरतने निवेदको पहले स्थायित्व-का गौरव नहीं दिया, लेकिन बादको शान्त रसको स्वीकार करनेके माथ तत्त्वद्यानमे उत्पन्न निवेंदको भी स्थायी म्बीकार किया है। पण्डितराजने निवेंदकी यों परिभाषा दी है-"जिसकी विदानत आदिके द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओंके विचारसे उत्पत्ति होती है और जिसका नाम विषयोमे विरक्ति है, उसे 'निर्देद' कहते हैं। हेविन यह निवेंद इप्टवियोग, अनिष्ट-प्राप्ति तथा गृहव,लह इत्यादिसे भी उत्पन्न हो सकता है और तब वह 'व्यभिचारी' होना है, स्थायी नहीं । तत्त्वज्ञानमे उद्भुत निवेंद ही 'स्थायी' संज्ञा-का अधिक री है, क्योंकि नभी उनमें उत्कटल इत्यादि गुणोंका मन्निंश्य हो सकता है।

विश्वनाथने शंक्त रमका स्थायी "निःस्पृहनाकी अवस्थामें आत्माके विश्व मो उत्पन्न मुख्यें माना है, जिसकी संज्ञा 'शम' कही गथी है। वास्तवमें यह 'शम' नि द (विरक्ति)-की ही प्रमृति है और व्यावहारिक दृष्टिमें इन होनोंमें कोई मेद नहीं मानना चाहिए।

धृति, मिति, उड़ेग, क्लानि, जडता इत्यादि निर्वेद स्थायीके संचारी हैं। उदा०—"सविहं सुलभ नित विषय सुख, क्यो त् करत प्रयास। दुर्लभ यह नर तनु समुझि जिय, करहु न वृथा विनास" (पोहार: २० मं०)।

वैरायका उपदेश होनेमे यहाँ 'निवेंद' भावमात्रकी व्यंजना है, स्थायीकी पृष्टि नहीं हो सकी है **निवें यक्तिकतावाद** — इस आलोचनात्मक द्धिनोणका विवेचन 'अज़ेय'ने 'त्रिशंक'मे किया है। "इलियटकी उक्ति है कि कलाकार, जो भोगता है, उससे प्रथक है जो सर्जन करता है" और यह पार्थक्य जिन्ना बडा है, उतना ही वडा वह कलाकार होता है। भाव-दशा और रम-दशाके अन्तर-वाला, अनुभृतिके परिपक बननेकी प्रक्रियावाला अन्तर ही यहाँ प्रधान नहीं है, बल्कि कलाकार या साहित्यकारके ताटस्थ्यका प्रश्न प्रधान है। इस वातका दूसरा पहलू यह भी है कि दिन-व-दिन ज्यों-ज्यों जगत् और जीवन अधिक यन्त्र-संकल, विज्ञान-चालित और रागहोन होता जा रहा है, मनुष्यके अहं और उसके आसपासके परिवेदाके बीच, अहं और काम (ईंगो और इड)के बीच तनाव, खिचाव और कही-कहीं विघटन और खाई भी बढ़ती जा रही है। कविकर्म अब निरा व्यक्ति-रंजन नहीं रहा, उसमे अधिक उसका दायित्व है और उसके लिए आवश्यक है कि कवि अपने आपको भी निरपेक्ष दूरीसे विश्लेषित कर सके। निर्देशक्ति-कता इसीमेंसे जागी। 'आबजेक्टिव' इष्टिकोण कहीं हावी हो गया और 'मञ्जेक्टिविज्म' प्रायः लापना हो गया, परन्तु वह मी सही स्थिति नहीं थी। सही स्थिति व्यक्तिकी यह एक साथ दोहरी चेतना है। वह व्यक्ति भी है और निवेंयक्तिक भी है। सन्त कवि ज्ञानेश्वरने कहा है कि "इन्द्रियोके दिना संवेदन, अचेतनमे चेतना (इन्द्रियेविण संवेदिने । नेनिवेतं जाणिने)—यही परम साध्य रिथित हैं"। —प्र० मा०

निहेंनु-दे० 'अर्थ-दोष', आठवाँ।

निशिषालिका - विशेष छन्दोमें समवृत्तका एक मेद । 'प्राकृत्पेगल' (२: १६०)में इस छन्दका लक्षण हैं: भ ज स न रके योगने यह वृत्त बनता हैं (ऽ॥, ।ऽ।, ॥ऽ, ॥, ऽ।ऽ)। यह वृत्त स्त्रिवणी परिवारका है, क्योंकि इन दोनों छन्दोको मात्रिक लय समान है। केशवने इस छन्दिका प्रयोग किया है। उदा०— 'काम वन राम सब वास तरु देखियो। नैन सुखदंन मन मेनमय लेखियो'' (रा० चं०, २: २९)।

निश्चय-अलंकार-अपहुनुतिकी जातिका अर्थालंकार। प्रकृत (मूल वर्ण्य)का निषेध करके अन्य (अप्रस्तुत)की स्थापना अपहृत्ति है; इसके विपरीन अन्य अप्रस्तुतका निपेध करके प्रकृत प्रस्तु की स्थापना निश्चय-अलंकार कहलाता है। प्रतिष्ठापक विरवनाथके अनुसार लक्षण है-"अन्य निषध्य प्रकृत-स्थापनं निश्चयः पुनः" (सा० द०, १०: ५७)। निश्चयान्त सन्देह-अलंकार इससे भिन्न है, उसमे जिसकी सन्देह होता है उसीको अन्तमें निश्चय हो जाता है। यहाँ - एकको सन्देह रहता है, परन्तु दूसरेको प्रारम्भसे ही निश्चय होता है। गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवका "हृदिविलसते हारो नायं भुजङ्गमनायकः" आदि इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। दूसरा उदाहरण विद्यापतिका यह छायानुवाद पद है-" कत न वेदन मोहि देसि मदना। हर नहि बला, मोहि जुवित जना। विभृति भूषन नहि, चाननक रेनू। बघछाल नहिं मोरा नेतक बसन्"। निश्चयात्मक आलोचना-प्रणाली-यह शब्द अंग्रेजीके 'ज़डीशियल'का समानाथीं है। ज़डीशियलका अर्थ है— निष्पक्ष निर्णयमे सम्बन्धित, न्याय-मंगत आदि । अंग्रेजीके इस शब्दके लिए हिन्दीमें प्रचलित तथा मान्य शब्द-निर्णयात्मक है और उपयक्त ही है।

अमेनीका 'किटिसिज्म' शब्द जिस मीक धातुसे आया है, उसका अर्थ होना है-निर्णय करना । पाश्चात्य साहित्य-द्यास्त्रका प्र:रम्भिक स्वरूप निर्णयात्मक ही था और उसके निर्णयके मानदण्ड नैतिक थे। परन्तु ज्यों-ज्यो आलोचना-शास्त्रका विकास होता गया, आलोचना न्याख्यात्मक होती गयी। वस्तुतः आलोचककी तीन सीढियाँ हो सकती हैं। पहली अवस्थामें आलोचक रसज्ञ पाठककी तरह कृतिसे आनन्द प्राप्त करता है, दूसरी अवस्थामें वह तटस्थ होकर कृतिका अध्ययन-मनन करता है तथा तीसरी अवस्थामें वह निर्णय देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निर्णय देना बहुत ही कठिन व्यापार है, क्योंकि आलोचक तो कलाकार-से अधिक सामाजिक उत्तरदायित्वका भार वहन करता है। आलोचक ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ साहित्यकी रुचि अपने पाठकोंमें जगाता है। इस प्रकार आलोचकका निर्णय बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जायगा। अतः निर्णयकी स्थिति आलोचनाकी अन्तिम तथा उत्कृष्टतम स्थिति है। आलोचक साहित्य-क्षेत्रका श्रेष्ठ प्रवन्यकर्ता है और वस्तुतः आलोचना निर्णयका एक मानदण्ड है। आई० ए० रिचर्ड सके शब्दांमे आलोचना साहित्यिक अनुभूनिके विन्कपूर्ण विक्लेपणीयरान्त मूल्यांकनका एक अस्त्र है, एक माधन है। इसी प्रकार सभी आलचकोंने निर्णयको सर्वाधिक महत्व दिया है।

इस प्रणालीका इतिहास वडा लम्बा है। चाहे निर्णयका जो भी स्वरूप रहा हो, यूनानी तथा रोमीय आलोचकोन लेकर आजके आलोचकोतक इस पद्धतिका इतिहास पाया जा सकता है। प्लेटो कलात्मक उत्कृष्टताके मृत्यांकनका मानदण्ड सत्यकी अनुकृलताको मानता है। अरस्तू कलाके मृत्यांकनका मानदण्ड आदर्श मानता है। लांजायनम साहित्यके गुण जॉचनेके मानदण्डको आनन्दका स्वरूप देता है। सेण्यस्वरी तुलनाको श्रेष्ठतर आलोचना मानता है। इसी प्रकार टाल्स्टॉय, पी०ई० झ्म, रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट आदि सवने एक स्वरसे निर्णयको आलोचनाकी अन्तिम परिणति माना है।

मंस्कृत साहित्यशास्त्रमें भी इस पद्धतिका इतिहास उपलब्ध है। संस्कृतके आचार्योंने भी निर्णयको ही आलोचनाका मूल स्वरूप माना है। भरत मुनिसे लेकर राजशेखरतक सबने किसी-न-किसी तरह इसे अपनाया है। प्रारम्भमे मानदण्डके आधार नैनिक रहे, फिर साहित्यके बाह्य नत्त्व हुए, फिर रूढि हुए। तत्पश्चात् मृत्यांकनके मानदण्ड धीरे-धीरे वैज्ञानिक होने गये।

हिन्दीमे भी निर्णय आलीचनाका प्रमुख अंग बना रहा। मिश्रवन्धु, भगवानदीन आदि प्रारम्भिक आलीचकोंने संस्कृतके रीनिकालीन मानदण्ड अपनाये, तो रामचन्द्र शुक्कने रसवादी तत्त्वोंको अपनी आलीचनाका मानदण्ड बनाया। इस प्रकार हिन्दीकी अधिकांश आलीचनामे इस पद्धतिको प्रश्रय मिला।

सच पूछा जाय तो आलोचना निर्णयके अभावमे सचे

अर्थों में कोई महत्त्व नहीं रखती । साहित्य यदि जीवनके सत्यकी अभिव्यक्ति है तो आलोचना साहित्य द्वारा अभि-व्यक्त मानवीय मृल्योकी निर्णायक है। परन्त आलोचनाका एकमात्र यही कर्तव्य नहीं है, यह तो उसका अन्तिम कर्तन्य है । —रा**०** क० स० निष्काम-भक्ति-भगवान्के प्रति कामनामे किया जानेवाला प्रेम सकाम-भक्ति कहलाता है। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञास-की सकाम-भक्ति कहलाती है। भगवान्के प्रति कामना-रहित किया जानेवाला प्रेम निष्काम-भक्ति कहलाता है। मर्यादिकी भक्तिमें फलाकांक्षाका प्राधान्य रहनेसे वह सकाम और पृष्टि भक्तिमें केवल अनुग्रह-भाव रहनेसे वह निष्काम-भक्ति कही जाती है। पृष्टिमार्गमे मुक्तिको भी कामना नहीं की जाती। (नैयायिक जन्म-मरणके दुःखमे विमोक्ष-को अपवर्ग 'मुक्ति' मानते हैं। मीमांसाकार आत्माके 'प्रपंच सम्बन्धविलय'का नाम मोक्ष, वेदान्ती प्रपंचविलयको ही तथा वैष्णव 'ब्रह्मभावापत्ति'- 'ब्रह्मके साथ एकात्म भाव'को मोक्षकी संज्ञा प्रदान करते हैं। निहितार्थं - दे० 'शब्द-दोष', पॉचवॉ 'पद-दोष'!

नीतिकान्य-'नीति' शब्दका सम्बन्ध संस्कृतकी 'णीय' धातुसे हैं, जिसका अर्थ 'ले जाना' या 'पथप्रदर्शन करना' होता है। इस प्रकार धालर्थकी दृष्टिने नीति वह है, जो 'ले जाय' या 'आगे ले जाय'। पर यह नीति शब्दकः व्यापकतम अर्थ है और यदि इसे स्ीकार करें तो कला. विज्ञान और वागिज्य आदिकी सारी शाखाएँ-प्रशासाएँ नीतिके अन्तर्गत आ जायंगी, वये कि वे मनुष्यको किसी-न-किमी क्षेत्रमें आगे है जाती है। प्रस्तुत सन्दर्भमें प्रयुक्त 'नीनि' शब्द इतना व्यापक अर्थ नहीं रखना। उसकी स्थल परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है-समाजको स्वस्थ एवं मन्तुलिन पथपर अग्रसर करने एवं व्यक्तिको अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्षको उचित रीतिने प्राप्ति करनेके लिए जिन विवि-निर्धमूलक सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनीतिक आदि नियमोका विधान देश, काल और पात्रके सन्दर्भमें किया जाता है, उने 'नीति' शब्दसे अभिहित करते हैं। इस अर्थमे 'नीति' शब्दके प्राचीन प्रयोग 'महाभारत' तथा 'मनस्मृति' आदिमे मिलते हैं। इस प्रकार ५०० ई० प०-के लगभगतक यह शब्द इस अर्थमे प्रयुक्त होने लगा था।

'नीति'के अन्तर्गत आनेवाली इस प्रकारकी वातों ने युक्त काव्य 'नीतिकाव्य' हैं। 'नीतिकाव्य'को 'औपदेशिक' या 'उपदेशात्मक' काव्य भी कहा जाता है, पर यथार्थतः केवल औपदेशिक शैलीने लिखी गयी नीति-किवताओं के लिए ही ये नाम अधिक युक्तिसंगत हैं। स्त्रात्मक तथा अन्य शैलियों में लिखी गयी नीति-किवताओं कोव्याय अपेक्षाकृत अधिक होते हैं, अतएव उन्हें औपदेशिक श्रेणीसे अलग रखना ही ठीक होगा। ऐसी स्थितिमे औपदेशिक (या उपदेशात्मक) काव्यको 'नीतिकाव्य'का पर्याय न मानकर उसकी एक शाखा (विशिष्ट शैलीपर आधारित) मानना करावित् अधिक समीचीन होगा।

भारतीय स'हित्यमे नीतिकाञ्यके दर्शन अत्यन्त प्राचीन कालसे होते हैं। हमारा प्राचीनतम यन्थ ऋग्वेद इससे शून्य नही है। उसकी बहुत-सी स्कियाँ तथा आख्यायिकाएँ नीतिपरक हैं। वहाँ से यह परम्परा संस्कृत ('धौम्यनीति', 'विदुरनीति', 'वृहस्पितनीति', 'शुक्रनीति', 'चाणक्यनीति', भर्तृहरिका 'नीतिशतक' तथा 'कामन्दक-नीति' आदि), पालि ('जातक' तथा 'धम्मपद' आदि), प्राकृत ('उपदेश-माला', 'कथाकोशप्रकरण', 'गाहासत्तर्त्तर्श' तथा 'वज्जालग्य' आदि), तथा अपभ्रंश ('पाहुड दोहा', 'सावय धम्म दोहा', 'उपदेश रसायन' तथा 'प्राकृत्येगल'में उद्धृत छन्द आदि)में होती हिन्दीमें आयी है। नीतिकान्यके क्षेत्रमें भारतीय साहित्य विश्वसाहित्यमें अपना अनुपमेय स्थान रखता है। विण्टरनीत्सने स्पष्ट शब्दोंमे इसे स्वीकार किया है।

'नीतिकाव्य'का उद्भव और विकास सामाजिक और वैयक्तिक जीवनकी आवश्यकताओं के कारण हुआ है अतीत- के अनुभवोंपर आधारित उन निष्कर्षों को इसमे अभिव्यक्ति दी गयी है, जो व्यष्टि और समष्टि दोनों का (एक दूसरे का ध्यान रखते हुए) पथ प्रशस्त कर सकें। इसी कारण इसमें समयानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहे हैं। इस रूपमें नीतिकाव्यका महत्त्व उसकी उपयोगिताक कारण ही विशेष है। इसीलिए यह काव्यकी अन्य धाराओं की तुलनामें कम छिलत तथा रसहीन है। कुछ छोगोंने इसी आधारपर

नीतिक कि विशेको कि तथा नीतिकान्यको कान्य कहना ठोक नहीं समझा है (रामचन्द्र शुक्कः हिन्दीसाहित्यका इतिहास, सं०१९९९, पृ०३५५), किन्तु ऐसा कहना न्याय नहीं है। 'नीतिकान्य' कान्य अवश्य है, पर रसकान्यकी भाँति वहन उच्च कोटिका नहीं है।

नीनिकाव्यका भावन और मृत्यांकन ऐतिहासिक तथा विषयगत, दोनों ही दृष्टियोमें किया जा सकता है। आदि-कालीन हिन्दी साहित्यमें प्राप्त नीति-अंश सुगके अनुकूल शौर्य तथा राजनीतिमे विशेष सम्बद्ध है। केवल नाथोंमें धर्म और आचारकी कुछ वाने हैं। भक्तिकालमे सन्तों तथा तुलसी आदिका नीतिकाच्य विशेष रूपसे धर्म और तद्चित आचारने सम्बद्ध हैं। तुरुमीकी दृष्टि समाजपर न्यापक रूपमें पड़ी थी, इसीलिए उनमें राजनीति और व्यवहार-नीतिका भी समावेश हैं। पर इसी कालके रहीम भक्तोकी द्नियासे प्रायः दर्हे, अनः उनका नीनिकान्य समाज और व्यवहार-नीतिको अधिक व्यापक और व्यावहारिक रूपमे ममाहित कर सका है। रीतिकालमे अन्य धाराओकी भॉति ही नीतिकान्यमें भी परम्परागत भावोंको ही विशेष रूपसे अभिन्यांक्त मिली है। क्वार, रहीम या तुलसी जैसी स्वानुभृतिकी पृष्ठभूमि इनमें कम है, इसीलिए उस गाम्भीर्य-का भी अभाव है। साथ ही वह (रीनिकालीन नीतिकाव्य) तत्कालीन समाजसे भी कवीर और तुलसी आदिकी नुलना-मे प्रायः असम्पृक्त है । आधुनिक युगका नीतिकाव्य युगरुचि के अनुकूल न होनेके कारण मात्रामे अत्यल्प है तथा विशेष रूपसे आधुनिक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों (स्वतन्त्रता, स्त्रीशिक्षा, राष्ट्रप्रेम, अछत-प्रेम, वीरता, मानवता, जातिव्यर्थता तथा उद्योग आदि)के प्रधान विषयोपर ही आधारित है। परम्परागत नीतिकी बात उसमे अधिक नहीं हैं। इसे वातावरणका प्रभाव या युगकी आवश्यकता माना जा सकता है।

नीतिकी परिभाषा देते समय जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, नीतिकाव्यमें धर्म आचार (ईइवर, दया, परोपकार अहिंसा तथा भक्ष्याभक्ष्य आदि), व्यवहार (कुल, पड़ोसी, श्व, मित्र, स्त्री, पत्र, माता-पिता, भाई, परिचित-अपरिचित तथा बड़े-छोटे आदि), राजनीति (राजा तथा उसका विभिन्न वर्गोंके प्रति कर्नव्यादि) तथा अन्य अनेकानेक सामान्य विषयों (धन, स्वास्थ्य, जवानी, गुण, अवगुण, खेती, व्यापार, भाग्य, ऋण, मूर्खना तथा विद्या आदि)के सम्बन्धमें देश, काल और पात्रके सन्दर्भम करणीय और अकरणीय बातोंपर प्रकाश डाला गया है। नीतिकान्यकी भावसूमि इतनी विस्तृत है कि देशकी नैतिक परम्पराके अनुकुल व्यक्ति और समाजके समुचित विकासके लिए आवश्यक जितनी भी सामान्य बातें है, सभी इसमे समाविष्ट हैं। नीतिके कवियोंने विभिन्न परिस्थितियोमे जीवनको तथा उसकी सफलताओं-असफलताओं, उपलब्धियों एवं सम्भा-वनाओंको बहुत निकटमे देखा है, इसीलिए उनकी बानें कही भी कल्पनापर आश्रित नहीं है। या तो वे स्वानुभृति हैं या परम्परानुभृति (इस दृष्टिसे हिन्दी नीति-साहित्य संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रश तथा फारसीसे पर्याप्त मात्रा-में प्रभावित है)। यही कारण है कि भारतीय जीवनमें उनकी

हिन्दी नीतिकाव्यको शैलीको इप्टिन प्रमुखनः तीन दगा-- उपदेश, अन्योक्ति और सक्तिमे रखा जा सकता है। इनमें उपदेशात्मक शैलीका नीनिकान्य शिल्पकी दृष्टिने निकटतम् श्रेणीका है। इसमे उपदेशकी बाते सीधे शब्दोमे विना वार्यदग्ध्यके रखी गयी है। कवीर, तुलमी, घाघ, महुरी तथा निरिधर कविरायने इस शैलीका विशेष रूपसे प्रयोग किया है। अन्योक्ति जैलीका नीतिकाच्य यो तो थोडा-बहुत रहीम, तुलमी, विहारी, वृन्द, रामचरित उपाध्याय तथा भगवानदीन आदि प्रायः सभी प्रमुख नीति-कारोमे मिल जाता है, पर दीनदयालने विशेष रूपने इसका प्रयोग किया है। अन्योक्ति एक अलंकार है, जिसके सहारे कही गयी नीतिकी वाने 'शगर-कोटेड पिल्स'की तरह अर्धनिकर न लगते हुए अपना पुरा प्रभाव डालती है। कलाको दृष्टिने मक्ति-शैलीम लिखा गया नीतिकाव्य श्रेष्टतम है। इसमें अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, दृष्टान्त, प्रतिवस्त्पमा, लोकोक्ति, विशेपोक्ति, सार, कारणमाला, एकावली तथा विनोक्ति आदि अलंकारोका आधार लेनेके कारण अभिव्यक्ति

उपयोगिनापर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

नीतिकाथ्यमें प्रमुख रूपने बजभाषाका और गौण रूपसे खड़ीबीली तथा डिमलका प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा कुछ अपवादोको छोडकर सरल, सशक्त और प्रवाहपूर्ण है। इसमें मुहावरोंका तो कम, पर लोकोक्तियोंका समुचित प्रयोग हुआ है।

बडी सन्दर तथा प्रभविष्णु हुई है। रहीम, वृन्द, ठीनदयाल

तथा भगवानदीनने इसका विशेष प्रयोग किया है; यो

तलसी, रत्नावली, विहारी तथा रामचरित उपाध्याय आदि

अन्य कवियोंमें भी इसके प्रयोग मिल जाते हैं।

नीतिकान्यके प्रिय छन्द दोहा और कुण्डलियाँ हैं, पर गोण रूपसे छप्पय, चौपाई, सवैया तथा कवित्त आदिका भी प्रयोग हुआ है।

नीतिकी कुछ-न-कुछ बातें यों तो प्रायः सभी किवयों में मिल जाती हैं, विशेषनः बीरबल, गंग, रत्नावली, अग्रदास, दादू, मनोहर, जमाल, सुन्दरदास, बिहारी, रसिनिधि, जान, सहुरी, बैताल, छत्रसाल, वॉकीदास- रामसहायदास, विश्वनाथ सिंह, मम्मन, प्रतापनारायण मिश्र, रामप्रसाद तिवारी, शिवसम्पति, रामचिरत उपाध्याय तथा दुलारेलाल भागव आदिके कान्यमें तो इसके बड़े सुन्दर उदाहरण हैं, पर नीनिके प्रमुख कविके रूपमें कवीर, नरहरि, तुलसी, घाष, रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीनदयाल तथा मगवानदीनके ही नाम लिये जा सकते हैं। यहाँ इनके अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिये जा रहे हैं।

कबीर : (१३९८-१५१८ ई०) — कबीर यों तो निर्गुण-धाराके किव हैं, पर नीतिकान्यको भी उनकी देन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी अधिकांश्च साखियाँ नीति और उपदेश की हैं। कबीरकी साखियोंका सबसे बड़ा संग्रह गुज-रातसे प्रकाशित हुआ है, जिसमें लगभग १८०० साखियों है, पर उनमें किउनी साखियों कबीरकी हैं और कितनी प्रक्षिप्त हैं, यह कहना कठिन है। किसी अन्य अधिक प्रामाणिक संस्करणके अभावमें स्थामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित कबीरग्रन्थावलींको ही प्रामाणिक मानते हुए कहा जा सकना है कि क्वीरके प्रधान नीति-विषय गुरु, संशय, प्रेम, क्रोध, काम, गर्व, मन, नारी, धन, हॅसी, निन्दा, आडम्बर, संग, दुःख, अहं, साधु, कपट तथा आशा आदि है। इनमें उपदेशात्मक शैली तथा धर्म और आचारसे सम्बन्धित नीतिविषयोंका ही प्राधान्य है।

नरहरि: (१५०७-१६१० ई०)—अकवरके दरवारी साहित्यकारोमे नरहरि सबसे अधिक वयोवृद्ध थे। इनको अकवरने 'महापात्र'की उपाधि दी थी। ये असनी, फतेहपुर-के रहनेवाले थे। कहा जाता है इनके एक छन्दको सुनकर अकवरने गोवध बन्द करा विया था। नरहरिका सम्बन्ध स्रांबंशमें भी था। शेरशाहके उत्तराधिकारी सलीमशाहने भी इनका यथोचित सम्मान किया था। इनका नीतिसम्बन्धी अन्ध 'छप्पयनीति' है जो पूरा नहीं मिलता। अवतक इसके केवल ६० छप्पय मिले हैं। इनमें अधिकतर अकवरको सम्बोधित करके उसे नीतिकी शिक्षा देनेके लिए लिखे गये हैं। नरहरिके नीतिकाल्यके प्रधान विषय राजा, प्रजा, दान, मित्र, शबु, दुष्ट, प्रेम, लोभ तथा नारी आदि हैं।

तुल्सीः (१५२-१६२३ ई०)—रामभक्तिशाखाके प्रमुख कि तुल्मीका नीनिक किवके रूपमे मी अप्रतिम स्थान है। इनकी नीतिकी यक्तियाँ उत्तरी भारतकी हिन्दू जनताकी जवानपर है और जीवनके हर क्षेत्रमें वे पथप्रदर्शन करती है। जीवनकी जितनी अधिक परिस्थितयोंका स्पर्श तुल्सीके नीतिकान्यने किया है, उतना और किसी भी नीतिकिविके कान्यने नहीं किया। नीतिकी दृष्टि तुल्सीके प्रधान प्रन्थ 'रामचरितमानस' तथा 'टोहावली' है। इनके प्रधान विषय भक्त, धन, मित्र, स्त्री, माता-पिता, परिवार, पर्व, संसार, मोह, माया, सन्तोप, उपकार, संग, विश्वास, दुःख-सुख, स्वामी, नौकर, राजा, मन्त्री, सज्जन, दुर्जन, भाग्य, मन, ऋण, मूर्ख तथा समय आदि हैं।

घाघ: (१७ वीं शती वि०)-- घाघ कन्नी जके रहनेवाले द्वे ब्राह्मण थे। ये अक्बरके समकालीन थे। अक्बरने इन्हें चौधरीकी उपाधि दी थी और उसीकी आज्ञाने इन्होंने 'अकबराबाद सराय घाघ' नामक गाँव बसाया था, जो अब 'चौधरी सराय' नामने प्रसिद्ध है और जिसका अब भी कागजातमें नाम 'सराय घाघ' है। घाघका नीतिकाच्य कहावतके रूपमें बहुत प्रचलित है। इसकी कोई पुरानी पोधी नहीं मिलती। रामनरेश त्रिपाठीने मौखिक परम्परा-से इनके ३२३ छन्द एकत्र किये हैं, जिनमें बहुतोंकी केवल एक पक्ति ही मिली हैं। मौखिक परम्परासे प्राप्त होनेके कारण यह कहना बड़ा कठिन है कि इनमें कितने छन्द इनके हैं और कितने अन्यके। त्रिपाठीजीके संग्रहके आधार-पर कहा जा सकता है कि घाघने अपने छन्दोंमें व्यवहार, स्वास्थ्य, होती तथा ज्यापारके सम्बन्धमें बडी पतेकी बातें कही है। ये बाते प्रायः सीधे शब्दोंमें दिना कि.मी अलंकरण-के कही गयी है।

रहीम: (१९५६-१६२६ ई०)—रहीम अकदरी दरबारके सबसे बड़े कवि थे। इनका नाम अन्दुर्रहीम खानखाना था और 'रहीम' इनका तखल्लुस था। रहीमकी दोहावली नीनिका बड़ा ही सुन्दर प्रन्थ है। कुछ छोगोंका अनुमान है कि इन्होंने कोई सतसई ब्रिखी थी, प्राप्त दोहावली

जिसका एक अंश है, पर इस अनुमानके लिए किसीने कोई
पुष्ट आधार नहीं दिया है। रहीमकी दोहावलीमे २८७
छन्द है, जिनमे ८ सोरठे हें और शेष दोहे। इनके नीतिविषय राजा, नारी, ऋण, मंगन, नीच, मित्र, संग, मूर्ख,
धन, समय, पुत्र, चापल्सी, गर्व, गुण, संसार, ईश्वर,
प्रेम तथा भाग्य आदि हैं। इन्होने स्किन्शैलीमे ही अधिक
लिखा है।

बृन्दः (१६४३-१७२३ ई०) — मेड़तेके बृन्दावनको हिन्दी संसार बृन्द नामसे जानता है। ये जोधपुरनरेश जसवन्त सिंह, किशनगढके राजा राज सिंह तथा औरंगजेवके कृषापात्र थे। इनका नीतिविषयक प्रसिद्ध प्रन्थ 'दृष्टान्तसतसई' है, जिसका प्रचलित नाम 'वृन्द सतसई' है। इसमें ७००ने कुछ अधिक छन्द हं। वृन्दकी नीति-विविषको क्षेत्र न्यापक है और इसके प्रमुख विषय धेर्य, देना, समय, उपहार, संग, प्रेम, सत्य, उद्योग, प्रकृति, मन, सज्जन, दुर्जन, स्थान, शत्रु मित्र तथा राजा आदि है। कलापक्षकी दृष्टि से वृन्द हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ नीतिकार ठहरते है।

गिरियर: (जन्म १६४३ ई०)—इनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनका नीति-प्रन्थ 'कुण्डलिया' है, जिसमें साढ़े चार सौते कुछ अधिक कुण्डलियां गाँव-गाँवमें प्रसिद्ध है। इनकी कुछ कुण्डलियों 'साईं' शब्द प्रारम्भ तथा अन्तमें आया है। लोगोंका कहना है कि ये कुण्डलिया इनकी स्त्रीकी बनायी हुई है। इनके नीति-छन्दोंके प्रधान विषय पिता, पुत्र, युग, नारी, यश, चिन्ता, वैर, विश्वास, संग, शब्दु, धन, लाठी तथा कमरी आदि ई। इनमें व्यावहारिक बार्ते अधिक है। इन्होंने सीधे शब्दोंमें उपदेश या आदेशके ढंगसे अधिक वार्ते कही है। इसीलिए रामचन्द्र शुक्कने इन्हें किव या स्क्तिकार न कहकर 'प्रकार' कहा है।

दीनदयाल गिरि: (कविताकाल १८२२-१८५५ ई०)-ये काशीनिवासी एक संन्यासी तथा मंस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी नीतिकी तीन पुस्तकें—'अन्योक्तिकलपद्रम' 'अन्योक्तिमाला' और 'दृष्टान्ततर गणी' मिलती है, जिनमे 'अन्योक्तिकल्पद्रम' ही अधिक प्रसिद्ध है। 'अन्योक्तिकल्प-द्रम'में लगभग पौने तीन सौ छन्द है। इसमे शाखान्तोके दोहोंको छोड़कर कुण्डलिया-छन्दोमे बड़ी ही सुन्दर अन्यो-क्तियाँ हैं। 'अन्योक्तिमाला'में कुण्डलिया-छन्दमे लिखी ११० अन्योक्तियाँ है। 'दृष्टान्ततरंगिणी'में गीतिके २०६ दोहे हैं। गिरिकी अन्योक्तियोके प्रस्तृत विषय जल, अजल, सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, बादल, समुद्र, नदी, कमल, करील, सुमन, जौहरी तथा धन आदि हैं। इनके नीति-विषय राजा, भले, बुरे, सूम, मित्र, समय, मूर्ख, नारी, सन्तोष, भाग्य, विद्या, गर्व, परोपकार, यदा, विश्वास तथा संसार आदि हैं। इनमें नवीनता कम है, प्रायः संस्कृतके कवियोंका इन्होंने आधार लिया है। प्रस्तुतोंके चयनमें अवस्य ये बहुत सफल है (दे॰ 'प्रबोध-काव्य', 'दष्टान्न-काव्य')। -भो० ना० ति० नीर-सन्तोंने सहस्रारसे झरनेवाले रससे आकाशसे बरसने-वाले जलकी तुलना करते हुए इस जलमे अपने भीजने एवं सारी सृष्टिके हरे होनेकी चर्चा की है-"आगासी सरु

भरिआ नीरु । तामहिं कवलु बहुज विस्थीरु" (नानक० प्रा० सं० १)। वही-कही नीर भवजल (भीजल)के अर्थमें -- उ० शं० शा० भी प्रयुक्त हुआ है। न्र-न्रका अर्थ ज्योति हैं। सूकी कहते हैं कि परमात्माकी सृष्टिके द्वारा अपनेको अभिन्यक्त करनेकी जब इच्छा हुई, तब परमात्माने अपनी ही ज्योतिसे एक ज्योतिका निर्माण किया। यह ज्योति 'न्रे-महम्मद'या 'न्रे अहमद' अथवा 'न्रुल-महम्मदिया' कही जाती है। यह ज्योति ही सृष्टिका आदि कारण है। इसी ज्योतिके लिए परमात्माने सृष्टि की तथा इसी ज्योतिके द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण -रा० प० नि० नृत्यगीत-संगीत और नृत्य तो परस्पर अविच्छिन्न रूपसे सम्बद्ध है, काव्यका भी उन दोनोंसे आदिकालसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। समाजशास्त्रियोंका कहना है कि मानव-विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामे नृत्य, संगीत और काव्य, तीनोका प्रारम्भ एक ही साथ हुआ। उस समय तीनों क्लाएँ अविच्छिन्न थीं। आदिम अवस्थामे मानव-समुह (कवीले) अपनी प्रसन्नता, उत्साह, शोक नथा धार्मिक भावनाओकी अभिव्यक्ति सामहिक रूपमे करते थे। यह भाव।भिन्यक्ति मामुहिक नृत्यगीतके रूपमें होती थी । आज भी आदिम जानियामे इस प्रकारके समवेन नृत्यगोनकी प्रथा प्रचलित है। स्काटलैण्ड और फ्रान्समे समवेत नृत्य-गीतको पहले 'कैरोल' कहा जाता था, इटलीमे उसका नाम 'बेलारे' था। यूरोपीय 'बेले' (एक नृत्य)का मूल स्त्रोत यह 'बेलारे' ही है। साथ ही अंग्रेजीके 'बैलेड' नामक काव्य-रूप और बैलेड शब्दका विकास भी इसी 'बेलारे' (समवेत नृत्यगीत)से ही हुआ है।

नृत्यगीतके खरूपमें भी आदिकालसे अवनक निरन्तर विकास होता आया है। आदिम समाजमें सामाजिक या धार्मिक उत्सवींके अवसरपर होनेवाले नृत्यगीतका स्वरूप क्या था, इस सम्बन्धमें नतत्त्वशास्त्रियों और समाज-शास्त्रियोंका यह अनुमान है कि उसमें सामहिक नृत्यके साथ कुछ थोड़ेसे, बहुधा अर्थहीन राब्दोकी आवृत्ति, स्वरालाप, सम्बोधन और विस्मयादिबोधक शब्द होते थे। गानेके साथ ही वे लोग पदमंचालन भी करते थे, जिसमें सामंजस्यपूर्ण गति होती थी । यह ५दमंचालनकी गति ही उनके गीतके खर नियत करनी थी, जिससे गीतमें भी लय और तालकी योजना स्वनः हो जाती थी। इस तरह सामृहिक नृत्यगीतमे ही नृत्य, संगीन और छन्दका विकास हुआ। धीरे-धीरे चेतनाके विकास और धार्मिक या अन्य प्रकारकी प्रवृत्तियोंके उदयके साथ गीतमे सार्थक शब्दोंका प्रयोग अधिक हो गया। इस तरह एक गीतमें किसी एक भावना, प्रार्थना, घटना या कथाका वर्णन किया जाने लगा। कालान्तरमें ये भावनापरक गीत ही गीति (लिरिक्), प्रार्थनापरक गीत (स्तोत्र-हिम) और घटना या कथा सम्बन्धी आख्यानगीत या लोकगाथा (बैलेड)के रूपमें विकसित हुए। किन्तु विकासकी पूर्णावस्थामें ये काव्यरूप सामहिक नृत्यगीनसे पूर्णतः स्वतन्त्र हो गये, यद्यपि नृत्य अथवा संगीतसे उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें बना रहा और आज भी बना हुआ है (दे०-द बैलेड इन तिः निरः धी० एफ० हेण्टरसन, पृ० ३; ए हैण्ड बुक ऑव पोन्ही: एफ० बी० गमियर, पृ० ९ और द इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोल्ही: एन० मैकनील जिनसन, पृ० २८: २९)।

हिन्दींम कुछ लोगोंने लोकगाथा या वैलेडके लिए भी नृत्यगीत शब्दका प्रयोग किया है, पर यह शब्द भ्रामक हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, सामृहिक नृत्यगीतका नाम 'बेलारे' और 'बैले' भी था, पर बैलेडका विकास बादमे हुआ । बैलेडमे सामूहिक नृत्य अथवा एकाकी नृत्य आवस्यक नहीं रह गया, यद्यपि कही-कहीं उसका गान नृत्यके साथ बादतक भी होता रहा और अब भी होता है। ऐसे नृत्यको आख्यानक नृत्य या बैलेड डान्स कहा जाता था, बैलेड नहीं । अतः नृत्यगीत बैलेड नहीं बल्कि बैलेडका पूर्व या आदिरूप है। हिन्दी प्रदेशोंकी सामान्य जनतामें अनेक प्रकारके नृत्यगीत अब भी प्रचलिन है, जैसे जौनपुर जिलेमें कहारोंका चौरसिया नृत्य, मीरजापुर जिलेमें आदिवासियोंका करमा नृत्य और शैला नृत्य । इनमें चौरसिया नत्य आख्यानक नत्य (बैलेड डान्स) और शेष दोनों नृत्यगीत (बेले) हैं (दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यिक लोकगाथा')। -- इां० ना० सिं० नेउता - इसे न्यौरता भी कहा जाता है। 'न्यौरता' अथवा 'नौरता' अथवा 'नेउता' सम्भवतः नौरात्र (आश्विन)का अपम्रंश रूप है। नौ दुर्गा अथवा गौरीके कुमारी-रूपकी पूजा इसके अन्तर्गत कुमारियों द्वारा की जाती है। ब्रज, बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेशके कुछ स्थानोंने न्यौरता खेला जाता है। अन्य प्रान्तोंमें इसके भिन्न रूप उपलब्ध हैं। वजमें न्यौरताकी पृष्ठभूमिमें कुमारिकाओंकी मनोकामना-पूर्तिका आदर्श है। 'सुअटा' राक्षसकी कथा भी कही जाती है। कहते हैं, राक्षम कुमारियोंको कष्ट दिया करता था। पार्वतीने प्रसन्न होकर कुमारियोंकी रक्षाके लिए उसका वध कर दिया। तभीसे यह त्यौहार प्रचलित हुआ। 'न्यौरता' मिट्रीकी उस आकृतिको भी कहते हैं, जो इस त्यौहारके निमित्त बनायी जाती है।

बुलावेके गीतोंको भी 'नेउता' कहा जाता है। उसका ब्रजमें प्रचलित 'न्यौरता'से कोई सम्बन्ध नहीं - इया॰ प॰ नेपाली (भाषा तथा साहित्य)-नेपाल राज्यकी भाषा 'नेपाली' कही जाती है। नेपाली शब्द 'नेपाल'से बना है। नेपाल शब्दकी व्युत्पत्ति में सम्बन्धमें कई मत प्रचलित हैं। बौद्ध मतके अनुसार 'ने'का अर्थ निर्देशात्मक है। स्वयम्भ आदि बुद्धको 'ने'की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि स्वयम्भू 'स्वर्गका मार्ग'का निर्देशक है। अतएव नेपाल उस देशका चोतक है, जिसका रक्षक स्वयम्भू है। यह भी कहा जाता है कि 'ने' नामक मुनिके नामपर नेपाल शब्द बना। यह भी सम्भव है कि नेपाल शब्द 'नेपार' शब्दसे बना हो, क्योंकि प्राचीन मागधी भाषामें 'र'के स्थानपर 'ल'का प्रयोग सामान्यतया प्रचलित था। अतएव नेपाल नेपार शब्दका अपभंश रूप हुआ। काठमाण्डुके निकटव शिक्षेत्रमें किरातों-की नेपार नामक उपजाति पायी जाती है; सम्भव है, इसी जातिपर नेपाल देशका नामकरण हुआ हो। आज भी इस जातिके लोगोंको 'न्यापी' कहा जाता है।

'नेपाल' शब्दका सर्वप्रथम उपयोग कौटिल्यके 'अर्थ-शास्त्र'में किया गया है। समुद्रगुप्तकी प्रयाग-प्रशस्तिमें नेपालनरेशको 'प्रसन्तनृपति'को संशा दी गयी है। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांगने भी नेपालके राजा तथा देशका वर्णन किया है।

भारतमें प्रचलित अनेक भाषाओं के सहश नेपाली-भाषाका भी मूल स्रोत संस्कृत ही है, फिर भी इसे सीथी संस्कृतसे निकली भाषा नहीं कहा जा सकता । विचार करनेपर इसे प्राकृतके विकृत रूपसे निर्गत मानना पडता है। वस्तुतः इसे संस्कृतसे चौथी पीटीमे ही मानना पड़ेगा। इतना होनेपर भी नेपाली भाषामें संस्कृत शब्दोंका मुक्त प्रचलन है।

चौदहवीं शतीके आरम्भमें अलाउदीन खिलजीने चित्तौड़ विजय किया था। इसी समय राणा रल सिंहके वंशज कुमाऊँ पर्वत श्रेणीके मार्गसे होकर पाल्पामें अधिकारूढ हुए। कालान्तरमें इसी वंश-शाखाके पृथ्वीनारायण शाहने आधुनिक नेपाल-शासनकी नींव डाली। इतिहासकार स्यंविकम रावालीके मनानुसार मध्य राजस्थानसे पर्वतखण्ड आये हुए ये राजपूत राजस्थानी भाषा ही बोलते थे। इन्होंने पर्वतखण्डके निवासी गुरूड मगरोंको पराजित किया और विजयी राजपूतोंकी भाषा ही राजभाषा हो गयी। ११वी-१२वी शतीमें नेपालराज्यमें मिथिलादेशका भी एक भाग समाविष्ट था, फलतः नेपाली भाषा मागथी प्राकृतते भी प्रभावित हुई।

नेपाली भाषा पहले 'गोरखाली भाषा'के नामसे भी
प्रचलित थी। आरम्भमे यह भाषा पर्वतखण्डमें प्रधानतया
पाल्पा, डोरी, सल्यान, तनरूँ आदि क्षेत्रोंमें प्रचलित रही।
परन्तु नेपाल-क्षेत्रमें इसके प्रसारका श्रेय पृथ्वीनारायण
शाहको ही है। काठमाण्डूको राजधानी बनानेके बाद
राज्यकार्य भी इसी भाषामें होने लगा। पश्चात् पश्चिमके
गुरूड, मगर, पूर्वके राई, तिब्बू आदि जिलोंमें प्रचलित
नेवारी भाषाका इसमें सम्मिश्रण हुआ और वर्तमान
गोरखाली भाषा बनी, जो समस्त नेपालकी राष्ट्रभाषा मानी
जाती है। बिटिश सत्ताकलमें पर्वतक्षेत्रके निवासियों तथा
उनकी बोल-चालकी भाषाको गोरखाली कहा जाता था,
परन्तु १९३२ ई०में गोरखाली शब्दके बदले नेपाली शब्द
ब्यवहृत किया गया।

उत्तरमें भोट, पूर्वमें सिक्किम, दार्जिलिंग, मंचीनदी, पश्चिममें महाकाली नदी और दक्षिणमें कोसी नदी नेपालकी प्राकृतिक सीमा है। नेपाल राज्य उत्तरमें भोट (तिब्बत) और अन्य तीनों ओरसे भारतसे संलग्न है। इसका क्षेत्रफल प्रायः ५६,००० वर्गमील और जनसंख्या २६ लाख है। नेपाली भाषाकी लिपि देवनागरी ही है।

नेपाली भाषामं क्रियाके अन्तमं 'छ', 'छन्' और 'हुन' वर्तमान कालको निर्दिष्ट करते हैं। इसकी विशेषता यह है कि योगी (अन्थय) शब्दने पृथक् कभी नहीं रहता। यह साथ-साथमं लगा रहता है। संस्कृतके सदश नेपालीमें भी तीन लिंग हैं। सामान्यतया ओकारान्त शब्द पुलिंग, इकारान्त कीलिंग और उकारान्त शब्द नपुंसकिंग होते हैं। सामान्यतया 'न्' और 'हरु' लगानेसे बहुवचन होता है। इसमें केवल दो ही बचन होते हैं। एकवचनसे

बहुवचन बनानेके लिए संज्ञा और सर्वनाम शब्दों में 'हरु' और क्रियामें 'न्' प्रयुक्त होता है।

नेपाली भाषाके प्राचीन स्वरूपके वारेमं ठीक-ठीक पता अभी नहीं लग पाया है। सबसे प्राचीन लेख १५४३ ई०-तकका महाराज द्रव्यशाहके प्रसिद्ध लाल-महर ताम्र-पत्रमें अंकित मिला है। प्रायः २७५ वर्ष पूर्वका एक शिलालेख भी मिला है, जो काठन णहुके राजा प्रतापमल्लने नेपाली भाषामे नैयार कराया था । इस भाषाको 'खस' भाषा कहने है। नेपाली भाषामें प्राचीन यन्थ मलभ न होनेका यह भी कारण समझा जाता है कि संस्कृतमे ही अधिकांश ग्रन्थ तैयार किये जाते थे और भाषा-ग्रन्थोंको सामान्यनया गौरव प्राप्त नहीं था। नेपालके प्राचीन लेखक प्रेमनिधि पन्त है, परन्तु उनका कोई लेख अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। इनकी पस्तक 'प्रायश्चित्तवीप'मे यदाकदा नेपाली भाषाका प्रयोग मिलता है। अमानी कविके श्लोकोंमे तीन पाद संस्कृतमे तथा चतुर्थ नेपालीमे पाया जाता है। परन्तु इनके भी लेख अधिक नहीं मिलते। वादके लेखकोमे वीर-शाली पन्न, रघुनाथ, वसन्त, इन्दिरस, विद्यारण्य केसरी और यदनाथ पोखरेलके नाम उल्लेख्य है। इन्होने प्रधान-तया खण्डकाव्य और अनुवाद प्रन्थ ही प्रस्तुन किये हैं। इन्टिरसके प्रन्थ तो अभी भी दष्प्राप्य है। वैष्णव होनेके कारण वीरशाहीकी कविता भक्तिरसमे आप्लावित है। भक्ति-स्रोतमें इन्होने यदा-कदा छन्दोभंगका भी ध्यान नहीं रखा है। 'द्रौपदीविलाप' और गोपिका-स्तुति' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रघुनाथका 'सुन्दरकाण्ड', वसन्त कविका 'कृष्णचरित', विद्यारण्यके 'द्रौपदी-स्तुति' 'युगल गांत' और 'गोपिका-की स्तृति' और यदनाथका 'कृष्ण-चरित' प्रसिद्ध यन्थ है।

भानुभक्त आदर्श किव है। इनका जन्मकाल १८११ ई० हैं। इन्होने नेपाली भाषामे सम्पूर्ण रामायण लिखी। 'वशूभिक्षा', 'भक्तमाता' आदि इनके सरस प्रन्थ है। इन्होने स्फुट कविताए भी लिखी है। स्वदेशप्रेम जाग्रत करनेवाले ये नेपालके श्रेष्ठ किव है। इनकी रामायणका नेपालमे वही मान है, जो भारतमे तुलसीकृत 'रामचिरतमानस'का है। इसीलिए इनको आदि किव भी कहते है।

मानुभक्तके पश्चात् पन्तजिल गजुरेल, राजीवलीचन आदि अनेक कि हुए। राजीवलीचनका 'केंद्रारकल्प' और कूट किताएँ अत्यन्त, लोकप्रिय है। पन्तजिल गजुरेलके 'मत्स्येन्द्रनायकी कथा', 'हरिभक्तमाला' और 'गोपालवाणी' यन्थ है।

मोतीराम भट्ट एक प्रसिद्ध नेपाली किव थे। भानुभक्तको बाद इनकी ही गणना की जाती है। इन्होंने ही भानुभक्तकी रामायणको प्रकाशित कराया। साहित्योन्नतिके सम्बन्धमे इनका उत्साह इतना प्रबल रहा कि इन्होंने पाशुपत प्रेस खोलनेकी प्रेरणा दी और नेपाली माहित्यकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। ये भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रके समकालीन और मित्र भी थे। इन्होंने अंग्रेजीमे इन्टरमीडिएटतक शिक्षा प्राप्त की थी। ३१ वर्षकी अवस्थामें ही इनका स्वर्गवास हो गया। इनके समकालीन लेखकोंमें लक्ष्मीदक्त, गोपीनाथ तीर्थराज, मरीविमानसी, वीरेन्द्र वेसरी प्रमृति उल्लेख्य हैं।

शिखरँनाथं एकं प्रसिद्ध नेपाली कवि थे। इनकी ख्याति

समस्त नेपालमं फंली हुई है। इनकी कवितामे प्रौद्धताके साथ अथीलंकारका अद्भुत पुट देखा जाता है। 'रामाश्व-मेथ', 'तीर्थयात्रावर्णन' आदि पुस्तके काफी लोकप्रिय है। सम्भुप्रमाद कवि इनके समकालीन थे, पर वे अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सके। कविता बनानेमे अतिशय शिक्षता देखने हुए उनको 'आशुक्वि' कहा जाता है। 'ग्लावली नार्टिका'का नेपाली अनुवाद इन्होने ७ दिनमे पूरा किया था। इनके स्कुट भजन भी प्रचलित है।

वर्तमान नेपाली कवियोभ लेखनाथ सर्वमान्य है। इनकी कविताम पदलालित्य लोकप्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'बुद्धिविनोद', 'ऋतुविचार', 'लङ्मीपजा नाटक', 'सत्यकलिसंबाद', 'लालित्य', 'तरुणतपन्दी' गीनाक सक्षिप्त पद्मानुवाद, पंचतन्त्र और मर्भस्पर्शी स्फुट कविताओकी रचना की है। शार्दकविकीटित छन्दमे कविता प्रस्तुत करनेकी परिपाटी छोडकर इन्होंने वसन्तिनलका और अनुष्टुप् छन्दमें ग्रन्थ लिखकर नयी माहित्यिक अभिरुचिका प्रवर्तन किया। इनके विचारामें मौलिकता स्पष्ट हैं। 'बद्धिविनोद' पढ़नेसे नये विचारोका स्करण होता है। 'तरुणतपर्स्वा' आध्या-त्मिक विचारोसे ओत-प्रोत है। प्राचीन संस्कृत साहित्यके पटके साथ ही नवीन विचारसारिशीका आलोक प्रस्तृत करनेवाले आप प्रथम कवि है। इनकी पद्य-रचना कलात्मक और शैली भावातमक है। अतलब इन्हें नेपालका कविसम्राट कहानेका श्रेय प्राप्त है। सोमनाथने भी 'आदर्शराघव' उच कोटिका कान्ययन्थ लिखा है । इनकी कविना भी भावपूर्ण होती है। हेमराजने 'चन्द्रिका' नामक व्याकरण-प्रन्थ लिखकर ४ भागोमे प्रकाशित किया और निःशस्क वितरित किया है।

वालकृष्ण सम प्रसिद्ध कवि और नाटककार है। इन्होंने पद्यमय नाटककी परम्परा स्थापित की है। इन की कवितामे पदलालित्यका पट अधिक मात्रामें उपलब्ध नहीं, परन्त भाव-गाम्भीर्यके कारण ये अत्यन्त उत्कृष्ट माने जाते हैं। इनकी प्रणाली ओजपूर्ण और नवीन विचारधाराकी प्रसारक है। 'मुद्रको कथा', 'भुव', 'मुकुन्द', 'इन्दिरा', 'प्रह्राद', 'अन्यवेग' आदि पद्यमय नाटक और 'ऊनी भरेथी देनन्', 'मक्तभान नक', 'म' आदि गद्यनाटक इनकी प्रधान रचनाएँ है। इन्होंने कई सरस कहानियाँ भी लिखी है। लक्ष्मीप्रसादकी कृति 'स्नामदन', 'शाकुन्तल महाकाल्य', 'सुलोचना', 'लक्ष्मी निवन्वसंग्रह' 'मिखारी', 'सावित्री-सत्यवान' आदि हैं। इनकी गद्य तथा पद्य दोनोमे ही समान गति है। सर्वतोमुखी प्रतिभावान् होनेके साथ ही इनकी कविताओं में विचार-गाम्भीर्य भी पाया जाता है। धरणीयर लेखनाथके समवयस्क हैं। इनकी काञ्यथारामे नवीनताके साथ ही जातिभाषा और राष्ट्रोन्नतिकी प्रेरणा सन्निहित है। 'नैवेच' तथा स्फुट कविनाएँ इनकी अबतक प्रकाशित हुई है। सिद्धिचरण, निश्च, मीननिधि, प्रेमराज, **भव** आदि नेपालके ख्यातनामा कवि है।

रुद्रराज पाण्डेय प्रमिद्ध उपन्यासकार है। संस्कृत-बहुल गध-शैलीके स्थानपर इन्होंने नवीन शैली प्रचलित की है और ये लोकभाषामें ही लिखते हैं। इसी कारण ये अधिक लोकप्रिय हैं। सामाजिक चरित्र-चित्रणमे ये अदितीय हैं। इनके पेतिहासिक नाटक भी वड़ी रिचमे पढ़े जाते हैं। इन्होंने 'रूपमनी', 'चन्याकाजी', 'प्रायदिचत्त', 'प्रेम', 'नवरत्न', 'हाओ नेपाल', 'सैंडेजंग' आदि पुस्तकोंकी रचना की है। रूपनारायणका 'अमर', भवानीप्रसादकी 'यौवनकी अन्धी' और वांगदेलके भी कुछ उपन्यास प्रका-शित हुए हैं।

कथाकारोंमें विश्वेश्वरप्रसाद, गुरुप्रसाद मैनाली, पुष्कर सममेर, गोविन्दवहादर 'गोटाले' आदि प्रसिद्ध है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके साथ नेपाली भाषाका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन तथा आधुनिक नेपालीमें हिन्दीके अधिकांदा शब्दोका प्रचलन है। १९वीं शतीके मध्यतक नेपालमें अवधी, भोजपुरी और मागधी भाषा विद्वानोंमें अधिक प्रचलित थी। संस्कृत किव वाणीविलास पाण्डेयने भोजपुरी-अवधी भाषामें किवता की है। उदाहरणार्थ— "केहरसिंह गाजी भये बाजी दसरिस नाम। सतहूके मयदानमों करिभूषकों छाम"। इन्दिरस और विद्यारण्य केसरीने नेपाली भाषामें किवता लिखी है, परन्तु इनमें हिन्दीका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

हिन्दी भाषाका प्रभाव वसन्त और रघुनाथकी कवितामें भी पाया जाता है, परन्तु उतनी अधिकतासे नहीं । भानुभक्त और उनके बादके किवयोंमें यह प्रभाव नहीं पाया जाता। आजकलकी नेपाली भाषामें भी हिन्दीके बहुतसे शब्द पाये जाते हैं। —तो॰ रा॰ पा॰

नेयार्थ-दे० 'शब्द-दोष', ग्यारहवॉ 'पद-दोष'।

नैरातमा-दे॰ 'महामुद्रा'।

नैरातम्य दर्शन्-दे० 'विज्ञानवाद'।

नैरेटर-दे० 'रेडियो नाटक'।

नैरेशन-दे॰ 'रेडियो नाटक'।

नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली-यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आलोचना-प्रणालीसे भिन्न है, जो आलोचककी स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबिम्ब प्रकट करती है। इसमें आलोच्य कृतिपर ही आलोचककी दृष्टि होती है। वह न तो क्रतिकारके जीवनचरित्रका अन्वेषण करता है और न कृतिकी सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक आदि पृष्ठभूमियों-का विक्लेषण कर उनके कृतिपर पडनेवाले प्रभावकी ही चिन्ता करता है। इस प्रणालीमें कृति और आलोचकके मध्यमें कोई साधक या बाधक उपकरण प्रस्तृत नहीं होता। ऐसी आलोचनाकी उत्क्रष्टता आलोचकके कला-सम्बन्धी उच्च मानसिक परिष्कारपर ही अवलम्बित रहती है। उसमें आलोचक प्रायः 'कला कलाके लिए' सिद्धान्तका अनुसरण करता है। यह प्रभाववादी आलोचनाके निकट प्रतीत होती है (दे० 'प्रभाववादी आलोचना')। —वि० मो० २० नीटंकी १-खाँग और लीलाके समान ही नीटंकी भी लोक-नाट्यका प्रमुख रूप है। इसका प्रारम्भ मुगलकालसे पहलेका है। रासलीलाके समान इसका रंगमंच भी अखिर, कामचलाऊ और निजी है। इसमें छोटे-छोटे बालक स्त्रियों-का वेदा धारण करते और उनका अभिनय किया करते हैं। इद्योंके अभावमें सूत्रधार मंचपर आकर इद्योंके घटित होनेके स्थान एवं समय और पात्रोंके विषयमें दर्शकोंको सूचना दिया करता है। इनकी कथाओंका सम्बन्ध पौराणिक आख्यानोंने न होकर लौकिक वीर, प्रणयी, साहसिक, भक्त पुरुषोंके कार्योंने होता है। उन्होंका प्रदर्शन इनमें किया जाता है। पंजावमें गोपीचन्द, पूरन भक्त और हकीकत-रायका सांगीत अल्पिक लोकप्रिय है।

आज नौटंकीका रूप बदला हुआ है। इसका रंगमंच प्रायः उठाक और साधारण होता है। जिसका निर्माण खले मैदानमे लट्टो, बॉसों और कपडोंकी चादरोसे किया जाता हैं। दर्शकोंके लिए दूरतक चॉदनी तान दी जाती है और रंगभमि बड़े-बड़े तख्तोंसे बनायी जाती है। प्रायः एक परदेका न्यवहार किया जाता है, जो अभिनेताओंके रंग-भिममें आनेपर उठता है और उनके चले जानेपर गिरता है। कभी-कभी कार्य-व्यापार चलते समय पात्रोंका प्रवेश नेपथ्यसे अथवा मैदानसे दर्शकोंके बीचसे होकर हो जाता है। इसका प्रेक्षागृह इतना बड़ा बनाया जाता है कि चॉदनीके नीचे सैकड़ों दर्शक बैठ जायं और न बैठ सकने-पर पासके ख़ले मैदानको उपयोगमे लाया जाता है। अब इसमें अनेक दृश्य होने लगे हैं, किन्तु प्रत्येक दृश्यके कार्यकी सचना सत्रधार ही देता है। वही प्रारम्भमें लीला या कहानीके लेखक, पात्र तथा कथा आदिके विषयमें दर्शकोंको सचना देता है और उनमें उनके प्रति उत्सुकता तथा निज्ञासा उत्पन्न कर देता है।

नौटंकीका कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओंसे भरा रहता है। वह किसी लोकप्रमिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुषकी जीवनकथापर अवलम्बित रहता है। इसमें अनेक स्त्री-पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री-पात्रोंका अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी खियाँ करती हैं अथवा वेश्या एँ करती है। वेश्याएँ दृश्यान्तमें मंचपर आकर अपने नृत्य-गान, हाव-भाव, मुद्राओंसे जनताका मनोरंजन करती है और नेपथ्यमें अभिनेताओंको रूपसज्जा आदि करनेका अवकाश देती हैं। रंगभूमिमें एक ओर गायकों, वाद-वादकोंका समूह भी रहता है, जो अभिनय, संवाद, नृत्यकी तीव्रता, उत्कटता बढाता रहता है। तबला और नगाड़ेका विशेष प्रयोग होता है। तबलेके तालों और नगाड़ेकी चोबोंकी गुज रातमें मीलों सुनाई पडती है, जिसके आक-र्षणसे सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं। रुचि-वैचित्र्यके समाधान, स्वादके परिवर्तन और शान्ति-व्यवस्था बनाये रखनेके लिए हास्यपूर्ण प्रसंगोंकी योजना रहती है, जिसमें नारी-पुरुषके रूपमें पात्र प्रहसन उपस्थित करते हैं। प्रायः संवाद पद्यप्रधान होते है। अभिनेता मंचपर दर्शकोंकी ओर जा-जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं और प्रश्न करते है। इस प्रकार संवाद प्रायः प्रश्नोत्तरा-त्मक होते है। उनमें उत्तेजना, साहस और दर्पपूर्ण उक्तिका बाहुल्य और प्रेम-प्रसंगोंका आधिक्य रहता है। अधिकतर किसी वीर नायकको प्यारके फाँसमें फँसा दिखाया जाता है, जिसके कारण उसका पतन हो जाता है। अन्तमें परिणाम उपदेशपूर्ण दिखाया जाता है। 'सुल्ताना डाक्न'की नौटंकी उदाहरणके रूपमें ली जा सकती है। जहाँ भक्तचरितको दिखाया जाता है, वहाँ भक्तके मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ दिखायी जाती है; अन्तमें उसकी विजय प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि नौटंकीके समाप्त

होनेतल उद्देश्य प्रकट कर दिया जाना है, तथापि मृत्रधार अन्तमें फिर मंचपर आकर भलाई करने और बुराईसे बचने, सत्य-धर्मके निवाहनेकी शिक्षा देता है। प्रकाशकी योजना आद्यन्त एक समान रहती है। नौटंकीके प्रारम्भ होनेका समय रातके ८ वजेसे और समाप्त होनेका समय प्रातः ५ वजेतक है। कभी कभी कथाके विस्तार या जमी हुई भीडके कारण कार्यक्रम मुखोंद्रयनक चलता रहना है।

प्रायः नौटंकी कार्त्तिक-मार्गशीर्ष अथवा चेत्र-वैशासके महीनोंमें हुआ करती है। मेलोंके अवसरोंपर इनका विशेष आयोजन होता है। उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलां-फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदिमें इसका विशेष प्रचार है। उधर त्रिभुवन-मण्डलीकी नौटंकी विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियरकी नौटंकी भी प्रख्यात है। रासमण्डलियोके सददा नौटंकीकी भी मण्डलियाँ होती है, जो एक स्थानसे दूसरे स्थानोपर घुम-घुमकर नौटंकीके प्रदर्शन किया करती है। नौटंकी ग्रामीण जनताकी नाट्यवृत्तियोका समाधान परनेवाले मुख्य साधनोंमे अत्यधिक महत्त्वशाली है। इसपर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रंगमंचका विशेष प्रभाव है। परन्तु आज चलचित्रके व्यापक प्रसारसे इसकी वृद्धि और इसके प्रभावमें अन्तर आ गया है। नौटंकी २-नौटंकी, स्वॉग, भगत प्रायः पर्यायवाची हैं। वस्तुतः भगत शब्द बताता है कि यह कभी भक्तिकी अभिन्यक्तिका माध्यम होगी, किन्त्र आज भगतमें भक्तिका अथवा धार्मिक तत्त्वका स्थान उसके आरम्भिक अनुष्ठानोंमें अथवा आरम्भिक मंगलाचरणमें रह गया है। आरम्भिक अनुष्ठानमें साधारणतः शक्तिपुजाके अवशेष दिखाई पड़ते हैं। खाँगके साथ वह अनुष्ठान भी नहीं, केवल आरम्भिक सरस्वती-वन्दना मिलती है। शेष स्वाँगका धार्मिकतासे सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। स्वॉग या भगत मूलतः संगीतरूपक है। इसमे यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, पर शृंगार-रस-प्रधान अथवा प्रेमगाथाकी कोटिकी रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमांसका संस्पर्श किसी-न किसी रूपमें होना ही चाहिये। इसीको नौटकी भी कहा जाता है। नौटंकी मूलतः किसी प्रेम-कहानीकी केवल नौटंक तौल-वाली कोमलांगी नायिका होगी। वही संगीत-रूपकर्मे प्रस्तुत की गयी और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत-रूपक या स्वॉंग ही नौटंकी कहा जाने लगा है। नौटंकी, भगत अथवा स्वॉगका मुख्य छन्द चौबोला है। इस चौबोलेके दो रूप मिलते हैं, एक छोटी तानका, दूसरा लम्बी तानका। प्रत्येक चौबोलेका आरम्भ दोहेसे होता है, जिसका अन्तिम चरण कुण्डलियाकी भाँति आगेके चौबोलेसे कुण्डलित रहता है। इसके सहकारी वाद्यवृन्डोंमें नगाड़ा अनिवार्य है। भगतका रंगमंच बल्लियोंके स्तम्भ बनाकर आदमीसे कँची बाड़ बॉधकर बनता है। बाड़ोंकी एक ऐसी बीथिका बनायी जाती है, जिसके बीचमें स्थान खाली रहता है। इन बाड़ोंपर अभिनेता एक स्थानसे चल-कर चारों ओर घूम आता है। हर ओर उसे चौबौला दुइराना पड़ता है। स्वाँगका रंगमंच सादा होता है। भूमिसे कुछ ऊँचा एक लम्बे-चौड़े तख्त जैसा चारों ओर खुला होता हैं। प्रसिद्ध स्वाँगोंमे स्याहपोश, अमरसिंह राठौर, प्रनमल, हरिश्चन्द्र आदि गिने जाते हैं। —सं० न्याय-प्रमाणों दारा विषयोके परीक्षणको न्याय कहने हैं। "नीयने विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः।"

वेदोंके अर्थांको निश्चित करनेके लिए मीमांसाकी तरह न्यायका भी उद्भव हुआ। मीमांसा वेदोंके वाक्योंके अर्थका निर्धारण करती है, न्याय उनके पदार्था और प्रमाणांका। उद्भवकालमे ही जहांतक एक और इसका कार्य वेदिक दर्शनको अपने ढंगमे समन्वित करना था, वहां दूसरी और वैद्ध दर्शनको अपने ढंगमे समन्वित करना था। इसके प्रथम आचार्य अक्षपाद गौतम हैं, जिन्होंने न्यायम्झों(१री शती ई० पू०) भे रचना की। वात्स्यायन(४०० ई०) ने इसपर माध्य लिखा और उद्योतकर(६वी शती ई०) ने फिर मान्यपर वात्निक लिखा। वाचस्पति मिश्र, जयन्त मट्ट तथा उदयनाचार्य न्यायके अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं। लगभग १२०० ई०के आसपास गंगेश उपाध्यायने 'तत्त्वचिन्तामणि' लिखकर नव्य न्यायकी स्थापना की, जिसके अन्य महान् आचार्य काल्यन्तरमें रघुवंश शिरोमणि, जगदीश मट्टाचार्य और गदाधर सट्टाचार्य हुए।

पहले न्याय और वैशेषिक पृथक्-पृथक् मत थे, पर बादको दोनों एक हो गये। न्यायका मुख्य कार्य प्रमाण-मीमांसा हो गया और वैशेषिकका पदार्थ-मीमांसा।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जरुप, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान इन १६ तत्त्वोंके ज्ञानसे निःश्रेयसकी प्राप्तिका विधान न्यायशास्त्रमें किया गया है । दुःखजन्य प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञानके उत्तरीत्तर व्यति-क्रमसे नष्ट होनेपर अपवर्ग होता हैं, जो निःश्रेयस है।

प्रमाण चार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ।
कुछ नैयायिक उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं,
अनुमानके अन्दर इसका अन्तर्भाव करते हैं । अनुमान
स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, दो प्रकारका होता है ।
केवल अन्तिम पंचावयव होता है, अर्थात् उसके प्रतिश्चा,
हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव
होते है । परार्थानुमानका एक प्रसिद्ध निदर्शन यों है—
पर्वत विह्नमान् है (प्रतिश्चा), क्योंकि वहाँ धूम है (हेतु);
जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ विह्व रहती है, जैसे
रसोई धरमें (उदाहरण); ऐसे ही धूम और विह्वा साहचर्य
पर्वतमें हैं (उपनय); अतः पर्वत विह्वमान है (निगमन)।

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (जन्मान्तर), फल, दुःख और अपवर्ग, ये प्रमेयज्ञानके विषय है।

नैयायिक तार्किक होते हैं। वे संशय करते हैं और तकसे संशयको दूर करना ही उनका मुख्य कार्य है। इसीलिए कहा जाता है "नानुपल्ल्ये न निर्णातेऽथें न्यायः प्रवर्तते अयं तु संदिग्यें" अर्थात् निर्णात और अनुपल्ल्य अर्थमें न्याय नहीं चलता, सिर्फ संदिग्य विषयपर चलता है।

ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए नैयायिक प्रमाण देते हैं। वे एक परमात्मा तथा अनेक आत्माको मानते ई । बानको वे आत्माका एक ग्रुपनात्र मानते हैं । वेश्वरको इसमे जगत्का निभित्त कारण-मात्र माना जाता है ।

नन्य न्यायने परिभाषा या लक्ष्णको अधिकाधिक प्रमाणित बनानेका प्रयास किया जाता है।

न्याय यथार्थवादी या वन्तुवादी दर्शन है। यह बहुत्व-वादी भी है। इने प्रायः माधारण मनुष्यका मुसंगत दृष्टि-कोण समझना चाहिये।

माहित्य-शास्त्रमे शंकुकका रस-मन, अनुमितिवाद, न्याय दर्शनकी महत्त्वपूर्ण देन हैं। जिस परार्थानुमानके द्वारा रम-की अनुमिति नटमं की जानी हैं, वह यह हैं—नट रसवान् हैं, क्योंकि उसमें भाव-अभिन्यक्ति हैं; जहाँ भाव-अभिन्यक्ति होनी हैं, वहा रस होता हैं, जैसे कोशी पुरुषमें, वैसी ही भाव-अभिन्यक्ति नटमें हैं, अनः नट रसवान् हैं। इस प्रकार इस मतमे रस मात्रमें अनुमिति हैं। किन्तु कालान्तरमें अभिनवगुप्तके मतने इस मनको सदाके लिए दूपित सिद्ध कर दिया (विशेष जानकारीके लिए देन रस निष्पत्ति : दूसरा मत)।

हिन्दी साहित्यपर न्यायका प्रभाव बहुत कम पड़ा हैं। वर्तमान युगके पूर्वतक तो इसका प्रभाव प्रायः चृत्य ही था। हिन्दीके लेखक प्रायः साधक हुआ करते थे और या तो केवल साहित्यक। ये दोनो ही वर्ग न्यायके प्रभाव केत्र में दूर थे। वे तर्कको महत्त्व नहीं देते थे और अनुभृति तथा कल्पनाको अधिक महत्त्व देते थे। ईश्वरकी सिद्धिके प्रमाणों के विषयमे प्रायः यहीं कहा जाता रहा है कि ईश्वर युद्धि या तर्कका विषय न होकर अनुभृतिका ही विषय है। नैयायिकोंको कोरा तार्किक समझकर उपेक्षित किया जाता रहा है।

वर्तमान समयमे जब कि प्रत्ययवाद या आदर्शवादके स्थानपर वस्तुवादको मान्यता मिल रही है और जीवनके मूल्यों तथा नाना अन्य श्रेयोंके अस्तित्वमें संशय उत्पन्न हो रहा है तो न्यायकी मान्यता बढ रही है। पर यह न्याय अधिकतर पाश्चात्य दर्शन तथा मनोविद्यानके रूपमे ही आज प्रभावशाली है। भारतीय न्यायका प्रभाव अब अत्यल्प है और जो कुछ है भी, वह पाश्चात्य न्यायके द्वारा है। —सं० ला० पा० न्युनपद्-दे० शब्द-दोष' तीसरा 'वावय-दोष'।

पंकजवाटिका—विणिक छन्दों समवृत्तका एक मेद ।
'प्राकृतपैगलम्' (२:१४८)में इसे पंकावली नाम दिया
गया है। यह छन्द भगण, नगण, जगण, जगण और
लघुके योगसे बनता है (ऽ॥,॥,।ऽ।,।ऽ।,।ऽ।,।)। इसकी
लय चौपाईके समान है। केश्वने इस वृत्तका प्रयोग
किया है। उदा०—"नारि न तजे मरे भरतारहिं। ता
सँग सहिह धनंजय झारहिं। जो केंद्र विधि करतार
जियावहि। तो केहि कहँ यह बात बतावहिं" (रा० चं०,
९:१७)।

पंचक-दे॰ 'मुक्तकाव्य'।

पंच चामर - वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'प्राकृतपैगलम्'(१४ श० ई०२:१६८)में नाराच और ''छन्दोऽनुशासन'(६, ११: जयकीति)में महोत्सव नाम विस्त गया है। ८ छयु-ग्रहभों जर जर ज गको योगसे यह वृत्त बनता है। 'रामचिन्द्रका'मे नागस्वस्पिणी (६ प्र० २३) और नागराज (२ प्र०, १६) भी नाम दिये गये हैं। केशव (३ प्र०, ३: राम०); गुप्त (वहां मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिए मरे—मनुष्यता) और 'प्रमाद'- (हिमाद्रि तुग शृंगते प्रवृद्ध शुद्ध भारनी—चन्द्रगुप्त)ने प्रयोग किया है। उदा०—"विचारमान ब्रह्मदेव अर्चमान मःनिये, अदीयमान दुःख मुक्ख दीयमान जानिये" (रा० च०. ३: ३)।

नाराच छन्द वीर रसके लिए विशेष उपयुक्त है। तलसीने इसका प्रार्थनाओं के लिए प्रयोग किया है। संस्कृत-का प्रसिद्ध शिवस्तीत्र इसी मे है। हम्मीर रासोमे वसन्तका वर्णन इस छन्दमे हैं। तुल्सीका प्रयोग-"नमामि भक्त-बत्सलं, कृपालु शीलकोमलं"(रा० च० मा०)। —पु० शु० पंच पवित्र - पंचतत्त्वो (दे० 'पंचमकार')को पंच पवित्र भी कहा गया है और नान्त्रिक बौदों, तान्त्रिक जैनो, सिद्धों, नाथों आदिके साहित्य एव शैव-शाक्त तन्त्रोंमे बार-बार इनके माहात्म्य, प्रयोग-विधि, शोधन आदिका व्याख्यान किया गया है। पंच मकारों या पंचतत्त्वोमें मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुनकी गणना की जाती है। किन्तु कुछ यन्थोंमे पंचामृतके अन्तर्गत 'विण्मृत्रादि'का उल्लेख हुआ है। विवन, भार (काम) आदिकी शान्तिके लिए पंचामृतके आश्रयका आदेश देते हुए 'प्रज्ञीपाय विनिद्यसिद्धि' (परिच्छेद ५, १८-१९)में 'विण्मृत्रादि'को 'अनुसरारक्षा' कहा गया है और इनसे ज्वर, गर, विष, रोग, डाकिनी आदिके उपद्रव, ग्रह, मार, विनायकके प्रशमित होनेका विश्वास दिलाया गया है। 'कौलज्ञाननिर्णय'मे वेमे पंचम-कारोमें उल्लिखित होनेवाली सभी बातोका विवरण है, लेकिन उनके साथ ही पंचपवित्र नाममे 'विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा'का उल्लेख भी किया गया है (दे०-११वॉ पटल) । इसने स्पष्ट होता है कि 'कौल ज्ञान-निर्णय'-का लेखक (मत्स्येन्द्रनाथ) पंचपवित्रको पंचमकारोसे कुछ भिन्न माननेका संकेत देता है। 'प्रशोपायविनिश्चयसिद्धि'में विण्मत्रादिके अर्थ मे प्रयुक्त पंचामृत शब्द नर, अश्व, उष्ट, हस्ति एवं श्वानके मांसके अर्थमें भी व्यवहृत हुआ है (५,२०)। इसी प्रकार 'ज्ञानसिद्धि' नामक अन्थमे पंचामृत-को रपप्टतः 'स्कृय' कहा गया है, जो 'कौलज्ञान निर्णय'के पॉच उत्तम भोज्यों (गोमांस, गोष्टत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदिध)का, एक तरहसे, समधर्मी है (१, ७९ एवं १०, १), किन्त 'कौलज्ञाननिर्णय'में पंचपवित्र शब्दका जो अर्थ किया गया है पंचामृत शब्दका प्रयोग भी बहुधा ठीक उसी अर्थ-मे हुआ है और कईबार पंचामृतको पंचतत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) या पंचस्कन्ध (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) समझ लेनेके कारण अर्थसंगति ठीकसे बैठ नहीं पाती। 'मालती माधव' (अंक ५, इलोक ४)में बताया गया है कि कापालिक अघोरण्यटकी शिष्या एवं साधना सहचरी कपालकुण्डलाने नाड़ियोके उदयक्रमसे 'पंचामृत' का कर्षण करके एक ऐसी सिद्धि प्राप्त की थी, जिसके बलपर वह अनायाम अकाशमार्गमे विचरण कर सकती थी। टीकाकारने 'पंचामृत' शब्दका कई अर्थ दिया है, पर एक भी संगत नहीं बैठना। हजारीप्रसाद हिवेदीने छक्ष्य किया है

(नाथसम्प्रदाय, पृ० ८६) कि ये पंचामृत शर्गरमे स्थित पॉन द्रवरम हं - शुक्त, शोणित, नेद, मज्जा और मृत्र। इनकी आकर्षण करके ऊपर उठानेकी क्रियाने शरीरकी वज्जवन वनाया जा सकता है और अगिमादिक मिद्धियाँ पार्या जा सकती है। वज्रवासी माधको तथा कौडमार्ग( तान्त्रिकोन भी यह विधि है। नाथ मार्गकी बज़ोली माधनाको इसका भग्नावरोप समजना चाहिए। स्पष्ट है कि पंचपवित्र पंचम-कारोसे भिन्न अर्थ रखना है। पंचमखीरुद्राक्ष-रुद्राक्ष नामक वृक्षके गोल वीजोंकी माला रीव उमी नरह अनिवार्य रूपसे पहनते हैं जैसे वैष्णव लोग नुलमीकी माला पहनते है। योगी लोग रुद्राक्षकी माला पहनते हैं। 'चित्रापली' (२०९, १-४)में मिद्धोंके वेशके अन्तर्गत जिन बारह वस्तुओका उल्डेख किया गया है, उसने कद्राक्षकी भी गणना की गयी है। जायसी(पद्मावत, १२६)ने राजा रत्नसेनके जोगी-वेशके वर्णनमे भी रुद्राक्षका उल्लेख किया है। रुद्राक्ष पदका अर्थ है रुद्र या शिवकी ऑख। जपकार्यके लिए इसकी मालाको तन्त्रोम बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और इते विशेष फलदायिनी बताया गया हैं। रुद्राक्षकी मालामे मनको (दानों)की संख्या भिन्न-भिन्न होती हैं। मबसे छोटी मालादों 'सुमिरनी' वहने हैं, जिससे १८ या २८ मनके होते हैं और योगी लोग इमे हाथकी कलाईमे वाँयते भी है। दूसरी मालाएँ ३२, ६४, ८४ और १०८ मनकोकी भी होती है। रुद्राक्षके दानापर कटावदार और ख़रदरी फॉके होती है, जिन्हे 'मख' कहा जाता है। जपके लिए पॉच मुखोवाल दानोंको बहुत शुभ माना जाता है। ग्यारह मुखोवाले रहाक्षके दाने भी बहुत पवित्र माने जाते हैं। दो मुखोवाले रुद्राक्ष गृहस्थयोगियोमे अधिक फलदायक माने जाते हैं। एकमुखी रुद्राक्षका माहात्म्य भी बहुत बताया जाता है। कहते है जिसके गलेमे एक-मुखी रुद्राक्ष हो, उसपर रात्रकी चोट काम नहीं करती और जिस घरमं एकमुखी रुद्राक्षका दाना पड़ा हो, वहाँ लक्ष्मी स्थिर होकर निवास करती है। एकमुखी रुद्राक्ष एकमुखी हैं या नहीं, इसकी परीक्षाके लिए उसे किसी मैंडेकी गर्दनम बाँध दिया जाता हैं और उसकी गईनपर शस्त्रसे प्रहार किया जाता है। अगर गर्दन न कटे तो रुद्राक्षको असली एकमुखी मान लिया जाता है। ('सुधाकर चिन्द्रका', पृ० २४०)। इससे लगता है कि एकमुखीका अर्थ 'एक मुखवाली' न होकर उसका शुभ होना ही अधिक हैं। -रा० सिं० **पंचायतन** – ("पंचानामपास्यदेवरूपानामायतनानां हार:") पाँच देवताओकी प्रतिमाओका समुदाय पंचायतन कहलाना है। पॉच उपास्य देवताओं में शिव, सूर्य, शक्ति, विष्ण और गणेशकी गणना होती है। किसी विशिष्ट देवताकी उपासनाके समय भी उपर्युक्त पंचदेवताओकी स्तुतिकी प्रथा प्रायः पायी जाती है। मिथिलामे तो किसी प्रकारकी पूजामे इन पंचदेवताओकी प्रथम स्तुति करनेका सामान्य चलन है। इसी आधारपर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने विद्यापतिको पंचदेवोपासक माना था (दे॰ 'कीर्निटना'की भूमिका, पृ० १९), परन्तु विद्यापतिके पर्दोंमें सर्यका स्तुतिपरक एक भी पद अभीतक प्राप्त नहीं हुआ।

नलमीडामशी 'विनयपत्रिका'के पदोंमें प्रारम्भिक डल्लिखिन पॉच देवन:अंबी मन्ति की गयी है। यथा—(क) शिव-"देव बडे डाता बडे भीरे, कि.ये दूर दुख मवनिके जिन्ह कर जोरे" (पदमख्या ८) । (स) सूर्य-"डीनडयालु दिवाबर देवा । कर मुनि मनुत्र सुरासर सेवा" (पदमंख्या २)। (ग) शक्ति-"दमह दोष द्व दलनि, कर देवि दाया" (पदमंख्या १५)। (घ) विष्ण-यों तो 'विनय-पत्रिका'का विष्णुके अवतार रामके प्रति ही तिनय-निवेदन है फिर भी हरि-शंकरी द्यापंक पद (क्रमांक ४९) मे भगवान विष्ण और शिवकी स्तृति की गयी है और हरिहर-में अभेद स्थापित किया गय। है। (३) राणेश—''गाइये गणपनि जगवन्दन । जकार सुवन भवानी-नन्दन ॥ सिद्धि-सदन राज-वदन विनायक । हार तिर र सुन्दर सब लायक ॥" (त्रिनयपत्रिकः) । तुल्लीके समान भक्त पर्मतन्त्र भगवान् भी सत्ताको व्यापक मानकर उसके प्रत्येक आविर्भन रूपके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं, भरतु अभे सहरो उसके विशिष्ट विग्रहर पमे सघननामें केन्द्रित करते हैं। तुलसीने यद्यपि पंचदेवनाओकी म्तृति की हैं, पर उनसे भी अपने रामकी ही भक्तिकी याचना की है। उदाहरणार्थ श्रीगणशकी स्तुतिके अन्तनं वे बहते हैं-"मॉगत तुलसिदाम कर जोरे। वसहि राम भिय मानस मोरे ॥"(पदसंख्या ९) । पंचायतन-पुजा तन्त्रमार्गमें भी विहित हैं। 'तन्त्रसार'में पंचायतन-डीक्षाके सम्बन्धमे डिखा है कि उसमें उपर्वक्त देवनाओंके पाँच मन्त्र बनाकर उनमे शक्ति, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेशकी पूना की जाती है (विस्तारके छिए दे० 'तन्त्रमार')। -वि० मो० द्या० पंचालिका रीति - (३० 'रीति', पांचवी ।

पंचीपारना - देव-प्रतिसा-पृजनके पाँच प्रकार पंचीपचार या पंचीपासना कहलाते हैं। यह अर्चना-भक्तिका एक अंग है। यदि प्रतिमा-प्जनके सीलह उपचार किसी कारण

सम्भव न हो नकों तो साधक पंचोपचारले भी सन्तुष्ट कर सकता है। इसमें इष्टदेवको गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नेवेच अपित करनेका विधान हैं। ये कमदाः पृथ्वी, आप, तज, वायु और आकादा नक्वोके प्रतीक माने जाते हैं।

पंचोपचार द्वारा भक्त भगवान्की विभिन्न रूप-धारिणी शक्तिके साथ तारतम्य स्थापित करता है।

निर्मुणी सन्न वाह्योपचारकी आवश्यक्तना अनुभव नहीं करते, वे बाह्योपचारपर व्यय्य भी करते हैं। रैदाम कहते हैं—"दूध बछेरे धनहु विटारिंड, फूल भॅविर, जलु मीनि विगारिंड। माई गोविन्द पूजा कहा लें करावड। अकस न फूल अनूपु न पावड! मन ही पृजा, मन ही धूप, मन ही लंड सहज मरूप।" (सन्नकाव्य: परमुराम चतुर्वेदी, पृ० २१५)।" उनकी अर्चनाका रूप इस प्रकार है—"ऐसी आरती क्रिभुवन नारें। तेज पुंज तहाँ प्रान उतारें। पाता पंच पुहुप करि पूजा। देव निरंजन और न दूजा। तन मन सीस समरपन कीन्हा। प्रगट जोति तहाँ आतमलीना। परम प्रकास सकल उजियारा। कहैं कवीर में दाम तुम्हारा॥" (सन्नकाव्य, पृ० १९५)। —वि० मी० श० पंजाबी (भाषा तथा साहित्य)—दिल्लीके आसपासके प्रदेश, पूर्वी पंजाबके कुछ जिले और पहाड़ी प्रदेशको

होडकर रोप पंजावकी सापा पंजाबी हैं। चाहे वह पंजाब पाकिस्तानमें हैं, चाहे भारतमें।

मन् १९३२ ई० में स्थापित की गयी पंजाब युनिवासिटी इन्क्वायरी कमेटीकी रिपोर्टके अनुमार इंडो-एरियन भापाओं-मेसे निकला सब बोलियोंमेसे पजाबी आयद सबसे पुरानी भाषा है। महात्मा बुद्ध और महावीरको हुए आज भी लगभग २५०० वर्ष हो चुके हैं। उनके द्वारा लिखित प्रन्थों में सैकड़ों ऐसे शब्द मिलते हैं जो ठीक उसी रूपमें आज भी पंजाबवासियोंकी दैनिक भाषामे प्रचलित है। हिन्दी या वँगलामे उन शब्दोंका जो रूप चला हुआ है वह अधिकसे अधिक एक इजार वर्ष पुराना कहा जाता है। पंजाबके लोग पिछले पचीस सौ वपाँसे दुध, नक, कन, हथ, पिठ, सत और अठ कहते आये है और जो लोग उत्तरप्रदेश या बंगालमें बसते हैं, उनके पूर्वज पहले पन्द्रह सौ वर्षीतक तो इन शब्दोंको पंजाबियोकी भॉति उचारण करते रहे, किन्तु पिछले एक हजार वर्षसे उनको इन्होने दूध, नाक, कान, हाथ, पीठ, सात और आठ बोलना आरम्भ कर दिया है। बौद्ध धर्मग्रन्थ 'धम्मपद'मे, जैनियोके प्राचीन साहित्यमें और कालिदासके 'शकुन्तला' आदि नाटकोमें हमे पंजाबीके शब्द हेठाँ, रुख, पुत, अख आदि तो मिलते है; पर इनके हिन्दीरूप-नीचे, पेड, पृत, आँख आदि कही नहीं मिलते। हिन्दी और पंजाबीका सम्बन्ध दो बहनोंका सम्बन्ध है।

गुरु नानकदेवके आगमनके समय पंजावमें कई लिपियाँ प्रचलित थी। देवनागरी, जो अधिकतर संस्कृतके लिए प्रयोग की जाती थी और पुरानी दिछीकी कमिरनरीमें प्रादेशिक बोलीके लिए भी। लंडे या महाजनी, जो न्यापारी हिसाव-किताबके लिए प्रयोग करते थे, टाकरी या ठाकरी, जो पहाड़ी प्रदेशमें प्रयोगमें आती थी और जिसमें खुदे हुए कई शिलालेख कॉगड़ेमें मिले हैं और शारदा, जो कश्मीरकी लिपि थी, किन्तु पडोसी होनेके नाते पंजावमे भी कहीं कहीं प्रयोगमें आती थी।

कई लोग यह भी समदाने हैं कि पजाबी साहित्य केवल सिख-जातिका अपनाया हुआ है। इस बातसे इनकार नहीं कि पिछले तीस वर्षोंसे इसकी ओर अधिक रुचि सिखोंकी है, किन्तु पंजाबी साहित्यके निर्माणमें गैर-सिख लेखकोंने कहीं अधिक भाग लिया है। पंजाबीके प्राचीनतम लेखक, जिनका कान्य हमें मिलता है, फरीद शकरगजी मुसलमान थे। इस तरह पंजाबीके इतिहासमें एक समय ऐसा आया, जब सिख-जातिकी प्रतिभा संस्कृत और प्राकृतकी ओर अधिक अप्रसर हुई। गुरु गोविन्द सिंहके दरवारी कवि पुरातन भाषाओंमें लिखकर प्रसन्न थे। गुरुजीने स्वयं पंजाबीमें बहुत कम कविता लिखी है। ऐसे समयमे गैर-सिखोंने ही इस भाषाको आश्रय दिया।

पंजाबी भाषाका शब्दकोश चाहे कितना भी पुराना हो, किन्तु जिस बोलीको आज इस पंजाबीके नामसे पुकारते हैं उसका पहला लेखक, जिसका कलाम इसारे हाथ लगा है, वह फरीद शकरगंजी है। बाबा फरीद अपने समयके प्रसिद्ध फकीर थे। इनका पूरा नाम इजरत फरीदुद्दीन मसकद शकरगंजी था। इनका जन्म सन् ११७३ ईं०में

हुआ। फरीटकी कवितामें लहेंदीका स्थानिक रंग है। फारसी भागका भी कुछ-कुछ प्रभाव है, इसलिए कि इन लोगोंको काबुलसे पंजाव आये अभी थोडा ही ममय हुआ था। फरीदकी सारी कविनामें एक भावुकता है जो मिक्तयुग-के वाद म्फियोका उन्माद बनकर प्रकट हुई। प्रकृतिका प्रम और परमात्माका प्रेम फरीदकी कविताके कुछ विशेष विषय है। फरीदने अधिकतर इलोक लिखे है।

पंजाबी भाषाकी रौलीको और अधिक निखारनेवाल भक्ति-युगके कि थे। इनमे गुरु नानक, गुरु अर्जुन और भाई गुरुदासकी बहुत-सी किनताएँ मिलती हैं। इन सबका एक अपना रंग है, एक अपना स्वाद है। भक्ति-युगके कि वर्थोंने भगवान्की एकतापर जोर दिया। राम-रहीममे, उन्होंने कहा—कोई फर्क नहीं। कट्टर ब्राह्मण मत और इसलाममे भक्ति आन्दोलन एक प्रकारका समझौता था। इन किवयोंकी तौडनेपर वडा जोर दिया गया। चाहे थे रीतियाँ धार्मिक थीं, चाहे साहित्यक थीं अथवा चाहे साधारण जीवनके प्रति थीं। किनतामे इस प्रकार किनत्त, सवैया आदि पुराने छन्दोंके स्थानपर वारहमाह, वार, सद, घोडी आदि साधारण जीवनले सम्बन्ध रखनेवाले छन्दोंको अपनाया गया। यह वह समय था, जब पंजाबमे मुगलोंके आक्रमण हो रहे थे या अभी होकर हटे थे।

इस प्रकार भगवान्के गुण गानेवाले गुरुओंक पश्चात् गुरुओंके शिष्य उत्पन्न हो गये। ईश्वरके प्रेमसं मनुष्योमं दिखाई देते ईश्वर-प्रेमने स्फी मतको जन्म दिया। यथार्थमं स्फी मत इसलामका वह अंग है, जिसपर भारतके भक्तिमत और वेदान्तका वड़ा प्रभाव पड़ा। इस स्फी वातावरणके कारण छायावाद आया। इल्लेशाह, शाहहुन्नेन, सुल्तान वाहुअली हेंदर, करमअली शाह, शेख शरफ, गुलाम जीलानी, हाशिम हिदायतुल्ला और गुलामरसल इस समयके कुछ प्रसिद्ध कवि थे। बुल्लेशाहके काफियोमे वर्णन चाहे घरेलू, वस्तुओंका और साधारण हश्योंका होता है, किन्तु उनके पीछे हमेशा कोई उच्च अर्थ अथवा गहरा भेद होता है। स्फी कविना इश्वर-हकीकोकी कविता थी, किन्तु इस ईश्वरके प्रेमको सांसारिक प्रेमके परदेमें रखकर गाया जाना था।

इस प्रकारके ईश्वरप्रेमके वातावरणमें उत्पन्न हुई किविताके परचाद् यह आवश्यक था कि इसकी प्रतिक्रिया होती और इस प्रकार पंजाबी किवतामे एक नया युग आरम्भ हुआ। इस युगके लगभग सबके सब किवयोंने इश्क-भाजाबीका वर्णन किया है। उन्होंने हीर-राझॉ, मिर्जा-साहिबॉ, सस्सीपूनॅं, कामरूप, सोहनी-महिवाल आदि किस्से लिखे। इन किवयोंकी वर्णनशैली बहुत सुन्दर है। दामोदरका लिखा हुआ हीरका किस्सा सबसे पुराना माना जाता है। अपनी किवतामें वह वार-वार कहता—"आख दामोदर में अखीं डिठा।" ऐसे प्रतीत होता है कि यह कि हीरा-राझाँका समकालीन था। वारिसशाहने ३५ वर्षकी अवस्थामें हीरका किस्सा लिखना आरम्भ किया। कहते हैं, मागमरी नामकी एक लडकीको यह किव प्रेम करता था और हीर-राझाँके किस्सेमें उसने अपने प्रेमको गाया है।

वारिसशाहकी शैली अभीतक पंजाबीमे अत्यन्त लोक-प्रिय है।

किक रूपमे हाशिम वारिमगहिम कदापि कम नहीं था। हाशिमने शीरां-फरहाद, लैला-मज नूँ, सोहनी-महि-वाल, सस्सी-पुन्नू आदि कई किस्से और कुछ दोहरे लिखे। शब्दोंका संयम, वर्णनका वहाव और पात्रोके हृदयके कोमल भावोंका ज्ञान हाशिमकी किवनाकी विशेषताएँ हैं। विरहके भावकी हाशिमने जहाँ कहीं भी अंकित किया है, बहुत सफलतासे किया है।

गाह मुहम्मदके साथ हम उन्नीसवी शतीके मध्यमे पहुँच जाते हैं। शाह-मुहम्मद महाराजा रणजीत सिंहका दरबारी किव था। शाह मुहम्मदने पहली बार पंजाबीम ऐसी किवता लिखी, जिसे ठीक देश-प्रेमकी किवता कहा जा सकता है। पंजाबी देशसे प्रेम, पंजाबकी धरतीसे प्रेम, पंजाबकी परम्परासे प्रेम, पंजाबके सिपाहियोंसे प्रेम, पंजाबके सरदारोंसे प्रेम। पंजाबके श्राह मुहम्मदके शत्रु थे, चाहे वे मुसलमान ही क्यों न हो।

नवीन पंजावी साहित्य उस मानसिक वातावरणका परिणाम है, जो प्रथम महायुद्धने विशेष रूपसे उत्पन्न किया था। युद्ध-प्रचार और पंजावी सिपाहियोके मनोरंजनको सामने रखकर साहित्य-निर्माण किया गया। युद्धमे बाहर गये पंजावी सिपाहियोंने द्सरोंके जीवनमे झॉका, उनके मनोरंजनोंका अध्ययन किया; ठौटे हुए पंजावियोको अवकाश था, प्रान्तका साहित्य इस वातावरणमें निखरकर प्रगतिशील हुआ।

प्रथम महायुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था कि सिंहसभाकी लहर जोर पकड गयी। इस लहरका मन्तव्य था—सिख-मत और सिख-सभ्यताका प्रचार और इनको अलग करके विभिन्न रूपोसे दर्शाना। इस जमानेमे गैर-सिखोसे वाद-विवाद हुए, ट्रैक्ट छपे, समाचारपत्रों द्वारा जनतामें जागिन उत्पन्न की गयी।

साहित्यिक दृष्टिकोणसे इसका यह लाम हुआ कि पजावी गद्य निखर गया। इसमे पहले प्राचीन गद्य-रचनामे कविता-सा स्वाद है।

इसके पश्चात् अकाली लहरका युग आरम्भ हुआ, यह एक प्रगतिशील युग था। जहाँ सिखोंने अपनी सभ्यता, संस्कृति और अपने सम्प्रदायके लिए रक्तपात करके अपने गौरवको सुरक्षित रखा, वहाँ अपने प्रान्तके साहित्यमे भी उन्होंने प्राण फूँक दिये।

इन दोनो लहरोंके साथ स्क्लोंकी संख्या पंजाबमे बड़ रही थी। पिरुचमकी नवीन प्रवृत्तियोके साथ जनताका परिचय बढ रहा था और पंजाबी जीवनमें एक ताजगी-सी आ रही थी।

ठीक इसी समय भाई वीर सिंह और भाई मोहन सिंह वैद्यने अपने साहित्यिक जीवनका आरम्भ किया। वीर सिंह नवीन पंजाबी साहित्यके प्रथम किन हैं और किवता जैसी आकर्षक, परन्तु सरल-सीधी गख-रौलीमें इन्होंने सिख-हितहास और सिख-दर्शनको जनताके सामने रखा। स्पष्टता और सरलता वीर सिंहके कान्यकी भी विशेषताएँ हैं। उन्होंने पंजाबीमें मुक्तक किवताको जन्म दिया और पहली बार एक लम्बी कान्य-रचना सिरखण्डी छन्दमें की । 'राणा पृत मिंह' एक मफल रचना है। 'बिजलियों दे हार लहरों दे हार', 'मटक दुलारें' बीर सिंहकी कविताक कुछ-एक संग्रह हैं, जिनमे कविका दर्शन और कान्य-कला अपने शिखरपर पहुँच गयी है। बीर सिहने पहले पंजाबी कवितामें किता, बैन आदि जैसे लम्बे छन्द ही प्रयोगमें लाये जाने थे। साई साहबने सिख-गुरुओं अनन्तर पहली बार परिचमी प्रवृत्तियोंने प्रमःवित होकर छोटे और सरल रूपमें निवाह जानेवाले छन्दोंमें कविता लिखी। बीर सिंहक दर्शन समझनी विचार सिख-दर्शनमें भिन्न नहीं। कि जीवनको उलास समझना है और सभी कवियोंक समान जब वह अपने इष्टके लिए ज्याकुल होता है तो उसकी आवाजमें मुफियोंस कही अधिक धरनीका स्पन्दन सुनाई देने लगता है।

उधर मोहन सिंह वैद्य एक गद्य-लेखक थे, जिन्होंने हर विषयपर रचनार की और एक एकाइमी स्थापित की, जिसके द्वारा संमारकी लगभग दो सौ पुस्तकें पंजावीमें रूपान्तरिन करवायी गयी। पंजावीमें इस आन्दोलनके कारण विद्यान और अन्य विषयोंपर भी पुस्तके मिलनी है। वैद्यजीकी लेखन-रौली सरल थी। इन्होंने कुछ उपन्यास भी लिखे है, जो केवल लम्बी कहानियोके प्रयामतक ही सीमित है। वास्तवमें भाई वीर सिह और मोहन सिह वैद्य नये पंजावी साहित्यके प्रारम्भिक स्तम्भ है।

इन दोनो कलाकारोकी छायामे पला और पनपा हुआ साहित्य प्रायः परम्परागत रहा है। हमेशा यह प्रयत्न किया जाना था कि किसी उद्देश्यको पेश किया जाय और कोई शिक्षा मुझार्या जाय। फिरोजरीन शरफ, विधाना सिंह 'तीर' और ज्ञानी गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर'की कविता इसी तरहकी थी। अधिक-से-अधिक ये कलाकार अपने कला-कौशलमें जनताको झक्झोर सकते थे और वस! इनकी कविताके भाव-विषय देश-प्रेम, अंग्रेजी राजमे नौकरशाही-की बुराइयोंनक ही सीमित थे या फिर प्रेमपूर्ण गाथाओंका ही वर्णन होता था।

लाला किरपामागरने 'लेडी ऑव द लेक'ने आधारपर 'लक्ष्मीदेवी' शीर्षक एक प्रवन्धकाव्य लिखा, जो दो भागोंमे प्रकाशित हुआ। विवरण-शैलीके दृष्टिकोणमे यह एक असून्य रचना है। इसी युगमे 'शकुन्तला' और 'विक्रमोर्वशीय' आदि नाटकोका अनुवाद हुआ, जो अत्यन्त सफल है। अनुवादक संस्कृतका शाता होनेके कारण कालिदासके साथ न्याय कर पाया। मौलिक नाटककारोमे ईश्वरचन्द्र नन्दा-लिखित 'सुभद्रा' और 'लिलेदा ब्याह', बजलाल शास्त्री-लिखित 'सावित्री सुकन्या' और 'पूरणनाटक' तथा बाबा बुधसिंहरचित 'दामिनी' और 'नार नवेली' जनसाधारणमें लोकप्रिय हुए। इन नाटकोके विषय रहे हैं-विधवा-विवाह और अञ्चनोद्धार आदि । मरदार नानक सिंहने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे है। इस लेखकने जनसाधारणकी रुचिको ध्यानमे रखकर लिखा है। इसने तीन गरुप-संग्रह भी प्रकाशित किये, जो उसके उपन्यासोंके समान कथानकके चुनावकी विशेषताके कारण लोकप्रिय है।

आधुनिक पंजाबीका सम्पूर्ण साहित्य उर्द् और हिन्दीके

माजित्यने सर्वथा अञ्चन रहा है। साहित्यक पंजाबी स्पाजित्यने संबंध अञ्चलीमें ही प्रभावित होते रहे हैं। त्यालमा कालेन, अस्तनसर मिखोकी सबसे बड़ी संख्या होनेके साथ-साथ बहुत दिनोसे पंजाबी साहित्यकारोका केन्द्र भी रहा है। प्रिंमियल लोध मिह, प्रिंमियल तेजा सिह, प्रिंमियल तेजावी साहित्यको स्वाची साहित्यको सिह, सिह, प्रांची साहित्यको लेखान देलीका अनुकरण किया है। नये अस्पनेवाल कलाकारोंकी रचनाओको भी अंग्रेजी भाव-रौलीके अनुसार ही आलोचनाकी कमीटीयर जांचते आये हैं।

१९३६ र्इंग्सं प्रगितशोल माहित्यिकोकी एक कान्फ्रेंस लखनऊमे हुई। प्रायः उसी समय 'लिखारी' नामक एक मासिक पत्र मोहन मिहके सम्पादकत्वमे निकाला गया। नये पंजावी माहित्यके पुराने-से-पुराने नमूने इसी पत्रमे मिलते हैं। आजकलके प्रगितशील कलाकारोंने पहली बार 'लिखारी'में ही लिखना आग्म्म किया था। मोहन सिंह-की प्रगितशील कविताएँ भी सबसे पहले इसी पत्रमें प्रकाशित हुई। सन्त सिंह मेखोंकी नथी शैलीकी कहानियाँ 'प्रेमी दे नियाणे' और 'मॅझ्थार' आदि 'लिखारी'में हो सबसे पहले छपीं। 'पंज दरया' नामक पत्र मोहन सिंहकी उसी लगनका एक दूसरा उदाहरण है। वास्तवमे कुछ दिनों वाद 'लिखारी'का नाम बदलकर 'पंज दरया' पाठकोंको भेजा जाने लगा था।

उस समयतक नये लेखकोने यह बात पूरी तरह अनुभव कर ली थी कि जिस तरहकी कविता फीरोजवीन शरफ लिखता है, जिस प्रकारकी कहानियाँ जोशुआ फजलदीनने लिखी और जो नाटक किरपासागरने प्रस्तुत किये, वे प्रगतिशील साहित्यके मापदण्डोपर पूरे नही उत्तरते। लेकिन जो पेरिसमें कहा गया और जिसे लखनऊमें भी दोहराया गया, उसे न पादचात्य लेखक अभीतक हृदयंगम कर सके थे और न हम।रे देशके कलाकार ही।

नये पंजाबी लेखकों में अमृता प्रीतमने प्रतीकात्मक हौलीका शायद सबसे अधिक प्रयोग किया है, इसलिए कि वे नारी है। एक नारीकों जो किव हैं और अपनी किव-ताओं में जीवनपर व्यंग्य करती है, कही ऐसी बात कहनी होती है, जिसे यदि हमारे समाजकी कोई साधारण नारी कहे तो अच्छा नहीं समझा जाता।

पंजाबीमें कहानीका जन्म सही अथों में सन् १९३५-३६ ई०मे ही हुआ था। उस युगकी पंजाबी कविताकी प्रती-कात्मक शैलीने गद्यमें चेतनाकी अन्तर्धारा (stream of consciousness)का रूप ग्रहण किया। किसी पात्रसे कुछ कहलवाना इतना सरल नहीं, जितना उसकी उपचेतनाका अध्ययन करके उसमें समा जाना। इस तरह समय, स्थान और वास्तविकताके बन्धनोंसे ऊपर उठकर कई बार लेखक कम-मे-कम शब्दोंमें, वह कुछ कह सकता है, जो यों ही किसी पात्रमें कहलवाना असम्भव-सा प्रतीन होना है। पाइचाल देशोंमें इस शैलीका कवितामें भी प्रयोग किया गया। इमार देशके उर्द्के कि भीराजीने चेननाकी धारको अपनी रचनाओंमें इस सि सुधरतामें निखारा। पंजाबीमें इस तरहकी

किता कम लिखी गयी, किन्तु पंजाबी कहानीमे इस नवीननाको महण करके उसके सुन्दर प्रयोग किये गये। जव उर्द्मे हसन अस्करीकी प्रसिद्ध कहानी 'हरामजादी' छपी, उसमे पहले पंजाबीमे इस प्रकारकी कहानियाँ छप सुकी थी। हमारे देशमे चेतनाकी थाराकी चर्चा पाइचात्य उपन्यासकार जेम्म जॉयसके प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलिसिस' के द्वाग हुई थी। 'सबेर सार' कहानी-संग्रहमे इसी नामकी कहानी चेतनाकी थाराके आधारपर ही लिखी गयी। एक सुबह एक नौजवान सोकर उठता है। पलंगपर लेटेन्लेट उसे जो-जो ख्याल आते है, उन्हीं ख्वालोंकी लड़ी अन्तमे एक कहानी बन जाती है। 'आन्द्रा' नामक उपन्यासमें जमीदारको यह पता लगता है कि जिसको वह मरवा रहा है, वह उसीके ख्नका खून है, उसीके अंगका अंग है—इस द्वन्द्ध, इस उलझनको लेखकने चेतनाकी लहरके द्वारा ही व्यक्त किया है।

नये लेखकोने यह भी सोचा कि साहित्यको जीवनके निकट होना चाहिये। हमारा साहित्य सामान्य जीवनका, वह जैसा भी है, दर्पण होना चाहिये। फलतः हमारे नये लेखकों और कलाकारोंने जीवनकी साधारण-से-साधारण घटनाओको, धिनौने-से-धिनौने पहलुओको, भेदे-से-भेदे पात्रोको चित्रित करना आरम्भ कर दिया। इस तरह एक तो वे यह दिखाना चाहते थे कि उन्होंने पुराने वन्धनोको तोड़ फेका है और दूसरे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि हमारे चारो ओर धृलि-धृसिरत जीवन भी कलाका विषय बन सकता है। बस, वे जिन्दगीकी नालियोको उलीचने लगे। समतल और सुन्दरको उखाडकर उसके नीचेकी सुद्दांकी गन्दगीको सजा-सवारकर, उस भद्देपन और उल्झनको सविस्तर प्रस्तुत करने लगे।

सन् १९४६में एक बार दृष्टिकोण फिर बदला और यह फैसला किया गया कि प्रगतिशील साहित्य वह है, जिसमें प्रतिदिनके साथारण जीवनको विकासोन्मुख दिखाया जाय, जिसमं जीवनकी स्वस्थ भावनाका चित्रण हो, जीवनके स्वस्थ मूल्योको उभारा जाय; लूट-खसोट, गन्दगी, अन्ध-विश्वाम, अज्ञान, भूख और वीमारियोंके प्रति घृणा पैदा की जाय । स्वस्थ साहित्य वह है, जिसमें इन्सानकी इन्सानियत-को उमके सारे उपकरणोंके साथ सजा-सँवारकर प्रस्तुत किया जाय; कला और जनसाधारणके बीच जो खाई है, उसे पाट दिया जाय । स्वस्य साहित्यमें नकारात्मक चरित्र नहीं होते, गन्दी बात करके मजा नहीं लिया जाता। स्वस्थ साहित्यमें जीवनकी वास्तविकताको उसकी सन्दरता और उसके स्वस्थ उद्देश्योंके साथ चित्रित किया जाता है। 'लइ-मिट्टी' नामक उपन्यासके पात्रोंमे आम आदमियोकी सामान्य सुन्दरता झलकती है। इस उपन्यासके पात्र इसलिए अच्छे नहीं कि वे निर्धन, भूखे है और उनके प्रति हमारे हृदयमें दया पैदा होती है, वरन् इसलिए कि वे प्राने बन्धनों, रीतियों और जीवनके अस्वस्थ मूल्योंकी उपेक्षा करके नयी राहोंपर विचरना चाहते हैं।

देशके विमाजन और उसके साथ हुए अत्याचारोंने कई प्रगतिशील साहित्यिकोंकी कड़ी परीक्षा ली। उर्दूके प्रसिद्ध साहित्यिक सञादत इसन मण्टो और इसन अस्करी जैसे मुस्लिमलीगी हो गये, हमारे कुछ पंजावी साहित्यकोने भी पाकिस्तानी नमक और फर्लोका वायकाट कर दिया।
साम्प्रदायिक झगडाकी वावत पंजावी साहित्यमे कुछ
लेखकोने सारा अपराध मुसलमानीपर थोपा है, किन्तु इसमे
समझदार पाठक सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कह्योने जहाँ
मुसलमानोको तुरा-भला कहा है, वहीं साथ-साथ हिन्दू
और सिखोंकी भी निन्दा की है। इस तरह जान-वृझकर
केवल दोनो पार्टियोमें अपराधको बॉटना कुछ बनावटी-सा
माल्म होता है। कह्योंने इस अत्याचारका उत्तरदायित्व आदमीके अन्दरकी पैशाचिक प्रवृत्तिको ठहराया
है नेताओके माथे दोष मदा है। अमृता प्रीतमकी
साम्प्रदायिक वारेमे प्रसिद्ध किवता इस विषयपर एक
मुलझा हुआ उदाहरण है—

"अज आखाँ वारिम शाह नूँ कित्ते कबरा विचो बोल

इक रोई सी थी पंजाब दी, तूँ लिख लिख मारे बैण अज लक्खाँ थीओं रोदियाँ, तैनूँ वारिस शाह नूँ कैहण वे दर्द मन्दाँ दया दिंदी उठ तक अपना पंजाब अज बेले लाशों विच्छियाँ, ते लहू दी भरी चिनाव"। [आज वारिस शाहसे कहती हूँ, कहीं कहोंमेसे बोलो

एक रोई थी वेटी पंजावकी, तुम करूण गान लिखते चले गये, आज लाखो वेटियों रोती है, वारिस शाह, और तुमसे कहती है, ओ दुखियोंके हमदर्द उठ देख अपना पंजाब आज जंगलमें लाशें विछी हुई है और चनाब खुनसे भरपुर है।

'अग खणवाले' नामक कहानी-संग्रहमं साम्प्रदायिक झगडोके बारेमें ही लिखा गया है। इसमें रावलिए जी-काण्डसे लेकर महात्मा यान्धीकी हत्यातकके रक्तिम युगका चित्रण है। नानक सिंहके दो उपन्यासोंका विषय भी यह साम्प्रदायिक भावना ही है।

अगस्त, सन् १९४७ई ०में देश स्वतन्त्र हुआ। लाखों बेघर हो गये, लाखो जाने चली गयां। हमने मन्दिरोंको जलते देखा, मरिजदोंकी ईंट-से-ईंट हमारे सामने बजायी गयी। अमृता प्रीतमने 'मेरी इकरारोंवाली रात' नामक एक कविता लिखी, पर मोहन सिंह मानते हैं कि सही स्वतन्त्रता तमी मिलेगी, जब हम इस मुखमरीके अभिशापसे मुक्त होंगे, जब हमारी टरिद्रताकी काली चादर उतर जायगी।

ग्वतन्त्रना एक लाभ अवस्य हुआ । हमारे साहित्यिकोंने स्वतन्त्र देशके लेखकोंकी तरह सोचना आरम्भ कर
दिया । मोहन सिंह, प्रीतम सिंह सफीर, अमृता प्रीतम,
कर्तार सिंह दुग्गल आदि साहित्यिक जनसाधारणके पास
आकर खड़े हो गये हैं और उनके साथ हो रहे अन्यायकी
बात दुनियाको पुकार-पुकारकर सुनाने लगे है ।

नया पंजानी साहित्य आज बड़े योग्य और समर्थ हाथों-में हैं। प्रथम बार साहित्यके सभी अंगोंकी समान रूपसे उन्नति हो रही हैं। जहाँ आज सुरेन्द्रसिंह नरुला पंजावी जीवनको सुचार रूपसे अपने उपन्यासोंमें चित्रित कर रहा है, जहाँ बलवन्त गागीं पंजावी रहन-सहनको अपने नाटकों में स्वस्थ ढंगसे अंकित कर रहा है, वहाँ मोहन सिंह सफीर, अमृता प्रीतम आदि पंजाबीके कवि ऐसे कान्यका सर्जन कर रहे है, जिसपर कोई भी साहित्य गर्व कर सकता है। —क० सिं० दु०

पक्षधर साहित्य (partisan literature) — पक्षधर साहित्य क्तुन्य (partisan literature) — पक्षधर साहित्य क्तुन्य साहित्य नहीं होता, किन्तु मार्क्मवादियों के अनुमार हर एक साहित्य पक्षधर साहित्य है। इस साहित्य का माथदण्ड वे आश्रिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो इसकी प्रेरक शक्तिया है। — रा० म० त्रि० पतत्यकर्प — दे० 'शब्द-टोप', मानवीं 'वाक्य-टोप'।

पताका—यह प्रामंगिक कथाके दो प्रकारोमेंने एक है। रूपकमें दूरतक चलनेवाली जो मानुबन्ध कथा आविकारिक कथाके सहायताथें आती हैं वह पताकाके नामने अभिहित की जाती हैं। दशरूपककारने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा हैं "सानुबन्धपताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्" (१११३)। रामाथणकी कथामें सुग्रीव एवं विभीषणका वृत्तान्त पताका है, वह दरतक चलती रहती है, वह नायक या अधिकारिक पताका-चित्रकी भाँति आधिकारिक कथाका पोषण करती है। पताकाका नायक अपना होता है और वह पताका-नायक कहलाता है। 'प्रसाद'के 'स्कन्दरभुत'में मालवकी कथा पताका है और उसका नायक बन्धुवर्मा पताका-नायक है।

पताकास्थानक - दशरूपककारने पताकाके साथ ही पता-कास्थानककी व्युत्पत्ति करते हुए वत्तलाया है--- "प्रस्तृता-गन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिस्चकम् । पनाकास्थानकम् तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥" (द० रू०, १।१४) । भावार्थ यह कि "जहाँ किसी प्रमंग द्वारा आगेकी कथा मनित की जानी है वहाँ 'पताकास्थानक' होना है। कहीं तो यह अन्योक्ति-पद्धतिपर होता है, कहां समासोक्ति-पद्धतिपर"। 'दशरूपक'की 'चन्द्रकला' टीकामे इसे अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। कभी-कभी रूपकमें भावी घटनाका संकेत किया जाना है। यह संकेत पताका या ध्वजकी तरह भावी बृत्तका सचक होना है। यह सूचना दो प्रकारमे दी जाती है, एक तो घटनाओंकी समानताके आधारपर और दूमरी प्रस्तुत और भावी घटनाओं के वर्णनमें प्रयुक्त समान विशेषणोंके आधारपर। प्रथममे अन्योक्ति या अप्रस्तुत-प्रशंसाका आश्रय ग्रहण किया जाता है और दसरीमें समासोक्तिका । दशरूपककारने अन्योक्ति-आधृन पताका-स्थानकका उदाहरण 'रहावरी'से उदधृत किया है ''यातोसि पश्चनयने समयो ममैष सुप्ता मथैव भवति प्रतिबोधनीया । प्रत्यायनामयमितीवसरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥" अर्थात् "हे कमल-से नेत्रवाली, मेरे जानेका ममय आ गया है, मैं जा रहा हूं, प्रातःकाल में ही तुम्हें जगाऊँगा। अस्ता चलके शिखरपर आखिरी किरणोंको रखे हुए सूर्य पश्चिनीको इसी प्रकार प्रतिबोधित करता हुआ। अपने प्रत्यावर्तनका विस्वास दिला रहा है"।

यहाँ सूर्य-पश्चिनीके अन्योक्तिमय वर्णन द्वारा उदयन-रत्नावली-वृत्तान्तकी व्यंजना पताकास्थानक है।

समान विशेषणपर आधृत पताकास्थानकका उदाइरण भी दशरूपककारने 'रत्नावली'से ही दिया है—"उहामीत्क-लिकां विपाण्डरहचं प्रारब्धजम्भां क्षणादायामं श्वसनोब्गमैर-

विः लेरातन्वतीमात्मनः । अधोयान् लतामिमां समदनां नारी सिवान्यां अवं पश्यन्कोपविषाटलयतिमखं देव्याः करिष्याम्य-हम"। "मै चरकती कलियोंवाली, पीले रंगवाली, खिलती हुई इस उपवत-लताको देख रहा हुँ, जो वायके निरन्तर वेगके कारण अपनी विशालताको व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पौधोंसे आवृत है। इसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि में कामवामनासे उत्कण्ठित, पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, सकामा दसरी स्त्रीको देख रहा हूँ जो निरन्तर निःश्वास ले-लेकर अपनी कामपीडाको व्यक्त कर रही हो। अतः में ऐसी कल्पना करता हूँ कि इस लताकी देखकर में अन्य स्त्रीको देखनेके समान देवी वासवदत्ताका अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराधसे में निश्चय ही देवीके मखको क्रोधसे आरक्त कान्तिवाला बना दँगी'।

यहाँ लताका वर्णन करते हुए समान विशेषणोंके आधार-पर जिस नायिकाकी सचना दी गयी है। वह 'रतनावली'से सम्बद्ध भावी वृत्तका सन्देह करती है। यह दूसरे प्रकारका पताकास्थानक है।

ऊपर 'दशरूपक'के आधारपर पताकास्थान कके दोनों भेडोंका उल्लेख किया गया। किन्त भरत और विश्वनाथने पताकास्यानकके चार भेद माने हैं। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथने एक प्रकारसे भरतको ही उद्धरणी प्रस्तुत की है। भरतके मतानुसार पताकास्थानक निम्नलिखित चार स्थानींपर होता है-(१) जहाँ अकसात प्रेमानुकल उपचारके कारण उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो, (२) जहाँ श्विष्ट शब्दों द्वारा नायिकादिके मगलकी सूचना प्राप्त हो। (३) जहाँ वक्ताका अर्थ तो अन्यक्त हो, पर इलेषत्वेन एक निरचयकी सचना देता हो, (४) जहाँ दो अधीवाले शिष्ट वचन-विन्यासकी योजना हो और प्रधानेतर अर्थकी प्रतीति होती हो (ना० शा०, २१: ३१: ३५)।

विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इसके चार भेदोंका उल्लेख करते हुए लिखा है-"सहसैवार्थसंपत्तिर्गणवत्यपचारतः। पताकास्थानकमिटं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ वचः सातिशय-श्चित्रनानाबन्धसमाश्रयम् । पताकास्थानकमिदं परिकीर्तितम् ॥ अथौपश्चेपकं यत्त लीनं सविनयं भनत् । श्रिष्टप्रत्यत्तरोपेतं त्रतीयमिद्मच्यते ॥ द्वयथी वचनविन्यासः सक्षिष्टः काव्ययोजितः। प्रधानार्धान्तराक्षेपी पताकास्थानकं प्रम् ॥" (सा० द०, ६ : ४६ : ४९) ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विश्वनाथने भरतकी उद्धरणी प्रस्तत की है। विश्वनाथके चार भेद वे ही हैं. जिनका उल्लेख भरतने किया है (इनके उदाहरणके लिए 'साहित्यदर्पण'का तत्सम्बन्धी प्रकरण देखिये)। हिन्दी नाटकों में पताकास्थानकके भेदोंको हुँ निकालना कदाचित असम्भव ही है। --ब॰ सि॰

पति-दे॰ 'नायक' (शृंगार)।

पत्रगीति-दूरस्य प्रियके पास पत्र लिखकर सन्देश भेजनेकी प्रथा प्राचीन है। प्राचीन-कान्यमें सेघ, हंस आदिको दत बनाकर सन्देश भेजनेके निदर्शन हुए हैं। इस प्रकारके सन्देशोंमें मनोगत मान, आकुल दशा और शारीरिक क्षीणताकी अमिन्यक्ति हुई है। सन्देश-काब्य पत्रगीतिका पूर्वरूप है। सन्देश कार्क्योंमें मेशदृत अधिक प्रसिद्ध

है, जिसका व्यंग्यातमक रूप 'रेल-दृत' नामक हिन्दी रचनामें प्रकट हुआ है। पत्रगीतिके रूपमें भी शक-तलाका दुःयन्तको पत्रलेखन महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि वह स्वतन्त्र अथवा मुक्तक न होकर नाटकका अंशमात्र है। कबीरदास-को पत्र लिखनेकी अपेक्षा नहीं हुई, क्योंकि "प्रीतमको पतियाँ लिखँ जो कहँ होय विदेस। तनमें मनमें नैनमें ताको कहा सन्देस"। मीराँने भी इसे स्वीकृत करते हए कहा था-"सबके पिय परदेश बसत है लिखि लिखि भेजें पाती । मोरा पिया हिरदयमी बसता, गुँज करूँ दिन राती"। सरकी गोपियोंने जो सन्देश भेजे. वे लिखित नहीं थे. क्योंकि "मसि खटी, कागद जल भीज्यो, सरदौ आगि जरें"। श्रीकृष्णने गोपियोंको पत्र लिखा था, जिसके सम्बन्ध-में सरकी उद्घावना है-"निरखत अंक स्यामसन्दरके बारि बारि लावत छाती, लोचन जल कागद मिस मिलि कै है गयी स्याम स्यामकी पाती"। आधुनिक कालमें भी रवि वर्माके चित्रोंका परिचय देते हुए मैथिलीशरण गुप्तने 'शक-न्तलाका पत्र लेखन' शीर्षक कविता लिखी थी, किन्त उसमें गीतिकाव्यत्मकता नहीं । प्रकृत पत्रगीति जनार्दन-प्रसाद झा 'दिज'ने 'टटा हार' (६ अक्टबर, १९२७ ई०) शीर्षकसे लिखी, जो 'चाँद'के पत्रांकमें प्रकाशित हुई थी और जिसकी प्रथम पंक्ति थी-'देव, मेरी दनियाके देव"। छायाबादकालमें पत्रगीतियोंको अधिक प्रेरणा मिली, किन्त यह रूप अधिक विकसित न हो सका। उदाहरणोंके लिए डे॰ 'गीतिकाव्य'। -रा० खे० पा० पत्र, पत्रसाहित्य-हिन्दीमें अखबारको समाचारपत्र और विविध प्रकारकी मैगजीनोंको साहित्यिक पत्र, धार्मिक पत्र, राजनीतिक पत्र आदि कहा जाता है। अखबारों-मैगजीनोंके साथ पत्र शब्द जोड़ देनेका कारण सम्भवतः यह होगा कि पत्र, अर्थात 'लेटर' किसी बातको एक व्यक्तिसे दसरे व्यक्तितक या एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचानेका माध्यम है। पत्र शब्दका प्रयोग प्रस्तुत सन्दर्भमें लेटरके ही अर्थमें किया जारहा है।

जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके पास कोई प्रत्यक्ष सन्देश भेजे तो उसे पत्र कहेंगे। आधनिक पत्र सामान्यतः लिखित होता है, बातचीतकी शैलीमें लिखा जाता है और डाक द्वारा भेजा जाता है। प्राचीन कालमें पत्र किसी मध्यस्थके हाथों भेजे जाते थे और यह मध्यस्थ-सन्दे-श्वाहक, पत्रवाहक, दूत या कासिद-सन्देश पानेवालेको सन्देश पढकर सनाता था।

पत्र आत्मीय वार्तालापका स्थान तभी ले सकता है, जब भेजनेवाले और पानेवालेके बीच कोई तीसरा व्यक्ति न हो। मध्यस्थके होनेपर पत्रकी सहज अनौपचारिकता तथा हार्दिकता नष्ट हो जाती है और पत्र केवल औपचारिक सन्देश रह जाता है। यों प्रत्येक पत्र अनौपचारिक या निजी नहीं होता, बहुतसे पत्र खुले अथवा सार्वजनिक भी होते हैं। ये भले ही किसी एक व्यक्तिको सम्बोधित हों, पर पत्र-लेखकका उद्देश्य यही रहता है कि सब इन्हें पढ़ सकें। ऐसे पत्रोंमें या तो किसी विषयका विवेचन होता है या वे उपदेशात्मक होते हैं।

डेमेट्रियसके अनुसार पत्रमें मैत्रीपूर्ण भावना अन्तनिहित

होनी चाहिये और शैलीकी दृष्टिने पत्र सचा, सरल, संक्षिप्त और सादा होते द्रुप भी भन्य होना चाहिए । मध्य युगमें, पिट्चममें, पत्र-लेखनको लेकर काफी साहित्य रचा गया । मैत्रीपूर्ण भावना और शैलीके स्थानपर पत्रमें वक्तृत्व-कला और अलंकरणको स्थान दिया जाने लगा। पत्र बोझीले और शैलीप्रधान हो गये, क्योंकि पत्र लिखते समय पत्र पानेवालींकी मर्यादाका ध्यान रखना आवश्यक समझा जाने लगा।

सन्तोषका विषय यह है कि आधुनिक समयमे पत्रने मैत्रीभाव और सादी शैंळीको पुनः अपनाकर अपना सम्बन्ध क्लासिकल परम्परासे जोड लिया है।

हिन्दीमें बहुत कम पत्र-साहित्य पुस्तक-रूपमे प्रकाशित हुआ है, किन्तु पत्र-पत्रिकाओं महत्त्वपूर्ण लोगोंके पत्र यदा-कदा उद्धृत होते रहते हैं। पत्रोंको हम दो वर्गोमे वॉट सकते हैं। एक तो निजी पत्र, जो प्रकाशनके उद्देश्य-से नहीं लिखे जाते और दूसरे ऐसे पत्र जो वाह्यतः पत्र होते हुए भी वास्तवमे साहित्यिक कृतिके रूपमें लिखे तथा प्रकाशित किये जाते हैं। हिन्दी पत्रिकाओमें प्रकाशित होनेवाले ऐसे जिस पत्र-साहित्यको ख्याति मिली, उसमे वाल्स पुत्र-द गुप्तके 'भारतिमत्र'में प्रकाशित 'शिवशम्भुके चिट्टें' और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक द्वारा 'चॉद'में प्रकाशित 'दुवेजीकी चिट्टों प्रमुख हैं। तत्कालीन वायसराय लाई कर्जनके नाम लिखे गये शिवशम्भुके चिट्टोंने उस समयके पाठकोंमें तहलका मचा दिया था। इन चिट्टोंमें देशके सर्वोच्च शासक, वायसरायकी बड़ी तीत्र आलोचना की गयी थी।

महातमा गांधी द्वारा लिखे गये २५,०००के लगभग पत्र गांधी-सारक निधि द्वारा एकत्र किये गये है। इस समय स्क्म-वीक्षणयन्त्रसे इनकी फिल्मे और फोटो-प्रतियाँ तैयार की जा रही है। व्यवस्थित और सम्पादिन हो जानेके बाद ये पत्र समस्त प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित किये जायँगे।

किसी व्यक्ति और उसके जीवनको समझनेके लिए उसके पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूत्र हैं। हमारे देशमें पत्रोंका यह महत्त्व धीरे-धीरे पहचाना जाने लगा है और प्रमुख लेखको, नेताओं तथा अन्य विभूतियोंके पत्रोके संकलनका कार्य प्रगति कर रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—पिताक पत्र पुत्रीके नाम: जनाहरलाल नेहरू; द्विवेदी पत्रावली: सं० बैजनाथ सिंह 'विनोद'; बालमुकुन्द गुप्त स्मारक श्रन्थ: सं० झावरमछ शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी; ग्रुप्तजीने जो पत्र लिखे और पाये थे, उनमेंसे कुछका संकलन। पद्मसिंह शर्माके पत्र: बनारसीदास चतुर्वेदी!]—अ० कु० पद्परार्धवकता (प्रत्ययवकता)—(प्रत्यय=सुप् और तिङ् नकता = वैचिन्य) पदके पूर्वार्थ, अर्थात् प्रातिपदिक और धातुके प्रयोग-वैचिन्यकी मॉति पदके परार्थ, अर्थात् सुप् और तिङ् प्रत्ययक तिचित्र प्रयोग मी काव्य-कलाकी एक विशेषता है। 'प्रत्ययक ता'के कई एक प्रकार हैं, जिनमें संकृतके कि सिद्धहस्त हैं। प्रत्ययक ताका पहला प्रकार संक्याचे विजय (संख्याचे विजय (संख्याचे विजय पर्वार्थ विजयविद्या संख्याचे विजय (संख्याचे विजयविद्या विवार पर्वार्थ विज्याविद्या हैं। हैं,

जिसमे वचनके विचित्र विन्यासने कान्य-बन्धकी शोभावृद्धि हुआ करती है, जैसे "फुल्लेन्दीवरकाननःनि नयने पाणी सरोजाकराः", अर्थान् उसकी आँखें खिले नील कमलेंकी बीधियाँ है और हाथ लाल कमलोंके झुण्डके झुण्ड है और हाथ लाल कमलोंके झुण्ड के झुण्ड थे अप्ड थे इममें दिवचन और बहुवचनका सामानाधिकरण्य सहृदयोंके कल्पना-नेत्रके सामने एक अद्भुत सौन्दर्यका दृश्य उपस्थित कर रहा है। क्योंकि इसीके द्वारा किन यहाँ नायिकाके नयन-युगल और बाहु-युगलका वह अद्भुत सौन्दर्य प्रकाशित कर देता है, जिसमे नीले और लाल कमलोंके वनके वनका मौन्दर्य एक साथ झलक उठता है और भावुक हृदयोंमे कोमल भावना भर जाती है।

कारकके विन्यास-वैचित्र्यके कारण दूसरे प्रकारकी प्रत्ययवकता (कारकविन्त्र्यविहितप्रत्ययवकता)की सृष्टि होती है, जिसमे रसभावके परिपोषके लिए चेतन पदार्थके योग्य क्रियाके कर्ताके रूपमे अचेतन पदार्थका उपनिवन्ध किया जाता है, जेमे "विनु गोपाल वैरिन भई कुंजे" (सरदास)मे चेतन पदार्थके योग्य 'वैरी होने—शत्रुता करने'की क्रियाके कर्ताके रूपमे 'कुजो' (अचेतन पदार्थ)का उपनिवन्ध किया गया है, जिससे विप्रलम्भका एक चमत्कार-पूर्ण परिपोष हो रहा है।

प्रत्ययवकताका तीसरा प्रकार वह है जिसे, 'पुरुप-वेचित्र्यविहिन' प्रत्ययवक्रता कहा गया है। यह वक्रता कवियोके ऐसे प्रयोगोंम दिखाई दिया करती है, जिनमें भावपरिपोषके लिए मध्यम और उक्तम पुरुषके बदले अन्य पुरुष अथवा प्रातिपदिकका प्रयोगचनत्कार रहा करता है, जैसे 'साकेत'के कविकी इस स्कि—''हे आर्य! रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी शिल गया अकण्टक राज्य उसे जब तब भी शिंम 'मुझे'के बदले 'उने'के प्रयोगने भरत की आत्म-निवेद-भावना अत्यधिक उत्कटतासे प्रकाशितकी

प्रत्ययवक्रताका चौथा प्रकार, जिसे पदमध्यप्रत्ययवक्रता कहा गया है, वह है जिसमे पदके मध्यमे आये कृत् प्रभृति प्रत्यय वर्ण्य विषयके औचित्य और सौन्दर्यके वर्धक प्रतीत हुआ करते हैं (प्रस्तुनौचित्यविच्छित्ति स्वमहिम्ना प्रकाशयन्। प्रत्ययः पदमध्येऽन्यामुह्णासयति वक्रताम्" (व० जी०, २:१७)। उदाहरणके लिए, इस संस्कृत काव्यम्कि—"दोर्मूलाविधमुत्रितस्तनमुरः स्निद्यस्व हत्याक्षे दशौ"मे 'स्निद्धत्काक्षे' पदके मध्यमे वर्तमानकालनाचक 'शन्' (अत्) प्रत्ययके प्रयोगसे किसी सुन्दरीकी नत्काल्यमण्य तिरछी चितवनोंवाली ऑखोकी सुन्दरताका हृदयहारी दश्य उपस्थित किया जा रहा है।

प्रत्ययवक्रताका पाँचवाँ प्रकार कालचे विश्यवक्रता है, जिसमें तिं ब्रु आदि प्रत्ययके वाच्यार्थ, अर्थात् वर्तमान आदि काल, वर्ण्य विषयके सौन्दर्यके परिपोषक होनेसे स्वयं सुन्दर हुआ करते हैं—"औचित्यान्तरतम्येन समयो रमणीयताम्। याति यत्र भवत्येषा कालवैतित्रयवक्रता" (व० जी०, २: २६) जैसे कि सरदासकी इस स्कि—"उपमा हरि तन देखि लजाने। कोउ जलमें कोउ वनहिं रहे दुरि कोऊ गगन समाने"में 'लजाने' (लजा गये) आदिके 'ने' (प्रत्यय)के वाच्यार्थ अर्थात्, मृत कालके वैचित्रयमें कृष्णके

अंगप्रत्यक्षके उपमानोंकी वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी सत्ताकी सभी सम्भावनाए दूर की जा रही है और कृष्ण-का नित्य निम्पम रूप निखर उठता है।

प्रत्ययवकताका छठा प्रकार वह है, जिसे उपग्रह-वैचित्र्यवक्रता कहा गया है। 'उपग्रह' कहते है आत्मने-पदी और परस्मैपदी धातुओके यथानियम किंवा प्रसंगोचिन प्रयोगको (व० जी०, २: ३०)। इस प्रकार वर्ण्य विषयके औचित्यसे आत्मनेपद अथवा परस्मेपदके प्रयोगवैचित्र्यका नाम उपग्रहवकता है ("पदयोरुभयोरेकमौचित्याद् विनि-युज्यते । शोभायै यत्र जल्पन्ति तामुपग्रहवक्रताम्" (व॰ जी०, २: ३१) । जैसे कि कालिदासकी इस सक्ति (रघु-वंश ९, ५२)- "तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षीः, कुर्णान्तमेत्य विभिद्रे निविडोऽपि मुष्टिः । त्रासातिमात्रचढुलैः सारयत्स नेत्रैः, .प्रौडप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥" अर्थात् "शिकारी दशरथकी, बाणपर कसी मुद्दी, मृगोंके आगे पड़ते ही ख़ल जाती रही, क्योंकि उनके त्रस्त और चंचल नेत्र अन्तःपुरकी मृगनयनी नारियोंके कटाक्षोंकी याद दिला-दिलाकर महाराजको आत्मविस्मृत करने लगे"में 'विभिदे'-के आत्मनेपदके प्रयोगवैचित्र्यसे 'मुठ्ठीके स्वयं खुल-खुल जाने'का जो अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है, उससे यह समस्त काव्यवन्ध सुर्शित और मनोहर हो उठता है।

सातवाँ प्रत्ययवक्रता-प्रकार प्रत्ययान्तरवैचिश्यवक्रता है, जिसे तिड आदि प्रत्ययसे विहित अन्य प्रत्ययके प्रयोगसौन्दर्थमें देखा जा सकता है-"विहितः प्रत्ययादन्यः प्रत्ययः कमनीयताम् । यत्र कामपि पुष्णाति सान्या प्रत्ययवक्रता" (व० जी०, २:३२)। जैसे कि इस संस्कृत स्कि-"लीनं वस्तुनि येन स्क्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरां कृष्यते, निर्मातं प्रभवेनमनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः। वन्दे द्वाविप तावहं कविवरौ बन्देतरां तं पुनर्थो विज्ञानपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावनारक्षमः,'' अर्थात् "उन दोनों प्रकारके कवियोंकी वन्दना करता हूँ, जिनमें एक तो अपनी कविनासे सूक्ष्म सुन्दर वस्तुओंके निगृढ स्वभाव-सौन्दर्यको बाहर प्रकाशित कर देता है और दूसरा उसके बलपर एक विचित्र संसारकी सृष्टि कर डालता है। किन्त उनसे भी बढ़े उस सहदयकी और भी वन्दना करता है, जो इन दोनों प्रकारके कवियोंकी कृतियोंका मर्म जानता है और उनके परिश्रमका मोल समझता है में', 'वन्दे'के तिङ् प्रत्ययसे विहित 'तरप्' प्रत्ययका विचित्र विन्यास 'सहदयता'के प्रति यहाँ कविकी उन-उन भावनाओंका प्रकाशन कर देता है, जिन्हे वह अपने मनमें सँजीये —स॰ ब॰ सिं॰ पद्वार्घवकता- (पद = सुबन्त अथवा तिडन्त + पूर्वार्घ = प्रातिपदिक अथवा धातु + वक्रता = विन्यासविचित्रता) 'पदपूर्वार्घवकता'का अभिप्राय है 'प्रातिपदिक' अथवा 'धातु' शब्दका विन्यासवैचित्रय । यह भी काव्यकी एक पहचान है। इसका विश्लेषण काव्यसक्तिमें होता है और इसके विश्लेषणसे कविकी काव्यक्ला-कुश्लताका पता चलता है। इसके अनेकानेक प्रकार हैं, जिनमें १. रूढिवैचित्र्यवक्रता रूदि शब्दोंके ऐसे प्रयोगोमें दिखाई दिया करती है, जिनसे सहदय कान्य-पाठकके हृदयमें उन शब्दोंके वाच्यार्थसे विलक्षण अर्थ भासित हुआ करते हैं। रूढिशब्दोंके विचित्र विन्यासकी दो विद्येताएँ हैं-पहली वह, जिसे 'धिमगत' रूढ़िवैचित्र्यवकता कहा गया है और दूसरी वह, जो 'धर्मगत' रुढ़िवैचित्र्यवक्रता कही गयी है। 'धर्मिगत' रूढि-वैचित्र्यवक्रतामे संज्ञाशब्दोंके लोकप्रसिद्ध 'न्यक्ति'रूप अर्थ, यथावसर, नानाविध अभिन्यंग्य धर्मोंसे सर्वथा ओत-प्रोत लगा करते हैं और 'धर्मगत' रूढिवैचित्र्यवक्रतामे रूढिशब्द अपने वाच्य 'व्यक्ति'रूप पदार्थके अद्भुत, अलैकिक धर्म अथवा स्वभावके प्रकाशक प्रतीत हुआ करते हैं। रूढ़ि-वैचिन्यवक्रताका कारण कविकी एक विचित्र इच्छा है, जो किसी उद्देश्यसे, कभी किसी वस्तुके प्रति अलौकिक सम्मान-भावना प्रकट किया करती है—"लोकोत्तरितरस्कारइलाव्यो-त्कर्षाभिधित्सया" (व० जी०, २: ९) । धर्मिगत रूढि वैचित्र्यवक्रताके उदाहरणके लिए, आनन्दवर्धनकी यह सक्ति—''तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदर्थगृंह्यन्ते। रवि-किरणान् गृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि"। यहाँ कमलपदमें 'रूढिवैचिन्यवक्रता' है, क्योंकि कवि कहता है-"वे ही कमल कमल हैं, जो सर्वकी किरणों द्वारा अनुगृहीत होते है"। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कमल' शब्दसे जलज-मात्रका अर्थ विवक्षित नहीं, अपित अलौकिक मंगलमयता, विचित्र रमणीयता आदिकी विशेषताओंसे विशिष्ट कमलका अर्थ अभिष्रेत है। धर्मगत रूढिवैचिन्यवक्रताका उदाहरण यह सक्ति लीजिये "देखी मैने आज जरा। हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा"(मैथिलीशरण ग्रप्त: सिद्धार्थ)। यहाँ 'जरा'का रूढ़ार्थमात्र, अर्थात् 'बुढ़ापा'का ही अर्थ नहीं प्रतीत होता, अपित इस अर्थसे स्वभावतः सम्बद्ध किंवा कवि-विवक्षित अन्य अभिप्राय, जैसे कि प्रेम और सौंदर्य-के समस्त भावोंका अनिवार्य विनाश, जीवनका नीरस अवसान आदि-आदि भी प्रकाशित हो जाते हैं और निवेंद-का महाभाव उत्कष्ट हो उठता है।

पदपूर्वार्धवक्रताका दूसरा प्रकार पर्यायवक्रता है, जिसकी अनेक विशेषताएँ हैं। 'पर्यायवक्रता'की एक विशेषता वह है, जिसमें कोई पर्याय शब्द-वह शब्द, जिसके समानार्थक और भी शब्द व्यवहृत हो सकते हैं-अपने वाच्य अर्थका अन्तरंग मित्र-सा—'अभिषेयान्तरतमः पर्यायः (व० जी०, २: १०) लगा करता है। जैसे कि तुलसीकी इस उक्ति 'अव चित चेतु चित्रकूटहि चलु' (वि० प०)में 'चिन' पद । यहाँ मन आदि और समानार्थक शब्दोके होते हए भी कविने 'चित' पद ही प्रयक्त किया है, क्योंकि यही पद ऐसा है, जो सचेत किये जानेवाले चिन्तनप्रवण अन्तः-करणके अर्थका अन्तरंग-सा लग रहा है। पर्यायवक्रताकी दसरी विशेषता वह है, जिसे पर्याय रुब्दका, अपने अभिधेय अर्थको, एक लोकोत्तर उत्कर्षसे पोषित करना कहा गया है- 'अभिधेयस्यातिशयपोषकः पर्यायः' (व० जी०, २: १०)। जैसे कि सुरदासकी यह सुक्ति "जब मोहन मुरली अधर धरी। गृहव्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी"। यहाँ 'मोहन' पद अपने अभिषेय 'कृष्ण' अर्थको उसके लोकोत्तर उत्कर्ष-स्वर्गीय संगीत-नैपुण्य, गोपीहृदयवशी-करणसामध्ये आदिसे भरता प्रतीत हो रहा है। यह भी पर्याय-बक्रताका ही एक प्रकारवैचित्र्य है, जिसमें कोई पर्याय

शब्द, स्वयं अथवा अपने विशेषणपदके सम्पर्कते, अपने अभिषेय अर्थको, अपने रमणीय अर्थ-वैचिन्यसे विसृषित करता प्रतीत हो—"स्वयं विशेषणेनापि रम्यच्छायान्तर-स्पर्शात् अभिषेयमळं तर्तुमीश्वरः पर्यायः" (व० जी०, २: १०)। उदाहरणके लिए 'साकेत'को इस उक्ति—"हा लाल! उने भी आज गॅवाया मेने"मे 'लाल' पद स्वयं अपने अभिषेय 'पुत्र'स्प अर्थको, अपने अन्य अर्थ—जैसे कि पश्रागमणि आदिको कमनीयता और महार्घतासे अर्लकृत करता हुआ कैकेयीको दीनताको और भी दयनीय बना रहा है।

पर्यायवक्रनाकी तीसरी विशेषता 'उपचारवक्रता' है। काव्य-साहित्यमें 'उपचारवकता'के अनेक रूप दिखाई देते हैं। इसका एक रूप वह है, जिसमें वर्ण्य पदार्थपर दूमरे पदार्थके धर्मका आरोप दिखाई दिया करता है, जिससे सौन्दर्य-प्रेमी कविकी समदृष्टिका परिचय मिला करता है। अचेतन पदार्थपर चेतन पदार्थके धर्मका आरोप, मूर्तपर अमूर्तके सौन्दर्यका आरोप, द्रव पदार्थपर तरल पदार्थके स्वभावका आरोप आदि-आदि इस उपचारवक्रनाके बहुविध वैचित्र्य हैं। जैसे कि सरदासकी इस सुक्ति—"अखियाँ इरिदरसनकी भूखी"मे 'ऑखोंपर'पर चेनन प्राणीके धर्म 'भख'का आरोप एक काव्यात्मक वैचित्र्य है, क्योंकि इसीसे इरिदर्जनके लिए आँखोंकी वेचैनीका निगृढ अभिप्राय प्रकाशित हो सकता है। उपचारवक्रताका दूसरा रूप वह है, जो रूपक प्रभृति अर्जकारोंके चमत्कारका प्राणरूप हुआ करता है — "यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः" (व॰ जी॰, २:१४)। जैसे कि तुल्सीदासकी सुक्ति-"एक राम धनश्याम हित चातक तुलसीवास"मे 'राम'पर 'श्याम धन' तथा 'तुल्सीदास'पर 'चातक'के आरोपसे दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थीमें जो अभेदभावना प्रकाशित हुई है, उससे 'उपमेय' और 'उपमान'की अभेद-कल्पनाको प्रोत्साहन मिल रहा है, जिससे राम-रिनकी अभिन्यक्ति अनायास, किं वा उत्कट रूपसे हो उठती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वनिर्दिष्ट उपचारवक्रतामे तो एक पदार्थपर दूसरे पदार्थके धर्मका आरोप हुआ करता है, जिसका कारण उन पदार्थोंका किंचिन्मात्र साद्दय हो सकता है, किन्तु यहाँ दो स्वभावतः भिन्न पदार्थीमें अभेद-भावनाका पोषण किया जाता है, जो कि उनके पर्याप्त साम्य-दर्शनसे ही सम्भव है।

पर्यायवक्रताकी चौथी विशेषता 'विशेषणवक्रता'के रूपमें दिखाई देती है। विशेषणवक्रता महाकवियोंकी शैलीकी एक बहुत बड़ी विशेषता है। विशेषणवक्रतामें कारक-विशेषण और क्रिया-विशेषण दोनोंके विचित्र विन्यासका अभिप्राय अन्तर्भृत है। 'विशेषण'के विन्यास-वैचिन्यसे क्या वस्तु-स्वभाव, क्या रस-समुन्मेष और क्या अलंकार-सौन्दर्य, सभी-के-सभी अत्यधिक मनोहर लगा करते हैं। उदाहरणके लिए इस स्कि—"मुरली लक्जुटवारे चन्द्रिका मकुटवारे, दुरित हमारे दरौ राधिका रमनजू"में 'राधिकारमन' (कृष्ण)के लिए प्रयुक्त 'मुरली लक्जुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' हिष्णों के लिए प्रयुक्त 'मुरली लक्जुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' हिष्णों के लिए प्रयुक्त 'मुरली लक्जुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' हिष्णों के लिए प्रयुक्त 'मुरली लक्जुटवारे' और 'चन्द्रिका मकुटवारे' मिह्नों महिमासे यहाँ 'राधिकारमन'के प्रति कविका

प्रेयसी-प्रेम और राधिकाके सौभाग्यके प्रति स्वर्गीय ईर्ष्या-भाव एक विचित्रतासे झलक उठता है। इसी भाँति एक भाव-समाहित कविकी इस उक्ति "सह न सके जब वे चिर-सजग ब्योमकी कान्ति", "एक दिन हूँ दने निकले दो विहरा""में 'निर-सजग'का विचित्र विशेषण-विन्यास 'ब्योम'के उस अनिभेंच रहस्थका उन्मीलन कर देता हैं, जिसके उद्भेदनमें इन्द्र और वृत्र-युद्धकी वैदिक करपना उत्पन्न हुई थी।

पदपूर्वार्धवकताका तीसरा प्रकार संवृतिवकता है। संवृतिवकता अभिप्राय किसी वस्तुके लिए, उसके अली-किस सौन्दर्यके प्रकाशनार्थ, वाचक पदके वदले 'सर्वनाम' पदका प्रयोग-वैचिन्य है। एक कविकी इस उक्ति—''वया प्यारके वे पल ही जगका महान् कलक''मे 'वे'का प्रयोग इसका एक सुन्दर उदाहरण है, वयोकि इसीकी महिमासे 'प्यारके पल'वी अनुभूति, किन्तु अवर्णनीय उत्कण्ठा, उत्कट रूपसे अभिव्यक्त हो उठती है।

पदपूर्वार्धवक्रताका चौथा प्रकार वृत्तिवंचिन्यवक्रता है, जिसका अभिप्राय विषय अथवा भाव-सौन्द्यंके अनुरूप समास, कृत् आदि वृत्तिके प्रयोगका वैचित्र्य है।

पदपूर्वार्धवक्रताका पाँचवाँ प्रकार लिंगवंचित्र्यवक्रता है। इसके भी कतिपय रूप-वैचित्र्य है, जिनमे एकार्धवाची भिन्न लिगवाले पदोंमें स्त्रीलिंग पदका प्रयोग विशेष महत्त्व रखना है। जैसे कि तुलसीदासकी इस स् कि—"नयन सरोज मयन सरसोके" (गीतावली)मे 'सर'के बदले 'सरसी'- का प्रयोग 'लिंगवक्रता'का एक सुन्दर निदर्शन है, क्योंकि रामके बाल-रूपके प्रति वात्सल्यभावकी स्कुमार योजना जितनी इससे सम्भव है, उतनी इसके समानार्थक पुलिंग पदके प्रयोगसे नहीं।

पदपूर्वार्थवक्रताका एक और भी सुन्दर प्रकार है, जिसे कियावैचिश्यवकता कहा गया है और जिसके रूप-पंचकमें कविकी क्रियायोजनाका सौन्दर्य दिखाई दिया करता है। इसका प्रथम रूप 'क्रिया' पदकी योजनाका वह वैचित्र्य है, जिसमें 'क्रिया' पद 'कर्ना'का अन्तरग-सा प्रतीत होता है 'कर्तुरत्यन्तरंगत्वम्' (व० जी०, २: २४)। जैसे कि 'उपमा एक न नैन गहीं' (मूरदास)में 'गहीं'का जो प्रयोग है, वह यहाँ के विषयकी औचित्य-महिमासे, 'नैन'-(रूपग्राहक इन्द्रिय)के प्रति अत्यन्त अन्तरतम-सा लग रहा है। 'क्रियावैचित्र्यवक्रता'का दितीय रूप वह है, जहाँ कोई 'क्रिया' कर्नुपदके योगने विचित्र लगा रखती है। जैसे कि 'नीले वितानके तले दीप बहु जागे' (साकेत)मे 'जागे'-की क्रियाका 'सौन्दर्य' इसके कर्तृपद 'दीप'के सम्बन्धसे विलक्षण बन जाता है, जिससे यहाँ प्रस्तुत निस्तब्ध वाता-वरणकी विचित्रता और भी अधिक झलक उठती है। क्रियावैचित्र्यवक्रताके तीसरे रूपमें क्रियाविशेषणके द्वारा 'क्रिया'में सौन्दर्यका आधान दिखाई देता है। जैसे कि "फहर रहे थे केतु उच्च अट्टोपर फर-फर" (साकेत)में 'फर-फर'के कियाविशेषणसे पताकाओके 'फहरने'की कियाका सौन्दर्य पूरा निखर उठता है। क्रियावैचिन्यवक्रताका अति मुन्दर रूप वह है, जिसमें क्रियापदसे उपचार-सौन्दर्य **शलका करता** है। जैसे कि 'जीती जीती है रन

इंसी' (स्रदास)मं 'वंसी'के लिए प्रयुक्त 'रण जीतने'की क्रियाते 'बंमी'पर 'प्रेयसी व्यवहार'का आरोप स्पष्ट झलक उठता है और कविकी कृष्णरतिका आनन्द बह निकलता है : —स० व्र० सिं० पदमध्यप्रत्ययवकता -दे॰ 'पद्परार्धवक्रता', चौथा प्रकार । पद्वक्रता (अब्युत्पन्न पदः उपसर्ग और निपात-वकता)-पटपूर्वार्थ और पदपरार्धवकता तो उन पदोंके विचित्र विन्यासमे देखी जाया करती है, जो कि 'नाम' और 'आख्यात' रूप पद हुआ करते है, किन्तु 'उपसर्ग' और 'निपात' पद भी, जिन्हे इसलिए अन्यतपन्न पद कहा जाता है क्योंकि वे प्रकृति-प्रत्यय विभागकी सम्भावनासे परे रहा करते है, अपने विचित्र उपनिबन्धसे रसमावके विचित्र परिपोषक हुआ करते हैं। रसभावके विचित्र परिपोषमें समर्थ 'उपसर्ग' और 'निपात' पदोंकी विन्यास-विच्छित्तिका ही नाम 'पदवक्रता' (अन्युत्पन्न पदः उपसर्ग और निपात-वक्रता) है, जैसा कि कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित-कार)ने कहा है-"रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः। वाक्येकजीवितत्वेन साऽपरा पदवकता ॥" (२, ३३), अर्थात पदके पूर्वार्ध और अपरार्धकी वक्रता अथवा विचित्रतासे अनूठी वह पदवक्रता है, जिसमें 'उपसर्ग' और 'निपात'के ही द्वारा कान्य-बन्धमें न्याप्त रसभाव छलक पड़ता है। उदाहरणके लिए स्रदासकी इस स्कि—"ॲखियॉ अतिहि अजान भई''मे 'अतिहि' पद (अन्युत्पन्न) अत्यधिक चमत्कार-जारक है, क्योंिक इसीकी महिमासे मोहनकी रूप-माधरीके प्रति विस्मित कवि-हृदयका रहस्य खुल निकलता है। ─स॰ ब्र॰ सिं॰ पद-शैली-यह कह सकना सरल नहीं है कि किस निश्चित समय काव्य-रचनाकी यह गेय शैली प्रचलित हुई। सिद्धों-के चर्या-पदोंसे इसका इतिहास जोड़ा जा सकता है। परन्त इसके विकासका मूल स्रोत लोक-गीतोंकी परम्परा ही मानी जा सकती है। वस्तुतः हिन्दीके मात्रिक छन्दोंके विकासमें भी लोक-छन्दोंका आधार था और मात्रिक छन्द लोक-गोतों-की प्रकृतिसे पूरा मेल रखते हैं। हिन्दी पद-शैलीमें विभिन्न छन्दोंका प्रयोग उनके अनेक मिश्रित रूपोंमें हुआ है, इनका निरिचन चिह्न- 'टेक' भी मात्रिक छन्दका ही चरण रहता है। पद-शैलीके साथ दूसरी समस्या संगीतशास्त्रकी है। प्रायः पदोंके साथ किसी-न-किसी 'राग'का निर्देश मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कविने पद-र चनाका आधार राग विशिष्ट रखा था या पदविशेष उसी रागर्मे गाया जा सकता है। आधुनिक संगीतज्ञ तो इन पदोंको भिन्न रागोंमें ही निश्चित करते हैं। वस्तुतः इन निटेंशोंका अभिप्राय यही हो सकता है कि सम्प्रदायमें इन पदोंको गाये जानेकी यह विशिष्ट पद्धति रही है। इन पदोंमें संगीतका समन्वय अवस्य है, पर ये राग-प्रधान नहीं माने जा सकते, क्योंकि राग स्वर और तालप्रधान होते हैं, परन्तु इनमें प्रधानता भावाभिन्यक्तिकी है। इन पदोंमें सामान्य छन्दोंसे अधिक मार्मिकता तथा व्यंजनाके साथ रूप-सौन्दर्य तथा भाव-सौन्दर्यको अंकित किया गया है। पदोंकी प्रकृति सामान्य मुक्तनोंसे भिन्न है। 'टेक' इसका विशेष अंग है और इसमे पदके भाव-सत्तका केन्द्र रहता है। किसी भी पदकी टिक'में

यह देखा जा सकता है। सम्पूर्ण पदमें इस भाव-केन्द्रका प्रसार होता रहता है। मुक्तकर्म, विशेषकर रीतिकालके प्रसिद्ध छन्द कवित्त-सबैयामे भावोत्कर्भ क्रमिक रूपसे अय-सर होकर अन्तिम चरणमे परिसमाप्त होता है। परन्तु पद-शैलीमे भाव-चित्र अथवा मूल संबेदना गुम्फित होती हुई अपने प्रसारमे पाठकको या श्रोताको अभिभृत कर लेती है।

हिन्दी साहित्यमे पद-शैलीकी दो निहिंचत परम्पराएँ मिलती हैं। एक सन्तोक 'सबदो'की, जो वास्तवमें पद-शैलीमे ही प्रायः लिखे या गाये गये हैं। इस परम्पराका सम्बन्ध मिद्धोंके चर्या-पदोंसे सरलतासे देखा जा सकता है, क्योंकि सन्तोने भावना तथा प्रतीकोके क्षेत्रमें सिद्धों और नाथोंसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। दूसरी परम्परा कृष्ण-भक्तोंकी पद-शैली है, जिसका आधार लोक-पीलोंकी शैली होगा। विद्यापतिके पदोंके अत्यधिक लोक-प्रचलित रूप-से यह अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु यही नहीं माना जा सकता कि ये दोनो परम्पराएँ किसी स्तरपर समान नहीं है। लगभग सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं-मे भक्ति-भावनाकी अभिन्यक्तिके लिए पद-शैलीका प्रयोग मध्य युगमे हुआ है और इससे भी यही सिद्ध होता है कि पद-शैलीका विकास तत्कालीन लोक-पीतोंसे ही हुआ है।

कवीर, दादू, नानक तथा सुन्दरदास आदि अनेक सन्त कवियोने पद-शैलोका प्रयोग अपनी गम्भीर तथा सवन भावाभिन्यक्तिके लिए किया है। इन्होंने साखियों- का प्रयोग प्रायः सत्य-निरूपण, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदिके लिए किया है। पही कारण है लिए किया है। यही कारण है कि जिन सन्तोंमे कवित्व तथा भाव-प्रवणता विशेष है, वे अधिक सुन्दर पदोकी रचना कर सके हैं। कबीर और दाद्के पदोंका विशेष महत्त्व है। इन कवियोंने 'उलट-वॉसियों'की रचना भी पद-शैलोमें की है।

कृष्ण-काञ्यमे विद्यापतिने सर्वप्रथम पदशैलीका बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग किया है। यौतनके स्फुरण, सौन्दर्य तथा उद्वेगजनक प्रेम-विरहके चित्र उनके पदोंमे इस सजीवताके साथ अंकित हुए हैं कि जनता उनसे भाव-विह्नल हो उठी। इनके बाद सुरका सारा कान्य-व्यक्तित्व पदशैलीसे ही निर्मित हैं। उनके 'स्रसागर'का सम्पूर्ण कवित्वपूर्ण और सजीव भाग पदोंमें है। 'सूरसागर'में कथा-का एत्र लेकर भी स्रकी मौलिक प्रकृति मुक्त है और वे सौन्दर्य तथा भावनाके कुशल कवि है। पदशैली उनकी इसी प्रकृतिके अनुकूल है। वे सौन्दर्य-चित्रोंके अनेक पक्षोंको और भावनाके अनेक सूक्ष्म और सधन क्षणोंको अपने पदोंमें मार्मिकता तथा कुशलताके साथ अभिन्यक्त कर सके हैं। परमानन्ददास, कृष्णदास, नन्ददास आदि अष्टछापके कवियोंपर सूरकी स्पष्ट छाप है। पर पुष्टिमार्गके बाहरके कवियोंने भी पदशैलीमें ही अपनी भक्ति-भावनाकी व्यक्त किया है। इनमें मीराँबाईका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इनकी पदशैलीमें स्वच्छन्द मुक्ति है और सहज भावावेग है। अपने परोंके माधुर्यके लिए हितहरिवंशका नाम भी प्रसिद्ध है। आधुनिक कालमें भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रके पदोंमें स्रकी मार्मिकता मिळती है और सत्यनारायण कविरत्नके

पदोमें भी कोमल भावशीलता हैं।

राम-काव्यके अन्तर्गत तुल्सीदासने अपनी कुछ रचनां. पदशैलीम की हैं। 'कृष्णगीतावली'में उन्होंने कृष्णकी वथापर आधारित पद लिखे हैं, 'गीतावली'में राम-कथा पदोंमें गायी गयी हैं और यह तुल्सीकी उत्कृष्ट रचनाओंमें हैं। इसमें भावोकी मामिकता 'रामचरितमानस'से अधिक प्रभावचाली हैं; यह पदशैलीकी ही विशेषता हैं। उनकी 'विनयपत्रिका'का अधिकांश पदशैलीमें हैं (प्रारम्भमें स्तोत्रशैली हैं)। तुल्सीको पदशैलीमें समानरूपसे सफलता प्राप्त हुई है, इसमें सन्देह नहीं हैं। यद्यिप वर्तमान कालमें पदशैलीका प्रचार विलकुल नहीं हैं, पर सामान्य जनता और सुशिक्षित जनोंमें सामान्य रूपसे इनका प्रचार और आकर्षण हैं। इससे इस शैलीकी शक्तिका अनुमान रूगया जा सकता हैं।

पदार्थस्यरूपवक्रता-दे० 'वाक्यवक्रता'।

पद्धरि – मात्रिक समछन्दका एक भेद । 'प्राकृतपेगलम्'म पज्झलिया नामक छन्द दिया गया है, जिसके प्रत्येक चरण-में १६ मात्राएँ तथा अन्तमें जगण (SIS) व.हा गया है (१: १२६) । हिन्दोंमे यही छन्द पद्धरि कहलाया है। भिखारीदासने पद्धरि छन्दके प्रत्येक चरणको १६ मात्राका माना है और अन्तमे यगर (ISS)का निर्देश किया हैं, परन्त उदाहरणमे जगणका प्रयोग ही किया है-"नभ रैनि सबन तममय विसाल, पद अटकत कण्टक दर्भजाल" (छन्दो०, पू० २६)। भान कविने अवस्य पद्धिती परिभाषा यही देकर पज्झरिया नामक छन्द भिन्न माना है (छं० प्र०, पृ० ४८) । हिन्दीने इस छन्दका न्यापक प्रयोग हुआ है:--चन्द (पृ० रा०), सुर (मृ० सा०), तुरुसी (गीतावरुी), केशव (रा० चं०), मान (रा० वि०), सदानन्द (रा० भ०), सूदन (सु० च०), गुलाब (क० रा०) तथा बोधराज (ह० रा०)। चारणोंने वीर रसके प्रसगोमे, विशेषकर यद्भवर्णनके लिए इसका प्रयोग हुआ है। अपभ्रंशमें इस छन्दमे सामान्य वर्णनकी परम्परा थी। हिन्दीके कवियोंने भी वीर रसके अतिरिक्त अन्य प्रसंगोंमें इसका उपयोग किया है। मानने दहेजकी सामग्री, आभवण, सदनने वीरोंकी वंशपरम्परा तथा नामावली, जोधराजने आश्रयदाताकी प्रशंसा, ऋतु आदिका वर्णन इस छन्दमें किया है। तुलसीने 'गीतावली'मे होली-वर्णनके लिए पदमें इस छन्दका प्रयोग किया है-"'खेलत वसन्त राजा-थिराज । देखत नभ कौतक सुर समाज" (७: १२३)। सुदनका प्रयोग—"यो पर्यो सोर दिल्ली अपार । पुर लोग पुकारत बार-बार । (सु० चं०, ३१: १२:६) ।" इस छन्दमें ८-८ पर यति लगानेका नियम भी रहा है, पर हिन्दीके कवियोंने इसमे पर्याप्त छट ली है। कमी-कभी १०, ६पर यति है कभी किसी चरणमें ठीक यति है और अन्यमें नहीं । केशवके इस छन्दमे—"कपि शोभित सुमट अनेक संग। ज्यों पूरन शशि सागर तरंग" (रा० चं०, २१: ५६)में यतिका नियम लग सकता है। पद्म-दे॰ 'कमल'।

पद्मावती—मात्रिक समछन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैगलम्'-के अनुसार यह ३२ मात्राके चरणवाला छन्द है, जिसमें

१०, ८, १४ पर यित होती है। मानुने इसीके आधारपर अन्तमं दो ग्रक् (SS) तथा चौकलमं जगण(ISI)के न पडनेका निर्देश किया है। परन्तु 'पैगलम्'मं गुरुका आदेश यितयोपर ही है, अन्तमं नहीं। यह उदाहरणसे स्पष्ट है (१:१४४-५)। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है— "यद्यपि जग कर्ता, पालक हर्ता, परिपूरण वेदन गाये" (रा० च०)।

पद्मिनी-दे० 'महामुद्रा'।

पद्य-संस्कृत साहित्यशास्त्रमं अव्य काव्यका एक भेद । दे० 'साहित्यहप'। काव्य गद्य, पद्य या गद्य-पथके मिश्रित हपमे लिखा जा सकता है। पद्य-काव्यसे तात्पर्य है छन्दो-वद्ध काव्य-महाकाव्य, खण्डकाच्य, पद्य-निवन्ध, सुक्तक, गीति आदि। इस प्रकार पद्यका अर्थ होता है छन्दोवद्ध रचना। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे पदयुक्त, अर्थात् गण-मात्रायुक्त रचनाभे पद्य कहते हैं। इस प्रकार पद्य शब्द रचनाके वाह्य रूपका वोध कराता है, उसकी आन्तरिक प्रकृतिका कोई संकेत नहीं देता। अरस्तूने पद्य और किवताका अन्तर करके इसी और रुक्ष्य किया है (दे० 'क्विता', 'काव्य')।

परन्तु पद्य शब्दका प्रयोग किवताके लिए भी होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे अग्रेजीके वर्सका शाब्दिक अर्थ छन्दोबद्ध रचना (मीट्रिकल कम्पोजीशन), कोई एक छन्द या कोई एक छन्दोबद्ध पंक्ति होता है, फिर भी उसका प्रयोग किवता (पीएट्री या पोएम)के अर्थमे भी होता है। इसका कारण यह है कि काव्यकी अर्थ-व्याप्तिमें गद्ध-रचनाओंके समावेशके बावजूद किवता और पद्म बहुत-कुछ अभिन्नसे मान लिये गये हैं। पद्म और काव्यके अन्तरको स्पष्ट करनेके लिय न जाने कितना अहापोह हुआ है, परन्तु फिर भी दोनोंमे सम्बन्धकी कुछ ऐसी अनिवायता हो गयी है कि गद्यकी काव्यात्मक, अर्थात् सौन्दर्यवृत्तिपर आधारित सवेदनशील और रसात्मक रचनाओंको गद्य विशेषण जोइकर गद्य-किवता, गद्य-काव्य या गद्य-गीति नामसे अभिहत करना पड़ता है। — न्न० व०

पद्यनाटक — दे० 'कान्यनाटक' । पद्य-निबंध — दे० 'पद्य-प्रवंध' ।

पदा-प्रबंध-प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रमे प्रबन्धता अर्थ सर्गवन्ध कथात्मक काञ्य या कथा-आख्यायिका माना जाता था। रुद्रटन इसी अर्थमे प्रबन्ध शब्दका प्रयोग करते हुए लिखा है—'सिन्ति द्विधा प्रबन्ध काञ्यकथाख्यायिका-दयः''। इस तरह प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंके अनुसार महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथा, आख्यायिका, धर्मकथा, परिकथा आदि रसात्मक तथा वर्णनात्मक कथाएँ प्रबन्ध है। हेमचन्द्रने प्रबन्धको प्रबन्धका काव्यक्त भिन्न एक स्वतन्त्र काव्यक्त माना है और 'परप्रबोधनार्ध' लिखी गयी नीति या धर्म-सम्बन्धी उपदेशात्मक कथाओ, जैसे 'नलोपाख्यान' आदिको प्रबन्ध कहा है। परवतीं काल्मे ऐतिहासिक और विशिष्ट व्यक्तियोंसे सम्बन्धित निजन्धरी या सिन्त महन्ताओं-पर आधारित लघु कथाओको प्रबन्ध कहा जाता था, जैसे 'प्रबन्धकोश', 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरातनप्रबन्धस्वह'के प्रबन्ध। किन्त आधनिक युगमें प्रबन्ध शब्दका अर्थ परि-

्तित हो गया हैं। आजकल विचारात्मक, विश्लेषणात्मक और विवेचनात्मक गण्यद्ध रचनाओको, चाहे वे समीक्षात्मक हो या सेद्धान्तिक, प्रवन्य कहा जाता है। अब यह अग्रे जीको 'थीसिम' शब्दके अर्थम प्रयुक्त होता है। कभी-कभी प्रवन्य शब्दका प्रयोग निवन्थ (एसे) शब्दके समानार्थाके स्पमें भी होता है, किन्तु सामान्यतया निवन्थ और प्रवन्थका यह भेद मान्य हो गया है कि निवन्थ आकारमें लघु, अत्यधिक संघटित और समास-शैलीमें लिखा गया होता है और प्रवन्थ बड़े आकारका तथा व्याख्यात्मक होता है। इस तरह आजकलकी साहित्यिक मान्यताने अनुसार प्रवन्थ और निवन्थ विचारक्षेत्रके शब्द है, काल्य या कथा-क्षेत्रके नहीं। यद्यपि प्रवन्थकाल्य शब्दका व्यवहार आज भी होता है, पर केवल प्रवन्थ शब्द आज प्रवन्थकाल्य या कथा-आख्यार्थकाका बोधक नहीं रह गया है।

प्राचीन भारतीय आलंकारिकोंने पद्य-प्रबन्ध नामक कोई काव्यरूप नहीं माना है। पद्य-वद्ध शास्त्र-यन्थ तव भी लिखे जाते थे, पर उन्हें कान्य या साहित्यके अन्तर्गत नहीं माना जाता था। आधुनिक युगमें गद्य प्रधानतया विचार-विवेचनाका और पद्य भावाभिव्यंजनका माध्यम वन गया है। अतः आज गद्य-काव्य या गद्य-गीतके अतिरिक्त साराका सारा काव्य पद्य-बद्ध होता है। प्राचीन कालमें नाटक और कथा-आख्यायिकाको भी काव्य ही माना जाता था, पर अब उन्हें काव्य नहीं, गद्य-साहित्यके अन्तर्गत माना जाता है। फिर भी इस युगमे ऐसी पद्य-वद्ध रचनाएँ लिखी गयी है, जिन्हे न तो विशुद्ध काव्य ही माना जा सकता है और न पद्य-बद्ध शास्त्र ही कहा जा सकता है। ऐसी रचनाओंको पद्य-प्रवन्ध या पद्य-निवन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें आधुनिक युगमें गद्यमें लिखे गये विचारा-त्मक या भावात्मक प्रबन्धके गुण पाये जाते हैं। अंग्रेजी साहित्यमें एलेक्जेण्डर पोपकी रचनाएँ 'एसे ऑन क्रिटि-सिज्म' और 'एसे आन मैन' पद्य-प्रवन्थके उदाहरणके रूपमे रखी जा सकती है। पद्य-बद्ध होते हुए भी ये दोनों रचनाएँ क्रमशः समीक्षा और दर्शनकी विवेचना प्रस्तृत करती हैं और उन्हें विश्रद्ध काव्यकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता। पद्य-प्रबन्धमें बौद्धिक विवेचन और तर्क-पद्धतिका अधिक सहारा लिया जाता है और सुक्ष्म भावाभिन्यंजन तथा मार्मिक अनुभृतियों और दृश्योंके चित्रणका उनमें अभाव होता है। हिन्दीमे द्विवेदीयुगकी बहुत-सी पद्य-बद्ध रचनाएँ जैसे 'भारत-भारती', 'हिन्द' आदि अपनी इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकंता और बौद्धिक विवेचनाके कारण पद्य-प्रवन्ध-की कोटिमें आती हैं। वर्तमान युगके कवि रामधारी सिंह 'दिनकर'के काव्य-प्रनथ 'कुरुक्षेत्र'को भी कुछ विद्वानोंने पद्य-प्रबन्ध या काव्य-प्रबन्ध कहा है। 'कुरुक्षेत्र'में कथा-प्रबन्धका नितान्त अभाव है, फिर भी वह प्रबन्ध-कार्व्योंके समान लम्बा काव्य है, मुक्तक काव्य नहीं है। कथा-विहीन होनेपर भी उसका आकार बड़ा होनेका कारण यह है कि उसमें युद्ध और शान्तिकी समस्या तथा गान्धीवाद, समाज-बाद, निष्काम कर्म और संन्यास आदि विविध विषयोंपर बहुत ही विशदता और तर्कपूर्ण ढंगसे विचार किया गया

हैं। कविके शब्दोमे ही ''वस्तुनः 'कुरुक्षेत्र' युद्धकी मीमांसा है"। 'दिनकर'ने इम कान्यकी भूमिकामें स्वयं कहा है: "मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्मका प्रसंग उठाये विना भी कहा जा सकता था, किन्त तब यह रचना शायद प्रबन्धके रूपमे नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गयी होती, तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्धके रूपमें लानेकी मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। यही नहीं, 'इस प्रवन्ध कविता'मे व्यास और महाभारतका भी वन्धन नहीं है"। इस उद्धरणमे 'प्रवन्ध-कविता' शब्दका व्यवहार प्रवन्ध-काव्यके लिए नहीं, बल्कि पद्य-प्रवन्ध या काव्य-प्रवन्धके अर्थमें हुआ है और 'प्रवन्ध' शब्दसे कविका अभिप्राय कथा-प्रबन्ध नहीं, बल्कि विषयप्रधान विचारात्मक और विवेचना-त्मक प्रबन्ध या निवन्ध(थीसिस)मे है । पद्य-प्रवन्ध नामक काव्यरूप अधिक प्रचलित नहीं है और सम्भवतः इसीलिए हिन्दीके आधुनिक साहित्यशास्त्रियों द्वारा भी इस शब्दका प्रयोग अधिक नहीं होता है (दे० 'कविता')। --- शं० ना० सि० पनिहारिन-जातिविशेषका गीत । पनहरो या पनभरोंकी एक जाति होती है, जो गॉवके घरोंमें पानी भरती है, उक्त गीत इसी जातिसे सम्बद्ध हैं। पनभरोंकी एक जातिका नाम कॅहार है-इनके गीतको कॅहरवा कहते है। पनिहारिनके गीत कँहरवासे बहुत भिन्न नहीं होते। परंपरावाद - रू दिवाद या सनातनीपन या शाह्यतवादके नामसे परम्परावाद चला आ रहा है। यह विभिन्न रूपोंमे लकीर पीटनेवाला दर्शन बना है। साहित्यमे यह 'ट्रैडिश-नैलिज्म', अंग्रेजीमे 'एज ऑव रीजन'के कालमे 'इनसाइक्की-पीडिक्टस' रूपमे मिळता है । नन्दद्लारे वाजपेयी, गुलाव राय, नगेन्द्र इत्यादि स्पष्टतः परम्परावादी हैं। वे प्राचीन काव्यकास्त्रका आधार लेते है या व्याख्या करते हैं तो केवल नवीनका विरोध करनेके लिए। ये आलोचक 'स्टेटस-को-इन्म' (एतादशत्व)के संस्थापक होते है। नवीनमे जो भी प्रयोगशील, साहमिक या प्रगति-उन्मुख हो, वह उन्हें अच्छा नहीं लगता । इस परम्परा-प्रतिष्ठाके मोह-में कई बार मिथ्या प्रतिष्ठा और 'मीडियाक्रेसी' भी दाद पाने लग जाती है, क्योंकि परम्पराके कुछ अंश जीवित रहते हैं: जो सप्राण नवीनतममे घुल-मिल जाते हैं, जब कि परम्परा-का बहुत-सा हिस्सा काईकी तरह सड़ जाता है या सिर्फ जंग चढाता रहता है। वे पीले पत्ते या मृत सिद्धान्त आगे स्फूर्ति या प्रेरणा जगा नहीं सकते, चाहे उन्हे खर्णाभ कह लो या 'ममियों'की भॉति शब्द-रसायन मसालोंसे सजा-सँवारकर रख लो। परंपरित रूपक-दे० 'रूपक', सातवाँ प्रकार। परकीया (नायिका)-सामाजिक सम्बन्धोके आधारपर नायिकाका दूसरा भेद; जो स्त्री किसी अन्य पुरुषसे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करे । भरतने इसके स्थानपर कृत्यका शब्द

दिया है। 'अग्निपुराण'से इस भेदका निश्चित उल्लेख मिलता है। यह विभाजन सर्वस्वीकृत है। भानुदत्तने भी

'परगामित्वात्' परकीया माना है। केशवने इसे कृष्णके

सम्बन्धमें 'परब्रह्म परमात्माकी प्रिया' माना है-"सबर्ते

पर परसिद्ध जग ताकौ प्रिया ज होह"। (र० प्रि०, प्र० ३:

दर्भ । पर अन्य सभी आसारोने प्रिम वर्षे कपस्पमें (मतिराम), 'परपुरुपरत' (पद्माकर) माना है। किचित दृष्टिकोणका अन्तर अवस्य जान पडना है। कुछ लेखकोने परपरुपने प्रेमके उल्लेखके माथ अपने पनिका अवहेलनाकी बान भी कही हैं — "जाकी गति उपपति सदः पति सो रति गिन नाहि" (डेव: भा० वि०, परकीया) अथवा 'श्रंगारदर्पण'मे भी कहा गया है-- 'निजपनिवंचन'। इस परिभाषाके अन्तर्गत अनुदाकी स्थिति नहीं रह जायगी। मंस्कृत नाट्यशास्त्रके यन्थामे परकीयाकी स्थान नहीं मिला, 'दशरूपक'ने अन्य स्त्रीका उल्लेख अवस्य है। वस्तुनः संस्कृतके सम्पूर्ण साहित्यमें परकीयाका चित्रण प्रधान रूपने अथवा महत्त्वपूर्ण ढंगमे नही हुआ है। काव्यदास्त्र-प्रकृतिः मेस भी कुछमे परकीयाका प्रेम रसाभास माना गया है (मम्मट) । पर परकीयाका प्रेम अपनी गहराई तथा तीन्नतामे अधिक न्यक्त होता है, अतः कान्यशास्त्रियोंने रमाभासकी सीमामे केवल अत्यन्त अनुचित स्थलोको माना है।

हिन्दी साहित्यका रीतिकाल परकीया-प्रेमने भरा हुआ है, परन्तु इस सम्पूर्ण साहित्यमे नायक कृष्णको माना गया है। कृष्ण साहित्यमं गोपियोका प्रेम परकीया-भावका प्रेम हो है। विद्यापतिकी राधा परकीयाके समान ही भावविह्नल और उद्विग्न चित्रित की गर्था है। जयदेवका 'गीतगोविन्द' उनका आधार है, जिसमें राधा स्वतः परकीयाके रूपमे अंकित है। जयदेवने राधःके परकीया-रूपका मांसल तथा वासनामय चित्र प्रस्तन किया है, जो अपनी सौन्दर्यातुभूति तथा प्रत्यक्ष और सशक्त शैलीके कारण भक्तिभावनाकी प्रेरणा दे सका है। विद्यापतिकी राधामे शरीरके साथ भावना भी प्रधान है, उसमे वासना-की पीड़ा और वेदनाके साथ प्रेमीकी अनुभृति भी अभिव्यक्त हुई। बंगाली कवि चण्डीदासकी भावशीलना और प्रेमकी पीड़ा एक सीमातक विद्यापनिकी राधाम है, पर चण्डीदासकी राधामं द्यारिके स्थानपर हृदय ही प्रधान है। वस्तुतः चण्डीदासकी प्रेमभावना इसी कारण मक्तिके अधिक निकट है। सुरदासने राधाको स्वकीयाके रूपमें प्रस्तुत किया है और उनके आधारपर हिन्दीके अन्य भक्त कवियोंमे अनेकने ऐसा ही किया है, पर उनकी गोपियोंने परकीया-भाव है। इन भक्त कवियोने 'भागवतपुराण'का आधार इस प्रमंगमें लिया है। गोपियाँ कृष्णको परपुरुषके रूपमें स्वीकार करती हैं, पर वे उनकी दृष्टिमे अलौकिक पुरुष अथवा परमपुरुष हैं। रीतिकालके कवियोंने नायकरूपमें कृष्णको स्वीकार अवस्य किया है, पर आध्यात्मिक विस्तृत भूमिकाके अभावमें उनका काव्य परकीयाकी लौकिक प्रेमलीलासे ऊँचा नहीं उठ सका। यद्यपि इस साहित्यमे उसके नानाविध भावोंका सुन्दर और विशद चित्रण हुआ है; विशेषकर रीतिकालके प्रभावमें आनेवाले उन्मुक्त भक्त कवियोंमे परकीया-भाव अधिक भावशील तथा उद्वेगशील है। रसखान, आलम, घनानन्द, शेख आदिने अपने प्रेमको इसी स्तरपर प्रकट किया, पर उसमें भावतन्मयतानी गहरी अभिन्यक्ति है। रसखानने गोपियोंके माध्यमसे अपने प्रेमको प्रकट किया है—"मेरो सुभाव चितैवेकों माइ री लाल निहारिकै बंसी बजायी। वा दिन तें मोहि लागी ठगी-

री हैं प औं की उपारी आदी ' ये रमखान विरयो सिगरी बज जानन वं के मेरी जियराई! जो कोउ चाहै भली अपनी नौ सनेह न काहमी कीजिये माई ॥" (मीतलः ब्र॰ ना॰, ख॰ ३: २०°)। इसी प्रकार घनानन्दमे परकीया-भावकी उद्धिग्नता स्फरित होती है। इसके हो भेद (१) अनुहा, (२) ऊहा, तथा अन्य (१) मुद्रिता, (२) विदग्धा, (३) अनुशयाना, (४) ग्रमा, (५) लक्षिता, (६) कुलटा है (इनको इन्हीं शब्दोके अन्तर्गत देखें)। विसाजन-विस्तारके लिए डें० 'नाविका-मेद'। परदेसिया-परदेसियाके गीत वे मनोहर गीत है, जिनमे परदेशमे गये हुए पनिकं त्रियोगमे उसकी पत्नीकी विरह-वेदना मखरित हो उठी हैं। इन गीतोकी रचना 'बिदेसिया'के तर्जपर की गयी है और इनका वर्ण्य विषय भी वहीं हैं, जो विदेशियांके शीनोम पाया जाना है। इन गीतोकी प्रत्येक पंक्तिमें 'िटे ंं जगह 'परदेसिया' शब्द उपलब्ध होता है। जैसे "धरी राति गइली पहर गति गइलीसे, दअरा करेले ठाढ मोर परदेसिया'''' । भिखारी ठाकुरकृत विदेशिया गीतींकी नकलपर 'परदेसिया'की रचना हुई है (दे० 'बिदेसिया')। --क् दे० उ० परवीडन-परपोइन (sadism)की उत्पत्ति मामान्य व्यवहारमें ही मिलती है। मनुष्यमें खामाविक आक्रामक-वृत्ति होती है, क्रोध उससे सम्बद्ध संवेग हैं। फ्रायट और अन्य मनोविश्लेषकोके अनुसार यह मूल प्रवृत्ति कामवृत्तिने भी सम्बन्धित हो जाती है, क्योंकि यौन व्यापारमे विषयके प्रतिरोधपर विजय पाना जैवी आवश्यकता है, पशुजीवनमे नरको मादासे युद्ध करके अपने वशमे लाना पड़ता है। सामान्य मनुष्यके यौन व्यापारमे भी इस अफामक वृत्तिका थोडा मिश्रण रहना है। जब यह अंश अत्यन्न प्रयल रूप ले लेना है और यौन व्यापारके प्रमुख उद्देशको पृष्ठभूमिमे करके स्थनन्त्र अस्तित्व पा जाता है तो इसे कामकृत्तिकी विकृति मानते हैं। इस अवस्थामे कामोत्तेजनाके विषयको पीड़ा पहुँचाकर ही व्यक्तिको नृप्ति मिलनी हैं।

परपीडन और आत्मपीडन, दोनो धनिष्ठ रूपने सम्बन्धित है, बृत्ति एक ही हैं, रूप दो हैं। आत्मपीडन परपीडनका ही अधिक विकृत रूप है। कियों और स्त्रीप स्वभाववाले पुरुषोंकी परपीडनकी इच्छा प्रायः आत्मपीडनका रूप ले लेती है। — प्री० अ० परपुरप्रवेशप्रतिम दे० 'काव्य-हरण', अर्थ-हरण'का भेट। परमार्थ-दे० 'विज्ञानवाद'।

परामक्ति-ईश्वरके प्रति अनुरक्तिका नाम पराभक्ति हैं। 'सापरानुरक्तिरोश्वरे' (शाण्डिल्य-सूत्र) यह अहेतुकी और अन्यविहत होती है, ''अहेतुक्यन्यविहता या भक्तिः पुरुषोत्तमें'' (श्रीमद्भागवत, २९: १२)। इन साध्या भक्ति भी कहते हैं। साध्यक्षान और परा भक्तिमें कोई भेड नहीं हैं। ''वह सालोक्य, माष्टिं, सामीप्य, सारूप्य, मायुज्य, कैंवल्य, निर्वाण आदि किसी प्रकारका भी लाभ या सुक्ति नहीं चाहता। पराभक्तियुक्त साधक भगवत् नेवाके अतिरिक्त कुछ नही चाहता। इपण्डिल्य-सूत्रमे जिम सुख्य भक्तिका उल्लेख है, वह पराभक्ति ही है। गीतामे भी कहा है—''य इमं परमं गुझं नद्भक्तेय्विन्यत्वि। भक्ति मिथ परां

क़त्वा "" (१८।६८) । 'कहा करों बैकुण्ठिह जाय'— परमानन्द (अष्टछापके कवि-पृ० १४२) । 'तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान'-(सु० सा०: ना० प्र० स०, १६९)। (परा-भक्तिके विस्तृत लक्षणोंके लिए देखिये, भागवत ३।२९।११-१२) । --वि० मो० श० परिकर-साहरयगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-वैचित्र्य सम्बन्धी अर्थालंकार; इसका शब्दार्थ है उपकरण, शोभा वढानेवाली सामग्री। इसका विवेचन रुद्रटसे प्रारम्भ हुआ, ऐसा लगता है। इसके सम्बन्धमें दो मत रहे हैं। मन्मट, रुय्यक, जयरथ, विद्याधर तथा विश्वनाथके अनुसार इस अलंकारमें एकसे अधिक विशेषण होने चाहिये। दूसरी ओर 'प्रदीप', 'उद्योत' और जगन्नाथके अनुसार यद्यपि एकसे अधिक विशेषण होनेपर व्यंग्यकी अधिकताके कारण चमत्कार अधिक होता है, पर एकसे अधिक विशेषणके बिना भी इसका प्रयोग हो सकता है। एक भी साभिप्राय विशेषणके प्रयोगसे यह अलंकार होता है। मम्मटके अनुसार "जिसमें सामिप्राय विशेषणोंके द्वारा प्रकृत अर्थका प्रतिपादन किया जाय" (का॰ प्र॰, १०: ११८)। विश्वनाथ इसी मतको दहराते हैं- 'उक्तैविशेषणैः साभिप्रायैः' (सा० द०, १०:५७)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द'के आधारपर 'आसय लिये जहाँ विसेसन होय' (भा० भू०: ९५) अथवा 'साभिप्राय बिसेषनिन (शि॰ भू०, १६०; छ० छ०, १६४; का॰ नि॰, १६) दिया है और परिकरांकरको स्वतन्त्र अलंकार माना है। वस्तुतः इसमें साभिप्राय विशेषणोंसे विशेष्यका कथन किया जाता है अर्थात् वक्ताका अभिप्राय विशेषणोंसे व्यक्त होता है। उदा॰—"भालमें जाके कलानिधि है वह साहब ताप हमारौ हरैगौ। अंगमें जाके विभूति भरी वहै भौनमें सम्पति भूरि भरैगौ।" (का० नि०, १६) अथवा-"क्यों न फिरै सब जगतमें करत दिगबिजै मार । जाके हग सामन्त हैं कुवलय जीतनहार" (ल० ल०, १६६)। यहाँ विशेषणोंका प्रयोग सामिप्राय है।

आचार्योंने एक प्रदन उठाथा है-अभिप्रायरहित विशेषणका होना 'अपुष्टार्थ' दोष माना जाता है, अतः उनका साभिप्राय प्रयोग उस दोषका निराकरणमात्र हुआ। जगन्नाथ आदि एक विशेषणके प्रयोगमें भी यह चमत्कार मानते हैं और साथ ही उनका कहना है कि अपुष्टार्थ दोषके अभाव और परिकर अलंकारके विषयमें अन्तर है। सौन्दर्ययुक्त उत्कर्षक विशेषण होना परिकरका लक्षण है और चमत्कारके अपकर्षका अभाव अपुष्टार्थ दोषका परिहार है। परिकरके विशेषणोंमें जो अभिप्राय अन्तर्निहित होते हैं, वे गौण व्यंग्यार्थ होते हैं। उनमें विशेषणोंका वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है, क्योंकि वाच्यार्थमें ही चमत्कार होता है। दे० (कथाकाव्य)। -- शि० प्र० सिं० परिकरांकर-परिकरमें अन्तर्भृत होनेवाला उसी वर्गका अर्थीलंकार । इसको जयदेव, विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृति मिली है। 'उद्योत'के अनुसार 'विशेषणैः' शब्द इतना व्यापक है कि उसमें विशेष्य भी आ जाता है, अतएव इसे खतन्त्र अलंकार माननेकी आवश्यकता नहीं है (ए॰ १०८)। 'चन्द्रालोक'ने अनुसार इसका लक्षण

'साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्' (५:४०), 'कुवलयानन्द'में इसीका अनुसरण है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसी रूपमें इसे ग्रहण किया है—'साभिप्राय विशेष जव' (भा० भ०, ९६) अथवा 'साभिप्राय विशेष्यते' (ल० ल०, १६४)। सामिप्राय विशेष्यके कथनको यह अलंकार माना गया हैं—"वामा भामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस। प्यारी कहत खिसात नहिं पावस चलत बिदेस" (बि॰ र०, ७०३), अथवा—"होते कहूँ कृर तौ न जानों करते भी कहा, एतो क्रुर करम अकृर है कमायौ जो" (उ० श०)। इसमें प्रथममें 'भामा' आदि तथा दितीयमें 'अक्रर' विशेष्यका प्रयोग साभिप्राय है। -- शि० प्र० सिं० परिग्रह - ब्रह्म निर्मुण, निष्कल, असीम और पूर्ण है। माया अपने कंचकों और कलाओंसे आवेष्टित करके उसे सगण, सकल, ससोम और अपूर्ण बनाती है। इस प्रकार एक पुरुषोत्तम अनेक पुरुषों (दे० 'पुरुष')का रूप ले लेता है। एक, अनाम, अरूप, निर्गुण ब्रह्मसे 'अनेक' तथा नाम, रूप और गुण समन्वित सृष्टिके विकासकी यही प्रक्रिया है। माया इस प्रक्रियाका आदि विन्दु है। जीवको ब्रह्मसे पूर्णतया परिच्छिन्न करनेके लिए जिस प्रक्रियाका मायाके यहाँ से श्रीगणेश होता है, उसके और भी कई स्तर हैं। अपनी विशेषताओं में ये ब्रह्मसे नितान्त भिन्न और विपरीत धर्म वाले हैं, अतः इन्हें ब्रह्म तो माना नहीं जा सकता, किन्तु हैं ये उसीके, अतः इन्हें ब्रह्म न कहकर ब्रह्मका परिग्रह (स्वीकारकी हुई वस्तु) कहा जाता है। भारतीय दार्शनिक छः परियह मानते हैं-माया, कला, गुण, विकार, आवरण और अंजन । संस्कृतमें 'मा' धातका अर्थ है-माप, सीमा या परिच्छेद। जिसके द्वारा सीमा बाँधी जाय, वह माया है। यह ब्रह्मका पहला परिग्रह है। मित और परिच्छिन्न होनेपर 'एक' 'अनेक' बन जाता है, निरवयव सावयव हो जाता है, निष्कल सकल बन जाता है। ब्रह्म अखण्ड है। मायाके कारण उसकी अखण्डताकी जगह खण्ड दिखाई देने लगते हैं-यही 'कला' (दे०) है। यह दूसरा परिग्रह है। कला अखण्डको खण्डोंमें बँटा हुआ दिखलाती है और खण्डरूपता आयी नहीं कि खण्डोंके बीच परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृतिका सार्वभौम नियम है कि अंश अंशीमें मिलनेको आतुर रहता है। अतः पूर्णके माया और कला द्वारा जो अनेक खण्ड बन गये हैं वे सभी उस पूर्ण और असीम (अर्थात् ब्रह्म)में मिलनेको आतुर रहते हैं और माया, कला उन्हें मिलनेसे रोकती हैं। इस तरह एक प्रकारका आकर्षण-विकर्षण निरन्तर चलता रहता है। इस आकर्षण-विकर्षणके परिणामस्वरूप गुण उत्पन्न होते हैं। गुण अर्थात् सत्त्व, रजस और तमस। और निर्गुण ब्रह्म सगुण दीखने लगता है। यह 'गुण' तीसरा परिग्रह है। गुण पैदा होनेपर उनमें विकृतिका पैदा होना भी प्रकृत है। जल एक है। उसमें वायु प्रवेश कर जाय तो बुद्बुदे बन जाते हैं। हवाके झकोरोंसे लहरें और बार-बारके संघर्षते फेनकी सृष्टि होती है। स्पष्ट है कि बुद्बुद, लहरें और फेन कुछ और नहीं, जलके ही विभिन्न विकार (रूप) हैं। अतः विकार ब्रह्मका चौथा परियह है। पौंचवा परिग्रह 'आवरण' है। विकार मूल वस्तुको आवृत

ण अच्छक कर लेने हैं। इं.ज. निर्मुं और जल्टे स्थेन ने उत्पन्न होने वाला अंकुर वीजका विकार है। यह विकार उस वीजके स्वरूपको आहून कर लेता है। अंकुर ही अंकुर विस्ता उस वीजके स्वरूपको आहून कर लेता है। अंकुर ही अंकुर विस्ता है, वीजका पता नहीं चलता। वेंसे वीज ही अंकुर वनता है और अंकुरके कण-कणमे वर्तमान रहता है। काई अधिक हो जानेपर जल उसके नीचे छिप जाता है। एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि स्लतन्त्व नष्ट नहीं हो जाता। रहता है पर विकारों छिपा हुआ, उनसे आहृत। आवरण हो जानेपर स्लवस्तु अपने स्वरूपमें न दिखायी देशर विकारों के स्पम ही विखायी देशी हैं — तालावमें पानी न दिख कर काई-ही-काई विखार्य देशी है। यह 'अंजन' नामक छठाँ परिग्रह है। यहाँनक आने-आन स्लब्ध वारणका स्वरूप दिखाना असम्भव हो जाता है। ब्रह्मत्व परिच्छिन्न होकर जीव या पुरुष बन जाता है।

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक दर्शन उक्त छः परिग्रहोंको स्वीकार करते है, परिणामतः वह मंसारको ही सब कुछ मानता है उसके मतमे शरीर ही आत्मा है। भौतिकता-को प्रमुखता देनेके कारण यह भौतिक दर्शन कहलाता है। वौद्धोंने 'अंजन'को स्वीकार नहीं किया है। वे प्रथम पॉच परिश्रहोको मानते है और जहाँ चार्वाक शरीरको आत्मा मानते हैं, वहाँ बौद्ध बुद्धि को । बुद्धिको आत्मा माननके कारण ही ये बौद्ध कहलाये। उनके मनने आत्माका मुख्य आवरण अन्तःकरण है और अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञान है, अनः ज्ञान (= बुद्धि) ही आत्मा है। जो बुद्धि स्वरूप है, ऐसे बुद्ध ही उनके ईश्वर है। बौद्ध आवरणतकके पाँच परिश्रह मानते है, जैन आवरणको भी अस्वीकार कर देते हैं, अतः विचारतः वे निरावरण है। इसी बातके ज्ञापनके लिए वे निरावरण या नम्न (दिगम्बर) रहते हैं, (इवेताम्बर बादका विकास है) और आवरण हटा देने वाले तीर्थकरोंको ही ईश्वर मानते है। वैशेषिक या न्याय दर्शन 'विकार'को भी अस्थीकार करता है। गुणतकके तीन परिग्रहोंकी मानता है। इसके मतने आत्मा और परमात्मा, दोनो 'सगुण' हैं। इसीलिए इमे सगुण दर्शन कहते हैं। सांख्य दर्शन माया और कला, दो ही परिग्रह मानता है। वह नैयायिकों एवं वैद्येषिकोंसे एक पग आगे बढकर 'ग्रण'को भी अस्वीकार कर देता है। उनके मतसे गुणमयी प्रकृति और वस्तु है, वही जगत्की रचना करती है। आत्मासे गुणोंका सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए इसे निर्गुण दर्शन कहते हैं। इस दृष्टिसे अन्तिम दर्शन वेदान्त है। यह केवल मायाको ही स्वीकार करता है। किन्तु मायाको भी वह कल्पित मानता है। उसके मतसे जो वस्तु परिवर्तनीय है, वह कल्पना है। अपरिवर्तनीय ही मूलतत्त्व है, वह 'एकमेवादितीयं' है—एक और अदितीय, व्यापक और निर्विकार है, अगुण है, धर्महीन है। चुँकि वह ग्राह मूलतत्त्व (ब्रह्म) मन और वाणीसे अतीत है, अतः मायाको स्वीकार किये विना उसको समझा-समझाया नहीं जा सकता है, इमीलिए वेदान्ती मायाको मानते हैं, किन्तु जैसा कहा गया, वे मायाको भी कल्पित बताकर पूर्ण, शुद्ध, असीम, अकल ब्रह्मका आमास देनेका प्रयास करते हैं। —रा० सि० परिचय (आखोचना)-एरिचयन तत्त्वयं है पुस्तक-परिचय । पुस्तकको पद्कर उसके विषयके सम्बन्धमे पाठकोंको 'रिपोर्ट' दे देना वास्तवमें 'पुस्तक-परिचय' है। पुस्तकके विषय, विषयविस्तार आदिके सम्बन्धमे, अर्थात् पुरतकरी क्या है, केवल इतना बता देना परिचयका उद्देश्य है। रिपोर्ट देनेवालेकी भॉति परिचयका लेखक अपनेकी अलग रखना है। यदि वह व्यक्तिगन दृष्टिकोण देने लगेगा तो एक्ट इन्समि अक्ट निकट आ जायगा । व्यावहारिक रूपमें पुस्तक-परिचय और पुन्तक-न्नारीक्षरी कोई अन्तर नहीं किया जाता, किना दोनेंच रेंड 🖰 संप्रिप दोनोंका पत्र-पत्रिकाओंने घनिष्ठ सम्बन्ध हैं और ये दोनो प्रणालियाँ तथा स्वयं भालोचना भी मुद्रणकलाके फलम्बरूप प्रचलित हो मक्ती है। पुस्तकका परिचय देते समय पुस्तकके आकार-प्रकार, छपा ई, गेट-अप, मूल्य, जिल्द, पुस्तक मिलनेके पते आदिका भी उल्लेख कर दिया जाता है। वास्तवमें पुस्तक-परिचय विशापनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पाठकों और लेखकोंके बीच मध्यस्थाना और लोकक्चि परिष्क्रत करना, ये उद्देश्य पुस्तक-परिचयके नहीं है (है० 'पुस्तक-समीक्षा")। ---ল০ লা০ বা০ परिणाम १-माददयगर्भ अभेडप्रधानके आरोपमूलक अर्था-लंकारका एक भेड । इसका शब्दार्थ है अवस्थान्तर होना । इसका विवेचन रुथ्यक्रमे प्रारम्भ हुआ, ऐसा जान पडना है। विश्वनाथके अनुसार—"विषयात्मनयारोप्ये प्रकृता-थोंपयोगिनि" (मा० ड०, १०: ३४), अर्थान् जहाँ उपमान उपमेयपर आरोपिन होकर उसके कार्यको करनेमे समर्थ होता है। वस्तुनः विश्वनाथ अपनी परिभाषामे बहुन स्पष्ट नहीं हैं। अप्पय दीक्षितने 'चित्रमीमांसा'में स्पष्टतः कहा है कि जहाँ उपमान (आरोप्यमाण) किसी कार्यके उपयोगमें असमर्थ होकर उस सामर्थ्यको प्राप्त करनेके लिए उपमेयसे अभिन्न रूप होता है वहाँ परिणाम अलंकार स्पीकार किया जाता है (पृ० ५५)। जगन्नाथने भी माना है कि जहाँ स्वनन्त्र रूपने कार्यसाधनमें असमर्थ उपमान उपमेयसे अभिन्न होकर समर्थ होता है (र० गं०, पृ०२४८)। हिन्दीमें जमवन्त सिंहने परिणामका रुक्षण और उदाहरण 'कुवलयानन्द्र'के आधारपर दिया है। मनिरामने— "विषयी विषय असेट सों जहां करन कछ काज" (ल० ल०, ७५) लक्षण दिया है, जिसमे विश्वनाथके लक्षणके समान ही अस्पष्टता है। भूषणके अनुमार अभेद होकर और (उपमान) 'स्वे' काम करता है (शि॰ भृ॰, ६७)। इसमें 'स्वे' अस्पष्ट है, उपमान वास्तवमे उपमेयका कार्य करता है। उदा०-"हाथिन विदान्विको हाथ है हथ्यार तेरे, दारिद बिदारिबेकों हाथिये हथ्यार है।" (ल० ००, ७६) या-'दूर करें मेरे दुरित गौराके पदकंज' (पोदार: र॰ मं॰) अथवा-"मेरा शिक्षा संसार वह दूध पिये परिष्ट हो" (मै० श० गु०)। इन उदाहरणोमे हथ्यार, कमल तथा संसारके बिना अपने उपमेयसे एकरूप हुए काम नहीं हो सकता है।

परिणाम और रूपकर्ने समता जान पड़ती है। जगन्नाथ-के अनुसार परिणाममें उपमान स्वयं कार्य करनेमें असमर्थ होनेके कारण उपमेयसे एकरूप होता है और रूपकरें उपमान स्वयं कार्य करनेमं समर्थ होता है। रुथ्यकने इस मनते उलटा मन प्रतिपादित किया था। 'अलंकारसर्वस्व'मं उन्होंने कहा कि रूपकमं उपमानका किसी कार्यके करनेमंं औचित्यमात्र रहता हैं और परिणाममें उपमेय आरोपके विना कार्य नहीं कर सकता। स्पष्टतः यह मन पण्डितराज के मतसे अलग है और इसमें उलटा दृष्टिकोण है। विद्याधर-ने 'एकावली'में रुथ्यकका अनुसरण किया है, पर उनके 'अलंकारसर्वस्व'में परिणामका लक्षण—"परिणामे तु प्रकृतात्मत्या आरोप्यमाणस्योपयोगः" है और यह उपर्युक्त परिभापाओंसे विलक्षल एकरूप है।

परिणाम २ — नाटककी कथावस्तुकी अन्तिम स्थिति, जिसमें संघर्षका अन्त हो जाता है और नाटकका फल हमारे सम्मुख आ जाता है, परिणाम (कनक्ल्जन) कहलाता है। उदाहरणके लिए, 'स्कन्दगुप्त' नाटकके पाँचवें अंकमें उस स्थलको लीजिये, जहाँ पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्यके सभी बचे रत्न एकत्र होकर स्कन्दगुप्तकी छत्रच्छायामें एक बार पुनः आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं और वह उद्योग सफल रह जाता है। सिंगिल बन्दी बनाया जाता है और सिन्धुके इस और फिर कभी न आनेका पणबन्ध लेकर स्कन्दगुप्त उसे मुक्त कर देता है। इस प्रकार आर्यावर्त एवं उसके गौरवकी रक्षा होती है। दूसरी ओर, युद्ध-ख्रेत्रमें ही पुरगुप्तको रक्तका टीका लगाकर वह गृहकल्ह और कौटु- निवक अशान्तिको भी पूर्ण रूपसे मिटा देता है। नाटकीय संघर्षके पश्चात्की यह स्थिति परिणाम कही जायगी।

आधुनिक उपन्यासों एवं नाटकोंमें हमें प्रायः ऐसी कथा भी मिलती है, जिसमें परिणाम कुछ नहीं निकलता। कथावस्तुमें इस परिणामहोनताका बहुतसे यथार्थवादी यह कहकर अनुमोदन करते हैं कि नाटक एवं उपन्यासको जीवनका सच्चा चित्रण करना चाहिये और वास्तविक जीवनमें अन्तिम परिणाम होता ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक स्थितिमें नवीन कार्योंकी सम्भावनाएँ निहित होती हैं। यह तर्क सैद्धान्तिक रूपसे सही है, किन्तु वास्तवमें पाठक या प्रेक्षक स्वभावतः कथाके अन्तमें परिणामकी कामना करते हैं, जिसमें कथानकके सभी सूत्र आकर मिल जायँ, कुछ छुटा नहीं रहे।

परिणामकी दृष्टिम नाटकोंका सुखान्त पवं दुःखान्त, दो वर्गोंमें विभाजन सर्वश्वात है। सुखान्तका अन्त सुखमय होता है, जिसमें नायकके इष्टफलको प्राप्ति होती है। दुःखान्तका अन्त दुःखमय होता है, जिसमें नायकका अमंगल होता है। किन्तु इस विषयमें कोई सटीक नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्तमें कथाके वास्तविक उद्देशको क्षति होती है, जब कि उसके अधिकांश सत्पात्रोंका भाग्य फलता है। इसी प्रकार दुःखान्त नाटकमें परिणामसे उत्पन्न शोकानुभृति इस बातके प्रदर्शनसे कुछ हलकी हो जाती है कि वास्तविक विजय आदर्शोंकी ही हुई तथा सत्पात्रोंको मौतिक पराजय व्यर्थ नहीं गयी। उदाहरणके लिए, 'रोमियो एण्ड जुलि-एट'में हमारी करणानुभृति उस समय कुछ हलकी हो जाती है, जब हमें यह बात होता है कि वह पारिवारिक शत्रुता जिसने रोमियो तथा जुलिएटके प्रेमका दुःखद अन्त किया

था, स्वयं भी उसी प्रेमके कारण नष्ट हो गयी; जीत प्रेमकी ही हुई।

अरस्तूके मतानुसार परिणामका स्वाभाविक होना आव-इयक है। यदि नाटकका परिणाम कार्य-कारणके सिद्धान्तके अनुसार न होकर केवल संयोगपर आधारित हो तो वह निम्न कोटिका माना जायगा। — इया० श्री० श्री० परिपंथिर सांगपरिग्रह —दे० 'रस-दोष', तीसरा।

परिप्रेक्ष्य-दे॰ 'प्रक्षेपण'।

परिवृत्ति - वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार (दे॰ 'अर्थालंकारोंका वर्गीकरण'), जिसमें पदार्थीका सम और असमके साथ विनिमय होता है। इसमें वस्तओंका परस्पर आदान-प्रदान किया जाता है। इसीको 'विनिमय' भी कहते है। यह अलंकार प्राचीनों (भामह, दण्डी)से ही स्वीकृत चला आया है। मम्मटके अनुसार इसमें 'परिवृत्तिविनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' सम और असम वस्तुओंका विनिमय (का० प्र०, १०: ११३) होता है। विश्वनाथके शब्दोंमें प्रस्तुत अलंकारकी परिभाषा इस प्रकार है-"परिवृत्तिविनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्" अर्थात् समान, न्यून और अधिकके साथ विनिमय (सा० द०, ८)। प्रारम्भमें भामहने इस अलंकारमें 'अर्थान्तरन्य।स'का रहना आवश्यक माना था (का० छं०, ३:३९)। वामन और परवर्ता आचार्योंने यह नहीं माना है। वामनने 'विसद्दा' कहकर तथा विश्वनाथने सम, न्यून तथा अधिकका उल्लेख करके इसी बातको स्पष्ट किया है।

हिन्दीके आचार्योंमें प्रायः सभीने इस अलंकारको स्वीकार किया है। एक या दो भेदोंका उल्लेख किया गया है—"थोड़ा देकर बहुत अथवा बहुत देकर थोड़ा लेना"के रूपमें। 'भाषाभूषण' और 'किविकुलकण्ठाभरण'में थोड़ा देकर बहुत लेनेमें, 'लिलतलाम'में "घाटि वादि है वातको जहाँ पलटिवो होय" (२७७) और 'शिवराजभृषण'में एक बात देकर बूसरी वातको लेने (२४५)के रूपमें एक ही भेद स्वीकार किया गया है। 'पद्माभरण'में पद्माकर'ने 'दै थोरो लिय अधिक जहँ तथा 'दै बहु थोरो लेत जहँ (१८६, १८७) दो भेद स्वीकार किये हैं। 'रसरहस्य'में कुलपतिका लक्षण स्पष्ट है—'अर्थनको जहँ बदलिवो विनिमय कहिये सोय। सम असमके भेद करि सो पुनि है विधि होय।" कुलपतिने इसे विनिमय कहा है।

स्पष्ट है कि परिवृत्ति दो प्रकारकी होती है सम और असम अथवा विषम । सम तथा असमके भी आगे चलकर दोन्दो भेद हैं। १. सम परिवृत्ति—(क) उत्तम विनिमय, अर्थात उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तुका ग्रहण; (ख) न्यून विनिमय—ग्यून वस्तु देकर न्यूनका ही ग्रहण । २. विषम परिवृत्ति—(क) उत्तम वस्तु देकर न्यूनका विनिमय, उत्तम वस्तु देकर न्यूनका विनिमय, न्यूनका प्रदान और उत्तमका ग्रहण । इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—(क) उत्तम विनिमय—'मृदु सौरभ अर्पण करती हैं सुरिभित मल्य पवन, तरुशाखाएँ उसे चढ़ाती हैं फल्य प्रमन" (कादम्बिनी) । (ख) न्यून विनिमय—'श्रीशंकरको सेवारत मक्त अनेक दिखाते हैं। अस्थिमालमय उनते हैं। अस्थिमालमय

अपने ननको अर्पण वे कर देने हैं, मुण्डमालमय नन उने विस्म परिवर्गनों पाने हैं" (का० क० द्रु०)। हमनें अस्थिनमाल' और 'नरसण्डमाल' दोनों न्यून गुणयुक्त वस्तुओं का विनिनय हैं। यह 'ब्याजस्तुनि' मिश्रिन 'पिवृद्धि' है। (ग) उत्तमने न्यूनका विनिनय—"कहा कही हो कौन मो आया हो डहकाइ। नृधि-नृधि हरि मव हरि लई दौन्हीं विग्ह बलाइ" (क० कु० क० न०)। "क्रान्नि हो चुकी हानि मेट अब आ में ब्यजन कमेंगी, मोती न्यौद्यावर करके अप अमग्रा बीन यह पानें पानें मेर वृद्धि ले करि हरकों अनुक्ल। ले त्रिलोक्यां माहिबी दें धत्रुकों फूल"। (ल० ल०, २०१)। "मेरे अनिधित्व आंने नोमें मिर माथे लेंगी! उसने मुझको देह दिया में उने प्राण भी दूंगी" (में० झ० गु०)। इसमें देह न्यूनमें उत्तम प्राणका परस्प र विनिमय हैं।

परिवृत्ति अलंकारमे यह बान विशेष रूपने स्मरणीय हैं कि इसमें कविकलिपन विनिमय ही होना है, वास्तिविक नहीं । जहाँ वास्तिविक विनिमय होना है, वहां इस अलकार-की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती । जहां अपनी ही वस्तुका त्याग और प्रहण हो, वहां यह अलंकार नहां माना जाना । इस अलंकारका प्रयोग शीतकालके वाम हुआ और उदाहरणोंने न्युनाधिकता ही है, जैसा उन्होंने लक्षणमें स्पष्ट कहा है।

रीतिकालीन आदार्य देवने अपने 'माव-विलास'में 'परिवृत्ति'का जो उदाहरण दिया हे, वह वस्तुनः इन अलंकारने सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि वहाँ विनिमय दूसरेके साथ नहीं है। यहाँ पर्याय अलंकारकी स्थिति मानी जा मकती है। केशवके 'परिवृत्ति'के लक्षणमे विनिमयका भाव भी स्पष्ट नहीं है-"और कछू की जै जहाँ उपिज परै कछू और" (कविप्रिया, १३: ९) जो 'विषादन'का लक्षण है। उटाहरणमें केवल एक पंक्तिमें प्रस्तुत अलंकारका उटाहरण हैं "दें परिरम्भन मोहनको मन मोहि लियो सजनी सुख-दाई" (वही, १३ : ४१) । परिसंख्या-वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें किसी वस्तुका एक स्थानमे प्रदनपूर्वक अथवा प्रदनरहित, व्यंग्य-रूपमे निपेट दर्दे किमी अन्य स्थानमें म्यारन किया जाय। यह निषेध कहीं तो प्रतीयमान, अर्थात् व्यंग्य होता है और कहीं वाच्य, अर्थात् उसका शब्द द्वारा कथन होता है। अतः इसके चार प्रकार है-१ प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निपेध; २. प्रदनपूर्वक वाच्य, शब्द द्वारा कथन, निपेध; २. प्रइनरहित प्रतीयमान व्यंग्य निपेध; ४. प्रइनरहित वाच्य निषेध । रुद्रयसे इस अलंकारकी स्वीकृति रही है । 'परिसंख्या' शब्दका अर्थ 'जिसमे निपेध ही किया जाय' हैं। मम्मटके शब्दोंने परिसंख्या अलंकारकी परिभाषा इस प्रकार है-"कि चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते । ता-द्दगन्यन्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता" (का०प्र०, १०: ११२), अर्थान् पूछी गयी अथवा न पूछी गयी किसी बातका ऐसा शब्दतः प्रतिपादन हो जो अन्तमें अपने समान किनी अन्य वस्तुके निषेषमें परिणत हो जाय । विश्वनाथका लक्षण मम्मटके समान है, केवल इन्होंने इस निषेधको वाच्य तथा व्यंग्य, डो प्रकारका और कहा है।

जयदेवने 'चन्द्रालोक'मं किचित् भिन्न लक्षण दिया हे—'निपिध्नेकमन्यस्मिन्वस्तुयन्त्रम', अर्थात् किन्हां दो वस्तुओंके समान गुपका एकमे अनाव बनाकर इसरेमे आरोप करना। दिन्दीमें इनके और अप्यय दीक्षितके अ(धारपर प्रायः इसी लक्षणका प्रकार हुआ। 'भाषाभूषण'-का लक्षण यही है-'दक थल दरजि दूने थल ठहराइ'। मतिराम, भूषण, प्रशासन आजिये लक्षण दसके समान है। कुलपति निश्रने 'रमरहस्य'ने परिसंख्याका लक्ष्ण-निरूपण मम्मर तथा विश्वनाथके आधारपर किया है-"पृष्टयो अनपूछ्यो क्छुक, कह्यो मःनि जह देइ। या सम और न करनको परिमंख्या कहि देह"। उदा०-प्रदन-पूर्वक प्रतीयमान व्यंग्य-निपंध-"हैत कहा जगमें जसको परकाज सॅबारचोई निसिंगासर। काहे नैं आनेंद होत हिये मनभावते साजनके रहिये घर" '- न्यामि'। प्रश्नपृत्वेत वाच्य निपेध-'आत्र कुटिलता कौनमं, राज मनुष्यन माहि ? देखी वृज्ञि विचारिके, ब्याल बंसमें नाहि" (का० नि०, १७) । प्रश्नरहिन प्रतीयमान नियय-"मूजन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय । होम हुनामन धूम नगर एके मलिनाइय । दुर्गनि दर्गन ही जो कटिल गति मरितन ही ने । श्रीफलको अभिलाप प्रकट क्विक्लके जीनं" (ग० चं०)। अथवा—"देहमं पुरुक, उरोंमें भार, श्रुवोंमें भंग, इरोमें बाण। अवरमें अमृत, हद्यमे प्यार, गिरामे लाज, प्रणयमे मान" (मुमित्रानन्दन-पन्न)। इसमें पुलक, भार, भंग, वाण आदिके एक-एक म्थानपर म्थापन द्वारा इनकी अन्यत्र स्थिनिका प्रस्नरहित प्रतीयमान निपेधम् चक परिमंख्या अलंकार है। प्रश्नरहित वाच्य निपेध-"मुक्ति वैनि ही मे बसै, अमी बसै अध-रानि । सुख मुन्दरि मंजीग ही, और ठौर जनि जानि" (का० नि०, १७) अथवा—"जहाँ वक्रता सर्पके चालमें थी, प्रजामे नहीं थी न भूपालने थी। नरोमें नहीं, कालिमा थी घनों मे, जनों में नहीं जुष्यतः थी वनों में ' (का० द०)। इसमें एक स्थानने गुणका अन्यत्र स्थापन है, जो वाच्य है। अनः प्रदन्रहित निषेधवाच्य होनेकं कारण परिसंख्या अलंकार है।

चिन्तामणिने दिलष्ट शब्दोके आधारपर परिसंख्याके चार भेद और भी माने हैं और इनका उदाहरणमहिन लक्षण-निरूपण 'किविकुलकरूपनम'में किया है— २. शब्दगत वर्जनीयः प्रदेन दिल्य देण्यूल परिसंख्या, २. प्रदनपृतिका अर्थगत वर्जनीया रलेपमुल परिसंख्या, २. प्रदनपृतिका वर्जनीया अप्रदनपृतिका रलेपमुलक परिसंख्या ४ अर्थगत वर्जनीया अप्रदनपृतिका रलेपमूलक परिसंख्या ४ अर्थगत वर्जनीया अप्रदनपृतिका रलेपमूलक परिसंख्या । उन्होने अन्तिम भेदका उदाहरण इस प्रकार दिया है— "मिन मरीचमय हारिका, हरि नगरी अवदात । सुनी विग्रुन वर वाहिमें, जामे तमकी वात"।

दासने तीन भेद, प्रश्नपूर्वक व्यंग्य, प्रश्नपूर्वक वाच्य तथा विना प्रश्न व्यंग्य माने हे तथा 'प्रश्नपूर्वक', 'विना प्रश्नपूर्वक' और 'प्रश्न-अप्रश्नपूर्वक' के रूपमें उदाहरण दिये हैं। केशवका यह प्रिय अलंकार है। 'रामचन्द्रिका' के इसक प्रमुख रूपमें प्रयोग मिलता है। —वि० स्ना॰ परिहाम-दे॰ 'सखीकर्म'। परुषा बन्ति-दे॰ 'वृत्ति', दूसरी।

परोक्षवाद् नवर्कलेन लगाकर काण्टतक सव आदर्शवादी या विज्ञानवादी टार्शनिक किमी-न-किसी अज्ञात, अज्ञेय, अपरिनापेय, अपरिनेय परोक्ष-सत्ताम विश्वास करने लगे। धर्मने पहले जो जाद्दं विश्वनियन्ता दिया था, उमे तार्किक-आध्यारिमक समर्थन प्राप्त हुआ। फिर यूरोपमे एक प्रत्यक्षवादी लहर आयी—डाविन, मार्क्स, रतेलतक यह वाल चली। परन्तु वर्गसाँ, वाइटहेड आदि एक अज्ञात जीवन-शक्तिको मानते रहे। परोक्षवादको पृष्टि मिलकर एक प्रकारका नव्य-रहस्यवाद पनपा। अपने देशमें इसका उत्तम उटाहरण अरविन्दवादी दर्शन है। वह मानवकी अपरिमित सम्भावनाओं एक परम-मानव और उसकी कध्व-चेतनाकी परिकल्पना करता है। —प्र० मा० पर्यस्तापहनति—दे० 'अपहति', तीसरा भेद।

पर्याय — वाक्यन्यायमूल अर्थालंकार। पर्याय शब्दका अर्थ है — अनुक्रम। पर्याय अलंकारमे एक ही आध्यकी क्रमशः, कालमेदसे एक साथ नहीं, अनेक आधारों में स्वतः स्थिति होती है अथवा अन्य द्वारा की जाती है। 'विशेप' अलंकारमें इसका पृथक्करण कालमेद शब्दके द्वारा किया जा सकता है, क्योंकि 'विशेप'में एक आध्यकी एक ही कालमें अनेक आधारों में स्थितिका वर्णन होता है। इसका विवेचन एद्रटमें मिलता है। पर मम्मटकी न्याख्या अधिक स्विकृत हुई। विश्वनाथके शब्दोमें 'पर्याय'का लक्षण है—''कचि-देक्सनेकिस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्। भवित क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इच्यते"। (सा० द०, १०: ८०), अर्थात जहाँ एक वस्तु क्रमसे अनेक आधारों अथवा अनेक वस्तु क्रमसे एक आधारमें स्थित हों या की जायं। मम्मटने भी दोनों रूपोंको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचायों में जसवन्त सिंहने 'भाषाभूषण'में 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक'के आधारपर इसका लक्षण तथा उदाहरण दिया है। मितराम तथा भूषणके लक्षण संक्षेपके कारण अस्पष्ट है—''के अनेक है एकमें के अनेकमें एक'' (ल० ल०, २६७) अथवा ''एक अनेकममें रहें एकहि में कि अनेक ।'' (शि० भू०, २४२)। कुलपितका काज्यलक्षण स्पष्ट और पूर्ण है—''एक अनेकनमें रहें कम परजायमु और। सो दूजोरु अनेक जह रहत एक ही ठौर'' (र० र०, १५७)। चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने ऐसा ही लक्षण दिया है। सिखारीदासने इस आश्रयन्यागको 'घटती वढ़ती देखिके' संकोच तथा विकास, दो रूपोंमे कहा है। हिन्दीके आचार्योंने इन दोनों भेदोंमें 'स्वतः स्थित' अथवा 'अन्य द्वारा'का अन्तर नहीं किया है।

प्रथम पर्याय — (क) स्वतःसिद्ध अनेक आधार — "हाला-हल तोहि नित नये, किन सिख्ये ये ऐन । हिय अम्बुधि हरगर लग्यो, बसत अबै खल बैन" (म॰ श॰, ४ : अनु॰) । इसमें हलाइल-रूप एक आध्यके समुद्र-हृदय, महादेवका कण्ठ और दुर्जन-वचन-रूप अनेक आधार अनुक्रमके साथ कहे गये हैं और ये आधार स्वतःसिद्ध हैं । इसी प्रकार महादेवीकी पंक्तियों में — "तेरी आभाका कण नमको देता अगणित दीपक दान । दिनको कनक राशि पहनाता विश्वको चोंडीका परिधान" (का० द०)। यहाँ-पर एक आसाकी स्थितिका ताराओं में, दिवसके प्रकाशमें और चन्द्रमाकी उडज्वलतामें वर्णन है। (ख) अन्य दारा अनेक आधार—"जीत रही औरंगमें, सबै छत्रपति छाँड। तिज ताह्को अब रही, सिवसिरजा कर मॉड़ि" (शि० रा० मू०, २४३) और—"अलि कहाँ सन्देश मेजूँ, में किसे सन्देश भेजूँ। नयन पथसे स्वप्नमें मिल प्यासमें बुल। प्रिय मुझीमें खो गया, अब दूतको किम देश मेजूँ" (महादेवी, का० द०)।

द्वितीय पर्याय - जहाँ अनेक वस्तओ (आधेयो) की एक आधारमे स्वतः स्थिति हो अथवा अन्य द्वारा की जाय। 'द्वितीय समञ्चय'में भी अनेक वस्तओंकी एक आधारमें स्थितिका वर्णन होता है, किन्तु 'द्वितीय पर्याय'मे अनेक आधेयोकी एक आधारमे क्रमशः स्थितिका वर्णन होता है और 'द्वितीय समुच्चय'में एक ही कालमें। उदा०—"प्रति बासर हरि होत है, हियके सुघर सुभाय। इती लरकई अंगसी, वही तरुनई आय" (र० पी० नि०, १९५)। यहाँ एक शरीर-रूप आधारमें 'लरवर्ड' आदि अनेक आधेयोकी स्थितिका वर्णन किया गया है अथवा ''अमन भरे दरसै प्रथम, मधुर खलनके बैन । दुख दायक पाछ वनै, अन्तर विष दुख ऐन" (अ० मं०, ४४०)। यहाँ अमृत और विष, दोनों वस्तुओकी एक आधाररूप खलके वचनमे स्थिति है। वस्तुतः यह अलंकार वर्णन सौन्दर्यने सम्बद्ध है, इसलिए इसका प्रयोग भक्तिकाल, रातिकालसे आधनिक कालतक निरन्तर हुआ है।

दासके 'संकोच पर्याय'का उदाहरण—''सव जग ही हेमन्त है, सिसिर सु छॉहन मीत। रितु वसन्त सव छॉडि-के, रही जलारी सीत'' और 'विकास पर्याय'का उदाहरण—''असुँवनते वो नद कियो, नदते कियो समुद्र। अव सिगरी जग जलमई, करन चहत है रुद्र'' (का॰ नि॰, १८)। पहलेमें क्रमशः आधारका क्षेत्र शीमित और दूसरेमें विस्तृत हो गया है।

पर्यायवकता-दे० 'पदपूर्वार्धवकता', दूसरा प्रकार। पर्यायोक्ति-साद्यगर्भके गम्दौपम्याशय वर्गका प्राचीनीसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार। शब्दार्थ है पर्याय, अर्थात् दूसरी तरहसे वैचिन्यके साथ कहना। भामहके अनुसार-'यदन्येव प्रकारेणाभिधीयते' ३:८)। इसका लक्षण है, जिसको दण्ही तथा उद्घटने अधिक स्पष्ट किया है। मम्मटने अनुसरण तो प्राचीनोंका किया है, पर उनकी अपनी विशेषता भी है-"इसमें वाच्यार्थका एक ऐसा प्रतिपादन होना है, जो वाच्य-वाचक-भावसे भिन्न हुआ करता है" (का॰ प्र॰, १०:११५)। भामह, दण्डी आदिमे 'अन्य प्रकार' या 'प्रकारान्तर'का भाव स्पष्ट नहीं है, पर मम्मटने वृत्तिमें 'अवगमन व्यापौर' कहकर इसे स्पष्ट किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि व्यंजना द्वारा वाच्यार्थका कथन पर्यायोक्तिमं आवश्यक है। यहाँ व्यंजनाके द्वारा वाच्यार्थका कथन ध्वनि द्वारा नहीं सिद्ध होता है, वरन् जो चमत्कार है, वह उक्ति-वैचित्र्यका है। विश्वनाथने रुय्यकके आधारपर इसकी 'मंग्यागम्यम्' कहा है (सा० द०, १०:६१), जिसका

अर्थ है प्रकारान्तरसे कथन । यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जो गम्य है, वह उसी स्थानपर वाच्य केंसे हो सकता है ? क्य्यक्रके अनुसार "गम्य अपने कार्यक्रे डागा व्यक्त होता है और कार्यकारणका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, अनः कार्यक्रे व्यक्त होनेंसे कारणका संकेत अपने-आप मिल जाता है" (अ० स०, पृ० १११)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुबल्यानन्द'का अनुसरण किया है और इसके भेदोका उल्लेख किया है!

प्रथम-अभीष्ट अर्थका दूसरे प्रकारसे कथन-"गम्य अर्थ प्रगटै तहाँ और बचन रचनानि" (ल० ल०, १४७) अथवा "मुगम्य जहॅ, फुरै बचन रचनानि" (पद्मा०, १२३)। उदा०—"महाराज सिवराज तरे बेर देखियत, घन-वन है रहे हैं हरम हबसीनके" (शि० भू०, १७३)। यहाँ शिवाजीकी धाकमें 'हरम खाली हो गये हैं' कहना अभीष्ट है पर कहा अन्य प्रकारमे गया है। अथवा-"वनका बन हम आज नोड़ सकते कहीं। तो भाभीकी भेंट छोड सकते नहीं" (सा०: का० द०) । यहाँ भी बानको अन्य प्रकारमे कहा गया है। द्वितीय - इमको 'कुवलया-नन्द'में व्याजसे इष्टसाधन कहा गया है।—"जहाँ कपटसौ करत है रुचिर मनोरथ वाज" (छ० छ०, १८०) अथवा-'माधव मिसि करि काज' (पद्मा०, १२३)। परन्तु दण्डी आदिके अनुसार इसमे अपने इष्टार्थकी मिद्धिके लिए प्रकारान्तरसे (बहानेसे) कथन किया जाता है। उदा०-''तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भॉति जिआइहौ जु । वरु मारिये मोहि विना पग धोये हो नाथ न नाव चढाइहौ जू" (क०,२)। यहाँ केवटका इष्टार्थ प्रकारान्तरसे व्यक्त हुआ है अथवा-"देखन मिस मृग विहाँग तरु फिरहिं वहोरि-वहोरि" (रा० च० मा०: का० द०)। -- शि० प्र० मि० पर्यालोचना-'पर्यालोचना'का अर्थ है 'चारों ओरमे देखना', समीक्षा आदि । इस शब्दका प्रयोग आलोचना या समीक्षाके पर्यायरूपमे होता है, किन्तु यह प्रयोग अत्यन्त विरल है। साथ ही 'पर्यालोचना' शब्दका प्रयोग रिब्य या 'पुस्तक-समीक्षा'के लिए भी होता है (दे॰ 'आलोचना', 'रिव्यू')। ---ल० सा० वा**०** पलना 'पलना' या 'पालना'; जन्मोत्सवमे छठीके दिन गाये जानेवाले जचाके विविध गीतों मेंसे एक, बजलोक और अवधलोकमे प्रचलित । इसमें शिशुको पालना झलाने और सम्वन्धियों द्वारा उसके नेग-न्योछावरका उहेख रहता —र० ञ्र० पलायन-पलायनका वैज्ञानिक रूप-'यदस्ति' (जो है)से यन्नास्ति(जो नहीं है, नवीन)की ओर जानेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको पलायन कहते है। यह आधुनिक उत्क्रान्तिवाद-(ऐमर्जेंण्ट एवोल्यूशन)की विचारधारा है, जो प्रकृति और पुरुषमे विकास तथा उत्तरोत्तर नवीन रूपोंके आविर्भावको पलायन-प्रवृत्तिका परिणाम मानती है । मानव-स्तरपर असन्तोष इसीका दूसरा रूप है। यही वर्तमान स्वभाव-सिद्ध और 'वास्तविक'से 'अनागत, संकल्प-साध्य' तथा काल्पनिककी ओर ले जानेकी प्रेरणाका मूल है। इस प्रकार पलायन जीवन और जगत्की न्यापक मूल प्रवृत्ति है।

दार्शनिक स्तरपर 'पलायन'का रूप काल और देशकी मीमाओंसे बद्ध और परिमित्त म्बरूपको त्यागकर असीम और अनन्त ब्रह्म (बृहत्) स्वरूपको पानेकी इच्छा 'पला-यन' है। यह 'पलायन' वैदिक साहित्यकी अनेक प्रार्थ-नाओंमे निहित्र हैं, जैंने 'अमनो मा महमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योमां अमृतं गमय''। आगे चलकर, वेदान्त-उर्शनके निवेद और दीद्ध-दर्शनके वेराग्यका मृल यही पलायन हैं।

साहित्य और कलामे पलायन नवीनके प्रति उत्साह तथा प्राचीनके प्रति निराशाको भावनाओंको जायत् करता है। उत्साह और निराशा पलायनवादके दो मूल तत्त्व है। किन्तु विरोधी होनेके कारण इनका समन्त्रय जितना आवश्यक हैं उतना कठिन भी है। साहित्य और कलाके इतिहासमे ऐसे चुन बीते हैं, जिनमे या तो अनेक साथनों छारा उत्साह, प्रसन्नता, वेसव, शक्ति, विजयोल्लास आदि भावनाओंको अभिन्यक्ति कलाकारोंने की है या इन्होंने निराशा, विनाश, समर्पण (जो भक्तिका मूल तत्त्व हैं), वेराग्य, त्याग आदिसे अपनी रचनाओंको भावित किया हैं।

प्रथम महायुद्धके अनन्तर विश्वकी नैतिक, अधिक तथा सामाजिक व्यवस्था और आदशोंमें हास हुआ, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप यूरोपीय कला और माहित्यमें पलायन-वादका उदय हुआ। निराशा और वेदनामे भावित एक ओर यथार्थवादी कला तथा नव-निर्माणकी कल्पनासे प्रसन्न दूसरी ओर प्रगतिवादी कलाके दो मिश्रित रूप प्रकट हुए। इन्हीं दोनोंके विकास और विस्तारका इतिहास पिछ्ले पचास वर्षोंकी रचनाओं और कला-कृतियोका इतिहास है। भारतीय साहित्य और कला इस प्रभावसे अछती नहीं रही । किन्तु अपनी निजी सांस्कृतिक पृष्ठभृमिके कारण इनमें दार्शनिक निराशाबाद, अलौकिक आनन्द, अतीन इतिहासमें जीवनके आदशींकी शोध आदिकी मावनाएँ है तथा नव-निर्माणके लिए उत्साह और प्रयोगके लिए रुचि विद्यमान है। आधुनिक प्रयोगवाद (experimentalism) इसी प्रवृत्तिका चरम-विकास है। किन्त जीवनके अनेक क्षेत्रोम विविध और विरोधी तस्वोका समावेश और समन्वय जो इस युगकी माँग और चेतावनी है, अभी हमारी क्रतियोम नहीं हैं। **पलायनवाद** – मूल शब्द जीवशास्त्रका है, जिसका आशय यह है कि समम्त चेनन-सेल्सके बीच ऐसे सेल्स भी होते है, जो विकाससे बच निकलते है और फिर समस्त चेतनामें

पह है कि समन्त चेनन-सेल्सके बीच ऐसे सेल्स भी होने है, जो विकाससे बच निकलते हैं और फिर समस्त चेतनामें विकृति पैदा कर देते हैं। साहित्यमें इसका प्रयोग मुख्यतः उस प्रवृत्तिको व्यक्त करनेके लिए किया जाता है, जिसमें वस्तुस्थिति और यथार्थने कतराकर या जीवन और उसकी अनिवार्यताओं को उपेक्षा करके किया दिवास्वप्न या स्वप्नलेक या अयथार्थ काल्पनिक स्थितियों में साहित्यकार रम और आनन्द लेकर जीवनको अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंगमें विता देना श्रेयस्कर समझता हैं। जीवन और यथार्थमें पदच्युत एवं संस्कारहीन तस्त्वोंने विस्थापित मनोवृत्तिको व्यक्त करनेवाला माहित्य पर्यायनवादी साहित्य कहा जाता है। वस्तुस्थिति और यथार्थका साहात्कार करनेसे जो साहित्य वंचित करे अथवा जो उनके विना भी जीवित

रहरेकी प्रेरणा है, वह ममस्त माहित्य भी मुख्यतः नहीं तो अंदानः पत्नायनवादी होता है।

पल्यस्वादी प्रवृत्ति किसी भी साहित्यिक धाराने पायी जा मकर्ता है। हिन्दीमें छायाबाद (दे०) और उसके बादके गीतिकारामें यह प्रवृत्ति विशेषतः पाथी जाती है। हिन्दी माहित्यमें इसका मुख्य काल हमें प्रगतिवाद और छायाबादके बीचमें अधिक मिलता है। इसका मुख्य कारण यह है कि छायाबादको स्टच्छन्दवादी भावभूमिका आधार जितना उदात्त और नैसिगिंक था, उसे बहन करनेके लिए जहाँ उतने ऊँचे व्यक्तित्वकी आवश्यकता थी, वहाँ उसके भावविषको स्वीकार करनेके लिए एक विशिष्ट सन्दर्भका भी आग्रह था।

'प्रमाद'ने एक स्थानपर लिखा है—"ले चल मुझे मुलावा देकर मेरे नाविक, थीरे-थीरे। जिस निर्जनमे सागर लहरी अम्बरके कोनेमें गहरी, निश्चल प्रेमकथा कहनी हो नज कोलाहलकी अवनी रे"। पलायनवादकी यह प्रवृत्ति यद्यपि छायावादमें भी थी, फिर भी उसमे इतनी निहिन थी कि जब उमकी वास्तविक अनुभूति उसके अनुकरणकारी कवियोंमें नहीं रह गयी नो उसका पननोन्मुख रूप ही उसके बादके काव्यमें अधिक नीवनाक साथ उभरकर आया, जिसमे साहित्यक गनि-विधिमे एक अनावश्यक रीनि ऐसी पनपी कि वह न तो छायावादकी होकर रह मकी और न यथार्थवादकी।

मनोवेद्यानिक दृष्टिसे यह प्रवृत्ति एक और कारणमें भी विकसित हुई और वह यह कि छायावादने जिस काव्य-दृष्टिको प्रश्रय दिया, वह न तो देशकालके दायित्वमें सम्बन्धित थी और न सुगके यथार्थसे ही सम्बन्धित थी। छायावादके बादके गीतिकारोंने तो इस भाव-धाराको इस सीमातक पहुँचा दिया, जहाँ कि इस संसार और इसके जीते-जागते सौन्दर्यका निरस्कार करके उन्होंने अपनी समस्त भाव-चेतनाको एक विचित्र कुहासेके वातावरणमें छिपा दिया और स्वयं अपने दिवास्वप्नोंमें लीन हो गये।

प्रस्तुत सन्दर्भमें पलायनवादके दो रूप हो गये। एक नो वह जिसमें उच्छूंखल हृदयवाद (दे०) प्रश्रय पाकर विकसित हुआ और दूसरा वह जो घोर निराशावाद (दे०)में वदलकर एक विभिन्न प्रकारकी पतनोन्मुख भावधाराको प्रश्रय देने लगा। 'वच्चन'का हालावाद (दे०) अथवा अन्य गीतिकारोका हृदयवाद या इसी प्रकारकी कविताएँ प्रश्रयनवादकी विभिन्न दिशाएँ है।

किसी भी साहित्यका दुर्भाग्य उस समय अपनी चरम सीमापर होता है, जब कि उसमें दृष्टिहीन किवयोंकी संख्या अधिक होती है। पलायनवाद उन्ही विकृतियोंमेंसे एक है। — ल० कां० व० पवाहा — 'पवाडा' अथवा 'पोवाडा' महाराष्ट्रका प्रसिद्ध लोकछन्द है। अपनी शैली और विषयवस्तुकी दृष्टिसे राज-स्थानी चारणोंकी विरुदावली-शैलीके समस्त तत्त्वोंसे पूरित होकर विशुद्ध वीरगीतके रूपमें सामान्यतः मान्य है। पवाहा 'दफ्'और 'तुनतुनिया' वाष्टोंके सहयोगसे ऊँची आवाजमें गाया जाता है। महाराष्ट्र शब्दकोशमें पवाड़ा (पोवाड़ा) वीरोंके पराक्रम, विद्वानोंकी बुद्धि अथवा सामर्थ्य,

गुण, कौरालके कान्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तृति-स्तोत्र अथवा पराक्रम या कीतिके अर्थमें लिया गया है। यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष पूर्वते मराठी भाषामे प्रयुक्त होना रहा है। वैसे 'पवाडा' शब्द 'प्रवाद'का विगडा रूप प्रतीत होता है। प्रवादका अर्थ है जोरमे कहना, जनरव, किमी-को दी जानेवाली सूचना, अपवाद आदि। मराठी 'ज्ञान-कोश'के अनुसार यह प्राकृत शब्द है। रूटार्थमे यह शब्द एतिहासिक व्यक्तिके किसी चरित्र-प्रसंग-वर्णनके लिए मराठीमे प्रयुक्त होना है। ब्रजमे यही लोकछन्द 'पमारा', मालवामें 'पॅवारा' और बुन्देलखण्डमे एक लम्बी कहानीके लिए प्रचलित है। ब्रजमें 'पमारा' सभी अवदानके रूपम हैं। कहते हैं, पॅवारों अथवा परमारोंके प्रशस्ति-गीनको ही सम्भवतः 'पॅमारे' कहा जाना था । व्रजमे 'जगदेवका पॅवारा' 'जयमल-पत्तेका पॅमारा', मालवामें 'क्रॅवर चेन सिहका पॅमारा', विहारमें 'कुॅवर सिंहका पॅमारा' उल्लेखनीय लोक-गीत है। महाराष्ट्रमे तो पॅवारोंका बाहुल्य है। - इया० प० प्रा-१ वेदान्ती जिसे जीव कहते है, शैव उसीको प्रा कहते है। वेदान्तियोने जिस तरह ब्रह्म, जीव और मायार्का कल्पना की है, दौवोंने उसी नरह पशुपति, पशु और पाश की। मूलतः ठोनोंका अर्थ एक ही है, मेद केवल राब्दावली-का है। पाझका अर्थ है—जाल या वन्यन; पशुका अर्थ है पाद्मबद्ध, जालमे पडा हुआ, मलयुक्त या कंचुकित तथा पशुपतिका अर्थ है-जालमे मुक्त, निर्मल, निष्कंचुकित। 'परद्मराम जलपन्त्र'मे कहा गया है कि "दारीर कंचुकितः, शिवो जीवो, निष्कंचुकः परम शिवो"। इस प्रकार पशुका अर्थ है-- नायाके कंचुकों (दे० कंचुक) और मलों (दे० 'मल')से आच्छादित शिव या ब्रह्म—अर्थात् ऐमा बुद्धजीव, जिसका चैतन्य अनेक मायिक आवरणो, अर्थात् दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल तथा शिला (रीति) और वर्ण (जाति)से आच्छन्न हो गया है। कौलोपनिषद्में कहा गया है:-- 'न कुर्यात्पञ्च सम्भाषणम्'। इसपर भास्कर रामकी टीका है:-- "वहिर्मुखाः सर्वेऽपि परावो विद्याहीनत्वात्, एनदुप स्यनेरेट विद्यात्वात् । न शिल्पादिशानयुक्ते विद्वच्छव्डः प्रयुज्यते इत्यादि वचनात्" आदि (तान्त्रिक टेक्स्ट्म, वाल्यूम १, ५० ५)। अर्थात् कौल साधनाके अधिकारी तीन कोटिके माने जाते है-पशु, वीर और टिब्य क्योंकि कौल इस बातमे विश्वाम करते है कि इस साधनाके लिए सभी लोग समान रूपने विकित नहीं होते। कुछ साधक ऐसे होते है, जिनमें दूसरोंकी अपेक्षा सांमारिक विषयोंके प्रति अधिक आसक्ति होती है। 'बहिर्मुखा सर्वेऽपि पश्वी विद्याहीनत्वात का यही तात्पर्य है। इस प्रकार मोह या माया या सांसारिक विषयों और भोगोंके प्रति तीव आमक्ति-वाले माधवको पञ्च कहते है। यह माधकोंकी सबसे निचली कोटि है। शास्त्रमें इनके लिए भिन्न प्रकारकी साधनाका निर्देश है। इस प्रकारके साधककी अवस्थाको पशु भावकी संज्ञा दी जाती है।

२. कौल साधनामें स्वीकृत तीन अधिकारियोंमेंसे पशु सबने दीनकोटिका अधिकारी है। कौलावली निर्णय (७१३)-में इसे विश्वनिन्दिन कहा गया है और साधना-मार्गमें आगे बढ़नेके लिए इस कोटिट अधिकारीको वहु जाप, बहु होम तथा अत्यधिक कायछेराकी आवस्यकता वनायी गयी है। यन्थोमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख मिलना है कि साधकको अपने अधिकार, अर्थात् दाक्तिकी सीमाको समझकर ही साधना करनी च हिए तथा यह कि वीर या दिव्य माधक-की तरहकी माधना पठाकी नहीं करनी चाहिए। अगर हरुवश वह ऐसा करता है तो कुछ प्राप्त करना तो दर रहा, उल्टे वह अपनी हानि ही करता है, बयोकि कौल-मार्गियोंका विश्वास है कि साधनाके लिए सभी लोग समान-रूपमे विक्रमित नहीं होते । पद्म साधकमें दूसरोकी अपेक्षा सांसारिक विषयोके प्रति अधिक आमक्ति होनी है। 'बहि-र्मखाः सर्वेऽपि पश्चेतो विद्याहीनत्यात का भी यही नात्पर्य है। इस प्रकार मोह और सांसारिक विषयोंके प्रति तीव आसक्तिवाले साधकको पद्म कहते हैं। महामिछ सर्वानन्द-ने अपने 'सर्वोद्धास' नामक अन्धमे तीन प्रकारके पशुओंका उल्लेख किया है-पशु, सभावपशु और विभाव-पशु । इनमे पशु उने कहते हैं, जो आहार, निद्रा, भय, मैथुनवाले पारुविक जीवनसे ऊपर उठा हुआ कोई उच्चतर भाव भी है, इससे निवान्त अनिमन्न होता है। वह अपने अन्दरके चित्तत्त्वमं विल्कुल बेखवर रहता है। सभाव पशु-में अपने चित्स्वरूपके प्रति थोडी चेतनना या सतर्कना तो उदबद्ध हो गयी रहती है, लेकिन इसे किसी ऊँचे धरातलकी चेननना नहीं कह सकते । विभावपशुमे यह चेननता एक स्थिर रूप हे हेती है और साधकमें उच्चतर जीवनकी और अग्रसर होनेकी प्रवल कामना जाग्रत हो जानी है और जब उच्चतर जीवनकी ओर वढनेके उसके प्रयास सफल होने लगते है, वह पशुत्वकी सीमा पार कर 'वीर' दि० 'वीर') वन जाता है। वीर होकर क्रमशः समाववीर और विभाववीर होता हुआ वह अन्तमे पिछली छः अवस्थाओने कपर उठकर अन्तिम और सर्वोच्च अवस्थाको प्राप्त करके 'दिव्य' साधक वन जाता है।

पशु, समावपशु तथा विभावपशुसे थोड़ा भिन्न एक दूसरा वर्गाकरण भी पशका पाया जाता है, जिसे क्रमशः सकल, प्रतयकल और विज्ञानकलकी संज्ञा दी गयी है। 'सकलपरा' उस साधकको कहते हैं जो अण, भेद और कर्म नामक तीन मलों (दे॰ 'मल') ने बॅथा रहता है। 'प्रतय-कलपञ्ज' अणु और कर्म नामक मलोंसे वेष्टित रहता है, भेद या माया छट गयी रहती है। 'विज्ञानकलपद्म' मात्र अणु नामक मलसे बद्ध होता है। पश्चिमी हिंदी-आधुनिक आर्यभाषाओं तथा बोलियोंका वर्गीकरण करते समय भीतरी उपशाखाके अन्दरके समदाय-की बोलियोंके एक वर्गके लिए ग्रियर्मन द्वारा प्रस्तावित नाम । हिन्दी बोलियोंको प्रियर्सनने दो समूहोंने विभक्त किया है। पूर्वी हिन्दी (दे०) तथा पश्चिमी हिन्दी (लिंग्विस्टिक सर्वे, भाग १: खण्ड १)। उनकी प्रवृत्ति पश्चिमी हिन्दीको ही स्टैण्डर्ड हिन्दी माननेकी रही है। पश्चिमी हिन्दीकी बोलियाँ मुख्यतः मध्यदेशमें बोली जाती हैं। इस स्मृहकी बोलियोंके नाम हैं—(१) खड़ीबोली, (२) बाँगरू, (३) ब्रजभाषा, (४) कन्नीजी तथा (५) बुन्देली। खड़ीबोली या सरहिन्दी, मुख्यतः जिसके आधारपर आजकी स्टैण्डर्ड हिन्दी प्रतिष्ठित है, पश्चिम महेलदण्ड, गंगाञे उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिलेकी बोला है। बॉगर बोली जाट्या हरि-यानीके नाममे प्रमिद्ध है। यह दिल्लो, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा तथा झींदमें बोली जाती है। बजभाषाका क्षेत्र वैमे तो बहुत न्यापक है, परन्तु विशुद्ध रूपमें यह बोली, मधुरा, आगरा, अलीगत तथा धोलपुरमें बोली जाती है। बजोजी बोलीका क्षेत्र बजभाषा और अवधीके बीचमे हैं और बुन्देली धुन्देलखण्डकी बोली है। धीरेन्द्र वर्मा कजोजी तथा बुन्देलीका अलग-अलग अस्तित्व नही मानते। उनके अनुसार कजोजी तथा गुन्देली वस्तुतः बजभाषाके ही प्रोदेशिक उपस्प है।

पश्चिमी हिन्दीकी बोलियाँ शौरतेनी अपभ्रंशने विकसित हुई है। साहित्यकी दृष्टिये मध्यकालीन तथा किसी एउनक आधुनिक ब्रजभाषा भी अत्यन्त समृद्ध रही है। अपने मध्यकालीन माहित्यके कारण बजको भाषा कहकर आहत किया गया । खरीबीली हिन्दीके पूर्व बजभाषा ही लगमग नमस्त हिन्दी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा थी। पश्चिमी हिन्दीकी अन्य बोलियोंने कोई महत्त्वपूर्ण प्रान्टीन न हिन्य —्रा० स्व० च० पहेलियाँ -पहेलियोको संस्कृतमं ब्रह्मोदय भी कहा जाना है। पहेलियाँ केवल बच्चे के मनोरंजनकी वस्तुएँ नहीं, ये समाजविशेषकी मनोजनाको प्रकट करनी है और उसकी रुचिपर प्रकाश डालती है। ये बुद्धिमापक भी है। ये सम्य और असभ्य, सभी कोटिके मनुष्यो और जातियोंन प्रचलित हैं। भारतवर्षमें तो बैडिक कालने ब्रह्मोदयका चलन मिलना है। अश्वमेध यद्ममं तो ब्रह्मोदय अनुष्ठानका ही एक भाग था। अथकी वास्तविक विलेने पूर्व होता और बाह्मण बह्मी-दय पूछते थे। इन्हें पूछनेका केवल इन दोको ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियोंका आनुष्ठानिक प्रयोग भारतमें ही नहीं, संसारके अन्य देशोमें भी मिलता है। फ्रेजर मही-दयने बताया है कि परे लियोंकी रचना अथवा उदय उस समय हुआ होगा, जब कुछ कारणींन नक्ताको स्पष्ट शब्दोंमें किसी बातको कहनेमें किसी प्रकारकी अइचन पडी होगी। भारतके मूल निव निर्देशिन मण्डलाके गोंड और प्रधान-तया बिरहौर जातियोंक विवाहके अनुष्ठानोंम पहेली बुझाना भी एक आवश्यक बात मानी गयी है।

पहेलियों यथार्थमे किसी वस्तुका वर्णन करती हैं—ऐसा वर्णन, जिसमें अप्रकटके द्वारा प्रकटका संकेत होता है। अप्रकट इन पहेलियोंमे बहुधा वस्तु उपमानके रूपमे आता है। यह स्वाभाविक ही है कि गाँवकी पहेलियोंमें ऐने उप-मान भी प्रामीण बातावरणसे ही लिये गये हैं।

पहेलियाँ एक प्रकारसे वस्तुको सुझानेवाले उपमानोंसे निर्मित शब्द चित्र वली हैं, जिनमे चित्र प्रस्तुत करके यह पूछा जाता है कि यह किमका चित्र है। पर इसने यह न समझना चाहिये कि उपमानोंके द्वारा यह चित्र पूर्ण होता है। उपमानों द्वारा जो चित्र गिर्मित होता है, वह अस्पष्ट होता है, उसते अभिप्रेत वस्तुका बहुत अधूरा सकेत मिलता है, पर वह संकेत इतना निश्चित होता है कि यथासम्भव उसने किसी अन्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता। — स० पाँच – भारतीय दर्शन एवं धर्म-साधनाके साहित्यमें पाँचकी संख्या बड़ी ही महस्वपूर्ण है। पंच्याण, पंचस्कन्ध,

पंचतन्मात्र, पाच दानेन्द्रियां, पांच कमेन्द्रियां, पंचपवित्र, पंचनकार, पंचायतन, पांचगुण, पांचपद, पांच ध्यानी उट, उनकी पाँच दाक्तियाँ, पाँच आनन्द, पोचकुल, पाच आकाश आदि अनेक (अनन्त भी कह सकते हैं) ऐते विषय हैं, जिनका पॉचकी संदाने सम्बन्ध है। सन्त सीधी बातको भी थोडे रहस्यात्मक ढंगने कहनेके आदती है, अतः इनके साहित्यमे पांचकी संख्या कई वार अजीव हंगकी पहेली बनकर मामने आनी है। अन्य सन्तोकी अपेक्षा सधाभाषाकी दरहता कवीरमं थोटी अधिक है। साथ ही पाँचकी संख्याका कवीरने जिन अथौंने प्रयोग किया है, अन्य सन्तोने भी प्रायः उन्हीं अर्थिम इसका उपयोग किया है। कुशल इतना ही है कि सन्त साधना आदिकी चकर-दार गलियोके भ्रमणको बहुमान नहीं देते। वे सहजता और सहज-समाधिके समर्थक है, अतः 'पंच'का प्रपंच (अत्यधिक विस्तार) इनके कान्यमे अधिक नहीं है। कवीर-ने पंच या पाँचकी संख्याका जिन विभिन्न सांकेतिक अथेमि प्रयोग किया है उसे संक्षेपने समझ छेनेसे सन्त साहित्यकी तत्सम्बन्धी दुरुहताको कुछ सरल किया जा सकता है। कबीरकी एक साखी है- "कबीर पाँच पर्छक्वा राखे पीख लगाइ। एक ज आयो पारधी लगै गयो समै उडाय" (व.० ग्रं० ति० पू० २०२, ३७)। यहाँ पार्धी (साधक) जिन पॉच पढ़ेरुओको साथ उडाकर ले जाता कहा गया है, वे हैं पंचप्राण, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान । इन्हे प्राणायामने समेटकर साधकने कुम्भकर्मे बन्द कर दिया, यही कशीरका कथ्य है। इसी अर्थमे पॉचका प्रयोग पद सं० १७५मे भी देखा जा सकता है (क॰ ग्रं॰ ति॰, पृ॰ १०१)। पंचेन्द्रियोके अर्थमे 'पंचकुसंगी' राज्यका प्रयोग भी कवीरने किया है-"कागद केरी नावरी पानी केरी गंग । कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग ॥" (क० ग्रं० ति०, पृ० २३०, १८)। एक योगपरक रूपकर्मे पंचेन्द्रियोंको 'पॉच वनिजारा' शब्द से संकेतित करते है-''मोंहि ऐसें बनिज सों कवन काज़ु। जिहिघटै मूल नित बढ़ै ब्याज़ ॥ नावकु एक विनजारै पाँच । बरध पचीसक संगु कॉच" आदि (क॰ अ॰ ति॰, पद १२६)। यहाँ मन नायक और पंचेन्द्रियाँ वाणिज्य करनेवाली है। इन्द्रियोंके अर्थमे और भी कई प्रयोग देखे जा सकते हैं (क० ग्रं० नि०, पृ० १५९, १; १८०, १०)। इन पंचेन्द्रियों-को बहुत बार, पंच चोर कहुकर भी संकेतित किया गया है (दे० क्० ग्रं०, ति०, पद ३६, ७२, ८० तथा पृ० १२१, ८; १५१, ५) । पाँच तत्त्वोके लिए पंचका प्रयोग तो बहुत बार हुआ है (दे० वही, पद ५, ५७, १९४ तथा पृ० २००, १४; २३१, २०) । 'पॉच कुटुम्ब' रूपमें पाँच कुलों-सत्त्व, रज, तम, काल एवं जीवका अर्थ देनेवाला प्रयोग भी कबीरने किया है—"एइतत रांम जपह रे प्रांनी तम बुझहु अकथ कहांनीं। जाकी भाव होत हरि कपरि जागत रैनि विहांनीं ॥ डाइनि डोरै सुनहां डोरै सिंघ रहै बन घेरै। पाँच क्टुंब मिलि जुझन लागे बाजन बाज घनेरै" (क॰ ग्रं॰, ति॰, पद १३८)। पंचेन्द्रियोंका अर्थ दैनेके लिए पाँच मुजंगोंका उल्लेख भी दर्शनीय है (वही. पद १३७)। इस तरहके और भी अनेक प्रयोग खोजे जा सकते हैं। — रा० दे० सिं० पांचरात्रमत—दे० 'भागवतथर्म'। पांचालमध्यमा प्रवृत्ति—दे० 'प्रवृत्ति', दूसरी। पांचाली राति—दे० 'रीति', तीसरी )

पाखंडी-प्राचीन साहित्यमें पाखण्ड शब्दका पापण्ड रूप अधिक मिलता है। संस्कृत कोशोमे इसका अर्थ धर्म-विरोधी, दुरात्मन्, चाण्डाल आदि वताया गया है। तुलसी-दासके समयमे कपट, दम्भ आदि जैसे गहित अर्थ देने-वाले, शब्दोंके साथ इसका प्रयोग रूढ़ हो चला था। 'मानस'मे इसी तरहके प्रयोग मिलते है—''कुपथ कुतरक, कुचालि कलि कपट दम्भ पाखण्ड । दहन राम गुन श्राम जिमि ईधन अनल प्रचण्ड"। छल या धोखा अर्थमें भी इसका प्रयोग हुआ है-"जब कीन्ह तेहि पाखण्ड। भए प्रकट जन्त प्रचण्ड"—मानस। किन्तु कतिपय छिटपुट प्रमाण ऐसे भी मिलते है, जहाँ पाषण्डका प्रोयग एक विशेष धर्म सम्प्रदायके लिए किया गया है। अशोकके समयमें पापण्ड नामक एक धर्म-सम्प्रदायका उल्लेख मिलता है. जिसके साधुओंको अशोकने बडे आदरके साथ बहुत-सा दान दिया था ('भाषा विज्ञान': भोलानाथ तिवारी) । बौद्ध साहित्यमे वैदिक तथा श्रमण धर्मोंके साम्प्रदायिक प्रचारकों-के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्तियोका भी उल्लेख है जो 'कवि' यहे जाते थे। दर्शनके भृडतत्त्वों तथा नैतिक आचरणकी रहस्यमयी गुरिथयोको सामान्य एवं निम्नस्तरके समाजवाले व्यक्तियोंके लिए बोधगम्य एवं सुलभ-सुकर रीतिसे सुलझाने-का काम करनेवाले 'नख' या 'मख' नामधारी ब्राह्मण जातीय प्रचारकोंका भी उल्लेख मिलता है, जिनका पूरा नाम 'नख-पाषण्ड ब्राह्मण' होता था। ये लोग देहातोमें घूम-घूमकर कर्मवादका प्रचार करते थे। ये अपने साथ पाषाणों पर ख़दे हुए 'पटचित्र' (जिन्हें 'चरण' भी कहा जाता था) साथ लिए रहते थे। इन पटचित्रो पर स्वर्गके सखमय जीवनकी झॉकी दी गयी रहती थी। पाषाण पर खुदे पट-चित्रोंके कारण इन्हें 'पाषण्ड' कहा जाता रहा हो, यह नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि पाषण्डका अभिधार्थ वैसा किसी तरह नहीं हो सकता, जैसा आज प्रचित है। पाषण्डोंका अपार प्रभाव देखकर ही शायद जैनोंने भी इस तरहके धर्म प्रचारकोंकी अपनी व्यवस्था की थी। जैनों-की 'नायधम्म कहा' नामक पुस्तकसे इस प्रकारकी उनकी व्यवस्थाकी सूचना मिलती है। लगता है आगे चलकर बौद्ध-जैन धर्मोके हास एवं ब्राह्मण या भागवत धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाके बाद जनतामें भी धीरे-धीरे इन पाषण्डों या पाषण्डियोंके प्रति दुर्भाव पैदा होता गया और इस शब्दका अर्थापकर्ष होता गया। उत्तरभारतकी बोलियों में पाखण्ड या पखण्डके साथ इण्ड शब्दका उल्लेख (इण्डपखण्ड) इस वात-की भी मूचना देता है कि आगे चलकर पाषण्डोंने पाशुपत शैवों, ढकुळीशों तथा अनन्तर नाथों आदिमें अपनेको मिला लिया हो। गोरखनाथने 'पाषण्ड' नामधारी योगियोंको बढ़े आदरसे याद किया है। गोरखनाथका 'पाषण्डी' योगी नामसे भिन्न होने पर भी बहुत कुछ हठयोगी जैसा ही है-"पाषण्डी सो जो काया पषारवै। उलटि पवन अगनि प्रजा है। ब्यंद न देई सुपणे जाण । सो पाषण्डी कष्टिए

तत्तसमान ॥" (गो० वा० सवदी ४७) । पद्मावत (३९,५)में उिल्लिक्त पखण्डी (रामचन्द्र गुक्र) या पाखण्ड (वासुदेव शरण अग्रवाल) का भी पापण्डीसे सम्बन्ध जोडा जा
मकता है। — रा० सि०
पाठालोचन पाठालोचन'के लिए अंग्रेजीमें शब्द 'टेक्स्चुएल क्रिटिसिज्म' है, जिसका आशय होता है पाठ-सम्बन्धी
विवेचना । किसी रचनाका वारतिक पाठ क्या रहा होगा
और किन कारणोंसे वैसा रहा होगा, दमी विषयका विवेचन
पाठालोचन हुआ करना है। प्रकट है कि इस प्रकारके
विवेचनकी आवश्यकता उन्हीं रचनाओंके सम्बन्धमें एइ
सकती है, जिनके पाठका प्रकाशन आधुनिक मुद्रणके प्रचारके पूर्व हुआ हो, अथवा जिनका मुद्रण लेखकके निर्देशनमें
न हुआ हो।

जैमा कि अपर कहा जा जुका है, पाठालोचनका उद्देश्य लेखकके वास्तविक पाठका निर्धारण या पुनिर्दर्गा हुआ करता है। किन्तु वास्तविक पाठ भी दो प्रकारका हो सकता है—एक वह, जो लेखककी लेखनीसे लिनिवद्ध हुआ हो और दूसरा वह, जो उसका अमीष्ट रहा हो, भले ही उसके लिपिवद्ध करनेमें लेखकसे कोई लेखन-प्रमाद हो गये हों। पाठालोचन उक्त पहले प्रकारके पाठका निर्धारण करके उक्त दूसरे प्रकारके पाठतक पहुँचनेका भी प्रयास करता है।

पाठालोचनकी सामग्री दो प्रकारकी होनी हैं—एक तो वह, जो रचनाकी प्रतियोंके रूपमे पायी जाती है और दूसरी वह, जो उससे सम्बन्धित होती है और इतर रूपोमें हमारे सामने आती है। यह दूसरे प्रकारकी सामग्री टीकाओं, अनुवादों, संकलनों, उदाहरणों, विवेचनों, परिचयो, संक्षेपों, छाया-रचनाओं आदिके रूपमें पायी जाती है। प्रथम प्रकारकी सामग्रीके अभाव अथवा दुटित होनेपर दसका महत्त्व बहुत वढ जाता हैं, किन्तु वैसे भी कभी-कभी इसके पाठ-नियारणमें सहायता मिलती है।

प्रतियों भी कई प्रकारकी होती हैं—एक तो वे होती हैं, जो स्वयं लेखककी लिखी होती हैं, दूसरी वे होती हैं, जो लिखी अन्यकी, किन्तु लेखकके द्वारा पदी और आवश्यकतानुसार संशोधितकी हुई होती हैं। तीसरी इनकी प्रतिलिपियों होती हैं और चौथी प्रतिलिपियों को भी उत्तरोत्तर की हुई प्रतिलिपियों होती हैं। इनमेसे प्रथम दो लेखककी स्वहस्तलिपियों कहलाती हैं और इनके प्राप्त होनेपर पाठालोचनका कार्य प्रायः नहींके वरावर रह जाता है। ऐसी प्रतियोंके पाठमें हस्तक्षेपका अधिकार पाठालोचकको उन्हीं खलेंपर होना है जहाँपर स्पष्ट लेखन-प्रमाद होता हैं। अन्यथा इन प्रतियोंका पाठ ज्यों-का-त्यों गृहीत होना है। किन्तु ऐसी प्रतियों नितान्त दुर्लभ होती हैं। उपर्युक्त तीसरी प्रकारकी प्रतियों इनके अभावमे सबसे अधिक मूल्य-वान् होती हैं। उनके अभावमें भी चौथी प्रकारकी प्रतियोंमें काम लिया जाता है।

प्रतिलिपि-कियाके दौरानमें रचनाके पाठमें विकृतियोंका होना स्वासाविक है। प्रतिलिपिकी पीढ़ियोंके अनुसार ही विकृतियों भी बढती जाती हैं—अर्थांत् वे प्रतिलिपियाँ मृठ्ये जिननी ही दरकी पीडीमें आती है, उतनी ही पाठ-विकृतियाँ

भी उनमें अधिक होती हैं। इसलिए इन प्रतिलिपियोंका पीती-निर्धारण आवस्यक हुआ करता है। यह पीती-निर्धारण इन्हों, अधिकांशमें, विकृतियोंकी सहायताने होता है।

पुनः, मूलसे जब एकने अधिक प्रतिलिपियों होती हैं और उन प्रतिलिपियोंकी प्रतिलिपि-परम्पराध चलती है, तो रचनाके पाठकी उननी ही स्वतन्त्र शाखाय वन जाती हैं, जितनी मृलमे प्रथम प्रतिलिपियां हुई रहती हैं। स्वभावतः इन शाखाओंकी विकृति-परम्पराष्टें भी चलती हैं और इन्हीं विकृति-परम्पराओंकी सहायतासे शाखा-निर्धारण होता है।

जब किन्हीं भी दो प्रतियोंके पाठोंको मिलकार कोई पाठ तैयार किया जाता है, तब पाठ-मिश्रण हो जाया करता है और यह पाठ-भिश्रण भी दो प्रकारका हो सकता है। एक तो वह, जो एक ही झाग्याको दो या अधिक प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है और दूसरा वह जो दो या अधिक झाखाओंकी प्रतियोंके पाठोंको लेकर किया जाता है। पाठ-मिश्रणकी इन प्रतियोंका महत्त्व तभी होता है, जब पहले प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसके दराबर या पूर्वकी स्थितिकी प्रति विद्यमान नहीं होती है अथवा जब दूसरे प्रकारका मिश्रण किसी ऐसी शाखाकी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसको दरीवर या पूर्वकी स्थातका मिश्रण किसी ऐसी शाखाकी प्रतिके पाठको लेकर किया जाता है, जिसको कोई अन्य प्रति, अथवा कम-से-कम उस स्थिति या उसके पूर्वकी स्थितिको पाठको लेकर पाठ-मिश्रण किया गया हुआ होता है।

इस सम्पूर्ण प्रतिलिपि-परम्परा—अर्धान् शाखाओं और पीडिगोके निर्धारणके अनन्तर पाठनिर्धारण सुगम और बहुत कुछ निरापद हो जाता है। जो पाठ किन्ही भी दो या अधिक ऐमी प्रतियोंमे मिल्ता है जिनमे परस्पर किसी प्रकारका विकृति-सम्बन्ध नहीं होता है, स्वनावनः मूलका होना है। कठिनाई ऐसे पाठोंके सम्बन्धमे पड़नी है, जो दो या अधिक शाखाओं में परस्पर सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसी दशामें यदि पाठकी दो ही शाखाएँ प्राप्त है और एक शाखाका पाठ इस प्रकार-का नहीं प्रमाणित होता है, जिसने विगइकर दूसरीका पाठ बन सकता हो, तो लेखकके प्रयोगीका मूक्ष्म अध्ययन और समस्त प्रकारकी संगतियोक उहापोहके अनन्तर दोनों-मेमे उसे हो स्वीकार करना होता है, जो निश्चित रूपसे लेखककी उक्त रचना अथवा अन्य रचनाओंने प्रयोगसम्मत प्रमाणित हो और अधिक संगन हो। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी पाठ। लोचकके सामने आती है, जब कि दोनों शाखाओके पाठ, लेखकके प्रयोगों और संगतियोके अनुसार समान रूपने अधिकृत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशामें उस शाखाका पाठ ग्रहण करना सामान्यतः अविक निरापद होता है, जिस शाखाका पाठ ऐसी अन्य स्थितियोमें भी प्रायः अधिक प्रयोगसम्मत और संगत प्रमाणित होता है।

किसी रचनाके पाठको तीन या अधिक शाखाएँ प्राप्त होनेपर इस पाठ-चयनमें बहुन सुगमना हो जाती है, क्योंकि जहाँपर दो दाखाओंका पाठ एक हो और शेष उससे भिन्न और परस्पर भी भिन्न हो, वहाँपर दो शासाओंके

नभान पाठको निरापद रूपने यहण किया जा सकता है। इस सिद्धाननी प्रयोगमे तभी कठिनाई पड़नी है, जब कि विभिन्न शाखाओंका पाठ स्वयं लेखक द्वारा किये हए विभिन्न पाठसथारों (भंस्करणों)की स्थितियोका पाठ प्रस्तन कर रहा हो। ऐसं दशामे यह सम्भव है कि समान पाठवाली दो या अधिक जाखाएँ एक स्थितिकी हो और मिन्न पाठवाली भिन्न स्थिति ही और तब लेख ह-क्रन पाठ-सुवारों (संस्करणो) की इन विभिन्न स्थितियोका निर्धारण नितान्त आवर्यक हो जाता है। यह पाठालोचन की एक अत्यन्त जटिल समस्या होनी है। पाठालीचकको इसके निपटारेके लिए ऐने प्रत्येक संस्करणकी स्थितिका पाठ निर्धारित करना पडता है और तदनन्तर उन समस्तके तुलनात्मक अध्ययन-के आधारपर, जिसमे लेखककी पाठ-सुवारकी प्रवृत्तियोका अत्यन्त मूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन करना अपेक्षित होता है, उक्त विभिन्न संस्करणोका पूर्वापर क्रम निर्धारित करना होता है।

पाठालोचकके सामने कभी-कभी एक स्थिति और आती है। कभी-कभी विभिन्न पाठोमेसे कोई भी ऐसा नहीं होता, जो एक साथ लेखकके प्रयोगोमे अनुमोदित, सभी प्रकारसे संगत और सम्भव हो। ऐसी दशामें पाठालोचकको ऐसे सम्भव पाठकी कल्पना करनी पडती हैं, जो किसी भी कारण विकृत होकर प्राप्त पाठो अथवा उनमेसे किसीमें परिवर्तित हो गया हो, साथ ही प्रयोगसम्मत तथा सभी प्रकारसे संगत और छन्दोऽनुमोदित हो। इस संशोधनका अधिकार पाठालोचकको अवस्य है, किन्तु इसका प्रयोग उसे तभी करना चाहिये जब पाठ-चयनके द्वारा पाठ-निर्धारणके सभी सम्भव उपाय व्यर्थ होजाते हों, अन्यथा उसे पाठ-चयनसे ही सन्तोष करना चाहिये।

हिन्दीमें यन्थोंका सम्पादन वहुत हुआ है और कभीकभी अच्छा भी हुआ है, किन्तु पाठालोचनकी जिस
वैज्ञानिक पद्धतिका निरूपण ऊपर किया गया है, उस
पद्धतिपर कार्यका अभी प्रारम्भ ही हुआ है। इस कार्यम
द्रष्टव्य निम्नलिखित हैं—प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखिन
'अर्थकथाका पाठ', 'हिन्दी अनुशीलन' आश्विन-मार्ग
सं० २०००, पृ० ५, 'कान्हड़दे प्रवन्य और उसका
पाठ' आलोचना, जनवरी, १९५५, पृ० ६८; लेखक द्वारा
सम्पादित 'तुलती ग्रन्थावली' भाग १ (तो खण्डोंमें)
हिन्दुस्तानी एकादमी, यू० पी०, प्रयाग; 'वायसी ग्रन्थावली'
हिन्दुस्तानी एकादमी, यू० पी०, प्रयाग; 'वीसलदेवरासो,'
हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय; 'छिताई वार्ता'
(प्रकाशनीय) नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी तथा
पारसनाथ तिवारी: 'कवीर-वाणी—पाठ-समस्या और
पाठ' (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)।

विशेष जानकारीके लिए दे०—'पाश्चात्य-साहित्यालोचन'—लीलाधर गुप्त । —मा० प्र० गु०
पात्र —कथात्मक साहित्यका अन्यतम तत्त्व, चित्र —वे
व्यक्ति जिनके द्वारा कथाकी घटनाएँ घटती हैं अथवा जो
उन घटनाओंने प्रभावित होते हैं । इन्हीं व्यक्तियोंके क्रियाकलापने कथानक जौर कथावरतुका निर्माण होता है । अतः
भले ही किसी कृतिमें घटनाओंकी बहुलता और प्रधाननः

हो, पात्रों या चरित्रोंका उसमें अभाव नहीं हो सकता। कथाकी करपनामे ही पात्रोंकी विद्यमानता निहित है।

कथाके पात्रोंको किस प्रकार उपस्थित किया जाय, यह कलाकृतिके रूप, लेखककी रुचि तथा योग्यता और उसकी कृतिके उद्देश्यपर निर्भर है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिमे पात्रोंके प्रयोग, अर्थात चरित्र-चित्रणके अपने-अपने ढंग और विधान होते हैं। सब मिलाकर पात्रोंका चरित्र-चित्रण तीन प्रकारते हो सकता है-१. पात्रोंके कार्योंके द्वारा, २. उनकी बात चीतके द्वारा तथा ३. लेखकके कथन और व्याख्या द्वारा। पहले दोको नाटकीय या अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण कहते है और तीसरेका विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण । नाटकमें साधा-रणतया अप्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण द्वारा ही, अर्थात पात्रोके कार्यों और उनकी तथा उनके विषयमे दूसरोंको बातचीतके सम्मिलित प्रभावके द्वारा ही हम उनके चरित्रके विषयमं कोई धारणा बना सकते हैं-साधारणतया इसलिए कि कभी-कभी किसी पात्रविशेषके विषयमें लेखक किसी अन्य पात्रके माध्यमसे चारित्रिक विश्लेषण उपस्थित करके उस पात्रको समझनेमें दर्शकोंकी सहायता करता है परन्त नाटकके चरित्र-चित्रणमें अप्रत्यक्ष या नाटकीय ढंग ही स्वाभाविक और समीचीन है। इस प्रकारके चरित्र-चित्रणकी खुबी यह है कि दर्शक या पाठक तथा पात्रोके बीच सीधा सम्बन्ध रहता है और पात्रोके सम्बन्धमे धारणा बनानेकी पाठक या दर्शकको पूर्ण स्वतन्त्रना रहती है। नाटकीय चरित्र-चित्रण जितना ही व्यंजनापूर्ण और संक्षिप्त होता है, उतना ही अधिक प्रभावशाली भी । परन्तु चरित्रकी आन्तरिक सूक्ष्मताओं और मनोवैज्ञानिक रहस्योंको इस शैलीमे उतने स्पष्ट और असन्दिग्ध रूपमें उपस्थित नहीं किया जा सकता जितना विश्लेषणात्मक शैलीमें सम्भव है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमें अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैलियोंको मिलाकर चरित्र-चित्रण अधिक विशद रूपमें किया जा सकता है। उपन्यासके चरित्र-चित्रणमें लेखकको व्याख्या और टीका-टिप्पणी करनेकी इतनी स्वतन्त्रता होती है कि वह चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटनमें नाटककी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार और गहनता ला सकता है। नाटक और उपन्यासके चरित्र-चित्रणका यह अन्तर स्पष्ट हो इस वातका सचक है कि नाटकों कार्यकी प्रधानता होती है. जब कि उपन्यासका महत्त्व चारित्रिक अध्ययनमें ही अधिक माना जाता है। कार्य या घटनाको प्रमुखता देनेवाले उपन्यास उच्च कोटिके नहीं बन पाते। इसके विपरीत नाटकमें चरित्र-चित्रणका आधिक्य यदि कार्य-व्यापारको दबा दे तो नाटकीयताको क्षति पहुँच सकती है। नाटकमें देश और कालकी सीमाओंके कारण चरित्रका विकास भी उतनी स्वतन्त्रनासे नहीं दिखाया जा सकता। उपन्यासमें चरित्रको धीरे-धीरे विकमित होता हुआ दिखाकर विभिन्न परिस्थितियोंमें उसके उत्थान-पत्तनके अगणित परिवर्तनोंको चित्रित किया जा सकता है। सुविधानुसार उपन्यासकार नाटकीयता और विश्लेषणका समचित समन्वय करके मानवीय मनोरेग, मावावेश, विचार, भावना, उद्देश्य, प्रयोजन आदिका सुक्षम-से-सुक्षम अन्कलन कर सकता है '

गनिशील चरित्रोंकी सृष्टि ही कथासाहित्यकी महत्ताकी कमौटी है। एक ही पात्रके स्वभाव तथा उसके आधारपर किये गये कार्यों में मनोविज्ञानसम्मन परिवर्गन तथा कभी-कभी आश्चर्यजनक विरोधका चित्रण करके कथा-साहित्यमें जिस सौन्दर्यकी सृष्टि की जा सकती है, वह माहित्यके अन्य रूपोंके लिए ईर्ष्याप्ती बात हो सकती है। आर्नल्ड वेनेटके शब्दोमे हम कह सकते हैं कि कथासाहित्यका मृलाधार चरित्र-चित्रण ही है, अन्य कुछ नहो । कथाकी घटनाएँ ना प्रायः पात्रोंके स्वभाव और प्रकृतिस ही प्रसृत होती है। उसके वातावरण या देश-कालका निर्माण चरित्रीको स्वाभ।विकता और वास्तविकता प्रदान करनेके लिए ही किया जाता है। कथनोपकथन घटनाओं में भी अधिक चरित्रको ही व्यंजित और प्रकाशिन करना है तथा कथाके उद्देश्यकी महत्ता भी चरित्रमें ही निहित होनी हैं। मनोविज्ञानको साहित्यमे जो महत्ता मिली है, उसका आधार भी चरित्र-चित्रण ही हैं (दे॰ 'उपन्यास', 'कार्य') ।--सं॰ पात्रप्रवृत्तिवक्रता-दे॰ 'प्रकरणवक्रता', पहला नियामक ! पादाकलक-मात्रिक सम छन्यका एक भेद । 'प्राकृत-पैग्लम'में १ मात्राके चरणवाले इस छन्दका विभेचन किया गया है (१:१३०)। भानुने ४ चौकलके चरणवाले छन्दोंको पादाकुलक कहा है (छं० प्र०, प्० ४८)। इनमें से प्रमुख, जिनका प्रयोग हिन्दीमे हुआ है, अरिल्ल, पद्धरियाँ तथा टिल्ला है (दे०)। तलसीने चौपाइयोंके मध्यमें, सूरने पदोमें, केशव (रा० चं०), मूदन (सु० च०) तथा श्रीधर (जंगनामा)ने इसका प्रयोग किया है। सरकी इस चौपाई-"उमा कहाँ मैं तो नही जानी, अरु सिवहूँ मो सों न बखानी" (पद २२६, समा सं०)के दोनों चरणोमे चार-चार चौकल होनेसे पादाकुलक है। इसी प्रकार तलसीकी इस चौपाईके चारों चरणोमें चौकल है, अतएव इसे पादाकुलक कहा जायगा-"गुरु पद, रज मृदु, मंजुल, अंजन । नयन अमिय दग, दीष विभंजन" (रा० च० मा०, १:२)।

भानुने पद पादाकुलकको इसका भेद स्वीकार करते हुए माना है कि इसकी १६ मात्राओं के आदिमें दिकल (ऽ या ॥) अवस्य रहता है और त्रिकल (।ऽ, ऽ।, ॥) कदापि नहीं आता, समकल आदिसे अन्ततक चलने हें। इसकी चाल तीटक हुत्तसे मिलती हैं। पादाकुलक से समान ही हिन्दीमें इस छन्दरूपका प्रयोग भी हुआ है। इस छन्दमें चौपाई छन्दको अपेक्षा चंचलता अधिक रहती है। उदा०—"क्रजमें हरि होरी खेलि रहे, गण ग्वाल अवीरिष्ठं मेलि रहे" (मानु: छं० प्र०, प्र० ५१)। —सं० पादाकुलि यमक दें 'यमक'।

पारख—संत-साधनामें गुरका बहुन अधिक महत्त्व है। उसीके शब्द बाण (दे॰ 'हथियार')स विध्कर साधकको सच्ची सुरति प्राप्त होती है और वैराग्यका उदय हो जानसे वह परम प्राप्तव्यको पा लेता है। इसी सर्वोच्च सिद्धिके शिखर-पर पहुँचकर संत-साधक पाता है कि—"सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा सथा तब खुलि गया दुवार" (क॰ ग्रं॰: ति॰, पृ॰ १७०: विशेष स्पष्ट व्याख्याके लिए दे॰ 'निरति')।

इसीलिए गुरुको मंनोने अहेरी, सूरमा, पारख, गारुडी, भेदी, खेवक, शानप्रकासी और शनरंजकी चाल बतानेवाला कहा है तो कभी चैतन्यकी चौकीपर आसन लगाकर निर्मय-निदशंक रहनेका उपदेश देनेवाला, शब्दछोलनासे छोलकर शान ममकला देनेवाला किसलीगर बनाया है। कई बार उसे परमेश्वर, या उनसे भी बड़ा कहा है (दे० क० ग्रं०: ति०, पृ० १३७-१४०)। लेकिन गुरुको ये संत जहाँ इतना अधिक मान देते हैं, वहीं उसकी योग्यताके प्रति सचेत भी है। अन्धे (ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिने हीन) गुरुका अनुमरण सदेव कुएमें गिराना है। क्वीरने कहा भी है—"जाका गुरु है आंधरा चेला है जानंध । अंधे अंधा ठेलिया दोन्यू कृप परन्न" (क्र० ग्रं०: नि०, पृ० १३६)। और यदि गुरु अच्छा मिल जाय तो लोकवंदके साथ अधानान्धारसे भरे मार्गपर चलनेवालेके हाथ राष्ट्र चलते शानका दीपक रख देना है, जर्जर बेड़ेको ड्रबना देख छरककर शिष्य गुरु जैसे बड़े जहाजका महारा लेकर दूबनेने बच जाता है (क० ग्रं : ति०, ५० १३७) । इस संत्युरुका बाग जब उघड़े शरीरपर लग जाता है तो शिष्य प्रेम-विरह्मी दावाग्निम झुल्स जाता है (वहीं, पृ० १३९), विरहकी जलनमें गीली लकडीकी नरह निल-निल जलता और ध्रॅथआना रहना है (वही; पृ० १४१) और इसी अवस्थाम सुरनि निर्रातमे समा जाती है। जिन सांसारिक विषयों के प्रति मन ललकाना था, उनसे देपनाह (निराधार = आधार-हीन, अपार) विरक्ति हो जानी है और सुरति-निरनिके परिचयके इस पुण्यक्षणमे प्रियतमके प्रासादका सिंहहार खुल जाता है (वही; पृ० १७०) प्रिय-प्रिया एकमेक हो जाते है-शिव और शक्तिकी तरह सदा-सदाके लिए। आबा-गमनका चक्कर यही बन्द हो जाता है। ऐसे गुरुके लिए शिष्यके हृदयमे गोविन्द्रमे भी अधिक आदरकी जगहका होना निनांत स्वाभाविक है। सन्ताने अपने गुरुको ऐसा पद दिया है, जो वेदोंने 'तत्त्वमिस' कहकर ब्रह्म या परमेश्वर-को दिये गये पदले भी ऊँचा है। यह पद है 'पारखपद'। यही सचा पर है, गीताके परमधामने भी बहुत-बहुत ऊँचा (गीता, ८:२१)। इसी पारखपदको पानेवाला पारखी कहा जाता है। गुरु इसी चेतन चौकी (क० ग्रं० : नि०, पृ० १३९)पर बैठनेके कारण पारखी कहलाता है। इसी पारख पदपर पहुँचकर जुलाहा कवीर पारम हुआ था (दे० कवीर: हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाणी १०३)। —रा० दे० सिं० पारद-रसेश्वर दर्शनमें पारेको शिवका वीर्य और अभक्तको पार्तीका रज माना गया है। रसेश्वर दर्शन हठयोगकी 'कालक्द्रीकरण' (दे० 'कालक्द्र') नामक साधनाका भौतिक-रूपमें विकास है। 'सर्वदर्शन सग्रह' पृ० २२४में किसी प्राचीन प्रनथसे एक रलोक उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार पारद और अञ्चकको मेलसे तैयार रसायनको मृत्यु, टारिद्रच-नाज्य बताया गया है। इसके झुद्ध प्रयोगसे अशक्त शरीरवाले भी रसमिद्ध होकर मुक्त हो जाते हैं और मन्त्रगण उसके किंकर बन जाते हैं (रस हृद्य १:७)। 'सर्वदर्शन संग्रह' पृ० २०४ पर पारदकी नीन अवस्थाएँ बतायी गयी है-मृच्छिन, मृत और बद्ध। ये ही प्राणकी भी दशाएँ हैं। शिवने एक बार देवीमे कहा था कि कर्म-योग

द्वारा पिण्ट (शरीर) धारण किया जा सकता है। यह कर्म-योग दो प्रकारका है-रसमूलक तथा वायु (= प्राण)-मृलक । रम और वायु दोनो मूच्छित होनेपर व्याधियोको दर करते हैं, मृत होने पर जीवन देने हैं और बद्ध होकर अमर बना देते है। कबीरदास तथा अन्य सन्तोंने चांचत्य-धर्मी होनेके कारण अनेक स्थलोपर पारदको मनके उपमान रूपमे अंकित किया है। सिद्धों और नाथोंके साहित्यमे भी यह शब्द उक्त अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। हठयोग प्रदीपिका (४: ९५)मे पारदको मनके उपमान या संकेतक रूपमे उल्लिखित किया गया है। पारमिता-महायानमे ६ प्रकारको पारमिताओकी साधना-का विधान है। दान, शील, क्षांति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति), ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थज्ञान । इन छहोंकी साधना बोधिचित्तको उत्पन्न करनेके लिए की जाती है। इनमेंसे प्रज्ञापारिमता अन्तिम है और सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी साधनाके बाद ही बोधिचित्तोत्पाद होता है और उसमें शून्यता, ज्ञान तथा करणा समन्वित हो जाती है। --- ध० वी० भा० पाराती-प्रातःकालमे जो गीत गाये जाते है, उन्हें 'पाराती' कहते है, इस शब्दकी ब्युत्पत्ति 'प्रातः'से हैं। भामीण स्त्रियों किसी पर्व आदिके अवसरपर जब गंगा-स्नान करनेके लिए प्रातःकाल झण्ड बनाकर जाती है, तब वे समवेत स्वरमे 'पाराती'के गीतोंको गाती जाती है । ये गीत भक्तिप्रधान होते है। इनमें भगवान् , राम, गंगा अथवा किसी अन्य देवताकी स्तृति होती है। भक्तिके रसमें सराबोर इन गीतोंमे भावुक मक्तकी भावनाका उद्गार वड़ी सुन्दर रीतिसे हुआ है। कही तो भगवान् रामकी महिमा गायी गयी है तो कहीं प्रियतमको रामसे प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है। इन गीतोंको 'प्रातकाली' भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रातःकालमें ही गाये जाते हैं। इनमें ग्रामीण जनताकी भक्तिभावनाका चित्रण हुआ है। - कु० दे० उ० पारिजातक या पारिजातकछा-उपरूपका एक भेद विशेष। भा॰ प्र॰के अनुसार इसमें एक अंक होता है। संधियों में मुख तथा निर्वहण एवं रस शृंगार होता है। नायक देव या क्षत्रियकुलोत्पन्न उदात्त होता है। नायिका कलाहान्तरिता, भोगिनी, स्वकीया या गणिका हो सकती है। इन्हें दण्डरासक में निपुण एवं संख्यामे ४से ८नक होना चाहिए। विद्यक्का प्रयोग प्रायः अनावस्यक नही है, किन्तु इसके न होनेसे भी यह दूषित नही होता। उदा० -यो० प्र० सिं० गङ्गतरङ्गिका। यांछि (भाषा तथा साहित्य) - पालि शब्दका सम्बन्ध विद्वानोंने 'पंक्ति', 'परियाय', 'पल्लि', 'पाटलिपुत्र' आदिसे बतलाया है, किन्तु इसकी वास्तविक व्युत्पत्ति 'रक्षा करने'के अर्थमें 'पा' धातुसे मानना युक्तियुक्त है। जिसमें बुद्ध-चचनोंकी रक्षा की गयी है, वह पालि है-पा रक्खतीति बुद्धवचनं इति पाछि ।

पालि भाषा मूलतः किस प्रदेशकी भाषा है, इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें पर्याप्त मत-भेद है, किन्तु यह निर्विवाद है कि इसमें व्यावरणका ढाँचा मध्यदेशकी भाषाका है। इसमें भगध-प्रदेशकी भाषाके भी अनेक शब्द अवस्य आ गये है।

पालिमे ही तिपिटक (सं० त्रिपिटक) की रचना हुई है। बुद्धके समस्त उपदेश मौखिक थे। उनके शिष्य उन्हें कण्ठस्य कर लेने थे। इन्हीं उपदेशोका संकलन त्रिपिटकमें किया गया है। ये सीलोन (लंका)के थेर (स्थविर)वादियोके मुख्य प्रन्थ है। परम्पराके अनुसार इनका संकलन तथा संगायन भगवान् बुद्धकी मृत्युके परचात् ईसाके ४८३ वर्ष पूर्व राजगह (राजगृह)की प्रथम संगीति (सभा)मे महा-कस्सप (महाकाश्यप)के अधिनायकत्वमे हुआ था। वैशाली-निवासी विजपुत्तक (वृजिपुत्र) भिक्षुओने विनयके विरुद्ध आचरण आरम्भ किया, अतएव व्यवस्थाके लिए प्रथम संगीतिके सौ वर्ष वाद ही वैशालीमें दूमरी संगीति हुई, जिसमें महास्थिपर रैवत तथा मर्वकामी मुख्य थे। तीसरी संगीति अशोक (ई० पृ० २६४-२२७)की प्रेरणासे हुई, जिसमें पिटकोंको एक प्रकारते अन्तिम रूप मिला। इस संगीतिमें ही 'सुत्तिपटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोके आधारपर 'अभिधम्म' (अभिधर्म) पिटक अस्तित्वमें आया तथा अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्ततिस्तने 'कथावत्थुप्पकरण'का संगायन किया । यह तीसरी संगीति इस दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके प्रस्तावानुसार बौद्ध धर्मके प्रचारके लिए अनेक प्रचारक पडोसके देशोमे भेजे गये। परम्पराके अनुसार अशोक-पुत्र महिन्द (महेन्द्र) को धर्मप्रचारार्थ सीलोन (लंका) जाना पड़ा था। वे ही अपने साथ त्रिपिटक भी ले गये थे।

दीर्घ कालतक सीलोनमें त्रिपिटककी मौखिक परम्परा ही चलती रही, किन्तु 'दीपवंस' तथा 'महावंस'के अनुसार वट्टगामिनीके राजत्वकाल (ई० पू० २९-१)में 'अट्ट (अर्थ) कथाओं 'सिहत उसे लिपिवद्ध किया गया। समस्त त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन ही है, इसमें विद्वानोंमें मतभेद है। इसमें कुछ गाथाओं के प्रक्षिप्त होनेकी बात तो पुराने आचायोंने भी स्वीकार की है। किन्तु इममें मूल बुद्ध-वचन पूर्ण रूपसे सुरक्षित हैं। स्त्रोंकी शैली अत्यधिक सजीव है तथा प्रत्येक सुत्रके आरम्भमे उस स्थानका नाम भी है, जहाँ भगवान् बुद्धने उसका उपदेश किया था।

त्रिपिटकके अन्तर्गत 'सुत्त', 'विनय' तथा 'अभिधम्म'पिटक आते हैं । सुत्त (सूत्र) पिटकमें साधारण बातचीतके डंगपर दिये गये भगवान् बुद्धके उपदेशोंका संग्रह हैं ।
इसमें सारिपुत्त तथा मोग्गलान आदि द्वारा भी उपदिष्ट
कतिपय सूत्र सम्मिलित कर लिये गये हैं, जिनका अनुमोदन
भगवान्ने अन्तमें कर दिया है । सुत्तपिटकके अन्तर्गत
निम्नलिखित पाँच निकाय है—१. दीधनिकाय, २. मिझ्सि
निकाय । सुद्दकनिकाय, ४. अंगुत्तरिनकाय, ५. सुद्दकनिकाय । सुद्दकनिकायमें पन्द्रह प्रम्थ है—१. सुद्दकपाठ,
२. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिबुत्तक, ३. सुत्तनिपात,
६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा,
१०. जातक, ११. निद्देस, १५. चरियापिटक।

'सुचिपिटक'के ग्रन्थोंको पाँच निकायोंमें विभक्त करनेमें स्त्रोंके विषयका नहीं, अपितु उनके आकार-प्रकारका विचार किया गया है। 'दीधनिकाय'में लम्बे और 'मज्झिम- निकाय'से मध्यम आकारके सूत्रोंका संग्रह है। 'संयुत्त' तथा 'अंगुत्तरनिकाय' वस्तृतः अन्य निकायोंके पूरक स्प है। ये दोनों 'दोध' तथा 'मिल्लिन' निकायोंके वडे हैं। 'खुदक-रिकाय' छोटे-छोटे सूत्रोंका सग्रह है।

विनयपिटकमें भगवान् बृद्धको उन शिक्षाओं का सम्मह है, जो उन्होंने समय-समयपर संघ-संचालनको नियनित करनेके लिए दी थी। इस पिटकमें निम्नलिखित विभाग है— (१) सुत्तविभंग—(क) पाराजिक, (व) पावित्तिय। (२) खन्धक—(क) महावग्ग, (ख) चुल्लवग्ग, (३) परिवार।

'सत्तिपटक'के उपदिष्ट सिद्धान्तोंके आधारपर ही वस्तनः 'अभिधम्मपिटक'का निकास हुआ है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित सात प्रन्थोंकी गणना है—(१) धम्मसंगिनि, (२) विभंग, (३) कथावत्थु, (४) पुग्गलपञ्जत्ति, (५) धातुकथा अथवा धातुकथापकरण, (६) यमक, (७) पट्टानप्प-करण अथवा महापट्टान । ये बौद्धधर्मके दर्शनके यन्य कहे जाते हैं, किन्त वे उस रूपने दर्शन-प्रन्थ नहीं है, जिस रूपमें ब्राह्मण-दर्शन-यन्थ । वौद्ध-धर्ग आत्माके अस्तित्वको र्स्वाकार नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य चित्त (माइण्ड) और शरीर (मैटर)का संघातमात्र हैं। शरीर ही रूप कहलाता है और चित्तमे चार आकार है-चेदना (feeling), संज्ञा (conceptual knowledge), संखार (synthetic mental stages), विज्ञान (consciousness) । इन मंघानकी अवस्थाओंको 'धम्म' कहते हैं। 'अभिधम्मपिटक'के सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण-यन्थ 'धम्मसंगिनि'मे इन धर्मीका पूर्ण विश्लेषण एवं विभाजन किया गया है, जैते-'कुसलाधम्मा', 'अकुसलाधम्मा','अन्याकताधम्मा' आदि । 'अभिनम्मविट्य'-के शेष छः ग्रन्थोमे इन्ही धर्मीके स्वरूप नथा परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है। धर्मोंका वर्गीकरण भी चार भागोंमे किया गया है। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित गाथा ज्लेखनीय है—"तत्थ वत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो । चित्तं चेतसिकं, रूपं, निव्यानमिनि सब्बधां', अर्थात् परमार्थको दृष्टिसे अभिधर्मके चार विषय बतलाये गये है-१. (किसी वस्तुका जाननेवाला) चित्त, २. (चित्तसे संयुक्त रहनेवाला) चैनसिक, ३. (विकार म्वभाववाला) रूप और ४. (तृष्णासे विसक्त) निर्वाण ।

त्रिभिटकेतर साहित्यके दो युग—प्रथम युग और डितीय युग किये जा सकते है।

प्रथम युगकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना 'मिलिन्दपक्हो' (मिलिन्दप्रक्त) है। इसमे राजा मिलिन्द तथा मिश्च नागसेनके प्रक्तोत्तर हैं। इस प्रन्थकी गणना त्रिपिटकके अन्तर्गत नहीं है फिर भी इसकी प्रामाणिकता उससे कम नहीं मानी जाती। अट्टक्शाचार्य बुद्धघोषतकने कई वातोंको पृष्ट करनेके लिए स्थान-स्थानपर 'मिलिन्दप्रक्त'का प्रमाण दिया है। यह प्रन्थ पूर्ण रूपसे स्थविरवादी दृष्टिकोण-का प्रतिनिधि है और बौद्ध जनतामें इसका आदर है। यहाँ मिलिन्दप्रक्त तात्पर्य वैक्ट्रियाके राजा मिनाण्डरसे है। 'मिलिन्दप्रक्त'के सम्बन्धमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके प्रणेताका नाम अभीतक ज्ञात नहीं। इस प्रन्थकी श्रैणेताका नाम अभीतक ज्ञात नहीं। इस प्रन्थकी श्रैणेताका नाम अभीतक ज्ञात नहीं। इस प्रन्थकी श्रैणेताका नाम अभीतक ज्ञात नहीं।

पालिमें त्रिपिटकेतर-साहित्यका दूसरा युग भवीसे ११वीं शनाब्दीनक माना जाता है। इस दितीय अगका आरम्भ त्रिपिटककी अद्रक्षथाओं (अर्थकथाओं)मे होना है। पालि अद्भवाओंका आधार प्राचीन सिह्लीमें लिखिन अद्भाशाएँ हैं। इस अद्भवधा-साहित्यके प्रगेना आचार्य बुद्धयोप बनलाये जाने हैं, जिनका समय ईसाकी पांचर्वी शताब्दी निधित है। बढ़धीयने निग्नलियित अद्रक्तथाएं विनय (पटक-(क) समन्त्रपामादिका-लिखी—१. कंग्डाविनरणी-पानि-विनयपिटककी अद्रवधा, (ख) मोक्सक्तः अद्भवधा । २. मुत्ति(रक्त-(ग) सुमंगलिका-सिनी—दीघनिकायकी अट्रकथा, (घ) पपंचस्त्नी— मज्जिम-निकायकी अद्रुक्तथा, (इ) मारत्थपकासिनी-संयुक्त-निकायकी अद्रुक्तथा, (च) सर्वे रथपूर ी—बर्क्टर-निकायकी अहकथा (छ), पार विकास ने करण कि प्रतिकार ग्ब्हकपाठ नया मृत्त-नियानकी अद्भक्षा। ३-अमिथम्म पिटक-(ज) अट्टसालिनी-धम्मसगिनीकी अट्टकथा, (झ) मम्मोहिवनोदिनी-विभंगकी अद्रवधा, (त) पर्वचपकरण-कथा-अभिधम्मापिटकर्मा 'धातुकथा', 'पुग्गलपञ्जत्ति', 'कथावत्थ्र', 'यसक्त' नथा 'पद्गानप्यकरण की अद्रक्तथा।

अष्टुकथाओं के अतिरिक्त बुद्धयोषकी सर्वाधिक प्रमिद्ध कृति 'विमुद्धिमगा' 'विद्युद्धिम गीं)। इसमें वौद्धधर्मकी मिद्धान्तीका स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इसे बौद्ध-मिद्धान्तीका कोश कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह निश्चित रूपने नहीं कहा जा सकता कि 'जातकद्वकथा'- (जातकद्वी अर्थकथा) वे प्रणेता भी आनार्य बुद्धधोप ही है।

बुद्धवीपके साथ-साथ बुद्धदत्तका भी उल्लेख आवश्यक है। परम्परानुसार ये बुद्धवीपके समकाकीन थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'बुद्धवंस'पर 'मधुरत्थविकासिनी' अथवा 'मधुरत्थकिकानिनी' नामक अद्वक्षभाकी रचना की थी। इनकी अन्य अनेक रचनाएँ भी कही जाती है।

बुद्धदत्तके बाद आनन्दका नाम आता है। ये भारतीय थे और 'मूलदीका' तथा 'अभिथम्मदीका'के रचियता थे। धम्मपालकी 'परमत्यदीपनी' दीका और उनके अन्य मन्थ भी उल्लेखनीय है। बुद्धघोषके पश्चान् धम्मपाल ही पालि-साहित्यके सर्वाधिक प्रमिद्ध टीकाकार है। बहुत सम्भव हैं कि धम्मपाल नामके अन्य दीकाकार भी हुए हों और उनकी कृतियाँ विख्यात दीकाकार धम्मपालके नामसे ही प्रचलित हो गयी हों। धम्मपालका समय भी विवाद-यस्त है।

पालि साहित्यके प्राचीन टीकाकारोकी सूचीम चुङ-धम्मपाल, उपतेन महानाम, करन्तप, विजरतुद्धि, क्षेम, अनुरुद्ध आदि अन्य नाम भी गिनाने योग्य है।

विनयपिटक सम्बन्धी दो और प्रस्थोका उल्लेख भी आवश्यक है। ये है—धम्मसिरिकृत 'लुडिस्क्स' तथा महासामिन द्वारा रचिन 'मूलसिक्खा'। इनमें भिक्षुओं के लिए संब-सम्बन्धी नियमों के संग्रह है और कण्ठाय करने के लिए पच-बद्ध किये गये हैं। इनकी भाषा तथा शैली विस् स्पष्ट हो जाता है कि ये स्टन्ट, स्थार्ट की हाट, स्थार्ट पूर्व की नहीं है।

पालि साहित्यमें 'दीपवंस' तथा 'महावंस' इतिहास

मन्दर्भा झन्य है। ये डोनो वन्तुनः सिह्छके इतिहास है। दन डोनोके विषय भी एक ही है। डोनोंमे केवल विषयकी ही समानता नहीं है, बिल्य दोनोका वर्णन-क्रम भी एक ही है। 'महावंस' 'डीपवंस' के पीछेकी रचना है, परन्तु काव्यकी हिटिने 'दीपवंस' जहाँ नीरस और शुष्क है, वहाँ भहावंस' एक सरस तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है।

त्रिपिटक साहित्य विशाल है। वर्नी, सिंहली, स्यामी तथा रोमन लिपियोमें मूल त्रिपिडक प्रकाशित हो चुका है, भिन्तु नागराक्षरोंमे यह उण्लब्ब नही है। इधर जबने कलकत्ता तथा सारनाथमे बौद्ध विहार बने और भारतके कतिपय निवासियोने भी बौद्धधर्मकी दीक्षा ली, तबसे मूल त्रिपिटक और उसके अनुवादको हिन्दीमे प्रकाशित करनेका प्रश्न खाभाविक रूपमें उनके सामने आया। ऐसे लोगोमे राहुल सांकृत्यायन अयणी हैं। सर्वप्रथम आपने 'सुत्तपिटक'-के दो निकायों-मिज्झिम तथा दीव-एवं विनयपिटकका हिन्दी अनुवाद महावीवि सभा, सारनाथसे प्रकाशित किया। इसके अनन्तर वर्माके भिक्ष उत्तमकी सहायतासे आपने 'ख़इ प्रनिकाय'के ग्यारह जन्थोको मूल रूपमें भी प्रकाशित किया। राहुलके मार्गका अनुसरण भदन्त आनन्द कौसल्यायनने किया। आपने 'जातक'का हिन्दी अनुवाद लगभग छः खण्डोंमे हिन्दी साहित्य सम्मेलनसे प्रकाशित किया। अभीतक यह कार्य पूरा नहीं हो सका है। इधर राष्ट्रीय महत्त्वकी दृष्टिसे त्रिपिटकको नागराक्षरोमे प्रकाशित करनेका भार भारतीय सरकारने अपने अपर ले लिया है। यह कार्य 'नालन्दा पालि इंस्टीच्यूट'के अनैतनिक डाइरेक्टर त्रिपिटकाचार्य भिक्षु जगदीश काश्यपके तत्त्वावधानमें चल रहा है। -- उ० ना० ति० पाञ्चपत-(पशुपति + अण्) वैसे यजुर्वेदके 'पशूनांपतिः'से लेकर 'महाभारत'तक शिवका पशुपतिरूपमें वर्णन और पाशु पत सम्प्रदायका संकेत मिलता है, पर ईसाकी आरंभिक शताब्दीमें कुषाणयुगमें पाशुपत सम्प्रदायके महाचार्य लकुलीशका प्रादुर्भाव हुआ है। इनका मत माधवके 'सर्व-दर्शन-संग्रह में नकुलीश पाशुपतके नामसे उद्धृत है। लक्तुलीश श्रीकण्ठके शिष्य और महेश्वरके अन्तिम अवतार कहे जाते हैं और वे हमेशा शिवलिंगके साथ ही शिल्प आदिमें चोतित कहे जाते है। लक्लीशके आचार्य सम्प्रदायके प्रवर्तनका व्यापक प्रभाव तमिल शैवोंपर पड़ा और इसीकी शाखाके रूपमें कापालिक, कालमुख और मैरव, वीर शैव, रसेश्वर आदि सम्प्रदाय विकसित हुए। इस पाश्पत सम्प्रदायको शाक्त मतसे जोड़नेका काम

सोमसिद्धान्तने किया। तमिल शैव मतका सबसे प्रमाणित

यन्थ मेयकण्डारकृत 'दौवज्ञानबोधम्' है, जो १२ सूत्रोंमें

पाशुपत मतको व्यक्त करता है। तीन ही सत्ताएँ है— पशुपति, पाश और पशु। इन नीनोंमें परस्पर सम्बन्ध है,

पशुका पाशसे मुक्त होनेका उपाय है और इस मोक्षका

विशिष्ट स्वरूप है। इस मतका विस्तार बृहत्तर भारतमें

हुआ। फाह्यानने जावामें इसकी उपस्थितिका उल्टेख किया

है। सम्बोज और चम्पाने भी इसका निस्तार मिळता है।

वैसे 'अथर्वशिरः' और 'कैवल्य' उपनिषदोनें भी इस

सिद्धान्तकी विवेचना है। मोहनजोद होके योगीकी मुर्तिको

भी पाजुपतको करपनाने जोडते हैं। —वि० ति० मि० पिंगल — छन्द-शास्त्रका प्रचलित पर्याय। पिंगल नामक एक प्राचीन आचार्य हारा विरिन्ति 'छन्दःस्त्र' यन्थ छन्द्र-शास्त्रका आदि यन्थ माना जाता हैं और पिंगलाचार्य आदि आचार्य। ए० बी० कीथने अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमं इनका सम्भावित समय ई० प्०२०० निर्धारित किया है। कालान्तरमे छन्द-शास्त्र अपने आदि आचार्यके नामसे ही अभिहित किया जाने लगा और पिंगल शब्द उसका समानार्था हो गया। 'प्राकृतपंगलम्' नामक प्राकृत छन्दोने सम्बद्ध शास्त्र-यन्थ मंगलाचरणमे पिंगलाचार्यकी बन्दना करता है। बादके छन्द-यन्थोते भी इसी प्रकार मंगलाचरणोने पिंगलाचार्यका सरण सादर किया जाता रहा।

जगन्नाथप्रसाद 'सानु'के 'छन्दःप्रभाकर'मे भी परम्पराका अनुसरण करते हुए लिखा है "जय पिंगल गुरुराय, कर्ती छन्द प्रवस्थके। तुव चरणिन चित लाय, छन्द प्रभाकर कहतु हों"। इतना ही नहीं, अन्तमे 'आरती' भी दे दी गयी है "जे जे जे पिंगल गुरुराया। सन्तत मीपर कीजिय दाया"।

इस विषयमे 'भूजंगप्रयात' छन्दके इलेषार्थपर आधारित एक कथा भी प्रचलित है, जिनले शेषनाग आत्मरक्षाके लिए गरुडको छन्द-शास्त्र सुनाते हे और वादने 'भुजंगप्रयात' कहते-कहते जलमग्न होकर गरड़के आतंकसे मुक्ति पाते हैं। पौराणिक पद्धतिसे कल्पित की गयी इस कथासे पिगला-चार्य या पिंगलशास्त्रकी स्थितिपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता वरन स्थिति और भी अस्पष्ट हो जाती है। पिंगळकाच्य - 'पिंगल' पहले 'छन्दः सूत्रो'के रचयिता आचार्य-का नाम था, जिन्हे नाग भी कहा गया है। पीछे छन्द-सुत्रों और उन सुत्रोंपर आधारित छन्द-शास्त्रको ही 'पिंगल' कहा गया। ये छन्द-अन्थ प्रायः संस्कृतमे प्रयुक्त वृत्तींका ही निरूपण करते थे, केवल कुछ बहुप्रचलित प्राकृत वृत्तोंके भी लक्षणादि दे दिया करते थे। किन्त कालान्तरमे प्राकृत-अपभ्रंशके छन्दोके एक स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थ भी बने और उनमेले अन्तिम या अन्तिम्याय 'प्राकृतिपंगल' या 'प्राकृत-पैगल'था। इसके रचयिता भी पिंगल या नाग ही कहे गये हैं, किन्तु यह रचना चौदहवी शती ईस्वी पूर्वकी नहीं है, क्योंकि इसमें रणथम्भौरके हम्मीर तथा मिथिलाके चण्डेश्वर तकके सम्बन्धके छन्द उदाहरणोंमे आते हैं।

'पिंगल' शब्दका प्रयोग माषाके लिए कबसे प्रारम्भ हुआ, इसका निश्चयपूर्वक कथन कठिन है। किन्तु सत्रहवीं श्वतीसे उन्नीसनी श्वती निक्रमीयतक पिंगल या उसके समा-नाथीं 'नाग' भाषाके उल्लेख मिलते हैं। सत्रहवीं श्वती विक्रमीयमें लिखते हुए मिर्जा खाँने अपने ब्रज्ञभाषा-व्याकरण 'तुहफतुलहिन्द'में 'नागबानी'का उल्लेख किया है, अठार-हवीं श्वती निक्रमीयमें आचार्य मिखारीदासने 'नागभाषा'-का उल्लेख किया है। पुनः अठारहवीं निक्रमीयमें गुरु गोविन्द सिंहने और उन्नीसनीं श्वती निक्रमीयमें बाँकीदास, बुधाजी तथा स्रज्ञमल आदि अनेक राजस्थानी कियोंने पिंगल' भाषाका उल्लेख किया है। प्रश्न यह है कि 'पिंगल' भाषासे इन लेखकोंका क्या अभिप्राय है।

गुरु गोविन्द सिंह तथा राजस्थानके कवियोंने जिसे

'पिगल' कहा है, वह तो बजभाषा ही है, किन्त मिर्जा खाँ तथा आचार्य भिखारीदासने जिसे 'नागवानी' या 'नाग-भाषा' कहा है, वह कढ़ाचित सामान्य ब्रजभाषाने भिन्न है। भिखारी दासने तो 'ब्रज' भाषाके माथ-माथ 'नागभाषा' का नाम लिया है। अनः कुछ विद्वानोका विचार है कि 'पिगल' उस देशी प्राकृतको कहते थे, जिसके उदाहरण 'प्राक्तन-पिगल' या 'प्राक्रतपेगल'मे मिलने है। इसके विरोधमे यह कहा जा सकता है कि 'प्राक्रतिपगल' अथवा 'प्राक्रतप्राल' नाममे 'प्रिंगल' अथवा 'प्राल' शब्द प्रिगल (आचार्य)की कृतिके अर्थमें प्रयक्त हुआ है, 'पिगल' भाषाके अर्थमे नहीं। भाषाके लिए नो रचनाके नाममें 'प्राक्रन' शब्द ही है। दूसरे, यह भी कि 'प्राकृतिपगल'मे किसी एक प्रदेशकी देश्य प्राकृत नहीं हैं, उसमे जहां एक और राजस्थानको देशी प्राकृतके रूप है, वहाँ मिथिलाको भी देशी प्राकृतके रूप मिल जायंगे। फिर भी यह असम्भव नहीं है कि आधुनिक आर्यभाषाओंके साहित्यक्षेत्रमें पूर्ण रूपमे प्रतिष्ठित होनेके पूर्व जब अपभंश बोलचालकी भाषा नहीं रह गयी थी, एक मध्यवती देश्य प्राकृत काव्य-भाषा-के रूपमें व्यापक रूपमें व्यवहृत होने लगी हो और पीछे काव्य-भाषा होनेके नाते यही 'पिगल' नामसे कही जाने लगी हो, भले ही 'प्राकृतिपगल' नाममे 'पिगल' भिन्न अर्थमं प्रयक्त हुआ हो। शौरमेनी प्रावृत और अपभ्रंश पर्व-से काव्य-भाषाएँ रह चुकी थी, इसलिए शौरमेनी देश्य प्राकृत और तदनन्तर बजप्रदेशसे बाहर काव्यक्षेत्रमे उसकी उत्तराधिकारिणी 'ब्रजभाषा'को यदि 'पिंगल' कहा गया हो, नो कुछ अनहोनी बात नहीं है।

काव्यक्षेत्रमे 'पिगल'का स्थान 'बजभाषा'ने कब ग्रहण किया, इस सम्बन्धमे नितान्त निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु कृष्णभक्ति आन्दोलनके जड पकडनेके पूर्व बजकी जनभाषाको साहित्यिक या कान्यभाषाका पद प्राप्त हुआ होगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है। यह कृष्णभक्ति-आन्दोलन १४९३ ई०के लगभग जड़ पकड़ना है, इसलिए वजप्रदेशके साहित्यमें 'पिंगल'के स्थान रिक्त करनेका समय भी १४९३ ई०के लगभग माना जा सकता है। ब्रजप्रदेश और क्रमभिन-माहित्यके बाहर 'पिंगल'का स्थान बोल-चालकी 'बजभाषा'को मिलनेमे कछ और समय लगा होगा, इसलिए वहाँ उसकी अवधि १५४३ ई०के लगभग मानी जा सकती है। १५४३ ई०के बादकी तथाकथित 'पिंगल'की रचनाएँ वास्तवमें 'ब्रजभाषा'की ही रचनाएँ अथवा कभी-कभी 'पिंगलाभास'की रचनाएँ है और इनकी गणना 'ब्रजभाषा' साहित्यके अन्तर्गत होनी चाहिए। राजम्थानमें 'पिंगल'की जो रचनाएँ निश्चित रूपसे इस निथिके बादकी मिलती हैं और ऐसी रचनाएँ कई सौ कही गयी हैं (दे॰ मोतीलाल मेनारिया-लिखित 'राजस्थानका पिंगल साहित्य'), वे प्रायः व जनाषाने ही है। उनमेंस कुछमे राजस्थानीका कुछ पुट अवस्य भिल जाता है, किन्त यह उसी प्रकार है, जैसे अवधी या बुन्देली क्षेत्रोंकी बज-भाषाकी रचनाओंमें कभी-कभी अवधी या बुन्देलीके तत्त्व मिल जाते हैं। नाभादास, जसवन्त सिंह, बिहारी, प्रिया-दास, नागरीदास, वृन्दावनदास, पद्माकर और अस्टिक उत्त- को 'पिंगल' भाषाके किन, राजम्थानमे उस समय 'पिंगल भाषा'से जो अर्थ लिया जाना था, उस दृष्टिमें भले ही कहा जाये, जैसा मेनारियाने कहा है, किन्तु यह बहुत उचित नहीं जेंचता है और इसलिए पिंगल काव्य-परम्पराम यहा उनका उल्लेख करना भी उचित न होगा।

१. 'प्राहृतांपंगल' अथवा 'प्राकृतपंगल' (१४वं। शती १०), जिसका उल्लेख अपर हो चुका है, इस परम्पराका प्राचीन रचनाओंके परिचयके लिए सबसे उल्लुष्ट साधन है। इससे उस भाषाके ऐसे अनेक कवियोकी रचनाएँ विविध छन्दोंके उदाहरणके रूपमे संकलित है, जिनकी रचनाए हमें अन्य प्रकारमे अथवा अन्यत्र प्राप्त नहीं है। छेदका विषय है कि इस प्रस्थका अध्ययन असीतक इस दृष्टिसे नहीं किया गया है।

२. 'पृथ्वीराजरामों '(१४वां द्यातं दं) — २म्प्यारम् ६ व्या अपनेको चन्द कहता हैं और 'पृथ्वीराजको आश्रित किंव बताना है। इमीलिए यह रचना पृथ्वीराजको समकालीन और तेरहवीं द्यावदीको भी मानी गर्या है। किन्तु अभीतक इसके जितने भी पाठ प्राप्त हुए हैं, उनमे अनैतिहासिकता इतनी हैं कि पृथ्वीराजको समकालीन रचना यह नहीं मानी जा सकती है। फिर भी इसका कोई-न-कोई हप १४ वी दानी दं० तक निमित्त हो चुका था, यह इस बातमे प्रमाणित है कि चन्दके हो छप्पय जो वर्तमान 'पृथ्वीराज-रासों में भी हैं, एक पुराने जैन प्रवन्थ-संग्रहमें 'पृथ्वीराज प्रवन्थ'के अन्तर्गत मिलते हें और इस प्रवन्ध-संग्रहकी एक प्रतिलिपि १४७१ ई०की हैं।

२ इसी प्रकार उक्त प्राचीन जैन प्रवन्ध-संग्रहमे जल्ह-रिजत दो छन्द्र 'जयचन्द्र-प्रवन्ध'के अन्तर्गत प्राप्त हुए हैं और इनमेसे एक वर्तमान 'पृथ्वीराजरासों में चन्द्रके नामसे संकलित हैं। असम्भव नहीं कि 'पृथ्वीराजरासों' जैमी कोई रचना जयचन्द्रके चिरतमें सम्बन्धित भी रही हो, जिसका रचिता अथवा चन्द्रकी भोति तथाक्षश्रित रचिता जल्ह रहा हो और यह भी असम्भव नहीं है कि उस एक छन्द्रकी भाति, जो चन्द्रके नामसे 'गृथ्वीराजरासों'के वर्तमान संस्करणमें पाया जाता है, कुछ अन्य छन्द्र भी उस छतिके वर्तमान 'पृथ्वीराजरासों'के इस पाठमें ले लिये गये हों। इस जल्हका समय फल्का यदि उपर्युक्त चन्द्रके आस-पास हो तो कुछ आध्ययं नहीं।

४. 'बुद्धिरासो' (१४वी-१५वी श्वानी ई०); इसका रचिया भी जल्ह है और यह जल्ह रचनाकी भाषा आदिकी दृष्टिसे जयचन्द्विषयक उपर्युक्त छन्दोंक रचिया जल्हसे भिन्न होगा, ऐसा माननेका कोई कारण नहीं है। यह रचना एक कल्पित प्रेमकथा है, जिसमें एक राजकुमार जल्पितरंगिनी नामक एक सुन्दरीसे प्रेम करने लगता है और उसकी लेकर समुद्रनटपर रहने लगता है। कुछ समय पश्चात् वह किसी कार्यवश बाहर जाता है और अवधि समाप्त होने पर भी नहीं लैटिना है। ऐसी दशामें नियक्त बहुत व्यथित होती है। उसकी माता इस प्रसंगमें यौवन और विलासवैमवकी महत्ता प्रतिपादित कर उसे उसके प्रेमपथसे विगत करना चाहती है, विन्तु नायिका उसमें महमत नहीं होती है। इतनेमें ही नायक वापन आ जाता है और

नायक-नायिका पुनः सुखके साथ जीवन व्यनीत करने उसने हैं।

५. 'हिताई बार्ना' (१६वी शती ईस्वी)-वर्तमान रूपमे यह दो लेखकोशी कृति है—नारायणदास तथा रत्नरंगकी। मूलनः यह नारायणदासकी रचना थी, जिसमें रत्ररंगने कुछ और विस्तार किया, ऐमा प्रस्तृत रचनाके एक उल्लेख-मे प्रकट हैं। इसमं अलाउद्दीनके द्वारा देवगिरिके यादव राजा रामदेवकी कन्या छिताईके अपहरणकी कथा है। अलाउद्दीनके समसामयिक इतिहासलेखक इसामीने लिखा है कि सन्धि करके रामदेवने अपनी कन्या छिताई अला-उद्दीनको दे दी थी। इसलिए यह रचना इतिहासके एक तथ्यपर आधारित है। यह अवस्य है कि इस रचनामे छिताईका विवाह पहले ही समरसी नामक जिस राज-कुमारसे हो चका था, वह उसे अलाउद्दीनसे अपने संगीत-कौरालमें सुग्ध कर पुनः प्राप्त कर लेता है, जब कि इसामी-के अनुसार छिताई अलाउदीनके हरममे रहती है और अलाउद्दीनकी मृत्युके अनन्तर उसका अल्पवयस्क पुत्र कुछ समयके लिए गद्दीपर बैठता है और उस समय छिताई राजमाताके रूपमे उसकी अभिभाविका होती है। यह ऐतिहासिक कहानी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वकी है। पूरी कथा चउपईमे कही गयी है, केवल वीच-वीचमे इने-गिने खलोंपर वस्तवन्ध तथा दोहा आदि दो-तीन अन्य छन्द भी प्रयक्त हुए है । कथा-विकासकी दृष्टिसे यह पूर्णतः भारतीय परम्परा-में आती है। भाषाकी दृष्टिसे यह ऊपर आयी हुई पिगल-रचनाओंका अनसरण करती है।

६ 'मधुमालतीकथा' (१४४३ ई०के लगमग)—इसके रचियता चतुर्भुजदास निगम हैं। १५५३ ई०के लगमग इस रचनामें भी उसी प्रकार किन्हीं माथव द्रामाने कुछ सुधार किया, जिस प्रकार उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'में रलरंगने किया, यह उसकी एक प्रतिके पाठसे ज्ञात होता है। किन्तु अन्य प्रतियोका पाठ अन्य प्रकारसे और अन्य व्यक्तियो द्वारा अज्ञात रूपसे प्रक्षिप्त हुआ है। इसलिए यह रचना वहुत-कुछ अपने मूल एपमें पुनिनिमितकी जा सकती है। यह रचना भी उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति महत्त्वकी है। उपर्युक्त 'छिताई वार्ता'की भाँति यह भी चउपई छन्दमें कही गयी है, किन्तु दोहा तथा सोरठा छन्द भी इसमें बहुतायतसे मिलते हैं। इस प्रेमकथाकी परम्परा भी सवैथा भारतीय है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त और भी अनेक रचनाएँ इस कान्य-परम्परामें रची गयी होंगी। बहुत-सी रचनाओं की भाषा समयके प्रवाहमें बदल गयी, इसलिए कभी-कभी पुरानी तिथियाँ उनमें मिलती भी हैं तो उनकी प्राचीनता-पर विश्वास नहीं होता है। कुछ इसी प्रकार बादके प्रक्षेपों के कारण ऐसी विकृत हो गयी हैं कि आधुनिक लगती हैं। कुछमें रचना-तिथियाँ नहीं दी हुई हैं और प्राप्त प्रतियोंकी तिथियों के आसपास बिना पर्याप्त कारणके उनकी रचना-तिथियाँ मान ली गयी है और अनेक रचनाएँ तो अभी विस्मृतिके गर्भमें विलीन हैं, क्योंकि उन्हें किसी प्रकारका राजाश्रय अथवा सम्प्रदायाश्रय नहीं मिला।—मा० प्र० गु०

पिंगला-दे० 'हठयोग'।

पिंड-तन्त्र और योग-पद्धतियोंमें पिण्ड या मनुष्यके शरीर-को वस्तुतः ब्रह्माण्डका ही प्रतिरूप माना गया है, अनः प्रतीक रूपमें समस्त नदियाँ, पर्वत, आकाश, नक्षत्र आदिशी स्थिति भी शरीरके अन्दर मानी गयी है। यहां नहीं, वरन इमीलिए सिद्धोसे लेकर सन्तोतकने यह बार-बार घोषिन किया है कि काया या पिण्डके अन्दर ही सारे तीर्थ है, सारी पवित्र नदियाँ है, सारे नक्षत्र है । इड़ा (ललना)को गंगा, पिंगला (रसना)को यमुना मानकर सुषुम्ना (अवधु-तिका)को सरखती माना गया और ब्रह्मरन्ध्रम उनके संगम-स्थल प्रयागकी परिकल्पना की गयी। तालुमूलमे चन्द्रमाकी स्थिति मानी गयी और नाभिमूलमे सूर्यकी और यह बताया गया है कि तालुमूलस्थ चन्द्रमासे अरनेवाला अमृत नाभि-मूलस्थ सूर्य मोखता रहता है, जनतक योगी उसे श्राम निरुद्ध कर रोक न दे। इसी प्रकार पिण्डमें ही कैलास, मानसरोवर आदिकी कल्पना की गयी। तात्पर्य यह था कि बाह्यस्थिन संसार तो मिथ्या है, माया-जन्य है, वास्तविक संसार तो शरीरके अन्दर हैं। साधक उसपर विजय प्राप्त करे, तभी वह परमतत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। (दे०-'देहस्य पीठ')। --- ४० वी० सा० पिडिया-पिडियाका व्रत कार्त्तिक शुक्क प्रतिपद्से आरम्भ होकर अगहन शक्त प्रतिपद-पुरे एक मासनक किया जाता है। कार्त्तिक शुक्क प्रतिपद्के दिन 'गोधन'की, जो गोवरकी मृतिं बनाकर, पूजाकी जाती है, उसी गीवरमेसे थोडा-मा अंश लेकर कुँवारी लड़िकयाँ 'पिड़िया' लगाती है। घरकी किसी दीवारपर गोबरकी छोटी-छोटी सैकडो मनुष्यकी आकृतियाँ बनायी जाती है। इसके साथ ही आटेको पानीमे घोलकर ऐपनके द्वारा दीवारपर चित्रकर्म भी किया जाता है। इस समस्त प्रक्रियाको 'पिडिया लगाना' कहते है। 'पिडिया' शब्दकी निरुक्ति 'पिण्ड'से हैं। जिसमें लघवाची 'इया' प्रत्यय जोडा गया है। अतः 'पिडिया' गोबरके उन छोटे-छोटे गोल पिण्डोंको कहते हैं, जो दिवालपर लड़िकयो द्वारा चिपकाये जाते हैं।

केवल कुँवारी कन्याएँ ही इस व्रतको अपने प्रिय भाईकी मंगलकामनाके लिए किया करती है। वे प्रतिदिन प्रातः-काल पिडियाकी कथा सुनती हैं। इसके वाद ही वे मोजन कर सकती हैं, अन्यथा नहीं। अगहन शुक्ल प्रतिपदको पूरे एक मासके पश्चात् इस व्रतकी समाप्ति होती है। इस दिन लडकियाँ नये चावल तथा गुड़की बनी हुई खीर, जिसे 'रसिआव' कहते हैं, खाती हैं। इसके दूसरे दिन गोवरके उन पिण्डोंको किसी नदीमे प्रवाहित कर दिया जाता है।

पिड़ियाके गीतोंमे भाई और बहिनके अकृत्रिम तथा अलौकिक प्रेमका वर्णन पाया जाता है। "तोहरी वधहया भहया पिड़िया बरितया हो'' इस पंक्तिसे बिहनका आतुस्नेह झलकता है। कहीं-कहीं पिड़ियाके व्रत किये जानेवाल विविध विधानोंका उल्लेख इनमें उपलब्ध होता है। ये गीत भाई और बहनके आदर्श प्रेमकी स्चना देने हैं। —कृ० दे० ड० पिटक-[पिट् (स्वादि) शब्दसंधातयोः ने कुवन् (उणादि)

उत्कटता दिखलानेके लिए दीप-पतंग जैमे प्रतीक आदिम कालते चले आते हैं। नये-नये प्रतीकोंकी खोज और पुराने प्रतीकोका नये सन्दर्भमे उपयोग किनाकी भान-पक्ष सम्बन्धी वृद्धिके लिए अनिवार्थ है। प्रतिभाका अर्थ ही 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा' है और यह अपूर्वता रूपक और प्रतीक-पद्धतिमे स्पष्ट ही झलकती है।

जीवनकी घटनाओ और अनुभृतियोंका पृथक्करण और अपनी विशिष्ट हेतुपूर्तिके लिए उनका स्वतन्त्र रूपने संयोग कल्पनाका काम है। इमीको कवि-प्रतिभा कहा गया है। वास्तवमे कवि-प्रतिभा और कल्पना साम्यवाची बन गये है और 'कल्पना' काव्यका अनिवार्य अंग है। अतः कल्पनाको हम पृथक्करण-संकलन-शक्ति कह सकते है। अनुभृति और स्पृति अनेक उपकरगोंकी कल्पना नये योगायोगोंमे बॉधकर एक अभिनव स्वप्नलोककी सृष्टि करती है, जो वास्तविक जगत्से भी अधिक सुन्दर और चमत्कारक है। विभिन्नताओंमे संगति विठलाना भी कल्पनाका हो काम है। इस प्रकार उसके द्वारा विश्वदीकरण (इण्टर-प्रिटेशन)की क्रिया भी सम्पादित होती है।

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि काव्यके प्रमुख तत्त्व भावना और कल्पना हैं और विचार अथवा विद्वत्ता तथा काव्यको परस्पर शत्रु माना जाता है। इसी विरोजके आधारपर गम्भीर और ललिन वाड्यका विभाजन है और यह कहा जाता है कि बुद्धिमत्ताके विस्तार अथवा सभ्यताके विकासके साथ काव्यका हास होता जाता है। इस प्रकारके अनेक विचार हैं। परन्तु समस्त विचार-सरणीमें छोटा-मोटा हेत्वाभास है। काव्य विचार-प्रधान नहीं है, परन्त विचारश्रन्य भी नहीं है। तर्क और भावना को दो-अनन्यतः विरोधी समझना भ्रान्ति है। यह कहा जाता है कि किसी वस्तके सम्बन्धमें शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे उसका भावनात्मक आकर्षण लग्न हो जाता है यदि यह सिद्धान्त मान लें तो कोई भी ध्वनि-शास्त्रज्ञ संगीत-कला-प्रवीण नहीं हो सकेगा। भावनात्मकता और तर्कमूलकता मानवीय व्यक्तित्वके दो अंग है। एक ही व्यक्तिमें दोनोंका विकास सम्भव है। वास्तवमें ये वस्तु-मुखताके दो दृष्टिकोण है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिकने 'सौन्दर्यलहरी'की सृष्टि की है और कालिदास जैसे सौन्दर्य-निष्ट कविका विचार-पक्ष भी अत्यन्त सजीव एवं सबल है। काव्यातमक दृष्टिकोण मुख्यतः भावात्मक और कल्पना-निष्ठ होनेपर भी विचारसरणीका परित्याग नहीं कर सकता। सच तो यह है कि विचारका अपना सौन्दर्य है और कल्पना एवं भावनाके योगसे उसके सौन्दर्य एवं रूप-संवटनमें समृद्धि ही होती है। प्राचीन काव्य-लेखमें शास्त्रीय ज्ञानका विशद योग हुआ है और आजके विज्ञान-युगमे भी उसकी अनिवार्यता स्पष्ट है। आधुनिक काव्यमें विचारका महत्त्व बढा ही है। काव्यको गम्भीरता प्रदान करनेमे अथवा भावनाको स्थिरता देनेमें विचार निरन्तर सहायक हुआ है। काव्य-लेखनके क्षणोंमें भी तर्कयुक्त विचारसरणी सहायक सिद्ध होती है। कान्य-रसिक केवल भावुक प्राणी नहीं है, वह विदग्ध और पण्डित रसिक है। परन्त यह समझ लेना होगा कि कान्यगत विचार भावना-

गिमंत होता है। यह तादात्म्य ही विचारको माव-पक्षकी चीज बनाता है। कान्यगत विचार तर्क-गुद्धतापर पूरा न उत्तरनेपर हमें सत्यकी झलक देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार भाव-पक्षके अन्तर्गत भावना, कल्पना और विचार—तीनोंका विवेचन अपेक्षित है। कान्यके अन्तरंगमें इन तीनोकी समयगत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा ही वांछनीय है।

भावप्रधान काड्य — दे० 'स्वात्मिनिष्ठ' (काव्य) ।
भावलय — 'भावलय'को 'अर्थलय'से पृथक् करना कठिन
है, क्योंकि भावात्मकताके कारण ही अर्थ लयान्त्रित होता
है और अर्थलयकी स्थिति उत्पन्न होती है । फिर भी कुछ
अन्तर अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि भावकी कल्पना
विचाररहित अवस्थामे भी की जा सकती है, जब कि अर्थमें
भाव और निचार, दोनोंकी संक्षिष्टता रहती है । निचारोंने
निरंपेक्ष जहाँ द्युद्ध भावात्मक धरातलपर लयकी प्रतीति हो,
वहाँ 'भावलय'की सत्ता मानी जायगी अन्यथा उसे अर्थलयमे ही समाविष्ट करना होगा ।
——ज० गु०
भाव-विरोध —दे० 'वर्णन-दोष', चौथा।

**भावशबळता**—जहाँ एकके पश्चात एक, इस प्रकार शृंखलावद्ध क्रमें भे अनेक भाव प्रकट हो जाय अथवा अनेक भावोका एक साथ मिश्रण दिखाई दे, वहाँ भावशबलता मानी जाती है। आगे आनेवाला भाव अपनेसे पिछले भावको मिर्दे करता हुआ प्रतीत हो। इसीमें भावश्वकताका चमत्कार निहित रहताडै और हिन्दीके अनेक आचार्यीने इस विशेषतापर वल दिया है। बेनी प्रतीन—''एक एकको मरदिके, उपजत भाव अनेक। भावसक्लता कहत है, जिनके बुद्धि विवेदः ' (न० र० त०, पृ० ५५)। पद्माकर-"पूरव पूरवको मरिद होन जहाँ बहु भाव।" (पद्मा०, पृ० ७७) । दूलह—"पूर्व पूर्व मिर्दिकै जहाँ ही बहु भाव होय, तहाँ भावसवलता भाषत िरा मेरे" (क॰ क॰ क॰, पृ० ७५) । पर भिखारीदासने जो लक्षण दिया, वह इस परम्पराने भिन्न प्रतीत होता है—"बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रकट करें इक रग। सबल भाव तासो कहे, जिनकी बुद्धि उतंग" (का० नि०, ५:५०)।

यह परिभाषागत अन्तर संस्कृतके आचार्यों में ही था, जिसकी छाया उक्त उद्धरणोंने दिखाई देती है। 'रसगंगाधर'- में पण्डितराज जगन्नाधने पूर्वभावको उपमदित करते हुए अन्य भावके प्रकट होनेकी पूर्वाचार्यों द्वारा कही हुई बातको खण्डित करके ऐसी स्थितिके पक्षमें अपना मत दिया, जहाँ अनेक भाव-खण्ड रसोंकी तरह मिश्रित होकर विलक्षण आस्वाद प्रदान करते हैं।

इसके किसीका अंग होनेपर 'भावशवलवत' अलंकार होता है। 'काव्यनिर्णय'मे भावशवलताका निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—"हरि संगति सुख मूल सिख ! ये परपंची गाउँ। तू किह तौ तिज संक उत हग बचाइ द्वुत जाउँ" (५: ५१)। — ज० गु० भावशांति - जहाँ पहलेसे वर्तमान किसी भावकी शान्ति चमत्कारपूर्वक सहसा हो जाय, वहाँ भावशान्तिकी अवस्था मानी जानी है। दूसरे भावके उदयकी अपेक्षा पूर्वस्थित भावकी शान्ति होनी अधिक महत्त्व एवं चामत्कारिक होनी

चाहिये, अन्यथा 'लाबेटर' हो प्रधाननाकों कारण भावशान्ति की स्थिति गौण हो जायगी। हिन्दी किवयोने इसके लक्षण इस प्रकार दिये है—वेनी प्रवीन—"भाव जहाँ केंद्रु भावते, तत्क्षण उपसम होइ। भावसान्ति तह कहन है, किव कोविद सब कोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। चिन्तामणि— "उपसम पावै भाव जो भावसान्त सो जान" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। भिखारीदास—"भाव सान्ति सो है जहाँ मिटत भाव अन्यास" (का० नि०, ५: ५२)। स्पष्ट है कि बेनी प्रवीन और चिन्तामणिने पूर्वाभासके तत्क्षण शमनपर विशेष वल दिया है जब कि दासने शमनके अनायास होनेको विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

मितरामके छन्दकी निम्निलिखित पंक्ति भावशान्तिका एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है—"आँखिन ते गिरे आँसुके बूंद सु हास गयो उडि हंसकी नाई" (रसराज)। जब भावशान्ति किसीका अंग होकर आती है तो समाहित अलकार माना जाता है—"काहूको अंग होत है, जह भावनकी सान्ति। समाहितालंकार तह कह सुकि बहु भॉति" (का० नि०, ५:१६)। विशेषके लिए दे० 'रसाभाम'। — ज० गु० भावसंधि—जिनका उत्कर्ष परस्पर समान रूपमे अवस्थित हो, ऐसे दो भावोके बीचकी स्थिनिको भावसन्य कहा जाता है। इस सन्ध्रिश्वलका चामत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावोंकी सन्धि हो, वे अविरोधी अथवा एक प्रकृतिके ही हो, भिन्न प्रकृतिके विरोधी भावोके बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चामत्कारिक भी होते है।

कालिदासकी प्रमिद्ध उक्ति 'न यथी न तस्थी' भावसन्धि-की अवस्थाको ही चोतित करती है। विहारीकी निम्नलिखित उक्ति भी संकोच और स्नेहके भावोका मिलन व्यक्त करती है—''छुटै न लाज न लालची, प्यौ रुखि नैहर गेह। स्टपटात लोचन खरे, धरे संकोच सनेह" (बि० स०)। नायिकाभेदमे मध्या नायिकाके अनेक उदाहरण इसी रूपमे मिलते है।

पंचवटीमे राम-भरत-मिलनके अवसरपर लक्ष्मणकी मनःस्थितिका चित्रण भावमन्धिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है — "बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोग। मिलिन जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लखन मनकी गति भनई" (अयोध्याकाण्ड)। यद्यपि अगोस्वाभिमान विजयी होता है, पर यहाँ भावसन्धि ही है।

एकका किमीका अंग हो जानेपर (भावसन्धिवत) अलंकार माना जाता है। विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषके गोरस्वनाथ ऐण्ड कनफटायोगीज (पृ॰ ८-९)पर कनफटा योगियो (दे॰ 'कनफटा')के कानफड़वानेकी प्रथाका विवरण दिया है और बताया है कि कान फट जाना इन योगियों में 'भावाजोस्बी'का न्यापार कहलाता है। जिसका कान खराब हो जाता है, वंह सम्प्रदायसे अलग हो जाता है और पुजारीका अधिकार स्वो देता है। — रा॰ सि॰ भावाभास— भावाभासकी स्थिति रसामासके ही

समानान्तर मानी गयी और आचायाँने प्रायः दोनोंका

निरूपण साथ-साथ किया है। रसकी अपेक्षा भाव सीमित अनुभवको न्यक्त करता है। अतः भावाभासकी न्याप्ति भी रसाभासकी तुलनामे सीमित रहती है। अनौचित्य ही भावाभासका भी कारण होता है। 'साहित्यदर्पण'में भावाभासका लक्षण दिया है-"भावाभासी लजादिके त वेश्यादिविषये स्यात्" (३, २६६) । पद्माकर द्वारा दिया गया लक्षण इसीका संवर्धित अनुवाद है- "ज़ रिप सराहै सु रिपुको, लज्जा गनिकनि माँहि। कबि पण्डित बर्नन करत, भावाभास तहाँहि" (पद्मा०, पृ० ७५)। हिन्दीके अन्य कान्याचार्यो द्वारा अनुचित स्थलपर भावप्रकाशन-को भावाभास माना गया है। वेनी प्रवीन-"होत अनूचित सो कलू, क्यहुँ थल भावप्रकास । ताही सौ सब कहत है, कबिकुल भावाभास" (न० र० त०, पू० ५५)। भिखारीदास-"भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावा-भास" (का० नि०, पृ० ४२)। चिन्तामणि आदिने भी ऐसे ही लक्षण दिये हैं।

कन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'कान्यकलपृद्धम' (पृ० २८६: ७)में भावाभासकी स्थितिपर विचार करते हुए लिखा है कि "न्यभिचारी जबतक किसी रसके पोषक रहते है, तबतक वे न्यभिचारी हैं, जब वे प्रधानतासे प्रतीत होते हुए भाव-अवस्थाको प्राप्त होकर दूसरे किसी आभामके अंग हो जाते है, तब वे भी भावाभास कहलाते हैं'। इस परिभाषामे अनौचित्यकी अपेक्षा प्रधानतापर अधिक बल दिया गया है।

भावाभास और रसामास, दोनों अनौचित्यपर आधारित होनेके कारण काव्य-दोषोंसे निकटना रखते दिखाई देते है, पर प्राचीन काव्य-दाखामे रसांग बन जानेपर भामह, दण्डी आदिके द्वारा उन्हें 'ऊर्जस्ती' नामसे अलंकार-रूपमे ग्रहण किया गया है। यह मान्यता हिन्दीमे भी बनी रही, जैसे 'किविकुलकण्ठाभरण'में दूलह किवने लिखा है—'जहाँ अनुचितमे प्रवृत्त रस भाव, रसाभास, भावाभास तहाँ ऊर्जिस गनायो है"। मिश्रवन्धुओने 'ऊर्जस्ती'के दो भेद माने है, एक रसाभास सम्बन्धी, दूसरा भावाभास सम्बन्धी। (सार पार, पूरु ४३६: ८)

भावाभासके उदाहरणरूपमे मानसकी निम्नलिखित अर्दाली ली जा सकती है—"हुमिक लात तिक कूबर मारा। पि मुंह भिर मिहं करत चिकारा" (अथोध्याकाण्ड)। यहाँ आलम्बनके विकलांग होनेसे कोधके मूल भावके साथ हासका मिश्रण हो जाता है और परिणामतः कोध नरहकर भावाभास लगने लगता है।

'कान्यप्रकारा'में मम्मट(१२ श० ई० पूर्वा०)ने अभिधा-मूलक असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य ध्वनिके भेदोंका निर्देश करते हुए एक कारिका दी है—"रसभावतद भासभावशान्त्यादिर-क्रमः। भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितिः" (४: २६), अर्थात् शृंगारादि रम, विविध भाव, रसाभास और भावामास तथा भावशान्ति, भाव-सन्धि, भावोदय एवं भाव-शबलता इत्यादि रसवत् आदि अलंकारोसे भिन्न अलंकार्यकी स्थितिमें आते हैं। इस कारिकासे भावाभासकी रम, भाव आदिसे सम्बद्ध अन्य प्रकारोंके बीच सापेक्षिक स्थिति रपष्ट होती है तथा उसके अलंकारसे भिन्न अलंकार्य होनेकी

पुष्टि भी होती है। <del>\_ ব</del>০ নৃ০ भाविक-गृटार्थप्रतीतिम्लक अर्थालंकार, जहाँ भृत और भविष्यत् भावों अथवा पदार्थींका प्रत्यक्षवत् दर्शन किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है। भावका तात्पर्य हआ कविका आशय-विशेष, उससे संसृष्ट हुआ भाविक। साहित्य-द्र्पणकारने इसकी परिभाषा दी है-"अद्भूतस्य पटार्थस्य भृतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमदा-हृतम्" (सा० द०, ९३: ९४)। यह भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंसे स्वीकृत चला आनेवाला अलंकार है। भामहने भाविकको व्यापक प्रवन्ध-सौन्दर्य माना है-"प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भृतभाविनः" (काव्या-लंकार, ३: ५३), अर्थात् जिसमे भूत और भविष्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं। साथ ही उन्होने इसमे शब्दकी अनुकलता, अर्थकी विचित्रता और उदात्तता भी अपेक्षित मानी है। उद्भटकी भाविक सम्बन्धी धारणा किंचित बदली हुई है, फिर भी "अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामानुकूल्येन भाविकम्" (का० सा० सं०, ६:६)मे व्यापक काव्य-गणकी स्रोकृति है। रुय्यक तथा मम्मटने इसको वाच्य सौन्दर्य, अर्थात अलंकारके रूपमे प्रतिष्ठित किया; अतीत और अनागत पदार्थीका प्रत्यक्षके समान वर्णन (का० प्र०, १०: ११४)। इसमें प्राचीनोंके आधारपर बढा दिया गया है कि उस पदार्थमे वैचित्र्य भी होना चाहिये। हिन्दीके आचार्योने प्रायः जयदेवके आधारपर इस अलंकारका लक्षण दिया है—''जहाँ भयो भावी अरथ, बरनत है परतच्छ'' (ल० ल०, ३७४)। भूषण, दास, पद्माकर आदिके लक्षण समान है। विहारीका यह दोहा भूतार्थप्रत्यक्षका उदाहरण है--"यों दलिमलियत निरद्यी, दई कुसुमसौ गातु। कर धरि देखी धरधरा, अजी न उरते जातु" (वि० र०, ६५१)। द्वितीय भाविकका उदाहरण मतिरामसे-"जनि चलाइये चलनकी चर्चा स्याम सुजान। मै देखित हौ वाहि यह बात सनत बिन प्रान" (ल० ल०, ३७६)। आधुनिक कवियोंमेंसे प्रथम तथा द्वितीय भाविकके क्रमशः इसी प्रकार—"अरे मधर है कष्टपूर्ण भी जीवनकी वीती घडियाँ। जब निःसम्बल होकर कोई जोड रहा बिखरी वृडियाँ" (महादेवी) अथवा—"हृदयमें खिल उठता तत्काल अथिखले अंगोका मधुमास । तुम्हारी छविका कर अनुमान, श्रिये प्राणींकी प्राण" (पन्त)।

उद्योतकारके अनुसार भाविकमे भूत और भविष्य क्रमशः भूत और भविष्यके रूपमे ही निर्दिष्ट होते है, अतः यह आन्तिमानसे भिन्न है और स्वभावोक्तिसे इस कारण भिन्न है कि जहाँ स्वभावोक्तिमें प्रकृत वस्तुका धर्मवैचित्र्य व्यापक है, वहाँ भाविकमे कविका अभिप्राय। —ध० ब० शा० भावोद्य—जहाँ एक भावका शमन करके दूसरा भाव उदय हो और उसमें ही चमत्कार निहित हो, वहाँ भावोदय-की अवस्था होती है। वेनी प्रवीन द्वारा दिया गया इसका लक्षण विशेष स्पष्ट है—"काहू भाव विभावते, भाव उदै जो होइ। ताहीसों सब कहत हैं, भाव उदै कि लोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। जब यह किसीका अंग होता है तो भावोदयवत् अलंकार माना जाता है। मैथिलीशरण शुप्तकी निम्नलिखित पंक्तियोमें विषाद-भावका उदय

चामत्कारिक रूपसे होता है, अतः यहाँ भावोदय कहा जा सकता है—"विहग समान यदि अम्ब पंख पाता में। एक ही उड़ानमें तो ऊँचे चढ जाता में। किन्तु विना पंखोंके विचार सब रीते हैं। हाय पिंद्योंसे भी मनुष्य गये-बीते हें" (यशोधरा)। विशेष दे० 'रसा-भास'। —ज० गु० भावोदय आदि—रसवत् आदिके साथ स्वीकृत अलंकारोंका वर्ग। रससे सम्बन्धित इन अलंकारोंका रूयकने सम्भवतः स्वीकृति दी हैं और वादमें विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदिने भी इनका उल्लंख किया है। सामान्यतः इनका संस्कृत अथवा हिन्दी, दोनोंमें स्वीकृति नहीं मिल सकी। इनका गुणीभृत व्यंग्यके अन्तर्गत ही माना गया है। हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें केंवल पद्माकरने रसवत् आदिके साथ इनकी चर्चा भी की हैं।

विश्वनाथने इनके सम्बन्धमे—"भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः" कहकर परिभाषा दी है (सा॰ द०, १०: ९७), अर्थात भावके उदय होनेपर, भावोंकी सन्धि अथवा मिश्रण होनेपर भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-श्वलता नामक अलंकार होते है। भावोदय-भावका उत्कर्ष जहाँ दूसरे भावका अंग हो जाता है, वहाँ यह अलंकार होता है- "उदित होत ही भावके, भावोदय पहिचान । सो अंग हव जह औरको, अलंकार वह मान" (पद्मा०, ३००)। उदा०—"तन मृग-मदकी बासने, समुझि अधेरे मॉह। तियहि लाय हिप हरिषकै, बजरिस-कनके नॉह" (वही, ३०१)। यहाँ विवीधरूप भावीदय हर्षरूप भावका अंग हो गया है, अतः भावोदय अलंकार है। भावसन्धि-भावकी सन्धि जहाँ दूसरे भावका अंग हो जानी है, वहाँ यह अलंकार होता है-"विरुध भाव हैकी बहस, भावसन्धि उर आन । होत जु अंग जह औरको, अलंकार तह मान" (पद्मा०, ३०२)। उदा०-"रही धीर धरि लखि पियहि, रिस जरमे न समाति । भरि हग ऑसुन ही कहाी, रमें कहाँ तुम राति ।" (वही, ३०३)। यहाँ परस्पर विरोधी धृति तथा अमर्थरूप भावसन्धि विषादरूप संचारी भावका अंग अथवा शृनार रसका अंग हो गया है, अतः भावसन्धि अलंकार है। भावशबळता-अनेक भावोंकी एक साथ प्रतीति-रूप भावशबलता जहाँ अन्य भावका अंग हो, वहाँ यह अलंकार होता है-"पूरव-पूरवके मरदि, होत जहाँ वहु भाव। भाव-शवलता सो जु अंग, परको भूपन गाव" (पद्मा०, ३०४)। उदा०-"धिक मोहि जुन पियसो मिली, वह बिहारकी चीप। हाय कहाऽब करी सखी, गयो न उरते कीप" (वही, ३०५)। यहाँ निवेद-स्मृति-चिन्ता आदि भावशबलता अमर्षरूप संचारी भावका अंग अथवा अमर्ष सहित भावशवलता विप्रलम्भ-शृगार रसका अंग हो गयी है, अतः भावशवलता अलंकार माना जा सकता ~सं ० भाषण-कला-इसके लिए वनतृत्व-कला शब्दका प्रयोग

**नाषण-कळा**—इसक लिए वन्तृत्व-कला शब्दका प्रयाग भी किया गया है। भारतीय साहित्यमे इस कलाके सम्बन्धमें विशेष चर्चा नहीं हुई। दे० काव्य-लक्ष्ण'। यूरोपमे इस कलाका प्रचार यूनानके प्राचीन गौरव-कालमे

अत्यधिक रहा हैं और यूनानी विचारकोने इसके विवेचनको शास्त्रकी गरिमा प्रदान की है। पश्चिमका अलंकार-शास्त्र भाषण-शास्त्र(rhetorics) है विकसित हुआ है। युनानमें प्लेटोके पूर्व गीजियास तथा श्रेसीमेवसने वक्तृत्व-कलामे आकर्पण तथा अलंकारोकी आवश्यकता बतायी थी और वाकडौळीको साधारण बोल-चालके स्तरसे उठानेका प्रयतन किया। प्लेटोने इस कलाका विरोध किया, क्योंकि उनके अनुसार इस कलाका उपयोग सत्यकी अवहेलनाके लिए फिया जाता है। इन्होंने अपनेसे पूर्वके शास्त्रियो द्वारा कहे गये वक्तुत्व-कलाके विभिन्न उपकरणोकी कट आलोचना की, जिनमे आवेदन, विवरण, प्रमाण, सम्भाविकता तथा स्वीकृति प्रधान है। भरत द्वारा उन्लिखित कान्य-लक्षणो (दे०) से इनकी समता देखी जा सकती है। प्लेटोने इस कलाके तीन आधार बतलाये है—प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास । वक्तृताके साथ ही इन्होंने गद्य-शैलीमे भी विषय प्रस्तुत करनेमें स्पष्टता, क्रम, तारतम्य तथा सामंजस्यके नियमोकी स्थापना की है। आइसाक्रेटीज (३९२ ई० पू०)-ने अपने शास्त्रीय विवेचनमे इस कलाकी स्थापना तार्किकता-के क्षेत्रसे दार्शनिक क्षेत्रमे की। इन्होने भाषण-शास्त्रके मानवीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्वको प्रतिपादित किया। इनके द्वारा यह कला-काव्यके समकक्ष मानी गयी। इन्होंने वक्तृत्व तथा गद्य-शैलीपर एक साथ विचार किया है और विषय, औचित्य, भाषा-प्रयोग, अलंबारॉके प्रयोग, छन्दोकी गति-लय आदिके प्रयोगके सम्बन्धमें विवेचन किया है। इन्होने ही भाषण अथवा वक्तताके चार अंग-पाकथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसंहार प्रतिपादित किये। अरस्त्ने इस कलाका और वैज्ञानिक विवेचन किया। अरस्तूने भी विषयके चयनपर बल दिया है और आइसाक्रेटीजके अंगोंको माना है। इन्होने शैठी-का महत्त्व भी प्रतिपादित किया और माना है कि पहले-पहल वावियोने भाषण-शैलीकी और ध्यान दिया। इन्होने श्रेष्ठ शैलीके गुण रपष्टता और औचित्यको माना है। स्पष्टताके लिए वाक्य तथा शब्द-विन्यास और शब्द-चयनका महत्त्व है। शब्दोंका प्रयोग सर्वजन-सुरुभ होना चाहिये। परन्तु अप्रचलित प्रयोग वर्जित नहीं है। वक्ता वक्तताको सन्दर, आकर्षक तथा गौरवान्वित बनानेके लिए अप्रचिलत शब्दोंका प्रयोग कर सकता है और इनके द्वारा नवीनता और चमत्कार, दोनोंका विकास भी होगा (एस० पी० खत्रीः आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त, पू० ६५)। आलंकारिक प्रयोगोके द्वारा वक्ता स्पष्टता, सौष्ठव, चमत्कार आदि गुण अपनी वक्तृतामे लाता है। अरस्तूने अलंकारोंके प्रयोगपर महत्त्वपूर्ण विचार प्रव.ट किये हैं । उनके अनुसार अलंकार मात्र चमत्कृत करनेवाले प्रयोग नहीं है, उनके सौन्दर्यसे मानसिक उछास प्राप्त होता है। परन्तु अरस्तूने इनके प्रयोगके सम्बन्धमें सतर्क भी किया है। यदि सौन्दर्य-की अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलंकारोंका चुनाव जीवन-के गौरवित स्तरों और सौन्दर्य-प्रसारक स्थलोंसे होना चाहिये (वही, वही)। इस चुनावके लिए आवश्यक है कि अलंकार परिचित हो और विषयसे उनका सहज सम्बन्ध हो। भारतीय दृष्टिके लिए दे० 'अलंकार'।

अन्य अनेक शास्त्रों और कलाओंके समान वक्तत्व-कला तथा भाषण-शास्त्रका विस्तार तथा विवेचन युनानके बाद रोममे हुआ और साथ ही उनके एतद्विषयक सिद्धान्तोका मूलाधार भी यूनानी चिन्तन ही है, पर रोमके विचारकोंने इन्हें रोमीय समाजके उपयुक्त बनानेका प्रयतन अवस्य किया है। इनमें प्रधान विचारक सिसरो (१०वी शती) है। रोमके वागीशोने भाषाकी शुद्धतापर बल दिया है और वक्तुताके लम्ने वाक्यों, द्विरुक्तियो, तुकवन्द्रियोसे सतर्क रहनेका आग्रह किया है। इन्होने अलंकारोका सम्चित प्रयोग वक्ततामे प्रभावोत्पादकता तथा शालीनता लानेके लिए स्वीकार किया है। सिसरोने वक्तत्व-कलाको मानवीय विकासके लिए महत्त्वपूर्ण कला माना है। तर्क-चातुर्य तथा शब्दजालको इन्होने श्रेष्ठ कला नहीं माना है। इन्होने वक्तृताका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्रभावपूर्ण विषय-विवेचन तथा इसके आधार विचारक्रम, दर्शन तथा मनोविज्ञानका ज्ञान माना है। औचित्य-गुणको भाषण-शैलीका प्रधान गुण स्वीकार किया गया है। इन्होने भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोगोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, ध्वनि-सामंजस्य, स्वर और व्यंजन-ध्वनिका मधर प्रयोग, विरोधालंकार आदि। सिसरोने वक्तुनाओमें आलकारिक और प्रभावपूर्ण शब्दो तथा समासोके प्रयोगका प्रतिपादन किया, जिसे बादके वागीशोने स्वीकार किया है। द्वितीय श्रतीमे रोमकी भाषण-कलामे समरूपता, शैथिल्य, कृत्रिमता तथा अतिदायोक्तिपूर्ण आलंकारिकता आदि दोष आ गये थे, यद्यपि शास्त्रियोका आग्रह यूनानी भाषण-शास्त्रको अपनानेका ही था।

अनेक शताब्दियोके अन्धकारके बाद यूरोपमें १४वी-१५वी शतियोमे पुनर्जागरण (रेनेसॉ)का युग आया, जिसमे अन्य अनेक दिशाओंके समान भाषण कलाका नव निर्माण हुआ। पिछले युगोमे भाषण-कला और शास्त्रमे विशृंखलता आ गयी थी, शब्दाडम्बरके कृत्रिम उपायोसे प्रभाव उत्पन्न करना मात्र इस कलाका लक्ष्य रह गया था, परन्तु इस युगमें इसका उद्देश्य शिक्षा, प्रबोधन तथा उत्तेजना प्रदान करना माना गया । वक्तृताका प्रधान तत्त्व शैर्लाको स्वीकार करके भी विचारके महत्त्वको प्रतिपादित किया गया है। विचार शैलीकी आत्मा है। शब्दप्रयोगके औचित्यपर भी बल दिया गया। कहा गया कि वक्तृताको अलंकार, विस्तार, कहावतो, उपमाओं, हितोपदेशों और पौराणिक कथाओं से प्रभावशील बनाया जा सकता है। स्पष्टता तथा संक्षिप्त कथन भाषण-शैलीके प्रधान गुण हैं। अलंकारोंके सन्तुलित प्रयोगपर बल दिया गया। पन्द्रहवी रातीके साहित्यकारोकी दृष्टिमे भाषण-ज्ञास्त्र तथा कान्यमे केवल रूपका अन्तर माना गया है। इसीलिए उसमे अनेक अलंकारोका प्रयोग तथा शब्द-जाल स्वीकृत था। १६वी शतीमे दृष्टिकोण बदला और यूनानी तथा रोमके शास्त्रियोंके सिद्धान्तोका अनुशीलन अधिक श्रद्धासे किया गया। इस युगमें विषयको भाषणका आधार माना गया, इसे यूनान तथा रोमके शास्त्रियोंने भी स्वीकार किया था। न्यापक शानको आवश्यकताको ओर ध्यान गया तथा शब्दोंके श्रेष्ठ चुनावपर भी बल दिया गया। वक्तृताको देश, काल तथा परिस्थितिके अनुकृत्व होना चाहिये। इस युगमें विषय और अभिन्यंजनाके अभिन्न सम्बन्धको सामान्य रूपसे माना गया, प्रकृतिके सुन्यवस्थित नियमोके अनुसरणका आग्रह किया गया तथा रौळीके आकर्षणको भी स्वीकृत किया गया। रपष्ट ही ये सम्पूर्ण सिद्धान्त यूनान तथा रोमके शास्त्रियोके प्रतिपादित नियमोंसे उदमूत है। इसके वाद भाषण-कलाका विकास और उसका अनुशीलन साहित्यके क्षेत्रसे अधिकाधिक अलग पड़ता गया। १९वीं तथा २०वी शतार्ब्दीमे भाषण-कलाका क्षेत्र राजनीतिमें अधिकाधिक सम्बद्ध हो गया। परन्तु साथ ही बहुतसे वक्ता साहित्यक हुए है और उनके भाषण उच्च कोटिकी साहित्यक कतियोमे गिने जाते हैं।

हमारे देशमे अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता हो गये है। राजनीतिक पराधीनताकी स्थितियों, राष्ट्रीय जीवनके जाग-रण और उन्नयनने सरेन्द्रनाथ बनर्जा, विपिनचन्द्र पाल, बालगंगाधर तिलक, चित्तरंजन दास, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, राजगोपालाचारी, श्रीनिवास अयंगार आदि अनेक कुशल वक्ताओंको जन्म दिया तथा इन वक्ताओंने राष्ट्रीय भावनाके प्रचार-प्रसारमे चिरस्मरणीय योग दिया। इनके भाषणोमें भाषा और भावसम्बन्धी अनेक विशेषताएँ पायी जाती है तथा उनमेसे अनेकका भाषण-कलाकी दृष्टिसे स्थायी महत्त्व है। सामयिक परिस्थितिके कारण ये अधिक-तर अंग्रेजीमें ही है, केवल महामना मालवीय अंग्रेजीके ही समान हिन्दीके भी अच्छे वक्ता थे और उनकी वक्तृत्व-कलाकी महात्मा गान्धीतकने प्रशंसा की थी। राजनीतिक नेताओंके अतिरिक्त कुछ धार्मिक और सांस्कृतिक विचारकों-ने भी भाषण-कलाके द्वारा प्रसिद्धि पायी है। उन्नीसवी शताब्दीमे आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती-में अद्भुत वाक्कुरालता थी और वे वाणीके बलपर ही बहुधा बड़े-बड़े पण्डितोंको परास्त कर देते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे गुजराती होते हुए भी हिन्दीमे बोलते थे। हम उन्हें हिन्दीका प्रथम प्रभावशाली वक्ता कह सकते है। स्वामी विवेकानन्दने अपने भाषण-कौशलसे ही देशसे बाहर भी अपनी और अपने देशकी धाक जमायी थी। वर्तमान युगमे सर्वपछी राधाक्रष्णन वाणीके वरद पुत्र हैं और उनकी भाषण-कला अद्भुत है।

हिन्दी साहित्यके आधुनिक युगमे गचके प्रयोगके साथ उसकी अनेक शैलियोंका विकास हुआ है, जिनमे भाषण-कलाके तत्त्वोका सिन्नवेश है। भारतेन्द्र-युगमे आर्यसमाजके आन्दोलनसे हिन्दी गच-शैलीके विकासको नयी दिशा मिली। दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'की शैलीका प्रधान रूप यही है। लक्ष्मीसागर बार्ष्णयके अनुसार "इमसे भाषामे गहन-से-गहन विषयोपर वाद-विवाद करनेकी शक्ति आ गयी। भाव-व्यंजनामे भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैलीके साथ-साथ भाषामे व्यंग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविभीव हुआ" (आधुनिक हिन्दी साहित्य गद्य)। इसी युगमे निवन्ध-लेखनकी परम्पराका जन्म हुआ, जिसका रूप स्वगत भाषण अथवा बातचीतके समान होता है (दे० 'निवंष')। निवन्ध-लेखनकी परम्पराका जन्म हुआ, जिसका रूप स्वगत भाषण अथवा बातचीतके समान होता है (दे० 'निवंष')। निवन्ध-लेखनका स्वच्छन्द प्रतिपादन-

पर भाषण-कलाका एक अंशतक प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। वालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बाल-मुकुन्द ग्रप्त आदि इस युगके निवन्यकारोने भाषाको ज्यापक वनानेकी दृष्टिसे उसे सगम तथा भाव-बहनके योग्य बनाया. साथ ही भाव-प्रकाशनकी शक्तिने युक्त भी किया। इनकी भापा और शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्व विद्यमान है । अगले द्विवेदी-युगमे भाषा अधिक संयत और परिष्कृत हुई, अतएव इस युगकी गद्य-शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्वोंका विकास अधिक सम्भव हो सका। निबन्धकारों मे महावीरप्रसाद दिवेदीने इसके रोचक कथा-तत्त्वको अपनाया, चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने प्रसंगगर्भत्वके गुणका विकास किया तथा हास्य-व्यंग्यका आश्रय भी लिया। पूर्ण सिंह तथा गणेशशंकर विद्यार्थीं में भाषण-शैलीका भावावेग तथा प्रभावोत्पादकता विशेष रूपसे परिलक्षित है। अन्य लेखकोमे पन्नसिंह शर्मामे आलंकारिकताके साथ भाषाका प्रभाव है, रामचन्द्र शक्कमे विषयप्रतिपादनकी गम्भीरता, स्पष्टता, औचित्य आदि गुण है और ये तत्त्व भाषण-कलासे गद्य-शैलीमें आये माने जा सकते हैं। इस अगमे धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक नेताओके भाषण प्रसिद्ध हो चुके थे; स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, मोहनदास करमचन्द्र गान्धी आदि ऐसे ही व्यक्तित्व है।

वर्तमान युगमे कई निवन्धकार तथा लेखक भाषण-शैलीका समुचित प्रयोग अपनी रचनाओंमें करते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामचृक्ष वेनीपुरी आदिके कई निवन्ध और लेख इस शैलीमे लिखे गये है। इसके अतिरिक्त अनेक राजनीतिज्ञो, विचारको तथा साहित्यकारोंके भाषण प्रकाशित भी हो रहे हैं।

भाषणको वक्तृता भी कहते हैं। ज्याख्यान, प्रवचन, उपदेश तथा कुछ समानाथा अंग्रेजी और अरबी-फारसी शब्दोका प्रयोग भी इसीसे मिलते-जुलते अर्थमे होता है। परन्त भाषण और वक्तृताको भले ही समानार्था माना जाय, न्याख्यान, प्रवचन और उपदेश भिन्न अभिप्राय व्यक्त करते है। व्याख्यानमं किमी विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण किया जाता है। उसमे किसी पक्ष-विपक्षका समर्थन या खण्डन अपेक्षित नहीं होता, वरन् प्रस्तुत विषयके सभी आवस्यक पक्षोपर तटस्य, किन्तु प्रामाणिक रूपमे तर्कसम्मत विचार प्रकट किये जाते हैं। व्याख्यान, वक्ता और श्रोनामे पण्डित और जिज्ञासु अथवा गुरु और शिष्यके सम्बन्धकी भी कल्पना करता है। प्रवचनमे किसी धार्मिक या नीति मम्बन्धी विषयका दृष्टान्तो, उदाहर्णो, शास्त्रीय प्रमाणों, उद्धरणों और आख्यानोमे पृष्ट सरल शैलीमे विशदीकरण किया जाता है। स्याख्यान और प्रवचनमे प्रयोजनका भी अन्तर है। जहाँ व्याख्यान श्रोताओकी जिज्ञासा शान्त करके उनका ज्ञानवर्धन करता है, वहाँ **प्रवचन** उन्हे आचरणकी प्रेरणा देता है। **उपदेश**का प्रयोजन भी यही है और उसका विषय भी धार्मिक और नीति सम्बन्धी होता है। अतः प्रवचन और उपदेश पर्याय कहे जा सकते है। परन्त दोनोकी शैली और विषय-विवेचनके टंगमे अन्तर है। प्रवचनकी शैली अधिक स्निग्ध शान्त और मधुर होनी है, जब कि उपदेशमे ये गुण भी

हो सकते हैं, परन्तु इनके साथ उसमे ओज, आग्रह और आत्मविश्वासपूर्ण दर्प भी न्यूनाधिक मात्रामे आभासित हो जाता है। व्याख्यान, प्रवचन और उपदेश-सभीके लिए प्रस्तुत विषयके सम्यक ज्ञान और उसे क्रम-व्यवस्थित करनेकी योग्यता, भाषापर पूर्ण अधिकार और विषय, पात्र तथा अवसरके अनुकूल उसके प्रयोग करनेके समुचित अभ्यास तथा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए श्रोताओके साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी प्रज्ञा अपेक्षित होती है। परन्तु भाषा-प्रयोगके ये रूप साधारणतया साहित्यकी परिधिमे नहीं आते, क्योंकि इनके प्रयोजनमे ज्ञान, आचरण और क्रियाकी स्पष्टतः स्वीकृति है। भाषण या वक्तृता इनसे भिन्न है। प्रभावकी अपेक्षा उसमे भी होती है और उस भाषणमे श्रोतागण प्रायः विचलित होने लगते है, जिसमें वक्ता भाषासौन्दर्य और आलंकारिक वर्णनमे अधिक उलझकर विषयसे बहकने लगता है। लोग 'कैसा कहा'की ही सराहना करते हुए उठते है। भाषण करनेकी जन्मजात प्रतिभा होती है, फिर भी वह एक कला है, जो अन्य कलाओकी तरह संस्कार और अभ्याससे परिष्कृत होती है।

सिहायक ग्रन्थ—अरस्तू : रेटरिकः ह्यः रेटरिकः; स्पेन्सर हर्बटः फिलासफी ऑव स्टाइल; एस॰ पी॰ खत्री: आलीचना, इतिहास तथा सिद्धान्त ।] ---र० तथा० व्र० व० आषा-जिन ध्वनि चिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनकी समष्टिको भाषा कहते है। भाषाके इस लक्षणमे विचारके अंतर्गत भाव और इच्छा भी हैं। विशेषकर असभ्य जातियोकी भाषामें अधिकतर भाव-इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही चोतित होती है, विचारोंकी मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमरे विचारो-की पूर्ण अभिन्यक्ति ध्वनि-चिह्नोंसे ही नहीं होती। उनकी मददके लिए हम इंगितका भी प्रयोग करते है। किसी-किसी जातिमें भाषाके अलावा इंगित-भाषा भी मिलती है, जिसका वे लोग विशेष समयपर उपयोग करते है। अमेरिकाके पश्चिमी प्रदेशोमे रेड इण्डियन जातियोंमें ऐसी इंगित भाषा देखी गयी है। ध्वनि चिह्नोके अतिरिक्त अन्य चिह्न भी है, जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते है, जिनमे प्रधान है लेखबद अक्षर। आजकल प्रायः लेख द्वारा ही देश-देशांतरसे विचार-विनिमय होता है। ध्वनिका क्षेत्र सीमित है, लेखका अपेक्षाकृत अपरिमित्त। पर यह चक्षुयाह्य अक्षर ध्वनिपर ही निर्भर है, इसलिए भाषाकी दृष्टिसे ध्वनि-चिह्नोंकी अपेक्षा इनकी नेत्रयाद्य सत्ता गौण है।

यदि वैद्यानिक और स्क्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भाषा
मनुष्यके केवल विचार-विनिमयका ही साधन नहीं है,
विचारका भी साधन है। भाषाका विचारसे अटूट सम्बन्ध
हैं। इसे मनुष्य अपने पूर्वजोंसे सीखना आया है। इस
सीखनेके कारण ही भाषामें विकार अथवा परिवर्शन
अवश्यम्भावी है और यही कारण उसकी अपूर्णताका है।
भाषाके बारेमे हमे इस बातका ध्यान रखना चाहिए

भाषाके बारेमे हमे इस बातका घ्यान रखना चाहिए कि जिन ध्वनियोंसे किसी विशेष जीव या वस्तुका बोध होता है, उनका उस जीव या वस्तुसे कोई नियत स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं, केवल सामयिक व्यवहारका सम्बन्ध है। भाषाके द्योतक हमारे पुराने शब्द वाक् और वाणी है, जिनमें बोलनेका अर्थ निहित है। वाक्का दूसरा अर्थ जिह्नाका भी होता है। जिह्ना बोलनेमे प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओंमें भी जिह्ना और भाषाके लिए समान शब्द है।
——वा० रा० स० भाषाधारा—हिन्दीके आदिकालीन साहित्यको माषागत दृष्टिकोणसे दो शाखाओंमे विभाजित किया गया है—अप-भंशधारा (दे०) तथा भाषाधारा। भाषाके अन्तर्गत चारणसाहित्य तथा अन्य समसामयिक आरम्भिक हिन्दीके साहित्यकी गणना होती है।

भाष्य-[भाष्+यत् (क) साधारण अर्थ-१. वचन, उक्तिः २. कोई व्याख्यान-ग्रन्थ, जैसे सायणकृत ऋग्वेदभाष्य, महीधरकृत यजुर्वेद-भाष्य इत्यादि; ३. भाषाग्रन्थ (वाजस-नेथी प्रातिशाख्य, गृह्यसूत्र तथा हरिवंश और मोनियर विलियम्स) । इस अर्थमे 'भाष्य' शब्द 'भाषा'से निकला हुआ प्रतीत होता है। जनभाषा या लोकभाषाके अर्थमें 'भाषा'का हिन्दीमें प्रयोग तो 'भाषा भनिति मोरि मति थोरी' इत्यादिसे स्पष्ट ही है, पर संस्कृतमे भी इसका यह अर्थ प्राचीन प्रतीत होता है। (ख) विशेष अर्थ-१. सूत्र-यन्थोके विशिष्ट शैलीमे लिखे गये भाष्य, जैसे शंकरा चार्यकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, शबरकृत मीमांसा-भाष्य, अष्टाध्यायीका पतंजलिकृत महाभाष्य इत्यादि । इस शैलीके व्याख्यानमें पहले सूत्र, पदोंका संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्योंमें अर्थ देकर फिर उन वाक्योंके पदोका भी विशेष व्याख्यान किया जाता है और इस प्रकार समस्त सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, जैसा कि 'भाष्य'के निम्नलिखित प्राचीन लक्षणसे ज्ञात होता है—''सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सुत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदः"। (ग) हिन्दीमें इसका अर्थ सामान्यतः कोई भी व्याख्यान-ग्रन्थ लिया जाता है। (घ) उपर्युक्त व्यापक अर्थमें इसके पर्याय टीका, व्याख्यान आदि होंगे। (জ) 'ग'में दिया गया अर्थ व्यापक तथा 'विशिष्ट शैलीका सूत्र-व्याख्यान' अर्थ सीमित है। —आ० प्र० मि० भिस्त-सन्तोने भिस्त, भिसत आदि रूपोमे इस शब्दका व्यवहार बहुत अधिक किया है। भिस्त मूलतः फारसीके बह्वित शब्दका ध्वनि परिवर्तित रूप है। फारसीमे बहिस्त-का अर्थ है स्वर्ग । साथ ही संस्कृतमे एक शब्द अभीष्ट है, जिसका अर्थ होता है—वांछित, चाहा हुआ, अभिप्रेत। अभीष्टका भीष्ट और फिर भिस्त बन जाना ध्वनिपरिवर्तनके नियमोके अनुकुल न भी पड़े तो भी सन्तों (विशेषतः कबीर)-को कोई खास अडचन नही दीखती। उनका अभिप्रेत अर्थ निकल सके तो अगमको बेगम बना देना, करभ (करह)-मे 'क्रियापरायण' साधकका अर्थ भर देना (दे० करहा), चिन्तामणिसे चेतावनीका भी अर्थ निकालनेके लिए उसे 'च्यंतौवणी' रूप दे देना आसान है। इसी वृत्तिके अनुसार अमीष्ट और विहारत दोनोंका अर्थ देनेके लिए सन्तोंने भिस्त शब्दकी रचना कर ली और अधिकांशतः इसका प्रयोग स्वर्गके अर्थमे करते हुए भी कही-कही, इच्छित या अभिप्रेतके अर्थमें और कर्हा कहीं स्वर्ग तथा अभिप्रेत दोनोके अर्थमें किया है।

यहाँ इस बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सन्त 'बहिइत' या स्वर्गको परम प्राप्तव्य कभी भी मान नही सकते थे। वैसे स्वर्गको बहुमान देनेवाले हिन्दू शास्त्रों और दर्शनोमे भी स्वर्गको सदैव नीची कोटिकी, अनित्य या नाशवान् उपलब्धि माना गया है (विशेष विवरणके लिए दे॰ 'दोजग')। कबीरदास जिस समाजमें रह रहे थे और जिन हिन्द-मुसलमानोंके भ्रमोंको काटकर उन्हे सही रास्तेपर लाना चाहते थे, उनमे स्वर्ग एवं बहिइतको बहुत महत्त्व दिया जाता था, अतः इन शब्दोमे तत्कालीन समाजमे र्स्वीकृत अर्थोंकी झलकका आ जाना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी, पर कबीर जहाँ मिस्तका स्वर्ग अर्थमे प्रयोग करते है, वहाँ स्वर्गका अर्थ परमधाम, कैवल्य, सहजपद या शून्यपद ही होता है। वहिश्तको भिस्त करके उसके अन्तर्गत 'अभीष्ट'का अर्थ भरनेके पीछे यह भी एक बडा कारण हो सकता है। कबीर तथा अन्य सन्त जिस प्रकार राम, रहीम, केशव, करीम, अल्लाह, विष्णु, गोविन्द, महादेव, रब, ख़दा आदि संज्ञाओंका प्रयोग करके भी इनका अर्थ त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, अगम्य, अलक्ष्य, अनुभवैकगम्य और भावाभाव विनिर्मुक्त, निर्गुण, निरंजन निलेंप ब्रह्म ही समझा और समझाना चाहा है, उसी प्रकार भिस्तका अर्थ भी उनके निकट हिन्दुओंका स्वर्ग और मुसलमानोंका बहिदत न होकर कैवल्य, परमपद श्रन्य-निरंजन ठॉव ही है। बहिदतकी अपेक्षा भिस्त इसीलिए उन्हे अधिक ग्राह्य लग सकता है।

'कबीर ग्रन्थावली' (पारसनाथ तिवारी)मे भिस्तका प्रयोग पद संख्या ४२में दो बार हुआ है। यहाँ 'भिस्ति'के साथ लगा हुआ 'घनेरी' विशेषण इसे अभीष्ट ही अधिक प्रमाणित करता है, वैसे 'स्वर्ग'वाला अर्थ भी बैठ जाता है। दूसरी बारके प्रयोगमें भी 'इच्छित'का अर्थ स्वर्गके समानान्तर बैठ जाता है। कबीरने भिस्तका प्रयोग प्रायः दोजग या दोजक (दे॰ 'दोजग')के साथ किया है, पर यहाँ यह अकेले प्रयुक्त हुआ है। पद सं० १७८में भी भिस्त अवेले प्रयक्त है और मुख्यतः स्वर्गका अर्थ देता है, वैसे अमीष्ट अर्थ भी बैठाया जा सकता है। पद सं० १८३ (१८४ भी)मे भिसति दोजगके साथ प्रयुक्त है, फिर भी अर्थकी संगति अभोष्टके साथ अधिक बैठती है। पंक्तियाँ है— "दिल नापाक पाक नहि चीन्हा तिसका मरम न जाना । कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना" तिम्हारा हृदय अशुद्ध है, अतः उस निर्मल, निरंजन, पाक परवरदिगारको न तू पहचान ही सका और न उसका मर्म ही समझ सका। अपने अभीष्टको तमने (अनेक दिशाओं मे) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोककी प्राप्ति)मे ही मानसिक तोष खोज रहे हो]। पद सं० १८४-में "रोजा करै नमाज गुजारै कलमें भिस्ति न होई" द्वारा "कलमा, रोजा और नमाजसे अभीष्ट सिद्धि असम्भव है", ऐसा अर्थ अधिक संगत है, वैसे स्वर्ग अर्थ भी बैठ सकता है। इस पदमें दूसरी बार प्रयुक्त भिस्तिकी भी यही स्थिति है। रमैनी भमें और पूर्व १७७की १६वी साखीमे भिस्ति

६ या ७ स्थलोपर प्रयोग किया है, पर अर्थकी दृष्टिसे इनमे कोई गड़ मड़ नहीं है। मुलतः ये स्वर्गके लिए ही इसका -रा० सिं० प्रयोग करते पाये जाते है। भजंग-कुण्डलिनी रूपी नागिनवा स्वामी ! शवरपा साधकको भूजंग वहते है-(चर्यापद : 26) 1 - ४० वी० सा० भजंगप्रयात-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६: ५५)में अप्रमेया नामसे यह छन्द दिया गया है। 'पिंगलसूत्र' (६: ३८)मे लक्षण दिया है। चार यगणोसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, ISS): संस्कृतका प्रचलित छन्द है। 'प्राकृतपैगलम्' (२: १२६) तथा हेमचन्द्रके. 'छन्दोनुज्ञामन' (२: १७०) मे यही लक्षण है। 'रामचन्द्रिका' (६:१३), 'सिद्धार्थ' (पृ० ३६), 'साकेत' (पृ० १९६), 'जनमभूमि' (कामताप्रसाद गुरु)में इस वृत्तका प्रयोग हुआ है। संस्कृतके स्तोत्रोंमें इमका विशेष प्रयोग हुआ; 'मानस'मे भी तलसीने उत्तर-काण्डमे (संरकृत भाषामें) वन्दनामे (नमामीशमीशान निर्वाणरूपम् - रुद्राष्ट्रक) इसी छन्दका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त चन्द, सन्दर तथा रवराजने भी प्रयोग किया है। हिन्दीमे यह छन्द वीर रस तथा प्रार्थनाके लिए प्रयुक्त हुआ है। अपनी विलम्बित गतिके कारण यह इनके लिए उपयुक्त है। वीर रसमे सूदनका प्रयोक—"धमण्डै धने दन्ति घण्टान वारे। उमण्डै मनो सद्यते मेघ कारे' (स.० च०, २: २: ७)। आधुनिक साहित्यका उदा०—"कभी ऑखसे ऑख तेरी लडेगी। कभी कण्ठमे व्याहमाला पड़ेगी। कभी चित्तकी यन्थिको खोल कोई। तझे स्थान देगी, मझे मान देगी" (सिद्धार्थ, पृ० ३६)। भूजंगी-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेदः भानके 'छन्दप्रभाकर' (प्र० १३८)मे उल्लिखित तीन यगणी और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनना है (ISS, ISS, ISS, IS); इसके अन्तमें गुरु वर्ण जोडनेसे भुजंगप्रयात बन जाता है। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमें अधिक नहीं हुआ है। मैथिली-शरण गुप्तने 'साकेत' और 'खगीय संगीत'मे इस छन्दका प्रयोग किया है—"यही वाटिका थी, यही थी मही, यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही। यही वल्लकी में लिये गोदमे, उसे छेडती थी महामोदमे" (साकत, ९)। -पु॰ ज्ञु॰ भुजरियाँ - हरियाली तीजपर बज और उसके निकटवर्ती प्रान्तोंमें 'भुजरियां' सिरायी जाती है। भुजरियां स्त्री-गीतोंका एक प्रकार होते हुए भी, गेहूंकी उन वालियोकी भी कहते है, जो सिरानेके निमित्त, तीजके अवसरपर, फसलकी प्राणप्रतिष्ठाके रूपमें, छोटी टोकनियोंमे उगायी जाती है। इन्हें 'फुलरिया', 'धुधिया', 'धैंगा' और 'जवारा' (मालवा) भी कहते हैं। भुजरियाँ बोनेकी प्रथा आठवी शताब्दीसे प्राचीन प्रतीत होती है। पृथ्वीराज चौहानके कालकी लोक-प्रचलित गाथाके अनुसार चन्द्रवंशी राजा परिमालकी पत्री चन्द्रावलीको उसकी माता सावनमें झुला झलानेके लिए बागमें नहीं ले जाती। पृथ्वीराज अपने पुत्र ताहरमे उसका विवाह करना चाहता था। आल्हा-ऊदल उस समय कन्नौजम थे। जदलको स्वप्नमें चन्द्रावलीकी

अकेले स्वर्गके अर्थमे प्रयुक्त है। दादने भिस्तका लगभग

किनाईका पता चलता है। वह योगीके वेषमे आकर उसे सूल सूलनेका आश्वासन देता है। पृथ्वीराज ठीक ऐसे ही अवसरकी ताकमे था। अपने सैनिकोंको भेजकर वह चन्द्रावलीका अपहरण करना चाहता है। युद्ध होता है। ताहर चन्द्रावलीको डोलेमें बैठाकर ले जाना चाहता है, तभी ऊदल, इन्दल और लाखन चन्द्रावलीकी रक्षा करके उसकी मुजरियाँ मनानेकी इच्छा पूर्ण करते है। नागपंचमीको भी 'मुजरियाँ' उगायी जाती है। उसे पूजाके पश्चात् 'मुजरियाँ' गाते हुए नदी अथवा तालाव या कूऐमें सिराया जाता है। — स्था० प० मूचरी—योगशास्त्रके अनुसार समाधि अंगकी एक मुद्रा, जिसका निवास नाकमे है और जिसके द्वारा प्राण और अपान वास, दोनो एकत्र हो जाती है— "नासिका मध्ये

भूचरी मुद्रा गन्ध बिगन्ध ले उतपनी। गन्ध बिगन्ध

समोक्ततवा, मुद्रा तौ भई भूचरी" (अष्टमुद्रा, गोरख

---ভ০ হাঁ০ হাা০

भूत-दे॰ 'जगतानुबोध'।

बानी)

भूदान - गान्धीके सबसे बडे शिष्य विनोबा भावेने गान्धी-वाद (दे०)का एक नया प्रयोग आरम्भ किया है, जिसे भूदान-आन्दोलन कहा जाता है। तेलंगानामें साम्यवा-दियों (दे० 'साम्यवाद')की ओरसे जो हिंसात्मक आन्दोलन चला था, उसे देखकर विनोबाके मनमें भूदान आन्दोलन-का विचार उदित हुआ था। भूदानका अर्थ है स्वेच्छासे भूमिद्दीनोंके लिए भूमि-प्रदान । दानका अर्थ विनोबा प्रदान या संविभाग (समान वितरण) ही लेते हैं, दान-पुण्य नहीं। विनोबा एवं उनके शिष्य गॉव-गॉव यात्रा कर भू-स्वामियोंसे भूमि प्राप्त करते-फिरते है। उन्हें इस कार्यमे आशातीन सफलता भी मिल रही है। वे शीष्ठ ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेनेकी आशा करते है।

भूदान-आन्दोलनसे दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ फूटी है— सम्पत्तिदान और प्रामदान ! इसीसे सम्बन्धित जीवनदान भी है। जीवनदानी अपना सम्पूर्ण जीवन विनोबाजी द्वारा चलाये आन्दोलनमें लगा देनेका व्रत लेता है।

इस आन्दोलनकी सफलताके फलस्वरूप विनोबा सर्वोदय-समाजके उदयकी आशा करते है। यस्तुतः ऐसा विलक्षण, अहिंसात्मक आन्दोलन मानवताने कभी नही देखा था। सफल होनेपर यह विश्वको एक नयी ज्योति प्रदान कर सकता है। —ह० ना०

भेदकातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति', दूसरा भेद ।
भोगवाद—दे० 'रसिनिष्पत्ति', तीसरा सिद्धान्त ।
भोग-व्यापार—दे० 'रसिनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत ।
भोजकत्व-शक्ति—दे० 'रसिनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत ।
भोजकी वृत्तियाँ—दे० 'नाट्यवृत्ति', पाँचवी तथा 'वृत्ति' ।
भोजप्री—विहारके शाहाबाद जिलेमे भोजपुर परगनेके
नामपर इस बोलीका नामकरण हुआ है । पूर्वी उत्तरप्रदेश
तथा विहारके व्यापक भू-भागमें यह बोली जाती है ।
साहित्य प्रायः नहीं है, पर लोक-साहित्यकी परम्परा समृद्ध
है । आधुनिक समयमें सजग रूपसे कुछ साहित्य-प्रणयनकी
भेष्टा अवश्य की जा रही है । सामान्यतः भोजपुरी प्रदेशकी
माहित्यक भाषा हिन्दी है । सुद्रण आदिके लिए नागरी

लिपिका व्यवहार होता है। लिखनेमें कैथीका प्रयोग किया जाता है। भोजपुरीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। —सं०

भोज्य भोजक भाव-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्त-र्गत ।

मोतिकवाद — भौतिकवाद दर्शनका एक प्रस्थान अथवा निकाय (school) है, जिसकी तीन मौलिक मान्यताएँ है। प्रथम, यह कि बाह्य जगत् हमारे प्रत्ययों, भानोंका समुच्चयमात्र न होकर एक स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरे, यह कि वह किसी चेतन तत्त्वका परिणाम न होकर भूतो, भौतिक तत्त्वो, जड पदार्थी अथवा अचेतन द्रव्योसे मिलकर बना है और तींसरे, यह कि मनुष्यमें जो चेतना दिखायी देती है, वह भौतिक द्रव्योंका ही परिणाम है।

प्राचीन भौतिकवादके अनुसार संसार अविच्छेच रूपसे परस्पर ग्रॅथी हुई को चरम सत्ताओका परिणाम है, जिन्हे भूत (matter) और राक्ति (energy) कहा गया है। किन्तु समसामयिक विज्ञानने अन्तिम रूपसे सिद्ध कर दिया है कि भूत शक्तिसे तत्त्वतः भिन्न नही है, वह शक्तिका घनीभूत रूपमात्र है। अतः अब शक्ति ही सृष्टिका मौलिक उपादान सिद्ध होती है। और यह शक्ति भी, अन्तिम विश्लेषणमे, नितान्त आकाशीय, अश्राद्धा, असंवेच, और गणितीय होकर रह गयी है। अतएव आधुनिक चिन्तकोकी दृष्टमें भौतिकवाद शब्द पुराना पड चुका है।

चेतनाकी व्याख्यामे भौतिकवादी एकमत नहीं। पुराने मात्रिक भौतिकवादके अनुसार चेतना शरीरमे उत्पन्न होनेवाला एक नया गुणमात्र है, जब कि उद्भववाद- (epiphenomenalism)के अनुसार भूतोंसे चेतनाकी उत्पत्ति, गुणात्मक परिवर्तनकी प्रक्रियासे, एक स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमे होती है। समसामयिक उद्भवमूलक भौतिक वादी (emergent materialist) सी० डी० ब्रॉड तो यहाँतक कहता है कि उद्भूत चेतन तत्त्व—आत्मा— शरीरके विघटनके बाद भी कुछ कालतक अपना जीवन बनाये रखता है।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद 'द्वन्द्वारमक भौतिकवाद'-(दे॰)के नामसे प्रसिद्ध है।

भारतमें अति प्राचीन चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन था। आधुनिक भारतमे मार्क्सके ही भौतिकवादका अधिक प्रभाव पडा है।

मौतिकवादने साहित्यके क्षेत्रमे 'यथार्थवाद' (दे०)को जन्म दिया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज-शास्त्रके क्षेत्रमें 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (दे०) तथा वर्गवादके रूपमे अवतीर्ण हुआ, जिनका साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' (दे०)के नामसे विख्यात है। हिन्दी-साहित्यमें प्रगतिवादी काव्यधारा सन् १९४० ई० से लेकर १९४६ ई०के बीच विशेष रूपसे प्रवाहित हुई।

[सहायक प्रन्थ—हिस्टरी ऑव मैटीरियलिङम: लैंग;
माइण्ड ऐण्ड इट्स प्लेस इन नेचर : सी० डी०
ऑड ।] —ह० ना०
अस (illusion)—अम और आन्तिके विषयमें भारतीय
दर्शनमें बहुत विचार हुआ है। रज्जुमें सर्प, शुक्ति या

सिकतामे रजतके आभासके उदाहरण तथा उनका दार्शनिक महत्त्व सुपरिचित है। आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिमें भ्रम या भ्रान्ति किसी वस्तु अथवा स्थितिका मिथ्या अथवा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष है। कुछ भ्रम मानवमात्रको होते है, जैसे सीधी छडी पानीमें डुबोनेपर तिरछी प्रतीत होती है, रेलकी समानान्तर पटरियाँ आगे चलकर मिलती नजर आती है, उदित होता हुआ सूर्य किचित् अण्डाकार लगता है। इसी प्रकार ज्यामितीय भ्रमोंमें समान लम्बाईकी रेखाएँ छोटी-बडी, समानान्तर रेखाएँ असमानान्तर प्रतीत होती है। इनके अतिरिक्त दैनन्दिन जीवनमे घटित होनेवाले भ्रम भी होते है। धुंधले प्रकाशमें वस्तुएँ कुछकी कुछ लगने लगती है। गहन अन्यकारमे सडकके किनारे पेडका ठूंठ भूत या डाकू लग सकता है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा सन्देह और पूर्वाप्रहोंसे आक्रान्त व्यक्ति दूसरोके आचरणका मनमाना अर्थ कर लेता है। ऐसे भ्रम बाह्य स्थिति और अधिकतर व्यक्तिगत उपादानोपर निर्भर होते है। थके होनेकी तथा उद्दिग्न अवस्थामे और रोगी होनेपर भ्रान्तियाँ अधिक होने लगती है। दरवाजेकी आवाज, चूहोकी चूँ-चूँ या उछल-कद, सूखी पत्तियोंकी खडखडका व्यक्ति विचित्र अर्थ कर लेता है। सम्बद्ध विचारोकी शृंखलाओके उत्तेजित हो जाने से ऐसा होता है (दे॰ 'विभ्रम')। --आ० रा० शा० अमर-अमरकी मकरन्द-प्रियताके कारण कवियोने कभी-कभी इसको उस चंचलमन रिक्त नायकका उपमान माना है, जो केवल एकमें अनुरक्त नही रहता। सन्त कवियोंने इसे चंचल मनका प्रतीक माना है, जो विषय-रसमें लिप्त होनेके कारण कमलमे बन्दी हो जाता है। कहीं-कही चक्रोंको कमल मानकर साधकके मनको भी भ्रमर बताया गया है। उसी अर्थने ब्रह्मरन्ध्रको भ्रमर गुफा भी कहा गया है। — তত হাত হাত अमरगीत-श्रीमङ्गागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्धके सैतालीसवें अध्यायमे, जहाँ गोपियाँ कृष्णके दूत उद्भवके सम्मुख अत्यन्त प्रेम-विह्नल होकर लोकलाज छोड़कर रोती हुई कृष्णकी चर्चा करती हैं, यह कहा गया है कि एक गोपी किसी भौरेको अपने निकट गुन-गुन करते देखकर उसे कृष्णका भेजा हुआ दूत मानकर कहने लगी, "हे धूर्तके बन्धु मधुकर ! तुम हमारे चरण न छुओ, तुम्हारी मूछोंमें सौतके वक्षस्थलपर विहार करनेवाली मालाका कुंकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवोकी सभामे उपहास करानेवाले इस प्रसादको धारण करें, हम इमे नही चाहते। तुम्हारी और कृष्णकी बन्धुता ठीक ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनों-को रस लेकर छोड़ जाते हो, वैमे ही एक वार मोहिनी अधर-सुधा पिलाकर वे भी एकाएक हमको छोड़कर चले गये" (इलोक ११, १२, १३)। इसके बाद सभी गोपियाँ मधुकर-को लक्ष्य भरके प्रेमभरे उपालम्भसे कृष्णके कपट-प्रेम, निष्टुरता, क्रूरता, अकृतज्ञता, अव्यवस्थित चित्त और विरक्तिकी सोदाहरण आलोचना करने लगा और इस प्रकार विपरोत व्यंजनासे उन्होंने उद्भवके मनपर अपनी कृष्ण-भक्तिकी दृढता और अनन्यताका इतना प्रभाव डाल दिया कि उद्धवने उन्हें संसारमें परम पूजनीय कहकर सराहा । भागवतमे यह प्रसंग उपर्युक्त अध्यायके बारहवें

रलोकमे उन्नीसर्वे रलोकतक चलता है। इसमे गोपियोंकी तीन विरहानुभूति अमरकी अन्योक्तिके सहारे अखन्त लिलत, हृदयावर्जक और संगीतमय पढोंमें विणत है, इस-लिए इसे 'अमरगीत' कहा गया है।

भ्रमरगीतकी कल्पना भागवतकारकी अद्भुत काल्य-प्रतिभाकी परिचायक है। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभावमे भ्रमर और श्रीकृष्णमे ऐसी समता है कि अन्योक्तिमे अत्यन्त स्वाभाविकता और मामिकता आ गयी है। साथ ही, भ्रमर-मे दूतत्वका आरोप करके गोपियाँ अपने नुकीले व्यंग्य-वचनोंसे कृष्णके दूत उद्धवको भी लक्ष्य बना लेती है। परन्तु इस समस्त प्रसंगमें भागवतकारने गोपियोंके प्रेमको पाथिवतापर नहीं उत्तरने दिया। गोपियाँ हरिकी कथाको सर्वनाशिनी—संसारसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न करनेवाली जान-कर भी उसमें सर्वभावेन आसक्त हैं और उसे दुस्त्याज्य मानती हैं (इलोक १८)।

भागवतमें वर्णित अमरगीतका प्रसंग उसके पूर्वप्रसंग उद्धव-अज-अगमन और उद्धव-सन्देशके साथ प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियोने गीनि-पदोके रूपमे गाया है। सबसे पहले विद्यापितकी 'पदावली'में इस विषयके कुछ पद मिलते हैं, जिनमे विरहिणी राधा मधुकरको सम्बोधित करके कृष्णकी निष्टुरताका प्रेममय उलाइना देती है। परन्तु हिन्दीमें कृष्णकाव्यकी परम्पराके प्रवर्तक स्रदास ही कृष्णकाव्यके अन्यतम विषय—कदाचित सर्वाधिक लोकप्रिय विषय—अमरगीत-परम्पराके भी प्रवर्तक है। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंकी तरह इस प्रसंगको भी उन्होंने 'भागवत'से कथास्त्र लेकर अत्यन्त मौलिक रूपमे अनेक नवीन उद्भावनाओंसे संवलित किया है।

'सूरसागर'के उद्धवका व्यक्तित्व 'भागवत'के उद्धवसे बहुत भिन्न चित्रित किया गया है। 'भागवत'के उद्भव श्रीकृष्णके प्रिय सखा, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य, महामतिमान् वृष्णिवंशीय यादवोंके मान्य मन्त्री है। श्रीकृष्ण उन्हे माता-पिताको प्रसन्न करने तथा अपना सन्देश सुनाकर गोपियोंके वियोगरोगको शान्त करनेके लिए ब्रज भेजते है (भागवत, १० प्०: ४६: १:२)। 'स्र्सागर'के उद्धव भक्ति-मार्गके विरोधी हैं; वे अद्वैतवादी, अहकारी ज्ञानमागीं है। उनके हृद्यमे भक्तिकी सरसता नहीं है। वे योग-साधनमे विश्वास करते है। श्रीकृष्ण उनका अहंकार भंग करनेके लिए तथा उन्हें प्रेम-भक्तिकी महत्ता समझानेके लिए गोपियोके पास भेजते हैं। सूरदासने ज्ञान और योगके अतिरिक्त जप, तप, कर्मकाण्ड आदि भक्तिसे भिन्न सभी मार्गीका प्रतिनिधित्व उनपर आरोपित किया है। भागवतमे तो उनका रथ और उनकी वेश-भूषा ही कृष्णके सहश वतायी गयी है, 'सूर-सागर'मे उनका रंग भी कृष्ण और भ्रमरकी भाँति काला बताकर भ्रमरपर की गयी अन्योक्तियोमें कृष्णके साथ उन्हें भी समेटा गया है। वस्तुतः गोपियोके कटाक्ष कृष्णकी अपेक्षा उद्भवको अधिक लक्ष्य करते है।

'स्र्सागर'के अमरगीतके दो पक्ष हैं—एक काब्य-पक्ष और दूसरा धार्मिक पक्ष। धार्मिक-पक्षकी दृष्टिसे देखनेपर वैष्णव भक्ति-आन्दोलनके समयकी धार्मिक अवस्थाका यथा-तथ्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। मायाबाद-अहेत-

वादका आतंक, अनेक लौकिक देवी-देवताओंकी पूजा, शिवाराधनाका विकृत रूप, अलखवाटी हठ-योगियोका पाखण्डपर्ण धर्माचार, अनिधिकारी निर्गुणवादियों द्वारा मिथ्याका प्रचार-इन सबसे भक्ति-धर्मको संघर्ष करना पड़ा था। भ्रमरगीतकी गोपियाँ इस धर्मकी सहजता, समर्थता और सफलताको वचन और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा प्रमा-णित करती हैं। वे निर्गुणका विरोध तो करती दिखायी गयी है, परन्तु मूलतः उसका खण्डन करना उन्हे अभीष्ट नहीं है। उनका तात्पर्य यह है कि सगुणके द्वारा ही, उसकी प्रेम-भक्तिके साधनसे ही निर्गुण अद्दैतकी सची अनु-भूति हो सकती है। भक्तिमार्गमे, जो राजमार्गके समान प्रशस्त है, ज्ञान और कर्मके मार्ग समाहत है, साधन और साध्यकी एकरूपता है। 'सूरसागर'का भ्रमरगीत सूरदासके सामाजिक दृष्टिकोणको स्पष्ट करता है तथा यह प्रमाणित करता है कि वे अपने समयकी परिस्थितिके प्रति कितने जागरूक थे तथा तत्कालीन समस्याओंका समधान वे किस उपायसे करना चाहते थे।

भ्रमरगीतका यह खण्डन-मण्डनात्मक पक्ष अत्यन्त नाज्यापकी नौक्रीमें त्रपस्थित किया गया है। सूरदासकी क वाद-विवादमे नहीं पडती। उनके

तर्क हार्दिक वृत्तिपर आधारित है, अतः उनकी उक्तियाँ अत्यन्त मामिक बन गयी है। भ्रमरगीतके इस धार्मिक पक्ष-ने ही वस्तुतः 'सूरसागर'के इस अंशको श्रेष्ठ संकेतात्मक व्यंग्यकाव्य बना दिया है। गोपियोंके उपालम्भोंमें सुरदास-की तीव्र संवेदनशीलता, प्रेम-भक्तिकी गम्भीरता तथा अभि-व्यक्तिकी चरम कलात्मकता प्रकट हुई है। भ्रमरगीतमें व्यंग्य-परिहासके प्रधान विषय है-(१) कृष्ण, मधुकर और उद्भव तथा उनके साथ मथुराके सभी व्यक्तियोमें रंग, रूप, प्रकृति और स्वभावकी समानता तथा कृष्ण-वर्णके प्रति गोपियोंका तीव्र अनुराग, जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनिके द्वारा व्यक्त हुआ है; (२) उद्भवके व्यक्तित्वमें सर-लता, गम्भीरता, प्रचण्ड पाण्डित्य और परम आत्मसन्तोष-के साथ विनोदवृत्ति, हार्दिकता और सहज बोधवृत्तिका एकान्त अभाव, जिसके कारण उनका पाण्डित्य एक बोझ-मात्र हो गया है तथा उनकी विद्वत्ता मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; (३) निर्गुणकी शून्यता, आधारहीनता और प्रयोजनहीनता तथा इन सबकी दयामसन्दरके समक्ष हीनता और उससे असंगतिः (४) योग और उद्भवने प्रेम-ज्ञान और योग-मार्गकी गोपियोके गुण-कर्म-स्वभावसे असं-गति तथा सामयिक परिस्थितिमे उसकी अनुपयोगिता तथा ('५) कुब्जा और कृष्णके विचित्र संयोगकी असंगति और कुब्जा द्वारा गोपियोंके लिए भेजा गया कटाक्षपूर्ण सन्देश। इन विषयोंको लेकर सरदासने जो अपना अद्भत काव्य-कौशल दिखाया है, उसकी कदाचित सबसे बडी विशेषता यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म संकेतोके द्वारा विस्मयकी मधुर व्यंजना करते हुए मानव-मनकी विविध पार्थिव वृत्तियोको उठाकर आध्यारिमक स्तरंपर पहुँचाते जाते हैं।

'सुरसागर' (समा)में उद्भवके ब्रज आगमनसे प्रारम्भ होकर उद्भवके मधुरा लौटनेतकके (पद ४०२८से ४७७७-तक) साढ़े सात सौ पदोंके प्रसंगके अन्तर्गन अमरगीतका प्रसंग ४११५ पदसे प्रारम्भ होता है और ४६७०वें पदतक गोपियाँ उसे बीच-बीचमें बराबर उठाती जाती है तथा मधुकरको सम्बोधित करके उद्धव और कृष्णपर कटाक्ष करती हुई अपनी विरहजन्य ममैक्यथा व्यंजित करती है।

स्रदासके बाद अष्टछापके एक अन्य किव नन्ददासने - 'भॅवरगीत'की रचना की। उसकी छन्द-शैली तो 'स्र्सागर'- से ली गयी है, परन्तु उसमे पुष्टिमार्गीय मिक्त-सिखान्त तथा दार्शनिक पक्ष अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'माग-वत'की ओर भी अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'माग-वत'की ओर भी अधिक मुखर हो रचना है। नन्ददासका 'भॅवरगीत' अपेक्षाकृत बहुत छोटी रचना है। स्रदासके अमरगीतमे 'मॅवरगीत'के आकार-प्रकारके कम-से-कम दो प्रसंग पृथक् और स्वतन्त्र रू. पर्मे इंगित किये जा सकते है। अष्टछापके अन्य किवयोंने भी अमरगीतके प्रसंगपर पद्र-रचना की है, परन्तु सम्यक् प्रबन्धके रूपमे किसीका अमरगीत नहीं मिलता। कृष्णदासके रचे हुए अमरगीतका नामोछेख अवश्य हुआ है, परन्तु वह रचना प्राप्त नहीं हुई।

जैसा कि जपर संकेत किया गया है कि अमरगीत कृष्णकाव्यका अन्यतम लोकप्रिय विषय रहा है और केवल उन
किवयोंको छोडकर जिन्होंने विरह भावको नही अपनाया,
राधावल्लभीय भक्त-किव, प्रायः सभी कृष्ण विषयक काव्यरचना करनेवाले किवयोंने इस प्रसंगपर थोडा-बहुत अवश्य
लिखा है। रीतिकालमे भी भिन्न वातावरण और काव्यशैलीके साथ अमरगीतका विषय किवयोंको प्रिय रहा और आधुनिक कालतक वह परम्परा चली आयी है। अमरगीत
उपालम्भ-काव्यका एक रूप है। हिन्दीमें तो वह उसका
अक्षय स्रोत है, अतः उपालम्भ-काव्यके रूपमें उसकी दीर्घ
और अखण्डित परम्परा मिलती है। दे० 'उपालम्भकाव्य'।

भ्रमर-गुफा – ब्रह्मरन्ध्र (दे० 'भ्रमर', 'हठयोग') । भ्रांतापह्नुति – दे० 'अपह्नुति', चौथा भेद ।

अांतिमान - साद्ययगर्भ, अभेदप्रधान, आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक मेद। सर्वप्रथम रुद्रटने औपम्य अलंकारोंमे
इसे स्वीकार किया है। मम्मटने इसे "प्रस्तुतके दर्शनमे,
अप्रस्तुतके साथ उसके साद्यके कारण, जहाँ अप्रस्तुत(उपमान)की प्रतीति निरूपित की जाय", ऐसा माना है
(का॰ प्र॰, १०:१३२)। परन्तु भ्रान्तिके सौन्दर्यके लिए
इसमे साद्यके साथ किन-प्रिनभाका हाथ भी होना
चाहिये। रुय्यक तथा विश्वनाथने इसका निर्देश किया
है—"साद्यक्षेत्रला अान्तिविच्छित्यर्थ कियातिमोत्थापितैव गृह्यते" (अ॰ स०)। जगन्नाथने इसके नामके
औचित्यपर प्रदन उठाया है और कहा है कि यह नाम
औपचारिक है, क्योंकि इसमे व्यक्तिके भ्रमकी अभिन्यक्ति
होती है। सम्भवतः इसी भावनाके कारण इसके भ्रान्ति
और भ्रम नाम भी प्रचित्त हुए।

हिन्दीके जसवन्त सिंह, मितराम, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने जयदेवके आधारपर केवल नामको लक्षण- रूपमें स्वीकार किया है। भूषणने मम्मट आदिके आधारपर लक्षण दिया है—"आन वातको आनमें, होत जहाँ अम आय" (शि॰ भू॰, ७६)। उदा॰—"अन्त मरेंगे चिल

जरे, चढि पलासकी डार । फिरि न मरे मिलिहें अली, ए निरधम ॲगार" (बि॰ र॰, ३८३)। अथवा—"अति सशंकित और सभीत हो, मन कभी यह था अनुमानता । ब्रज समूल विनाशनको खड़े, यह निशाचर है नुप कंसके" (प्रि० प्र०)। भ्रान्ति तथा रूपकका भेद स्पष्ट है, क्योंकि रूपकर्मे आहार्य ज्ञान (व्यंग्य, काल्पनिक) और भ्रान्तिमे अनाहार्य ज्ञान (स्वाभाविक) रहता है, अर्थात रूपकमें जो उपमेय-उपमानकी एकरूपता रहती है, उसमे दोनोका बोध अलग-अलग बना रहता है, जब कि भ्रान्तिमे उनकी अलग चेतना नहीं रहती, उपमेयमे उपमानका भ्रम होता है। मंगल-पाठ-दे॰ 'नांदी'।

मंजरी (गोपी)-दे॰ 'गोपी'। मंजरी सबैया-दे॰ 'सबैया', वामका पर्याय ।

मंडन-दे० 'सखी-कर्म'! मंडल-चक्र-तन्त्रोमं मण्डल गुह्य अनुष्ठानीका एक अंग था और गृह्य साधनाओंमें मण्डल-चक्रके अनुष्ठानीसे ही साधकको दीक्षा दी जाती थी। बादमे यह भी माना जाने लगा कि उत्तम मण्डल स्वतः तथागत और उनकी शक्तिका यगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर-साधनामे यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तरकी उपलब्धिक उपरान्त साधक बाह्य मण्डल-कमोंसे विमुक्त होकर स्वयं अपनी कायामे शन्य तथा दज्रका युगनद सम्पन्न कर घरमे ही मण्डल स्थापित करता है। यह मण्डल-कर्म पवनके निरोधसे सम्पन्न होता था। सन्तोंने शृन्यके साथ मण्डल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु उनका प्रयोग इस शब्दकी तान्त्रिक परम्पराको बहिष्कृत कर केवल परम्परा-निर्वाहको रूपमें ही है। -- ध० वी० भा० मंत्र-[मत्रि (चरादि०) ग्रप्तभाषणे + अच् (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि), घञ (भानुजीदीक्षितकृत अमरकोष-टीका रामाश्रमी) वा । (क) साधारण अर्थ-१. वैदिक सक्तों या प्रार्थनाओंकी प्रत्येक इकाई। इसके तीन प्रकार होते है-ऋच् अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्र, जो छन्दोबद्ध है और उच स्वरसे पाठ करनेके लिए है, यज्ञम अर्थात यज्ञेंदकें मन्त्र, जो गद्यातमक हैं और निम्न रूरमें उच्चारण करनेके लिए हैं तथा सामन् अर्थात् सामवेदके मन्त्र, जो उच्च स्वरसे गाये जानेके लिए है। २. वेदोका वह भाग, जिसके अन्तर्गत संहिताएँ (ऋक-संहिता, यज्रः-संहिता तथा साम-संहिता) आती है। ये संहिताएँ मन्त्रकाण्ड या मन्त्रभाग कहलाती है और वेदोंके ब्राह्मणभागसे भिन्न है। ३. ग्रप्त भाषण। ४. परामर्श, विचार । ५. नीति । (ख) विशेष अर्थ-१. जादू, टोना । २. अभीष्ट देवताकी सिद्धिके लिए तन्त्रोमें कहे गये सूत्रात्मक मन्त्र, 'ॐ नमः हिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि । (ग) हिन्दीमें यह इ.ब्द ऋक, यजः तथा सामके लिए सामृहिक रूपसे भी और पृथक-पृथक भी प्रयुक्त होता है। ऊपर भाग (ख)मे दिये गये दोनों विशेष अर्थ भी होते है। मंत्रयान-बौद्धधर्मका तीसरा यान (मार्ग) नाममे प्रसिद्ध था । इस शब्दका अर्थ अपनेमें ही स्पष्ट है । मन्त्र तथा यान दो शब्दोंसे यह बना हुआ है। वह यान

(मार्ग), जिसमें मन्त्रका प्रयोग होता है। 'तत्त्वरहावली'में यह कहा गया है कि महायान दर्शनके दो अंग थे-(१) पारमितायान, (२) मन्त्रयान । इसे (पिछले यानको) योगाचार तथा माध्यमिक दर्शन द्वारा वृणित किया जा सकता है। मन्त्रयान श्रून्यवादके सूक्ष्म विवेचनको लेकर आरम्भ हुआ था। बुद्ध-धर्म एक असाधारण मत था, जिसके सभी सहम दार्शनिक विचारोंको समझनेमें लोग असमर्थ थे, अतएव भिक्षओंके सामने जनताको निर्वाणका वास्तविक तत्त्व समझानेमें कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। इसी कारणसे उस निर्वाणका नाम शून्य रख दिया गया। जहाँतक बद्ध-वचनके ग्रहण करनेका प्रश्न था. सभी पाधक (अनुयायी) उपदेशोको स्मरण नहीं कर पाते थे तथा उचारण करनेमें भी असमर्थ थे। अतएव अर्थरहित कुछ शब्दोको जनताके सामने रखा गया, जिसके बार-बार उचारण करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति (रुन्य) हो सकती थी । उसे 'धरणी'का नाम दिया गया और तत्पश्चात उसीके छोटे रूपको 'मनत्र'की संज्ञादी गयी। यही कारण है कि मन्त्रके मार्गसे मोक्ष-प्राप्ति करनेवाला मत 'मनत्रयान'के नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

पुराने ढंगका विनय तथा ज्ञान-प्राप्तिके मार्ग पूर्वमध्य-युगमे लोगोंको आक्षित न कर सके, इसीलिए मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डल (ब्यूहचक्र)का समावेश वुद-धर्ममे किया गया । इस मार्गसे अन्तिम लक्ष्य (निर्वाण) तक पहुँचनेका विश्वास जनतामे जायत् हो उठा । अतः मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डलके प्रयोगसे महायानके पश्चात बद्ध-धर्म मन्त्रयान अथवा साधारणतया तन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध हो गया । मन्त्रयान तन्त्रयानकी पहली सीढी थी, जिसमे महायान (दे०) मतमें प्रचलित पूजा तथा रीतिको अपनाना पड़ा और धीरे-धीरे उसका रूप परिवर्तित हो गया।

यो तो १०० ई०के लगभग नागार्जुनने 'शून्य'-सिद्धान्तको प्रतिपादित किया था, परन्तु बुद्ध-धर्ममें तन्त्र-यान (मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग)का समावेश करनेका श्रेय असंग-को दिया जाता है, जो नागार्जनके समकालीन थे। उन्हींके महायान 'सत्रालंकार' ग्रन्थमे वासनायक्त लान्त्रिक विधियों-का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मन्त्रका प्रयोग बद्ध-धर्ममे किस व्यक्तिने आरम्भ किया। धरणी (धार्यते अनया इति धरणी) यानी ग्रप्त अक्षरींके समृहसे ही मन्त्र विकसित हुए थे। बीज मनत्रकी उत्पत्ति अष्टसाहसिक प्रज्ञापारमितामे पायी जाती है। अतः इस आधारपर यह कहना उचित होगा कि मन्त्रका आरम्भ ईसाकी पहली रातीमें अवस्य हो गया था। वस्तवन्धने भी उसी शताब्दीमें 'बोधसत्त्व-भूमि' नामक यन्थमें लिखा है कि धरणीकी अर्थहीनता ही वास्तविक मन्त्र माना जा सकता है। अर्थहोन मन्त्र ही वास्तविक शक्ति रखते थे, जिनके बल द्वारा साधक लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता था। उस समयके बौद्ध-मन्त्र हिन्दू-तन्त्रसे सर्वथा मिलते-जुलते हैं। मन्त्रके साथ मुद्राका भी समावेश इस यानमे किया गया। इस परिस्थितिमे मन्त्र या धरणी अथवा ग्रप्त रूपसे जाद, मोहिनी मन्त्र तथा इन्द्रजाल आदि कार्योंने बुद्ध-धर्मकी आचार-पद्धतिमें परिवर्तन ला दिया।

मन्त्रयानका कई नामोंसे साहित्यमें उक्लेख मिलता है। जाद, मोहिनी-मन्त्र तथा यन्त्रके प्रयोगसे इसका दूसरा नाम तन्त्रयान भी प्रसिद्ध हो गया। पूर्व-मध्ययुगमे जब पालवंशी नरेश पृवीं भारतमे शासन कर रहे थे, नागा-र्जुनके 'शून्य'को 'वज्र'का नाम दिया गया। वह लक्ष्य . (निर्वाण) वज्रकी तरह अभेदनीय है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव उस लक्ष्य वज्रकी प्राप्तिके लिए उपा-सकोने अपने पथको वज्रयान(दे०)का नाम दिया। यही मार्ग आगे चलकर कालचक्रयान तथा सहजयानके नामसे विख्यात हुआ। माहित्यके आधारपर यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-तन्त्रको तीन श्रेणियोमे विभाजित विधा गया था-वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान । वैडेलका कथन है कि १०वीं शतीमे तान्त्रिक आचारका प्रचार उत्तरी भारत, कहमीर तथा नैपालमे पूर्ण रूपसे हो गया था। मन्त्रयानका तीसरा नाम कालचक्रयान पड़ा, जिस (युद्धमत)में आदि बुद्धका सिद्धान्त समाविष्ट किया गया। इसमें आदि बुद्ध तथा शक्ति(काली)के मिलनसे संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है। आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर सम्भर या डाकिनी ऐसी भयंकर शक्तियोको पैदा करते · हैं। अतएव उस पैशाचिक कार्यकी भयंकरताके कारण ही मन्त्रयान कालचक्रयानके नामसे परिवर्तित हो गया, जिसका अर्थ है 'समयका चक्र' या 'नाशका चक्र'। काल-को समय, मृत्य तथा नाशके अर्थमे प्रयोग किया गया था। कालान्तरमें इस यानको सहजयानका भी नाम दिया गया। 'सहज'को 'वज्र' या 'शून्य'के अर्थमे प्रयोग करते है । इस सिद्धान्तके अनुसार लक्ष्य(मोक्ष)की प्राप्ति अध्ययन, उप-वास, स्नान, मूर्ति-पूजा या नाना प्रकारके आचार अथवा वज्रयानकी क्रियासे नहीं हो सकती । सहजयानमे वज्रयान-से इस रूपमे अन्तर था कि सहज या सत्यकी प्राप्तिके लिए तत्त्वकी दीक्षा तथा योगका अभ्यास आवश्यक समझा जाता था। इस यानमें अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्य-शक्तियोपर अनुचित बल देना अनावश्यक समझा गया है और सहजयानवालोको विश्वास है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वतः उस मार्गपर मनुष्यको ले जायँगी । अतएव सहजयानके नामकरण तथा प्रयोगका और चत्य समझा जा सकता है।

महायानके 'शून्यना'के विचारको 'वज्र'को धार्मिक भावना दी गयी। 'वज्र'के साथ 'सस्व' यानी चेतनाको सम्मिलित कर मन्त्रयानमे वज्रसत्त्वको स्थिति घोषित की गयी, जो वज्रयानमें परमदेव माने गये हैं। तन्त्र तथा मन्त्रका उपयोग पृजामे होने लगा। साधनमालामे पुष्प, दीप तथा धृप आदिके प्रयोगका उल्लेख पाया जाता है। धार्मिक भावनाको जागतिके साथ वज्रयानमे नये देवताओं तथा देवियोंको प्रतिमाएँ निर्मित हुई। आदि बुद्धको परमन्त्रस मानकर प्रह्वापारमिताको शिक्तका स्थान दिया गया। वह विश्वशक्ति तथा शक्तिमान्के परम्पर संयोगका फल है। पाँच ध्यानी बुद्ध तथा उनकी शक्ति तारासे ससारकी उत्पत्ति समझी जाती है। ध्यानी बुद्ध तथा ताराके मिलनसे ही सारे देवी-देवताओका आविर्भाव हुआ। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताम, अमोधसिद्धि तथा अक्षोभ्य, इन

पाँच ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित वज्रसत्त्वको भी कलामे स्थान दिया गया। वज्रसत्त्व अधिकतर शक्तिको आलिंगन करते दिखलाये गये हैं, जिसके कारण दोनोके मिलनको इस मतके अनुयायी 'यवयम'के नामसे पुकारते हैं। मन्त्रयानमें इसको 'भगवान्' भी कहते थे, जो सब जीवोमें व्याप्त है। इसे हर-गौरीकी प्रतिमाके सह्य मान सकते है। प्रत्येक ध्यानी बुद्धका एक परिवार होता है। इस प्रकार कलात्मक उदाहरणोके अध्ययनते हजारो देवी-देवताओकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। पाल-युगमे मन्त्रयान (बज्ज्यान) सम्बन्धी अनिगनत म्तियाँ मगधमे बनती रही। प्रस्तरके आतिरक्त धातु-प्रतिमाओके ढालनेका कार्य भी होता रहा। नालन्दा वज्रयानका प्रधान केन्द्र था, जहाँ प्रतिमाओंके निर्माणमे धीमान् तथा विटापाल नामक कारीगर व्यस्त रहे। मगधसे लेकर बंगालतक खोदाईसे निकली मृतियाँ अधिकतर बज्ज्यानसे सम्बद्ध है।

वज्रयानका सिद्धान्त तथा जीवन-लक्ष्य महायानसे भिन्न था। जगत्की हो शक्तियाँ शिव-शक्ति या पुरुष-प्रकृति आदि शब्द द्वन्द्वके बोधक है। शिव-शक्तिका आलिगन आनन्दका अवसर समझा जाता है, जिसे वज्रयान(मन्त्र-यान)मे वज्रसत्त्वकी प्रतिमा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। वज्रयानमे शिवशक्तिको प्रशा तथा उपायके व्यक्त किया जाता है, क्योंकि प्रशा तथा उपायका सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। तन्त्र-प्रन्थोमे प्रशाको भगवती, युवती या डोम्बी आदि शब्दों वे विल्विखित किया गया है। उपायको स्वामी, पुरुष मानकर ही प्रशोपाय द्वारा संसारको महासुखकी उपलब्धि करायी जाती है।

मन्त्रयान(वज्रयान)का साहित्य तीनों भाषाओं—संस्कृत प्राकृत तथा अपन्नंदामे पाया जाता है। उस साहित्यको सगीति-प्रकारका कहते है, जिसमे स्वयं बुद्ध द्वारा उपदेश देनेकी बात कही गयी है। तन्त्र-साहित्यका आरम्भ निम्निकित वाक्यमे होता है—"प्यं मया श्रुतं, प्रकस्मिन् समये भगवान् सर्वतत्त्वागत-काय-वाक्-ित्त-हृद्रय-वज्र-पोषितमगेषु विज्ञहार"।

बौद्ध तन्त्र-साहित्यकी उपलब्धि नैपाल तथा तिब्बतसे अधिकतर हुई है, जिसका समुचित प्रकाशन नहीं हो सका है। गुलसमाज-तन्त्र, गुलसिद्धि, महाकल-तन्त्र तथा हेवज्र-तन्त्रके नाम लिये जा सकते है, जिनके रचयिताओं के विषयमे विशेष शात नहीं है। चौरासी सिद्धोमे ऐसे नाम मिलते है, जिनके यन्थोमें वज्रयानी सिद्धान्तोकी विवेचना मिलती है। चर्यापद (दे०) तथा सरहपाद और कान्हपादके दोहा नामक साहित्यमे अनेक सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, समरस(मिलन)पर दोहा साहित्यमे विवेचन है, जिसकी हिन्दू तन्त्रके सामरस्यके साथ तुलना की जा सकती है। भुसुकपादके एक गानमे योगिनी शक्ति-पर विचार किया गया है। चर्यापदमे वज्र-जपका वर्णन आता है। ---वा० उ० मंथान या मंथना-विश्व छन्दोंमें समवृत्तका भेद; 'प्राकृतपैगलम्'(२: ५०)मे इसका मन्थान नाम दिया है: इसके प्रत्येक चरणमें तगण २ (SSI, SSI) होते है, जिसे

भारते भी माना है। 'वाग्वल्लभ'में मन्थानक नाम दिया

गया है। क्षेत्रल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"वाणी कही वान; कीन्हीं न सो कान। अद्यापि आनीनः रे वादि कानीन" (रा० चं०, ४: —<u>দ</u>০ হা ০ मंदाकांता - वर्णिक छन्टोंमे समवृत्तका एक भेद । हेम-चन्द्रके 'छन्दोन् इंग्सन' (२: २८९) तथा 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७: १९)के अनुसार म, म, न, त, त, ग-गके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SII, III, SSI, SSI, SS); इस छन्दमे ४, ६, ७ वर्णीपर यति होती है। कालिदासने मेघदृतमें इस छन्द्रका आदिम प्रयोग किया था। 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, सर्ग ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १६, १७), अनूप द्यामी (सिद्धार्थ-सर्ग ५, ६, ११, १३, १६) और मैथिलीशरण गुप्त(पत्रावली-पृ० १२-१५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"प्यारा वृन्दाविषिन उनको आज भी पूर्व-सा है। वे भूले है न प्रिय जननी औ न प्यारे पिताको। वैसी ही है सुरति करते इयाम गोपां-गनाकी। वैसी ही है प्रणय-प्रतिमा बालिका याद आती" (प्रि० प्र०, १४: १६),। यह छन्द अपनी मन्द-मन्थर गतिके कारण वियोग-शृंगारके अनुकूल है। मकडी-मकडोकी भॉति अपनी प्रवृत्तियोसे ही जगज्जाल बुन लेनेवाला मन—''अवधू यो मन जात है याही ते सब जाणि । मन मकड़ीका ताग ज्यूँ उलटि अपूगै आणि" (गी० बा०)। परिदाद मनसे उत्पन्न होनेवाले तार (सुरति)से हो परम पदकी प्राप्ति भी मानी जाती है। --- उ० शं० शा०

मकरंद सबैया-दे॰ 'सबैया', वामका पर्याय।

मगही — विहारी समूहकी एक बोली मगहीका केन्द्र पटना और गया है। बोलीमे साहित्यका सर्वथा अभाव है। लिखनेके लिए कैथी लिपिका प्रयोग होता है। मगहीकी उत्पत्ति मागथी अपभ्रंश से है।

सच्छ-दे० 'मछरी'।

सछरी-मछलीका प्रमुख धर्म है चांचल्य। मन या चित्त भी चांचल्यधर्मी है अतः मनके अर्थमें मीन तथा इसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग भारतीय साहित्यमें बहुत प्राना है। नाथों, सिडो, सन्तोंने इस अर्थमे इसका प्रयोग बहत अधिक किया है। इन्द्रियवश्यताके लिए भी मीन प्रसिद्ध है। लालची एवं विषयासक्त जीवके अर्थमे भी इनको याद किया जाना है। 'पानीमे मीन पिआसी' जैसी बात करते समय सन्तोने मीन शब्दका प्रयोग अज्ञानी जीवके अर्थमे भी किया है। पानीपर अनन्यभावसे आश्रित होनेके कारण इसे कभी-कभी एकनिष्ठ साधक या भक्तकी तरह भी सारण किया गया है। सन्तोंकी एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि जहाँ भी किसी शब्दमे किसी अन्य शब्दसे ध्वनिसाम्य दोखा, वे उस शब्दके अर्थको भी अपने कथ्यके अनुसार मोडकर उस शब्द विशेषमें भर देते है। मछरी शब्द संस्कृत मत्स्यका ध्वनि परिवर्तित रूप है। संस्कृतमें मछरीसे थोड़ा ध्वनिसाम्य रखने वाला एक शब्द है मत्सरी। सन्तोने अनेक स्थलोंपर 'मछरी'से मछली और मत्सरी दोनोंका अर्थ निकालनेकी कोशिश की है। भणि-वज्रयानकी केन्द्रीय कल्पना वज्र ही है। वज्र इन्द्रका आयुध है और अहम तथा मणिके अर्थमें भी प्रयोग होता है। मणियोको अथर्व बेदमें सुख, समृद्धि, रक्षा आदिका साधन बताया है। अमीवर्त नामक मणिका उल्लेख मिलता है, जिसे धारण करनेसे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था। अनेक साधनाओं में बज्जका वैभवदाता मणिके रूपमें उल्लेख मिलता है।

—ध॰ वी॰ भा॰

मणिकुल्या-दे॰ 'मलिका'। मणिपुर-दे॰ 'हठयोग'।

मतंग-मतंग अपनी मस्ती, दर्प, कामुकता और दुर्निवार शक्तिमत्ताके लिए प्रसिद्ध है और इन सभी अर्थीमें इसे साहित्यमं बार-बार चित्रित-उल्लिखित किया गया है। सन्तोंने सामान्य ढंगके कथनोसं लेकर रूपकों, उपमाओं, उलट-बॉसियों एवं योगपरक रूपकोंने मतंग, गजराज, मैगल, मैमंत (मदमत्त) आदि नामोंसे इसे अपने कथ्यकी अभिन्यत्तिका साधन बनाया है। 'इठयोग प्रदीपिका'में इसे मन (४,९०) तथा वायु (२, १५)के उपमान रूपमें निरूपित किया गया है। श्रीविचारदासने सुझाया है कि कवीर-साहित्यमे उल्लिखित हस्ती, मतंग आहि शब्द मनके बोधक हैं (बीजक, भूमिका, पृ० ४०)। संत साहित्यके सही अर्थ-निर्धारणमें सदैवते एक विशेष काठनाईका सामना करना पड़ा है कि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न स्थानींपर एक दूसरेसे भिन्न और कभी-कभी नितान्त विपरीत अर्थमे प्रयुक्त मिल जाता है। मतंग कहीं एकनिष्ठमनके प्रतीक रूपमें उछिखित होता है-"मैमंता त्रिन ना चरै सालै चित्त सनेह । बारि ज़ बाधा प्रेम कै डारि रहा सिरि खेह" (कबीर), तो कही दुनिवार और अनेक आकर्षणोमें फॅसे मनका प्रतीक बनाकर उपस्थित किया जाता है-"मैमंता मन मारिरे घट ही माँहै घेरि। जबही चालै पीठि दें आँक्स दे दें फेरि ॥" (क्बीर) । इस तरहकी अर्थगत अस्थिरता साहित्यमे कोई नयी बात नहीं है। आगको सभी बुरी, सडी-मूखी, अशुद्ध वस्तुओको जला देनेवाली कहते समय जहाँ उसके शुद्ध करनेवाल धर्म (पावकत्व)का उल्लेख होता है, वहीं जलावर नष्ट बरनेके कारण उसे दुष्ट भी कहा जाता है क्योंकि ऐले अवसरोपर कविका ध्यान धमीं (मतंग आदि)की अपेक्षा उसके धर्म (मत्तता, दुनि-वार्यता, कामवश्यता), पर केन्द्रित होता है। सन्तोंने भी अपने उपमानोके धर्मको ही अपनी अभिन्यक्तिका साधन वनाया है। कठिनाई यही है कि इनके साहित्यमे उपमानोंके धर्मीको ही स्मरण करनेकी वृत्ति इतनी विविध और बहुल है कि सहृदय अममे पड सकता है। उदाहरणार्थ एक जगह आक्रामक अर्थमे सिंह पंचेन्द्रियोका वाचक वनकर आता है, तो दूसरी जगह 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई' कहते समय 'ज्ञान' या बोधि प्राप्त मनका । गयन्द, मतग आदिका प्रयोग भी इस तरहके परस्पर विपरीत अर्थींमे सन्तोने बार-बार

मिति—प्रचिलत तेतीस संचारियों में एक । वाग्मट एवं हेम-चन्द्रके काव्यानुशासनों से ज्ञात होता है कि एक बातका निर्णय कर लेना मिति हैं। भरतकी परिभाषासे यह स्पष्ट नहीं होता कि यह संचारी मावके अन्तर्गत क्योंकर हो सकती है। भरतने मितिके विभाव एवं अनुभाव निम्न-लिखित प्रकारसे दिये हैं—अनेक ज्ञास्त्रोंके मनन, पक्ष एवं विपक्षका निरीक्षण करनेसे मित उत्पन्न होती है। शिष्योंको उपदेश, विचार एवं संशय दूर करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७: ८२ ग)। धनं जय एवं रामचन्द्र गुणचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया कि 'आन्तिका नाश' ही मित है। परन्तु 'दशरूपक'मे दिये गये उदाहरणसे भी स्पष्ट नही होता कि इसकी गणना संचारियोंमे कैसे हो सकती है। धनिकने 'किरातार्जुनीय'के दूसरे सर्गसे वह उदाहरण लिया है, जव युधिष्ठर कहते है कि किसी भी कामको बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये, इत्यादि। यह सामान्य कथन है। अतः विश्वनाथने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'का वह दलोक उद्धृत किया है, जिसमे दुष्यन्त शकुन्तलाकी और आकृष्ट होनेको अन्तःकरणकी प्रवृत्तिका आश्रय के उचित मानते है। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने भी दिया है।

हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने प्रायः 'शास्त्रचर्चासे अमनाश'को ही मित संचारी माना है—''शास्त्र चिन्तनाने त जहाँ होइ यथारथ झान । करे शिष्य उपदेश जहॅं, मित किह ताहि बखान" (भाव०: संचारी०) । देवकी नायिका मनको समझाती है—''ज्यो न निगोहो तवै सुमुझौ किव देव कहा अब जो पंछितानो । धन्य जिये जगमे जनते जिनको मनमोहनतें मन मानो" (वही) । रामदिहन मिश्रने विचापितकी इन पंक्तियोको प्रस्तुत किया है—''अपनिह नागर अपनिह दूत । से अभिसार न जान बहुत । की फल तेसर कान जनाय । आनत नागर नयन बझाय" (का०द०) । इसमें उिल्ठिखित मिलनको सब नहीं जानते, फिर किसी तीसरेको जनाकर क्या करना है, यह भाव 'मित' है । —ज० कि० व०

मत्तगयंद सवैया-दे॰ 'सवैया', दूसरा प्रकार। मत्तगयंद सुंदरी-दे॰ 'सवैया', उपजाति।

मत्तमातंग लीलाकर—साधारण दण्डकका एक भेद । हेम-चन्द्र (१४ श० ई०) ने 'छन्दोनुशासन' अध्याय २, पंक्ति ३९४ मे इसका लक्षण दिया है 'यथेष्ट रामत्तमातंगः'। भानुने 'रोनौवाअधिक' (ए० २१०-छ० प्र०) दिया है, अर्थात् रगण नौ या अधिक । 'रामचन्द्रिका' (के० प्र० भा० २ : ए० ४२८) में केशवदासने आठ रगणवाले छन्दको भी 'मत्त-मातंग दण्डक' माना है, किन्तु पिंगलके मतका उल्लेख करते हुए उन्होंने आठ रगणको पिंगलानुसार लक्ष्मी छन्द कहा है—"'रिच युजंगवसु यगनकी लक्ष्मी रगनै आठ। आठ भ कहत किरोट है आठ स दुमिल पाठ"। किन्तु यह उचित मत केशवदासका नहीं लगता, क्योंकि २६ अक्षरके कपरवाले कृत्त ही- दण्डक कहलाते है, अस्तु नौ रगणसे कममें इसका लक्षण नहीं दिया जा सकता।

हेमचन्द्रने इस दण्डकका उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग उनके पूर्व होता रहा होगा, यद्यपि संस्कृत-कान्योंमें दण्डकका प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। दण्डक और मान्त्रिक छन्दोंका पूर्ण प्रयोग प्राकृत और अपश्रंश-कालमें ही हुआ है। केशवदासने 'मत्तमांतंग'का दूसरा नाम गगोदक (कि॰ अ॰, भा॰ २, पृ०३१४) दिया है, किन्तु वह आठ रगणका ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस दण्डक वृत्तका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें भी नाममात्रको रहा होगा। संस्कृतमें आठ रगणके वृत्तका नाम 'स्वैरिणीक्रीडन' रहा है, जिसका भाव 'मत्तमातंग लीलाकर'के अर्थमे आ जाता है, अर्थात् उन्मुक्तता। सम्भव है, इसके विकासमे उक्त छन्दका योग रहा हो—एक रगणके योगमात्रले। छन्दकी स्वैरवृत्ति द्रष्टव्य है—''योग ज्ञाना नहीं यज्ञ दाना नहीं वेद माना नहीं या कली माहिं मीता कहूँ'। यद्यपि सत्य तो यह है ९ रगणमें छन्दकी गति वढी लगती है और छन्दकी शोभा विगड जाती है। छन्द ८ रगडमें ही पूर्ण हो जाता है, इसलिए इसे दण्डकके अन्तर्गत रखकर समवृत्त चतुष्पदीके ही अन्तर्गत रखना चाहिये अथवा ९ रगणका बन्धन हटाकर हमचन्द्रकी परिभाषाके अनुसार यथेष्ट रगणका लक्षण ही देना चाहिये। —ह० मो०

मत्सरी-'भावक'।

मद-प्रचलित तैतीसमेसे एक संचारी; भरतकी नाट्य-प्रदर्शनके उण्युक्त व्याख्या (नाट्य० ३८-४६)को भाव-रूपमे ग्रहण करते हुए विश्वनाथने इसके सम्बन्धमे लिखा है —"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मधोपयोगजः" (सा० द०, ३:१४६)। जिसमे सम्मोहन और आनन्दका मिश्रण हो, वह मदकी अवस्था कहलाती है। यह मद्य आदिके सेवनसे पैदा होती है।

धनंजयकी परिभाषा विश्वनाथकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने 'दशरूपक'में लिखा है—''हपेंकि षों मदः पानात्स्यलदंगवकोगितः'' (४, २१), अर्थात् मद्यणानसे प्रादुर्भूत हर्षको 'मद' व.हते है, उसमे अंग, वचन और गितका स्खलन होता है, उनपर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। इसके उत्तम, मध्यम तथा अधम मेद भरतसे ही स्वीकृत रहे हैं, जिनका सम्बन्ध निद्रा, हास और रुदनसे जोडा गया है। विश्वनाथने मद्यपान आदि कहकर इसकी व्यापकताको सीमित नहीं किया है, पर धनंजयने केवल मद्यपान-जन्य मदको ही मद संचारिके नामसे अभिहित किया है। अतः इनकी व्याख्या संकीर्ण और सीमित हो गयी है।

हिन्दी-रीतिकालमे दोनों परम्पराओंका प्रभाव दृष्टिगीचर होता है। देवने-"सो मद जह आसव पिये, हर्ष होन हिय बीच" (भाव० संचारी०)मे केवल मद्यपान कारण माना है और इसके विपरीत पद्माकरने 'धन थौवन रूपादितें' (जगिद्ध०, ४८४) भी स्वीकार कर लक्षणको अधिक न्यापक बनाया है। तीन भेद हिन्दीमें भी प्रायः मान्य हुए है। प्रेमके आवेगमें प्रेमी अनियन्त्रित ढंगसे बाते करते है। रामचन्द्र शुक्रने इसे गर्वका भी संचारी माना है, क्योंकि अभिमानके जोर करनेपर भी लोग बहकी-बहकी बाते करते है। मद संचारीकी प्रकृतिगत व्यंजना—"छिक रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध । ठौर ठौर झौरन झँपत, भीर झीर मधु अन्ध" (बिहारी: रत्ना०: ४९६) और दूसरा उदाहरण मधुपान-जन्य संचारीका है-"पूस निसामें सु बारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मदके मनवाले। छाक छकी छिब ही को पिये मद नैननके किये प्रेमके प्याले" (जगिद्ध ० ४८५) । दे० 'स्वभावज अलंकार', ज्यारहवाँ) । - व० सिं० मदनमनोहर-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्त दण्डकका एक

भेद । भ, ज, स, न, भ, ज, स, न, भ, ज, ग, (siii 🗙 ७ +sis)के योगसे यह वृत्त बनता है; १६,१५ वर्णीपर यति होती है। यह घनाक्षरीका वृत्तात्मक एक भेद है। केशवने इस नवीन घनाक्षरीका प्रयोग किया है। उदा०-"आवत विलोकि रघुवीर लघुवीर तिज, ब्योम गति भूतल विमान तब आइयो" (रा० चं०, २१: ३०)।-पु० शु० सदनमिल्लका या मिल्लका-वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद; गुरु लघु क्रमसे आठ वर्ण इस वृत्तके चरणमे होते है। हेमचन्द्र (छन्दो०, २:८३), जयकीर्ति-(छन्दो०, २:६६)ने समानी और दामोदर मिश्र (वा० भु०, २ : ६७)ने मिल्लिका नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है-"देश-देशके नरेश शोभिजै सबै सवेश। जानिये न आदि अन्त कौन दास कौन सन्त" (रा० चं०, २:५)। <u>— ৭</u>০ হা০ सदनहरा-मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक भेद । 'प्राकृत-

मदनहरा-मानिक सम दण्डक छन्द्राका एक मद। 'प्राकृतपेगलम'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमे १०, ८, १४, ८
की यितिले ४० मात्राएं होनी है। आदिमे दो ल (॥) अथवा
दो ग (ऽऽ) तथा अन्तमे ग (ऽ) रहता है (१:२०६)।
भानुने आदिमे केंबल हो ल (॥) माने है (छ० प्र०, पृ०
७७)। ऐसा जान पडता है कि दो-दो यितियों की तुकका
प्रयोग भी प्रचलित रहा है, जैसा कि 'प्राकृतपैगलम्' नथा
'छन्दप्रभाकर'के उदाहरणों। स्पष्ट है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सुदन (सु० च०)ने किया है। केशवने भी
आदिमें दो ल तथा ग दोनोका प्रयोग किया है। उदा०—
"संग सीता लक्ष्मण, श्रीरधुनन्दन, मातनके शुभ पॉय परे,
सब दुःख हरे। ऑसुन अन्हवाये, भागनि आये, जीवन पाये
अंक भरे अरु अंक धरे" (रा० च०)।

मदिरा दुर्मिल-दे० 'सवैया', उपजाति । मदिरा सर्वया-दे० 'सवैया', पहला प्रकार ।

मधुमती भूमिका-योगदर्शनके अनुसार एक भूमि है। केशवप्रसाद मिश्रने 'मेयद्न'के अनुवादकी भूमिकामे इसकी व्याख्या रस-सिद्धान्तके सम्बन्धमे की है। इयामसुन्दर दासने अपने 'साहित्यालोचन'में उन्होंके आधारपर इसे रस-निष्पत्तिकी मुमिकाके रूपमे स्वीकार कर लिया है। केशव मिश्रके अनुसार 'मधुमती भूमिका' चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमे वितर्ककी सत्ता नहीं रह जाती "पार्थक्यान भवको अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस अवस्थामे सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते है, केवल वस्तुभात्रका आभास मिलता रहता है, उसे पर-ग्रन्यक्ष या निवितर्क समापत्ति कहते हैं। चित्तकी यह समापत्ति सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानताका परिणाम है।... जिस समय हमकी वस्तुओंका पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय होचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकारकी वस्तुएँ हमारे केवल सखान्मक भावोका आलम्बन वनकर उपस्थित होती है' (मा० लो०, पृ० २८०-८१)। इस प्रकार केशव मिश्रने योगीकी 'मधुमती भूमिका' तथा कविकी काव्यात्मक कल्पनाको एक स्तरपर स्थापित किया है। इन दोनोंमं उन्होंने यह अन्तर स्वीकार किया है कि साधक यथेष्ट कालतक इस भूमिकापर स्थिर रहता है, जब कि कवि तथा काव्यानन्दका आस्वाद करनेवाला पाठक अनिष्ट रजस या तमसके नीचे उतरते ही उससे नीचे उतर पडता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने योगशास्त्रके आधारपर इस मधुमती भमिकाका खण्डन किया है। 'योगमूत्र'में वर्णित चार प्रकार-की योग-स्थितियों में मधुभमिक द्वितीय है। योगशास्त्रके अनुसार मधुमती-भूमिका ब्रह्मविद्की सत्त्वशुद्धिको देखकर देवगण उस स्थानके योग्य मनोरम भोग दिखलाते है। वस्तुतः इसके वाद योगकी दो स्थितियाँ प्रज्ञाज्योति तथा अनिकान्त-भावनीय और हैं। आनन्दप्रकार के अनुसार— "यह मृमि माधककी परीक्षा-भूमि है, सिद्धिभूमि नहीं। परीक्षा-भूमिपर अधिक देरतक स्थिर रहनेकी चेष्टाका प्रश्न नहीं उठता । "यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है तो ब्रह्मानन्दका प्रश्न भी यहाँ नहीं उठ सकता" (कान्यमे रस, अप्रा० प्रद०: पू० ३२२) । वस्तुतः विवेचकोने मधुमती भूमिकाको व्यापक ब्रह्मानन्दकी भूमिके रूपमें स्वीकार करके उसके आधारपर ब्रह्मानन्द सहोदर कान्यानुभूतिकी व्याख्या को है। उपर्वृक्त विशिष्ट अर्थमें उसका इस रूपमे प्रयोग भ्रामक जाना जायगा। ₹o

मधुर रस-दे॰ 'भक्ति'।

चौदहवी-पन्द्रहवीसे मध्यवाल-साधारणतः शताब्दीके मध्यतकका काल हिन्दी-साहित्यके इतिहासमे मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। आदि, मध्य और आधुनिक – इतिहासके इस त्रिकाल-विभाजनकी सार्वभौम प्रवृत्तिने हिन्दी-साहित्यके इतिहासकारोको भी प्रभावित किया है। विश्वके इतिहासका मध्यकाल सातवी-आठवी शताब्दीने प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहासमें भी मध्ययगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-सः झाज्यके पतनके बाद इसी कालमें प्रारम्भ हो जाती है। सानवां शताब्दी ने विश्व-इतिहासमें सत्रहवीके अन्त, किन्तु भारतमें उन्नीसवीके मध्यतक बारह सौ वर्षीका काल-विस्तार मध्यकाल या मध्ययगकी मंज्ञा पाता है। इस युगके पुनः दो विभाग किये जाते है-- १ र्द-मध्ययुग और उत्तर-मध्ययुग। पूर्व-मध्ययग बारहर्वा राताब्दीके अन्ततक तथा उत्तर-मध्ययुग तेरहवींसे उन्नीसवीं शन ब्दीनक चलता है। इतिहासमें मध्ययुगकी यह कल्पना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंके आधारपर की गयी है। इन प्रवृत्तियोंमे हास और पुनरुत्थान, टोनो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। मोटे नौरपर इम कह सकते है कि पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुगका अन्तर इसी बातपर आधारित है कि पूर्व-मध्ययुग समष्टिगत दृष्टिसे प्रायः हासोन्मुख है और उत्तर-मध्ययुगमे पुनरुत्थानकी प्रवृत्तियाँ हुई है ।

हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ इतिहासके उत्तर-मध्ययुग (१२००—१८५७)मे होता है और उसके आदि और मध्यकाल उसीमें पिरसीमित हैं। अतः हिन्दी साहित्यके मध्यकालकी ही प्रवृत्तियाँ नहीं, आदिकालकी प्रवृत्तियाँ मी इतिहासके उत्तर-मध्यकालकी प्रवृत्तियोंने निःमृत है। इतिहासके इसी कालकी विविध राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोने अधुनिक भाषाओको साहित्यिक पदपर प्रतिष्ठित होनेका अवसर दिया।

हर्पवर्धनकी मृत्युके बाद राजनीतिक सत्ताका जो विघटन प्रारम्भ हुआ, उसीके परिणामस्वरूप तेरहवी शता-

ब्दीके प्रारम्भमे उत्तरभारतमे हिन्दू राज्य-शक्तिका सदाके लिए लोप होकर मुरालिम केन्द्रीय शासनका स्त्रपात हुआ ! राजनीतिकी ोरसे जनसमाजकी उदासीनता जो युगों पहले जनपदीय गणराज्योके विनाश और साम्राज्योकी स्थापनाके वाद केवल राजभक्तिके रूपमे सीमित होकर गहरी होती आयी थी, अब प्रायः घुणामे परिणत हो गयी। गंगा-यमु नाकी घाटीमे कवियोके राजाश्रय पानेकी सम्भावनाएँ नष्ट हो गयाँ। संरक्तन, प्राकृत और अपभंशके राजाश्रित कवियोंकी वीर-इरित-काव्य लिखनेकी परम्परा राजम्थानमे ही अपभ्रंश और हिन्दीके रासी-काव्यके यत्र-तत्र प्रणयनमे अवशिष्ट रह गयी । परन्तु उसमे जनताकी मनोभावनाओका कोई योग न था। राजनीतिक पराभव और सामाजिक द्रवस्याकी स्थितिमे कुछ दिनोतक तो साहित्यिक शून्यता-सी दिखाई देनी है। परन्तु इसी श्रन्यताने पुनजीवनकी शक्तियोके उदय होनेकी भूमिकाका निर्माण किया। तेरहवी शताब्दीके आरम्भसे सोलहवीके प्रथम चरणतक एक प्रकार-का निरंकुरा सैनिक शासन रहा। परन्तु मुगल-शासन-कालने धीरे-धीरे सभ्य प्रशासन-व्यवस्थाकी स्थापना होने लगी। अकबरकी उदार धार्मिक नीति तथा सुन्यवस्थाके फलस्वरूप समाजको सर्वांगीण उन्नति करनेका अवसर मिला। अक्बर तथा उनके उत्तराधिकारियोने हिन्दी कवियोंको भी प्रश्रय दिया, परन्तु इस कारके सर्वोत्कृष्ट भक्त-कवियोंका राज-दरबारसे कोई सम्बन्ध नही था। यह इस कालके साहित्यकी अद्वितीय विशेषता है कि उसके सर्वोत्तम रूपकी रचना जन-कवियों द्वारा हुई।

इतिहासके उत्तर-मध्ययुगमे राजनीतिका नही, धर्मका प्रभुत्व था। उत्तरभारतमें सातवीसे बारहवी रातान्दीतकका समय राजनीतिक सत्ताके ही विघटनका नही, धार्मिक-शक्तियोके रखलनका भी काल है। सांस्कृतिक दृष्टिसे यह काल तात्रिक काल कहा जाता है। तात्रिक ग्रह्म-साधनाओं-ने, जिनमे शारीरिक भोगवादकी पराकाष्ठा थी, न केवल पतनोन्मुख बौद्ध महायान, मन्त्रयान और वक्रयानकी क्रमागत परम्परामें आये हुए सहजयानको आक्रान्त किया, वरन् रौव, शाक्त—यहाँतक कि वैष्णव मतमे भी तान्त्रिक साधनाएँ अशतः प्रविष्ट हो गयी । यह विचित्र-सा लगता है कि जहाँ एक ओर नान्निक भोगवादने जघन्य रूप धारण कर लिया था, वहाँ दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत शंकराचार्थके मायावादी अद्वैतवादने वैराग्यकी भावनाको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया था। यद्यपि इस धार्मिक दुरवस्था। को सुधारनेका प्रयद्ध वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदायसे ही विकसित नाथ-पन्थके जोगियों द्वारा आरम्भ हो गया था, परन्तु उसमे वह शक्ति नहीं आयों थी जो समूचे जनसमाजको आन्दोलित कर सके। इसी समय महत्त्वाकांकी मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा उनके सहायक धर्मान्ध मुल्लाओका अस्त्र वनकर एक ऐकान्तिक वहिष्कारपूर्ण कट्टर धर्म-संस्कृति-ने प्रवेश करके नयी समस्याएँ पैदा कर दी। भारतीय समाजको भीतर और बाहर, दोनों ओरकी चुनौतीका सामना करना पडा। ऐसे अवसर्पर एक जीवित जाति होनेके नाते हिन्दुओंने अपनी जीवन-शक्तिको एक नये रूपमें पुनः जायत् किया तथा भक्ति-आन्दोलनके बहाने उन मानव-मूल्योदी प्रतिष्ठा की, जिनमे सामयिक ममस्याओं-के समाधानके साथ जीवनके शाश्वत सत्य निहित थे।

इस धार्मिक आन्दोलनकी कदाचित् सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर ऐसी विविधताएँ और साम्प्रदायिक मंकीर्णताएँ दिखाई देती है, जिनकी मंगति मिलना असम्भवप्राय जान पडना है, वहाँ इतनी मूल-भूत एकता और व्यापकता है, जो मानवमात्रको ही नहीं, पद्म-पक्षी, कीय-पतंग, जड-चेतन सभीको एक सूत्रमे बॉधकर समेटनी चलती है। कारण यह है कि इसे मात्र तात्कालिक परिस्थितियोंने आपद्धर्मके रूपमे जन्म नही दिया, वरन् इसकी जडें अत्यन्त गहरी, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा इसकी भूमिका अत्यन्त पृष्ट और इंढ थी। चाहे नाथ-पन्धी अलखवादी जोगियोकी परम्पराको व्यापकता देनेवाले कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि निर्गुणिये सन्त हों या अनलहकके द्रष्टा स्फियोके अनुयाधी प्रेममागी कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान आदि हो; चाहे रसाव-तार श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधाका कीर्तन करनेवाल प्रेम-भक्तिके प्रचारक वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सुरदास, नन्ददास आदि हों या मर्यादापुरुषोत्तम पूर्णब्रह्म राम और जगज्जननी सीताके उपासक मर्यादा-भक्तिके प्रतिष्ठापक तुरुसीदास हो-सभी समान रूपसे सांसारिक भोग-विलासके जीवनकी निरर्थकताको हेय और त्याज्य सिद्ध करके उसे अपने ढंगसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके उचित सामंजस्यके द्वारा आध्यात्मिकता और इहलैक्किताके उच्च थरातलपर प्रतिष्ठित करनेका सन्देश देते है। सभी जीवनके बाह्य डम्बरकी - चाहे वे सांसारिक वैभवका प्रदर्शन करें या धार्मिक पाखण्डका-धोर विगर्हण करते हैं। सभी जीवनकी बाह्याभ्यन्तर शुद्धता ओर निर्मलतापर जोर देते है। सभी प्रेमके विविध भावोंका भृत-दयां और विद्व-मैत्री-की उदात्त भूमिपर परिष्करण करनेका उपाय बताते है। सभी वर्णाश्रम धर्मसे भ्रष्ट, शास्त्रीय मर्यादासे च्युत, विशृंखल सामाजिक जीवनको पुनस्संघटित करनेकी उमग और स्फूतिपूर्ण प्रेरणा देते है। सभी जीवनकी समयतापर दृष्टि रखते हुए मनुष्यको जीने योग्य बनानेका मार्ग दिखाते हैं। फलस्वरूप समाजमे चेतनाकी नयी लहर दौड जाती है और प्रसप्त क्रियात्मक शक्तियाँ नवीन प्राणवेगसे जागकर साहित्य, संगीत तथा कलाओंकी सर्जनामे प्रवृत्त होने लगती है और समाजके सर्वोच्च वर्गीसे हेकर निम्नतम वर्गीतकमें उत्साह भर देती है। रामचन्द्र शुक्कने मध्ययुग-मे भक्ति-काव्यकी प्रेरक शक्तियोमें मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंससे उत्पन्न निराशाको वास्तविकतासे अधिक महत्त्व दिया है। शुक्लजी-के हिन्दी साहित्यके इतिहासके आधारपर लिखे गये अनेक इतिहास-ग्रन्थोंमे यह विचार इतनी बार गलत ढंगसे दुहराया गया कि भक्ति साहित्यके सम्बन्धमे यह धारणा बद्धमूल-सी होने लगी कि यह साहित्य, हताश जातिकी, पलायन-प्रवृत्तिका प्रिनिधि साहित्य है। परन्तु हजारी-प्रसाद दिवदी प्रभृति अन्य इतिहासकारोने इस दृष्टिकोणका विरोध किया है। तात्कालिक परिस्थितियोने भक्ति-आन्दो-छनके लिए अनुकूल वातावरण अवस्य उपस्थित कर दिया,

परन्तु उसकी प्रेरणा सर्जनात्मक और घनात्मक थी, प्रति-रक्षात्मक और अभावात्मक नहीं थी।

भक्ति-धर्मका यह आन्दोलन इतिहासके उत्तर-मध्य-थगकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः इसे सांस्कृतिक और शामाजिक दृष्टिसे भक्तिकालके नामसे अभिहित किया जाता है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रचारका साध्यम आधुनिक आर्य भाषाएँ है, जिनमे हिन्दी व्यापकता और सार्वदेशिकताकी दृष्टिसे प्रमुख है। हिन्दी साहित्यके इतिहासका यह मध्यकाल कहा जाता है, जो लगभग चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दीसे उन्नीसवी शताब्दीके मध्यतक चलता है। शुक्लजीने मध्यकालको पूर्व-मध्य और उत्तर मध्यकालोंमें विभक्त करके उनका समय क्रमशः मंबत १३७५-१७०० वि० तथा १७००-१९०० वि० निर्धारित किया है। यह समय ईसाकी चौदहवी राताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग मध्यतक पड़ता है। किन्तु वास्तवभें यदि कवीरके समयसे मध्यकालका आरम्भ माना जाय तो उसे चौदहवीं शताब्दीसे पहले ले जाना कठिन है, क्योकि कवीरका रचना-काल चौदहवीं और पन्द्रहवी शताब्दी ही है।

हिन्दी साहित्यके इस मध्यकालमें, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, निर्मण सन्त-भक्ति, प्रेममागी सफी-भक्ति, प्रेम-लक्षणा कृष्ण-भक्ति तथा मर्यादामागीं राम-भक्ति-की प्रेरणासे हिन्डीके सर्वोच्च साहित्यकी रचना हुई। भक्तिका यह आन्दोलन उत्तरभारतमे-पन्द्रवी-सोलह्बी शताब्दियोमें अपनी पराकाष्ठापर था और उसके सबसे प्रवल सन्देशवाहक भक्त कवि ही थे, जिनमेसे कुछका उल्लेख ऊपर किया गया है (अन्य कवियोके लिए दे० भिवतकाल)। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें इन ढाई-तीन सौ वर्षीको पूर्व-मध्यकाल या अक्तिकालका नाम दिया गया है। इसके बादकी दो-ढाई शताब्दियाँ भी यद्यपि इतिहासमें भक्तिकालके अन्तर्गत आती है, परन्त क्योंकि भक्तिका प्रथम क्रियात्मक उन्मेष अपना प्रबल वेग खोने लगा था और भक्ति-आन्दोलन बहत-कछ सम्प्रदाय-बद्ध होकर कर्मकाण्ड और बाह्य-आडम्बर अपनाने लगा था। अतः उसकी प्रेरणा समाप्तप्राय हो गयी थी और सबसे अधिक होचनीय बात यह थी कि कविगण कृष्णाश्रय, रामाश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय छोडकर राजाओ, सामन्तीं, जमीदारी और ठाकरोकी शरण खोजने लगे थे तथा राधा-कृष्णके आध्यात्मक रसानन्दको आश्रयदाताओके वासना-त्मक प्रेम-विलासका रूप देने लगे थे और हार्दिक संवेदना और अनुभूतिका स्थान वाक्चातुर्य और अलकरणने ले लिया था। इसलिए हिन्दी साहित्यके इतिहासकार इतिहासके उत्तर मध्यकालके इन अन्तिम दो सौ वर्षों, अर्थात् साहित्य-के इतिहासके उत्तर-मध्यकालको हासका युग मानकर उसे रीतिकाल, अलंकृत या श्रंगारकालका नाम देते हैं। इस कालमें इतिहासके पूर्व-मध्ययुगकी उन प्रवृत्तियोंकी पनरावृत्ति-सी देखी जाती है, जिन्होने संस्कृतके अलंकृत काव्य, अलंकारशास्त्रके विवेचन, टीका और निवन्ध-साहित्यको जन्म दिया था । कवियोमें अन्तःप्रेरणाके अभाव-में अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रवल हो गयी थी तथा जीवन कियाशीलताके स्थानपर भोग-विलासकी ओर उन्मुख होने लगा था। प्रायः प्रत्रेक क्र ननदर्शी आन्दोलनके बाद ऐमा देखा जाता है। अनः इस उत्तर-मध्यकालको हम मध्यकालका उतार कह सकते है। परन्त यह स्वीकार वरना होगा कि इस कालमें भी हिन्दी साहित्य-की अभनपर्व अभिवृद्धि हुई और रीनिवद्ध नथा रीतिमुक्त शंगारके अतिरिक्त वीरकाव्य, नीतियाव्य आदिकी भी रचनाएँ हुई। यदि पूर्व-मध्यकालके क्वीर, जायमी, सुर, तुलमी, मीराँ आदि भक्त-कवि विश्व-माहिन्यिको में गिने जाते हैं, तो उत्तर-मध्यकालके एक कवि-विहारीकी ख्यानि तो हिन्दीके बाहर और किसी अंगमे देशके बाहर भी हुई है । विहारीके अनिरिक्त केशव, देव, मिरिएम, भृषण, धनानन्द आदि कवियोंने हिन्दी माहित्यकी अनेकथा श्रीवृद्धि की है। ब्रजमाषाके प्रसार और परिमार्जनके क्रमको इन कवियोंने जारी रखा और उमे हिन्दी क्षेत्रके बाहरतक प्रतिष्रित किया ।

उत्तर-मध्यकालके कुछ विरक्त भक्त किर्वयंको छोडकर लगभग सभी किसी-न-किसी आश्रयदानाके संग्रुणमें रहकर कान्य-रचना करते थे, वे पूर्व-मध्यकालके किर्विमें भिन्न शुद्ध कि थे, किन-कर्म उनका जीवन-व्ययसाय था। ऐसे जुछ कि पूर्व-मध्यकालमें भी हुए हैं, जैमे अकबरी दरवारके नगहरि बन्दीजन, गंगः मुगल दरवारके नवरत्त थे रहीम, टोडरमल, वीरवल भी हिन्दीमें किनिंग करते थे तथा कहा जाता है कि स्वयं अकबरको भी काव्य-रचनाका शौक था। केशवदास खोडछा-दरवारकी शोभा बढाते थे। इनके अतिरिक्त आलम, मुवारक, वराग्मीदास, मेनापित स्वतन्त्र रूपमें काव्य रचनामें प्रवृत्त थे। अकवरके शामन-कालकी सांस्कृतिक समृद्धि साहित्यके क्षेत्रमे भी देखी जा सकती है।

जहाँतक जीवनादशौंका सम्बन्ध है, मक्त-कियों हारा प्रतिष्ठित आदर्श ही जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन और नियमन करना रहा। बस्तुनः भक्ति-काव्य हारा स्थापित मूल्य और मर्यादाएँ आधुनिक कालतक मान्य रही है। उत्तर-भारतके जन-समाजका मानस आजतक बहुत-कुछ उसीके आधारपर गठित हुआ है (दे० भिक्ति-काल', 'रीतिकाल')।

[महायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहासः रामचन्द्र शुक्ल; हिन्दी भाषा और साहित्यः द्यामसुन्दर दाम; हिन्दी साहित्यक्षी भूमिकाः हजारीप्रसाद दिवेदी; हिन्दी साहित्यः हजारीप्रसाद दिवेदी; उत्तरी भारतकी सन्त-परम्पराः परशुराम चतुर्वेदी; अक्षवरी दरवारके हिन्दी कविः सरयूपसाद अग्रवाल ।]——व० व० मध्यदेश—प्राचीन कालमे उत्तरभारत अथवा आर्यावत्ते पाँच भागोंमे विभक्त माना जाताथा, अर्थात् प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची और मध्य। इस अन्तिम मध्मभागकी मंद्या आगे चलकर मध्यदेश हुई। मध्यदेशका बातक पहला संकेत परेतेय बाह्यण'मे मिलता है। इसके वाद इस शब्दन का निरन्तर प्रयोग संस्कृत माहित्यमे हुआ है।

उत्तरभारतमे जैसे-जैसे आयोंका विस्तार होता गया, वैसे-वैसे आर्यावर्त्तकी सीमाएँ बढ़ती गयी, फळलरूप

मध्यदेशकी सीमाओमें भी परिवर्तन हुआ। उदाहरणके लिए, मनुस्मृतिके अनुसार हिमालय और विनध्यके मध्यमे और विनशन(मरस्वती नदीके लुप्त होनेका स्थान)से पूर्व तथा प्रयागके पश्चिममे मध्यदेश था। 'विनयपिटक'के अनुसार मध्यदेशको पूर्वी सीमा प्रयागसे हटकर भागलपुर-के निकट मानी जाने लगी थी।

मध्यदेश शब्दका प्रयोग लगभग बारहवी शताब्दीतक होता रहा। मुमलिम शासनकालमे इसके लिए 'हिन्द्स्तान' शब्दका प्रयोग होने लगा था। वर्तमान कालमे हिन्दीप्रदेश इसका पर्यायवाची माना जा सकता है। नैपालमे हिन्दी-प्रदेशके रहनेवाले आज भी अपने पुराने नाम मदेसिया, अर्थात मध्यदेशीयसे पुकारे जाते है।

उत्तरभारतके इस मध्यभाग, अर्थात् हिन्दी-प्रदेशके लिए कोई उपयुक्त नाम न होनेके कारण मध्यदेश शब्दका प्रयोग फिर धीरे-धीरे बढ रहा है।

[सहायक ग्रन्थ--मध्यदेश: धीरेन्द्र वर्मा ।] ---धी० व० मध्यम मार्ग-दे॰ 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', तीसरा प्रकार। मध्यमा (नायिका) - गुण अथवा प्रकृतिके नायिकाओके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है । भानुदत्तके अनुसार "हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती" अर्थात् प्रियके द्वारा हित अथवा अहित-का न्यवहार देखकर हित अथवा अहितका न्यवहार करने-वाली नायिका मध्या है (र० मं, पृ० १५३)। मतिरामने इसी भावको महण किया है—"पियसौ हिततै हित करै अनहित कीने मान" (र० रा०, २३१) । पद्माकर आदि-ने 'गुनाह' तथा 'दोष' शब्दोंका प्रयोग अहित शब्दके लिए किया है। स्पष्टनः अहिन, अर्थात् अप्रेम दोष या अपराध ही है। इस नायिकाका क्रोध तथा अनुराग बहुत शीध परिवर्तित होता रहता है—"रिसहीके ऑसू रस ऑसू भये ऑखिनमै, रोसकी ललाई सो ललाई अनुरागकी" (वही, २३२)। उसका आक्रोश प्रियके निमत होते ही शान्त हो जाता है—"भौहै पेख पीको बिहसोहै भये दोऊ हग सुनि सौहै भौहैं गयी उतिर कमानै-सी" (पद्माकर: जगद्वि०)। मध्यवर्ग-पूँजीवादी व्यवस्थाने समूचे समाजको तीन भागोमे विभाजित किया है—(१) बूर्जुआ, (२) मध्यवर्ग अर्थात् मिडिल क्लास, (३) निम्नवर्ग । मध्यवर्ग सामन्त-वादी व्यवस्थामे पाया नहीं जाता, क्योंकि उस समय जमीदार और किसानका सम्बन्ध सीधा था, किन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाने समाजको इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्गकी भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल न्यवस्थाके संघटनसूत्रको सँभाल सके। इस वर्गमे नौकरी-पेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते है। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्तिके प्रायः समस्त विचारोका सर्जन मध्यवर्गमें ही होता है। मध्यवर्गमें भी दो भाग है-उच मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग मध्यवीडिता-दे०-- भध्या (नायिका)। मध्या (नायिका)-अधिकांश आचार्यीके

अनुसार

स्वकीयाका भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। लज्जा और कामकी मध्यस्थितिके कारण इम नायिकाकी मध्या नाम दिया गया है--'समानलजामदना मध्या'। भानदत्त-ने आगे इसे अति विश्वास और विनय (अतिप्रश्रयात्)के कारण ही अतिविश्रव्धनवोढा माना है (र० मं०, पृ० १८)। हिन्दीके अधिकांश आचार्योंने भानुदत्तकी परिभाष: शब्दशः स्वीकार कर ली है: मतिराम, देव, पद्माकर तथा भान आदिने 'लब्जा' और 'मदन' शब्दोका प्रयोग इसी रूपमे किया है। वस्तुतः इस नायिवाकी विश्रव्धनवोदाकी अगली स्थिति माना जा सकता है, क्योंकि इसमे लज्जाकी स्थितिके साथ कामभावनाका उदय हो जाता है। रहीमने इम नायिकाका सुन्दर भावचित्र अंकित किया है-"रहत नयनके कोरवा चितवनि छाय। चलत न पग पैजनियाँ मग अहटाय" (ब०,८) । द्विधाकी भावनाका चित्र सन्दर बन पड़ा है-"केलि भवनकी देहरी, खरी बाल छबि नौल। काम-कलित हियको लहै, लाज-कलित हग कौल" (र० रा०, ३२)। पद्माकरकी मध्याके नेत्रोंमे 'मदन-लाज' समाहित हो रहा है। विद्यापतिने राधाके मध्या रूपका विकास सहज क्रममे प्रस्तुत किया है और सुरने भी राधाके इस रूपका चित्रण किया है। जायसी अर्दि सुफी प्रेमी कवियोने भी अपनी नायिकाओकी अवस्थाका क्रमिक विकास दिखाया है। रीतिकालीन कान्यमे नारीकी इस मनःस्थिति-का उसके उद्देग और विकलताके साथ चित्रण किया गया है, पर इनमे भावोसे परिम्थितियाँ अधिक है।

इसके भेद-विस्तारके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। अति-विश्रद्य-कृपारामने इस मेदका उल्लेख किया है, पर वस्तुतः भानुदत्तने मध्याकी व्याख्या इसी रूपमे की है। प्ररूढ़योवना - केशवने इसे पूर्ण युवती (भाग सुहाग भरी) तथा 'कन्तके मनको भानेवाली' कहा है । यह अपने तारुण्य के प्रति पूर्ण सचेष्ट है-"चन्दकोसो भाग भाल भृक्टी कमान ऐसी, मैन कैमे पैने सर नैनिन बिलास है" (र० प्रि॰, ३:३४), सम्भवतः यह सचेष्टता ही इसकी विशेषता है। इसे आरूढ तथा रूढयौवना भी कहा गया है। प्ररुद्धमरा-हिन्दीमे केशवदास आदिने प्राद्र्भृत-यौवनाके रूपमे लिया है-"तन मन भूषित मोभियै केसव काम कलानि" (वही, ३:३७)। इसमे तारुण्यका किंचित अधिक उत्कर्ष माना जा सकता है—"एक ही बंक बिलोकनि ऊपर बारै बिलोकि त्रिलोक निकाई" (वही: ३८)। देवके उदाहरणसे भी यही लगना है—"आपने आगे औ पीछे तिरीछे है देहको देखि सनेहसों भीजें (भा० वि०: ना०) । ईषत्-प्रगल्भवचना — हिन्दीमे प्रगल्भवचना है । केशवके अनुमार "बचननि माहि उराहनो देइ दिखावै त्रास" (वही, वही: ३७)। यह भेद नायिकाके अधिक विश्वस्त होनेका संकेत देता है। लज्जाका स्थान प्रगल्भता ले लेती है-"कप्नह भलें जुभले दग लागे भलें इन्ह नैननिके रँग रागे" (वही, वही: ३६)। उलाहनाके साथ अधिक आत्मविश्वास व्यक्त हुआ है-"मोहनको मुख चृमि भटू तब हौ अपनो मुख चूमन देहाँ" (देव: भा० वि०: ना०)। विचित्रसुरता अथवा सुरत-विचित्रः केशवके अनुसार जिसका 'सरत विचित्र' हो। इसमे एक प्रकारसे छज्जाका

भाव नहीं रह गया है, अतएव इसे मध्याके अन्तर्गत म्बीकार करना अधिक उचित नहीं जान पडता। मध्य- बीडिता—हिन्दीमें लघुलज्जा। —सं० मनजा सेवा—दे० 'सेवा'।

मनहरण-विणिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद । इस नवीन वृत्तका प्रयोग केशवने किया है। कवित्तका नाम भी मनहरण है (दे०)। भानुने पॉच सगण (॥ऽ)के वृत्तका भी नाम मनहरण दिया है। यह स्रिग्विणी-परिवारका छन्द है, क्योंकि इसका आधार रगणात्मक है। न, स, ३ रगणोके योगसे यह वृत्त वनता है (॥॥ ॥ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ)। उदा०—"अति निकट गोदावरी पास संहारिणी। चल तरंग तुंगावली चारु संचारिणी" (रा० चं०, ११:

न्यु॰ शु॰ मनोग्रनिथयाँ किसी अंशतः या पूर्णतः दिमत, संवेगाविष्ट विचार या विचारोक्षा युंज होती है, जिनके साथ व्यक्तिके द्वारा स्वीकृत अन्य विचारोक्षा सतत संघर्ष होता रहता है। मनोग्रनिथको दिमत स्थायी भाव भी कहा जाता है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करता है। मनोग्रनिथ अवचेतनको परामृत कर लेनेवाली एक ऐसी विशिष्ट विचार-प्रनिथ होती है, जिसके आसपास दिमत आदिम संवेगोंकी एक गुत्थी-सी वन जाती है। मनोग्रनिथयाँ चेतन, अचेतन या क्रविच्चेतन किसी भी प्रकारकी हो सकती है, किन्तु कुछ अधिकारी विद्वान् मनोग्रनिथ शब्दका प्रयोग अचेतन विचारो, भावनाओं और प्रेरणाओके लिए ही करते है।

मनोय्रन्थियोंके अनेक प्रकार होते हैं। किसी विचित्र वैज्ञानिक पद्धतिमें विश्वास करना, किसी विशेष वाद या मतको ही पूर्ण समझना और उसके द्वारा समस्त मानवीय व्यापारी एवं इतिहासकी व्याख्या करना, सौ वर्ष कैसे जीयें, विश्वलिपि-निर्माण या ऐसी ही कोई और सनक, प्राकृतिक जीवन, नग्नतावाद, भोजनके सम्बन्धमें कोई विचित्र विश्वास या आग्रह आदि बौद्धिक मनोग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। कलाके क्षेत्रमें विचित्र फैशन या वाद सौन्दर्यात्मक मनोयन्थियाँ है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्रमे विचित्र सुधारोंके आन्दोलन, विचित्र आदशोंमें भक्ति, सदा यह प्रतीति कि लोग हमारा अपमान कर रहे है, हमपर अन्याय हो रहा है, हम शहीद हैं आदि सामाजिक मनोग्रन्थियोंके दृष्टान्त हैं। धर्मके क्षेत्रमे भी मनोय्यन्थियोंकी कमी नहीं है। विचित्र धार्मिक विश्वासोंसे विचित्र सम्प्रदायोकी स्थापना हो जाती है। नाना प्रकारके वत, तपश्चर्या, अनुष्ठान, संस्कार, खर्ग-नरकमें विश्वास, कुम्भीपाकका त्रास, खर्गकी अप्सराओ और गिलमोका आनन्द, करपवृक्ष और कामधेन, अपनेको इष्टदेवकी प्रिया मानकर पुरुषका भी स्त्रीवत आचरण-ऋतुमती होनेका अभिनयतक-करना, भावाविष्ट होकर नाचना-कृदना, अतीतकी किसी एक घटनाकी वार्षिक स्मृतिके अवसरपर गममें लोहेकी जंजीरोंसे अपनी छाती पीट-पीटकर लहु-लुहान हो जाना आदि धार्मिक मनो-यन्थियोंके ही रूप हैं।

इन मनोम्रन्थियोंका व्यक्तिके जीवनपर वडा व्यापक प्रभाव पडता है। जीवनमें आया हुआ कोई व्यक्ति, कोई स्थित, कोई प्रिय या अप्रिय घटना, कोई अनुभूति या स्मृति कभी भी संयोगवदा मनोग्रिन्थिमें परिवर्तित हो सकती है और मनुष्यके अवचेतनमे प्रविष्ट होकर उसके समस्त चेतन व्यवहारको आजीवन प्रभावित करनी रह सकती है। व्यक्तिके चरित्र और भाग्यके निर्माणमे उनका वडा हाथ रहता है। व्यक्तिको प्रायः अपनी मनोग्रिन्थियोंका आभास नहीं होता और यदि होता या कराया जाता है तो वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। व्यक्तिके न चाहनेपर भी वे उसके व्यवहारको संचालित करती है, व्यक्ति उनसे विवश जैसा हो जाता है। जिन मनोग्रिन्थियोंको साथारणतया अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वे स्वप्नों, मानसिफ विकारों और अस्वाभाविक व्यवहारों प्रकट होती है।

मनोग्रन्थियाँ हमारी मूल प्रवृत्तियोंके समान ही अदम्य और प्रबल होती है। प्रकाशिन और कृतार्थ होनेके लिए वे भी मौलिक एषणाओकी तरह विकल रहती है, किन्त मनके अन्तरालमें विविध प्रेरणाओं और मनोयन्थियोंमें सतत चलनेवाले मंघर्षके कारण ऐसा नहीं हो पाता । इस परस्पर द्वन्द्वके कारण व्यक्ति किंकर्नव्यविमूद हो जाता है और परिणामस्वरूप उसे किसी अंगका पक्षाघात अथवा कोई अन्य रोग हो जाता है। मनोविश्लेपणने प्रचुर प्रमाणो के आधारपर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे अधिकांश रोगोका वास्तविक कारण ये ही मनोग्रन्थियाँ है। अतएव स्पष्ट है कि इन अनिष्टकारी मनोग्रन्थियोंके कारण व्यक्तिका स्वास्थ्य, सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है, उसके व्यक्तित्व-का सम्यक् विकास नहीं हो पाता । मनोय्रन्थियोंका पता लगाकर उन्हे जडमे नष्ट करना और व्यक्तिको सम्यक सख, ज्ञान्ति और स्वास्थ्यके पथपर ले आना मनोविद्यलेष-णात्मक चिकित्साका प्रधान कार्य है।

आधुनिक मनोविद्रलेषणने मनुष्यमात्रमें व्याप्त और उसके जीवनमें आत्यन्तिक महत्त्व रखनेवाली कुछ विशिष्ट मनोग्रन्थियोंका पता लगाया है। इनमें ईडिपस, आत्म-हीनता, अपराध, प्रतिशोध आदि मनोग्रन्थियाँ प्रमुख है।

ईडिपस मनोग्रन्थि मनुष्यको सबसे अधिक प्रनाडिन और विश्वंबल करनेवाली होती है। आधुनिक युगमे फायडने ही सर्वप्रथम इसकी खोज की है। उसके अनुसार इस मनोग्रन्थिका आरम्भ वचपनके प्रारम्भिक दिनोंमे होता है। यह प्रायः अचेतन होनी है और अपनी माताके प्रति पुत्रकी आत्यन्तिक आसक्ति (जो यौन होती है), पिताके प्रति ईच्यो तथा तजन्य अपराधकी भावनासे इस ग्रन्थिका -निर्माण होता है। फ्रायडीय मनोविद्यलेषण इस मनोग्रन्थिको सर्वसामान्य मानता है। सभी परिवारोंन, सभी पुत्रोंने इस ग्रन्थिका उद्भव होता है। अतः सभी लड़कोमें इसके लक्षण मिलते है। साधारणतया किहोरावस्था प्राप्त करनेपर लडके इत मातृ-आसक्तिसे मुक्त हो जाते है। लेकिन कुछ व्यक्ति आजीवन ईडिपस मनोग्रन्थिसे आक्रान्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके अचेतनमें रहकर वह अनेक मानसिक विकारों, प्रवृत्तियों और यौन विकृतियोका कारण वनती है। स्त्रियोमे इस ग्रन्थिके प्रतिरूप पिताके प्रति (यौन) अत्यासक्ति, मातासे ईर्ष्याको फ्रायडने एलेक्टा भनोग्रन्थिका नाम दिया है।

और मनोविकार मानसिक संवेगात्मक कारणोसे होते है। ऐसे मानसिक विकारोंको न्युत्पन्न मनोविकार कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मनोदौर्वल्य, स्नायविक रोग, कल्पनाम्रह, हठप्रवृत्ति, भीतिरोग, चिन्तारोग, उन्माद, स्थिरभ्रम, असामयिक मनोहास, उत्साह-विषाद-चक्र-मनो-दशा आदि विकार आते हैं। मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रकरणोंमें यह संकेत किया जा चुका है कि व्युत्पन्न मनो-विकारोंका कारण अतृप्त और दिमत मूळ प्रवृत्तियाँ और मनोग्रन्थियाँ होती है। व्यक्तिके मानसिक स्वास्थ्यके लिए यह आवश्यक है कि उसकी मौलिक प्रवृत्तियों और स्थायी भावोंको सामाजिक ढंगसे व्यक्त और कृतार्थ होनेका अव-सर मिलता रहे, अन्यथा व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है, अनेक मनोय्रन्थियाँ उसके अचेतनको आकान्त करके उसे शारी-रिक रोगों और मनोविकारोका शिकार बना देती है (दे॰ 'मनोग्रन्थियाँ')। -आ० रा० शा० मनोविश्लेषण (psycho-analysis) - अपने प्रमुख और प्रारम्भिक रूपमे मानसिक और स्नायविक रोगोंकी चिकित्सा की विशेष विधि है, जिसके आस-पास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका संघटन हो गया है। इसके जन्मदाता सिग्मण्ड फायड थे और उन्होंने इसका उपयोग चिकित्साशास्त्रमें ही किया। परन्तु चिकित्साकी यह विधि जिन मूल सिद्धान्नों-पर आधारित है, उन सिद्धान्तोके स्पष्टीकरण, समर्थन, विरोध, अन्य सिद्धान्तोंकी स्थापना आदिसे फायडके समयसे अवतक मनोविश्लेषणने इतनी प्रगति की है कि आधनिक युगकी कोई भी विचारधारा इसके प्रभावसे अछती नहीं रह सकी है। मानसिक-स्नायविक रोगोकी चिकित्सा करते समय फायडने देखा कि सम्मोहन-क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालापमे स्वच्छन्द-विचार-साहचर्यसे बहुतसे पुराने अनुभव पुनरुजीवित हो उठते हैं। उन्होने यह भी पाया कि इन अनुभवोंका मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूपसे दमन है। इस प्रकार वे जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तपर पहुँचे, उसका सार तीन शब्दोमे व्यक्त हो सकता है-रौशनीय दमित कामवृत्ति। उनके अनुसार यह जीवनमें मुख्य प्रेरक शक्ति है, यह शिशुके जन्मसे ही कार्यशील रहती है और इसका प्रकाशन मानवके समस्त व्यवहारमें परोक्ष रूपसे होता है। इस शन्तिको अधिक न्यापक अर्थ देनेके लिए वे 'लिविडो' शन्दका प्रयोग करते है। शैशवमें जब मानसमे केवल 'इड' ही विकसित रहता है, दमनका प्रदन नहीं उठता, किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावोके कारण अहं और सुपर ईगो या 'आदर्श अहम्'का विकास होने लगता है और स्वाभाविक कामे-च्छाओंका दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओसे अचेतन मानसका निर्माण होता है। इच्छाओके दमनका सिद्धान्त दो विचारोंपर आधारित है, एक तो यह कि जो निषिद्ध है, दह इच्छाका विषय होता है, दूसरे यह कि जिससे भय लगता है, वह भी इच्छाका विषय है। प्रबल इच्छाका दमन ही चेतन मनमें भयका रूप हे हेता है। इन विचारोंके फलस्वरूप फायडके सिद्धान्तमे यह माना गया है कि शिश्को कामवृत्ति अपने माना-पिता और भाई-बहनोंकी ओर प्रेरित होती है, परन्त नैतिक निषेधोंके कारण इस वृत्तिका दमन होता रहना है और व्यक्तिके मनमें कुण्ठाएँ वन जाती है। ईडिपस कुण्ठा (अथवा भावप्रन्थि) फायडके सिद्धान्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण है। ग्रीक नायक ईडिपस (जिसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह किया था)के नामसे फायड यह व्यक्त करते है कि शिशुके मनमे विषमिलिंगी जनकके प्रति कामेच्छा और समिंछिंगी जनकके प्रति ईर्ध्या अवस्य होती है। इन दोनोंका दमन करके नैतिक और सामाजिक रूपसे स्वीकृत प्रेम और आदरके भाव प्रकाशित किये जाते हैं। यदि व्यक्तित्व-का संघटन दुर्बल हो और कोई संवेगात्मक आघात लगे तो यह ईडिपस कुण्ठा अनेक मानसिक रोगोको जन्म देती है। साधारण स्वस्थ जीवनमें भी ये दमित वासनाएँ और कुण्ठाएँ अपनेको व्यक्त करनेका प्रयत्न करती रहती है, परन्तु आदर्श अहम् (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित प्रति-रोधके कारण ये अपने स्वाभाविक रूपमें व्यक्त नहीं हो पाती और कपट वेशोमे प्रकट होती है। ये कपट रूप स्वप्न और जायत जीवनकी भूलें है। अधिक प्रवल होनेपर हिस्टीरिया, खण्डित व्यक्तित्व, अपराध-भावना आदि बहुतसे मानसिक-स्नायिक रोग हो जाते है। फायडके मनोविश्लेषण सिद्धान्तमे यह सिद्धान्त भी निहित है कि मानवका छोटेसे छोटा व्यवहार भी सप्रयोजन होता है, मानसिक जीवनमें कुछ भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता। फ्रायडके अनुसार प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखतः कोई कामेच्छा होती है, जिसे हम मनोविद्यलेषणके द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार **मनोवैज्ञानिक अभिप्राय** या प्रयोजन भी फायडके सिद्धान्तका आधार है।

मनोविश्लेषणके जन्मदाता फ्रायड थे, अतः प्रमुख रूपसे मनोविद्यलेषणसे उन्हींके सिद्धान्तका बोध होता है। कला और साहित्यपर भी उनके विचारोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। फ्रायडके सिद्धान्तको यौनवाद भी कह सकते है। फायडके अनुसार कला और धर्म, दोनोका उद्भव अचेतन मानसकी संचित प्रेरणाओं और इच्छाओमे ही होता है-इस कामशक्तिके उन्नयनके फलम्बरूप कलाकार सर्जन करता है। मानसिक जीवनमें यथार्थ और सुखेच्छाके बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कलाके द्वारा करता है। फायडके कलाविपयक सिद्धान्तोने कलाके आलोचकोको काफी सीमातक प्रभावित किया है और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंने आधुनिक कथा-साहित्यको बहुत प्रेरणा दी है, किन्तु मनोविश्क्षेषण केवल फायडतक ही सीमित नहीं है, अन्य मनोविश्लेषकोंने अपने अनुसन्धानो द्वारा कुछ नये सिद्धान्त भी दिये हैं। फायडके ही सह-कारियो और शिष्योमे ऐडलर और ज़ुंगने फायडसे भिन्न सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया है।

ऐडलरके मनोविज्ञानमें लिबिडो अथवा कामवृत्तिका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अहम्का। उनका मत है कि फायड कामवृत्तिको अनावश्यक महत्त्व देते है, मानिसक स्नायविक रोगोका मूल कारण कामवृत्तिके अतिरिक्त अहंकी माँग भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहंस्थापन (self assertion)की होती है। इस अहंस्थापनकी इच्छा और जीवनके यथार्थका विरोध ही

मानसिक जीवनकी सख्य समस्या है। यह इच्छा जीवनके तीत क्षेत्रीये व्यक्त होती है—समाज, व्यवसाय और विवाह । इस प्रकार ऐडलरके मनोविज्ञानने आत्मस्थापनकी प्रवृत्ति ही प्रमुख है, कामवृत्ति नहीं । मानसिक-स्नायविक रोगका मूल कारण हीनत्व-कुण्ठा है, यथार्थसे संघर्षके कारण व्यक्तिके आत्मस्थापनको सन्तोप नहीं मिल पाता और उसमें होनत्वभावना विकसित हो जाती है। इस भावनासे मक्ति पानेके लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, इसका दमन करता है। दमनके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों मे अत्यधिक गर्व आ जाता है, जिसे हम हीनत्वकुण्ठाका कपट -रूप मान सकते है। हीनत्वभावनासे बचावके लिए व्यक्ति कुछ सरल साधन खोज लेता है, वह साधन कोई विशेष 'जीवन-शैली' होती है। जीवन-शैली जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमे ही निश्चित हो जाती है और परिवारमे व्यक्तिकी स्थितिसे निश्चित होती है। ऐडलरके अनुसार एकलौते बच्चे, प्रथम सन्तान, द्वितीय सन्तान, अन्तिम सन्तान, सबकी जीवन-शैली पारिवारिक वातावरणसे निश्चित होती है। ऐडलरके इन सिद्धान्तोंका साहित्य और अन्य विचार-क्षेत्रोंपर उतना प्रभाव तो नहीं पडा, जितना फ्रायडके मतका, फिर भी उनके दिये हुए तथ्य मानसिक जीवनकी समस्याओंको सलझानेमे काफी सहायक सिद्ध हुए है और साहित्यमें भी उनका उपयोग होता है।

जुंगने भी मनोविश्लेषणके सिद्धान्तों में कुछ सुभार करके अपना मत दिया है। वह भी फ्रायडके इस मतके विरोधी थे कि जीवनकी प्रमुख प्रेरक शक्ति काम है। उन्होंने िछिबिडो शब्दका अधिक विस्तृत अर्थ लिया, जिसमें फ्रायडकी कामवृत्ति और ऐडल्टरकी आत्मस्थापन-प्रवृत्ति, दोनों ही सिम्मिलित है। वह उसे जीवनकी वह प्रारम्भिक और सामान्य प्रेरक शक्ति मानते है, जो मानवके सभी व्यवहारों में व्यक्त होती है। यह शक्ति 'जीवन-शक्ति' या 'मनःशक्ति' कही जा सकती है। यह वह मूल शक्ति है, जो विकास, क्रिया और जनन, तीनों लक्ष्यों अपनेको व्यक्त करती है। जुंगके मनोविशानका दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनके अनुसार यह शक्ति एक अन्तिम साम्यावस्थाकी ओर उन्मुख रहती है। फ्रायड सदा वर्तमानको अतीतकी हिस्से देखते थे, जंग भविष्यकी दिस्से देखते है।

जुंगका सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्तित्वके प्रकारोंका सिद्धान्त हैं। उनके अनुसार व्यक्ति सुख्यतः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनका ध्यान और शक्ति अपनेपर ही केन्द्रित रहती है, दूसरे वे जिनकी शक्ति सामाजिक और भौतिक वातावरणकी ओर प्रकट होती है। पहले प्रकारके व्यक्ति अनेर दूसरे प्रकारके बिहुर्मुखी होते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओमे केन्द्रित होनेके कारण अधिक साबुक, कल्पनाशील, एकान्तप्रिय और अव्यवहारिक होते है। बहिर्मुखी व्यक्ति क्यवहार-कुशल, समाजप्रिय और क्रियाशील अधिक होते है।

मनोविश्लेषणका सिद्धान्त विचार-जगत्में न्यूटन-कोपर-निकस, आईन्स्टाइन और मार्क्सके सिद्धान्तोंकी मॉति क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। वह बीसवी शताब्दीमें विश्व-मनीषाका एक अन्यतम महत्त्वपूर्ण तथा अविभाज्य अंग बन गया है। मनुष्यके हृदय तथा उसकी वास्तविक प्रेरणाओका जो ज्ञान पहले केवल प्रतिभाशाली अन्तर्धिके लिए ही सम्भव था, वह अब सामान्य ज्ञानका विषय है। साहित्य और कलापर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कलाके क्षेत्रमें डाड।इडम, सुरियलिंडम जैसे नृतन आन्दोलनोंको उसने प्रेरित किया है। नैतिकता और उसके प्रतिमानोपर उसने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छन्द विचारकोकी एक नयी पीढीको जन्म दिया है। अंग्रेजी साहित्यमे डी॰ एच॰ लारेन्स और जेम्स जॉएस इस प्रवृत्तिके प्रतिनिधि लेखकोंमे है, यद्यपि मनोविश्लेषणसे उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी साहित्यमें इलाचन्द्र जोशी प्रमुख लेखक है, जिन्होने मनोविश्लेषण और उसकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण की है। 'संन्यासी', 'प्रेन और छाया' तथा 'पर्देकी रानी' आदि उनके मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासोके श्रेष्ठतर उदाहरण है।

मनोवैज्ञानिक अभिप्राय-दे॰ 'मनोविद्यलेषण'। मनोहंस-वर्णिक छन्दोमें समवत्तका एक मेद । स ज ज भ रके योगसे यह वृत्त बनता है (IIS, ISI, ISI, ISI, ISI, SIS) । 'प्राकृतपैगलम्'मे इसका मनोहंस (२: १६२) नाम दिया है, पर जाने किस कारण केशवने इस छन्दका नाम भी कलहंस दिया है और सज ससग (IIS, ISI, IIS, IIS, S; रा० चं०, १५: १४) लक्षणवाले छन्दका नाम भी कलहंस दिया है। 'छन्दकौस्तुभ'मे दूसरे छन्दका नाम कलहंस दिया है (२: ९६), अतः सम्भव है, पहले मनो-हंसका कलहंस नाम भूलसे दिया गया हो। उदा०—"तहॅ ताहि दै वरुको चले रघुनाथ जू। अति सूर सुन्दर यों लसै ऋषि साथ जू" (रा० चं०, ५:७)। मरजिया भाव-मरकर जीनेका भाव। संसारके लिए साधक मृतके समान होकर परमात्माके प्रेमको लेकर जीवित रहता है। मंसारके सभी प्रपंचोसे वह दूर हो जाता है। उसकी अपनी कोई कामना, अपनी कोई वासना नहीं रह जाती। अपने 'अहं'को मिटाकर परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिए सब कुछ करनेको वह तैयार रहता है। सफी साधक अबू यजीदने कहा है कि "संसारसे शत्रुता कर मे परमात्माके पास भागा, लेकिन उसके प्रेमने इस प्रकारसे मेरे ऊपर काबू कर लिया कि मै स्वयं अपना दुइमन बन गया"। इसी प्रकारसे अल-शिबलीने कहा है कि "प्रेम हृदयमें अग्निक समान है, जो परमात्माकी इच्छाके सिवा अन्य सभी वस्तुओंको जलाकर भस्मीभूत कर देता है"। ऐसी अवस्थामें वह प्रेमके लिए पागल बना रहता है और उसकी प्राप्तिके लिए किसी प्रकारके कष्टको कष्ट नहीं समझता । विशुद्ध ज्ञान और प्रेम दोनोंकी प्राप्ति इसी प्रकारके साधकके लिए सम्भव है और बिना इन दोनोंके परमात्माके साथ 'एकमेक' होना सम्भव नहीं। —रा० पू० ति० मरण (मृति)-संचारी भावोंमें इसकी गणना होनेसे प्रश्न उठ सकता है कि यदि भरतने मरणके प्रदर्शनका निषेध किया तो उन्होंने स्वयं ही संचारियोंके अन्तर्गत इसकी विवेचना क्यों की ? इसका समाधान 'नाट्यदर्पण' एवं 'कान्यानुशासन'मे किया गया है । वहाँ बताया है कि "मरणकी पूर्वावस्था मृति है। क्योकि मरणका

अनुभव साक्षात् सम्भव नहीं"। 'नाट्यदर्पण'में कहा गया है कि 'मृत्युका संकल्प' यहाँ अभिप्रेत है, कारण कि कोई भी ऐसा भारी अनर्थ हो जाता है, जिसमे व्यक्तिकी समझमें आता है कि इसका कोई प्रतिकार सम्भव नहीं अतः 'मे अवस्य मर जाऊँगा'। यह निश्चय ही मनमे आना मरण-का चोतक है और प्राणोंका उत्सर्गरूप मरण नाट्यमे निषिद्ध है, इसलिए उसके विभावों एवं अनुभावोंकी चर्चा नहीं करते (ना० द०, ३: १३७)। जगन्नाथ भी 'रसगंगाधर'मे 'मरण'का यही अर्थ लगाते है। भरतने कहा है कि 'मरण' दो प्रकारसे हो सकता है- 'व्याधि'से अथवा 'आधात'से (नाट्य०, ७:८:६ग) और उन्होंने इन दोनों प्रकारके मरणके विस्तारसे विभावों एवं अनुभावोंका वर्णन किया है। इस भावसे अभिभूत व्यक्तिकी इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, गात्र शिथिल हो जाते है। यद्यपि इस मनोमावका प्रभाव शरीरपर अथवा शारीरिक अनुभावीपर होता है, तथापि इसको शारीरिक अवस्था नहीं कहा जा सकता। धनंजयने तो इसकी परिभाषा भी नहीं दी, पर धनिक द्वारा दिये गये उदाहरणसे स्पष्ट है कि यह मनकी ऐसी अवस्था है, जब कि विरहमे व्यक्ति मरणासन्न-सा रहता है। उदाहरण-मे, प्रोषितभर्तकाको प्रियतमसे मिलनेकी उत्कट अभिलाषा है, लौटनेके निश्चित दिवसपर उसके न आनेपर वह ऐसा व्यवहार करती है मानों अव शीघ़ ही वह इस संसारमे प्रस्थान कर देगी। इस उदाहरणके साथ धनिककी व्याख्या-का भी ध्यान रखना होगा। वह कहते है कि शृंगारके आलम्बनमें मरणका वर्णन नहीं हो सकता, यद्यपि अन्य रसोंमें इसका यथेष्ट वर्णन सम्भव है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः उपर्युक्त मतको ही स्वीकार किया है। देवके अनुसार—"प्रगटिह लच्छन मरनके, अरु विभाव अनुभाव। 'उन्होने भी शृंगारमे अभाव माना है और "निर्वेदादिक भाव सब, बरनै सरस सुभाइ" (भाव० : संचारी) भी कहा है, पर अन्य कईने 'प्रान त्याग कहिये मरन' कहकर 'सो न बरनिबे जोग' (जगत०, ५४६) कहा है। देवका उदाहरण-"चेति मरू करिके चितई जब चारि घरी लौ मरी-सी धरी रही" (भाव०: संचारी)। वस्तुतः मृत्युके समान कष्टका अनुभव हो, पर इस प्रकारकी मृत्यु-का दुःख न हो- "आज पतिहीना हुई, शोक नही इसका, अक्षय सहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो आज अमर है स्रयशके शरीरमे" (का० द०, पृ० २०)। -ज० कि० व० मरसिया - अरबी-फारसीकी पद्धतिपर उर्दूका वह शोक-गीत, जो किसी मृत व्यक्तिकी यादमे लिखा जाय, 'मरसिया' कहलाता है। परन्तु इसका विशिष्ट अर्थ भी है। उर्द कान्यमें जब केवल मरसिया शब्दका प्रयोग किया जाय. तो प्रायः उसका तात्पर्य हजरत मुहम्मद साहबके नवास इमामहुसेन और उनके साथियोकी स्मृतिमे लिखे शोक-गीतसे होता है, जो कर्बलाके मेदानमे सत्यकी रक्षामे शहीद हुए थे। परन्तु मरिसयेका महत्त्व केवल इस धार्मिक कारणसे नही है, बल्कि इस ढॉचेमें उर्दू कवियोंने बहुतसे विषय सम्मिलित करके इसे कान्यका बहुत महत्त्वपूर्ण रूप वना दिया है।

मरिसये उर्दमे प्रारम्भिक कालमे ही पाये जाते है।

कुछ लोगोंका तो यह मत है कि उर्दमें कान्य-रचनाका आरम्भ मरसियेसे ही हुआ। 'सौदा' और 'मीर'के यगसे कई सौ वर्ष पूर्वके मरिसये भारत और इंगलिस्तानके भिन्न-भिन्न पुस्तकालयोमें सुरक्षित है। लखनऊ पहुँचकर मरिसये-ने नया रूप धारण किया और मीर जमीर तथा उनके समकालीन फमीह एवं खलीकने इस शोक-गीतको महा-कान्यके एक ऐसे मार्गपर लगाया, जो महाकान्य (epic)-के यूनानी रूपसे मिलता-जुलना है। इसे कई भागोंमें विभाजित करके इन कविवोंने इनमें अलग-अलग प्राकृतिक-चित्रण, यद्धका दृश्य, घोड़े, तलवार और तलवार चलानेकी प्रशंमा तथा वीरोका अपनी वीरताका वर्णन आदि वातें सम्मिलित करके उसकी सन्दरता और बढादी। इसके पश्चात जिन कवियोने मरिसये लिखे, उनके पाण्डित्य एवं प्रकृति-प्रदत्त काव्यगत विशेषताओं ने मरिसयोंको और उच्च शिखरपर पहॅचा दिया। इन कवियोंमें 'मीर अनीस'का नाम मबसे अधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त 'मिर्जा-दवीर', 'मीर इरक', 'मीर-तअरराक' और 'मोनिस' उच्च श्रेणीके मरसिया लिखनेवाले समझे जाते है। इनके बादकी पीढीके मरसिया लिखनेवालोंमें 'मीर अनीस'के सुपत्र 'मीर नफीम' और नाती 'रशीद', 'वहीद' तथा'दबीर'के बेटे 'औज'के नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'प्यारे माहव', 'रशीद' मरसियों मे एक नवीन विषय 'बहार'का मनोहर वर्णन करके अपनी अदितीय प्रतिभाका परिचय देते है। ये इसके लिए विशेप-रूपसे प्रसिद्ध है। आधुनिक कालमे 'जोश', 'आले रजा', 'आरज्', और 'नसीम अमरोहवी' मरिमया लिखनेवालीमे बहुत प्रसिद्ध है।

लखनऊ स्कूलके पहले उर्दूमे मरसियोका कोई रूप निश्चित नहीं था। लोग मुरब्बा (चार मिसरे), मुसलम (तीन मिसरे) और गजल इत्यादिके माध्यमसे ही मरसिये कहते थे। लखनऊमें मुसहसकी आकृति मरसियेके लिए निश्चित हो गयी और इसके पश्चात मरसिया मुमहसमें ही लिखा जाने लगा।

प्रेम और आशिकांके विषयसे अलग होकर उर्दू मरिसये-ने यह दिखाया कि मानव-सम्बन्धोमें बहुतसे ऐसे भी सम्बन्ध है, जिनका लगाव यौन आकर्षणके आधारपर नहीं है, जैसे भाई-बहुनका प्रेम, स्वामी-मैबकका प्रेम आदि। इन सब सम्बन्धोंको मरिसयेने उभारा, नहीं तो मानव-जीवनके कितने ही पहलुओसे उर्दू-काव्य वंचित रह जाता।

मरसियेमें यद्यपि प्रायः इमाम हुनेनके घरानेकी उन घटनाओं का वर्णन होता है जो कर्षणके मेदानमे घटित हुई, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उन मरसियों मे १९वीं शदाब्दीके कॅचे घरानेंकी सम्यता और संस्कृतिकी झाँ कियाँ मिलती हैं। छोटा भाई बड़े भाईका जैसा आदर करता है, भानजे मामाके प्रति जिस प्रकारकी श्रद्धा रखते हैं, वृद्ध जिस प्रकार अपने छोटोसे पेश आते हैं, एक परिवारमें सब लोग एक-दूसरेके प्रति सहानुभृति और शुभ-चिन्तना करते हैं, स्त्रियाँ जिस प्रकार वातचीत करती हैं— इन सबका वर्णन मरसियेमें इस प्रकार किया गया है कि उन्नीसवीं शनाब्दीके नवाबी घरानोंके चित्र दृष्टिके सामने आ जाते हैं। यात्राकी तैयारी, विवाह और उसके

रस्म-रिवाज इत्यादि वर्णनोंके द्वारा मरसिया सामाजिक जीवनके ऐसे नमूने पेश करता है, जो उर्दू कवितामें और कही नहीं मिलते।

प्रकृति-वर्णन उर्द्मे मरसियेमें ही मिलता है। बहार और खिजाँ (पतझड), प्रातः और सन्ध्या, गर्मी और धृपके सैकड़ो दश्य पेश करके उर्द्मे दश्य-चित्रणकी वृद्धि मरसिये द्वारा ही हुई है और वीरता, साहस तथा युद्धके कार्योंका ऐसे ढंगसे वर्णन किया गया है कि उर्द्मे महाकाव्य-(रजिमया)का श्रीगणेश हुआ। यह नहीं कि युद्धके मैदानका चित्र और बाजोंका जोर-शोर दिखाकर ही यह कम समाप्त हो जाता है, बल्कि मरसियोंमे लड़ाईके दश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये है, जिनमे लड़ाईके दश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये है, जिनमे लड़ाईको प्रयोग आदिका वर्णन मरसियेमें मिलता है।

मरिसयेने उर्दू-काव्यको एक संकुचित दुनियासे निकाल-कर विस्तृत संसार दिखाया । चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन या संलाप, स्वाभाविक शिक्षा, नये शब्दो और मुहावरोके प्रयोगसे उसे विस्तृत रूप दिया गया है। युद्धक्षेत्रका वर्णन लिखकर उसने गजलसे पैदा हुए विलासिताके वाता-वरणमे उत्साह, उमंग और पौरुषके भाव प्रविष्ट किये है। संक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि मरसियेने उर्द शायरी-को जिस उच्चतापर पहुँचाया, उसको जितने गुणोसे सम्पन्न किया, किसी और काव्यके रूपने नहीं किया। मराठी (भाषा तथा साहित्य) - मराठी भाषाका 'मराठी' नाम कैसे व्यवहृत हुआ, इसके सम्बन्धमें विद्वानोके विभिन्न मत हैं। 'प्राकृतप्रकारा'का अन्तिम सूत्र है, 'रोषं महाराष्ट्रिवत्', अर्थात् शेष सब महाराष्ट्री भाषाके अनुसार ही। इसका सम्बन्ध उन सभी प्राकृत भाषाओंसे है, जो व्याकरणके नियमोमें 'महाराष्ट्री' प्राकृत भाषासे बहुत समानता रखती है। 'शौरसेनी' भाषाके उन नियमोंको बता देनेपर जो 'महाराष्ट्री' भाषाके नियमोसे कुछ भिन्न है, शेष नियमोके सम्बन्धमे यह कहा गया है कि वे महाराष्ट्रीके समान ही है। इससे यह निर्णय लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं मे उस समय 'महाराष्टी' अग्रसर थी। यह 'महाराष्ट्री' प्राकृत अति प्राचीन मराठी है। कात्यायनके अन्तिम सूत्रमें 'प्राकृत' और 'महाराष्ट्री', ये दोनो शब्द करीव-करीव समानार्थक ही है। इसी 'महाराष्ट्री' प्राकृतसे 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश भाषा बनी और उससे आधुनिक मराठी। अतः यह नामकरण उतना ही पुराना है, जब भारतमें प्राकृत भाषाओमें साहित्य लिखा जाता था, प्राकृत भाषाएँ बोली जाती थीं। इस 'महाराष्ट्री'-का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेशके कारण नहीं हुआ होगा, बल्कि वह बाकी राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत देश विभागमें बोली जानेवाली भाषा हुई होगी। लेकिन बादमें वह देश महाराष्ट्र कहा जाने लगा। प्रख्यात विद्वान राजाराम शास्त्री भागवतने भी अपना मत इसीके अनुकूल दिया है।

मराठी भाषा बोलनेवाले अधिकतर महाराष्ट्रमें ही रहते हैं, जिस देशके उत्तरमें नागपुर, पश्चिममें अरवसागर, पूर्वमें भण्डारा, चाँदा जिले तथा मराठावाडा और दक्षिणमें बेलगाँव जिला है। इसके अलावा जहाँ-जहाँ मराठे लड़ाई जीत गये, वहाँ-वहाँ आजतक मराठी बोलनेवालोकी संख्या बहुत है, जैसे, तंजोर, इन्दौर आदि। लेकिन इनको हम महाराष्ट्र नहीं कह सकते। थोड़ेमें अगर कहा जाय तो गुजरातको छोडकर और बेलगाँव और गोवाको जोड़कर मराठवाड़ाके सहित जो पुराना वम्बई राज्य है, वही महाराष्ट्र है।

१९४१की जनगणना (मर्दुमशुमारी)के अनुसार मराठी बोलनेवालोंकी संख्या २,०८,८९,६५८ थी और कोंकणी, जो मराठीकी ही एक उपभाषा है, बोलनेवालोकी संख्या ४,७१,७३५ थी। इस तरह कुल मिलकर संख्या २,१३, ६१,३९३ होती है, जो अब १९५१तक करीव २ करोड ८० लाखतक वढी है।

लिपिके सम्बन्धमें हिन्दी और मराठी बहुत ही पासकी माषाएँ है। देवनागरी लिपिमें ही मराठी भाषा भी लिखी जाती है।

ध्वनिगत विशेषताएँ—(१) वत्स्य-स्पर्श व्यंजन च्, छ, झ ये मराठीमे अधिक है, जो हिन्दीमे नही है। (२) लेकिन इनको स्पर्श संवर्षी ताल व्य च्, छ, ज्, और झ्से अलग दिखानेके लिए स्वतन्त्र लिपि-चिह्न नही है। इनमे 'ज् वत्स्य-स्पर्शका उच्चारण हिन्दी 'ज' (नुक्तावाला)के समान होता है। (३) हिन्दीके संवर्षी व्यंजन क्, ख्, ग् मराठीमे नहीं है। (४) उसी प्रकार ड ड, ढ़ ढ, फ फ, ख ख, ग ग, क कके उच्चारणमे भेड दिखानेवाले ध्वनिचिह्न मराठीमे नहीं है। इनमेंसे क, ख़ और ग, फ ध्वनियाँ मराठीमें है ही नहीं।

व्याकरणगत विशेषताएँ—(१) संज्ञा तथा सर्वनामके तीन लिंग होते है। (२) संज्ञामे विभक्ति-प्रत्यय लगनेके पूर्व संज्ञाका मूल रूप बदलता है। उसमे आगम लगाकर सामान्य रूप बनाया जाता है और बादमे विभक्ति-प्रत्यय लगते है। जैसे घोड़ा (संज्ञा)—ला (द्वितीया एकवचनका प्रत्यय), इसकी प्रक्रिया ऐसी होती है—घोडां—ला = घोडं —यां—ला = घोडं यां—ला = घोडं यां—ला = घोडं यां ना = घोडं यां ना हो है। विभक्ति-प्रत्यय संज्ञा-सर्वनामके रूपका अंगमात्र बन जाता है, अतः उनसे अलग नहीं लिखा जाता, साथ ही लिखा जाता है। (४) भविष्यकालके क्रियारूपोसे लिंगका बोध नहीं होता, जैसे कि हिन्दीमे होता है।

मराठी साहित्यका कालविभाजन स्थूल रूपसे निम्निलिखित रूपमें किया जाता है—१० प्रारम्भकाल या आदिकाल या अपभ्रंशकाल, २० प्राचीनकाल या शानेश्वरनामदेवकाल, ३० पूर्वमध्य या एकनाथकाल, ६० शाहीरीकाल या प्रभाकर-राम जोशीकाल, ७० आधुनिक काल—(अ) पेशवेकालीन साहित्य, (आ) सद्यकालीन साहित्य, १० छत्रे-युग (१८००से १८३६ ईसवी) २० दादोवा-युग (१८३६से १८५७ ईसवी), ३० शाली-युग (१८७४से १९०० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८७४से १९०० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८००से १९२० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८००से १९२० ईसवी), ६० केलकर-कोल्हटकर-युग (१९००से १९२५ ईसवी), ६०

फडके-खांडेकर-युग (१९२५से १९४८ ईसवी), ७. पेडसे-दाँडेकर-युग, महेंकर-गाडगिल-युग (१९४८से आजतक)।

मराठी भाषाके अस्तित्वका पना कुछ सूक्ष्म लक्षणोमें हमे ईसवी सन् ४८८के मंगलवेढ़े यामके तात्रपटमे मिलता है। सन् ७३६ ईसवीके चिकुडेंके ताम्रपटमे भी उस भाषाके कुछ लक्षण विदित होते है। लेकिन मैसूरके पासके श्रवण बेलगोलाके गोमतेश्वरके ९८३ ईसवीके शिलालेखमे मराठीके स्पष्ट वाक्य मिलते है। 'चाबुंडरजें करवियले' एवं 'गंग राजें सुत्ताले करवियलें ये दोनो वाक्य सम्पूर्ण मराठीके है। ११वी शताब्दीका 'राजीमती-प्रबोध' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमे महाराष्ट्री स्त्रीका वर्णन करते समय यह कहा गया है, "मी कॉई सांघओ, गोमटी मुह"; ये मराठीके वाक्य है। ११२९के 'मानसोल्लास' यन्थमे 'जेणें', 'मत्स्यरूपें', 'आणियलें', 'वाणियलें', 'रावो', 'नारायणु' आदि मराठी छायावाले शब्द मिलते है। ११८७के परलके शिलालेखमें शपथ खोदी हुई है ''अथ तु जो कोण हुविए शासन लोपी तेया श्रीवैद्यनाथ देवाची भाल सक्दम्बिआ पड़े, तेयाची माय गाढवे…।" १२०६के चालीसगाँवके .पासके भवानी मन्दिरके शिलालेखमे (पाटणके) यह वाक्य मिलता है-"इयॉ पाटणी जे केणे उधटे तेहाचा असि आउँ जो राउला होता ग्राहकापासी तो मढा दीन्हला"। १२७३के पंढरपुरके शिलालेखमे ये शब्द है—''स्वस्ती श्री सकु ११९५ श्री मुख संवत्सरे फागनी पूर विरुठदेव रायासि तिसा सिति फुले, दाँडे आचन्द्रार्क चालविआ नाना भक्त मालीऑ दत्त पैकाचा विवरु"।

भाषाकी परम्परा यद्यपि बहुत प्राचीन मिलती है, फिर भी हाल सातवाहनकी सप्तश्चतीमे मराठी प्राकृत या अप- अंश्वता मूल मानी जाती है। यह अन्य महाराष्ट्रीमे लिखा हुआ है। नमूनेके तौरपर एक गाथा यहाँ दी जाती है— ''दुग्गअ कुडुन्व अट्टी कहॅणु गए घोइएण सोडव्या। दिस्ओ सरन्त सलिलेण उहअ रुण्णं एवं पडएण॥'' (गाथा १८, स० आ० जोगलेकर, नया संस्करण), अर्थात दिर्द्री कुटुन्वमें- कपड़ों-वस्त्रोकी इतनी दुईशा होती रहती है कि जब वह घोया जाता है और स्खनेके लिए टॉगा जाता है तब वह दुर्दशाके असह्य हो जानेके कारण उसी वस्त्रके छोर-छोरसे गिरनेवाली पानीकी बूरोंके मिस रो पड़ता है।

महानुभाव-काल—सराठीका आदिकवि होनेका सम्मान
मुकुन्दरायको ही है। इनका काल ११२८ ईसवीसे ११९८
ईसवीतक है। इनके प्रन्थोमें 'विवेकसिन्धु' प्रधान प्रन्थ
माना जाता है, जो मराठीका आद्य प्रन्थ है। इसके सिवा
'परमामृत' नामका भी इनका एक उत्कृष्ट प्रन्थ है।
'विवेकसिन्धु'के पूर्वार्थमें सद्गुरु-सिन्छिष्य-लक्षण, कामक्रोधादि रिपुओंका दमन, आत्मानात्म विचार आदि विषय
और उपदेश्वरक बहुतसे अन्य विषय भी सम्मिलित है।
इसके उत्तरार्थमें शरीरपतनके बादकी अवस्थाओंसे सम्बद्ध
म्थूल-सुक्ष्म कारण, काल महाकारण देहका वर्णन है।

इनके अनन्तर महानुभाव-सम्प्रदायका साहित्य प्रभावी हुआ है। महात्मा चक्रधर इस सम्प्रदायके प्रणेता थे। इस सम्प्रदायमें 'सातीयन्थ' (सात यन्थ) प्रमाण, अतएव सम्प्रदायके आधारभूत माने जाते है। वे ये है—१. शिशु- पालवध' (११९५), रचियता भास्कर मट्ट बोरीकर, २. 'एकादश स्कन्ध' (११९६), रचियता भास्कर मट्ट बोरीकर, ३. 'वत्सहरण' (१२००), रचियता दामोदर पंडित, ४. 'रुिमणी-स्वयंवर' (१२१०), रचियता नरेन्द्र किन, ५. 'श्चानबोध' (१२५३), रचियता विश्वनाथ बालापूरकर, ६. 'सिह्याद्रिवर्णन' (दत्तलीलाचरित्र १२५४), रचियता रवळो व्यास, ७. ऋद्धपूर्वर्णन' (१२८५), रचियता नारो व्यास अर्थात नारायण बहाळिये।

अहिसा, संन्यास, सगुणोपासना, भक्ति, सदाचार और परोपकार, ये इस सम्प्रदायके प्रमुख सिद्धान्त है।

शानदेव-नामदेव-काल-इसके बाद नाथसम्प्रदायके प्रख्यात कवि ज्ञानेस्वरका काल आता है। इस कालके प्रमुख भक्त-कवियोमे नामदेव, ज्ञानदेव, गोरा कुँभार, नरहरि सोनार, बंका महार, सॉवता माली आदि कवि आते है। नामदेव परमभक्त थे। इन्होने पंजाबमे घुम-घुमकर भक्तिका प्रचार किया था । अतः इनकी वाणी 'ग्रन्थसाहब'मे भी संग्रहीत है। ज्ञानेश्वर और नामदेव समकालीन थे। शानेश्वर-लिखित 'भावार्थदीपिका' (अथवा शानेश्वरी) भी 'भगवद्गीता'की ओवीबद्ध टीका है। वह ग्रन्थ शके १२१२ मे लिखा गया है। इष्टान्तोंसे भरी हुई, अपनी कान्य-कल्पनाओंके कारण बेजोड 'ज्ञानेश्वरी' मराठी साहित्यका अलौकिक भूषण है। ज्ञानेश्वरीमे उपमा आदि अलंकारोकी भरमार है। घरकी फुटका वर्णन और उसका परिणाम दिखानेवाली ओवियाँ पढने लायक है-जैसे ''काष्ठें काष्ठ मधिजे। तथ वन्हि एक उपजे। तेणें काष्ठजात जालिजे। प्रज्वलोनि । तैसा गोत्रीचि, परस्परें । जरी वध घडे मत्सरें। तरी तेणें महादोषे घोरें। कुलचि नासे"। इन षड़िपुओंके वर्णनमे कितना जोश है, देखें—"ज्ञानविधीचे भुजंग । विषय दरीचे वाघ । भजन मार्गीचे मॉग । मारक हे ॥ हे देह दुगींचे घोड । इन्द्रिय ग्रामीचें कोंड"।

एकनाथ-काल कानेश्वरके बादका काल अवनतावस्थाका है। एकनाथतकका काल साहित्यकी दृष्टिसे विशेष उल्लेख-नीय नहीं है। एकनाथने ही ज्ञानेश्वरीका संशोधन किया, प्रचार किया और उसका महत्त्व बढ़ाया। 'श्रीमद्भागवत'- के ११वें स्कन्थपर टीका लिखकर अपना 'एकनाथी मागवत' घर-घर पढ़ने लायक बनाया। समाजके भिन्न वर्णों तथा वर्गोंमे मिक्तका, सद्गुण, सगुणका प्रचार किया और अपने प्रभावसे जातीय अन्यताको दूर करनेका परिश्रम किया। इसलिए एकनाथ जवर्दस्त समाजसेवक, त्यागी, शूर तथा उच्च कोटिके भक्त थे।

इनके बाद मुक्तेश्वरका काल आता है, जो अपने भारत-परके ग्रन्थोंके लिए प्रसिद्ध हैं। उनका 'वनपर्व', 'सभापर्व', 'विराट्पर्व', 'सौप्तिक पर्व' तथा अन्य मुक्तक तथा खण्ड-काव्य प्रसिद्ध हैं।

तुकाराम-रामदास-काळ—अव शिवकाळ अपना महत्त्व बढ़ाता है। शिवाजी महाराजके समसामयिक सन्त समर्थ रामदास स्वामी तथा तुकाराम अपनी बोधपर तथा प्रासादिक कविताके लिए प्रसिद्ध हैं। श्री समर्थ रामदास निरे निवृत्ति-मार्गी नही थे। ये घर-गृहस्थीका उपदेश देते थे और फिर भी ईश्वर-मिक्त तथा अद्वैत-तत्त्वज्ञानकी ओर लोगोंका हृदय लाक पित करते थे। उनका कहना था, "आधा प्रपंच करावा नेटका। मग ध्यावें परमार्थ विवेका। येथे आलस करूँ नका। विवेकी हो", अर्थात् गृहस्थी छोडकर परमार्थके ही पीछे लगनेसे मनुष्य अन्न खानेसे भी वंचित रहेगा। 'प्रपंच सोहून परमार्थ केला। तरी अन्न मिळेना खायाला। मग लया करंट्याला। परमार्थ केचा ? रामदास स्वामीने शिवाजीकी वडी सहायता की थी। उनका 'दासवोध' प्रन्थ और 'मनाचे इलोक' बहुत ही अच्छे और प्रसिद्ध प्रन्थ है। तुकाराम विट्टलभक्त थे। वे विरक्त थे और बडी ही

तुकाराम विट्ठलभक्त थे। वे विरक्त थे और वडी ही प्रसादगुणपूर्ण कविता उन्होंने लिखी। उनकी वेदना और तडपकी समानता मराठी ही क्यों, अन्य भाषाओंके साहित्यमें भी शायद ही कोई किव कर सकता है।

मोरोपन्त-वामन पण्डित-काल् शिवकालके रामदास और उनके शिष्य कल्याण, दिनकर गोसावी, गिरिधर, उद्भव आदिकी साहित्य-सेवाके बाद वामन पण्डितकी पण्डिताईका काल आता है। इस कालमे पुराने मक्तोकी गाथाएँ आख्यानकोके रूपमे गायी जाने लगी। पाण्डित्य अधिक था, मिक्त भावना कम थी। अलंकारोकी भरमार, शब्द चयनकी उत्कृष्टता तथा काव्य-कौशलका कमाल उस समय दिखाया जाता था।

पेशवे-काल—इसी कालमे मोरोपन्तकी कविताका भी समावेश करना चाहिए। यो तो उत्तर-पेशवेकालीन साहित्य शाहीरी साहित्य है। उस समय प्रभाकर, सगन-भाऊ, हैवती, होनाजी, बाला, राम जोशी आदि कई लावणीकार शाहीर निर्माण हुए और मराठी साहित्य शृंगार-मे डूब गया। वीर रसके पोवाडे भी उस समय गाये जाते थे, लैकिन प्रधान भावना शृंगारकी थी।

आधुनिक काल इसका प्रारम्भ छत्रे-युगसे होता है। सदाशिव काशीनाथ छत्रेको गद्य-साहित्यका पिता कहते है। इस युगके प्रधान लेखकोंमें बालशास्त्री जाम्मेकर भी है, जिन्होंने नीतिकथाएँ लिखी। हिन्दुस्तान तथा इंग्लैण्डके इतिहास भी उन्होंने लिखे है।

दादोबा-युगके प्रवर्तक है दादोबा पांडुरंग तर्खंडकर व्याकरणकार। ये महाराष्ट्रके पाणिनि कहलाते है। आय व्याकरणकारके नाते हनका मराठी साहित्यमें बहुत सम्मान है। इनके समसामयिक हिर केशवजी, भाऊ महाजन, लोकहितवादी अच्छे गय-लेखक हुए है। लोकहितवादीके 'शतपत्र' काफी मशहूर है। इन्होने अंग्रेजीके वैभव और यशसे प्रभावित होकर आत्मनिरीक्षण किया और अपने समाजके दोषोंको अपने पत्रोमे स्पष्ट रूपमें दिखा दिया।

इनके शतपत्रोंके जबर्दस्त विरोधक बादमें पैदा हुए। लेकिन शास्त्री-सुगमे अनुवाद बहुतसे हुए। कृष्णशास्त्री चिपळ पूकर, परशुराम गोडबोले, कृष्णशास्त्री राजवाडे आदि अनेक साहित्यकारोंने अनुवादों और स्वतन्त्र रचनाओं के द्वारा मराठी साहित्यका गद्यविभाग खूब सँमाला।

मालाकार-युगमें मराठी भाषाके शिवाजी विष्णु शास्त्री विपळ णकरकी निवन्धमाला बहुत प्रभावी हुई, अंग्रेजोंके गुणोंका अनुकरण और दोषोंकी निन्दा उन्होंने की। इस युगमें मराठीके लेखकोंने राजकीय तथा सामाजिक सुधारोके लिए बड़े ही प्रयत्न किये। राजकीय सुधारके प्रवर्तक

लोकमान्य तिलक थे तथा सामाजिक सुवारोके प्रवर्तक गो० ग० आगरकर थे। जबर्दस्त जोशीली शैलीमे लिखनेवाले शिवराम महादेव परांजपे भी राजकीय-विषयक उपरोधा-त्मक निबन्ध लिखकर इसी कालमें अपना कार्य कर चुके है।

उसके बादसे लेकर कोल्हटकर-युगमे भारताचार्य चि॰ वि॰ वैद्य, साहित्यसम्राट् न॰ चि॰ केळकर, विनोदमूतिं श्री कु॰ कोल्हटकर, स्क्ष्म तत्त्वज्ञ टीकाकार (समालोचक) वा॰ म॰ जोशी, हरिभक्ति-परायण साहित्यके इतिहास तथा चरित्रलेखक ल॰ रा॰ पांगारकर आदि सुयोग्य साहित्य-कारोने मराठी साहित्य ससम्पन्न कर दिया।

उपन्यासकारोंमे वि० स० खॉडेकर, ना० सी० फडकेने वहुत काम किया। ऐतिहासिक उपन्यासोंमें जो काम ह० ना० आपटेने किया, वही काम सामाजिक क्षेत्रमें इन दोनो साहित्यकारोने किया। खाँडेकर कलाका ध्येयवादी उपयोग करनेमे अग्रसर हुए, फडके कलाके लिए पक्षपाती थे।

आजका युग पेंडसे-दॉडेकरका है, जिन्होंने मनोवेज्ञानिक कथाओंका निर्माण किया। इनका लेखन अद्यतन है।

किवयोंने केशवसुत भा० रा० ताम्बे, यशवन्त, गिरीश, माधव ज्यूलियन, धों० वा० गद्रे, अनिल्, ग० ह० पाटील, साधुदास, वा० ना० देशपाण्डे, कुसुमायज आदि किवयोंने नये युगका निर्माण किया। नवकाव्यके प्रथम पुरस्कर्ता महेंकरका अनुकरण हुआ और विन्दा करन्दीकर, य० द० भावे, मुक्तिबोध आदिने बड़ा ही नाम कमाया। पाडगॉव-कर और वसन्त वापट भी आजके मान्य किव है।

बहुत प्राचीन कालसे उत्तरी भारतसे दक्षिणभारतका वना सम्बन्ध तीर्थक्षेत्रोंके कारण है। काशीक्षेत्र, प्रयागका त्रिवेणी-संगम तथा अन्य क्षेत्रोंके कारण दक्षिण भारतके ही क्यों, सभी हिन्दुओंका गमन वहॉपर होता आया है। अतः प्राचीन कालसे भाषाओंका आदान-प्रदान भी होता रहा। नामदेव जब उत्तरभारतमे घूमते थे, विशेषतः पंजाबमें, तब उन्होंने प्रचारकार्य किया, अतः 'ग्रन्थसाहब'में उनकी कविता भी संगृहीत है। वह कविता हिन्दीमें है। इसी तरह ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक सन्तोंने हिन्दी भाषामे अपने भजन गाये है तथा उपदेश-भरे गीतोकी रचना की है। निर्मण अद्वैतका प्रचार, सम्पण-भक्तिसे ज्ञान तथा मोक्षप्राप्ति, सञ्जनता, नीतिमत्ता तथा शील-संरक्षणकी रक्षा, उपदेश आदि विचारोंमे हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्यमे काफी समानता है। खास-कर मराठी सन्तोने अपने विचार उत्तरभारतकी यात्रामे हिन्दीमें प्रकट किये है। इस तरह मराठीने हिन्दीको बहुत-कुछ दिया है।

हिन्दीसे भी मराठीने बहुत-कुछ लिया भी है। कबीर आदि सन्नोंके भजनोंका उपयोग भगवत् कीर्तन करनेवाले हरिदास अपने कीर्तनोंभे इतना करते हैं कि बिना उनके कीर्तनका 'पूर्वरंग' सफल ही नहीं होता।

नाथपन्थके साहित्यका प्रभाव ज्ञानेश्वरके गुरु तथा ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथपर भी हुआ। ये सभी माई नाथ-पन्थी कहे जाते हैं।

कबीरकी उल्टवाँसियोंके समान ही एकनाथके 'मारूड' हैं। उन्होंने ईश्वरमक्तिको 'मृत' कहा है, जो किसीके श्ररीरमें प्रवेश करता है और उमकी सारी जिन्दगी बरवाद कर देता है। नामदेव भी उल्टबॉसियॉ तथा गृहार्थक अभंग लिखनेमे सिद्धहस्त है। —रा० वा० चि० मर्यादाजीव—दे० 'मर्थादामागं', 'पृष्टिजीय', 'पृष्टिमागं'। मर्यादापुष्ट—दे० 'पृष्टिजीव', 'पृष्टिमागं'। मर्यादापुष्ट—दे० 'पृष्टिजीव', 'पृष्टिमागं'।

सर्यादासार्ग-वल्लभाचार्यने अपने पृष्टिमार्गके निरूपणमें जीवोके लिए तीन मार्गीके अनुसरणका उल्लेख किया है-पृष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग । मर्यादामार्ग वैदिक या शास्त्रोक्त धर्मका मार्ग है। उसकी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे हुई है। इस मार्गके अनुयायी ज्ञान और विधि-निषेधयुक्त कर्मका अनुसरण करके सायुज्य मुक्तिकी प्राप्ति-का उद्योग करते है। उनके लिए भगवान् साधन-परतन्त्र होता है, अर्थात वेद-विहित मर्यादाकी रक्षा उसके लिए आवश्यक होती है; उमीके अनुसार आचरण करनेपर वह फल दे सकता है, अन्यथा नहीं। मर्यादामार्गका सिद्धानत है-कर्मान्रूप फल। भक्ति भी मर्यादामागीय हो सकती है, जिसे साधन भक्ति भी कह सकते हैं। भक्तिके श्रवण-कीर्तन आदि नौ भेद मर्यादाभक्तिके ही है, भजन, पूजन आदि साधनोकी सहायतासे ही इस भक्तिकी उपलब्धि हो सकती है। वल्लभाचार्यने प्रपत्ति (आत्मसमर्पण)के भी (जो भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक हैं) दो भेद किये है-मर्यादाकी प्रपत्ति और पृष्टिमागीय प्रगत्ति। मर्यादाकी प्रपत्तिमे कर्मका अनुष्ठान आवश्यक होता है। इसके विपरीत पृष्टिमागींय प्रपत्तिमे कर्मकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती, केवल भगवान्का अनन्य आश्रय ही भक्तका एकमात्र सहारा होना है। रागानुगा (रागानिका या श्रेम-लक्षणा) भक्तिसे भिन्न जो कृष्णभक्ति सम्प्रदायोमे प्रचलित रही है तथा तुलमीदास द्वारा प्रतिपादित रामकी भक्ति मर्यादा-भक्ति कही गयी है। उसके उपास्य राम मर्यादा-वतार थे, जब कि कृष्णका अवतार लीलावतार था।

जीवोके विविध प्रकार बतलाते हुए वल्लभाचार्यने एक प्रकारके मर्यादाजीव भी बताये हैं, जो मर्यादामार्ग (कर्म और ज्ञान)के पालन हेत्र ही जन्म लेते है और स्वर्गादि लोक या अक्षर सायुज्य मुक्तिके अधिकारी कहलाते है। वे पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा(भक्ति)के योग्य नहीं होते (दे० 'पुष्टिमार्ग')। — ब्र० व० मर्यादावतार - भगवानके जिस अवतारकी लीला (चरित्र)मे मर्यादा पायी जाती है, उसे मर्यादावतार कहते है। रामका --वि० मो० श० अवतार मर्यादावतार माना जाता है मल-शिव या ब्रह्म ही जीवके रूपमें परिणत होता है। 'शांकर अद्वैत'के अनुसार 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' है । 'पर श्राम कलप सूत्र'मे इसी वानको यों कहा गया है कि "श्रीरकंचुकितः शिवो जीवो निष्कंचुकः परमशिवः", अर्थात् मायाके कंचुको (दे॰ 'कंचुक') या मलोंसे आच्छादिन शिव ही जीव है और मायाके कचुकोमे अनावृत जीव ही परम शिव है। 'कौल ज्ञान निर्णय'में थोड़े विस्तारसे मत्स्येन्द्रनाथने भी यही बात कही है कि "जीव द्वारा ही जगत्की सृष्टि हुई है, जीव ही तत्त्वनायक है, जीव ही पुद्गल है, जीव ही इंस है, वही व्यापक परशिव है। वही मन है, वही चराचरमे न्याप्त है, स्वयं स्वयंको जान लेनेपर वह जीव मुक्ति और मुक्ति दोनोका दाता है। आत्मा ही प्रथम पुरु है, आत्मा ही आत्माको नॉवता है, बेंधे हुए आत्माको आत्मा ही मुक्त करता है, यह काया भी आत्मा ही है, अपनेसे भिन्न जितने भी पदार्थ है, वे सब भी आत्मा हैं और यह, कि इस रहस्यको जिसने हृदयंगम कर लिया है, वहीं योगिगाट् है, वह साक्षात् शिव है, वह स्वय तो मुक्त है ही दूमरोको भी मुक्त करता है" (कौल्शान निर्णय १७।३३-३७)। तात्पर्य यह कि शिव या ब्रह्म ही जीव-रूपमे अपनेको परिणत करता है। इसमे माया उसकी सहायता करती हैं। माया ब्रह्म या शिवको मलोसे आच्छ।दित या बन्धुकित करती है और बंधुकित होकर वह जीव बन जाता है। ये मल नीन बताये जाते है--१. आणव, २. मायिक और ३. कर्म । आणव, अर्थात् अपनेको अणुमात्र समझना । इसमे आत्माके मम्बन्धमे या तो व्यक्ति-को कोई ज्ञान ही नहीं रहता या फिर यह ज्ञान आन्त होता है। मायिक, अर्थान् तत्त्वतः जगत्के समस्त पदार्थ एक ही है, एक ही परमसत्ताके व्यक्त रूप है, अदैत और अभिन्न है किन्तु माथिक मलसे आवृत हो जानेके बाद शिवकी यह अभेदबुद्धि मारी जाती है और उसमें भेद बुद्धि आ जाती है। गोखामी जीके शब्दोमे उसमे "मै, त, मोर, तोर"का भेद आ जाता है। यह मेरा है वह तुम्हारा, यह मनुष्य है, वह पद्म, यह नीच है, वह ॲच-इस तरहके सभी विचार माथिक मलके परिणाम है। कर्मसे तात्पर्य है अनेक जन्मोम स्वीकत-संचित क्रमेंका संस्कार । ये ही तीन मल है, जिससे देष्टित करके माया शिवको जीव -रा० सि० बना देती हैं।

मलकृत -दे॰ 'स्फीमार्ग'।

मलयालम (भाषा तथा साहित्य) — पर्वत और सागरके बीचमे केरल भूमि फैली है। एक दन्तकथा प्रचित्त है कि इसे परशुराम जीने अपना परशु फेंककर बनाया था। अतः भार्गवन्ध्रेत्रके नाम से यह प्रख्यात है। हजारो वधीं से यह मलवार कहलातो आयी है। इसका प्रमाण आज भी मिलता है। ईसाके ५४५ वर्ष पहले ही विदेशियोंने 'मला' शब्दका प्रयोग करना आरम्म किया था। विशय काल्डवेल की राय है कि अरिवयोकी ओरसे इसको 'मलावार' नाम प्राप्त हुआ। ११५० ई०मे इडिसीने 'मिणवार' और १२७० ई० में कास्विनीने 'मलवार' शब्द केरलके लिए प्रयुक्त किया था।

इसका पहला नाम मलयाण्मा या मलयाय्म था। अर्थ है मलयालियोकी रीति। यह शब्द दादको मलयालं वन गया। 'अर्लंका अर्थ है राज्य। सह्यमाला(पर्वत)के पश्चिम मागकी भूमि होनेसे नाम सार्थक है और पहाबकी तराई होनेके कारण 'मलावार' नाम भी अर्थपूर्ण है। आज यह नाम केरल और उसकी भाषाके लिए प्रयुक्त होता है। मलयाल भाषा दाविडगोत्रकी है। केवल भाषाके अर्थमे

मेळवाल भाषा हा।वडगात्रका है। क्वळ माणक अथम जो तिमल शब्द प्रचिलित था, उसका तद्भव रूप है द्राविड >तिमल्>तिमलं>दिमलं>दिमलं>दिमलं भाषाकी उत्पत्तिके बारेमे कई मत है। कुछ लोगोकी राय है कि संस्कृतसे इसका जन्म हुआ है। विभक्ति, प्रत्ययरूप, सर्वनाम आदि ही तो भाषाकी भिन्नताको प्रकट करनेवाले अंदा है। इन वातोंमे सर्वथा अलग रहनेके कारण मलया-लमको संस्कृतकी सन्तान कहना विलक्कल गलत है। मलयालमको तिमलकी देटी वहनेवाले भी कम नहीं है। लेकिन भाषाविज्ञानके विद्याधियोके आगे यह राय मूल्यहीन है।

तिमल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम जैसी प्रमुख द्राविड भाषाओं के लिए एक भौलिक भाषा नो विद्यमान थी। यही 'मूल द्रविड भाषा' राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन, जलवायु और देश-प्रकृतिक कारण परिवर्तित और स्वतन्त्र बनी। उसीसे इन भाषाओं का विकास हुआ है। व्याकरणकी वानों मे वे अपने परिवारका अनुसरण करती है। चेन्तिमिलकी उत्पत्तिके पहले ही मलयालम अपनी अलग सत्ता जमाने लगी थी। इसी आशयको प्रकट करते हुए गुण्डरटने कहा है कि द्रमिल नामवाली तमिलकी शाखा मलयालम है। काल्डवैलके इस कथनका भी कि मलयालम तमिलकी उपशाखा है, यही आशय है।

काल्डवेल और स्टुवर्ट रावर्टसन, दोनों इस बातसे सहमत हैं कि तमिलमें व्याकरणका विकास होनेके पहले ही मलयालम स्वतन्त्र भाषा बन चुकी थी। केवल द्विड भाषाओंके वीच सहोदर-भावना ही है। यही आजकलका सिद्धान्त है। पिर्चमी पर्वत-एंक्तियोंके पिरचममें, कन्नडकी दिक्षणी सीमाके दिक्षणमें चार सौ मीलकी लम्बाई और १५५० मीलके व्यासमें स्थित प्रकृति-कोमल केरलकी मातृ-भाषा ही मलयालम है। ईसाकी चौथी दातींसे यह भाषा स्वतन्त्र बनी थी। लेकिन कई वर्षोंके बाद ही इसमें साहित्य निर्माण द्युरू हुआ।

केरलमे दो तरहकी लिपियाँ प्रचलित थी। 'वट्टेपुत्तु' और 'कौलेपुत्तु'। विदेशियोंकी संगतिसे इसको 'वट्टेपुत्तु' नाम मिला। असलमें यह तिमल लिपियोसे भी अधिक पुरानी है। 'वट्टेपुत्तु'का शब्दार्थ है 'गोल लिपियाँ'। ये अपने नामको सार्थक करती है। 'चिल्पिनिकारम्' जैसा तिमल्यन्थ पहले इसी लिपिमे लिखा गया था। वर्णलके मतानुसार एरामिक या फिनिशियन लिपिसे इसका जन्म हुआ था, लेकिन बहुमतका स्वीकृत सिद्धान्त है कि अशोकन्की बाह्मी लिपिसे 'वट्टेषुत्तु'का विकास हुआ।

ईसाकी तीसरी शतीमें मावोंपोलोंने केरलका अमण किया था। उन्होंने लिखा है कि केरलका अपना लिए- समूह है। आर्य-द्राविडमंकर में जब संस्कृत शब्दोंका प्रयोग होने लगा तो नये 'प्रन्थाक्षर' उधार लेनेकी आवश्यकता पड़ी। 'वीरराधवटपट्टय' जैसी रचनाएँ इस बानकी सबूत है। नये शब्दोंके लिए नयी लिपियाँ बनने लगी। 'वट्टे- मुत्त'का रूपान्तर हुआ। इन्हीं सर्ग-विकास परिणःमोंसे आजकी मलयालम लिपिका जन्म हुआ। द्राविड रीतिके अनुसार वर्गके खरानुनामिकोंका प्रयोग ही मलायाली भी करते थे। संस्कृत शब्दोंके समावेशसे बादमें अनिखर मृद्ध घोषोंका जन्म हुआ। यह परिवर्तन 'मणिप्रवाल' भाषाकी उत्पत्तिकों भी व्यक्त करता है। इसमें कुल लिपि-विह्वोंकी संख्या '९ है। अंग्रेजीकी-मी वर्णमाला नहीं, बल्कि अक्षर-मालका प्रयोग ही केरलीयोंने स्वीकार कर लिया है।

न्याकरण और उच्चारणमे मलयालम भाषा हमेशा मितस्वभाव और प्रयत्नलाघवका पालन करती है।

जहाँ चेतना प्रव्यक्त है, वही छिंग-च्यवस्था है। अचेतनों-को नपुंसककी सीमामे डाल दिया गया है। नामोके पहले छिंग-चोतक शब्द लगा दिये जाते है।

मलयालममें केवल एकवचन और बहुवचन है। विशे-षण-विशेष्योंको लिगसमताको जरूरत नही।

उत्तम पुरुष सर्वनामके दो बहुवचन रूप है। एक केवल वक्ताको और दूमरा वक्ता और श्रोता, दोनोको प्रकट करता है। क्रियाओके विधिरूष और निश्चेष्ट्य है। संस्कृत और अंग्रेजी जैसी भाषाओमें जिस व्याक्षेपक सर्वनामका प्रयोग है, वह इसमें नहीं है, कर्मणि और भावेषयोग भी नहीं है।

जब भाषाका स्वतन्त्रतासे विकास होने लगा तो वह साहित्यको जन्म देने लगी। साहित्यके उदयानुसार स्थान-निर्णय लिया जाय तो यथाक्रम तिमल, कन्नड, तेलुगु और मन्यालम कह सकते हैं। किन्तु काल्डवैल, नस्ट्रकनोव जैसे पण्डितोंकी राय है कि बोलचालकी भाषामे सबसे अधिक प्राचीन चन्य मलयालम भाषामे पाये जाते है।

आरम्भमें केरलपर तिमल राजाओंका शामन था। इस समय मलयालियोंने 'चिलपिनकारम्' जैमे तिमल अन्थ रचे। प्राचीन शिलालेखोंमें भी तिमल भाषा दिखाई देती है, क्योंकि तिमल उस समयकी राजभाषा थी। धीरे-धीरे पाट्ट (गीत) और मणिप्रवाल नामकी दो शाखाओसे साहित्यका विकाम हुआ। 'रामायण'के युद्धकाण्डकी कथाके आधारपर एक प्राचीन तिरुविनांकोरके राजाने 'रामचिरत' नामक काव्य-ग्रन्थ रचा। यह मलयालम भाषाका प्रथम काव्यग्रन्थ है। द्राविड लिपियोंमे रची हुई इस पुस्तकमें तिमलका अंश पाया जाता है। ईस्वी सन् बारहवी शतीमें इसका निर्माण हुआ। इसमें जनताकी व्यवहार-भाषा नहीं, विकां विकासोन्मुख मलयालमकी मधुरता है। 'रामचिरत'-के चार शताब्दी पहले ही मलयालममे लिलत गान और प्राचीन कथाओका प्रचार हो गया था।

१४वीं शतीमें 'कणिदश रामायण' रचा गया। इसमें भी तमिल मिली हुई है। मप्रत्यय संस्कृत शब्दोंके प्रयोग भी पाये जाते हैं। प्रतिभाशाली किव रामप्पणिक्करने भावगम्भीर, किन्तु गेय छन्दोंमें रामायणकी कथा रची है। 'उण्णुनीली सन्देश' भी इसी कालकी रचना है। विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालमके सामंजस्यसे उत्पन्न मणि-प्रवाल शैलीमें यह सन्देश-काव्य रचा गया है। इससे यह बात एकदम विदित हो जाती है कि संस्कृतका प्रभाव धीरे-धीरे भाषामें बढता आ रहा था, किन्तु ५वी शतीमें जो 'रामकथा पाट्ट' रची गयी, उसमे तिमलकी बहुलता दिखाई देती हैं।

'कणिइश रामायण'के जमानेमें चेरुशोरि नपूनिरोने जो 'कृष्णगाथा' लिखी, वह मलयालम भाषामें थी; यह उसकी लिलत-मधुर शैलीकी अनर्धसम्पदा है। कृष्णकथाके आधारपर आपने जो महान् रचना की, उसमें मलयालम भाषा और मलयालम साहित्यकी पौर्णमी प्रम्फुटित हुई है।

देशके वीर साहसिक नेताओंकी वीरताका वर्णन करते हुए उत्तर केरळके अज्ञात कवियोंने ओजभरी भाषामें 'बटक्कन पाट्टकल' रचे हैं। इनमें भी कृष्ण-गाथाकी-मी अकलंक लिलत मलयालम शैलीका रूप प्रस्फुटित हैं। केरलमें भाषाके प्रादेशिक भेद मौजूद थे। अतः कालमे समानता होनेपर भी इन कृतियोकी भाषामें किसी तरहकी नमता नहीं दीखती। 'रामचरित' जैसे गीत और 'उण्णुनीली सन्देश' जैसे मणिप्रवाल कान्य १२वीं शतीके पहले ही लिखे गये थे।

धीरे-धीरे गीत और मणिप्रवालके लक्षण प्रकट करनेवाले रीति-प्रन्थ 'लीलातिलकम्'की रचना हुई। यद्यपि इसकी रचना संस्कृतमें की गयी है, तो भी उदाहरणके लिए असंख्य सुन्दर इलोक मलयालम काक्योते उद्धृत है। कालानुसार मलयालम साहित्यका निम्नलिखित विभाजन सर्वमान्य है—(१) प्राचीनकाल: ईसकी १४वी शतीतक, (२) नवीनकाल: ईसाकी १४वी शतीते।

धार्मिक आचार-विचारोंकी व्याख्या करनेवाले 'भद्रकालिप्पाट्ट', सर्पप्पाट्ट', 'तीयाट्टपाट्ट', 'कृषिप्पाट्ट', आदि गीत तथा 'तम्पुरानपाट्ट', 'कृणियाकुळ तुपोर' जैसी वीरगाथाएँ आरम्भकाळकी रचनाएँ है। 'भारत' और 'रामायण'की कथाओंके आधारपर 'रामचरित', 'कृण्णचरा-रामायण', 'भाषा भगवद्गीता', 'कृष्णगाथा', 'भारत-माला' जसी भावपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ इसी युगमे हुईं। 'गीता'का प्रथम अनुवाद भी इसी समय मलयालम माषामे हुआ।

इसी बीचमें मणिप्रवाल साहित्य भी विकसित होने लगा था। आर्थ-द्राविड संस्कृतियोके सामजस्यका गहरा प्रभाव इसमे दिखाई देता है। देशमे संस्कृतका प्रचार हुआ। केरलके नम्पृतिरि ब्राह्मणोने इसमे वडा योग निगा तिमलका जो प्रभाव भाषापर पड़ा था, उसे संस्कृतन लाव दिया। धीरे-धीरे कवियोंने विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालम शब्द मुक्ता-विद्रमोके समान ग्र्थकर श्लोक, कीर्तन, चम्पू जैसी रचनाएं करनी शुरू की। ज्योतिष, शिल्पशास्त्र आदिपर गध-यन्थ भी रचे गये।

कोट्टारकर तम्पुरानने रामायण कथा आठ भागोंमे बाँटकर कथावली साहित्यकी नींव डाली। उण्णायिवार्थर, कोट्टयतम्पुरान, इटियम्मन विभिष जैते महान् किवयोने इस शाखाको सम्पन्न किया। उण्णायिवार्थरका 'नलचिरतम्' अभिनययोग्यता, शिल्पसुभगता एवं सुकुमार भावोके लिए विख्यात है। केरलकी यह कला विश्व-कला-मण्डपका अमूल्य उपहार है।

सत्रहवी श्रतीमे कविकृत्युरु श्रीतुंचतेषुत्तरह्मका रंगप्रभेश हुआ। आपने मणिप्रवाल भाषाका परिष्करण किया, एक सार्वदेशिक भाषा-शैली सामने रख दो और भारत', 'अध्यात्मरामायण' आदि संस्कृत प्रन्थोका भक्तिपूर्ण तथा भावोज्ज्वल भाषामे अनुवाद किया। उन्होंने द्राविड़ छन्दोंका विकास किया। संक्षेपमे ये भाषा और भाव दोनोक सुभारक थे।

केरलके अप्रतिम हास्यकवि कुंचनय्यार चेरुश्होरी, प्युत्तउन आदि पूर्वज कवियोके समान स्मरणीय है। आपने नृत्त और गान, दोनोको मिलाकर 'तुङ्खल' नामक कलारूपकी स्थापना की। युरातन कथाओमे चतना मिलाकर केरलीय जीवनकी ओर उन्होंने तीखे परिहासके तीरोंकी वर्षा कर दी। उनकी वाणियोंका यह प्रभाव था कि चीट खानेपर भी लोग हॅसते-हॅसते लोट-पोट हो जाते थे। उनके बारेमे कई आलोचकोंने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि विश्व-साहित्यके हास्यरचना करनेवालोंमें उनका स्थान कभी दूमरा नहीं हो सकता। किवताको राज-दरवारों और पण्डितोंके बीचमेंसे निकालकर जनताके समक्ष लानेमें आपने जो महान् परिश्रम किया है, वह स्मरणीय रहेगा। संस्कृत नाटकोंके अनुवाद और पौराणिक कथाके आधारपर नयी मौलिक रचनाएँ इस समय अधिकतासे होने लगीं।

उन्नीसवी शतीके उत्तराईमे अंग्रेजी भाषाका प्रचार होने लगा । मुद्रणालयोकी स्थापना भी हो गयी । विश्व-साहित्य-की विभिन्न प्रवणताओंका परिचय प्राप्त हुआ। इस नये अनुभवने मलयालम साहित्यका कायापलट कर दिया। केरलवर्म वलिय कोथित्तम्परानके समयसे केरलमें 'सांकेतिक साहित्य' क्षीण हुआ और काल्पनिक साहित्यकी प्रगति होने लगी। पौराणिक कथाका रोमन्थ छोड़ दिया गया। रूप और भावमें नवीनता आने लगी । अभिव्यंजना, विषय तथा जीवन प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोणमें परिवर्तन हुआ । भाव-तीवना इस नयी प्रवणताशी जान बन गयी! कहानी, उपन्यास, नाटक जैने कलारूपोंकी प्रचरता होने लगी। कुमारनाशन्, वहुत्तील नारायण मेनीन, उल्लूर परमेश्वर-य्यर आदि कवियोंकी प्रतिभासे भावगीतो और खण्डकान्योंका विकास हुआ। इंकर कुरुप, चंगम्पुप कृष्ण पिल्छैने भाषा-कवितामे नयी जान फूँक दी। वहन्तोलने अपने भावगीतोंसे नौजवानोंकी आत्मामें स्वतन्त्रताकी तृष्णा जगा दी। प्रेमगायक कुमारानाशन्ने प्रेमकी महनीयताका यशोगान किया और हिन्दू जनताके दिन्योंसे जातिको दूर करनेकी सफल चेष्टा की। सियेदिनाकूरके इतिहासकी वानावरण बनाकर सी० वी० रामन पिल्लैने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। स्व० ई० वी० कृष्ण पिन्लै, के० सुकुमारन् आदिने कहानी-कलाकी नींव डाली। स्व० ओ० चन्त्रमेनवनने 'इन्द्लेखा', 'शारदा' जैसे सामाजिक उपन्यासोका निर्माण किया। मलयालम सःहित्यके प्रारम्भकालीन सामाजिक उपन्यासोमें इनका स्थान अदितीय है।

१९४० ई०तक आकर साहित्यकी दिशा बिल्कुल बदल गयी। साहित्य-रंगमण्डपमे सकीर्णना और राजनीतिका विकास होने लगा। रूसकी क्रान्ति, दूसरे महा-युडका विनाशकारी परिणाम, गुलामीकी जंजीरोमें जकड़े हुए राष्ट्रोंकी विवशता, विज्ञानकी अपथयात्रा आदिने आधुनिक कवियोंकी आत्माको सचेत किया। फलतः उनकी आत्मामे विश्वमानवका विराद् रूप प्रकट हुआ। अपनी काल्पनिक कविताके गौरीशंकर, शंकरकुरपने इसी विश्वमानवको खडा किया है। बालामणि अम्माने नारीकी आत्माका अलौकिक परिवेश कवितामें दरसा दिया है।

नौजवान कवियोंमे वैलोप्पिछि श्रीधर मेनवन, इडइरोरि गोविन्दन नायर, पी० भास्करन्, अन्युनन नम्पू-तिरि, ओलप्पमण्णा, वयलार रामवर्मा, पालानारायण नायरके नाम विशेष उल्लेखनीय है। वैलोप्पिछिकी कविताएँ शत-प्रतिशत केरलीय है। उनकी भावना केरलीय जीवनकी शिराओके समान फैली है। मानव-हृदयकी अव्यक्त वेदनाको प्रकाशमे लाने और उसे कलासुमग करनेमे इडइ-शेरी अप्रतिम है।

एन० वी० कृष्णवार्थरका क्षेत्र विलकुल अलग है। आप केरलीय कवितामे प्रयोगवादके प्रचारक है। आपकी मौलिक कविताएँ आधुनिकताकी डोरी पकडकर चिरनवीन हो जाती है। भावीचित भाषाके प्रयोगमे उनकी निपुणता प्रशंसनीय है।

समालोचनाकी सभी शाखाएँ मलयालम साहित्यमे विकसित हो गयी है। विषयप्रधान समालोचनामे पी० शंकरन् नय्यर, पा० दामोदरन् पिरले और एम० गुप्तन् नायरने युगान्तर कर दिया है। विषयप्रधान समालोचनामे कुट्टिकृष्ण भारार प्रमुख है। आपकी पैनी दृष्टि और व्यंग्यभरी ओजपूर्ण शैली प्रशंसनीय है।

तुलनात्मक समालोचनाके आचार्य ए० बालकृष्ण पिल्ले हैं। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिमा अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानती। इसी शाखामें प्रो० मुण्डश्शेरीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दार्शनिक एवं वैशानिक समालोचकके नामसे मास्करन् नायर प्रख्यात है। एन० वी० कृष्णवार्यर और के० सुरेन्द्रन् मनोवैशानिक समालोचनाकी सफलताके प्रतीक है।

आजकल केरलके प्रत्येक गाँवमें नाटकोल्सव मनाया जाता है। केरलीय जनताके बीचमे नाटकका अभूतपूर्व प्रचार है। सिद्धहस्त नाटक-रचियताओंकी यहाँ कमी नही। एन० कृष्ण पिल्ले, इन्सनके पदचिहोंपर चलते है। गाँवका जीवन इडइशेरीमे मुखरित होता है। ले० टॉमस, टी० एन० गोपिनाथन् नायर, के० टी० मुहम्मद और एन० पी० मुहम्मदके नाटक अधिक जनप्रिय है। नाटक-शाखाके विकासके लिए उत्तर और दक्षिणमें दो कला-समितियाँ स्थापित भी हो चुकी है।

कहानी और उपन्यासका क्षेत्र पर्याप्त रूपसे विकसित है। आरम्भकालमे मीपासॉ, चेखन, मॉम आदिकी प्रेरणा ग्ही, लेकिन बादको यह कला अपने पैरो आगे बढी। कहानी और उपन्यासकी कला दिन-प्रतिदिन नवीन हो रही है। तकि, देव, बशीर, कारुर, विक, एस॰ के॰ पोट्टकाड जैसे भाषुक कलाकार इस क्षेत्रमे प्रमुख है। प्रतिभाशाली नौजवान लेखकोकी संख्या तो असंख्य है।

जीवनीके क्षेत्रमें ए० डी० हरिशर्मा, सीताराम, पी० के० परमेश्वरन् नायर और के० सुरेन्द्रन्की लेखनीने सफलता प्राप्त की है। श्रमण सम्बन्धी साहित्यमें एस० के० पो हेक्काड अद्वितीय है। निबन्धमें के० पी० केशवमेनवन, के० दामोदरन्, सी० जे० तोमस और एम० गोविन्दन्की सेवाएँ कृतज्ञतासे समरणीय हैं। हास्य-साहित्यकी मेखला ई० पी० कृष्ण पिल्लै, संजयन, आनन्द कुट्टन्, राजराजवर्मी और एन० पी० चेलेप्पन् नायरने सम्पन्न हैं।

अाजकल केरलमे सैकडो मासिक पत्रिकाएँ और साप्ताहिक पत्र निकल रहे है। इनमें मौलिक और अनूदित कथा, कविता, लेख आदि प्रकाशित हो रहे है। हिन्दी, बँगला, मराठी जैसी भाषाओका परिचय बढ़ता जा रहा है। विश्व-साहित्यकी नवीन प्रवणताओंसे केरल परिचित

है। सिद्धहस्त भाषुक कलाकारोकी एक नयी पीढी आगे वढ रही है। निस्सन्देह उनकी लेखनी केरलकी कला और साहित्यमे अभूनपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करेगी। —ए० चं० मिल्लका (मिणिकुल्या)—उपरूपकका एक भेद विशेष। भावप्रकाश'के अनुसार शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति तथा दो अक होना आवश्यक है। इसमे विदूषक तथा विद्का प्रयोग अपेक्षित है। गर्भ तथा विमर्श सन्धियोके प्रयोग, कथानकके रहस्यका उद्घाटन प्रथम अंकमे नहीं होना चाहिए। कथा समाप्ति रहस्योद्घाटनसे होना आवश्यक है। —यो० प्र० सिं० ससनवी—मसनवीका शाब्दिक अर्थ 'दो' होता है। यह काव्यका ऐसा रूप है, जिसके हर शेरके दोनो मिस्ने एक

मसनवा—मसनवाका शाब्दिक अथ 'दी' होता है। यह काव्यका ऐसा रूप है, जिसके हर शेरके दोनो मिस्ने एक ही रदीफ और काफियें मे होते है। हर शेरका रदीफ और काफियें मे होते है। हर शेरका रदीफ और काफिया आपसमे अलग-अलग भी हो सकता है। इसलिए मसनवीमे शायरको क्रमबद्ध विषयवर्णनमे बड़ी आसानी होती है। कसीदा या गजलमे सब शेरोमे एक ही रदीफ और काफियेंको पावन्दीने कारण क्रमबद्ध वर्णन कठिन होता है, परन्तु मासनवीमे यह पावन्दी नहीं है।

मसनवीके लिए सात बह् रे नियत है। इन्हीं सात बह् रोंमे मसनवी लिखी जा सकती है। मसनवीमे शेरोंकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। छोटी मसनवियों आठ, दस, बारह शेरोंकी मी है और बड़ी मसनवियों शेरोंकी संख्या हजारोतक पायी जाती है। फारसीमे फिरदौसीका प्रसिद्ध 'शाहनामा' मसनवी ही है। इसमे साठ हजार शेर है।

मसनवीमे विषयंकी भी कोई सीमा नहीं है। किव जिस विषयपर चाहे, मसनवी लिख सकता है। उर्दू मसनवी लिखनेवालोंने मसनवियोमे आख्यान भी लिखे है, भगवान्की प्रशंसा भी की है तथा साहित्यिक तत्त्वो और प्राकृतिक दश्योको भी चित्रित किया है।

'मसनवी'की खूबी यह है कि जिस घटना या बृत्तका वर्णन किया जाय, उसे सरलता तथा विस्तारके साथ इस प्रकार वर्णित किया जाय कि वह घटना ऑखोके सामने फिरने लगे और पूरा वातावरण चलचित्रकी तरह सामने आ जाय।

उर्दूकी मसनवियोते हमको साहित्यिक तत्त्वोके साथ बहादुरीकी घटनाओ तथा उन सामाजिक स्थितियोका ज्ञान होता है जो तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाजका यथातथ्य परिचय देती है।

उर्दू अधिकतर किवयोंने छोटी-वडी मसनवियों लिखीं है। इनमें 'मीर', 'मीरहसन', 'दयाशंकर', 'नसीम', मिर्जा 'शौक' और 'कलक' मशहूर है। 'रामायण' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता'के उर्दूमें जितने अनुवाद हुए है, वे सव 'मसनवी'के रूपमें ही है। उर्दू के नये किवयोंने भी मसनवियां लिखी है। उनमें नयी सामाजिक और राजनीतिक चेतना मिलती है। इनमें इकवालका 'साकीनामा' और सरदार जाफरीका 'नयी दुनियाको सलाम' अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्यकी परम्परामें इसी काव्य-रूपको अपनाया गया है। जाथमीका 'पद्मावत' मसनवी ही है। इस दृष्टिसे मसनवीको भी एक ऐसे कथाकान्यका प्रतिरूप कह सकते है, जो महाकान्यके निकट पहुँच सकता है। — म० महिफ्ल — सांकेनिक रूपसे उपासना अथवा साधनाका स्थान। जगत्के अर्थमे भी सूफी कवि इसका प्रयोग करते हैं। — रा॰ पृ० नि०

महाकरुण-दे० 'करुण रस'। परिभाषा निश्चित करनेवाले सहाकाच्य-महाकाव्यकी प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह (पॉचवी द्याताब्दी ई०) है। उनके अनुसार लम्बे कथानकवाला, महान् चरित्रोपर आश्रित, नाटकीय पंचसन्धियोसे युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैलीमें लिखित तथा जीवनके विविध रूपों और कार्योंका वर्णन करनेवाला सर्गबद्ध सखान्त काव्य ही महाकाव्य (काव्यालं), १:१९:२१) होता है। दण्डी-(छठी शतान्दी ई०)ने भामहकी परिभाषाको समेटते हुए भी महाकाञ्यके स्थल बाह्य लक्षणोंपर अधिक जोर दिया है (काव्यादर्श, १:१४:१९)। उनके अनुसार महाकाव्य वह है, जिसका कथानक इतिहास या कथासे उद्भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्गफलकी प्राप्ति हो, जो अलंकत, भावों और रसोसे भरा हुआ और बड़े आकारका, सर्गबद्ध और पंचसन्धियोसे युक्त काव्य हो। दण्डीने महाकाव्यके प्रारम्भ, वर्णनीय वस्त-व्यापार तथा सर्ग और छन्दके सम्बन्धमे विशेष ध्यान दिया है। इसने स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके लक्ष्य-ग्रन्थ 'महाभारत', 'रामायण' नहीं, बल्कि अरवधीष और कालिदासके महाकाव्य थे। दण्डीकी परिमाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ क्विराजने उसीमें कुछ बातें जोड़कर अपने लक्षण बनाये। हेमचन्द्र (बारहवी शताब्दी ई०)ने यद्यपि रामायण-महा-भारतको ध्यानमें नही रखा, पर संस्कृतके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंशके महाकाव्योंकी ओर उनकी दृष्टि गयी थी। "पद्य प्रायः मंस्कृतप्राकृतापभ्रंशयाम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्य-वत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्वन्धकवन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्रयोपेतं महाकाव्यं (काव्यानु०, अ०६), फिर भी उनकी परिभाषा दण्डीकी परिभाषासे अधिक भिन्न नहीं हैं। उनकी परिभाषामें नवीनता इतनी ही है कि उन्होंने लक्षणोंको शब्दवैचित्र्य. अर्थवैचित्र्य और उभयवैचित्र्यमें रसानुरूप सन्दर्भ, अर्थानुरूप छन्द, समस्त लोक-रंजकता आदिका होना आवश्यक माना है (काव्यानु०, अ०८)। उन्होंने 'देश-काल-पात्रचेष्टा-कथान्तरानुषजम्' कहकर जीवनके व्यापक अनुभवो और कार्योंका चित्रण करनेकी आवश्यकता बतायी है। सम्भवतः यह लक्षण उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांसिक शैलीके महाकान्योंको ध्यानमें रखकर निर्धारित किया है। विश्वनाथने पूर्ववर्ती सभी आचायोंके मतोका समाहार करके, पर विशेष रूपसे उण्डीकी परिभाषाके आधारपर, अपने लक्षण निर्धारित किये है (सा० द०, ६: ३१५-३२८) । उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और श्रीहर्षके महाकाव्य है। इसलिए उन्होंने अपनी परिभाषामे

महाकान्यके बाह्य या स्थायी लक्षणोंका ही अधिक निर्देश

किया है, उसके मूल तत्त्वींपर आधारित स्थायी लक्षणींका नहीं। उन्होंने यह शर्तभी लगादी कि महाकाव्यका नायक कुलीन क्षत्रिय या देवना होना चाहिये और महाकान्यमें आठ या आठसे अधिक सर्ग होने चाहिये। रुद्रट (सातवीं शताब्दी ई०)की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता उपर्युक्त सभी आचार्योंकी मान्यनाओसे अधिक व्यापक है। (काव्यालं), अ०१६: २-१९) । उन्होने सस्क्रतके परवर्ती महाकाव्योंके अतिरिक्त रामायण-महाभारत तथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक रोमांसिक महाकाव्योको भी ध्यानमे रखकर महाकाव्यके लक्षण निर्घारित किये है । उन्होंने पद्यबद्ध कथाके उत्पाद्य और अनुत्पाच तथा महत् और लघु, ये दो प्रकारके भेद करके केवल महत्प्रबन्धको ही महाकान्य कहा है, चाहे उसकी कथा उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य । उन्होंने अवान्तर कथाओंकी आवश्यकताके साथ युग-जीवनके विविध रूपों, पक्षों और घटनाओंको चित्रित करनेकी बात बहुत स्पष्ट रूपमें और विस्तारसे कही है। उनके अनुसार महाकान्यका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महान वीर, विजिगीप, शक्तिमान्, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है और अन्तमें उमीकी विजय होती है। साथ ही, महाकाव्यमें प्रतिनायक और उसके कुलका भी वर्णन रहता है । उत्पाद्य कथानकवाले महाकाव्योमें रुद्रके मतमे प्रारम्भमें सन्नगरी-वर्णन और नायकके वंशकी प्रशंसा होती है और उसमे अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वोंका भी समावेश रहता है। ये वार्ते प्रायः कथा-आख्यायिकार्मे मिलती है। अतः रुद्रटने कथात्मक (पौराणिक-रोमांसिक) महाकाव्योंकी स्थिति भी स्वीकार को है, जिसे अन्य आचार्योंने नहीं माना है। इस नरह पद्यवद्ध कथाका, जिसे पाश्चात्य देशोंमे रोमान्स या रोमांसिक कथा-काव्य कहा जाता है, महाकाव्यपर जो प्रभाव पड़ा है, उसे केवल रुद्रहने ही परिलक्षित किया है।

प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों मे अरस्तूने महाकाव्यके सम्बन्धमें सबसे अधिक विचार किया है। यूनानमे उस समय काव्यके तीन रूप, महाकाव्य, गीनिकाव्य और दःखान्त नाट्यकाव्य प्रचलित थे। अरस्तुके अनुसार महाकाव्य वह काव्यरूप है, जिसमे कथात्मक अनुकरण होता है, जो पटपदी छन्द (हेक्सामीटर)मे लिखा जाता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटकके समान अन्वितियुक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटनाका वर्णन करनेवाला होता है। और कथानकका आदि, मध्य और अन्तयक्त जीवन्त विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणीकी तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकान्यमे समुचित आनन्द प्रदान करनेकी क्षमना होती है। उसका रूप-गठन इतिहाससे बहुत भिन्न होता है, क्योंकि कवि महाकाव्यकी सामग्रीका इतिहाससे इस प्रकार चयन करता है कि उसमे सम्बन्धयुक्त अन्वित दिखलाई पडती है, जो इतिहासमे नहीं होती। अरस्त्के अनुसार कवि पूर्वकालीन या समकालीन घटनाओं-का वर्णन भी महाकान्यमें अवान्तरकथाके रूपमे कर सकता है अथवा विविध वस्तु-व्यापारोका वित्ररणात्मक वर्णन कर सकता है, जिससे युग-जीवनके विविध पक्षों और रूपोका सम्यक उद्घाटन हो सके। उन्होने महाकाव्यमें नाटकीय तत्त्वो, अतिप्राकृत और अलौकिक कार्यों या घटनाओ, कथानकमे प्रयुक्त कल्पना और सम्भावनापर आधारित तथ्यों तथा महाकाव्यकी भाषा और शब्द-चयनपर भी विचार किया है। इस तरह उनकी परिभाषा गाथाचकोसे विकसित विकसनशोल महाकाव्योके आधारपर निर्मित हुई है। जो यूरोपके परवतीं अलंकृत महाकाव्योपर पूर्णतया घटित नहीं होनी।

प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्योंमे अनिवार्य रूपसे रोभांसिक तत्त्व रहा करते थे। उन महाकान्योमे रोमांसिक कल्पनाएँ अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो तथा कथानक-रूढियोका आश्रय लेकर प्रयुक्त हुई है। विजिलने शास्त्रीय शैलीके जिन महाकाव्योंका प्रारम्भ किया, उनमें ये रोमांसिक तत्त्व अधिक नहीं होते। इसी कारण आगे चलकर महाकान्य और रोमांसिक कथाकान्य (रोमांस), ये दो भिन्न कान्यरूप हो गये । मध्ययुगमे यूरोपकी परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें रोमांसिक कथाकाव्योंका बहुत अधिक प्रचार हुआ और महाकाव्यका उदात्त काव्यरूप भुला दिया गया। किन्तु पुनर्जागरण-युगमे महाकाव्यका सग्मान फिर बढा और दाँते, परियास्टो, स्पेन्सर, कैमांस, टैसो मिल्टनने उसे चरमोत्कर्षपर पहुँचाया। इनमेसे कुछके महाकाव्योपर रोमांसिक कथाकाव्यका प्रभाव बहुत अधिक है। पुनर्जागरण-युगके आलोचकोमे इस प्रश्नपर बहुत मतभेद था कि महाकाव्यमे रोमांसिक तत्त्वोका क्या स्थान होना चाहिये। इटलीका प्रसिद्ध लेखक दावेनॉत तो शास्त्रीय महाका ब्योंका इतना पक्षपानी था कि वह एरियास्टो और दाँतेके महाकाव्योंको, उनकी रोमांसिक प्रवृत्तिके कारण, महाकाव्य माननेको तैयार नहीं था। इसके विपरीत टैसोने, जिसने स्वय रोमांसिक शैलीका महाकाव्य लिखा है, अपनी आलोचनाओंमे एरियास्तोका जोरदार समर्थन किया है। उसने महाकाव्यको शास्त्रीय नियमोके बन्धनमे जकड़नेवालों-का विरोध करते हुए कहा कि महाकाव्य और रोमांसिक कथाकान्यमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सोलहवी शताब्दीतक तो टैसोका यह सिद्धान्त मान्य रहा, पर सत्रहवी-अठारवीं शताब्दीके आलीचकोने दोनोको भिन्न काव्यरूप माना और महाकाव्यकी उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदर्शींपर अधिक जोर दिया । बॉस्का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युगके पाश्चात्य आलोचकोंने महाकान्यकी परिभाषाको अधिक न्यापक बनानेका प्रयत्न किया है। इन्ल्यू० पी० करके मतसे "महाकान्यमे चरित्रोंकी कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूपमे की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियो और समस्याओक चित्रणके कारण महाकान्यमें नाना प्रकारके दृशों और गुणोंका चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमे समग्र जीवनके कार्य-कलाप जीवन-कथाका रूप धारण कर लेते है। महाकान्यकी सफलता कविकी कल्पना-शक्ति और चरित्र-चित्रणपर निर्मर होती है। कुछ महांकान्योंमे कथानक यद्यपि नाटकीय गुणोंसे युक्त नहीं होता और नायक महक्त-होन होता है, फिर भी ऐसे कथानकोंमें एक विशेष गरिमा होती है, जिससे वे महाकान्य माने जाते हैं" (एपिक एण्ड

रोमांस, पृ० १७)। अंग्रेजीके एक अन्य आलोचक एवर क्रोम्बीका कहना है कि बड़े आकारके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्यकी शैली होगी, तभी उसे महाकान्य माना जायगा और वह शैली कविकी कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्तिमे जुडी रहती है। इस शैलीके कान्य (महाकान्य) हमे एक ऐसे लोकमे पहुँचा देते है, जहाँ कुछ भी महत्त्वहीन और असारगभित नहीं होता। महाकान्यमें एक पृष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गतिका आद्यन्त संचालन करता है (दि एपिक, पृ० ४१-४२)। सी० एम० बावराने महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित की है : "महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है, जिसमे कुछ महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओका वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रोंके कियाशील और भयंकर कार्योंसे भरे जीवनकी कथा होती है। उसके पढनेसे हमे एक विशेष प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्यकी महत्ता, गौरव और उपलब्धियोंके प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करते हैं" (फ्रॉम विजल द्व मिल्टन, पृ० १) । अन्तमे यहाँ स्वच्छन्दतावादके प्रवर्तक वाल्टेयरका मत दिया जा रहा है, जिसे मैकनील डिक्सनने महाकाव्य-की सबसे ज्यापक और समीचीन परिभाषा मानकर उद्युत किया है-'ऐसे काव्यग्रन्थ ही महाकाव्य नामके अधिकारी है, जिनमे किसी महती घटनाका वर्णन होता है और जिन्हे समाज न्यवहारतः महाकान्य मानने लगते है। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थानपर घटित होनेवाली हो या उसका नायक ससारभरमे भटकता फिरे, चाहे उसमे एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयंकर क्रोधी हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमेसे कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागरके हो या धरतीके, स्वर्गके हो या नरकके, इससे कुछ नहीं वनता-विगड़ता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तबतक महाकाव्य कहा जाता रहेगा, जबतक आप उसके गुणाके अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते" (इंग्लिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्टी: पृ० ९)।

वाल्टेयरका अभिप्राय यह है कि महाकान्यमे कुछ ऐसे
गुण होते हैं, जो भले ही शब्दोंमे न्यक्त न किये जा सकें, पर
समाज अपनी सहज बुद्धि द्वारा उन्हें पिहचानता है। अतः
किसी कान्यका महाकान्य होना कुछ बाह्य लक्षणो या
परम्परागत रुढिथोंके अपनाये जानेपर नहीं, बिक्क समाजकी स्वीकृतिपर निर्भर है। उस स्वीकृतिके लिए वाल्टेथरने
केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकान्यमें घटनाका
महती या गरिमामयी होना। इस तरह वाल्टेयरने यह
सिद्ध किया है कि संकीर्ण मानदण्डसे महाकान्यका स्वरूपनिर्णय नहीं हो सकता। मैकनील डिक्सनने भी इसी मतका
समर्थन करते हुए लिखा है—"यचिप महाकान्यका एक
निश्चित स्वरूप होता है, पर उसे संकीर्ण लक्षणोके बन्धनमें
नहीं बॉधा जा सकता। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय महाकान्यका
यह नियम कि उसमें कियत और अविश्वसनीय आश्चर्यके
तक्त्व नहीं होने चाहिये, यदि हदतापूर्वक स्तीकृत किया

जाय तो अनेक महान् महाकाव्योंको महाकाव्यकी श्रेणीसे निकाल देना पड़ेगा" (वही, पू० १८-१९) । वस्तुतः महा-कान्यकी ऐसी न्यापक परिभाषा होनी चाहिये, जिसके अनुमार शास्त्रीय, रोमांसिक, नाटकीय, मनोवैद्यानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकारके तथा सभी देशो और कालोंके महाकाव्योंकी परख हो सके। ऐसी एक परिभाषा यह हो सकती है-"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्त कथा-प्रवाह या अलंकत वर्णन अथवा-मनोवैज्ञानिक चित्रणसे युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमे यथार्थ, कल्पना या सम्भावनापर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रोंके महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्तका पूर्ण या आंदिक रूप-में वर्णन हो, जो किसी युगके सामाजिक जीवनका किसी-न-किमी रूपमें-प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमे किसी महत्पेरणासे अनुप्राणित होकर किमी महदुदेश्यकी सिद्धिके लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्रयोत्पादक घटना या घटनाओंका आश्रय लेकर संक्षिष्ट और ममन्वित रूपसे जातिविशेष या युगविशेषके समग्र जीवनके विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्योंका वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदान्त हो कि युग-युगान्तरतक महाकान्यको जीवित रहनेकी शक्ति प्रदान कर सके"।

महाकान्यको इस परिभाषामे विभिन्न युगो और देशोके विभिन्न शैलियोके महाकान्योमे प्राप्त स्थायी लक्षणोका समावेश हो गया है। उन्हें मोटे तौरपर महाकान्यके निम्नलिखित अवयवोंके स्वरूपमे विभाजित करके उपस्थित किया जा सकता है—१. महदुदेश्य, महत्प्रेरणा और महत्ती कान्य-प्रतिभा; २. गुरुत्व, गाम्भीयं और महत्त्व; ३. महाकार्यं और युगजीवनका समग्र चित्रण; ४. सुसंघटित जीवन्त कथानक; ५. महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र; ६. गरिमामयी उदात्त शैली; ७. तीव्र प्रतिभान्वित और गम्भीर रस-न्यंजना; ८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

ये नत्त्व या लक्षण सर्वाश या अधिकांशमें जिन कान्योमें प्राप्त होंगे, वे ही वास्तविक रूपमें महाकाव्य-पदके अधिकारी हो सकते है। यो तो महाकाव्य-रूपमें लिखे गये या माने गये प्रबन्धकाच्य प्रत्येक देशमें बहुत अधिक मिलते है, पर उनमे सभी वास्तविक महाकाव्य नहीं होते। महाकाव्यके लक्षणोंका अनुसरण करके अथवा प्रसिद्ध महाकान्योंका अनुकरण करके लिखे जानेके कारण ही कोई काव्य महा-काञ्यकी श्रेणीमे नहीं प्रनिष्टित हो सकता। ऐसे न जाने वि.तने बृहदावार यन्थ भारत और यूरोपमें लिखे जा चुके है, पर उनमेमें अधिकतर या तो महाकाव्य माने नहीं गये या महाकालने उन्हे विस्मृतिके गर्भमें दकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे कान्य, जिनके कवि या तो अज्ञात है अथवा जो न जाने कितने हाथोकी रचना है, और ऐसे काव्य-लेखकोंने कभी सोचा भी नहीं था कि वे महाकान्य लिख रहे हैं, कालान्तरमें ज्यापक प्रभाववाले महाकाज्यके रूपमें मान्य हुए हैं। ऐसे कान्योंने युग-युगतक किसी विशेष देश, जाति या समाजके जीवनको प्रभावित और आनिस्ति किया है। यही कारण है कि नाटक, कथाकाव्य, इतिहास-पुराण और गीतिकाव्यके अर्थोकी जहाँ कोई गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषाके महाकाव्योंके नाम उँगलियोंपर गिने जा सकते है और उस भाषाके जाननेवाले अधिकांश लोग उन्हें अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिए हैं कि महाकाव्य हर समय और हर कि द्वारा नहीं लिखा जा सकता। उसका एक उपयुक्त समय होना है और जब कोई दिरार् चेतनावाला महान् कि उस उपयुक्त अवसरको पहिचानकर तत्कालीन सामाजिक आवस्यकताओंको पूर्ति अनजाने ही करनेको चेष्टा करता है तब सच्चे महाकाव्यका निर्माण होता है।

संसारके सभी देशोंमें जहाँ महाकाव्यकी रचना दूई है, उसकी परम्परा दो धाराओमें विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है-मौखिक परम्परावार्ला धारा और लिखित परम्परावाली धारा। यद्यपि इन दोनोंमे बहुत अन्तर है, पर वस्तुनः दोनों महाकान्यकी ही धाराएँ है, क्योंकि दोनोंके मूल तत्त्व एक ही है। पहले प्रकारके महाकान्योंको प्राकृत या विकसनशील महाकाव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक ऑफ ग्रोथ) कहते है और दूसरे प्रकारके महाकाव्यों-को साहित्यिक या अनुकृत अथवा अलकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमिटेटिव एपिक या एपिक ऑव आर्ट)। अनेकानेक अज्ञात कवियोकी प्रतिभाके योगसे कण्ठानुकण्ठ विकसित होनेवाले महाकाव्य प्रथम धारामे और विशिष्ट कवियो द्वारा अपनी प्रतिभा और कला-प्रदर्शनको न्यक्त करनेकी दृष्टिसे लिखे गये महाकाव्य द्वितीय धारामे आते है। यूरोपके प्राचीनतम महाकान्य 'इलियड' और 'ओडेसी' है, जो होमरकृत बताये जाते हैं, पर वस्तुतः जिनका मौखिक परम्परामे सैवडो वर्षोंमे विकास हुआ था। इंग्लैण्डका 'वियोवन्फ', जर्मनीका 'निवलगेनलीड', फ्रांसका 'सांग ऑव द रोलॉ' इसी प्रकारके कण्ठानुकण्ठ विकसित महा-काञ्य हैं। पहली शताब्दीमे विजलने होमरके महाकान्योके अनुकरणपर, किन्तु शास्त्रीय शैलीमें 'इनीड' नामक महा-काव्य लिखा और परवर्ता कवियोंने प्रायः विजलकी शास्त्रीय दौलीका ही अनुकरण किया। ये सभी लिखित महाकाव्य दमरी धारामे आने है। इसी तरह भारतमे 'महाभारत' और 'रामायण' विकमनशील महाकाव्य हैं, जिनके निर्माण-में न जाने कितने अज्ञात कवियोको प्रतिभाका योग रहा है और न जाने कितनी शताब्दियोंतक निरन्तर विकसित होते हुए उन्होने अपना वर्तमानं रूप प्राप्त विया है। किन्तु अश्रघोष, कालिदास, माघ, भारवि, स्वयंभू, पुष्पदन्त, तलसी आदि कवियोके महाकाच्य अनुकृत या अरुकृत है, क्योंकि इस प्रकारके महाकान्योका प्रारम्भ 'रामायण' और 'महाभारत'के अनुकरणपर ही हुआ था, यद्यपि उनकी शैली विशिष्ट कवियोकी वैयक्तिक प्रतिभाके योगके कारण रामायण-महाभारतसे भिन्न प्रकार की है । इस प्रकार मौखिक और लिखित (विकसित और रिचत) परम्पराके कारण ही महाकाव्यके दो रूप हो गये है। प्रारम्भमे तो अनुकृत या अलंकृत धाराके भीतर सर्दत्र शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य ही लिखे गये, पर बादमें शास्त्रीय जैलीके

बन्धनोकी प्रतिक्रिया हुई। फलस्टरूप रोमांमिक, ऐतिहासिक और पौराणिक दें होने महाकान्य भी लिखे जाने लगे। ऐसे महाकान्योंपर विकसनदील महाकान्योंकी रोमांसिक और आश्चर्योत्पाटक प्रवृत्तिका तथा लोक-जीवनके विश्वासों-का अधिक प्रभाव था।

समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि महाकाव्यके विभिन्न रूपो और शैलियोका विकास समाजके विकासक्रमके अनुरूप हुआ है। विकमनशील महाकाव्य अनिवार्यतः प्रारम्भिक वीर-युग (हीरोइक एज) और सामन्ती वीर-युग (एज ऑव शिवेलरी)में ही विकसित हुए। विकासीनमुख सामन्त-युग या सामन्ती साम्राज्य-युगमे विशेष रूपसे शास्त्रीय या 'संस्कृत' शैली(क्लासिवल)के महाकाव्योंकी रचना हुई। हासोन्मख सामन्त-युगमे रूढिवादी प्रवृत्तियोकी संकीर्णता और कठोरता तथा मामन्ती मनीवृत्तिके कारण एक ओर तो अतिशय अलंकत, रूढिवाद और चमत्कारप्रधान महाकान्य लिखे गये, दूसरी ओर लोकाश्रित धर्म और लोक-विद्वासोंका आश्रय लेकर तथा सामन्ती बन्धनोंके प्रति विद्रोही भावनाके कारण रोमांसिक, ऐतिहासिक और पौराणिक देलीके महाकान्य लिखे गये। सामन्त-युगके उपरान्त पँजीवाद-युग वैयक्तिक विद्रोह, राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दताकी भावना लेकर अवतरित हुआ, जिसके फल-स्टरूप आधुनिक युगमे स्वच्ह न्दतावादी शैलीके महाकाव्य लिखे गये। इस शैलीके अन्तर्गत, रूपककथात्मक (एली-गोरिकल), मनोवैशानिक, नाटकीय, प्रगीतात्मक आदि कई शैलियाँ आ जाती है, पर सबकी मूल प्रवृत्ति सामन्ती युगकी रूढियों और शास्त्रीय महाकाव्यके लक्षणोंके कठोर बन्धनोके प्रति विद्रोह की है । इस तरह महाकाव्य मुख्यतः दो प्रकारके होते है--१. साहित्यक परम्परामे विकसित और २. लोक-कण्ठमे रहकर विकसित लोक-महाकाव्य (फोक एपिक) । अलंकृत महाकान्यकी मुख्यतः निम्नलिखित शैलियाँ है-१. शास्त्रीय, २. रोमांसिक, ३. ऐतिहासिक, ४. पौराणिक, ५. रूपककथात्मक, ७. प्रगीतात्मक, ८. मनोवैज्ञानिक या मनोविङ्लेषणात्मक । हिन्तीमे 'पृथ्वीराजरासो' साहित्यिक परम्परामें विकसित विकसनशील महाकाव्य और 'आव्हखण्ड' लोक-महाकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' क्रमशः रोमांसिक, पौराणिक और रूपक-कथात्मक शैलीके महाकान्य है। 'कामायनी'में मनोवैज्ञानिक और प्रगीतात्मक शैलियोंका भी सामंजस्य हुआ है। केशवकी 'रामचन्द्रिका' और लाल कविका 'छत्रप्रकाश' यदि महाकाव्य होते तो उन्हें क्रमशः नाटकीय और ऐतिहासिक शैलीका महाकान्य माना जाता। — इां० ना० सिं०

हिन्दीमें यद्यपि लम्बे आकारके अनेक सर्गबद्ध काव्य-प्रन्थोंकी रचना हुई, किन्तु उनमेंसे केवल कुछको ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थमे तो महा-काव्यका प्रायः अभाव ही समझना चाहिये। वास्तवमे हिन्दी भाषाके सम्पूर्ण विकास-कालमें महाकाव्यकी रचनाके लिए उपयुक्त वातावरणका अभाव रहा है।

हिन्दीका आदि काल भारतीय इतिहासमें युद्ध और

संघर्षका समय था। केन्द्रीय राजसत्ताके अभाव तथा राष्ट्रीयता और देशभक्तिकी भावनाके लेपके कारण अराजकता तथा अनिश्चयका ही साम्राज्य था। धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिसे भी यह युग संक्रान्ति तथा परिवर्तनका युग था। बौद्ध और जैन धर्म छप्तप्राय हो चले थे; ब्राह्मण-धर्मका पुनरुत्थान नथी शक्तिके साथ हो चला था। विचार और दर्शनके क्षेत्रमें कोई नथी उद्घावना नहीं हुई, इसके विपरीत चिराचरित रूढियोके पालनका आग्रह ही अधिक दिखाई पडता है। वह राष्ट्रके पतनका युग था।

'पृथ्वीराजरासो' तथा 'आल्हखण्ड' इस कालके दो प्रसिद्ध महाकाव्य है, पहलेको हम साहित्यिक परम्पराका विकसनशील महाकाव्य और द्सरेको लोक-महाकाव्यकी संज्ञा दे सकते है।

रासीका बहत्तम रूपान्तर जो नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित है, ६९ समय (सर्ग)का विशाल ग्रन्थ है। इसमे अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके जीवन-वृत्तके साथ सामन्ती वीर-युगकी सभ्यता, रहन-सहन, मान-मर्यादा, खान-पान तथा अन्य जीवन-विधियोका इतना ब्योरेवार और सही वर्णन हुआ है कि इसमे तत्कालीन समग्र युगजीवन अपने समस्त गुण-दोषोके साथ यथार्थ रूपमे चित्रित हो उठा है। अध्यातम, राजनीति, धर्म, योग, कामशास्त्र, मनत्र-तनत्र, युद्ध, विवाह, मृगया, मनत्रणा, दौत्य, मानवीय सौन्दर्य, संगीत-नृत्य, वन-उपवन-विहार, यात्रा, पशु-पक्षी, बृक्ष, फल-फूल, पृजा-उपासना, तीर्थ-व्रत, देवता-मूनि, स्दर्ग, राज-दरबार, अन्तःपुर, उद्यान-गोष्ठी, शास्त्रार्थ, वसन्तोत्सव तथा सामाजिक रीति रिवाज-तात्पर्य यह कि तत्काठीन जीवनका कोई पहलू ऐसा नहीं बचा है, जो रासोमे न आया हो। विन्तु इन विषयोमे भी युग-प्रश्तिके अनुसार सबसे अधिक उभार मिला है युद्ध, विवाह, भोग विलास तथा मृगयाके ही वर्णनोको और यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासी'मे चारिज्यकी वह गरिमा नहीं आ पायी है, जो आदर्श महाकाव्यके लिए आवश्यक है। रासोके ६५वे समयमे पृथ्वीराजकी रानियोके नाम गिनाये गये है, जिनकी संख्या तेरह है। इनमेसे केवल चारके विवाह उभय पक्षकी स्वेच्छासे हुए, शेष सबको बलात हरण किया गया था, जिनके लिए युद्ध भी करने पड़े थे। इन विवाहोंके वर्णन रासोमे अत्यधिक विस्तारसे मिलते है, जिससे ज्ञात होता है कि ये ही उक्त महाकाव्यके प्रमुख विषय है। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोके समय प्रथ्वीराज इतना विलासी हो गया था कि संधीगिताके महलसे बाहर निकलता ही नहीं था। उसकी सहायताके लिए रावल समर सिंह दिल्ली आकर ठहरते थे, किन्त पृथ्वीराजको इसकी सूचना छेनेकी भी फुर्सत नहीं थी। प्रजामें कष्ट और असन्तोष बढता है । अन्तमे वह शहाबदीन द्वारा बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्दके संकेतसे गोरीका वधकर स्वयं भी मर जाता है। इस प्रकार रासो हमारे पतन और गमकी कहानी है।

रामोमें कथानकको शिथिलता, विश्वंखलता तथा असन्तुलित योजना भी अत्यधिक खटकती है। कथानकका जो एक क्षीण तन्तु है, वह भी बीच-बीचमे विवाह, मृगया आदिके उना देनेवाले लम्बे वर्णनोके कारण टूट जाता है! कथानकमे सुनिश्चित योजना तथा समानुपातिक संघटनके अभावका कारण कदाधित यह भी है कि उसके वर्तमान रूपान्तरमें मूल रचनाके अतिरिक्त प्रक्षेप भी अत्यधिक परिमाणमें हुए है।

अतः 'पृथ्वीराजरासो' उत्कृष्ट कोरिके महाकान्योंकी श्रेणीमे रखे जानेके योग्य नहीं जान पडता।

'आल्ह्खण्ड'में महोवेके दो प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल (उदय सिंह)का विस्तृत वर्णन है। कई शताब्दियों-तक मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसके वर्तमान रूपमें जगनिककी मूल रचना खोन्सी गयी है, किन्तु अनु-मानतः उसका मूल रूप तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीतक तैयार हो चुका था। आरम्भमें वह वीर रस-प्रथान एक लघु लोकगाथा (बैलेंड) रही होगी, जिसमें और भी परि-वर्द्धन होनेपर उसका रूप गाथाचक्र (बैलेंड साइकिल)के समान हो गया, जो कालान्तरमें एक लोक-महाकान्यके रूपमें विकसित हो गया।

रासोके सभी गुण-दोष 'आल्हखण्ड'मे भी वर्तमान है। दोनोमे अन्तर केवल इतना है कि एकका विकास दरवारी वातावरणमे शिष्ट, शिक्षित-वर्गके बीच हुआ और दूसरेका अशिक्षित ग्रामीण जनताके बीच । 'आल्ह्रखण्ड'पर अलंकत महाकाव्योंकी शैलीका कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पडता। शब्द-चयन, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, कम शब्दोंमें अधिक भाव भरनेकी प्रवृत्ति, प्रसंग-गर्भत्व तथा अन्य कान्य-रूढिथों और कान्य-कौशलका दर्शन उसमे बिलकल नहीं होता। इसके विपरीत उसमें सरल स्वामाविक ढंगसे, सफाईके साथ कथा कहनेकी प्रवृत्ति मिलती है, किन्त साथ ही उसमे ओजस्विता और शक्तिमचाका इतना अदम्य वेग मिलता है, जो पाठक अथवा श्रोताको झकझोर देता है और उसकी सूखी नसोंमें भी उष्ण रक्तका संचार कर साहस, उमंग और उत्साहसे भर देता है। उसमें वीर रसकी इतनी गहरी और तीव व्यंजना दुई है और उसके चरित्रोंको वीरता और आत्मोत्सर्गकी उस ऊँची भूमिपर उपस्थापित किया गया है कि उसके कारण देश और कालकी सीमा पार कर समाजकी अजस्र जीवनधारासे 'आल्हखण्ड'की रसधारा मिलकर एक हो गयी है। इसी विशेषताके कारण उत्तर-भारतकी सामान्य जनतामे लोकप्रियताकी दृष्टिसे 'रामचरित-मानस'के बाद 'आल्हखण्ड'का ही स्थान है और इसी विशेषताके कारण वह सदियोसे एक वड़े भू-भागके लोक-कण्ठमें ग्रॅजता चला आ रहा है।

मध्यकालमं, जब कि हिन्दी भाषाका गौरव-सूर्य मध्याहस्थित, चरम बिन्दुका स्पर्श करने जा रहा था, हिन्दीके दो
सिद्धहस्त कियों द्वारा दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये,
जिनमे उत्कृष्ट महाकाल्यके अनेक गुण समाहित हो सके
है। वे है—मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पशावत' तथा
गोस्त्रामी तुल्सीदासकृत 'रामचरितमानस'। दोनोंमें सुप्रसिद्ध कथानकोका आधार लिया गया है, जिनमें जीवनके
सभी पहलुओंके सर्वांगीण अनुभव भरनेके पर्याप्त अवसर
आये हैं और उनका स्क्ष्मतासे उपयोग भी किया गया है।
दोनों महाकवियोंकी भाषा तथा शैलीमें विलक्षण शक्ति है

और दोनोने अपनी भास्वर प्रतिभाकी सहायतासे इस महान् देशके उस उत्थानशील युगके उत्कृष्टतम विचारोको समेट-कर अपनी-अपनी रचनाओमे मखरित करनेका सफल प्रयास किया है। किन्तु महाकाव्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें कुछ कमियाँ भी खटकती है। 'मानस'मे पौराणि-कताका आत्यधिक प्रभाव रहनेके कारण कही-कही शिथिल कथानक और अवान्तर कथाओ तथा प्रसंगोंका आधिनय हो गया है (विशेषतया बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमे), इसके अतिरिक्त माहात्म्य और स्तोत्र, देवताओं द्वारा विभिन्न अवसरोपर पुष्प-वर्षा आदिके वर्णनोको पुनरावृत्ति, सैद्धा-न्तिक विशेचनों और प्रचारात्मक उपदेशोका आधिक्य, सब मिलाकर 'मानस'के कान्यात्मक पक्षको कछ दबा देते है। किन्त विचित्रताकी बात यह है कि धर्म-परायण भारतीय जनताकी मनोवृत्तिके अनुकूल होनेके कारण उसके दूषण भी भूषण हो गये हैं और इन्हीं विशेषताओंके कारण यह महाकान्यके साथ-साथ धर्म-ग्रन्थ भी बना हुआ है। 'रामचरितमानस' ही संसारका ऐसा अकेला महाकान्य है, जिसका करोड़ों व्यक्तियोके बीच धर्मग्रन्थ और काव्य, दोनों ही रूपोमे आदर है और अकेले इस ग्रन्थने लोक-जीवनको जितनी गहराईतक प्रभावित किया है, उतना संसारके किसी भी महाकाच्यने शायद ही कभी किया हो।

'पद्मावत'के नायक रतनतेनके जीवनमे-विशेषतया उसके उत्तराईमें कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे एक आदर्श चरितनायकके योग्य उत्कर्षका अभाव उसमें खटकता है। अलाउद्दीन और देवपालके युद्धोका कारण पद्मावती दिखायी गयी है और अन्तमे उसीके कारण रतनसेनकी पराजय तथा मृत्य भी दिखायी जानेसे एक ओर जहाँ प्रेम-मार्गमें आत्मोत्सर्गका आदर्श सिद्ध होता है, वही दूसरी ओर भारतीय आदर्शका हनन भी होता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक क्षेत्रमे भी रतनसेन-को हम कोई उच आदर्श स्थापित करते हुए नहीं देख पाते । उसमें मानव-सुलभ दुर्गुण-जैसे द्रव्यलोभ, धनमद, अदूरदर्शिता, उतावली आदि-भी दिखाई पडते है। इस-लिए स्वाभाविक रूपसे उसके प्रति पाठककी वैसी श्रद्धा नहीं जायत होती-जैसी राम, कृष्ण, भीष्म पितामह, राणा प्रताप आदि वीरश्रेष्ठोके प्रति होती है। यद्यपि जायसीने वहाँ ऐतिहासिक सत्यकी रक्षा करते हुए सामन्त-कालीन प्रवृत्तियोंका यथातथ्य वर्णन किया है, किन्तु इससे महाकाव्यकी उत्कृष्टतापर आघात अवश्य लगता है।

हिन्दी साहित्यका उत्तर-मध्यकाल फिर महाकाव्य-निर्माणके लिए अनुर्वर सिद्ध हुआ। दरवारी वातावरणमें काव्य-ज्ञान-प्रदर्शन द्वारा अधिक-से-अधिक सम्मान और धन प्राप्त करनेके लिए इस कालके किवयोंने काव्य-शास्त्रोंके आधारपर रस, अलंकार, छन्द तथा नायिका-भेदके विस्तृत निरूपण द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन और चमत्कार-प्रियताकी प्रवृत्ति इतनी अधिक वढ गयी थी कि लोक जीवनको प्रभा-वित करनेवाले किसी महत् उद्देश्यको लेकर काव्य-रचनाके छक्ष्य-की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्यथारा विशेषत्या मुक्तक-प्रधान रही, प्रबन्ध-काव्योंकी रचना प्रबन्ध-काव्यके अनुपातमे कम

हुई। जो बड़े आकारवाले प्रवन्ध-काव्य है, उनमेसे कुछ तो ऐमे है, जिनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान है और विषय-वस्तु, कान्य-शैली, चरित्र-चित्रण तथा उदेश्यकी महत्ताकी दृष्टिने जिनका अधिक महत्त्व नहीं है। कुछ पौराणिक-शैलीके प्रबन्ध-काव्य है, जिनकी रचना महा-भारत', 'रामायण' अथवा 'रामचरितमानस'के अनुकरण-पर हुई है। प्रथम कोटिकी रचनाओंमे मानकृत 'राज-विलास', गोरेलालकृत 'छत्रप्रकाश', सूदनकृत 'सुजान-चरित' तथा जोधराजकृत 'हम्मीररासो'के नाम लिये जा सकते है और द्वितीय कोटिकी रचनाओंमें सबल सिंह चौहानका 'महाभारत', बजवासीदासका 'बजविलास', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध', पद्माकरका 'रामरसायन', विश्वनाथ सिहकृत 'रामायण', गुमान मिश्रकी 'कृष्ण-चिन्द्रका' और केशवदासकी 'रामचिन्द्रका' प्रमुख है। इनमेसे अधिकांशको भ्रमवश महाकान्य कह दिया जाता है। वस्तुतः महाकाव्यके गुण किसीमे नहीं है।

'राजविलास' ऐतिहासिक शैलीका चरित-काव्य है, जिसमें संस्कृतके प्रशस्तिमूलक चरित-काव्य तथा हिन्दीके 'पृथ्वीराजरासो'की काव्य-पद्धति अपनायी गयी है। इसमे महाराणा राजसिंहके वंशकी उत्पत्ति, उनके पूर्वपुरुषोका इतिहास, राणाके जन्म, विवाह, युद्ध आदिके साथ उनके पराक्रम तथा औदार्य आदिका वर्णन हुआ है। असमयमें ही राजिसहिकी मृत्यु (सन् १६८० ई०)के कारण प्रन्थकी रचना भी आगे न बढ़ सकी और वह अपूर्ण रह गया है। इसमें कुल १८ विलास है, किन्तु ऐतिहासिक वृत्तवर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य ज्ञात होता है। इसमें न तो कथानक-की अन्विति है और न वीर रसके अतिरिक्त अन्य रसोंकी अंगरूपमे योजना ही हुई है। नायकको जीवनकी विविध परिस्थितियोमे रखकर उसके चरित्रका पूर्ण उत्कर्ष दिखानेमे भी यन्थकार सफल नहीं हो सका है और न भाषा तथा शैलीमें ही महाकान्योचित गरिमाकी झलक मिल पाती है। इन कारणोंसे 'राजविलास'को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

'छत्रप्रकाश'मे छत्रसाल बुन्देलेकी कीर्तिका वर्णन है और यद्यपि इसमे कुल छव्बीस अध्याय हैं, किन्तु पूरे ग्रन्थमें नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता ही दिखाई पड़ती है। सरस मार्मिक खलोंके चुनावके साथ जिस मर्भस्पशी माव-व्यंजनाकी महाकाव्यमे आवश्यकता होती है, उसका इसमे नितान्त अभाव है। इतिहासकी दृष्टिसे 'छत्रप्रकाश' महत्त्व-की पुस्तक है, क्योंकि उसमें सब घटनाएँ सची और सब ब्योरे ठीक-ठीक दिये है, किन्तु इसे महाकाव्य माननेका कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता।

'मुजानचरित'मे मुजान सिंह जाटके जीवन तथा युद्धों-का वर्णन है, किन्तु उनका चरित्र इतना उदात्त तथा लोक-प्रसिद्ध नहीं कि उसके आश्रयपर महाकान्यकी रचना हो सके। 'मुजान-चरित' अत्यन्त साधारण कोटिकी रचना है, जिसमे न तो जीवनके विविध पक्षोंका ही समावेश हो सका है और न उसकी शैली तथा उसकी शब्द-योजनामें ही सजीवताके कोई लक्षण वर्तमान हैं।

'हम्मीररासो' उन्नीसवी शताब्दीकी रासी-परम्परामे

सम्मवतः अन्तिम महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ है। यद्यपि यह ९७९ छन्दोका एक बड़ा यन्थ है, किन्तु सर्गोमे विभक्त नहीं है। जोधराजने अपने आश्रयदाता राजा चन्द्रभानके अनुरोधसे उनके पूर्वज हम्मीरदेवके चरित्रका वर्णन करनेके लिए इस काव्यकी रचना की। यद्यपि इसमे महा-काव्यकी वस्तु-वर्णन सम्बन्धी अनेक रूढियो, जैसे प्रकृति, युद्ध, संयोग तथा विप्रलम्भ, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यत्न, मन्त्रणा, दौत्य, नगर, देश आदिके वर्णनकी पद्धति भी अपनायी गयी है, फिर भी उद्देश्यकी महत्ता, महत्प्ररेणा, कथानककी संघटित योजना, तीत्र प्रभावान्विति, अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति आदिके अभावमे महाकाव्य नहीं माना जा सकता। नायककी पराजय तथा मृत्युके कारण यह दु:खान्त भी हो गया है।

दूसरी कोटिकी रचनाओंमें सबल सिहकृत 'महाभारत', विश्वनाथ सिंहकृत 'रामायण' तथा ब्रजवासीदास-कृत 'ब्रजविलास' यद्यपि पर्याप्त बड़े और लोकप्रिय ग्रन्थ है, पर उनमें कान्यात्मकता तथा मौलिकताका अभाव है। साधा-रण श्रेणीके भक्त पाठकोके लिए ही उनका महत्त्व है। पद्माकरका 'रामरसायन' वाल्मीकि-रामायणके आधारपर 'रामचरितमानस'की शैलीमे लिखा गया बडा चरितकान्य है, किन्तु काव्यात्मकता इतनी निम्न कोटिकी है कि विद्वानों-को इसे पद्माकरकी रचना माननेमें भी सन्देह होता है। 'रामाइवमेध' रीतिकालके अधिकांच प्रवन्धकाव्योकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित शैलीका कान्य है। उसमे 'पद्मपुराण' तथा 'वाल्मीकि-रामायण'के उत्तरकाण्डकी कथाका आधार ग्रहण किया गया है और रामके अरवमेध यज्ञको केन्द्र-विन्दु बनाकर कथा-वस्तुका विन्यास हुआ है। मधुसूदन-दासने इस यन्थकी रचनामे 'रामचरितमानस'की शैलीका अनुकरण किया है, जिसमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। किन्त उत्कृष्ट काव्यसौष्ठव तथा उदात्त शैली होते हुए भी उसमे उद्देश्यकी वह महत्ता, जीवनकी वह समग्रता तथा प्रतिभाकी वह उत्कृष्टता नहीं दिखाई पडती, जो मानसमें है। रामके जीवनकी एक लघु कथाका ही आश्रय लेकर क्विने वस्तुवर्णन-हास-कथानकका अनावश्यक विस्तार किया है, किन्तु केवल बृहत् आकारके आधारपर 'रामस्व-मेथ'को महाकाव्य मानना अचित नहीं है।

'रामचन्द्रिका'मे कुल ३९ प्रकाश या सर्ग है और यद्यपि उसमे भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट नायक 'रामचन्द्र'का समस्त जीवन-वृत्त वर्णित है, िकन्तु उसका उपयोग केवल छन्द-वैविध्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अलंकार आदिकी योजनामे ही हुआ है—उसके द्वारा केशव न तो किसी महत्कार्यका आदर्श रख सके, न जीवनके विविध पक्षोंका उद्धाटन ही कर सके । केशवकी कराना ऐसी विराट् नहीं है, जो समस्त युग-समाजके सदसत् रूपोंकी विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके । 'रामचन्द्रिका'में कथानककी जीवन्तताका नितान्त अभाव है । वस्तु-वर्णनमें देश-काल-स्वभावके औचित्य अथवा प्रवन्य-कौशलका तिनक भी ध्यान नहीं रखा गया है । अनपेक्षित वर्णनोंकी भरमार है, जिससे काव्य-सौन्दर्थ नष्ट हो गया है । अतिशय छिष्ट और अस्वा-भाविक करपनासे उद्भृत संस्कारोके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-भाविक करपनासे उद्भृत संस्कारोके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-

परिगणनाकी प्रवृत्ति, नाना प्रकारके छन्दोंके प्रभावहीन प्रयोग और पाण्डित्य-प्रदर्शनके आडम्बरके कारण 'राम-चन्द्रिका' अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम काव्य हो गया है। अतः उसको महाकाव्य क्या, एक सफल प्रवन्य-काव्य भी नहीं माना जा सकता।

गुमानकृत 'कृष्णचिन्द्रिका'का यद्यपि उतना प्रचार नहीं हुआ, किन्तु कई दृष्टियोंसे वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। उसमें 'रामचिन्द्रका' और 'मानस'की दौलियोंका सुन्दर समन्वय हुआ है। शास्त्रीय लक्षणोंकी दृष्टिसे उसमे महान्वाव्यके सभी लक्षण वर्तमान है—केवल एक अमाव है, वह यह कि एक सर्गमे एक ही छन्द्रका प्रयोग नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी महाकाव्यके नायकमे जो महत्ता होनी चाहिये, वह 'कुष्णचिन्द्रका'के कुष्णमे नहीं मिलता। उसमें उनके जीवन-व्यापी कार्योंका वर्णन नहीं मिलता। उसकी दौली यद्यपि निद्रोंष और आकर्षक है, किन्तु उसमें महाकाव्योचित उदात्तता और गम्मीरता नहीं है, जो किवकी महाप्राणता, विराट् कल्पना और गम्भीर दृष्टिसे उद्भूत होती है।

हिन्दीका वर्तमान काल सामन्त-युगके अन्त और पूँजीवादी प्रवृत्तिगोंके उदयके साथ अवतरित हुआ। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके बढ़ते हुए आन्दोलनने इस कालके साहित्य और संस्कृतिको भी एक नयी दिशा दी और प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप काव्यमे भी व्यक्तिगत चिन्तनके साथ आत्मानुभूतिने जोर पकडा। आधुनिक वैद्यानिक खोजोके प्रकाशमे पुराने विश्वासो, आचारो तथा मान्यताओकी मनुष्यने नये ढंगसे व्याख्या की।

वर्तमान कालमे हिन्दीमें लम्बे आकारके प्रबन्ध-काव्योंकी बाढ-सी आ गयी। उनमें ते अधिकां शको स्वयं उनके रचियताओंने महाकाव्यकी संज्ञा दी है और कुछको उनके आकार आदिके कारण भ्रमवश महाकाव्य माना जाता है। इस प्रकारकी रचनाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित अन्धोंका नाम लिया जा सकता है-१. 'राम-स्वयंवर': महाराज रघनाथ सिह, २. 'रामचन्द्रोदय' : रामनाथ ज्योतिषी, ३. 'रामचरित-चिन्तामणि' : रामचरित उपाध्याय, ४. 'कोशलकिशोर' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ५. 'वैदेही-वनवास' : अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ६. 'मेघनाद-वध' (माइकेल मधुसूदन दत्तकृत मूल बॅगलासे अनुवाद) : मैथिलीशरण ग्रप्त, ७ 'साकेन सन्त' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ८. 'नूरजहाँ': गुरुभक्त सिंह, ९. 'दैत्यवंश': हरदयालु सिंह, १०. 'सिद्धार्थ': अनूप शर्मा, ११. 'वर्द्धमान': अनूप शर्मा, १२. 'जननायक': रघुवीरशरण मित्र, १३. 'हल्दी-घाटी': इयामनारायणपाण्डेय, १४. 'जौहर': इयाम-नारायण पाण्डेय, १५. 'आर्यावर्त': मोहनलाल महतो 'वियोगी', १६. 'मेधावी': रांगेय राघव, १७. 'कुरुक्षेत्र': 'दिनकर', १८. 'विक्रमादित्य' : गुरुभक्त सिंह, १९. 'गान्धीचरित्रमानस' : विद्याधर महाजन, २०. 'पार्वती' : रामानन्द तिवारी, २१. 'अगराज' : आनन्दकुमार ।

इन कान्योंमे वह शक्ति नहीं है, जो उन्हे अमरता प्रदान कर सके। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दोंके चयनकी अक्षमता, गम्भीर जीवन-दर्शनका अभाव और कल्पना-शक्तिओं हीनताके कारण न तो उनमें गुरुत्व, गाम्भीयं और महत्त्व आ सका है और न शैळी ही महाकाव्योचित गरिमा और उदात्ततासे गुक्त हो सकी है। साथ ही एक विचित्रता यह है कि उक्त अन्थोंके रचिताओं में अधिकांशने इन प्रवन्ध-काव्योकी रचना महाकाव्यकी ही दिष्टेसे की है और उन्हें महाकाव्य माननेका प्राक्तथन आदिमें स्वयमेव कर भी दिया है। ऐसे ही महाकवियश-प्रार्थी महानुभावोंके प्रति रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि इस समयके किव जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कहकर सरस्वतीके साथ पहलेसे ही वन्दोवस्त करके एपिक लिखने बैठ जाते है, प्राचीन कवियोमें ऐसा फैशन न था 'मेघनाद-वध'के हिन्दी अनुवादकी मूमिका: ए० १५७, झॉसी, प्र० मं०, सं० १९८४)।

महाकान्यकी दृष्टिसे आधुनिक कालके केवल चार प्रनथ विचारणीय है । वे हैं-- १. हरिऔधकृत 'प्रियप्रवास', २. मैथिलीशरण गुप्तकृत 'साकेत', २ जयशंकर 'प्रसाद'कृत 'कामायनी', ४. द्वारकाप्रसाद मिश्रकृत 'कृष्णायन'। 'प्रिय-प्रवास' तथा 'साकेत'में आधुनिक बौद्धिकतावादका प्रभाव भलीभाँति दिखाई पडता है। एकमें यदि 'श्रीमद्भागवत'-की कथाका बौद्धिकीकरण और कृष्ण-राधा आदिके चरित्रोंका उदात्तीकरण है, तो दूसरेमें रामायणके उपेक्षित पात्रोंको प्रकाशमे लाकर उसके देवत्वग्रण-यक्त पात्रोंको मानव जीवनके सामान्य धरातलपर उपस्थित करनेका प्रयास किया गया है। किन्तु एकमे बृष्णके प्रवासपर गोपियोके विरह-वर्णनको और दूसरेमे प्राचीन कवियो द्वारा उपेक्षिता उर्मिलाके विरह-वर्णनको अत्यधिक महत्व देनेके कारण दोनोका दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। मानव-जीवनके अन्य आवश्यक अंग या तो अछते रह गये है या केवल नाममात्र-को ही उनकी चर्चा मिल पाती है। गम्भीर जीवन-दर्शनके अभावमे इन कवियों द्वारा उपस्थापित चरित्रोमें महत्ताका वह उच्च आदर्श नहीं आ सका है जो प्राचीन महाकवियों द्वारा उन्ही पात्रोंके चरित्रांकनोमे पाया जाता है। नवीन युगकी आरम्भिक रचनाएँ होनेके कारण भाषा-शैली आदिका निखार भी उच्चतर स्थितितक नहीं पहुँच सका है और यद्यपि आरम्भमें जनताने बड़े चावसे अपनाया, किन्त समयकी प्रगतिके साथ उनका मूल्य निरन्तर बढ़नेकी अपेक्षा घटता हुआ ही दिखाई पड रहा है। समग्र-जीवनके चित्रणकी दृष्टिसे 'कृष्णायन'मे अवस्य ही कुछ विशिष्टता दिखाई पडती है, किन्त उसमें शैलीकी उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव प्रभावान्विति, कान्यात्मक उत्कृष्टता तथा जीवनी-शक्तिका अभाव खटकता है। 'मानस'की भॉति 'क्रष्णायन' भी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है, क्योंकि इसमें कुत्रिमता तथा अनुकरण-प्रियता ही अधिक है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रवन्ध-काव्योंको हम महाकाव्यकी कोटिमे नही रख सकते।

'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्यका एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध-काव्य है, जिसमे आधुनिक युगकी प्रव-त्तियों और विशेषताओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियोंसे हिन्दीके ही नहीं, अपने युगके पूर्ववतीं समस्त भारतीय महाकाव्योंसे भिन्न एक निराले स्थानका अधिकारी है। 'प्रसाद'ने वर्तमान युगके बुद्धिवादका दुष्परिणाम दिखानेके लिए श्रातपथ-ब्राह्मणमें विणित एक आख्यानका आधार लिया है, जिसमे प्राचीन जल-प्लावनके उपरान्त मनु सृष्टिके पुनिविधानका उपक्रम करते है। स्पक्षकी भावनाके अनुसार 'कामायनी' अथवा श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है, जो मनुष्यको जीवनमें शान्ति प्रदान कर उसे कल्याण-मार्गपर अग्रसर करती है। इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको तर्क-वितर्कके निर्मम जालमें उलझाकर सुख-शान्तिसे दूर ढकेल ले जाती है। इसके अतिरिक्त, चिन्ता, लज्जा, काम, वासना आदि नाना चित्तवृत्तियोंको कल्पनाकी जिस मधुमती भूमिकापर सजाया गया है, उससे 'प्रसाद'की उत्कृष्ट कवित्व-शक्तिका परिचय मिलता है।

'कामायनी'की प्रेरणा-शक्ति भारतीय संस्कृतिकी वह उदार कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि है, जिसका केन्द्रविन्दु समन्वय है । उसमे 'प्रसाद'ने भारतीय संस्कृतिको विश्वमानवकी संस्कृतिमे, व्यक्ति-चेतनाको समष्टि-चेतनामें विलीन करके मानवतावादका नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है । एक सफल द्रष्टाको भॉति उसमे उन्होने मावन-जीवनको आदिसे अन्ततक हस्तामलकवत् देखकर उसके मृल रहस्यका उद्घाटन किया है । उद्देश्यकी इसी महत्ताके कारण उसमे वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व भी आ सका है, जिसके कारण कोई काव्य महाकाव्य कहलाता है ।

वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजनामे यद्यपि 'प्रसाद'ने महा-काव्यके शास्त्रीय लक्षणों और चिराचिरत रूढ़ियोंका पालन नहीं किया और उसमे मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन चिन्ता आदि प्रस्तावना सम्बन्धो ब्योरों तथा सामाजिक सम्बन्धो, उत्सवो और रीति-रिवाजोंका वर्णन नहीं मिलता, किन्तु आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओ—जैसे नगर, समुद्र, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ग, यात्रा, कषा, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्र-स्थं-नक्षत्रादि, वसन्त, युद्ध, विप्रलम्भ-संयोग, कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक आदिका बडा ही विश्वद और मांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमे भी सबसे अधिक उल्लास कविने प्राकृतिक उपकरणो तथा श्वंगारके विविध अवयवोंके वर्णनमे दिखाया है।

उक्त विशेषताओं से साथ ही 'कामायनी' शि एक भारी श्रुटि यह है कि उसका कथा-तन्तु अत्यन्त क्षीण है और उसमें भी दार्शनिकता तथा मनोवैश्वानिकताका इतना जटिल जंगल है कि वह केवल ऐसे पाठकों तक ही सीमित रह जाता है, जिनका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य धरातलसे पर्याप्त कॅचा हो। भारतीय सस्कृतिक मूल तत्त्वों, विशेषतया अद्धैतवाद तथा शैवागमके प्रत्यभिश्वादर्शनके साथ-ही-साथ आधुनिक मनोविश्वानके प्रमुख तत्त्वो—फायल्के काम-सिद्धान्त, मार्क्सके द्व-द्वात्मक भौतिकवाद, डाविनके विकासवाद आदि—से जिनका सामान्य परिचय भी न होगा, वे निश्चय ही 'कामायनी' में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि उसे वैसी लोक-प्रियता कदाचित् नहीं प्राप्त हो सकती, जैसी 'रामचिति-अथवा 'पद्मावत' को प्राप्त है, किन्तु उसका निरालापन भी यही है कि वह घटना-प्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य

नहीं है। वह भाव-प्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अतः स्वभावतः उसमें मानव-मनके विविध पक्षोंका उद्घाटन और व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना-वैविध्य नहीं। इस अभावके होते हुए भी अपनी अन्य विशेषताओंके कारण 'कामायनी'को हिन्दीके उत्कृष्ट महाकाव्योंकी कोटिमें स्थान मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि हिन्दीमें वास्तविक महावाान्य केवल पॉच- 'पृथ्वीराज रासी', 'आल्ह्खण्ड', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' है । अन्य प्रबन्ध-काञ्य जिन्हें आकारकी विञालता तथा महाकाव्य सम्बन्धी अन्य रूढियोंके पालनकी दृष्टिसे महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नहीं, महाकाव्याभास मात्र हो सकते है (दे॰ 'प्रबन्ध-काव्य' और 'चरित-काव्य')। --पा० ना० ति० महान्-'महान्' या 'महत्' सांख्यदर्शनमे बुद्धिके वाचक शब्द है। बाह्य जगत्की दृष्टिसे यह विराट बीज है, अतः इसे 'महत्तत्त्व' भी कहते है । आभ्यंतरिक दृष्टिसे यह वह वुद्धि है, जो जीवोंमें विद्यमान रहती है और ज्ञाता एवं ज्ञेय-के आपसी भेदाभेदका निश्चय और अवधारण करती है। सांख्य दर्शनके अनुसार प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे प्रकृतिमें विक्षोभ होता है और उसकी साम्यावस्था ट्रट जाती है। इस विश्वब्ध स्थितिको 'गुणक्षोभ' कहा जाता है। यहीं प्रकृति विकृतिका रूप लेने लगती है और प्रकृतिके प्रथम विकार 'महान्' या बुद्धिका उद्भव होता है। सांख्यद र्शन जगतकी उत्पत्तिकी अपनी कल्पना है (दे० 'सांख्यकारिका' एवं 'सांख्य कौ मुदी', २१-२४)। इस सृष्टि क्रममें सनसे पहले महान् या बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है, फिर उससे अहंकारका। पुनः सात्त्विक अहंकारसे एकादश इन्द्रियो (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कमेंन्द्रियाँ, १ मन)की, तामस अहंकारसे पंचतन्मात्रोकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार उक्त दोनो अहंकारोंको शक्ति देता है, जिससे उनमे उक्त विकार उत्पन्न होते है। इस प्रकार महान् प्रकृतिमें सृष्टि क्रममें घटित होनेवाली प्रथम विकृति है। —रा० दे० सिं० महापुरुषवाद - इतिहासकी प्रगति और परिणतिकी व्याख्या और इतिहासको प्रक्रियामें अन्तर्लीन तत्त्वोके उद्घाटनके अनेक प्रयत्न देखनेको मिलते है। महापुरुषोंके आविर्भाव-का दृष्टिकोण इन प्रयत्नोमे एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है। महापुरुषोके आविर्भावके हवाले ऐतिहासिक घटनाओकी

नहापुरपात आपमावक ह्वाल एतिहासिक वटनाजाका व्याख्या करनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८५-४२५ ई० पू०), जिसे विश्वका प्रथम इतिहासकार तथा इतिहासका पिता कहा जाता है, यह मानकर चलता है कि सम्पूर्ण इतिहासका विधाता महापुरुष ही हुआ करता है किन्तु महापुरुषके आविर्मावके इष्टिकोणको एक सुन्यवस्थित इतिहासन्दर्शनका रूप देनेका श्रेय टॉमस कार्लायल (१७९५-१८८१)को है, जिसकी 'हीरोज एण्ड हीरो-वर्शिए' शिषंक पुस्तक आज एक क्लासिक बन चुकी है। इस पुस्तकमे बढ़ी ही रोचक शैलोमे असाधारण शक्ति अथवा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियोंको ऐतिहासिक विकास और परिवर्तनका एकमात्र कारण सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है।

कार्लायलका कहना है कि समस्त इतिहास वस्तुनः महापुरुपोंका इतिहास है या यो कहें कि इतिहास महापुरुपोंकी जीवनीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

महापुरुपसे उसका क्या तात्पर्य है ? कार्ठायळसे पहळे जो इतिहास लिखा जाता था, उसे आज सैनिक इतिहासका कटाक्ष-मूळक नाम दिया जाता है। तत्कालीन इतिहासमे केवळ आक्रमण और संघर्ष सम्बन्धी घटनाओंकी भरमार रहती थी। सभ्यता और संस्कृतिके विविध पक्षींका इतिहास यूं ही टाळ दिया जाता था। किन्तु कार्ठायळने एक नथी परम्पराका प्रवर्तन किया। उसके महापुरुष केवळ रणभूमिन नही अपितु साहित्य, कळा, धर्म प्रभृति सभी क्षेत्रोंमे देखनेको मिळते है। वह मोटे तौरपर छः प्रकारके महापुरुषोंकी चर्चां करता है—

- (१) अवतारी महापुरुष, जिमे साक्षात् ईश्वरके रूपमें माना गया हो, जैसे ओडिन।
  - (२) देवदूत, जैसे मुहम्मद ।
  - (३) कवि, जैसे शेक्सपियर ।
  - (४) धर्मशास्त्री, जैसे मार्टिन लूधर।
  - (५) साहित्यकार, जैसे डॉ॰ जानसन।
  - (६) राजा, जैसे नैपोलियन।

प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अपने-अपने क्षेत्रमें इतिहासका निर्माण तथा परिचालन करता है और सक्का ऐतिहासिक महत्त्व है। तथापि वह राजाको इनमें सबसे बडा दर्जा देता पाया जाता है।

कार्लायलके महापुरुषवादकी एक अत्यन्त रोचक उपस्थापना है महापुरुषत्व-धर्मकी तात्त्विक एकताका सिद्धान्त । प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अन्य प्रकारका महापुरुष बननेकी क्षमता और सम्भावना रखता है । उदाहरणार्थ, यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो एक महायोद्धा-को एक महाकवि बनते देर नहीं लगेगी । इसी प्रकार, युगकी मांगके उत्तरमे एक बहुत बड़ा कि भी उतना ही बड़ा योद्धा बन सकता है । प्रत्येक प्रकारके महापुरुषको, अञ्चक्त रूपमें, प्रत्येक अन्य प्रकारका महापुरुष समझना चाहिए।

महापुरुषत्व-धर्मकी तात्त्वक एकताका सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापना है, किन्तु इसकी ओर चिन्तकोंका ध्यान कम ही गया है। जब सिकन्दरने डायोजेनीज नामक यूनानी सन्तसे कुछ मांगनेको कहा, तो सन्तने वस इतना ही कहा कि सामनेसे हट जाओ, मुझे धूप खाने दो। सिकन्दर इससे इतना प्रभावित हुआ कि—कहा था कि यदि मै सिकन्दर न होता तो डायोजेनीज बनना चाहता। सिकन्दरके महापुरुषने डायोजेनीजके महापुरुषको पहचाना था और उसके साथ तादात्म्यका अनुभव किया था। इसी प्रकार, जैसा कि हम देखेंगे, जब, कार्लायलके समान, हीगेल, स्पेंग्लर, नोत्ये आदि योद्धाके प्रति अपार मिक प्रकट करते हैं और उसे श्रेष्ठतम महापुरुष घोषित करते हैं, तब वे उसके साथ महापुरुषत्वके तलपर तादात्म्यका हो अनुभव करते रहे होंगे। इन तथ्योंको व्याख्या अन्यथा अमम्भवपाय है।

कार्लायलके बाद केवल दो चिन्तक ऐसे हुए है, जिन्हे जुद्ध महापुरुषवादो माना जा सकता है। उनमेंने प्रथम है एक अमेरिकी लेखक, फ्रेंडरिक ऐडम्स उड । उसने अपनी पुस्तक 'द इन्फ्डुएंस ऑव मॉनक्सीमें ऑकडे देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि राजा ही युगका स्रष्टा होता है। भीष्मने कहा था—"कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्। इति ते संद्ययो मा भूत्, राजा कालस्य कारणम्॥", अर्थात् राजा ही काल अथवा युगका कारण होता है, न कि युग राजाका। उड और भीष्ममं यहाँ विलक्षण मतैक्य दिखाई देता है।

कार्लायल और उडके बाद सम्भवतः एकमात्र शुद्ध महापुरुषवादी है प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स (१८४२-१९१०), जिसने अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निवन्ध 'मेट मेन एण्ड देयर इनवायरॉनमेट'मे वडी ही ओजपूर्ण शैलीमें महापुरुषवादी दृष्टिकोणको विशद करनेकी चेष्टा की है। इस निवन्धकी विशेषता है महापुरुषवःदपर हवँद स्पेंसर द्वारा किये गये आक्षेपोंका विद्वत्तापूर्ण उत्तर, जिसकी बानगी आगे आयेगी।

कुछ चिन्तक ऐसे है, जो शुद्ध महापुरुषवादी नहीं कहें जा सकते और जो महापुरुषोक्ते आविर्मावके दृष्टिकीणको केवरु आंशिक रूपमें प्रश्नय देते पाये जाते है।

हीगेल (१७७०-१८३१), जिसकी दृष्टिमे इतिहास विश्वातमाकी उत्तरीत्तर स्वरूपोपलिब्धकी कहानी है, की मान्यता है कि प्रत्येक युगकी अपनी आत्मा होती है, जिसका प्रतिनिधित्व महापुरुष करता है। महापुरुषोंका आविर्माव विश्वात्माके कार्य-साधनके निमित्त हुआ करता है, किन्तु लोग तथा महापुरुष स्वयं भी प्रायः इस अममे पड़ जाते है कि वे इतिहासको बदलनेमे किसी निजी स्वार्थकी सिद्धि कर रहे है।

स्पेंग्लर (१८८०-१९३६) भी महापुरुषको उसकी संस्कृतिकी आत्मा कहकर पुकारता है। उसके अनुसार महापुरुष विश्व-संचालिनी महानियतिके अभिकत्तां (एजेट) होते है।

हीगेलको जब भी किसी महापुरुषका उदाहरण देना होना है, तब वह सिकन्दर, सीजर, फ्रेडरिक महान् और नैपोलियनका ही उल्लेख करता है। लगता है कि वह योद्धा हो को वास्तिवक महापुरुप माननेके पक्षमें है। स्पेंग्लर योद्धा और राजनेताको 'तथ्याग्रही पुरुष' (मेन ऑव फैक्ट) और विचारक और 'पुस्तक-कीट'को 'सल्या-प्रही पुरुष' (मैन ऑव ट्रथ्)की संज्ञा देता है और कहता है कि तथ्याग्रही सत्याग्रही श्रेष्ठ और इतिहासको मर्वाधिक प्रभावित करनेवाला होता है। सत्याग्रही बस साहित्यके इतिहासमे स्थान पाकर रह जाता है, ठोस इतिहासमे उसका उसे कोई स्थान नहीं मिलता।

मैक्स वेवर (१८६४-१९२०)के इतिहास-दर्शनमे भी महापुरुषवादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह महापुरुषत्व-धर्मको करिइमा (charisma) कहकर पुकारता है। आर्नाल्ड जे० दूवायनवीकी मान्यता है कि कियाका स्रोत समाज नहीं, बल्कि कोई महापुरुष ही हुआ करता है। ये महापुरुष या तो विजेता होते है या तारक (सेवियर)। उत्कर्षोन्मुख सभ्यताका नेता विजेता और अपकर्षोन्मुखका तारक होता है।

आजका प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक सिडनी हुक अपनी पुस्तक 'द हीरो इन हिस्ट्री'मे काफी हदतक मार्क्सवादसे महापुरुषवादकी ओर लौट आया है।

महापुरुषवादी इतिहास-दार्शनिकोने प्रस्थान-निर्माणका विशेष यत्न नहीं किया है। महापुरुषवादी दृष्टिकोणसे मानवीय इतिहासका विधिवत् अध्ययन वस्तुतः हुआ ही नहीं है। इसका एक कारण यह है कि शुद्ध महापुरुषवादी दो या तीन ही लेखक दिखायी देते है, शेष तो केवल आंशिक रूपमे महापुरुषवादको प्रश्रय देते है। अव आलोचकोंने महापुरुषवादपर जो आपत्तियाँ उठायी है और महापुरुषवादियोंने अपने दृष्टिकोणके समर्थनमें जो तर्कनितर्क किये है, हम उनपर किंचित् विचार करना चाहेगे।

हर्बर्ट स्पेसर (१८२०-१९०३) और कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) का कथन है कि महापुरुषवाद जहाँ तक जाता है, वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु वह दूर तक नहीं जाता—वह महापुरुषोंकी महत्ताकी व्याख्या करनेमे असमर्थ है। उनका कहना एक सीमा तक ठीक भी है। कार्लायल तो यह कहकर मौन हो जाता है कि महापुरुष अज्ञात और असीमकी ओरसे मनुष्यके लिये भेजा गया सन्देशहर है। हीगेल और स्पेंग्लरके अनुसार महापुरुष कमशः विश्वातमा और नियतिकी ओरसे आविर्भूत होता है। उडके अनुसार वह मानव-योनिके अन्तर्गत एक उपयोनि है। इनके विरुद्ध, मोटे तौरपर, स्पेंसर और मार्क्सका मत है कि महापुरुष सामाजिक-आर्थिक शक्तियो अथवा युगकी मांगके वश आविर्भूत होते हैं।

मार्क्स और एंगिल्सकी मान्यता है कि प्रत्येक युग अपने महापुरुष ढूँढ लेता है और यदि वे ढूँढनेसे नहीं मिलते तो उनका आविष्कार कर लेता है। एंगिल्स तो यहाँतक कहनेको तैयार है कि यदि किसी महापुरुषको उसके क्षेत्रसे हटा भी दिया जाय तो उसका स्थान छेनेके लिए तुरन्त एक दूसरा महापुरुष उत्पन्न हो जायगा, जो लगभग पहले महापुरुषके सहरा ही होगा।

कार्लायलने अपनी पुस्तकमें इस प्रकारकी शंकाओं के लिए एक समाधान दे रखा है। उसे आइचर्य है कि लोग महापुरुषको समयकी पैदावार बतलाकर उसकी महत्ता कम कैसे कर देते है। उसके शब्द सुनिये—"लोगोका कहना है कि वह समयकी पैदावार था, समयकी पुकारके फलस्वरूप वह पैदा हुआ, समयने सब कुछ किया, उसने कुछ नही किया…। मुझे तो यह बौद्धिक दिवालियापन प्रतीत होता है। समयकी पुकार श अफसोस, हमे ऐसे समयोंका पता है, जिन्होंने अपने महापुरुषको काफी जोरसे पुकारा था, किन्तु उसे पाया नही। वह था ही नहीं, विधाताने उसे मेजा ही नहीं था, समयको पुकारते-पुकारते अस्त-व्यस्त और ध्वस्त हो जाना पडा, क्योंकि पुकारनेपर वह महापुरुष पहुँचा ही नहीं"।

इसके अतिरिक्त, महापुरुषवादी यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि प्रतिभाशाली ही वास्तविक महापुरुष हो सकता है और प्रतिभाकी उत्पत्ति एक सर्वथा आकस्मिक घटना है। ऐसी स्थितिमे गुगकी मॉगपर महापुरुष झट उपस्थित कैसे हो जायगा। विलियम जेम्स और सिडनी हुकने इस

सम्बन्धमे महापुरुषवादके विरोधियोके लिए बड़े विकट प्रश्न उठाये हैं । स्पेंसरको उत्तर देते हुए जेम्स कहता है कि क्या यदि शेक्सपियर शैशव-कालमे ही परलोक सिधार गया होता तो उसके जन्मस्थान स्ट्रेटफर्ड-ऑन-अवॉनकी किसी अन्य मांके माध्यमसे उसकी प्रतिलिपि तैयार हो जाती ? इसी प्रकार सिडनी हुकने एंगिल्सके खण्डनमे कहा है कि एंगिल्सके अनुसार आर्थिक अन्तिविरोधका अन्त एक अटल ऐतिहासिक धावश्यकता है और रज और वीर्यका समागम ऐतिहासिक धावश्यकता है और रज और वीर्यका समागम ऐतिहासिक हिंधसे आकस्मिक हैं। तो फिर ऐतिहासिक आवश्यकता प्राणिशास्त्रीय क्षेत्रकी आकस्मिकतापर कैसे हावी हो जाती हैं ? ऐतिहासिक आवश्यकता और प्राणिशास्त्रीय आकस्मिकताका सामंजस्य कैसे सम्पन्न हो जाता है ? अतः महापुरुषको सामाजिक-आर्थिक शक्तियोकी पैदावार बतलाकर उसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं किया जा सकता।

अस्तु, अब हम महापुरुषवादी दृष्टिकोणका थोडा मृल्यां-कन करनेका प्रयत्न करें। मार्क्सवादी तथा महापुरुषवादके अन्य विरोधी यह भूल जाते है कि इतिहासकी प्रक्रिया अथवा विकास-मार्गके कई विकल्प होते है और यह कि यदि मौकेपर समर्थ महापुरुष उपस्थित रहा तो इस बातका निर्णय बहुत कुछ उसके हाथमे होगा कि इतिहास कौन सा मार्ग ग्रहण करे। यहाँ महाप्रुषकी प्रभविष्णतासे किसी प्रकार भी इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या महापुरुष ऐतिहासिक विकासको आमूल-च्ल उलट सकता है ? उदाहरणार्थ, क्या वह इतिहासकी प्रक्रियापर इतना वश प्राप्त कर सकता है कि पूँजीवादके बाद सामन्तवाद जैसी प्रतिगामी व्यवस्थाकी प्राणप्रतिष्ठा कर दे ? यहाँ उत्तर हाँ मे कदापि नही दिया जा सकता। इस स्थितिमे निश्चय ही सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ उसकी अपेक्षा कही अधिक बलवती सिद्ध होगी। इस तथ्यसे इनकार करनेका अर्थ होगा, महापुरुषवादको अतिकी सीमा-तक ले जाना।

एक समसामयिक लेखक कार्ल जी॰ गुस्तावसनने महापुरुषकी इतिहासकारिताके निर्धारण-निर्णयके सिलसिलेमे छः बातोंपर ध्यान देनेकी सिफारिश की है—(१) कुछ सामाजिक शक्तियाँ किसी भी महापुरुषके लिए अजेय होती है; (२) दीर्घकाल-न्यापी प्रकृत्तियोंका अनुशासन महापुरुषके लिए भी कठिन होता है; (३) किसी एक ऐतिहासिक घटनाकी तफसीलें प्रायः सम्बद्ध पुरुषों द्वारा ही अनुशासित होती है; (४) इतिहासकारिताके स्थल बहुषा 'ठीक समयपर ठीक आदमी' नियमके निदर्शन होते है; (५) अवसर पाकर साधारण प्रतिभा भी इतिहासिक परिवर्तनपर उसके विशिष्ट सन्दर्भमें ही विचार होना चाहिए।

वस्तुतः प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि क्या महापुरुष इतिहासकी प्रक्रियाको दिशा दे सकता है, बल्कि यह कि वह उसे किस सीमानक दिशा दे सकता है। प्रत्येक अन्य प्रकारकी क्षमताके समान इतिहासके निर्माणकी क्षमतामे भी तारतम्य देखनेको मिळता है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे हैं, जो इतिहासको एक नगण्य सीमातक ही प्रभावित कर सकते हैं, कुछ ऐमे हैं, जो एक पूरे युगको बना-विगाड सकनेमें सक्षम है और कुछ ऐसे भी हो सकते और होते है, जा एक पूरी संस्कृतिका भाग्य-विधान करनेकी सामर्थ्य रखते है। इस तारतम्यको ध्यानमे रखकर महापुरुषोंके कार्यका मृत्यांकन ही वैज्ञानिक और यौक्तिक मृत्यांकन कहा जा सकता है।

अभी हालतक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे महापुरुषवादी प्रवृत्तिका बोलवाला रहा है। सांस्कृतिक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे यह वाद अपने पुराने रूपमे तो नहीं रहा, किन्तु वह किसी-न-किसी रूपमे अब भी विद्यमान है। युग-विशेषके लेखक-समूह तथा प्रवृत्ति-समूहका इतिहास प्रस्तुत करनेके बदले केवल बड़े लेखकों और बड़ी प्रवृत्तिचोंका विवरण दे देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रचिलत साहित्य-तिहास-लेखनकी इस व्यापक प्रवृत्तिकी विचारोत्तेजक आलोचना निलनविलोचन शर्माके 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' (१९६०)मे देखनेको मिलती है। इस सम्बन्धमे इस पुस्तककी हर्षनारायणकी जुलाई १९६३के क स्व गमे प्रकाशित समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

हिन्दीमे इतिहासकी नहापुरुषवादा व्याख्याकी चर्चा, शायद सर्वप्रथम मन्मथनाथ ग्रुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्माके 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (१९४६ ई०)मे आयी, किन्तु 'महापुरुषवाद' शब्दका प्रथम प्रयोग हर्षनारायणके जनवरी १९५२.ई०के 'प्रतीक'में प्रकाशित लेख 'इतिहासकी महापुरुपवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' में हुआ। इस लेखकी मन्मथनाथ ग्रुप्तकी आलोचना 'हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाके साथ मार्च' १९५२ ई० के 'प्रतीक'में प्रकाशित हुई थी। मन्मथनाथ ग्रुप्तने 'प्रगतिवादकी रूपरेखा' (१९५२ ई०)में अपनी आलोचना समाविष्ट करते हुए हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाकी समीक्षा की है।

सिहायक प्रनथ-कालीयल : हीरोज ऐण्ड हीरो-विशिप: फ्रडरिक ऐडम्स उड: द इन्फ्लुएन्स ऑव मॉनक्सी; बी० एच० लेहमान: कार्लायस्स थियरी ऑव द हीरो; एरिक वेन्टले : द कल्ट ऑव द सुपरमैन; जैकव वर्कहार्ट : द ग्रेट मैन इन हिस्ट्री और फोर्स ऐण्ड फीडम; विलियम जेम्स: ग्रेट मेन ऐन्ड देयर एन्वायरॉनमेन्ट; द विल टु बिलीव ऐण्ड अदर एसेजः टॉल्स्टॉय : वार ऐन्ड पीस और सेकण्ड एपिलॉग; हर्बर्ट स्पेन्सर: स्टडी ऑव सोशियोलॉजी; प्लेखानीव : द रील ऑव द इन्डिविजुअल इन हिस्ट्री; सिडनी हुक: द हीरो इन हिस्ट्री; बुखारिन: हिस्टॉरिकल मैटीरियलिङमः मार्क्स-एंगेल्सः सेलेक्टेड करेस्पॉन्डेन्सः आर० एम० मैकआइवर : 'हिस्टॉरिकल एक्सप्लेनेशन', एसेज ऑन लॉजिक ऐन्ड र्लगुएज—सेकन्ड सीरीज(ऐण्टॉनी फ्ल्यू द्वारा सम्पादित); गुस्तॉव्सन : अ प्रिफेस ह हिस्ट्री; हर्षनारायण : 'द रोल ऑव पर्सनॉलिटी इन हिस्ट्री' (मॉडर्न रिब्यू, नवम्बर, १९५९ ई०); 'इतिहास-की महापुरुषवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' ('प्रतीक', जनवरी, १९५२ ई०); 'महापुरुषवाद' (वही, मार्च, १९५२ ई०); मन्मथनाथगुप्त, (वही, 'ऐतिहासिक भौतिक----ह० ना० वाद')।] तेरहवाँ सबैया-दे० 'सवैया', महाभुजंगप्रयात प्रकार ।

महामुद्रा - बौद्ध तन्त्रोमे मण्डलचक्र और मुद्रा-मैथुनमे स्नियो-का उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था, यद्यपि वे इस साधनाको भौतिक रूपमें घहण नहीं करते थे। 'मुद्रा', अर्थात् 'मोद देनेवाली' इस व्याख्यासे मुद्राको नारी रूपमे कल्पित किया गया। सिद्धोने भगवती नैरात्माको महासुद्राके रूपमें परिकल्पित किया। महामुद्राकी साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी, इस साधनामे निष्णात होनेके उपरान्त ही साधककी गणना सिद्धाचार्योंने होती थी। अपनी समकक्ष किसी योगिनीको महासुद्रा-रूपमें वरण कर साधक गुरुके पास जाता है। वहाँ उसे अभिषिक्त किया जाता है, फिर साधक महामुद्राके साथ मण्डल-चक्रमे प्रवेश करता है। 'गुह्मसमाजतन्त्र'के अनुसार नारी महामुद्राके तनमें भी पंच तथागतोंका वास है, अतः उसकी साधना कर लेनेवालेको तथागत-चक्री भी कहते है। इसीलिए महामुद्राकी साधना कर लेनेवाला फिर समस्त बाह्य अनुष्ठानीसे मुक्त हो जाता है।

महामुद्राको अन्य अनेक रूपों और भागोमे भी वॉटा गया है। सिद्धोंके काल्मे नायिका-मेद भी महामुद्राके अन्य रूपोके आधारपर किया गया है, यद्यि इस विभाजन अथवा विभिन्न नाभोके पीले काल्यशास्त्रकों कोई परम्परा न होकर हठयोग तथा मुद्रा-मेथुन सम्बन्धी गुद्ध संकेत ही है। इन अन्य नायिकाओं मेसे डोम्बीमें अद्वैतभाव प्रधान रहता है। क्योंकि यह ज्ञानसे सम्बद्ध है, इस कारण नेरात्मा प्रज्ञाकों भी डोम्बी कहते है। डोम्बी ने वायुतत्त्वसे संलग्न माना गया है, जो प्राण तथा अपान वायुके निरोधसे सम्बद्ध है। डोम्बी परिशुद्धावती है, इसके नायकको कापालिक कहते है।

मणिमुलमे सम्प्रदोकरणके उपरान्त चण्डारिन प्रज्वलित कर साधक अवधृतिकाके द्वारा उसे ऊपरकी ओर प्रवाहित करता है । इसी चण्डारिनको ग्रहण करनेके कारण अवधृतिकाको चाण्डाली कहा जाता है। महासुद्रा नेरात्माको इस प्रतीकके द्वारा प्रायः प्रकट किया गया है। चाण्डाली सारे चक्रोंको पारकर ललाट-स्थित कमलचक्रतक पहुँचकर आनन्द उत्पन्नकर पुनः नाभिचक्रमें वापस आ जाती है। यही चाण्डाली अपनी ऊर्ध्व गतिमे डोम्बी और उष्णीप कमलमे पहुँचनेपर सहज-सुन्दरी कहलाती है। काण्हपा तो प्रज्ञा-महासुद्राको गृहिणीरूपमे भी वर्णित करते है और स्पष्ट कहते हैं कि "जैसे नमक पानीमे घल जाता है, उसी प्रकार अपनी गृहिणीको अपने चित्तमे धारण करो" (दोहाकोष) । बादमे वैष्णवोंमे परकीया रूपपर जो इतना आग्रह मिलता है, उसका सिद्धोमे सर्वथा अभाव है। उन्होंने नायिकाके स्वकीया-रूपपर विशेष बल दिया है। वे उसे 'वधू'-रूपमे भी अभिहित करते हैं। परिणयके लिए वरयात्राकी सारी सज्जाका प्रचुर वर्णन भिलता है। सिद्धों द्वारा वर्णित विभिन्न नायिकाओमे ग्रुण्डिनी भी एक है-जो दो घड़ोमें बल्कल-चूर्णसे मदिरा खीचती है। उसके मदिरालयके कई द्वार है, जिनमेंसे दशम वैरोचन द्वारसे ग्राहक चिद्व दिखाकर आते हैं, जिन्हें वह मदिरा पिलाकर सन्तुष्ट करती है। एक नायिका मातंगी भी है, जो गंगा तथा यमनाके बीचसे नाव खेकर ले जाती है और

सभी यात्रियोंको नावपर विठाकर वारी-वारीसे उतारती है। सिद्धोंके पदोंमे नायिकाओका मुग्यात्व, मध्यात्व तथा प्रीढात्व, तीनो ही प्रवृत्तियाँ मिलती है। शबरपाकी शबरी संसारमे दर ऊँचे पर्वतपर मोर-पंखोसे शृंगार किये हुए अबोधप्रकृति बालिकाकी भाँति रहती है। उसकी जिन चेष्टाओंका विवरण शबरपाने दिया है उनसे उसका मुग्धात्व प्रकट होता है (चर्यापद) । कुक्करीपा द्वारा वर्णित वधूरूपमे मध्यात्व और महामुद्राकी प्रौढ़ा प्रवृत्तिका संकेत योगिनीमे मिलता है, जो रतिप्रिया प्रौढा है एवं नायकको पूर्णतया आनन्द देनेमें समर्थ है (चर्यापद)। कृष्णाचार्यपा इसीको डोम्बी वधू बताते हुए उसके साथ विवाह-समारोह रचाते है और इसीको कामचण्डालीकी संज्ञा भी देते है। आधी रातको कमल खिलता है, बत्तीस योगिनियाँ उसके दलोपर क्रीड़ा करती है, उनकी नायिकाको पश्चिनी कहा जाता है, क्योंकि मृणाल बनकर वह कमलरसको प्रवाहित कर रही है। यही अवध्विका है, जो मृणाल बनकर कमल-रसको प्रवाहित करती है, इसे कमलिनी भी कहा जाता है। बौद्धोकी भावसाधनाके अन्तर्गत बोधिचित्त और शन्यताकी प्रणयकेलिमें विभिन्न रूपकोंको व्यक्त करनेके लिए नायक तथा नायिकाके रूपमें तथागत और भगवती नेरात्माको माना गया, अर्थात् तथागतकी नायिकाको नैरात्मा कहा जाता है। उसी विश्वन्याप्त प्रणयकेलिमे साधक बोधिचित्तको नायक और नैरात्मज्ञानको नायिका मानकर अपने चित्तमे आयोजित करता है। महायान-महायान शब्दका वास्तविक अर्थ इसके दो खण्डों (महा + यान)से स्पष्ट हो जाता है। 'यान'का अर्थ मार्ग और 'महा'का श्रेष्ठ, बड़ा या प्रशस्त समझा जाता है। तात्पर्य उस ऊँचे या प्रगतिशील मार्गसे था, जो हीनयानसे बढकर था। यह लोकोत्तर मार्ग था, जिसका ऊँचा आदर्श था और इसीके कारण ईसापूर्व पहली शताब्दीमे ही बुद्धधर्ममें विभेद हो गया। वैशाली-संगीतिमें परिचमी तथा पूर्वी बौद्ध पृथक-पृथक हो गये, जिन्होने त्रिपिटकमे कुछ परिवर्तन किया। पूर्वी शाखाको महासधिकका भी नाम दिया जाता है, जिससे आगे चलकर महायानका नामकरण किया गया । बुद्धधर्ममे महायानके आरम्भकी तिथि निश्चित करना कठिन है। परमार्थके कथनानुसार कनिष्ककी चौथी संगीति-में भी महायानकी पूर्वस्थितिका अनुमान लगाया जा सकता है। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथने लिखा है कि कनिष्कके .पुत्रके राज्यमे (दूसरी रातीमे) महायानका काफी प्रसार हो गया था। उस सम्बन्धमे साहित्य भी तैयार हो रहा था। पालि साहित्य (हीनयान साहित्य)में कुछ ऐसा सन्दर्भ आता है, जिससे ज्ञात होता है कि महा-यानके विचार लोगोंमें काम कर रहे थे। महायान ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता'में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त उल्लिखित है। इस यन्थका चीनी अनुवाद १४८ ई०में लोकरक्षाने किया था। अतएव इस आधारपर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन्की पहली शतीमें महायानका प्रचार अवश्य हो गया था, तभी तो 'प्रशापारमिता'की रचना हुई। इस मतका आरम्भ महासंधिक-मतकी स्थितिसे ही कहा जाता है, जो महायानका पूर्वगामी मत था। इसके समर्थनमें

अन्य प्रमाण भी उपस्थित किये जाते है। महायान-दर्शनके सर्वप्रथम लेखक नागार्जुनका जन्म बुद्धनिर्वाणके चार सौ वर्षों बाद, यानी पहली शतीमे हुआ था। अतः गौण रूपसे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि महायानका प्रारम्भ इसके पहले ही हो चुका था। सम्भव है कि महायानका नामकरण बारकी घटना हो। ईसवी सन्की तीन शता-ब्दियोंतकके लेख यह घोषित करते है कि महायान-मत अधिक लोकप्रिय हो गया था। इसका विस्तार उत्तर-पश्चिमसे दक्षिण-भारततक हो चुका था (नासिक तथा कालेंके लेख)।

दक्षिणभारतमें कृष्णा नदीकी घाटीमे भी इस मतका प्रसार हो गया था, इस कारण 'अन्धक' शब्दका प्रयोग भी महायानके लिए यत्र-तत्र मिलता है। इस नामका भौगो-लिक कारण था। कृष्णा नदीकी घाटी आन्ध्र देशके नामसे विख्यात है। इसलिए महायानके पूर्व महासंघिकको 'अन्धक' नामसे उक्षियित किया गया। बोधिसत्त्वकी भावनाके कारण महायान बोधिसत्त्वयानके नामसे भी उक्षिखित है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि महायानका जन्म दक्षिण-भारतमे हुआ और वहीसे वह उत्तरभारतमें फैला। जहाँतक शब्दके प्रयोगका विचार है, सम्भवतः महायान तीसरी शतीके बाद प्रयुक्त किया गया। सातवाहन राजाओके लेखों में महासंघिक शब्दका ही प्रयोग मिलता है। हीन-यान शब्दके प्रयोगके साथ ही महायानका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। फाहियानने इसका प्रयोग किया है। साहित्य-ग्रन्थोमें हीनयान (दे०)के साथ महायानका प्रयोग स्वाभाविक था, ताकि दोनों मतोंकी विभिन्नता स्पष्ट रूपसे व्यक्त हो सके। उदाहरणके लिए, 'सद्धर्मपुण्डरीक'में जहाँ श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धका उल्लेख आता है, वहाँ महायान-का नाम मिलता है। महावस्तुमें भी हीनयानका वर्णन मिलता है। 'दिव्यावदान'में बोधिसत्त्वजातिक भिक्षओंका वर्णन है, जो दूसरे शब्दोंमें महायान-भिक्ष कहे जा सकते है। उनको हीनयानवाले स्नेहकी दृष्टिसे नही देखते थे। कहनेका तारपर्य यह है कि महायानका प्रयोग हीनयान अथवा श्रावकयान (दे०)के साथ होता रहा।

यदि महायानके दार्शनिक सिद्धान्तोका अनुशीलन किया जाथ तो उसकी विशेषताएँ निम्नलिखित रूपमे उछिषित की जा सकती हैं—सर्वप्रथम महायानवालोने वोधिसत्त्वकी भावनाका बुद्धधर्ममे समावेश किया। वह सदाचार, परोपकार तथा उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न माना जाता है, जो संसारके निर्वाणके लिए प्रयत्वशील रहता है। बोधिसत्त्व महामैत्री तथा करणासे सम्पन्न होता है तथा जगत्के प्रत्येक प्राणीको क्लेशसे मुक्त तथा निर्वाणने प्रतिष्ठित करना उसका लक्ष्य होता है।

त्रिकामकी कल्पना महायानकी दूसरी विशेषता है। धर्मकाम, सम्भोगकाम तथा निर्वाणकाम महायानको मान्य थे।

दशभूमिकी कल्पना तीसरी विशेषता है। हीनयानके मतानुसार अर्हत-पदकी प्राप्ति केवल चार भूमियोंने मानी गयी है, परन्तु महायानमें निर्वाणकी उपलब्धि दशभूमियोंने से होती है।

निर्वाणकी कल्पनामें भी महायान अपनी विशेषता रखता है। हीनयानी निर्वाण दुःखाभाव-रूप है, परन्तु महायानी निर्वाण अनन्द-रूप है। उनके विचारमे बुद्धत्वकी प्राप्ति ही सर्वोपिर लक्ष्य था। उनका कथन था कि पुद्गल-रूम्यना तथा धर्मशून्यताके कारण वे क्लेशावरणसे रहित हो सकते है।

महायान-मतका अभ्युदय भक्तिको लेकर हुआ था। बुद्ध साधारण मानव न होकर लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी भक्ति करनेसे ही मानव इस दुःख-बहुल संसारसे पार जा सकता है। भक्तिको प्रश्रय देनेसे ही महायानके समयमें बद्धकी प्रतिमाका निर्माण होने लगा। अतः महायानके कारण चित्र तथा मृतिकला (दौद्ध कला)की विशेष उन्नति हुई। महायानके ऊपर ब्राह्मण-धर्मके सिद्धान्तोका प्रभाव ही भक्ति-भावनाका कारण था। प्राचीन आचार्य असंगने 'सूत्रालंकार'मे लिखा है कि महायान-धर्म हीनयानके साथ ही उत्पन्न हुआ। इसे पीछे किसीने प्रचारित नहीं किया। यह भी बुद्धवचनपर आधारित है। उनके मतानुसार यदि शाक्यमुनिने इसका प्रवर्तन नहीं किया तो ऐसा कौन बुद्धत्व-प्राप्त व्यक्ति था, जो धर्मचक्रप्रवर्तनकी सामर्थ्य रखता हो। आधुनिक विद्वान् इसे माननेमे असमर्थता प्रकट करते है। असंगका तर्क जितना भी वल रखता हो, परन्तु हीनयान या महाथानकी समकालीन उत्पत्ति तथा विकासकी बातें पुष्ट नहीं हो पाती। सारांश यह है कि महायान-धर्म हीनयानसे कई विषयोमे भिन्न विचार रखता था, जो कालान्तरमें समाविष्ट हुए।

महायान-पन्थने सामाजिक उन्नतिके लिए पारमिताकी ओर गृहस्थोंका ध्यान आकषित किया। पारमिता अथवा पारमी उपासकोके हृदयमे प्रेम तथा बुद्धधर्मकी और श्रद्धा उत्पन्न वरती है। इन्हें कथानक, उपाख्यान अथवा कहावत-की संज्ञा दे सकते है। 'दिक्षासमुख्य' नामक यन्थमे बोधि-सत्त्वके वर्तव्यका उरलेख मिलता है, जिसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थको वैसा ही करना चाहिये। महायान-मता-वलम्बयोंका कथन था कि गृहस्थोमे दानकी भावना तृष्णा, भय, चिन्ताको दूर करती हैं। अतएव गृहस्थको अन्यधिक दान देना चाहिए। सामाजिक प्राणीको समचित्त होना चाहिये। ज्ञान-प्राप्तिके उचित मार्गका अवलम्बन तथा अनानात्वचारित (जो वि.सीमे विभेद उत्पन्न न करे)की भावना आवश्यक है। गृहस्थको पुत्रको शत्रु मानना चाहिये, क्योकि वह अधिक प्रेम तथा आकर्षणका पात्र है: इसीके कारण पिता बुद्ध-वचनसे विमुख हो जाता है। प्रेम उचित मार्गसे पृथक् कर देता है। गृहस्थमे सम भावना होनी चाहिये तथा गृही बोधिसत्त्व किसी भी पदार्थको अपना न समझे। उसे सांसारिक वस्तुओको त्यागना चाहिये, ताकि मृत्युके समय वह तृष्णारहित सुखका अनुभव करे।

गृहस्थको मदिराका प्रयोग न करना चाहिये, बीभत्स तथा अइलील दृश्य न देखना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये तथा गम्भीर विचारवाला होना चाहिये। वह गृहस्थ दुराचारने विमुख होकर भी कीमें लीन न रहे। परीपकारकी भावना इतनी जायत हो कि वह अपना स्वार्थ त्याग कर दे। गृहस्थको बुद्धत्वप्राप्तिके लिए पृजा करना आवस्यक है। इस तरहके अनेक उच्च विचारोंको महायान-ने समाजमें प्रसारित किया, ताकि जनताका कल्याण हो सके।

महायान-धर्म भक्ति तथा पृजाकी भावनासे जनतामें लोकप्रिय होना गया तथा लोग उमकी ओर आकर्षित होते गये। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी पूजाका आरम्भ हुआ और कलामें लक्षणके स्थानपर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाएँ तैयार होने लगी । गान्धार-शैलीमे बौद्धमर्ति निर्मित होने लगी। बुद्धको योगी और भिक्षके रूपमे नथा वोधिसत्त्वको राजकुमारके वेशमें (वसालंकारयुक्त) दिखलाया गया। शुंग-युगकी कलामें बुद्धके नाना प्रतीक प्रधान स्थान प्राप्त कर चुके थे। भरहुन, बोधगया तथा सॉचीकी कला लाक्षणिक थी। कनिष्कके समयमे गान्धारमे सर्वप्रथम बुद्धमूर्ति बनने लगी । कुमारस्वामीका मत है कि गान्धार तथा मशुराके कलाकेन्द्रोंमे बुद्धप्रतिमाका निर्माण स्वतन्त्र रूपसे हुआ। दोनो दैलियोंमे किसीका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् बुद्धकी प्रतिमाएँ ध्यान तथा बुद्धत्व-प्राप्तिकी अवस्थामं दिग्वलायी गयी है। सारनाथमे बुद्धने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, अतएव धर्मचक्रको हटाकर भगवान् इ.रा पाँच साधुओंको दीक्षित करनेका दृश्य प्रतिमा द्वारा प्रदक्षित किया गया । इसी प्रकार स्तूपसे परिनिर्वाण-का ज्ञान न कराकर स्वयं बुद्धकी प्रतिमा शयनावस्थामें तैयार की गयी। बुद्धप्रतिमा सर्वथा चीवरके साथ बनने लगी। ऐतिहासिक घटनाओको साकार बुखप्रतिमासे प्रद-शित कर लाक्षणिक कलाको प्रायः समाप्त कर दिया गया। चैत्य-गुफाओमे भी स्तूपके आगे बुद्धकी मृति जोड़ दी गयी, जिसके कारण प्रतीक गौण हो गये। बुद्धकी प्रतिमा आसन (बैठी), स्थानक (खडी) तथा शयन (लेटी) अवस्थामे दिखलाई पड़ती है। उनमे हाथोंकी विभिन्न मुद्राएँ (ध्यान, भूमिस्पर्श, धर्मचक्रप्रवर्तन, अभय, दरद तथा व्याख्यान) स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गयी है। गान्धार, मथुरा तथा सारनाथके कलाकेन्द्र इस तरहकी मृतियोके लिए प्रसिद्ध है। गान्धारमे महापुरुषक लक्षणो (जालांगुली, उर्णा, लम्बे कान आदि)का प्रदर्शन मिलता है। मथुरामें विद्यालकाय स्थूल भावनाके साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गयी तथा सारनाथमे ध्यानावस्थित, गम्भीर भावना तथा मननशील एवं दार्शनिक विचारयुक्त मृतियाँ तैयार हुईं। सारनाथकी धर्मचक्रप्रवर्तनयुक्त बुद्धप्रतिमा इतनी लोकप्रिय हुई कि ग्रप्त-युगके पश्चात् मगध तथा बंगालमे उसीका अनुकरण होता रहा। सारांश यह है कि महायान-मतके कारण शुंग-युगकी लाक्षणिक पद्धतिके स्थानपर बौद्ध प्रतिमाएँ कलामे प्रतिष्ठित होने लगी । कुषाण-युगमें गुप्तकालपर्यन्त बौद्धकलामे जो कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है, उसका श्रेय महायान-मतको है।

महायान-साहित्यके निर्माणकर्ताओं में अश्वघोष, नागा-र्जुन तथा असंगके नाम विद्येषतया उल्लेखनीय है। अश्व-घोषने, जो कनिष्कके समकालीन थे, 'सुत्रालंकार' नामक ग्रन्थ लिखा। पीछके दो आचायोंके विषयमें चीनी तथा तिब्बती आधारपर जो झान होता है, वह स्पष्ट नहीं है।

नागार्जुनको तान्त्रिक उपदेशक तथा कीमियागिरीमे निपुण व्यक्ति कहकर उल्लेख किया गया है। नागार्जुन दक्षिण-भारतके ब्राह्मणकुलके भूषण थे, जो कालान्तरमे नालन्दामें संघके मठाधीश हो गये थे। पंचविशति साहसिक प्रशा-पारमितापर उनकी टीका सर्ध्यसिद्ध है। असग भी पेशावर-के ब्राह्मणकुलोत्पन्न उपदेशक थे। इन्होने योगाचार-दर्शन-का प्रतिपादन किया था। भ्राता वसुदन्धुके साथ इनका नाम लिया जाता है। महायानके प्रधान यन्थोमें 'बुद्ध-चरित', 'महायानसूत्र' (सद्धर्मपुण्डरीक), 'लंकावतारसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारमिता'के नाम लिये जाते है। अवदान-प्रन्थ भी महायान-मतानुयायियोने लिखा था। महायान-ग्रन्थ संस्कृतमें लिखे गये थे। महाराग-वज्रयानी साधनामें सम्बोधिका वास्तविक लक्षण महाराग है। यह राग तरुणी महामुद्राके प्रति साधकका अट्टट स्नेह है, जिसके बिना इस जन्ममे बोधि मिलना असम्भव है। यह महाराग केवल एकपक्षीय नहीं होता। भगवती प्रज्ञा भी महामुद्राके रूपमे साधकसे उतना ही प्रेम करती है और नायक-नायिकाके रूपमे उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक्, बोधिचित्त तथा नैरात्मा या साधक तथा महामुद्रा इस महाराग-रूप स्थायी भावके आलम्बन थे। सांसारिक राग और विरागका परित्याग कर इस महारागके स्वरूपको पहचानना ही मोक्षका कारण है। केवल शून्यता-ज्ञान ही यथेष्ट नहीं, क्योकि बोधिचित्त शून्यता और करुणाके अद्वयसे उत्पन्न होता है और करुणा ही राग है। चॅिक राग करुणाका प्रतीक है और शून्यतासे संग करनेके लिए उन्मुख है, अतः उसे वजराग कहा गया है। यही बजराग महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेसे महाराग कहलाता है और वन्थनसे मुक्त कर देता है। सांसारिक बुद्धिसे ग्रहण किये जानेपर यही बन्धनका कारण होता है और महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेपर महारागके रूपमे मोक्षप्रदाता होना है। महाशुन्य - दे॰ 'शुन्य', 'चक्र' तथा 'उष्णीशक्रमल'। महासंस्थान-मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदशौंकी चेतना (मानव) संस्कृतिकी वह विशेषता है, जो उसे पशु-समाजसे भिन्न करती है। इन मूल्यो, मानों, प्रतिमानों एवं आदशोंकी समष्टिको पितिरिम ए० सोरोकिन महा-

संस्थान भी परिवर्तित हो जाता है।
सोरोकिनने जीवन-दृष्टियोंकी संख्या पाँच निद्दिचत की
है—(१) यह कि परमतत्त्व इन्द्रियगोचर है (इन्द्रियवाद,
प्रत्यक्षवाद अथवा इहलोकवाढ); (२) यह कि परमतत्त्व
अतीन्द्रिय है (अतीन्द्रियवाद, परोक्षवाद अथवा परलोकवाद); (३) यह कि परमतत्त्व अभयात्मक है (अध्यात्मवाद); (४) यह कि परमतत्त्व अज्ञात और अज्ञेय है (अज्ञेयवाद) और (५) यह कि परमतत्त्वका प्रतीयमान रूप ज्ञात
है और तात्त्विक रूप अज्ञात और अज्ञेय (संज्ञ्यवाद)।
हनमें अन्तिम दो दृष्ट्याँ नकारात्मक होनेके कारण कभी
समाजके बड़े भागको अपील नहीं कर सकतीं। अतः प्रथम

संस्थान (सुपरसिस्टम) नामसे पुकारता है। प्रत्येक संस्कृति-

का महासंस्थान उसमें व्यापक जीवन-दृष्टिसे अनुप्राणित होता है। समाजकी जीवन-दृष्टिमें परिवर्तन आनेपर महा- तीन दृष्टियों ही समाज-दर्शनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों दृष्टियोंके अनुरूप तीन प्रकारके महासंस्थान देखनेको मिलते है—(१) इन्द्रियाग्रही, प्रत्यक्षप्रिय अथवा इहलोक-केन्द्रक (सेन्सेट), (२) अतीन्द्रियाग्रही, परीक्षप्रिय अथवा परलोक-केन्द्रक (आइडिएशनल) और (३) अध्यात्म-प्रधान (आइडियलिस्टिक)। इनके अतिरिक्त एक चौथा गौण मेद मी है—मिश्र (एकलेक्टिक), जो उक्त तीन मुख्य मेदोंकी खिचडी (न कि समन्वय या सामंजस्य) है।

महासंस्थानका वहन अनेक सांस्कृतिक-मामाजिक संस्थान किया करते है। सांस्कृतिक संस्थान मुख्यतः पाँच है—(१) भाषा-संस्थान, (२) विद्यान-संस्थान, (३) धर्म-संस्थान, (४) लिलतकला-संस्थान और (५) आचार-संस्थान। इनके अतिरिक्त एक छठा गौण संस्थान भी होता है, जिसे सोरोकिन मिश्र या खिचडी संस्थान कहते है। आचार-संस्थानमे कानून-संस्थान, राजनीति-संस्थान तथा अर्थ-संस्थान सम्मिलित है। लिलतकला-संस्थान चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, संगीत, साहित्य और नाट्यकला नामसे प्रसिद्ध उपसंस्थानोंसे मिलकर बना है। समाजमे महासंस्थान तथा तदंगभून विविध सांस्कृतिक संस्थानं उपसंस्थान तथा तदंगभून विविध सांस्कृतिक संस्थानं उपसंस्थान की लिरिक्त उनके साधनभूत अनेक सामाजिक संस्थान भी होते है, जैसे परिवार, राज्यसंस्था, श्रमिक-संघ इत्यादि।

उपर्युक्त सामाजिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण तीनों जीवन-दृष्टियोमेसे कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है। अतः समाजके लिए सदा एक ही जीवन-दृष्टिसे सन्तुष्ट रहना सम्भव नहीं। मानवता पहले एक जीवन-दृष्टि अपनाती है, तिन्तु काल-क्रमसे जब उसकी अपूर्णता प्रकाशमे आती है, तब वह उसे छोड़ विरोधी दृष्टि अपना लेती है। इस प्रकार उसका महासंस्थान भी बदल जाता है और महासंस्थानके बदलने से ही समाज बदला करता है। महासंस्थानगत परिवर्तन शीघ्र ही सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थानोंमे प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रकार महासंस्थानोंका चक्र चल पडता है।

सोरोकिनके महासंस्थानवादके अनुसार हिन्दू, चीनी और मिस्रीय संस्कृतियोंका महासंस्थान सदासे परलोक-वादात्मक रहा है, जब कि यूरोपमे महासंस्थानत्रयके अबतक दो चक्र चल चुके हैं। हमारे देखते-देखते यूरोपमे इहलोक-केन्द्रक संस्थानका पतन हो रहा है और परलोक-केन्द्रक महासंस्थानका उदय।

अन्तमे यह बतला देना आवश्यक हैं कि सोरोकिनने यत्र-तत्र इस बानका संकेत किया है कि उपर्युक्त अपूर्ण अथवा अंशतः सत्य जीवन-दृष्टियोके अतिरिक्त एक पूर्णतर समन्वित (इण्टीय्रल) जीवन-दृष्टि भी है। इसे हम ममन्वयवाद (इण्टीय्रलिज्म) कह सकते है। तो फिर इस पूर्णतर दृष्टिपर आधारित एक पूर्णतर महासंस्थान क्यों नही ? यह समस्या सोरोकिनने कहीं नही उठायी है।

सोरोकिनके अतिरिक्त अनेक अन्य समाजदार्शनिकोंने भी अपनी-अपनी लाक्षणिक भाषामें महासंस्थान सम्बन्धी धारणाएँ प्रस्तुत की है। समाज ए० कास्टके अनुसार सामाजिक (सोश्रल) और वैचारिक (आइडियालाजिकल) नामके, अल्फेड वेबर, मैंक आइवर आदिके अनुसार सभ्यता (सिविल्जिजेशन) और संस्कृति (कल्चर) नामके, आगवर्न, वेळ्नेन आदिके अनुसार मौनिक और निर्मोतिक नामके और कार्ल मार्क्सके अनुसार आधार और प्रासाद नामके महासंस्थानोंको समष्टि है। सामाजिक, भौतिक अथवा आधारभूत महासंस्थानका परिवर्नन अथवा विकास-क्रम रेखाकार होता है, न कि चक्राकार। वैचारिक, सांस्कृतिक अथवा प्रासादभूत महासंस्थानमे इतर महासंस्थानके विकास-क्रम स्थानके विकास-क्रम स्थान विकास-क्रम प्रायः नहीं होता। यद्यपि ये महामंस्थान एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते है, तथापि सामाजिक आदि नामोसे अभिहित महासंस्थानमें अधिक प्रभविष्णुता होती है।

महासुख-यह समरस है, सहजानन्द है, जो न तो श्रवण-से सुन पडता है, न नयन हे देख पडता है, न पवन उसे हिला पाता है, न अग्नि उसे जला पाती है, न जल-वर्षा ने वह आर्द्ध होता है, न वह बढता है, न घटना है, न वह अचल है, न वह गतिशील है। उपनिषदोंके ब्रह्मकी भॉति इसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही यह केवल नेतिपरक नहीं है, क्योंकि जिस भवमें लगकर न्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धनमें पडता हैं, उसीमें लगकर वह परम महासखको भी सिद्ध कर लेता है। इसलिए इमकी तो केवल अनुभूतिकी अगम्यताके कारण वह व्याख्याके परे हो जाता है। महासुखकी व्याख्या नहीं की जा सकती। केवल गुरु ही शिष्यको इस मार्गमे प्रवृत्त करा सकता है (विस्तारके लिए दे०— इण्टोडक्शन ट तान्त्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषणदास ग्रप्त)। -ध० बी० भा०

महासुखचक-दे॰ 'हठयोग'। मातंगी-दे॰ 'महामुद्रा'।

मातृनिष्ट समाज (matriarchal society) - आज हम पितृसत्ताक समाजमें रह रहे हैं, जिममे पिता परिवार या कुलका स्वामी और प्रधान होता है। यह स्थिति इतनी पुरानी है कि हमें इसका गुमान भी नहीं होता है कि इससे अन्य भी कोई सामाजिक स्थिति हो सकती है। पर एक समय था, जब हमारा समाज पिताकी प्रधानतामें नहीं, माताके नेतृत्वमें व्यवस्थित था। वह मातृनिष्ठ समाज था। उसमें माता ही परिवारकी स्वामिनी थी। कुटुम्बकी देख-भाल, उसका नियन्त्रण आदि वही करती थी। तब वह आजकी भॉति अवला भी न थी। उसके शिराव्यजित अंगांग शक्तिके परिचायक थे और परिवारके सारे पुरुष, उसका नरतक, उसका लोहा मानते थे। आज भी मातु-सत्ताक व्यवस्था नागा-खासी आदि असम और बर्माकी आदिम जानिथोंमें हैं। हमारे सभ्य समाजमे भी मलाबार (केरल)में मातृसत्ताक व्यवस्था है, जिनमें खामी पुरुष नहीं, नारी है। नारी अपनी माताके परिवारमे ही रहनी है और पुरुष वहीं उसके पास जाता है। दाय या वरासत भी पिता-पुत्रतः न चलकर माता-कन्यातः चलती है। परिवार-की चल और अचल धन-सम्पत्ति कानूनी तौरपर मातासे पुत्रीको मिलती है, पितासे पुत्रको नहीं । — भ० श० उ० माता-सन्तोंने माता, माई आदि शब्द-रूपोंका व्यवहार जहाँ माँके अर्थमें किया है, वहीं यदि सम्भव हो सका है तो इनमें दूसरे भी अर्थोंको भरनेका प्रयास भी किया है। माईका दहरे अर्थका संकेत देते हुए दादू कहते हैं - "एक ही एक भया अनन्द एक ही एक भागे दंद ॥ एक ही एके आप ही आप। एक ही एकें माइ न नाप॥" (दाददयालकी अनमै बाणी, सबद २८६)। १. उस ब्रह्मके यहाँ माँ-बापका कोई भेद नहीं है। वह एक है, माँ भी वही है बाप भी वही है। २ वह बह्म निर्गुण, निराकार निरंजन है। उसके यहाँ व्याप्त होने (बाप)का सवाल उठता ही नही, अतः ॲटने (माई)का भी कोई सवाल नहीं। व्याप्त होने और ॲटनेका सवाल स्थलताके साथ होता है। वह तो सुक्ष्माति-सूक्ष्म है। कबीरने 'माई' शब्दका व्यवहार मां और माया (अज्ञान)के अर्थमे थों किया है-"मुसि मुसि रोवै कबीरकी माई। ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई। XXX कहत कबीर सुनह मेरी माई। परन हारा त्रिभवन राई" (क॰ ग्रं॰ ति॰, पद १२)। माताके साथ बाँझ विशेषण लगनेपर यह शब्द निश्चित रूपसे मायाका अर्थ देता है, पर अकेला माता या माई शब्द भी बहुत बार मायाका अर्थ देता है। —रा॰ दे॰ सिं॰ मात्रा-'मात्रा' शब्द उच्चरित ध्वनिके परिमाणकी इकाई-का वोधक है। 'मत्ता', 'मत्त', 'कला' और 'कल' इसके पर्यायवाची माने गये है। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ', इसके ये ही दो भेद होते हैं और दीर्घका उच्चारणकाल हस्वका दूना स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार हस्व (1) अर्थात् लघ वर्णमें एक मात्रा और दीर्घ (s), अर्थात् गुरु वर्णमे दो मात्राऍ गिनी जाती है। विशेषके लिए दे॰ 'वर्ण'। —सं॰ मात्रिक गण-वर्णिक गणोकी तरह मात्रिक गणोंकी कल्पना भी छन्दःशास्त्रके अनेक आचार्यों द्वारा की गयी है, जैसे सुखरेव मिश्रके 'वृत्तविचार'के छन्दोंका रूप वर्णिक वृत्तोंकी तरह विजडित एवं सुस्थिर नहीं होता। कदाचित् इसीमे न तो मात्रिक गणोंका उतना प्रचलन ही हुआ और न वे उतने परिचित हो सके। इनकी संख्या पाँच है, यथा-१. टगण-६ मात्राओंका, १३ उपभेद । २. ठगण-५ मात्राओंका, ८ उपमेद । ३. डगण, ४ मात्राओंका, ५ उपभेद । ४ दगण-३ मात्राओका, ३ उपभेद । ५. णगण-- र मात्राओंका, २ उपभेद।

इनके उपभेदोके नाम-रूपका परिचय भी दिया गया है (दे० 'छन्दःप्रभाकर', पृ० ४२ : जगन्नाथप्रसाद 'भानु'।) — ज० गु० मात्रिक छंद — मात्रा गणनापर आधारित छन्द मात्रिक छन्द कहे जाते है। इनमे वणोंकी संख्या भिन्न हो सकती है, परन्तु उनमें निहित मात्राएँ नियमानुसार होनी चाहिये। वर्ण-संस्थाको छोड़कर केवल मात्रा-संख्यापर आधारित होनेके कारण इन छन्दोंकी प्रकृति वर्णवृत्तोंकी तुलनामें अधिक मुक्त तथा तरल रही है। लोक-प्रचलित आधुनिक भाषा-रूपोंमे तथा प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंशमें इन्हीं छन्दोका व्यापक प्रयोग मिलता है। गेयताके भी ये अधिक अनुरूप सिद्ध होते हैं। हिन्दी साहित्यमें मात्रिक

छन्दोंका विशेष प्रमुत्व रहा है। दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, वोर और हरिगीतिका आदिका प्रवन्धकान्योंमें और दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदिका मुक्तकवान्यमें मुख्यतया व्यवहार हुआ है। सम्पूर्ण पद-साहित्य मात्रिक छन्दोंके शुद्ध और मिश्रित रूपोंका ही विस्तार है।

कुछ शास्त्रकारोंने वृत्त शब्दको सामान्य छन्दवाची मानकर मात्रिक छन्दके स्थानपर 'मात्रावृत्त' या मात्रिक वृत्त भी लिखा है—''मत्तवृत्त इक दूसरो वर्णवृत्त पुनि आन'' (दशरथ: बृत्तविचार, १७)। 'बृत्ततरांगिनी'मे १ से ३२ मात्राके समस्त मात्रिक छन्दोकी संख्या ९२,२७,४६३ वतायी गयी है।

माधवी सवैया-दे॰ 'सवैया', वामका पर्याय।
माधुर्य-दे॰ 'अयत्नज अलंकार', चौथा प्रकार तथा
'साचिवक ग्रण', नायक।

साधुर्य गुण-दे॰ 'गुण', पहला प्रकार ।

माधुर्य रस-'माधुर्य रस' और 'उज्ज्वल रस' परस्पर
पर्यायवत् है। माधुर्यको 'उज्ज्वलनीलमणि'मे रूपगोस्वामीने
भक्तिका सर्वश्रेष्ठ भाव माना है। उन की रिष्टते मधुर ही
वास्तविक भक्ति रस है—"मधुराख्यो भक्तिरसः" (११३)।
राधा-कृष्णको अलौकिक पारस्परिक प्रीति ही माधुर्य रसका
मूल है। उसे 'भक्तिरसराट्'की पदवी दी गयी है (दे०
'उज्ज्वल रस', 'भक्तिरस')। —ज० गु०
माध्यमिक-दे० 'जन्यवाद'।

**मानवती (नायिका)**-अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेदः विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम मानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियको अन्य स्त्रीके प्रति आकर्षित जानकर ईर्ष्याने मान करनेवाली नायिका। मतिरामने 'ईरषासों लाज' करने-वाली कहा है, पर पद्माकरने केवल 'पियसों करै जुमान' माना है। 'रिसकविनोद'मे 'लखि नायक औग्रन' ई॰र्या करके मान करनेवाली कहा है। रीतिकालीन कवियोके उदाहरणोंमें मानकी परिस्थिति और उसके दूर करनेके उपायोंका वर्णन अधिक है—"नाम कढ्यौ पियके मुखते तिय औरकी सो सुनिके उर ऐंठी। देवजू क हँसि सौहै करी रिसकी सिसकी भरि भौह अमेठी"। (ब्र० भा० नायिका॰, २: ३७०)। कम ही स्थलोंपर उसका भाव-चित्र उभर सका है- "लाज लची मृगलोचिनकौ चित सोच सँकोच भयौ सरकोहै। ऑखिनतें खिसके अँसुऑ रिसके अधरा किसके फरकौहै" (वही, ३७१)। अन्यत्र मानवतीको सखियाँ समझाती है-"नेह जरावनको महा दीप-बाति जिय जानि", अतः मान करना उचित नही है। (मतिराम: रसराज: १७९)। कोई सखी नायकको सन्तोष देती है-"धीर धरो किन मेरे गुविन्द घरीकमे जो या घटा घहरैहै" (पद्माकर: जगद्भि०, १: १३२)।

मानववाद-दे॰ 'नवमानववाद'।

मान विप्रलंभ-दे॰ 'विप्रलम्भ शृंगार'।

मानवीकरण – 'अमानव'में 'मानव'-गुणोके आरोप करने-की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रियाको मानवीकरण कहा जाता है। सब वस्तु जीवित है (सर्वजीवन्नवाद, एनिमिज्म) सब बस्तु मनसे युक्त है (पैन साइकिज्म) तथा सब वस्तुएँ रागद्वेष आदि मानव-गुणोंसे सम्पन्न है (सर्वमानववाद, एन्थ्रापाम मिज्म), इसी प्रवृत्तिके रूपान्तर है। विज्ञानके लिए दोष होते हुए भी ये वाद मनुष्यके स्वभावसे निःस्त होते है और मनुष्यके स्वभावपर आश्रित होनेके कारण, कला और साहित्य इनके आधारपर कई अलंकारों और गुणोंका आविष्कार करते है।

कलाकी भाँति धर्म भी धार्मिक भावनाके आधारके लिए प्रतीकोकी सृष्टि करता है। मानवीकरण इस प्रक्रियाका सार है।

इसके अतिरिक्त कलामें अभिन्यक्तिका मुख्य माध्यम स्वयं कलाकार है। उसके माध्यमसे मूर्ति, चित्र, भवन आदिमें अभिन्यक्त होनेवाली कला कलाकारकी मानवताको भी अभिन्यक्त करती है। इसीते कलाकृतिमे मामिकताका आविर्माव होता है। प्रकृतिके पुष्प और कलाकारके पुष्पमें मानव-माध्यमसे न्यक्त होनेके कारण मामिकताका ही अन्तर होता है। यही कलात्मक अनुभूतिकी विशेषता है। कला मानवीकरण द्वारा प्रकृतिको रूपान्तरित करती है। हमारे देशकी सिंह, हाथी, वाराह आदिकी मूर्तियोमे मान-वता और मामिकताकी स्पष्ट झलक है। —ह० ला० श० मानवीय मृख्य—दे० 'मूल्य'।

मानस-इस शब्दसे विचारों, संवेदनाओं, अनुभूतियोंके संघटन और आधारस्वरूप एक सत्ताका बोध होता है। सामान्य भाषामें जिसे हम मन कहते हैं, मानस उसीका साहित्यिक और मनोवैद्यानिक दृष्टिसे परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। इस सामान्य अर्थमे 'मानस' शब्दका प्रयोग प्राचीन हिन्दी साहित्यमे प्रचलित रहा है, परन्तु आधुनिक साहित्यमे विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमे इसका प्रयोग अधिक होता है। अंग्रेजी भाषामे जिसे 'माइण्ड' कहते है, उसीका हिन्दी रूपान्तर मानस है। 'मन' शब्दका प्रयोग भी कभी-कभी इसी अर्थमें होता है। मानसकी धारणा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणकी प्रगतिके साथ-साथ परिवर्तित और संशोधित होती रही है। आरम्भमे मानसका अर्थ बहुत-कुछ 'आत्मा'के समान था, अर्थात् वह अदृश्य, अस्पष्ट, चेतन सत्ता जो हमारे अनुभवोंका आधार है, जो परम शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस अर्थमें मानस दार्शनिकोंका विवेच्य विषय अधिक था, साहित्यिको और मनोवैज्ञानिकोका कम। मनोविज्ञानके विकासके साथ-साथ मानसकी धारणा भी बदल गयी। उन्नीसवी शताब्दीमे शक्ति-मनोविज्ञान-(faculty psychology)के प्रभावसे 'मानस'से उस संघटनका बोध होता है, जिसके विभिन्न विभाग अथवा शक्तियाँ (faculties) है। इस धारणामे मनकी अवि-च्छित्र एकता और सम्पूर्णताकी उपेक्षा निहित थी। धीरे-धीरे इसपर भी ध्यान गया और मानसमे उस सम्पूर्ण संघटित सत्ताका बीध होने लगा, जो चेतनाके विभिन्न रूपोमे व्यक्त होती है। इस धारणाके अनुसार मानस पूर्णतः चेनन होता है, क्योंकि चेतना मानसका स्वरूप है। मनोविश्लेषणके प्रवर्तक फायडकी खोजोंसे यह सिद्ध हो गया कि मानसके कई पक्ष होते है-चेतनपक्ष उनमेसे एक है, इससे हम सबसे अधिक परिचित भी होते है, पर मानसके अन्य पक्ष भी हैं, जैसे अचेतन, अवचेतन या अईचेतन आदि। ये सभी पक्ष किसी-न-किसी प्रकार मनुष्यके व्यक्तित्वको प्रभावित करते है और उसके व्यवहारमे व्यक्त होते है। फ्रायडके वाद उसके अनुयायियो और अन्य दार्शनिको-मनोवैज्ञानिकोंने भी मानसके विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्तरोका विवेचन-विश्लेषण किया। इस प्रकार आधुनिक साहित्यमे मानसके कई पक्षोंकी धारणा ही प्रचित्त है। इन पक्षोंके नाम और संख्याके विषयमे मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं है, फलस्वरूप साहित्यमे भी बहुतसे नाम प्रचित्त हैं, जिनमेसे कुछ तो समानार्थक हो हैं। —प्री० अ०

मानसरोवर-दे॰ 'हठयोग'।

मानसिक अनुभाव-दे॰ 'अनुभाव'।

मानसिक विजड़ीकरण-यदि व्यक्तिमे किसी मूल प्रवृत्तिका विकास सहज-सामान्य ढंगसे नहीं होता, तो इस द मत विकासके कारण वह अपने शिशुकालीन स्तरपर ही रुक जाती है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति अपनी अवस्थाके समरूप विषयों और व्यक्तियोंमें न रुचि ले पाता है और न उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। मनोविद्रलेषणकी भाषामें इसी दशाको मानसिक विजड़ीकरण कहते हैं और विशेषकर इसका सम्बन्ध व्यक्तिके कामक प्रेम-जीवनसे होता है। शिशुके प्रारम्भिक जीवनमे स्वमुग्थता, आत्मराति, माता अथवा पिताके प्रति प्रेमका स्थान प्रधान रहता है। यदि उसका संवेगात्मक विकास सामान्य तौरपर होता रहता है तो वयस्क होनेपर वह किसी निम्निलंगी व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र बना लेता है तथा उसका रागात्मक जीवन अभीष्ट रूपसे समायोजिन हो जाता है। ऐसा न होनेपर वह स्वमुखता, आत्मरति या माता-पिताके प्रेममें ही विजिहत हो जाता है, सामान्य-जीवन नही विता पाता। समर्लिगी कामुकता स्वमुग्धता और आत्मरतिका ही रूप है। इस विकृतिसे आक्रान्त व्यक्ति अपनी जननेन्द्रियको बहुत महत्त्व देना है, उसपर मुग्ध होता है और अपनी जैसी ही जननेन्द्रियसे रहित व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र नही बना पाता। इसके अतिरिक्त, समर्लिगी कामुक व्यक्ति अपने प्रेमपात्रके माध्यमसे स्वयं अपने शिशुकालीन रूपको ही प्यार करता है। इस प्रकार उसका मानसिक विजडीकरण शिशुकालीन स्तरपर हो जाता है। शिशुकी प्रथम प्रेमपःत्रो माता होती है। ईडिपस और एलेक्ट्रा मनोयन्थियोंके विकासकालमें पुत्रका यौन प्रेम माताके प्रति और पुत्रीका पिताके प्रति हो जाता है। संयोग और परिस्थितिवश कभी-कभी न्यक्ति अपनी इस बाल्य-वृत्तिमे ही जडीभूत हो जाता है और फिर पुरुष किसी अन्य स्त्रीसे तथा स्त्री किसी अन्य पुरुषसे रागात्मक सम्बन्ध-में बॅधनेमे समर्थ नहीं हो पाती (दे॰ 'मनोविइलेषण', 'मनोग्रन्थियाँ')। --आ० रा० शा०

मानिनी सर्वेया-दे॰ 'सवैया', बारहवॉ प्रकार । मानी नायक-दे॰ 'नायक' (श्रंगार) ।

माया १ - अहैत वेदान्तमें निर्मुण ब्रह्मको ही सम्पूर्ण जगतका अधिष्ठान, मूल उपादान, स्थिति तथा प्रलयका हेतु और निर्विकरण तत्त्व माना गया है। मायासे संयुक्त होकर ही वह निर्विकरण, निर्विद्योष और निरुपाधि ब्रह्म अनेकविध प्रापश्चिक रूपोंमें विभावित होता है। माया शब्द अहैत

साहित्यमें इन कतिपय अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—भ्रमा।
प्रपञ्चरूप चराचर जगत्-सृष्टि, पपञ्चके साथ ब्रह्मके स्वरू
विनिमयका हेतु, जगत्के उद्भवकी हेतुभूत शक्ति ब्रह्मकी उपाधियों और विवर्तकी हेतु शक्ति, आत्मा तथा जगत्के
परस्पर स्वरूपकी अनिर्वचनीयता।

ऋग्वेद और यजुर्वेदमे माया इन्द्रकी शक्तियोंके प्रतीक और उपनिषद् साहित्यमे ब्रह्मकी सहचरी शक्तिके रूपमे वर्णित हुई है। अडैत सिद्धान्तमें यह त्रिगुणात्मिका, नामरूपमय और सम्पूर्ण संसारकी बीजशक्ति मानो जाती है। ब्रह्म इससे संयुक्त हो शबल और सगुण रूपमे भासित होता है और इसी रूपमे जगत्का कारण भी बनता है। हिरण्यगर्भ शब्दसे ब्रह्मके इसी रूपको संज्ञित किया जाता है (ऋ० सं०, १०।१२१) । माया त्रिगुणात्मिका भावरूप, अज्ञानमय तथा अनिर्वचनीय है। यह सत्, असत् और सद-असत् किसी भी रूपमें वर्णिन नही हो सकती, अतएव इसे अनिर्वचनीय और अन्यक्त शन्दसे न्यक्त किया जाता है। यह अनिर्वचनीय नाम और रूपों द्वारा अभिन्यक्त होती है। कार्योंके द्वारा ही मायाका अनुमान होता है (विवेक चुडामणि, ११०) और ईश्वर इसका आश्रय है (छा० उप०, झा० भा०, ८:१४:१)। कभी-कभी इसे आकारा, अक्षर और प्राण शब्दोंसे भी वर्णित किया जाता है।

परवर्ती अहैत साहित्यमे मायाकी दो शक्तियाँ—आव-रण और विक्षेप बनायी गयी है। आवरण-शक्ति ब्रह्मके निरुपाधिक और निर्मुण स्वरूपको आवृत्त कर लेती है और विक्षेप-शक्तिसे सम्पूर्ण प्रपन्नात्मिका नामरूपात्मक सृष्टिका उद्भव होता हैं। कभी-कभी आवरण शक्तिको अविद्या और विक्षेप-शक्तिको माया कहा जाता है (दे० बदान्त परिभाषा: शिखामणि टीका)। जगत-कारण होने के कारण कभी-कभी मायाको प्रकृति भी कहा जाता है (तु० गीता, शा० भा०, ४: ७)।

साधारण रूपसे माया को सांसारिक अम और अज्ञानका ही नामान्तर माना जाता है और इस चराचर सृष्टिके मिथ्यात्व और उसकी अमात्मकताको भी माया शब्दसे व्यक्ति किया जाता है। बौद्ध दर्शनमें इसी तात्पर्यको लेकर सभी भाव मायोपम बताये गये हैं।

हिन्दी साहित्यमं सिद्ध-साहित्य, निर्गुणवादी सन्तसाहित्य और भक्ति-कालके सगुण साहित्यमे मायाका
प्रयोग मिलता है। सिद्ध, बौद्ध सिद्धान्तोते प्रभावित है।
महायानवादियोंकी भाँति ही वे समस्त जागतिक पदार्थोंको
खन्सम और मायोपम बताते हैं। इस प्रकार वे मायाका
'भ्रम'के पर्यायके रूपमें प्रयोग करते है। निर्गुणवादियोंमें
कबीरने अद्भैत सिद्धान्तोंसे प्रभावित होकर ही मायाका
प्रयोग किया है। माया उनके लिए 'ब्रह्मकी फॅसरी' है।
यह मोहिनी और 'महा ठिगनी' है, जिसके वशमे होकर
सम्पूर्ण संसार भ्रमित हो रहा है। इसका स्वरूप शब्दों
द्वारा बताया नहीं जा सकता। माया ही सभीको भ्रष्ट कर
रही है, जो सभीको 'राम'से विमुख भी करती है। यह
नृष्णा रूप भी है, जो झान द्वारा ही, सद्गुरुकी कृपासे दूर
होती है। सगुणवादियोंमें तुल्सीने माया के अञ्चानमय तथा

भ्रमात्मक स्वरूपका यहण क्रिया है। सम्पूर्ण प्रपञ्चके मूलमे यह भ्रमात्मिका माया ही अवस्थित है।

इस प्रकार संस्कृतमे मायाके स्वरूपका जो मूक्ष्म और विश्वद विश्लेषण हुआ था, हिन्दी साहित्यमे उसके सामान्य स्वरूप सांसारिक भ्रम तथा प्रपन्न और अज्ञानात्मकताका ही प्रहण हुआ तथा उसे त्रिगुणात्मिका और शब्दो द्वारा अकथ्य बताया गया। कही-कही इन्द्रजाल और थौगिक शक्तियोके अर्थमे भी मायाका वर्णन प्राप्त होना है।

[महायक ग्रन्थ—राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी) काव्य धारा और दोहाकोशः बलदेवप्रमाद मिश्रः तुलसीका दर्शनः राधाकुष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी भाग २ ।] ---क० शु० माया (वेष्णव भक्ति-काब्यके संदर्भमें) २-हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्यके संदर्भमे माया सम्बन्धी अनेक धारणाओका विकास हुआ। इस विकासकी पृष्ठभूमिने माया सम्बन्धी भौराणिक एव दार्शनिक धारा अधिक महत्त्वपूर्ण है। शांकर अद्वेनकी माया सम्बन्धी निषेधात्मक सत्तावादी धारणाके प्रतिकूल मध्य, वल्लभ, निम्बार्क एव विष्णु-स्वामीने अपनी स्थापनाएँ पुरस्कृतकी (दे॰ 'मायावाद')। मायावादी निपेधात्मक सत्ताके आधारपर इनकी धारणाएँ भावात्मक था । दैष्णवभक्तिकी दार्शनिक मान्यताके अनुसार मायाको राक्ति माना गया है। उसके अनुसार इसके तीन भेद है। १—अन्तरग शक्ति या माया (२) बहिरग शक्ति या माया २—तरस्य शक्ति या माया । प्रथम माया वह है, जिसके स्वरूपका अनुभव भगवान् स्वनिष्ठ आत्मिक अनु-भवमे करते है। बहिरंग माया अन्तरंगके पूर्णतः प्रतिकूल है। उनकी आन्तरिक माया शक्ति उनते पूर्णतः पृथक् रहती है। इमका नाम अविद्या या अज्ञान है। यह सांसा-रिक प्रपंचकी मूल कारण है। वैष्णव आचार्योंने इसके दो भेद किये है-(क) गुणमाया और (ख) जीवमाया।

गुणमायासे प्रेरित समस्त सृष्टिका कर्म व्यापार निष्पन्न होता है। जीवमाया व्यक्तिको मोहित करके सांसारिक प्रपंचमे फॅसाये रहनी है। तीमरे प्रकारकी माया, अर्थात् झह्मकी तटस्य राक्ति जीवके रूपमें अवतरित होकर निरन्तर उसके पास स्थिन रहनी है। अवतारके रूपमें राथा, सीता आदिकी गणना इसी रूपमे होती है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमिके निर्माणमे पुराणोका योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। माया सम्बन्धी पौराणिक धारणाका इन काव्योंपर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म पुराण (२८९: १४-१५)मे गोपियोको माया-रूपमे कल्पित किया गया है। पद्मपुराण (पाताल: ७७-१५)मे राधाको चिन्मयी माया शक्तिको संज्ञा मिली है। ब्रह्मचैवर्त पुराण (कृष्णजन्मखण्ड, ५२-५७)मे राधाको पुनः पूर्णशक्ति तथा चिन्मायाके रूपमे स्वीकार किया गया है। देवीभागवत पुराणके रास प्रकरणमे राधाको चिद्राक्ति-रूपिणी प्रकृति माना गया है। भागवनमे अनेकानेक स्थली पर इन्हें पूर्ण शक्ति, महालक्ष्मी, लक्ष्मी, चिद् प्रकृति तथा योगमाया कहकर पुकारा गया है।

रामभक्तिकी परम्परामे सीताविषयक ये ही घारणाएँ प्राप्त होती है। वाल्मीकि रामायण (सर्ग छः, ११७-२७) मे सीता-को 'रूक्मी' कहा गया है, किन्तु यह प्रसंग अर्वाचीन है। रामनापनीयोपनिषदमे सीताको सृष्टिकी मूल प्रकृति कहकर पुकारा गया है। अध्यात्म रामायण (१:७:२७)-मे उन्हे प्रकृति, योगमाया तथा परमञ्जिके रूपमे सम्बोधित किया गया है। भागवतमें सीताको 'ब्रह्मविद्या' तथा स्कन्द पुराणमे 'विद्या'को मंज्ञा मिली है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति-कान्यपर माया सम्बन्धी इन धारणाओंका अविक प्रभाव पडा है। तुलसी-साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिशोण अपेक्षाकृत अन्य समसामयिक कवियोंसे अधिक विस्तृत है। उनके अनुसार माया पॉच प्रकार की है-महाशक्ति या महामाया-कविने इसे आदि शक्तिके रूपमे तटस्थ मायाकी भॉति कल्पित किया है। यह सीताके रूपमें अवतरित हो कर निरन्तर रामके साथ रहती है। राममाया—इसका कार्य प्रपंच है। नारद और सतीको इसीने भ्रमित किया था। जङ्माया-कविने इस मायाका अर्थ शांकर अद्वैत (दे०)के मायावादी धारणासे लिया है। ("जासु सत्यता ते जड़माया। भास सत्य इव मोह निकाया")। दासी माया—यह रामभक्तोसे भयभीत रहनेवाली माया है। तुलसीने इसीको 'नर्तकी' आदिके सम्बोधनोसे पुकारा है। भक्तिकी समकक्षी माया-यह माया निरन्तर रामको प्रिय रहती है। विद्या-माया तथा अविद्या माया—विद्या माया भक्तको वैराग्योन्मुख करती है तथा अविद्या माया संसारोन्मुख। ये मायायें रामकी है। इसके अतिरिक्त कविने सीतामाया एवं निशाचरमायाकी भी कल्पना की है। सीता तथा निशाचर अपनी मायाकी सहायतासे प्रपंच उत्पन्न करते है। निशाचर माया आसुरिक माया है। कृष्ण भक्त कवियोंमें सूरने अविद्या मायाके कृत्योका विस्तारसे उल्लेख किया है। उन्होने मायाको नटी, कोटिक नाच नचाने-वाली, मनमें भ्रम उत्पन्न करनेवाली माना है (दे० पद० सं० ४२मे ५५; विनयः सू० सा०, स० संस्करण) । सूरने राधाको दाक्तिया आदि मायाके रूपमे कल्पित किया है। राधावछभी सम्प्रदायमें राधाको पूर्ण हाक्ति माना गया है। रसिक सम्प्रदायमे सीताकी भी ठीक यही स्थिति है। निश्चित ही, मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिकोणमे पर्याप्त विस्तार —यो० प्र० सि० मायावाद - मायावाद अद्वैतवाद (दे०)का समानार्थक है। अद्वैतवाद जिस सिद्धान्तका विधिमूलक विधान करता है, उसीका निषेधमूलक विधान मायावाद करना है। उपनिषदो-मे दो प्रकारके वचन है-एकको अद्दैत-श्रुति कहा जाना है, तो दूसरेको नाना-श्रुति । अद्वैत-श्रुतिके अनुसार एक सत् यानी सत्ता एक है, इस मतका व्याख्यान होता है। फिर इसीके निषेध-पक्षका व्याख्यान नाना-श्रुति करती है। वह कहती है-नेह नानास्ति किंचन, नानात्व सत् नहीं है। इसी नाना-श्रुति पर मायावाद आधारित है।

मायावाद अद्वेतवादका निष्कर्प है। यदि सत्ता एक है या यो कहिये—यदि एकता सत्ता है और वही एकमात्र सत्ता है, तो फल्रतः नानात्व या अनेकता असत है। यही माया-वाद है। किन्तु मायावादका यह अर्थ एक दिनमे विकसित नहीं हुआ और इसके विकासके अनन्तर भी मायावादके अनेक पहलुओंका विकास आज तक होता रहा है।

मायावादके इतिहासको कई कालोंने बॉटा जा सकता है। वैदिक काल, बुद्ध-काल, बुद्धोत्तर-युग, इंकराचार्य-काल, शंकरोत्तर-युग तथा हिन्दी सन्त-युग इनमे प्रमुख है। वैदिक कालमे मायाके अनेक अर्थ थे; उसका अर्थ निश्चित नहीं हुआ था। जो विस्मयकारी है, जो भ्रामक है, जो रहस्यमय है, जो जबन्य या निन्द्य है, जो कारण-शक्ति है, जो अतर्कसम्मत है, जो परिवर्तनकारी है, जो विचित्र है, जो नाना है, जो बहु-रूप है, जो अग्राह्य है, जो धोखा देनेवाला है—सबको माया कहा जाता था। 'मायासे इन्द्र पुरुरूप धारण करता है' (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयने) । वेदसे लेकर उपनिषत्तक इन अर्थीमें माया-का व्यवहार, होता रहा। इसके बाद बुद्ध-युगमें मायाका व्यवहार, स्वप्न, भ्रम, वंचना, झूठ तथा असत्के अर्थमे होने लगा। बुद्धोत्तर-युगमे जब कि महायानका विकास हुआ, मायाके अर्थमें एक और परिवर्षन हुआ। इस युगमे मायाको लेकर सर्वप्रथम एक वाद वनाया गया। मायाका यहाँ अर्थ अनात्त्विक, असार या दाई निक दृष्टिने असत् है। विज्ञानवाद और शून्यवादमे इस मतका खूब प्रचार रहा। इसके अनन्तर शंकराचार्यके युगमे मायाके अर्थमें घोर परिवर्तन हुआ। उन्होने बौद्धोकी भॉति मायाका अर्थ अतात्त्विक, असार तथा दार्शनिक दृष्टिसे असत्के अर्थमे अवस्य किया, किन्तु बौद्धोने मायाको व्यक्तिगत माना था और उन्होने इसको समष्टिगत माना। वौद्धमतसे प्रत्येक मनुष्यको अपने अनुभवमें जो अतत्त्वका परिचय होना है, वही अतत्त्व माया है। शंकराचार्यके मतमे माया व्यक्तिगत अनुभवोसे परे है। एक ही माया सभी मानवोंको प्रभावित करती है। माया विश्वव्यापक है। वह व्यक्तिके मनकी उपज नही है। बौद्धोंने मायाको मात्र प्रातिभासिक या सांबृत्तिक (मंबृत्ति-सत्य) माना था। शंकराचार्यने इसे प्रातिभासिकसे पृथक् किया और इसे न्यावहारिक कहा। माया व्यावहारिक है। यह इइय है किन्तु मिथ्या है। जो **इ**इय हो और साथ ही मिथ्या हो, वह माया है—ऐसा अर्थ शंकरा वार्यने स्थिर किया किन्तु शंकराचार्यके अर्थके अनुर्थ होने लगे। बहुतसे लोग उनके द्वारा किये गये अर्थ और बौद्धों द्वारा किये गये अर्थकी बारीकी समझनेमें असमर्थ हुए। ऐसे लोगोने शंकराचार्यको प्रच्छन्न-बौद्ध कहा। इनमें रामानुज, मध्व तथा उनके अनुयायी अधिक उल्लेखनीय है। उनके लिए मायावाद गाली है। उधर शंकराचार्यके अनुयायियोने मायाके अर्थको स्पष्ट करनेका भार लिया और उस स्पष्टिकरणमे मायावादकी तर्कसम्मत व्याख्या की । इस तरह इंकरोत्तर युगमें भायावाद दो दिशाओं मे बहुने लगा। बादमें चलकर हिन्दी सन्तोंके समयमें इन दोनो दिशाओंका सम्मेलन हुआ और फलम्बरूप माया-वादका एक दूसरा रूप विकसित हुआ। इस युगमें सांख्यकी प्रकृति और अद्वैतवादकी मायाको मिला दिया गया और उसे भगवानुकी शक्ति समझा गया। किसीने उसको भगवान्-की स्त्री कहा, किमीने उसे ठिंगनी कहा और किमीने उसे भगवानुकी शक्ति कहा। शक्ति कहनेवालोंमेंसे भी अनेक होगोंने उसकी अनेक प्रकारसे कल्पनाएँ की ।

दार्शनिक दृष्टिसे शंकरोत्तर-युगमें शंकराचार्यके अनु गायियों-ने मायाके जो लक्षण किये है, वे महत्त्वपूर्ण है। पद्मपादने कहा कि जो सत् और अमत्मे विलक्षण है, वह माया है। माया एक तृतीय कोटि है; वह सत् और असत् , इन दोनों कोटियोंसे भिन्न है। उसको विलक्षण वहा जाता है क्योंकि वह इन दो कोटियोने भिन्न है। इसी अर्थमे उसे अनिर्य-चनीय कहा जाता है। जगत् इस अर्थभे माया है, रस्सीमे देखा गया मर्प इस अर्थमें भाया है। रस्मीको जब लोग सॉप समझते है, नव वह सॉप कैसा रहता है ? क्या वह सॉप सत् है, यानी वास्तविक मांप है ? नहीं; वह वास्तविक या सन साप नहीं है, क्योंकि भ्रमके अनन्तर उसका अस्तित्व नही रहता। फिर क्या वह असत् है ? नही; क्योकि वह देखा जाता है और उसके संस्पर्शसे लोग मर जाते है। इस नरह वह साँप न नो सन् है और न असत्। वह विलक्षण है। संसारमे देखे गये सॉफ्का उस सॉफ्से कोई सम्बन्ध नही है। जिस नरह वह सॉप विलक्षण है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् विलक्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि अद्वेतवादी जगन्को भ्रम नहीं कहते। वे जगत्की तुलना रस्तीमे देखे गये सॉपमे अवस्य करते है, किन्तु इस तलना या समीकरणमें वे यह निष्वर्ध नहीं निकालने कि जगत् भ्रम है। वास्तवमे भ्रम और जगत् , दोनों विलक्षण है। दोनोका स्तर एक नहीं है और इस कारण दोनोको मिलाना ठीक नहीं है। किन्तु दोनों न मन् है और न असत्। इम दृष्टिने दोनों अलग-अलग अपने स्वभावके कारण मिथ्या है या माया है। तार्किक दृष्टिने यही मायावाद है और इसका खण्डन कर सकना असंभव है।

साधनाकी दृष्टिसे एक ऐसी अवन्था आती है, जिसमें साधकको यह ज्ञान होता है कि एक मात्र वहीं सत् है और समस्त जगत् तुच्छ या तीनों कालमें असत् रहनेवाला है। इस दृष्टिमें मायाका अनुभव इसी अवन्थामें होता है। जब ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान होता है, तब जगत्का ज्ञान नहीं रहता और जब जगत्का ज्ञान रहता है, तब ब्रह्म या आत्माका ज्ञान नहीं रहता। जब आत्माका ज्ञान नहीं रहता, तभी मनुष्य मायाके जालमें पड़ा रहता है। हिन्दी-के निर्मुण सन्तोने दम साथनावस्थाका अच्छा वर्णन किया है। इनमें कवीर, टाटू आदि मुख्य है।

स्पृष्टि-विद्यानवी दृष्टिसे मायाको जगत्का कारण माना जाता है। किन्तु माया जगत्का इस प्रकारका कारण नहीं है, जिस प्रकार मांख्यदर्शन (३०)मे प्रकृति जगत्का कारण है। जगत् मायाका परिणाम है अवस्य, किन्तु माथ ही वह ब्रह्मका विवर्ग भी है (३० 'विवर्गवाद')। ब्रह्म और मायाका सम्बन्ध क्या है ? कभी मायाको ब्रह्मकी शक्ति कहा जाना है तो कभी उपाधि। अद्दैनवादके अनुमार दूसरा मत अधिक ठीक है, किन्तु पहला मत भी अद्दैनवादमे प्रचिल्त है। इसके अनुमार माया तीन शक्तियोंका पुंज है। ये तीन शक्तियाँ—आवरण-शक्ति, विद्युप-शक्ति और मल-शक्ति है। आवरण-शक्तिके कारण वस्तुका जैसा स्वरूप रहना है, वह नहीं दिखायों देता और उसपर अज्ञानका पर्श पड जाना है। विद्युपशक्तिके कारण उसके स्थानपर दूसरी वस्तुका पड़ती है। मल-शक्तिके कारण प्रसुक्त उस दूसरी वस्तुका

उपयोग करने लगता है। उदाहरणके लिए एक मेजकी लीजिये। परमार्थनः एकमात्र ब्रह्म है, किन्तु उसकी हम अपने अझानके पहेंसे नहीं देख पाते। यह आवरण-शक्तिका कार्य है। फिर ब्रह्मके स्थानपर हम मेजका निश्लेप कर लेते है, अर्थात् मेज देखते है। यह विक्षेपशक्तिका कार्य है। फिर मेजके जितने उपयोग हम करते है, वह मल-शक्तिक कारण है। जब इन तीनो शक्तियोंको हम निराकृत कर देते है, तब हमें मेजके स्थानपर ब्रह्म दिखाई पडना है।

मायावादका प्रभाव हिन्दी प्रदेश और उसके साहित्यपर बहुत गहरा पड़ा है। हिन्दी प्रदेशमें प्रत्येक वयस्क व्यक्ति माया शब्दसे परिचित है लोकगीतोमे भी मायाका प्रचुर प्रभाव पडा है। संत-साहित्य तथा कृष्णोपासक और रामोपा-सक भक्ति साहित्यमे मायाके सिद्धान्तकी मामिक विवेचना हुई है। इससे सम्बन्धित एक प्रश्न भी उठाया गया है कि मायाका अनुभव अत्ममाक्षात्कारके पूर्व होता है या परचात् ? ज्ञानी संतोमे इस प्रश्नपर विवाद है। भक्त कवियोंने भक्तिके द्वारा साक्षात्कार करनेका विधान किया है। अतः उन्होंने इस प्रश्नकी उपेक्षा की और कहा कि भक्तिके राजमार्गसे जब साक्षात्कार मिलता है, तब माया अपने-आप दर हो जाती है। तुलसीदास जै रे सगुणोपासक कवियोके अनुसार साक्षात्कार होनेपर भी माया बनी रहती है। माया और भक्ति, दोनो भगवान्की पत्नियाँ है। भक्त, भक्तिकेद्वारा भगवानसे मिलता है। उसके मिलनेसे माया का अस्तित्व ज्यों-का-त्यों रहता है । किन्त्र कवीर जैसे निर्गुणोपासक कवियोने माना है कि माक्षात्कारके बाद जगत जल जाता है, तब माया रहती ही नहीं है। सगुणोपासकोके मतसे साक्षात्कारके अनन्तर भी माया रहती है, किन्तु वह भक्तपर प्रभाव नहीं डाल सकती। प्रायः सभी सन्तों और भक्तोने यह माना है कि जब माया प्रभाव डालती है तो उसका प्रभाव द्षित ही रहता है। उन्होंने मायाओं अञ्चभ या अश्रेयके अर्थमे विशेषतः लिया है। जिते पश्चिमी धर्म-दर्शनमे 'ईविल' (evil) कहते है, उसको ही हिन्दीके संतो और भक्तोने माया कहा है। इस तरह जहाँ अद्वैतवादी दार्शनिकोके लिए मायावाद तत्त्व-दर्शन और ज्ञान-मीमांसाका सिद्धान्त है, वहाँ हिन्दीके संतो और भक्तोंके लिए यह केवल धर्म-दर्शनका सिद्धान्त है (दे० 'माया')। --सं० ला० पा० मारिफ़त-मारिफतका अर्थ ईश्वरीय, आध्यात्मिक ज्ञान है। सूफी साधक मानते हैं कि मारिफ (आध्यात्मिक सचा ज्ञान) परमात्माके 'पकत्व'का बोध है। इसके द्वारा मनुष्य समझ पाता है कि 'भिन्न'की प्रतीति होना मिथ्या है। इस ज्ञानके सहारे मनुष्य अपने-आपको जान पाता है और अपने-आपको जानना परमात्माको जानना है। इस प्रकार परमात्मा-विषयक सूफियोंके रहस्यमय ज्ञानको 'मारिफ' कहते हैं। स्फी इसे प्रकाश मानते हैं, जिससे हृदय आलोकित हो उठता है। मारिफत ज्योतिस्वरूप . परमात्माके प्रकाशने ही प्रकाशनाला है। इसीके सहारे साधक परमात्माके 'एकत्व'को देखनेमे समर्थ होता है (दे॰ 'सूफी मार्ग')। —रा० पू० ति० सार्क्सवाद-यह शब्द अंग्रेजीके 'मार्क्सिजम' शब्दका हिन्दी पर्याय है। चिन्तनके इतिहासमे इमका उद्भव कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०)के विचारोसे होता है। मार्क्स वाद जीवनका सम्पूर्ण दर्शन माना जाता है, पर केवल दर्शन माननेसे मार्क्सवादके सम्पूर्ण तथ्योकी अभिन्यक्ति नहीं होती। इसीलिए कुछ विद्वान् मार्क्सवादको क्रियात्मक दर्शनके रूपमें भी स्थीकार करते है। कार्ल मार्क्सने स्वतः फायरबाखपर अपनी 'थीसिसें' लिखते समय इस तथ्यपर प्रकाश डाला था कि अवतक वे दार्शनिक स्टृष्टिकी केवल व्याख्या करते रहे है, किन्तु अव वह समय आ गया है कि हम उसका परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलतः क्रियाशिलताका प्रतीक है। इसलिए जिस दर्शनका लक्ष्य परिवर्तन है, वह मूलतः क्रियात्मक है। इस प्रकार मार्क्सवादके दो स्वरूप है—पहला, सृष्टि और समाजका विश्लेषणात्मक अध्ययन और दूसरा, उसी संचित अध्ययनके आधारपर सामाजिक परिवर्तनका प्रयास।

मावर्गवाद समाजवादी विचारधारा है, किन्तु समाजवाद (दे०)के इतिहासमे मावस्वादको वैज्ञानिक समाजवादकी श्रेणी प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक समाजवाद एंगिल्सके अनुसार वह समाजवाद है, जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करनेके पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमोका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिनके आधारपर सामाजिक परिवर्तन होने है। एंगिल्सका कहना है कि सामाजिक गत्यात्मकता नियमिहीन नहीं होनी। यदि हम इन नियमोको जान लें तो उसोके अनुरूप समाजवादी परिवर्गन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थानपर खड़ा है, वह स्वप्नो और भावनाओकी कोमल भूमि नहीं है, वरन् सत्य और परिस्थितिका कठोर धरातल है।

मार्क्सवाद, जैसा कहा जा चुका है, सृष्टि और समाजका समन्वित दर्शन है। अतः माक्सवादका अपना एक दार्शनिय दृष्टिकोण भी है। इसी दृष्टिकोणकी पृष्ठभूमिमें समूचा मार्क्सवाद समझा जा सकता है।

मार्क्सवादके दार्शनिक दृष्टिकोणको द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद (दे०) कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है, जिसके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य पदार्थ है, किन्तु जो निरन्तर परिवर्तनशील अवस्थामे होनेके नाते द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे ही जाना जा सकता है। भौतिकवादी प्रत्यय और पदार्थमें पदार्थको प्रथम स्थान देते है। उनके अनुसार प्रत्यय पदार्थके पश्चात् ही सृष्टिमे आया। अतः पदार्थको सृष्टि प्रत्ययसे न होकर प्रत्ययको सृष्टि पदार्थसे हुई है। प्रत्ययवादी शाश्वत नेतनाको ही सृष्टिका उद्गम-स्थान मानता है और उसके अनुसार पदार्थके जितने भी परिवर्तन हैं, वे केवल नेतना-जगत्मे होनेवाले प्रत्यय-विकासकी छाया हैं। अतः शुद्ध भौतिकवादको दृष्टि वहिर्मुखी है।

भौतिकवादके कई रूप हैं। हर एक भौतिकवादी इतना तो मानता ही है कि प्रत्यय पदार्थ-पस्त है, किन्तु प्रत्यय और पदार्थमें क्या सम्बन्ध है, इस विषयपर भौतिकवादियों में मतभेद है। कुछ भौतिकवादी, जिन्हें यान्त्रिक भौतिकवादी, अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिस्ट कहते है, यह मानते हैं कि प्रत्ययका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। यह हर एक क्षण अपने अस्तित्वके लिए पदार्थपर ही अवलम्बित है, अतः प्रत्यय क्रियाशील नही है। जब प्रत्यय क्रियाशील नहीं है तो मानव-मस्तिष्क सक्रिय न होकर बाह्यगत अनुभवोंका मात्र संचित कीष है। मानव-मस्तिष्ककी निष्क्रियता अनुभवात्मक मनोविज्ञान-की एक महान् विशेषता है और यान्त्रिक भौतिकवादी, मस्तिष्ककी इसी निष्क्रियतापर जोर देते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि और संचित अनुभवोका प्रयोग करके भी प्रकृति और पदार्थकी रूपरेखाओका परिवर्तन नहीं कर मकता। वह हर एक क्षण पदार्थकी कठोर शृंखलामे जकड़ा हुआ है। यान्त्रिक भौतिकवाद जब इस प्रकार मानव और मानव-मस्तिष्कको अनन्त अनुभवोंका निष्क्रिय भोक्ता मानता है, तो इन्द्रात्मक भौतिकवाद पदार्थ-प्रसूत प्रत्ययको एक स्वतन्त्र अस्तित्वके रूपमे देखता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्ययको क्रियाशील भी मानता है और उसके अनुसार वाह्य जगत्का समूचा परिवर्तन पदार्थ और प्रत्ययके अन्तरावलम्बनका इतिहास है। अन्तरावलम्बन द्दन्द्द-सिद्धान्तपर आधारित है। इसीलिए द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद हर एक परिवर्तनको इन्द्वात्मक दृष्टिसे देखता है। द्वन्द्वात्मकमे संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष केवल दो मूल विरोधी शक्तियोमे होता है। इसी नाते द्वन्दात्मक भौतिक-वादके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य परिवर्तन है, जो सदैव दो विरोधी शक्तियोंके संघर्षसे होता रहता है। द्व-द्व-सिद्धान्त हीगेलके द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद, अर्थात् 'डायलेक्टि-कल आइडियलिज्म'से लिया गया है।

हीगेल प्रत्ययके इतिहासमें ही संघर्षका इतिहास देखता था, किन्तु मार्क्सके अनुसार प्रत्यय गौण है और पदार्थ प्रधान: इसलिए संघर्षका इतिहास पदार्थमें है, न कि प्रत्ययमें। इसीलिए मार्क्स कहा करता था कि हीगेलका द्रन्द्रात्मक सिद्धान्त सिरके बल चलता है। इस प्रकार हीगेलसे द्वन्द्व-सिद्धान्त और फायरवाखसे भौतिकवाद लेकर मार्क्सने द्वन्दात्मक भौतिकवादका शिलान्यास किया। द्दन्दात्मक भौतिकवादकी कुछ मूलभूत मान्यताएँ है। इसकी पहली मान्यता यह है कि हर एक वस्तुके विरोध उसी वस्तुमे सीमित रहते हैं, किन्तु वे कुछ कालतक दबे रहते हैं। इस परिस्थितिको वाद कहते हैं। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि कालान्तरमें वाद-परिस्थितिका विरोध वे ही तत्त्व करने लगते हैं, जो उसमें सिन्नहित थे। इस परिस्थितिको प्रतिवाद कहते है। किन्तु द्रन्द्र-सिद्धान्तके अनुसार किसी भी-नयी परिस्थितिका जन्म दो विरोधी परिस्थितियोंके संवर्षसे होता है । द्रन्द्वात्मक भौतिकवादकी तीसरी मान्यता यह है कि जब वाद और प्रतिवादका संघर्ष होता है तो एक तीसरी परिस्थितिकी सर्जना होती है, जो उन दोनों परिस्थितियोसे भिन्न होती है और जिसमे दोनो परि-स्थितियोके कुछ अच्छे अंश उपस्थित रहते है। इस तीसरी परिस्थितिको संवाद अथवा प्रतिवादका प्रतिवाद कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी चौथी मान्यता यह है कि वादसे संवादतकका विकास मात्रात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर होता है।

<sup>/</sup>द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके प्रकाशमें जब मानव-समाजके

इतिहासका अध्ययन किया जाता है तो मनुष्यके समूचे अतीतको एक व्यवस्थित अर्थसत्र प्राप्त हो जाता है। उस समय इतिहासमे इधर-उधर विखरी घटनाओंका संकलन नहीं होता। उसके चरणोंको निश्चित गति और लय प्राप्त होती है। उसका जीवन निश्चित ऐतिहासिक नियमोम बँध जाता है। उन्ही निश्चित ऐतिहासिक नियमोंके समन्वित रूपको ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार मनुष्यके सारे कर्तव्योकी प्रेरणा उत्पादन है। इसी लक्ष्यको लेकर मनुष्य सामाजिक सम्बन्धोंकी स्थापना करते है। अतः मनुष्यके समूचे सामाजिक सम्बन्ध उसके उत्पादन-सम्बन्धोपर आधारित है। जब उत्पादन सम्बन्धमे परिवर्तन होगा तो उसके सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जायँगे। अतः समाज-के दो ढाँचे है। पहला ढाँचा है आधारभूत ढाँचा, जो उत्पादन-सम्बन्धोंपर आधारित है और दूसरा वह ढाँचा है, जो आधारभूत ढाँचेपर आश्रित है। दूसरे ढाँचेके अन्तर्गत समाज, साहित्य, कला, दर्शन एवं संस्कृति सम्बन्धी तत्त्व आते है। इस नाते कविकी काव्यप्रेरणा, दार्शनिककी ज्ञान-जिज्ञासा, कलाकारका कलात्मक लक्ष्य और संस्कृतिका मूल उद्देश्य, सब-कुछ आर्थिक व्यवस्था द्वारा अनुशासित होता है।

समाजकी उत्पादन-प्रणालीका परिवर्तन भी दो विरोधी शिक्तियोंके संवर्षसे होता है। इस संवर्षको कार्ल मार्क्सने वर्ग-संवर्ष कहा है। वर्ग-संवर्ष दो वर्गोंमे होता है। इसमें-से एक वर्ग, जिसे शोषक वर्ग कहते है, समाजका आर्थिक और राजनीतिक शासन करता है। दूसरा वर्ग, जिसे शोषित वर्ग कहते है, उन लोगोंका वर्ग है, जो शारिरिक श्रम तो अवद्य करते है, किन्तु उस शारिरिक श्रमका फल उनको न प्राप्त होकर शोषकवर्गको प्राप्त होता है। इसलिए शोषित और शोषक वर्गमें संवर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इसी संवर्षके मूलमें विकासस्थिति है।

मार्क्सवादके अनुसार अवतक समाजमें चार प्रकारकी सामाजिक अवस्थाएँ प्राप्त हो सकी है। पहली व्यवस्था है आदिम साम्यवादकी, जिसमे लोग स्वतन्त्र थे और उनका समष्टि-जीवनसे कोई सम्पर्क नही था। दूसरी व्यवस्था है दास-व्यवस्था, इसके अन्तर्गत कुछ शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति शक्तिहीनोंपर शासन करते थे, किन्तु जब कुछ दासोंने क्रान्ति की तो सामन्तवादी व्यवस्थाने उसका स्थान लिया । सामन्तवादी व्यवस्थामे भी जब वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो गया तो उसका स्थान एक नयी विकसित आर्थिक व्यवस्थाने लिया, जो आज भी जीवित है। इसे पूँजीवाद कहते है। किन्तु पूँजीवादमें भी वर्ग-संघर्ष चल रहा है और मजदूर सम्पत्तिपर सामूहिक नियन्त्रणका प्रयास कर रहा है। कुछ देशोंमे तो पूँजीवाद समाप्त हो गया है और उसके स्थानपर समाजवादकी स्थापना हो रही है। इस नयी व्यवस्थाको साम्यवाद (दे०) कहते है। कार्ल मार्क्सन सामाजिक व्यवस्थाओंकी इन्हीं रेखाओकी ओर संकेत किया है, जो अबतक इतिहासके विकासमें दृष्टिगत हो रही हैं।

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषणपर आभारित है। यह शोषण सर्वहाराका है, क्योकि सर्वहारा

शारीरिक श्रमसे उत्पादन करता है, किन्तु उसका लाभ पॅजीपतियो या स्वामियोके हाथमे जाता है। दैनिक जीवन-के इस साधारण अनुभवको कार्ल मार्क्सने अर्थशास्त्रके जटिल रूपमं व्यक्त किया है। इसे मूल्यका सिद्धान्त अथवा 'थ्योरी ऑव वेल्यू' कहते है। मार्क्सका कहना है कि जब आधुनिक वैज्ञानिक साथनोसे युक्त मजदूर किसी वस्तुका उत्पादन करता है, तभी उस वस्तुको विनिमय-मूल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तुका विनिमय-मूल्य कितना है, यह उस वस्तपर लगाये गये श्रमके बराबर है, किन्त जब पॅजीपति मजदूरको मजदूरी देता है तो वह उसके द्वारा ही मजद्रका शोषण करता है। मजद्रको जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह उसके द्वारा किये गये श्रमके बराबर नहीं होती, अतः मजदूर जितने मुल्यका सर्जन करता है और जितने मूल्यका वह दाम पाता है, उसके अन्तरको कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मृत्य या 'सरप्लस वैल्यू' कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य भी मजदूर द्वारा निर्मित हुआ है, क्योंकि मजदूर मूल्यकी रचना करता है, किन्तु मिल-मालिक इस 'स्र प्लस बैल्य्'को अपना लाभ समझकर अपने पास रख र्लिता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्सने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें यह स्वाभाविक है कि मिल-मालिक मुनाफा करे और जिस धनपर मजदूरका नैतिक अधिकार है, उसको हड़प ले।

मार्क्सवादके अनुसार राज्य भी इन आर्थिक व्यापारो-का निरपेक्ष द्रष्टा नहीं है। एक समय था, जब पूँजीवादियोने आर्थिक क्षेत्रमें राज्यसे इस्तक्षेप न करनेकी माँग की थी। वह युग 'लैसेज फेयर' नीतिका युग था। किन्तु पूँजीवादकी राक्तियाँ जब शिथिल होने लगी तो उन्होंने राजनीतिक शक्तियाँ सहारा लिया। राज्य मार्क्सके अनुसार वर्ग-संवर्षका प्रतीक है। इसलिए मार्क्स समाजवादी क्रान्ति द्रारा राज्यका भी उन्मूलन करना चाहता है।

समाजवादी क्रान्ति केवल सर्वहारा ही कर सकता है। मार्क्सने क्रान्तिको पद्धितयों और साधनोंपर विशद रूपसे अपने विचार व्यक्त किये है। उसके अनुसार केवल अ्र्यावसायिक श्रम-वर्ग ही शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है, जो क्रान्तिको लिए नितान्त आवश्यक है। क्रान्ति सफल हो जानेपर साम्यवादकी सृष्टि होती है, किन्तु क्रान्तिकी सफलता और साम्यवादकी स्थापनाके बीच समयका लम्बा अन्तराल आता है। इस बीच पूँजीवादी राज्यको नष्ट करके मजदूर-राज्यको स्थापना होती है। यही मजदूर-राज्य शान्तिमय ढंगसे सारे समाजको साम्यवादकी ओर ले जाता है।

आधुनिक साहित्य तथा साहित्य-चिन्तनपर मार्क्सग्रह्मी गृह्मी छाप है। हिन्दी साहित्यमें मार्क्सिग्रह्म द्वारा प्रेरित साहित्यको प्रगतिवाद(दे०)की संज्ञा दी गयी है। — रा० कु० त्रि० सास्त्रती—वर्णिक छन्दोंमे समृत्रतका एक मेद। मानु-(छं० प्र०, पृ० १५८)के अनुसार नगण, २ जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, ISI, ISI, SIS)। जयकीर्ति(छन्दो०, २: १३९)ने इसे वरतनु नाम दिया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—''विपिन

विराध बलिष्ठ देखियो । नृप तनया भयभीत लेखियो । तब रघनाथ (स) बाण के हयो । निज निरवाण पन्थका ठयो।" (रा० चं०, ११:८)। मालती (प्रमोद) - विणिक समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्य-शास्त्र'में मालती नामका दो जगणका छन्द मिलता है (ISI, ISI) । इसे केशव और भानुने मालती तथा देवने प्रमोद नाम दिया है। 'प्राकृतपैगलम्' और 'वाणीभूषण'में सुमालती नाम दिया गया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—"ज़ पै जिय जोर, तजी सब शोर । सरासन तोरि, लही सुख कोरि" (रा० चं०, ४:८)। **मालादीपक** -'दीपक'से सम्बद्ध शृंखलामूलक अर्थालंकार। इस अलंकारमे पूर्वीक्त वस्तुओंसे उत्तरीत्तर वर्णित वस्तुओं-का सम्बन्ध एक धर्मसे स्थापित किया जाता है। इस अलंकारमे जगन्नाथ तथा अप्पय दीक्षितके अनुसार पूर्व-वर्णित पदार्थों और उत्तरोत्तर पदार्थीमे परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तत अथवा उपमेय-उपमानभाव (साहदय) सम्बन्ध

वाणत पदाथा आर उत्तरात्तर पदाथाम परस्पर प्रस्तुतअप्रस्तुत अथवा उपमेय-उपमानभाव (साइस्य) सम्बन्ध
नही रहता। मम्मट तथा रुय्यकसे यह अळकार मिळता
है। मम्मटने दीपकके प्रकार-रूपमे इसकी परिभाषा दी
है—"माळादीपकमायं चेयथोत्तरगुणावहम्", अर्थात् इसमे
पूर्ववणित वस्तु उत्तरोत्तर वणित वस्तुमे उत्कर्षका आधान
करती प्रतीत होती है (का॰ प्र॰, १०: १०४)। रुय्यकने
इसी बातको अथिक स्पष्ट किया है—"पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तर
गुणावहत्वे" (अ० स०, १० १४१)। विश्वनाथंका लक्षण
अथिक स्पष्ट नही है। मम्मटने 'दीपकंके बाद इसपर
विचार किया है, पर रुय्यकने कारणमालाके बाद। हिन्दीमे
रुय्यकका अनुसरण हुआ है।
हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधार-

हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधार-पर दीपक और एकावली अलंकारोके संयोगसे मालादीपक अलंकार माना है—''दीपक एकाविल मिलें मालादीपक जान''(का॰ नि॰, १८)। जसवन्त सिह, मतिराम, भूषण, सोमनाथ तथा पद्माकर—सभीके लक्षण समान है।

भिखारीदासका उदा०—"जगकी रुचि ब्रजनास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि वंसी दास, वंसी रुचि मन वॉधिवो" (का० नि०, १८)।" यहाँ प्रथमकथित 'जग'न्से उसके उत्तरकथित 'ब्रजनास'का, 'ब्रजनास'से 'ब्रजचन्द' आदिका 'वॉधिवो' इस एक क्रियारूप धर्मसे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अतः 'मालादीपक' अलंकार है। आधुनिक कवि जयशंकर 'प्रसाद'ने अपने 'ऑस्' काल्यमे इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"धनमें सुन्दर विजली-सीं, विजलीमें चपल चमक-सी। आँखोमे काली पुतली, पुतलीमें श्याम झलक-सी। प्रतिमामे सजीवता-सी, वस गयी सुछिव ऑखोंमें। थी एक लकीर हृदयमे, जो अलग रही लाखोंमें"।

मालादीपक और कारणमाला, दोनों अलंकारोमे पूर्वकथित पदार्थोंका उत्तरोत्तरविणित पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, पर पहलेमे प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थ बादवालेका कारण कहा जाता है और दूसरेमे प्रत्येक पूर्वपदार्थ बादवालेके साथ विशेषण-विशेष्यके सम्बन्धमें उपस्थित होता है (दे॰ 'दीपक', तीसरा प्रकार)। —वि॰ स्ना॰

मालिनी — वर्णिक छन्दों से समवृत्तका एक मेद । पिंगलाचार्य-के अनुसार इसकी परिभाषा है — 'मालिनी नो म्योय' (७:१४), अर्थात् न, न, म, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है। बादमे ८,७ वर्णीपर यितका नियम भी निक-सित हुआ। भरतने इसका नाम नान्दीमुख (ना० शा० १६:७३) दिया है। हिन्दी साहित्यमे इमका प्रयोग केशव (रा० चं०,१३:२७), रहीम (मदनाष्टक), सुदन (सु० चं०), हरिऔष (प्र०प्र०, स०४,६,७,९,१०,११, १३,१५,१७), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ०१६— १९) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, स०१:१३,१६ एवं वर्द्धमान,पृ०७०)ने किया है। उदा०—''जय रितपित तेरी हो, तुझे सर्वदा ही' (वर्द्धमान स०१:१४०)।

हिन्दो कियोने इसमे विशेष नवीन प्रयोग किया है। चन्दने इस छन्दको तोडकर नवीनता प्रदान की है और इसका नाम 'काव्य जाती' रखा है। उनके प्रयोगके अनुसार नया छन्द न न SS और र र S में विभक्त जान पडता है। यह परिवर्तन यतिके प्रयोगपर वरु दिये जानेमे सिद्ध हुआ है। चन्दने तो यतिका प्रयोग किया था, पर दीनदयाल गिरि तथा स्दनने इन यतियोंपर तुकका प्रयोग भी किया— "विशद बकुल-माला, शोभती यों विशाला" (अ० क०, १५)।

मालोपमा -दे॰ 'उपमा', सातवाँ प्रकार।

माहिया—पंजाबीका अत्यन्त लोक-प्रचलित शृंगार तथा करूण रससे ओतप्रोत लोकगीत। शृंगारके विरह-पक्षकी इसमें मार्मिक अनुभूति मिलती है। पंजाबी शिष्ट साहित्यके जपर भी इस लोक-परम्पराकी रचनाका यत्र-तत्र प्रभाव दिखाई देता है।

—सं०

मिथ्याध्यवसित – कार्य-कारणमूलक अर्थालंकार । जहाँ किसी अर्थको मिथ्या सिङ करनेके लिए किसी अन्य सिङ मिथ्याकी कल्पना की जाय । जयदेवने 'मिथ्याध्यवसाय' नामक लक्षणका निरूपण किया है कि इसमे कार्य और कारणकी मिथ्या कल्पना करके कार्यसिद्धिका वर्णन होता है—"स्यान्मिथ्याध्यवसायक्चेदसती साध्यसाधने" (चन्द्रालोक, ३:७) । परन्तु अप्पय दीक्षितने 'मिथ्याध्यवसित' अलंकार माना है । इसका लक्षण है—"किंचिन्मथ्यात्व सिङ्धर्यं मिथ्यार्थंन्तरकल्पनम्" (क्रवल्यानन्द, १२७) ।

हिन्दीके जगत सिंह, मितराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधारपर प्रायः इसके लक्षण दिये हैं—''झूठ अर्थकी सिद्धिको, झूठो वरनन आन'' (शि॰ भू०, २७२) अथवा—'एक झुठाई सिद्धि कौ, झूँठो वरनत और" (ल० ल०: २९८), अर्थात् मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिए किसी दूसरे मिथ्या अर्थकी कल्पना—''धरै जु माला नभ कुसुम, करै सु परितय प्रीति'' अथवा—''जो ऑजै नभ कुसुम रस, लखे सु अहिके कान'' (पद्मा०, २१५)। यहाँ 'परितय प्रीति' तथा 'अहिके कान'-को झूठा सिद्ध करनेके लिए असत्य कल्पनाएँ की गयी हैं। इस अलंकारकी समीपता निदर्शना और अतिश्योक्ति अलंकारोंसे हैं। उद्योतकारने इसे अतिश्योक्ति तथा जगन्नाथने प्रौढोक्तिके अन्तर्गत माना है। — ओ॰ प्र० मिश्र वस्तु—इतिकृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तुके तीन

मेदो—प्रस्थात, उत्पाध और मिश्र—मेंसे एक है। इसमें इतिवृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रस्थात रहती है, पर अनेकानेक कथाएँ किएत होनी है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी वीणा'के इतिवृत्त 'आयों और अनार्थोका संघर्ध'की पृष्ठभूमि प्रस्थात है, किन्तु कथाओंकी सर्जना नाटककारकी अपनी करपना है। —व॰ सि॰ मिसरा—उर्दृ किवितामे छन्दका एक चरण मिसरा कहलाता है। जब शब्दोको किसी खास बहुर छन्दके वजन (माप)-पर लिख दिया जाय तो उसे एक मिसरा कहते है। बह्रकी लम्बाईके हिसाबसे मिसरे छोटे-वड़े होते है। जिस बह्रकी जो माप नियत है, उसपर हर मिसरेको पूरा उत्तरना चाहिये। अगर मिसरा उस मापसे छोटा होगा या

छन्दोभंग कहा जाता है (दे०—'बह्र्र', 'होर')। सीन-दे० 'मछरी'।

मीमांसा – (क) मीमांसाका शाब्दिक अर्थ गवेषणा अथवा विवेचन है। प्राचीन कालमे तथा वर्तमान समयमें मीमांसाका प्रयोग प्रायः इसी अर्थमे होता है।

उसका आहंग (लय-अवरोह) बहुरके समान न होगा, तो

उस मिसरेको अनुपयुक्त समझा जायगा । यह दोष हिन्दीमे

(ख) परन्तु दर्शन-जगत्में केवल मीमांसासे वेदमीमांसा, कर्ममीमांसाका ही बोध होता है। वेदोंकी मीमांसा धर्म-कर्ममे होनेके कारण ही इसे धर्ममीमांसा या कर्ममीमांसा कहते है। इससे मीमांसाका प्रयोजन भी मालूम हो जाता है—जो धर्मका निरूपण करता है—"धर्मांख्यं विषयं वस्तु मीनंसाटाः प्रयोजनम्" (कुमारिल: इलो० वा०, ११)।

(ग) मीमांसा कर्ममीमांसा और श्वानमीमांसा, कर्मकाण्ड और श्वानकाण्ड दोनोको लिए प्रयुक्त होता है। इसीलिए प्रथमको 'पूर्वमीमांसा' और द्वितीयको 'उत्तरमीमांसा' कहते है। पूर्व और उत्तर शब्दोंसे स्पष्ट है कि वस्तुतः ये दोनों शास्त्र एक ही दर्शनके अंग है। यह अंगिदर्शन वैदिक दर्शन है।

मीमांसाके इन त्रिविध अथोंके वावजूद यह शब्द पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसाके अर्थमे रूढ हो गया है। हिन्दीमे सामान्यतः मीमांसा शब्दका प्रयोग समीक्षाके अर्थमे होता है।

अन्य सभी भारतीय-दर्शनोकी भाँति मीमांसाका उद्भव भी वेदोंसे हुआ। पर अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा यह अधिक वेदिक दर्शन है। इसका विषय वेदोक्त धर्मकी व्याख्या हैं। गौतम बुद्धने वेदोक्त धर्मके कर्मकाण्ड-पक्षपर प्रहार किया था। फलस्वरूप वेद्द्रशोंने अपने धर्मको छुन्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयास किया। इन प्रयासोमे जैमिनी (४०० ई० पू०)का प्रयास सर्वोत्तम रहा और 'कर्ममीमांसास्तृत्र' मीमांसाका मौलिक अन्य हो गया। श्वर (२०० ई०)ने इसपर अपना भाष्य लिखा। कुमारिल और प्रभाकर (७वी श्वती)ने इस भाष्यकी व्याख्या की और धर्मके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए उसके प्रभावको देशभरमे विलक्षल क्षीण कर दिया। कुमारिल और प्रभाकर मीमांसाके क्रमशः भट्टमत तथा गुरुमतके संस्थापक है। कालान्तरमे मुरारि मिश्रका भी एक तीसरा मन चल पड़ा।

बौद्ध धर्मके उन्मृलनमें मीमांसाका प्रमुख हाथ रहा है।

इसने वेदोकी कर्मपरक न्याख्या की और अवैदिक धर्मीकी कट आलोचना की । बौद्ध धर्मके भारत छोड़ देनेके बाद मीमांसाका विरोध न्यायवैशेषिकसे हो गया। मीमांसामें किसी ईश्वरका विधान नहीं है, न्यायवैशेषिकमें है। मीमांसा सभी प्रमाणोको स्वतःप्रामाण्य मानती है, तो न्यायवैदोषिक परतः प्रामाण्य । मीमांसा वेदोको अपौरुषेय मानती है तो न्यायवैशेषिक पौरुपेय। मीमांसा पहले निरीश्वरवादी थी। जैमिनि ईश्वर और आत्माके विषयमें कुछ नहीं कहते। कुमारिल और प्रभाकर भी ईश्वरकी मान्यताके विरोधी नहीं प्रतीत होते। अतः मीमांसाको प्रायः निरीश्वरवादी न कहकर लोग अज्ञेयवादी कहते है। कालान्तरमें आपदेव लौर लौगाक्षि भास्कर (१७वी शती)ने मोमांसाको ईश्वरवाद-की ओर उन्मुख किया। वेदान्तदेशिककी 'सेश्वर मीमांसा'में तो 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा', दोनों मिल गयी, और मीमांसामे ईश्वरको स्थान मिल गया, पर कुमारिलका मत मीमांसाका अधिक प्रचलित मत है।

मीमांसा वेदोंका तात्पर्य निश्चित करनेके लिए, सहायक, श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन षट् प्रमाणोंको मानती है। इसमे वेदके दो भाग माने जाते है, मन्त्र और ब्राह्मण—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। विषयके विचारसे वेदोके ५ विभाग है-१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद । 'स्वर्गकामो यजेत', इस प्रकारके वाक्योंको विधि कहते हैं। अनुष्ठानके अर्थ-स्मारकोंको मन्त्र कहते है। यज्ञोके नामकी संज्ञा नामधेय है। अनुचित कर्मसे विरत होनेको निषेध कहते है और किसी पदार्थके सच्चे गुणोके कथनको अर्थवाद कहते हैं। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदोंका तात्पर्य विधि-वाक्योंमे ही है। विधि चार प्रकारकी होती है। कर्मके स्वरूपको बतलानेवाली उत्पत्तिविधि, अंग तथा प्रधान अनुष्ठानके सम्बन्धको बतलानेवाली विनियोगविधि, धर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको न्यक्त करनेवाली अधिकारविधि है तथा प्रयोगके प्राज्ञभाव (शीघ्रता)की बोधक विधिको प्रयोगविधि कहते हैं।

शानके साथनों या प्रमाणोंमें प्रभाकरके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमाम, शब्द, उपमान तथा अर्थापत्ति है। कुमारिलके मतसे इनके अतिरिक्त छठा प्रमाण अभाव या अनुपरुष्टि है। तत्त्ववादमें कुमारिलके अनुसार पदार्थ पॉच है—द्रव्य, गुण, कमें, जाति और अभाव। द्रव्य ११ है—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। गुण २४ है।

कर्म तीन हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य । प्रथम दो अनिवार्य है । उनके न करनेसे प्रत्यूह होता है । प्रातः और सायं उपासना या प्रार्थना करना नित्यकर्म है । प्रहणके अवसरपर गंगास्नान करना नैमित्तिक कर्म है । काम्य कर्म वे हैं, जो किसी कामनासे किये जाय, जैसे पुत्रेष्टियज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि । काम्य कर्मके कर्ताको सच्चा अधिकारी होना चाहिये ।

कर्म और उसके फलमे अनिवार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका संस्थापक ईश्वर नहीं है, बल्कि अपूर्व है। अपूर्व एक शक्ति है। कर्मसे अपूर्व होता है। अपूर्वसे उस कर्मका फल उत्पन्न होता है। प्रभाकरने इसीको नियोग कहा है। कुमारिलके मतसे अपूर्व कर्म हो जानेपर नित्य आत्मामें उत्पन्न हो जाता है और जब वह फल दे देता है तो फिर वह नष्ट हो जाता है। प्रभाकरके मतसे अपूर्व नित्य आत्मामें नहीं, किन्तु कर्ममें ही रहता है, नियुज्य रहता है, इसीलिए वे इसे नियोग कहते है।

मीमांसामे कर्म या क्रियाका प्रधान महत्व है। इसके अनुसार केवल क्रिया, क्रियावान और क्रियाके अंगोका ही अस्तित्व है और इससे भिन्न किसी वस्तु या पदार्थका अस्तित्व नहीं है।

आत्मा या पुरुष प्रधानतः कर्ता या क्रियावान है। वह प्रधानतः ज्ञाता या द्रष्टा नही है। क्रियावान होनेके कारण वह सदा कर्म करता है। कर्म अपने फलको स्वयं अपूर्व या नियोगके भाध्यमसे प्रदान करता है। इससे क्रियावान आत्मा भोक्ता हो जाती है। ज्ञान भी इस मतमे क्रिया या न्यापार है। मीमांसाके अनुसार भट्टलोलटने साहित्य-शास्त्रमें रस-मतका निरूपण किया, जिसे उत्पत्ति-वाद या आरोपवाद (दे॰ रस-निष्पत्ति : पहलामत) कहा जाता है। रस रामादि अनुकार्यमें भावोंके संयोगसे उत्पन्न हो जाता है। वह रंगमंचकी परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको अनुकार्य समझता है और इस प्रकार अनुकार्यके रसका अनुभव करता है। जैसे यज्ञमें मीमांसाने 'देवो भूत्वा देवान यजेत्' (देव होकर देवोंकी उपासना करनी चाहिए)-का सिद्धान्त रखा, वैसे साहित्य-शास्त्रमे रसने अनुकार्य-रामादि होकर अनुकार्यके रसका अनुभव करना चाहिए-इस सिद्धान्तको माना। भट्टलोल्लटके उत्पत्तिवादके आधार हैं आत्माका कर्त्ता-भोक्ता होना तथा ज्ञानका कर्म रूप होना । क्योंकि प्रत्येक कर्मकी प्रक्रिया एकत्र और उसका फल अन्यत्र होता है, जैसे पाक-क्रिया कर्त्तामें है और उसका फल ओदनादिपर पड़ता है, वैसे रसकी प्रक्रिया मूलतः अनुकार्यमें और अनुकरणसे अनुकर्ता नटमें तथा उसका फल प्रेक्षकमें होता है।

भाषाशास्त्रको दृष्टिसे मीमांसाके दो मत अत्यन्त प्रसिद्ध है—अभिहितान्वयवाद (कुमारिलका) और अन्विता-भिषानवाद (प्रभाकरका)। एकके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सान्निध्यके कारण पदोंके अथोंका भली भॉति अन्वय हो जानेपर उन पदोंमेंसे प्रत्येकके अर्थसे भिन्न वाक्यका एक विशेष तात्पर्यार्थ होता है। दूसरा यह है कि पदोंके वाक्य-अथोंसे ही वाक्यार्थका बोध होता है।

मीमांसाको लोग प्रायः प्राचीन कर्मकाण्डमात्र समझते है और इस कारण इसकी कटु आलोचना करते है। कबीर जैसे निर्गुण सन्तोंने इसी अर्थमें मीमांसाकी तीत्र आलोचना की है। पर मीमांसाका वास्तविक रूप कर्मकाण्ड नहीं है। वह कर्म और उसके फलको विना ईश्वरके, अपूर्व या नियोगकी मददसे सम्बन्धित करती है और निष्काम कर्म करनेपर जोर देती है। इस अर्थमे मीमांसाकी शिक्षाएँ सदा प्राह्य हैं। 'करम गति टारे नाहिं टरी' जैसे पदोंमें मीमांसाके तथाकथित खण्डन करनेवाले कबीर आदिने वास्तवमें मीमांसाको कर्मवादका अनुपम समर्थन किया है। तुलसीदास जब लोकमर्योदाकी स्थापना करते

है तो वस्तुतः वे मीमांसाके ही अमुल्य कर्मवादकी व्याख्या करते है। लोकमान्य तिलकने तो 'गीता-रहस्य'से ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग और योगमार्गको असम्भवित करते हुए निष्काम कर्मयोगको ही निकाला था। महात्मा गान्धी भी मीमांसाके नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको मानते थे। उनकी रचनाओं में यज्ञका, जिसका अर्थ वे परोपकारार्थ कार्य कहते थे, प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुतः कर्मका उच्छेर नहीं हो सकता और इसलिए किसी-न-किसी अर्थमे कर्म-मीमांसाकी भी मान्यता सदैव रहेगी। मीमांसक, विशेषतः कुमारिल, कर्म और ज्ञानके समुच्चयपर जोर देते है। साध निश्चलदासने भी अपने दाद्रपन्थी साधनमार्गमे इस समुच्चयको माना है-- (धर्ममीमांसाके द्वादश अध्याय है (मीमांसासूत्रके)। जैमिनि नाम ताका कर्ता है। कर्म-अनुष्ठानकी रीतितामें प्रतिपादन करी है। याते विधिसे कर्ममे प्रवृत्ति धर्म-मीमांसाका फल है। कर्ममे प्रवृत्तिसे अन्तःकरण-शुद्धि, तासे ज्ञान और ज्ञानते मोक्ष, इस रीतिसे धर्ममीमांसाका मोक्षफल है"।

[सहायक ग्रन्थ-पूर्वमीमांसा गंगानाथ —सं० ला० पा० मीलित-लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमे किन्ही दो पृथक वस्तुओंमें स्वाभाविक अथवा आगन्तुक-तुल्य धर्मके कारण भेद लक्षित न हो, अर्थात एक वस्तुका दूसरेमे निलय हो जाना मीलित अलंकार है। मीलितका अर्थ है मिल जाना । इसमें नीर-क्षीर-न्यायसे एक वस्तुका दूसरी वस्तमे तिरोभाव हो जाता है। सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रटके 'काव्यालंकार'में हुआ। मम्मटका लक्षण इस प्रकार है— "समेन लक्षणा वस्तु वस्तुना यन्निगृह्यते । निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्" (का० प्र०, १०: १३०), अर्थात् जिसमें किसीके द्वारा किसी वस्तुका किसी दूसरी वस्त्रसे किसी स्वाभाविक अथवा आकस्मिक चिह्नके कारण तिरोधान अथवा छिपाना वर्णित हो । विश्वनाथकी परिभाषा सरल है-"मीलितं वस्त्रनो ग्रप्तिः केनचित्त्ल्यलक्षणा" (सा० द०, १०: ८९), अर्थात् जब कोई वस्तु समान लक्षणके कारण दूसरी वस्तुको तिरोभूत कर ले। वस्तुतः इसमें मम्मटके स्वामाविक तथा आकरिमक चिह्नके स्थानपर सादृश्यमात्रका उल्लेख है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीमें जसवन्त सिंहने साद्ययके कारण अभेदकी बात कही है-"मीलित सोइ साह्यतें भेद जबै न लखाय" (भा० भू०, १७४)। फिर आगे हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है। मतिराम तथा सोमनाथके लक्षण अस्पष्ट है तथा भूषण और पद्माकरने सादृश्यसे मेद न जान पडनेकी बात कही है। वस्तुतः यह साद्य, जैसा कि मम्मटने कहा है, स्वाभाविक अथवा आकिस्मक लक्षणोंपर आधारित है, अतएव निगृहन (छिपाना) दो प्रकारसे माना गया है।

विहारीके इस वर्णनमे स्वाभाविक कान्ति द्वारा ॲगिया-की कान्तिका तिरोभाव है—"भई जु छवि तन वसन मिलि, बरिन सकै सु न बैन। ऑग ओप ऑगी दुरी, ऑगी ऑग दुरै न" (सतसई, १८९)। दासने आगन्तुक धर्मी द्वारा तिरोभावका उदाहरण इस प्रकार दिया है—"केसरिया पट कनक तन कनकाभरन सिंगार! गत केसर केदारमे जानी जाति न दार" (का० नि०, १४)।

मितरामने भी इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है—"होति न लखाई निसि चन्दकी उज्यारी मुख, चन्दकी उज्यारी तन छाहों छिप जाति है" (७० ००, १४२)। भूषणके उदाहरणमें उक्तिका चमत्कार है—"पावत न हेरे तेरे जस मै हिराने निज गिरिको गिरीस हेरे गिरिजा गिरीसको" (शि० भू०, १०२)। इसी प्रकार महादेवीकी इन पंक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—"वे आभा वन खो जाते शिश किरणोंकी उलझनमे, जिससे उनको कणकणमे हुँ पहिचान न पाऊँ"।

हिन्दीमें 'मीलित' अलंकारका प्रयोग प्रायः सभी रीतिकालीन एवं कतिपय आधुनिक किया है। विहारीने भावकी संवेदनाको तीव करनेके लिए किया है। विहारीने मीलित अलंकारका जितना काव्यपूर्ण प्रयोग किया है, उतना रीतिकालीन अन्य कियोंने नहीं। यह उनका प्रिय अलंकार है। शृंगार रसमें नायिकाओंके रूपको अधिक संवेदनीय बनानेके लिए किवने इसी अलंकारका अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय लिया है। जायसीने नायिकाके अलौकिक रूप-सौन्दर्य-वर्णनके लिए इस अलंकारका भी प्रयोग किया है।

तद्गुण, भ्रान्ति तथा मीलितमे वास्तविक अन्तर है।
तद्गुणमें साधारण (सदश) लक्षणवाली वस्तुका तिरीमाव
नहीं होता, वरन् उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुका गुण प्राप्त किया
जाता है; भ्रान्तिमे एकके स्थानपर दूसरेका भ्रम होता है,
दोनों उपस्थित नहीं रहते; मीलितमें समान गुण एक-दूसरेमें तिरीधान हो जाते हैं, अर्थात् दोनो रहते हुए भी एकदूसरेमें छिप जाते है। दण्डीने मीलितको अतिशयोक्तिका
एक भेद माना है तथा यह रुद्रके पिहित अलंकारके
समान है।
—वि० स्ना०

मुकरी-यह लोकप्रचलित पहेलियों का ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजनके साथ-साथ बुद्धिचातुरीकी परीक्षा लेना होता है। इसमे जो बाते कही जाती हैं, वे द्वर्यर्थक यां हिलष्ट होती है, पर उन दोनो अर्थींमेसे जो प्रधान होता है, उससे मुकरकर दूसरे अर्थको उसी छन्दमें स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। हिन्दीमें अमीर खुसरोने इस लोककाव्य-रूपको साहित्यिक रूप दिया। अलंकारकी दृष्टिसे इसे छेकापह्नुति कह सकते है, क्योंकि इसमे प्रस्तुत अर्थको अस्वीकार करके अपस्तुतको स्थापित किया जाता है (दे० 'अपहुनुति')।— शं० ना० सिं० मुक्तक काब्य-मुक्त शब्दमे कन् प्रत्ययके योगसे मुक्तक शब्द बनता है, जिसका अर्थ अपने-आपमे सम्पूर्ण या अन्य-निरपेक्ष वस्तु होता है ('मुक्तकमन्येनालिंगितं तस्य संज्ञायां कन"—ध्वन्यालोककी लोचन टीका ३,७)। ध्वनि-सिद्धान्तके आधारपर ही मुक्तकको कान्यमे आदरणीय स्थान मिला है। 'ध्वन्यालोक'के अनुसार जिस काव्यमें पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष रस-चर्वणाका सामर्थ्य होता है, वहीं मुक्तक कहलाता है। अतः मुक्तक कान्यसे उस कान्य-रूपका बोध होता है, जिसमें कथारमक प्रवन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्धकी योजना नहीं होती। हेमचन्द्राचार्यने केवल मुक्तक शब्दका व्यवहार न करके मुक्तकादि शब्द प्रयुक्त किया है और उसका

सामान्य लक्षण यही बताया है कि जो अनिबद्ध हों, वे मुक्तकादि है (अनिवद्धं मुक्तकादि-काव्यानु०, आठवाँ अध्याय)। अतः मोटे तौरपर प्रबन्धहीन या स्फुट, सभी पद्यबद्ध रचनाएँ मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आ जाती है। दण्डीने इस प्रकारके अनेक अनिबद्ध या प्रवन्धकाव्यके अंश जैसे काव्यरूपोंको एक ही साथ रखा है, यद्यपि उनका एक नाम मुक्तक या मुक्तकादि नहीं दिया है—"मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः । सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्मविस्तरः ॥'' (काव्यादर्श, १:१३) । इससे स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी सर्गवन्थ या प्रवन्धकाव्यके सभी रूपो, महाकाव्य खण्डकाव्य आदिको एक श्रेणीका काव्य और अनिबन्ध या सर्गबन्ध काव्यके अंशके रूपमें प्रतीत होनेवाले अन्य सभी रूपोंको अन्य श्रेणीका काव्य मानते थे, यद्यपि उन्होने उन सबका एक नाम 'मुक्तक काव्य' नहीं बताया है। वस्तुतः अपनेमे पूर्ण, अन्य निरपेक्ष एक छन्दवाली रचनाको ही सभी आचार्याने मुक्तक कहा है, पर चूँकि अन्य-निरपेक्ष एकाधिक छन्दोवाली रचनाएँ भी अनिबद्ध या कथाहीन होती है, अतः उन सबको मुक्तकादि कहकर प्रबन्धकाव्यकी तरह मुक्तक काव्यको भी एक सामान्य काव्य-रूप मान लिया गया। इस प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी साहित्यमें छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद थे—महाकाव्य (एपिक) और गीतिकान्य (लिरिक), उसी तरह प्राचीन भारतीय साहित्यमे भी छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद मान्य हो गये-प्रवन्धकाव्य और मुक्तक काव्य !

संस्कृतके आचार्योंने इस अनिबद्ध या मुक्तक काव्यके कई भेद किये है। दण्डीने तो मुख्य भेदोंका ही नाम लिया है—मुक्तक, कुलककोश और संघात, पर अन्य आचार्याने उसके अन्य भेद भी माने है। 'ध्वन्यालोक'में आनन्दवर्धनने मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और पर्यायबन्ध-छः नाम लिये है (ध्व० लो०, का०, ३:७)। 'अग्निपुराण'ने इनमे प्रथम पाँच मेद ही माने है और सन्दानितककी जगह युग्मक नाम दिया है। हेमचन्द्रने मुक्तादि अर्थात् मुक्तक कान्यके ये भेद माने है-मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक और संघात (काव्यानु०, ८:१०)। विद्वनाथ कविराजके अनुसार मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक कुलक, कोश और व्रज्या अनिबद्ध कान्य है (सा० द०, ६ : ३१४, १५) । ये भेद क्लोकसंख्या, रचनाकार अथवा विषयके अनुसार किये गये है, जो इस प्रकार है—१. मुक्तक-सज्जनोंको चमत्कृत करनेवाला, अपने-आपमें पूर्ण, अर्थ व्यक्त करनेवाला एक रलोक—"मुक्तकं रलोक एवैकश्च-मत्कारक्षमः सताम्" (अग्निपुराण) तथा "एकेन छन्दसा वाक्यार्थसमाप्तौ मुक्तकम्" (काव्यानु०, ८, १०)। २. युग्मक या सन्दानितक—दो क्लोकोंमे पूर्ण अर्थ करनेवाली या क्रिया समाप्त होनेवाली रचना। ३ विशेषक तीन श्लोकोंवाली रचना। ४ कलापक—चार श्लोकोवाली रचना। ५. कुळक--पाँच इलोकोंवाली रचना ('पंचिभः कुलकं मतम्'-सा॰ द॰), पर कुछ आचार्योने इसमें श्रोकसंख्या अधिक मानी है। हेमचन्द्रके अनुसार इसमें पाँचसे चौदहतक श्लोक होते हैं ('पंचभिद्यतर्दशान्तैः

कुलकं')। 'अग्निपुराण'के अनुसार पॉचसे अधिक श्लोकोंवाली रचना, जिसका अन्वय एकमे हो, कुलक है। ६. कोश-ऐसे इलोकोका संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों। यह मुक्तकोंका समूह होता है ('कोशः श्लोकसमृहस्तु स्यादन्यो-न्यानपेक्षकः'--सा० द०, ६: ३२९)। हेमचन्द्राचार्यके अनुसार किसी एक कवि या अनेक कवियोकी स्कियो-(मुक्तको)के समुचयका नाम कोश है, जैसे सतसई आदि ('स्वपरकृतस्किसमुच्चयः कोशः सप्तशतकादिः (कान्यानु०, आठवॉ अध्याय) । ७. प्रघट्टक-एक कविकृत इलोकसमूह या मुक्तक समुचय (कोश)का नाम प्रवह्क है (काव्यानु०, आठवॉ अध्याय), जैसे 'बिहारी सतसई' या 'गाथासप्त-शती'। ८. विकर्णक—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तको-का संग्रह। यह भी कोशका ही एक भेद है, जैसे 'दोहाकोरा', 'सुभाषितकोरा' आदि । ९. संघात या पर्याय-बन्थ-एक कवि द्वारा एक विषयपर रचित छन्दोंको संघात कहते है. ('एकार्थविपयः एककर्तृकपद्यः संघातः'-कान्यादर्श-टीका, १: १३)। आनन्दवर्द्धनने 'ध्वन्यालोक' (कारिका, ३: ७)में इसे पर्यायबन्ध कहा है।

राजशेखरने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दोंमे काव्यके विषया-नुसार दो भेद किये है-प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य-'स पुनर्द्धिंश मुक्तक प्रबन्धविषयत्वेन', (का० मी०,९)। उन्होने उनमें प्रत्येकके विषयगत भेदके अ<u>न</u>ुसार पॉच भेद माने है-१ शुद्ध, २ चित्र, ३ कथोत्थ, ४. संविधानक और ५. आख्यानकवान् , किन्तु यदि विषयकी दृष्टिसे विभाजन किया जाय तो मुक्तकके अनन्त भेद हो सकते है। संख्याके आधारपर भी जो विभाजन किया जाता है, वह वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि उससे भी असंख्य भेद हो सकते है। वस्तुतः मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जितने भी काव्यरूप प्रचलित हो चुके हो, चाहे वे संख्याके आधारपर निर्मित हुए हों, चाहे विषय, छन्द या रागके आधारपर, उन सबको मुक्तक काव्यका भेद मान लेना चाहिये, यद्यपि ऐसे भेदोंकी संख्या अनिश्चित ही रहेगी, क्योंकि समाज और साहित्यके विकासके साथ-साथ काव्यरूपोंमें भी परिवर्तन और विकास होता चलता है। पुराने काव्यरूप छप्त हो जाते है और नये-नये विकसित होकर प्रचलित होते रहते है। कालभेदकी तरह देश-भेदके अनुसार भी कान्यरूपोंमे भिन्नता होती है। अतः मुक्तक कान्यके अन्तर्गत जो भी कान्यरूप किसी भी देश या किसी भी कालमे प्रचलित थे या है, उन्हें मुक्तक कान्यके भेदके रूपमे स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणके लिए, यूरोपीय साहित्यमें ठीक मुक्तक (एक श्लोकवाली रचना) जैसा काव्य-रूप प्रचलित नहीं था, पर वहाँ महाकान्य, नाट्यकान्य, कथाकान्य (नेरेटिव या रोमान्स)के साथ गीतिकान्य (लिरिक पोइट्री)को मान्यता मिली थी और उसके भी अनेक भेदोपभेद प्रचलित थे। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियोंने मुक्तक काव्यको तो माना है, पर गीतिकाव्यका **ज्ल्लेख उन्होने नहीं किया, यद्यपि विद्वनाथ कविराजके** पूर्व ही जयदेवके 'गीतगोविन्द'की रचना हो चुकी थी। मध्ययुगमें हिन्दीके पद्य-साहित्यकी रचना बहुत हुई, जो गीतिकाव्यका ही एक रूप है। आधुनिक युगमें उर्दू और फारसीके कई काव्यरूप, जैमे गजरु, रवाई या चतुष्पदी तथा अंग्रेजी साहित्यके प्रभावसे पाक्षात्य गीतिकाव्यके विविध रूप, जैसे सम्बोधगीति, शोकगीति, सॉनेट आदि भी हिन्दीमे अपनाये गये है। ये सभी मुक्तक काव्यके ही अन्तर्गत माने जाते है।

अस्तु, हिन्दीमे मुक्तक काव्यके जितने रूप मिलते है उनके विकास और मूल स्रोतोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक कान्यके केवल उतने ही भेद नहीं हो मकते, जितने संस्कृतके साहित्यशास्त्रियोंने गिनाये है। संस्कृत साहित्यमें ही मुक्तक कान्यके जितने रूप प्रचलित थे, उन सबका उल्लेख आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे नहीं किया है। कहा जा सकता है कि कोश और संघातके अन्तर्गत अन्य सभी प्रकारके मुक्तक काव्यरूपोंका समावेश हो जाता है, पर इसे श्रेणी-विभाजन ही कहा जा सकता है, मुक्तक कान्यरूपोंका वर्गीकरण नहीं। कान्य-क्षेत्रमे जितने भी मुक्तक कान्य-रूप मिलते है, उन सबकी कुछ निजी विषयगत या रूपगत विशेषताएँ होती है और उन कान्यरूपोके स्वतन्त्र विकासका इतिहास भी है। संस्कृतके आचार्यों द्वारा बताये गये मुक्तकके उपर्युक्त रूपमेदोमे उन विशेषताओं तथा विकासक्रमपर प्रकाश नहीं पड़ता है और न मुक्तकके विभिन्न कान्यरूपोका पूर्ण परिचय ही मिल पाता है। संस्कृतमे मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे, हिन्दीमें उनमेसे कुछको अपनाया गया और कुछको छोड़ दिया गया। उदाहरणार्थ, युग्मक, विशेषक और कलापक नामक मुक्तक काव्यरूप हिन्दीमे नहीं मिलते और कुलकका नाम छोड़कर पंचक, अष्टक, दशक आदि संख्यावाचक नाम स्वीकार कर लिये गये है। इसी तरह कोश नाम प्रचलित नहीं है, पर पंचासा, बावनी, सतसई, हजारा आदि संख्यावाचक या दोहावली, पदावली आदि छन्दवाचक नाम प्रचलित हो गये है, जो कोशके रूपमे माने जा सकते हैं। फारसी और अंग्रेंजीके सम्पर्क तथा अपभ्रंशकी काव्यपरम्पराको ग्रहण करनेके कारण भी हिन्दीमें बहुतसे ऐसे नये मुक्तक काव्यरूप आ गये, जो संस्कृतमे नही थे। प्राचीन हिन्दी साहित्य लोकाश्रित रहा है। इससे लोकभाषाओं में प्रचलित अनेक मुक्तक काव्यरूपोंको भी हिन्दीमें अपना लिया गया है। इन सव काव्यरूपोंको मोटे तौरपर निम्नलिखित वर्गीमें विभाजित किया जा सकता है-१. संख्यावाचक या संख्याश्रित मुक्तक-(क) मुक्तद-(एक छन्दवाला), (ख) कुलक-(१) पंचक, (२) अष्टक, (३) दशक, (ग) कोश-वीसी, वाईसी, चौबीसी, पचीसी, इकतीसी, बत्तीसी, चालीसा, पंचाशिका या पचासा, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक या सप्तशती, हजारा आदि। २. वर्णमालाश्रित—मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखडी। ३. छन्दाश्रित-चौपाई या चौपई, दृहा या दोहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृतध्विन आदि । ४. रागाश्रिन--रास, लावणी, गरबा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि। ५. ऋतु और उत्सवमूलक-फाग, होली चर्चरी या चाँचर, चौमासा, बारहमासा, षड्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो, बधावा आदि । ६. पूजाश्रित, धर्माश्रित—स्तुति

स्तीत्र, विनय, स्तवन, विनती, पूजा, प्रभाती, सॉझ या सॉझी, निर्गुन, भजन, मिहमा, माहात्म्य, रमैनी, साखी, सबद, उल्टबॉसी आदि। ७. लोकाश्रित—मुकरी, पहेली, कहावन, ढकोसला आदि। ८. फारसी काव्यरूप—गजल, रुवाइयाँ, चतुष्पदी (चौपदे) आदि। ९. अंग्रेजी काव्यरूप—दिपदी (कप्लेट), चतुर्दशपदी (सॉनेट), सम्बोध-गीति (ओड), शोकगीति (एलिजी), गीत (सॉग), गीति या प्रगीत मुक्तक (लिरिक)। १०. ज़िह्त्य-ज्ञान्त श्रित—हन्द, रस, ध्विन और नायक-नायिका-भेदके लक्षण और उदाहरणके छन्द। ११. अन्य फुटकर काव्यरूप—अष्टयाम, दूनकाव्य, या सन्देशकाव्य, गोष्ठी संवाद, नख-शिख आदि।

जपर जो नाम गिनाये गये है, वे सभी मुक्तक कान्यके अन्तर्गत आते हैं, भले ही उनमेसे कुछको काव्य-रूप न मानकर काव्य-संज्ञा कहा जाय। काव्य-संज्ञाएँ छन्द-शैली, संख्या या विषयके आधारपर प्रचलित होती है और उन्हांमेसे जिनका रूप निश्चित हो जाता है और अनेक कवि उसकी रूपगत पद्धितयोंका समान रूपसे कड़ाईसे पालन करने लगते है तो उन्हे काव्य-रूप कहा, जाता है। उपर्यक्त काव्य-संज्ञाओं या काव्य-रूपोमेसे संस्कृत, प्राकृत और अपभंशसे हिन्दीनें गृहीत हुए है और अनेक ऐसे हैं, जो. परवर्ती अपभ्रंशमे ही अधिक है, हिन्दीमे नहीं या बहुत कम मिलते है। अतः परवर्ता अपभ्रंशको हिन्दीका ही प्रारम्भिक रूप मानकर उनको उपर्युक्त सूचीमे सम्मिलित किया गया है। जो अत्यन्त प्रचलित और महत्त्वपूर्ण मुक्तक कान्यरूप है, उनका परिचय और उदाहरण अलग दिया गया है। यहाँ कुछ सामान्य कान्य-रूपोका ही उदाहरण दिया जा रहा है।

 संख्याश्रित मुक्तक काब्य—'कुलक' हिन्दीमें कुलक्संज्ञक काव्य नहीं मिलते, यद्यपि परिभापाके अनुसार कुलक बहुत मिलेगे। अपभ्रंशमें कुलकसंज्ञक कान्य ये है-देवसरिका 'उपदेश कुलक', जिनदत्त सूरिका 'कालस्वरूप कुलक', प्रधुम्नका 'दानादि कुलक', जिनप्रभ सुरिके 'आत्म-सम्बोधन कुलक, धर्माधर्म कुलक, नवकारफल कुलक और विवेक कुलक' आदि। 'कोश'-कोशसंज्ञक काव्य भी हिन्दी-में नहीं, प्राकृत अपभंशमें ही हैं, जैसे सानवाहन हालकी 'गाथासप्तरातो' या 'गाथाकोश', कण्ह और सरहके 'दोहा-कोश': पर हिन्दीके सतसई, हजारा, पचासा, वावनी आदि संज्ञावाले काव्य भी वस्तुतः कोश ही है। 'हजारा'--एक हजार मुक्तक छन्दोका संग्रह, जैसे रसनिधिका रतन-हजारा', कालिदासका 'कालिदास-हजारा'। 'शतक' या 'शतिका'—इसमें एक ही विषयपर एक जातिके सौ या सौसे अधिक छन्द होते है, जैसे संस्कृतमे भर्तृहरिके 'शतक-त्रय', हिन्दीमे देव कविका 'नीति-रातक', मुवारकके 'अलक-शतक' और 'तिल-शतक', खुमानका 'लक्ष्मण-शतक' आदि। 'पंचाशिका' या 'पचासा'—एक ही विषयके पचास छन्दों-वाले काव्य, जैसे वृन्द कविकी "भाव-पंचाशिका", पद्माकरका 'प्रबोध-पचासा', मण्डनका'नैन-पचासा'आदि । 'चौवनी'— भवदासकी 'प्रीति-दौवनी'। 'वावनी'—केशवकी 'रतन-वावनी', भूषणकी 'शिवा-बावनी', अग्रदासकी 'उपदेश उप-खाणवावनी' । 'चालीसा'--'हनुमान-चालीसा' आदि ।

छन्दकी उद्भावना और स्थितिमें पर्याप्त प्रेरणा एवं सहयोग दिया। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पम्नको मुक्त-छन्दको हिन्दीकाव्यमे संस्थापिन करनेका श्रेय है। 'प्रसाद'ने भी कुछ कविताएँ मुक्त-छन्दमें रची, जैसे 'पेशोलाकी प्रतिध्वनि', परन्तु व्यापक रूपसे वे मुक्त-छन्दको स्वीकार न कर सके। 'निराला'ने अपने 'परिमल'-की भृमिकामे इसका परिचय निम्नलिखित रूपमे दिया है-"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्दकी भूमिमे रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तकके तीसरे खण्डमे जितनी कविताएँ है, सब इसी प्रकार की है। इनमे कोई नियम नही। केवल प्रवाह कवित्त छन्दका-सा जान पडता है। कही-कही आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छत्दका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वहीं उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति"। पन्तकी सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ स्वयं छन्दोवद्ध होते हुए भी मुक्त-छन्दका उन्मुक्त उद्धोष करती है—"खुल गये छन्दके बन्ध, प्रासके रजत पाञा। अब गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास" (नवदृष्टि) । पन्तने मुक्त छन्दका आधार मात्रिक संगीतको भी माना, परन्त 'निराला'का आग्रह रहा कि मुक्त-छन्द केवल वर्णिक अथवा अक्षर-छन्दपर ही आधारित होना चाहिये. क्योंकि उसकी प्रकृति स्त्री-प्रकृति न होकर पुरुष-प्रकृति है। दोनोंमें इस मम्बन्धमे पर्याप्त वाद-विवाद भी चला, जिसका परिचय 'निराला'की 'पन्त और पल्लव' नामक रचनासे मिलता है। कुछ अंश द्रष्टन्य है-"पन्तजीकी कविताओंमे स्वच्छन्द छन्दकी एक लडी भी नही, परन्तु वे कहते हैं, 'पल्लव'मे मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द्रमे हैं, जिनमे 'उच्छ्वास', 'ऑस्' तथा 'परिवर्तन' विशेष बडी है। यदि गीतिकान्य और स्वच्छन्द छन्दका भेद, दोनोंकी विशेषताएँ पन्तजीको मालूम होतीं तो वे ऐसा न लिखते। "पनतजीने जो लिखा है कि स्वच्छन्द हस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीतपर चल सकता है, यह एक बहुत बडा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्दमें 'आर्ट ऑव म्यूजिक' नहीं मिल सकता, वहाँ है 'आर्ट ऑव रीडिंग', वह स्वरप्रधान प्रधान है। वह कविताकी स्त्री-सुक्-नहीं, व्यंजन मारता नहीं, कवित्वका पुरुष-गर्व है' (पृ० ४४)। 'निराला'की उपर्युक्त स्थापनाएँ इस बातका प्रमाण हैं कि वे हिन्दीमे मुक्त-छन्दके सबसे अधिक ओजस्वी प्रवक्ता रहे हैं और इस सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। 'निराला'के व्यक्तित्वमें मुक्त-छन्दने अपनी सार्थकता उपलब्ध की, इसमें सन्देह नही। 'निराला'की 'जागरण' शीर्षक कवितामे मुक्त-छन्द-की व्याख्या मुक्त-छन्दमें ही की गयी है—''अलंकार लेश रहित, इलेबहीन। ज्ञून्य विशेषणोसे—। नग्न नीलिमा-सी व्यक्त । भाषा सुरक्षित वह वेदोमें आज भी- । मुक्त-छन्द, सहज प्रकाश वह मन का—। निज भावींका प्रकट अकृत्रिम चित्र"। (परिमल, पृ० २६४)। महावीरप्रसाद द्वि।दीने अतुकान्त कविताका तो पक्ष लिया, परन्तु मुक्त-छन्दका समर्थन वे न कर सके और 'आजकलको कविता' नामक एक निबन्धमे उन्होंने मुक्त-छन्दके प्रयोक्ता कवियों-को अहंवादी घोषित किया। उनका विरोध भी मुक्त-छन्दकी

प्रगनिको कुण्ठित न कर सका । छायाबादोत्तरकालमे हिन्दी कविनाको एक प्रमुख धाराने मुक्त-छन्दको अपनाया और अब अधिकांश प्रयोग मुक्त-छन्दमे ही हो रहे हैं, जिनसे उसके स्वरूपमें वैविध्य और सःमर्थ्यमे विकास परिलक्षित होने लगा है।

मक्त-छन्दके लिए कहा गया है कि "यह परिचमी बीजका पूर्वीका अंकुर है" (लक्ष्मीनारायण सुधांझु : जीवन-के तत्त्व और काव्यके सिद्धान्त)। इस कथनमे बहुत-कुछ सत्य है, क्योंकि पश्चिमी मुक्त-छन्दकी कविताओंने आधु-निक भारतीय कविताके रूपविधानको अवस्य प्रभावित किया है। अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन (१८१९-१८९२)ने अपने कवितासंग्रह 'वासकी पत्तियां' (leaves of grass)मे, जिसे वह जीवनभर परिवर्धित करता रहा, मुक्त-छन्दका आग्रहपूर्वक व्यवहार किया है। उस कालमें अंग्रेजीके प्रचलित छन्दविधानके विरुद्ध उसका मुक्त-छन्द एक क्रान्तिकारी तत्त्वके रूपमे सामने आया। मुक्त-छन्दकी पंक्तियाँ घासकी पत्तियोकी तरह असमान होते हुए भी सहज सौन्दर्यसे युक्त होनी है, कदाचित् इसी साहरयसे ह्विटमैनने अपने संग्रहका उक्त नामकरण किया होगा, ऐसी करूपना की जाती है। 'दी म्यूजिक ऑव पोइट्री' शीर्षक निबन्धमे टी. एस. ईलियटने लिखा है कि "मुक्त छन्दके नामसे बहुत-सा अपरिपक गद्य भी लिखा गया है. जो अनपेक्षित है। मुक्त छन्दका स्वागत उस काव्य-रूपको पुनरुज्जीवित करने या नये रूपको विकसित करनेकी दृष्टिसे ही आविर्भृत हुआ। बाह्य एकताके विरुद्ध कविताकी आन्त-रिक एकतापर मुक्त-छन्द बल देता है, जो प्रत्येक काच्य-रचनाके लिए सत्थ है। कविता अपने 'रूप'से पूर्व ही जन्म ले चुकती है, इस अर्थमे कि 'रूप' कुछ कहनेसे ही उत्पन्न होना है"। ---জ০ ন্যু০

सुक्तपद्रमाह्य यमक-दे॰ 'यमक'। सुकहरा सवैया-दे॰ 'सवैया', सातवां प्रकार।

मुक्ति-संसारमें दुःख है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भारतीय दर्शनमे मुक्ति कहा गया है। परन्तु मुक्ति या मोक्षको कल्पना भारतीय दर्शन और ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके विविध साधन-मार्गोमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। सबसे सीधी और सरल कल्पना चार्वाक दर्शन की है, जिसमें अन्य दर्शन-सिद्धान्तोंके समान आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको भी मुक्ति माना गया है, परन्तु इस शरीरको ही दुःखका कारण मानने हुए 'मरणमेवापदर्गः' मरणको ही अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है, क्योंकि शरीरसे भिन्न और कोई सत्ता नहीं है, शरीरके नाश होते ही सब दुःख दूर हो जाने है। जैन दर्शनमे कर्मके आत्यन्तिक क्षयको ही मोक्ष कहते है। मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव अनन्त शान, अनन्त वीर्थ, अनन्त श्रद्धा और अनन्त शान्ति-अनन्त-चतुष्टय-की सद्यः उपलब्धि करके अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूपमे आ जाता है। मोक्ष या कैवल्यकी प्राप्ति पृथ्वीपर सदारीर जीवित रहनेकी अवस्थामे भी हो सकती है, अर्थात् जैन-दर्शन जीवनमुक्तिमें विश्वास करता है। स्वयं भगवान् बुद्धने केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको 'निर्वाण' (मोक्ष) कहा है और इसे उन्होंने दुःख-निरोधके

नामसे अपने चार आर्य-सत्योमें सम्मिलित किया है। आर्य-अष्टांगिक मार्गके आचरणसे प्रज्ञाके होते ही सचः निर्गणकी प्राप्ति होती है। शील,-गृहस्थोके लिए पंचशील तथा भिक्षुओंके लिए दशशील-समाधि और प्रज्ञा निर्वाण-प्राप्तिके लिए आवश्यक है। प्रज्ञाके अनुष्ठानसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, मनोमय शरीरका निर्वाण हो जाता है तथा दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्ष, पूर्वजन्म-स्मरण, परचित्त-ज्ञान तथा ऋद्धियोकी उपलब्धि हो जाती है। फलस्वरूप दःखके विनाशका अनुभव हो जाता है और वित्त अज्ञानमे पड़ने तथा जन्म लेने और भोग करनेकी इच्छासे सदाके लिए मक्त हो जाना है। यही बौद्ध निर्वाणका रूप है। वुद्ध भगवानुके बाद बौद्ध धर्ममे अनेक दार्शनिक वाद पैदा हो गये और उनमें निर्वाणकी भी भिन्न-भिन्न कल्पन। एँ की गयी । वैभाषिक मतमे जिसका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय-से है, निर्वाण दो प्रकारका होता है-सोपाधि-शेष तथा निरुपाधि-रोष। मोपाधि-रोष जीवनमुक्तिकी अवस्था है और निरुपाधि-शेष विदेह मुक्तिकी। यही मत प्राचीन मत है। महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति-प्रधान और भक्तिवाद-को माननेवाला सम्प्रदाय है। अपने विकास-क्रममे महा-यानकी परिणति क्रम शः मन्त्रयान, वज्रयान और सहज-यानमे होती गयी और इन सबमें निर्दाण-सुखकी अत्यन्त आकर्षक और मनोरंजक कल्पनाएँ की गयी।

वैदिक षडदर्शनोमे न्याय, 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', दुःखसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहता है । गृहोत जन्म-का नाश तथा भविष्य जनमकी अनुत्पत्ति ही 'अत्यन्त' विमोक्ष या मुक्ति है। मुक्त होकर आत्मा अपने नौ विशेष गुणों-वृद्धि, सुख, दःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कारसे छटकारा पा जाती है। नैयायिकोके मतसे मुक्त आत्मामे सुखका भी अभाव होता है। सुखका रागसे अनिवार्य सम्बन्ध है और राग बन्धनका कारण है। अतः मोक्ष-दशामे सुखकी विद्यमानता नहीं मानी जा सकती। निःश्रेयस् या मुक्ति दो प्रकार की होती है-अपर और पर । आत्मतत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभृति होनेपर अपर निःश्रेयस या जीवन्मक्तिकी प्राप्ति होती है, परन्त प्रारब्ध कर्म तब भी नष्ट नहीं होते। इनके क्षीण हो जानेपर ही पर-निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है। वैशेषिक दर्शनमे भी न्यायकी भॉति दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्माके विशेष गुणोके उच्छेदको ही मुक्ति माना है, यद्यपि आनन्द या सुखके अभावकी बात उस तरह उन्होने नही उठायी है।

सांख्यके अनुसार दुःख प्रकृतिजन्य है। पुरुष स्वभावतः मुक्त और निःसंग है। परन्तु अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ उसका संयोग होता है और उसमे दुःखका प्रतिविम्व पडता है, जिससे वह संसार या दुःखभोगको प्राप्त होता है। 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः' (सां० स्०, हः ६५)के अनुसार प्रकृतिसे वियुक्त होकर पुरुषका एकाकी हो जाना ही कैवल्य या मोक्ष है। वस्तुतः वन्धन और मुक्ति, दोनों प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष इनसे परे हैं। उसके मोक्षका तात्पर्य है उसके प्रतिविम्व-रूप मिथ्या दुःखका नारा, जो विवेक द्वारा यह जान लेनेसे सिद्ध होता है कि मैं अमरणशील, अपरिवर्तनशील, नित्य और सन्य

हूं। सांख्यके अनुसार मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीव-नमुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवनमुक्तिनी अवस्थामें परुष, प्रकृतिकी निवृत्ति हो जानेपर भी ठीक उस प्रकार प्रारब्ध कमी संलग्न रहता है, जैसे क्रम्हारका चाक बर्नन बनाकर उनार लेनेके बाद भी कुछ देरतक घूमना रहता है। परन्तु तीन तापोंका नितान्त विन'श शरीरके नाश होनेपर विदेहमक्तिमें ही सम्भव है। स़ख और दःख सापेक्षिक शब्द है, अतः मुक्तिमें दुःखकी तरह सुखका भी अभाव मानना पडेगा। इस सम्बन्धमे सांख्यका मन न्यायके अनुरूप है। योगदर्शन भी सांख्यकी तरह मोक्षको कैवल्य नामसे अभिहित करता है। कैवल्यका अर्थ है केवल या एकाकी स्थिति। यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके स्थानपर बुद्धिसे पुरुषके सम्बन्ध-विच्छेदकी अपेक्षा बतायी गयी है। ऐसा होनेपर ही पुरुष चित् रूपमे प्रतिष्ठित होता है और कैवल्य की प्राप्ति करता है। पुरुषार्थ-शून्य होनेसे उसके गुणोंका अपने कारणमें लय हो जाता है। जब त्रिगुणका नादा हो जाता है तब योगी अतिक्रान्त मानवीय दशाको, अर्थात चिन्तनयोग्य पदार्थीकी सीमाको पार करके परम पदकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

मीमांसकोंने मोक्षके विषयमे अधिक स्क्ष्मतासे विचार किया है, अतः उनमे परस्पर मतभेद पाया जाता है। इस विपयमे तो एकमत है कि ह्य जगत्के साथ आत्माके सम्बन्धका विनाश ही मोक्ष है (प्रपंच-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः—शा० दी०)। जीव संसारका भोग करनेवाले शरीर, भोगके साधन इन्द्रिय और भोगके विषय पदार्थ—इस त्रिविध वन्धनमे वॅथा रहता है। इस वन्धनके 'आत्यन्तिक विनाश'का ही नाम मोक्ष है। मुक्तावस्थामें आनन्दकी अनुभृति होती है या नहीं, इस सम्बन्धमे दो मत है। एक मतके अनुसार मुक्तावस्थामे आत्माके शुद्ध स्वरूपके उदय होनेपर नित्य सुखकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है, यद्यपि वाह्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न रहनेते बाह्य सुखकी अनुभृति नहीं रहती। दूसरे मतके अनुमार मुक्तात्मामें सुखका भी आत्यन्तिक विलय हो जाता है। आत्माको प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोकका न्पर्श नहीं होता।

अहैत्वेदान्त-दर्शन आत्मा तथा ब्रह्मकी एकता मानता है। अतः आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होते ही सद्यः आनन्दका उदय हो जाता है और 'प्रपंच-विलय' हो जाता है। प्रपंच-विलय हो वेदान्तकी मुक्तावस्था है। संसारका यह प्रपंच स्वप्नकी भॉति अविद्या-निर्मित और मिथ्या है। ब्रह्म-ज्ञान होनेसे अविद्याका विनाश हो जाता है और जगत्की सत्ता नहीं रहती। तभी अद्दैतकी अनुभूतिमें मोद्दकी आनन्दानुभूति होती है। वेदान्तकी इस सम्बन्धमे मीमांसासे भिन्नता है। मीमांसाके अनुसार तो केवल प्रपंचको सम्बन्धका विलय होता है, परन्तु वेदान्त स्वयं प्रपंचको विलय मानता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रपंचकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त दार्शनिक मत-वादोंके अतिरिक्त साधना-मागौंमें भी मोक्षके सम्बन्धमे विविध धारणाउँ हैं। वैष्णव मक्ति-धर्म-पांचरात्रके अनुसार 'ब्रह्मभावापित' ही मोक्ष है, अर्थात् जीव ब्रह्मके साथ एकाकार होकर निःशेष आनन्दका उप- भोग करता है और कभी संसारमे लौटकर नही आता।

१ क्त दशामें जीव भगवान्के पर-रूपके साथ परम ब्योम
वैकुण्ठमे आनन्द-क्रीडा करना है। वेकुण्ठमे अनन्त, गरुड,
विष्वक्मेन आदि नित्य जीव निवास करते है। मुक्त जीव
वहीपर त्रिकालाबाधित रूपसे भगवान्के सेवा-भजनमे लीन
रहता है।

भागवत धर्ममें भगवान्की भक्तिको परिपूर्ण माना गया है। श्रीसद्भागवतमें वर्णित साधनरूपा सक्तिमे सिन्त माध्यरूपा भक्ति, जो रागानुगा होती है, स्वतः कमनीय है, साधकको उसके अतिरिक्त विसी बातको, लौकिक-अलौकिक मिडियों या मोधकी कामना नहीं रहती। भगवानके साथ नित्य वृन्दावनमे विहारकी कामना इतनी मनोहर है कि उसके आगे मुक्ति नीरस और शुष्क है, परन्त इम सामान्य धारणाको स्वीकार करते हुए वैष्णव-दर्शनमें मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ अवस्य कहा गया है। विशिष्ट दैत मनमे जीव और ब्रह्मकी उस प्रकारकी अभिन्नता नहीं मानी गयी है, जैमी शांकर अद्वेतवादमे, अतः विशिष्टाद्वैतवादी मुक्त जीवको ब्रह्मने अभिन्न नही, उसके समान हुआ मानते है। उसे ब्रह्मके स्वरूप और गुणकी प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्मके साथ मिलकर वह एका-कार नहीं होता। वह सर्वत्र और सत्य-संकल्प तो हो जाता है, परन्तु उसमे सर्वकर्तृत्व नहीं आता । रामानुजके मनमं जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है। वे केवल विदेहमुक्ति ही मानते हैं। वैकुण्ठमें भगवानुका दामत्व ही परम मुक्ति है।

कुष्म-भक्ति-सम्प्रदायोमें द्वैतवादी माध्व मत भगवान्त्री कृपा और उनसे प्रेम करनेके फलस्वरूप प्रकृति या अविद्या-के बन्धनसे छटनेको ही मुक्ति मानता है। उसके अनुसार मुक्ति चार प्रकार की होती है—(१) कर्मक्षय, अर्थात संचित पाप-पुण्यका विनाश, परन्तु इस अवस्थामे प्रारब्ध कर्मीका नाश नहीं होता: (२) उत्क्रमण-लय, जिसमें प्रारब्ध कर्मके क्षयके बाद जीव ब्रह्मनालका उल्क्रमण करता हुआ सुष्मना-पदको पार कर लेता है और उसे जीवत्वका बोध नहीं होता, विष्णुतेजसे जीवके हृदयका द्वार (बहादार) खुल जाता है और हृदयस्थ भगवान् जीवको वैकुण्ठलीकमें ले जाकर अपने तुर्य रूपका साक्षात्कार कराते है; (३) अचिरादिमार्ग, जिसमें जीव देहादि प्रतीक्के आश्रयसे ज्ञानलाम करता है और सुपुम्नाकी पार्श्वतीं नाडीसे ऊर्ध्वगमन करते हुए अचिर दि लोक और फिर वायुलोक होते हुए ब्रह्माके लोकमे जाता है। वहाँ वह ब्रह्माके भोग वसानके बाद परम पद लाभ करता है और (४) भोग, जिसमें प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेपर एक गुफोपासक ज्ञानी देह त्यागकर पृथ्वी अ दिपर परमानन्दका भोग करता है, उसे स्वेतद्वीपवासी नारायणका दर्शन मिलता है और वह नारायणकी आज्ञासे पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। मुक्तिकी इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त माध्व मतमें मुक्ति-भोग भी चार प्रकारका माना गया है—सालोक्य, सायुज्य, समीप्य और सारूप्य। सालोक्य मुक्ति-भोगमें जीव भगवान्के लोकमें पहुँचकर वहाँ इच्छानुकृल भोग करता हुआ निवास करता है। सामीप्यमे भगवान्के समीप रहकर वह आनन्द-लाभ करता है। सारू प्यमे भगवानुके समान रूप और गुण प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करता है। सायुज्य मुक्तिका भोग भगवान्में प्रविष्ट होकर भगवदेह द्वारा प्राप्त होता है परन्तु यह मुक्ति-भोग केवल देवगण ही पाते है। प्रलय-कालकी अवस्थामे अवस्य लक्ष्मीको छोड़कर सभीको भगवदेहमे प्रविष्ट होना पडता है। अन्य कालोंमे जीवको पहले तीन मुक्ति-भोग ही प्राप्त होते है, जिनमे खियोंके साथ जल्केलि, प्राप्तादोंमें आनन्द-क्रीडा, यज्ञादि अनुष्ठान, भगवान्के गुण-कीर्नन तथा उनके सभीप रहकर नृत्य आदिकी क्ल्पना को गयी है। जीवको परमानन्दको प्राप्ति सारूप्य अवस्थामें नही होती, वह केवल शुद्ध मत्त्वमय लीला-शरीरसे क्रीडाका आनन्द ही भोग सकता है।

द्वैताद्वेतवादी निम्बार्का चार्यके मतमे मुक्ति दो प्रकारकी कही गयी है- क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति । निष्काम-कर्म-युक्त विधि-निषेधका पालन करते हुए जीवको अर्चन-वन्दन आदिके द्वारा स्वर्गादि लोककी प्राप्ति होती है, फिर वह सत्यलोकमें जाता है और जब प्रलयाबस्था आती है तब बह ब्रह्ममे सायुज्य-लाभ करता है। यही क्रममुक्ति है। श्रवणादि भक्तिके आचरण द्वारा जिन जीवोंका संसारका बन्धन ट्रट जाता है और भगवत्कृपा-की प्राति हो जाती है, उन्हें संघोम किका लाभ होता है। वे हरिपद या कृष्मलोकमे पहुँच जाते हैं। यही मुक्ति निम्बार्क-के सनकादि-सम्प्रदायमे अभीष्ट बतायी गयी है। परब्रह्म श्रीकृष्णके दो स्वरूप है—एक ऐश्वर्यप्रधान और दूसरा आनन्दप्रधान । सकाम भक्तिले हरि-पदकी प्राप्ति होनेपर भगवानुके ऐश्वर्यादिजनक आनन्दकी प्राप्ति होती है तथा निष्काम सेवा और प्रेममयी भक्तिके फलस्वरूप भगवान्के सभीप रहकर उनकी सेवा करनेका आनन्द मिलता है। भगवानके सामीप्यमे मुक्त जीवोको उन्हींके समान गुण प्राप्त हो जाते है और उन्हें नित्यसिद्ध देह मिल जाती है। यह देह निर्विकार और भगवत्सवा-धोग्य होती है। निम्बार्क-सम्प्रदायी मुक्तिके ही समान बहुभान्वार्यके शुद्धा-द्वैतकी मुक्तिका विचार है। उन्होने भी क्रममुक्ति और सद्यो-मुक्तिका इसी प्रकार भेद बताया है। उनके अनुसार भी मर्यादामार्गका अनुयायी शानके द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्ति-को प्राप्त करता है। यही क्रममुक्ति है। परब्रह्म परमानन्द-की प्राप्ति तो भगवान्के अनुग्रह (पुष्टि)प्राप्त भक्तोको ही हो सकती है। तभी उनमे तिरोहित आनन्द-अंश पुनः प्रादर्भत हो जाता है और जीव भगवान्मे अभेद प्राप्त कर स्वयं सिचदानन्द बन जाता है, अर्थात् उसकी देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमे भगवदानन्दकी स्थापना हो जाती है। अतः वहुभ-सम्प्रदायी सद्योमुक्ति स्वरूपापत्तिरूपी है।

चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमे भी जड़ मायासे मुक्त होकर ब्रह्म-मायुज्य-केवल्य-मुक्तिकी कल्पना की गयी है और भक्तिके द्वारा स्वरूपानुभवसे वैकुण्ठ और भगवान्के गोलोककी प्राप्ति बतायी गयी है। वैधी भक्तिसे, जो कि भगवान्का ऐश्वर्यमार्ग है, भगवान्का मशुरा-द्वारका धाम मिलता है और रागानुगा भक्तिके माधुर्यमार्गके अनुगामी भगवान्के माधुर्य हपके समीप गोलोकमे जाते है। इसका क्रम इस प्रकार है कि मृत्युके बाद स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीरसे भक्त सूर्य-मण्डलमे जाता है। फिर वह

विरजा नदींम निमग्न होकर अपना कारण-शरीर छोड़ देता है। अन्तमे वह दिव्य स्वरूप धारण कर वें कुण्ठमे पहुँचता है, जहाँ भगवान् उसे स्वयं निज धाममे छे छेते है।

कृष्ण-भक्तिके हरिवंशो (राधावछभी) और हरिदासी (सखी) सम्प्रदायोंमे सिद्धान्त-निरूपण बहुत कम हुआ है। फिर भी हितहरिवंशका मुक्तिके सम्बन्धमे यह विचार जान पडता है कि जब जीवनकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है और वह हिन(प्रेम)रूपसे अद्वयका भाव प्राप्त कर लेता है, तव वह नित्य वृन्दावन-विहारका आनन्द-लाम करता है, जहाँ वृन्दावन, राधा, श्रीकृष्ण और सिद्धियाँ—ये चार उपकरण एक तत्त्वके रूप है। ये सब उपकरण प्रेमरूप है, जीव भी प्रेमरूप हो जाता है। सखी-सम्प्रदायमे सिद्धान्त-पक्षका नितान्त अभाव होनेसे, हम उसमे स्वीकृत मुक्तिका विचार निम्वार्क-सम्प्रदायके ही समान मान सकते है, क्योंकि यह सम्प्रदाय उसीकी एक शाखा कहा जा सकता है।

मुक्ति, कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस् सम्बन्धी उपर्युक्त विचारोंका विवेचन हिन्दी साहित्यके भक्ति-काव्यके अध्ययनके लिए उपयोगी हो सकता है, क्योंकि भक्त कियोंने काव्यकी रचना पुरवार्थ-चतुष्टयके अन्तिम सोपान—मोक्षके लक्ष्यमे ही की है। परन्तु यह ध्यानमे रखनेकी आवश्यकता है कि इन भक्तोंने भक्तिको ही साधन और साध्य, दोनो माना है और प्रायः इस सम्बन्धमे उदासीनता दिखायी है कि भक्तिका फल क्या होता है। दुःखकी निवृत्ति, संसारके बन्धनका नाश, उद्धार आदिकी कामना उन्होंने अवश्य की, परन्तु साधन और कर्तव्यपर ही उनका ध्यान विशेष रूपसे रहा है, सिद्धिकी उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की।

मुखसंधि - रूपककी पंच-सन्धियों (दे॰ 'संधि')मे पहली सन्धि ('मुखं बीजसमुत्पत्तिनीनार्थरससम्भवा'-द० रू०, १: २४) । मुखसन्धिमे अनेक तरहके रसोंको उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है। यह बीज अर्थ-प्रकृति और आरम्भ कार्यावस्थाको जोडता है। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें मुखसन्धि वहाँपर होती है, जहाँ "बीज अर्थ-प्रकृति-की उत्पत्तिके साथ ही स्कन्दगुप्त मालव दूतको आश्वासन देता है, 'दूत ! केवल सन्धि नियमसे ही हम बाधित नहीं है, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियका धर्म है। तुम विश्राम करो । सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रोकी गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कन्दगुप्त मालवकी रक्षा करनेके लिए सन्नद है। जाओ, निर्भय निद्राका सुख हो। स्कन्दगुप्तके जीते, मालवका कुछ न बिगड सकेगा।" इसपर पर्णदत्त कहता है, 'युवराज ! आज यह वृद्ध हृदयसे प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नहीं, गुप्त साम्राज्यकी लक्ष्मी प्रसन्न होगी। यहीसे मुख्सन्धिका आरम्भ मानना चाहिये। प्रारम्भ नामक अवस्थाके साथ बीज अर्थ-प्रकृतिकी उप्पत्ति इसी स्थल-से दिग्वाई पडती है। "इसका विस्तार प्रथम अंकके समाप्ति-स्थलतक चलता है" (जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन) ।

मुखसन्धिके कुल १२ सन्ध्यंग हैं — उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण। — व० सिं०

मुख्य कथावस्तु-दे० 'आधिकारिक वस्तु'। मग्धा (नायिका) -अधिकांश आचार्यांके अनुसार स्वकीया नायिकाका एक भेद । इसके विषयमे विस्तारके लिए दे०-'नायिका-भेद'। एक सीमातक यह भेद परकीयाका भी माना जा सकता है, विशेषकर अनुदाका। यह भेद वय:-क्रमपर आधारित माना जाता है, पर यह नायिकाकी लजाशीलताके अनुपातसे किया गया भी कहा जा सकता है। यह सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा दिया गया है। 'मुग्ध' शब्द-के अर्थ है--स्तब्ध, विमृद, अमित, विम्रान्त तथा सुन्दर और इस नायिकामे इन समस्त गुणोको माना गया है। ऐसी नायिका, जिसके शरीरमे यौवनका नवसंचार हुआ हो, जो लज्जाशीला अपनी रतिभावनासे परिचित हो रही हो-'तत्राकुरितयौवना मुग्धा' (भानुदत्तः र० म०, पृ० ७) अथवा- 'नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि' (शिंग-भूपाल: रसार्णव, पृ० ९६)। कि.शोरावस्थामे तारुण्यके प्रकट होनेकी बात इस नायिकाके सम्बन्धमें अधिक कही गयी है—"अभिनव यौवन आगमन जाके तनमै होय" (मितराम: रसराज, १४) तथा-- "झलकत आवै तरुनई नथी आसु अँग अंग" (पद्माक्र : जगद्वि०, भा० १: २१)।

प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोंने इसी भावको प्रधा-नता दी है और नायिकाकी यह अवस्था रीतिकालीन कवियों-के लिए विशेष आकर्षणका विषय रही है। अवस्था-विशेषमें नारीमे आकस्मिक परिवर्तन परिलक्षित होने लगते है, उनका सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इन कवियोंने किया है-"नैक मन्द मधुर कपोल मुसक्यान लागे, नैक मन्द गमन गयन्दनकी चाल भौ" (मतिराम: रसराज, १५)। पद्माकरने भी इसी चढती हुई मधुराईका चित्रण किया है-"ये अलि या बलि-के अधरानमें आनि चढी कछ माधुरई सी" (जगद्वि०, भा० १)। विद्यापित और सूरने राधाका मुग्धारूपमें वर्णन बहुत भावपूर्ण किया है। राधा कृष्णके प्रति प्रारम्भमे इसी भावसे आक्षित होती है। इस भावस्थितिके चित्रणमे विद्यापितने यौवनके म्फुरणका और सूरने भावोंके स्पन्दनका अंकन किया है। आधुनिक छायावादी कवियोमे प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाका भावारीप बहुत सुन्दर बन पडा है। इसका सामान्य विभाजन इस प्रकार है-१. अज्ञातयौवना, २. ज्ञातयौवना और पुनः १. नवोढ़ा, २. विश्रन्थ नवोढा (विशेष इन्हीं शब्दोके अन्तर्गत देखें। अन्य प्रकारके विभाजन-विस्तारके लिए दे० 'नायिका भेद')।

मुदिता (नायिका) - परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद । विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानु-दत्त द्वारा उद्घिखित । परपुरुष-सम्बन्धी प्रेमकी अभिलाषा-पृति होते देखकर मृदित होनेवाली नायिका । मतिरामने 'चित चाही सुन बाते लिख' मुदित होना कहा है और पद्माकर बातके साथ 'घात' भी जोडते है । वस्तुतः परकीया नायिकाके सन्दर्भमे मनचाही स्थिति एक घातके रूपमें उसे प्राप्त हो सकती है—"बिद्धरत रोवत दुहुन-कौ सिख यह रूप लखे न । दुख असुआँ पिय नैन है सुख असुआ तिय नैन" (मितराम: रसराज, ८४), अथवा रहीमने नायिका-

बौद्धतन्त्र-प्रन्थोंमें स्पष्टतः मुद्राओंकी आयु, जाति,

का उल्लास अंकित किया है—"जस मदमातल हथिया हुमकत जाति। चितवत जाति तरुनियाँ मन मुसुकाति" (वरवै०, २६)। स्थितिका वर्णन एकाकर इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं—"तव लगि झुकि आयी घटा अधिक अधिरी रैन" (जगद्वि०, १: ११२)।

सदा १-एक गौण अर्थालंकार । 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका सम्भवतः प्रथम बार उहेख किया है। इस अलंकारकी चर्चा इस तथ्यका प्रतीक है कि प्रायः माहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त प्रत्यक्ष उदाहरणोपर आश्रित होते हैं। भासकृत 'प्रतिमा' नाटकमें इसका अति प्राचीन उदाहरण मिलता है। अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा की है कि "मुख्यार्थसमन्वित शब्दोंके द्वारा जब सूच्य कथा-वस्तुकी स्चना हो तो मुद्रा अलंकार होता है" (७३), जैसे 'प्रतिमा' नाटकमें 'राम सबकी रक्षा करें', इस प्रकारके मंगलवाक्यमे न केवल रामके विशेषणोंका उल्लेख है, अपितु 'प्रतिमा' नाटककी कथाकी सूचना भी मिलती हैं। हिन्दीमें अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण करनेवाले आचार्योंने इसका विवेचन किया है-"प्रकृत अर्थ पर पदनिसौ सुद्ध प्रकासत अर्थ"। भूषण तथा दास आदिने इसे स्वीकार नहीं किया है। उटा०—"करुणे क्यों रोती है ? उत्तरमे और अधिक तू रोई। मेरी विभृति है जो, उसको भवभूति क्यों कहै कोई" (साकेत, अ० मं० से)। मुद्रा लक्ष्य-निर्देशका वाची है, अतः इस अलंकारका यह नाम पडा; जैसे नक्षत्रमाळामें अग्नि एवं अन्य देवताओंके नामसे ---ज० कि० ब० नक्षत्रोंकी सूचना होती है। मदा २- मुद्राके कई अर्थ साधना-पद्धतियोंमें लिये गये है-(क) शारीरिक अंगों, उँगलियो आदिकी अनेकविध स्थितियाँ, जैमे, भूरपर् मुद्रा, अभय मुद्रा आदि; (ख) विष्णुके आयुधीं-के जो चिह्न भक्तगण अपने शरीरपर धारण करते है, तिलक आदिके रूपमे; (ग) गोरखपन्थी साधुओंके पहनने-का एक कर्णाभूषण, जो प्रायः काँच या स्फटिकका होता है। यह कानके बीचमे एक छेद करके पहना जाता है, जिसके कारण इन्हे कनफटेकी संज्ञा दी गयी है; (घ) हठ-योगमें विशेष अंगविन्यास, जैसे खेचरी मुद्रा आदि; (ङ) तान्त्रिक गुह्य साधनाओं में वह रमणी, जो तान्त्रिक अनु-ष्ठानोंमें सह-साधिका रहती है।

तान्त्रिक मुद्राका अर्थ मोद देनेवाली (मुद्+रा) करते हैं। नाथोंके कुछ पदोंमे ऐसा संकेत मिलता है कि सम्भवतः वज्रयानी साधनाओंके प्रभावसे कुछ अन्तर्भुक्त शाखाओंमे तान्त्रिक अर्थमें मुद्रा-साधना दिद्यमान थी, पर अधिकतर नाध-साधक केवल हठयोगके अर्थमे मुद्रा-साधना करते थे। वज्रयानी साधनामे गृझ-साधनापरक अर्थ प्रचलित था। 'श्रीसम्पुट'मे भगवान् वृद्धको चार चक्रोंमे अपनी चार कायाओंसे क्रमशः लोचना, मामकी, पाण्डरा और नारासे सम्मोग करते हुए बताया गया है। (दे० 'महामुद्रा')।

कुण्डलोंका उल्लेख भी सिद्धोंने किया है। चर्यापदमें काण्हपाने कापालिक-वेश धारण करते समय सूर्य-चन्द्ररूपी कुण्डल धारण किये हैं। नाथ-सम्प्रदायमें भी ये कुण्डल सर्य-चन्द्रके प्रतीक माने जाते हैं और साधनाकी एक स्थिति पार करनेके उपरान्त ही साधक इन्हें पहन पाता है।

रूप आदिका सांगोपांग विवेचन मिलता है। उनकी मण्डलचक्र-साधनाओंमें यह गुरुका दायित्व था कि वह उपयुक्त मुद्राओंका चुनाव करे। 'सैकोदेश टीका'में दीक्षित करते समय मुद्राकी आयु वीस वर्षतक्की बतायी गयी है। 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि'में कहा गया है कि मदाके आलिंगमसे साधकमे वजावेश जागता है, किन्तु ये चुम्बन, आलिंगन, समागमादि धुन्ध, आसक्त और विषयी मनसे नहीं करने चाहिये, अन्यथा ये बन्धनके कारण बन जाते हैं। -ध० वी० भा० मुरली - हरिवंश-वर्णित ह्हीस-नृत्य तथा विष्णु, भागवत आदि पुराणोंके रास-नृत्यके वर्णनमें उल्लेख है कि कृष्णने शरद पूर्णिमाकी प्रफुछ रजनीमे यसुनाके पुष्पसुवासित पुलिनपर रास-नृत्य करनेके लिए पहले मधुर वंशी-वादन करके ब्रज-गोपिकाओंका आह्वान किया था। कृष्णका वंशी-नाद सुनकर गोपियाँ अपना गृहकार्य, अपने पति, दूध पीते शिश्-अपने समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व छोड़कर, कुल-मर्यादा और लोक-लज्जाको जिलांजलि देकर कृष्णके निकट खिची चली आयी थी। इस सन्दर्भके आधारपर मध्ययुगके कृष्ण-भक्त-कवियोंने विशेष रूपमे कृष्णको मुरलीका इस प्रकार वर्णन किया है कि वह कृष्णकी योगमाया-शक्ति या नाद-ब्रह्मकी प्रतीक बन गयी है। कृष्णकी यह शक्ति उनके पूर्ण पुरुषोत्तम परमानन्द परब्रह्म रूपमे ही प्रकट होती है। रासके प्रसंगमें सुरदास कहते है—''मुरलीकी धुनि वैकुण्ठमें पहॅंनी, जिसे सुनकर नारायण और कमलाके हृदयमे बड़ी रुचि पैदा हुई। (नारायणने कहा) 'प्रिये यह अद्भुत वाणी सुनो "नन्द-नन्दन जो रास्दिलास करते है, वह हमने बहुत दूर हैं ... (सू० सा०: ना० प्र० स०, पद .१६८२) । कृष्णकी मुरलोरूपी योगमाया ही रासके अस्त रसकी कुंजी है। सुरदास कहते है-"रास रस मुरलीसे ही जाना है। इयामके अधरपर बैठकर मुरलीने जो नाद किया। उससे चन्द्रमा अपना मार्ग भूल गया, पृथ्वीपर जल-थलके जीव मोहित हो गये, नभ-मण्डलमे देवता थक गये, नृण, द्रम, सिळल और पवनके भी श्रवणमें शब्द पड़ा, वे भी अपनी गति भूल गये, पाताल और रमातल भी नहीं बचे "। यह ऐसा अपार राश्च-रस उत्पन्न किया, जो कभी न देखा था और न सना था। नारायण इस धनिको सुनकर ललचाने लगे..."(वही, पद १६८७) । मुरली-नाद सुनकर अचर चलने लगते हैं और चर स्थगित हो जाते हैं, पत्थरोंने जल झरने लगता है, दिफल वृक्ष फल जाते है। इस प्रकार सबकी गति विपरीत हो जाती है, तभी तो गोपियाँ लोक-विरुद्ध आचरण करने लगती है। कृष्णकी इस मोइक योगमायाका प्रभाव गोपियोको सहज ही संसार-से विमुख करके कृष्णोनमुख कर देता है। कृष्णकी यह मोहिनी शक्ति उनसे अभिन्न है, वे उसे कभी अलग नहीं करते। इसीलिए गोपियाँ ही नहीं, स्वयं राधा भी उससे ईर्ध्या बरती हैं और कृष्णका वैसा ही सामीप्य प्राप्त करनेके लिए लालायित रहती है। कृष्ण अपने इस मधुर नादसे, जो नित्य और अनाहत है, सम्पूर्ण वजको—वहाँके आवाल-बृद्ध-नरनारी, तृण-वीरुध, द्रम-लता, नदी-निर्झर, वन पर्वत-

आ० रा० ज्ञा०

सभी चराचर पदार्थोंको आष्ठावित कर देते है। रस-रूप नाद-ब्रह्म ही मानो स्वतः अणुको आनन्दसे परिपूर्ण कर देता है। इसीलिए ब्रजकी आनन्दकी डाओकी परिसमाप्तिपर कृष्णके मथुरागमनके पूर्व उनके सखा कहते है, "छवीले मुरली नैकु बजाउ। बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर-सुधा रस प्याउ। दुर्लभ जनम ल्ह्ब बुन्दाबन, दुर्लभ प्रेमतरग। ना जानिबे, बहुरि कब हुँहै, स्याम तिहारो संग्" (वही, पद १८३४)। परब्रह्म श्रीकृष्णके परमानन्दरूपकी यह लीला ब्रज-वृन्दाबनमे ही सीमित — ब्र०व०

मुसम्मत - उर्द् में किसी नामांकित विषयपर लिखी गयी किता (नज्म)को कभी-कभी एक तरहके कई दुकड़ोमे बॉट दिया जाता है। जब किसी नज्मके हर बंद (दे०)मे तीन-तीन मिसरे हों तो उसे मुसछस कहते है, चार-चार मिसरे हो तो मुखम्मस और छः छः मिसरे हो तो मुखम्मस और छः छः मिसरे हो तो मुखम्मस

मुसम्मतके जपर लिखे पहले तीन रूपोमे हर बन्दका आखिरी मिसरा एक ही रदीफ और काफिये (तुकान्त)मे होना चाहिये। केवल मुसहसमे पहले चार मिसरे एक ही रदीफ और काफियेमे और आखिरके दो मिसरे दूसरे रदीफ और काफियेमे होते है।

—म॰

सुहाबरा-दोष -दे॰ 'इ.ब्द-दोष', इक्कीसवॉ 'वाक्यदोष'। मृतिविधान -दे॰ 'चित्रात्मकता'।

मूल कथावस्तु-दे० 'आधिकारिक वस्तु'।

मूल प्रवृत्तियाँ (instincts) — मूल प्रवृत्तियाँ अथवा आदिम वृत्ति शब्दका प्रयोग साहित्य और सामान्य भाषामे बड़े ही विरल और अनिश्चित अर्थमें किया जाता है। स्वयं मनोवैद्यानिकों में भूल प्रवृत्तियों की परिभाषा, संख्या और सक्ष्यके विषयमे वड़ा मतभेद है। विन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं है कि कतिपय मौलिक संवेगों को अनुभव करने तथा कतिपय लक्ष्योको प्राप्त करनेकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य-मात्रमे परिन्याप्त है। बुद्धि, शिक्षा और संस्कृतिके समाधानके फलस्वरूप लक्ष्यो तथा उनके प्राप्ति-साधनोंके मौलिक आदिम रूपोंका उदात्तीकरण और प्रस्फुटन हो सकता है, किन्तु मूल प्रवृत्ति परिष्कृत और संस्कृत कितनी ही क्यों न हो जाय, उसका नाश कभी नहीं होता। मानवीय चरित्र, साहित्य, कला, धर्म आदिकी नींवकी ईटें मूल प्रवृत्तियाँ है।

लायड मार्गनके अनुसार मूल प्रवृत्ति सम्पूर्ण प्राणी द्वारा सम्पादित ऐसी क्रियाओंकी जिटल श्वस्तला है, जो समस्त, जातिके लिए हितावह होती है और जिसे उस जातिके समस्त प्राणी एक ही उगसे, बिना सीखे हुए करते हैं। यह परिभाषा कीट, पतग, पशु-पिक्षयोंके व्यवहारपर आधारित है और मानवीय स्तरपर मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा इस प्रकारकी है—"मूल प्रवृत्ति की परिभाषा इस प्रकारकी है—"मूल प्रवृत्ति वह नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर प्राणी किसी पदार्थ अथवा स्थितिकी ओर आकृष्ट होता है, उसकी उपस्थितिमे एक विशिष्ट संवेगका अनुभव करता है और उनके प्रति एक विशिष्ट प्रकारका आचरण करता है"। मैक्डूगलकी परिभाषा लायड मार्गनके मत्ती पूरक है और यद्यपि वह सर्वमान्य नहीं है, वह मूल प्रवृत्तिके

स्वरूपपर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

ग्रल एवन्ति

आहार, निद्रा, भय आदि तथा दारैपणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा आदिके रूपमे भारतीय साहित्यमें भी मूल प्रवृतियां स्कीकार की गयी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंमें मूल प्रवृत्तियोकी संख्या जेम्सने २२, थार्नडाइकने ४०से १००तक, ड्रेवरने २ (ब्रुभुक्षात्मक और प्रतिक्रियावादी) और फायडने केवल १ (यौन प्रवृत्ति तथा आगे चलकर आत्म-संरक्षण और मृत्युकी मूल प्रवृत्ति) स्कीकार वी है। विलियम मैकहूगल मनुष्यमें चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और उनकें सहगामी चौदह संवेग मानता है—

सवरा
क्रीध
जुगुप्सा
आइचर्य
आत्महीनता
भूख
कामुकता
वात्सल्य, स्नेह
एकादीप <b>न</b>
भय
कातरता
गौरव
रचनात्मक आनन्द
प्रभुत्वका सुख
आमोइ

मूलबंध-दे॰ 'हठयोग'। मुलाधार-दे॰ 'हठयोग'।

मृल्य-मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू'का पर्याय-वाची है। अर्थशास्त्रमे वह 'बाजारदर'के अर्थविनिमयके एक आवर्यक प्रतिमानके अर्थमें प्रयुक्त होता है । मानवीय क्रियाओंमे, आचार-व्यवहारमे अच्छाई या शिवत्वका मूल्य क्या है, इसपर नीतिशास्त्रने वहुत विचार किया है। कुछ लोगोंके अनुसार ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असम्भव है। उदाहरणार्थ, कही पातिव्रतकी महिमा है, कही पत्नी-व्रतकी, कही एकपत्नीत्वकी, कही बहुपत्नीत्वकी और कहीं केवल क्षणिक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धोकी । ऐसी स्थिति-मे 'अधिकोंका हित' यह उपयोगितावादी कसौटी कुछ नीति-शास्त्रियों (मिल, जोन्स)ने प्रस्तुत वी, तो कुछ लोमो-ने नैतिक क्रियाके मूलमे जो हेतु या कारण-सरणी है। उसकी मीमासा करके सोदेश्य कर्ममे ही 'मानवको अपने-आपमे साध्य', यानो उसे श्रेष्ठतम और नैतिक कर्म माना (काण्य) । आदर्शवादी नीतिका अन्तिम मूल्य मानव-कल्याण और उसकी अधिकाधिक अनासक्तिको ही मानते रहे (बुद्ध, ग्रीन, गान्धी)। नीतिशास्त्रमे तो उपनिषदीके श्रेय-प्रेय-विवेचनसे या सुकरातके सत्यके लिए जहर पीनेसे लेकर आजतक यह प्रश्न बार-बार उठा है और कई बार इसके कई उत्तर दिये जा चुके है।

साहित्यशास्त्रमे 'मूल्य' रान्द समाजवल्याण या मानव-हितवाले न्यापक अर्थतक सीमित नहीं है, अन्यथा समस्त धर्मग्रन्थ ही सर्वश्रेष्ठ साहित्य माने जाते । कई बार साहित्य-में वर्णित आचरण, घटना या व्यक्ति नीतिसम्मत नहीं होते, फिर भी उसका अपना मूल्य होता है। दुष्यन्तका शकुन्तलाको छोड देना या भुला देना अच्छी बात नहीं, परन्तु उसी घटनासे शाकुन्तलका मूल करूण स्वर उभरता है या ईडिपसके जीवनकी निर्मम नियति या 'अन्ना' या 'चरित्रहीन' या ऐसे सैकडों उदाहरण विश्वसाहित्यमे दिये जा सकते हैं। देवता या असुर, स्त्री या पुरुष अमुक प्रकारका बाह्यतः अनैतिक जान पडनेवाला पापाचरण करते है, परन्त घटनाओंके तर्कसे या वर्णनकी विशेषतासे वहीं बात उस क्षणके लिए पाठक या दर्शक के मनमे विश्वास जगा देती है कि वह अनीतिमान नहीं है या पापकी रूट परिभाषामे नहीं आती। यही 'ज्ञिव' और 'सुन्दर'का द्वन्द्व शुरू होता है (दे० 'ब्यूटी ऐज ए वैस्यू': अलेक्जैण्डर)। एक मत उनका है जो सत्य-शिव-सुन्दर तीनों मूल्थोको एक ही सत्ताके तीन पहलूमात्र मानते है। दसरा मत उन सौन्दर्यवादियोंका है, जो सौन्दर्यको ही अन्तिम मूल्य समझकर चलते है, नीति-प्रचारक 'शिव'को और वैज्ञानिक या वास्तववादी निरे 'सत्य'की।

मूल्य और प्रतिमान समानाथीं शब्द है। दोनों ही मानविनिर्मित निवष या वं.सैटियाँ हैं, जिनके सह रे साहित्यकी परस्र की जाती है। मनुष्य चृंकि पहले व्यक्ति हैं, इकाई है—उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति—मनुष्य एक बृहत्तर मानव-समाजका, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसारका सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पनामें मूल्यका प्रश्न बहुत महस्वपूर्ण हो जाता है।

पहले पारिवारिक मूल्य लें। वे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें सहायक या वाधक होते हैं। एक व्यक्ति परिवारका प्रथम पुरुष है या अन्तिम, उसकी सभी बहने है या सब भाई है या वह अकेला है या अविवाहित है या अन्य प्रकारकी जो भी स्थितियों है, वे उसकी साहित्यक अभिरुचि, शिक्षा-संस्कार आदिको निर्णीत करती हैं। इन्होंमेसे एक विशिष्ट प्रकारकी मूल्य-संहिता (value pattern) व्यक्ति बनाता है। वह उसके साहित्य-निर्माण और साहित्य-निर्णयको निश्चित करती है।

इन मृत्योंकी टकराहट (या समाहार) परिवारसे बडे जाति, मुहला, नगर, समाज, राष्ट्र या स्थान-दळ या अन्य प्रकारके गुटोकी संस्थाओंके मृत्योसे होती है। व्यक्ति वनता है, विगइता है, विखरता है। उसके साहित्य-मृत्य भी उसी मात्रामें बनते, बिगडते, विखरते जाते है। इन सब विविध मृत्योंके बाद भी एक बड़ा मृत्य बचा रहता है, जो एक प्रकारसे इन सबका सार है और वह है मानवीय मृत्य। यद्यपि मानवतावाटको भी विशेषणोसे परिभाषित किया गया है, यथा वैद्यानिक, क्रान्तिकारी, नव्य आदि; मानवीय मृत्य ही अन्ततः साहित्यमे विवेकके बढ़ानेकी दिशामें सहायक हो सकते हैं।

सामाजिक मूल्य एक विशिष्ट प्रकारके अर्थशास्त्रीय-राजनीतिक दृष्टिकोणसे प्रयुक्त किया हुआ शब्द है। शेक्स-

पीयर या कालिदासके नाटकोंमें चाहे मामाजिक या दलगत मल्य बहुत कम हों, फिर भी वे श्रेष्ठ साहित्य इसीलिए माने जाते हैं कि उनमे साहित्यिक मूल्य अधिक है। अतः इन दोनों मुल्योंका समीकरण मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा भी पाया गया है कि बहुत-से असामाजिक जान पडनेवाले व्यक्तियोने श्रेष्ठ साहित्य रचा है और वैसे तो दलगत मुख्योके कारण कई अच्छे लेखक भी संकृचित हो गये है, उनके लेखनका नयापन प्रायः नष्ट हो गया है या कि उभर हो नहीं पाया है। दल तो स्वतन्त्र विचार या वल्पनावाली सृष्टिका अत्र है। अब साहित्यमे यह माना जाने लगा है कि अन्ततः वे व्यक्ति-मूल्य ही प्रधान है, जो समाज-मृल्यके विरोधी न होकर उनके पोषक हों। वे ही सचने मानवीय मुख्य भी है। मुषक-चंचल मन, जो अज्ञानके अन्धकारमे चुहेकी भॉति विचरण करता है। कालरूपी सूर्प उस चूहेको खा जाता है-- 'निमि अंधारी मूसा आचारा' (चर्यापद, २१) । मूसा पैठा वॉविमें (क ० ग्रं०)। -ध० वी० भा० मेंढक-मनका प्रतीक । 'वेगस साँप बढिक (चर्यापट, ३३)। 'भीडक सोत्रे साँप पहरइया' ग्रं०) । — ५० वी० भा० मैथिली-मैथिली भाषा गंगाके उत्तर दरभंगा(विहार)के आसपास बोली जाती है। मैथिलीका अपना विशिष्ट प्राचीन साहित्य है, जिसमे विद्यापितका नाम अन्यतम है। आधुनिक समयमें मैथिलीमें साहित्य रचना अभी हालमें प्रारम्भ हुई है। मैथिलीकी अपनी अलग लिपि है, जो बॅगलाने बहुत मिलनी-जुलती है। उत्पत्तिकी दृष्टिसे मैथिटीका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंशसे है। सैथन-दे॰ 'ग्रह्म साधना', 'मुद्रा', 'युगनद्ध'। मोटनक-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यज्ञास्त्र'(१६: २९)में इस वृत्तका मोटक नाम दिया गया है। इसमे तगण, दो जगण और लघु-गुरुका योग होना है (SSI, ISI, ISI, IS) । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है-"सोहे धन स्थामल घोर घने । मोहे तिनमें बक-पॉति भनें। संखाविल पी वहुधा जल स्यों। मानौं तिनको उगिलै बक स्यो" (रा० चं०, १३:१३)। —पु० झ० मोटिफ-किसी कृतिकी योजनाका वैशिष्ट्य, कोई शब्द या विचारका प्रतिरूप, जिसकी समान स्थितिमे वार-वार आवृत्ति होती है, या जो समान मनोदशा जागरित करनेके लिए किमी एक कृतिमें या एक ही जातिकी अनेक कृतियोंमें बार-बार दहराया जाता है। लोक-कथामे इसका प्रयोग विशेष रूपमे देखा जाता है। इस प्रकारकी पुनरावृत्तियोके कारण एक प्रकारकी आन्तरिक संगीतात्मकताकी सृष्टि होती है। दे० 'लोककथा', 'कथानक-रूढि'। मोद्दायित-दे॰ 'खभावज अलंकार', छठा। 📑 मोदक-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। प्राकृत-पैगलम्' (२: १३६)के अनुसार ४ भगण इस वर्णिक वृत्तमें होते है (SII, SII, SII) । 'मन्दारमरन्दाचम्पू' (९: ५)मे इसका नाम भामिनी दिया है। केशवने इसका नाम सुन्दरी दिया है, अन्य आचार्योंने मोदक। सूदन

(सु० च०, पृ० २१३) और केशबने हिन्दीमे इसका प्रयोग

किया है। उदा०-"राज वहै वह साज वहै परु। नाम वहै वह धाम वहै गुरु। झूठ सो झुठिहं बॉधत हो मन। छोड़त हो नप सत्य सनातन"(रा० चं०, ३०: २२)। -प्० श्र० मोह-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके विसाव है-आकस्मिक आधात, आपत्ति, रोग, भय, उद्देग तथा गत शत्रुनाका स्मरण आदि और अनुभाव निइचेष्टता, गिरना, झकना तथा ठीक-ठीक न देख पाना आदि (ना० शा०, ७: ५२)। विश्वनाथकी न्याख्याके अनुसार—"मोहो विचित्रताभीतिदःखावेगानु निन्तनैः । मुर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्" (सा० द०, ३: १५०), अर्थात् भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि-के कारण उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है। मुर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, दिखाई न देना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालीन आचार्योंमे कुछने 'नाट्य-शास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है। देवका लक्षण ऐसा ही है-"अद्भुत दरसन बेग भय, अति चिन्ता अति कोह। जहाँ मुर्च्छा बिसमरन लम्भतादि कह मोह" (भाव : संचारी )। पर अन्य कुछ आचार्य इसे — 'बिरह दःख-दिन्ता जनित' मात्र कहते है, जिसमे "आपृहि अपनी देहको ज्ञान जबै नहि होइ" (जगद्वि०, ५०७)।

रामचन्द्र शुक्लने जड़ता और मोहको मिलती-जुलती मानसिक अवस्थाएँ माना है। उनका कहना है कि "जडता है एकदम ठप हो जाना, जिसमे मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक, दोनों क्रियाएँ एक क्षणके लिए बन्द-सी हो जाती है। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट, दोनोंके दर्शनसे हो सकती है। इसमे चित्तकी व्याकुलता नहीं रहती। मोह दःखावेगके कारण ही होता है और उसमे चित्तकी न्याकुलता और मुच्छों होती है" (र० मी०, पृ० २२३)। पर जब मोहके अनुभावकी व्यंजना मूर्च्छाके रूपमें होती है तब यह जड़तासे मिलता-ज़ुलना प्रतीत होता है। मोह और जडतामें एक मौलिक अन्तर यह है कि मोह जहाँ केवल दुःखावेगमे ही होता है, वहाँ जडता दुःखावेग और सुखावेग, दोनोंमे दिखाई पडती है। सुखके आतिशय्यसे भी लोग कमी-कभी जड-से हो जाते है। पश्चाकर प्रेमकी विह्वलताका वर्णन करते है-"'दोउनको सुधि है न कछ बुधि वाहि बलाहमें बूडि वही है। मोहन मोहि रह्यो कवको क्बकी वह मोहनी मोहि रही है" (जगद्वि०, ५०८)। तुलसीदासने सीताके सुखसे 'उत्पन्न 'मोहका चित्रण किया है-"रामको रूप निहारत जानकी कंकनके नगकी परछाहीं। याते सबै सुधि भूलि गयी कर टेक रही पल टारत नाही" (क०)। मोहन १-वणिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमे भगण, नगण, जगण और यगणका योग होता है (-11, 111, 151, 155)। उदा०-"देखहु भरत चमू सजि आये। जानि अवल हमको उठि धाये। ही सत हय बहु बारन गाजे। दीरघ जहँ तहँ दुन्दुभि बाजें' (रा० चं०, १०: १६)। — पु० शु० मोहन २-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'वाग्वल्लम' में इसका मधुमारक नाम दिया गया है। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें सगण और जगणके योग-

से छन्द बनता है (ISS, ISI) । उदा०—"धरि चित्त धीर: गये गंग तीर । शुचि है शरीर; पितु तर्पि नीर" (रा० चं०, मोहनक-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; दो गुरु और तीन सगणोके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"आये दशरत्थ बरात सजे, दिग्पाल गयन्दिन देखि लजे। चार्यो दल दलह चारु बने । मोहे सुर औरिन कौन गने" (रा० चं०, ६: मोहनी-मात्रिक अर्द्धसम छन्द । मात्रायुक्त छन्दोके अध्यायमे भिखारीदासने 'छन्दार्णवं'मे एक मोहनी छन्दके लक्षण दिये है। भान कविने 'छन्दप्रभाकर'मे मान्निक अर्द्धमम प्रकरणमें इसका लक्षण दिया है कि विषम पदमे १२ और सममे ७ मात्राएँ होती है, अन्तमे सगण होता है। भिखारीदास द्वारा दिये गये लक्षणवाला मोहनी इससे भिन्न है। मोहनीका प्रयोग बहुत विरल हुआ है। सुन्दरदासने 'रामाष्टक'में इसका प्रयोग किया है। उदा०-"शम्भ भक्त-जन त्राता, भवदुख हरें। मन वांछित फलदाता, मुनि हिय धरें" (छं० प्र०, पृ०८१)। —रा० सिं० तो० मौक्तिक दाम-वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्' (२: १३४)मे इसका लक्षण है; इस वृत्तमें चार जगण होते है (ISI, ISI, ISI, ISI)। चन्द (पृ० रा०), जोधराज (ह० रा०), सूदन (सु० च०) तथा केशव (रा० चं०)ने इसका प्रयोग किया है। अपनी दुत गतिके कारण वीर रसमें विशेष रूपसे प्रयुक्त हुआ है। उदा०-"रही चुप है सुत क्यो बन जाहु। न देखि सकै तिनके उर दाहु। लगी अब बाप तुम्हारेहि वाय। करे उलटी विधि क्यों कहि जाद" (रा० चं०, ९:८)। मौरध्य-दे॰ 'स्वभावज अलंकार', तेरहवॉ। यत-रूपककी पॉच अवस्थाओं मेसे दूसरी अवस्था। "प्रयत्नस्तु नदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः" (द० रू०, १: २०), अर्थात् फलप्राप्तिके लिए अत्यन्न त्वरायुक्त जो न्यापार किये जाते है, उन्हें यल कहते है। 'स्कन्दगुप्त'के द्वितीय अंकमें प्रयत्नावस्था है। ध्रवस्वामिनी'में प्रयत्न नामक कार्यावस्था वहाँ . आरम्भ होती है, जहाँ उसने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया है-''तो कुमार ! (चन्द्रग्रप्त) हम लोगोंका चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्बकी आवश्यकता नहीं"। शकराजका सामना करनेका यह निश्चय फलप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूपमें है। इसी प्रवाह और प्रसंगमें पूर्वोक्त अनुरागोदय भी पृष्ट रूप धारण करता है। इसी प्रयत्नके लिए वह कहती है— "हम दोनो ही चलेंगे। मृत्युके गहरमे प्रवेश करकेके समयमे भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जानेकी कामना रखती हूँ।" (जगन्नाथ शर्मा : 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)-व० सिं० यथार्थवाद-साहित्यकी एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति, जिसके अनुसार कलाकारको अपनी कृतिमें जीवनके यथार्थ रूपका अंकन करना चाहिये। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद (दें) का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है, जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति । जीवनमें अयथार्थकी करपना दुष्कर है । किन्तु

अपने पारिभाषिक अर्थमे यथार्थवाद जीवनकी समय परिस्थितियोके प्रति ईमानदारीका दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्यकी हीनताओं तथा कुरूपताओंका चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनके सुन्दर अंशको छोडकर असुन्दर अंशका अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकारसे उसका पूर्वाग्रह है।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशोंके साहित्यमे विभिन्न कालोम मिलती है। वस्तुतः यथार्थवाद सुधारक साहित्यका प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थितिके प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठकके मनमे उस आक्रोशको जन्म देना चाहता है, जिसके बिना किसी भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्तिकी करूपना नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्यमें यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकालसे ही दिखाई देने लगती है। कबीर एक प्रकारसे हिन्दीके प्रथम यथार्थवादी कवि है। उनके समाजमें जो खोखलापन घर कर गया था, उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होंने अपने काव्यमे किया है। जीवनकी विकृतियाँ तथा कुरूप-ताएँ सर्वत्र उनके आक्रोशका लक्ष्य बनी है। कबीरके उप-रान्त तुलसीमें भी किसी हदतक यथार्थवादकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपने दृष्टिकोणमे आदर्शवादी होते दृए भी वे सामाजिक जीवनवी कद्वताओकी ओरसे अपनी ऑखें नहीं फेर सके थे। 'रामचरितमानस'के उत्तरकाण्ड तथा 'विनयपत्रिका'के कुछ पदोंमें तुलसीकी यथार्थवादी दृष्टि गहरेतक पैठी है।

आधुनिक अर्थमे यथार्थवण्दका हिन्दी साहित्यमें प्रथम विकास प्रगतिवाद (दे०)के माध्यमसे हुआ। द्विवेदीयुगीन आदर्शप्रयता तथा छायावादी काल्पनिक जगतके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने प्रगतिवादी साहित्य-सर्जनमे यथार्थवादको एक अपिरहार्य अंग बना दिया। किवता, कहानी, जपन्यास, नाटक आदि सभी रूपोंमें आधुनिक जीवनके गहरे संघर्षों, विदूषों, अन्तर्द्धन्द्वों तथा कुरूपताओंका अंक कुआ । इस युगके दो मनीषी—मार्क्स तथा फायडने अपने अपने दंगसे यथार्थवादके विकासमें सहयोग दिया। मार्क्सने सामाजिक जीवनके कटु यथार्थकी ओर संकेत किया और फायडने वैयक्तिक जीवनकी गहिंत कुण्ठाओंकी ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समयकी आवश्यकताने और कुछ इन दो चिन्तकोंकी विचारधाराने यथार्थवादको युगकी अनिवार पहिंत किता सम्मावना यथार्थवादको हो लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवादके उपरान्त प्रयोगवादको भी यथार्थवादका दाय मिला। एक प्रकारमे प्रयोगवादको यथार्थवादको प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवनकी तुच्छ-से-तुच्छ परिस्थितिको भी साहित्यमें चित्रित करने योग्य समझा गया। द्वितीय महायुद्धने यथार्थवादको साहित्यमें और अधिक प्राह्म बनाया और इस प्रकार प्रयोगवादने इस मौलिक प्रवृत्तिको अपनी आधार-शिलाके रूपमे स्वीकार किया। पर प्रयोगवादी यथार्थवादको साथ एक व्यापक तथा उदार मानवतावादकी मावना संयुक्त थी, जो आगे नयी कविताके

आन्दोलनके साथ और अधिक विकसित हुई। वस्तुतः हिन्दीका आधुनिक यथार्थवाट साम्प्रदायिक न रहकर उक्त मानवतावादी प्रवृत्तियोंके संयोगसे साहित्यके क्षेत्रमें अधिक कलात्मक तथा सामाजिक वन सका है। -रा०स्व०च० यथासंख्य-वाक्यन्यायमूलक अर्थालंकार; 'यथासंख्य'से अभिप्राय है संख्या, अर्थात क्रमके अनुसार, जहाँ क्रमञः कथित पदार्थोंका उसी क्रमसे, आगेके पदार्थींसे अन्वय किया जाय। इसीको 'क्रम' अथवा 'यथाक्रम' अलंकार भी कहते है। यथासंख्य अलंकार 'क्रम'का पर्याय है। यह प्राचीन अलंबार भामहके समयसे सदा स्वीकृत रहा है। भामहने स्चना दी है कि उनके पूर्व मेधाविन्ने इसको संख्यान नामसे कहा है। दण्डीके शब्दोंमें इसकी परिभाषा इस प्रकार है- "उदिष्टानां पदार्थानामनुदेशो यथाक्रमः। यथा संख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि"(काव्यादर्श, २७३), अर्थात पहले कहे हुए पदार्थीका उसी क्रमसे फिर दुहराया जाना । वामनने इसे 'क्रम' कहा है । मम्मट तथा विश्वनाथ ने पदार्थोंके क्रमिक सम्बन्धको स्वीकार किया—"यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः" (का० प्र०, १०: १०८), अर्थात् पदार्थ जिस क्रमसे वर्णित हो, उसी क्रमसे आगे उशिखित पदार्थीके साथ उनका सम्बन्ध प्रदक्षित करना ।

हिन्दीमें प्रायः यह अलंकार सर्वमान्य रहा है। मितराम तथा भूषणके लक्षण स्पष्ट नहीं है—"क्रमसो किह तिनके अरथ क्रमसों बहुरि बनाय" (शि॰ रा॰ भू॰, २४०)। पण्याकरने इस क्रमको 'अन्वय'से युक्त कहा है। विन्तामणिने "क्रम क्रमको अन्वइ जहाँ वरन्यों अनुक्रम संग" (क॰कु॰क॰ त॰) कहकर संस्कृतके आचार्योंका अर्थ ब्यक्त किया है।

रसलीनका यह प्रसिद्ध दोहा इसका सुन्दर उदाहरण है—''अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार । जियत मरत जुिक झुिक परत जििह चितवत इक बार''। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'का यह वर्णन भी—''वसन्तने सौरभने परागने; प्रदान की थी अति कान्त भावसे। वसुन्थराको, पिकको, मिलिन्दको; मनोइता, मादकता, मदान्थता'' (प्रि॰ प्र॰) । हिन्दीके रीतिकालीन आचारोंके पूर्ववतीं कतिपय मक्त नथा शृंगारी किवयोंकी रचनाओंमें भी इस अलंकारका स्वाभ विक प्रयोग मिलता है। आधुनिक कवियोंने भी काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धिके निमित्त इस अलकारको यथोचित रूपमें अपनाया है।

के शवका कम (यथासंख्य) अलंकारका लक्षण अस्पष्ट हैं (किविप्रिया, ११)। इस अलंकारके उदाहरणोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे केशवने कम कहा है, परवर्ती आचार्योंने उसीको एकावली माना है। कन्हैयालाल पोहारने इनके एक उदाहरणको एकावलीके अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। —वि॰ स्ना॰

यम-दे॰ 'हठयोग'।

यमक - एक राष्ट्रालंकार; यमकका अर्थ है युग्म या जोड़ा। इसमें भिन्नार्थके साथ वर्णावृत्ति या राष्ट्रावृत्ति होती है। 'यम' अलंकारमे आवृत्त राष्ट्र या तो निरर्थक होते हैं या सार्थक। यदि सार्थक हो, तो वे सभी भिन्नार्थक होते है। भरतके समयने इस अलंकारको मान्यता प्राप्त रही है।

भरतने 'शब्दाभ्यास'मात्रको यमक माना है और उसके दस भेद किये हैं (ना० शा०, १६: ६३)। भामहने "सुननेमें समान प्रतीत होनेवाले, पर अर्थमे भिन्न वर्णीकी पुनरुक्ति या आवृत्ति "को यमक माना है (काव्यालं ०, २: १७)। दण्डी तथा वामन आदिका मत ऐसा ही है-"पदमनेकार्यमक्षरं बाडवृत्तं स्थाननियमे यमकम् (काव्यालं) सू० वृ०, ४:१:१), अर्धात् स्थान नियमके साथ अनेका-र्थक पद अथवा अक्षरकी आवृत्ति । वस्तुतः विसी भी पदमे आवृत्त वर्णोंका क्रम समान माना गया है, जैसे 'सर' 'सर'। 'सर' 'रस'मे यमक नही हो सकता, क्योंकि वर्णीका उप-स्थापन क्रमानुसार नहीं हुआ है। मम्मटने इसी बातको यो रखा है-"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"(का० प्र०, ९: ८३), अर्थात् अर्थ होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्ण अथवा वर्णसमूहका बार-बार सुनाई देना । विश्वनाथका भाव समान है। 'चन्द्रालोक'के लेखक जयदेवने परिभाषा संक्षिप्त कर दी है-"किसी भी दो-तीन अक्षरोंके समहकी आवृत्ति" (५:८)।

हिन्दीमें भी यह अलंकार सर्वस्वीकृत रहा है। केशविक्षी 'किविप्रिया'में १५वॉ प्रभाव यमक-विषयक है। जसवन्त मिंह-ने—''जमक, शब्दकी फिर स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि'' (भा० भू०, २०२) कहकर मम्मटका अनुसरण किया है। चिन्तामणि, भूषण, दूलह तथा दासके लक्षण लगभग समान हैं। चिन्तामणिने 'फिरि स्रवन'का उल्लेख किया है, अन्योने 'आवृत्ति'का कथन किया है। केशवने अव्यपेत तथा सव्यपेत मेद माने है, जिनके आधार प्राचीन आचार्य है। हिन्दीमें इसके विशिष्ट भेदोका उल्लेख नहीं है, किसी-किसीने भंग तथा अभंग पदोंकी आवृत्तिके कारण इसके दो भेद किये है। दासने अनेक भेद अवश्य स्वीकार किये हैं।

यमक अलंकारमें आवृत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—
(१) किसी पदमे केवल निरर्थक वर्णोंकी आवृत्ति, (२)
निरर्थक तथा सार्थक, दोनों प्रकारके वर्णोंकी, (३) केवल
सार्थक वर्णोंकी । भूषणका उदा०—"पूना वारी सुनिकै
अमीरनकी गति, लई भागिवेको मीरन समीरनकी गति है"
(शि०भू०, ३६६)। देव कविका सुन्दर उदा०—"अनुरागके
रंगनि रूप तरंगनि अंगनि मोद मनौ उफनी। कवि देव
हिये सियरानी सवै सियरानीको देख सुहाग सनी"। दासका
उदा०—"मुकत विराजत नाकमें, मिलिबे सर-मख माँहि"
(का० नि०, १९)।

रीतिकाल्मे भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा आधुनिक ब्रजभाषान्कवि 'रलाकर' आदि अनेकने इस अलंकारका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, किन्तु देवका यह प्रिय अलंकार है। देवने अपने पदवन्धोको सजावट तथा कसावटके लिए इसको अपनाया है।

पादावृत्तियमक-पूरे पादकी जहाँ आवृत्ति होता हो। भूषणने इसके सुन्दर उदाहरण 'शिवाबावनी'मे प्रस्तुत किये हैं—'नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती है' (२६), इसमें 'नग जड़ाना' तथा 'नंगे जाड़ा खाना' भिन्न अर्थ है। इसी प्रकार 'पिसी परी नरम हरम बादशाहनकी, नासपाती खाती ते बनासपाती खाती है'' (२८)। भागावृत्ति

यमक — जहाँ पादके आधे भागकी अथवा तीसरे या चौथे भागकी आवृत्ति होती है, वहाँ 'भागावृत्ति यमक' होता है। उदा० — ''दिविरमनो रमनीय कित, है रित रित समहीन। हिर बनिता बनिताहि छिन, मनमथ मथ बस कीन'' (अ० म०)। इसमें 'रमनो', 'रित', 'बनिता' और 'मथ'की उन्हीं पादोके तीसरे भागमे आवृत्ति है। सिहाबको कन इसमें सिहके सहश मुड-मुडकर देखनेके समान किसी शब्दकी छन्दके आदि और अन्तमे आवृत्ति होती है। इसमें किसी छन्दके प्रथम चरणके प्रारम्भिक शब्दकी छन्दके अन्तमे चर्तमा चरणमें आवृत्ति होती है, अर्थात् जो शब्द छन्दके प्रारम्भमें वर्तमान रहता है, वही शब्द छन्दके अन्तमे। इसको मुक्तपदग्राद्धा यमक भी कहते है।

देवने 'सिहावलोकन यमक'का उल्लेख अपने 'शब्द-रसायन'मे किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर अनुप्रासका एक भेद माना है। मिखारीदासने अपने 'काव्यनिर्णय'मे सिहावलोकन यमक'को यमकका एक भेद माना है और उसीको 'मुक्तपदयाह्य यमक' कहा है। दासके अनुसार—"चरन अन्त अरु आदिके, जंमक कुण्डलित होइ। सिह-बिलोकन है वहै, मुक्तक पद यह सोइ" (१९)। देवके 'शब्दरसायन'का उदा०—"भाल है लाल सिन्दूर भरवो मुख सिन्धुर चारु औ बॉह बिसाल है। साल है स्थुनको कि देव सुसोभित सोमकला धरे भाल है"। दासके 'काव्यनिर्णय'का उदा०—'सरसो दरसो करें नीर अली धुन लीन्हे अनग पुरन्दर सो। दरको चहुँ ओरनने चपला करि जाती कुपानके ओसरसो"।

'अग्निपुराण'के अनुसार यमकके दो भेद है—'अब्यपेत' और 'व्यपेत'। 'यमक' मे जिन पदों या वर्णोंकी आवृत्ति होती है, वे आवृत्त पद या वर्ण, यदि एक-दसरेके समीप हों, तो 'अव्यपेत यमक' होता है। व्यपेतका तात्पर्य है पदोके बीचमे व्यवधान होना, अर्थात् यममे 'आवृत्त' पद या वर्ण जब एक-दूसरेके समीप न हो तव 'व्यपेत यमक' अलंकार होता है। जैसे (क) "सजनी सज नीरद निरखि, हरिष नचत इत मोर" (कवि प्रया, १५: ९६) । इसमें 'सजनी' 'सजनी' एक दूसरेके समीपस्थ है, अतः 'अन्यपेत यम मं है। (ख) "माधवसी धव राधिका, पावहु कान्ह कुमार । पुजहु माधव नियमसों गिरिजाको भरतार" (वही. १५: १११) । इसमे 'माधव' और 'धव' आवृत्त शब्द है, परन्तु इनके बीचमें अन्य शब्दोका व्यवधान (अन्तर) पडा है, अतः 'व्यपेन यमक' है। इन दो भेदोका उल्लेख 'काव्यादर्श' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे भी है। हिन्दीमे केशवदासने भी 'कविप्रिया'मे इन दोनो भेदोंका उल्लेख किया है। 'कविप्रिया'के टीकाकार भगवान्दीन 'दीन'ने इन दो भेदोको लिपि-भ्रमके कारण 'अव्ययेत और 'सब्ध्येत'के नामसे लिख दिया है।

लाटानुप्रासमे एकार्थक शब्दोकी आवृत्ति होती है और यमकमे आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते है, अथवा यदि सार्थक हों, तो भिन्नार्थक होते है। —वि० स्ना० यमना –दे० 'हठयोग'।

यात्रा-साहित्य-मनुष्य-जातियोंका इतिहास उनकी यायावरी प्रकृतिसे सम्बद्ध है। सम्भवतः यह मानवकी

यात्रा-साहित्य

एक मूल प्रवृत्ति है। प्रारम्भमें यह उसके लिए आवश्यक भी थी। परन्तु उसके सौन्दर्यबोधके विकासके साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत्का आकर्षण भी उसके लिए बदता गया है। यहाँके देशोंमे विविधता है, ऋतुओमे परिवर्तन होता है और साथ ही प्रकृतिके रूपों में विभिन्नता और सौन्दर्यका वैचिन्य है। इसके अतिरिक्त सर्जनमे स्वतः एक गति है. जिसके साथ ताल मिलाकर चलना स्वतः एक उल्लास है। इस प्रकार सौन्दर्यबोगकी दृष्टिसे उल्लासकी भावनाते प्रेरित होकर यात्रा करनेवाले यायावर एक प्रकारने साहित्यिक मनोवृत्तिके माने जा सकते है और उनकी मुक्त अभिव्यक्ति-को यात्रा-साहित्य कहा जाता है। साहित्यिक यायावरको एक अद्भुत आकर्षण अपनी और खीचता है, वह मन्त्र-मुग्थकी भाँ नि उसकी ओर खिंच जाता है। संसारके लोग इस पुकारको सुन नहीं पाने या सुनकर भी अनसुनी कर देते है। वे चलते हैं, यात्रा दरते है, पर वे तेलीके बैलकी तरह अपने भारके साथ कोल्हके चारो ओर घुमनेमें ही अपने परिश्रमकी सार्थकता मान बैठते है। पर साहित्यिक यायावर मुक्त मनोवृत्तिके साथ घूमना है, उसकी यात्रा-घुमक्दडीका अर्थ अपने आप पूर्ण होता है।

संसारके बड़े-बड़े यायावर अपनी मनीवृत्तिमे साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वेनत्सांग, इतिंसग, इब्न बत्ता, अलवरूनी, मार्कोपोलो, बनियर और टैवनियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड हुए है अथवा देश-विदेशके साहसी अन्वेषक हुए हैं, सवमें साहित्यिक यायावरका रूप रक्षित है । वे निःसंग-भावमे घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। यात्रा करने मात्रसे कोई साहित्यिक यायावरकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और न यात्राका विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा साहित्य है। पिछले युगोके यात्रियोमे राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिको प्रधानता मिली है, परन्त इनके बीचमें ऐसे संस्मरणीय अंश भी हैं, जिनसे उनकी आन्तरिक प्रेरणाका आभास मिल जाता है। भारतमे यात्रियोंकी कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुट्र पूर्वके द्वीपोमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका सन्देश इन यात्रियोंके पीछे गया होगा, पर भारतीय दृष्टिमें इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरितके प्रति विचित्र अनास्था आरम्म-से रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्यमे उपर्युक्त अंगोंके साथ यात्रा-विवरणोंका नितान्त अभाव है। परन्त कालिदासके विभिन्न देशों तथा प्रकृतिके रूपोंके वर्णनोंसे उनकी यायावरी मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। बाणवी घुमक्कड प्रवृत्तिकी अभिव्यक्ति उनके 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी'के देश-देशकी प्रकृति और नाना प्रकारके लोगोके वर्णनोंमें हुई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह साहित्यिक रूप भी कई अन्य रूपोंके साथ पाश्चात्य साहित्यके सम्पर्कमे आनेके बाद ही विकसित हुआ है। प्रारम्भिक लेखकोने यात्रा-विवरण लेखरूपमे प्रस्तुत किये है। भारतेन्द्र हरिइचन्द्रने इस प्रकारके उल्लेख किये है। परन्तु यात्रा-साहित्यका विकास शुद्ध निवन्धोंकी शैलीने माना जा सकता है। निवन्थ-शैलीके व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आरमीयता

आदि गुण यात्रासाहित्यमें भी पाये जाते हैं। निवन्धकार जिस प्रकार अपने विषयको अपनी मानसिक संरेदक स्थितिमे बहुण करता और उसीकी प्रेरणासे विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्राके प्रत्येक स्थल और क्षणोंमेसे उन्ही क्षणोंको सँजोता है, जिनको वह अनुभूत सत्यके रूपमे ग्रहण करना है। वह सर्वसा-धारणकी दृष्टिमे प्रत्येक बातका विवरण देकर नहीं चलना और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेशमें प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता-के वातावरणमे उपस्थित करता है। यात्री अपने माहित्यमे संवेदनशील हो कर भी निरपेक्ष रहता है। ऐमा न होनेपर यात्राके स्थानपर यात्रीके अधिक प्रधान हो उठनेकी सम्भा-वना है। यात्रामें स्वतः स्थान, इहय, प्रदेश, नगर, गॉव मुखरित होते है, उनका अपना न्यक्तित्व उभरता है। इस पथपर मिलनेपर मिलनेवाले नर-नारी, बचने-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रोंके माथ उमके व्यक्तित्वको अधिक स्पन्तित और मुखरित करते है। मार्गमे पड़नेवाले मन्दिरों, ममजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, सारकों, मकबरो, किलों और पुराने महलोते संस्कृति, कला और इतिहासके उपकरणोको जुराकर यात्राकी पीठिका तैयार होती है। फिर भी अपनेको अदृश्य भावते सर्वत्र रखना हा होता है, यात्री अपनी यात्राको मानसिक प्रतिक्रियाओके रूपमें ही ग्रहण करता है। अपनेको केन्द्रमे रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावरका कर्तव्य है, क्योंकि यदि लेखकका व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित ही रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

यात्रीमें, प्रगीतोंके गायकोंका-सा भावावेश और निबन्ध-कारकी-सी मस्ती रहती है। वह लापरवाही और मौजसे जीवनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। इस बातको आधुनिक यात्रा-माहित्यके यात्रियोने मुक्त-कण्ठने घोषित भी किया है। राहुलके अनुसार "जिसने एक बार घुमकड़ धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ ? आखिर-में हिड्डियाँ कटते ही विखर जायँगी" ('किन्नर देशमें')। देवेन्द्र सत्याथीं यात्राके आह्वानको सुन रहे हे : "मेरा पथ मेरे सामने है। मै जीवित मानवका पक्ष लेता हूं। " जीवन आज उसी यात्राके लिए आह्वान कर रहा है" ('रथके पहिये')। देवेशचन्द्र दास यात्राको मुक्तिके रूपमें ब्रहण करते हैं : "आज छुट्टी है, छुट्टी । मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलताका अनुभव करता था, उससे आज वन्धन-मुक्त होऊँगा। कामकी बाधा दूर हो गयी, वह किसी प्रकार क्यों न हुई हो-ऑधीमे उडकर अथवा वर्षामें घुलकर-और मै अनिदिष्ट पथपर बाहर निकल आया हूँ" (यरोपा)। 'अज्ञेय' जीवनको यायावरका चिरन्तन पथ मान-कर कहते हैं: "यायावरको भटकते चालीस बरस हो गये, किन्तु इस बीच न तो वह अपने पैरो-तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न श्लितिजको कुछ निकट ला सका है "उसके तारे छूनेकी तो बात ही क्या।" यायावरने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरोंमें रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचारकी पहली शर्त है गति : गिन : गिन" (अरे यायावर, रहेगा याद) ।

यात्रा-सा हत्य विभिन्त शैलियों मे लिखा गया है और उसके विभिन्न रूप पाये जाते है। इस विषयमें कुछ ऐसा साहित्य है, जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशों अथवा स्थानोका विस्तृत और व्यापक परिचय देना रहता है। इनमे भी कुछ परिचयात्मक अधिक रहता है और कुछ यात्राके लिए अन्योको प्रेरणा देनेके लिए होता है। राहुल सांकृत्यायन (हिमालय-परिचय, मेरी यूरोप-यात्रा आदि), (फैलास-मानसरोवर), शिवनन्दन सहाय (कैलास-दर्शन), गोपाल नेवटिया (भूमण्डल-यात्रा), भिक्ष धर्मरक्षित (नेपाल-यात्रा, लंका-यात्रा) आदिका यात्रा-साहित्य इसी कोटिमें आता है। परन्तु इनके यात्रा-वर्णनोंमे भी स्थान-स्थानपर भावावेग, उल्लास, आत्मीयता आदिकी अभिन्यक्ति पायी जाती है। कुछ यात्रियोका उद्देश्य देश-विशेषके व्यापक जीवनको उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्षोमे उभा-रना रहता है। इनमे सत्यनारायण (आवारेकी यूरोप-यात्रा), यशपाल (लोहेकी दीवारके दोनो ओर), जगदीशन्द्र जैन (चीनी जनताके बीच), राजवल्लभ ओझा (बदलते दृश्य), गोविन्द दास (सुदूर दक्षिण-पूर्व) आदि लेखक है। इन्होने देशके प्राकृतिक रूप और सांस्कृतिक जीवनको एक साथ अभिन्यक्त करनेका प्रयत्न किया है, देशकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियोपर अपने निजी विचारो या प्रभावोंको व्यक्त किया है। इन लेखकोकी शैली पायः यथार्थ चित्रणकी है और ये क्रमशः यात्रामे पड़नेवाले नगरो, स्थानो, इदयोंका वर्णन प्रस्तुत करते चलते है और उन स्थानोके जीवनपर भी प्रकाश डालते है। परन्त इनमें कई स्थलोंपर लेखक अपने प्रभावो और भावात्मक प्रतिक्रियाओ-का भी समावेश करता है।

अधिकतर यात्रा-साहित्य संस्मरणात्मक होता है और इसमे यात्री अपने प्रभावो, प्रतिक्रियाओं और संवेदनाओ-को महत्त्व देता है। भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया), अमृतराय ('सुबहके रंग'), रांगेय राधव ('तूफानोंके बीच') तथा रामवृक्ष बेनीपुरी ('पैरोंमे पंख बॉधकर' तथा 'हवापर') आदि इसी कोटिके लेखक हैं, जिन्होने अपनी यात्रामे अपनी दृष्टि, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा संवेदनाओंको अधिक महत्त्व दिया और देशके जीवन, परिस्थितियो तथा पात्रोको इसी दृष्टि ने देखा है । इसी कारण अपेक्षाकृत इन कृतियोमे अधिक साहित्यिक आकर्षण है। कुछ यात्री प्रकृति-सौन्दर्य तथा उमके जीवनसे अधिक आकर्षित तथा अभिभूत होते हैं, उनके साहित्यमें उसीकी अभिन्यक्ति प्रधान होती है। काका कालेलकरकी 'हिमालय-यात्रा', इंसकुमार तिवारीका 'भूखर्ग करमीर', श्रीनिधिकी 'शिवालिककी घाटियों'मे अधिकतर यही सौन्दर्य हैं। सामान्यतः यात्रा-साहित्यमें प्रकृतिका सौन्दर्य सर्वत्र एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ ऐसे यायावर है, जो अपने यात्रा-साहित्यको समय जीवनकी अभिन्यक्तिके रूपमें प्रहण करते हैं। उनके लिए प्रकृति सजीव है, यात्रामें मिलनेवाले पात्र आत्मीय, स्वजन हो जाते हैं। वे देशकी आत्माका साक्षात्कार करते हैं। वे देश-देशमें विखरे हुए इतिहासको, संस्कृतिको, समाजको

अपनी अनुभूतिका अंग बनाकर अभिन्यक्त करते है। उनके यात्रा-साहित्यमें महाकाव्य और उपन्यासका विराट तत्त्व, कहानीका आकर्षण, गीनिकान्यकी मोहक भावशी-लता, संसरणोंकी आत्मीयता, निवन्धोंकी मुक्ति, सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है। 'अज्ञेय'के 'अरे यायावर, रहेगा याद'में ऐसा ही सौन्दर्य तथा आकर्षण है। इसके साथ देवेशचन्द्र दासकी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े', मोहन राकेशकी 'आखिरी चट्टानतक' आदिका नाम भी लिया जा सकता है। यान - शाब्दिक अर्थ है, जिससे जाया जाय। इस दृष्टिसे गन्तव्य मार्ग और यात्राका साधन (सवारी)—ये दो अर्थ - सम्भव होते है। प्रथम अर्थमे यान शब्दका वैदिक साहित्य-मे प्रयोग मिलता है, जैते देवयान और पितृयान (ऋ० सं०, १:१६:४, १०:११०:२, को० उ०१:३, मु० उ० ३: १:६, छा० उ० ५:१०:२, प्रक्त १: ९)। प्रारम्भमें इस शब्दसे मार्गका हो अर्थ लिया जाता था। यात्राके साधन-सवारीके अर्थमे यह शब्द पालि - निकायोमे प्रयुक्त हुआ है। पालि निकायों और पालि संयुक्तागमके चीनी अनुवादमें एकयान, ब्रह्मयान, धम्म-यान, विनययान, देवयान और सद्धर्म-विनययानका उहेख है। संयुक्तनिकायमे यान शब्दका सवारीके अर्थमे रूपकके साथ वर्णन मिलता है। इस प्रकार इससे वहाँ तत्त्वके प्रापक मार्गपर व्यक्तिको अग्रसर करनेवाले साधनका अर्थ चोतित होता है। बौद्ध धर्मके इतिहासमे, निकायोके उप-रान्त, सर्वप्रथम महासांविकोने इस शब्दका प्रयोग किया। अपने विपक्षी स्थविरोकी हीनता प्रदर्शित करनेके लिए उन्होने द्वियान, त्रियान, श्रावकयान, अईत्यान और अन्तमे हीनयान तथा अपने सिद्धान्तोंका गौरव दिखानेके लिए स्वयंके लिए एक यान, अनुत्तरयान, बुद्धयान, बोधि-सत्वयान और अन्तमे महायान शब्दका प्रयोग किया। इससे यानका तात्पर्य निश्चित ही निर्वाणका प्रापक लोको-त्तर मार्ग और साधन ही रहा। नागार्जुन, ज्ञानविधि तथा अन्य वज्रयान आचार्योंने यानका इसी अर्थमे प्रयोग किया है। आज जो अर्थ पंथ शब्द (जैसे-कबीरपंथ, दाद पंथ)से लिया जाता है, लगभग वही अर्थ यान शब्दसे भी लिया जाता है।

हीनयान और महायान—बौद्ध धर्मके ये दो प्रमुख यान है (दे०—हीनयान, महायान)। ये ही प्रारम्भिक यान थे। बादमें महायानके दार्शनिक सम्प्रदायोंका विकास हुआ। योगाचार और माध्यमिक शून्यवादकी विकसित परम्परामें मन्त्रों, धारणियो और तन्त्रोंके प्रभावते, साधन प्रधान यानों—बज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान और सहज्यानका उदय हुआ। शून्य या शून्यताके विश्लेषण और व्याख्यानको इन यानोंने प्रमुखता दी और शून्यताको बज्र तथा प्रज्ञा, इड़ा, वाम, प्रभृति संकेतात्मक शब्दोसे (बज्रयान) या सहज, महासुख और निरंजन जैसे प्रतीकात्मक संकेतोंसे बताया। इन यानोंका साहित्य संस्कृत, संकर संस्कृत और अपभंशमं सुरक्षित है।

इन यानोकी प्रमुख विचारधाराओंके प्रभावसे ही मिद्ध-साहित्यका उदय हुआ, जो अधिकांशतः अपभ्रंशमें लिखा गया। सिद्ध-साहित्यका पर्याप्त अंद्रा केवल भोटमाषीय अनुवादोंमें ही सुरक्षित है, जो तिब्बती 'कंजूर'में संगृहीत है। अपभंद्रामें प्राप्त सिद्धोका साहित्य हिन्दीके विकासकी एक महत्त्वपूर्ण रेखा प्रस्तुत करता है। अपभंद्रामें ही हिन्दीका वर्तमान स्वरूप विकासत हुआ है। सिद्धोके 'दोहाकोश' और चर्यागीतियोका इस दृष्टिसे विचारणीय महत्त्व है। सिद्ध-साहित्यकी प्राप्तिके पूर्व हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ दसवी शताब्दीसे माना जाता था, परन्तु अब ईसाकी सातवी-आठवी शताब्दीसे ही माना जाने लगा है। सिद्ध लोक-प्रवित्त रीतियों, सहजमार्ग और तान्त्रिक साथनासे प्रभावित थे और उन्होंने अपने समयकी प्रचलित लोकभाषा, जो सम्भवतः अपभंद्रा थी, मे ही रचनाएँ की। इनमे सरहपा, लुईपा, शान्तिपा, तिलोपा, शवरपा, वीरूपा प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय है।

[सहायक ग्रन्थ—हरप्रसाद शारुी: चिप्स फॉम बुद्धिस्य वर्क शॉप; शिशिरदास गुप्त: इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म; नागेन्द्रनाथ उपाध्याय: तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य; राहुल: हिन्दी काव्यधारा; दोहा-कोश।] —क० शु०

यामल-शाक्त आगमींका वह प्रकार, जो राजस वृत्तिके अधिकारियोंको ध्यानमे रखकर निर्मित हुआ है (दे० 'आगम' और 'डामर')।

युक्ति-साधर्म्य-बीज अर्थालंकार । अपने मर्मको छिपानेके लिए किया द्वारा दूसरेका बंचन 'युक्ति' अलंकार है। जयदेवने इमका लक्षण-निरूपण करते हुए लिखा कि उत्कृष्ट धर्मके सम्बन्धने उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा किसी चमत्कारी अर्थकी सिद्धि 'युक्ति' है (चन्द्रालोक, ३:९)। जयदेवका युक्तिका लक्षण अन्य आचार्यों के 'न्यतिरेक' नामक अलंकारसे मिलता-जुलता है। अप्पय दीक्षित-ने युक्ति नामक अलंकार माना है, जिसका लक्षण है "युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये" (कुवल०, १, ५६)। दीक्षितकी युक्ति न्याजोक्तिके समान ही है, परन्तु न्याजोक्तिमें गोपन उक्ति द्वारा होता है, युक्तिमें क्रिया द्वारा, त्याजोक्तिमें आकार-गोपन होता है, युक्तिमें अनुराग आदिका गोपन।

हिन्दीके मितराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है—"मरम छिपावनको जहाँ किया आन सन्धान" (छ० छ०, ३६४)। अथवा—"क्रिया चातुरीसो जहाँ, केरे वातको गोप" (का० नि०, १६)। आधुनिक विवेचकोंने इसे स्वीकार नहीं किया है। परन्तु रीतिकाव्यके अन्तर्गत नायिका-वर्णनों (मुग्धा, प्रवस्त्यत्पिका)में इसका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। उदा०—"गेह चलीं सखियाँ सिगरी चिन सुन्दर साँवरे रूप छुभायो। ऑखिन पूरि कटीले कपोलन कण्टक कोमल पाँइ चुभायो" (छ० छ०, ३६५)। परन्तु तुलसीके इस वर्णनमें इसका सुन्दर और सहज प्रयोग है—"बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी। पिय तन चिनइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयनि। निज पित कहेउ तिनिह सिय सयनि"(रा० च० मा०, २: ११६)।—ओ० प्र० स्थानद्ध—वौद्ध धर्ममें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका प्रवेश होनेके

बाद शिव और शक्तिके सम्मिलनके समानान्तर युगनद्भकी कल्पनाका विकास हुआ। 'पंचक्रम'में युगनद्धकी व्याख्या तत्त्वदर्शनके आधारपर करते हुए कहा गया है कि "पदगल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्यकी एकता ही युगनद्ध है, संवृत्ति और परमार्थकी एकना युगनद है, करुणा और उपायकी एकता युगनद्ध है"। 'अदयवज्रसंग्रह'ने शून्यता और करुणाके ऐकात्म्यको युगनद्धकी मंज्ञा दी गयीहै-"श्रन्यता नारी है और करुणा पुरुष, और दोनोका अइय ही सुगनद है, वही धर्मकाया है"। इसी सिद्धान्तके अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओको अपनी शक्तियोंके साथ समागम करते हुए वणित किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा (नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वी-इवरी)के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति बज्र वेरोचनीके आलिंगनमे आवद्ध है। पाँच ध्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओंके साथ अद्वयस्थितिने है (दे॰ 'बौद्ध-भार्याएँ')। इन मृतियोवो तिब्बतमे 'यब-युम' कहते है। साधक भी जब बजाबरकी अवस्थामे पहुँच जाता है तो अपनी मुद्राके साधनामे प्रवृत्त हो युगनद्ध-साधना करता है। इसीको **प्रज्ञोपाय-साधना** भी कहा गया ---ध० वी० भा०

यगसन्य-जर्मन शब्द 'जाईटजीस्ट' (कालकी आत्मा) या युग-चिन्ताके अर्थमें आजकल हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु 'युग' शब्दके काल-सापेक्ष होनेसे यह कहना कठिन है कि निश्चित रूपते युगसत्य एक राष्ट्र या समाज-विरोधके लिए कौन-सा है ? द्विवदी-युगके सत्य क्या छायावादी युगमें नष्ट हो गये या छायावादी युगसत्य प्रगतिवादी अगसत्यमें बदल गया ? सत्य इस प्रकारसे अपना चौला नहीं बदला करता । सत्य यदि विवेकाश्रित कोई आस्था है तो प्रगतिमान् हो सकता है, ऊर्ध्वगामी हो सकता है, बढ सकता है, विकसित हो सकता है, पर पूर्णतः नष्ट होकर, केचुल बदलकर नयी केचुल धारण करे, ऐसा कम होता है। अतः युगसत्यको समझने या परखनेम जल्दबाजी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकारसे यदि किसीके लिए गान्धीवाद अगसत्य हो जाता है, तो कुछ दिनों बाद मार्क्सवाद या अरविन्दवाद भी सहज, सुविधाके अनुसार युगसत्य वनता जाता है। युगसत्यके साहित्यमें तबतक कोई अर्थ नहीं है, जनतक वह व्यक्तिका अपना निजी सत्य नहीं हो जाता।

युद्धवीर-दे० 'वीर रस'।

योग-'योग' राब्दका प्रयोग कई अथों में होता हैं—(क)
योगका सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' है। (ख) दर्शनमें योग
प्रायः जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धकों कहते है।
इस सम्बन्धको प्राप्त करनेके उपायकों भी योग कहा जाता
है। इस अर्थमें योग राब्द मार्ग या प्रणालीका पर्याय है,
जैसे मक्तियोग या मक्तिमार्ग, ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग,
कर्मयोग या कर्ममार्ग। (ग) योग चित्तवृत्तिके निरोधके
अर्थमें अब रूढ़ हो गया है। पतंजलि (२ राती ई० पू०)ने
सर्वप्रथम योगस्त्रकी रचनाकी, जिसमें इन्होने ऐसे ही
योगको परिभाषित किया—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। पतंजिलके योगको राजयोग भी कहा जाता है। राजयोगसे

भिन्न हठयोग है, जिसका मूळ तन्त्र-प्रन्थोमे है। योगके ये ही दो भेद अधिक प्रचलित है, यद्यपि योगकी प्रणालियाँ अनेक है।

कुछ लोगोंने योगको वेदमूलक माना है, कुछने इसे जैनागमोसे निकला बताया है, कुछने बौद्ध-दर्शनसे इसका सम्बन्ध जोडा है और अन्तमे कुछ लोगोने योगीकी इन सबसे स्वतन्त्र परम्परा प्राचीन कालसे ही आजतक मान रखी है। प्रायः यह माना जाता है कि उक्त चारों परम्पराओं मे चार प्रकारके योग है। राजयोग वैदिक है, तो हठयोग किसी स्वतन्त्र परम्पराका है, जिसे हम तन्त्र-शास्त्र कहते है। जैन और बौद्ध योगोको इन दो योगोसे भिन्न समझना चाहिये। राजयोग और हठयोग, दोनोके स्वतन्त्र प्रवाह आद्योपान्त चलते रहे, कभी-कभी कुछ साधनों मे दोनोंका मेल हो जाता था। जहाँ दोनोका समन्वय होता था, वहाँ यह जाना जाता था कि हठयोग प्रथम सोपान या साधन है तो राजयोग द्वितीय सोपान या साध्य । हठयोगका सम्बन्ध अधिकतर शरीर-विकास और कायाकल्पसे है और राजयोगका सम्बन्ध मुक्ति या मोक्षसे है। हिन्दीके सन्तोंने राजयोग-प्राप्त समाधिको सहज समाधि कहा और हठयोगसे प्राप्त समाधिको हठ-समाधि कहा। गोरखपन्थी योगियोको हठयोगी समझा जाता है और निर्गुण-सन्तो तथा अहैतवादियोको राजयोगी।

चार पाद है। निश्चलदासने योगसूत्रमें 'विचारसागर'में इसके राजयोगवो संक्षेपमे व्यक्त किया है: "प्रथम पादमे चित्तवृत्तिका निरोधरूप समाधि और ताके समाधान, अभ्यास, वैराग्यादिक कहे है। तैसे चित्तविक्षिप्त सामाधिके साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्या-हार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ समाधिके अंग दितीय पादमे कहे है, तृतीय पादमें योगकी विभृति कही है, चतुर्थ पादमें योगका फल मोक्ष कहा है। इस रीतिसे योगशास्त्र भी ज्ञानसाधन, निदिध्यासनकूँ सम्पादन द्वारा मोक्षका हेतु है"। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम है। शौच, सन्तोष, तपं, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पॉच नियम है। स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठनेके प्रकारको आसन कहते है: 'स्थिर-सुखमासनम्'। श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद प्राणायाम है। यह चार प्रकारका होता है, रेचक (कोष्ट्य वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), पूरक (नासारन्ध्रसे बाहरी वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), कुम्भक (एक ही प्रयत्नसे वहाँ श्वास-प्रश्वासकी गति रोकी जाय) और केवल कुम्भक। इन्द्रियोंको उनके विषयोसे हटाकर निरुद्ध करना प्रत्याहार है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन है। अन्तिम तीन ध्यान, धारणा और समाधि अंतरंग साधन हैं।

'देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा' अर्थात् किसी स्थानपर चित्तको लगाना धारणा है । उस स्थानपर ध्येय वस्तुका ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होना है और उसे दबाने-के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान और ध्येय वस्तु एकमेव हो जाते हैं तो उसे समाधि कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें ध्येय वस्तुका ज्ञान बना रहता है और असम्प्रज्ञात समाधि, जिसमे ध्येय, ध्यान तथा ध्याताका ऐकात्म्य हो जाता है। पहलीको सबीज या सविकल्पक समाधि भी कहते है और दूसरीको निवींज या निविंकल्पक।

योगका तत्त्ववाद सेश्वरसांख्य है। यहाँ ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयसे श्रन्य पुरुषविशेष है।

स्रदासने अष्टांगयोगसाधनाको भक्तिका साधन बताया है—"भक्तिपन्थ भो जो अनुसरे। सो अष्टांग योगको करे। यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम। प्रत्याहार धारना ध्यान। करें जु छॉडि वासना आनि। क्रम-क्रम सौ पुनि करें समाधि। स्र स्याम भिंज मिटै उपाधि"। पर इन्हीं स्रदासने गोपियोंसे योगका खण्डन कराया है—"ऐ अलि कहा जोगमै नीको। तिज रस रीति नन्दनन्दनकी, सिखवत निरगुन फीको" (स्० सा०, १०) और "फिरि फिरि कहा सिखावत मौन। बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यो पजरेपर लौन। संगी, मुद्रा, भरम, त्वचामृग, अरु अवराधन पौन" (वही)।

इससे स्पष्ट है कि स्र्दासको पातंजल सेश्वर योग इष्ट है, पर निरीश्वर योग तथा हठयोग इष्ट नहीं है।

गोरखनाथ हिन्दीमे हठयोगके प्रवर्तक है। उनके नाथ-सम्प्रदायके कनफटा जोगी हठयोगी ही है। इसके अनुसार महाकुण्डलिनी शक्ति विश्वमे न्याप्त है। न्यक्तिमे इसके रूप-को कुण्डलिनी कहते है, जो अग्निचक्रमे रहती है। व्यक्तिमे प्राणके साथ यह जन्मना आती है। अग्निचक्रके ऊपर मूलाधारचक, स्वाधिष्ठानचक, मणिपुरचक, अनाहतचक, विश्वद्धाख्यस्क, आज्ञास्क और सहस्रारस्क हैं। अन्तिमको शून्यचक्र या कैलास भी कहते है। यहाँ सदा अमृत चुता रहता है। योगीका कर्तव्य साधना द्वारा कुण्डलिनीको जगा-कर क्रमशः इसी चक्रतक ले जाना और अमृत पिलाना है। शरीरमे ६२ हजार नाड़ियाँ हैं, पिंगला, सुपुम्ना आदि। सुषुमना शाम्भवी शक्ति है। इसीके बीचसे कुण्ड-लिनी उठकर ऊपर जाती है। उसके उठनेपर शब्द होता है, जिसे 'नाद' कहते है और नादसे प्रकाश होता है, जिसके प्रकट रूपको बिन्द कहते हैं। कुण्डलिनीको जगानेके लिए धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभानि, इन ६ कर्मोंसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानो और समाधिको करना पडता है।

क कीर कभी-कभी हठयोगकी पदावलीका व्यवहार करते हैं, पर उनका मत हठयोगसे भिन्न है। इसकी वे स्पष्ट निन्दा करते हैं।

कबीरका योग पानंजल योग तथा हठयोग, दोनोसे भिन्न है। उनका योग भक्तियोग है और वह भी नामभक्ति ही। हिन्दी निर्गुणोपासक सन्तोंने प्रायः कबीरकी निर्गुण-भक्तिके योगको ही अपनाया है। सगुणभक्तोंने भक्ति और पातंजल योगका समन्वय किया है। कुछ सगुणभक्तोंने यद्यपि पातं-जल योगका अभ्यास नहीं किया, केवल भक्ति की है, पर उन्होंने योगका खण्डन भी नहीं किया।

हठयोग कठिन हैं। नामभक्तिका योग पूर्ण रहस्यवाद है, जिसको विरले ही कर सकते हैं। भक्तिके लिए भी पहले अन्तःकरण-शुद्धि चाहिये। अतः पानंजल योगकी आव-इयकता है, क्योंकि यह सुगम है और अन्तःकरण शुद्ध कर देता है। यही कारण है कि वर्तमान युगमे भी इसका बहुत प्रभाव है। महात्मा गान्धीने भी पातंजल योगको मान्यता दी है।

[सहायक प्रनथ—पातंजलयोगदर्शन : गीता प्रेस, गोरखपुर; कवीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी; विचारसागर : निश्चलदास ।] — सं० ला० पा० थोग-अग्नि—साधक अपने शरीरसे एक ऐसी शक्ति या ज्वाला उत्पन्न कर लेता है, जिसमे वह स्वयं जलकर मरम हो जाता है। यह परम्परा साहित्यमें काफी दूरतक चली है। "अस कि जोग अगिनि तन जारा। भएड सकल मख हाहाकारा" (रा० च० मा०)। — उ० शं० शा० योगधारा—दे० 'नाथ-साहित्य'।

योगमाया-'भगवद्गीता'के सातवें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते है-"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमन्ययम्", अर्थात् "अपनी योगमायासे छिपा हुआ मै सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होता हूं, अतः यह अज्ञानी जन मुझ अजन्मा, अवि-नाशीको नही जानता है"। यहाँ उस नाम-गुण-रूपात्मक आवरणको योगमाया नामसे अभिहित करते है, जिसे "इच्छा-देषते उत्पन्न हुए इन्ड-मोहने आवृत प्राणी" हटाकर तत्त्व-रूपकको नहीं देख पाते हैं। यह गुणमयी (सत्त्व, रज, तम—तीन गुणोंसे युक्त) माया दुस्तर है तथा इसे तरनेमे वे ही समर्थ है, जो भगवानुको ही निरन्तर भजते हैं (गीता, ७, १४)। भागवत धर्मके शास्त्रीय विवेचनमे आचार्योंने भगवान्की इस मायाको प्रायः दो रूपोमें देखा है। एक वह है, जो अज्ञान या अविद्याजन्य है। यह मिथ्या है और मात्र भ्रम-जन्य है। वहाभाचार्य इसे अविद्या-माया और अहन्ता-ममतामय मिथ्या संसारको जन्म देनेवाली कहते हैं। परन्त अद्वैतमे प्रायः विशिष्टता, शुद्धता या द्वैताद्वैतता-परक-विश्वास करते हुए भी ये आचार्य जगत् या व्यक्त प्रकृतिकी ब्रह्ममयी सत्ताकी स्वीकार करते हैं और उने ही ब्रह्मकी शक्तिरूपा माया मानते है। इसी माया-शक्तिके रूप ब्रह्म लीला-विलासके लिए एकसे अनेक होनेकी इच्छा पूर्ण करता है और नाना रूपात्मक जगत्के रूपमे अंदातः व्यक्त होता है। इस माया-को जो सचे रूपमें, अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिके रूपमें जान लेते है, वे ही ज्ञानी है और जो इसके बाह्य नाम, रूप और गुणके द्वारा मोहमे पड़ जाते हैं, वे मूट या अज्ञानी है।

विशिष्टाद्वेतवादके अनुसार यह नानारूपात्मक प्रकृति जड़ अक्षर ब्रह्मका एक व्यक्त रूप है। परन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्दरूप श्रीकृष्ण परब्रह्म भी, जो गोलोकमे अपनी नित्य आनन्दकी फ्रीड़ामें मग्न रहते हैं, ब्रजमण्डल वृन्दावन धाममें पृथ्वीपर अवतरित होकर अपनी आनन्दमयी लीलाका विस्तार करते हैं। लीला-विलासके लिए वे अपनी ही आनन्दिनी या आहादिनी शक्तिको राधाके रूपमें व्यक्त करते हैं। यह आहादिनी शक्तिकृष्ण पुरुषकी अभिन्न प्रकृति उन्होंकी माया या योगमाया है, जो उनसे अभिन्न है। राधा और कृष्ण तो एक हैं ही, गोपियाँ और गोप भी उनकी

इसी माया नामक शक्तिका विस्तार ही है। सूरदासने कृष्ण-की मुरली (दे०)को भी उनकी योगमायाके रूपमे चित्रित किया है। 'श्रीमद्भागवत'में भी कृष्णकी मुरली कृष्णमे अभिन्न उनकी आकर्षणशक्तिके प्रतीकके रूपमे वर्णित की गयी है, परन्तु सूरदासने सुरलीके प्रभावका अत्यन्त अलौ-किय और विसायजनक वर्णन किया है, जिसमे यह सन्देह नहीं रहता कि वे उसे कृष्णकी योगमाया शक्तिके रूपमें ही कल्पित करते हैं। दानलीलामे एक स्थलपर कृष्ण अपनी वमरीके सम्बन्धमे गोपियोंसे कहते है-"इस कमरीको कमरी समझती हो। जिसकी जिननी बुद्धि होती है, वह उसे उतना ही समझ पाता है। इसके एक रोमपर चीर-पटम्बर निछावर हो सकते है। तुम इसकी निन्दा करती हो। यह तीन लोककी आडम्बर है। इसी कमरीके वलसे असरीका संहार किया है, इसी कमरीसे सब योग किये है। यही मेरी जाति-पाॅति, यही सब योग हैं"। योगमायाका आवरण, जिसका उहेख कृष्णने गीतामें किया है, अज्ञानियोंको भ्रममें डालता है, परन्तु भक्तोंके लिए वही प्रेमका अतीव आकर्षण वन जाता है। इसीके द्वारा कृष्णने अर्जुनको अपना विसाय-कारी विराट रूप दिखाया था।

'श्रीमद्भागवत' और अन्य पुराणोमें यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई उस कन्याको योगमाया कहा गया है, जिसे वसुदेव कृष्णसे बदल ले गये थे (भागवत, १०: ५०: ३: ४७-४८) तथा जिसे कंसने देवकीसे छीनकर शिलाके ऊपर पटका था। वह विष्णुकी अनुजा देवी योगमाया आकाशमे जाकर दिन्यायुषधारिणी अष्टभुजा मूर्तिसे विराजमान हुई तथा कंसको चेतावनी देकर अन्तहित हो गयी और वाराणसी आदि अनेक स्थानोमे अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होकर अवस्थित हुई (वही ४: ९: १२)। वैष्णव पुराणोमे इस प्रकारके और भी सन्दर्भ है, जिनमे शक्तिको कृष्ण (विष्णु) की योग-माया बताया गया है।

योग-संप्रदाय-दे॰ 'नाथ-संप्रदाय'। योग-साहित्य-दे॰ 'नाथ-साहित्य'। योगिनी-दे॰ 'महासुद्रा'।

योगी-दे॰ 'नाथ'।

योनि – हठयोगियोंका मत है कि ब्रह्मरम्बस्य सहस्रारपद्मके मूलमे एक त्रिकोणाकार इक्तिकेन्द्र है, जहाँ चन्द्रमा निवास करता है और सदैव अमृत स्रवित करता रहता है। हठ-योगी इस त्रिकोणाकार शक्ति केन्द्रको 'योनि' कहते हैं।

—रा० सिं०

योथिकं (गोपां) -दे॰ 'गोपां'।
योन वर्जना-वर्जनाका मनुष्यके मनोवैद्यानिक, नैतिक
और आध्यात्मिक विकासमे बहुत महत्त्व है। सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यमे स्वाभाविक कामवृत्ति होती।
है और वह अपने मौलिक रूपमे संयत भी नहीं होती।
मनोविद्यलेषक तो इस वृत्तिको सर्वव्यापक मानते हैं। परन्तु
हमारा नैतिक और सामाजिक वातावरण यौन वृत्तिके
नियन्त्रणपर जोर देता है, अतः वर्जनाकी उत्पत्ति होती
है। यौन वृत्तिकी तृप्तिको इच्छाके साथ ही परित्यागको भी
एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि इसमे सुख नहीं
मिलता, पर व्यक्ति स्वयं ही कुछ अञ्चात भर्योसे पेरित

होकर उस ओरसे हट जाता है। यह विराग और पिरत्याग कई कारणोसे हो सकता है, पर वे प्रायः अज्ञात रहते है, जैसे व्यावहारिक किटनाइयाँ, सुपर ईगोका आदेश, सामा-जिक दण्डका भय। इस प्रकार स्वयं व्यक्तिका मानस ही योन वृत्तिके उच्छुङ्कल पिरतोषके विरुद्ध वर्जनाएँ बना लेता है। लेकिन वर्जना यदि 'उच्च अहम्' (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित हो तो उसके अनुसार चलनेमे व्यक्तिको सन्तोष ही मिलता है।

वर्जना एक दूसरे प्रकारकी भी हो सकती है, एक वर्ब-रतायक्त निपेध जो किसी बह्य अधिकारी द्वारा व्यक्तिपर लादा गया हो। यह निषेध या वर्जना (taboo) व्यक्तिकी प्रवलतम प्रवृत्ति पर होती है । वर्जनामें कुछ संकटमय, कुरूप और निषिद्धका भाव रहता है। धर्म और नीतिके प्रभाव से कछ यौन वर्जनाएँ सभीके लिए स्वाभाविक हो गयी है और इनके विरुद्ध जानेका विचारमात्र भयानक लगता है, पाप लगता है। मनोविश्लेषणोके अनुसार इस प्रकारकी वर्जनाओंका उलंघन करनेकी इच्छा भी अचेतन रूपसे सदा उपस्थित रहती है। वर्जनाका पालन स्वाभाविक परित्याग (instinctive renunciation)की प्रवृत्तिको कारण होता है। व्यक्ति सामान्य धार्मिक, सामाजिक, नैतिक वातावरणमें विशेष वर्जनाएँ या निषेध आरोपित कर लेता है और उनका पालन उतनी ही कट्टरतासे करता है जितनी कट्टरनासे बर्बर जातियाँ अपनी जातिगत वर्जनाओंका करती है। इन वर्जनाओंकी उत्पत्ति रहस्य-मय होती है और उसमे किसी बाह्य दण्डका अनावश्यक भय होता है, क्योंकि व्यक्तिके मनमे भय रहता है कि उल्लंघन करते ही कुछ अत्यन्त भयानक आपत्ति अवस्य आयेगी। कुछ विशेष मानसिक रोगियोंमें अत्यन्त विचित्र प्रकारकी वर्जनाएँ देखी जाती है । कभी-कभी वर्जना-का थोड़ा उद्धंघन करनेके बाद व्यक्ति किसी विशेष क्रिया द्वारा पापका प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इन क्रियाओको 'आब्हेसिव ऐक्ट्स' कहते है। -प्री० अ० योन विकृति-स्वाभाविक यौन वृत्ति और यौन व्यापारके स्थानपर अत्यन्त अस्वाभाविक रूपमे यदि मनुष्य यौन तृप्ति पाये, तो वही यौन विकृति है । ये विकृतियाँ एक ओर तो दमन, वर्जना और अवरोधका परिणाम हैं और दूसरी ओर स्वामाविक विकासकी वियोजित या विच्छिन्न (dissociated) अवस्थाएँ है। अत्यन्त स्वामाविक यौन व्यापारमें भी मानवीय स्तरपर कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हो सकती है, पर इन्हें विकृति नहीं मानते । विकृति संज्ञा तभी दी जाती है, जब ये क्रियाएँ अत्यन्त प्रबल होकर यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यकी उपेक्षा कर देती है। यौन विकृति दो प्रकारकी हो सकती है—एक तो कामेन्द्रियोका अन्यथा उपयोग, दूसरे, कामोत्तेजनाके विषयके साथ स्वाभाविक किया न करके अन्य अस्वाभाविक ढंगोंसे तृप्ति पाना । परपीड़न और आन्मपीड़न दूसरे प्रकारकी यौन विकृतियाँ हैं। आत्मरित तथा समर्लिगी रित सामान्यनः काम-विकासकी स्वाभाविक अवस्थाएँ है, पर जब व्यक्तिका विकास इन अवस्थाओं में स्थिर हो जाता है तो ये भी यौन विकृतियाँ मानी जाती है।

यौन विकृतियाँ सन्पूर्ण व्यक्तित्वके विकास और संघटनको व्यक्त करती हैं। यदि थोड़ी मात्रामे भी ये उपस्थित हों तो व्यक्तित्व विशेष प्रकारका हो जाता है और बहत-सी सामाजिक तथा नैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। ऐसी समस्याओंका निरूपण आधुनिक साहित्यमे प्रायः होता है (देव 'मनोविश्लेषण')। योन वत्ति -दे० 'मनोविश्लेषण'। रंगद्वार-कृत्य-रूपकको आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम कायिक, वाचिक आदिका अभिनय अवतरित होता है। इससे नाटकके आरम्भकी सूचना होती है। —ब० सि० रंगमंच-वह मंच, जिसपर प्रेक्षकोके सम्मख नाटकका अभि-नय प्रदर्शित किया जाता है। अब इसते प्रेक्षागृह .तथा नाटक, दोनोंका ही बोध होता है। आधुनिक रंगमंचके मुख्यतः ४ भाग होते है-- १. नेपथ्य, २. पाइवं या पक्ष. इ. इ.च. सामग्री, अर्थात् इ.च.नियोजनमे प्रयक्त वे वस्तुएँ, जो आसानीसे मंचपरसे हटायी या उसपर रखी जा सके, जैसे, मेज, कुसियाँ, कृत्रिम वृक्ष, पर्वत आदि और ४ मंचका अग्र भाग, जो प्रेक्षकोंको मंचसे पृथक - इया० मो० श्री० रचना-गद्य अथवा पद्यमे भावों अथवा विचारोंका संबद्ध रूप । अरस्तूने रचनाके दो रूप माने है-कविता (पोइट्री) और अभिभाषण (रिटॉरिक)। इन दोनोंमे भेद यह रख। गया था कि कविता अनुकृति थी और अभिभाषणमें विचारके धारणा-पक्षका प्राधान्य था। वैज्ञानिक रचनाके रूपमें अरस्तने एक अन्य श्रेणीकी भी योजना की थी। इस प्रकार रचनामें सर्जनात्मक अथवा कल्पनानिष्ठ, प्रेरणात्मक और स्चनात्मक, तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ आ जाती है, जिनसे क्रमशः आनन्द, कर्म और ज्ञानके पक्षोंका समर्थन होता था। सभी गद्य-पद्य-रचनाएँ इन तीनो वर्गीके अन्तर्गत रखी जा सकती है । सामान्य अर्थीमे रचनासे निवन्य या प्रवन्यका बोध होता है, जिनके चार प्रकार या अंग हैं-विवरण, वर्णन. वितर्क और व्याख्या । रचनामे इनमेंसे जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है, उसीके आधारपर उसका नामकरण होगा (दे॰ 'कृति', 'सर्जन')। रचनात्मक शक्ति-कवि, कलाकार, चिन्तक अथवा साहसी-की वह शक्ति है, जिसके द्वारा ये व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपूर्व और अद्भुत प्रतिमाओंका आविष्कार करते है तथा अपने कौशलसे अनुकूल माध्यम द्वारा उन मानसिक अनुभूतियोंको मूर्त करते हैं। यह शक्ति स्वाभाविक अथवा साधना-जन्य हो सकती है। इसके दो रूप होते है-कारियत्री और भावियत्री। कारियत्री-जैसे बुद्धकी शान्ति, शम-दम-युक्त अथवा विष्णुकी वैभव, शक्ति-सौम्य-युक्त मूर्तिका शिलाके माध्यमसे निर्माण शक्ति। भावियत्री—मर्तिके दर्शनसे इन आध्यात्मिक विभ्तियोंका अनुभव करनेकी शक्ति। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। — ह० লা০ হা০ रति -शृंगार रसका स्थायी भाव 'रति' है। 'प्रकृतिवाद'में रतिका अर्थ किया गया है:—सरप्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, कीडा, रमण, सन्तोष। इस तालिकासे रति

शब्दसे व्यंजित तीन प्रसिद्ध अर्थीकी विक्राप्त होती है:

प्रथम, रित कामदेवकी पत्नीका नाम है; द्वितीय, रित अनुराग अथवा प्रेमका स्चक है; तृतीय, रित कीड़ा अथवा रमण, अर्थात् छी-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसर्गिक आकर्षणकी एक विशिष्ट प्रकारकी प्रमोदपूर्ण अभिन्यंजनाका वाचक है।

कामदेवकी प्रियाके रूपमें कालिदासने 'कुमारसम्भव'में जो प्रसिद्ध रति-विलाप विणित किया है, उससे रति सहृदय काव्यानुरागियोंके मानसमे उपविष्ट हो गयी है। 'कामसूत्र'मे 'काम' शब्दका पहले सामान्य अर्थ "आत्मासे मक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं घाणका अपने-अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना" बतलाया गया है और पुनः "स्त्री-पुरुषके पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित आभिमानिक सुखोंके विषय-बोध"को प्रधान काम निश्चित किया है। इस प्रकार काम रतिके उपर्युक्त तीसरे अर्थका व्यंजक बन जाता है। अर्थात्, काम और रति, रमणेच्छाके सूचक पर्याय बन जाते हैं। रतिका दूसरा अर्थ अनुराग अथवा प्रेम बताया गया है। इस अर्थमें रति व्यापक क्षेत्रमे शासन करती है: वह स्री-पुरुषके दैहिक संसर्गकी संकुचित सीमाका अतिक्रमण कर मनुष्य-जीवनके सम्पूर्ण प्रेय और श्रेयकी नियामिका प्रवृत्ति बन जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैकडुगलने मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंमें यौन संसर्गकी प्रवृत्तिको भी परिगणित किया है तथा उससे सम्बद्ध भावको 'लस्ट' (lust) कहा है। फ्रायडका 'लिविडो' (libido) भी यही 'लस्ट' है. जिसे रतिका समानार्थक समझा गया है। यह 'लिबिडो' परिष्कृत होकर ब्यापक प्रेमका स्वरूप ग्रहण कर लेता है। रतिके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, उनमें भी उसके विकसित होने एवं विषयके अनुकूल स्वरूप ग्रहण कर लेनेका भाव सन्निहित है।

साहित्यशास्त्रियोंने रितकी परिभाषामं कही-कही उसके व्यापक अर्थकी ओर भी संकेत किया है। 'नाट्य-शास्त्र'मं रिनको 'आमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति' अमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति' से उत्पन्न कहा गया है। मम्मटका कथन है कि— ''रितर्देवादिविषया व्यभिचारी नथाऽिक्षनः। भावः प्रोक्तः। आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता श्वंगारः'' (का० प्र०, ४:३५ तथा वृ०), अर्थात् देवता आदिके विषयमं उत्पन्न होनेवाली रित (प्रीति) और अंजित (प्रधानतया व्यक्त) व्यभिचारीको भाव नामसे पुफारते हैं। मूल कारिकामं 'आदि' शब्दसे मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि-विषयिणी रित (प्रीति) समझनी चाहिये। कान्ताविषयिणी प्रधानतया वर्णित (व्यक्ता) रित तो श्वंगार ही है।

यहाँ मम्मटने रितका व्यापक अर्थ लिया है तथा कान्ताविषयक रितको र्थगारका साध्य कहा है। विश्वनाथ प्रिय वस्तुमें मनके प्रेमपूर्ण उन्मुख होनेको रित मानते हैं – 'रितर्मनोनुकूलेंड्यें मनसः प्रवणायितम्' (सा० द०, ३ः १७६)। मनोनुकूल अर्थको सीमा निश्चय ही व्यापक है, यद्यपि उममें स्त्री-पुरुषको एक-द्सरेके प्रति मानसिक अनुकूलताका भाव भी ममाविष्ट है।

सुधासागरकारने रितको उस संकुचित अर्थमें ग्रहण किया है, जिस अर्थमें वह शृंगारी कान्यमे चित्रित हुई है—

"सरकरिनतान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रितः समृता" अर्थात् , स्त्री-पुरुषके कामवासनामय हृदयकी परस्पर रमणेच्छाका नाम 'रिति' है । पण्डिनराजने भी कहा है कि स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके विषयमें प्रेम नामक जो चितवृत्ति होती है, उमे 'रिति' स्थायी भाव कहते हैं ।

हिन्दी आचार्योंमें देवने 'प्रेमचन्द्रिका'में पाँच प्रकारके प्रेमका वर्णन किया है, यथा—"सानुराग प्रेम जो शृंगारमय कहा गया है; सौहार्द, जो इष्ट-मित्र, स्वजन-परिजनसे सम्बन्धित है; भक्ति; वात्सव्य तथा दःखसे आई होकर किया गया प्रेम, जो 'कार्पण्य'कहा गया है"। उसमें सानुराग प्रेम, अर्थात् शृंगारपूर्ण प्रेमके सम्बन्धमे 'रति'को स्थायी भाव कहा गया है, यथा-"प्रेमांकर सो रति कहत रस-सिंगार स्थिति भाव" (भ० वि०) । उपर्यक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रतिके क्षेत्रमें देवादि-विषयक प्रीतिको भी समाविष्ट किया गया है, तथापि शृंगार रसका स्थायी भाव बताकर उसे स्त्री-पुरुष-विषयक रमणमलक स्वाभाविक मनो नेगके ही रूपमें अन्तिम स्वीकृति मिलो है। भरतका कथन है कि यह आमोदात्मक भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण द्वारा उत्पन्न होता है तथा सित आनन, मधुर वचन, अक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभावों द्वारा प्रकाश पाता है।

'हरिऔथ'ने 'रसकलश'मे तीन प्रकारकी रित बतायी है—१. उत्तम रित, अर्थात् सदा एकरस रहनेवाली अनन्य प्रीति, २. मध्यम रित, अर्थात् अकारण परस्पर ग्रौति, जिसमें मैत्रीभावकी प्रधानता होती है तथा ३. अथम रित, अर्थात् जिसमें स्वार्थकी प्रधानता होती है। उनकी उत्तमा, मध्यमा एवं अथमा नायिकाएँ इस त्रिविध रितका प्रतिनिधित्व करती है। उदा०—"लाल अलैकिक लरिकई लिख-लिख सखी सिहॉति। आज कालि मै देखियतु उर उकसींही मॉति" (वि० स०, १६५)। यहाँ रितभावकी व्यञ्जना है, स्यायीका पूर्ण रफुटन नहीं हो सका है, क्योंकि वह तो रसपरिपाककी हो दशामें सम्भव है। (दे०—'क्सभावज्ञ अलंकार', उन्नीमवाँ। —र० ति०

रतिश्रीना-दे० 'प्रौडा', नायिका।

रतावली – एक गौण अर्थालंकार । अप्पय 'कुवलयानन्द'में ही इसका उल्लेख किया है। जयदेवके 'चन्द्रालोक'से अधिक सत्रह अलंकारों मेंसे यह भी एक है। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—"क्रमिक प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावली विदः" (क्व॰, ७४), अर्थात् मख्यार्थ-समन्वित शब्दों द्वारा क्रमानुसार किसी तथ्यका वर्णन करनेसे रत्नावली अलंकार होता है। हिन्दीके उन्हीं आचार्योंने इसे स्वीकार किया है, जिन्होने अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण किया है—"प्रस्तुत अर्थनको जहाँ क्रमते थापन होय।' (ल० ल०: ३२९)। इसका 'कुवलयानन्द'में दिया हुआ उदाहरण-"नव-नील सरोजनको इहिंके जुग-दीरघ-नैनन पत्र दियो । गज-कुम्भनसो इहिके कुच-कुम्भन परब-पक्ष स-दक्ष ठयो। अति बंक निसंक भई भृकुटी सरके धनुको अनुवाद छयो । पुनि हास विलास भरे मुखसों इन खण्डन चन्द्र प्रकास कियो" (अ० मं०)। नारी-वर्णनके सारगर्भित शब्दों द्वारा यहाँपर बुधजनके शास्त्रार्थके प्रसिद्ध

क्रमका वर्णन हुआ है; पत्र देना, पूर्वपक्ष करना, प्रतिपक्षीके लेखका अनुवाद करना और तत्पश्चात् खण्डन करना, यह --- ज० कि० व० शास्त्रार्थका क्रम प्रसिद्ध है। रथोद्धता – वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; 'पिंगल-स्त्र' (६७ : २३) और भरतके 'नाट्यशाहा' (१६ : ३५)के अनुसार रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके योगसे यह बत्त बनता है (SIS, III, SIS, IS), ६-७ वर्णों पर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"चित्रकृट तव रामजू तज्यौ। जाय यश थल अत्रिको भज्यौ। राम लक्ष्मण समेत देखियो । आपनो सफल जन्म लेखियो (रा० चं०, ११:१)। —प० श० रदीफ-उर्द कवितामे अन्त्यानुप्रास या तुकान्तको रदीफ कहते हैं। किसी नज्म या गजल आदिमे हर शेरके आखिरमें जो शब्द हर वार आ जायें, उन्हें रदीफ कहते रमण छंद-विणेक समवृत्तका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमे एक सगण होता है (IIS) । इस छन्दका प्रयोग केवल केरावने किया है—"दुख क्यो, हरि है। हरिजू हरिहै" (रा० चं०, १: ११)। रमैया-रमइया या रमैया रूपमें इस शब्दका व्यवहार सन्त-साहित्यमे हुआ है और सामान्य अर्थमे यह राम या ब्रह्मके लिए प्रयुक्त हुआ है। जब कबीर कहते है— "रमइया गुन गाइअ रे जाते पाइअ ब्रह्मगियानु' (क० बं ः पारसनाथ तिवारी, पद ८२), तो उनका मतलब उसी आदि और नियामक सत्तासे होता है जिसे वे राम, रहीम, माधी, मुरारि आदि संज्ञाओसे अभिहित करते है। 'बीजक'में भी 'रमैयाराम' शब्द आता है :—''हंसा सरवर सरीर मे, हो रमैया राम। जागत चोर घर मूसै हो, रमैया राम"। यहाँ भी 'रमैया राम' विवेक संयुक्त आत्मा-के अर्थमे प्रयुक्त है। लेकिन कवीर-पन्थकी साम्प्रदायिक परम्परामें 'रमैया राम' निरंजन या भरमानेवाले ब्रह्मका वाचक माना जाता है। मायाको कबीरदासने 'रमैयाकी दुलहिन' महा है-'रमैया क दुलहिनि लूटा बजार', किन्तु यहाँ रमैयाका अर्थ दृष्ट निरंजन या धोखा-ब्रह्म ही है, ऐसा -निर्विवाद रूपसे नहीं कहा जा सकता। हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। वैसे साम्प्रदायिक परम्परामे रमैया रामको दृष्ट निरंजन या धोखा-ब्रह्म माननेका कोई-न-कोई कारण होगा अवस्य। हजारीप्रसाद द्विवेदी (अनु-सन्धानकी प्रक्रिया, पृ० ९६)ने लक्ष्य किया है कि 'रमैया राम'के इस परम्परास्वीकृत अर्थका सम्बन्ध धर्म सम्प्रदाय-का संयोजन करनेवाले, जून्य पुराण, धर्ममंग्ल आदि पुस्तकोंके रचयिता 'रमाई' पण्डितसे हो सकता है। ओरॉव जातिके लोगोमें 'रमई पण्डित'का बड़ा आदर और पूजा-अर्चा प्रचलित है। स्पष्ट है कि कबीरपन्थियोको रमई पंहितके अनुयायियोंसे निपटना पड़ा था। दृष्ट ब्रह्म अर्थ इस ओर अच्छा संकेत करता है। --रा॰ दे० सि० **स्व सम (गगनोपम)** – शाब्दिक अर्थ है आकाशके समान शून्य, तत्वहीन, निःसङग और निलेंप, प्रकृत्या निर्मल । (महायान) बौद्ध अन्धोंमें सभी पदार्थीको सापेक्ष, निः-स्त्रभाव और शून्य बताया गया है। इसी प्रकरणमें उन्हें रवसम या गगनीपम भी कहा गया है। गगनीपम, गन्धर्वनगर, मायोपम और मायामरीचि—ये सभी शब्द जागतिक पदार्थोंके शुन्य और अमात्मक स्वरूपको चोतित करनेके लिए ही प्रयुक्त किये जाते है।

कही-कही निर्मलके अर्थमे भी गगनसम या गगनोपम शब्दका प्रयोग मिलता है, प्रायः चित्तकी निर्मलताको बोतित करनेके लिए।

हिन्दी साहित्यमे सिद्धोंने सभी धर्मोंको रव-सम, शून्य और अवास्तविक, तत्त्वहीन तथा भ्रान्तिसद्दश बताया है (सहज महातरु फरिअइ तिलोए । रवसम सहात बाजत मुनक बोइ) । साथ ही मनबी समरसताको गगनके समान निःसङ्ग भी वहा है—''जिम जले पाणिअ टलिआ मेउन आज; तिम मण रअणा समसे गअण समान" !-- क्० श्० रस-व्यत्पत्तिके अनुसार इसके दो अर्थ होते है-१. आस्वाद. 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः', २ - द्रवत्व, 'सरते इति रसः'। साधारण रूपमे इसके अनेक भिन्नार्थक प्रयोग हुए है, जैसे षड्रस, इन्द्रियसुख, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शदि गुर्णो-मेसे एक आनन्द । आयुर्देदमे रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनेन्द्रियम् ह्य पदार्थके लिए इसका प्रयोग हुआ है। वेदोमे सोमरस, वनस्पतियोका द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्धके लिए, शतपथ बाह्मणमे मधुके लिए, उपनिषदोमे प्राणतत्त्व या स्वादके लिए, रामायणमे जीवन-रस, पेथ तथा विष और महाभारतमे जल, सुरा, गन्ध, काम एवं रनेहके लिए इसका प्रयोग मिलता है।

साहित्य-शास्त्रमे इसका प्रयोग कान्यास्वाद अथवा-काव्यानन्दके लिए हुआ है। सबसे पहले नाट्यके सम्बन्धमे इसका उल्लेख किया गया था। उपलब्धिके विचारसे भरत मुनि (३ श० ई०)का 'नाट्यशास्त्र' ही पहली रचना है, जिसमें इसका खरूप बताया गया है। भरतके "विभावा-नभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"सूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भरतने इन तीनों अंगोके भेदादिका वर्णन करते हुए स्थायी भावोंका प्रथक रूपसे नाम लिया है। इन सबके आधारपर उक्त सूत्रकी विद्वानो द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्याओं मेसे अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)की व्याख्या-के आधारपर काञ्यप्रकाशकार मन्मट (१२ श० ई०)ने कहा है कि आलम्बनविभावसे उद्बुद्ध, उद्दीपनसे उद्दीप, व्यभिचारी भावोंसे परिपृष्ट तथा अनुभावो द्वारा व्यक्त हृदयका स्थायी भाव ही रसदशाको प्राप्त होता है । कान्य पढने, सुनने या अभिनय देखनेपर विभावादिके संयोगसे निष्पन्न होनेवाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। उदाहरणार्ण, पुष्प-वाटिकामे राम घूम रहे है, एक ओरसे मैथिली आ जाती हैं। स्थल नितान्त एकान्त है, प्रातःकालका सुखंद समीर शरीर और मनको उत्साहित कर रहा है, पृष्पोकी छटा मनको मोहित किये ले रही है। ऐसी दशामे राम सीताको देखकर मोहित हो जाते है और उनकी ओर आवर्षित होते है। उन्हें रोमांच हो जाता है। कटाक्षपात करते हैं, बार-बार रुक-रुककर देखते है, उनकी ओर बढनेकी चेष्टा करते है। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदिका प्रकाशन होता है। इस इत्यको देख, पढ़ या सुनकर सहदयके हृदयमें वासना- रूपसे संस्थित रित नामक स्थायी भाव जायत् होकर इस सीमातक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देश-कालका ज्ञान भूलकर उसी घटनामें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार सीता आलम्बन विभाव, एकान्त तथा वाटिकाका मनोरम हश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि आश्रयगत अनुभाव एवं लज्जा तथा हर्ष आदि व्यभिचारी भावके संयोगसे रित नामक स्थायी भाव जिस आनन्दमयी तन्मयावस्थाको उपस्थित करता है, वही रस है।

सहदयगत यह रस केवल उस समयतक वर्तमान रहता है, जबतक कि विभाव आदि विद्यमान रहते है, इसीलिए उते 'विभावादि जीवितावधि' कहा गया हैं। विभावादिमे-में किसी एकके भी न रहनेपर उस समयतक रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती, जबतक वर्णन या दृश्यके वि.सी संकेतसे अभावका आक्षेप न कर लिया जाय। इसी अनिवार्य संयोगके कारण भरत मुनिने रसकी तुलना पानक रससे की है, अर्थात जिस प्रकार गुड, मिरिच, खटाई, नमक आदि आनपातिक परिमाणमें मिलाकर पीनेपर वह एक विलक्षण प्रकारका स्वाद देता है और इनमेसे पृथक-पृथक रूपमे केवल किसी एकका भी स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार काव्य-रस भी एक प्रकारकी विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभृति है, जो लोक-व्यवहारमे भिन्न है और वेवल आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है:- आस्वा-द्यत्वात् रसः'। इसीलिए इसकी अनुभृतिको रसास्वाद, रसचर्वणा आदि कहा गया है। विशेषके लिए दे०--'रस-निष्पत्ति'।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने सत्त्वोद्रैक-को रसका हेत बताया है और रमको अखण्ड, स्वप्रकाशा-नन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशस्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार किसीको होक, भय आदिको अनुभृति होती है, वैसी लौकिक अनुभृति कान्यके द्वारा नहीं होती, अपितु एक विलक्षण आनन्द ही सब प्रवारके दृश्योसे प्राप्त होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहा गया है। इसकी अनुभृति निर्विद्य दशमे ही अवाध रूपसे होती है। इसलिए इसे अखण्ड कहते है । यह लोक-स्वाधींसे ऊपर उठाता है, अतः स्वप्रकाशानन्द, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य तथा चिन्मय आदि कहा जाता है। यह आनन्ददायी भी है और विलक्षण भी, अत-एव लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा गया है। रसने उत्पन्न हो तेवाला आनन्द बाह्येन्द्रियगत, अनुकूलसंबेदना-जन्य . आनन्दसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकताके आधारपर ही विभा-वादिको रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है। रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकत्पक ज्ञान है, न सविकल्पक। उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती, वह अनिर्वचनीय है।

रसके सम्बन्धमें ब्रह्मानन्द (दे॰ 'ब्रह्मानन्द-सहोदर')की कल्पनाका मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। 'रसो वै सः' कहकर इस उपनिषद्में ब्रह्मको ही आनन्द या रसरूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है।

अानन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्रका जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करनेपर सब जीवित रहते है और आनन्दमे ही लय भी होते हैं। इसीके आधारपर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दसे तुलना करके काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दसहोदर कह दिया गया है।

रस आस्वादरूपमें एक होकर भी उपाधि-भेदसे मुख्यतः आठ प्रकारका माना गया है। शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत-इन आठ रसोंकी कल्पना ही दृश्य काव्यके प्रसंगमे की गयी थी। बादमे शान्त भी जोड दिया गया, जिसे निवेंद स्थायीके कारण क्रियाहीन अतः अनिभनेय मानकर नाट्यमे अप्रयोज्य ठहराया गया था। उसका सम्बन्ध श्रव्य काव्यके साथ दृश्यसे भी स्थिर किया गया। कालान्तरमे वात्सल्य और भक्तिको भी स्वीकृति मिली, किन्त लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, बीडनक आदि रस स्वीकृति न पा सके। एक ही रसमें कई रसोंके अन्तर्भावका प्रयत्न भी निष्फल रहा। शृंगार रसराज मान ---आ० प्र० दी० रस-दोष-दोषोके विस्तृत विवरणके लिए दे० 'कान्य-दोष'। रस-दोषको समझनेके लिए रसकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। रसका आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्कशन्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तुके सम्बन्धमे रहित होता है। रसका प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभाव।दिकोंपर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है, वरन विभावादि द्वारा प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्यमे ध्वनिकी प्रधानता स्थापित हो जानेपर रस ध्वनि-की काव्यात्माके रूपमे प्रतिष्ठित हो गया । फलखरूप रसौ-चित्यको कान्यकी मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोषका विवेचन तदनुमार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोपोका आविर्भाव हुआ। रसौचित्यके आधार-पर रस दो प्रकारके माने गये है-१ नित्य और २ -अनित्य । वे दोष, जो सभी अवस्थाओंमें कान्यकी आत्माका अपकार करते है, नित्य दोष है। अनित्य दोषका सम्बन्ध रूप और आकारसे है। इस प्रकार रस-दोष नित्य तथा शब्द-दोब और अर्थ-दोष अनित्य है ।

भामह और वण्डीने दोषोके गुणत्व-साधनको ओर संकेत किया है। इसको आधार मानकर आनन्दवर्धन तथा दूमरे ध्वनिवाियोने रस-दोषोंको वैद्यानिक एवं सुक्ष्म विवेचन किया है। इसो पद्धतिपर रसका अपकर्ष करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं, यह धारणा स्थिर को गयी है। 'ध्वन्यालोक'-मे रस-दोषोके निरूपणमें 'दोष'के स्थानपर 'अनैचित्य' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ध्वन्यालोक'का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विषयपर 'औचित्यविचारच्चों नामक अन्थ लिखा है। मम्मटने 'कान्यप्रकाश'में ध्वनिवादियोको रसिसदान-पद्धतिपर रस-दोपका विवेचन किया है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे मम्मटका अनुकरण किया है। तोषानिधिने 'सुधानिधिने'में रस-दोषका वर्णन किया है। कुलपित मिश्रकृत 'रस-रहस्य', देवकृत 'कान्य-रसायन', मिखारीदासकृत 'कान्य-निर्णय', जनराजकृत 'किवा-

रस-विनोद', उजियारे कविकृत 'रसचिन्द्रका', 'हरिऔध'-कृत 'रस-करूस'में रस-दोषोंका अच्छा विवेचन किया गया है।

रसके आस्वादमें वाधा डालनेवाले तत्त्वोंको रस-दोष कहते हैं। रसविषयक कुछ ऐसे दोष है, जो एक पद्यमें नहीं, वरन् काव्य या नाटककी प्रवन्धरचनामें ही हो सकते हैं। इन दोषोके उदाहरणोंने मन्मटने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्यों और नाटकोंका नामोक्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी आचार्य इस विषयमे उनसे सहमत है। रस-दोषोंकी संख्या मन्मटके अनुसार दस है, जो इस प्रकार है—१. स्वशब्दवाच्य (रस-दोष), २. कष्ट-करपना (विभाव-अनुभावकी), ३. परिपन्धिरसांगपरियह (रस-दोष), ४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसकी), ५. अकाण्डप्रथन (रसका), ६. अकाण्डच्छेटन (रसका), ७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि, ८. अननुसन्धान (अंगीकी विस्मृति), ९. प्रकृति-विपर्यय, १०. अनंगवर्णन (रस-दोष)।

9. स्वशब्दवाच्य - मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदास आदिके अनुसार रसकी प्रतीति व्यंजनाद्वारा होनी चाहिये, न कि शब्दवाच्यता द्वारा। जहाँ अपने ही शब्द (शब्द-वाच्य)द्वारा रस, स्थायी भाव तथा संचारी भावका कथन किया जाता है, वहाँ स्दशब्दवाच्य रस-दोष होता है (का० प्र०, ७: ६०; सा० द०, ७: १२)। (क) रसकी स्वशब्दवाच्यताका दोष-''अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चंचलनैनी चारु । कुच कोर्ति हिय कोरि कै, भरवी सुरस शृंगार" (का० नि०, २५)। यहाँ शृंगार रसका वर्णन है, पर 'श्रंगार'का नामोटलेख कर दिया है, अतः रस-दोष है। इस दोषका निवारण इस प्रकार किया गया है "कुच कोरनि हिय कोरिकै, दख भरि गयी अपार"। (ख) स्थायी भावकी स्वशब्दवाच्यता-"अकिन अकिन रन परस्पर, असि प्रहार झनकार । महा महा योधन हिये, बढत उछाइ अपार" (वही)। यहाँ वीर रसका वर्णन है, अतएव उछाह (उत्साह) स्थायी भावके कथनसे उक्त दोष आ गया है। (ग) व्यभिचारी भाव (संचारी भाव)की खशब्दवाच्यता-"आनंद और रस लब्ज गयन्दकी खालनपै करुनानि मिलाई" (वही)। यहाँ 'लज्जा' आदि संचारी भावोंको वाच्यमे कहा गया है, अतः यह दोष है। यह दोषपरिहार इस प्रकार किया जा सकता है—"आनन सोभपे हैंकै निचोही गयन्दकी खालपै है जलसाई"। कही-कही वाचक शब्द आ जानेपर भी रस-दोष दोष नहीं रहता है, यथा-"जात जगायो है न अलि, ऑगन आयो मानु । रसमोयो सोयो दोऊ, प्रेम समोयो प्रानु" (वही) । यहाँ नायिका-का स्वभाव व्यभिचारी भाव-वर्णन है, जो शब्दवाच्यता है। 'सोने'को और भॉतिसे कहना श्रेष्ठ रस नहीं और प्रेमकी शब्दवाच्यता है। वह अत्यन्त रसिकता और प्रतीतिका कारण है। अपरांग होकर न्यंग्यमे सखीकी दोनोंके प्रति प्रीति स्थायी भाव है, यह गुण है। अतः यहाँपर दोष नहीं है।

२. कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी) – मम्मट और साहित्यदर्पणकारका मत है कि जहाँ विभाव और अनुभावका ठीक-ठीक ज्ञान न हो सके कि किस रसका यह

विभाव है अथवा अनुभाव, वहाँ यह दोष होता है (का० प्र०, ७:६०)। जहाँ विभाव और अनुभ वकी कल्पना करनेके लिए कष्ट या कठिनाईका अनुभव हो, वहाँ यह दोष होता है। (क) विभावकी कष्टकल्पना-"उठित गिरति फिरि फिरि उठति, उठि उठि गिरि गिरि जाति। कहा करौ कासो कहो क्यों जीवे यहि राति", (का० नि० २५) । यहाँ नायिकाकी विरहदशाका वर्णन है, वह व्याधि-के बहाने और ही लगती है, इससे विभावकी कष्ट-कल्पना स्पष्ट है। कहीं-कही यह गुण होता है, यथा-"कै चिल आगि परोसकी, दूरि करौ घनश्याम । के हमकी कहि दीजिये, बसै और ही ग्राम"। यहाँ छिपाकर कहनेसे भी यह नायक-नायिकाकी विरहाग्नि विदित होती है, प्रत्यक्ष आग नहीं, अतः यह गुण है, दोष नहीं। (ख) अनुभावकी कष्टकल्पना-"भावती भावते और चितै सहजै ही मे भूमि निहारन लागी" (वही)। यहाँ प्रेमका कुछ अनुभाव कहना उचित था, स्वभावतः भूमि अवलोकनसे प्रेम नही जाना जाता। इस प्रकारसे कहना चाहिये-"आंखिन कै ल्लचौही लजौही प्रिया प्रिय ओर निहारन लागी"।

३· परिपंथिरसांगपरिग्रह—विद्वनाथने 'प्रतिकूल विभावादिग्रह'वो यह नाम दिया है। इसीको भिखारीदासने 'अन्य रस-दोष' कहा है। जहाँ प्रकृत रसके विरुद्ध विभाव, व्यभिचारी आदिका वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है, अर्धात् जिस रसका वर्णन हो रहा है, उसके विरोधी रसकी सामग्रीका वर्षन करना परि-पन्थिरसांगपरिग्रह दोष होता है। (क) प्रकृतरस-विरुद्ध विभावका वर्णन-"अरी खेलि हॅसि बोलि चेलु, भुज प्रीतम गल डारि। आयु जात छिन छिन घटी, छीजै घट सों बारि" (का० नि०, २४)। यहाँ शृंगारके वर्णनमें 'आयु घटनेका ज्ञान' शान्त रसका विभाव वर्णित है, अतः उक्त दोष है। (ख) प्रकृत रस-विरुद्ध अनुभावका वर्णन-"बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंसी चारु । सकल छोड़ि बन जाउँ यह, तिय हिय करति बिचार" (वही)। यहाँ नायिकामे उत्कण्ठाका वर्णन है। 'सब छोड़कर वनमें जाना' निवेंद स्थायी भाव शान्त रसका है, अतः विरुद्धता-दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये-"4ौने मिस बन जाउँ यह तिय हिय करति विचार"।

४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसकी)—मम्मट तथा विवन्नाथके अनुसार किसी रसका परिपाक हो जानेपर, अर्थात् 'रस'-विशेषका प्रसंग समाप्त हो जानेपर उस रसका फिर वर्णन (दीप्ति) करना (का॰ प्र॰, ७: ६१; सा॰ द०, ७: १४)। मिखारीदासका मत है कि जहाँ बार-बार दीप्तिका ही उल्लेख किया जाता है और उपमादिका कुछ वर्णन नहीं करते है, वहाँ यह दोष होता है। यथा—"पंकज पायनि पैजनियाँ किट घाँघरो किकिनिया जरबीछी। ईंगुरकी सुरकी दुरकी नथ भालमे बालके देदी छवीछी" (का॰ नि॰, २५)। इसी प्रकार कालिदासने 'कुमारसम्भव'मे रितिवलापके प्रसंगमे करूण रसका वर्णन (सर्ग ४,१) समाप्त करके फिर उस (सर्ग ४,४)में दीप्त किया है। यहाँ यह दोष है। उक्त प्रसंगमें रस-ध्वनिके दाईनिकोको जो दोष दिखलाई दिया करता है, वह दोष है अंगभूत रसकी अभि-

व्यक्तिकी अविच्छिन्न धारावाहिकताका दोष । यहाँ मम्मटने रसध्वनितत्त्वक्षानियोकी इस मान्यताका पुष्टीकरण किया है। पर जहाँ अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३६५, चौखन्मा) कालिदासके महाकवि होनेके कारण उनकी रति-विलाप-वर्णनाके इस दोषका यथाकिंचित परिहार करना चाहते है, वहाँ मम्मट इसे स्पष्टतः रस-दोष मान लेते है।

अकाण्डप्रथन (रसका)—आनन्दवर्धनके आधार-पर मम्मटने इस दोपको अनवसरमे रस-वर्णना तथा अकाण्ड-प्रथन नामोसे पुकार। है (का० प्र०, ७:६१ वृ०)। विश्वनाथने यही नाम दिया है (सा० द०, ७: १४)। भिखारीदासने 'असमै जुक्ति कथन' कहा है (का० नि०, २५)। जहाँ प्रस्तुतको छोडकर अप्रस्तुत रसका विस्तार किया जाय, वहाँ अक्।ण्ड-प्रथन दोष होता है. यथा—"सजि सिंगार सर पै चढी सुन्दरि निपट सुवेस। मनों जीति भुवलोक सब चली जितन दिवि देस" (वही)। यहाँ सहगामिनीको देखकर शान्त रस तथा दया-वर्णन उचित है, शृंगार नहीं। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' नाटकके दूसरे अंकमें अनेक वीरोके विनाशके समय बीचमें ही रानी भानुमतीके साथ दुर्योधनके प्रेम-प्रलाप वर्णनमें यही दोष है। वहाँ शृंगार रसका वर्णन असामयिक है। इस प्रसगमे मम्मटने अभिनवग्रप्तकी मान्यताको स्पष्ट किया है।

दः अकाण्डछेदन (रसका) — आनन्दवर्धनाचार्यने इसे 'अनवसरमे रसिविच्छिति' (ध्वन्यालोक, ३:१९)। कहा है। किसीके वर्णनमे अचानक बिना अवसरके रसका विच्छेद कर देना, अर्थात् उसके विरुद्ध रसकी अवतारणा कर देनेसे यह दोष होता है (का॰ प्र०, ७:६१ वृ०), यथा— "राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धुसों बात। कंकन मोहि छोराइवे, उत्तै जाहु तुम तात" (का॰ नि॰, २५)। यहाँ रामका परशुरामके पास जाना न कहकर 'कंकन खोलने'की वात कही गयी है। इसमें उनकी काद-रता व्यक्त होती है। इसी प्रकार भवभूतिकृत 'महावीर चिरत'के दितीय अंकमें जहाँ राम और परशुरामका युद्धोन्साह अविच्छिन्न रूपसे अभिन्यक्त हो रहा है, वहाँ रामका 'कंकणमोचनके लिए जा रहा हूँ' कहकर युद्धोत्साहसे विरत्त हो जाना विणत है। इससे रामगत वीर रसके आखादमे विदन पड़ गया है। अतः यह दोष है।

७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि—प्रत्येक कान्य और नाटकमें एक मुख्य रस रहता है जिसे अंगी कहते हैं और उनके कान्यरस अंग कहलाते हैं। जहाँ अंग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि) रस-वर्णनाके उपकरणोका आवश्यकतान्ते अधिक विस्तारसे वर्णन किया जाता है, वहाँ अंगभूत रसकी अतिवृद्धि रसन्दोष होता है (का० प्र०, ७:६२ वृ०)। यथा—''दासोसो मण्डन समै, दर्पन मांग्यो बाम। वैठि गयी सो सामुहे, करि आनन अभिराम'' (का० नि०। २५)। यहाँ नायिका अंगी है, दासी अंग है। इसमे दासीका अनि शोभा-वर्णन दोष है। इसी प्रकार महाकि भारविके 'विरातार्जुनीय' महाकान्यके आठवें सर्गमें अपसरां कोंकी विलासकीड़ाके श्रंगारात्मक विस्तृत वर्णनमें यह दोष है, क्योंकि 'किरातार्जुनीय' श्रंगार रस-प्रधान

नहीं है।

८. अनुसन्धान या अंगीकी विस्सृति - मम्मटके अनुसार अंगी, अर्थात् प्रधान रूपसे अवस्थित नायक आदि-को अवान्तर विषयोके वर्णनमे भल-सा जाना दोप कहलाता है (का० प्र०, ७:६३ वृ०)। अभिप्राय यह है कि समस्त रचनामे प्रतिपाद्य रसकी विस्मृति न होनी चाहिये और उसके पोषणका बराबर ध्यान वना रहना चाहिये। रसके अनुभवका प्रवाह आलम्बन और आश्रयपर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंगपर अनुसन्धान न होनेसे रंग-संग हो जाता है। जैसे श्रीहर्पकी 'रत्नावली' नाटिकाके चतुर्थ अंकमे वाभ्रव्य (सिह्हें इवरके कंचकी) के आगमनों माग-रिका(जो प्रधान नायिका है)का (नायक वत्सराज इत्रा) एक प्रकारमे विस्मरण, जिसमे नाटिकाका प्रनिपाद्य श्रंगार रस विच्छिन्नप्राय हो गया है। भिखारीदासने इसका उदा-हरण दिया है-"पीतम पठै सहेट निज, खेलन अटकी जाय। तकि तेहि आवत उत्तिते, तिय मन-मन पछि-ताय" (का० नि०, २५)। यहाँ खेलमं नायकमे वडकर प्रेम ठहराया गया है। अतः उक्त रस-दोप है। आनन्द-वर्धनने प्रवन्धकी रस-व्यंजकताके निमित्तोमें 'अंगीके अनु-सन्धान'को भी एक निमित्त माना है (ध्वन्यालोक, पृ० ३४१, चौखम्मा) । मम्मटने प्रवन्यकी रस-व्यंजकताकी इस विशेषताके विपर्ययको ही अंगीके विस्मरणरूप (अंगिनो-Sननुसन्थानम् ) रस-दोषके रूपमें मान लिया है।

प्रकृति-विपर्यय—मम्मदके अनुसार जिस प्रकृतिके लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहाँ वर्णन प्रकृति-विपर्ययरूप रस-दोष है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति (नायक आदि) के तीन प्रकार हुआ करते है-- १. दिव्य दिवतारू प इन्द्र आदि), २. अदिव्य (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) और ३. दिन्यादिन्य (मनुष्यरूपमे अवतीर्ण देवभत राम, कृष्ण आदि)। इन तीनोंके भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद है, जो वस्तुतः वीर रस-प्रधान, रौद्र रस-प्रधान, शृंगार रस-प्रधान और ज्ञान्त रस-प्रधान-इन चार प्रबन्ध-नायक भेदोसे सम्बन्ध रखते है। पुनः यह द्वादश्विध प्रकृति-भेद (ग्रणोत्कर्ष-ग्रणापकर्ष और गुणोत्कर्षापकर्षके कारण) उत्तम, मध्यम और अधम रूपसे ३६ प्रकारका है। इस प्रकृतिगत औचित्यके निर्वाहके लिए आवश्यक यह है कि रति, हास, शोक और अद्भुत आदिका वर्णन दिव्य प्रकृतियों (इन्द्र आदि नायकोको सम्बन्ध)में भी उसी प्रकार किया जाना चाहिये, जिम प्रकार अदिव्य उत्तम (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) प्रकृतिके सम्बन्धमे किया जाया करता है। किन्त्र दिव्य प्रकृतियों (देवरूप नायकों)मे भी जो उत्तम दिव्य प्रकृति-भेद है, उसके प्रसंगमें, सम्भोग-शृंगाररूप रितका वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये, क्यों कि उत्तम दिन्य प्रकृतिगत सम्भोगका वर्णन उतना ही अनुचित है, जिनना कि अपने माता-पिताके सम्भोगका वर्णन (का० प्र०, ७:६३ व०)। मिखारीदासका वर्णन इसीपर आधारित है।

कालिदासके 'कुमारसम्भव'मे शंकर और पार्वतीके सम्मोग-श्वंगारके वर्णनमे यह दोष हैं। इसी प्रकार स्वर्ग पाताल आदि गमन, समुद्र-उल्लंबन आदि कार्य भी दिव्य या दिन्यादिन्य प्रकृतिके ही वर्णनीय है, न कि अदिन्य प्रकृतिके, क्योंकि अदिन्य प्रकृतिके अमानुषिक कार्योंके वर्णनमे प्रत्यक्ष अस्त्यकी प्रतीति होनेके कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है। मम्मटने 'प्रकृति-विपर्यय'रूप रस्तेषको आनन्दवर्षनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रवन्थ सम्बन्धी रस-न्यंजकताके निमित्त 'भावौचित्य' (ध्वन्यालोक ३: १०)के प्रतिकृत्ल आचरण करनेमे माना है। यहाँपर यह स्पष्ट है कि रस-दोष-प्रसंगमें 'प्रकृति विपर्यय'-रूप रस-दोष-प्रकारका जो अनुसन्धान मम्मटने किया है, उसमे उनकी ध्वनि-मर्मज्ञता और रसतत्त्ववेदिता वस्तुतः झलक उठी है। १०. अनंग-वर्णन मम्मटके अनुसार अनंग, अर्थात् अमुख्य अथवा रसके अनुपारकका वर्णन भी एक प्रकारका

दोष है (का॰ प्र॰, ७:६३ वृ०)। ऐसे वर्णनसे प्रधानभूत रसको कोई लाभ नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'कप्र-मंजरी' (प्रथम जवनिकान्तर)मे नायिका विभ्रमलेखा द्वारा और स्वयं नायक चण्डपाल द्वारा किये गये वसन्त-वर्णनकी उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त-वैभवकी ही राजा (नायक चण्ड-पाल)द्वारा प्रशंसा, जिसमें प्रकृत सम्भोग-शृंगाररूप रसकी अभिव्यक्तिमें कोई सहायता नहीं मिलती।-टी॰ सिं॰ तो॰ **रसना**—शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियोमे ललना (दे० 'छलनां') रसना और अवधूती (दे॰ 'अवधूती') बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रमुख मानी गयी है। रसनाको प्रायः पिंगला कहते है। सॉस लेते समय जो सॉस दाहिनी ओर-से निकलती है, वह इसी पिंगला मार्गसे होकर आती है। इसे चन्द्रनाडी, चन्द्रअंग (हठ०, ३: १५), यमुना (वही, ३: १०२) तथा असी (शिव संहिता, ५: १२३) भी कहा जाता है। संन्तसाहित्यमें इसका बार-बार उल्लेख हुआ है --रा० दे० सिं० (दे॰ 'हठयोग')। रसनिष्पत्ति-रसके साथ निष्पत्ति शब्दका प्रयोग भरत-(४ श० ई०) से निश्चित रूपसे मिलता है—"विभावान-भावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तः' (ना० शा०, ६: ३२)। - 'निष्पत्ति'का शब्दार्थ है प्रकाशन, उत्पत्ति, पूर्णता अथवा परिपक्तता । पर 'रसनिष्पत्ति' काव्यशास्त्रके अन्तर्गत काव्य-की सौन्दर्यानुभृतिके समकक्ष स्वीकृत शब्द रहा है और इसकी व्याख्या तथा विवेचनमे अनेक विद्वानोंने मौलिक प्रतिभाका परिचय दिया है। वस्तुतः 'काव्यानुभूति', 'काव्यानन्द' आदि शब्द एक प्रकारसे 'रसनिष्पत्ति'के समानाथीं है और इस सम्बन्धमे जितना गम्भीर तथा विवादपूर्ण चिन्तन हुआ है, वह सब कान्यकी अन्तर्भृत प्रकृति तथा तद्विषयक अनुभूतिको सूक्ष्म तथा जटिल स्थिति-

के कारण हो।

भरतके सूत्रमें 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' प्रमुख शब्द रहे है, जिनकी व्याख्या विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार की है। भरतके शब्दोंमे विभाव, अनुसार तथा संचारी भावोंके संयोगसे रसनिष्पत्ति होती है। भरतने छः प्रकारके विभिन्न स्वादोंवाळी वस्तुओंके मेळसे बने हुए आपानकसे इसकी तुळना करके समझानेका प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होनेके कारण इसे 'रस' माना है। आगे भरतने स्थायी भावके आस्वादको 'रसनिष्पत्ति'के रूपमें ग्रहण किया है। भाव तथा रसके सम्बन्ध्यर विचार

करके भी वे यही कहते है कि रस और भाव एक-दूसरेपर अन्योन्याश्रित है (दे॰ भाव')। भरतने रसत्वके लिए नाना भावोके 'उपगत' होनेका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भाव यहाँ स्थायी भावके समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करते है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने अभिनवगुप्तकी 'अभिव्यक्ति'का मूलाधार भरतके 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहतवः'मे माना है (काव्यमे रसः अ० प्रव०, पृ० १८८)। इन्होंने भरतके 'आस्वादयनि मनसा' (ना० शा०, ६: ३३)मे साधारणी-करणका संकेत भी स्वीकार किया है।

वस्तुतः भारतकी इस परिभाषाको आगेके प्रमुख आचार्योंने कुछ भिन्न शब्दावलीमें प्रस्तुत किया है। धनंजय (१० श० ई०) ने कहा है—"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वाचत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः"(द० रू०, ३: १) । धनंजयने 'सात्त्विक भावों का विशेष उल्लेख किया है और साथ ही स्पष्टतः स्थायी भावको आस्वाद्य रूपमें व्यक्त करनेको रस माना है। मम्मट (११ श० ई०) ने रति आदि स्थायीके कारण, कार्य तथा सहकारीके रूपमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंको मानकर-"व्यक्तः स तैविभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" (का॰ प्र॰, ४:२८), अर्थात् इन्ही विभावादिसे व्यक्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है। इस बातको विश्वनाथ (१४ श्र० ई०) ने इस प्रकार रखा है—"रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्" (सा० द०, ४:१), विभावादिकसे रति आदि स्थायी भाव रसत्वको प्राप्त करता है। इन्होंने भी प्रपानक रसके समान रसास्वाद्यको कहा है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्यों मे अधिकने रसविवेचन-के सम्बन्धमे रुचि नहीं दिखलायी और जिन्होंने कुछ कहा है, उन्होने संस्कृतकी परम्परासे भाव ग्रहण किया है— "मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारिनके बृन्द । परिपूरन थिर भाव यों सुर स्वरूप आनन्द" (पद्माकर: जगद्दि०, ६०४) । आधुनिक विवेचकोंने रसके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है और भरतसे लेकर अभिनवग्रप्ततककी रस-विवेचनकी परम्पराको आगे भी बढाया है।

भरतके सूत्रके आधारपर रसकी व्याख्या करनेवाले आचार्यों में भट्ट लोल्लट (९ श०ई० पू०) प्रथम माने जाते है। इनके यन्थका पता नहीं लग सका है, केवल 'अभिनवभारती'में अभिनवग्रप्तके द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगेके आचार्योंके लिए भी इनके सिद्धान्तके विषयमे तर्क-वितर्कका आधार रहा है। 'अभिनवभारती'के अनुसार भट्ट लोल्लटका मत है-"विभावादिका स्थायी भावसे संयोग होनेपर रसनिष्पत्ति होती है। विभाव रसके कारण-स्वरूप हैं। इनके द्वारा स्थायी भावकी 'उपचित' अवस्थाका नाम रस है। यह रस मूलतः अनुकार्य, अर्थात् रामादिक ऐतिहासिक पात्रोमें ही होता है, किन्तु उनके रूपादिके अनुसन्धानसे अनुकर्ता-नटमे मी विद्यमान होता है" (अ० भा०, पृ० २७४)। इस प्रकार भट्ट लोल्लटके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' या 'पृष्टि' है। इस दृष्टिसे इनके सिद्धान्तको उत्पत्तिवाद कहा गया है। मम्मट (१२ शर् ई०)ने भट्ट लोल्लटके मतको इस प्रकार उदधृत किया

है-- 'आलम्बन, उद्दीपन विभावोके कारण उत्पन्न रति आदि भाव अनुभाव-कार्योसे प्रतीत योग्य होकर, व्यभि-चारी सहकारियोसे उपचित होकर रसरूपको प्राप्त होते है, जो मुख्यतः अनुकार्यमें होता है, किन्तु अनुसन्धानवश नटमें प्रतीयमान होते है (का० प्र०, ४: २८)। वस्ततः मम्मटने 'प्रतीयमान' शब्दके प्रयोगसे प्रस्तत मतको नवीनता प्रदान की है। गोविन्द ठक्करने इसकी व्याख्यामें कहा है-"नटे त तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतः" (का० प्र०, प्० ८८), अर्थात नटमे अनुकार्यकी तुल्यताके अनुसन्धानके कारण सामाजिक उन्हीपर अनुकार्यका आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। इसीके आधारपर इस व्याख्याको आरोपवाद कहा गया है। भट्ट लोछटने 'संयोग'को तीन अर्थींमे स्वीकार किया है—स्थायी भाव विभावके साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनु-माप्य-अनुमापक-सम्बन्धसे उनकी अनुमिति कराते है तथा संचारी भाव पोपक-पोष्य-भाव-सम्बन्धसे उनकी रस-रूपमे पृष्टि करते है। इस रसकी अवस्थिति यद्यपि मूल रूपमे अनुकार्यमे ही होती है, पर अभिनेताके कौशलपूर्ण अभि-नयके कारण दर्शक उसीपर अनुकार्यका आरोप करता है।

भट्ट लोल्लटके रस सिद्धान्तकी आलोचना अनेक दृष्टियोसे की गयी है। मीमांसा (दे०) दर्शनपर आधारित इस सिद्धान्तका खण्डन न्यायदर्शन (दे०)की दृष्टिसे किया गया । न्यायके अनुसार कारण, कार्यका नियमतः पूर्ववर्ती है तथा कारणका नाश भी कार्यको प्रभावित नहीं करता। इस दृष्टिमे विभाव और स्थायी भावके बीच इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि रस भावादिके साथ ही स्थिर होता है और नष्ट होता है। ऐसी स्थितिमे 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं हो सकता । सामानाधि-करण्य-सिद्धान्तके अनुसार कार्य तथा कारणकी स्थिति एकमे हो मानी जायगी, पर प्रस्तुत सिद्धान्तमें रसकी अवस्थिति रामादि अनुकार्यमें कही गयी है और उसका आस्वादन प्रेक्षकके द्वारा स्वीकार किया गया है, जो बिलकुल भिन्न है। शंकुकने भट्ट लोल्लटके 'स्थायी भावकी उपचितावस्था'-का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि स्थायी भावकी उपचितावस्थाको रस तथा अनुपचितावस्थाको भावमात्र मानेंगे तो उसकी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियोंकी न्यर्थ कल्पना करनी होगी। यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्यके स्मिन, अपहसित आदि ६ भेदोको किस आधारपर माना जा सकता है ? इसके अतिरिक्त क्रोध, उत्साह, शोक आदि स्थायी भाव क्रमशः क्षीण, क्षीणतर और क्षीणतम होते जाते है और उनके उपचित होनेकी स्थिति ही नहीं आ सकेगी । अतएव इसके आधारपर 'रसनिष्पत्ति'की व्याख्या ठहर नही सकती। आरोपमे सहश वस्तके ज्ञानके साथ उस वस्तका स्मरण भी अनिवार्य है। पर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्योंसे प्रेक्षकका परिचय सम्भव नहीं हो सकता, फिर अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक नटपर उनका आरोप किस प्रकार कर सकता है ? साथ ही भावोंका अनुकरण न होकर केवल बाह्य रूपादिका अनुकरण ही सम्भव है। भट्टनायक (१० श० ई० म०)ने इस सिद्धान्तकी एक भिन्न स्थिति स्वीकार करके इसका खण्डन किया है। प्रेक्षक द्वारा आरोपके माध्यमसे विभावादिको अपना ही विभावादि समझना भी संगत नहीं है, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विभाव शक्ति और क्षमता-भेदके कारण प्रेक्षकके नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्रोके प्रति पुज्यादि भावोके कारण भी यह आरोपकी स्थिति सम्भव नहीं होगी। करुण रस सम्बन्धी शोकादिक भावोंके आरोपमें प्रेक्षकको आनन्द मिल सकता है, इस विषयमे भी शंका की गयी। आरोप-सिद्धान्तमे रसस्थितिके ज्ञानमात्रसे प्रेक्षकके आनन्दकी सम्भावना स्वीकार की गयी है, पर रस ज्ञानगम्य नही, आस्वादनीय है। किसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे हम निश्चिन्त, तटस्थ, विरक्त अथवा अनुरक्त हो सकते है, पर आरोपके ज्ञान-मात्रसे आनन्द (रस)की सम्भावना कैने मानी जा सकती है ? गोविन्द ठक्करने स्पष्ट कहा है-"राम-सीतामें रित है, ऐसा समझ लेनेमात्रसे हमें आनन्द नहीं आ सकता। इसके लिए हमारा अपना साक्षात्कार आवश्यक है" (का॰ प्र॰, पु॰ ६३)। अनुकर्ता नट एकमात्र अनुकार्यमे आश्रित रसका तटस्थमावसे प्रदर्शन कर सकता है, इसपर भी आपत्ति की गयी है।

आधुनिक विचारकों में कान्तिचन्द्र पाण्डेयके अनुसार मट्ट लोल्लटने 'अनुसन्थान' शब्दका प्रयोग मीमांसकों के अनुक्ल 'ईश्वरप्रत्यमिका'-सिद्धान्तके अनुसार 'योजन' अर्थमें किया है। उनकी दृष्टिमें रंगमंचकी व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षकका दृष्टिकोण नहीं (कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, पृ० २९, ३०)। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भी स्वीकार किया है कि 'उन्होंने प्रेक्षककी दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यदि हम यह स्वीकार कर लें तो भट्ट लोल्लटका सिद्धान्त बहुतसे तत्सम्बन्धी आक्षेपोंसे बच जाता है और आरोपवादकी कल्पना परवर्ती आचार्यो द्वारा निर्मित हवाई महलके समान निस्सार सिद्ध हो जाती है", (कान्यमें रसः अप्र० प्रव०, पृ० २००)। आगे इन्होंने यह भी माना है कि ''अनुकार्यको ही वास्तविक रसाश्रय मानकर मट्ट लोल्डटने कविवर्णित अनुकार्यकी ओर संकेत करते हुए कविकरपनाको श्रेय देनेका प्रयक्ष किया है' (वहीं)।

भरतने काव्यके पाठक या नाटक प्रेक्षकके मानसमे रसनिव्पत्तिकी स्थितिका रूप स्पष्ट नहीं किया है, पर उनकी व्याख्या तथा रसके विभिन्न अंगोंके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रसानुभूतिके लिए मानसकी भावान्मक प्रक्रिया (emotional tendency and expression)का आधार ग्रहण किया है। वास्तवमें भट्ट लोखटने रसकी व्याख्या इस सामान्य भावात्मक प्रक्रियासे अधिक भिन्न अर्थमे नहीं की है। कान्तिचन्द्र पाण्डेयके मतका समर्थन भी इस विषयमें लिखा जा सकता है। रंगमंचके व्यावहारिक दृष्टिकोणके कारण सम्भवतः इस आचार्यके सम्मुख अनुकार्यकी सामान्य भावात्मक स्थिति प्रथान रही है और उन्होंने रसकी व्याख्या बहुत कुछ इसी अर्थमें की है। रसको मुख्यत्या अनुकार्योंमें उपचित माननेका भाव यही है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भट्ट लेखट द्वारा कविकल्पनाको श्रेय देनेकी बात कही है, परन्तु

काञ्यवत्तकी कल्पना करनेवाले कविकी स्थितिका स्पष्ट विवेचन इन आचायोंने नहीं किया है। प्रस्तृत सन्दर्भमें वृत्तवा अर्थ है 'काव्यवृत्त', जिसकी कवि कल्पना करता है। कविकी इस कल्पनाका आधार जगत है, पर यह कविके प्रत्यक्षबोध, स्मृतियो तथा विचारोके स्वतन्त्र संयोग-रूप कल्पनापर आधारित है। इस प्रकार जिन चरित्रों अथवा स्थितियोको उसने अपनी संस्कारजन्य कल्पनासे स्थान-काल-प्रमेयकी सीमामें वॉधा है, वे वास्तवमे उसके अपने अनुभव जगत्से गृहीत है। यह काल्पनिक वृत्त (ऐतिहासिक आदि भी इसी रूपमें) कान्यमें वर्णित या नाटकमे अभिनीत होता है। इस प्रकार जब आचार्य कहते हैं कि रसकी स्थिति अनुकार्य (चरित्र)में है, तो वे चरित्रकी भावात्मक प्रक्रियाके मनौवैज्ञानिक सत्यको स्वीकार करते हैं। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि काव्यात्मक रसानुभूति के सम्बन्धमे जनकी दृष्टि सीमित है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : अनुशीलन, व० ३ : अं० २)।

रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले दूसरे आचार्य शंकुक (९ श० ई० उत्त०) हैं, जिन्होने न्यायदर्शनके अनुमान प्रमाणके आधारपर अनुमितिवादकी स्थापना की है। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)के अनुसार इनका मत इस प्रकार है-"विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होनेपर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमानके बलसे अनुकरणरूपमें अनुकर्तामे कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हए प्रतीयमान होता है। विभावोंका कान्यके द्वारा, अनुभावोंका शिक्षाके द्वारा तथा व्यभिचारी भावोंका अनुभव-ज्ञानके द्वारा अनुसन्धान (अर्थप्रतीति) होता है। स्थायी भावकी अर्थप्रतीति काव्य द्वारा नहीं की जा सकती।" भरतने अपने सत्रमें 'स्थायी भाव'का उल्लेख नहीं किया है। इसिंहए अनुक्रियमाण रित स्थायी भाव ही अभिनयसे शृंगार है और इस प्रकार उसका (शृंगार रसका) तदात्म-कत्व (स्थायी भावसे) तथा तत्प्रमत्व (स्थायी भावमूलक होना) युक्त है। "रामके सुखी होनेके अभिनयमें नर्तक (अभिनेता) सुखी है, ऐसी प्रतिपत्ति नही होती। ये राम नहीं है अथवा ये रामके समान है, इस प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होती । किन्तु सम्यक् , मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-मूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती है, उनसे विलक्षण चित्र-तुरग-आलिखित अस्व-न्यायसे--जो सुखी राम है 'वह यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है" (अ० भा०, पृ० २७४)। मम्मट (१२ श० ई०)ने भी शंकुकके अनुमिति-बादको प्रस्तुत करते हुए नट-रामकी प्रतीतिकी व्याख्या की है। यह प्रतीति 'चित्र-तुरग'के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या-प्रतीति, न संशय-प्रतीति और न साद्दय-प्रतीति, अपित एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कही जा सकती है। कान्यार्थीके आधारभूत चरित-नायकके रूपमें अपने-आपको डालनेकी शक्ति रखनेवाला नट अभिनय-कलाकी शिक्षा और अभ्यासके बलपर जो प्रदर्शन करता है, वह जीवनकी दृष्टिसे भले ही अवास्तविक अथवा अस्वाभाविक हो, पर सामाजिकको कलात्मक दृष्टिसे. जिसमें वह 'नट' नहीं, अपित 'राम' दिखाई दिया करता

है, कृत्रिम नहीं लगता। वास्तविक जीवनमे रामादिके हृदयके रति-भावका अनुमान, उनका साक्षात्कार करनेवाले लोग इसीलिए किया करते है कि उन्हें रामके हृदयके रति भावके कारण, कार्य और सहकारी रूप अनुमापक साधनोंका ज्ञान हो जाया करता है। इसी प्रकार रंगमंचके 'नट राम'के हृदयके रत्यादि रूप स्थायी भावका अनुमान, सहदय सामाजिक जन इसीलिए किया करते है कि उन्हें 'नट राम'के हृदयके रत्यादिरूप स्थायी भावके अनुमापक पदार्थींका साक्षात्कार रंगमंचपर हुआ ही करता है, क्योंकि 'नट राम'के स्थायी भाव यदि 'गम्य' है—लोक-विलक्षण अनुमेय है तो रंगमंचपर प्रदर्शित सीतादिरूप विभाव. अनुभाव और संचारी भाव उसके 'गमक' है। सामान्य जीवनमें रामकी चित्तवृत्तिका अनुमान 'रस' नहीं माना जाता, किन्त 'नट राम'के रत्यादिकरूप स्थायी भावका अनुमान एकमात्र 'रस'का आस्वादन होता है (का० प्र०. ४:४६ का०)।

वस्तुतः शंकुकका यह मत न्याय-सिद्धान्तके अनुमान-प्रमाणपर आधारित है, जिसमें पहले देखी गयी वस्तुका, किसी समय साक्षात् न देखकर भी, उससे साहचर्य-सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्य वस्तुको देखकर ज्ञान प्राप्त होता है। ऊपर कहा गया है कि शंकुकने इसको संशयादिसे भिन्न माना है। जब हमारे ज्ञानको कोई अन्य वस्तु बाधा पहुँचाती है अथवा हमारा ज्ञान किसी अन्य ज्ञानके आधार-पर अप्रामाणिक सिद्ध होता है तब उसे मिथ्या कहते है। रसाखादके प्रसंगमे इस प्रकारकी बाधा नही उपस्थित होती, क्योंकि जितने समयतक हम प्रदर्शनको देखते (काव्यका पाठ करते) है, उतनी देरतक उसमें किसी कारण बाधा नहीं उपस्थित होती। नाट्यप्रदर्शन जिस रूपमें है, वह अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता । शंकुकके अनु-सार यदि उसे एक क्षणके लिए अयथार्थ मान भी लें तो उसके कारण आनन्दानुभृतिमे शंका नही होनी चाहिये। संशयकी स्थितिमें व्यक्ति किसी निश्चयपर नहीं पहुँचता, पर रसात्मक बोधमें ऐसी स्थिति भी नहीं रहती और क्योकि इसमें अनुकार्य-अनुकर्ताके पृथक्तवका ज्ञान लग्न हो जाता है, अतः साद्दय-ज्ञानकी स्थिति भी स्वीकार नहीं की जा सकती। यह अनुमिति-ज्ञान है जिसे शंककने चित्र-तुरग' न्यायसे समझाया है। अर्थात् चित्रांकित तुरगके समान अभिनय वास्तविक पात्रका अनुकरणमात्र है और अभिनेता वास्तविक पात्र न होकर अनुकर्तामात्र।

परवर्ती आचार्योंने शंकुकके 'अनुमितिवाद'का खण्डन किया है। अनुमान तो वास्तविकताके आधारपर किया जा सकता है, कृत्रिम विभावादिके द्वारा इसकी सिद्धि केसे हो सकती है? ऐसा नहीं कि शंकुकका अपने सिद्धान्तके इस पक्षकी ओर ध्यान न हो। उन्होंने स्वयं अभिनेताके कौशलके सहारे अनुमानकी सिद्धि मानी है, साथ ही उन्होंने दूरकी उठी हुई धूलको धुँऑ समझकर अग्निक अनुमानकी बात कही है। सामने प्रत्यक्ष रंगमंचके अभिनयके सम्बन्धमें इस प्रकारका अनुमान नहीं किया जा सकता। दर्शक पहलेसे हो जानता है कि अभिनयके पात्र बास्तविक नहीं है। अतः उसके रसास्वादनको समझनेके

लिए अनुमान पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। कहा गया कि सामान्य जगत्के कारणके स्थानपर विभावादिके संयोग-पर रसास्वाद आधारित है, पर ये विभावादि प्रेक्षकके नही है: उनसे उसका सीधा सम्बन्ध ही नही। यथार्थ जगत्में वस्तुसौन्दर्यसे रसानुभृतिको स्वीकार नही किया जा सकता। परन्त्र यदि अविद्यमान रहनेपर भी अनुमान-मात्रसे रसास्वादकी सिंखि होती, तो विद्यमान होनेपर उसकी सिद्धिमे किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये। पर लोकमे रति आदिको प्रत्यक्ष देखकर आनन्द नही होता, ऐसी स्थितिमे अनुमानसे कैते माना जा सकता है ? शंकुक-के सिद्धान्तपर क्षणिकवादका आरोप भी लगाया गया। नैयायिक परिणामवादके साथ अनुभवको क्षणिक मानते है। रसानुभृतिको क्षणिक माननेसे काव्यके आकर्षणमे बाधा उपस्थित होगी । इंकुकने प्रेक्षकके तन्मयीभावके कारण रसा-नुभूतिको धारावाहिक माना है। वह तन्मयावस्थामे प्रदर्शित रत्यादिका अनुसन्धान करतां है और बार-बार शंका करना हुआ अनुमान नहीं करता ! पुनः-पुनः अनुमन्धान करना ही 'चर्वणा' है। रसप्रदीपकारका आरोप है कि एक बार व) स्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर पुनः अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रेक्षक 'रसका अनुमान' नही करता, वरन अनुभव करता है। शंकुकके द्वारा भी नटमे रसकी स्थिति स्वीकार नहीं की गयी, अतः उनके सिद्धान्तमें तटस्थता-का टोष आ गया है (र० प्र०, पृ०२४, २५)। इसके अतिरिक्त अनुकरण बाह्य व्यवहारका भी बहुत सम्भव नहीं होता और आन्तरिक भावोंका अनुकरण तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि अनुकरणके सामर्थ्यको मान भी लें तो करण आदिक हरयमे अगनन्दकी उपलब्धि किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है ? वस्ततः भट्ट लोलट-के समान शंककने भी प्रेक्षकके आनन्दका कारण उमसे असम्बद्ध माना है, प्रेक्षक प्रदर्शित विभावादिकका केवल अनुमान करता है। अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तीनने कहा है कि साद्य्यानुमान फलके अनुमार होता है और अनु-मानकर्ताको साद्दरयका अनुभव होता है। परन्तु अभिनेता द्वारा प्रदर्शित भावनाएँ उसके मनमें वर्तमान किसी साइइयपर आधारित नहीं है और प्रेक्षक भी ऐसा नही मानता। प्रेक्षक जानता है कि यह ऐमा अभिनेताके दीर्घ-कालीन अम्यासके कारण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि शान या तो निश्चित रूपसे सत्य होता है या मिथ्या ! इन दोनोंसे भिन्न कहना भ्रामक है। 'चित्र-तुरग-न्याय'मे साद्य ज्ञानमात्र है, उसे तुरग कहते हुए भी हम जानते हैं कि वह वास्तविकके सददामात्र है (अ० भा०, १: पु० २७७)।

आधुनिक विवेचकोमें राकेश गुप्तने 'चित्र-तुरग-न्याय'-को चारो प्रकारका ज्ञान सिद्ध किया है। वे भट्ट नोनके समान उमे केवल साहश्य-ज्ञान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शक 'चित्रलिखित तुरग'को चित्रलिखित-मात्र मानता है और लक्षणाको आश्रयसे उसके कहनेका अर्थ भी यही होना है। वास्तविकताका ज्ञान न होनेवालेको अम होगा, या तो वह अस्व मान लेगा या मंशयमे रहेगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितके अनुसार राकेश गुमने चित्रकला- अनिमज्ञ दर्शककी करपना की है और दूर रखे हुए चित्रका उदाहरण दिया है। नाटकमे अथवा काव्यमे इन दोनों स्थितियोंको स्वीकार नही किया जा सकता। दीक्षितका कहना है: "सारांश यह है कि अनुकर्ता अन्तर्भावोका नहीं, बाह्य अनुभावोमात्रका अनुसरण करता है और अपने शिक्षाभ्यासादिके साथ-साथ हृदय-संवादके बल्पर काव्यका उचित स्वर तथा बल्के साथ याचन करते हुए अपनी ओरमे यथाशक्ति उस स्थितिमे उत्पन्न हो सकनेवाले भावोंको व्यक्त करता है। इस प्रकारकी प्रनित्तको अनुकरण नहीं कहा जा सकता। उसमे अनुकर्ता ने शिक्षा तथा करवनाका योग स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उसकी तटस्थता दूर हो जाती है" (काव्यमे रस, अप्रका० प्र०, पृ० ५१५)।

शंकुकने भट्ट लोल्लटकी अपेक्षा अपने सिद्धान्तमें अधिक मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया है। उन्होने वास्तविक पात्रमें भावात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थायी भावका उद्घोध माना है और प्रेक्षक द्वारा अभिनेताओं अनुकरणके अनुमानसे वही भाव-स्थिति रसरूपमे आस्वादित होती है, ऐसा स्वीकार किया है। रस सिद्धान्तकी सम्पूर्ण विवेचनाकी समझनेके लिए रसकी दो स्थितियोको जान लेना चाहिये-"एक साधारण जीवनमें भावात्मक प्रक्रियाकी उद्युद्ध घटना और दूसरी काव्यानुभृतिमे रसनिष्पत्ति"। एकको 'रसस्थिति' और दूमरीको 'रसनिष्पत्ति'को स्थिति मानना अधिक वैज्ञानिक है। शंक्रकने 'चित्र-तुरग-न्याय' द्वारा अभिनय-(काव्यकला भी)का प्रत्यक्ष बोध तथा समृतिसे संयुक्त कल्पनाका आधार स्वीकार किया है। चित्रांकित तुरग केवल तरगका चित्ररूपमे प्रत्यक्ष बोधका विषय नहीं है (जैसी राकेश ग्रप्तकी भ्रामक स्थापना है), उसमे तुरगत्वके साथ जो कल्पना और स्मृतिका संयोग है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अभिनय-मौन्दर्य (काव्य-मौन्दर्य)के द्वारा प्रेक्षक या पाठकके मनपर जो प्रभाव पड़ना है, वह प्रत्यक्ष बोधसे कहीं व्यापक है। जिस प्रकार प्रेक्षक आरोप करनेके लिए अपने अनुभव और संस्कारोका सहारा लेना है, उसी प्रकार वह अपनी कल्पनाके आधारपर नाटकीय घटना (नाटक-कारकी कल्पना)का अनुमान कर सकेगा। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस सिद्धान्तके सम्बन्धमे यह आश्चेष महत्त्वपूर्ण है कि यदि प्रेक्षक आश्रयकी मनःस्थितिसे तादातम्य स्थापित करके रसकी प्रतीति करता है तो उसे आश्रयके समान अपनी भावस्थितिमे दःख-सख, दोनों का अनुभव होना चाहिये। परन्त शंक्रकके मनमे तादात्म्यका उल्लेख इस प्रकार नहीं है। इसके अनिरिक्त आचार्यके अनुसार यदि प्रेक्षक भावा-त्मक घटनाको सत्य मानकर अपने अस्तित्वते घटनाओंको सम्बन्धित मान ले तो वह सम्कृत, भावह प्रेक्षक या पाठक नहीं समझा जायगा। ऊपरकी विशेचनामे इस आक्षेपका भी उल्लेख किया गया है कि विभावादि, जो अतीतसे सम्बन्धित है, वे प्रेक्षक अथवा पाठकके अनुमानके विषय कैते होगे। परन्तु यह आञ्चेप इसी आधारपर ठहर सकता है, यदि अनुमानको स्मृति ते सम्बन्धित प्रत्यक्ष बोधोके रूप-मे साद्द्रयके आधारपर हो स्वीकार किया जाय । कल्पनाके तत्त्वको स्वीकार कर छेनेपर स्मृतिके स्वतन्त्र संयोगोकी सम्भावना सहज हो सकती है। मनोविज्ञानकी दृष्टिते प्रमुख आक्षंप यह माना जा सकता है कि शंकुकने अपने मतमे स्मृति और अनुभवको स्वीकार किया है, पर कल्पनाकी स्थापना स्पष्टनः नहीं कर सके है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान—अनुशीलन, व० ३: अं० २)।

भरतके रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (१० श० ई०) है, जिनका सिद्धान्त भोगवाद है। भट्टनायकने रसके पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंके मतोका खण्डन करते हुए स्वमत्की स्थापना की है। 'अभिनव-भारती'में उद्धृत उनका मत इस प्रकार है-"कान्यमे दोषाभाव, गुण तथा अलंतार रूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारणके द्वारा अभिधार्थसे ग्रहण किये गये निविड निजत्वका मोह तथा संकट आदिको निवारण करनेवालो भावकत्वरूपने शब्दकी दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन-व्यापारसे इस निजत्वके मोहको दूर करके रमको भावनावान् करती है और भावन-योग्य बनाती है। फिर भोगशक्ति, जो अनुभव, स्मृति आदिसे विलक्षण है, रजम् और तमस्के अनुरोधके वैचिच्य-के बलसे वृद्धि, विकास तथा विस्तारस्वरूप है, हृदयके विस्तार और विकासके लक्षणवाली है, सन् गुणके उद्रेकके कारण प्रकाशमान् आनन्दसे संकल्प-विकल्पसे भिन्न (विल-क्षण) है, उसमे परब्रह्मास्वादके समान रस अनिर्वाच्य रूप-से भोगा जाता है" (अ० भा० : प्र०, प्० २७८)। मम्मट (११ श० ६०) ने इसो बातको संक्षेपमें दहरा दिया है-"काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रे-कपकाशानन्द्रमयसंविद्धिश्र नितसत्त्रेन भोगेन भुज्यते इति" (का० प्र०, ४: २६), अर्थात् काव्य और नाटकमे अभिधा-से भिन्न दूमरी भावकत्व शक्ति अपने न्यापार से विभावादिक-को साधारणेकृत रूपमे प्रस्तुत कर स्थायी भावको भाव्यमान या भावन-योग्य बनाती है। फिर तीसरी भोगशक्ति साधा-रणीकृत भाव्यमान् स्थायी भावको आनन्दमय तथा एक-रसरूपमे आस्वादन योग्य बनाती है। इस स्थितिमे 'सत्त्व'-सुख और प्रकाशका उद्रेक इतना प्रवल हो जाता है कि रजस् और तमस् (मनकी चंचलता और मृद्ता) अभिभृत हो जाया करते हैं।

मट्टनायकके पूर्व ध्विन-सिद्धान्तकी स्थापना हो चुकी थी और शब्दकी अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन शक्तियाँ स्वीकृत की जा चुकी थीं। परन्तु भट्टनायकने रसिनिष्पत्तिके लिए अभिधाके साथ दो नयी शक्तियोकी स्थापना की—भावकत्व तथा भोजकत्व। अभिधाको आचार्यने उस शक्तिके रूपमे स्वीकार किया है, जिससे इसको नाटक अथवा काव्यमें प्रस्तुत अथवा वर्णित अर्थका बोध होता है। इसिके द्वारा हम यह समझनेमे समर्थ होते हैं कि किन पात्रों अथवा परिस्थितियोंका उच्लेख किया गया है। इसके द्वारा कथाके व्यक्तिविशेष अथवा घटना-विशेषका बोध होता है। आचार्यके अनुसार यह बोध रसिनिष्पत्तिकी बाधा है और उन्होंने इमके स्थानपर व्यक्तिनिर्पेक्ष बोधकी आवश्यका मानी है। उनका कहना है कि अभिधासे व्यक्ति अथवा परिस्थितिविशेषका बोध हो जाने-

पर भी कलात्मक नाटकीय प्रदर्शन अथवा कान्यकी सुन्दर अभिन्यक्ति (शब्दचयन, पद-विन्यास, अलंकार आहि) के कारण प्रेक्षक तथा पाठकका मन इस विशिष्टताके बोधको भृलने लगता है और जितना ही वह भूलता जाता है, उतना ही उस न्यक्ति या स्थितिका वह निरपेक्ष चिन्तन करनेमे समर्थ होता है। इस रूपमे सामाजिक नाटकमें प्रदर्शित अथवा काव्यमे विभाव विभावादिकको केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिका न मानकर सामान्य रूपमे ग्रहण करता है। इस स्थितिकी प्राप्ति भट्टनायकके अनुसार भावकत्व-शक्ति'से होती है। यह रसास्वादनके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। इसके द्वारा सामाजिक देश-कालकी सीमाओं तथा लोक-मर्याशओके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। उसके लिए राम अतीतके पात्र नहीं रह जाते। उनकी सीताविषयक रित सामाजिकके लिए बाधा नहीं उपस्थित करती। इस प्रकार आ वार्यके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति' और 'साधारणी-करण'-व्यापार (दे०)से ताडस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष दूर हो जाते है। इसके अनन्तर तीसरी भोजकत्वशक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादिका रस-रूपमें भोग करता है, जो अपनी विलक्षणतामें परब्रह्मास्वाद (दे०)के समान छैंकिक अनुभव तथा स्मृति-ज्ञानसे नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त विवेचनासे म्पष्ट है कि भट्टनायकके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'भोग' है, जिसमे विभावादिके स्थायीके भोजक है और स्थायी भोज्यः जिसका विभावादिके द्वारा 'भोग' किया जाता है। यहाँ विभावादि तथा स्थायी भावका सम्बन्ध भोज्य-भोजक-भावका माना जायगा।

भट्टनायकका भोगवाद सांख्यदर्शन (दे०)पर आधारित है। सांख्यके अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी अभिव्यक्ति है और निर्विकल्प ब्रह्म भी इसके चकरमें त्रिगुणमय हो जाता है और अनेक रूपोमे अपनेको व्यक्त करता है। सत्त्व, रज तथा तम-ये गुण है, जिनसे शरीर प्रकाशित है। सत्त्वमे प्रीति, रजमे अप्रीति तथा तमीगुण विषादात्मक है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिके इस त्रिगुणात्मवः स्वरूपकी कल्पना भट्टनायकके सत्त्रोद्रेकके समान है। परन्तु सांख्यमे पुरुष प्रकृतिके बन्धनमे अपने-आपको भूल जाता है और अन्य दोनों गुणोको विजय करके ही सत्त्वोद्रेकके सहारे पुरुष मुक्तस्वरूप होता है। अपने आत्मस्वरूपकी परम स्थितिको कैवल्यपद कहा गया है, जो मध्यस्थकी स्थिति मानी गयी है, जिसमे पुरुष स्वतः साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है । भट्टनायकके भोगवादका आधार यह सिद्धान्त अवस्य है, पर भोगकी स्थितिसे कैवल्यपदकी स्थितिका मौलिक अन्तर है, यद्यपि सत्त्वोद्देककी स्थिति दोनोमे स्वीकार की गयी है। सांख्यके अनुसार मध्यस्थकी स्थिति उदासीनकी स्थिति है, जिसमे वह सुख-दःखते परे होता है। इस मुक्तिकी स्थितिमे पुरुष सभी गुणोसे हीन हो जाता है, यद्यपि इस स्थितिको प्राप्त करने में सत्त्रों क्रका सहारा मिलता है। सांख्यका कैवल्य भोगका विरोधी है और भट्टनायकने उसीका प्रतिपादन किया है। भट्टनायकने इस भोगको परब्रह्मास्वादके सदश मानकर सम्भवतः यह सिद्धं किया है कि यह रसस्थिति लौकिक अनुभवगम्य स्थितिसे भिन्न है और साथ ही यह ब्रह्मास्वाद भी नहीं है. ६७९ रसनिष्पत्ति

केवल उसके ममान है। वास्तवमे रसानुभृति संवित् (चित् स्वभाव) है, जो विश्रान्निमें परिणत होनी है। परन्तु दार्शनिक स्थिनिमे शुद्ध चित् स्वभाव अहंकारशून्य होकर सुख-दुःखकी सम्पूर्ण भावनाओं ते मुक्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकारकी निरपेक्ष स्थिति रसाम्बादके क्षेत्रमे सम्भव नही है। काव्यजगत् लौकिक जगत्मे भिन्न है और यह अहंकार वासनाको जागरित नहीं करता है, क्योंकि काव्यकी कित्यत वस्तुएँ विशेषते मम्मद्ध न होकर पूर्णतः निर्वयक्तिक होती है और इन निर्वेयक्तिक स्पोके कारण काव्यानन्द प्राप्त करनेवाला व्यक्ति निजत्वके मोह-बन्धनोसे अलग् रह सकता है। परन्तु उसकी बुद्धिनिरपेक्ष स्थिति थोडे ही कालके लिए सम्भव हो सकती है (एस० के० दे०: हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, भा० र: पृ० १५८)।

भट्टनायकके मतकी प्रधान आलोचना इस रूपमें की गयी है कि लक्षणा और व्यंजनाके रहते हुए भी उन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियोकी स्थापना की । इस मतके आलोचकोने भट्टनायकके भावकत्व-व्यापारको व्यर्थ माना और कहा कि इसका कार्य लक्षणासे चल सकता है। पर इस मलके समर्थकोका उत्तर है कि लक्षणाका व्यापार कठिन है, जिसको ग्रहण करनेमे सभी सामाजिक समर्थ नहीं हो सकते और भरतकी दृष्टिमे नाट्यकलाको सर्वसाधारणके योग्य बनाना है। लक्षणासे अर्थ ग्रहण करनेके लिए कशाग्रविके अतिरिक्त काव्यान-शीलनका अभ्यास भी आवश्यक है। ऐसा मानकर चलना नाट्यकी सार्वजनिकतामें बाधक होगा। इस प्रकार काव्या-नुशीलनकी कई कोटियाँ भी माननी पडेगी, योग्यतानुसार व्यक्ति लक्षणा-व्यापारसे अर्थ ग्रहण करेगा । इसके अतिरिक्त लक्षणाका अर्थग्रहण एक क्रमसे होता है, जिसमे पौर्शापर्यका सम्बन्ध परिलक्षित होता है, पर रसास्वाद इस क्रममे उपस्थित नहीं होता। कान्यके सहज रसास्वादनके लिए भावना तथा भोगकी शक्तियाँ अधिक उपयुक्त है। (कान्यमें रसः अवका० प्रव०, पृ० २२३) । इस मतके समर्थकोका यह भी कहना है-"लक्षणाका न्यापार विभावादिके साधारणी-करणतक मान भी लिया जाय तो भी स्थायी भावके साधारणीकरणमे लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधापर आश्रित है, किन्तु अभिधा मानसिक भावोंको समझ नेमें सर्वथा अनु पयोगी है, अतः यहाँ वह किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न कर सकेगी ? इस प्रश्नका उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अतः भावकत्वको अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ेगा" (वहां, पृ० २२३)।

भट्टनायक्रके मतके आलो बक्तोका कहना है कि स्थायी भावोक भावनका काम यदि लक्षणा-राक्तिसे नही चलता तो व्यंजनासे सरलतापूर्वक हो सकता है। अभिनवगुप्तने व्यंजनाको स्वीकार कर भट्टनायक्रके द्वारा प्रतिपादित दोनों राक्तियोको निर्धक माना है। रस-व्यंजनाको अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव हो जाता है। सरतके कथन—"काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः"मे भावकत्व भावकी मौलिक राक्ति माना गया है। अतः स्थायी तथा संचारी भाव अपनी इस योग्यतासे स्वतः साधारणीकृत रूपमें अलोकिक रसास्वादके हेलु होते हैं। अभिनवगुप्तने भट्टनायक द्वारा रस-प्रतीतिका विरोध

मी स्वीकार नहीं किया है। अनुमानके अर्थमे प्रतीतिकों भले ही अम्बीकार किया जाय, पर ज्ञानके अर्थमे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रतीतिकें अतिरिक्त भोगका अर्थ क्या हो सकता है? 'रमन व्यापार' कहकर भी उसे प्रतीतिसे भिन्न नहीं सिद्ध किया जा मकता। स्थायी भावका हो भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्तमे बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तुका भोग नहीं किया जा सकता। भोग भी व्यवहार है, अतएव उसके माननेसे प्रतीति भी आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है (अ० भा०: प्र० भा०, १० २०९)। भट्टनायकने स्थायी भावकी प्रतीतिको असम्भव माना है, पर अभिनवगुप्त इन्होंकी प्रतीतिपर विश्वास करते हैं। यह यात दूमरी है कि इस सन्दर्भमें प्रतीति चर्वणा, आस्वाद अथवा भोग आदि नामोने पुकारी जाती है (ध्वन्यालोक, पृ० १८७)। अभिनवने भोगव्यापारको अन्ततः व्यंजना अथवा ध्वनन-व्यापार माना है।

परवर्ती आचार्योंकी आलोचनाके वावजद भट्टनायकका सिद्धान्त बहुत दूरनक सत्यपर आधारित है। इस आचार्यकी मौलिकता तथा सुक्ष्म दृष्टिको स्वीकार करना पडा है। इनके द्वारा प्रतिपादित सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि शब्दोको आगेके आचार्यांने स्वीकृति दी है। रसानुभृतिको ब्रह्मास्वादसहोदर (दे०) कहनेकी परम्परा इसी आचार्यसे प्रारम्भ हुई है। साधारणीकरणका सिद्धान्त (दे०) रस-व्याख्याके क्षेत्रमे इनका सबसे महत्त्वपूर्ण योग माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायकने अपना सिद्धान्त नाटक और कान्य, दोनोको दृष्टिपथमे रखकर स्थापित किया है, फिर भी नाट्यप्रदर्शन उनके सामने अधिक प्रत्यक्ष है वस्तुतः वास्तविक जीवनमे स्थायी भावकी उद्बुद्ध स्थिति और रसनिष्पत्तिके अन्तरको सर्वप्रथम भट्टनायकने ही स्पष्टतः स्वीकार किया है। सामान्य अभिधार्थसे आचार्यका ताल्पर्य प्रत्यक्ष ज्ञान (काव्यवणित वस्तुका पर-प्रत्यक्ष) है। इस स्तरपर विभावादिकका अर्थ केवल लौकिक जीवनकी भावातमक प्रक्रियामे सम्बद्ध माना जा सकता है और इस आधारपर काव्यात्मक रसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जैसा पिछले आचार्योंक मतोके सम्बन्धमे देखा जा चुका है। अतएव आचार्यने भावकत्व-शक्तिकी स्थापना की। उनके अनुमार इस शक्तिते एक ओर प्रेक्षक निजत्व-मोहकी स्थितिसे मुक्त होता है और दूसरी ओर इसीसे विभावादि उसके मानममे साधारणीकृत स्थितिमे प्रत्यक्षीभूत होते हैं, इस प्रकार यह शक्ति प्रेक्षकमे रसको भाव्यमान करती है। वस्तुतः प्रत्येक भावात्मक प्रक्रियामे इच्छाशक्तिका स्थान रहता है। आचार्य द्वारा स्वीकृत भावन-व्यापार इच्छा-शक्तिका रूप ही जान पड़ता है। प्रेक्षकके मनमें नाटकीय कथावस्तके प्रति जो उत्सकता जायत होती है, वह इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे ही सम्भव है और यह इच्छाशक्ति न तो नाटकीय विभावोंके प्रति क्रियाशील है और न अनुभावोसे सम्बन्धित है-वह तो कथावस्तुके प्रदर्शनके प्रति उत्सुक और इच्छ्क है। सम्भवतः इसी कारण राकेश गुप्तने भ्रमवश समस्त काव्यानुभृतिकी भावात्मक प्रक्रियाको काव्यात्मक उत्सकता-मात्र माना है। यह नाटकीय प्रदर्शन

न तो जीवनका प्रत्यक्ष बोध है और न स्मृति-संयोग, इसी आधारपर उत्पत्तिवाद तथा अनुमानवादको अस्वीकार किया गया है इस कलात्मक मानसिक घटनामे प्रत्यक्ष बोध (concepts)से हम कल्पनात्मक सृष्टि कर छेते है, जिसमें स्मृति और अनुभवोका आधार अवस्य है, पर संयोगका क्षेत्र मुक्त है। इसीको आचार्यने भोगशक्ति माना है और इसे अनुभव, स्मृतिसे विलक्षण (भिन्न) स्वीकार किया है। भोगशक्तिसे प्रत्यक्ष बोधको कल्पनात्मक स्तर मिलता है और अनुभृत्यात्मक (affective) वैचित्र्य (चमत्कार)के रूपमे आस्वादनका आनन्द भी मिलता है। इस कल्पनात्मक स्तरकी स्थिति निश्चय ही प्रत्यक्ष जगतसे भिन्न (विरुक्षण) है। काव्य अथवा नाटककी कल्पनात्मक स्थितिमे प्रेक्षक (जो सहृदय तथा संस्कृत भी होता है) अपनी भावनात्मक प्रक्रियामे भी सुख-दःख ने भिन्न अनुभृति यहण करेगा। अ.गे भावनाइ कि 'इच्छा शक्ति'के साथ यह अनुभृति चमत्कार-सौन्दर्यसे अधिकाधिक बढेगी। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह अनुभूति सुख-दुःख(रजस्-तमस्) ते भिन्न है तो उत्सकता इच्छाशक्तिको आकर्षित कैसे करती है ? आन्वार्यके शब्दोंमे उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है-इच्छाशक्तिकी गति ही ऐसी है; सौन्दर्यवीध (सत्त्वगुण) भी संकलप-विकलपते हीन, आनन्दमय है और यह आनन्द स्वयं आकृषित करता है। इस इच्छाशक्तिरूपी भावन-शक्तिमे निजत्वका भाव नहीं रह सकता, क्योंकि कथावस्तुमे प्रम्तुत या प्रदिशत भावनात्मक प्रक्रियाके प्रति प्रेक्षक या पाठक तरस्य ही है। लेकिन यह तरस्थता क्रियाशक्ति तथा इच्छा-शक्तिसे प्रेरित है। इच्छाइक्तिकी इस प्रेरणाके कारण कान्यात्मक भावस्थितिसे स्थायी भाव सम्बन्धी सुख-दुःख अलग रहेगे। इच्छाशक्तिकी प्रेरणा इस स्थितिमे वस्तु-वैचित्र्यकी ओर रहती है। साथ ही, जिस कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करता है, उसमें विभावादिको स्मृतिके अनुभवात्मक संयोगसे साधारणीकृत रूपमे ग्रहण किया जाता है और कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार ही साधारणीकरण (दे०) है।

अभिनवग्रप्त (१०-११ २० ई०) भरतके रससत्रके चौथे व्याख्यःता है। वस्तुनः इनकी 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालीक'पर 'लोचन' नामक टीकाओंके आधारपर रस-सिद्धान्तके अन्य आचार्योंके मतोंकी स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवग्रप्तका सिद्धान्त अभिन्यक्तिवादके नामसे प्रसिद्ध है, जो प्रायः शैव दर्शन-पर आधारित माना जाता है। ऊपर भट्टनायकके भोगवाद-की आलोचनाके प्रसंगमें कहा गया है कि अभिनवगुप्तने उनकी शक्तियोकी कल्पनाको अस्तीकार करके यह माना है कि यह कार्य लक्षणा तथा न्यंजनासे सम्पादित हो जाता है। इस प्रमुख अन्तरके अतिरिक्त अभिनवगुप्तने भट्ट-नायकके मनकी अन्य बातोको स्वीकार किया है। परन्तु उनका इस विषयमें महत्त्वपूर्ण योग है-सामाजिकोंके अन्तःकरणमें वासनारूपसे स्थायी भग्वोंकी स्वीकृति। भट्टनायककी विवेचनामें इस बातका कोई संकेत नहीं है कि प्रेक्षक अथवा पाठकके स्वयके भावों से रसास्वादनका कोई तास्विक सम्बन्ध है। प्रेक्षक या पाठककी स्वयंकी

मनःस्थितिमें रसनिष्पत्तिके लिए क्या कोई मनोवैज्ञानिक आधार है ? इस प्रश्नका उत्तर अभिनवके पूर्वकी व्याख्याओं के आधारपर नहीं दिया जा सकता। अभिनवगप्तने सामाजिकके अन्तः करणमे वासनारूप मंस्कारोकी कल्पना करके रसका सामाजिकके भावोंसे सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनके अनुसार रसनिष्पत्तिके लिए सामाजिकमें अनादि वासना अनिवार्य है और यह वासना सबसे होती है। वासना-संवाद ही रसका हेत्र है। इन्ही संस्कारोको स्थायी भावकी संज्ञा दी गयी है। ये सभी सामाजिकोंमें जन्मसे होते है और किसी-न-किसी स्थितिमे सदैव बने रहते है। इनके विना कोई भी प्राणी नहीं होता (अ०भा० : प्र० भा०, २८९)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सामाजिक इसी कारण रसाम्वादनका समान अधिकारी माना जा सकता है। भरतके द्वारा सामाजिकोके लिए प्रयुक्त 'सुमनस्' शब्दका उल्लेख किया गया है, अभिनवने इसीके आधारपर उसके लिए 'सहदय' शब्दका प्रदोग किया है। सहदयताके लिए कान्यान शीलन तथा अभ्यासकी पहली शर्त है। काव्यानुशीलनके अभ्याससे सामाजिकका मन-मुक्र स्वच्छ और विशद हो जाता है और उमपर प्रदर्शित अथवा वर्गित भावोंका प्रभाव गम्भीर होकर पडता है और इस स्थितिमे सामाजिक तन्मय होकर हृदयसंवाद द्वारा रसास्वाद करता है (अ० भा०, पृ० २८६)।

अभिनवने सहदयके रसास्वादमे विघ्नों (दे०)को भी माना है और उनके दूर करनेका उपाय विभावोंके प्रदर्शन तथा वर्णनके चमत्कारको स्त्रीकार किया है। यही अद्भुत चमत्कार भोगरूप अथवा स्पन्दरूप होता है। यह दशा न लौकिक है और न मिथ्या। न इसे अनिर्वचनीय कह सकते है, न लौकिकके मददा और न आरोपमात्र (अ० भा०, पृ० २८१) । अभिनवगुप्तने विभावादिके रसास्वाद होनेकी योग्यताके लिए भड़नायकके साधारणीकरण (दे०) सिद्धान्तको स्वीकार किया है । उन्होंने रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें चार स्थितियोंकी कल्पना की है। पहली स्थितिमें रंगमंचपर (दृश्य काव्यमे) व्यक्ति अथवा स्थिनिविशेषका प्रत्यक्ष बोध होता है। इसके बादकी स्थितिमे रंगमचके वाता-वरण (का॰यकी वर्णना) से कथावस्तुका यह विशेषका भाव दर होने लगता है और पात्र तथा स्थितियाँ सामान्य रूपमे आती है। इस स्थितिमे व्यक्तिविशेषका बोध तो नही होता, किन्तु दैत बना रहना है , तीसरी अवस्थामे चित्तमें अवस्थित स्थायी भाव न तो उसके अपने रह जाते है और न किसी अन्यसे उनका किसी प्रकारका सम्बन्ध रहता है। विभावादिके विशेषत्व-लोपके साथ अन्तःकरणमें स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते है। अन्तिम स्थितिमे निर्विन्न होकर सहदय साधारणीकृत रूपमे उद्बुद्ध स्थायीका रसरूपमें आस्वादन करता है (अ० भा०: प्र० भा०, पृ० २०९)। अभिनवके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। विभाव विभावना-व्यापारके द्वारा स्थायी भावको अंकरित करता है, अनुभाव अनुभावना-न्यापारसे इस स्थायीको अनुभवयोग्य बना देते हैं और संचारी भाव अनुरंजन-व्यापारके द्वारा उसे पूर्णतया ब्यंजित कर देते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक अथवा पाठकके

स्थायी भाव रसरूपमें प्रकट अथवा व्यक्त होते हैं।

अभिनवगुप्तका अभिन्यक्तिवाद शैव दर्शन(दे०) पर आधारित है, जो स्वतः अद्वैतवादी (दे०) है। इस सिद्धान्त-में परम शिवको मायाजनित देश-कालकी सीमासे मुक्त माना गया है और इस मुक्तावस्थाके कारण इसे चमत्कार भी कहा गया है। अभिनवगुप्तने विघ्नविनिर्मुक्त, संवित्, चमत्कार, रसना, आस्वाद आदिको पर्याय कहा है। विमर्श तथा चमत्कार एक ही माने गये है, अतएव अभिनव-के अनुसार आस्वाद आदि विमर्शके भी पर्याय है। उन्होने इस आस्वादको विश्रान्ति, समापत्ति तथा विव्वविनिर्मुक्त कहकर परम शिवकी मुक्तावस्था अथवा आत्मस्य स्थितिकी ओर संकेत किया है। यही विमर्श है। अभिनव द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावोकी वासनारूपमें अन्तःकरणमे स्थिति तथा रसभी निविध प्रतीति इस दाई निक सिद्धान्तके अनुकृत है। शिवकी आन्तरिक इच्छाशक्तिसे सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है और उनकी इच्छाशक्ति निविध है। इसी प्रकार सहदयके अन्तःकरणमे वासनारूपमे अवस्थित स्थायी भाव 'निविध्न होकर रसरूपमे अभिव्यक्त होते है। भट्टनायकके सत्त्व, रज तथा तमले सम्बद्ध भोगवादको अभिनवने अस्वीकार कर ब्रह्मास्वादसहोदररूप रसानुभृति-को गुणातीन ही माना है। इसीसे उसे व्यक्ति तथा स्थित-सम्बन्धसे मुक्त मानकर 'परम भोग' तथा 'विश्रान्ति' माना गया है। इसकी आत्मस्थ अवस्था ही निरपेक्ष आनन्द है। भोगकी स्थिति वास्तविक आनन्द नहीं मानी जा सकती। भोगकी अवस्थामे भोगमे ही लीन हो जाना तथा विषयको विस्मृत कर केवल स्वानुभूतिमे स्थित होना आनन्द कहा जायगा (काव्यमे रस, पृ० २३७) ।

अभिव्यक्तिवादके आलोचकोंने अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेनेका अर्थ रसकी पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना माना है। बिना किसी वस्तुको पूर्वस्थितिके उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। वस्तुतः इस आरोपका उत्तर अभिनवगुप्तने स्वय दिया है-जैसे चावल भातके रूपमें आ जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव रसरूपमें अभिन्यक्त होता है। दसरा आरोप है कि यदि स्थायी भाव अपनी सुक्ष्म स्थितिमे विभावान भावादिके संयोगसे रसरूपमे अभिव्यक्त होते है नो रसकी कोटियाँ माननी पड़ेगी। परन्तु वस्तुतः यह संयोग विभावानुभावादिकका एक साथ स्थायीके साथ घटित होकर रसरूपमे व्यंजित होता है, उनके पृथक-पृथक संयोगसे नहीं। कुछ आलोचकोंने इस प्रकार विभावादि नथा रसमे कारण-कार्य-सम्बन्धके साथ विभावादिमे पौर्वापर्य भी माननेकी बात कही है। अभिनवके द्वारा साहचर्य-सम्बन्ध माना गया है, अतएव कार्य-कारण सम्बन्ध मानना उचित न होगा । परिणामतः कार्य-कारणपर आधारित अभिन्यक्ति-वाद भी स्वीकृत नहीं हो सकता। इस आरोपके प्रत्या-ख्यानके लिए परवर्ती आचार्योंने 'दीपघटन्याय'का आश्रय लिया है। टीपक अन्धकारमें रखे हुए घटको प्रकाशित करता है, दीपके साथ-साथ वह भी गोचर हो जाता है। इस प्रकार यहाँ दीपक घटको प्रकाशिन करनेका उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार रस विभावादिके साथ ही व्यंजित हो जाता है, उनमें पौर्वापर्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं। परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दीप और घटकी स्थिति समकालिक होकर भी उनमे पृथक्तवका बोध बना रहता है, पर रसप्रतीति विभावादिकी 'सवलिता-प्रतीति' है। इसमें विभावादिका पृथक-पृथक ज्ञान नहीं रहता। अभिनवने इसी विचित्रताके कारण रसको अलैकिक मान लिया है (आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमे रस, पृ० २४०)। महिमभट्टने 'व्यक्तिविवेक'मे अभिव्यक्तिके तीन प्रकारोंकी कल्पना करके उसका खण्डन किया है। पहली स्थिति कारणमे कार्यको निहित मानने की है, जैने, दूधसे दहीकी अभिव्यक्ति। दूसरी स्थिति कार्यके रहते विना कारणके अभिन्यक्त न होनेकी स्थिति, जैसे दीप और घटका उदा-हरण । इन दोनोंको ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमे ध्वन्यर्थ तो प्रत्यक्ष ही है। तीसरी म्थितिमे पूर्व अनुभूत विषयकी स्मृति द्वारा अभिव्यक्ति हो सकती है, जैसे धुएँमे आगकी व्यंजना ! महिमभट्ट इसे ही रसप्रतीतिका उदाहरण मानते है और इसके आधारपर यह मिद्ध करते है कि इस रस-ध्वनिकी प्रतीति भी परिणाम-स्वरूप है, क्योंकि अमंलक्ष्यक्रममें भी किसी-न-किसी रूपमें क्रम स्वीकृत है। अतएव उनके विचारसे रसप्रतीतिको अभिव्यक्ति कहनेका कोई अर्थ नहीं है (व्य० वि०, पृ० ७८) । आनन्द प्रकाश दीक्षितका वहना है कि महिमभड़के आक्षेपोंका कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अभिन्यक्तिको परिभाषा है तथा उन्होने जिन उदाहरणोंको लिया है, वे अभिनव द्वारा रूीकृत नहीं है। घट-दीपकका उदाहरण मात्र इस बातको व्यक्त करनेके लिए दिया गया था कि व्यंजितकी अनुभृति व्यंजक-निर्पेक्ष नहीं है।

पहले ही यहा जा चुना है कि सट्टनायकके भोगवादमे मनोविज्ञानका पर्याप्त आधार है। वस्तुतः भट्टनायकके सामने नारकका आदर्श अधिक प्रत्यक्ष लगता है और अभिनवगुप्तके सामने कान्यका । मानसिक प्रक्रियाका भोगवादकी शक्तियोंने अधिक स्पष्टतः उल्लेख है। वैसे अभिधाके प्रत्यक्ष बोध और प्रप्रत्यक्ष (concept), लक्षणा-मे स्मृतिके विभिन्न संयोग और व्यंजना द्वारा कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोकी व्याख्या हो जाती है। इसमे मानसके केवल ज्ञानात्मक पक्षपर अधिक वल दिया गया है। इस आधारपर यह व्याख्या सत्य भी है, पर इसमे मानसिक प्रक्रियाके दो पक्षोका, अर्थात् अनुभूति (रागात्मक) और इच्छा शक्ति (चिकी षी)का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव भोगवादी व्याख्या रसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याके अधिक निकट है। पर इसमे रस्निष्पत्तिका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, इसका उत्तर नहीं मिलता। प्रेक्षककी कल्पनातक उसमे स्वीकृत है, पर उसमे भावात्मक रसास्वादका आधार क्या है, जिसकी प्रेक्षक या पाठक भावना द्वारा अनुभूति करता है और भोग द्वारा कल्पित और आस्वादित करता है ? दूसरा एक और प्रश्न उठता है, काव्यार्थके वैचित्र्यसे प्रेक्षक या पाठकके मनकी चमत्कृत स्थितिके अतिरिक्त रसनिष्पत्तिके लिए साक्ष्य क्या हे ? इन प्रदनो और जिज्ञासाओका समाधान अभिन्यक्तिवादसे अवस्य होता है। इसमे रसनिष्पत्तिके लिए कल्पनाकी और संकेत किया गया है। सामाजिककी मावस्थितिमे वासनारूपसे

जो स्थायी भावोका संस्कार अभिनवगुप्तने स्वीकार किया है, उसके आधारपर सामाजिक साधारणीकृत विभावादिसे भावात्मक स्थिति(emotional tendency)की कल्पना करनेमे समर्थ होता है। जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष बोधोके संचित अनुभव-कोशके आधारपर वस्तुस्थितियोकी स्मृति और कल्पना करते है, उसी प्रकार वासनामे स्थायी भावोके संचित संस्कारोके आधारपर प्रेक्षक या पाठक भावनात्मक स्थितियोको कल्पना करनेमे सफल होता है। अव सम्भावित शंका रह जाती है कि इस कल्पनामे भावात्मक स्थितिके प्रत्यक्षीकरणसे आनन्दकी अनुभूति ही क्यों होती है ? पहली बात है कि कवि और नाटककारके मनमे कथावस्तकी कल्पना इसी आनन्दानुभूतिके साथ होती है और प्रेक्षक-पाठक उसीका पनः प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके अति-रिक्त कलात्मक और साधारण कल्पनामे जो अन्तर है, उससे उनकी अनुभृतियोमे भी अन्तर हो जाता है। काव्यकी कल्पनामे प्रेक्षक-पाठकमें वास्तविक जीवनसे सम्बद्ध भावनाओका उदबोधन नहीं होता। आचार्योंने काव्य अथवा नाटकसे भावतादात्म्य करनेवाले, अर्थात् उसे अपने जीवनकी घटनाओंके रूपमे समझ लेनेवाले पाठक या प्रेक्षकको संस्कृत भावज्ञकी वोटिमें माना ही नही है। साधारण जीवनकी कल्पनामे अपने जीवनका सम्बन्ध होता है और इस कारण व्यक्ति उसके प्रति अपनी कल्पना-शक्तिको इस प्रकार निरपेक्ष नहीं कर पाता, जो काव्य और कलाकी विशेषता है। दूसरी बात है, जिसका समाधान अभिव्यक्तिवादसे ही सम्भव हो सका है। साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तको कल्पनामे प्रहण करानेमे ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक या पाठक उस भावात्मक स्थितिको अपने वासनारूप स्थित स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थिति (दे०)मे यहण करता है। साधारणीकरणको दोनो पक्षोमे स्वीकार करनेसे एक ओर कल्पना करनेके लिए आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावात्मक स्थिति साधारणीकृत स्थायी भावोकी ओर संकेत करती है, अर्थात् यह भावात्मक स्थिति पूर्वसंचित स्थायी भावोके व्यापक आधारपर सम्भव होती है। इससे हमारे दूसरे प्रश्नका उत्तर भी मिल जाता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि कान्यके अर्थग्रहणमे पाठक(प्रेक्षक)के मनमे कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति न्याप्त हो जाती है, जो कान्यके सौन्दर्य-चमत्कारके साथ आनन्दानुभृतिसे सम्बन्धित हो जाती है। भट्टनायकके भोगवादके सम्बन्धमे कहा गया है कि पाठककी इच्छाशक्ति निरपेक्ष क्रियाशीलतामे इस समस्त मानसिक घटनाका अनुभूतिपक्ष है और भावनात्मक स्थितिकी कल्पना उसका आधार है। आचार्योंने कार्य-कारण का क्रम न स्वीकार करके रसनिष्पत्तिको एक पूर्ण मानसिक घटना माना है। यहाँ अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दको मनोवैज्ञानिक अर्थमें लौकिक घटनाके प्रत्यक्षोसे भिन्न काल्पनिक अर्थमे मानना आचार्यका अभिप्राय है। आस्वादको रमनिष्पत्तिमें स्वीकार करके आचार्यने काव्य-सौन्दर्यके उद्बोधमें इच्छाशक्तिका सचेष्ट होना स्वीकार किया है और संकल्प विकल्पमे रहित मानकर काव्य द्वारा व्यंजित भावनात्मक स्थितिको कल्पनात्मक सौन्दर्यसे

सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार अभिन्यक्तिवादने रसनिष्पत्तिके उन मनोवैज्ञानिक आधारोको उद्घाटित किया है, जो भोगवादतक स्पष्ट नहीं हो सके थे (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३ : भा०२)।

आगेके आचार्योंमें अभिनवग्रप्तका अभिन्यक्तिवाद स्वीकृत रहा। मम्मट (११ श० ई०)ने उनके मतको ही प्रतिष्ठा प्रदान की है। जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०)ने अपने 'रस-गंगाधर'में भी इसीका आधार ग्रहण किया है। जगन्नाथने अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तको वेदान्त-दर्शनका आधार प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने सामाजिक-के अन्तः करणमे संचित संस्काररूप वासनाको माना है, पर आत्माको इस स्थितिमे अज्ञानोपहित माना है। उनके अनुसार 'व्यक्त'का अर्थ है अज्ञानरूप आवरणका नष्ट हो जाना । अज्ञानरूप आवरणके नष्ट होनेका अभिप्राय वास्तव मे चैतन्यका विषय होना अथवा उसके द्वारा प्रकाशित होना माना गया है। किसी आच्छादनसे ढॅका हुआ दीपक उससे मक्त हो जानेपर चारो ओरके पदार्थीको प्रकाशित करता है और स्वतः भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चैतन्यस्ररूप आत्मा विभावादिसे मिश्रित रति आदिको प्रकाशित करती है और खयं प्रकाशित होती है। संसारके पदार्थींको अन्तः व.रणसे युक्त आत्मा भासित करती है और अन्तःकरणके रत्यादि धर्म उसके द्वारा ही प्रकाशित होते है (हि० र० गं०, पृ० ५५-५८)। इस व्याख्याके सम्बन्धमे कठिनाई प्रस्तुत हुई कि अन्तःकरणमे वासनारूपसे स्थित रत्यादिका प्रकाशन कहाँतक सम्भव है ? स्थाथीका मान भी लिया जाय तो विभावादि तो अन्तःकरणसे बाह्य है, उनका प्रकाशन आत्मा द्वारा कैसे होगा ? दूमरी बात यह भी है कि अन्तः करणके धर्मके रूपमे इनका प्रकाशक रस नित्य होना चाहिए, जैसा वह नहीं है। जगन्नाथने स्वप्नमे देखे हुए अश्व तथा रॉगेमे चॉदोकी प्रतीतिके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विभावादिका साक्षिभास्य हो सकता है, अर्थात वे आत्मचैतन्यके द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं और रसकी नित्यताके सम्बन्धमे उनका मत है कि वस्तृतः रस विभावादिके सम्बन्धके कारण अनित्य माने जाते है। ये विभावादि नष्ट और प्रस्तुत होते है। इसके साथ ही अज्ञानरूप आवरण कभी नष्ट हो जाता है और कभी नही और इसीके अनुसार रस भी व्यक्त और विलीन होता है।

जगन्नाथकी व्याख्याका एक दूसरा रूप है, जिसमे रसनिष्पत्तिके लिए अलैकिक क्रियाका आश्रय नहीं लिया
गया है। सहृदयकी चित्तवृत्ति विशेष योग्यताके कारण
अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादिके द्वारा उदीप्त अपनी
कल्पनामे स्थायी भावसे युक्त आत्मानन्दमे तल्लीन हो जाती
है। वह किसी अन्य पदार्थका बोध उस समय नहीं कर
पाती। वस्तुतः इस स्थितिमे आचार्यने आवरणहीन निद्विशिष्ट स्थायी भावोकी स्थितिको ही रस स्कीकार किया है
(हि० र० गं०, पृ० ६०-६१)। इस आनन्दको लौकिक
सुखोके समान नहीं माना जा सकता। अन्य सुख अन्तः
करणकी वृत्तियोंसे युक्त हैं, जब कि यह शुद्ध चैतन्यरूप
है, इसील्टिए आनन्दसय भी है। इस प्रकार जगन्नाथकी

पहली व्याख्याके अनुसार ज्ञानक्ष्य आत्माके द्वारा प्रकाशित होनेवाले स्थायी भावको रस स्वीकार किया गया है और दूसरी व्याख्याके अनुसार स्थायी भावके विषयमे चित्तवृत्ति सम्बन्धी तल्लीनता (ज्ञान)को रस माना गया है। आनन्द-प्रकाश दीक्षितका कहना है कि "वाहे भग्नावरण-चिद्विशिष्टको रस-चर्वण माना जाय अथवा अन्तःकरण-वृत्तिको आनन्दमयताको—दोनों पक्षोंमे किसीको भी माननेपर रसकी आनन्दमयता असन्दिग्ध ठहरती है" (काव्यमे रस, पृ० २४८)। आनन्दमय होकर भी रसास्वाद ब्रह्मानन्दते भिन्न है। समाधिजन्य ब्रह्मानन्द विषयसे असम्पृक्त होनेपर प्राप्त होता है, जब कि रसास्वादमे विभावादि विषयोका संयोग परमावश्यक है। जगन्नाथने रसास्वादको व्यंजनाके अर्थमे शाब्दी कहा है, अर्थात् यह काव्यके शब्दार्थपर निर्भर है। साथ ही इसका अनुभव आन्तरिक है, अत्यव्य इसे अपरोक्षात्मिकता भी कहा गया है।

जगन्नाथके 'रसगंगाधर'मे नवीनोके नामपर एक मत दिया गया है, जो उनके द्वारा प्रस्तुत ग्यारह मतोमे है। इस सिद्धान्तमे दोषदृष्टिकी प्रधानता है। सर्वप्रथम व्यजना-वृत्तिसे आलम्बनविषयक आश्रयकी रतिका ज्ञान सहदयको होता है। इसके बाद सहदयताके कारण पाठकके मनमें एक दोषभावना जागरित होती है, जिससे उसकी अन्तरात्मा कल्पित विभावादिसे आच्छादित हो जाती है और उसमे सीपके दकड़ेमे चॉदीकी प्रतीतिके सहश इस दोषके कारण अनिर्वचनीय सत् रूप रत्यादि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं चित्तवृत्तियोंके आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होनेको रसास्वाद कहते है। यह रसनिष्पत्ति दोषका कार्य है और उसके साथ ही नष्ट हो जाती है। इनके अनुसार यह न सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है। फिर भी इसे सुखरूप कहा जाता है, क्योंकि प्रतीतिके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले सखने इसका अन्तर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य भी मान लिया जाता है (हि॰ र॰ गं॰, पू॰ ६७-६८) । इन सिद्धान्तवादियोने साधारणीकरणको दोषपर आधारित माना है, क्योंकि जब रत्यादि स्थायी भाव विशेष-से सामान्य होकर हमारे-जैसे लगते हैं, तब वस्तुतः विभा-वादि हमको आच्छादित ही कर लेते हैं और वासनारूपमे स्यायियोको स्थिति भी दोष-कल्पना ही है। अपनी प्रत्यक्ष सीमाओके कारण यह सिद्धान्त मान्यता नही प्राप्त कर सका। जगन्नाथने भ्रमवादी सिद्धान्तका भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार आलम्बन (शकुन्तलादि)के सम्बन्धमें रत्यादि स्थायी भावयुक्त आश्रय (दुष्यन्तादि)के साथ अभेद-का मनःकल्पित ज्ञान ही रस है (वही, पृ० २७) । पर इस प्रकार तो स्वप्नज्ञान भी रस कहा जायगा। कल्पित मन:-स्थितियोके अनुभव किस आधारपर सम्भव हो सकते है ? इसके अतिरिक्त भ्रम केवल ज्ञानरूप है, उसका आम्बाद किस प्रकार हो सकता है ? (कान्यमे रस, पृ० २५९)।

हिन्दीके मध्यकालमें रसिनिष्पत्तिके सम्बन्धमे कोई चर्चा नहीं हुई। आधुनिक हिन्दीके विचारकोमे रामचन्द्र शुक्क, इयामसुन्दर दास, गुलावराय, केशव मिश्र, रामदहिन मिश्र तथा नगेन्द्र आदिने रस सिद्धान्तकी विवेचना की है और

उसकी महत्त्व भी प्रदान किया है। प्रायः रसनिष्पत्ति सम्बन्धी उनके विचार अभिनवके सिद्धान्तको स्वीकार करते है, पर साधारणीकरण (दे०)की स्थितिके सम्बन्धमे मौलिक ढंगमे सोचनेका प्रयत्न किया गया है। रामचन्द्र शहने अपनी साधारणीकरणकी च्याख्याके अनुसार रसास्वादकी विभिन्न कोटियाँ स्वीकार की-उत्तम, मध्यम तथा निक्रष्ट, जो एक प्रकारमे प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके समान है। पर रामचन्द्र शक्कका दृष्टिकीण लोक-कल्याणके आदर्शपर प्रतिष्ठित है और उनके रस सम्बन्धी आलम्बनके साधारणीकरण और इस प्रकार आश्रयसे तादात्म्यके सिद्धान्तके मूलमें यही आदर्श है। इसके विपरीत नगेन्द्रने कविकी मनःस्थितिसे तादात्म्य मानकर रसकी व्याख्या की है। रामचन्द्र शक्क्षी व्याख्याको आनन्दप्रकाश दीक्षितंने स्ीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार कवि सहदय सामाजिकको अन्ततः दृष्टिमे रखकर अपने कान्यकी रचना करना है (विशेषके लिए दे॰ 'साधारणीकरण')।

रामचन्द्र शुक्ककी व्याख्यामे रसको मूल भावनात्मक प्रक्रियाके समकक्ष समझनेका भ्रम अवश्य है, अन्यथा न तो उन्हें रमकोटियोंकी स्थापना करनी पडती और न लोक-कल्याणके विरुद्ध आश्रयके भावोंसे तादातम्य स्थापित करने-की कठिनाई ही सामने आती । एक प्रकारसे रामचन्द्र शुक्त-ने शंकककी अनुमितिप्रतीतिको साधारणीकरणके सिद्धान्तके आधारपर स्थापित किया है। राकेश ग्रप्तने तो एक प्रकार-से रसास्वादनमे भ्रमात्मक अनुमानको स्वीकार किया है। वस्तुनः इन विचारकोंने अपने विचारमे साधारण पाठक अथवा दर्शकोके मानसिक स्तरको सामने रखनेका प्रयक्ष किया है। अपने-अपने विभिन्न मानसिक स्तरों, संस्कारों तथा अभ्यासके अनुसार कान्य अथवा नाटकके रसका, विभिन्न पाठक अथवा दर्शक कई स्तरोंपर रसास्वाद प्राप्त करते है। यह ठीक है। इन विभिन्न स्तरीके कारण ही रामचन्द्र श्रञ्जने रसानुभृतिके कई स्तर स्वीकार किये है और राकेश गप्तने रसनिष्पत्तिको अत्यन्त साधारण तथा अम्स्कृत जनकी दृष्टिसे समझनेका प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक लोग आश्रयसे अपना तादात्म्य (आरोप) कर लेते हैं और उसके सख-दःखको महण करते हैं, उसके क्रोध-आवेगमे प्रवाहित होते है। ऐसे लोगोकी भी कभी नहीं है (जैसे आजके सिनेमा-दर्शक), जो कथाके स्थानपर मात्र आश्रय और आलम्बन-विषयक भावनाओंमे इबते-उतराते रहते है । पर नाटक अथवा कान्यके वास्तविक रसास्वादनको इस रूपमे नहीं यहण किया जा सकता। इस रसनिष्पत्तिमे दर्शक अथवा पाठकका कथावस्त्रके अभिनय अथवा वर्णनके प्रति जो आकर्षण है, वह प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्तिके सौन्दर्यका होता है, घटनात्मक कौत्रहलजन्य नहीं। इसके साथ ही उसकी मनःस्थिति प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्री और घटनाओंके प्रति असम्पृक्त (संविद्विश्रान्त) ही रहती है। इस प्रसंगमें अभिनवगुप्तकी व्याख्या सबसे अधिक वास्तविकताके निकट है और उनके साधारणीकरणका भाव विभावादिकसे अथवा उनके भावोके साथ तादात्म्यसे नहीं लिया जा सकता (दे०)।

रसनिष्पत्तिका मूलाधार सौन्दर्यानुभूति है; या यह

भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्यकी अनुभूतिके आनन्दसे भिन्न रसास्वादका अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदिका वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रसिस्डान्त काव्यकी व्याख्या मनुष्यके मनोभावोंके आधारपर करनेका प्रयत्न करता है। रसानुभूतिके क्षणमे सब स्थायी समान है, विभाव समान है, अनुभाव और संचारी समान है। रसानुभूतिकी तीव्रता आदिमें काव्याभिव्यक्तिके कारण कमी हो सकती हैं, पर न तो दो रसोमें तात्विक भेद होता है और न रसके स्तर अथवा कोटियाँ हो सम्भव है (रघुवंदा: प्रकृति और काव्य, भाग १: ५)।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे० : हिस्ट्री ऑव पोएटिवस; ए० शंकरन : द थ्योरी ऑव रस एण्ड ध्विन; आनन्दप्रकाश दीक्षित : कान्यमे रस (अप्रकाशित प्रबन्ध)।] --र०

रसनोपमा -दे॰ 'उपमा', छठा प्रकार। रसपरिवर्तनवकता-दे॰ 'प्रबन्धवक्रता', पहला नियामक । रसराज-शृंगार रसको आचार्यों द्वारा 'रसराज'की उपाधि • प्रदान की गयी है। भरत मुनिका कथन है कि संसारमे जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह श्रुगारके भीतर समाविष्ट हो सकता है। 'अग्निपुराण'मे कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एकमात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रस्त हुए हैं- "तद्भेदाः कामितरे हास्याचा अप्यनेकशः" । प्रकृतिवादी शृंगारको 'आद्य रस' मानते है। हिन्दीके आचार्योंने श्वगारकी रसराजताका तन्मयतापूर्वक व्याख्यान किया है। केशव नवरसोंमे शृंगारको 'नायक' कहते है। मतिरामने उसे स्पष्ट 'रसराज' कहा है तथा अपनी प्रसिद्ध शृंगारी रचनाको 'रसराज'का नाम ही प्रदान किया है। सरदार कविने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-सुधानिधि'-में शृंगारके रसराजत्वका तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। वर्तमान कालमे रामचन्द्र शुक्कने रितको एकमात्र शुद्ध स्थायी मानते हुए शृगारकी प्रधानता स्वीकार की है (र० मी०, पृ० १७३)।

निम्नलिखित कारणोसे शृंगार रसराज माना गया है- श्रंगारभावकी व्यापकता—श्रुगारका मूळ भाव रति अथवा काम, समस्त विश्वमें व्याप्त है। क्या नर-नारी, क्या पशु-पक्षी, क्या लता-पादप, सृष्टिके सकल जंगम-स्थावर इस भावकी अनुभृतिसं अनुप्राणित है, क्योंकि प्रजनन तथा स्व-वंश-रक्षणकी निसर्गज प्रवृत्तिको इस भावसे अनुमोदन एवं परिषोषण प्राप्त होता है। 'बृहदारण्यक'मे तो पुरुष-(भगवान्)को ही काममय कहा गया है। आचार्योंने काम-भावकी हृद्यता तथा सकलजातिसुलभताका उल्लेख किया है। रुद्रटने कहा है कि शृंगार रस (आस्वाद्यमान कामभाव) आबालवृद्ध सभीमें व्याप्त है, अतः इसकी रचना सम्यक रूपसे करनी चाहिए । २. उत्कट आस्वाद्यता-अन्य रसोंकी तुळनामे शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी रित मानव-हृदयस्थ 'अहंकार' अथवा 'अस्मिता'से उत्पन्न बताया गया है। अतएव, मनोवैद्यानिक दृष्टिसे रतिका चित्रण अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक आस्वादित हो सकता है। ३. अन्य रसोंको समाहत करनेकी

योग्यता-बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रसोंसे शृंगारका विरोध बताया गया है.। लेकिन आचायोंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है। हिन्दीके आचार्य देवका यह कथन है कि 'शृंगार रस'की छत्रच्छायामें सभी रस एकत्र दिखलाई पड सकते है। देवके निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य है—''निर्मल स्याम मिंगार हरि, देव अकास अनन्त। उडि उडि खग ज्यो और रस, विबस न पावत अन्त । भाव सहित सिगारमे, नवरस झलक अजल । ज्यो कंकनमनि कनकको. ताहीमे नवरत । भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार । जो सम्पति दम्पतिनुकी, जाको जग बिस्तार" (भ० वि०)। ४. सभी संचारियों एवं साचिकोंको आत्म-सात् करनेकी सामर्थ- आचार्थोंके अनुसार त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण, शृगारमे निषिद्ध है। लेकिन, शृंगारी रचनाओमे इन त्याज्य व्यभिचारियोका सुन्दर एवं सफल प्रयोग मिलता है। वियोगकी काम-दशाओं मरण या मृति गृहीत ही है। शृंगारमे होनेवाले स्तम्म, रोमांच, स्वरभग, कम्प तथा निर्वलताका हेतु भय अथवा त्रास भी होता है। उसी प्रकार जुम्भा आलस्य-जनित ही है। विब्वोक हाव शृंगारमे गृहीत है और इसमें उग्रता एवं जुगुप्सा, दोनो पाये जाते है। प्रौढा अधीरा एवं मानिनी नाथिकाओमे ये दोनो संचारी अनेक अवसरों-पर उम्र रूप धारण करते दीखते है। इस तरह सभी संचारी शृंगारमे प्रविष्ट होते है, जब कि अन्य रसोके संचारियोकी संख्या परिमित है। सात्त्विक भावोंका पूर्ण सामंजस्य तथा 'हाव' नामक कुछ अन्य दशाएँ भी शृगारमे ही घटती हैं। इन्ही विशेषताओके कारण भोजराजने 'शृंगारप्रकाश'-मे कहा है कि रति आदि उनचास भाव शृगारको घरकर उसे वैसे ही समृद्ध करने है, जैसे किरणें सूर्यको घेरकर उसकी दीप्तिको उदीपित करती है। % विभावोंकी विशे-षता-श्वारके आलम्बन नायक-नायिका है, .जिनके साथ पाठक या श्रोता पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकते है। अन्य रसोके आलम्बनोमे यह विशेषता नही होती। शृंगार-के उद्दीपन विभाव भी अन्य रसोकी तुलनामें अधिक व्यापक, रमणीय एवं हृदयावर्जक है। जैसा सरदार कविका कथन है, अन्य रसोके उद्दीपन अधिकतर मानुषी है, जब कि शृंगारके उद्दीपन म नुषी एव देवी (प्राकृतिक, यथा ऋतु-रमणीयता इत्यादि), दोनो है। शृंगारके उद्दीपन सर्वत्र तथा बारहो मास सुलभ है, जब कि अन्य रसोंमे ऐसी बात नहीं है। संयोग एवं विप्रलम्भके समान भेद भी अन्य रसोंमे नहीं होते। अतएव, मानव-हृदयकी जितनी अधिक वृत्तियोके चित्रणका अवसर इस रसमे उपलब्ध है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। भोजराजने ठीक ही कहा है-"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् । स एव चेद-शृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्"(स० क०, ५:३)। - र० ति० रसवत् आदि-रसवत् आदि वर्गके प्राचीनों द्वारा स्वीकृत अलंकार । भामह, दण्डी तथा उद्भटने अलंकारीके अन्तर्गत इस रूपमे रस, भाव आदिको स्वीकार किया है। बादके आचार्योंने इनको अलंकार नहीं माना है और अपरांग-व्यंग्यके अन्तर्गत इनकी स्थिति स्वीकार की है। परन्तु रूय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितने इनका विवेचन

अवस्य कर दिया है। हिन्दी अलंकारशास्त्रके अन्तर्गत हनकी न्यापक रूपसे उपेक्षा की गयी है। किसी प्रधान आचार्यने इनको अलंकारोमें नहीं गिनाया है, केवल प्रधान करने इनको विवेचन एक अलग अलंकार-प्रकरणमे किया है। आधुनिक विवेचकोने भी इनको अलंकार न मानकर अपरांगन्यंग्य(गुणीभूत न्यंग्य)का विषय माना है (कन्हैयान लाल पोदार: अ० मं०, पृ० ४२४)।

विश्वनाथके अनुसार इनका लक्षण है—''जब रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावप्रशम प्रधान न रहकर गुणीभृत (अप्रधान) बन जाते है तो क्रमशः रसवत् , प्रेय (प्रेयस ), ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार माने जाते है (सा० द०, १०: ९५-९६) । रसवत् - जब एक रस किसी दूसरे रस-का अथवा भाव, रसाभास भावाभास आदिका अंग हो जाता है, तब उसे रसवत् अलंकार कहते है। पर पद्माकरके अनुसार—"सो रस जह अग औरको, है रसवत तिहि ठाम" (पद्मा॰, २८८)। उदा॰—"जिहि राखी ब्रज-मण्डली, ज़ गिरि सुकरपर छाइ। तिज गुमान तासों भट्ट, मिलै हिये हरषाइ" (पद्मा॰, २८९), यहाँ दयावीर रस प्रधान न रहकर शृंगारका अंग हो गया है। प्रेयस्-जहाँ एक भाव किसी अन्य भावका अंग हो जाता हो वहाँ प्रेयस अलंकार होता है। पद्माकरके अनुसार—"भाव-अंग रस भावको, जहँ तहँ प्रेयस ठान" (पद्मा०, २९०)। उदा०-"प्रम-पद-सौह करे कहत, वाहि तुच्छ इक तीर। लखत इन्द्रजितकों हुनहु, तौ तुम लछमन बीर" (पद्मा०, २९१)। यहाँ गर्व व्यभिचारी भाव कोध स्थायी भावका अंग हो गया है। **ऊर्जस्वी**—रसाभास तथा भावाभासका प्रधान न रहकर अन्य भाव आदिका अंग हो जाना ऊर्जस्वी अलंकार माना जाता है। पद्माकरने रसाभास तथा भावा-भासके आधारपर परिभाषा दी है—''दुहूँ जहाँ अंग और-के, सु ऊर्जिस्व पहिचान" (पद्मा०, २९५)। उदा०--"लखि बन फिरत सुछंद, नृप तुव रिपु-रमनीन सौं। करतु बिलास पुलिन्द, तिज निजिप्य बनितानकौ" (र० मं०, ३३६)। यहाँ भीलों तथा रिप-रमणियोंमें उभयनिष्ठ रति न होनेसे रसाभास है और यह कविकी राज विषयक रति-भावका अंग है। अतः भावका रसाभास अंग होनेसे ऊर्जस्वी अलकार है। भावाभासका उदा०—"ताहि अनूप वखानहीं, सकल कविनके गीत। मुख सरोज जा की निरखि, सौति-नयन अलि होत" (पद्मा०, २९७)। यहाँ स्वपत्नीनिष्ठ भावाभास शृंगार रसका अंग होनेमे अलंकार है। समाहित-जब भाव-शान्ति प्रधान न रहकर किसी अन्य भाव आदिका अंग बन जाता है, तब उसे समाहित अलंबार कहते है। पद्माकरके अनुसार—"सो अँग है जह औरको, वह समाहित जान'' (पद्मा॰, २९८)। यहाँ सो-का अर्थ भावशान्ति है। उदा०—"आयो श्रात लिवाइवे, निरखि उठी हरषाइ। सनि धनि चातककी तबहिं चली भाजि अकुलाइ" (वही, २९९)। यहाँ हर्षरूप भावशान्ति त्रासभावका अंग हो गया है, अतः समाहित अलंकार रस-विघ्न-अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने सर्वप्रथम

अपनी रसनिष्पत्ति(दे०)की न्याख्यामे कहा है कि रसात्मक

अनुभूति वीतविद्न भी होनी चाहिये ("सर्वथा रसनात्मक-वीतविष्नप्रतीतियाह्यो भाव एव रसः"—अ० भा०, पृ० २८१)। रसास्वादकी योग्यता यदि सामाजिकमे अपेक्षित है तो कविके लिए भी आवश्यक है कि वह उसमे पूर्ण सहायक हो। जिस प्रकार भावककी सहदयताकी कमी रसास्वादकी बाधक है, उसी प्रकार कविकी किमयाँ भी। इन्हींको रस-विघ्न माना गया है। इनकी संख्या सात मानी गयी है- 1. प्रतिपत्तिमे अयोग्यता या सम्भा-वना-विरहता—कवि कल्पनाके आधारपर अपनी कथा-वस्तुका निर्माण करता है, उसकी सम्पूर्ण सङ्गादना तथा अभिव्यक्ति कल्पनापर आश्रित होती है, परन्तु इसका भाव यह नहीं है कि वह जीवनके यथार्थपर आधारित न हो। यदि कथावस्तु अथवा वर्णित विषय-वस्तुवे सम्बन्धमें पाठक-के मनमे यथार्थ जीवनका विश्वास न जम पाया तो वर्ण्य या अभिनयमें उसका चित्त नहीं लग सकेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्यमें पाठकके अपने जीवनके स्तरमे भिन्न वर्ण्य विषय न हो। वस्तुतः जीवनके यथार्थमे वह सब आता है, जिसका अनुभव हम किसी रूपमे कर सकते है। कविका यथार्थ तथ्यात्मक न होकर सत्यपर आधारित होता है। २-३. स्वगतत्व-परगतत्व-नियमेन देशकाल-विशेषावेश - अर्थात् अपने और परायेके नियमसे देश और कालका आवेश होना। कान्यमे वर्णित अथवा नाटकमे प्रदर्शित भावोको यदि सामाजिक स्वयं अपने मान लेगे तो उससे वे उदासीन हो जायॅगे। ये मेरे है, अथवा य दूसरेके है, इस प्रकारकी देश तथा काल सम्बन्धी भावना कान्यके रसास्वादमे बाधक होगी। जबतक पाठक अपने-परायेके स्वार्थ-सम्बन्धोसे मुक्त होकर कान्यमे रुचि न लेगा, वह लौकिक दुःखादिसे नहीं छट सकता। अतएव रसा-स्वादके लिए व्यक्तिविशेष तथा देश-काल-सापेक्ष अनुभृतियाँ बाधा मानी गयी है। साधारणीकरण(दे०)व्यापारसे ही यह निरपेक्षता सम्भव होती है। ४. निजसुखदु:खादि-विवशीभाव-अर्थात अपनी व्यक्तिगत भावनाओसे विवश हो जाना। उपर्युक्त स्थितिमे वर्ण्य विषयके प्रति पाठकके व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी बात है और यहाँ उसके अपने व्यक्तिगत जीवनकी भावनाओका प्रश्न है। यदि पाठककी मनःस्थिति अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखकी अनुभूतिसे आक्रान्त है तो यह उसके रसास्वादके लिए बाधास्वरूप है। यह अवस्य है कि कविको अभिन्यक्तिका सौन्दर्य पाठकके मनको आकर्षित करता है, उसको संविद्धिशान्तिकी स्थितिमें पहुँचानेका प्रयत्न करता है, पर पाठक अथवा दर्शककी अपनी मनःस्थितिपर भी बहुत-कुछ निर्भर है। ५. प्रतीन्युपायवैकल्यस्फुटल्वाभाव—अर्थात् प्रतीतिके उपायोकी विकलता और उसका स्पष्ट न होना भी रमा-स्वादमे वाधा है । जिन काव्यात्मक अथवा नाटकीय उपकरणोमे रसप्रतीति सम्भव होती है, यदि वे पूर्ण नही है अथवा स्पष्टनः प्रयुक्त नहीं है तो रसास्वादमे बाधा पड़ना अनिवार्य है। यहाँ अभिनवका भाव है कि काच्या-त्मक अभिन्यक्ति अथवा नाटकीय प्रदर्शन पूर्ण कलात्मक होना चाहिये, उसके विना रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। भावोके अभिन्यक्तीकरणमे विभावादिक अधिक

प्रत्यक्ष तथा मूर्त रूपमे उपस्थित होने चाहिये। इसकी असफलता रसकी बाधा है। ६. अप्रधानता-अर्थात किमी अप्रधान तत्त्वको रस-व्यंजनामे महत्त्व देनेसे रसा-स्वादमें बाधा ही उपस्थित होती है। नाटकीय कथाविधानमें यदि नाटककार अप्रधान चरित्रों अथवा घटनास्थितियोको महत्त्व देता है तो दर्शकके रसास्वादमे विघ्न उपस्थित होगा। इसी प्रकार प्रधान स्थायी भावके स्थानपर यदि कवि विभाव, अनुभाव तथा संचारी आहिके चित्रणको अधिक महत्त्व देता है तो रसका पूर्ण संयोजन नहीं उप-स्थित हो सकेगा। वस्तुतः कथात्मक अथवा भावात्मक सन्तलनका अभाव काव्यके प्रभावको क्षीण ही कर देगा। ७. संशययोग-अर्थात अभिन्यक्तिके सम्बन्धमें पाठक अथवा दर्शकके मनमे किसी प्रकारका संशय अथवा सन्देह होना भी रसास्वादके लिए उचित नहीं है। यहाँ संशयसे कथात्मक कौतूहलका भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि कौत्रहल सौन्दर्यानुभृतिकी वृद्धिमें सहायक सिद्ध होता है और संशय बाधास्तरूप माना गया है। एक स्थायी भावके विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि दूसरेके भी हो सकते है और यदि प्रदर्शित अथवा वर्णित विभावादिकसे यह संशय उत्पन्न हो कि शोककी अभिन्यक्ति है अथवा रितकी तो निश्चय इस रूपमे रसनिष्पत्तिमे, अर्थात् पाठक या दर्शकके रसास्वादमे बाधा उपस्थित होगी। वस्ततः इस संशयकी स्थितिमे साधारणीकरण सम्भव नहीं हो सकता।

अभिनव द्वारा प्रतिपादित इन विच्नोपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यदि कान्यात्मक रसानुभृतिमे किसी प्रकारकी अपूर्णता है तो उसका कारण यह नहीं है कि सौन्दर्यानुभृतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है या रस-निष्पत्तिको कई कोटियाँ है (दे॰ 'रसनिष्पत्ति')। वस्तुतः रसनिष्पत्तिको कई कोटियाँ है (दे॰ 'रसनिष्पत्तिको करणना की जाती रही है अथवा की जाती है, उसका मुख्य कारण है कि हम एक ओर असफल तथा दोषपूर्ण कान्य-कृतियोंपर सफल कृतियोंके स्तरपर ही विचार करते है तथा पाठक या दर्शककी सभी कोटियोंको रसास्वादनके एक ही स्तरपर रखना चाहते है। वस्तुतः अभिनवके अनुसार गुद्ध काव्यके (कलाको भी सम्मिलित किया जा सकता है) रसास्वादनको उपर्युक्त सीमाओपर ध्यान रखकर ही समझा जा सकता है।

रसन्यंजना—दे॰ 'रसनिष्पत्ति' तथा 'असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य'।
रसशास्त्र—वह शास्त्र, जिसमे साहित्यमे प्रयुक्त रसका
सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन किया गया हो। इस शास्त्रमे
अनेक प्रश्नोंका सुविवेचित वर्णन रहता है, जैसे रस क्या
है, रसका क्या स्वरूप है, रसका कान्यमे क्या महत्त्व है ?
साहित्यके उत्तम स्वरूपगठनके लिए अलंकार, रीति, गुण,
वक्रोक्तिं, औचित्य, ध्वनि आदि मार्गोंसे रसका क्या सम्बन्ध
है और उसका इनके साथ कैसा प्रयोग होना चाहिये,
इनमेंसे किसी एकको कान्यमे विशेष महत्त्व दिया जाय
अथवा रसको ही उसमें प्रधान माना जा सकता है ? रसके
अंग कौनसे हैं तथा उनका स्वरूप क्या है, रसकी निष्पत्ति
कैसे होती है ? रसका सम्बन्ध किन, नट, मूल पात्र अथवा
पाठकमेंसे किससे है, रसका मनोविज्ञानसे क्या सम्बन्ध

है ? रसके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न विभाव, अनुभाव आदिके भेद कौनसे है और उनकी संख्या कितनी है? परस्पर इन सब व्यभिचारी तथा स्थायी भाव आदिका क्या सम्बन्ध है ? रसका विभिन्न दार्शनिक मतोंसे क्या सम्बन्ध है, साधारणीकरणका क्या स्वरूप है, रसास्वादका अधिकारी कौन है, रसास्वादमें किसी प्रकारका विव्न तो नहीं होता, होता है तो क्यों और कितने प्रकारका तथा उसे कैसे दूर किया जा सकता है ? रसकी अलैकिक क्यो कहा जाता है, रस केवल आनन्दात्मक ही होता है या करुण आदि रसोसे दुःखका भी अनुभव होता है, नहीं होता तो क्यों नहीं होता, रस एक ही है अथवा उसके भेद किये जा सकते है. मेदोकी संख्या किस आधारपर निश्चित की जाय और उसे घटाया या बढाया जा सकता है कि नही ? प्रत्येक रसके कितने भेदोपभेद हो सकते हैं और उसके उदाहरण क्या है ? रसराज कौन है, रसोका अन्तर्भाव एक-दूसरेमें हो सकता है कि नहीं, परस्पर कौनसे रस मित्र और कौनसे रस विरोधी है, एक साथ किनका प्रयोग हो सकता है और किनका नहीं ? रसाभास क्या है और उसके कितने भेद है, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावश्वलता तथा रसालंकार स्वरूप क्या है? रसके साथ किस शब्द-शक्तिका सम्बन्ध है, उसे संलक्ष्यक्रमन्यंग्य कहा जाय या असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य या अभिधेय ? कान्यके अनेक स्वरूपोकी आलोचना करनेके लिए रस-सिद्धान्त कहाँतक उपयोगी हो सकता है, आदि। -- आ० प्र० दी० रससंप्रदाय-रसवाद । रसके सम्बन्धमे विचार करते

**!ससंप्रदाय** – रसवाद । रसके सम्बन्धमे विचार करते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाले लेखकोंका समृ्ह या रस-विवेककी वैचारिक पद्धति ।

लिखित रूपमें रसका सर्वप्रथम वर्णन भरत मुनि (३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के छठे तथा सातवें अध्यायोमें पाया जाता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रमें विभिन्न स्थलोंपर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलंकार तथा नाट्यधर्मी आदिके प्रसंगमें रसका महत्त्व स्थापित किया गया है। भरत तथा अन्य लेखकोके उल्लेखोंसे उनके पूर्ववर्ती सदाशिव, ब्रह्म, तण्डु, नन्दिकेश्वर, वासुकि, नारद, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि आदि कई आचार्योंका पता चलता है, किन्तु उनके किसी अन्थके अभावमें उनके विचारोंका पता नही चलता । राजशेखर (ई० ९२५)ने नन्दिकेश्वरको तथा केशव मिश्र (१६वी शती)ने शौद्धोदनिको रसका पुरस्कर्ता माना है। भरतने ब्रह्माको महत्त्व दिया है। ब्रह्माने ही आठ नाट्यरसोको प्रस्तुत किया। ऋग्वेदसे पाठ, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय तथा अथर्ववेदसे रस लेकर पाँचवे वेद नाट्यशास्त्रकी रचना की गयी। चौथे अध्यायमें बताया गया है कि ब्रह्मा भरत और उनकी शिष्यमण्डलीके साथ कैलास पर्वतपर शिवके पास गये थे, जहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत त्रिपुरदाहके अभिनयपर प्रसन्न होकर शिवने उन्हे नाटकके पूर्वरंगोके साथ ताण्डवके करणो और अंगहारोंके प्रयोगकी सम्मति दी और तण्डुको शिक्षाके लिए नियुक्त कर दिया। शारदातनय (१२वी शती)का कथन है कि विष्णुके कहनेपर नन्दिकेश्वरने ब्रह्माको नाट्यवेदकी शिक्षा दी और ब्रह्माने भरतको शिक्षा दी। शारदातनयने वासकि,

नारद, व्यास तथा वाल्मीकिकी एक परम्परा और बतायी है, जिसमे शान्त रस भी स्वीकार किया था। किन्तु किसी रचनाके अभावमे भरत ही प्रथम पुरस्कर्ता स्वीकार किये जाते हैं।

रसको अलंकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, नाट्यशास्त्र-कर्ता तथा ध्वनिविरोधी सभीने महत्त्व दिया है, भामह-(५वी-६ठी शती)ने रसको अलंकारके ही अन्तर्गत रखा और रस सम्बन्धी रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी नामक तीन अलंकारोका वर्णन किया। ये अलंकार क्रमशः रसः भाव तथा उनके आभासकी अवस्थाएँ है, तथापि उनका यह कथन कि रसके प्रयोग द्वारा कान्य सुस्वादु हो जाता है, उसकी शास्त्रीयताकी कदता नष्ट हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप पाठक उसे भेषजके समान ग्रहण कर लेते है, इस वातका चोतक है कि वे रसके आस्वादनीय रूपसे तो परिचित ही थे। दण्डी (६-७ श० ई०)ने 'काव्यादर्श'-में गुणोका रससे सम्बन्ध स्वीकार किया। उन्होने 'काव्य-शोभाकर धर्म को अलंकार कहकर रसादि सभीको अलंकार तो माना, किन्तु रसयुक्त मधुर वचनोंको पुष्परसके समान मादक बताया है और सानुप्रास पद-रचनाको रसावह माना । उन्होने कान्यमे 'रसभावनिरन्तरता'को आवश्यक माना है। रीति-सिद्धान्तके प्रतिपादक वामन (८ श॰ ई॰) रूपको ही काव्यमें सर्वश्रेष्ठ मानकर नाट्यसे रसका सम्बन्ध मानते है, उन्होंने गुणोको काव्यशोभाकर धर्म, अलंकारों-को शोभावर्धक तथा रसको गुणोकी कान्ति कहा है। रस ही गुणोके मूलमें है। उद्भट (८ २१० ई०)ने पहली बार रसालंकारोमें 'समाहित'को स्वीकार किया तथा नाट्यमे शान्त रसकी प्रतिष्ठा की । उद्घटके पश्चात् रुद्रट तथा रुद्रभट्ट-का नाम लिया जाता है। उन्हें कुछ विद्वान् पृथक् दो व्यक्ति मानते हैं और रुद्रटको ९वी शताब्दीमे तथा रुद्रभट्टको ९००-से ११०० ई०के बीच हुआ बताने है और कुछ विद्वान दोनोंको एक ही मानते है। रुद्रटने 'कान्यालंकार'की रचना की और रुद्रभट्टने 'शृंगारतिलक'की । कान्यालंकारमे रसको नाटकतक हो सीमित रखनेका विरोध किया गया और रसहीन समस्त काव्यको शास्त्रकी श्रेणीमें रखनेका आग्रह किया गया । इसमें शान्त तथा प्रेयान् नामक रसोंको भी स्वीकार किया गया तथा पूर्ण उत्कृष्टताको पहुँचे हुए व्यभिचारी भावोंका भी शृंगारादि रसोके समान प्रभावशाली अनुभव स्वीकार किया गया । इसी प्रकार 'शृंगारतिलक'में भी शृंगार रसको प्रधान माना गया है, शान्तको स्वीकार किया गया है। तथा रसको नाट्येतर काञ्यमें भी स्वीकार कर लिया गया है।

आनन्दवर्धन (८४०-८७० ई०के बीच)ने ध्वनि-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए वस्तु तथा अलंकारके साथ रसको भी ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार करके इन दोनोंसे अधिक रसध्वनिको महत्त्व दिया और रसध्वनिवाले काव्यको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। ध्वनिको काव्यात्मा मानकर भी उन्होने रसको प्रेरक और साररूप माना तथा वाल्मीिक-रामायणको रसका आदिकाव्य स्वीकार किया। श्रव्य काव्यके साथ-साथ नाट्यमें भी उन्होंने शान्त रसको प्रयोज्य माना है और रसको असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा है। आनन्दवर्धनके

अनन्तर 'अग्निपुराण'में रसका अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेखमात्र मिलता है। विशेषता यह है कि इसमे शृंगारको सर्वाधिक महत्त्व मिला है । छठी शताब्दीमे भी 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'-मे रसकी भरतके आधारपर संक्षिप्त चर्चा हुई थी, जिसमे कोई नवीनता नहीं जान पड़ी। पुराणोंके नाममात्रके उल्लेखोके समान ही ९वी शताब्दीके लेखक राजशेखरको केवल इस बातका महत्त्व दिया जा सकता है कि उन्होंने 'काव्यमीमांसा'मे रस-चर्चाको न रखते इए भी काव्य-पुरुषोत्पत्तिके प्रसंगमें रसको कान्यात्माके रूपमे मान लिया है। इन सब लेखकोमे विस्तार और गम्भीरताकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनका सबसे अधिक महत्त्व है। अलंकारोंको 'कटककुण्डलवत्' कहकर रसको अत्यधिक महत्त्व देनेका इन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। किन्तु ध्वनिके विरोधमे प्रतिहारेन्द्राज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक तथा महिम भट्टने अनेक तर्क उपस्थित किये, जिनका आगे चलकर अभिनवगुप्तने प्रतिवाद किया । इन ध्वनिविरोधियोने भी रसके महत्त्वको स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्द्राज (१०वीं शती) स्वयं रसको कान्यातमा मानने तथा रसको अलंकारोंसे पृथक रखनेके पक्षमे थे। भट्टनायक (१००० ई०)ने तो रसनिष्पत्ति-सूत्रकी सांख्यवादी व्याख्या भी की .और ध्वनि-के स्थानपर रसमंचारको ही पाठककी दृष्टिसे काव्यमे प्रधान माना । इस प्रकार इन्होने रसको कान्यात्मा सिद्ध किया । धनंजय (९९४ ई०)ने 'दशरूपक'मे तथा धनिकने उसकी 'अवलोक्टीका'मे भट्टनायकका अनुसरण किया, रसका सम्बन्ध तात्पर्य-शक्तिमे सिद्ध किया और ध्वनिको व्यर्थ बताया । उन्होने काव्य तथा रसका सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक न मानकर भाव्य-भावकभावका माना और भट्टनायकके मत 'मक्तिवाद'की प्रतिष्ठा की। १०२० ई०के आस-पास महिम भट्टने न्याय-सिद्धान्तके आधारपर रसकी अनुमितिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया और ध्वनिके स्थानपर काव्यान-मितिकी प्रतिष्ठा की । इतना विरोध होते हुए भी ध्वनिका सिद्धान्त जीवित रहा और रसकी प्रतिष्ठा हर प्रकारसे अक्षण्ण बनी रही। ८वीं शतीसे ११वी शतीके बीच रसकी सर्वप्रधान सिद्धान्तके रूपमें मानकर भरतके रसस्त्रकी व्याख्याके चार प्रमुख प्रयत हुए, जिनके कारण रसको और भी अधिक विश्वदता और विस्तारसे समझनेकी प्रेरणा मिली। रस-सम्प्रदायके इतिहासमे इन चार व्याख्याओंका सर्वाधिक महत्त्व है। ये व्याख्याएँ भट्ट लोहट (८वी शती), शंकुक (९वी शती), भट्ट नायक (११वी शती) तथा अभिनव-ग्रप्त (११वी शती)के द्वारा क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य तथा शैव सिद्धान्तके आधारपर की गयीं और जो उत्पत्ति या आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिन्यक्तिवादके नामसे विख्यात है (दे० 'रसनिष्पत्ति')।

कालान्तरमें १०वी शतीमें वक्रोक्तिवादके प्रतिपादक कुन्तक, ११वीं शतीमे औचित्य-सिद्धान्तके पुरस्कर्ता क्षेमेन्द्र, 'काव्यप्रकाश'के लेखक मम्मट, १२वी शतीमें 'भावप्रकाश'-के लेखक शारदातनय, 'काव्यानुशासन'के लेखक हेमचन्द्र, १३वीं शतीमें 'संगीतरत्नाकर'के लेखक शार्क्वदेव, १४वी शतीमें 'रसार्णवसुधाकर'के रचयिता शिंगभूपाल तथा १६वी शतीमें 'रसप्रदीपकार' प्रभाकर आदि अनेक लेखकोंने रस-

सिद्धान्तका निरूपण और पोषण किया । किन्तु ११वीं राती-में भोजराज, १२वीं शतीमें रामचन्द्र गुणचन्द्र, १४वीं शती-में मानदत्त, विश्वनाथ कविराज, १६वी शतीमें रूपगोस्वामी तथा १७वी जतीसे पण्डितराज जगन्नाथका नाम ही महत्त्व-पर्ण दिखाई देता है। भोजराजने रसकी सर्वोपरि मानकर 'शृंगारप्रकाश' ग्रन्थमे उसका गम्भीर एव व्यापक विवेचन करते हुए रस एक ही है, यह सिद्ध किया। काव्यको रसवत् कहनेका उनका अभिप्राय उसे रसयुक्त बताना था, अलंकार वताना नहीं।। उन्होंने रसकी उत्पत्ति अहंकारसे बतायी है। अहंकार, शृंगार तथा रस तीनोंमे इनके विचारसे कोई अन्तर नहीं है। अहंकार रसकी प्रथमावस्था है। जिससे विभिन्न भाव उत्पन्न होते है। दूसरी अवस्थामे स्थायी, संचारी तथा सात्त्विकोंकी गणना है। यह सभी रस-दशातक पहुँच सकते है। तीसरी अवस्थामें अहंकार प्रेमका रूप धारण कर लेता है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'-मे नाट्यके प्रसंगमे रसको दो प्रकारका बताया है। वह करुण, भयानक, वीमत्स और रौद्रको दुःखकारक मानते है और रोषको सखकारक। इसी नवीनताके लिए उनकी प्रसिद्धि है। भानदत्तने 'रसतरंगिणी'मे मुख्यतः शृंगार-रसका वर्णन करते हुए रसके लौकिक, अलौकिक तथा मानो-रिथक आदि भेद बताये हैं और छल तथा जुम्मा जैसे नवीन भावोंकी कन्पना की है। उन्होंने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति तथा कार्पण्य रसको अन्य प्रतिष्ठित रसोमें अन्तर्भुक्त कर लिया है। उनके पश्चात विश्वनाथ कविराज ही पहले व्यक्ति है, जिन्होने रसादिका विचार करते हुए रसको काव्यात्मा घोषित किया और अद्भुतमे ही अन्य रसोंके अन्तर्भावकी चर्चा की। चैतन्य सम्प्रदायके अनुगामी रूपगोस्वामीने 'मक्तिरसामृतसिन्ध्र' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्ति रसकी प्रतिष्ठा की और 'भक्तिरसामृतसिन्ध्'मे उसके मुख्य तथा गौण भेदोंके अन्तर्गत सभी रसोंको ले आनेका प्रयतन किया। भक्तिका स्थायी 'कृष्णरति' बताया गया है। अतः भक्ति रस क्रष्णका श्रंगार-वर्णन-सा ही है। पण्डितराजने काव्यशास्त्र-का विवेचन करते हुए रसध्वनिके अन्तर्गत काव्यात्मा रस-को अत्यन्त प्रतिष्ठा प्रदान की और वेदान्त-सिद्धान्तके अनुकूल यह बताया कि रस निज-स्वरूपानन्द है, जो चित्तके भग्नावरण होनेपर प्रकट होता है; भग्नावरणकी सिद्धि विभावादि द्वारा होती है। इनके पश्चात् संस्कृत काव्य-शास्त्रोंमें नवीन विचारके लिए कोई मार्ग नहीं दीखता। मम्मटके साथ ही काव्यशास्त्रका सैद्धान्तिक निरूपण एक प्रकारसे बन्द हो गया था। रसको पण्डितराजतक आते-आते पणे प्रतिष्ठा मिल चनी थी और रस ध्वनिके अन्तर्गत आकर मी आगे प्रधान ही बना रहा।

हिन्दीमें रस-विचारका प्रवर्तन संस्कृतके भरतके 'नाट्य-शास्त्र', भानुदत्तकी 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी', भोजके 'खृंगारप्रकाश' एवं विश्वनाथके 'साहित्यदर्गण'के आधारपर हुआ। वस्तुतः इन ग्रन्थोंकी रचना या तो दरवारमें फारसी कवितासे टक्कर लेनेके लिए तथा उदाहरण ढूँढ्नेके लिए हुई या झानप्रदर्शन या अल्पज्ञोंको शिक्षा देनेके लिए। रसका विचार या तो केवल रसविषयक ग्रन्थोमें नायिका भेदके साथ हुआ है या रस तथा ध्वनिका एकत्र विचार करनेवाले

ग्रन्थोमे अथवा समस्त काव्यशास्त्रके विवेचक ग्रन्थोंमे । सब प्रकारके यन्थोंमे मुख्यतः शृंगार रसका ही वर्णन किया गया है। इन अन्थोमें उदाहरण तो ललित प्रस्तृत किये गये है, किन्तु विवेचनका कोई प्रयत्न संस्कृतके पूर्व तथा उत्तरपक्षके समान नहीं दीखता। हिन्दीमें केशव, देव, उजियारे कवि, रामसिंह, ग्वालकवि, भारतेन्द्र, 'हरिऔध' तथा रामचन्द्र शुक्तने नवीन चिन्तनका मार्ग दिखाया है। भारतेन्द्रसे आधुनिक कालका उन्मेष हुआ है। रीतिकालमे केशवने भोज द्वारा कथित अनुरागके प्रकाश तथा प्रच्छन्न नामक दो भेदोके अनेक प्रसंगीपर घटित करनेकी असफल चेष्टा की और इसी प्रकार शृंगारके अन्तर्गत अन्य रसोके अन्तर्भावका उनका प्रयत्न भी निष्फल रहा। देवने भानदत्तके समान रसके लौकिक, अलौकिक तथा उनके भी शृंगारादि नौ रस एवं स्वाप्निक, मानोर्थिक, औपनयिक भेद किये। वह शृंगारको ही एकमात्र रस मानते है। धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम, कामसे सुखकी उत्पत्ति मानते हुए सुखका रस श्रंगार बताया गया है और श्रंगारके प्रति उत्साहसे बीर आदि, निर्वेदसे शान्त, बीमत्स आदिकी उत्पत्ति मानी है। काव्य, जीवन और रसका सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने जीवनके लिए कान्यकी उपयोगिता और उसमे रसको सार तत्व बताया है। भानुदत्तके अतिरिक्त भोज तथा भरत-का प्रभाव भी इनपर दिखाई पडता है। इनके वाद उजियारे कवि (१७८० ई०)ने 'जुगलरसप्रकाश' यन्थमे प्रश्नोत्तर-शैली अपनाकर केवल नौ रसोकी ही प्रतिष्ठा की है और उन्हींके अन्तर्गत वात्सल्य, भक्ति, कार्पण्य आदिको मान लिया है। वस्तुतः नवीन चिन्तनकी दृष्टिसे १७८२ ई०के आसपास रामसिंहका 'रसनिवास' प्रन्थ उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविकार तथा भावका अन्तर बताते हुए भानदत्तके अनुकरणपर रसानुकूल मनोविकारमात्रको ही भाव माना हैं। हास्य रसका स्थायी हास न बताकर 'हसता' कहा गया है और उसके 'नाट्यशास्त्र'के अनुकूल स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ, दो भेद किये गये है। भरतने जिस प्रकार हास्यके हसित, उपहसित आदि भेद किये हैं, उसी प्रकार नामान्तरसे इन्होने मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उप-हसनि, अपहसनि तथा अतिहसनि, छः भेद बताये हैं। इनमेंसे दो-दोको क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम कहा गया है। भानदत्तके समान ज्ञान्त रसके साथ मिथ्या ज्ञानरूप स्थायीके आधारपर माया रसकी कल्पना भी की गयी है, किन्तु विवेचन वैसा नहीं हैं। मुख्य विशेषता यह है कि रसके आधारपर कान्यकी अभिमुख, विमुख तथा परमख नामक तीन कोटियाँ की गयी है। परमुखके प्रधान दो भेद है-अलंबारमुख एवं भावमुख। विमुख रसहीन काव्य होता है और अभिमुख रसपूर्ण। ये भेद क्रमशः गुणीभृत व्यंग्य, अव्यंग्य तथा ध्वनि-भेदोंके समान है । देवके समान रसके लौकिक तथा अलौकिक भेदोको भी इन्होने स्वीकार किया है और शृंगारादिको छौकिक ही बताया है। इनके पश्चात ग्वाल कवि (१८४७ ई०)ने 'रसरंग' ग्रन्थमें अलौकिक भेदके स्वाप्निक, मानोर्थिक तथा औपनयिक मेदोंमेंसे शृंगारादि नौरसोंको औपनयिकका मेद बताया है। एक और नवीनता यह है कि इन्होने प्रत्येक इन्द्रियके

आठ-आठ सात्त्रिक माने हें, जो तर्कसंगत और व्याव-हारिक नहीं है। इनके दोनो विचारोमे इसी प्रकारकी असंगति है।

हाव-भावके क्षेत्रमं भी कुछ नवीनता लानेका प्रयत्न किया गया था। हावोमे भिखारीदास (१८वी शती)ने 'साहित्यदर्पण'के अठारह नायिका अलंकारोके साथ 'बोधक' तथा 'हेला' भी जोड दिये है, जिनमे हेला तो अंगज अलकार है ही और वोधकका आधार केशवका 'बोध' हाव है। भावोमे केशवने जुगुप्सा स्थायीके स्थान-पर अशक्त शब्द 'निन्दा'का प्रयोग किया और दासने रुद्रव्ये प्रेयान्ये आधारपर प्रीतिको ही भाव माना । देवने भानुदत्तके आधारपर छल संचारीकी स्थापना की और वितर्क संचारीके विप्रतिपत्ति, विचार, संशय, अध्यवसाय नामक भेद किये। इन्होंने काम-दशाओंके अनेक भेद भी प्रस्तुत किये और आठों सात्त्विकोंका स्मरणमें ही अन्तर्भाव कर दिया। संचारियोके शरीर तथा आन्तर भेद करके क्रमशः सात्त्रिक तथा व्यभिचारी भावोका वर्णन किया गया। यह भेद भी वस्तृतः 'रसत्रंगिणी'से प्रभावित है। इस प्रकार हिन्दी रीतिकालमे नवीनता-प्रदर्शनकी चेष्टा नो रही, किन्तु वस्तुतः वह जहाँ-तहाँसे संस्कृतके आधारपर ही हुई। साथ ही गहन विवेचनका अभाव भी रहा।

आधुनिक कालमे भारतेन्द्रका नाम दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर तथा आनन्द रसोंकी अवतारणाकी दृष्टिसे उल्लेख्य है। उनके परचात् 'हरिऔध'ने 'रसकलश'में वात्सल्य रसका प्रवल समर्थन किया तथा शृंगारादि रसोके उदाहरणके साथ रसका विशद निरूपण करनेकी चेष्टा की। कन्हैयालाल पोद्दार, भानु, गुलाब राय आदिके रस-विवेचन-के ग्रन्थोंके प्रकाशनसे संस्कृत-पद्धतिका पुनरुत्थान हुआ और गुलाब रायके 'नवरस'यन्थमे आधुनिक मनोविज्ञानके प्रकाशमे भी प्रत्येक रसका थोड़ा-बहुत विचार किया गया। हिन्दीके पुराने लेखकीसे संस्कृत लेखकीके विचारीकी तुलना भी हुई, किन्तु निष्पत्ति और साधारणीकरण अथवा नवीन रसोकी उद्घावना और रसाभासका विशद और विस्तृत विचार न हुआ। इस कामको गुलाब रायने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' ग्रन्थमे एक सीमातक पूरा किया। आधुनिक कालमें वास्तविक महत्त्वके अधिकारी रामचन्द्र शुक्क हैं, जिन्होने रसका न केवल मनोविशानके प्रकाशमे विवेचन किया, अपित आधुनिक विदेशी काव्यकी परिस्थितियोके विचारसे भी रमके भारतीय स्वरूपकी स्थापना की । साधारणींकरणके प्रश्नपर आपने विदेशी और देशी अध्ययनके आधारपर मौलिक चिन्तनकी धाराका सूत्रपात किया। रस और रसानुभृतिके स्वरूप, उसके प्रकार और कोटियोंपर उनके विचार उल्लेखनीय है (दे० 'साधारणीकरण')। रसकी ऐसी स्थापना दीर्घ कालके पश्चात हुई। इनके पश्चात् इधर पुनः इस अध्ययनकी प्रवृत्ति जायत् हुई, जो नगेन्द्र आदिके शोध-प्रवन्धीके रूपमे प्रकट हो रही है। इन प्रबन्धोंमें यूरोपीय अध्ययनके साथ भारतीय चिन्ताधाराके सम्यक् सन्तुलनकी चेष्टा की जा रही है और आधुनिक कान्यमें रसका महत्त्व परखा जा रहा है। इस दिशामें हिन्दी डी० फिल०के लिये स्वीकत

तथा अंग्रेजीमे प्रकाशित डॉ॰ छैलविहारी गुप्त 'राकेश'का शोध-प्रबंध 'साइकोलॉजिकल स्टर्डाज इन रस' अर्थात मनी-विज्ञानके सिद्धान्तोके प्रकाशमे रस-विचारकी आलीचना करनेवाला ग्रंथ भी उल्लेख्य है तथा 'काव्यमे रस'के नामसे पी० एच-डी० उपाधिके लिये स्वीकृत इस लेखकका शोध-प्रबन्ध रस-विषयक भारतीय चिन्ताधाराको व्यक्त करने और देशी-विदेशी भाषा-साहित्यके आधारपर रस-सिद्धान्तका स्वरूप निश्चित करनेवाले ग्रंथके रूपमे पठनीय हैं। यह यंथ अब अंशतः 'रस सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेपण' नामसे प्रकाशित हो रहा है। रसांतर्य-यह सौन्दर्यशास्त्रका शब्द है, जिसे हरदारी-लाल शर्माने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र'में प्रयुक्त किया है। इस शब्दका अंग्रेजी पर्याय 'एस्थेटिक डिस्टेन्स' है। अभिनवगुप्तने रसानुभृतिकी सात वाधाओका निरूपण किया है, जिनमेने एकका नाम है "स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषवेशः", अर्थात् प्रेक्षकःका 'स्व' पर, देश-काल, आदिकी विशेषतासे इतना आविष्ट होना कि वह उसे भुला ही नहीं पाये। नाटक आदि देखते समय जो प्रेक्षक अपने और प्रेक्षणीय वस्तुके भेदको भूला नहीं पाता, वस्तुमें तन्मय नहीं हो जाता, उसके साथ एक प्रकारका ताशात्म्य अथवा साधारण्य स्थापित नहीं कर छेता, उसमें रसोद्रेक सम्भव नहीं। लेकिन प्रेक्षक और वस्तुके बीच अत्यन्त अभेदकी समापत्ति भी रसोद्रेकमे वाथक ही है। जब प्रेक्षक सारी घटनाओंका आरोप अपनेमे करने लगना है तो उसकी स्थिति उस सामान्य व्यक्तिकी-सी हो जाती है, जो स्वयं सख-दःख भोग रहा हो। अतः जिस प्रकार वह सामान्य व्यक्ति अपने ऊपर घटित घटनाओमे रसास्वादन नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह प्रेक्षक भी नाटक आदिम रसानुभृति नहीं कर पाता । अतः कुदाल प्रेक्षक अपनेकी वस्तुमे उचित अन्तरपर रखकर ही रसास्वादनमे समर्थ होता है। इस अन्तरको 'रसान्तर्य'की संज्ञा दी गयी है। रसाभास-रसनिष्पत्तिके लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्यके आंट्रिक अभावमें जब सहदयको रसके स्थानपर रसके आभासकी प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्थाम प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास'की स्थिति मानी गयी है। अभिनव-ग्रप्त (१०-११ श० ६०)ने अपने 'ध्वन्यालीयलीचन'में रमाभासको 'शक्तौ रजताभासवत्', अर्थात् सीपीमे रजतके आभास जैसा बताया है। रसाभास होनेपर रस-दशा वनी रहती है या नष्ट हो जाती है, इस मौलिक प्रक्रनपर आचायों-मे मतभेद रहा है। रस और रसाभासके आधारभृत औचित्य-अनौचित्य परस्पर विरोधी है, अतः एक मत रसाभासको रसका विरोधी मानता है। परन्तु जगन्नाथ (१७-१८ इा० ई०) और उनसे पूर्व अभिनवगुप्त, दोनोंने अनेक नर्क देकर सिद्ध किया कि रसाभासमे पूर्णतया रसका अभाव नहीं होता। अपने प्रतीतिकालने रसाभास रस जैसा ही आस्वाद्य रहता है, पर जब बुद्धि अनौचित्यतक पहुँच जाती है तो सारी रसानुभूति रसाभास वनने लगती है। ध्वनि-मतके प्रतिपादकोंने कदाचित् इसीलिए रस और रसाभास, दोनोंको ही ध्वनिके अन्तर्गत रखा है। मूल रसकी अनुभृतिमे रसाभास आ जानेपर अन्य रसकी प्रतीति भी उमके द्वारा हो सकती है, ऐसी सम्भावना अभिनवगुप्तने मानी है।

तेरहवी शनी ईसवीके एक संस्कृत काव्याचार्य शिग-भूपालके 'रसार्णवसुधाकर' नामक अन्थमे रसाभासपर विशेष विचार किया गया है। रशाभासके परिभाषा-स्वरूप इसमें लिखा है कि जब 'अंग रस' अविनीत अमात्य-की तरह बढकर अपने स्वामी 'अंगी रस'को आच्छादित कर ले, तो रसाभास हो जाता है। शिगभूपालने रसाभासके भेड भी प्रदर्शित किये है, जैसे श्रंगार-रसाभास चार प्रकार-का बताया गया है-- १. अराग, २. अनेक राग, ३. तिर्यक राग, ४. म्लेच्छ राग । तरहवी शतीके ही एक अन्य आचार्य शारदातनयने 'भावप्रकाशन'मे रसाभासकी निम्नलिखित परिभाषा दी है, जो पूर्वोक्त परिभाषाकी ही अधिक निइच-यात्मक परिणति-सी है--"भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैक-भागता । रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्", अर्थात जहाँ अप्रधान रसके दो भाग हो जायँ और प्रधान एक ही भाग रह जाय, वहाँ रसाभास लक्षित होता है। 'भावप्रकाशन'के पष्टाधिकारमे बताया गया है कि श्रुगार रसका रसाभास हास्यके मिश्रणसे, हारयका बीभत्ससे, वीरका भयानकसे, अद्भुतका वीभत्स तथा करणके संइलेषसे, रौद्रका शोक और भयके आवेशसे, बीभत्सका अद्भुत तथा श्रंगारके सम्मिलनमे, भयानकका वीर तथा रौद्रके संयोगसे तथा इसी प्रकारका अन्य परस्पर विरोधी रसोके अनौचित्यपूर्ण सम्मिश्रणसे रसामास उत्पन्न होता है।

रसमें अनौचित्य किस-किस प्रकारसे और केसे-कैसे हो सकता है, इसका व्यापकतासे विचार किया गया और उसके नैतिक एवं सामाजिक पक्षकी ओर भी दृष्टि डाली गयी। 'साहित्यदर्पण'में विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने रसामास-की समस्यापर इसी दृष्टिकोणसे प्रकाश डाला है। लगभग ऐसी ही दृष्टि 'रसगंगाधर'मे पण्डितराजकी भी रही है। उन्होंने विभावमे अनौचित्य न मानकर रत्यादिक स्थायी भावोके अनुचित रूपमे प्रवृत्त होनेसे रसामासकी उत्पत्ति बतायी है। इस सम्बन्धमे विशेष विवेचन 'काव्यमे रस' शीर्षक शोध-प्रबन्धमे आनन्दप्रकाश दीक्षितने किया है (नवम अध्याय)।

हिन्दीके आचार्य किवयोने रसाभासकी जो परिभाषाएं दी है, वे अधिकतर परिपाटीवड़ है—१. कुलपित मिश्र— "अनुचित है रसभाव जहाँ, ते किह्ये आमास" (२० र०, पृ० ३०)। २. चिन्तामणि त्रिपाठी—"अनुचित विषय करित जु है सोई रस आभास" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। ३. पद्माकर—"रसाभास अनुचित करम, करव अजोग्य विलास। हास्य करव गुरु निगमको, सुत पितुसो रत नास" (पद्मा०, पृ० ७५)। ४. भिखारीदास— "रस सो भासितु होतु है, जहाँ न रसकी बात। रसाभास तासों कहें जे है मित अवदात" (२० सा०)। ५. प्रतापसाहि—"जह अनुचित रस भावको, रसाभास तह जानि। रस-ग्रन्थन अवगाहिके कृविजन कहत बखानि" (का० वि०, ३)। इन परिभाषाओंसे रसाभासकी स्थितिका किनाईसे सामान्य बोध हो हो पाता है। किसीने मौलिक

प्रस्नको नही उठाया। प्रायः सभी कवियोने संस्कृतके पूर्ववर्ता आचार्योंकी अनौचित्यकी वातको दोहरा दिया है। गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रमवाटिका'की चतुर्थ क्यारी-(पृ० १२७-१२८)में अनुचित प्रसंगके सम्बन्ध तथा अयोग्य वर्णन, दोनोसे ही रसाभास होनेका उल्लेख है। लेखकने राधाकुष्णके प्रेमको राधाके परकीया-भावके कारण श्रंगारका रसाभास मान लिया है। और भी कुछ मतोके अनुसार कृष्णचरितमे ऐसे अनेक तत्त्व पाये जाते है, जैसे कृष्णका बहुनायकत्व तथा अल्पावस्था आदि, जिनके कारण कृष्णकाव्यके बहुतसे स्थल रसका संचार न करके रसाभास उत्पन्न करते है। सहृदयकी विवेकशक्ति और संस्कारके अन्तरसे भी अनुभूति भिन्न हो सकती है। एक ही वर्णन किसी सहदयको रस और किसीको रसाभाससे यक्त लग सकता है। अतः रसाभासके लिए कोई निश्चित नियम वना देना कठिन है (त्रिशेषके लिए दे० 'भावाभास')। — জ০ ব্য০

रसाभिज्यक्ति – दे० 'रसनिष्पत्ति', एक पर्याय ।
रिसया – संगीतज्ञोकी धारणा है कि रसिया ध्रुपद-घरानेकी चीज हैं। रसिया बजके लोकगीतोमे अपने वैशिष्ट्यके कारण प्रसिद्ध और प्रिय है, जो सभी अवसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी क्षमता रखता है। ध्रुपदकी शैलीको सम्भवतः लोक-प्रचलित रसियाका शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीतको जो देय बजभापा तथा स्वामी हरिदाससे प्राप्त हुआ, उसका श्रेय बहुत-कुछ रसियाके लोक और शास्त्रीय, दोनों स्वरूपोंको है। 'आईने अकबरी'मे दो प्रकारके गीतोका उल्लेख हैं — मार्ग और देशी। देशी शैलीमे ध्रुपद विशेषतः उल्लेखनीय है, जो चार चरणोंके द्वारा विना छन्द और मात्राकी बन्दिशोंके स्थंगारप्रधान विषयको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। 'आईने अकबरी'मे जिस ध्रुपदका उल्लेख है, वह कदाचित् रसियासे सम्बन्धित हो।

रसिया होलीका प्रमुख गीत है। होलीके अनेक गीत रिसयाकी ढालोमें गाये जाते है। लोककिव घासीराम, सनेहीराय, छीतरमल आदि विवयोके ब्रजमापामें अनेक रिसये प्रचलित है। हिन्दीके प्रसिद्ध सन्त कियोने भी राधा और कृष्णकी लीलाओके वर्णनमे रिसयाको प्रभावित किया है। शृंगार-प्रधान विषय रिसयामें खिले है। वरसानेकी होली, राधा और कृष्णके मनोविनोद और प्रेम-प्रसंग प्रायः रिसयामें वर्णित है। रिसयाका तर्ज सीधा और सामूहिक गानके अतिरिक्त व्यक्तिपरक अभिव्यक्तिके अनुरूप है।

— इया॰ प॰

रसेश्वर-दर्शन — (रस = द्रव। रसेश्वर = द्रवोंका राजा पारद।
रसेश्वर-दर्शन = पारद-साथनपर आश्रित दर्शन) शैवागमोमें
और शैव पुराणोमे पारदको शिवका वीर्य कहा गया है,
इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिकोने भी पारद-साथनमे गहरी रुचि
ली। पतंजलिने दूसरी शती ईसाके पूर्व पारदके रसायनपर
प्रकाश डाला। नागार्जुनने पारदके प्रयोगपर सबसे पहला
महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इसके वाद शाक्त और शैव दर्शनोंके
सर्जनात्मक युग(६०० ई०से १३०० ई०तक)मे इसका
वैज्ञानिक प्रणालीपर विकास हुआ, यही रसेश्वर-दर्शनके
रूपमें माथवके 'सर्वदर्शनसंग्रह'में प्रख्यात हुआ। १२वी

शतीमे लिखे गये 'रसार्णन' और १४वी शतीमे लिखे गये 'रमरन्जमसुन्चय'ने भसीकरण, जारण, मारण, अधःपतन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन जैसी जटिल प्रक्रियाओंका विशद निरूपण किया गया है और साधकके लिए साधना-वस्थामे वैसे रहना चाहिये, इसपर भी प्रकाश डाला गया है। यह दर्शन-तन्त्र और आगमोकी शाखा है, क्योिक इसकी दार्शनिक मान्यता बहुत-कुछ तन्त्रकी ही है, शब्दावली भी लगभग वही है, तत्त्वमीमांसा भी वही है, केवल पारदकी विन्द्यतीकताका विस्तार और विश्वके भौतिक सुखके ऊपर विशेष ध्यान इसकी अपनी विशेषता -वि० नि० मि० रहस्यवाद-अपनी अन्तःरफुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परम तत्त्व अथवा ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करनेकी प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्यकी प्रकृतिका एक अवियोज्य अंग रही है और रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य-की श्रेष्ठतम एवं उदान्ततम अनुभृति है। इसकी अभिन्यक्ति सभ्यताके प्रायः सभी स्तरों, देशो और कालोमे होती रही है। रहस्यवाद उतना ही पुरातन है, जितनी कि स्वयं मानवता । रहस्यवाद और रहस्यवादी किसी जाति, धर्म

या देशविशेषमें सीमित नहीं रहे है। रानाडेके शब्दोंमें सभी देशों और सभी युगोके मिमयो(रहस्यवादी साधकों)-

का एक अथवा शाइवन समाज है, जो जाति, धर्म और

राष्ट्रगत सीमाओसे नितान्त रहित है। उनकी मर्मानुभूति-

की असीमता और चिरन्तनता देश-कालके परे है। मनुष्यकी यह प्रवृत्ति अद्वितीय है । यह उसको सामान्य जीवनके विषयोंसे विमुख एवं विरक्त कर देती है और जिस प्रकार पादपकी जड़ स्वतः ही पृथ्वीके केन्द्रकी ओर चलती है, उसी प्रकार उसकी चेतनाको स्वयं अपने भीतर, अपने मूल उत्सकी ओर जानेके लिए विवश कर देती है। रहस्यवादी साधकके लिए रहस्यानुभूतिका सत्य उतना ही असन्दिग्ध होता है, जितना कि स्वयं उसका अपना अस्तित्व अथवा साधारण मनुष्यके लिए जितना असन्दिग्ध यह गोचर जगत् है। अतएव रहस्यानुभूति व्यक्तिगत धर्मका आधार वनती आयी है। अनुभूतिके उन परम क्षणोमे आत्मा एक नयी शक्तिसे ओत-प्रोत, नृतन और असीम आनन्दसे आक्रान्त और अभिभूत, एक अनन्त सुहृद् शिव और सुन्दर तत्त्वमें निमन्जित, मुक्त और पवित्रीकृत अनुभव करती है। कभी-कभी ऐसी मर्मानुभृतिके माथ-साथ अलौकिक राब्द, ध्वनि आदि सुनाई पड़ती है, अलौकिक ज्योति अथवा रूपोंके दर्शन होते है, अन्य विचित्र शारीरिक परिवर्तन घटित होने है। विन्तु ऐसी बातें अन्य तीव मानसिक प्रक्रियाओं के साथ भी कभी कभी घटती हैं। अतः उन्हे सन्तोकी मर्मानुभूतिका अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। श्रेष्ठ प्रकारकी रहस्यानुभूति-से श्रेष्टतम स्तरके जीवनका उद्भव होता है। परम उदात्त, निःस्व, निरहंकार, असीम प्रेम और करुणायुक्त, पवित्रतम, सन्तका-सा जीवन, उत्कृष्ट रहम्यानुभूतिका अवश्यम्भावी परिणाम होता है। सच्ची रहस्यानुभृतिके उपरान्त व्यक्ति-का आमूल दिव्य परिवर्तन-सा हो जाना है।

ममीं साधक परम मत्यकी खोज करता है, किन्तु

अपनी इस खोजमें वह ज्ञानप्राप्तिके सामान्य साधनोका उपयोग न करके एक दूसरे ही साधनका प्रयोग करता है। ज्ञानकी प्राप्ति साधारणतया आप्त वन्दनो, ज्ञानेन्द्रियो एवं बौद्धिक प्रक्रियाओसे की जाती है। मर्मा इन सभी साधनोंको अपूर्व और अपर्याप्त मानता है। उसकी धारणा है कि परम सत्यका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी अपनी एक शक्तिविशेष द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और वह है सहज ज्ञान, अन्तःस्फ़रित, अपरोक्षानुभृति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकानेकी शक्ति। अपनी इस शक्तिको विकसित और सक्षम करनेके लिए वह अनेक साधन करता है, लेकिन वह बुद्धि, संकल्प और भावनात्मक पक्षोका विरोधी नहीं होता, न उनका बहिष्कार ही करता है। शंकर और एकहार् जैमे महात्माओने बुद्धिका सम्यक् प्रयोग सिद्धान्त-पक्षमे किया है और यह तो मर्मी साधकोक्षी सर्वमान्य मान्यता है कि संकल्प और भावनाओंका सम्यक् परिष्कार और समायोजन किये बिना कोई भी साधना नहीं हो सकती और न ईश्वरका दर्शन ही हो सकता है। इसीलिए प्रायः सभी सन्त अपनी सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियोसे अधुब्ध और उनके परिमार्जन तथा उदात्तीकरणर्मे दत्तचित्त दिखलाई पडते हैं 🕽 कभी वे 'मोसों कौन कुटिल खल कामी', 'में पतितनको टीको', 'ममता तून गयी मन मोते' कहकर अपनी भर्त्सना करते हैं, कभी 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौगो'का संकल्प करते है और कभी 'चदरिया'को जैसीकी नैसी रख देनेपर बालसुलभ उल्लाससे भर उठते है। सगुणोपासक मर्मा साधक तो अपनी भाव और भक्ति-सम्पदाका आश्रय ग्रहण करके ही इष्टदेवकी कृपाका भागी वनता है। इस प्रकार यद्यपि मर्मा इन तीनो पक्षोका समुचित उपयोग कर लेता है, फिर भी अपरोक्षानुभूति ही उसका प्रधान साधन रहती है (रहस्यवादका आग्रह केवल इतना ही है कि बुद्धिकी समस्त भाग-दौडके उपरान्त परम तत्त्वमे रहस्यका एक ऐसा अंश रह जाता है, जो उसके लिए अगम्य है और जिसे अन्तःस्फ़रित सहज ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है। रहस्यानुभृतिका सत्य स्वतन्त्र है। वौद्धिक स्तरपर किसी दर्शनके खण्डन-मण्डनपर वह निर्भर नही है। उसके निकट ईश्वर ज्ञानका विषय नही, अनुभृति है। रहस्यानुभृतिमे ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान वुद्धिके विक्लेषणसे नहीं, वरन् ज्ञेय और ज्ञानाके तादात्म्यसे प्राप्त होता है।

दार्शनिक दृष्टिने रहस्यनाद शब्द बहुत व्यापक हैं और किसी एक विशिष्ट दार्शनिक मतके लिए उसका प्रयोग करना उचित नहीं प्रतीत होता। रहस्यवादी साधकों के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्मवादी, उपनिषदों के क्षि, लाओ त्जे, प्लोटिनस, शंकर और एकहार्ट, सगुण ईश्वरके उपासक प्रभु ईसा, वैष्णव, ईसाई और मुसलमान सन्त तथा किसी भी निर्गुण या सगुण परम तत्त्व अथवा ईश्वरमे विश्वास न करनेवाले, किन्तु फिर भी योगसाथनाका आश्रय लेनेवाले बौद्ध और जैन साधकों कुछ विद्वानोंने सम्मिलित किया है। इस व्यापक स्तरपर रहस्यवादकी सर्वसम्मत दार्शनिक मान्यताओंको स्त्रवद्ध कर सकना कठिन है। अपेक्षाकृत संकीणंतर दृष्टिकोणमे रहस्यवादकी कुछ व्यापक धारणाए

मानी जा सकती है।

अपनी विधिमे रहस्यवाद अनुभववादी और यथार्थवादी है। वह किसी आप्त वचनमे विश्वास न करके स्वयं अपनी प्रत्यक्ष और अमन्दिग्ध अनुभृतिमे विश्वास करता है । अपनी साधनाके साध्य ईश्वर, ब्रह्म, परम तत्त्व, ताओ आदिके अस्तित्वको पूर्ण स्ततन्त्र मानता है। उसकी सत्ता रहस्यवादीके लिए स्वयं अपनी सत्ताकी भाँति माधारण मानवके निकट इस जगतकी सत्ताकी भॉति असन्दिग्ध है। वह ईश्वरके अस्तित्वमे श्रद्धामात्र नहीं रखता, वह उसके प्रत्यक्ष ज्ञानका दावा करता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार सम्भव है । परमतत्त्व एक और अद्वितीय है। ईश्वर, मन, वाणी, इन्द्रियों और वुद्धिके परे है, अनिर्वचनीय और वर्णनातीत है। उसका वर्णन 'ऐसा नहीं'. 'ऐसा नहीं'-नेति-नेति द्वारा निषेधात्मक रूपमें ही किया जा मकता है। उसके सभी वर्णन अपूर्ण है और अपूर्ण रहेंगे। वह नाम-रूप तथा बुद्धिके समस्त प्रवर्गींसे रहित है। मनुष्यकी आत्मा भी ठीक इसी तरह की है। वर्णनातीन और इन्द्रियातीत है। परम तत्त्व यानी विराद ब्रह्म और व्यष्टि आत्मा अभिन्न है। 'तत्त्वमिं वहीं तू है 'सोंऽहं'—मै वही हूं, 'अहं ब्रह्मासि'—मै ब्रह्म हूं आदि उपनिषद्-वचन और सुफियोंका 'अनलहक' इसी सत्यको व्यक्त करनेवाले चिरन्तन वाक्य है। अतएव आत्मा परम तत्त्वका साक्षात्कार, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, दोनोमे समान रूपसे कर सकती है। जो बाहर है, वहीं भीतर है। दोनोंमें पूर्ण तादात्म्य है। सम्यक् साधना द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है और यह ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके जीवनका परमतम निःश्रेयस है। उसकी उपलब्धि-का पथ नैतिक और आत्मिक साधना है।

रहस्यवादकी सर्वव्यापकताके सम्बन्धमें ऊपर कहा जा चिका है। आदिम समाजोंमें रहस्यवादका उत्कृष्ट रूप नही मिलता । उनमें यह विश्वास अवस्य प्रचितत है कि देवता, भृत-प्रेत तथा अन्य दैवी शक्तियाँ मनुष्यकी चेतनापर अधिकार करके उसे विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न बना देती है। पवित्रनाकी भावना और उन शक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए विश्वास किया जाता है कि दैवी शक्तियाँ कुछ चुने हुए व्यक्तियोको अपना यन्त्र बना लेती है। मेलेनेसिअनोकी माना और आइरोक्यओंकी ओरेण्डा नामक इक्तियाँ इसी प्रकार की है। जहाँतक साधनोंके द्वारा व्यक्तिको इन शक्तियोके सम्पर्कमें लाने और उनसे अपनेको पूरित कर लेनेका प्रश्न है, हम उसे आरम्भिक प्रकारका रहस्यवाद कह सकते है। इसी प्रकार साइबेरियाके वामानवादी समाजोमें इष्टदेवतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए आदिम कर्मकाण्डकी व्यवस्था है। विविध उपाय करके समाधि जैसी अवस्था उत्पन्न भी जाती है। उनका विश्वास है कि ऐसी दशामे मनुष्यकी आत्मा शरीर छोडकर चली जाती और देवतासे संयुक्त हो जाती है। प्रायः अन्य सभी आदिम समाजोंमें ओझा लोग किसी-न-किसी प्रकारसे रहस्यवाद अथवा योगका प्रयोग करते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा-चुका है, बौद्ध धर्म ब्रह्म या ईश्वर जैसे किसी परम तत्त्व और मृनुष्यकी आत्मा-

मे विश्वास नहीं करता और न ब्रह्मके साक्षात्कारको मनष्य-के जीवनका ध्येय मानता है। भगवान बुद्धने मनुष्यका लक्ष्य निर्वाण और उसका साधन आर्य-अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। इसके अतिरिक्त, बुद्ध अत्यन्त बुद्धिवादी और उपयोगितावादी थे। अतएव सामान्य स्थान, जिसका लक्ष्य किसी परम तत्त्व या ईश्वरका साक्षात्कार है, बौद्ध धर्ममे नहीं है। किन्त यदि रहस्यवादके अन्तर्गत पराबौद्धिक प्रज्ञा या बोधिकी प्राप्ति तथा उसके निमित्त योगाभ्यास जैसे साधनो-का प्रयोग भी मान लिया जाय तो उसमे भी रहस्यवादका व्यावहारिक रूप मिल जायगा । बुद्धोपिड्रष्ट स्वयं आर्थ-अष्टांगिक मार्गका अन्तिम पद समाधि है। स्वयं बुद्धको भी प्रज्ञा अथवा बोधिकी प्राप्ति अपरोक्षानुभृति द्वारा ही हुई थी। बौद्धचर्यामे योगाभ्यास, मानसिक एकाग्रता, समाधि जैसी दशा उत्पन्न करनेके लिए विविध साधनोकी व्याख्या है। श्रेष्ठ बौद्ध साधक शील-सम्पदाका ही अर्जन नहीं करता, वह उत्तम योगी भी होता है। चीन और जापानमें विकसित तथा अब भी प्रचलित बौद्ध धर्मकी ध्यानसम्प्रदाय-शाखामें परम सत्यके स्वरूपकी अपरोक्षा-नुभृति, उसमें आकस्मिक अन्तर्देष्टि प्राप्त कर लेनेपर ही बल दिया गया है। महायान बौद्ध धर्ममें अमिताभ बुद्धकी उपासना आरम्भ होनेसे उसमे रहस्यवादका सामान्य तत्त्व भी सम्मिलित हो गया। बौद्ध धर्मके तान्त्रिक विकासमे भी रहस्यवादका तत्त्व वर्तमान था।

चीनमे लाओ त्जेके सिद्धान्त भारतीय रहस्यवादसे मिलते हैं। उसने परम तत्त्वको 'ताओ' अथवा मार्गका नाम दिया। उसके अनुसार ताओ स्वर्गसे उच्चतर और पूर्वतर है, कालके भी पूर्व उसकी सत्ता थी, व्यक्त ईश्वरके पहले भी वह वर्तमान था। वह प्रकृतिका विधान है, शाश्वत, अपिवर्तनशील, अगोचर, प्रथम हेतु, सर्वव्यापक है। उसका वर्णन निषेधात्मक नेति-नेति-ढगसे ही किया जा सकता है। उसको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। इसके निमित्त लाओ तजेने निवृत्ति, पूर्ण श्रून्यता, इच्छाके आत्यन्तिक नाश और अपनी सम्पूर्ण सत्ताको ताओको अधीन एवं समर्पित कर देनेका उपदेश दिया है। लाओ तजेने ईश्वरका किंचित् भी वर्णन नहीं किया है। वह मनुष्यका परम कर्तव्य अपनी इच्छा और अपनी सत्ताको ताओको समर्पित करके उसका यन्त्र वन जाना ही मानता है।

प्राचीन यूनानकी प्रधान प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धिक और ऐहिक थी, फिर भी रहस्यवादका सूत्र वहाँ भी मिलता है। दार्शीनक पाइथागोरस रहस्यवादी था। आरिफ रहस्यवादी विविध रहस्योंसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड किया करते थे। सुकरातके समाधि जैसी अवस्थामें जाने और दिव्य शक्तिसे पूरित हो उठनेका वर्णन मिलता है। प्लेटोने अपने सलापोंने आरिफ रहस्यवादियोंका मजाक उड़ाया है और उनके कुछ विचारोंको स्वोकार भी किया है। प्लेटो स्वयं एक महान् रहस्यवादी था। अपने 'सिंपोसिअम' नामक संलापमें उसने रहस्यानुभूतिका प्रतीकात्मक वर्णन दिया है। प्लेटोके शिष्य प्लोटिनसकी भी गणना संसारके महान्

रहस्यवादियोंमें होती है। उसने रहस्यवादको दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और अरव तथा यूरोपके रहस्यवादियोपर महान् तथा व्यापक प्रभाव डाला।

ईसाई धर्मके प्रवर्तक प्रमु ईसामसीहका जीवन आदर्श रहस्यवादीका जीवन है। उनके शब्द ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कार और सान्निध्यजन्य अमित गम्मीरता और बलमे व्याप्त है। स्वयं वाइविल रहस्यवादका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके एिपिसिल्स नामक अंशोंमे ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कारकी दिव्यानुभूतिका वर्णन है। सन्त पालकी श्रद्धा, आस्था और विश्वासका आधार यह दिव्य साक्षात्कार ही है। ईसाई धर्मके अन्तर्गत रहस्यवादी सन्त और साधक प्रायः सदैव ही होते रहे हैं। ईसाई रहस्यवादपर प्लोटिनस और नव्य प्लेटीवादियोका बहुत प्रभाव पड़ा है। छन्मनामी डायोना-इसन, जान स्कोटस एरिजेना, केरवोके बर्नाड, माहस्टर, एकहाई, होलर, ससो, टेरेसा, क्रसाके निकोल्स, श्रृनो, साइलेसिअस, वोएम, दॉते, ब्लेक, क्रमके सन्त जान, सेल्सके क्रांसिस, मैडम गुयाँ मोलिनोज आदिकी गणना प्रमुख ईसाई रहस्यवादियोमे होती है।

इस्लाम धर्ममें रहस्यवादी साधनाका सूत्र स्वयं हजरत मुहम्मदके जीवनमे मिलता है। उन्होंने तापसी साधनो, रात्रिजागरण, व्रत, प्रार्थनाओ आदिकी उपयोगितापर वल दिया है। इन साधनोंका प्रयोग वे ख़यं भी करते थे। किन्तु एक आन्दोलनके रूपमे इसलामके अन्तर्गत रहस्य-वादका सूत्रपात सूफीवादमे हुआ। आर्मिभक सूफी इसलामसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध थे। आगे चलकर दूसरी शती हिजरीमे वसराकी महिला सनत रविआने रहस्यवादी प्रेमका सिद्धान्त प्रचारित किया। तदनन्तर ईश्वरके प्रति भक्ति और उससे मिलनके रहस्योंकी अभिन्यक्ति लौकिक प्रमाण और सुरापानकी शब्दावलीमे होने लगी। तीसरी शती हिजरीमें इसलामके ईश्वरवादके विरोधी सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तका विकास हुआ। आगे चलकर सीरियामें अन् सुलेमान अलं दारानीने ज्ञान और आनन्दके माध्यमसे रहस्यानुभूतिके सिद्धान्तकी स्थापना की। ईरानके अन् याजिद(८७४ ई०)ने सर्वेश्वरवाद स्वीकार करके फनका सिद्धान्त प्रतिपादित किया ! तीसरी शती हिजरीनक सृफी सम्प्रदाय (दे०) सुसंघटित हो गया। साधनाके पथ-प्रदर्शक यन्थोकी रचना हुई। साधनामे अनेक सीडियाँ पार करनी होती हैं-प्रायदिचत्त, परिवर्जन, त्याग, दरिद्रता, धैर्य, ईश्वरमे विश्वास, ईश्वरेच्छामे सन्तोष आदि । इनके उपरान्त आध्यात्मिक अनुभूतिकी भय, आशा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कारकी दशाएँ आती है। सूफी साधनासे दरिद्रता, तप और पवित्रतायुक्त जीवन तथा सद्गुरुकी कृपा अनिवार्य है। गजाली, जलाछुद्दीन रूमी, हाफिज, उमर खैयाम, निजामी, सादी और जामी प्रसिद्ध ईरानी स्फी कवि है। सूफियोका प्रभाव भारतवर्षमे भी पड़ा और यहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सन्त और कवि हुए हैं 🖟

रहस्यवाद और रहस्यवादी साधनाका प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन कालते लेकर आधुनिक समयतक इस देशमें रहस्यवादी साधना होती रही है। वैदिक युगमे विशुद्ध रहस्यवादी साधना प्रमुख नहीं थीं और ऋग्वेदमे उसके संकेत प्रचुर मात्रामे नहीं मिलते, किन्तु तप, ऋत और पुरुष सम्बन्धी विचारोंमे उसके बीज अवस्य उपलब्ध होते है। किन्तु उपनिषदे भारतीय रहस्यवादका हृदय है। उपनिषदें वह हिमालय है, जिनसे वेदान्तकी विविध गंगाओंकी धाराएँ प्रवाहित हुई है। उपनिषदोमे ही परम तत्त्व और व्यष्टिकी आत्माके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। वह परम तत्त्व एक और अद्वितीय, शान्त और अनन्त, सत्-चित-आनन्द, अलक्षण और निर्विकार, समस्त जगत्का अधिष्ठान, ब्रह्म है। मन्द्रव्यकी आत्मा भी ऐमी ही और उससे अभिन्न है। इसीलिए ऋषि श्वेनकेतुमे कहता है—'तत्त्वमिस'—वही त् है। उपनिपदोंने कोई एक सस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा नहीं मिलती। शंकर, रामानुज, मध्व, वहुभ, निम्बार्क आदि आचार्योंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओके अनुसार उपनिषदोंका भाष्य किया है। वस्तुनः उनमें सर्वेश्वरवाद, अद्वैत, विशिष्टाद्वैन, द्वैताद्वैत, द्वेत आदि सभी मतोके अनुकूल उक्तियाँ मिल जाती है। किन्तु जहाँतक व्यावहारिक साधना-पक्षकी वात है, उपनिषदोका आग्रह प्रत्यक्ष रहस्यानुभृति और ज्ञान प्राप्त करनेपर है। त्याग, वैराग्य, श्रद्धा, तप, पवित्र जीवन और योगाभ्यास साधनके रूपमे स्वीकार किये गये है। उपनिषदोको मुख्यतया ज्ञानमार्ग, निर्मण उपासनाका प्रतिपादक माना जाता है।

सगुणोपासक भक्ति-सम्प्रदायके रहस्यवादकी परम्परा भी वड़ी प्राचीन है। उपनिषदोकी उपासनामें भक्तिपर विद्येष वल नहीं दिया गया है, किन्तु भक्तिमार्ग आत्म-समर्पण और भक्तिके द्वारा उसी लक्ष्यपर पहुँचना चाहता है। 'भगवद्गीता'में भक्तिको बहुत महत्त्व दिया गया है और उसमें श्रीकृष्णने ज्ञानी भक्तको अपना सर्वाधिक प्रिय कहा है। दक्षिणके आलवार सन्तो और वैष्णव आचार्योंने सगुण रहस्यवादी साधनाका प्रचार देशभरमें कर दिया। मध्य-युगमे भक्ति-आन्दोलनका अभृतपूर्व प्रस्फुटन हुआ। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रमु, रामानन्द, तुलसीदास, स्रदास, भीराँबाई, तुकाराम, नरसी मेहता आदि प्रमुख मध्ययुगीन भक्त है।

मध्ययुगमें रहस्यवादकी निर्गुण शाखाका भी विशेष प्रस्फुटन हुआ। इसके प्रमुख प्रतिनिधि कैवीर, नानक, रैदास, क्क्षमेदास, दादू इंत्यादि है। नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामे गोरखनाथका नाम अग्रगण्य है।

आधुनिक कालमे भी भारतमे रहस्यवादकी भारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरुत्थान-युगके अग्रणी राजा राममोहन राय औपनिषदिक रह्मूयवादमे आस्था रखते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर विख्यात रहस्यवादी सापक थे। रामकृष्ण परमहंसके प्रादुर्भावमे रहस्यातमक माधनाको और भी वल प्राप्त हुआ। उनके प्रमुख क्लिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य शिष्योंने उनका सन्देश देश-विदेशमे फिर विकसित किया। बाह्मसमाज भी ऐसी ही साधनाका पोषक था। उत्तरभारतमें स्मामी रामतीर्थ और ईसाई सन्त साधु सुन्दर सिंहके नाम इस सम्बन्धमे उल्लेखनीय है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ममीं साधक थे। दक्षिणमें श्री रमण महर्षिने निर्गुण रहरयवादकी साधनाका मार्ग विशेष रूपने आलोकित

किया। प्रयाग विश्वविद्यालयके दर्शन विभागके भूतपूर्व अध्यक्ष रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अपने जीवन और साहित्यते रहस्यवादका प्रतिपादन करते रहे। अरविन्दकी साधना-पढितिम भी रहस्यवादके तत्त्व है। रहस्यवादी आधारपर स्थापित होनेवाल। एक नया सम्प्रदाय राधास्वामी-मत है, जिसका प्रधान केन्द्र दयालवाग, आगरामे है।

रहस्यवादने समग्र मानवीय संस्कृतिपर व्यापक प्रभाव छोडा है। वस्ततः वह मानवीय चेतनाके प्रमुख और उदात्ततम निर्णायक तत्त्वोमेंसे है। उसने साहित्य और कलाको प्ररणा दी है और संस्कृतिके निर्माणमे योग दिया है। रहस्यवादी भावनासे प्रेरित साहित्यका परिमाण विज्ञाल है। पश्चिममे फेटोबे तद्विषयक संलाप, प्लोटिनस-की कृतियाँ, दाँ तेकी डिवाइन काॅमेडी, सन्तोके आत्मचरित तथा साधनाविषयक ग्रन्थोंकी प्रचर संख्या है। रहस्यानु-भृतिका वर्णन वर्ड सवर्थ और टेनिसनकी कविताओं भी मिलता है। दूसरे महायुद्धके उपरान्त पश्चिमके बौद्धिकों मे रहस्यवादके प्रति एक नयी अभिरुचि उत्पन्न हुई। इनमें एल्डस हक्सले और क्रिस्टोफर आइशर उडके नाम प्रमुख है। पूर्वमे रहस्यवादसे प्रेरित साहित्य और भी प्रचुर है। ईरानके सुफी कवियोका नाम ऊपर लिया ही जा चुका है। भारतमे उपनिषद, 'ब्रह्मसूत्र' 'भगवद्गीता' तथा इन आचार्योंके भाष्य, 'योगवाशिष्ठ', तीनोंगर विविध 'महाभारत'के अंश, 'मिक्तिसूत्र', 'श्रीमद्भागवत' आदि रहस्यवादके प्रसिद्ध प्राचीन प्रन्थ है। शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यो और विद्वानोकी तत्सम्बन्धी कृतियोकी संख्या प्रचर है। यदि तन्त्रोके उदात्त पक्षको रहस्यवादी साधना माना जा सके, तो विशाल तन्त्र-साहित्य भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। हिन्दीके आरम्भिक कवि रहस्यवादी सिद्ध ही है। मध्ययुगमे निर्गुण और सगुण धाराओंके रहस्य-वादियोंकी कृतियाँ तो हिन्दी साहित्यकी अक्षय निधि है। क्बीर, नानक, दादू, स्रदास, तुल्सीदास, मीरॉबाई आदि सैकड़ो रहस्यवादी कवियोने हिन्दी साहित्यको अमूल्य क्रतियाँ दी है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी रहस्यवादका विशाल साहित्य है। आधुनिक कालमे रामकृष्ण परमहंसके उपदेश, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रमण महिष अरविन्द, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामचन्द्र द॰ रानडे आदिकी कृतियोंसे भारतका रहस्यवादी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दीके क्षेत्रमें इधर कोई काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न सञ्चा रहस्यवादी साधक नहीं हुआ । रवीन्द्रनाथकी विश्वव्यापी ख्यातिसे प्रभावित होकर छायावादी युगमे कुछ कवियोंने रहस्यवादी शैलीमे कविता अवश्य की, किन्त सची अनुभृति और जीवनसे प्रेरित न होनेके कारण उसे कृत्रिम रहस्य वाद ही कहा जा सकता है। —आ०रा०शा० रहस्यानुभृति - लौकिकतासे विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्तिके प्रति राग, उत्सकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है, तब उस अनुभव-वेद्य अवस्थाको रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं। इसे दिव्यानुभूति भी कह सकते है, क्योंकि उमका सम्बन्ध अलैकिक शक्तिसे होता है। अंग्रेजोमें इसे 'मिस्टिक फीलिग' कहेगे। ज्ञानी जिस रहस्यको

साधनाके द्वारा सुलझाता है, अनुभृतिप्रवण निवेदन और रागानभवके द्वारा प्रकट करता है। दोनो एक ही शक्तिको आलम्बन स्वीकार करते है, किन्त दसरा व्यक्ति उससे अनेक रागात्मक सम्बन्ध जोडकर विरहानुभति भी व्यक्त करता है; कभी वह उससे एकाकारिताका अनुभव करता है। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल इसे भारतीय कान्यमे रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे यूरीपीय प्रभावमात्र मानते है और अलौकिक शक्तिके प्रति लालसाकी अभिव्यक्तिको झूठा या कृत्रिम रहस्यवाद मानते है, तथापि 'प्रसाद'ने इसे वैदिक कालसे आगत भारतीय विचारके रूपमे ही स्वीकार किया है। भारतीय सन्तों, सुफियों, रहस्यवादी कवियोमें इस आध्यारिमक रहस्यानुभृतिकी प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति दीख पडती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा महादेवी वर्मा आदि इस प्रकारके हिन्दी काव्यके प्रतिनिधि कवि है। -- आ० प्र० दी०

रागानुरागसंबंधरूपा भक्ति—यह रागके द्वारा भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करानेवाली भक्ति है। रूप गोस्वामीने
गौणी भक्तिके एक उपभदके अन्तर्गत ही इस भक्ति-प्रकारको रखा है (भ० र० सि०: पू० वि०, २:६२)। भक्त
और भगवान्के मध्य, सम्बन्धके विचारसे इसके चार प्रकार
है—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य, (४) दाम्पत्य।
हनुमान्को दास्य, खुदामा, उद्धव और अर्जुनको सख्य,
नन्द-यशोदाको वात्सल्य तथा राधा एवं रुक्मिणीको दाम्पत्यभावका आदर्श माना जाता है (हिन्दी काच्यमे
वर्णित इन भावोंके उदाहरणोके लिए दे०—'आसक्तियाँ')।
—वि० मो० श०

राजचर्या—राजशेखरने अपने किविशिक्षा (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा'के दसर्वे अध्यायमे राजाओं द्वारा आयोजित किव-पिरिषदोका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि राजा लोग किवां और काव्यो तथा अन्य विद्वानोकी परीक्षाके लिए ब्रह्म-सभाका आयोजन करे। उज्जियनीमे ऐसी ही ब्रह्म-सभाओमे कालिदास, मेण्ठ, भारवि जैसे किवयोंकी परीक्षा हुई थी और पाटलिपुत्रकी सभाओमें उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याहि, वररुचि, पंतजिल जैसे आचार्योकी परीक्षा हुई थी। इन परिषदोंसे तत्कालीन राजदरबारोंके वातावरणका आभास मिलता है और उनमें किवयोंके स्थानका रूप भी स्पष्ट होता है।

राजपथ-सुषुम्ना नाडी (दे॰ 'अवधूती') । राजसी भक्ति-दे॰ 'गौणी भक्ति'।

राजस्थानी – राजस्थानकी बोलियोंका समृहः हिन्दीभाषी
प्रदेशके सीमान्तपर अवस्थित है। राजस्थानी बोलियों
मौलिक दृष्टिमे पश्चिमी हिन्दीसे बहुत भिन्न नही है।
राजस्थानीकी चार बोलियों है—१. मेवाती—अहीरवाटी—
यह अलवरमें तथा दिल्लीके दक्षिणके प्रदेशमे गुडगॉवके
आस-पास बोली जाती है। २. मालवी—इस बोलीका केन्द्र
मालवा प्रदेश है। ३. जयपुरी – हाडौती – यह जयपुर, कोटा
और बूँदीमे बोली जाती है। ४. मारवाई – मेवाई — यह
मारवाइ तथा मेवाइ प्रदेशकी बोली है।

राजस्थानी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है तथा

उत्कटता दिखलानेके लिए दीप-पतंग जैमे प्रतीक आदिम कालते चले आते हैं। नये-नये प्रतीकोंकी खोज और पुराने प्रतीकोका नये सन्दर्भमे उपयोग किनाकी भान-पक्ष सम्बन्धी वृद्धिके लिए अनिवार्थ है। प्रतिभाका अर्थ ही 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा' है और यह अपूर्वता रूपक और प्रतीक-पद्धतिमे स्पष्ट ही झलकती है।

जीवनकी घटनाओं और अनुभृतियोंका पृथक्करण और अपनी विशिष्ट हेतुपूर्तिके लिए उनका स्वतन्त्र रूपने संयोग कल्पनाका काम है। इमीको कवि-प्रतिभा कहा गया है। वास्तवमे कवि-प्रतिभा और कल्पना साम्यवाची वन गये है और 'कल्पना' काव्यका अनिवार्य अंग है। अतः कल्पनाको हम पृथक्करण-संकल्प-शक्ति कह सकते है। अनुभृति और स्मृति अनेक उपकरगोंकी कल्पना नये योगायोगोंमे बॉधकर एक अभिनव स्वप्नलोकको सृष्टि करती है, जो वास्तविक जगत्से भी अधिक सुन्दर और चमत्कारक है। विभिन्नताओंमे संगति विठलाना भी कल्पनाका ही काम है। इस प्रकार उसके द्वारा विश्वदीकरण (इण्टर-प्रिटेशन)की किया भी सम्पादित होती है।

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि काव्यके प्रमुख तत्त्व भावना और कल्पना हैं और विचार अथवा विद्वत्ता तथा काव्यको परस्पर शत्रु माना जाता है। इसी विरोजके आधारपर गम्भीर और ललिन वाड्यका विभाजन है और यह कहा जाता है कि बुद्धिमत्ताके विस्तार अथवा सभ्यताके विकासके साथ काव्यका हास होता जाता है। इस प्रकारके अनेक विचार हैं। परन्तु समस्त विचार-सरणीमें छोटा-मोटा हेत्वाभास है। काव्य विचार-प्रधान नहीं है, परन्त विचारश्रन्य भी नहीं है। तर्क और भावना को दो-अनन्यतः विरोधी समझना भ्रान्ति है। यह कहा जाता है कि किसी वस्तके सम्बन्धमें शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे उसका भावनात्मक आकर्षण लग्न हो जाता है यदि यह सिद्धान्त मान लें तो कोई भी ध्वनि-शास्त्रज्ञ संगीत-कला-प्रवीण नहीं हो सकेगा। भावनात्मकता और तर्कमूलकता मानवीय व्यक्तित्वके दो अंग है। एक ही व्यक्तिमें दोनोंका विकास सम्भव है। वास्तवमें ये वस्तु-मुखताके दो दृष्टिकोण है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिकने 'सौन्दर्यलहरी'की सृष्टि की है और कालिदास जैसे सौन्दर्य-निष्ट कविका विचार-पक्ष भी अत्यन्त सजीव एवं सबल है। काव्यातमक दृष्टिकोण मुख्यतः भावात्मक और कल्पना-निष्ठ होनेपर भी विचारसरणीका परित्याग नहीं कर सकता। सच तो यह है कि विचारका अपना सौन्दर्य है और कल्पना एवं भावनाके योगसे उसके सौन्दर्य एवं रूप-संवटनमें समृद्धि ही होती है। प्राचीन काव्य-लेखमें शास्त्रीय ज्ञानका विशद योग हुआ है और आजके विज्ञान-युगमे भी उसकी अनिवार्यता स्पष्ट है। आधुनिक काव्यमें विचारका महत्त्व बढा ही है। काव्यको गम्भीरता प्रदान करनेमे अथवा भावनाको स्थिरता देनेमें विचार निरन्तर सहायक हुआ है। काव्य-लेखनके क्षणोंमें भी तर्कयुक्त विचारसरणी सहायक सिद्ध होती है। कान्य-रसिक केवल भावुक प्राणी नहीं है, वह विदग्ध और पण्डित रसिक है। परन्त यह समझ लेना होगा कि कान्यगत विचार भावना-

गर्भित होता है। यह तादात्म्य ही विचारको भाव-पक्षकी चीज बनाता है। काव्यगत विचार तर्क-शुद्धतापर पूरा न उत्तरनेपर हमें सत्यकी झलक देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार भाव-पक्षके अन्तर्गत भावना, कल्पना और विचार—तीनोंका विवेचन अपेक्षित है। काव्यके अन्तरंगमें इन तीनोंकी समयगत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा ही वांछनीय है।

भावप्रधान काड्य — दे० 'स्वात्मिनिष्ठ' (काव्य)।
भावलय — 'भावलय'को 'अर्थलय'से पृथक् करना कठिन
है, क्योंकि भावात्मकताके कारण ही अर्थ लयान्त्रित होता
है और अर्थलयकी स्थिति उत्पन्न होती है। फिर भी कुछ
अन्तर अवश्य किया जा सकता है, क्योंकि भावकी कल्पना
विचाररहित अवस्थामे भी की जा सकती है, जब कि अर्थमें
भाव और निचार, दोनोंकी संक्षिष्टता रहती है। निचारोंके
निरंपेक्ष जहाँ द्युद्ध भावात्मक धरातलपर लयकी प्रतीति हो,
वहाँ 'भावलय'की सत्ता मानी जायगी अन्यथा उसे अर्थलयमे ही समाविष्ट करना होगा।
——ज० गु०
भाव-विरोध —दे० 'वर्णन-दोष', चौथा।

**भावशबळता**—जहाँ एकके पश्चात एक, इस प्रकार शृंखलावद्ध क्रमें भे अनेक भाव प्रकट हो जाय अथवा अनेक भावोका एक साथ मिश्रण दिखाई दे, वहाँ भावशबलता मानी जाती है। आगे आनेवाला भाव अपनेसे पिछले भावको मिर्दे करता हुआ प्रतीत हो। इसीमें भावशब्लताका चमत्कार निहित रहताडै और हिन्दीके अनेक आचार्यीने इस विशेषतापर वल दिया है। बेनी प्रतीन—''एक एकको मरदिके, उपजत भाव अनेक। भावसक्लता कहत है, जिनके बुद्धि विवेदः ' (न० र० त०, पृ० ५५)। पद्माकर-"पूरव पूरवको मरिद होन जहाँ बहु भाव।" (पद्मा०, पृ० ७७) । दूलह—"पूर्व पूर्व मिर्दिकै जहाँ ही बहु भाव होय, तहाँ भावसवलता भाषत िरा मेरे" (क॰ क॰ क॰, पृ० ७५) । पर भिखारीदासने जो लक्षण दिया, वह इस परम्पराने भिन्न प्रतीत होता है—"बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रकट करें इक रग। सबल भाव तासो कहे, जिनकी बुद्धि उतंग" (का० नि०, ५:५०)।

यह परिभाषागत अन्तर संस्कृतके आचायों में ही था, जिसकी छाया उक्त उद्धरणों में दिखाई देती है। 'रसगंगाधर'- में पण्डितराज जगन्नाथने पूर्वभावको उपमदिंत करते हुए अन्य भात्रके प्रकट होनेकी पूर्वाचायों द्वारा कही हुई बातको खण्डित करके ऐसी स्थितिके पक्षमें अपना मत दिया, जहाँ अनेक भाव-खण्ड रसोंकी तरह मिश्रित होकर विलक्षण आस्वाद प्रदान करते हैं।

इसके किसीका अंग होनेपर 'भावशवलवत' अलंकार होता है। 'काव्यनिर्णय'मे भावशवलताका निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है—"हरि संगति मुख मूल सिख! ये परपंची गाउँ। तू किह तौ तिज संक उत इग बचाइ द्वुत जाउँ" (५: ५१)। — ज० गु० भावशांति - जहाँ पहलेसे वर्तमान किसी भावकी शान्ति चमत्कारपूर्वक सहसा हो जाय, वहाँ भावशान्तिकी अवस्था मानी जानी है। दूसरे भावके उदयकी अपेक्षा पूर्विस्थत भावकी शान्ति होनी

चाहिये, अन्यथा 'लाबेटर' हो प्रधाननाकों कारण भावशान्ति की स्थिति गौण हो जायगी। हिन्दी किवयोने इसके लक्षण इस प्रकार दिये है—वेनी प्रवीन—"भाव जहाँ केंद्रु भावते, तत्क्षण उपसम होइ। भावसान्ति तह कहन है, किव कोविद सब कोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। चिन्तामणि— "उपसम पावै भाव जो भावसान्त सो जान" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। भिखारीदास—"भाव सान्ति सो है जहाँ मिटत भाव अन्यास" (का० नि०, ५: ५२)। स्पष्ट है कि बेनी प्रवीन और चिन्तामणिने पूर्वाभासके तत्क्षण शमनपर विशेष वल दिया है जब कि दासने शमनके अनायास होनेको विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

मितरामके छन्दकी निम्निलिखित पंक्ति भावशान्तिका एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करती है—"आँखिन ते गिरे आँसुके बूंद सु हास गयो उडि हंसकी नाई" (रसराज)। जब भावशान्ति किसीका अंग होकर आती है तो समाहित अलकार माना जाता है—"काहूको अंग होत है, जह भावनकी सान्ति। समाहितालंकार तह कह सुकि बहु भॉति" (का० नि०, ५:१६)। विशेषके लिए दे० 'रसाभाम'। — ज० गु० भावसंधि—जिनका उत्कर्ष परस्पर समान रूपमे अवस्थित हो, ऐसे दो भावोके बीचकी स्थिनिको भावसन्य कहा जाता है। इस सन्ध्रिश्वलका चामत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावोंकी सन्धि हो, वे अविरोधी अथवा एक प्रकृतिके ही हो, भिन्न प्रकृतिके विरोधी भावोके बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चामत्कारिक भी होते है।

कालिदासकी प्रमिद्ध उक्ति 'न यथी न तस्थी' भावसन्धि-की अवस्थाको ही चोतित करती है। विहारीकी निम्नलिखित उक्ति भी संकोच और स्नेहके भावोका मिलन व्यक्त करती है—''छुटै न लाज न लालची, प्यौ रुखि नैहर गेह। स्टपटात लोचन खरे, धरे संकोच सनेह" (बि० स०)। नायिकाभेदमे मध्या नायिकाके अनेक उदाहरण इसी रूपमे मिलते है।

पंचवटीमे राम-भरत-मिलनके अवसरपर लक्ष्मणकी मनःस्थितिका चित्रण भावमन्धिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है — "बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोग। मिलिन जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकवि लखन मनकी गति भनई" (अयोध्याकाण्ड)। यद्यपि अगोस्वाभिमान विजयी होता है, पर यहाँ भावसन्धि ही है।

एकका किमीका अंग हो जानेपर (भावसन्धिवत) अलंकार माना जाता है। विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषके लिए दे॰ 'रसाभास'। — ज॰ गु॰ भावा जोस्बी — विशेषको पिए दे॰ 'कनफटा')के कान-फड़वानेकी प्रथाका विवरण दिया है और बताया है कि कान फट जाना इन योगियों में 'भावाजोस्बी'का न्यापार कहरूलता है। जिसका कान खराब हो जाता है, वह सम्प्रदायसे अलग हो जाता है और पुजारीका अधिकार स्वो देता है। — रा॰ सि॰ भावाभास— भावाभासकी स्थिति रसाभासके ही

समानान्तर मानी गयी और आचायाँने प्रायः दोनोंका

निरूपण साथ-साथ किया है। रसकी अपेक्षा भाव सीमित अनुभवको न्यक्त करता है। अतः भावाभासकी न्याप्ति भी रसाभासकी तुलनामे सीमित रहती है। अनौचित्य ही भावाभासका भी कारण होता है। 'साहित्यदर्पण'में भावाभासका लक्षण दिया है-"भावाभासी लजादिके त वेश्यादिविषये स्यात्" (३, २६६) । पद्माकर द्वारा दिया गया लक्षण इसीका संवर्धित अनुवाद है- "ज़ रिप सराहै सु रिपुको, लज्जा गनिकनि माँहि। कबि पण्डित बर्नन करत, भावाभास तहाँहि" (पद्मा०, पृ० ७५)। हिन्दीके अन्य कान्याचार्यो द्वारा अनुचित स्थलपर भावप्रकाशन-को भावाभास माना गया है। वेनी प्रवीन-"होत अनूचित सो कलू, क्यहुँ थल भावप्रकास । ताही सौ सब कहत है, कबिकुल भावाभास" (न० र० त०, पू० ५५)। भिखारीदास-"भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावा-भास" (का० नि०, पृ० ४२)। चिन्तामणि आदिने भी ऐसे ही लक्षण दिये हैं।

कन्हैयालाल पोद्दारने अपने 'कान्यकलपहुम' (पृ० २८६: ७)में भावाभासकी स्थितिपर विचार करते हुए लिखा है कि "न्यभिचारी जनतक किसी रसके पोषक रहते है, तनतक वे न्यभिचारी हैं, जन वे प्रधानतासे प्रतीन होते हुए भाव-अवस्थाको प्राप्त होकर दूसरे किसी आभामके अंग हो जाते है, तन वे भी भावाभास कहलाते हैं'। इस परिभाषामे अनौचित्यकी अपेक्षा प्रधानतापर अधिक बल दिया गया है।

भावाभास और रसामास, दोनों अनौचित्यपर आधारित होनेके कारण काव्य-दोषों से निकटना रखते दिखाई देते है, पर प्राचीन काव्य-शास्त्रमे रसांग बन जानेपर भामह, दण्डी आदिके द्वारा उन्हें 'ऊर्जस्ती' नामसे अलंकार-रूपमे ग्रहण किया गया है। यह मान्यता हिन्दीमे भी बनी रही, जैसे 'किवकुलकण्ठाभरण'में दूलह किवने लिखा है—'जहाँ अनुचितमे प्रवृत्त रस भाव, रसाभास, भावाभास तहाँ ऊर्जिस गनायो है"। मिश्रवन्धुओने 'ऊर्जस्ती'के दो भेद माने है, एक रसाभास सम्बन्धी, दूसरा भावाभास सम्बन्धी। (सा० पा०, पृ० ४३६:८)

भावाभासके उदाहरणरूपमे मानसकी निम्नलिखित अर्दाली ली जा सकती है—"हुमिक लात तिक कूबर मारा। पि मुंह भिर मिहं करत चिकारा" (अथोध्याकाण्ड)। यहाँ आलम्बनके विकलांग होनेसे कोधके मूल भावके साथ हासका मिश्रण हो जाता है और परिणामतः कोध नरहकर भावाभास लगने लगता है।

'कान्यप्रकारा'में मम्मट(१२ श० ई० पूर्वां०)ने अभिधा-मूलक असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य ध्वनिके भेदोंका निर्देश करते हुए एक कारिका दी है—"रसमावतद भासभावशान्त्यादिर-क्रमः। भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितिः" (४: २६), अर्थात् शृंगारादि रम, विविध भाव, रसाभास और भावामास तथा भावशान्ति, भाव-सन्धि, भावोदय एवं भाव-श्वलता इत्यादि रसवत् आदि अलंकारोसे भिन्न अलंकार्यकी स्थितिमें आते हैं। इस कारिकासे भावाभासकी रम, भाव आदिसे सम्बद्ध अन्य प्रकारोंके बीच सापेक्षिक स्थिति स्पष्ट होती है तथा उसके अलंकारसे भिन्न अलंकार्य होनेकी

पुष्टि भी होती है। <del>\_ ব</del>০ নৃ০ भाविक-गृटार्थप्रतीतिम्लक अर्थालंकार, जहाँ भृत और भविष्यत् भावों अथवा पदार्थींका प्रत्यक्षवत् दर्शन किया जाय, वहाँ भाविक अलंकार होता है। भावका तात्पर्य हआ कविका आशय-विशेष, उससे संसृष्ट हुआ भाविक। साहित्य-द्र्पणकारने इसकी परिभाषा दी है-"अद्भूतस्य पटार्थस्य भृतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमदा-हृतम्" (सा० द०, ९३: ९४)। यह भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्योंसे स्वीकृत चला आनेवाला अलंकार है। भामहने भाविकको व्यापक प्रवन्ध-सौन्दर्य माना है-"प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्थाः भृतभाविनः" (काव्या-लंकार, ३: ५३), अर्थात् जिसमे भूत और भविष्य प्रत्यक्ष हो जाते हैं। साथ ही उन्होने इसमे शब्दकी अनुकलता, अर्थकी विचित्रता और उदात्तता भी अपेक्षित मानी है। उद्भटकी भाविक सम्बन्धी धारणा किंचित बदली हुई है, फिर भी "अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामानुकूल्येन भाविकम्" (का० सा० सं०, ६:६)मे व्यापक काव्य-गणकी स्रोकृति है। रुय्यक तथा मम्मटने इसको वाच्य सौन्दर्य, अर्थात अलंकारके रूपमे प्रतिष्ठित किया; अतीत और अनागत पदार्थीका प्रत्यक्षके समान वर्णन (का० प्र०, १०: ११४)। इसमें प्राचीनोंके आधारपर बढा दिया गया है कि उस पदार्थमे वैचित्र्य भी होना चाहिये। हिन्दीके आचार्योने प्रायः जयदेवके आधारपर इस अलंकारका लक्षण दिया है—''जहाँ भयो भावी अरथ, बरनत है परतच्छ'' (ल० ल०, ३७४)। भूषण, दास, पद्माकर आदिके लक्षण समान है। विहारीका यह दोहा भूतार्थप्रत्यक्षका उदाहरण है--"यों दलिमलियत निरद्यी, दई कुसुमसौ गातु। कर धरि देखी धरधरा, अजी न उरते जातु" (वि० र०, ६५१)। द्वितीय भाविकका उदाहरण मतिरामसे-"जनि चलाइये चलनकी चर्चा स्याम सुजान। मै देखित हौ वाहि यह बात सनत बिन प्रान" (ल० ल०, ३७६)। आधुनिक कवियोंमेंसे प्रथम तथा द्वितीय भाविकके क्रमशः इसी प्रकार—"अरे मधर है कष्टपूर्ण भी जीवनकी वीती घडियाँ। जब निःसम्बल होकर कोई जोड रहा बिखरी वृडियाँ" (महादेवी) अथवा—"हृदयमें खिल उठता तत्काल अथिखले अंगोका मधुमास । तुम्हारी छविका कर अनुमान, श्रिये प्राणींकी प्राण" (पन्त)।

उद्योतकारके अनुसार भाविकमे भूत और भविष्य क्रमशः भूत और भविष्यके रूपमे ही निर्दिष्ट होते है, अतः यह भ्रान्तिमानसे भिन्न है और स्वभावोक्तिसे इस कारण भिन्न है कि जहाँ स्वभावोक्तिमें प्रकृत वस्तुका धर्मवैचिन्न्य व्यापक है, वहाँ भाविकमे किवका अभिप्राय। — ५० व० शा० भावोद्य—जहाँ एक भावका शमन करके दूसरा माव उदय हो और उसमें ही चमत्कार निहित हो, वहाँ भावोदयकी अवस्था होती है। वेनी प्रवीन द्वारा दिया गया इसका छक्षण विशेष स्पष्ट है—"काहू भाव विभावते, भाव उदे जो होइ। ताहीसों सब कहत हैं, भाव उदे किव लोइ" (न० र० त०, पृ० ५४)। जब यह किसीका अंग होता है तो भावोदयवत् अलंकार माना जाता है। मैथिलीशरण ग्रप्तकी निम्नलिखित पंक्तियोमें विषाद-भावका उदय

चामत्कारिक रूपसे होता है, अतः यहाँ भावोदय कहा जा सकता है—"विहग समान यदि अम्ब पंख पाता में। एक ही उड़ानमें तो ऊँचे चढ जाता में। किन्तु विना पंखोंके विचार सब रीते हैं। हाथ पिंद्योंसे भी मनुष्य गये-बीते हैं" (यशोधरा)। विशेष दे० 'रसा-भास'। —ज०गु० भावोदय आदि—रसवत् आदिके साथ स्वीकृत अलंकारों का वर्ग। रससे सम्बन्धित इन अलंकारोंको रूच्यकने सम्भवतः स्वीकृति दी हैं और वादमें विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित आदिने भी इनका उल्लंख किया है। सामान्यतः इनको संस्कृत अथवा हिन्दी, दोनोंमें स्वीकृति नहीं मिल सकी। इनको गुणीभृत व्यंग्यके अन्तर्गत ही माना गया है। हिन्दीके प्रमुख आचार्योंमें केवल पद्माकरने रसवत् आदिके साथ इनको चर्चा भी की है।

विश्वनाथने इनके सम्बन्धमे—"भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः" कहकर परिभाषा दी है (सा॰ द०, १०: ९७), अर्थात भावके उदय होनेपर, भावोंकी सन्धि अथवा मिश्रण होनेपर भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-श्वलता नामक अलंकार होते है। भावोदय-भावका उत्कर्ष जहाँ दूसरे भावका अंग हो जाता है, वहाँ यह अलंकार होता है- "उदित होत ही भावके, भावोदय पहिचान । सो अंग हव जह औरको, अलंकार वह मान" (पद्मा०, ३००)। उदा०—"तन मृग-मदकी बासने, समुझि अधेरे मॉह। तियहि लाय हिप हरिषकै, बजरिस-कनके नॉह" (वही, ३०१)। यहाँ विवीधरूप भावीदय हर्षरूप भावका अंग हो गया है, अतः भावोदय अलंकार है। भावसन्धि-भावकी सन्धि जहाँ दूसरे भावका अंग हो जानी है, वहाँ यह अलंकार होता है-"विरुध भाव हैकी बहस, भावसन्धि उर आन । होत जु अंग जह औरको, अलंकार तह मान" (पद्मा०, ३०२)। उदा०-"रही धीर धरि लखि पियहि, रिस जरमे न समाति। भरि हग ऑसुन ही कहाी, रमें कहाँ तुम राति ।" (वही, ३०३)। यहाँ परस्पर विरोधी धृति तथा अमर्थरूप भावसन्धि विषादरूप संचारी भावका अंग अथवा शृनार रसका अंग हो गया है, अतः भावसन्धि अलंकार है। भावशबळता-अनेक भावोंकी एक साथ प्रतीति-रूप भावशबलता जहाँ अन्य भावका अंग हो, वहाँ यह अलंकार होता है-"पूरव-पूरवके मरदि, होत जहाँ वहु भाव। भाव-शवलता सो जु अंग, परको भूपन गाव" (पद्मा०, ३०४)। उदा०-"धिक मोहि जुन पियसो मिली, वह बिहारकी चीप। हाय कहाऽब करी सखी, गयो न उरते कीप" (वही, ३०५)। यहाँ निवेद-स्मृति-चिन्ता आदि भावशबलता अमर्षरूप संचारी भावका अंग अथवा अमर्ष सहित भावशवलता विप्रलम्भ-शृगार रसका अंग हो गयी है, अतः भावशवलता अलंकार माना जा सकता ~सं ० भाषण-कला-इसके लिए वनतृत्व-कला शब्दका प्रयोग

नाषण-कळा-इसके लिए वक्तुत्व-कला शब्दका प्रयोग भी किया गया है। भारतीय साहित्यमे इस कलाके सम्बन्धमें विशेष चर्चा नही हुई। दे० काव्य-लक्षण'। युरोपमे इस कलाका प्रचार यूनानके प्राचीन गौरव-कालमे

अत्यधिक रहा हैं और यूनानी विचारकोने इसके विवेचनको शास्त्रकी गरिमा प्रदान की है। पश्चिमका अलंकार-शास्त्र भाषण-शास्त्र(rhetorics) है विकसित हुआ है। युनानमें प्लेटोके पूर्व गीजियास तथा श्रेसीमेवसने वक्तृत्व-कलामे आकर्पण तथा अलंकारोकी आवश्यकता बतायी थी और वाकडौळीको साधारण बोल-चालके स्तरसे उठानेका प्रयतन किया। प्लेटोने इस कलाका विरोध किया, क्योंकि उनके अनुसार इस कलाका उपयोग सत्यकी अवहेलनाके लिए फिया जाता है। इन्होंने अपनेसे पूर्वके शास्त्रियो द्वारा कहे गये वक्तुत्व-कलाके विभिन्न उपकरणोकी कट आलोचना की, जिनमे आवेदन, विवरण, प्रमाण, सम्भाविकता तथा स्वीकृति प्रधान है। भरत द्वारा उन्लिखित कान्य-लक्षणो (दे०) से इनकी समता देखी जा सकती है। प्लेटोने इस कलाके तीन आधार बतलाये है—प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास । वक्तृताके साथ ही इन्होंने गद्य-शैलीमे भी विषय प्रस्तुत करनेमें स्पष्टता, क्रम, तारतम्य तथा सामंजस्यके नियमोकी स्थापना की है। आइसाक्रेटीज (३९२ ई० प्०)-ने अपने शास्त्रीय विवेचनमे इस कलाकी स्थापना तार्किकता-के क्षेत्रसे दार्शनिक क्षेत्रमे की। इन्होने भाषण-शास्त्रके मानवीय, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक महत्त्वको प्रतिपादित किया। इनके द्वारा यह कला-काव्यके समकक्ष मानी गयी। इन्होंने वक्तृत्व तथा गद्य-शैलीपर एक साथ विचार किया है और विषय, औचित्य, भाषा-प्रयोग, अलंबारॉके प्रयोग, छन्दोकी गति-लय आदिके प्रयोगके सम्बन्धमें विवेचन किया है। इन्होने ही भाषण अथवा वक्तताके चार अंग-पाकथन, वर्णन, प्रमाण तथा उपसंहार प्रतिपादित किये। अरस्त्ने इस कलाका और वैज्ञानिक विवेचन किया। अरस्तूने भी विषयके चयनपर बल दिया है और आइसाक्रेटीजके अंगोंको माना है। इन्होने शैठी-का महत्त्व भी प्रतिपादित किया और माना है कि पहले-पहल वावियोने भाषण-शैलीकी और ध्यान दिया। इन्होने श्रेष्ठ शैलीके गुण रपष्टता और औचित्यको माना है। स्पष्टताके लिए वाक्य तथा शब्द-विन्यास और शब्द-चयनका महत्त्व है। शब्दोंका प्रयोग सर्वजन-सुरुभ होना चाहिये। परन्तु अप्रचलित प्रयोग वर्जित नहीं है। वक्ता वक्तताको सन्दर, आकर्षक तथा गौरवान्वित बनानेके लिए अप्रचिलत शब्दोंका प्रयोग कर सकता है और इनके द्वारा नवीनता और चमत्कार, दोनोंका विकास भी होगा (एस० पी० खत्रीः आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त, पू० ६५)। आलंकारिक प्रयोगोके द्वारा वक्ता स्पष्टता, सौष्ठव, चमत्कार आदि गुण अपनी वक्तृतामे लाता है। अरस्तूने अलंकारोंके प्रयोगपर महत्त्वपूर्ण विचार प्रव.ट किये हैं। उनके अनुसार अलंकार मात्र चमत्कृत करनेवाले प्रयोग नहीं है, उनके सौन्दर्यसे मानसिक उछास प्राप्त होता है। परन्तु अरस्तूने इनके प्रयोगके सम्बन्धमें सतर्क भी किया है। यदि सौन्दर्य-की अनुभूति देना उद्देश्य है तो अलंकारोंका चुनाव जीवन-के गौरवित स्तरों और सौन्दर्य-प्रसारक स्थलोंसे होना चाहिये (वही, वही)। इस चुनावके लिए आवश्यक है कि अलंकार परिचित हो और विषयसे उनका सहज सम्बन्ध हो। भारतीय दृष्टिके लिए दे० 'अलंकार'।

अन्य अनेक शास्त्रों और कलाओंके समान वक्तत्व-कला तथा भाषण-शास्त्रका विस्तार तथा विवेचन युनानके बाद रोममे हुआ और साथ ही उनके एतद्विषयक सिद्धान्तोका मूलाधार भी यूनानी चिन्तन ही है, पर रोमके विचारकोंने इन्हें रोमीय समाजके उपयुक्त बनानेका प्रयतन अवस्य किया है। इनमें प्रधान विचारक सिसरो (१०वी शती) है। रोमके वागीशोने भाषाकी शुद्धतापर बल दिया है और वक्तुताके लम्ने वाक्यों, द्विरुक्तियो, तुकवन्द्रियोसे सतर्क रहनेका आग्रह किया है। इन्होने अलंकारोका सम्चित प्रयोग वक्ततामे प्रभावोत्पादकता तथा शालीनता लानेके लिए स्वीकार किया है। सिसरोने वक्तत्व-कलाको मानवीय विकासके लिए महत्त्वपूर्ण कला माना है। तर्क-चातुर्य तथा शब्दजालको इन्होने श्रेष्ठ कला नहीं माना है। इन्होने वक्तृताका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्रभावपूर्ण विषय-विवेचन तथा इसके आधार विचारक्रम, दर्शन तथा मनोविज्ञानका ज्ञान माना है। औचित्य-गुणको भाषण-शैलीका प्रधान गुण स्वीकार किया गया है। इन्होने भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोगोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया है, ध्वनि-सामंजस्य, स्वर और व्यंजन-ध्वनिका मधर प्रयोग, विरोधालंकार आदि। सिसरोने वक्तुनाओमें आलकारिक और प्रभावपूर्ण शब्दो तथा समासोके प्रयोगका प्रतिपादन किया, जिसे बादके वागीशोने स्वीकार किया है। द्वितीय श्रतीमे रोमकी भाषण-कलामे समरूपता, शैथिल्य, कृत्रिमता तथा अतिदायोक्तिपूर्ण आलंकारिकता आदि दोष आ गये थे, यद्यपि शास्त्रियोका आग्रह यूनानी भाषण-शास्त्रको अपनानेका ही था।

अनेक शताब्दियोके अन्धकारके बाद यूरोपमें १४वी-१५वी शतियोमे पुनर्जागरण (रेनेसॉ)का युग आया, जिसमे अन्य अनेक दिशाओंके समान भाषण कलाका नव निर्माण हुआ। पिछले युगोमे भाषण-कला और शास्त्रमे विशृंखलता आ गयी थी, शब्दाडम्बरके कृत्रिम उपायोसे प्रभाव उत्पन्न करना मात्र इस कलाका लक्ष्य रह गया था, परन्तु इस युगमें इसका उद्देश्य शिक्षा, प्रबोधन तथा उत्तेजना प्रदान करना माना गया । वक्तृताका प्रधान तत्त्व शैर्लाको स्वीकार करके भी विचारके महत्त्वको प्रतिपादित किया गया है। विचार शैलीकी आत्मा है। शब्दप्रयोगके औचित्यपर भी बल दिया गया। कहा गया कि वक्तृताको अलंकार, विस्तार, कहावतो, उपमाओं, हितोपदेशों और पौराणिक कथाओं से प्रभावशील बनाया जा सकता है। स्पष्टता तथा संक्षिप्त कथन भाषण-शैलीके प्रधान गुण हैं। अलंकारोंके सन्तुलित प्रयोगपर बल दिया गया। पन्द्रहवी रातीके साहित्यकारोकी दृष्टिमे भाषण-ज्ञास्त्र तथा कान्यमे केवल रूपका अन्तर माना गया है। इसीलिए उसमे अनेक अलंकारोका प्रयोग तथा शब्द-जाल स्वीकृत था। १६वी शतीमे दृष्टिकोण बदला और यूनानी तथा रोमके शास्त्रियोंके सिद्धान्तोका अनुशीलन अधिक श्रद्धासे किया गया। इस युगमें विषयको भाषणका आधार माना गया, इसे यूनान तथा रोमके शास्त्रियोंने भी स्वीकार किया था। न्यापक शानको आवश्यकताको ओर ध्यान गया तथा शब्दोंके श्रेष्ठ चुनावपर भी बल दिया गया। वक्तृताको देश, काल तथा परिस्थितिके अनुकृल होना चाहिये। इस युगमें विषय और अभिन्यं जनाके अभिन्न सम्बन्धको सामान्य रूपसे माना गया, प्रकृतिके सुन्यवस्थित नियमोके अनुसरणका आग्रह किया गया तथा रौलोके आकर्षणको भी स्वीकृत किया गया। रपष्ट ही ये सम्पूर्ण सिद्धान्त यूनान तथा रोमके शास्त्रियोके प्रतिपादित नियमोंसे उदमूत है। इसके बाद भाषण-कलाका विकास और उसका अनुशीलन साहित्यके क्षेत्रसे अधिकाधिक अलग पड़ता गया। १९वीं तथा २०वी शतान्दीमे भाषण-कलाका क्षेत्र राजनीतिमें अधिकाधिक सन्वद्ध हो गया। परन्तु साथ ही बहुतसे वक्ता साहित्यक हुए है और उनके भाषण उच्च कोटिकी साहित्यक कित्योमे गिने जाते है।

हमारे देशमे अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता हो गये है। राजनीतिक पराधीनताकी स्थितियों, राष्ट्रीय जीवनके जाग-रण और उन्नयनने सरेन्द्रनाथ बनर्जा, विपिनचन्द्र पाल, बालगंगाधर तिलक, चित्तरंजन दास, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय, राजगोपालाचारी, श्रीनिवास अयंगार आदि अनेक कुशल वक्ताओंको जन्म दिया तथा इन वक्ताओंने राष्ट्रीय भावनाके प्रचार-प्रसारमे चिरस्मरणीय योग दिया। इनके भाषणोमें भाषा और भावसम्बन्धी अनेक विशेषताएँ पायी जाती है तथा उनमेसे अनेकका भाषण-कलाकी दृष्टिसे स्थायी महत्त्व है। सामयिक परिस्थितिके कारण ये अधिक-तर अंग्रेजीमें ही है, केवल महामना मालवीय अंग्रेजीके ही समान हिन्दीके भी अच्छे वक्ता थे और उनकी वक्तृत्व-कलाकी महात्मा गान्धीतकने प्रशंसा की थी। राजनीतिक नेताओंके अतिरिक्त कुछ धार्मिक और सांस्कृतिक विचारकों-ने भी भाषण-कलाके द्वारा प्रसिद्धि पायी है। उन्नीसवी शताब्दीमे आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती-में अद्भुत वाक्कुरालता थी और वे वाणीके बलपर ही बहुधा बड़े-बड़े पण्डितोंको परास्त कर देते थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे गुजराती होते हुए भी हिन्दीमे बोलते थे। हम उन्हें हिन्दीका प्रथम प्रभावशाली वक्ता कह सकते है। स्वामी विवेकानन्दने अपने भाषण-कौशलसे ही देशसे बाहर भी अपनी और अपने देशकी धाक जमायी थी। वर्तमान युगमे सर्वपछी राधाक्रष्णन वाणीके वरद पुत्र हैं और उनकी भाषण-कला अद्भुत है।

हिन्दी साहित्यके आधुनिक युगमे गचके प्रयोगके साथ उसकी अनेक शैलियोंका विकास हुआ है, जिनमे भाषणकलाके तत्त्वोका सिन्नवेश है। भारतेन्द्र-युगमे आर्यसमाजके आन्दोलनसे हिन्दी गध-शैलीके विकासको नयी दिशा मिली। दयानन्दके 'सत्यार्थप्रकाश'को शैलीका प्रधान रूप यही है। लक्ष्मीसागर बार्ष्णयके अनुसार "इससे भाषामे गहन-से-गहन विषयोपर वाद-विवाद करनेकी शक्ति आ गयी। भाव-व्यंजनामे भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैलीके साथ-साथ भाषामे व्यंग्य तथा कटाक्ष करनेकी शक्तिका आविभीव हुआ" (आधुनिक हिन्दी साहित्य गद्य)। इसी युगमे निवन्ध-लेखनकी परम्पराका जन्म हुआ, जिसका रूप स्वगत भाषण अथवा बातचीतके समान होता है (दे० 'निवंष')। निवन्ध-लेखनेके भावावेश, भावोत्पादकना, हास्य, व्यंग्य तथा विषयका स्वच्छन्द प्रतिपादन-

पर भाषण-कलाका एक अंशतक प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। वालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बाल-मुकुन्द ग्रप्त आदि इस युगके निवन्यकारोने भाषाको ज्यापक वनानेकी दृष्टिसे उसे सगम तथा भाव-बहनके योग्य बनाया. साथ ही भाव-प्रकाशनकी शक्तिने युक्त भी किया। इनकी भापा और शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्व विद्यमान है । अगले द्विवेदी-युगमे भाषा अधिक संयत और परिष्कृत हुई, अतएव इस युगकी गद्य-शैलीमे भाषण-कलाके तत्त्वोंका विकास अधिक सम्भव हो सका। निबन्धकारों मे महावीरप्रसाद दिवेदीने इसके रोचक कथा-तत्त्वको अपनाया, चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने प्रसंगगर्भत्वके गुणका विकास किया तथा हास्य-व्यंग्यका आश्रय भी लिया। पूर्ण सिंह तथा गणेशशंकर विद्यार्थीं में भाषण-शैलीका भावावेग तथा प्रभावोत्पादकता विशेष रूपसे परिलक्षित है। अन्य लेखकोमे पद्मसिंह शर्मामे आलंकारिकताके साथ भाषाका प्रभाव है, रामचन्द्र शक्कमे विषयप्रतिपादनकी गम्भीरता, स्पष्टता, औचित्य आदि गुण है और ये तत्त्व भाषण-कलासे गद्य-शैलीमें आये माने जा सकते हैं। इस अगमे धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक नेताओके भाषण प्रसिद्ध हो चुके थे; स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, मदनमोहन मालवीय, मोहनदास करमचन्द्र गान्धी आदि ऐसे ही व्यक्तित्व है।

वर्तमान युगमे कई निवन्धकार तथा लेखक भाषण-रौलीका समुचित प्रयोग अपनी रचनाओमें करते है! हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामचृक्ष वेनीपुरी आदिके कई निवन्ध और लेख इस रौलीमे लिखे गये है। इसके अतिरिक्त अनेक राजनीतिक्रो, विचारको तथा साहित्यकारोंके भाषण प्रकाशित भी हो रहे है।

भाषणको वक्तृता भी कहते हैं। ज्याख्यान, प्रवचन, उपदेश तथा कुछ समानाथा अंग्रेजी और अरबी-फारसी शब्दोका प्रयोग भी इसीसे मिलते-ज़लते अर्थमे होता है। परन्त भाषण और वक्तृताको भले ही समानार्था माना जाय, न्याख्यान, प्रवचन और उपदेश भिन्न अभिप्राय व्यक्त करते है। व्याख्यानमं किमी विषयका विस्तारके साथ स्पष्टीकरण किया जाता है। उसमे किसी पक्ष-विपक्षका समर्थन या खण्डन अपेक्षित नहीं होता, वरन् प्रस्तुत विषयके सभी आवस्यक पक्षोपर तटस्य, किन्तु प्रामाणिक रूपमे तर्कसम्मत विचार प्रकट किये जाते हैं। व्याख्यान, वक्ता और श्रोनामे पण्डित और जिज्ञासु अथवा गुरु और शिष्यके सम्बन्धकी भी कल्पना करता है। प्रवचनमे किसी धार्मिक या नीति मम्बन्धी विषयका दृष्टान्तो, उदाहर्णो, शास्त्रीय प्रमाणों, उद्धरणों और आख्यानोमे पृष्ट सरल शैलीमे विशदीकरण किया जाता है। स्याख्यान और प्रवचनमे प्रयोजनकः भी अन्तर है। जहाँ व्याख्यान श्रोताओकी जिज्ञासा शान्त करके उनका ज्ञानवर्धन करता है, वहाँ **प्रवचन** उन्हे आचरणकी प्रेरणा देता है। **उपदेश**का प्रयोजन भी यही है और उसका विषय भी धार्मिक और नीति सम्बन्धी होता है। अतः प्रवचन और उपदेश पर्याय कहे जा सकते है। परन्तु दोनोकी शैली और विषय-विवेचनके टंगमे अन्तर है। प्रवचनकी शैली अधिक स्निम्ध शान्त और मधुर होनी है, जब कि उपदेशमे ये गुण भी

हो सकते हैं, परन्तु इनके साथ उसमे ओज, आग्रह और आत्मविश्वासपूर्ण दर्प भी न्यूनाधिक मात्रामे आभासित हो जाता है। व्याख्यान, प्रवचन और उपदेश-सभीके लिए प्रस्तुत विषयके सम्यक ज्ञान और उसे क्रम-व्यवस्थित करनेकी योग्यता, भाषापर पूर्ण अधिकार और विषय, पात्र तथा अवसरके अनुकूल उसके प्रयोग करनेके समुचित अभ्यास तथा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेके लिए श्रोताओके साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी प्रज्ञा अपेक्षित होती है। परन्तु भाषा-प्रयोगके ये रूप साधारणतया साहित्यकी परिधिमे नहीं आते, क्योंकि इनके प्रयोजनमे ज्ञान, आचरण और क्रियाकी स्पष्टतः स्वीकृति है। भाषण या वक्तृता इनसे भिन्न है। प्रभावकी अपेक्षा उसमे भी होती है और उस भाषणमे श्रोतागण प्रायः विचलित होने लगते है, जिसमें वक्ता भाषासौन्दर्य और आलंकारिक वर्णनमे अधिक उलझकर विषयसे बहकने लगता है। लोग 'कैसा कहा'की ही सराहना करते हुए उठते है। भाषण करनेकी जन्मजात प्रतिभा होती है, फिर भी वह एक कला है, जो अन्य कलाओकी तरह संस्कार और अभ्याससे परिष्कृत होती है।

सिहायक ग्रन्थ—अरस्तू : रेटरिकः ह्यः रेटरिकः; स्पेन्सर हर्बटः फिलासफी ऑव स्टाइल; एस॰ पी॰ खत्री: आलीचना, इतिहास तथा सिद्धान्त ।] ---र० तथा० व्र० व० आषा-जिन ध्वनि चिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनकी समष्टिको भाषा कहते है। भाषाके इस लक्षणमे विचारके अंतर्गत भाव और इच्छा भी हैं। विशेषकर असभ्य जातियोकी भाषामें अधिकतर भाव-इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही चोतित होती है, विचारोंकी मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमरे विचारो-की पूर्ण अभिन्यक्ति ध्वनि-चिह्नोंसे ही नहीं होती। उनकी मददके लिए हम इंगितका भी प्रयोग करते है। किसी-किसी जातिमें भाषाके अलावा इंगित-भाषा भी मिलती है, जिसका वे लोग विशेष समयपर उपयोग करते है। अमेरिकाके पश्चिमी प्रदेशोमे रेड इण्डियन जातियोंमें ऐसी इंगित भाषा देखी गयी है। ध्वनि चिह्नोके अतिरिक्त अन्य चिह्न भी है, जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते है, जिनमे प्रधान है लेखबद अक्षर। आजकल प्रायः लेख द्वारा ही देश-देशांतरसे विचार-विनिमय होता है। ध्वनिका क्षेत्र सीमित है, लेखका अपेक्षाकृत अपरिमित्त। पर यह चक्षुयाह्य अक्षर ध्वनिपर ही निर्भर है, इसलिए भाषाकी दृष्टिसे ध्वनि-चिह्नोंकी अपेक्षा इनकी नेत्रयाद्य सत्ता गौण है।

यदि वैद्यानिक और स्क्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भाषा
मनुष्यके केवल विचार-विनिमयका ही साधन नहीं है,
विचारका भी साधन है। भाषाका विचारसे अदूर सम्बन्ध
हैं। इसे मनुष्य अपने पूर्वजोंसे सीखता आया है। इस
सीखनेके कारण ही भाषामें विकार अथवा परिवर्त्तन
अवस्यम्भावी है और यही कारण उसकी अपूर्णताका है।
भाषाके बारेमे हमे इस बातका ध्यान रखना चाहिए
कि जिन ध्वनियोंसे किसी विशेष जीव या वस्तुका बोध

होता है, उनका उस जीव या वस्तुसे कोई नियत स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं, केवल सामयिक व्यवहारका सम्बन्ध है। भाषाके द्यांतक हमारे पुराने शब्द वाक् और वाणी है, जिनमें बोलनेका अर्थ निहित है। वाक्का दूसरा अर्थ जिह्नाका भी होता है। जिह्ना बोलनेमें प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओंमें भी जिह्ना और भाषाके लिए समान शब्द है। — बा० रा० स० भाषाधारा हिन्दीके आदिकालीन साहित्यको माषागत दृष्टिकोणसे दो शाखाओंमें विभाजित किया गया है अपभ्रंशधारा (दे०) तथा भाषाधारा। भाषाके अन्तर्गत चारणसाहित्य तथा अन्य समसामयिक आरम्भिक हिन्दीके साहित्यकी गणना होती है।

भाष्य-[भाष्+यत् (क) साधारण अर्थ-१. वचन, उक्तिः २. कोई व्याख्यान-ग्रन्थ, जैसे सायणकृत ऋग्वेदभाष्य, महीधरकृत यजुर्वेद-भाष्य इत्यादि; ३. भाषाग्रन्थ (वाजस-नेथी प्रातिशाख्य, गृह्यसूत्र तथा हरिवंश और मोनियर विलियम्स) । इस अर्थमे 'भाष्य' शब्द 'भाषा'से निकला हुआ प्रतीत होता है। जनभाषा या लोकभाषाके अर्थमें 'भाषा'का हिन्दीमें प्रयोग तो 'भाषा भनिति मोरि मति थोरी' इत्यादिसे स्पष्ट ही है, पर संस्कृतमे भी इसका यह अर्थ प्राचीन प्रतीत होता है। (ख) विशेष अर्थ-१. सूत्र-यन्थोके विशिष्ट शैलीमे लिखे गये भाष्य, जैसे शंकरा चार्यकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, शबरकृत मीमांसा-भाष्य, अष्टाध्यायीका पतंजलिकृत महाभाष्य इत्यादि । इस शैलीके व्याख्यानमें पहले सूत्र, पदोंका संक्षिप्त सूत्रात्मक वाक्योंमें अर्थ देकर फिर उन वाक्योंके पदोका भी विशेष व्याख्यान किया जाता है और इस प्रकार समस्त सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, जैसा कि 'भाष्य'के निम्नलिखित प्राचीन लक्षणसे ज्ञात होता है—''सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सुत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदः"। (ग) हिन्दीमें इसका अर्थ सामान्यतः कोई भी व्याख्यान-ग्रन्थ लिया जाता है। (घ) उपर्युक्त व्यापक अर्थमें इसके पर्याय टीका, व्याख्यान आदि होंगे। (জ) 'ग'में दिया गया अर्थ व्यापक तथा 'विशिष्ट शैलीका सूत्र-व्याख्यान' अर्थ सीमित है। —आ० प्र० मि० भिस्त-सन्तोने भिस्त, भिसत आदि रूपोमे इस शब्दका व्यवहार बहुत अधिक किया है। भिस्त मूलतः फारसीके बह्वित शब्दका ध्वनि परिवर्तित रूप है। फारसीमे बहिस्त-का अर्थ है स्वर्ग । साथ ही संस्कृतमे एक शब्द अभीष्ट है, जिसका अर्थ होता है—वांछित, चाहा हुआ, अभिप्रेत। अभीष्टका भीष्ट और फिर भिस्त बन जाना ध्वनिपरिवर्तनके नियमोके अनुकुल न भी पड़े तो भी सन्तों (विशेषतः कबीर)-को कोई खास अडचन नही दीखती। उनका अभिप्रेत अर्थ निकल सके तो अगमको बेगम बना देना, करभ (करह)-मे 'क्रियापरायण' साधकका अर्थ भर देना (दे० करहा), चिन्तामणिसे चेतावनीका भी अर्थ निकालनेके लिए उसे 'च्यंतौवणी' रूप दे देना आसान है। इसी वृत्तिके अनुसार अमीष्ट और विहारत दोनोंका अर्थ देनेके लिए सन्तोंने भिस्त शब्दकी रचना कर ली और अधिकांशतः इसका प्रयोग स्वर्गके अर्थमे करते हुए भी कही-कही, इच्छित या अभिप्रेतके अर्थमें और कहीं कहीं स्वर्ग तथा अभिप्रेत दोनोके अर्थमें किया है।

यहाँ इस बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सन्त 'बहिइत' या स्वर्गको परम प्राप्तव्य कभी भी मान नही सकते थे। वैसे स्वर्गको बहुमान देनेवाले हिन्दू शास्त्रों और दर्शनोमे भी स्वर्गको सदैव नीची कोटिकी, अनित्य या नाशवान् उपलब्धि माना गया है (विशेष विवरणके लिए दे॰ 'दोजग')। कबीरदास जिस समाजमें रह रहे थे और जिन हिन्द-मुसलमानोंके भ्रमोंको काटकर उन्हे सही रास्तेपर लाना चाहते थे, उनमे स्वर्ग एवं बहिइतको बहुत महत्त्व दिया जाता था, अतः इन शब्दोमे तत्कालीन समाजमे र्स्वीकृत अर्थोंकी झलकका आ जाना स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी, पर कबीर जहाँ मिस्तका स्वर्ग अर्थमे प्रयोग करते है, वहाँ स्वर्गका अर्थ परमधाम, कैवल्य, सहजपद या शून्यपद ही होता है। वहिश्तको भिस्त करके उसके अन्तर्गत 'अभीष्ट'का अर्थ भरनेके पीछे यह भी एक बडा कारण हो सकता है। कबीर तथा अन्य सन्त जिस प्रकार राम, रहीम, केशव, करीम, अल्लाह, विष्णु, गोविन्द, महादेव, रब, ख़दा आदि संज्ञाओंका प्रयोग करके भी इनका अर्थ त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, अगम्य, अलक्ष्य, अनुभवैकगम्य और भावाभाव विनिर्मुक्त, निर्गुण, निरंजन निलेंप ब्रह्म ही समझा और समझाना चाहा है, उसी प्रकार भिस्तका अर्थ भी उनके निकट हिन्दुओंका स्वर्ग और मुसलमानोंका बहिदत न होकर कैवल्य, परमपद श्रन्य-निरंजन ठॉव ही है। बहिदतकी अपेक्षा भिस्त इसीलिए उन्हे अधिक ग्राह्य लग सकता है।

'कबीर ग्रन्थावली' (पारसनाथ तिवारी)मे भिस्तका प्रयोग पद संख्या ४२में दो बार हुआ है। यहाँ 'भिस्ति'के साथ लगा हुआ 'घनेरी' विशेषण इसे अभीष्ट ही अधिक प्रमाणित करता है, वैसे 'स्वर्ग'वाला अर्थ भी बैठ जाता है। दूसरी बारके प्रयोगमें भी 'इच्छित'का अर्थ स्वर्गके समानान्तर बैठ जाता है। कबीरने भिस्तका प्रयोग प्रायः दोजग या दोजक (दे॰ 'दोजग')के साथ किया है, पर यहाँ यह अकेले प्रयुक्त हुआ है। पद सं० १७८में भी भिस्त अवेले प्रयक्त है और मुख्यतः स्वर्गका अर्थ देता है, वैसे अमीष्ट अर्थ भी बैठाया जा सकता है। पद सं० १८३ (१८४ भी)मे भिसति दोजगके साथ प्रयुक्त है, फिर भी अर्थकी संगति अभोष्टके साथ अधिक बैठती है। पंक्तियाँ है— "दिल नापाक पाक नहि चीन्हा तिसका मरम न जाना । कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन माना" तिम्हारा हृदय अशुद्ध है, अतः उस निर्मल, निरंजन, पाक परवरदिगारको न तू पहचान ही सका और न उसका मर्म ही समझ सका। अपने अभीष्टको तमने (अनेक दिशाओं मे) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोककी प्राप्ति)मे ही मानसिक तोष खोज रहे हो]। पद सं० १८४-में "रोजा करै नमाज गुजारै कलमें भिस्ति न होई" द्वारा "कलमा, रोजा और नमाजसे अभीष्ट सिद्धि असम्भव है", ऐसा अर्थ अधिक संगत है, वैसे स्वर्ग अर्थ भी बैठ सकता है। इस पदमें दूसरी बार प्रयुक्त भिस्तिकी भी यही स्थिति है। रमैनी भमें और पूर्व १७७की १६वी साखीमे भिस्ति

६ या ७ स्थलोपर प्रयोग किया है, पर अर्थकी दृष्टिसे इनमे कोई गड़ मड़ नहीं है। मुलतः ये स्वर्गके लिए ही इसका -रा० सिं० प्रयोग करते पाये जाते है। भजंग-कुण्डलिनी रूपी नागिनवा स्वामी ! शवरपा साधकको भूजंग वहते है-(चर्यापद : 26) 1 - ४० वी० सा० भजंगप्रयात-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६: ५५)में अप्रमेया नामसे यह छन्द दिया गया है। 'पिंगलसूत्र' (६: ३८)मे लक्षण दिया है। चार यगणोसे यह वृत्त बनता है (ISS, ISS, ISS, ISS): संस्कृतका प्रचलित छन्द है। 'प्राकृतपैगलम्' (२: १२६) तथा हेमचन्द्रके. 'छन्दोनुज्ञामन' (२: १७०) मे यही लक्षण है। 'रामचन्द्रिका' (६:१३), 'सिद्धार्थ' (पृ० ३६), 'साकेत' (पृ० १९६), 'जनमभूमि' (कामताप्रसाद गुरु)में इस वृत्तका प्रयोग हुआ है। संस्कृतके स्तोत्रोंमें इमका विशेष प्रयोग हुआ; 'मानस'मे भी तलसीने उत्तर-काण्डमे (संरकृत भाषामें) वन्दनामे (नमामीशमीशान निर्वाणरूपम् - रुद्राष्ट्रक) इसी छन्दका प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त चन्द, सन्दर तथा रवराजने भी प्रयोग किया है। हिन्दीमे यह छन्द वीर रस तथा प्रार्थनाके लिए प्रयुक्त हुआ है। अपनी विलम्बित गतिके कारण यह इनके लिए उपयुक्त है। वीर रसमे सूदनका प्रयोक—"धमण्डै धने दन्ति घण्टान वारे। उमण्डै मनो सद्यते मेघ कारे' (स.० च०, २: २: ७)। आधुनिक साहित्यका उदा०—"कभी ऑखसे ऑख तेरी लडेगी। कभी कण्ठमे व्याहमाला पड़ेगी। कभी चित्तकी यन्थिको खोल कोई। तझे स्थान देगी, मझे मान देगी" (सिद्धार्थ, पृ० ३६)। भूजंगी-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेदः भानके 'छन्दप्रभाकर' (प्र० १३८)मे उल्लिखित तीन यगणी और लघु-गुरुके योगसे यह वृत्त बनना है (ISS, ISS, ISS, IS); इसके अन्तमें गुरु वर्ण जोडनेसे भुजंगप्रयात बन जाता है। इस छन्दका प्रयोग हिन्दीमें अधिक नहीं हुआ है। मैथिली-शरण गुप्तने 'साकेत' और 'खगीय संगीत'मे इस छन्दका प्रयोग किया है—"यही वाटिका थी, यही थी मही, यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही। यही वल्लकी में लिये गोदमे, उसे छेडती थी महामोदमे" (साकत, ९)। -पु॰ ज्ञु॰ भुजरियाँ - हरियाली तीजपर बज और उसके निकटवर्ती प्रान्तोंमें 'भुजरियां' सिरायी जाती है। भुजरियां स्त्री-गीतोंका एक प्रकार होते हुए भी, गेहूंकी उन वालियोकी भी कहते है, जो सिरानेके निमित्त, तीजके अवसरपर, फसलकी प्राणप्रतिष्ठाके रूपमें, छोटी टोकनियोंमे उगायी जाती है। इन्हें 'फुलरिया', 'धुधिया', 'धैंगा' और 'जवारा' (मालवा) भी कहते हैं। भुजरियाँ बोनेकी प्रथा आठवी शताब्दीसे प्राचीन प्रतीत होती है। पृथ्वीराज चौहानके कालकी लोक-प्रचलित गाथाके अनुसार चन्द्रवंशी राजा परिमालकी पत्री चन्द्रावलीको उसकी माता सावनमें झुला झलानेके लिए बागमें नहीं ले जाती। पृथ्वीराज अपने पुत्र ताहरमे उसका विवाह करना चाहता था। आल्हा-ऊदल उस समय कन्नौजम थे। जदलको स्वप्नमें चन्द्रावलीकी

अकेले स्वर्गके अर्थमे प्रयुक्त है। दादने भिस्तका लगभग

किनाईका पता चलता है। वह योगीके वेषमे आकर उसे सूल सूलनेका आश्वासन देता है। पृथ्वीराज ठीक ऐसे ही अवसरकी ताकमे था। अपने सैनिकोंको भेजकर वह चन्द्रावलीका अपहरण करना चाहता है। युद्ध होता है। ताहर चन्द्रावलीको डोलेमें बैठाकर ले जाना चाहता है, तभी ऊदल, इन्दल और लाखन चन्द्रावलीकी रक्षा करके उसकी मुजरियाँ मनानेकी इच्छा पूर्ण करते है। नागपंचमीको भी 'मुजरियाँ' उगायी जाती है। उसे पूजाके पश्चात् 'मुजरियाँ' गाते हुए नदी अथवा तालाव या कूऐमें सिराया जाता है।

— इया० प०

भूचरी—योगशास्त्रके अनुसार समाधि अंगकी एक मुद्रा, जिसका निवास नाकमे है और जिसके द्वारा प्राण और अपान वासु, दोनो एकत्र हो जाती है— "नासिका मध्ये

भूचरी मुद्रा गन्ध बिगन्ध ले उतपनी। गन्ध बिगन्ध

समोक्ततवा, मुद्रा तौ भई भूचरी" (अष्टमुद्रा, गोरख

---ভ০ হাঁ০ হাা০

बानी) भूत-दे० 'जगतानुबोध'।

भूदान - गानधीके सबसे बडे शिष्य विनोबा भावेने गान्धी-वाद (दे०)का एक नया प्रयोग आरम्भ किया है, जिसे भूदान-आन्दोलन कहा जाता है। तेलंगानामें साम्यवा-दियों (दे० 'साम्यवाद')की ओरसे जो हिंसात्मक आन्दोलन चला था, उसे देखकर विनोबाके मनमें भूदान आन्दोलन का विचार उदित हुआ था। भूदानका अर्थ है स्वेच्छासे भूमिहीनोंके लिए भूमि-प्रदान । दानका अर्थ विनोबा प्रदान या संविभाग (समान वितरण) ही लेते हैं, दान-पुण्य नहीं। विनोबा एवं उनके शिष्य गॉव-गॉव यात्रा कर भू-स्वामियोंसे भूमि प्राप्त करते-फिरते हैं। उन्हें इस कार्यमे आशातीन सफलता भी मिल रही है। वे शीष्ठ ही अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेनेकी आशा करते हैं।

भूदान-आन्दोलनसे दो महत्त्वपूर्ण शाखाएँ फूटी है— सम्पत्तिदान और प्रामदान । इसीसे सम्बन्धित जीवनदान भी है। जीवनदानी अपना सम्पूर्ण जीवन विनोबाजी द्वारा चलाये आन्दोलनमें लगा देनेका व्रत लेता है।

इस आन्दोलनकी सफलताके फलस्वरूप विनोबा सर्वोदय-समाजके उदयकी आशा करते है। यस्तुतः ऐसा विलक्षण, अहिंसात्मक आन्दोलन मानवताने कभी नही देखा था। सफल होनेपर यह विश्वको एक नयी ज्योति प्रदान कर सकता है। —ह० ना०

भेदकातिशयोक्ति—दे० 'अतिशयोक्ति', दूसरा भेद ।
भोगवाद—दे० 'रसिनिष्पत्ति', तीसरा सिद्धान्त ।
भोग-व्यापार—दे० 'रसिनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत ।
भोजकत्व-शक्ति—दे० 'रसिनिष्पत्ति', भोगवादके अन्तर्गत ।
भोजकी वृत्तियाँ—दे० 'नाट्यवृत्ति', पाँचवी तथा 'वृत्ति' ।
भोजप्री—विहारके शाहाबाद जिलेमे भोजपुर परगनेके
नामपर इस बोलीका नामकरण हुआ है । पूर्वी उत्तरप्रदेश
तथा विहारके व्यापक भू-भागमें यह बोली जाती है ।
साहित्य प्रायः नहीं है, पर लोक-साहित्यकी परम्परा समृद्ध
है । आधुनिक समयमें सजग रूपसे कुछ साहित्य-प्रणयनकी
भेष्टा अवश्य की जा रही है । सामान्यतः भोजपुरी प्रदेशकी
माहित्यक भाषा हिन्दी है । सुद्रण आदिके लिए नागरी

लिपिका व्यवहार होता है। लिखनेमें कैथीका प्रयोग किया जाता है। भोजपुरीकी उत्पत्ति मागधी अपभ्रंशसे मानी जाती है। —सं०

भोज्य भोजक भाव-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', भोगवादके अन्त-र्गत ।

मोतिकवाद — भौतिकवाद दर्शनका एक प्रस्थान अथवा निकाय (school) है, जिसकी तीन मौलिक मान्यताएँ है। प्रथम, यह कि बाह्य जगत् हमारे प्रत्ययों, भानोंका समुच्चयमात्र न होकर एक स्वतन्त्र सत्ता है। दूसरे, यह कि वह किसी चेतन तत्त्वका परिणाम न होकर भूतो, भौतिक तत्त्वो, जड पदार्थी अथवा अचेतन द्रव्योसे मिलकर बना है और तींसरे, यह कि मनुष्यमें जो चेतना दिखायी देती है, वह भौतिक द्रव्योंका ही परिणाम है।

प्राचीन भौतिकवादके अनुसार संसार अविच्छेब रूपसे परस्पर गुँथी हुई से चरम सत्ताओका परिणाम है, जिन्हे भूत (matter) और हाक्ति (energy) कहा गया है। किन्तु समसामयिक विज्ञानने अन्तिम रूपसे सिद्ध कर दिया है कि भूत इक्तिसे तत्त्वतः भिन्न नहीं है, वह हाक्तिका धनीमूत रूपमात्र है। अतः अब हाक्ति ही सृष्टिका मौलिक उपादान सिद्ध होती है। और यह हाक्ति भी, अन्तिम विश्लेषणमे, नितान्त आकाहीय, अग्राह्म, असंवेच, और गणितीय होकर रह गयी है। अतएव आधुनिक चिन्तकोकी दृष्टिम 'भौतिकवाद' हाब्द पुराना पड चुका है।

चेतनाकी व्याख्यामे भौतिकवादी एकमत नहीं। पुराने मात्रिक भौतिकवादके अनुसार चेतना शरीरमे उत्पन्न होनेवाला एक नया गुणमात्र है, जब कि उद्भववाद- (epiphenomenalism)के अनुसार भूतोंसे चेतनाकी उत्पत्ति, गुणात्मक परिवर्तनकी प्रक्रियासे, एक स्वतन्त्र द्रव्यके रूपमे होती है। समसामयिक उद्भवमूलक भौतिक वादी (emergent materialist) सी० डी० ब्रॉड तो यहाँतक कहता है कि उद्भूत चेतन तत्त्व—आत्मा— शरीरके विघटनके बाद भी कुछ कालतक अपना जीवन बनाये रखता है।

कार्ल मार्क्सका भौतिकवाद 'द्वन्द्वारमक भौतिकवाद'-(दे॰)के नामसे प्रसिद्ध है।

भारतमें अति प्राचीन चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन था। आधुनिक भारतमे मार्क्सके ही भौतिकवादका अधिक प्रभाव पडा है।

मौतिकवादने साहित्यके क्षेत्रमे 'यथार्थवाद' (दे०)को जन्म दिया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' समाज-शास्त्रके क्षेत्रमें 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (दे०) तथा वर्गवादके रूपमे अवतीर्ण हुआ, जिनका साहित्यिक रूप 'प्रगतिवाद' (दे०)के नामसे विख्यात है। हिन्दी-साहित्यमें प्रगतिवादी काव्यधारा सन् १९४० ई० से लेकर १९४६ ई०के बीच विशेष रूपसे प्रवाहित हुई।

[सहायक प्रन्थ—हिस्टरी ऑव मैटीरियलिङम: लैंग;
माइण्ड ऐण्ड इट्स प्लेस इन नेचर : सी० डी०
ऑड ।] —ह० ना०
अस (illusion)—अम और आन्तिके विषयमें भारतीय
दर्शनमें बहुत विचार हुआ है। रज्जुमें सर्प, शुक्ति या

सिकतामे रजतके आभासके उदाहरण तथा उनका दार्शनिक महत्त्व सुपरिचित है। आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिमें भ्रम या भ्रान्ति किसी वस्तु अथवा स्थितिका मिथ्या अथवा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष है। कुछ भ्रम मानवमात्रको होते है, जैसे सीधी छडी पानीमें डुबोनेपर तिरछी प्रतीत होती है, रेलकी समानान्तर पटरियाँ आगे चलकर मिलती नजर आती है, उदित होता हुआ सूर्य किचित् अण्डाकार लगता है। इसी प्रकार ज्यामितीय भ्रमोंमें समान लम्बाईकी रेखाएँ छोटी-बडी, समानान्तर रेखाएँ असमानान्तर प्रतीत होती है। इनके अतिरिक्त दैनन्दिन जीवनमे घटित होनेवाले भ्रम भी होते है। धुंधले प्रकाशमें वस्तुएँ कुछकी कुछ लगने लगती है। गहन अन्यकारमे सडकके किनारे पेडका ठूंठ भूत या डाकू लग सकता है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा सन्देह और पूर्वाप्रहोंसे आक्रान्त व्यक्ति दूसरोके आचरणका मनमाना अर्थ कर लेता है। ऐसे भ्रम बाह्य स्थिति और अधिकतर व्यक्तिगत उपादानोपर निर्भर होते है। थके होनेकी तथा उद्दिग्न अवस्थामे और रोगी होनेपर भ्रान्तियाँ अधिक होने लगती है। दरवाजेकी आवाज, चूहोकी चूँ-चूँ या उछल-कद, सूखी पत्तियोंकी खडखडका व्यक्ति विचित्र अर्थ कर लेता है। सम्बद्ध विचारोकी शृंखलाओके उत्तेजित हो जाने से ऐसा होता है (दे॰ 'विभ्रम')। --आ० रा० शा० अमर-अमरकी मकरन्द-प्रियताके कारण कवियोने कभी-कभी इसको उस चंचलमन रिक्त नायकका उपमान माना है, जो केवल एकमें अनुरक्त नही रहता। सन्त कवियोंने इसे चंचल मनका प्रतीक माना है, जो विषय-रसमें लिप्त होनेके कारण कमलमे बन्दी हो जाता है। कहीं-कही चक्रोंको कमल मानकर साधकके मनको भी भ्रमर बताया गया है। उसी अर्थने ब्रह्मरन्ध्रको भ्रमर गुफा भी कहा गया है। — তত হাত হাত अमरगीत-श्रीमङ्गागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्द्धके सैतालीसवें अध्यायमे, जहाँ गोपियाँ कृष्णके दूत उद्भवके सम्मुख अत्यन्त प्रेम-विह्नल होकर लोकलाज छोड़कर रोती हुई कृष्णकी चर्चा करती हैं, यह कहा गया है कि एक गोपी किसी भौरेको अपने निकट गुन-गुन करते देखकर उसे कृष्णका भेजा हुआ दूत मानकर कहने लगी, "हे धूर्तके बन्धु मधुकर ! तुम हमारे चरण न छुओ, तुम्हारी मूछोंमें सौतके वक्षस्थलपर विहार करनेवाली मालाका कुंकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवोकी सभामे उपहास करानेवाले इस प्रसादको धारण करें, हम इमे नही चाहते। तुम्हारी और कृष्णकी बन्धुता ठीक ही है, क्योंकि जैसे तुम सुमनों-को रस लेकर छोड़ जाते हो, वैमे ही एक वार मोहिनी अधर-सुधा पिलाकर वे भी एकाएक हमको छोड़कर चले गये" (इलोक ११, १२, १३)। इसके बाद सभी गोपियाँ मधुकर-को लक्ष्य भरके प्रेमभरे उपालम्भसे कृष्णके कपट-प्रेम, निष्टुरता, क्रूरता, अकृतज्ञता, अव्यवस्थित चित्त और विरक्तिकी सोदाहरण आलोचना करने लगा और इस प्रकार विपरोत व्यंजनासे उन्होंने उद्भवके मनपर अपनी कृष्ण-भक्तिकी दृढता और अनन्यताका इतना प्रभाव डाल दिया कि उद्धवने उन्हें संसारमें परम पूजनीय कहकर सराहा । भागवतमे यह प्रसंग उपर्युक्त अध्यायके बारहवें

चलोकमे उन्नीसर्वे चलोकतक चलता है। इसमे गोपियोंकी तीव्र विरहानुभूति अमरकी अन्योक्तिके सहारे अखन्त लिलत, हृदयावर्जक और संगीतमय पटोंमें वर्णित है, इस-लिए इसे 'अमरगीत' कहा गया है।

भ्रमरगीतकी कल्पना भागवतकारकी अद्भुत काल्य-प्रतिभाकी परिचायक है। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभावमे भ्रमर और श्रीकृष्णमे ऐसी समता है कि अन्योक्तिमे अत्यन्त स्वाभाविकता और मामिकता आ गयी है। साथ ही, भ्रमर-मे दूतत्वका आरोप करके गोपियाँ अपने नुकीले व्यंग्य-वचनोंसे कृष्णके दूत उद्धवको भी लक्ष्य बना लेती है। परन्तु इस समस्त प्रसंगमें भागवतकारने गोपियोंके प्रेमको पाथिवतापर नहीं उत्तरने दिया। गोपियाँ हरिकी कथाको सर्वनाशिनी—संसारसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न करनेवाली जान-कर भी उसमें सर्वभावेन आसक्त हैं और उसे दुस्त्याज्य मानती हैं (इलोक १८)।

भागवतमें वर्णित अमरगीतका प्रसंग उसके पूर्वप्रसंग उद्धव-मज-आगमन और उद्धव-सन्देशके साथ प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियोने गीति-पदोके रूपमे गाया है। सबसे पहले विद्यापितकी 'पदावली'में इस विषयके कुछ पद मिलते हैं, जिनमे विरहिणी राधा मधुकरको सम्बोधित करके कृष्णको निष्टुरताका प्रेममय उलाहना देती है। परन्तु हिन्दीमें कृष्णकाव्यकी परम्पराके प्रवर्तक स्रदास ही कृष्णकाव्यके अन्यतम विषय—कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय विषय—अमरगीत-परम्पराके भी प्रवर्तक है। कृष्णलीलाके अन्य प्रसंगोंकी तरह इस प्रसंगको भी उन्होंने 'भागवन'से कथास्त्र लेकर अत्यन्त मौलिक रूपमे अनेक नवीन उद्भानवाओंसे संविलत किया है।

'सूरसागर'के उद्धवका व्यक्तित्व 'भागवत'के उद्धवसे बहुत भिन्न चित्रित किया गया है। 'भागवत'के उद्भव श्रीकृष्णके प्रिय सखा, साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य, महामतिमान् वृष्णिवंशीय यादवोंके मान्य मन्त्री है। श्रीकृष्ण उन्हे माता-पिताको प्रसन्न करने तथा अपना सन्देश सुनाकर गोपियोंके वियोगरोगको शान्त करनेके लिए ब्रज भेजते है (भागवत, १० प्०: ४६: १:२)। 'स्र्सागर'के उद्धव भक्ति-मार्गके विरोधी हैं; वे अद्वैतवादी, अहकारी ज्ञानमागीं है। उनके हृद्यमे भक्तिकी सरसता नहीं है। वे योग-साधनमे विश्वास करते है। श्रीकृष्ण उनका अहंकार भंग करनेके लिए तथा उन्हें प्रेम-भक्तिकी महत्ता समझानेके लिए गोपियोके पास भेजते हैं। सूरदासने ज्ञान और योगके अतिरिक्त जप, तप, कर्मकाण्ड आदि भक्तिसे भिन्न सभी मार्गीका प्रतिनिधित्व उनपर आरोपित किया है। भागवतमे तो उनका रथ और उनकी वेश-भूषा ही कृष्णके सहश वतायी गयी है, 'सूर-सागर'मे उनका रंग भी कृष्ण और भ्रमरकी भाँति काला बताकर भ्रमरपर की गयी अन्योक्तियोमें कृष्णके साथ उन्हें भी समेटा गया है। वस्तुतः गोपियोके कटाक्ष कृष्णकी अपेक्षा उद्भवको अधिक लक्ष्य करते है।

'स्र्सागर'के अमरगीतके दो पक्ष हैं—एक काब्य-पक्ष और दूसरा धार्मिक पक्ष । धार्मिक-पक्षकी दृष्टिसे देखनेपर वैष्णव भक्ति-आन्दोलनके समयकी धार्मिक अवस्थाका यथा-तथ्य चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है । मायाबाद-अहेत-

वादका आतंक, अनेक लौकिक देवी-देवताओंकी पूजा, शिवाराधनाका विकृत रूप, अलखवाटी हठ-योगियोका पाखण्डपर्ण धर्माचार, अनिधिकारी निर्गुणवादियों द्वारा मिथ्याका प्रचार-इन सबसे भक्ति-धर्मको संघर्ष करना पड़ा था। भ्रमरगीतकी गोपियाँ इस धर्मकी सहजता, समर्थता और सफलताको वचन और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा प्रमा-णित करती हैं। वे निर्गुणका विरोध तो करती दिखायी गयी है, परन्तु मूलतः उसका खण्डन करना उन्हे अभीष्ट नहीं है। उनका तात्पर्य यह है कि सगुणके द्वारा ही, उसकी प्रेम-भक्तिके साधनसे ही निर्गुण अद्दैतकी सची अनु-भूति हो सकती है। भक्तिमार्गमे, जो राजमार्गके समान प्रशस्त है, ज्ञान और कर्मके मार्ग समाहत है, साधन और साध्यकी एकरूपता है। 'सूरसागर'का भ्रमरगीत सूरदासके सामाजिक दृष्टिकोणको स्पष्ट करता है तथा यह प्रमाणित करता है कि वे अपने समयकी परिस्थितिके प्रति कितने जागरूक थे तथा तत्कालीन समस्याओंका समधान वे किस उपायसे करना चाहते थे।

भ्रमरगीतका यह खण्डन-मण्डनात्मक पक्ष अत्यन्त नार्याप्या नैकीमें त्रपस्थित किया गया है। स्रादासकी कृ वादानिवादमे नहीं पडती। उनके

तर्क हार्दिक वृत्तिपर आधारित है, अतः उनकी उक्तियाँ अत्यन्त मामिक बन गयी है । भ्रमरगीतके इस धार्मिक पक्ष-ने ही वस्तुतः 'सूरसागर'के इस अंशको श्रेष्ठ संकेतात्मक व्यंग्यकाव्य बना दिया है। गोपियोंके उपालम्भोंमें सुरदास-की तीव्र संवेदनशीलता, प्रेम-भक्तिकी गम्भीरता तथा अभि-व्यक्तिकी चरम कलात्मकता प्रकट हुई है। भ्रमरगीतमें व्यंग्य-परिहासके प्रधान विषय है-(१) कृष्ण, मधुकर और उद्भव तथा उनके साथ मथुराके सभी व्यक्तियोमें रंग, रूप, प्रकृति और स्वभावकी समानता तथा कृष्ण-वर्णके प्रति गोपियोंका तीव्र अनुराग, जो अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनिके द्वारा व्यक्त हुआ है; (२) उद्भवके व्यक्तित्वमें सर-लता, गम्भीरता, प्रचण्ड पाण्डित्य और परम आत्मसन्तोष-के साथ विनोदवृत्ति, हार्दिकता और सहज बोधवृत्तिका एकान्त अभाव, जिसके कारण उनका पाण्डित्य एक बोझ-मात्र हो गया है तथा उनकी विद्वत्ता मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; (३) निर्गुणकी शून्यता, आधारहीनता और प्रयोजनहीनता तथा इन सबकी दयामसन्दरके समक्ष हीनता और उससे असंगतिः (४) योग और उद्भवने प्रेम-ज्ञान और योग-मार्गकी गोपियोके गुण-कर्म-स्वभावसे असं-गति तथा सामयिक परिस्थितिमे उसकी अनुपयोगिता तथा ('५) कुब्जा और कृष्णके विचित्र संयोगकी असंगति और कुब्जा द्वारा गोपियोंके लिए भेजा गया कटाक्षपूर्ण सन्देश। इन विषयोंको लेकर सरदासने जो अपना अद्भत काव्य-कौशल दिखाया है, उसकी कदाचित सबसे बडी विशेषता यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म संकेतोके द्वारा विस्मयकी मधुर व्यंजना करते हुए मानव-मनकी विविध पार्थिव वृत्तियोको उठाकर आध्यारिमक स्तरंपर पहुँचाते जाते हैं।

'सुरसागर' (समा)में उद्भवके ब्रज आगमनसे प्रारम्भ होकर उद्भवके मधुरा लौटनेतकके (पद ४०२८से ४७७७-तक) साढ़े सात सौ पदोंके प्रसंगके अन्तर्गन अमरगीतका प्रसंग ४११५ पदसे प्रारम्भ होता है और ४६७०वें पदतक गोपियाँ उसे बीच-बीचमें बराबर उठाती जाती है तथा मधुकरको सम्बोधित करके उद्धव और कृष्णपर कटाक्ष करती हुई अपनी विरहजन्य ममैक्यथा व्यंजित करती है।

स्रदासके बाद अष्टछापके एक अन्य किव नन्ददासने - 'भॅवरगीत'की रचना की। उसकी छन्द-शैली तो 'स्र्सागर'- से ली गयी है, परन्तु उसमे पुष्टिमार्गीय मिक्त-सिखान्त तथा दार्शनिक पक्ष अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'माग-वत'की ओर भी अधिक मुखर हो गया है। नन्ददास 'माग-वत'की ओर भी अधिक मुखर हो रचना है। नन्ददासका 'भॅवरगीत' अपेक्षाकृत बहुत छोटी रचना है। स्रदासके अमरगीतमे 'मॅवरगीत'के आकार-प्रकारके कम-से-कम दो प्रसंग पृथक् और स्वतन्त्र रूपमें इंगित किये जा सकते है। अष्टछापके अन्य कवियोने भी अमरगीतके प्रसंगपर पद-रचना की है, परन्तु सम्यक् प्रबन्धके रूपमे किसीका अमरगीत नहीं मिलता। कृष्णदासके रचे हुए अमरगीतका नामोछेख अवस्य हुआ है, परन्तु वह रचना प्राप्त नहीं हुई।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि भ्रमरगीत कृष्ण-काव्यका अन्यतम लोकप्रिय विषय रहा है और केवल उन किवयों को छोडकर जिन्होंने विरह भावको नही अपनाया, राधावल्लभीय भक्त-किव, प्रायः सभी कृष्ण विषयक काव्यरचना करनेवाले किवयोने इस प्रसंगपर थोडा-वहुत अवश्य लिखा है। रीतिकालमे भी भिन्न वातावरण और काव्यरौलीके साथ भ्रमरगीतका विषय किवयों को प्रिय रहा और आधुनिक कालतक वह परम्परा चली आयी है। भ्रमरगीत उपालम्भ-काव्यका एक रूप है। हिन्दीमें तो वह उसका अक्षय स्रोत है, अतः उपालम्भ-काव्यके रूपमें उसकी दीर्घ और अखुण्डित परम्परा मिलती है। दे० 'उपालम्भ-काव्य'।

भ्रमरनाुफा – ब्रह्मरन्ध्र (दे० 'भ्रमर', 'हठयोग') । भ्रांतापह्नुति – दे० 'अपह्नुति', चौथा भेद ।

अांतिमान - साइश्यगर्भ, अभेदप्रधान, आरोपमूलक अर्थालंकारोंका एक भेद। सर्वप्रथम रुद्रटने औपम्य अलंकारोंके 
इसे स्वीकार किया है। मम्मटने इसे "प्रस्तुतके दर्शनमे, 
अप्रस्तुतके साथ उसके साइश्यके कारण, जहाँ अप्रस्तुत(उपमान)की प्रतीति निरूपित की जाय", ऐसा माना है 
(का० प्र०, १०: १३२)। परन्तु भ्रान्तिके सौन्दर्यके लिए 
इसमे साइश्यके साथ कवि-प्रतिभाका हाथ भी होना 
चाहिये। रुय्यक तथा विश्वनाथने इसका निर्देश किया 
है—"साइश्य-हेतुकापि आन्तिविच्छित्यर्थ कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते" (अ० स०)। जगन्नाथने इसके नामके 
औचित्यपर प्रश्न उठाया है और कहा है कि यह नाम 
औपचारिक है, क्योंकि इसमे व्यक्तिके भ्रमकी अभिव्यक्ति 
होती है। सम्भवतः इसी भावनाके कारण इसके भ्रान्ति 
और अम नाम भी प्रचलित हुए।

हिन्दीके जसवन्त सिंह, मितराम, दास तथा पद्माकर आदि आचार्योंने जयदेवके आधारपर केवल नामको लक्षण- रूपमें स्वीकार किया है। भूषणने मम्मट आदिके आधारपर लक्षण दिया है—"आन वातको आनमें, होत जहाँ भ्रम आय" (शि॰ भू॰, ७६)। उदा॰—"अन्त मरेंगे चिल

जरे, चढि पलासकी डार । फिरि न मरे मिलिहें अली, ए निरधम ॲगार" (बि॰ र॰, ३८३)। अथवा—"अति सशंकित और सभीत हो, मन कभी यह था अनुमानता । ब्रज समूल विनाशनको खड़े, यह निशाचर है नुप कंसके" (प्रि० प्र०)। भ्रान्ति तथा रूपकका भेद स्पष्ट है, क्योंकि रूपकर्मे आहार्य ज्ञान (व्यंग्य, काल्पनिक) और भ्रान्तिमे अनाहार्य ज्ञान (स्वाभाविक) रहता है, अर्थात रूपकमें जो उपमेय-उपमानकी एकरूपता रहती है, उसमे दोनोका बोध अलग-अलग बना रहता है, जब कि भ्रान्तिमे उनकी अलग चेतना नहीं रहती, उपमेयमे उपमानका भ्रम होता है।

मंगल-पाठ-दे॰ 'नांदी'। मंजरी (गोपी)-दे॰ 'गोपी'।

मंजरी सबैया-दे॰ 'सबैया', वामका पर्याय । मंडन-दे० 'सखी-कर्म'! मंडल-चक्र-तन्त्रोमं मण्डल गुह्य अनुष्ठानीका एक अंग था और गृह्य साधनाओंमें मण्डल-चक्रके अनुष्ठानीसे ही साधकको दीक्षा दी जाती थी। बादमे यह भी माना जाने लगा कि उत्तम मण्डल स्वतः तथागत और उनकी शक्तिका यगनद्ध मण्डल है। अनुत्तर-साधनामे यह भी मान लिया गया था कि सहज अथवा अनुत्तरकी उपलब्धिक उपरान्त साधक बाह्य मण्डल-कमोंसे विमुक्त होकर स्वयं अपनी कायामे शन्य तथा दज्रका युगनद सम्पन्न कर घरमे ही मण्डल स्थापित करता है। यह मण्डल-कर्म पवनके निरोधसे सम्पन्न होता था। सन्तोंने शृन्यके साथ मण्डल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु उनका प्रयोग इस शब्दकी तान्त्रिक परम्पराको बहिष्कृत कर केवल परम्परा-निर्वाहको रूपमें ही है। -- ध० वी० भा० मंत्र-[मत्रि (चरादि०) ग्रप्तभाषणे + अच् (तारानाथकृत शब्दस्तोममहानिधि), घञ (भानुजीदीक्षितकृत अमरकोष-टीका रामाश्रमी) वा । (क) साधारण अर्थ-१. वैदिक सक्तों या प्रार्थनाओंकी प्रत्येक इकाई। इसके तीन प्रकार होते है-ऋच् अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्र, जो छन्दोबद्ध है और उच स्वरसे पाठ करनेके लिए है, यज्ञम अर्थात यज्ञेंदकें मन्त्र, जो गद्यातमक हैं और निम्न रूरमें उच्चारण करनेके लिए हैं तथा सामन् अर्थात् सामवेदके मन्त्र, जो उच्च स्वरसे गाये जानेके लिए है। २. वेदोका वह भाग, जिसके अन्तर्गत संहिताएँ (ऋक-संहिता, यज्रः-संहिता तथा साम-संहिता) आती है। ये संहिताएँ मन्त्रकाण्ड या मन्त्रभाग कहलाती है और वेदोंके ब्राह्मणभागसे भिन्न है। ३. ग्रप्त भाषण। ४. परामर्श, विचार । ५. नीति । (ख) विशेष अर्थ-१. जादू, टोना । २. अभीष्ट देवताकी सिद्धिके लिए तन्त्रोमें कहे गये सूत्रात्मक मन्त्र, 'ॐ नमः हिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यादि । (ग) हिन्दीमें यह इ.ब्द ऋक, यजः तथा सामके लिए सामृहिक रूपसे भी और पृथक-पृथक भी प्रयुक्त होता है। ऊपर भाग (ख)मे दिये गये दोनों विशेष अर्थ भी होते है। मंत्रयान-बौद्धधर्मका तीसरा यान (मार्ग) नाममे प्रसिद्ध था । इस शब्दका अर्थ अपनेमें ही स्पष्ट है । मन्त्र तथा यान दो शब्दोंसे यह बना हुआ है। वह यान

(मार्ग), जिसमें मन्त्रका प्रयोग होता है। 'तत्त्वरहावली'में यह कहा गया है कि महायान दर्शनके दो अंग थे-(१) पारमितायान, (२) मन्त्रयान । इसे (पिछले यानको) योगाचार तथा माध्यमिक दर्शन द्वारा वृणित किया जा सकता है। मन्त्रयान श्रून्यवादके सूक्ष्म विवेचनको लेकर आरम्भ हुआ था। बुद्ध-धर्म एक असाधारण मत था, जिसके सभी सहम दार्शनिक विचारोंको समझनेमें लोग असमर्थ थे, अतएव भिक्षओंके सामने जनताको निर्वाणका वास्तविक तत्त्व समझानेमें कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। इसी कारणसे उस निर्वाणका नाम शून्य रख दिया गया। जहाँतक बद्ध-वचनके ग्रहण करनेका प्रश्न था. सभी पाधक (अनुयायी) उपदेशोको स्मरण नहीं कर पाते थे तथा उचारण करनेमें भी असमर्थ थे। अतएव अर्थरहित कुछ शब्दोको जनताके सामने रखा गया, जिसके बार-बार उचारण करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति (रुन्य) हो सकती थी । उसे 'धरणी'का नाम दिया गया और तत्पश्चात उसीके छोटे रूपको 'मनत्र'की संज्ञादी गयी। यही कारण है कि मन्त्रके मार्गसे मोक्ष-प्राप्ति करनेवाला मत 'मनत्रयान'के नामसे प्रसिद्ध हुआ ।

पुराने ढंगका विनय तथा ज्ञान-प्राप्तिके मार्ग पूर्वमध्य-युगमे लोगोंको आक्षित न कर सके, इसीलिए मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डल (ब्यूहचक्र)का समावेश वुद-धर्ममे किया गया । इस मार्गसे अन्तिम लक्ष्य (निर्वाण) तक पहुँचनेका विश्वास जनतामे जायत् हो उठा । अतः मन्त्र, मुद्रा तथा मण्डलके प्रयोगसे महायानके पश्चात बद्ध-धर्म मन्त्रयान अथवा साधारणतया तन्त्रयानके नामसे प्रसिद्ध हो गया । मन्त्रयान तन्त्रयानकी पहली सीढी थी, जिसमे महायान (दे०) मतमें प्रचलित पूजा तथा रीतिको अपनाना पड़ा और धीरे-धीरे उसका रूप परिवर्तित हो गया।

यो तो १०० ई०के लगभग नागार्जुनने 'शून्य'-सिद्धान्तको प्रतिपादित किया था, परन्तु बुद्ध-धर्ममें तन्त्र-यान (मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग)का समावेश करनेका श्रेय असंग-को दिया जाता है, जो नागार्जनके समकालीन थे। उन्हींके महायान 'सत्रालंकार' ग्रन्थमे वासनायक्त लान्त्रिक विधियों-का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मन्त्रका प्रयोग बद्ध-धर्ममे किस व्यक्तिने आरम्भ किया। धरणी (धार्यते अनया इति धरणी) यानी ग्रप्त अक्षरींके समृहसे ही मन्त्र विकसित हुए थे। बीज मनत्रकी उत्पत्ति अष्टसाहसिक प्रज्ञापारमितामे पायी जाती है। अतः इस आधारपर यह कहना उचित होगा कि मन्त्रका आरम्भ ईसाकी पहली रातीमें अवस्य हो गया था। वस्तवन्धने भी उसी शताब्दीमें 'बोधसत्त्व-भूमि' नामक यन्थमें लिखा है कि धरणीकी अर्थहीनता ही वास्तविक मन्त्र माना जा सकता है। अर्थहोन मन्त्र ही वास्तविक शक्ति रखते थे, जिनके बल द्वारा साधक लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता था। उस समयके बौद्ध-मन्त्र हिन्दू-तन्त्रसे सर्वथा मिलते-जुलते हैं। मन्त्रके साथ मुद्राका भी समावेश इस यानमे किया गया। इस परिस्थितिमे मन्त्र या धरणी अथवा ग्रप्त रूपसे जाद, मोहिनी मन्त्र तथा इन्द्रजाल आदि कार्योंने बुद्ध-धर्मकी आचार-पद्धतिमें परिवर्तन ला दिया।

मन्त्रयानका कई नामोंसे साहित्यमें उक्लेख मिलता है। जादू , मोहिनी-मन्त्र तथा यन्त्रके प्रयोगसे इसका दूसरा नाम तन्त्रयान भी प्रसिद्ध हो गया। पूर्व-मध्ययुगमे जब पालवंशी नरेश पृवीं भारतमे शासन कर रहे थे, नागा-र्जुनके 'शून्य'को 'वज्र'का नाम दिया गया। वह लक्ष्य (निर्वाण) वज्रकी तरह अभेदनीय है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। अतएव उस लक्ष्य वज्रकी प्राप्तिके लिए उपा-सकोने अपने पथको वज्रयान(दे०)का नाम दिया। यही मार्ग आगे चलकर कालचक्रयान तथा सहजयानके नामसे विख्यात हुआ। माहित्यके आधारपर यह ज्ञात होता है कि बौद्ध-तन्त्रको तीन श्रेणियोमे विभाजित विधा गया था-वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान । वैडेलका कथन है कि १०वीं शतीमे तान्त्रिक आचारका प्रचार उत्तरी भारत, कहमीर तथा नैपालमे पूर्ण रूपसे हो गया था। मन्त्रयानका तीसरा नाम कालचक्रयान पड़ा, जिस (युद्धमत)में आदि बुद्धका सिद्धान्त समाविष्ट किया गया। इसमें आदि बुद्ध तथा शक्ति(काली)के मिलनसे संसारकी उत्पत्ति मानी जाती है। आदि बुद्ध ध्यानावस्थित होकर सम्भर या डाकिनी ऐसी भयंकर शक्तियोको पैदा करते · हैं। अतएव उस पैशाचिक कार्यकी भयंकरताके कारण ही मन्त्रयान कालचक्रयानके नामसे परिवर्तित हो गया, जिसका अर्थ है 'समयका चक्र' या 'नाशका चक्र'। काल-को समय, मृत्य तथा नाशके अर्थमे प्रयोग किया गया था। कालान्तरमें इस यानको सहजयानका भी नाम दिया गया। 'सहज'को 'वज्र' या 'शून्य'के अर्थमे प्रयोग करते है । इस सिद्धान्तके अनुसार लक्ष्य(मोक्ष)की प्राप्ति अध्ययन, उप-वास, स्नान, मूर्ति-पूजा या नाना प्रकारके आचार अथवा वज्रयानकी क्रियासे नहीं हो सकती । सहजयानमे वज्रयान-से इस रूपमे अन्तर था कि सहज या सत्यकी प्राप्तिके लिए तत्त्वकी दीक्षा तथा योगका अभ्यास आवश्यक समझा जाता था। इस यानमें अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्य-शक्तियोपर अनुचित बल देना अनावश्यक समझा गया है और सहजयानवालोको विश्वास है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वतः उस मार्गपर मनुष्यको ले जायँगी । अतएव सहजयानके नामकरण तथा प्रयोगका और चत्य समझा जा सकता है।

महायानके 'शून्यना'के विचारको 'वज्र'को धार्मिक भावना दी गयी। 'वज्र'के साथ 'सस्व' यानी चेतनाको सम्मिलित कर मन्त्रयानमे वज्रसत्त्वको स्थिति घोषित की गयी, जो वज्रयानमें परमदेव माने गये हैं। तन्त्र तथा मन्त्रका उपयोग पृजामे होने लगा। साधनमालामे पुष्प, दीप तथा धृप आदिके प्रयोगका उल्लेख पाया जाता है। धार्मिक भावनाको जागतिके साथ वज्रयानमे नये देवताओं तथा देवियोंको प्रतिमाएँ निर्मित हुई। आदि बुद्धको परमन्त्रस मानकर प्रह्वापारमिताको शिक्तका स्थान दिया गया। वह विश्वशक्ति तथा शक्तिमान्के परम्पर संयोगका फल है। पाँच ध्यानी बुद्ध तथा उनकी शक्ति तारासे ससारकी उत्पत्ति समझी जाती है। ध्यानी बुद्ध तथा ताराके मिलनसे ही सारे देवी-देवताओका आविर्भाव हुआ। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताम, अमोधसिद्धि तथा अक्षोभ्य, इन

पाँच ध्यानी बुद्धों के पुरोहित वज्रसत्त्वको भी कलामे स्थान दिया गया। वज्रसत्त्व अधिकतर शक्तिको आलिंगन करते दिखलाये गये है, जिसके कारण दोनों के मिलनको इस मतके अनुयायी 'यवयम' के नामसे पुकारते है। मन्त्रयानमें इसको 'भगवान्' भी कहते थे, जो सब जीवोमें व्याप्त है। इसे हर-गौरीकी प्रतिमाके सहश मान सकते है। प्रत्येक ध्यानी बुद्धका एक परिवार होता है। इस प्रकार कलात्मक उदाहरणों अध्ययन ते हजारो देवी-देवताओं को उत्पत्ति मानी जा सकती है। पाल-युगमे मन्त्रयान (बज्ज्यान) सम्बन्धी अनिगनत मृतियाँ मगधमे बनती रही। प्रस्तरके आतिरक्त धातु-प्रतिमाओं जे ढालनेका कार्य भी होता रहा। नालन्दा बज्ज्यानका प्रधान केन्द्र था, जहाँ प्रतिमाओं निर्माणमे धीमान् तथा विटापाल नामक कारीगर व्यस्त रहे। मगधसे लेकर बंगालतक खोदाईसे निकली मृतियाँ अधिकतर बज्ज्यानसे सम्बद्ध है।

वज्रयानका सिद्धान्त तथा जीवन-लक्ष्य महायानसे भिन्न था। जगत्की हो शक्तियाँ शिव-शक्ति या पुरुष-प्रकृति आदि शब्द द्वन्द्वके बोधक है। शिव-शक्तिका आलिगन आनन्दका अवसर समझा जाता है, जिसे वज्रयान(मन्त्र-यान)मे वज्रसत्त्वकी प्रतिमा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। वज्रयानमे शिवशक्तिको प्रशा तथा उपायके व्यक्त किया जाता है, क्योंकि प्रशा तथा उपायका सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। तन्त्र-प्रन्थोमे प्रशाको भगवती, युवती या होम्बी आदि शब्दों चे चिल्टिखित किया गया है। उपायको स्वामी, पुरुष मानकर ही प्रशोपाय द्वारा संसारको महासुखकी उपलब्धि करायी जाती है।

मन्त्रयान(वज्रयान)का साहित्य तीनों भाषाओं — संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंशमे पाया जाता है। उस साहित्यको सगीति-प्रकारका कहते है, जिसमे स्वयं बुद्ध द्वारा उपदेश देनेकी बात कही गयी है। तन्त्र-साहित्यका आरम्भ निम्निलिखित वाक्यमे होता है — "एवं मया श्रुतं, एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतत्त्वागत-काय-वाक्-िक्त-हृद्रय-वज्र-पोषितभगेषु विज्ञहार"।

बौद्ध तन्त्र-साहित्यकी उपलब्धि नैपाल तथा तिब्बतसे अधिकतर हुई है, जिसका समुचित प्रकाशन नहीं हो सका है। गुलसमाज-तन्त्र, गुलसिद्धि, महाकल-तन्त्र तथा हेवज्र-तन्त्रके नाम लिये जा सकते है, जिनके रचयिताओं के विषयमे विशेष शात नहीं है। चौरासी सिद्धोमे ऐसे नाम मिलते है, जिनके यन्थोमें वज्रयानी सिद्धान्तोकी विवेचना मिलती है। चर्यापद (दे०) तथा सरहपाद और कान्हपादके दोहा नामक साहित्यमे अनेक सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, समरस(मिलन)पर दोहा साहित्यमे विवेचन है, जिसकी हिन्दू तन्त्रके सामरस्यके साथ तुलना की जा सकती है। भुसुकपादके एक गानमे योगिनी शक्ति-पर विचार किया गया है। चर्यापदमे वज्र-जपका वर्णन आता है। ---वा० उ० मंथान या मंथना-विश्व छन्दोंमें समवृत्तका भेद; 'प्राकृतपैगलम्'(२: ५०)मे इसका मन्थान नाम दिया है: इसके प्रत्येक चरणमें तगण २ (SSI, SSI) होते है, जिसे

भारते भी माना है। 'वाग्वल्लभ'में मन्थानक नाम दिया

गया है। क्षेवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"वाणी कही वान; कीन्हीं न सो कान। अद्यापि आनीनः रे वादि कानीन" (रा० चं०, ४: —<u>দ</u>০ হা ০ मंदाकांता - वर्णिक छन्टोंमे समवृत्तका एक भेद । हेम-चन्द्रके 'छन्दोन् इंग्सन' (२: २८९) तथा 'पिंगलछन्दःसूत्र' (७: १९)के अनुसार म, म, न, त, त, ग-गके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SII, III, SSI, SSI, SS); इस छन्दमे ४, ६, ७ वर्णीपर यति होती है। कालिदासने मेघदृतमें इस छन्द्रका आदिम प्रयोग किया था। 'हरिऔध' (प्रि० प्र०, सर्ग ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, १२, १४, १५, १६, १७), अनूप द्यामी (सिद्धार्थ-सर्ग ५, ६, ११, १३, १६) और मैथिलीशरण गुप्त(पत्रावली-पृ० १२-१५)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"प्यारा वृन्दाविषिन उनको आज भी पूर्व-सा है। वे भूले है न प्रिय जननी औ न प्यारे पिताको। वैसी ही है सुरति करते इयाम गोपां-गनाकी। वैसी ही है प्रणय-प्रतिमा बालिका याद आती" (प्रि० प्र०, १४: १६),। यह छन्द अपनी मन्द-मन्थर गतिके कारण वियोग-शृंगारके अनुकूल है। मकडी-मकडोकी भॉति अपनी प्रवृत्तियोसे ही जगज्जाल बुन लेनेवाला मन—''अवधू यो मन जात है याही ते सब जाणि । मन मकड़ीका ताग ज्यूँ उलटि अपूगै आणि" (गी० बा०)। परिदाद मनसे उत्पन्न होनेवाले तार (सुरति)से हो परम पदकी प्राप्ति भी मानी जाती है। --- उ० शं० शा०

मकरंद सबैया-दे॰ 'सबैया', वामका पर्याय।

मगही — बिहारी समूहकी एक बोली मगहीका केन्द्र पटना और गया है। बोलीमे साहित्यका सर्वथा अभाव है। लिखनेके लिए कैथी लिपिका प्रयोग होता है। मगहीकी उत्पत्ति मागथी अपभ्रंश से है।

मच्छ-दे० 'मछरी'।

सछरी-मछलीका प्रमुख धर्म है चांचल्य। मन या चित्त भी चांचल्यधर्मी है अतः मनके अर्थमें मीन तथा इसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग भारतीय साहित्यमें बहुत प्राना है। नाथों, सिडो, सन्तोंने इस अर्थमे इसका प्रयोग बहत अधिक किया है। इन्द्रियवश्यताके लिए भी मीन प्रसिद्ध है। लालची एवं विषयासक्त जीवके अर्थमे भी इनको याद किया जाना है। 'पानीमे मीन पिआसी' जैसी बात करते समय सन्तोने मीन शब्दका प्रयोग अज्ञानी जीवके अर्थमे भी किया है। पानीपर अनन्यभावसे आश्रित होनेके कारण इसे कभी-कभी एकनिष्ठ साधक या भक्तकी तरह भी सारण किया गया है। सन्तोंकी एक विशेष प्रवृत्ति रही है कि जहाँ भी किसी शब्दमे किसी अन्य शब्दसे ध्वनिसाम्य दोखा, वे उस शब्दके अर्थको भी अपने कथ्यके अनुसार मोडकर उस शब्द विशेषमें भर देते है। मछरी शब्द संस्कृत मत्स्यका ध्वनि परिवर्तित रूप है। संस्कृतमें मछरीसे थोड़ा ध्वनिसाम्य रखने वाला एक शब्द है मत्सरी। सन्तोने अनेक स्थलोंपर 'मछरी'से मछली और मत्सरी दोनोंका अर्थ निकालनेकी कोशिश की है। भणि-वज्रयानकी केन्द्रीय कल्पना वज्र ही है। वज्र इन्द्रका आयुध है और अश्म तथा मणिके अर्थमें भी प्रयोग होता है। मणियोको अर्थवं बेदमें सुख, समृद्धि, रक्षा आदिका साधन बताया है। अमीवर्त नामक मणिका उल्लेख मिलता है, जिसे धारण करनेसे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था। अनेक साधनाओं में वज्रका वैभवदाता मणिके रूपमें उल्लेख मिलता है।

—ध० वी० भा०

मणिकुल्या-दे॰ 'मलिका'। मणिपुर-दे॰ 'हठयोग'।

मतंग-मतंग अपनी मस्ती, दर्प, कामुकता और दुर्निवार शक्तिमत्ताके लिए प्रसिद्ध है और इन सभी अर्थीमें इसे साहित्यमं बार-बार चित्रित-उल्लिखित किया गया है। सन्तोंने सामान्य ढंगके कथनोसं लेकर रूपकों, उपमाओं, उलट-बॉसियों एवं योगपरक रूपकोंने मतंग, गजराज, मैगल, मैमंत (मदमत्त) आदि नामोंसे इसे अपने कथ्यकी अभिन्यत्तिका साधन बनाया है। 'इठयोग प्रदीपिका'में इसे मन (४,९०) तथा वायु (२, १५)के उपमान रूपमें निरूपित किया गया है। श्रीविचारदासने सुझाया है कि कवीर-साहित्यमे उल्लिखित हस्ती, मतंग आहि शब्द मनके बोधक हैं (बीजक, भूमिका, पृ० ४०)। संत साहित्यके सही अर्थ-निर्धारणमें सदैवते एक विशेष काठनाईका सामना करना पड़ा है कि एक ही शब्द भिन्न-भिन्न स्थानींपर एक दूसरेसे भिन्न और कभी-कभी नितान्त विपरीत अर्थमे प्रयुक्त मिल जाता है। मतंग कहीं एकनिष्ठमनके प्रतीक रूपमें उछिखित होता है-"मैमंता त्रिन ना चरै सालै चित्त सनेह । बारि ज़ बाधा प्रेम कै डारि रहा सिरि खेह" (कबीर), तो कही दुनिवार और अनेक आकर्षणोमें फॅसे मनका प्रतीक बनाकर उपस्थित किया जाता है-"मैमंता मन मारिरे घट ही माँहै घेरि। जबही चालै पीठि दें आँक्स दे दें फेरि ॥" (क्बीर) । इस तरहकी अर्थगत अस्थिरता साहित्यमे कोई नयी बात नहीं है। आगको सभी बुरी, सडी-मूखी, अशुद्ध वस्तुओको जला देनेवाली कहते समय जहाँ उसके शुद्ध करनेवाल धर्म (पावकत्व)का उल्लेख होता है, वहीं जलावर नष्ट बरनेके कारण उसे दुष्ट भी कहा जाता है क्योंकि ऐले अवसरोपर कविका ध्यान धमीं (मतंग आदि)की अपेक्षा उसके धर्म (मत्तता, दुनि-वार्यता, कामवश्यता), पर केन्द्रित होता है। सन्तोंने भी अपने उपमानोके धर्मको ही अपनी अभिन्यक्तिका साधन वनाया है। कठिनाई यही है कि इनके साहित्यमे उपमानोंके धर्मीको ही स्मरण करनेकी वृत्ति इतनी विविध और बहुल है कि सहृदय अममे पड सकता है। उदाहरणार्थ एक जगह आक्रामक अर्थमे सिंह पंचेन्द्रियोका वाचक वनकर आता है, तो दूसरी जगह 'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई' कहते समय 'ज्ञान' या बोधि प्राप्त मनका । गयन्द, मतग आदिका प्रयोग भी इस तरहके परस्पर विपरीत अर्थींमे सन्तोने बार-बार मति-प्रचलित रेतीस संचारियोंमे एक। वाग्भट एवं हेम-चन्द्रके काव्यानुशासनोसे ज्ञात होता है कि एक बातका

निर्णय कर लेना मित है। भरतकी परिभाषासे यह स्पष्ट

नहीं होता कि यह संचारी भावके अन्तर्गत क्योंकर हो सकती है। भरतने मतिके विभाव एवं अनुभाव निम्न-

लिखित प्रकारसे दिये है-अनेक शास्त्रोके मनन, पक्ष एवं

विपक्षका निरीक्षण करनेसे मति उत्पन्न होती है। शिष्योंको उपदेश, विचार एवं संशय दूर करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७: ८२ ग)। धनं जय एवं रामचन्द्र गुणचन्द्रने यह स्पष्ट कर दिया कि 'आन्तिका नाश' ही मित है। परन्तु 'दशरूपक'मे दिये गये उदाहरणसे भी स्पष्ट नही होता कि इसकी गणना संचारियोंमे कैसे हो सकती है। धनिकने 'किरातार्जुनीय'के दूसरे सर्गसे वह उदाहरण लिया है, जव युधिष्ठर कहते है कि किसी भी कामको बिना सोचे-समझे नहीं करना चाहिये, इत्यादि। यह सामान्य कथन है। अतः विश्वनाथने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'का वह दलोक उद्धृत किया है, जिसमे दुष्यन्त शकुन्तलाकी और आकृष्ट होनेको अन्तःकरणकी प्रवृत्तिका आश्रय के उचित मानते है। इसी उदाहरणको हेमचन्द्रने भी दिया है।

हिन्दिकि रीनिकालीन आचार्योंने प्रायः 'शास्त्रचर्चासे अमनाश'को ही मित संचारी माना है—''शास्त्र चिन्तनाने जहाँ होइ यथारथ झान । करें शिष्य उपदेश जहुँ, मित किह ताहि बखान" (भाव॰: संचारी॰) । देवकी नायिका मनको समझाती है—''ज्यो न निगेको तवै असुझौ कि देव कहा अब जो पंछितानो । धन्य जिये जगमे जनते जिनको मनमोहनतें मन मानो" (वही) । रामदिहन मिश्रने विद्यापितकी इन पंक्तियोको प्रस्तुत किया है—''अपनिह नागर अपनिह दूत । से अभिसार न जान बहूत । को फल तेसर कान जनाय । आनत नागर नयन बझाय" (का॰ द०) । इसमें उरिलखित मिलनको सब नहीं जानते, फिर किसी तीसरेको जनाकर क्या करना है, यह भाव 'मित' है ।

मत्तगयंद सवैया-दे॰ 'सवैया', दूसरा प्रकार। मत्तगयंद सुंदरी-दे॰ 'सवैया', उपजाति।

मत्तमातंग लीलाकर—साधारण दण्डकका एक भेद । हेम-चन्द्र (१४ श० ई०) ने 'छन्दोनुशासन' अध्याय २, पंक्ति ३९४ मे इसका लक्षण दिया है 'यथेष्ट रामत्तमातंगः'। भानुने 'रोनौवाअधिक' (ए० २१०-छ० प्र०) दिया है, अर्थात् रगण नौ या अधिक । 'रामचन्द्रिका' (के० प्र० भा० २ : ए० ४२८) में केशवदासने आठ रगणवाले छन्दको भी 'मत्त-मातंग दण्डक' माना है, किन्तु पिंगलके मतका उल्लेख करते हुए उन्होंने आठ रगणको पिंगलानुसार लक्ष्मी छन्द कहा है—"'रिच युजंगवसु यगनकी लक्ष्मी रगनै आठ। आठ भ कहत किरोट है आठ स दुमिल पाठ"। किन्तु यह उचित मत केशवदासका नहीं लगता, क्योंकि २६ अक्षरके कपरवाले कृत्त ही- दण्डक कहलाते है, अस्तु नौ रगणसे कममें इसका लक्षण नहीं दिया जा सकता।

हेमचन्द्रने इस दण्डकका उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग उनके पूर्व होता रहा होगा, यद्यपि संस्कृत-कान्योंमें दण्डकका प्रयोग यदा-कदा ही मिलता है। दण्डक और मान्त्रिक छन्दोंका पूर्ण प्रयोग प्राकृत और अपश्रंश-कालमें ही हुआ है। केशवदासने 'मत्तमांतंग'का दूसरा नाम गगोदक (कि॰ अ॰, भा॰ २, पृ०३१४) दिया है, किन्तु वह आठ रगणका ही है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस दण्डक वृत्तका प्रयोग मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें भी नाममात्रको रहा होगा। संस्कृतमें आठ रगणके वृत्तका नाम 'स्वैरिणीक्रीडन' रहा है, जिसका भाव 'मत्तमातंग लीलाकर'के अर्थमे आ जाता है, अर्थात् उन्मुक्तता। सम्भव है, इसके विकासमे उक्त छन्दका योग रहा हो—एक रगणके योगमात्रले। छन्दकी स्वैरवृत्ति द्रष्टव्य है—''योग ज्ञाना नहीं यज्ञ दाना नहीं वेद माना नहीं या कली माहिं मीता कहूँ'। यद्यपि सत्य तो यह है ९ रगणमें छन्दकी गति वटी लगती है और छन्दकी शोभा विगड जाती है। छन्द ८ रगडमें ही पूर्ण हो जाता है, इसलिए इसे दण्डकके अन्तर्गत रखकर समवृत्त चतुष्पदीके ही अन्तर्गत रखना चाहिये अथवा ९ रगणका वन्धन हटाकर हेमचन्दकी परिभाषाके अनुसार यथेष्ट रगणका लक्षण ही देना चाहिये। —ह० मो०

मःसरी-'भावक'।

मद-प्रचलित तैतीसमेसे एक संचारी; भरतकी नाट्य-प्रदर्शनके उण्युक्त व्याख्या (नाट्य० ३८-४६)को भाव-रूपमे ग्रहण करते हुए विश्वनाथने इसके सम्बन्धमे लिखा है —"सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मधोपयोगजः" (सा० द०, ३: १४६)। जिसमे सम्मोहन और आनन्दका मिश्रण हो, वह मदकी अवस्था बहलाती है। यह मद्य आदिके सेवनसे पैदा होती है।

धनंजयकी परिभाषा विश्वनाथकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने 'दशरूपक'में लिखा है—''हपेंत्किषों मदः पानात्स्खलदंगवनोगितः'' (४, २१), अर्थात् मद्यणनसे प्रादुर्भूत हर्षकों 'मद' व.हते है, उसमे अंग, वचन और गितका स्खलन होता है, उनपर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता। इसके उत्तम, मध्यम तथा अधम मेद भरतसे ही स्वीकृत रहे हैं, जिनका सम्बन्ध निद्रा, हास और रुदनसे जोडा गया है। विश्वनाथने मद्यपान आदि कहकर इसकी व्यापकताको सीमित नहीं किया है, पर धनंजयने केवल मद्यपान-जन्य मदको ही मद संचारिक नामसे अभिहित किया है। अतः इनकी व्याख्या संकीर्ण और सीमित हो गयी है।

हिन्दी-रीतिकालमे दोनों परम्पराओंका प्रभाव दृष्टिगीचर होता है। देवने-"सो मद जह आसव पिये, हर्ष होन हिय बीच" (भाव० संचारी०)मे केवल मद्यपान कारण माना है और इसके विपरीत पद्माकरने 'धन थौवन रूपादितें' (जगिद्ध०, ४८४) भी स्वीकार कर लक्षणको अधिक न्यापक बनाया है। तीन भेद हिन्दीमें भी प्रायः मान्य हुए है। प्रेमके आवेगमें प्रेमी अनियन्त्रित ढंगसे बाते करते है। रामचन्द्र शुक्रने इसे गर्वका भी संचारी माना है, क्योंकि अभिमानके जोर करनेपर भी लोग बहकी-बहकी बाते करते है। मद संचारीकी प्रकृतिगत व्यंजना—"छिक रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गन्ध । ठौर ठौर झौरन झँपत, भीर झीर मधु अन्ध" (बिहारी: रत्ना०: ४९६) और दूसरा उदाहरण मधुपान-जन्य संचारीका है-"पूस निसामें सु बारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मदके मनवाले। छाक छकी छिब ही को पिये मद नैननके किये प्रेमके प्याले" (जगिंद ० ४८५) । दे० 'स्वभावज अलंकार', ज्यारहवाँ) । - व० सिं० मदनमनोहर-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्त दण्डकका एक सेद । म, ज, स, न, म, ज, स, न, म, ज, ग, (SIIIX ७ - LS) के योगसे यह वृत्त बनता है; १६, १५ वर्णीपर यित होती है। यह घनाक्षरीका वृत्तात्मक एक सेद है। केशवने इस नवीन घनाक्षरीका प्रयोग किया है। उदा०— "आवत विलोकि रघुवीर लघुवीर तिज, ब्योम गित मृतल विमान तव आइयों" (रा० चं०, २१:३०)।—पु० शु० मदनमाञ्जका या मिळ्ळा—विणिक छन्दोमे समवृत्तका एक सेद; गुरु लघु कमसे आठ वर्ण इस वृत्तके चरणमे होते है। हेमचन्द्र (छन्दो०, २:८३), जयकीर्ति-(छन्दो०, २:६६) ने समानी और दामोदर मिश्र (वा० मू०, २:६७)ने मिळ्का नाम दिया है। केशवने इसका प्रयोग किया है—"देश-देशके नरेश शोमिज सवै सुवेश। जानिये न आदि अन्त कौन दास कौन सन्त" (रा० चं०, २:५)।

—पु० शु०

मदनहरा — मात्रिक सम दण्डक छन्दोंका एक मेद । 'प्राकृत-पैगलम'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमे १०,८,१४,८ की यतिसे ४० मात्राएँ होती हैं। आदिमे दो ल (॥) अथवा दो ग (ऽऽ) तथा अन्तमे ग (ऽ) रहता है (१:२०६)। भानुने आदिमे केंबल टो ल (॥) माने हैं (छ० प्र०, पृ० ७७)। ऐसा जान पडता है कि दो-दो यतियोंकी तुकका प्रयोग भी प्रचलित रहा है, जैसा कि 'प्राकृतपैगलम्' तथा 'छन्दप्रभाकर'के उदाहरणों। स्पष्ट हैं। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०) तथा सदन (सु० च०)ने किया है। केशवने भी आदिमें दो ल तथा ग दोनोका प्रयोग किया है। उदा०— 'संग सीता लक्ष्मण, श्रीग्धुनन्दन, मातनके शुभ पॉय परे, सबदु:ख हरे। ऑसुन अन्हवाये, भागनि आये, जीवन पाये अंक भरे अरु अंक धंरं'' (रा० च०)।

मदिरा दुर्मिल-दे० 'सवैया', उपजाति । मदिरा सर्वया-दे० 'सवैया', पहला प्रकार ।

मधुमती भूमिका-योगदर्शनके अनुसार एक भूमि है। केशवप्रसाद मिश्रने 'मेयद्न'के अनुवादकी भूमिकामे इसकी व्याख्या रस-सिद्धान्तके सम्बन्धमे की है। इयामसुन्दर दासने अपने 'साहित्यालोचन'में उन्होंके आधारपर इसे रस-निष्पत्तिकी मुमिकाके रूपमे स्वीकार कर लिया है। केशव मिश्रके अनुसार 'मधुमती भूमिका' चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमे वितर्ककी सत्ता नहीं रह जाती "पार्थक्यान भवको अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस अवस्थामे सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते है, केवल वस्तुभात्रका आभास मिलता रहता है, उसे पर-ग्रन्यक्ष या निवितर्क समापत्ति कहते हैं। चित्तकी यह समापत्ति सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानताका परिणाम है।... जिस समय हमकी वस्तुओंका पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय होचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकारकी वस्तुएँ हमारे केवल सखान्मक भावोका आलम्बन वनकर उपस्थित होती है' (मा० लो०, पृ० २८०-८१)। इस प्रकार केशव मिश्रने योगीकी 'मधुमती भूमिका' तथा कविकी काव्यात्मक कल्पनाको एक स्तरपर स्थापित किया है। इन दोनोंमं उन्होंने यह अन्तर स्वीकार किया है कि साधक यथेष्ट कालतक इस भूमिकापर स्थिर रहता है, जब कि कवि तथा काव्यानन्दका आस्वाद करनेवाला पाठक अनिष्ट रजस या तमसके नीचे उतरते ही उससे नीचे उतर पडता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने योगशास्त्रके आधारपर इस मधुमती भमिकाका खण्डन किया है। 'योगमूत्र'में वर्णित चार प्रकार-की योग-स्थितियों में मधुभमिक द्वितीय है। योगशास्त्रके अनुसार मधुमती-भूमिका ब्रह्मविद्की सत्त्वशुद्धिको देखकर देवगण उस स्थानके योग्य मनोरम भोग दिखलाते है। वस्तुतः इसके वाद योगकी दो स्थितियाँ प्रज्ञाज्योति तथा अनिकान्त-भावनीय और हैं। आनन्दप्रकार के अनुसार— "यह मृमि माधककी परीक्षा-भूमि है, सिद्धिभूमि नहीं। परीक्षा-भूमिपर अधिक देरतक स्थिर रहनेकी चेष्टाका प्रश्न नहीं उठता । "यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है तो ब्रह्मानन्दका प्रश्न भी यहाँ नहीं उठ सकता" (कान्यमे रस, अप्रा० प्रद०: पू० ३२२) । वस्तुतः विवेचकोने मधुमती भूमिकाको व्यापक ब्रह्मानन्दकी भूमिके रूपमें स्वीकार करके उसके आधारपर ब्रह्मानन्द सहोदर कान्यानुभूतिकी व्याख्या को है। उपर्वृक्त विशिष्ट अर्थमें उसका इस रूपमे प्रयोग भ्रामक जाना जायगा। ₹o

मधुर रस-दे॰ 'भक्ति'।

चौदहवी-पन्द्रहवीसे मध्यवाल-साधारणतः शताब्दीके मध्यतकका काल हिन्दी-साहित्यके इतिहासमे मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। आदि, मध्य और आधुनिक – इतिहासके इस त्रिकाल-विभाजनकी सार्वभौम प्रवृत्तिने हिन्दी-साहित्यके इतिहासकारोको भी प्रभावित किया है। विश्वके इतिहासका मध्यकाल सातवी-आठवी शताब्दीने प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहासमें भी मध्ययगीन प्रवृत्तियाँ वर्धन-सः झाज्यके पतनके बाद इसी कालमें प्रारम्भ हो जाती है। सानवां शताब्दी ने विश्व-इतिहासमें सत्रहवीके अन्त, किन्तु भारतमें उन्नीसवीके मध्यतक बारह सौ वर्षीका काल-विस्तार मध्यकाल या मध्ययगकी मंज्ञा पाता है। इस युगके पुनः दो विभाग किये जाते है-- १ र्द-मध्ययुग और उत्तर-मध्ययुग। पूर्व-मध्ययग बारहर्वा राताब्दीके अन्ततक तथा उत्तर-मध्ययुग तेरहवींसे उन्नीसवीं शन ब्दीनक चलता है। इतिहासमें मध्ययुगकी यह कल्पना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनकी समस्त प्रवृत्तियोंके आधारपर की गयी है। इन प्रवृत्तियोंमे हास और पुनरुत्थान, टोनो प्रकारकी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। मोटे नौरपर इम कह सकते है कि पूर्व-मध्ययुग और उत्तर मध्ययुगका अन्तर इसी बातपर आधारित है कि पूर्व-मध्ययुग समष्टिगत दृष्टिसे प्रायः हासोन्मुख है और उत्तर-मध्ययुगमे पुनरुत्थानकी प्रवृत्तियाँ हुई है ।

हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ इतिहासके उत्तर-मध्ययुग (१२००—१८५७)मे होता है और उसके आदि और मध्यकाल उसीमें पिर्सीमित हैं। अतः हिन्दी साहित्यके मध्यकालकी ही प्रकृत्तियाँ नहीं, आदिकालकी प्रकृत्तियाँ भी इतिहासके उत्तर-मध्यकालकी प्रकृत्तियोंने निःम्त है। इतिहासके इसी कालकी विविध राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियोने अधिनक भाषाओको साहित्यिक पदपर प्रतिष्ठित होनेका अवसर दिया।

हर्पवर्धनकी मृत्युके बाद राजनीतिक सत्ताका जो विघटन प्रारम्भ हुआ, उसीके परिणामस्वरूप तेरहवी शता-

ब्दीके प्रारम्भमे उत्तरभारतमे हिन्दू राज्य-शक्तिका सदाके लिए लोप होकर मुरालिम केन्द्रीय शासनका स्त्रपात हुआ ! राजनीतिकी ोरसे जनसमाजकी उदासीनता जो युगों पहले जनपदीय गणराज्योके विनाश और साम्राज्योकी स्थापनाके वाद केवल राजभक्तिके रूपमे सीमित होकर गहरी होती आयी थी, अब प्रायः घुणामे परिणत हो गयी। गंगा-यमु नाकी घाटीमे कवियोके राजाश्रय पानेकी सम्भावनाएँ नष्ट हो गयाँ। संरक्तन, प्राकृत और अपभंशके राजाश्रित कवियोंकी वीर-इरित-काव्य लिखनेकी परम्परा राजम्थानमे ही अपभ्रंश और हिन्दीके रासी-काव्यके यत्र-तत्र प्रणयनमे अवशिष्ट रह गयी । परन्तु उसमे जनताकी मनोभावनाओका कोई योग न था। राजनीतिक पराभव और सामाजिक द्रवस्याकी स्थितिमे कुछ दिनोतक तो साहित्यिक शून्यता-सी दिखाई देनी है। परन्तु इसी श्रन्यताने पुनजीवनकी शक्तियोके उदय होनेकी भूमिकाका निर्माण किया। तेरहवी शताब्दीके आरम्भसे सोलहवीके प्रथम चरणतक एक प्रकार-का निरंकुरा सैनिक शासन रहा। परन्तु मुगल-शासन-कालने धीरे-धीरे सभ्य प्रशासन-व्यवस्थाकी स्थापना होने लगी। अकबरकी उदार धार्मिक नीति तथा सुन्यवस्थाके फलस्वरूप समाजको सर्वांगीण उन्नति करनेका अवसर मिला। अक्बर तथा उनके उत्तराधिकारियोने हिन्दी कवियोंको भी प्रश्रय दिया, परन्तु इस कारके सर्वोत्कृष्ट भक्त-कवियोंका राज-दरबारसे कोई सम्बन्ध नही था। यह इस कालके साहित्यकी अद्वितीय विशेषता है कि उसके सर्वोत्तम रूपकी रचना जन-कवियों द्वारा हुई।

इतिहासके उत्तर-मध्ययुगमे राजनीतिका नही, धर्मका प्रभुत्व था। उत्तरभारतमें सातवीसे बारहवी शतान्दीतकका समय राजनीतिक सत्ताके ही विघटनका नही, धार्मिक-शक्तियोके रखलनका भी काल है। सांस्कृतिक दृष्टिसे यह काल तात्रिक काल कहा जाता है। तात्रिक ग्रह्म-साधनाओं-ने, जिनमे शारीरिक भोगवादकी पराकाष्ठा थी, न केवल पतनोन्मुख बौद्ध महायान, मन्त्रयान और वक्रयानकी क्रमागत परम्परामें आये हुए सहजयानको आक्रान्त किया, वरन् रौव, शाक्त—यहाँतक कि वैष्णव मतमे भी तान्त्रिक साधनाएँ अशतः प्रविष्ट हो गयी । यह विचित्र-सा लगता है कि जहाँ एक ओर नान्निक भोगवादने जघन्य रूप धारण कर लिया था, वहाँ दूसरी ओर ठीक इसके विपरीत शंकराचार्थके मायावादी अद्वैतवादने वैराग्यकी भावनाको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया था। यद्यपि इस धार्मिक दुरवस्था। को सुधारनेका प्रयद्ध वज्रयानी सिद्ध-सम्प्रदायसे ही विकसित नाथ-पन्थके जोगियों द्वारा आरम्भ हो गया था, परन्तु उसमे वह शक्ति नहीं आयों थी जो समूचे जनसमाजको आन्दोलित कर सके। इसी समय महत्त्वाकांकी मुस्लिम आक्रमणकारियों तथा उनके सहायक धर्मान्ध मुल्लाओका अस्त्र वनकर एक ऐकान्तिक वहिष्कारपूर्ण कट्टर धर्म-संस्कृति-ने प्रवेश करके नयी समस्याएँ पैदा कर दी। भारतीय समाजको भीतर और बाहर, दोनों ओरकी चुनौतीका सामना करना पडा। ऐसे अवसर्पर एक जीवित जाति होनेके नाते हिन्दुओंने अपनी जीवन-शक्तिको एक नये रूपमें पुनः जायत् किया तथा भक्ति-आन्दोलनके बहाने उन मानव-मूल्योदी प्रतिष्ठा की, जिनमे सामयिक ममस्याओं-के समाधानके साथ जीवनके शाश्वत सत्य निहित थे।

इस धार्मिक आन्दोलनकी कदाचित् सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर ऐसी विविधताएँ और साम्प्रदायिक मंकीर्णताएँ दिखाई देती है, जिनकी मंगति मिलना असम्भवप्राय जान पडना है, वहाँ इतनी मूल-भूत एकता और व्यापकता है, जो मानवमात्रको ही नहीं, पद्म-पक्षी, कीय-पतंग, जड-चेतन सभीको एक सूत्रमे बॉधकर समेटनी चलती है। कारण यह है कि इसे मात्र तात्कालिक परिस्थितियोंने आपद्धर्मके रूपमे जन्म नही दिया, वरन् इसकी जडें अत्यन्त गहरी, इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा इसकी भूमिका अत्यन्त पृष्ट और इंढ थी। चाहे नाथ-पन्धी अलखवादी जोगियोकी परम्पराको व्यापकता देनेवाले कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि निर्गुणिये सन्त हों या अनलहकके द्रष्टा स्फियोके अनुयाधी प्रेममागी कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान आदि हो; चाहे रसाव-तार श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधाका कीर्तन करनेवाल प्रेम-भक्तिके प्रचारक वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास, सुरदास, नन्ददास आदि हों या मर्यादापुरुषोत्तम पूर्णब्रह्म राम और जगज्जननी सीताके उपासक मर्यादा-भक्तिके प्रतिष्ठापक तुरुसीदास हो-सभी समान रूपसे सांसारिक भोग-विलासके जीवनकी निरर्थकताको हेय और त्याज्य सिद्ध करके उसे अपने ढंगसे प्रवृत्ति और निवृत्तिके उचित सामंजस्यके द्वारा आध्यात्मिकता और इहलैक्किताके उच्च थरातलपर प्रतिष्ठित करनेका सन्देश देते है। सभी जीवनके बाह्य डम्बरकी - चाहे वे सांसारिक वैभवका प्रदर्शन करें या धार्मिक पाखण्डका-धोर विगर्हण करते हैं। सभी जीवनकी बाह्याभ्यन्तर शुद्धता ओर निर्मलतापर जोर देते है। सभी प्रेमके विविध भावोंका भृत-दयां और विद्व-मैत्री-की उदात्त भूमिपर परिष्करण करनेका उपाय बताते है। सभी वर्णाश्रम धर्मसे भ्रष्ट, शास्त्रीय मर्यादासे च्युत, विशृंखल सामाजिक जीवनको पुनस्संघटित करनेकी उमग और स्फूतिपूर्ण प्रेरणा देते है। सभी जीवनकी समयतापर दृष्टि रखते हुए मनुष्यको जीने योग्य बनानेका मार्ग दिखाते हैं। फलस्वरूप समाजमे चेतनाकी नयी लहर दौड जाती है और प्रसप्त क्रियात्मक शक्तियाँ नवीन प्राणवेगसे जागकर साहित्य, संगीत तथा कलाओंकी सर्जनामे प्रवृत्त होने लगती है और समाजके सर्वोच्च वर्गीसे हेकर निम्नतम वर्गीतकमें उत्साह भर देती है। रामचन्द्र शुक्कने मध्ययुग-मे भक्ति-काव्यकी प्रेरक शक्तियोमें मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंससे उत्पन्न निराशाको वास्तविकतासे अधिक महत्त्व दिया है। शुक्लजी-के हिन्दी साहित्यके इतिहासके आधारपर लिखे गये अनेक इतिहास-ग्रन्थोंमे यह विचार इतनी बार गलत ढंगसे दुहराया गया कि भक्ति साहित्यके सम्बन्धमे यह धारणा बद्धमूल-सी होने लगी कि यह साहित्य, हताश जातिकी, पलायन-प्रवृत्तिका प्रिनिधि साहित्य है। परन्तु हजारी-प्रसाद दिवदी प्रभृति अन्य इतिहासकारोने इस दृष्टिकोणका विरोध किया है। तात्कालिक परिस्थितियोने भक्ति-आन्दो-छनके लिए अनुकूल वातावरण अवस्य उपस्थित कर दिया,

परन्तु उसकी प्रेरणा सर्जनात्मक और घनात्मक थी, प्रति-रक्षात्मक और अभावात्मक नहीं थी।

भक्ति-धर्मका यह आन्दोलन इतिहासके उत्तर-मध्य-थगकी सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः इसे सांस्कृतिक और शामाजिक दृष्टिसे भक्तिकालके नामसे अभिहित किया जाता है। इसकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रचारका साध्यम आधुनिक आर्य भाषाएँ है, जिनमे हिन्दी व्यापकता और सार्वदेशिकताकी दृष्टिसे प्रमुख है। हिन्दी साहित्यके इतिहासका यह मध्यकाल कहा जाता है, जो लगभग चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दीसे उन्नीसवी शताब्दीके मध्यतक चलता है। शुक्लजीने मध्यकालको पूर्व-मध्य और उत्तर मध्यकालोंमें विभक्त करके उनका समय क्रमशः मंबत १३७५-१७०० वि० तथा १७००-१९०० वि० निर्धारित किया है। यह समय ईसाकी चौदहवी राताब्दीसे उन्नीसवीं शताब्दीके लगभग मध्यतक पड़ता है। किन्तु वास्तवभें यदि कवीरके समयसे मध्यकालका आरम्भ माना जाय तो उसे चौदहवीं शताब्दीसे पहले ले जाना कठिन है। क्योकि कवीरका रचना-काल चौदहवीं और पन्द्रहवी शताब्दी ही है।

हिन्दी साहित्यके इस मध्यकालमें, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, निर्मण सन्त-भक्ति, प्रेममागी सफी-भक्ति, प्रेम-लक्षणा कृष्ण-भक्ति तथा मर्यादामागीं राम-भक्ति-की प्रेरणासे हिन्डीके सर्वोच्च साहित्यकी रचना हुई। भक्तिका यह आन्दोलन उत्तरभारतमे-पन्द्रवी-सोलह्बी शताब्दियोमें अपनी पराकाष्ठापर था और उसके सबसे प्रवल सन्देशवाहक भक्त कवि ही थे, जिनमेसे कुछका उल्लेख ऊपर किया गया है (अन्य कवियोके लिए दे० भिवतकाल)। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें इन ढाई-तीन सौ वर्षीको पूर्व-मध्यकाल या अक्तिकालका नाम दिया गया है। इसके बादकी दो-ढाई शताब्दियाँ भी यद्यपि इतिहासमें भक्तिकालके अन्तर्गत आती है, परन्त क्योंकि भक्तिका प्रथम क्रियात्मक उन्मेष अपना प्रबल वेग खोने लगा था और भक्ति-आन्दोलन बहत-कछ सम्प्रदाय-बद्ध होकर कर्मकाण्ड और बाह्य-आडम्बर अपनाने लगा था। अतः उसकी प्रेरणा समाप्तप्राय हो गयी थी और सबसे अधिक होचनीय बात यह थी कि कविगण कृष्णाश्रय, रामाश्रय, धर्माश्रय या जनाश्रय छोडकर राजाओ, सामन्तीं, जमीदारी और ठाकरोकी शरण खोजने लगे थे तथा राधा-कृष्णके आध्यात्मक रसानन्दको आश्रयदाताओके वासना-त्मक प्रेम-विलासका रूप देने लगे थे और हार्दिक संवेदना और अनुभूतिका स्थान वाक्चातुर्य और अलकरणने ले लिया था। इसलिए हिन्दी साहित्यके इतिहासकार इतिहासके उत्तर मध्यकालके इन अन्तिम दो सौ वर्षों, अर्थात् साहित्य-के इतिहासके उत्तर-मध्यकालको हासका युग मानकर उसे रीतिकाल, अलंकृत या श्रंगारकालका नाम देते हैं। इस कालमें इतिहासके पूर्व-मध्ययुगकी उन प्रवृत्तियोंकी पनरावृत्ति-सी देखी जाती है, जिन्होने संस्कृतके अलंकृत काव्य, अलंकारशास्त्रके विवेचन, टीका और निवन्ध-साहित्यको जन्म दिया था । कवियोमें अन्तःप्रेरणाके अभाव-में अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति प्रवल हो गयी थी तथा जीवन कियाशीलताके स्थानपर भोग-विलासकी ओर उन्मुख होने लगा था। प्रायः प्रत्रेक क्र ननदर्शी आन्दोलनके वाद ऐमा देखा जाता है। अनः इस उत्तर-मध्यकालको हम मध्यकालका उतार कह सकते है। परन्त यह स्वीकार वरना होगा कि इस कालमें भी हिन्दी साहित्य-की अभनपर्व अभिवृद्धि हुई और रीनिवद्ध नथा रीतिमुक्त शंगारके अतिरिक्त वीरकाव्य, नीतियाव्य आदिकी भी रचनाएँ हुई। यदि पूर्व-मध्यकालके क्वीर, जायमी, सुर, तुलमी, मीराँ आदि भक्त-कवि विश्व-माहिन्यिको में गिने जाते हैं, तो उत्तर-मध्यकालके एक कवि-विहारीकी ख्यानि तो हिन्दीके बाहर और किसी अंगमे देशके बाहर भी हुई है । विहारीके अनिरिक्त केशव, देव, मिरिएम, भृषण, धनानन्द आदि कवियोंने हिन्दी माहित्यकी अनेकथा श्रीवृद्धि की है। ब्रजमाषाके प्रसार और परिमार्जनके क्रमको इन कवियोंने जारी रखा और उमे हिन्दी क्षेत्रके बाहरतक प्रतिष्रित किया ।

उत्तर-मध्यकालके कुछ विरक्त भक्त कियेंको छोडकर लगभग सभी किमी-निकसी आश्रयदानाके संग्र्यणमें रहकर कान्य-रचना करते थे, वे पूर्व-मध्यकालके कियोंमे भिन्न शुद्ध कि थे, किन-वर्म उनका जीवन-व्ययसाय था। ऐसे कुछ कि पूर्व-मध्यकालमें भी हुए हैं, जैमे अकबरी दरवारके नगहरि बन्दीजन, गंगः मुगल दरवारके नवरत्त थे रहीम, टोडरमल, वीरवल भी हिन्दीमे किन्ता करते थे तथा कहा जाता है कि स्वयं अकबरको भी काव्य-रचनाका शौक था। केशवदास ओडछा-दरवारकी शीभा बढाते थे। इनके अतिरिक्त आलम, मुवारक, वराग्मीदास, मेनापित स्वतन्त्र रूपमें काव्य रचनामें प्रवृत्त थे। अकवरके शामन-कालकी सांस्कृतिक समृद्धि साहित्यके क्षेत्रमे भी देखी जा सकती है।

जहाँतक जीवनादशौंका सम्बन्ध है, मक्त-कियों हारा प्रतिष्ठित आदर्श ही जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन और नियमन करना रहा। बस्तुनः भक्ति-काव्य हारा स्थापित मूल्य और मर्यादाएँ आधुनिक कालतक मान्य रही है। उत्तर-भारतके जन-समाजका मानस आजतक बहुत-कुछ उसीके आधारपर गठित हुआ है (दे० भिक्ति-काल', 'रीतिकाल')।

[महायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहासः रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी भाषा और साहित्यः द्यामसुन्दर दामः हिन्दी साहित्यको भूमिकाः हजारीप्रसाद दिवेदीः हिन्दी साहित्यः हजारीप्रसाद दिवेदीः उत्तरी भारतको सन्त-परम्पराः परशुराम चतुर्वेदीः अक्षवरी दरवारके हिन्दी कविः सरयूपसाद अग्रवाल ।]—— व० व० मध्यदेश—प्राचीन कालमे उत्तरभारत अथवा आर्यावत्ते पाँच भागोंमे विभक्त माना जाताथा, अर्थात् प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची और मध्य। इस अन्तिम मध्मभागकी मंद्या आगे चलकर मध्यदेश हुई। मध्यदेशका द्यातक पहला संकेत परेतरेय ब्राह्मण'मे मिलता है। इसके वाद इस शब्द-का निरन्तर प्रयोग संस्कृत माहित्यमे हुआ है।

उत्तरभारतमे जैसे-जैसे आर्थीका विस्तार होता गया, वैसे-वैसे आर्थावर्त्तकी सीमाएँ बढ़ती गयी, फळलरूप

मध्यदेशकी सीमाओमें भी परिवर्तन हुआ। उदाहरणके लिए, मनुस्मृतिके अनुसार हिमालय और विनध्यके मध्यमे और विनशन(मरस्वती नदीके लुप्त होनेका स्थान)से पूर्व तथा प्रयागके पश्चिममे मध्यदेश था। 'विनयपिटक'के अनुसार मध्यदेशको पूर्वी सीमा प्रयागसे हटकर भागलपुर-के निकट मानी जाने लगी थी।

मध्यदेश शब्दका प्रयोग लगभग बारहवी शताब्दीतक होता रहा। मुमलिम शासनकालमे इसके लिए 'हिन्द्स्तान' शब्दका प्रयोग होने लगा था। वर्तमान कालमे हिन्दीप्रदेश इसका पर्यायवाची माना जा सकता है। नैपालमे हिन्दी-प्रदेशके रहनेवाले आज भी अपने पुराने नाम मदेसिया, अर्थात मध्यदेशीयसे पुकारे जाते है।

उत्तरभारतके इस मध्यभाग, अर्थात् हिन्दी-प्रदेशके लिए कोई उपयुक्त नाम न होनेके कारण मध्यदेश शब्दका प्रयोग फिर धीरे-धीरे बढ रहा है।

[सहायक ग्रन्थ--मध्यदेश: धीरेन्द्र वर्मा ।] ---धी० व० मध्यम मार्ग-दे॰ 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', तीसरा प्रकार। मध्यमा (नायिका) - गुण अथवा प्रकृतिके नायिकाओके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। भरतसे यह विभाजन स्वीकृत होता आया है । भानुदत्तके अनुसार "हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती" अर्थात् प्रियके द्वारा हित अथवा अहित-का न्यवहार देखकर हित अथवा अहितका न्यवहार करने-वाली नायिका मध्या है (र० मं, पृ० १५३)। मतिरामने इसी भावको महण किया है—"पियसौ हिततै हित करै अनहित कीने मान" (र० रा०, २३१) । पद्माकर आदि-ने 'गुनाह' तथा 'दोष' शब्दोंका प्रयोग अहित शब्दके लिए किया है। स्पष्टनः अहिन, अर्थात् अप्रेम दोष या अपराध ही है। इस नायिकाका क्रोध तथा अनुराग बहुत शीध परिवर्तित होता रहता है—"रिसहीके ऑसू रस ऑसू भये ऑखिनमै, रोसकी ललाई सो ललाई अनुरागकी" (वही, २३२)। उसका आक्रोश प्रियके निमत होते ही शान्त हो जाता है—"भौहै पेख पीको बिहसोहै भये दोऊ हग सुनि सौहै भौहैं गयी उतिर कमानै-सी" (पद्माकर: जगद्वि०)। मध्यवर्ग-पूँजीवादी व्यवस्थाने समूचे समाजको तीन भागोमे विभाजित किया है—(१) बूर्जुआ, (२) मध्यवर्ग अर्थात् मिडिल क्लास, (३) निम्नवर्ग । मध्यवर्ग सामन्त-वादी व्यवस्थामे पाया नहीं जाता, क्योंकि उस समय जमीदार और किसानका सम्बन्ध सीधा था, किन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्थाने समाजको इतना जटिल कर दिया है कि एक मध्यवर्गकी भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल न्यवस्थाके संघटनसूत्रको सँभाल सके। इस वर्गमे नौकरी-पेशा शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते है। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रान्तिके प्रायः समस्त विचारोका सर्जन मध्यवर्गमें ही होता है। मध्यवर्गमें भी दो भाग है-उच मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग मध्यवीडिता-दे०-- भध्या (नायिका)। मध्या (नायिका)-अधिकांश आचार्यीके

अनुसार

स्वकीयाका भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। लज्जा और कामकी मध्यस्थितिके कारण इम नायिकाकी मध्या नाम दिया गया है--'समानलजामदना मध्या'। भानदत्त-ने आगे इसे अति विश्वास और विनय (अतिप्रश्रयात्)के कारण ही अतिविश्रव्धनवोढा माना है (र० मं०, पृ० १८)। हिन्दीके अधिकांश आचार्योंने भानुदत्तकी परिभाष: शब्दशः स्वीकार कर ली है: मतिराम, देव, पद्माकर तथा भान आदिने 'लब्जा' और 'मदन' शब्दोका प्रयोग इसी रूपमे किया है। वस्तुतः इस नायिवाकी विश्रव्धनवोदाकी अगली स्थिति माना जा सकता है, क्योंकि इसमे लज्जाकी स्थितिके साथ कामभावनाका उदय हो जाता है। रहीमने इम नायिकाका सुन्दर भावचित्र अंकित किया है-"रहत नयनके कोरवा चितवनि छाय। चलत न पग पैजनियाँ मग अहटाय" (ब०,८) । द्विधाकी भावनाका चित्र सन्दर बन पड़ा है-"केलि भवनकी देहरी, खरी बाल छबि नौल। काम-कलित हियको लहै, लाज-कलित हग कौल" (र० रा०, ३२)। पद्माकरकी मध्याके नेत्रोंमे 'मदन-लाज' समाहित हो रहा है। विद्यापतिने राधाके मध्या रूपका विकास सहज क्रममे प्रस्तुत किया है और सुरने भी राधाके इस रूपका चित्रण किया है। जायसी अर्दि सुफी प्रेमी कवियोने भी अपनी नायिकाओकी अवस्थाका क्रमिक विकास दिखाया है। रीतिकालीन कान्यमे नारीकी इस मनःस्थिति-का उसके उद्देग और विकलताके साथ चित्रण किया गया है, पर इनमे भावोसे परिम्थितियाँ अधिक है।

इसके भेद-विस्तारके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। अति-विश्रद्य-कृपारामने इस मेदका उल्लेख किया है, पर वस्तुतः भानुदत्तने मध्याकी व्याख्या इसी रूपमे की है। प्ररूढ़योवना - केशवने इसे पूर्ण युवती (भाग सुहाग भरी) तथा 'कन्तके मनको भानेवाली' कहा है । यह अपने तारुण्य के प्रति पूर्ण सचेष्ट है-"चन्दकोसो भाग भाल भृक्टी कमान ऐसी, मैन कैमे पैने सर नैनिन बिलास है" (र० प्रि॰, ३:३४), सम्भवतः यह सचेष्टता ही इसकी विशेषता है। इसे आरूढ तथा रूढयौवना भी कहा गया है। प्ररुद्धमरा-हिन्दीमे केशवदास आदिने प्राद्र्भृत-यौवनाके रूपमे लिया है-"तन मन भूषित मोभियै केसव काम कलानि" (वही, ३:३७)। इसमे तारुण्यका किंचित अधिक उत्कर्ष माना जा सकता है—"एक ही बंक बिलोकनि ऊपर बारै बिलोकि त्रिलोक निकाई" (वही: ३८)। देवके उदाहरणसे भी यही लगना है—"आपने आगे औ पीछे तिरीछे है देहको देखि सनेहसों भीजें (भा० वि०: ना०) । ईषत्-प्रगल्भवचना — हिन्दीमे प्रगल्भवचना है । केशवके अनुमार "बचननि माहि उराहनो देइ दिखावै त्रास" (वही, वही: ३७)। यह भेद नायिकाके अधिक विश्वस्त होनेका संकेत देता है। लज्जाका स्थान प्रगल्भता ले लेती है-"कप्नह भलें जुभले दग लागे भलें इन्ह नैननिके रँग रागे" (वही, वही: ३६)। उलाहनाके साथ अधिक आत्मविश्वास व्यक्त हुआ है-"मोहनको मुख चृमि भटू तब हौ अपनो मुख चूमन देहाँ" (देव: भा० वि०: ना०)। विचित्रसुरता अथवा सुरत-विचित्रः केशवके अनुसार जिसका 'सरत विचित्र' हो। इसमे एक प्रकारसे छज्जाका

भाव नहीं रह गया है, अतएव इसे मध्याके अन्तर्गत म्बीकार करना अधिक उचित नहीं जान पडता। मध्य- बीडिता—हिन्दीमें लघुलज्जा। —सं० मनजा सेवा—दे० 'सेवा'।

मनहरण-विणिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेद । इस नवीन वृत्तका प्रयोग केशवने किया है। कवित्तका नाम भी मनहरण है (दे०)। भानुने पॉच सगण (॥ऽ)के वृत्तका भी नाम मनहरण दिया है। यह स्रिग्विणी-परिवारका छन्द है, क्योंकि इसका आधार रगणात्मक है। न, स, ३ रगणोके योगसे यह वृत्त वनता है (॥॥ ॥ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ, ऽ।ऽ)। उदा०—"अति निकट गोदावरी पास संहारिणी। चल तरंग तुंगावली चारु संचारिणी" (रा० चं०, ११:

न्यु॰ शु॰ मनोग्रनिथयाँ किसी अंशतः या पूर्णतः दिमत, संवेगाविष्ट विचार या विचारोक्षा युंज होती है, जिनके साथ व्यक्तिके द्वारा स्वीकृत अन्य विचारोक्षा सतत संघर्ष होता रहता है। मनोग्रनिथको दिमत स्थायी भाव भी कहा जाता है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करता है। मनोग्रनिथ अवचेतनको परामृत कर लेनेवाली एक ऐसी विशिष्ट विचार-प्रनिथ होती है, जिसके आसपास दिमत आदिम संवेगोंकी एक गुत्थी-सी वन जाती है। मनोग्रनिथयाँ चेतन, अचेतन या क्रविच्चेतन किसी भी प्रकारकी हो सकती है, किन्तु कुछ अधिकारी विद्वान् मनोग्रनिथ शब्दका प्रयोग अचेतन विचारो, भावनाओं और प्रेरणाओके लिए ही करते है।

मनोय्रन्थियोंके अनेक प्रकार होते हैं। किसी विचित्र वैज्ञानिक पद्धतिमें विश्वास करना, किसी विशेष वाद या मतको ही पूर्ण समझना और उसके द्वारा समस्त मानवीय व्यापारी एवं इतिहासकी व्याख्या करना, सौ वर्ष कैसे जीयें, विश्वलिपि-निर्माण या ऐसी ही कोई और सनक, प्राकृतिक जीवन, नग्नतावाद, भोजनके सम्बन्धमें कोई विचित्र विश्वास या आग्रह आदि बौद्धिक मनोग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। कलाके क्षेत्रमें विचित्र फैशन या वाद सौन्दर्यात्मक मनोयन्थियाँ है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्रमे विचित्र सुधारोंके आन्दोलन, विचित्र आदशोंमें भक्ति, सदा यह प्रतीति कि लोग हमारा अपमान कर रहे है, हमपर अन्याय हो रहा है, हम शहीद हैं आदि सामाजिक मनोग्रन्थियोंके दृष्टान्त हैं। धर्मके क्षेत्रमे भी मनोय्यन्थियोंकी कमी नहीं है। विचित्र धार्मिक विश्वासोंसे विचित्र सम्प्रदायोकी स्थापना हो जाती है। नाना प्रकारके वत, तपश्चर्या, अनुष्ठान, संस्कार, खर्ग-नरकमें विश्वास, कुम्भीपाकका त्रास, खर्गकी अप्सराओ और गिलमोका आनन्द, करपवृक्ष और कामधेन, अपनेको इष्टदेवकी प्रिया मानकर पुरुषका भी स्त्रीवत आचरण-ऋतुमती होनेका अभिनयतक-करना, भावाविष्ट होकर नाचना-कृदना, अतीतकी किसी एक घटनाकी वार्षिक स्मृतिके अवसरपर गममें लोहेकी जंजीरोंसे अपनी छाती पीट-पीटकर लहु-लुहान हो जाना आदि धार्मिक मनो-यन्थियोंके ही रूप हैं।

इन मनोम्रन्थियोंका व्यक्तिके जीवनपर वडा व्यापक प्रभाव पडता है। जीवनमें आया हुआ कोई व्यक्ति, कोई स्थित, कोई प्रिय या अप्रिय घटना, कोई अनुभूति या स्मृति कभी भी संयोगवदा मनोग्रिन्थिमें परिवर्तित हो सकती है और मनुष्यके अवचेतनमे प्रविष्ट होकर उसके समस्त चेतन व्यवहारको आजीवन प्रभावित करनी रह सकती है। व्यक्तिके चरित्र और भाग्यके निर्माणमे उनका वडा हाथ रहता है। व्यक्तिको प्रायः अपनी मनोग्रिन्थियोंका आभास नहीं होता और यदि होता या कराया जाता है तो वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। व्यक्तिके न चाहनेपर भी वे उसके व्यवहारको संचालित करती है, व्यक्ति उनसे विवश जैसा हो जाता है। जिन मनोग्रिन्थियोंको साथारणतया अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, वे स्वप्नों, मानसिफ विकारों और अस्वाभाविक व्यवहारों प्रकट होती है।

मनोग्रन्थियाँ हमारी मूल प्रवृत्तियोंके समान ही अदम्य और प्रबल होती है। प्रकाशिन और कृतार्थ होनेके लिए वे भी मौलिक एषणाओकी तरह विकल रहती है, किन्त मनके अन्तरालमें विविध प्रेरणाओं और मनोयन्थियोंमें सतत चलनेवाले मंघर्षके कारण ऐसा नहीं हो पाता । इस परस्पर द्वन्द्वके कारण व्यक्ति किंकर्नव्यविमूद हो जाता है और परिणामस्वरूप उसे किसी अंगका पक्षाघात अथवा कोई अन्य रोग हो जाता है। मनोविश्लेपणने प्रचुर प्रमाणो के आधारपर यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे अधिकांश रोगोका वास्तविक कारण ये ही मनोग्रन्थियाँ है। अतएव स्पष्ट है कि इन अनिष्टकारी मनोग्रन्थियोंके कारण व्यक्तिका स्वास्थ्य, सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है, उसके व्यक्तित्व-का सम्यक् विकास नहीं हो पाता । मनोय्रन्थियोंका पता लगाकर उन्हे जडमे नष्ट करना और व्यक्तिको सम्यक सख, ज्ञान्ति और स्वास्थ्यके पथपर ले आना मनोविद्यलेष-णात्मक चिकित्साका प्रधान कार्य है।

आधुनिक मनोविद्रलेषणने मनुष्यमात्रमें व्याप्त और उसके जीवनमें आत्यन्तिक महत्त्व रखनेवाली कुछ विशिष्ट मनोग्रन्थियोंका पता लगाया है। इनमें ईडिपस, आत्म-हीनता, अपराध, प्रतिशोध आदि मनोग्रन्थियाँ प्रमुख है।

ईडिपस मनोग्रन्थि मनुष्यको सबसे अधिक प्रनाडिन और विश्वंबल करनेवाली होती है। आधुनिक युगमे फायडने ही सर्वप्रथम इसकी खोज की है। उसके अनुसार इस मनोग्रन्थिका आरम्भ वचपनके प्रारम्भिक दिनोंमे होता है। यह प्रायः अचेतन होनी है और अपनी माताके प्रति पुत्रकी आत्यन्तिक आसक्ति (जो यौन होती है), पिताके प्रति ईच्यो तथा तजन्य अपराधकी भावनासे इस ग्रन्थिका -निर्माण होता है। फ्रायडीय मनोविद्यलेषण इस मनोग्रन्थिको सर्वसामान्य मानता है। सभी परिवारोंन, सभी पुत्रोंने इस ग्रन्थिका उद्भव होता है। अतः सभी लड़कोमें इसके लक्षण मिलते है। साधारणतया किहोरावस्था प्राप्त करनेपर लडके इत मातृ-आसक्तिसे मुक्त हो जाते है। लेकिन कुछ व्यक्ति आजीवन ईडिपस मनोग्रन्थिसे आक्रान्त रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके अचेतनमें रहकर वह अनेक मानसिक विकारों, प्रवृत्तियों और यौन विकृतियोका कारण वनती है। स्त्रियोमे इस मन्थिके प्रतिरूप पिताके प्रति (यौन) अत्यासक्ति, मातासे ईर्ष्याको फ्रायडने एलेक्टा भनोग्रन्थिका नाम दिया है।

ईडिएस यूनानी पुराणोमे वर्णित एक राजा है। उसका जन्म होनेपर भविष्यवक्ताने उसके पिता राजा छाइअसको सावधान किया कि उसको मृत्यु उसके पुत्र ईडिएस द्वारा होगी। लाइअसने भयभीत होकर ईडिएसको फेकवा दिया, लेकिन वह बच गया और उसका पालन-पोषण अन्यत्र हुआ। युवा होनेपर उसने संयोगवदा अनजाने ही अपने पिताकी हत्या कर दी और अनजाने ही अपनी विधवा माता जोकेस्टासे विवाह कर लिया। आगे चलकर सत्य ज्ञात होनेपर ईडिएसने अपनी ऑखें फोड ली और जोकेस्टाने आत्महत्या कर ली। इसी प्रकार राजकुमारी एलेक्ट्राकी कथा यूराइपिडीजमे मिलती है, जिसने अपनी मातासे पितानकी हत्याका बदला लिया था। फायडने ईडिएस और एलेक्ट्राको माताके प्रति पुत्रकी और पिताके प्रति पुत्रकी आएलिकका प्रतीक मानकर इन मनोग्रन्थियोको यह नाम विद्या।

दूसरी महत्त्वपूर्ण मनोयन्थि आत्महीनताकी है। इसपर ऐडलरने बहुत बल दिया है और वह उसे मनुष्यकी प्रधान प्रेरक शक्ति मानता है। इसमे व्यक्ति अपने शरीर, रूप, बौद्धिक क्षमता, पारिवारिक-सामाजिक स्तर, आर्थिक स्थिति आदिमें किसी वास्तविक या कारपनिक हीनताके कारण दूसरोंकी दृष्टिमे अपनेको तुच्छ समझने लगता है। आत्महीनताकी मनोयन्थिसे प्रेरित होकर अपनी तथा दसरोकी दृष्टिमें अपना आत्मसम्मान स्थापित करनेके लिए व्यक्ति बड़ा प्रयास करता है, किसी-न-किसी क्षेत्रमे विशेष सफलता और यश प्राप्त करके नैसर्गिक क्षतिकी पूर्ति कर लेना चाहता है। यह मनोग्रथि चेतन और अचेतन, दोनों प्रकारकी हो सकती है। चेतन होनेपर व्यक्तिमे आत्मविश्वासका अभाव रहता है और अपने सम्बन्धमे सदैव तुच्छ भावोसे आक्रान्त रहता है। अचेतन होनेपर व्यक्ति अपने सम्बन्धमे एक झूठी श्रेष्ठ भावना तथा आक्रमणात्मक और अहंकारी व्यवहार द्वारा अपनी हीनताकी क्षतिपूर्ति करता है। अपनी श्रेष्ठता, अपने सद्गुणो और नैतिक उच्चताकी प्रशंसा और प्रचार स्वयं करते रहनेवाले व्यक्ति वस्ततः अपनी आत्महीनताकी ही निष्क्रति किया करते हैं। इस मनोज्ञन्थिका आरम्भ अधिकतर बचपनमे ही होता है और व्यक्तिकी जीवनशैली, चरित्र, योग्यता और सफलता पर उसका गम्भीर प्रभाव पड़ता है। आत्यन्तिक स्थितिमे उससे मार्नासेक विकार भी उत्पन्न हो जाते है।

अपनेको अपराधी या पापी माननेकी मनोम्रन्थिका उद्भव किसी नैतिक च्युतिकी अनुभूतिसे होता है। यह भी चेतन अथवा अचेतन, दोनो प्रकारकी हो सकती है और उससे प्रेरित होकर व्यक्ति विचित्र व्यवहार करने लगता है। व्यक्तिके जीवनमें अत्यधिक शुद्धतावाद प्रायः किसी पूर्वकृत नैतिक अपराधकी चेतन अथवा अचेतन स्मृति या उसके निमित्त प्रायश्चित्तका बोतक होता है। अपराधकी मनोम्रन्थिसे कभी कभी जटिल मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जातो है। प्रतिशोध-मनोम्रन्थियोसे पीड़ित व्यक्ति बदला छेनेकी उद्दाम भावनासे आक्रान्त हो जाता है। जाने अनजाने वह ऐसे काम कर बैठता है, जिससे वह अपनी अप्रसन्नता या कोपके भाजनको हानि पहुँचाकर उससे

बदला लिया करता है।

इस प्रकार हम देखते है कि मानव-प्रकृतिका सम्यक परिचय प्राप्त करनेके लिए मनोग्रन्थियोका अध्ययन बडा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। मनोविइलेषण-यगके पर्व मनुष्यके हृदयके गुप्त स्तरोमे केवल महान प्रतिभा ही पैठ सकती थी, किन्त्र मनोविश्लेषण द्वारा उपलब्ध ज्ञानके आधारपर हम स्वयं अपनेको तथा समकालीन व्यक्तियो और सहयोगियोको ही नहीं, अनेक ऐतिहासिक त्र्यक्तियो और कृतियोको भी अधिक अच्छी तरह समझ सकते है। महाभारतकालके कर्ण और एकलन्य आत्महीनताकी भावना-से यस्त अपनी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेवाले व्यक्ति है। यदि कालिदास और शेख सादीके सन्बन्धमे किंवदन्तियाँ मत्य हो तो निश्चय ही आत्महीनताकी भावनाने उनको क्षति-पृतिंको निमित्त उत्कट प्रयास करनेको लिए विवश किया होगा। भूषण अपनी भाभीके स्त्रियोचित तानेपर घर छोड़-कर चले गये थे और अन्ततः अपनेको परिवारका सर्वश्रेष्ठ कमाऊ सदस्य सिद्ध करके अपनी भाभीके पास एक लाख रुपयेका नमक भेजा था। यह भी आत्महीनताकी भावनासे मेरित होकर कुछ कर दिखानेका दृष्टान्त है। शेक्सपीयरकी लेडी मैकबेथका सोते-सोते हाथ घोना उसकी अपराध-मनोग्रन्थिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। नित्य नृतन प्रेमिकाओके प्रेममे पडनेवाला दुष्यन्त भारतीय डान जुआन कहा जा सकता है। मनोविश्लेषणके अनुसार ऐसे व्यक्ति ईडिपस मनोग्रन्थिसे पीडित होते हैं और अपनी प्रेमिकाओ-में अपनी माताका प्रतिरूप खोजा करते है। अपनी मातासे कुछ भी मिलती-जुलती नारी मिलते ही वे उसपर मुग्ध हो जाते है और अपनी भूल अनुभव करते ही उनका प्रेम उड जाता है। मनोविश्लेषणने बीसवी शताब्दीकी कला और साहित्यको बहुत प्रभावित किया है। हिन्दी साहित्य-पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। —आ० रा० शा० मनोगमा - वर्णिक छन्दोमे समवत्तका एक मेद । इस नवीन छन्द्रका प्रयोग केशवने किया है। मनोरमा नामका एक अन्य वृत्त (न, र, ज, ग) प्राप्त है, जो इससे भिन्न है। सूदनने इसी नामसे ३ तगण और गुरु (सु० च०, पृ० २२५)का एक छन्द और प्रयुक्त किया है, पर इसमे चार सगणों और दो लघुओका योग होता है (IIS, IIS, IIS, IIS, II) । उदा०—"नृप रावणकी भगिनि गनि मो कहाँ। जिसकी ठकुराइत तीनिह लोकहाँ (रा० चं०, ११: ३५)। -पु० ज्ञु० मनोविकार-मनुष्य विविध प्रकारके मानसिक रोगों एवं मनोविकारोसे पीडित होता है। इनमेसे कुछका कारण शारीरिक और क़छका मानसिक होता है। पागलपन कभी-कभी मस्तिष्कमे क्षति पहुँचनेसे, किसी विषके प्रभावसे अथवा पैतकताके कारण उत्पन्न हो जाता है। कण्ठयन्थि (थाय-राएड ग्लैण्ड)की प्रक्रियाके आत्यन्तिक विभेदनसे वालक लगभग जड़ बुद्धिका हो जाता है। इसी प्रकार पक्षाघात, - थकान, विराग, विरुचि, नपंसकता आदि नितान्त शारी-रिक कारणोसे भी होते है और उन्हें मौलिक मनोविकार कहा जा सकता है, किन्त आधुनिक मनोविज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्यके अधिकांश शारीरिक रोग

और मनोविकार मानसिक संवेगात्मक कारणोसे होते है। ऐसे मानसिक विकारोंको न्युत्पन्न मनोविकार कहा जा सकता है। इनके अन्तर्गत मनोदौर्वल्य, स्नायविक रोग, कल्पनाम्रह, हठप्रवृत्ति, भीतिरोग, चिन्तारोग, उन्माद, स्थिरभ्रम, असामयिक मनोहास, उत्साह-विषाद-चक्र-मनो-दशा आदि विकार आते हैं। मनोविश्लेषण सम्बन्धी प्रकरणोंमें यह संकेत किया जा चुका है कि व्युत्पन्न मनो-विकारोंका कारण अतृप्त और दिमत मूळ प्रवृत्तियाँ और मनोग्रन्थियाँ होती है। व्यक्तिके मानसिक स्वास्थ्यके लिए यह आवश्यक है कि उसकी मौलिक प्रवृत्तियों और स्थायी भावोंको सामाजिक ढंगसे व्यक्त और कृतार्थ होनेका अव-सर मिलता रहे, अन्यथा व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है, अनेक मनोयन्थियाँ उसके अचेतनको आक्रान्त करके उसे शारी-रिक रोगों और मनोविकारोका शिकार बना देती है (दे॰ 'मनोग्रन्थियाँ')। -आ० रा० शा० मनोविश्लेषण (psycho-analysis) - अपने प्रमुख और प्रारम्भिक रूपमे मानसिक और स्नायविक रोगोंकी चिकित्सा की विशेष विधि है, जिसके आस-पास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका संघटन हो गया है। इसके जन्मदाता सिग्मण्ड फायड थे और उन्होंने इसका उपयोग चिकित्साशास्त्रमें ही किया। परन्तु चिकित्साकी यह विधि जिन मूल सिद्धान्नों-पर आधारित है, उन सिद्धान्तोके स्पष्टीकरण, समर्थन, विरोध, अन्य सिद्धान्तोंकी स्थापना आदिसे फायडके समयसे अवतक मनोविश्लेषणने इतनी प्रगति की है कि आधनिक युगकी कोई भी विचारधारा इसके प्रभावसे अछती नहीं रह सकी है। मानसिक-स्नायविक रोगोकी चिकित्सा करते समय फायडने देखा कि सम्मोहन-क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालापमे स्वच्छन्द-विचार-साहचर्यसे बहुतसे पुराने अनुभव पुनरुजीवित हो उठते हैं। उन्होने यह भी पाया कि इन अनुभवोंका मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूपसे दमन है। इस प्रकार वे जिस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तपर पहुँचे, उसका सार तीन शब्दोमे व्यक्त हो सकता है-रौशनीय दमित कामवृत्ति। उनके अनुसार यह जीवनमें मुख्य प्रेरक शक्ति है, यह शिशुके जन्मसे ही कार्यशील रहती है और इसका प्रकाशन मानवके समस्त व्यवहारमें परोक्ष रूपसे होता है। इस शन्तिको अधिक न्यापक अर्थ देनेके लिए वे 'लिविडो' शब्दका प्रयोग करते है। शैशवमें जब मानसमे केवल 'इड' ही विकसित रहता है, दमनका प्रदन नहीं उठता, किन्तु सामाजिक और नैतिक दबावोके कारण अहं और सुपर ईगो या 'आदर्श अहम्'का विकास होने लगता है और स्वाभाविक कामे-च्छाओंका दमन होता जाता है। इन दमित इच्छाओसे अचेतन मानसका निर्माण होता है। इच्छाओके दमनका सिद्धान्त दो विचारोंपर आधारित है, एक तो यह कि जो निषिद्ध है, दह इच्छाका विषय होता है, दूसरे यह कि जिससे भय लगता है, वह भी इच्छाका विषय है। प्रबल इच्छाका दमन ही चेतन मनमें भयका रूप हे हेता है। इन विचारोंके फलस्वरूप फायडके सिद्धान्तमे यह माना गया है कि शिश्को कामवृत्ति अपने माना-पिता और भाई-बहनोंकी ओर प्रेरित होती है, परन्त नैतिक निषेधोंके कारण इस वृत्तिका दमन होता रहना है और व्यक्तिके मनमें कुण्ठाएँ वन जाती है। ईडिपस कुण्ठा (अथवा भावप्रन्थि) फायडके सिद्धान्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण है। ग्रीक नायक ईडिपस (जिसने अपने पिताकी हत्या करके अपनी मातासे विवाह किया था)के नामसे फायड यह व्यक्त करते है कि शिशुके मनमे विषमिलिंगी जनकके प्रति कामेच्छा और समिंछिंगी जनकके प्रति ईर्ध्या अवस्य होती है। इन दोनोंका दमन करके नैतिक और सामाजिक रूपसे स्वीकृत प्रेम और आदरके भाव प्रकाशित किये जाते हैं। यदि व्यक्तित्व-का संघटन दुर्बल हो और कोई संवेगात्मक आघात लगे तो यह ईडिपस कुण्ठा अनेक मानसिक रोगोको जन्म देती है। साधारण स्वस्थ जीवनमें भी ये दमित वासनाएँ और कुण्ठाएँ अपनेको व्यक्त करनेका प्रयत्न करती रहती है, परन्तु आदर्श अहम् (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित प्रति-रोधके कारण ये अपने स्वाभाविक रूपमें व्यक्त नहीं हो पाती और कपट वेशोमे प्रकट होती है। ये कपट रूप स्वप्न और जायत जीवनकी भूलें है। अधिक प्रवल होनेपर हिस्टीरिया, खण्डित व्यक्तित्व, अपराध-भावना आदि बहुतसे मानसिक-स्नायिक रोग हो जाते है। फायडके मनोविश्लेषण सिद्धान्तमे यह सिद्धान्त भी निहित है कि मानवका छोटेसे छोटा व्यवहार भी सप्रयोजन होता है, मानसिक जीवनमें कुछ भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता। फ्रायडके अनुसार प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखतः कोई कामेच्छा होती है, जिसे हम मनोविद्यलेषणके द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार **मनोवैज्ञानिक अभिप्राय** या प्रयोजन भी फायडके सिद्धान्तका आधार है।

मनोविश्लेषणके जन्मदाता फ्रायड थे, अतः प्रमुख रूपसे मनोविद्यलेषणसे उन्हींके सिद्धान्तका बोध होता है। कला और साहित्यपर भी उनके विचारोंका बहुत प्रभाव पड़ा है। फ्रायडके सिद्धान्तको यौनवाद भी कह सकते है। फायडके अनुसार कला और धर्म, दोनोका उद्भव अचेतन मानसकी संचित प्रेरणाओं और इच्छाओमे ही होता है-इस कामशक्तिके उन्नयनके फलम्बरूप कलाकार सर्जन करता है। मानसिक जीवनमें यथार्थ और सुखेच्छाके बीच जो संघर्ष होता है, उसका समाधान कलाकार कलाके द्वारा करता है। फायडके कलाविपयक सिद्धान्तोने कलाके आलोचकोको काफी सीमातक प्रभावित किया है और उनके मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंने आधुनिक कथा-साहित्यको बहुत प्रेरणा दी है, किन्तु मनोविश्क्षेषण केवल फायडतक ही सीमित नहीं है, अन्य मनोविश्लेषकोंने अपने अनुसन्धानो द्वारा कुछ नये सिद्धान्त भी दिये हैं। फायडके ही सह-कारियो और शिष्योमे ऐडलर और जुंगने फायडसे भिन्न सिद्धान्तोका प्रतिपादन किया है।

ऐडल्रके मनोविज्ञानमें लिबिडो अथवा कामवृत्तिका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अहम्का । उनका मत है कि फायड कामवृत्तिको अनावश्यक महत्त्व देते हैं, मानिसक स्नायविक रोगोका मूल कारण कामवृत्तिके अतिरिक्त अहंकी माँग भी हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति अहंस्थापन (self assertion)की होती है। इस अहंस्थापनकी इच्छा और जीवनके यथार्थका विरोध ही

मानसिक जीवनकी सख्य समस्या है। यह इच्छा जीवनके तीत क्षेत्रीये व्यक्त होती है—समाज, व्यवसाय और विवाह । इस प्रकार ऐडलरके मनोविज्ञानने आत्मस्थापनकी प्रवृत्ति ही प्रमुख है, कामवृत्ति नहीं । मानसिक-स्नायविक रोगका मूल कारण हीनत्व-कुण्ठा है, यथार्थसे संघर्षके कारण व्यक्तिके आत्मस्थापनको सन्तोप नहीं मिल पाता और उसमें होनत्वभावना विकसित हो जाती है। इस भावनासे मक्ति पानेके लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, इसका दमन करता है। दमनके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों मे अत्यधिक गर्व आ जाता है, जिसे हम हीनत्वकुण्ठाका कपट -रूप मान सकते है। हीनत्वभावनासे बचावके लिए व्यक्ति कुछ सरल साधन खोज लेता है, वह साधन कोई विशेष 'जीवन-शैली' होती है। जीवन-शैली जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमे ही निश्चित हो जाती है और परिवारमे व्यक्तिकी स्थितिसे निश्चित होती है। ऐडलरके अनुसार एकलौते बच्चे, प्रथम सन्तान, द्वितीय सन्तान, अन्तिम सन्तान, सबकी जीवन-शैली पारिवारिक वातावरणसे निश्चित होती है। ऐडलरके इन सिद्धान्तोंका साहित्य और अन्य विचार-क्षेत्रोंपर उतना प्रभाव तो नहीं पडा, जितना फ्रायडके मतका, फिर भी उनके दिये हुए तथ्य मानसिक जीवनकी समस्याओंको सलझानेमे काफी सहायक सिद्ध हुए है और साहित्यमें भी उनका उपयोग होता है।

जुंगने भी मनोविश्लेषणके सिद्धान्तों में कुछ सुभार करके अपना मत दिया है। वह भी फ्रायडके इस मतके विरोधी थे कि जीवनकी प्रमुख प्रेरक शक्ति काम है। उन्होंने िछिबिडो शब्दका अधिक विस्तृत अर्थ लिया, जिसमें फ्रायडकी कामवृत्ति और ऐडल्टरकी आत्मस्थापन-प्रवृत्ति, दोनों ही सिम्मिलित है। वह उसे जीवनकी वह प्रारम्भिक और सामान्य प्रेरक शक्ति मानते है, जो मानवके सभी व्यवहारों में व्यक्त होती है। यह शक्ति 'जीवन-शक्ति' या 'मनःशक्ति' कही जा सकती है। यह वह मूल शक्ति है, जो विकास, क्रिया और जनन, तीनों लक्ष्यों अपनेको व्यक्त करती है। जुंगके मनोविशानका दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उनके अनुसार यह शक्ति एक अन्तिम साम्यावस्थाकी ओर उन्मुख रहती है। फ्रायड सदा वर्तमानको अतीतकी हिस्से देखते थे, जंग भविष्यकी दिस्से देखते है।

जुंगका सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्तित्वके प्रकारोंका सिद्धान्त हैं। उनके अनुसार व्यक्ति सुख्यतः दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनका ध्यान और शक्ति अपनेपर ही केन्द्रित रहती है, दूसरे वे जिनकी शक्ति सामाजिक और भौतिक वातावरणकी ओर प्रकट होती है। पहले प्रकारके व्यक्ति अनेर दूसरे प्रकारके बिहुर्मुखी होते हैं। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों और भावनाओमे केन्द्रित होनेके कारण अधिक साबुक, कल्पनाशील, एकान्तप्रिय और अव्यवहारिक होते है। बहिर्मुखी व्यक्ति क्यवहार-कुशल, समाजप्रिय और क्रियाशील अधिक होते है।

मनोविश्लेषणका सिद्धान्त विचार-जगतमें न्यूटन-कोपर-निकस, आईन्स्टाइन और मार्क्सके सिद्धान्तोंकी मॉति क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है। वह बीसवी शताब्दीमें विश्व-मनीषाका एक अन्यतम महत्त्वपूर्ण तथा अविभाज्य अंग बन गया है। मनुष्यके हृदय तथा उसकी वास्तविक प्रेरणाओका जो ज्ञान पहले केवल प्रतिभाशाली अन्तर्धिके लिए ही सम्भव था, वह अब सामान्य ज्ञानका विषय है। साहित्य और कलापर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कलाके क्षेत्रमें डाड।इडम, सुरियलिंडम जैसे नृतन आन्दोलनोंको उसने प्रेरित किया है। नैतिकता और उसके प्रतिमानोपर उसने नया प्रकाश डाला है और स्वच्छन्द विचारकोकी एक नयी पीढीको जन्म दिया है। अंग्रेजी साहित्यमे डी॰ एच॰ लारेन्स और जेम्स जॉएस इस प्रवृत्तिके प्रतिनिधि लेखकोंमे है, यद्यपि मनोविश्लेषणसे उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी साहित्यमें इलाचन्द्र जोशी प्रमुख लेखक है, जिन्होने मनोविश्लेषण और उसकी पद्धतिसे प्रत्यक्ष प्रेरणा ग्रहण की है। 'संन्यासी', 'प्रेन और छाया' तथा 'पर्देकी रानी' आदि उनके मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासोके श्रेष्ठतर उदाहरण है।

मनोवैज्ञानिक अभिप्राय-दे॰ 'मनोविद्यलेषण'। मनोहंस-वर्णिक छन्दोमें समवत्तका एक मेद । स ज ज भ रके योगसे यह वृत्त बनता है (IIS, ISI, ISI, ISI, ISI, SIS) । 'प्राकृतपैगलम्'मे इसका मनोहंस (२: १६२) नाम दिया है, पर जाने किस कारण केशवने इस छन्दका नाम भी कलहंस दिया है और सज ससग (IIS, ISI, IIS, IIS, S; रा० चं०, १५: १४) लक्षणवाले छन्दका नाम भी कलहंस दिया है। 'छन्दकौस्तुभ'मे दूसरे छन्दका नाम कलहंस दिया है (२: ९६), अतः सम्भव है, पहले मनो-हंसका कलहंस नाम भूलसे दिया गया हो। उदा०—"तहॅ ताहि दै वरुको चले रघुनाथ जू। अति सूर सुन्दर यों लसै ऋषि साथ जू" (रा० चं०, ५:७)। मरजिया भाव-मरकर जीनेका भाव। संसारके लिए साधक मृतके समान होकर परमात्माके प्रेमको लेकर जीवित रहता है। मंसारके सभी प्रपंचोसे वह दूर हो जाता है। उसकी अपनी कोई कामना, अपनी कोई वासना नहीं रह जाती। अपने 'अहं'को मिटाकर परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिए सब कुछ करनेको वह तैयार रहता है। सफी साधक अबू यजीदने कहा है कि "संसारसे शत्रुता कर मे परमात्माके पास भागा, लेकिन उसके प्रेमने इस प्रकारसे मेरे ऊपर काबू कर लिया कि मै स्वयं अपना दुइमन बन गया"। इसी प्रकारसे अल-शिबलीने कहा है कि "प्रेम हृदयमें अग्निक समान है, जो परमात्माकी इच्छाके सिवा अन्य सभी वस्तुओंको जलाकर भस्मीभूत कर देता है"। ऐसी अवस्थामें वह प्रेमके लिए पागल बना रहता है और उसकी प्राप्तिके लिए किसी प्रकारके कष्टको कष्ट नहीं समझता । विशुद्ध ज्ञान और प्रेम दोनोंकी प्राप्ति इसी प्रकारके साधकके लिए सम्भव है और बिना इन दोनोंके परमात्माके साथ 'एकमेक' होना सम्भव नहीं। —रा० पू० ति० मरण (मृति)-संचारी भावोंमें इसकी गणना होनेसे प्रश्न उठ सकता है कि यदि भरतने मरणके प्रदर्शनका निषेध किया तो उन्होंने स्वयं ही संचारियोंके अन्तर्गत इसकी विवेचना क्यों की ? इसका समाधान 'नाट्यदर्पण' एवं 'कान्यानुशासन'मे किया गया है । वहाँ बताया है कि "मरणकी पूर्वावस्था मृति है। क्योकि मरणका

अनुभव साक्षात् सम्भव नहीं"। 'नाट्यदर्पण'में कहा गया है कि 'मृत्युका संकल्प' यहाँ अभिप्रेत है, कारण कि कोई भी ऐसा भारी अनर्थ हो जाता है, जिसमे व्यक्तिकी समझमें आता है कि इसका कोई प्रतिकार सम्भव नहीं अतः 'मे अवस्य मर जाऊँगा'। यह निश्चय ही मनमे आना मरण-का चोतक है और प्राणोंका उत्सर्गरूप मरण नाट्यमे निषिद्ध है, इसलिए उसके विभावों एवं अनुभावोंकी चर्चा नहीं करते (ना० द०, ३: १३७)। जगन्नाथ भी 'रसगंगाधर'मे 'मरण'का यही अर्थ लगाते है। भरतने कहा है कि 'मरण' दो प्रकारसे हो सकता है- 'व्याधि'से अथवा 'आधात'से (नाट्य०, ७:८:६ग) और उन्होंने इन दोनों प्रकारके मरणके विस्तारसे विभावों एवं अनुभावोंका वर्णन किया है। इस भावसे अभिभूत व्यक्तिकी इन्द्रियाँ विकल हो जाती है, गात्र शिथिल हो जाते है। यद्यपि इस मनोमावका प्रभाव शरीरपर अथवा शारीरिक अनुभावीपर होता है, तथापि इसको शारीरिक अवस्था नहीं कहा जा सकता। धनंजयने तो इसकी परिभाषा भी नहीं दी, पर धनिक द्वारा दिये गये उदाहरणसे स्पष्ट है कि यह मनकी ऐसी अवस्था है, जब कि विरहमे व्यक्ति मरणासन्न-सा रहता है। उदाहरण-मे, प्रोषितभर्तकाको प्रियतमसे मिलनेकी उत्कट अभिलाषा है, लौटनेके निश्चित दिवसपर उसके न आनेपर वह ऐसा व्यवहार करती है मानों अव शीघ़ ही वह इस संसारमे प्रस्थान कर देगी। इस उदाहरणके साथ धनिककी व्याख्या-का भी ध्यान रखना होगा। वह कहते है कि शृंगारके आलम्बनमें मरणका वर्णन नहीं हो सकता, यद्यपि अन्य रसोंमें इसका यथेष्ट वर्णन सम्भव है।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः उपर्युक्त मतको ही स्वीकार किया है। देवके अनुसार—"प्रगटिह लच्छन मरनके, अरु विभाव अनुभाव। 'उन्होने भी शृंगारमे अभाव माना है और "निर्वेदादिक भाव सब, बरनै सरस सुभाइ" (भाव० : संचारी) भी कहा है, पर अन्य कईने 'प्रान त्याग कहिये मरन' कहकर 'सो न बरनिबे जोग' (जगत०, ५४६) कहा है। देवका उदाहरण-"चेति मरू करिके चितई जब चारि घरी लौ मरी-सी धरी रही" (भाव०: संचारी)। वस्तुतः मृत्युके समान कष्टका अनुभव हो, पर इस प्रकारकी मृत्यु-का दुःख न हो- "आज पतिहीना हुई, शोक नही इसका, अक्षय सहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो आज अमर है स्रयशके शरीरमे" (का० द०, पृ० २०)। -ज० कि० व० मरसिया - अरबी-फारसीकी पद्धतिपर उर्दूका वह शोक-गीत, जो किसी मृत व्यक्तिकी यादमे लिखा जाय, 'मरसिया' कहलाता है। परन्तु इसका विशिष्ट अर्थ भी है। उर्द कान्यमें जब केवल मरसिया शब्दका प्रयोग किया जाय. तो प्रायः उसका तात्पर्य हजरत मुहम्मद साहबके नवास इमामहुसेन और उनके साथियोकी स्मृतिमे लिखे शोक-गीतसे होता है, जो कर्बलाके मेदानमे सत्यकी रक्षामे शहीद हुए थे। परन्तु मरसियेका महत्त्व केवल इस धार्मिक कारणसे नही है, बल्कि इस ढॉचेमें उर्दू कवियोंने बहुतसे विषय सम्मिलित करके इसे कान्यका बहुत महत्त्वपूर्ण रूप वना दिया है।

मरिसये उर्दमे प्रारम्भिक कालमे ही पाये जाते है।

कुछ लोगोंका तो यह मत है कि उर्दमें कान्य-रचनाका आरम्भ मरसियेसे ही हुआ। 'सौदा' और 'मीर'के यगसे कई सौ वर्ष पूर्वके मरिसये भारत और इंगलिस्तानके भिन्न-भिन्न पुस्तकालयोमें सुरक्षित है। लखनऊ पहुँचकर मरिसये-ने नया रूप धारण किया और मीर जमीर तथा उनके समकालीन फमीह एवं खलीकने इस शोक-गीतको महा-कान्यके एक ऐसे मार्गपर लगाया, जो महाकान्य (epic)-के यूनानी रूपसे मिलता-जुलना है। इसे कई भागोंमें विभाजित करके इन कविवोंने इनमें अलग-अलग प्राकृतिक-चित्रण, यद्धका दृश्य, घोड़े, तलवार और तलवार चलानेकी प्रशंमा तथा वीरोका अपनी वीरताका वर्णन आदि वातें सम्मिलित करके उसकी सन्दरता और बढादी। इसके पश्चात जिन कवियोने मरिसये लिखे, उनके पाण्डित्य एवं प्रकृति-प्रदत्त काव्यगत विशेषताओं ने मरिसयोंको और उच्च शिखरपर पहॅचा दिया। इन कवियोंमें 'मीर अनीस'का नाम मबसे अधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त 'मिर्जा-दवीर', 'मीर इरक', 'मीर-तअरराक' और 'मोनिस' उच्च श्रेणीके मरसिया लिखनेवाले समझे जाते है। इनके बादकी पीढीके मरसिया लिखनेवालोंमें 'मीर अनीस'के सुपत्र 'मीर नफीम' और नाती 'रशीद', 'वहीद' तथा'दबीर'के बेटे 'औज'के नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'प्यारे माहव', 'रशीद' मरसियों मे एक नवीन विषय 'बहार'का मनोहर वर्णन करके अपनी अदितीय प्रतिभाका परिचय देते है। ये इसके लिए विशेप-रूपसे प्रसिद्ध है। आधुनिक कालमे 'जोश', 'आले रजा', 'आरज्', और 'नसीम अमरोहवी' मरिमया लिखनेवालीमे बहुत प्रसिद्ध है।

लखनऊ स्कूलके पहले उर्दूमे मरसियोका कोई रूप निश्चित नहीं था। लोग मुरब्बा (चार मिसरे), मुसलम (तीन मिसरे) और गजल इत्यादिके माध्यमसे ही मरसिये कहते थे। लखनऊमें मुसहसकी आकृति मरसियेके लिए निश्चित हो गयी और इसके पश्चात मरसिया मुमहसमें ही लिखा जाने लगा।

प्रेम और आशिकांके विषयसे अलग होकर उर्दू मरिसये-ने यह दिखाया कि मानव-सम्बन्धोमें बहुतसे ऐसे भी सम्बन्ध है, जिनका लगाव यौन आकर्षणके आधारपर नहीं है, जैसे भाई-बहुनका प्रेम, स्वामी-मैबकका प्रेम आदि। इन सब सम्बन्धोंको मरिसयेने उभारा, नहीं तो मानव-जीवनके कितने ही पहलुओसे उर्दू-काव्य वंचित रह जाता।

मरसियेमें यद्यपि प्रायः इमाम हुनेनके घरानेकी उन घटनाओं का वर्णन होता है जो कर्षणके मेदानमे घटित हुई, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उन मरसियों मे १९वीं शदाब्दीके कॅचे घरानेंकी सम्यता और संस्कृतिकी झाँ कियाँ मिलती हैं। छोटा भाई बड़े भाईका जैसा आदर करता है, भानजे मामाके प्रति जिस प्रकारकी श्रद्धा रखते हैं, वृद्ध जिस प्रकार अपने छोटोसे पेश आते हैं, एक परिवारमें सब लोग एक-दूसरेके प्रति सहानुभृति और शुभ-चिन्तना करते हैं, स्त्रियाँ जिस प्रकार वातचीत करती हैं— इन सबका वर्णन मरसियेमें इस प्रकार किया गया है कि उन्नीसवीं शनाब्दीके नवाबी घरानोंके चित्र दृष्टिके सामने आ जाते हैं। यात्राकी तैयारी, विवाह और उसके

रस्म-रिवाज इत्यादि वर्णनोंके द्वारा मरसिया सामाजिक जीवनके ऐसे नमूने पेश करता है, जो उर्दू कवितामें और कही नहीं मिलते।

प्रकृति-वर्णन उर्द्मे मरसियेमें ही मिलता है। बहार और खिजाँ (पतझड), प्रातः और सन्ध्या, गर्मी और धृपके सैकड़ो दश्य पेश करके उर्द्मे दश्य-चित्रणकी वृद्धि मरसिये द्वारा ही हुई है और वीरता, साहस तथा युद्धके कार्योंका ऐसे ढंगसे वर्णन किया गया है कि उर्द्मे महाकाव्य-(रजिमया)का श्रीगणेश हुआ। यह नहीं कि युद्धके मैदानका चित्र और बाजोंका जोर-शोर दिखाकर ही यह कम समाप्त हो जाता है, बल्कि मरसियोंमे लड़ाईके दश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये है, जिनमे लड़ाईके दश्य विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये है, जिनमे लड़ाईको प्रयोग आदिका वर्णन मरसियेमें मिलता है।

मरसियेने उर्दू-काव्यको एक संकुचित दुनियासे निकाल-कर विस्तृत संसार दिखाया । चरित्र-चित्रण, कथनोपकथन या संलाप, स्वाभाविक शिक्षा, नये शब्दो और मुहावरोके प्रयोगसे उसे विस्तृत रूप दिया गया है। युद्धक्षेत्रका वर्णन लिखकर उसने गजलसे पैदा हुए विलासिताके वाता-वरणमे उत्साह, उमंग और पौरुषके भाव प्रविष्ट किये है। संक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि मरसियेने उर्द शायरी-को जिस उच्चतापर पहुँचाया, उसको जितने गुणोसे सम्पन्न किया, किसी और काव्यके रूपने नहीं किया। मराठी (भाषा तथा साहित्य) - मराठी भाषाका 'मराठी' नाम कैसे व्यवहृत हुआ, इसके सम्बन्धमें विद्वानोके विभिन्न मत हैं। 'प्राकृतप्रकारा'का अन्तिम सूत्र है, 'रोषं महाराष्ट्रिवत्', अर्थात् शेष सब महाराष्ट्री भाषाके अनुसार ही। इसका सम्बन्ध उन सभी प्राकृत भाषाओंसे है, जो व्याकरणके नियमोमें 'महाराष्ट्री' प्राकृत भाषासे बहुत समानता रखती है। 'शौरसेनी' भाषाके उन नियमोंको बता देनेपर जो 'महाराष्ट्री' भाषाके नियमोसे कुछ भिन्न है, शेष नियमोके सम्बन्धमे यह कहा गया है कि वे महाराष्ट्रीके समान ही है। इससे यह निर्णय लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं मे उस समय 'महाराष्टी' अग्रसर थी। यह 'महाराष्ट्री' प्राकृत अति प्राचीन मराठी है। कात्यायनके अन्तिम सूत्रमें 'प्राकृत' और 'महाराष्ट्री', ये दोनो शब्द करीव-करीव समानार्थक ही है। इसी 'महाराष्ट्री' प्राकृतसे 'महाराष्ट्री' अपभ्रंश भाषा बनी और उससे आधुनिक मराठी। अतः यह नामकरण उतना ही पुराना है, जब भारतमें प्राकृत भाषाओमें साहित्य लिखा जाता था, प्राकृत भाषाएँ बोली जाती थीं। इस 'महाराष्ट्री'-का नामकरण किसी विशेष भौगोलिक प्रदेशके कारण नहीं हुआ होगा, बल्कि वह बाकी राष्ट्रोंकी अपेक्षा अधिक विस्तृत देश विभागमें बोली जानेवाली भाषा हुई होगी। लेकिन बादमें वह देश महाराष्ट्र कहा जाने लगा। प्रख्यात विद्वान राजाराम शास्त्री भागवतने भी अपना मत इसीके अनुकूल दिया है।

मराठी भाषा बोलनेवाले अधिकतर महाराष्ट्रमें ही रहते हैं, जिस देशके उत्तरमें नागपुर, पश्चिममें अरवसागर, पूर्वमें भण्डारा, चाँदा जिले तथा मराठावाडा और दक्षिणमें बेलगाँव जिला है। इसके अलावा जहाँ-जहाँ मराठे लड़ाई जीत गये, वहाँ-वहाँ आजतक मराठी बोलनेवालोकी संख्या बहुत है, जैसे, तंजोर, इन्दौर आदि। लेकिन इनको हम महाराष्ट्र नहीं कह सकते। थोड़ेमें अगर कहा जाय तो गुजरातको छोडकर और बेलगाँव और गोवाको जोड़कर मराठवाड़ाके सहित जो पुराना वम्बई राज्य है, वही महाराष्ट्र है।

१९४१की जनगणना (मर्दुमशुमारी)के अनुसार मराठी बोलनेवालोंकी संख्या २,०८,८९,६५८ थी और कोंकणी, जो मराठीकी ही एक उपभाषा है, बोलनेवालोकी संख्या ४,७१,७३५ थी। इस तरह कुल मिलकर संख्या २,१३, ६१,३९३ होती है, जो अब १९५१तक करीव २ करोड ८० लाखतक वढी है।

लिपिके सम्बन्धमें हिन्दी और मराठी बहुत ही पासकी माषाएँ है। देवनागरी लिपिमें ही मराठी भाषा भी लिखी जाती है।

ध्वनिगत विशेषताएँ—(१) वत्स्य-स्पर्श व्यंजन च्, छ, झ ये मराठीमे अधिक है, जो हिन्दीमे नही है। (२) लेकिन इनको स्पर्श संवर्षी ताल व्य च्, छ, ज्, और झ्से अलग दिखानेके लिए स्वतन्त्र लिपि-चिह्न नही है। इनमे 'ज् वत्स्य-स्पर्शका उच्चारण हिन्दी 'ज' (नुक्तावाला)के समान होता है। (३) हिन्दीके संवर्षी व्यंजन क्, ख्, ग् मराठीमे नहीं है। (४) उसी प्रकार ड ड, ढ़ ढ, फ फ, ख ख, ग ग, क कके उच्चारणमे भेड दिखानेवाले ध्वनिचिह्न मराठीमे नहीं है। इनमेंसे क, ख़ और ग, फ ध्वनियाँ मराठीमें है ही नहीं।

व्याकरणगत विशेषताएँ—(१) संज्ञा तथा सर्वनामके तीन लिंग होते है। (२) संज्ञामे विभक्ति-प्रत्यय लगनेके पूर्व संज्ञाका मूल रूप बदलता है। उसमे आगम लगाकर सामान्य रूप बनाया जाता है और बादमे विभक्ति-प्रत्यय लगते है। जैसे घोड़ा (संज्ञा)—ला (द्वितीया एकवचनका प्रत्यय), इसकी प्रक्रिया ऐसी होती है—घोडां—ला = घोडं —यां—ला = घोडं यां—ला = घोडं यां—ला = घोडं यां ना = घोडं यां ना हो है। विभक्ति-प्रत्यय संज्ञा-सर्वनामके रूपका अंगमात्र बन जाता है, अतः उनसे अलग नहीं लिखा जाता, साथ ही लिखा जाता है। (४) भविष्यकालके क्रियारूपोसे लिंगका बोध नहीं होता, जैसे कि हिन्दीमे होता है।

मराठी साहित्यका कालविभाजन स्थूल रूपसे निम्निलिखित रूपमें किया जाता है—१० प्रारम्भकाल या आदिकाल या अपभ्रंशकाल, २० प्राचीनकाल या शानेश्वरनामदेवकाल, ३० पूर्वमध्य या एकनाथकाल, ६० शाहीरीकाल या प्रभाकर-राम जोशीकाल, ७० आधुनिक काल—(अ) पेशवेकालीन साहित्य, (आ) सद्यकालीन साहित्य, १० छत्रे-युग (१८००से १८३६ ईसवी) २० दादोवा-युग (१८३६से १८५७ ईसवी), ३० शाली-युग (१८७४से १९०० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८७४से १९०० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८००से १९२० ईसवी), ४० मालाकार-युग (१८००से १९२० ईसवी), ६० केलकर-कोल्हटकर-युग (१९००से १९२५ ईसवी), ६०

फडके-खांडेकर-युग (१९२५से १९४८ ईसवी), ७. पेडसे-दाँडेकर-युग, महेंकर-गाडगिल-युग (१९४८से आजतक)।

मराठी भाषाके अस्तित्वका पना कुछ सूक्ष्म लक्षणोमें हमे ईसवी सन् ४८८के मंगलवेढ़े यामके तात्रपटमे मिलता है। सन् ७३६ ईसवीके चिकुडेंके ताम्रपटमे भी उस भाषाके कुछ लक्षण विदित होते है। लेकिन मैसूरके पासके श्रवण बेलगोलाके गोमतेश्वरके ९८३ ईसवीके शिलालेखमे मराठीके स्पष्ट वाक्य मिलते है। 'चाबुंडरजें करवियले' एवं 'गंग राजें सुत्ताले करवियलें ये दोनो वाक्य सम्पूर्ण मराठीके है। ११वी शताब्दीका 'राजीमती-प्रबोध' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जिसमे महाराष्ट्री स्त्रीका वर्णन करते समय यह कहा गया है, "मी कॉई सांघओ, गोमटी मुह"; ये मराठीके वाक्य है। ११२९के 'मानसोल्लास' यन्थमे 'जेणें', 'मत्स्यरूपें', 'आणियलें', 'वाणियलें', 'रावो', 'नारायणु' आदि मराठी छायावाले शब्द मिलते है। ११८७के परलके शिलालेखमें शपथ खोदी हुई है ''अथ तु जो कोण हुविए शासन लोपी तेया श्रीवैद्यनाथ देवाची भाल सक्दम्बिआ पड़े, तेयाची माय गाढवे…।" १२०६के चालीसगाँवके .पासके भवानी मन्दिरके शिलालेखमे (पाटणके) यह वाक्य मिलता है-"इयॉ पाटणी जे केणे उधटे तेहाचा असि आउँ जो राउला होता ग्राहकापासी तो मढा दीन्हला"। १२७३के पंढरपुरके शिलालेखमे ये शब्द है—''स्वस्ती श्री सकु ११९५ श्री मुख संवत्सरे फागनी पूर विरुठदेव रायासि तिसा सिति फुले, दाँडे आचन्द्रार्क चालविआ नाना भक्त मालीऑ दत्त पैकाचा विवरु"।

भाषाकी परम्परा यद्यपि बहुत प्राचीन मिलती है, फिर भी हाल सातवाहनकी सप्तश्चतीमे मराठी प्राकृत या अप- अंश्वता मूल मानी जाती है। यह अन्य महाराष्ट्रीमे लिखा हुआ है। नमूनेके तौरपर एक गाथा यहाँ दी जाती है— ''दुग्गअ कुडुन्व अट्टी कहॅणु गए घोइएण सोडव्या। दिस्ओ सरन्त सलिलेण उहअ रुण्णं एवं पडएण॥'' (गाथा १८, स० आ० जोगलेकर, नया संस्करण), अर्थात दिर्द्री कुटुन्वमें- कपड़ों-वस्त्रोकी इतनी दुईशा होती रहती है कि जब वह घोया जाता है और स्खनेके लिए टॉगा जाता है तब वह दुर्दशाके असह्य हो जानेके कारण उसी वस्त्रके छोर-छोरसे गिरनेवाली पानीकी बूरोंके मिस रो पड़ता है।

महानुभाव-काल—सराठीका आदिकवि होनेका सम्मान
मुकुन्दरायको ही है। इनका काल ११२८ ईसवीसे ११९८
ईसवीतक है। इनके प्रन्थोमें 'विवेकसिन्धु' प्रधान प्रन्थ
माना जाता है, जो मराठीका आद्य प्रन्थ है। इसके सिवा
'परमामृत' नामका भी इनका एक उत्कृष्ट प्रन्थ है।
'विवेकसिन्धु'के पूर्वार्थमें सद्गुरु-सिन्छिष्य-लक्षण, कामक्रोधादि रिपुओंका दमन, आत्मानात्म विचार आदि विषय
और उपदेश्वरक बहुतसे अन्य विषय भी सम्मिलित है।
इसके उत्तरार्थमें शरीरपतनके बादकी अवस्थाओंसे सम्बद्ध
म्थूल-सुक्ष्म कारण, काल महाकारण देहका वर्णन है।

इनके अनन्तर महानुभाव-सम्प्रदायका साहित्य प्रभावी हुआ है। महात्मा चक्रधर इस सम्प्रदायके प्रणेता थे। इस सम्प्रदायमें 'सातीयन्थ' (सात यन्थ) प्रमाण, अतएव सम्प्रदायके आधारभूत माने जाते है। वे ये है—१. शिशु- पालवध' (११९५), रचियता भास्कर मट्ट बोरीकर, २. 'एकादश स्कन्ध' (११९६), रचियता भास्कर मट्ट बोरीकर, ३. 'वत्सहरण' (१२००), रचियता दामोदर पंडित, ४. 'रुिमणी-स्वयंवर' (१२१०), रचियता नरेन्द्र किन, ५. 'श्चानबोध' (१२५३), रचियता विश्वनाथ बालापूरकर, ६. 'सिह्याद्रिवर्णन' (दत्तलीलाचरित्र १२५४), रचियता रवळो व्यास, ७. ऋद्धपूर्वर्णन' (१२८५), रचियता नारो व्यास अर्थात नारायण बहाळिये।

अहिसा, संन्यास, सगुणोपासना, भक्ति, सदाचार और परोपकार, ये इस सम्प्रदायके प्रमुख सिद्धान्त है।

शानदेव-नामदेव-काल-इसके बाद नाथसम्प्रदायके प्रख्यात कवि ज्ञानेस्वरका काल आता है। इस कालके प्रमुख भक्त-कवियोमे नामदेव, ज्ञानदेव, गोरा कुँभार, नरहरि सोनार, बंका महार, सॉवता माली आदि कवि आते है। नामदेव परमभक्त थे। इन्होने पंजाबमे घुम-घुमकर भक्तिका प्रचार किया था । अतः इनकी वाणी 'ग्रन्थसाहब'मे भी संग्रहीत है। ज्ञानेश्वर और नामदेव समकालीन थे। शानेश्वर-लिखित 'भावार्थदीपिका' (अथवा शानेश्वरी) भी 'भगवद्गीता'की ओवीबद्ध टीका है। वह ग्रन्थ शके १२१२ मे लिखा गया है। इष्टान्तोंसे भरी हुई, अपनी कान्य-कल्पनाओंके कारण बेजोड 'ज्ञानेश्वरी' मराठी साहित्यका अलौकिक भूषण है। ज्ञानेश्वरीमे उपमा आदि अलंकारोकी भरमार है। घरकी फुटका वर्णन और उसका परिणाम दिखानेवाली ओवियाँ पढने लायक है-जैसे ''काष्ठें काष्ठ मधिजे। तथ वन्हि एक उपजे। तेणें काष्ठजात जालिजे। प्रज्वलोनि । तैसा गोत्रीचि, परस्परें । जरी वध घडे मत्सरें। तरी तेणें महादोषे घोरें। कुलचि नासे"। इन षड़िपुओंके वर्णनमे कितना जोश है, देखें—"ज्ञानविधीचे भुजंग । विषय दरीचे वाघ । भजन मार्गीचे मॉग । मारक हे ॥ हे देह दुगींचे घोड । इन्द्रिय ग्रामीचें कोंड"।

एकनाथ-काल कानेश्वरके बादका काल अवनतावस्थाका है। एकनाथतकका काल साहित्यकी दृष्टिसे विशेष उल्लेख-नीय नहीं है। एकनाथने ही ज्ञानेश्वरीका संशोधन किया, प्रचार किया और उसका महत्त्व बढ़ाया। 'श्रीमद्भागवत'- के ११वें स्कन्थपर टीका लिखकर अपना 'एकनाथी मागवत' घर-घर पढ़ने लायक बनाया। समाजके भिन्न वर्णों तथा वर्गोंमे मिक्तका, सद्गुण, सगुणका प्रचार किया और अपने प्रभावसे जातीय अन्यताको दूर करनेका परिश्रम किया। इसलिए एकनाथ जवर्दस्त समाजसेवक, त्यागी, शूर तथा उच्च कोटिके भक्त थे।

इनके बाद मुक्तेश्वरका काल आता है, जो अपने भारत-परके ग्रन्थोंके लिए प्रसिद्ध हैं। उनका 'वनपर्व', 'सभापर्व', 'विराट्पर्व', 'सौप्तिक पर्व' तथा अन्य मुक्तक तथा खण्ड-काव्य प्रसिद्ध हैं।

तुकाराम-रामदास-काळ—अव शिवकाळ अपना महत्त्व बढ़ाता है। शिवाजी महाराजके समसामयिक सन्त समर्थ रामदास स्वामी तथा तुकाराम अपनी बोधपर तथा प्रासादिक कविताके लिए प्रसिद्ध हैं। श्री समर्थ रामदास निरे निवृत्ति-मार्गी नही थे। ये घर-गृहस्थीका उपदेश देते थे और फिर भी ईश्वर-मिक्त तथा अद्वैत-तत्त्वज्ञानकी ओर लोगोंका हृदय लाक पित करते थे। उनका कहना था, "आधा प्रपंच करावा नेटका। मग ध्यावें परमार्थ विवेका। येथे आलस करूँ नका। विवेकी हो", अर्थात् गृहस्थी छोडकर परमार्थके ही पीछे लगनेसे मनुष्य अन्न खानेसे भी वंचित रहेगा। 'प्रपंच सोहून परमार्थ केला। तरी अन्न मिळेना खायाला। मग लया करंट्याला। परमार्थ केचा ? रामदास स्वामीने शिवाजीकी वडी सहायता की थी। उनका 'दासवोध' प्रन्थ और 'मनाचे इलोक' बहुत ही अच्छे और प्रसिद्ध प्रन्थ है। तुकाराम विट्टलभक्त थे। वे विरक्त थे और बडी ही

तुकाराम विट्ठलभक्त थे। व विरक्त थे आर बडा हा प्रसादगुणपूर्ण कविता उन्होंने लिखी। उनकी वेदना और तडपकी समानता मराठी ही क्यो, अन्य भाषाओके साहित्य-मे भी शायद ही कोई किव कर सकता है।

मोरोपन्त-वामन पण्डित-काल — शिवकालके रामदास और उनके शिष्य कल्याण, दिनकर गोसावी, गिरिधर, उद्धव आदिकी साहित्य-सेवाके बाद वामन पण्डितकी पण्डिताईका काल आता है। इस कालमे पुराने मक्तोकी गाथाएँ आख्यानकोके रूपमे गायी जाने लगी। पाण्डित्य अधिक था, मिक्त भावना कम थी। अलंकारोकी मरमार, शब्द चयनकी उत्कृष्टता तथा काव्य-कौशलका कमाल उस समय दिखाया जाता था।

पेशने-काल—इसी कालमे मोरोपन्तकी कविताका भी समावेश करना चाहिए। यो तो उत्तर-पेशनेकालीन साहित्य शाहीरी साहित्य है। उस समय प्रभाकर, सगन-भाक, हैवती, होनाजी, बाला, राम जोशी आदि कई लावणीकार शाहीर निर्माण हुए और मराठी साहित्य श्वंगार-मे डूब गया। वीर रसके पोवाडे भी उस समय गाये जाते थे, लैकिन प्रधान भावना श्वंगारकी थी।

आधुनिक काल—इसका प्रारम्भ छत्रे-युगसे होता है। सदाशिव काशीनाथ छत्रेकी गद्य-साहित्यका पिता कहते है। इस युगके प्रधान लेखकोंमें बालशास्त्री जाम्मेकर भी है, जिन्होंने नीतिकथाएँ लिखी। हिन्दुस्तान तथा इंग्लैण्डके इतिहास भी उन्होंने लिखे है।

दादोबा-युगके प्रवर्तक है दादोबा पांडुरंग तर्खंडकर व्याकरणकार । ये महाराष्ट्रके पाणिनि कहलाते है । आद्य व्याकरणकारके नाते इनका मराठी साहित्यमें बहुत सम्मान है । इनके समसामयिक हिर केशवजी, भाक महाजन, लोकहितवादी अच्छे गद्य-लेखक हुए है । लोकहितवादीके 'शतपत्र' काफी मशहूर है । इन्होंने अंग्रेजीके बैभव और यशसे प्रभावित होकर आत्मनिरीक्षण किया और अपने समाजके दोषोंको अपने पत्रोमे स्पष्ट रूपमें दिखा दिया ।

इनके शतपत्रोंके जबर्टस्त विरोधक बादमें पैदा हुए। लेकिन शास्त्री-युगमे अनुवाद बहुतसे हुए। कृष्णशास्त्री चिपळ प्रकर, परशुराम गोडबोले, कृष्णशास्त्री राजवाडे आदि अनेक साहित्यकारोने अनुवादों और स्वतन्त्र रचनाओं के द्वारा मराठी साहित्यका गद्यविभाग खुब सँभाला।

मालाकार-युगमें मराठी भाषाके शिवाजी विष्णु शास्त्री विपळूणकरकी निवन्धमाला बहुत प्रभावी हुई, अंग्रेजोंके गुणोंका अनुकरण और दोषोंकी निन्दा उन्होंने की। इस युगमें मराठीके लेखकोंने राजकीय तथा सामाजिक सुधारीके लिए बड़े ही प्रयत्न किये। राजकीय सुधारके प्रवर्तक

लोकमान्य तिलक थे तथा सामाजिक सुवारोके प्रवर्तक गो० ग० आगरकर थे। जबर्दस्त जोशीली शैलीमे लिखनेवाले शिवराम महादेव परांजपे भी राजकीय-विषयक उपरोधा-त्मक निबन्ध लिखकर इसी कालमें अपना कार्य कर चुके है।

उसके बादसे लेकर कोल्हटकर-युगमे भारताचार्यं चि० वि० वैद्य, साहित्यसम्राट् न० चि० केळकर, विनोदमूर्ति श्री क्ठ० कोल्हटकर, स्क्ष्म तत्त्वज्ञ टीकाकार (समालोचक) वा० म० जोशी, हरिभक्ति-परायण साहित्यके इतिहास तथा चरित्रलेखक ल० रा० पांगारकर आदि सुयोग्य साहित्य-कारोने मराठी साहित्य सुसम्पन्न कर दिया।

उपन्यासकारोंमे वि० स० खॉडेकर, ना० सी० फडकेने वहुत काम किया। ऐतिहासिक उपन्यासोंमें जो काम ह० ना० आपटेने किया, वही काम सामाजिक क्षेत्रमें इन दोनो साहित्यकारोने किया। खाँडेकर कलाका ध्येयवादी उपयोग करनेमे अग्रसर हुए, फडके कलाके लिए पक्षपाती थे।

आजका युग पेंडसे-दॉडेकरका है, जिन्होंने मनोवेज्ञानिक कथाओंका निर्माण किया। इनका लेखन अद्यतन है।

किवयोंने केशवसुत भा० रा० ताम्बे, यशवन्त, गिरीश, माधव ज्यूलियन, धों० वा० गद्रे, अनिल्, ग० ह० पाटील, साधुदास, वा० ना० देशपाण्डे, कुसुमायज आदि किवयोंने नये युगका निर्माण किया। नवकाव्यके प्रथम पुरस्कर्ता महेंकरका अनुकरण हुआ और विन्दा करन्दीकर, य० द० भावे, मुक्तिबोध आदिने बड़ा ही नाम कमाया। पाडगॉव-कर और वसन्त वापट भी आजके मान्य किव है।

बद्दत प्राचीन कालसे उत्तरी भारतसे दक्षिणभारतका वना सम्बन्ध तीर्थक्षेत्रोंके कारण है। काशीक्षेत्र, प्रयागका त्रिवेणी-संगम तथा अन्य क्षेत्रोंके कारण दक्षिण भारतके ही क्यों, सभी हिन्दुओंका गमन वहॉपर होता आया है। अतः प्राचीन कालसे भाषाओंका आदान-प्रदान भी होता रहा। नामदेव जब उत्तरभारतमे घूमते थे, विशेषतः पंजाबमें, तब उन्होंने प्रचारकार्य किया, अतः 'ग्रन्थसाहब'में उनकी कविता भी संगृहीत है। वह कविता हिन्दीमें है। इसी तरह ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक सन्तोंने हिन्दी भाषामे अपने भजन गाये है तथा उपदेश-भरे गीतोकी रचना की है। निर्मण अद्वैतका प्रचार, सम्पण-भक्तिसे ज्ञान तथा मोक्षप्राप्ति, सञ्जनता, नीतिमत्ता तथा शील-संरक्षणकी रक्षा, उपदेश आदि विचारोंमे हिन्दी साहित्य तथा मराठी साहित्यमे काफी समानता है। खास-कर मराठी सन्तोने अपने विचार उत्तरभारतकी यात्रामे हिन्दीमें प्रकट किये है। इस तरह मराठीने हिन्दीको बहुत-कुछ दिया है।

हिन्दीसे भी मराठीने बहुत-कुछ लिया भी है। कबीर आदि सन्नोंके भजनोंका उपयोग भगवत् कीर्तन करनेवाले हरिदास अपने कीर्तनोंभे इतना करते हैं कि बिना उनके कीर्तनका 'पूर्वरंग' सफल ही नहीं होता।

नाथपन्थके साहित्यका प्रभाव ज्ञानेश्वरके गुरु तथा ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथपर भी हुआ। ये सभी भाई नाथ-पन्थी कहे जाते हैं।

कबीरकी उल्टवाँसियोंके समान ही एकनाथके 'भारूड' हैं। उन्होंने ईश्वरभक्तिको 'भृत' कहा है, जो किसीके श्ररीरमें प्रवेश करता है और उमकी सारी जिन्दगी बरवाद कर देता है। नामदेव भी उल्टबॉसियॉ तथा गृहार्थक अभंग लिखनेमे सिद्धहस्त है। —रा० वा० चि० मर्यादाजीव—दे० 'मर्थादामागं', 'पृष्टिजीय', 'पृष्टिमागं'। मर्यादापुष्ट—दे० 'पृष्टिजीव', 'पृष्टिमागं'। मर्यादापुष्ट—दे० 'पृष्टिजीव', 'पृष्टिमागं'।

सर्यादासार्ग-वल्लभाचार्यने अपने पृष्टिमार्गके निरूपणमें जीवोके लिए तीन मार्गीके अनुसरणका उल्लेख किया है-पृष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग । मर्यादामार्ग वैदिक या शास्त्रोक्त धर्मका मार्ग है। उसकी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्मकी वाणीसे हुई है। इस मार्गके अनुयायी ज्ञान और विधि-निषेधयुक्त कर्मका अनुसरण करके सायुज्य मुक्तिकी प्राप्ति-का उद्योग करते है। उनके लिए भगवान् साधन-परतन्त्र होता है, अर्थात वेद-विहित मर्यादाकी रक्षा उसके लिए आवश्यक होती है; उमीके अनुसार आचरण करनेपर वह फल दे सकता है, अन्यथा नहीं। मर्यादामार्गका सिद्धानत है-कर्मान्रूप फल। भक्ति भी मर्यादामागीय हो सकती है, जिसे साधन भक्ति भी कह सकते हैं। भक्तिके श्रवण-कीर्तन आदि नौ भेद मर्यादाभक्तिके ही है, भजन, पूजन आदि साधनोकी सहायतासे ही इस भक्तिकी उपलब्धि हो सकती है। वल्लभाचार्यने प्रपत्ति (आत्मसमर्पण)के भी (जो भक्तिके लिए नितान्त आवश्यक हैं) दो भेद किये है-मर्यादाकी प्रपत्ति और पृष्टिमागीय प्रगत्ति। मर्यादाकी प्रपत्तिमे कर्मका अनुष्ठान आवश्यक होता है। इसके विपरीत पृष्टिमागींय प्रपत्तिमे कर्मकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती, केवल भगवान्का अनन्य आश्रय ही भक्तका एकमात्र सहारा होना है। रागानुगा (रागानिका या श्रेम-लक्षणा) भक्तिसे भिन्न जो कृष्णभक्ति सम्प्रदायोमे प्रचलित रही है तथा तुलमीदास द्वारा प्रतिपादित रामकी भक्ति मर्यादा-भक्ति कही गयी है। उसके उपास्य राम मर्यादा-वतार थे, जब कि कृष्णका अवतार लीलावतार था।

जीवोके विविध प्रकार बतलाते हुए वल्लभाचार्यने एक प्रकारके मर्यादाजीव भी बताये हैं, जो मर्यादामार्ग (कर्म और ज्ञान)के पालन हेत्र ही जन्म लेते है और स्वर्गादि लोक या अक्षर सायुज्य मुक्तिके अधिकारी कहलाते है। वे पूर्ण पुरुषोत्तमकी सेवा(भक्ति)के योग्य नहीं होते (दे० 'पुष्टिमार्ग')। <del>--</del>র০ ব০ मर्यादावतार - भगवानके जिस अवतारकी लीला (चरित्र)मे मर्यादा पायी जाती है, उसे मर्यादावतार कहते है। रामका --वि० मो० श० अवतार मर्यादावतार माना जाता है मल-शिव या ब्रह्म ही जीवके रूपमें परिणत होता है। 'शांकर अद्वैत'के अनुसार 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' है । 'पर श्राम कलप सूत्र'मे इसी वानको यों कहा गया है कि "श्रीरकंचुकितः शिवो जीवो निष्कंचुकः परमशिवः", अर्थात् मायाके कंचुको (दे॰ 'कंचुक') या मलोंसे आच्छादिन शिव ही जीव है और मायाके कचुकोमे अनावृत जीव ही परम शिव है। 'कौल ज्ञान निर्णय'में थोड़े विस्तारसे मत्स्येन्द्रनाथने भी यही बात कही है कि "जीव द्वारा ही जगत्की सृष्टि हुई है, जीव ही तत्त्वनायक है, जीव ही पुद्गल है, जीव ही इंस है, वही व्यापक परशिव है। वही मन है, वही चराचरमे न्याप्त है, स्वयं स्वयंको जान लेनेपर वह जीव मुक्ति और मुक्ति दोनोका दाता है। आत्मा ही प्रथम पुरु है, आत्मा ही आत्माको बॉयता है, बॅथे हुए आत्माको आत्मा ही मुक्त करता है, यह काया भी आत्मा ही है, अपनेसे भिन्न जितने भी पदार्थ है, वे सब भी आत्मा हैं और यह, कि इस रहस्यको जिसने हृदयंगम कर लिया है, वहीं योगिगाट् है, वह साक्षात् शिव है, वह स्वय तो मुक्त है ही दूमरोको भी मुक्त करता है" (कौल्शान निर्णय १७।३३-३७)। तात्पर्य यह कि शिव या ब्रह्म ही जीव-रूपमे अपनेको परिणत करता है। इसमे माया उसकी सहायता करती हैं। माया ब्रह्म या शिवको मलोसे आच्छ।दित या बन्धुकित करती है और बंधुकित होकर वह जीव बन जाता है। ये मल नीन बताये जाते है--१. आणव, २. मायिक और ३. कर्म । आणव, अर्थात् अपनेको अणुमात्र समझना । इसमे आत्माके मम्बन्धमे या तो व्यक्ति-को कोई ज्ञान ही नहीं रहता या फिर यह ज्ञान भ्रान्त होता है। मायिक, अर्थान् तत्त्वतः जगत्के समस्त पदार्थ एक ही है, एक ही परमसत्ताके व्यक्त रूप है, अदैत और अभिन्न है किन्तु माथिक मलसे आवृत हो जानेके बाद शिवकी यह अभेदबुद्धि मारी जाती है और उसमें भेद बुद्धि आ जाती है। गोखामी जीके शब्दोमे उसमे "मै, त, मोर, तोर"का भेद आ जाता है। यह मेरा है वह तुम्हारा, यह मनुष्य है, वह पद्म, यह नीच है, वह ॲच-इस तरहके सभी विचार माथिक मलके परिणाम है। कर्मसे तात्पर्य है अनेक जन्मोम स्वीकत-संचित क्रमेंका संस्कार । ये ही तीन मल है, जिससे देष्टित करके माया शिवको जीव -रा० सि० बना देती हैं।

मलकृत -दे॰ 'स्फीमार्ग'।

मलयालम (भाषा तथा साहित्य) — पर्वत और सागरके बीचमे केरल भूमि फैली है। एक दन्तकथा प्रचित्त है कि इसे परशुराम जीने अपना परशु फेंककर बनाया था। अतः भार्गवन्ध्रेत्रके नाम से यह प्रख्यात है। हजारो वधीं से यह मलवार कहलातो आयी है। इसका प्रमाण आज भी मिलता है। ईसाके ५४५ वर्ष पहले ही विदेशियोंने 'मला' शब्दका प्रयोग करना आरम्म किया था। विशय काल्डवेल की राय है कि अरिवयोकी ओरसे इसको 'मलावार' नाम प्राप्त हुआ। ११५० ई०मे इडिसीने 'मिणवार' और १२७० ई० में कास्विनीने 'मलवार' शब्द केरलके लिए प्रयुक्त किया था।

इसका पहला नाम मलयाण्मा या मलयाय्म था। अर्थ है मलयालियोकी रीति। यह शब्द दादको मलयालं वन गया। 'अर्लंका अर्थ है राज्य। सह्यमाला(पर्वत)के पश्चिम मागकी भूमि होनेसे नाम सार्थक है और पहाबकी तराई होनेके कारण 'मलावार' नाम भी अर्थपूर्ण है। आज यह नाम केरल और उसकी भाषाके लिए प्रयुक्त होता है। मलयाल भाषा दाविडगोत्रकी है। केवल भाषाके अर्थमे

मेळवाल भाषा हा।वडगात्रका है। क्वळ माणक अथम जो तिमल शब्द प्रचिलित था, उसका तद्भव रूप है द्राविड >तिमल्>तिमलं>दिमलं>दिमलं>दिमलं भाषाकी उत्पत्तिके बारेमे कई मत है। कुछ लोगोकी राय है कि संस्कृतसे इसका जन्म हुआ है। विभक्ति, प्रत्ययरूप, सर्वनाम आदि ही तो भाषाकी भिन्नताको प्रकट करनेवाले अंदा है। इन वातोंमे सर्वथा अलग रहनेके कारण मलया-लमको संस्कृतकी सन्तान कहना विलक्कल गलत है। मलयालमको तिमलकी देटी वहनेवाले भी कम नहीं है। लेकिन भाषाविज्ञानके विद्याधियोके आगे यह राय मूल्यहीन है।

तिमल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम जैसी प्रमुख द्राविड भाषाओं के लिए एक भौलिक भाषा नो विद्यमान थी। यही 'मूल द्रविड भाषा' राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन, जलवायु और देश-प्रकृतिक कारण परिवर्तित और स्वतन्त्र बनी। उसीसे इन भाषाओं का विकास हुआ है। व्याकरणकी वानों मे वे अपने परिवारका अनुसरण करती है। चेन्तिमिलकी उत्पत्तिके पहले ही मलयालम अपनी अलग सत्ता जमाने लगी थी। इसी आशयको प्रकट करते हुए गुण्डरटने कहा है कि द्रमिल नामवाली तमिलकी शाखा मलयालम है। काल्डवैलके इस कथनका भी कि मलयालम तमिलकी उपशाखा है, यही आशय है।

काल्डवेल और स्टुवर्ट रावर्टसन, दोनों इस बातसे सहमत हैं कि तमिलमें व्याकरणका विकास होनेके पहले ही मलयालम स्वतन्त्र भाषा बन चुकी थी। केवल द्विड भाषाओंके वीच सहोदर-भावना ही है। यही आजकलका सिद्धान्त है। पिर्चमी पर्वत-एंक्तियोंके पिरचममें, कन्नडकी दिक्षणी सीमाके दिक्षणमें चार सौ मीलकी लम्बाई और १५५० मीलके व्यासमें स्थित प्रकृति-कोमल केरलकी मातृ-भाषा ही मलयालम है। ईसाकी चौथी दातींसे यह भाषा स्वतन्त्र बनी थी। लेकिन कई वर्षोंके बाद ही इसमें साहित्य निर्माण शुरू हुआ।

केरलमे दो तरहकी लिपियाँ प्रचलित थी। 'वट्टेपुत्तु' और 'कौलेपुत्तु'। विदेशियोंकी संगतिसे इसको 'वट्टेपुत्तु' नाम मिला। असलमें यह तिमल लिपियोसे भी अधिक पुरानी है। 'वट्टेपुत्तु'का शब्दार्थ है 'गोल लिपियाँ'। ये अपने नामको सार्थक करती है। 'चिल्पिनिकारम्' जैसा तिमल्यन्थ पहले इसी लिपिमे लिखा गया था। वर्णलके मतानुसार एरामिक या फिनिशियन लिपिसे इसका जन्म हुआ था, लेकिन बहुमतका स्वीकृत सिद्धान्त है कि अशोकन्की बाह्मी लिपिसे 'वट्टेषुत्तु'का विकास हुआ।

ईसाकी तीसरी शतीमें मावोंपोलोंने केरलका अमण किया था। उन्होंने लिखा है कि केरलका अपना लिए- समूह है। आर्य-द्राविडमंकर में जब संस्कृत शब्दोंका प्रयोग होने लगा तो नये 'प्रन्थाक्षर' उधार लेनेकी आवश्यकता पड़ी। 'वीरराधवटपट्टय' जैसी रचनाएँ इस बानकी सबूत है। नये शब्दोंके लिए नयी लिपियाँ बनने लगी। 'वट्टे- मुत्त'का रूपान्तर हुआ। इन्हीं सर्ग-विकास परिणःमोंसे आजकी मलयालम लिपिका जन्म हुआ। द्राविड रीतिके अनुसार वर्गके खरानुनामिकोंका प्रयोग ही मलायाली भी करते थे। संस्कृत शब्दोंके समावेशसे बादमें अनिखर मृद्ध घोषोंका जन्म हुआ। यह परिवर्तन 'मणिप्रवाल' भाषाकी उत्पत्तिकों भी व्यक्त करता है। इसमें कुल लिपि-विह्वोंकी संख्या '९ है। अंग्रेजीकी-मी वर्णमाला नहीं, बल्कि अक्षर-मालका प्रयोग ही केरलीयोंने स्वीकार कर लिया है।

न्याकरण और उच्चारणमे मलयालम भाषा हमेशा मितस्वभाव और प्रयत्नलाघवका पालन करती है।

जहाँ चेतना प्रव्यक्त है, वही छिंग-च्यवस्था है। अचेतनों-को नपुंसककी सीमामे डाल दिया गया है। नामोके पहले छिंग-चोतक शब्द लगा दिये जाते है।

मलयालममें केवल एकवचन और बहुवचन है। विशे-षण-विशेष्योंको लिगसमताको जरूरत नही।

उत्तम पुरुष सर्वनामके दो बहुवचन रूप है। एक केवल वक्ताको और दूमरा वक्ता और श्रोता, दोनोको प्रकट करता है। क्रियाओके विधिरूष और निश्चेष्ट्य है। संस्कृत और अंग्रेजी जैसी भाषाओमें जिस व्याक्षेपक सर्वनामका प्रयोग है, वह इसमें नहीं है, कर्मणि और भावेषयोग भी नहीं है।

जब भाषाका स्वतन्त्रतासे विकास होने लगा तो वह साहित्यको जन्म देने लगी। साहित्यके उदयानुसार स्थान-निर्णय लिया जाय तो यथाक्रम तिमल, कन्नड, तेलुगु और मन्यालम कह सकते हैं। किन्तु काल्डवैल, नस्ट्रकनोव जैसे पण्डितोंकी राय है कि बोलचालकी भाषामे सबसे अधिक प्राचीन चन्य मलयालम भाषामे पाये जाते है।

आरम्भमें केरलपर तिमल राजाओंका शामन था। इस समय मलयालियोंने 'चिलपिनकारम्' जैमे तिमल अन्थ रचे। प्राचीन शिलालेखोंमें भी तिमल भाषा दिखाई देती है, क्योंकि तिमल उस समयकी राजभाषा थी। धीरे-धीरे पाट्ट (गीत) और मणिप्रवाल नामकी दो शाखाओसे साहित्यका विकाम हुआ। 'रामायण'के युद्धकाण्डकी कथाके आधारपर एक प्राचीन तिरुविनांकोरके राजाने 'रामचिरत' नामक काव्य-ग्रन्थ रचा। यह मलयालम भाषाका प्रथम काव्यग्रन्थ है। द्राविड लिपियोंमे रची हुई इस पुस्तकमें तिमलका अंश पाया जाता है। ईस्वी सन् बारहवी शतीमें इसका निर्माण हुआ। इसमें जनताकी व्यवहार-भाषा नहीं, विकां विकासोन्मुख मलयालमकी मधुरता है। 'रामचिरत'-के चार शताब्दी पहले ही मलयालममे लिलत गान और प्राचीन कथाओका प्रचार हो गया था।

१४वीं शतीमें 'कणिदश रामायण' रचा गया। इसमें भी तमिल मिली हुई है। मप्रत्यय संस्कृत शब्दोंके प्रयोग भी पाये जाते हैं। प्रतिभाशाली किव रामप्पणिक्करने भावगम्भीर, किन्तु गेय छन्दोंमें रामायणकी कथा रची है। 'उण्णुनीली सन्देश' भी इसी कालकी रचना है। विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालमके सामंजस्यसे उत्पन्न मणि-प्रवाल शैलीमें यह सन्देश-काव्य रचा गया है। इससे यह बात एकदम विदित हो जाती है कि संस्कृतका प्रभाव धीरे-धीरे भाषामें बढता आ रहा था, किन्तु ५वी शतीमें जो 'रामकथा पाट्ट' रची गयी, उसमे तिमलकी बहुलता दिखाई देती हैं।

'कणिइश रामायण'के जमानेमें चेरुशोरि नपूनिरोने जो 'कृष्णगाथा' लिखी, वह मलयालम भाषामें थी; यह उसकी लिलत-मधुर शैलीकी अनर्धसम्पदा है। कृष्णकथाके आधारपर आपने जो महान् रचना की, उसमें मलयालम भाषा और मलयालम साहित्यकी पौर्णमी प्रम्फुटित हुई है।

देशके वीर साहसिक नेताओंकी वीरताका वर्णन करते हुए उत्तर केरळके अज्ञात कवियोंने ओजभरी भाषामें 'बटक्कन पाट्टकल' रचे हैं। इनमें भी कृष्ण-गाथाकी-मी अकलंक लिलत मलयालम शैलीका रूप प्रस्फुटित हैं। केरलमें भाषाके प्रादेशिक भेद मौजूद थे। अतः कालमे समानता होनेपर भी इन कृतियोकी भाषामें किसी तरहकी नमता नहीं दीखती। 'रामचरित' जैसे गीत और 'उण्णुनीली सन्देश' जैसे मणिप्रवाल कान्य १२वीं शतीके पहले ही लिखे गये थे।

धीरे-धीरे गीत और मणिप्रवालके लक्षण प्रकट करनेवाले रीति-प्रन्थ 'लीलातिलकम्'की रचना हुई। यद्यपि इसकी रचना संस्कृतमें की गयी है, तो भी उदाहरणके लिए असंख्य सुन्दर इलोक मलयालम काक्योते उद्धृत है। कालानुसार मलयालम साहित्यका निम्नलिखित विभाजन सर्वमान्य है—(१) प्राचीनकाल: ईसकी १४वी शतीतक, (२) नवीनकाल: ईसाकी १४वी शतीते।

धार्मिक आचार-विचारोंकी व्याख्या करनेवाले 'भद्रकालिप्पाट्ट', सर्पप्पाट्ट', 'तीयाट्टपाट्ट', 'कृषिप्पाट्ट', आदि गीत तथा 'तम्पुरानपाट्ट', 'कृणियाकुळ तुपोर' जैसी वीरगाथाएँ आरम्भकाळकी रचनाएँ है। 'भारत' और 'रामायण'की कथाओंके आधारपर 'रामचरित', 'कृण्णचरा-रामायण', 'भाषा भगवद्गीता', 'कृष्णगाथा', 'भारत-माला' जसी भावपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ इसी युगमे हुईं। 'गीता'का प्रथम अनुवाद भी इसी समय मलयालम माषामे हुआ।

इसी बीचमें मणिप्रवाल साहित्य भी विकसित होने लगा था। आर्थ-द्राविड संस्कृतियोके सामजस्यका गहरा प्रभाव इसमे दिखाई देता है। देशमे संस्कृतका प्रचार हुआ। केरलके नम्पृतिरि ब्राह्मणोने इसमे वडा योग निगा तिमलका जो प्रभाव भाषापर पड़ा था, उसे संस्कृतन लाव दिया। धीरे-धीरे कवियोंने विभक्त्यन्त संस्कृत शब्द और मलयालम शब्द मुक्ता-विद्रमोके समान ग्र्थकर श्लोक, कीर्तन, चम्पू जैसी रचनाएं करनी शुरू की। ज्योतिष, शिल्पशास्त्र आदिपर गध-यन्थ भी रचे गये।

कोट्टारकर तम्पुरानने रामायण कथा आठ भागोंमे बाँटकर कथावली साहित्यकी नींव डाली। उण्णायिवार्थर, कोट्टयतम्पुरान, इटियम्मन विभिष जैते महान् किवयोने इस शाखाको सम्पन्न किया। उण्णायिवार्थरका 'नलचिरतम्' अभिनययोग्यता, शिल्पसुभगता एवं सुकुमार भावोके लिए विख्यात है। केरलकी यह कला विश्व-कला-मण्डपका अमूल्य उपहार है।

सत्रहवी श्रतीमे कविकृत्युरु श्रीतुंचतेषुत्तरह्मका रंगप्रभेश हुआ। आपने मणिप्रवाल भाषाका परिष्करण किया, एक सार्वदेशिक भाषा-शैली सामने रख दो और भारत', 'अध्यात्मरामायण' आदि संस्कृत प्रन्थोका भक्तिपूर्ण तथा भावोज्ज्वल भाषामे अनुवाद किया। उन्होंने द्राविड़ छन्दोंका विकास किया। संक्षेपमे ये भाषा और भाव दोनोक सुभारक थे।

केरलके अप्रतिम हास्यकवि कुंचनय्यार चेरुश्होरी, प्युत्तउन आदि पूर्वज कवियोके समान स्मरणीय है। आपने नृत्त और गान, दोनोको मिलाकर 'तुङ्खल' नामक कलारूपकी स्थापना की। युरातन कथाओमे चतना मिलाकर केरलीय जीवनकी ओर उन्होंने तीखे परिहासके तीरोंकी वर्षा कर दी। उनकी वाणियोंका यह प्रभाव था कि चीट खानेपर भी लोग हॅसते-हॅसते लोट-पोट हो जाते थे। उनके बारेमे कई आलोचकोंने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि विश्व-साहित्यके हास्यरचना करनेवालोंमें उनका स्थान कभी दूमरा नहीं हो सकता। किवताको राज-दरवारों और पण्डितोंके बीचमेंसे निकालकर जनताके समक्ष लानेमें आपने जो महान् परिश्रम किया है, वह स्मरणीय रहेगा। संस्कृत नाटकोंके अनुवाद और पौराणिक कथाके आधारपर नयी मौलिक रचनाएँ इस समय अधिकतासे होने लगीं।

उन्नीसवी शतीके उत्तराईमे अंग्रेजी भाषाका प्रचार होने लगा । मुद्रणालयोकी स्थापना भी हो गयी । विश्व-साहित्य-की विभिन्न प्रवणताओंका परिचय प्राप्त हुआ। इस नये अनुभवने मलयालम साहित्यका कायापलट कर दिया। केरलवर्म वलिय कोथित्तम्परानके समयसे केरलमें 'सांकेतिक साहित्य' क्षीण हुआ और काल्पनिक साहित्यकी प्रगति होने लगी। पौराणिक कथाका रोमन्थ छोड़ दिया गया। रूप और भावमें नवीनता आने लगी । अभिव्यंजना, विषय तथा जीवन प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोणमें परिवर्तन हुआ । भाव-तीवना इस नयी प्रवणताशी जान बन गयी! कहानी, उपन्यास, नाटक जैने कलारूपोंकी प्रचरता होने लगी। कुमारनाशन्, वहुत्तील नारायण मेनीन, उल्लूर परमेश्वर-य्यर आदि कवियोंकी प्रतिभासे भावगीतो और खण्डकान्योंका विकास हुआ। इंकर कुरुप, चंगम्पुप कृष्ण पिल्छैने भाषा-कवितामे नयी जान फूँक दी। वहन्तोलने अपने भावगीतोंसे नौजवानोंकी आत्मामें स्वतन्त्रताकी तृष्णा जगा दी। प्रेमगायक कुमारानाशन्ने प्रेमकी महनीयताका यशोगान किया और हिन्दू जनताके दिन्योंसे जातिको दूर करनेकी सफल चेष्टा की। सियेदिनाकूरके इतिहासकी वानावरण बनाकर सी० वी० रामन पिल्लैने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। स्व० ई० वी० कृष्ण पिन्लै, के० सुकुमारन् आदिने कहानी-कलाकी नींव डाली। स्व० ओ० चन्त्रमेनवनने 'इन्द्लेखा', 'शारदा' जैसे सामाजिक उपन्यासोका निर्माण किया। मलयालम सःहित्यके प्रारम्भकालीन सामाजिक उपन्यासोमें इनका स्थान अदितीय है।

१९४० ई०तक आकर साहित्यकी दिशा बिल्कुल बदल गयी। साहित्य-रंगमण्डपमे सकीर्णना और राजनीतिका विकास होने लगा। रूसकी क्रान्ति, दूसरे महा-युडका विनाशकारी परिणाम, गुलामीकी जंजीरोमें जकड़े हुए राष्ट्रोंकी विवशता, विज्ञानकी अपथयात्रा आदिने आधुनिक कवियोंकी आत्माको सचेत किया। फलतः उनकी आत्मामे विश्वमानवका विराद् रूप प्रकट हुआ। अपनी काल्पनिक कविताके गौरीशंकर, शंकरकुरपने इसी विश्वमानवको खडा किया है। बालामणि अम्माने नारीकी आत्माका अलौकिक परिवेश कवितामें दरसा दिया है।

नौजवान कवियोंमे वैलोप्पिछि श्रीधर मेनवन, इडइरोरि गोविन्दन नायर, पी० भास्करन्, अन्युनन नम्पू-तिरि, ओलप्पमण्णा, वयलार रामवर्मा, पालानारायण नायरके नाम विशेष उल्लेखनीय है। वैलोप्पिछिकी कविताएँ शत-प्रतिशत केरलीय है। उनकी भावना केरलीय जीवनकी शिराओके समान फैली है। मानव-हृदयकी अन्यक्त वेदनाको प्रकाशमे लाने और उसे कलासुभग करनेमे इटइ-शेरी अप्रतिम है।

एन० वी॰ कृष्णवार्यरका क्षेत्र बिलकुल अलग है। आप केरलीय कवितामे प्रयोगवादके प्रचारक है। आपकी मौलिक कविताएँ आधुनिकताकी डोरी पकडकर चिरनवीन हो जाती है। भावोचित भाषाके प्रयोगमे उनकी निपुणता प्रशंसनीय है।

समालोचनाकी सभी शाखाएँ मलयालम साहित्यमे विकसित हो गयी है। विषयप्रधान समालोचनामे पी० शंकरन् नय्यर, पी० दामोदरन् पिल्ले और एम० गुप्तन् नायरने युगान्तर कर दिया है। विषयप्रधान समालोचनामे कुट्टिकृष्ण भारार प्रमुख है। आपकी पैनी दृष्टि और व्यंग्यभरी ओजपूर्ण शैली प्रशंसनीय है।

तुलनात्मक समालोचनाके आचार्य ए० बालकृष्ण पिल्ले हैं। आपकी सर्वतोमुखी प्रतिमा अपना प्रतिद्वन्दी नहीं जानती। इसी शाखामें प्रो० मुण्डक्शेरीने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दार्शनिक एवं वैश्वानिक समालोचकके नामसे मास्करन् नायर प्रख्यात है। एन० वी० कृष्णवार्यर और के० सुरेन्द्रन् मनोवैश्वानिक समालोचनाकी सफलताके प्रतीक है।

आजकल केरलके प्रत्येक गाँवमें नाटकोल्सव मनाया जाता है। केरलीय जनताक बीचमे नाटकका अभूतपूर्व प्रचार है। सिद्धहस्त नाटक-रचियताओंकी यहाँ कमी नही। एन० कृष्ण पिल्ले, इन्सनके पदचिहोंपर चलते है। गाँवका जीवन इडइशेरीमे मुखरित होता है। ले० टॉमस, टी० एन० गोपिनाथन् नायर, के० टी० मुहम्मद और एन० पी० मुहम्मदके नाटक अधिक जनप्रिय है। नाटक-शाखाके विकासके लिए उत्तर और दक्षिणमें दो कला-समितियाँ स्थापित भी हो चुकी है।

कहानी और उपन्यासका क्षेत्र पर्याप्त रूपसे विकसित है। आरम्भकालमे मीपासॉ, चेखन, मॉम आदिकी प्रेरणा ग्ही, लेकिन बादको यह कला अपने पैरो आगे बटी। कहानी और उपन्यासकी कला दिन-प्रतिदिन नवीन हो रही है। तकि, देव, बशीर, कारुर, विक, एस॰ के॰ पोट्टकाड जैसे भाषुक कलाकार इस क्षेत्रमे प्रमुख है। प्रतिभाशाली नौजवान लेखकोकी संख्या तो असंख्य है।

जीवनीके क्षेत्रमें ए० डी० हरिश्चर्मा, सीताराम, पी० के० परमेश्वरन् नायर और के० सुरेन्द्रन्की लेखनीने सफलता प्राप्त की है। श्रमण सम्बन्धी साहित्यमें एस० के० पो ट्टेक्काड अद्वितीय है। निवन्धमे के० पी० केशवमेनवन, के० दामोदरन्, सी० जे० तोमस और एम० गोविन्दन्की सेवाएँ कृतज्ञतासे स्मरणीय हैं। हास्य-साहित्यकी मेखला ई० पी० कृष्ण पिल्लै, संजयन, आनन्दकुटुन्, राजराजवमी और एन० पी० चेलेप्पन् नायरने सम्पन्न हैं।

अाजकल केरलमे सैकडो मासिक पत्रिकाएँ और साप्ताहिक पत्र निकल रहे है। इनमें मौलिक और अन्दित कथा, कविता, लेख आदि प्रकाशित हो रहे है। हिन्दी, वैंगला, मराठी जैसी भाषाओका परिचय बढ़ता जा रहा है। विद्व-साहित्यकी नवीन प्रवणताओंसे केरल परिचित

रही है। निस्सन्देह उनकी लेखनी केरलकी कला और साहित्यमे अभूतपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करेगी। —ए० चं० मिल्लका (माणिकुल्या)—उपरूपकका एक भेद विशेष। भावप्रकाश'के अनुसार शृंगार रस, कैशिकी वृत्ति तथा दो अक होना आवश्यक है। इसमे विदूषक तथा विद्का प्रयोग अपेक्षित है। गर्म तथा विमर्श सन्धियोके प्रयोग, कथानकके रहस्यका उद्घाटन प्रथम अंकमे नहीं होना चाहिए। कथा समाप्ति रहस्योद्घाटनसे होना आवश्यक है। —यो० प्र० सि० मसनवी-मसनवीका शाब्दिक अर्थ 'दो' होता है। यह काव्यका ऐसा रूप है, जिसके हर शेरके दोनो मिस्रे एक ही रदीफ और काफियेमे होते है। हर शेरका रदीफ और काफिया आपसमे अलग-अलग भी हो सकता है।

है। सिद्धहस्त भावुक कलाकारोकी एक नयी पीढी आगे बढ

शोर काफिया आपसमे अलग-अलग भी हो सकता है। इसलिए मसनवीमे शायरको कमबद्ध विषयवर्णनमे बड़ी आसानी होती है। कसीदा या गजलमे सव शेरोमे एक ही रदीफ और काफियेकी पावन्दीके कारण कमबद्ध वर्णन कठिन होता है, परन्तु मासनवीमे यह पावन्दी नहीं है। मसनवीके लिए सात बहुरे नियत है। इन्हीं सात बहुरों मसनवीमे शेरोंको समनवी लिखी जा सकती है। मसनवीमे शेरोंको

मसनवाक लिए सीत बहुर नियत है। इन्हा सात बहुरों में मसनवी किखी जा सकती है। मसनवीमें शेरोंकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। छोटी मसनवियों आठ, दस, बारह शेरोकी भी है और बड़ी मसनवियों शेरोंकी संख्या हजारोतक पायी जाती है। फारसीमें फिरदौसीका प्रसिद्ध 'शाहनामा' मसनवी ही है। इसमें साठ हजार शेर है।

मसनवीमे विषयंकी भी कोई सीमा नहीं है। किव जिस विषयपर चाहे, मसनवी लिख सकता है। उर्दू मसनवी लिखनेवालोंने मसनवियोमे आख्यान भी लिखे है, भगवान्की प्रशंसा भी की है तथा साहित्यिक तत्त्वो और प्राकृतिक दश्योको भी चित्रित किया है।

'मसनवी'की खूबी यह है कि जिस घटना या बृत्तका वर्णन किया जाय, उसे सरलता तथा विस्तारके साथ इस प्रकार वर्णित किया जाय कि वह घटना ऑखोके सामने फिरने लगे और पूरा वातावरण चलचित्रकी तरह सामने आ जाय।

उर्दूकी मसनवियोते हमको साहित्यक तत्त्वोके साथ बहादुरीकी घटनाओ तथा उन सामाजिक स्थितियोका झान होता है जो तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाजका यथातथ्य परिचय देती है।

उर्दू अधिकतर किवयोंने छोटी-वडी मसनवियों लिखीं है। इनमें 'मीर', 'मीरहसन', 'दयाशंकर', 'नसीम', मिर्जा 'शौक' और 'कलक' मशहूर है। 'रामायण' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता'के उर्दूमें जितने अनुवाद हुए है, वे सव 'मसनवी'के रूपमें ही है। उर्दू के नये किवयोंने भी मसनवियां लिखी है। उनमें नयी सामाजिक और राजनीतिक चेतना मिलती है। इनमें इकवालका 'साकीनामा' और सरदार जाफरीका 'नयी दुनियाको सलाम' अधिक प्रसिद्ध है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक काव्यकी परम्परामें इसी काव्य-रूपको अपनाया गया है। जाथमीका 'पद्मावत' मसनवी ही है। इस दृष्टिसे मसनवीको भी एक ऐसे कथाकान्यका प्रतिरूप कह सकते है, जो महाकान्यके निकट पहुँच सकता है। — म० महिफ्ल — सांकेनिक रूपसे उपासना अथवा साधनाका स्थान। जगत्के अर्थमे भी सूफी कवि इसका प्रयोग करते हैं। — रा॰ पृ० नि०

महाकरुण-दे० 'करुण रस'। परिभाषा निश्चित करनेवाले सहाकाच्य-महाकाव्यकी प्राचीनतम भारतीय आलंकारिक भामह (पॉचवी द्याताब्दी ई०) है। उनके अनुसार लम्बे कथानकवाला, महान् चरित्रोपर आश्रित, नाटकीय पंचसन्धियोसे युक्त, उत्कृष्ट और अलंकृत शैलीमें लिखित तथा जीवनके विविध रूपों और कार्योंका वर्णन करनेवाला सर्गबद्ध सखान्त काव्य ही महाकाव्य (काव्यालं), १:१९:२१) होता है। दण्डी-(छठी शतान्दी ई०)ने भामहकी परिभाषाको समेटते हुए भी महाकाञ्यके स्थल बाह्य लक्षणोंपर अधिक जोर दिया है (काव्यादर्श, १:१४:१९)। उनके अनुसार महाकाव्य वह है, जिसका कथानक इतिहास या कथासे उद्भूत हो, जिसका नायक चतुर और उदात्त हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्गफलकी प्राप्ति हो, जो अलंकत, भावों और रसोसे भरा हुआ और बड़े आकारका, सर्गबद्ध और पंचसन्धियोसे युक्त काव्य हो। दण्डीने महाकाव्यके प्रारम्भ, वर्णनीय वस्त-व्यापार तथा सर्ग और छन्दके सम्बन्धमे विशेष ध्यान दिया है। इसने स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनके लक्ष्य-ग्रन्थ 'महाभारत', 'रामायण' नहीं, बल्कि अरवधीष और कालिदासके महाकाव्य थे। दण्डीकी परिमाषा ही आगे चलकर अधिक प्रचलित हुई और हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ क्विराजने उसीमें कुछ बातें जोड़कर अपने लक्षण बनाये। हेमचन्द्र (बारहवी शताब्दी ई०)ने यद्यपि रामायण-महा-भारतको ध्यानमें नही रखा, पर संस्कृतके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंशके महाकाव्योंकी ओर उनकी दृष्टि गयी थी। "पद्य प्रायः मंस्कृतप्राकृतापभ्रंशयाम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्य-वत्तसर्गाश्वाससन्ध्यवस्वन्धकवन्धं सत्संधिशब्दार्थवैचित्रयोपेतं महाकाव्यं (काव्यानु०, अ०६), फिर भी उनकी परिभाषा

दण्डीकी परिभाषासे अधिक भिन्न नहीं हैं। उनकी परिभाषामें

नवीनता इतनी ही है कि उन्होंने लक्षणोंको शब्दवैचित्र्य.

अर्थवैचित्र्य और उभयवैचित्र्यमें रसानुरूप सन्दर्भ,

अर्थानुरूप छन्द, समस्त लोक-रंजकता आदिका होना

आवश्यक माना है (काव्यानु०, अ०८)। उन्होंने 'देश-

जीवनके व्यापक अनुभवो और कार्योंका चित्रण करनेकी आवस्यकता बतायी है। सम्भवतः यह लक्षण उन्होंने

प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक, ऐतिहासिक और

रोमांसिक शैलीके महाकान्योंको ध्यानमें रखकर निर्धारित किया है। विश्वनाथने पूर्ववर्ती सभी आचायोंके मतोका

समाहार करके, पर विशेष रूपसे उण्डीकी परिभाषाके

आधारपर, अपने लक्षण निर्धारित किये है (सा० द०,

६: ३१५-३२८) । उनके आदर्श ग्रन्थ माघ, भारवि और

श्रीहर्षके महाकाव्य है। इसलिए उन्होंने अपनी परिभाषामे

महाकान्यके बाह्य या स्थायी लक्षणोंका ही अधिक निर्देश

काल-पात्रचेष्टा-कथान्तरानुषजम्' कहकर

नहीं। उन्होंने यह शर्तभी लगादी कि महाकाव्यका नायक कुलीन क्षत्रिय या देवना होना चाहिये और महाकान्यमें आठ या आठसे अधिक सर्ग होने चाहिये। रुद्रट (सातवीं शताब्दी ई०)की महाकाव्य सम्बन्धी मान्यता उपर्युक्त सभी आचार्योंकी मान्यनाओसे अधिक व्यापक है। (काव्यालं), अ०१६: २-१९) । उन्होने सस्क्रतके परवर्ती महाकाव्योंके अतिरिक्त रामायण-महाभारत तथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृतके पौराणिक रोमांसिक महाकाव्योको भी ध्यानमे रखकर महाकाव्यके लक्षण निर्घारित किये है । उन्होंने पद्यबद्ध कथाके उत्पाद्य और अनुत्पाच तथा महत् और लघु, ये दो प्रकारके भेद करके केवल महत्प्रबन्धको ही महाकान्य कहा है, चाहे उसकी कथा उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य । उन्होंने अवान्तर कथाओंकी आवश्यकताके साथ युग-जीवनके विविध रूपों, पक्षों और घटनाओंको चित्रित करनेकी बात बहुत स्पष्ट रूपमें और विस्तारसे कही है। उनके अनुसार महाकान्यका नायक द्विजकुलोत्पन्न, सर्वगुणसम्पन्न, महान वीर, विजिगीप, शक्तिमान्, नीतिज्ञ, कुशल राजा होता है और अन्तमें उमीकी विजय होती है। साथ ही, महाकाव्यमें प्रतिनायक और उसके कुलका भी वर्णन रहता है । उत्पाद्य कथानकवाले महाकाव्योमें रुद्रके मतमे प्रारम्भमें सन्नगरी-वर्णन और नायकके वंशकी प्रशंसा होती है और उसमे अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वोंका भी समावेश रहता है। ये वार्ते प्रायः कथा-आख्यायिकार्मे मिलती है। अतः रुद्रटने कथात्मक (पौराणिक-रोमांसिक) महाकाव्योंकी स्थिति भी स्वीकार को है, जिसे अन्य आचार्योंने नहीं माना है। इस नरह पद्यवद्ध कथाका, जिसे पाश्चात्य देशोंमे रोमान्स या रोमांसिक कथा-काव्य कहा जाता है, महाकाव्यपर जो प्रभाव पड़ा है, उसे केवल रुद्रहने ही परिलक्षित किया है। प्राचीन पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों मे अरस्तूने महाकाव्यके

किया है, उसके मूल तत्त्वींपर आधारित स्थायी लक्षणींका

सम्बन्धमें सबसे अधिक विचार किया है। यूनानमे उस समय काव्यके तीन रूप, महाकाव्य, गीनिकाव्य और दःखान्त नाट्यकाव्य प्रचलित थे। अरस्तुके अनुसार महाकाव्य वह काव्यरूप है, जिसमे कथात्मक अनुकरण होता है, जो पटपदी छन्द (हेक्सामीटर)मे लिखा जाता है, जिसका कथानक दुःखान्त नाटकके समान अन्वितियुक्त और किसी सम्पूर्ण आद्यन्त घटनाका वर्णन करनेवाला होता है। और कथानकका आदि, मध्य और अन्तयक्त जीवन्त विकास दिखाया जाता है, जिससे वह जीवित प्राणीकी तरह पूर्ण इकाई प्रतीत होता है। महाकान्यमे समुचित आनन्द प्रदान करनेकी क्षमना होती है। उसका रूप-गठन इतिहाससे बहुत भिन्न होता है, क्योंकि कवि महाकाव्यकी सामग्रीका इतिहाससे इस प्रकार चयन करता है कि उसमे सम्बन्धयुक्त अन्वित दिखलाई पडती है, जो इतिहासमे नहीं होती। अरस्त्के अनुसार कवि पूर्वकालीन या समकालीन घटनाओं-का वर्णन भी महाकान्यमें अवान्तरकथाके रूपमे कर सकता है अथवा विविध वस्तु-व्यापारोका वित्ररणात्मक वर्णन कर सकता है, जिससे युग-जीवनके विविध पक्षों और रूपोका सम्यक उद्घाटन हो सके। उन्होने महाकाव्यमें नाटकीय तत्त्वो, अतिप्राकृत और अलौकिक कार्यों या घटनाओ, कथानकमे प्रयुक्त कल्पना और सम्भावनापर आधारित तथ्यों तथा महाकाव्यकी भाषा और शब्द-चयनपर भी विचार किया है। इस तरह उनकी परिभाषा गाथाचकोसे विकसित विकसनशोल महाकाव्योके आधारपर निर्मित हुई है। जो यूरोपके परवतीं अलंकृत महाकाव्योपर पूर्णतया घटित नहीं होनी।

प्रारम्भिक या विकसनशील महाकाव्योंमे अनिवार्य रूपसे रोभांसिक तत्त्व रहा करते थे। उन महाकान्योमे रोमांसिक कल्पनाएँ अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वो तथा कथानक-रूढियोका आश्रय लेकर प्रयुक्त हुई है। विजिलने शास्त्रीय शैलीके जिन महाकाव्योंका प्रारम्भ किया, उनमें ये रोमांसिक तत्त्व अधिक नहीं होते। इसी कारण आगे चलकर महाकान्य और रोमांसिक कथाकान्य (रोमांस), ये दो भिन्न कान्यरूप हो गये । मध्ययुगमे यूरोपकी परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें रोमांसिक कथाकाव्योंका बहुत अधिक प्रचार हुआ और महाकाव्यका उदात्त काव्यरूप भुला दिया गया। किन्तु पुनर्जागरण-युगमे महाकाव्यका सग्मान फिर बढा और दाँते, परियास्टो, स्पेन्सर, कैमांस, टैसो मिल्टनने उसे चरमोत्कर्षपर पहुँचाया। इनमेसे कुछके महाकाव्योपर रोमांसिक कथाकाव्यका प्रभाव बहुत अधिक है। पुनर्जागरण-युगके आलोचकोमे इस प्रश्नपर बहुत मतभेद था कि महाकाव्यमे रोमांसिक तत्त्वोका क्या स्थान होना चाहिये। इटलीका प्रसिद्ध लेखक दावेनॉत तो शास्त्रीय महाका ब्योंका इतना पक्षपानी था कि वह एरियास्टो और दाँतेके महाकाव्योंको, उनकी रोमांसिक प्रवृत्तिके कारण, महाकाव्य माननेको तैयार नहीं था। इसके विपरीत टैसोने, जिसने स्वय रोमांसिक शैलीका महाकाव्य लिखा है, अपनी आलोचनाओंमे एरियास्तोका जोरदार समर्थन किया है। उसने महाकाव्यको शास्त्रीय नियमोके बन्धनमे जकड़नेवालों-का विरोध करते हुए कहा कि महाकाव्य और रोमांसिक कथाकान्यमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सोलहवी शताब्दीतक तो टैसोका यह सिद्धान्त मान्य रहा, पर सत्रहवी-अठारवीं शताब्दीके आलीचकोने दोनोको भिन्न काव्यरूप माना और महाकाव्यकी उदात्तता, गम्भीरता, अन्विति और आदर्शींपर अधिक जोर दिया । बॉस्का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

आधुनिक युगके पाश्चात्य आलोचकोंने महाकान्यकी परिभाषाको अधिक न्यापक बनानेका प्रयत्न किया है। इन्ल्यू० पी० करके मतसे "महाकान्यमे चरित्रोंकी कल्पना बहुत ही स्पष्ट और सम्पूर्ण रूपमे की जाती है, अतः उनकी विभिन्न मनःस्थितियो और समस्याओक चित्रणके कारण महाकान्यमें नाना प्रकारके दृशों और गुणोंका चित्रण स्वभावतः हो जाता है। इस प्रकार इसमे समग्र जीवनके कार्य-कलाप जीवन-कथाका रूप धारण कर लेते है। महाकान्यकी सफलता कविकी कल्पना-शक्ति और चरित्र-चित्रणपर निर्मर होती है। कुछ महांकान्योंमे कथानक यद्यपि नाटकीय गुणोंसे युक्त नहीं होता और नायक महक्त-होन होता है, फिर भी ऐसे कथानकोंमें एक विशेष गरिमा होती है, जिससे वे महाकान्य माने जाते हैं" (एपिक एण्ड

रोमांस, पृ० १७)। अंग्रेजीके एक अन्य आलोचक एवर क्रोम्बीका कहना है कि बड़े आकारके कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जब उसकी शैली महाकाव्यकी शैली होगी, तभी उसे महाकान्य माना जायगा और वह शैली कविकी कल्पना, विचारधारा तथा उनकी अभिव्यक्तिमे जुडी रहती है। इस शैलीके कान्य (महाकान्य) हमे एक ऐसे लोकमे पहुँचा देते है, जहाँ कुछ भी महत्त्वहीन और असारगभित नहीं होता। महाकान्यमें एक पृष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है जो उसकी गतिका आद्यन्त संचालन करता है (दि एपिक, पृ० ४१-४२)। सी० एम० बावराने महाकाव्यकी परिभाषा निश्चित की है : "महाकाव्य बृहदाकार कथात्मक काव्यरूप है, जिसमे कुछ महत्त्वपूर्ण और गरिमायुक्त घटनाओका वर्णन होता है और जिसमें कुछ चरित्रोंके कियाशील और भयंकर कार्योंसे भरे जीवनकी कथा होती है। उसके पढनेसे हमे एक विशेष प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्यकी महत्ता, गौरव और उपलब्धियोंके प्रति दृढ आस्था उत्पन्न करते हैं" (फ्रॉम विजल द्व मिल्टन, पृ० १) । अन्तमे यहाँ स्वच्छन्दतावादके प्रवर्तक वाल्टेयरका मत दिया जा रहा है, जिसे मैकनील डिक्सनने महाकाव्य-की सबसे ज्यापक और समीचीन परिभाषा मानकर उद्युत किया है-'ऐसे काव्यग्रन्थ ही महाकाव्य नामके अधिकारी है, जिनमे किसी महती घटनाका वर्णन होता है और जिन्हे समाज न्यवहारतः महाकान्य मानने लगते है। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थानपर घटित होनेवाली हो या उसका नायक ससारभरमे भटकता फिरे, चाहे उसमे एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयंकर क्रोधी हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमेसे कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागरके हो या धरतीके, स्वर्गके हो या नरकके, इससे कुछ नहीं वनता-विगड़ता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तबतक महाकाव्य कहा जाता रहेगा, जबतक आप उसके गुणाके अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते" (इंग्लिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्टी: पृ० ९)।

वाल्टेयरका अभिप्राय यह है कि महाकान्यमे कुछ ऐसे
गुण होते हैं, जो भले ही शब्दोंमे न्यक्त न किये जा सकें, पर
समाज अपनी सहज बुद्धि द्वारा उन्हें पिहचानता है। अतः
किसी कान्यका महाकान्य होना कुछ बाह्य लक्षणो या
परम्परागत रुढिथोंके अपनाये जानेपर नहीं, बिक्क समाजकी स्वीकृतिपर निर्भर है। उस स्वीकृतिके लिए वाल्टेथरने
केवल एक शर्त रखी है और वह है महाकान्यमें घटनाका
महती या गरिमामयी होना। इस तरह वाल्टेयरने यह
सिद्ध किया है कि संकीर्ण मानदण्डसे महाकान्यका स्वरूपनिर्णय नहीं हो सकता। मैकनील डिक्सनने भी इसी मतका
समर्थन करते हुए लिखा है—"यचिप महाकान्यका एक
निश्चित स्वरूप होता है, पर उसे संकीर्ण लक्षणोके बन्धनमें
नहीं बॉधा जा सकता। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय महाकान्यका
यह नियम कि उसमें कियत और अविश्वसनीय आश्चर्यके
तक्त्व नहीं होने चाहिये, यदि हदतापूर्वक स्तीकृत किया

जाय तो अनेक महान् महाकाव्योंको महाकाव्यकी श्रेणीसे निकाल देना पड़ेगा" (वही, पू० १८-१९) । वस्तुतः महा-कान्यकी ऐसी न्यापक परिभाषा होनी चाहिये, जिसके अनुमार शास्त्रीय, रोमांसिक, नाटकीय, मनोवैद्यानिक, प्रतीकात्मक आदि सभी प्रकारके तथा सभी देशो और कालोंके महाकाव्योंकी परख हो सके। ऐसी एक परिभाषा यह हो सकती है-"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्त कथा-प्रवाह या अलंकत वर्णन अथवा-मनोवैज्ञानिक चित्रणसे युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक हो, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमे यथार्थ, कल्पना या सम्भावनापर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रोंके महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्तका पूर्ण या आंशिक रूप-में वर्णन हो, जो किसी युगके सामाजिक जीवनका किसी-न-किमी रूपमें-प्रतिनिधित्व कर सके, जिसमे किसी महत्प्रेरणासे अनुप्राणित होकर किमी महदुदेश्यकी सिद्धिके लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्रयोत्पादक घटना या घटनाओंका आश्रय लेकर संक्षिष्ट और ममन्वित रूपसे जातिविशेष या युगविशेषके समग्र जीवनके विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्योंका वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामयी और उदान्त हो कि युग-युगान्तरतक महाकान्यको जीवित रहनेकी शक्ति प्रदान कर सके"।

महाकान्यको इस परिभाषामे विभिन्न युगो और देशोके विभिन्न शैलियोके महाकान्योमे प्राप्त स्थायी लक्षणोका समावेश हो गया है। उन्हें मोटे तौरपर महाकान्यके निम्नलिखित अवयवोंके स्वरूपमे विभाजित करके उपस्थित किया जा सकता है—१. महदुदेश्य, महत्प्रेरणा और महत्ती कान्य-प्रतिभा; २. गुरुत्व, गाम्भीयं और महत्त्व; ३. महाकार्यं और युगजीवनका समग्र चित्रण; ४. सुसंघटित जीवन्त कथानक; ५. महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र; ६. गरिमामयी उदात्त शैली; ७. तीव्र प्रतिभान्वित और गम्भीर रस-न्यंजना; ८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता।

ये नत्त्व या लक्षण सर्वाश या अधिकांशमें जिन कान्योमें प्राप्त होंगे, वे ही वास्तविक रूपमें महाकाव्य-पदके अधिकारी हो सकते है। यो तो महाकाव्य-रूपमें लिखे गये या माने गये प्रबन्धकाच्य प्रत्येक देशमें बहुत अधिक मिलते है, पर उनमे सभी वास्तविक महाकाव्य नहीं होते। महाकाव्यके लक्षणोंका अनुसरण करके अथवा प्रसिद्ध महाकान्योंका अनुकरण करके लिखे जानेके कारण ही कोई काव्य महा-काञ्यकी श्रेणीमे नहीं प्रनिष्टित हो सकता। ऐसे न जाने वि.तने बृहदावार यन्थ भारत और यूरोपमें लिखे जा चुके है, पर उनमेमें अधिकतर या तो महाकाव्य माने नहीं गये या महाकालने उन्हे विस्मृतिके गर्भमें दकेल दिया। दूसरी ओर ऐसे कान्य, जिनके कवि या तो अज्ञात है अथवा जो न जाने कितने हाथोकी रचना है, और ऐसे काव्य-लेखकोंने कभी सोचा भी नहीं था कि वे महाकान्य लिख रहे हैं, कालान्तरमें ज्यापक प्रभाववाले महाकाज्यके रूपमें मान्य हुए हैं। ऐसे कान्योंने युग-युगतक किसी विशेष देश, जाति या समाजके जीवनको प्रभावित और आनिस्ति किया है। यही कारण है कि नाटक, कथाकाव्य, इतिहास-पुराण और गीतिकाव्यके अर्थोकी जहाँ कोई गणना नहीं हो सकती, वहाँ किसी भाषाके महाकाव्योंके नाम उँगलियोंपर गिने जा सकते है और उस भाषाके जाननेवाले अधिकांश लोग उन्हें अच्छी तरह जानते रहते हैं। ऐसा इसलिए हैं कि महाकाव्य हर समय और हर कि द्वारा नहीं लिखा जा सकता। उसका एक उपयुक्त समय होना है और जब कोई दिरार् चेतनावाला महान् कि उस उपयुक्त अवसरको पहिचानकर तत्कालीन सामाजिक आवस्यकताओंको पूर्ति अनजाने ही करनेको चेष्टा करता है तब सच्चे महाकाव्यका निर्माण होता है।

संसारके सभी देशोंमें जहाँ महाकाव्यकी रचना दूई है, उसकी परम्परा दो धाराओमें विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है-मौखिक परम्परावार्ला धारा और लिखित परम्परावाली धारा। यद्यपि इन दोनोंमे बहुत अन्तर है, पर वस्तुनः दोनों महाकान्यकी ही धाराएँ है, क्योंकि दोनोंके मूल तत्त्व एक ही है। पहले प्रकारके महाकान्योंको प्राकृत या विकसनशील महाकाव्य (ऑथेण्टिक एपिक या एपिक ऑफ ग्रोथ) कहते है और दूसरे प्रकारके महाकाव्यों-को साहित्यिक या अनुकृत अथवा अलकृत महाकाव्य (लिटरेरी या इमिटेटिव एपिक या एपिक ऑव आर्ट)। अनेकानेक अज्ञात कवियोकी प्रतिभाके योगसे कण्ठानुकण्ठ विकसित होनेवाले महाकाव्य प्रथम धारामे और विशिष्ट कवियो द्वारा अपनी प्रतिभा और कला-प्रदर्शनको न्यक्त करनेकी दृष्टिसे लिखे गये महाकाव्य द्वितीय धारामे आते हैं। यूरोपके प्राचीनतम महाकान्य 'इलियड' और 'ओडेसी' है, जो होमरकृत बताये जाते हैं, पर वस्तुतः जिनका मौखिक परम्परामे सैवडो वर्षोंमे विकास हुआ था। इंग्लैण्डका 'वियोवन्फ', जर्मनीका 'निवलगेनलीड', फ्रांसका 'सांग ऑव द रोलॉ' इसी प्रकारके कण्ठानुकण्ठ विकसित महा-काञ्य हैं। पहली शताब्दीमे विजलने होमरके महाकान्योके अनुकरणपर, किन्तु शास्त्रीय शैलीमें 'इनीड' नामक महा-काव्य लिखा और परवर्ता कवियोंने प्रायः विजलकी शास्त्रीय दौलीका ही अनुकरण किया। ये सभी लिखित महाकाव्य दमरी धारामे आने है। इसी तरह भारतमे 'महाभारत' और 'रामायण' विकमनशील महाकाव्य हैं, जिनके निर्माण-में न जाने कितने अज्ञात कवियोको प्रतिभाका योग रहा है और न जाने कितनी शताब्दियोंतक निरन्तर विकसित होते हुए उन्होने अपना वर्तमानं रूप प्राप्त विया है। किन्तु अश्रघोष, कालिदास, माघ, भारवि, स्वयंभू, पुष्पदन्त, तलसी आदि कवियोके महाकाच्य अनुकृत या अरुकृत है, क्योंकि इस प्रकारके महाकान्योका प्रारम्भ 'रामायण' और 'महाभारत'के अनुकरणपर ही हुआ था, यद्यपि उनकी शैली विशिष्ट कवियोकी वैयक्तिक प्रतिभाके योगके कारण रामायण-महाभारतसे भिन्न प्रकार की है । इस प्रकार मौखिक और लिखित (विकसित और रिचत) परम्पराके कारण ही महाकाव्यके दो रूप हो गये है। प्रारम्भमे तो अनुकृत या अलंकृत धाराके भीतर सर्दत्र शास्त्रीय शैलीके महाकाव्य ही लिखे गये, पर बादमें शास्त्रीय जैलीके

बन्धनोकी प्रतिक्रिया हुई। फलस्टरूप रोमांमिक, ऐतिहासिक और पौराणिक दें होने महाकान्य भी लिखे जाने लगे। ऐसे महाकान्योंपर विकसनदील महाकान्योंकी रोमांसिक और आश्चर्योत्पाटक प्रवृत्तिका तथा लोक-जीवनके विश्वासों-का अधिक प्रभाव था।

समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट ज्ञात होता है कि महाकाव्यके विभिन्न रूपो और शैलियोका विकास समाजके विकासक्रमके अनुरूप हुआ है। विकमनशील महाकाव्य अनिवार्यतः प्रारम्भिक वीर-युग (हीरोइक एज) और सामन्ती वीर-युग (एज ऑव शिवेलरी)में ही विकसित हुए। विकासीनमुख सामन्त-युग या सामन्ती साम्राज्य-युगमे विशेष रूपसे शास्त्रीय या 'संस्कृत' शैली(क्लासिवल)के महाकाव्योंकी रचना हुई। हासोन्मख सामन्त-युगमे रूढिवादी प्रवृत्तियोकी संकीर्णता और कठोरता तथा मामन्ती मनीवृत्तिके कारण एक ओर तो अतिशय अलंकत, रूढिवाद और चमत्कारप्रधान महाकान्य लिखे गये, दूसरी ओर लोकाश्रित धर्म और लोक-विद्वासोंका आश्रय लेकर तथा सामन्ती बन्धनोंके प्रति विद्रोही भावनाके कारण रोमांसिक, ऐतिहासिक और पौराणिक देलीके महाकान्य लिखे गये। सामन्त-युगके उपरान्त पँजीवाद-युग वैयक्तिक विद्रोह, राष्ट्रीयता और स्वच्छन्दताकी भावना लेकर अवतरित हुआ, जिसके फल-स्टरूप आधुनिक युगमे स्वच्ह न्दतावादी शैलीके महाकाव्य लिखे गये। इस शैलीके अन्तर्गत, रूपककथात्मक (एली-गोरिकल), मनोवैशानिक, नाटकीय, प्रगीतात्मक आदि कई शैलियाँ आ जाती है, पर सबकी मूल प्रवृत्ति सामन्ती युगकी रूढियों और शास्त्रीय महाकाव्यके लक्षणोंके कठोर बन्धनोके प्रति विद्रोह की है । इस तरह महाकाव्य मुख्यतः दो प्रकारके होते है-- १. साहित्यक परम्परामे विकसित और २. लोक-कण्ठमे रहकर विकसित लोक-महाकाव्य (फोक एपिक) । अलंकृत महाकान्यकी मुख्यतः निम्नलिखित शैलियाँ है-१. शास्त्रीय, २. रोमांसिक, ३. ऐतिहासिक, ४. पौराणिक, ५. रूपककथात्मक, ७. प्रगीतात्मक, ८. मनोवैज्ञानिक या मनोविङ्लेषणात्मक । हिन्तीमे 'पृथ्वीराजरासो' साहित्यिक परम्परामें विकसित विकसनशील महाकाव्य और 'आव्हखण्ड' लोक-महाकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' क्रमशः रोमांसिक, पौराणिक और रूपक-कथात्मक शैलीके महाकान्य है। 'कामायनी'में मनोवैज्ञानिक और प्रगीतात्मक शैलियोंका भी सामंजस्य हुआ है। केशवकी 'रामचन्द्रिका' और लाल कविका 'छत्रप्रकाश' यदि महाकाव्य होते तो उन्हें क्रमशः नाटकीय और ऐतिहासिक शैलीका महाकान्य माना जाता। — इां० ना० सिं०

हिन्दीमें यद्यपि लम्बे आकारके अनेक सर्गबद्ध काव्य-प्रन्थोंकी रचना हुई, किन्तु उनमेंसे केवल कुछको ही महाकाव्य कहा जा सकता है और सच्चे अर्थमे तो महा-काव्यका प्रायः अभाव ही समझना चाहिये। वास्तवमे हिन्दी भाषाके सम्पूर्ण विकास-कालमें महाकाव्यकी रचनाके लिए उपयुक्त वातावरणका अभाव रहा है।

हिन्दीका आदि काल भारतीय इतिहासमें युद्ध और

संघर्षका समय था। केन्द्रीय राजसत्ताके अभाव तथा राष्ट्रीयता और देशभक्तिकी भावनाके लेपके कारण अराजकता तथा अनिश्चयका ही साम्राज्य था। धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टिसे भी यह युग संक्रान्ति तथा परिवर्तनका युग था। बौद्ध और जैन धर्म छप्तप्राय हो चले थे; ब्राह्मण-धर्मका पुनरुत्थान नथी शक्तिके साथ हो चला था। विचार और दर्शनके क्षेत्रमें कोई नथी उद्घावना नहीं हुई, इसके विपरीत चिराचरित रूढियोके पालनका आग्रह ही अधिक दिखाई पडता है। वह राष्ट्रके पतनका युग था।

'पृथ्वीराजरासो' तथा 'आल्हखण्ड' इस कालके दो प्रसिद्ध महाकाव्य है, पहलेको हम साहित्यिक परम्पराका विकसनशील महाकाव्य और द्सरेको लोक-महाकाव्यकी संज्ञा दे सकते है।

रासीका बृहत्तम रूपान्तर जो नागरीप्रचारिणी सभासे प्रकाशित है, ६९ समय (सर्ग)का विशाल ग्रन्थ है। इसमे अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके जीवन-वृत्तके साथ सामन्ती वीर-युगकी सभ्यता, रहन-सहन, मान-मर्यादा, खान-पान तथा अन्य जीवन-विधियोका इतना ब्योरेवार और सही वर्णन हुआ है कि इसमे तत्कालीन समग्र युगजीवन अपने समस्त गुण-दोषोके साथ यथार्थ रूपमे चित्रित हो उठा है। अध्यातम, राजनीति, धर्म, योग, कामशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध, विवाह, मृगया, मन्त्रणा, दौत्य, मानवीय सौन्दर्य, संगीत-नृत्य, वन-उपवन-विहार, यात्रा, पशु-पक्षी, बृक्ष, फल-फूल, पृजा-उपासना, तीर्थ-व्रत, देवता-मूनि, स्दर्ग, राज-दरबार, अन्तःपुर, उद्यान-गोष्ठी, शास्त्रार्थ, वसन्तोत्सव तथा सामाजिक रीति रिवाज-तात्पर्य यह कि तत्काठीन जीवनका कोई पहलू ऐसा नहीं बचा है, जो रासोमे न आया हो। विन्तु इन विषयोमे भी युग-प्रश्तिके अनुसार सबसे अधिक उभार मिला है युद्ध, विवाह, भोग विलास तथा मृगयाके ही वर्णनोको और यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासी'मे चारिज्यकी वह गरिमा नहीं आ पायी है, जो आदर्श महाकाव्यके लिए आवश्यक है। रासोके ६५वे समयमे पृथ्वीराजकी रानियोके नाम गिनाये गये है, जिनकी संख्या तेरह है। इनमेसे केवल चारके विवाह उभय पक्षकी स्वेच्छासे हुए, शेष सबको बलात हरण किया गया था, जिनके लिए युद्ध भी करने पड़े थे। इन विवाहोंके वर्णन रासोमे अत्यधिक विस्तारसे मिलते है, जिससे ज्ञात होता है कि ये ही उक्त महाकाव्यके प्रमुख विषय है। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोके समय प्रथ्वीराज इतना विलासी हो गया था कि संधीगिताके महलसे बाहर निकलता ही नहीं था। उसकी सहायताके लिए रावल समर सिंह दिल्ली आकर ठहरते थे, किन्त पृथ्वीराजको इसकी सूचना छेनेकी भी फुर्सत नहीं थी। प्रजामें कष्ट और असन्तोष बढता है । अन्तमे वह शहाबदीन द्वारा बन्दी बनाकर गजनी ले जाया जाता है, जहाँ चन्दके संकेतसे गोरीका वधकर स्वयं भी मर जाता है। इस प्रकार रासो हमारे पतन और गमकी कहानी है।

रामोमें कथानकको शिथिलता, विश्वंखलता तथा असन्तुलित योजना भी अत्यधिक खटकती है। कथानकका जो एक क्षीण तन्तु है, वह भी बीच-बीचमे विवाह, मृगया आदिके उना देनेवाले लम्बे वर्णनोके कारण टूट जाता है! कथानकमे सुनिश्चित योजना तथा समानुपातिक संघटनके अभावका कारण कदाधित यह भी है कि उसके वर्तमान रूपान्तरमें मूल रचनाके अतिरिक्त प्रक्षेप भी अत्यधिक परिमाणमें हुए है।

अतः 'पृथ्वीराजरासो' उत्कृष्ट कोरिके महाकान्योंकी श्रेणीमे रखे जानेके योग्य नहीं जान पडता।

'आल्ह्खण्ड'में महोवेके दो प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल (उदय सिंह)का विस्तृत वर्णन है। कई शताब्दियों-तक मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसके वर्तमान रूपमें जगनिककी मूल रचना खोन्सी गयी है, किन्तु अनु-मानतः उसका मूल रूप तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दीतक तैयार हो चुका था। आरम्भमें वह वीर रस-प्रथान एक लघु लोकगाथा (बैलेंड) रही होगी, जिसमें और भी परि-वर्द्धन होनेपर उसका रूप गाथाचक्र (बैलेंड साइकिल)के समान हो गया, जो कालान्तरमें एक लोक-महाकान्यके रूपमें विकसित हो गया।

रासोके सभी गुण-दोष 'आल्हखण्ड'मे भी वर्तमान है। दोनोमे अन्तर केवल इतना है कि एकका विकास दरवारी वातावरणमे शिष्ट, शिक्षित-वर्गके बीच हुआ और दूसरेका अशिक्षित ग्रामीण जनताके बीच । 'आल्ह्रखण्ड'पर अलंकत महाकाव्योंकी शैलीका कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पडता। शब्द-चयन, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, कम शब्दोंमें अधिक भाव भरनेकी प्रवृत्ति, प्रसंग-गर्भत्व तथा अन्य कान्य-रूढिथों और कान्य-कौशलका दर्शन उसमे बिलकल नहीं होता। इसके विपरीत उसमें सरल स्वामाविक ढंगसे, सफाईके साथ कथा कहनेकी प्रवृत्ति मिलती है, किन्त साथ ही उसमे ओजस्विता और शक्तिमचाका इतना अदम्य वेग मिलता है, जो पाठक अथवा श्रोताको झकझोर देता है और उसकी सूखी नसोंमें भी उष्ण रक्तका संचार कर साहस, उमंग और उत्साहसे भर देता है। उसमें वीर रसकी इतनी गहरी और तीव व्यंजना दुई है और उसके चरित्रोंको वीरता और आत्मोत्सर्गकी उस ऊँची भूमिपर उपस्थापित किया गया है कि उसके कारण देश और कालकी सीमा पार कर समाजकी अजस्र जीवनधारासे 'आल्हखण्ड'की रसधारा मिलकर एक हो गयी है। इसी विशेषताके कारण उत्तर-भारतकी सामान्य जनतामे लोकप्रियताकी दृष्टिसे 'रामचरित-मानस'के बाद 'आल्हखण्ड'का ही स्थान है और इसी विशेषताके कारण वह सदियोसे एक वड़े भू-भागके लोक-कण्ठमें ग्रॅजता चला आ रहा है।

मध्यकालमं, जब कि हिन्दी भाषाका गौरव-सूर्य मध्याहस्थित, चरम बिन्दुका स्पर्श करने जा रहा था, हिन्दीके दो
सिद्धहस्त कियों द्वारा दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये,
जिनमे उत्कृष्ट महाकाल्यके अनेक गुण समाहित हो सके
है। वे है—मलिक मुहम्मद जायसीकृत 'पश्चावत' तथा
गोस्त्रामी तुल्सीदासकृत 'रामचरितमानस'। दोनोंमें सुप्रसिद्ध कथानकोका आधार लिया गया है, जिनमें जीवनके
सभी पहलुओंके सर्वांगीण अनुभव भरनेके पर्याप्त अवसर
आये हैं और उनका स्क्ष्मतासे उपयोग भी किया गया है।
दोनों महाकवियोंकी भाषा तथा शैलीमें विलक्षण शक्ति है

और दोनोने अपनी भास्वर प्रतिभाकी सहायतासे इस महान् देशके उस उत्थानशील युगके उत्कृष्टतम विचारोको समेट-कर अपनी-अपनी रचनाओमे मखरित करनेका सफल प्रयास किया है। किन्तु महाकाव्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर दोनोंमें कुछ कमियाँ भी खटकती है। 'मानस'मे पौराणि-कताका आत्यधिक प्रभाव रहनेके कारण कही-कही शिथिल कथानक और अवान्तर कथाओ तथा प्रसंगोंका आधिनय हो गया है (विशेषतया बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डमे), इसके अतिरिक्त माहात्म्य और स्तोत्र, देवताओं द्वारा विभिन्न अवसरोपर पुष्प-वर्षा आदिके वर्णनोको पुनरावृत्ति, सैद्धा-न्तिक विशेचनों और प्रचारात्मक उपदेशोका आधिक्य, सब मिलाकर 'मानस'के कान्यात्मक पक्षको कछ दबा देते है। किन्त विचित्रताकी बात यह है कि धर्म-परायण भारतीय जनताकी मनोवृत्तिके अनुकूल होनेके कारण उसके दूषण भी भूषण हो गये हैं और इन्हीं विशेषताओंके कारण यह महाकान्यके साथ-साथ धर्म-ग्रन्थ भी बना हुआ है। 'रामचरितमानस' ही संसारका ऐसा अकेला महाकान्य है, जिसका करोड़ों व्यक्तियोंके बीच धर्मग्रन्थ और काव्य, दोनों ही रूपोमे आदर है और अकेले इस ग्रन्थने लोक-जीवनको जितनी गहराईतक प्रभावित किया है, उतना संसारके किसी भी महाकाच्यने शायद ही कभी किया हो।

'पद्मावत'के नायक रतनतेनके जीवनमे-विशेषतया उसके उत्तराईमें-कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे एक आदर्श चरितनायकके योग्य उत्कर्षका अभाव उसमें खटकता है। अलाउद्दीन और देवपालके युद्धोका कारण पद्मावती दिखायी गयी है और अन्तमे उसीके कारण रतनसेनकी पराजय तथा मृत्य भी दिखायी जानेसे एक ओर जहाँ प्रेम-मार्गमें आत्मोत्सर्गका आदर्श सिद्ध होता है, वही दूसरी ओर भारतीय आदर्शका हनन भी होता है। राजनीतिक अथवा सामाजिक क्षेत्रमे भी रतनसेन-को हम कोई उच आदर्श स्थापित करते हुए नहीं देख पाते । उसमें मानव-सुलभ दुर्गुण-जैसे द्रव्यलोभ, धनमद, अदूरदर्शिता, उतावली आदि-भी दिखाई पडते है। इस-लिए स्वाभाविक रूपसे उसके प्रति पाठककी वैसी श्रद्धा नहीं जायत होती-जैसी राम, कृष्ण, भीष्म पितामह, राणा प्रताप आदि वीरश्रेष्ठोके प्रति होती है। यद्यपि जायसीने वहाँ ऐतिहासिक सत्यकी रक्षा करते हुए सामन्त-कालीन प्रवृत्तियोंका यथातथ्य वर्णन किया है, किन्तु इससे महाकाव्यकी उत्कृष्टतापर आघात अवश्य लगता है।

हिन्दी साहित्यका उत्तर-मध्यकाल फिर महाकाव्य-निर्माणके लिए अनुर्वर सिद्ध हुआ। दरवारी वातावरणमें काव्य-ज्ञान-प्रदर्शन द्वारा अधिक-से-अधिक सम्मान और धन प्राप्त करनेके लिए इस कालके किवयोंने काव्य-शास्त्रोंके आधारपर रस, अलंकार, छन्द तथा नायिका-भेदके विस्तृत निरूपण द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन और चमत्कार-प्रियताकी प्रवृत्ति इतनी अधिक वढ गयी थी कि लोक जीवनको प्रभा-वित करनेवाले किसी महत् उद्देश्यको लेकर काव्य-रचनाके छक्ष्य-की और उनका ध्यान ही नहीं गया। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्यथारा विशेषत्या मुक्तक-प्रधान रही, प्रबन्ध-काव्योंकी रचना प्रबन्ध-काव्यके अनुपातमे कम

हुई। जो बड़े आकारवाले प्रवन्ध-काव्य है, उनमेसे कुछ तो ऐसे है, जिनमें ऐतिहासिक इतिवृत्त ही प्रधान है और विषय-वस्तु, कान्य-शैली, चरित्र-चित्रण तथा उदेश्यकी महत्ताकी दृष्टिने जिनका अधिक महत्त्व नहीं है। कुछ पौराणिक-शैलीके प्रबन्ध-काव्य है, जिनकी रचना महा-भारत', 'रामायण' अथवा 'रामचरितमानस'के अनुकरण-पर हुई है। प्रथम कोटिकी रचनाओंमे मानकृत 'राज-विलास', गोरेलालकृत 'छत्रप्रकाश', सूदनकृत 'सुजान-चरित' तथा जोधराजकृत 'हम्मीररासो'के नाम लिये जा सकते है और द्वितीय कोटिकी रचनाओंमें सबल सिंह चौहानका 'महाभारत', बजवासीदासका 'बजविलास', मधुसूदनदासका 'रामाश्वमेध', पद्माकरका 'रामरसायन', विश्वनाथ सिहकृत 'रामायण', गुमान मिश्रकी 'कृष्ण-चिन्द्रका' और केशवदासकी 'रामचिन्द्रका' प्रमुख है। इनमेसे अधिकांशको भ्रमवश महाकान्य कह दिया जाता है। वस्तुतः महाकाव्यके गुण किसीमे नहीं है।

'राजविलास' ऐतिहासिक शैलीका चरित-काव्य है, जिसमें संस्कृतके प्रशस्तिमूलक चरित-काव्य तथा हिन्दीके 'पृथ्वीराजरासो'की काव्य-पद्धति अपनायी गयी है। इसमे महाराणा राजसिंहके वंशकी उत्पत्ति, उनके पूर्वपुरुषोका इतिहास, राणाके जन्म, विवाह, युद्ध आदिके साथ उनके पराक्रम तथा औदार्य आदिका वर्णन हुआ है। असमयमें ही राजिसहिकी मृत्यु (सन् १६८० ई०)के कारण प्रन्थकी रचना भी आगे न बढ़ सकी और वह अपूर्ण रह गया है। इसमें कुल १८ विलास है, किन्तु ऐतिहासिक वृत्तवर्णन ही इसका प्रधान उद्देश्य ज्ञात होता है। इसमें न तो कथानक-की अन्विति है और न वीर रसके अतिरिक्त अन्य रसोंकी अंगरूपमे योजना ही हुई है। नायकको जीवनकी विविध परिस्थितियोमे रखकर उसके चरित्रका पूर्ण उत्कर्ष दिखानेमे भी यन्थकार सफल नहीं हो सका है और न भाषा तथा शैलीमें ही महाकान्योचित गरिमाकी झलक मिल पाती है। इन कारणोंसे 'राजविलास'को महाकाव्य नहीं माना जा सकता।

'छत्रप्रकाश'मे छत्रसाल बुन्देलेकी कीर्तिका वर्णन है और यद्यपि इसमे कुल छव्बीस अध्याय हैं, किन्तु पूरे ग्रन्थमें नीरस ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता ही दिखाई पड़ती है। सरस मार्मिक खलोंके चुनावके साथ जिस मर्भस्पशी माव-व्यंजनाकी महाकाव्यमे आवश्यकता होती है, उसका इसमे नितान्त अभाव है। इतिहासकी दृष्टिसे 'छत्रप्रकाश' महत्त्व-की पुस्तक है, क्योंकि उसमें सब घटनाएँ सची और सब ब्योरे ठीक-ठीक दिये है, किन्तु इसे महाकाव्य माननेका कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता।

'मुजानचरित'मे मुजान सिंह जाटके जीवन तथा युद्धों-का वर्णन है, किन्तु उनका चरित्र इतना उदात्त तथा लोक-प्रसिद्ध नहीं कि उसके आश्रयपर महाकान्यकी रचना हो सके। 'मुजान-चरित' अत्यन्त साधारण कोटिकी रचना है, जिसमे न तो जीवनके विविध पक्षोंका ही समावेश हो सका है और न उसकी शैली तथा उसकी शब्द-योजनामें ही सजीवताके कोई लक्षण वर्तमान हैं।

'हम्मीररासो' उन्नीसवी शताब्दीकी रासी-परम्परामे

सम्मवतः अन्तिम महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ है। यद्यपि यह ९७९ छन्दोका एक बड़ा यन्थ है, किन्तु सर्गोमे विभक्त नहीं है। जोधराजने अपने आश्रयदाता राजा चन्द्रभानके अनुरोधसे उनके पूर्वज हम्मीरदेवके चरित्रका वर्णन करनेके लिए इस काव्यकी रचना की। यद्यपि इसमे महा-काव्यकी वस्तु-वर्णन सम्बन्धी अनेक रूढियो, जैसे प्रकृति, युद्ध, संयोग तथा विप्रलम्भ, कुमारोदय, नगरावरोध, मृगया, यत्न, मन्त्रणा, दौत्य, नगर, देश आदिके वर्णनकी पद्धति भी अपनायी गयी है, फिर भी उद्देश्यकी महत्ता, महत्प्ररेणा, कथानककी संघटित योजना, तीत्र प्रभावान्विति, अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति आदिके अभावमे महाकाव्य नहीं माना जा सकता। नायककी पराजय तथा मृत्युके कारण यह दु:खान्त भी हो गया है।

दूसरी कोटिकी रचनाओंमें सबल सिहकृत 'महाभारत', विश्वनाथ सिंहकृत 'रामायण' तथा ब्रजवासीदास-कृत 'ब्रजविलास' यद्यपि पर्याप्त बड़े और लोकप्रिय ग्रन्थ है, पर उनमें कान्यात्मकता तथा मौलिकताका अभाव है। साधा-रण श्रेणीके भक्त पाठकोके लिए ही उनका महत्त्व है। पद्माकरका 'रामरसायन' वाल्मीकि-रामायणके आधारपर 'रामचरितमानस'की शैलीमे लिखा गया बडा चरितकान्य है, किन्तु काव्यात्मकता इतनी निम्न कोटिकी है कि विद्वानों-को इसे पद्माकरकी रचना माननेमें भी सन्देह होता है। 'रामाइवमेध' रीतिकालके अधिकांच प्रवन्धकाव्योकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित शैलीका कान्य है। उसमे 'पद्मपुराण' तथा 'वाल्मीकि-रामायण'के उत्तरकाण्डकी कथाका आधार ग्रहण किया गया है और रामके अरवमेध यज्ञको केन्द्र-विन्दु बनाकर कथा-वस्तुका विन्यास हुआ है। मधुसूदन-दासने इस यन्थकी रचनामे 'रामचरितमानस'की शैलीका अनुकरण किया है, जिसमें उन्हे पूर्ण सफलता मिली है। किन्त उत्कृष्ट काव्यसौष्ठव तथा उदात्त शैली होते हुए भी उसमे उद्देश्यकी वह महत्ता, जीवनकी वह समग्रता तथा प्रतिभाकी वह उत्कृष्टता नहीं दिखाई पडती, जो मानसमें है। रामके जीवनकी एक लघु कथाका ही आश्रय लेकर क्विने वस्तुवर्णन-हास-कथानकका अनावश्यक विस्तार किया है, किन्तु केवल बृहत् आकारके आधारपर 'रामस्व-मेथ'को महाकाव्य मानना अचित नहीं है।

'रामचन्द्रिका'मे कुल ३९ प्रकाश या सर्ग है और यद्यपि उसमे भारतीय साहित्यके सर्वोत्कृष्ट नायक 'रामचन्द्र'का समस्त जीवन-वृत्त वर्णित है, िकन्तु उसका उपयोग केवल छन्द-वैविध्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा अलंकार आदिकी योजनामे ही हुआ है—उसके द्वारा केशव न तो किसी महत्कार्यका आदर्श रख सके, न जीवनके विविध पक्षोंका उद्धाटन ही कर सके । केशवकी कराना ऐसी विराट् नहीं है, जो समस्त युग-समाजके सदसत् रूपोंकी विवेचना और प्रत्यक्षीकरण कर सके । 'रामचन्द्रिका'में कथानककी जीवन्तताका नितान्त अभाव है । वस्तु-वर्णनमें देश-काल-स्वभावके औचित्य अथवा प्रवन्य-कौशलका तिनक भी ध्यान नहीं रखा गया है । अनपेक्षित वर्णनोंकी भरमार है, जिससे काव्य-सौन्दर्थ नष्ट हो गया है । अतिशय छिष्ट और अस्वा-भाविक करपनासे उद्भृत संस्कारोके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-भाविक करपनासे उद्भृत संस्कारोके प्रयोग, अत्यधिक वस्तु-

परिगणनाकी प्रवृत्ति, नाना प्रकारके छन्दोंके प्रभावहीन प्रयोग और पाण्डित्य-प्रदर्शनके आडम्बरके कारण 'राम-चन्द्रिका' अत्यन्त दुरूह और कृत्रिम काव्य हो गया है। अतः उसको महाकाव्य क्या, एक सफल प्रवन्य-काव्य भी नहीं माना जा सकता।

गुमानकृत 'कृष्णचिन्द्रिका'का यद्यपि उतना प्रचार नहीं हुआ, किन्तु कई दृष्टियोंसे वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण काव्य है। उसमें 'रामचिन्द्रका' और 'मानस'की दौलियोंका सुन्दर समन्वय हुआ है। शास्त्रीय लक्षणोंकी दृष्टिसे उसमे महान्वाव्यके सभी लक्षण वर्तमान है—केवल एक अमाव है, वह यह कि एक सर्गमे एक ही छन्द्रका प्रयोग नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी महाकाव्यके नायकमे जो महत्ता होनी चाहिये, वह 'कुष्णचिन्द्रका'के कुष्णमे नहीं मिलता। उसमें उनके जीवन-व्यापी कार्योंका वर्णन नहीं मिलता। उसकी दौली यद्यपि निद्रोंष और आकर्षक है, किन्तु उसमें महाकाव्योचित उदात्तता और गम्मीरता नहीं है, जो किवकी महाप्राणता, विराट् कल्पना और गम्भीर दृष्टिसे उद्भूत होती है।

हिन्दीका वर्तमान काल सामन्त-युगके अन्त और पूँजीवादी प्रवृत्तिगोंके उदयके साथ अवतरित हुआ। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके बढ़ते हुए आन्दोलनने इस कालके साहित्य और संस्कृतिको भी एक नयी दिशा दी और प्रेरित किया, जिसके फलस्वरूप काव्यमे भी व्यक्तिगत चिन्तनके साथ आत्मानुभूतिने जोर पकडा। आधुनिक वैद्यानिक खोजोके प्रकाशमे पुराने विश्वासो, आचारो तथा मान्यताओकी मनुष्यने नये ढंगसे व्याख्या की।

वर्तमान कालमे हिन्दीमें लम्बे आकारके प्रबन्ध-काव्योंकी बाढ-सी आ गयी। उनमें ते अधिकां शको स्वयं उनके रचियताओंने महाकाव्यकी संज्ञा दी है और कुछको उनके आकार आदिके कारण भ्रमवश महाकाव्य माना जाता है। इस प्रकारकी रचनाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित अन्धोंका नाम लिया जा सकता है-१. 'राम-स्वयंवर': महाराज रघनाथ सिह, २. 'रामचन्द्रोदय' : रामनाथ ज्योतिषी, ३. 'रामचरित-चिन्तामणि' : रामचरित उपाध्याय, ४. 'कोशलकिशोर' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ५. 'वैदेही-वनवास' : अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ६. 'मेघनाद-वध' (माइकेल मधुसूदन दत्तकृत मूल बॅगलासे अनुवाद) : मैथिलीशरण ग्रप्त, ७ 'साकेन सन्त' : बलदेवप्रसाद मिश्र, ८. 'नूरजहाँ': गुरुभक्त सिंह, ९. 'दैत्यवंश': हरदयालु सिंह, १०. 'सिद्धार्थ': अनूप शर्मा, ११. 'वर्द्धमान': अनूप शर्मा, १२. 'जननायक': रघुवीरशरण मित्र, १३. 'हल्दी-घाटी': इयामनारायणपाण्डेय, १४. 'जौहर': इयाम-नारायण पाण्डेय, १५. 'आर्यावर्त': मोहनलाल महतो 'वियोगी', १६. 'मेधावी': रांगेय राघव, १७. 'कुरुक्षेत्र': 'दिनकर', १८. 'विक्रमादित्य' : गुरुभक्त सिंह, १९. 'गान्धीचरित्रमानस' : विद्याधर महाजन, २०. 'पार्वती' : रामानन्द तिवारी, २१. 'अगराज' : आनन्दकुमार ।

इन कान्योंमे वह शक्ति नहीं है, जो उन्हे अमरता प्रदान कर सके। अनाकर्षक तुकबन्दी, अशक्त भाषा, उपयुक्त शब्दोंके चयनकी अक्षमता, गम्भीर जीवन-दर्शनका अभाव और कल्पना-शक्तिओं हीनताके कारण न तो उनमें गुरुत्व, गाम्भीयं और महत्त्व आ सका है और न शैळी ही महाकाव्योचित गरिमा और उदात्ततासे गुक्त हो सकी है। साथ ही एक विचित्रता यह है कि उक्त अन्थोंके रचिताओं में अधिकांशने इन प्रवन्ध-काव्योकी रचना महाकाव्यकी ही दिष्टेसे की है और उन्हें महाकाव्य माननेका प्राक्तथन आदिमें स्वयमेव कर भी दिया है। ऐसे ही महाकवियश-प्रार्थी महानुभावोंके प्रति रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि इस समयके किव जैसे 'आओ एक एपिक लिखा जाय' कहकर सरस्वतीके साथ पहलेसे ही वन्दोवस्त करके एपिक लिखने बैठ जाते है, प्राचीन कवियोमें ऐसा फैशन न था 'मेघनाद-वध'के हिन्दी अनुवादकी मूमिका: ए० १५७, झॉसी, प्र० मं०, सं० १९८४)।

महाकान्यकी दृष्टिसे आधुनिक कालके केवल चार प्रनथ विचारणीय है । वे हैं-- १. हरिऔधकृत 'प्रियप्रवास', २. मैथिलीशरण गुप्तकृत 'साकेत', २ जयशंकर 'प्रसाद'कृत 'कामायनी', ४. द्वारकाप्रसाद मिश्रकृत 'कृष्णायन'। 'प्रिय-प्रवास' तथा 'साकेत'में आधुनिक बौद्धिकतावादका प्रभाव भलीभाँति दिखाई पडता है। एकमें यदि 'श्रीमद्भागवत'-की कथाका बौद्धिकीकरण और कृष्ण-राधा आदिके चरित्रोंका उदात्तीकरण है, तो दूसरेमें रामायणके उपेक्षित पात्रोंको प्रकाशमे लाकर उसके देवत्वग्रण-यक्त पात्रोंको मानव जीवनके सामान्य धरातलपर उपस्थित करनेका प्रयास किया गया है। किन्तु एकमे वृष्णके प्रवासपर गोपियोके विरह-वर्णनको और दूसरेमे प्राचीन कवियो द्वारा उपेक्षिता उर्मिलाके विरह-वर्णनको अत्यधिक महत्व देनेके कारण दोनोका दृष्टिकोण एकांगी हो गया है। मानव-जीवनके अन्य आवश्यक अंग या तो अछते रह गये है या केवल नाममात्र-को ही उनकी चर्चा मिल पाती है। गम्भीर जीवन-दर्शनके अभावमे इन कवियों द्वारा उपस्थापित चरित्रोमें महत्ताका वह उच्च आदर्श नहीं आ सका है जो प्राचीन महाकवियों द्वारा उन्ही पात्रोंके चरित्रांकनोमे पाया जाता है। नवीन युगकी आरम्भिक रचनाएँ होनेके कारण भाषा-शैली आदिका निखार भी उच्चतर स्थितितक नहीं पहुँच सका है और यद्यपि आरम्भमें जनताने बड़े चावसे अपनाया, किन्त समयकी प्रगतिके साथ उनका मूल्य निरन्तर बढनेकी अपेक्षा घटता हुआ ही दिखाई पड रहा है। समग्र-जीवनके चित्रणकी दृष्टिसे 'कृष्णायन'मे अवस्य ही कुछ विशिष्टता दिखाई पडती है, किन्त उसमें शैलीकी उदात्तता, गम्भीर रसवत्ता, तीव प्रभावान्विति, कान्यात्मक उत्कृष्टता तथा जीवनी-शक्तिका अभाव खटकता है। 'मानस'की भॉति 'क्रष्णायन' भी सामान्य जनता द्वारा अपनाया जायगा, इसमें सन्देह ही है, क्योंकि इसमें कुत्रिमता तथा अनुकरण-प्रियता ही अधिक है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रवन्ध-काव्योंको हम महाकाव्यकी कोटिमे नही रख सकते।

'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्यका एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध-काव्य है, जिसमे आधुनिक युगकी प्रव-त्तियों और विशेषताओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है और जो अनेक दृष्टियोंसे हिन्दीके ही नहीं, अपने युगके पूर्ववतीं समस्त भारतीय महाकाव्योंसे भिन्न एक निराले स्थानका अधिकारी है। 'प्रसाद'ने वर्तमान युगके बुद्धिवादका दुष्परिणाम दिखानेके लिए श्रातपथ-ब्राह्मणमें वर्णित एक आख्यानका आधार लिया है, जिसमे प्राचीन जल-प्लावनके उपरान्त मनु सृष्टिके पुनिविधानका उपक्रम करते है। स्पक्षकी भावनाके अनुसार 'कामायनी' अथवा श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है, जो मनुष्यको जीवनमें शान्ति प्रदान कर उसे कल्याण-मार्गपर अग्रसर करती है। इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है, जो मनुष्यको तर्क-वितर्कके निर्मम जालमें उलझाकर सुख-शान्तिसे दूर ढकेल ले जाती है। इसके अतिरिक्त, चिन्ता, लज्जा, काम, वासना आदि नाना चित्तवृत्तियोंको कल्पनाकी जिस मधुमती भूमिकापर सजाया गया है, उससे 'प्रसाद'की उत्कृष्ट कवित्व-शक्तिका परिचय मिलता है।

'कामायनी'की प्रेरणा-शक्ति भारतीय संस्कृतिकी वह उदार कल्याणाभिनिवेशी दृष्टि है, जिसका केन्द्रविन्दु समन्वय है । उसमे 'प्रसाद'ने भारतीय संस्कृतिको विश्वमानवकी संस्कृतिमे, व्यक्ति-चेतनाको समष्टि-चेतनामें विलीन करके मानवतावादका नवीन और आदर्श रूप उपस्थित किया है । एक सफल द्रष्टाको भॉति उसमे उन्होने मावन-जीवनको आदिसे अन्ततक हस्तामलकवत् देखकर उसके मृल रहस्यका उद्घाटन किया है । उद्देश्यकी इसी महत्ताके कारण उसमे वह गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व भी आ सका है, जिसके कारण कोई काव्य महाकाव्य कहलाता है ।

वस्तु-वर्णन तथा भाव-व्यंजनामे यद्यपि 'प्रसाद'ने महा-काव्यके शास्त्रीय लक्षणों और चिराचरित रूढ़ियोंका पालन नहीं किया और उसमे मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन चिन्ता आदि प्रस्तावना सम्बन्धी ब्योरों तथा सामाजिक सम्बन्धो, उत्सवों और रीति-रिवाजोंका वर्णन नहीं मिलता, किन्तु आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट कुछ वस्तुओ—जैसे नगर, समुद्र, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ग, यात्रा, कषा, सन्ध्या, रात्रि, चन्द्र-स्यं-नक्षत्रादि, वसन्त, युद्ध, विप्रलम्भ-संयोग, कुमारोदय, विवाह, राज्याभिषेक आदिका वडा ही विश्वद और मांगोपांग वर्णन हुआ है। इनमे भी सबसे अधिक उल्लास कविने प्राकृतिक उपकरणो तथा श्रंगारके विविध अवयवोंके वर्णनमें दिखाया है।

उक्त विशेषताओं के साथ ही 'कामायनी' भी एक भारी श्रुटि यह है कि उसका कथा-तन्तु अत्यन्त क्षीण है और उसमें भी दार्शनिकता तथा मनोवैद्यानिकताका इतना जिटल जंगल है कि वह केवल ऐसे पाठकों तक ही सीमित रह जाता है, जिनका बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर सामान्य धरातलसे पर्याप्त ऊँचा हो। भारतीय सस्कृतिक मूल तत्त्वों, विशेषतया अद्दैतवाद तथा शैवागमके प्रत्यभिद्यादर्शनके साथ-ही-साथ आधुनिक मनोविद्यानके प्रमुख तत्त्वों—फायडके काम-सिद्धान्त, मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, डाविनके विकासवाद आदि—से जिनका सामान्य परिचय भी न होगा, वे निश्चय ही 'कामायनी' में उतना आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। यही कारण है कि उसे वैसी लोक-प्रियता कदाचित् नहीं प्राप्त हो सकती, जैसी 'रामचरित-अथवा 'पद्मावत'को प्राप्त है, किन्तु उसका निरालापन भी यही है कि वह घटना-प्रधान और इतिवृत्तात्मक महाकाव्य

नहीं है। वह भाव-प्रधान मनोवैज्ञानिक महाकाव्य है, अतः स्वभावतः उसमें मानव-मनके विविध पक्षोंका उद्घाटन और व्याख्या ही प्रधान वस्तु है, घटना-वैविध्य नहीं। इस अभावके होते हुए भी अपनी अन्य विशेषताओंके कारण 'कामायनी'को हिन्दीने उत्कृष्ट महाकाव्योंकी कोटिमें स्थान मिलता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि हिन्दीमें वास्तविक महावाान्य केवल पाँच- 'पृथ्वीराज रासी', 'आल्ह्खण्ड', 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' है । अन्य प्रबन्ध-काञ्य जिन्हें आकारकी विञालता तथा महाकाव्य सम्बन्धी अन्य रूढियोंके पालनकी दृष्टिसे महाकाव्य माना जाता है, वास्तविक महाकाव्य नहीं, महाकाव्याभास मात्र हो सकते है (दे॰ 'प्रबन्ध-काव्य' और 'चरित-काव्य')। --पा० ना० ति० महान्-'महान्' या 'महत्' सांख्यदर्शनमे बुद्धिके वाचक शब्द है। बाह्य जगत्की दृष्टिसे यह विराट बीज है, अतः इसे 'महत्तत्त्व' भी कहते है । आभ्यंतरिक दृष्टिसे यह वह वुद्धि है, जो जीवोंमें विद्यमान रहती है और ज्ञाता एवं ज्ञेय-के आपसी भेदाभेदका निश्चय और अवधारण करती है। सांख्य दर्शनके अनुसार प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे प्रकृतिमें विक्षोभ होता है और उसकी साम्यावस्था ट्रट जाती है। इस विश्वब्ध स्थितिको 'गुणक्षोभ' कहा जाता है। यहीं प्रकृति विकृतिका रूप लेने लगती है और प्रकृतिके प्रथम विकार 'महान्' या बुद्धिका उद्भव होता है। सांख्यद र्शन जगतकी उत्पत्तिकी अपनी कल्पना है (दे० 'सांख्यकारिका' एवं 'सांख्य कौ मुदी', २१-२४)। इस सृष्टि क्रममें सनसे पहले महान् या बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है, फिर उससे अहंकारका। पुनः सात्त्विक अहंकारसे एकादश इन्द्रियो (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कमेंन्द्रियाँ, १ मन)की, तामस अहंकारसे पंचतन्मात्रोकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार उक्त दोनो अहंकारोंको शक्ति देता है, जिससे उनमे उक्त विकार उत्पन्न होते है। इस प्रकार महान् प्रकृतिमें सृष्टि क्रममें घटित होनेवाली प्रथम विकृति है। —रा० दे० सिं० महापुरुषवाद - इतिहासकी प्रगति और परिणतिकी व्याख्या और इतिहासको प्रक्रियामें अन्तर्लीन तत्त्वोके उद्घाटनके अनेक प्रयत्न देखनेको मिलते है। महापुरुषोंके आविर्भाव-का दृष्टिकोण इन प्रयत्नोमे एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है। महापुरुषोके आविर्भावके हवाले ऐतिहासिक घटनाओकी

नहापुरपात आपमावक ह्वाल एतिहासिक वटनाजाका व्याख्या करनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८५-४२५ ई० पू०), जिसे विश्वका प्रथम इतिहासकार तथा इतिहासका पिता कहा जाता है, यह मानकर चलता है कि सम्पूर्ण इतिहासका विधाता महापुरुष ही हुआ करता है किन्तु महापुरुषके आविर्मावके इष्टिकोणको एक सुन्यवस्थित इतिहासन्दर्शनका रूप देनेका श्रेय टॉमस कार्लायल (१७९५-१८८१)को है, जिसकी 'हीरोज एण्ड हीरो-वर्शिए' शिषंक पुस्तक आज एक क्लासिक बन चुकी है। इस पुस्तकमे बढ़ी ही रोचक शैलोमे असाधारण शक्ति अथवा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियोंको ऐतिहासिक विकास और परिवर्तनका एकमात्र कारण सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है।

कार्लायलका कहना है कि समस्त इतिहास वस्तुनः महापुरुपोंका इतिहास है या यो कहें कि इतिहास महापुरुषोंकी जीवनीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

महापुरुपसे उसका क्या तात्पर्य है ? कार्ठायळसे पहळे जो इतिहास लिखा जाता था, उसे आज सैनिक इतिहासका कटाक्ष-मूळक नाम दिया जाता है। तत्कालीन इतिहासमे केवळ आक्रमण और संघर्ष सम्बन्धी घटनाओंकी भरमार रहती थी। सभ्यता और संस्कृतिके विविध पक्षींका इतिहास यूं ही टाळ दिया जाता था। किन्तु कार्ठायळने एक नथी परम्पराका प्रवर्तन किया। उसके महापुरुष केवळ रणभूमिन नही अपितु साहित्य, कळा, धर्म प्रभृति सभी क्षेत्रोंमे देखनेको मिळते है। वह मोटे तौरपर छः प्रकारके महापुरुषोंकी चर्चां करता है—

- (१) अवतारी महापुरुष, जिमे साक्षात् ईश्वरके रूपमें माना गया हो, जैसे ओडिन।
  - (२) देवदूत, जैसे मुहम्मद ।
  - (३) कवि, जैसे शेक्सपियर ।
  - (४) धर्मशास्त्री, जैसे मार्टिन लूधर।
  - (५) साहित्यकार, जैसे डॉ॰ जानसन।
  - (६) राजा, जैसे नैपोलियन।

प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अपने-अपने क्षेत्रमें इतिहासका निर्माण तथा परिचालन करता है और सक्का ऐतिहासिक महत्त्व है। तथापि वह राजाको इनमें सबसे वडा दर्जा देता पाया जाता है।

कार्लयलके महापुरुषवादकी एक अत्यन्त रोचक उपस्थापना है महापुरुषत्व-धर्मकी तात्त्विक एकताका सिद्धान्त । प्रत्येक प्रकारका महापुरुष अन्य प्रकारका महापुरुष बननेकी क्षमता और सम्भावना रखता है । उदाहरणार्थ, यदि परिस्थिति अनुकूल हुई तो एक महायोद्धा-को एक महाकवि बनते देर नही लगेगी । इसी प्रकार, युगकी मांगके उत्तरमे एक बहुत बड़ा कि भी उतना ही बड़ा योद्धा बन सकता है । प्रत्येक प्रकारके महापुरुषको, अञ्चक्त रूपमें, प्रत्येक अन्य प्रकारका महापुरुष समझना चाहिए।

महापुरुषत्व-धर्मकी तात्विक एकताका सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापना है, किन्तु इसकी ओर चिन्तकोंका ध्यान कम ही गया है। जब सिकन्दरने डायोजेनीज नामक यूनानी सन्तसे कुछ मांगनेको कहा, तो सन्तने वस इतना ही कहा कि सामनेसे हट जाओ, मुझे धूप खाने दो। सिकन्दर इससे इतना प्रभावित हुआ कि—कहा था कि यदि मै सिकन्दर न होता तो डायोजेनीज बनना चाहता। सिकन्दरके महापुरुषने डायोजेनीजके महापुरुषको पहचाना था और उसके साथ तादात्म्यका अनुभव किया था। इसी प्रकार, जैसा कि हम देखेंगे, जब, कार्लायलके समान, हीगेल, स्पेंग्लर, नीत्ये आदि योद्धाके प्रति अपार भक्ति प्रकट करते हे और उसे श्रेष्ठतम महापुरुष घोषित करते है, तब वे उसके साथ महापुरुषत्वके तलपर तादात्म्यका ही अनुभव करते रहे होंगे। इन तथ्योंकी व्याख्या अन्यथा असम्भवप्राय है।

कार्लायलके बाद केवल दो चिन्तक ऐसे हुए है, जिन्हे जुद्ध महापुरुषवादो माना जा सकता है। उनमेंने प्रथम है एक अमेरिकी लेखक, फ्रेंडरिक ऐडम्स उड । उसने अपनी पुस्तक 'द इन्फ्लुएंस ऑव मॉनक्सेंमें ऑकडे देकर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि राजा ही युगका स्रष्टा होता है। भीष्मने कहा था—"कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्। इति ते संदायो मा भूत् , राजा कालस्य कारणम्॥", अर्थात् राजा ही काल अथवा युगका कारण होता है, न कि युग राजाका। उड और भीष्ममं यहाँ विलक्षण मतैक्य दिखाई देता है।

कार्लायल और उडके बाद सम्भवतः एकमात्र शुद्ध महापुरुषवादां है प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक विलियम जेम्स (१८४२-१९१०), जिसने अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निवन्ध 'ग्रेट मेन एण्ड देयर इनवायरॉनमेट'मे वडी ही ओजपूर्ण शैलीमें महापुरुषवादी दृष्टिकोणको विशद करनेकी चेष्टा की है। इस निवन्धकी विशेषता है महापुरुषवःदपर हवँद स्पेंसर द्वारा किये गये आक्षेपोंका विद्वत्तापूर्ण उत्तर, जिसकी बानगी आगे आयेगी।

कुछ चिन्तक ऐसे है, जो शुद्ध महापुरुषवादी नहीं कहें जा सकते और जो महापुरुषोक्ते आविर्मावके दृष्टिकीणको केवल आंशिक रूपमें प्रश्रय देते पाये जाते है।

हीगेल (१७७०-१८३१), जिसकी दृष्टिमे इतिहास विश्वात्माकी उत्तरीत्तर स्वरूपोपलिक्यकी कहानी है, की मान्यता है कि प्रत्येक युगकी अपनी आत्मा होती है, जिसका प्रतिनिधित्व महापुरुष करता है। महापुरुषोंका आविर्भाव विश्वात्माके कार्य-साधनके निमित्त हुआ करता है, किन्तु लोग तथा महापुरुष स्वयं भी प्रायः इस अममे पड़ जात है कि वे इतिहासको बदलनेमे किसी निजी स्वार्थकी सिद्धि कर रहे है।

स्पेंग्लर (१८८०-१९३६) भी महापुरुषको उसकी संस्कृतिकी आत्मा कहकर पुकारता है। उसके अनुसार महापुरुष विश्व-संचालिनी महानियतिके अभिकर्त्ता (एजेट) होते है।

हीगेलको जब भी किसी महापुरुषका उदाहरण देना होना है, तब वह सिकन्दर, सीजर, फ्रेडरिक महान् और नैपोलियनका ही उल्लेख करता है। लगता है कि वह योद्धा ही को वास्तविक महापुरुप माननेके पक्षमें है। स्पेंग्लर योद्धा और राजनेताको 'तथ्याग्रही पुरुष' (मेन ऑव फैक्ट) और विचारक और 'पुस्तक-कीट'को 'सल्या-प्रही पुरुष' (मैन ऑव ट्र्थ)की संज्ञा देता है और कहता है कि तथ्याग्रही सत्याग्रही श्रेष्ठ और हतिहासको मर्वाधिक प्रभावित करनेवाला होता है। सत्याग्रही बस साहित्यके हतिहासमे स्थान पाकर रह जाता है, ठोस इतिहासमे उसका उसे कोई स्थान नहीं मिलता।

मैक्स वेवर (१८६४-१९२०)के इतिहास-दर्शनमे भी महापुरुषवादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह महापुरुषत्व-धर्मको करिइमा (charisma) कहकर पुकारता है। आर्नाल्ड जे० दूवायनवीकी मान्यता है कि कियाका स्रोत समाज नहीं, बल्कि कोई महापुरुष ही हुआ करता है। ये महापुरुष या तो विजेता होते हैं या तारक (सेवियर)। उत्कर्षोन्मुख सभ्यताका नेता विजेता और अपकर्षोन्मुखका तारक होता है।

आजका प्रसिद्ध अमेरिकी दार्शनिक सिडनी हुक अपनी पुस्तक 'द हीरो इन हिस्ट्री'मे काफी हदतक मार्क्सवादसे महापुरुषवादकी ओर लौट आया है।

महापुरुषवादी इतिहास-दार्शनिकोने प्रस्थान-निर्माणका विशेष यत्न नहीं किया है। महापुरुषवादी दृष्टिकोणसे मानवीय इतिहासका विधिवत् अध्ययन वस्तुतः हुआ ही नहीं है। इसका एक कारण यह है कि शुद्ध महापुरुषवादी दो या तीन ही लेखक दिखायी देते है, शेष तो केवल आंशिक रूपमे महापुरुषवादको प्रश्रय देते है। अब आलोचकोंने महापुरुषवादपर जो आपत्तियाँ उठायी है और महापुरुषवादियोंने अपने दृष्टिकोणके समर्थनमे जो तर्कनितर्क किये है, हम उनपर किंचित् विचार करना चाहेगे।

हर्बर्ट स्पेसर (१८२०-१९०३) और कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) का कथन है कि महापुरुषवाद जहाँ तक जाता है, वहाँ तक तो ठीक है, किन्तु वह दूर तक नहीं जाता—वह महापुरुषोंकी महत्ताकी व्याख्या करने में असमर्थ है। उनका कहना एक सीमा तक ठीक भी है। कार्लायल तो यह कहकर मौन हो जाता है कि महापुरुष अज्ञात और असीमकी ओरसे मनुष्यके लिये भेजा गया सन्देशहर है। हीगेल और स्पेंग्लरके अनुसार महापुरुष कमशः विश्वातमा और नियतिकी ओरसे आविर्भूत होता है। उडके अनुसार वह मानव-योनिके अन्तर्गत एक उपयोनि है। इनके विरुद्ध, मोटे तौरपर, स्पेंसर और मार्क्सका मत है कि महापुरुष सामाजिक-आर्थिक शक्तियों अथवा युगकी मांगके वश आविर्भूत होते हैं।

मार्क्स और एंगिल्सकी मान्यता है कि प्रत्येक युग अपने महापुरुष ढूँढ लेता है और यदि वे ढूँढनेसे नहीं मिलते तो उनका आविष्कार कर लेता है। एंगिल्स तो यहाँतक कहनेको तैयार है कि यदि किसी महापुरुषको उसके क्षेत्रसे हटा भी दिया जाय तो उसका स्थान छेनेके लिए तुरन्त एक दूसरा महापुरुष उत्पन्न हो जायगा, जो लगभग पहले महापुरुषके सहन्न ही होगा।

कार्लायलने अपनी पुस्तकमें इस प्रकारकी शंकाओं के लिए एक समाधान दे रखा है। उसे आइचर्य है कि लोग महापुरुषको समयकी पैदावार बतलाकर उसकी महत्ता कम कैसे कर देते है। उसके शब्द सुनिये—"लोगोका कहना है कि वह समयकी पैदावार था, समयकी पुकारके फलस्वरूप वह पैदा हुआ, समयने सब कुछ किया, उसने कुछ नही किया…। मुझे तो यह बौद्धिक दिवालियापन प्रतीत होता है। समयकी पुकार श अफसोस, हमे ऐसे समयोंका पता है, जिन्होंने अपने महापुरुषको काफी जोरसे पुकारा था, किन्तु उसे पाया नही। वह था ही नहीं, विधाताने उसे मेजा ही नहीं था, समयको पुकारते-पुकारते अस्त-व्यस्त और ध्वस्त हो जाना पडा, क्योंकि पुकारनेपर वह महापुरुष पहुँचा ही नहीं"।

इसके अतिरिक्त, महापुरुषवादी यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि प्रतिभाशाली ही वास्तविक महापुरुष हो सकता है और प्रतिभाकी उत्पत्ति एक सर्वथा आकस्मिक घटना है। ऐसी स्थितिमे गुगकी मॉगपर महापुरुष झट उपस्थित कैसे हो जायगा। विलियम जेम्स और सिडनी हुकने इस

सम्बन्धमे महापुरुषवादके विरोधियोके लिए बड़े विकट प्रश्न उठाये हैं । स्पेंसरको उत्तर देते हुए जेम्स कहता है कि क्या यदि शेक्सपियर शैशव-कालमे ही परलोक सिधार गया होता तो उसके जन्मस्थान स्ट्रेटफर्ड-ऑन-अवॉनकी किसी अन्य मांके माध्यमसे उसकी प्रतिलिपि तैयार हो जाती ? इसी प्रकार सिडनी हुकने एंगिल्सके खण्डनमे कहा है कि एंगिल्सके अनुसार आर्थिक अन्तिवरिधका अन्त एक अटल ऐतिहासिक भावश्यकता है और रज और वीर्यका समागम ऐतिहासिक धावश्यकता है और रज और वीर्यका समागम ऐतिहासिक हिंसे आकस्मिक हैं । तो फिर ऐतिहासिक आवश्यकता प्राणिशास्त्रीय क्षेत्रकी आकस्मिकतापर कैसे हावी हो जाती हैं ? ऐतिहासिक आवश्यकता और प्राणिशास्त्रीय आकस्मिकताका सामंजस्य कैसे सम्पन्न हो जाता है ? अतः महापुरुषको सामाजिक-आर्थिक शक्तियोकी पैदावार बतलाकर उसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं किया जा सकता ।

अस्तु, अब हम महापुरुषवादी दृष्टिकोणका थोडा मृल्यां-कन करनेका प्रयत्न करें। मार्क्सवादी तथा महापुरुषवादके अन्य विरोधी यह भूल जाते है कि इतिहासकी प्रक्रिया अथवा विकास-मार्गके कई विकल्प होते है और यह कि यदि मौकेपर समर्थ महापुरुष उपस्थित रहा तो इस बातका निर्णय बहुत कुछ उसके हाथमे होगा कि इतिहास कौन सा मार्ग ग्रहण करे। यहाँ महाप्रुषकी प्रभविष्णतासे किसी प्रकार भी इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या महापुरुष ऐतिहासिक विकासको आमूल-च्ल उलट सकता है ? उदाहरणार्थ, क्या वह इतिहासकी प्रक्रियापर इतना वश प्राप्त कर सकता है कि पूँजीवादके बाद सामन्तवाद जैसी प्रतिगामी व्यवस्थाकी प्राणप्रतिष्ठा कर दे ? यहाँ उत्तर हाँ मे कदापि नही दिया जा सकता। इस स्थितिमे निश्चय ही सामाजिक-आर्थिक शक्तियाँ उसकी अपेक्षा कही अधिक बलवती सिद्ध होगी। इस तथ्यसे इनकार करनेका अर्थ होगा, महापुरुषवादको अतिकी सीमा-तक ले जाना।

एक समसामयिक ठेखक कार्ल जी॰ गुस्तावसनने महापुरुषकी इतिहासकारिताके निर्धारण-निर्णयके सिलसिलेमे इं बातोंपर ध्यान देनेकी सिफारिश की है—(१) कुछ सामाजिक शक्तियाँ किसी भी महापुरुषके लिए अजेय होती है; (२) दीर्घकाल-न्यापी प्रवृत्तियोंका अनुशासन महापुरुषके लिए भी कठिन होता है; (३) किसी एक ऐतिहासिक घटनाकी तफसीलें प्रायः सम्बद्ध पुरुषों द्वारा ही अनुशासित होती है; (४) इतिहासकारिताके खल बहुषा 'ठीक समयपर ठीक आदमी' नियमके निदर्शन होते है; (५) अवसर पाकर साधारण प्रतिभा भी इतिहासके कान्तिका कारण बन जाती है और (६) प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तनपर उसके विशिष्ट सन्दर्भमे ही विचार होना चाहिए।

वस्तुतः प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि क्या महापुरुष इतिहासकी प्रक्रियाको दिशा दे सकता है, बल्कि यह कि वह उसे किस सीमानक दिशा दे सकता है। प्रत्येक अन्य प्रकारकी क्षमताके समान इतिहासके निर्माणकी क्षमतामें भी तारतम्य देखनेको मिळता है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे हैं, जो इतिहासको एक नगण्य सीमातक ही प्रभावित कर सकते हैं, कुछ ऐमे हैं, जो एक पूरे युगको बना-विगाड सकनेमें

सक्षम है और कुछ ऐसे भी हो सकते और होते है, जा एक पूरी संस्कृतिका भाग्य-विधान करनेकी सामर्थ्य रखते है। इस तारतम्यको ध्यानमे रखकर महापुरुषोंके कार्यका मृत्यांकन ही वैज्ञानिक और यौक्तिक मृत्यांकन कहा जा सकता है।

अभी हालतक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे महापुरुषवादी प्रवृत्तिका बोलवाला रहा है। सांस्कृतिक इतिहास-लेखनके क्षेत्रमे यह वाद अपने पुराने रूपमे तो नही रहा, किन्तु वह किसी-न-किसी रूपमे अब भी विद्यमान है। युग-विशेषके लेखक-समूह तथा प्रवृत्ति-समूहका इतिहास प्रस्तुत करनेके बदले केवल बड़े लेखकों और बड़ी प्रवृत्तियोंका विवरण दे देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रचलित साहित्य-तिहास-लेखनकी इस व्यापक प्रवृत्तिकी विचारोत्तेजक आलोचना निलनिवलोचन शर्माके 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' (१९६०)मे देखनेको मिलती है। इस सम्बन्धमे इस पुस्तककी हर्षनारायणकी जुलाई १९६३के क स्व गमे प्रकाशित समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

हिन्दीमे इतिहासकी नहापुरुषवादा व्याख्याकी चर्चा, शायद सर्वप्रथम मन्मथनाथ ग्रुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्माके 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (१९४६ ई०)मे आयी, किन्तु 'महापुरुषवाद' शब्दका प्रथम प्रयोग हर्षनारायणके जनवरी १९५२.ई०के 'प्रतीक'में प्रकाशित लेख 'इतिहासकी महापुरुपवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' में हुआ। इस लेखकी मन्मथनाथ ग्रुप्तकी आलोचना 'हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाके साथ मार्च' १९५२ ई० के 'प्रतीक'में प्रकाशित हुई थी। मन्मथनाथ ग्रुप्तने 'प्रगतिवादकी रूपरेखा' (१९५२ ई०)में अपनी आलोचना समाविष्ट करते हुए हर्षनारायणकी प्रत्यालोचनाकी समीक्षा की है।

सिहायक प्रनथ-कालीयल : हीरोज ऐण्ड हीरो-विशिप: फ्रडरिक ऐडम्स उड: द इन्फ्लुएन्स ऑव मॉनक्सी; बी० एच० लेहमान: कार्लायस्स थियरी ऑव द हीरो; एरिक वेन्टले : द कल्ट ऑव द सुपरमैन; जैकव वर्कहार्ट : द ग्रेट मैन इन हिस्ट्री और फोर्स ऐण्ड फीडम; विलियम जेम्स: ग्रेट मेन ऐन्ड देयर एन्वायरॉनमेन्ट; द विल टु बिलीव ऐण्ड अदर एसेजः टॉल्स्टॉय : वार ऐन्ड पीस और सेकण्ड एपिलॉग; हर्बर्ट स्पेन्सर: स्टडी ऑव सोशियोलॉजी; प्लेखानीव : द रोल ऑव द इन्डिविजुअल इन हिस्ट्री; सिडनी हुक: द हीरो इन हिस्ट्री; बुखारिन: हिस्टॉरिकल मैटीरियलिङमः मार्क्स-एंगेल्सः सेलेक्टेड करेस्पॉन्डेन्सः आर० एम० मैकआइवर : 'हिस्टॉरिकल एक्सप्लेनेशन', एसेज ऑन लॉजिक ऐन्ड र्लगुएज—सेकन्ड सीरीज(ऐण्टॉनी फ्ल्यू द्वारा सम्पादित); गुस्तॉव्सन : अ प्रिफेस ह हिस्ट्री; हर्षनारायण : 'द रोल ऑव पर्सनॉलिटी इन हिस्ट्री' (मॉडर्न रिब्यू, नवम्बर, १९५९ ई०); 'इतिहास-की महापुरुषवादी व्याख्या बनाम मार्क्सवाद' ('प्रतीक', जनवरी, १९५२ ई०); 'महापुरुषवाद' (वही, मार्च, १९५२ ई०); मन्मथनाथगुप्त, (वही, 'ऐतिहासिक भौतिक----ह० ना० वाद')।] तेरहवाँ सबैया-दे० 'सवैया', महाभुजंगप्रयात प्रकार ।

महामुद्रा - बौद्ध तन्त्रोमे मण्डलचक्र और मुद्रा-मैथुनमे स्नियो-का उपभोग आवश्यक अनुष्ठान माना जाता था, यद्यपि वे इस साधनाको भौतिक रूपमें घहण नहीं करते थे। 'मुद्रा', अर्थात् 'मोद देनेवाली' इस व्याख्यासे मुद्राको नारी रूपमे कल्पित किया गया। सिद्धोने भगवती नैरात्माको महासुद्राके रूपमें परिकल्पित किया। महामुद्राकी साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी, इस साधनामे निष्णात होनेके उपरान्त ही साधककी गणना सिद्धाचार्योंने होती थी। अपनी समकक्ष किसी योगिनीको महासुद्रा-रूपमें वरण कर साधक गुरुके पास जाता है। वहाँ उसे अभिषिक्त किया जाता है, फिर साधक महामुद्राके साथ मण्डल-चक्रमे प्रवेश करता है। 'गुह्मसमाजतन्त्र'के अनुसार नारी महामुद्राके तनमें भी पंच तथागतोंका वास है, अतः उसकी साधना कर लेनेवालेको तथागत-चक्री भी कहते है। इसीलिए महामुद्राकी साधना कर लेनेवाला फिर समस्त बाह्य अनुष्ठानीसे मुक्त हो जाता है।

महामुद्राको अन्य अनेक रूपों और भागोमे भी वाँटा गया है। सिद्धोंके कालमे नायिका-भेद भी महामुद्राके अन्य रूपोंके आधारपर किया गया है, यद्यपि इस विभाजन अथवा विभिन्न नाभोके पीछे कान्यशास्त्रकों कोई परम्परा न होकर हठयोग तथा मुद्रा-मेथुन सम्बन्धी गुद्ध संकेत ही है। इन अन्य नायिकाओं मेसे डोम्बीमें अद्वैतभाव प्रधान रहता है। क्योंकि यह ज्ञानसे सम्बद्ध है, इस कारण नेरात्मा प्रज्ञाकों भी डोम्बी कहते है। डोम्बीमों वायुतत्त्वसे संलग्न माना गया है, जो प्राण तथा अपान वायुके निरोधसे सम्बद्ध है। डोम्बी परिशुद्धावती है, इसके नायकको कापालिक कहते है।

मणिमुलमे सम्प्रदोकरणके उपरान्त चण्डारिन प्रज्वलित कर साधक अवधृतिकाके द्वारा उसे ऊपरकी ओर प्रवाहित करता है । इसी चण्डारिनको ग्रहण करनेके कारण अवधृतिकाको चाण्डाली कहा जाता है। महासुद्रा नेरात्माको इस प्रतीकके द्वारा प्रायः प्रकट किया गया है। चाण्डाली सारे चक्रोंको पारकर ललाट-स्थित कमलचक्रतक पहुँचकर आनन्द उत्पन्नकर पुनः नाभिचक्रमें वापस आ जाती है। यही चाण्डाली अपनी ऊर्ध्व गतिमे डोम्बी और उष्णीप कमलमे पहुँचनेपर सहज-सुन्दरी कहलाती है। काण्हपा तो प्रज्ञा-महासुद्राको गृहिणीरूपमे भी वर्णित करते है और स्पष्ट कहते हैं कि "जैसे नमक पानीमे घल जाता है, उसी प्रकार अपनी गृहिणीको अपने चित्तमे धारण करो" (दोहाकोष) । बादमे वैष्णवोंमे परकीया रूपपर जो इतना आग्रह मिलता है, उसका सिद्धोमे सर्वथा अभाव है। उन्होंने नायिकाके स्वकीया-रूपपर विशेष बल दिया है। वे उसे 'वधू'-रूपमे भी अभिहित करते हैं। परिणयके लिए वरयात्राकी सारी सज्जाका प्रचुर वर्णन भिलता है। सिद्धों द्वारा वर्णित विभिन्न नायिकाओमे ग्रुण्डिनी भी एक है-जो दो घड़ोमें बल्कल-चूर्णसे मदिरा खीचती है। उसके मदिरालयके कई द्वार है, जिनमेंसे दशम वैरोचन द्वारसे ग्राहक चिद्व दिखाकर आते हैं, जिन्हें वह मदिरा पिलाकर सन्तुष्ट करती है। एक नायिका मातंगी भी है, जो गंगा तथा यमनाके बीचसे नाव खेकर ले जाती है और

सभी यात्रियोंको नावपर विठाकर वारी-वारीसे उतारती है। सिद्धोंके पदोंमे नायिकाओका मुग्यात्व, मध्यात्व तथा प्रीढात्व, तीनो ही प्रवृत्तियाँ मिलती है। शबरपाकी शबरी संसारमे दर ऊँचे पर्वतपर मोर-पंखोसे शृंगार किये हुए अबोधप्रकृति बालिकाकी भाँति रहती है। उसकी जिन चेष्टाओंका विवरण शबरपाने दिया है उनसे उसका मुग्धात्व प्रकट होता है (चर्यापद) । कुक्करीपा द्वारा वर्णित वधूरूपमे मध्यात्व और महामुद्राकी प्रौढ़ा प्रवृत्तिका संकेत योगिनीमे मिलता है, जो रतिप्रिया प्रौढा है एवं नायकको पूर्णतया आनन्द देनेमें समर्थ है (चर्यापद)। कृष्णाचार्यपा इसीको डोम्बी वधू बताते हुए उसके साथ विवाह-समारोह रचाते है और इसीको कामचण्डालीकी संज्ञा भी देते है। आधी रातको कमल खिलता है, बत्तीस योगिनियाँ उसके दलोपर क्रीड़ा करती है, उनकी नायिकाको पश्चिनी कहा जाता है, क्योंकि मृणाल बनकर वह कमलरसको प्रवाहित कर रही है। यही अवध्विका है, जो मृणाल बनकर कमल-रसको प्रवाहित करती है, इसे कमलिनी भी कहा जाता है। बौद्धोकी भावसाधनाके अन्तर्गत बोधिचित्त और शन्यताकी प्रणयकेलिमें विभिन्न रूपकोंको व्यक्त करनेके लिए नायक तथा नायिकाके रूपमें तथागत और भगवती नेरात्माको माना गया, अर्थात् तथागतकी नायिकाको नैरात्मा कहा जाता है। उसी विश्वन्याप्त प्रणयकेलिमे साधक बोधिचित्तको नायक और नैरात्मज्ञानको नायिका मानकर अपने चित्तमे आयोजित करता है। महायान-महायान शब्दका वास्तविक अर्थ इसके दो खण्डों (महा + यान)से स्पष्ट हो जाता है। 'यान'का अर्थ मार्ग और 'महा'का श्रेष्ठ, बड़ा या प्रशस्त समझा जाता है। तात्पर्य उस ऊँचे या प्रगतिशील मार्गसे था, जो हीनयानसे बढकर था। यह लोकोत्तर मार्ग था, जिसका ऊँचा आदर्श था और इसीके कारण ईसापूर्व पहली शताब्दीमे ही बुद्धधर्ममें विभेद हो गया। वैशाली-संगीतिमें परिचमी तथा पूर्वी बौद्ध पृथक-पृथक हो गये, जिन्होने त्रिपिटकमे कुछ परिवर्तन किया। पूर्वी शाखाको महासधिकका भी नाम दिया जाता है, जिससे आगे चलकर महायानका नामकरण किया गया । बुद्धधर्ममे महायानके आरम्भकी तिथि निश्चित करना कठिन है। परमार्थके कथनानुसार कनिष्ककी चौथी संगीति-में भी महायानकी पूर्वस्थितिका अनुमान लगाया जा सकता है। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथने लिखा है कि कनिष्कके .पुत्रके राज्यमे (दूसरी रातीमे) महायानका काफी प्रसार हो गया था। उस सम्बन्धमे साहित्य भी तैयार हो रहा था। पालि साहित्य (हीनयान साहित्य)में कुछ ऐसा सन्दर्भ आता है, जिससे ज्ञात होता है कि महा-यानके विचार लोगोंमें काम कर रहे थे। महायान ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता'में अनेक दार्शनिक सिद्धान्त उल्लिखित है। इस यन्थका चीनी अनुवाद १४८ ई०में लोकरक्षाने किया था। अतएव इस आधारपर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सन्की पहली शतीमें महायानका प्रचार अवश्य हो गया था, तभी तो 'प्रशापारमिता'की रचना हुई। इस मतका आरम्भ महासंधिक-मतकी स्थितिसे ही कहा जाता है, जो महायानका पूर्वगामी मत था। इसके समर्थनमें

अन्य प्रमाण भी उपस्थित किये जाते है। महायान-दर्शनके सर्वप्रथम लेखक नागार्जुनका जन्म बुद्धनिर्वाणके चार सौ वर्षों बाद, यानी पहली शतीमे हुआ था। अतः गौण रूपसे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि महायानका प्रारम्भ इसके पहले ही हो चुका था। सम्भव है कि महायानका नामकरण बारकी घटना हो। ईसवी सन्की तीन शता-ब्दियोंतकके लेख यह घोषित करते है कि महायान-मत अधिक लोकप्रिय हो गया था। इसका विस्तार उत्तर-पश्चिमसे दक्षिण-भारततक हो चुका था (नासिक तथा कालेंके लेख)।

दक्षिणभारतमें कृष्णा नदीकी घाटीमे भी इस मतका प्रसार हो गया था, इस कारण 'अन्धक' शब्दका प्रयोग भी महायानके लिए यत्र-तत्र मिलता है। इस नामका भौगो-लिक कारण था। कृष्णा नदीकी घाटी आन्ध्र देशके नामसे विख्यात है। इसलिए महायानके पूर्व महासंघिकको 'अन्धक' नामसे उक्षियित किया गया। बोधिसत्त्वकी भावनाके कारण महायान बोधिसत्त्वयानके नामसे भी उक्षिखित है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि महायानका जन्म दक्षिण-भारतमे हुआ और वहीसे वह उत्तरभारतमें फैला। जहाँतक शब्दके प्रयोगका विचार है, सम्भवतः महायान तीसरी शतीके बाद प्रयुक्त किया गया। सातवाहन राजाओके लेखों में महासंघिक शब्दका ही प्रयोग मिलता है। हीन-यान शब्दके प्रयोगके साथ ही महायानका प्रयोग आवश्यक हो जाता है। फाहियानने इसका प्रयोग किया है। साहित्य-ग्रन्थोमें हीनयान (दे०)के साथ महायानका प्रयोग स्वाभाविक था, ताकि दोनों मतोंकी विभिन्नता स्पष्ट रूपसे व्यक्त हो सके। उदाहरणके लिए, 'सद्धर्मपुण्डरीक'में जहाँ श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धका उल्लेख आता है, वहाँ महायान-का नाम मिलता है। महावस्तुमें भी हीनयानका वर्णन मिलता है। 'दिव्यावदान'में बोधिसत्त्वजातिक भिक्षओंका वर्णन है, जो दूसरे शब्दोंमें महायान-भिक्ष कहे जा सकते है। उनको हीनयानवाले स्नेहकी दृष्टिसे नही देखते थे। कहनेका तारपर्य यह है कि महायानका प्रयोग हीनयान अथवा श्रावकयान (दे०)के साथ होता रहा।

यदि महायानके दार्शनिक सिद्धान्तोका अनुशीलन किया जाथ तो उसकी विशेषताएँ निम्मिलिखित रूपमें उछिखित की जा सकती हैं—सर्वप्रथम महायानवालोने वोधिसत्त्वकी भावनाका बुद्धधर्ममे समावेश किया। वह सदाचार, परोपकार तथा उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न माना जाता है, जो संसारके निर्वाणके लिए प्रयत्वशील रहता है। बोधिसत्त्व महामैत्री तथा करुणासे सम्पन्न होता है तथा जगत्के प्रत्येक प्राणीको क्लेशसे मुक्त तथा निर्वाणने मं प्रतिष्ठित करना उसका लक्ष्य होता है।

त्रिकामकी कल्पना महायानकी दूसरी विशेषता है। धर्मकाम, सम्भोगकाम तथा निर्वाणकाम महायानको मान्य थे।

दशभूमिकी कल्पना तीसरी विशेषता है। हीनयानके मतानुसार अर्हत-पदकी प्राप्ति केवल चार भूमियोंने मानी गयी है, परन्तु महायानमें निर्वाणकी उपलब्धि दशभूमियोंने से होती है।

निर्वाणकी कल्पनामें भी महायान अपनी विशेषता रखता है। हीनयानी निर्वाण दुःखाभाव-रूप है, परन्तु महायानी निर्वाण अानन्द-रूप है। उनके विचारमे बुद्धत्वकी प्राप्ति ही सर्वोपरि लक्ष्य था। उनका कथन था कि पुद्गल-रूम्यता तथा धर्मशून्यताके कारण वे क्लेशावरणसे रहित हो सकते है।

महायान-मतका अभ्युदय भक्तिको लेकर हुआ था। बुद्ध साधारण मानव न होकर लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी भक्ति करनेसे ही मानव इस दुःख-बहुल संसारसे पार जा सकता है। भक्तिको प्रश्रय देनेसे ही महायानके समयमें बद्धकी प्रतिमाका निर्माण होने लगा। अतः महायानके कारण चित्र तथा मृतिकला (दौद्ध कला)की विशेष उन्नति हुई। महायानके ऊपर ब्राह्मण-धर्मके सिद्धान्तोका प्रभाव ही भक्ति-भावनाका कारण था। प्राचीन आचार्य असंगने 'सूत्रालंकार'मे लिखा है कि महायान-धर्म हीनयानके साथ ही उत्पन्न हुआ। इसे पीछे किसीने प्रचारित नहीं किया। यह भी बुद्धवचनपर आधारित है। उनके मतानुसार यदि शाक्यमुनिने इसका प्रवर्तन नहीं किया तो ऐसा कौन बुद्धत्व-प्राप्त व्यक्ति था, जो धर्मचक्रप्रवर्तनकी सामर्थ्य रखता हो। आधुनिक विद्वान् इसे माननेमे असमर्थता प्रकट करते है। असंगका तर्क जितना भी वल रखता हो, परन्तु हीनयान या महाथानकी समकालीन उत्पत्ति तथा विकासकी बातें पुष्ट नहीं हो पाती। सारांश यह है कि महायान-धर्म हीनयानसे कई विषयोमे भिन्न विचार रखता था, जो कालान्तरमें समाविष्ट हुए।

महायान-पन्थने सामाजिक उन्नतिके लिए पारमिताकी ओर गृहस्थोंका ध्यान आकषित किया। पारमिता अथवा पारमी उपासकोके हृदयमे प्रेम तथा बुद्धधर्मकी और श्रद्धा उत्पन्न वरती है। इन्हें कथानक, उपाख्यान अथवा कहावत-की संज्ञा दे सकते है। 'दिक्षासमुख्य' नामक यन्थमे बोधि-सत्त्वके वर्तव्यका उरलेख मिलता है, जिसका तात्पर्य यह है कि गृहस्थको वैसा ही करना चाहिये। महायान-मता-वलम्बयोंका कथन था कि गृहस्थोमे दानकी भावना तृष्णा, भय, चिन्ताको दूर करती हैं। अतएव गृहस्थको अन्यधिक दान देना चाहिए। सामाजिक प्राणीको समचित्त होना चाहिये। ज्ञान-प्राप्तिके उचित मार्गका अवलम्बन तथा अनानात्वचारित (जो वि.सीमे विभेद उत्पन्न न करे)की भावना आवश्यक है। गृहस्थको पुत्रको शत्रु मानना चाहिये, क्योकि वह अधिक प्रेम तथा आकर्षणका पात्र है: इसीके कारण पिता बुद्ध-वचनसे विमुख हो जाता है। प्रेम उचित मार्गसे पृथक् कर देता है। गृहस्थमे सम भावना होनी चाहिये तथा गृही बोधिसत्त्व किसी भी पदार्थको अपना न समझे। उसे सांसारिक वस्तुओको त्यागना चाहिये, ताकि मृत्युके समय वह तृष्णारहित सुखका अनुभव करे।

गृहस्थको मिदिराका प्रयोग न करना चाहिये, बीभत्स तथा अइलील दृश्य न देखना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये तथा गम्भीर विचारवाला होना चाहिये। वह गृहस्थ दुराचारने विमुख होकर भी कीमें लीन न रहे। परीपकारकी भावना इतनी जायत हो कि वह अपना स्वार्थ त्याग कर दे। गृहस्थको बुद्धत्वप्राप्तिके लिए पृजा करना आवस्यक है। इस तरहके अनेक उच्च विचारोंको महायान-ने समाजमें प्रसारित किया, ताकि जनताका कल्याण हो सके।

महायान-धर्म भक्ति तथा पृजाकी भावनासे जनतामें लोकप्रिय होना गया तथा लोग उमकी ओर आकर्षित होते गये। बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी पूजाका आरम्भ हुआ और कलामें लक्षणके स्थानपर बुद्ध तथा बोधिसत्त्वकी प्रतिमाएँ तैयार होने लगी । गान्धार-शैलीमे बौद्धमर्ति निर्मित होने लगी। बुद्धको योगी और भिक्षके रूपमे नथा वोधिसत्त्वको राजकुमारके वेशमें (वस्तालंकारयुक्त) दिखलाया गया। शुंग-युगकी कलामें बुद्धके नाना प्रतीक प्रधान स्थान प्राप्त कर चुके थे। भरहुन, बोधगया तथा सॉचीकी कला लाक्षणिक थी। कनिष्कके समयमे गान्धारमे सर्वप्रथम बुद्धमूर्ति बनने लगी । कुमारस्वामीका मत है कि गान्धार तथा मशुराके कलाकेन्द्रोंमे बुद्धप्रतिमाका निर्माण स्वतन्त्र रूपसे हुआ। दोनो दैलियोंमे किसीका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। भगवान् बुद्धकी प्रतिमाएँ ध्यान तथा बुद्धत्व-प्राप्तिकी अवस्थामं दिग्वलायी गयी है। सारनाथमे बुद्धने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, अतएव धर्मचक्रको हटाकर भगवान् इ.रा पाँच साधुओंको दीक्षित करनेका दृश्य प्रतिमा द्वारा प्रदक्षित किया गया । इसी प्रकार स्तूपसे परिनिर्वाण-का ज्ञान न कराकर स्वयं बुद्धकी प्रतिमा शयनावस्थामें तैयार की गयी। बुद्धप्रतिमा सर्वथा चीवरके साथ बनने लगी। ऐतिहासिक घटनाओको साकार बुखप्रतिमासे प्रद-शित कर लाक्षणिक कलाको प्रायः समाप्त कर दिया गया। चैत्य-गुफाओमे भी स्तूपके आगे बुद्धकी मृति जोड़ दी गयी, जिसके कारण प्रतीक गौण हो गये। बुद्धकी प्रतिमा आसन (बैठी), स्थानक (खडी) तथा शयन (लेटी) अवस्थामे दिखलाई पड़ती है। उनमे हाथोंकी विभिन्न मुद्राएँ (ध्यान, भूमिस्पर्श, धर्मचक्रप्रवर्तन, अभय, दरद तथा व्याख्यान) स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गयी है। गान्धार, मथुरा तथा सारनाथके कलाकेन्द्र इस तरहकी मृतियोके लिए प्रसिद्ध है। गान्धारमे महापुरुषक लक्षणो (जालांगुली, उर्णा, लम्बे कान आदि)का प्रदर्शन मिलता है। मथुरामें विद्यालकाय स्थूल भावनाके साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गयी तथा सारनाथमे ध्यानावस्थित, गम्भीर भावना तथा मननशील एवं दार्शनिक विचारयुक्त मृतियाँ तैयार हुईं। सारनाथकी धर्मचक्रप्रवर्तनयुक्त बुद्धप्रतिमा इतनी लोकप्रिय हुई कि ग्रप्त-युगके पश्चात् मगध तथा बंगालमे उसीका अनुकरण होता रहा। सारांश यह है कि महायान-मतके कारण शुंग-युगकी लाक्षणिक पद्धतिके स्थानपर बौद्ध प्रतिमाएँ कलामे प्रतिष्ठित होने लगी । कुषाण-युगमें गुप्तकालपर्यन्त बौद्धकलामे जो कुछ परिवर्तन दिखलाई पड़ता है, उसका श्रेय महायान-मतको है।

महायान-साहित्यके निर्माणकर्ताओं से अध्योष, नागा-र्जुन तथा असंगके नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। अश्व-धोषने, जो कनिष्कके समकालीन थे, 'सृत्रालंकार' नामक प्रन्थ लिखा। पीछेके दो आचायोंके विषयमें चीनी तथा तिब्बती आधारपर जो झान होता है, वह स्पष्ट नहीं है।

व्यक्ति कहकर उल्लेख किया गया है। नागार्जुन दक्षिण-भारतके ब्राह्मणकुलके भूषण थे, जो कालान्तरमे नालन्दामें संघके मठाधीश हो गये थे। पंचविशति साहसिक प्रशा-पारमितापर उनकी टीका सर्ध्यसिद्ध है। असग भी पेशावर-के ब्राह्मणकुलोत्पन्न उपदेशक थे। इन्होने योगाचार-दर्शन-का प्रतिपादन किया था। भ्राता वसुदन्धुके साथ इनका नाम लिया जाता है। महायानके प्रधान यन्थोमें 'बुद्ध-चरित', 'महायानसूत्र' (सद्धर्मपुण्डरीक), 'लंकावतारसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारमिता'के नाम लिये जाते है। अवदान-प्रन्थ भी महायान-मतानुयायियोने लिखा था। महायान-ग्रन्थ संस्कृतमें लिखे गये थे। महाराग-वज्रयानी साधनामें सम्बोधिका वास्तविक लक्षण महाराग है। यह राग तरुणी महामुद्राके प्रति साधकका अट्टट स्नेह है, जिसके बिना इस जन्ममे बोधि मिलना असम्भव है। यह महाराग केवल एकपक्षीय नहीं होता। भगवती प्रज्ञा भी महामुद्राके रूपमे साधकसे उतना ही प्रेम करती है और नायक-नायिकाके रूपमे उपाय तथा प्रज्ञा, मन तथा वाक्, बोधिचित्त तथा नैरात्मा या साधक तथा महामुद्रा इस महाराग-रूप स्थायी भावके आलम्बन थे। सांसारिक राग और विरागका परित्याग कर इस महारागके स्वरूपको पहचानना ही मोक्षका कारण है। केवल शून्यता-ज्ञान ही यथेष्ट नहीं, क्योकि बोधिचित्त शून्यता और करुणाके अद्वयसे उत्पन्न होता है और करुणा ही राग है। चॅिक राग करुणाका प्रतीक है और शून्यतासे संग करनेके लिए उन्मुख है, अतः उसे वजराग कहा गया है। यही बजराग महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेसे महाराग कहलाता है और वन्थनसे मुक्त कर देता है। सांसारिक बुद्धिसे ग्रहण किये जानेपर यही बन्धनका कारण होता है और महामुद्राके प्रति अनुरक्त होनेपर महारागके रूपमे मोक्षप्रदाता होना है। महाशुन्य - दे॰ 'शुन्य', 'चक्र' तथा 'उष्णीशक्रमल'। महासंस्थान-मूल्यों, मानों, प्रतिमानों एवं आदशौंकी चेतना (मानव) संस्कृतिकी वह विशेषता है, जो उसे पशु-

नागार्जुनको तान्त्रिक उपदेशक तथा कीमियागिरीमे निपुण

समाजसे भिन्न करती है। इन म्रूयो, मानों, प्रतिमानों एवं आदर्शोंकी समष्टिको पितिरिम ए० सोरोकिन महा-संस्थान (सुपरसिस्टम) नामसे पुकारता है। प्रत्येक संस्कृति-का महासंस्थान उसमें न्यापक जीवन-दृष्टिसे अनुप्राणित होता है। समाजकी जीवन-दृष्टिमें परिवर्तन आनेपर महा-संस्थान भी परिवर्तित हो जाता है। सोरोकिनने जीवन-दृष्टियोंकी संख्या पाँच निश्चित की है—(१) यह कि परमतत्त्व इन्द्रियगोचर है (इन्द्रियवाद, प्रत्यक्षवाद अथवा इहलोकवाद); (२) यह कि परमतत्त्व

राराजानम जानन दाटनाजा सर्वन पाय निगरवार का है—(१) यह कि परमतत्त्व इन्द्रियगोचर है (इन्द्रियवाद, प्रत्यक्षवाद अथवा इहलोकवाढ); (२) यह कि परमतत्त्व अतीन्द्रिय है (अतीन्द्रियवाद, परोक्षवाद अथवा परलोक-वाद); (३) यह कि परमतत्त्व अन्नात्मक है (अध्यात्म-वाद); (४) यह कि परमतत्त्व अन्नात और अन्नेय है (अन्नेय-वाद) और (५) यह कि परमतत्त्वका प्रतीयमान रूप ज्ञात है और तात्त्विक रूप अन्नात और अन्नेय (संज्ञ्यवाद)। इनमें अन्तिम दो दृष्टियाँ नकारात्मक होनेके कारण कभी समाजके बड़े भागको अपील नहीं कर सकतीं। अतः प्रथम

तीन दृष्टियाँ ही समाज-दर्शनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों दृष्टियोंके अनुरूप तीन प्रकारके महासंस्थान देखनेको मिलते है—(१) इन्द्रियाग्रही, प्रत्यक्षप्रिय अथवा इहलोक-केन्द्रक (सेन्सेट), (२) अतीन्द्रियाग्रही, परोक्षप्रिय अथवा परलोक-केन्द्रक (आइडिएशनल) और (३) अध्यात्म-प्रधान (आइडियलिस्टिक)। इनके अतिरिक्त एक चौथा गौण मेद मी है—मिश्र (एकलेक्टिक), जो उक्त तीन मुख्य मेदोंकी खिचडी (न कि समन्वय या सामंजस्य) है।

महासंस्थानका वहन अनेक सांस्कृतिक-मामाजिक संस्थान किया करते है। सांस्कृतिक संस्थान मुख्यतः पाँच है—(१) भाषा-संस्थान, (२) विद्यान-संस्थान, (३) धर्म-संस्थान, (४) लिलतकला-संस्थान और (५) आचार-संस्थान। इनके अतिरिक्त एक छठा गौण संस्थान भी होता है, जिसे सोरोकिन मिश्र या खिचडी संस्थान कहते है। आचार-संस्थानमे कानून-संस्थान, राजनीति-संस्थान तथा अर्थ-संस्थान सम्मिलित है। लिलतकला-संस्थान चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, संगीत, साहित्य और नाट्यकला नामसे प्रसिद्ध उपसंस्थानोंसे मिलकर बना है। समाजमे महासंस्थान तथा तदंगभून विविध सांस्कृतिक संस्थानं उपसंस्थान तथा तदंगभून विविध सांस्कृतिक संस्थानं उपसंस्थान की लिरिक्त उनके साधनभूत अनेक सामाजिक संस्थान भी होते है, जैसे परिवार, राज्यसंस्था, श्रमिक-संघ इत्यादि।

उपर्युक्त सामाजिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण तीनों जीवन-दृष्टियोमेसे कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है। अतः समाजके लिए सदा एक ही जीवन-दृष्टिसे सन्तुष्ट रहना सम्भव नहीं। मानवता पहले एक जीवन-दृष्टि अपनाती है, तिन्तु काल-क्रमसे जब उसकी अपूर्णता प्रकाशमे आती है, तब वह उसे छोड़ विरोधी दृष्टि अपना लेती है। इस प्रकार उसका महासंस्थान भी बदल जाता है और महासंस्थानके बदलने से ही समाज बदला करता है। महासंस्थानगत परिवर्तन शीव ही सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थानोंमे प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रकार महासंस्थानोंका चक्र चल पडता है।

सोरोकिनके महासंस्थानवादके अनुसार हिन्दू, चीनी और मिस्रीय संस्कृतियोंका महासंस्थान सदासे परलोक-वादात्मक रहा है, जब कि यूरोपमे महासंस्थानत्रयके अवतक दो चक्र चल चुके हैं। हमारे देखते-देखते यूरोपमे इहलोक-केन्द्रक संस्थानका पतन हो रहा है और परलोक-केन्द्रक महासंस्थानका उदय।

अन्तमे यह बतला देना आवश्यक हैं कि सोरोकिनने यत्र-तत्र इस बानका संकेत किया है कि उपर्युक्त अपूर्ण अथवा अंशतः सत्य जीवन-दृष्टियोके अतिरिक्त एक पूर्णतर समन्वित (इण्टोग्रल) जीवन-दृष्टि भी है। इसे हम समन्वय-वाद (इण्टोग्रलिङ्म) कह सकते है। तो फिर इस पूर्णतर दृष्टिपर आधारित एक पूर्णतर महासंस्थान क्यों नहीं? यह समस्या सोरोकिनने कहीं नहीं उठायी है।

सोरोकिनके अतिरिक्त अनेक अन्य समाजदार्शनिकोंने भी अपनी-अपनी लाक्षणिक भाषामें महासंस्थान सम्बन्धी धारणाएँ प्रस्तुत की है। समाज ए० कास्टके अनुसार सामाजिक (सोश्रल) और वैचारिक (आइडियालाजिकल) नामके, अल्फेड वेबर, मैंक आइवर आदिके अनुसार सभ्यता (सिविल्जिजेशन) और संस्कृति (कल्चर) नामके, आगवर्न, वेळ्नेन आदिके अनुसार मौनिक और निर्मोतिक नामके और कार्ल मार्क्सके अनुसार आधार और प्रासाद नामके महासंस्थानोंको समष्टि है। सामाजिक, भौतिक अथवा आधारभूत महासंस्थानका परिवर्नन अथवा विकास-क्रम रेखाकार होता है, न कि चक्राकार। वैचारिक, सांस्कृतिक अथवा प्रासादभूत महासंस्थानमे इतर महासंस्थानके विकास-क्रम स्थानके विकास-क्रम स्थान विकास-क्रम प्रायः नहीं होता। यद्यपि ये महामंस्थान एक-दूसरेको प्रभावित करते रहते है, तथापि सामाजिक आदि नामोसे अभिहित महासंस्थानमें अधिक प्रभविष्णुता होती है।

महासुख-यह समरस है, सहजानन्द है, जो न तो श्रवण-से सुन पडता है, न नयन हे देख पडता है, न पवन उसे हिला पाता है, न अग्नि उसे जला पाती है, न जल-वर्षा ने वह आर्द्ध होता है, न वह बढता है, न घटना है, न वह अचल है, न वह गतिशील है। उपनिषदोंके ब्रह्मकी भॉति इसकी नेतिपरक व्याख्या दी जा सकती है। किन्तु साथ ही यह केवल नेतिपरक नहीं है, क्योंकि जिस भवमें लगकर न्यक्ति मरता है, उत्पन्न होता है, बन्धनमें पडता हैं, उसीमें लगकर वह परम महासखको भी सिद्ध कर लेता है। इसलिए इमकी तो केवल अनुभूतिकी अगम्यताके कारण वह व्याख्याके परे हो जाता है। महासुखकी व्याख्या नहीं की जा सकती। केवल गुरु ही शिष्यको इस मार्गमे प्रवृत्त करा सकता है (विस्तारके लिए दे०— इण्टोडक्शन ट तान्त्रिक बुद्धिज्म : शशिभूषणदास ग्रप्त)। -ध० बी० भा०

महासुखचक-दे॰ 'हठयोग'। मातंगी-दे॰ 'महामुद्रा'।

मातृनिष्ट समाज (matriarchal society) - आज हम पितृसत्ताक समाजमें रह रहे हैं, जिममे पिता परिवार या कुलका स्वामी और प्रधान होता है। यह स्थिति इतनी पुरानी है कि हमें इसका गुमान भी नहीं होता है कि इससे अन्य भी कोई सामाजिक स्थिति हो सकती है। पर एक समय था, जब हमारा समाज पिताको प्रधानतामें नहीं, माताके नेतृत्वमें व्यवस्थित था। वह मातृनिष्ठ समाज था। उसमें माता ही परिवारकी स्वामिनी थी। कुटुम्बकी देख-भाल, उसका नियन्त्रण आदि वही करती थी। तब वह आजकी भॉति अवला भी न थी। उसके शिराव्यजित अंगांग शक्तिके परिचायक थे और परिवारके सारे पुरुष, उसका नरतक, उसका लोहा मानते थे। आज भी मातु-सत्ताक व्यवस्था नागा-खासी आदि असम और बर्माकी आदिम जानिथोंमें हैं। हमारे सभ्य समाजमे भी मलाबार (केरल)में मातृसत्ताक व्यवस्था है, जिनमें खामी पुरुष नहीं, नारी है। नारी अपनी माताके परिवारमे ही रहनी है और पुरुष वहीं उसके पास जाता है। दाय या वरासत भी पिता-पुत्रतः न चलकर माता-कन्यातः चलती है। परिवार-की चल और अचल धन-सम्पत्ति कानूनी तौरपर मातासे पुत्रीको मिलती है, पितासे पुत्रको नहीं । — भ० श० उ० माता-सन्तोंने माता, माई आदि शब्द-रूपोंका व्यवहार जहाँ माँके अर्थमें किया है, वहीं यदि सम्भव हो सका है तो इनमें दूसरे भी अर्थोंको भरनेका प्रयास भी किया है। माईका दहरे अर्थका संकेत देते हुए दादू कहते हैं - "एक ही एक भया अनन्द एक ही एक भागे दंद ॥ एक ही एके आप ही आप। एक ही एकें माइ न नाप॥" (दाददयालकी अनमै बाणी, सबद २८६)। १. उस ब्रह्मके यहाँ माँ-बापका कोई भेद नहीं है। वह एक है, माँ भी वही है बाप भी वही है। २ वह बह्म निर्गुण, निराकार निरंजन है। उसके यहाँ व्याप्त होने (बाप)का सवाल उठता ही नही, अतः ॲटने (माई)का भी कोई सवाल नहीं। व्याप्त होने और ॲटनेका सवाल स्थलताके साथ होता है। वह तो सुक्ष्माति-सूक्ष्म है। कबीरने 'माई' शब्दका व्यवहार मां और माया (अज्ञान)के अर्थमे थों किया है-"मुसि मुसि रोवै कबीरकी माई। ए बारिक कैसे जीवहिं खुदाई। XXX कहत कबीर सुनह मेरी माई। परन हारा त्रिभवन राई" (क॰ ग्रं॰ ति॰, पद १२)। माताके साथ बाँझ विशेषण लगनेपर यह शब्द निश्चित रूपसे मायाका अर्थ देता है, पर अकेला माता या माई शब्द भी बहुत बार मायाका अर्थ देता है। —रा॰ दे॰ सिं॰ मात्रा-'मात्रा' शब्द उच्चरित ध्वनिके परिमाणकी इकाई-का वोधक है। 'मत्ता', 'मत्त', 'कला' और 'कल' इसके पर्यायवाची माने गये है। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ', इसके ये ही दो भेद होते हैं और दीर्घका उच्चारणकाल हस्वका दूना स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार हस्व (1) अर्थात् लघ वर्णमें एक मात्रा और दीर्घ (s), अर्थात् गुरु वर्णमे दो मात्राऍ गिनी जाती है। विशेषके लिए दे॰ 'वर्ण'। —सं॰ मात्रिक गण-वर्णिक गणोकी तरह मात्रिक गणोंकी कल्पना भी छन्दःशास्त्रके अनेक आचार्यों द्वारा की गयी है, जैसे सुखरेव मिश्रके 'वृत्तविचार'के छन्दोंका रूप वर्णिक वृत्तोंकी तरह विजडित एवं सुस्थिर नहीं होता। कदाचित् इसीमे न तो मात्रिक गणोंका उतना प्रचलन ही हुआ और न वे उतने परिचित हो सके। इनकी संख्या पाँच है, यथा-१. टगण—६ मात्राओंका, १३ उपभेद । २. ठगण—५ मात्राओंका, ८ उपभेद । ३. डगण, ४ मात्राओंका, ५ उपभेद । ४ दगण-३ मात्राओका, ३ उपभेद । ५. णगण-- र मात्राओंका, २ उपभेद।

इनके उपभेदोके नाम-रूपका परिचय भी दिया गया है (दे० 'छन्दःप्रभाकर', पृ० ४२ : जगन्नाथप्रसाद 'भानु'।) — ज० गु० मात्रिक छंद — मात्रा गणनापर आधारित छन्द मात्रिक छन्द कहे जाते है। इनमे वणोंकी संख्या भिन्न हो सकती है, परन्तु उनमें निहित मात्राएँ नियमानुसार होनी चाहिये। वर्ण-संस्थाको छोड़कर केवल मात्रा-संख्यापर आधारित होनेके कारण इन छन्दोंकी प्रकृति वर्णवृत्तोंकी तुलनामें अधिक मुक्त तथा तरल रही है। लोक-प्रचलित आधुनिक भाषा-रूपोंमे तथा प्राचीन प्राकृत और अपभ्रंशमें इन्हीं छन्दोका व्यापक प्रयोग मिलता है। गेयताके भी ये अधिक अनुरूप सिद्ध होते हैं। हिन्दी साहित्यमें मात्रिक

छन्दोंका विशेष प्रमुत्व रहा है। दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, वीर और हरिगीतिका आदिका प्रबन्धकाव्योंमें और दोहा, कुण्डलिया, छप्पय आदिका मुक्तकवाव्यमें मुख्यतया व्यवहार हुआ है। सम्पूर्ण पद-साहित्य मात्रिक छन्दोंके शुद्ध और मिश्रित रूपोंका ही विस्तार है।

कुछ शास्त्रकारोंने वृत्त शब्दको सामान्य छन्दवाची मानकर मात्रिक छन्दके स्थानपर 'मात्रावृत्त' या मात्रिक वृत्त भी लिखा है—''मत्तवृत्त इक दूसरो वर्णवृत्त पुनि आन'' (दश्वरथ : बृत्तविचार, १७)। 'बृत्ततरांगिनी'मे १ से ३२ मात्राके समस्त मात्रिक छन्दोकी संख्या ९२,२७,४६३ वतायी गयी है।

भाधवी सर्वेया-दे॰ 'सर्वेया', वामका पर्याय। भाधुर्य-दे॰ 'अयत्नज अलंकार', चौथा प्रकार तथा 'सास्विक ग्रुण', नायक।

माधुर्य गुण-दे॰ 'गुण', पहला प्रकार।

माधुर्य रस-'माधुर्य रस' और 'उज्ज्वल रस' परस्पर
पर्यायवत् है। माधुर्यको 'उज्ज्वलनीलमणि'मे रूपगोस्वामीने
भक्तिका सर्वश्रेष्ठ भाव माना है। उन की रिष्टते मधुर ही
वास्तविक भक्ति रस है—"मधुराख्यो भक्तिरसः" (११३)।
राधा-कृष्णकी अलैकिक पारस्परिक प्रीति ही माधुर्य रसका
मूल है। उसे 'भक्तिरसराट्'की पदवी दी गयी है (दे०
'उज्ज्वल रस', 'भक्तिरस')। —ज० गु०
माध्यमिक-दे० 'जन्यवाद'।

**मानवती (नायिका)**-अवस्थानुसार स्वतन्त्र विभाजनका एक भेदः विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। यह विभाजन सर्वप्रथम मानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अपने प्रियको अन्य स्त्रीके प्रति आकर्षित जानकर ईर्ष्याने मान करनेवाली नायिका। मतिरामने 'ईरषासों लाज' करने-वाली कहा है, पर पद्माकरने केवल 'पियसों करै जुमान' माना है। 'रिसकविनोद'मे 'लखि नायक औग्रन' ई॰र्या करके मान करनेवाली कहा है। रीतिकालीन कवियोके उदाहरणोंमें मानकी परिस्थिति और उसके दूर करनेके उपायोंका वर्णन अधिक है—"नाम कढ्यौ पियके मुखते तिय औरकी सो सुनिके उर ऐंठी। देवजू क हँसि सौहै करी रिसकी सिसकी भरि भौह अमेठी"। (ब्र० भा० नायिका॰, २: ३७०)। कम ही स्थलोंपर उसका भाव-चित्र उभर सका है- "लाज लची मृगलोचिनकौ चित सोच सँकोच भयौ सरकोहै। ऑखिनतें खिसके अँसुऑ रिसके अधरा किसके फरकौहै" (वही, ३७१)। अन्यत्र मानवतीको सखियाँ समझाती है-"नेह जरावनको महा दीप-बाति जिय जानि", अतः मान करना उचित नही है। (मतिराम: रसराज: १७९)। कोई सखी नायकको सन्तोष देती है-"धीर धरो किन मेरे गुविन्द घरीकमे जो या घटा घहरैहै" (पद्माकर: जगद्भि०, १: १३२)।

मानववाद-दे॰ 'नवमानववाद'।

मान विप्रलंभ-दे॰ 'विप्रलम्भ शृंगार'।

मानवीकरण - 'अमानव'में 'मानव'-गुणोके आरोप करने-की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रियाको मानवीकरण कहा जाता है। सब वस्तु जीवित है (सर्वजीवन्नवाद, एनिमिज्म) सब बस्तु मनसे युक्त है (पैन साइकिज्म) तथा सब वस्तुएँ रागद्वेष आदि मानव-गुणोंसे सम्पन्न है (सर्वमानववाद, पन्ध्रापाम मिन्म), इसी प्रवृत्तिके रूपान्तर है। विज्ञानके लिए दोष होते हुए भी ये वाद मनुष्यके स्वभावसे निःस्त होते है और मनुष्यके स्वभावपर आश्रित होनेके कारण, कला और साहित्य इनके आधारपर कई अलंकारों और गुणोंका आविष्कार करते है।

कलाकी भाँति धर्म भी धार्मिक भावनाके आधारके लिए प्रतीकोकी सृष्टि करता है। मानवीकरण इस प्रक्रियाका सार है।

इसके अतिरिक्त कलामें अभिन्यक्तिका मुख्य माध्यम स्वयं कलाकार है। उसके माध्यमसे मूर्ति, चित्र, भवन आदिमें अभिन्यक्त होनेवाली कला कलाकारकी मानवताको भी अभिन्यक्त करती है। इसीते कलाकृतिमे मामिकताका आविर्माव होता है। प्रकृतिके पुष्प और कलाकारके पुष्पमें मानव-माध्यमसे न्यक्त होनेके कारण मामिकताका ही अन्तर होता है। यही कलात्मक अनुभूतिकी विशेषता है। कला मानवीकरण द्वारा प्रकृतिको रूपान्तरित करती है। हमारे देशकी सिंह, हाथी, वाराह आदिकी मूर्तियोमे मान-वता और मामिकताकी स्पष्ट झलक है। —ह० ला० श० मानवीय मृख्य—दे० 'मूल्य'।

मानस-इस शब्दसे विचारों, संवेदनाओं, अनुभूतियोंके संघटन और आधारस्वरूप एक सत्ताका बोध होता है। सामान्य भाषामें जिसे हम मन कहते हैं, मानस उसीका साहित्यिक और मनोवैद्यानिक दृष्टिसे परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। इस सामान्य अर्थमे 'मानस' शब्दका प्रयोग प्राचीन हिन्दी साहित्यमे प्रचलित रहा है, परन्तु आधुनिक साहित्यमे विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अर्थमे इसका प्रयोग अधिक होता है। अंग्रेजी भाषामे जिसे 'माइण्ड' कहते है, उसीका हिन्दी रूपान्तर मानस है। 'मन' शब्दका प्रयोग भी कभी-कभी इसी अर्थमें होता है। मानसकी धारणा मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणकी प्रगतिके साथ-साथ परिवर्तित और संशोधित होती रही है। आरम्भमे मानसका अर्थ बहुत-कुछ 'आत्मा'के समान था, अर्थात् वह अदृश्य, अस्पष्ट, चेतन सत्ता जो हमारे अनुभवोंका आधार है, जो परम शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस अर्थमें मानस दार्शनिकोंका विवेच्य विषय अधिक था, साहित्यिको और मनोवैज्ञानिकोका कम। मनोविज्ञानके विकासके साथ-साथ मानसकी धारणा भी बदल गयी। उन्नीसवी शताब्दीमे शक्ति-मनोविज्ञान-(faculty psychology)के प्रभावसे 'मानस'से उस संघटनका बोध होता है, जिसके विभिन्न विभाग अथवा शक्तियाँ (faculties) है। इस धारणामे मनकी अवि-च्छित्र एकता और सम्पूर्णताकी उपेक्षा निहित थी। धीरे-धीरे इसपर भी ध्यान गया और मानसमे उस सम्पूर्ण संघटित सत्ताका बीध होने लगा, जो चेतनाके विभिन्न रूपोमे व्यक्त होती है। इस धारणाके अनुसार मानस पूर्णतः चेनन होता है, क्योंकि चेतना मानसका स्वरूप है। मनोविश्लेषणके प्रवर्तक फायडकी खोजोंसे यह सिद्ध हो गया कि मानसके कई पक्ष होते है-चेतनपक्ष उनमेसे एक है, इससे हम सबसे अधिक परिचित भी होते है, पर मानसके अन्य पक्ष भी हैं, जैसे अचेतन, अवचेतन या अईचेतन आदि। ये सभी पक्ष किसी-न-किसी प्रकार मनुष्यके व्यक्तित्वको प्रभावित करते है और उसके व्यवहारमे व्यक्त होते है। फ्रायडके वाद उसके अनुयायियो और अन्य दार्शनिको-मनोवैज्ञानिकोंने भी मानसके विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्तरोका विवेचन-विश्लेषण किया। इस प्रकार आधुनिक साहित्यमे मानसके कई पक्षोंकी धारणा ही प्रचित्त है। इन पक्षोंके नाम और संख्याके विषयमे मनोवैज्ञानिक एकमत नहीं है, फलस्वरूप साहित्यमे भी बहुतसे नाम प्रचित्त हैं, जिनमेसे कुछ तो समानार्थक हो हैं। —प्री० अ०

मानसरोवर-दे॰ 'हठयोग'।

मानसिक अनुभाव-दे॰ 'अनुभाव'।

मानसिक विजड़ीकरण-यदि व्यक्तिमे किसी मूल प्रवृत्तिका विकास सहज-सामान्य ढंगसे नहीं होता, तो इस द मत विकासके कारण वह अपने शिशुकालीन स्तरपर ही रुक जाती है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति अपनी अवस्थाके समरूप विषयों और व्यक्तियोंमें न रुचि ले पाता है और न उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। मनोविद्रलेषणकी भाषामें इसी दशाको मानसिक विजड़ीकरण कहते हैं और विशेषकर इसका सम्बन्ध व्यक्तिके कामक प्रेम-जीवनसे होता है। शिशुके प्रारम्भिक जीवनमे स्वमुग्थता, आत्मराति, माता अथवा पिताके प्रति प्रेमका स्थान प्रधान रहता है। यदि उसका संवेगात्मक विकास सामान्य तौरपर होता रहता है तो वयस्क होनेपर वह किसी निम्निलंगी व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र बना लेता है तथा उसका रागात्मक जीवन अभीष्ट रूपसे समायोजिन हो जाता है। ऐसा न होनेपर वह स्वमुखता, आत्मरति या माता-पिताके प्रेममें ही विजिहत हो जाता है, सामान्य-जीवन नही विता पाता। समर्लिगी कामुकता स्वमुग्धता और आत्मरतिका ही रूप है। इस विकृतिसे आक्रान्त व्यक्ति अपनी जननेन्द्रियको बहुत महत्त्व देना है, उसपर मुग्ध होता है और अपनी जैसी ही जननेन्द्रियसे रहित व्यक्तिको अपने प्रेमका पात्र नही बना पाता। इसके अतिरिक्त, समर्लिगी कामुक व्यक्ति अपने प्रेमपात्रके माध्यमसे स्वयं अपने शिशुकालीन रूपको ही प्यार करता है। इस प्रकार उसका मानसिक विजडीकरण शिशुकालीन स्तरपर हो जाता है। शिशुकी प्रथम प्रेमपःत्रो माता होती है। ईडिपस और एलेक्ट्रा मनोयन्थियोंके विकासकालमें पुत्रका यौन प्रेम माताके प्रति और पुत्रीका पिताके प्रति हो जाता है। संयोग और परिस्थितिवश कभी-कभी न्यक्ति अपनी इस बाल्य-वृत्तिमे ही जडीभूत हो जाता है और फिर पुरुष किसी अन्य स्त्रीसे तथा स्त्री किसी अन्य पुरुषसे रागात्मक सम्बन्ध-में बॅधनेमे समर्थ नहीं हो पाती (दे॰ 'मनोविइलेषण', 'मनोग्रन्थियाँ')। --आ० रा० शा०

मानिनी सर्वेया-दे॰ 'सवैया', बारहवॉ प्रकार । मानी नायक-दे॰ 'नायक' (श्रंगार) ।

माया १ - अहैत वेदान्तमें निर्मुण ब्रह्मको ही सम्पूर्ण जगतका अधिष्ठान, मूल उपादान, स्थिति तथा प्रलयका हेतु और निर्विकरण तत्त्व माना गया है। मायासे संयुक्त होकर ही वह निर्विकरण, निर्विद्योष और निरुपाधि ब्रह्म अनेकविध प्रापश्चिक रूपोंमें विभावित होता है। माया शब्द अहैत

साहित्यमें इन कतिपय अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—भ्रमा।
प्रपञ्चरूप चराचर जगत्-सृष्टि, पपञ्चके साथ ब्रह्मके खरू
विनिमयका हेतु, जगत्के उद्भवकी हेतुभूत शक्ति ब्रह्मकी उपाधियों और विवर्तकी हेतु शक्ति, आत्मा तथा जगत्के
परस्पर स्वरूपकी अनिर्वचनीयता।

ऋग्वेद और यजुर्वेदमे माया इन्द्रकी शक्तियोंके प्रतीक और उपनिषद् साहित्यमे ब्रह्मकी सहचरी शक्तिके रूपमे वर्णित हुई है। अडैत सिद्धान्तमें यह त्रिगुणात्मिका, नामरूपमय और सम्पूर्ण संसारकी बीजशक्ति मानो जाती है। ब्रह्म इससे संयुक्त हो शबल और सगुण रूपमे भासित होता है और इसी रूपमे जगत्का कारण भी बनता है। हिरण्यगर्भ शब्दसे ब्रह्मके इसी रूपको संज्ञित किया जाता है (ऋ० सं०, १०।१२१) । माया त्रिगुणात्मिका भावरूप, अज्ञानमय तथा अनिर्वचनीय है। यह सत्, असत् और सद-असत् किसी भी रूपमें वर्णिन नही हो सकती, अतएव इसे अनिर्वचनीय और अन्यक्त शन्दसे न्यक्त किया जाता है। यह अनिर्वचनीय नाम और रूपों द्वारा अभिन्यक्त होती है। कार्योंके द्वारा ही मायाका अनुमान होता है (विवेक चुडामणि, ११०) और ईश्वर इसका आश्रय है (छा० उप०, झा० भा०, ८:१४:१)। कभी-कभी इसे आकारा, अक्षर और प्राण शब्दोंसे भी वर्णित किया जाता है।

परवर्ती अहैत साहित्यमे मायाकी दो शक्तियाँ—आव-रण और विक्षेप बनायी गयी है। आवरण-शक्ति ब्रह्मके निरुपाधिक और निर्मुण स्वरूपको आवृत्त कर लेती है और विक्षेप-शक्तिसे सम्पूर्ण प्रपन्नात्मिका नामरूपात्मक सृष्टिका उद्भव होता हैं। कभी-कभी आवरण शक्तिको अविद्या और विक्षेप-शक्तिको माया कहा जाता है (दे० बदान्त परिभाषा: शिखामणि टीका)। जगत-कारण होने के कारण कभी-कभी मायाको प्रकृति भी कहा जाता है (तु० गीता, शा० भा०, ४: ७)।

साधारण रूपसे माया को सांसारिक अम और अज्ञानका ही नामान्तर माना जाता है और इस चराचर सृष्टिके मिथ्यात्व और उसकी अमात्मकताको भी माया शब्दसे व्यक्ति किया जाता है। बौद्ध दर्शनमें इसी तात्पर्यको लेकर सभी भाव मायोपम बताये गये हैं।

हिन्दी साहित्यमं सिद्ध-साहित्य, निर्गुणवादी सन्तसाहित्य और भक्ति-कालके सगुण साहित्यमे मायाका
प्रयोग मिलता है। सिद्ध, बौद्ध सिद्धान्तोते प्रभावित है।
महायानवादियोंकी भाँति ही वे समस्त जागतिक पदार्थोंको
खन्सम और मायोपम बताते हैं। इस प्रकार वे मायाका
'भ्रम'के पर्यायके रूपमें प्रयोग करते है। निर्गुणवादियोंमें
कबीरने अद्भैत सिद्धान्तोंसे प्रभावित होकर ही मायाका
प्रयोग किया है। माया उनके लिए 'ब्रह्मकी फॅसरी' है।
यह मोहिनी और 'महा ठिगनी' है, जिसके वशमे होकर
सम्पूर्ण संसार भ्रमित हो रहा है। इसका स्वरूप शब्दों
द्वारा बताया नहीं जा सकता। माया ही सभीको भ्रष्ट कर
रही है, जो सभीको 'राम'से विमुख भी करती है। यह
नृष्णा रूप भी है, जो झान द्वारा ही, सद्गुरुकी कृपासे दूर
होती है। सगुणवादियोंमें तुल्सीने माया के अञ्चानमय तथा

अमात्मक स्वरूपका यहण क्रिया है। सम्पूर्ण प्रपञ्चके मूलमे यह अमात्मिका माया ही अवस्थित है।

इस प्रकार संस्कृतमे मायाके स्वरूपका जो मूक्ष्म और विश्वद विश्लेषण हुआ था, हिन्दी साहित्यमे उसके सामान्य स्वरूप सांसारिक भ्रम तथा प्रपन्न और अज्ञानात्मकताका ही प्रहण हुआ तथा उसे त्रिगुणात्मिका और शब्दो द्वारा अकथ्य बताया गया। कही-कही इन्द्रजाल और थौगिक शक्तियोके अर्थमे भी मायाका वर्णन प्राप्त होना है।

[महायक ग्रन्थ—राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी) काव्य धारा और दोहाकोशः बलदेवप्रमाद मिश्रः तुलसीका दर्शनः राधाकुष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी भाग २ ।] ---क० शु० माया (वेष्णव भक्ति-काब्यके संदर्भमें) २-हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्यके संदर्भमे माया सम्बन्धी अनेक धारणाओका विकास हुआ। इस विकासकी पृष्ठभूमिने माया सम्बन्धी भौराणिक एव दार्शनिक धारा अधिक महत्त्वपूर्ण है। शांकर अद्वेनकी माया सम्बन्धी निषेधात्मक सत्तावादी धारणाके प्रतिकूल मध्य, वल्लभ, निम्बार्क एव विष्णु-स्वामीने अपनी स्थापनाएँ पुरस्कृतकी (दे॰ 'मायावाद')। मायावादी निपेधात्मक सत्ताके आधारपर इनकी धारणाएँ भावात्मक था । दैष्णवभक्तिकी दार्शनिक मान्यताके अनुसार मायाको राक्ति माना गया है। उसके अनुसार इसके तीन भेद है। १—अन्तरग शक्ति या माया (२) बहिरग शक्ति या माया २—तरस्य शक्ति या माया । प्रथम माया वह है, जिसके स्वरूपका अनुभव भगवान् स्वनिष्ठ आत्मिक अनु-भवमे करते है। बहिरंग माया अन्तरंगके पूर्णतः प्रतिकूल है। उनकी आन्तरिक माया शक्ति उनते पूर्णतः पृथक् रहती है। इमका नाम अविद्या या अज्ञान है। यह सांसा-रिक प्रपंचकी मूल कारण है। वैष्णव आचार्योंने इसके दो भेद किये है-(क) गुणमाया और (ख) जीवमाया।

गुणमायासे प्रेरित समस्त सृष्टिका कर्म व्यापार निष्पन्न होता है। जीवमाया व्यक्तिको मोहित करके सांसारिक प्रपंचमे फॅसाये रहनी है। तीमरे प्रकारकी माया, अर्थात् झह्मकी तटस्य राक्ति जीवके रूपमें अवतरित होकर निरन्तर उसके पास स्थिन रहनी है। अवतारके रूपमें राथा, सीता आदिकी गणना इसी रूपमें होती है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्यकी पृष्ठभूमिके निर्माणमे पुराणोका योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। माया सम्बन्धी पौराणिक धारणाका इन काव्योंपर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म पुराण (२८९: १४-१५)मे गोपियोको माया-रूपमे कल्पित किया गया है। पद्मपुराण (पाताल: ७७-१५)मे राधाको चिन्मयी माया शक्तिको संज्ञा मिली है। ब्रह्मचैवर्त पुराण (कृष्णजन्मखण्ड, ५२-५७)मे राधाको पुनः पूर्णशक्ति तथा चिन्मायाके रूपमे स्वीकार किया गया है। देवीभागवत पुराणके रास प्रकरणमे राधाको चिद्राक्ति-रूपिणी प्रकृति माना गया है। भागवनमे अनेकानेक स्थली पर इन्हें पूर्ण शक्ति, महालक्ष्मी, लक्ष्मी, चिद् प्रकृति तथा योगमाया कहकर पुकारा गया है।

रामभक्तिकी परम्परामे सीताविषयक ये ही घारणाएँ प्राप्त होती है। वाल्मीकि रामायण (सर्ग छः, ११७-२७) मे सीता-को 'रूक्मी' कहा गया है, किन्तु यह प्रसंग अर्वाचीन है। रामनापनीयोपनिषदमे सीताको सृष्टिकी मूल प्रकृति कहकर पुकारा गया है। अध्यात्म रामायण (१:७:२७)-मे उन्हे प्रकृति, योगमाया तथा परमञ्जिके रूपमे सम्बोधित किया गया है। भागवतमें सीताको 'ब्रह्मविद्या' तथा स्कन्द पुराणमे 'विद्या'को मंज्ञा मिली है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति-कान्यपर माया सम्बन्धी इन धारणाओंका अविक प्रभाव पडा है। तुलसी-साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिशोण अपेक्षाकृत अन्य समसामयिक कवियोंसे अधिक विस्तृत है। उनके अनुसार माया पॉच प्रकार की है-महाशक्ति या महामाया-कविने इसे आदि शक्तिके रूपमे तटस्थ मायाकी भॉति कल्पित किया है। यह सीताके रूपमें अवतरित हो कर निरन्तर रामके साथ रहती है। राममाया—इसका कार्य प्रपंच है। नारद और सतीको इसीने भ्रमित किया था। जङ्माया-कविने इस मायाका अर्थ शांकर अद्वैत (दे०)के मायावादी धारणासे लिया है। ("जासु सत्यता ते जड़माया। भास सत्य इव मोह निकाया")। दासी माया—यह रामभक्तोसे भयभीत रहनेवाली माया है। तुलसीने इसीको 'नर्तकी' आदिके सम्बोधनोसे पुकारा है। भक्तिकी समकक्षी माया—यह माया निरन्तर रामको प्रिय रहती है। विद्या-माया तथा अविद्या माया—विद्या माया भक्तको वैराग्योन्मुख करती है तथा अविद्या माया संसारोन्मुख। ये मायायें रामकी है। इसके अतिरिक्त कविने सीतामाया एवं निशाचरमायाकी भी कल्पना की है। सीता तथा निशाचर अपनी मायाकी सहायतासे प्रपंच उत्पन्न करते है। निशाचर माया आसुरिक माया है। कृष्ण भक्त कवियोंमें सूरने अविद्या मायाके कृत्योका विस्तारसे उल्लेख किया है। उन्होने मायाको नटी, कोटिक नाच नचाने-वाली, मनमें भ्रम उत्पन्न करनेवाली माना है (दे० पद० सं० ४२मे ५५; विनयः सू० सा०, स० संस्करण) । सूरने राधाको दाक्तिया आदि मायाके रूपमे कल्पित किया है। राधावछभी सम्प्रदायमें राधाको पूर्ण हाक्ति माना गया है। रसिक सम्प्रदायमे सीताकी भी ठीक यही स्थिति है। निश्चित ही, मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्यमें माया सम्बन्धी दृष्टिकोणमे पर्याप्त विस्तार —यो० प्र० सि० मायावाद - मायावाद अद्वैतवाद (दे०)का समानार्थक है। अद्वैतवाद जिस सिद्धान्तका विधिमूलक विधान करता है, उसीका निषेधमूलक विधान मायावाद करना है। उपनिषदो-मे दो प्रकारके वचन है-एकको अद्दैत-श्रुति कहा जाना है, तो दूसरेको नाना-श्रुति । अद्वैत-श्रुतिके अनुसार एक सत् यानी सत्ता एक है, इस मतका व्याख्यान होता है। फिर इसीके निषेध-पक्षका व्याख्यान नाना-श्रुति करती है। वह कहती है-नेह नानास्ति किंचन, नानात्व सत् नहीं है। इसी नाना-श्रुति पर मायावाद आधारित है।

मायावाद अद्वैतवादका निष्कर्प है। यदि सत्ता एक है या यो कहिये—यदि एकता सत्ता है और वही एकमात्र सत्ता है, तो फल्रतः नानात्व या अनेकता असत है। यही माया-वाद है। किन्तु मायावादका यह अर्थ एक दिनमे विकसित नहीं हुआ और इसके विकासके अनन्तर भी मायावादके अनेक पहलुओंका विकास आज तक होता रहा है।

मायावादके इतिहासको कई कालोंने बॉटा जा सकता है। वैदिक काल, बुद्ध-काल, बुद्धोत्तर-युग, इंकराचार्य-काल, शंकरोत्तर-युग तथा हिन्दी सन्त-युग इनमे प्रमुख है। वैदिक कालमे मायाके अनेक अर्थ थे; उसका अर्थ निश्चित नहीं हुआ था। जो विस्मयकारी है, जो भ्रामक है, जो रहस्यमय है, जो जबन्य या निन्द्य है, जो कारण-शक्ति है, जो अतर्कसम्मत है, जो परिवर्तनकारी है, जो विचित्र है, जो नाना है, जो बहु-रूप है, जो अग्राह्य है, जो धोखा देनेवाला है—सबको माया कहा जाता था। 'मायासे इन्द्र पुरुरूप धारण करता है' (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयने) । वेदसे लेकर उपनिषत्तक इन अर्थीमें माया-का व्यवहार, होता रहा। इसके बाद बुद्ध-युगमें मायाका व्यवहार, स्वप्न, भ्रम, वंचना, झूठ तथा असत्के अर्थमे होने लगा। बुद्धोत्तर-युगमे जब कि महायानका विकास हुआ, मायाके अर्थमें एक और परिवर्षन हुआ। इस युगमे मायाको लेकर सर्वप्रथम एक वाद वनाया गया। मायाका यहाँ अर्थ अनात्त्विक, असार या दाई निक दृष्टिने असत् है। विज्ञानवाद और शून्यवादमे इस मतका खूब प्रचार रहा। इसके अनन्तर शंकराचार्यके युगमे मायाके अर्थमें घोर परिवर्तन हुआ। उन्होने बौद्धोकी भॉति मायाका अर्थ अतात्त्विक, असार तथा दार्शनिक दृष्टिसे असत्के अर्थमे अवस्य किया, किन्तु बौद्धोने मायाको व्यक्तिगत माना था और उन्होने इसको समष्टिगत माना। वौद्धमतसे प्रत्येक मनुष्यको अपने अनुभवमें जो अतत्त्वका परिचय होना है, वही अतत्त्व माया है। शंकराचार्यके मतमे माया व्यक्तिगत अनुभवोसे परे है। एक ही माया सभी मानवोंको प्रभावित करती है। माया विश्वव्यापक है। वह व्यक्तिके मनकी उपज नही है। बौद्धोंने मायाको मात्र प्रातिभासिक या सांबृत्तिक (मंबृत्ति-सत्य) माना था। शंकराचार्यने इसे प्रातिभासिकसे पृथक् किया और इसे न्यावहारिक कहा। माया व्यावहारिक है। यह इइय है किन्तु मिथ्या है। जो **इ**इय हो और साथ ही मिथ्या हो, वह माया है—ऐसा अर्थ शंकरा वार्यने स्थिर किया किन्तु शंकराचार्यके अर्थके अनुर्थ होने लगे। बहुतसे लोग उनके द्वारा किये गये अर्थ और बौद्धों द्वारा किये गये अर्थकी बारीकी समझनेमें असमर्थ हुए। ऐसे लोगोने शंकराचार्यको प्रच्छन्न-बौद्ध कहा। इनमें रामानुज, मध्व तथा उनके अनुयायी अधिक उल्लेखनीय है। उनके लिए मायावाद गाली है। उधर शंकराचार्यके अनुयायियोने मायाके अर्थको स्पष्ट करनेका भार लिया और उस स्पष्टिकरणमे मायावादकी तर्कसम्मत व्याख्या की । इस तरह इंकरोत्तर युगमें भायावाद दो दिशाओं मे बहुने लगा। बादमें चलकर हिन्दी सन्तोंके समयमें इन दोनो दिशाओंका सम्मेलन हुआ और फलम्बरूप माया-वादका एक दूसरा रूप विकसित हुआ। इस युगमें सांख्यकी प्रकृति और अद्वैतवादकी मायाको मिला दिया गया और उसे भगवानुकी शक्ति समझा गया। किसीने उसको भगवान्-की स्त्री कहा, किमीने उसे ठिंगनी कहा और किमीने उसे भगवानुकी शक्ति कहा। शक्ति कहनेवालोंमेंसे भी अनेक होगोंने उसकी अनेक प्रकारसे कल्पनाएँ की ।

दार्शनिक दृष्टिसे शंकरोत्तर-युगमें शंकराचार्यके अनु गायियों-ने मायाके जो लक्षण किये है, वे महत्त्वपूर्ण है। पद्मपादने कहा कि जो सत् और अमत्मे विलक्षण है, वह माया है। माया एक तृतीय कोटि है; वह सत् और असत् , इन दोनों कोटियोंसे भिन्न है। उसको विलक्षण वहा जाता है क्योंकि वह इन दो कोटियोने भिन्न है। इसी अर्थमे उसे अनिर्य-चनीय कहा जाता है। जगत् इस अर्थभे माया है, रस्सीमे देखा गया मर्प इस अर्थमें भाया है। रस्मीको जब लोग सॉप समझते है, नव वह सॉप कैसा रहता है ? क्या वह सॉप सत् है, यानी वास्तविक मांप है ? नहीं; वह वास्तविक या सन साप नहीं है, क्योंकि भ्रमके अनन्तर उसका अस्तित्व नही रहता। फिर क्या वह असत् है ? नही; क्योंकि वह देखा जाता है और उसके संस्पर्शसे लोग मर जाते है। इस नरह वह साँप न नो सन् है और न असत्। वह विलक्षण है। संसारमे देखे गये सॉफ्का उस सॉफ्से कोई सम्बन्ध नही है। जिस नरह वह सॉप विलक्षण है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् विलक्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि अद्वेतवादी जगन्को भ्रम नहीं कहते। वे जगत्की तुलना रस्तीमे देखे गये सॉपमे अवस्य करते है, किन्तु इस तलना या समीकरणमें वे यह निष्वर्ध नहीं निकालने कि जगत् भ्रम है। वास्तवमे भ्रम और जगत् , दोनों विलक्षण है। दोनोका स्तर एक नहीं है और इस कारण दोनोको मिलाना ठीक नहीं है। किन्तु दोनों न मन् है और न असत्। इम दृष्टिने दोनों अलग-अलग अपने स्वभावके कारण मिथ्या है या माया है। तार्किक दृष्टिने यही मायावाद है और इसका खण्डन कर सकना असंभव है।

साधनाकी दृष्टिसे एक ऐसी अवस्था आनी है, जिसमें साधकको यह ज्ञान होता है कि एक मात्र वही सन् है और समस्त जगत् तुच्छ या तीनों कालमें असत् रहनेवाला है। इस दृष्टिमे मायाका अनुभव इसी अवस्थामे होता है। जब ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान होता है, तब जगत्का ज्ञान नहीं रहना और जब जगन्का ज्ञान रहना है, तब ब्रह्म या आत्माका ज्ञान नहीं रहना। जब आत्माका ज्ञान नहीं रहना, तभी मनुष्य मायाके जालमे पृष्टा रहना है। हिन्दी-के निर्मुण सम्नोने दम साधनावस्थाका अच्छा वर्णन किया है। इनमें क्वीर, दादू आदि मुख्य है।

स्राष्ट-विद्यानकी दृष्टित मायाको जगत्का कारण माना जाता है। किन्तु माया जगत्का इस प्रकारका कारण नहीं है, जिस प्रकार मांख्यदर्शन (दे०)मे प्रकृति जगत्का कारण है। जगत् मायाका परिणाम है अवस्य, किन्तु माथ ही वह ब्रह्मका विवर्त भी है (दे० 'विवर्तवाद')। ब्रह्म और मायाका सम्बन्ध क्या है ? कभी मायाको ब्रह्मकी शक्ति कहा जाता है तो कभी उपाधि। अद्देतवादके अनुमार दूसरा मत अधिक ठीक है, किन्तु पहला मत भी अद्देतवादमे प्रचलित है। इसके अनुमार माया तीन शक्तियोंका पुंज है। ये तीन शक्तियों—आवरण-शक्ति है। विश्लेप-शक्ति और मल-शक्ति है। आवरण-शक्तिक कारण वस्तुका जैसा स्वरूप रहता है, वह नहीं दिखायों देता और उसपर अद्यानका पर्श पड जाता है। विश्लेपशक्तिक कारण उसके स्थानपर दूसरी वस्तुका पड़ती है। मल-शक्तिक कारण मनुष्य उस दूसरी वस्तुका

उपयोग करने लगता है। उदाहरणके लिए एक मेजकी लीजिये। परमार्थतः एकमात्र ब्रह्म है, किन्तु उसकी हम अपने अझानके पहेंसे नहीं देख पाते। यह आवरण-शक्तिका कार्य है। फिर ब्रह्मके स्थानपर हम मेजका विश्लेप कर लेते है, अर्थात् मेज देखते है। यह विश्लेपशक्तिका कार्य है। फिर मेजके जितने उपयोग हम करते है, वह मल-शक्तिक कारण है। जब इन तीनो शक्तियोंको हम निराकृत कर देते है, तब हमें मेजके स्थानपर ब्रह्म दिखाई पडना है।

मायावादका प्रभाव हिन्दी प्रदेश और उसके साहित्यपर बहुत गहरा पड़ा है। हिन्दी प्रदेशमें प्रत्येक वयस्क व्यक्ति माया शब्दसे परिचित है लोकगीतोमे भी मायाका प्रचुर प्रभाव पडा है। संत-साहित्य तथा कृष्णोपासक और रामोपा-सक भक्ति साहित्यमे मायाके सिद्धान्तकी मामिक विवेचना हुई है। इससे सम्बन्धित एक प्रश्न भी उठाया गया है कि मायाका अनुभव अत्ममाक्षात्कारके पूर्व होता है या परचात् ? ज्ञानी संतोमे इस प्रश्नपर विवाद है। भक्त कवियोंने भक्तिके द्वारा साक्षात्कार करनेका विधान किया है। अतः उन्होंने इस प्रश्नकी उपेक्षा की और कहा कि भक्तिके राजमार्गसे जब साक्षात्कार मिलता है, तब माया अपने-आप दर हो जाती है। तुलसीदास जै रे सगुणोपासक कवियोके अनुसार साक्षात्कार होनेपर भी माया बनी रहती है। माया और भक्ति, दोनो भगवान्की पत्नियाँ है। भक्त. भक्तिकेद्वारा भगवानसे मिलता है। उसके मिलनेसे माया का अस्तित्व ज्यों-का-त्यों रहता है । किन्त्र कवीर जैसे निर्गुणोपासक कवियोने माना है कि माक्षात्कारके बाद जगत जल जाता है, तब माया रहती ही नहीं है। सगुणोपासकोके मतसे साक्षात्कारके अनन्तर भी माया रहती है, किन्तु वह भक्तपर प्रभाव नहीं डाल सकती। प्रायः सभी सन्तों और भक्तोने यह माना है कि जब माया प्रभाव डालती है तो उसका प्रभाव द्षित ही रहता है। उन्होंने मायाओं अञ्चभ या अश्रेयके अर्थमे विशेषतः लिया है। जिते पश्चिमी धर्म-रर्शनमे 'ईविल' (evil) कहते है, उसको ही हिन्दीके संतो और भक्तोने माया कहा है। इस तरह जहाँ अद्वैतवादी दार्शनिकोके लिए मायावाद तत्त्व-दर्शन और ज्ञान-मीमांसाका सिद्धान्त है, वहाँ हिन्दीके संतो और भक्तोंके लिए यह केवल धर्म-दर्शनका सिद्धान्त है (दे० 'माया')। --सं० ला० पा० मारिफ़त-मारिफतका अर्थ ईश्वरीय, आध्यात्मिक ज्ञान है। सूफी साधक मानते हैं कि मारिफ (आध्यात्मिक सचा ज्ञान) परमात्माके 'पकत्व'का बोध है। इसके द्वारा मनुष्य समझ पाता है कि 'भिन्न'की प्रतीति होना मिथ्या है। इस ज्ञानके सहारे मनुष्य अपने-आपको जान पाता है और अपने-आपको जानना परमात्माको जानना है। इस प्रकार परमात्मा-विषयक सूफियोंके रहस्यमय ज्ञानको 'मारिफ' कहते हैं। स्फ़ी इसे प्रकाश मानते हैं, जिससे हृदय आलोकित हो उठता है। मारिफत ज्योतिस्वरूप . परमात्माके प्रकाशसे ही प्रकाशवाला है। इसीके सहारे ैसाधक परमात्माके 'एकत्व'को देखनेमे समर्थ होता है ं (दे॰ 'सूफी मार्ग')। —रा० पू० ति० सार्क्सवाद-यह शब्द अंग्रेजीके 'मार्क्सिजम' शब्दका हिन्दी पर्याय है। चिन्तनके इतिहासमे इमका उद्भव कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०)के विचारोसे होता है। मार्क्सवाद जीवनका सम्पूर्ण दर्शन माना जाता है, पर केवल दर्शन माननेसे मार्क्सवादके सम्पूर्ण तथ्योकी अभिन्यक्ति नहीं होती। इसीलिए कुछ विद्वान् मार्क्सवादको कियात्मक दर्शनके रूपमें भी स्थीकार करते है। कार्ल मार्क्सव स्थाप प्रकाश डाला था कि अवतक वे दार्शनिक स्पृष्टिको केवल व्याख्या करते रहे है, किन्तु अव वह समय आ गया है कि हम उसका परिवर्तन करें। परिवर्तन मूलतः क्रियाशिलताका प्रतिक है। इसलिए जिस दर्शनका लक्ष्य परिवर्तन है, वह मूलतः क्रियात्मक है। इस प्रकार मार्क्सवादके दो स्वरूप है—पहला, सृष्टि और समाजका विश्लेषणात्मक अध्ययन और दूसरा, उसी संचित अध्ययनके आधारपर सामाजिक परिवर्तनका प्रयास।

मावर्गवाद समाजवादी विचारधारा है, किन्तु समाजवाद (दे०)के इतिहासमे मावस्वादको वैज्ञानिक समाजवादकी श्रेणी प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक समाजवाद एंगिल्सके अनुसार वह समाजवाद है, जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करनेके पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमोका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिनके आधारपर सामाजिक परिवर्तन होने है। एंगिल्सका कहना है कि सामाजिक गत्यात्मकता नियमिहीन नहीं होनी। यदि हम इन नियमोको जान लें तो उसोके अनुरूप समाजवादी परिवर्गन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थानपर खड़ा है, वह स्वप्नो और भावनाओकी कोमल भूमि नहीं है, वरन् सत्य और परिस्थितिका कठोर धरातल है।

मार्क्सवाद, जैसा कहा जा चुका है, सृष्टि और समाजका समन्वित दर्शन है। अतः माक्सवादका अपना एक दार्शनिय दृष्टिकोण भी है। इसी दृष्टिकोणकी पृष्ठभूमिमें समूचा मार्क्सवाद समझा जा सकता है।

मार्क्सवादके दार्शनिक दृष्टिकोणको द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद (दे०) कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है, जिसके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य पदार्थ है, किन्तु जो निरन्तर परिवर्तनशील अवस्थामे होनेके नाते द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे ही जाना जा सकता है। भौतिकवादी प्रत्यय और पदार्थमें पदार्थको प्रथम स्थान देते है। उनके अनुसार प्रत्यय पदार्थके पश्चात् ही सृष्टिमे आया। अतः पदार्थको सृष्टि प्रत्ययसे न होकर प्रत्ययको सृष्टि पदार्थसे हुई है। प्रत्ययवादी शादवत नेतनाको ही सृष्टिका उद्गम-स्थान मानता है और उसके अनुसार पदार्थके जितने भी परिवर्तन है, वे केवल नेतना-जगत्मे होनेवाले प्रत्यय-विकासकी छाया है। अतः शुद्ध भौतिकवादकी दृष्टि वहिर्मखी है।

भौतिकवादके कई रूप हैं। हर एक भौतिकवादी इतना तो मानता ही है कि प्रत्यय पदार्थ-पस्त है, किन्तु प्रत्यय और पदार्थमें क्या सम्बन्ध है, इस विषयपर भौतिकवादियों में मतभेद हैं। कुछ भौतिकवादी, जिन्हें यान्त्रिक भौतिकवादी, अर्थात् मैकेनिकल मैटीरियलिस्ट कहते है, यह मानते हैं कि प्रत्यका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। यह हर एक क्षण अपने अस्तित्वके लिए पदार्थपर ही अवलम्बित है, अतः प्रत्यय क्रियाशील नही है। जब प्रत्यय क्रियाशील नहीं है तो मानव-मस्तिष्क सक्रिय न होकर बाह्यगत अनुभवोंका मात्र संचित कीष है। मानव-मस्तिष्कको निष्क्रियता अनुभवात्मक मनोविज्ञान-की एक महान् विशेषता है और यान्त्रिक भौतिकवादी, मस्तिष्ककी इसी निष्क्रियतापर जोर देते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि और संचित अनुभवोका प्रयोग करके भी प्रकृति और पदार्थकी रूपरेखाओका परिवर्तन नहीं कर मकता। वह हर एक क्षण पदार्थकी कठोर शृंखलामे जकड़ा हुआ है। यान्त्रिक भौतिकवाद जब इस प्रकार मानव और मानव-मस्तिष्कको अनन्त अनुभवोंका निष्क्रिय भोक्ता मानता है, तो इन्द्रात्मक भौतिकवाद पदार्थ-प्रसूत प्रत्ययको एक स्वतन्त्र अस्तित्वके रूपमे देखता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्ययको क्रियाशील भी मानता है और उसके अनुसार वाह्य जगत्का समूचा परिवर्तन पदार्थ और प्रत्ययके अन्तरावलम्बनका इतिहास है। अन्तरावलम्बन द्दन्द्द-सिद्धान्तपर आधारित है। इसीलिए द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद हर एक परिवर्तनको इन्द्वात्मक दृष्टिसे देखता है। द्वन्द्वात्मकमे संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष केवल दो मूल विरोधी शक्तियोमे होता है। इसी नाते द्वन्दात्मक भौतिक-वादके अनुसार सृष्टिका मूल सत्य परिवर्तन है, जो सदैव दो विरोधी शक्तियोंके संघर्षसे होता रहता है। द्व-द्व-सिद्धान्त हीगेलके द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद, अर्थात् 'डायलेक्टि-कल आइडियलिज्म'से लिया गया है।

हीगेल प्रत्ययके इतिहासमें ही संघर्षका इतिहास देखता था, किन्तु मार्क्सके अनुसार प्रत्यय गौण है और पदार्थ प्रधान: इसलिए संघर्षका इतिहास पदार्थमें है, न कि प्रत्ययमें। इसीलिए मार्क्स कहा करता था कि हीगेलका द्रन्द्रात्मक सिद्धान्त सिरके बल चलता है। इस प्रकार हीगेलसे द्वन्द्व-सिद्धान्त और फायरवाखसे भौतिकवाद लेकर मार्क्सने द्वन्दात्मक भौतिकवादका शिलान्यास किया। द्दन्दात्मक भौतिकवादकी कुछ मूलभूत मान्यताएँ है। इसकी पहली मान्यता यह है कि हर एक वस्तुके विरोध उसी वस्तुमे सीमित रहते हैं, किन्तु वे कुछ कालतक दबे रहते हैं। इस परिस्थितिको वाद कहते हैं। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि कालान्तरमें वाद-परिस्थितिका विरोध वे ही तत्त्व करने लगते हैं, जो उसमें सिन्नहित थे। इस परिस्थितिको प्रतिवाद कहते है। किन्तु द्रन्द्र-सिद्धान्तके अनुसार किसी भी-नयी परिस्थितिका जन्म दो विरोधी परिस्थितियोंके संवर्षसे होता है । द्रन्द्वात्मक भौतिकवादकी तीसरी मान्यता यह है कि जब वाद और प्रतिवादका संघर्ष होता है तो एक तीसरी परिस्थितिकी सर्जना होती है, जो उन दोनों परिस्थितियोसे भिन्न होती है और जिसमे दोनो परि-स्थितियोके कुछ अच्छे अंश उपस्थित रहते है। इस तीसरी परिस्थितिको संवाद अथवा प्रतिवादका प्रतिवाद कहते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी चौथी मान्यता यह है कि वादसे संवादतकका विकास मात्रात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी ओर होता है।

<sup>/</sup>द्रन्द्वात्मक भौतिकवादके प्रकाशमें जब मानव-समाजके

इतिहासका अध्ययन किया जाता है तो मनुष्यके समूचे अतीतको एक व्यवस्थित अर्थसत्र प्राप्त हो जाता है। उस समय इतिहासमे इधर-उधर विखरी घटनाओंका संकलन नहीं होता। उसके चरणोंको निश्चित गति और लय प्राप्त होती है। उसका जीवन निश्चित ऐतिहासिक नियमोम बँध जाता है। उन्ही निश्चित ऐतिहासिक नियमोंके समन्वित रूपको ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार मनुष्यके सारे कर्तव्योकी प्रेरणा उत्पादन है। इसी लक्ष्यको लेकर मनुष्य सामाजिक सम्बन्धोंकी स्थापना करते है। अतः मनुष्यके समूचे सामाजिक सम्बन्ध उसके उत्पादन-सम्बन्धोपर आधारित है। जब उत्पादन सम्बन्धमे परिवर्तन होगा तो उसके सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जायँगे। अतः समाज-के दो ढाँचे है। पहला ढाँचा है आधारभूत ढाँचा, जो उत्पादन-सम्बन्धोंपर आधारित है और दूसरा वह ढाँचा है, जो आधारभूत ढाँचेपर आश्रित है। दूसरे ढाँचेके अन्तर्गत समाज, साहित्य, कला, दर्शन एवं संस्कृति सम्बन्धी तत्त्व आते है। इस नाते कविकी काव्यप्रेरणा, दार्शनिककी ज्ञान-जिज्ञासा, कलाकारका कलात्मक लक्ष्य और संस्कृतिका मूल उद्देश्य, सब-कुछ आर्थिक व्यवस्था द्वारा अनुशासित होता है।

समाजकी उत्पादन-प्रणालिका परिवर्तन भी दो विरोधी शक्तियोंके संवर्षसे होता है। इस संवर्षको कार्ल मार्क्सने वर्ग-संवर्ष कहा है। वर्ग-संवर्ष दो वर्गोमे होता है। इसमें-से एक वर्ग, जिसे शोषक वर्ग कहते है, समाजका आर्थिक और राजनीतिक शासन करता है। दूसरा वर्ग, जिसे शोषित वर्ग कहते है, उन लोगोंका वर्ग है, जो शारिरिक श्रम तो अवश्य करते है, किन्तु उस शारिरिक श्रमका फल उनको न प्राप्त होकर शोषकवर्गको प्राप्त होता है। इसलिए शोषित और शोषक वर्गमें संवर्ष अनिवार्य हो जाता है। और इसी संवर्षके मूलमें विकासस्थिति है।

मार्क्सवादके अनुसार अवतक समाजमें चार प्रकारकी सामाजिक अवस्थाएँ प्राप्त हो सकी है। पहली व्यवस्था है आदिम साम्यवादकी, जिसमे लोग स्वतन्त्र थे और उनका समष्टि-जीवनसे कोई सम्पर्क नही था। दूसरी व्यवस्था है दास-व्यवस्था, इसके अन्तर्गत कुछ शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति शक्तिहीनोंपर शासन करते थे, किन्तु जब कुछ दासोंने क्रान्ति की तो सामन्तवादी व्यवस्थाने उसका स्थान लिया । सामन्तवादी व्यवस्थामे भी जब वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो गया तो उसका स्थान एक नयी विकसित आर्थिक व्यवस्थाने लिया, जो आज भी जीवित है। इसे पूँजीवाद कहते है। किन्तु पूँजीवादमें भी वर्ग-संघर्ष चल रहा है और मजदूर सम्पत्तिपर सामूहिक नियन्त्रणका प्रयास कर रहा है। कुछ देशोंमे तो पूँजीवाद समाप्त हो गया है और उसके स्थानपर समाजवादकी स्थापना हो रही है। इस नयी व्यवस्थाको साम्यवाद (दे०) कहते है। कार्ल मार्क्सन सामाजिक व्यवस्थाओंकी इन्हीं रेखाओकी ओर संकेत किया है, जो अबतक इतिहासके विकासमें दृष्टिगत हो रही हैं।

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषणपर आभारित है। यह शोषण सर्वहाराका है, क्योकि सर्वहारा

शारीरिक श्रमसे उत्पादन करता है, किन्तु उसका लाभ पॅजीपतियो या स्वामियोके हाथमे जाता है। दैनिक जीवन-के इस साधारण अनुभवको कार्ल मार्क्सने अर्थशास्त्रके जटिल रूपमं व्यक्त किया है। इसे मूल्यका सिद्धान्त अथवा 'थ्योरी ऑव वेल्यू' कहते है। मार्क्सका कहना है कि जब आधुनिक वैज्ञानिक साथनोसे युक्त मजदूर किसी वस्तुका उत्पादन करता है, तभी उस वस्तुको विनिमय-मूल्य प्राप्त होता है। किसी वस्तुका विनिमय-मूल्य कितना है, यह उस वस्तपर लगाये गये श्रमके बराबर है, किन्त जब पॅजीपति मजदूरको मजदूरी देता है तो वह उसके द्वारा ही मजद्रका शोषण करता है। मजद्रको जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह उसके द्वारा किये गये श्रमके बराबर नहीं होती, अतः मजदूर जितने मुल्यका सर्जन करता है और जितने मूल्यका वह दाम पाता है, उसके अन्तरको कार्ल मार्क्स अतिरिक्त मृत्य या 'सरप्लस वैल्यू' कहता है। यह अतिरिक्त मूल्य भी मजदूर द्वारा निर्मित हुआ है, क्योंकि मजदूर मूल्यकी रचना करता है, किन्तु मिल-मालिक इस 'स्र प्लस बैल्य्'को अपना लाभ समझकर अपने पास रख र्लिता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्सने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें यह स्वाभाविक है कि मिल-मालिक मुनाफा करे और जिस धनपर मजदूरका नैतिक अधिकार है, उसको हड़प ले।

मार्क्सवादके अनुसार राज्य भी इन आर्थिक व्यापारो-का निरपेक्ष द्रष्टा नहीं है। एक समय था, जब पूँजीवादियोने आर्थिक क्षेत्रमें राज्यसे इस्तक्षेप न करनेकी माँग की थी। वह युग 'लैसेज फेयर' नीतिका युग था। किन्तु पूँजीवादकी राक्तियाँ जब शिथिल होने लगी तो उन्होंने राजनीतिक राक्तिका सहारा लिया। राज्य मार्क्सके अनुसार वर्ग-संघर्षका प्रतीक है। इसलिए मार्क्स समाजवादी क्रान्ति द्वारा राज्यका भी उन्मूलन करना चाहता है।

समाजवादी क्रान्ति केवल सर्वहारा ही कर सकता है। मार्क्सने क्रान्तिको पद्धितयों और साधनोंपर विशद रूपसे अपने विचार व्यक्त किये है। उसके अनुसार केवल अ्यावसायिक श्रम-वर्ग ही शक्ति, साहस और बुद्धि रखता है, जो क्रान्तिको लिए नितान्त आवश्यक है। क्रान्ति सफल हो जानेपर साम्यवादकी सृष्टि होती है, किन्तु क्रान्तिकी सफलता और साम्यवादकी स्थापनाके बीच समयका लम्बा अन्तराल आता है। इस बीच पूँजीवादी राज्यको नष्ट करके मजदूर-राज्यको स्थापना होती है। यही मजदूर-राज्य शान्तिमय ढंगसे सारे समाजको साम्यवादकी ओर लेजाता है।

आधुनिक साहित्य तथा साहित्य-चिन्तनपर मार्क्सग्रह्मी गृह्मी छाप है। हिन्दी साहित्यमें मार्क्सिग्रह्म द्वारा प्रेरित साहित्यको प्रगतिवाद(दे०)की संज्ञा दी गयी है। — रा० कु० त्रि० सास्त्रती—वर्णिक छन्दोंमे समृत्रतका एक मेद। मानु-(छं० प्र०, पृ० १५८)के अनुसार नगण, २ जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (III, ISI, ISI, SIS)। जयकीर्ति(छन्दो०, २: १३९)ने इसे वरतनु नाम दिया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०—''विपिन विराध विरुष्ठ देखियो । नृप तनया भयभीत लेखियो । तब रघुनाथ (सु) बाण के हयो । निज निरवाण पन्थका ठयो ।" (रा० चं०, ११:८)। — पु० शु० मालती (प्रमोद) — विर्णंक समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्य-शास्त्र'में मालती नामका दो जगणका छन्द मिलता है (।ऽ।,।ऽ।)। इसे केशव और भानुने मालती तथा देवने प्रमोद नाम दिया है। 'प्राकृतपैगलम्' और 'वाणीभूषण'में सुमालती नाम दिया गया है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०— "जु पै जिय जोर, तजौ सब शोर। सरासन तोरि, लहौ सुख कोरि" (रा० चं०, ४:८)। — पु० शु० मालादीपक— 'दीपक'से सम्बद्ध शृंखलामूलक अर्थालंकार। इस अलंकारमे पूर्वोक्त वस्तुओंसे उत्तरोत्तर विर्णंत वस्तुओंनका सम्बन्ध एक धर्मसे स्थापित किया जाता है। इस अलंकारमे जगन्नाथ तथा अप्पय दीक्षितके अनुसार पूर्वविर्णंत पदार्थों और उत्तरोत्तर पदार्थोंमे परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत अथवा उपमेय-उपमानभाव (साह्ह्य) सम्बन्ध

वर्णित पदार्थों और उत्तरोत्तर पदार्थों मे परस्पर प्रस्तुतअप्रस्तुत अथवा उपमेय-उपमानभाव (साइद्य) सम्बन्ध
नहीं रहता। मम्मट तथा रुय्यक्से यह अलंकार मिलता
है। मम्मटने दीपकके प्रकार-रूपमे इसकी परिभाषा दी
है—"मालादीपकमायं चेयथोत्तरगुणावहम्", अर्थात् इसमे
पूर्ववर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुमे उत्कर्षका आधान
करती प्रतीत होती है (का॰ प्र॰, १०: १०४)। रुय्यक्ने
इसी बातको अधिक स्पष्ट किया है—"पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तर
गुणावहत्वे" (अ० स०, पृ० १४१)। 'विश्वनाथ'का लक्षण
अधिक स्पष्ट नहीं है। मम्मटने 'दीपक'के बाद इसपर
विचार किया है, पर रुय्यक्ने कारणमालाके बाद। हिन्दोमे
रुय्यक्का अनुसरण हुआ है।
हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधार-

हिन्दीके सभी प्रमुख आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधार-पर दीपक और एकावली अलंकारोके संयोगसे मालादीपक अलंकार माना है—''दीपक एकाविल मिलें मालादीपक जान''(का॰ नि॰, १८)। जसवन्त सिह, मतिराम, भूषण, सोमनाथ तथा पद्माकर—सभीके लक्षण समान है।

भिखारीदासका उदा०—"जगकी रुचि ब्रजवास, ब्रजकी रुचि ब्रजचन्द हरि। हरि रुचि वंसी दास, वंसी रुचि मन वॉधिवो" (का० नि०, १८)।" यहाँ प्रथमकथित 'जग'-से उसके उत्तरकथित 'ब्रजवास'का, 'ब्रजवास'से 'ब्रजचन्द' आदिका 'वॉधिवो' इस एक क्रियारूप धर्मसे सम्बन्ध स्थापित किया गया है। अतः 'मालादीपक' अलंकार है। आधुनिक कवि जयशंकर 'प्रसाद'ने अपने 'ऑस्' काल्यमे इसका सुन्दर प्रयोग किया है—"धनमें सुन्दर विजली-सी, विजलीमें चपल चमक-सी। आँखोमे काली पुतली, पुतलीमें स्थाम झलक-सी। प्रतिमामे सजीवता-सी, वस गयी सुछिव ऑखोंमें। थी एक लकीर हृदयमे, जो अलग रही लाखोंमें"।

मालादीपक और कारणमाला, दोनों अलंकारोमे पूर्वकथित पदार्थोंका उत्तरोत्तरवर्णित पदार्थोंके सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, पर पहलेंमे प्रत्येक पूर्वकथित पदार्थ बादवालेका कारण कहा जाता है और दूसरेमे प्रत्येक पूर्वपदार्थ बादवालेके साथ विशेषण-विशेष्यके सम्बन्धमें उपस्थित होता है (दे० 'दीपक', तीसरा प्रकार)। —वि० स्ना०

मालिनी—विणिक छन्दों से समकृत्तका एक भेद । पिंगलाचार्य-के अनुसार इसकी परिभाषा है—'मालिनी नो न्योय' (७:१४), अर्थात् न, न, म, य, यके योगसे यह कृत बनता है। बादमे ८, ७ वर्णोंपर यितका नियम भी विक-सित हुआ। भरतने इसका नाम नान्दीमुख (ना० शा० १६:७३) दिया है। हिन्दी साहित्यमे इमका प्रयोग केशव (रा० चं०, १३:२७), रहीम (मदनाष्टक), सदन (मु० चं०), हरिऔष (प्रि० प्र०, स०४, ५, ६, ७, ९, १०, ११, १३, १५, १७), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० १६— १९) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, स०१:१३, १६ एवं वर्द्धमान, पृ० ७०)ने किया है। उदा०—"जय रितपित तेरी हो, तुझे सर्वदा ही' (वर्द्धमान स०१:१४०)।

हिन्दो किवयोने इसमे विशेष नवीन प्रयोग किया है। चन्दने इस छन्दको तोडकर नवीनता प्रदान की है और इसका नाम 'काव्य जाती' रखा है। उनके प्रयोगके अनुसार नया छन्द न न SS और र र S में विभक्त जान पडता है। यह परिवर्तन यतिके प्रयोगपर वरु दिये जानेमे सिद्ध हुआ है। चन्दने तो यतिका प्रयोग किया था, पर दीनदयाल गिरि तथा स्दनने इन यतियोंपर तुकका प्रयोग भी किया— "विशद बकुल-माला, शोभती यों विशाला" (अ० क०, १५)।

मालोपमा -दे॰ 'उपमा', सातवाँ प्रकार।

माहिया—पंजाबीका अत्यन्त लोक-प्रचलित शृंगार तथा करुण रससे ओतप्रोत लोकगीत। शृंगारके विरद्द-पक्षकी इसमें मार्मिक अनुभूति मिलती है। पंजाबी शिष्ट साहित्यके जपर भी इस लोक-परम्पराकी रचनाका यत्र-तत्र प्रभाव दिखाई देता है।

—सं०

मिथ्याध्यवसित – कार्यं-कारणमूळक अर्थालंकार । जहाँ किसी अर्थको मिथ्या सिड करनेके लिए किसी अन्य सिड मिथ्याकी कल्पना की जाय । जयदेवने 'मिथ्याध्यवसाय' नामक रुक्षणका निरूपण किया है कि इसमे कार्य और कारणकी मिथ्या कल्पना करके कार्यसिद्धिका वर्णन होता है—"स्यान्मिथ्याध्यवसाय चेदसती साध्यसाधने" (चन्द्रा-लोक, ३:७) । परन्तु अप्पय दीक्षितने 'मिथ्याध्यवसित' अलंकार माना है । इसका लक्षण है—"किंचिन्मिथ्यात्व सिद्धवर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्" (कुवल्यानन्द, १२७) ।

हिन्दीके जगत सिंह, मितराम, भूषण, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने 'कुवल्यानन्द'के आधारपर प्रायः इसके लक्षण दिये हैं—"झूठ अर्थकी सिद्धिको, झूठो वरनन आन" (शि० भू०, २७२) अथवा—'एक झुठाई सिद्धि कौ, झूँठो वरनत और" (ल० ल०: २९८), अर्थात मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिए किसी दूसरे मिथ्या अर्थकी कल्पना—'धरै जु माला नभ कुसुम, करै सु परितय प्रीति' अथवा—''जो ऑजै नम कुसुम रस, लखै सु अहिक कान'' (पद्मा०, २१५)। 'यहाँ 'परितय प्रीति' तथा 'अहिके कान'-को झूठा सिद्ध करनेके लिए असत्य कल्पनाएँ की गयी हैं। इस अलंकारकी समीपता निदर्शना और अतिश्योक्ति अलंकारोंसे हैं। उद्योतकारने इसे अतिश्योक्ति तथा जगन्नाथने प्रौढोक्तिके अन्तर्गत माना है। —ओ० प्र० मिश्र वस्तु—इतिकृत्तकी दृष्टिसे यह नाटककी वस्तके तीन

मेदो—प्रस्थात, उत्पाध और मिश्र—मेंसे एक है। इसमें इतिवृत्तकी पृष्ठभूमि तो प्रस्थात रहती है, पर अनेकानेक कथाएँ किएत होनी है। लक्ष्मीनारायण मिश्रके 'नारदकी वीणा'के इतिवृत्त 'आयों और अनार्थोका संघर्ष'की पृष्ठभूमि प्रस्थात है, किन्तु कथाओंकी सर्जना नाटककारकी अपनी करपना है। —व० सि० मिसरा—उर्द् किवितामें छन्दका एक चरण मिसरा कहलाता है। जब शब्दोकों किसी खास बहुर छन्दके वजन (माप)-पर लिख दिया जाय तो उसे एक मिसरा कहते है। वह्रकी लम्बाईके हिसाबने मिसरे छोटे-वड़े होते है। जिस बह्रकी जो माप नियत है, उसपर हर मिसरेको पूरा उत्तरना चाहिये। अगर मिसरा उस मापसे छोटा होगा या

मीन-दे० 'मछरी'।

**मीमांसा** – (क) मीमांसाका द्याब्दिक अर्थ गवेषणा अथवा विवेचन है। प्राचीन कालमे तथा वर्तमान समयमें मीमांमाका प्रयोग प्रायः इसी अर्थमे होता है।

उसका आहंग (लय-अवरोह) बहुरके समान न होगा, तो

उस मिसरेको अनुपयुक्त समझा जायगा । यह दोष हिन्दीमे

छन्दोभंग कहा जाता है (दे०—'बहर', 'दोर')।

- (ख) परन्तु दर्शन-जगत्में केवल मीमांसासे वेदमीमांसा, कर्ममीमांसाका ही बोध होता है। वेदोंकी मीमांसा धर्म-कर्ममे होनेके कारण ही इसे धर्ममीमांसा या कर्ममीमांसा कहते है। इससे मीमांसाका प्रयोजन भी मालूम हो जाता है—जो धर्मका निरूपण करता है—"धर्मांख्यं विषयं वस्तु मीनंसाटाः प्रयोजनम्" (कुमारिल: इलो० वा०, ११)।
- (ग) मीमांसा कर्ममीमांसा और श्वानमीमांसा, कर्मकाण्ड और श्वानकाण्ड दोनोके लिए प्रयुक्त होता है। इसीलिए प्रथमको 'पूर्वमीमांसा' और द्वितीयको 'उत्तरमीमांसा' कहते है। पूर्व और उत्तर शब्दोंसे स्पष्ट है कि वस्तुतः ये दोनों शास्त्र एक ही दर्शनके अंग है। यह अंगिदर्शन वैदिक दर्शन है।

मीमांसाके इन त्रिविध अथोंके वावजूद यह शब्द पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसाके अर्थमे रूढ हो गया है। हिन्दीमे सामान्यतः मीमांसा शब्दका प्रयोग समीक्षाके अर्थमे होता है।

अन्य समी भारतीय-दर्शनोक्षी भाँति मीमांसाका उद्भव भी वेदोंसे हुआ। पर अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा यह अधिक वेदिक दर्शन है। इसका विषय वेदोक्त धर्मकी व्याख्या है। गौतम बुद्धने वेदोक्त धर्मके कर्मकाण्ड-पक्षपर प्रहार किया था। फल्क्स्च वेद्द्रोंने अपने धर्मको छुव्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयास किया। इन प्रयासोमे जैमिनी (४०० ई० पू०)का प्रयास क्वींचम रहा और 'कर्ममीमांसासून' मीमांसाका मौल्कि अन्य हो गया। श्वर (२०० ई०)ने इसपर अपना भाष्य लिखा। कुमारिल और प्रभाकर (७वी श्वती)ने इस माष्यकी व्याख्या की और धर्मके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए उसके प्रभावको देशभरमे विल्कुल क्षीण कर दिया। कुमारिल और प्रभाकर मोमांसाके क्रमशः भट्टमत तथा गुरुमतके संस्थापक है। कालान्तरमे मुरारि मिश्रका भी एक तींसरा मन चल पड़ा।

बौद्ध धर्मके उन्मृलनमें मीमांसाका प्रमुख हाथ रहा है।

इसने वेदोकी कर्मपरक न्याख्या की और अवैदिक धर्मीकी कट आलोचना की । बौद्ध धर्मके भारत छोड़ देनेके बाद मीमांसाका विरोध न्यायवैशेषिकसे हो गया। मीमांसामें किसी ईश्वरका विधान नहीं है, न्यायवैशेषिकमें हैं। मीमांसा सभी प्रमाणोको स्वतःप्रामाण्य मानती है, तो न्यायवैदोषिक परतः प्रामाण्य । मीमांसा वेदोको अपौरुषेय मानती है तो न्यायवैशेषिक पौरुपेय। मीमांसा पहले निरीश्वरवादी थी। जैमिनि ईश्वर और आत्माके विषयमें कुछ नहीं कहते। कुमारिल और प्रभाकर भी ईश्वरकी मान्यताके विरोधी नहीं प्रतीत होते। अतः मीमांसाको प्रायः निरीश्वरवादी न कहकर लोग अज्ञेयवादी कहते है। कालान्तरमें आपदेव लौर लौगाक्षि भास्कर (१७वी शती)ने मोमांसाको ईश्वरवाद-की ओर उन्मुख किया। वेदान्तदेशिककी 'सेश्वर मीमांसा'में तो 'पूर्वमीमांसा' और 'उत्तरमीमांसा', दोनों मिल गयी, और मीमांसामे ईश्वरको स्थान मिल गया, पर कुमारिलका मत मीमांसाका अधिक प्रचलित मत है।

मीमांसा वेदोंका तात्पर्य निश्चित करनेके लिए, सहायक, श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन षट् प्रमाणोंको मानती है। इसमे वेदके दो भाग माने जाते है, मन्त्र और ब्राह्मण—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। विषयके विचारसे वेदोके ५ विभाग है-१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध और ५. अर्थवाद । 'स्वर्गकामो यजेत', इस प्रकारके वाक्योंको विधि कहते हैं। अनुष्ठानके अर्थ-स्मारकोंको मन्त्र कहते है। यज्ञोके नामकी संज्ञा नामधेय है। अनुचित कर्मसे विरत होनेको निषेध कहते है और किसी पदार्थके सच्चे गुणोके कथनको अर्थवाद कहते हैं। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदोंका तात्पर्य विधि-वाक्योंमे ही है। विधि चार प्रकारकी होती है। कर्मके स्वरूपको बतलानेवाली उत्पत्तिविधि, अंग तथा प्रधान अनुष्ठानके सम्बन्धको बतलानेवाली विनियोगविधि, धर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको न्यक्त करनेवाली अधिकारविधि है तथा प्रयोगके प्राज्ञभाव (शीघ्रता)की बोधक विधिको प्रयोगविधि कहते हैं।

शानके साथनों या प्रमाणोंमें प्रभाकरके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमाम, शब्द, उपमान तथा अर्थापत्ति है। कुमारिलके मतसे इनके अतिरिक्त छठा प्रमाण अभाव या अनुपरुष्टि है। तत्त्ववादमें कुमारिलके अनुसार पदार्थ पॉच है—द्रव्य, गुण, कमें, जाति और अभाव। द्रव्य ११ है—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। गुण २४ है।

कर्म तीन हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य । प्रथम दो अनिवार्य है । उनके न करनेसे प्रत्यूह होता है । प्रातः और सायं उपासना या प्रार्थना करना नित्यकर्म है । प्रहणके अवसरपर गंगास्नान करना नैमित्तिक कर्म है । काम्य कर्म वे हैं, जो किसी कामनासे किये जाय, जैसे पुत्रेष्टियज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि । काम्य कर्मके कर्ताको सच्चा अधिकारी होना चाहिये ।

कर्म और उसके फलमे अनिवार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका संस्थापक ईश्वर नहीं है, बल्कि अपूर्व है। अपूर्व एक शक्ति है। कर्मसे अपूर्व होता है। अपूर्वसे उस कर्मका फल उत्पन्न होता है। प्रभाकरने इसीको नियोग कहा है। कुमारिलके मतसे अपूर्व कर्म हो जानेपर नित्य आत्मामें उत्पन्न हो जाता है और जब वह फल दे देता है तो फिर वह नष्ट हो जाता है। प्रभाकरके मतसे अपूर्व नित्य आत्मामें नहीं, किन्तु कर्ममें ही रहता है, नियुज्य रहता है, इसीलिए वे इसे नियोग कहते है।

मीमांसामे कर्म या क्रियाका प्रधान महत्व है। इसके अनुसार केवल क्रिया, क्रियावान और क्रियाके अंगोका ही अस्तित्व है और इससे भिन्न किसी वस्तु या पदार्थका अस्तित्व नहीं है।

आत्मा या पुरुष प्रधानतः कर्ता या क्रियावान है। वह प्रधानतः ज्ञाता या द्रष्टा नही है। क्रियावान होनेके कारण वह सदा कर्म करता है। कर्म अपने फलको स्वयं अपूर्व या नियोगके भाध्यमसे प्रदान करता है। इससे क्रियावान आत्मा भोक्ता हो जाती है। ज्ञान भी इस मतमे क्रिया या न्यापार है। मीमांसाके अनुसार भट्टलोलटने साहित्य-शास्त्रमें रस-मतका निरूपण किया, जिसे उत्पत्ति-वाद या आरोपवाद (दे॰ रस-निष्पत्ति : पहलामत) कहा जाता है। रस रामादि अनुकार्यमें भावोंके संयोगसे उत्पन्न हो जाता है। वह रंगमंचकी परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको अनुकार्य समझता है और इस प्रकार अनुकार्यके रसका अनुभव करता है। जैसे यज्ञमें मीमांसाने 'देवो भूत्वा देवान यजेत्' (देव होकर देवोंकी उपासना करनी चाहिए)-का सिद्धान्त रखा, वैसे साहित्य-शास्त्रमे रसने अनुकार्य-रामादि होकर अनुकार्यके रसका अनुभव करना चाहिए-इस सिद्धान्तको माना। भट्टलोल्लटके उत्पत्तिवादके आधार हैं आत्माका कर्त्ता-भोक्ता होना तथा ज्ञानका कर्म रूप होना । क्योंकि प्रत्येक कर्मकी प्रक्रिया एकत्र और उसका फल अन्यत्र होता है, जैसे पाक-क्रिया कर्त्तामें है और उसका फल ओदनादिपर पड़ता है, वैसे रसकी प्रक्रिया मूलतः अनुकार्यमें और अनुकरणसे अनुकर्ता नटमें तथा उसका फल प्रेक्षकमें होता है।

भाषाशास्त्रको दृष्टिसे मीमांसाके दो मत अत्यन्त प्रसिद्ध है—अभिहितान्वयवाद (कुमारिलका) और अन्विता-भिषानवाद (प्रभाकरका)। एकके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सान्निध्यके कारण पदोंके अथोंका भली भाँति अन्वय हो जानेपर उन पदोंमेंसे प्रत्येकके अर्थसे भिन्न वाक्यका एक विशेष तात्पर्यार्थ होता है। दूसरा यह है कि पदोंके वाक्य-अथोंसे ही वाक्यार्थका बोध होता है।

मीमांसाको लोग प्रायः प्राचीन कर्मकाण्डमात्र समझते है और इस कारण इसकी कटु आलोचना करते है। कबीर जैसे निर्गुण सन्तोंने इसी अर्थमें मीमांसाकी तीत्र आलोचना की है। पर मीमांसाका वास्तविक रूप कर्मकाण्ड नहीं है। वह कर्म और उसके फलको विना ईश्वरके, अपूर्व या नियोगकी मददसे सम्बन्धित करती है और निष्काम कर्म करनेपर जोर देती है। इस अर्थमे मीमांसाकी शिक्षाएँ सदा प्राह्य हैं। 'करम गति टारे नाहिं टरी' जैसे पदोंमें मीमांसाके तथाकथित खण्डन करनेवाले कबीर आदिने वास्तवमें मीमांसाको कर्मवादका अनुपम समर्थन किया है। तुलसीदास जब लोकमर्योदाकी स्थापना करते

है तो वस्तुतः वे मीमांसाके ही अमुल्य कर्मवादकी व्याख्या करते है। लोकमान्य तिलकने तो 'गीता-रहस्य'से ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग और योगमार्गको असम्भवित करते हुए निष्कास कर्मयोगको ही निकाला था। महात्मा गान्धी भी मीमांसाके नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको मानते थे। उनकी रचनाओं में यज्ञका, जिसका अर्थ वे परोपकारार्थ कार्य कहते थे, प्रभाव स्पष्ट है। वस्तुतः कर्मका उच्छेर नहीं हो सकता और इसलिए किसी-न-किसी अर्थमे कर्म-मीमांसाकी भी मान्यता सदैव रहेगी। मीमांसक, विशेषतः कुमारिल, कर्म और ज्ञानके समुच्चयपर जोर देते है। साध निश्चलदासने भी अपने दाद्रपन्थी साधनमार्गमे इस समुच्चयको माना है-- (धर्ममीमांसाके द्वादश अध्याय है (मीमांसासूत्रके)। जैमिनि नाम ताका कर्ता है। कर्म-अनुष्ठानकी रीतितामें प्रतिपादन करी है। याते विधिसे कर्ममे प्रवृत्ति धर्म-मीमांसाका फल है। कर्ममे प्रवृत्तिसे अन्तःकरण-शुद्धि, तासे ज्ञान और ज्ञानते मोक्ष, इस रीतिसे धर्ममीमांसाका मोक्षफल है"।

[सहायक ग्रन्थ-पूर्वमीमांसा गंगानाथ —सं० ला० पा० मीलित-लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमे किन्ही दो पृथक वस्तुओंमें स्वाभाविक अथवा आगन्तुक-तुल्य धर्मके कारण भेद लक्षित न हो, अर्थात एक वस्तुका दूसरेमे निलय हो जाना मीलित अलंकार है। मीलितका अर्थ है मिल जाना । इसमें नीर-क्षीर-न्यायसे एक वस्तुका दूसरी वस्तमे तिरोभाव हो जाता है। सर्वप्रथम प्रयोग रुद्रटके 'काव्यालंकार'में हुआ। मम्मटका लक्षण इस प्रकार है— "समेन लक्षणा वस्तु वस्तुना यन्निगृह्यते । निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्" (का० प्र०, १०: १३०), अर्थात् जिसमें किसीके द्वारा किसी वस्तुका किसी दूसरी वस्त्रसे किसी स्वाभाविक अथवा आकस्मिक चिह्नके कारण तिरोधान अथवा छिपाना वर्णित हो । विश्वनाथकी परिभाषा सरल है-"मीलितं वस्त्रनो ग्रप्तिः केनचित्त्ल्यलक्षणा" (सा० द०, १०: ८९), अर्थात् जब कोई वस्तु समान लक्षणके कारण दूसरी वस्तुको तिरोभूत कर ले। वस्तुतः इसमें मम्मटके स्वामाविक तथा आकरिमक चिह्नके स्थानपर सादृश्यमात्रका उल्लेख है। 'कुवलयानन्द'के आधारपर हिन्दीमें जसवन्त सिंहने साद्ययके कारण अभेदकी बात कही है-"मीलित सोइ साह्यतें भेद जबै न लखाय" (भा० भू०, १७४)। फिर आगे हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है। मतिराम तथा सोमनाथके लक्षण अस्पष्ट है तथा भूषण और पद्माकरने सादृश्यसे मेद न जान पडनेकी बात कही है। वस्तुतः यह साद्य, जैसा कि मम्मटने कहा है, स्वाभाविक अथवा आकिस्मक लक्षणोंपर आधारित है, अतएव निगृहन (छिपाना) दो प्रकारसे माना गया है।

विहारीके इस वर्णनमे स्वाभाविक कान्ति द्वारा ॲगिया-की कान्तिका तिरोभाव है—"भई जु छवि तन वसन मिलि, बरिन सकै सु न बैन। ऑग ओप ऑगी दुरी, ऑगी ऑग दुरै न" (सतसई, १८९)। दासने आगन्तुक धर्मी द्वारा तिरोभावका उदाहरण इस प्रकार दिया है—"केसरिया पट कनक तन कनकाभरन सिंगार! गत केसर केदारमे जानी जाति न दार" (का० नि०, १४)।

मितरामने भी इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है—"होति न लखाई निसि चन्दकी उज्यारी मुख, चन्दकी उज्यारी तन छाहों छिप जाति है" (७० ००, १४२)। भूषणके उदाहरणमें उक्तिका चमत्कार है—"पावत न हेरे तेरे जस मै हिराने निज गिरिको गिरीस हेरे गिरिजा गिरीसको" (शि० भू०, १०२)। इसी प्रकार महादेवीकी इन पंक्तियोंमें इसका सुन्दर प्रयोग है—"वे आभा वन खो जाते शिश किरणोंकी उलझनमे, जिससे उनको कणकणमे हुँ पहिचान न पाऊँ"।

हिन्दीमें 'मीलित' अलंकारका प्रयोग प्रायः सभी रीतिकालीन एवं कतिपय आधुनिक किया है। विहारीने भावकी संवेदनाको तीव करनेके लिए किया है। विहारीने मीलित अलंकारका जितना काव्यपूर्ण प्रयोग किया है, उतना रीतिकालीन अन्य कियोंने नहीं। यह उनका प्रिय अलंकार है। शृंगार रसमें नायिकाओंके रूपको अधिक संवेदनीय बनानेके लिए किवने इसी अलंकारका अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय लिया है। जायसीने नायिकाके अलौकिक रूप-सौन्दर्य-वर्णनके लिए इस अलंकारका भी प्रयोग किया है।

तद्गुण, भ्रान्ति तथा मीलितमे वास्तविक अन्तर है।
तद्गुणमें साधारण (सदश) लक्षणवाली वस्तुका तिरीमाव
नहीं होता, वरन् उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुका गुण प्राप्त किया
जाता है; भ्रान्तिमे एकके स्थानपर दूसरेका भ्रम होता है,
दोनों उपस्थित नहीं रहते; मीलितमें समान गुण एक-दूसरेमें तिरीधान हो जाते हैं, अर्थात् दोनो रहते हुए भी एकदूसरेमें छिप जाते है। दण्डीने मीलितको अतिशयोक्तिका
एक भेद माना है तथा यह रुद्रके पिहित अलंकारके
समान है।
—वि० स्ना०

मुकरी-यह लोकप्रचलित पहेलियों का ही एक रूप है, जिसका लक्ष्य मनोरंजनके साथ-साथ बुद्धिचातुरीकी परीक्षा लेना होता है। इसमे जो बाते कही जाती हैं, वे द्वर्यर्थक यां हिलष्ट होती है, पर उन दोनो अर्थींमेसे जो प्रधान होता है, उससे मुकरकर दूसरे अर्थको उसी छन्दमें स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह स्वीकारोक्ति वास्तविक नहीं होती। हिन्दीमें अमीर खुसरोने इस लोककाव्य-रूपको साहित्यिक रूप दिया। अलंकारकी दृष्टिसे इसे छेकापह्नुति कह सकते है, क्योंकि इसमे प्रस्तुत अर्थको अस्वीकार करके अपस्तुतको स्थापित किया जाता है (दे० 'अपहुनुति')।— शं० ना० सिं० मुक्तक काब्य-मुक्त शब्दमे कन् प्रत्ययके योगसे मुक्तक शब्द बनता है, जिसका अर्थ अपने-आपमे सम्पूर्ण या अन्य-निरपेक्ष वस्तु होता है ('मुक्तकमन्येनालिंगितं तस्य संज्ञायां कन"—ध्वन्यालोककी लोचन टीका ३,७)। ध्वनि-सिद्धान्तके आधारपर ही मुक्तकको कान्यमे आदरणीय स्थान मिला है। 'ध्वन्यालोक'के अनुसार जिस काव्यमें पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष रस-चर्वणाका सामर्थ्य होता है, वहीं मुक्तक कहलाता है। अतः मुक्तक कान्यसे उस कान्य-रूपका बोध होता है, जिसमें कथारमक प्रवन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्धकी योजना नहीं होती। हेमचन्द्राचार्यने केवल मुक्तक शब्दका व्यवहार न करके मुक्तकादि शब्द प्रयुक्त किया है और उसका

सामान्य लक्षण यही बताया है कि जो अनिबद्ध हों, वे मुक्तकादि है (अनिवद्धं मुक्तकादि-काव्यानु०, आठवाँ अध्याय)। अतः मोटे तौरपर प्रबन्धहीन या स्फुट, सभी पद्यबद्ध रचनाएँ मुक्तक काव्यके अन्तर्गत आ जाती है। दण्डीने इस प्रकारके अनेक अनिबद्ध या प्रवन्धकाव्यके अंश जैसे काव्यरूपोंको एक ही साथ रखा है, यद्यपि उनका एक नाम मुक्तक या मुक्तकादि नहीं दिया है—"मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः । सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्मविस्तरः ॥'' (काव्यादर्श, १:१३) । इससे स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी सर्गवन्थ या प्रवन्धकाव्यके सभी रूपो, महाकाव्य खण्डकाव्य आदिको एक श्रेणीका काव्य और अनिबन्ध या सर्गबन्ध काव्यके अंशके रूपमें प्रतीत होनेवाले अन्य सभी रूपोंको अन्य श्रेणीका काव्य मानते थे, यद्यपि उन्होने उन सबका एक नाम 'मुक्तक काव्य' नहीं बताया है। वस्तुतः अपनेमे पूर्ण, अन्य निरपेक्ष एक छन्दवाली रचनाको ही सभी आचार्याने मुक्तक कहा है, पर चूँकि अन्य-निरपेक्ष एकाधिक छन्दोवाली रचनाएँ भी अनिबद्ध या कथाहीन होती है, अतः उन सबको मुक्तकादि कहकर प्रबन्धकाव्यकी तरह मुक्तक काव्यको भी एक सामान्य काव्य-रूप मान लिया गया। इस प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी साहित्यमें छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद थे—महाकाव्य (एपिक) और गीतिकान्य (लिरिक), उसी तरह प्राचीन भारतीय साहित्यमे भी छन्दोबद्ध श्रव्य काव्यके दो भेद मान्य हो गये-प्रवन्धकाव्य और मुक्तक काव्य !

संस्कृतके आचार्योंने इस अनिबद्ध या मुक्तक काव्यके कई भेद किये है। दण्डीने तो मुख्य भेदोंका ही नाम लिया है—मुक्तक, कुलककोश और संघात, पर अन्य आचार्याने उसके अन्य भेद भी माने है। 'ध्वन्यालोक'में आनन्दवर्धनने मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक और पर्यायबन्ध-छः नाम लिये है (ध्व० लो०, का०, ३:७)। 'अग्निपुराण'ने इनमे प्रथम पाँच मेद ही माने है और सन्दानितककी जगह युग्मक नाम दिया है। हेमचन्द्रने मुक्तादि अर्थात् मुक्तक कान्यके ये भेद माने है-मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोश, प्रघट्टक, विकीर्णक और संघात (काव्यानु०, ८:१०)। विद्वनाथ कविराजके अनुसार मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक कुलक, कोश और व्रज्या अनिबद्ध कान्य है (सा० द०, ६ : ३१४, १५) । ये भेद श्लोकसंख्या, रचनाकार अथवा विषयके अनुसार किये गये है, जो इस प्रकार है—१. मुक्तक-सज्जनोंको चमत्कृत करनेवाला, अपने-आपमें पूर्ण, अर्थ व्यक्त करनेवाला एक रलोक—"मुक्तकं रलोक एवैकश्च-मत्कारक्षमः सताम्" (अग्निपुराण) तथा "एकेन छन्दसा वाक्यार्थसमाप्तौ मुक्तकम्" (काव्यानु०, ८, १०)। २. युग्मक या सन्दानितक—दो क्लोकोंमे पूर्ण अर्थ करनेवाली या क्रिया समाप्त होनेवाली रचना। ३ विशेषक तीन श्लोकोंवाली रचना। ४ कलापक—चार श्लोकोवाली रचना। ५. कुळक--पाँच इलोकोंवाली रचना ('पंचिभः कुलकं मतम्'-सा॰ द॰), पर कुछ आचार्योने इसमें श्रोकसंख्या अधिक मानी है। हेमचन्द्रके अनुसार इसमें पाँचसे चौदहतक श्लोक होते हैं ('पंचभिद्यतर्दशान्तैः

कुलकं')। 'अग्निपुराण'के अनुसार पॉचसे अधिक श्लोकोंवाली रचना, जिसका अन्वय एकमे हो, कुलक है। ६. कोश-ऐसे इलोकोका संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों। यह मुक्तकोंका समूह होता है ('कोशः श्लोकसमृहस्तु स्यादन्यो-न्यानपेक्षकः'--सा० द०, ६: ३२९)। हेमचन्द्राचार्यके अनुसार किसी एक कवि या अनेक कवियोकी स्कियो-(मुक्तको)के समुचयका नाम कोश है, जैसे सतसई आदि ('स्वपरकृतस्किसमुच्चयः कोशः सप्तशतकादिः (कान्यानु०, आठवॉ अध्याय) । ७. प्रघट्टक-एक कविकृत इलोकसमूह या मुक्तक समुचय (कोश)का नाम प्रवह्क है (काव्यानु०, आठवॉ अध्याय), जैसे 'बिहारी सतसई' या 'गाथासप्त-शती'। ८. विकर्णक—अनेक कवियों द्वारा लिखित मुक्तको-का संग्रह। यह भी कोशका ही एक भेद है, जैसे 'दोहाकोरा', 'सुभाषितकोरा' आदि । ९. संघात या पर्याय-बन्थ-एक कवि द्वारा एक विषयपर रचित छन्दोंको संघात कहते है. ('एकार्थविपयः एककर्तृकपद्यः संघातः'-कान्यादर्श-टीका, १: १३)। आनन्दवर्द्धनने 'ध्वन्यालोक' (कारिका, ३: ७)में इसे पर्यायबन्ध कहा है।

राजशेखरने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दोंमे काव्यके विषया-नुसार दो भेद किये है-प्रबन्धकाव्य और मुक्तक काव्य-'स पुनर्द्धिंश मुक्तक प्रबन्धविषयत्वेन', (का० मी०,९)। उन्होने उनमें प्रत्येकके विषयगत भेदके अ<u>न</u>ुसार पॉच भेद माने है-१ शुद्ध, २ चित्र, ३ कथोत्थ, ४. संविधानक और ५. आख्यानकवान् , किन्तु यदि विषयकी दृष्टिसे विभाजन किया जाय तो मुक्तकके अनन्त भेद हो सकते है। संख्याके आधारपर भी जो विभाजन किया जाता है, वह वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि उससे भी असंख्य भेद हो सकते है। वस्तुतः मुक्तक काव्यके अन्तर्गत जितने भी काव्यरूप प्रचलित हो चुके हो, चाहे वे संख्याके आधारपर निर्मित हुए हों, चाहे विषय, छन्द या रागके आधारपर, उन सबको मुक्तक काव्यका भेद मान लेना चाहिये, यद्यपि ऐसे भेदोंकी संख्या अनिश्चित ही रहेगी, क्योंकि समाज और साहित्यके विकासके साथ-साथ काव्यरूपोंमें भी परिवर्तन और विकास होता चलता है। पुराने काव्यरूप छप्त हो जाते है और नये-नये विकसित होकर प्रचलित होते रहते है। कालभेदकी तरह देश-भेदके अनुसार भी कान्यरूपोंमे भिन्नता होती है। अतः मुक्तक कान्यके अन्तर्गत जो भी कान्यरूप किसी भी देश या किसी भी कालमे प्रचलित थे या है, उन्हें मुक्तक कान्यके भेदके रूपमे स्वीकार करना चाहिये। उदाहरणके लिए, यूरोपीय साहित्यमें ठीक मुक्तक (एक श्लोकवाली रचना) जैसा काव्य-रूप प्रचलित नहीं था, पर वहाँ महाकान्य, नाट्यकान्य, कथाकान्य (नेरेटिव या रोमान्स)के साथ गीतिकान्य (लिरिक पोइट्री)को मान्यता मिली थी और उसके भी अनेक भेदोपभेद प्रचलित थे। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियोंने मुक्तक काव्यको तो माना है, पर गीतिकाव्यका **ज्ल्लेख उन्होने नहीं किया, यद्यपि विद्वनाथ कविराजके** पूर्व ही जयदेवके 'गीतगोविन्द'की रचना हो चुकी थी। मध्ययुगमें हिन्दीके पद्य-साहित्यकी रचना बहुत हुई, जो गीतिकाव्यका ही एक रूप है। आधुनिक युगमें उर्दू और फारसीके कई काव्यरूप, जैमे गजरू, रवाई या चतुष्पदी तथा अंग्रेजी साहित्यके प्रभावसे पाक्षात्य गीतिकाव्यके विविध रूप, जैसे सम्बोधगीति, शोकगीति, सॉनेट आदि भी हिन्दीमे अपनाये गये है। ये सभी मुक्तक काव्यके ही अन्तर्गत माने जाते है।

अस्तु, हिन्दीमे मुक्तक काव्यके जितने रूप मिलते है उनके विकास और मूल स्रोतोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तक कान्यके केवल उतने ही भेद नहीं हो मकते, जितने संस्कृतके साहित्यशास्त्रियोंने गिनाये है। संस्कृत साहित्यमें ही मुक्तक कान्यके जितने रूप प्रचलित थे, उन सबका उल्लेख आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे नहीं किया है। कहा जा सकता है कि कोश और संघातके अन्तर्गत अन्य सभी प्रकारके मुक्तक काव्यरूपोंका समावेश हो जाता है, पर इसे श्रेणी-विभाजन ही कहा जा सकता है, मुक्तक कान्यरूपोंका वर्गीकरण नहीं। कान्य-क्षेत्रमे जितने भी मुक्तक कान्य-रूप मिलते है, उन सबकी कुछ निजी विषयगत या रूपगत विशेषताएँ होती है और उन कान्यरूपोके स्वतन्त्र विकासका इतिहास भी है। संस्कृतके आचार्यों द्वारा बताये गये मुक्तकके उपर्युक्त रूपमेदोमे उन विशेषताओं तथा विकासक्रमपर प्रकाश नहीं पड़ता है और न मुक्तकके विभिन्न कान्यरूपोका पूर्ण परिचय ही मिल पाता है। संस्कृतमे मुक्तक काव्यके जितने रूप प्रचलित थे, हिन्दीमें उनमेसे कुछको अपनाया गया और कुछको छोड़ दिया गया। उदाहरणार्थ, युग्मक, विशेषक और कलापक नामक मुक्तक काव्यरूप हिन्दीमे नहीं मिलते और कुलकका नाम छोड़कर पंचक, अष्टक, दशक आदि संख्यावाचक नाम स्वीकार कर लिये गये है। इसी तरह कोश नाम प्रचलित नहीं है, पर पंचासा, बावनी, सतसई, हजारा आदि संख्यावाचक या दोहावली, पदावली आदि छन्दवाचक नाम प्रचलित हो गये है, जो कोशके रूपमे माने जा सकते हैं। फारसी और अंग्रेंजीके सम्पर्क तथा अपभ्रंशकी काव्यपरम्पराको ग्रहण करनेके कारण भी हिन्दीमें बहुतसे ऐसे नये मुक्तक काव्यरूप आ गये, जो संस्कृतमे नहीं थे। प्राचीन हिन्दी साहित्य लोकाश्रित रहा है। इससे लोकभाषाओं में प्रचलित अनेक मुक्तक काव्यरूपोंको भी हिन्दीमें अपना लिया गया है। इन सव काव्यरूपोंको मोटे तौरपर निम्नलिखित वर्गीमें विभाजित किया जा सकता है-१. संख्यावाचक या संख्याश्रित मुक्तक-(क) मुक्तद-(एक छन्दवाला), (ख) कुलक-(१) पंचक, (२) अष्टक, (३) दशक, (ग) कोश-वीसी, वाईसी, चौबीसी, पचीसी, इकतीसी, बत्तीसी, चालीसा, पंचाशिका या पचासा, बावनी, सत्तरी, बहोत्तरी, शतक या सप्तशती, हजारा आदि। २. वर्णमालाश्रित—मातृका, कक्क, ककहरा, बारहखडी। ३. छन्दाश्रित-चौपाई या चौपई, दृहा या दोहा, दोहावली, छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त, कवितावली, अमृतध्विन आदि । ४. रागाश्रिन--रास, लावणी, गरबा, पद, कजरी, धमाल, गीता, गीतावली आदि। ५. ऋतु और उत्सवमूलक-फाग, होली चर्चरी या चाँचर, चौमासा, बारहमासा, षड्ऋतु, मंगल, सोहर, गारी, ब्याहलो, बधावा आदि । ६. पूजाश्रित, धर्माश्रित—स्तुति

स्तीत्र, विनय, स्तवन, विनती, पूजा, प्रभाती, सॉझ या सॉझी, निर्गुन, भजन, मिहमा, माहात्म्य, रमैनी, साखी, सबद, उल्टबॉसी आदि। ७. लोकाश्रित—मुकरी, पहेली, कहावन, ढकोसला आदि। ८. फारसी काव्यरूप—गजल, रुवाइयाँ, चतुष्पदी (चौपदे) आदि। ९. अंग्रेजी काव्यरूप—दिपदी (कप्लेट), चतुर्दशपदी (सॉनेट), सम्बोध-गीति (ओड), शोकगीति (एलिजी), गीत (सॉग), गीति या प्रगीत मुक्तक (लिरिक)। १०. ज़िह्त्य-ज्ञान्त श्रित—हन्द, रस, ध्विन और नायक-नायिका-भेदके लक्षण और उदाहरणके छन्द। ११. अन्य फुटकर काव्यरूप—अष्टयाम, दूनकाव्य, या सन्देशकाव्य, गोष्ठी संवाद, नख-शिख आदि।

जपर जो नाम गिनाये गये है, वे सभी मुक्तक कान्यके अन्तर्गत आते हैं, भले ही उनमेसे कुछको काव्य-रूप न मानकर काव्य-संज्ञा कहा जाय। काव्य-संज्ञाएँ छन्द-शैली, संख्या या विषयके आधारपर प्रचलित होती है और उन्हांमेसे जिनका रूप निश्चित हो जाता है और अनेक कवि उसकी रूपगत पद्धितयोंका समान रूपसे कड़ाईसे पालन करने लगते है तो उन्हे काव्य-रूप कहा, जाता है। उपर्यक्त काव्य-संज्ञाओं या काव्य-रूपोमेसे संस्कृत, प्राकृत और अपभंशसे हिन्दीनें गृहीत हुए है और अनेक ऐसे हैं, जो. परवर्ती अपभ्रंशमे ही अधिक है, हिन्दीमे नहीं या बहुत कम मिलते है। अतः परवर्ता अपभ्रंशको हिन्दीका ही प्रारम्भिक रूप मानकर उनको उपर्युक्त सूचीमे सम्मिलित किया गया है। जो अत्यन्त प्रचलित और महत्त्वपूर्ण मुक्तक कान्यरूप है, उनका परिचय और उदाहरण अलग दिया गया है। यहाँ कुछ सामान्य कान्य-रूपोका ही उदाहरण दिया जा रहा है।

 संख्याश्रित मुक्तक काब्य—'कुलक' हिन्दीमें कुलक्संज्ञक काव्य नहीं मिलते, यद्यपि परिभापाके अनुसार कुलक बहुत मिलेगे। अपभ्रंशमें कुलकसंज्ञक कान्य ये है-देवसरिका 'उपदेश कुलक', जिनदत्त सूरिका 'कालस्वरूप कुलक', प्रधुम्नका 'दानादि कुलक', जिनप्रभ सुरिके 'आत्म-सम्बोधन कुलक, धर्माधर्म कुलक, नवकारफल कुलक और विवेक कुलक' आदि। 'कोश'-कोशसंज्ञक काव्य भी हिन्दी-में नहीं, प्राकृत अपभंशमें ही हैं, जैसे सानवाहन हालकी 'गाथासप्तरातो' या 'गाथाकोश', कण्ह और सरहके 'दोहा-कोश': पर हिन्दीके सतसई, हजारा, पचासा, वावनी आदि संज्ञावाले काव्य भी वस्तुतः कोश ही है। 'हजारा'--एक हजार मुक्तक छन्दोका संग्रह, जैसे रसनिधिका रतन-हजारा', कालिदासका 'कालिदास-हजारा'। 'शतक' या 'शतिका'—इसमें एक ही विषयपर एक जातिके सौ या सौसे अधिक छन्द होते है, जैसे संस्कृतमे भर्तृहरिके 'शतक-त्रय', हिन्दीमे देव कविका 'नीति-रातक', मुवारकके 'अलक-शतक' और 'तिल-शतक', खुमानका 'लक्ष्मण-शतक' आदि। 'पंचाशिका' या 'पचासा'—एक ही विषयके पचास छन्दों-वाले काव्य, जैसे वृन्द कविकी "भाव-पंचाशिका", पद्माकरका 'प्रबोध-पचासा', मण्डनका'नैन-पचासा'आदि । 'चौवनी'— भवदासकी 'प्रीति-दौवनी'। 'वावनी'—केशवकी 'रतन-वावनी', भूषणकी 'शिवा-बावनी', अग्रदासकी 'उपदेश उप-खाणवावनी' । 'चालीसा'--'हनुमान-चालीसा' आदि ।

'चौतीसी'—जनकराजिकशोरीशरणकी 'सिद्धान्त-चौतीसी', विश्वनाथ सिंहकी 'वसन्त-चौतीसी'। 'वत्तीसी'--द्विजदेवकी 'शंगार-बत्तीसी'। 'छबीसी'—मनियार सिंहकी 'हनमत-छबीसी'। 'पचीसी'-देव कविकी 'देव-पचीसी', 'ब्रह्म-पचीसी', 'तत्त्व-पचीसी' और, 'आत्म-पचीसी', ख़मानकी 'हनमत-पचीसी' और 'निसह-पचीसी',नागरीदासकी 'पावस-पचीसी' आदि । 'बाईसी'-प्रीतम कविकी 'खटमल-वाईसी'। 'दशक'--भूषणका 'छत्रसाल-दशक'। 'अष्टक'--रहीमका 'मदनाष्टक' (संस्कृत), नागरीदासके लग्नाष्टक','अरिश्लाष्टक' और 'फाग गोक्लाष्टक', 'ग्वाल'का 'राधाष्टक' आदि । 'पंचक' — खमानका 'हनुमान-पंचक'।

२ वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य-इसमें प्रत्येक पंक्ति वर्णमालाके अक्षरक्रमसे प्रारम्भ होती है। इसके कई नाम प्रचलित है। 'मात्रकासंज्ञक'-अपभ्रंशमें 'दोहा मातृका', 'शालिभद्रमातृका', 'संवेगमातृका' आदि । कक्क-संज्ञक-अपभ्रंशमें 'पद्म शालिभद्र कक्क'। 'ककहरा'-महाराज विश्वनाथ सिंहका 'ककहरा', रामसहाय दासका ककहरा। 'अखरावट'-जायसीका 'अखरावट'। 'बारहखड़ी' ---जनकराजिकशोरीशरणकी 'बारहखड़ी', अपभ्रंशमें महा-चन्दका 'वारखड़ी' दोहा।

३. छन्दाश्रित - ऐसे छन्द जो बहुत लोकप्रिय हो जाते है, कवियों द्वारा विशेष रूपसे गृहीत होते है और कविगण इन छन्दोंके नामपर अपने मुक्तकोंके कोश या संग्रहका नामकरण भी करते है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे है। 'दोहा'-अपभंशमें राम सिंहका 'पाइड़ दोहा', महा-चन्दका 'बाहरखडी दोहा', देवसेनका 'सावयधम्म दृहा'। हिन्दीमें 'ढोला-मारू रा दृहा'के दोहे भी वस्तुतः मुक्तक ही है। 'दोहावली'-- तलसीदासकी 'दोहावली', दलारेलाल-की 'दलारे-दोहावली'। 'कुण्डलिया'--गिरिधरदास, दीन-दयालगिरि और बैतालकी कुण्डलिया। 'छप्पय'—'छप्पय रामायण', नरहरि बन्दीजनकी 'छप्पय नीति'। 'सोरठा'-रहीमका 'शृंगार सोरठा' । 'बरवा'-- तुलसीका 'बरवै रामा-यण', यशोदानन्दनका 'बरवै नायिकाभेद', रहीमका 'बरवै नायिकाभेद'। 'कवित्त'-नागरीदासके 'रासके कवित्त', छटकके कवित्त, 'चॉदनीके कवित्त' आदि । सेनापतिका 'कवित्तरत्नाकर', तुलसीदासकी 'कवितावली' । तुलसीने घनाक्षरी, सबैया और छप्पय सबको कवित्तके अन्तर्गत माना है।

४. रागाश्रित संगीतशास्त्रके प्रभावसे अथवा लोक-प्रचलित गीतोंकी लयसे प्रभावित होकर भी बहुतसे मुक्तक कान्यरूपोंका विकास हुआ है। उनमेंसे पद और गीतका विचार गीतिकाञ्यके अन्तर्गत किया जायगा। शेषमेंसे कुछके उदाहरण दिये जा रहे है। 'रास'-अपभ्रंशमें मुक्तक काव्यके रूपमें राससंज्ञक काव्य बहुत मिलते है, यद्यपि हिन्दीमे रास या रासो नामसे प्रबन्धकाव्य ही लिखे गये हैं। रासक या रासा नामक एक छन्द भी होता है, पर राससंज्ञक काव्योमें वह अनिवार्य नही रह गया था। जैन मन्दिरोंमें लगुड़ारास और तालारास नामक गीति-नृत्य प्रचलित था ! सम्भवतः बादमें उसमेंसे नत्य-वाद्यका अंश निकल गया और वह एक विश्व गेय काव्यरूप बन गया। अपभ्रंशके रास, उपदेश रसायनरास, संघपति सम-रारास आदि। 'संदेशरासक'के बहुतसे छन्द भी मुक्तक जैसे ही है। हिन्दीमे मक्तक रासी, रिसक गोविन्दका 'कलयग-रासी'। 'लावनी'-यह एक लोकप्रचलित राग है, जो वाचके साथ गाया जाता है। हिन्दी कवितामें इसे भी एक भिन्न काव्य-रूपकी भाँ ति कवियोंने अपनाया, जैसे नवल-सिंह कायस्थकी 'रहस:लावनी', तुकन गिरि सोसाई, रिसाल गिरि और देवी सिंहकी लावनियाँ। 'रेखता' नागरीदासका 'रेखतो', नजीर अकवराबादीके 'रेखते'।

प. ऋत-उत्सव-आश्रित-'चर्चरी' या 'चॉचर' एक लोक-प्रचलित राग है, जिसे प्रायः स्त्रियाँ वर्षाऋतुमें नृत्यके साथ गाती है। अपभ्रंशमें इसका नाम चर्चरी मिलता है. जिससे पता चलता है कि यह गेय कान्य-रूप था, जैसे अपभ्रंशमें जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि और सोलणकी चर्चरियाँ । हिन्दीमे नागरीदासकी चाँचरी । 'फाग-होरी'-फाग-काव्यकी परम्परा अपभ्रंशसे ही मिलने लगती है, जैसे 'आदिनाथ फाग', 'नेमिनाथ फाग', 'स्थूलिभद्र फाग' आदि । हिन्दीमें फाग और होरी, दोनों नामोंसे काव्य मिलते है, जैसे नागरीदासका 'फाग-विलास', 'होरीकी मॉझ', 'फागविहार' आदि। 'ऋत और बारहमासा'-दे॰ 'षड्ऋत्' और 'बारहमासा'। ६. पूजा-धर्म-आश्रित-अपभ्रंशमे

महिमा नामक बहुतसे काव्य है, जैसे देवसेनकी 'ऋषभ

जिनस्तुति', जिनप्रभसूरिकी 'जिनमहिमा' 'और अन्य धर्म-

स्रिस्तुति', 'मलयस्रिस्तुति', 'महावीरस्तोत्र' आदि । ये

स्तोत्र,

अधिकतर जैन पुरुषों और गुरुओंसे सम्बन्धित हैं। हिन्दीमें भी इस प्रकारके स्तुतिमूलक मुक्तक मिलते है, जैसे गिरिधरदास (गोपालदास)का 'दनुजारिस्तोत्र', 'शिवस्तोत्र', 'गोपालस्तोत्र', 'एकादशी-माहात्म्य' आदि । सॉझी और भजन भी गेय धार्मिक मुक्तक काव्य है, जैसे नागरीदासकी 'साँझी', विश्वनाथ सिहके 'भजन'। रमैनी, साखी, सबद और निर्गनका विवरण अन्यत्र दिया गया --शं० ना० सि० मुक्त-छंद-मुक्त-छन्दका प्रयोग हिन्दी काव्यक्षेत्रमे विद्रोहका प्रतीक रहा है। इसे स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया है। अतुकान्त कविता उतनी विद्रोहात्मक सिद्ध नही हुई, जितना मुक्त-छन्द, क्योंकि अतुकान्तके पक्षमें संस्कृतका विपुल काव्यसाहित्य उद्धृत किया जा सकता था, परन्त 'मुक्त-छन्द' छन्दःशास्त्रके अनेक परम्परागत सर्वस्वीकृत नियमोंका उल्लंघन करता हुआ दिखाई दिया। चरणोंकी अनियमित, असमान स्वच्छन्द गति और भावानुकूल यति-विधान, यही मुक्त-छन्दकी मुख्य विशेषताएँ है, जिन्हें प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिसे विहित नहीं माना गया और मुक्त-छन्दका प्रयोग करनेवाले कवियोंपर नाना प्रकारके व्यंग्य-विद्र प होते रहे । मुक्त-छन्दकी खच्छन्द प्रवृत्तिका परिहास करते हुए इसे खड छन्द, केंचुआ छन्द, कंगारू छन्द इत्यादि अनेक नाम दिये गये, फिर भी छन्द-स्वातन्त्र्य-भावनाके युगानुरूप होनेके कारण इसकी सत्ता उन्मूलित नहीं की जा सकी। अंग्रेजी (blank verse) और बँगला साहित्यमें विकसित उन्मुक्त छन्द-प्रणालीने हिन्दी मुक्त-

छन्दकी उद्भावना और स्थितिमें पर्याप्त प्रेरणा एवं सहयोग दिया। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पम्नको मुक्त-छन्दको हिन्दीकाव्यमे संस्थापिन करनेका श्रेय है। 'प्रसाद'ने भी कुछ कविताएँ मुक्त-छन्दमें रची, जैसे 'पेशोलाकी प्रतिध्वनि', परन्तु व्यापक रूपसे वे मुक्त-छन्दको स्वीकार न कर सके। 'निराला'ने अपने 'परिमल'-की भृमिकामे इसका परिचय निम्नलिखित रूपमे दिया है-"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्दकी भूमिमे रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तकके तीसरे खण्डमे जितनी कविताएँ है, सब इसी प्रकार की है। इनमे कोई नियम नही। केवल प्रवाह कवित्त छन्दका-सा जान पडता है। कही-कही आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छत्दका समर्थक उसका प्रवाह ही है। वहीं उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति"। पन्तकी सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ स्वयं छन्दोवद्ध होते हुए भी मुक्त-छन्दका उन्मुक्त उद्धोष करती है—"खुल गये छन्दके बन्ध, प्रासके रजत पाञा। अब गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास" (नवदृष्टि) । पन्तने मुक्त छन्दका आधार मात्रिक संगीतको भी माना, परन्त 'निराला'का आग्रह रहा कि मुक्त-छन्द केवल वर्णिक अथवा अक्षर-छन्दपर ही आधारित होना चाहिये. क्योंकि उसकी प्रकृति स्त्री-प्रकृति न होकर पुरुष-प्रकृति है। दोनोंमें इस मम्बन्धमे पर्याप्त वाद-विवाद भी चला, जिसका परिचय 'निराला'की 'पन्त और पल्लव' नामक रचनासे मिलता है। कुछ अंश द्रष्टन्य है-"पन्तजीकी कविताओंमे स्वच्छन्द छन्दकी एक लडी भी नही, परन्तु वे कहते हैं, 'पल्लव'मे मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द्रमे हैं, जिनमे 'उच्छ्वास', 'ऑस्' तथा 'परिवर्तन' विशेष बडी है। यदि गीतिकान्य और स्वच्छन्द छन्दका भेद, दोनोंकी विशेषताएँ पन्तजीको मालूम होतीं तो वे ऐसा न लिखते। "पनतजीने जो लिखा है कि स्वच्छन्द हस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीतपर चल सकता है, यह एक बहुत बडा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्दमें 'आर्ट ऑव म्यूजिक' नहीं मिल सकता, वहाँ है 'आर्ट ऑव रीडिंग', वह स्वरप्रधान प्रधान है। वह कविताकी स्त्री-सुक्-नहीं, व्यंजन मारता नहीं, कवित्वका पुरुष-गर्व है' (पृ० ४४)। 'निराला'की उपर्युक्त स्थापनाएँ इस बातका प्रमाण हैं कि वे हिन्दीमे मुक्त-छन्दके सबसे अधिक ओजस्वी प्रवक्ता रहे हैं और इस सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। 'निराला'के व्यक्तित्वमें मुक्त-छन्दने अपनी सार्थकता उपलब्ध की, इसमें सन्देह नही। 'निराला'की 'जागरण' शीर्षक कवितामे मुक्त-छन्द-की व्याख्या मुक्त-छन्दमें ही की गयी है—''अलंकार लेश रहित, इलेबहीन। ज्ञून्य विशेषणोसे—। नग्न नीलिमा-सी व्यक्त । भाषा सुरक्षित वह वेदोमें आज भी- । मुक्त-छन्द, सहज प्रकाश वह मन का—। निज भावींका प्रकट अकृत्रिम चित्र"। (परिमल, पृ० २६४)। महावीरप्रसाद द्वि।दीने अतुकान्त कविताका तो पक्ष लिया, परन्तु मुक्त-छन्दका समर्थन वे न कर सके और 'आजकलको कविता' नामक एक निबन्धमे उन्होंने मुक्त-छन्दके प्रयोक्ता कवियों-को अहंवादी घोषित किया। उनका विरोध भी मुक्त-छन्दकी

प्रगनिको कुण्ठित न कर सका । छायानादोत्तरकालमे हिन्दी कविनाको एक प्रमुख धाराने मुक्त-छन्दको अपनाया और अब अधिकांश प्रयोग मुक्त-छन्दमे ही हो रहे हैं, जिनसे उसके स्वरूपमें वैविध्य और सःमर्थ्यमे विकास परिलक्षित होने लगा है।

मक्त-छन्दके लिए कहा गया है कि "यह परिचमी बीजका पूर्वीका अंकुर है" (लक्ष्मीनारायण सुधांझु : जीवन-के तत्त्व और काव्यके सिद्धान्त)। इस कथनमे बहुत-कुछ सत्य है, क्योंकि पश्चिमी मुक्त-छन्दकी कविताओंने आधु-निक भारतीय कविताके रूपविधानको अवस्य प्रभावित किया है। अमेरिकी कवि वाल्ट ह्विटमैन (१८१९-१८९२)ने अपने कवितासंग्रह 'वासकी पत्तियां' (leaves of grass)मे, जिसे वह जीवनभर परिवर्धित करता रहा, मुक्त-छन्दका आग्रहपूर्वक व्यवहार किया है। उस कालमें अंग्रेजीके प्रचलित छन्दविधानके विरुद्ध उसका मुक्त-छन्द एक क्रान्तिकारी तत्त्वके रूपमे सामने आया। मुक्त-छन्दकी पंक्तियाँ घासकी पत्तियोकी तरह असमान होते हुए भी सहज सौन्दर्यसे युक्त होनी है, कदाचित् इसी साहरयसे ह्विटमैनने अपने संग्रहका उक्त नामकरण किया होगा, ऐसी करूपना की जाती है। 'दी म्यूजिक ऑव पोइट्री' शीर्षक निबन्धमे टी. एस. ईलियटने लिखा है कि "मुक्त छन्दके नामसे बहुत-सा अपरिपक गद्य भी लिखा गया है. जो अनपेक्षित है। मुक्त छन्दका स्वागत उस काव्य-रूपको पुनरुज्जीवित करने या नये रूपको विकसित करनेकी दृष्टिसे ही आविर्भृत हुआ। बाह्य एकताके विरुद्ध कविताकी आन्त-रिक एकतापर मुक्त-छन्द बल देता है, जो प्रत्येक काच्य-रचनाके लिए सत्थ है। कविता अपने 'रूप'से पूर्व ही जन्म ले चुकती है, इस अर्थमे कि 'रूप' कुछ कहनेसे ही उत्पन्न होना है"। ---জ০ ন্যু০

मुक्तपद्रमाह्य यमक - दे॰ 'यमक' । मुक्तहरा सवैया - दे॰ 'सवैया', सातवां प्रकार ।

मुक्ति-संसारमें दुःख है, इस तथ्यको स्वीकार करते हुए उसकी आत्यन्तिक निवृत्तिको भारतीय दर्शनमे मुक्ति कहा गया है। परन्तु मुक्ति या मोक्षको कल्पना भारतीय दर्शन और ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके विविध साधन-मार्गोमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे की गयी है। सबसे सीधी और सरल कल्पना चार्वाक दर्शन की है, जिसमें अन्य दर्शन-सिद्धान्तोंके समान आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको भी मुक्ति माना गया है, परन्तु इस शरीरको ही दुःखका कारण मानने हुए 'मरणमेवापदर्गः' मरणको ही अपवर्ग (मोक्ष) कहा गया है, क्योंकि शरीरसे भिन्न और कोई सत्ता नहीं है, शरीरके नाश होते ही सब दुःख दूर हो जाने है। जैन दर्शनमे कर्मके आत्यन्तिक क्षयको ही मोक्ष कहते है। मोक्ष प्राप्त कर लेनेपर जीव अनन्त शान, अनन्त वीर्थ, अनन्त श्रद्धा और अनन्त शान्ति-अनन्त-चतुष्टय-की सद्यः उपलब्धि करके अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूपमे आ जाता है। मोक्ष या कैवल्यकी प्राप्ति पृथ्वीपर सदारीर जीवित रहनेकी अवस्थामे भी हो सकती है, अर्थात् जैन-दर्शन जीवनमुक्तिमें विश्वास करता है। स्वयं भगवान् बुद्धने केवल आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिको 'निर्वाण' (मोक्ष) कहा है और इसे उन्होंने दुःख-निरोधके

नामसे अपने चार आर्य-सत्योमें सम्मिलित किया है। आर्य-अष्टांगिक मार्गके आचरणसे प्रज्ञाके होते ही सचः निर्गणकी प्राप्ति होती है। शील,-गृहस्थोके लिए पंचशील तथा भिक्षुओंके लिए दशशील-समाधि और प्रज्ञा निर्वाण-प्राप्तिके लिए आवश्यक है। प्रज्ञाके अनुष्ठानसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, मनोमय शरीरका निर्वाण हो जाता है तथा दिव्य श्रोत्र, दिव्य चक्ष, पूर्वजन्म-स्मरण, परचित्त-ज्ञान तथा ऋद्धियोकी उपलब्धि हो जाती है। फलस्वरूप दःखके विनाशका अनुभव हो जाता है और वित्त अज्ञानमे पड़ने तथा जन्म लेने और भोग करनेकी इच्छासे सदाके लिए मक्त हो जाना है। यही बौद्ध निर्वाणका रूप है। वुद्ध भगवानुके बाद बौद्ध धर्ममे अनेक दार्शनिक वाद पैदा हो गये और उनमें निर्वाणकी भी भिन्न-भिन्न कल्पन। एँ की गयी । वैभाषिक मतमे जिसका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय-से है, निर्वाण दो प्रकारका होता है-सोपाधि-शेष तथा निरुपाधि-रोष। मोपाधि-रोष जीवनमुक्तिकी अवस्था है और निरुपाधि-शेष विदेह मुक्तिकी। यही मत प्राचीन मत है। महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति-प्रधान और भक्तिवाद-को माननेवाला सम्प्रदाय है। अपने विकास-क्रममे महा-यानकी परिणति क्रम शः मन्त्रयान, वज्रयान और सहज-यानमे होती गयी और इन सबमें निर्दाण-सुखकी अत्यन्त आकर्षक और मनोरंजक कल्पनाएँ की गयी।

वैदिक षडदर्शनोमे न्याय, 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः', दुःखसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहता है । गृहोत जन्म-का नाश तथा भविष्य जनमकी अनुत्पत्ति ही 'अत्यन्त' विमोक्ष या मुक्ति है। मुक्त होकर आत्मा अपने नौ विशेष गुणों-वृद्धि, सुख, दःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कारसे छटकारा पा जाती है। नैयायिकोके मतसे मुक्त आत्मामे सुखका भी अभाव होता है। सुखका रागसे अनिवार्य सम्बन्ध है और राग बन्धनका कारण है। अतः मोक्ष-दशामे सुखकी विद्यमानता नहीं मानी जा सकती। निःश्रेयस् या मुक्ति दो प्रकार की होती है-अपर और पर । आत्मतत्त्वकी प्रत्यक्ष अनुभृति होनेपर अपर निःश्रेयस या जीवन्मक्तिकी प्राप्ति होती है, परन्त प्रारब्ध कर्म तब भी नष्ट नहीं होते। इनके क्षीण हो जानेपर ही पर-निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है। वैशेषिक दर्शनमे भी न्यायकी भाँति दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति तथा आत्माके विशेष गुणोके उच्छेदको ही मुक्ति माना है, यद्यपि आनन्द या सुखके अभावकी बात उस तरह उन्होने नही उठायी है।

सांख्यके अनुसार दुःख प्रकृतिजन्य है। पुरुष स्वभावतः मुक्त और निःसंग है। परन्तु अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ उसका संयोग होता है और उसमे दुःखका प्रतिविम्व पडता है, जिससे वह संसार या दुःखभोगको प्राप्त होता है। 'द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः' (सां० स्०, ३:६५)के अनुसार प्रकृतिसे वियुक्त होकर पुरुषका एकाकी हो जाना ही कैंवल्य या मोक्ष है। वस्तुतः बन्धन और मुक्ति, दोनों प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष इनसे परे हैं। उसके मोक्षका तात्पर्य है उसके प्रतिविम्ब-रूप मिथ्या दुःखका नाश, जो विवेक द्वारा यह जान लेनेसे सिद्ध होता है कि मैं अमरणशाल, अपरिवर्तनशील, नित्य और सन्य

हूं। सांख्यके अनुसार मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीव-नमुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवनमुक्तिनी अवस्थामें परुष, प्रकृतिकी निवृत्ति हो जानेपर भी ठीक उस प्रकार प्रारब्ध कमी संलग्न रहता है, जैसे क्रम्हारका चाक बर्नन बनाकर उनार लेनेके बाद भी कुछ देरतक घूमना रहता है। परन्तु तीन तापोंका नितान्त विन'श शरीरके नाश होनेपर विदेहमक्तिमें ही सम्भव है। स़ख और दःख सापेक्षिक शब्द है, अतः मुक्तिमें दुःखकी तरह सुखका भी अभाव मानना पडेगा। इस सम्बन्धमे सांख्यका मन न्यायके अनुरूप है। योगदर्शन भी सांख्यकी तरह मोक्षको कैवल्य नामसे अभिहित करता है। कैवल्यका अर्थ है केवल या एकाकी स्थिति। यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके स्थानपर बुद्धिसे पुरुषके सम्बन्ध-विच्छेदकी अपेक्षा बतायी गयी है। ऐसा होनेपर ही पुरुष चित् रूपमे प्रतिष्ठित होता है और कैवल्य की प्राप्ति करता है। पुरुषार्थ-शून्य होनेसे उसके गुणोंका अपने कारणमें लय हो जाता है। जब त्रिगुणका नादा हो जाता है तब योगी अतिक्रान्त मानवीय दशाको, अर्थात चिन्तनयोग्य पदार्थीकी सीमाको पार करके परम पदकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

मीमांसकोंने मोक्षके विषयमे अधिक स्क्ष्मतासे विचार किया है, अतः उनमे परस्पर मतभेद पाया जाता है। इस विपयमे तो एकमत है कि ह्य जगत्के साथ आत्माके सम्बन्धका विनाश ही मोक्ष है (प्रपंच-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः—शा० दी०)। जीव संसारका भोग करनेवाले शरीर, भोगके साधन इन्द्रिय और भोगके विषय पदार्थ—इस त्रिविध वन्धनमे वॅथा रहता है। इस वन्धनके 'आत्यन्तिक विनाश'का ही नाम मोक्ष है। मुक्तावस्थामें आनन्दकी अनुभृति होती है या नहीं, इस सम्बन्धमे दो मत है। एक मतके अनुसार मुक्तावस्थामे आत्माके शुद्ध स्वरूपके उदय होनेपर नित्य सुखकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है, यद्यपि वाह्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न रहनेते बाह्य सुखकी अनुभृति नहीं रहती। दूसरे मतके अनुमार मुक्तात्मामें सुखका भी आत्यन्तिक विलय हो जाता है। आत्माको प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोकका न्पर्श नहीं होता।

अहैत बेदान्त-दर्शन आत्मा तथा ब्रह्मकी एकता मानता है। अतः आत्मेक्य-ज्ञान उत्पन्न होते ही सद्यः आनन्दका उदय हो जाता है और 'प्रपंच-विलय' हो जाता है। प्रपंच-विलय ही वेदान्तकी मुक्तावस्था है। संसारका यह प्रपंच स्वप्नकी मॉति अविद्या-निर्मित और मिथ्या है। ब्रह्म-ज्ञान होनेसे अविद्याका विनाज्ञ हो जाता है और जगत्की सत्ता नहीं रहती। तभी अदैतकी अनुभूतिमें मोहकी आनन्दानुभूति होती है। वेदान्तकी इस सम्बन्धमें मीमांसासे मिन्नता है। मीमांसाके अनुसार तो केवल प्रपंचको सम्बन्धका विलय होता है, परन्तु वेदान्त स्वयं प्रपंचको विलय मानता है, क्योंकि उसके अनुसार प्रपंचकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

उपर्युक्त दार्शनिक मत-वादोंके अतिरिक्त साधना-मागौंमें भी मोक्षके सम्बन्धमे विविध धारणाउँ हैं। वैष्णव मक्ति-धर्म-पांचरात्रके अनुसार 'ब्रह्मभावापित' ही मोक्ष है, अर्थात् जीव ब्रह्मके साथ एकाकार होकर निःशेष आनन्दका उप- भोग करता है और कभी संसारमे लौटकर नही आता। एक्त दशामें जीव भगवान्के पर-रूपके साथ परम ब्योम वैकुण्ठमे आनन्द-क्रीडा करना है। वैकुण्ठमे अनन्त, गरुड, विष्वक्मेन आदि नित्य जीव निवास करते है। मुक्त जीव बहीपर त्रिकालाबाधित रूपसे भगवान्के सेवा-भजनमे लीन रहता है।

भागवत धर्ममें भगवान्की भक्तिको परिपूर्ण माना गया है। श्रीसद्भागवतमें वर्णित साधनरूपा सक्तिमे सिन्त माध्यरूपा भक्ति, जो रागानुगा होती है, स्वतः कमनीय है, साधकको उसके अतिरिक्त विसी बातको, लौकिक-अलौकिक मिडियों या मोधकी कामना नहीं रहती। भगवानके साथ नित्य वृन्दावनमे विहारकी कामना इतनी मनोहर है कि उसके आगे मुक्ति नीरस और शुष्क है, परन्त इम सामान्य धारणाको स्वीकार करते हुए वैष्णव-दर्शनमें मुक्तिके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ अवस्य कहा गया है। विशिष्ट दैत मनमे जीव और ब्रह्मकी उस प्रकारकी अभिन्नता नहीं मानी गयी है, जैमी शांकर अद्वेतवादमे, अतः विशिष्टाद्वैतवादी मुक्त जीवको ब्रह्मने अभिन्न नही, उसके समान हुआ मानते है। उसे ब्रह्मके स्वरूप और गुणकी प्राप्ति हो जाती है, ब्रह्मके साथ मिलकर वह एका-कार नहीं होता। वह सर्वत्र और सत्य-संकल्प तो हो जाता है, परन्तु उसमे सर्वकर्तृत्व नहीं आता । रामानुजके मनमं जीवन्मुक्ति मान्य नहीं है। वे केवल विदेहमुक्ति ही मानते हैं। वैकुण्ठमें भगवानुका दामत्व ही परम मुक्ति है।

कुष्म-भक्ति-सम्प्रदायोमें द्वैतवादी माध्व मत भगवान्त्री कृपा और उनसे प्रेम करनेके फलस्वरूप प्रकृति या अविद्या-के बन्धनसे छटनेको ही मुक्ति मानता है। उसके अनुसार मुक्ति चार प्रकार की होती है—(१) कर्मक्षय, अर्थात संचित पाप-पुण्यका विनाश, परन्तु इस अवस्थामे प्रारब्ध कर्मीका नाश नहीं होता: (२) उत्क्रमण-लय, जिसमें प्रारब्ध कर्मके क्षयके बाद जीव ब्रह्मनालका उल्क्रमण करता हुआ सुष्मना-पदको पार कर लेता है और उसे जीवत्वका बोध नहीं होता, विष्णुतेजसे जीवके हृदयका द्वार (बहादार) खुल जाता है और हृदयस्थ भगवान् जीवको वैकुण्ठलीकमें ले जाकर अपने तुर्य रूपका साक्षात्कार कराते है; (३) अचिरादिमार्ग, जिसमें जीव देहादि प्रतीक्के आश्रयसे ज्ञानलाम करता है और सुपुम्नाकी पार्श्वतीं नाडीसे ऊर्ध्वगमन करते हुए अचिर दि लोक और फिर वायुलोक होते हुए ब्रह्माके लोकमे जाता है। वहाँ वह ब्रह्माके भोग वसानके बाद परम पद लाभ करता है और (४) भोग, जिसमें प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेपर एक गुफोपासक ज्ञानी देह त्यागकर पृथ्वी अ दिपर परमानन्दका भोग करता है, उसे स्वेतद्वीपवासी नारायणका दर्शन मिलता है और वह नारायणकी आज्ञासे पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। मुक्तिकी इन चार अवस्थाओं के अतिरिक्त माध्व मतमें मुक्ति-भोग भी चार प्रकारका माना गया है—सालोक्य, सायुज्य, समीप्य और सारूप्य। सालोक्य मुक्ति-भोगमें जीव भगवान्के लोकमें पहुँचकर वहाँ इच्छानुकृल भोग करता हुआ निवास करता है। सामीप्यमे भगवान्के समीप रहकर वह आनन्द-लाभ करता है। सारू प्यमे भगवानुके समान रूप और गुण प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करता है। सायुज्य मुक्तिका भोग भगवान्में प्रविष्ट होकर भगवदेह द्वारा प्राप्त होता है परन्तु यह मुक्ति-भोग केवल देवगण ही पाते है। प्रलय-कालकी अवस्थामे अवश्य लक्ष्मीको छोड़कर सभीको भगवदेहमे प्रविष्ट होना पडता है। अन्य कालोंमे जीवको पहले तीन मुक्ति-भोग ही प्राप्त होते है, जिनमे खियोंके साथ जल्नेलि, प्रासादोंमें आनन्द-क्रीडा, यज्ञादि अनुष्ठान, भगवान्के गुण-कीर्नन तथा उनके सभीप रहकर नृत्य आदिकी कल्पना की गयी है। जीवको परमानन्दको प्राप्ति सारूप्य अवस्थामें नही होती, वह केवल शुद्ध मत्त्वमय लीला-शरीरसे क्रीडाका आनन्द ही भोग सकता है।

द्वैताद्वेतवादी निम्बार्का चार्यके मतमे मुक्ति दो प्रकारकी कही गयी है- ऋममुक्ति तथा सद्योमुक्ति । निष्काम-कर्म-युक्त विधि-निषेधका पालन करते हुए जीवको अर्चन-वन्दन आदिके द्वारा स्वर्गादि लोककी प्राप्ति होती है, फिर वह सत्यलोकमें जाता है और जब प्रलयाबस्था आती है तब बह ब्रह्ममे सायुज्य-लाभ करता है। यही क्रममुक्ति है। श्रवणादि भक्तिके आचरण द्वारा जिन जीवोंका संसारका वन्धन ट्रट जाता है और भगवत्कृपा-की प्राति हो जाती है, उन्हें संघोम किका लाभ होता है। वे हरिपद या कृष्मलोकमे पहुँच जाते है। यही मुक्ति निम्बार्क-के सनकादि-सम्प्रदायमे अभीष्ट बतायी गयी है। परब्रह्म श्रीकृष्णके दो स्वरूप है—एक ऐश्वर्यप्रधान और दूसरा आनन्दप्रधान । सकाम भक्तिले हरि-पदकी प्राप्ति होनेपर भगवानुके ऐश्वर्यादिजनक आनन्दकी प्राप्ति होती है तथा निष्काम सेवा और प्रेममयी भक्तिके फलस्वरूप भगवान्के सभीप रहकर उनकी सेवा करनेका आनन्द मिलता है। भगवान्के सामीप्यमे मुक्त जीवोको उन्हींके समान गुण प्राप्त हो जाते है और उन्हें नित्यसिद्ध देह मिल जाती है। यह देह निर्विकार और भगवत्सवा-धोग्य होती है। निम्बार्क-सम्प्रदायी मुक्तिके ही समान बहुभान्वार्यके शुद्धा-द्वैतकी मुक्तिका विचार है। उन्होने भी क्रममुक्ति और सद्यो-मुक्तिका इसी प्रकार भेद बताया है। उनके अनुसार भी मर्यादामार्गका अनुयायी शानके द्वारा अक्षर-सायुज्य मुक्ति-को प्राप्त करता है। यही क्रममुक्ति है। परब्रह्म परमानन्द-की प्राप्ति तो भगवान्के अनुग्रह (पुष्टि)प्राप्त भक्तोको ही हो सकती है। तभी उनमे तिरोहित आनन्द-अंश पुनः प्रादर्भत हो जाता है और जीव भगवान्मे अभेद प्राप्त कर स्वयं सिचदानन्द बन जाता है, अर्थात् उसकी देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणमे भगवदानन्दकी स्थापना हो जाती है। अतः वहुभ-सम्प्रदायी सद्योमुक्ति स्वरूपापत्तिरूपी है।

चैतन्यके गौडीय वैष्णव सम्प्रदायमे भी जड़ मायासे मुक्त होकर ब्रह्म-मायुज्य-केवल्य-मुक्तिकी कल्पना की गयी है और भक्तिके द्वारा स्वरूपानुभवसे वैकुण्ठ और भगवान्के गोलोककी प्राप्ति बतायी गयी है। वैधी भक्तिसे, जो कि भगवान्का ऐश्वर्यमार्ग है, भगवान्का मशुरा-द्वारका धाम मिलता है और रागानुगा भक्तिके माधुर्यमार्गके अनुगामी भगवान्के माधुर्य हपके समीप गोलोकमे जाते है। इसका क्रम इस प्रकार है कि मृत्युके बाद स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीरसे भक्त सूर्य-मण्डलमे जाता है। फिर वह

विरजा नदीम निमग्न होकर अपना कारण-शरीर छोड़ देता है। अन्तमे वह दिव्य स्वरूप धारण कर वेजुण्ठमे पहुँचता है, जहाँ भगवान् उसे स्वयं निज धाममे छे छेते है।

कृष्ण-भक्ति हरिवंशी (राधावछमी) और हरिदासी (सखी) सम्प्रदायोंमे सिद्धान्त-निरूपण बहुत कम हुआ है। फिर भी हितहरिवंशका मुक्तिके सम्बन्धमे यह विचार जान पडता है कि जब जीवनकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो जाती है और वह हिन(प्रेम)रूपसे अद्वयका भाव प्राप्त कर लेता है, तव वह नित्य वृन्दावन-विहारका आनन्द-लाम करता है, जहाँ वृन्दावन, राधा, श्रीकृष्ण और सिद्ध्याँ—ये चार उपकरण एक तत्त्वके रूप है। ये सब उपकरण प्रेमरूप है, जीव भी प्रेमरूप हो जाता है। सखी-सम्प्रदायमे सिद्धान्त-पक्षका नितान्त अभाव होनेसे, हम उसमे स्वीकृत मुक्तिका विचार निम्वार्क-सम्प्रदायके ही समान मान सकते है, क्योंकि यह सम्प्रदाय उसीकी एक शाखा कहा जा सकता है।

मुक्ति, कैवल्य, मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस् सम्बन्धी उपर्युक्त विचारोंका विवेचन हिन्दी साहित्यके भक्ति-काव्यके अध्ययनके लिए उपयोगी हो सकता है, क्योंकि भक्त किवयोंने काव्यकी रचना पुरवार्थ-चतुष्टयके अन्तिम सोपान—मोक्षके लक्ष्यमे ही की है। परन्तु यह ध्यानमे रखनेकी आवश्यकता है कि इन भक्तोंने भक्तिको ही साधन और साध्य, दोनो माना है और प्रायः इस सम्बन्धमे उदासीनता दिखायी है कि भक्तिका फल क्या होता है। दुःखकी निवृत्ति, संसारके बन्धनका नाश, उद्धार आदिकी कामना उन्होंने अवश्य की, परन्तु साधन और कर्तव्यपर ही उनका ध्यान विशेष रूपसे रहा है, सिद्धिकी उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की।

मुखसंधि - रूपककी पंच-सन्धियों (दे॰ 'संधि')मे पहली सन्धि ('मुखं बीजसमुत्पत्तिनीनार्थरससम्भवा'-द० रू०, १: २४) । मुखसन्धिमे अनेक तरहके रसोंको उत्पन्न करनेवाली बीजोत्पत्ति पायी जाती है। यह बीज अर्थ-प्रकृति और आरम्भ कार्यावस्थाको जोडता है। उदाहरणार्थ, 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें मुखसन्धि वहाँपर होती है, जहाँ "बीज अर्थ-प्रकृति-की उत्पत्तिके साथ ही स्कन्दगुप्त मालव दूतको आश्वासन देता है, 'दूत! केवल सन्धिनियमसे ही हम बाधित नहीं है, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रियका धर्म है। तुम विश्राम करो । सेनापति पर्णदत्त पुष्यमित्रोकी गति, समस्त सेना लेकर रोकेंगे। अकेले स्कन्दगुप्त मालवकी रक्षा करनेके लिए सन्नद है। जाओ, निर्भय निद्राका सुख हो। स्कन्दगुप्तके जीते, मालवका कुछ न बिगड सकेगा।" इसपर पर्णदत्त कहता है, 'युवराज ! आज यह वृद्ध हृदयसे प्रसन्न हुआ। कोई चिन्ता नहीं, गुप्त साम्राज्यकी लक्ष्मी प्रसन्न होगी। यहीसे मुख्सन्धिका आरम्भ मानना चाहिये। प्रारम्भ नामक अवस्थाके साथ बीज अर्थ-प्रकृतिकी उप्पत्ति इसी स्थल-से दिग्वाई पडती है। "इसका विस्तार प्रथम अंकके समाप्ति-स्थलतक चलता है" (जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसादके नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन) ।

मुखसन्धिके कुल १२ सन्ध्यंग हैं — उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्गेद, भेद तथा करण। —ब० सि०

मुख्य कथावस्तु-दे० 'आधिकारिक वस्तु'। मग्धा (नायिका) -अधिकांश आचार्यांके अनुसार स्वकीया नायिकाका एक भेद । इसके विषयमे विस्तारके लिए दे०-'नायिका-भेद'। एक सीमातक यह भेद परकीयाका भी माना जा सकता है, विशेषकर अनुदाका। यह भेद वय:-क्रमपर आधारित माना जाता है, पर यह नायिकाकी लजाशीलताके अनुपातसे किया गया भी कहा जा सकता है। यह सर्वप्रथम रुद्रट द्वारा दिया गया है। 'मुग्ध' शब्द-के अर्थ है--स्तब्ध, विमृद, अमित, विम्रान्त तथा सुन्दर और इस नायिकामे इन समस्त गुणोको माना गया है। ऐसी नायिका, जिसके शरीरमे यौवनका नवसंचार हुआ हो, जो लज्जाशीला अपनी रतिभावनासे परिचित हो रही हो-'तत्राकुरितयौवना मुग्धा' (भानुदत्तः र० म०, पृ० ७) अथवा- 'नववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि' (शिंग-भूपाल: रसार्णव, पृ० ९६)। कि.शोरावस्थामे तारुण्यके प्रकट होनेकी बात इस नायिकाके सम्बन्धमें अधिक कही गयी है—"अभिनव यौवन आगमन जाके तनमै होय" (मितराम: रसराज, १४) तथा-- "झलकत आवै तरुनई नथी आसु अँग अंग" (पद्माक्र : जगद्वि०, भा० १: २१)।

प्रस्तुत नायिकाके वर्णनमें कवियोंने इसी भावको प्रधा-नता दी है और नायिकाकी यह अवस्था रीतिकालीन कवियों-के लिए विशेष आकर्षणका विषय रही है। अवस्था-विशेषमें नारीमे आकस्मिक परिवर्तन परिलक्षित होने लगते है, उनका सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इन कवियोंने किया है-"नैक मन्द मधुर कपोल मुसक्यान लागे, नैक मन्द गमन गयन्दनकी चाल भौ" (मतिराम: रसराज, १५)। पद्माकरने भी इसी चढती हुई मधुराईका चित्रण किया है-"ये अलि या बलि-के अधरानमें आनि चढी कछ माधुरई सी" (जगद्वि०, भा० १)। विद्यापित और सूरने राधाका मुग्धारूपमें वर्णन बहुत भावपूर्ण किया है। राधा कृष्णके प्रति प्रारम्भमे इसी भावसे आक्षित होती है। इस भावस्थितिके चित्रणमे विद्यापितने यौवनके म्फुरणका और सूरने भावोंके स्पन्दनका अंकन किया है। आधुनिक छायावादी कवियोमे प्रकृतिपर मुग्धा नायिकाका भावारीप बहुत सुन्दर बन पडा है। इसका सामान्य विभाजन इस प्रकार है-१. अज्ञातयौवना, २. ज्ञातयौवना और पुनः १. नवोढ़ा, २. विश्रन्थ नवोढा (विशेष इन्हीं शब्दोके अन्तर्गत देखें। अन्य प्रकारके विभाजन-विस्तारके लिए दे० 'नायिका भेद')।

मुदिता (नायिका) - परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेद । विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भानु-दत्त द्वारा उद्घिखित । परपुरुष-सम्बन्धी प्रेमकी अभिलाषा-पृति होते देखकर मृदित होनेवाली नायिका । मतिरामने 'चित चाही सुन बाते लिख' मुदित होना कहा है और पद्माकर बातके साथ 'घात' भी जोडते है । वस्तुतः परकीया नायिकाके सन्दर्भमे मनचाही स्थिति एक घातके रूपमें उसे प्राप्त हो सकती है—"बिद्धरत रोवत दुहुन-कौ सिख यह रूप लखे न । दुख असुआँ पिय नैन है सुख असुआ तिय नैन" (मितराम: रसराज, ८४), अथवा रहीमने नायिका-

बौद्धतन्त्र-प्रन्थोंमें स्पष्टतः मुद्राओंकी आयु, जाति,

का उल्लास अंकित किया है—"जस मदमातल हथिया हुमकत जाति। चितवत जाति तरुनियाँ मन मुसुकाति" (वरवै०, २६)। स्थितिका वर्णन एकाकर इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं—"तव लगि झुकि आयी घटा अधिक अधिरी रैन" (जगद्वि०, १: ११२)।

सदा १-एक गौण अर्थालंकार । 'कुवलयानन्द'में अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका सम्भवतः प्रथम बार उहेख किया है। इस अलंकारकी चर्चा इस तथ्यका प्रतीक है कि प्रायः माहित्य-शास्त्रके सिद्धान्त प्रत्यक्ष उदाहरणोपर आश्रित होते हैं। भासकृत 'प्रतिमा' नाटकमें इसका अति प्राचीन उदाहरण मिलता है। अप्पय दीक्षितने इसकी परिभाषा की है कि "मुख्यार्थसमन्वित शब्दोंके द्वारा जब सूच्य कथा-वस्तुकी स्चना हो तो मुद्रा अलंकार होता है" (७३), जैसे 'प्रतिमा' नाटकमें 'राम सबकी रक्षा करें', इस प्रकारके मंगलवाक्यमे न केवल रामके विशेषणोंका उल्लेख है, अपितु 'प्रतिमा' नाटककी कथाकी सूचना भी मिलती हैं। हिन्दीमें अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण करनेवाले आचार्योंने इसका विवेचन किया है-"प्रकृत अर्थ पर पदनिसौ सुद्ध प्रकासत अर्थ"। भूषण तथा दास आदिने इसे स्वीकार नहीं किया है। उटा०—"करुणे क्यों रोती है ? उत्तरमे और अधिक तू रोई। मेरी विभृति है जो, उसको भवभूति क्यों कहै कोई" (साकेत, अ० मं० से)। मुद्रा लक्ष्य-निर्देशका वाची है, अतः इस अलंकारका यह नाम पडा; जैसे नक्षत्रमाळामें अग्नि एवं अन्य देवताओंके नामसे ---ज० कि० ब० नक्षत्रोंकी सूचना होती है। मदा २- मुद्राके कई अर्थ साधना-पद्धतियोंमें लिये गये है-(क) शारीरिक अंगों, उँगलियो आदिकी अनेकविध स्थितियाँ, जैमे, भूरपर् मुद्रा, अभय मुद्रा आदि; (ख) विष्णुके आयुधीं-के जो चिह्न भक्तगण अपने शरीरपर धारण करते है, तिलक आदिके रूपमे; (ग) गोरखपन्थी साधुओंके पहनने-का एक कर्णाभूषण, जो प्रायः काँच या स्फटिकका होता है। यह कानके बीचमे एक छेद करके पहना जाता है, जिसके कारण इन्हे कनफटेकी संज्ञा दी गयी है; (घ) हठ-योगमें विशेष अंगविन्यास, जैसे खेचरी मुद्रा आदि; (ङ) तान्त्रिक गुह्य साधनाओं में वह रमणी, जो तान्त्रिक अनु-ष्ठानोंमें सह-साधिका रहती है।

तान्त्रिक मुद्राका अर्थ मोद देनेवाली (मुद्+रा) करते हैं। नाथोंके कुछ पदोंमे ऐसा संकेत मिलता है कि सम्भवतः वज्रयानी साधनाओंके प्रभावसे कुछ अन्तर्भुक्त शाखाओंमे तान्त्रिक अर्थमें मुद्रा-साधना दिद्यमान थी, पर अधिकतर नाध-साधक केवल हठयोगके अर्थमे मुद्रा-साधना करते थे। वज्रयानी साधनामे गृझ-साधनापरक अर्थ प्रचलित था। 'श्रीसम्पुट'मे भगवान् वृद्धको चार चक्रोंमे अपनी चार कायाओंसे क्रमशः लोचना, मामकी, पाण्डरा और नारासे सम्मोग करते हुए बताया गया है। (दे० 'महामुद्रा')।

कुण्डलोंका उन्लेख भी सिद्धोंने किया है। चर्थापदमें काण्हपाने कापालिक-वेश धारण करते समय सूर्थ-चन्द्ररूपी कुण्डल धारण किये हैं। नाथ-सम्प्रदायमें भी ये कुण्डल सूर्य-चन्द्रके प्रतीक माने जाते हैं और साधनाकी एक स्थिति पार करनेके उपरान्त ही साधक इन्हें पहन पाता है।

रूप आदिका सांगोपांग विवेचन मिलता है। उनकी मण्डलचक्र-साधनाओंमें यह गुरुका दायित्व था कि वह उपयुक्त मुद्राओंका चुनाव करे। 'सैकोदेश टीका'में दीक्षित करते समय मुद्राकी आयु वीस वर्षतक्की बतायी गयी है। 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि'में कहा गया है कि मदाके आलिंगमसे साधकमे वजावेश जागता है, किन्तु ये चुम्बन, आलिंगन, समागमादि धुन्ध, आसक्त और विषयी मनसे नहीं करने चाहिये, अन्यथा ये बन्धनके कारण बन जाते हैं। -ध० वी० भा० मुरली - हरिवंश-वर्णित ह्हीस-नृत्य तथा विष्णु, भागवत आदि पुराणोंके रास-नृत्यके वर्णनमें उल्लेख है कि कृष्णने शरद पूर्णिमाकी प्रफुछ रजनीमे यमुनाके पुष्पसुवासित पुलिनपर रास-नृत्य करनेके लिए पहले मधुर वंशी-वादन करके ब्रज-गोपिकाओंका आह्वान किया था। कृष्णका वंशी-नाद सुनकर गोपियाँ अपना गृहकार्य, अपने पति, दूध पीते शिश्-अपने समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्व छोड़कर, कुल-मर्यादा और लोक-लज्जाको जिलांजलि देकर कृष्णके निकट खिची चली आयी थी। इस सन्दर्भके आधारपर मध्ययुगके कृष्ण-भक्त-कवियोंने विशेष रूपमे कृष्णको मुरलीका इस प्रकार वर्णन किया है कि वह कृष्णकी योगमाया-शक्ति या नाद-ब्रह्मकी प्रतीक बन गयी है। कृष्णकी यह शक्ति उनके पूर्ण पुरुषोत्तम परमानन्द परब्रह्म रूपमे ही प्रकट होती है। रासके प्रसंगमें सुरदास कहते है—''मुरलीकी धुनि वैकुण्ठमें पहॅंनी, जिसे सुनकर नारायण और कमलाके हृदयमे बड़ी रुचि पैदा हुई। (नारायणने कहा) 'प्रिये यह अद्भुत वाणी सुनो "नन्द-नन्दन जो रास्दिलास करते है, वह हमने बहुत दूर हैं ... (सू० सा०: ना० प्र० स०, पद .१६८२) । कृष्णकी मुरलोरूपी योगमाया ही रासके अस्त रसकी कुंजी है। सुरदास कहते है-"रास रस मुरलीसे ही जाना है। इयामके अधरपर बैठकर मुरलीने जो नाद किया। उससे चन्द्रमा अपना मार्ग भूल गया, पृथ्वीपर जल-थलके जीव मोहित हो गये, नभ-मण्डलमे देवता थक गये, नृण, द्रम, सिळल और पवनके भी श्रवणमें शब्द पड़ा, वे भी अपनी गति भूल गये, पाताल और रमातल भी नहीं बचे "। यह ऐसा अपार राश्च-रस उत्पन्न किया, जो कभी न देखा था और न सना था। नारायण इस धनिको सुनकर ललचाने लगे..."(वही, पद १६८७) । मुरली-नाद सुनकर अचर चलने लगते हैं और चर स्थगित हो जाते हैं, पत्थरोंने जल झरने लगता है, दिफल वृक्ष फल जाते है। इस प्रकार सबकी गति विपरीत हो जाती है, तभी तो गोपियाँ लोक-विरुद्ध आचरण करने लगती है। कृष्णकी इस मोइक योगमायाका प्रभाव गोपियोको सहज ही संसार-से विमुख करके कृष्णोनमुख कर देता है। कृष्णकी यह मोहिनी शक्ति उनसे अभिन्न है, वे उसे कभी अलग नहीं करते। इसीलिए गोपियाँ ही नहीं, स्वयं राधा भी उससे ईर्ध्या बरती हैं और कृष्णका वैसा ही सामीप्य प्राप्त करनेके लिए लालायित रहती है। कृष्ण अपने इस मधुर नादसे, जो नित्य और अनाहत है, सम्पूर्ण वजको—वहाँके आवाल-बृद्ध-नरनारी, तृण-वीरुध, द्रम-लता, नदी-निर्झर, वन पर्वत-

आ० रा० ज्ञा०

सभी चराचर पदार्थोंको आष्ठावित कर देते है। रस-रूप नाद-ब्रह्म ही मानो स्वतः अणुको आनन्दसे परिपूर्ण कर देता है। इसीलिए ब्रज्ञकी आनन्दकी डाओकी परिसमाप्तिपर कृष्णके मथुरागमनके पूर्व उनके सखा कहते है, "छवीले मुरली नैकु बजाउ। बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर-सुधा रस प्याउ। दुर्लभ जनम ल्ह्ब बुन्दाबन, दुल्भ प्रेमतरग। ना जानिबे, बहुरि कब हुहै, स्याम तिहारो संग्'' (वही, पद १८३४)। परब्रह्म श्रीकृष्णके परमा-नन्दरूपकी यह लीला ब्रज-वृन्दाबनमे ही सीमित है।

मुसम्मत - उर्द् में किसी नामांकित विषयपर लिखी गयी किता (नज्म)को कभी-कभी एक तरहके कई दुकड़ोमे बॉट दिया जाता है। जब किसी नज्मके हर बंद (दे०)मे तीन-तीन मिसरे हों तो उसे मुसछस कहते है, चार-चार मिसरे हो तो मुखम्मस और छः छः मिसरे हो तो मुखम्मस और छः छः मिसरे हो तो मुखम्मस

मुसम्मत् के जपर लिखे पहले तीन रूपोमे हर बन्दक। आखिरी मिसर। एक ही रदीफ और काफिये (तुकान्त)मे होना चाहिये। केवल मुसहसमे पहले चार मिसरे एक ही रदीफ और काफियेमे और आखिरके दो मिसरे दूसरे रदीफ और काफियेमे होते है।

— म॰

सुहाबरा-दोष -दे॰ 'इ.ब्द-दोष', इक्कीसवॉ 'वाक्यदोष'। सृतिविधान-दे॰ 'चित्रात्मकता'।

मूल कथावस्तु-दे० 'आधिकारिक वस्तु'।

मूल प्रवृत्तियाँ (instincts) — मूल प्रवृत्तियाँ अथवा आदिम वृत्ति शब्दका प्रयोग साहित्य और सामान्य भाषामे बड़े ही विरल और अनिश्चित अर्थमें किया जाता है। स्वयं मनोवैद्यानिकों में भूल प्रवृत्तियों की परिभाषा, संख्या और सक्ष्यके विषयमे वड़ा मतभेद है। विन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं है कि कतिपय मौलिक संवेगों को अनुभव करने तथा कतिपय लक्ष्योको प्राप्त करनेकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ मनुष्य-मात्रमे परिन्याप्त है। बुद्धि, शिक्षा और संस्कृतिके समाधानके फलस्वरूप लक्ष्यो तथा उनके प्राप्ति-साधनोंके मौलिक आदिम रूपोंका उदात्तीकरण और प्रस्फुटन हो सकता है, किन्तु मूल प्रवृत्ति परिष्कृत और संस्कृत कितनी ही क्यों न हो जाय, उसका नाश कभी नहीं होता। मानवीय चरित्र, साहित्य, कला, धर्म आदिकी नींवकी ईटें मूल प्रवृत्तियाँ है।

लायड मार्गनके अनुसार मूल प्रवृत्ति सम्पूर्ण प्राणी द्वारा सम्पादित ऐसी क्रियाओंकी जिटल श्वस्तला है, जो समस्त, जातिके लिए हितावह होती है और जिसे उस जातिके समस्त प्राणी एक ही उगसे, बिना सीखे हुए करते हैं। यह परिभाषा कीट, पतग, पशु-पिक्षयोंके व्यवहारपर आधारित है और मानवीय स्तरपर मूल प्रवृत्तिकी परिभाषा इस प्रकारकी है—"मूल प्रवृत्ति की परिभाषा इस प्रकारकी है—"मूल प्रवृत्ति वह नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर प्राणी किसी पदार्थ अथवा स्थितिकी ओर आकृष्ट होता है, उसकी उपस्थितिमे एक विशिष्ट संवेगका अनुभव करता है और उनके प्रति एक विशिष्ट प्रकारका आचरण करता है"। मैक्डूगलकी परिभाषा लायड मार्गनके मत्ती पूरक है और यद्यपि वह सर्वमान्य नहीं है, वह मूल प्रवृत्तिके

स्वरूपपर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

ग्रल एवन्ति

आहार, निद्रा, भय आदि तथा दारैपणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा आदिके रूपमे भारतीय साहित्यमें भी मूल प्रवृतियां स्कीकार की गयी है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंमें मूल प्रवृत्तियोकी संख्या जेम्सने २२, थार्नडाइकने ४०से १००तक, ड्रेवरने २ (ब्रुभुक्षात्मक और प्रतिक्रियावादी) और फायडने केवल १ (यौन प्रवृत्ति तथा आगे चलकर आत्म-संरक्षण और मृत्युकी मूल प्रवृत्ति) स्कीकार वी है। विलियम मैकहूगल मनुष्यमें चौदह मूल प्रवृत्तियाँ और उनकें सहगामी चौदह संवेग मानता है—

सवरा
क्रीध
जुगुप्सा
आइचर्य
आत्महीनता
भूख
कामुकता
वात्सल्य, स्नेह
एकादीप <b>न</b>
भय
कातरता
गौरव
रचनात्मक आनन्द
प्रभुत्वका सुख
आमोइ

म्लबंधं-दे॰ 'हठयोग'। मलाधार-दे॰ 'हठयोग'।

मृल्य-मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय 'वैल्यू'का पर्याय-वाची है। अर्थशास्त्रमे वह 'बाजारदर'के अर्थविनिमयके एक आवर्यक प्रतिमानके अर्थमें प्रयुक्त होता है । मानवीय क्रियाओंमे, आचार-व्यवहारमे अच्छाई या शिवत्वका मूल्य क्या है, इसपर नीतिशास्त्रने वहुत विचार किया है। कुछ लोगोंके अनुसार ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असम्भव है। उदाहरणार्थ, कही पातिव्रतकी महिमा है, कही पत्नी-व्रतकी, कही एकपत्नीत्वकी, कही बहुपत्नीत्वकी और कहीं केवल क्षणिक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धोकी । ऐसी स्थिति-मे 'अधिकोंका हित' यह उपयोगितावादी कसौटी कुछ नीति-शास्त्रियों (मिल, जोन्स)ने प्रस्तुत वी, तो कुछ लोमो-ने नैतिक क्रियाके मूलमे जो हेतु या कारण-सरणी है। उसकी मीमासा करके सोदेश्य कर्ममे ही 'मानवको अपने-आपमे साध्य', यानो उसे श्रेष्ठतम और नैतिक कर्म माना (काण्य) । आदर्शवादी नीतिका अन्तिम मूल्य मानव-कल्याण और उसकी अधिकाधिक अनासक्तिको ही मानते रहे (बुद्ध, ग्रीन, गान्धी)। नीतिशास्त्रमे तो उपनिषदीके श्रेय-प्रेय-विवेचनसे या सुकरातके सत्यके लिए जहर पीनेसे लेकर आजतक यह प्रश्न बार-बार उठा है और कई बार इसके कई उत्तर दिये जा चुके है।

साहित्यशास्त्रमे 'मूल्य' रान्द समाजवल्याण या मानव-हितवाले न्यापक अर्थतक सीमित नहीं है, अन्यथा समस्त धर्मग्रन्थ ही सर्वश्रेष्ठ साहित्य माने जाते । कई बार साहित्य-में वर्णित आचरण, घटना या व्यक्ति नीतिसम्मत नहीं होते, फिर भी उसका अपना मूल्य होता है। दुष्यन्तका शकुन्तलाको छोड देना या भुला देना अच्छी बात नहीं, परन्तु उसी घटनासे शाकुन्तलका मूल करूण स्वर उभरता है या ईडिपसके जीवनकी निर्मम नियति या 'अन्ना' या 'चरित्रहीन' या ऐसे सैकडों उदाहरण विश्वसाहित्यमे दिये जा सकते हैं। देवता या असुर, स्त्री या पुरुष अमुक प्रकारका बाह्यतः अनैतिक जान पडनेवाला पापाचरण करते है, परन्त घटनाओंके तर्कसे या वर्णनकी विशेषतासे वहीं बात उस क्षणके लिए पाठक या दर्शक के मनमे विश्वास जगा देती है कि वह अनीतिमान नहीं है या पापकी रूट परिभाषामे नहीं आती। यही 'ज्ञिव' और 'सुन्दर'का द्वन्द्व शुरू होता है (दे० 'ब्यूटी ऐज ए वैस्यू': अलेक्जैण्डर)। एक मत उनका है जो सत्य-शिव-सुन्दर तीनों मूल्थोको एक ही सत्ताके तीन पहलूमात्र मानते है। दसरा मत उन सौन्दर्यवादियोंका है, जो सौन्दर्यको ही अन्तिम मूल्य समझकर चलते है, नीति-प्रचारक 'शिव'को और वैज्ञानिक या वास्तववादी निरे 'सत्य'की।

मूल्य और प्रतिमान समानाथीं शब्द है। दोनों ही मानविनिर्मित निकष या बंशीटियाँ हैं, जिनके सह रे साहित्यकी परख की जाती है। मनुष्य चृँकि पहले व्यक्ति हैं, इकाई है—उसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति—मनुष्य एक बृहत्तर मानव-समाजका, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसारका सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है, अतः उसके प्रत्येक विचार, कर्म और कल्पनामें मूल्यका प्रश्न बहुत महस्वपूर्ण हो जाता है।

पहले पारिवारिक मूल्य लें। वे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें सहायक या बाधक होते हैं। एक व्यक्ति परिवारका प्रथम पुरुष है या अन्तिम, उसकी सभी बहने है या सब भाई है या वह अकेला है या अविवाहित है या अन्य प्रकारकी जो भी स्थितियों है, वे उसकी साहित्यक अभिरुचि, शिक्षा-संस्कार आदिको निर्णीत करती हैं। इन्हांमेसे एक विशिष्ट प्रकारकी मूल्य-संहिता (value pattern) व्यक्ति बनाता है। वह उसके साहित्य-निर्माण और साहित्य-निर्णयको निश्चित करती है।

इन मृत्योंकी टकराहट (या समाहार) परिवारसे बडे जाति, मुहला, नगर, समाज, राष्ट्र या ध्रापा-दळ या अन्य प्रकारके गुटोकी संस्थाओंके मृत्योसे होती है। व्यक्ति वनता है, विगइता है, विखरता है। उसके साहित्य-मृत्य भी उसी मात्रामें बनते, बिगडते, विखरते जाते है। इन सब विविध मृत्योंके बाद भी एक बड़ा मृत्य बचा रहता है, जो एक प्रकारसे इन सबका सार है और वह है मानवीय मृत्य। यद्यपि मानवतावाटको भी विशेषणोसे परिभाषित किया गया है, यथा वैद्यानिक, क्रान्तिकारी, नव्य आदि; मानवीय मृत्य ही अन्ततः साहित्यमे विवेकके बढ़ानेकी दिशामें सहायक हो सकते हैं।

सामाजिक मूल्य एक विशिष्ट प्रकारके अर्थशास्त्रीय-राजनीतिक दृष्टिकोणसे प्रयुक्त किया हुआ शब्द है। शेक्स-

पीयर या कालिदासके नाटकोंमें चाहे मामाजिक या दलगत मल्य बहुत कम हों, फिर भी वे श्रेष्ठ साहित्य इसीलिए माने जाते हैं कि उनमे साहित्यिक मूल्य अधिक है। अतः इन दोनों मुल्योंका समीकरण मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा भी पाया गया है कि बहुत-से असामाजिक जान पडनेवाले व्यक्तियोने श्रेष्ठ साहित्य रचा है और वैसे तो दलगत मुख्योके कारण कई अच्छे लेखक भी संकृचित हो गये है, उनके लेखनका नयापन प्रायः नष्ट हो गया है या कि उभर हो नहीं पाया है। दल तो स्वतन्त्र विचार या वल्पनावाली सृष्टिका अत्र है। अब साहित्यमे यह माना जाने लगा है कि अन्ततः वे व्यक्ति-मूल्य ही प्रधान है, जो समाज-मृल्यके विरोधी न होकर उनके पोषक हों। वे ही सचने मानवीय मुख्य भी है। मुषक-चंचल मन, जो अज्ञानके अन्धकारमे चुहेकी भॉति विचरण करता है। कालरूपी सूर्प उस चूहेको खा जाता है-- 'निमि अंधारी मूसा आचारा' (चर्यापद, २१) । मूसा पैठा वॉविमें (क ० ग्रं०)। -ध० वी० भा० मेंढक-मनका प्रतीक । 'वेगस साँप बढिक (चर्यापट, ३३)। 'भीडक सोत्रे साँप पहरइया' ग्रं०) । — ५० वी० भा० मैथिली-मैथिली भाषा गंगाके उत्तर दरभंगा(विहार)के आसपास बोली जाती है। मैथिलीका अपना विशिष्ट प्राचीन साहित्य है, जिसमे विद्यापितका नाम अन्यतम है। आधुनिक समयमें मैथिलीमें साहित्य रचना अभी हालमें प्रारम्भ हुई है। मैथिलीकी अपनी अलग लिपि है, जो बॅगलाने बहुत मिलनी-जुलती है। उत्पत्तिकी दृष्टिसे मैथिटीका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंशसे है। सैथन-दे॰ 'ग्रह्म साधना', 'मुद्रा', 'स्यगनद्ध'। मोटनक-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यज्ञास्त्र'(१६: २९)में इस वृत्तका मोटक नाम दिया गया है। इसमे तगण, दो जगण और लघु-गुरुका योग होना है (SSI, ISI, ISI, IS) । केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है-"सोहे धन स्थामल घोर घने । मोहे तिनमें बक-पॉति भनें। संखाविल पी वहुधा जल स्यों। मानौं तिनको उगिलै बक स्यो" (रा० चं०, १३:१३)। —पु० झ० मोटिफ-किसी कृतिकी योजनाका वैशिष्ट्य, कोई शब्द या विचारका प्रतिरूप, जिसकी समान स्थितिमे वार-वार आवृत्ति होती है, या जो समान मनोदशा जागरित करनेके लिए किमी एक कृतिमें या एक ही जातिकी अनेक कृतियोंमें बार-बार दहराया जाता है। लोक-कथामे इसका प्रयोग विशेष रूपमे देखा जाता है। इस प्रकारकी पुनरावृत्तियोके कारण एक प्रकारकी आन्तरिक संगीतात्मकताकी सृष्टि होती है। दे० 'लोककथा', 'कथानक-रूढि'। मोद्दायित-दे॰ 'खभावज अलंकार', छठा। 📑 मोदक-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। प्राकृत-पैगलम्' (२: १३६)के अनुसार ४ भगण इस वर्णिक वृत्तमें होते है (SII, SII, SII) । 'मन्दारमरन्दाचम्पू' (९: ५)मे इसका नाम भामिनी दिया है। केशवने इसका नाम सुन्दरी दिया है, अन्य आचार्योंने मोदक। सूदन

(सु० च०, पृ० २१३) और केशबने हिन्दीमे इसका प्रयोग

किया है। उदा०-"राज वहै वह साज वहै परु। नाम वहै वह धाम वहै गुरु। झूठ सो झुठिहं बॉधत हो मन। छोड़त हो नप सत्य सनातन"(रा० चं०, ३०: २२)। -प्० श्र० मोह-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके विभाव है-आकस्मिक आधात, आपत्ति, रोग, भय, उद्देग तथा गत शत्रुनाका स्मरण आदि और अनुभाव निइचेष्टता, गिरना, झकना तथा ठीक-ठीक न देख पाना आदि (ना० शा०, ७: ५२)। विश्वनाथकी न्याख्याके अनुसार—"मोहो विचित्रताभीतिदःखावेगानु निन्तनैः । मुर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्" (सा० द०, ३: १५०), अर्थात् भय, दुःख, घबराहट, अत्यन्त चिन्ता आदि-के कारण उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है। मुर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, दिखाई न देना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालीन आचार्योंमे कुछने 'नाट्य-शास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है। देवका लक्षण ऐसा ही है-"अद्भुत दरसन बेग भय, अति चिन्ता अति कोह। जहाँ मुर्च्छा बिसमरन लम्भतादि कह मोह" (भाव : संचारी )। पर अन्य कुछ आचार्य इसे — 'बिरह दःख-दिन्ता जनित' मात्र कहते है, जिसमे "आपृहि अपनी देहको ज्ञान जबै नहि होइ" (जगद्वि०, ५०७)।

रामचन्द्र शुक्लने जड़ता और मोहको मिलती-जुलती मानसिक अवस्थाएँ माना है। उनका कहना है कि "जडता है एकदम ठप हो जाना, जिसमे मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक, दोनों क्रियाएँ एक क्षणके लिए बन्द-सी हो जाती है। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट, दोनोंके दर्शनसे हो सकती है। इसमे चित्तकी व्याकुलता नहीं रहती। मोह दःखावेगके कारण ही होता है और उसमे चित्तकी न्याकुलता और मुच्छों होती है" (र० मी०, पृ० २२३)। पर जब मोहके अनुभावकी व्यंजना मूर्च्छाके रूपमें होती है तब यह जड़तासे मिलता-ज़ुलना प्रतीत होता है। मोह और जडतामें एक मौलिक अन्तर यह है कि मोह जहाँ केवल दुःखावेगमे ही होता है, वहाँ जडता दुःखावेग और सुखावेग, दोनोंमे दिखाई पडती है। सुखके आतिशय्यसे भी लोग कमी-कभी जड-से हो जाते है। पश्चाकर प्रेमकी विह्वलताका वर्णन करते है-"'दोउनको सुधि है न कछ बुधि वाहि बलाहमें बूडि वही है। मोहन मोहि रह्यो कवको क्बकी वह मोहनी मोहि रही है" (जगद्वि०, ५०८)। तुलसीदासने सीताके सुखसे 'उत्पन्न 'मोहका चित्रण किया है-"रामको रूप निहारत जानकी कंकनके नगकी परछाहीं। याते सबै सुधि भूलि गयी कर टेक रही पल टारत नाही" (क०)। मोहन १-वणिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । इस नवीन छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमे भगण, नगण, जगण और यगणका योग होता है (-11, 111, 151, 155)। उदा०-"देखहु भरत चमू सजि आये। जानि अवल हमको उठि धाये। ही सत हय बहु बारन गाजे। दीरघ जहँ तहँ दुन्दुभि बाजें' (रा० चं०, १०: १६)। — पु० शु० मोहन २-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; 'वाग्वल्लम' में इसका मधुमारक नाम दिया गया है। इस छन्दका प्रयोग केशवने किया है। इसमें सगण और जगणके योग-

से छन्द बनता है (ISS, ISI) । उदा०—"धरि चित्त धीर: गये गंग तीर । शुचि है शरीर; पितु तर्पि नीर" (रा० चं०, मोहनक-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; दो गुरु और तीन सगणोके योगसे यह वृत्त बनता है। केशवने इसका प्रयोग किया है। उदा०—"आये दशरत्थ बरात सजे, दिग्पाल गयन्दिन देखि लजे। चार्यो दल दलह चारु बने । मोहे सुर औरिन कौन गने" (रा० चं०, ६: मोहनी-मात्रिक अर्द्धसम छन्द । मात्रायुक्त छन्दोके अध्यायमे भिखारीदासने 'छन्दार्णवं'मे एक मोहनी छन्दके लक्षण दिये है। भान कविने 'छन्दप्रभाकर'मे मान्निक अर्द्धमम प्रकरणमें इसका लक्षण दिया है कि विषम पदमे १२ और सममे ७ मात्राएँ होती है, अन्तमे सगण होता है। भिखारीदास द्वारा दिये गये लक्षणवाला मोहनी इससे भिन्न है। मोहनीका प्रयोग बहुत विरल हुआ है। सुन्दरदासने 'रामाष्टक'में इसका प्रयोग किया है। उदा०-"शम्भ भक्त-जन त्राता, भवदुख हरें। मन वांछित फलदाता, मुनि हिय धरें" (छं० प्र०, पृ०८१)। —रा० सिं० तो० मौक्तिक दाम-वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद। 'प्राकृतपैंगलम्' (२: १३४)मे इसका लक्षण है; इस वृत्तमें चार जगण होते है (ISI, ISI, ISI, ISI)। चन्द (पृ० रा०), जोधराज (ह० रा०), सूदन (सु० च०) तथा केशव (रा० चं०)ने इसका प्रयोग किया है। अपनी दुत गतिके कारण वीर रसमें विशेष रूपसे प्रयुक्त हुआ है। उदा०-"रही चुप है सुत क्यो बन जाहु। न देखि सकै तिनके उर दाहु। लगी अब बाप तुम्हारेहि वाय। करै उलटी विधि क्यों कहि जाद" (रा० चं०, ९:८)। मौरध्य-दे॰ 'स्वभावज अलंकार', तेरहवॉ। यत-रूपककी पाँच अवस्थाओं मेसे दूसरी अवस्था। "प्रयत्नस्तु नदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः" (द० रू०, १: २०), अर्थात् फलप्राप्तिके लिए अत्यन्न त्वरायुक्त जो न्यापार किये जाते है, उन्हें यल कहते है। 'स्कन्दगुप्त'के द्वितीय अंकमें प्रयत्नावस्था है। ध्रवस्वामिनी'में प्रयत्न नामक कार्यावस्था वहाँ . आरम्भ होती है, जहाँ उसने अपना यह मन्तव्य व्यक्त किया है-''तो कुमार ! (चन्द्रग्रप्त) हम लोगोंका चलना निश्चित ही है। अब इसमें विलम्बकी आवश्यकता नहीं"। शकराजका सामना करनेका यह निश्चय फलप्राप्तिके लिए प्रयत्नरूपमें है। इसी प्रवाह और प्रसंगमें पूर्वोक्त अनुरागोदय भी पृष्ट रूप धारण करता है। इसी प्रयत्नके लिए वह कहती है— "हम दोनो ही चलेंगे। मृत्युके गहरमे प्रवेश करकेके समयमे भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जानेकी कामना रखती हूँ।" (जगन्नाथ शर्मा : 'प्रसाद'के नाटकोंका शास्त्रीय अध्ययन)-व० सिं० यथार्थवाद-साहित्यकी एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति, जिसके अनुसार कलाकारको अपनी कृतिमें जीवनके यथार्थ रूपका अंकन करना चाहिये। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद (दें) का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है, जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति । जीवनमें अयथार्थकी करपना दुष्कर है । किन्तु

अपने पारिभाषिक अर्थमे यथार्थवाद जीवनकी समय परिस्थितियोके प्रति ईमानदारीका दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्यकी हीनताओं तथा कुरूपताओंका चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनके सुन्दर अंशको छोडकर असुन्दर अंशका अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकारसे उसका पूर्वाग्रह है।

यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ सब देशोंके साहित्यमे विभिन्न कालोम मिलती है। वस्तुतः यथार्थवाद सुधारक साहित्यका प्रथम अस्त्र है। किसी भी सामाजिक स्थितिके प्रति विद्रोह करते समय साहित्यकार उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठकके मनमे उस आक्रोशको जन्म देना चाहता है, जिसके बिना किसी भी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्तिकी करूपना नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्यमें यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ मध्यकालसे ही दिखाई देने लगती है। कबीर एक प्रकारसे हिन्दीके प्रथम यथार्थवादी कवि है। उनके समाजमें जो खोखलापन घर कर गया था, उसका अत्यन्त सशक्त चित्रण उन्होंने अपने काव्यमे किया है। जीवनकी विकृतियाँ तथा कुरूप-ताएँ सर्वत्र उनके आक्रोशका लक्ष्य बनी है। कबीरके उप-रान्त तुलसीमें भी किसी हदतक यथार्थवादकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अपने दृष्टिकोणमे आदर्शवादी होते दृए भी वे सामाजिक जीवनवी कद्वताओकी ओरसे अपनी ऑखें नहीं फेर सके थे। 'रामचरितमानस'के उत्तरकाण्ड तथा 'विनयपत्रिका'के कुछ पदोंमें तुलसीकी यथार्थवादी दृष्टि गहरेतक पैठी है।

आधुनिक अर्थमे यथार्थवण्दका हिन्दी साहित्यमें प्रथम विकास प्रगतिवाद (दे०)के माध्यमसे हुआ। द्विवेदीयुगीन आदर्शप्रयता तथा छायावादी काल्पनिक जगतके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने प्रगतिवादी साहित्य-सर्जनमे यथार्थवादको एक अपिरहार्य अंग बना दिया। किवता, कहानी, जपन्यास, नाटक आदि सभी रूपोंमें आधुनिक जीवनके गहरे संघर्षों, विदूषों, अन्तर्द्धन्द्वों तथा कुरूपताओंका अंक कुआ । इस युगके दो मनीषी—मार्क्स तथा फायडने अपने अपने दंगसे यथार्थवादके विकासमें सहयोग दिया। मार्क्सने सामाजिक जीवनके कटु यथार्थकी ओर संकेत किया और फायडने वैयक्तिक जीवनकी गहिंत कुण्ठाओंकी ओर ध्यान दिलाया। कुछ तो समयकी आवश्यकताने और कुछ इन दो चिन्तकोंकी विचारधाराने यथार्थवादको युगकी अनिवार पहिंत किता सम्मावना यथार्थवादको हो लेकर विकसित हुई थी।

प्रगतिवादके उपरान्त प्रयोगवादको भी यथार्थवादका दाय मिला। एक प्रकारमे प्रयोगवादको यथार्थवादको प्रवृत्ति कुछ और गहरी हुई। जीवनकी तुच्छ-से-तुच्छ परिस्थितिको भी साहित्यमें चित्रित करने योग्य समझा गया। द्वितीय महायुद्धने यथार्थवादको साहित्यमें और अधिक प्राह्म बनाया और इस प्रकार प्रयोगवादने इस मौलिक प्रवृत्तिको अपनी आधार-शिलाके रूपमे स्वीकार किया। पर प्रयोगवादी यथार्थवादको साथ एक व्यापक तथा उदार मानवतावादकी मावना संयुक्त थी, जो आगे नयी कविताके

आन्दोलनके साथ और अधिक विकसित हुई। वस्तुतः हिन्दीका आधुनिक यथार्थवाट साम्प्रदायिक न रहकर उक्त मानवतावादी प्रवृत्तियोंके संयोगसे साहित्यके क्षेत्रमें अधिक कलात्मक तथा सामाजिक वन सका है। -रा०स्व०च० यथासंख्य-वाक्यन्यायमूलक अर्थालंकार; 'यथासंख्य'से अभिप्राय है संख्या, अर्थात क्रमके अनुसार, जहाँ क्रमञः कथित पदार्थोंका उसी क्रमसे, आगेके पदार्थींसे अन्वय किया जाय। इसीको 'क्रम' अथवा 'यथाक्रम' अलंकार भी कहते है। यथासंख्य अलंकार 'क्रम'का पर्याय है। यह प्राचीन अलंबार भामहके समयसे सदा स्वीकृत रहा है। भामहने स्चना दी है कि उनके पूर्व मेधाविन्ने इसको संख्यान नामसे कहा है। दण्डीके शब्दोंमें इसकी परिभाषा इस प्रकार है- "उदिष्टानां पदार्थानामनुदेशो यथाक्रमः। यथा संख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि"(काव्यादर्श, २७३), अर्थात पहले कहे हुए पदार्थीका उसी क्रमसे फिर दुहराया जाना । वामनने इसे 'क्रम' कहा है । मम्मट तथा विश्वनाथ ने पदार्थोंके क्रमिक सम्बन्धको स्वीकार किया—"यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः" (का० प्र०, १०: १०८), अर्थात् पदार्थ जिस क्रमसे वर्णित हो, उसी क्रमसे आगे उङ्गिखित पदार्थीके साथ उनका सम्बन्ध प्रदक्षित करना ।

हिन्दीमें प्रायः यह अलंकार सर्वमान्य रहा है। मितराम तथा भूषणके लक्षण स्पष्ट नहीं है—"क्रमसो किह तिनके अरथ क्रमसों बहुरि बनाय" (शि॰ रा॰ भू॰, २४०)। पण्याकरने इस क्रमको 'अन्वय'से युक्त कहा है। विन्तामणिने "क्रम क्रमको अन्वइ जहाँ वरन्यों अनुक्रम संग" (क॰कु॰क॰ त॰) कहकर संस्कृतके आचार्योंका अर्थ ब्यक्त किया है।

रसलीनका यह प्रसिद्ध दोहा इसका सुन्दर उदाहरण है—''अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार । जियत मरत जुिक झुिक परत जििह चितवत इक बार''। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'का यह वर्णन भी—''वसन्तने सौरभने परागने; प्रदान की थी अति कान्त भावसे। वसुन्थराको, पिकको, मिलिन्दको; मनोइता, मादकता, मदान्थता'' (प्रि॰ प्र॰) । हिन्दीके रीतिकालीन आचारोंके पूर्ववतीं कतिपय मक्त नथा शृंगारी किवयोंकी रचनाओंमें भी इस अलंकारका स्वाभ विक प्रयोग मिलता है। आधुनिक कवियोंने भी काव्य-सौन्दर्यकी अभिवृद्धिके निमित्त इस अलकारको यथोचित रूपमें अपनाया है।

के शवका कम (यथासंख्य) अलंकारका लक्षण अस्पष्ट हैं (किविप्रिया, ११)। इस अलंकारके उदाहरणोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे केशवने कम कहा है, परवर्ती आचार्योंने उसीको एकावली माना है। कन्हैयालाल पोहारने इनके एक उदाहरणको एकावलीके अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। —वि॰ स्ना॰

यम-दे॰ 'हठयोग'।

यमक - एक राष्ट्रालंकार; यमकका अर्थ है युग्म या जोड़ा। इसमें भिन्नार्थके साथ वर्णावृत्ति या राष्ट्रावृत्ति होती है। 'यम' अलंकारमे आवृत्त राष्ट्र या तो निरर्थक होते हैं या सार्थक। यदि सार्थक हो, तो वे सभी भिन्नार्थक होते है। भरतके समयने इस अलंकारको मान्यता प्राप्त रही है।

भरतने 'शब्दाभ्यास'मात्रको यमक माना है और उसके दस भेद किये हैं (ना० शा०, १६: ६३)। भामहने "सुननेमें समान प्रतीत होनेवाले, पर अर्थमे भिन्न वर्णीकी पुनरुक्ति या आवृत्ति "को यमक माना है (काव्यालं ०, २: १७)। दण्डी तथा वामन आदिका मत ऐसा ही है-"पदमनेकार्यमक्षरं बाडवृत्तं स्थाननियमे यमकम् (काव्यालं) सू० वृ०, ४:१:१), अर्धात् स्थान नियमके साथ अनेका-र्थक पद अथवा अक्षरकी आवृत्ति । वस्तुतः विसी भी पदमे आवृत्त वर्णोंका क्रम समान माना गया है, जैसे 'सर' 'सर'। 'सर' 'रस'मे यमक नही हो सकता, क्योंकि वर्णीका उप-स्थापन क्रमानुसार नहीं हुआ है। मम्मटने इसी बातको यो रखा है-"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः"(का० प्र०, ९: ८३), अर्थात् अर्थ होनेपर भिन्न-भिन्न अर्थवाले वर्ण अथवा वर्णसमूहका बार-बार सुनाई देना । विश्वनाथका भाव समान है। 'चन्द्रालोक'के लेखक जयदेवने परिभाषा संक्षिप्त कर दी है-"किसी भी दो-तीन अक्षरोंके समहकी आवृत्ति" (५:८)।

हिन्दीमें भी यह अलंकार सर्वस्वीकृत रहा है। केशविक्षी 'किविप्रिया'में १५वॉ प्रभाव यमक-विषयक है। जसवन्त मिंह-ने—''जमक, शब्दकी फिर स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि'' (भा० भू०, २०२) कहकर मम्मटका अनुसरण किया है। चिन्तामणि, भूषण, दूलह तथा दासके लक्षण लगभग समान हैं। चिन्तामणिने 'फिरि स्रवन'का उल्लेख किया है, अन्योने 'आवृत्ति'का कथन किया है। केशवने अव्यपेत तथा सव्यपेत मेद माने है, जिनके आधार प्राचीन आचार्य है। हिन्दीमें इसके विशिष्ट भेदोका उल्लेख नहीं है, किसी-किसीने भंग तथा अभंग पदोंकी आवृत्तिके कारण इसके दो भेद किये है। दासने अनेक भेद अवश्य स्वीकार किये हैं।

यमक अलंकारमें आवृत्ति तीन प्रकारसे हो सकती है—
(१) किसी पदमे केवल निरर्थक वर्णोंकी आवृत्ति, (२)
निरर्थक तथा सार्थक, दोनों प्रकारके वर्णोंकी, (३) केवल
सार्थक वर्णोंकी । भूषणका उदा०—"पूना वारी सुनिकै
अमीरनकी गति, लई भागिवेको मीरन समीरनकी गति है"
(शि०भू०, ३६६)। देव कविका सुन्दर उदा०—"अनुरागके
रंगनि रूप तरंगनि अंगनि मोद मनौ उफनी। कवि देव
हिये सियरानी सवै सियरानीको देख सुहाग सनी"। दासका
उदा०—"मुकत विराजत नाकमें, मिलिबे सर-मख माँहि"
(का० नि०, १९)।

रीतिकाल्मे भूषण, देव, दास, पद्माकर तथा आधुनिक ब्रजभाषान्कवि 'रलाकर' आदि अनेकने इस अलंकारका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, किन्तु देवका यह प्रिय अलंकार है। देवने अपने पदवन्धोको सजावट तथा कसावटके लिए इसको अपनाया है।

पादावृत्तियमक-पूरे पादकी जहाँ आवृत्ति होता हो। भूषणने इसके सुन्दर उदाहरण 'शिवाबावनी'मे प्रस्तुत किये हैं—'नगन जड़ाती ते वै नगन जड़ाती है' (२६), इसमें 'नग जड़ाना' तथा 'नंगे जाड़ा खाना' भिन्न अर्थ है। इसी प्रकार 'पिसी परी नरम हरम बादशाहनकी, नासपाती खातीं ते बनासपाती खातीं है'' (२८)। भागावृत्ति

यमक — जहाँ पादके आधे भागकी अथवा तीसरे या चौथे भागकी आवृत्ति होती है, वहाँ 'भागावृत्ति यमक' होता है। उदा० — ''दिविरमनो रमनीय कित, है रित रित समहीन। हिर बनिता बनिताहि छिन, मनमथ मथ बस कीन'' (अ० म०)। इसमें 'रमनो', 'रित', 'बनिता' और 'मथ'की उन्हीं पादोके तीसरे भागमे आवृत्ति है। सिहाबको कन इसमें सिहके सहश मुड-मुडकर देखनेके समान किसी शब्दकी छन्दके आदि और अन्तमे आवृत्ति होती है। इसमें किसी छन्दके प्रथम चरणके प्रारम्भिक शब्दकी छन्दके अन्तमे चर्तमा चरणमें आवृत्ति होती है, अर्थात् जो शब्द छन्दके प्रारम्भमें वर्तमान रहता है, वही शब्द छन्दके अन्तमे। इसको मुक्तपदग्राद्धा यमक भी कहते है।

देवने 'सिहावलोकन यमक'का उल्लेख अपने 'शब्द-रसायन'मे किया है, परन्तु उसे स्वतन्त्र अलंकार न मानकर अनुप्रासका एक भेद माना है। मिखारीदासने अपने 'काव्यनिर्णय'मे सिहावलोकन यमक'को यमकका एक भेद माना है और उसीको 'मुक्तपदयाह्य यमक' कहा है। दासके अनुसार—"चरन अन्त अरु आदिके, जंमक कुण्डलित होइ। सिह-बिलोकन है वहै, मुक्तक पद यह सोइ" (१९)। देवके 'शब्दरसायन'का उदा०—"भाल है लाल सिन्दूर भरवो मुख सिन्धुर चारु औ बॉह बिसाल है। साल है स्थुनको कि देव सुसोभित सोमकला धरे भाल है"। दासके 'काव्यनिर्णय'का उदा०—'सरसो दरसो करें नीर अली धुन लीन्हे अनग पुरन्दर सो। दरको चहुँ ओरनने चपला करि जाती कुपानके ओसरसो"।

'अग्निपुराण'के अनुसार यमकके दो भेद है—'अब्यपेत' और 'व्यपेत'। 'यमक' मे जिन पदों या वर्णोंकी आवृत्ति होती है, वे आवृत्त पद या वर्ण, यदि एक-दसरेके समीप हों, तो 'अव्यपेत यमक' होता है। व्यपेतका तात्पर्य है पदोके बीचमे व्यवधान होना, अर्थात् यममे 'आवृत्त' पद या वर्ण जब एक-दूसरेके समीप न हो तव 'व्यपेत यमक' अलंकार होता है। जैसे (क) "सजनी सज नीरद निरखि, हरिष नचत इत मोर" (कवि प्रया, १५: ९६) । इसमें 'सजनी' 'सजनी' एक दूसरेके समीपस्थ है, अतः 'अन्यपेत यम मं है। (ख) "माधवसी धव राधिका, पावहु कान्ह कुमार । पुजहु माधव नियमसों गिरिजाको भरतार" (वही. १५: १११) । इसमे 'माधव' और 'धव' आवृत्त शब्द है, परन्तु इनके बीचमें अन्य शब्दोका व्यवधान (अन्तर) पडा है, अतः 'व्यपेन यमक' है। इन दो भेदोका उल्लेख 'काव्यादर्श' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे भी है। हिन्दीमे केशवदासने भी 'कविप्रिया'मे इन दोनो भेदोंका उल्लेख किया है। 'कविप्रिया'के टीकाकार भगवान्दीन 'दीन'ने इन दो भेदोको लिपि-भ्रमके कारण 'अव्ययेत और 'सब्ध्येत'के नामसे लिख दिया है।

लाटानुप्रासमे एकार्थक शब्दोकी आवृत्ति होती है और यमकमे आवृत्त शब्द या तो निरर्थक होते है, अथवा यदि सार्थक हों, तो भिन्नार्थक होते है। —वि० स्ना० यमना –दे० 'हठयोग'।

यात्रा-साहित्य-मनुष्य-जातियोंका इतिहास उनकी यायावरी प्रकृतिसे सम्बद्ध है। सम्भवतः यह मानवकी

यात्रा-साहित्य

एक मूल प्रवृत्ति है। प्रारम्भमें यह उसके लिए आवश्यक भी थी। परन्तु उसके सौन्दर्यबोधके विकासके साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत्का आकर्षण भी उसके लिए बदता गया है। यहाँके देशोंमे विविधता है, ऋतुओमे परिवर्तन होता है और साथ ही प्रकृतिके रूपों में विभिन्नता और सौन्दर्यका वैचिन्य है। इसके अतिरिक्त सर्जनमे स्वतः एक गति है. जिसके साथ ताल मिलाकर चलना स्वतः एक उल्लास है। इस प्रकार सौन्दर्यबोगकी दृष्टिसे उल्लासकी भावनाते प्रेरित होकर यात्रा करनेवाले यायावर एक प्रकारने साहित्यिक मनोवृत्तिके माने जा सकते है और उनकी मुक्त अभिव्यक्ति-को यात्रा-साहित्य कहा जाता है। साहित्यिक यायावरको एक अद्भुत आकर्षण अपनी और खीचता है, वह मन्त्र-मुग्थकी भाँ नि उसकी ओर खिंच जाता है। संसारके लोग इस पुकारको सुन नहीं पाने या सुनकर भी अनसुनी कर देते है। वे चलते हैं, यात्रा दरते है, पर वे तेलीके बैलकी तरह अपने भारके साथ कोल्हके चारो ओर घुमनेमें ही अपने परिश्रमकी सार्थकता मान बैठते है। पर साहित्यिक यायावर मुक्त मनोवृत्तिके साथ घूमना है, उसकी यात्रा-घुमक्दडीका अर्थ अपने आप पूर्ण होता है।

संसारके बड़े-बड़े यायावर अपनी मनीवृत्तिमे साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वेनत्सांग, इतिंसग, इब्न बत्ता, अलवरूनी, मार्कोपोलो, बनियर और टैवनियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड हुए है अथवा देश-विदेशके साहसी अन्वेषक हुए हैं, सवमें साहित्यिक यायावरका रूप रक्षित है । वे निःसंग-भावमे घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। यात्रा करने मात्रसे कोई साहित्यिक यायावरकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और न यात्राका विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा साहित्य है। पिछले युगोके यात्रियोमे राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिको प्रधानता मिली है, परन्त इनके बीचमें ऐसे संस्मरणीय अंश भी हैं, जिनसे उनकी आन्तरिक प्रेरणाका आभास मिल जाता है। भारतमे यात्रियोंकी कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्वके द्वीपोमें भारतीय धर्म और संस्कृतिका सन्देश इन यात्रियोंके पीछे गया होगा, पर भारतीय दृष्टिमें इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरितके प्रति विचित्र अनास्था आरम्म-से रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्यमे उपर्युक्त अंगोंके साथ यात्रा-विवरणोंका नितान्त अभाव है। परन्त कालिदासके विभिन्न देशों तथा प्रकृतिके रूपोंके वर्णनोंसे उनकी यायावरी मनोवृत्तिका परिचय मिलता है। बाणवी घुमक्कड प्रवृत्तिकी अभिव्यक्ति उनके 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी'के देश-देशकी प्रकृति और नाना प्रकारके लोगोके वर्णनोंमें हुई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्यमें यह साहित्यिक रूप भी कई अन्य रूपोंके साथ पाश्चात्य साहित्यके सम्पर्कमे आनेके बाद ही विकसित हुआ है। प्रारम्भिक लेखकोने यात्रा-विवरण लेखरूपमे प्रस्तुत किये है। भारतेन्द्र हरिइचन्द्रने इस प्रकारके उल्लेख किये है। परन्तु यात्रा-साहित्यका विकास शुद्ध निवन्धोंकी शैलीने माना जा सकता है। निवन्थ-शैलीके व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आरमीयता

आदि गुण यात्रासाहित्यमें भी पाये जाते हैं। निवन्धकार जिस प्रकार अपने विषयको अपनी मानसिक संरेदक स्थितिमे बहुण करता और उसीकी प्रेरणासे विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्राके प्रत्येक स्थल और क्षणोंमेसे उन्ही क्षणोंको सँजोता है, जिनको वह अनुभूत सत्यके रूपमे ग्रहण करना है। वह सर्वसा-धारणकी दृष्टिमे प्रत्येक बातका विवरण देकर नहीं चलना और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेशमें प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता-के वातावरणमे उपस्थित करता है। यात्री अपने माहित्यमे संवेदनशील हो कर भी निरपेक्ष रहता है। ऐमा न होनेपर यात्राके स्थानपर यात्रीके अधिक प्रधान हो उठनेकी सम्भा-वना है। यात्रामें स्वतः स्थान, इहय, प्रदेश, नगर, गॉव मुखरित होते है, उनका अपना न्यक्तित्व उभरता है। इस पथपर मिलनेपर मिलनेवाले नर-नारी, बचने-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रोंके माथ उमके व्यक्तित्वको अधिक स्पन्तित और मुखरित करते है। मार्गमे पड़नेवाले मन्दिरों, ममजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, सारकों, मकबरो, किलों और पुराने महलोते संस्कृति, कला और इतिहासके उपकरणोको जुराकर यात्राकी पीठिका तैयार होती है। फिर भी अपनेको अदृश्य भावते सर्वत्र रखना हा होता है, यात्री अपनी यात्राको मानसिक प्रतिक्रियाओके रूपमें ही ग्रहण करता है। अपनेको केन्द्रमे रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावरका कर्तव्य है, क्योंकि यदि लेखकका व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित ही रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

यात्रीमें, प्रगीतोंके गायकोंका-सा भावावेश और निबन्ध-कारकी-सी मस्ती रहती है। वह लापरवाही और मौजसे जीवनके प्रति एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। इस बातको आधुनिक यात्रा-माहित्यके यात्रियोने मुक्त-कण्ठने घोषित भी किया है। राहुलके अनुसार "जिसने एक बार घुमकड़ धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ ? आखिर-में हिड्डियाँ कटते ही विखर जायँगी" ('किन्नर देशमें')। देवेन्द्र सत्याथीं यात्राके आह्वानको सुन रहे हे : "मेरा पथ मेरे सामने है। मै जीवित मानवका पक्ष लेता हूं। " जीवन आज उसी यात्राके लिए आह्वान कर रहा है" ('रथके पहिये')। देवेशचन्द्र दास यात्राको मुक्तिके रूपमें ब्रहण करते हैं : "आज छुट्टी है, छुट्टी । मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलताका अनुभव करता था, उससे आज वन्धन-मुक्त होऊँगा। कामकी बाधा दूर हो गयी, वह किसी प्रकार क्यों न हुई हो-ऑधीमे उडकर अथवा वर्षामें घुलकर-और मै अनिदिष्ट पथपर बाहर निकल आया हूँ" (यरोपा)। 'अज्ञेय' जीवनको यायावरका चिरन्तन पथ मान-कर कहते हैं: "यायावरको भटकते चालीस बरस हो गये, किन्तु इस बीच न तो वह अपने पैरो-तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न श्लितिजको कुछ निकट ला सका है "उसके तारे छूनेकी तो बात ही क्या।" यायावरने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरोंमें रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचारकी पहली शर्त है गति : गिन : गिन" (अरे यायावर, रहेगा याद) ।

यात्रा-सा हत्य विभिन्त शैलियों मे लिखा गया है और उसके विभिन्न रूप पाये जाते है। इस विषयमें कुछ ऐसा साहित्य है, जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य विभिन्न देशों अथवा स्थानोका विस्तृत और व्यापक परिचय देना रहता है। इनमे भी कुछ परिचयात्मक अधिक रहता है और कुछ यात्राके लिए अन्योको प्रेरणा देनेके लिए होता है। राहुल सांकृत्यायन (हिमालय-परिचय, मेरी यूरोप-यात्रा आदि), (फैलास-मानसरोवर), शिवनन्दन सहाय (कैलास-दर्शन), गोपाल नेवटिया (भूमण्डल-यात्रा), भिक्ष धर्मरक्षित (नेपाल-यात्रा, लंका-यात्रा) आदिका यात्रा-साहित्य इसी कोटिमें आता है। परन्तु इनके यात्रा-वर्णनोंमे भी स्थान-स्थानपर भावावेग, उल्लास, आत्मीयता आदिकी अभिन्यक्ति पायी जाती है। कुछ यात्रियोका उद्देश्य देश-विशेषके व्यापक जीवनको उसके सम्पूर्ण परिप्रेक्षोमे उभा-रना रहता है। इनमे सत्यनारायण (आवारेकी यूरोप-यात्रा), यशपाल (लोहेकी दीवारके दोनो ओर), जगदीशन्द्र जैन (चीनी जनताके बीच), राजवल्लभ ओझा (बदलते दृश्य), गोविन्द दास (सुदूर दक्षिण-पूर्व) आदि लेखक है। इन्होने देशके प्राकृतिक रूप और सांस्कृतिक जीवनको एक साथ अभिन्यक्त करनेका प्रयत्न किया है, देशकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियोपर अपने निजी विचारो या प्रभावोंको व्यक्त किया है। इन लेखकोकी शैली पायः यथार्थ चित्रणकी है और ये क्रमशः यात्रामे पड़नेवाले नगरो, स्थानो, इदयोंका वर्णन प्रस्तुत करते चलते है और उन स्थानोके जीवनपर भी प्रकाश डालते है। परन्त इनमें कई स्थलोंपर लेखक अपने प्रभावो और भावात्मक प्रतिक्रियाओ-का भी समावेश करता है।

अधिकतर यात्रा-साहित्य संस्मरणात्मक होता है और इसमे यात्री अपने प्रभावो, प्रतिक्रियाओं और संवेदनाओ-को महत्त्व देता है। भगवतशरण उपाध्याय (वो दुनिया), अमृतराय ('सुबहके रंग'), रांगेय राधव ('तूफानोंके बीच') तथा रामवृक्ष बेनीपुरी ('पैरोंमे पंख बॉधकर' तथा 'हवापर') आदि इसी कोटिके लेखक हैं, जिन्होने अपनी यात्रामे अपनी दृष्टि, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा संवेदनाओंको अधिक महत्त्व दिया और देशके जीवन, परिस्थितियो तथा पात्रोको इसी दृष्टि ने देखा है । इसी कारण अपेक्षाकृत इन कृतियोमे अधिक साहित्यिक आकर्षण है। कुछ यात्री प्रकृति-सौन्दर्य तथा उमके जीवनसे अधिक आकर्षित तथा अभिभूत होते हैं, उनके साहित्यमें उसीकी अभिन्यक्ति प्रधान होती है। काका कालेलकरकी 'हिमालय-यात्रा', इंसकुमार तिवारीका 'भूखर्ग करमीर', श्रीनिधिकी 'शिवालिककी घाटियों'मे अधिकतर यही सौन्दर्य हैं। सामान्यतः यात्रा-साहित्यमें प्रकृतिका सौन्दर्य सर्वत्र एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुछ ऐसे यायावर है, जो अपने यात्रा-साहित्यको समय जीवनकी अभिन्यक्तिके रूपमें प्रहण करते हैं। उनके लिए प्रकृति सजीव है, यात्रामें मिलनेवाले पात्र आत्मीय, स्वजन हो जाते हैं। वे देशकी आत्माका साक्षात्कार करते हैं। वे देश-देशमें विखरे हुए इतिहासको, संस्कृतिको, समाजको

अपनी अनुभूतिका अंग बनाकर अभिन्यक्त करते है। उनके यात्रा-साहित्यमें महाकाव्य और उपन्यासका विराट तत्त्व, कहानीका आकर्षण, गीनिकान्यकी मोहक भावशी-लता, संसरणोंकी आत्मीयता, निवन्धोंकी मुक्ति, सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है। 'अज्ञेय'के 'अरे यायावर, रहेगा याद'में ऐसा ही सौन्दर्य तथा आकर्षण है। इसके साथ देवेशचन्द्र दासकी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े', मोहन राकेशकी 'आखिरी चट्टानतक' आदिका नाम भी लिया जा सकता है। यान - शाब्दिक अर्थ है, जिससे जाया जाय। इस दृष्टिसे गन्तव्य मार्ग और यात्राका साधन (सवारी)—ये दो अर्थ - सम्भव होते है। प्रथम अर्थमे यान शब्दका वैदिक साहित्य-मे प्रयोग मिलता है, जैते देवयान और पितृयान (ऋ० सं०, १:१६:४, १०:११०:२, को० उ०१:३, मु० उ० ३: १:६, छा० उ० ५:१०:२, प्रक्त १: ९)। प्रारम्भमें इस शब्दसे मार्गका हो अर्थ लिया जाता था। यात्राके साधन-सवारीके अर्थमे यह शब्द पालि - निकायोमे प्रयुक्त हुआ है। पालि निकायों और पालि संयुक्तागमके चीनी अनुवादमें एकयान, ब्रह्मयान, धम्म-यान, विनययान, देवयान और सद्धर्म-विनययानका उहेख है। संयुक्तनिकायमे यान शब्दका सवारीके अर्थमे रूपकके साथ वर्णन मिलता है। इस प्रकार इससे वहाँ तत्त्वके प्रापक मार्गपर व्यक्तिको अग्रसर करनेवाले साधनका अर्थ चोतित होता है। बौद्ध धर्मके इतिहासमे, निकायोके उप-रान्त, सर्वप्रथम महासांविकोने इस शब्दका प्रयोग किया। अपने विपक्षी स्थविरोकी हीनता प्रदर्शित करनेके लिए उन्होने द्वियान, त्रियान, श्रावकयान, अईत्यान और अन्तमे हीनयान तथा अपने सिद्धान्तोंका गौरव दिखानेके लिए स्वयंके लिए एक यान, अनुत्तरयान, बुद्धयान, बोधि-सत्वयान और अन्तमे महायान शब्दका प्रयोग किया। इससे यानका तात्पर्य निश्चित ही निर्वाणका प्रापक लोको-त्तर मार्ग और साधन ही रहा। नागार्जुन, ज्ञानविधि तथा अन्य वज्रयान आचार्योंने यानका इसी अर्थमे प्रयोग किया है। आज जो अर्थ पंथ शब्द (जैसे-क्वीरपंथ, दाद पंथ)से लिया जाता है, लगभग वही अर्थ यान शब्दसे भी लिया जाता है।

हीनयान और महायान—बौद्ध धर्मके ये दो प्रमुख यान है (दे०—हीनयान, महायान)। ये ही प्रारम्भिक यान थे। बादमें महायानके दार्शनिक सम्प्रदायोंका विकास हुआ। योगाचार और माध्यमिक शून्यवादकी विकसित परम्परामें मन्त्रों, धारणियो और तन्त्रोंके प्रभावते, साधन प्रधान यानों—बज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान और सहज्यानका उदय हुआ। शून्य या शून्यताके विश्लेषण और व्याख्यानको इन यानोंने प्रमुखता दी और शून्यताको बज्र तथा प्रज्ञा, इड़ा, वाम, प्रभृति संकेतात्मक शब्दोसे (बज्रयान) या सहज, महासुख और निरंजन जैसे प्रतीकात्मक संकेतोंसे बताया। इन यानोंका साहित्य संस्कृत, संकर संस्कृत और अपभंशमं सुरक्षित है।

इन यानोकी प्रमुख विचारधाराओंके प्रभावसे ही मिद्ध-साहित्यका उदय हुआ, जो अधिकांशतः अपभ्रंशमें लिखा गया। सिद्ध-साहित्यका पर्याप्त अंद्रा केवल भोटमाषीय अनुवादोंमें ही सुरक्षित है, जो तिब्बती 'कंजूर'में संगृहीत है। अपभंद्रामें प्राप्त सिद्धोका साहित्य हिन्दीके विकासकी एक महत्त्वपूर्ण रेखा प्रस्तुत करता है। अपभंद्रामें ही हिन्दीका वर्तमान स्वरूप विकासत हुआ है। सिद्धोके 'दोहाकोश' और चर्यागीतियोका इस दृष्टिसे विचारणीय महत्त्व है। सिद्ध-साहित्यकी प्राप्तिके पूर्व हिन्दी साहित्यका प्रारम्भ दसवी शताब्दीसे माना जाता था, परन्तु अब ईसाकी सातवी-आठवी शताब्दीसे ही माना जाने लगा है। सिद्ध लोक-प्रवित्त रीतियों, सहजमार्ग और तान्त्रिक साथनासे प्रभावित थे और उन्होंने अपने समयकी प्रचलित लोकभाषा, जो सम्भवतः अपभंद्रा थी, मे ही रचनाएँ की। इनमे सरहपा, लुईपा, शान्तिपा, तिलोपा, शवरपा, वीरूपा प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय है।

[सहायक ग्रन्थ—हरप्रसाद शारुी: चिप्स फॉम बुद्धिस्य वर्क शॉप; शिशिरदास गुप्त: इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म; नागेन्द्रनाथ उपाध्याय: तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य; राहुल: हिन्दी काव्यधारा; दोहा-कोश।] —क॰ शु०

यामल-शाक्त आगमींका वह प्रकार, जो राजस वृत्तिके अधिकारियोंको ध्यानमे रखकर निर्मित हुआ है (दे० 'आगम' और 'डामर')।

युक्ति-साधर्म्य-बीज अर्थालंकार । अपने मर्मको छिपानेके लिए किया द्वारा दूसरेका बंचन 'युक्ति' अलंकार है। जयदेवने इमका लक्षण-निरूपण करते हुए लिखा कि उत्कृष्ट धर्मके सम्बन्धने उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा किसी चमत्कारी अर्थकी सिद्धि 'युक्ति' है (चन्द्रालोक, ३:९)। जयदेवका युक्तिका लक्षण अन्य आचार्यों के 'न्यतिरेक' नामक अलंकारसे मिलता-जुलता है। अप्पय दीक्षित-ने युक्ति नामक अलंकार माना है, जिसका लक्षण है "युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये" (कुवल०, १, ५६)। दीक्षितकी युक्ति न्याजोक्तिके समान ही है, परन्तु न्याजोक्तिमें गोपन उक्ति द्वारा होता है, युक्तिमें क्रिया द्वारा, त्याजोक्तिमें आकार-गोपन होता है, युक्तिमें अनुराग आदिका गोपन।

हिन्दीके मितराम, दास, पद्माकर आदि आचार्योंने अप्पय दीक्षितके आधारपर स्वीकार किया है—"मरम छिपावनको जहाँ किया आन सन्धान" (छ० छ०, ३६४)। अथवा—"क्रिया चातुरीसो जहाँ, केरे वातको गोप" (का० नि०, १६)। आधुनिक विवेचकोंने इसे स्वीकार नहीं किया है। परन्तु रीतिकाव्यके अन्तर्गत नायिका-वर्णनों (मुग्धा, प्रवस्त्यत्पिका)में इसका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। उदा०—"गेह चलीं सखियाँ सिगरी चिन सुन्दर साँवरे रूप छुभायो। ऑखिन पूरि कटीले कपोलन कण्टक कोमल पाँइ चुभायो" (छ० छ०, ३६५)। परन्तु तुलसीके इस वर्णनमें इसका सुन्दर और सहज प्रयोग है—"बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी। पिय तन चिनइ भौंह करि बाँकी। खंजन मंजु तिरीछे नयनि। निज पित कहेउ तिनिह सिय सयनि"(रा० च० मा०, २: ११६)।—ओ० प्र० स्थानद्ध—वौद्ध धर्ममें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका प्रवेश होनेके

बाद शिव और शक्तिके सम्मिलनके समानान्तर युगनद्भकी कल्पनाका विकास हुआ। 'पंचक्रम'में युगनद्धकी व्याख्या तत्त्वदर्शनके आधारपर करते हुए कहा गया है कि "पदगल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्यकी एकता ही युगनद्ध है, संवृत्ति और परमार्थकी एकना युगनद है, करुणा और उपायकी एकता युगनद्ध है"। 'अदयवज्रसंग्रह'ने शून्यता और करुणाके ऐकात्म्यको युगनद्धकी मंज्ञा दी गयीहै-"श्रन्यता नारी है और करुणा पुरुष, और दोनोका अइय ही सुगनद है, वही धर्मकाया है"। इसी सिद्धान्तके अनुसार विभिन्न वज्रयानी देवताओको अपनी शक्तियोंके साथ समागम करते हुए वणित किया गया है। भगवान् वज्रधर अपनी शक्ति भगवती प्रज्ञा (नैरात्मा, वज्रवाराही, वज्रधात्वी-इवरी)के साथ रहते हैं। हेरुक अपनी शक्ति बज्र वेरोचनीके आलिंगनमे आवद्ध है। पाँच ध्यानी बुद्ध अपनी-अपनी भार्याओंके साथ अद्वयस्थितिने है (दे॰ 'बौद्ध-भार्याएँ')। इन मृतियोवो तिब्बतमे 'यब-युम' कहते है। साधक भी जब बजाबरकी अवस्थामे पहुँच जाता है तो अपनी मुद्राके साधनामे प्रवृत्त हो युगनद्ध-साधना करता है। इसीको **प्रज्ञोपाय-साधना** भी कहा गया ---ध० वी० भा०

यगसन्य-जर्मन शब्द 'जाईटजीस्ट' (कालकी आत्मा) या युग-चिन्ताके अर्थमें आजकल हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु 'युग' शब्दके काल-सापेक्ष होनेसे यह कहना कठिन है कि निश्चित रूपते युगसत्य एक राष्ट्र या समाज-विरोधके लिए कौन-सा है ? द्विवदी-युगके सत्य क्या छायावादी युगमें नष्ट हो गये या छायावादी युगसत्य प्रगतिवादी अगसत्यमें बदल गया ? सत्य इस प्रकारसे अपना चौला नहीं बदला करता । सत्य यदि विवेकाश्रित कोई आस्था है तो प्रगतिमान् हो सकता है, ऊर्ध्वगामी हो सकता है, बढ सकता है, विकसित हो सकता है, पर पूर्णतः नष्ट होकर, केचुल बदलकर नयी केचुल धारण करे, ऐसा कम होता है। अतः युगसत्यको समझने या परखनेम जल्दबाजी नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकारसे यदि किसीके लिए गान्धीवाद अगसत्य हो जाता है, तो कुछ दिनों बाद मार्क्सवाद या अरविन्दवाद भी सहज, सुविधाके अनुसार युगसत्य वनता जाता है। युगसत्यके साहित्यमें तबतक कोई अर्थ नहीं है, जनतक वह व्यक्तिका अपना निजी सत्य नहीं हो जाता।

युद्धवीर-दे० 'वीर रस'।

योग-'योग' राब्दका प्रयोग कई अथों में होता हैं—(क)
योगका सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' है। (ख) दर्शनमें योग
प्रायः जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धकों कहते है।
इस सम्बन्धको प्राप्त करनेके उपायकों भी योग कहा जाता
है। इस अर्थमें योग राब्द मार्ग या प्रणालीका पर्याय है,
जैसे मक्तियोग या मक्तिमार्ग, ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग,
कर्मयोग या कर्ममार्ग। (ग) योग चित्तवृत्तिके निरोधके
अर्थमें अब रूढ़ हो गया है। पतंजलि (२ राती ई० पू०)ने
सर्वप्रथम योगस्त्रकी रचनाकी, जिसमें इन्होने ऐसे ही
योगको परिभाषित किया—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। पतंजिलके योगको राजयोग भी कहा जाता है। राजयोगसे

भिन्न हठयोग है, जिसका मूळ तन्त्र-प्रन्थोमे है। योगके ये ही दो भेद अधिक प्रचलित है, यद्यपि योगकी प्रणालियाँ अनेक है।

कुछ लोगोंने योगको वेदमूलक माना है, कुछने इसे जैनागमोसे निकला बताया है, कुछने बौद्ध-दर्शनसे इसका सम्बन्ध जोडा है और अन्तमे कुछ लोगोने योगीकी इन सबसे स्वतन्त्र परम्परा प्राचीन कालसे ही आजतक मान रखी है। प्रायः यह माना जाता है कि उक्त चारों परम्पराओं मे चार प्रकारके योग है। राजयोग वैदिक है, तो हठयोग किसी स्वतन्त्र परम्पराका है, जिसे हम तन्त्र-शास्त्र कहते है। जैन और बौद्ध योगोको इन दो योगोसे भिन्न समझना चाहिये। राजयोग और हठयोग, दोनोके स्वतन्त्र प्रवाह आद्योपान्त चलते रहे, कभी-कभी कुछ साधनों मे दोनोंका मेल हो जाता था। जहाँ दोनोका समन्वय होता था, वहाँ यह जाना जाता था कि हठयोग प्रथम सोपान या साधन है तो राजयोग द्वितीय सोपान या साध्य । हठयोगका सम्बन्ध अधिकतर शरीर-विकास और कायाकल्पसे है और राजयोगका सम्बन्ध मुक्ति या मोक्षसे है। हिन्दीके सन्तोंने राजयोग-प्राप्त समाधिको सहज समाधि कहा और हठयोगसे प्राप्त समाधिको हठ-समाधि कहा। गोरखपन्थी योगियोको हठयोगी समझा जाता है और निर्गुण-सन्तो तथा अहैतवादियोको राजयोगी।

चार पाद है। निश्चलदासने योगसूत्रमें 'विचारसागर'में इसके राजयोगवो संक्षेपमे व्यक्त किया है: "प्रथम पादमे चित्तवृत्तिका निरोधरूप समाधि और ताके समाधान, अभ्यास, वैराग्यादिक कहे है। तैसे चित्तविक्षिप्त सामाधिके साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्या-हार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ समाधिके अंग दितीय पादमे कहे है, तृतीय पादमें योगकी विभृति कही है, चतुर्थ पादमें योगका फल मोक्ष कहा है। इस रीतिसे योगशास्त्र भी ज्ञानसाधन, निदिध्यासनकूँ सम्पादन द्वारा मोक्षका हेतु है"। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम है। शौच, सन्तोष, तपं, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पॉच नियम है। स्थिर तथा सुखपूर्वक बैठनेके प्रकारको आसन कहते है: 'स्थिर-सुखमासनम्'। श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद प्राणायाम है। यह चार प्रकारका होता है, रेचक (कोष्ट्य वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), पूरक (नासारन्ध्रसे बाहरी वायुको बाहर निकालकर बाहरीको रोक देना), कुम्भक (एक ही प्रयत्नसे वहाँ श्वास-प्रश्वासकी गति रोकी जाय) और केवल कुम्भक। इन्द्रियोंको उनके विषयोसे हटाकर निरुद्ध करना प्रत्याहार है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग साधन है। अन्तिम तीन ध्यान, धारणा और समाधि अंतरंग साधन हैं।

'देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा' अर्थात् किसी स्थानपर चित्तको लगाना धारणा है । उस स्थानपर ध्येय वस्तुका ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होना है और उसे दबाने-के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान और ध्येय वस्तु एकमेव हो जाते हैं तो उसे समाधि कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात समाधि, जिसमें ध्येय वस्तुका ज्ञान बना रहता है और असम्प्रज्ञात समाधि, जिसमे ध्येय, ध्यान तथा ध्याताका ऐकात्म्य हो जाता है। पहलीको सबीज या सविकल्पक समाधि भी कहते है और दूसरीको निवींज या निविंकल्पक।

योगका तत्त्ववाद सेश्वरसांख्य है। यहाँ ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयसे श्रन्य पुरुषविशेष है।

स्रदासने अष्टांगयोगसाधनाको भक्तिका साधन बताया है—"भक्तिपन्थ भो जो अनुसरे। सो अष्टांग योगको करे। यम नियमासन प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम। प्रत्याहार धारना ध्यान। करें जु छॉडि वासना आनि। क्रम-क्रम सौ पुनि करें समाधि। स्र स्याम भिंज मिटै उपाधि"। पर इन्हीं स्रदासने गोपियोंसे योगका खण्डन कराया है—"ऐ अलि कहा जोगमै नीको। तिज रस रीति नन्दनन्दनकी, सिखवत निरगुन फीको" (स्० सा०, १०) और "फिरि फिरि कहा सिखावत मौन। बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यो पजरेपर लौन। संगी, मुद्रा, भरम, त्वचामृग, अरु अवराधन पौन" (वही)।

इससे स्पष्ट है कि स्र्दासको पातंजल सेश्वर योग इष्ट है, पर निरीश्वर योग तथा हठयोग इष्ट नहीं है।

गोरखनाथ हिन्दीमे हठयोगके प्रवर्तक है। उनके नाथ-सम्प्रदायके कनफटा जोगी हठयोगी ही है। इसके अनुसार महाकुण्डलिनी शक्ति विश्वमे न्याप्त है। न्यक्तिमे इसके रूप-को कुण्डलिनी कहते है, जो अग्निचक्रमे रहती है। व्यक्तिमे प्राणके साथ यह जन्मना आती है। अग्निचक्रके ऊपर मूलाधारचक, स्वाधिष्ठानचक, मणिपुरचक, अनाहतचक, विश्वद्धाख्यस्क, आज्ञास्क और सहस्रारस्क हैं। अन्तिमको शून्यचक्र या कैलास भी कहते है। यहाँ सदा अमृत चुता रहता है। योगीका कर्तव्य साधना द्वारा कुण्डलिनीको जगा-कर क्रमशः इसी चक्रतक ले जाना और अमृत पिलाना है। शरीरमे ६२ हजार नाड़ियाँ हैं, पिंगला, सुपुम्ना आदि। सुषुमना शाम्भवी शक्ति है। इसीके बीचसे कुण्ड-लिनी उठकर ऊपर जाती है। उसके उठनेपर शब्द होता है, जिसे 'नाद' कहते है और नादसे प्रकाश होता है, जिसके प्रकट रूपको बिन्द कहते हैं। कुण्डलिनीको जगानेके लिए धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभानि, इन ६ कर्मोंसे शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानो और समाधिको करना पडता है।

क कीर कभी-कभी हठयोगकी पदावलीका व्यवहार करते हैं, पर उनका मत हठयोगसे भिन्न है। इसकी वे स्पष्ट निन्दा करते हैं।

कबीरका योग पानंजल योग तथा हठयोग, दोनोसे भिन्न है। उनका योग भक्तियोग है और वह भी नामभक्ति ही। हिन्दी निर्गुणोपासक सन्तोंने प्रायः कबीरकी निर्गुण-भक्तिके योगको ही अपनाया है। सगुणभक्तोंने भक्ति और पातंजल योगका समन्वय किया है। कुछ सगुणभक्तोंने यद्यपि पातं-जल योगका अभ्यास नहीं किया, केवल भक्ति की है, पर उन्होंने योगका खण्डन भी नहीं किया।

हठयोग कठिन हैं। नामभक्तिका योग पूर्ण रहस्यवाद है, जिसको विरले ही कर सकते हैं। भक्तिके लिए भी पहले अन्तःकरण-शुद्धि चाहिये। अतः पानंजल योगकी आव-इयकता है, क्योंकि यह सुगम है और अन्तःकरण शुद्ध कर देता है। यही कारण है कि वर्तमान युगमे भी इसका बहुत प्रभाव है। महात्मा गान्धीने भी पातंजल योगको मान्यता दी है।

[सहायक प्रन्थ—पातंजल्योगदर्शन : गीता प्रेस, गोरखपुर; कदीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी; विचारसागर : निश्चल्दास ।] — सं० ला० पा० योग-अग्नि—साधक अपने शरीरसे एक ऐसी शक्ति या ज्वाला उत्पन्न कर लेता है, जिसमे वह स्वयं जलकर मरम हो जाता है। यह परम्परा साहित्यमें काफी दूरतक चली है। "अस कहि जोग अगिनि तन जारा। भएड सकल मख हाहाकारा" (रा० च० मा०)। — उ० शं० शा० योगधारा—दे० 'नाथ-साहित्य'।

योगमाया-'भगवद्गीता'के सातवें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते है-"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमन्ययम्", अर्थात् "अपनी योगमायासे छिपा हुआ मै सबके सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं होता हूं, अतः यह अज्ञानी जन मुझ अजन्मा, अवि-नाशीको नही जानता है"। यहाँ उस नाम-गुण-रूपात्मक आवरणको योगमाया नामसे अभिहित करते है, जिसे "इच्छा-देषते उत्पन्न हुए इन्ड-मोहने आवृत प्राणी" हटाकर तत्त्व-रूपकको नहीं देख पाते हैं। यह गुणमयी (सत्त्व, रज, तम—तीन गुणोंसे युक्त) माया दुस्तर है तथा इसे तरनेमे वे ही समर्थ है, जो भगवानुको ही निरन्तर भजते हैं (गीता, ७, १४)। भागवत धर्मके शास्त्रीय विवेचनमे आचार्योंने भगवान्की इस मायाको प्रायः दो रूपोमें देखा है। एक वह है, जो अज्ञान या अविद्याजन्य है। यह मिथ्या है और मात्र भ्रम-जन्य है। वहुभाचार्य इसे अविद्या-माया और अहन्ता-ममतामय मिथ्या संसारको जन्म देनेवाली कहते हैं। परन्त अद्वैतमे प्रायः विशिष्टता, शुद्धता या द्वैताद्वैतता-परक-विश्वास करते हुए भी ये आचार्य जगत् या व्यक्त प्रकृतिकी ब्रह्ममयी सत्ताकी स्वीकार करते हैं और उने ही ब्रह्मकी शक्तिरूपा माया - मानते है। इसी माया-शक्तिके रूप ब्रह्म लीला-विलासके लिए एकसे अनेक होनेकी इच्छा पूर्ण करता है और नाना रूपात्मक जगत्के रूपमे अंदातः व्यक्त होता है। इस माया-को जो सचे रूपमें, अर्थात् ब्रह्मकी शक्तिके रूपमें जान लेते है, वे ही ज्ञानी है और जो इसके बाह्य नाम, रूप और गुणके द्वारा मोहमे पड़ जाते हैं, वे मूट या अज्ञानी है।

विशिष्टाद्वेतवादके अनुसार यह नानारूपात्मक प्रकृति जड़ अक्षर ब्रह्मका एक व्यक्त रूप है। परन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम आनन्दरूप श्रीकृष्ण परब्रह्म भी, जो गोलोकमे अपनी नित्य आनन्दकी फ्रीड़ामें मग्न रहते हैं, ब्रजमण्डल वृन्दावन धाममें पृथ्वीपर अवतरित होकर अपनी आनन्दमयी लीलाका विस्तार करते हैं। लीला-विलासके लिए वे अपनी ही आनन्दिनी या आहादिनी शक्तिको राधाके रूपमें व्यक्त करते हैं। यह आहादिनी शक्तिकृष्ण पुरुषकी अभिन्न प्रकृति उन्होंकी माया या योगमाया है, जो उनसे अभिन्न है। राधा और कृष्ण तो एक हैं ही, गोपियाँ और गोप भी उनकी

इसी माया नामक शक्तिका विस्तार ही है। सूरदासने कृष्ण-की मुरली (दे०)को भी उनकी योगमायाके रूपमे चित्रित किया है। 'श्रीमद्भागवत'में भी कृष्णकी मुरली कृष्णमे अभिन्न उनकी आकर्षणशक्तिके प्रतीकके रूपमे वर्णित की गयी है, परन्तु सूरदासने सुरलीके प्रभावका अत्यन्त अलौ-किय और विसायजनक वर्णन किया है, जिसमे यह सन्देह नहीं रहता कि वे उसे कृष्णकी योगमाया शक्तिके रूपमें ही कल्पित करते हैं। दानलीलामे एक स्थलपर कृष्ण अपनी वमरीके सम्बन्धमे गोपियोंसे कहते है-"इस कमरीको कमरी समझती हो। जिसकी जिननी बुद्धि होती है, वह उसे उतना ही समझ पाता है। इसके एक रोमपर चीर-पटम्बर निछावर हो सकते है। तुम इसकी निन्दा करती हो। यह तीन लोककी आडम्बर है। इसी कमरीके वलसे असरीका संहार किया है, इसी कमरीसे सब योग किये है। यही मेरी जाति-पाॅति, यही सब योग हैं"। योगमायाका आवरण, जिसका उहेख कृष्णने गीतामें किया है, अज्ञानियोंको भ्रममें डालता है, परन्तु भक्तोंके लिए वही प्रेमका अतीव आकर्षण वन जाता है। इसीके द्वारा कृष्णने अर्जुनको अपना विसाय-कारी विराट रूप दिखाया था।

'श्रीमद्भागवत' और अन्य पुराणोमें यशोदाके गर्भसे उत्पन्न हुई उस कन्याको योगमाया कहा गया है, जिसे वसुदेव कृष्णसे बदल ले गये थे (भागवत, १०: ५०: ३: ४७-४८) तथा जिसे कंसने देवकीसे छीनकर शिलाके ऊपर पटका था। वह विष्णुकी अनुजा देवी योगमाया आकाशमे जाकर दिन्यायुषधारिणी अष्टभुजा मूर्तिसे विराजमान हुई तथा कंसको चेतावनी देकर अन्तहित हो गयी और वाराणसी आदि अनेक स्थानोमे अनेक नामोंसे प्रसिद्ध होकर अवस्थित हुई (वही ४: ९: १२)। वैष्णव पुराणोमे इस प्रकारके और भी सन्दर्भ है, जिनमे शक्तिको कृष्ण (विष्णु) की योग-माया बताया गया है।

योग-संप्रदाय-दे॰ 'नाथ-संप्रदाय'। योग-साहित्य-दे॰ 'नाथ-साहित्य'। योगिनी-दे॰ 'महासुद्रा'। योगी-दे॰ 'नाथ'।

योनि – हठयोगियोंका मत है कि ब्रह्मरम्बस्य सहस्रारपद्मके मूलमे एक त्रिकोणाकार इक्तिकेन्द्र है, जहाँ चन्द्रमा निवास करता है और सदैव अमृत स्रवित करता रहता है। हठ-योगी इस त्रिकोणाकार शक्ति केन्द्रको 'योनि' कहते हैं।

—रा० सिं०

योथिकं (गोपां) -दे॰ 'गोपां'।
योन वर्जना-वर्जनाका मनुष्यके मनोवैज्ञानिक, नैतिक
और आध्यात्मिक विकासमे बहुत महत्त्व है। सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यमे स्वाभाविक कामवृत्ति होती।
है और वह अपने मौलिक रूपमे संयत भी नहीं होती।
मनोविश्लेषक तो इस वृत्तिको सर्वव्यापक मानते हैं। परन्तु
हमारा नैतिक और सामाजिक वातावरण यौन वृत्तिके
नियन्त्रणपर जोर देता है, अतः वर्जनाकी उत्पत्ति होती
है। यौन वृत्तिकी तृप्तिको इच्छाके साथ ही परित्यागको भी
एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि इसमे सुख नहीं
मिलता, पर व्यक्ति स्वयं ही कुछ अञ्चात भर्योसे पेरित

होकर उस ओरसे हट जाता है। यह विराग और पिरत्याग कई कारणोसे हो सकता है, पर वे प्रायः अज्ञात रहते है, जैसे व्यावहारिक किटनाइयाँ, सुपर ईगोका आदेश, सामा-जिक दण्डका भय। इस प्रकार स्वयं व्यक्तिका मानस ही योन वृत्तिके उच्छुक्कल परितोषके विरुद्ध वर्जनाएँ बना लेता है। लेकिन वर्जना यदि 'उच्च अहम्' (सुपर ईगो) द्वारा निर्मित हो तो उसके अनुसार चलनेमे व्यक्तिको सन्तोष ही मिलता है।

वर्जना एक दूसरे प्रकारकी भी हो सकती है, एक वर्ब-रतायक्त निपेध जो किसी बह्य अधिकारी द्वारा व्यक्तिपर लादा गया हो। यह निषेध या वर्जना (taboo) व्यक्तिकी प्रवलतम प्रवृत्ति पर होती है । वर्जनामें कुछ संकटमय, कुरूप और निषिद्धका भाव रहता है। धर्म और नीतिके प्रभाव से कछ यौन वर्जनाएँ सभीके लिए स्वाभाविक हो गयी है और इनके विरुद्ध जानेका विचारमात्र भयानक लगता है, पाप लगता है। मनोविश्लेषणोके अनुसार इस प्रकारकी वर्जनाओंका उलंघन करनेकी इच्छा भी अचेतन रूपसे सदा उपस्थित रहती है। वर्जनाका पालन स्वाभाविक परित्याग (instinctive renunciation)की प्रवृत्तिको कारण होता है। व्यक्ति सामान्य धार्मिक, सामाजिक, नैतिक वातावरणमें विशेष वर्जनाएँ या निषेध आरोपित कर लेता है और उनका पालन उतनी ही कट्टरतासे करता है जितनी कट्टरनासे बर्बर जातियाँ अपनी जातिगत वर्जनाओंका करती है। इन वर्जनाओंकी उत्पत्ति रहस्य-मय होती है और उसमे किसी बाह्य दण्डका अनावश्यक भय होता है, क्योंकि व्यक्तिके मनमे भय रहता है कि उल्लंघन करते ही कुछ अत्यन्त भयानक आपत्ति अवस्य आयेगी। कुछ विशेष मानसिक रोगियोंमें अत्यन्त विचित्र प्रकारकी वर्जनाएँ देखी जाती है । कभी-कभी वर्जना-का थोड़ा उद्धंघन करनेके बाद व्यक्ति किसी विशेष क्रिया द्वारा पापका प्रभाव नष्ट करनेका प्रयत्न करता रहता है। इन क्रियाओको 'आब्हेसिव ऐक्ट्स' कहते है। -प्री० अ० योन विकृति-स्वाभाविक यौन वृत्ति और यौन व्यापारके स्थानपर अत्यन्त अस्वाभाविक रूपमे यदि मनुष्य यौन तृप्ति पाये, तो वही यौन विकृति है । ये विकृतियाँ एक ओर तो दमन, वर्जना और अवरोधका परिणाम हैं और दूसरी ओर स्वामाविक विकासकी वियोजित या विच्छिन्न (dissociated) अवस्थाएँ है। अत्यन्त स्वामाविक यौन व्यापारमें भी मानवीय स्तरपर कुछ विशिष्ट क्रियाएँ हो सकती है, पर इन्हें विकृति नहीं मानते । विकृति संज्ञा तभी दी जाती है, जब ये क्रियाएँ अत्यन्त प्रबल होकर यौन व्यापारके प्रमुख उद्देश्यकी उपेक्षा कर देती है। यौन विकृति दो प्रकारकी हो सकती है—एक तो कामेन्द्रियोका अन्यथा उपयोग, दूसरे, कामोत्तेजनाके विषयके साथ स्वाभाविक किया न करके अन्य अस्वाभाविक ढंगोंसे तृप्ति पाना । परपीड़न और आन्मपीड़न दूसरे प्रकारकी यौन विकृतियाँ हैं। आत्मरित तथा समर्लिगी रित सामान्यनः काम-विकासकी स्वाभाविक अवस्थाएँ है, पर जब व्यक्तिका विकास इन अवस्थाओं में स्थिर हो जाता है तो ये भी यौन विकृतियाँ मानी जाती है।

यौन विकृतियाँ सन्पूर्ण व्यक्तित्वके विकास और संघटनको व्यक्त करती हैं। यदि थोड़ी मात्रामे भी ये उपस्थित हों तो व्यक्तित्व विशेष प्रकारका हो जाता है और बहत-सी सामाजिक तथा नैतिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। ऐसी समस्याओंका निरूपण आधुनिक साहित्यमे प्रायः होता है (देव 'मनोविश्लेषण')। योन वत्ति -दे० 'मनोविश्लेषण'। रंगद्वार-कृत्य-रूपकको आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम कायिक, वाचिक आदिका अभिनय अवतरित होता है। इससे नाटकके आरम्भकी सूचना होती है। —ब० सि० रंगमंच-वह मंच, जिसपर प्रेक्षकोके सम्मख नाटकका अभि-नय प्रदर्शित किया जाता है। अब इसते प्रेक्षागृह .तथा नाटक, दोनोंका ही बोध होता है। आधुनिक रंगमंचके मुख्यतः ४ भाग होते है-- १. नेपथ्य, २. पाइवं या पक्ष. इ. इ.च. सामग्री, अर्थात् इ.च.नियोजनमे प्रयक्त वे वस्तुएँ, जो आसानीसे मंचपरसे हटायी या उसपर रखी जा सके, जैसे, मेज, कुसियाँ, कृत्रिम वृक्ष, पर्वत आदि और ४ मंचका अग्र भाग, जो प्रेक्षकोंको मंचसे पृथक - इया० मो० श्री० रचना-गद्य अथवा पद्यमे भावों अथवा विचारोंका संबद्ध रूप । अरस्तूने रचनाके दो रूप माने है-कविता (पोइट्री) और अभिभाषण (रिटॉरिक)। इन दोनोंमे भेद यह रख। गया था कि कविता अनुकृति थी और अभिभाषणमें विचारके धारणा-पक्षका प्राधान्य था। वैज्ञानिक रचनाके रूपमें अरस्तने एक अन्य श्रेणीकी भी योजना की थी। इस प्रकार रचनामें सर्जनात्मक अथवा कल्पनानिष्ठ, प्रेरणात्मक और स्चनात्मक, तीनों प्रकारकी सृष्टियाँ आ जाती है, जिनसे क्रमशः आनन्द, कर्म और ज्ञानके पक्षोंका समर्थन होता था। सभी गद्य-पद्य-रचनाएँ इन तीनो वर्गीके अन्तर्गत रखी जा सकती है । सामान्य अर्थीमे रचनासे निवन्य या प्रवन्यका बोध होता है, जिनके चार प्रकार या अंग हैं-विवरण, वर्णन. वितर्क और व्याख्या । रचनामे इनमेंसे जिस तत्त्वकी प्रधानता होती है, उसीके आधारपर उसका नामकरण होगा (दे॰ 'कृति', 'सर्जन')। रचनात्मक शक्ति-कवि, कलाकार, चिन्तक अथवा साहसी-की वह राक्ति है, जिसके द्वारा ये व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपूर्व और अद्भुत प्रतिमाओंका आविष्कार करते है तथा अपने कौशलसे अनुकूल माध्यम द्वारा उन मानसिक अनुभूतियोंको मूर्त करते हैं। यह शक्ति स्वाभाविक अथवा साधना-जन्य हो सकती है। इसके दो रूप होते है-कारियत्री और भावियत्री। कारियत्री-जैसे बुद्धकी शान्ति, शम-दम-युक्त अथवा विष्णुकी वैभव, शक्ति-सौम्य-युक्त मूर्तिका शिलाके माध्यमसे निर्माण शक्ति। भावियत्री—मर्तिके दर्शनसे इन आध्यात्मिक विभ्तियोंका अनुभव करनेकी शक्ति। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रोंमें भी। — ह० লা০ হা০ रति -शृंगार रसका स्थायी भाव 'रति' है। 'प्रकृतिवाद'में रतिका अर्थ किया गया है:—सरप्रिया, कामपत्नी, अनुराग, आसक्ति, कीडा, रमण, सन्तोष। इस तालिकासे रति

शब्दसे व्यंजित तीन प्रसिद्ध अर्थीकी विक्राप्त होती है:

प्रथम, रित कामदेवकी पत्नीका नाम है; द्वितीय, रित अनुराग अथवा प्रेमका स्चक है; तृतीय, रित कीड़ा अथवा रमण, अर्थात् छी-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसर्गिक आकर्षणकी एक विशिष्ट प्रकारकी प्रमोदपूर्ण अभिन्यंजनाका वाचक है।

कामदेवकी प्रियाके रूपमें कालिदासने 'कुमारसम्भव'में जो प्रसिद्ध रति-विलाप विणित किया है, उससे रति सहृदय काव्यानुरागियोंके मानसमे उपविष्ट हो गयी है। 'कामसूत्र'मे 'काम' शब्दका पहले सामान्य अर्थ "आत्मासे मक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं घाणका अपने-अपने विषयानुकूल प्रवृत्त होना" बतलाया गया है और पुनः "स्त्री-पुरुषके पारस्परिक स्पर्श द्वारा जनित आभिमानिक सुखोंके विषय-बोध"को प्रधान काम निश्चित किया है। इस प्रकार काम रतिके उपर्युक्त तीसरे अर्थका व्यंजक बन जाता है। अर्थात्, काम और रति, रमणेच्छाके सूचक पर्याय बन जाते हैं। रतिका दूसरा अर्थ अनुराग अथवा प्रेम बताया गया है। इस अर्थमें रति व्यापक क्षेत्रमे शासन करती है: वह स्री-पुरुषके दैहिक संसर्गकी संकुचित सीमाका अतिक्रमण कर मनुष्य-जीवनके सम्पूर्ण प्रेय और श्रेयकी नियामिका प्रवृत्ति बन जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैकडुगलने मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंमें यौन संसर्गकी प्रवृत्तिको भी परिगणित किया है तथा उससे सम्बद्ध भावको 'लस्ट' (lust) कहा है। फ्रायडका 'लिविडो' (libido) भी यही 'लस्ट' है. जिसे रतिका समानार्थक समझा गया है। यह 'लिबिडो' परिष्कृत होकर ब्यापक प्रेमका स्वरूप ग्रहण कर लेता है। रतिके जो अर्थ ऊपर दिये गये हैं, उनमें भी उसके विकसित होने एवं विषयके अनुकूल स्वरूप ग्रहण कर लेनेका भाव सन्निहित है।

साहित्यशास्त्रियोंने रितकी परिभाषामं कही-कही उसके व्यापक अर्थकी ओर भी संकेत किया है। 'नाट्य-शास्त्र'मं रिनको 'आमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति' अमोदात्मक भाव' बताकर उसे 'इष्टार्थ विषयकी प्राप्ति' से उत्पन्न कहा गया है। मम्मटका कथन है कि— ''रितर्देवादिविषया व्यभिचारी नथाऽिक्षनः। भावः प्रोक्तः। आदि शब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया। कान्ताविषया तु व्यक्ता श्वंगारः'' (का० प्र०, ४:३५ तथा वृ०), अर्थात् देवता आदिके विषयमं उत्पन्न होनेवाली रित (प्रीति) और अंजित (प्रधानतया व्यक्त) व्यभिचारीको भाव नामसे पुफारते हैं। मूल कारिकामं 'आदि' शब्दसे मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि-विषयिणी रित (प्रीति) समझनी चाहिये। कान्ताविषयिणी प्रधानतया वर्णित (व्यक्ता) रित तो श्वंगार ही है।

यहाँ मम्मटने रितका व्यापक अर्थ लिया है तथा कान्ताविषयक रितको र्थगारका साध्य कहा है। विश्वनाथ प्रिय वस्तुमें मनके प्रेमपूर्ण उन्मुख होनेको रित मानते हैं – 'रितर्मनोनुकूलेंड्यें मनसः प्रवणायितम्' (सा० द०, ३ः १७६)। मनोनुकूल अर्थको सीमा निश्चय ही व्यापक है, यद्यपि उममें स्त्री-पुरुषको एक-द्सरेके प्रति मानसिक अनुकूलताका भाव भी समाविष्ट है।

सुधासागरकारने रतिको उस संकुचित अर्थमें ग्रहण किया है, जिस अर्थमें वह शृंगारी कान्यमे चित्रित हुई है—

"सरकरिनतान्तःकरणयोः स्त्रीपुंसोः परस्परं रिरंसा रितः समृता" अर्थात् , स्त्री-पुरुषके कामवासनामय हृदयकी परस्पर रमणेच्छाका नाम 'रिति' है। पण्डिनराजने भी कहा है कि स्त्री-पुरुषकी एक-दूसरेके विषयमें प्रेम नामक जो चितवृत्ति होती है, उमें 'रिति' स्थायी भाव कहते हैं।

हिन्दी आचार्योंमें देवने 'प्रेमचन्द्रिका'में पाँच प्रकारके प्रेमका वर्णन किया है, यथा—"सानुराग प्रेम जो शृंगारमय कहा गया है; सौहार्द, जो इष्ट-मित्र, स्वजन-परिजनसे सम्बन्धित है; भक्ति; वात्सव्य तथा दःखसे आई होकर किया गया प्रेम, जो 'कार्पण्य'कहा गया है"। उसमें सानुराग प्रेम, अर्थात् शृंगारपूर्ण प्रेमके सम्बन्धमे 'रति'को स्थायी भाव कहा गया है, यथा-"प्रेमांकर सो रति कहत रस-सिंगार स्थिति भाव" (भ० वि०) । उपर्यक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रतिके क्षेत्रमें देवादि-विषयक प्रीतिको भी समाविष्ट किया गया है, तथापि शृंगार रसका स्थायी भाव बताकर उसे स्त्री-पुरुष-विषयक रमणमलक स्वाभाविक मनो नेगके ही रूपमें अन्तिम स्वीकृति मिलो है। भरतका कथन है कि यह आमोदात्मक भाव ऋतु, माल्य, अनुलेपन, आभरण द्वारा उत्पन्न होता है तथा सित आनन, मधुर वचन, अक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभावों द्वारा प्रकाश पाता है।

'हरिऔथ'ने 'रसकलश'मे तीन प्रकारकी रित बतायी है—१. उत्तम रित, अर्थात् सदा एकरस रहनेवाली अनन्य प्रीति, २. मध्यम रित, अर्थात् अकारण परस्पर ग्रौति, जिसमें मैत्रीभावकी प्रधानता होती है तथा ३. अथम रित, अर्थात् जिसमें स्वार्थकी प्रधानता होती है। उनकी उत्तमा, मध्यमा एवं अथमा नायिकाएँ इस त्रिविध रितका प्रतिनिधित्व करती है। उदा०—"लाल अलैकिक लरिकई लिख-लिख सखी सिहॉति। आज कालि मै देखियतु उर उकसींही मॉति" (वि० स०, १६५)। यहाँ रितभावकी व्यञ्जना है, स्यायीका पूर्ण रफुटन नहीं हो सका है, क्योंकि वह तो रसपरिपाककी हो दशामें सम्भव है। (दे०—'क्सभावज्ञ अलंकार', उन्नीमवाँ। —र० ति०

रतिश्रीना-दे० 'प्रौडा', नायिका।

रतावली – एक गौण अर्थालंकार । अप्पय 'कुवलयानन्द'में ही इसका उल्लेख किया है। जयदेवके 'चन्द्रालोक'से अधिक सत्रह अलंकारों मेंसे यह भी एक है। अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है—"क्रमिक प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावली विदः" (क्व॰, ७४), अर्थात् मख्यार्थ-समन्वित शब्दों द्वारा क्रमानुसार किसी तथ्यका वर्णन करनेसे रत्नावली अलंकार होता है। हिन्दीके उन्हीं आचार्योंने इसे स्वीकार किया है, जिन्होने अप्पय दीक्षितका अधिक अनुसरण किया है—"प्रस्तुत अर्थनको जहाँ क्रमते थापन होय।' (ल० ल०: ३२९)। इसका 'कुवलयानन्द'में दिया हुआ उदाहरण-"नव-नील सरोजनको इहिंके जुग-दीरघ-नैनन पत्र दियो । गज-कुम्भनसो इहिके कुच-कुम्भन परब-पक्ष स-दक्ष ठयो। अति बंक निसंक भई भृकुटी सरके धनुको अनुवाद छयो । पुनि हास विलास भरे मुखसों इन खण्डन चन्द्र प्रकास कियो" (अ० मं०)। नारी-वर्णनके सारगर्भित शब्दों द्वारा यहाँपर बुधजनके शास्त्रार्थके प्रसिद्ध

क्रमका वर्णन हुआ है; पत्र देना, पूर्वपक्ष करना, प्रतिपक्षीके लेखका अनुवाद करना और तत्पश्चात् खण्डन करना, यह --- ज० कि० व० शास्त्रार्थका क्रम प्रसिद्ध है। रथोद्धता – वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; 'पिंगल-स्त्र' (६७ : २३) और भरतके 'नाट्यशाहा' (१६ : ३५)के अनुसार रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके योगसे यह बत्त बनता है (SIS, III, SIS, IS), ६-७ वर्णों पर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—"चित्रकृट तव रामजू तज्यौ। जाय यश थल अत्रिको भज्यौ। राम लक्ष्मण समेत देखियो । आपनो सफल जन्म लेखियो (रा० चं०, ११:१)। —प० श० रदीफ-उर्द कवितामे अन्त्यानुप्रास या तुकान्तको रदीफ कहते हैं। किसी नज्म या गजल आदिमे हर शेरके आखिरमें जो शब्द हर वार आ जायें, उन्हें रदीफ कहते रमण छंद-विणेक समवृत्तका एक भेद। इसके प्रत्येक चरणमे एक सगण होता है (IIS) । इस छन्दका प्रयोग केवल केरावने किया है—"दुख क्यो, हरि है। हरिजू हरिहै" (रा० चं०, १: ११)। रमैया-रमइया या रमैया रूपमें इस शब्दका व्यवहार सन्त-साहित्यमे हुआ है और सामान्य अर्थमे यह राम या ब्रह्मके लिए प्रयुक्त हुआ है। जब कबीर कहते है— "रमइया गुन गाइअ रे जाते पाइअ ब्रह्मगियानु' (क० बं ः पारसनाथ तिवारी, पद ८२), तो उनका मतलब उसी आदि और नियामक सत्तासे होता है जिसे वे राम, रहीम, माधी, मुरारि आदि संज्ञाओसे अभिहित करते है। 'बीजक'में भी 'रमैयाराम' शब्द आता है :—''हंसा सरवर सरीर मे, हो रमैया राम। जागत चोर घर मूसै हो, रमैया राम"। यहाँ भी 'रमैया राम' विवेक संयुक्त आत्मा-के अर्थमे प्रयुक्त है। लेकिन कवीर-पन्थकी साम्प्रदायिक परम्परामें 'रमैया राम' निरंजन या भरमानेवाले ब्रह्मका वाचक माना जाता है। मायाको कबीरदासने 'रमैयाकी दुलहिन' महा है-'रमैया क दुलहिनि लूटा बजार', किन्तु यहाँ रमैयाका अर्थ दृष्ट निरंजन या भोखा-ब्रह्म ही है, ऐसा -निर्विवाद रूपसे नहीं कहा जा सकता। हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। वैसे साम्प्रदायिक परम्परामे रमैया रामको दृष्ट निरंजन या धोखा-ब्रह्म माननेका कोई-न-कोई कारण होगा अवस्य। हजारीप्रसाद द्विवेदी (अनु-सन्धानकी प्रक्रिया, पृ० ९६)ने लक्ष्य किया है कि 'रमैया राम'के इस परम्परास्वीकृत अर्थका सम्बन्ध धर्म सम्प्रदाय-का संयोजन करनेवाले, जून्य पुराण, धर्ममंग्ल आदि पुस्तकोंके रचयिता 'रमाई' पण्डितसे हो सकता है। ओरॉव जातिके लोगोमें 'रमई पण्डित'का बड़ा आदर और पूजा-अर्चा प्रचलित है। स्पष्ट है कि कबीरपन्थियोको रमई पंहितके अनुयायियोंसे निपटना पड़ा था। दृष्ट ब्रह्म अर्थ इस ओर अच्छा संकेत करता है। --रा॰ दे० सि० **स्व सम (गगनोपम)** – शाब्दिक अर्थ है आकाशके समान शून्य, तत्वहीन, निःसङग और निलेंप, प्रकृत्या निर्मल । (महायान) बौद्ध अन्धोंमें सभी पदार्थीको सापेक्ष, निः-स्त्रभाव और शून्य बताया गया है। इसी प्रकरणमें उन्हें रवसम या गगनीपम भी कहा गया है। गगनीपम, गन्धर्वनगर, मायोपम और मायामरीचि—ये सभी शब्द जागतिक पदार्थोंके शुन्य और अमात्मक स्वरूपको चोतित करनेके लिए ही प्रयुक्त किये जाते है।

कही-कही निर्मलके अर्थमे भी गगनसम या गगनोपम शब्दका प्रयोग मिलता है, प्रायः चित्तकी निर्मलताको बोतित करनेके लिए।

हिन्दी साहित्यमे सिद्धोंने सभी धर्मोंको रव-सम, शून्य और अवास्तविक, तत्त्वहीन तथा भ्रान्तिसद्दश बताया है (सहज महातरु फरिअइ तिलोए । रवसम सहात बाजत मुनक बोइ) । साथ ही मनबी समरसताको गगनके समान निःसङ्ग भी वहा है—''जिम जले पाणिअ टलिआ मेउन आज; तिम मण रअणा समसे गअण समान" !-- क्० श्० रस-व्यत्पत्तिके अनुसार इसके दो अर्थ होते है-१. आस्वाद. 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः', २ - द्रवत्व, 'सरते इति रसः'। साधारण रूपमे इसके अनेक भिन्नार्थक प्रयोग हुए है, जैसे षड्रस, इन्द्रियसुख, दूध, शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शदि गुर्णो-मेसे एक आनन्द । आयुर्देदमे रसायन, पारद, वीर्य, जल अथवा जलीय पदार्थ तथा रसनेन्द्रियम् ह्य पदार्थके लिए इसका प्रयोग हुआ है। वेदोमे सोमरस, वनस्पतियोका द्रव, दूध, जल, स्वाद और गन्धके लिए, शतपथ बाह्मणमे मधुके लिए, उपनिषदोमे प्राणतत्त्व या स्वादके लिए, रामायणमे जीवन-रस, पेथ तथा विष और महाभारतमे जल, सुरा, गन्ध, काम एवं रनेहके लिए इसका प्रयोग मिलता है।

साहित्य-शास्त्रमे इसका प्रयोग कान्यास्वाद अथवा-काव्यानन्दके लिए हुआ है। सबसे पहले नाट्यके सम्बन्धमे इसका उल्लेख किया गया था। उपलब्धिके विचारसे भरत मुनि (३ श० ई०)का 'नाट्यशास्त्र' ही पहली रचना है, जिसमें इसका खरूप बताया गया है। भरतके "विभावा-नभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"सूत्रके अनुसार विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। भरतने इन तीनों अंगोके भेदादिका वर्णन करते हुए स्थायी भावोंका प्रथक रूपसे नाम लिया है। इन सबके आधारपर उक्त सूत्रकी विद्वानो द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्याओं मेसे अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)की व्याख्या-के आधारपर काञ्यप्रकाशकार मन्मट (१२ श० ई०)ने कहा है कि आलम्बनविभावसे उद्बुद्ध, उद्दीपनसे उद्दीप, व्यभिचारी भावोंसे परिपृष्ट तथा अनुभावो द्वारा व्यक्त हृदयका स्थायी भाव ही रसदशाको प्राप्त होता है । कान्य पढने, सुनने या अभिनय देखनेपर विभावादिके संयोगसे निष्पन्न होनेवाली आनन्दात्मक चित्तवृत्ति ही रस है। उदाहरणार्ण, पुष्प-वाटिकामे राम घूम रहे है, एक ओरसे मैथिली आ जाती हैं। स्थल नितान्त एकान्त है, प्रातःकालका सुखंद समीर शरीर और मनको उत्साहित कर रहा है, पृष्पोकी छटा मनको मोहित किये ले रही है। ऐसी दशामे राम सीताको देखकर मोहित हो जाते है और उनकी ओर आवर्षित होते है। उन्हें रोमांच हो जाता है। कटाक्षपात करते हैं, बार-बार रुक-रुककर देखते है, उनकी ओर बढनेकी चेष्टा करते है। उनके द्वारा हर्ष, लज्जा आदिका प्रकाशन होता है। इस इत्यको देख, पढ़ या सुनकर सहदयके हृदयमें वासना- रूपसे संस्थित रित नामक स्थायी भाव जायत् होकर इस सीमातक उद्दीप्त हो जाता है कि वह देश-कालका ज्ञान भूलकर उसी घटनामें तन्मय हो जाता है। इस प्रकार सीता आलम्बन विभाव, एकान्त तथा वाटिकाका मनोरम दृश्य उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि आश्रयगत अनुभाव एवं लज्जा तथा हुएं आदि व्यभिचारी भावके संयोगसे रित नामक स्थायी भाव जिस आनन्दमयी तन्मयावस्थाको उपस्थित करता है, वही रस है।

सहदयगत यह रस केवल उस समयतक वर्तमान रहता है, जबतक कि विभाव आदि विद्यमान रहते है, इसीलिए उते 'विभावादि जीवितावधि' कहा गया हैं। विभावादिमे-में किसी एकके भी न रहनेपर उस समयतक रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती, जबतक वर्णन या दृश्यके वि.सी संकेतसे अभावका आक्षेप न कर लिया जाय। इसी अनिवार्य संयोगके कारण भरत मुनिने रसकी तुलना पानक रससे की है, अर्थात जिस प्रकार गुड, मिरिच, खटाई, नमक आदि आनपातिक परिमाणमें मिलाकर पीनेपर वह एक विलक्षण प्रकारका स्वाद देता है और इनमेसे पृथक-पृथक रूपमे केवल किसी एकका भी स्वाद नहीं आता, उसी प्रकार काव्य-रस भी एक प्रकारकी विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अनुभृति है, जो लोक-व्यवहारमे भिन्न है और वेवल आनन्द देती है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है:- आस्वा-द्यत्वात् रसः'। इसीलिए इसकी अनुभृतिको रसास्वाद, रसचर्वणा आदि कहा गया है। विशेषके लिए दे०--'रस-निष्पत्ति'।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने सत्त्वोद्रैक-को रसका हेत बताया है और रमको अखण्ड, स्वप्रकाशा-नन्द, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशस्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा है। लोकव्यवहारमें जिस प्रकार किसीको होक, भय आदिको अनुभृति होती है, वैसी लौकिक अनुभृति कान्यके द्वारा नहीं होती, अपितु एक विलक्षण आनन्द ही सब प्रवारके दृश्योसे प्राप्त होता है। इस कारण इसे अलौकिक कहा गया है। इसकी अनुभृति निर्विद्य दशमे ही अवाध रूपसे होती है। इसलिए इसे अखण्ड कहते है । यह लोक-स्वाधींसे ऊपर उठाता है, अतः स्वप्रकाशानन्द, वेद्यान्तरस्ण्क्शान्य तथा चिन्मय आदि कहा जाता है। यह आनन्ददायी भी है और विलक्षण भी, अत-एव लोकोत्तर चमत्कारप्राण कहा गया है। रसने उत्पन्न हो तेवाला आनन्द बाह्येन्द्रियगत, अनुकूलसंबेदना-जन्य . आनन्दसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकताके आधारपर ही विभा-वादिको रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है। रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष, न वह निर्विकरपक ज्ञान है, न सविकल्पक। उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निर्धारित की ं जा सकती, वह अनिर्वचनीय है।

रसके सम्बन्धमें ब्रह्मानन्द (दे॰ 'ब्रह्मानन्द-सहोदर')की कल्पनाका मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। 'रसो वै सः' कहकर इस उपनिषद्में ब्रह्मको ही आनन्द या रसरूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है।

आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्रका जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करनेपर सब जीवित रहते हैं और आनन्दमे ही लय भी होते हैं। इसीके आधारपर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दसे तुलना करके काव्यानन्दको ब्रह्मानन्दसहोदर कह दिया गया है।

रस आस्वादरूपमें एक होकर भी उपाधि-भेदसे मुख्यतः आठ प्रकारका माना गया है। शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत-इन आठ रसोंकी कल्पना ही दृश्य काव्यके प्रसंगमे की गयी थी। बादमे शान्त भी जोड दिया गया, जिसे निवेंद स्थायीके कारण क्रियाहीन अतः अनिभनेय मानकर नाट्यमे अप्रयोज्य ठहराया गया था। उसका सम्बन्ध श्रव्य काव्यके साथ दृश्यसे भी स्थिर किया गया। कालान्तरमे वात्सल्य और भक्तिको भी स्वीकृति मिली, किन्त लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, बीडनक आदि रस स्वीकृति न पा सके। एक ही रसमें कई रसोंके अन्तर्भावका प्रयत्न भी निष्फल रहा। शृंगार रसराज मान --आ० प्र० दी० रस-दोष-दोषोके विस्तृत विवरणके लिए दे० 'कान्य-दोष'। रस-दोषको समझनेके लिए रसकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। रसका आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्कशन्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तुके सम्बन्धमे रहित होता है। रसका प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभाव।दिकोंपर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है, वरन विभावादि द्वारा प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्यमे ध्वनिकी प्रधानता स्थापित हो जानेपर रस ध्वनि-की काव्यात्माके रूपमे प्रतिष्ठित हो गया । फलखरूप रसौ-चित्यको कान्यकी मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोषका विवेचन तदनुमार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोपोका आविर्भाव हुआ। रसौचित्यके आधार-पर रस दो प्रकारके माने गये है-१ नित्य और २ -अनित्य । वे दोष, जो सभी अवस्थाओंमें कान्यकी आत्माका अपकार करते है, नित्य दोष है। अनित्य दोषका सम्बन्ध रूप और आकारसे है। इस प्रकार रस-दोष नित्य तथा शब्द-दोब और अर्थ-दोष अनित्य है।

भामह और वण्डीने दोषोके गुणत्व-साधनको ओर संकेत किया है। इसको आधार मानकर आनन्दवर्धन तथा दूमरे ध्वनिवाियोने रस-दोषोंको वैद्यानिक एवं सुक्ष्म विवेचन किया है। इसो पद्धतिपर रसका अपकर्ष करनेवाले तत्त्व दोष कहलाते हैं, यह धारणा स्थिर को गयी है। 'ध्वन्यालोक'-मे रस-दोषोके निरूपणमें 'दोष'के स्थानपर 'अनैचित्य' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ध्वन्यालोक'का अनुसरण करते हुए क्षेमेन्द्रने इसी विषयपर 'औचित्यविचारचर्चो नामक अन्थ लिखा है। मम्मटने 'कान्यप्रकाश'में ध्वनिवादियोको रसिसदान-पद्धतिपर रस-दोपका विवेचन किया है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में मम्मटका अनुकरण किया है। तोषनिधिने 'सुधानिधि'में रस-दोषका वर्णन किया है। कुलपित मिश्रकृत 'रस-रहस्य', देवकृत 'कान्य-रसायन', मिखारीदासकृत 'कान्य-निर्णय', जनराजकृत 'कविता-

रस-विनोद', उजियारे कविकृत 'रसचिन्द्रका', 'हरिऔध'-कृत 'रस-करूस'में रस-दोषोंका अच्छा विवेचन किया गया है।

रसके आस्वादमें वाधा डालनेवाले तत्त्वोंको रस-दोष कहते हैं। रसिविषयक कुछ ऐसे दोष है, जो एक पद्यमे नहीं, वरन् काव्य या नाटककी प्रवन्धरचनामें ही हो सकते हैं। इन दोषोके उदाहरणोंने मम्मटने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्यों और नाटकोंका नामोल्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी आचार्य इस विषयमे उनसे सहमत है। रस-दोषोंकी संख्या मम्मटके अनुसार दस है, जो इस प्रकार है—१. स्वशब्दवाच्य (रस-दोष), २. कष्ट-करपना (विभाव-अनुभावकी), ३. परिपन्धिरसांगपरिष्ठह (रस-दोष), ४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसकी), ५. अकाण्डप्रथन (रसका), ६. अकाण्डच्छेटन (रसका), ७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि, ८. अनुसन्धान (अंगीकी विस्मृति), ९. प्रकृति-विपर्यय, १०. अनंगदर्णन (रस-दोष)।

9. स्वशब्दवाच्य - मम्मट, विश्वनाथ तथा भिखारीदास आदिके अनुसार रसकी प्रतीति व्यंजनाद्वारा होनी चाहिये, न कि शब्दवाच्यता द्वारा। जहाँ अपने ही शब्द (शब्द-वाच्य)द्वारा रस, स्थायी भाव तथा संचारी भावका कथन किया जाता है, वहाँ स्दशब्दवाच्य रस-दोष होता है (का० प्र०, ७: ६०; सा० द०, ७: १२)। (क) रसकी स्वशब्दवाच्यताका दोष-''अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चंचलनैनी चारु । कुच कोर्ति हिय कोरि कै, भरवी सुरस शृंगार" (का० नि०, २५)। यहाँ शृंगार रसका वर्णन है, पर 'श्रंगार'का नामोटलेख कर दिया है, अतः रस-दोष है। इस दोषका निवारण इस प्रकार किया गया है "कुच कोरनि हिय कोरिकै, दख भरि गयी अपार"। (ख) स्थायी भावकी स्वशब्दवाच्यता-"अकिन अकिन रन परस्पर, असि प्रहार झनकार । महा महा योधन हिये, बढत उछाइ अपार" (वही)। यहाँ वीर रसका वर्णन है, अतएव उछाह (उत्साह) स्थायी भावके कथनसे उक्त दोष आ गया है। (ग) व्यभिचारी भाव (संचारी भाव)की खशब्दवाच्यता-"आनंद और रस लब्ज गयन्दकी खालनपै करुनानि मिलाई" (वही)। यहाँ 'लब्जा' आदि संचारी भावोंको वाच्यमे कहा गया है, अतः यह दोष है। यह दोषपरिहार इस प्रकार किया जा सकता है—"आनन सोभपे हैंकै निचोही गयन्दकी खालपै है जलसाई"। कही-कही वाचक शब्द आ जानेपर भी रस-दोष दोष नहीं रहता है, यथा-"जात जगायो है न अलि, ऑगन आयो मानु । रसमोयो सोयो दोऊ, प्रेम समोयो प्रानु" (वही)। यहाँ नायिका-का स्वभाव व्यभिचारी भाव-वर्णन है, जो शब्दवाच्यता है। 'सोने'को और भॉतिसे कहना श्रेष्ठ रस नहीं और प्रेमकी शब्दवाच्यता है। वह अत्यन्त रसिकता और प्रतीतिका कारण है। अपरांग होकर न्यंग्यमे सखीकी दोनोंके प्रति प्रीति स्थायी भाव है, यह गुण है। अतः यहाँपर दोष नहीं है।

२. कष्ट-कल्पना (विभाव-अनुभावकी) – मम्मट और साहित्यदर्पणकारका मत है कि जहाँ विभाव और अनुभावका ठीक-ठीक ज्ञान न हो सके कि किस रसका यह

विभाव है अथवा अनुभाव, वहाँ यह दोष होता है (का० प्र०, ७:६०)। जहाँ विभाव और अनुभ वकी कल्पना करनेके लिए कष्ट या कठिनाईका अनुभव हो, वहाँ यह दोष होता है। (क) विभावकी कष्टकल्पना-"उठित गिरति फिरि फिरि उठति, उठि उठि गिरि गिरि जाति। कहा करौ कासो कहो क्यों जीवे यहि राति", (का० नि० २५) । यहाँ नायिकाकी विरहदशाका वर्णन है, वह व्याधि-के बहाने और ही लगती है, इससे विभावकी कष्ट-कल्पना स्पष्ट है। कहीं-कही यह गुण होता है, यथा-"कै चिल आगि परोसकी, दूरि करौ घनश्याम । के हमकी कहि दीजिये, बसै और ही ग्राम"। यहाँ छिपाकर कहनेसे भी यह नायक-नायिकाकी विरहाग्नि विदित होती है, प्रत्यक्ष आग नहीं, अतः यह गुण है, दोष नहीं। (ख) अनुभावकी कष्टकल्पना-"भावती भावते और चितै सहजै ही मे भूमि निहारन लागी" (वही)। यहाँ प्रेमका कुछ अनुभाव कहना उचित था, स्वभावतः भूमि अवलोकनसे प्रेम नही जाना जाता। इस प्रकारसे कहना चाहिये-"आंखिन कै ल्लचौही लजौही प्रिया प्रिय ओर निहारन लागी"।

३· परिपंथिरसांगपरिग्रह—विद्वनाथने 'प्रतिकूल विभावादिग्रह'वो यह नाम दिया है। इसीको भिखारीदासने 'अन्य रस-दोष' कहा है। जहाँ प्रकृत रसके विरुद्ध विभाव, व्यभिचारी आदिका वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है, अर्धात् जिस रसका वर्णन हो रहा है, उसके विरोधी रसकी सामग्रीका वर्षन करना परि-पन्थिरसांगपरिग्रह दोष होता है। (क) प्रकृतरस-विरुद्ध विभावका वर्णन-"अरी खेलि हॅसि बोलि चेलु, भुज प्रीतम गल डारि। आयु जात छिन छिन घटी, छीजै घट सों बारि" (का० नि०, २४)। यहाँ शृंगारके वर्णनमें 'आयु घटनेका ज्ञान' शान्त रसका विभाव वर्णित है, अतः उक्त दोष है। (ख) प्रकृत रस-विरुद्ध अनुभावका वर्णन-"बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम बंसी चारु । सकल छोड़ि बन जाउँ यह, तिय हिय करति बिचार" (वही)। यहाँ नायिकामे उत्कण्ठाका वर्णन है। 'सब छोड़कर वनमें जाना' निवेंद स्थायी भाव शान्त रसका है, अतः विरुद्धता-दोष है। यह इस प्रकार होना चाहिये-"4ौने मिस बन जाउँ यह तिय हिय करति विचार"।

४. पुनः-पुनः दीप्ति (रसर्का)—मम्मट तथा विवव-नाथके अनुसार किसी रसका परिपाक हो जानेपर, अर्थात् 'रस'-विशेषका प्रसंग समाप्त हो जानेपर उस रसका फिर वर्णन (दीप्ति) करना (का॰ प्र॰, ७: ६१; सा॰ द०, ७: १४)। मिखारीदासका मत है कि जहाँ वार-वार दीप्तिका ही उछेख किया जाता है और उपमादिका कुछ वर्णन नहीं करते है, वहाँ यह दोष होता है। यथा—"पंकज पायनि पैजनियाँ किट घाँघरो किकिनिया जरबीली। ईंगुरकी सुरकी दुरकी नथ भालमे बालके देंदी छबीली" (का॰ नि॰, २५)। इसी प्रकार कालिदासने 'कुमारसम्भव'मे रित-विलापके प्रसंगमे करूण रसका वर्णन (सर्ग ४, १) समाप्त करके फिर उस (सर्ग ४, ४)में दीप्त किया है। यहाँ यह दोष है। उक्त प्रसंगमें रस-ध्वनिके दार्शनिकोको जो दोष दिखलाई दिया करता है, वह दोष है अंगभूत रसकी अभि- व्यक्तिको अविच्छिन्न धारावाहिकताका दोष । यहाँ मम्मटने रसध्वनितत्त्वक्षानियोको इस मान्यताका पुष्टीकरण किया है । पर जहाँ अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३६५, चौखन्मा) कालिदासके महाकवि होनेके कारण उनकी रति-विलाप-वर्णनाके इस दोषका यथाकिचित परिहार करना चाहते है, वहाँ मम्मट इसे स्पष्टतः रस-दोष मान लेते है।

अकाण्डप्रथन (रसका)—आनन्दवर्धनके आधार-पर मम्मटने इस दोपको अनवसरमे रस-वर्णना तथा अकाण्ड-प्रथन नामोसे पुकार। है (का० प्र०, ७:६१ वृ०)। विश्वनाथने यही नाम दिया है (सा० द०, ७: १४)। भिखारीदासने 'असमै जुक्ति कथन' कहा है (का० नि०, २५)। जहाँ प्रस्तुतको छोडकर अप्रस्तुत रसका विस्तार किया जाय, वहाँ अक्।ण्ड-प्रथन दोष होता है. यथा—"सजि सिंगार सर पै चढी सुन्दरि निपट सुवेस। मनों जीति भुवलोक सब चली जितन दिवि देस" (वही)। यहाँ सहगामिनीको देखकर शान्त रस तथा दया-वर्णन उचित है, शृंगार नहीं। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' नाटकके दूसरे अंकमें अनेक वीरोके विनाशके समय बीचमें ही रानी भानुमतीके साथ दुर्योधनके प्रेम-प्रलाप वर्णनमें यही दोष है। वहाँ श्रंगार रसका वर्णन असामयिक है। इस प्रसगमे मम्मटने अभिनवग्रप्तकी मान्यताको स्पष्ट किया है।

दः अकाण्डछेदन (रसका) — आनन्दवर्धनाचार्यने इसे 'अनवसरमे रसिविच्छिति' (ध्वन्यालोक, ३:१९)। कहा है। किसीके वर्णनमे अचानक बिना अवसरके रसका विच्छेद कर देना, अर्थात् उसके विरुद्ध रसकी अवतारणा कर देनेसे यह दोष होता है (का॰ प्र०, ७:६१ वृ०), यथा— "राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धुसों बात। कंकन मोहि छोराइवे, उत्तै जाहु तुम तात" (का॰ नि॰, २५)। यहाँ रामका परशुरामके पास जाना न कहकर 'कंकन खोलने'की वात कही गयी है। इसमें उनकी काद-रता व्यक्त होती है। इसी प्रकार भवभूतिकृत 'महावीर चिरत'के दितीय अंकमें जहाँ राम और परशुरामका युद्धोन्साह अविच्छिन्न रूपसे अभिन्यक्त हो रहा है, वहाँ रामका 'कंकणमोचनके लिए जा रहा हूँ' कहकर युद्धोत्साहसे विरत्त हो जाना विणत है। इससे रामगत वीर रसके आखादमे विदन पड़ गया है। अतः यह दोष है।

७. अंगभूत रसकी अतिवृद्धि—प्रत्येक कान्य और नाटकमें एक मुख्य रस रहता है जिसे अंगी कहते हैं और उनके कान्यरस अंग कहलाते हैं। जहाँ अंग अथवा अप्रधान (प्रतिनायक आदि) रस-वर्णनाके उपकरणोका आवश्यकतान्ते अधिक विस्तारसे वर्णन किया जाता है, वहाँ अंगभूत रसकी अतिवृद्धि रसन्दोष होता है (का० प्र०, ७:६२ वृ०)। यथा—''दासोसो मण्डन समै, दर्पन मांग्यो बाम। वैठि गयी सो सामुहे, करि आनन अभिराम'' (का० न०। २५)। यहाँ नायिका अंगी है, दासी अंग है। इसमें दासीका अति शोभा-वर्णन दोष है। इसी प्रकार महाकि भारविके 'विरातार्जुनीय' महाकान्यके आठवें सर्गमें अपसराओंकी विलासक्रीड़ाके श्वंगारात्मक विस्तृत वर्णनमें यह दोष है, क्योंकि 'किरातार्जुनीय' श्वंगार रस-प्रधान

नहीं है।

८. अनुसन्धान या अंगीकी विस्सृति - मम्मटके अनुसार अंगी, अर्थात् प्रधान रूपसे अवस्थित नायक आदि-को अवान्तर विषयोके वर्णनमे भल-सा जाना दोप कहलाता है (का० प्र०, ७:६३ वृ०)। अभिप्राय यह है कि समस्त रचनामे प्रतिपाद्य रसकी विस्मृति न होनी चाहिये और उसके पोषणका बराबर ध्यान वना रहना चाहिये। रसके अनुभवका प्रवाह आलम्बन और आश्रयपर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंगपर अनुसन्धान न होनेसे रंग-संग हो जाता है। जैसे श्रीहर्पकी 'रत्नावली' नाटिकाके चतुर्थ अंकमे वाभ्रव्य (सिह्हें इवरके कंचकी) के आगमनों माग-रिका(जो प्रधान नायिका है)का (नायक वत्सराज इत्रा) एक प्रकारमे विस्मरण, जिसमे नाटिकाका प्रनिपाद्य श्रंगार रस विच्छिन्नप्राय हो गया है। भिखारीदासने इसका उदा-हरण दिया है-"पीतम पठै सहेट निज, खेलन अटकी जाय। तकि तेहि आवत उत्तिते, तिय मन-मन पछि-ताय" (का० नि०, २५)। यहाँ खेलमं नायकमे वडकर प्रेम ठहराया गया है। अतः उक्त रस-दोप है। आनन्द-वर्धनने प्रवन्धकी रस-व्यंजकताके निमित्तोमें 'अंगीके अनु-सन्धान'को भी एक निमित्त माना है (ध्वन्यालोक, पृ० ३४१, चौखम्मा) । मम्मटने प्रवन्यकी रस-व्यंजकताकी इस विशेषताके विपर्ययको ही अंगीके विस्मरणरूप (अंगिनो-Sननुसन्थानम् ) रस-दोषके रूपमें मान लिया है।

प्रकृति-विपर्यय—मम्मदके अनुसार जिस प्रकृतिके लिए जो वर्णन अनुचित हो, उसका वहाँ वर्णन प्रकृति-विपर्ययरूप रस-दोष है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति (नायक आदि) के तीन प्रकार हुआ करते है-- १. दिव्य दिवतारू प इन्द्र आदि), २. अदिव्य (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) और ३. दिन्यादिन्य (मनुष्यरूपमे अवतीर्ण देवभत राम, कृष्ण आदि)। इन तीनोंके भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार भेद है, जो वस्तुतः वीर रस-प्रधान, रौद्र रस-प्रधान, शृंगार रस-प्रधान और ज्ञान्त रस-प्रधान-इन चार प्रबन्ध-नायक भेदोसे सम्बन्ध रखते है। पुनः यह द्वादश्विध प्रकृति-भेद (ग्रणोत्कर्ष-ग्रणापकर्ष और गुणोत्कर्षापकर्षके कारण) उत्तम, मध्यम और अधम रूपसे ३६ प्रकारका है। इस प्रकृतिगत औचित्यके निर्वाहके लिए आवश्यक यह है कि रति, हास, शोक और अद्भुत आदिका वर्णन दिव्य प्रकृतियों (इन्द्र आदि नायकोको सम्बन्ध)में भी उसी प्रकार किया जाना चाहिये, जिम प्रकार अदिव्य उत्तम (मनुष्यरूप वत्सराज आदि) प्रकृतिके सम्बन्धमे किया जाया करता है। किन्त्र दिव्य प्रकृतियों (देवरूप नायकों)मे भी जो उत्तम दिव्य प्रकृति-भेद है, उसके प्रसंगमें, सम्भोग-शृंगाररूप रितका वर्णन कदापि नहीं किया जाना चाहिये, क्यों कि उत्तम दिन्य प्रकृतिगत सम्भोगका वर्णन उतना ही अनुचित है, जिनना कि अपने माता-पिताके सम्भोगका वर्णन (का० प्र०, ७:६३ व०)। मिखारीदासका वर्णन इसीपर आधारित है।

कालिदासके 'कुमारसम्भव'मे शंकर और पार्वतीके सम्भोग-श्रंगारके वर्णनमे यह दोष हैं। इसी प्रकार स्वर्ग पाताल आदि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य

या दिन्यादिन्य प्रकृतिके ही वर्णनीय है, न कि अदिन्य प्रकृतिके, क्योंकि आदिव्य प्रकृतियोके अमानुषिक कार्योंके वर्णनमे प्रत्यक्ष असत्यकी प्रतीति होनेके कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है। मम्मटने 'प्रकृति-विपर्यय'रूप रस-दोषको आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रबन्ध सम्बन्धी रस-न्यंजकताके निमित्त 'भावौचित्य' (ध्वन्यालोक ३: १०)के प्रतिकूल आचरण करनेमे माना है। यहाँपर यह स्पष्ट है कि रस-दोष-प्रसंगमें 'प्रकृति विपर्यय'-रूप रस-दोष-प्रकारका जो अनुसन्धान मम्मटने किया है, उसमे उनकी ध्वनि-मर्मज्ञता और रसतत्त्ववेदिता वस्तुतः झलक उठी है। १०. अनंग-वर्णन-मम्मटके अनुसार अनंग, अर्थात् अमुख्य अथवा रसके अनुपकारकका वर्णन भी एक प्रकारका दोष है (का॰ प्र॰, ७:६३ वृ०)। ऐसे वर्णनसे प्रधानभूत रसको कोई लाभ नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'कप्र-मंजरी' (प्रथम जवनिकान्तर)मे नायिका विभ्रमलेखा द्वारा और स्वयं नायक चण्डपाल द्वारा किये गये वसन्त-वर्णनकी उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त-वैभवकी ही राजा (नायक चण्ड-पाल)द्वारा प्रशंसा, जिसमें प्रकृत सम्भोग-शृंगाररूप रसकी

अभिन्यक्तिमें कोई सहायता नहीं मिलती।—दी० सिं० तो० रसना— शरीरस्य बहत्तर हजार नाड़ियोमे ललना दि० 'ललनां') रसना और अवधूती (दे० 'अवधूतीं') बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रमुख मानी गयी है। रसनाको प्रायः पिंगला कहते हैं। सांस लेते समय जो सांस दाहिनी ओरसे निकलती है, वह इसी पिंगला मार्गसे होकर आती है। इसे चन्द्रनाडी, चन्द्रअंग (हठ०, ३:१५), यमुना (वहीं, ३:१०२) तथा असी (शिव संहिता, ५:१२३) भी कहा जाता है। संन्तसाहित्यमें इसका बार-बार उल्लेख हुआ है (दे० 'हठयोग')।

रसनिष्पत्ति—रसके साथ निष्पत्त शब्दका प्रयोग भरत-

(४ श० ई०)से निहिचत रूपसे मिलता है—''विभावानु-भावसंचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (ना० शा०, ६: ३२)। 'निष्पत्ति'का शब्दार्थ है प्रकाशन, उत्पत्ति, पूर्णता अथवा परिपक्कता। पर 'रसनिष्पत्ति' काव्यशास्त्रके अन्तर्गन काव्य-की सौन्दर्यानुभूतिके समकक्ष स्वीकृत शब्द रहा है और इसकी व्याख्या तथा विवेचनमे अनेक विद्वानोंने मौलिक प्रतिभाका परिचय दिया है। वस्तुतः 'काव्यानुभूति', 'काव्यानन्द' आदि शब्द एक प्रकारसे 'रसनिष्पत्ति'के समानार्था है और इस सम्बन्धमे जितना गम्भीर तथा विवादपूर्ण चिन्तन हुआ है, वह सब काव्यकी अन्तर्भूत प्रकृति तथा तिद्वषयक अनुभूतिकी सूक्ष्म तथा जटिल स्थिति-के कारण ही।

भरतके सूत्रमें 'निष्पत्ति' तथा 'संयोग' प्रमुख शब्द रहे है, जिनकी व्याख्या विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार की है। भरतके शब्दोंमे विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावोंके संयोगसे रसनिष्पत्ति होती है। भरतने छः प्रकारके विभिन्न स्वादोंबाली वस्तुओंके मेलसे बने हुए आपानकसे इसकी तुलना करके समझानेका प्रयत्न किया है और आस्वाद्य होनेके कारण इसे 'रस' माना है। आगे भरतने स्थायी भावके आस्वादको 'रसनिष्पत्ति'के रूपमें ग्रहण किया है। भाव तथा रसके सम्बन्धपर विचार

करके भी वे यही कहते है कि रस और भाव एक-दूसरेपर अन्योन्याश्रित है (दे॰ भाव')। भरतने रसत्वके लिए नाना भावोके 'उपगत' होनेका उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भाव यहाँ स्थायी भावके समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करते है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने अभिनवगुप्तकी 'अभिव्यक्ति'का मूलाधार भरतके 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहतवः'मे माना है (काव्यमे रसः अ० प्रव०, पृ० १८८)। इन्होंने भरतके 'आस्वादयनि मनसा' (ना० शा०, ६: ३३)मे साधारणी-करणका संकेत भी स्वीकार किया है।

वस्तुतः भारतकी इस परिभाषाको आगेके प्रमुख आचार्योंने कुछ भिन्न शब्दावलीमें प्रस्तुत किया है। धनंजय (१० श० ई०) ने कहा है—"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वाचत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः"(द० रू०, ३: १) । धनंजयने 'सात्त्विक भावों का विशेष उल्लेख किया है और साथ ही स्पष्टतः स्थायी भावको आस्वाद्य रूपमें व्यक्त करनेको रस माना है। मम्मट (११ श० ई०) ने रति आदि स्थायीके कारण, कार्य तथा सहकारीके रूपमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंको मानकर-"व्यक्तः स तैविभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" (का॰ प्र॰, ४:२८), अर्थात् इन्ही विभावादिसे व्यक्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहा जाता है। इस बातको विश्वनाथ (१४ श्र० ई०) ने इस प्रकार रखा है—"रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्" (सा० द०, ४:१), विभावादिकसे रित आदि स्थायी भाव रसत्वको प्राप्त करता है। इन्होंने भी प्रपानक रसके समान रसास्वाद्यको कहा है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्यों मे अधिकने रसविवेचन-के सम्बन्धमे रुचि नहीं दिखलायी और जिन्होंने कुछ कहा है, उन्होने संस्कृतकी परम्परासे भाव ग्रहण किया है-"मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारिनके बृन्द । परिपूरन थिर भाव यों सुर स्वरूप आनन्द" (पद्माकर: जगद्दि०, ६०४) । आधुनिक विवेचकोंने रसके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है और भरतसे लेकर अभिनवग्रप्ततककी रस-विवेचनकी परम्पराको आगे भी बढाया है।

भरतके सूत्रके आधारपर रसकी व्याख्या करनेवाले आचार्यों में भट्ट लोल्लट (९ श०ई० पू०) प्रथम माने जाते है। इनके यन्थका पता नहीं लग सका है, केवल 'अभिनवभारती'में अभिनवग्रप्तके द्वारा प्रस्तुत इनका मत आगेके आचार्योंके लिए भी इनके सिद्धान्तके विषयमे तर्क-वितर्कका आधार रहा है। 'अभिनवभारती'के अनुसार भट्ट लोल्लटका मत है-"विभावादिका स्थायी भावसे संयोग होनेपर रसनिष्पत्ति होती है। विभाव रसके कारण-स्वरूप हैं। इनके द्वारा स्थायी भावकी 'उपचित' अवस्थाका नाम रस है। यह रस मूलतः अनुकार्य, अर्थात् रामादिक ऐतिहासिक पात्रोमें ही होता है, किन्तु उनके रूपादिके अनुसन्धानसे अनुकर्ता-नटमे मी विद्यमान होता है" (अ० भा०, पृ० २७४)। इस प्रकार भट्ट लोल्लटके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' या 'पृष्टि' है। इस दृष्टिसे इनके सिद्धान्तको उत्पत्तिवाद कहा गया है। मम्मट (१२ शर् ई०)ने भट्ट लोल्लटके मतको इस प्रकार उदधृत किया

है-- 'आलम्बन, उद्दीपन विभावोके कारण उत्पन्न रति आदि भाव अनुभाव-कार्योसे प्रतीत योग्य होकर, व्यभि-चारी सहकारियोसे उपचित होकर रसरूपको प्राप्त होते है, जो मुख्यतः अनुकार्यमें होता है, किन्तु अनुसन्धानवश नटमें प्रतीयमान होते है (का० प्र०, ४: २८)। वस्ततः मम्मटने 'प्रतीयमान' शब्दके प्रयोगसे प्रस्तत मतको नवीनता प्रदान की है। गोविन्द ठक्करने इसकी व्याख्यामें कहा है-"नटे त तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतः" (का० प्र०, प्० ८८), अर्थात नटमे अनुकार्यकी तुल्यताके अनुसन्धानके कारण सामाजिक उन्हीपर अनुकार्यका आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है। इसीके आधारपर इस व्याख्याको आरोपवाद कहा गया है। भट्ट लोछटने 'संयोग'को तीन अर्थींमे स्वीकार किया है—स्थायी भाव विभावके साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनु-माप्य-अनुमापक-सम्बन्धसे उनकी अनुमिति कराते है तथा संचारी भाव पोपक-पोष्य-भाव-सम्बन्धसे उनकी रस-रूपमे पृष्टि करते है। इस रसकी अवस्थिति यद्यपि मूल रूपमे अनुकार्यमे ही होती है, पर अभिनेताके कौशलपूर्ण अभि-नयके कारण दर्शक उसीपर अनुकार्यका आरोप करता है।

भट्ट लोल्लटके रस सिद्धान्तकी आलोचना अनेक दृष्टियोसे की गयी है। मीमांसा (दे०) दर्शनपर आधारित इस सिद्धान्तका खण्डन न्यायदर्शन (दे०)की दृष्टिसे किया गया । न्यायके अनुसार कारण, कार्यका नियमतः पूर्ववर्ती है तथा कारणका नाश भी कार्यको प्रभावित नहीं करता। इस दृष्टिमे विभाव और स्थायी भावके बीच इस प्रकारका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि रस भावादिके साथ ही स्थिर होता है और नष्ट होता है। ऐसी स्थितिमे 'निष्पत्ति'का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं हो सकता । सामानाधि-करण्य-सिद्धान्तके अनुसार कार्य तथा कारणकी स्थिति एकमे हो मानी जायगी, पर प्रस्तुत सिद्धान्तमें रसकी अवस्थिति रामादि अनुकार्यमें कही गयी है और उसका आस्वादन प्रेक्षकके द्वारा स्वीकार किया गया है, जो बिलकुल भिन्न है। शंकुकने भट्ट लोल्लटके 'स्थायी भावकी उपचितावस्था'-का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि स्थायी भावकी उपचितावस्थाको रस तथा अनुपचितावस्थाको भावमात्र मानेंगे तो उसकी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियोंकी न्यर्थ कल्पना करनी होगी। यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्यके स्मिन, अपहसित आदि ६ भेदोको किस आधारपर माना जा सकता है ? इसके अतिरिक्त क्रोध, उत्साह, शोक आदि स्थायी भाव क्रमशः क्षीण, क्षीणतर और क्षीणतम होते जाते है और उनके उपचित होनेकी स्थिति ही नहीं आ सकेगी । अतएव इसके आधारपर 'रसनिष्पत्ति'की व्याख्या ठहर नही सकती। आरोपमे सहश वस्तके ज्ञानके साथ उस वस्तका स्मरण भी अनिवार्य है। पर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्योंसे प्रेक्षकका परिचय सम्भव नहीं हो सकता, फिर अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक नटपर उनका आरोप किस प्रकार कर सकता है ? साथ ही भावोंका अनुकरण न होकर केवल बाह्य रूपादिका अनुकरण ही सम्भव है। भट्टनायक (१० श० ई० म०)ने इस सिद्धान्तकी एक भिन्न स्थिति स्वीकार करके इसका खण्डन किया है। प्रेक्षक द्वारा आरोपके माध्यमसे विभावादिको अपना ही विभावादि समझना भी संगत नहीं है, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विभाव शक्ति और क्षमता-भेदके कारण प्रेक्षकके नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्रोके प्रति पुज्यादि भावोके कारण भी यह आरोपकी स्थिति सम्भव नहीं होगी। करुण रस सम्बन्धी शोकादिक भावोंके आरोपमें प्रेक्षकको आनन्द मिल सकता है, इस विषयमे भी शंका की गयी। आरोप-सिद्धान्तमे रसस्थितिके ज्ञानमात्रसे प्रेक्षकके आनन्दकी सम्भावना स्वीकार की गयी है, पर रस ज्ञानगम्य नही, आस्वादनीय है। किसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे हम निश्चिन्त, तटस्थ, विरक्त अथवा अनुरक्त हो सकते है, पर आरोपके ज्ञान-मात्रसे आनन्द (रस)की सम्भावना कैने मानी जा सकती है ? गोविन्द ठक्करने स्पष्ट कहा है-"राम-सीतामें रित है, ऐसा समझ लेनेमात्रसे हमें आनन्द नहीं आ सकता। इसके लिए हमारा अपना साक्षात्कार आवश्यक है" (का॰ प्र॰, पु॰ ६३)। अनुकर्ता नट एकमात्र अनुकार्यमे आश्रित रसका तटस्थमावसे प्रदर्शन कर सकता है, इसपर भी आपत्ति की गयी है।

अधिनिक विचारकों में कान्तिचन्द्र पाण्डेयके अनुसार भट्ट लोल्लटने 'अनुसन्धान' शब्दका प्रयोग मीमांसकों के अनुक्ल 'ईश्वरप्रत्यभिका'-सिद्धान्तके अनुसार 'योजन' अधें किया है। उनकी दृष्टिमें रंगमंचकी व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षकका दृष्टिकोण नहीं (कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भा० १, पृ० २९, ३०)। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भी स्वीकार किया है कि 'उन्होंने प्रेक्षककी दृष्टिसे विचार नहीं किया है। यदि हम यह स्वीकार कर लें तो भट्ट लोल्लटका सिद्धान्त बहुतसे तत्सम्बन्धी आक्षेपोंसे बच जाता है और आरोपवादकी कल्पना परवर्ती आचायों द्वारा निर्मित हवाई महलके समान निस्सार सिद्ध हो जाती है", (कान्यमें रसः अप्र० प्रव०, पृ० २००)। आगे इन्होंने यह भी माना है कि ''अनुकार्यको ही वास्तविक रसाश्रय मानकर भट्ट लोल्डटने कविवर्णित अनुकार्यकी और संकेत करते हुए कविकरपनाको श्रेय देनेका प्रयक्ष किया है' (वहीं)।

भरतने काव्यके पाठक या नाटक प्रेक्षकके मानसमे रसनिव्यक्ति स्थितिका रूप स्पष्ट नहीं किया है, पर उनकी व्याख्या तथा रसके विभिन्न अंगोंके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उन्होंने रसानुभूतिके लिए मानसकी भावान्मक प्रक्रिया (emotional tendency and expression)का आधार प्रहण किया है। वास्तवमें भट्ट लोछटने रसकी व्याख्या इस सामान्य भावात्मक प्रक्रियासे अधिक भिन्न अर्थमे नहीं की है। कान्तिचन्द्र पाण्डेयके मतका समर्थन भी इस विषयमें लिखा जा सकता है। रंगमंचके व्यावहारिक दृष्टिकोणके कारण सम्भवतः इस आचार्यके सम्मुख अनुकार्यकी सामान्य भावात्मक स्थिति प्रधान रही है और उन्होंने रसकी व्याख्या बहुत कुछ इसी अर्थमें की है। रसको मुख्यतया अनुकार्योंमें उपचित माननेका भाव यही है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने भट्ट लेखट द्वारा कविकल्पनाको श्रेय देनेकी बात कही है, परन्तु

काञ्यवत्तकी कल्पना करनेवाले कविकी स्थितिका स्पष्ट विवेचन इन आचायोंने नहीं किया है। प्रस्तृत सन्दर्भमें वृत्तवा अर्थ है 'काव्यवृत्त', जिसकी कवि कल्पना करता है। कविकी इस कल्पनाका आधार जगत है, पर यह कविके प्रत्यक्षबोध, स्मृतियो तथा विचारोके स्वतन्त्र संयोग-रूप कल्पनापर आधारित है। इस प्रकार जिन चरित्रों अथवा स्थितियोको उसने अपनी संस्कारजन्य कल्पनासे स्थान-काल-प्रमेयकी सीमामें वॉधा है, वे वास्तवमे उसके अपने अनुभव जगत्से गृहीत है। यह काल्पनिक वृत्त (ऐतिहासिक आदि भी इसी रूपमें) कान्यमें वर्णित या नाटकमे अभिनीत होता है। इस प्रकार जब आचार्य कहते हैं कि रसकी स्थिति अनुकार्य (चरित्र)में है, तो वे चरित्रकी भावात्मक प्रक्रियाके मनौवैज्ञानिक सत्यको स्वीकार करते हैं। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि काव्यात्मक रसानुभूति के सम्बन्धमे जनकी दृष्टि सीमित है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : अनुशीलन, व० ३ : अं० २)।

रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले दूसरे आचार्य शंकुक (९ श० ई० उत्त०) हैं, जिन्होने न्यायदर्शनके अनुमान प्रमाणके आधारपर अनुमितिवादकी स्थापना की है। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)के अनुसार इनका मत इस प्रकार है-"विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होनेपर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमानके बलसे अनुकरणरूपमें अनुकर्तामे कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हए प्रतीयमान होता है। विभावोंका कान्यके द्वारा, अनुभावोंका शिक्षाके द्वारा तथा व्यभिचारी भावोंका अनुभव-ज्ञानके द्वारा अनुसन्धान (अर्थप्रतीति) होता है। स्थायी भावकी अर्थप्रतीति काव्य द्वारा नहीं की जा सकती।" भरतने अपने सत्रमें 'स्थायी भाव'का उल्लेख नहीं किया है। इसिंहए अनुक्रियमाण रित स्थायी भाव ही अभिनयसे शृंगार है और इस प्रकार उसका (शृंगार रसका) तदात्म-कत्व (स्थायी भावसे) तथा तत्प्रमत्व (स्थायी भावमूलक होना) युक्त है। "रामके सुखी होनेके अभिनयमें नर्तक (अभिनेता) सुखी है, ऐसी प्रतिपत्ति नही होती। ये राम नहीं है अथवा ये रामके समान है, इस प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होती । किन्तु सम्यक् , मिथ्या, संशय तथा सादृश्य-मूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती है, उनसे विलक्षण चित्र-तुरग-आलिखित अस्व-न्यायसे--जो सुखी राम है 'वह यह है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है" (अ० भा०, पृ० २७४)। मम्मट (१२ श० ई०)ने भी शंकुकके अनुमिति-बादको प्रस्तुत करते हुए नट-रामकी प्रतीतिकी व्याख्या की है। यह प्रतीति 'चित्र-तुरग'के समान न सम्यक् प्रतीति है, न मिथ्या-प्रतीति, न संशय-प्रतीति और न साद्दय-प्रतीति, अपित एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कही जा सकती है। कान्यार्थीके आधारभूत चरित-नायकके रूपमें अपने-आपको डालनेकी शक्ति रखनेवाला नट अभिनय-कलाकी शिक्षा और अभ्यासके बलपर जो प्रदर्शन करता है, वह जीवनकी दृष्टिसे भले ही अवास्तविक अथवा अस्वाभाविक हो, पर सामाजिकको कलात्मक दृष्टिसे. जिसमें वह 'नट' नहीं, अपित 'राम' दिखाई दिया करता

है, कृत्रिम नहीं लगता। वास्तविक जीवनमे रामादिके हृदयके रति-भावका अनुमान, उनका साक्षात्कार करनेवाले लोग इसीलिए किया करते है कि उन्हें रामके हृदयके रति भावके कारण, कार्य और सहकारी रूप अनुमापक साधनोंका ज्ञान हो जाया करता है। इसी प्रकार रंगमंचके 'नट राम'के हृदयके रत्यादि रूप स्थायी भावका अनुमान, सहदय सामाजिक जन इसीलिए किया करते है कि उन्हें 'नट राम'के हृदयके रत्यादिरूप स्थायी भावके अनुमापक पदार्थींका साक्षात्कार रंगमंचपर हुआ ही करता है, क्योंकि 'नट राम'के स्थायी भाव यदि 'गम्य' है—लोक-विलक्षण अनुमेय है तो रंगमंचपर प्रदर्शित सीतादिरूप विभाव. अनुभाव और संचारी भाव उसके 'गमक' है। सामान्य जीवनमें रामकी चित्तवृत्तिका अनुमान 'रस' नहीं माना जाता, किन्त 'नट राम'के रत्यादिकरूप स्थायी भावका अनुमान एकमात्र 'रस'का आस्वादन होता है (का० प्र०. ४:४६ का०)।

वस्तुतः शंकुकका यह मत न्याय-सिद्धान्तके अनुमान-प्रमाणपर आधारित है, जिसमें पहले देखी गयी वस्तुका, किसी समय साक्षात् न देखकर भी, उससे साहचर्य-सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्य वस्तुको देखकर ज्ञान प्राप्त होता है। ऊपर कहा गया है कि शंकुकने इसको संशयादिसे भिन्न माना है। जब हमारे ज्ञानको कोई अन्य वस्तु बाधा पहुँचाती है अथवा हमारा ज्ञान किसी अन्य ज्ञानके आधार-पर अप्रामाणिक सिद्ध होता है तब उसे मिथ्या कहते है। रसाखादके प्रसंगमे इस प्रकारकी बाधा नही उपस्थित होती, क्योंकि जितने समयतक हम प्रदर्शनको देखते (काव्यका पाठ करते) है, उतनी देरतक उसमें किसी कारण बाधा नहीं उपस्थित होती। नाट्यप्रदर्शन जिस रूपमें है, वह अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता । शंकुकके अनु-सार यदि उसे एक क्षणके लिए अयथार्थ मान भी लें तो उसके कारण आनन्दानुभृतिमे शंका नही होनी चाहिये। संशयकी स्थितिमें व्यक्ति किसी निश्चयपर नहीं पहुँचता, पर रसात्मक बोधमें ऐसी स्थिति भी नहीं रहती और क्योकि इसमें अनुकार्य-अनुकर्ताके पृथक्तवका ज्ञान लग्न हो जाता है, अतः साद्दय-ज्ञानकी स्थिति भी स्वीकार नहीं की जा सकती। यह अनुमिति-ज्ञान है जिसे शंककने चित्र-तुरग' न्यायसे समझाया है। अर्थात् चित्रांकित तुरगके समान अभिनय वास्तविक पात्रका अनुकरणमात्र है और अभिनेता वास्तविक पात्र न होकर अनुकर्तामात्र।

परवर्ती आचार्योंने शंकुकके 'अनुमितिवाद'का खण्डन किया है। अनुमान तो वास्तविकताके आधारपर किया जा सकता है, कृत्रिम विभावादिके द्वारा इसकी सिद्धि केसे हो सकती है? ऐसा नहीं कि शंकुकका अपने सिद्धान्तके इस पक्षकी ओर ध्यान न हो। उन्होंने स्वयं अभिनेताके कौशलके सहारे अनुमानकी सिद्धि मानी है, साथ ही उन्होंने दूरकी उठी हुई धूलको धुऑ समझकर अग्निक अनुमानकी बात कही है। सामने प्रत्यक्ष रंगमंचके अभिनयके सम्बन्धमें इस प्रकारका अनुमान नहीं किया जा सकता। दर्शक पहलेसे ही जानता है कि अभिनयके पात्र बास्तविक नहीं है। अतः उसके रसास्वादनको समझनेके

लिए अनुमान पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। कहा गया कि सामान्य जगत्के कारणके स्थानपर विभावादिके संयोग-पर रसास्वाद आधारित है, पर ये विभावादि प्रेक्षकके नही है: उनसे उसका सीधा सम्बन्ध ही नही। यथार्थ जगत्में वस्तुसौन्दर्यसे रसानुभृतिको स्वीकार नही किया जा सकता। परन्त्र यदि अविद्यमान रहनेपर भी अनुमान-मात्रसे रसास्वादकी सिंखि होती, तो विद्यमान होनेपर उसकी सिद्धिमे किसी प्रकारकी शंका नहीं होनी चाहिये। पर लोकमे रति आदिको प्रत्यक्ष देखकर आनन्द नही होता, ऐसी स्थितिमे अनुमानसे कैते माना जा सकता है ? शंकुक-के सिद्धान्तपर क्षणिकवादका आरोप भी लगाया गया। नैयायिक परिणामवादके साथ अनुभवको क्षणिक मानते है। रसानुभृतिको क्षणिक माननेसे काव्यके आकर्षणमे बाधा उपस्थित होगी । इं कुकने प्रेक्षकके तन्मयीभावके कारण रसा-नुभूतिको धारावाहिक माना है। वह तन्मयावस्थामे प्रदर्शित रत्यादिका अनुसन्धान करतां है और बार-बार शंका करना हुआ अनुमान नहीं करता ! पुनः-पुनः अनुमन्धान करना ही 'चर्वणा' है। रसप्रदीपकारका आरोप है कि एक बार व) स्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर पुनः अनुमान नहीं किया जा सकता। प्रेक्षक 'रसका अनुमान' नही करता, वरन अनुभव करता है। शंकुकके द्वारा भी नटमे रसकी स्थिति स्वीकार नहीं की गयी, अतः उनके सिद्धान्तमें तटस्थता-का टोष आ गया है (र० प्र०, पृ० २४, २५)। इसके अतिरिक्त अनुकरण बाह्य व्यवहारका भी बहुत सम्भव नहीं होता और आन्तरिक भावोंका अनुकरण तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि अनुकरणके सामर्थ्यको मान भी लें तो करण आदिक हरयमे अगनन्दकी उपलब्धि किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है ? वस्ततः भट्ट लोलट-के समान शंककने भी प्रेक्षकके आनन्दका कारण उमसे असम्बद्ध माना है, प्रेक्षक प्रदर्शित विभावादिकका केवल अनुमान करता है। अभिनवगुप्तके गुरु भट्ट तीनने कहा है कि साद्य्यानुमान फलके अनुमार होता है और अनु-मानकर्ताको साद्दरयका अनुभव होता है। परन्तु अभिनेता द्वारा प्रदर्शित भावनाएँ उसके मनमें वर्तमान किसी साइइयपर आधारित नहीं है और प्रेक्षक भी ऐसा नही मानता। प्रेक्षक जानता है कि यह ऐमा अभिनेताके दीर्घ-कालीन अम्यासके कारण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि शान या तो निश्चित रूपसे सत्य होता है या मिथ्या ! इन दोनोंसे भिन्न कहना भ्रामक है। 'चित्र-तुरग-न्याय'मे साद्य ज्ञानमात्र है, उसे तुरग कहते हुए भी हम जानते हैं कि वह वास्तविकके सददामात्र है (अ० भा०, १: पु० २७७)।

आधुनिक विवेचकोमें राकेश गुप्तने 'चित्र-तुरग-न्याय'-को चारो प्रकारका ज्ञान सिद्ध किया है। वे भट्ट नोनके समान उमे केवल साहश्य-ज्ञान ही नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शक 'चित्रलिखित तुरग'को चित्रलिखित-मात्र मानता है और लक्षणाको आश्रयसे उसके कहनेका अर्थ भी यही होना है। वास्तविकताका ज्ञान न होनेवालेको अम होगा, या तो वह अस्व मान लेगा या मंशयमे रहेगा। आनन्दप्रकाश दीक्षितके अनुसार राकेश गुमने चित्रकला- अनिमज्ञ दर्शककी करपना की है और दूर रखे हुए चित्रका उदाहरण दिया है। नाटकमे अथवा काव्यमे इन दोनों स्थितियोंको स्वीकार नही किया जा सकता। दीक्षितका कहना है: "सारांश यह है कि अनुकर्ता अन्तर्भावोका नहीं, बाह्य अनुभावोमात्रका अनुसरण करता है और अपने शिक्षाभ्यासादिके साथ-साथ हृदय-संवादके बल्पर काव्यका उचित स्वर तथा बल्के साथ याचन करते हुए अपनी ओरमे यथाशक्ति उस स्थितिमे उत्पन्न हो सकनेवाले भावोंको व्यक्त करता है। इस प्रकारकी प्रनित्तको अनुकरण नहीं कहा जा सकता। उसमे अनुकर्ता ने शिक्षा तथा करवनाका योग स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उसकी तटस्थता दूर हो जाती है" (काव्यमे रस, अप्रका० प्र०, पृ० ५१५)।

शंकुकने भट्ट लोल्लटकी अपेक्षा अपने सिद्धान्तमें अधिक मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया है। उन्होने वास्तविक पात्रमें भावात्मक प्रक्रिया द्वारा स्थायी भावका उद्घोध माना है और प्रेक्षक द्वारा अभिनेताओं अनुकरणके अनुमानसे वही भाव-स्थिति रसरूपमे आस्वादित होती है, ऐसा स्वीकार किया है। रस सिद्धान्तकी सम्पूर्ण विवेचनाकी समझनेके लिए रसकी दो स्थितियोको जान लेना चाहिये-"एक साधारण जीवनमें भावात्मक प्रक्रियाकी उद्युद्ध घटना और दूसरी काव्यानुभृतिमे रसनिष्पत्ति"। एकको 'रसस्थिति' और दूमरीको 'रसनिष्पत्ति'को स्थिति मानना अधिक वैज्ञानिक है। शंक्रकने 'चित्र-तुरग-न्याय' द्वारा अभिनय-(काव्यकला भी)का प्रत्यक्ष बोध तथा समृतिसे संयुक्त कल्पनाका आधार स्वीकार किया है। चित्रांकित तुरग केवल तरगका चित्ररूपमे प्रत्यक्ष बोधका विषय नहीं है (जैसी राकेश ग्रप्तकी भ्रामक स्थापना है), उसमे तुरगत्वके साथ जो कल्पना और स्मृतिका संयोग है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अभिनय-मौन्दर्य (काव्य-मौन्दर्य)के द्वारा प्रेक्षक या पाठकके मनपर जो प्रभाव पड़ना है, वह प्रत्यक्ष बोधसे कहीं व्यापक है। जिस प्रकार प्रेक्षक आरोप करनेके लिए अपने अनुभव और संस्कारोका सहारा लेना है, उसी प्रकार वह अपनी कल्पनाके आधारपर नाटकीय घटना (नाटक-कारकी कल्पना)का अनुमान कर सकेगा। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस सिद्धान्तके सम्बन्धमे यह आश्चेष महत्त्वपूर्ण है कि यदि प्रेक्षक आश्रयकी मनःस्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके रसकी प्रतीति करता है तो उसे आश्रयके समान अपनी भावस्थितिमे दःख-सख, दोनों का अनुभव होना चाहिये। परन्त शंक्रकके मनमे तादात्म्यका उल्लेख इस प्रकार नहीं है। इसके अनिरिक्त आचार्यके अनुसार यदि प्रेक्षक भावा-त्मक घटनाको सत्य मानकर अपने अस्तित्वते घटनाओंको सम्बन्धित मान ले तो वह सम्कृत, भावह प्रेक्षक या पाठक नहीं समझा जायगा। ऊपरकी विशेचनामे इस आक्षेपका भी उल्लेख किया गया है कि विभावादि, जो अतीतसे सम्बन्धित है, वे प्रेक्षक अथवा पाठकके अनुमानके विषय कैते होगे। परन्तु यह आञ्चेप इसी आधारपर ठहर सकता है, यदि अनुमानको स्मृति ते सम्बन्धित प्रत्यक्ष बोधोके रूप-मे साद्द्रयके आधारपर हो स्वीकार किया जाय । कल्पनाके तत्त्वको स्वीकार कर छेनेपर स्मृतिके स्वतन्त्र संयोगोकी सम्भावना सहज हो सकती है। मनोविज्ञानकी दृष्टिते प्रमुख आक्षंप यह माना जा सकता है कि श्कुकने अपने मतमे स्मृति और अनुभवको स्वीकार किया है, पर कल्पनाकी स्थापना स्पष्टनः नहीं कर सके है (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान—अनुशीलन, व० ३: अं० २)।

भरतके रससूत्रकी व्याख्या करनेवाले तीसरे आचार्य भट्टनायक (१० श० ई०) है, जिनका सिद्धान्त भोगवाद है। भट्टनायकने रसके पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंके मतोका खण्डन करते हुए स्वमत्की स्थापना की है। 'अभिनव-भारती'में उद्धृत उनका मत इस प्रकार है-"कान्यमे दोषाभाव, गुण तथा अलंतार रूप और नाटकमें चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारणके द्वारा अभिधार्थसे ग्रहण किये गये निविड निजत्वका मोह तथा संकट आदिको निवारण करनेवालो भावकत्वरूपने शब्दकी दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन-व्यापारसे इस निजत्वके मोहको दूर करके रमको भावनावान् करती है और भावन-योग्य बनाती है। फिर भोगशक्ति, जो अनुभव, स्मृति आदिसे विलक्षण है, रजम् और तमस्के अनुरोधके वैचिच्य-के बलसे वृद्धि, विकास तथा विस्तारस्वरूप है, हृदयके विस्तार और विकासके लक्षणवाली है, सन् गुणके उद्रेकके कारण प्रकाशमान् आनन्दसे संकल्प-विकल्पसे भिन्न (विल-क्षण) है, उसमे परब्रह्मास्वादके समान रस अनिर्वाच्य रूप-से भोगा जाता है" (अ० भा० : प्र०, प्० २७८)। मम्मट (११ श० ६०) ने इसो बातको संक्षेपमें दहरा दिया है-"काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणी-करणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रे-कपकाशानन्द्रमयसंविद्धिश्र नितसत्त्रेन भोगेन भुज्यते इति" (का० प्र०, ४: २६), अर्थात् काव्य और नाटकमे अभिधा-से भिन्न दूसरी भावकत्व शक्ति अपने न्यापार से विभावादिक-को साधारणेकृत रूपमे प्रस्तुत कर स्थायी भावको भाव्यमान या भावन-योग्य बनाती है। फिर तीसरी भोगशक्ति साधा-रणीकृत भान्यमान् स्थायी भावको आनन्दमय तथा एक-रसरूपमे आस्वादन योग्य बनाती है। इस स्थितिमे 'सत्त्व'-सुख और प्रकाशका उद्रेक इतना प्रवल हो जाता है कि रजस् और तमस् (मनकी चंचलता और मृद्ता) अभिभृत हो जाया करते हैं।

भट्टनायकके पूर्व ध्विन-सिद्धान्तकी स्थापना हो चुकी थी और शब्दकी अभिथा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन शिक्तयाँ स्वीकृत की जा चुकी थीं। परन्तु भट्टनायकने रसिनिष्पत्तिके लिए अभिथाके साथ दो नयी शिक्तयोंकी स्थापना की—भावकृत्व तथा भोजकृत्व। अभिथाको आचार्यने उस शिक्तके रूपमे स्वीकार किया है, जिससे इसको नाटक अथवा काव्यमें प्रम्तुत अथवा विणत अर्थका बीध होना है। इसीके द्वारा हम यह समझनेमे समर्थ होते हैं कि किन पात्रों अथवा परिस्थितियोंका उक्लेख किया गया है। इसके द्वारा कथाके व्यक्तिविशेष अथवा घटनानिशेषका बोध होना है। आचार्यके अनुसार यह बोध रसिनिष्पत्तिकी बाधा है और उन्होंने इसके स्थानपर व्यक्तिनिर्पेक्ष बोधकी आवश्यकता मानी है। उनका कहना है कि अभिधासे व्यक्ति अथवा परिस्थितिविशेषका बोध हो जाने-

पर भी कलात्मक नाटकीय प्रदर्शन अथवा कान्यकी सुन्दर अभिन्यक्ति (शब्दचयन, पद-विन्यास, अलंकार आहि) के कारण प्रेक्षक तथा पाठकका मन इस विशिष्टताके बोधको भृलने लगता है और जितना ही वह भूलता जाता है, उतना ही उस व्यक्ति या स्थितिका वह निरपेक्ष चिन्तन करनेमे समर्थ होता है। इस रूपमे सामाजिक नाटकमें प्रदर्शित अथवा काव्यमे विभाव विभावादिकको केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिका न मानकर सामान्य रूपमे ग्रहण करता है। इस स्थितिकी प्राप्ति भट्टनायकके अनुसार भावकत्व-शक्ति'से होती है। यह रसास्वादनके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। इसके द्वारा सामाजिक देश-कालकी सीमाओं तथा लोक-मर्याराओके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। उसके लिए राम अतीतके पात्र नहीं रह जाते। उनकी सीताविषयक रित सामाजिकके लिए बाधा नहीं उपस्थित करती। इस प्रकार आ वार्यके अनुसार 'भावकत्व-शक्ति' और 'साधारणी-करण'-व्यापार (दे०)से ताडस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष दूर हो जाते है। इसके अनन्तर तीसरी भोजकत्वशक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादिका रस-रूपमें भोग करता है, जो अपनी विलक्षणतामें परब्रह्मास्वाद (दे०)के समान लौकिक अनुभव तथा स्मृति-ज्ञानसे नितान्त भिन्न है। उपर्युक्त विवेचनासे म्पष्ट है कि भट्टनायकके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'भोग' है, जिसमे विभावादिके स्थायीके भोजक है और स्थायी भोज्यः जिसका विभावादिके द्वारा 'भोग' किया जाता है। यहाँ विभावादि तथा स्थायी भावका सम्बन्ध भोज्य-भोजक-भावका माना जायगा।

भट्टनायकका भोगवाद सांख्यदर्शन (दे०)पर आधारित है। सांख्यके अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी अभिव्यक्ति है और निर्विकल्प ब्रह्म भी इसके चकरमें त्रिगुणमय हो जाता है और अनेक रूपोमे अपनेको व्यक्त करता है। सत्त्व, रज तथा तम-ये गुण है, जिनसे शरीर प्रकाशित है। सत्त्वमे प्रीति, रजमे अप्रीति तथा तमीगुण विषादात्मक है। सांख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिके इस त्रिगुणात्मवः स्वरूपकी कल्पना भट्टनायकके सत्त्रोद्रेकके समान है। परन्तु सांख्यमे पुरुष प्रकृतिके बन्धनमे अपने-आपको भूल जाता है और अन्य दोनों गुणोको विजय करके ही सत्त्वोद्रेकके सहारे पुरुष मुक्तस्वरूप होता है। अपने आत्मस्वरूपकी परम स्थितिको कैवल्यपद कहा गया है, जो मध्यस्थकी स्थिति मानी गयी है, जिसमे पुरुष स्वतः साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है । भट्टनायकके भोगवादका आधार यह सिद्धान्त अवस्य है, पर भोगकी स्थितिसे कैवल्यपदकी स्थितिका मौलिक अन्तर है, यद्यपि सत्त्वोद्देककी स्थिति दोनोमे स्वीकार की गयी है। सांख्यके अनुसार मध्यस्थकी स्थिति उदासीनकी स्थिति है, जिसमे वह सुख-दःखते परे होता है। इस मुक्तिकी स्थितिमे पुरुष सभी गुणोसे हीन हो जाता है, यद्यपि इस स्थितिको प्राप्त करने में सत्त्रों क्रका सहारा मिलता है। सांख्यका कैवल्य भोगका विरोधी है और भट्टनायकने उसीका प्रतिपादन किया है। भट्टनायकने इस भोगको परब्रह्मास्वादके सदश मानकर सम्भवतः यह सिद्धं किया है कि यह रसस्थिति लौकिक अनुभवगम्य स्थितिसे भिन्न है और साथ ही यह ब्रह्मास्वाद भी नहीं है. ६७९ रसनिष्पत्ति

केवल उसके ममान है। वास्तवमे रसानुभृति संवित् (चित् स्वभाव) है, जो विश्रान्निमें परिणत होनी है। परन्तु दार्शनिक स्थिनिमे शुद्ध चित् स्वभाव अहंकारशून्य होकर सुख-दुःखकी सम्पूर्ण भावनाओं ते मुक्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकारकी निरपेक्ष स्थिति रसाम्बादके क्षेत्रमे सम्भव नही है। काव्यजगत् लौकिक जगत्मे भिन्न है और यह अहंकार वासनाको जागरित नहीं करता है, क्योंकि काव्यकी कित्यत वस्तुएँ विशेषते मम्मद्ध न होकर पूर्णतः निर्वयक्तिक होती है और इन निर्वेयक्तिक स्पोके कारण काव्यानन्द प्राप्त करनेवाला व्यक्ति निजत्वके मोह-बन्धनोसे अलग् रह सकता है। परन्तु उसकी बुद्धिनिरपेक्ष स्थिति थोडे ही कालके लिए सम्भव हो सकती है (एस० के० दे०: हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, भा० र: पृ० १५८)।

भट्टनायकके मतकी प्रधान आलोचना इस रूपमें की गयी है कि लक्षणा और व्यंजनाके रहते हुए भी उन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियोकी स्थापना की । इस मतके आलोचकोने भट्टनायकके भावकत्व-व्यापारको व्यर्थ माना और कहा कि इसका कार्य लक्षणासे चल सकता है। पर इस मलके समर्थकोका उत्तर है कि लक्षणाका व्यापार कठिन है, जिसको ग्रहण करनेमे सभी सामाजिक समर्थ नहीं हो सकते और भरतकी दृष्टिमे नाट्यकलाको सर्वसाधारणके योग्य बनाना है। लक्षणासे अर्थ ग्रहण करनेके लिए कशाग्रविके अतिरिक्त काव्यान-शीलनका अभ्यास भी आवश्यक है। ऐसा मानकर चलना नाट्यकी सार्वजनिकतामें बाधक होगा। इस प्रकार काव्या-नुशीलनकी कई कोटियाँ भी माननी पडेगी, योग्यतानुसार व्यक्ति लक्षणा-व्यापारसे अर्थ ग्रहण करेगा । इसके अतिरिक्त लक्षणाका अर्थग्रहण एक क्रमसे होता है, जिसमे पौर्शापर्यका सम्बन्ध परिलक्षित होता है, पर रसास्वाद इस क्रममे उपस्थित नहीं होता। कान्यके सहज रसास्वादनके लिए भावना तथा भोगकी शक्तियाँ अधिक उपयुक्त है। (कान्यमें रसः अवका० प्रव०, पृ० २२३) । इस मतके समर्थकोका यह भी कहना है-"लक्षणाका न्यापार विभावादिके साधारणी-करणतक मान भी लिया जाय तो भी स्थायी भावके साधारणीकरणमे लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधापर आश्रित है, किन्तु अभिधा मानसिक भावोंको समझ नेमें सर्वथा अनु पयोगी है, अतः यहाँ वह किस प्रकार अपना कार्य सम्पन्न कर सकेगी ? इस प्रश्नका उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अतः भावकत्वको अनिवार्य रूपसे स्वीकार करना पड़ेगा" (वहां, पृ० २२३)।

भट्टनायक्के मतके आलो नक्षोका कहना है कि स्थायी भावोक भावनका काम यदि लक्षणा-राक्तिसे नहीं चलता तो व्यंजनासे सरलतापूर्वक हो सकता है। अभिनवगुप्तने व्यंजनाको स्वोकार कर भट्टनायकके द्वारा प्रतिपादित दोनों शक्तियोको निरर्थक माना है। रस-व्यंजनाको अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव हो जाता है। सरतके कथन—"काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः"में भावकत्व भावकी मौलिक शक्ति माना गया है। अनः स्थायी तथा संचारी भाव अपनी इस योग्यतासे स्वतः साधारणीकृत रूपमें अलोकिक रास्ति स्वारं साधारणीकृत रूपमें अलोकिक रास्ति स्वारं श्रीतिका विरोध

मी स्वीकार नहीं किया है। अनुमानके अर्थमे प्रनीतिकों भले ही अन्वीकार किया जाय, पर ज्ञानके अर्थमे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रतीतिके अतिरक्त भोगका अर्थ क्या हो सकता है? 'रमन व्यापार' कहकर भी उसे प्रतीतिसे भिन्न नहीं सिद्ध किया जा मकता। स्थायी भावका हो भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्त मे बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तुका भोग नहीं किया जा सकता। भोग भी व्यवहार है, अतएव उसके माननेसे प्रतीति भी आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है (अ० मा०: प्र० भा०, ५० २७९)। भट्टनायकने स्थायी भावकी प्रतीतिको असम्भव माना है, पर अभिनवगुप्त इन्होकी प्रतीतिपर विश्वास करते हैं। यह बात दूमरी है कि इस सन्दर्भमें प्रतीति चर्वणा, आस्वाद अथवा भोग आदि नामोने पुकारी जाती है (ध्वन्यालोक, पृ० १८७)। अभिनवने भोगव्यापारको अन्तनः व्यंजना अथवा ध्वनन-व्यापार माना है।

परवर्ती आचार्योंकी आलोचनाके वावजद भट्टनायकका सिद्धान्त बहुत दूरनक सत्यपर आधारित है। इस आचार्यकी मौलिकता तथा सुक्ष्म दृष्टिको स्वीकार करना पडा है। इनके द्वारा प्रतिपादित सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि शब्दोको आगेके आचार्यांने स्वीकृति दी है। रसानुभृतिको ब्रह्मास्वादसहोदर (दे०) कहनेकी परम्परा इसी आचार्यसे प्रारम्भ हुई है। साधारणीकरणका सिद्धान्त (दे०) रस-व्याख्याके क्षेत्रमे इनका सबसे महत्त्वपूर्ण योग माना जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टनायकने अपना सिद्धान्त नाटक और कान्य, दोनोको दृष्टिपथमे रखकर स्थापित किया है, फिर भी नाट्यप्रदर्शन उनके सामने अधिक प्रत्यक्ष है वस्तुतः वास्तविक जीवनमे स्थायी भावकी उद्बुद्ध स्थिति और रसनिष्पत्तिके अन्तरको सर्वप्रथम भट्टनायकने ही स्पष्टतः स्वीकार किया है। सामान्य अभिधार्थसे आचार्यका ताल्पर्य प्रत्यक्ष ज्ञान (काव्यवणित वस्तुका पर-प्रत्यक्ष) है। इस स्तरपर विभावादिकका अर्थ केवल लौकिक जीवनकी भागतमक प्रक्रियामे सम्बद्ध माना जा सकता है और इस आधारपर काव्यात्मक रसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जैसा पिछले आचार्योंक मतोके सम्बन्धमे देखा जा चुका है। अतएव आचार्यने भावकत्व-शक्तिकी स्थापना की। उनके अनुमार इस शक्तिते एक ओर प्रेक्षक निजत्व-मोहकी स्थितिसे मुक्त होता है और दूसरी ओर इसीसे विभावादि उसके मानममे साधारणीकृत स्थितिमे प्रत्यक्षीभूत होते हैं, इस प्रकार यह शक्ति प्रेक्षकमे रसको भाव्यमान करती है। वस्तुतः प्रत्येक भावात्मक प्रक्रियामे इच्छाशक्तिका स्थान रहता है। आचार्य द्वारा स्वीकृत भावन-व्यापार इच्छा-शक्तिका रूप ही जान पड़ता है। प्रेक्षकके मनमें नाटकीय कथावस्तके प्रति जो उत्सकता जायत होती है, वह इच्छा-शक्तिकी प्रेरणासे ही सम्भव है और यह इच्छाशक्ति न तो नाटकीय विभावोंके प्रति क्रियाशील है और न अनुभावोसे सम्बन्धित है-वह तो कथावस्तुके प्रदर्शनके प्रति उत्सुक और इच्छ्क है। सम्भवतः इसी कारण राकेश गुप्तने भ्रमवश समस्त काव्यानुभृतिकी भावात्मक प्रक्रियाको काव्यात्मक उत्सकता-मात्र माना है। यह नाटकीय प्रदर्शन

न तो जीवनका प्रत्यक्ष बोध है और न स्मृति-संयोग, इसी आधारपर उत्पत्तिवाद तथा अनुमानवादको अस्वीकार किया गया है इस कलात्मक मानसिक घटनामे प्रत्यक्ष बोध (concepts)से हम कल्पनात्मक सृष्टि कर छेते है, जिसमें स्मृति और अनुभवोका आधार अवस्य है, पर संयोगका क्षेत्र मुक्त है। इसीको आचार्यने भोगशक्ति माना है और इसे अनुभव, स्मृतिसे विलक्षण (भिन्न) स्वीकार किया है। भोगशक्तिसे प्रत्यक्ष बोधको कल्पनात्मक स्तर मिलता है और अनुभृत्यात्मक (affective) वैचित्र्य (चमत्कार)के रूपमे आस्वादनका आनन्द भी मिलता है। इस कल्पनात्मक स्तरकी स्थिति निश्चय ही प्रत्यक्ष जगतसे भिन्न (विलक्षण) है। काव्य अथवा नाटककी कल्पनात्मक स्थितिमे प्रेक्षक (जो सहृदय तथा संस्कृत भी होता है) अपनी भावनात्मक प्रक्रियामे भी सुख-दःख ने भिन्न अनुभृति यहण करेगा। अ.गे भावनाइ कि 'इच्छा शक्ति'के साथ यह अनुभृति चमत्कार-सौन्दर्यसे अधिकाधिक बढेगी। प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह अनुभूति सुख-दुःख(रजस्-तमस्) ते भिन्न है तो उत्सकता इच्छाशक्तिको आकर्षित कैसे करती है ? आचार्यके राब्दोंमे उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है-इच्छाशक्तिकी गति ही ऐसी है; सौन्दर्यवीध (सत्त्वगुण) भी संकलप-विकलपते हीन, आनन्दमय है और यह आनन्द स्वयं आकृषित करता है। इस इच्छाशक्तिरूपी भावन-शक्तिमे निजत्वका भाव नहीं रह सकता, क्योंकि कथावस्तुमे प्रम्तुत या प्रदिशत भावनात्मक प्रक्रियाके प्रति प्रेक्षक या पाठक तरस्य ही है। लेकिन यह तरस्थता क्रियाशक्ति तथा इच्छा-शक्तिसे प्रेरित है। इच्छाइक्तिकी इस प्रेरणाके कारण कान्यात्मक भावस्थितिसे स्थायी भाव सम्बन्धी सुख-दुःख अलग रहेगे। इच्छाशक्तिकी प्रेरणा इस स्थितिमे वस्तु-वैचित्र्यकी ओर रहती है। साथ ही, जिस कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तुको ग्रहण करता है, उसमें विभावादिको स्मृतिके अनुभवात्मक संयोगसे साधारणीकृत रूपमे ग्रहण किया जाता है और कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार ही साधारणीकरण (दे०) है।

अभिनवग्रप्त (१०-११ २० ई०) भरतके रससत्रके चौथे व्याख्यःता है। वस्तुनः इनकी 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालीक'पर 'लोचन' नामक टीकाओंके आधारपर रस-सिद्धान्तके अन्य आचार्योंके मतोंकी स्थापना भी की जा सकी है। अभिनवग्रप्तका सिद्धान्त अभिन्यक्तिवादके नामसे प्रसिद्ध है, जो प्रायः शैव दर्शन-पर आधारित माना जाता है। ऊपर भट्टनायकके भोगवाद-की आलोचनाके प्रसंगमें कहा गया है कि अभिनवगुप्तने उनकी शक्तियोकी कल्पनाको अस्तीकार करके यह माना है कि यह कार्य लक्षणा तथा न्यंजनासे सम्पादित हो जाता है। इस प्रमुख अन्तरके अतिरिक्त अभिनवगुप्तने भट्ट-नायकके मनकी अन्य बातोको स्वीकार किया है। परन्तु उनका इस विषयमें महत्त्वपूर्ण योग है-सामाजिकोंके अन्तः करणमें वासनारूपसे स्थायी भग्वोंकी स्वीकृति। भट्टनायककी विवेचनामें इस बातका कोई संकेत नहीं है कि प्रेक्षक अथवा पाठकके स्वयके भावों से रसास्वादनका कोई तास्विक सम्बन्ध है। प्रेक्षक या पाठककी स्वयंकी

मनःस्थितिमें रसनिष्पत्तिके लिए क्या कोई मनोवैज्ञानिक आधार है ? इस प्रश्नका उत्तर अभिनवके पूर्वकी व्याख्याओं के आधारपर नहीं दिया जा सकता। अभिनवगप्तने सामाजिकके अन्तः करणमे वासनारूप मंस्कारोकी कल्पना करके रसका सामाजिकके भावोंसे सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनके अनुसार रसनिष्पत्तिके लिए सामाजिकमें अनादि वासना अनिवार्य है और यह वासना सबसे होती है। वासना-संवाद ही रसका हेत्र है। इन्ही संस्कारोको स्थायी भावकी संज्ञा दी गयी है। ये सभी सामाजिकोंमें जन्मसे होते है और किसी-न-किसी स्थितिमे सदैव बने रहते है। इनके विना कोई भी प्राणी नहीं होता (अ०भा० : प्र० भा०, २८९)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक सामाजिक इसी कारण रसाम्वादनका समान अधिकारी माना जा सकता है। भरतके द्वारा सामाजिकोके लिए प्रयुक्त 'सुमनस्' शब्दका उल्लेख किया गया है, अभिनवने इसीके आधारपर उसके लिए 'सहदय' शब्दका प्रदोग किया है। सहदयताके लिए कान्यान शीलन तथा अभ्यासकी पहली शर्त है। काव्यानुशीलनके अभ्याससे सामाजिकका मन-मुक्र स्वच्छ और विशद हो जाता है और उमपर प्रदर्शित अथवा वर्गित भावोंका प्रभाव गम्भीर होकर पडता है और इस स्थितिमे सामाजिक तन्मय होकर हृदयसंवाद द्वारा रसास्वाद करता है (अ० भा०, पृ० २८६)।

अभिनवने सहदयके रसास्वादमे विघ्नों (दे०)को भी माना है और उनके दूर करनेका उपाय विभावोंके प्रदर्शन तथा वर्णनके चमत्कारको स्त्रीकार किया है। यही अद्भुत चमत्कार भोगरूप अथवा स्पन्दरूप होता है। यह दशा न लौकिक है और न मिथ्या। न इसे अनिर्वचनीय कह सकते है, न लौकिकके मददा और न आरोपमात्र (अ० भा०, पृ० २८१) । अभिनवगुप्तने विभावादिके रसास्वाद होनेकी योग्यताके लिए भड़नायकके साधारणीकरण (दे०) सिद्धान्तको स्वीकार किया है । उन्होंने रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमें चार स्थितियोंकी कल्पना की है। पहली स्थितिमें रंगमंचपर (दृश्य काव्यमे) व्यक्ति अथवा स्थिनिविशेषका प्रत्यक्ष बोध होता है। इसके बादकी स्थितिमे रंगमचके वाता-वरण (का॰यकी वर्णना) से कथावस्तुका यह विशेषका भाव दर होने लगता है और पात्र तथा स्थितियाँ सामान्य रूपमे आती है। इस स्थितिमे व्यक्तिविशेषका बोध तो नही होता, किन्तु दैत बना रहना है , तीसरी अवस्थामे चित्तमें अवस्थित स्थायी भाव न तो उसके अपने रह जाते है और न किसी अन्यसे उनका किसी प्रकारका सम्बन्ध रहता है। विभावादिके विशेषत्व-लोपके साथ अन्तःकरणमें स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते है। अन्तिम स्थितिमे निर्विन्न होकर सहदय साधारणीकृत रूपमे उद्बुद्ध स्थायीका रसरूपमें आस्वादन करता है (अ० भा०: प्र० भा०, पृ० २०९)। अभिनवके अनुसार 'निष्पत्ति'का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। विभाव विभावना-व्यापारके द्वारा स्थायी भावको अंकरित करता है, अनुभाव अनुभावना-न्यापारसे इस स्थायीको अनुभवयोग्य बना देते हैं और संचारी भाव अनुरंजन-व्यापारके द्वारा उसे पूर्णतया ब्यंजित कर देते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक अथवा पाठकके

स्थायी भाव रसरूपमें प्रकट अथवा व्यक्त होते हैं।

अभिनवगुप्तका अभिन्यक्तिवाद शैव दर्शन(दे०) पर आधारित है, जो स्वतः अद्वैतवादी (दे०) है। इस सिद्धान्त-में परम शिवको मायाजनित देश-कालकी सीमासे मुक्त माना गया है और इस मुक्तावस्थाके कारण इसे चमत्कार भी कहा गया है। अभिनवगुप्तने विघ्नविनिर्मुक्त, संवित्, चमत्कार, रसना, आस्वाद आदिको पर्याय कहा है। विमर्श तथा चमत्कार एक ही माने गये है, अतएव अभिनव-के अनुसार आस्वाद आदि विमर्शके भी पर्याय है। उन्होने इस आस्वादको विश्रान्ति, समापत्ति तथा विव्वविनिर्मुक्त कहकर परम शिवकी मुक्तावस्था अथवा आत्मस्य स्थितिकी ओर संकेत किया है। यही विमर्श है। अभिनव द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावोकी वासनारूपमें अन्तःकरणमे स्थिति तथा रसभी निविध प्रतीति इस दाई निक सिद्धान्तके अनुकृत है। शिवकी आन्तरिक इच्छाशक्तिसे सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है और उनकी इच्छाशक्ति निविध है। इसी प्रकार सहदयके अन्तःकरणमे वासनारूपमे अवस्थित स्थायी भाव 'निविध्न होकर रसरूपमे अभिव्यक्त होते है। भट्टनायकके सत्त्व, रज तथा तमले सम्बद्ध भोगवादको अभिनवने अस्वीकार कर ब्रह्मास्वादसहोदररूप रसानुभृति-को गुणातीन ही माना है। इसीसे उसे व्यक्ति तथा स्थित-सम्बन्धसे मुक्त मानकर 'परम भोग' तथा 'विश्रान्ति' माना गया है। इसकी आत्मस्थ अवस्था ही निरपेक्ष आनन्द है। भोगकी स्थिति वास्तविक आनन्द नहीं मानी जा सकती। भोगकी अवस्थामे भोगमे ही लीन हो जाना तथा विषयको विस्मृत कर केवल स्वानुभूतिमे स्थित होना आनन्द कहा जायगा (काव्यमे रस, पृ० २३७) ।

अभिव्यक्तिवादके आलोचकोंने अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेनेका अर्थ रसकी पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना माना है। बिना किसी वस्तुको पूर्वस्थितिके उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। वस्तुतः इस आरोपका उत्तर अभिनवगुप्तने स्वय दिया है-जैसे चावल भातके रूपमें आ जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव रसरूपमें अभिन्यक्त होता है। दसरा आरोप है कि यदि स्थायी भाव अपनी सुक्ष्म स्थितिमे विभावान भावादिके संयोगसे रसरूपमे अभिव्यक्त होते है नो रसकी कोटियाँ माननी पड़ेगी। परन्तु वस्तुतः यह संयोग विभावानुभावादिकका एक साथ स्थायीके साथ घटित होकर रसरूपमे व्यंजित होता है, उनके पृथक-पृथक संयोगसे नहीं। कुछ आलोचकोंने इस प्रकार विभावादि नथा रसमे कारण-कार्य-सम्बन्धके साथ विभावादिमे पौर्वापर्य भी माननेकी बात कही है। अभिनवके द्वारा साहचर्य-सम्बन्ध माना गया है, अतएव कार्य-कारण सम्बन्ध मानना उचित न होगा । परिणामतः कार्य-कारणपर आधारित अभिन्यक्ति-वाद भी स्वीकृत नहीं हो सकता। इस आरोपके प्रत्या-ख्यानके लिए परवर्ती आचार्योंने 'दीपघटन्याय'का आश्रय लिया है। टीपक अन्धकारमें रखे हुए घटको प्रकाशित करता है, दीपके साथ-साथ वह भी गोचर हो जाता है। इस प्रकार यहाँ दीपक घटको प्रकाशिन करनेका उसी प्रकार कारण है जिस प्रकार रस विभावादिके साथ ही व्यंजित हो जाता है, उनमें पौर्वापर्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं। परन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि दीप और घटकी स्थिति समकालिक होकर भी उनमे पृथक्तवका बोध बना रहता है, पर रसप्रतीति विभावादिकी 'सवलिता-प्रतीति' है। इसमें विभावादिका पृथक-पृथक ज्ञान नहीं रहता। अभिनवने इसी विचित्रताके कारण रसको अलैकिक मान लिया है (आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमे रस, पृ० २४०)। महिमभट्टने 'व्यक्तिविवेक'मे अभिव्यक्तिके तीन प्रकारोंकी कल्पना करके उसका खण्डन किया है। पहली स्थिति कारणमे कार्यको निहित मानने की है, जैने, दूधसे दहीकी अभिव्यक्ति। दूसरी स्थिति कार्यके रहते विना कारणके अभिन्यक्त न होनेकी स्थिति, जैसे दीप और घटका उदा-हरण । इन दोनोंको ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनमे ध्वन्यर्थ तो प्रत्यक्ष ही है। तीसरी म्थितिमे पूर्व अनुभूत विषयकी स्मृति द्वारा अभिव्यक्ति हो सकती है, जैसे धुएँमे आगकी व्यंजना ! महिमभट्ट इसे ही रसप्रतीतिका उदाहरण मानते है और इसके आधारपर यह मिद्ध करते है कि इस रस-ध्वनिकी प्रतीति भी परिणाम-स्वरूप है, क्योंकि अमंलक्ष्यक्रममें भी किसी-न-किसी रूपमें क्रम स्वीकृत है। अतएव उनके विचारसे रसप्रतीतिको अभिव्यक्ति कहनेका कोई अर्थ नहीं है (व्य० वि०, पृ० ७८) । आनन्द प्रकाश दीक्षितका वहना है कि महिमभड़के आक्षेपोंका कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अभिन्यक्तिको परिभाषा है तथा उन्होने जिन उदाहरणोंको लिया है, वे अभिनव द्वारा रूीकृत नहीं है। घट-दीपकका उदाहरण मात्र इस बातको व्यक्त करनेके लिए दिया गया था कि व्यंजितकी अनुभृति व्यंजक-निर्पेक्ष नहीं है।

पहले ही यहा जा चुना है कि सट्टनायकके भोगवादमे मनोविज्ञानका पर्याप्त आधार है। वस्तुतः भट्टनायकके सामने नारकका आदर्श अधिक प्रत्यक्ष लगता है और अभिनवगुप्तके सामने कान्यका । मानसिक प्रक्रियाका भोगवादकी शक्तियोंने अधिक स्पष्टतः उल्लेख है। वैसे अभिधाके प्रत्यक्ष बोध और प्रप्रत्यक्ष (concept), लक्षणा-मे स्मृतिके विभिन्न संयोग और व्यंजना द्वारा कल्पनाके स्वतन्त्र संयोगोकी व्याख्या हो जाती है। इसमे मानसके केवल ज्ञानात्मक पक्षपर अधिक वल दिया गया है। इस आधारपर यह व्याख्या सत्य भी है, पर इसमे मानसिक प्रक्रियाके दो पक्षोका, अर्थात् अनुभूति (रागात्मक) और इच्छा शक्ति (चिकी षी)का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। अतएव भोगवादी व्याख्या रसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्याके अधिक निकट है। पर इसमे रस्निष्पत्तिका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, इसका उत्तर नहीं मिलता। प्रेक्षककी कल्पनातक उसमे स्वीकृत है, पर उसमे भावात्मक रसास्वादका आधार क्या है, जिसकी प्रेक्षक या पाठक भावना द्वारा अनुभूति करता है और भोग द्वारा कल्पित और आस्वादित करता है ? दूसरा एक और प्रश्न उठता है, काव्यार्थके वैचित्र्यसे प्रेक्षक या पाठकके मनकी चमत्कृत स्थितिके अतिरिक्त रसनिष्पत्तिके लिए साक्ष्य क्या हे ? इन प्रदनो और जिज्ञासाओका समाधान अभिन्यक्तिवादसे अवस्य होता है। इसमे रसनिष्पत्तिके लिए कल्पनाकी और संकेत किया गया है। सामाजिककी मावस्थितिमे वासनारूपसे

जो स्थायी भावोका संस्कार अभिनवगुप्तने स्वीकार किया है, उसके आधारपर सामाजिक साधारणीकृत विभावादिसे भावात्मक स्थिति(emotional tendency)की कल्पना करनेमे समर्थ होता है। जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष बोधोके संचित अनुभव-कोशके आधारपर वस्तुस्थितियोकी स्मृति और कल्पना करते है, उसी प्रकार वासनामे स्थायी भावोके संचित संस्कारोके आधारपर प्रेक्षक या पाठक भावनात्मक स्थितियोको कल्पना करनेमे सफल होता है। अव सम्भावित शंका रह जाती है कि इस कल्पनामे भावात्मक स्थितिके प्रत्यक्षीकरणसे आनन्दकी अनुभूति ही क्यों होती है ? पहली बात है कि कवि और नाटककारके मनमे कथावस्तकी कल्पना इसी आनन्दानुभूतिके साथ होती है और प्रेक्षक-पाठक उसीका पनः प्रत्यक्षीकरण करता है। इसके अति-रिक्त कलात्मक और साधारण कल्पनामे जो अन्तर है, उससे उनकी अनुभृतियोमे भी अन्तर हो जाता है। काव्यकी कल्पनामे प्रेक्षक-पाठकमें वास्तविक जीवनसे सम्बद्ध भावनाओका उदबोधन नहीं होता। आचार्योंने काव्य अथवा नाटकसे भावतादात्म्य करनेवाले, अर्थात् उसे अपने जीवनकी घटनाओंके रूपमे समझ लेनेवाले पाठक या प्रेक्षकको संस्कृत भावज्ञकी वोटिमें माना ही नही है। साधारण जीवनकी कल्पनामे अपने जीवनका सम्बन्ध होता है और इस कारण व्यक्ति उसके प्रति अपनी कल्पना-शक्तिको इस प्रकार निरपेक्ष नहीं कर पाता, जो काव्य और कलाकी विशेषता है। दूसरी बात है, जिसका समाधान अभिव्यक्तिवादसे ही सम्भव हो सका है। साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तको कल्पनामे प्रहण करानेमे ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक या पाठक उस भावात्मक स्थितिको अपने वासनारूप स्थित स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थिति (दे०)मे यहण करता है। साधारणीकरणको दोनो पक्षोमे स्वीकार करनेसे एक ओर कल्पना करनेके लिए आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमें भावात्मक स्थिति साधारणीकृत स्थायी भावोकी ओर संकेत करती है, अर्थात् यह भावात्मक स्थिति पूर्वसंचित स्थायी भावोके व्यापक आधारपर सम्भव होती है। इससे हमारे दूसरे प्रश्नका उत्तर भी मिल जाता है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि कान्यके अर्थग्रहणमे पाठक(प्रेक्षक)के मनमे कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति न्याप्त हो जाती है, जो कान्यके सौन्दर्य-चमत्कारके साथ आनन्दानुभृतिसे सम्बन्धित हो जाती है। भट्टनायकके भोगवादके सम्बन्धमे कहा गया है कि पाठककी इच्छाशक्ति निरपेक्ष क्रियाशीलतामे इस समस्त मानसिक घटनाका अनुभूतिपक्ष है और भावनात्मक स्थितिकी कल्पना उसका आधार है। आचार्योंने कार्य-कारण का क्रम न स्वीकार करके रसनिष्पत्तिको एक पूर्ण मानसिक घटना माना है। यहाँ अलौकिक (काव्यात्मक) शब्दको मनोवैज्ञानिक अर्थमें लौकिक घटनाके प्रत्यक्षोसे भिन्न काल्पनिक अर्थमे मानना आचार्यका अभिप्राय है। आस्वादको रमनिष्पत्तिमें स्वीकार करके आचार्यने काव्य-सौन्दर्यके उद्बोधमें इच्छाशक्तिका सचेष्ट होना स्वीकार किया है और संकल्प विकल्पमे रहित मानकर काव्य द्वारा व्यंजित भावनात्मक स्थितिको कल्पनात्मक सौन्दर्यसे

सम्बन्धित किया गया है। इस प्रकार अभिन्यक्तिवादने रसनिष्पत्तिके उन मनोवैज्ञानिक आधारोको उद्घाटित किया है, जो भोगवादतक स्पष्ट नहीं हो सके थे (रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान : हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ३ : भा०२)।

आगेके आचार्योंमें अभिनवग्रप्तका अभिन्यक्तिवाद स्वीकृत रहा। मम्मट (११ श० ई०)ने उनके मतको ही प्रतिष्ठा प्रदान की है। जगन्नाथ (१७-१८ श० ई०)ने अपने 'रस-गंगाधर'में भी इसीका आधार ग्रहण किया है। जगन्नाथने अभिनव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तको वेदान्त-दर्शनका आधार प्रदान करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने सामाजिक-के अन्तः करणमे संचित संस्काररूप वासनाको माना है, पर आत्माको इस स्थितिमे अज्ञानोपहित माना है। उनके अनुसार 'व्यक्त'का अर्थ है अज्ञानरूप आवरणका नष्ट हो जाना । अज्ञानरूप आवरणके नष्ट होनेका अभिप्राय वास्तव मे चैतन्यका विषय होना अथवा उसके द्वारा प्रकाशित होना माना गया है। किसी आच्छादनसे ढॅका हुआ दीपक उससे मक्त हो जानेपर चारो ओरके पदार्थीको प्रकाशित करता है और स्वतः भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चैतन्यस्ररूप आत्मा विभावादिसे मिश्रित रति आदिको प्रकाशित करती है और खयं प्रकाशित होती है। संसारके पदार्थींको अन्तः व.रणसे युक्त आत्मा भासित करती है और अन्तःकरणके रत्यादि धर्म उसके द्वारा ही प्रकाशित होते है (हि० र० गं०, पृ० ५५-५८)। इस व्याख्याके सम्बन्धमे कठिनाई प्रस्तुत हुई कि अन्तःकरणमे वासनारूपसे स्थित रत्यादिका प्रकाशन कहाँतक सम्भव है ? स्थाथीका मान भी लिया जाय तो विभावादि तो अन्तःकरणसे बाह्य है, उनका प्रकाशन आत्मा द्वारा कैसे होगा ? दूमरी बात यह भी है कि अन्तः करणके धर्मके रूपमे इनका प्रकाशक रस नित्य होना चाहिए, जैसा वह नहीं है। जगन्नाथने स्वप्नमे देखे हुए अश्व तथा रॉगेमे चॉदोकी प्रतीतिके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विभावादिका साक्षिभास्य हो सकता है, अर्थात वे आत्मचैतन्यके द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं और रसकी नित्यताके सम्बन्धमे उनका मत है कि वस्तृतः रस विभावादिके सम्बन्धके कारण अनित्य माने जाते है। ये विभावादि नष्ट और प्रस्तुत होते है। इसके साथ ही अज्ञानरूप आवरण कभी नष्ट हो जाता है और कभी नही और इसीके अनुसार रस भी न्यक्त और विलीन होता है।

जगन्नाथकी व्याख्याका एक दूसरा रूप है, जिसमे रसनिष्पत्तिके लिए अलैकिक क्रियाका आश्रय नहीं लिया
गया है। सहृद्रयकी चित्तवृत्ति विशेष योग्यताके कारण
अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादिके द्वारा उदीप्त अपनी
कल्पनामे स्थायी भावसे युक्त आत्मानन्दमे तल्लीन हो जाती
है। वह किसी अन्य पदार्थका बोध उस समय नहीं कर
पाती। वस्तुतः इस स्थितिमे आचार्यने आवरणहीन निद्धिशिष्ट स्थायी भावोकी स्थितिको ही रस स्कीकार किया है
(हि० र० गं०, पृ० ६०-६१)। इस आनन्दको लौकिक
सुखोके समान नहीं माना जा सकता। अन्य सुख अन्तः
करणको वृत्तियोंसे युक्त है, जब कि यह शुद्ध चैतन्यरूप
है, इसीलिए आनन्दमय भी है। इस प्रकार जगन्नाथकी

पहली व्याख्याके अनुसार ज्ञानरूप आत्माके द्वारा प्रकाशित होनेवाले स्थायी भावको रस स्वीकार किया गया है और दूसरी व्याख्याके अनुसार स्थायी भावके विषयमे चित्तवृत्ति सम्बन्धी तल्लीनता (ज्ञान)को रस माना गया है। आनन्द-प्रकाश दीक्षितका कहना है कि "वाहे भन्नावरण-चिद्विशिष्ट-को रस-चर्वण माना जाय अथवा अन्तःकरण-वृत्तिकी आनन्दमयताको—दोनों पक्षोंमे किसीको भी माननेपर रस-की आनन्दमयता असन्दिग्ध ठहरती है" (काव्यमे रस, पृ० २४८)। आनन्दमय होकर भी रसास्वाद ब्रह्मानन्दते भिन्न है। समाधिजन्य ब्रह्मानन्द विषयसे असम्पृक्त होनेपर प्राप्त होता है, जब कि रसास्वादमे विभावादि विषयोका संयोग परमावश्यक है। जगन्नाथने रसास्वादको व्यंजनाके अर्थमे शाब्दी कहा है, अर्थात् यह काव्यके शब्दार्थपर निर्भर है। साथ ही इसका अनुभव आन्तरिक है, अत्यव इसे अपरोक्षात्मिकता भी कहा गया है।

जगन्नाथके 'रसगंगाधर'मे नवीनोके नामपर एक मत दिया गया है, जो उनके द्वारा प्रस्तुत ग्यारह मतोमे है। इस सिद्धान्तमे दोषदृष्टिकी प्रधानता है। सर्वप्रथम व्यजना-वृत्तिसे आलम्बनविषयक आश्रयकी रतिका ज्ञान सहदयको होता है। इसके बाद सहदयताके कारण पाठकके मनमें एक दोषभावना जागरित होती है, जिससे उसकी अन्तरात्मा कल्पित विभावादिसे आच्छादित हो जाती है और उसमे सीपके दुकडेमे चॉदीकी प्रतीतिके सद्दश इस दोषके कारण अनिर्वचनीय सत् रूप रत्यादि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। इन्हीं चित्तवृत्तियोंके आत्मचैतन्य द्वारा प्रकाशित होनेको रसास्वाद कहते है। यह रसनिष्पत्ति दोषका कार्य है और उसके साथ ही नष्ट हो जाती है। इनके अनुसार यह न सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है। फिर भी इसे सुखरूप कहा जाता है, क्योंकि प्रतीतिके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले सखने इसका अन्तर नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य भी मान लिया जाता है (हि॰ र॰ गं॰, पू॰ ६७-६८) । इन सिद्धान्तवादियोने साधारणीकरणको दोषपर आधारित माना है, क्योंकि जब रत्यादि स्थायी भाव विशेष-से सामान्य होकर हमारे-जैसे लगते हैं, तब वस्तुतः विभा-वादि हमको आच्छादित ही कर लेते हैं और वासनारूपमे स्यायियोको स्थिति भी दोष-कल्पना ही है। अपनी प्रत्यक्ष सीमाओके कारण यह सिद्धान्त मान्यता नही प्राप्त कर सका। जगन्नाथने भ्रमवादी सिद्धान्तका भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार आलम्बन (शकुन्तलादि)के सम्बन्धमें रत्यादि स्थायी भावयुक्त आश्रय (दुष्यन्तादि)के साथ अभेद-का मनःकल्पित ज्ञान ही रस है (वही, पृ० २७) । पर इस प्रकार तो स्वप्नज्ञान भी रस कहा जायगा। कल्पित मन:-स्थितियोके अनुभव किस आधारपर सम्भव हो सकते है ? इसके अतिरिक्त भ्रम केवल ज्ञानरूप है, उसका आम्बाद किस प्रकार हो सकता है ? (कान्यमे रस, पृ० २५९)।

हिन्दीके मध्यकालमें रसनिष्पत्तिके सम्बन्धमे कोई चर्चा नहीं हुई। आधुनिक हिन्दीके विचारकोमे रामचन्द्र शुक्ठ, इयामसुन्दर दास, गुलाबराय, केशव मिश्र, रामदहिन मिश्र तथा नगेन्द्र आदिने रस सिद्धान्तकी विवेचना की है और

उसकी महत्त्व भी प्रदान किया है। प्रायः रसनिष्पत्ति सम्बन्धी उनके विचार अभिनवके सिद्धान्तको स्वीकार करते है, पर साधारणीकरण (दे०)की स्थितिके सम्बन्धमे मौलिक ढंगमे सोचनेका प्रयत्न किया गया है। रामचन्द्र शहने अपनी साधारणीकरणकी च्याख्याके अनुसार रसास्वादकी विभिन्न कोटियाँ स्वीकार की-उत्तम, मध्यम तथा निक्रष्ट, जो एक प्रकारमे प्राचीन आचार्योंके रसाभास, भावाभासके समान है। पर रामचन्द्र शक्कका दृष्टिकीण लोक-कल्याणके आदर्शपर प्रतिष्ठित है और उनके रस सम्बन्धी आलम्बनके साधारणीकरण और इस प्रकार आश्रयसे तादात्म्यके सिद्धान्तके मूलमें यही आदर्श है। इसके विपरीत नगेन्द्रने कविकी मनःस्थितिसे तादात्म्य मानकर रसकी व्याख्या की है। रामचन्द्र शक्क्षी व्याख्याको आनन्दप्रकाश दीक्षितंने स्ीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार कवि सहदय सामाजिकको अन्ततः दृष्टिमे रखकर अपने कान्यकी रचना करना है (विशेषके लिए दे॰ 'साधारणीकरण')।

रामचन्द्र शुक्ककी व्याख्यामे रसको मूल भावनात्मक प्रक्रियाके समकक्ष समझनेका भ्रम अवश्य है, अन्यथा न तो उन्हें रमकोटियोंकी स्थापना करनी पडती और न लोक-कल्याणके विरुद्ध आश्रयके भावोंसे तादातम्य स्थापित करने-की कठिनाई ही सामने आती । एक प्रकारसे रामचन्द्र शुक्त-ने शंकककी अनुमितिप्रतीतिको साधारणीकरणके सिद्धान्तके आधारपर स्थापित किया है। राकेश ग्रप्तने तो एक प्रकार-से रसास्वादनमे भ्रमात्मक अनुमानको स्वीकार किया है। वस्तुतः इन विचारकोंने अपने विचारमे साधारण पाठक अथवा दर्शकोके मानसिक स्तरको सामने रखनेका प्रयक्ष किया है। अपने-अपने विभिन्न मानसिक स्तरों, संस्कारों तथा अभ्यासके अनुसार कान्य अथवा नाटकके रसका, विभिन्न पाठक अथवा दर्शक कई स्तरोंपर रसास्वाद प्राप्त करते है। यह ठीक है। इन विभिन्न स्तरीके कारण ही रामचन्द्र श्रञ्जने रसानुभृतिके कई स्तर स्वीकार किये है और राकेश गप्तने रसनिष्पत्तिको अत्यन्त साधारण तथा अनंस्कृत जनकी दृष्टिसे समझनेका प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक लोग आश्रयसे अपना तादात्म्य (आरोप) कर लेते हैं और उसके सख-दःखको महण करते हैं, उसके क्रोध-आवेगमे प्रवाहित होते है। ऐसे लोगोकी भी कभी नहीं है (जैसे आजके सिनेमा-दर्शक), जो कथाके स्थानपर मात्र आश्रय और आलम्बन-विषयक भावनाओंमे इबते-उतराते रहते है । पर नाटक अथवा कान्यके वास्तविक रसास्वादनको इस रूपमे नहीं यहण किया जा सकता। इस रसनिष्पत्तिमे दर्शक अथवा पाठकका कथावस्त्रके अभिनय अथवा वर्णनके प्रति जो आकर्षण है, वह प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्तिके सौन्दर्यका होता है, घटनात्मक कौत्रहलजन्य नहीं। इसके साथ ही उसकी मनःस्थिति प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्री और घटनाओंके प्रति असम्पृक्त (संविद्विश्रान्त) ही रहती है। इस प्रसंगमें अभिनवगुप्तकी व्याख्या सबसे अधिक वास्तविकताके निकट है और उनके साधारणीकरणका भाव विभावादिकसे अथवा उनके भावोके साथ तादात्म्यसे नहीं लिया जा सकता (दे०)।

रसनिष्पत्तिका मूलाधार सौन्दर्यानुभूति है; या यह

भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्यकी अनुभूतिके आनन्दसे भिन्न रसास्वादका अर्थ कुछ नहीं है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदिका वर्णन, विवेचन तथा विस्तार मात्र इसलिए है कि रसिस्डान्त काव्यकी व्याख्या मनुष्यके मनोभावोंके आधारपर करनेका प्रयत्न करता है। रसानुभूतिके क्षणमे सब स्थायी समान है, विभाव समान है, अनुभाव और संचारी समान है। रसानुभूतिकी तीव्रता आदिमें काव्याभिव्यक्तिके कारण कमी हो सकती हैं, पर न तो दो रसोमें तात्विक भेद होता है और न रसके स्तर अथवा कोटियाँ हो सम्भव है (रघुवंदा: प्रकृति और काव्य, भाग १: ५)।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे० : हिस्ट्री ऑव पोएटिवस; ए० शंकरन : द थ्योरी ऑव रस एण्ड ध्विन; आनन्दप्रकाश दीक्षित : कान्यमे रस (अप्रकाशित प्रबन्ध)।] --र०

रसनोपमा -दे॰ 'उपमा', छठा प्रकार। रसपरिवर्तनवकता-दे॰ 'प्रबन्धवक्रता', पहला नियामक । रसराज-शृंगार रसको आचार्यों द्वारा 'रसराज'की उपाधि • प्रदान की गयी है। भरत मुनिका कथन है कि संसारमे जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह श्रुगारके भीतर समाविष्ट हो सकता है। 'अग्निपुराण'मे कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एकमात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रस्त हुए हैं- "तद्भेदाः कामितरे हास्याचा अप्यनेकशः" । प्रकृतिवादी शृंगारको 'आद्य रस' मानते है। हिन्दीके आचार्योंने श्वगारकी रसराजताका तन्मयतापूर्वक व्याख्यान किया है। केशव नवरसोंमे शृंगारको 'नायक' कहते है। मतिरामने उसे स्पष्ट 'रसराज' कहा है तथा अपनी प्रसिद्ध शृंगारी रचनाको 'रसराज'का नाम ही प्रदान किया है। सरदार कविने अपने ग्रन्थ 'साहित्य-सुधानिधि'-में शृंगारके रसराजत्वका तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। वर्तमान कालमे रामचन्द्र शुक्कने रितको एकमात्र शुद्ध स्थायी मानते हुए शृगारकी प्रधानता स्वीकार की है (र० मी०, पृ० १७३)।

निम्नलिखित कारणोसे शृंगार रसराज माना गया है- श्रंगारभावकी व्यापकता—श्रुगारका मूळ भाव रति अथवा काम, समस्त विश्वमें व्याप्त है। क्या नर-नारी, क्या पशु-पक्षी, क्या लता-पादप, सृष्टिके सकल जंगम-स्थावर इस भावकी अनुभृतिसं अनुप्राणित है, क्योंकि प्रजनन तथा स्व-वंश-रक्षणकी निसर्गज प्रवृत्तिको इस भावसे अनुमोदन एवं परिषोषण प्राप्त होता है। 'बृहदारण्यक'मे तो पुरुष-(भगवान्)को ही काममय कहा गया है। आचार्योंने काम-भावकी हृद्यता तथा सकलजातिसुलभताका उल्लेख किया है। रुद्रटने कहा है कि शृंगार रस (आस्वाद्यमान कामभाव) आबालवृद्ध सभीमें व्याप्त है, अतः इसकी रचना सम्यक रूपसे करनी चाहिए । २. उत्कट आस्वाद्यता-अन्य रसोंकी तुळनामे शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी रित मानव-हृदयस्थ 'अहंकार' अथवा 'अस्मिता'से उत्पन्न बताया गया है। अतएव, मनोवैद्यानिक दृष्टिसे रतिका चित्रण अन्य भावोंकी अपेक्षा अधिक आस्वादित हो सकता है। ३. अन्य रसोंको समाहत करनेकी

योग्यता-बीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रसोंसे शृंगारका विरोध बताया गया है.। लेकिन आचायोंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है। हिन्दीके आचार्य देवका यह कथन है कि 'शृंगार रस'की छत्रच्छायामें सभी रस एकत्र दिखलाई पड सकते है। देवके निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य है—''निर्मल स्याम मिंगार हरि, देव अकास अनन्त। उडि उडि खग ज्यो और रस, विबस न पावत अन्त । भाव सहित सिगारमे, नवरस झलक अजल । ज्यो कंकनमनि कनकको. ताहीमे नवरत । भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार । जो सम्पति दम्पतिनुकी, जाको जग बिस्तार" (भ० वि०)। ४. सभी संचारियों एवं साचिकोंको आत्म-सात् करनेकी सामर्थ- आचार्थोंके अनुसार त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण, शृगारमे निषिद्ध है। लेकिन, शृंगारी रचनाओमे इन त्याज्य व्यभिचारियोका सुन्दर एवं सफल प्रयोग मिलता है। वियोगकी काम-दशाओं मरण या मृति गृहीत ही है। शृंगारमे होनेवाले स्तम्म, रोमांच, स्वरभग, कम्प तथा निर्वलताका हेतु भय अथवा त्रास भी होता है। उसी प्रकार जुम्भा आलस्य-जनित ही है। विब्वोक हाव शृंगारमे गृहीत है और इसमें उग्रता एवं जुगुप्सा, दोनो पाये जाते है। प्रौढा अधीरा एवं मानिनी नाथिकाओमे ये दोनो संचारी अनेक अवसरों-पर उम्र रूप धारण करते दीखते है। इस तरह सभी संचारी शृंगारमे प्रविष्ट होते है, जब कि अन्य रसोके संचारियोकी संख्या परिमित है। सात्त्विक भावोंका पूर्ण सामंजस्य तथा 'हाव' नामक कुछ अन्य दशाएँ भी शृगारमे ही घटती हैं। इन्ही विशेषताओके कारण भोजराजने 'शृंगारप्रकाश'-मे कहा है कि रित आदि उनचास भाव शृगारको घरकर उसे वैसे ही समृद्ध करने है, जैसे किरणें सूर्यको घेरकर उसकी दीप्तिको उदीपित करती है। % विभावोंकी विशे-षता-श्वारके आलम्बन नायक-नायिका है, .जिनके साथ पाठक या श्रोता पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकते है। अन्य रसोके आलम्बनोमे यह विशेषता नही होती। शृंगार-के उद्दीपन विभाव भी अन्य रसोकी तुलनामें अधिक व्यापक, रमणीय एवं हृदयावर्जक है। जैसा सरदार कविका कथन है, अन्य रसोके उद्दीपन अधिकतर मानुषी है, जब कि शृंगारके उद्दीपन म नुषी एव देवी (प्राकृतिक, यथा ऋतु-रमणीयता इत्यादि), दोनो है। शृंगारके उद्दीपन सर्वत्र तथा बारहो मास सुलभ है, जब कि अन्य रसोंमे ऐसी बात नहीं है। संयोग एवं विप्रलम्भके समान भेद भी अन्य रसोंमे नहीं होते। अतएव, मानव-हृदयकी जितनी अधिक वृत्तियोके चित्रणका अवसर इस रसमे उपलब्ध है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। भोजराजने ठीक ही कहा है-"शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् । स एव चेद-शृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्"(स० क०, ५:३)। - र० ति० रसवत् आदि-रसवत् आदि वर्गके प्राचीनों द्वारा स्वीकृत अलंकार । भामह, दण्डी तथा उद्भटने अलंकारीके अन्तर्गत इस रूपमे रस, भाव आदिको स्वीकार किया है। बादके आचार्योंने इनको अलंकार नहीं माना है और अपरांग-व्यंग्यके अन्तर्गत इनकी स्थिति स्वीकार की है। परन्तु रूय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षितने इनका विवेचन

अवस्य कर दिया है। हिन्दी अलंकारशास्त्रके अन्तर्गत हनकी न्यापक रूपसे उपेक्षा की गयी है। किसी प्रधान आचार्यने इनको अलंकारोमें नहीं गिनाया है, केवल प्रधान करने इनको विवेचन एक अलग अलंकार-प्रकरणमे किया है। आधुनिक विवेचकोने भी इनको अलंकार न मानकर अपरांगन्यंग्य(गुणीभृत न्यंग्य)का विषय माना है (कन्हैयान लाल पोदार: अ० मं०, पृ० ४२४)।

विश्वनाथके अनुसार इनका लक्षण है—''जब रस, भाव, रसाभास-भावाभास, भावप्रशम प्रधान न रहकर गुणीभृत (अप्रधान) बन जाते है तो क्रमशः रसवत् , प्रेय (प्रेयस ), ऊर्जस्वी तथा समाहित अलंकार माने जाते है (सा० द०, १०: ९५-९६) । रसवत् - जब एक रस किसी दूसरे रस-का अथवा भाव, रसाभास भावाभास आदिका अंग हो जाता है, तब उसे रसवत् अलंकार कहते है। पर पद्माकरके अनुसार—"सो रस जह अग औरको, है रसवत तिहि ठाम" (पद्मा॰, २८८)। उदा॰—"जिहि राखी ब्रज-मण्डली, ज़ गिरि सुकरपर छाइ। तिज गुमान तासों भट्ट, मिलै हिये हरषाइ" (पद्मा॰, २८९), यहाँ दयावीर रस प्रधान न रहकर शृंगारका अंग हो गया है। प्रेयस्-जहाँ एक भाव किसी अन्य भावका अंग हो जाता हो वहाँ प्रेयस अलंकार होता है। पद्माकरके अनुसार—"भाव-अंग रस भावको, जहँ तहँ प्रेयस ठान" (पद्मा०, २९०)। उदा०-"प्रम-पद-सौह करे कहत, वाहि तुच्छ इक तीर। लखत इन्द्रजितकों हुनहु, तौ तुम लछमन बीर" (पद्मा०, २९१)। यहाँ गर्व व्यभिचारी भाव कोध स्थायी भावका अंग हो गया है। **ऊर्जस्वी**—रसाभास तथा भावाभासका प्रधान न रहकर अन्य भाव आदिका अंग हो जाना ऊर्जस्वी अलंकार माना जाता है। पद्माकरने रसाभास तथा भावा-भासके आधारपर परिभाषा दी है—''दुहूँ जहाँ अंग और-के, सु ऊर्जिस्व पहिचान" (पद्मा०, २९५)। उदा०--"लखि बन फिरत सुछंद, नृप तुव रिपु-रमनीन सौं। करतु बिलास पुलिन्द, तिज निजिप्य बनितानकौ" (र० मं०, ३३६)। यहाँ भीलों तथा रिप-रमणियोंमें उभयनिष्ठ रति न होनेसे रसाभास है और यह कविकी राज विषयक रति-भावका अंग है। अतः भावका रसाभास अंग होनेसे ऊर्जस्वी अलकार है। भावाभासका उदा०—"ताहि अनूप वखानहीं, सकल कविनके गीत। मुख सरोज जा की निरखि, सौति-नयन अलि होत" (पद्मा०, २९७)। यहाँ स्वपत्नीनिष्ठ भावाभास शृंगार रसका अंग होनेमे अलंकार है। समाहित-जब भाव-शान्ति प्रधान न रहकर किसी अन्य भाव आदिका अंग बन जाता है, तब उसे समाहित अलंबार कहते है। पद्माकरके अनुसार—"सो अँग है जह औरको, वह समाहित जान'' (पद्मा॰, २९८)। यहाँ सो-का अर्थ भावशान्ति है। उदा०—"आयो श्रात लिवाइवे, निरखि उठी हरषाइ। सनि धनि चातककी तबहिं चली भाजि अकुलाइ" (वही, २९९)। यहाँ हर्षरूप भावशान्ति त्रासभावका अंग हो गया है, अतः समाहित अलंकार रस-विघ्न-अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने सर्वप्रथम

अपनी रसनिष्पत्ति(दे०)की न्याख्यामे कहा है कि रसात्मक

अनुभूति वीतविद्न भी होनी चाहिये ("सर्वथा रसनात्मक-वीतविष्नप्रतीतियाह्यो भाव एव रसः"—अ० भा०, पृ० २८१)। रसास्वादकी योग्यता यदि सामाजिकमे अपेक्षित है तो कविके लिए भी आवश्यक है कि वह उसमे पूर्ण सहायक हो। जिस प्रकार भावककी सहदयताकी कमी रसास्वादकी बाधक है, उसी प्रकार कविकी किमयाँ भी। इन्हींको रस-विघ्न माना गया है। इनकी संख्या सात मानी गयी है- 1. प्रतिपत्तिमे अयोग्यता या सम्भा-वना-विरहता—कवि कल्पनाके आधारपर अपनी कथा-वस्तुका निर्माण करता है, उसकी सम्पूर्ण सङ्गादना तथा अभिव्यक्ति कल्पनापर आश्रित होती है, परन्तु इसका भाव यह नहीं है कि वह जीवनके यथार्थपर आधारित न हो। यदि कथावस्तु अथवा वर्णित विषय-वस्तुवे सम्बन्धमें पाठक-के मनमे यथार्थ जीवनका विश्वास न जम पाया तो वर्ण्य या अभिनयमें उसका चित्त नहीं लग सकेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्यमें पाठकके अपने जीवनके स्तरमे भिन्न वर्ण्य विषय न हो। वस्तुतः जीवनके यथार्थमे वह सब आता है, जिसका अनुभव हम किसी रूपमे कर सकते है। कविका यथार्थ तथ्यात्मक न होकर सत्यपर आधारित होता है। २-३. स्वगतत्व-परगतत्व-नियमेन देशकाल-विशेषावेश - अर्थात् अपने और परायेके नियमसे देश और कालका आवेश होना। कान्यमे वर्णित अथवा नाटकमे प्रदर्शित भावोको यदि सामाजिक स्वयं अपने मान लेगे तो उससे वे उदासीन हो जायॅगे। ये मेरे है, अथवा य दूसरेके है, इस प्रकारकी देश तथा काल सम्बन्धी भावना कान्यके रसास्वादमे बाधक होगी। जबतक पाठक अपने-परायेके स्वार्थ-सम्बन्धोसे मुक्त होकर कान्यमे रुचि न लेगा, वह लौकिक दुःखादिसे नहीं छट सकता। अतएव रसा-स्वादके लिए व्यक्तिविशेष तथा देश-काल-सापेक्ष अनुभृतियाँ बाधा मानी गयी है। साधारणीकरण(दे०)व्यापारसे ही यह निरपेक्षता सम्भव होती है। ४. निजसुखदु:खादि-विवशीभाव-अर्थात अपनी व्यक्तिगत भावनाओसे विवश हो जाना। उपर्युक्त स्थितिमे वर्ण्य विषयके प्रति पाठकके व्यक्तिगत सम्बन्धोंकी बात है और यहाँ उसके अपने व्यक्तिगत जीवनकी भावनाओका प्रश्न है। यदि पाठककी मनःस्थिति अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखकी अनुभूतिसे आक्रान्त है तो यह उसके रसास्वादके लिए बाधास्वरूप है। यह अवस्य है कि कविको अभिन्यक्तिका सौन्दर्य पाठकके मनको आकर्षित करता है, उसको संविद्धिशान्तिकी स्थितिमें पहुँचानेका प्रयत्न करता है, पर पाठक अथवा दर्शककी अपनी मनःस्थितिपर भी बहुत-कुछ निर्भर है। ५. प्रतीन्युपायवैकल्यस्फुटल्वाभाव—अर्थात् प्रतीतिके उपायोकी विकलता और उसका स्पष्ट न होना भी रमा-स्वादमे वाधा है । जिन काव्यात्मक अथवा नाटकीय उपकरणोमे रसप्रतीति सम्भव होती है, यदि वे पूर्ण नहीं है अथवा स्पष्टनः प्रयुक्त नहीं है तो रसास्वादमे बाधा पड़ना अनिवार्य है। यहाँ अभिनवका भाव है कि काच्या-त्मक अभिन्यक्ति अथवा नाटकीय प्रदर्शन पूर्ण कलात्मक होना चाहिये, उसके विना रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। भावोके अभिन्यक्तीकरणमे विभावादिक अधिक

प्रत्यक्ष तथा मूर्त रूपमे उपस्थित होने चाहिये। इसकी असफलता रसकी बाधा है। ६. अप्रधानता-अर्थात किमी अप्रधान तत्त्वको रस-व्यंजनामे महत्त्व देनेसे रसा-स्वादमें बाधा ही उपस्थित होती है। नाटकीय कथाविधानमें यदि नाटककार अप्रधान चरित्रों अथवा घटनास्थितियोको महत्त्व देता है तो दर्शकके रसास्वादमे विघ्न उपस्थित होगा। इसी प्रकार प्रधान स्थायी भावके स्थानपर यदि कवि विभाव, अनुभाव तथा संचारी आहिके चित्रणको अधिक महत्त्व देता है तो रसका पूर्ण संयोजन नहीं उप-स्थित हो सकेगा। वस्तुतः कथात्मक अथवा भावात्मक सन्तलनका अभाव काव्यके प्रभावको क्षीण ही कर देगा। ७. संशययोग-अर्थात अभिन्यक्तिके सम्बन्धमें पाठक अथवा दर्शकके मनमे किसी प्रकारका संशय अथवा सन्देह होना भी रसास्वादके लिए उचित नहीं है। यहाँ संशयसे कथात्मक कौतूहलका भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि कौत्रहल सौन्दर्यानुभृतिकी वृद्धिमें सहायक सिद्ध होता है और संशय बाधास्वरूप माना गया है। एक स्थायी भावके विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि दूसरेके भी हो सकते है और यदि प्रदर्शित अथवा वर्णित विभावादिकसे यह संशय उत्पन्न हो कि शोककी अभिन्यक्ति है अथवा रितकी तो निश्चय इस रूपमे रसनिष्पत्तिमे, अर्थात् पाठक या दर्शकके रसास्वादमे बाधा उपस्थित होगी। वस्ततः इस संशयकी स्थितिमे साधारणीकरण सम्भव नहीं हो सकता।

अभिनव द्वारा प्रतिपादित इन विच्नोपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यदि कान्यात्मक रसानुभृतिमे किसी प्रकारकी अपूर्णता है तो उसका कारण यह नहीं है कि सौन्दर्यानुभृतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है या रस-निष्पत्तिको कई कोटियाँ है (दे॰ 'रसनिष्पत्ति')। वस्तुतः रसनिष्पत्तिको कई कोटियाँ है (दे॰ 'रसनिष्पत्तिको करणना की जाती रही है अथवा की जाती है, उसका मुख्य कारण है कि हम एक ओर असफल तथा दोषपूर्ण कान्य-कृतियोंपर सफल कृतियोंके स्तरपर ही विचार करते है तथा पाठक या दर्शककी सभी कोटियोंको रसास्वादनके एक ही स्तरपर रखना चाहते है। वस्तुतः अभिनवके अनुसार गुद्ध काव्यके (कलाको भी सम्मिलित किया जा सकता है) रसास्वादनको उपर्युक्त सीमाओपर ध्यान रखकर ही समझा जा सकता है।

रसन्यंजना—दे॰ 'रसनिष्पत्ति' तथा 'असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य'।
रसशास्त्र—वह शास्त्र, जिसमे साहित्यमे प्रयुक्त रसका
सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन किया गया हो। इस शास्त्रमे
अनेक प्रश्नोंका सुविवेचित वर्णन रहता है, जैसे रस क्या
है, रसका क्या स्वरूप है, रसका कान्यमे क्या महत्त्व है ?
साहित्यके उत्तम स्वरूपगठनके लिए अलंकार, रीति, गुण,
वक्रोक्तिं, औचित्य, ध्वनि आदि मार्गोंसे रसका क्या सम्बन्ध
है और उसका इनके साथ कैसा प्रयोग होना चाहिये,
इनमेंसे किसी एकको कान्यमे विशेष महत्त्व दिया जाय
अथवा रसको ही उसमें प्रधान माना जा सकता है ? रसके
अंग कौनसे हैं तथा उनका स्वरूप क्या है, रसकी निष्पत्ति
कैसे होती है ? रसका सम्बन्ध किन, नट, मूल पात्र अथवा
पाठकमेंसे किससे है, रसका मनोविज्ञानसे क्या सम्बन्ध

है ? रसके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न विभाव, अनुभाव आदिके भेद कौनसे है और उनकी संख्या कितनी है? परस्पर इन सब व्यभिचारी तथा स्थायी भाव आदिका क्या सम्बन्ध है ? रसका विभिन्न दार्शनिक मतोंसे क्या सम्बन्ध है, साधारणीकरणका क्या स्वरूप है, रसास्वादका अधिकारी कौन है, रसास्वादमें किसी प्रकारका विव्न तो नहीं होता, होता है तो क्यों और कितने प्रकारका तथा उसे कैसे दूर किया जा सकता है ? रसकी अलैकिक क्यो कहा जाता है, रस केवल आनन्दात्मक ही होता है या करुण आदि रसोसे दुःखका भी अनुभव होता है, नहीं होता तो क्यों नहीं होता, रस एक ही है अथवा उसके भेद किये जा सकते है. मेदोकी संख्या किस आधारपर निश्चित की जाय और उसे घटाया या बढाया जा सकता है कि नही ? प्रत्येक रसके कितने भेदोपभेद हो सकते हैं और उसके उदाहरण क्या है ? रसराज कौन है, रसोका अन्तर्भाव एक-दूसरेमें हो सकता है कि नहीं, परस्पर कौनसे रस मित्र और कौनसे रस विरोधी है, एक साथ किनका प्रयोग हो सकता है और किनका नहीं ? रसाभास क्या है और उसके कितने भेद है, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावश्वलता तथा रसालंकार स्वरूप क्या है? रसके साथ किस शब्द-शक्तिका सम्बन्ध है, उसे संलक्ष्यक्रमन्यंग्य कहा जाय या असंलक्ष्यक्रमन्यंग्य या अभिधेय ? कान्यके अनेक स्वरूपोकी आलोचना करनेके लिए रस-सिद्धान्त कहाँतक उपयोगी हो सकता है, आदि। -- आ० प्र० दी० रससंप्रदाय-रसवाद । रसके सम्बन्धमे विचार करते

**!ससंप्रदाय** – रसवाद । रसके सम्बन्धमे विचार करते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित करनेवाले लेखकोंका समृ्ह या रस-विवेककी वैचारिक पद्धति ।

लिखित रूपमें रसका सर्वप्रथम वर्णन भरत मुनि (३ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के छठे तथा सातवें अध्यायोमें पाया जाता है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रमें विभिन्न स्थलोंपर रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, गुण, अलंकार तथा नाट्यधर्मी आदिके प्रसंगमें रसका महत्त्व स्थापित किया गया है। भरत तथा अन्य लेखकोके उल्लेखोंसे उनके पूर्ववर्ती सदाशिव, ब्रह्म, तण्डु, नन्दिकेश्वर, वासुकि, नारद, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि आदि कई आचार्योंका पता चलता है, किन्तु उनके किसी अन्थके अभावमें उनके विचारोंका पता नही चलता । राजशेखर (ई० ९२५)ने नन्दिकेश्वरको तथा केशव मिश्र (१६वी शती)ने शौद्धोदनिको रसका पुरस्कर्ता माना है। भरतने ब्रह्माको महत्त्व दिया है। ब्रह्माने ही आठ नाट्यरसोको प्रस्तुत किया। ऋग्वेदसे पाठ, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय तथा अथर्ववेदसे रस लेकर पाँचवे वेद नाट्यशास्त्रकी रचना की गयी। चौथे अध्यायमें बताया गया है कि ब्रह्मा भरत और उनकी शिष्यमण्डलीके साथ कैलास पर्वतपर शिवके पास गये थे, जहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत त्रिपुरदाहके अभिनयपर प्रसन्न होकर शिवने उन्हे नाटकके पूर्वरंगोके साथ ताण्डवके करणो और अंगहारोंके प्रयोगकी सम्मति दी और तण्डुको शिक्षाके लिए नियुक्त कर दिया। शारदातनय (१२वी शती)का कथन है कि विष्णुके कहनेपर नन्दिकेश्वरने ब्रह्माको नाट्यवेदकी शिक्षा दी और ब्रह्माने भरतको शिक्षा दी। शारदातनयने वास्ति,

नारद, व्यास तथा वाल्मीकिकी एक परम्परा और बतायी है, जिसमे शान्त रस भी स्वीकार किया था। किन्तु किसी रचनाके अभावमे भरत ही प्रथम पुरस्कर्ता स्वीकार किये जाते हैं।

रसको अलंकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, नाट्यशास्त्र-कर्ता तथा ध्वनिविरोधी सभीने महत्त्व दिया है, भामह-(५वी-६ठी शती)ने रसको अलंकारके ही अन्तर्गत रखा और रस सम्बन्धी रसवत्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्वी नामक तीन अलंकारोका वर्णन किया। ये अलंकार क्रमशः रसः भाव तथा उनके आभासकी अवस्थाएँ है, तथापि उनका यह कथन कि रसके प्रयोग द्वारा कान्य सुस्वादु हो जाता है, उसकी शास्त्रीयताकी कदता नष्ट हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप पाठक उसे भेषजके समान ग्रहण कर लेते है, इस वातका चोतक है कि वे रसके आस्वादनीय रूपसे तो परिचित ही थे। दण्डी (६-७ श० ई०)ने 'काव्यादर्श'-में गुणोका रससे सम्बन्ध स्वीकार किया। उन्होने 'काव्य-शोभाकर धर्म को अलंकार कहकर रसादि सभीको अलंकार तो माना, किन्तु रसयुक्त मधुर वचनोंको पुष्परसके समान मादक बताया है और सानुप्रास पद-रचनाको रसावह माना । उन्होने कान्यमे 'रसभावनिरन्तरता'को आवश्यक माना है। रीति-सिद्धान्तके प्रतिपादक वामन (८ श॰ ई॰) रूपको ही काव्यमें सर्वश्रेष्ठ मानकर नाट्यसे रसका सम्बन्ध मानते है, उन्होंने गुणोको काव्यशोभाकर धर्म, अलंकारों-को शोभावर्धक तथा रसको गुणोकी कान्ति कहा है। रस ही गुणोके मूलमें है। उद्भट (८ २१० ई०)ने पहली बार रसालंकारोमें 'समाहित'को स्वीकार किया तथा नाट्यमे शान्त रसकी प्रतिष्ठा की । उद्घटके पश्चात रुद्रट तथा रुद्रभट्ट-का नाम लिया जाता है। उन्हें कुछ विद्वान् पृथक् दो व्यक्ति मानते हैं और रुद्रटको ९वी शताब्दीमे तथा रुद्रभट्टको ९००-से ११०० ई०के बीच हुआ बताने है और कुछ विद्वान दोनोंको एक ही मानते है। रुद्रटने 'काव्यालंकार'की रचना की और रुद्रभट्टने 'शृंगारतिलक'की । कान्यालंकारमे रसको नाटकतक हो सीमित रखनेका विरोध किया गया और रसहीन समस्त काव्यको शास्त्रकी श्रेणीमें रखनेका आग्रह किया गया । इसमें शान्त तथा प्रेयान् नामक रसोंको भी स्वीकार किया गया तथा पूर्ण उत्कृष्टताको पहुँचे हुए व्यभिचारी भावोंका भी शृंगारादि रसोके समान प्रभावशाली अनुभव स्वीकार किया गया । इसी प्रकार 'शृंगारतिलक'में भी शृंगार रसको प्रधान माना गया है, शान्तको स्वीकार किया गया है। तथा रसको नाट्येतर काञ्यमें भी स्वीकार कर लिया गया है।

आनन्दवर्धन (८४०-८७० ई०के बीच)ने ध्वनि-सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए वस्तु तथा अलंकारके साथ रसको भी ध्वनिके अन्तर्गत स्वीकार करके इन दोनोंसे अधिक रसध्वनिको महत्त्व दिया और रसध्वनिवाले काव्यको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। ध्वनिको काव्यात्मा मानकर भी उन्होने रसको प्रेरक और साररूप माना तथा वाल्मीिक-रामायणको रसका आदिकाव्य स्वीकार किया। श्रव्य काव्यके साथ-साथ नाट्यमें भी उन्होंने शान्त रसको प्रयोज्य माना है और रसको असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा है। आनन्दवर्धनके

अनन्तर 'अग्निपुराण'में रसका अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेखमात्र मिलता है। विशेषता यह है कि इसमे शृंगारको सर्वाधिक महत्त्व मिला है। छठी शताब्दीमे भी 'विष्णुधमीत्तरपुराण'-मे रसकी भरतके आधारपर संक्षिप्त चर्चा हुई थी, जिसमे कोई नवीनता नहीं जान पड़ी। पुराणोंके नाममात्रके उल्लेखोके समान ही ९वी शताब्दीके लेखक राजशेखरको केवल इस बातका महत्त्व दिया जा सकता है कि उन्होंने 'काव्यमीमांसा'मे रस-चर्चाको न रखते इए भी काव्य-पुरुषोत्पत्तिके प्रसंगमें रसको कान्यात्माके रूपमे मान लिया है। इन सब लेखकोमे विस्तार और गम्भीरताकी दृष्टिसे आनन्दवर्धनका सबसे अधिक महत्त्व है। अलंकारोंको 'कटककुण्डलवत्' कहकर रसको अत्यधिक महत्त्व देनेका इन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। किन्तु ध्वनिके विरोधमे प्रतिहारेन्द्राज, भट्टनायक, धनंजय, धनिक तथा महिम भट्टने अनेक तर्क उपस्थित किये, जिनका आगे चलकर अभिनवगुप्तने प्रतिवाद किया । इन ध्वनिविरोधियोने भी रसके महत्त्वको स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्द्राज (१०वीं शती) स्वयं रसको कान्यातमा मानने तथा रसको अलंकारोंसे पृथक रखनेके पक्षमे थे। भट्टनायक (१००० ई०)ने तो रसनिष्पत्ति-सूत्रकी सांख्यवादी व्याख्या भी की .और ध्वनि-के स्थानपर रसमंचारको ही पाठककी दृष्टिसे काव्यमे प्रधान माना । इस प्रकार इन्होने रसको कान्यात्मा सिद्ध किया । धनंजय (९९४ ई०)ने 'दशरूपक'मे तथा धनिकने उसकी 'अवलोक्टीका'मे भट्टनायकका अनुसरण किया, रसका सम्बन्ध तात्पर्य-शक्तिमे सिद्ध किया और ध्वनिको व्यर्थ बताया । उन्होने काव्य तथा रसका सम्बन्ध व्यंग्य-व्यंजक न मानकर भाव्य-भावकभावका माना और भट्टनायकके मत 'मक्तिवाद'की प्रतिष्ठा की। १०२० ई०के आस-पास महिम भट्टने न्याय-सिद्धान्तके आधारपर रसकी अनुमितिका सिद्धान्त प्रतिपादित किया और ध्वनिके स्थानपर काव्यान-मितिकी प्रतिष्ठा की । इतना विरोध होते हुए भी ध्वनिका सिद्धान्त जीवित रहा और रसकी प्रतिष्ठा हर प्रकारसे अक्षण्ण बनी रही। ८वीं शतीसे ११वी शतीके बीच रसकी सर्वप्रधान सिद्धान्तके रूपमें मानकर भरतके रसस्त्रकी व्याख्याके चार प्रमुख प्रयत हुए, जिनके कारण रसको और भी अधिक विश्वदता और विस्तारसे समझनेकी प्रेरणा मिली। रस-सम्प्रदायके इतिहासमे इन चार व्याख्याओंका सर्वाधिक महत्त्व है। ये व्याख्याएँ भट्ट लोहट (८वी शती), शंकुक (९वी शती), भट्ट नायक (११वी शती) तथा अभिनव-ग्रप्त (११वी शती)के द्वारा क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य तथा शैव सिद्धान्तके आधारपर की गयीं और जो उत्पत्ति या आरोपवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिन्यक्तिवादके नामसे विख्यात है (दे० 'रसनिष्पत्ति')।

कालान्तरमें १०वी शतीमें वक्रीक्तिवादके प्रतिपादक कुन्तक, ११वीं शतीमें औचित्य-सिद्धान्तके पुरस्कर्ता क्षेमेन्द्र, 'काव्यप्रकाश'के लेखक मम्मट, १२वी शतीमें 'भावप्रकाश'-के लेखक शारदातनय, 'काव्यानुशासन'के लेखक हेमचन्द्र, १३वीं शतीमें 'संगीतरलाकर'के लेखक शार्क्वदेव, १४वी शतीमें 'रसार्णवसुधाकर'के रचयिता शिंगभूपाल तथा १६वी शतीमें 'रसप्रदीपकार' प्रभाकर आदि अनेक लेखकोंने रस-

सिद्धान्तका निरूपण और पोषण किया । किन्तु ११वीं राती-में भोजराज, १२वीं शतीमें रामचन्द्र गुणचन्द्र, १४वीं शती-में मानदत्त, विश्वनाथ कविराज, १६वी शतीमें रूपगोस्वामी तथा १७वी जतीसे पण्डितराज जगन्नाथका नाम ही महत्त्व-पर्ण दिखाई देता है। भोजराजने रसकी सर्वोपरि मानकर 'शृंगारप्रकाश' ग्रन्थमे उसका गम्भीर एव व्यापक विवेचन करते हुए रस एक ही है, यह सिद्ध किया। काव्यको रसवत् कहनेका उनका अभिप्राय उसे रसयुक्त बताना था, अलंकार वताना नहीं।। उन्होंने रसकी उत्पत्ति अहंकारसे बतायी है। अहंकार, शृंगार तथा रस तीनोंमे इनके विचारसे कोई अन्तर नहीं है। अहंकार रसकी प्रथमावस्था है। जिससे विभिन्न भाव उत्पन्न होते है। दूसरी अवस्थामे स्थायी, संचारी तथा सात्त्विकोंकी गणना है। यह सभी रस-दशातक पहुँच सकते है। तीसरी अवस्थामें अहंकार प्रेमका रूप धारण कर लेता है। रामचन्द्र गुणचन्द्रने 'नाट्यदर्पण'-मे नाट्यके प्रसंगमे रसको दो प्रकारका बताया है। वह करुण, भयानक, वीमत्स और रौद्रको दुःखकारक मानते है और रोषको सखकारक। इसी नवीनताके लिए उनकी प्रसिद्धि है। भानदत्तने 'रसतरंगिणी'मे मुख्यतः शृंगार-रसका वर्णन करते हुए रसके लौकिक, अलौकिक तथा मानो-रिथक आदि भेद बताये हैं और छल तथा जुम्मा जैसे नवीन भावोंकी कन्पना की है। उन्होंने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति तथा कार्पण्य रसको अन्य प्रतिष्ठित रसोमें अन्तर्भुक्त कर लिया है। उनके पश्चात विश्वनाथ कविराज ही पहले व्यक्ति है, जिन्होने रसादिका विचार करते हुए रसको काव्यात्मा घोषित किया और अद्भुतमे ही अन्य रसोंके अन्तर्भावकी चर्चा की। चैतन्य सम्प्रदायके अनुगामी रूपगोस्वामीने 'मक्तिरसामृतसिन्ध्र' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि'में भक्ति रसकी प्रतिष्ठा की और 'भक्तिरसामृतसिन्ध्'मे उसके मुख्य तथा गौण भेदोंके अन्तर्गत सभी रसोंको ले आनेका प्रयतन किया। भक्तिका स्थायी 'कृष्णरति' बताया गया है। अतः भक्ति रस क्रष्णका श्रंगार-वर्णन-सा ही है। पण्डितराजने काव्यशास्त्र-का विवेचन करते हुए रसध्वनिके अन्तर्गत काव्यात्मा रस-को अत्यन्त प्रतिष्ठा प्रदान की और वेदान्त-सिद्धान्तके अनुकूल यह बताया कि रस निज-स्वरूपानन्द है, जो चित्तके भग्नावरण होनेपर प्रकट होता है; भग्नावरणकी सिद्धि विभावादि द्वारा होती है। इनके पश्चात् संस्कृत काव्य-शास्त्रोंमें नवीन विचारके लिए कोई मार्ग नहीं दीखता। मम्मटके साथ ही काव्यशास्त्रका सैद्धान्तिक निरूपण एक प्रकारसे बन्द हो गया था। रसको पण्डितराजतक आते-आते पणे प्रतिष्ठा मिल चनी थी और रस ध्वनिके अन्तर्गत आकर मी आगे प्रधान ही बना रहा।

हिन्दीमें रस-विचारका प्रवर्तन संस्कृतके भरतके 'नाट्य-शास्त्र', भानुदत्तकी 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी', भोजके 'खृंगारप्रकाश' एवं विश्वनाथके 'साहित्यदर्गण'के आधारपर हुआ। वस्तुतः इन ग्रन्थोंकी रचना या तो दरवारमें फारसी कवितासे टक्कर लेनेके लिए तथा उदाहरण ढूँढ्नेके लिए हुई या झानप्रदर्शन या अल्पज्ञोंको शिक्षा देनेके लिए। रसका विचार या तो केवल रसविषयक ग्रन्थोमें नायिका भेदके साथ हुआ है या रस तथा ध्वनिका एकत्र विचार करनेवाले

ग्रन्थोमे अथवा समस्त काव्यशास्त्रके विवेचक ग्रन्थोंमे । सब प्रकारके यन्थोंमे मुख्यतः शृंगार रसका ही वर्णन किया गया है। इन अन्थोमें उदाहरण तो ललित प्रस्तृत किये गये है, किन्तु विवेचनका कोई प्रयत्न संस्कृतके पूर्व तथा उत्तरपक्षके समान नहीं दीखता। हिन्दीमें केशव, देव, उजियारे कवि, रामसिंह, ग्वालकवि, भारतेन्द्र, 'हरिऔध' तथा रामचन्द्र शुक्तने नवीन चिन्तनका मार्ग दिखाया है। भारतेन्द्रसे आधुनिक कालका उन्मेष हुआ है। रीतिकालमे केशवने भोज द्वारा कथित अनुरागके प्रकाश तथा प्रच्छन्न नामक दो भेदोके अनेक प्रसंगीपर घटित करनेकी असफल चेष्टा की और इसी प्रकार शृंगारके अन्तर्गत अन्य रसोके अन्तर्भावका उनका प्रयत्न भी निष्फल रहा। देवने भानदत्तके समान रसके लौकिक, अलौकिक तथा उनके भी शृंगारादि नौ रस एवं स्वाप्निक, मानोर्थिक, औपनयिक भेद किये। वह शृंगारको ही एकमात्र रस मानते है। धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम, कामसे सुखकी उत्पत्ति मानते हुए सुखका रस श्रंगार बताया गया है और श्रंगारके प्रति उत्साहसे बीर आदि, निर्वेदसे शान्त, बीमत्स आदिकी उत्पत्ति मांनी है। काव्य, जीवन और रसका सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने जीवनके लिए कान्यकी उपयोगिता और उसमे रसको सार तत्व बताया है। भानुदत्तके अतिरिक्त भोज तथा भरत-का प्रभाव भी इनपर दिखाई पडता है। इनके वाद उजियारे कवि (१७८० ई०)ने 'जुगलरसप्रकाश' यन्थमे प्रश्नोत्तर-शैली अपनाकर केवल नौ रसोकी ही प्रतिष्ठा की है और उन्हींके अन्तर्गत वात्सल्य, भक्ति, कार्पण्य आदिको मान लिया है। वस्तुतः नवीन चिन्तनकी दृष्टिसे १७८२ ई०के आसपास रामसिंहका 'रसनिवास' यन्थ उल्लेखनीय है। इन्होंने मनोविकार तथा भावका अन्तर बताते हुए भानदत्तके अनुकरणपर रसानुकूल मनोविकारमात्रको ही भाव माना हैं। हास्य रसका स्थायी हास न बताकर 'हसता' कहा गया है और उसके 'नाट्यशास्त्र'के अनुकूल स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ, दो भेद किये गये है। भरतने जिस प्रकार हास्यके हसित, उपहसित आदि भेद किये हैं, उसी प्रकार नामान्तरसे इन्होने मुसुकानि, हसनि, विहसनि, उप-हसनि, अपहसनि तथा अतिहसनि, छः भेद बताये हैं। इनमेंसे दो-दोको क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम कहा गया है। भानदत्तके समान ज्ञान्त रसके साथ मिथ्या ज्ञानरूप स्थायीके आधारपर माया रसकी कल्पना भी की गयी है, किन्तु विवेचन वैसा नहीं हैं। मुख्य विशेषता यह है कि रसके आधारपर कान्यकी अभिमुख, विमुख तथा परमख नामक तीन कोटियाँ की गयी है। परमुखके प्रधान दो भेद है-अलंबारमुख एवं भावमुख। विमुख रसहीन काव्य होता है और अभिमुख रसपूर्ण। ये भेद क्रमशः गुणीभृत व्यंग्य, अव्यंग्य तथा ध्वनि-भेदोंके समान है । देवके समान रसके लौकिक तथा अलौकिक भेदोको भी इन्होने स्वीकार किया है और शृंगारादिको छौकिक ही बताया है। इनके पश्चात ग्वाल कवि (१८४७ ई०)ने 'रसरंग' ग्रन्थमें अलौकिक भेदके स्वाप्निक, मानोर्थिक तथा औपनयिक मेदोंमेंसे शृंगारादि नौरसोंको औपनयिकका मेद बताया है। एक और नवीनता यह है कि इन्होने प्रत्येक इन्द्रियके

आठ-आठ सात्त्रिक माने हें, जो तर्कसंगत और व्याव-हारिक नहीं है। इनके दोनो विचारोमे इसी प्रकारकी असंगति है।

हाव-भावके क्षेत्रमं भी कुछ नवीनता लानेका प्रयत्न किया गया था। हावोमे भिखारीदास (१८वी शती)ने 'साहित्यदर्पण'के अठारह नायिका अलंकारोके साथ 'बोधक' तथा 'हेला' भी जोड दिये है, जिनमे हेला तो अंगज अलकार है ही और वोधकका आधार केशवका 'बोध' हाव है। भावोमे केशवने जुगुप्सा स्थायीके स्थान-पर अशक्त शब्द 'निन्दा'का प्रयोग किया और दासने रुद्रव्ये प्रेयान्ये आधारपर प्रीतिको ही भाव माना । देवने भानुदत्तके आधारपर छल संचारीकी स्थापना की और वितर्क संचारीके विप्रतिपत्ति, विचार, संशय, अध्यवसाय नामक भेद किये। इन्होंने काम-दशाओंके अनेक भेद भी प्रस्तुत किये और आठों सात्त्विकोंका स्मरणमें ही अन्तर्भाव कर दिया। संचारियोके शरीर तथा आन्तर भेद करके क्रमशः सात्त्रिक तथा व्यभिचारी भावोका वर्णन किया गया। यह भेद भी वस्तृतः 'रसत्रंगिणी'से प्रभावित है। इस प्रकार हिन्दी रीतिकालमे नवीनता-प्रदर्शनकी चेष्टा नो रही, किन्तु वस्तुतः वह जहाँ-तहाँसे संस्कृतके आधारपर ही हुई। साथ ही गहन विवेचनका अभाव भी रहा।

आधुनिक कालमे भारतेन्द्रका नाम दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर तथा आनन्द रसोंकी अवतारणाकी दृष्टिसे उल्लेख्य है। उनके परचात् 'हरिऔध'ने 'रसकलश'में वात्सल्य रसका प्रवल समर्थन किया तथा शृंगारादि रसोके उदाहरणके साथ रसका विशद निरूपण करनेकी चेष्टा की। कन्हैयालाल पोद्दार, भानु, गुलाब राय आदिके रस-विवेचन-के ग्रन्थोंके प्रकाशनसे संस्कृत-पद्धतिका पुनरुत्थान हुआ और गुलाब रायके 'नवरस'यन्थमे आधुनिक मनोविज्ञानके प्रकाशमे भी प्रत्येक रसका थोड़ा-बहुत विचार किया गया। हिन्दीके पुराने लेखकीसे संस्कृत लेखकीके विचारीकी तुलना भी हुई, किन्तु निष्पत्ति और साधारणीकरण अथवा नवीन रसोकी उद्घावना और रसाभासका विशद और विस्तृत विचार न हुआ। इस कामको गुलाब रायने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' ग्रन्थमे एक सीमातक पूरा किया। आधुनिक कालमें वास्तविक महत्त्वके अधिकारी रामचन्द्र शुक्क हैं, जिन्होने रसका न केवल मनोविशानके प्रकाशमे विवेचन किया, अपित आधुनिक विदेशी काव्यकी परिस्थितियोके विचारसे भी रमके भारतीय स्वरूपकी स्थापना की । साधारणींकरणके प्रश्नपर आपने विदेशी और देशी अध्ययनके आधारपर मौलिक चिन्तनकी धाराका सूत्रपात किया। रस और रसानुभृतिके स्वरूप, उसके प्रकार और कोटियोंपर उनके विचार उल्लेखनीय है (दे० 'साधारणीकरण')। रसकी ऐसी स्थापना दीर्घ कालके पश्चात हुई। इनके पश्चात् इधर पुनः इस अध्ययनकी प्रवृत्ति जायत् हुई, जो नगेन्द्र आदिके शोध-प्रवन्धीके रूपमे प्रकट हो रही है। इन प्रबन्धोंमें यूरोपीय अध्ययनके साथ भारतीय चिन्ताधाराके सम्यक सन्तुलनकी चेष्टा की जा रही है और आधुनिक कान्यमें रसका महत्त्व परखा जा रहा है। इस दिशामें हिन्दी डी० फिल०के लिये स्वीकत

तथा अंग्रेजीमे प्रकाशित डॉ॰ छैलविहारी गुप्त 'राकेश'का शोध-प्रबंध 'साइकोलॉजिकल स्टर्डाज इन रस' अर्थात मनी-विज्ञानके सिद्धान्तोके प्रकाशमे रस-विचारकी आलीचना करनेवाला ग्रंथ भी उल्लेख्य है तथा 'काव्यमे रस'के नामसे पी० एच-डी० उपाधिके लिये स्वीकृत इस लेखकका शोध-प्रबन्ध रस-विषयक भारतीय चिन्ताधाराको व्यक्त करने और देशी-विदेशी भाषा-साहित्यके आधारपर रस-सिद्धान्तका स्वरूप निश्चित करनेवाले ग्रंथके रूपमे पठनीय हैं। यह यंथ अब अंशतः 'रस सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेपण' नामसे प्रकाशित हो रहा है। रसांतर्य-यह सौन्दर्यशास्त्रका शब्द है, जिसे हरद्वारी-लाल शर्माने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र'में प्रयुक्त किया है। इस शब्दका अंग्रेजी पर्याय 'एस्थेटिक डिस्टेन्स' है। अभिनवगुप्तने रसानुभृतिकी सात वाधाओका निरूपण किया है, जिनमेने एकका नाम है "स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषवेशः", अर्थात् प्रेक्षकःका 'स्व' पर, देश-काल, आदिकी विशेषतासे इतना आविष्ट होना कि वह उसे भुला ही नहीं पाये। नाटक आदि देखते समय जो प्रेक्षक अपने और प्रेक्षणीय वस्तुके भेदको भूला नहीं पाता, वस्तुमें तन्मय नहीं हो जाता, उसके साथ एक प्रकारका ताशात्म्य अथवा साधारण्य स्थापित नहीं कर छेता, उसमें रसोद्रेक सम्भव नहीं। लेकिन प्रेक्षक और वस्तुके बीच अत्यन्त अभेदकी समापत्ति भी रसोद्रेकमे वाथक ही है। जब प्रेक्षक सारी घटनाओंका आरोप अपनेमे करने लगना है तो उसकी स्थिति उस सामान्य व्यक्तिकी-सी हो जाती है, जो स्वयं सख-दःख भोग रहा हो। अतः जिस प्रकार वह सामान्य व्यक्ति अपने ऊपर घटित घटनाओमे रसास्वादन नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह प्रेक्षक भी नाटक आदिम रसानुभृति नहीं कर पाता । अतः कुदाल प्रेक्षक अपनेकी वस्तुमे उचित अन्तरपर रखकर ही रसास्वादनमे समर्थ होता है। इस अन्तरको 'रसान्तर्य'की संज्ञा दी गयी है। रसाभास-रसनिष्पत्तिके लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्यके आंट्रिक अभावमें जब सहदयको रसके स्थानपर रसके आभासकी प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाय, उस अवस्थाम प्राचीन आचार्यों द्वारा 'रसाभास'की स्थिति मानी गयी है। अभिनव-ग्रप्त (१०-११ श० ६०)ने अपने 'ध्वन्यालीयलीचन'में रमाभासको 'शक्तौ रजताभासवत्', अर्थात् सीपीमे रजतके आभास जैसा बताया है। रसाभास होनेपर रस-दशा वनी रहती है या नष्ट हो जाती है, इस मौलिक प्रक्रनपर आचायों-मे मतभेद रहा है। रस और रसाभासके आधारभृत औचित्य-अनौचित्य परस्पर विरोधी है, अतः एक मत रसाभासको रसका विरोधी मानता है। परन्तु जगन्नाथ (१७-१८ इा० ई०) और उनसे पूर्व अभिनवगुप्त, दोनोंने अनेक नर्क देकर सिद्ध किया कि रसाभासमे पूर्णतया रसका अभाव नहीं होता। अपने प्रतीतिकालने रसाभास रस जैसा ही आस्वाद्य रहता है, पर जब बुद्धि अनौचित्यतक पहुँच जाती है तो सारी रसानुभूति रसाभास वनने लगती है। ध्वनि-मतके प्रतिपादकोंने कदाचित् इसीलिए रस और रसाभास, दोनोंको ही ध्वनिके अन्तर्गत रखा है। मूल रसकी अनुभृतिमे रसाभास आ जानेपर अन्य रसकी प्रतीति भी उमके द्वारा हो सकती है, ऐसी सम्भावना अभिनवगुप्तने मानी है।

तेरहवी शनी ईसवीके एक संस्कृत काव्याचार्य शिग-भूपालके 'रसार्णवसुधाकर' नामक अन्थमे रसाभासपर विशेष विचार किया गया है। रशाभासके परिभाषा-स्वरूप इसमें लिखा है कि जब 'अंग रस' अविनीत अमात्य-की तरह बढकर अपने स्वामी 'अंगी रस'को आच्छादित कर ले, तो रसाभास हो जाता है। शिगभूपालने रसाभासके भेड भी प्रदर्शित किये है, जैसे श्रंगार-रसाभास चार प्रकार-का बताया गया है-- १. अराग, २. अनेक राग, ३. तिर्यक राग, ४. म्लेच्छ राग । तरहवी शतीके ही एक अन्य आचार्य शारदातनयने 'भावप्रकाशन'मे रसाभासकी निम्नलिखित परिभाषा दी है, जो पूर्वोक्त परिभाषाकी ही अधिक निइच-यात्मक परिणति-सी है--"भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैक-भागता । रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्", अर्थात जहाँ अप्रधान रसके दो भाग हो जायँ और प्रधान एक ही भाग रह जाय, वहाँ रसाभास लक्षित होता है। 'भावप्रकाशन'के पष्टाधिकारमे बताया गया है कि श्रुगार रसका रसाभास हास्यके मिश्रणसे, हारयका बीभत्ससे, वीरका भयानकसे, अद्भतका वीभत्स तथा करणके संइलेषसे, रौद्रका शोक और भयके आवेशसे, बीभत्सका अद्भुत तथा श्रंगारके सम्मिलनमे, भयानकका वीर तथा रौद्रके संयोगसे तथा इसी प्रकारका अन्य परस्पर विरोधी रसोके अनौचित्यपूर्ण सम्मिश्रणसे रसामास उत्पन्न होता है।

रसमें अनौचित्य किस-किस प्रकारसे और केसे-कैसे हो सकता है, इसका व्यापकतासे विचार किया गया और उसके नैतिक एवं सामाजिक पक्षकी ओर भी दृष्टि डाली गयी। 'साहित्यदर्भण'में विश्वनाथ (१४ श० ई०)ने रसामास-की समस्यापर इसी दृष्टिकोणसे प्रकाश डाला है। लगभग ऐसी ही दृष्टि 'रसगंगाधर'मे पण्डितराजकी भी रही है। उन्होंने विभावमे अनौचित्य न मानकर रत्यादिक स्थायी भावोके अनुचित रूपमे प्रवृत्त होनेसे रसामासकी उत्पत्ति बतायी है। इस सम्बन्धमे विशेष विवेचन 'काव्यमे रस' शीर्षक शोध-प्रबन्धमे आनन्दप्रकाश दीक्षितने किया है (नवम अध्याय)।

हिन्दीके आचार्य किवयोने रसाभासकी जो परिभाषाएं दी है, वे अधिकतर परिपाटीवड़ है—१. कुलपित मिश्र— "अनुचित है रसभाव जहाँ, ते किह्ये आमास" (२० र०, पृ० ३०)। २. चिन्तामणि त्रिपाठी—"अनुचित विषय करित जु है सोई रस आभास" (क० कु० क० त०, पृ० २१४)। ३. पद्माकर—"रसाभास अनुचित करम, करव अजोग्य विलास। हास्य करव गुरु निगमको, सुत पितुसो रत नास" (पद्मा०, पृ० ७५)। ४. भिखारीदास— "रस सो भासितु होतु है, जहाँ न रसकी बात। रसाभास तासों कहें जे है मित अवदात" (२० सा०)। ५. प्रतापसाहि—"जह अनुचित रस भावको, रसाभास तह जानि। रस-ग्रन्थन अवगाहिके कृविजन कहत बखानि" (का० वि०, ३)। इन परिभाषाओंसे रसाभासकी स्थितिका किनाईसे सामान्य बोध हो हो पाता है। किसीने मौलिक

प्रस्नको नही उठाया। प्रायः सभी कवियोने संस्कृतके पूर्ववर्ता आचार्योंकी अनौचित्यकी वातको दोहरा दिया है। गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीकी 'रमवाटिका'की चतुर्थ क्यारी-(पृ० १२७-१२८)में अनुचित प्रसंगके सम्बन्ध तथा अयोग्य वर्णन, दोनोसे ही रसाभास होनेका उल्लेख है। लेखकने राधाकुष्णके प्रेमको राधाके परकीया-भावके कारण श्रंगारका रसाभास मान लिया है। और भी कुछ मतोके अनुसार कृष्णचरितमे ऐसे अनेक तत्त्व पाये जाते है, जैसे कृष्णका बहुनायकत्व तथा अल्पावस्था आदि, जिनके कारण कृष्णकाव्यके बहुतसे स्थल रसका संचार न करके रसाभास उत्पन्न करते है। सहृदयकी विवेकशक्ति और संस्कारके अन्तरसे भी अनुभूति भिन्न हो सकती है। एक ही वर्णन किसी सहदयको रस और किसीको रसाभाससे यक्त लग सकता है। अतः रसाभासके लिए कोई निश्चित नियम वना देना कठिन है (त्रिशेषके लिए दे० 'भावाभास')। — জ০ ব্য০

रसाभिज्यक्ति – दे० 'रसनिष्पत्ति', एक पर्याय ।
रिसया – संगीतज्ञोकी धारणा है कि रसिया ध्रुपद-घरानेकी चीज हैं। रसिया बजके लोकगीतोमे अपने वैशिष्ट्यके कारण प्रसिद्ध और प्रिय है, जो सभी अवसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी क्षमता रखता है। ध्रुपदकी शैलीको सम्भवतः लोक-प्रचलित रसियाका शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दुस्तानी संगीतको जो देय बजभापा तथा स्वामी हरिदाससे प्राप्त हुआ, उसका श्रेय बहुत-कुछ रसियाके लोक और शास्त्रीय, दोनों स्वरूपोंको है। 'आईने अकबरी'मे दो प्रकारके गीतोका उल्लेख हैं — मार्ग और देशी। देशी शैलीमे ध्रुपद विशेषतः उल्लेखनीय है, जो चार चरणोंके द्वारा विना छन्द और मात्राकी बन्दिशोंके स्थंगारप्रधान विषयको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है। 'आईने अकबरी'मे जिस ध्रुपदका उल्लेख है, वह कदाचित् रसियासे सम्बन्धित हो।

रसिया होलीका प्रमुख गीत है। होलीके अनेक गीत रिसयाकी ढालोमें गाये जाते है। लोककिव घासीराम, सनेहीराय, छीतरमल आदि विवयोके ब्रजमापामें अनेक रिसये प्रचलित है। हिन्दीके प्रसिद्ध सन्त कियोने भी राधा और कृष्णकी लीलाओके वर्णनमे रिसयाको प्रभावित किया है। शृंगार-प्रधान विषय रिसयामें खिले है। वरसानेकी होली, राधा और कृष्णके मनोविनोद और प्रेम-प्रसंग प्रायः रिसयामें वर्णित है। रिसयाका तर्ज सीधा और सामूहिक गानके अतिरिक्त व्यक्तिपरक अभिव्यक्तिके अनुरूप है।

— इया॰ प॰

रसेश्वर-दर्शन — (रस = द्रव। रसेश्वर = द्रवोंका राजा पारद।
रसेश्वर-दर्शन = पारद-साथनपर आश्रित दर्शन) शैवागमोमें
और शैव पुराणोमे पारदको शिवका वीर्य कहा गया है,
इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिकोने भी पारद-साथनमे गहरी रुचि
ली। पतंजलिने दूसरी शती ईसाके पूर्व पारदके रसायनपर
प्रकाश डाला। नागार्जुनने पारदके प्रयोगपर सबसे पहला
महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इसके वाद शाक्त और शैव दर्शनोंके
सर्जनात्मक युग(६०० ई०से १३०० ई०तक)मे इसका
वैज्ञानिक प्रणालीपर विकास हुआ, यही रसेश्वर-दर्शनके
रूपमें माथवके 'सर्वदर्शनसंग्रह'में प्रख्यात हुआ। १२वी

शतीमे लिखे गये 'रसार्णन' और १४वी शतीमे लिखे गये 'रमरन्जमसुन्चय'ने भसीकरण, जारण, मारण, अधःपतन, ऊर्ध्वपातन, स्वेदन, स्तम्भन जैसी जटिल प्रक्रियाओंका विशद निरूपण किया गया है और साधकके लिए साधना-वस्थामे वैसे रहना चाहिये, इसपर भी प्रकाश डाला गया है। यह दर्शन-तन्त्र और आगमोकी शाखा है, क्योंकि इसकी दार्शनिक मान्यता बहुत-कुछ तन्त्रकी ही है, शब्दावली भी लगभग वही है, तत्त्वमीमांसा भी वही है, केवल पारदकी विन्द्यतीकताका विस्तार और विश्वके भौतिक सुखके ऊपर विशेष ध्यान इसकी अपनी विशेषता -वि० नि० मि० रहस्यवाद-अपनी अन्तःरफुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परम तत्त्व अथवा ईश्वरका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करनेकी प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्यकी प्रकृतिका एक अवियोज्य अंग रही है और रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य-की श्रेष्ठतम एवं उदान्ततम अनुभृति है। इसकी अभिन्यक्ति सभ्यताके प्रायः सभी स्तरों, देशो और कालोमे होती रही है। रहस्यवाद उतना ही पुरातन है, जितनी कि स्वयं मानवता । रहस्यवाद और रहस्यवादी किसी जाति, धर्म

या देशविशेषमें सीमित नहीं रहे है। रानाडेके शब्दोंमें सभी देशों और सभी युगोके मिमयो(रहस्यवादी साधकों)-

का एक अथवा शाइवन समाज है, जो जाति, धर्म और

राष्ट्रगत सीमाओसे नितान्त रहित है। उनकी मर्मानुभूति-

की असीमता और चिरन्तनता देश-कालके परे है। मनुष्यकी यह प्रवृत्ति अद्वितीय है । यह उसको सामान्य जीवनके विषयोंसे विमुख एवं विरक्त कर देती है और जिस प्रकार पादपकी जड़ स्वतः ही पृथ्वीके केन्द्रकी ओर चलती है, उसी प्रकार उसकी चेतनाको स्वयं अपने भीतर, अपने मूल उत्सकी ओर जानेके लिए विवश कर देती है। रहस्यवादी साधकके लिए रहस्यानुभूतिका सत्य उतना ही असन्दिग्ध होता है, जितना कि स्वयं उसका अपना अस्तित्व अथवा साधारण मनुष्यके लिए जितना असन्दिग्ध यह गोचर जगत् है। अतएव रहस्यानुभूति व्यक्तिगत धर्मका आधार वनती आयी है। अनुभूतिके उन परम क्षणोमे आत्मा एक नयी शक्तिसे ओत-प्रोत, नृतन और असीम आनन्दसे आक्रान्त और अभिभूत, एक अनन्त सुहृद् शिव और सुन्दर तत्त्वमें निमन्जित, मुक्त और पवित्रीकृत अनुभव करती है। कभी-कभी ऐसी मर्मानुभृतिके माथ-साथ अलौकिक राब्द, ध्वनि आदि सुनाई पड़ती है, अलौकिक ज्योति अथवा रूपोंके दर्शन होते है, अन्य विचित्र शारीरिक परिवर्तन घटित होने है। विन्तु ऐसी बातें अन्य तीव मानसिक प्रक्रियाओं के साथ भी कभी कभी घटती हैं। अतः उन्हे सन्तोकी मर्मानुभूतिका अनिवार्य लक्षण नहीं माना जा सकता। श्रेष्ठ प्रकारकी रहस्यानुभूति-से श्रेष्टतम स्तरके जीवनका उद्भव होता है। परम उदात्त, निःस्व, निरहंकार, असीम प्रेम और करुणायुक्त, पवित्रतम, सन्तका-सा जीवन, उत्कृष्ट रहम्यानुभूतिका अवश्यम्भावी परिणाम होता है। सच्ची रहस्यानुभृतिके उपरान्त व्यक्ति-का आमूल दिव्य परिवर्तन-सा हो जाना है।

ममीं साधक परम मत्यकी खोज करता है, किन्तु

अपनी इस खोजमें वह ज्ञानप्राप्तिके सामान्य साधनोका उपयोग न करके एक दूसरे ही साधनका प्रयोग करता है। ज्ञानकी प्राप्ति साधारणतया आप्त वन्दनो, ज्ञानेन्द्रियो एवं बौद्धिक प्रक्रियाओसे की जाती है। मर्मा इन सभी साधनोंको अपूर्व और अपर्याप्त मानता है। उसकी धारणा है कि परम सत्यका वास्तविक ज्ञान मनुष्यकी अपनी एक शक्तिविशेष द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और वह है सहज ज्ञान, अन्तःस्फ़रित, अपरोक्षानुभृति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकानेकी शक्ति। अपनी इस शक्तिको विकसित और सक्षम करनेके लिए वह अनेक साधन करता है, लेकिन वह बुद्धि, संकल्प और भावनात्मक पक्षोका विरोधी नहीं होता, न उनका बहिष्कार ही करता है। शंकर और एकहार् जैमे महात्माओने बुद्धिका सम्यक् प्रयोग सिद्धान्त-पक्षमे किया है और यह तो मर्मी साधकोक्षी सर्वमान्य मान्यता है कि संकल्प और भावनाओंका सम्यक् परिष्कार और समायोजन किये बिना कोई भी साधना नहीं हो सकती और न ईश्वरका दर्शन ही हो सकता है। इसीलिए प्रायः सभी सन्त अपनी सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियोसे अधुब्ध और उनके परिमार्जन तथा उदात्तीकरणर्मे दत्तचित्त दिखलाई पडते हैं 🕽 कभी वे 'मोसों कौन कुटिल खल कामी', 'में पतितनको टीको', 'ममता तून गयी मन मोते' कहकर अपनी भर्त्सना करते हैं, कभी 'कबहुँक ऐसी रहनि रहौगो'का संकल्प करते है और कभी 'चदरिया'को जैसीकी नैसी रख देनेपर बालसुलभ उल्लाससे भर उठते है। सगुणोपासक मर्मा साधक तो अपनी भाव और भक्ति-सम्पदाका आश्रय ग्रहण करके ही इष्टदेवकी कृपाका भागी वनता है। इस प्रकार यद्यपि मर्मा इन तीनो पक्षोका समुचित उपयोग कर लेता है, फिर भी अपरोक्षानुभूति ही उसका प्रधान साधन रहती है (रहस्यवादका आग्रह केवल इतना ही है कि बुद्धिकी समस्त भाग-दौडके उपरान्त परम तत्त्वमे रहस्यका एक ऐसा अंश रह जाता है, जो उसके लिए अगम्य है और जिसे अन्तःस्फ़रित सहज ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है। रहस्यानुभृतिका सत्य स्वतन्त्र है। वौद्धिक स्तरपर किसी दर्शनके खण्डन-मण्डनपर वह निर्भर नही है। उसके निकट ईश्वर ज्ञानका विषय नही, अनुभृति है। रहस्यानुभृतिमे ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञान वुद्धिके विक्लेषणसे नहीं, वरन् ज्ञेय और ज्ञानाके तादात्म्यसे प्राप्त होता है।

दार्शनिक दृष्टिने रहस्यनाद शब्द बहुत व्यापक हैं और किसी एक विशिष्ट दार्शनिक मतके लिए उसका प्रयोग करना उचित नहीं प्रतीत होता। रहस्यवादी साधकों के अन्तर्गत निर्गुण ब्रह्मवादी, उपनिषदों के क्षि, लाओ त्जे, प्लोटिनस, शंकर और एकहार्ट, सगुण ईश्वरके उपासक प्रभु ईसा, वैष्णव, ईसाई और मुसलमान सन्त तथा किसी भी निर्गुण या सगुण परम तत्त्व अथवा ईश्वरमे विश्वास न करनेवाले, किन्तु फिर भी योगसाथनाका आश्रय लेनेवाले बौद्ध और जैन साधकों कुछ विद्वानोंने सम्मिलित किया है। इस व्यापक स्तरपर रहस्यवादकी सर्वसम्मत दार्शनिक मान्यताओंको स्त्रवद्ध कर सकना कठिन है। अपेक्षाकृत संकीणंतर दृष्टिकोणमे रहस्यवादकी कुछ व्यापक धारणाए

मानी जा सकती है।

अपनी विधिमे रहस्यवाद अनुभववादी और यथार्थवादी है। वह किसी आप्त वचनमे विश्वास न करके स्वयं अपनी प्रत्यक्ष और अमन्दिग्ध अनुभृतिमे विश्वास करता है । अपनी साधनाके साध्य ईश्वर, ब्रह्म, परम तत्त्व, ताओ आदिके अस्तित्वको पूर्ण स्ततन्त्र मानता है। उसकी सत्ता रहस्यवादीके लिए स्वयं अपनी सत्ताकी भाँति माधारण मानवके निकट इस जगतकी सत्ताकी भाँति असन्दिग्ध है। वह ईश्वरके अस्तित्वमे श्रद्धामात्र नहीं रखता, वह उसके प्रत्यक्ष ज्ञानका दावा करता है। उस परम तत्त्वका साक्षात्कार सम्भव है । परमतत्त्व एक और अद्वितीय है। ईश्वर, मन, वाणी, इन्द्रियों और वुद्धिके परे है, अनिर्वचनीय और वर्णनातीत है। उसका वर्णन 'ऐसा नहीं'. 'ऐसा नहीं'-नेति-नेति द्वारा निषेधात्मक रूपमें ही किया जा मकता है। उसके सभी वर्णन अपूर्ण है और अपूर्ण रहेंगे। वह नाम-रूप तथा बुद्धिके समस्त प्रवर्गींसे रहित है। मनुष्यकी आत्मा भी ठीक इसी तरह की है। वर्णनातीन और इन्द्रियातीत है। परम तत्त्व यानी विराट् ब्रह्म और व्यष्टि आत्मा अभिन्न है। 'तत्त्वमिं वहीं तू है 'सोंऽहं'—मै वही हूं, 'अहं ब्रह्मासि'—मै ब्रह्म हूं आदि उपनिषद्-वचन और सुफियोंका 'अनलहक' इसी सत्यको व्यक्त करनेवाले चिरन्तन वाक्य है। अतएव आत्मा परम तत्त्वका साक्षात्कार, अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्, दोनोमे समान रूपसे कर सकती है। जो बाहर है, वहीं भीतर है। दोनोंमें पूर्ण तादात्म्य है। सम्यक् साधना द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव है और यह ज्ञान प्राप्त करना , मनुष्यके जीवनका परमतम निःश्रेयस है। उसकी उपलब्धि-का पथ नैतिक और आत्मिक साधना है।

रहस्यवादकी सर्वव्यापकताके सम्बन्धमें ऊपर कहा जा चुका है। आदिम समाजोंमें रहस्यवादका उत्कृष्ट रूप नही मिलता । उनमें यह विश्वास अवस्य प्रचितत है कि देवता, भृत-प्रेत तथा अन्य दैवी शक्तियाँ मनुष्यकी चेतनापर अधिकार करके उसे विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न बना देती है। पवित्रनाकी भावना और उन शक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए विश्वास किया जाता है कि दैवी शक्तियाँ कुछ चुने हुए व्यक्तियोको अपना यन्त्र बना लेती है। मेलेनेसिअनोकी माना और आइरोक्यओंकी ओरेण्डा नामक इक्तियाँ इसी प्रकार की है। जहाँतक साधनोंके द्वारा व्यक्तिको इन शक्तियोके सम्पर्कमें लाने और उनसे अपनेको पूरित कर लेनेका प्रश्न है, हम उसे आरम्भिक प्रकारका रहस्यवाद कह सकते है। इसी प्रकार साइबेरियाके वामानवादी समाजोमें इष्टदेवतासे सम्पर्क स्थापित करनेके लिए आदिम कर्मकाण्डकी व्यवस्था है। विविध उपाय करके समाधि जैसी अवस्था उत्पन्न भी जाती है। उनका विश्वास है कि ऐसी दशामे मनुष्यकी आत्मा शरीर छोडकर चली जाती और देवतासे संयुक्त हो जाती है। प्रायः अन्य सभी आदिम समाजोंमें ओझा लोग किसी-न-किसी प्रकारसे रहस्यवाद अथवा योगका प्रयोग करते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा-चुका है, बौद्ध धर्म ब्रह्म या ईश्वर जैसे किसी परम तत्त्व और मृनुष्यकी आत्मा-

मे विश्वास नहीं करता और न ब्रह्मके साक्षात्कारको मनष्य-के जीवनका ध्येय मानता है। भगवान बुद्धने मनुष्यका लक्ष्य निर्वाण और उसका साधन आर्य-अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। इसके अतिरिक्त, बुद्ध अत्यन्त बुद्धिवादी और उपयोगितावादी थे। अतएव सामान्य स्थान, जिसका लक्ष्य किसी परम तत्त्व या ईश्वरका साक्षात्कार है, बौद्ध धर्ममे नहीं है। किन्त यदि रहस्यवादके अन्तर्गत पराबौद्धिक प्रज्ञा या बोधिकी प्राप्ति तथा उसके निमित्त योगाभ्यास जैसे साधनो-का प्रयोग भी मान लिया जाय तो उसमे भी रहस्यवादका व्यावहारिक रूप मिल जायगा । बुद्धोपिड्रष्ट स्वयं आर्थ-अष्टांगिक मार्गका अन्तिम पद समाधि है। स्वयं बुद्धको भी प्रज्ञा अथवा बोधिकी प्राप्ति अपरोक्षानुभृति द्वारा ही हुई थी। बौद्धचर्यामे योगाभ्यास, मानसिक एकाग्रता, समाधि जैसी दशा उत्पन्न करनेके लिए विविध साधनोकी व्याख्या है। श्रेष्ठ बौद्ध साधक शील-सम्पदाका ही अर्जन नहीं करता, वह उत्तम योगी भी होता है। चीन और जापानमें विकसित तथा अब भी प्रचलित बौद्ध धर्मकी ध्यानसम्प्रदाय-शाखामें परम सत्यके स्वरूपकी अपरोक्षा-नुभृति, उसमें आकस्मिक अन्तर्देष्टि प्राप्त कर लेनेपर ही बल दिया गया है। महायान बौद्ध धर्ममें अमिताभ बुद्धकी उपासना आरम्भ होनेसे उसमे रहस्यवादका सामान्य तत्त्व भी सम्मिलित हो गया। बौद्ध धर्मके तान्त्रिक विकासमे भी रहस्यवादका तत्त्व वर्तमान था।

चीनमे लाओ त्जेके सिद्धान्त भारतीय रहस्यवादसे मिलते हैं। उसने परम तत्त्वको 'ताओ' अथवा मार्गका नाम दिया। उसके अनुसार ताओ स्वर्गसे उच्चतर और पूर्वतर है, कालके भी पूर्व उसकी सत्ता थी, व्यक्त ईश्वरके पहले भी वह वर्तमान था। वह प्रकृतिका विधान है, शाश्वत, अपिवर्तनशील, अगोचर, प्रथम हेतु, सर्वव्यापक है। उसका वर्णन निषेधात्मक नेति-नेति-ढगसे ही किया जा सकता है। उसको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है। इसके निमित्त लाओ तजेने निवृत्ति, पूर्ण श्रून्यता, इच्छाके आत्यन्तिक नाश और अपनी सम्पूर्ण सत्ताको ताओको अधीन एवं समर्पित कर देनेका उपदेश दिया है। लाओ तजेने ईश्वरका किंचित् भी वर्णन नहीं किया है। वह मनुष्यका परम कर्तव्य अपनी इच्छा और अपनी सत्ताको ताओको समर्पित करके उसका यन्त्र वन जाना ही मानता है।

प्राचीन यूनानकी प्रधान प्रवृत्ति यद्यपि बौद्धिक और ऐहिक थी, फिर भी रहस्यवादका सूत्र वहाँ भी मिलता है। दार्शीनक पाइथागोरस रहस्यवादी था। आरिफ रहस्यवादी विविध रहस्योंसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड किया करते थे। सुकरातके समाधि जैसी अवस्थामें जाने और दिव्य शक्तिसे पूरित हो उठनेका वर्णन मिलता है। प्लेटोने अपने सलापोंने आरिफ रहस्यवादियोंका मजाक उड़ाया है और उनके कुछ विचारोंको स्वोकार भी किया है। प्लेटो स्वयं एक महान् रहस्यवादी था। अपने 'सिंपोसिअम' नामक संलापमें उसने रहस्यानुभूतिका प्रतीकात्मक वर्णन दिया है। प्लेटोने शिष्य प्लोटिनसकी भी गणना संसारके महान् है। प्लेटोने शिष्य प्लोटिनसकी भी गणना संसारके महान्

रहस्यवादियोंमें होती है। उसने रहस्यवादको दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और अरव तथा यूरोपके रहस्यवादियोपर महान् तथा व्यापक प्रभाव डाला।

ईसाई धर्मके प्रवर्तक प्रमु ईसामसीहका जीवन आदर्श रहस्यवादीका जीवन है। उनके शब्द ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कार और सान्निध्यजन्य अमित गम्मीरता और बलमे व्याप्त है। स्वयं वाइविल रहस्यवादका एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसके एिपिसिल्स नामक अंशोंमे ईश्वरके प्रत्यक्ष साक्षात्कारकी दिव्यानुभूतिका वर्णन है। सन्त पालकी श्रद्धा, आस्था और विश्वासका आधार यह दिव्य साक्षात्कार ही है। ईसाई धर्मके अन्तर्गत रहस्यवादी सन्त और साधक प्रायः सदैव ही होते रहे हैं। ईसाई रहस्यवादपर प्लोटिनस और नव्य प्लेटीवादियोका बहुत प्रभाव पड़ा है। छन्मनामी डायोना-इसन, जान स्कोटस एरिजेना, केरवोके बर्नाड, माहस्टर, एकहाई, होलर, ससो, टेरेसा, क्रसाके निकोल्स, श्रृनो, साइलेसिअस, वोएम, दॉते, ब्लेक, क्रमके सन्त जान, सेल्सके क्रांसिस, मैडम गुयाँ मोलिनोज आदिकी गणना प्रमुख ईसाई रहस्यवादियोमे होती है।

इस्लाम धर्ममें रहस्यवादी साधनाका सूत्र स्वयं हजरत मुहम्मदके जीवनमे मिलता है। उन्होंने तापसी साधनो, रात्रिजागरण, व्रत, प्रार्थनाओ आदिकी उपयोगितापर वल दिया है। इन साधनोंका प्रयोग वे ख़यं भी करते थे। किन्तु एक आन्दोलनके रूपमे इसलामके अन्तर्गत रहस्य-वादका सूत्रपात सूफीवादमे हुआ। आर्मिभक सूफी इसलामसे घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध थे। आगे चलकर दूसरी शती हिजरीमे वसराकी महिला सनत रविआने रहस्यवादी प्रेमका सिद्धान्त प्रचारित किया। तदनन्तर ईश्वरके प्रति भक्ति और उससे मिलनके रहस्योंकी अभिन्यक्ति लौकिक प्रमाण और सुरापानकी शब्दावलीमे होने लगी। तीसरी शती हिजरीमें इसलामके ईश्वरवादके विरोधी सर्वेश्वरवादी सिद्धान्तका विकास हुआ। आगे चलकर सीरियामें अन् सुलेमान अलं दारानीने ज्ञान और आनन्दके माध्यमसे रहस्यानुभूतिके सिद्धान्तकी स्थापना की। ईरानके अन् याजिद(८७४ ई०)ने सर्वेश्वरवाद स्वीकार करके फनका सिद्धान्त प्रतिपादित किया ! तीसरी शती हिजरीनक सृफी सम्प्रदाय (दे०) सुसंघटित हो गया। साधनाके पथ-प्रदर्शक यन्थोकी रचना हुई। साधनामे अनेक सीडियाँ पार करनी होती हैं-प्रायदिचत्त, परिवर्जन, त्याग, दरिद्रता, धैर्य, ईश्वरमे विश्वास, ईश्वरेच्छामे सन्तोष आदि । इनके उपरान्त आध्यात्मिक अनुभूतिकी भय, आशा, प्रेम, ध्यान और साक्षात्कारकी दशाएँ आती है। सूफी साधनासे दरिद्रता, तप और पवित्रतायुक्त जीवन तथा सद्गुरुकी कृपा अनिवार्य है। गजाली, जलाछुद्दीन रूमी, हाफिज, उमर खैयाम, निजामी, सादी और जामी प्रसिद्ध ईरानी स्फी कवि है। सूफियोका प्रभाव भारतवर्षमे भी पड़ा और यहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी सन्त और कवि हुए हैं 🖟

रहस्यवाद और रहस्यवादी साधनाका प्रमुख देश भारत है। अत्यन्त प्राचीन कालते लेकर आधुनिक समयतक इस देशमें रहस्यवादी साधना होती रही है। वैदिक युगमे विशुद्ध रहस्यवादी साधना प्रमुख नहीं थीं और ऋग्वेदमे उसके संकेत प्रचुर मात्रामे नहीं मिलते, किन्तु तप, ऋत और पुरुष सम्बन्धी विचारोंमे उसके बीज अवस्य उपलब्ध होते है। किन्तु उपनिषदे भारतीय रहस्यवादका हृदय है। उपनिषदें वह हिमालय है, जिनसे वेदान्तकी विविध गंगाओंकी धाराएँ प्रवाहित हुई है। उपनिषदोमे ही परम तत्त्व और व्यष्टिकी आत्माके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। वह परम तत्त्व एक और अद्वितीय, शान्त और अनन्त, सत्-चित-आनन्द, अलक्षण और निर्विकार, समस्त जगत्का अधिष्ठान, ब्रह्म है। मन्द्रव्यकी आत्मा भी ऐमी ही और उससे अभिन्न है। इसीलिए ऋषि श्वेनकेतुमे कहता है—'तत्त्वमिस'—वही त् है। उपनिपदोंने कोई एक सस्पष्ट दार्शनिक विचारधारा नहीं मिलती। शंकर, रामानुज, मध्व, वहुभ, निम्बार्क आदि आचार्योंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओके अनुसार उपनिषदोंका भाष्य किया है। वस्तुनः उनमें सर्वेश्वरवाद, अद्वैत, विशिष्टाद्वैन, द्वैताद्वैत, द्वेत आदि सभी मतोके अनुकूल उक्तियाँ मिल जाती है। किन्तु जहाँतक व्यावहारिक साधना-पक्षकी वात है, उपनिषदोका आग्रह प्रत्यक्ष रहस्यानुभृति और ज्ञान प्राप्त करनेपर है। त्याग, वैराग्य, श्रद्धा, तप, पवित्र जीवन और योगाभ्यास साधनके रूपमे स्वीकार किये गये है। उपनिषदोको मुख्यतया ज्ञानमार्ग, निर्मण उपासनाका प्रतिपादक माना जाता है।

सगुणोपासक भक्ति-सम्प्रदायके रहस्यवादकी परम्परा भी वड़ी प्राचीन है। उपनिषदोकी उपासनामें भक्तिपर विद्येष वल नहीं दिया गया है, किन्तु भक्तिमार्ग आत्म-समर्पण और भक्तिके द्वारा उसी लक्ष्यपर पहुँचना चाहता है। 'भगवद्गीता'में भक्तिको बहुत महत्त्व दिया गया है और उसमें श्रीकृष्णने ज्ञानी भक्तको अपना सर्वाधिक प्रिय कहा है। दक्षिणके आलवार सन्तो और वैष्णव आचार्योंने सगुण रहस्यवादी साधनाका प्रचार देशभरमें कर दिया। मध्य-युगमे भक्ति-आन्दोलनका अभृतपूर्व प्रस्फुटन हुआ। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रमु, रामानन्द, तुलसीदास, स्रदास, भीराँबाई, तुकाराम, नरसी मेहता आदि प्रमुख मध्ययुगीन भक्त है।

मध्ययुगमें रहस्यवादकी निर्गुण शाखाका भी विशेष प्रस्फुटन हुआ। इसके प्रमुख प्रतिनिधि कैवीर, नानक, रैदास, क्क्षमेदास, दादू इंत्यादि है। नाथ-सम्प्रदायकी परम्परामे गोरखनाथका नाम अग्रगण्य है।

आधुनिक कालमे भी भारतमे रहस्यवादकी भारा प्रवाहित रही है। भारतीय पुनरुत्थान-युगके अग्रणी राजा राममोहन राय औपनिषदिक रह्मूयवादमे आस्था रखते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर विख्यात रहस्यवादी सापक थे। रामकृष्ण परमहंसके प्रादुर्भावमे रहस्यातमक माधनाको और भी वल प्राप्त हुआ। उनके प्रमुख क्लिष्य स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य शिष्योंने उनका सन्देश देश-विदेशमे फिर विकसित किया। बाह्मसमाज भी ऐसी ही साधनाका पोषक था। उत्तरभारतमें स्मामी रामतीर्थ और ईसाई सन्त साधु सुन्दर सिंहके नाम इस सम्बन्धमे उल्लेखनीय है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ममीं साधक थे। दक्षिणमें श्री रमण महर्षिने निर्गुण रहरयवादकी साधनाका मार्ग विशेष रूपने आलोकित

किया। प्रयाग विश्वविद्यालयके दर्शन विभागके भूतपूर्व अध्यक्ष रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे अपने जीवन और साहित्यते रहस्यवादका प्रतिपादन करते रहे। अरविन्दकी साधना-पढातिम भी रहस्यवादके तत्त्व है। रहस्यवादी आधारपर स्थापित होनेवाल। एक नया सम्प्रदाय राधास्वामी-मत है, जिसका प्रधान केन्द्र दयालवाग, आगरामे है।

रहस्यवादने समग्र मानवीय संस्कृतिपर व्यापक प्रभाव छोडा है। वस्ततः वह मानवीय चेतनाके प्रमुख और उदात्ततम निर्णायक तत्त्वोमेंसे है। उसने साहित्य और कलाको प्ररणा दी है और संस्कृतिके निर्माणमे योग दिया है। रहस्यवादी भावनासे प्रेरित साहित्यका परिमाण विज्ञाल है। पश्चिममे फेटोबे तद्विषयक संलाप, प्लोटिनस-की कृतियाँ, दाँ तेकी डिवाइन काॅमेडी, सन्तोके आत्मचरित तथा साधनाविषयक ग्रन्थोंकी प्रचर संख्या है। रहस्यानु-भृतिका वर्णन वर्ड सवर्थ और टेनिसनकी कविताओं भी मिलता है। दूसरे महायुद्धके उपरान्त पश्चिमके बौद्धिकों मे रहस्यवादके प्रति एक नयी अभिरुचि उत्पन्न हुई। इनमें एल्डस हक्सले और क्रिस्टोफर आइशर उडके नाम प्रमुख है। पूर्वमे रहस्यवादसे प्रेरित साहित्य और भी प्रचुर है। ईरानके सुफी कवियोका नाम ऊपर लिया ही जा चुका है। भारतमे उपनिषद, 'ब्रह्मसूत्र' 'भगवद्गीता' तथा इन आचार्योंके भाष्य, 'योगवाशिष्ठ', तीनोंगर विविध 'महाभारत'के अंश, 'मिक्तिसूत्र', 'श्रीमद्भागवत' आदि रहस्यवादके प्रसिद्ध प्राचीन प्रन्थ है। शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यो और विद्वानोकी तत्सम्बन्धी कृतियोकी संख्या प्रचर है। यदि तन्त्रोके उदात्त पक्षको रहस्यवादी साधना माना जा सके, तो विशाल तन्त्र-साहित्य भी इसके अन्तर्गत आ सकता है। हिन्दीके आरम्भिक कवि रहस्यवादी सिद्ध ही है। मध्ययुगमे निर्गुण और सगुण धाराओंके रहस्य-वादियोंकी कृतियाँ तो हिन्दी साहित्यकी अक्षय निधि है। क्बीर, नानक, दादू, स्रदास, तुल्सीदास, मीरॉबाई आदि सैकड़ो रहस्यवादी कवियोने हिन्दी साहित्यको अमूल्य क्रतियाँ दी है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी रहस्यवादका विशाल साहित्य है। आधुनिक कालमे रामकृष्ण परमहंसके उपदेश, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रमण महिष अरविन्द, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामचन्द्र द॰ रानडे आदिकी कृतियोंसे भारतका रहस्यवादी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दीके क्षेत्रमें इधर कोई काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न सञ्चा रहस्यवादी साधक नहीं हुआ । रवीन्द्रनाथकी विश्वव्यापी ख्यातिसे प्रभावित होकर छायावादी युगमे कुछ कवियोंने रहस्यवादी शैलीमे कविता अवश्य की, किन्त सची अनुभृति और जीवनसे प्रेरित न होनेके कारण उसे कृत्रिम रहस्य वाद ही कहा जा सकता है। —आ०रा०शा० रहस्यानुभृति - लौकिकतासे विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्तिके प्रति राग, उत्सकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एवं मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है, तब उस अनुभव-वेद्य अवस्थाको रहस्यानुभूति की अवस्था कहते हैं। इसे दिव्यानुभूति भी कह सकते है, क्योंकि उमका सम्बन्ध अलैकिक शक्तिसे होता है। अंग्रेजोमें इसे 'मिस्टिक फीलिग' कहेगे। ज्ञानी जिस रहस्यको

साधनाके द्वारा सुलझाता है, अनुभृतिप्रवण निवेदन और रागानभवके द्वारा प्रकट करता है। दोनो एक ही शक्तिको आलम्बन स्वीकार करते है, किन्त दसरा व्यक्ति उससे अनेक रागात्मक सम्बन्ध जोडकर विरहानुभति भी व्यक्त करता है; कभी वह उससे एकाकारिताका अनुभव करता है। यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल इसे भारतीय कान्यमे रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे यूरोपीय प्रभावमात्र मानते है और अलौकिक शक्तिके प्रति लालसाकी अभिव्यक्तिको झूठा या कृत्रिम रहस्यवाद मानते है, तथापि 'प्रसाद'ने इसे वैदिक कालसे आगत भारतीय विचारके रूपमे ही स्वीकार किया है। भारतीय सन्तों, सुफियों, रहस्यवादी कवियोमें इस आध्यारिमक रहस्यानुभृतिकी प्रभावशालिनी अभिव्यक्ति दीख पडती है। 'प्रसाद', पन्त, 'निराला' तथा महादेवी वर्मा आदि इस प्रकारके हिन्दी काव्यके प्रतिनिधि कवि है। -- आ० प्र० दी०

रागानुरागसंबंधरूपा भक्ति—यह रागके द्वारा भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करानेवाली भक्ति है। रूप गोस्वामीने
गौणी भक्तिके एक उपभदके अन्तर्गत ही इस भक्ति-प्रकारको रखा है (भ० र० सि०: पू० वि०, २:६२)। भक्त
और भगवान्के मध्य, सम्बन्धके विचारसे इसके चार प्रकार
है—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) वात्सल्य, (४) दाम्पत्य।
हनुमान्को दास्य, खुदामा, उद्धव और अर्जुनको सख्य,
नन्द-यशोदाको वात्सल्य तथा राधा एवं रुक्मिणीको दाम्पत्यभावका आदर्श माना जाता है (हिन्दी काच्यमे
वर्णित इन भावोंके उदाहरणोके लिए दे०—'आसक्तियाँ')।
—वि० मो० श०

राजचर्या—राजशेखरने अपने किविशिक्षा (दे०) ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा'के दसर्वे अध्यायमे राजाओं द्वारा आयोजित किव-पिरिषदोका विस्तृत वर्णन किया है। राजशेखरका कहना है कि राजा लोग किवां और काव्यो तथा अन्य विद्वानोकी परीक्षाके लिए ब्रह्म-सभाका आयोजन करे। उज्जियनीमे ऐसी ही ब्रह्म-सभाओमे कालिदास, मेण्ठ, भारवि जैसे किवयोंकी परीक्षा हुई थी और पाटलिपुत्रकी सभाओमें उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याहि, वररुचि, पंतजिल जैसे आचार्योकी परीक्षा हुई थी। इन परिषदोंसे तत्कालीन राजदरबारोंके वातावरणका आभास मिलता है और उनमें किवयोंके स्थानका रूप भी स्पष्ट होता है।

राजपथ-सुषुम्ना नाडी (दे॰ 'अवधूती') । राजसी भक्ति-दे॰ 'गौणी भक्ति'।

राजस्थानी – राजस्थानकी बोलियोंका समृहः हिन्दीभाषी
प्रदेशके सीमान्तपर अवस्थित है। राजस्थानी बोलियों
मौलिक दृष्टिमे पश्चिमी हिन्दीसे बहुत भिन्न नही है।
राजस्थानीकी चार बोलियों है—१. मेवाती—अहीरवाटी—
यह अलवरमें तथा दिल्लीके दक्षिणके प्रदेशमे गुडगॉवके
आस-पास बोली जाती है। २. मालवी—इस बोलीका केन्द्र
मालवा प्रदेश है। ३. जयपुरी – हाडौती – यह जयपुर, कोटा
और बूँदीमे बोली जाती है। ४. मारवाई – मेवाई — यह
मारवाइ तथा मेवाइ प्रदेशकी बोली है।

राजस्थानी प्रदेशकी साहित्यिक भाषा हिन्दी है तथा

मुद्रण आदिवे लिए नागरी लिपिका प्रयोग होता है। राजस्थानके निवासी अपने न्यवहारमे नागरीके ही एक उपरूप महाजनीका प्रयोग करते है, जिसका प्रचार मारवाडियोंके न्यापारके साथ-साथ प्रायः समस्त उत्तर-भारतमे हो गया है।

राधावल्लभी संप्रदाय-मध्ययुगके कृष्णभक्ति-सम्प्रदायोमे अन्यतंम राधावछभी सम्प्रदायके संस्थापक गोसाई हित हरिवंश थे। 'हित' उनका उपनाम था। इसलिए इस सम्प्रदायको हरिवंशी सम्प्रदाय भी कहते है। इस सम्प्रदायका कोई दार्शनिक मतवाद नहीं है, अतः यह केवल साधनमार्ग है; तात्त्विक दृष्टिसे इसके अनुयायियोंने भी बहुत दिनोंतक कोई विचार नहीं प्रकट किये। इसके सम्बन्धमें जो भी जानकारी प्राप्त हो सकती है, वह हित इरिवंशकी रचनाओं—'हित-चौरासी' और 'राधा-सधा-निधि' (संस्कृत) मे अथवा उनके अनुयायी हरिराम व्यास और प्रवदासकी रचनाओसे। नाभादासने 'भक्तमाल'में हरिवंश गोसाईकी भजनकी रीतिको अत्यन्त गृढ और रहस्यमयी कहा है। इसे वस्तुतः भलीभाति तो वही जान सकता है, जो उनके पन्थका अनुयायी हो। नाभादास केवल इतना जानते है कि इसमे विधि और निषेधके लिए कोई स्थान नहीं है। राधाके चरणोकी उपासना और राधा-कृष्णके केलि-क्रंजकी खवासी—चाकरी करना ही भक्तका एकमात्र कर्तव्य है (भक्तमाल, छ० ९०)। प्रियादासने भी 'भक्तमाल'के इस कथनकी टीका करते हुए कहा है कि 'हित'जीकी रीतिको कोई लाखोमे एक जान पाता है। इस भक्तिमार्गमे राधाको ही प्रधानता दी जाती है, कृष्णका ध्यान उसके बाद किया जाता है। इस भक्तिका भाव अत्यन्त विकट है। स्वभावकी अनुकूळता तथा कृपाकी प्राप्ति-से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। प्रेमकी ही उसमे 'प्रधानना है, जिससे विधि और निषेध उपेक्षणीय हैं।

े राधावछभी सम्प्रदायके साहित्यमे अध्यातमपक्षका विवेचन बहुत कम हुआ है, भक्तिका प्रकाशनमात्र उसमें मिलता है। कवियोने राधा-कृष्णकी कुंज-क्रीडा और सुखिनलासका ही मधुर और लिलत चित्रण किया है। कर्म और ज्ञान-मार्गका इसमें स्पष्टतया खण्डन करके प्रेम-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है। भक्तके लिए यही अपेक्षित है कि राधा-कृष्णकी नित्य-केलिका सतत ध्यान करता हुआ आनन्दमग्न रहे। राधावछभी मतमे केवल संयोग-सुखकी लीला ही स्वीकृत है, वियोगकी भावना मान्य नहीं है। निकुंज-लीलाका मनन ही परम रस माधुरी भाव है। इसी भावका चित्रण 'हित-चौरासी' तथा सम्प्रदायके अन्य प्रन्थेंनं हुआ है।

सम्प्रदायकी पारिभाषिक शब्दावलीमे 'हित' शब्द सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है मांगलिक प्रेम जो परात्पर-तत्त्व है, अद्भय है, युगलक्ष्प है, श्वामा-श्वाम या राधा-कृष्ण है। राधा-कृष्ण अभिन्न तत्त्व हैं, वे प्रेमरूप हैं, प्रेमके कारण भी है और कार्य भी, वे जलतरगकी तरह एक-दूसरेमें ओतप्रोत है। हरिवंशने अपना रस-मिद्धान्त बताते हुए कहा है—''यित्किनिद् इश्यते सृष्टौ सर्य हितमयं विदुः,'' अर्थात् सृष्टिमें जो कुछ जड़-चेतन दिखाई देता है, वह सब

एक ही वस्त 'हित' प्रेम समझो। प्रेम-तत्त्वके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी सत्ता हरिवंश स्वीकार नहीं करते। उन्हें मर्वत्र अपनी प्रेम-स्वरूपा आराध्याका ही दर्शन होता है-"सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमं स्वाराध्य वुद्धिर्मम"। 'हित'जीका यह प्रेभाद्वेतका सिद्धान्त श्रुतिके 'रसो वै सः' वचनसे समर्थन पा सकता है। इस रसरूप ब्रह्मका अवतार श्रीकृष्ण ही है और उनका पूर्ण रस-रूप राधाके साथ मधुर केलिमे ही प्रकट होता है। राधावल्लभका यह रसमय रूप दो प्रकारका होता है-एक व्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस । ब्रज-रसमे गोपियोका उपपति-प्रेम (जार-प्रेम) होता है, अर्थात् यह रस परकीया-भावका होता है। यह केवल अवतार-दशामे प्रकट होता है, अतः यह अनित्य है। इससे भिन्न निकंज रस नित्य अखण्ड, सदा एकरस रहनेवाला है। उसमें 'स्व' और 'पर'का कोई भेद नहीं है। वह 'रस' केवल वृन्दावनमे दृष्टिगोचर होता है, अतः उस नित्य रस-को 'श्रीवृन्दावन-रस' भी कहते है। श्रीवृन्दावनरति उसका स्थायी भाव है। परम तत्त्व-रस-रूप राधावल्लभ ही नित्य, सत्य और सचिदानन्दघन है। सौन्दर्य, माधुर्य रस और आनन्दकी वे सीमा है। वे ही परब्रह्म-ब्रह्मके भी ब्रह्म है। वे अवनारी है, अवतार नहीं; अग्निस्फ़लिगवत् सब अवतार उन्हींसे निःसृत होते है। सृष्टि, पालन और प्रलयसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, क्यों कि वे नित्य रस-मग्न हुए निज-रूपा स्वामिनी श्रीराधाके साथ नित्य आनन्द-विहार करते रहते है। 'हित'जीके अनुसार राधा और कृष्ण अदय है, एक ही तत्त्व है। राधा ही नहीं, विहारके अन्य अंग वृन्दावन तथा सखियाँ भी अभिन्न है, एक प्रेम-तत्त्वरूप है। इस नित्य विहारमे विरहकी करपना भी नहीं की जा सकती। यह विहार दिव्य धाम श्रीवृन्दावनमे अनादि-अनन्त रूपसे निरन्तर होता रहता है। श्रीकृष्ण, राधा और सखियोकी तरह वृन्दावन भी स्थूल और सक्ष्म दोनों-से परे, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार इस मतमे 'हित' ही ब्रह्म है, जड़-जंगम समस्त सृष्टि भी 'हित'का ही स्थूल रूप है, अर्थात वह नित्य 'हित' इन नाना स्थावर-जंगम रूपोंमें जडता संचारी भावको प्राप्त हो गया है। वस्तुतः सभी जीव और जड़ सृष्टि उसी एक 'हित-मित्र' प्रेमतत्त्वके चित्रमात्र है।

जैसा कि जगर कहा गया है, राधावछभी मतमे वियोग मान्य नहीं है, उसके अनुसार परकीया और खकीया, दोनों भाव अपूर्ण है, क्योंकि स्वकीयामें मिलनका ही सुख है, विरह नहीं है तथा परकीया भावमे मिलनका पूर्ण सुख नहीं है। ये दोनो भावनाएँ एकदेशीय और एकांगी है। हिर्विश्चने सारस और चकईके संवादमें इन दोनों भावोकी न्यूनता प्रदिश्चन की है। प्रियके विरहमें भी चकईका जीवित रहना प्रेमकी न्यूनताका द्योतक है तथा सारसका कित्य मिलन-सुखका प्रेम विरहानुभवके विना एकांगी है। हिरवंशके अनुसार प्रेमकी पूर्णता वह है, जिसमें मिलनावस्थामें भी विरह्वी उत्सुकता और आकांक्षा वनी रहे, जिससे प्रेमकी लवलेशमात्र क्षीणता न हो, प्रत्युत वह नित्य नृतन होता रहे, उसमें निरन्तर आकांक्षा और उमंगकी लहरे उठती रहे। उन्होंने उसे 'प्रेम विरहा' नामसे अभिहत

किया है; मिलनमें विरहका भाव नित्य अनुप्रिके अनुभवसे जाग्रत् रहे। अविशुक्त मिलनमें भी सहैव यह अनुभव होता रहे कि कभी मिले ही नहीं, यही 'प्रेम विरहा'की स्थिति है।

राधावहभी मतमे कृष्ण और राधा पुरुष और प्रकृतिरूप है। नित्य-विहारी श्रीकृष्ण एकमात्र पुरुष है तथा उनकी निजरूपा 'हादिनी' प्रेमशक्ति राधा परम प्रकृति है। समस्त जगत् इन्ही युगलिकशोरका प्रतिविम्ब है। राधा ही जड और जीव, दोनों प्रकारकी प्रकृतिमें सर्वत्र न्याप्त है। वे ही सखी है, वे ही गोपी। समस्त जीव प्रेम-रूपा गोपी ही है। उनमे वे दिव्य गुण विद्यमान है, जो श्रीकृष्णकी अभिन्न-तत्त्व सखियोमे है। केवल वे निज-खरूपको भूल गये है, इसी कारण जन्म-मरणके भ्रमभे पड गये है। निज-स्वरूपके स्मृति-भावसे वे प्रेम रूपको प्राप्त कर सकते है। निजरूपका स्मरण कैमे हो सकता है, इसके लिए बताया गया है कि प्रेम-रसकी साधनामे भक्तके दो शरीर होते है-एक साधन-शरीर, दूसरा सिद्ध या दिव्य शरीर । साधन-शरीरके द्वारा मनमें प्रेमभावको हु करनेका उपाय किया जा सकता है। वह उपाय यह है कि भक्त मनमें अपने विसी दिन्य शरीरकी भावना करता रहे। परम सौन्दर्य और माधुर्यके आगार श्रीकृष्णकी अपार लावण्यमयी सखीके रूपके शारीरिक सौन्दर्य, मनोहर वस्त्राभरण तथा हार्दिक अनुरागका ध्यान करते हुए अपने ऊपर उसका पूर्ण भावसे आरोप करनेसे ही यह सम्भव हो सकता है। अतः राधा-व्हभी भक्ति-पद्धतिमे इसी सखी-भावका विधान किया गया है। किशोरीरूपमे अपनेको कल्पित वरनेसे ही युगल-किशोरकी रस-भावना सम्भव है। भक्त स्वामिनीजीके पार्थ-में पहुँचनेके लिए उन्हीके समान स्वरूपानुसन्थान करता है और अपनेको उनदी चतुर सुकुमारी किशोरी परिचारिका बनाकर धन्य मानता है। यही खरूपानुसन्धान भक्तका दिव्य या सिद्ध शरीर है। इसीके आधारपर राधावङ्गकाल-की रस-लीलासे पूर्ण साधर्म्य स्थापित हो सकता है। इसी रूपमें भक्त आकांक्षा करता है कि जो रस दयामा दयाम मे प्रवाहित रहता है, उसका एक कण मेरे हृदयम भी प्रस्क-टित हो जाय।

हित हरिबंदा (सन् १५०२-१५५२ ई०) श्रीकृष्णकी वंशीके अवतार कहे जाते है। पहले वे मध्य-सम्प्रदायके अनुयायी
थे, फिर निम्बार्क सम्प्रदायमें सम्मिलित हुए। एक बार जब
वे अपने निवासस्थान देवबन्द (सहारनपुर)से वृन्दावन जा
रहे थे तो रास्तेमें एक ब्राह्मणने उन्हें अपनी दो कन्याएँ
और एक कृष्णमृतिं भेट की। वृन्दावन आकर उन्होंने
राधावछम नामसे उस मूर्तिको स्थापित किया और उसपर
एक मन्दिर बनवाया। कहते हैं, स्वयं श्रीराधिकाजीने इन्हे
वृन्दावन आकर स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित करनेका स्थममे
आदेश दिया था। सन् १५३४ ई०में राधावछमकी मूर्तिका
'पट-महोत्सव' हुआ और उसके बाद इन्होंने अपनी राधावछभीय भक्ति-पद्धतिका संघटित प्रचार प्रारम्भ किया।
ठेठ बजका यह कृष्णभक्ति-सम्प्रदाय अपने प्रभाव और
प्रसारमें कदाचित वछभ-सम्प्रदायके बाद ही आता है। इसने
भी काव्य, संगीत और प्रसाधनकला आदिको संरक्षण और

प्रोत्साहन दिया तथा भक्तिकालीन समृद्धिमे अन्यतम योग दिया। 'हित-चौरासी' कान्यकी दृष्टिसे भी उच कोटिकी रचना है। हित हरिवंशके भक्तिपूर्ण व्यक्तित्वका इतना प्रभाव था कि गौडीय वैष्णव सम्प्रदायके अनुयायी हरिराम व्यास (अनुमानतः सन् १४९२-१५९३ ई०), जो संस्कृतज्ञ शास्त्रार्थी विद्वान् थे, राधावहाभी मतमे सम्मिलित हो गये। उनकी रचनाका सम्प्रदायकी दृष्टिसे भी महत्त्व है और साहित्यिक दृष्टिसे भी । इसी प्रकार श्रुत्रदास (अनुमानतः १५७३-१६४३ ई०) स्वप्नमे ही हितजीके शिष्य बन गये थे। इनके छोटे-बड़े चालीस यन्थ मिले है, जिनका माधुर्य भक्तिके प्रचारमें महत्त्वपूर्ण योग रहा है। राधावलभी मतके कुछ प्रसिद्ध भक्त कवि रीतिकालमे भी हुए है, जिनमे चाचा हित वृन्दावनदास (अनुमानतः १७००-१७८७) और श्री हठीजी अधिक प्रसिद्ध है। हित वृन्दावनदासके बीस हजार पद और छन्द मिले है। गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियोंसे इस सम्प्रदायने ब्रजभाषा-काव्यमे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

[सहायक यन्थ—हित-चौरासीः और राधासुधानिधिः हित हरिवंशः व्यासवाणीः हरिराम व्यासः भागवत सम्प्रदायः वल्टमे उपाध्यायः अष्टछाप और वल्टमे सम्प्रदायः दीनदयाछ गुप्तः राधावल्टमे सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्यः विजयेन्द्र स्नातक।]—व० व० राधिका—एक छन्द विशेष।

राम — रामका शाब्दिक अर्थ है — जिसमें सभी देवता रमण करें, यानी परब्रह्म, परम शक्ति (अध्यात्मरामायण)। वादमें परब्रह्म अवतारके रूपमे रामकी प्रतिष्ठा हुई (पौराणिक कालमें) और वादमीकि रामायणमें वर्णित दशरथ-पुत्र रामकें साथ इसकी अभिन्नना प्रतिपादित की जाने लगी। हिन्दीमें अधिकांशतः रामकी इसी रूपमे प्रतिष्ठा हुई। तुलसीने अपने 'रामचिरतमानस' यन्थमें रामकी मर्यादा-पुरुषोत्तमके रूपमें प्रतिष्ठा की और सम्पूर्ण राम-काव्यमें रामका यही अर्थ अहण किया गया। निर्गुण परम्परा और विशेषतः कवीरने रामसे परब्रह्मका अर्थ अहण किया है — "कस्तूरी कुण्डली बसे, मृग हुँदे मग माँहि। ऐसे घट-घट राम है, दुनियां देखे नाहिं"। — क॰ शु॰ रामकथा — वैदिक कालके पश्चात सम्भवतः छठी शताब्दी

शमकथा—वैदिक कालके परचात् सम्भवतः छठी राताब्दी ई० पू०मे इक्ष्वाकुवराके सूत्रों द्वारा ऐतिहासिक घटनाओ- के आधारपर रामकथा-विषयक गाथाओंकी सृष्टि होने लगी थी। इसके फलस्वरूप चौथी राताब्दी ई० पू०तक रामका चित्र लेकर स्फुट आख्यान-काव्यका प्रचुर साहित्य उत्पन्न हुआ था, जो कोशल प्रदेशतक सीमित न रहकर उत्तर-भारतमे फैलने लगा था। उस समय आदिवािव वालमीिक इस आख्यान-काव्यके आधारपर एक विस्तृत प्रवन्ध-काव्यकी रचना की, जिसमे रामके निर्वासनसे लेकर अयोध्याम उनके प्रत्यागमनतक अर्थात् प्रचलित रामायणके अयोध्याम उनके प्रत्यागमनतक अर्थात् प्रचलित रामायणके अयोध्यान काण्डसे लेकर युद्धकाण्डतककी कथा-वस्तुका वर्णन था। आदि रामायण नर-काव्य ही था, इसमें राम आदर्श मानव और वीर क्षत्रियके रूपमें प्रस्तृत किये थे।

वाल्मीकिकृत आदिरामायणका रूप स्थिर नहीं रह सका। वह कई शताब्दियोंतक मौखिक रूपमें ही प्रचित्र था। अतः काच्योपजीवी कुशीलव अपने श्रोताओं की रुचिका ध्यान रखकर लोकप्रिय अंश बढाने तथा कथानकमे नवीन सामग्री, विशेषकर अद्भुत रसकी सामग्रीका समावेश करने लगे। प्रमुख प्रक्षेप ये है—कनव.मृगका कृत्तान्त, लंकादहन, हनुमान्का औषध-पर्वत ले आना, सीताकी अग्न-परीक्षा। इसके अतिरिक्त राम कौन थे, सीता कौन थी, इनका जन्म और विवाह कहाँ, कव और किस प्रकार हुआ था, रावण कौन था, रावण-वधके बाद राम-सीताका जीवन कैसा बीता, उनके कौन-कौन सन्ति उत्पन्न हुई, आदि—ये अत्यन्त स्वामाविक प्रश्न थे। जनताकी इस जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेके उद्देश्यसे बालकाण्ड और उत्तरकाण्डके प्रारम्भिक रूपकी रचना कर ली गयी। इस प्रकार हम देखते है कि विकासका प्रथम सोपान यह है कि रामकथा रामका अयन, अर्थात् रामका पर्यटन न रहवर पूर्ण रामचरितके रूपमे परिणत हुई।

अवतारवादकी भावना पहले-पहल 'श्रापधवाह्मण'में परिलक्षित होती है। प्रारम्भमें विष्णुकी अपेक्षा प्रजापतिकों इस सम्बन्धमें अधिक महत्त्व दिया जाता था। बादमें वासुदेव-कृष्ण विष्णुके अवतार माने जाने लगे, जिसके फलस्वरूप अवतारवादकों बहुत प्रोत्साहन मिला। साथसाथ विष्णुका महत्त्व वढने लगा और अवतारवादकी सारी भावना धीरे-धीरे विष्णुमें केन्द्रीमृत होने लगी। दूसरी और रामकथाके प्रसारके साथ-साथ रामका महत्त्व भी बढने लगा था। परिणाम यह हुआ कि सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू०से लेकर राम और उनके भाई विष्णुके अंशावतार माने जाने लगे। अतः रामायणके कई स्थलोंपर रामावतार-विषयक सामग्री और वालकाण्ड तथा उत्तर-वाण्डमें बहुत-सी पौराणिक बथाएँ प्रक्षिप्त की गर्या—इस तरह प्रचलित वाल्मीकि-रामायणका वर्तमान रूप उत्पन्न आ।

रामकथाकी लोकप्रियता ध्यानमं रखकर बौद्धो और जैनियोंने भी रामको अपने-अपने धर्ममे एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया। इस प्रकार रामकथा भारतीय संस्कृतिमें इतनी न्याप्त हो गयी कि रामको उस समयके तीन प्रचलित धर्मोंमे एक निश्चित स्थान मिला—बाह्मण-धर्ममे विष्णुके अवतारके रूपमे, बौद्ध धर्ममे बोधिसत्त्वके रूपमें और जैन धर्ममे आठवें बलदेवके रूपमे, जो त्रिषष्टि महापुरुषोमेसे एक है।

अवतारवादके कारण रामकथामे अलौकिताको मात्रा अवदय धीरे-धीरे बढने लगी, फिर भी इसका प्रमुख दृष्टिकोण धार्मिक न बनकर शताब्दियोंतक साहित्यक ही रहा। अतः एक और बारह्वी शताब्दोतकके धार्मिक साहित्यमे रामकथाका स्थान अपेक्षाकृत गौण है, दूसरी ओर भारतीय तथा भारतके निकटवर्ती देशोके ललित साहित्यमें इसकी व्यापकता अद्वितीय है (दे॰ 'रामकाव्य')। इन बहुविध माहित्यक रचनाओंमे 'आदिरामायण'की आधिकारिक कथानक्तों प्रायः कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया है। लेकिन बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके कथानकका अत्यिक विकास हुआ, उदाहरणार्थ—सीता और हनुमान्की विभिन्न जनम-कथाएँ, सीतात्याग, कुश-लवचित तथा रामकथाके

निर्वहणके विविध रूप।

अतः विकासका द्वितीय सोपान यह है कि रामकथा, आदर्श क्षत्रिय रामका चरित्र न रहकर, विष्णुकी अवतार-लीलामें परिणत हुई और उसी रूपमें किंचित् परिवर्तन तथा पर्याप्त परिवर्द्धन सहित समस्त भारत तथा इसके निकटवर्ती देशोंमे फैल गयी।

बारहवी शताब्दी ई०के बाद रामभक्ति पूर्ण रूपसे पछिवित होकर रामकथाके स्वरूपपर प्रमाव डाळने लगी (दे० 'रामभक्ति')। १४वी शताब्दी ई० से लेकर समस्त भारतीय रामकथा-साहित्य मक्ति-भावसे ओत-प्रोत है। उस समयके पूर्व ही रामकथा विदेशमे फैल गयी थी, अतः विदेशी रामकथा-साहित्यमे भक्तिका अभाव है दे० 'राम-कान्य')। उस भक्तिभावके फलस्वरूप रामकथाका वातावरण बदलने लगा। प्रारम्भमे राम, भरत आदि चारो भाई विष्णुके अंशावतार थे, अब राम परब्रह्मके पूर्णावतार माने जाने लगे और लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुव्न कमशः शेष, शंख तथा सुदर्शनके अवनार। सीता पहले लक्ष्मी अवतार, किन्तु बादमे परा शक्ति अथवा मूल प्रकृतिके रूपमें स्वीकृत होने लगी।

रामकथाकी आधिकारिक कथावस्तुमें भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। सीता राक्षसके वश में हुई थीं, यह विचार भक्तोंको असह्य और असम्भव हुआ, अतः उपास्य देवीकी मर्यादाकी रक्षाके लिए भक्तिभावने सीताकी एक छायामात्रका हरण स्वीकार किया। मूल रामकथामे रावणने कामवासनासे प्रेरित होकर सीताहरण किया था और दण्डस्वरूप वह राम द्वारा मारा गया था। रामकथाके विकासके द्वितीय सोपानमें दृष्ट राक्षस रावणका नादा ही रामावतारका उद्देश्य है। रामभक्तिके पूर्ण पछवित होनेके साथ यह भावना उत्पन्न हुई कि जो कोई राम द्वारा मारा जाय, वह रामका पद प्राप्त कर देता है, अतः यह माना गया कि रावणने मोक्ष पानेके उद्देश्यसे सीताका अपहरण किया था तथा रामके हाथसे मरकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त की थी। इसी तरह कथानकके अन्य गौण प्रसंगोंका दृष्टकोण भी बदल गया तथा विभिन्न पात्रोकी उपता तथा कुटिलता रामभक्तिमे लीन कर दी गयी है।

अतः रामभक्तिके प्रादुर्भावके पश्चात् रामक्षाकी सम्पूर्ण कथावस्तुका वर्णन एक नवीन दृष्टिकीणसे किया गया है। यह रामकथाके विकासका तृतीय सोपान है—विष्णुकी अवतार-छीलामात्र न रहकर रामकथा भक्तवत्सल भगवान् रामके गुण-कीर्तनमे परिणत हुई।

इस प्रकार रामकथा अनेक रूप धारण करने हुए हानै-हानै: सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तथा निकव्वतीं देशोंमें भी फैलकर एशियाई संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वन गयी है। कारण यह है कि मानव-हृदयको द्वीभूत करनेकी जो शक्ति रामकथामें हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त रामकथामें लोकसंत्रहकी भावना आदर्शप्रिय भारतीय जनताको शताब्दियोसे प्रभावित करती चली आ रही है। भारतकी समस्त आदर्श-भावनाएँ रामकथामे, विशेषकर मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा पतिव्रता सीनाके चरित्र-चित्रणमें केन्द्रीभूत हो गयी है। फलस्वरूप राम- कथा भारतीय संस्कृतिके आदर्शवादका उज्ज्वलतम प्रतीक बनकर भारतकी जनताके लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुई है।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथा: कामिल बुल्के ।]—का०बु० रामकहानी—दे० 'आत्मकथा'।

रामकाव्य-आदिवावि वाल्मीकिके अनेक शताब्दियो पूर्व रामकथाको लेकर आख्यान-काव्यकी सृष्टि होने लगी थी, किन्त वह साहित्य अप्राप्य है। अतः वाल्मीकिकृत रामायण प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य है, इसकी रचना सम्भवतः चौथी शताब्दी ई० पू०के अन्तमे हुई थी। बहुत समयतक मौखिक रूपमें प्रचलित रहनेके कारण इसका रूप स्थिर नहीं रह सका, रामकथाके प्रारम्भिक विकासके साथ-साथ इसमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया गया है। समस्त बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्डके अतिरिक्त अन्य काण्डोमे भी बहुत-सी प्रक्षिप्त सामग्रीका समावेश हुआ, यहाँतक कि 'आदिरामायण'का कलेवर कम-से-कम दुना हो गया (दे० 'रामकथा')। प्रचलित 'वाल्मीकिरामायण'के तीन भिन्न पाठ मिलते है-१ दाक्षिणात्य पाठ (गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, बग्बई तथा दक्षिणके संस्करण) । २. गौडीय पाठ (गोरेसियो द्वारा सम्पादित तथा पेरिसमे सन् १८४३ ई०मे प्रकाशित, कलकत्ता संस्कृत सिरीजका संस्करण)। ३. पश्चिमोत्तरीय पाठ (दयानन्द महाविद्यालय, लाहौरका मंस्करण) । प्रत्येक पाठमे बहुतसे इलोक, बडे-बड़े अवतरण तथा पूरे सर्गनक ऐसे है, जो किसी एक या अन्य दो पाठोंमे नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त जो इलोक दो या तीन पाठोंने मिलते है, उनमें भी पर्याप्त मात्रामे अन्तर है तथा इलोकोंका क्रम भी दो अथवा तीनो पाठोमे अलग-अलग है। इस वैभिन्यका कारण यह है कि वाल्मी किके कई शताब्दियो बाद रामायणको अलग परम्पराओके आधारपर लिपिबद्ध किया गया है। पाठोंके तुलनात्मक अध्ययनसे पता चलता है कि गौड़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोमे अपेक्षाकृत अधिक समानता पायी जाती है। इन दोनोमे दाक्षिणात्य पाठके बहुतसे आर्ष प्रयोग एक ही तरहसे सुधारे गये है और बहुतसे अन्य स्थलोपर भी दोनोंका पाठ दाक्षिणात्य संस्करण-से भिन्न होते हुए भी एक है। अतः प्रतीत होता है कि प्रारम्भमें सम्भवतः पहली शताब्दी ई०से रामायणके दो पाठ धीरे-धीरे भिन्न होने लगें थे-उदीच्य तथा दाक्षिणात्य । बादमें उदीच्य पाठने दो शाखाओंमे विभक्त होकर गौढ़ीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठोको जन्म दिया। यद्यपि इन तीनो पाठोंमें पर्याप्त मात्रामे अन्तर पाये जाते है, फिर भी आधिकारिक कथावस्तुके दृष्टिकोणसे वे गौण ही है (दे० 'वाल्मीकि रामायणके तीन पाठ'—'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', वर्ष ५८, अंक १-२, पृ० १-३५)।

वाल्मीिक भी प्रतिमाने रामकथाको एक ऐसा चित्ताक भैक तथा मर्मस्पशी रूप प्रदान किया था कि आगे चलकर भारतकी कान्यधारा रामकथाको लेकर चलती रही। इसके अतिरिक्त निकटवर्ती देशोंमें भी प्रचुर रामकान्यकी सृष्टि हुई है। प्रस्तुत परिचयमें क्रमशः बौद्ध तथा जैन साहित्य, संस्कृत-प्राकृत-लिलत साहित्य, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य और विदेशी साहित्यमें रामकान्यका सिंहा वलोक न किया जायगा।

बौदोंने ईसवी सन्के कई शताब्दियो पूर्व रामको बोधिसत्त्व मानकर, रामकाब्यको अपने जातक-साहित्यमे स्थान दिया है। इस प्रकार 'दशरथजातक', 'अनामकं जातकम' तथा 'दशरथकथानकम', ये तीन जातक उत्पन्न हुए। इनका मूल स्रोत सम्भवतः रामकथा सम्बन्धी प्राचीन आख्यान-काव्य है। आगे चलकर बौदोंमे रामकथाकी लोकप्रियता घटने लगी, अतः अर्वाचीन बौद्ध साहित्यमे रामकाव्यका अभाव है।

बौद्धोंकी भॉति जैनियोने भी रामकथाको अपनाया, लेकिन जैन साहित्यमे इसकी लोकप्रियता शताब्दियोतक बनी रही, जिसके फलस्वरूप एक अत्यन्त विस्तृत जैन रामकान्यकी सृष्टि हुई। विमल सूरिने पहले-पहल ईसवी सनकी तीसरी शताब्दीमें 'पडमचरिय' (प्राकृतमें) लिखकर रामकथाको जैन धर्मके साँचेमे ढालनेका प्रयत्न किया। इसका संस्कृत रूपान्तर रविषेणने सन् ६६० ई०में किया था, जो 'पद्मचरित'के नामसे प्रसिद्ध है (हिन्दी खडीबोली-गद्यके इतिहासमे इस 'पश्चिरित'का स्थान महत्त्वपूर्ण है-संवत् १८१८में दौलतरामने इसका भाषामे अनुवाद किया)। आगे चलकर जैन किनयोंने रिवपेणके आधारपर रामकाव्यकी रवना की है। प्रमुख काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार है—संस्कृतमे हेमचन्द्रकृत 'जैन रामायण' (१२वी ज्ञ० ई०); जिनदासकृत 'रामपुराण' (१५वी शताब्दी ई०) तथा पद्मदेवविजयगणिकृत 'रामचरित' (१६वी श० ई०), अप-भ्रंशसे सत्यभूदेवकृत 'पडमचरिय (८वी श० ई०), कन्नड़ भाषामे नागचन्दकृत 'पम्परामायण' (११वीं श्र० ई०), कुमुदेन्दुकृत 'रामायण' (१३वी श० ई०) तथा देवप्पकत 'रामविजयचरिन' (१६वी २१० ई०)।

जैन रामकथाका एक दूसरा रूप हमे पहले-पहल गुण-भद्रकृत 'उत्तरपुराण' (९वी श० ई०)मे मिलता है। इसके आधारपर भी संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नडमें बहुतसे अन्थोकी रचना हुई है।

संस्कृत लिलत साहित्यके स्वर्णकालमे अधिकांश किवयो-ने रामकथाके आधारपर महाकान्यों अथवा नाटकोकी सृष्टि की है। बादमे संस्कृत साहित्य बहुत-कुछ निर्जीव कृत्रिमता-की श्रंखलाओमे वॅथ गया, किन्तु रामकथा-विषयक इलेप-कान्य, विलोमकान्य, चित्रकान्य तथा श्रंगारिक खण्डकान्य इस बातका प्रमाण देते है कि रामकथाकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही।

रामकथा सम्बन्धी प्राचीन महाकाव्योंमे वाल्मीकीय कथानकको ही आधार माना गया है। उन रचनाओकी एक सामान्य विशेषता यह है कि रामायणकी अपेक्षा उनमे श्रंगारको अधिक स्थान मिला है। 'सेतुबन्ध' तथा 'मट्टि-काव्य'मे यह वर्णन राक्षसोकी श्रंगार-चेष्टाओतक सीमित रहा, किन्तु 'जानकीहरण'मे राम-सीताका सम्भोग-वर्णन भी 'कुमारसम्भव'के अनुकरणपर किया गया है। निम्निलिखित महाकाव्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—कालिदासकृत 'रघुवंश'मे समस्त रामचरितके अतिरिक्त अन्य रघुवंशीय राजाओंका भी ऋरित्र विशेत है। फिर भी रामको इस महाकाव्यका प्रधान नायक माना जा सकता है। यद्यपि

कालिदासने परम्परागत कथानकमे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया, फिर भी उनकी प्रतिभाने एक मौलिक युक्ति द्वारा उनको वाल्मीकिके अन्यानुकरणके बचा लिया है। अयोध्याको लौटते समय राम पुष्वकपर बैठवार सीताको वनवासके स्थल दिखलाते है और अतीतके सुख-दुःखका सारण दिलाकर रामकथाकी कथावस्तुका एक मर्मस्पर्शी, करुण रससे ओतप्रोत चित्र प्रस्तुत करते है। बादके रामकाव्यमे इस युक्तिका बहुत अनुकरण किया गया है। महाराष्ट्री प्राकृतमें लिखित 'रावणवह' अथवा 'सेतु-बन्ध'की रचना सम्भवतः कश्मीरमे राजा प्रवरसेन अथवा उनके दरवारमे किसी कवि द्वारा, ५वी अथवा ६ठी शताब्दी ई०में हुई थी। इसके १५ सर्गीमें रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्तका अलंकत शैलीमें वर्णन किया गया है। ६ठी अथवा ७वी शताब्दी ई०में भट्टिने 'रावणवध' लिखा, जो 'भड़िकाव्य'के नामसे प्रसिद्ध है। इसके २२ सर्गोंमें व्या-करणके नियमोंके निरूपणके साथ-साथ प्रचलित रामायणके प्रथम छः काण्डोकी कथावस्त्रका वर्णन किया गया है। भट्टिका पाण्डित्य असन्दिग्ध है, किन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा उनकी रचनाकी कृत्रिमतासे दव गयी है। कुमारदासकृत 'जानकीहरण'मे बालकाण्डसे युद्धकाण्डतक कथानकका वर्णन है। कुमारदासने कालिदासकी शैलीका अनुकरण किया है; रचनाकी विशेषता यह है कि इसमे शृगारात्मक स्थलोका वाहुल्य है। आधुनिक समालोचक कुमारदासको सिहलद्वीपका राजा न मानकर उसे ८०० ई०के लगभग-का कवि समझते है। अभिनन्दकत 'रामचरित' (नवी शताब्दी ई०)के ३६ सर्गों में राम-लक्ष्मणके प्रस्रवण-पर्वतपर वर्षा-निवाससे लेकर कुम्भ-निकुम्भ-वधतककी कथा वाल्मीकि-के आधारपर दी गयी है। रावणके सम्भोग-शृंगारका विस्तृत वर्णन इस कान्यकी विशेषता है। भीम नामक कविने ४ सर्गोंके परिशिष्टमे युद्धकाण्डका कथानक पुरा किया है। रचना साधारण है। क्षेमेन्द्रकृत 'रामायण-मंजरी' (१०३७ ई०)के ५३८६ इलोकोंमें रामायणके पश्चिमोत्तरीय पाठका संक्षेप मिलता है। काव्यके दृष्टिकोणसे इसका कोई भी महत्त्व नहीं है। 'उदारराघव'की रचना १४वी शताब्दी ई०में साकल्यमछ द्वारा हुई थी। इसके १८ सर्गों मेसे केवल नौ सर्ग सुरक्षित है, जो कथानकको शूर्पणखाके वृत्तान्तनक पहुँचा देते है। इसकी शैली अलंकृत एवं कृत्रिम है। १४वी शताब्दीके बाद बहुतसे राम-विषयक महाकाव्योका उहेख मिलता है। लेकिन ये प्रायः अप्रकाशित है और कम साहित्यिक महत्त्व रखते है।

रामकथा सम्बन्धी नाटकोके अभिनयकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है (दे० 'हरिवंदा', विष्णुपर्व, अध्याय ९३)। उन प्राचीनतम नाटकोका लोप हुआ, लेकिन आगे चलकर भी राम-विषयक नाटकोंकी रचना शताब्दियोतक होती रही। महाकाब्योंकी अपेक्षा इन नाटकोंमे परम्परागत कथानकमे अधिक परिवर्तन किया गया है तथा अनेक नवीन पात्रोकी भी कल्पना कर ली गयी है। राम-नाटकोंकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार है—विस्तृत वर्णन तथा संवाद, जिससे इनमे प्रायः गतिका अभाव है; शृंगार रसकी ब्यापकता (राम-सीताका पूर्वानुराग), आदर्शवादका प्रभाव

(बालिवधका परिवर्तित रूप, कैकेयीका दोषनिवारण), अद्-भुत रसकी सामग्रीका प्रवेश (दे॰ 'आश्चर्यचूडामणि', 'अद्-भुतदर्पण'), पात्रोंका एक-दूसरेका रूप धारण करनेकी प्रवृत्ति (दे॰ 'महावीरचरित', 'अनर्घरावव', 'बालरामायण', 'महानाटक' आदि)। १४वी शताब्दीतक निम्नलिखित रामकथा-सम्बन्धी नाटक उपलब्ध है। बादके नाटक साहि-रियक दृष्टकोणसे बहुत कम महत्त्व रखते है।

भासकत माने जानेवाले दो रामनाटक मिलते है-'प्रतिमा' नाटक तथा 'अभिषेक' नाटक । अधिक सम्भव है कि दोनो का लिदासके बाद किसी दक्षिणभारत-निवासी कवि द्वारा रचित हुए हो। 'प्रतिमा' नाटकमे अयोध्याकाण्ड तथा अरण्यकाण्डकी कथावस्तका सात अंकोमे वर्णन किया गया है। कैकेयी तथा भरत इस नाटकके प्रमुख पात्र है, दशरथ-मरणके चित्रणमे करुण रसका अच्छा परिपाक है। कैकेयीको निर्दोष ठहरानेके लिए एक नयी कल्पना की गयी है। किसी ऋषिके शापके फलस्वरूप पुत्रवियोगके कारण दशरथका मरण अनिवार्य जानकर कैकेथीने वसिष्ठते परा-मर्श लेनेके बाद रामको किसी और विकट विपत्तिसे बचानेके उद्देश्यसे उनको वनवास दिलाया। 'अभिवेक' नाटकमे नाटकीय एकताका अभाव है। इसमे बालिवधसे लेकर रामके अभिषेकतककी घटनाओका वर्णन है। कविने बालि तथा रावणका सहारुभृतिपूर्वक चित्रण किया है। आठवी शताब्दी ई०के पूर्वीर्द्धमें भवभृतिने 'महावीरचरित'के सात अंकोंमे राम-सीता-विवाहसे लेकर रामाभिषेकनककी कथा प्रस्तृत की है। इसमे एकता लानेके उद्देश्यसे रामके प्रति रावणका द्वेष नाटकका मुख्य विषय बना दिया गया है। रावण एक दूत द्वारा मीताके साथ विवाहका प्रस्ताव भेज देता है और इस प्रस्तावकी अस्वीकृतिपर वह अपमानका प्रतिशोध करनेका संकल्प करता है। रामनाटकोमे 'महावीर-चरित'का स्थान ऊँचा है, फिर भी वीर रसके उम्र भावोकी अपेक्षा भवभृति शृंगार तथा करुणके कोमल भावोकी अभि-ज्यक्तिमें कही अधिक सफल हुए है। 'उत्तररामचरित' न केवल भवभूतिकी उत्कृष्ट रचना है, जिससे वह कालिदासकी समता कर सकता है, परन्त वह समस्त राम-काव्यका सर्वोत्तम नाटक भी है। इसमे प्रचलित रामायणके उत्तरकाण्डकी कथावस्तुका एक नवीन रूप प्रस्तुत है। लोकापवाइके कारण सीताके निर्वासित किये जानेके पश्चात् भत्रभृतिने नाटकको सुखान्त बनानेके लिए बाल्मीकिके आश्रममे राम तथा अयोध्याकी जनताके सामने सीता-चरित-सम्बन्धी एक नाटकके अभिनयकी मौलिक कलपना को है। इसके फलस्वरूप प्रेक्षकगणको सीताकी निर्दोषताका विश्वास हो जाता है और सीता रामके साथ अयोध्या लौटती है। कान्य-सौन्दर्यसे प्लावित आदर्श दाम्पत्य-प्रेमका जो करुणात्मक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण 'उत्तररामचरित'मे प्रस्तुत है, वह सम्भवतः ही विश्वसाहित्यमे कही अन्यत्र मिल सके। 'कुन्दमाला'की कथावस्त 'उत्तररामचरित'से मिलती-जुलती है। इसकी रचना धीरनाग द्वारा सम्भवतः नवी शताब्दीमे हुई थी। वाल्मीकि-आश्रमके निकट पहुँच-कर राम एक कुन्दमाला देख लेते है, जिसकी बनावट सीता-के सान्निध्यका प्रमाण देती है। इस घटनासे इस नाटकका नामकरण हुआ। मुरारिकृत 'अनर्धराघव' (९०० ई०) मे विश्वामित्रके आगमनसे युद्धकाण्डतकका वृत्तान्त वर्णित है। कथानकमें जो परिवर्तन किये गये है, वे प्रायः 'महावीर-चरित पर निर्भर है। इस रचनामे नाटकीय तत्त्वीका अभाव है, मुरारि पहले कवि सिद्ध होते है, नाटककार बादमे। राजशेखरकत 'बालरामायण' (१०वी श० ई०) सबसे विस्तृत राम-नाटक है, दस अंकोमे सीतास्वयंवरसे रामा-भिषेकतककी समस्त कथा भवभृति और मुरारिके अनुकरण-पर प्रस्तत की गयी है। लम्बे-लम्बे वर्णनों तथा भावकता-पूर्ण पदोंके वाहुल्यके कारण यह नाटक रंगमंचके योग्य नहीं रह गया है। महानाटक के दो पाठ मिलते हैं-वंगालमें मधुसूदन तथा अन्यत्र दामोदर मिश्रका, जो मूल रचनाके अधिक निकट है। इस रचनामे १४वी शताब्दी-तक प्रक्षेप किये गये है। यह रंगमंचके उदेश्यसे नहीं लिखा गया, अधिक सम्भव है कि यात्राओं में इसका पाठ होता था। मायुराजकृत 'उदात्तराघव' (८वी श० ई०) हालमें प्राप्त हुआ है और अबतक अप्रकाशित है। शक्तिभद्रकृत 'आश्चर्यचड़ामणि' दक्षिण भारतमें नवी शताब्दीका माना जाता है, लेकिन इसकी इतनी प्राचीनता सन्दिग्ध है। इसमें शूर्पणखाके आगमनसे सीताकी अग्नि-परीक्षातककी कथा है, अद्भुत रसकी प्रधानता तथा पात्रों द्वारा एक-दूसरेका रूप धारण करनेके कारण इस रचनामे गाम्भीर्यका अभाव है। 'प्रसन्नराघव' (१२वी अथवा १३वी श० ई०)की रचना महादेवके पत्र जयदेव द्वारा हुई थी। सीता-स्वयंवरसे अद्ध-काण्डतककी समस्त कथा सात अंकोमें वर्णित है। यद्यपि जयदेवके काव्य-कौशलके सम्बन्धमे सन्देह हो ही नहीं सकता, फिर भी 'प्रसन्नराधव' उत्कृष्ट नाटक नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अनर्घराघव'के अन्धानुकरणके साथ-साथ इसमें नाटकीय एकताका नितान्त अभाव खटकता है। हस्तिमलकत 'मैथिलीकल्याण' (१३वी २१० ई०) शृंगार रस-प्रधान चार अंकोंका नाटक है, जिसमे राम-सीताके पूर्वा-नुरागका चित्रण है। सोमेश्वरकृत 'उल्लाधराधव'(१३वीं शं ई०)के आठ अंकोंमें विबाहके पश्चात् सीताकी विदासे लेकर युद्धकाण्डके अन्ततककी कथा वर्णित है। सुभट्टकृत 'दूतांगदे' (१३वी दा० ई०)में अंगदका दूतकार्य आधिकारिक कथावस्तु है। 'उन्मत्तराघव' (१४वीं श० ई०) नामक प्रेक्षणकमे भास्करभट्टने 'विक्रमोर्वशीय'के चतुर्थ अंकके अनु-करणपर राम द्वारा सीताकी खोजका वर्णन किया है।

संस्कृत साहित्यका प्रथम श्लेषकाव्य रामकथासे सम्बन्ध रखता है। सन्ध्याकर नित्दकृत 'रामचिरत' (१२वीं शर्व ई०)के २२० आर्या छन्दोंमे रामकथा तथा साथ-साथ बंगालके राजा रामपालका चिरत्र विणित है। १५वी शताब्दीतक इस प्रकारकी और तीन रचनाएँ मिलती है—धनंजयकृत 'राधव-पाण्डवीय' तथा हरदत्त सरिका 'राधवनेषधीय'। प्रथम रामकथा-विषयक विलोमकाव्य १६वीं शताब्दीका सूर्यदेवकृत 'रामकृष्णविलोमकाव्य है, इसके बादके दो 'यादवराधवीय' नामक काव्योंका भी छहेख मिलता है। दो अप्रकाशित चित्रकाव्योके नाम ये है—कृष्णभोहनकृत 'रामलीलामृत', वैंकटेशकृत 'चित्रवन्थरामायण'। श्रंगारिक खण्डकाव्यके क्षेत्रमे प्रायः

भिषद्त' और 'गीतगोविन्द'का अनुकरण किया गया है। 'मेषद्त'की परम्परामें वैंकटदेशिककृत 'इंससन्देश' अथवा 'इंसद्त' (सीताके प्रति रामका सन्देश), रुद्र वाचस्पतिका 'अमरदृत', वासुदेवका 'अमरसन्देश' आदि, 'गीतगोविन्द' के अनुकरणपर 'रामगीतगोविन्द', 'गीताराधव', 'जानकीगीता', 'संगीतरपुनन्दन'। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पणकार विश्वनाथका 'राघविक्लास', सोमेश्वरकृत 'रामशतक', मुइल्भट्टका 'रामार्याशतक', कृष्णेन्द्रकृत 'आर्यारामायण' आदि रचनाएँ रामकाव्यकी व्यापकताका प्रमाण देती है।

विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओका प्रथम महाकाव्य अथवा सबसे लोकप्रिय काव्यग्रन्थ प्रायः कोई रामायण है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी अन्य रचनाएँ भी रामकथासे सम्बन्ध रखती है। यहाँ केवल अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण सामग्रीका उक्षेस सम्भव है।

द्राविड भाषाओं मे प्राचीनतम प्राप्त राम-काव्य कम्बन-कृत 'तमिल रामायण' है, जिसकी रचना १२वी शताब्दी ई०मे हुई थी। 'वाल्मीकिरामायण'के अतिरिक्त 'जानकी-हरण' इस काव्यके कथानकका आधार है। कम्बनने संस्कृत तथा तमिल काव्य-शैलियोंका समन्वय कर और तमिल साहित्यमे एक नये युगके प्रवर्तक वनकर, तमिल कवियोंमे ही नहीं, भारतीय कवियोमे भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। तेलुगु साहित्यमे बहुत रामकथा-विषयक सामग्री मिलती है, किन्त निम्नलिखित तीन रचनाएँ विशेष रूपसे ज्लेखनीय है—१. 'रंगनाथरामायण'—१३वी शताब्दीमे 'द्विपद' छन्दमें रचित, २. 'भास्कररामायण', तेलुग्रमें सबसे कलात्मक रामकाव्य (१४वी श॰ ई०), ३. 'मोल्ल-रामायण' (१६वी २१० ई०), मोल्ल-नामक कुम्हारिन द्वारा रचित। यह जनसाधारणमें अत्यधिक लोकप्रिय है। मलयालम रामकाव्यकारोंने मौलिकताका प्रदर्शन नहीं किया है। 'रामचरित' (१४वी श० ई०) मलयालम साहित्यकी प्राचीन रचना है, जिसमे प्रचलित रामायणके युद्धकाण्डकी कथावस्त वर्णित है। बादमे 'वाल्मीकिरामायण'के दो अनु-वाद किये गये है-- 'कण्णदश-रामायण' तथा 'केरल वर्मा-रामायण'। वहाँका सबसे लोकप्रिय रामकाव्य लगभग १६०० ई०का एजुत्त चन द्वारा 'अध्यात्मरामायण'का अनुवाद है। जैन रामकाव्यके अन्तर्गत कन्नड भाषाके प्राचीनतम रामकान्यका ऊपर उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण रामसाहित्यकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'तोरवे रामायण' है, जिसकी रचना १६वीं श० ई०मे तोरवे नामक ग्रामके निवासी नरहरि द्वारा हुई। इन्होंने 'मैरावण' भी लिखा है, जिसमें हनुमान दारा मैरावण-वधका वर्णन है।

आधुनिक आर्य-भाषाओं का रामकाव्य राम-भक्तिके पूर्ण विकासके परचात् ही उत्पन्न हुआ है, अतः इसपर प्रायः राम-भक्तिको गहरी छाप है। उत्तरभारतमे तुल्सीकृत 'रामचिरतमानस' तथा कृत्तिवासीय रामायण, दोनों अपने-अपने भाषा-क्षेत्रमें अत्यन्त लोकप्रिय है तथा द्यता-ब्दियोंसे जनसाधारणको आध्यात्मिक तृप्ति एवं नैतिक बल प्रदान करते चले आ रहे हैं। कृत्तिवासने १५वो द्या ई०मे पयार छन्दमें अपनी रामायणकी रचना की थी। इसके बादके बंगाली रामकाव्यकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार

है-वड नित्यानन्द आचार्य (अद्मुताचार्य)का 'आइचर्य रामायण", जो संस्कृत अद्भुत रामायणपर निर्भर है, चन्द्रावतीकी 'रामायण गाथा', कविचन्द्रकृत 'अंगद रायवार' रघनन्दन गोस्वामीकृत 'रामरसायन' (१८वी का० ई०)। हिन्दी रामकाव्यका परिचय प्रस्तुत कोशमें अन्यत्र मिलेगा (दे॰ 'हिन्दी राम-साहित्य')। असमिया तथा गुजराती साहित्यमे रामकथाकी अपेक्षा कृष्णकथाको अधिक महत्त्व-पर्ण स्थान मिल गया है, फिर भी इन दोनो भाषाओका रामकाव्य नगण्य नहीं है। १४वी शुरू ई०मे माधव कन्दलिने 'वाल्मीकि-रामायण'का असमिया भाषामें पद्मान-वाद तथा दुर्गावरने १६वी शतीमे 'गीति-रामायण'की रचना की थी। असमिया साहित्यके वैष्णव कालके सर्वश्रेष्ठ कवि शंकरदेवने 'रामविजय' नाटक लिखा है। गुजराती साहित्यमे भालणका 'सीतास्वयंवर' अथवा 'रामविवाह' (१५वी श० ई०) प्राचीनतम रामकाव्य माना जाता था, किन्त हालमे आज्ञासतकी रामलीला-विषयक पदावली प्रकाशमें आयी है, जिसकी रचना १४वी श० ई०मे हुई थी। आजकल गुजरातमे १९वी शताब्दीकी गिरधरदासकत 'रामायण' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है और सबसे लोकप्रिय भी है। मराठीका प्राचीनतम तथा सबसे प्रचलित राम-काव्य एकनाथकृत 'भावार्थ-रामायण' है, जिसकी रचना १६वी शताब्दीमें हुई थी। उडिया साहित्यमें सबसे प्रसिद्ध रामायणके तीन नाम मिलते है- 'जगमोहन-रामायण' (कविका दिया हुआ), 'बलरामदास रामायण' (कविके नामपर) तथा 'दाण्डिरामायण' (छन्दके नामपर), जिसकी रचना १५०० ई०के लगभग हुई थी। उडियाकी दो और रामायण प्रसिद्ध है-अर्जुनदासका 'रामविभा' और सिद्धे-इवरदासका 'विलंका रामायण'। 'कश्मीरी रामायण'की रचना १८वी श० ई०के अन्तमें दिवाकर प्रकाण भद्र द्वारा हुई थी तथा नेपाली भाषामें भानभट्टने अपना 'रामायण' १९वी शताब्दीमें लिखी है।

विदेशमे रामकथाका प्रसार पहले-पहल बौद्धों द्वारा हुआ था। 'अनामकं जातकम्' तथा 'दशरथकथानम्'का क्रमशः तीसरी और पॉचवी श० ई०मे चीनी भाषामें अनुवाद हुआ था। इसके बादका प्राचीनतम विदेशी राम-काव्य 'तिब्बती रामायण' है, जिसकी रचना सम्भवतः आठवी श॰ ई॰मे हुई थी। पूर्व-तुर्कीस्तानका 'खोतानी रामायण' नवी श० ई० की है। इन दोनोमे पर्याप्त मात्रामे समानता है और इनका बृहत्कथा तथा गुणभद्रकृत 'उत्तर-पुराण'से सम्बन्ध असन्दिग्ध है।

हिन्देशिया तथा हिन्दचीनमे 'वाल्मीकि-रामायण' प्राचीन कालसे ज्ञात है, किन्तु उस समयका कोई साहित्य सुरक्षित न रह सका। हिन्देशियामें आजकल रामकथाके दो रूप मिलते है-- १. जावाके १०वी श० ई०के रामायण ककविनका रूप, जिसका प्रधान आधार महिकाव्य है; २. अर्वाचीन 'हिकायत सेरी राम' (१५वी श० ई०)का रूप, जो कहीं अधिक लोकप्रिय है; इसके आधारपर आधु-निक समयतक रामकान्यकी सृष्टि तथा राम-नाटकोंका अभिनय हुआ है। यद्यपि 'सेरी राम'का कथानक 'वाल्मीकि रामायण'से बहुत-कुछ भिन्न है, फिर भी इसकी आधिकारिक कथावस्तुमे कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन नहीं मिलता, जो अवीचीन भारतीय रामकथाओं में विद्यमान न हो। हिन्दचीन, स्थाम तथा ब्रह्म देशमें प्रचलित राम-कथा मख्यतया 'सेरी राम'पर आधारित है। कम्बोडियाके 'रामकेति' (१६वी द्या० ई०) तथा दयामके 'रामिकयेन' (१६वी श॰ ई॰) में बहुत समानता है, दोनोमे 'वाल्मीकि-रामायण' तथा सेरी रामका समन्वय करनेका प्रयत्न किया गया है। ब्रह्मदेशका रामकाव्य अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। राम-नाटकोंका अभिनय वहाँ १८वी श० ई०के उत्तरार्द्धमे इयामसे लाये हुए कैदियो द्वारा प्रारम्भ हुआ था। १८०० ई०मे यू तोने 'राम यागन'की रचना की थी, जो बह्मदेश-का सबसे महत्त्वपूर्ण काव्ययन्थ माना जाता है।

"रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम्। तन्मलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयोः" ('बृहद्धर्मपुराण)' अध्याय २५, २८)के इस कथनमे अतिरायोक्तिकी मात्रा कम है। रामायण न केवल संस्कृत साहित्यका प्रथम महाकाव्य है, जिसकी शैली(विशेषकर प्रकृति-चित्रण तथा अलंकार-विधान)से अन्य कवि प्रभावित हुए, वरन उसकी कथावस्त भी समस्त साहित्यके विभिन्न अंगोमे व्याप्त है। साहित्य-कारोने भी इस बातका अनुसव किया है। 'प्रसन्नराघव'की प्रस्तावनामे सूत्रधारसे पूछा जाता है कि सब कवि क्यो रामचरित्रका पुनः-पुनः वर्णन करते है और वह उत्तरमे कहता है-यह कवियोंका दोष नहीं है, गुणोंका दोष है, जिन्होंने रामको ही अपना एकमात्र आश्रय बना लिया है। इसमे कवियोंका दोष हो अथवा न हो, किन्तु वास्तवमे इसका कारण वाल्मीकिकी प्रतिभा ही है। बौद्ध रामकथाओं-को छोड़कर उपर्युक्त समस्त रामकान्यपर इनकी छाप स्पष्ट है। अतः यह निर्विवाद है कि विश्वसाहित्यके इतिहासमे शायद ही किसी अन्य कविका प्रादुर्भाव हुआ हो, जो प्रभावकी दृष्टिसे भारतके आदिकवि वाल्मीकिकी तुलना कर सके । हिन्दीके रामकाव्यके लिए दे० 'हिन्दी राम-साहित्य'।

सिहायक ग्रन्थ—रामकथा : कामिल बुल्के ।]—का०बु० राम-भक्ति-भारतीय भक्ति-भावना तथा वैष्णव धर्ममे राम-भक्तिकी व्यापकता देखकर इस तथ्यपर सहज ही विश्वास नहीं होता कि भक्ति-मार्ग तथा वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति और विकासके बहुत शताब्दियो बाद राम-भक्तिका जन्म हुआ था।

यज्ञप्रधान बाह्मण-धर्मके प्रतिक्रियास्वरूप भागवत धर्म उत्पन्न हुआ था, जिसमे पहले-पहल भारतीय भक्ति-मार्ग पलवित हो सका। बादमें भागवतोंके इष्टदेव वासुदेव कृष्ण वैदिक देवता विष्णके अवतार माने गये है और इस प्रकार भागवत तथा ब्राह्मण-धर्मके समन्वयसे वैष्णव धर्मकी उत्पत्ति हुई। इस समयसे लेकर भक्ति-भावना विष्ण-नारायण-वासुदेव-कृष्णमे केन्द्रीभूत होकर उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। ईसवी सन्के प्रारम्भसे राम भी विष्णुके अवतारके रूपमें स्वीकृत होने लगे (दे॰ 'रामकथा'), किन्तु शता-ब्दियोंतक राम-भक्तिका कही निर्देश नहीं मिलता। गोपाल भण्डारकरका कहना है कि भक्तिके क्षेत्रमे रामकी प्रतिष्ठा विशेष रूपसे ग्यारहवी शताब्दी ई०के लगभग प्रारम्भ हुई।

वास्तवमे राम-भक्तिकी पहली अभिव्यक्ति काव्यमे हुई

थी। तिमल आल्वारोकी 'नालियर-प्रबन्ध' नामक रचनामे भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारोके प्रति असीम भक्ति तथा पूर्ण आत्मसमर्पणके उद्गार मिलते है। कृष्णको उन पदोंमे अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु पहले आल्वारोके लेकर रामका भी निरन्तर उल्लेख मिलता है तथा कुल्के शेखर (नवी शताब्दी ई०)के पदोमे प्रौढ राम-भक्ति अंकित की गयी है। ११वी शताब्दीसे लेकर राम-भक्ति सम्बन्धी काव्य-रचनाओकी संख्या बढने लगी, जिनमे स्तोत्रोंका खान प्रमुख है, जैसे 'श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र', 'रामरक्षास्तोत्र' आदि। १५वी शताब्दीसे लेकर समस्त रामकाव्य भक्ति-मावसे ओत-प्रोत होने लगा (दे० 'राम-काव्य')।

राम-भक्तिको कान्यात्मक अभिन्यक्तिके वाद ही, इसका श्रीसम्प्रदायमें शास्त्रीय प्रतिपादन भी किया गया है। शास्त्रका यह सहारा पाकर राम-भक्तिकी प्रतिष्ठा और इसके क्षेत्रका विस्तार भी दिनो-दिन बढने लगा।

श्रीसम्प्रदाय उन चार सम्प्रदायोंमेंसे एक है, जो शंकराचार्यके मायावादके प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए और अवतारवादको स्वीकार कर भक्तिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत
करते है। श्रीसम्प्रदायके प्रवर्तक रामानुजने राम-भक्तिके
विषयमे तो कुछ नहीं लिखा है, उनकी भक्ति नारायणमे
केन्द्रीभूत थी, फिर भी उन्होंने अपने श्रीमाष्यमें अवतारोंमें
राम और कृष्ण, दोनोंका उक्लेख किया है। वादमे उनके
सम्प्रदायमे पहले-पहल परमपुरुषके अवतार राम तथा मूल
प्रकृति सीताकी दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया गया है।
निम्नलिखित राम-भक्ति सम्बन्धी संहिताएँ सुरक्षित है—
'अगस्त्यसंहिता', 'किलराघव', 'बृहद्राघव' और 'राघवीय
संहिता'। इसके अतिरिक्त श्रीसम्प्रदायमे तीन उपनिषदोंमें
राम-पूजाका भी निरूपण मिलता है—'रामपूर्वतापनीय'
(११वा शु० ई०), 'रामोत्तरतापनीय' तथा 'रामरहस्योपनिषद'।

उत्तर भारतके राम-भक्तिकी अद्वितीय लोकप्रियताका श्रेय बद्धत-कुछ रामानन्दको है (दे० 'रामानन्द-सम्प्रदाय') । रामानन्द श्रीसम्प्रदायमे दीक्षित हुए थे, किन्तु वे उस सम्प्रदायकी राम भक्तिको एक नया रूप देकर रामावत-सम्प्रदायके प्रवर्तक बन गये। उनकी प्रामाणिक रचनाएँ 'श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर' और 'श्रीरामार्चनपद्धति' है । श्री-सम्प्रदायमे विष्णुके सब अवतारोका ध्यान रखा जाता था। रामानन्दने रामको ही अपना इष्ट माना और राम-नामको अपनी साधनाका मूल मन्त्र बना दिया है। साथ-साथ उन्होंने सब जातियोको दीक्षा लेनेका अधिकार दिया तथा संस्कृतके स्थानपर भाषामे भी राम-भक्तिका प्रचार किया। इससे राम-भक्तिको वहुत प्रोत्साहन मिला और वह उत्तर-भारतके कोने-कोनेमे फैलने लगी। अन्ततोगत्वा जन-साधारणकी धार्मिक चेतनामें इसका स्थान प्रधान ही रहा। इसमे तुल्सीदासकी प्रतिभा अधिक सहायक सिद्ध हुई, फिर भी रामानन्द हिन्दी राम-भक्ति-साहित्यके मूल प्रेरक माने जा सकते हैं।

राम-भक्तिके विकासके साथ-साथ रामकथाको भक्तिके साँचेमे ढाळनेकी आवश्यकताका भी अनुभव हुआ, फळ-स्वरूप बहुत-सी साम्प्रदायिक रामायणींकी सृष्टि होने लगी, जिनमे 'अध्यात्मरामायण', 'आनन्दरामायण', 'अद्भुतरामायण' तथा 'भुशुण्डीरामायण' प्रमुख है। इनमेसे
'अध्यात्मरामायण' निर्निवाद रूपसे सबसे महत्त्वपूर्ण है।
इसका रचनाकाल सम्भवतः १५वी शताब्दी है। इसका
स्पष्ट उद्देश्य है शंकराचार्यके सुप्रसिद्ध वेदान्तके आधारपर
राम-भक्तिका प्रतिपादन करते हुए वाल्मीकि-रामकथाको
किंचित् परिवर्तनके साथ प्रस्तुत करना। इसमे रामानुज
द्वारा प्रतिपादित समुच्चयवादका स्पष्ट शब्दोमे विरोध
किया गया है और विशिष्टाइतका कही भी समर्थन नही
मिलता। अतः ऐसा प्रतीन होता है कि 'अध्यात्मरामायण'की रचना श्रीसम्प्रदाय तथा रामावत-सम्प्रदायसे अलग
रहते हुए किसी स्वतन्त्र दार्शनिक किंव द्वारा हुई थी।
बादमें 'अध्यात्मरामायण' रामावत-सम्प्रदायमें प्रतिष्ठा पाने
लगी और 'रामचरितमानस'का मुख्य आधार-ग्रन्थ भी वन
गयी है।

राम-भक्तिकी एक अन्तिम विशेषताका उक्केख आवश्यक प्रतीत होता है। इस भक्तिपर कृष्ण-राधा सम्बन्धी साहित्यका प्रभाव भी पड़ा और वादमें उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। 'अध्यात्मरामायण'में केवल वाललीलाके वर्णनमें कृष्णकाव्यका प्रभाव पाया जाता है, किन्तु 'आनन्दरामायण', 'सत्योपाख्यान' आदिमें राम और सीताकी विलास-क्रीड़ाओका भी विस्तृत वर्णन मिलता है और वादमें रामकी रास-लीलाका भी चित्रण किया गया है, उदा०—'हनुमत्सहिता', 'बृहत्को शलखण्ड', 'भुशुण्डी रामायण' आदि। साधनाके क्षेत्रमें भी यह प्रभाव दृष्टिगोचर है। राम-भक्ति प्रधानतया दारयभावकी न रहकर कुछ सम्प्रदायोमें मधुरोपासनामे परिणत हुई।

[सहायक ग्रन्थ—रामकथाः कामिल बुल्के ।]—का० बु० राम भक्ति शाखा—दे० 'हिन्दी राम-साहित्य'।

रामलीला-जनश्रुति है कि हिन्दीमें नाटकोंका अभाव देखकर गोस्वामी तुलसीदासने रामलीलाका प्रारूप बनाया और काशीमे सबसे पहली रामलीला उन्होंकी प्रेरणासे हुई। रामलीलाके जन्ममे हिन्दुओंकी धर्म-प्राणता, लोक-नायककी मान्यता और नाट्य-प्रेम ही प्रमुख है। भक्तिकालमे इसका प्रचार जोरोपर था। अवध, काशी और मिथिला इसके प्रधान केन्द्र थे, जहाँ आश्विनभर रामलीला नाटकके रूपमे दिखलायी जाती थी। राजपूताना, मथुरा-वृन्दावन, गोकुल, आगरा, अलीगढ, मैनपुरी, एटा, इटावा, फर्रुखावाद, शाहजहाँपुर, कानपुरमें भी इसका प्रचार था। यह दक्षिणमे बरार, मैसूर और रामेश्वरम्तक प्रचिलत थी। रीतिकालमे मानवीय शृंगारकी ओर प्रवृत्ति होनेके कारण रामलीलामे शिथिलता आ गयी। आधुनिक कालमे आज भी उक्त स्थानोंमें इसका प्रचार है और यह नागरिक, विशेषतया यामीण जनताकी नाट्य-वृत्तियोंकी पोषक बनी हुई है। इसीका प्रदर्शन प्रतिवर्ष कॉरके दशहरा या चैतकी राम-नवमीके मेलोंके अवसरोंपर किया जाता है।

रामलीलाका आधार पौराणिक रामकथा है और 'राम-चिरतमानस'की दोहे-चौपाइयाँ ही उसका प्राण है। यह पद्यात्मक संवादोंमें ही पिरिपूर्ण होती है। अतः संवादरूप रामलीलामें काश्यमयता, गम्भीरता और प्रगल्भता रहती है। धनुषयक्षके दृश्यः, सीता-स्वयंवरः, परश्रराम-लक्ष्मण-मवाद, राम-वनगमन, सीताहरण, लंकादहन, अंगद-रावण-के संवाद, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, राम-क्रम्भकरण-रावण-यद्ध, भरतमिलाप तथा रामका राज्याभिषेक आदि इसके प्रमुख अंश है, जिनके प्रदर्शनको जनता मन्त्रमुख होकर देखती है। युद्ध और संवादोंमे अनुकार्योंकी अवस्थाओ और रूपोंका अनुकरण अनुकर्ता बडी सफलताके साथ करते है। नायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम और नायिका जगज्जननी सीता होती है। वीर, वरुण, अद्भुत, भयानक, शृंगार रसकी प्रधानता रहती है। कथानकके विस्तारके कारण स्थान, काल, कार्यकी त्रिक-संगति नहीं रह पाती और न नाटकादिकी भॉति इसका रंगमंच परिसीमित रह पाना है। वह ५ स्तृत खुला मैदान होता है, जहाँ हजारो नर-नारी लीला देखते हैं। फिर भी रस्सियो, तारोसे मैदानके आयताकार भागको घर होते है, जिसमें लीलाके कार्य सम्पन्न होते है, जिन्हे जनता चारो ओर बैठकर या खड़ी होकर देखा करती है। इसमें जहाँकी लीला होती है, वहाँके स्थानका दृश्य उपस्थित किया जाता है-अवधपुरी जनकपुरी, लंकापुरी आदि।

रामलीला दिन और रात, दोनोमे सम्पन्न होती है। दिनकी रामलीलामें अनेको लीलाएँ दिखायी जाती है। स्वादोमे गति, अभिनेताओको निदेश और रंग-व्यवस्थाके लिए स्त्रधार रहता है, जो 'रामचरितमानस'के सम्बन्धित स्थलोंको पढता जाता है।

कथाप्रसंगसे सम्बन्धित अनेक चौकियाँ और लागे भी रंगमंत्रके घेरेमें लायी जाती है, जिनमे सम्बन्धित चरितोके स्वरूप और आकार बड़ी कुइलतासे सॅवारे-सुधारे हुए होते है। लीला करनेवाले किशोर, युवा, प्रौढ़ और बद्ध पुरुष होते है। वे नारी पात्रोंका भी अभिनय करते है। दिनकी लीला प्रायः १-२ बजेसे ५-६ बजे दिनतक चलती है। रातकी लीलाका कार्यक्रम ८-९ बजेसे १२ या २-३ बजेतक चलता है। रातकी लीलाका रंगमंच भी खुलेमे होता है, किन्तु रंगभूमि अपेक्षाकृत छोटी होती है, जो तस्तोको विद्याकर बनायी जाती है, आसपास बॉसों और कपडेकी चादरोसे घेर देने है। इसमे प्रायः एक ही परदा होता है। नेपथ्यसे लीला करनेवाले आते रहते है अथवा दर्शकोके बीचसे भी आ जाया करते है। पात्रोका प्रवेश सत्रधार ही कराता है। प्रारम्भमे ही वह श्रीरामकी स्तृति करनेके बाद खेली जानेवाली लीलाके विषयमे संक्षेपमे बता देता है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है। स्त्रधार प्रायः रंगभूमिमे ही उपस्थित रहता है और संवादोका सचालन करता है और सम्बन्धित स्थलोको 'राम-चरितमानस'से पढता जाता है और परिवर्तनके स्थलोकी ओर भी संकेत करता जाता है। परदेके पीछेसे निर्देशक लीला वरनेवालोको पद्य आदिके भूलनेपर सहायता करता रहता है। रातमें एक-दो चौकियाँ ही निकाली जाती है। रासलीलाकी भाँति रामलीलामें नृत्य और संगीतकी प्रधानता नहीं होती, बरन् उसका सम्पूर्ण वानादरण चरित-नायककी शालीनता, गम्भीरता और मर्थादासे न्याप्त रहती है। लीलाके अन्तमें रामायणकी आरती होती है, जिसे पासके बंठे दर्शक भी लेते हैं। पश्चात् लीलाका कार्य समाप्त हो जाता है। रामलीलाके ये आयोजन स्थानीय ही होते है। रासलीलाकी भॉति इसकी मण्डलियाँ नहीं होती।

रामलीलाका एक अन्य रूप इलाहाबाद, ग्वालियर, रामपुर, जयपुर और जोधपुरमे दशहरेके अवसरपर देखा जाता है, जिसमे चौकियोपर सम्बन्धित कथानायकोके सजीव रूप बनाये जाते है, जो न बोलते हुए भी रामलीला करते होते हैं। यह रामलीलाका मूक स्वरूप है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्यस्पमें रामलीलाका रूप संवादात्मक ही है, जो आज चलचित्रका प्रसार होनेपर भी नागरिक, विशेषतया ग्रामीण जनताका मनोविनोद और उसकी रुचिका परिष्कार करता है।

रामलीलाको रूपकोंमे समवकार और व्यायोग तथा उपरूपकोमे उद्घाप्य, प्रेंखण और संलापक्का परिवर्तित मिश्रण कहा जा सकता है। -- ao 110 रामाक्रीड-यह ऋतुवर्णनोसे संयुक्त एक विशेष प्रकारका उपरूपक है। इसमे स्त्रियोकी अधिकता रहती है। इसके उल्लेखका श्रेय अभिनवगुप्त को है, ('अभिनवभारती', गायकवाड सीरीज, पू० १८३)। --यो० प्र० सिं० रामानंद-संप्रदाय - र न नन-तन्प्रदायकी स्थापना विक्रम-की १५वी शताब्दीमे हुई थी। इसके संस्थापक प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्दजी थे, जिन्होने अपने अनुयायियोको 'वैरागी' नामसे अभिहित किया था। वैरागियोंका एक दल आगे चलकर 'अवधृत'भी कहलाया। इन्हें 'तपसी' भी वाहते है । विलसन, रूपकला, पीताम्बर-दत्त बङ्थ्बाल, मैकालिफ, परशराम चतुर्वेदी तथा रामानन्दी विद्वान रामटहलदासके मतसे इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी रामानन्दका पूर्वसम्बन्ध रामानुज-सम्प्रदायसे था और अपने मतकी पृष्टिमें प्रायः सभी विद्वानोने नारायण नाभादासकत 'भक्तमाल'का साध्य लिया है। रामटहलदासने हर्यान्वार्यकृत 'रामस्तवराजभाष्य', रामानन्द स्वामीकृत 'रामार्चन पद्धतिः', महन्त जीवारामकृत 'रसिक प्रकाश भक्तमाल', 'सम्प्रदायदिग्दर्शन' आदि यन्थो, प्राचीन गहियोकी गुरु-परम्पराओ, सम्प्रदायके महात्माओ एवं सन्तोके मतोका उल्लेख भी उपर्युक्त मतकी पुष्टिमें किया है। रामटहलदासजीने रामानुज तथा रामानन्द सम्प्रदायोंमे चले आते हुए पारस्परिक सम्बन्धकी और भी संकेत किया है। रामानन्दी साधुओने समय-सनयपर रामानुजाचार्योंकी रक्षा नाथ-पन्धी साधुओसे की है और कभी-कभी उनकी पालकीतक उठायी है। अतः स्पष्ट है कि रामानज-सम्प्रदायसे रामानन्द-सम्प्रदायका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। रामानन्द द्वारा स्वतन्त्र सम्प्रदायके निर्माण-का कारण बतलाते हुए कुछ विद्वानोने कहा है कि देश-भ्रमणसे लौटनेपर रामानन्दके गुरु-भाइयोने यह कहकर कि अपने अमणकालमे उन्होंने खान-पान सम्बन्धी भेदको स्वीकार न किया होगा, रामानन्दके साथ भोजन करनेमे आपत्ति की। फलतः गुरु राधवानन्दकी आज्ञा-पाकर रामानन्दने एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना की, जो अपने दृष्टिकोणमें पर्याप्त उदार था। फर्क्डरके मतसे रामानन्द परम्परासे चले आते हुए किसी रामावत-सम्प्रदायके ही सहस्य थे, जिसके मान्य अन्योमे 'अध्यात्मरामायण' तथा 'याल्मीकिरामायण' विशेष उल्लेखनीय है। आगे चलकर प्रमाणाभावमे फर्जुहरको अपना यह मत त्याग देना पडा।

सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानों—स्वामी रघुवराचार्य तथा भगवदाचार्यके अनुसार आदिकालमें एक ही श्रीसम्प्रदाय था। कालान्तरमे मन्त्र, उपास्य, उपासनादि आचारोंकी भिन्नताके कारण इसकी दो शाखाएँ हो गयी। एकमे भगवान् रामको प्रधानता मिली, दूसरीमे भगवान् नारायण-को । समयवश शिथिल होती हुई रामशाखाका उद्धारमात्र स्वामी रामानन्दने किया था। अपने मतके समर्थनमें उन्होने अग्रदासकृत एक परम्परा उद्धृत की है, जिसके अनुसार रामानन्दकी गुरुपरम्परा यो होगी-राम-सीता-हनुमान-ब्रह्मा-वसिष्ठ-पराशर-व्यास-शुक-पुरुषोत्तम - गंगाधर-सद-रामेश्वर-द्वारानन्द-देवानन्द-इयामानन्द-श्रुतानन्द-चिदा-नन्द-पूर्णानन्द-श्रियानन्द-हर्यानन्द-राघवानन्द - रामानन्द । खेद हैं इस परम्पराको प्रामाणिक सिद्ध करनेवाली सामग्रीका आजतक अभाव ही है; सम्प्रदायके तथा बाहरके अनेक विद्वान् इसे कल्पित एवं नवनिमित मानते है। स्वयं 'रामार्चन-पद्धति' यन्थमे रामानन्दने अपनी एक गुरु-परम्परा दी है। अधिकांश विद्वान् उसीको प्रामाणिक मानते है। परम्परा यो है-राम-सीता-पृतनापति-शठकोप-नाथ-पुण्डरीकाक्ष-श्रीराममिश्र-यामुन-पूर्ण-रामानुज-कूरेश-वोपदेव-माधवाचार्य-देवाधिप-पुरुषोत्तम-गंगाधर-सद्रामेश्वर-द्वारानन्द-देवानन्द-श्रियानन्द-हर्यानन्द-राधवानन्द-रामा-नन्द । यह परम्परा सम्प्रदायकी सभी मान्य एवं प्राचीन परम्पराओंसे मिलती है, अतः इसकी प्रामाणिकता अधिक साक्ष्य-संगत है। फिर भी इसे निस्सन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता, एक तो यहाँ लक्ष्मीनारायणके स्थानपर राम-सीताको आद्याचार्य माना गया है, जो रामानुज-सम्प्रदायमे अमान्य है, दूसरे 'रामार्चन पद्धतिः'को किसी भी प्राचीन हस्तिलिखित प्रतिके अभावमें रामानुज और रामानन्दके बीचके आचार्योंके नाम तथा उनकी संख्याके सम्बन्धमे भी कुछ निश्यपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस प्रन्थके सम्पादक पं॰ रामटहरुदास तथा पं॰ रामनारायणदास रामानन्द-सम्प्रदायको रामानुज सम्प्रदायको एक शाखा मात्र माननेवाले विद्वानोंमें प्रमुख थे, अतः 'पद्धति'की कोई प्राचीन इस्तलिखित प्रति नहीं मिलती, तवतक इस परम्पराको ज्यों-का-त्यों मान लेना अधिक युक्ति-संगत न होगा। इससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रामानन्दके गुरु राघवानन्द रामानुजी आचार्य थे। रामानन्दके समयतक कदाचित् श्रीसम्प्रदाय (रामानुज-सम्प्रदाय) उत्तरभारतकी समस्याओंके सुलझानेमें अक्षम सिद्ध हो गया था। इसी कारण उन्हें एक नवीन सम्प्रदायकी स्थापना करनेकी आवश्यकता अनुभूत हुई, जो अपने दृष्टिकीणमे अधिक उदार एवं साधनापक्षमें कर्म-काण्डकी रूढ़ियों एवं जटिलताओसे अधिक मुक्त था।

'अगस्त्यसंहिता' एवं 'भक्तमारु'से प्राप्त स्चनाओं के आधारपर रामानन्दके जीवन-वृत्तका निर्माण निम्निलिखित ढंगसे किया जा सकता है—रामानन्दका जन्म प्रयागमे पुण्यसदन शर्माके वर सं० १३५६ वि०, माव कृष्ण सप्तमी,

स्यंके सात दण्ड चढनेपर, सिद्धि योग, चित्रा नक्षत्र, कुम्भ लग्नमें हुआ था। माताका नाम सुशीला देवी था। उनके गुरु स्वामी राधवानन्दजी थे। रामानन्दने विस्तृत तीर्थ-यात्राएँ कर अपना केन्द्रमठ काशी, पंचगंगाघाटपर स्थापित किया। वही उन्होंने कवीरादिको अपना शिष्य बनाया। सं० १४६७ वि०मे काशीमें ही उनका देहावसान हो गया। स्वामीजीके जीवनपर प्रकाश डालनेवाले अन्य ग्रन्थी-'प्रसंगपारिजात', 'भविष्यपुराण', 'वैश्वानरसंहिता'. 'रसिकप्रकाश भक्तमाल'की टीका आदिकी प्रामाणिकता नितान्त सन्दिग्ध है। रामानन्द-सम्प्रदायमे यही मत मान्य है। कुछ विद्वानोने कबीर, पीपा, सेन आदिके सम्बन्धमे प्रचलित तिथियोको सत्य मानकर खामीजीको जीवन-तिथि निश्चित करनेकी चेष्टाकी है, किन्तु 'भक्तमाल'-के साक्ष्यपर रामानुज और रामानन्दमे अधिक कालका अन्तर नहीं माना जाना चाहिए। नाभादासने मध्ययुग एवं उसके पूर्वके भक्तोंके विवरण जिस स्पष्टता एवं गहराई-से दिया है, उससे यह मान लेना कि उन्होने रामानुज और रामानन्दके बीचके अनेक आचार्योंको छोड दिया होगा, उचित नहीं प्रतीत होता। रामानुजकी मृत्यु सन् ११३७ ई०मे मानी जाती है, इस दृष्टिसे रामानन्दकी तिथियोंके सम्बन्धमे साम्प्रदायिक मत सत्यसे अधिक दूर नहीं कहा जा सकता।

विद्वानोने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन-पद्धति'को ही स्वामी रामानन्दकी प्रामाणिक रचनाके रूपमे स्वीकार किया है। 'आनन्दभाष्य', 'सिद्धान्तपटल', 'राम-रक्षास्तोत्र', 'योगचिन्तामणि' 'ज्ञान लीला' 'ज्ञान नि आत्मबोध' आदि उनके नामपर प्रचलित ग्रन्थमात्र है। 'गीताभाष्य', उपनिषद्भाष्य', 'श्रीरामाराधन', 'रामा-नन्दादेश' तथा 'वेदान्तविचार' आदि अभीतक न तो प्रकाशमें ही आ सके है और न उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्त है। रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री 'अध्यात्मरामायण' को भी स्वामीजी कृत मानते है, पर उनका यह मत प्रामाणिक नहीं सिद्ध होता। काशी नागरीप्रचारिणी सभामें रामानन्दके नामपर कुछ हस्तलेख सुरक्षित है, जिनका प्रकाशन सभाकी ही ओरसे 'रामानन्दकी हिन्दी रचनाएँ नामसे हुआ है, किन्तु उनकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं कहीं जा सकती। 'आदियन्थ', 'सर्वागी' तथा श्री उदय इंकर शास्त्रीके संग्रह आदिमे उपलब्ध रामानन्दके हिन्दी पदोका सम्प्रदायमें कोई प्रचार नहीं, अतः उन्हे उनकी प्रामाणिक रचना मान लेनेका विशेष आधार नहीं मिलता। 'शिवरामाष्टक' तथा 'हनुमानस्तुति' भी इसी कोटिकी रचनाएँ है। इस मम्बन्धमें वस्तुरिधति तो यह है कि स्वामी रामानन्दसे प्रभावित विभिन्न मतो एवं सम्प्रदायोमे रामानन्दके व्यक्तित्वको मोडनेकी अनेक चेष्टाएँ हुई है और इस प्रयासमे उनके नामपर अनेक प्रन्थ भी प्रचलित हो गये है, इनमेंसे कुछमें सन्त मतकी व्याख्या की गयी है, कुछमें योग (तपसी शाखाके 'सिद्धान्त परल' आदिमे)की चर्चा मिलती है और कुछमे विशुद्ध वैष्णव मतकी पृष्टि की गयी है। वस्तृतः रामानन्द एक सर्गणोपासक वैष्णवाचार्य थे। अतः 'श्रीवैष्णवमताब्ज-

मास्कर' और 'श्रीरामार्चन-पद्धति'के साथ ही 'आनन्द-भाष्य'को आधुनिक रामानन्द-सम्प्रदायका दर्पण कहा जा सकता है। भगवदाचार्यकृत 'त्रिरली' भी सम्प्रदायका गान्य ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक भाष्योंमे 'जानकीभाष्य' तथा भगददाचार्यकृत 'वेदान्नभाष्य' भी प्रमुख है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों एवं कवियोके ग्रन्थो एवं रचनाओंने रामानन्द-सम्प्रदायको प्रभावित किया है।

पीछे कहा जा चुका है कि रामानन्दका सम्बन्ध रामानुज-सम्प्रदायसे ही था। उनके पश्चात् पंचगंगामठके अधिपति अनन्तानन्द हुए। यों तो रामानन्द स्वामीके द्वादश शिष्य 'भक्तमाल', 'अगस्त्यसंहिता' आदिमे माने गये है, किन्त परशराम चतुर्वेदी जैमे विद्वानोके अनुसार कबीर, मेन, धना, पीपा और रैदामको निस्सन्दिग्ध रूपसे उनका शिष्य मानना उचित नही। इनका यह मन इन भक्तोके सम्बन्धमे प्रचलित समस्त परम्पराओकी अवहेलना करता है, अतः इसे स्थीकार कर लेनेमें अनेक वाधाएँ है। अन्य शिष्योम अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, पद्मावती, नरहर्यानन्द, सुरसुरी और भावानन्द आदि प्रमुख है। सम्प्रदायके विकासमें अनन्तानन्द तथा उनके शिष्योका ही अधिक हाथ रहा। मध्ययुगमें उनके शिष्य कृष्णदास पयोहारीने अपने यौगिक चमत्कारों द्वारा योगियोंको परास्त कर राजस्थानको गलता स्थानमे सम्प्रदाय-की पहली प्रमुख गादी स्थापित वी। पयोहारीजीके तीन प्रमुख शिष्यों, अर्थात् कील्ह, अग्र और टीलाने मध्ययुगमे सम्प्रदायकी मर्यादाका विस्तार किया और उसे पर्याप्त दृता दी। मध्ययुग तथा उसके अनन्तर सम्प्रदायकी अनेक गादियोंकी स्थापना हुई, जिनमेसे ३५ द्वारागादियाँ विशेष उल्लेखनीय है। ये द्वारागादियाँ अनन्तानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, सुखानन्द, राम कवीर, भावानन्द, पीपा, योगानन्द, अनभयानन्द, कील्ह, अग्र, टीला, भगवन्नारायण, केवलकुवा आदिके नामसे स्थापित हुई । सम्प्रदायके प्रसिद्ध स्थान है गलता, रेवासा, डाकोर, चित्रकट, अयोध्या और

रामानन्द-सम्प्रदाथमे योगके प्रवर्तक कीन्ह थे और हारकादासने उमे पर्याप्त पछवित किया। आज भी कुछ रामानन्दी साधु इसी कारण अवधूत नामसे पुकारे जाते है। इनके प्रमुख चन्ध 'योगचिन्नामणि', 'रामरक्षास्तीन' और 'सिद्धान्तपटल' है।

सम्प्रदायमे माधुर्य भावके प्रचारक अग्रदास कहे जाते हैं, किन्तु आधुनिक युगमें अयोध्यामे जानकीषाटके महान्त रामचरणदासने इगका विशेष प्रचार किया । महान्त जीवारामकृत 'रिशकप्रकाश भक्तमाल'के अनुसार स्वयं रामानन्द भी रिसक थे। यही नहीं, इनके गुरु राघवानन्दको शंकर भगवान्ने 'रिसक संप्रदाय' चलानेकी आहा दी थी। इस ग्रंथके अनुसार ह्यीनन्दके भी 'सदाचारमे रिसकता' वर्तमान थी, अनन्तानन्द चारुशीलाके रूपोपासक थे। कृष्णदास पयोहारीने भी थीग और श्रंगार दोनोंका समन्वय किया था। इन्ही पयोहारीजीके शिष्य कील्हदास और अग्रदास थे। अग्रदासके पश्चात् उस भावको पल्लवित एवं पुष्पित करनेवालोंमें नाभादास, वाल अली, रूप अली,

मधुराचार्य, हर्याचार्य, रामसखे, रामदास गूदर, रामप्रसाद प्रेमसखी, चित्रसिधु, रघुवरशरण, मळ्कदास, केवळक्रवा, सरिकशोर, क्रपानिवास, जनकराज किशोरी शरण आदिका विशेष हाथ रहा है। इस शाखामे स्वमुखके प्रचारक थे रामचरणदास और तत्सुखविधानकर्ता थे क्रपानिवास। पहले मतवाले चारशीलाको माधुर्यका आधाचार्य मानते हें, दूसरे मतके अनुयायी चन्द्रकलाको। इस शाखाके प्रमुख, प्रन्थ निम्नलिखित हें—'हनुमत्संहिता', 'अमररामायण' 'मुशुण्डीरामायण', 'महारामायण', 'कोशलखण्ड', 'रागनवरत्त', 'महारासोत्सव', 'लोमशसंहिता', 'वालमीकिसंहिता', 'सदाशिवसंहिता', 'रामरहस्योपनिषद्', 'मञ्चरामायण', 'आनन्दरामायण' और 'शाण्डिल्यसंहिता'। इनमें में कोई भी रचना प्राचीन एवं प्रामाणिक नहीं कहीं जा सकती।

सम्प्रदायमें दिगम्बर, निर्वाण, निर्मोही, खाकी, निरावलम्बी, सन्तोषी, महानिर्वाणी आदि सात अखाड़े है। इनमें साधुओकी छः शेणियों हे—यात्री. छोरा, बन्दगीदार, मुरीठिया, नागा और अतीत। इनकी तीन अनियाँ होती है। नासिक, प्रयाग, उज्जैन और हरद्वारमें कुम्मके अवसरपर नागा साधु बनाये जाते हैं। सम्प्रदायमें खाकोर, डॉडिया, नन्दराम, त्यागी और महात्यागी आदि पाँच खालसे भी बन गये है। मठोका प्रबन्ध महान्त, गोलकी और साधारण सभा द्वारा होता है।

कवीरपन्थ, रैदासपन्थ, सेनपन्थ आदि इस सम्प्रदायसे द्रीसे सम्बद्ध पन्थ है।

रामानन्द-सम्प्रदायमे विशिष्टाद्वैतको ही मान्यता प्राप्त है। स्वयं रामानन्दने अपने मतको इस नामसे कही भी अभिहित नहीं किया है, फिर भी उनका तत्त्वाद विशिष्टा-द्वैत-सम्मत ही है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य' आहिमे तो इस दर्शन-प्रणालीकी पूर्ण प्रतिष्ठा भी की गयी है। रामानन्द-सम्प्रदायकी दार्शनिक विचारधाराको स्पष्ट करनेके लिए 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर', 'श्रीरामार्चन-पद्धति', 'आनन्द-भाष्य' और भगवदाचार्यकृत 'त्रिरली'को आधार बनाया जा सकता है। इस सम्प्रदायके आराध्य है द्विभुज भगवान रामचन्द्र। ये असंख्य लावण्य, शक्ति और शीलके केन्द्र है। संसारके एकमात्र कर्ता, पालक एवं संहर्ता वे ही है। जीव उनका ही शेष है। 'आनन्दभाष्य'का तो स्पष्ट मत है कि "ब्रह्म शब्दश्च महाप्रवादिपदवेदनीयं निरस्ताखिल-दोषमनवधिकातिञ्चयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्री-राममेवाह"। 'आनन्दभाष्य'के मतमे वेदान्तका प्रतिपाद्य अद्वेत नही, विशिष्टाद्वेत है और अद्वेतवादकी प्रतिष्ठा करनेवाली समस्त श्रतियाँ नकारात्मक प्रणालीसे विशिष्टाद्वैत-का ही प्रतिपादन करती है। ब्रह्म ही जगत्का कारण है। 'सदेव सोम्य इदमय आसीत्' वाक्य सत् पदसे मूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही वाच्य है, जो स्थूल चिदचिद्वि-शिष्टका कारण है। उसने अपनी इच्छासे ही इस जगतकी सृष्टि की। भगवदाचार्यके मतसे सृष्टि-संकर्य विशिष्ट बह्मको बह्मा, सृष्टिकी स्थितिके संकल्पविशिष्ट ब्रह्मको विष्णु तथा सृष्टिके संकल्पसे विशिष्ट ब्रह्मको रुद्र कहा गया है। 'त्रिरली'मे भगवान्के पर, व्यूह, विभव,

अन्तर्यामी तथा अर्जावतार आदि रूपोका भी वर्णन किया गया है। जीव भी परमात्माका ही अंश है, किन्तु वह कभी आनन्द्रमय नहीं हो सकता। ईदवर स्वतंत्र है, जीव परतंत्र; ईदवर ज्ञानाश्रय है, जीव अज्ञानी। फिर भी वह श्रद्य द्वारा अन्तर्वहिन्यांत एव उसका अंश है। सीताजीको भगवानकी अनादि सहचर्रा एवं पुरुषकारभृता कहा गया है।

जीवको नित्य, ईश्वरकी अपेक्षा अज्ञ, चेतन, अज, सक्ष्म, अनेक, जिज्ञासओ द्वारा वेच कहा गया है। रामानंदकेमतसे जीव दो प्रकारके होते है: - बद्ध और मक्त । बद्ध जीव दो प्रकारके होते :-- मुमध और बुमुक्ष । मुमुक्षके दो भेद है : - ग्लाइ भक्त तथा चेतनान्नर साधन । मोक्षपरायण जीवोंके भी प्रपंच और पुरुपकार-निष्ठ दो भेद होते है। प्रपन्नके भी दम और आर्त तथा पुरुषकार-निष्ठ जीवोंके आचार्य कृपामात्र प्रपन्न तथा महापुरुष-सेवातिरेक प्रपन्न दो-दो भेद होते है मुक्त जीवोके भी दो भेद होते है-नित्य और कादाचित्क । नित्यजीवोके परिजन और परिच्छद तथा कादाचित्क जीवोके भागवत और केवल दो-दो भेद होते है। भागवतोके भी भगवत्परायण तथा कैकर्थपरायण और केवलोके दुःखभावनैकपरायण और अनुभृतिपरायण दो-दो और भेद होते है। भगवदाचार्यने जीवोंके और भी सूक्ष्म भेद किये है, जो रामान जसे विशेष प्रभावित है।

प्रकृतिका प्रयोग इस सम्प्रदायमे सांख्यके ही अर्थमे है। अंतर इतना ही है कि यह प्रकृति सांख्यकी भाँति पुरुषसे स्वतंत्र नहीं, ईद्वराधीन है। जगत्का कारण ब्रह्म ही है, प्रधानादि नहीं। संकल्पमात्रसे ब्रह्म उसकी रचना करता है। सृष्टिमे जो क्रम रहता है, प्रज्यमें ठीक उसका उलटा हो जाता है। भगवदाचार्यके मतसे सृष्टिविकास सप्तीकरणके ढंगसे नहीं है, त्रिवृत्करणके ढंगसे है। सृष्टिक्रमका वर्णन करते हुए भगवदाचार्यने सांख्यमतका ही अनुसरण किया है।

सांसारिक वन्धनोंसे मुक्त होकर साकेतलोकको प्रयाण कर सायुज्यकी प्राप्तिको मोक्ष माना गया है। 'आनन्द-माध्य'मे मोक्षको परमपुण्यानुभवरूप ही माना गया है। जीव सुपुग्ना नाडीसे निवालकर अचिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होता है। मुक्ति सबः नहीं होती, कमसे होती है। जीव ब्रह्मसुख्का अनुभव कर सकता है, ब्रह्मको भाँति जगत्की सृष्टि, पालन एवं संहारका अधिकारी नहीं। 'साम्यमुपैति'का अर्थ भोगसाम्य ही है। सर्वाशमे ब्रह्मके साथ जीवको समता प्राप्त हो ही नहीं सकती, क्योंकि मुक्त जीवोंको भी जगद्व्यापार और लक्ष्मी विलास अत्यन्त असंभव है।

भक्तिको रामानन्द-सम्प्रदायमे मोक्षका साधन कहा गया है। प्रपत्ति और न्यास इसके दो प्रमुख अंग है। ध्येय द्विभुज राम ही है। सीनाजीको ही पुरुषकाररूपा कहा गया है। भगवत्क्वपाप्राप्तिके नवधा साधन इस सम्प्रदायमे भी मान्य हैं। सम्प्रदायको मुख्य भक्तिपद्धति दास्यभाव को है। आधुनिक काल्कों माधुर्य, सख्य, वात्सख्य एवं शान्ता भक्ति-प्रणालियाँ भी चल पढी है। 'आनन्दभाष्य'के मतसे भगवदितर वस्तुओमे वितृष्णापूर्वक

परम विश्व कार्ने अनुराजित भक्ति है। सक्तको वास्तविक तत्त्वका अनुसन्धान करना ही चाहिये। मन आदि प्रतीको-मे आत्मबुद्धि नहीं रखनी चाहिये।

भक्तिके अधिकारी सभी है। 'आनन्दभाष्य'मे अवस्य ही सूद्रोंको वेदाध्ययनका अधिकार नही दिया गया है।

कर्मकाण्डको भी इस सम्प्रदायमे विशेष मान्यता नही मिली । फिर भी आह्निक कर्म नियमसे किये जाने चाहिये। वैष्णवोंको पंच संस्कारोंसे युक्त भी होना चाहिये। आजकल अष्टयामीय पूजा-पद्धतिका भी सम्प्रदायमे पर्याप्त प्रचार है।

हिन्दी कवियोंमे तलसीदास, कबीर और मैथिलीशरण गुप्तपर रामानन्द-सम्प्रदायका सर्वाधिक प्रभाव पडा है। यो तो तुलसीदास सम्प्रदायसे, विशेष रूपसे गुरुशिष्य-रूपमें सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते, किन्तु उनकी दार्शनिक एवं भक्ति सम्बन्धी धारणाओंपर रामानन्दका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके राम रामानन्दके रामकी ही भॉति जगतके स्नष्टा, रक्षक तथा लयकर्ता है। वे ज्ञान-स्वरूप, स्वप्रकाश, अविनाशी, नित्य, तपस्यादिसे दुर्लभ, स्वतन्त्र एवं उपनिषत्प्रतिपाद्य है। अपूर्व राक्ति, लावण्य एव शीलके आगार है। वे असंख्य कल्याणगुणींके आकर शरणागतरक्षक, उदार एवं भक्तवत्सल है। उनमे और जीवमें पिता-पुत्र, रक्ष्य-रक्षक, सेवक-स्वामी तथा सेव्य-सेवकादि अनेव सम्बन्ध है। सीताजी पुरुषकारभुता है। गोस्वामीजीने जीवोंको ईरवरकी अपेक्षा अज्ञ, चेतन, अमल, सहज सखकी राशि, स्वकर्मफलभोक्ता, अनेक एवं आनन्द-स्वरूप माना है। किन्तु वे जीवको अण-परिमाणवाला नहीं मानते । जीव भेदका भी निरूपण उन्होंने विस्तारसे नहीं किया । सम्प्रदायकी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओंका भी प्रभाव तुलसीपर पडा है। उनके भी मतसे प्रकृति नित्य, अज्ञ, अचेतन, सम्पूर्ण विश्वका कारण, स्वतन्त्रव्यापारहीन एवं महदहंकारादिकी सृष्टिकत्रीं है। किन्तु ईश्वराधीन होकर ही वह जगत्की सृष्टि करती है। विषमता और संहारका कारण कर्म ही है। जगत भगवानकी लीला है। आगे चलकर 'आनन्दभाष्य'मे भी यही मत लिया गया है। भाष्यमे जहाँ प्रकृतिको ब्रह्मका अचिदंश और प्रपंचको सत्य माना गया है, वही तुलमीदासने इस संसारको असत्य एवं स्वप्नवत् माना है, ब्रह्मके अचिदं शका वास्तविक परिणाम नही । सायुज्य मुक्तिमे तुलसीदासका विश्वास था, किन्त न तो उन्होंने साकेनका आध्यात्मिक चित्र ही प्रस्तुत किया है और न अचिरादि मार्गीका ही विवेचन किया है। उनके रामको वैकण्ठले भी अधिक प्रिय अवध है।

कवीरदासने जहाँ अपने रामको निर्गुण एवं निरंजन कहा है, वही उन्होंने उनके गुणो—अनन्तशिक्त, शरणागत-रक्षकत्व, भक्तवरसञ्जा, उदारता आदि—का भी वर्णन किया है और वही वे 'श्रीवैष्णवमता जभास्कर'की विचार-धारासे प्रभावित हुए प्रतीत होते है। फिर भी अवतारी राममें उनका विश्वास नहीं था। कवीरदासके मतसे जो आना-जाना है, वह तो माया है, प्रतिपञ्च न तो कही जाता है, न आता है, वह काल विवश नहीं है। अवतारोंमे कवीरदासका एकदम विश्वास नहीं है। उनका 'साहब' बडा मेहरवान है, वह न तो कभी जीतता है और न कभी

हारता है । वह कहीं जन्म नहीं लेता । उनका राम पावकरूपी है और घट-घटमें समाया हुआ है । इस अनुपम तत्त्वकों न तो मुँह है, न माथा और न उसका कोई रूप है । पुष्पांघसे भी वह पतला है । फिर भी उसके गुण अनन्त है । जीवतत्त्वके विवेचनमें भी कवीरपर रामानन्दकी अपेक्षा अदेतका प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर और जीवमें प्रतिविम्ब सम्बन्ध है । वन्तुतः उन्हे 'जीव-पीव'में कोई अन्तर नहीं दिखलाई एडता है । इंसा और सोहं एक ही समान है, कायाके ही गुण भिन्न-भिन्न है । प्रकृतिको विश्वमात्रकी अधिष्ठात्री, त्रिगुणात्मिका, ईश्वराधीन, महदहंकारजननी आदि कहनेके साथ ही उन्होंने ससारको असत्य एवं मिथ्या भी वहा है । सायुज्यमुक्ति अथवा अचिरादि मार्गमें उनकी कुछ भी आस्था नहीं थी । साकेतलों कके सम्बन्धमें भी वे भीन है ।

मैथिलीशरण गुप्तकी आस्था दाशरथि राममे ही है। उनके मतसे जो निर्विकार, निरीह, सर्वव्यापी, अजन्मा, अनादि, अनन्त, निर्गुण ब्रह्म है, वही साकार होकर रामके रूपमे अवतरित हुआ। यही राम विश्वका स्रष्टा, रक्षक और लयकर्ता है, यह लोकेश एवं लीलाधाम है। यह असंख्य कल्याणगुणोका आकर होते हुए भी मानव है। उनके भी मतसे सीताजी पुरुषकारभूता है। गुप्तजीने जीव-को अनादि, अनन्त, अजरामर एवं अविनाशी माननेके साथ ही उसे पुरुषोत्तमका अंशज भी कहा है। उनके मतसे यह संसार प्रकृति और पुरुषकी क्रीडा है। कही-कही उन्होंने अद्वैतकी भावना भी व्यक्त की है, किन्तु सायुज्य मुक्तिसे उसका समन्वय करके ही। वे भगवानके अर्चावतारमे भी विश्वास रखते है:-"मानिये तो इंकर हैं, कंकर है अन्यथा"। वे तीथोंमे निवासको भी महत्त्वपूर्ण मानते है। कविके मत-से माया, जीव और ईश्वरके मध्यमे खडी है। यह गुण-क्रममयी है और इमें जान छेना असम्भव है। जिसपर रामकी कृपा हो जाती है, वही इससे छुट सकता है। सायुज्य मुक्तिमे उनका विश्वास है, किन्तु अचिरादि मार्गी-की चर्चा वे नहीं करते। साकेतधामका चित्र तो उन्होंने पूर्ण रूपसे प्रस्तुत किया है, किन्तु साकेत-लोकका उल्लेख वे नहीं करते।

सम्प्रदायकी भक्ति-पद्धतिका भी प्रभाव उपयुंक्त किवयी-पर पड़ा है। पंच संस्कारों इन किवयों की आस्था नहीं हे, किन्तु भक्ति अन्य आवश्यक अंगों के सम्बन्धमें उनकी अधिकांश धारणाएँ रामानन्दी ही है। नवधा भक्ति, प्रपत्ति और न्यासमे प्रायः इन सभी किवयों अपनी आस्था व्यक्त की है। कवीर इनके मानसी पक्षपर ही अधिक वल देते है। प्रपत्तिके छओं अंगोंका भी इन किवयों ने वर्णन किया है। भक्तिके अन्य आवश्यक अंगों, अर्थात् मगवल्कथा-अवण, गुणकथन, नाम-स्मरण, भगवत्कैक्यं, निरिममानिता, विश्वमरमे भगवान्का रूपदर्शन, गुरु-सेवा, सत्संग, काम-क्रीध आदिका परित्याग तथा अहिसाको प्रायः इन सभी किवयोंने महत्त्व दिया है। कवीरदासने तो अहिंसापर बहुत ही वल दिया है। महाव्रतोंमे इन किवयोंकी कोई आस्था नहीं है। प्रायः इन सभी किवयोंकी भक्ति दास्य-भावकी है। तुलसी और कबीरने माधुर्य भावका भी विस्तृत निरूपण किया है। अर्चावतारमे तृलसीदास और मैथिली-श्रारण ग्रुप्तकी विशेष आस्था है। भक्तिके क्षेत्रमे जाति-पॉतिका भेदमाव रामानन्दकी ही मॉति इन कवियोंको भी मान्य नहीं है। इस सम्बन्धमे 'आनन्दभाष्य'की विचारधारा इनके मेलमे नहीं है। ये कि मिक्तको ज्ञानसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझते है, विशेषतया बैष्णवी भक्तिमे इन सभी कवियोंकी पूरी आस्था थी। तुलसीने गोरखके योगकी निन्दा की और कबीरने शाक्तोंकी। मैथिलीशरण गुप्तको भक्ति एक संस्काररूपमे मिली है। वह रामके चरणोमे उनकी अद्भुत आस्था बनकर सामने आयी।

सम्प्रदायसे सम्बद्ध अन्य कवियोंमें अग्रदेव, अवध-

भषणदास, कपानिवास, कामदेन्द्रमणि, गोमतीदास, चित्र-जनकराजिकशोरीशरण, जनकलाडिलीशरण, जीवाराम, जानकीरसिकशरण, नाभादास, प्रेमसखी, बाल अली, मधुर अली, युगलानन्यश्ररण, रसरंगमणि, रामचरणदास, रामप्रियाशरण, रामसखे, रूपिकशोर, सुधामुखी आदिपर माधुर्य भावका अधिक प्रभाव पड़ा है। राधावछभी सम्प्रदायने भी इन कवियोंको पर्याप्त रूपसे प्रभावित किया है। आजकल इन भक्तों के अनुयायियोंने अपना एक अलग सम्प्रदाय बना लिया है, जिसका नाम इन्होंने 'रिसिक सम्प्रदाय' रखा है। इन्होंने माधुर्यभावके अन्तर्गत ही सखाभाव, सखा-सखी भाव, दास्य भाव, वात्सल्य भाव आदिको भी समाविष्ट कर लिया है। इस सम्प्रदायका अधिकांश साहित्य हस्तलिखित है मिथिला, अयोध्या, राजस्थान, अहमदाबाद आदिमे विखरा पडा है। अयोध्यामें लक्ष्मणिकला और जानकी घाटमे इस सम्प्रदायके ग्रन्थोका अच्छा संग्रह है। प्रकाशित ग्रन्थ मणिपर्वतके श्री रामकुमारदासजी रामायणीके मंग्रहमे मिल जायंगे (विशेष विवरणके लिये लेखकका 'रामानन्द सम्प्रदाय' नामक यन्थ द्रष्टव्य है इसके अलावा 'रामभक्तमे मधुर उपासना' तथा 'रामभक्तिमे रसिक सम्प्रदाय' अन्य सहायक यन्थ है)। --व० ना० श्री० रावल-रावल सम्प्रदाय योगियोंकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। कुछ विद्वानोंने रावल शब्दको संस्कृत 'राजकुल'का अपभ्रंश रूप कहा है। हजारीप्रसाद दिवेदीने अनेक ऐतिहासिक, पुरानात्त्विक, भाषाशास्त्रीय और आनुश्राविक प्रमाणोके आधारपर वडी तर्कपूर्ण रीतिसे रावलको 'लाकुल' शब्दका रूपान्तर वनाया है। अनेक स्वस्थ प्रमाणोके आधार पर बताया है कि बाप्पा रावलको उन्होने लाकलीश सम्प्रदायका अनुयाथी सिद्ध किया है और सातवीं शताब्दी-के पहले ही लाकुलीश लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे, क्योंकि आठवी शताब्दीमें वाप्पाका 'रावल' उपाधि धारण करना, इस बातका निश्चित प्रमाण है कि इस समयतक यह सम्प्रदाय काफी यश पा चुका था। बादमे चलकर रावल या लाकुल पाद्मपत गोरखनाथके सम्प्रदायमे मिल गये थे, इसके भी निश्चित प्रमाण है। विग्स ('गोरखनाथ एण्ड कन-फटा योगीज', पू० २४०) ने बताया है कि सोमनाथमें प्राप्त सन् १२८७के एक लेखमें गोरखनाथका नाम लाकुली शके साथ लिया गया है। धर्मनाथके पुनर्जन्म और 'रावलपीर' संशासे सम्बद्ध कथाके आधारपर आचार्य द्विवेदी जीने रावल

थोगियोंकी सगूची शाखाको लाकुलीश पाशुपत सम्प्रदायकी उत्तराधिकारिणी सिद्ध किया है। उनका अनुमान है कि "शुरू-शुरु में जब गौरक्षनाथने शैव एव योगमूलक सम्प्र-दायोका संगठन किया होगा, तो उन्हे (अर्थात् जाति-पॉति-का वन्यन न माननेवाले लाकुलीशोको) सम्प्रदायमे इसलिए स्वीकार किया होगा कि उन दिनों ये शास्त्रज्ञ सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा पा गये थे। इनसे योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त मात्रामे थी। गोरक्षनाथके पन्थमे आनेके वाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगोंके सम्प्रदायमें गोरक्षनाथ लाकुलीशके अवतार मान लिये गये होंगे और बाप्पा रावलके साथ गोरक्षनाथकी कहानी चल पडी होगी" ("नाथ सम्प्रदाय, पु० १६०-६१)। आचार्य द्विवेदीजीने यहाँ एक पाद-टिप्पणीमें रावलोंके नागनाथी होनेपर भी थोडा प्रकाश <u> डाला है। उल्लंक, कणाददर्शन, शिवके उल्लंक अवतारों,</u> कौशिक और कुशिक (दे०-उलूक)से भी लाकुलीशोंका सम्बन्ध सम्भव है। लाकुलीशोंको किसी जमानेमें वेद-विरुद्ध, सत्शास्त्रका परिपन्थी और पापयोनि भी माना जाता था (भागवत, ४: २), पर आगे चलकर रावल रूपमे इन योगियोकी एक महत्त्वपूर्ण शाखा ही बन गयी। (विस्तृत विवरण और प्रमाण पुरस्सर स्थापनाके लिए दे० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका 'शोधसामग्री' शीर्षक निबन्ध, अनुसन्धानकी प्रक्रिया, पृ० १०८-११७ तथा 'नाथसम्प्रदाय' प्० १५६-१६१)। —रा० दे० सि० राष्ट्रगीत-अंग्रेजी-राज्यकी रथापनाके साथ ही भारतवर्षमे इंग्लैण्डका जातीय संगीत (नेशनल ऐन्थम) प्रचलित हुआ। सन् १८८३ ई०मे विलायतमें जातीय संगीत-सभा (नेशनल ऐन्थम सोसाइटी)की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य था कि 'गाड सेव द क्वीन'का भारतवर्षकी बीस भाषाओं मे अनुवाद कराया जाय और उन्हे समयानुसार गवाया जाय। फारसके मिरजा मुहम्मद बाकर खाँने अरबी तथा फारसीमें, मैक्समूलर और राजा सुरेन्द्रमोहनने संस्कृत-में, सरेन्द्रमोहनने वॅगलामें, महाराजा ट्रावनकोरने मलयालममे, के॰ एन॰ कविराजीने गुजरातीमे, बी॰ वालाजी नेनीने मराठीमे और भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने हिन्दीमें अनुवाद प्रेपित किया । भारतेन्द्रका अनुवाद था-"प्रभु रच्छह दयाल महरानी, बहु दिन जिये प्रजा सुखदानी, हे प्रभु रच्छहु श्रीमहरानी। सब दिसमें तिनकी जय होइ, रहे प्रसन्न सकल भय खोइ, राज करे वह दिन लों सोइ, हे प्रभु रच्छद्व श्रीमहरानी"।

सन् १८८५ ई०में भारतीय राष्ट्रीय-महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस)की स्थापना हुई, िकन्तु उस समय कांग्रेस राजभक्त संस्था थी और उसने इंग्लेण्डके राष्ट्रगीतको ही अपनाया था। वंकिमचन्द्र चटजींने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यासमें 'वन्दे मातरम्' शीर्षक गीत लिखा था। लाई कर्जनने वंगालको दो भागोंमें विभक्त किया—पूर्वी और पश्चिमी बंगाल। बगालने इसका एकस्वरसे तीव रूपमें विरोध किया और फलस्वरूप एक प्रबल आन्दोलनने जन्म ग्रहण किया। स्वदेशी सभाएं स्थापित हुईं। इन सभाओंमें वंकिमचन्द्रके 'वन्दे मातरम्'को राष्ट्रगीतका गौरवान्वित पद मिला। स्वदेशी आन्दोलनके प्रसारके साथ ही यह गीत

समय भारतमें राष्ट्रगीतके रूपमे प्रचलित हुआ।

प्रथम असहयोग आन्दोलनकी विफलताके पश्चात हिन्द-

मुसलिम राजनीतिकी साम्प्रदायिकताको स्पष्टता मिलने लगी और कुछ लोगोंको इस गीतमे साम्प्रदायिकताकी और 'तोमार प्रतिमा गडि मन्दिरे मन्दिरे'मे मूर्तिपृजाकी गन्ध मिलने लगी, किन्तु स्वराज्य-प्राप्तितक किसी-न-किसी रूपमे यह राष्ट्रगीतके रूपमें समादत रहा। अंग्रेजी सरकारकी दृष्टिमं जहाँ 'गाड सेव दि किग' अथवा 'क्वीन' राष्ट्रगीत (नेरानल ऐन्थम) था, वहाँ देशभक्तोंकी दृष्टिमे 'वन्दे मातरम्'। भारतवर्षको स्वराज्य-प्राप्तिके पश्चात विधान-निर्माणका अधिकार मिला और विधानसभाकी स्थापना हुई। राष्ट्रगीतकी समस्यापर विचार करनेके लिए विधान-सभाने एक उपसमिति संघटित की और उस समितिने रवीन्द्रनाथ ठाकुर-रचित 'जन-गण-मन-अधिनायक'को राष्ट-गीतके लिए उपयक्त माना, फलतः विधानसभाने इसे राष्ट्रगीतके रूपमे स्वीकृत किया। इस समय यही भारतीय संबका राष्ट्रगीत है। राष्ट्रगीतको जातीय संगीत और राष्ट्रीय गीत भी कहा जाता है, किन्तु 'जाति'का प्रयोग एक विशेष अर्थमे होनेके कारण 'राष्ट्रगीत' ही उपयुक्त है और राष्ट्रीय गीतमें विशेष प्रकारके गीतोंकी परिगणना होगी (दे॰ 'राष्ट्रीय गीत')। —रा० खे० पा० राष्ट्रीय कविता-'राष्ट्रीय' शब्द साहित्यमे दो-तीन अर्थींम प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम अर्थम राष्ट्रीय कविताके अन्तर्गत उन रचनाओको लिया जा सकता है, जिनमे देश-को एक इकाई मानकर काव्यसर्जन किया गया हो। इस प्रकारकी रचनाएँ किसी सीमातक एक विशिष्ट कालमे संस्कृति और सभ्यताकी जो स्थिति होती है, उसका प्रति-निधित्व करती है। जातीय जीवनमें उनका विशिष्ट स्थान रहता है। उनकी मूल प्रेरणा देश और जाति होती है और उन्हे अभिन्यक्ति देना ही इस प्रकारकी कविताओंका प्रमुख उद्देश्य रहता है। महाकान्यका लेखक राष्टीय कविताका निर्माता ही कहा जायगा, क्योंकि वह एक सभ्यता और संस्कृतिको लिपिबद्ध करनेका प्रयास करता है (एबरक्राम्बीका 'द एपिक' लेख)। जब कभी विश्व-साहित्यमें प्रतिनिधित्वका प्रश्न आता है, तब राष्टीय काव्य-को प्रस्तुत किया जाता है। वह जातीय गौरवका प्रतीक है। जिन देशोमे सभ्यता और सस्कृतिका पर्याप्त विकास हुआ है, उनमे इस प्रकारकी कविता सहजसुलभ है। गिलवर्ट हिवेटने अपनी पुस्तक 'द क्लासिकल ट्रेडिशिन'-(पृ० २२)में लिखा है कि १,००० ई०के काफी पूर्व ही इंग्लैण्डमें मौलिक, बहुमुखी, समृद्ध और जीवन्त राष्टीय साहित्यका निर्माण हो रहा था। रोमन साम्राज्यके पतनके अनन्तर उसका आरम्भ हुआ और समस्त बाधाओवे, बावजुद उसका विकास होता रहा। इस दृष्टिस विद्ववकी समस्त विकसित सभ्यताओं में राष्ट्रीय कान्यका सर्जन हुआ है। राष्ट्रीय कविताका आरम्भिक स्वरूप लोकगीतोंमे देखा जा सकता है। जनतासे सीधा सम्पर्क होनेके कारण इनमे कलात्मक सौन्दर्य भले ही न हो, किन्तु इनमें उस देश और सभ्यताकी आन्तरिक भावधारा स्पष्ट होती है। एक भूखण्डमे कई भाषाओके प्रचलनसे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही कथा सभी भाषाओं अभिन्यक्ति पाती है। लोकगीतों निर्माता प्रायः अद्यात होते है। इन जनकियों में कलाका इतना विकास नहीं होता कि ये अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध कर सके। आगे चलकर कोई महाकि विखरी हुई परम्पराके आधारपर अपने महाकान्यकी सृष्टि करता है। होमरका 'इलियड', 'ओडेसी', विजलका 'इलियड', दॉतेकी 'डिवाइन कॉमेडी', गेटेका 'फाउस्ट', मिस्टनका 'पराडाइज लॉस्ट', वाल्मीकिकी 'रामायण', व्यासका 'महाभारत' आदि प्राचीन कान्य राष्ट्रीय किताके अन्दर रखे जाते है। हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस'- को राष्ट्रीय कान्यके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कविताका व्यापक प्रयोग देशमक्तिकी कविताओ-के लिए किया जाता है। इनमे देश और जातिके प्रति एक समताका भाव रहता है। यो तो प्रत्येक युगमे ऐसे कवि होते है, जो राष्ट्रीय भावनाओंकी कविता लिखते है, किन्त विशेष परिस्थितियोमें इस प्रकारका कान्य सर्जन बढ़ जाता है। परतन्त्र देशोंमें राष्टीय भावनाओके विकासके साथ-साथ देश-भक्तिकी कविताओंकी मात्रामे बृद्धि होती जाती है। जब कभी किमी देशपर विदेशी आक्रमण होता है, उस अवसरपर भी युद्धगीतके रूपमे देश-मक्ति सम्बन्धी कविताओ-की सृष्टि की जाती है। विश्व-इतिहासमे कुछ ऐसे भी विशिष्ट अवसर आरो है, जब राष्ट्रीय भावनाओकी कविताओका सर्जन पर्याप्त मात्रामें हुआ है। अमेरिकाकी क्रान्ति, फ्रान्स-की राज्य-क्रान्ति, रूसकी साम्यवादी क्रान्ति, चीनका गृह-युद्ध आदि अवसरोपर इस प्रकारकी कविताएँ लिखी गयी है। ऐसे अवसरोंपर दोनो पक्ष अपनेको राष्ट्रभक्त कहते है। चीनके गृह-युद्धमे अधिकांश काव्य अतिशय भावुकता-प्रधान और आवेशपूर्ण लिखा गया है। उत्साह ही उसका मूल प्रेरक भाव है। इसमें जीवनके शाश्वत भाव नहीं होते, जो कान्यको स्थायित्व प्रदान करते है। महान कवि प्रायः ऐसी राष्ट्रीय भावनाओं के काव्य-सर्जनमें तत्पर नहीं होते। एक बार जर्मनीके ड्युकने जब गेटेसे युद्धगीत लिखनेको कहा था तो उसने उत्तर दिया था कि "मै मानवको घूणा नहीं करता, इस कारण मेरे लिए युद्धगीत लिखना सम्भव नहीं (गेटें: एमाहल लुडविंग)। इस प्रकारका काव्य सद्भावनासे प्रेरित होनेके कारण स्तुत्य होता है, किन्तु स्थायी भावोंसे वंचित होनेके कारण महान काव्यकी संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। अधिकांश राष्ट्रीय भावनाओकी कविताएँ जिस उद्देश्य-पूर्तिके लिए लिखी जाती है, उनकी पूर्ति करनेमे किसी सीमातक सफल होती है, तत्परचात् वे विस्मृतिके गर्भमे चली जाती है। राष्ट्रीय कविताओंके विविध पक्ष हो सकते है। एक तो उसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पक्ष है, जिसमे देशके प्राचीन इतिहासके प्रति आदरका भाव प्रकट किया जाता है। इटलीकी राष्ट्रीय भावनाओं की कविता रोमन साम्राज्यका स्मरण कराती है। इस प्रकारकी कविताओमें देशकी सभ्यता-संस्कृतिके प्रति एक मोह रहता है। राष्ट्रीय कविताओं के लेखकका अन्य पक्ष सुधारवादी भी हो सकता है, जिसमें कवि अपने देशकी वर्तमान परिस्थितिसे असन्तुष्ट होकर उसमे सुधार चाहते है। हिन्दीमें भारतेन्दु-सुग और दिवेदी-सुगके अधिकांश

कवियोंका काव्य सुधारवादी दृष्टिकोणसे लिखा गया है।

हिन्दी गवितामे राष्टीय भावनाका आरम्भिक खरूप वीरगाथा-कालकी कविताओमें प्राप्त होता है। इसकी दो-तीन मुख्य प्रेरणाएँ ई। एक तो यह कि देशपर विदेशी आक्रमण हो रहे थे, जो एक अन्य धर्मावलिम्बयों द्वारा परिचालित थे। इसी कारण वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय भावना धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अधिक है। उसमें जातीयताका भाव प्रवल है। विदेशी आक्रमणोके अभावमें देशके राजा आपसमे भी टकरा जाते थे। इस अवसरपर उनके दरबारी कवि अपने-अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमे लग जाते थे। इस प्रकारकी कविता राष्ट्रीय कविताका संकुचित और विकृत रूप है। उसे चारण-काव्य कहना अधिक उपयक्त होगा । वीरगाथा-कालकी राष्ट्रीय कविताओ-मे शृंगारका पुट भी स्थान-स्थानपर दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि उस समय अधिकांश कविता राजाश्रित थी और राजाओंको मनोवृत्ति भोगविलास की थी। 'पृथ्वी-राजरासो', 'हम्भीररासो', 'बीसलदेवरासो' आदि इस समय-के प्रतिनिधि कान्य-प्रनथ है। वीरगाथा-कालकी ही मनोवृत्ति किंचित् सामान्य परिवर्तनोके साथ रीतिकालमे मिलती है। चन्द वरटाईने पृथ्वीराजकी यशोगाथाके रूपमे जिस प्रवन्ध-काव्यका सर्जन किया था, उस परम्पराका पालन रीतिकाल-के कवि किसी महान् व्यक्तित्वके अभावमे न कर सके। इस समय भूपणने शिवाजीकी अभ्यर्थनामे जो कवित्त लिखे हैं, उनमे जो राष्ट्रीय-भावना है, उसमे जातीयताकी भावना प्रमुख है।

राष्ट्रीय भावनाओंका पूर्ण प्रतिफलन भारतीय खातन्त्र्य-संयाममे दिखाई देता है। उन्नीसवी राताब्दीके अन्तमे जिस राष्ट्रीय आन्दोलनका आरम्भ हुआ, वह क्रमशः संघटित होता चला गया। बीसवी द्यताब्दीके आरम्भमे जिस दिवेदी-युगका पूर्ण विदास हुआ, उसकी मूल प्रेरणा राष्ट्रीय ही कही जायगी। इस युगके दो प्रतिनिधि कवि मैथिली शरण ग्रप्त और अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' है। इन दोनो कवियोगी राष्ट्रीय-भावना आदर्शवादी है और उसमे सुधारकी प्रवृत्ति है। राम और कृष्णके पुरातन कथानकके रूपमे एक आदर्श नेताकी कल्पना है। राष्ट्रीय भावनाओका स्पष्ट रूप मैथिकीशरण गुप्तकी 'भारतभारती'-मे दिखाई देता है। "जग जाय तेरी नोकले, सोये हुए हो भाव जो" कविकी इस पंक्तिसे उसके उद्देश्यका ज्ञान हो जाता है। इसीके अनन्तर छायावादका काव्य-सर्जन अपनी प्रौढ अवस्थापर आया। इसकी देशभक्ति सम्बन्धी चेतना अधिक सांस्कृतिक है। इसके अतिरिक्त प्रायः इसी समयसे धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीयताका भाव गहरा होने लगता है। मैथि लोशरणको सम्भवतः इसी कारण 'राष्ट्रकवि' कहा जाता है, क्योंकि उनमें राष्ट्रीय-भावना अधिक स्पष्ट है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, सोहन-लाल दिवेदी आदिमे भी राष्ट्रीय भावना अधिक स्पष्ट है, किन्तु छायावादके कवियोंने अपनी देशभक्तिको एक सांस्कृतिक आवरणसे मण्डित किया है। उसमें केवल आवेश ही नहीं, किन्त एक अधिक स्थायी ताप है।

'निराठा'का 'भारति जयविजयवर' गीत, भारत माताका एक सर्वागीण चित्र प्रस्तुत करता है, जिसका आधार प्रकृतिका हीन्दर्य है। मुमित्रानन्दन पन्तने भारतमाताके वाई चित्र 'माग्या' और 'सुगवाणी'मे प्रस्तुत किये है। 'प्रसाद'के 'हिपालयके ऑगनमे उसे प्रथम किरणोका दे उपहार' नामक प्रसिद्ध गीतमं भारतीय इतिहासका गौरव-पूर्ण नित्र हैं। महातमा गान्धीके पदार्पणने साहित्यके आवेशको किसी सीमातक कम किया। अहिसाबादने काव्यको भी प्रभावित दिया । इसी कारण छ।यायाप-युगने देशभक्ति सम्बन्धी कविताएँ ऐसी भी है, जिनमे स्थायित्व है। कलात्मक दृष्टिसे उनमे परिपक्वता है। वे किसी राष्ट्र-सेवीका आवेशमात्र नहीं है। उत्तर-छायावाद-युगमें कुछ कवियोने सन् १९४२ ई०की अगस्त-क्रान्ति, आजाद हिन्द भीज और अन्तमे स्वतन्त्रता-प्राप्तिमे प्रेरित होकर अनेक ऐसी कविताएँ लिखी, जिनमे देशभक्तिका उफान है। इनमे अत्यधिक आवेशके कारण भाषण-शैलीका प्रयोग हुआ है। गुराप्तकारी चौहानको प्रसिद्ध कविता "वुन्देले हर-बोलोंके मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लडी मरदानी वह तो झॉसीवाली रानी थी" आदि कविताएँ बहुत छोकप्रिय हुई थीं। वास्तवमें इस प्रकारकी कविताएँ अपनी सरल अभिव्यक्तिके कारण जन-काव्य बन जाती है। इयाम-नारायण पाण्डेयका प्रबन्धकाव्य 'हल्दीघाटी', रामनरेश त्रिपाठीके खण्टकाव्य 'पथिक' और 'मिलन' देशभक्तिसे अनुप्राणित है। गान्धीके व्यक्तित्वमे प्रेरणा लेकर जो अनेक कविताएँ लिखी गयी, उनमें राष्ट्रीय भावनाका स्वर है। सोहनलाल द्विवेदीने इस प्रकारको बहुत-सी कविताएँ लिखी है। गान्धीके निधनके बाद 'स्तकी माला' (बचन) आदि कविता-संग्रह प्रकाशित हुए। राष्ट्रीय कविताका एक अन्य पक्ष है, जिसमे प्रगतिशीलनाका अंश अधिक है। इन कवियों में सामाजिक विषमताके प्रति विक्षोभका भाव दिखाई देता है। आर्थिक और सामाजिक समताको ही वे सची स्वतन्त्रता मानने है। रामेश्वर शुक्क 'अंचल', शिवमंगल-सिंह 'सुमन' और नागार्जुन आदि ऐसे ही कवि है। पर्याप्त अंशमें वे मार्क्मवादी विचार-पद्धतिले प्रभावित है। इस प्रकार हिन्दीमें राष्ट्रीय कविताका इतिहास काफी प्राचीन न होकर भी संख्याकी दृष्टिसे पर्याप्त है। कभी-कभी राष्ट्रीय कविताका प्रयोग परम्परागत काव्य-प्रणालीके लिए भी किया जाता है। अंग्रेजीके 'क्लासिक्ल' शब्दके समीप उसे रखा जा सकता है, किन्तु इस प्रकारका प्रयोग बहुत कम मिलता है।

[महायक ग्रन्थ—हिन्दी साहित्य—बीसवी शताब्दी:
नन्ददुलारे बाजपेयी; आधुनिक हिन्दी किवताकी मुख्य
प्रवृत्तियाँ: डाँ० नगेन्द्र; आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक
स्रोत: केसरीनारायण शुक्क; हिन्दी किवतामें युगान्तर:
सुधीन्द्र; छायावाद युग: डाँ० शम्भूनाथ सिंह।]—प्रे० शं०
राष्ट्रीय गीत—राष्ट्रीय आन्दोलनके स्त्रपातके साथ देशभक्तिपूर्ण गीतोका अधिक प्रचलन हुआ। हिन्दीमे 'मर्यादा',
'प्रमा' और 'प्रताप'के कारण ऐसे गीतोको अधिक प्रोत्साहन
मिला। राष्ट्रीयताके किसी अंगविशेषसे इनका सम्बन्ध
रहता है और उनमें जातीय जीवन और संस्कृतिका प्रति-

फलन होता है। अनीत-गौरवके प्रति मोहको अभिन्यक्त करनेवाले गोतोंके प्रथम प्रणेता भारतेन्द्र थे। वर्तमानकी करण स्थितिके भी गीत उन्होंने गाये थे। जयशंकर 'प्रसाद'ने अतीतके मोहको कान्यात्मक रमणीयता दी। जन्मभूमिके प्रति प्रेम, अरोप श्रद्धा और निष्ठाकी अभिन्यक्ति इस प्रकारके काव्यमे होती है और इसके सहज और सौन्दर्थको मुखरित करनेवाल प्राथमिक कवियोभे श्रीपर पाठक अग्रगण्य है। इसमे भविष्यकी आज्ञाकी वर्तमानके असन्तोपके कारण अधिक बल मिलता है। राजनीतिक मुक्तिके पश्चात् राष्ट्रीय गीतोंका स्वर बदल गया है। —रा० खे० पा० राष्ट्रीय साहित्य-राष्ट्रीय शब्द 'राष्ट्र'का विशेषण है और राष्ट्र अंग्रेजी शब्द 'नेशन'के पर्यायरूपमें हिन्दीमे प्रयुक्त होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय शब्दको 'नेशनिलिस्टिव,'के समीप रखा जा सकता है। विद्वमे राष्ट्रीय भावनाका साहित्यसे अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। यूनानके नगर-राज्योमें इनके बीज प्राप्त होते है। स्पार्टी, एथेन्स आदिकी सभ्यता-संस्कृति प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय भावनाकी सहायतासे एक जन-समूह संघटित होता है। जिमरनने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीयता और सरकार'मे लिखा है--"मेरी दृष्टिमें राष्ट्रीयताका प्रदन सामृहिक जीवन, सामृहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मानसे सम्बद्ध है"। विद्य-सभ्यताको विकासमे कुछ अवसर ऐ.ने आये है, जब राष्ट्रीय भावनाने जोर पकडा। यूरोपकी व्यावसाधिक क्रान्तिका राष्ट्रीय भावनाके विकासमे पर्याप्त सहयोग है। लगभग १५०० ई०के अनन्तर सभी देशोके साहित्यमें इस भावना-ने प्रमुखता प्राप्त की । प्रत्येक देश अपनी जातिगत विशेषताओको लेकर गाहित्य-सर्जनमे अग्रसर हुआ। ग्रीक और लैटिनकी प्रभुता कम हो गयी। इटलीमे मैकियावेली, टासो आदि, फ्रांसमे मॉते, रेसिन आदि, रपेनमे सर्वेण्टिस, इंग्लैण्डमें स्पेन्सर, शेक्सपीयर, ऑन्सन, बेबन, मिल्टन आदि तथा जर्मनीमं पलेमिग आदि लेखकोने राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन किया। इस समय राष्ट्रीय भावनाकी जो धारा प्रवाहित हुई, वह संकीर्ण नहीं है, इसी कारण उसे मानववाद (humanism) की संज्ञा दी गथी है। इस साहित्यमे देशके जन-जीवनको चित्रित किया गया है, किन्त उसका दृष्टिकोण व्यापक और उदार है। रूसी और फ्रांराकी राज्यक्रान्ति (१८वी शताब्दी)ने राष्ट्रीय भावनाको समस्त यूरोपमें प्रसारित कर दिया । इसी आधारपर अर्नेस्ट रेनानने लिखा है कि व्यक्तियोंकी एक साथ मिलकर रहनेकी अदम्य इच्छा ही राष्ट्रीयताकी जननी है। फ्रांसकी क्रान्तिने स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, समानता (liberty, fraternity, equality)का जो सन्देश दिया, वह साहित्यमे व्यापक रूपसे प्रतिफलित हुआ। रॉबिन्सनका कथन है कि नेपो-लियन यूरोपकी राष्ट्रीय भावनाका पिता है। अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवियोंमे वर्ष्सवर्थपर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। वर्ड सवर्थकी आलोचना करते हुए हरवर्ट रीडने इसकी चर्चा की है।

राष्ट्रीय साहित्य किसी एक ही अर्थका द्योतक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय साहित्सके अन्तर्गत वह समस्त साहित्य लिया जा सकता है, जो किसी देशकी जातीय विशेषताओं का परिचायक हो। इस प्रकारके साहित्यमे जातिका समस्त रागात्मक स्वरूप, उसके उत्थान-पतन आदिका विवरण आ सकता है। उसका होना एक प्रकारसे अनिवार्य है। 'महाभारत' और 'रामायण' भारतके राष्ट्रीय कान्य है। मिल्टनका 'पैराडाइज लॉस्ट' राष्ट्रीय कान्यके रूपमे प्रस्तुत किया जा सकता है। रूसके प्रसिद्ध लेखक वेलन्स्कीने एक बार रूसी लेखकोसे यह शिकायत की थी कि वे राष्ट्रीय साहित्यका सर्जन नहीं दारते । उनपर विदेशों-की प्रवरू छाया है। इसका आद्यय यही है कि लेखक अपने देशकी परम्पराका पालन नहीं करते। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत किसी देशकी लोक-कथाएँ, लोकगीत आदि भी आ जाते हैं। प्रत्येक समृद्ध साहित्यमे इस प्रकार-की सम्पत्ति होती है। कभी-कभी महाव वि इस विखरी हुई सामग्रीका उपयोग करते है। होमरने अपने महा-काव्योभें यूनानकी विखरी हुई परम्पराकी एक सूत्रमें बॉथ दिया है। विभिन्न देशोके राष्ट्रगान इसी साहित्यके अन्तर्गत आ जायँगे । विशेष अवसरोपर राष्ट्रगान गाया जाता है। इसमें पूर्वजोदो गौरवकी भावना रहती है। होरेसमें राष्ट्रीय भावना प्रवल है, कुरेड्स अथवा धर्मयुद्धके समय जो साहित्य लिखा गया, उसमे धार्मिक भावना अधिक है। भारतका 'जन-गण-मन' (रवीन्द्र), ग्रेट ब्रिटेनका 'गॉड सेवद किंग' (१७३९ ई०), ग्रीसका 'सन्स आव मीस, कम एराइज' (१८२१ ई०, बायरनका अनुवाट) आदि राष्ट्रगान है। राष्ट्रीय साहित्यके अन्तर्गत हिन्दीमें तुलसीके 'रामचरितमानस' और प्रेमचन्दके साहित्यको रखा जा सकता है। 'प्रसाद'के नाटक भी इसी कोटिमें रखे जा सकते है। रवीन्द्रनाथकी अधिकांश कृतियाँ राष्ट्रीय जन-जीवनसे अनुप्राित है। हिन्दीमे राष्ट्रीय साहित्यकी समुद्ध परम्परा अभीतक कई कारणोले सुदृढ न हो सकी। स्वतन्त्रताके पूर्व हिन्दी भारतकी एक बहुसंख्यक जनताकी भाषा होकर भी राजभाषा नहीं थी। बंगाली, मराठी; गुजराती आदि भाषाओं मे पर्याप्त साहित्य-सर्जन हुआ है, जो अपने प्रदेशका जन-जीवन चित्रित करता है।

परम्पराके प्रति आग्रहके रूपमे भी कभी कभी राष्ट्रीय साहित्यका न्यवहार होता है। अंग्रेजीमें इसके लिए कभी कभी 'क्लासिकल' शब्द प्रयोगमे लाया जाता है। टी० एस० इलियटने अपनी पुस्तक 'क्लासिक क्या है?' (what is a classic?)मं इसका विवेचन किया है। गिलबर्ट हिवेटने अपने ग्रन्थ 'द क्लासिकल ट्रेडिशन'में विस्तारसे क्लासिकल परम्परापर विचार किया है। हिन्दीमे राष्ट्रीय साहित्यके रूपमें क्लासिकल साहित्यको अपेक्षाकृत कम ही स्वीकार किया गया है।

राष्ट्रीय साहित्यका सर्वाधिक प्रयोग उस साहित्यके लिए किया जाता है, जिसमें देश-प्रेमकी भावना प्रवल रहती है। इस प्रकारकी रचनाएँ विशेष प्रकारकी राजनीतिक परिस्थितियोमें प्रस्तुत की जाती है। जब दो देश अथवा दो जातियाँ आपसमे संवर्षरत होती है। तब इस प्रकारकी साहित्य-सृष्टि होती है, यहाँतक कि युद्धगीत (nar song) भी लिखे जाते हैं। एक प्रनन्त्र देशमे जागरणके

प्रबल होने लगती है। साथ-साथ राष्टीय-भावना देशभक्तिसे अनुप्राणित साहित्यमें एक आवेश, उत्साह और साथ-ही-साथ वीरत्वका भाव प्रवल रहता है। इसमें अतीत-गौरवका गान किया जाता है। पूर्वजोंकी दुहाई दी जाती है। देशकी महिमाका अंकन होता है। किन्त साथ ही इस प्रकारके साहित्यमे साधारण घूणा और उपेक्षाया भाव भी परिलक्षित होता है, जो विजितकी विजेनाके प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इस प्रकारका साहित्य एक उद्देश्यकी पूर्नि करता है। मार्क्सवादी समीक्षक इसको गरिमामय तथा महत्त्वशाली कह सकते है, किन्त इस प्रकारकी रचनाओंमें स्माधित्व होना सम्भव नहीं। उसमे साहित्यकी उच्च अभिन्यंजना-शक्तिकी खोज करना भी उचित नहीं। एक भारी जनसमुदायमें चेतना लानेके लिए इनकी सृष्टि की जाती है। प्रथम कोटिका साहित्यकार भी देशभक्तिने अनुप्राणित होकर रचनाएँ कर सकता है, किन्तु उसकी ये रचनाएँ प्रायः साधारण कोटिकी ही होंगी । जारके विरुद्ध संघर्षरत लेनिनकी लाल सेनाके लिए इस प्रकारका पर्याप्त साहित्य रचा गया था, किन्तु वह गोकींके राष्ट्रीय साहित्यकी समता नहीं कर सकता। उसे दास्तोएविस्कीकी रचनाओका-सा गौरव नहीं मिल सकना । देशभक्तिके साहित्यमें जातीय भावनाको कभी-कभी प्रश्रय मिलता है। आयरलैण्ड जब स्वतन्त्रता चाहता था तो उस देशके साहित्यकारोने अपनेको एक अलग इकाई घोषित कर दिया था। भारतमे जातीय वैमनस्थके कारण इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। राष्टीय भावनाओपर आधारित देशभक्तिका साहित्य एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । मैथिली शरण ग्रप्तकी 'भारतभारती' राष्ट्रीय भावनाओकी प्रतिनिधि रचना है, किन्तु उसे उच्च काव्यकी संज्ञा नहीं दी जा सकती।

हिन्दी साहित्यमे राष्ट्रीय-भावनाको आरम्भते ही देखा जा सकता है। बहुत समयतक भारत एक अखण्ड देश रहा है, इसी कारण संस्कृत साहित्यमे आवेशपूर्ण राष्ट्रीय भावनाके दर्शन नहीं होते। विदेशी आक्रमणोके कारण साहित्यमे यह भावना प्रवल होती चली गयी। वीरगाथा-कालके साहित्यमे जो राष्टीय भावना मिलती है, उसमें जातीयताका भाव प्रमुख है। रासोकी परम्परामे वीरभावका प्राधान्य है। इस युगमे देशमक्तिका जो भाव है, वह कभी-कभी द्षित रूपमें भी प्रकट हुआ है। जब राजा आपसमें टकराते थे, तो उनके दरवारी कवि अपने-अपने राजाओको अभ्यर्थनामं लग जाते थे । वास्तवमें हिन्दीमें राष्टीय साहित्यकी गतिशील धारा भारतेन्द्र-युगसे आरम्भ होती हैं । इस समयमे राष्ट्रके धर्म-निरपेक्ष रूपका आधुनिक विभावन विकसित होने लगा था। भारतेन्द्की अधि-कांश रचनाओं को प्रेरणाये मूलमे इस भावनाको देखा जा सकता है। उस समयके निवन्धलेखक प्रताप-नारायण मिश्र, बालकृष्ण सङ् आदिके निबन्धोपर एक इष्टि टालनेसे यह सत्य प्रवट हो जाता है कि एक ओर यदि वे भमाजसुधारकी भावनासे प्रेरित थे, तो साथ ही वे विदेशी राजसत्ताके घोर विरोधी थे। राम बन्द्र इन्छने भारतेन्द्रका मुल्यांकन करते हुए लिखा है कि उनका सबसे ऊँचा स्वर

देशभक्तिका है (हि॰ सा॰ इ॰, पृ॰ ४००)। इस समयदो प्रमुख पत्र 'हरिश्चन्द्र मेगनीज'(आठ संख्याओं-के बाद जिसका नाम 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' हो गया)की फाइलें इस बातका प्रमाण है कि उस समयकी प्रसख भावना राष्ट्रीय है। कांग्रेस-आन्दोलनकी प्रगतिके साथ-साथ राष्ट्रीय भावना प्रवल होती गयी। द्विवेदी-युगका हिन्दी साहित्य इसने ओत-प्रोत है। इस समय देशमे जो विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन हए, उनका प्रत्यक्ष प्रभाव भारतकी गति-विधिपर दिखाई देता है। पहाभि सीतारामैयाने अपनी पस्तक 'कांग्रेसका इतिहास'मे कहा है कि कांग्रेस-आन्दोलनोंका प्रभाव लगभग सभी साहित्योपर पडा है। भारतीय राजनीतिमे गान्धीके प्रवेशसे राष्ट्रीय भावनामे किंचित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। राजनीतिमे अहिंसा और सत्यको प्रधानता मिली । हिन्दी साहित्यमे उत्साह, वीरता, शौर्य आदिके स्थानपर अपेक्षाकृत नैतिक और सांस्कृतिक रचनाएँ आने लगी। राष्ट्रीय भावना प्रत्यक्ष न होकर किसी सीमातक परोक्ष हो गयी। हरिकृष्ण 'प्रेमी'के नाटकोमे देशभक्तिका जो स्वर है, उसमे जातीय एकताका भी आग्रह है। इस भावनाका विकास होता गया और वह विश्य-भावनातक पहुँच गयी। छायावाद-युगकी कविताओं मे इसी विश्व-मानवताका स्वर है। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके अनन्तर देश-प्रेमकी भावनाने एक और करवट ली। इस नयी उिशामे पूर्वके प्रगतिशील विचार भी सम्मिलित है। मार्क्सवादी लेखकोकी रचनाओमे जो राष्ट्रीय मावनाएँ मिलती है, उनमे वर्ग-संघर्षकी भावना प्रमुख स्थान प्राप्त करती है। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें जो राष्ट्रीय भावना प्राप्त होती है, उसमे विविधता है। भारतके राजनीतिक जोयनमे जो परिवर्तन हुए है, उन्होंने साहित्यकी गति-विधि-को पर्याप्त प्रभावित किया है। आरम्भमें जो वीरताका भाव था, वह वीर-पूजाका रूप है। सन् १८५७ ई०की क्रान्तिके अनन्तर देश-प्रेमका स्वर प्रबल हुआ। देशके सभी विचारशील व्यक्तियोने एक स्वरसे विदेशियोका विरोध किया। गान्धीके आगमनने उस भावनाको संस्कृतिनिष्ठ और नैतिक बनाया। अन्य विचारधाराओंका भी इसपर प्रभाव पड़ा ।

[सहायक अन्य- आधुनिक साहित्य : नन्ददुलारे वाजपेयी; आधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य प्रवृत्तियाँ : डॉ॰ नगेन्द्र; आधुनिक काव्यधाराका सांस्कृतिक स्रोत: केसरीनारायण शुक्लः हिन्दी कवितामें युगान्तर : सुधीन्द्र । -प्रे॰ शं॰ रास-रास रसके बहुवचन, ब्रह्म, महारासमें गोपिकाओके बीच एक कृष्णके अनेक रूप, स्त्रियों और पुरुषोके परस्पर हाथ बॉधकर मण्डलाकार-नृत्य, कृष्ण-गोपियोके हस्तबद्ध वृत्ताकार नृत्य, प्राचीन पशुपालक नृत्य (चिल्लाहर)मे संगीतके योगसे विकसिन नाट्यरूप, रासलीलामे परिवेष्टिन चन्द्रकी चन्द्रिकापर मुग्ध होकर कृष्ण-गोपिकाओकी क्रीड़ा, रहस्यलीला और देश-भाषावी शब्द 'रास'के अर्थमे प्रयुक्त हुआ माना गया है। आज 'रास'से लोकनाट्यके एक रूपका बोध होता है, जिसमे राधा-कृष्ण-गोपियोकी मण्डलाकार हपमें गीति और नृत्यके साथ शृंगारिक कीड़ाएँ दिखायी जाती है। अतः यह रासकीकाके किए भी रूढ है।

नाट्यरूपकी दृष्टिसे यह रास संरक्षतके नाट्यरासक, गोष्टी, कान्य, श्रीगदित और दृष्टीश उपरूपकोंके अधिक निकट है, विशेषत्या नाट्यरासककी और रासकी प्रकृतिमें दूरतक साम्य है। इस दृष्टिकीणसे रासका संकेत भासके 'बाठचरित' नाटक, वाणके 'दृर्पचरित', भट्टनारायणके 'वेणीसंहार' तथा 'भागवत'के दशम स्कन्थ (१९से २३ अध्याय)के 'रास'में मिलता है। बारहवी शतीके मन्दिरोंमे भी इसके स्वरूपका पता लगता है।

रास रास, रासक या रासोके रूपमें काव्यका रूप भी रहा है। जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरिके निर्देशों, कवकसूरि-क्रत 'उपकेश-गच्छ पदावली' (हस्तलिखित) तथा 'खरतर-गच्छ पदावली'से ज्ञात होता है कि बारहवी शतीमे रास था रासकका प्रचार था और रासक-मन्थोका निर्माण भी प्रारम्भ हो गया था। ये रासक-ग्रन्थ सैकडोंकी संख्यामें मिलते है। 'पृथ्वीराजरासी', 'खमानरासी', 'बीसलदेवरासी' भी इसी परम्परामे है। ये रासक-काव्य-ग्रन्थ अपभ्रश और गुर्जर-मिश्रित राजस्थानी भाषामे लिखे गये है। इनका प्रारम्भ जैनाचार्योंके द्वारा ही हुआ है। उन्होने जैन धर्मके प्रचारके लिए रास-नाटकोंको आधार बनाया । रास-ग्रन्थोंसे स्पष्ट है कि आगे चलकर रासकी नृत्यगीतपूर्ण शृंगारप्रधान तथा नृत्यगीतहीन धर्मप्रधान, दो धाराएँ हो गयी। नृत्य और संगीतकी प्रमुखनाके कारण शृंगारप्रधान धारा लोकप्रसिद्ध और प्रचलित हो गयी। जैनेतेर प्रन्थोमे यही धारा मिलती है। सोलहुवीं शतीमें वल्लभाचार्य तथा हित हरिवंशने इसी शृंगारमूलक रासमे धर्मके अंगके साथ नृत्यकी पुनःस्थापना की तथा उसका नेता रासरसिकशिरोमणि कृष्णको बनाया। इस प्रकार काव्यका रूप फिर नाट्यरूप पा गया।

रासकी दूसरी नाट्यशैली भी प्राप्त है, जिसमे बोधिसत्व तथा जीमृतवाहनके आत्मोत्सर्गका संगीत तथा नृत्यके साथ अभिनय किया गया। हर्पका 'नागानन्द' रासकी इसी शैलीमें लिखा गया है। — वि० रा० रासक = इसमे एक अंक, पॉच पात्रोका का विधान, मुख, प्रतिमुख, निर्वहण सन्धियोंका प्रयोग होता है। कैशिकी, भारती वृत्तियोका निर्वाह होता है। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। विभिन्न प्रकारकी प्राक्वतोंका प्रयोग किया जाता है। सूत्रधारका अभाव रहता है। उदात्त भावोंका उत्तरोत्तर विकास किया जाता है। वीथ्यंग और कलाएँ रहती हैं। उदाहरण—'मेनकाहित'। इसके अतिरिक्त 'भाव-प्रकाश'में नान्दीके सुश्लिष्ट होनेका भी

निर्देश है। — नि० रा०

रासधारी — राजस्थानी नृत्यनाट्यकी विशेष शैली। इसमे

धार्मिक लोकनायकोंके चिरित्र कथानकोंके माध्यमसे

अभिनीत किये जाते है। बहुधा राम और कृष्ण रासधारीके

मुख्य विषय है। गीत और नृत्य कथाके विस्तारमे सहायक

होकर प्रमुख स्थान पाते है। रासधारीके गीत परम्परागत

है। साधारणसे मंच ५२, लोक जीवनके प्रचलित मनोविनोइके हेतु नाट्यमण्डलियाँ लोकनाट्यकी शैलीमें रासधारीका

आयोजन करती है। रासधारीमें ब्रजके रासका थोड़ा प्रमाव

लक्षित होता है। — स्था० प०

रासलीला - सोलहवी शतीमे श्री वल्लभाचार्य तथा हित हरिवंशादि महात्माओंने लोकशचलित जिस शृंगारप्रधान रासमे धर्मके साथ नृत्य, संगीतकी पुनःस्थापना की और उसका नेतृत्व रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णको दिया था, वही राधा तथा गोपियोके साथ कृष्णकी शृंगारपूर्ण कीड़ाओंसे युक्त होकर रासलीलाके नामसे अभिहित हुआ।

रास्ठीला लोकनाट्यका एक प्रमुख अंग है। भक्तिकालमें इसमें राधा-कृष्णकी प्रेम-क्रीडाओका प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकताकी प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार स्रदास तथा अष्टलापके किवयोके पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्यका रस तथा आनन्द, दोनों रहता था। लीलाओमें जनता धर्मोपदेश तथा मनोरंजन साथ-साथ पाती थी। इनके पात्रो—कृष्ण, राधा, गोपियों—के संवादोंमें गम्भीरताका अभाव और प्रेमालापका आधिक्य रहता था, कार्यकी न्यूनता और संवादोंका बाहुल्य होता था। इन लीलाओमें रंगमंच भी होता था, किन्तु वह स्थिर और साधारण कोटिका होता था। प्रायः रासलीला करनेवाले किसी मन्दिरमें अथवा किसी पवित्र स्थान या ऊँचे चवृतरेपर इसका निर्माण कर लेते थे। देखनेवालोकी संख्या अधिक होती थी। रास करनेवालोकी मण्डलियों भी होती थी, जो पूना, पंजाव और पूर्वी वंगालतक घूमा करती थी।

किन्तु उन्नीसवी शतिमे रीति-किविताके प्रभावसे रासलीलाओकी धामिकता, रस और संगीतको धक्का लगा। अतः
उनमें न तो रसका प्रवाह रहा और न संगीतको शास्त्रीयता।
उनमें केवल नृत्य, वाग्विलास, उक्तिवैच्चियको प्रधानता
हो गयी। उनका उद्देश्य केवल मनोरजन रह गया।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्रभी 'श्रीचन्द्रावली नाटिका'पर रासलीलाका प्रभाव है और आधुनिक कालमे वियोगी हरिकी 'छद्मयोगिनी नाटिका' भी रासलीलामे प्रभावित है। आज भी
उत्तरप्रदेशके पश्चिमी जिलो—फर्स्खाबाद, मैनपुरी, इटावा—
विशेषतया मथुरा-वृन्दावन, आगराकी रासलीलाएँ प्रसिद्ध
है। ये प्रायः कार्तिक-अगहन, चैत्र-वैशाख और सावनमे
हुआ करती है।

आज भी रासलीलाका रंगमंच साधारण होता है। वह प्रायः मन्दिरोकी मणिपर, ऊँचे चब्तरो या ऊँचे उठाये हुए तस्तोंपर बॉमों और कपड़ोने बनाया जाता है। उसमे एक परदा रहता है। पात्र परदेके पीछेसे आते रहते है। दृरयान्तरकी सूचना पात्रोंके चले जानेपर कोई निर्देशक देता है। रंगभूमिमे एक गायक और वादक बैठे होते है और सामने प्रेक्षकोके लिए ख़ुले आकाशका प्रेक्षागृह रहता है; कभी-कभी चॉदनी या चॅदोबा भी तान दिया जाता है। वास्तविक रासलीला प्रारम्भ होनेसे पूर्व आयी हुई जनताके मनोरंजन और आनेवाली जनताके प्रतीक्षार्थ रंगभूमिमें भजन-गान ढोलक, मॅजीरा, हारमोनियम तथा सितारके साथ होता रहता है। लीलारम्भसे कुछ पहले सूत्रधारकी भॉति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापकके रूपमे आता है, जो राघा-कृष्णकी दिखलाथी जानेवाली लीलाका निर्देश करता है और उमके पात्रो और लीला (कथा)की प्रशंसा कर प्रेक्षकोको उनकी ओर अकुष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैमा कार्य है। पश्चात् परदा उठता है और राधा-कृष्णकी युगल छविकी आरती की जाती है। आरतीके समय रंगभू मिके गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते है। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीलाका कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पात्रोंमे राधा-कृष्ण तथा गोपिकाए रहती है। बीच-बीचमे हास्यका प्रसंग भी रहता है। विद्रपतके रूपमे 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओके साथ प्रेम एवं हँसीकी बातें करके कृष्णके प्रति उनके अनुरागको व्यंजित कराता है; साथ-ईा-साथ दर्शकोका भी मनोरंजन करता है। जब कभी परदेके पीछे नेपथ्यमे अभिनेताओको वेदाविन्यास या रूपसज्जा करनेमे विलम्ब होता है तो उस अवका शके क्षणोके लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रोके प्रहसनकी योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीलासे सम्बन्धित नहीं होता। रास-कार्य सम्पन्न करनेवाले रासधारी कहलाते है। वे प्रायः बालक और युवा पुरुष होते है। ठीलामे हास्यका पुट और शृंगारका प्राधान्य रहता है। उसमे दृष्णका गोपियो, सिखयोके साथ अनुरागपूर्ण वृत्ताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियोके कार्यों एवं चेष्टाओका अनुकरण करते हैं और कभी गोपियाँ कृष्णकी रूपचेधादिका अनुकरण करती है और कभीराधा र व्यवेश, 🛒 🗈 ६५ वेटर वे रक्तुवरण करती है। यही लीला है। कभी कृष्ण गोपियोके हाथ-मे-हाथ बॉधकर नाचते है और कभा वे मण्डलाकार गोपियोसे घिरकर उनके बीचमे नाचते है। इन छीलाओकी कथावरत प्रायः राधा-कृष्णकी प्रेम-क्रीडाऍ होती है। जिनमे सूरदास आदि कृष्णभक्त-कवियोके भजन गाये जाते हैं। कार्यकी अधिकता नहीं, वरन् पदप्रधान संवाद, सौन्दर्य, नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, लय, रसकी अवाध धारा बहती है। रंगसंकेतोके लिए परेंके पीछे निर्देशक रहता है, जो अभिनेताओं के भूल जानेपर संवादों के वाक्य या भजन एव पदकी पंक्ति स्मरण करा देता है। छीलामें अभिनय कम, संलाप अधिक रचता है। कृष्ण धीरललित नायक होते है, जो समस्त कलाओके अवतार माने जाते है। राधा उनकी अनुरंजनकत्रीं शक्तिके रूपमे दिखायी जाती है। वही समस्त गुणो एवं कलाओकी खान नायिका बनती है। गोपियाँ, सखियाँ—सभी गाढयोवना और भावप्रगल्भा होती है। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित्ति, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते है।

लीलाके अन्तमे युगल छिनिकी पुनः आरती होती हैं। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती हें और आरतीके थालमें पैसे-रुपयेके रूपमें भेट चढ़ाती हैं। इस बार आरतीके बाद लीलाके विषयमें मंगलकामना की जाती है। यह एक प्रकारका भरतवाक्य है। पश्चात् लीलाका कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है। रासलीला हल्लीश, श्रीगदित, कान्य, गोष्ठी, नाट्यरासकका ही लोकाश्रय द्वारा परिवर्तित नाट्यरूप है। ——वि० रा० राखों काच्य-'रासों' नामसे अनिहित कृतियाँ संस्कृत तथा प्राकृतमें नहीं मिलती हैं, वे पहले-पहल अपभ्रंशमें और उसके अनन्तर हिन्दी और गुजरातीमें मिलती हैं। ये कृतियाँ दो प्रकार की है—एक तो गीत-नृत्यपरक है और

दूसरी छन्द वैविध्यपरक। गीत-नृत्यपरक धारा पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरातमे विद्येप रूपसे समृद्ध हुई और छन्द वैविध्यपरक धारा पृवीं राजस्थान तथा दोप हिन्दी प्रदेशमें अधिक विकसित हुई।

'रासो' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गयी है—'राज-स्वय', 'रहस्य', 'रसायण' आदि अनेक शब्दोसे 'रासो'का विकास हुआ वहा गया है। किन्तु रासो-साहित्यके इतिहास और भाषाशास्त्रके ध्वनि-विकासके नियमोंको देखते हुए इनमेंसे वोई भी प्राह्म नहीं है। 'रासो' नामका विकास 'रास' और 'रासक' से हुआ है। 'रासो' या 'रासक' एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है, जिसका सम्बन्ध कृष्णठीलासे भी रहा है। 'रास' और 'रासो' ग्रन्थ वारहवी शती विक्रमीसे मिलने लगते है। फलतः इस समयके नाट्यशास्त्र और छन्दशास्त्रके ग्रन्थोंसे उपर्युक्त दोनोकी उत्पत्तियर अच्छा प्रकाश पडता है।

तेरहवी राती विक्रमीके एक प्रसिद्ध नाट्याचार्य शारदातनयने अपने 'भावप्रकाश'में 'लास्य' नृत्यके चार भेद
वताये हैं—शृंखला, लता, पिण्डी तथा भेयक और 'लता'के
पुनः तीन भेद बताये हैं—दण्डरासक, मण्डलरासक तथा
नाट्यरासक। सम्भवतः इसी 'नाट्यरासक'से उस नामके
उपरूपककी उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि 'नाट्यरासक' नामक
उपरूपकके भेदम रागोके साथ उपर्युक्त शृखला, लता, पिण्डी
तथा भेयक नृत्योका प्रयोग होना भी बताया गया है।
गीत-नृत्यपरक रासकी उत्पत्ति इसी 'नाट्यरासक' नामक
उपरूपकते हुई ज्ञात होती है। इस धाराकी कृतियाँ विशेष
अवसरों या पर्वीपर नृत्यवाद्यादिके साथ गायी ही नहीं जाती
थीं, कभी-कभी अभिनीत भी होती थी। इस तथ्यके प्रमाण
पर्याप्त मात्रामे मिलते हैं और इन कृतियोमे प्रायः इनके
गाये जाने और नृत्यके साथ प्रस्तुत किये जानेका माहात्म्य
भी प्रन्थान्तमे कहा गया है।

इसी प्रकार, उस युगके अपभ्रंश-छन्दशास्त्रियोने 'रासक' और 'रासाबन्ध' काच्योके लक्षणोका निर्देश किया है। विरहांकने लिखा है कि जिस रचनामें अखिला, दोहा, यत्ता, रङ्का और ढोसा छन्द अधिकतासे पाये जाते है, वह 'रासक' कहलाता है। स्वयम्भूने लिखा है कि कान्योंमे 'रामाबन्ध' अपने घत्ता, छप्पय, पद्धडी तथा अन्य (विविध) रूपकोके कारण जनमनअभिराम होता है। 'रासा' नामक एक प्रसिद्ध छन्द भी प्रायः सभी छन्द-प्रन्थोमे लक्षित मिलता है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पहले रासाप्रधान छन्द वैविध्यपरक काव्ययनथींको 'रासाबन्ध' और 'रासक' कहा गया और बादमें सभी छन्द वैविध्यपरक काव्य 'रामक' कहलाने लगे। यह 'रासक' गीत, नृत्य, अभिनय द्वारा प्रस्तुत न होकर, भाषित मात्र ही होता था। इस परम्पराकी सबसे प्रमुख प्राचीन रचना 'सन्देशरासक'में एक स्थानपर नगर-वर्णनके प्रसंगमें जो "कह बहुरू विणिवद्ध उरासउ भासि-यउ" कहा गया है, वह इसी परम्पराके बहु (विविध) रूप निबद्ध (रूपक-छंद) 'रासक'के भाषित होनेके सम्बन्धमें है ।

दोनों परम्पराओंके इस भेदपर ध्यान न देनेके कारण प्रायः समालोचकोंने भूलें की हैं। जिस प्रकार 'रासो'की व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें तरह-तरहकी कल्पनाएँ की गयी हैं, उसी प्रकार 'रासो'की विषयवस्तु आदिके सम्बन्धमें भी। किन्तु उपर्युक्त दोनों परम्पराओंके परिशीठनसे ज्ञात होगा कि रासो काव्योंमे विषयवस्तु, रस, शैठी आदिका बोई प्रतियम्ध नहीं है। उनके विषय धार्मिक भी हैं, ठोकिक भी; जहाँ एक ओर शान्त रस ही एकमात्र रस है, वहाँ दूसरी ओर वीर और शंगार भी अंगी रस है। रचनाएँ एक ओर कथानकका विकास करती है, तो दूसरी ओर कोई कथानक उनमे हैं ही नहीं, केवठ विषय-निरूपण है। कथानक भी कभी धार्मिक है, पौराणिक है, ऐतिहासिक है, तो कभी निरा किपत है। कोई रचनाएँ १००-१२५ पंक्तिशेंनी हैं, तो कोई ५०,००० पंक्तियोंकी! नीचे दोनों परम्पराओंकी प्रमुख रचनाओंका जो संक्षिप्त उहेख किया जा रहा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

गीत-नत्यपरक रासो-परम्परा-(१) 'उपदेशरसायन' (११३४ ई०)-इसके रचियता जिनदत्त सूरि है और यह जैन धर्मोपदेशके लिए लिखी गथी है। इसमे कोई कथा नहीं है, कुल छन्दसंख्या ३२ है। (२) 'भरतेरवर बाहुबली-रास' (११८४ ई०) - इसके रचयिता ज्ञालिभद्र सरि है। इसमें ऋषभदेवके दो पुत्रों—भरतेश्वर और बाहुबलीके बीच राजसत्ताके लिए हुए संघर्षकी कथा है। कुल छन्दसंख्या २०३ है। (३) 'बुद्धिरास' (११८४ ई०) - इसके रचयिता भी उपर्युक्त शालिभद्र सूरि है। इसका विषय उपर्युक्त 'उपदेशरसायन'की भॉति जैन धर्मोपदेश है। रचना ६३ छन्दोमें समाप्त हुई है। (४) 'जीवदयारास' (१२०० ई०)-इसके रचियता आसगु है। इसका विषय दयाधर्मका उपदेश है। (५) 'चन्दनवालारास' (१२०० ई०के लगभग)—इसके भी रचयिता उपर्युक्त आसगु है। इसमे चन्दनगलाकी धार्मिक कथा कही गयी हैं। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (६) 'जम्बूस्वामीरास' (१२०९ ई०)—यह रचना धर्मसूरि की है। इसमें जैन महात्मा जम्बस्वामीका चरित तथा गण वर्णित है। (७) 'रेवन्तगिरिरासु' (१२३१ ई०के लगभग)-यह कृति विजयसेन सूरि की है। इसमें गिरनारके जैन मन्दिरोके जीणोंद्धारकी कथा है। कुल छन्दसंख्या ७२ है। (८) 'नेमिजिणन्दरासी' अथवा 'आव्रास' (१२३२ ई०)— यह पाल्हणकी कृति है। इसमे नेमिनाथकी कथा कही गयी है। कुल छन्दसंख्या ५५ है। (९) 'गयसकुमालरास' (१२४३ ई०के लगभग)-यह देव्हणिकी कृति है। इसमे गयसुक्रमारका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ३४ है। (१०) 'सप्तक्षेत्रिरासु' (१२७० ई०) — इसका रचयिता अज्ञात है। इसमें जैन सप्तक्षेत्रों—जिन-मन्दिर, जिन-प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाकी उपासना विणेत है। कुल छन्दसंख्या ११९ है। (११) 'पेथडरास' (१३०३ ई०के लगभग)—इसके रचयिता मण्डलिक है। इसमे संघपति पेथडका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ६५ है। (१३) 'कच्छ्रिरास' (१३०६ ई०)—इसके रचयिता-का नाम अज्ञात है। इसमें एक जैन तीर्थ कच्छलि मामका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ३५ है। (१४) 'समरारास' (१३१४ ई०के बाद)—इसके रचयिता अम्बदेव सूरि है। इसमें संघपति समराका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ११० है। (१५) 'बीसलदेवरास' (१३५० ई०के लगभग)---

इसके रचियता नरपित नाव्ह है। इसमे अजमेरके चौहान राजा वीसल्टेवकी स्त्रीसे सठकर उडीसा जानेकी कथा है। रचना कुल १२८ छन्दोंमें समाप्त हुई है।

उपर्युक्त रचनाओमंसे अन्तिम पश्चिमी राजस्थानीमें हैं और शेष अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्य भाषा हिन्दीके विभिन्न मात्राओंमें मिश्रणकी शैलियोमें है। अन्तिम-को छोड़कर सभी धार्मिक उपदेशों और धार्मिक द्याओं अथवा चिरतीसे सम्बन्धित है। इस परम्पराके वादकी रचनाएँ भी जैन धर्मकी ही है और सभी दृष्टियोसे पूर्वेलिखित प्रथम चौदह रचनाओंकी परम्परामे है, इसलिए उनका उछेख अनावश्यक होगा। ये रचनाएँ संख्यामें कई सौ बतायी जाती है, इसलिए इनका संक्षिप्त उछेख भी प्रस्तुत लेखमें सम्भव न होगा। इन धार्मिक रचनाओंमें काब्यके तस्व भी बहुत कम मात्रामें मिळने है, इसलिए साहित्यके इतिहासमें इनका महत्त्व काव्यक्रपको ही समझनेमें अधिक है।

छन्द वैविध्यपरक रासो-धारा—(१) 'मुंजरास' (११४० ई० पूर्व) -- यह रचना अभीतक प्राप्त नहीं हुई है। केवल इसके कुछ छन्द हमचन्द्रके प्रसिद्ध प्राकृत व्याकरण (११४० ई०) तथा मेरुतुगके 'प्रवन्धचिन्तामणि'-(१३०४ ई०) मे उदधृत है। रचियता अज्ञात है। 'प्रवन्ध-चिन्ता-मणि'में मुंज और मृणालवतीके प्रेमकी कथा भी दी गयी है, जिसमे मृणालवतीके विश्वासघातके कारण मंजका प्राणम्त होता है। उद्धृत छन्द विविध प्रकारके है, जिससे यह अनु-मान सहजमें किया जा सकता है कि यह इसी परपराकी रचना है। (२) 'सन्देशरासक' (११४३ ई०के लगभग)-इसके रचयिता अब्दल रहमान है। इसमे एक प्रोषिपतिका विरहिणीकी लिलत वाथा है। इसमे कुल २२ प्रकारके छन्दोका प्रयोग हुआ है, जिनमे रासा एक प्रमुख छन्द है। कान्यकी दृष्टिसे यह रचना उत्कृष्ट है। कुळ छन्दसंख्या २२३ है। (३) 'पृथ्वीराजरासी' (१३५० ई०के लगभग)— यह रचना चन्दबरदायीकी कही जाती है। इसमें पृथ्वीराज-का चरित वर्णित है। इस रचनाके कई पाठ है, जिनमे छन्दसंख्या ४२२के लगभगसे लेकर १०,०००के लगगग-तक है। इन सभीमं चन्द पृथ्वीराजके राजकविके रूपमे आता है, किन्त इन सभी पाठोमे अनैतिहासिक तत्त्व विद्य-मान है, इसलिए यह रचना इनमेसे किसी भी रूपमें पृथ्वी-राजकी समसामयिक नहीं मानी जा सकती। काव्यकी दृष्टिमे यह रचना निस्सन्देह उत्कृष्ट है। (४) 'हम्मीररासो' (चौदहवी शती ई०) - इस नामकी कोई रचना अभीतक मिली नहीं है, किन्तु 'प्राकृतपैगलम्'मे अनेक छन्द विविध वृत्तोमें हम्मीरके सम्बन्धके उद्धृत है, इसलिए इस बातकी यथेष्ट सम्भावना है कि कोई 'हम्मीररासो' भी लिखा गया था और उसीसे ये छन्द लिये गये है। इनका रचियता अज्ञात है। ये छन्द वीर रसके है और काव्यकी दृष्टिसे उत्कृष्ट है। (५) 'बुद्धिरासो' (चौदहवी शती ई०)—इसका रचियता जल्ह है। इसका विषय एक राजकुमार तथा जलियतरंगिनी नामक नायिकाकी एक कलिपत प्रेमकथा है। इसमे भी छन्द वैविध्य प्रकट है। कुल छन्दसंख्या १४० है। जल्हके दो छन्द एक प्राचीन जैन प्रबन्ध-संग्रहमें. जिसकी हस्तिलिखित प्रति सं० १५२८ की है, 'जयचन्द-प्रबन्ध'के अन्तर्गत मिलते है। असम्भव नहीं कि जिस प्रकार चन्द्रका 'पृथ्वीराजरासी' है, उसी प्रवार जल्हका कोई 'जयचन्द्ररासो' भी रहा हो। (६) 'परमालरासो' (सोलहवी शती ई०) —यह कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। यह वस्तृतः 'पृथ्वीराजरासो'के महोवाखण्डका ही, जो स्वतः एक प्रक्षिप्त अंश है, और भी प्रक्षिप्त रूपान्तर है। (७) 'राउ जैतसीरो-रासी' (१५४३ ई०के लगभग)—इसका रचयिता अज्ञात है। इसमे बीकानेरके महाराजा राव जैतसीके युद्धका वर्णन है। कुल छन्दसंख्या ९० है। (८) 'विजयपालरासो' (१५४३ ई०के लगभग) - इसके रचियता नल्हसिंह भाट है। इसमें विजयगढके यदवंशी राजा विजयपालकी दिग्व-जयका वर्णन है। पूरी रचना नहीं मिली है। (९) 'राम-रासो' (१६१८ ई०)—इसके रचयिता माधवदास चारण है। विषय रामकथा है। कुल छन्दसंख्या १६०० के लगभग है। (१०) 'राणारासो' (१६१८ ई०के पूर्व) — इसके रचिता दयाल कवि है। इसमें सीसोदिया वंशके राजाओका चरित वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ८७५ है। (११) 'रतनरासो' (१६२३ ई०के लगभग) - इसके रचियता कुम्भकर्ण है। इसमें रतलामके महाराजा रतनसिहका चरित वर्णित है। (१२) 'कायमरासो' (१६३४-१६५६ ई०) - इसके रचिता न्यामत खॉ 'जान' है। इसमें कायमखानी वंशके नवाबोका चरित वणित है। (१३) 'शञ्जसालरासो' (१६५३ ई०के लगभग)-इसके रचयिता राव ड्रॅगरसी है। इसमे बूँदीके राव शत्रसालका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५००के लगभग है। (१४) 'मॉकणरासो' (१७०० ई०)— यह रचना कीतिसन्दर की है। इसमें मॉकण (मत्कण= खटमल)का चरित्र विभित्त है। यह रचना अपने विभय-वैशिष्ट चके कारण महत्त्व रखती है। इसमे कुछ ३९ छन्द है। (१५) 'सगतसिहरासी' (१६९८ ई०के लगभग)-यह रचना गिरिधर चारण की है। इसमे राणाप्रतापके भाई शक्ति सिहका चरित्र वर्णित है। कुल छन्दसंख्या ९४३ है। (१६) 'हम्मीररासो' (१७२८ ई०) — यह रचना जोधराध की है। इसमे रणथम्भौरके हम्मीरका चरित्र वर्णित है। इसकी कल छन्द्रसंख्या १००० के लगभग है। (१७) 'ख़ुमाण-रासी' (विक्रमी १८वी शती) : इसके रचयिना दलपति विजय है। इसमें ख़ुमाणके वंशका इतिहास है। यह ख़ुमाण (८१३-८३३ ई०के लगभग)के समयको रचना मानी जाती है, किन्त इसमे संग्राम सिंह हितीय (१७१०-१७३३ ई०)-तकका चरित वर्णित है। इसकी छन्दसंख्या ५,००० के लगभग है।

इस परम्परामे भी बहुत पीछेतक रचनाएँ होती रही, किन्तु उनमे धाराका निरन्तर हास परिलक्षित होता है, इसिलए उनका उल्लेख अनावश्यक होगा। भाषाकी दृष्टिसे इस परंपराकी प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ रचनाएँ अपभ्रंश तथा अपभ्रंश और आधुनिक आर्थभाषा हिन्दीकी मिश्र शैलियोमे है, शेष सभी रचनाएँ आधुनिक आर्थभाषा हिन्दीने मे है। इस परम्परामे जहाँ एक ओर ऐतिहातिक महागुर्पेने चिरित्र है, दूसरी ओर रामका अवतारी चरित्र भी दृणित हुआ है और तीसरी ओर खटमल भी इस थाराकी एक

रचनाका विषय दन गया है। छन्दवै विध्य ही इस परम्परा-की एक अनिवार्य विशेषता है और इस परंपराकी किसी भी रचनाका प्रणयन गीत, नृत्य, अभिनयकी दृष्टिसे नहीं हुआ है। काव्यके तत्त्व इस परंपराकी रचनाओम प्रायः प्रचुरता-के साथ मिलते हैं, अतः साहित्यकी दृष्टिसे यह परम्परा निस्मन्देह अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व की है। -- गा० प्र० गु० **रिपोर्ताज -**रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषाका ज्ञब्द है और अंग्रेजी शब्द रिपोर्टसे इसका गहरा सम्बन्ध है। रिपोर्ट किसी घटनाके यथातथ्य साध्य वर्णनको कहते है। रिपोर्ट सामा-न्यतः समाचारपत्रके लिए लिखी जाती है और उसमे साहित्यिकना नहीं होती। रिपोर्टके कलात्मक और साहि-त्यिक रूपको ही रिपोर्ताज कहते है। वस्तगत तथ्यको रेखा-चित्रकी शैलीमे प्रभावीत्पादक ढंगसे अंकित करनेमे ही रिपोर्ताजकी सफलता है। ऑखो-देखी और कानो-सनी घट-नाओपर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है, कल्पनाके आधारपर नहीं। लेकिन तथ्योंके वर्णनमात्रसे रिपोर्ताज नहीं बना करता, रिपोर्ट भंके ही वन सके । घटना-प्रधान होनेके साथ ही रिपोर्ताजको कथातत्त्वसे भी युक्त होना चाहिये। रिपो-र्ताज-लेखकको पत्रकार तथा कलाकारकी दोहरी जिम्मेवारी निभानी पडती है। साथ ही उसके लिए आवश्यक होता है कि वह जनसाधारणके जीवनकी सन्धी और सही जानकारी रखे और उत्सवो, मेलो, बाढों, अकालों, युद्धो और महा-मारियों जैसे सख-दःखके क्षणोंमें जनताको निकटसे देखे। तभी वह अखबारी रिपोर्टर और साहित्यिक रचनाकारकी हैसियतसे जन-जीवनका प्रभावोत्पादक व्योरा लिख सकेगा।

डितीय महायुद्धमें यह साहित्यक गयरूप पाश्चात्य साहित्य और विशेषतः रूसी साहित्यमे बहुत लोकप्रिय और विकसित हुआ। एलिया एरनवर्गको रिपोर्ताज लेखकके रूपमें बड़ी ख्याति मिली। हिन्दीमे रिपोर्ताज न्साहित्य मूलतः विदेशी साहित्यके प्रभावसे आया, पर हिन्दीमें रिपोर्ताजको शैली मँज नहीं सकी है। वंगालके अकाल और जन-आन्दोलन आदि विपयोंको लेकर कुछ रिपोर्ताज लिखे अवस्य गये है, पर हिन्दीमे रिपोर्ताजको एक सुनिश्चित साहित्य-रूपकी प्रतिष्ठा अभी नहीं मिल सकी है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र ग्रुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय आदिने हिन्दीमे रिपोर्ताज लिखे है।

रिक्यू — हिन्दीमें इसे पुस्तक-समीक्षा कहते है। कुछ विद्वानोने इसे पर्यालोचना नाम भी दिया है। संसारमें लगभग प्रत्येक देशमें पुस्तक-समीक्षाका प्रचार प्रेस और समाचार-पत्रोके कारण हुआ। प्रेसके प्रचलित हो जानेके फलस्वरूप साहित्य इतनी अधिक मात्रामें प्रकाशित होने लगा है कि सामान्यतः पाठकोंको उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करना कठिन हो गया। साथ ही, जीवन इतना व्यस्त और संघर्षमय हो गया है कि प्रत्येक पाठकको प्रत्येक पुस्तकका अध्ययन करना और अपना निर्णय देना कठिन है। यूरोपमें सत्रहवी शताब्दीके लगभग मध्यसे और हिन्दीमे उन्नीसवी शताब्दी उसराईसे पुस्तक-समीक्षाका सूत्रपात होता है। प्रारम्भमे तो पुस्तक-परिचय ही अधिक रहता था। धीरे-धीरे पत्र-पत्रिकाओंके सम्पादक पाठकोंकी साहित्याभिरुचिके नियन्ता वने और प्राचीन तथा नवीन

साहित्यकी प्राचीन कालमे तथा समयविशेषमें प्रचलित मानदण्डोंके आधारपर परीक्षा होने लगी। हिन्दीमे अधिक-तर नवीन पुस्तकोका परीक्षण ही होना था। यूरोपमें तो 'मैगजीन'से भिन्न 'रिन्यू' प्रकाशित हुए, जिनमे केवल पुस्तकपरिचय और समीक्षा ही रहती थी। पुस्तकसमीक्षाके प्रारम्भिक कालमें न्यक्तिगत आक्षेप, दलीय वैमनस्य आदि बाते भी रहती थी, किन्तु शीघ्र ही उसमे शिष्टताका समा-वेश हुआ।

पुस्तकसमीक्षाका न्यावहारिक मूल्य तो है, किन्तु वह आलोचनासे भिन्न वस्तु है। यदि थोडी देरके लिए यह प्रश्न हटा दिया जाय कि समीक्षक कहाँतक अपनेको तटस्थ रख सकता है, तो केवल यही शेष रह जाता है कि प्रत्येक समीक्षामें पुस्तकका संक्षिप्त परिचय तथा केवल शैलीके थोड़ेसे संकेतमात्रसे आलोचना होनेका परिचय मिल जाय। वास्तवमे आलोचना और पुस्तक-समीक्षामे तास्विक भेद है।

पुस्तकसमीक्षामे किसी अन्थकारकी केवल एक ही रचना-का, वह भी ताजी प्रकाशिनका, उल्लेख रहता है। किन्त वैसे एक ही विषयसे सम्बन्धित कई जिल्दोंका उल्लेख रह सकता है। पुस्तकके बाजारमें आते ही या उससे पहले ही उसकी समीक्षा पत्रोंमें प्रकाशित हो जानी है और वह एक समान बौद्धिक धरातलपर स्थित पाठकोंके लिए होती है। यह समीक्षा जब प्रकाशित होती है तो विज्ञापनकी दृष्टिसे प्रकाशित होती है, न कि पाठकोकी मॉगके फलस्वरूप। समीक्षक पुस्तकके मुल्य, जिल्द, टाइप आदिका भी उल्लेख करता है। पुस्तकसमीक्षामे लेखकके अध्ययन-क्षेत्र या स्वयं लेखकके सम्बन्धमें कुछ नहीं रहता। वह केवल पाठकोंको विषयसे परिचित करा देती है। विभिन्न विषयोसे सम्बन्धित पस्तकोकी समीक्षाकी भाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। साथ ही एक ही पत्रमे एक-से पाठकोंके लिए लिखते रहनेसे समीक्षक केवल अपनी रुचिको ही रुचि समझने लगता है और स्वेच्छानुसार किसीकी प्रशंसा या निन्दा करने लगता है। समीक्षक पुस्तको और पाठकोके बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और पुस्तके छॉटनेमे पाठककी सहायता करता है। आधुनिक समयमे बहुतसे पाठक तो, बिना पुस्तक पढ़े ही, समीक्षाके आधारपर वाद-विवाद करने लगते है। समीक्षक जान-बूझकर जनताको वही चीज देता है, जो जनता चाहती है-सूचना और मनबहलाव। कोई-कोई समीक्षा तो बड़ी रोचक और आकर्षक होती है। उत्तम कोटिकी समीक्षामें पुरतकका संक्षेप बहुत कम दिया जाता है। समीक्षक उद्धरण भी दे सकता है, किन्तु उनकी सीमा निर्धारित रहती है। अनेक समीक्षाओमे केवल इधर-उधरकी बातें रहती है और समीक्षक व्यापारमे व्यर्थकी टॉग अडाता है।

आलोचक तो बहुइ और गम्भीर होता है। समीक्षकमें दायित्व और गम्भीरताके स्थानपर जल्दबाजी रहती है। ऐसे समीक्षकोंकी लेखकों और किवयोंने भर्त्सना की है। आधुनिक समयमें तो समीक्षकोंकी संख्या बहुत बढ गयी है और एक ही कृतिकी कई तरहकी समीक्षाएँ निकलती हैं। मतिविभिन्नताके कारण कभी-कभी तो पाठक बेचारा चक्करमें पड जाता है। इससे पुस्तकसमीक्षाका उद्देश्य ही विफल होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। उसका कोई आलोचनात्मक मानदण्ड नहीं रह गया। वास्तवमें पुस्तकसमीक्षक यदि सचाई वरतें तो पाठकोंके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते है। कुशल समीक्षक लेखक और पाठकके बीच मध्यस्थ है। उसे अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिये, विशेषतः आधुनिक वैश्वानिक और व्यस्त युगमें जब कि उसकी मध्यस्थता अपरिहार्य-सी हो गयी है, वह लेखकके लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

पस्तकसमीक्षा कभी-कभी आलोचनाके निकट भी आ जाती है और यह उस समय जब कि समीक्षक निर्णय देने लगता है। हिन्दीमे उन्नीसवी शताब्दीके उत्तरार्द्धमे प्रार-म्भिक आलोचना पुस्तकसमीक्षा द्वारा व्यक्त हुई और वह अनेक आलोचकोंके लिए शिक्षास्थल सिद्ध हुई। पश्चिममें भी ऐसा हुआ। इतनेपर भी पुस्तकसमीक्षा और आलोचना भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। पुस्तकसमीक्षाकी उपर्यक्त विरोषताओ-में आलोचनाके गुणोंका प्रायः हास देखा जाता है। आलोचक तो अपना सम्पर्क स्थापित कर क्रतिका मुल्यांकन करता है और समीक्षवकी भाँति पुस्तकको खण्ड-खण्ड रूपमे न देखकर समग्र रूपमें देखता है। आलोचक पत्रकी बाधाओं और मीमाओंसे मुक्त रहता है। पुस्तक-आलोचक विभिन्न ग्रन्थों और लेखकोंकी तुलना कर सकता है। किन्तु यह कार्य पुस्तकसमीक्षककी परिधिसे बाहर है। आलोचक कलात्मक और मौन्दर्यशास्त्र-सम्मन्धी मुख्यांकन करता रीति-इसका शब्दार्थ है प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पन्थ, शैली आदि। रीतिका अर्थ विशिष्ट कार्य-पद्धति होता है। संस्कृत साहित्यमे रीतिको काव्यकी आत्माके रूपमे स्वीकार किया गया है। यह रीति 'विशिष्ट पदरचना' मानी गयी है। यह विशिष्टत। गुणोंपर आधारित है, जैसा कि रीति-सिद्धान्तके प्रवर्तक वामनं (९ श० ई० मध्य)का मत है। इस प्रकार रीति गुणोंसे सम्बन्धित हैं। रीतिका दूसरा सम्बन्ध पदरचनासे है, जो कि समासपर निर्भर है। अतः कुछ आचार्योंने समासहीनता, स्वल्पसमासता, दीर्घ-समासताके रूपमे भी रीतिको देखा है। भरत(४ श० ई०, 'नाट्यशास्त्र'ने नाट्यके प्रयोगसे विभिन्न प्रदेशोके अनुसार जिस प्रकार आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, औड़मागधी आदि प्रवृत्तियोंका वर्णन किया है (ना० ज्ञा०, १४: ३६-४९), उसी प्रकार भामह और दण्डी(७-८ श्र० ई०: 'काव्यालंकार' तथा 'काव्यादर्श')ने रीतिका भी देशोसे सम्बन्धित रूपसे वर्गन किया है। कुन्तक (१०-११ श्र० ई०, 'व॰ जी॰')ने रीतिको मार्ग कहा है, जिसका आधार देश नही, वरन् कविस्वभाव है। विश्वनाथ(१४ श० ई० पूर्वा०, 'सा० द०')ने इसे रसका उपकार करनेवाली (उपकर्त्रा रसा-दीनाम्) कहकर व्यक्त किया है। उन्होंने इसे शैलीके रूपमें ग्रहण किया है, जिसका आधार वर्णसंघटन, गुण और समास है। रीतिके भेद दो, तीन और चारतक माने गये है। भामह और दण्डीने दो भेद—गौड़ी और वैदर्भी माने है। वामनने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तथा रुद्रटने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली और लाटी भेद किये हैं। कुन्तकने रीतिको मार्गके रूपमे ग्रहण किया है और उसका सम्बन्ध
गुण और कविस्वभावते स्थापित किया है। उनके द्वारा
किये गये भेद है—सुकुमार, विचिन्न और मध्यम। इस
प्रकार रीतिकी विवेचना समास, गुण, अलंकार और वैचिन्य
आदिके आधारपर की गयी है। आनन्दवर्धन (९ श० ई०
उत्त०) और मम्मट (१२ श० ई० पृर्वा०) आदिने रीतिके
नियामक तत्त्वोंमे वक्ता, वाच्य, विषय और रसकी अनुकृलता या औचित्यको स्वीकार किया है ('ध्वन्या०' तथा
'का० प्र०')। इस प्रकार रीति शब्द शैली या मार्गके
विशिष्ट रूपमें गहीत है।

्रीति शब्दका हिन्दी साहित्यमे विशेष अर्थमे प्रयोग हुआ है। यहाँपर रीतिका तात्पर्य, लक्षण देते हुए या लक्षणको ध्यानमे रखकर लिखे गये कान्यसे होता है। इस प्रकार रीति-कान्य (दे०) वह कान्य है, जो लक्षणके आधारपर या उसको ध्यानमं रखकर रचा जाता है। अलंकार, रस, ध्वनि आदिको लेकर इनके उदाहरणरूपमे रचित हिन्दी काव्य इस साहित्यके अन्तर्गत है। शास्त्रीय परम्परामें चिन्तामणिने 'कविकुलक स्वतरु' (१६५० ई०) मे रीतिको काव्यका स्वभाव माना है, जो विद्यानाथ(१३-१४ श॰ ई॰)के 'प्रतापरुद्रयशोभूपण'के आधारपर हें और वृत्ति-से भिन्न है। कुलपतिने रीतिकी पर्यायवृत्तियोपर 'रसरहस्य'-में विचार किया है (१६७० ई०)। देवने अपने 'कान्य-रसायन'मे (१७०३ ई०) रीतिको कान्यद्वार माना है, जिसका भाव माध्यमसे हैं। देवने रीति और गुणका एक रूपमे वर्णन किया है, यह परम्परासे अलग वात है। गुण रीतिके आधार माने गये है, पर उन्हें अभिन्न किसीने नहीं माना है। वास्तवमें रीति अधिक व्यापक है। दासने 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में मम्मटके आधारपर रीतियोके म्थानपर केवल वृत्तियोका वर्णन किया है। जगत सिंहने 'साहित्यस्थानिधि'(१८२८ ई०)मे रुद्रटके आधारपर रीति-विभाजन किया है, केवल समासोकी संख्यामे अन्तर है। आधनिक विवेचकोमे कन्हेयालाल पोदार, अर्जुनदास केडिया तथा रामदिहन मिश्र है, जिनका आधार संस्कृत-रीतिशास्त्र है। नवीन दृष्टिके आलोचकोने इसे वर्णनकी शैलीके रूपमे स्वीकार किया है (और भी दे॰ 'गुण')।

9. वेद्भीं-रीति निवर्भ आदि देशोमे प्रचिलत रीति वेदभीं मानी गयी है। इसके सम्बन्धकी धारणाओं में कुछ विकास देखनेको मिलता है। यह रीतिकान्यकी सर्वोत्तम रीति मानी गयी है। दण्डी इलेप, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थन्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि, इन दस गुणोसे युक्त वेदभी रीति मानते है। वामनने भी इसे समय गुणोंसे युक्त माना है, परन्तु इसके साथ ही वे इसे वीणाके स्वरोंके समान मधुर और विलक्षण कान्तिसे युक्त मानते है। उनका कथन है "अरपटा दोषमात्राभिः समयगुणगुम्किता। विषंचीस्वरसौमाया वेदभी रीतिरिज्यते" ('का० सू० वृ०', १: २: ११ वृ०)। इस प्रकार वेदभीं रीतिकी विलक्षण आभा है। रुद्रट और राजरोखर वेदभींको समासरहित शैलीके रूपमे प्रहण करते है। रुद्रटके मतानुसार यह सुकुमार और कोमल गुणोंने गुक्त होनेके कारण श्वंगार, करुण, प्रेयस् आदि रसोंक लिए

उपयुक्त है। राजशेखर इसे स्थानानुप्रास और योगवृत्तिसे युक्त मानते है। कुन्तकने वैदर्भाको सुकुमार मार्गके रूपमे व्यक्त किया है। 'साहित्यदर्पण'मे इसका पूर्ण स्वरूप इस प्रकार रपष्ट किया गया है—''माधुर्यव्यक्तकेवेंणें: रचना लिलतात्मिका। अवृत्तिरल्पवृत्तिवां वैदर्भी रीतिरिष्यते'' (९: २-३), अर्थात् माधुर्य गुणकी व्यंजना करनेवाले वर्णो हारा वृत्तिहीन (समासरहित) या अल्पवृत्तिवाली रचना वैदर्भी है।

२. गौड़ी रीति—गौडी ओजपूर्ण शैली है। दण्डीके मतानुसार दसों गुणोंका समावेश इसमे नहीं होता है। वामनने इसे ओजकान्तिमयी शैलीके रूपमे ग्रहण किया है, जिसमें उग्र पदो और समासकी बहुळता होती है। मध्रता और सुकुमारताका इसमे अभाव रहता है (का० सू० वृ०, १-: २: १२) । रुद्ररने इसे दीर्घ समासवाली रीति माना है, जो कि रौद्र, भयानक, वीर आदि उग्र रसोंकी अभिन्यं-जनाके लिए उपयुक्त होनी है। राजशेखरके मतानुसार दीर्घ समासवाली, सानुपास तथा योगवृत्तिसम्पन्न गौडी रीति है। कुन्तकके विचित्र मार्गके भीतर इस रीतिका समा-वेश हो सकता है, परन्तु उनकी धारणा कुछ भिन्न है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में इस रीतिका लक्षण निम्नांकित रूपमे दिया है-- "ओजः प्रकाशकैर्वणैर्वन्य आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी" (९: ३-४)। इस प्रकार ओज गुण-प्रकाशक वर्णींसे युक्त उद्भट रचना, जिसमे समास और विद्वत्तापूर्ण पदोंका अधिक प्रयोग होता है, गौडी रीति है।

३. पांचाली रीति — पांचाली रीतिका उल्लेख भामह और दण्डीने नहीं किया है। वामनने ही इसका उल्लेख प्रथम बार किया है। यह माधुर्य और मुकुमारतासे सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्निरहित), मधुर और मुकुमार गुणोसे युक्त होती है। वामनका कथन है— "अहिलष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया-श्रिताम्। . मधुरां मुकुमाराञ्च पांचाली कवयो विदुः" (काल स्ल वृल, १: २: १३ वृल)। हद्रदेके मतसे पांचाली लघु समासवाली होती है और राजशेखर भी यही मानते है। यह स्वल्पानुप्रास और उपचारवृत्तिने युक्त मानी गयी है। कुन्तकके मध्यम मार्गमे इसकी विशेषताएँ देखी जा सकती है। विश्वनाथने लिखा है— "समस्तपञ्चषद्पदो बन्धः पांचालिका मता" ('साल दल', ९: ४), यह पॉच-छः समासयुक्त पदोके बन्धवाली रचना पांचाली है। पांचाली इस प्रकार मध्यमा रीति है।

४. छाटी— लाटीका उल्लेख वामनने भी नहीं किया है। रुद्रटने इसका वर्णन किया है। लाटी उनके मतसे मध्यम समासवाली, उन्न रसोके वर्णनके लिए उपयुक्त है। अन्य आचार्योंने इसका उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथने इसे वैदर्भी और पांचालीके मध्यकी रीति माना है—"लाटी तु रीतिवेंदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता" (सा० द०, ९:५)। इस प्रकार लाटी रीतिकी कोई अलग विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती।

५. पंचालिका—पंचालिका पांचाली रीतिका ही दूसरा नाम है। इसका उल्लेख राजशेखरने अपने यन्थ 'कर्पूर-मंजरी'में किया है। 'कर्पूरमंजरी'के मंगलाचरण-श्लोकमे

तीन रीतियोंका उल्लेख मिलता है-वच्छोमी, मागधी और पंचालिकाः परन्तु इनके लक्षण नही दिये गये है। अन्यत्र पांचाली रीतिका संकेत करते हुए राजदोखरने माना है कि शब्दार्थका समान संघटन करनेवाली समन्वयपूर्ण रीति है। वामनने भी वैदभीं और गौडी रीतियोंकी विशेषताओका समन्वय करनेवाली रीतिको पांचाली माना है। वही पचालिका रीति है। **मागधी**—मागधी रीतिका उहेख 'कर्पृरमंजरी'मे हुआ है। राजदोखरने 'काव्यमीमांसा'मे वैदर्भी, पांचाली और गौडी, तीन रीतियोंका उहेख किया है। अतः यह मागधी, गौडीया रीति ही जान पडती है। भोजने मागधीको खण्डरीति माना है। अर्थात् जहाँ अन्य रीतियोका अंशतः निर्वाह हो, वहाँ मागधी रीति है। यह भी सम्भव है कि 'बालरामायण'मे उल्लिखित 'मैथिली' रीतिका पर्याय यह मागधी रीति हो, जैसा कि श्रीपादका भी मत है। **मैथिली**—मैथिली नामक रीतिका उल्लेख केवल दो विद्वानो, राजशेखर और श्रीपादने किया है। इसका उल्लेख राजदोखरकी 'काव्यमीमांसा'मे नहीं है, वरन् 'बालरामायण'मे है। इस रीतिमे अर्थकी अतिशयता, परन्त स्वाभाविकता, पुरे प्रबन्धमे सन्दर्भ तथा समासका अल्प प्रयोग तथा योग-परम्पराके अनुरूप उक्ति आदि विशेषताओ-का होना आवश्यक हैं। इसे कुछ लोग मागधीका ही रूप मानते है। वच्छोमी—इस रीतिका उल्लेख राजशेखरने अपने यन्थ 'कर्प्रमंजरी'मे किया है। यह वत्सगुल्मीका प्राकृत रूप है और वैदर्भी रीतिसे भिन्न नहीं है। वच्छोमी रीति वैदर्भीका ही पर्याय है। अतः वच्छोमी रीति भी रसको उत्पन्न करनेवाली और प्रसार एवं माधुर्य गुणोंसे सम्पन्न रीति है। रीति-आळोचना-प्रणाळी - कृतिकी अन्तरात्मा, उसके भाव-विन्यास, तद्गत दृष्टिकोण तथा चेतनाको प्रधानता देकर कृतिके बाह्य रूप, उसकी शैली आदिको गौण माननेवाली वह आलोचना-प्रणाली, जो रचना द्वारा सभी पाठकोंपर समान प्रभावको ही उसकी श्रेष्ठताका मानदण्ड मानती है, रीति-प्रणाली कही जाती है। कृतिकी आलोचनाके मुख्य स्वीकृत आधार उसके बाह्याभ्यन्तर पक्ष ही है, किन्तु यह प्रणाली एकांगी और वैषम्यमूलक होकर केवल कृतिकी अन्तरात्माको ही महत्त्व प्रदान करती है और बाह्य उपकरणोंको गौण मानकर चलती है। इस प्रणालीका आलोचक कृतिके आन्तरिक तत्त्वोंका दिग्दर्शन कराता हुआ उसका तीव्र अनुभव कराता है। —आ० प्र० दी० रीतिकाल - हिन्दी-साहित्यका उत्तरमध्यकाल 'रीतिकाल' (१६५८-१८५७ ई०) कहलाता है। इस कालके काव्यकी प्रमुख धाराका विकास कविताकी रीतिके आधारपर हुआ। यह 'रीति' शब्द संस्कृतके कान्यशास्त्रीय 'रीति' शब्दसे भिन्न अर्थ रखनेवाला है। संस्कृत साहित्यमें रीतिको कान्य-की आत्मा माननेवाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामनने अपने यन्थ 'कान्यालंकारसूत्र'मे किया था-'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति काव्यकी औत्मा है और कान्यकी श्रेष्ठताकी कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्तकी है। वैदर्भी, पांचाली, गौडी, लाटी रीतियाँ हैं। रीतिका आधार गुण है। सस्कृतकी रीति सम्बन्धी यह धारणा हिन्दी कान्यशास्त्रके कुछ ही यन्थोमें प्रहण की गयी है। परन्तु रीतिको कान्य-रचनाको प्रणालीके रूपमे प्रहण करनेकी अपेक्षा प्रणालीके अनुसार कान्य-रचना करना, रीतिका अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकान्यका अर्थ हुआ ऐमा कान्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्विन, नायिकाभेद आदिकी कान्यशास्त्रीय प्रणालियोके आधारपर रचा गया हो। इनके लक्षणोंके साथ या स्वतन्त्र रूपसे इनके आधारपर कान्य लिखनेकी पद्धित ही रीति नामसे विख्यात हुई और यह पद्धित जिस कालमें सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल'के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

रीतिकाल सं० १७००से १९०० वि०तकका काल है। मोटे तौरपर शाहजहाँके शासनकी समाप्ति और औरंग-जेवके शासनके प्रारम्भ (१६५८ ई०)से लेकर प्रथम स्वाधीनता-संग्राम (१८५७ ई०) तक यह काल माना जाता है। इस ग्रुगमे भक्तिकालीन काव्यधाराओ, जैसे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीर-काव्य, नीतिकाव्य आदिका विकास हुआ। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्यको प्राप्त हुआ, जो अलंकारों, रसों, नायिका-मेदो, शब्द-शक्तियो, ध्वनि-मेदो आदिके आधारपर लिखा गया। यह प्रवृत्ति इस ग्रुगको नवीन चेतनाके रूपमे जाग्रत् हुई। इस कारण इसीके आधारपर यह नामकरण हुआ।

रीतिकाल समृद्धि और विलासिताका काल है। साधनाके काल भक्तिशुगसे यह इसी क्वातमें भिन्नता रखता है कि
इसमें कोरी विलासिता ही उपीस्य वन गयी, वैराग्यपूर्ण
साधनाका समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसवदार, सामन्त—सभीका उद्देश विलासिता और समृद्धिका
जीवन था। इस समृद्धिके जीवनके लिए साधन किसी भी
प्रकारके क्यों न हों, समृद्धिका अर्जन हो सामर्थकी
सार्थकता थी। ये उच्च वर्गके लोग कला और कित्ताके
संरक्षक थे। कुछ तो स्वयं किव एवं कलाकार थे। इस
प्रकार इस काव्यमें ऐहिक जीवनके सुख-भोगपर वल दिया
गया। यह जीवनकी क्षणमंगुरताको मुलाकर नहीं, वरन्
इसलिए कि इस क्षणमंगुर जीवनमें जितने ही दिन सुखभोगके बीत सकें, उतना ही अच्छा।

मजाव-शृंगारकी एक अदम्य लिप्सा इस युगके साहित्य-में प्रतिविभिवत है। उपासनाके लिए जिन राम और कृष्ण-का चरित्र भक्तियुगमे अत्युत्कृष्ट रूपमे चित्रित हुआ, उनमे भी शृंगारिकताका आरोप कर शृंगारिक स्वरूपके उद्धाटनमे प्रतिभाको लगाया गया। लोकैषणाका सीमिन और भोग्य रूप इस कालके यथार्थवादी धरातलका संकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्तिके बीज बोनेवाले आधुनिक यथार्थवादसे मिन्न था। वह कला और कारीगरी-का यथार्थ है, चिन्तना, ठेस, असन्तोषकी चिनगारी विखेरने-वाला यथार्थ नही। इस कालकी कलात्मक उपलब्धियोंमें एकरसना है, विविधता नही।

हिन्दी रोतिकालके अन्तर्गत सामान्यतः दो प्रकारकी रचनाएँ मिलती है। एक तो वे रचनाएँ, जिनमे मुख्यतः काव्यशास्त्र-सिद्धान्तोंको छन्दोबद्ध किया गया है। स्पष्टतः हिन्दी कवियोंका यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका

है। सिद्धान्त-प्रतिपादनकी दृष्टिमे इनका अधिक महत्त्व इम कारण नहीं है कि उनमें मोलिकताका अंश बहुत कम है। इस प्रकारके रीतिग्रन्थ अधिकतर संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों-के अनुवाद है या फिर उनकी छायापर आधारित हैं। कान्य-रसकी दृष्टिसे भी इनका स्तर ऊँचा नहीं है, क्योंकि इन आचार्य किवयोंका मुख्य ध्येय कान्य-लक्षणोंको वर्णित करना था, स्वतन्त्र रूपसे अनुभूतिपरक कान्य-सर्जन करना नहीं। फिर भी यह अवश्य है कि इन किवयोंके उदाहरणों-मेंसे कुछ अंश शुद्ध कान्यके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। दूसरे वर्गके अन्तर्गत वे रचनाएँ आती है, जो कान्य-लक्षणो-को प्रतिपादित करनेकी दृष्टिसे नहीं लिखी गयी। इस प्रकार-के कान्यमे भाषा, भाव तथा शैली—सभीका अत्यन्त निखरा हुआ रूप मिलता है। यह लक्षणमुक्त किवता ही वास्तवमे . रीतिकालका प्राणतस्त है।

हिन्दीमें रीति-साहित्यके विकासके अनेक कारण है। एक कारण तो संस्कृतमे इसकी विद्याल परम्परा है। जिस समय भाषा-साहित्यका प्रारम्भ हुआ, उस समय भी संस्कृतमे लक्षण या अलंकार-साहित्यकी रचना चल रही थी। दूसरा कारण भाषा-कवियोको प्राप्त राज्याश्रय है। अक्करने सबसे पहले हिन्दी कवियोको दरवारमे आश्रय दिया और इस प्रकार हिन्दी कवियोको दरवारमे आश्रय दिया और इस प्रकार हिन्दी काव्यको प्रोत्साहन मिला। आगे चलकर अन्य राजाओंने भी इस प्रवृत्तिका अनुसरण किया। राजपूताना तथा मध्यभारतको रियासतों, ओरछा, नागपुर आदिमे भाषा-कवियोको राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे इन्हे हिन्दू और मुसलमान, दोनोंके ही दरवारोंमे प्रतिष्ठा मिली। इसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्यकी रचना हुई।

हिन्दी रीति-साहित्यके विकासका एक तीसरा कारण भी सामने आता है, जो है किव और काञ्यके स्वतन्त्र रूपकी प्रतिष्ठा । इस क्षेत्रमे केशवदासका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनको आगेके युगमे दीर्घ कालतक इतना सम्मान प्राप्त हुआ।

रीति-काल्यके विकासमें तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः ये परिस्थितियों इस प्रकारके काल्य-सर्जनके अनुकूल ही थी। उस समयकी राजनीतिक उथल-पुथल और सत्ता एवं वैभवकी क्षणमंगुरनाने जीवनके दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करनेमें सहायता दी। एकने जीवनके प्रति पूर्ण विरक्ति और त्यागका भाव जागरित किया, जब कि दूसरेने पूर्ण भोगका दृष्टिकोण। ऐहिक काल्यको इस प्रकारका विलासपूर्ण चित्रण करनेकी प्रेरणा देनेमें राजनीतिक स्थितिनका भी हाथ था।

जहाँतक सामाजिक पश्चका सम्बन्ध है, मध्ययुगका समाज सामन्तवादी पद्धतिपर आधारित था, जिसमे सम्राट् शीर्धपर था, जिसके बाद उसके अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे, जिन्हे समाजमें विशेष अधिकार और सम्मान प्राप्त थे। किवयोंको अपने इन आश्रयदाताओंको रुचिके अनुसार था उन्हे प्रभावित वरनेवाला काव्य लिखना आवश्यक था, जिससे उनकी ऐहिक सन्तृष्टि होती थी और प्रतिभाका भी कम-से-कम एक क्षेत्रमे विकास होता रहता था। मध्यकालके ये अमीर और सामन्त अत्यन्त विलास-

पूर्ण जीवन व्यानीन करते थे। एक राजा, अमीर अथवा भामनावे यहाँ दो, नीन, चार या इसमें भी अथिक रानियाँ रहनी थी, जिनका काम अपनेको अलंकृत करके पतिको रिझाना और उसके प्रसन्न होनेपर विलास-सामग्रीको और वृद्धि करते रहनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। नारी उनके हाथोमें भोग-विलासका एक उपकरणमात्र बनकर रह

मुगलकालीन भारतीय समाजके जीवनके एक पक्षका जपर संकेत किया गया है, जो कि रीतिकान्यके सौन्दर्य और विलासपूर्ण चित्रणको प्रेरणा देनेवाला था। परन्तु इसका दूसरा पक्ष जन साधारणका है। नैतिकताकी दृष्टिसे जन माधारणका चरित्र इन विलामी दरवारियोंकी अपेक्षा कही अच्छा था, उसपर भक्तिन्युगका प्रभाव था।

मध्ययुगीन मुगल-शासनके परिणामस्वरूप हमें कई वाते जीवनमें परिन्याप्त हुई दीखती है। प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ़ शासक होनेसे देशके भीतर तुल्नात्मक दृष्टिसे शान्तिका वायुमण्टल बन गया। द्वितीय, इस शान्तिके अवसरपर जीवनमें कला और संस्कृतिको विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। शिष्ट और सुसंस्कृत व्यवहारका सम्मान बढा। तीसरी बान यह है कि इसी शान्ति और समृद्धिके परिणामस्वरूप कला-प्रेम और विलामिताको भावना भी प्रखरनासे जाग्रत् हुई। जीवनभे धर्मको, चाहे वह संकीण अर्थमें ही क्यों न हो, प्रमुख स्थान मिला। इसके अतिरिक्त चौथी बान यह है कि भाषा-साहित्यको राजाओं और सायन्तोसे संरक्षण और आश्रय मिला। इन सभी बानोंका रीतिकालीन हिन्दी काल्यपर प्रभाव परिलक्षित होता है।

रीनिकालीन कान्यके सम्बन्धमें सामान्यतः दो प्रकारके मत हैं—पक उसे नितान्त हेय और पतनोन्मुख कान्य कहकर उसके प्रति घणा और देषका भाव जगाता है और दूसरा उसपर अत्यधिक रीझकर केवल उसे ही कान्य मानता है और अन्य रचनाओ, जैसे भक्ति और आधुनिक युगकी कृतियोंको उत्तम कान्यमे परिगणित नहीं करता। वन्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण है।

रीतिकालीन कान्यपर जो दोष लगाये जाते है, वे ये है अदलीलता, समाजको प्रगति प्रदान करनेकी अक्षमता, आश्रयदाताको प्रशंसा, विलासप्रियता और रूढ़िवादिता। रीतिकालीन समस्त कान्यको दृष्टिमें रखकर जब हम इन दोषोंपर विचार करते है तो हम कह सकते है कि ये समस्त दोष उस युगके कान्य या समस्त रीतिकान्यपर लागू नहीं किये जा सकते है। साथ ही, इन दोषोंमेसे अधिकांश प्रत्येक युगके कान्यमें किसी-न-किसी अंशमे पाये जाते है।

जहाँतक अश्लीलताका प्रश्न है, हम देखते है कि यह भावना वस्तुतः युगसापेक्ष है। एक ही प्रकारका वस्तु-रूप एक युगमे अथवा एक स्थिति या अवस्थामें अश्लील होता है और दूसरेमे नही। कालिदास तथा अन्य संस्कृत किवयोकी रचनाओंमे शरीरके कुछ अवयवोंका काल्यमें वर्णन और उछेख उन दिनों अश्लील नहीं समझा जाता था। आज वह अश्लील समझा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्लील सांपेक्ष पद है। जिन शब्दों (जैसे नीवी, नितम्ब, उरोज आदि) और जिन वर्णनोंको हम आज

अइलील कहते हैं, उन सबकी परम्परा मंस्कृत काव्यमें गहराईके साथ रही है और बहुत-कुल वहीमे उस झब्दा-बलीका प्रत्रेश हिन्दी साहित्यमे हुआ है।

दूसरा दोष प्राथः यह लगाया जाता है कि यह काव्य ममाजको प्रगति प्रदान करनेमें समर्थ नहीं है। रीतिकाव्य और कुछ प्रबन्धकाव्योंमें भी हमें व्यापक जीवन-दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीतिकाव्य वास्तवभे यौवनका मादक, विलासपूर्ण काव्य है। फिर भी उन्मभे ऐसी उक्तियों तथा स्थितियों मिलती हैं, जो जीवनका अनुभव और कभीकभी आदर्श बताती है। अतः आधुनिक दृष्टिमें सामाजिक प्रगतिको प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी, इसमें जीवनोपयोंगी तथ्योंका अभाव नहीं है।

आश्रयदाताकी प्रशंसामें उठी हुई काव्य-स्फूतिका सामाजिक तो नही, परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आश्रयदाताकी प्रशंसा कला और काव्यके संरक्षण और आश्रयके कारण भी थी और इसके लिए उनकी उदार भावना सराहनीय है। ये राज्याश्रय, जिनमे रीतिकालीन कलाकृतियोंका विकास हुआ, किन-प्रतिभावो प्रोत्माहित कर सके, ताथ-ही-साथ दूर-दूरसे प्रति-भावोको अपने गुणों और कला-प्रेमके कारण खीच सके। अतः मध्ययुगीन राज्याश्रयने कला, काव्यके संरक्षण और प्रेरणाके लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, यह हमे मानना पड़ेगा।

जैसा पहले कहा गया, रीतिकालके अन्तर्गत विकामित होनेवाले रीतिसाहित्यके दो पक्ष है — शास्त्रीय और शास्त्र- निरमेक्ष । इन दोनों ही पक्षोंके प्रति दृष्टिकोणोमे अन्तर है। लगभग एक-सी परिस्थितियोंमें और कही-कही तो एक ही किन द्वारा लिखे जानेपर भी इन दोनो प्रकारकी काव्य-प्रवृत्तियोंमे, अन्तर, उनके किवयोंके दृष्टिकोणके कारण है। पहले वर्गके किव अपनी प्रवृत्तिमें आचार्य अधिक थे। रीतिजन्थ उन्होंने या तो अपनी प्रेरणासे या अधिक थे। रीतिजन्थ उन्होंने या तो अपनी प्रेरणासे या अधिकांशतः अपने आध्यदाताकी इन्छामे लिखे थे। दूसरे वर्गके किव आचार्य रहे हो या न रहे हों, किव वे अवस्य ही थे।

रीनिशास्त्र यां रीतिकाव्य लिखनेकी परम्परा हिन्दीको संरक्वतसे प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्यशास्त्रके पाँच काव्य-सिद्धान्तोंमेंसे प्रायः सभीका कुछ-न-कुछ प्रभाव हिन्दी रीतिशास्त्रपर पडा है। परन्तु जहाँतक शास्त्रीय विवेचनका प्रश्न है, वह रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तोके आधारपर अधिक नहों लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनिके ही लक्षण और उदाहरण देनेका सामान्यतः प्रयान देखनेको मिलता है। इन सिद्धान्तोंका भी विवेचनात्मक निरूपण कम हुआ है।

इसके कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले किवयों पूर्ववती तथा समकालीन संस्कृतके ऐसे विद्वान् आचार्य थे, जिन्होंने कान्यशास्त्रके एक या अधिक अंगोको लेकर उनकी वडी ही विस्तृत और स्पष्ट न्याख्या की थी। ऐसी दशामे हिन्दों किवयों के लिए कुछ भी मौलिक कार्य करना किठन था। फिर हिन्दीमें लिखनेवाले सभी कान्यशास्त्री संस्कृत साहित्यने पूर्ण विद्वान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त जिन लोगोके

लिए ये ग्रन्थ निर्मित किये जा रहे थे-अर्थात् कवियोंके आश्रयदातागण और सामान्य जनता-वे स्वयं इस प्रकार-के विवेचनमे रुचि नहीं रखते थे। वे मुख्यतः अपने मनोरंजनार्थ हिन्दी काव्य चाहते थे।

हिन्दीके रीतिशास्त्रका आधार पूर्ण रूपसे संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तारपर्य यह नहीं है कि हिन्दीमें रीतिशास्त्र लिखनेवाले प्रत्येक लेखकने संस्कृत काव्यशास्त्रका पूरा अध्ययन किया था या किसी प्रन्थकों पूर्णतः हिन्दीमें उतारा था। प्रायः अपनी योजनाके अनुकृल हिन्दी रीतिशास्त्रके लेखकने अपने आधारमृन प्रन्थका पठित या शृत ज्ञान प्राप्त किया था। इस कार्यके लिए जिन संस्कृत प्रन्थोका अधिकांश आधार लिया गया है, वे है भरतका 'नाट्यशास्त्र', भामहका 'काव्यादर्श', उद्भटका 'अलंकारसारसंग्रह', केशय मिश्रका 'काव्यादर्श', उपरिवक्त 'काव्यकल्पलताकृति', जयदेवका 'चन्द्रालोक', अप्पय दीक्षितका 'कुवल्यानन्द', मम्मटका 'काव्यप्रकाश', आनन्दवर्थनका 'ध्वन्यालोक', मानुदत्तके 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी', विश्वनाथका 'साहित्यदर्पण' आदि।

हिन्दीके पूर्ववतीं अपभ्रंश साहित्यमे रीतिशास्त्रकी परम्परा नहीं रही । इसको प्रेरणा देनेवाला संस्कृत साहित्य ही है और इस परम्पराको हिन्दीमे डालनेवाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास (१५५०से १६१० ई०) है। केशक पूर्व भी कुछ प्रन्थ लिखे गये है, जिन्हे हम रीति-शास्त्रके यन्थ कह सकते है, परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ-सी ही है, प्रेरक प्रयासके रूपमे उन्हे हम ग्रहण नहीं कर सकते । 'शिवसिंहसरोज'के आधारपर जिस ग्रन्थका उल्लेख हमारे साहित्यके इतिहासकार सर्वप्रथम करते है, वह पुण्ड या पुष्य कवि है, जिसने ७१३ ई०के लगभग हिन्दी भाषामें संस्कृतके किसी अलंकारग्रन्थका अनुवाद किया था, परन्त वह अन्थ अभीतक किसीके देखनेमे नही आया। यदि वास्तवमे उस समयका कोई इस प्रकारका लिखा गया यन्थ मिल जाता है तो वह न केवल रीतिशास्त्रका, वरन् हिन्दीका पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभीतक इस सम्बन्धकी कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

ऐसी अवस्थाने रीतिशास्त्रपर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपारामका 'हिततरंगिणी' ही है। इसकी रचना सन् १५४१ ई०में हुई। यह पॉच तरंगोंने विभक्त है और प्राया भरतके 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर है। इसके पश्चात् १५५९ ई०का लिखा मोहनलाल मिश्रका 'शृंगारसागर' ग्रन्थ रस और नायका-भेदका विवरण प्रम्तुत करता है तथा अष्टलाफ प्रसिद्ध कवि नन्ददासका लिखा 'रसनंजरी' ग्रन्थ भी इसी समयके आस-पासका है। करनेस बन्दीजनके प्रम्थ भी केशवके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंने ही रखे जा सकते है। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थोंने कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखनेवाला नहीं है। अतः हम कह सकते है कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालनेवाले पहले आचार्य केशवन्दास ही हैं।

केशव तथा उनके पूर्ववर्ती कवियोका काव्य प्रवृत्तिकी दृष्टिसे तो रिनिक्<u>षाच्या आवा</u> है एन्तु काळ्कसकी <u>इ</u>ष्टिसे नहीं। काल-विभाजनकी दृष्टिसे बेहाव (१५५० से १६१० तक), सुन्दर तथा चिन्तामणि(रचनावाल १६४३ ई० के लगभग प्रारम्भ होता है)का स्थान भक्तिकालके ही अन्तर्गत है। केहावदामके प्रन्थोम 'कविधिया' और 'रिसिकप्रिया' है, प्रवन्थ-रचनाकी पद्धितपर लिखा गया 'रामचिन्द्रका' हिन्दी महाकाव्योकी पंक्तिमे समाहत है। केहाव मूलतः अलंबार-सम्प्रदायके अनुयायी थे। रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत सुन्दर तथा चिन्तामणि पूर्व-रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि है। चिन्तामणि त्रिपाठीकी गणना हिन्दी रीतिहास्कके उत्कृष्ट और बढे आचार्योमे हैं। इनके प्राप्त प्रन्थोमेसे 'भिगल-खंगारमंजरी', 'कविकुलकर्यतर'का विशेष महत्त्व है।

रीतिकालके अन्तर्गन जिन कवियोको गणना को जाती है, वे प्रमुखतः संस्कृतके अलंकार, रस नथा ध्वनि-सम्प्र-दायोके अनुयायी थे। रीति और प्रक्रोकि-सिद्धान्तके आधारपर हिन्दीमे कछ विशेष नहीं लिखा गया।

अलंकार-सम्प्रदायके अनुयाथियोंमे केशवके उपरान्त काल-क्रमकी दृष्टिसे जसवन्त सिहका नाम आता है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध रीतियन्थ 'भाषाभूपण' रहा है। मितराम (१६१७ ई०) भी प्रवृत्ति रसकी और अधिक है और लक्षणकारकी अपेक्षा वे कवि अधिक है, फिर भी उनके 'अलंकारपंचाशिका' (१६९० ई०) और 'ललितललाम' ग्रन्थ अलंकारपर है। भूषण (१६१३से १७१५ ई०) भितरामके भाई थे। इन्हें आलंकारिक ही कहना चाहिये। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीर रसपूर्ण है, फिर भी इनके प्रधान यन्थ 'शिवराजभूषण'(१६५३ ई०)मे अलकारोके ही रुक्षण-उदाहरण है। भूषण महाराज शिवाजीके मित्र तथा उनके दरबारके कवि थे। इस सम्प्रदायके अन्य प्रमुख कवियोंमे गोप, रसिक, सुमति, गोविन्द, दूलह (रचनाकाल १७५०से १७५५ ई०), बैरीसाल, गोकुलनाथ तथा पन्नाकर है। पद्माकर (१७५३से १८३२ ई०)को रीतिकालका अन्तिम आलंकारिक कवि कहना चाहिये। कवि और रीति-प्रन्थकार, दोनोके ही रूपमें पश्चाकरका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

रस-सम्प्रदायके अन्तर्गत तोष तथा मनिरामकी ख्याति विद्योग है। तोष कविका १६३७ ई०का टिखा हुआ यन्थ 'सुधानिधि' है। इसकी सरसता उदाहरणोंमें है। लक्षणोंमें कोई विवेचन सम्बन्धी नवीनता नहीं है। इसी प्रकारका चन्थ मतिराम (१६१७ ई०)का 'रसराज' है। इसमे शृंगारका नायक-नायिका-भेदरूपमे वर्णन है। मतिरामके लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं; हाँ, उटाहरण अनश्य वहें ही सरस, कोमल तथा कलपनायुक्त है । रसके क्षेत्रमे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य देव(१६७३-१७६८)का है। देवने रसपर अनेक ग्रन्थ लिखे है, जिनमे अधिकतर श्रंगार और नायिका-भेदकी ही चर्चा है और एक ही प्रकारके भाव अन्य ग्रन्थो-मे भी आये हैं। रस सम्बन्धी भावना प्रमुखतः 'भावविलास', 'मवानीविलास' और 'काव्यरसायन'मे प्रकट हुई है । देवने रसके दो भेद माने है- लौकिक और अलौकिक। देवके पश्चात् कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, 'कवीन्द्र' दास आदि अनेक आचार्योंने नायिका-भेद और रसपर लिखा है। परन्तु रसके सम्बन्धने कोई महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट नहीं हुए है। इस सम्प्रदायके अन्य कित्योंमें रसलीन (अंगडर्पण, रसप्रबोध), दाम, रूपसाहि, समनेस, उजियारे, यश्वंत सिंह, रामसिंह ('रसिनयारा', १७८२ ई०) पद्माकर, रसिक, गोदिन्द, देती प्रवीन तथा खालके नाम विशेष उच्लेखनीय है। रसिविनेन्त तथा कान्य-सौन्दर्य, डोनों ही दृष्टियोंने रामसिंह तथा खालका कार्य सहस्वपूर्ण है।

हिन्दी रीतिगासके अन्तर्गत ध्वनिके सर्वप्रथम आचार्य कुळपित मिश्र है। कुर्मदेशी जगमिहके लिए इन्होंने 'रस-रहस्य'की रचना की। 'रसरहस्य'का रचनाकाल १६७० ई० है। कुळपितके विचार प्रोड और प्रामाणिक है, पर कोई नवीन विचार देखनेको नहीं मिलते। कुळपितके बाद देवने ध्वनिपर लिखा है। इस कालके अन्य कवियोमें स्रति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपित, सोमनाथ, भिखारीवास, प्रतापसाहि तथा रामदासके नाग विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। रीतिकालके आचार्य कवियोमें मिखारीदास (रचनाकाल १७२८-१७५० ई०)का नाम प्रथमपांतेय है। दासने 'रससारांदा', 'छन्दोर्णविपगल', 'काव्यनिर्णय' और 'स्रंगार-निर्णय' यन्य काव्यशास्त्रपर लिखे। काव्यशास्त्रकी दृष्टिसे मबसे प्रोत और प्रसिद्ध प्रन्थ 'काव्यनिर्णय' है, जिसमे ध्वनिका विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदिका वर्णन है।

हिन्दी रीतिकान्य (लक्षणरहित कान्य) की परम्परा भक्ति-काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। कृपाराम, ब्रह्म (वीरवल), गंग, बल्भद्र मिश्र, केशवदास, रहीम तथा मुबारक काल-क्रमकी दृष्टिसे यद्यपि भक्तिकाल के अन्तर्गत आते है, परन्तु उनकी वान्यपद्धति प्रायः गीतिप्रधान ही थी। उनके कृतित्व-में प्रमुख ध्यान कान्यरचनाका है और कोई उद्देश्य यदि है तो गीण। रीतिकान्यकी प्रेरणा मुख्यतः आचार्य वेशवदास और अक्षवरके दरवारी किवयोंसे ही प्राप्त हुई थी। इस परम्पराके साथ कान्यकी एक स्वच्छन्द धाराका विकास हुआ, जिसके प्रवाहने रीतिकालमें समस्त कान्यरसिकोंको ओत-प्रोत कर दिया।

इस युगके रोति-किथिगें में सबसे प्रथम सेनापति(१५८९) ई०)का नाम आता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्तरत्न कर' है। सेनापतिकी विशेष प्रसिद्धि उनके प्रकृति चित्रण तथा इलेषचमत्कारके कारण है। 'कवित्तरत्नाकर'की रचना सन् १६४९ ई०में हुई। रोतिकाल्यकी इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचनाने हिन्दी रोतिकाल्यको अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं।

विहारीलाल (१६०३-१६६२ ई०) रीतिकान्यके सर्व-श्रेष्ठ कवि है और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई'पर आधारित हैं, जिसे उन्होने जयपुरके महाराज जयशाहके आदेशपर लिखा था। मुक्तक रचना होने हुए भी सतसईमें सतसईकारका ध्यान अलकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सवपर है और सभीके सुन्दर उदाहरण इसमे हैं।

रीति-परम्पराका पालन करते हुए और भाई होते हुए भी भूषण (१६१३से १७१५)की प्रकृति मतिरामके बिल-कुल विपरीत है। भूषणका काव्य ओजपूर्ण और वीर रससे न-प्रोन है। अतः रीतिकाल्यकी स्रंगारिक परम्पराका अनुगमन न करके ये वीर-परन्पराका मार्ग प्रशस्त करने-वाल है। वीर रसपर लिखनेवाले नो रीतिकालमें और भी वाल है, पर रीति-परन्परापर वीरकाव्य लिखनेवाले भूषण अवेले है। शिवाजीवी वीरता तथा अन्य गुणोसे प्रेरित भूषणका 'शिवराजभूषण' आलंकारिक सौन्दर्वसे भरपर है।

लित राब्दावलीमे बोमल भावनाओको व्यक्त करने-वाले सुकुमार कल्पनाको कवि मितराम (१६१७ ई०)का काव्य गीतिकाव्यका प्रतिनिधित्य करता है। उनके ग्रन्थ 'लिलतललाम', 'रसराज' 'अलंकारपंचाशिवा' आदिमे यद्यपि लक्षण दिये हुए है, फिर भी प्रधानता उदाहरण-काव्यकी है। अतः उनको गणना रीतिशास्त्रियोसे अधिक रीति-कवियोमें होती है।

घनानन्द (रचनाकाल १६५८ ई०) प्रसिद्ध प्रेमी, भक्त और किव थे। उनका ध्यान अलकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रस आदिकी ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचनामे आलंकारिक चमत्कार तथा श्यंगारके संयोग और त्रियोग, दोनो ही पक्षोंका इतना दक्षतापूर्ण वर्णन है कि रीति-परम्पराका प्रभाव उससे रपष्ट लक्षित होता है। घनानन्दका 'सुजानसागर' रीतिकान्यके प्रमुख प्रन्थोंमेसे एक है।

देव (१६७३ ई०)को आचार्य और कित, दोनो ही रूपोमे सफलता प्राप्त हुई। उनके कृतित्वमे मौलिकता तथा कित्व-शक्तिका विलक्षण संयोग हुआ है। भावकी पकड़, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषापर अधिकार, छन्दकी गति, शब्दवर्ण-मेत्री, सरसता और उक्तिवैचिन्य, सब मिलकर देवकी रचनाको स्मरणीय बनाते है। मानव-स्वभावका उन्हें बड़ा सक्ष्म ज्ञान था। अपने प्रन्थ 'भावविलास'की रचना देवने १६ वर्षकी अवस्थामे की थी।

भिगारीदास (रचनाकारु १७२८-१७५० ई०) आचार्य और किन, दोनो ही रूपोंमे उत्कृष्ट है। जहाँ अपने मन्धोंमे इन्होंने ध्वनि, अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द आदिकें लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किये है, वही उनके उदाहरणों द्वारा प्रस्तुन किनता रीतिकाव्यका सुन्दर नमूना है।

भिखारीदासके समकालीन रसलीन (सैयद गुलाम नवी बिलग्रामी)का काव्य बडा ही चुटीला है और उक्ति-चमत्कारके कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले है—'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'।

बेनी प्रबीन (१७९९-१८१८ ई०)की रचन। मितराम और पद्याकरके टक्कर की है और 'नवरस्तरंग' शास्त्रीय-प्रन्थ न होकर कान्य हो है। भाषा टक्साळी बजभाषा हे और प्रन्थमें छिलत और सुन्दर भावाभिन्यक्ति है। व्यंग्य द्वारा अभिन्यक्त भाव बड़े सुन्दर है।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०) रीतिकान्यके शन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि है। इनके अन्य 'जगद्भिनोद' तथा फुटकर छन्दोमे रीतिकान्यकी प्रवृत्तियोका सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकरमें भावविवृद्धिकी विलक्षण शक्ति है। 'खाक (रचनाकाल १८२२-१८६१ ई०) भी पद्माकरकी परिपाटीपर है। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाजारूपन लिये है। किर भी इनके वर्णन सन्दर है।

स्पोंमें लिखा गया। अधिकांश कान्य राजाश्रयमें लिखा गया था। अधिक प्रवृत्ति अलकृत कान्य लिखनेकी रही है। श्रुगारके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्यका चित्रण हुआ है, कहीं कही भक्ति-भावना भी दिखाई दे जाती है। कुछ रचनाओं वीर-भावना, नीति-उपदेश, लोक ज्ञान, न्यवहार आदिशे सम्बन्धित सामग्री मिलती है। इस युगके कवियोका जीवनके प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होकर ऐहिक अधिक है।

[सहायक ग्रन्थ - रीतिकाव्यकी भूमिका : नगेन्द्र; हिन्दी वात्वशास्त्रका इतिहास : भगीरथ मिश्र; हिन्दी —भ० मि० रीतिसाहित्य: भगीरथ मिश्र।] अन्तर्गत 'रीतिकाव्य' साहित्यके रीतिकाव्य-हिन्दी विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त होता है। रीतिकान्य वह कान्य है, जो अलंकार, रस, नायिका-भेद, गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि कान्यके सिद्धान्तोके आधारपर या इनको ध्यानमे रखकर लिखा जाय। हिन्दी साहित्यमें रीतिकाव्यकी परम्परा वडी सुदृढ़ है। इस काव्यकी परम्पराका प्रारम्भ आचार्य केशवदासके द्वारा माना जाता है। उसके बाद विभिन्न कान्य-सिद्धानोंको **दृष्टिमें** रखकर कान्यके जो उदाहरण लिखे गये, वे रीतिकान्यके नमूने है। रीतिकान्यको हम दो रूपोमे पाते है-एक लक्षणयुक्त और दूसरा लक्षण-रहित । प्रथममे लक्षण और उदाहरण, दोनों ही रहते हैं और दूसरेमे लक्षणोका ध्यान रखकर उदाहरणरूप उत्फृष्ट रचना की गयी है। सीमित अर्थमे रीतिकाव्यका अर्थ लक्षण-रहित काव्य-प्रन्थोसे लिया जाता है। इस सन्दर्भमें लक्षण-युक्त ग्रन्थोको रीतिशास्त्रके अन्तर्गत रखा जाता है। परन्तु सामान्य अर्थमें रीतिकाब्यके अन्तर्गत लक्षणरहित तथा लक्षणयुक्त, दोनों ही प्रकारके काव्यग्रन्थोका समावेश हो जाता है।

लक्षणयुक्त काव्य लिखनेकी परम्परा संस्कृतसे चली आनी है। अलंकार, रस, रीनि, वक्रीक्ति और ध्वनिकी काव्यकी आतमा या शोभाविधायक तत्त्वोके रूपमे स्वीकार किया गया है, परन्तु हिन्दी काव्यमे अलंकार, रस, भाव, नायिकाभेद, ध्वनिके लक्षण और उदाहरणकी परम्परा पडी है, रीति, वक्रीक्ति आदिकी नहीं। प्रधानतया रीति-काव्यके भीतर अलंकार और रस एवं नायिकाभेदके प्रन्थ खूब मिलते हैं। लक्षणयुक्त प्रन्थोंमे संस्कृत प्रन्थोंके समान गम्भीर विवेचन नहीं मिलता। हिन्दीके इन लक्षणयुक्त प्रन्थोंमें भी मौलिकता और रोचकता उदाहरणोकी ही है, शास्त्र-विवेचनकी नहीं। हिन्दी रीतिकाव्यके लेखकोंके सम्मुख उदेश्य ही मिन्न प्रकारका था। विद्वानोंके लिए लिखना उनका उद्देश्य नहीं था। साहित्य-रिक्कोंके लिए ही उन्होंने इन प्रन्थोंका प्रणयन किया था और इनका आधार संस्कृतके ग्रन्थ थे।

जो लक्षणरहित रीतिकान्य-ग्रन्थ हैं, उनका अधिक मौलिक महत्त्व है, क्योंकि उनके अन्तर्गत ब्रज्ञभाषा कान्यका मुन्दर और प्रांजल रूप मिलता है। सेनापित, विहारी, मितराम, घनानन्द, दास, प्रभावर आदि अवियोंकी रचनाएँ, चाहे वे लक्षणोंके उदाहरण रूपमे हों जाहे स्वच्छन्द रूपमें, हिन्दी साहित्यकी अमूल्य निधि हैं।

हिन्दीका रीतिकान्य अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। पहली विशेषता तो भाषा सम्यन्थी है। रीतिकाव्यमें ब्रजभाषाका परिमार्जन प्रथान रूपसे हुआ। वर्ण-संघटन, शब्दमैत्री, रोचक उपमानोंके साथ शरीरके अंग-प्रत्यंगोंकी रूपमाधुरीका वर्णन सजीव शब्दावलीमे किया गया है। दूसरी विशेषता भाव और चेष्टाओंके चित्रणकी है । सुकुमार भावो और लिलत चेष्टाओकी मामिक अभिन्यजना इस कान्यमे मिलती है। सीमित क्षेत्रमे भी इस कान्यमे मनी-भावोका स्क्म-से-म्क्म चित्रण बडा ही हृदयग्राही है। यह काव्य यौत्रन या किञोरावस्थाका चित्रण करनेवाला काव्य है, जैसे इस युगके कवियोंके सामने जीवनके और पक्ष उपस्थित ही न रहे हों। ये कवि प्रमुखनया नायिकाओं के किव है या यों कहें कि यौवनके किव है। तीसरा विशेषता यह है कि इस काव्यमे जीवनकी विविधताके दर्शन नहीं होते । संघर्ष, साधना और वास्तविक समस्याओं क्षा चित्रण यह काव्य नहीं करता। रीतिकाब्यके द्वारा सामन्तवादी युगमे भी साहित्यिक अभिरुचि जायत् हुई। ग्राम्य क्षेत्रोमे भी इस काव्यका प्रचार हुआ और कान्य-सौन्दर्य, अलंकार एवं नायिका-भेद-विवेचन लोकव्यापी

रीतिकाव्यकी परम्परा रीतिकालमें ही समाप्त नहीं हुई, अधिनिक युगतक चलती रही। भारतेन्दु-युग और दिवेदी-युगनक तो यह धारा चलती ही रही, आज भी इस परम्पराका काव्य चल रहा है और यत्र-तत्र सुन्दर रचनाए हो रही है। रीतिकाव्य प्रायः व्रजभाषक ही काव्य है और इसी काव्यमे इस परम्पराका विकास हुआ है।

रीतिसाहित्य : भगीरथ ग्रन्थ—हिन्दी सहायक मिश्र । **रीतिवाद**-यह आधुनिक शब्द है। यह वह प्रवृत्ति है, जो कि हिन्दी साहित्यके उत्तरमध्यकालमे प्रचलित हुई। इसके अन्तर्गत इस प्रकारके काव्यके लिखनेका आग्रह था, जिसमें कि प्रथम लक्षण देकर, फिर उसके अनुरूप अलंकार, रस, नायिका-भेद आदिके उदाहरणरूपमे ही रचना की जाय। यह प्रवृत्ति आधुनिक युगतक भी प्रचलित रही। यह केवल प्रवृत्ति न रह पायी, क्योंकि इस प्रवृत्तिके पीछे प्रचारका आग्रह रहा और उस युगम यही काव्य दिशेष सम्मानित हुआ। यह बौद्धिक प्रचाराग्रह इस लक्षणगर्भ काव्यकी प्रेरित करनेके कारण रीतिवादके रूपमे प्रहण किया जाता है (विशेष दे० 'रीतिकान्य')। रीति-संप्रदाय – आचार्यों, विवेदकों और लेखकोंका तष्ठ समुदाय अथवा वह परम्परा, जो काव्यके अन्तर्गत रीनिके महत्त्वको स्वीकार करती है या जिन्होने अपने शास्त्रीय यन्थोमे रीतिकी विवेचना की है, रीनि-सम्प्रदाय कहलाता है। रीति-मम्प्रदायके प्रवर्तक वामन (९ श० ई० मध्य) है, जिन्होंने 'रीतिरात्मा कान्यस्य' ('का० सू० यृ०', १: २: ६), अर्थात् रीति काय्यकी आत्मा है, इस रूपमे रीतिको प्रतिष्ठित किया । रीतिको काच्य-सिङान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेवाळे आचार्य ये ही है। वामनवें, पूर्व भी भामह और दण्डी (७ द्या० ई०)ने रीतिकी चर्चा की थी और गोडीय और वैदर्भमागंके रूपमें इसे स्वीकार किया, पर यह वर्णन

प्रामंगित, ही था। पूर्ण सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा देनेका श्रेय वासनको ही है। वासनके बाद रुद्रट (९ श० ई० उत्त०, 'काव्यालंकार')ने रीतियोकी एंख्याकी वृद्धि करके एक और जोड दी और इस प्रकार चार रीतियाँ मानी गयी । कन्तक-(१०-११ द्या० ई०, वक्रोक्तिजीवित)ने रीतिका विवेचन दमरे रूपमे किया, जो कि अधिक स्यामाविक माना जा सकता है। उनके तीन मार्ग-सकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग, वामराकी रीतियोसे भिन्न है। यह भार्ग कान्यातमाके रूपमें कुन्तकने म्दीकार नहीं किये । कुन्तकवे मार्ग वास्तवमे सवामार और विदिन्न है। इनके आधारभृत गुणोको भी इन्होंने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्यके रूपमे रखा है, वामनके इलेपादि दस गुणोंके रूपमें नहीं। आनन्दवर्धनने रीतिकी नहीं, गुणोकी चर्चा की है। राजशेखर (९-१० श० ई०, 'काव्यमीमांसा')ने रीतिका विवेचन समासके आधारपर किया। सम्मट (११ श० ई० उत्त०, 'कान्यप्रकाश')ने दस गुणोको तीन गुणोमे ही समा-विष्ट कर दिया। रीतिकी विवेचना विद्यनाथ (१४ श० ई० पर्वा॰, 'साहित्यदर्पण')की है। रीतिकी चर्चा करनेवाले यही संस्कृतके अन्तिम आचार्य हैं। इन्होने अपने रुक्षणोमे मार्ग, रीति और वृत्ति, सबदा समावेश कर दिया। इस प्रकार वैदभी, पांचाली और गोंडी रीतियाँ ही रह गयी। ध्यनि, वक्रोक्ति और रसवी प्रतिष्ठा हो जानेपर रीति-सिद्धान्त गौण रहकर पीछे पड गया और उसकी अधिक चर्चा नहीं हुई। हिन्दीमें रीति-सम्प्रदायका इस रूपमें कोई प्रभाव नहीं रहा है (विशेष दे०—'रीति', 'गुण')। रुद्रदकी वृत्तियाँ-दे० 'वृत्ति'।

रुबाई-रुवाईमें चार समवृत्त चरण होते हैं। कसीदा अथवा गजलके प्रारम्भिक चार पाद रुवाई हो जा सकते है। रुवाईके लिए विशेष छन्दोका विधान है और उनमें मुख्य है 'हजाज' । परन्तु उर्दमे 'इकबाल'ने इस नियमका पालन नहीं किया है। चार चरणों अथवा मिसरोंमेसे प्रथम-दितीय और चतुर्थ सम-तुकान्त, अर्थात् एक ही काफिये और रदोफमे होते है, केवल तीसरा चरण भिन्न-तुकान्त होता है। रुवाई मुक्तक है और अपने-आपमें पूर्ण भी। इसके चार चरणोमे दो बंत होते है, इसलिए इसका नाम 'दो-बैती' है और चार मिसरे होते है, अतः रुवाई कहलाती है। रुवाई फारसीका सर्वाधिक लोकप्रिय रचना-विधान है। फारसीमें इसे 'तराना' भी कहते है। उमर खैयामकी 'रुबाइयात'के फिट्जजेराल्ड-कृत अंग्रेजी अनुवाद-को इंग्लैण्ड और अमेरिकामे अधिक प्रशंसा प्राप्त हुई और उमर खैयामकी रहस्यात्मकताका प्रचार हुआ। अपने देशमें उमर खैयामकी प्रसिद्धि गणितज्ञ, ज्योतिषी और रूपमे थी, फिट्जेराल्डके कारण उसकी ख्याति रहस्यवादी कविके रूपसे भी हुई। हिन्दीमे भी फिट्जजेराल्डकृत अनुवादके अनेक अनुवाद हुए है और उनमें हरवंश राय 'बच्चन' कृत 'खैयामकी मधुशाला' अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई। मैथिलीशरण गुप्ततकने इसका अनुवाद किया है। 'बच्चन'कृत 'मधुशाला' इसी रचना-विधानमे है-"जितनी दिलकी गृहराई हो उतना गहरा है प्याला, जितनी मनकी मादकता हो, उतनी मादक

है हाला, जितनी उरकी भावुकता हो, उतना सुन्दर साकी है, जिनना ही जो रसिक, उसे है, उतनी रसमय मधुशाला"। यों तो रुवाईमे सब बात कही जा सकती है, छेकिन उर्दके शायरोने इसमे ज्यादातर नैतिक वातें ही लिखी है। रुवाइयाँ करीव-करीव उर्द्को सभी शायरोंने लिखी है, लेकिन इनमे अनीस, दबीर, इक्षवाल, जगतमोहन 'खाँ' और जोज आदिने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। हिन्दीमे उमर खेयामकी रुवाइयोके अनेक अनुवाद हुए है और उनके प्रभावसे अनेक प्रसिद्ध कवियोंने रुवाइयाँ लिखी है। नये कवि 'मुक्तक' नामसे भी रुवाइयाँ लिखते है। रुवाइयोंमे प्रायः सूक्ति या उक्तिवैचिन्यकी प्रधानता रहती है।—रा०खे०पा० रूख-हिन्दीमें रूख वृक्षका पर्याय है। सन्तोने अपनी रचनाओमे रूखके साथ ही विरिख, पेड, तरवरि (तरुवर), बिरिछ (वृक्ष), बावना (विरवा) आदि अन्य पर्यायोका प्रयोग किया है। पर इन प्रयोगोमे एक विलक्षणता यह है कि ये अधिकां शतः योगपरक रूपकों, उलटवॉसियो एवं साधना-सम्बन्धी गुरिथयोके रूपमे प्रयुक्त हुए है। अकेले कबीरके साहित्यमे वृक्षके सामान्य अर्थमे प्रयुक्त उक्त कतिपय शब्द भिन्न-भिन्न प्रसंगीमें कभी ब्रह्मके अर्थमे तो क्यी सहस्रार, ममाधि, सहज समाधि, मेरुदण्ड, संसार, शरीर, माया आदिके अर्थमे प्रयक्त हुए है।

(१) ब्रह्म—भारतीय धर्म एवं दर्शनके साहित्यमे ब्रह्मको वृक्ष रूपमे वर्णित करनेकी परम्परा बहुत पुरानी है। ऋग्वेद १, २४, ७मे वरुण लोकके एक ऐसे वृक्षका वर्णन है, जिसे ऊर्ध्वमूल कहा गया है। उसकी किरणें ऊपरसे नीचेकी ओर फैलती बतायी गयी है। ऋग्वेद १०, १३५, १; १, १६४, २२ तथा ५, ५४, १२में क्रमशः जिस 'सुपलाशवृक्ष' या जिसके अग्रभागमे सुस्वादु पीपल है और जिसपर दो पक्षी बैठत है या फिर जिस पीपलको वायु देवता हिलाते है, ऐसे वृक्ष भी इसी ब्रह्मवृक्षका व्याख्यान करनेवाले हैं। 'विष्णु-सहस्रनाम'मे परमेश्वरके अन्य नामोंमें 'वरुणोवृक्षः' भी एक नाम है। 'कठोपनिषद' (६, १)मे जिस ब्रह्ममय सनातन अस्वस्थ वृक्षका वर्णन हे, वह भी ब्रह्मवृक्ष ही है। गीता (१५, १)मे "अर्ध्वमूलमधः शाखमश्रद्धं प्राहुरव्ययं। छन्दांसि यस्य पर्णाणि यस्तं वेद स वेदवित्" कहकर इसी ब्रह्मवृक्षका संकेत किया गया है। तुल्सीदासने 'रामचरित मानस' (उत्तरकाण्ड)मे रामकी बन्दना करवाते द्वए वेदोके मुखसे कहलाया है—''अन्यक्तमूलमनादितरु त्वच चारि निगमागम भने। षट कन्ध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने।। फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे। पछवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे" (येदस्तृति)। कबीरने अपने कई पदोमें थोड़े-बहुत अन्तरके साथ यही बात कही है। परम्पराको ध्यानमें न रखनेके कारण तथा चर्यापदों में "तरुवरको काया, चित्त, सृष्टि-विस्तार, सहज तत्त्व" आदिके उपमान रूपमें देख, विना किमी मोच-विचारके कवीरके ब्रह्मवृक्ष सम्बन्धी पदोको कुछ विद्वानोने काया और चित्तका व्याख्याता मान लिया है। किन्तु वात ऐसी है नहीं। कवीरका कहना है-"जांनीं जांनीं रे राजारामकी कहानी। अंगर जोति राम परकासै गुरमुखि बिरलै जानी ॥ तरवर एक अनन्त डार पुनि पुहुप पत्र रस गरिया। यह अंमृत की बाड़ी है रे निनि हरि पूरी करिया ॥१॥ पुहुप वास भॅवरा इक राता बाहर ले उरधरिया। सोरह मंझे पवन झकोरे, आवासे फर फरिया ॥२॥ सहज समाधि विरिख यह सीचा धरती जलहरू सीखा। कहै कवीर तास मै चेला जिनि यह बिरवा पोखा ॥३॥" (क० ग्रं० ति०, पद ११२)। 'राजारामकी कहानी' पद स्पष्ट रूपसे ब्रह्मनृक्ष-का संकेत दे रहा है। 'सहज-समाधि विरिख यह सीचा' भी स्पष्ट करता है कि समष्टि रूपमे जो ब्रह्म है, व्यष्टि रूपमे वही सहस्रारस्य परमशिव है, जो सहज-समाधिमे प्राप्त उन्मन्यावस्थासे सिचित अर्थात तप्त होता है। शक्ति या कुण्डलिनीसे समरस होकर यह अनन्त शाखा है और पत्र-पुष्पवाला वृक्ष हरा-भरा होता है। पद संख्या १०८म क्वीरने पनः इसी ब्रह्मवक्षका उल्लेख किया है, थोडे सिन्न रूप में । यहाँ यह पिण्ड (१. शरीर २. तना) से हीन और विना पुष्पके फलनेवाला बताया गया है। सन्तिम पंक्तियोमे 'अपरंपार पार परसोतम'की जिस मृतिपर बलिहारी होनेकी बात कवीरने की है, वह इसके 'ब्रह्मवृक्ष'-वाले अर्थको विरुक्तल स्पष्ट कर देती है। पद संख्या ११९मे इसी बृक्षका उल्लेख करते हुए कहा गया है—"वीज विन अंकर पेड विन तरवर विन साखा तरवर फरिया" (क॰ ग्रं० ति०)। पद संख्या १५२में इस बृक्षका न्योरेवार चित्रण देखनेको मिल जायगा। पद ११६मे स्पष्ट रूपमे 'अर्ध्वमृत्रमधः शाख'वाले वृक्षका उल्लेख दर्शनीय है।

(२) सहस्रारके अर्थमे भी विरिख शब्दका प्रयोग कशीरने किया है— "ऊँचा विरिख अकासि फल पंखी मूआ झूरि। बहुत सयाने पिच सुर फल निर्मल पै दूरि॥" (क॰ ग्रं॰, ति॰ पृ॰ १८३, ३०)।

(३) कबीरने रूख शब्दका प्रयोग मेरुदण्डके अर्थमे भी किया है—"समुन्दर लागी आगि। नदिया जलि कोइला भई । देखि कवीरा जागि मंछी रुखां चढि गई ॥" (क० ग्रं० ति०, पृ० १४८, ५४), अर्थात् "शरीररूपी समुद्रमे प्रिय-विरह्नी आग लग गयी और उसने विषयिलप्साकी प्रवहमान धाराको जला दिया। दिन-रात विषयोमें लिप्त मानसिक वृत्तियों या इन्द्रियसुखकी ललकवा प्रतीक मन (मंडी) मेरुदण्डरूपी बृक्षपर चढ-कर विषयवारिसे परे हो गया"। पद सं० ११९मे कबीरने बॉझ माता (माया)से विना वापके उत्पन्न (निर्गुण, अस्ति-नास्तिसे अतीत ब्रह्मसे उत्पन्न) हाथ-पैर आदि इन्द्रियोसे हीन आत्माको जिस तरवरपर चढते बताया है, वह भी यह मेरुदण्ड ही है-"बॉझ का पृत बाप बिनु जाया बिनॉ पॉर्ज तरवर चढिया" (क ॰ ग्रं॰ ति॰)। कवीरने वृक्षके भीतर प्रवाहित होनेवाली नदीका उल्लेख एक पदमे किया है—''एक विरष भीतरि नदी चाली कनककलस समाइ। पंच सुअटा आई बैठे, उदै भई बन राइ"। नदीपर विचार करते हुए लक्ष किया गया है कि यह बिरष मेरुदण्डका वाचक है (दे० 'नदी')।

(४) समाधिके अर्थमे भी तरवरका प्रयोग कवीरने किया है—"फल मीठा पै तरवर कॅचा कौन जतन करि लीजें। नेक निचोइ सुधारस वाकों कौन जुगति सौ पीजें ॥ पेड विकट है महा सिल्हला अगह गरा निह लाते । तनमनमेल्हि चढें सरधा सो तब वा फलको पाने ॥—तथा आगे"(क॰ अं॰ ति॰, पद १४६) । उक्तपद-में तरवर समाधि है और उसका फल सहसारमें प्राणका अवस्थान या कुण्डलिनीका परमशिवसे सामरस्य । पेडका सिल्हलापन (फिसल्न) समाधिंगे प्राणवायुके धारण करने-का संकेतक है । अथर (आकाश, महस्त्रार)से पॉव फिसल्कर गिरनेकी बात कुल देसी ही है, जैसे अवभूते यह सवाल पृष्टते समय थी कि "जय उनमनिकी तारी टूटै तव कहाँ रही तुमारी" (कवीर, पृ० १५६)।

(५) समाधि और सहज समाधिमे कवीर अन्तर मानते थे और सहज-समाधिके कट्टर समर्थक थे। समाधि वह है, जो ऑखको मूँद्वर या नासिकायपर अवस्थित करके, सभी इन्द्रियोसे मनको रोककर आयास और कट्टसे सधे। सहज समाधि इससे नितान्त भिन्न है। उसके लिए तो कवीरका कहना है "ऑख न मूँदौ कान न सँभौ तिनव कष्ट नहीं धारों। खुले नैन पहिचानों हॅसि हॉस सुन्दर रूप निहारों"। वारहमासचौनीस पहर फलोसे लदे रहनेवाले, शीतल छायासे युक्त तथा मनरूपी पक्षीके केलि-सदन रूप जिस तरवरका गुणगान कवीर प्रस्तुत साखीनें कर रहे है, वह निश्चयतः सहज समाधि ही है—"तरवर तासु विलंविए जो वारह मास फरन्त। सीनल छाया गहिर फल, पंखी केलि करन्त॥" (क० ग्रं, ति०, ए० २०३, ३)।

(६) संसारको भी कवीरने वृक्ष कहा है और वर्तमान, भिविष्य और भूत नामक तीन कालोंको उसकी शाखा, चार युगोको पत्र तथा पाप-पुण्यको दो फल बताया है—
"सुख के बिरिख यह जगत उपाया। समुझिन परै
विषम तेरी माया॥ साखा तीनि पत्र जुग चारी। फल दोइ पाय पुत्रि अधिकारी॥" (क० ग्रं०, ति०-रमेनी ११)।

(७) मायाका अर्थ देनेके लिए भी विरिखका प्रयोग कबीरने किया है—"आगे आगे दो जरें, पाछे हरियर होइ। बलिहारी तेहि विरखकी जरि काटे फल होइ॥" (क० ग्रं०, नि० पृ० १७८, १), अर्थात् इस मायाक्ष्पी वृक्षकी बलिहारी हे कि बाह्य विकारोमे झुल्सता, जलता रहकर भी यह सामान्य सांसारिक वृक्षोकी तरह जल नहीं जाता। ज्यों-ज्यों विषयोकी आगमे झुल्साते जाइये, यह त्यो-त्यो हरा होता है। अगर अच्छा पल पाना है तो इस मायाका मूलोच्छेद आवश्यक है।

(८) प्रसंगके आग्रहको ध्यानमे रखकर कवीरने एक स्थानपर पिण्डको रारीरके अर्थमे प्रयुक्त किया है—"पंखि उडानी गगन को पिण्ड रहा परदेस । पानी पीया चंचु विनु भूलि गया यहु देस ॥" (क॰ ग्रं॰, ति॰, पृ॰ १६७, ६), अर्थात इस रारीरहणी पेड (पिण्ड)को परदेशमे छोडकर (क्योंकि यह संसार उसका अपना देश नहीं है) आत्मारूपी पक्षी परमश्चम्यमे उड़कर चला गया और इस देशको भुला ही बैठा। उस परमञ्चोममे चोचके विना पानी पीकर (पानी पिये बिना ही पानी पीनेकी तृप्ति प्राप्तकर) वह इस (चोंचसे पानी पीकर कुछ देरके लिए तृप्त और फिर पिपासाकुल बना देनेवाले) देशको भूल ही

साहित्यमे ३नने पदारको आपाततः तिपरीत और भिन्न अधेका विक्षी शब्द विरोधन सविरेश इन यानको २५८ कर देता है कि रूपका, उपमा या इस तरहको अन्य किशी रूपने किसी शब्द, विषय या वस्तुको रखते सपय सन्त धमीकी अपेक्षा उसके धर्मको ही ध्यानमे रखते थे। और चॅिक किसी भी चरतुके धर्म अनन्त है, अतः उसके धर्ध भी अनन्त हो सबते हैं। भाषामें इस तरहकी रू.च्छन्दता अर्थगत गद्ध-पद्धदा प्रपुख कारण है। सन्ते वे साहित्यकी अनेवाराः, आपानतः विपरीत पडनेवाली व्याख्याएँ इसी कारण सम्भव हो सकी है और शायद आगे भी होती -- रा० दे० सि० क्षपदा-साद्द्रयगर्भ अभेदप्रधान आरोपम्ल अर्थालंकार, जिसने अति साम्यके कारण प्रस्ततसे अप्रस्ततका आरोप करके अभेद दिखाया जाता है। इस शब्दका अर्थ है एकता अथवा अभेदकी प्रतीति । भरतने जिन ४ अलंकारीका वर्णन किया है, उनगेने यमक शब्दालंकार है तथा दीपक वानया-लंकार; सामान्य साहरयजीवी अलंदार उपमा और रूपक ही है। गुण और आकृति दोनोवे आधारपर साहरयका नाम उपमा है, रूपक्षमे केवल गुणके आश्रयसे किनित् साह्ययको अपने 'विपालप'रो रूप प्रदान किया जाता है (ना० ज्ञा०, १६:४४ तथा ५७:५८)। भामहरो रूपकका निरूपण उपमाने पूर्व किया है। उनके मतमे रूपककी दो विशेषताएँ है—उपमेयकी उपमानसे एकरूपता तथा गुणोकी समता। रूपवाके २ भेद है- समस्त-वन्तुविषय तथा एक-देश-विवत्ति । उपमामे रूपकसे अन्तर करते हुए दो विशेषताएँ है—'गुणलेश'के आधारपर तथा असमान उपमानसे 'साम्य' ('काव्यालंकार' २: २१-२२ तथा ३०) । दण्डीके अनुसार गुण, क्रिया, द्रव्य किसी भी प्रकारने उद्भृत साह्यका नाम उपमा है और जब उपमान उपमेयका परस्पर-भेद तिरोभृत हो जाता है तो उस साह्यको ही रूपक कह देते है (काव्यादर्श, २:१४ तथा ६६)। रूपकके २० भेद है—समस्त, असमस्त, समस्तव्यस्त, सकल, अवयव, अवयवी, एकांग, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, हिल्छ, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक, तत्त्वापह्नवरूपक ('काव्यादर्श', २:६७से ९६तक)।

गया। यहाँ इतना संदोत दे देना आवरपत है कि सन्तोके

वामनने रूपकको उपमाका प्रपंच मानते हुए इसका लक्षण किया है कि उपमानके साथ उपमेयके गुणका साम्य होनेसे उपमेयमे उपमानके अमेदका आरोप ही रूपक है— "उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्" ('का० स्० वृ०, ४: ३: ६)। रुद्रके मतसे उपमानमे सिद्ध गुणका उपमेयमें साध्य बनना हो उपमा अलंकार है ('काव्या०', ८:४) और गुणोके साम्यसे उपमान एवं उपमेयके अविवक्षित सामान्य मेदको रूपक कहते है ('काव्या०', ८:३८)। प्राचीन आचार्योंने गुणलेशके चमस्कारी साम्यको उपमा माना है और गुणोकी विशेष समताको रूपक।

सम्मटने उपमान और उपमेयके अभेदको रूपक बताया है (का॰ प्र॰, १०: ९३)। विश्वनायने इसी लक्षणको स्पष्ट किया है कि निरपह्नय (निना सत्सके गोपनके) रिपयंस विपयीका रूपित आरोप रूपालंगार है ('सा॰ द॰', १०: ४१)। जयदेव ('चन्द्रालोक', ५:१८) और अप्पय दािक्षत-('झुतल्ल॰', १७)के लक्षण भी इन्हांते मिलते-जुलते है। 'अलंकारसर्पर्यः'तें "विपरिणा विषयस्य रूपवतः दरणाट् रूपकम्" (२०३५) तथा एकायलीमें "विपयी थिपयं रूपाति रूपवन्तं करोतीति अन्वर्धानिधानं रूपकम्" (१०२१) लिखकर उपमेय और उपमानयी रूपवत्ताका ही आग्रह प्रकट किया गया है।

हिन्दिके आचार्यों में वे. शवने दण्डीके आधारपर रूपकका लक्षण अत्यन्त प्राथमिक अवस्थाका दिया है—"उपमाके ही रूपरों, मिल्यो वर्रानिये रूप" ('कं व्रिव', १३: १२)। जसवन्त सिंहने लक्षण नहीं दिया है। मितराम, भूपण, दास तथा पद्माकर आदि अधिकांश रीतिकालीन आचार्योंने मम्मट और विश्वनाथके लक्षणका अनुसरण किया है—"वरनत विषयी विषयकों करि अभिन्न तद्रृप" (ल० ल०, ६८) अथवा—'कहुँ कहिंथे थे दूमरों, कहुँ न राखिये मेद'। (का नि०, १०)। जलपतिन 'साहित्यदर्पण'की कारिका तथा वृत्तियों आधारपर लक्षण दिया है—"उपमा अक्ष उपमयकों, भेद परें नहिं जान। समता व्यंग्य रहें जहाँ, रूपक ताहि बखान" ('र० र०')। यहाँ व्यंग्य समता (वृत्तिसे)के कथनले जनकी प्रौडताका परिचय मिलता है। आधुनिक विवेचकोने भी मम्मट अथवा विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये हैं।

भरतने अलंकारोंके भेद नहीं बताये। भामहने रूपकके दो भेद किये है-समस्त-वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्त्ति । आगे चलकर मम्मदने इन दोनो भेदोको सांग (सावयव) रूपक्के उपभेद मान लिया ('का० प्र०', १०: ९३-९४)। दण्डीने उपमा और रूपकके भेदोकी इयत्ता नहीं मानी। रूपकके मुख्य २० भेद दिये हैं। 'समस्त रूपक'भे उपमान और उपमेयका समास हो जाता है, जैसे 'वाहु-लता', 'पाणि-पद्म'। असमस्त समस्त रूपकका विपरीत है, जैसे 'ॲगुलियॉ पहाव है'। समस्त-व्यस्त रूपक्षमे उपर्युक्त दोनो गुणोंका मिश्रण होता है, जैसे 'सित मुखयन्द्रकी ज्योत्स्ना है', यहाँ 'मुखचन्द्र'मे समास है और 'सित ज्योत्स्ना है' वाक्यमे समास नही है। सकल रूपक अर्वाचीनोंका सांग या सावयव रूपक है। अवयव रूपक अर्वाचीन आचार्योंके एक-देश-विवर्त्तिके समान है। अवयवी रूपक अर्वाचीन निरंगके समान है। इसमे वदनको ही पंकज कह दिया जाता है, उसके अंगोंको रूपता नहीं प्रदान की जाती। एकांग रूपकमें उपमेयके एक अंगको ही रूपित करते है, इसी प्रकार इयंग, व्यंग आदि भेद हो सकते हैं। उपमेयके आधेयभूत अवयवोके लिए जिन आरोप-विषय-भूत वस्तुओंका प्रयोग हो, उनमे यदि परस्पर सम्बन्धकी संगति है तो युक्त रुपक और यदि विरोध है तो अयुक्त रूपक अलंकार है। अंगीके रूपण तया अंगोमेसे कुछके रूपण तथा कुछके अरू पणसे विषम रूपक बनता है। विशेषण-विशिष्ट पदार्थके आरोपने सविशेषण रूपक है। उपमानके प्रसिद्ध कार्योंकी अक्रिया तथा अप्रसिद्ध कार्योंकी क्रियामें विरुद्ध रूपक, हेतु-प्रदर्शनपूर्वक अप्रस्तुतके आरोपमें हेतु रूपक (अर्वाचीनोंके उल्लेख अलंकारसे मिलता-जुलता), दिल्ह साधारण धर्मके प्रयोगमे दिल्ह रूपक, प्रस्तुत एवं अप्रस्तुतके साधम्यमे उपमा रूपक तथा वैधम्यमे व्यतिरेक रूपक अलंकार होता है। आक्षेप अलंकारकी सामग्रीसे आक्षेप रूपक तथा समाधानपूर्वक आरोपसे समाधान रूपक बनता है। रूपकके गर्ममे स्थित रूपकका नाम रूपक-रूपक तथा अपह्नुति-गर्मसे रूपकका नाम तत्त्वोपह्नव रूपक हो जाता है। जिस प्रकार भरतने उपमाके अनेक भेदोको लोकसे ग्रहण करनेकी सम्मति दी है, उसी प्रकार दण्डीने उपमा तथा रूपकके विकल्पोमेसे कतिपयकी ही व्याख्या की है, शेष पाठकोके अनुमानपर छोड़ दिये है ('काव्यादर्श', र : ६६-९६)।

स्द्रटने रूपकके सावयव, निरवयव तथा संकोर्ण भेद करके सावयवके १ उपभेद—सहज, आहार्य तथा सहजाहार्य माने है। निरवयवके ४ उपभेद है—गुद्ध, माला, रज्ञना तथा परम्परित। एकदेशीय उपर्युक्त समस्त विषय-रूपकोंसे भिन्न है। अवीचीन आचार्योंमें मम्मटने प्रथम तो रूपकके १ भेद किये हैं—समस्त वस्तु-विषय तथा एक-देश-विवर्ति, परन्तु इन दोनों भेदोको सांग रूपकके ही अन्तर्गत मान लिया है। जो सांग नहीं है, वह गुद्ध निरंग रूपक है। माला रूपकमे अनेक अप्रस्तुतोका एक प्रस्तुतमे आरोप होता है। परम्परितके ४ उपभेद श्लेषमूल, श्लेषरिहत, केवलरूप तथा मालारूप है। रशना रूपकमे मम्मटने चमस्कार नहीं माना।

विश्वनाथने रूपकके भेदोपभेदोंको स्पष्ट किया है। रूपकके ३ भेद है—परम्परित, सांग तथा निरंगः परम्परितके २ उपभेद है—रिलष्ट तथा अहिलष्ट; और प्रत्येक उपभेद केवल तथा माला, दो प्रकारका है। इस प्रकार परम्परित रूपक ४ प्रकारका हुआ। सांगके दो उपभेद है—समस्त वस्तु-विषयक तथा एक-देश-विवत्ति। निरंगके भी दो उपभेद है—मालानिरंग तथा केवलनिरंग। इस प्रकार रूपकके केवल ८ भेद हुए।

जयदेवने रूपकके ४ भेद किये—सोपाधि, साह्य, आभास तथा रूपित रूपका। सोपाधि रूपकमे एक आरोप-प्रधान आरोपके प्रति कारण होता है। 'काव्यप्रकाश'में इसीको 'परम्परित' रूपक कहा गया है। साह्य रूपक सावयव या सांग रूपकका ही नाम है, इसमे उपमान और उपमेय, इन दोनोंका अलग-अलग पदोंसे साह्य वतलाया जाता है। आभास रूपकमे रूपकका आभास होता है, कि.सी सौन्दर्यको प्रतीति नहीं होती, 'अंगयष्टि' पदमे यष्टिका अंगपर आरोप केवल लम्बाईके कारण है, सौन्दर्यबोधके निमित्त नहीं। रूपित रूपकमे आरोपित पदोका पुनः आरोप होता है, यह दण्डीका रूपक-रूपक अलंकार है। अप्पय दीक्षितने 'कुवल्यानन्द'मे रूपकके २ भेद किये है— 'अभेद' तथा 'तद्र प' और प्रत्येक नेदके ३ उपभेद है— आधिक्य, न्यून तथा अनुभय।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः रूपकके अप्पय दीक्षितके ६ मेदोको अपनाया है, उनके अनुभग उपमेदका नाम सम दिया है। केवल केशवदासने 'कविप्रिया'म रूपकके ३ मेद माने है—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक तथा रूपकर एक। अद्भुत रूपक दण्डीके व्यतिरेक रूपकका नामानन

है, रीप दोनों भेद 'काव्यादर्श'में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। कुलपितने मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर सांग, शुद्ध, परम्पित तथा माला रूपक—चार भेद माने हैं। आधुनिक विवेचकोंने रूपकके भेदोंको नियम देनेका प्रयत्न किया है। कन्हैयालाल पोद्दारने रूपकके दो भेद—अभेद तथा तद्रृप मानकर दोनोंके सम, अधिक, न्यून भेद माने हैं; फिर समके सावयव (सांग), निरवयव तथा परम्पित भेद किये हैं और इन तीनोंके भी क्रमशः समन्त वस्तु-विषय, एक-देश-विवित्तं; दिलष्ट, मालारूप; दिलष्ट शब्द, भिन्न शब्द नामक दो-दो भेद किये हैं ('अलं० मं०', ए० १३७)। इसमं उन्होंने मम्मट आदिके साथ अप्पय दीक्षितके विभाजनको मिलानेका प्रयत्न किया है। रामदिहन मिश्रने दूसरे प्रकारसे यह विभाजन दिया है—अभेद और नालाके दो प्रकार आहार्य और वास्तव माने हं और तीन भेद केवल इसीके कहे गये है। सावयव आदि अपने भेदोके महित स्वतन्त्र हैं।

 अभेद—अप्पय दौक्षितने 'कुवलयानन्द'मे साह्य-मुलक अलंकार रूपकके दो भेद माने है-अगेद तथा तद्र प । जब विषयीका विषयमे अभेद-पर्यवसान हो तो अभेद रूपवा होता है। हिन्दीमे प्रायः विना लक्षण दिये केवल विभाजन करके उदाहरण प्ररत्त किये गये है। इसमें उपमेयमे अभेदरूपसे उपमानका आरोप किया जाता है और इसके तीन भेद 'कुवलयानन्द'के ही आधारपर हिन्दीके आचार्योंने माने है-न्यून, अधिक और सम। जहाँ उपमेयमे उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ न्यूनता कही जाती है, न्यून कहलाता है। दूलह कविका उदाहरण है— "राम तम लंकके बिरोध बिन" (राममे लंका-विजयकी सामर्थ्य थी, तुममे नहीं है, तुम रामसे न्यून हो)। या-"पच्छिन बिगिर बिहंग है, सुण्डन विगिर मतंग" (ल०ल०, ७०)। अथवा-"निर्झरमे अक्षय स्वरप्रवाह है, पर वह विकल विराग नहीं" (मिलिन्द : 'का॰ द॰')। अधिक-जहाँ उपमेयमे उपमानके आरोपके अनन्तर कुछ अधिकता कही जाती है-"राम अवियोगी तुम"(दूलह), अर्थात् राम वियोगी थे और तुम अवियोगी हो, अनः रामने अधिक हो था-''नव विधु बिमल तान जसु तोरा, रधुबर किंकर कुसुद चकोरा। उदित सदा अथ इहि कबहूँ ना, घटहिं न जग नभ दिन दिन दूना" (रा० च० मा०, २:२०९)। इसमे चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, पर यश सदा उदित रहता है, अधिक है। सम-जहाँ उपमेयमें उपमानवी न्यूनता या अधिकताके विना सम आरोप हो-"राम तुम यशपाल" (दूलह), अर्थात् राम भी यज्ञपाल थे और तुम भी, अतः अभेद समता है। या—"बीती विभावरी, जाग री। अम्बर पनघटमे डुवो रही ताराघट ऊपा नागरी" ('प्रसाद')। इसमे अम्बरमे पनघट, तारामें घट तथा ऊषामे नागरीका अभेद-कथन है।

र. तद्र्प — 'कुटल यानन्द'मे स्तीकृत रूपकका एक मेद । मेदके रहते हुए भी सामान्य धर्मके आश्रयसे अप्रस्तुतका प्रस्तुतमें आरोप 'तद्रूप' रूपक कहलाता है, यथा— 'मुख दूसरा चन्द्र हैं'। 'मुख' और 'चन्द्र' अलग है, किर भी सामान्य धर्मके साहरयसे मुखपर चन्द्रका आरोप कर दिया गया हैं। अमेदके समान इसके भी तीन भेद माने गये है।

न्यून – जहाँ इस आरोपमें उपमेय हीन कहा गया है—
"विप्रनिके मन्दिरन तिज, करत ताप पान ठौर। मानसिंह
भूपालको, तेज तरिन यह और" ('छ० छ०', ७३)।
अश्विक—जिसमे तद्रूप आरोपके अनन्तर उपमेयमे कुछ
अधिकता कहीं जाय—"अमिय झरत चहुँ ओर अरु, नयन
ताप हरिलेत। राधा मुख यह अपर सिस, सतत उदित सुख
देत" ('अ० मं०', १४१)। 'अपर सिस'मे तद्रूप और
'सतत उदित'के कथनसे अधिकका मान है। सम—जहाँ
तद्रूपता समान हो—''भूमि पुरन्दर भाऊके हाथ पयोद
नहीं बर काज ठये है। पिन्यनके पथ रोकिनेको घने नारिद
बुन्द बुथा उनये है'" ('छ० छ०', ७२)। अथना—''सुधा
सिहत मख सिस छख्यो, बुथा सरदको चन्द" (प्वा०,३७)।

३. सांगरूपक— रूपक अलंकारका एक मेद, जिसको सावयव रूपक भी कहते हैं। दण्डीका सकल रूपक भी यही मेद हैं। भामहने रूपकके समस्त वस्तु-विषय और एक-देश-विवित्तं, दो मेद किये थे, मम्मटने उन दोनोका एक नाम 'सावयव' रूपक माना है और दोनो मेदोंको सांग या सावयवका उपमेद बना दिया है। सांग और सावयव दोनों नाम मम्मटके 'कान्यप्रकारा'से ही प्रचलित हो गये। श्लोकमें 'साययव' रान्दका न्यवहार है('का०प्र०', १०:९४ वृ०)।

जगन्नाथके अनुसार परस्पर सापेक्षसे सम्बद्ध रूपकोका संघात सावयव रूपक है—"परस्परसापेक्षनिष्पत्तिकानां रूपकाणां संघातः सावयवम्'। उदाहरण—"रक्त ॲगुलियॉ ही पत्रपंक्ति है, नख-किरणे ही केसर है, इस प्रकार आपके चरण तो साक्षात् कमल है" (अनुवाद)। विश्वनाथके अनुसार यदि अंगीका सांग रूपण हो तो रूपक 'सांग' कहलायेगा—"अंगिनो यदि सांगस्य रूपणं सांगमेव तत्" ('सा० द०', १०:३०)।

४. समस्त वस्तु-विषय—उपभेदमें आरोप्यमाण विषय शब्दोपात्त होकर सकल विषयोको अन्तर्भृत कर लेते है, यथा—"रावणरूपी अनावृष्टिसे क्लान्त मरुद्र्पी शस्यको वाणीरूपी अमृतसे खीचकर विष्णुरूपी कृष्णमेय शान्त हो गया" (अनुवाद) । वस्तुतः इसमें उपमेयमें उपमानका आरोप अवयवो (अंगों) सिहत होता है—"रिनत मृंग घण्टावली, झरित दान मधु नीरु । मन्द मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीरु" (वि० र०', ३८८) ।

५. एक-देश-विवर्त्ति—सांग रूपकमे आरोप्यमाण विषयका आरोप कचित् (एकदेशमे) शब्दोपात्त होता है और कचित् अधोपात्त, अर्थात् कहीं आरोप शब्द द्वारा किया जाय और कहीं अर्थके बलसे झात हो। यथा—"लावण्य-रूपी मधुसे पूर्ण इसके आननको लोकलोचनरूपी अमर पीते है", यहाँ रूप्यमाण विषय है मुखका पबत्व, जिसका आरोप शब्दोपात्त नहीं, प्रत्युत्त 'लावण्यरूपी मधु'के अर्थसे सिद्ध होता है। अथवा—"तरल मोतीसे नयन भरे! मानससे ले उठे स्नेह घन, कसक विचत्पलकोके हिमकण। सुधि खातिकी छाहँ पलककी सीपीमे उत्तरे" (महादेवी: 'का० द०'से), यहाँ ऑसू उपमेयका शब्दसे कथन नहीं है, पर अन्य आरोपोके द्वारा स्तरः स्पष्ट है।

६- निरंग रूपक - रूपक अलंकारका एक भेद । इसको निरवयव भी कहते हैं । निरंग रूपकमे केवल अंगीका ही आरोप होता है, उसके अंगोंका नहीं। यह भेद दण्डीके अवयवी रूपक भेदसे मिळता-जुळता है। उदाहरण—'वदन पकज है', इस वाक्यमें वदनके अवयवोंपर पंकजके अवयवोंका आरोप नहीं किया गया। 'निरंग' रूपक दो प्रकारका है— गुद्ध तथा माला, गुद्ध-निरंगको केवळनिरंग भी कहते है, एक उपमेयमें अनेक उपमानोका आरोप माला-रूपक है। गुद्धका उदा०—"वर धामन वाम चढ़ी वरसे मुसुकानि सुधा घन सार घनी। सिखयानके आनन इन्दुन ते अँखियानकी बन्दनवारि तनी" (देव: 'अ० मं०')। यहाँ मुसक्यानमे सुधाका, आननमे इन्दुका और अँखियानमे वन्दनवारका आरोप है। मालाका उदा०—"ओ चिन्ताकी पहली रेखा, अरे विश्ववनकी व्याली। ज्वालामुखी स्फोटके भीषण प्रथम कम्प-सी मतवाली" ('प्रसाद': 'का० द०'से)। यहाँ चिन्तामें अनेक उपमानोंका आरोप है।

७. परम्परित रूपक—रूपकका एक मेद । प्रतिष्ठापक मम्मटके अनुसार—रूपकके केवल २ भेद है—सांग, निरंग तथा परम्परित । विश्वनाथके अनुसार प्रस्तुतपर अप्रस्तुतका सांग आरोप सांग रूपक या सावयव रूपक है। 'निरंग'मे केवल अंगीका ही आरोप होता है, उसके अंगोंका नहीं।

परम्परित भेदमे एक आरोप दूसरे आरोपका कारण होता है—"यत्र कस्यचिदारोपः परारोपस्यकारणम्"(सा० द०', १० : ४३)। उदाहरण—"त्रैलोक्य-मण्डपकी आधारस्तम्म हरिकी मुजाएँ तुम्हारी रक्षा करें" (अनुवाद)। यहाँ त्रैलोक्यमें मण्डपका आरोप करके जो रूपक बना, उसीके कारण मुजाओमें आधारस्तम्भका आरोप करके परम्परित रूपक हुआ। यह दण्डीके रूपक-रूपकसे अंशतः मिलता-जुलता है।

परम्परित रूपकके २ उपभेद है— दिलष्ट शब्दमूलक तथा भिन्न शब्दमूलक । प्रथममें शिलष्ट शब्दोंके प्रयोगमें रूपक होता है, दितीयमें श्लेषके बिना ही भिन्न-भिन्न शब्दोंमें आरोप होता है। दिलष्टका उदा०— "सखि! नील नमस्सरमें उतरा यह हंस अहो तरता तरता। अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता। अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको घरता घरता। गड जाय न कंटक भूतलके कर डाल रहा उरता उरता। (मैथिलीशरण गुप्तः 'अ० मं०'से)। इसमें 'हंस' और 'कर' दिलष्ट शब्द है (सूर्य तथा किरण) और इन्हींके कारण अन्य आरोप है। भिन्नका उदा०— "बाड्य ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धुके तलमे। प्यासी मछली-सी ऑखें, थीं विकल रूपके जलमे" ('प्रसाद': ऑस्)। इसमें ऑखें, थीं विकल रूपके जलमें" ('प्रसाद': ऑस्)। इसमें ऑखोंमें मछलीका आरोप, रूपमें जलके रूपकका कारण है।

रूपक उपमाने समान सहज सौन्दर्यवीधका अलंकार है। इसका प्रयोग सभी युगोंके श्रेष्ठ कवियोने अनेक प्रकारसे किया है। सूर, तुलसी तथा जायसीने इसके प्रयोगमें विशेष सफलता प्राप्त की है। जायसीने सांग रूपकोमें प्रत्येक अंगके साह्य्य या साधम्येका क्षेत्र बहुत न्यापक तथा विविध रहता है। वे न्यापक प्रभावका ध्यान रखकर चलते हैं, किसी निश्चित योजनाको लेकर नहीं। सुरके सांग रूपक प्रायः उत्प्रेक्षापुष्ट हैं, जिनके सहारे कि सजीव और अलौकिक सौन्दर्यको चित्रिन करता है।

कार्य-स्थितियोंके वर्णनमें उसने सांग तथा परम्परित रूपकोका प्रयोग किया है तथा भावाभिन्यक्ति (विरह)मे रूपकोंका
अत्यन्त व्यंजक तथा स्वाभाविक निर्वाह हुआ है। तुल्सोने
सांग, निरंग तथा परम्परित रूपकोका बहुत कान्यात्मक
प्रयोग किया है। विस्तृत सांग रूपक बहुत पूर्ण और प्रसिद्ध
है (रामकथा, भक्ति, ज्ञान, रामचिरतमानस आदिके
रूपक)। वीरन्कान्यमें रूपकका प्रयोग युद्धवर्णन तथा अन्य
युद्ध-सामग्रीके वर्णनमे किया गया है, जिनमें वर्णा, विवाह,
तीर्थराज आदि प्रचलित रूपक अधिक है। आधुनिक
छायावादी कवियोमे इनका व्यापक तथा सुन्दर प्रयोग
देखा जा सकता है। केवल उपमेय और उपमानके क्षेत्र
बदले गये है, अधिक सुक्ष्म और मनोभावात्मक हो गये
है। सक्तिकालीन कवियोका सौन्दर्य-बोध रूप-प्रधान ही
था।

रूपककथाकाव्य-(एलेगरी) वह कथात्मक प्रवन्थ है, जिसमे प्रस्तत कथाके भीतर कोई अन्य अप्रस्तत कथा भी अन्तः सिळिलाकी भॉति छिपी रहती है। काव्यमे ही नहीं, कथासाहित्य और नाटकमें भी रूपक कथा होती है। रूपक्कथाके कई प्रकार होते है और अंग्रेजीमे सबको एलेगरी कहा जाता है। एलेगरीके लिए हिन्दीमें स्वपकः प्रतीक, अन्योक्ति और उपिमत कथा शब्दोका भी प्रयोग होता है। किन्तु यह अनुवाद भ्रामक है। रूपक एक अलंकार है, जिसमें उपमेय और उपमानका अभिन्नत्व दिखाया जाता है, परन्त एलेगरीमे यह बात नहीं होती। रूपक नाटकका प्राचीन नाम भी है। अतः रूपक काव्यसे नाटक कान्यका भ्रम हो सकता है। इसी कारण कछ लोगोने एलेगरीको केवल रूपक न कहकर अध्यवसित रूपक कहा है, जो अधिक उपयक्त है। प्रतीक (सिम्बॅल) भी एलेगरीसे भिन्न अर्थका बोधक है, यद्यपि एलेगरीमे प्रायः प्रतीकात्मकता भी रहती है। प्रतीकमे प्रस्तत (वर्ण्य वस्त) नगण्य होता है, उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। अन्योक्तियाँ प्रायः प्रतीकात्मक ही होती है, किन्त्र एलेगरीमे कभी-कभी अन्योक्ति नहीं, समासोक्ति होती है, जिसमे प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनों अधौंका समान रूपमे महत्त्व होता है । चन्द्रवली पाण्डेयने इसे उपमित कथा कहा है ('अनुराग बॉसरी'की भमिका)। परन्तु उपमित कथासे दृष्टान्त कथा (पैर्बिल)का बोध होता है, जो रूपककथासे मिन्न कान्यरूप है (दे० 'दृष्टान्त कान्य')। अतः अंग्रेजीके एलेगरी शब्दमे जी न्यापकता है, वह हिन्दीके रूपक, प्रतीक अन्योक्ति या उपमितकथा शब्दोंमे नहीं है। ये शब्द अलग-अलग और सीमित अर्थके चोतक है। अध्यवसित रूपकसे कथात्मकताका वोध नहीं होता । अतः वह भी पूर्ण अर्थ व्यक्त नही करता । अतएव एलेगरीके लिए हिन्दीमें रूपकक्था ही सबसे अधिक उप-युक्त शब्द है।

रूपककथाके निम्नलिखित रूप-भेद प्राप्त होते है— (१) जिसमें पात्र भावनाओ, विचारों या सक्ष्म अक्ररीरी तत्त्वोंके मानबीकृत रूप होते हैं, जैसे, संस्कृतमें 'प्रवोध-चन्द्रोदय', 'मोहराजपराजय' आदि नाटक और हिन्दीमें 'प्रसाद'का 'कामना' नामक नाटक। ऐसी रूपककथामें

चरित्र-चित्रण, घटनाओंकी योजना आदिमें यथार्थता या स्वाभाविकता नहीं होती. क्योंकि उसके पात्र ही मानवीकत होते है और मानवीकरण अपने-आपमें एक अयथार्थ व्यापार है। (२) जिससे पात्र मानदीकत तो नहीं होते. पर प्रतीकात्मक अवस्य होते है। मानवीकरणमें प्रस्तत और प्रतीयमान एक ही होते है, अर्थात प्रवृत्ति, भावना या सक्ष्म तत्त्व आदि नाम ही पात्रका नाम होता है। परन्त प्रतीकात्मक पात्रमे पात्रका नाम चाहे जो भी हो, वह पात्र अपने गुणो या कार्यो द्वारा किसी प्रतीयमान तत्त्व या प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी रूपककथामें पात्र ही नहीं, अधिकांश घटनाएँ और वर्ण्य वस्तएँ भी प्रतीकात्मक या सांकेतिक होती है, इस प्रकारकी रूपक-कथाएँ भी दो तरहकी होती है—(क) अन्योक्ति-मूलक, जिसमे प्रस्तत कथा गौण या व्यर्थ और अप्रस्तन कथा प्रधान होती है और (ख) समासोत्तिम्लक, जिसमे प्रश्तुत और अप्रस्तत, दोनों कथाएँ समान महत्त्वकी होती है। किन्त इसमे यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक घटना या वस्त प्रतीकात्मक या सांकेतिक ही हो। उसमे अप्रस्तत या प्रतीयमान कथा भी आद्यन्त नहीं मिलती, बीच-बीचमें ही मिलती है। जायसीका 'पद्मावत' समासोक्तिमलक 'रूपक-कथा'-काव्य है। (३) जिसमे पात्र मानवेतर प्राणी या जड पदार्थ होते है। वे पात्र मानव-भाषा बोलते, समझते और मानवोसे बातचीत करते दिखाये जाते है। 'पंचतन्त्र' और ईसपकी 'पद्म-कथाएँ' (बीस्ट फेबिक्स) ऐसी ही है। धार्मिक या आध्यात्मिक तत्त्वनिरूपण या नैतिकता और व्यवहार-कुशलताका उपदेश देना ही इनका उद्देश्य होता है। हिन्दीमे 'प्रसाद'के 'एक घॅट' और समित्रानन्दन पन्तके 'ज्योत्स्ना' नामक नाटकोमें इसी ढंगकी रूपककथाएँ है. क्योंकि उनमे वक्षों और जड वस्तओंको भी मानवीकरण करके पात्र बनाया गया है। ऐसी कथाओं में स्वाभाविकता और यथार्थ जीवनका अभाव दिखाई पडता है। (४) जिसमें पात्र तो यथार्थ मानव होते है और घटनाएँ भी स्वामाविक होती है, परन्तु उसका समय प्रभाव गृढार्थव्यंजक और सांकेतिक होता है। उसमे कवि पात्रोके जीवनका ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्र उपस्थित करता है और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियोंका चनाव करता है कि परी कथा मानव-जीवनसे सम्बन्धित किसी सूक्ष्म सत्य या महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यह संकेत परी कथाके समन्वित प्रभावमे अधिक प्रतिफलित होता है: कथाके अवयवोमे उतना नहीं । वेबरने 'वाल्मीकि-रामायण'की कथाको इसी प्रकारकी रूपककथा माना है। वैदिक और पौराणिक साहित्यमे इस प्रकारकी सांकेतिक या रूपकात्मक कथाएँ बहुत मिलती है। 'प्रसाद'के महाकाव्य 'कामायनी'की कथा भी इसी प्रकारकी रूपककथा है।

रूपककथा जब किसी प्रवन्ध-कान्यके माध्यमसे अभि-न्यक्त होती है तो उस कान्यको रूपककथात्मक कान्य (एलेगॉरिकल पोइट्री) कहा जाता है। अंग्रेजीमे स्पेन्सरका 'फेयरी क्वीन' और बाउनिंगका 'आइडिल्स ऑव द किंग' इसी प्रकारके रूपकथात्मक महाकान्य माने जाते है। हिन्दी-के मध्यकालीन प्रेमाख्यानक कान्योम प्रायः सभी रूपक- कथात्मक काव्य है, जिनमें सर्वध्रागुख जायसीका 'पद्मावत' है। कुछ छोगोने तुरुसीके 'रामचरितमानस'मे भी रूपककथा खोजनेका प्रयास किया है। आधुनिक कवियोमें 'प्रसाद'का 'बामायनी' भी रूपककथात्मक महाकाव्य ही है।

— हां० ना० सि०

रूपककाच्य -हे॰ 'रूपककथाकाव्य'। रूपकातिशयोक्ति-हे॰ 'अतिशयोक्ति', पहला भेद। रूपगविता-हे॰ 'गिवता', नायिका।

रूपधनाक्षरी—मुक्तक दण्डकका एक भेद । इसमें २२ अक्षर होते है और १६, १६पर यित तथा अन्तमे लघुगुरु होते हैं । मानुने 'छन्दप्रभाकर' (पृ० २१८)मं 'छन्दोविनोद'का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार ८, ८, ८, ८पर विश्राम होना लिखा है। बात वही है। मनहरण छन्दकी ही भॉति रूपधनाक्षरी कृक्त भी अजभाषा किताका प्रिय छन्द रहा है। केशवदासने इसमें चतुराक्षर शब्दोंका प्रयोग अत्यन्त सुन्दरताके साथ किया है, पर वह मात्र प्रयोग है ('किविप्रया', पृ० २१९)। अजभाषाके प्रायः सभी किवयोने इस कृक्तका प्रयोग किया है। उदा०—''अजभी कुमारिका वे लीने सुक सारिका, बढावे कोक कारिकानि केसव सबै निवाहि''। विशेषके लिए दे० 'घनाक्षरी'। —ह० मो० रूपमाला १—मात्रिक सम छन्दका एक भेद। भानुके अनु-

रूपमाला १-मात्रिक सम छन्दका एक भेद । भानुके अनुसार प्रत्येक चरणमे २४ मात्रा तथा अन्तमे ग छ (ऽ।)
रहता है। इसका अन्य नाम मदन भी दिया गया है। इस
छन्दका उपयोग पद-शैलीमे प्रायः मिलता है। सूर, तुलसी
तथा भीराँने इसका प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त केशव
(रा० चं०) तथा रघुराज (रा० स्व०)मे यह छन्द मिलता
है। शोभन छन्द और इसमें विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि
अन्तमे ग लके स्थानपर जगण (।ऽ।) होता है। इसी कारण
प्रायः इनका एक साथ प्रयोग होता है। सूरके इस छन्दमे
ऐसा ही है—"तनक दै री माइ माखन, तनक दै री माइ।
तनक करपर तनक रोटी, माँगत चरन चलाइ" (स्० सा०,
समा सं०, पद ७८४)।

रूपमाला २-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । हिन्दीमें मात्रिक रूपमाला (S I SS × २ + SI) बहुत प्रचलित है। केशवने इस छन्दका वर्णिक प्रयोग किया है। 'प्राकृतपैग-लम्'(२: ८९)के इस नामके छन्दसे यह भिन्न है (तीन मगण)। र, स, ज, ज, भ, ग, ठके योगसे यह वृत्त बनता है (SIS, IIS, ISI, ISI, SII, SI) । उदा०—"रावरे मुखको विलोकत ही भये दुख दूरि। सुप्रलापन ही रह्यो उर मध्य आनँद परि" (रा० चं०, २३:७)। रूह-स्कियोंके मनानुसार आत्माके दो भेद है-रूह और नफ्स। रूइ सदवृत्तियोका उद्गमस्थल है। यह विवेकके द्वारा परिचालित होती है। रूह आत्माको अपरकी ओर ले जाती है। परमात्मा सम्बन्धी वृत्तियोका यह वासस्थान है। परमात्माका प्रेम रूहका ही विषय है। इसमें वराई नहीं आ सकती। इब्नुल फरीदने रूहको अमर कहा है। जीकीके अनुसार परमात्माने अपनी ज्योतिसे रूहकी सृष्टि की और फिर उससे जगत्का निर्माण किया। हुजवीरीका कहना है कि रूह और शरीर दो अलग-अलग पदार्थ है और परमात्मा इन दोनोंको एकत्र करता है। (दे०

'नक्स')। -रा० पू० ति० रेख़ता-रेखना शब्द फारसी मूल 'रेखतन्'से बना है, जो फारसीमें अनेक अथौंमें प्रयुक्त होता है। (१) बनाने, ईजाद वरने, (२) किसी चीजको कालिवमे ढालने या नयी वस्त वनाने, (३) उपयुक्त बनाने या मौजू करने आदि इसके अर्थ है। शेरानीके अनुसार जहाँ खुसरूने ईरानी और भारतीय छन्दःशास्त्रके समन्वयसे अनेक नयी चीजें तैयार की, वहाँ उन्होंने रेखताका भी आविष्कार किया। जिसमे फारसी ख्याल हिन्दीके मुताबिक हो और जिसमें दोनो जवानोके सरूद एक राग और एक तालमे वैधे हो, उसकी रेखता कहते है। इस प्रकार रेखता छन्द या गीतकी एक नयी शैली थी, जिसमे फारसी और हिन्दी मिसरे ताल और रागके ऐतवारसे छन्द होते थे-यथा "जेहाल मिरकीं मकुन तगाफुल दुराय नेना बनाय वितयाँ" (खुसरू)। अकृबर-कालीन फारसी कवि सादी भी (१५९६ ई०) रेखतासे गीत-का अर्थ छेते है-"सादी कि गुफ्तः रेखतः दर रेखतः दर रेखतः। शीरो शकर आमेखतः हम रेखतः हम गीत है"। यही दक्षिणमे इस शब्दके प्रथम प्रयोक्ता कहे जा सकते है। रेखता हिन्दी छन्दोमे भी पहुँच गया था। कबीर आदि निर्गुण सन्तोंने रेखते लिखे है, जो मध्यकालीन खडीबोली-में है और जिनमे फारसी-अरबीके प्रचलित शब्द भी प्रयुक्त

धीरे-धीरे छन्दके क्षेत्रसे निकलकर यह शब्द ऐसी पद्य-शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमे दो भाषाओका मिश्रण हो। इस प्रकार रेखताका अर्थ मिश्रित भाषाके लिए होने लगा। शेख वाजिन्ब, जमाल, सादी आदिने रेखता शब्दका यही अर्थ लिया है, यथा—"अंखियाँने झइ लगाया ससवा करेंगी, आखिर, दर दा कि राज पिनहाँ ख्वाहिद श्रदा सतराराँ" (ख्वाजा हाफिज, १२वी सदी हि०)। दिवखनी-के कवियोने अपनी भाषाको हिन्दी, हिन्दवी, गुजरी, दक्ती कहा जो उत्तरकी खडी बॉगरूका ही रूप है। जब पद्मकी भाषामे फारसी तुरकीवें भी मिलने लगी, तब इस प्रकारके पद्यके लिए रेखता शब्दका प्रयोग होने लगा—"वली तुझ हुस्नकी तारीफमे जब रेखता बोले"। यही अर्थ लेकर रेखता दक्तनसे उत्तर आया। वलीसे प्रेरणा प्राप्त करके फारसीका गाढा रंग देकर फारसीदों मुसलमान कवियोने रेखताको, जो अभीतक केवल पद्यके लिए प्रयुक्त होता था, 'जनान उर्दू-प-मुअला' बना दिया। रेखता और उर्दू कुछ दिनोतक समानार्थकसे चले। उर्दूके हातिम (१७४६ ई०) मीर, सौदा, गालिबतकने इस शब्दका प्रयोग किया है, किन्त धीरे-धीरे इसके स्थानमे उर्दू शब्द प्रचलित हो गया।

हिन्दीके गद्य-लेखक लेल्ल्लालने अपनी भाषाके तीन वर्ग किये—(१) खड़ीबोली, (२) ब्रजभाषा, (३) रेखतेकी बोली (उर्दू)। मुंशी दुर्गाप्रसाद 'रेखते'का मानी 'गिरे हुए'से लेते हैं। स्वर्गीय आजादके अनुसार ''दस जवानको रेखता कहते हैं, क्योंकि मुखतलिफ जवानोंने इसे रेखता किया, जैसे दीवारको ईट, भिट्टी, चूना, सफेदी वगैरह पुख्तः करते हैं या रेखताके माने हैं गिरी-पड़ी परेशान चीज, वयोंकि इसमें अलफाज परेशान जमा हैं, इसलिए इसे रेखता कहते हैं"।

मूलतः रेखता खडीवोर्छ।का ही विकसित रूप है। हिन्द्ओं के रेखता में केवल खडीवोर्लावा ढाँचा है। १७वी श्राभिक बाद उत्तरी भारतमे सुसलमाने के रेखते खरीकोली और फारसी तरदीयके मिश्रित र पमे हैं। - मा० व० जा० **रेखाचित्र** – रेखाचित्र वहानीते भिलना-जुलता साहित्य-रूप है। यह नाम अंग्रेपीके 'स्केच' शब्दकी नाप-तीलगर गढा गया है। स्क्रेच चित्रदालाका अग है। इसमे चित्रकार कुछ इनी-भिनी रेखाओं द्वारा वि.सी वस्त, व्यक्ति या ध्रयको अंकित कर देता है-स्केच रेखाओकी बहुलता और रंगोकी विविधतामे अंकित कोई चित्र नहीं है, न वह एक फोटो ही है, जिसमे नन्ही-से-नन्ही और साधारण-से-साधारण वस्तु भी खिच आती है। साहित्यमे जिसे रेखाचित्र कहते है, उसम भी कम-ले-कम राब्दोंमे कलात्मक ढंगसे किसी वस्तु, यक्ति या दृश्यका अंकन किया जाता है। दृश्मे साधन शब्द है, रेखाएँ नहीं। इसीलिए इसे शब्दिन भी कहते है। कही-कही इसका अंग्रेजी नाम स्केच भी व्यवहृत होता है।

रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भावका कम-से-कम शब्दोंमे मर्म-स्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है। कहानीसे इसका बहुत अधिक साम्य है—दोनोंम क्षण, घटना या भाव विशेषपर ध्यान रहता है, दोनोदी रूप-रेखा संक्षिप्त रहती है और दोनोंने कथाकारके नैरेशन और पात्रों के सलापका प्रसंगानुसार उपयोग किया जाता है। इन विधाओं के साम्यके कारण अनेक कहानियोको भी रेखाचित्र कह दिया जाता है और इसके ठीक विपरीत अनेक रेखानित्रोंको कहानीकी संज्ञा प्राप्त हो जाती है। कही-कही लगता है, कहानी और रेखाचित्रके बीच विभाजन-रेखा खीचना सरल नहीं है। उदाहरणके लिए, श्री रायक्रणदास लिखित 'अन्तःपुरका आरम्भ' कहानी है, पर वह आदिम मनुष्यकी अन्तःवृत्तिपर आधारित रेखा-चित्र भी है। श्री रामवृक्ष वेनीपुरीका गुस्तक 'माटीको सूरनें'-मे संक्रित 'रिजया', 'बलदेव सिह', 'देव' आदि रेखाचित्र कहानियाँ भी है। श्रीमती महादेवी वर्मा लिखित 'रामा', 'धीसा' आदि रेखाचित्र कहानी भी कहे जाते हैं। कहानी और रेखाचित्रमे साम्य है अवस्य, पर जैसा कि शिष्टेके विश्व साहित्य कोशमे कहा गया है, रेखाचित्रमें वहानीकी गहराईका अभाव रहता है। दूसरी वात यह भी है कि कहानीमे किसी-न-किसी मात्रामें कथात्मकता अपेक्षित रहती है, पर रेखाचित्रमे नहीं।

व्यक्तियोके जीवनपर आधारित रेखाचित्र िर जाते है, पर रेखाचित्र जीवनचरित नहीं है। जीवनचरितके िष्ट यथातथ्यता एवं वस्तुनिष्ठता अनिवार्य है। इसमे कल्पनाके िष्ट अवकाश नहीं रहता, लेकिन रेखाचित्र साहित्यिक कृति है—लेखक अपनी भावना एवं कल्पनाकी त्लिकासे ही विभिन्न चित्र अंकित करता है। जीवनचरितमे समझताका भी आग्रह रहता है, इसमे सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण सब प्रकारकी घटनाओं चित्रणका प्रयत्न रहता है, लेकिन रेखाचित्रकार गिनी-चुनी रेखाओं, गिनी-चुनी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही उपयोग करता है। इन वार्तोसे यह भी सम्ह है कि रेखाचित्र आत्मकथा और संस्मरणते भी भिन्न

अस्तित्व रखता है।

रेखाचित्रकी विशेषना विस्तारमं नहीं, तीत्रतामे होती है। रेखािचत्र पूर्ण चित्र नहीं हैं—दह व्यक्ति, वस्तु, घटना आदिवा एक निश्चित दृष्टिविन्दुरे। प्रस्तुत किया गया प्रतिदिग्व है, जिसमे विदरणकी न्यूनतादी साध-साथ नीव स्वेदनशील्या वर्तमान रहती है। इसीलिए रेखाचित्रांकन-का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है, उस दृष्टिविन्दुका निर्धारण, जहां से लेखक अपने वर्ष्य-दिपयका अदलीव न कर उसका अंवान करता है। इस दृष्टिते व्यांग्य चित्र और रेखाचित्रकी कलाएँ बहुत समान है। दोनोमे दृष्टिकी सुक्ष्मना तथा कम-ते-कम स्थानमे अधिक-रो-अधिक अभिव्यक्त वरनेकी ततपरता परिलक्षित होती है। रेखान्तित्रको लिए संकेत सामर्थ्य भी बहुत अदस्य है—रेखा दिन्नकार शब्दो और वाक्योंसे परे भी बहुत कुछ कहनेकी क्षमता रखता है। रेखाचित्रके लिए उपयुक्त विषयका चुनाव भी बहुत महत्व-पूर्ण है--इस्की विषय-वरत ऐसी होती है, जिसे विस्तृत वर्णन और रंगोकी अपेक्षा न हो और जो कुछ ही रेखाओके संघानसे चमक उठे। चोदनी रातमे ताजमहरूदी शोभाको रेखाचित्रमे वॉथा जा सदता है, पर शाहजहाँ और मुगताज-महलकी प्रेमवाधाको रेखाचित्रकी सीमाम वॉथ सवाना कठिन

रेखाचित्रके लिए विषयका वन्धन नहीं रहता, सब प्रकारके विषयोका इसमें समावेश हो सवता है। मूल चेतनाके आधारपर रेखाचित्रोको अनेक वर्गोमे रखा जा सवता है—संस्मरणात्मक, वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, मनो-वैज्ञानिक आदि।

हिन्दीने अनेक लेखकीने रेखान्तित्र लिखे है। इस क्षेत्रके कुछ महत्वपूर्ण नाम है-बनारसीदास चतुर्वेदी: 'रेखाचित्र', महादेवी वर्मा : 'अतीतके चलचित्र', 'स्मृतिकी रेखाएँ' और 'शृंखलाकी कड़ियाँ', रामवृक्ष देनीपुरी: 'माटीकी स्रते' तथा 'रोहूं और गुलाव', प्रकाशचन्द्र गुप्तः 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच तथा रेखानित्र', कन्हेंयालाल मिश्र, 'प्रभाकर': 'भूले हुए चेहरे' आदि। रेरुती-पटेंकी रस्मके कारण पुरुष और खिदोकी सोसायटी अलग-अलग हिस्सोमे वॅट गयी थी । इसीके प्रभावमे सियो-की नीली ऐसी हो गयी थी, जिसमे उनके मुहावरे अलग हो गये थे और उनकी वोलचालका ढंग भी पुरुषोसे अलग हो गया था। उसको बेगमाती जबान कहते थे। लखनऊमे जब शायरीका जोर हुआ और लोगोको नवी-नवी चीजे सझने लगा तो 'रंगीन'ने येगमाती जवानमे शेर कहने ज्ञारू किये। उर्दको रेखता कहते थे। इसलिए वेगमाती जबानकी शायरीको इसका स्क्रीलिंग बनावर रेक्ती कहने लगे। इसमे वक्ता सदैव स्त्री ही होती है और उसीकी ओर-से वर्णन किया जाना है। 'रगीन'की यह नरी शायरी देख-कर 'इन्शा'ने भी रेख्नियाँ लिखी। इनके अतिरिक्त मिरजा अलीदेग 'नाजनी', मीर यार अली 'जान साहव', देगम आदि रेख्तीके प्रसिद्ध कवि है। देगमोंकी विशेष दोली इकट्ठा और मुरक्षित करनेका रेख्तीने यदा सफल काम विया। इनके पढ़नेसे लखनऊवी मभ्यताकी अगणित ऐसी बाते मालूम होनी है, जो स: हित्यके किसी और रूपमे नही मिलती। त्स कालमें नवावोंका रुखनक मोग-विलासमें ऐसा हुवा हुआ था कि रेख्तीका सुकाव भी दसी और हो गया। इसलिए गजलकी तरह भावनाओं मेश्वर चित्र इसमें नहीं मिलते। उदाहरणार्थ—"हें दिवालीसे सिवा जाजका दिन आजकी रात, वरसे निवलों न जरा आजका दिन आजकी रात। तीसरे दिन नहीं जाते हैं विसीके घरसे, और रह जाओ हुआ आजका दिन आजकी रात। सुब्हको देखा है मुंह शाम वरनका भेने, खैरसे काटे खुदा जाजका दिन आजकी रात"; "खोली मेंगाके उनके घर आप हूँ मैं जाती, गरोके हाथ वाजी मेजूँ पयाम कवतक"; "मगलका दिन है साहव हो जाथगी वह दुवली, बचीको मेरी देखो मारो न तुम थपेड़े" तथा "वेकली दिलको हुई नौज मैं पहनूँ गजरे, फूलोंके बोझसे दुखने लगे जिन्थों गजरें"। — म० रेडियो डाइक्सेण्टी—दे० 'रेडियो रूपक'।

रेडियो नाटक - रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ लिखित नाटक रेडियो नाटक कहा जाता है। चॅकि यह मात्र अन्य होता है, अतः इसे अन्य नाटक भी कहते है और चूंकि इसमे ध्वनिकी प्रधानता होती है, अतः ध्वनि नाटक भी कहते है। पर रेडियो नाटक अथवा रेडियो नाट्य नाम ही अधिक प्रचलित एवं न्यवहृत है। इसकी सक्षिप्त रूपरेखाके कारण इसे एकांकी समझ लिया जाता है, पर ऐसा सम-झना निराधार है (दे०-'एकांकी')। रेडियो नाटकके सम्बन्धमें अंक का प्रदन नहीं उठता। इसमें एक दृश्य भी रह सकता है, अनेक दृश्य भी हो सकते है। दृश्योपर भी किसी प्रकारका वन्धन नहीं है, दो पंक्तियोका भी दृश्य हो सकता है, दो सौ पंक्तियोका भी। पच अंकीय नाटकोको भी रेटियो नाटक बनाकर प्रसारित किया जाता है। कुछ लोग इसे रेडियो रूपकका पर्धाय समझते है, पर रेडियो रूपक रेडियो नाटकके अनेक प्रकारोमेंसे एक है (दे०--'रेडियो रूपक')।

प्राचीन आचायोंने जिस स्वरूपविधानको हुउय कहा था, वह रेडियो नाटकके रूपमे मात्र श्रव्य हो गया है। साधनो एवं माध्यमके परिवर्तनके कारण रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे अनेक बातामे भिन्न है। रंगमंच-नाटक दृज्य भी है और श्रव्य भी। वह आंगिक अभिनयकी भी कला है, वाणीकी भी । उसमें वातावरण एवं परिस्थितियोकी सुचित करनेवाले दश्य-साधन उपलब्ध है, पात्रोके व्यक्तित्व-के सूचक परिधान, अलंकरण, मुद्रा आदि प्राप्त है, पर रेडियो नाटक इनसे पूर्णतः वंचित है । रंचमंचपर एक साथ ही अनेक पात्रोकी उपस्थिति होनेपर भी पात्रों एव उनके किया-कलापोका परिचय दर्शकोके लिए कोई समस्या नही बनता, पर रेडियो नाटकमं क्षण-क्षण इन बातोपर ध्यान देनेकी आवश्यकता होती है, जिससे श्रोताओंके लिए वह सहज बोधगम्य हो सके। इत्यतत्त्वके अभावमे रेडियो नाटकमें पात्रोंकी संख्या कम होती है, जिससे वे सरलतासे पहऱ्याने जा सकें। इसी कारण उसका कथानक अपेक्षाकृत सरल होता है। स्पष्ट है कि रेडियो नाटक अधिक लम्बे नहीं हो सकते। आध घण्टेका रेडियो नाटक आदर्श कहा जा सकता है। दस-पन्द्रह मिनटके नाटक भी काफी लोक-प्रिय होते है। एक घण्टेसे अधिकके नाटक प्रायः प्रसारणीय

नहीं होते । क्रमशः प्रसारित होनेपाले नाटक भी साधारणतः पन्द्रहसे तीस मिनटके होते हैं। लेकिन जहाँ रेडियो नारक-पर इतने बन्धन है, वही उसमें रगमंचीय नाटकोंकी तलना-में कुछ सुविधाएँ भी प्राप्त है। इसमें संदलनत्रयका कोई बन्धन नहीं है। रेटियों नाटककी घटनाएँ बड़ी सरलतामें उत्तरी ध्रवसे दक्षिणी ध्रव तथा गौतम बुद्धके कालसे गान्धीयुगतककी यात्रा कर सकती है, केवल एक वातकी ध्यानमे रखकर कि प्रभावकी अन्विति सदा बनी रहे और नाटक अपने समग्र रूपमे श्रोताओको प्रभावित कर सके। साथ ही रेडियो नाटक मनोवैज्ञानिक चित्रणकी अनेक सुवि-धाएँ प्रदान कर नाटककारके लिए पात्रोके मनकी गहराईमें भी उतर सकना सरल बना देता है। अतः जहाँ रंगमंचकी सीमाओवे कारण रंगमंचीय नाटक केन्द्रमुखी होकर सघनता-की ओर ही जानेका प्रयास करता है, वहाँ रेडियो नाटक विस्तारमें भी जा सकता है, गहराईमे भी। उसमे एक साथ ही सामाजिक जीवनकी विविधरूपिणी यथार्थता भी अंकित हो सकती है, अन्तरको उद्वेलित करनेवाले द्वन्द्व भी अंकित हो सकते है। गतिशील दश्योंका संयोजन भी बहुत अंशों-तक रंगमंचकी परिधिके बाहर है, पर रेडियो नाटकके लिए यह बहुत सुकर है। दश्यान्तर या दश्यपरिवर्तन भी रेडियोके लिए बहुत आसान है। वाद्य-संगीत, ध्वनि-प्रभाव या शान्तिके द्वारा उसमें बडी सरलतासे दृश्यान्तर स्चित कर दिया जाता है। रंगमंचपर सब प्रकारके इइय भी उपस्थित नहीं किये जा सकते, पर रेडियो नाटक में संसुद्रकी उत्ताल तरंगोपर ड्रबती-उतराती नौका भी चित्रित की जा सकती है, कारखानोंमे काम करते हुए मजदूर भी दिखाये जा सकते है। रंगमंचपर अस्वाभाविक लगनेवाले प्रतीकात्मक पात्र भी सजीव स्वाभाविक प्राणी वन जाते है. भाव और विचार भी मानव-शरीर धारण कर छेते है तथा हास्यास्पद जैसे लगनेवाले मानवीकृत जड-पदार्थ भी प्राणवन्त हो उठते हैं। सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ज्योत्स्ना'के पात्र रेडियोपर जितने स्वाभाविक लगेंगे, उतने रंगमंचपर नहां । रंगमंचका अस्वामाविक स्वगत-कथन भी माइक्रोफोन-के स्पर्शसे पूर्णतः स्वाभाविक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ दृश्य-साधनोके अभावके कारण रेडियो नाटककी अनेक सोमाएँ है, वहीं इसे अनेक प्रकारकी सविधाएँ भी प्राप्त है।

रेडियो नाटकका आधार ध्वनि है। ध्वनि भावाभिन्यक्तिका बहुत बड़ा साधन है। हम एक ही शब्दकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे उच्चारित करके प्रेम, घृणा, क्रोध आदि विभिन्न भावनाओकी अभिन्यक्ति प्रतिदिन ही अपने न्याव-हारिक जीवनमें करते है। रेडियो नाटकमें ध्वनिका उपयोग जिन तीन रूपोंमे होता है, वे है भाषा, ध्वनिप्रभाव और संगीत।

भाषाका जो स्वरूप हमारे पढ़ने-लिखनेके नहां, बोल्ने और सुननेके काम आता है, वहां रेडियो नाटकका मूल आधार है। इससे यह निष्कर्म निकल्ता है कि रेडियो नाटककी भाषा सरल, स्वाभाविक, भावाभिन्यंजक और अभिनेताओं द्वारा आसानीसे बोली जा सकनेवाली होनी चाहिये। रेडियो नाटकमे भाषाका व्यवहार दो रूपोंमें

होता है-१. कथनोपकथन या संलापके रूपमें और २. **नेरेशन** या प्रवक्ताके कथनके रूपमें । नैरेशनसे तात्पर्य नाटकके उस अंशसे होता है, जिसमे पात्र नाटकके किया-करता है, आवश्यक कलापका वातावरण निर्मित विवरण देता है, घटनाओंकी श्वखला जोडता है अथवा घटनाओकी आलोचना करता है। इंग्लैण्डकी प्रसारण-संस्था बी० बी० सी०मे ऐसे पात्रका व्यवहार पहली बार १९२७में सिसिल लिविसने 'लाई जिम' न्यासके रूपान्तरमें किया था। ऐरो पात्रको नैरेटर, सत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, वाचिका, निरूपक, प्रसारक, कथाकार, आलोचक, उद्घोषक, स्वर, स्त्री-स्तर, पुरुष-स्वर आदि नाम दिये जाते है। इनमें से नैरेटर, प्रवक्ता, वाचक और स्वर नाम अपेक्षा-कत अधिक व्यवहृत होते है । ऐसे पात्रोका काम नाटककी उन बातोंको कहना होता है, जो कथनोपकथनके अन्तर्गत नहीं आ पातीं। रेडियो रूपकमे नैरेटर कुछ बहुलतासे आते है, पर रेडियो नाटकमे वह जितना ही कम आये, नाटक उतना ही कलात्मक समझा जाता है। यह अवस्य है कि उसकी उपस्थिति-अनुपरिथति बहुत अंशोतक नाटक-विशेष एवं उसके प्रकारपर भी निर्भर होती है। नैरेटर दो प्रकारके होते है-१. वे नैरेटर, जिनके व्यक्तिगत जीवनका नाटककी घटनाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं होता । वे नाटकके क्रिया-कलापके तटस्थ दर्शक एवं प्रवक्ता होते है। २०वे नैरेटर, जो नाटकके पात्र होते है और जिनके जीवनकी घटनाएँ नाटकते प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है। ऐसे नैरेटरको पात्र नैरेटर भी कहते है। उदाहरणके लिए, यदि कोई पात्र-अपने जीवनकी कथा बीच-बीचमें नाटकीय प्रसंगोके लिए स्थान छोडकर सनाता है, तो वास्तवमे पात्र नैरेटर ही है। ऐसे नैरेटरको कभी-कभी पहचान सकना कठिन भी होता है।

ध्वनिका तात्पर्य है रेल, तूफान, वर्षा, बादल, आदिकी ध्वनियाँ, जिनका व्यवहार नाटक प्रसारित करते समय किया जाता है। ध्वनिप्रभाव और वाद्य-संगीतकी आवश्यकता पात्रोके कार्योंके लिए पृष्ठभूमि एवं वातावरण-निर्माण, भावाभिव्यंजन, ह्रयान्तर, देश-काल-परिचय आदिके लिए होती है। इनके द्वारा नाटकमें सजीवता एवं प्रभावोन्पादकता आती है।

शिल्पकी दृष्टिसे रेडियो नाटकके मुख्य मेद ये है— रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तर, रेडियो फैण्टेसी या अतिकल्पना, मोनौलॉग या स्वगत नाट्य या एकपानीय नाटक, संगीत रूपक और झलकियाँ।

रेडियो नाटककारका काम केवल नाट्य-लेखन है, अभिनेताओं को उचित निर्देश देकर, उनसे रिहर्सल कराकर उसे अन्तिम रूपमें प्रसारित करनेका काम प्रोड्यूसर करता है। कुछ लोग उसे निर्देशक या संचालक भी कहते है। प्रसारणके समय नाटकके अपेक्षित स्थलोपर ध्वनिप्रभावका नियोजन ध्वनि-संयोजक करता है।

हिन्दीमे रेडियो नाटकको प्रारम्म हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए। सर्वप्रथम नाटक ऑल इंडिया रेडियो, दिर्छा केन्द्रसे सन् १९३६में प्रसारित हुआ था। वह भी मौलिक

नाटक नही, रंगमंचके लिए लिखित एक बॅगला नाटकका अनुवाद था। बंगालमें चॅ्कि रंगमंच-परम्परा पहलेसे थी, वहाँ नाटकोका प्रसारण १९२८से ही प्रारम्भ हो गया था। उस समय ऑल इंडिया रेडियोकी स्थापना नही हुई थी। वे नाटक भी रंगमंचके ही होते थे और तीन-तीन घंटेतक प्रसारित किये जाते थे। वास्तवमे, नया माध्यम होनेके कारण इस क्षेत्रमें सब जगह पहले प्रयोग ही हुए, पहले रंगमंच-नाटक ही रेडियो द्वारा प्रसारित किये गये। इंग्लैण्डमे भी जो पहला नाटक रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था, वह रोक्सपीयरके 'जूलियस सीजर'का एक दृदय था। अपने पूर्ण रूपमे प्रसारित होनेवाला पहला नाटक दोक्सपीयरका 'टवेल्व्थनाइट' था, जिसका प्रसा-रण २८ भई, १९२३ ई०को हुआ था । १९२६ ई०तक बड़े-बडे नाटकोके प्रसारणके पहले रगमंच-नाटकोके दृश्य-संकेतीं-की तरह चार-पाँच मिनटकी भूमिकाएँ होती थीं। फिर बाद-के अनुभवोसे ज्ञान हुआ कि रेडियो नाटक रंगमंच नाटक-से विळकुल भिन्न है, और तव १९२७में सिसिल लिविस द्वारा रूपान्तरित कांरेडके उपन्यास 'लाई जिम' और उसके कछ ही पहले रेडियोके लिए विशेष रूपसे लिखित रिचर्ड ह्यजेजके मौलिक रेडियो नाटक 'डेजर'के प्रसारणसे रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर सका। हिन्दी क्षेत्रने भी अपने अनुभवासे यह समझा कि रेडियो नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न है और जागरूक लेखको हारा रेडियो नाटक लिखे जाने लगे। रेडियो नाटक प्रगतिपर है और दो प्रकारमे इसका विकास हो रहा है। एक और रेडियोके लिए मौलिक नाटक लिखे गये है और दूसरी ओर देशी-विदेशी प्रसिद्ध रंगमं च-नाटकों, कहानियो और उपन्यासोके रेडियो रूपान्तर प्रस्तृत किये जा रहे है।

[सहायक प्रनथ—रेखियो नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना; रेखियो नाट्य शिल्प : सिद्धनाथ कुमार; दि रेखियो हे : फेलिक्स फेलन; दि राइट वे टु रेखियो हे राइटिंग : वाल जीलगुड; रेखियो थियेटर : वाल जीलगुड; रेखियो प्लेज एण्ड हाउ टु राइट देम : चार्ल्स हैटन; हाउ टु राइट फॉर रेखियो : जेम्स हिष्ले; किस्टोफर कोलम्बस : छुईं मैक्नीस; फाइव रेखियो फ्लेज—इण्ट्रोडक्शन : वाल जीलगुड।]
—सि॰ कु॰

रेडियो नाट्य-दे॰ 'रेडियो नाटक'। रेडियो नाट्य रूपान्तर-दे॰ 'रेडियो रूपान्तर'। रेडियो फीचर-दे॰ 'रेडियो रूपक'।

रेडियो फेंटेसी —रेडियो फैण्टेसी रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसे अतिकल्पना भी कहते हैं। फैण्टेसीका अर्थ हैं कल्पना और रेडियो फेण्टेसीमें काल्पनिक चित्रणकी प्रधानता रहती है। काल्पनिकता तो सभी नाटकोमे होनी है, लेकिन यहाँ काल्पनिक चित्रण एक विशेष अर्थम प्रयुक्त किया जा रहा है। यथार्थ जगतमे जिन घटनाओंका होना सम्भव नहीं है, उन्हें रेडियो फैण्टेसीमें घटित होते चित्रित किया जाता है और उनके द्वारा किसी प्रभावशाली विचार या मार्मिक अनुभृतिकी अभिन्यक्ति की जाती है। इसमे अलैकिक और मानवेतर प्राणी भी आवश्यकतानुसार पात्र-रूपमें आते हैं। रंगमंचपर फैण्टेसीको प्रम्तुत करना कछ

किंठन है और प्रस्तुत होनेपर उसके अस्वाभाविक लगनेथी सम्भावना भी हैं, पर रेडियोपर फैण्टेसी विलकुल स्वाभाविक लगती हैं। हिन्दीने रेडियो फैण्टेसीकी रचना अभी बहुत वाम हुई हैं। — सि॰ कु॰ रेडियो मोनोलॉग-दे॰ 'रेडियो म्वगत नाट्य'। रेडियो रूपक-रेडियो रूपक रेडियो नाटकके अनेक भेडोंमेसे एक हैं। प्राचीन नाट्यशास्त्रके रूपकसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमे रेडियो रूपक शब्द अंग्रेजी-फे रेडियो फीचरके लिए व्यवहृत किया जा रहा है; यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि फीचरका अनुवाद रूपक क्यों, कब और कैसे कर लिया गया। अब तो फीचर के लिए रूपक शब्द रूढ हो गया है।

बी॰ बी॰ सी॰में फीचर नाम डाकुमेण्टी 'यथातथ्य सचनाओंपर आधारित रचना'के लिए व्यवहत होता है। लगभग पच्चीस वर्ष पहले वी० वी० सी०मे फीचर नामकी रचनाएँ नहीं होती थी, लेकिन बी० बी० सी०का नाटक-विभाग रेडियो टेकनीकके सम्बन्धमें नये-नये प्रयोग करता रहा है। उसे विशेष अवसरोके लिए विशेष कार्यक्रमोका आयोजन करना पडता, ठीक वैसे ही, जैसे स्वाधीनता-दिवस, रवीन्द्र-दिवस, प्रसाद-जयन्ती आदि विशेष अवसरी-के लिए ऑल इण्डिया रेडियोके विभिन्न स्टेशनीसे विशेष कार्यक्रम आयोजित किये जाते है और जिस प्रकार इन विशेष कार्यक्रमोकी सचनाएँ रेडियो हाइलाइट या 'विशेष कार्यक्रम' शीर्पकोसे समाचारपत्रोमें दी जाती है, उसी प्रकार बी० बी० सी०की विशेष कार्यक्रमोंकी सचनाएँ पत्रोंमें निक रती थी। इन कार्यक्रमोंको सामान्य कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता था और इन्हे 'फीचर्ड प्रोमाम' दाहते थे। दोलचालमें 'ड'का लोप हो। गया और ये फीचर प्रोग्राम कहे जाने लगे। पहले फीचर प्रोग्रामका अर्थ वहाँ विशेष कार्यक्रम ही था, लेकिन धीरे-धीरे उसके अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आने लगी, जो रेडियो टेकनीक-की दिशामे कुछ नये प्रयोगोंके लिए लिखी जाती थी। इन प्रयोगशील कार्यक्रमोंका झकाव कल्पना-प्रधान रचनाओंकी और कम, तथ्यप्रधान रचनाओंकी और अधिक था। उन्हीं दिनों ग्रेट बिटेनमे डाइसेण्ट्री फिल्मोंका विकास हुआ और रेडियो प्रोयामोंसे सम्बद्ध कुछ व्यक्ति उनका अनुकरण करने लगे। वे आवाजको रिकार्ड करनेवाली मशीनोके द्वारा यथातथ्य घटनाओंके रिकार्ड तैयार कर लेते और उन्हीके आधारपर नाटकीय रचनाएँ लिखकर प्रसारित करते। ये नये प्रकारकी रचनाएँ, जिन्हें रेडियो डाक-मेण्ट्री कहा जाता, वड़ी आवार्षक थी। फलतः इस दिशामें अनेक प्रयोग होते रहे और अब तो इनकी टेकनीक इतनी विकसित हो चुकी है कि बी० बी० सी०मे नाटक-विभागसे पृथक इनके लिए अपना एक स्वतन्त्र विभाग ही है।

अंग्रेजीके प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार छुई मेकनीसने, जो बी० बी० सी०से सम्बद्ध भी हैं, फीचरको वास्तविकता-का नाटकीकृत रूप कहा है। वास्तविकताका मतलव यहाँ वास्तविक घटनाओ एवं तथ्योंसे है। lawrence gillian, जिनकी गिनती बी० बी० सी०के आलेख-रूपको-के प्रवर्त्तकोंमें होती है, कहते हैं कि रूपक तथ्यपर आधारित होता है, नाटक कल्पनापर । यदि रूपककार दामोदर नदीकी योजनापर कोई रूपक लिखना चाहे, तो उसे उस योजनामें लगे हुए लोगों तथा उस क्षेत्रमे रहनेवालोंके विचार उन्हींके शब्दों और उन्हींकी आवाजमें प्राप्त करने होंगे। यह द्याग उन लोगोंसे बातचीत करके और उसका रिकार्ड तैयार करके किया जायगा और उन्ही रिकार्डोंके आधारपर एक सजीव, मनोरंजक एवं नाटकीय रचना प्रस्तुत की जायगी। रेडियो रूपकोंमें सब प्रकारकी वास्त-विकताओंका नाटकीकृत रूप उपस्थित किया जा सकता है। जिस प्रकार वास्तविकताओंकी कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार रूपकोंकी भी कोई सीमा नहीं है।

रेडियो रूपक वारतवने एक स्वतन्त्र कला है, जो नाटक आदिके स्वरूपविधानों से पूर्णतः पृथक् है। एच० आर० विलियम्सनका तो कहना है कि रेडियोके पास यदि कोई अपनी कला है, जिसका निर्माण केवल रेडियोने किया है, तो वह रूपक है। रेडियोसे प्रसारित की जानेवाली अन्य रचनाएँ तो बहुत अंशतक पहलेसे उपलब्ध रचनाओं के स्पान्तरस्वरूप है।

साधनों अभावमें रेडियो रूपककी कठाका हिन्दीमें अभी विकास नहीं हो सका है, यद्यपि उस ओर प्रयत्न किये जा रहे हैं। तथ्यप्रधान रूपक प्रसारित अवश्य किये जाते हैं, लेकिन उनमें तथ्य सम्बन्धी रिकार्डोंका व्यवहार नहीं होता। तथ्यप्रधान ऐसी सामान्य रचनाओं भी रेडियो रूपक ही कहा जाता है। इनसे पृथक्ता प्रदर्शित करनेके लिए उन रूपकोंको, जिनमें रिकार्डोंका पर्याप्त व्यवहार होता है और जो सहीं अर्थमें रेडियो फीचर या रेडियो डाकुमेण्ट्री कहे जा सकते है, आलेखरूपफ या वस्तुरूपक कहा जाने लगा है। आलेखरूपक नाम अधिक प्रचलित है।

रेडियो रूपांतर — रेडियोक अन्य माध्यमको लिए रंगमंचनाटको, कहानियों और उपन्यासोंके परिवर्तित खरूपविधानको रेडियो रूपान्तर कहते हैं। इन रचनाओको
अन्य माध्यमके उपगुक्त बनानेके लिए कुछ आवस्यक
परिवर्तनोंके द्वारा इन्हे रेडियो नाटक बना दिया जाता है।
जिन कहानियों और उपन्यासोंमे नाटकीय तत्व नहीं होते,
उनमें भी नाटकीय तत्वोंका समावेश करके ही सफल रेडियो
रूपान्तर प्रस्तुत किये जाते हैं। नाटकीयताकी अनिवार्थताके कारण ही कुछ लोग रेडियो रूपान्तरको रेडियो नाट्य
रूपान्तर कहते हैं। यह नाम भी सैद्धान्तिक दृष्टिसे ठीक
है, पर रेडियो रूपान्तर नाम ही अधिक प्रचलित एवं
व्यवहृत है। ऑल इण्डिया रेडियोके विभिन्न केन्द्रोसे
अनेक सफल रेडियो रूपान्तर प्रसारित हुए है और हो
रहे हैं, पर प्रकाशित रूप में इने-गिने ही मिलेगे।

[सहायक ग्रन्थ— रेडियो नाटक : हरिश्चन्द्र खन्ना।] — सि॰ कु॰ रेडियो वार्त्ता—रेडियोके आविष्कारने जिन अनेक नये साहित्य-रूपोंको जन्म दिया है, उन्हों मेंसे एक रेडियो-वार्त्ता है। अंग्रेजीमें इसे रेडियो-टॉक कहते हैं। इसे रेडियो-वार्ताचीत मी कहा जाता है।

रेडियो-वार्त्ता निबन्धके बहुत निकट होती है, पर

निवन्धते इसमें अनेवा भिन्नताएँ है। यह मात्र श्रव्य है। यह लिखित होकर भी मुद्रणके लिए नहीं, प्रसारणके लिए होती है, ऑखोके लिए नहीं, कानोंके लिए होती है, पढनेके लिए नहीं, सुननेके लिए होती है। फलतः किसी अन्य रचनाकी सभी विशेषनाएँ ईसमें अपेक्षित होती है। किसी लिखित निवन्थको पाठक एकसे अधिक बार भी पढ सकता है, पर रेडियो-वार्त्ता श्रोनाको एक ही वार सुननेको मिलती है। इसलिए सरलता, स्पष्टना और वोधगम्यता रेडियो-वार्ताके लिए अनिवार्थ है। क्षेवल अपने शब्दोंके द्वारा रेडियो-वार्त्ता श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिके सम्मुख निद्यित चित्र उपस्थित कर सके, इसके लिए इसमे चित्र-निर्माणकी शक्ति भी अपेक्षित है। वी० वी० सी०के प्रसिद्ध प्रसारण-कत्तां लियोनेल गैमलिनके शब्दोमें—"रेडियो द्वारा प्रस्तुत ध्वनिचित्र चित्रशालाके चित्रोंकी तरह गतिहीन नहीं होते, बल्कि बड़े गतिशील होते है, श्रोताके सामने एक क्षणके लिए आते हैं और फिर विदा हो जाते है, श्रोता उन्हें दुवारा नहीं देख सकता; फलतः उन्हें बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए"। इसके अतिरिक्त रेडियो-वार्तामे विषय-वस्तुका क्रमिक विकास बहुत ही तर्कसंगत और सुसम्बद्ध होना चाहिए, क्योंकि श्रोताओंकी स्मरण ज्ञक्तिपर भी इते ध्यान रखना होता है। साहित्यका लिखित रूप स्मरण-शक्तिका सहायक होता है, पर रेडियो-वार्त्तामे इस सुविधाका अभाव है। आलोचक रोजर मैनवेलके अनुसार ''प्रसारित वार्त्ता श्रुत रूपमें, श्रोताके विचार-प्रवाहमे एक-एक वाक्य करके रहती है और उसके बाद विस्मृत होती हुई स्मृतिकी टेडी-मेढी राहोंमे प्रवेश करती है। फलतः वार्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए वार्त्ताके प्रारम्भ और विकासके विपयमे निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कठिन होता है"। श्रोताकी इस मनोवैज्ञानिक अक्षमतापर रेडियो-वार्त्ताको ध्यान देना पडता है।

कुछ लोग रेडियो-वार्ताको 'रेडियो-भाषण' भी कहते हैं, पर प्रत्यक्ष भाषणसे रेडियो-वार्ता भिन्न होती है। प्रत्यक्ष भाषणमे वक्ता समामं उपस्थित समृहसे वात करता है, व्यक्तियोंसे नहीं। प्लेटफार्मसे अलग-अलग व्यक्तियोंसे बातें करना सम्भव है ही नहीं। रेडियो-वार्तामें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे ही बातें करता है, यह दूसरी बात है कि यह दूसरा व्यक्ति अलग-अलग बेठे हुए हजारों व्यक्तियोंका अंग होता है। निष्कर्षतः रेडियो-वार्तामे व्यक्ति-व्यक्तिके बीचका आत्मीय सम्बन्ध अपेक्षित रहता है। साथ ही, चूंकि रेडियो-वार्ता एक व्यक्ति प्रसारित करता है, इसमे उसकी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति अनिवार्य मानी जाती है। जैनेट डनवर कहते है— "प्रसारणमे सम्भवतः सबने वडी चीज वैयक्तिकता ही है"।

रेडियो-वार्त्ता मात्र श्रन्य होनेके कारण भाषित शब्दोंकी शिक्त और सम्भावनाओका पूर्णतः उपयोग करती है। इसकी भाषा पुस्तकोकी निर्जीव भाषा नहीं, प्रत्यक्ष सम्भावणकी सजीव भाषा होती है। इसके लिए ऐसी प्राणवन्त शैलीकी अपेक्षा होती हैं, जिसके शब्द बोलते हैं, चित्र-निर्माण करते हों, जो श्रोताओं अपने सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट न कर अपने भीतर उफनते भावों-विचारोके प्रति

आकृष्ट करते हों, जिसके वाक्योंमें गति हो, प्रवाह हो, लयात्मकता हो, सप्राणता हो।

[सहायक ग्रन्थ-द रेडियो-ग्रॅक: जैनेट डनबर; यू आर ऑन द एयर : लियोनेल गैमलिन; गुड लिस्निग: एल्कन ऐण्ड डोरोथियन एलन; ब्राडकास्टिग: हिल्डा — सि*०* कु० मैथिसन ।] रेडियो स्वगत नाट्य-रेडियो स्वगत नाट्य रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसे एकपात्री नाटक और रेडियो मोनोलॉग भी कहते है। इसमे कोई कथोपकथन नहीं होता। प्रारम्भसे अन्नतक केवल एक ही व्यक्ति अपनी कहानी कहता है तथा अपनी भावनाओंको अभिन्यक्त करता है। कथोपकथनका नितान्त अभाव होनेके कारण इसे नाटक कहनेमें संकोच होता है, लेकिन नाटकमे अपेक्षित इन्द्र स्वगत नाट्यमे भी होता है, मले ही यह इन्द्र पात्रविशेषके अन्तर्जगत्का ही हो। नाटकके अन्तर्गत इसे रखनेका यही आधार है। जब इसे नाटक कहा जाता है, तब तात्पर्य वोवल यह होता है कि स्वगतनाट्यमे नाटकका अपेक्षित द्वन्द्व है और वह पढनेके लिए नहीं, अभिनयके लिए लिखा जाता है तथा कोई क़ुशल अभिनेता उसे नाट-कीय ढंगसे प्रस्तुत कर श्रोताओको प्रभावित कर सकता है। सिहायक ग्रन्थ-रेडियो नाट्य शिल्प : सिद्धनाथ कुमार ।]

रोपनी -वर्षा ऋतुमे धानके बीज किसी खेतमे घने बो दिये जाते हैं। जब धानके पौथे कुछ बड़े हो जाते हैं, तब उन्हें उस खेतसे उखाडकर दूसरे खेतोमे थोडी-थोडी दूरपर 'रोप' (गाड) दिया जाता है। इस समय जो गीत गाये जाते हैं वे 'रोपनी'के नामसे प्रसिद्ध है। यह कार्य प्रायः समहर तथा चमार छोगोकी खियाँ करती है।

खेतमें पानी लगा है। कभी-कभी जपरसे जलबृष्टि भी हो रही है। नीचे भी जल और ऊपर भी जल। ऐसे समयमें मुसहरिनें धानके हरे पौथोको लेकर खेतमे रोपती जाती है और कलकण्ठसे अमृतकी वर्षा करती जानी है। इन गीतोंको सुनकर श्रोताओंका हृदय रसिक्त हो जाता है।

गाईस्थ्य जीवनका मधुर चित्रण इन गीतोंका प्रधान वर्ण्य विषय है। इनमे कही ससुरालके कष्टोका सजीव चित्र उपलब्ध होता है तो कही पित-पत्नीका विनष्ठ प्रेम। कोई पित परदेश गया हुआ है। इसी वीच उसकी स्त्री अपने मायके चली जाती है। जब वह परदेशसे लीटता है, तब अपनी स्त्रीको घरमे न पाकर बडा दुःखी होता है। वह मिनहारीका मेष धारण कर उसे खोजने निकल पड़ता है और अन्तमे अपने लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त करता है।

सोहनीके गीतोकी भॉति रोपनीके गीत भी बड़े सरस और मनोरम होते है। — कु० दे० ड० रोमांच-दे० 'सात्त्विक अनुभाव', तीसरा।

रोमांचवादी आलोचना (romantic criticism)—
यह एक प्रकारकी स्वच्छन्द आलोचना-प्रणाली है, जो
शास्त्रीय नियमोंकी कट्टरताके विरोधमे प्रचलित हुई है।
सोलहवी शताब्दीमें अरस्तूके शास्त्रीय नियमोका कट्टरतासे
आग्रह होने लगा, तब सिन्थयो जेराखीने रोमांचक
स्वच्छन्दताको साहित्यालोचनके लिए उपयुक्त घोषित

किया। पैटीजीने इस वातपर जोर दिया कि कान्यके लिए विषय-वस्त्वी विशेषता आवश्यक नहीं है, कान्यभय शैलीमे उसका निरूपणमात्र होना चाहिये। कान्यमय शैली, शैलीके अनुसार, कल्पनामूलक अभिन्यक्ति है, क्योंकि वह मानवकी जन्मजात प्रयृत्ति है। कल्पनाके द्वारा ही अमर्त भाव मूर्त रूप धारण करते हैं। रोमा चवादीकी दृष्टिमे साहित्यकी सृष्टि अन्तस्तलमे सप्त आनन्दको जायत् करनेके उद्देश्यसे होती है। वह लोककी प्रकृत भावनाओको लोक भाषामे व्यक्त करना चाहता है। वह साहित्यकी वद्ध रूढियोंकी लीकपर नहीं चलना चाहता । वर्ड सवर्थ, कॉलरिज और हैजलिट रोमांचवादी माने जाते है। वर्ड सवर्थकी 'लीरिकल बैलेड्स'की भूमिकाके प्रकाशनसे रोमांचवादी आलोचनाका प्रारम्भ होता है, कालरिज, टी० एस० ईलियटके शब्दोंमें आंग्ल साहित्यका आलोचक है, वह जर्मनीके सौन्दर्यवादियोसे प्रभावित था। उसने भी रोमांचक आलोचना-शैलीको प्रचारित किया (३० हिस्ट्री ऑव मार्डर्न क्रिटिसिन्म (द्वितीय भाग) : रेनेबैलेक; बायाग्राफिका लिटरेरिआ: कालरिज)। जहाँतक साहित्य-शास्त्रकी नियमबद्धताके विरोधका प्रश्न है, रोमांचवादी समीक्षा प्रभाववादी आलोचनाका अनुसरण करती है। महादेवीकी 'मै सजग चिर साधना छे' शीर्षक गीतकी आलोचना देवराजने इन शब्दोमे की है—"कवियोकी आत्मा जीवनके विशिष्ट दिव्य क्षणीमे, या यों कहिये, अपनी उन्मुक्तावस्थामे सत् और चिन्मय तत्त्वके साथ तादात्म्यकी अनुकृतिमे अनुप्राणित हो उठी । उसे समझमे आया, अबतक मैं कितनी भूलमें थी। यदि हम दुनियाको और इसकी सारी हलचलको अपने प्रियसे मिलाकर देखें तो कहाँ दुःख, कहाँ ससीम और असीम। सारा विश्व एक आनन्दोल्लाससे थिरकता-सा दिखलाई पड़ेगा। वह मौलिक सत् पदार्थ, जिसे आत्माने अपनी उन्मुक्ता-वस्थामें देखा था, उसकी पूर्ण अभिन्यक्ति इसी रूपमें हो सकती थी, जिस रूपमें वह काव्य-शरीर धारण कर खडी है" (रोमेण्टिक साहित्यशास्त्र) । हिन्दीमे रोमांचवादी नामक विशिष्ट नामसे कोई आलोचना-प्रणाली प्रचलित नहीं हुई, प्रभाववादी समीक्षामें ही वह समाविष्ट हो गयी है। -वि० मो० श० रोमांटिसिज्म-रोमाण्टिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद सामान्यतः एक प्रवृत्तिविशेषका द्योतक शब्द है। यह प्रवृत्ति किसी-न-किसी कालमें प्रायः सभी साहित्योंमें परि-लक्षित होती है। इस प्रवृत्तिकी मान्य परिभाषा है-"साहित्यिक उदारवाद ही रोमाण्टिसिज्म है," अर्थात् प्राचीन शिष्ट तथा क्लैसिक परिपाटीके विरोधमे उठ खडी होनेवाली विचारधाराको रोमाण्टिसिज्म कहा जाता है।

एक सामान्य प्रवृत्तिका नाम होनेपर भी रोमाण्टिसिज्म शब्दका विशिष्ट प्रयोग १९वी शतीके अंग्रेजी काव्यके लिए होता है, जिसके प्रमुख कवि थे वर्ड सवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन तथा काउपर। रोमाण्टिसिज्मकी विशेषताएँ है— उसका गहरा तथा आध्यात्मिक स्तरका प्रकृति-प्रेम, एक व्यापक तथा उदार मानवतावादमे विश्वास तथा काव्यकी मुक्त तथा स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली।

१८वी शतीके अंग्रेजी साहित्य नय-शाख्यादने अतीतके साहित्यको अपना आदर्श मानकर साहित्यक नियमादिका निर्माण किया। इन लोगोने अपने नूनन उत्साहमे साहित्यकी आत्माको उपेक्षित रखा। फलतः नियम, टेकनीक, रचना-पद्धति आदिमे उलझकर वे रह गये। वे यह भूल गये कि पॉचर्वा शतीका साहित्य अपने युग एवं परिवेशमें निर्मित हुआ था और उन समस्त सम्मावनाओको अपने युगमे एकत्र कर लेना असम्भव है। अतः परिणाम यह हुआ कि इस कालके साहित्यक त्रीक साहित्यमें रसकृता या रस-निष्पत्तिपर जोर दिया गया, जो सामान्य होती है, विशेष नही।

१७८ ९ई०की फ्रांसकी राज्यकान्तिकी तिथि महत्त्वपूर्ण है। रूसी रोमाण्टिक धाराका प्रथम प्रतिनिधि था। स्वातन्त्र्यकी लालसा एवं बन्धनोका त्याग उसका मुख्य आग्रह था। प्राचीन धर्म, परम्परागत सामाजिक संस्कार आदि समाप्त हुए और रोमाण्टिसिज्मका जन्म हुआ। साहित्यकी सीमा, नियम, आइर्श, उद्देश्य आदिसे निकालकर व्यापक बनाया गया। साहित्य जीवनकी तरह ही गतिशील है तथा गुग एवं परिवेशके अनुक्ल परिवर्तनकील। इसका बोध होते ही साहित्यकारोने परम्पराके प्रति विद्रोह किया तथा अनुकरणके बदले आन्तरिक प्रेरणाको महत्त्व दिया। फिलिप सिडनीकी 'एन एपॉलीजी फॉर पोयट्री', 'डिफेन्स ऑव पोयट्री' तथा कालरिजकी 'वायाग्राफिका लिटरेरिआ' आदि पुस्तकें इसी कोटिमे आयंगी। वर्गसॉ, कोचे, फ्रॉयड और मार्क्सने आगे चलकर साहित्यके इसी गत्यात्मक स्वरूपका समर्थन किया।

संस्कृत साहित्यमे ऐसा बॅटवारा नहीं हुआ है, पर रसवादियों तथा ध्वनिवादियोंको हम इसके अन्तर्गत मान सकते हैं। फिर भी इस कथनका महत्त्व बाह्यवादियोंकी तुलनामें ही है, क्योंकि वक्रोत्ति, रीति, अलंकारवाले जहाँ साहित्यके बाह्य स्वरूपके सम्बन्धमें स्व है, वहाँ रसवादी तथा ध्वनिवादी भावोंके सम्बन्धमें। इसलिए संस्कृत साहित्यशास्त्रमें ऐसी विचार-प्रणाली उपलब्ध नहीं है।

हिन्दीमें अवस्य ही इसका महत्त्वपूर्ण इतिहास उपलब्ध है। २०वी रातीके प्रारम्भमे ही रीतिकाल तथा दिवेदी- युगके विरुद्ध छायावादका उदय हुआ। छायावादी किव अंग्रेजीके स्वच्छन्दतावादी आन्दोलनसे प्रभावित थे। इन लोगोंके विद्रोहका आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता थी।

छायावाद तथा रहस्यवाद अपनी विचार-पद्धति और रूप-विधान, दोनोके ही लिए रोमाण्टिसिज्मका अत्यधिक ऋणी है। आध्यात्मिक स्तरका प्रकृतिप्रेम, उदार मानवता-वाद तथा काव्यकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति-प्रणाली—रोमाण्टि-सिज्मकी ये तीनो ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ छायावाद तथा रहस्यवाद्रमे मिलती है। रोमाण्टिसिज्मका यह प्रभाव कुछ तो प्रत्यक्ष था और कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुरके माध्यमसे आया था। छायावादी कवियोंमे रोमाण्टिसिज्मसे सबसे अधिक प्रभावित सुमित्रानन्दन पन्त है।

[सहायक प्रन्थ--रोमाण्टिक साहित्यशास्त्र: देवराज जपाध्याय।] ---रा० क्र० स० रोमांस-दे॰ 'उपन्यास', 'कहानी' (रोमांसिक)। रोला-मात्रिक सम छन्टका एक भेद । 'प्राकृतपैगलम्'के अनुसार इस छन्दके प्रति चरणमे २४ मात्राएँ और अन्तमे ग (S) रहता है (१:९१)। भिखारीदासने केवल २४ मात्राके चरणका उल्लेख किया है और यति अनियमित बतलायी है (छन्दो०, पृ० ३०) और उनके उदाहरणमे अन्तमे ग (S) भी नही है-"त्यों कारे कान्हहिं लखि मनु न तिहारी पागत । हमको तो वाही ते जगत उज्यारो लागत" (वही, ३१)। प्रचलित परम्पराके अनुसार रोलामे ११, १३ पर यतिका विधान है (भानु: छं० प्र०, पृ०६१)। हिन्दीमे इस छन्द्रका प्रयोग चन्द (पृ० रा०), सूर (सू० सा०), नन्ददास (रा० पं०), केशव (रा० चं०), सूदन (सु० च०) तथा रघुराज (रा० स्व०) आदिने किया है। यह छन्द प्रत्येक रसमे प्रयुक्त हो सकता है। इसमे वर्णनका सौन्दर्य अधिक हो जाता है। नन्ददासकी 'रासपंचाध्यायी,' 'सिद्धान्तपंचाध्याथी', 'रुक्मिणीमंगल'मे इस प्रयोगसे वर्णन-सौन्दर्थ बहुत अच्छा बन पड़ा है। सूरने वर्णनात्मक अंशोमे रोलाका अन्य छन्दोके साथ उपयोग किया है। सूदनने इसमे विवरण दिये है, घोड़ोका वर्णन तथा लूटकी सामग्री। नन्ददासकी दोनों 'पंचाध्यायियां' तथा 'रुक्मिणीमंगल' रोला छन्दमे है तथा 'सॅवरगीत' और 'इयामसगाई'में दोहा तथा १० मात्राकी टेकके साथ रोला-का प्रयोग किया गया है। नन्ददास जैसे रोला लिखनेमे सिद्धहस्त कविने भी यतिके नियमके पालनका सदा ध्यान नहीं रखा है। अन्य सभी कवियोमें यतिका निश्चित अनु-सरण नहीं मिलता, इससे स्पष्ट है कि इस विषयमे बहुत निश्चित नियम नहीं रहा है। उदा०-"सुनि पियके रस बचन, सबन रिस छॉड़ि दयो है। हॅसि-हॅसि अपने कण्ठनि, लाल लगाइ लियो है" (रा० पं०, प० ४४५-४४६)। इस छन्दमे यतिका नियम ठीक है, पर-"वन्दन करौ कुपानिधान, श्रो सुक सुभकारी"—(वही, प० १)मे यति १४. १०पर है।

रोद्ध रस—काव्य गत रसोमे रौद्ध रसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतने 'नाट्यशम्त्र'में श्वंगार, रौद्ध, वीर तथा वीमत्स, इन चार रसोंको ही प्रधान माना है, अथच इन्हीसे अन्य रसोंकी उत्पत्ति बतायी है, यथा—"तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः श्वंगारो रौद्धो वीरो बीमत्स इति" (६: ३८ ग)। रौद्धसे करुण रसकी उत्पत्ति बताते हुए भरत कहते है कि रौद्ध रसका कर्म ही करुण रसका जनक होता है, "रौद्धस्येव च यत्कर्म स होयः करुणो रसः" (६: ३९-४१)।

रौद्र रसका स्थायी भाव क्रोथ है तथा इसका वर्ण रक्त एवं देवता रुद्र है। भानुत्रत्तने 'रसतरंगिणी'मे लिखा है— "पिरपूर्णः क्रोधो रौद्रः सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्यं वा। वर्णोऽस्य रक्तो दैवतं रुद्रः", अर्थात् स्थायी भाव क्रोधका पूर्णतया प्रस्फुट म्बरूप रौद्र है अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उद्धत स्वरूपका प्रहण कर लेना रौद्र है। इसका रंग लाल है तथा देवता रुद्र है। यहाँ यह स्भरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि रुद्रका रंग श्वेत माना गया है, तथापि रौद्र रसका रंग लाल बताया गया है, क्योंकि क्रोपाविष्ट दशामे मनुष्यकी आकृति, क्षोभके आतिश्वस्यसे रक्त वर्णकी हो

जाती है।

केशवदासने 'रसिकप्रिया'में भानुदत्तकी वात दुहरायी है—"होहि रौद्र रस क्रोधमें, विग्रह उग्र शरीर। अहण बरण बरणत सबै, किह केसव मतिधीर" (१४-२१)! रामदिहन मिश्रने विभावोको भी समेटते हुए रौद्र रसकी परिभाषादी है—"जहाँ विरोधी दळकी छेडखानी, अपमान, अपकार, गुरुजन-निन्दा तथा देश और धर्मके अपमान आदिसे प्रतिशोधकी भावना जाग्रत् होती है, वहाँ रौद्र रस होना है' (का० द०)!

भानुदत्तके परिपूर्ण क्रोध तथा इस प्रतिहोधमें कोई भेद नहीं है। वास्तवमे क्रोध स्थायीका प्रकाश क्रोधभाजनके प्रति बदला लेनेकी उम्र भावनामे ही होना है। पण्डित-राज जगन्नाथके अनुसार क्रोध शत्रुविनाश आदिका कारण होता है। प्रसिद्ध मनस्तत्त्विद्द् मैकडुगलने क्रोधको युगुत्साकी प्रवृत्तिसे न्युत्पन्न बताया है, जो भारतीय आचार्योंकी स्थापनाओते भिन्न नहीं कहा जायगा।

भरत मुनिका कथन है कि रौद्र रस राक्ष्स, दैत्य और उद्धत मनुष्योसे उत्पन्न होता है तथा युद्धका हेतु होता है। किन्तु वादमे वे कहते है कि अन्य लोगोंमे भी रौद्र रस उत्पन्न होता है, यद्यपि राक्ष्सोका इसपर विशेष अधिकार होता है, क्योंकि वे स्वभावसे ही रौद्र अर्थात् क्रोधशील है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भलाईके वदले बुराई पानेवाले, अनाहत होनेवाले, अपूर्ण या अतृप्त आकांक्षावाले, विरोध सहन न करनेवाले तथा निरस्कृत निर्धन व्यक्ति क्रोध करते है और वे रौद्र रसकी उत्पत्तिके कारण हो सकते है। इसी प्रकार क्रोधको उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति भी अनेक कोश्योंके हो सकते है।

रौद्र रसके परिपाकके लिए क्रीध स्थायीकी आस्वा-चताके निमित्त निम्नलिखित अवयवोकी उपस्थिति अपेक्षित है। आलम्बन-विभाव—राञ्च तथा विरोध पक्षके व्यक्ति; उद्दीपन-विभाव—राञ्च द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप, अपमान, अपकार, व.ठोर वचनोंका प्रयोग इत्यादि। अनुभाव—मुख तथा नेत्रका लाल होना, श्रूमंग, दॉत तथा होठ चवाना, कठोरभाषण, रास्त उठाना, गर्जन, तर्जन, विरोधियोको ललकारना इत्यादि। व्यभिचारी भाव—मद, उग्रता, अमर्थ, च्चलता, उद्देग, अस्या, स्मृति, आत्रेग इत्यादि।

रौद्र रस एवं वीर रसमें आलम्बन समान होते है, किन्तु इनके स्थायी भावोकी भिन्नता स्पष्ट है। वीरका स्थायी भाव उत्साह है, जिसमे भी शहुके दुर्वचनादिसे अपमानित होनेकी भावना सन्निहित है, लेकिन अवज्ञादिसे जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमे 'प्रमोदप्रतिक्लता', अर्थात् आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति वर्तमान रहती है, यथा—"अवज्ञादिक्तः प्रमोदप्रतिक्ललः परिमिनो मनोविकारः क्रोधः" (र० त०)। अतएव इस स्फूर्तिवर्धक प्रमोद अथवा उछासकी उपस्थितिके ज्ञानसे वीर रस रौद्रसे पृथक् पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त नेत्र एवं मुखका लाल होना, कठोर वचन बोलना इत्यादि अनुभव रौद्र रसमें हो होते है, वीरमे नही, यथा—"रक्त स्यनेत्रता चात्र मेदिनी युद्धवीरतः" (सा० द०, ३: २३१)। रौद्र

रसका उदाहरण—"बोरी सबै रघुवंस कुठारकी धारमें ब्रारन बाजि सरत्थिहिं। बानकी वासु उडाइ के लच्छन लक्ष्य करों अरिहा समरत्यहिं। रामहिं बाम समेत पठै वन कोपके भारमें भूजो भरत्थिहिं। जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौ दसरत्यहिं" (रा० चं०) । धनुपमगके प्रसंगमे परशरामने उक्त वचन कहे है। राम, लक्ष्मण इत्यादि विभाव है, धन्यका ट्रटना अनिष्ट कार्य है, जो उद्दीपन-विभाव है। अमर्ष, गर्व, उग्रता इत्यादि व्यभिचारी भाव है। गर्वदीप्त कठोर भाषण, जिसमे राम, भरत इत्यादि-को ललकारा गया है, अनुभाव है। इन अवयवी द्वारा 'कोध' स्थायी भाव परिपृष्ट होकर आरवादित होता है, अतएव यहाँ रौद्र रस निष्पन्न हुआ है। लेकिन इस पद्यमे रौद्र रसके अवयवोके रहते हुए भी रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हुई है-"सत्रुनके कुलकाल सुनी धनुभंग धुनी उठि वेगि सिधाये। याद कियो पितको वधकौ फरकै अधरा हग रक्त बनाये। आगे परे धनु-खण्ड बिलोकि प्रचंड भये भगरीन चढाये। देखत श्रीरघनायककौ भगुनायक बन्दत ही सिर नाये" (र० मं०, ४, १९८)। यहाँ क्रोधके आलम्बन रामचन्द्र है, अधरोका फडकना, नेत्रका रक्त होना इत्यादि अनुभाव है, पिताके वधकी स्मृति, गर्व उग्रता आदि संचारी भाव है। इस प्रकार रौद्र रसके सम्पूर्ण तत्त्व विद्यमान है, लेकिन यहाँ क्रोध गौण बन गया है और सभी उपादाग परशुरामके प्रति कविके प्रेमभावके व्यंजक बन गये है। अतएव प्रस्तुत पद्य मुनिविषयक रति भावका उदाहरण हो गया है और रौद्र रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकी है । रौद्र रसका हास्य, श्रुगार, भयानक तथा शान्तसे विरोध बताया गया है और वीर एवं मैत्रीभाव कहा गया है।

रासो यन्थोंमे वीर रसके साथ-साथ रौद्र रसके प्रचुर उदाहरण मिलते है। 'रामचरितमानस'में लक्ष्मण और परशराम तथा रावण और अंगदके संवादोमे रौद्र रसकी भरपूर व्यंजना हुई है। चित्रकूटमे भरतके सेना सहित आगमनका समाचार सुनकर लक्ष्मणने जो भीषण क्रोध व्यक्त किया है, वह भी रौद्र रसका सुन्दर उदाहरण है। केशवदासकी 'रामचन्द्रिका'से शैद्र रसका उदाहरण पहले ही अंकित किया जा चुका है। भूषणकी रचनाओमे भी रौद्र रसके उदाहरण मिल जाते है। वर्तमान कालमे इयामनारायण पाण्डेय तथा 'दिनकर'की रचनाओमे रौद्र रसकी प्रभावकारी व्यंजना हुई है। संस्कृतके अन्थोमें 'महाभारत' तथा 'वीरचरित', 'वेणीसंहार' इत्यादि नाटकों में रौद्र रसकी प्रभूत अभिन्यक्ति हुई है। —र० ति० लक्षक शब्द-काव्यमें प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंने दूसरा। जब वाचकरूप शब्द अपने मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढ़ि अथवा प्रयोजनके कारण अपने मुख्य अर्थसे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थका प्रतिपादन करने लगता है, तब उसे लक्षक अथवा लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लक्षक शब्दसे ही लक्षगा-शक्ति या व्यापार प्रतिपादित है और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्दके अर्थको - लक्ष्यार्थ कहते है ।

**ळक्षण-ळक्षणा** −शुद्धा लक्षणाका दूसरा भेद; यहाँ 'लक्षणा'-का अभिप्राय है शब्दोके मुख्य अर्थका अपने अमुख्य अर्थके

लिए अपने आपको इसलिए समर्पित कर देना कि वह अमुख्य अर्थ संगत हो जाय ('परार्थे स्वसमर्पणम्'-का० प्र०, २: १०)। विश्वनाथके अनुसार "वाक्यके अर्थमें किसी वस्तुके दूमरी वस्तुसे अन्वय (तार्किक) सिद्धिके लिए मुख्यार्थको छोडकर भिन्न अर्थका ग्रहण किया जाना, लक्षण-लक्षणा है" (सा० द०, २:६)। क्योंकि इस लक्षणामें शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड देता है, अतः इसे जहत्स्वार्था भी कहते है। अत्यन्त तिरस्क्रत वाच्यध्वनिमे यही लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण—'गगायां घोषः', अर्थात गंगापर बस्ती है, यहाँ मुख्य अर्थपरित्याग इसलिए है कि अपने अमुख्य अर्थ तटस्थके संकेतको ग्रहण कर सके। गंगा शब्दकी लक्षणा-वृत्ति सर्वथा स्वार्थसमर्पण-अपने अर्थके बिलकुल त्याग देनेके कारण है। विद्वनाथने रूढि लक्षण-लक्षणाका उदाहरण भी दिया है-'क्लिंग साहसी': यहाँ मुख्यार्थका त्याग अमुख्य अर्थकी सिद्धिके लिए है, पर साथ ही यह परम्परासे सिद्ध प्रयोग है। कान्यगत उदा०-"है रिपोर्डोंमे कलेजा छप रहा, देशके आनन्द-भवनोंने कहा" (का० द०)। यहाँ 'कलेजा' शब्द प्रसंगके अनुरोधसे अपना अर्थ छोड देता है और 'दुःखपूर्ण गाथा'-का अर्थ देता है, अतः इसमे लक्षण-लक्षणा है।

लक्षणा-शक्ति-कान्यमे तीन प्रकारके शब्दोके अर्थ जिन शक्तियो द्वारा ब्यन्म होते है, उनमेसे दूसरी शक्ति । लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ लक्षक अथवा लाक्षणिक (दे०) शब्दका प्रयोग हो। मम्मटके अनुसार—"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् । अन्योऽथीं लक्ष्यते यत् सा लक्षणा-रोपिता क्रिया" (का० प्र०, २: ९), अर्थात् मुख्य अर्थके बाधित होनेपर रूढि अथवा प्रयोजनके कारण जिस किया (शक्ति) द्वारा मुख्य अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा-न्यापार (शक्ति) कहते हैं। विश्वनाथकी परिभाषा मम्मदसे ली गयी है, केवल 'क्रिया'-के स्थानपर 'शक्ति' शब्दका प्रयोग मिलता है (सा० द०, २:५)। शब्द अपने मुख्य अर्थ द्वारा जो अमुख्य अर्थका प्रतिपादन करता है, वह शब्दके आरोपित काल्पनिक व्यापारसे सम्बद्ध है। इसको आरोपित व्यापार इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्षमें यह मुख्यार्थका न्यापार है और अपने-आपमे अविवक्षित अथवा अन्तर्निहित यह मुख्यार्थ अपनेसे भिन्न, किन्तु किसी-न-किसी सम्बन्धसे सम्बद्ध लक्ष्यार्थ (अमुख्यार्थ)का बोधक हुआ करता है। अमुख्य अर्थका बोध करानेवाले इस शब्दके इस व्यापार-(लक्षणा)को न्यवहित न्यापार कहना संगत है, क्योंकि शब्द और उसके अमुख्यार्थके बीच मुख्यार्थका व्यवधान पड़ता है। इस प्रकार लक्षणाव्यापारकी तीन स्थितियाँ है— १. मुख्यार्थका बाध, २. मुख्यार्थका अमुख्यार्थ (लक्ष्यार्थ)-के साथ योग (सम्बन्ध) और ३. रूढि अथवा प्रयोजन ।

मम्मटके अनुसार लक्षणां भेदोपभेद इस प्रकार है—
लक्षणां दो भेद—रूदि लक्षणां तथा प्रयोजनवती; प्रयोजनवतीं दो भेद—
वतीके दो भेद—गौणी और शुद्धा; गौणीके दो भेद—
सारोपा तथा साध्यवसाना; शुद्धां चार भेद—उपादान,
लक्षण, सारोपा, साध्यवसाना और ये छहों भेद गृद्व्यंग्य
और अगृद्व-व्यंग्य, दोनोमं होते हैं। विश्वनाथने शुद्धांके

समान ही गौणीके भी चार भेद स्वीकार किये हैं और इस प्रकार गृढ तथा अगृढ़-व्यंग्यमे मिलाकर उनकी संख्या १६ है। ये सोलह परगत तथा वाक्यगतके भेदि ३२ और धर्मगत तथा धर्मगत सेदसे ६४ प्रयोजनवती लक्षणाके भेद स्वीकार किये गये है। विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'मे रूढि-लक्षणाका विभाजन इस प्रकार किया है—शुद्धा तथा गौणी, पृनः इनके उपादान तथा लक्षण-लक्षणा और इन चारो भेदोके सारोपा तथा साध्यवसाना दोनों प्रकार होनेसे आठ भेद होते है। ये आठो भी कही पदगत और कही वाक्यगत होनेसे १६ भेद कहे गये है। 'साहित्य-दर्णण'का विस्तार महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रमुख भेदोपभेदोकों यथास्थान देखा जा सकता है।

लक्षिता (नायिका)-परकीयाकी स्थितिके अनुसार एक भेदः विशेषके लिए दे०-- 'नायिका-भेद' । सर्वप्रथम भान-दत्तने इसका उल्लेख किया है-जिसका पर्पुरुष-प्रेम सब-पर प्रकट हो जाय-"होत लखाय सखीनको पियसी जाको प्रेम" (मतिराम: 'रसराज', ७६)। पद्माकरकी परिभाषामे इस प्रकट प्रेमको जानकर 'कहै तिय आन'की शर्त भी है। वस्तुतः यदि प्रेम प्रकट होगा तो उसका वर्णन करना भी अनिवार्य है। नायिकाके इस रूपात्मक वर्णनमे उसकी भावव्यंजना भी छिपी रहती है—"आजु नयनके कजरा और भाँति। नागर नेह नवेलिया सुदिने जाति" (बरवै, १७) और उसके द्वारा उसका प्रेम न्यक्त हो जाता है-"बातके बूझत ही मतिराम कहा करिये यह भौंह तनैनी। मूंदि न राखत प्रीति भट्ट यह गूंदी गुपालके हाथकी बैनी" (रसराज, ७७)। रीतिकान्यमे इस प्रकारकी सखियोकी उक्तियोमे परकीयाकी प्रकट उद्विग्नता, अस्तव्यस्तता तथा भावाकुलता व्यंजित हुई है—"मोहि करत कित बाबरी किये दुराव दुरै न। कहे देत रंग रातके रंग निचुरतसे नैन" (बिहारी)।

**छक्षी सबैया-दे॰ '**सबैया', गंगोदकका पर्याय।

लक्ष्य-गोरखनाथने हठयोगको साधनाके लिए लक्ष्योंकी जानकारीको अनिवार्य बताया है (गोरक्ष पद्धति, पृ० १२)। लक्ष्य दो बताये गये है वाह्य लक्ष्य एवं आभ्यन्तर लक्ष्य। बाह्य लक्ष्योंमें सोलह आधारों (दे० 'आधारों) की गणना की जातो है और आभ्यन्तरमे षट्चक्रोको (दे० 'चक्रों)।

लघु उपन्यास - अंग्रेजीमे छोटे उपन्यासींको नॉवेलेटकी संज्ञा दी जाने लगी है। यो तो उपन्यासके जन्मकालसे ही छोटे आकारके उपन्यास लिखे जा रहे है और जहाँ एक ओर ४,००० पृष्ठोका उपन्यास है, वहाँ दूसरी ओर केवल २०,००० शब्दोमे सम्पूर्ण उपन्यासकी कथा कह दी गयी है (दे० 'उपन्यास')। इन दो अतियोके वीच आकारकी आधर्यजनक विविधता कथासाहित्यके इस एक संज्ञावाले रूपमें पायी जाती है। इसी विविधतामेसे नावेलेट (लघु उपन्याससे या उपन्यासिका) नामने कथासाहित्यका एक पृथक् रूप पहचानकर निकालनेकी चेष्टा की गयी है। कथासाहित्यका एक अन्य रूप कहानी या छोटी कहानी भी उपन्याससे छोटे आकारकी रचना है, परन्तु उसकी उपन्याससे भिन्नता केवल इस बातमें नही है कि वह उससे

बहुत छोटे आकारकी कृति है-वस्तुतः लम्बी-छोटी कहानियाँ (लांग शार्ट स्टोरीज) भी लिखी गयी है - वरन् उसकी भिन्नताका प्रधान कारण उसका स्वतन्त्र कला-विधान है। छोटी कहानीका विकास स्वतन्त्र रूपमे हुआ है, वह छोटे उपन्यासोंमेसे पृथक् करके नामांकित नहीं कर ली गयी, जैसा कि नॉबेलेटके सम्बन्धमें हुआ है। आकारकी दृष्टिसे ही देखें तो नॉबेलेट या **उपन्यासिका** अधिकतर उपन्यासों-से आकारमें लघ और अधिकतर कहानियोसे आकारमें गृहत् कथारूप है, साधारणतया उसका आकार ३०,०००से ५०,००० शब्दोमे सीमित माना जा सकता है। परन्त केवल आकारके आधारपर किसी साहित्यका निर्णय करना समीचीन नहीं है। उपन्यास नामसे प्रचलित असख्य ऐसी क्रितियाँ है, जो आकारमे लघु होती हुई भी लघु उपन्यास इसलिए नहीं कही जा सकती कि उनकी लघुना उनका दोष है, सफल कृति बननेके लिए उनके आकारमे भी वृद्धि आवश्यक थी।

लघु उपन्यास या उपन्यासिकामे कथानक एकात्मक होता है। उसमें उप-कथानक (अण्डर प्लॉट) नहीं होता तथा प्रासंगिक कथानक (एपिसोड) भी इतने कम और एकान्तनः कथानकके अंगरूप होते है कि वे कथानककी एकात्मकता और संहितिमे व्यवधान न पैदा कर सकें। चरित्र-चित्रण किसी एक पात्र अथवा किसी चरित्र विशष्ट्य-मे केन्द्रीभत होता है। देश-काल अथवा वातावरणके विशद और मुक्ष्म चित्रणोंके लिए उसमे स्थान नहीं होता, वह कथानकके ही अनुरूप, अधिक व्यंजनापूर्ण और सूक्ष्म होता है। उसकी शैलीमे आत्माभिन्यं जनका गुण कही अधिक रहता है, उपन्यासकार कथाके किसी-न-किसी पात्रके साथ अधिक महत्त्वपूर्ण सहानुभूतिके साथ एकाकार दिखाई देता है। उसकी संवेदना अधिक तीव और भावा-त्मक होनी है। उपन्यासकी गति अन्तिम परिणति या उद्देश्य-सिद्धिको और अधिक सीधी और द्रत होती है। निश्चय ही लघु उपन्यास जीवनका खण्डचित्र उपस्थित करता है और इस खण्डचित्रका फलक अपेक्षाकृत छोटा होता है, उसमें विवरणोकी संक्रलता भी अधिक नहीं हो सकती। इन्ही विशेषनाओके परिणामस्वरूप इस प्रकारके उपन्यासका आकार छोटा होता है। अतः लघु उपन्यासका लघु होना उसके अपने विशिष्ट शिल्प-विधानका अनिवार्य परिणाम है।

लघु उपन्यासकी एक बहुत बडी विशेषता यह है कि लेखककी आत्माभिन्यक्ति अधिक वैथक्तिक होनी है। बृहत् उपन्यासकी भॉति वह केवल कल्पनाके आधारपर नहीं लिखा जा सकता, उसमें चित्रिन जीवनखण्डकी किसी-निकिसी रूपमें साक्षात् अनुभूति आवश्यक है। तभी लेखक अपनी कृतिमे भावनाकी वह तीव्रता ला सकता है, जो लघु उपन्यासके लिए आवश्यक है। प्रायः लघु उपन्यास किसी व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूतिमे प्रेरणा पाकर रचा जाता है, जैसा कि गेटेने लोट बफके गम्भीर प्रेमकी स्मृतिसे प्रेरित होकर 'सारीज ऑव वर्थर' नामक लघु उपन्यास लिखा था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि "मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियोने इसे जन्म दिया है"। इसी प्रकार वैज्ञामिन

कांस्ट्रैण्टको 'एडाल्फ' नामक लघु उपन्यास लिखनेकी प्रेरणा अपने एक घनिष्ठ मित्रसे प्राप्त हुई थी। अतः लघु उपन्यास-का लेखक कही अधिक निकटताके साथ आत्म-परिचय दे देता है। उसमे स्वयं उसके भाव और विचार अधिक प्रभावशाली रूपमे व्यक्त होते है।

लघु उपन्यास किसी एक प्रेरणासे लिखा जाता है, अतः उसमे एक ही भावनाकी प्रमुखता रहती है। उसके कथानक-की एकात्मकता और संहितिमे भी इसी कारण इतनी सवनता होती है कि उसमे वर्णन-विस्तारके लिए कोई स्थान नहीं रहता। पात्रोकी मंख्या उसमे कम-से-कम होती है तथा उसमे किसी-न-किसी पात्रको इतनी अधिक प्रभुखता दी जाती है कि वही उपन्यासके समस्त उपकरणोकी भोजना तथा लेखक और पाठकके आकर्षणका केन्द्र बन जाता है, वही उपन्यासकी प्रमुख भावना (मोटिफ)का नियन्त्रण करता है। कह सकते है कि लघु उपन्यास अनिवार्यतः नायक या नायिका-प्रधान उपन्यास होता है। अन्य पात्र अपनी कुछ ही विशेषनाओं साथ अवतरित हो सकते है, प्रायः समग्र रूपमे उनके चरित्र-चित्रणका अवकाश उसमे नहीं रहता। परन्त पात्रोकी ये विशेषताएँ अत्यन्त सतर्कता-के साथ अंकित की जाती है, जिससे कि उनका व्यक्तित्व पहचाना जा सके। लघ्न उपन्यासके चरित्रांकनमें मनो-वैज्ञानिक कुरालना कही अधिक अपेक्षित है।

लघु उपन्यासका चलन और लोकप्रियता युगकी माँगका परिणाम कही जा सकती है। हमारा समाज इतना अधिक जिटल होता जा रहा है, उसकी समस्याएँ इननी उलझी हुई लगती है कि किसी संवदनशील भावप्रवण कथाकारके . लिए यह अधिक सुविधाजनक है कि वह किसी एक प्रश्न या किसी एक समस्याको उठाकर उसका व्यक्तिगत स्तरपर तीव प्रभावान्वितिके साथ निरूपण करे। अन्ततोगत्वा जावन और जगत्की ये समस्य। एँ व्यक्तिके जीवनको ही प्रभावित करती है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि समस्त युग-जीवनको चित्रित कर सकनेमे लेखककी असमर्थताने लघु उपन्यासको जन्म दिया है। लघु उपन्यासके कुछ लेखकोके विषयमें जो अधिक आत्मनिष्ठ, संवेदनशील और भावप्रवण प्रवृत्तिके है, यह बात ठीक हो सकती है, परन्तु जिस लेखकने 'सारोज ऑव वर्थर' लिखा, उसीने 'विल्हेलन मीस्टर' जैसा बृहत् उपन्यास भी लिखा था। जिसने 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे बड़े उपन्यासोकी रचना की उसीने 'निर्मला' भी लिखा था। वास्तवमे लघु उपन्यास समस्याको जिस तीवता और गहनताके साथ सामने ला सकता है, वह बृहत् उपन्यास-के विस्तारमें सम्भव नहीं है। बृहत् उपन्यासमे लेखकका दृष्टिकोण अत्यन्त तटस्थतापूर्ण प्रेक्षकका रहता है, जब कि लघु उपन्यासकार अपने पात्रोकी संवदनाओको मानो स्वयं वहन कराता है।

जिस प्रकार गीतिकान्यको महाकान्यको तुलनामें प्रायः कम महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार लघु उपन्यासके विषयमे कहा जाता है कि उसमे जीवनका कोई बडा महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं सुलझाया जा सकता तथा उसमे भावनाकी प्रधानता होनेके कारण लेखकका दृष्टकोण अत्यन्त

सीमित, प्रायः भावुकतापूर्ण और इसी कारण अस्वस्थ और रुग्ण-सा होता है। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे वर्तमान युगका जीवन ही कुछ ऐसा बनता जा रहा है कि यह विरले युगपुरुषका ही काम है कि उसके सम्बन्ध-मे किसी समयतापूर्ण जीवन-दर्शनका व्याख्यान कर सके। यदि लेखक अनुकरण, कृत्रिमता और आडम्बरको त्यागकर सचाईके साथ अपनी प्रतिक्रियाओको एक लघु चित्र-फलकपर अधिक प्रभावशाली रूपमे अंकित कर सके तो उसका अधिक आदर होना चाहिये। लघ उपन्यास इस बातकी सुविधा देना है कि लेखक स्वयं अजित मान्यताओ और म्ल्योको अधिक स्पष्टताके साथ प्रस्तुत कर दे। साथ ही इस कथारूपमे उसे शिल्प-विधानके नये-नये प्रयोग करनेकी अधिक सुविधा है। समग्रता छोटी-छोटी इकाइयोसे मिलकर बनती है, व्यष्टिके विना समष्टिका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः यदि जीवनकी समस्याएँ अपने सीमित रूपमे, किन्तु अधिक सचाई और तीव्रताके साथ सामने लायी जाय तो वे बडी समष्टिगत समस्याओके समाधानमे सहायक बन सकती है। निश्चय ही लघ्च उपन्यासकार अधिक महत्त्वाकांक्षी नही होता।

स्वयं लघु उपन्यासके अनेक रूप हो सकते है। यह स्वामाविक है, क्योंकि इसमें लेखकका दृष्टिकोण अधिक स्वातमपरक होता है। अनेक छन्न उपन्यास अपनी वैयक्तिकताके कारण आन्मकथा जैसे बन गये है, अनेकमें भावनाकी तरलता. इतनी अधिक है कि उनमे गीतिके तत्त्व उभर आये है, कुछके कथाप्रसंग स्वयं इतने परिपूर्ण-से हो गये है कि वे कहानियोंके संग्रहसे लगते है, यद्यपि उनमे सम्पूर्ण कथा तथा प्रभावकी अन्वितिमे एकात्मकता है। कुछ लघु उपन्यास संवादो तथा घटनाप्रसंगोकी नाटकीयता-के कारण एक कि कि आभास देते है। परन्त ये और अनेक अन्य प्रयोग लघ्न उपन्यासके कथारूपका लचीलापन ही प्रकट करते है। उसमें प्रयोगोके लिए उर्वर क्षेत्र है। ऐसा लगता है कि यह :साहित्य रूप अधिक लोकप्रिय होता जायगा (दे० 'उपन्यास') । **लघु कथा** – सम्भवतः लघु कथा शब्द अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी' शब्दका सीधा अनुवाद है। वैसे कहानी शब्द भी अंग्रेजीके 'शार्ट स्टोरी'के ही लिए है। इस प्रकार लघ कथा और कहानीमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। व्यावहारिक दृष्टिसे 'लघु कथा' कहानीके छोटे रूप (शार्ट शार्ट स्टोरी)से अपना तात्पर्य रखती है। पर यह कहना कि लघु कथा लम्बी कथाका सार रूप है, नितान्त भ्रमोत्पादक है।

लघु कथाएँ वस्तुतः दृष्टान्तोंके रूपमें विकसित हुई है। ऐसे दृष्टान्त सुख्यतया नैतिक और धामिक क्षेत्रोंसे प्राप्य हैं। इस प्रकार नैतिक दृष्टान्तोंके स्तरसे नैतिक लघु कथाएँ सर्वत्र मिलनी है, जैसे, ईसपकी कहानियाँ, 'पंचतन्त्र'की कथाएँ, 'महाभारत', 'बाइबिल', 'जातक' आदिकी कथाएँ। इसी प्रकार धामिक दृष्टान्तोंके अनतर्गत भी लघु कथाओंके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

पर आधुनिक कहानीके सन्दर्भमें 'लघु कथा'का अपना स्वतन्त्र महत्त्व प्रवं अस्तित्व हैं। प्रेमचन्द्र, 'प्रसाद'से लेकर

जैनेन्द्र, 'अज्ञेय'तक इस धाराकी एक शक्तिशाली गति है। प्रेमचन्दने अपनी कहानी-कलाके उत्कर्षकालमें लघु कथाओं-के रूपमे वहानियाँ लिखी है, जैसे 'नशा', 'मनोवृत्ति', 'जादू' और 'दो सखियाँ'। 'प्रसाद' इस दिशामे अपूर्व है। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' संग्रहमें 'अघोरीका मोह', 'गुदडी-के लाल', 'करुणाकी विजय', 'प्रलय', 'प्रतिमा', 'दुखिया' और 'कलावतीकी शिक्षा' आदि लघु कथाओके सुन्दरतम उदाहरण है । ये कथाएँ गद्यगीत और रेखा दिनके शिल्पके समीप पहुँचती है।

जीवनकी उत्तरोत्तर द्रतगामिता और संवर्षके फल-स्वरूप उसकी अभिव्यक्तिकी संक्षिप्तताने आज कहानीके क्षेत्रमे लघु कथाओंको अत्यधिक प्रगति दी है। बॅगला साहित्यमे टैगोर और आजकल 'बनफूल' इस क्षेत्रमे विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दीमें सुदर्शन, रावी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदिकी कुछ लघु कथाएँ बडी मार्मिक है। रचनाकी दृष्टिसे लघु कथामे भावनाओका उतना महत्त्व नहीं है, जितना किसी सत्यका, किसी विचारका, विशेषकर उसके सारांशका महत्त्व है (दे॰ 'कहानी')।--ल॰ना॰ला॰ ख्ध करुण-दे॰ 'करुण रस'।

लघुलजा-दे॰ 'मध्या' (नायिका) । 'मध्यब्रीडिता'का हिन्दी पर्याय ।

ळजाप्राया—दे० 'निश्रब्धनवोदा'।

लता साधना-तन्त्रोंमे स्त्रीको लता कहा गया है, क्योकि जिस प्रकार लता वृक्ष या किसी आधारदण्डको आश्रय करके उसे लपेटते हुए स्थित रहती है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुषके आधारपर स्थिन और आश्रित रहती है। अतः ऐसी तान्त्रिक विभि, जहाँ स्त्रियोके उपभोग द्वारा साधना की जाती है,। 'लता साधना' कहलाती है। लय-लयकी निष्पत्ति गति प्रवाह और यति, विरामके पारस्परिक एवं क्रमिक संघानसे होती है। लयका स्वरूप तत्त्वतः आवृत्तिमूलक है तथा उसकी व्याप्ति दिक और काल, दोनोंमें है। संगीत और कवितामें लय कालसापेक्ष रहती है और चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकलामे दिक्-सापेक्ष । इस प्रकार लयकी व्याप्ति सभी ललित कलाओमे पायी जाती है। गायन, वादन और नृत्य, संगीतके इन तीनो अंगोको परस्पर स्त्रवद्ध करनेवाली वस्तु लय ही है। कान्यमे यह शब्द संगीतके क्षेत्रसे ही आया प्रतीत होता है। संगीतशास्त्रमे लयके तीन भेद मिलते है— १. द्रुत, २. मध्यम, ३. विलम्बित । संस्कृत वृत्त द्रुतविलम्बितको यह नाम इसलिए मिला कि उसके प्रत्येक चरणके प्रारम्भिक अंशमे द्रुत लय और अन्तिम अंशमे विलम्बित लय होती है । छन्दके प्रत्येक पादकी गति लय-समन्वित मानी गयी है, यथा—'पादन्यासी लयमनुगतः'। लय-तत्त्व अमूर्त और स्वयम्भू होता है, ऐसा भी प्रति-

पादित किया गया है (दे०-मराठी पत्रिका 'छन्द', जून ५६—'लय-तत्त्व आणि संगीत')। लयकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी सम्भरणशक्ति (power of integration) है, जिसके द्वारा वह विभिन्न तत्त्वोंको संग्रधित करती हुई संहिल्छता प्रदान करती है। उसका एक और उल्लेखनीय गुण है, अपने क्रमिक संस्पर्शमे भावावेगको

उद्दीप्त करनेकी क्षमता।

कला, काव्य और संगीतरो ही नहीं, सामान्य जीवनमें भी लयतत्त्वकी घनिष्ठ न्याप्ति मिलती है। श्वास-प्रश्वास, हृद्गति, ऋतु-चक्र, दिन-रात आदिका अनुसव क्रमिक रूपमे लयात्मकताके साथ ही होता है। लय और जीवनकी यह धनिष्ठता ही बदाचित् कला अविके क्षेत्रमें उसके विशेष आकर्पणका मूल कारण है।

आवृत्ति अनेव, रूपोंमें होती हैं । स्थृल आवर्तनदो अन्त-र्गत सक्ष्म आवर्तन और सूक्ष्मतर प्रत्यावर्तनोकी स्थिति रह सकती है, जैसे गतिशील जलमें एक बडी लहरके अन्तर्गत छोटी और छोटीके भीतर उससे भी छोटी, सुक्ष्म लहरोका अन्तर्भाव रहता है। आवर्तन समान क्रमने तो होता ही है, पर उसके अर्डसम, विषम तथा ऐसे ही अवान्तर विभेद-प्रभेद भी परिलक्षित होते है। हरिगीतिका छन्द इसी शब्दकी वार आवृत्तियोंसे बन जाता है और भुजंगप्रयात अपने नामकी दो आवृत्तियोसे । सवैया छन्दमे भी आवृत्ति-का क्रम प्रायः समान रहता है। परन्तु बहुतसे वृत्त और छन्द ऐसे होते है, जिनमे आवृत्तिके ऋगको इतनी सरलतासे नहीं समझा जा सकता। उदाहरणार्थ, मन्दाक्रान्ताके प्रारम्भमे गुरु वर्णकी चार आवृत्तियोसे एक लय बनती है, फिर उसे सन्त्रलित करनेके लिए चार लघु वर्ण आते है। इसके बाद जो लयखण्ड बचता है, उसमे तीन यगणात्मक समान लघु लयांश आते है और इस प्रकार समष्टिरूपमें एक संघटित चरणकी सृष्टि होती है (SSSS, IIII, ISS, ISS, ISS), जिसकी प्री-पूरी चार आवृत्तियोसे पूर्ण मन्दाकान्ता वृत्त बनता है। विणिक तथा मात्रिक छन्दोकी लयका भी इसी तरह विश्लेषण किया जा सकता है । ऊपरसे देखनेपर केवल गणों या मात्राओके विधानसे लयका वास्तविक रूप बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। **छलना १**—शिञ्ज लालन-पालनका गीतः, जन्मोत्सव और विवाहोत्सवमें 'वधावा'के अवसरपर गाया जाता है। इस गीतकी टेकके रूपमे बहुधा—"आरे मोरे ललना हो, वाजैकी वधइया कौनी ओर"-जैसी पंक्तियोका व्यवहार होता है। इसी नामका एक वर्ण-वृत्त है, जिसके प्रत्येक चरणमें क्रमञ्ः भगण, मगण और दो सगण होते है (दे० 'हठयोग')। ---र० भ्र० ललना २-हिन्दूतन्त्रों, बज्रयानियों, सिद्धों और हठयोगियोंने श्रीरस्थ अनेकशः (७२,०००) नाडियोकी कल्पना की है, जिनमे तीन प्रमुख है—ललना, रसना और अवधूती। सॉस लेते समय हमे इनमेसे प्रथम दोका आभास मिलता है। जो नाडी बायीं ओर है, वही ललना या इडा है। सन्तोंके साहित्यमें इसी नाडीको सूर्य और गंगा भी कहा गया है। इसे सूर्य अंग (हठयोग प्र०, ३:१५) गंगा (वही ३: १०२) तथा वरुणा (शिव संहिता, ५: १००) कहा गया है। इसी इडाको पिंगलाकी तौलपर कवीरने 'इंगला' बना दिया है। -रा० दे० सिं० **लिलत**—एक गौण अर्थालंकार; जहाँ वर्णनीय वृत्तान्तको न कहकर उसका प्रतिविम्ब वर्णित किया जाय, वहाँ ललित अलंकार होता है। संस्कृतके प्रमुख आचार्योंने ललित अलं-कारको स्वतन्त्र नहीं माना है, क्यों कि वे इसका अन्तर्भाव

निद्रशनामे मानते है। संस्कृत आचार्योंमे अपय दीक्षितने इने स्वतन्त्र अलंकार माना है। 'कुवळवर्टन्'वे आधारपर ही हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इते सीकार किया है। मति-रामने इसकी परिभाषा दी है। - "बर्न्य बादयदी अर्थकी जह केवल प्रतिविम्व" (ल० ल०, २००)। उदाहरण-"मेरी सीख सिखे न सखि, मोसों उठे रिसाय। सोयो चाहत नीद भरि, सेज अँगार विद्याय" (वही, २०१) अथवा-"अरे विह्नम लीट अब तेरा नीड रहा इस वनमें। छोड उच्च पदकी उडान वह क्या है शूना गगनमे" (मैथिलीशरण ग्रप्त: का० द०)। यहाँ नायिका तथा गोपी-के द्वारा मुख्य वात छायारूपमे कही गयी है। जो आचार्य लिलतको स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं उनका कहना है कि यह अप्रस्तत प्रशंसाने इसलिए भिन्न है, क्योंकि वाच्यार्थ प्रस्तुत होना है; समासोक्तिसे इसलिए भिन्न है कि इरामें अप्रस्तुनकी प्रतीति न होकर प्रतिविम्ब वर्णित होता है; निवर्शनासे यह अन्तर है वि. इसमें अप्रस्तुतमें एकताका आरोप नहीं होता दें ('सात्त्विक गुण', नायक, 'स्वभावज अलंबार', नवाँ)। -- ५० म० सा० लिलत कला-कलाओंको सामान्यतः दो वर्गोंने विभक्त किया जाता है—लिलत कला तथा **उपयोगी कला।** लित कलाके अन्तर्गत वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला, ये पांच भेद माने जाते है। इनमेंसे प्रथम तीन, अर्थात् वास्तुकला, मृतिंक्ला तथा चित्रकलाको इदय माना गया है तथा मंगीतकला और कान्यकलाको प्रमुखतः श्रन्य कहा गया है। ललित कलाएँ मनुष्यके सौन्दर्य-बोधकी विकसित अवस्थाओंकी परिचायक है। ललित कलाएँ गौण रूपसे उपयोगी भी हो सकती है, परन्तु प्रमुखतः वे अलौकिक आनन्दवी सिद्धिमे ही सहायक सिद्ध होती है। इस दृष्टिसे सामान्यतः कला कहनेसे ललित कलाओका ही बोध होता है।

पाँचों कलाओं में अपेक्षाकृत श्रेष्ठत्व किसी कलामें प्रयुक्त उपकरणोंकी सक्ष्मताके आधारपर निर्धारित किया जाता है। इस कमौटीपर हीगेलके अनुसार स्थापत्य अथवा वास्तु-कला सबसे निम्त स्तरकी ठहरती है तथा काव्यव ला सर्वा-थिक उत्कृष्ट सिद्ध होती है। वारतुकलाको निकृष्टतम मानने-का कारण यह है कि उसमे प्रयुक्त उपकरण ईट, रोडा, चूना आदि एकदम मूर्त है, अतः कलाकारकी कल्पना उसमें पूरी अभिन्यक्ति नहीं पाती ! वास्तुकलाके बाद मूर्तिकला आती है। इसके उपकरण पत्थर, छेनी, आदि वास्तुकलासे तो कम मूर्त है, पर फिर भी उनमे सुक्ष्मताका अभाव है। चित्रकलाके उपकरण अपेक्षाकृत सुक्ष्म हैं, किन्तु कागज, रंग, कूची आदिका मूर्त स्वरूप काफो स्पष्ट है। संगीत कलामे केवल ध्वनिसयोजनके आधारपर रससृष्टि होती है और कान्यकलामें तो केवल शब्द (जो मात्र प्रतीक है) शेष रह जाते है, जिनको उपकरण बनाकर कवि अपनी साष्टि करता है।

कुछ विद्वान् कान्यकलाकी अपेक्षा संगीतकलाके उपकरणों-को अधिक सूक्ष्म मानते हैं और इस दृष्टिसे कान्यकलाकी तुलनामें संगीतको श्रेष्ठतर मानते हैं। इस मतके अनुया-

यियोंका कहना है कि शब्दोंका तो प्रतीक होनेपर भी निश्चित अर्थ होता है, जो मूर्न पदार्थीमे सम्बद्ध रहना है, पर एंगीनमं तो केवल ध्वनियोके आरोह-अवरोहसे ही निश्चित रसकी सृष्टि की जाती है। —रा० ५० च० लिलत साहित्य - प्राचीन साहित्यमे 'साहित्य'के पर्यायके रूपमे 'वाड्यय' शब्दका उपयोग होता था और 'शस्त्र' तथा 'काव्य' उसके दो प्रकार थे। शास्त्रको आधुनिक परि-भापार यदि हम 'उपयोगी साहित्य' कहे तो वाव्यको 'ललित साहित्य' या 'सरस साहित्य' कहेगे। 'ललित साहित्य'मे साहित्यकी ने सब कोटियाँ आवँगी, जिनमे बीध-पक्ष उतना प्रधान नहीं, जितना भाषपक्ष, अर्थात् जिनमें बुद्धिकी अपेक्षा हृदयको स्पर्श करनेकी सामर्थ्य अधिक है। गद्य और पद्य दोनोंमें ही लिलत साहित्यकी सृष्टि सम्भव है, शर्त है लालित्य, अर्थात् सौन्दर्यनिष्ठा । कान्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, वर्णनात्मक गद्य-पद्य लिखत साहित्यके अन्तर्गत आयॅगे। ठिलत साहित्यमे शैलीगत ळालित्यका आग्रह कदाचित् अधिक है। परन्तु वास्तवमें लिलन कलामे जिस प्रकार उपयोगी कलाका वैपरीत्य है, उसी प्रकार कदाचित् इस विरोधको ध्यानमे र सते हुए 'ललित साहित्य' और 'उपयोगी साहित्य' राब्दोवा प्रच-लन हुआ। प्राचीनतम युगोंसे साहित्यके दो उद्देश्य रहे हे—कलात्मक सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द एवं उप-योगिता। ये दोनों प्रयोजन परस्पर विरोधी-से लगते है। अपरसे विचार करनेपर दोनो प्रयोजनोमे बोई संगति नहीं दिखलाई देती और इसी विरोधके आधारपर ललित साहित्य-को उपयोगी साहित्यसे पृथक और विरोधी माना जाता है। परन्त्र फिर भी यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि साहित्यके ललित रूपमें भी एक सूक्ष्म हंगकी उपयोगिता है, जिसकी विवेचना नीति और मानस-शास्त्रोके आधारपर की जा सकती है। ललित साहित्यमें उस वृत्तिकी प्रधानता रहती है, जिसे भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में 'क्रीडनीयक' कहा है। विश्रान्तिजनन अथवा विनोदकरण लिलत साहि-त्यके अन्य हेत् कहे गये है। यह निश्चित है कि ललित साहित्यमे कलात्मकता, सौन्द्र्यस्टि, कल्पना-विलास, भावना-परिष्कार आदिका महत्त्व अधिक है और तत्त्वज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र और अन्य ज्ञानमूलक साहित्य-चेष्टाओका बोध है। यह शब्द 'सरस साहित्य'के समानार्थ प्रयुक्त होता है (दे॰ 'सरस साहित्य')। लॉग्र-'लॉगुर' अथवा 'लॅगुरिया' बजमे गाये जानेवाले देवीके गीतोंका एक प्रकार है। 'लॉगुर' अथवा 'लॅगुरिया' इन गीतोमें एक पात्र बनकर आता है। वह अपने वैचित्र्य-के कारण अधिक आकर्षक है। ब्राह्मणका बालक लॉगुर तुल्सीके पेड़से उत्पन्न होकर माताका आज्ञाकारी पुत्र है। वह अधिक खाता है, गॉ जेका बड़ा पिवैया है गुजरियाकी दिलमाता है और अनोखे काम करता है। सियाँ अपने गीतोमे उसपर पति-भावका आरोप करती है। कहीं वह छोटा है, तो कही बड़ा । लॉग्ररका हर गीत 'लॉग्रर' अथवा 'लॅगुरिया'के शब्द टेकवत् धारण किये चलता है। हास्य, व्यंग्य, विनोद, प्रणय आदि सभी लॉगुर गीतोंमें व्यक्त हुए हैं। देवीका विशेष प्रिय होनेके कारण भक्तोको भी कदाचित लॉगुर इसीलिए प्रिय हो गया है। गीतोंके 'लॉगुर'-का आरोप एक दो उदाहरणसे स्पष्ट है—(१) ''करौलीवाली नदिया बहाये लिये जाय। जब नदिया मेरे पाँयन आयी, सम्हारिवारे लॉगुरिया'' और (२)''दरदको मारो लॉगुरिया मिर-मिर जाय। लॉगुर तुम लोटा हम होर, सरिक आओ जायी बनमें''। यो तो लॉगुर अथवा 'लॉगुरिया' देवीका पुत्र माना गया है, पर खियाँ भिक्त श्रद्धाके साथ उसका नाम ले-लेकर रिसकताका आरोप करतौ है। — स्या० प० लाटानुपास—शन्दालंकार, अनुपासका मेद 'लाट' एक देशविशेष तथा उसके निवासियोंका नाम है। लाट देशके निवासियोंको यह अलंकार अत्यन्त प्रिय रहा होगा, अतः उनके नामपर इसका नाम 'लाट' पडा।

'प्रायेण लाटजनप्रियत्वाक्षाटानुप्रामः' (सा० द०, १०: ६ वृ०) । इसमे अनेक शब्दोंकी आवृत्ति होती है, अर्थात् वाक्यकी भी और एक शब्दकी भी । जहाँ शब्द और अर्थकी आवृत्ति हो, अर्थात् जहाँ एकार्थक शब्दोंकी आवृत्ति तो हो, परन्तु अन्वयमें अभिप्रायकी भिन्नता हो । इसे शब्द या पदोकी आवृत्तिके कारण शब्दानुप्रास या पदानुप्रास भी कहते है । इसका विवेचन भामहने अनुप्रासके अन्तर्गत और उद्भटने स्वतन्त्र भेदके रूपमे किया है । मम्मटने इसकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—'शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः'' (का० प्र०, ९: ८१), जिसमें समानार्थक किन्तु भिन्न तात्पर्यवाले शब्दोका साहद्य हो ।

भिखारीदासकी परिभाषा इस प्रकार है—''एक सब्द बहु बार जहूँ, सो लाटानुप्रास । तातपर्यते होत है, और अर्थ प्रकास'' (का॰ नि॰, १९) । हिन्दीमे जसवन्त सिहने भाषा-भूषण'में मम्मट तथा विश्वनाथके आधारपर 'शब्द अर्थके भेदमो, भेद विनाहू सोय' लक्षण दिया है। भूषणकी परिभाषा—'भिन्न अभिन्न पदन सों' (शि॰ भू०, ३५५) अस्पष्ट है। कुलपतिने शब्दसाम्यका आधार माना है।

इस अलंकारमें कही-कही सम्पर्ण वाक्यकी आवृत्ति होती है-"औरनके जॉचे कहा, नहिं जॉच्यो सिवराज । औरन-के जाँचे कहा जो जॉच्यो सिवराज" (शि० भ०, ३६४)। इसमें दोनों वाक्योंमें अन्वयमे अर्थमेद है। पदोंकी आवृत्ति जो कभी स्वतन्त्र और कभी समासके होते है। पढ़का उदाहरण—'करि करुना करुनायतन' (का० क०) और समस्त पदका उदाहरण-"मन-मृगया करि मृग-हगी, मृग-मद बेंदी भाल । मृगपति-लंक मृगांक-मुख, अंक लिये मृग-बाल" (का० नि०, १९) । इस अलंकारका प्रयोग चमत्कार-वादी कवियों में ही मिलता है। छेन और वृत्ति अनुपासभे वर्णोंकी आवृत्ति होती है, परन्त लाटमे शब्दोंकी। छेकमं अनेक वर्णीकी एक ही बार आवृत्ति होती है और वृत्तिगें अनेक बार । यमक अलंकारमें भी पदों या शब्दोकी आवृत्ति होती है, परन्तु आवृत्त पद या शब्द मिन्नार्थक होते है। लाट-में आवृत्त पद या शब्द एकार्थक ही होते है। - वि० स्ना० लाटी रीति-दे० 'रीति', चौथी।

लावनी—'संगीन राग करपद्रुम'के अनुसार लावनी (लावणी) उपराग है—''लावणी जोगिया जंगी अहंग सुहागा कोल्लिका"। यह देशी रागके अन्तर्गत है। देशी रागके सम्बन्धमें कहा गया है कि भिन्न-भिन्न देशोंमें जी भिन्न-भिन्न

नाम थारण करे, वह देशी राग है—''देश देशे भिन्ननाम तदेशीगानमुच्यते" (रा०, १, पृ० १७)। दीपक रागकी भार्या देशी रागिनीसे इसमे भिन्नता है, क्योंकि देशी रागको ग्राम्य राग भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि लोक-गीनोंसे इसका विकास हुआ है, जिसका संस्कृतानुकरण लावणीमें मिलता है। इसका सम्बन्ध लावनी देश (लाव। णक)-से था, जो मगधके समीप था एवं उसी देशसे सम्बद्ध होनेके कारण इसका नाम लावनी पड़ा। मियाँ तानसेनने जिन मिश्रित रागिनियोको शास्त्रीयता प्रदान की थी। उनमेंसे लावनी भी थी। कुछ लोगोकी धारणा है कि निर्मण भक्तिथाराके साथ इसका सम्बन्ध था । वस्तुतः लोकरागिनी होनेके कारण इसे लोक-कवियोने अपनाया । सग्ण-निर्गणका इसमें विभेद उपयुक्त नहीं हैं। लावनीके कई वर्ग होते है-लावनी भपाली, लावनी देशी, लावनी जंगला, लावनी कलांगडा, लावनी रेखता आदि । क्वीरके कुछ गीतोंकी परिगणना लावनीके अन्तर्गत हुई है, किन्त अन्यावलीमे यह नाम नहीं मिलता। प्राचीन कवियोंमे हस्तिराम, हरिदास, रसरंग, कृष्णानन्द आदि लावनीके प्रसिद्ध कवि हुए है। लावनी रेखताका उदाहरण है—"गोरी एक बनी है हद वेश, शिरपर लटके लम्बे केश। अदासे चली है मुख मोर, अँचरा दिया है उर्ने छोर"। वहुमचन्द-लिखित लावनी मलांगडा है—"हन्मान वीर वंका, जिनका मुलकोमे डंका, हुक्म पाय कृदि गये लंका, उठी जब रावणके इंका"। भारतेन्द्र-कालमे लावनीवाजीके दंगल होते थे और भारतेन्द्रने भी लावनीकी रचनाएँ की थी, जिनका संग्रह 'फूलोंका गुच्छा' नामक संकलनमे हुआ है। कुछ लावनियाँ 'प्रेमतरंग', 'प्रेम-प्रलाप' आदि प्रन्थोमे भी संकलित है। कुछ लावनियाँ रेखताके ढंग की है—"तुझे कोई कावेमे हाजिर कोई दैरमे बतलाता, भूले है सब अझमें बेशक इनके फर्क पडा"। और कुछ लावनियाँ प्रचलित भाषामे-"मीहि छोडि प्रान-प्रिय कहूँ अनत अनुरागे"। प्रतापनारायण मिश्र भी लावनी शाजीकी संगतिमें रहते थे और उन्होने भी इसकी रचनाएँ की है। -रा० खे० पा० लाहत-दे० 'सूफी मार्ग'।

लिंग-'कौलज्ञान निर्णय'के तृतीय पटल (३: ६-८)में चक्रो-का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि चार. आठ, बारह, सोलह, चौसठ, सौ, सहस्त्र, कोटि, डेडकोटि और तीनकोटि दलवाले चक्रोके ऊपर नित्योदित, अखण्डित, अमल, सर्वन्यापी और निरंजन पद्म है। इसीकी इच्छास सृष्टि होती है और प्रलयके बाद इसीने विलीन भी हो जाती है। चॅिक चराचर इसमे लीन हो जाता है, अतः इसे लिङ्ग कहते हैं—'लीनं गच्छनीतिलिगम्'। इसी अखण्डमण्डलाकार निविकार निष्कल लिंग (शिव)को न जान पानेसे बन्ध होता है और जान छेनेले सारे बन्धन कट जाते है (की० ज्ञा० नि०, ३: ९-११) । पातंजल 'योग संत्र' (२: १९) में गुणपर्व (दे॰ 'गुणपर्व')के अन्तर्गत लिंग और अलिगका उल्हेख किया गया है । वहाँ लिंग संपूर्ण वस्तुओंका व्यंजक है। विज्ञान भिक्षने 'लिगमात्र'का अर्थ 'तनगात्र' किया है। अलिंगका अर्थ 'प्रकृति' किया जाय तो लिंग पुंप्रकृतिके लिंगका अर्थ देगा। पट्चक्र-निरूपण (५१) में परमशिवसे सामरस्यकी अभिलाषा रखने वाली कुण्डलिनी

शक्तिके शिवसे संयुक्त होनेकी प्रक्रिया बताते हुए उसके

लिंगत्रयभेदनका उल्लेख किया गया है। लिंगत्रयपर टीका करते हुए कालीचरणने क्रमशः मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञा नामक चक्रोंमे स्थित स्वयंभू, बाण एवं इतर नामके तीन लिगोका उल्लेख किया है। 'मायातन्त्र'मे भी इन तीन लिगोंका उल्लेख है। िक्रावेचित्र्यवकता - दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता', पाँचवा प्रकार । लिंग शरीर-वेदान्तमें आत्माके दो आवरण बताये गये है- ग्रक-शोणितसे निर्मित शरीर या अन्नमय कोष तथा शेष चार कोश (प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय एवं आनन्द-मय) । वेदान्तके मतसे ये चारों कोष ही लिंग शरीर है। मृत्युके उपरान्त आत्मा अन्नमय कोष, अर्थात् स्थूल शरीरसे तो मुक्त हो जाता है, पर इन चार, अपेक्षाकृत सूक्ष्म, कोषोंसे उसका छुटकारा तबतक नहीं होता, जबतक वह मुक्त न हो जाय। परिणामतः मृत्युके बाद भी यह लिंगशरीर इस जीवनमें किये गये सम्पूर्ण कर्मफलात्मक संस्कारोंको अपने साथ ले जाता है। सांख्य दर्शनकी भाषामें कहना हो तो कहा जा सकता है कि लिंगशरीर, मृत्युको उपरान्त, सम्पूर्ण भावोंको अपने साथ ले जाता है। यहाँ कर्म और भावका अर्थ एक ही है। देदान्तमें जिसे कर्म कहते है, सांख्यमें उसे ही भाव (सांख्य-कारिका, ४०) या बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहते है। वेदान्तमें आठ पुरियोंकी कल्पना है। पंचीकरण वार्तिक (३२: ३७)मे इसका विवरण मिलना है— १ पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ, २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३. चार अन्तःकरण (दे॰ 'अन्तःकरण'), ४. पॉच प्राण, ५ पॉच तन्मात्र (दे० 'तन्मात्र') ६. अविद्या, ७. काम तथा ८. कर्म। इस पुर्यष्टकको मी लिंग-शरीर कहा गया है। लिटरेचर-लिपिबद्ध सम्पूर्ण सामग्रीके लिए 'लिट्रेचर' शब्दका प्रयोग होता है, जिसे संस्कृत वाब्यका समानार्थक माना जा सकता है। सामान्य अर्थीमे मुद्रित सूचना, उपयोगी साहित्य अथवा समग्र रचनाके लिए इस शब्दका उपयोग होता है, जैते, किसी विशिष्ट विषयका साहित्य। टिनडेलने इस शब्दका इस सन्दर्भमें प्रथम बार उपयोग किया था। प्रतीकवादी कलाकार इस शब्दका उपयोग लांछनके अर्थमे करते है, जिसमे परम्पराबद्धता एव भाव-शुन्य अर्थविवृतिकी ओर संकेत होता है। वरलें जैसे प्रतीक-वादी शुद्ध काव्यको ही वास्तविक मानते है, शेष जो कुछ है, लिट्रेचर-मात्र है। परन्तु इन दोनों अतियोंके बीचमे एक संकुचित अर्थ भी है, जिसके अनुसार 'लिट्रेचर' शब्द 'साहित्य' या 'काव्य'का द्योतक है दि० 'साहित्य', 'उपयोगी साहित्य', 'काव्य', 'काव्यक्ला', 'ललित साहित्य', 'सरस साहित्य')। लिबिडो-लिबिडो शब्द लैटिन भाषाका है, जिसका अर्थ कामुकता है। फायडने आरम्भमें इस शब्दका प्रयोग उसके मौलिक अर्थमें ही किया, किन्तु आगे चलकर मनो-विक्लेषणमें उसका प्रयोग शक्ति अथवा सम्पूर्ण जीवनी-शक्तिके सामान्य अर्थमें होने लगा। विशेष सन्दर्भोंमें, जैसे उभयलिंगी लिबिडो, समलिंगी-प्रेम, लिबिडोके विकासके स्तरीं विवेचनमें यह शब्द अब भी मौलिक अर्थमें प्रयुक्त होता है। हिन्दी भाषामे अभीतक इस शब्द के लिए कोई उत्तम पर्याय रूढ नहीं हो सका है। व्यापक अर्थमें लिबिडो जीवन, प्रेम और क्रियाशील्ताके प्रति अदम्य पिपासाको व्यक्त करती है और तृष्णा शब्द सम्भवतः इस भावके समीपतम है। भगवान् बुद्धने तृष्णा शब्दका प्रयोग कुछ इसी अर्थमें किया है।

फायडके अनुसार (दे॰ 'फ्रायडवाद', 'मनोविश्लेषण') लिबिडो केवल प्रौढ कामुकता नहीं है, वह सभी प्रकारका प्रेम है, चाहे वह प्रेम माता-पिता, भाई-वहन, मित्र, सन्तान, देश और आदर्शके लिए हो या स्वयं ईश्वरकी भक्ति हो। कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान आदि लिबिडोसे ही अनुप्राणित है। लिबिडो--तृष्णा-की तृप्ति होती रहना मानसिक स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य है। किन्तु फायडका यह मत नहीं है कि उसकी तृप्ति केवल कामुकताके स्तरपर स्वेच्छा-चार द्वारा ही हो सकती है। समाजमे कामुकताकी निर्वन्ध तृप्ति सम्भव नहीं है। यदि वह सम्भव भी होती तो व्यक्ति तथा समाजके लिए अन्ततः हानिकर होती । अतएव जव लिबिडोका सम्यक समाजीकरण (दे०) अथवा उदात्तीकरण नहीं हो पाता, व्यक्तिमें अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनहद लिबिडो अवांछनीय मार्गोंसे फूट पडती है। शिशकी भाँति आदिम मानव भी अपने शरीरमें ही प्रमूत संवेदनों में वडा रस लेता है। वह आत्मरित-प्रेमी होता है। विशिष्ट संवेदनोंको उत्पन्न करनेके लिए वह अपनी शक्तिका अपार क्षय किया करता है, जिससे समाजको कोई लाभ नहीं होता। इमलिए सभ्यता और संस्कृतिका एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत शक्तिके इस वासनात्मक क्षयको रोककर उसे समाजोपयोगी कार्योंमें लगाना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सामान्य प्रौढ मानवके यौन जीवनकी पूर्ण उपेक्षा की जा सकती है। उसके दुष्परिणाम ही होते है। असम्यक् अति उदात्तीकरण अथवा तापस जीवनके अपने खतरे हैं।

फायडने लिविडोको तीन भागोंमें बाँटा है— ईडिएस या एलेक्ट्रा मनोग्रन्थि, स्वपीडन और परपीडन। —आ० रा० शा० लिरिक-दे० 'गीतिकाच्य'।

लिल १ - विल्यानार्यने अपने शुद्धाईतवाद और पृष्टिमागीं भक्ति-मिद्धान्तों के आधारपर 'श्रीमद्भागवत' के तृतीय स्कन्थकी 'सुनेधिनी टीका' में भगवान्की लीलाकी व्याख्या की है। विलासकी इच्छाका ही नाम लीला है। कार्यव्यतिरेकसे, अर्थात् कार्यसे रहित यह कृतिमात्र है। इस कृतिके वाहर कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्यमें कोई अभिप्राय नहीं होता। इसमें कर्ताका कोई प्रभाव भी नहीं उत्पन्न होता। किन्तु अन्तः करणके पूर्ण आनन्दपूर्ण उछाससे कार्योत्पिके सहश कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान्की लीला है। सिष्ट और प्रलय भगवान्की लीला हो। सिष्ट और प्रलय भगवान्की लीला ही। सिष्ट और प्रलय भगवान्की लीला ही है।

पुष्टिमार्ग(दे०)के अनुसार सिचदानन्द ब्रह्मके मुख्य तीन स्वरूप होते हैं-(१) पूर्ण पुरुषोत्तम रस अथवा आनन्दरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण, (२) अक्षर ब्रह्म, जो गणितानन्द, अर्थात् सीमित आनन्द बालरूप है। यह दो रूपोंमें प्रकट होते है-एक पूर्ण पुरुषोत्तमका अक्षर धाम तथा दूसरा काल, कर्म, स्वभावके अनुसार प्रकट होनेवाले जीव तथा अनेक देवी-देवताओं के रूपमे परिणत होनेवाला रूप और (३) अन्तर्यामी रूप । पूर्ण पुरुषोत्तम परम रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण गोलोक या अक्षर धाम मे नित्य आनन्द-लीलामे मग्न रहते है। वहाँ नित्य बृन्दावन, नित्य यमुना, नित्य गोपी, नित्य विहारका आनन्द रहता है। उनकी यह नित्यलीला अवतार दशाकी लीला कही जाती है। अवतारदशामें उनका गोलोक ब्रजमें पृथ्वीपर उतर आता है और वे गोपांगनाओं के साथ ब्रजकी आनन्द-केलिमे मग्न दिखाई देते है। उनकी यह लीला भी बिना किसी प्रयोजनके लीलाके आनन्दके लिए ही होती है। इसलिए इसे अहेतु-लीला कहते है। इस रूपमे श्रीकृष्ण रसेश और पृष्टिपुरुषोत्तम कहे गये है। वे लोक-वेदकी मर्यादासे अतीत है। श्रीकृष्णका इस रूपमें ब्रजमे प्रकट होना न तो गुणावतार है, न अंशावतार या क्लावतार । वे तो स्वयं साक्षात् भगवान् है । यह विचार 'श्रीमद्भागवत'के "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कथनपर आधारित है, जिसके अनुसार भगवान्के अन्य सभी अवतार अंश-कलावतार है। श्रीकृष्ण अवतार नहीं, स्वयं अवतारी है। परन्त श्रीकृष्णके लीलावतार या रसावतारसे भिन्न वछभाचार्यने उनके मर्यादावतारको भी स्वीकार किया है। इस रूपमें वे अन्य अवतारोंकी भॉति वासदेव, संकर्षण, प्रद्यम्न और अनिरुद्ध-रूपसे चतुर्व्यहात्मक हैं और मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते है। मर्यादापुरुषोत्तम-रूपसे उनका प्रयोजन वेद-धर्मकी रक्षा तथा मर्यादावादी स्थापना होता है। श्रीकृष्णके चार व्यूहोमें वासुदेव मोक्षदल, संवर्षण दुष्टोंके संहारकर्ता, प्रयुम्न सृष्टि-रक्षक और पालन-कर्ता तथा अनिरुद्ध धर्म-रक्षक और धर्मके उपदेष्टा है। इस प्रकार श्रीकृष्णका अवतार दो रूपोमे माना गया है। मथरापति, द्वारकाधीश, देवकीनन्दन, वासुदेव कृष्ण मर्यारापुरुषोत्तम है। इसी रूपमे उन्होने ब्रजमें भी अनेक असुरोका संहार किया था। परन्तु नन्द, यशोदा, गोप और गोपीके प्रिय कृष्ण सदा रसेश्वर पुष्टिपुरुषोत्तम है। वे बजमें अपनी अवतरित लीलाका विस्तार आनन्दके हेत् ही करते है।

जैसा कि जपर कहा गया है, यह समग्र चराचर सृष्टि भी भगवान्की लीला है। यह सिचदानन्द ब्रह्मके अपार रूपसे उस समग्र प्रबद्ध होती है, जब पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्मकों, जो अपने अपार धाम गोलोकमे नित्य एकरस आनन्दमे मग्न रहता है, एकसे अनेक होनेकी इच्छा होती है। सृष्टि सिचदानन्द ब्रह्मकी सत् अंशरूपा है, जो सत्त्व, रज और तम, तीन गुणोंसे मिलकर बनती है। ये गुण प्राकृत है, परन्तु स्वयं ब्रह्मकी सत् शक्तिके ये गुण अप्राकृत है और कमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपारब्रह्मके गुणावतार कहे गये है। इनके अतिरिक्त अपारब्रह्मके अंशावनार या कलावतार भी अनेक है—वामन, वाराह, मत्स्य, परशुराम, राम आदि अंशावतार ही है।

ब्रजमें भगवान्की लीला भावभेदके अनुसार अनेक

प्रकारकी होती है। मुख्य भाव दास्य, वात्सख्य, सख्य और माधुर्य है। इनके आधारपर भक्तोंकी प्रीति प्रेम-अनुरूपा है और कान्ता या मधुर रितके लिए भगवान् अपनी अनेक प्रकारकी लीलाका विस्तार करते है। उनकी बाललीला प्रीति-रितकी, गोचारण लीला प्रेम-रितकी और कैशोर लीजा, जो ग्रप्त और रहस्यपूर्ण है, कान्ता या मधुर रितकी पोषक है। दास्य भावकी प्रीति-रित तो वस्तुतः भगवान् के ऐश्वर्य-रूपके प्रति होती है, अतः कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायोमे उसे विशेष महत्त्व नही दिया गया है। किर भी अन्य भावोंको संकलित करनेवाली लीलाओंमे प्रायः भगवान् अपने माहात्म्य-ज्ञानके हेतु अपना ऐश्वर्यरूप भी किचित् झलका देते है और विभिन्न भावोंके भक्तगण उस क्षण उनके प्रति दैन्यकी भावना एक-एक प्रकारसे संचारी भावके रूपमें अनुभव करने लगते है।

यथि पुष्टिमार्गमे गोपाल कृष्णके बालरूपकी ही प्रकटतः वैधानिक मान्यता है, परन्तु उनकी कैशोर भावकी उपासनाका भी विशद विस्तार पुष्टिमार्गीय भक्तोके कान्योमे मिलता है। वत्सलमत (दे०-'अष्टछाप')मे मधुरभावके भक्त सखीरूप होते है। राधिका इन सखियोमे सबोंपरि है, वस्तुतः वे स्वामिनीजी ही कही जाती है। कृष्णके मुख्य सखा आठ है और उनकी सखियों भी आठ है। इनके अतिरिक्त असंख्य सखा और सखियों है। अष्टछापके कवि, जो कृष्णके अष्टसखा कहे जाते है, रात्रिकालीन कुंजलीलामे सखीरूप हो जाते है।

चैतन्य-सम्प्रदायके अनुसार भगवान् अपनी सक्स्य-राक्तिके साथ छीळामे प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी आह्नादिनी राक्ति राधा तथा उनकी सिखयो गोपियोके साथ छीळा करते है। यह छीळा दर्पणमे प्रतिविम्बके साथ बाळककी क्रीड़ाके समान है। जीव भगवान्की इस छीळाका द्रष्टा रहता है। वह उस छीळारसमे तभी सम्मिळित हो सकता है, जब वह गोपियोंकी सेविकाओंके पास पहुँचकर उनकी सेवा करके उनकी कृपाका अधिकारी बन जाय और गोपियाँ उसे कृपा करके हावभावमयी राधाके निकट पहुँचा दे। उस अवस्थामें उसका जीवत्व नष्ट हो जाता है और वह स्वरूपशक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण लीलारसके विस्तारके लिए एक साथ ही बाल, पौगण्ड, किशोर और यौवन किसी भी अवस्थामें प्रकट हो सकते है। ये सब अवस्थाएँ एक साथ ही चलती है। भावके अनुसार वे तत्तत् अवस्थामें भक्तोको प्राप्त हो जाते है, परन्तु उनका किशोररूप ही कृष्ण-भक्तोंका सर्वाधिक प्रिय और वरेण्य रूप है। वे सदैव किशोर माने गये है।

श्रीकृष्णकी मुख्य रूपसे दो प्रकारकी किशोर-छोलाएँ हैं — एक कुंजलीला और दूसरी निकुजलीला। कुंजलीलाका स्थायी भाव श्रीकृष्ण-रित हैं, आलम्बन श्रीकृष्ण तथा आश्रय गोपियाँ है । गोपियाँ उपपति (जार)के रूपमें श्रीकृष्णसे परकीया-भावकी विरह्मधान रित करती है। राधावछभीय सम्प्रदाय(दे०)में इस लीलाके रसको बज-रस कहा गया है। कुंजलीलाका ही दूसरा नाम बजलीला भी दिया गया है। यह बज-रसका क्रीड़ा-बिनोद श्रीकृष्ण-अवतारकी लीला है,

अवतारीकी छीला नहीं। अतः यह नित्य नहीं है, अवतार-दशामें ही प्रकट होती है। इससे भिन्न नित्य-विहारी श्रीकृष्णकी निकुंजलीला देश और कालसे परे अखण्ड एक-रस होती है। निकुंजलीलाका नाम निकुंज-रस या वृन्दावन-रस है। यह लीला अत्यन्त गोप्य और रहस्यपूर्ण है। इस लीलामें प्रेमतत्त्वरूप श्रीकृष्ण अपने चार अंगों —श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन तथा सिखयोके साथ प्रकट होकर निरन्तर प्रेम-केलिमें मग्न रहते है। उस क्रीडामें वियोगका अम भी नहीं पैदा हो सकता। स्व-परके मेदसे रहित नित्य मिलनका, अखण्ड आनन्दके रूपमे वृन्दावन-रस निष्पन्न होता है। राधावछभीय मतके अनुसार इस वृन्दावन-रसमें राधा-रित स्थायी माव है, राधा आलम्बन तथा श्रीकृष्ण आश्रय है। इस प्रकार इसमे राधा-की प्रधानता है। परन्तु गौडीय वैष्णव मतमे निकुंजलीलाकी भावाश्रया श्रीराधिका तथा आलम्बन श्रीकृष्ण माने गये है।

नित्य और अवतरित लीलाके अतिरिक्त लीलाका एक रूप अनुकरणात्मक भी है। इसमे भक्तगण श्रीकृष्णकी आनन्दलीलाका अभिनय करके अपने-अपने भावको इढ करते है । अनुकरण-लीला श्रीकृणकी रासलीलाके रूपमे प्रस्तृत की जाती है। रासलीलामे केवल उसी रासका अभिनय नहीं होता, जो श्रीकृष्णने 'भागवत'मे वणित चीरहरण-लीलाके समय दिये गये वचनके अनुसार शरत-पणिमाकी रातमे गोपियोके साथ किया था, वरन् श्रीकृष्ण-की अन्य लीलाएँ नाखन-चौरी, गोवर्धन, कालियदमन, चीरहरण, सर्पदशन, पनघट, दान आदि भी अभिनीत होती है। रासमण्डलियाँ इन लीलाओंको प्रेमी भक्तोके सम्मुख प्रायः खुली रंगशालामे प्रदक्षित करती है (दे०-'रासलीला')। लीला २ – यौवन-कालमे स्त्रियोंके शरीरज, प्रयत्नज और स्वभावज वर्गोंमें विभक्त बीस अलंबार माने गये है। दस स्वभावज अलंकारोमेसे लीला भी एक अलंकार है। नायिका-का अपने मधर अंगोंकी चेष्टाओं द्वारा प्रिय (नायक)के वाग्वेषचेष्टादिका शृंगारिक अनुकरण करना लीला कहलाता है। आचार्योने लीलाके तीन भेद माने है-१. स्वगता-उपर्यक्त परिभाषा स्वगता लीलाकी ही है; २. सखीगता-जब नायिका सखीसे नायकके प्रेमालाप, वेशभूषा तथा चेष्टादिका अनुकरण करवाती है; ३. स्वप्रियता-जब नायिका नायकसे अपने रूप और चेष्टादिका अनुकरण करवाती है और स्वयं भी नायकके वचन, वस्त्राभषण, रूप

ठीठा—रासठीठा, रामठीठा और इनुमान्ठीठा जैसे
ठीठानाट्यरूपोंका भी अर्थ-ज्ञापन करती है (दे०-'स्वभावज
अलंकार', पहला)। — वि० रा०
ठीठावतार - परमात्मशक्तिके २४ अवतार, जिनका
उद्देश्य संसारमें 'गीता' (अ० ४: ८)में वर्णित कार्य होता
है, ठीठावतार कहलाते है। (विस्तारके ठिए दे०-'अवतार'।) — वि० मो० श०
ठीठावती - मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृत-पँगठम्' (१: १७७)के अनुसार इसमें विना गुरु-लशुके
विचारके ३२ मात्रा प्रतिचरणमें होती है। यह छन्द प्रदु-

और क्रियाओंका अनुकरण करती है।

रियाका दृना है। कई किवयोंने इसका नाम लीला दिया है, पर इस नामके दो भिन्न छन्द १२ तथा २४ मात्राके भिखारीदास (छन्दोर्णव, पृ० २०:३१) और भानु (छं० प्र०, पृ० ४४:६२)ने माने है। प्रस्तुत छन्दका प्रयोग स्दन (सु० च०), सदानन्द (रा० भ० सि०) तथा रघुराज (रा० स्व०)ने किया है। उदा०—"ताको नित गैये सहन्न छ लहिये चार पदारथ मन भाये" (छं० प्र०, प० ७३)।

लुक्षोपमा –दे॰ 'उपमा', चौथा प्रकार । लुट्यापति –दे॰ 'प्रौढा', (नायिका) । लेख –दे॰'निवंध', 'आर्टिकिल'।

लेश-अप्ररत्त प्रशंसाके निकटका एक गौण अर्थालंकार। सर्वप्रथम दण्डीने इस अर्जकारका उल्लेख करते हए कहा-"लेशमेके विद्निन्दां स्तुति वा लेशतः कृताम्" (काव्या०, २: २६८), अर्थात् अंशमात्रमे निन्दाको स्तृति एवं स्तृति-को निन्दा करना लेश अलंकार है। प्रतीत होता है कि इस परिभाषाके निन्दा एवं स्तुति पदो द्वारा अन्य अलंकारोसे भ्रम हो जानेकी सम्भावना निहित होनेके कारण रुद्रदने दीप एवं गुण शब्दोंका प्रथीग किया (काव्या०, ७: १००)। अप्पय दीक्षितके समयतक कदाचित लेश एवं अप्रस्तुत-प्रशंसा और न्याज-स्तुतिमे भ्रम होने लगा होगा. जिसकी व्याख्यामे लक्षणकारिकाके अतिरिक्त वृत्तिमें इन सबके भिन्न अर्थीपर प्रकाश डाला गया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इसका लक्षण इस रूपमे दिया है—''जहाँ दोष गुन होत है, जहाँ होत गुन दोष" (छ०छ०, ३२४)। गुण तथा दोषके आधारपर इसके दो भेदोका उल्लेख भी किया गया है। दासने दोनोकी परिभाषा भी अलग दी है।

'कुवलय।नन्द'का उदाहरण हैं—''यद्यपि सम्पूर्ण अन्य पक्षी स्वच्छन्दचारी रूपसे उडते है, पर हे शुक ! तुम्हारी मधुर वाणीका फल यह हुआ कि तुम पंजरबद्ध हो" (७२)। यह गुणसे दोषका उदाहरण है। और भी-"प्रतिविन्वित तो बिम्बम, भूतल भयो कलंक । निज निर्मलता दोष यह मनमे मानि मयंक" (ल० ल०, ३२६)। दोषसे गुणका उदाº-"रहिमन विपदा हूँ भली, जो थोरे दिन होय। हित अनहित या जगतमें जाति परत सब कीय"। रपष्टतः जहाँ व्याजस्तुतिमें स्तुतिका गम्यार्थ निन्दा एवं निन्दाकी स्तति होती है, वहाँ गुणविशेषकी अवगुणके रूपमें तथा दोष-विशेषणकी गुणके रूपमे अंशमात्रमे कल्पना होनेसे लेश अलंबार होता है। अब प्रश्न होता है कि लेशमे और अनुज्ञा एवं तिरस्कारमे क्या भेदं है ? ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अनुज्ञा तथा तिरस्कार व्यक्तिगत इच्छाकी प्रतीति कराते हैं, वहाँ लेश उसकी कल्पना की (दे॰ 'अनुज्ञा', 'तिरस्कार')। --- ज० कि० व० **छै, छौ, ह्यो-** छै, छौ या ल्योको सन्तोंने सुरतिका सहायक माना है और अधिकांश स्थलोपर सुगति-निरति या सुरतिके साथ है, हो या त्यौका प्रयोग किया है। है शब्द संस्कृतके लगद्या ध्वनि परिवर्तित रूप है। शरीरके अन्दर संचरित होनेवाले प्राणवायुर्जीकी निरोधावस्थाका नाम लय है-'अन्तश्चराणां निरोधात्' (कालिदास) । इस प्रकार प्राण-वाय या चित्तवृत्तिका भीतर-ही-भीतर विलीन हो जाना

ले है। 'लो' दोपककी जलती हुई अग्निशिखाका नाम है। कालिडासने शिवकी संगाधिकी उपमा 'निवात निष्कम्प प्रदी।'से दी है (कुमार जंभव, ३:४८)। संस्कृतमे समावि-की यह उपमा वह प्रचलित है। तात्पर्य यह कि समाधिकी अवस्थामें व्यक्ति उसी प्रवार प्रज्वलिन एवं स्थिर रहता है, जैसे वायहीन स्थानमें जलती हुई दीपशिखा। यही 'लययोग' है। सन्तोंका लै या लौ शब्द उक्ता लय एवं लौ का मिलाजला अर्थ देता है और चित्तवृत्तियोंके विलय, ममाधि आदिका वाचक है। लै, लौका ही एक दूसरा रूप 'ल्यो' है। अर्थ इसका भी वही है। सन्तोने लौलीन, लवलीन, और यदाकदा 'विले' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें किया है। समाधिकी इसी अवस्थाका उल्लेख करते हुए कवीर कहते है-"जिहि बन सिघ न संचरे, पंखी उड़ि नहि जाइ। रैनि दिवसकी गमि नहीं, तहाँ (रहा) क्बीर ली लाइ॥" (क्० ग्रं०, ति०, पृष्ठ १७३, ४)। लौलीनका प्रयोग भी इसी अर्थमें कवीर आदिने बहुदाः किया है—"छाँडयो गेह नेह लगि तुमसे भई चरन लौलीन" (क॰ ग्रं॰, ति॰, प॰ १५)। है अर्थमे बिहै शब्दका प्रयोग दाइने इस प्रकार किया है-"राम कहत रामि रह्या आप विसर्जन होइ। मन पवना पंची बिलै, दादू सुमिरण सोइ" (दादृदयालकी अनमै वाणी, ५० -रा० दे०सि०

लोक - राब्दकोशोमे लोक शब्दके कितने ही अर्थ मिलेंगे,
जिनमेसे साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित है। एक तो
वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोकका द्वान होता
है। वर्तमान प्रसंगमे यह अर्थ अभिप्रेत नही। दूसरा अर्थ
लोकका होता है जनसामान्य—इसीका हिन्दी रूप लोग
है। इसी अर्थका वाचक 'लोक' शब्द साहित्यका विशेषण
है। किन्तु इतनेसे लोकका वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो
पाता, जो साहित्यके विशेषणके रूपमे वह प्रदान करता है।

वास्तवमें साहित्यको यह एक नया विशेषण मिला है। माषाकी दृष्टिसे साहित्यका भेद हमें विदित है। हम हिन्दी साहित्य, बँगला साहित्य, अंग्रेजी साहित्य कहने और समझनेके अभ्यस्त है। वैसे ही स्थल-भेदसे भी साहित्य हमारे लिए अपरिचित नहीं, भारतीय साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि। भाषा और स्थलके भेद भौगोलिक है, किन्तु यह लोकसाहित्य किस प्रकारका साहित्य है? लोक विशेषण किस अन्य प्रकारके साहित्यकी सम्भावना मानता है? ये प्रश्न है। भारतीय साहित्यकी सम्भावना मानता है? ये प्रश्न है। भारतीय साहित्यके तो हमे परम्परासे 'लोक' और 'वेद'का कुछ यिभेद विदित होता है। लोक-पिराटी और वेद-पिपाटी जैसी दो पृथक् परिपाटियाँ है। 'महाभारत'में लोक-वेद-विधिमे विरोधको बताने-वाले कई कान्य मिलते हैं— "वेदाच्च वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः"। 'भगवद्गीता'मे— "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः प्रश्वोत्तमः" आदि।

लोक तथा वेदका पुराना अन्तर यह बताता था कि जो वेदमे स्पष्टतः नही है, वह यदि लोकमें हो अथवा जो वेदमे है, उसके अतिरिक्त लोकमे हो, वह लौकिक है। यहाँ साहित्यमें लोक अथवा लौकिक किसी अवहेलना अथवा उपेक्षाका माब प्रकट नहीं करता। यद्यपि लोकसाहित्यका

लोक वेदसे एक भिन्नताका भाव तो प्रकट करता है, फिर भी उस समस्त अर्थको प्रकट नहीं करना, जो ऊपर बताया गया है। यहाँ वैदिक्तसे भिन्न शेप समस्त बाते लौकिक कहलायंगी। वात्भीकिको 'रामायण', कालिदासका 'शकुन्तला' नाटक, भारवि-भाव-भवभूतिको रचनाएँ सभी लौकिक कोटिकी होगी, किन्तु लोकसाधिन्यके अन्तर्गत इनका समावेश नहीं हो सकता।

वस्तुतः इमें इसके लिए अन्यत्र देखना होगा, क्योंकि लोकसाहित्य शब्द अंग्रेजीका अनुवाद है। यह अंग्रेजीके जिस शब्दका अनुवाद है, वह है 'फोक लिट्रेचर'। फोकका पर्याय लोक है और लिट्रेचरका साहित्य।

इस फोकके विषयमें 'इनसाइक्लोपीडिया शिटानिका'ने बताया है कि आदिम समाजमें तो उसके समस्त सदस्य ही होत (फोक) होते है और विस्तृत अर्थमें तो इस शब्दसे सभ्य राष्ट्रकी समस्त जनसंख्याको मी अभिहित किया जा सकता है, कि सामान्य प्रयोगमें पाश्चात्य प्रणाली-की सभ्यताके लिए ऐसे प्रयुक्त शब्दोंमें, जैसे लोकवार्ता (फोक लोर), लोकसंगीत (फोक म्यूजिक) आदिमे इसका अर्थ संकुचित होकर केवल उन्हींका. ज्ञान कराता है, जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षाके प्रवाहोंसे मुख्यतः परे है, जो निरक्षर भट्टाचार्य है अथवा जिन्हे मामूली-सा अक्षरज्ञान है; प्रामीण और गवार । इम अपनी दृष्टिसे यह कह सकते हैं 'लोक' मनुष्य-

समाजका वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता

और पाण्डित्यकी चेतना और पाडित्यके अहंकारसे शन्य है और जो एक परम्पराके प्रवाहमे जीवित रहता है। ऐसे लोककी अभिन्यक्तिमें जो तत्त्व मिलते है, ये लोकतत्त्व लोक-अपवाय-लोक-अपवाय अथवा लोअप्पवाय, यह शब्द लोवा अपयादसे व्युत्पन्न है। लोकापवादका हिन्दीमे आज अर्थ होता है 'लोक-निन्दा', किन्तु अपवादका अर्थ निन्दा ही नहीं होता। अपवादका एक अर्थ होता है नियमसे कोई विदिष्ट च्युति । लोकनियमोंका जहाँ उहंघन होगा, वहाँ लोकापवाद होगा। लोकापवाद अथवा लोक-अपवादका सीधा-सादा अर्थ है लोकमत । लोक-कथा-कथा शब्द सामान्यतः कहानीका पर्यायवाची है, इस दृष्टिसे तो लोक-कथा और लोक-कहानीमे कोई अन्तर नहीं होगा, किन्तु ऐसा वस्तुतः है नहीं। कथा शब्द प्रयोगमे एक विशेष प्रकारकी कहानीके लिए आता है। यह कहा जाता है कि 'रामायण'की कथा हो रही है या इसी प्रकार सत्यनारायणकी कथा, गणेश-चौथकी कथा आदि। इन प्रयोगोसे प्रकट होता है कि कथा कोई ऐसी वार्ता है, जो किसीके द्वारा कहकर सुनायी जाती है और उसे सुनानेका धार्मिक अभिप्राय होता है। उसे सुननेवाले-को धार्मिक सन्तोप प्राप्त होता है, धर्मलाभ होता है, अन्य कोई मानता पूरी होती है या पूरी करनेके लिए वह सुनी जाती है। अतः जो कहानी धार्मिक अभिप्रायसे अनुष्ठानके साथ सुनानेके लिए हो, वह कथा कही जायगी। जिसके साथ परम्परा जुडी हुई है और लोकमानसका तत्त्व जिसमे विशेष हो, वह लोब-कथा कही जायगी। ऐसी लोब-कथाका बहुधा किसी-न-किसी रूपमे धर्मगाथा (दे०) या पुराण-कथासे सम्बन्ध होता है। एक पूजा-कहानी होती है, उसमें भी धार्मिक अभिप्राय रहता है, पर यह कहानी सामान्यतः पूर्णरूपेण लोक-कहानी होती है, जिसमे देवी-देवता भी अपने अनोखे रूपमें आते है। ऐमे ही किसी-किसी कहानीमें कोई भी देवी-देवता नहीं होता। ये पूजा-कहानियाँ केवल खियोमें चलती है और इनके अन्तर्गत करवा चौथ, अहोई आठे, मैया-दूज, अनन्त चौदस, स्याह् आदि अवसरोपर कही-सुनी जानेवाली कहानियाँ आती है। लोक-कथाओंका विषय भी धार्मिक होता है, किसी-न-किसी रूपमे किसी देवी-देवताके अवतारसे सम्बन्धित होता है।

लोक-कथाके इस पारिभाषिक प्रयोगके साथ एक मुहाविरेके रूपमें भी इसका प्रयोग होता है, वहाँ यह लोक-प्रवादका पर्यायवाची है। किसीके सम्बन्धमें जो चर्चा या चवैया लोकमे चलता रहता है, वह भी लोक-कथा कहलाता है। लोक-कहानियाँ - लोकमें प्रचलित और परम्परासे चली आनेवाली, मूलतः मौखिक रूपमे प्रचलित, कहानियाँ लोक-कहानियाँ कहलाती है। आज ऐसी कहानियाँ भी है, जो लिखी जा चुकी है, पर इतनेसे ही वे लोक-कहानीका स्वरूप नहीं छोड़ देती। लिखी हुई लोक कहानियोसे यह विदित हो जाता है कि वे मूलतः मौखिक थी। 'कथा-सरित्सागर'में कहानियोंकी भूमिकासे भी यही सिद्ध होता है कि वे कहानियाँ सनकर लिखी गयी। उन कहानियोंके मुल प्रवक्ता शिव है। लोक-कहानियोंके सम्बन्धमे एक मत यह था कि ये मूलतः धर्मगाथाएँ (दे०) ही है, समयके प्रभाव और मूल स्रोतसे दूर होकर इन्होंने धर्मगाथाओंके नाम-स्थान त्याग दिये है, यह मन आज मान्य नहीं है। कुछ कहानियाँ अवस्य ऐसी मिल सकती है, जिनका मूल धर्म-गाथामे हो, पर अधिकांश लोक-कहानियाँ ऐसी नहीं। कुछ समय पूर्व यह धारणा भी अत्यन्त बलवती थी कि विश्वभर-की लोक-कहानियोंका मूल एक स्थान है। वहींसे चलकर वे विश्वभरमे फैली। बेन्फीने यह सिद्ध किया कि वह मूल स्थान भारत है। उन्होंने भारतीय कहानियोकी विश्वयात्रा-का क्रमबद्ध मार्ग भी निर्देशित किया। यह मत अंशतः आज भी मान्य है, पर सिद्धान्ततः इसका खण्डन हो गया है। वस्तुतः जनतक कहानियोंके अध्ययनका आधार कहानी-रूप 'टेल टाइप' रहा, यह विवाद चलता रहा। अब लोक-कहानियोंके अध्ययनका आधार रूढतन्तु अथवा अभिप्राय (मोटिफ) हो गया है। विश्वकी अधिकांश कहानियोमे एकसे रूडतन्तु मिलते है। इन तन्तुओंका अध्ययन करनेसे विदित होता है कि वे सभी क्षेत्रोमे स्वतन्त्र रूपसे निर्मित हो सकते है। लोक-कहानियोके ये समस्त तुलनात्मक, ऐतिहासिक और रूढ़तन्तु-विषयक अध्ययन रोचक ही नहीं, महत्त्वपूर्ण भी है। इसमें शब्द-शास्त्रके लिए भी सामग्री है, और नृविज्ञानका तो यह एक आधार है। लोक-कहानीमे सांस्कृतिक सामग्री बहुत होती है और उसमे लोक-विश्वासों-का भी उल्लेख रहता है, पर ये कहानियाँ किसी भी प्रकार-की धार्मिक सन्तृष्टिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं।

लोक-कहानी शब्दका कभी-कभी प्रयोग अंग्रेजी शब्द

'फोक टेल'के पर्यायवाचीके रूपमे भी होता है। अंग्रेजीमें यह शब्द बद्दुत न्यापक अर्थ रखता है और इसमे अवदान, लोककथा, धर्मगाथा, ५३, २० के कहानियाँ, नीति-कथाएँ आदि लोकप्रचलित वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती है। लोकगाथा-यह अँग्रेजीके बैलेड शब्दका समानाथीं है। बैलेडके लिए हिन्दीमे ग्रामगीत, नृत्यगीत, आख्यानगीत, आख्यानक गीत, वीरगाथा, वीरगीत, वीरकाव्य आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग विभिन्न लोगोने किया है, पर इनमेसे कोई भी जब्द बैलेड ज्ञब्दका पूर्ण और सही अर्थ नहीं व्यक्त करता। ग्रामगीत, जिसे लोकगीत भी कहते है, कई प्रकार-का होता है और लोकगाथा उसका एक रूप है। लोकगाथा-में कोई कथा अवस्य होती है। पर सभी लोक-गीतों या ग्रामगीतोके लिए वधातत्त्व आवश्यक नहीं। आख्यानगीत या आख्यानक गीत भी बैलेडका सही अनुवाद नहीं है, क्योंकि इससे बैलेडके लोककाव्य होनेकी व्यंजना नहीं होती। आख्यानक गीत साहित्यिक भी होते है, पर उन्हें वास्तविक लोकगाथा नही कहा जा सकता, क्योंकि वे लोकगाथाकी तरह मौखिक परम्परामे विकसित और लोक-प्रचलित या लोकोद्भूत नहीं होते। वीरगीतसे वीरता-व्यंजक गीतिकाव्यका बोध होता है, पर लोकगाथा गीति-काञ्यके अन्तर्गत नहीं, आख्यानक काव्य या प्रवन्धकाव्यके अन्तर्गत आती है। वीरगाथा शब्द भी आमक है, क्योंकि सभी लोकगाथाएँ वीरतापरक ही नहीं होती, उनमें कुछका वर्ण्य विषय प्रेम और शृंगार और कुछका धर्म भी होता है। इसके अतिरिक्त वीरगाथा और वीरकाव्य शब्दोंसे उस लोक-तत्त्वका बोध नहीं होता, जो लोकगाथाका अनिवार्य अंग है। अनः बैलेड शब्दका सबसे उपयुक्त हिन्दी रूपान्तर लोकगाथा ही है।

'इनसाइक्लोपीडिया बिटानिका'के अनुसार इंग्लैण्डमे बैलेड उस काव्यरूपका नाम है, जिसमे सीधे-सादे छन्दोंमें कोई सीधी, सरल कथा कही गयी हो। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान डब्ल्यू० पी० केरके मतके अनुसार बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोककण्ठमे ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोकगाथाके सामान्य रूप-विधानको लेकर किसी विशेष कवि दारा रचा जाता है, जिसमे गीतात्मकता (लिरिकल कालिटी) और कथात्मकता, दोनों होती है और जिसका प्रचार जन-साधारणमे मौखिक रूपमे एक पीढीसे दूसरी पीढीमें होता रहता है (फॉर्म एण्ड स्टाइल इन पोइट्री, पृ०३)। जोजेफ टी० शिप्लेकी 'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स'के अनुसार बैलेड शब्दका प्रयोग तीन अर्थींमे होता है—(१) साहित्यके क्षेत्र-में सीमित और विशिष्ट अर्थमे बैलेड मुख्यतः एक लघ्न कथात्मक और प्रगीतात्मक काव्यका नाम है; (२) सामान्य अर्थमे इस शब्दका प्रयोग किसी भी ऐसे लघु गीतके लिए होता है, जो हमारी भावात्मक सत्ताका स्पर्श करता है; (३) संगीतके क्षेत्रमे भी बैलेड शब्दका प्रयोग होता है, जो एकाकी वाद्य सहित या समवेत किसी भी प्रकारका होता है, अथवा जो नृत्यके साथ गाया जाता है। पियानो और वाधवन्दपर गानेके लिए भी बैलेड लिखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि पश्चिमी देशोंमें बैलेड शब्दका प्रयोग विविध अथोंमें होता है। किन्त साहित्यशास्त्रियोके बीच उसकी वह विशिष्ट और सीमित अर्थवाली परिभाषा ही मान्य है, जो डब्ल्यू० पी० वेरने बतायी है। वह लोक-कण्ठमे निर्मित और विकसित होना है और उसमें छन्दोबद्ध कथा (गाथा) भी होती है, अनः लोकगाथा ही उसका सबसे उपयुक्त और सार्थक नाम हो सकता है। लोकगाथा मानव-समाजका आदिम साहित्यिक रूप है । मानव जब कबीलोमें रहता था, तब उसकी सामाजिक मनोभावनाकी अभिन्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीतके रूपमे होती थी। देवी-देवताओं या पूर्वपुरुषो या टोटेमकी कल्पना उदित होनेपर उनसे सम्बन्धित आख्यान भी उन नृत्य-गीतोके वर्ण्य विषय बन गये। ये ही आख्यानक नृत्य-गीत लोकगाथाके प्रारम्भिक रूप थे। सामूहिक नृत्य-गीतने बादमे सम बत नृत्य-गीत-(कोरल डांस)का रूप धारण किया, जिसमे थोड़ेसे विशेषज्ञ व्यक्ति (स्त्रो और पुरुष) नृत्य-गान करते और अन्य लोग देखकर आनन्द हेते थे। उसके बाद ज्यों-ज्यो समाजमें व्यक्ति-भावना विकसित होती गयी, संगीत, जत्य और काव्य विच्छित्र होते गये और उनके विशेषज्ञ भी समाजके और लोगोंसे विशिष्ट स्थान रखने लगे । समन्तेत नत्य-गीतमें पहले सब साथ नाचते-गाते थे। बादमे कोई एक व्यक्ति अगुआ बनकर गाता या नाचता था और अन्य उमीका अनुमरण करते थे। विशिष्ट प्रतिभा और स्मरणकक्तिवाले व्यक्ति नृत्य, संगीत और आख्यानमे अलग-अलग विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे। इस तरह सामृहिक या समवेत नृत्य-गीत-से ही नृत्य-संगीत और काव्य (गीत और गाथा)का अलग-अलग कलाओके रूपमें दिकास हुआ। इन्ही गाथाविद (गाथिन्) अगुओसे आगे चलकर कवि, चारण, सूत मागधादिका पेशागत या जातिगत विकास हुआ। प्राचीन लिखित साहित्य और आधुनिक युगमे सामान्य अशिक्षित जनता, विशेषकर आदिम जातियोके मौखिक साहित्यमें उपर्युक्त कथन प्रमाणित होता है। ऋग्नदके कुछ संवाद-सूक्तो और नाराइंसी गाथाओको प्राचीनतम लोकगाथा माना जा सकता है। पुराणों और महाभारतमे भी इस तरहकी लोकगाथाएँ शिष्ट साहित्यिक रूप धारण कर समाविष्ट हो गयी है।

लोकगाथाओंकी उत्पत्त सर्वप्रथम तब हुई, जब समाज अविभक्त और एक इकाईके रूपमे था। इस कारण लोकगाथाएँ प्रारम्भमे समूचे समाजकी सम्पत्ति थी, सभी इन्हे गाते और अपनी ओरसे उनमें कुछ-न-कुछ जोडते-घटाते थे। इस तरह एक स्थानसे दूसरे स्थानमे और एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमे कण्ठानुकण्ठ यात्रा करते रहनेके कारण उनका रूप नित्य परिवर्तनशील रहा। बादमें समाजके वर्ग विभक्त हो जानेपर उच्च वर्गोंके बीच कुछ विशेषहो, किन्चारण आदि—द्वारा साहित्यकी रचना होने लगी और साहित्य उनका वैयक्तिक कृतित्व माना जाने लगा, अब वह समूचे समाजकी सम्पत्ति नहीं रह गया। किन्तु सामान्य जनतामें, जो अभी भी एक इकाईके रूपमे थी और शिक्षा तथा शिष्ट संस्कारों द्वारा परम्परा-विरहित नहीं हुई थी, वे पुरानी लोकगाथाएँ कण्ठानुकण्ठ विकसित होती

और नवीन गाथाएँ निर्मित होती रहीं। ऐसे समाजमें लिखने-पढनेकी प्रथा न होनेसे वे लोकगाथाएँ अलिखित रूपमे ही बनी रहीं। इसी कारण उनकी प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ नहीं मिलती।

लोकगाथाएँ गानेके लिए होती है। इनमेसे कोई-कोई नृत्य या बाधके साथ गायी जाती है और जो नृत्य-बाधके साथ नहीं गायी जाती, उनका भी अपना-अपना अलग राग होता है। इन लोकगाथाओं के विशेषज्ञ ही इन्हें गाते है। पर इन गानेवालोंको भी गुरु या बाप-दादोंसे सीखी हुई गाथा ज्यो-की-त्यो याद नहीं रहती, अतः ये कथाके भीतर प्रायः नये प्रसंग जोड़ देते है। इनमें आशु कविता करनेकी शक्ति होती है, वे गाथाकी भाषाकों भी बदलते रहते है। इसी कारण किसी भी लोकगाथाका सर्वत्र एक जैसा पाठ नहीं मिलता।

लोकगाथाकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लोकसाहित्यके विशेषकोके मुख्यतः तीन मत है— (१) लोकनिर्मितिवाद, (२) व्यक्ति-निर्मितिवाद और (३) विकासवाद।

9. लोकिनिर्मितिवाद (कम्यूनल ऑथरशिप)के प्रवर्तक जैकव त्रिम और विल्हेम त्रिम तथा समर्थक स्टीनथाल टेनिब्रन्क आदिका कहना है कि भाषा, पौराणिक विश्वास, रीतिरिवाज और नीतिशास्त्रके समान लोकगाथाओंका किसी रहस्यमयी प्रक्रियासे विकास हुआ है, अर्थात् उनकी रचना पूरे समाज द्वारा हुई है, वे अपौरुपेय काव्य है। व्यक्तियो द्वारा उनकी रचना नहीं होती।

२. च्यक्तिनिमितिवाद (इनडिविडुअल ऑथरिश) श्रीगेल, उह्लैण्ड, टाव्वी, विश्वप परसी, रिस्टन, स्काट आदिका मत है। इनका कहना है कि प्रत्येक कविताके पीछे किसी-न-किसी कविका हाथ अवश्य रहता है। पूरे समाज द्वारा काव्य-रचना नहीं हो सकती, अलग-अलग व्यक्ति (कवि) ही काव्य निर्मित करते है। अतः लोक-गाथाओकी रचना भी विशिष्ट कवि ही करते थे, समूचा समुदाय नहीं। रचना हो जानेके बाद अवश्य उनपर पूरे समाज या समुदायका अधिकार हो जाता था, रचनाकार अपना कार्य करके अलग हो जाना था। इन विद्वानोंमेंसे कुछका कहना है कि लोकगाथाका प्रारम्भ चारणों और गायकों द्वारा हुआ।

३. विकासवार् आधुनिक विद्वानोंने, जिनमें चाइल्ड, डब्ल्यू० पी० केर, गमियर और ऐण्ड्रू लैण्ड प्रमुख है, प्रतिपादित किया है। इनका विचार है कि लोकगाथाओं की रचना नहीं, उनका विकास हुआ है, अर्थात अनेकानेक व्यक्तियों के अलग-अलग प्रयत्नों के फलस्वरूप वे विकसित हुई हैं। जैसे नदीं के प्रवाहमे पत्थरके डकड़े विस-विसाकर गोल और सुन्दर आकार धारण कर लेते है, उसी तरह लोकगाथाएँ जहाँ-कहीं से, जिस किसीं के द्वारा प्रारम्भ हुई हों, वे लोककण्ठमें युग-युगतक प्रवाहित होकर नित नवीन रूप धारण करती रहती है और तबतक विकसित होती रहती है, जबनक पढ़े-लिखे लोग उन्हे लिख या छापकर उनका रूप स्थिर नहीं कर देते।

लोकगाथाकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं, जिनका उद्धेख ए॰ बी॰ गमियरने अपनी पुस्तक 'ओल्ड इंग्लिश बैलेड्स'की भूमिकामें किया है-

(१) उसमे आत्मन्यंजक तत्त्व (सब्जेक्टिव एलीमेण्ट)-का पूर्णतः अभाव होता है, अर्थात् वह अनिवार्यतः वस्तु-व्यंजक (आब्जेक्टिव) होता है। (२) वह लोकका काव्य है। लोक द्वारा ही उसका निर्माण और विकास होता है। कण्ठानुकण्ठ प्रसार और प्रचार होनेके कारण उसका निश्चित पाठ नहीं होता और न उसकी लिखित प्रतियाँ ही होती है। (३) उसमे श्रमसाध्य कलात्मकता नही होती, किन्त यथार्थ-चित्रणकी प्रवृत्ति अधिक होती है। उसमे अनावश्यक भरतीकी सामग्री और वाग्जाल नहीं होता। (४) उसमें परम्परा-प्रेमकी भावना, सहजोच्छ्रास, भावात्मकता और सरल कल्पना (डाइरेक्ट विजन) की मात्रा जितनी अधिक होती है, उतनी बौद्धिकता, कल्पनाशीलता और श्रमसाध्य कलात्मकताकी नहीं। (५) उसमे भाषा और विचारोकी सरलता होती है और नैसगिंकता तो ऐसी होती है, जो केवल प्रारम्भिक मानव समाजमे ही मिलती है। (६) उसमे रूढ, अस्वाभाविक और श्रमसाध्य अलंकारी और शब्दोंका अभाव होता है। उसमे प्रयुक्त अलंकार और शब्द व्यावहारिक जीवनसे गृहीत होते हैं, परम्परागत साहित्यिक स्रोतोसे नहीं। (७) उसमे कुछ विशेष अलंकारो, मुहावरो और विशेषणोंकी आवृत्ति बार-बार होती है। (८) उसका छन्द सीधा-सादा और सरल होता है और तुकोंपर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। (९) उसमे गेयता होनी है, परन्त वह शास्त्रीय संगीतसे भिन्न, सरल होती है। (१०) उसमे कोई छोटी या बड़ी कथा अवश्य होती है।

लोकगाथाओका प्रचार अधिकतर अपड झामीण लोगोंमें ही होता है। शिक्षाका प्रचार ज्यों-ज्यों बढता जाता है, लोकगाथाओके प्रति पढ़े-लिखे लोगोंकी रुचि कम होती जाती है। उस समय उनके संरक्षक अथवा समाजशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे उनका समह और प्रकाशन किया जाता है। छप जानेके बाद उनका रूप स्थिर हो जाता है। छपाईकी मशीनके आविष्कारके बाद लोक-कवि पूर्वप्रचलित लोकगाथाओके अनुकरणपर नयी-नयी गाथाएँ लिखकर छपाने और बाजारोंमे बेचने लगते है, पर ये कृत्रिम गाथाएँ है, वास्तविक लोकगाथा नहीं। अग्रेजीमे इन्हे 'ब्रॉड साइड बैलेड' कहा जाता है।

हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न प्रदेशोमे भिन्न-भिन्न छोकगाथाएँ पायी जाती है। कुछ लोकगाथाएँ ऐसी भी है,
जो विभिन्न प्रदेशोंमें रूपभेदोंके साथ मिलती है; उनकी
भाषा भिन्न हो गयी है, पर मूल कथा एक हो है। कुछ
लोकगाथाएँ तो विकसित होकर गाथाचक और लोकमहाकाव्य(फोक एपिक)का रूप धारण कर चुकी है। 'आल्हखण्ड' ऐसा ही महाकाव्य है। हिन्दीकी अन्य प्रमुख लोकगाथाएँ ये है—'लोरिकायन', 'सोरठी', 'विजयमल', 'भरथरी', 'गोपीचन्द' और 'कुँवर सिंह' (दे० 'नृत्यगीत', 'साहित्यक लोकगाथा')। —शं० ना० सिं० छोकगीत—लोकगीत शब्दके ये अर्थ हो सकते है—(१) लोकगीत—लोकगीत। (२) लोकनिर्मित गीत, (३) लोकविषयक गीत।

वस्तुतः लोकविषयक गीत शब्दका अर्थ इस प्रसंगमें

अभिप्रेत नहीं। लोकगीत लोकमें प्रचलित गीन ही होता है, पर इस प्रचलनके दो अर्थ ही हो सकते है, एक तो किसी समयविशेषमात्रमे प्रचलित । ऐसा होता है कि कभी-कभी कोई गीत कुछ समयके लिए लोकमे बहुत प्रचलित हो जाता है। यह प्रचलन अस्थायी होता है, कुछ समय उपरान्त वह समाप्त हो जाता है। ऐसे अत्यन्त अस्थायी गीत लोकगीतके अन्तर्गत नहीं आयेंगे। दूसरे अर्थमे ऐसा प्रचलन आता है, जिसकी एक परम्परा बनती है, जो कुछ पीढियोतक चलती जानी है। किन्तु ऐसे गीतोंके भी दो प्रकार होते है। हमे आज भी/तुलसी, सूर, कबीरके भजन परम्परासे पीढी-दर-पीढी चले आते मिलते है। ये गीत भी यथार्थतः लोकगीतकी सीमामे नहीं आ सकते। लोकगीत तो वह प्रकार है, जिसको ऐसे किसी व्यक्तित्वसे सम्बन्धित नहीं किया जा सकता, जिसकी मेथा लोक-मानसकी स्वाभाविक मेथा नहीं । जब ऐसा है तभी यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि तो क्या लोकगीत लोक द्वारा निर्मित होते है 🦜

अभाववादी व्यक्ति यह मानेंगे कि लोक कोई ऐसी सत्ता नहीं, जो गीत बना सके। लोक तो मनुष्योका ही समृह है, उसमेंसे कोई एक व्यक्ति ही गीत बना सकता है। इस कथनमे सत्य अवस्य है, पर लोकगीत वम्तुतः वही हो सकता है, जिसमे रचियताका निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह लोक-मानससे तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्व हीन रचना करता है कि समस्त लोकका व्यक्तित्व ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह लोकका अपना गीन होता है, जो परम्परामे पड जाता है और परम्परा उसमें समय-समयपर अनुकूल परि-वर्तन करती रहती है।

ऐसे लोकगीतोमें एक ओर तो ऐसे गीत हो सकते है, जिनमे लोकवार्ता-तत्त्व समाविष्ट हो। ऐसे गीतोंमे भूविज्ञान-विद्के लिए बहुत सामग्री रहती है। दूसरी ओर ऐसे भी गीत लोकगीत होते है, जिनमे लोक अपने मनोरंजनके उपकरण जुराता है। इन दोनो प्रकारके गीतोंमे लोक-संस्कृतिके विविध चरण परिलक्षित होते है। एक ओर टोकगीत अपौरुषेय भी होते है, ऐसे गीत, जिन्हे स्त्रियाँ भी गाती है। विविध अनुष्ठानोके अवसरोपर ये अपौरुषेय गीत गाये जाते है। दूसरी ओर केवल पुरुषोंके गानेके भी गीत होते है। ये प्रायः लोकरंजक होते है। स्त्री-पुरुष दोनो मिलकर सामूहिक रूपमें भी गाते है। बच्चोंके गीतोमे अद्भुत कल्पनाका छटाक्षेप होता है अथवा शिक्षा होती है। बालिकाओंके गीत भी अलग मिलते है। ये गीत उनके खेलोंसे सम्बन्धित रहते है। जैसे प्रत्येक अनु-ष्ठ।नके साथ कोई-न-कोई गीत रहता ही है, वैसे ही ऋतुओंके अनुकूल भी गीत होते है। गीतोका सम्बन्ध मनुष्यके कामो और गतियोंसे भी रहता है। चक्की पीसते समय, पैर चलाते समय कोई-न-कोई गीत गाये जाते है। गीत छोटे भी होते है और बड़े भी, इतने बड़े हो सकते है कि कई दिन उनके गानेमें लगें। इन बड़े गीतोमे प्रायः कोई लम्बी कथा दी रहती है। ऐसे गीतोंके नाम उनके विषयके अनुरूप होते है और उनकी तर्ज भी बँध जाती है। 'ढोला' नामक गीत नलके पुत्र ढोलाके नामपर है और 'ढोला' गीतकी एक तर्जका भी नाम हो गया है; ऐसे ही 'आल्हा'। कुछ गीत किसी विशेष गायकवर्गसे सम्बन्धित होते है। यह वर्ग उन गीतोको गा-गाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। भोया 'भैरो'के गीन गा-गाकर भिक्षा एकत्र करते हैं। कुछ विशेष नामवाले लोकगीत भी है, जैसे 'साके'। साकोंमे किसी वीरकी गाथा रहती है। 'पॅवारा' भी ऐसा ही होता है।

लोकगीत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लोकाभिन्यक्ति है। विदेशीं-

मे लोकगीतोंका वैज्ञानिक अध्ययन बहुत आगे बढ गया

है। भारतमे तो अभी संग्रहका काम भी परा वैद्यानिक परिपाटीपर नहीं हो पाया है। उनकी लय, सर, ताल, चरण, टेक, प्रकृति और प्रत्येकके इतिहास या विज्ञानका अध्ययन तो आगेकी बात है। छोकगीतोको भी अभी साहित्यिक अनुसन्धानका विषय बनाया गया है, लोकवार्ता-विज्ञानकी दृष्टिसे इनका अनुसन्धान नहीं हो रहा है।-स० लोकजत्ता (लोक-यात्रा) - लोक-यात्राका अर्थ है लोक-की यात्रा—(१) संसार-यात्रा, जीवन, (२) व्यवहार, (३) व्यापार । दण्डीने इस शब्दका प्रयोग अपने 'काव्यादर्श'-(१: २)मे यों किया है-- ''इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टाना-मिप सर्वथा । वाचमेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते" । लोक-यात्राका प्रधान अर्थ लोक-व्यवहार है। इस शब्दको लोक-साहित्यके क्षेत्रमे लेनेसे लोकका ऐसा समस्त व्यवहार इसमे सिद्ध होगा, जो परम्परामे चला आ रहा है, जिसके लिए लोकप्रमाणके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण नहीं। व्यवहार-के शब्दके नाते इसमे आचारकी प्रधानता होगी, लोककी कलात्मक अभिवयक्तिके अन्य रूप इसमें नहीं आयॅगे। लोक ज्ञान - लोक सामान्यतः कितना ज्ञान रखता है, इसका अध्ययन ही लोक-ज्ञानके अन्तर्गत आता है। लोक-शानसे लोक-संस्कृतिकी मानसिक समृद्धिका पता लगाते लोकनाट्य-लोक-नाट्यकी उत्पत्ति लोकविश्वास, लोक-प्रचलन, धार्मिक रूडियाँ, जन-परम्पराएँ, वीर पूजा, मनोरंजन, उत्सव, मांगलिक पर्व तथा शोकके अवसरों आदि धारणाओके बीच हुई है। अनेक विद्वान् , नाटकोकी उत्पत्ति लोकनाट्यसे ही बताते है। डॉ॰ नगेन्द्रके अनुसार जीवनकी सामृहिक आवश्यकताओं एवं प्रेरणाओके बीच इसका जन्म हुआ होगा। संस्कृतके अनेक उपरूपक तथा रूपकोंमे डिम, प्रहसन, भाण, हल्लीसक, रासक, रास, लास्य, लास्यनाटक वीथी, नर्तनक, रामाकीड आदि लोक-नाटकोके ही परिष्कृत रूप है। इल्लीसक, रास तथा नर्तनक-के लोक-नाट्यके रूपमे अभिनीत होनेके अनेक प्रमाण मिलते है। लोकसे सम्बन्धित उत्सवो, अवसरों, मांगलिक पर्वी तथा कार्योपर इनका अभिनय आवश्यक माना जाता है। इनके लिए उत्कृष्ट कोटिके रंगमंच तथा आकर्षक एवं बहुमूल्य माजसज्जाकी आवश्यकता नहीं पडती। लोक-नाट्यको प्रधानतया दो भागोमे विभक्त किया जाता है :-(क) नृत्यपरक लोकनाट्य (ख) प्रइसनात्मक लोक-नाट्य । प्रहसनात्मक नाटकोमे विभिन्न कथन, शारीरिक सदाएँ एवं वेशभूषा हास्यास्पद कोटिकी होती है और इन्हींके द्वारा व्यंग्यपर्ण अभिनय किया जाता है। नृत्य-परक लोकनाट्यमें सामाजिक तथा पौराणिक घटनाको आधार बनाकर संगीत, नृत्य तथा अभिनयकी सहायतासे मनोरंजन किया जाता है। लोकनाट्य सम्पूर्ण भारतमें विभिन्न रूपों मे प्राप्त हैं। कुछ आदिम जातियों के लोक-नाट्योंका अभीतक संकलन नहीं हो पाया है। भारतीय लोकनाट्योंके कतिपय निम्न स्वरूप विभिन्न प्रान्तोंमें अधिक प्रचलित हैं—उत्तर प्रदेशमें रामलीला, रासलीला, स्वांग, नौटंकी, भाण, चमरवा, कँहरवा, भध्यप्रदेशमे मॉच, गुजरातमे भॅवाई, बंगालमें जात्रा, कीर्तन, रास, गंभीरा, महाराष्ट्रमें तमाञ्चा, ललित, गोंधल, बहुरूपिया तथा दशावतार एवं तमिल, तेलुगु और कन्नड़में यक्ष गान अधिक प्रचलित है। तेलगुमें इसीको विथि, विभिनाटकम् या भागवत नाटकम् भी कहते है। उत्तर प्रदेशमें लोकनाट्यों-की लिखित परम्परा भी अनेक वर्षींसे प्रचलित हो चुकी है। लोकनाट्यके लेखकों में सेट्र सिंह, घीसा, फूल सिंह, शंकरदास, चन्द्रपाल जाट, चन्दरवादी, तौकासिंह आदिकी गणना की जाती है।

सिहायक ग्रन्थ-लोकधर्मी नाट्यपरम्परा : इयाम-भारतीय नाट्य साहित्य : नगेन्द्र; फेथ, फेस्टिवल्स ऑव इण्डिया : सी० एच० फेयर्स एण्ड **लोकनृःय** – लोकनृत्य वस्तुतः प्राकृतिक नृत्य है। लोक-जीवनमें जहाँ भी भावुकताके क्षण आते हैं, वही उसके अनुकल किसी-न-किसी प्रकारके नृत्यका रूप प्रकट होने लगता है। इन नत्योमें कला तो स्वभावतः होती ही है, पर कलात्मक होनेका चैतन्य नहीं होता। अतः आदिम और जंगली जातियोमें यह नृत्य जितना सशक्त होता है, उतना अन्य जातियों में नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य क्षेत्रों अथवा जातियोंमे लोकनत्य हो ही नहीं सकता। सभ्यसे सभ्य जातियोमे भी एक लोकमानसका अंश रहता है, अनः उसमें भी किन्हीं असावधान क्षणोंमें परम्पराके फलस्वरूप लोकनृत्य फुट पडते हैं। ये उतने सशक्त नहीं होते और कितने ही संशोधनोंसे युक्त हो जाते हैं। लोकनृत्योका विषय जीवन-चक्र ही होता है। यौन संकेत, कृषि तथा सन्ततिवृद्धि, भृत-प्रेतनिवारण, जाद्-टोना, ऋतु-आवाहन, विवाह, जन्म-मृत्यु-ये सभी किसी-न-किसी रूपमे संकेतमुद्राओं अथवा प्रतीक अभिप्रायोंसे नृत्योके द्वारा प्रकट होते रहते है। साधारण लोकनृत्य सामृहिक होते हैं, पर व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकते है। जीवन और प्रकृतिसे घनिष्ठतः सम्बन्धित होनेके कारण लोकनत्योंका रूप किसी वर्गके अपने व्यवसायके अनुकूल हो जाता है। कृपकोंका नृत्य, पशुपालकोंसे भिन्न हो जाता है और अहेरियोका कुछ और ही होगा। लोकनत्यका जन्म तीन वासनाओंकी प्रक्रियाओ-से हुआ है-आकर्षकको उपलब्ध करनेकी चेष्टासे, अना-कर्षकसे बचनेकी चेष्टासे तथा इन चेष्टाओके लिए टोनेके रूपमे प्रत्येक नत्यमें किसी-न-किसी प्रकारके टोना-संकेतसे। मेघ-वर्षाके लिए नृत्य किये जाते है। अति वर्षा हो तो उसे रोकनेके लिए नृत्यविधान रहता है। देवी-देवताको प्रसन्न करनेके लिए नृत्य होते है। देवताका शरीरमे आवा-

इन करनेके लिए नत्य होते हैं। फसल अच्छी हो, इसलिए नत्य होते हैं। ऐसे टोनेके नृत्यके साथ कोई-न-कोई टोटका या अनुष्ठान भी लगा रहता है। विवाहके अवसरपर भी आनुष्ठानिक नृत्यका विधान रहता है। शास्त्रीय नृत्यका मूल लोकनृत्यमे रहता है। लोकनृत्यकी उद्दामताको अनु-शासित करके और उसे ऐसे सिद्धान्तोमे बॉधकर प्रस्तुत किया जाता है, जो उस आवेगको अभिप्रायकी दृष्टिसे सौन्दर्य-उपलब्धिके एक स्तरपर इंड कर देते है। लोकनत्य ऐसे किसी क्रत्रिम सिद्धान्तकी सीमाएँ नहीं —स० स्वीकार करता। लोक-परंपरा-लोगोंमे जो रीति-रिवाज परम्परासे चले आते हैं, वे लोक-परम्परा कहलाते हैं। परम्परासे एक शृंखलाका भाव तो मिलता है, पर उसमे निहित समृद्धि अथवा सामग्री गौण हो जाती है। लोकवार्ता लोक-परम्परा-से अपनी सामग्री ग्रहण करती है। लोक-परम्परा लोक-वार्ताका सहायक तत्त्व है। लोक-प्रतिभा - प्रतिभा मानसिक और बौद्धिक विधायक तत्त्वको कहते है। लोकवार्तामें लोक-प्रतिभा प्रकट होती है, उससे हम जान सकते है कि लोकने सामान्यतः सहज ही कितनी मेथा उपलब्ध कर ली है। लोक-प्रतिभा लोक-वार्तासे निष्कर्षरूपमे जानी जा सकती है। न तो समस्त लोकवार्ता ही लोक-प्रतिभा है, न लोक-प्रतिभा लोकवार्ता लोक-प्रवाह - लोक-प्रवाह लोक-परम्पराके अर्थके निकट होते हुए भी प्रवाहके कारण केवल उन शक्तियोसे युक्त गतियों-का अर्थ दे सकता है, जो लोकको आन्दोलित किये रहती हैं। लोक-वार्ता एक छोटेसे मरणासन्न प्राचीन वर्गकी भी हो सकती है, पर प्रवाह केवल सशक्त परम्पराको ही महत्त्व देगा और प्रवाह भावुकतासे भी युक्त होगा। लोक-वार्ता तो लोकके अन्तरालमे जमकर बैठी हुई परम्परासे सम्बन्धित होती है। लोक-मानस - लोक-साहित्यके निर्माणके पीछे एक साम-हिक लोक-मानसकी कल्पना अनेक विद्वानोंने की है। उनकी विचारधाराओंके अनुसार लोकगीतों तथा लोक-कथाओं आदिकी रचना समस्त लोक एक साथ करता है, उनके निर्माणमें लोक-प्रतिभाके सच्चे रूपका दर्शन होता है। प्रसिद्ध डेनिश भाषावैज्ञानिक जैस्पर्सनने उक्त मतका खण्डन किया है। उसके अनुसार किसी भी प्रकारके लोक-साहित्यकी रचना अन्ततः कोई एक व्यक्ति करता है, बादमे परिवर्तन-परिवर्धन भले ही पूरा समाज करता रहे। इस ष्टिसे लोक-साहित्य भी शिष्ट साहित्यकी भाँति मूल रूपसे अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा रचित होता है। मौखिक परम्परासे चलनेके कारण फिर लोक उसमें अनेक प्रकारके प्रक्षेपण कर लेता है। -रा० ख० च० **लोक-वाङ्माय—**कुछ विद्वान् यह मानते है कि लोकवार्ताके अन्तर्गत लोककी वही अभिन्यक्ति आनी चाहिये, जो वाणीके द्वारा प्रकट होनी है। ऐसी समस्त अभिव्यक्तिको लोक-वास्त्रय कहा जाना चाहिये। लोक-वास्त्रय शब्द बहुत विस्तृत अर्थवाला है। लोककी व्यावसायिक और व्यापा-रिक अभिन्यक्ति भी इसके अन्तर्गत आ सकती है, जो

नैमित्तिक हो और परम्परा न रखती हो। —₩• कोकवार्ता-लोकवार्ता अंग्रेजी 'फीकलोर'का पर्यायवाची है और उसी शब्दकी भाँ ति लोक—'फोक' और वार्ता—'लोर'-के संयोगसे बना है। लोकवार्ता एक विशेष अर्थका वाचक शब्द है। सन् १८४६ ई०में इस शब्दके अंग्रेजी पर्याय 'फोक्लोर'का प्रयोग इस विशेष अर्थमे डब्ल्यु० जे० थामसने किया था। उस समयसे लोकवार्ताके अन्तर्गत वह समस्त आचार-विचारकी सम्पत्ति आ जाती है, जिसमे मानवका परम्परित रूप प्रत्यक्ष हो उठता है। थामस महोदयने यह शब्द सभ्य जातियोमे मिलनेवाले असंस्कृत समुदायकी प्रथाओ, रीति-रिवाजों तथा मृदायहोको अभिन्यक्त करनेके लिए गढ़ा था। कुछ समय उपरान्त ही लोकवार्ताका संग्रह-संकलन और अध्ययन होने लगा। इसीके परिणामस्वरूप लोकवार्ताको विज्ञानका रूप देनेके प्रयत्न किये गये। इसके उपरान्त धीरे-धीरे लोकवार्ताको वैज्ञानिक महत्त्व मिलने लगा। लोकवार्ताका प्रमुख तत्त्व है परम्परा। जो बातें परम्परासे प्राप्त हुई है, वे लोकवार्ता है, पर तभी जब उनमें मानसकी अभिन्यक्ति हो। परम्परा तो मनीषी अभिव्यक्तियोकी भी हो सकती है। परम्पराका अर्थ अलिखित अथवा मौखिक परम्पराको माना जाय, तब भी ऐसी समस्त परम्परा लोकवार्ना नहीं मानी जा सकती। परम्पराके साथ दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व लोक-मानस (दे०) ठहरता है। यह लोक-मानस समाज और उसके व्यक्तियोको उत्तराधिकारमें

कभी यह समझा जाता था कि लोकवार्ता आदिम अभिन्यक्तियों के परम्पराप्राप्त आधुनिक रूपेका ज्ञान कराती है, किन्तु आज यह स्पष्ट हो गया है कि वर्तमान समाजमें मिलनेवाले आदिम तत्त्वोका विवेचन नृविज्ञानका विषय है, लोकवार्ताका नहीं। लोक-मानसमें केवल आदिम मानस ही नहीं होता। आदिम मानसको युग-प्रवाहोंने अप्रत्यक्षतः जिस रूपमें संस्कृत किया है, वह समग्र लोक-मानस है और लोकवार्तारूपी उसकी अभिन्यक्तिमें आदिम तत्त्वका कुछ-न-कुछ अंश किसी-न-किसी रूपमें रहता अवश्य है। उस आदिम मूलके चारों ओर समय उसके अनुकूल अन्य पर्त लगाता जाता है। इसलिए केवल आदिम कहीं जानेवाली जातियोकी परम्पराओको ही लोकवार्ता नहीं कहा जायगा, उस जैसी मनोवृत्तिके परिणामसे उत्पन्न सम्यसे सम्य समाजकी परम्परा और अभिन्यक्ति भी इसके अन्तर्गत होगी।

प्राप्त होता है तथा इसका कुछ-न-कुछ अंश प्रत्येक व्यक्तिके

पास होता है। यही कारण है कि लोकवार्ता किसी-न-किसी

रूपमें अवस्य विद्यमान रहती है।

परम्पराको चीज होते हुए भी यह कहना ठीक नहीं होगा कि लोकवार्ता सदा मौखिक या अलिखित ही होती है। 'कथासरित्सागर' लिखित यन्थ है, जिसमे लोकवार्ताका भण्डार है। पर यह अवश्य है कि आरम्भमे लोकवार्ता मौखिक और अलिखित होती है और इसी रूपमे जन्म लेती है। वह लिखे जानेके लिए जन्म नहीं लेती, बलिक मानवकी सहजात अभिन्यक्तिके रूपमे प्रकट होती है। प्रकट मेले ही किसी न्यक्तिविशेषके माध्यमसे हुई हो, प्रकट होते ही प्रत्येक लोकवार्ता लोकयाह्य और लोकानुप्राणित होकर

वह रूप प्राप्त कर लेती है, जिसे किसी एककी कृति नहीं, वरन लोकमात्रकी चीज कहा जाता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि लोकवार्ता केवल मौखिक अभिन्यक्ति है। लोकवार्ताम जहाँ लोकगीत, लोक-कहानियाँ, लोक-विनोट, कहावर्ते, पहेलियाँ आदि आती है, वहीं लोक-विद्यास, मृद्याह, टोने-टोटके, रीनि-रिवाज, परम्परागत लोक-नृत्य, लोक-चित्र भी आते हैं। लोकवार्तीमें इनके स्वरूपकी प्रधानता रहती है, ऐतिहासिक अथवा मानसिक दृष्टिसे इस सामग्रीका मृल्यांकन अन्य क्षेत्रों और विद्यानका विषय हो जाता है।

अतः लोकवार्ताके मौखिक पक्षको प्रधानता देना उसके क्षेत्रको संकुचित करना है। इसलिए जहाँ लाक्षणिक भाषा-तत्त्व, संगीत, नृत्य, थापे तथा चित्रका अध्ययन स्वयं एक अलग-अलग विद्याका विषय माना जा सकता है, वहाँ इनमें मिलनेवाले परभ्परागत लोक-मानसका स्वरूप लोक-वार्ताके अन्तर्गत आयेगा। यों कहना अधिक ठीक होगा कि ये सब अभिव्यक्तियाँ तो लोकवार्ताके क्षेत्रकी चीजें है, पर इन्हें अन्य विद्यानोके उपयोगको सामग्री भी बनाया जा सकता है और बनाया गया है।

मोटे तौरपर लोकवार्ताके तीन सम्प्रदाय आज विद्यमान हैं—पहला, भारतिक सम्प्रदाय। इस सम्प्रदायके विद्वान् भाषातत्त्वविद् तथा मानविक है। ये संस्कृतके पण्डित रहे हे और भारतिसे सीधा सम्पर्क स्थापित कर इन्होने भारतकी लोकवार्ताकी मौलिक परम्पराओको जानकर संस्कृतके ज्ञान और भाषातत्त्वके सूत्रसे लोकवार्ताको अध्ययनकी महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र की है और उसका मार्ग प्रशस्त किया है। लोकवार्ताके विविध अभिप्राय अथवा स्टतन्तु कब-कब और कहाँतक विद्यमान मिलते है और उनके तथा विविध तन्तुओं और मुहावरोके अर्थोंमे क्या-क्या परिवर्तन हुए है, यह इस सम्प्रदायने वतानेकी चेष्टा की है। रपष्ट है कि विना इसके लोकवार्ताको ठीक-ठीक हरयंगम नहीं किया जा सकता।

दूसरा, मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय है। जैसा नामसे ही स्पष्ट है, इसका सग्वन्थ समाजशास्त्रीयतासे है। भाषा-तत्त्व- का सहारा यह भी लेता है, पर जहाँ भारिनिक सम्प्रदाय लिखित भाषाके लोकवार्ता-तत्त्वको प्रधानता देता है, वहाँ यह सम्प्रदाय मौखिक तत्त्वको प्रधानता देता है। अतः इस सम्प्रदायके अध्ययनका विषय वर्तमान भाषावर्गींसे सम्बन्धित लोकवार्ता हो गयो है। फलतः इसने नये-नये भाषावर्गींके क्षेत्रोंका अनुसन्धान करके लोकवार्ताविषयक मौलिक तत्त्वोका उद्धाटन करनेका प्रयत्न किया है।

तीसरा, मानविक सम्प्रदाय है। यह लोक-कथाओं के संग्रह और विविध कथाओं के अधिकाधिक संस्करणों को प्राप्त करने तथा उनका वर्गीकरण कर लोक वार्ताके तुलनात्मक अध्ययनको महत्त्व देता है। यह लिखित अथवा मनीषी साहित्यकी भॉति अलिखित लोक वार्ताको स्वतन्त्र स्थिति और विकासको मान्यता देता है। —स० लोक-विद्या —लोक-विद्या लोकोपयोगी विद्या नहीं, पर वह विद्या है, जो लोक के विविध व्यवसाय-व्यापारो और तिद्वषयक अनुष्ठानोंकी परम्परासे सम्बन्धित हो। अधिविद्यान लोको-

पयोगो विधा है, पर कृषिकर्ममें प्रवृत्त होनेपर लोक किस प्रकारके आनुष्ठानिक व्यापार करता है और उसके कृषि-कर्मका स्वरूप क्या है, यह लोक-विद्याके क्षेत्रके अन्तर्गत आता है। लोक-विद्याके अन्तर्गत टोने-टोटकोंसे चिकित्सा करना तथा वॅथी परम्पराओते कार्य करनेशी शैलियों भी आयंगी। लोक-विद्या भी लोकवार्ताका एक अंग हो सवाती है।

लोक-साहित्य - लोक-साहित्य शब्द 'लोक' और 'साहित्य', इन दो शब्दोंसे बना है। इसका बास्तविक अर्थ है लोकका साहित्यः लोक यहाँ अंग्रेजीके फोक (folk) शब्दका पर्यायवाची है। लोक-साहित्य मी अंग्रेजीके फोकलिटरेचरका अनुवाद है। फोकके पर्यायसे लोक-साहित्यके कई अर्थ हो सकते है-(१) उस लोकका साहित्य, जो सभ्यताकी सीमाओंसे बाहर है, सभ्य समाजमे जिनकी गिनती नहीं-उनका साहित्य. (२) जंगली जानियोंका साहित्य। फोक शब्दके अन्तर्गत वे ही लोग आ सकते है, जो आदिम परम्पराको सुरक्षित रखे हुए है, क्योंकि लोक-साहित्य(फोक-लिटरेचर)का सम्बन्ध फोब-लोर लिट्रेचर अथवा लोकवार्ता-साहित्यसे है, (३) छोकसाहित्य ग्रामीण साहित्य है, (४) लोकसाहित्य वह युग-युगीन साहित्य है, जो मौखिक पर-म्परासे प्राप्त होता है, जिसके रचयिताका पता नहीं, जिसे समस्त लोक अपनी कृति मानता है; (५) लोकसाहित्य वह साहित्य है, जो लोक-मनोरंजनके लिए लिखा गया हो—उस लोकके लिए, जो विशेष पढा-लिखा नहीं।

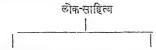
वास्तवमे लोक-साहित्य वह मौखिक अभिन्यक्ति है, जो भले ही किसी न्यक्तिने गढी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना ही मानता है और जिसमे लोककी युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रहती है, जिसमे लोक-मानस प्रतिविभिवत रहता है। इसी कारण जिसके किसी भी शब्दमे रचनाचैतन्य नहीं भिलता, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा सहज ही लोकका अपना है और उसके लिए अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है।

इस लोक-साहित्यके पर्यायके रूपमें कभी 'याम-साहित्य' राज्यका भी प्रयोग किया गया है, किन्तु याम-साहित्य और लोक-साहित्यमें अन्तर है। याम-साहित्य केवल प्रामोका साहित्य ही होगा, लोक-साहित्य नगर और शहरमें भी मिलता है। याम-साहित्यके अन्दर वह साहित्यभी आ सकेगा, जिसे कोई यामनिवासी याम-रुविके अनुसार आज भी रचता हो। यामपर लिखा हुआ साहित्यभी याम-साहित्य ही कहा जायगा। वस्तुतः बहुतन्सा ऐमा याम-साहित्य हो सकता है, जो लोक-साहित्य न हो और बहुत-सा ऐसा लोक-साहित्य हो सकता है जो याम साहित्य न हो।

लोक-साहित्य जन-साहित्यसे एकदम भिन्न है। जन-साहित्य जन-साधारणका साहित्य है। जन लोककी अपेक्षा अधिक सुगठित और निजी सत्ताके प्रति चैतन्य समृह है और बहुधा राजनीतिक पृष्ठभूमिके साथ होता है, जन-साहित्य जन-कल्याणके भावसे भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जनको किसी प्रकारकी शिक्षा देनेवाला भी हो सकता है, उनके अधिकारो और वर्तव्योको भी अभिव्यक्त कर सकता है। यह लोब-साहित्यकी भोंति सहज, म्वाभाविक और कर्तव्यमायसे रहित नहीं हो सकता।

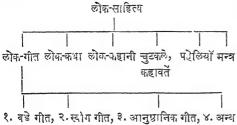
इसी प्रकार जनपदीय साहित्य भी केवल क्षेत्रीय विशेषताका चीतक रह जाता है। यह लोक-साहित्यसे अभिवित व्यापक सामान्यताका बोध नहीं कराता।

लोक-माहित्यका क्षेत्र काफी विस्तृत है। इसके वी भेद तो प्रमुख किये जा सकते है।



२. लोकवार्ता-साहित्य २. वाणी-विलास, इतर लोक-साहित्य। लोकवार्ता-साहित्य वह साहित्य है, जिसमे किसी समुदाय-को लोकवार्ता अभिन्यक्त हुई है अथवा जो स्पयं लोकवार्ताका एक आनुष्ठानिक अंग हो। इस क्षेत्रने वाहरका समस्त लोक-साहित्य इतर लोक-साहित्य है।

यह समस्त लोक-साहित्य सामान्यतः निन्निलिखित भेदोन विभक्त किया जा सकता है—



भगत या पूजा, जागरण, व्रत, नौटंकी गीत त्योहार, सस्कार आदि

लोक-साहित्यके, अन्य दृष्टियोतं भी, कई मेद किये जाते है। एक भेद है पुरुष-गीत और पुरुष-साहित्य, जो केवल पुरुषवर्ग द्वारा ही गाया-कहा जाता है। इसीको पौरुषेय वाड्यय भी कहा गया है। खीवर्गका साहित्य अपैरुपेय वाड्यय है, जो केवल खियो द्वारा ही प्रयोगमे आता है। बालक-वालिकाओका लोक-साहित्य एक अलग वर्गमे आयेगा।

लोकोक्ति १ - एक गौण अर्थालंकार । सम्मवतः सर्वप्रथम 'कुवल्यानन्द'मे अप्यय दीक्षितने इसकी परिभापा निम्निलिखित प्रकारसे की है—''लोकप्रवादानुकृतिलोंकोक्तिरिति भण्यते" (९०), अर्थात् लोकिविख्यात किसी कहावतके अनुकरणसे लोकोक्ति अलंकार होता है । अनुकरण करनेका यहाँ अर्थ यह है कि उस कहावतका किसी भी पादमे उछेख करनेसे यह अलंकार होता है । जैसे—''सहस्व कितिवन्मा-मान्मीलियत्वा विलोचने" (वहीं), अर्थात् ऑखें मीचकर कुछ दिन मेरे साथ रहो, विरह न होनेके लिए प्रार्थनामें 'विलोचने मीलियत्वा' लोकवादका अनुकरण है । हिन्दीमें इसीके आधारपर आचार्योंने इस अलंकारको स्वीकार किया है—''जहँ कहनावित अनुकरन लोक उक्ति" (ल० ल०, ३६६) अथवा—''जहँ लोककी कहनावित ठहराउ'' (पद्मा॰, २५७) । उदा॰—''में मृन सो गन्यो तीनहु लोकनि, तू नुन ओट पहार छपावे" (ल० ल०, ३६७)।

इसमं लोजोक्तिका प्रयोग है। भोजने छेकोक्ति और इस अलंकारको शब्दालंकार 'छाया'के अन्तर्गत माना है कि॰ राधवन् : शृंगारप्रकाश, पृ० ३८५) । — ज० कि० व० लोकोक्ति २-मोखिक लोक-साहित्यमें लोकोक्ति-साहित्यका बहुत महत्त्व है। लोकोक्ति अन्य लोक-साहित्यसे स्टभाव और प्रयोगमें भिन्न होनी है। लोकोक्तिमें गागरमे सागर भरनेकी प्रवृत्ति काम करती है। इसमें जीवनके सत्य नहो ख्रीसे प्रकट होते है। यह ग्रामीण जनताका नीतिशास्त्र है लोकोक्तियाँ मानवी शानके घनीभृत रतन है, जिनमे बुद्धि और अनुभवकी किरणें फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियाँ प्रकृतिके स्फुलिंग (रेडियो-ऐक्टिव) तत्त्वोंकी भॉति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती है। लोकोक्ति-साहित्य संसारके नीति-साहित्य (विजडम-लिट्-रेचर)का प्रमुख अंग है। सांसारिक व्यवहारपद्भवा और सामान्य बुद्धिका जैसा निद्र्शन कहावतोंमे मिलता है, वैसा अन्यत्र दर्लम है। लोकोक्तिके विषयमे इस चर्चासे प्रकट होगा कि कहातक लोकोक्तिका संकुचित अर्थ लिया गया है। लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकारकी उक्ति लोकोक्ति है। इस विस्तृत अर्थको दृष्टिमे रखकर लोकोक्तिके दो प्रकार माने जा सकते है-एक पहेली, दूसरा कहावते । पढेली भी लोकोक्ति है । लोक-मानस इसके द्वारा अर्थ-गौरवकी रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षाका भी साधन है। यद्यपि पहेलियाँ स्वभावसे कहावतोंकी प्रवृत्तिसे विपरीत प्रणालीपर रची जाती है, क्यों कि पहेलियों मे एक वस्तुके लिए बहुतसे शब्द प्रयोगमे आते है, भावसे इनका सम्बन्ध नही होता, प्रकटको गोप्य करनेकी चेष्टा रहती है, बुद्धि-कौशलपर निर्भर करती है, जब कि कहावतमे सूत्र-प्रणाली होती है, भावकी मार्मि-कता घनीभूत रहती है, लघु प्रयत्नसे विस्तृत अर्थ व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति रहती है। फिर भी पहेलियाँ उतनी ही उक्तियाँ है, जितनी कहावते । कहीं-कही इन उक्तियोके भी कुछ और रूप मिलते है। वे है अनमिला, भेरि, अचका, औठपाव, ख़ुंसी, गहगब्ब, ओलना तथा ऐसे ही अन्य। ये पद्यात्मक होते है और निरर्थक और सार्थक, दो भागोमे वॉ टे जा सकते है। निरर्थक इनमेंने अनमिछा होता है। वस्ततः अनिमल्लामें अर्थ अभिधार्थ तो होता है, पर वह अर्थ किसी प्रकार भी सन्तोष नहीं देता। अतः वह अर्थ, जो शब्दके पृथक-पृथक अर्थसे भिन्न सम्पूर्ण वाक्यसे मिलता है, जिससे वाक्य सार्थक होता है, अर्थ नहीं होता, किन्तु प्रभावार्थ अवस्य होता है। वह प्रभावार्थ वैलक्षण्य और अनमिल सम्बन्धसे प्रकट किया जाता है। शेप प्रकार सार्थक है। इन्हे हम कहावतके अन्तर्गत रखते है। लोरी-शिशुओंको सुलानेके लिए गायी जानेवाली लयें लोरी कही जाती है। विश्वभरमें बच्चोको सुलानेके लिए किसी-न-किसी प्रकारकी लयकी गुनगुनाहट माताएँ करती है। ऐसा करते हुए या तो बच्चेको पालनेमें हलके-हलके झुलाया जाता है या गोदमे लेकर हलके-हलके हिलाया जाता है। पलॅगपर लेटकर सुलाया जा रहा हो, तो 'दो-दो' कहते हुए ही थपथपाया जाता है। यह सभी गुन-.गुनाइटें छोरी नहीं कही जा सकती । लोरियाँ लोकगीतोंका

ही एक अंग हैं और उनमें जबतक शब्द नहीं भरे जाते, तवतक केवल लय या ध्वनि लोरी नहीं कही जा सकती। विश्वलोकवार्तासे विदित होता है कि वहुधा विश्वमे विभिन्न स्यानोंपर कुछ शब्दविशेष बोले जाते हैं, जैने 'लू-लू' ल्ह्य, लुलुय, 'निन्न-नन्न','बो-व बो','दो-दो'। सुलाते समय अथवा थपथपाते समय ऐसे शब्दोकी संगीतमय आवृत्ति भी लोरी नहीं कही जा सकती। लोरीमें कोई-न-कोई अर्थ रहता है। भारतमे बहुधा नीदको बुलाया जाता है- आ जारी नीदिया, मेरे लालाके नैनोंमे घुल-मिल जा"। नीदको प्रलोभन दिये जाते है; कही-कही लोरीमे देवी-देवताओंसे मनौती की जाती है कि वे बच्चेकी रातमें रक्षा करे । निंदास-भरे वातावरणका कोमल वर्णन रहता है। कही-कही बच्चेके अच्छे-अच्छे गुणोंका बखान रहता है। उसे अच्छा होनेके प्रलोमन दिये जाते है। कुछ लोरियोमें विषाद और थकान भी अभिव्यक्त होती है। लोरीमें माताऍ बच्चोकी सुख-समृद्धिका टोटका मानती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे प्रतीत होता है कि लोरीसे एक तो बच्चेका ध्यान इधर-उधर बिखरनेसे रोक लिया जाता है, दूसरे बच्चेको आन्तरिक आश्वासन रहता है कि वह अकेला नहीं है और किसी-न-किसीका स्नेहपूर्ण संग उसे मिला हुआ है। यह आश्वासन उसके मनमें किसी भी भयका उदय नहीं होने देता। ताल-यक्त ध्वनि और थपथपाहट या झूलन, मन और शरीरको सुख भी पहुँचाते है। लोरीमें यो तो कोई भी विषय रह सकता है, क्योंकि माँ जानती है कि वह शिशु न तो उसे समझता है, न वह समझानेके लिए गायी जाती है। सूर-दासने एक गीनमे बताया है कि कृष्णको पालनेमे सुलाते हए यशोदा 'जोइ-सोइ कुछ गावै'के साथ ही वह नीदको हुए कहती है—"मेरे लालको आउ निंदरिया, काहे न आनि सुआवै । तू काहे नहिं बेगहि आवै, तोकों कान्ह बुलावै"। सरदासने लोरीमे बालदशाके कौतुक गाये जानेकी राचना दी है। लोरीका उपयोग वाल-वर्णनोंके साहित्यमें मिलता है। यह लोकवार्तासे ही लिया गया है। — स० हों-लाग, चाह, चित्तकी वृत्ति—"खसम न चीन्हें बावरी परपुरुषे लौलीन, कहिं क्बीर पुकारिक परी न वानी चीन्ह" (कबीर: बीजक)। लौलीन, किसीके ध्यानमे डूबा हुआ या मस्त—"लौ इनकी लागी रहै निज मन मोहन रूप। ताते इन रसनिधि लयौ लीयन नाम अनूप" (रसनिधि)। —-ত**০** হা০ হাা০ **छोकिक छंद –** लौकिक, अर्थात् अवैदिक छन्दोका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। समस्त मात्रिक छन्द इसी वर्गमें आते हैं। वर्णित वृत्तोमें यद्यपि १ से २६ वर्णतकके सभी वृत्त वैदिक वताये जाते है, परन्तु पाद-व्यवस्था वैदिक नियमोंके अनु-सार न होनेपर वे भी लौकिक मान लिये जाते है। लौकिक छन्द सामान्यतया चार चरणोंके होते है। संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दीमे लौकिक छन्द ही प्रयुक्त हुए है। आर्या आदि विशिष्ट प्रकारके छन्द भी इसी वर्गमें परि-गणित होते है। लौकिक छन्दोंमे गेयताकी अपनी स्वतन्त्र परम्परा रही है, विशेष रूपसे मात्रिक छन्दोंमें, जो स्व-राघ।त और प्छत ध्वनियोंके अभाषमे वैदिक गेयतासे भिन्न प्रकारकी सिद्ध होती है। संस्कृत वर्णिक वृत्तोंको छोड़कर प्रायः शेप सभी लौकिक छन्दोंमें तुकान्तका विधान मिलता है। जो उनकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है। वैदिक छन्दोकी अपेक्षा इनमे नियमन और स्थिरताका अधिक आग्रह मिलता है। अनेकरूपता और तरलता मात्रिक छन्दोंमे सर्वाधिक मात्रामें मिलती है, जिसका प्रभाव संस्कृत छन्द-रचनापर भी पडा और उसमे भी अष्टपदी आदि गेयताप्रधान रूपोका विकास हुआ। सभी लौकिक छन्दोंको किसी कोटिमे रखना कठिन है। उनमे परस्पर पर्याप्त विभेद एवं अन्तर दिखाई देता है। —ज० गु० लौकिक फ्रंगार —दे० 'श्वंगार'।

वंशवजा-वर्णिक छन्दोमे अर्द्ध-सम वृत्तका एक भेद। मैथिलीशरण ग्रप्तने 'साकेत'ने इन्द्रवशा और इन्द्रवजाके योगसे एक नवीन अर्द्ध-सम वृत्तका प्रयोग किया है। पूर्व आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट संज्ञाके अभावमे इस छन्दका वंश-वजा नाम पुत्त्लाल शुक्तने दिया है। इसके प्रथम और तृतीय चरणोमे त, त, ज, र, (SSI, SSI, ISI, SIS) एवं द्वितीय और चतुर्थ चरणमे त, त, ज, ग, ग (SSI, SSI, ISI, SS) रहते हैं। उदाहरण—''लेते गये क्यो न तुग्हें क्पोत वे, गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ? लाते तुम्ही हा ! प्रिय पत्र-पोत वे, दुःखान्धिमे जो वनते सहारे" (साकेन, ९)। वंशस्थ-वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक मेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६:४) तथा 'पिगलसूत्र' (६:२९)मे लक्षण दिया है; जगण, तगण, जगण और रगणके योगसे यह वृत्त बनता है (।८।, ८८।, ।८।, ८।८)। केशव (रा० चं०, ३:११), 'हरिऔध' (प्रि० प्र०,९:११:१३: १५:१६), अनूप शर्मा (सिद्धार्थ,४:६:८:१०: १३: १४: १७) और 'वर्डमान' (प्रायः आद्योपान्त)में इसका प्रयोग हुआ है। 'वर्द्धमान'के समान वंशस्यका कभी प्रयोग नहीं हुआ। इस छन्द्रमे ५-७ वर्णीपर यति आती है। तुलमीदासने भी प्रयोग किया है। उदा०—''त्वदीय आलि-गन हेतु, हे प्रिये ! हुआ न क्यो आज सहस्रवाह में। बिलोकनेको छिब अंग-अंगकी । बना न क्यों देवि सहस्र-चक्षु मे" (वर्द्ध०, २:४७)। वकतासांकर्य-व्युत्पन्न पदके पूर्व और पर भाग और अन्युत्पन्न पदकी अपनी-अपनी वक्रताका परस्पर सांकर्य किसी काव्यसक्तिकी एक अद्भुत शोभासम्पत्ति है। काव्यकी यह अद्भुत शोभासम्पत्ति कविप्रतिभाके विचित्र विलासका परिणाम है-"परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः कचित । प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्" (व॰ जी॰, २ : ३४) । उदाहरणके लिए यह कान्यसूक्ति—"सन्ध्या हो रही है नील नभमे शरदके। शुभ्र घन तुल्य, हरे वनमे, शिविरके। स्वर्णके कलशपर अस्तगत भानुका। अरुण प्रकाश पड झलक रहा है यों, छलक रहा हो भरा भीतरका वर्ण ज्यो । फहर रहा है केतु उसपर धीरेसे, वनके व्यजन राज मंगल-कलशका, जिसमे न ट्रट पड़े कोई विवन-मक्षिका, भंग करनेको रस-रंग कभी उसका" (सिद्धराज) । यहाँ 'हो रही हैं'के क्रियापदमें 'काल-नैचिन्यवक्रता' झलक रही है, जिससे 'सन्ध्या'के तत्काल रमणीय उद्भवके विद्व चित्रपर आँखें टॅगीकी टॅगी रह जाती है। साथ ही 'छलकने'के

क्रियापदकी 'उपचारवक्रता' इतनी मनोज्ञ है कि स्वर्णवर्णपर मद्यके आरोपसे सहदय-हृदयमें उन्माद भर उठता है। इसके अतिरिक्त 'रसरंग'-पदकी 'पर्यायवक्रता' स्वर्णकलशके जिस मदिरोत्सवके दृश्यको सामने उपस्थित कर जाती है, उसकी सुन्दरता भावना द्वारा शतथा प्रतिफलित हो उठती है। इस 'वक्रतासांकर्य'से कविकी सुक्ति एक विचित्र चित्र-सी सुन्दर —स॰ व॰ सिं॰ लगने लगती है। वक्रोक्ति (शब्दालंकार) १ - यह 'वक्रोक्ति'की मंक्रचित सीमा है। भामहने अपने 'कान्यालंकार'मे इसको अधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार 'नितान्त' आदि शब्दो द्वारा शब्द और अर्थकी उक्ति ही वाणी-सौष्ठव नही हो जाती, वक्र शब्द और अर्थंकी उक्ति ही वाणीका काम्य अलंकार है। कुन्तकने 'वक्रोक्ति'को कान्यका जीवन ही माना है (दे॰ 'वक्रोक्ति-संप्रदाय')। परन्त क्रमशः इसका महत्त्व कम हो गया और रुद्रटने 'काव्यालंकार'मे इसे शब्दालंकारके रूपमे स्वीकार किया है और इसके इलेष तथा काकु, दो भेद भी माने है (२:१४:१५)। मम्मटने इसे स्वीकार किया है—"यदुक्तमन्यथावानयमन्य-थाऽन्येन .योज्यते । इलेषेण काका वा शेथा सा वक्रोक्ति-स्तथा द्विधा" (का० प्र०, ९: ७८), अर्थात् किसीके अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यका दूसरे व्यक्ति द्वारा श्लेष अथवा काक उक्तिसे अन्य अर्थ कलिपत किया जाना । रुय्यक तथा जयदेवको छोडकर अन्य बादके आचायाँने भी इसे शब्दा-लंकार माना है।

हिन्दीमें इस अलंकारके सम्बन्धमें स्थिति रपष्ट नहीं है। केशव, जसवन्त सिंह, भूषण तथा मतिराम आदिने इसे अर्थालंकारके अन्तर्गत रखा है। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ तथा दासने शब्दालंकारके रूपमे स्वीकार किया है, पर इसके रुक्षणों तथा उदाहरणोंमें अस्पष्टता है, जिससे यह कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने इसे शब्दालंकार समझा है या अर्थालंकार । प्रायः दोनों वर्गोंके आचार्योंके लक्षण-उदाहरण समान प्रकारके है। कुलपतिकी परिभाषा 'साहित्यदर्पण'के अनुकरणपर है-"कहै बात और कछ, अर्थ करें कछ और। वक्र उक्ति ताको कहै, श्लेष काक्र है ठौर। (र० र०, ४)".। भिखारीदासका लक्षण और उलझा हुआ है-"व्यर्थ काकुते अर्थको फेरि लगावै तर्क" (का० नि०, २१)।

इलेप वक्रोक्ति-वक्ताके कथनका दिलष्ट शब्दो द्वारा अन्य व्यक्तिसे भिन्न अर्थ किएत किया जाना। दिलष्ट शब्द या पदका कभी भंग होकर और कभी अभंगरूपमें भिन्नार्थ किया जाता है। इस आधारपर इसके दो भेद माने गये है, भंगपद और अभंगपद । पहलेका उदाहरण-"अयि गौरवशालिनि, मानिनि, आज सुधासित क्यों बरसाती नहीं ? निज कामिनीको प्रिय, गौ अवशा अलिनी भी कभी कहि जाती कहीं" (का० क० द्र०)। इसमें 'गौरवशालिनी' पदको 'गौ', 'अवशा' और 'अलिनी'में भंग करके इलेषार्थ निकलता है। दूसरेका उदाहरण-"एक कबूतर देख हाथमें पूछा कहाँ अपर है ? उसने कहा अपर कैसा ? उड़ है गया सपर है" (गुरुभक्त सिंह: नुरजहाँ)। इसमें 'अपर'का अर्थ 'दूसरे'से हैं और श्रोता- ने 'अपर'का अर्थ 'पर-रहित' लिया है।

काक वकोक्ति-वक्ताके वाक्यसे अर्थात् कण्ठध्वनिकी विशेषतासे श्रोता द्वारा अन्य अर्थ किल्पत किया जाना। वस्ततः इस भेदको लेकर ही अधिक अस्पष्टता है। वस्ततः जहाँ अर्थपरिवर्तन मात्र कण्ठध्वनिपर निर्भर होगा, वहाँ शब्दका महत्त्व नहीं रह सकता, अतएव यह अर्थालंकार हो जायगा। कन्हैयालाल पोद्दारने विभेद किया कि जहाँ शब्द बदलनेपर भी वक्रता बनी रहे, वहाँ अर्थालंकार मानना चाहिये और जहाँ नष्ट हो जाय वहाँ शब्दालंकार । आचार्योंके उदाहरणमे प्रायः वक्रता अर्थगत ही है । परन्त इसको मम्मट आदि आचार्योंने सम्भवतः कण्ठध्वनि. अर्थात कथन-शैलीके कारण शब्दालंकार ही स्वीकार किया है। बिहारीका उदाहरण—'लिखन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरव गरूर। भये न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर" (सतसई, ३४७) । इसमें भये न केते का कथन शैलीके अनुसार दूसरेका अर्थ हो जायगा 'सभी हो गये'। वकोक्ति (अर्थालंकार) २-अर्थ है वक्र उक्ति; वाणीके विलक्षण व्यापारको वक्रोक्ति माना गया है। भामहने समस्त अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माना है। कुन्तकने इसे विशिष्ट अर्थमे अहण किया है। परन्त वामनने 'वक्रोक्ति'-को उपमाप्रपंचके अन्तर्गत अर्थालंकार माना है-"साह्या-ल्लक्षणा वक्रोक्तिः" (काञ्या० सू० वृ०, ४: ३:८) । इनके अनुसार जैसे रूपक आदिमे गौण अर्थका अलंकारत्व होता है, उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थका अलंकारत्व हो सकता है और इसी साद्यसे 'लक्षणा-वक्रोक्ति' होती है। उदा०—"तिनक देरमे सरोवरके कमल खिल गये और क्षणभरमें कैरव भी वन्द हो गये" (वही)। इसमे नेत्रके धर्म उन्मीलन तथा निमीलनसे कमलोंके विकास आदिका लक्षणासे बोध होता है। आगे चलकर जयदेवने 'चन्द्रा-लोक'मे 'वकोक्ति' अर्थालंकारके रूपमे इस प्रकार लक्षण दिया है-"वक्रोक्तिः इलेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तरकलपनम्" (५: १११), अर्थात इलेष तथा काक द्वारा वाच्यार्थ बदलनेकी कल्पना। मम्मट तथा विश्वनाथकी इसी शब्दा-लंकारकी परिभाषासे विशेष अन्तर नहीं है, वस्तुतः यह दृष्टिकोणका अन्तर है।

हिन्दीके आचार्योमें केशव, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण आदिने इसे अर्थालंकार माना है। केशवने 'वक्रोक्ति'-को प्राच्योके अनुकरणपर व्यंग्यका पर्यायवाची माना है-"सूधी बातमें बरनिय टेढो भाव" (क० प्रि॰, १२:३)। अन्योंने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है-''श्लेष काकुसों अर्थकी रचना और ज होय'' (ल० ल०, ३६९) । भूषणने इसी भावको 'अरथ लगावै और' कहकर व्यक्त किया है। वस्तुतः शब्दालंकार माननेवालो तथा अर्थालंकार माननेवालोके मतोंमें स्पष्ट अन्तर नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दारने दोनों रूपोमे इसे स्वीकार किया है (दे० 'वक्रोक्ति १')!

इसकी व्यापक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है-अर्थइलेष तथा काकुके बलसे अन्य अभिप्रायसे कहे हुए वाक्यके दूसरेके द्वारा भिन्न अर्थकी कल्पना। केशवका उदाहरण-"तै ज कहा मुख मोहनको अरबिन्द सो है

सो तो चन्द सो देख्यों"। (कवि०, १२:४)। इसमें 'चन्दवें समान सकलंक हैं' यह दूमरा अर्थ अन्यके द्वारा लिया जायगा। इसी प्रकार विहारीके दोहे—''किती न गोकुल कुल वधू, किहि न काहि मिख दीन। कौन तर्जा न कुल गली, है मुरली-मुरलीन'' (वि० र०, ६५२)में 'मवको शिक्षा दी गयी' तथा 'सभीने कुल-गली त्याग दी', यह अर्थ दूसरेके द्वारा लिया जायगा। तुलसीका उदा०—'मानस सल्लि सुधा प्रतिपाली। जियह कि लवण पयोधि मराली। नव रसाल वन विहरणशीला। सोह कि कोकिल विधिन करीला" (रा० च० मा०, २)।

रीतिकालमे इस अलंकारका अत्यधिक प्रयोग किया गया है। नायिकाओंके रूप तथा उनकी प्रेमकी विभिन्न स्थितियोके चित्रणमें इसका प्रयोग चमत्कृत ढंगसे किया गया है। विहारीको इन वर्णनोंमें विशेष उत्कर्ध प्राप्त हुआ है।

— सं०

वक्रोक्तिवाद-दे॰ 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त'। वक्रोक्ति-संप्रदाय-दे॰ 'वक्रोक्ति-सिद्धांत'।

वक्रोक्ति-सिद्धांत-कुन्नक (१०-११ श० ई०)के 'वक्रोक्ति-जीवित'मे प्रतिपादिन एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त। इस आचार्यने अपनी मौलिक प्रतिभाके द्वारा अपने पूर्वके अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तोंके स्थानपर एकदम नवीन काव्य-सिद्धान्तका प्रति-पादन किया है। कुन्तकने वक्रोक्तिको 'बाव्यकी आत्मा'के रूपमे स्वीकार किया है। वस्तृतः उन्होंने इसको अत्यन्त व्यापक सिद्धान्तके रूपमे स्वीकार किया है। आचार्यने इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तोंका समाहार किया है और साथ ही समस्त काव्यांगो-वर्ण-चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, विषय-वस्तुकी रमणीयता, अप्रस्तुत-विधान, प्रवन्ध-कल्पना आदिको ७ चित स्थान दिया है। कुन्तकके अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक्-चातुर्य अथवा उक्ति-चमत्कार नहीं है, वह कवि-व्यापार अथवा कवि-कौशल है। नगेन्द्रके अनुसार आधुनिक शब्दावलीमे इसे कलावाद कह सकते है-अर्थात् काव्यका सर्वप्रमुख तत्त्व कला या उपस्थापन-कौशल है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने विषय-वस्तका ही निषेध किया है। उन्होने काव्य-वस्तुकी स्वाभाविक रमणीयताको स्वीकार किया है। परन्तु कविको वस्तुके सहृदय-रमणीय धर्मीको व्यक्त करना चाहिये और यह कवि-प्रतिभारो ही सम्भव है। इस प्रकार उनके अनुसार अन्ततः कवि-व्यापार ही प्रमुख है।

भारतीय कान्य-सिद्धान्तोंम रस-सिद्धान्त अनुभूति अथवा भावनापक्षपर प्रतिष्ठित है और अलंकार-सिद्धान्त मौलिक रूपसे कवि-करपनापर आधारित है। वक्रोक्ति-सिद्धान्तका सम्बन्ध इस दृष्टिसे भी अलकार-सिद्धान्तसे है। वस्तुतः वक्रोक्तिमे अलकारोके करपना-वैचित्र्यको अधिक न्यापक आधारपर स्वीकार किया गया है। यह करपना कवि-निष्ठ है, सहृदय-निष्ठ नहीं। ध्वनि तथा वक्रोक्तिका अन्तर भी यही है कि ध्वनिकी करपना सहृदय(पाठक)-निष्ठ है और वक्रोक्तिकी करपना कान्य-निष्ठ। अत्यख्य ध्वनिका दृष्टिकोण न्यक्तिपरक है और वक्रोक्तिका वरतु-निष्ठ। परन्तु कुन्तकने रसको वक्रोक्तिका प्राण-रस मानकर

कल्पनाके साथ भावनाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। कुन्तकने रसको वक्रताका विशिष्ट अंग मानकर भी अंगी वक्रताको ही माना है। प्रत्यक्षतः वक्रताको विना रसकी स्थिति सम्भव नही है, जब कि रसके विना वक्रताको अपनी स्वतन्त्र स्थिति है। यद्यपि कुन्तकने ऐसी स्थितिको अधिक महत्त्व नही दिया है और रस-विद्यान वक्रताको तिरस्कारयोग्य ही माना है।

क्रन्तकका वक्रोक्ति-सिद्धान्त बहुत सीमातक ही नही, समन्वयशील सिद्धान्त है। जैसा कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यसे स्पष्ट हो सकेगा कि इसकी उद्भावनाके मूलमे अलंकार-सिद्धान्तकी परम्पराके साथ ध्वनि-सिद्धान्त है। रसकी प्रतिष्ठाका उल्लेख किया गया है। अतएव कुन्तकके सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कान्यको स्वीकृति मिली है। उनके सिद्धान्तमे वल भले ही कलापक्षपर हो, पर उनकी व्याख्याके अन्तर्गत वस्तुपक्ष तथा भावपक्षका पूरा समाहार हुआ है। रस अथवा भावके दीप्त होनेपर उक्ति अपने-आप दीप्त हो उठती है। अतः यह नही कहा जा सकता कि रस-निष्पत्तिमे वक्रताका अभाव हों सकता है- कुन्तवाकी वकता ऐसी ही व्यापक है। रमवादी विवेचकोंका कहना है कि वक्रताकी अनिवार्यता निश्चित है, पर काव्यमं उसे भाव-व्यंजक ही होना चाहिये, क्योंकि भावनादा ही महत्त्व काव्यमे विशेष है। उनके अनुसार रस-विहीन कान्य भाव-सौन्दर्यसे हीन केवल शब्द अथवा अर्थ-क्रीडाका चमत्कारमात्र होगा। परन्तु कुन्तकने उत्ति-वैचिन्यको मात्र शब्द अथवा अर्थकी क्रीड़ा स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार कवि-प्रतिभा तथा कवि-कौशलको काव्यगत अनिवार्य तत्त्वके रूपमे स्वीकार किया है। कुन्तकका वक्रोक्तिको काव्यका प्राण-तत्त्व माननेका अभिप्राय भी यही है और काव्यके आधुनिक युगतकके विकासको देखते हुए यह भी स्पष्ट है कि रस-विहीन काव्य-मे सौन्दर्यकी स्थिति एक सम्भव करपना है। यह कहना कि सारा सौन्दर्य हमारे भावात्मक (emotional) जीवनपर आधारित है, गलत है; हमारे सौन्दर्य-बोधके अनेकानेक स्तर बौद्धिक जीवनसे सम्बद्ध हैं। वैसे जीवनमे बुद्धि तथा भावनाकी प्रतिक्रियाएँ एक-दूसरेसे स्वतन्त्र नहीं है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा तथा प्रतिपादन कुन्तकने अवस्य किया है, पर इसकी परम्परा काफी प्राचीन है। वाण तथा सुबन्धु आदि कवियोमे इसके सन्दर्भ प्राप्त होते है। परन्तु भामह (६-७ श० ई०)ने वक्रोक्तिका प्रयोग बहुत-कुछ इसी व्यापक अर्थमें किया है। उन्होने वक्रोक्तिमे शब्द और अर्थ, दोनोंका अन्तर्भाव माना है (काव्या०, १:६)। उन्होने वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्तिका समान अर्थमे प्रयोग किया है। अतिशयोक्तिका अर्थ है 'छोकाति-कान्तगोचरता', अर्थात् जो छोकके सामान्य अर्थसे विचित्र हो (वही, २: ८१-८४)। वक्रोक्तिको भामह इसी कारण मूल अलंकार मानते हैं। इसके विना वाक्य काव्य न होकर वार्तामात्र रह जाता है। दण्डी (७ श० ई०)ने भी वक्रोक्तिको भामहके समान महत्त्व दिया है। परन्तु उनके अनुसार ''द्विघा भिन्नं स्वभावोक्तिकेनोक्तिः इचेति वाष्ट्रयम्'' (प्राच्यादर्श, २: ३६२), अर्थात् वाङ्ययंक दो भेट हैं

स्वभावोक्ति तथा वन्नोक्ति । भामहने स्वभावोक्तिको अस्थीकार किया था । दण्डीने भी वन्नोक्ति तथा अति-श्योक्तिको समस्त अलंकारोके मूलमे स्वोकार किया है । यहाँ भी दोनो पर्याय है और उनका मुख्यार्थ भी समान है—''लोवसीमातिवतिनी विवक्षा', अर्थात् वस्तुके लोकोक्तर-वर्णनकी इच्छा । भामह और दण्डीमे केवल यह अन्तर है कि भामह स्वभावोक्तिको भी वन्नोक्तिको परिधिम स्वीकार ब,रते है और दण्डी उसे भिन्न मानते है तथा वन्न कथनसे कम महत्त्वपूर्ण समझते है ।

आगे चलकर इसके प्रयोगमे अर्थ-संकोच हुआ है। वामन (९ श्र० ई०) ने अपने 'क त्यालंकारस्त्रवृत्ति'मे इसे अर्थालंकारके रूपमं माना है—'साद्याहक्षणावक्रोक्तिः' (४, ३: ८), अर्थात् रक्षणाके अनेक निबन्धोमें साह्य-निबन्धना लक्षणा वक्रोक्ति है। वामनकी परिभाषाका मात्र ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमे एक ओर दण्डीके समाधि गुण और दूसरी ओर परवर्ती आनन्दवर्धनकी सन्निहित है। अभिधासे ध्वनि-कल्पनाके तत्त्व भिन्न होनेके कारण लक्षणामे वक्रता तो होगी ही, पर इसमे लक्षणाके अन्य नक्रतर रूपोका निर्देश नहीं हुआ है। रुद्रट (९ श० ई०)के समयतक वक्रोक्ति केवल अलंकार रह गयी, जो वाक्छलपर आश्रित है (दे॰ 'वक्रोक्ति', 'शब्दालंकार' तथा 'अर्थालंकार') । आनन्दवर्थनने वक्रोक्ति-की स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है। परन्तु उन्होंने इसकी विशिष्ट अलंकार मानकर भी तीसरे उद्योतमे इसके सामान्य तथा व्यापक रूपको भी स्वीकार किया है। भामहके वक्रोक्ति सम्बन्धी मतको स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धनने अतिज्ञयोक्ति तथा वक्रोक्तिको पर्याय माना है और सभी अलंकारोंको अतिशयोक्ति-गर्भित स्वीकार किया है। महाकवियों द्वारा व्यक्त यह अतिशय-गर्भिता काव्यमे अनिर्वचनीय शोभाका कारण होती है। इसीसे अलंकारोंको शोभातिशयता प्राप्त होती है। इस वक्रताका प्रयोग विषयके अनुकूल ही होना चाहिये। वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्तका प्रभाव वक्रोक्ति-विवेचनपर अत्यधिक पड़ा है। कुन्तककी 'वक्रोक्तिजीवित'की रूपरेखा मुख्यतः 'ध्वन्यालोक'पर आधारित है । इसके अनेक प्रसगोंके विस्तारमे ध्वनि-विस्तारकी छाया है। वक्रोक्तिका विस्तार ध्वनिके समान ही वर्ण, प्रत्यय, विभक्ति आदिसे प्रारम्भ कर प्रवन्थ तथा नाट्यकाव्योतक माना गया है। अनेक चमत्कार-भेद दोनों-में समान हैं, कई उदाहरण भी समान हैं।

अभिनव (१०-११ श० ई०)ने वक्रोक्तिके सामान्य रूपको स्वीकार किया है। उनके अनुसार शब्द और अर्थ- की वक्रताका आशय है उनकी छोकोत्तर स्थिति और इस छोकोत्तरका अर्थ अतिशय ही है। भोज (११ श० ई०)के 'शृंगारप्रकाश'में वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओंका समन्वय किया गया है। भोजके बाद मम्मट (११ श० ई०) आदिने यक्रोक्ति(दे० 'अर्थाछंकार' तथा 'शब्दाछंकार')को विशेष रूपमें ही स्वीकार किया है और रुद्रटके आधारपर प्रायः इसके काकु तथा मंग-रुष्ठेष भेद माने गये हैं। रुप्यक (१२ श० ई०)ने इसको ज्यापक रूपमे स्वीकार करके भी अर्थाछंकार-विशेष ही माना है। आगेकी परम्परामें विद्यानाथ

तथा अप्पय दीक्षित (१७ श० ई०)ने अर्थालंकार, विश्वनाथ (१४ श० ई०) आदिने शब्दालंकार माना है।

हिन्दी काव्यमे वक्रोक्तिका सुन्दर प्रयोग मिलता है, पर सिद्धान्त-रूपमे इसकी चर्चा आधुनिक कालते पहले बिलकुल नहीं की गयी। कैशव (१६-१७ श०ई०)ने 'वक्रीकृता उक्ति-रूप' शब्दालंकार न मानकर 'विदग्ध उक्ति-रूप' अर्थालंकार माना है। अन्य परवर्ती आचार्याने शब्दालंकार ही माना है। जसवन्तर्सिह (१७ द्या० ई०) तथा भूषण (१७ द्या० ई०)-ने अर्थालंकारके अन्तर्गत इसपर विचार किया है और दास (१८ श० ई०)ने इलेषार्थ अलंकार-वर्गमें इसका निरूपण किया है। पर इस समस्त विवेचनका सम्बन्ध अलकार-रूपमें ही है, सिद्धान्तसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है; ययपि रीतिकालके कवियोमें विहारी तथा घनानन्द आदि कतिपय कवियोमें वक्रोक्तिका प्रयोग व्यापक रूपमे हुआ है। हिन्दीमे वक्रोक्ति-सिद्धान्तके प्रति आकर्षण आलोचना-पद्धतिके विकासके साथ उत्पन्न हुआ। नगेन्द्रके अनुसार महावीरप्रसाद डिवेदीके कला-चमत्कारके समर्थनमें एक प्रकारसे वक्रोक्तिकी मान्यता प्राप्त हुई है। पर दिवेदी-युगके कान्यमें कान्य-चमत्कारका निनान्त अभाव है। इस युगमे पचसिंह रामी, जगन्नाथदास 'रलाकर' तथा हरिऔध आदि प्राचीन काव्य-मर्मज्ञोंने वक्रोक्तिको मान्यता प्रदान की है। आगे चलकर रामचन्द्र शुक्लने रस-सिद्धान्तकी स्वीकृतिके साथ उक्ति-चमत्कारका विरोध किया। उनकी दृष्टिमे चमत्कारका अर्थ मनोरंजन है। उनके अनुसार उक्ति-वैचिच्य काव्यका व्यापक रुक्षण नहीं माना जा सकता। उनके अनुसार ऐसी अनेक मार्मिक उक्तियाँ हो सकती है, जिनमें वैचिन्य अथवा वक्रता न हो, साथ ही वक्रतापूर्ण उक्तिमें भी भाव-व्यंजनाका अभाव हो सकता है। स्पष्ट है, रामचन्द्र शुक्लने वक्रोक्ति-सिद्धान्तको रांकुचित अर्थमें ग्रहण किया है। उन्होने वक्रोक्ति तथा अभिव्यंजना-वाद (दे०)का एकीकरण भी किया है। परन्तु इन दोनो सिद्धान्तोमें मौलिक अन्तर है और साथ ही दोनोमे वस्त-तत्त्वकी वैसी अवहेलना भी नहीं है, जैसी रामचन्द्र शुक्लने बतलायी है।

छायावादी युगमे काव्य-शैलीमें वक्रताका विशेष महत्त्व स्वीकृत हुआ है। यह वक्रता मात्र शैलीगत न होकर वस्तु-गत रूपमें भी परिलक्षित हुई है। 'प्रसाद'ने भी कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्तको स्वीकार किया है—''इस लावण्यको संस्कृत साहित्यमें छाया और विच्छित्तिके द्वारा कुछ लोगोंने निरूपित किया था" (काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पू॰ ९०) । इस प्रकार 'प्रसाद'ने वक्रताको वास्तविक काव्य-गुण माना है। नगेन्द्रके अनुसार—''छायावादमे वक्रताके दोनों रूपों—विदग्धता और चारुताका ही वैभव मिलता है। 'प्रसाद' तथा पन्तमे जहाँ चारुताका चरम उत्कर्ष है, वहाँ 'निराला'में विदग्धताका । महादेवीके प्रणय-कान्यमें भाव-प्रेरित वकताका सुन्दर विकास है।' (भा० का० भू०, पृ० ४५६)। इस युगमे लक्ष्मीनारायण 'सुधांद्य', गुलाब राय तथा नगेन्द्रने वक्रोक्तिका व्यवस्थित रूपसे विवेचन किया है। 'सुधां शु'ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमे अभिन्यंजनावाद'मे वक्तोक्ति-सिद्धान्त तथा पश्चिमके अभि- व्यंजनावाद, दोनोंकी समुचित विवेचना की है। उनके अनुसार कुन्तकका सिद्धान्त भामहसे विकसित हुआ है और उसके मूलमें अलंकारोंका कल्पना-वैचिन्य है। वक्रताके आधार रूप लोकोत्तर वैचिन्यका तद्विदाह्नादके साथ तादातम्य कर कुन्तक रस-सिद्धान्तको माननेके लिए प्रेरित होते है और साथ ही कुन्तकके सिद्धान्तमें ध्वनि-सिद्धान्तसे कतिपय बातें ली गयी है। 'सुधांद्यु'के मतसे बक्रोक्ति तथा अभिन्यंजनावादमें प्रकृतिगत भेद है। वक्रोक्तिसे अलंकारका सम्बन्ध स्पष्टतः स्वीकृत है, किन्तु अभिव्यंजनाके लिए उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है अभिव्यंजनामें स्वभावोक्ति-का भी मान है, वक्रोक्ति-सिद्धान्तमे नहीं। नगेन्द्र इससे सहमत नहीं है, क्योंकि वक्रोक्तिमें स्वभावोक्तिके काव्य-तत्त्वका निपेध नहीं है, केवल अलंकारताका निषेध है। गुलाब रायने भी इन दोनों सिद्धान्तोको अलग माना है। उनके अनुसार कोचेने उक्तिको प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्यको नही । क्रोचेके मतसे सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिन्यक्ति कला है। इस अभिन्यक्तिमे स्वभावोक्ति और वक्रोक्तिका भेद नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकारकी हो सकती है, जो अभिव्यक्ति है। नगेन्द्रने इस मतका समर्थन किया है। उनके अनुसार अभिव्यंजनावादमे उक्तिका केवल एक ही रूप मान्य है—वह वक हो या ऋजु; उसमें वार्ता तथा वक्रताका भेद नहीं है। परन्तु वक्रोक्तिमें उक्तिके वैदग्ध्यपर बल दिया गया है। नगेन्द्रके अनुसार वक्रोक्ति-सिद्धान्तमे स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्तिमें वैपरीत्य नहीं है: वैपरीत्य वस्तुतः वार्ता और वक्रोक्तिमे है। वस्तुतः प्रगति-युगके हास-युगके बाद प्रयोगवादी तथा नयी कवितामें वक्रोक्तिकी पुनः प्रतिष्ठा हुई है, नये सन्दर्भी तथा नये अभिनिवेशमे।

[सहायक ग्रन्थ—एस० के० दे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स; राघवन : भोजका शृंगारप्रकाश; नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका।]

वचनचतुर नायक –दे॰ 'नायक', शृगार । वचनविदग्धा –दे॰ 'विदग्धा', (नायिका) ।

वज्र-सिद्धोंकी साधनामें शून्यका पूरक तत्त्व वज्र था-अभेद्यता आदि वज्रके लक्षण शून्यतामें है, अतः उसे वज नाम दिया गया। यह वज पुरुषरूपमे बोधिचित्तमें जायत् होकर नैरात्म्य-ज्ञानमें लीन होनेके लिए अग्रसर होता था। इसके मणि, अइम तथा अस्त्र आदि वैदिक अर्थोंका परित्याग कर वज्रयानमे इसे परम तत्त्वके अर्थमे स्वीकार किया जाने लगा था। बादमे बजके साथ मद्रा-मैथन साधनोंका जो विशेष सम्बन्ध रहा, उसके कारण शुद्धतावादी गोरखपन्थियोंने इसको विशेष आदर नहीं दिया । सूफियोंमे कपाट, अग्नि, चित्तके साथ 'वज्र' विशेषणका प्रयोग हुआ है। 'पद्मावत'मे एक स्थानपर आठ वज्रोंका भी उल्लेख है, जिसते यह ज्ञात होता है कि वज्रकी बौद्ध कल्पना किसी-न-किसी रूपमें जीवित उस समय भी थी । किन्तु परवर्ती सम्प्रदायों में यह शब्द बिलकुल विस्मृत कर दिया गया (दे॰ 'वज्रयान', 'मणि')। -ध० वी० भा० **वज्रधर**-वज्र धारण करनेवाला, अर्थात् कमल-कुलिश साधनामें निष्णात बौद्ध सिद्ध वज्रथर कहलाता था। बुद्धका एक वज्रयानी रूप वज्रधरका भी था, जिसमे वे
अपनी राक्तिके साथ युगनद्ध-साधनामे लीन रहते
है। —ध० वी० भा०
वज्रयान – बौद्ध धर्मका वह रूप, जो देवता, मन्त्र, गुह्य
साधनाओं और अभिचार आदि तान्त्रिक प्रवृत्तियोसे युक्त है
और 'दोहाकोष' तथा 'चर्यांपदो'के लेखक सिद्धान्त्रार्थ जिसके
अनुयायी थे। वज्रयानका स्त्रपात कव और कैते हुआ,
अत्यन्त प्रामाणिक सामग्रीके अभावमे अभी भी यह अनुमानका ही विषय है। किन्तु ईसाकी छठी रातान्त्रीके बाद
जब सारे देशमें तान्त्रिक प्रवृत्तियोंका आधिपत्य हो गया,
तब लगभग सभी धर्मसाधनाओने किसी-न-किसी रूपमें
तान्त्रिक प्रणालीको स्वीकार कर लिया। उन्नीके आस-पास
वज्रयानका विकास-काल माना जा सकता है।

चमत्कारपूर्ण अतिपाकृतिक सिद्धियोंका उहेख तो बुद्धके ही समयमे मिलता है और कुछ भिक्षुओंका झुकाव भी इन चमत्कारोंकी ओर था, किन्तु बुद्धने वरावर इनकी निन्दा की है। किन्तु बुद्धकी मृत्युके बाद धीरे-धीरे इनका समावेश होता रहा, यहाँतक कि 'दीवनिकाय'मे आटानाटीय सूत्रमें ही गृधकूट पर्वतपर तथागतकी उप-स्थितिमें उनकी सहमतिसे वैश्रवणको आटानाटीय रक्षा पढते हुए चित्रित किया गया, जो अमनुष्योंसे भिक्षओकी रक्षा करता है। कुछ विद्वानोंके मतानुमार यह अंश प्रक्षिप्त है और जब सिंहलमे यह पिटक लिपिवद्ध किया गया. तन इसका समावेश कर दिया गया। आगे चलकर महायानकी दो शाखाएँ हो गयी-पारमिता-नय और मनत्र-नय। वास्तवमें साधकोकी स्रविधाके लिए शतसाहस्रिका प्रशा-पारमिताको पहले दशसाहस्त्रिका, फिर अष्टसाहस्त्रिका, फिर शतक्लोकी और अन्तमें केवल एक हृदय-सन्नमान्नमें उसे सम्पंजित कर दिया गया। इस प्रकारके बहुतसे सूत्र, मन्त्र और धरणियोंका प्रचलन हुआ। उनके साथ ध्यानी बुद्धोंका भी सम्बन्ध जुड गया और इस प्रकार पारमिता-नयकी अपेक्षा मन्त्र-नय अधिक लोकप्रिय होता गया और उसीमें गुह्य साधनाएँ जुड़ गयीं। दर्शनकी अपेक्षा किया, चर्या, अनुष्ठानका विकास हुआ और धीरे-धीरे मन्त्रयान और उससे वज्रयानका विकास हुआ। कुछ विद्वान् मन्त्रयानको वज्रयानकी शाखा मानते है, किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक प्रतीत होती है। वस्तुतः मन्त्रयान महायानके वज्रयानमे संक्रमणकी अवस्था था। वज्रयानके पूर्ण विकासके बाद भी मन्त्रयानको विस्मृत नहीं किया गया और अद्वयवज्र तथा अन्य सिद्धाचार्योंने भी इस नामका बहुधा सारण किया है। यद्यपि मन्त्रथान नामका निरस्कार तो नहीं हुआ, किन्तु चन्न्रकी एक सर्वव्यापी कल्पना बौद्ध तन्त्रवादमें इतनी प्रवल हो उठती है कि स्वतः शून्यको ही वज कहा जाने लगा। देवता, समाधि, काय, वाक, चित्त, मुद्राएँ, शक्तियाँ, ज्ञान, उपाय, योग, सभीके नाम 'वज्र'-समन्वित होने लगे। अद्वयवज्रने साधर्म्यके आधारपर शून्यताको वज्र कहा-"हृदसारमसौशीर्यमच्छेबा-मेद्यलक्षणम् , अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमच्यते"। इसी शून्यता-ज्ञानको वज्रज्ञानकी संज्ञा दी गयी और उसे प्राप्त करानेवाली धर्मसाधनाको वज्रयान कहा गया । किन्तु यह वज्रयान महायानसे पृथक् या मन्त्रन्यानसे पृथक् साधना न होकर अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधिको प्राप्त करानेवाला वज्रप्रधान मार्ग था।

यह वज्रकी कल्पना आयी कहाँ से १ वज्रको अदम या मिणा भी कहा जाता है और इन्द्रका आयुध वज्र है, जिससे वह शबुओको पराजित करता है। बौद्ध-ग्रन्थोमें कहाँ-कहीं वज्रको इन्द्रके वज्रको ही मॉित त्रिदन्त बताया गया है; तीन दन्त है— धर्म, बुद्ध और संघ। ज्ञात होता है कि ब्राह्मणोंने वैदिक देवता इन्द्रकी जितनी उपेक्षा की, उसका परिहार बौद्धोने किया है। प्रज्ञापारमिताओमे इन्द्रका नवरूप मिलता है, जहाँ वे संगीतियोंमे तथागतके शिष्यरूपमे सिमिलत होते है। ऐसा लगता है कि गुरु-दिश्चणामे बौद्धोंने उनका आयुध वज्र ले लिया। उसे श्रूयता-ज्ञानवाले प्रतीकार्थ दे दिये और फिर तो उसका ऐसा महत्त्व बढ़ा कि पाँच ध्यानी बुद्धोंसे परे छठे वज्रसत्त्वकी कल्पना की गयी, जो प्रज्ञापारमिताके पित है; जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है, जो युगानद्ध-रूपमे सद्दा अपनी शाक्ति-के साथ समन्वित रहते हैं।

सातवी शताब्दीसे दसवी शताब्दी तक वज्रयानका स्वरूप निरन्तर विकसित होना गया। इस बीचमे जितने आचार्य हुए, उन्होंने उतने प्रकारकी पद्धतियोंका प्रचार किया। इसी बीचमें वज्रयानका सम्पर्क चीन, जापान, गान्धार, आदि जितने देशोंसे हुआ, उतने नये देवी-देवता शाक्तों, वैष्णवों और बोन्पा आदि धर्मोंसे लिये गये। मद्धके इतने कुलोंका विकास हुआ कि वज्रयानका एक श्ंखलाबद्ध विवरण दे सकना असम्भव है। इतना स्पष्ट है कि चिन्तना, साधना, मन्त्र, देवता, तन्त्र, योग, आचार, भाषा, इन सभी दिशाओं में बौद्ध धर्म इतना सर्वें आही कभी नहीं रहा, जितना इस कालमें। अन्तमें इन सभी प्रवृत्तियोंको एकसूत्रता प्रदान करनेके लिए वज्रयानके अन्तर्गत कई आम्नाथ मान लिये गये और साधकको स्वतन्त्रता दी गयी कि वह अपनी प्रवृत्ति और गुरुके निर्देशके अनुसार साधना करे। साथ ही साधकके मान-सिक विकासके अनुसार वज्रयानमें पहले किया, फिर धर्म, फिर योग और अन्तमें अनुत्तरकी साधनाका विधान बताया गया। आचार्य अवधूतीपाने 'कुदृष्टिनिर्धात-क्रम'में दो प्रकारके साधक बताये है — 'शैक्ष' तथा 'अशैक्ष'। शैक्ष अविकसित मनवाले होते हैं, अतः उन्हे आचारके सभी नियम पालन करने पड़ते है और उनके लिए किया तथा चर्याका विधान है। अशैक्ष विकसित होते हैं और योग तथा अनुत्तरकी साधना करते हैं और उनको आचारगत स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, किन्तु अनुत्तरकी साधना करने-वाले सिद्ध अन्य पद्धतियोंका तिरस्कार नहीं करते थे, वे केवल सहज-स्वभाव धारण करनेपर अधिक बल देते थे। किन्तु यह मानना कि सहजयान वज्रयानसे पृथक कोई सम्प्रदाय था, जिसमें अनुष्ठानों और गुह्य साधनाओंका अमाव था, भ्रान्त धारणा है, क्योंकि इस सन्दर्भमे सहज-का अर्थ ही प्रज्ञोपायात्मक है, अर्थात् सहज वह अदय तत्त्व है, जो प्रशा और उपायके सहगमनसे उद्भृत हो। को इन दोनोंके अद्धय अनुत्तरको सिद्ध कर सामरस्यका अनुभव करता है और महामुखकी प्राप्ति करता है, वह सहज सिद्ध है। अतः सहजयान वज्जयानसे पृथक कोई सम्प्रदाय नहीं था, उसीका एक पद्धति-मात्र था। सम्प्रदायके लिए सहजयान राज्यका प्रयोग किसी पुराने अन्थमे नहीं मिलता। आधुनिक विद्धानोंने सहजकी अल्यधिक महिमा देखकर यह नामकरण कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। समस्त पुरानी उपलब्ध सामग्रीमे सहजयानका प्रयोग केवल एक स्थलपर मिलता है (१४ वी चर्याकी टीकामे)। वहाँ भी वह सम्प्रदायके लिए न प्रयुक्त होकर एक स्पकके अन्तर्गत सहजरूपी नौकाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और वहाँ उसका अर्थ अवधृतिका नामकी नाडी है।

'चक्र-सम्भार-तन्त्र'की भूमिकामे काजी दावा समदुपने वज्रयानके छः प्रमुख मेद बताये हैं — क्रिया-तन्त्र-यान, चर्या-तन्त्र यान, योग-तन्त्र-यान; पुनः इस योग-तन्त्र-यान, इ प्रमेद हैं — महा-योग-तन्त्र-यान, अनुत्तर-योग-तन्त्र-यान, अति-योग-तन्त्र-यान। ये मेद शायद तिब्बती परम्परामें प्रचलित हों। भारतीय परम्परामें पूर्वोक्त क्रिया, चर्या, योग तथा अनुत्तर, इन्हीं चारका प्रचलन था। — ४० वी० भा० वज्रा — दे० 'हठयोग'।

बच्चोली — 'गोरक्ष पद्धति' (पृ० ४०) के विवरण तथा मुरलं-धर शमांकी टीकामें संग्रहीत स्चनाओं के अनुसार योगोक्त नियमोको जाने बिना भी स्वेच्छासे जो वज्रोलीको जानता है और उसका अभ्यास करता है, वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस मुद्राकी साधनाके लिए दो वस्तुओंकी आवश्यकता बतायी गयी है— वश्वितिनी क्ली और सम्मोग-के बाद पीनेके लिए (पर्याप्त) दूध। पुरुप हो या नारी सभी वज्रोली सिद्ध कर सकते है। इसमे सम्भोगके समय श्वरित होनेवाले वीर्यको इन्द्रियके आकुंचनका अभ्यास करके ऊपर खीचनेका आदेश है। इसे योग-भोग, दोनोंका आनन्द देनेवाली कहा गया है, साथ ही इसे मुक्ति देनेवाली भी बताया गया है।

वज़ोलीको एक द्युद्ध योगपरक एवं आध्यात्मिक व्याख्याके रूपमे स्वीकार किया है। 'घेरण्डसंहिता'(३:४०) मे बताया गया है कि दोनो हाथोकी हथेलियोको पृथ्वीपर जमाकर दोनों पैरोंको जपर आकाशमें खडा कर दिया जाय और शिरको भी ऊपर उठाये रखा जाय। इस प्रकार सिद्ध होनेवाली वज्रोणि मुद्रा शक्ति और चिरजीवन देने वाली होती है। यहाँ वज्रोणि मुदाकी जो विधि बतायी गयी है, उसमें और 'गोरक्ष पद्धति'मे विवृत वज़ोलीमें कोई भी साम्य कही दिखाई नहीं पड़ता और ऐसा लगता है, जैसे यह कोई भिन्न मुद्रा है। लेकिन ४२, ४३में कहे गये इसके फलोंसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि वजाणि, वजोली हो है क्योंकि इसमे भी विन्दु-सिद्धिकी बात की गयी है और बताया गया है कि यदि महामोगी व्यक्ति भी इस मुद्राका आचरण करे, तो उसे सभी सिद्धियाँ मिल सकती है। ---रा**०** सि० वटगमनी - वटगमनी मैथिली लोकगीतोंका एक प्रकार है,

व**टगमना** नटगमना मिथला लाकगीताका एक प्रकार है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—पथपर गमन करनेवाली। मिथिलामें मेलो तथा उत्सवोंके अवसरपर प्रामीण स्त्रियोंका समुदाय इसे बढ़े प्रेमके साथ गाता है। वर्षा ऋतमें बागोंमें ञ्च लेपर बैठकर भी वटगमनी गायी जाती है, जिने सुननेके लिए रिसक श्रीनाओकी भीड लग जाती है। कोई-कोई इस गीनको सजनी भी कहते हैं, क्योंकि गीतके प्रत्येक चरणके प्रथम और तृतीय वाक्यखण्डके अन्तमे सजनी शब्दकी पुनरावृत्ति पायी जाती है। वटगमनीके दो भेद होते है-(१) संयोग-सुखान्त और (२) वियोग-दुःखान्त । मैथिली लोक-गीतोके सम्पादक राकेश लिखते है कि वटग-मनीके भावोंकी वन्द्रिश मैथिली है और तर्ज रोमाण्टिक ढाँचेमे ढली है। उसकी कल्पना वैशाख-सन्ध्या-सी शीतल और भाषा मिश्रीकी डलीकी तरह मीठी है। वटगमनीके कुछ गीतोंमें विद्यापतिका नाम पाया जाता है और कुछ तो उनकी पदावलीमे स्थान भी पा चुके है। मानुनाथ, दुखभंजन, मेघदून, फतुरलाल, कर्ण जयानन्द, चतुरानन आदि अनेक मैथिली कवियोंने इन गीतोंकी रचना की है। वटगमनीके गीत शृंगार रससे ओत-प्रोत है, जिन्हें सनकर श्रोनागण मुख हो जाते हैं। —- ऋ० दे० उ०

वधू-दे॰ 'महामुद्रा'। वर्गगीन-दे॰ 'समृहगीन'।

वर्गगीति-दे॰ 'समूहगीन', 'गौतिकाव्य'।

वर्ग-नेतिकता-कार्ल-मावर्सके अनुसार नैतिक मानदण्डों-में न कुछ शाइवत है, न चिरन्तन । अच्छे और ब्रेका मानदण्ड साधारणतया वर्ग-स्वार्थीकी सापेक्षतामे ही किया जाता है। अतः समाजमें जितने वर्ग है, उतने हो प्रकार-की वर्ग-नैतिकता होती है। इस नैतिकताके अनुसार हम उसी कार्यको अच्छा समझते है, जो हमारे वर्ग-स्वाधौंकी पिं करता है। --रा० म० त्रि० वर्ग-युद्ध - वर्ग-संघर्ष (class struggle) जब समाजमे स्पष्ट और साकार रूप धारण करता है तो उसे वर्ग-यद्ध कहते है। इस वर्ग-युद्धके कई रूप होते है। साधारण तौरपर ये हडतालमे प्रारम्भ करते है और इसका अन्तिम स्वरूप विध्वंसात्मक होता है, जिसमे तोड-फोड भी शामिल है। वर्ग-युद्धके अन्तर्गत ही श्रेणी-संघर्ष और वर्ग-वैषम्य आता है, क्योंकि वर्ग-वैषम्यसे ही श्रेणी-संवर्षका जन्म होता है और उसीसे वर्ग-युद्ध प्रारम्भ होता है।—रा० म० त्रि० वर्ग-स्वार्थ-मार्क्षके अनुमार सारा समाज विभिन्न आर्थिक वर्गीमें वॅटा दुआ है। इन विभिन्न आर्थिक वर्गीकी विभिन्न आवश्यकताएँ है। इन्हीं आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप उनके सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक स्वार्थ भी है। अतः वर्ग-स्वार्थ वह धुरी है, जिसके चारो ओर अन्य सामाजिक स्वार्थ चकर काटते हैं। मार्क्मके अनुपार वर्ग-स्वार्थ एक बहुत वड़ी मनोवैज्ञानिक शक्ति है। पूँजीपति और श्रमिक जब कभी समाजके सम्बन्धमे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तो वह अपने वर्ग-स्वार्थकी प्रेरणासे ही प्रेरित होता है। --रा० म० त्रि०

वर्गहीन समाज – मार्क्सके अनुसार जब उत्पादनके साधनींपर समाजका सामूहिक नियन्त्रण होता है, तब समाजमे कोई भी वर्ग नहीं होता। फलस्वरूप उस समाजमे आर्थिक शोषण भी नहीं होता। उसी समाजको वर्गहीन समाज भी कहते हैं। प्राथमिक साम्यवाद, अर्थात् 'प्रिमि-

विव कम्युनिज्म', जिससे मनुष्यका इतिहास प्रारम्भ होता है और कम्युनिज्म, जिसकी रचना पूँजीवादके उपरान्त होगी, वर्गहीन समाजके दो विभिन्न रूप है, जिनमेंसे प्रथम समाज आदिम होनेके कारण कम विकित्तत है और दूसरा यान्त्रिक सम्यताका उत्तराधिकारी होनेके नाते पिछली तमाम आधिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओंकी अपेक्षा अधिक विकित्तत है।

—ए० म० त्रि० वर्ण-नादके तात्त्रिक चिरन्तन रूपको 'अक्षर' और उसके लिखित व्यक्त रूपको 'वर्ण' संज्ञा दी जाती है। व्यवहारमें अक्षर और वर्ण पर्यायकी तरह प्रयुक्त होते है। जैसे वर्ण-गणनापर आधारित वर्णिक छन्द किन्तको घनाक्षरी कहा जाता है, पर लिखित ध्विन समूहको देवनागरीमें—'वर्ण-माला' ही कहते है। वर्णदी प्रकारके माने गये है—'हम्ब'और 'दीर्घ'। छन्दःशास्त्रमे हस्वके लिए 'लघु' और दीर्घके लिए 'गुर' शब्दका प्रयोग होता है।

गर, अर्थात् दीर्घ वर्ण हस्व या लघुकी तुलनामे दुगुनी मात्रा रखना है, ऐसा माना जाता है। मात्रिक छन्दोका विधान इसी मान्यतापर आधारित है। नैज्ञानिक दृष्टिसे लव-गुरुके उचारण-कालका अनुपात क्या होगा, इसपर विचार नहीं हुआ है। अभी यह मान्यता व्यावहारिक अनुमानपर ही अधिक आश्रित है। गुरु वर्णके लिए 'S' चिह्न प्रयुक्त होता है। मात्रिक छन्दोमे मात्रा गणना करते समय किस वर्णको ग्ररु माना जाय, इस सम्बन्धमे प्राचीन विद्वानोने विचार किया है और तत्सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये है। इस विषयमे कालिदासके 'श्रुतबोध' नामक छन्द-अन्यकी यह आयीं विशेष प्रसिद्ध है—"संयुक्ता वं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम् । विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन"। इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार है—(१) संयुक्त अक्षरसे पूर्वके वर्ण गुरु होते है, उन स्थानीं-को छोडकर जहाँ संयुक्ताक्षरका उचारण स्वराधातसे हीन साधारण लघ्च वर्णकी तरह हो, जैसे 'मल्हार', 'कह्यो', 'सुन्यो', 'तुन्हे', 'उन्हें', 'मरचो' आदि शब्दोमें । संयुक्ता-क्षरसे यदि नया शब्द प्रारम्भ हो तो हिन्दीमे उसका प्रभाव कुछ अपवादोंके अतिरिक्त पूर्ववर्ती शब्दके अन्तिम लघु अक्षरपर नहीं पडता, जैसे, 'वह भ्रष्ट'मे 'ह' लघु ही रहेगा। (२) अनुस्वारयुक्त वर्ण गुरु होते है। (३) विमर्गयक्त वर्ण गुरु होते है । (४) चरणके अन्तमे आनेवाला वर्ण भी आवश्यकतानुसार गुरु स्वीकार कर लिया जाता है। (५) दीर्घ मात्राओंसे युक्त सभी वर्ण गुरु माने जाते है, यदि उनका उचारण लघुकी तरह न किया जाय, जैसे 'तोहार', 'कहेउ' आदिमें। वस्तुतः उचारण ही किसी वर्णको गुरु बनानेका मुख्य आधार है।

लघु, अर्थात् हस्व वर्ण मात्रागणनाकी प्रमुख इकाई है। इनके लिए '।' विराम-चिह्न प्रयुक्त होता है। दो लघु वर्ण मिलकर एक गुरुके वरावर माने जाते है। जो वर्ण गुरु नहीं स्वीकार किये जाते, उन्हें भी लघु समझ लिया जाता है। इस सम्बन्धके नियम इस प्रकार है—(१) संयुक्ताक्षर म्वयं लघु होते है। (२) चन्द्रविन्दुने युक्त लघु वर्ण लघु हो होते है। (३) हस्व स्त्पमें उच्चरित गुरु वर्ण भी लघु होते है। (४) हम्य मात्राअंग्वे युक्त सभी वर्ण लघु सी लघु होते है। (४) हम्य मात्राअंग्वे युक्त सभी वर्ण लघु

होते हैं। (५) हलन्त व्यंजन भी लघु मान लिये जाते हैं। केवल संस्कृतमें इनकी गणना नहीं होती है।

वर्णिक गण-वर्णिक वृत्तोंमे गुरु-छयु-क्रमसे वर्णोंकी व्यवस्था एवं गणना करनेके लिए तीन-तीन वर्णोंके आठ स्वतन्त्र समृहोंकी कल्पना की गयी और उन्हें गण कहा गया। विभिन्न गणोंके विभिन्न नाम, देवता, अवतार, फल और शुमाशुम प्रभावको भी परिकल्पित किया गया, जो इस प्रकार है—

नाम वर्णक्रम देवता फल प्रभाव अवतार यगण ISS जल आयु ग्रुभ कच्छप भूमि मगण SSS लक्ष्मी शुभ मत्स्य तगण 122 आकाश श्च्य अश्म वामन अग्नि अशुभ वाराह रगण SIZ दाह 121 सूर्य रोग अशुभ परशुराम जगण भगण SIL चन्द्रमा यश श्रभ रामचन्द्र स्वर्ग नगण Ш सुख श्म कुष्ण IIS विदेश अशुभ नसिंह सराण वाय

प्राचीन परम्परावादों किव, जो शास्त्रविधिसे काव्य-रचना करनेमें विश्वास रखते थे, इस बातके सम्बन्धमे सतर्क रहते थे कि काव्यके आदिमें कही 'अगण', अर्थात् अशुभगण न पड़ जाय, अन्यथा उन्हे उसका अशुभ फल भोगनेकी आशंका रहती थी।

संस्कृतमें गणोंका रूप पहचाननेके लिए यह श्लेक प्रचलित है—"मिलगुरुष्ठिल प्रथ्य नकारो, भादि गुरुः पुनरादिल पुर्यः। जो गुरुमध्यगतो रल मध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तल पुस्तः"। इसके अतिरिक्त एक और सूत्र 'यमा-ताराजभानसलगा' इधरके बहुतसे छन्दमन्थोंमें उपलब्ध होता है, जो अधिक संक्षिप्त एवं सरणसाध्य है।

वर्णिक छंद-केवल वर्ग-गणनाके आधारपर रचे गये छन्द वर्णिक कहलाते है। वृत्तीकी तरह इनमें गुरु-लयुका क्रम निश्चित नहीं होता, केवल वर्णसंख्याका ही निर्धारण रहता है और इनमें चार चरणोका होना भी अनिवार्य नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिसे वर्णिक छन्दोकी परम्परा बैदिक कालतक जाती है। इनके दो भेद माने गये है—(१) साधारण (२) दण्डक । १से २६ वर्णतकके छन्द 'साधारण' और २६से अधिक वर्णवाले छन्द 'दण्डक' होते है। हिन्दीके सुपरिचित छन्द घनाक्षरी (कवित्त), रूपघनाक्षरी और देव-घनाक्षरी दण्डक भेदके अन्तर्गत आते है। 'साधारण'के अन्तर्गत 'अमिताक्षर' छन्दको लिया जा सकता है। वस्तुतः यह घनाक्षरीके एक चरणके उत्तरांशसे निर्मित होता है। इसमें १५ वर्ण होते हैं और ८, ७पर यति रहती है। इन वर्णिक छन्दोमे लघु-गुरुमें अन्तर नहीं माना जाता और उनका व्यवहार समान रूपसे किया जाता है। गति और प्रवाहका निश्रय कविके लयबीधपर आश्रित रहता है। इस सम्बन्धमें कुछ नियम बनानेकी भी चेष्टा की गयी, परन्तु वह व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुई।

वर्णिक चृत्त -वर्णिक छन्दका ही एक क्रमबद्ध, नियोजित एवं व्यवस्थित रूप वर्णिक वृत्त होता है। वृत्त उस सम छन्दको कहते हैं, जिसमें चार समान चरण होते हैं और प्रत्येक चरणमें आनेवाले वर्णीका ग्रह-लधु-क्रम सुनिश्चित रहता है। गणोके विधानसे नियोजित होनेके कारण इसे गणबद या गणात्मक छन्द भी कहा जाता है। संस्कृत साहित्यमे ही विशेष रूपसे वर्णिक वृत्तोंका सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। संस्कृतकी नियमबद प्रकृति ही इनके विकासका मूळ है और उसीसे इनका पूर्ण सामंजस्य सिद्ध होता है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि मुक्त प्रकृतिकी भाषाओंसे इनकी संगति नहीं बैठ सकी। हिन्दीमें संस्कृत वर्णिक वृत्तोंके प्रयोगका सबसे अधिक आग्रह केशव तथा 'हरिऔध'ने दिखाया। सबैया भी वर्णिक वृत्त है, परन्तु गुरुको छन्नु पढ लेनेकी छूटके कारण इसका प्रयोग हिन्दीमें अन्य वर्णवृत्तोकी तुलनामे अधिक मिलता है। शार्दूलविकीडित, मन्दाकान्ता, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, दुत-विलम्बत, वंशस्य, मालिनी इत्यादि ऐसे प्रमुख वर्णिक वृत्त है, जिनके साथ मध्यकालीन संस्कृत काव्यका गौरवपूर्ण इतिहास जुड़ा हुआ है।

द्रश्वाक्षर - जिस प्रकार गणोंके शुभाशुभ प्रभावकी कल्पनाकी गयी, उसी प्रकार अक्षरोको भी शुभ और अशुभ प्रभावसे युक्त माना गया और तदनुसार उनका विभाजन भी किया गया है। क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ड, द, ध, न, य, श, स, क्ष, ये १५ अक्षर शुभ और ड, झ, अ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, प, ह, ये १९ अक्षर अशुभ वर्गमे आते है। इन अशुभ अक्षरोंमेंसे भी झ, ह, र, भ, ष, ये ५ अक्षर विशेष कुप्रभावयुक्त होनेसे दग्धाक्षर कहलाते है। यदि देवतादिके नाममें न आये हों तो छन्दके आदिमें इनका प्रयोग शास्त्रीय दृष्टिसे नितान्त वर्जित है।

वर्णन-दोष-संस्कृत और हिन्दीके आचार्योंने कान्य-दोषका अत्यन्त स्कृम विवेचन किया है। पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रस आदिके अन्तर्गत प्रायः समस्त दोषोंका समावेश कर दिया गया है। ऐसे होते हुए भी आधुनिक कान्यमे नवीन विधाओं तथा स्वच्छन्दता आदिके कारण कुछ प्राचीन गौण दोष अधिक स्पष्ट रूपसे विकसित होने लगे है। किवगण अपनी रचनाओंमे सम्बन्ध-निर्वाहका समुचित ध्यान नही रखते है। उनके विषय-प्रतिपादनमें पदार्थों, घटनाओं और पात्रोंके स्वभाव एवं मानसिक प्रवृत्तियोंके विरुद्ध चित्रणोंकी प्रधानता रहती है। वे शब्दोंके वास्तविक अर्थोंका ध्यान नहीं रखते हैं। साथ ही नये शब्दोंकी विचित्र रचनाएँ की जाने लगी है। शब्दोंके रूपोंको विगाडा जा रहा है। अशुद्ध मुहावरोंका प्रयोग होने लगा है। प्रकृति-विरोधी वर्णन निस्संकोच भावसे होने लगे हैं।

भाषा और विषय-वर्णनके साथ स्वतन्त्रता और स्वच्छ-न्दताके नामपर मनमानी स्वेच्छाचारिताका परिचय दिया जाने लगता है। परिणामतः विषय, भाव, अर्थ और भाषा, सभीका रूप विकृत होने लगा है। आधुनिक विवेचको-(रामदिहन मिश्रः का० द०)ने इन दोषोकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। इन दोषोका इतना विकास हो चुका है कि इनके अस्तित्वको अलगसे स्वीकार करना आवश्यक हो गया है। यह निर्विवाद है कि उक्त श्रुटियोंने सम्बन्धित ये दोष वर्णन-दोषके अन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। कुछ प्रमुख वर्णन-दोषके कन्तर्गत परिगणित किये जाते हैं। कुछ विरोध, ३. स्वभाव-विरोध, ४. भाव-विरोध, ५. अभिधेयार्थ-विरोध।

१ प्रकृति विरोध-यह दोप 'प्रसिद्धिविरुद्ध' अर्थ-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। प्रसिद्धि-विरुद्धका क्षेत्र 'प्रकृति-विरोध'-दोषकी अपेक्षा अधिक विरत्त है। जहाँ प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध वर्णन किया जाता है, वहाँ प्रकृति-विरोध दोप होता है। यथा—"कहूँ केतकी कदली करौदा कुन्द अरु करवीर है। व हूँ दाख दाडिम सेव कटहरू तत अरु जम्भीर है। कितह कदम्ब कदम्ब कह हिताल ताल तमाल है। पीयपमे भीठे फले कितह रसाल रसाल है" (भूपण: शि॰ भू०)। रायगढका वर्णन करते समय भूषणने उक्त पंक्तियोंका प्रयोग किया है। इन्होने देश और कालका ध्यान न रखते हए रायगढमें उन सभी वक्षोका उहेख कर दिया है, जिनका उत्पन्न होना रायगढमें सम्भव नहीं है, अतः यहाँ प्रकृति-विरोध दोप है। अथवा "बिन्द-सारके परम पुण्यसे उपजा स्यामल विटप अशोक । स्निन्ध सवनता पहुंबके नीचे छाया चिर शीतल आलोक" (कणालसे) । पल्लवोंके नीचे अन्यकारके स्थानपर आलोक-का वर्णन करना प्राकृतिक सत्यके विरुद्ध है, अतः उक्त दोष है।

२. अर्थ-विरोध — इस दोषका समाहार 'प्रसिद्ध-विरुद्ध' नामक अर्थ-दोषमे हो जाता है। जहां स्वीकृत अर्थके विरुद्ध वर्णन किया जाता है, वहां अर्थ-विरोध वर्णन-दोष होता है। यथा— "भूलि न जइयो पिथक! तुम तिहि सरिता पथ ओर। तरुनि पदाहत अंकुरित नव असोक उहि ओर"। रक्त अशोकको देखकर विरहानुभवी किसी पिथकको अन्य पिथकसे उक्ति है। कामिनीके पादके आधातसे अशोकका पुष्पित होना ही कवि-सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है, न कि अंकुरोद्गमका होना। अतः यहाँ अप्रसिद्ध वातका उल्लेख है, अर्थात् विरुद्ध-अर्थका वर्णन है। अथवा— "लगे कामनाके पक्षी दल करने मधुमय कलरव। लगी वासनाकी कलिकाएँ विद्याने मधु वैभव"। कलिका पुष्पकी अविकसित अवस्था होती है। यहाँ कलिका द्वारा 'सुगन्ध' और 'मधु'की वर्षा करनेका वर्णन लोकप्रसिद्ध, स्वीकृत अर्थ एवं वास्तविकताके विरुद्ध है, अतः यहाँ अर्थ-विरोध वर्णन दोष है।

३. स्वभाव-विरोध—इस दोषका समन्वय, एक सीमा तक, प्रसिद्धि-त्याग (प्रसिद्धिहत) नामक दाब्द-दोषके अन्तर्गत हो जाता है। स्वभाव-विरोध दोषसे अभिप्राय है, ऐसा कथन करनेसे, जो वर्ण्य विषयके स्वभावके विरुद्ध किया गया हो—"पता नही था संगरमे फिर पलक भॉजते धमक गया। वार किया, संहार किया, छिप गया अचानक चमक गया" अथवा—"फोड-फाडकर कुम्भस्थल, मदमस्त गजोंको मर्दन कर। दौड़ा, सिमटा, जम्मा, उडा, पहुँचा दुश्मनकी गर्दनपर"। उक्त दोनों छन्द 'हर्ल्यायाटी' कान्यसे लिये गये है। महाराणा प्रतापके घोड़े 'चेतक'का वर्णन है। इस चित्रणमे स्वभाव-विरोधका आभास मिलता है। अतएव स्वभाव-विरोध वर्णन-दोष है।

४. भाव-विरोध—इस दोषका आंशिक भाग, अप्रत्य-क्षरूपसे प्रकृति-विपर्वय रस-दोषके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। जहाँ विणित विषय या भावके विरुद्ध कोई चित्रण किया जाता है, वहाँ भाव-विरोध दोप होता है। "आँखोंमें था वन अन्धकार पदतल विखरे थे अग्निखण्ड। वह चलती थी अंगारोपर लेकरके जलते प्राणिएड" (कुणालसे)। यहाँ 'ऑखों'मे वना अन्धकार छाया होनेपर चलना असम्भव था। यह वर्णन सम्बन्धिन पात्रकी मानसिक दशाके विपरीत वर्णित है। कुणालसे तिरस्कृत होनेपर तिष्यरक्षिताके मनमे बदला लेनेकी भावना कार्य कर रही थी। ऐसी दशामे उक्त वर्णन भाव-विरोध-वर्णनसे द्वित हैं।

प. अभिधेयार्थं-विरोध—साक्षात् संकेतित अर्थका बोध करानेवाली मुख्य किया (न्यापार)को अभिधा कहते हैं। इस प्रकार जिस अर्थका बोध होता है, उसे अभिधेयार्थ कहते हैं। जहाँ राज्य अपने अभिधेयार्थमें प्रयुक्त नहीं होता है, वहाँ अभिधेयार्थ-विरोध वर्णन दोष माना जाता है। प्राचीन समयसे ही इस प्रकारकी ब्रुटियाँ किव करते आये हैं। इसील्डिए अनुचितार्थ-राज्य-दोषका आविर्माव हुआ। अतः एक प्रकारसे अभिधेयार्थ-विरोध-दोषका समन्वय अनुचितार्थ-राज्य-दोषमें हो जाता है। सच्छन्दतावादी आधुनिक युगमें यह प्रवृत्ति अधिक बढ गयी है। यह दोष (क) राज्यार्थपरिवर्तन, (ख) शब्दोके अंग-भंग, (ग) मुहाबरोका अशुद्ध प्रयोग, (घ) अंग्रेजी आदिसे दोषपूर्ण अनुवाद आदि सभी प्रकारके साहत्यमें हिष्टगोचर हो रहा है।

(क) शब्दार्थ-परिवर्तन-दोप—अजान और अनजान अपने मूल अर्थमे अज्ञात और अज्ञानोके लिए प्रयुक्त होते है, किन्तु अंग्रेजीके 'इन्नोसेण्ट' राब्दके अर्थमें मोलापन, निर्मल आदिके लिए पनत द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं। यथा—"स्र सिन्धु! तुलसीके मानस! मीराके उल्लास अजान" अथवा—"धूलकी ढेरीमे अनजान। छिपे हे मेरे मधुमय गान"। (ख) शब्दोंके अंग-भंग और नवीन अर्थकी उद्भावना—'मनोज' शब्द रूढ़ है, जिसका अर्थ कामदेव ही है, परन्तु पन्तने 'मन'से (शरीरसे विभिन्नता दिखानेके लिए) उत्पन्न, ब्युत्पत्ति अर्थमें ही उसका प्रयोग किया है—"तुम आत्माके मनके मनोज" (बापूके प्रति)। 'अछूत' शब्दका मी ऐसा ही प्रयोग किया गया है—"छू अमृत स्पर्शते हे अछूत"।

पन्तने कुछ ऐसे शब्दोका निर्माण किया है, जो अर्थ-बोधमे बाधा डालते है। (अ) 'पावसके उड़ते फणिधर' (बादल), (आ) 'तमके सन्दरतम रहस्य' (तारे), (इ) 'इन्द्र-जाल जननी' (रात्रि), (ई) 'स्वर्गके अमदत' (देवता), (उ) कुसुमित सुभग सिंगार' (हरसिंगार) । इन प्रयोगींसे अर्थ-बोधमे कठिनता उत्पन्न हो जाती है। पन्तने अंग्रेजीके ढाँचेमें ढालकर कुछ नये शब्द गढ़े है-यथा स्विप्तल, अनिर्वच आदि । (ग) अंग्रेजीसे अनुवादित शब्दावली और महावरे-(अ)"हे विधि ! फिर अनुवादित कर दो"। यहाँ अनुवादित 'ट्रांसलेटेड'का अनुवाद है। पन्तने 'गोल्डेन टच' और 'सिलवरी'से 'सनइले स्पर्श' और 'रूपहरे' शब्दोका निर्माण किया है। इस प्रकार बनाये हुए इनके शब्द हिन्दी भाषामे खप नहीं पाते। पन्तके अतिरिक्त 'निराला' आदि आधुनिक कवियोंकी रचनाओमें भी इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साहित्यकार अभिधेयार्थ आदि

दोषोकी ओर उचित ध्यान नहीं देते हैं। परन्तु साथ ही इनके द्वारा निर्मित सैकडों शब्द और वाक्यांश नवीन शक्ति तथा अभिव्यक्तिके वाहक भी है, जिनमें हिन्दी भाषा-की व्यंजकता अधिकाधिक वढी है। -- टी० सिं० तो० वर्णविन्यासवऋता-(वर्ण= व्यंजन+ विन्यास= वैश्च - वकतावैचित्र्य)। काव्य अथवा कविकर्मकी सबने पहली पहचान वर्णीकी विन्यास-विचित्रता है, जिसे 'वर्ण-विन्यासवकता' कहा गया है। वर्णोके विचित्र विन्यासमे कुशल कवि अपनी रचनामे चित्र और संगीतकी विशे-षताओका आधान किया करता है। काव्यके लिए वर्णसन्नि-वेश्ववैचित्र्य आवश्यक माना गया है, क्योंकि वर्णोंके 'ललिन' और 'परुष' स्वभावका सम्बन्ध रसास्वादले हैं। रसास्वादमे सहदयका चित्र या तो पिघल पड़ता है या प्रज्वलित हो उठता है। चित्तके पिघलने (द्रति) और प्रज्वलित होने (दीप्ति)मे वर्णीके 'लालित्य' और 'पारुप्य'का बहुत बडा हाथ रहा करता है। इसीलिए वर्णोंके सन्निवेश-वैचिन्यको सबसे पहला 'कविदर्भ' कहा गया है। वर्णीके विन्यास-वैचित्र्य (वर्णविन्यासवक्रता)के कई प्रकार काव्य-साहित्यमे दिखाई देते है, जिनमें पहला वह है, जिसमें कुछ थोडे व्यवधानके साथ एक या दो या अनेक व्यजनोका सिन्नवेश-सौन्दर्थ प्रतीत हुआ करता है--"एको ही बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः। स्वल्पान्तरास्त्रिधा प्रोक्ता वर्णविन्यासवक्रता" (व० जी०, २:१)। जैसे कि तुलसीदासकी यह स्कि, अर्थात् ''फूलत फलत पछवित पल्लहत बिटप बेलि अभिमत सुखदायी। सरित सरिन सर-सीरुह संकुळ सदन सॅवारि रमा जनु छायी" (गीतावली)। यहाँ 'फ', 'प' 'व' और 'स' की, थोड़े-थोड़े व्यवधानके साथ, जो सन्निवेश-शोभा है, उससे चित्रकृटकी सन्निवेश-शोभाका चित्र खिंच जाता है।

वर्णविन्यासवकताका दूसरा प्रकार वह है, जो कि अनुनात्क वर्णों संयुक्त 'व' से 'म' पर्यन्तके वर्ण, परस्पर संयुक्त 'त', 'छ', 'न' आदि तथा रेफ-संयुक्त अवशिष्ट व्यंजनोंके औचित्यपूर्ण सिन्नवेशका सौन्दर्य है। संस्कृत किवता इस वर्णविन्यासवकतासे भरपूर है। हिन्दीके प्राचीन किव इस प्रकारके विचित्र वर्णविन्याससे अपने वर्णनीय विषयको प्रभावशाली बनाते रहे है। उदाहरणके लिए, तुल्सीदासकी यह स्कि—''तुल्सी मनरंत्रन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से'' (किवतावली)। यहाँ अनुनासिक-(अनुस्वार या अ)से संयुक्त 'ज'की ध्वनि-माधुरीसे वर्णनीय विषयका माधुर्य निखर उठता है।

वर्णविन्यासवक्रताका तीसरा प्रकार वह है, जहाँ बिना व्यवधानके भी, एक यो दोंया अनेक व्यंजनोका विन्यास-वैशिष्ट्य हृदयावर्जक लगा करता है। स्वरोका व्यवधान कोई व्यवधान नहीं माना जाता—"क्षचिदव्यवधानेऽिष मनोहारिनिवन्यना" (व० जी०, २:३)। जैसे कि यह पंक्ति—'एक ही लोल लहरके छोर' (सुमित्रानन्दन पन्तः परिवर्तन)मे 'ल'का अव्यवहित (विना किसी अन्य वर्णके बीचमें पड़े) विन्यास, अर्थ-पर्यालोचनके विना भी, चंचलताने अभिप्रायका अभिव्यंजक हो रहा है।

यही वर्णविन्यासवक्रता एक या दो या अनेक व्यंजनोंके

ऐसे औचित्यपूर्ण सन्निवेश-वैचित्र्यमे भी रहा करती है, जहाँ स्वरोक्ता वैसाह्य वाषक नहीं माना जाया करता—"सा रवराणामसारूप्यात परां पुष्णानि वक्रताम्" (य० जी०, २:३)। जैसे कि—"मोर मुकुट किट काछनी, कर सुरली उर माल" (विहारी)में, 'क' और 'ट'का विचित्र सिविवेश यहाँके विषय-वैचित्र्यके लिए अत्यन्त उचिन प्रतीत हो रहा है।

वर्णविन्यासवकताले कैंथे प्रकारमे एक या दो या अनेक व्यंजनोकी व्यविहित या अव्यविहित आवृत्तिसे 'यमक'की झॉकी झलका करती हैं, जैसे कि—"धिर धीर कहें चलु देखिए जाइ जहां सजनी रजनी रिहहै" (कवितावली)में 'जनी जनी'का मनोहर यमकाभास इस वाक्यकी मुक्ता-वलीमे मणिकी भॉति रमणीय लग रहा है।

वर्णविन्यासवक्रताका पाँचवाँ प्रकार वह है, जहाँ ऐसा लगता है जैसे एक सुकुमार वर्णको अनायास आवृत्त (दुहरा) कर छोड दिया गया और दूसरे सुकुमार वर्णकी आवृत्ति स्तयं चल पड़ी—"नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यीद्मरुभृषिता । पूर्वपृत्तापियानगुरनार्वानेष्ठरुनाः (व॰ जी॰, २:४)। यह वर्णविन्यासवक्रता उस कविकी कला नहीं, जो वृत्यनुप्रासमे सिद्धहस्त हुआ करता है, यह तो उस कविके वशमे रहा करती है, जो रसभाव-समाहित हुआ करता है। 'सुकुमार', 'विचित्र' और 'मध्यम' तीनो मार्गीके अनुयायी कवि माध्य, ओज और प्रसार गुणोके अभिन्यंजन वर्णविन्याससे इस वर्णविन्यासवक्रताको रंग-विरंगकी बना दिया करते है। इस प्रकारकी वर्णविन्यास-वक्रताके ही आधारपर काव्यकी उपनागरिका, परुपा और कोमला वृत्तियोंकी कल्पना की गयी है। उदाहरणके लिए, स्रदासकी यह मधुर सक्ति—''देखो माई सुन्दरताको नागर। बुधि बिवेक वल पार न पावत मगन होत मन सागर । तनु अति स्याम अगाध अम्युनिधि कटि पट पीत तरंग। चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भवर परत ॲग-अंग। मीन मैन मकराकृत कुण्डल भुजबल सुभग भुजंग। मुकुट माल मिलि मानो सुरसरि है सरिता लिये संग"। यहाँ एक व्यंजनकी तान कानमे पहुँची नहीं कि दूसरे वर्णका सुन्दर आलाप छिड़ जाता है और 'सुन्दरताके सागर' (बालकृष्ण)का ध्वनि-चित्र सहृदय काव्य-पाठकके हृदयपर अंकित हो उठता है।

वर्णविन्यासवक्रतावा छठा प्रकार वह है, जो कि आदि या मध्य या अन्त या अन्य किमी नियत स्थानपर, एक या दो या अनेक सहश श्रुतिवाले ऐसे वर्णोंके व्यवहित या अव्यवहित उपनिवन्थमे दिखाई दिया करता है, जिनका अर्थ मिन्न-भिन्न हुआ करता है और जो श्रुतिरंजक होनेके साथ-साथ मनोरंजक तथा वर्ण्य विषयके औचित्यसे पूर्ण रहा करते हैं—''समानवर्णमन्यार्थ प्रसादि श्रुतिपेजलम्। औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्।। यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिह्रयते'' (व० जी०, २: ६, ७)। इस वर्णविन्यासवक्रतासे यमक अलंकारका निर्माण हुआ करता है। जबतक यमक वर्णविन्यासवक्रताके रूपमे रहा करता है तबतक तो वह कुंकुमके अंगरागकी मॉित कविता-के शरीर-सौन्दर्यमे घुला-मिला प्रतीत होता है, किन्तु जब वर्णविन्यासवकता यमक बन जाती है और कविका यमक-प्रेम एक व्यसन बन जाता है तब यह स्वाभाविक है कि किवताकी सुकुमारता यमक-भारसे कुम्हला जाय। रस-समाहित किवयोके 'यमक'से वर्णविन्यासवकताकी छटा छिटका करती है। उदाहरणके लिए, भूषणकी इस स्कि— 'थारापर पारा पारावार यों हलत है'मे जो सुन्दर बन्थ है, उसमें वर्णविन्यासवकताका यही प्रकार दिखाई दे रहा है। संस्कृतके किवयोमें कालिदासके यमक-बन्ध(रघुवंदा: बसन्त-वर्णन) उनकी उपमाकी भाँति अनुपम है। —स० व० सिं०

वर्णिक गण-दे॰ 'वर्ण'।

वर्णिक वृत्त - दे० 'वर्ण'।

वर्तिष्यमाणसुरतगोपना-दे॰ 'गुप्ता', (नायिका) ।

वल्लभ-संप्रदाय-दे॰ 'पुष्टिमार्ग'।

वसंतिलका—वर्णिक छन्दोमं समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यशाख' (१६:१७) और 'पिंगलस्त्र' (७:८)के लक्षणके अनुसार तगण, भगण, २ जगण और २ गुरुके
योगसे यह वृत्त बनता है (ऽऽ।, ऽ॥, ।ऽ।, ।ऽ।, ऽऽ) ।
तुल्सी, केशव (रा० चं०, ९:६), 'हरिजीध' (प्रि० प्र०,
सर्ग ५, ९, १२, १४, १५, १६), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, पृ० २४, २७) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ सर्ग २,
७, १२)ने इसका प्रयोग किया है। उदा०—''सारंगने,
सुमनने नभने, पिकीने पुष्पीधमें, पवनमे, महिमे, हियेमे ।
गुंजारसे, सुरभिसे, छिवसे, स्वरोसे । उद्भ्रान्ति, क्रान्ति,
शुचिता, मृदुता प्रचारी'' (सिद्धार्थ, पृ० २०) । इस छन्दका काश्यपक मतसे सिंहोन्नता, और सैतवके मतसे उद्धिणी
(पिं० सु०, ७:९, १०) नाम है। —पु० शु०
वस्तु—दे० 'कथावस्तु'।

वस्तुनिष्ठ (काट्य) - अंग्रेजीके 'ऑब्जेक्टिय'के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द । हिन्दीमे इसके लिए अन्य अनेक पारिभाषिक शब्दोका चलन है, जैसे बाह्यार्थ-निरूपक (शुक्ल), बाह्यार्थमूलक, बाह्यार्थमूलक, बाह्यार्थमूलक, बाह्यार्थमूलक, विषयप्रधान, विषयपरक, वैषयिक, निर्वेयक्तिक और बाह्यवादी ।

गीतिमूलक रचनाओं के आत्यन्तिक स्वात्मनिष्ठ दृष्टिकोण-के आधारपर आधुनिक कालमे साहित्यको स्वात्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ—दो वगों में बॉटा जाता है। वस्तुनिष्ठ साहित्यकी यह विशेषता है कि उसमे रचियता यथासाध्य पूर्णतया तटस्य रहकर रचना करता है, अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषसे उसे प्रभावित नहीं होने देता। महाकाव्य, नाटक, उप-न्यास आदि गम्भीर साहित्य-रूप अपनी वस्तुनिष्ठतामे ही महान होते है।

परन्तु वस्तुनिष्ठता और स्वात्मनिष्ठताके दृष्टिकोण सापेक्षी होते है। वस्तुतः न तो कोई रचना पूर्ण रूपमे निर्वेयक्तिक हो सकती है और न पूर्ण रूपमे विषयनिरपेक्ष । वस्तुनिष्ठ रचनाओ — नाटक, महाकान्य, उपन्यास आदिमे भी लेखक किसी न-किसी रूपमे अपने न्यक्तित्वका उद्धाटन कर ही देता है। अन्तर केवल मात्रा और प्रकारका है। वस्तुनिष्ठ रचनाओं में लेखकका आत्माभिन्यंजन प्रत्यक्ष नहीं होता, वह किसी मिन्न माध्यमसे प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही

उसकी सघनता और तीव्रता कहीं कम होती है। इस कारण वस्तुनिष्ठ रचनाएँ उतनी संवेगात्मक और भाव-प्रधान नहीं होती: वर्ण्य विषयसे वे असम्प्रक्त नहीं हो सकतीं।

प्राचीनोके निकट वस्तुनिष्ठता और निर्वेयिक्तता साहित्यका प्ररम आदरणीय गुण था। इसीके द्वारा वे महान्
साहित्यकी रचना सम्भव मानते थे। परन्तु आधुनिक
कालमे व्यक्तित्वका प्रकाशन साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता हो गयी है। अतः प्रत्येक रचनामे, चाहे वह रूपतः
वस्तुनिष्ठ ही हो, लेखककी वैयक्तिक विशेषताओके आकरुन
और विश्लेषण-विवेचनकी चेष्टा की जातो है। इस प्रकार
वस्तुनिष्ठ साहित्यका एक वर्ग होनेके साथ-साथ वस्तुनिष्ठता
एक गुण य। विशेषता भी है (दे॰ 'स्वात्मनिष्ठ साहित्यरूप')।
—व्र॰ व॰

वस्तुपरक (कान्य) - दे॰ 'वस्तुनिष्ठ' (कान्य) । वस्तुप्रधान (कान्य) - दे॰ 'वस्तुनिष्ठ' (कान्य) । वस्तुमूलक (कान्य) - दे॰ 'वस्तुनिष्ठ' (कान्य) । वस्तुरूपक - दे॰ 'रेडियो रूपक' । वस्तुवकता - दे॰ 'वाक्य-वक्रता' । वस्तुविक्यास - दे॰ 'कथानक', 'उपन्यास', 'कहानी' ।

वस्तु-सत्य-वस्तु-सत्य याह्य यथार्थका एक रूप है-विशेष-कर ऐसा रूप, जिसमे वस्त-विशेष और व्यक्ति-विशेषके रागात्मक सम्बन्धकी सम्भावनाएँ पूर्ण रूपसे एक-दूसरेको प्रभावित नहीं करती अथवा जिनका रागात्मक सम्बन्ध पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हो पाया है। सौन्दर्यशास्त्र और कलाशास्त्रकी दृष्टिने वस्तु-सत्यकी स्थितिके विषयमे मतभेद होते हुए भी यह तो मानना पड़ेगा कि वस्तु-सत्यका वास्त-विक रूप वह यथार्थ है, जो आत्म-सत्यके अतिरिक्त भी व्याप्त है, प्रस्तुत है, किन्तु जो चेतन शक्ति द्वारा गृहीत होकर अनुभृतिके स्तरपर हमारे भाव, विचार, आदर्श और नैतिकता, सबको प्रभावित कर सकता है। वस्तु-सत्यका परिवेश और उसका विस्तार हमे प्रतिक्षण यथार्थका बोध कराता है। कलामें वस्त-सत्य काल्पनिक सत्यकी मर्यादित एवं अनुप्राणित करनेके साथ-साथ उसे सार्थकता भी प्रदान करता है। —ক কা ব ব ০

वस्तूत्प्रेक्षा-दे॰ 'उत्प्रेक्षा', पहला भेद । वस्त्वंतरवेचिञ्यवक्रता-दे॰ 'प्रकरणवक्रता', सातवॉ नियामक।

वहिरंग साधन—'पातंजल योगस्त्र' (१,२)मे चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा गया है। साध्यकार व्यासने योगका अर्थ 'समाधि' बताया है। इस योग या समाधिका लक्ष्य है कैवव्य प्राप्ति। योग या समाधि इसी कैवव्य प्राप्तिका साधन है। समाधिकी अवस्थातक पहुँचनेके लिए कई साधनोंका उपयोग आवश्यक है। स्त्रकारने कुल आठ साधनोंका उखेख किया है और इन्हे दो वर्गोंमे बाँटकर समझाया है—(१) वहिरंग साधन और (२) अन्तरंग साधन। अन्तरंग साधनोंको 'सयम' कहा गया है और धारणा, ध्यान तथा समाधिको इनमे परिगणित किया गया है (३० 'संयम')। वहिरंग साधनोंमे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार नामक पाँच साधनोंकी गणना की जाती है। 'यम' वाह्याभ्यंतर इन्द्रियोके संयमन (वित्तिसंकोचन)-

का नाम है। यमोंकी संख्या पाँच बतायी गयी है-अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (िसीने कह न लेना)। यमोके ठीक विरोधी वितर्क है। वितर्क भी पाँच है-हिसा, असत्य, स्त्येय, वीर्यक्षय और परिग्रह । यमोंकी उपलब्धि और वितकोंके नाशके लिए पाँच प्रकारके नियमोंका विधान है। ये नियम है-शौच, सन्तोष, तप, स्टाध्याय और ईश्वर प्रणिधान । समाधिकी सिद्धिके लिए तीसरे वहिरंग साधनका नाम आसन है। हाथ पैरका विशेष रीतिसे सन्निवेश ही आसन है। परवर्ती योग प्रन्थोंमें अनेक कष्टसाध्य आसनोका विधान मिलता है। पतंजिलने स्थिर और सखकर आसनोको ही योग साधनाका उत्तम उपाय कहा है—'स्थिर सखमासनम' (यो०स०, २:४६)। चौथा वहिरग साधन प्राणायाम है। ये तीन वताये गये है। सॉसको एक नासारन्ध्रसे धीरे-धीरे खीचकर भीतर भरना प्रक प्राणायाम कहलाता है। खीचे गये सॉसको यथाशक्ति तबतक भीतर रोके रखना जबतक सम्भव हो, कंभक प्राणायाम कहा जाता है और इस रोबी गयी सॉसको धीरे-धीरे नाकके रास्तेसे वाहर निकालना रेचक प्राणायाम कहा जाता है। वहिरंग साधनोमें अन्तिम प्रत्याहार है। प्रत्याहारका अर्थ है हटाना, दूर करना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि विषयोके प्रति हमारी इन्द्रियोकी सहज प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति स्थिरताकी विरोधिनी है। अतः कान, ऑख आदि इन्द्रियोको तत्तत् विषयोसे परावृत करके अन्तर्भुख करनेको ही योगमें प्रत्याहार मंज्ञा दी गयी है। इस प्रकार इन्द्रियाँ वरामें रहती है, क्योंकि वाह्य विषयोसे सम्बन्ध टट जानेके कारण वे चित्तका पूर्णरूपेण अनुसरण करती है। इसी स्थितिको प्राप्त होने पर धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरंग साधनोंको क्रमशः स्वायत्त और आचारित करनेकी शक्ति आती है। ये ही पाँच वहिरंग और तीन अन्तरंग साधन अष्टांग योग कहे जाते हैं।-रा०दे०सि० वाक्यगत लक्षणा-विश्वनाथके अनुसार सम्पूर्ण लक्षणाके भेदोपभेद पदगत तथा वाक्यगत होते है (सा० द०, २: १२)। जहाँ वाक्यके अन्तर्गत अनेक पदोके समूहमें लक्ष्यार्थ हो, वहाँ वाक्यगत लक्षणा मानी जाती है। उदा० — 'कीन्ह कैकेयी सबकर काज्' में लक्ष्यार्थ सम्पूर्ण वाक्यपर आधारित है, किसी एक पदपर नहीं।

वाक्यवक्रता— (वाक्य = परस्पर अन्वित पदसमुदाय — वक्रता = वैचित्र्य) 'वाक्यवक्रता' किसी पद अथवा पदांश-की शोभा नहीं, अपितु पदादि समुदायकी संविल्त शोभा है, जिसके अनन्त रूप है। वाक्यवक्रताके प्रकारोकी गणना असम्भव हैं, क्योंकि इसके मूलमे पडी किव-प्रतिभाके वैचित्र्य अगण्य है। वाक्यवक्रतामे समस्त अलंकार-वर्ग अन्तर्भृत हो जाते है। वाक्यवक्रताके रहस्थके जान लेनेपर उपमादि अलंकारोंका रहस्य स्वयं स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि सभी अलंकार इसीके विविध हाव-भावसे प्रतीत होते है।

वाक्रयवक्रता वस्तुतः कविका निर्माण-कौशल है, जो कान्यके सभी उपकरणों और प्रसाधनोंसे परे एक अतिरिक्त कान्य-सौन्दर्य है। जैसे चित्रकी मनोहरता फलक, रेखा और रंगकारीमें नहीं, अपितु चित्रकारकी चित्रण-कुशल्तामे रहा करती है, वैसे ही काव्यकी हृदयहारिता शब्द, अर्थ, गुण और अलंकारमें नहीं, अपित कविकी निर्माण-कश्लता-मे रहा करती है। क्या वस्तु-स्वभाव-वर्णन, क्या रस-भाव-समन्मीलन और क्या अलंकार-वैचित्र्य-विन्यास, सर्वन्र जो भी मनोहारिता है, वह सब वाक्यवक्रना अथवा कवि-कौशलको ही महिमा है-"मार्गस्यवक्रशब्दार्थगुणालंकार-सम्पदः । अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितिजीवितस्। मनोज्ञफलकोल्ळेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् । चित्रस्थेव मनो-हारि कर्तुः किमपि कौशलम्" (व० जी०, ३: ३, ४)। अर्थात सकमार, विचित्र और मध्यम, तीनों कवि-मार्गोंकी जो भी शब्द-शोभा, अर्थ-शोभा और गुण-महिमा तथा अलंकार-सम्पत्ति है, उन सबसे भिन्न कविकी निर्माण-कुश्रुलता अथवा 'वाक्यवकता' है। जैसे चित्रकी मनोहर शोभा चित्रकारके चित्रणमे रहा करती है, जो कि चित्रकी आत्मा है, वैसे ही कान्यकी रमणीयता-सम्पत्ति कविकी वर्णनामें रहा करती है, जो कि कान्यकी आत्मा है।

भाव-स्वभाव-वर्णनमे वाक्यवक्रताकी रूपरेखा इस सक्ति-मे देखिये—"अंतमें भर, तुम्हे, किसी दीपशिखाने शलभ, वया सनाया "-यहाँ यद्यपि कविने खहृदय-संवेद्य वस्तु-स्वभावका ही वर्णन किया है, किन्तु एक नवीन उच्लेख-के कारण 'दीपशिखा' और 'शलभ'के अतिपरिचित और सर्वपरिचित व्यक्तित्वमे एक ऐसी नवीनता छा जाती है, जिसका विश्लेषण यहाँके मधर और प्रसन्न अभिजान पदों और अर्थों के विश्लेपणमें नहीं, अपितु इन कान्योपकरणों और इनकी शोभाओकी जननी कवि-प्रतिभाके विश्लेषणमे ही सम्भव है। यहाँ जो वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्य है, वह इतना सुकुमार है कि रूपक प्रभृति अलंकारोंका भार संभालनेमे अममर्थ-सा लग रहा है। इस स्क्तिकी मनोहारिता कविकी निर्माण-कुशलता (वान्यवकता) मे है, जो कविके उस सुकुमार स्वभावकी ओर सकेत करती है जो वस्तुओको भावनाकी अगुलियोंसे छना चाहता है, जिसमें उनका स्वभाव-सौक-मार्थ अक्षण्ण बना रहे।

भाव-स्वभाव-वर्णनमे विचित्र रवभावके कविकी वाक्य-वकता एक दूसरे रूपकी ही हुआ करती हैं। जैसे कि इस स्क्ति अर्थात्—''रुधिरके हैं जगतीके प्रात, चितानलके में सायंकाल; श्रूच्य-निःश्वासोके आकाश, ऑसुओके ये सिन्धु विशाल; यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु, अरे, जग हैं जगका कंकाल'' (सु० न० पं०)मे, जो वाक्यवक्रता है वह एक अमूर्त वस्तुदो—क्योंकि यहाँका वर्ण्य विषय 'परिवर्तन' एक अमूर्त बस्तु है—मूर्त रूपमे प्रतिष्ठित कर रही हैं और इस मूर्त रूपके उस भीषण सौन्दर्यको चित्रकारी कर रही है, जिसमे उत्प्रेक्षाकी रंगकारी देखते ही बनती है। यहाँकी वाक्यवक्रतासे कविके विचित्र स्वभावकी वह झाँकी दिखाया दे जाती है, जिसमे कविकी प्रौढ कल्पना वस्तु और अवस्तु का मेद भुलाये अपनी विचित्र सृष्टिमें निरत पड़ी है।

रस-भाव-समुन्मीलनमें वाक्यवक्रता एक विशेषता उत्पन्न किया करती है। उदाहरणके लिए, स्रदासकी इस स्कि"कहाँ लौ बरनौ सुन्दरताई। खेलत कुँवर कनक आँगनमें नैन निरिष्य छिब छायी। कुलहि लसत सिर स्थाम सुभग अ्ति बहुविधि सुरॅग बनायी। मानों नव घन ऊपर राजत

मवना थनुण चटायी। अति मुदेश मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख नगरायी। मानी प्रगट नंजपर मंजुल अलि अवली थिरि आयी", आदिमें, जो नाक्यनकता है, जिसमें, बालकृष्णकी मधुर-गूर्तिके चिन्तनमें काव्यात्मक उत्प्रेक्षाओं की जननी किपि-प्रतिमा तन्मय और तत्पर हो रही है, उसीकी महिमासे वात्सल्यका आनन्द-विस्मय सहदय-हृदय-की स्निग्थ बना रहा है।

वैसे तो रसभाव-समुन्मेष अथवा भाव-खभाव-वर्णनमं सर्वत्र कवि-कौशल ही प्राणरूपसे संचरित हुआ करना है, किन्तु अलकार-योजना तो एकमात्र किन-कौशलकी ही देन है। विना वाक्यवक्रता अथवा कवि-कौशलके अलंकारोकी सुन्दरना और विचित्रता असम्भव ही है।

वाक्यवकताकी मूल शक्ति तो कवि-प्रतिभा है ही, किन्तु वस्तुवक्रता इस मूल शक्तिके स्फुरणका एक निमित्त अवश्य है। वस्तुवक्रताके दो रूप है। पहली वस्तुवक्रता वह है, जिसमे किव जिस वस्तुका वर्णन करता है, उसके अत्यन्त रमणीय स्वभाव-सौकुमार्यका सर्वतोभद्र उन्मीलन किया करता है। वस्तु-स्वभावको सौकुमार्यको अक्षुण्ण रखनेके लिए वह ऐसे शब्दो और ऐसे अधींका गुम्फन करता है, जो यथावसर वस्तु-सौन्दर्यका प्रतिपादन या अभिन्यजन करनेमे समर्थ हुआ करते है। वस्तु-स्वभावके सौकुमार्यका दर्शन चर्म-चक्षुओसे नहीं, अपितु भावना-दृष्टिसे ही सम्भव है। इस प्रकारकी वस्तुवक्रताका निदान कविकी वह स्वातन्त्र्यशक्ति है, जो प्रसंगके औचित्यसे या तो वरतुओके स्वाभाविक सौन्दर्यकी साम्राज्य-रचना करना चाहती है या वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्यकी साम्राज्य-रचना करना चाहती है या वस्तु-स्वभाव-सौन्दर्यकी उर्वरा भूमिपर रस-भावकी अमृत-वर्षामे आनन्द लेती है।

दूसरी वस्तुवक्रता पहली वस्तुवक्रतासे भिन्न प्रकारकी है। पहली वस्तुवक्रताको यदि **सहजा** अथवा **अनाहार्या** (स्वाभाविक) वस्तुवक्रता यह सकते हैं, तो दूसरी वस्तुवक्रता-को आहार्य (कविकौशल-निवर्तिता) वस्तुवक्रता कहा जा सकता है। कुन्तकने स्पष्ट कहा है—"अपरा सहजाहार्थ-कविकौशलशालिनी । निर्मितिर्नृ ननो छेख छो का तिकान्त-गोचरा" (व॰ जी॰, ३:२), अर्थात् पहली वस्तुवक्रता , (भाव-स्वभावकी स्वाभायिक महिमा)के अतिरिक्त दूसरी 'वस्तुवक्रता वह है, जो शक्ति-व्युत्पत्ति और अभ्यासके परि-पाकसे प्रौढ कवि-कौशलकी लोक-विलक्षण नवीन वस्तुसृष्टि है। तभी तो कहा गया है- "अपारे कान्यससारे कविरेव प्रजापतिः । यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते", अर्थात् काव्यके संसारका विधाना कवि है। कभी वह अपने काव्य-संसारमें सुन्दर स्वभाव-युक्त लोक-वस्तुओंका प्रतिरूप रचा करता है और वभी अपने काव्य-ससारको सर्वथा अलौकिक वस्तुओंके समुहेखमे सुन्दर बनाया व.रता है। इस दूमरे प्रकारकी वस्तुवक्रतामें अर्थालंकारोदो समस्त दैचिन्य और सौन्दर्यकी रूप-रचना अन्तर्भृत है।

वस्तुवक्रताका उपर्युक्त है विध्य निर्मूल नहीं । वस्तुतः पदार्थस्वरूप ही द्विविध है । प्रथम पदार्थस्वरूपमे टोकवर्ती समस्त चेतन और अचेतन पदार्थोंका वह स्वभाव-सौकुगार्थ समा जाता है, जो कविके भावना-प्रत्यक्षका विपय हुआ करता है और जिसके समुचित समुक्षेस्तमें पहली वस्तु-

वक्षनाका परिच्छेद और अनुभव सम्भव है। कुन्तकने इसीहिए कहा है—"भावानामपरिम्लानस्वभावीचित्यमुन्दरम्।
चेतनानां जडानां च राज्यं दिविधं स्मृतम्। मुख्यमकिट्यत्यादिपरिपोषमनोहरम्। राजात्युचितहेवाकसमुक्टेखोडज्वलं परम्", अर्थात् चेतन (मुख्य चेतन मनुष्य
आदि और अमुख्य चेतन पशु-पक्षी आदि) और अचेतन
(ऋतु-दर्धी-पुष्प-लता आदि), दोनो श्रेणीके पदार्थीका दिविध
स्वस्प है, जो कविके दर्शन और वर्णनका विषय हुआ
करता है। इस दिविध पदार्थस्वरूपमे पहला पदार्थस्वरूप
वहं दै, जिसके दर्शनमे किकी रस-साधना सिद्ध हुआ
करती है और जिसका वर्णन किनिक्ष रस-योजना-कुश्चलताकी
कसीश हुआ करता है। इसके अनिरिक्त दूसरा पदार्थ-सरूप
वह है, जो वस्तु-स्वभाव-समुक्केख अथवा नूतन वस्तुनिर्मितिमे लीन किनि-प्रनिमा अथवा किनिक्लपनाका आधार
हआ करता है।

कविकी वर्णनाका विषय पदार्थस्वरूप, जो कि 'स्वभाव-प्राधान्य' और 'रस-प्राधान्य'वे कारण दो प्रकारका हुआ करता है, द्विविध वस्तुवक्रता और साथ-ही-साथ वाक्य-वक्रता (कविकी निर्माण-कुशलता)का आधार है। जितने भी अलंकार है या हो सकते है, वे सभी इस डिविध पदार्थ-स्वरूपके सौन्दर्य-वर्धक होनेसे ही 'अलंकार' कहे जा सकते है। पदार्थस्वरूप अलंकार्य है, अलंकार नही। —स॰व़०सिं० वाद्यय-वाद्यय शब्दकी परिभाषा उपस्थित करते हुए राजशेखरने 'कान्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायमे उसके दो मेद किये है- शास्त्र तथा कान्य। इनके मेदों-प्रभेदोका भी यन्थमें विस्तृत उहेख है । शास्त्रके अन्तर्गत अपौरुषेय शास्त्र 'श्रुति' और 'वेदांग', अर्थात् शिक्षा, करप, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और अलकार आते हैं। पौरुपेय शास्त्र है पुराण, आन्वीक्षिकी (न्याय), मीमांसा, स्मृति, तन्त्र । इस प्रकार शास्त्रके १४ भेद हुए-चार वेद, छः वेदांग, पराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, स्मृति । इन्हीको विद्यास्थान कहा गया है। काव्यके अन्तर्गत वह सब सर्वनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदिके नामसे प्रचलित है। इस प्रकार वाड्ययमे समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टा आ जाती है। अग्रेजीमे इस अर्थमें वाङ्मयका पर्याय 'लिट्रेचर' है।

पश्चिमी विवेचनामे शास्त्र और कान्यमें मौलिक भेद है और वाद्यय इन दोनोंको लेकर ही पूर्ण है, परन्तु भारतीय साहित्य-विवेचना कान्य और शास्त्रके अन्तरावलम्बनको स्वीकार करती है। कान्यका आधार शास्त्र ही माना गया है। राजशेखरने 'कान्यमीमांसा'के द्वितीय अध्यायकी पहली कारिकामें इस स्थापनाको प्रस्तुत किया है कि ''कान्य-ज्ञानके लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक है; जैसे विना दीपकके पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानके विना कान्य-ज्ञान असम्भव है। अतः कान्योंके पहले शास्त्रज्ञांका अभ्यास करना आवश्यक है''। वास्तवमें यह दृष्टि न्यावहारिक दृष्टि है। भारतीय विचारधारा श्रुतिको समस्त ज्ञानका आधार मानती है और शास्त्रके अन्तर्गत श्रुति और श्रुत्यंगोवा सम्पूर्ण समावेश करती है। फलस्वस्त्य कान्य अनिवार्यतः शास्त्रसे पोषित हो जाते है। कान्यके

भेदोपभेदोंका विवेचन सामान्यतः साहित्यशास्त्रका विषय नहीं है, परन्त पश्चिममें विषय, रीति और वृत्तके आधारपर काव्यके अनेक भेद किये गये है। भारतीय विवेचना काञ्यांगोको महत्त्व देती है और रस, रीति, ग्रण, अलंकार, ध्वनि और औचित्यके भीतर काव्यके विभिन्न स्वरूपो और प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालती है। राजशेखरने शब्द और अर्थके सहभावको लेकर चलनेवाली समस्त मानव-चेष्टाको वाष्त्रय अथवा साहित्यकी संज्ञा दी है। उन्होने शास्त्रोक्त ६४ कलाओंको साहित्यके ही अन्तर्गत रखा है और उन्हें उपविद्याएँ माना है। इस प्रकार वाड्ययमे भाषाबद्ध समस्त यन्थ-सम्पत्तिका समावेश हो जाता है, अर्थात गद्य-पद्यादि यन्थ-समहको वाङ्मय कहा जाता है। वास्तवमे वाङ्मय शब्दमें 'साहित्य' शब्दसे भी कुछ अधिक व्यापकता है और काव्य तथा शास्त्रके बीचकी चेष्टाएँ भी, जैसे पत्रकारिता, उसके अन्तर्गन आ जाती है। विशेषणके रूपमें वाड्यय शब्दका प्रयोग मूल वचन, प्रमाण अथवा वाचिक (शब्दमय) अर्थमें होता है। भारतीय दर्शनमे नाद ब्रह्मकी भी कल्पना है, जो समस्त सृष्टिको शब्दमय (वाड्यय)मानती है (शास्त्रके भेडोपभेदके लिए दे० 'उपयोगी साहित्य')।-रा० र० भ० वाचक, वाचिका-दे॰ 'रेडियो नाटक'।

वाचक शब्द-काव्यमे प्रयुक्त तीन प्रकारके शब्दोंमें प्रथम, मम्मटके अनुसार—"साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते वाचकः" (का० प्र०, २:६), अर्थात् ऐसा शब्द, जो साक्षात संकेतित अर्थका बोधक होता है। यह शब्द ऐसे अर्थका प्रतिपादक है, जिसका उस शब्दके साथ सम्बन्ध वाच्यवाचक भावके रूपमे सहज ही सिद्ध रहता हैं। यहाँ 'संकेत'का अर्थ एक निश्चित प्रकारकी मान्यता है, जो किसी ज्ञब्दके निश्चित अर्थके सम्बन्धमे प्रचलित रहती है। बिना इस प्रचलित मान्यताको समझे शब्दका प्रयोग निरर्थक हो जायगा । वाचक शब्दमे संकेत, अर्थात् उसकी अर्थविषयक मान्यता साक्षात् भी होनी चाहिये। संकेत साक्षात् और असाक्षात , दोनो प्रकारका हो सकता है । उदाहरणके लिए यदि गोवर्धन पर्वतको दिखाकर कहा जाय- पह गोवर्धन हैं, तो 'यहाँ साक्षात संकेत होगा। यदि उस पर्वतके समीपके गाँवको 'यह गोवर्धन है' कहा जाय तो यह संकेत परम्परा-सम्बन्धसे ग्रहण किया जायगा । यह वाचक शब्द नहीं है, क्योंकि अर्थग्रहण साक्षात् नहीं है, वरन् लाक्षणिक है।

इस संकेतका 'ग्रहण' कान्यमें कई प्रकारसे होता है। सामान्यतः यह अर्थग्रहण न्यवहारके द्वारा होता है। देखसुनकर बालक बडोंके शब्द-अर्थके संकेतको समझ जाते है।
बड़े लोग कहते है—'गैया ले आओ' और लड़का सेवकके
द्वारा पशुविशेषको ही ले आया देखकर समझ लेता है कि
गैया एक पशुविशेषके लिए संकेत है। आप्तवाक्यो द्वारा भी
संकेतग्रहण होता है। बड़े-बूढे बच्चोंको वस्तुओका नाम
सिखाते है और बच्चे उनके संकेतोंको याद कर लेते है।
प्रसिद्ध शब्दके साहचर्यसे संकेतग्रहण इस रूपमें होता है
कि कमलके साथ मधुकरका अर्थ भौरा ही लिया जाता है,
मधुमक्खी आदि नहीं। गैयाके समान नीलगाय होती है,
यह जानकर व्यक्ति जंगलमे देखकर उसे साहद्य(उपमान)के
आधारपर पहचान लेता है। इसी प्रकार व्याकरण तथा

कोशके धारा भी संकेतडहण होता है।

विश्वनाथने मम्मटके आधारपर वाचक शब्द चार प्रकारके माने है-"संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियास च" (सा० द०, २:४), अर्थात् ये जाति, गण, दृज्य तथा क्रियावाचक है। ये जोति, गुण, यहच्छा (द्रव्य), क्रियावस्त तथा पदार्थोंके धर्म-विशेष है और इन्हीमें उन्ह शब्दोके संकेतका शान होता है। जातिवाचक-जातिका बोध करानेवाला धर्म, जैसे मनुष्यमे 'मनुष्यत्व' (मनुष्यका भाव) जाति है-मनुष्यका आकार-प्रकार तथा स्वभाव आदि उसकी मनुष्य जातिका सामान्य धर्म है, जो मनुष्यमात्रमें स्थित है। इसी प्रकार घोडा, हाथी, गाय आदि जातिवाचक शब्द है। गुणवाचक-वस्तुकी विशेषताका बोध करानेवाला धर्म, अर्थात एक ही जातिमे विभिन्न व्यक्तियोंके भेदको व्यक्त करनेवाला गुण । सभी गायोंके बीचसे किसी विशेषकी ओर संकेत करनेके लिए काली, सफेद, धौली आहि शब्दोका प्रयोग गुणवाचक है। क्रियावाचक-जो शब्द-क्रियाको निमित्त मानकर प्रयुक्त होते है। पाचक, पाठक, आदि शब्द क्रियावाचक है। यहच्छा(द्रव्य)वाचक-जिनका प्रयोग केवल वक्ताकी इच्छापर निर्भर हो और उसीसे संकेतग्रहण करता हो। व्यक्तिके नाम व्यक्तिकी इच्छापर निर्भर है। उनका प्रयोग जब प्रचलित हो जाता है तो उनको सांकेतिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। अतः राम, स्थाम, धर्मदत्त आदि यहच्छावाचक शब्द है। जाति, गुण, यहच्छा तथा क्रिया नामक चार वाचक शब्दोंके उटा-हरण भिखारीदासने इस प्रकार दिये है-"जाति नाम जदनाथ, अरु कान्ह जदिच्छा धारि । गुनते कहिये स्याम, अरु किया नाम कंसारि"। वाचक शब्दोके अर्थको वाच्यार्थ कहते है, जो जाति, गुण, द्रव्य तथा क्रियापर आधारित है। मम्मटने इसे वैयाकरणोंका मत माना है। नैयायिकोंके अनुसार तो एकमात्र जाति वाच्यार्थ है। मम्मटने 'काव्य-प्रकाश'मे विभिन्न दार्शनिक मतोंका संकेत देकर काव्यके प्रसंगमें उन्हें अनुपयोगी माना है। --र० वाच्यसिद्धः यंगर्व्यय – गुणीभृतं व्यंग्यका एक भेद । यह भेद वहाँ होता है, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थकी सिद्धि करता है। अवरांग व्यंग्यमे व्यंग्यार्थ वाच्यार्थका सहायक होता है, किन्तु इसमें व्यंग्यार्थके बिना वाच्यार्थ सिद्ध नहीं होता. असंगत जान पडता है। "करत प्रकास सु दिसिनको, रही ज्योति अति जागि। है प्रनाप तेरो नपति, बैरी-बंस-दवागि" (का० क०, पृ० ३१८)। इस उदाहरणमे 'बैरी' शब्दके सामीप्यके कारण अभिधा द्वारा 'बंस'का अर्थ 'बंश' हुआ, किन्तु 'वैरी वंश दावारिन है', इस कथनमें अंर्थ-बाधा है। तदनन्तर व्यंजनाके सहारे "वैरीकुल बॉसके जंगलके सददा है" यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ । इस व्यंग्यार्थ-के सहारे ही वाच्यार्थ वैरी-वंशका दावारिन होना सिद्ध — ૩০ হা০ হা০

वाच्योत्प्रेक्षा – दे॰ 'उत्प्रेक्षा', चौथा भेद । वातावरण–दे॰ 'देश-काल'।

वात्सस्य – वत्सल रसका स्थायी भाव है। माता-पिताका अपने पुत्रादिपर जो नैसर्गिक स्नेह होता है, उसे 'वात्सस्य' कहते है। मैकडुगल आदि मनस्तत्त्वविदोंने वात्सस्यको प्रधान, मौलिक भावोंमें परिगणित किया है, व्यावहारिक अनुभव भी यह बताता है कि अपत्य-स्नेह दाम्पत्य रससे थोडी ही कम प्रमविष्णुतावाला मनोभाव है। संस्कृतके प्राचीन आचायोंने देवादिविषयक रतिको केवल 'भाव' ठहराया है तथा वात्सल्यको इसी प्रकारकी 'रति' माना है, जो स्थायी भावके तुल्य, उनकी दृष्टिमे चवणीय नहीं है (का० प्र०, ४)। मोमेश्वर भक्ति एवं वात्सल्यको 'रिति'के ही विशेष रूप मानते है-"स्नेहो भक्तिर्वात्सस्यमिति रतेरेव विशेषः", लेकिन अपत्य-स्नेहकी उत्कटना, आस्वादनीयता, पुरुषाथौपयोगिता इत्यादि गुणौपर विचार करनेमें प्रतीत होता है कि वात्सल्य एक स्वतन्त्र प्रधान भाव है, जो स्थायी ही समझा जाना चाहिये। भोज इत्यादि कतिपय आचार्योंने इसकी सत्ताका प्राधान्य स्वीकार किया है। विश्वनाथने प्रस्फुट चमत्कारके कारण वत्सल रसका स्वतन्त्र अस्तित्व निरूपितकर 'वत्सलता-स्नेह' (वात्सल्य)को इसका स्थायी भाव स्पष्ट रूपसे माना है—''स्थायी वत्सलता-स्नेहः पुत्राचालम्बनं मतम्" (सा० द०, ३: २५१)।

हुष, गर्व, आवेग, अनिष्टकी आदांका इत्यादि वात्सल्य-के व्यभिचारी भाव है। उदा०—"चलत देखि जसुमति सुख पावै । दुसुकि दुसुकि पग धरनी रेगत, जननी देखि दिखावें" (मू० सा० सा०: गो० ली०, २१) इसमे केवल वात्सल्य भाव व्यंजित है, स्थायीका परिस्फुटन नहीं हुआ है। -र० ति० वात्सब्य रस-वात्सत्य शब्द वत्ससे व्युत्पन्न और पुत्रा-दिविषयक रतिका पर्याय है। इसका प्रयोग रसकी अपेक्षा भावके लिए अधिक उपयुक्त है, कदाचित् इसीलिए प्राचीन आचार्यींने 'वात्सल्य रस' न लिखकर 'वत्सल रस' लिखा और वत्सलना या वात्सल्यको उसका स्थायो भाव माना, यथा-भोजराज (११ इा० ई० पूर्वा०)-- "शृंगारवीर-करुणाद् भूतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सरुभयानकञ्चान्तनामनः " (পূত प्रত, १:६)। विश्वनाथ (१४ হাত ईত पूত)ने इसका लक्षण दिया है-"स्फुटं चमत्कारितया वरसलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राचालम्बनं मत्म्" (सा० द०, ३: २५१), अर्थात प्रकट चमत्कार होनेके कारण वत्सलको भी रस माना जाता है। वात्सल्य स्नेह इसका स्थायी भाव होता है तथा पुत्रादि आलम्बन । आगे उसका विस्तार देते हुए कहते है-"वाल-सुलभ चेष्टाओक साथ-साथ उसकी विद्या, शौर्य, दया आदि विशेषताएँ उद्दीपन हैं। आलिंगन, अंगसंस्पर्श, शिरका चूमना, देखना, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव है अनिष्टकी आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते है। इस रसका वर्ण पद्म-गर्भकी छवि जैसा और देवता लोकमाता या जगदम्बा है" (सा० द०, ३ : २५३-५४) ।

भोजराज (११ श० ई०) ने 'शृगार'को रसराज सिद्ध करने के प्रसंगमे अन्य रसोंकी गणना करते हुए उनकी संख्या 'वत्सल रस'को मिलाकर दस बतायी है, जिससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उनके समयतक नौ रसोके समकक्ष वत्सलको भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'मे जिस सांगोपांग रूपमे इसका निरूपण हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि काल-क्रममें इसको अधि-

काधिक मान्यता एवं विकास प्राप्त होता गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्य रसका उद्गम-स्रोत ह्य कान्यमें न होकर श्रन्य कान्यमें निहित है। भरत-(३ इा० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'में ऐमा कोई सुत्र नहीं है, जिससे इसकी सिद्धि हो सके। आठ नाट्यरसोके साथ शान्तको मिळानेपर अधिक-से-अधिक नौ रसोंको ही स्वीक्रति उसमे मिळती है।

मामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट जैसे आलंकारिकों द्वारा मान्य 'प्रेयस' नामक अलंकारमे वात्सल्य रसके उद्गमका कुछ सम्बन्ध सम्भव दिखाई देता है। 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' कहकर दण्डी (६ अ० ई०)ने 'प्रेयस्' अलंकारको प्रीति भावसे सम्बद्ध बताया । उद्घट (८-९ श्र० ई०)ने इसका जो उदाहरण दिया है' उसमें 'सुतवाह्यस्यान्नि-विंशेषा स्पृहावती', 'मृगीकी गोदमे बैठे मृग-शावकका' भाव-पूर्ण चित्र समाविष्ट है, जिससे 'प्रेयस्'के वात्सल्य भाव होनेका आभास मिलने लगता है। रुद्रट(९ श० ई०)के 'काच्यालंकार'से इसकी पृष्टि होती है। अभिनवगुप्त-(१०-११ श० ई०)ने 'अभिनवभारती'में नौ रसोकी चर्चा करनेके उपरान्त अन्य रसोकी सम्भावनाका मंक्षिप्त उल्लेख तथा अपनी ओरसे उनका खण्डन करते **हु**ए लिखा है कि "बालस्य मानापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः", अर्थात माता-पिताके प्रति बालकके स्नेहका अन्तर्भाव भयमे हो जाता है। आगे—'वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्', अर्थात् इसी प्रकार वृद्धका पुत्रादिके प्रति स्नेह देखा जाना चाहिये। उनका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य भावमात्र है और उसकी रसहपमें स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जानी चाहिये। अभिनवगुप्तसे सहमति रखकर ही वदाचित मम्मट (११ श० ई०)ने 'काव्यप्रकाश'में लिखा है-"रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथाऽव्जितः । भावः प्रोक्तः" (४:३५), अर्थात् देवता आदिके विषयमें उत्पन्न होनेवाली रति और प्रकटीकृत या व्यक्त व्यक्षिचारी-वो भाव कहा जाता है। सम्मटके रस-निरूपणसे पूर्व 'तद्विशेषानाह'की न्याख्या करते हुए 'वालगोधिनी' टीका-कारने जो टिप्पणी दी है, उमसे पूर्वीक्त 'प्रेयस्'विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—"किसीकी सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है, किसीने प्रेयांस, दान्त, उद्धतके साथ वर्णित नव रसको द्वादश रस माना है। जिस रसका स्थायी भाव स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते है और इसीका नाम वात्सल्य है"। स्पष्ट ही यहाँ टीकाकारने भोजराजकी मान्यताका सन्दर्भ देते हुए प्रेयांस-को ही वात्सल्य बताया है, जिसका संकेत 'वत्सलप्रकृतेः'के रूपमे 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे ही मिल जाता है। संस्कृत-कान्यशास्त्रमें वात्सल्यकी स्थिति किस प्रकार एक अलंकारसे बढते-बढ़ते रसतक पहुँच गयी, इसका कुछ आभास उपर्युक्त विवेचनसे हो जाता है।

वात्सल्यके स्थायीके सम्बन्धमें भी कहीं-कहीं भिन्न मत व्यक्त किया गया है । किव कर्णपूरने 'ममकार'को, 'मन्दारमरन्दचम्पू'के रचियताने कार्पण्यको इसका स्थायी भाव माना है । प्रारम्भमें वात्सल्यका अन्तर्भाव शृंगारके अन्तर्गत ही किया जाता रहा, क्योंकि वत्सलता रतिका ही एक विशिष्ट रूप है। सोमेश्वरने रिनके तीन भेद बताते हुए लिखा है—"स्नेह, मिक्त, वात्सल्य रितके ही विशेष रूप है। तुल्योकी अन्योन्य रितका नाम स्नेह, उत्तममें अनुत्तमकी रिनका नाम मिक्त और अनुत्तममें उत्तम रितका नाम वात्सल्य हैं" (काव्यप्रकाशकी काव्यादर्श टीका)। यहाँ स्नेह, मिक्त और वात्सल्यमें भेव विश्वा गया है। इससे वात्सल्य मिक्तको भावनाका विलोम सिद्ध होता है। उत्तम और अनुत्तम शब्दोंने कदाचित् श्रेष्ठताका अर्थ न लेकार छोटे-बडेका अर्थ ही लिया गया प्रनीत होता है। (दे० अयोध्यामिह उपाध्याय 'हरिऔध'का 'वात्सल्य रस' नामक लेख कोणोत्सव स्मारक मंग्रह)।

केशवदास (१६-१७ श० ई०), चिन्तामणि (१७ श० ई० मध्य), भिखारीदास (१८ श० ई० पूर्वा०)आदि प्रायः सभी प्रमुख रीतिकालीन कान्याचार्योंने वात्सल्य रसकी उपेक्षा की है। उन्होंने इस विषयमे 'साहित्यदर्पण'का उदाहरण सामने न रखकर नौ रसोंकी रूढ परम्पराका पालन किया है। भारतेन्दु(१९ श० ई० उत्त०)ने अवश्य अपने 'नाटक' नामक अन्थमें अन्य रसोंके साथ वात्सल्यको स्थान दिया है, पर उसका कारण भिन्न है। भारतेन्दुने वात्मल्यके साथ दास्य, सख्य और माधुर्यकी भी गणना की है, जिसने प्रकट हो जाता है कि उन्होंने इसकी अवतारणा गौडीय सम्प्रदायके भक्तिशास्त्रके आधारपर की, जो उनके समयनक वैष्णव भक्तिके क्षेत्रमें प्रायः सर्वमान्य हो चुका था। भक्तिशास्त्रके अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वयं ही है, जो उक्त चारों भावोंके द्वारा भावित होता है।

स्रदास द्वारा इस वात्सल्य भावका इतना विस्तार किया गया कि 'स्रसागर'को दृष्टिमें रखते हुए वात्सल्यको रस न मानना एक विडम्दना-सा प्रतीत होता है। 'हरिऔध' ने मूलतः इसी आधारपर वात्सल्यको रस सिद्ध किया है। यही नहीं, उन्होंने वात्सल्यको वीमत्स, हास्य आदि अनेक रसींते तर्कसहित श्रेष्ठ सिद्ध किया हे।

कृष्ण-लोलाके अन्तर्गत स्रका वासल्य-वर्णन रसल्व प्राप्तिके लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगोको अपनेमे समाविष्ट किये है। दूसरे, भक्तिकी दृष्टिमे वात्सल्य स्रका अपना भाव नही है। अतएव 'स्रक्तागर'मे नन्द यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियोका बालकृष्णके प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यंग्य, उपालम्भ आदि सब कुछ वात्सल्य रसकी ही सामग्री है। कृष्णका सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल-कीडाओंका स्क्स्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसीके अन्तर्गन आता है। तुल्सी-का 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' तथा 'कवितावली'में 'रामचरितमानस'से श्रेष्ठतर वात्सल्य रसकी कविता मिलती है। 'हरिऔष'के 'प्रियप्रवास' और मेथिलीशरण गुप्तके 'साकेत' तथा 'यशोधरा'मे नयी भूमिकाओमें वात्सल्यका उद्रेक प्राप्त होता है।

कटा वित् किसी प्राचीन संस्कृत या हिन्दीके आचार्यने वात्सल्य रसके भेदोपभेद करनेकी चेष्टा नहीं की है। कारण स्पष्ट है कि अधिकतर उसे रस ही नहीं माना गया है। पर आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने शोधग्रन्थ 'काव्यमें रस'-में वात्सल्यके निम्निङ्खित भेद माने हैं—१. गच्छत्प्रवास, २. प्रवासस्थित, ३. प्रवासागत, ४. करुण। यह चारो छपभेद वियोग-वात्सस्यके हैं, जो स्पयं एक भेद हैं। शृंगार-की तरह वात्सस्यके भी संयोग और वियोगके आधारपर दो भेद विये गये हैं; करुण वात्सस्य नामक विभेद करण-शृंगारके समानान्तर हैं। प्रवासपर आधारित विभेद वात्सस्य रसके वियोगपश्चमें उतने उपयुक्त नहीं लगते, जितने विप्रलम्म शृंगारमें, क्योंकि एक विशेष अवस्थातक शिशुमें प्रवाससामर्थ्य ही नहीं होती (दे॰ 'काव्यमे रस', अप्र०प्र०, पृ० ४९३-९६)। —ज० गु०

वामसार्ग-दे॰ 'तान्त्रिक मत'।

वाम सवैया—दे॰ 'सवैया', आठवाँ प्रकार । वारिधर—विणिक छन्दोमें समवृत्तका एक भेद । इस वृत्तमे रगण, नगण और दो भगणोका योग होता है (SIS, III, SII, SII) । आचार्योंने इस छन्दका निर्देश नहीं किया है, पर केशवने इसका प्रयोग किया है । उदा॰—"राजपुत्रि यक बात सुनौ पुनि, रामचन्द्र मन माँह कही गुनि । राति दीह जमराम जनी जनु । जातनाति तन जानत कै मनु । (रा० चं॰, १३ : ८९)।: —पु॰ शु॰

वार्ताळाप-दे॰ 'कथोपकथन'। वार्त्तिक-वृत्ति । ठक-वृत्ती साधुः वार्त्तिकः, 'वृत्तिरूपेण कृतो यन्धो वार्त्तिकम्'। (क) साधारण अर्ध-(१) व्यापार-कुशल, विषक (क० स० सा०) और (२) वार्ताहर। (ख) विशेष अर्थ—(१) मूलमें कथित, अकथित या अस्पष्ट कथित अर्थको रपष्ट करनेवाले नियम, जैसा कि "उक्तानुक्तद्वकृक्तार्थ-व्यक्तिकारि तु वार्त्तिकम्" इस लक्षणसे ज्ञात होता है, (२) वे यन्थ, जिनमें मूलका भाव स्पष्ट करनेवाले ऐसे नियम दिये गये हों। उपर्युक्त लक्षण पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर कात्यायन द्वारा लिखे गरे वार्त्तिकोंके विषयमें विशेष रूपसे घटित होता है और सम्भवतः उन्हीको ६ ष्टिमें रखकर किया गया था। ये वार्त्तिक पाणिनिकृत सत्रोकी ही भॉति संक्षिप्त और गद्यात्मक है। पर इन्हे छोड़ प्रायः अन्य सभी वार्त्तिक छन्दोबद्ध या पद्यात्मक ही हैं। ये मूत्रों तथा उनकी वृत्तिकी अपेक्षा संक्षिप्त होते है, पर इसका अपवाद भी मिलता है. जैसे कुमारिलके रलोक-वात्तिक तथा तन्त्र-वात्तिक, स्वामी शंकराचार्यकृत 'बृहदारण्यकोपनिषद्'-भाष्यपर सुरेइवरा वार्थ-के वास्तिक भाष्योसे छोटे नहीं, बहुत बढे हैं। उद्योतकार-का न्यायवात्तिक भी वात्स्यायनके न्याय-भाष्यपर लिखा गया है और कथमपि संक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। फिर ये वृत्ति और भाष्यके बीचके नहीं, भाष्योके बादके है। धर्मकीर्तिका प्रमाणवासिक व्याख्यान ग्रन्थ नहीं, मौलिक ग्रन्थ है । इसपर उनकी अपनी 'वृत्ति' है, पर यह 'वृत्ति' शब्द यहाँ टीका या व्याख्यानके सामान्य अर्थमे प्रयुक्त है। --आ० प्र० मि० (नायिका) - अवस्थानुसार वासकसज्जा नायिकाओके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उल्लिखित । वासकका अर्थ है सुगन्धि

और वस्त्र, सज्जाका अर्थ है आभूषित करना, अर्थात्

सगन्धादि तथा वस्त्रादिसे अपनेको ससज्जित करनेवाली

नायिका। भानदत्तके अनुसार "अद्य मे प्रियवासर इति

निश्चित्य या सुरतसामग्री सञ्जीकरोति" (र० मं०, पृ०

१२३), अर्थात् अपने प्रियका निश्चित मिलन जानकर साज-शृंगार करनेवाली नायिका। मतिरामने इसी भावको व्यक्त किया है-"'ऐहै प्रीतम आज़ यो निश्चय जाने बाम। साजे सेज सिंगार सुख " (र० रा०, १६७)। पर कुछ आचार्योंने केवल 'पिया मिलनके काज' (पद्माकर), इस सञ्जाको माना है। इस परिस्थितिको स्वकीयाके मुग्धादिक भेदोंमे, परकीया तथा सामान्यामे प्रायः स्वीकार किया गया है। मुग्धा वासकसङ्जामे उचित ठङ्जा तथा संकोच है-"हुरुउ गवन नवेलिया दीठि बचाइ। पौढी जाइ पलॅगिया सेज विछाइ" (रहीम)। रसलीन मध्याकी सज्जाका वर्णन सुन्दर चित्रके रूपमे प्रस्तुत करते है-"लाल मिलन गुन तन सजित बाल बदनकी जोति। खिनक कमल-सी मिलन खिन अमल चन्द-सी होति" (ब्र० भा० ना०, २:४१५)। प्रौढ़ाकी सज्जा और प्रतीक्षामे संकोचका अभाव है—"सब सिंगार सुन्दरि सजै बैठी सेज बिछाथ। भयो द्रौपदीको बसन् बासर नाहिं बिहाय" (मतिराम: र० रा०, १७३)। परकीयाने मिलनके अवसरको जानकर सज्जा की है-"फूल बिनन मिसि कुंजमे पहिरि गुंजकी माल" (पद्माकर: जगद्दि०, १:२११)। सामान्याकी इस परिस्थितिका चित्रण और भी स्वाभाविक बन पड़ा है-''सुन्दरि सेज सॅवारिकै साजे सकल सिंगार । दग कमलन-के द्वारपे बाँधे बन्दनवार" (मतिराम: वही, १७७)। इस नायिकाके रूपमे भक्त कवियोंने राधा तथा गोपियोके मिलनके लिए शृंगार तथा साथ ही तदनुरूप मनोभावों-का वर्णन किया है। विद्यापित और सूरने राधाके वासक-सज्जा-रूपका अंकन भी किया है। रीतिकाव्यमें साज-सज्जा तथा मिलनोत्कण्ठाको एक साथ अंकित किया

वासोख्त - उर्द्के जिस कान्यमें प्रेमी अपनी प्रेमिकासे विगड़कर उसे वार्ते सुनाता है, उसको वेवफा ठहराता है, उसपर यह दोषारोपण करता है कि तुम अब मुझसे वेपरवाह हो गयी हो, उसे वासोख्त कहते है। गजलमे भी आशिक अपने माशूक़को वेवफा कहता है, उससे वेपरवाही-की शिकायत करता है, परन्तु उसमे आशिक सदैव नम्रताका माव रखता है। वासोख्तमें वह यह दोष देकर कि माशूक़ उससे वेवफाई कर रहा है, वह तो यह जनाता है कि पहले तुम कुछ नहीं थे तुमको मेने आज इतना महान् वनाया है, मेरे ही कारण तुमको यह प्रसिद्धि प्राप्त हुई है और अब तुम इस गौरवको प्राप्त कर नये-वये चाहनेवालोमे पड़ गये हो। मुझको कमी नहीं है, मे तुमसे भी अच्छा और सुन्दर माशूक़ ढूँढ़ निकालूँगा। फिर उसमे मेरा परिचय धनिष्ठ होगा। प्रेमको वार्ते होंगी, मुखपूर्वक दिन व्यतीत होंगे।

फारसीमे वासोस्तका रिवाज नहीं था। मीर तकी मीरने उर्दूमें वासोस्त लिखे। उनके अतिरिक्त सौदा, जुरअत, सदासुख, निसार तथा मोमिन आदिने दिछीमें वासोस्त लिखे। किन्तु वासोस्तका अत्यधिक प्रचार उस समय हुआ, जब लखनऊके नवाबोंने वहाँके जीवनमें कविता, गायन, नृत्य तथा अन्य लिलत कलाओं-को प्रोत्साहन दिया। वक्ष, बहेर, अमानत, रिन्द, नवाब, मिरजा शौक, सहेर, जवाहर सिंह 'जौहर', तोताराम 'शमा' आदिने बड़े जोरदार वासोख्त लिखे, 'जिनमें 'अमानत' लखनवीको सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। परन्तु अब लोक-रुचि बदल गयी है और बीसबी शताब्दीमें लोगोका ध्यान इसकी ओरसे बिलकुल हट गया है।

वासोख्त और गजलमें एक अन्तर रूपका भी है। गजलमें प्रत्येक शेर पृथक् पृथक् अर्थ रखता है और इसमें एक ही 'काफिया' और 'रदीफ' (तुकान्त)की पावन्दी होती है। वासोख्त मुसद्दस (छः-छः शेरोंके बन्द)में लिखी जाती है और इसमें विषयका क्रमशः वर्णन किया जाता है। उसकी लम्बाई अनिश्चित होती है। अमानतके प्रसिद्ध वासोख्तमे २५० से अधिक बन्द है। —म०

वासुदेवोपासना – दे० 'भागवत धर्म' । वासुदेव धर्म – दे० 'भागवत धर्म' ।

वाह्यवादी आलोचना-प्रणाली—प्रस्तुत शब्द अंग्रेजीके 'फॉर्म'के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'फॉर्म'के लिए हिन्दीमें 'शिल्प', 'रूप' प्रयुक्त होता है। इसीलिए कुछ विद्वानोने इसको रूपात्मक, शिल्पगत तथा कलागत आलोचनाके नामसे अभिहित किया है। परन्तु आलोचनाके इतिहासकी पीठिकामे वाह्य शब्द ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि संस्कृतसे प्रभावित हिन्दी आलोचनामें रूप या शिल्पको वाह्य ही नाना गया है। अतः अंग्रेजीका 'फॉर्मल क्रिटिन सिडम' हिन्दीमें 'वाह्यवादी आलोचना'के नामसे अभिहित होता है।

जिस प्रकार हमारी आत्मा और शरीर, दोनों दो भिन्न वस्तुएँ है और भिन्न होकर भी अभिन्न है (क्योंकि यदि शरीर न रहे तो आत्माके अस्तित्वका पता न चले और आत्मा न रहे तो शरीर निजीव हो जाय), उसी प्रकार साहित्यके भी दो तत्त्व है—आत्मा और शरीर, भाव और रूप, फॉर्म और मैटर अथवा वाह्य और अन्तर। साहित्यके ये दोनो तत्त्व एक होकर भी दो है। फलतः साहित्यके आलोचकोने इन्हे स्वतन्त्र रूपमे मान्यता दी है।

इस दृष्टिसे वाध्यवादी आलोचना, आलोचनाकी वह पद्धति कहलायेगी जो साहित्यके वाह्य पक्ष अर्थात् शिल्प पद्धति कहलायेगी, जो साहित्यके वाह्य पक्ष, अर्थात् शिल्प और रूपको अधिक महत्त्व देती है।

इसका इनिहास बहुत पुराना है। यद्यपि 'लेटो और अरस्तूने फॉर्मको हेय माना, किन्तु व्यवहार रूपमे इन्होंने दिसेका विवेचन किया। प्लेटोने काव्यकी अनुभृतिको ऐन्द्रिय अनुभृति मानकर उसे समाजका विरोधी ठहराया। अरस्तूने 'पीयटिक्स'मे नाटक और महाकाव्यके सामान्यतः वाद्यांगका ही विवेचन किया। वैसे यूरोपमे नव्य-शास्त्रवादके कालको रीतिका काल कहा जा सकता है। पोपकी आलोचना अर्थको गौरव देकर भी शैली या रीतिको अधिक महत्त्व देती है। विकटर ह्यूगो, पेटर, वाल्टर रेले आदिने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। स्वयं अभिव्यंजनावाद (जो कि मूलतः वाद्यवादका विरोधी है) सौन्दर्यका अस्तित्व रूपसे मिन्न नहीं मानता। इसके कट्टर समर्थक तो वाह्य-वादका पोषण ही करते है।

वस्तुतः इस आलोचना-पद्धतिका जितना विश्रद एवं

पूर्व विवेचन संस्कृत-साहित्यशास्त्रमें उपलब्ध है, उतना यूरोभिय साहित्यशास्त्रमें नहीं। रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी, अर्लंकारवादियोंने स्पष्टतया कान्यके केवल वाह्यपक्षकों ही महत्त्व दिया है। ऐसी निर्भीक घोषणाएँ अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँतक कि रीतिवादियोंने रीतिकों ही कान्यकी आत्मा माना तथा रीतिके स्वरूपको नपष्ट करते हुए वामनने लिखा—"इन तीन रीतियोंके भीतर कान्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिम प्रकार रेखाओंके भीतर चित्र"। अर्लंकार-सम्प्रदायवालोंने सालंकार शब्द-अर्थकों ही कान्यकी आत्मा माना।

हिन्दीमे संस्कृतके रीतिवादियोंका प्रभाव बहुत अधिक पडा। फलतः हिन्दी आलोचनाका प्रथम उत्थानकाल इसी सिद्धान्तमे प्रभावित रहा। उसका नाम भी रीति-युग दिया गया। केशवदास, रोनापिन, चिन्तामणि, कुलपित, देव, दास आदि कवि-आचायोंने काव्यके वाह्यपक्षको ही अधिक महत्त्व दिया।

संक्षेपतः हिन्दी रीति-युग ही प्रस्तुत प्रणालीका सच्चा समर्थक माना जायगा। — रा० कृ० स० विकल्प — वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार; शब्दका अर्थ है 'यह या वह'। इस अलंकारमें समान सामर्थ्ययुक्त परस्पर विरोधी पदार्थोंमें एक ही काल और स्थितिमे विरोध दिखाया जाता है, अर्थात् जहाँ 'यह या वह' इस प्रकारका कथन किया जाय— 'अनेन वान्येनेति विकल्पः' (कौटिल्यः अर्थन्त्राह्म)। सर्वप्रथम रूथ्यकने इसका प्रतिपादन किया है और इसके मूलमें 'उपमा' भावको आवश्यक माना है— ''औप-म्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्'' (अर्लं० सू०, पृ० १५३)। विश्वनाथने 'चन्द्रालोक'का आधार प्रहण किया है— ''विकल्प-स्तुल्यवल्योविरोधश्चातुरीयुतः'' (सा० द०, १०: ८४), अर्थात् दो समान सामर्थ्यवाली वस्तुओंका चातुर्यपूर्ण विरोध-प्रदर्शन।

हिन्दीमें 'कृवलयानन्द'के आधारपर जसवन्त सिहने इसको लिया है। इस परम्परामें लक्षण करनेवाले आचार्यों-में भूषण, सोमनाथ तथा दास आदिने 'कै वह कै यह' (शि० रा० भू०, २४९)के विकल्पको अलंकार माना है, पर 'माहित्यदर्पण'के अनुसार लक्षण देनेवाले मतिराम है— ''समक्लजुन है बातको बरनत जहाँ विरोध'' (ल० ल०, २७५)। पद्माकरका ऐसा ही मत है।

हिन्दोके कई आचार्योंने उदाहरणमें केवल विकल्पका भाव रखा है और इस कारण अलंकारका उचित निर्वाह नहीं हुआ है। मितरामका यह उदाहरण समुचित है— "वैर तो बढ़ायो कह्यों काहूकों न मान्यों, अब दॉतिन तिन्का के कृपान गहों करमें" (ल० ल०, २७६)। इसमें "या तो दॉतोंमें तिनका दबाओं या हाथमें तलवार धारण करों", इन दो समान बलयुक्त बातोमें प्रत्यक्ष विरोध है। सिन्ध-विग्रहवाली दोनों बातोंका साथ-साथ एक ही कालमें होना असम्भव है। एवक पर्यवसानमें ही दूसरेका आश्रय लिया जा सकता है। मितरामके सम्पूर्ण छन्दमें तो इस प्रकारकी तुल्यवल वस्तुओंका विरोध चार बार हुआ है। चारोमें एक भी विरोधमें कहीं शैथिल्य नहीं है। आधुनिक ब्रजभाषा-कवि जगन्नाथदास 'रहाकर'ने अपने काल्यमें

अनेक स्थलोंपर इसका सुन्दर निर्वाह किया है—"कै तो तब विजय जयद्रथ सुनेहै जाय, कै तो लै पराजय प्रलाप आप ऐहा में"।

अथवा, नतरु, या, कि, कितो आदि इस अलंकारके वाचक है। इस अलंकारमे चार स्थितियाँ स्वीकार की गयी है—(१) समान बलकी वस्तुएँ, (२) दोनोका सम्पादन एक साथ एक व्यक्तिके द्वारा न हो सके, (३) इच्छानुसार एक भी वरण करनेकी छूट तथा (४) दोनोमे किश्पत सादश्य; जैसा कहा गया है, मात्र विकल्प होनेसे यह अलंकार सिद्ध नही होता। 'सन्देह' अलंकारमे अनिश्चय होता है, पर इसमे निश्चय। एक प्रकारसे यह 'समुच्चय'के विपरीत भी है।

विकसनशील महाकाव्य-दे० 'महाकाव्य', 'कथाकाव्य'। विकस्वर – अर्थान्तरन्यासमें अन्तर्भृत अर्थालंकारः यह अलंकार अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, क्योंकि भामह, दण्डी आदि पाचीन अथवा मम्मट, विश्वनाथ आदि अपेक्षाकृत अर्वाचीन आचार्योंने इस अलंकारका उल्लेख नहीं किया है। 'क़ुबलयानन्द'में इसका स्वतन्त्र उहेख है। वस्तुतः इसका अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यासमें मानना चाहिये, जिसमे सामान्य-का विशेषके द्वारा समर्थन होता है। उद्योतकारने ऐसा ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथने विकस्वरके प्रथम प्रकार-को उदाहरणके और दूसरेको अर्थान्तरन्यासके अन्तर्गत माना है। हिन्दीके अनेक आचार्यीने भी इसको स्वतन्त्र मान्यता नहीं दी है। उदाहरणतः भूषणने 'शिवराजभूषण'-मे इसका उल्लेख नहीं किया है। दास, पद्माकर आदिने अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर अपनाया है। मतिरामने इसकी निम्नलिखित परिभाषा दी है—"कहि बिसेष सामान्य पुनि कहिये बहुरि विसेष" (ल० ल०, २९२), अर्थात् जहाँ विशेषका सामान्यसे समर्थन करके फिर उस सामान्य-का उस विशेष द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ विकस्वर (विकसनशील) अलंकार होता है। उदा०—"मधुप मोह मोहन तज्यो, यह स्यामनकी रीति। करी आपने काज लो, तुम्हें भाँति सौ प्रीति" (ल० ल०, २९३)। यहाँ प्रथम चरणके पूर्वार्द्धमे जो विशेष है, उसका उसके उत्तरार्द्ध-में प्रतिपादित सामान्य द्वारा समर्थन हुआ है और फिर द्वितीय पंक्तिमें सामान्यका एक अन्य विशेष द्वारा समर्थन हुआ है। कन्हैयालाल पोद्दारने विशेष द्वारा समर्थनकी इस अन्तिम प्रक्रियाको दो प्रकारसे वर्णित किया है--(१)उपमा द्वारा और (२) अर्थान्तरन्यास-रीतिसे। - - ४० व्र० ज्ञा० विकासवाद-व्यापक रूपसे विकासवादका अर्थ है, वह मत जो प्रस्फटन, व्यक्तीकरण, विकासमे विश्वास करता है। आधुनिक विज्ञानसे हमे नक्षत्रो और सौर मण्डल, पृथ्वी, अणुओं, समाजों, प्राणियों आदि तथा भाषा, धर्म, परम्परा और आदशोंके विकासका ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु सामान्यतया विकासवाद शब्दका प्रयोग वनस्पति और प्राणिवर्गके सम्बन्धमें किया जाता है। प्रस्तुत विवेचन उसके इस पक्षतक ही सीमित है।

विकास सम्बन्धी धारणाओंका इतिहास काफी पुराना है। मारत और ग्रीस, दोनों देशोंके दर्शनोंमें तत्सम्बन्धी आरम्भिकं विचार मिलते हैं। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युगमें विकासकी प्रक्रियापर सम्यक् रूपसे विचार और गवेषणा हो सकी है। वर्तमान युगमे विकासवाद-सिद्धान्त- की स्थापना करनेवाला प्रथम वैज्ञानिक ला मार्क (१७४४-१८२९ ई०) है। उसके अनुसार प्राणी जिन गुगोंको अपने जीवनकालमे अर्जित करता है, वे सन्तिमें भी परिवर्दित हो जाते है। परिवर्तनकी प्रक्रिया इसी प्रकार होती है। जिन अंगों और पेशियोका उपयोग होता रहता है, वे पृष्ट और विकसित होती है, जिनका उपयोग नहीं होता, वे क्षीण और दुर्वल हो जाती है। ला मार्कने व्यक्तिके प्रयास और इच्छाके महत्त्वको भी स्वीकार किया है। किन्तु इस सिद्धान्तका पर्याप्त साक्षी न मिलनेसे अधिकांश वैज्ञानिकोने उसे त्याग दिया है।

आधुनिक विकासवादके इतिहासमें द्सरा महत्त्वपूर्ण नाम चार्ल्स डार्विन (१८०९-१८८२ ई०)का है। डार्विनने चार वातोपर वल दिया है—(१) आनुवंशिकता। समान माता-पितासे समान सन्तितिकी उत्पत्ति होती है। प्रकृति अत्यन्त उवरा है। कुछ प्राणियोंकी वंशबृद्धि ज्यामितीय अनुपातमे होती है। (२) परिवर्तिता—प्राणियोंमे व्यक्तिगत मेद होते है। ये मेद आंगिक कारणों अथवा संयोगजन्य होते है। (३) अस्तित्वके लिए संवर्ष—प्राणियोमें जीवनके लिए घोर संवर्ष होता है। (४) योग्यतमका अति जीवित रहना—इस संवर्षमें योग्यतम प्राणी ही जीवित बच पाते है।

आगे चलकर वाइजमैन (१८३४-१९१४) और खूगों ही ब्राइसने भी अपने सिद्धान्तोंसे डाविनके मतको परिपूर्ण किया। इधर लायड मार्गनके निर्गत विकासवाद (एमरजेण्ट इवोल्यू रान)के सिद्धान्तको विरोष मान्यता प्राप्त हुई है। इसके अनुसार जीवन और जगत्के विकासके मध्य नये गुणोंसे युक्त ऐसे नये रूपोका उद्भव होता है, जिनकी व्याख्या पूर्वगामी स्तरोंसे नहीं की जा सकती (जैसे, भौतिक पदार्थ—जीवन—बुद्धि—मूल्य)। फ्रेंच दार्शनिक वर्गसॉन विकासवादके यान्त्रिक सिद्धान्तोंका प्रत्याख्यान करते हुए अपने सर्जनात्मक विकासवादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

विकासवादने मनुष्यकी विचारधारापर गम्भीर और व्यापक प्रभाव डाला है। उसने विचारजगत्में एक क्रान्ति ही कर डाली है और वह आधुनिक मनीषाका एक अविभाज्य अंग वन गया है। विश्व, मनुष्य, ज्ञान और चेतना, नैतिक और मूल्यों, धर्म और ईश्वरके प्रति मनुष्यकी धारणाओंको उसने लगभग बदल डाला है। सम्भवतः विज्ञानकी अन्य किसी खोज या सिद्धान्तोसे मनुष्यकी विचार-धारणाओंगर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

इस सिद्धान्तसे प्रभावित होकर मनुष्यको यह विचार त्याग देना पड़ा है कि समाज और जगत स्थिर है। परि-वर्तन, विकास, परिवर्धन और उन्नति उसके जीवन-सूत्र वन गये है। मानवताका दृष्टिकोण लोकपरक और ऐहिक हो गया है। मनुष्य अब अपनेको सृष्टिका देन्द्र और सर्वोच्च शिखर न मानकर इतर प्राणियोंकी भॉति एक पशुजाति मानने लगा है। मनुष्यकी चेतना और उसके द्वारा स्वीकृत चिरन्तन मूल्य अब उतने असन्दिग्ध नहीं रह गये। विकासवादके आधारपर नयी नैतिकता और

नये मूल्योंका प्रस्फुटन हुआ है। नैतिकता किसी सत्य अथवा ऋत, किसी ईश्वर अथवा अवतारकी आज्ञा न रहकर मनुष्य और जीवनमे ही आधारित सिद्ध हुई है। स्वयं धर्म विकासकी प्रक्रियासे उत्पन्न हुआ है। धर्मका आधार मानवीय अनुभृति और बुद्धि है। ईश्वरने यह स्रष्टि ऐसी ही किसी दिन नहीं उत्पन्न कर दी थी, उसका निर्माण प्रतिक्षण हो रहा है।

विकासवादके सिद्धान्तोंसे प्रभावित सबसे प्रसिद्ध दार्शिनक नीत्शे हैं। उसने करुणा, वन्धुता, प्रेम आदिके पुरातन मूल्योका अवमूल्यन करके जीवन-संवर्षमें विजयश्री प्रदान करनेवाले करूर एवं निर्मम गुणोंको विकसित करनेपर बल दिया। नात्सी और फासिस्ट आन्दोलनोंका मूलाधार विकासवादी दर्शन है। पारचात्य मनीषापर विकासवादका हतना न्यापक प्रभाव पड़नेके कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे साहित्य भी उससे अछूता नही रह सका। जीवन तथा माहित्यके दृष्टिकोणको आधुनिक युगमें धार्मिकसे ऐहिक बनानेमे विकासवादका महत्त्वपूर्ण योग रहा है। —आ० विक्षेप-दे० 'स्वभावज अलंकार', चौदहवाँ।

विगताख्यान –दे० 'म्लेशबैक'।

विघटन (disintegration) - जब संकटापन्न समाज संकटके आगे घटने टेक देता है, तब उसमे विघटन आरम्भ हो जाता है। सामाजिक विघटनका अर्थ है समाजका छिन्न-भिन्न हो जाना। संकट मोटे तौरपर पाँच प्रकारके होते है—(१) प्रकृतिका कोप—भीषण सूखा, अकाल, जल प्लावन, महामारी, भूगर्भगत उपद्रव इत्यादि, (२) युद्ध-आक्रमणात्मक अथवा रक्षात्मक, (३)आन्तरिक अव्यवस्था— अशान्ति अथवा उपद्रव, (४) समाजकी जीवनी शक्तिका हास और (५) मूल्यों अथवा आदशोंका पतन-आदर्श-शन्यताको स्थित । प्रथम संकटका निवारण न कर सकनेपर जन-ममाजका एक भाग नष्ट हो जाता है और शेष तितर-वितर होकर अन्य समाज अथवा समाजोंमें जा मिलता है। द्वितीय संक्टका वारण न कर सकनेपर भी समाजका एक बडा भाग इसी प्रकार नष्ट अथवा अभिद्रुत हो जाता है और शेष आकामकका दास बनकर अपनी स्वतन्त्र सामाजिक सत्ता खो देता है। तृतीय संकटका वारण न कर सकनेपर भी समाजकी कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। चतुर्थ और पंचम संकट जितने महत्त्वपूर्ण है, जतने ही जटिल उनके विश्लेषण और विवेचन । आगे जो कुछ लिखा जा रहा है, उससे इनपर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ेगा।

विशेषतः प्रथम महायुद्धके कालसे अवतक अनेक इतिहासङ्ग, दार्शनिक तथा अन्य प्रकारके विचारक यह घोषणा
करते आ रहे है कि पाश्चात्य अथवा यूरोपीय सभ्यताका
सूर्य या तो अस्त हो चुका है या शीव्र ही अस्त होनेवाला
है। इनमेसे अनेकने संस्कृतियोंके जन्म और मरणके विषयमें
न्यापक सिद्धान्तीकी उद्भावना कर डाली है। इनमें
ओस्वाल्ड स्पेग्लर और आर्नाल्ड जो ट्वायनवीके अनुसार
पहले भी अनेक संस्कृतियाँ विघटित और विनष्ट हो चुकी है,
जिनमेसे कईके शव धरित्री अब भी वहन कर रही है।

संस्कृति अथवा सभ्यताका विघटन और विनाश क्यो और कैसे होता है ? स्पेंग्लरका उत्तर है कि प्रत्येक संस्कृति एक सजीव प्राणी अथवा पौधेके समान जन्म लेती, बढती और परिपक होती है और जब वह अपनी सम्पूर्ण सम्भावना-राशि निःशेष कर चुकती है तब विघटित और विनष्ट हो जाती है। विघटनके समय संस्कृतिकी पूरी मीनार धराशायी होने लगती है। पहले विश्व-नगर विघटित होते है, फिर प्रान्त और अन्तमें सम्चा देश विघटित हो जाता है। बचे-सुचे मनुष्य आदिम, बर्बर अथवा दासताकी अवस्थाको प्राप्त होकर रह जाते है।

द्वायनवीकी मान्यता है कि सभ्यता जबतक परिसर (एनविरनमेण्ट) अथवा परिस्थितिकी चुनौतीका सफल प्रति-कार करती रहती है, तबतक संवद्धित होती रहती है और जव उसकी यह क्षमता नष्ट हो जाती है, तब उसमे विघटन आरम्भ हो जाता है। सभ्यतामे सर्जन-शक्तिका एवंविध ह्रास ही विघटनका कारण है। विकास और हासकी प्रक्रियाका लेखा यह है कि सभ्यताके उद्भव और विकास-का कारण है परिसरकी चुनौती तथा समाजकी सर्जनशील अरुपसंख्या (क्रिएटिव माइनारिटी) द्वारा उसका सफल प्रतिकार । प्रत्येक नयी चुनौती नये उत्तर, नयी प्रतिक्रिया-की मॉग करती है। जब यही सर्जनशील अल्पसंख्या सर्जन-कार्यकी ओरसे उदासीन एवं आलस्य-प्रमोदसे विज-ड़ित हो जाती है, तब उसमे जनताकी श्रद्धा क्रमशः कम होने लगती है। अतः उस अल्पसंख्याको वल-प्रयोग द्वारा अपना महत्त्व रखना पड़ता है। इस प्रकार वह सत्ताधारी अल्पसंख्या (डॉमिनेण्ट माइनारिटी) मात्र होकर रह जाती है। फलतः सभ्यताका आन्तरिक तनाव बढकर विघटन आरम्भ हो जाता है। टवायनवी सभ्यताके हास-कालके तीन सोपान बतलाता है—(१) पतन, (२) विघटन और (३) विनाश । प्रथमसे तृतीय सोपानतक पहुँचनेमें कभी-कभी शतियाँ—सहस्रान्दियाँ लग जाती है। द्वायनबीमे इस बातके भी संकेत मिल जाते है कि यूरोपीय सभ्यता पतनो-नमुख है, यद्यपि वह इसे बचानेके लिए भगवान्से प्रार्थना भी करता एवं करनेकी सिफारिश करता है। स्पेंग्लर और ट्वायनबी, दोनोका मत है कि विघटन एवं विनाशके बाद सभ्यता प्रायः शतियो-सहस्राब्दियोतक अपना प्रस्तरीभृत अस्तित्व बनाये रखती है, किन्तु वह विश्वके रंगमंचपर कोई भूमिका अहण करने योग्य नही रह जाती।

सोरोकिनकी स्थिति निराली है। वह सम्पूर्ण समाजको पूर्णतः एकीमृत अवयवी माननेके पक्षमे नहीं है। अतः उसका कहना है कि जब सम्पूर्ण पाइचात्य संस्कृति कभी संघटित ही नहीं रही तो विघटित कैसे होगी? वह विघटन केवल महासंस्थान (दे०)मे ही मान सकता है। उसकी मान्यता यह है कि पाइचात्य संस्कृति जिस इन्द्रियाग्रही महासंस्थानके शासनमे है उसका विघटन हो रहा है और उसके विघटनसे तदधीन सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान भी विघटित हो रहे है। वह इस बातको स्पष्ट कर देता है। कि जो सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थान तथा समुदाय इस इन्द्रियाग्रही महासंस्थानके अन्तर्गत नहीं है, उनका विघटन न हो रहा है और न होनेका कोई अर्थ ही है।

सोरोकिनकी धारणा है कि जब महासंस्थानमें विघटन आरम्भ हो जाता है, तब समाजको एक महान संकटकालसे गुजरता हुआ समझना चाहिये। जपर हमने पाँच प्रकारके संकट बताये है, जनमें चौथे संकटकी मीमांसा स्पेंग्लर और ट्वायनवीके मतोंकी मीमांसाके साथ हो गयी है। सोरोकिनके मतका सम्बन्ध पाँचवें प्रकारके संकटसे है। उसकी समझमें इससे बड़ा दूसरा संकट नहीं। महासंस्थान समाजके मृल्यों एवं आदर्शोंकी समष्टिका नाम है।

संकटकालमे मनुष्यके मन, चरित्र, समूहों अथवा संस्थाओं में जो अन्तर्विरोध निहित होते है, वे व्यक्त हो जाते है। इस स्थितिको सोरोकिन द्वन्द्रयस्तता (पोलराइ-जेशन)की संज्ञा देता है। जब द्वन्द्रयस्त व्यक्तिकी आन्तरिक दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ तुल्यवल होती है, तव वह खण्डित-व्यक्तित्व हो जाता है, जब इस प्रकारकी प्रवृत्तियोंकी संख्या अधिक होती है, तब उसके मन और व्यवहारमें अनेकदिक् विघटन आरम्भ हो जाता है और उसके फलस्वरूप वह असाधारण बन जाता है और यदि वे प्रवृत्तियाँ तुरुयबल नहीं हुई तो प्रबलतर या प्रबलतम प्रवृत्ति विजयी होती है और फलतः उस व्यक्तिके मन और व्यवहारमें अब उस प्रवृत्तिकी दृष्टिसे पहलेसे अधिक सामंजस्य और दढता आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पापोन्मुखता और पुण्योन्मुखताके युद्धमे पापोन्मुखताकी विजय होती है, तो द्रन्द्रग्रस्त व्यक्ति संकटकालमे कही अधिक नियमित रूपसे पापकर्मा हो जाता है और यदि पुण्योन्म-खताकी विजय हुई तो वह संकटकालमे कहीं अधिक साध्रवत आचरण करने लगता है। इस प्रकार संकटापन समाज जब अतियोंसे यस्त हो जाता है-उसमें बीचकी श्रिति, मध्यम पथका लीप हो जाता है।

संकटकालमें समाजके मुल्यों, मानो, प्रतिमानो एवं आदशौंका भी विघटन, विनाश और पुनस्संघटन देखनेको मिलता है। मूल्योंके आपसी संघर्षमें निर्बल मूल्य सर्वथा विषटित और त्रिनष्ट हो जाते हैं, लेकिन यदि वे तूल्य बलके हुए तो दोनों लडकर नष्ट हो जाते है और या तो उनके स्थानपर एक तीसरा ही मूल्य आ धमकता है या एक शून्य उत्पन्न हो जाता है । मूल्यगत शून्य अथवा आदर्श-शून्यता-की अवस्था समाजके लिए अत्यन्त भयावनी है, क्योंकि इसके कारण समाजका सर्वतो मुखी विघटन आरम्भ हो जाता है। अन्ततः मूल्य अथवा आदर्श ही समाजके विभिन्न सदस्यों अथवा अंगोको एकताके सूत्रमे आबद्ध किये हुए है। कहना न होगा कि आजकल प्रायः सभी पुराने मूल्य विघटित होते जा रहे हैं और मूल्य-शून्यताकी आशंका उत्पन्न हो गयी है। विचार-नियंत्रण - फासिस्ट (दे॰ 'फासिज्म') तानाशाही विद्यालयोंपर पूरा नियन्त्रण रखती है, वह उन्हे शैक्षिक बैरक बनाकर छोडती है। उनमें विद्यार्थीको वही पढना, सोचना, मानना, लिखना होता है, जो राज्य द्वारा स्वीकृत है। स्वतन्त्रचेता व्यक्तियोंके लिए फासिस्ट राज्यमें कोई स्थान नहीं। एक फासिस्ट लेखक कहता है कि फासिस्ट राज्यमे वैज्ञानिकको वैसे ही सत्यकी खोजमें स्वतन्त्रता है,

जैसा कि राज्यको दिखायी देता है। ऐसे राज्यमे कलाकी

स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। शिक्षाके समान कलाको

फासिस्ट प्रवारका साधनमात्र बनकर रह जाना होता है।

और अविच्छिन्न होता है। नदीके प्रवाहके समान यह नित्य परिवर्तनशील और प्रवहमान रहता है और इसकी सन्तान भी विच्छिन्न नहीं होती। योगाचारी इस विज्ञानको निरालम्ब मानते है। यह अपना आलम्ब (आधार) स्वयं होता है और अपने ज्ञानके निमित्त किसी अन्य आलम्बन-की इसे आवश्यकना नहीं पडती। इस दृष्टिने विज्ञानवादी स्वसंवित्तिके सिद्धान्तके पक्षपाती है। जिस प्रकार प्रदीपकी एक ज्वाला स्वयंको प्रकाशित करनेके साथ-साथ अन्य पदार्थींको भी प्रकाशित करती है, उसी प्रकार विज्ञान भी स्वयंका ज्ञापक होनेके साथ-साथ विषयान्तरकी विज्ञप्तिका भी हेत होता है। यह विज्ञान योगाचारियोंके मतमे क्षणिक, नित्यप्रवाहशील और परिणामधर्मा है। सारा जगत इसीका परिणाम है। परन्त यह परिणाम किसी स्थायी नित्य या कूटस्थ पदार्थका कार्य रूपमें परिणत होना नहीं है, अपित क्षणिक विज्ञानरूप कारणका (सन्ततिरूप) क्षणावस्थायी कार्यके रूपमे एककालिक परिवर्तन ही है। इस विज्ञानके परिणाम त्रिविध बताये गये है-विपाक विज्ञान या आलय विज्ञान, मननात्मक मनोविज्ञान तथा विषय रूप प्रवृत्ति विज्ञान ।

इसमेने आलय विज्ञान ही सम्पूर्ण विज्ञानात्मक जगत्की उत्पत्तिका बीज स्थान है,जिसमे सभी धर्म लीन रहते है और जिससे सभी भाव उत्पन्न होते हैं (दे० 'आलय विज्ञान')। मननात्मक किल्ष्ट मनोविज्ञान पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत विचारों या प्रत्ययोका परिच्छेद करता है। यह कलेशोंसे संयुक्त (किल्ष्ट) होता है और विज्ञुद्ध अहंकार का बोतक है। यह आलय विज्ञानको क्लेश-सम्बद्ध कर उसे जीव रूपमें भी विषयत करता है। प्रवृत्ति विज्ञान सभी बाह्य पदार्थोंकी विषय-विज्ञितिकी हो शास्त्रीय संज्ञा है। यह पाँच इन्द्रियों और मन द्वारा उनके प्राह्म विषयोंकी विज्ञप्तिक रूपमें छः प्रकारका वताया गया है। यह परिच्छिन्न स्वभाव, क्षणिक और अनित्य होता है तथा चक्षुरादि इसके आलम्बन होते है।

हिन्दीमें सिद्धोंके साहित्यपर विज्ञानके इस सिद्धान्तका पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। वे सम्पूर्ण जगत्को मनका विकल्प और विज्ञानरूप ही मानते हैं, जो भ्रान्ति सहद्य है (दे॰ 'विज्ञानवाद')।

[सहायक यन्य—नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन; बलदेव उपाध्याय : बौद्ध दर्शन; राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी कान्य धारा; दोहा कोष ।] —क० शु० विज्ञानवाद—महायानके दो दार्शनिक सम्प्रदाय हुए— शून्यवाद और विज्ञानवाद । शून्यवादके प्रमुख आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित दर्शन अत्यन्त तर्कसम्मत होते हुए भी बहुत जटिल है और निषेधात्मक हैं (दे० 'शून्यवाद') । विज्ञानवादने इस निषेधात्मकताका परिहार किया और भूततथता के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया तथा साधना पद्धतिके रूपमें योग-प्रणालीको स्वीकार किया, अतः इसे भूततथतावाद' और 'योगाचार'-सम्प्रदाय भी कहते है ।

इसके प्रमुख आचार्य अश्वधोष, वसुबन्धु, असंग और मैत्रेय माने जाते हैं। कहा जाता है कि नागार्जुन (२ शु॰ ईं॰)के रूगमग एक शताब्दी बाद मैत्रेयने 'अभिसम-

यालंकारकारिका' लिखकर विज्ञानवादको एक निश्चित दार्शनिक माड दिया, जिससे पॉचवीं शताब्दोमें असंगते पूर्ण रूपसे सुन्यवस्थित किया। शून्यवादी सभीको शून्य मानते है, किन्तु विज्ञानवादीका कहना है कि द्रष्टाके अन-भव, चित्त या विज्ञान परम्पराको शत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि मानसिक दशाएँ और क्रियाएँ भी शन्य हैं तो शून्यवादीके तर्क भी शून्य हैं। अतः मनोमय जगत्का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। किन्त विज्ञान-वादी मनोमय जगत्का अस्तित्व मानते हुए भी बाह्य विश्वका पूर्ण निषेध कर उसका अस्तित्व नहीं मानता है (दे॰ 'जगतानुबोध')। विश्व केवल विज्ञानों, चेतनाओ और प्रत्ययोंकी शृंखलामात्र है। वित्त आलय-विज्ञान है और इस आलय-विज्ञानके प्रवाहमे एक क्षणिक विज्ञान दसरे विज्ञानको कार्य-कारण-श्रंखलासे उत्पन्न करता चलता है। इसका अन्तिम विलयन विज्ञप्तिमात्रतामे होता है. इसीको **परमार्थ** या 'भूततथता' कहते है, यही **निर्वाण** है।

इसका उदाहरण विद्यानवादी यन्थोमें यों दिया गया है कि चित्त अपनी स्मृतियों और अज्ञानजन्य कल्पनाओंको संगृहीत करता चलता है। वही संसार है। पर उसका नाश होनेपर चित्तका नाश नहीं होता, जैसे वायुके शान्त होनेपर जलमें लहरें उठना बन्द हो जाता है, पर लहरोंके विलीन होनेसे जल विलुप्त नहीं हो जाता। वह जो विनष्ट नहीं होता, वही परमार्थ या भूततथता या निर्वाण है।

वज्रयानी सिद्धांने शृत्यवादी निर्वाणकी अपेक्षा तथताके सिद्धान्तको अधिक मान्यता दी है। कोंकणपा, नन्दीपा और काण्हपाने अपनी चर्याओं ने तथतारूपी निर्वाणको स्वीकृति दी है। इसी तथताको नेरात्म्य-ज्ञान भी कहा गया है, क्योंकि इसमें धर्म नैरात्म्य भी है, अर्थात् सांसारिक वस्तुओंका भी नेरात्म्य या शृत्यता है और पुद्गलनेरात्म्य, अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताका भी निषेष कर केवल तथता स्कर्प चित्तको ही स्वीकार किया है।

विट-दे॰ 'नर्मसचिव', नायक।

वितर्क (तर्क, विकल्प) - प्रचलित तैतीस संचारियों में से एक । वितर्कमें अनुमान इष्ट एवं अतिष्ट, दोनों पक्षोंमें बारी-बारीसे हो सकता है। 'नाट्यशास्त्र'मे सन्देह, अर्थात् उभयावलम्बी संशय, विमर्श, अर्थात विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति, अर्थात् परस्पर सम्बद्ध ऊह एवं अपोहको तर्कका विभाव बताया है। विविध विचारके प्रश्न, सिर एवं भ्रयुगलके क्षेप और अंगुलीके नर्तनसे इसकी अभिन्यक्ति होती है (नाट्य॰, ७: ९२ग)। कदाचित् परिभाषाको कम तार्किक बनानेके कारण धनंजय इत्यादिने सन्देहको प्रधान स्थान देकर 'नाट्यशास्त्र'के विमर्श एवं विप्रतिपत्ति शब्दों-को 'आदि' कहकर सन्तोष कर लिया। हिन्दीके रीतिकाल-के आचार्यों में कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है—''विप्रतिपत्ति विचारु अरु संसय अध्यवसाइ। बितरक चौबिध जानिये"(देव: भा०: संचारी०)। अन्योंने सामान्यतः "उर उपजत सन्देह जहँ कीजे कछू विचार" (जगद्वि०, ५६८) लक्षण दिया है।

महादेवीका उदाहरण-"दुखका जग हूँ या सुखकी

पल, करणाका धन या मरु निर्जन" (का०द०, पृ० ८०) । इसमें किविका आत्मगत कहापोहका वितर्क है। पद्माकरके इस उदाहरणमें विमर्श है—"भूल्यो भौह भालमें चुम्यों के टेढी चालमें, छक्यों कि छिव जालमें के बीध्यों वनमाल में" (जगिह्र०, ५७०)। देवने इसके चार प्रकारके उदाहरण दिये हैं। विप्रतिपत्तिका उदा०—"न सुने तवी काहू कहूँ कबहूँ कि मयंकके अंकमें पंकज है"। विचारका उदा०—"प्रान पियारे तु एहे घरे पर प्रान पयान के फेरिन ऐहे"। संशयका उदा०—"कियों कोनके भौनकी दीप सिखा कोनके भाग है भालखची"। अध्यवसायका उदा०—"तिहि कपरको यह सोम नवोतम तौम चहूँदिसि झूलि रहें" (भाव०, संचारि०)।

वित्तजा सेवा-दे॰ 'सेवा'। विदरधा (नायिका)-परकीयाकी स्थितिके अनुसार भेद; विशेषके लिए दे० 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम मानुदत्त द्वारा उल्लिखित । परपुरुषके प्रति अपने अनुरागका संकेत चत्राईसे देनेवाली नायिका। १. वचनविदयधा-वचनसे इस चतुराईका निर्वाह करनेवाली नायिका—"करै बचनसौ चात्ररी'' (मतिराम) । पद्माकरने स्पष्ट करते हुए कहा है-"बचननकी रचनानिसो जो साथै निज काज" (जगदि०, १:९५) । वाक्चातुर्यसे नायिका अपना मनोरथ पुरा करती हुई भी प्रेमभावको दूसरोसे छिपा लेती है-"तनिक सि नाक नथुनियाँ मित हित नीक । कहति नाक पहिरावह चित दै सीक" (बरवै०, १४)। रहीम सहज भावसे चातुर्य-को व्यक्त कर सके हैं। अन्य उदाहरणों में परिस्थितिका स्थूल रूप ही प्रधान है—"नित साँझ सनेरे हमारी हहा हरि गैया भला दहि जैशे करौं" (पद्माकर : जगद्वि०, १ : ९६)। २. क्रियाविदग्धा-क्रियाकी चतुराईसे जो अपने अनु-रागको व्यक्त करनेमें समर्थ हो। 'क्रियासुजान' करके जो अपना 'काज साधे' ऐसी नायिका (पन्नाकर)। कुछ चतु-राईका कार्य करके यह नाथिका अपना मनोरथ सिद्ध करती है—"नैन नमाय रही हियमालमै लालकी मूरति लालमै देख्यो" (मतिराम: र॰ रा॰, ७४)। रहीमकी नायिकाकी स्थिति अधिक यथार्थ है—"बाहिर लैके दियवा बारन जाय । सासु ननद हिग पहुँचत देति बुझाय" (बरवै०, १३)।

विदूषक - दे० 'नर्म-सचिव', नायक। विद्याविरुद्ध - दे० 'अर्थ-दोष', दसवाँ।

विधि—एक गौण अर्थालंकार । जैसे प्रतिषेथ अलंकारमे प्रसिद्धतया निषेधप्राप्त वस्तुका अन्यार्थ-गिमित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुनः कीर्तन होता है, वैसे ही प्रसिद्धतया सिद्ध वस्तुका अन्यार्थगिमित चमत्कारपूर्ण रीतिसे पुनः कीर्तन करनेसे विधि अलंकार होता है । सम्भवतः सर्वप्रथम अप्पय दीक्षितने इस अलंकारकी परिभाषा निम्नलिखित प्रकारसे की है—"सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतम्" (जुवल०, ९९) । इसीके आधारपर हिन्दीके आचार्योंने भी इस अलंकारको स्वीकार किया है—"जहाँ सिद्धि ही बानको करत प्रसिद्ध क्खान" (ल० ००, ३८९) अथवा—"सिद्ध अर्थहि बहुरि, सिद्ध कीजियतु जित्त" (पद्मा०, २७८) । उदा०—'उत्तररामचिति' (२: १०)में शुद्धके तप करनेमे

अल्पवयस्क ब्राह्मणके मरनेपर उस शूद्रपर बाण छोड़ते हुए रामचन्द्रका कहना—"तजु कर सर मुनि सुद्र पर द्विजिससु जीवन-हेतु । राम गात है जिन तजी सीता गर्भ समेत" (छाया, अ० मं०, १६५)। निश्चय हाथ रामका अंग है। यह बात सिद्ध है, पर फिर भी करुणाका अभाव बतानेके लिए कहते हैं कि तू वास्तवमें उस कठोरहृद्रय रामका हाथ है, जिसने सीताका परित्याग कर दिया, अर्थात् सिद्ध वस्तुकी यहाँ पुष्टि हुई है। अतः विधि अलंकार हुआ। अथवा—"खलनिक खण्डिबेकों मंगनको मण्डिबेकों, महाबीर भावसिंह भावसिंह होत हैं" (ल० ल०, ३९०)।

विधि-अयुक्त-दे॰ 'अर्थ-दोष', बाईसवाँ।

विनोक्ति-साद्दयगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका अर्थालंकार ! सम्भवतः मम्मट तथा रुय्यकने सर्वप्रथम इसे स्वीकार किया है। मम्मटके अनुसार इसमें एकके बिना दूसरेके अशोभन होने अथवा शोभन होनेका कथन अभिप्रेत होता है (का० प्र०,१०: ११३)। विश्वनाथका लक्षण इसीपर आधारित है—"यद्दिनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा" (सा० द०, १०: ५६)। यहाँ शोभनके स्थानपर 'नासाध्र' कहा गया है। जयदेवने केवल हीन भेद माना है, पर उनके टीकाकार अप्पय दीक्षितने विश्वनाथ आदिके दोनों भेदोको स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसका लक्षण दिया है—"बिना कळू जहँ बरनिये, कै हीनो कै नीक" (शि॰ भू॰, १५१)। दासने शोभन-अशोभनके स्थानपर 'सुभ-असुभ' कर दिया है (का० नि०, १५)। इस अलंकारमें बिना, हीन, रहित आदि वाचक शब्दोंका प्रयोग होता है, परन्तु अनिवार्य नहीं है। उदा०— "प्राणनाथ तुम बिनु जगमाही। मोकहँ कतहुँ सुखद कछु नाही। जिय विनु देह नदी विनु बारी। तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी" (रा० च० मा०, २: ६५)। यहाँ देह, नदी तथा सीताका अशोभन होना कथित है। अथवा—"देखत दीपति दीपकी, देत प्रान अरु देह। राजत एक पतंगमै, विना कपटको नेह" (ल० छ०, १६१)। यहाँ कपटके विना नेहको शोभन कहा गया है। -शि॰ प्र॰ सिं॰ विपर्यय-दे॰ 'भ्रम', 'भ्रान्ति'।

विप्रलंभ-श्रंगार मोजराजने विप्रलम्भ-श्रंगारकी यह परि-भाषा दी है—''जहाँ रित नामक भाव प्रकर्षको प्राप्त करे, लेकिन अभीष्टको न पा सके, वहाँ विप्रलंभ-श्रंगार कहा जाता है" (स० कं०, ५: ४५)।

मानुदत्तका कथन है—''युवा और युवतीकी परस्पर मुदित पंचेन्द्रियोंके पारस्परिक सम्बन्धका अमाव अथवा अमीष्टकी अप्राप्ति विप्रकम्भ हैं" (र० त०, ६)। 'साहित्य-दर्पण'में भोजराजकी परिभाषा ही दुहरायी गयी—''यत्र तु रितः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रकम्भोऽसी" (३: १८७)। इन कथनोमे अभीष्टका अभिप्राय नायक या नायिकासे है। उक्त आचार्योंने अभीष्टकी अप्राप्ति ही विप्रकम्भकी निष्पत्तिके लिए आवश्यक मानी है। लेकिन पण्डितराजने प्रेमकी वर्तमानताको प्रधानता दी है। उनके अनुमार यदि नायक-नायिकामे वियोगदशामे प्रेम हो तो, वहाँ विप्रकम्म

शृंगार होता है। उनका कथन है कि वियोगका अर्थ है यह ज्ञान कि 'में बिछुड़ा हूँ', अर्थात् इस तर्कणासे वियोगमें भी मानसिक संयोग सम्पन्न होनेपर विप्रलम्भ नहीं माना जायगा। स्वप्त-समागम होनेपर वियोगमें भी संयोग माना जाता है।

हिन्दीके आचार्योमें केशव तथा सोमनाथने 'रसगंगाधर'की परिभाषा अपनायी है तथा चिन्तामणि और भिखारीदास
'साहित्यदर्पण'से प्रभावित हैं। केशव—''बिछुरत प्रीतमकी
प्रीतिमा, होत जु रस तिहि ठौर। बिप्रलम्भ तासो कहै,
केसव कवि सिरमौर"। सोमनाथ—''प्रीतमके बिछुरिन
विपै जो रस उपजत आइ। विप्रलम्भ सिंगार सो कहत
सकल कविराइ"। चिन्तामणि—''जहाँ मिलै निहिं नारि
अम् पुरुष सु बरन वियोग"। भिखारी—''जहें दम्पतिके
मिलन बिन, होत विथा विस्तार। उपजत अन्तर भाव
बहु, सो वियोग श्रंगार"।

विप्रलम्मके कई प्रकारसे भेद किये गये हैं। भोजने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण, ये चार भेद कहे है। परवर्ती आचार्योंमें विश्वनाथने इन्ही भेदोका कथन किया है। लेकिन मम्मटने विप्रलम्मके पॉच प्रकार बताये है—अभिलापहेतुक, विरसहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक तथा शापहेतुक। भानुदत्त और पण्डितराजने मम्मटके भेदोंको ही स्वीकार किया है। हिन्दीके आचार्योंमें केशन, देव, मिखारी इत्यादिने 'साहित्यदर्पण'का ही अनुसरण किया है। नवीन विद्वानोंमे कन्हैयालाल पोहारने 'काव्यप्रकाश'का तथा रामदहिन मिश्रने 'साहित्यदर्पण'का वर्गीकरण स्वीकार किया है। 'हरिऔथ' पूर्वानुराग, मान और प्रवास, तीन ही भेद स्वीकार करते है। मितरामने भी 'रसराज'में ये ही तीन भेद स्वीकार करते है।

धनंजयने शृंगारके तीन भेद बताये है—आयोग, विप्रयोग तथा सम्मोग। इनमे आयोग और विप्रयोग विप्रलम्भके अन्तर्गत आते हैं। आयोगका अर्थ है नहीं मिल पाना और विप्रयोगका अर्थ है मिलकर अलग हो जाना। लक्षणके अनुसार आयोग पूर्वांतुरागके समकक्ष है। कभी-कभी विप्र-योग और विप्रलम्भ पर्यांय जैसे भी समझे जाते है।

मिलन अथवा समागमसे पूर्व हृदयमे जो अनुरागका आविर्भाव होता है, उसे पूर्वराग या पूर्वानुराग कहा जाता है। इसके चार मार्ग या विधियाँ है—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, श्रवण-दर्शन एवं स्वप्न-दर्शन। इनमें प्रियमूर्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे दर्शन होनेका विधान है। पूर्वानुरागको नियोग भी कहते हैं। कविराज विश्वनाथके अनुसार पूर्वानुराग तीन प्रकारका होता है—नीलीराग, जो बाहरी चमक-दमक तो अधिक न दिखाये, किन्तु हृदयसे कभी दूर न हो; कुसुम्भराग, जो शोमित अधिक हो, लेकिन जाता रहे और मंजिष्ठाराग, जो शोमित भी हो और साथ ही कभी नष्ट भी न हो।

प्रियापराधजनित कोपको मान कहते है। इसके भी दो भेद होते हैं—प्रणयमान और ई॰र्यामान। दोनोंके हृदयमें भरपूर प्रेम होनेपर भी जब प्रिय-प्रिया एक-दूसरेसे कुपित हों, तब प्रणयमान होता है। इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि प्रेमकी गति कुटिल होती है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ऐसा मान नायक-नायिका पारस्परिक अनुरागकी पृष्टिके हेतु करते हैं। यदि यह मान अनुनय-विनयके समयतक न ठहर सके, तो इसे विप्रलम्भ शृंगार न समझकर 'सम्भोगसंचारी' नामक भाव मानना चाहिये। पतिकी अन्य नारीमें आसक्ति देखने, अनुमान करने या किसीसे सुन लेनेपर स्त्रियों द्वारा किया गया मान 'ईर्ण्यामान' कहलाता है। निवृत्तिके अनुसार ईर्ण्यामानके भी तीन भेद कहे गये हैं—लबु मान, मध्यम-मान और ग्रह मान।

नायक-नायिकामेसे एकका परदेशमे होना प्रवास कहलाता है। यह प्रवास कार्यवश, शापवश अथवा भयवश, तीन कारणोसे होता है। प्रवास-वियोगमें नायिकाके शरीर और वस्त्रमें मल्निता, सिरमे एक साधारण वेणो एवं निःश्वास-उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन इत्यादि होते हैं। शापज (अथवा शापहेतुक) वियोगका प्रसिद्ध उदाहरण काल्दिसका मेघदूत है, जिसमे कुनेरके शापके कारण यक्ष अपनी पत्नीसे वियुक्त हो गया है तथा मेघको दूत बनाकर अपना ममेदावक प्रणय-सन्देश प्रियाके पास भेजता है।

नायक-नायिकामें से एकके मर जानेपर दूसरा जो दुःखी होता है, उसे करुण-विप्रलम्भ कहते है। लेकिन विप्रलम्भ तभी माना जायगा, जब परलोकगत व्यक्तिके इसी जन्ममे इसी देहसे पुनः मिलनेकी आशा बनी रहे। यदि प्रिय-मिलनकी आशा सर्वथा नष्ट हो जाय, तो वहाँ स्थायी भाव शोक होनेसे करुण रस होगा, करुण-विप्रलम्भ-शृंगार नहीं। 'रघवंदा'मे इन्द्रमतीके मर जानेपर महाराज अजका प्रसिद्ध विलाप करुण रस ही है, करुण-विप्रलम्भ नही। कादम्बरीमे पुण्डरीकके मर जानेपर महाश्वेताको करुण रसकी ही अन-भूति हुई, लेकिन आकाशवाणी सुननेपर प्रियमिलनकी आशा अंकुरित होनेके बादसे 'करुण-विप्रलम्भ' माना जाता है। वैसी दशामे भी, जहाँ प्रियसे मिलनेकी आशा नष्ट हो गयी है, लेकिन प्रिय जीवित है तथा मिलनकी भौतिक सम्भावना सर्वथा विलप्त नहीं हुई है, करुण-विप्र-लम्भ माना जायगा। 'सूरसागर'मे कृष्णके बजसे चले जानेके अनन्तर गोपियोकी वियोगानुभूति करुण-विप्रलम्भ ही है।

मम्मटके पंचिषध विप्रलम्भ और विश्वनाथके चतुर्विध विप्रलम्भमे कोई मौलिक भेद नहीं है। मम्मटका अभिलाषहेतुक वियोग 'साहित्यदर्पण'का पूर्वानुराग ही है, यद्यपि सामान्य कान्यानुरागियों में 'पूर्वराग' या 'पूर्वानुराग' शब्द अधिक लोकप्रिय है। 'ई॰ याहितुक'का सम्बन्ध मानसे है। प्रवास एव शाप, दोनो वर्गांकरणोमे समान है। करणविप्रलम्भ प्रवासहेतुक वियोगके भीतर सन्निविष्ट किया जा सकता है। मम्मटका विरहहेतुक विप्रलम्भ अवस्य एक सुन्दर मुझ है। समीप रहनेपर भी गुरुजनोकी लज्जा आदिके कारण समागम न हो, तो वह विरहहेतुक वियोग माना जायगा। इसके अत्यन्त मर्भरपर्शी उदाहरण लोक-गीतोमे मिल जाया करते हैं। विहारीका यह प्रसिद्ध दोहा विरहहेतुक विप्रलम्भका सुन्दर उदाहरण है—"देखें वने न देखते अनदेखें अकुलाहिं। इन दुखिया ऑखियानुको सुख सिरक्योई नाहिं" (वि० स०, ६६३)।

वियोगसे सम्बन्धित दस काम-दशाएँ भी मानी गयी है-अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्देग, प्रलाप, उन्माद, न्याधि, जड़ता और मृति या मरण। कितने ही लोग नौ काम-दशाएँ ही मानते है, मरणको नहीं। कितने मुच्छोंको भी मिलाकर एकादश काम-दशाएँ स्वीकार करते हैं। प्रियसे तनसे मिलनकी इच्छा अभिलाष है; प्राप्तिके उपायोंकी खोज चिन्ता है: सखदायी वस्तुएँ जब दःखदायी बन जायँ, तो उद्देग हैं; चित्तके न्याकुल होनेसे अटपटी बाते करना प्रलाप है; जड-चेतनका विचार न रहना उन्माद है; दीर्घ निःश्वास, पाण्डता, दुर्बलता इत्यादि व्याधि है; अंगो तथा मनका चेष्टाश्चन्य होना जड़ता है। अन्य दशाओके अभिप्राय स्वतः स्पष्ट है। इनमे चिन्ता, स्परण, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण संचारियोमें भी वैसे ही गृहीत है। रसका विच्छेदक होनेसे मरणका वर्णन प्रायः निषिद्ध ठहराया जाता है, लेकिन विश्वनाथ कहते है कि मरण-तुल्य दशा तथा चित्तसे आकांक्षित मरणका वर्णन माह्य है और शीव पुनर्जीवित होनेकी आशा हो, तो भी मरणका उल्लेख मान्य है। देवकी सलाह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है-"मरनौ वा विधि वरनिये जाते रस न नसाइ"। भारतेन्द्रकी निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टभ्य है-"एही प्रान प्यारे बिन दरम तिहारे भये, मुये हूं पै ऑखे ए खुली ही रह जायंगी"। 'मरण'के गृहीत हो जानेसे सम्पूर्ण व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ या वियोग-शृंगारमें चले आते है। विप्रलब्धा (नायिका) - अवस्थानुसार नायिकाओंके विभा-जनका एक भेद; विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। सर्व-प्रथम उल्लेख भरतने किया है। भानुदत्तके अनुसार "संकेतनिकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया" (र० मं०, पृ० १११), अर्थात आहेटस्थलपर नायकको न पाकर व्याकुल होनेवाली नायिका विप्रलब्धा कही जाती है। मितरामका भाव यही है-"मिलन आस करि जाय तिय मिले न पिय संकेत" (रसराज, १४४)। पद्माकर 'पिय बिहीन संकेत' कहकर यही बात न्यक्त करते है। रहीम मुग्धा विप्रलंभ्धाका अंकन व्यंजक रूपमे करते हैं-"मिलेउ न कन्त सहेटवा रुखेउ डेराइ। धनियाँ कमल बदनियाँ गइ कुम्हिलाइ" (बरवै०, '५२)। नायिका अभी कोमल है। सहेटम्थलपर कन्तको न पाकर मतिरामकी मुग्धा भी व्याकुल हो जानी है-"नवल बालको कमल-सो गयो बदन कुम्भिलाय" (रसराज, १४६)। मध्या व्याकल कम, व्यथित अधिक होती है—"तियको मिलो न प्रान प्रिय, सजल जलद तन मैन। सजल जलद लखिके भये सजल जलद-से नैन" (वही, १४८)। रहीमकी मध्या "लै लै कॅचि उसँसवा है विवारार" (बरवै०, ५३)। प्रौढा विप्रलब्धा अपनी उद्धिग्नता छिपानेका प्रयत्न भी नही करती-"निरखि सेज रँग-रॅग मरी लगी उसाँसै लैन। कछ न चैन चितमें रह्यो चढत चाँदनी रैन" (पद्माकर: जगद्वि०, १:१८७) । परकीया विप्रलब्धाको सहेउस्थलपर नायक नहीं मिलता तो वह भयाकुल हो उठती है-"साहस करि कुंजन गयी, लख्यो न नन्दिकसोर। दीप शिखा-सी थरहरी, लगी बयारि झकोर" (मतिराम: र०

रा०, १५३)। सामान्या विप्रलब्धामें वास्तविक दुःखके स्थानपर खेदमात्र होता है-"करिके सोरह सिंगरवा अतर लगाय। मिलेंड न लाल सहेटवा फिरि पछताय" (रहीम: बरवै०, ५६)। पर कवियोंने इस पछतानेको मात्र 'धनकी भई न धामकी तक सीमित रखा है। विद्यापितने राधाको विप्रलब्धा-रूपमें भी अंकित किया है, जिसमे राधाकी मानसिक व्यथा व्यंजित हुई है। भक्त कवियोने गोपियोंके रासप्रसंगमें कृष्णसे विछड़ जानेका वर्णन किया है। रीति कवियोने इस प्रसंगको विस्तारसे उपस्थित किया है और इसमे नारीके विविध मनीभावोका चित्रण हुआ है। —र० विबोध (प्रबोध एवं निबोध) - प्रचलित तैतीसमेसे एक संचारी भाव। 'नाट्यशास्त्र' तथा तदनुवर्ती अन्य अन्थोंमें 'विवोध', वाग्भटके 'काव्यानुशासन', 'अग्निपुराण' तथा 'नाटकलक्षण-रत्नकोश'मे 'प्रबोध' और 'नञजराजयशो-भूषण'में इसको 'निबोध' कहा गया है। अन्वय द्वारा 'अग्निपराण'में और व्यतिरेक द्वारा 'काव्यानुशासन'मे इस 'संचारी'का लक्षण दिया गया है—चेतनाका उदय होना एवं निद्राका न होना क्रमशः प्रवीध है अथवा निद्रा दूर होनेके वाद चेतनालाभको विबोध कहते है। 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार निद्राभंग होना, भोजनका कुपरिणाम, दुःखप्न, नीव स्पर्श अथवा शब्दश्रवण इत्यादि विभावोंसे यह भाव उत्पन्न होता है। जँभाई लेना, ऑखोको मलना, शयन-स्थानसे उठ खड़ा होना इत्यादि इसके अनुभाव है (७: ७७ ग); 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदपंण'मे माधके 'शिश-पालवध'के ग्यारहवें सर्गसे जो उदाहरण दिया गया है, वह निद्रोच्छेदका है। पर इस अर्थके अतिरिक्त, 'प्रतापरुद्र-यशोभुषण'मे प्रतापरुद्रके गुणोंके बोधको विबोध बताया गया है (४:४३)। कदाचित् इसी कारण कालान्तरमें इसका अर्थ न केवल निद्रासे जागरण अवस्थामें आना रहा, पर अज्ञानसे ज्ञान प्राप्त करना भी हुआ हो।

हिन्दी रीतिकाल्ये आचार्योंमे कतिपयने 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामे लक्षण दिया है—"नीद गये मीजै नयन,
अंग मंग जमुहाइ। एक बार इन्द्रिय जगै, ते कउ नीद
सुभाय" (भाव०: संचारी)। पर अन्योंने केवल
'जागिबो'के रूपमे स्वीकार किया है। देवका उदाहरण—
"चौकि परी तब कान्ह कहूँ न कदम्ब न कुंज न कालिन्दीकौ तट" (वहीं)। पद्माकर नीदसे जागी नायिकाका
चित्र अंकित करते है—"आँखे अधखुली अधखुली खिरकी
है खुली, अधखुले आननमें अधखुली अलकें" (जगिद्दि०,
५१३)। रामदहिन मिश्रने अज्ञानके मिटनेका उदाहरण
प्रस्तुत किया है—"हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों।
मानुभूमि इस तुच्छ जनको क्षमा करो। घोऊँगा कलंक
रक्त देकर शरीरका। आजतक खेथी तरी मैने पापसिन्धुमे।
अब खेऊँगा उसे धारमें कृपाणकीं" (का० द०से)। यह
देशद्रोही जयचन्दके विवोधकी व्यंजनाका उदाहरण है।

चेतनालाभ मानसिक अवस्था है, यद्यपि उसकी अभिन्यक्तिका सम्बन्ध शारीरिक अवस्थासे है। विबोधके समय इसके आधेय अथवा आश्रयकी अवस्था तो उदासीन ही होगी, चाहे कवि उसको सुखात्मक समझे, जैसा कि 'दशरूपक'के उदाहरणसे स्पष्ट है, अथवा

अन्यथा ।

— ज० कि० ब०

विडबोक-दे॰ 'खभावज अलंकार', आठवाँ।

विभव — विभव भी अवतारका पर्याय है, भगवान्का प्राहुर्भाव है, जिसके मुख्य और गौण, दो भेद्र है। मुख्य साक्षात् अवतार और गौण आवेशावतार कहलाते है। आवेशावतार-के भी दो भेद हैं—(१) शक्त्यावेश, जिसमें केवल भग-वान्की शक्तिका विकास होता है और (२) स्वरूपावेश, जिसमे अप्राकृत विग्रह सहित भगवान् किसी चेतन शरीरमे आविर्भूत होते है।

विभवावतारोकी संख्या ३९ मानी गयी है। मुक्ति-प्राप्तिके लिए मख्य विभवावतारोकी प्राप्तिके लिए गौण विभवावतारोंकी उपासना की —वि० मो० श० जाती है। विभाव-भरत(३-४ श॰ ई॰)ने 'नाट्यशास्त्र'मे विभावकी व्याख्या (७: ३-४) की है और इसे रस-निष्पत्ति(दे०)के लिए आवश्यक तत्त्व माना है। वस्तृतः भरतसे लेकर आधु-निक कालतक संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्यों और विवे-चकोंने विभावको इसी रूपमे माना है। विश्वनाथका लक्षण है-"रत्याद्यद्वीधकाः लोके विभावाः कान्यनाट्ययोः" (सा० द०, ३: २९), अर्थात् सामाजिकके अन्तर्गत रति-हास आदिको जो आस्वादनके योग्य उत्पन्न करते है। देव भी इसी प्रकार कहते है-"जे विसेध्य करि रसनिको उपजावत है भाव" (भा० वि०, २३२)। जो व्यक्ति, पदार्थ अथवा बाह्य विकार अन्य व्यक्तिके हृदयमे भावोको जामत करते हैं, उन भावोद्घोधक अथवा रसाभिन्यक्तिके कारणोको विभाव कहते है। इनके आश्रयसे रस प्रकट होता है, अतः यह कारण निमित्त अथवा हेत कहलाते है। रसकी अलौ-किक माननेके कारण इन्हें भी कारण आदि नाम न देकर असाधारण रूपसे विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रयमें भावोंको जायत भी करते है और उन्हे उद्दीप्त भी करते हैं। इस कारण इसके 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' नामक दो भेद किये गये हैं। उदाहरणतः, पृष्पवाटिकामें राम और जानकी घूम रहे है। जानकीके साथ उनकी सखियाँ हैं और रामके साथ उनके अनुज। इस दरयका तुलसीदासने निम्नलिखित पंक्तियोंने ही चित्र उपस्थित किया है, उसमें राम सीताके हृदयमें जायत रित भावके आलम्बन तथा सीताकी सखियाँ, जो उन्हें रामके दर्शनमें सहायता पहुँचा रही है, उद्दीपन तथा सीताका संकीच, उनका चिकत होना आदि अनुभाव है-"चितवत चिकत चहुँ दिसि सीता, कहँ गये नृप किसोर मन चीता। जहाँ बिलोक मृगसावक नैनी, जन तह बरिस कमल सित स्नेनी। लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये। देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने"। (रा० च० मा०, १)। —आ० प्र० दी० विभावना - विरोधमूलक अर्थालंकार; यह अलंकार अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण तथा प्रचलित अलंकारोंमें है और भामह, दण्डा-से लेकर, मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी संस्कृतके आचायोंने -इसका प्रतिपादन किया है। भामह तथा उद्भटकी इस परिभाषा-"'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना"

"क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिः" (का० प्र०, १०७), अर्थात जिसमे क्रियाका प्रतिषेध करके भी कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो। हिन्दीके आचार्यीने भी इसका न्यापकताने उल्लेख किया है और रीति-ग्रन्थोंमें इसके जहा-हरण पद-पदपर मिलते है । परन्त उन्होने विश्वनाथ और जयदेवके लक्षणका प्रायः अनुसरण किया है। 'साहित्य-दर्पण'में इसकी परिभाषा है—''विभावनाविना हेतं कार्यो-त्पत्तिर्यदच्यते" (१०:६६), अर्थात जहाँ विना कारण ही कार्यकी उत्पत्ति हो। विभावनाका अर्थ है कल्पना अर्थात् विद्य्थतापूर्वक प्रसिद्ध कारणके अभावमे कार्यकी . उत्पत्तिकी कल्पना। मतिराम आदिने इस अलंकारकी परिभाषा लगभग इस प्रकार दी है-"बिना हेत जह बरनिये, प्रगट होत है काज" (ह० छ०, १९६)। संस्कृतके आचार्यांने प्रायः उक्त निमित्त और अनुक्त निमित्त, ये दो भेद विभावनाके दिये है, किन्त्र हिन्दीके रीति-ग्रन्थोंमें प्रायः छः भेद प्रतिपादित हुए है, जिसका प्रत्यक्ष आधार अप्पय दीक्षितका 'कुवलयानन्द' है। इस अलंकारके मूलमें अभेद अध्यवसाय रहता है, अर्थात आरोप-के विषयको न कहकर केवल आरोप्यमाणका उल्लेख किया जाता है।

प्रथम विभावना—कारणके अभावमें कार्यका होना— "बिन पद चलै सुनै बिन काना। कर बिन कर्म करे विधि नाना" (रा० च० मा०) अथवा "सून भीतिपर चित्र रंग निहं तन बिन लिखा चितेरे। धोये मिटै न मरै भीति दख पाइय यहि तन हेरे" (वि० प०)। दिनीय विभावना-अपर्याप्त अथवा असमय कारणसे कार्यकी उत्पत्ति—"तिय कित कमनैती पढी, बिन जिह भौंह कमान । चित बेधन चूकित नहीं, बंक बिलोचन बान"। (बि० स०, ३५६)। यहाँ भौहरूपी धनुष विना प्रत्यंचाका है और बाण भी टेढे हैं, पर निशाना अचक लगता है। दण्डीने कान्यादर्शमें विभावनाके इस भेदको विशेषोक्ति माना है। ततीय विभावना-प्रतिबन्धकके रहते हुए भी कार्यकी उत्पत्ति—'भानत लाज लगाम नहिं, नैक न गहत मरोर। होत तोहि लखि बालके, हम तरंग मुँह-जोर" (ल० ल०, २०१)। चतुर्थं विभावना अकारण, जिस कार्यका जो कारण नहीं है, उससे कार्यकी उत्पत्ति-"हँसति बालके बदनमें, यों छिव कछ अतुल। फूली चम्पक बेलितें, झरत चमेली फूल" (ल० ल०, २०३)। यहाँ चम्पक लता(अकारण)से चमेलीके फूलकी उत्पत्ति वतायी गयी है। पंचम विभावना विरुद्ध कारण द्वारा कार्यकी उत्पत्ति—"रही गुही बेनी लख्यो, गुहिबेको त्यौनार । लागे नीर चुचान ये, नीठ सुखाये बार" स०, ४८०) । यहाँ नायकके संस्पर्शसे स्वेदरूपी सात्त्विक भावका उदय होता है, जिस करण सूखे हुए बालसे पानी चुने लगते है। **पष्ट विभावना**—कार्यसे कारणकी उत्पत्ति - "भूषन भनत तेरो दान संकल्प जल, अचरज सकल महीमें लपटत है। और नदी नदनते कोकनद होत, तेरी कर कोकनद नदी नद प्रगटत है" (शि० भू०, १९४)। यहाँ करकमल (कार्य) से दानाधिक्यके संकल्पके कारण नदी-नद (कारण) बह चलते हैं।

यह अलंकार अपने उक्त चमत्कारके कारण सभी युगोंके काव्यमें प्रचलित रहा। जायसी, मूर और तुलसी जैसे भाव-सिद्ध कवियोंने भी इसका स्थल-स्थल पर उपयोग किया है। वीर-काव्यमे वीरता आदिके वर्णनोंमे इसका वैचिन्यपूर्ण प्रयोग मिलता है। रीतिकालके कवियोकी प्रकृतिके ती यह अनुकूल ही है, विशेषकर नायिकाओके प्रेम और विरहवर्णनके प्रसंगोके। आधुनिक छायावादी कवियोमे इसका प्रयोग देखा जा सकता है, परन्तु वहाँ व्यंग्यार्थ —ঘ০ র০ যা০ विभ्रम (hallucination) - दे॰ 'भ्रम'। भ्रम किसी वास्त-विक विषयका अशुंद प्रत्यक्ष होता है, विभ्रममे किसी वास्तविक बाह्य पदार्थके बिना ही उसका प्रत्यक्ष होता है। विभ्रम होनेपर व्यक्ति अप्रस्तुत वस्तुओं या व्यक्तियोको देखता, अनुपस्थित शब्दोंको सुनता, गन्थोंको सूंघता-सा है। विभ्रम किसी ज्ञानेन्द्रियविशेषसे अथवा विविध ज्ञाने-न्द्रियोंसे एक साथ सम्बद्ध हो सकता है। स्वप्नो और सन्निपातमें अनेक ज्ञानेन्द्रियोसे सम्बद्ध विभ्रमोंका अनुभव

होता है। साधारणतया किसी एक ज्ञानेन्द्रिय-जैसे आँख,

कान, नासिका-से सम्बद्ध विश्रम ही अनुभवमें आते है।

दृष्टिगत विभ्रमोमें बडी विविधता होती है। व्यक्तिको अनु-

पस्थित मित्र या सम्बन्धी, पद्म, सॉप, बिच्छू, भूत-प्रेत

आदि दिखाई पडते है। सन्तो और मर्मियोको होनेवाले

इष्टरेवके दर्शन तथा उनकी अन्य रहस्यानुभृतियोको

मनोवैज्ञानिक विभ्रम ही मानते है।
अन्य सभी मानसिक प्रक्रियाओंसे विभ्रमोंका घनिष्ठ
सम्बन्ध होता है। विभ्रान्त व्यक्तिके लिए विभ्रम प्रत्यक्षकी
भॉति ही सत्य होता है। विभ्रमोकी व्याख्या मनोज्ञ्ञानिकोने अनेकप्रकारसे की है। 'विने' भ्रम और विभ्रममें कोई
अन्तर नहीं मानता। उसका कहना है कि विभ्रमको
उत्पन्न करनेवाला कोई-न-कोई स्क्ष्म पदार्थ अवस्य होता
है। अन्य अधिकारियोका मत है कि विभ्रम शानेन्द्रियोंसे
किसी कारण उत्पन्न हो जाते है। मनोविश्लेषकोंकी दृष्टिमें
विभ्रम दिमत इच्छाओंके प्रतीकात्मक रूप होते है। विभ्रमोंके माध्यमसे व्यक्ति अपनी अतृप्त यौन, अहन्ता सम्बन्धी
तथा अन्य इच्छाओंकी पूर्ति कर लेता है (दे० 'स्वभावज
अलंकार' चौथा)।

विमर्श संधि – दे॰ 'अवमर्श संधि'। वियोग – दे॰ 'विप्रलम्म शृंगार'। विरह (शृंगार) – दे॰ 'विप्रलम्म शृंगार'।

विरहनिवेदन — दे० 'दूती-कर्म'।
विरुद्धमतिक्रम — दे० 'दाब्द-दोष', सोलहवॉ 'पद-दोष'।
विरेचन सिद्धांत — 'कैथासिस' नामसे अरस्तूने यह सिद्धान्त सबसे पहले प्रचलित किया। ईसापूर्व चौथी शतीमे ट्रैजेडी या शोकान्त नाटककी व्याख्या करते हुए पाठक या दर्शकके मनपर जो प्रभाव होते है, उनका विवेचन करते हुए अरस्तूने इस शब्दका प्रयोग किया। अरस्तूके शब्दोमे — "ट्रैजेडी एक क्रिया है — वह हममें करुणा और भयकी भावना जायत् करके हमारी भावनाओको एक राह, एक प्रकारका व्यंजनामार्ग (आउटलेट) प्रस्तुत कर देती है"। जर्मन काव्यशास्त्री लेसिंग (सन् १७२९-८१)ने इस शब्दका

अर्थ 'शुद्धि'के अर्थमें लिया। सामान्य जनोके मनमें भय और अनुकर्मा कभी अधिक मात्रामे होती है या कम, परन्तु दैजेडीके दर्शनमे उसकी भावनाएँ सन्तुलित हो जाती है। कुछ और आलोचकोके मतसे हमारी भय और करुणाकी भावनाएँ ट्रैजेडी-दर्शनसे उदात्तीकृत हो जाती है। मूल शब्द 'कैथासिंस' वैद्यक्रके विरेचन जैसा ही शब्द है, उसका धात्वर्थ भी साफ करना या चुनना, इसी निरुक्तसे मिलता है। पुराने जमानेमे यूनानी दवाफरोशोंमे यह आम रिवाज था कि बदनमेसे उस चीजको बाहर निकाल दिया जाय, जो जरूरतसे ज्यादा हो। आधुनिक मनोविद्रलेषणके द्वारा यह सिद्ध होता है कि मनमे दवी, उमड़ी और जमी भावनाओंको राह देना, उस भावनाके त्रासद दबावसे मुक्ति पाने जैसा ही है। वेनेदेत्तो क्रोचे (१८३२ ई०)ने अपने 'एस्थेटिक्स'मे यह कहा है कि कलाकी क्रिया ऐसी है कि उसमे कलाकार अपने अनुभवको विस्तार देकर, अपनेसे अलग एक स्वतन्त्र सत्ता देकर उसे आस्वाद्य बनाता जाता है। यह प्रक्रिया स्वयं ऐसी है कि तद्द्रारा मनुष्य निष्क्रियतासे युक्त होता है और करुण रससे आनन्द होनेका एक कारण यह भी है।

इस विषयमे भी यूरोपके कलाशास्त्रियोमे मतभेद है कि ट्रैजेडीसे उत्पन्न कैथासिस अभिनेताके मनमे होता है या पाठक, दर्शकके। जर्मन महाकवि गेटे (सन् १७४९-१८३२)के अनुसार यह प्रभाव अभिनेताके मनमे होता है, तो लेसिंगके अनुसार यह प्रभाव पाठक-दर्शकके मनमे होता है। मिल्टनके अनुसार केथासिसका अर्थ भावनाओकी योग्य मर्यादा या सन्तुलनका निर्माण है। मिल्टनके अनुसार जैसे कॉ टेसे कॉटा निकलता है, वैसे ही भावनासे भावनाकी शुद्धि होती है। बुचरने इस शब्दकी चर्चाम और एक सक्ष्म भेद सुझाया है। जीवनमे प्रत्यक्ष अनु-भूतियोमे जो त्रासद और कष्टकारी है, उसे दूर करनेकी क्रिया विरेचन है। जब भय वास्तवसे कल्पनीयमे बदलता है, तो उसका रूप दूसरा हो जाता है। अनुकम्पामे भी वैयक्तिक दुःख-भाव बदलकर सार्वजनिक हो जाता है। 'परदुःख शीतल'-मराठीमे कहावत है । आई० ए० रिचर्ड्सने भावनाओंकी समघातताकी, 'कैथासिस' कहा है। वस्तुतः भयसे हम भागते है, करुणा हमे पास खीचती है। इन दोनोंके बीचमें जो तनाव या परस्पर विरोध है, उनका सन्तुलन ही वस्तुतः विरेचनजन्य आनन्द उत्पन्न करता है। विरोध-निबंधना –दे० 'अप्रस्तुत प्रशंसा', तीसरा भेद।

विरोधाना नविश्वाना नदे विरोधाना सह ।
विरोधाना सन्विरोधम् एक अर्था एकार है । मन्मदके अनुसार अविरोधे प्रति विराधाना सन्विरोधम् एक अर्था एकार है । मन्मदके अनुसार अविरोधे प्रति विरुद्ध त्येन यह यह प्राचीनों से ही स्वीकृत चला आनेवाला अलंकार है । मन्मदके अनुसार अविरोधे प्रविरोध न हो नेपर भी ऐसा वर्ण न हो जिसमें विरोधकी प्रतीति हो । इसी प्रकार विश्वनाथने जाति, गुण, कि ग तथा द्रव्यके विरोधके १० मेद माने है । हिन्दीके अधिकां या आचार्यों ने विश्वनाथ तथा अप्पय दोक्षितके आधारपर विरोध तथा विरोधानासको एक मानकर लक्षण दिया है । भूपणने जयदेवके अनुसार दो मेद स्वीकार किये है और विरोधमे द्रव्य, क्रिया, गुण आदिसे

'काजविरोध' माना है तथा विरोधामासमें "जह विरोध-सो जानिये, सॉच विरोध न होय" (शि० मू०, १८२, १८४) स्वीकार किया है। इन्ही दोनोंका मिला रूप इस स्वीकृत अलंकारमें माना गया है, यद्यपि प्रायः मितराम, पद्माकर आदिने भूपणके विरोधामासकी परिभाषाके समान ही परिभाषा दी है—"जह विरोध-स्मे लगत है, होत न साँच विरोध" (ल० ल०, १९४)। दासने अवस्य विरुद्धालंकार नामसे जाति, गुण, क्रिया आदिके आधारपर इसके भेदोंका उल्लेख किया है (का० नि०, १३)।

जिस वर्णनमें वस्तुतः विरोध न रहनेपर विरोधका आभास हो, उसमें विरोध या विरोधाभास अलंकार होता है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यमे परस्पर एकका दूसरेके साथ विरोध होनेसे इस अलंकारके दस भेद होते है। कुछ आचार्योंने विरोध और विरोधाभासको अलग-अलग अलंकार माना है, जो अनावश्यक है। उदा०—"श्री सिवराज भनै कवि भूसन तेरे स्वरूपको कोई न पावै। सूर सुवंसमे सूर सिरोमनि है करि हू कुलचन्द कहावे" (शि० भू०, १८५)। यहाँ सर-सिरोमनि और कुलचन्दमे, अर्थात् द्रव्य और द्रव्यमें विरोध है या-"लागत कुटिल कटाच्छ सर, क्यो न होहि बेहाल। कढ़त जु हियो दुसार करि, तज रहत नटसाल" (बि॰ स॰, ३७५)। यहाँ दुसार और नटसाल इन दो गुणोंमें परस्पर विरोध है। दुसार वह शर है, जो आरपार निकल जाता है, किन्तु नटसाल वह है, जिसका कुछ अंश दूटकर शरीरमें रह जाता है। कटाक्षरूपी शरका 'दसार' और 'नटसाल' दोनों होना विरोधाभास है। गुणसे गुणके विरोधका एक दूसरा उदाहरण मतिरामके पंचम विभावनाके उदाहरणमें है-"लोचन लोल विसाल बिलो-किन को न बिलोकि भयो बस माई। वा मुखकी मधुराई कहा कहा मीठी लगे ॲखियान लुनाई" (ल० ल०, २०६)। महादेवीकी ये पंक्तियाँ विरोधाभासका सुन्दर उदाहरण है-"आग हूँ जिससे दुलकते विन्दु हिमजलके। शून्य हूं जिसमे बिछे है पॉवडे पलके"। यहाँ द्रव्य और क्रियामे विरोध है। — ধ০ র০ সা০ विलास-दे॰ 'सात्त्विक गुण', नायक; तथा 'स्वभावज अलंकार', दूसरा।

विलासिका — इसमें एक अंक, दस लास्यांग तथा विद्षुषक, विट, पीठमर्द आदिके व्यापार रहते हैं। इसमें गर्म और विमर्श सिन्ध्योंका अभाव रहता है। नायक निर्गुणी होता है तथा वस्त्राभूषणसे सिज्जित रहता है। वृत्तान्तकी स्वरुपता आवश्यक है। इसका उदाहरण प्राप्य नहीं है। शेष बातोंमें नाटकसे समानता है। — वि० रा० विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि— यह ध्वनिका दूसरा प्रधान मेद है। इसमें वाक्यार्थ बाषित न होकर विवक्षित (वांछनीय) रहता है, किन्तु इसमे वह अन्यपरक — दूसरेके पीछे अथवा दूसरेका सहायक होता है — व्यंग्यार्थनी पृष्टि कराता है। इसमें पहले वाच्यार्थ स्वतः प्रकाशित होता है और पुनः दूसरेको भी प्रकाशान्वित करता है। व्यंग्यार्थ- के वांच्यार्थपर आश्रित होनेके कारण इसे अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। इसके दो मेद हैं — असंलक्ष्यकम-

व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमन्यंग्य । इनमें पहलेके छः उपभेद् तथा दूसरेके तीन प्रधान उपभेद होते है—शब्द शक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव तथा शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि । ये तीन पुनः ४१ भेदोमे विभक्त किये गये है । इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिके सब मिलाक्षर ४७ भेद होते है ।

विवर्त्तवाद - जब किसी वस्तु 'क'से कोई वस्तु 'ह' उत्पन्न या प्रभत होती है तो 'क'को हम कारण और 'ह'को कार्य कहते है। दोनोंके सम्बन्धको कार्य-कारण-भाव या कारणता कहा जाता है। उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व कार्णमें है कि नही ? इसका उत्तर विभिन्न दौर्शनिकोने विभिन्त रूपसे दिया है। बौद्ध, नैयायिक तथा वैशेषिक मानते है कि कारणमें उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका अस्तित्व नही रहता। अतः उनके वादको असत्कार्यवाद कहा जाता है। सांख्य-योग-दार्शनिक तथा कुछ वेदान्ती और मीमांसक मानते है कि उत्पत्तिके पूर्व कारणमे कार्यका अस्तित्व रहता है। इस कारण उनका बाद 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है। जैनियोका मत सदसत्कार्यवाद है, क्योंकि वे कारणमें उत्पत्तिके पूर्व कार्यका अस्तित्व और अनस्तित्व या नास्तित्व, दोनों मानते है। अद्वैतवादियोंका मत सदसद्विलक्षणवाद कहा जाता है, क्योंकि उनके मतसे यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिके पूर्व कार्य कारणमें रहता है या नहीं रहता है, या रहता है और नहीं भी रहता है। वस्तुतः कार्यका कारणमें रहना, न रहना, रहना और न रहना युक्तियुक्त नही दिखलाया जा सकता। अतः कार्यका कारणसे सम्बन्ध विलक्षण है। वह अनिर्वचनीय है, क्योंकि है, नहीं और दोनों(है तथा नहीं एक साथ)के द्वारा उसका वर्णन सम्भव नही है। इस कारण सदसद्विलक्षण-वादका ही पर्याय अनिर्वचनीयतावाद है और इसीका दूसरा पर्याय विवर्त्तवाद है। एक और प्रकारसे विवर्त्तवादकी व्याख्या की जा सकती है। कारण और कार्य, दोनों पृथक-पृथक वास्तवमे सत् है कि नही ? इस प्रश्नके भी विविध उत्तर है। वस्तवादी बौद्धोका मत है कि कारण असत है और कार्य सत्, पर कार्य केवल प्रतीयमान है। उत्पत्ति केवल प्रातीतिक है। इस मतको प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। शुन्यवादी बौद्धोंका कहना है कि कारण और कार्य, दोनो असत् है। यह मत असत्कारणवादके नामसे विख्यात है। कारण और कार्य, दोनो केवल प्रतीयमान हैं और उत्पत्ति भी प्रातीतिकमात्र है । नैयायिक और वैशेषिक कारण तथा कार्य, दोनोको सत् मानते है। कार्यकी उत्पत्ति भी उनके मतसे सत् है। उत्पत्तिके पूर्व कार्य नही था। उत्पत्तिके पश्चात् वह सत् होता है। कार्यकी सत्ता उत्पत्तिके बाद आरम्भ होनेके कारण इस वादको आरम्भ-वाद कहा जाता है। इस मतमें कार्य-कारणका अवस्थान्तर नहीं है, वरन् कार्य कारणसे बिलकुल भिन्न नयी वस्तु है। इसके विपरीत सांख्य-योग-दार्शनिकोंका कहना है कि कार्य कारणका ही रूपान्तर या परिणाम है, वह कारणसे विल-कुल भिन्न नयी वस्तु नहीं है। चूँकि सभी वस्तुओका मूल कारण प्रकृति है और वस्तुएँ इस प्रकृतिका परिणाम है, इसलिए इस मतको प्रकृतिपरिणामवाद कहा जाता है।

वैच्णव वेदान्ती जागतिक वस्तुओंका मल कारण ब्रह्मको मानते है, इसलिए उनका मत ब्रह्मपरिणामवाद कहा जाता है। अद्वैतियोके मतानुसार कार्य न तो कारणसे नये रूपमे अस्तित्वमे आता है, जैसा कि आरम्भवादमे है और न तो वह कारणका परिणाम या विकार ही है। वास्तवमे कार्य कारणका 'विदर्श्त' है। यह केवल विवर्श्तमान, इदय-मान या प्रतीयमान है। वह सत न होकर अमत है। इस प्रकार विवर्त्तवाद कारणको सत और कार्यको असत मानता है। वह सत्कारणवाद है। जो वास्तविक सत सभी दृश्य-मान वस्तुओका कारण है, वह एक ओर अद्वितीय ब्रह्म ही है, इस कारण इस मतको ब्रह्मविवर्तवाद भी कहते है। इसीको मायावाद भी कहा जाता है। कभी-कभी इसीको लोग भ्रमवाद, भ्रान्तिवाद, आभासवाद आदि भी कह देते हैं। परन्त ये नाम उचित नहीं है क्योंकि विवर्त्तमान वस्त या मायामय वस्तुकी सत्ता भ्रमित या आभासकी सत्ता नहीं है। पहलेकी सत्ता व्यावहारिक है और दूसरेकी प्रानिभासिक।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि कारण और कार्यके बीच होनेवाली प्रक्रियाको तीन रूपोंमें दार्शनिकोने सोचा है। पहले, बौद्ध और अहैतवादी दार्शनिक इस प्रक्रियाको प्रतीयमानता मानते है, अर्थात उनके मतमे उत्पत्ति वास्तविक नहीं है, जैसे शक्ति देखनेपर रजत प्रतीत होती है या रस्सी देखनेपर सॉप प्रतीत होती है, वैसे ही कारण (बीज) देखनेपर कार्य (बृक्ष) प्रतीत होता है। वास्तवमे उत्पत्ति है नहीं । दूसरे, न्याय-वैशेषिकको माननेवाले इस प्रक्रियाको 'आरम्भरण' या 'नृतनीकरण' कहते है। एक उदाहरण लीजिये, बीजसे अंकुर होता है, अंकुरसे पौधा, पौधेसे वक्ष और वृक्षसे फल। बीजसे भिन्न विलक्कल नयी वस्त अंकर है, अंकरसे भिन्न पौथा, पौथेसे भिन्न वृक्ष और वृक्षसे भिन्न फल है। हर अवस्थामें कार्य कारणसे बिलकुल नया है। कार्य कारणका ही रूपान्तर नहीं है। तीसरे सांख्ययोगी और कुछ वेदान्ती इस प्रक्रियाको परिणमन या रूपान्तरण कहते हैं। दूसरे और तीसरेमें उत्पत्ति वास्तविक है। उदाहरणके लिए तिल और तेलको लीजिये. तेल तिलका ही रूपान्तर है। वह पहले अव्याकत अवस्थामें तिल था, न्याकत अवस्थामे वही तेल हो जाता है। इस तरह कारण परिणामी है। कारण और कार्यके बीच होने-वाली घटना 'आरम्भरण' और 'रूपान्तरण' न होकर प्रतीत्यसमृत्याद (प्रातीनिक उत्पत्ति) है। इस बातपर विवर्त्तवाद और वौद्ध प्रतीत्यसमृत्पाद एकमत है। भेद यह है कि विवर्त्तवादमें कारण सत् (ब्रह्म) है और प्रतीत्य-समुत्पादमें असत्। कार्यकी सत्ता कारणकी मत्तासे बिल्कुल भिन्न है। इस बातपर आरम्भवाद और विवर्त्तवादमे मतैक्य है। भेद यह है कि आरम्भवादमें कार्य और कारण परस्पर तत्त्वमें एक और गुणमे भिन्न है, जब कि विवर्तवादमें कार्य (जात) कारण(बह्म)से तत्त्वतः भिन्न है । कार्य (जात)कारण-(ब्रह्म)में अनिर्वचनीय रूपसे विद्यमान रहता है और अनिर्वचनीय रूपसे कारणसे विकसित होता है। इस बातपर परिणामवाद तथा विवर्त्तवाद सहमत है, भेद यह है कि परिणामवादमें रूपान्तरण तात्त्विक है और विवर्त्तवादमें अतास्विक ।

ऋग्वेदसे लेकर आजनक विवर्त्तवादका इतिहास है। ऋग्वेदके "रूपं रूपं प्रतिरूपं बभुव नदस्य रूपं प्रतिचक्षणाम। इन्द्री मायाभिः पुरुष्प ईयते मुक्ता हास्य हरयः शतादश" —इस मन्त्रते स्पष्ट है कि विवर्त्तवादका विचार ऋग्वेद-कालीन है। 'छान्दोग्योगनिषद'मे तत्त्वज्ञानी आरुणिने माना कि एक तथा अद्वितीय सत् ही पहले था और उसीका नाम-रूप-करणके ढंगसे 'बहुवचन' (बहुत:वस्तुओंका होना) या जात है। उन्होने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' (सभी वस्तएँ उस सत्के नाम "और रूपसे ही है, न कि तस्वतः विकार है) कहकर विवर्त्तवादका प्रवचन किया । औपनिषद दर्जनके अनन्तर ही बौद्ध दर्जनमे विवर्त्तवादकी प्रचुर मीमांसा की गयी। 'लंकावतारसूत्र' और प्रज्ञापारमिताञास्त्र-मे सर्वप्रथम इसपर दार्शनिक ढगसे विचार किया गया। नागार्जुन, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्धोंने विवर्त्त-वादका ही समर्थन किया। कमलशीलके मतसे विवर्त्त और परिणाम, विवर्त्तवाद और परिणामवाद, दोनों समानार्थक या एकार्थक है। भवभति भी इसी प्राचीन विवर्त्तवादकी जानते थे, जिसके अनुसार विवर्त परिणामका पर्याय है-"एको रसः करुण एव विवर्त्तमेदात"से यही सिद्ध होता है। किना अव विवर्त्तवादका यह अर्थ नहीं है। विवर्त्तवादका नयीनतम अर्थ यह है कि यह परिणामवादसे भिन्न है। वर्तमान दार्शनिक ढंगरी सर्वप्रथम गौडपादने इसकी पृष्टि की और उनके परम शिष्य शंकराचार्यने उसको विकसित तथा प्रचलित किया। तबसे लेकर आजतक विवर्त्तवाट अद्वैतवादका प्रमुख विषय बन गया है और सभी अद्वैतवादी ग्रन्थोमे इसकी व्याख्या मिलती है।

जिस मायासे ब्रह्मका विवर्त या जगत सिद्ध होता है, वह क्या है ? इस प्रश्नकी अद्वैतवादमे बड़ी समीक्षा की गयी है। माया न तत्त्व है, न अतत्त्व है और न दोनो। वह न सत् है ? न असत् और न दोनो । वह तत्त्व-अतत्त्वसे विलक्षण या सदसद्विलक्षण है। वह अनिर्वचनीय है। नाम और रूप इसकी काया है। इसलिए इसे नाम-रूपात्मिका भी कहा जाता है। इसके दो कार्य है-अावरण और विक्षेप । पहले यह ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपका आवरण करती है, फिर ब्रह्ममे ही यह जात-का विक्षेप या असाध्य करती है। उसीका नाम 'अविद्या' है। कुछ अद्वैती 'माया' और 'अविद्या'में भेद करते हैं। उनके मतसे माया ईश्वर या ब्रह्मसे सम्बन्धित है और अविद्या जीवसे, पर इंकरा-चार्यने दोनोको अभिन्न माना है। मायाकी निवृत्ति सम्भव है ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप जान लेनेपर। यह निवृत्ति भी अनिर्वचनीय है। मायाकी अनिर्वचनीयता तथा माया-निवृत्तिकी अनिर्वचनीयता, दोनों दो प्रकार की है, एक प्रकारकी नहीं। मायानिवृत्तिका ही नाम मोक्ष है।

मायाको ब्रह्मको राक्ति नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा माननेपर मायाको सत् मान छेना पडेगा। अद्वेतवादियोंको छोड़कर अन्य सभी वेदान्ती या तो मायाको मानते ही नहीं, जैसे—वछभाचार्य और उनके अनुयायी और या तो वे इसे वास्तविक स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं या ब्रह्मकी वास्तविक राक्ति मानते हैं।

हिन्दी साहित्यमे अद्भैतवादकी मायाका विशेष उल्लेख

मिलता है। कवीरने इसे अपने रामकी 'दुलहिन और ठिगिनी' बना दिया है। परमसत् या राम बाजीगर है, माया बाजी या जाद है। सांख्यकी त्रिगुणात्मिका प्रकृत्ति-को अद्वैतवादकी मार्थासे अभिन्न करते हुए कवीर तथा अन्य अहैती सन्तोने मायाको 'तिरग्रनी' अर्थात सत्त्व, रज और तम गुणोंसे यक्त भी कहा है। 'डाइनि', विश्वमोहिनी सुन्दरी (सिपणी), काम, क्रोध, लोन, मोह, मद, मात्सर्थ, इन पुत्रोकी जननी आदि रूपको द्वारा सन्तोने मायाका सुन्दर वर्णन किया है, जिससे उसकी असत्ता या मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाना है। निर्गुणोपासक सन्तोमे मायाका प्रायः ऐसा ही वर्णन है। तुलसीदास जैसे सगुणोपासक भक्तोने अहैतवादी माया और अन्य वेदान्तियोकी मायाको समन्वित करते हुए यह दिखलाया है कि माया अनिर्वचनीय तत्त्व है, जो है तो मिथ्या, पर तो भी एक प्रकारका सत् ही है। मायावादसे प्रभावित रचनाएँ वर्तमान समयमे भी उपलब्ध है, पर उनमें मायाका परम्परागत अर्थ ही नये रूपको और उदाहरणोंके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

सिहायक प्रनथ-भारतीय दर्शन: बलदेव उपाध्याय; प्राच्यदर्शनसमीक्षाः साधु शान्तिनाथः उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा : परशराम चतुर्वेदी ।] —सं० ला० पा० विवतोक्ति-व्याजोक्तिको कोटिका अर्थाएंकार। शब्दार्थ है ख़ुली हुई उक्ति। अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत सत्रह अलंकारोमेसे एक यह भी है। इसकी परिभाषा उन्होने निम्नलिखित प्रकारसे की है—"विवृतोक्तिः दिलष्ट्यप्तं कविन।विष्कृतं यदि" (कुवल०, ८८-१०१), अर्थात् हिलष्ट शब्दों या अर्थशक्तिके चमत्कारसे जब कवि किसी रहस्यको अभिन्यक्त करता है तो यह अलंकार होता है। यथा. क्षारिकामे हो कवि द्वारा रहस्य वर्णित कराया है—''वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति सस्चनम्", अर्थात् कवि वहता है कि हे. वृष, पराये क्षेत्रसे दूर जा। 'कुवलयानन्द'का अनुसरण करनेवाले हिन्दीके आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिया है-"जहाँ स्लेष-सों गुप्तसो सुकवि प्रकासत अर्थ" (ल० ल०, ३६२) अथवा—"जहाँ अरथ गृढोक्तिकौ, कोऊ करै प्रकास" (का० नि०, १६) । उदा०— "कबकी ही हेरति न हेरे हरि पावति हों, बछरा हिरान्यो सो हिराय नेक दीजिये" (छ० छ०, ३६३) अथवा-"जो गोरस चाहत छियो तो आवहु मम थाम । यों कहि याजक सों हरिहि किय सूचन निज ठाम" (अ० मं०)। यहाँ गोरस शब्द दिलष्ट है। पूर्वीर्थमें गोपीने श्रीकृष्णके प्रति रहस्यात्मक शब्द कहे। उनकी सूचना कविने उत्तरार्धमे दी है।

यह न्याजोक्तिरो भिन्न हैं। न्याजोक्तिमें किसी रहस्यके किसी प्रकार प्रकट हो जानेकी शंकासे उसको छिपानेका प्रयत्न किया जाता है, पर इसमें गुणीभूत न्यंग्य होनेके कारण इसको कुछ कान्यशास्त्री पृथक् अल्कार मानते हैं।

— ज० कि० व०

विवेकजा बीभत्स-दे॰ 'बीभत्स रस'।

विवेचना - 'विवेचन' या 'विवेचना' का अर्थ है 'भली-बुरी वस्तुका ज्ञान' अथवा 'भली भाँति परीक्षा करना'। विवेचनाका सम्बन्ध भी आलोचना या समीक्षासे है। किसी विषयके विभिन्न तस्त्वोंको समझना आलोचनाका ही

अंग है। जब हम विभिन्न तत्त्व समझनेकी चेष्टा करते हैं तो हमारी आलोचना विवेचनात्मक होती है। संसारकी अनेक प्रसिद्ध कृतियोंकी विवेचनाएँ मिलती है। यह आवस्यक नहीं कि विवेचना प्रशंसात्मक ही हो। विवेचना करनेसे पूर्व किसी कृतिके भीतर पैठना चाहिये । पूर्वाग्रहसे रहित होकर और सहानुभृतिपूर्ण दृष्टिकोणस कलात्मक सम्बन्धमे निर्णय देना अथवा सैद्धान्तिक निष्कर्ष प्रस्तुत करना ही विवेचनाका मूल कार्य है (दे० 'आलोचना')। विशिष्टाद्वेतवाद - विशिष्टाद्वेतवादके कई अर्थ प्रचलित है। (क) दो विशिष्टोका अद्वैत (तादात्म्य = अभेद); स्थूल चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट जीव और सक्ष्म चेतनता तथा अचेतनतासे विशिष्ट परमात्माकी एकता ही विशिष्टा-द्वैत है। या यो कहिये कि ब्रह्मके दो रूप है, कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म। कारणब्रह्म सूक्ष्म चित् और अचित्से विशिष्ट है। कार्यब्रह्म (जीवों सहित समस्त जगत्) स्थल चित तथा अचित्से विशिष्ट है। दोनोका, कारणब्रह्म और कार्य-ब्रह्मका एकगेक विशिष्टाहैन है। (ख) उपर्युक्त अर्थको न म।नते हुए कुछ लोग विशिष्टादैतका अर्थ दैते विशिष्ट अद्वैत लेते है। द्वेतका अर्थ चित् और अचित् है। अद्वैत-का अर्थ हे अन्तर्शामी परमात्मा । द्वैत नियम्य हे और अद्वैत नियामक ।

आचार्य रामानुज (१०३७-११३७ ई०, जन्मस्थान दक्षिणभारतमे भूतप्री अर्थात् वर्तमान श्रीपेरेम्बुधूरम्) इस विचारधाराके सर्वश्रेष्ठ प्रवर्तक है। इस दर्शनके दो उत्स है—संस्कृतवेद और तमिलवेद। इस कारण इरो उभय-वेदान्त कहा जाता है। इसमें वेद, उपनिषद्, 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता'के अतिरिक्त तमिल देशके बारह आलवार भक्तोंके वाक्य भी प्रमाण है। इन आलवार भन्तोका समय सातवी शताब्दीसे नवी शताब्दीतक माना जाना है। विशिष्टाद्वैत-वादियोंने इन भक्तोंके भक्तिमार्ग और वेदोपनिषत्प्रतिपादित ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा उपासनामार्गका सन्दर समन्वय किया और प्रपत्तिमार्गकी प्रतिष्ठा करके एक नये वैष्णव मतको चलाया, जो श्री या लक्ष्मीके प्रथम प्रवर्तक होनेके कारण श्रीवेष्णवके नामसे प्रसिद्ध है। इसके आद्य आचार्य रंगनाथमूनि या नाथमूनि (८२४-९२४ ई०) हैं, जिन्होने तमिलवेदका पुनरुद्धार किया और 'योगरहस्य' तथा 'न्याय-तत्त्व' जैसे यन्थोंकी रचना की है। इनके पौत्र यामुनाचार्य या आलवन्दार थे, जिनके प्रसिद्ध यन्य 'सिद्धित्रय', 'आगम--प्रामाण्य' और 'आत्मवन्दारस्तोत्र' है। इन्हीके पौत्र शैल-पूर्णके भागिनेय रामानुज थे। इन्होंने बादरायणके 'ब्रह्म-स्त्र'पर श्रीभाष्य लिखा और 'वेदान्तसार', 'वेदार्थसंग्रह', 'गीताभाष्य' आदि यन्थोकी रचनाकी। इन्होने अपने वेदान्त (वेदमूलक दर्शन)को प्राचीन परम्परापर आधारित दिखलाया। इनके भत्तसे वेदान्तके प्राचीन आचार्य बोधायन, टंक, द्रमिड, गुट्टवेव, कपर्टि, भारुचि आदि विशिष्टाद्वेतवादी ही थे। तर्क, अनुभव और श्रुतिसे इन्होंने इंकराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादका खण्डन किया। इनके बाद वेंकटनाथ (१२६९-१३६९ ई०), वेदान्तदेशिक आदि इनके मतके विद्वान् अनुयायी हुए।

यह है विशिष्टाद्वेतका दक्षिणभारतमे इतिहास। उत्तरी भारतमें रामानन्द (१४वी शताब्दा)ने विशिष्टाहैतवादका प्रचार किया। इनकी ही शिष्य-परम्परामें कबीर, दादू, तुलसीदास आदि कवि-दार्शनिक हुए। कवीर, दादू आदि निर्गुणोसक थे और उनकी विचारध राने इस कारण अहैन-वादका रूप धारण किया। तुलसीदास पक्के विशिष्टा-द्वैतवादी थे। इस युगमे कुछ विद्वानोंने उन्हें अद्वैतवादी दिखलानेका प्रयास किया है, पर वे निश्चित रूपसे विशिष्टाइतवादी ही थे, जैसा कि उनकी सग्रण-भक्ति, ग्ररु-परम्परा और चिन्तन-प्रणाली ते सिद्ध होता है। पीताम्बर-दत्त बङ्थ्वालको मतसे शिवदयाल (जन्म १८१८ ई०, आगरामे) तथा उनके सभी अनुयायी (राधास्वामी सत्संग) विशिष्टाद्वैतवादी है। इनके अतिरिक्त वे प्राणनाथ, दोनो दरिया साहब, दीन दरवेश, बुल्लेशाह आदिको भी विशिष्टाद्वैतवादी बतलाते है। पर ये सिर्फ तत्त्ववादमे ही विशिष्टाद्वैतवादी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती और उंनके अनुयायी (आर्यसमाजी) भी तत्त्ववादमे विशिष्टाद्वैतवादी है।

विशिष्टाद्वेतवादीके अनुसार तीन नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थं है—परमात्मा (ईश्वर), चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति)। परमात्मा अन्तर्यामी-रूपसे जीवन और प्रकृतिमे विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) है—'ईश्वर अंश जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) है—'ईश्वर अंश जीव अविनासी' (तुलसीदास)। चित् और अचित् से विशिष्ट परमात्मा ही एकमात्र सत् है। चित् और अचित् द्रव्य तथा गुण, दोनो है। परमात्मा सगुण द्रव्य है। उसमे सजातीय और विजातीय भेद नहीं हैं, क्योंकि वह एक और अदितीय है। पर चित् और अचित्के गुण भी होनेके कारण उसमे स्वगत भेद है। ईश्वरका चित्-अचित्के साथ जो सम्बन्ध है, वह विशेष्य-विशेषण-सम्बन्ध है। इसकी पारिभाषिक संज्ञा अप्रश्वन्तिद्ध है।

जैसे मकडी अपने भीतरसे ही जाला पैदा करती है, वैसे ही ईश्वर अपने अन्दरसे ही इस जगत्की सृष्टि करता है। वह जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। सृष्टि माया नहीं, वास्तविक है।

ईश्वर या ब्रह्म सत्, ज्ञान, अनन्त, अपहतपाप्मा, सुन्दर आनन्दमय और आनन्द है। वह शरीरधारी है। वह चित् तथा अचित्का आधार, नियन्ता और शेष है। चित् और अचित् आधेय, नियम्य और शेष हैं। ब्रह्म भुवनसुन्दर होनेके कारण उदान्त है।

चित् (जीव) अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निविंकार और ज्ञानाश्रय है। हृद्यमे उसका निवास है। क्योंकि उसमे शेषत्व है, इसलिए वह सदा अपने शेषी ईश्वरपर निर्भर है। जीवसे मुक्त होनेपर भी ईश्वरसे उसकी भिन्नता बनी रहती है। उस समय भी वह ईश्वरकी भॉति सृष्टिका कर्ता और नियन्ता नही हो सकता। उसका अणुत्व भी अनद्वर है। इन गुणोंको छोडकर अन्य समस्त गुणोंमें जीव मुक्तावस्थामें ईश्वरसे अभिन्न हो जाता है।

अचित् तत्त्व ज्ञानश्न्य है। इसके तीन प्रकार है—शुद्ध सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्ध सत्त्वका दूसरा नाम नित्यविभृति है। मुक्तावस्थामें जीवकी देह इसीसे बनती है। मिश्र सत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित होनेके कारण जगत्का जपादान है। इसीको माया, प्रकृति या अविद्या कहा जाता है। सत्त्वज्ञन्य तत्त्व काल है।

ब्रह्मके स्वरूपपर चिन्तन करनेसे उसकी पानेकी इच्छा होती है। इसीको मुमुक्षा कहते है। मुमुक्षको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगसे मोक्ष मिलता है।

कर्मयोग निष्काम भावते वैदिक तथा लौकिक कर्मोंको करता है। कर्मने विरक्ति भगवान् भी नहीं ले सकता, जीवकी बात ही क्या है ? निष्काम कर्म करनेसे अहंकारका नाश होता है, विषयोसे मन मुक्त होता है, सत्व शुद्ध होता है और चित्तमे स्थैर्य आता है। इसके अनन्तर कर्मयोग ज्ञानयोगका रूप धर लेता है। वैराग्य तथा अभ्यासमे ज्ञाननिष्ठा होती है। सतत मननसे तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वका ज्ञान होनेपर कैवल्यकी प्राप्ति होती है। यह कैवल्य खो न जाय, इसलिए भक्तिकी आवश्यकता पडतो है। भक्ति कर्म और ज्ञानकी पराकाष्ठा है। तत्त्व-वादका ब्रह्म धर्ममे ईश्वर हो जाता है। ईश्वरपर अनवरत ध्यान करना भक्ति है। इस ध्यानके फलस्वरूप भक्त सब-कुछ छोडकर भगवान्की शरणमें रहता है। यहाँसे प्रपत्ति-मार्ग आरम्भ होता है। प्रपत्ति (ईश्वरकी शरणमे जाना) भक्तिकी पराकाष्ठा है। प्रपत्तिके विषयमे विशिष्टाद्वैत-वादियोंमे दो मत है। श्रीलोबाचार्य द्वारा संस्थापिन 'टेक-लई'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए कर्मानुष्ठान आवद्यक नहीं है। जैसे निःसहाय मार्जारिकशोर मॉकी शरणमें जाकर बिना कुछ प्रयत्न किये ही अपनी माँ द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तके प्रति अहेतुकी कृपासे भगवान् उसके विना कुछ किये ही उसे अपनी शरणमें रख लेना है। आचार्य वेदान्त-देशिक द्वारा संस्थापित 'बडकले'-मतके अनुसार प्रपत्तिके लिए भक्तको कर्म करना आवश्यक है। जैसे कपि किशोर-के स्वयं प्रयत्न करके अपनी मॉके पेटसे चिपक जानेपर वह उमके द्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तको प्रपत्तिके लिए स्वयमेव कुछ कर्म करके भगवान्को पकड़ना है और तब भगवान् उसे अपनी शरणमे रख लेगा। प्रपत्तिमार्गका प्रभाव हिन्दीके सन्तो और भक्तोपर पड़ा है, उन्होंने एक स्वरसे 'आत्म-निवेदन'को ही भक्तिका प्राण बतलाया।

किन्ही-किन्हीं मतसे जो लोग प्रपत्तिमागंका भी अनु-सरण नहीं कर सकते, उनके लिए आचार्यामिमानयोग है। उन्हें आचार्य या गुरुकी शरणमें जाकर उसके आदेशा-नुसार चलना चाहिये। इसने भी वह मोक्षलाम कर सकता है। इस गुरुमिक्तका भी प्रभाव हिन्दी सन्तो और कवियोपर बहुत पडा। सबने गुरुके महत्त्वको माना। विना गुरुके न तो विशेक हो सकता है और न भक्ति ही आ सकती है।

इस मतमें ईश्वर पॉच प्रकारमे ध्येय है—पहला नारा-यण, परब्रह्म या परम वासुदेव नारायण वेकुण्ठमें पार्षदो सहित निवास करते हैं। श्री (लक्ष्मी), भू (पृथ्वी) और लीला उसकी तीन पिस्त्याँ हैं। मुक्त जीव उसके पास रहते हैं। दूसरा ईश्वरके चार व्यूह वासुदेव (आत्मा), संकर्षण (जीव), प्रशुम्न (मन) और अनिरुद्ध (अहंकार)। इन चार व्यूहोंको पूजा तथा सृष्टिके लिए ईश्वर धारण करता है। तीसरा निगवरूप है। विभवरूपमे ईश्वर मत्स्य, कुर्म, वाराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और किन्क इन दस अवतारोको धारण करता है। चौवा अन्तर्यामा है। अन्वर्यामीरूपसे ईश्वर साक्षे हृदयमे निवास करता है। इन रूपमें वह केवल योगियो द्वारा ही देखा जाता है। प्रज्वा मूर्तिरूप है। भगवान् घर, गाँव, नगर आदिके मन्दिरोंमें भक्तों द्वारा स्थापित मूर्तियोंमें निवास करता है।

नारायण, ब्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा मूर्ति, प्रत्येक रूपमें ईश्वरका ध्यान हो सकता है।

वैकुण्ठमें निवास करना सालोक्य मुक्ति है। वहाँ सगर निकास सामीप्य मुक्ति है। सगन्वान् लैसा रूप पाना सारूप्य मुक्ति है। भगवान् के साथ पेक्यलाम करना सायुज्य मुक्ति है। भगवान् के साथ पेक्यलाम करना सायुज्य मुक्ति है। सायुज्य मुक्ति ही स्तमे ईश्वर तथा जीवके व्यक्तित्व निज्ञ बने रहते है। नानात्व भी रहता है, पर उपर्युक्त देत भाव और नानात्वकी दृष्टि नहीं रहती। 4

विशिष्टा है तवादके कई रूप विद्वानोमे प्रचिलत है। (क) रामानु जके विशिष्टा है तके सहर ही शक्ति-विशिष्टा है तम् है। इसे वीरशेष मत भी कहा जाता है। परम्रह्मको इसमे शिव कहा गया है और जित् तथा अचित्को उसकी शक्ति। इस मतका आज भी कर्णाटकमें प्रचार है। (ख) श्रीकण्ठाचार्य (१२वी शताब्दी)ने शैव विशिष्टा हैतवादकी स्थापना की। इसमे भी ईश्वर शिवरूप माना जाता है। (ग) राम-विशिष्टा हैतवाद — रामानु जने नारायणको परम्रह्म कहा। तुल्सी दासने रामको ही परम्रह्म माना। उनके मतको हम राम-विशिष्टा हैतवाद कह सकते है। यथि यह पूर्ण रूप विशिष्टा हैतवाद ही है, तथापि इसमें और रामानु जके मतमें साम्प्रदायिक भेद है, जो तत्त्ववादकी दृष्टिने नगण्य है। (घ) यूरोपमे तत्त्ववादकी दृष्टिने श्रीक दार्शनिक प्लाटिनसका मत विशिष्टा हैत ही था। वर्तमान नव-हीगेलवादियों में से मी कुछ विशिष्ट हैतवादी हैं।

[सहायक ग्रन्थ—'कल्याण'का वेदान्तांक; भारतीय दर्शन: बल्देव उपाध्याय; हिन्दी काव्यमें निर्गुण सम्प्र-दाय: पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल।] —सं० ला० पा० विश्रद्धाख्य –दे० 'हठयोग'।

विशेष — िक्रीधमूलक अर्थालंकार । जहाँ किसी विशेष विल-क्षणताका वर्णन हो, वहाँ विशेष अलंकार होता है। आचार्थोंने इसके तीन प्रकार माने हैं। इद्धर सम्भवतः इसके प्रथम विशेचक हैं। इनके और रुयकके आधारपर मम्मट तथा विश्वनाथके लक्षण हैं—(१) 'बिना लोकप्रसिद्ध आधारके किसी आध्य वस्तुकी स्थिति प्रतिपादित की जायः (२) एक वस्तुकी अनेक वस्तुओंमें, एक ही समय, एक स्थितिका वर्णन किया जाय अथवा (३) कर्तांका, एक कार्य करते हुए, अन्य किसी अश्वय कार्यमें, पूर्वकार्यकी भॉति, स्थमनाका वर्णन किया जाय" (का० प्र०, १०: १३६)। जयदेवने प्रथम भेदका लक्षण ही विशेषके लक्षणके रूपमे देकर एक भेद माना है, पर हिन्दीके आचार्योंने मम्मट, विश्वनाथके साथ अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है।

प्रथम विशेष-मितराम आदिने लक्षण दिया है-"जहॅं आधेय बखानिये, बिन प्रसिद्ध आधार" (ल० ल०, २४५) । उदा०—"चलौ लाल वाकी दसा, लखौ कही नहिं जाय। दियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हिराय" (ल० छ०, २४६) । यहाँ आधार (हृदय)के अमावमे भी आधेय-(सुधि)की स्थिति वर्गित है। द्वितीय विशेष-मितराम आदिके अनुसार लक्षण है—''जहॅं अनेक थलमें कछ बात बखानत एक" (ल० ल०, २४७)। उदा०—"गोपिन सँग निसि सरदकी, रमत रिसक रस रास। लहाछेह अति गतिनकी, सबनि लखे सब पास" (बि० स०, २९१)। यहाँ तो एक ही श्रीकृष्ण एक ही समयमे अनेक गोपियोंके . साथ रास रचाते है। ध्यान देनेकी बात है कि पर्यायमे भी एक वस्तुकी अनेक स्थलोंने स्थिति होती है, किन्तु अन्तर यह है कि उसमें वह स्थिति क्रमशः होती है, एक ही कालमें नहीं। तृतीय विशेष-मितराम आदिके अनुसार लक्षण है—"करन कछ आरम्भने, जहँ असक्य कछ और" (ल० ल०, २४८), अर्थात् जहाँ किसी कार्यके करते हुए किसी दूसरे अशक्य कार्यका होना वर्णित हो। कालिदासका अज-विलापके प्रसंगमे यह पद्य इसका सुन्दर उदाहरण है— "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या रुलिते कला-विधी। करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किन्न मे हृतम्" (रघुवंश), अर्थात् कालने इन्द्रमतीके हरण द्वारा केवल गृहिणी ही नहीं, किन्तु सचिव, सखी, शिष्या, सर्वस्व हरण कर लिया, अथवा—"तिय तुव तरल कटाक्ष सर सहें धीर उर धारि। सही मानियो तिन सहे, तपक तीर तलवार" (का० नि०, ११)। विशेषक १ – लोकन्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें साहश्यके कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार अपने-आप लक्षित हो जाय। यह अप्पय दीक्षित द्वारा सर्वप्रथम सामान्यके विरोधी रूपमें स्वीकृत हुआ है। इस अलंकारमें कुछ वर्णन 'उन्मीलित' जैसा रहनेपर भी 'सामान्य'की भॉति वस्तुओ-की स्थिति भिन्न रहकर किसी कारण पृथक् जानी जाती है। 'सामान्य'की सादश्य सम्बन्धी एकात्मता होनेपर भी किमी प्रकार भेद लक्षित होना, यह अलंकार है। 'भाषाभूषण'मे 'कुवलयानन्द'के आधारपर सर्वप्रथम हिन्दीमे उल्लेख हुआ। प्रायः मतिराम, दास तथा पद्माकर आदि कई हिन्दीके आचार्योंने इसकी परिभाषा 'सामान्य'मे 'मेद पाने'के उल्लेखसे किया है। भूषणकी परिभाषामें कुछ स्पष्टता है—"भिन्न रूप साहस्यमै लहिये कछ विसेख" (शि॰ भू०, ३०७) ।

बस्तुतः उन्मीलित तथा विशेषकमें स्क्ष्म भेदमात्र है। उन्मीलितमें हेतुसे पृथक्ताका ज्ञान होता है और विशेषकमे समयकी अपेक्षासे अन्तर जान पड़ता है। मितरामका उदाहरण—"आयी फूलिन लैनकों, चलौ वागमें लाल। मृदु बोलिनमें वाल" (ल० ल०, ३४७)। मितरामके उन्मीलित (दे०)के उदाहरणमें मंजीरकी ध्वनि सहज हेतु है, पर यहाँ मृदु बोल अवसरकी अपेक्षा रखते है। प्राक्षकरने प्रसिद्ध उक्तिका आश्रय लिया है—

"कागनमे मृदु वानितें, मैं पिक लियो पिछान" (पद्मा०, २४५)। इस अलंकारका प्रयोग कम हुआ है। — सं० विशेषक २—विंगक छन्दों में समवृत्तका एक मेद; 'प्राकृत-पैगलम्'मे इसकी परिभाषा दी है (१७०)। ५ भगगों और गुरुके योगसे यह छन्द वनता है। सानु (छं० प्र०, पृ० १७९)ने इसके नाम नील, अश्वगीत और लीला दिये है। लीला छन्दका प्रयोग सुन्दर तथा रघुराजने भी किया है। उदा०— "श्याम दुऊ पग लाल लसै दुति यो तलकी। मानहु सेवित जोति गिरा जमुनाजलकी" (रा० चं०, प्र०६: ५७)।

विशेष परिवृत्त - दे० 'अर्थ-दोप', बीसवाँ। विशेषणवक्रता-दे॰ 'पदपूर्वार्धवक्रता', दूसरा प्रकार। विशेषण-विपर्यय - विशेषण विपर्यय अंग्रेजीके ट्रान्सफर्ड एपीथेटके पर्यायके रूपमें व्यवहृत होता है। यह अंग्रेजी काव्यशास्त्रका एक अलंकार है, जिसमे व्यक्तिके विशेषणको उसते सम्बद्ध वस्तुका विशेषण बना दिया जाता है-"इस पथका उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवनमे टिक रहना" ('प्रसाद'), 'चल चरणोका व्याकुल, पनघट, कहाँ आज वह वृन्दाधाम' ? ('निराला'), "इन स्निग्ध लटोसे छा दे तन पुरुकित अंकों में भर विशाल" (महादेवी) आदि। छायावाद और उसके बादके हिन्दी काव्यमें विशेषण-विपर्ययका व्यवहार बहुलतासे हुआ है। विशेषोक्ति-विरोधमूलक अर्थालंकार; यह अलकार मामह आदिक प्राचीनोंसे स्वीकृत रहा है। भामह तथा उद्भटके अनसार समस्त तथा समग्र शक्तियोंके उपस्थित रहनेपर भी फलप्राप्ति न होनेका कथन इसमें होता है। मम्मट तथा विश्वनाथने संक्षिप्त करके उसका लक्षण-'अखण्डेषु कारणेष फलावचः' तथा 'सति हेतौ फलामावी' (का॰ प्र॰, १०: १०८; सा० द०, १०: ६७) दिया हैं, अर्थात् समस्त कारणोके होते हुए भी कार्यके न होनेका कथन । मम्मटने इसके तीन और विश्वनाथने अन्योंका अनुसरण करके दो भेद दिये हैं। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेवके अनुकरण-में इसके भेद नहीं दिये है, पर उनके लक्षणोंपर मम्मट और विश्वनाथका प्रभाव है—"जह परिपूरन हेतुते प्रगट होत नहिं काज" (ल० ल०, २०९) । इसी प्रकारके लक्षण भूषण, दास तथा पद्माकर आदिके हैं। जहाँ अविकल कारणके होते हुए भी कार्यका न होना वर्णित हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। विभावनामें कारणके अभाव-में भी कार्यकी उत्पत्ति कही जानी है और विशेपोक्तिमें कारणके रहनेपर कार्यकी अनुत्पत्ति कही जाती है। विशे-पोक्ति तीन प्रकारकी होती है।

प्रथम विशेपोक्ति अनुक्तिनिसत्ता जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण नहीं कहा जाता। उदा०—"लिखिनि वैठि जाकी सबी गिह गिह गरव गरूर। भये न केते जगतके चतुर चितेरे क्र्र" (वि० स०, ३४७)। यहाँ चित्र न बनानेका कारण विणित नहीं है। द्वितीय विशेषोक्ति उक्तिनिक्षित्ता जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण कहा जाय—"स्थें-त्यों प्यासोई रहत ज्यो-ज्यों पियत अवाइ। सगुन सलोने रूपकी जुन तृपा बुझाइ" (वि० स०, ४१७)। यहाँ आँखोंकी पिपासा शान्त न होनेका कारण

वर्णित है। तृनीय विरोधोक्त—अचिन्त्यनिमित्ता—जहाँ कार्यकी अनुत्पत्तिका कारण अचिन्त्य है—''जदि चवायिन चीकिनी चलित चहूँ दिसि सैन। तक न छाडत दुहुनके हँसी हँसील नैन"। (वि० स०, ३३६)। यहाँ व्याघात होते हुए भी नयनोंकी परस्पर संलग्नताका कारण वर्णित नहीं है। वस्तुतः तृतीय भेद प्रथम भेदमे अन्तर्विष्ट माना जा सकता है और उनके आचार्योंने तो विशेपोक्तिका केवल एक ही प्रकार प्रतिपादित किया है। मम्मटने तीनो भेदोका वर्णन किया है। इस अलंकारकी व्याख्या करते हुए उद्योतकारने लिखा है कि इसमे एक विशेष, अर्थात् असाथारण कारणके रहते कार्यका अभाव प्रतिपादित किया जाता है।

विश्रब्धनवोढा (नायिका)-विश्रब्धका शब्दार्थ है विश्वस्त, निर्भाक, शान्त, इंढ तथा विश्वासप्राप्त । सर्वप्रथम भानुदत्तने मुग्धाके स्वतन्त्र भेदके रूपमे स्वीकार किया और इनके अनुकरणपर हिन्दीमें मितराम, दास तथा पद्माकर आदिने । बेनी प्रवीन, भान तथा सीतल आदिने इसे ज्ञात-यौवनाके भेदके रूपमें माना है। विशेषके लिए दे० 'नायिकाभेद'। भानुदत्तने इसे 'सप्रश्रया' लिखा है, जिसका अर्थ है विनय नथा विश्वासके सहित। मितराम, जो नवोदा 'प्रीतमसों परतीति' प्रकट करती है, उसे विशब्ध-नवोडा मानते है। पद्मावरने शब्द बदल दिये है-'पतिकी कछ परतीति' जो हृदयमे धारण करे। इस नायिका-में भय तथा लज्जाका भाव कम हो जाता है और वह अपने पतिकी ओर फिन्तित आकृषित होती है। भानके अनुसार इसके हृदयमे निकट रहनेपर भयप्रीति उत्पन्न होती है, पर दूर रहनेपर मिलन-लालसा बलवती होती है। मतिरामने परिस्थितिके माध्यमसे नायिकाके विश्रव्ध भाव-को अभिव्यक्त किया है- "कान्हके बोल में कान न दीनो सो गेहकी देहरीपै धरि आयी" (रसराज, २८)। पद्माकर-ने उदाहरणमें केवल परिभाषा की व्याख्या की है—''जाहि न चाह कहूँ रतिकी सु कछ पतिको पतियान लगी है"। (जगडि॰, १:४०)। लजाप्राया अथवा सलजारति-केशव और देवके ये भेद किंचित अन्तरके साथ विश्रव्य-नवोडा माने जा सकते हैं। पर इस भेदमे नायिका अधिक निर्भीक अंकितकी गयी है। के शबके अनुसार इस नायिका-में लाजके साथ पतिसे प्रीति बढानेकी बात होती है और इस प्रकार मुन्धत्वके साथ विश्रब्ध भावकी स्थिति स्वीकृत हुई है। केशवकी इस नायिकामे लज्जा और प्रीति समान है--- 'मै भरि चित्त तक चितयो न रही गडि नैननि लाज निगोडी" (र० प्रि०, ३:२५), पर देवकी सल्जारति नायिकामे लक्जा ऊपरी ही जान पटती है-"नैकह क्यो न ल्ला सकुचौ जिय जागत है गुरु लोग लजाहू" (बा० वि०: नायिका)। रीतिकान्यमं विश्रव्धनवोदाके वर्णनमें नारीके रति सम्बन्धी प्रारम्भिक मनोभावोका चित्रण किया गया है, पर भावात्मक अभिन्यक्तिके स्थानपर बाह्य परि-स्थितियोका अंकन ही अधिक हुआ है।

विद्रलेषण (analysis) – गोटे तौरपर किसी कृतिके विश्लेषण-के अर्थ है उसके विभिन्न अवयवींका अलग-अलग तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धींका थिवेचन। अर्थ-तत्त्वींका निरूपण तथा स्पष्टीकरण विश्लेषणके व्याख्यात्मक पहलू हैं। स्पष्टीकरण (एक्सिप्लिकेशन)का क्षेत्र एक तो शब्दोंके साधारण और निहित अर्थोंकी स्थापना, वाक्य-विन्यास, वैदग्ध्य आदिको विचारना है तथा दूसरा गृह या संदिग्ध तात्पयोंको सम्पूर्ण कृति या लेखककी मूल धारणाओंके आधारपर निश्चित करना है। विश्लेषण द्वारा ही प्रतीकों या रूपकोंके विभिन्न अभिप्रायोंका संश्लेषण सम्भव होता है तथा वे तमाम तरीके जिनसे किसी शब्द-समूहका भाषाम सही अन्वय निर्धारित किया जाता है। आधुनिक वाक्विलेषण (वर्बल एनालिसिस) या अर्थ-विज्ञान (सिमैण्टिक्स)-के अन्तर्गत भाषाके विविध तत्त्व-शब्द, अर्थ, ध्विन, प्रतीकात्मकता आदिका जो अध्ययन हो रहा है, उसकी व्युत्पत्ति और परम्परा यद्यपि प्राचीन अलंकार-शास्त्रसे सम्बन्धित है, तथापि उसकी नवीनतम प्रवृत्ति वैज्ञानिक विश्लेषणको अपनाती है।

सौन्दर्यशास्त्रमें—मनोवैद्यानिक दृष्टिकोणसे—सौन्दर्यातुभूति मनकी सौन्दर्योन्मुख अवस्था-विशेषसे उपजती है,
जिसमे हम अपने लिलत पूर्वग्रहोका आरोप रुचनेवाली
वस्तुपर करते है, फलतः इस अवस्थापर दो दृष्टिकोणोसे
विचार किया जा सकता है—(१) कला-वस्तुके उन रूपोंका
विद्यलेषण, जो सौन्दर्योन्मुख मनको सौन्दर्यानुभूति कराते हैं
तथा (२) सामान्य मानसिक अवस्थाके सन्तुलनमें सौन्दर्योन्मुख मनका विश्लेषण।

विश्लेषणकी, जो मूलतः वैज्ञानिक पद्धित है, काफी आलोचना होती रही है। कुछ लोगोंका मत है कि विश्लेषण कान्यकी ऋजु संवेदनामें वाधक होता है और इसकी नीरस समीक्षा-विधि असाहित्यिक है। इस मतके विरोधी विश्लेषणके समर्थनमें दलील रखते है कि उसके द्वारा ही साहित्यके विविध अंगोपर सम्यक् प्रकाश डालकर हम कृतिकी अन्तरास्मातक पहुँच पाते है तथा व्यापक आनन्दके भागी होते है। विवादास्पद होते हुए भी विश्लेषण-पद्धित भाषाशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आधुनिक साहित्यालोचनामें (जिमका एक वडा हिस्सा मनोविज्ञानसे प्रभावित है) अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी है।

विश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली -प्रस्तुत शब्द अंग्रेजी-के 'पनालिटिकल'का समानाथीं है। अंग्रेजीका पनालिटि-कल शब्द भी 'पनालिटिक' संशाका विशेषण है, जिसका अर्थ होगा विश्लेषण सम्बन्धी, विश्लेषणात्मक। हिन्दीमें इसे विवेचनात्मक, वैश्लानिक आदि कहा गया है।

साहित्यशास्त्रका बॅटवारा कुछ विद्यानोंने शैलीके आधार-पर किया है—विदलेषणात्मक एवं संयोगात्मक । शब्द-की व्याख्यासे ही स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रणालीका मुख्य उद्देश्य होगा रचनाका बौद्धिक परीक्षण। इस प्रणालीका आलोचक भावना या आवेशकी अपेक्षा ज्ञान एवं विवेकसे अधिक काम लेता है। अकारण अथवा निराधार वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा। इसके लिए वह इतिहास, मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र एवं वैज्ञानिक नियमोंका अवलम्बन लेता है। कभी कलात्मक सौष्टवपर विचार करते हुए सौन्दर्यवादी दृष्टकोण-को अपनाता है, तो कभी तन्त्रवादी आलोचनाका सहारा लेता है। सारांश यह कि इस पद्धतिमें अनेक प्रकारकी आलोचनाओंका समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत आलोचना-प्रणाली कृतिकी परीक्षा दो पक्षोंसे करनी है—(१) कृतिके मूल विषय, भाव, विचार अथवा चिन्तनका परीक्षण; (२) प्रकाशनकी रीति या अभिव्यक्ति-पक्षकी परीक्षा।

इस पद्धतिको सीमाएँ स्पष्ट हैं। साहित्यका क्षेत्र विज्ञानको क्षेत्रसे भिन्न है। विज्ञान निर्धारित क्षेत्रमे काम करता है, साहित्य सम्भावनाओं के पीछे दौडता है। परिणामतः आलोचना निर्धारित सीमाओं के बीच विर जाने से एकांगी हो जाती है। इस प्रकार एकवर्गीय अध्ययनके कारण:साहित्यका ब्यापक और सुसंघटित स्वरूप विच्छित्र हो जाता है।

रोमाण्टिक युगके बाद ज्ञानके अन्य क्षेत्रोंकी भाँति आलोचनापर भी विज्ञानका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। फ्रेंच आलोचकोंने डार्विनके स्व-प्रगतिवाद (self-evolution)-को आलोचनाके क्षेत्रमें ग्रहण किया। टैनने आलोचनाके लिए इतिहासका सहारा लिया। सेण्ट विपने व्यक्तिको प्रमाण माना। इस प्रकार वैज्ञानिक नियमोंके आधारपर साहित्यका वर्गोकरण हुआ और कार्य कारणके पारस्परिक सम्बन्धको महत्त्व दिया गया। रिचर्ड सको भैडले जैसे समर्थ प्रतिपक्षीके सामने खडा होना था, फलतः उन्होने इसी पद्धतिका अनुसरण किया। टी० एस० ईलियट, स्पेन्सर, काडवेल, ल्यूकस, मैथ्यू आर्नोल्ड आदि अनेक आलोचकोंने इस शैलीको विकसित किया।

संस्कृत साहित्यके पाँचों सम्प्रदाय वैज्ञानिक विश्लेषणके आधारपर ही खड़े हैं। संस्कृतमें केवल आलोचनाके क्षेत्रमें ही वैज्ञानिक होनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी, वरन् सर्जनात्मक क्षेत्रमें भी समझी गयी। वामनने तो अविवेक्षी-को काव्यका अधिकारी ही नहीं माना।

हिन्दीमे रामचन्द्र शुक्कका नाम सर्वप्रथम आयगा। उनकी धारणा है कि कविथोंकी विशेषताओंका अन्वेषण और उनकी अन्तःप्रकृतिकी छानबीन करनेवाली उच्च कोटिकी समालोचनाका प्रारम्भ तृतीय उत्थानमे आकर हुआ। समीक्षाका अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी, तब विचारात्मक हो होगी। इस तरह वे इस पद्धतिके सर्वश्रेष्ठ आलोचक ठहरते हैं। अन्य आलोचकोंमें कृष्णशंकर शुक्क, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, गुलाव राय, रामकुमार वर्मा, सत्येन्द्र तथा देवराज प्रमुख है। उच्च शिक्षासे सम्बद्ध होनेके कारण इन लोगोंने विश्लेषणको ही अपनाया है। आजकी हिन्दी आलोचना निश्चय ही वैज्ञानिक होती जा रही है।

विषम – विरोधमूलक अर्थालंकार । मम्मटने इस अलंकारके जिन चार भेदोकी चर्चा की है उनमेंसे दोका आधार रुद्रका विषय-निरूपण है (का० छं०, ९:४५) तथा अन्य दोकी समता रुव्यकके लक्षणसे है (अ० स०, प० १६५) । उनके अनुसार—(१) जहाँ दो सम्बद्ध रूपसे विविक्षत पदार्थीकी, उनकी विलक्षणताके कारण, परस्पर ही अनुपपन्नता प्रतीत हो; (२) कर्ताको क्रियाका फल मिलना तो अलग रहा, उल्टे जो मिले, वह एक अनर्थ हो; (३) कार्यको क्रियासे कारणके गुणका विरोध प्रतीत हो; (४) कार्यको क्रियासे कारणकी

क्रिया भी विपरीत लगे (का० प्र०, १०: १२६-१२७)। 'साहित्यदर्पण' तथा 'कुवलयानन्द'ने तीन मेद माने है-(१) कार्य-कारणके गुण एक-दूसरेके विरोधी हो; (२) प्रयत्न विफल हो, साथ ही कुछ अनिष्ट भी हो; (३) प्रतिकृल वस्तुओं में सम्बन्ध (मा० द०, १०: ७०)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इनका अनुसरण करके दूसरे तीन भेद माने है; भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचायोंने इस अलंकारकी चर्चा नहीं की है। पीछे चलकर रुद्रट, मम्मट आदिने इसका वर्णन किया है। मोजने इसका अन्तर्भाव विरोधमे माना है। मतिरामके अनुसार इसके तीन भेद है-(१) "जहाँ न हे अनुरूप दे, तिनकी घटना होय"। (२) "जहाँ वरनिये हेतुते, उपजन काज बिरूप"। (३) "इष्ट अर्थ उद्यम हि ते, तह अनिष्ट है जाय" (ल० ल०, २२१, २२४, २२६) । जसवन्त सिंह, दास, पद्माकर आदि अनेक आचार्योंने इसी प्रकार लक्षण दिये है। भूपणने जयदेवके समान एक भेद दिया है।

उदा०-प्रथम विषम-"नॉघत नॉघत घोर घने बन हारि परे यो कहे मनो कूँचे। राजकुमार कहाँ सुकुमार कहाँ विकरार पहार वे ऊँचे"? (शि० भू०, २०८)। यहाँ अन्तिम पंक्तिंम कहाँके प्रयोग द्वारा कोमल राजकमारो और कठोर पर्वतोके वीचका वैषम्य प्रदिशत किया है। दितीय विषम-"सहज सरूप सुथराई रीझ्यो मेरो मन, डोलत है तेरी अद्भुतकी तरंगमें। केत सारी ही सौ सब सौतें रंगी स्याम रंग, सेत सारी ही सौ स्याम रंगे लाल रंगमे" (ल॰ ल०, २२५)। यहाँ सेत सारीसे स्याम तथा लाल रंगमे रॅगना वैषम्य है। तृतीय विषम—"अरै परै न करै हियो, खरै जरे पर जार। लावति घोरि गुलावसौ मलै मिलै घन सार" (बि॰ र॰, ५२९) । यहाँ विरहिणी कहती है कि मलय चन्दन और कपूरके शीतलोपचारसे उसकी जलन और भी बढती है। अथवा-"तो कटाच्छ उर मम दुरयो, तिमिर केसमे जाइ। तह बेनी ब्याली डस्यौ कीजै कहा उपाय" (का० नि०, १३)। यहाँ मन रक्षार्थ गया था, पर उल्टे इसा गया। पण्डिराजने केवल इष्टकी अप्राप्तिमें भी यह अलंकार माना है, कुछ आचार्य दृष्टके प्राप्तिपूर्वक अनिष्टकी प्राप्तिमें भी इस अलंकारकी अवस्थिति मानते है। मम्मटने कारणके गुणसे कार्यके गुणके और कारणकी क्रियासे कार्यकी क्रियाके विरोधमे विषमके जो तृतीय और चतुर्थ प्रकार माने है, वस्तुतः ये तृतीय विषम-के ही प्रपंच है।

विषयपरक (कान्य) – दे॰ 'वस्तुनिष्ठ' (कान्य) । विषयप्रधान (कान्य) – दे॰ 'वस्तुनिष्ठ' (कान्य) । विषयप्रधान (कान्य) – दे॰ 'स्वात्मनिष्ठ' (कान्य) ।

विषाद १-प्रचित्त तैतीसमेसे एक संचारी भाव। मनको दुःख होनेका दूसरा नाम विषाद है। इसके विभाव एवं अनुभाव भरतने निम्निलखित प्रकारसे दिये है—आरब्ध कार्यमे असफलता, देवयोग-दुर्धटनाले यह भाव उत्पन्न होता है। उत्तम वर्गके व्यक्ति सहायकोंकी खोज एवं सफलताके साधनोंकी चिन्तासे और मध्यम वर्गके व्यक्ति उत्साहमंग, अनुताप तथा विश्वास द्वारा इसकी अभिव्यक्ति करते है। पर अधम व्यक्ति पुरषार्थहीन एवं निष्क्रिय हो जाते है, उनका मुख

स्सने लगता है और वे पश्चात्ताप करते रह जाते है। इसके अतिरिक्त निद्रा, दीर्घश्वास एवं विचारमग्न रहनेसे इस भावकी अभिन्यक्ति करते हैं (ना० शा०, ७:६८ ग)। सारांश यह कि न्यक्तिका बल एवं सत्त्व मन्द पड़ जाता है या नष्ट हो जाता है, इस 'सत्त्वसंक्षय'का नाम ही विषाद है (द० रू०, ४:३१)।

नाट्यशास्त्रके गयके साथ जो आर्या है, उसमें 'दैव-व्यापित' समस्त पदकी व्याख्या ही प्रतीत होती है। उसमें बताया है कि या तो चोरी हो जाने से अथवा राज्यमें आपित' आने से भी यह भाव उत्पन्न होता है। विश्वनाथने 'उपायके आभास' से 'सत्त्वसंक्षय' को 'विषाद' संचारी माना है (सा० द०, ३: ६७)। हिन्दीके आचार्योंने इसीकी छाया अपने छक्षणमें ग्रहण की है— "फुरै न कछु उद्योग जहॅं, उपने अति ही सोच। ताहि विषाद बखानही …" (जगद्वि०, ४९७)। देवने इसीको 'दुख' कहा है।

पद्याकरका उदाहरण है—"सी व न हमारे कछु त्याग मनमोहनके, तनको न सोच जो पे यो ही जिर जाइहै। कहै पद्माकर न सोच अब एहू यह, आइहै तो आइहै न आइहै न आइहै न आइहै ते आइहै न आइहै न आइहै । इसी प्रकार जुळसीदासकी पंक्तियोमे—"का सुनाइ विधि काह सुनावा। का दिखाइ चह काह दिखावा" (रा० च० मा०, २:४८)।

विषादकी अभिव्यक्तिकी दृष्टिने व्यक्तियोंके तीन वर्गीमे विभाजनका अनुकरण, 'दशरूपक'के लेखक धनंजय (अतएव विज्वनाथ)को छोडकर, भरत सनिका अनुसरण करनेवाले सभी काव्यशास्त्रियोंने किया है, जिनमें 'नाट्यदर्पण'के लेखक रामचन्द्र गुणचन्द्र, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के रचयिता विद्यानाथ (अतएव नंजराजयकोभूपणके लेखक) एवं 'भाव-प्रकाश'के लेखक शारदातनय प्रमुख है। यद्यपि 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण' एवं 'मन्दारमरन्दचम्प्'मे सामान्यतः 'दश-रूपक'की कारिकाओंको ही उद्धृत किया है, तथापि भरतके 'त्रिविथ अनुभावोका भी उल्लेख है। हिन्दी काव्यशास्त्रके लेखक कदाचित् दशरूपककारका अनुसरण कर विषादका सामान्य लक्षण एवं उदाहरण देते है। देवने उत्तम, मध्य तथा नीचना कम माना है और उनके अनुसार लघु चिन्ता, अप्रसाद तथा महाशोक भेद स्वीकार किये है (भाव०: संचारी) । परिस्थितियाँ प्रतिकुल होनेपर भिन्न प्रकारके व्यक्तियोंपर एनका विभिन्न प्रभाव ही होता है. अतः भरत द्वारा प्रतिपादित त्रिविध अनुभाव उचित और लौकिकानुभवानुकूल ही है। इस त्रिविध वर्गमें 'स्थितप्रज्ञ'का स्थान इसीलिए नहीं है कि वह इस प्रकारके भौतिक प्रभावोसे परे है; ये संचारी भाव केवल रसिक-हृदयके ही है। वास्तवमे विषाद शोकमूल है, चाहे वह व्यक्त हो अथवा अव्यक्त । अनः यह दुःखात्मक मनोभाव --ज कि व ब व

विषाद (विषादन) २ - अर्थालंकार ; यह गौण अलंकार प्रहर्षण अलंकारका प्रतिद्वन्दी है । यह अलंकार जयदेवके द्वारा विवेचित हैं - "इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु" (चन्द्रालोक, ५: ५०), अर्थात् जहाँ इच्छितके विरुद्ध अर्थकी प्राप्ति हो । हिन्दीके आचार्योंने प्रायः जयदेव तथा

'कुवलयान्द'के आधारपर इसे अपनाया है। मतिराम, भूषण, दास, पद्माकर आदिने इसकी परिभाषा लगभग समान दी है-"जहँ चित चाहे काजते उपजत काज विरुद्ध'' (शि॰ भू॰, २१७), अथवा—"चित चाहते उलटो कछ है जाय" (का० नि०, १५)। उदा०-''बैर कियो सरजा सिवसों यह नौरंगके न भयो मन भायौ। फौज पठायी हुती गढ़ लेनको गाँठहुके गढ़ कोट गॅनायो" (शि॰ भू॰, २१८)। विहारीका दोहा भी विषादनका सुन्दर उदाहण है-"रात दिवस हौसें रहित, मान न ठिकु ठहराय । जेतो औगन ट्रॅडिये, गुनै हाथ परि जाय" (वि॰ स०, ४५३)। यहाँ प्रेमगविंता नायिका मान तो करना चाहनी है, किन्त कर नहीं पाती है, क्योंकि नायकमे जितना ही वह अवगुण हूंढती है, उतना ही उसके गुण उसे हाथ लगते है। विष्कंभ, विष्कंभक-यह अर्थोपक्षेपकका एक भेद है। दशरूपककारने इसकी परिभाषा देते हुए लिखा है-"वृत्त-वतिंष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षेपार्थस्त विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः" (द० रू०, १५९), अर्थात् रूपकमें विष्कम्भ भत और भविष्यकी घटनाओका सूचक होता है। इसमे मध्यम पात्रो द्वारा संक्षेपमे कथाओकी सूचना दी जाती है। यह अंकके आदिमें रहता है।

विष्कम्भ दो प्रकारका होता है— शुद्ध और संकीणं। एक या दो मध्यम पात्रोंवाटा विष्कम्भ शुद्ध और मध्यम तथा अथम श्रेणीके पात्रो द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भ संकीणं या मिश्र कहा जाता है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि विष्क्षम्भमें मध्यम श्रेणीके पात्रोका होना अत्यन्त आवश्यक है। संकीर्ण या मिश्र विष्क्षम्भमे यदि दोनों पात्र अधम कोटिके होंगे तो प्रवेशक अर्थोपक्षेपक हो जायगा। संकीर्ण विष्क्षम्भमें कम-से-कम एक पात्र तो मध्य श्रेणीका होना ही चाहिये (दे॰ 'प्रवेशक')।

भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रकी 'चन्द्रावली नाटिका'के प्रथम अंकके आदिमे विष्कम्भ है। इसमे शुक्देव और नारद संक्षेपमे कथांशकी सूचना देते है। विस्मय (आश्चर्य) - अद्भुत रसका स्थायी भाव विस्मय या आश्चर्य है। भरतका कथन है कि विस्मय माया, इन्द्र-जाल, असाधारण कर्म, उत्कृष्ट चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है (ना० ज्ञा०, ७: २५ ग)। भानदत्तने 'रसतरंगिणी'में उन विभावों अथवा कारणों-को चमत्कार शब्दमें समाहित कर दिया है। उनके अनुसार चमत्कारके दर्शन, स्पर्शन अथवा श्रवणसे उत्पन्न मनोविकार विस्मय है। साहित्यदर्पणकारने कुछ अधिक व्यवस्थित ढंग-से यह कहा है-"विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु। विस्फारक्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः" (३: १८०), अर्थात् लोककी सीमासे अतिक्रान्त, अलौकिक सामर्थ्यसे युक्त किसी वस्तुके दर्शन आदिसे उत्पन्न चित्तके विस्तारको विस्मय कहते है।

विस्मयके मूळमें मनोविशानियोंने जिज्ञासाकी प्रवृत्ति मानी है। अतएव इसका समावेश बौद्धिक भावनाओंमें होता है, क्योंकि इसमें अनुमृतिके साथ-साथ बुद्धिकी विचारणा भी जागरित होती है। दार्शनिक एवं विज्ञानवेसा इसीके माध्यमसे जीवन एवं जगत्के रहस्योंके उन्मीलनमें प्रवृत्त होते है। किन्त साहित्यके आचार्योंने अनुभूतिको ही प्रधानता दी है, क्योंकि वही चर्वणीय है, उसीका आस्वादन हो सकता है। लोकोत्तर वस्तु अथवा न्यापारके साक्षात्कारसे चित्त चमत्कृत होता है, अर्थात साधारणता अथवा सामा-न्यतासे विपरीत बोई निराली वस्त हमारे अन्तः करणको अभिभावित करती है और हमे अपने निरालेपनसे हैरानीमें डाल देती है। इससे चित्तका प्रसादन ही होता है, क्योंकि दुः बदायी अद्भुत् विषय चित्तको उसकी लौकिकता-अलौ-किकताकी और टिकने नहीं देगा । अतएव विस्मय सखात्मक भाव है। हासको उत्पन्न करनेवाले वैपरीत्य अथवा निरा-लेपनमे फिर भी एक प्रकारकी साधारणता रहती है. जो विनोदका भाजन बनती है, लेकिन विस्मयका निरालापन सर्वथा लोकोत्तर होता है, जो चित्तको हलके विनोदमे आलोडित करनेकी अपेक्षा उसे चिकत या हैरान ही अधिक करता है। जड़ता, दैन्य, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चपलता इत्यादि विस्मयके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी है। उदा०-"तब देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुन्दर ! चिकत चितय मुदरी पहिचानी । हर्ष विषाद हृदय अकुलानी" (रा० च० मा०, ५: १३)। यहाँ विस्मय भावमात्रकी व्यंजना है, स्यायीकी पृष्टि नहीं हो सकी -र्वति०

विहंगम-मार्ग –दे॰ 'पिपीलिका-मार्ग'। विहसित –दे॰ 'हास्य रस'। विहस –दे॰ 'स्वभावज अलंकार', दसवाँ।

जिसमें सूर्य और चन्द्र (ललना-रसना-रूपी) दो तूँबे छगे है (चर्यापद) । गोरखबानीमें ज्ञान और गुरुको दो तूँबे माना गया है, जिसमें चैतन्यकी डण्डी लगी है। इसी रूपकको कबीरने प्रहण किया है—"जोगिया तनकौ तन्त्र बजाऊँ। चन्द्र सुर दोउ तूँवा करिइं चित चेतनकी दाँडी। सुषमन तन्ती बाजन लागी इह बिधि तृषणा खाँडी" वीथी-वीथीका अर्थ है पंक्ति । इस रूपकके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें उद्धात्यकसे मार्दवतक तेरह अंग पंक्तिबद्ध होकर आते है। भरत मुनिका मत है कि इसका अभिनय दी अथवा एक पात्रके द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटिके होते है। इसमें एक अंक होता है और कोई भी रस आ सकता है। धनंजय और विश्वनाथका मत है कि शृंगारकी अधिकताके कारक इसमें कैशिकी वृत्ति होती है। इसमे मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती है और अर्थप्रकृतियाँ सभी विद्यमान होती है (सा० द०, ६: २५३-५६)। सागरनन्दीका मत है कि यह रूपक तीन पात्रोंसे अभिनीत होता है। उन्होंने उदाहरणके लिए 'बकुल-वीथी'का नामोल्लेख किया है। वीथीके सम्बन्धमें प्रायः सभी आचार्य एक बातपर बल देते है कि इसमे तेरह वीथ्यंगोंको अवस्य नियोजित करना चाहिये। उन्होंने तेरह बीथ्यंगोंका क्रम बताते हुए कहा है

वीणा -योग-साधनामे इस समस्त कायाको बीणाकी

उपमा दी जाती है। सिद्धोंने इसे 'हेरुक वीणा' कहा है,

कि उद्धात्यक और अवगलित तो प्रस्तावनाके प्रकरणमें आते हैं और शेष इसके उपरान्त । अविशष्ट वीध्यंगोंका क्रम इस प्रकार है—प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिवल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, प्रहेलिका, असत्यप्रलाप, न्याहार, मृदव।

कोहल नामक आचार्य ऐसे हुए हैं, जिनका मत यह है कि इन तेरह लास्यांगोंका होना अनिवार्य नहीं। शारदातनय उनके मतका उल्लेख करते हुए कहते है "भवेयुर्वा न वेत्यस्यां लास्यांगान्याह कोहलः" (भा० प्र०, ८: पू० २५१)। नाट्यदर्पणकारने शंकुकका मत देते हुए लिखा है कि उनके मतके अनुसार वीथीका नायक अधम कोटिका नहीं हो सकता। अन्यथा प्रहसन, भाण आदि हास्य रसप्रधान रूपकोमे विटादि अधम नायकोंकी क्या उपादेयता रहेगी ? दो पात्रोंकी उक्ति-प्रत्युक्तिमें जब वैचित्र्य आ जाता है तो वीथी रूपक बनता है और एक पात्र जब आकाशभाषितके द्वारा कथोपकथन करता है. तो वीथी रूपककी रचना होती है (ना० द०, पृ० वीप्सा-एक शब्दालंकार; आदर, घुणा, हर्ष, शोक, विस्मयादिवोधक भावोको प्रभावशाली रूपमें व्यक्त करनेके लिए शब्दोंकी पुनः-पुनः आवृत्ति । सर्वप्रथम भिखारी-दासके 'काव्यनिर्णय'मे यह 'वीप्सानप्रास'के रूपमें मिलता है-"प्क शब्द बहु बार जहूँ, हरषादिकतें होइ" (१९)। आधुनिक विवेचकोंमे केडिया, भगवानदीन तथा रामदहिन मिश्रने इसपर विचार किया है।

देवका यह सुन्दर उदाहरण—"रीझि-रीझि रहिस-रहिस हँ सि-हॅसि उठे, सॉसै भरि ऑसू भरि कहत दई-दई। मोहि-मोहि मोहनको मन भयो राधामय, राध मोहि-मोहि मोहन मयी-मयी"। भाषामें गति लानेके लिए इस अलंकारका प्रयोग प्रायः कवियोंने किया है, किन्त रीतिकालीन कवियोंमें 'देव'को यह अलंकार विशेष रूपसे प्रिय रहा है। वीर १-वज्रयानी सिद्धोंने नायकके लिए 'वीर' शब्दका प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या 'दोहाकोष'मे इस प्रकार मिलती है कि चित्त वज्र-प्रज्ञोपाय योगसे जो महाराग द्वारा विरागका दमन करता है, उसे वीर कहते है, वह मकरन्द पान करता है और महासुख-चक्रमें रमणी महामुद्रा नैरात्मा रूपी नायिकाका उत्साहपूर्वक उपभोग करता -ध वी० भा० वीर २-मात्रिक समछन्दका एक मेद; जिसका आल्हछन्द नाम भी प्रसिद्ध है। इस छन्दकी लयका विकास लोक-वीर-गीतियोसे सम्बद्ध होना चाहिये, यही कारण है कि जगनिक 'आल्हखण्ड'का लोकमें इतना प्रचार हो सका। इसके प्रत्येक चरणमे १६, १५की यतिसे ३१ मात्रा और अन्तमे ग-ल (SI) रहता है (भानु: छं० प्र०, पृ० ७२)। यह मात्रिक सबैयाका भेद माना जाता है, अतः इसका नाम वीर सवैया भी है। प्रायः वीर रसमें प्रयुक्त होनेके कारण सम्भवतः इसे वीर नाम दिया गया है। यह छन्द वर्णनात्मक है और सभी प्रकारके वर्णनोंमें प्रयक्त हुआ है। पर बीर रसके ओजस्वी वर्णन इसमें अधिक उभरते

हैं—''बीस कदमके तहँ अन्तरमें, गोला चलै दनाक-दनाक। गोला लागै जेहि हाथीके, मानो चोर सेंधि मा जाय" (आल्ह०: पथरीगढ०, प्र० ३०५)।

यह उल्लेखनीय बात है कि अन्य वीरकान्योमें इस छन्दका प्रायः अभाव है। इससे भी यह कल्पना इद होती है कि इस छन्दकी लय लोकगीतोंके निकट है। सन्दरदासने 'सुन्दरविलास'के एक अंग (विपर्यय शब्दके अंग)में इसका प्रयोग किया है-"अन्धा तीन लोकको देखे, बहिरा सनै बहुत बिधि नाद"। इसी प्रकारकी लय कबीरके कुछ पदी-में है और ये एक प्रकारसे आध्यात्मिक वीरतासे सम्बद्ध है। पद-शैलीके अन्तर्गत इसका प्रयोग प्रचलित रहा है. क्योंकि तल्सी, सर, मीरॉके पदोंमे व्यापक रूपसे प्रयोग मिलता है। इस छन्दकी गति चरणके प्रारम्ममे उठती जान पडती है, पर अन्ततक पहुँचते-पहुँचते एकाएक गिर जाती है। इसी कारण पढकी गेयताके साथ इसमे लम्बे वर्णन तथा भावोकी व्यंजना सफलतापूर्वक की जा सकती है—"वेद कमल मुख परसति जननी, अंक लिये सत रतिकर स्याम" (सू॰ सा॰, सभा, पृ॰ ७७५)। आधुनिक कालमे लोकप्रियताके कारण इस छन्दको रामायणकी कथाके लिए राधेश्याम कथावाचकने अपनाया है । श्यामनारायण पाण्डेयके वीरकाव्योमे इसकी लय अपनायी गयी है तथा अन्य प्रबन्धकारोने भी इसका प्रयोग किया है।

वीर २ - वौल साधनामे तीन प्रकारके साधक या अधिकारी माने जाते हैं — दिव्य, वीर और पशु (बौलावली निर्णय ७११)। वीर मध्यम कोटिका अधिकारी है। आत्मा और परमात्मा या जीव और ब्रह्मके अदैतका हल्का-सा आभास पाकर साधना-मार्गमें उत्साहित हो जानेवाले तथा आयास-पूर्वक मोह या मायाके पाश को काट डालनेवाले साधकको कौलमार्गी 'वीर'की संज्ञा देते है। क्रमशः अद्रैत ज्ञानकी ओर अग्रसर होता हुआ यह 'वीर' साधक शिवके साथ अपनी एकात्मकताको शीव ही पहचान जाता है। वीरभावके साधकमें सच्वगुणकी अपेक्षा रजोगुण अधिक प्रवल होता है।

'सर्वोल्लास' नामक अन्थमें महासिद्ध सर्वानन्दने तीन प्रकारके वीरोका उल्लेख किया है-वीर, सभाव वीर और विभाव वीर । साधक पद्म अवस्थासे सभावपद्म और विभाव-पशुकी अवस्थाओको पार करता हुआ 'वीर' अवस्थाको प्राप्त होता है (दे०-प्रा)। वीरसे सभाव वीर और फिर विभाव वीर होता हुआ अन्तमें वह दिव्य साधक (दे० 'दिव्य') बन जाता है। वीरकाच्य-'वीर' शब्द मूलतः शुर अथवा योद्धाके लिए प्रयक्त होता है। अतः वीरकाव्यके अन्तर्गत उन समस्त काव्योंको सम्मिलित किया जा सकता है, जिनका आधार ऐतिहासिक घटनाएँ हैं या जिनमे आश्रयदाताओंकी कीर्ति युद्धसञ्जा, गर्नोक्तियाँ, युद्ध एवं वीरतापूर्ण कार्य-कलापोका चित्रण किया गया हो। हिन्दी वीरकाव्यका निर्माण चारणों भाटोंके अतिरिक्त अन्य जातियोंके कवियोंने भी किया है। इसकी रचना पिंगल और डिंगल—हिन्दीके दोनों साहित्यिक रूपोंमे हुई है।

वीरकांच्य-धाराका निकास एवं विकास भारतकी विचित्र

राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ है। हर्षकी मृत्यु (६४७ ई०)के उपरान्त उत्तरी भारतमे राजनीतिक अन्यवस्था एवं विघटनका काल आरम्भ हुआ। देश छोटे-छोटे राज्योमे विभाजित हो गया, जो एकता अथवा पारस्परिक सम्पर्कके किसी भी सिद्धान्तसे सूत्रबद्ध नहीं था। करमीर, कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, महोबा, मालवा, गुजरात, जोधपुर, मेवाड, बीकानेर, जयपुर, ओड्छा, पन्ना आदि प्रमुख राज्य थे, जिनमें विभिन्न राज्यपरिवार ज्ञासन करते थे। उधर ७१२ ई०में मुसलमानोक आक्रमण भारतपर प्रारम्भ हो गये थे। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरीके विविध अभियानोने कतिपय देशी राज्योका अन्त कर दिया था। १२०६ ई०में मुसलमानी शासनकी दिल्लीमे नीव पड गयी। अलाउद्दीन आदि कई शक्तिशाली सुलतानीने हिन्दू राज्योंसे लोहा लिया। १५२६ ई०मे बाबरने मुगल साम्राज्य स्थापित किया। अकबरके शासनकाल (१५५६-१६०५ ई०)मे भयंव.र युद्धोंके बाद राणाप्रताप आदिको छोड़कर रोष राज्योने मुगल साम्राज्यकी अधीनता स्वीकार कर ली। इन राज्योंके हिन्दू राजा मुगल सेनामे रहकर अन्य हिन्दू राज्योंका अन्त करनेमे लग गये। औरंगजेबकी कट्टर और हिन्द-विरोधी नीतिके कारण राजस्थान, बुन्देल-खण्ड, महाराष्ट्र, पंजाब आदिने मुसलमानी सत्ताके विरुद्ध विद्रोह आरम्भ कर किया। इस प्रकार नारतके हिन्दू राज्य परस्पर लडते थे, मुसलमानोंसे लोहा लेते थे तथा उनकी सेवामें रहकर साम्राज्यके शत्रुओके विरुद्ध वीरता प्रदर्शित करते थे। इस प्रकार इनके युद्ध पड़ोसी राज्योंका अन्त करने, स्वतन्त्रताको समाप्त करने, राज्य-विस्तार एव सन्दरियोके अपहरणके लिए हुआ करते थे। इनके आश्रित कवि इन युद्धोमे दिखलाई गयी वीरताका चित्रण करते थे।

हिन्दी साहित्यके आरम्भके समय देशमें सिद्ध, नाथ आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ वर्तमान थे। बौद्ध धर्मका हास हो चुका था। जैन धर्म सीमित घेरेके अन्दर सन्तुष्ट था। ब्राह्मणमत पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। रामानुज, मध्व, रामानन्द, वछम आदि आचार्योंने शनैः-शनैः सगुण भक्तिका समस्त देशमें प्रसार कर दिया था। नामदेव, कवीर, दादू आदिने हिन्दू और मुस्तिष्टम भावनाओसे समन्वित विचारधाराको अपना िष्या था। फलस्वरूप भक्तिकाल्मे वीरकाव्य-धारा कुछ मन्द पड़ गयी थी। वीरकाव्यके प्रन्थोंपर इस धर्म-भावनाका स्पष्ट प्रभाव परि-लक्षित होता है। अधिकांश कवियोंने अपने नायकोंको ईश्वरावतार, गो-ब्राह्मण-पालक, हिन्दू धर्म-रक्षक आदिके रूपमें चित्रित करके धर्म-दया-दानवीरके रूपमे पाठकोंके समक्ष रखा है।

तत्कालीन समाजन्यवस्था स्तामन्तशाही पद्धतिपर आधारित थी। दरवार, वैभव एवं सामन्तकालीन संस्कृतिके केन्द्र थे। आमोद-प्रमोदमय जीवन न्यतीत किया जाता था। मदिराका प्रचार था। मांस-भक्षणका प्रचलन था। अन्तःपुरमें स्त्रियोकी संख्या अधिक होती थी। चूत-क्रीडा, मृगया, संगीत एवं नृत्य मनोरंजनके प्रमुख साधन थे। अधिक नौकर रखनेकी प्रथा थी। दासता वर्तमान थी। स्ख्यकीच स्वीकार किया जाता था। मध्यम श्रेणीके लोग

सुसी थे। निम्नवर्गका जीवन दुःसी और कष्टमय था। हिन्दुओमे सती, बाल-विवाह और पर्दो-प्रथा प्रचलित थी। इस धाराके कवियोने अपने ग्रन्थोंमे यथास्थान इन सामा-जिक परिस्थितियोका चित्रण किया है।

वीरकान्यके आरम्भिक कालमे अपभ्रंश भाषामे सिद्ध एवं न।थ साहित्य निर्मित हो रहा था तथा प्राकृतमें जैन रचनार् लिखी जा रही थीं। लोकभाषाओमे भी काव्य-सर्जन आरम्भ हो गया था। ये लोक-भाषा-प्रन्थ अपभ्रंश, प्राकृत आदिकी साहित्यिक प्रवृत्तियोसे प्रभावित रहते थे। वीरके अतिरिक्त शृंगार, नीति आदि विविध विषयोंकी रचनाएँ भी हुआ करती थी। उस युगमे एक ओर संसार-त्यागी कवि थे, जो प्रमुखतः धार्मिक साहित्य-साधनाको ही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाये हुए थे, दृसरी ओर राज्याश्रित कवि विभिन्न विषयपरक साहित्यसर्जन कर रहे थे। भक्तिकालमे वीरकाव्य-धारा मन्थर गतिसे बहती हुई रीतिकालमे प्रवल वेगसे उसके समानान्तर प्रवाहित होती रही। आधुनिक वालके प्रारम्भमे भी नवीन विचार-समन्वित वीरकाव्य लिखनेका प्रयास किया गया था। वैसे वीरकाव्यकी परम्परा आदि तथा मध्यकालमे ही विशेष रूपसे विकसित हुई है।

वीरकान्यके अधिकांश अन्य 'रासो' (दे॰) कहलाते है। रासो 'रास' शब्दसे बना है, जिसका अर्थ ग्वालोंकी क्रीड़ा तथा भाषामें श्रृंखलाबद्ध रचना है। अतएव रासो उस अन्यको कहते हैं, जिसमे किसी राजाकी कीर्ति, विजय, युद्धवीरता आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। कुछ अन्थोके नाम छन्दोंपर भी रखे गये हैं, यथा—'पाबूजीरा दृहा'।

इन कृतियोंकी रचनाएँ महाकान्य, खण्डकान्य तथा
मुक्तक-रूपमे मिलती है। आश्रयदाताओंकी अतिश्योक्तिपूर्ण
प्रशंसाने इनके कथानकोंको अधिक अस्वाभाविक बना दिया
है। कुछ अन्थोमें विविध विषयोकी लम्बी स्चिया वर्तमान
है, जिनके मूलमें पाण्डित्य-प्रदर्शनकी प्रवृत्ति है। ऐतिहासिक
कथानकमे पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओंके सम्मिश्रणसे
रोचकता और सजीवताका समावेश हो गया है धार्मिक
उपदेश, प्रकृति-वर्णन, देवी शक्ति, श्कुनापशकुन, मृगया
आदिके चित्रणोसे जीवनके विभिन्न अंगोंकी झाँकी देखनेको
मिलती है। कुछ कवियोंने ऐतिहासिक नथ्योंकी पूर्णरूपेण
रक्षा की है।

पात्रों में कुछ विशिष्ट गुण ही प्रदक्षित किये गये है। नायक मृगया, अस्त्र-शस्त्र-पद्धता, सैन्य-संचालन-दक्षता आदि गुणोंसे युक्त है। कितपथ पात्र सच्ची वीरता, अदम्य उत्साह, असीम अध्यवसाय एवं वीरताकी प्रतिमूर्ति हैं। छल-कपट, विश्वासघात एवं भूतंताका प्रतिनिधित्व करनेवाल पात्र भी द्रष्टव्य है। सूदन, मान आदि कवियोने विपक्षियोंके चित्रणमे पर्याप्त सहानुभूति दिखलायी है। नारीके दो रूप मिलते हैं। एक रूप शृंगारिक भावनाका प्रतीक, उद्दीपक, साधनामें बाधक और कर्तव्यविमुख करनेवाला है। दूसरा रूप अत्यन्त उज्ज्वल और महान् है। वह इस रूपमें सच्ची क्षत्राणी, सनी, साध्वी, माता और पत्नीके रूपमें अंकित की गयी है।

इन अन्थोंमें वीर रसके चारों प्रकार-युद्ध, दान,

दया और धर्मका सफल चित्रण हुआ है, पर प्रधानता युद्ध और दानवीर की है। चन्द्र, भूषण और सूर्यमलको वीर रस-चित्रणमे अधिक सफलना मिली है। वीरके साथ शृंगारका भी वर्णन किया गया है। कही-फहीपर शृगार औचित्यकी सीमाका उल्लंघन कर गया है, पर अधिकांशतः वह मर्यादित ही रहा है। वीमत्स, रौद्र तथा भयानक रसोंका भी अच्छा परिपाक हुआ है। यत्र-तत्र अन्य रसोके भी उदाहरण मिल जाते है।

'शिवराजभृषण' आदि कुछ प्रन्थ आचार्यत्वकी प्रेरणासे लिखे गये है। शेष प्रन्थोंमे कुछ विशिष्ट अलंकारोका ही प्रयोग हुआ है। अनुप्रास, इलेष, यमक, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, वयण-सगाई आदि प्रमुख अलंकार है।

छन्दोंकी विविधता एवं परिवर्तनशीलताके लिए चन्द, सूदन और सूर्यमल विशेष उल्लेखनीय है। दूहा (दोहा), किवन्त (छप्पय), चौपाई, गीतिका, सवैया, त्रोटक, तोमर आदिका अधिक प्रयोग हुआ है। छन्दोंके नामो एवं लक्षणों- में परिवर्तन करने तथा नव-छन्द-निर्माणकी प्रकृति भी दृष्टि- गोचर होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदिके छन्दोंका प्रचुरतासे प्रयोग किया गया है। छन्दोंकी संख्या एवं मौलिकताकी दृष्टिसे हिन्दीकी अन्य कोई धारा इन्नी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी वीरकाव्य-परम्परा।

उद्दीपनकी हिष्टिसे षट्ऋतु वर्णन हुआ है, जिसमें प्रकृतिके उत्तापक और उत्तेजक रूप मिलते है। इस प्रसंगमें ऐश्वर्य एवं विलासमय कार्य-कलापोंकी योजना की गयी है। प्रकृतिके खस्थ और संयत रूपके भी यत्र-तत्र दर्शन होते है। इनकी रचना-शैलीमे वर्णनात्मक पद्धतिकी प्रधानता है। संवादोके प्रयोगमे नाटकीय त्वरा और सरसताका समावेश हो गया है।

पिंगल भाषाकी रचनाओं अपभ्रंश, राजस्थानी, उर्दू, फारसी, बुन्देलखण्डी, मराठी, बैसवाड़ी आदिके प्रचलित शब्दोका स्वतन्त्रतासे प्रयोग हुआ है। इन भाषाओं के व्याकरणकी छाप भी वर्तमान है। शब्दों की तबक-भड़क एवं तोड़-मोड भी देखनेमे आती है। कुछ कृतियोमे शैली और भाषाका निखरा हुआ, परिमार्जित और सजीव रूप मिलता है। कतिपय कवियोने पिगल और हिंगलपर असाधारण अधिकारका परिचय दिया है।

नीचे इस धाराके पिंगल और डिंगलके कुछ प्रतिनिधि कवियोके जीवन एवं प्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है:—

पिंगलके कि — चन्द्बरदायी (११६८-११९२ ई०?)— कहा जाता है कि ये अजमेर और दिल्लीके पृथ्वीराज चौहान (मृत्यु ११९२ ई०)के आश्रित थे। इन्होने 'पृथ्वीराजरासो'की रचना की है, जिसमे ६९ समय और एक लाख छन्द है। इसमें पृथ्वीराज द्वारा हिन्दू राजाओं तथा मुहम्मद गोरीसे लड़े गये विविध युद्धोंका वर्णन किया गया है। कुछ विद्वान् इसे ऐतिहासिक दृष्टिसे अप्रामाणिक बतलाते हैं। संवतो, घटनाओं आदिकी अशुद्धताके कारण वे इसे १६वी शताब्दीकी रचना मानते हैं। वास्तवमे यह साहित्यिक कृति हैं। अनैतिहासिक होनेसे इसका साहित्यिक महत्त्व कम नहीं हो जाता। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित बजभाषा है, जिसपर प्राकृत, अपश्रंश, अरबी तथा फारसीका भी पर्याप्त रंग चढ़ा हुआ है। साटक, दोहा, पद्धिरया, गाहा, तोमर, मुजंगी आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं, पर किन्त, छप्पयकी संख्या सबसे अधिक है। वीर रसकी प्रधानता है। दोष रस गीण है। राजपूतोके शौर्य, उनकी हावॉडोल स्थित, पतनादि, मुसलमानोकी धर्मान्यता एवं वर्बरताका जैसा वर्णन रासोमें मिलता है, वैसा अन्यत्र दर्लभ है।

जगनिक (११५३ ई०)—ये महोबेके राजा चन्देलेके आश्रित बतलाये जाते है। इनका बनाया हुआ बीर रस-प्रधान 'आल्ह-खण्ड' नामक गीतिकान्य विख्यात है। इसकी कोई प्रामाणिक प्रति प्राप्त नहीं है। यह रचना बड़ी लोकप्रिय है। इसका साहित्यिक मूल्य इतना ही है, जितना कि जनसाधारणकी रुचिके अनुसार वर्णनका है। माबोंके विकासके साथ इसकी भाषामें भी अन्तर हो गया है।

केशव (१५५५-१६१७)—हिन्दीके प्रथम आचार्य केशव ओडछा दरवारमे रहते थे। इन्होने वीर रसके तीन अन्य लिखे है—(१) 'रत्नवावनी'मे ५२ छन्दोमे रत्नसिहकी वीरताका अच्छा परिपाक हुआ है। (२) 'वीरसिंहदेव-चिरत' (१६०८ ई०)मे वीरसिंहदेवके अकवरके विरुद्ध युद्धों और स्वातन्त्र्य-संग्रामका चित्रण है। इसमे ऐतिहासिक तथ्यों एवं वर्णनात्मक शैलीका प्राधान्य है। (२) 'जहॉगीर-जसचन्द्रका' (१६१२ ई०)मे जहॉगीरकी प्रशंसा की गयी है।

भूषण—ये तिकवाँपुर, कानपुरनिवासी रहाकर त्रिपाठी-के पुत्र थे। चित्रकूटके रुद्र सीलंकीने इन्हें 'भूषण'की उपाधिसे विभूषित किया था। शिवाजी (१६२७-८० ई०) तथा छन्न-साल वुन्देला (१६४९-१७३१ ई०) इनके आश्रयदाता थे। इन्होंने निम्निलिखत अन्थ लिखे है—(१) 'शिवराज-भूषण' (१० २९ अप्रैल, १६७३ ई०) मे ३८४ छन्द है। यह अलं-कार-अन्थ है। दोहोंमे अलंकारोंकी परिभाषा दी गयी है। किवत्त और सवैयोमे उदाहरण है, जिनमे शिवाजीके वीरतापूर्ण कार्य-कलापोंका चित्रण है। (२) 'शिवाबावनी'मे ५२ छन्दोमे शिवाजीका यशोगान है। (३) 'छन्नसालदशक'-के दस छन्दोमे छन्नसाल बुन्देलाका गुणगान है। (४) फुट-कर छन्द विविध व्यक्तिविषयक है।

भूषणकी किवता बीर रस-प्रधान है। किवत्त और सबैये इनके अत्यन्त प्रिय छन्द है। इन्होने वर्णनात्मक शैलीका बहुत कम आश्रय लिया है। इनकी शैली विवेचनात्मक एव संश्लिष्ट है। ब्रजभाषामे रचना की है। विदेशी शब्दों-का प्रयोग मुसलमानोके प्रसंगमें अधिक पाया जाता है। दरवारके प्रसंगमें भाषाके खड़े रूपके भी दर्शन होते है।

मान—ये जैन यति और मेवाङ्के महाराणा राज सिंह-(१६२९-८० ई०)के आश्रित थे। इन्होंने 'राजविलास' (र० १६७७-८० ई०) लिखा है। इसके १८ विलासोंमे मेवाङ्-राजवंशके आरम्भसे राजसिहको मृत्युतकका इतिहास विणित है। मानने कल्पना और अतिशयोक्तिसे अधिक काम लिया है। इसकी रचनामे वीर एवं श्रृंगारकी प्रधानता है। 'राज-विलास'मे राजस्थानीके छन्दोंका अधिक प्रयोग हुआ है। वर्णनात्मक शैलीकी अधिकता है। इसकी भाषा बज है, जिसपर राजस्थानीका पूर्ण प्रभाव है। लालकिन-गोरेलाल—ये छन्नसाल बुन्देलाके दरवारी किन थे। इन्होंने 'छन्नप्रकाश' (र० १७१० ई०) में छन्नसालके पूर्वजोसे प्रारम्भ करके उनके १७१० ई० तकके वृत्तका वर्णन किया है। दोहा, चौपाई छन्दोंमें वीर रसका सुन्दर परिपाक हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी जन्नभाषापर बुन्देलीका प्रभाव है।

सदन—ये मथुरावासी चौवे वसन्तके पुत्र थे। भरतपुरके सुजान सिंह, 'स्रजमल' इनके आश्रयदाता थे। स्दनके
'सुजानचरित'में सात जंग है, जिनमें स्रजमलके १७४५
ई०से १७५३तकके युद्धोंका वर्णन है। आरम्भमे पूर्ववतीं
एवं समकालीन १७५ किवयोंका उल्लेख किया गया है।
विभिन्न विषयोंका विस्तृत वर्णन देखकर किवकी असाधारण
योग्यताका आमास मिल जाता है। यथास्थान सभी रसोंका पयोग हुआ है, पर वीर रस और तद्विषयक उपकरणोंकी ही प्रधानता है। संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत, राजस्थानी,
हिन्दी आदिके १०३ प्रकारके छन्दोंका सफल प्रयोग किया
गया है। इनकी भाषा ब्रज है, जिसपर पंजावी, डिंगल,
मारवाडी आदिका यथेष्ट प्रभाव है। किवत्त और सवैयोंमे
भाषाका अधिक निखरा हुआ रूप दिखलाई देता है।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०)—इनका जन्म सागरमे हुआ था। सागर, जैतपुर, दितया, सतारा, जयपुर, उदय-पुर आदि राजदरवारोंमे इन्हे अच्छा सम्मान मिला था। (१) 'जगिद्धनोद'—नायिका-मेदका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें महाराजा जगत् सिंहका यशोगान किया गया है। इन पद्योंकी गणना वीरकाव्य-धारामें की जा सकती है। (२) 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' (२० १७९२ ई०) में हिम्मत बहादुर और अर्जुन सिंह नोनेके युद्धका ऑखों-देखा वर्णन है। (३) 'प्रतापविरुदावली'में महाराजा प्रताप सिंह 'जजिनिध'का यशोगान है। पद्याकरकी शैलो वर्णनात्मक अधिक है। इन्होंने बाह्याडम्बरोंका अधिक आश्रय लिया है। भाषाकी इष्टिसे ये अधिक सफल हुए है।

जोधराज—ये नीमराणा (अळवर)के राजा चन्द्रभानके आश्रित थे। इनके पिताका नाम बालकृष्ण था। जोधराजने 'हम्मीररासो' (र० का० १८२८ ई०)में रणथम्मोरके हम्मीर और अलाजहीनके युद्धोंका वर्णन किया है। इसपर आदिसे अन्ततक 'पृथ्वीराजरासो'का प्रभाव वर्तमान है। कविने यथावसर मौलिकताका भी परिचय दिया है। भावानुरूप शैली-परिवर्तनसे सजीवताका सम्मिश्रण हो गया है। वीर और श्रृंगार रसोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। इसकी भाषा बज है, जिसपर राजस्थानी, फारसी आदिकी स्पष्ट छाप है। तुल्सीके रामचरितमानसकी भाषाका भी कविने पूर्ण अनुकरण किया है।

डिंगलके कवि - पृथ्वीराज (१५४९-१६०० ई०) — यं बीकानेरके राव कल्याणमलके बेटे थे। इन्होने भक्ति और श्रृंगारपरक 'बेलि क्रिसन रुविमणी री'की रचना की है। इनके बीर रसात्मक गीत प्रसिद्ध हैं। ये उच्च कोटिके किव और योद्धा थे। पिंगल और डिंगल, दोनोंने रचना करते थे। डिंगल भाषाके कवियोंमें इनका बहुत ऊँचा स्थान है। दुरसाजी (१५३५-१६५८ ई०) — बगईी, जोधपुरके

ठाकुर प्रताप सिंहने इन्हें पाला था। ये अच्छे योद्धा और

किन थे। दुरसाजी राजस्थानके अत्यन्त यशस्वी और लोक-प्रिय कि है। इनकी प्रमुख रचना 'विरुदछहत्तरी' है। इसके अतिरिक्त इनके लिखे फुटकर गीत और किन्त राजस्थानमे बहुत प्रसिद्ध है। इनकी भाषा विद्युद्ध डिंगलका उत्कृष्ट उदाहरण है। किनता बहुत सरल एवं दर्पपूर्ण है तथा हिन्दू धर्मकी महिमासे उद्भासित है। इनकी रचनामे वही बल, वैसी ही गित और उतनी ही प्रचण्डता पायी जाती है, जितनी राठौर पृथ्वीराजकी किनतामें।

वीरभाण (१६८८-१७३५ ई०)—ये जोधपुरके महाराजा अभय सिंहके आश्रित थे। इन्होंने 'राजरूपक'मे अभय सिंह और गुजरातके होर बिलन्द खाँके अहमदाबादके युद्ध (१७३० ई०)का वर्णन किया है। यह ४६ प्रकाशोंमे विभक्त है। इनिहासके लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी रचना है। इसकी भाषा उत्कृष्ट डिंगल है।

वॉकीदास (१७७१-१८३३ ई०) — ये जोधपुरके महा-राजा मान सिंहके आश्रित थे। बॉकीदास संस्कृत, फारसी, डिंगल तथा ब्रजके अच्छे जानकार थे। इन्होंने विविध विषयोंके २७ अन्थ, बहुतसे फुटकर गीत तथा इतिहास-विपयक लगभग २८०० वार्ताष्ट्र, कहानियाँ लिखी है। वीर रस सम्बन्धी इनके ग्रन्थ ये है—(१) 'भुरजाल-भूषण'— इसमे चित्तौड़गढकी प्रशंसा, जयमल और पत्ताकी कीर्तिका वर्णन है। (२) 'जेहल-जस-जड़ाव'में कच्छभुजके प्रसिद्ध दानवीर राजा चेहल (जैमल=जेहा)का यशोगान है। (३) 'सिन्धराव छत्तीसी'में गुजरातके राजा सिद्धराजकी वीरता. दान आदिका वर्णन है। (४) 'सूर छत्तीसी'मे वीरोंकी प्रशंसा, वीरता, धैर्य आदिका चित्रण है। (५) 'वीर त्रिनोद'में वीरोके कार्य-कलापो, युद्ध आदिका उल्लेख है। बॉकीदासकी गणना डिंगल भाषाके प्रथम श्रेणीके कवियोंमें की जाती है। इनकी भाषा प्रौढ, परिमार्जित एवं सरस है, वर्णन-शैली संयत और स्वाभाविक है।

स्रजमल (स्र्यमिल १८१५-१८६३ ई०)—ये बूँदोके राजकित थे। स्रजमल पिंगल और डिंगल, दोनोंमें रचना करते थे। इनके वीर रसात्मक प्रन्थ ये है—(१) 'वंश-भास्कर'में बूँदी राज्यका पद्यात्मक इतिहास पिंगल माषामें लिखा गया है। (२) 'बलवन्त-विलास'मे रतलामके महाराजा बलवन्त सिंहका चरित्र बजभाषामें चित्रित है। (३) 'वीर-सतसई' अपूर्ण है। यह डिंगल भाषामें वीर रसका प्रधान ग्रन्थ है।

इनकी रचनाओमें काव्यपक्ष और कलापक्षका सफल निर्नाह हुआ है। इन्होंने वीर-वीरांगनाओंकी मनोदशाओ-का भावप्रधान वर्णन भी किया है और उनके युद्ध, पराक्रम, आतंक आदिका कलात्मक चित्रण भी, विशेषकर रणभूमिकी विकरालतां, युद्धकी भयंकरता आदिका मार्मिक, सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है।

उक्त कवियोंके अतिरिक्त निम्नलिखित कवियोंकी रचनाएँ भी उल्लेखनीय है—

पिंगलके कवि -श्रीधर (१४०० ई०) 'रणमल-छन्द'; दलपत मिश्र (दौलत मिश्र—१६७३-१७०३ ई० ?)— 'खुमाणरासो'; जटमल (१६२३ई०)—'गोराबादलकी कथा'; हूँगरसो (१६५३ ई०)—'शञ्जसालरासो'; कुम्मकर्ण (१६७५ ई०)—'रतनरासो'; दयाल (१६८०-९८ ई०)— 'राणारासो'; श्रीधर (मुरलीधर, १७१३ ई०)—'जंगनामा'; नन्ददास (१७४५)—'जगविलास'; सोमनाथ (१७३३-५३ ई०)—'मुजान विलास'; किशनजी (१८२२ ई०)— 'भीमविलास'।

डिंगळके किवि - शिवदास (१४२८ ई०) — 'अचलदास खीचीरी वचितका'; सूजाजी (१५३१-४१ ई०) — 'राव जैतसीरो छन्द'; केशवदास (१६२४ ई०) — 'गुणरूपक'; करणीदस (१७४३ ई०) — 'सूरजप्रकाश', 'विडद सिणगार', मुरारिदान (१८२८-१९०७ ई०) — 'वंशभास्कर', 'वंशसमुच्चय'; मुरारिदान (१८८३ ई०) — 'जसवन्तजसोभूषण', 'जसवन्त-भूषण'। अन्तिम दोनो कवियोने पिंगळ और डिंगळ, दोनों भाषाओं रचना की है।

वीरकाव्यके उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दीके शैशवकालसे ही वीरकाव्यात्मक रचनाएँ लिखी जाती रही है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं धार्मिक भावनाओं की अमर निधि इस काव्यथारामे सुरक्षित है। हिन्दू जातिके स्वातन्त्र्य-संग्राम, आत्म-विल्दान और त्यागके चरमोत्कर्षका ऐसा भव्य रूप हिन्दी साहित्यकी अन्य धारामें मिलना दुष्कर है। साथ ही भारतके इतिहासके पुनिनेमाणमे भी वीरकाव्यसे पर्याप्त योगदान मिल सकता है।

[सहायक प्रन्थ—राजस्थानी भाषा और साहित्य:
मोतीलाल मेनारिया; हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८००
ई०): टीकम सिंह तोमर।] —टी० सिं० तो०
वीरगाथा काल-दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यिक गाथा'।
वीरगीत-दे० 'लोकगाथा', 'साहित्यक गाथा'।

वीरपूजा-वीरपूजा मनुष्यकी एक नैसर्गिक आदिम भावना मानी जाती है, जो वर्तमान व्यावसायिक युगमे भी विभिन्न रूपोमें प्रकट होती है। वीरपूजाकी मूलगत भावना आदर और भयके सम्मिश्रणसे बनी है। इन भावनाओका एक बाह्य प्रतीक होता है, जिसे वीर अथवा हीरो कहते है। उसीके प्रति सम्मान और श्रेयका प्रदर्शन वीरपूजा है (दे॰ 'फासिज्म', 'अधिनायकवाद')। —रा॰ म॰ त्रि॰ वीर रस-शृंगारके साथ स्पर्धा करनेवाला वीर रस है। शृंगार, रौद्र तथा बीमत्सके साथ वीरको भी भरत मुनिने मृल रसोमें परिगणित किया है। वीर रससे ही अद्भुत रसकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। वीर रसका वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा देवता इन्द्र कहे गये है। यह उत्तम प्रकृति-वालोसे सम्बद्ध है तथा इसका स्थायी भाव 'उत्साह' है-"अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः"(ना०शा०,६: ६६ग)। भानुदत्तके अनुसार, पूर्णतया परिस्फूट 'उत्साह' अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोका प्रहर्ष या उत्फुल्लता वीर रस है-"परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्वो वा वीरः" (र०त०) । हिन्दीके आचार्य सोमनाथने वीररसकी परिभाषा की है-"जब कवित्तमे सुनत ही व्यंग होय उत्साह । तहाँ बीर रस समझियो चौविधिके कविनाह" (र० पी० नि०)।

सामान्यतया रौद्र एवं वीर रसोंकी पहचानमें कठिनाई होती है। इसका कारण यह है कि दोनोंके उपादान बहुधा एक-दूसरेसे मिलते-जुलते हैं। दोनोंके आलम्बन राज्ञ तथा उद्दीपन उनकी चेष्टाएँ हैं। दोनोंके न्यभिचारियों तथा अनुभावोमे भी साद्दय है। कभी-कभी रौद्रतामें वीरत्व तथा वीरतामें रौद्रवत्-का आभास मिलता है। इन कारणोंसे कुछ विद्वान् रौद्रका अन्तर्भाव वीरमे और कुछ वीरका अन्तर्भाव रौद्रमें करनेके अनुमोदक है, लेकिन रौद्र रसके स्थायी भाव कोष तथा वीर रसके स्थायी भाव उत्साहमें अन्तर स्पष्ट है। भोजराजके अनुसार प्रतिकृल व्यक्तियोमें तीक्ष्णताका प्रवोध कोष है कथा कार्यारम्भमे स्थिरता और उत्कट आवेश उत्साह है—'प्रतिकृलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रवोधः कोष उच्यते। कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह इष्यते''। (स० क०, ५:१४०)।

क्रोधमें 'प्रमोदप्रातिक्र्व्य', अर्थात प्रमाताके आनन्दको विच्छिन्न करनेकी शक्ति होती है, जब कि उत्साहमे एक प्रकारका उल्लास या प्रफुछता वर्तमान रहती है। क्रोधमें शत्रु-विनाश एवं प्रतिशोधको भावना होती है, जब कि उत्साहमें धैर्य एवं उदारता विद्यमान रहती है। क्रोधाविष्ट मनुष्य उछल-कृद अधिक करता है, लेकिन उत्साहपेरित व्यक्ति उमंग सहित कार्यमें अनवरत अग्रसर होता है। क्रोध प्रायः अन्या होता है, जब कि उत्साह परिस्थितियोको समझते हुए उनपर विजय-लाभ करनेकी कामनामे अनु-प्राणित रहता है। क्रोध बहुधा वर्तमानसे सम्बन्ध रखता है, जब कि उत्साह मविष्यसे।

क्रोध एवं उत्साहके उपर्युक्त भेदोको ध्यानमें रखनेपर
रौद्र रस एवं वीर रसके भेदको समझा जा सकता है। यों
तो रौद्रमें भी उत्साह संचारी रूपमें आ सकता है, क्योंिक
उत्साह विस्तयके साथ सभी रसोमें संक्रमण कर सकता है,
"उत्साहविस्तयो सर्वरसेषु व्यभिचारिणो" (र०त०)। वीर
रसमें भी क्रोध समाविष्ट हो सकता है, तथापि रौद्रमें यह
उत्साह अत्यन्त क्षीण होकर दव जाता है और क्रोध ही
आस्वाध रहता है तथा वीरमें आनेवाला क्रोध केवल 'अमर्ष'
व्यभिचारी होता है और उत्साह स्थायी ही उत्कटतापूर्वक
आस्वादित होता है। अतएव रौद्र एवं वीर, दोनोकी
पृथक्-पृथक् सत्ता है और एकमे दूसरेको अन्तर्भृत नहीं
किया जा सकता।

लेकिन उत्साहको आधुनिक मनोविज्ञानियोने प्रधान भावोंमें गृहीत नहीं किया है, क्योंकि उत्साहसे आलम्बन एवं लक्ष्य स्फूट एवं स्थिर नहीं रहते। यद्यपि साहित्य-शास्त्रियोंने प्रतिमल्, दानपात्र एवं दयापात्रको उत्साहका आलम्बन बताया है, तो भी भावके अनुभूति-कालमें इन व्यक्तियोंकी ओर वैसा ध्यान नहीं रहता है, जैसा अन्य भावोके प्रतीतिकालमे उनके आलम्बनभूत व्यक्तियोंकी ओर रहता है। फिर, जैसा ऊपर कहा गया है, उत्साह सभी रसोंमें संचार करता है। रितमे भी उत्साह हो सकता है और भयमे भी। अभिनवगुप्तने तो उत्साहको शान्त रसका भी स्थायी माना है। इन कारणोंसे कुछ लोग उत्साहको वीर रसका स्थायी भाव नहीं मानते हैं। रौद्रके साथ वीरकी समादत करनेके प्रयत्नमे वे 'अमर्घ'को वीरका स्थायी मान लेते है। निन्दा, आक्षेप, अपमान इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तका अभिनिवेश, अर्थात् स्वाभिमानका उद्बोध अमर्ष है। लेकिन वीर रसके कतिपय स्वरूपोंमें (यद्भवीरके अतिरिक्त अन्य रूपोंमें) अमर्षका लवलेश भी दृष्टिगत नहीं होता। उदाहरणतः कर्मवीर, पाण्डित्यवीर, सत्यवीर इत्यादिमे अमर्ष खोजनेपर नहीं मिलेगा। अतएव अमर्ष वीर रसका स्थायी नहीं माना जा सकता। इधर कुछ लोगोने 'साहस'को वीरका स्थायी भाव उत्पन्न करनेका उद्योग किया है। वास्तवमें उत्साहमें माहस गृहीत हो सकता है, क्योंकि साहसमे एक निर्भीक धीरता पायी जाती है, जो उत्साहका भी महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन उत्साहको साहससे पृथक् करनेवाला तत्त्व उमंग या उछास है, जो साहसमे सदैव वर्तमान नहीं रह सकता है। इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि "आनन्दपूर्ण प्रयत या उसकी उत्कण्ठाम ही उत्साहका दर्शन हो सकता है, केवल कष्ट सहनेके निश्चेष्ट साहसमे नहीं"। वीर रसकी निष्पत्तिके लिए वस्तुतः आचार्योंने आश्रयमें प्रहर्ष अथवा उत्फलताकी उपस्थिति आवस्यक मानी है । अतएव उत्साह-को ही इसका स्थायी मानना युक्तिसंगत सिद्ध होता है। यह ठीक है कि उत्साह मूल भावोमे गृहीत नहीं किया जा सकता, लेकिन रामचन्द्र शुक्तके शब्दोमें-"आश्रय या पात्रमें उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शकको ऐसा विविक्त रसानुभव होता है, जो और रसोके समकक्ष हैं"। अतएव रस-प्रयोजकताके विचारसे उत्साह उपेक्षणीय नही

यह उत्साह वास्तवमें विभिन्न वस्तुओंके प्रति, जीवनके विभिन्न गुणो अथवा व्यवसायोंके प्रति विकसित हो सकता है और इस दृष्टिसे बीर रसके कई भेद हो सकते है। आद्याचार्य भरतने वीर रसके तीन प्रकार बताये है-दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर । भोजराजने 'सरस्वतीकण्ठा-भरण'में धर्मवीरको न मानकर उसके बदले दयावीरका निरूपण किया है। भानदत्तने भी 'धर्मवीर'को न मानकर युद्धवीर, दानवीर और दयावीर-ये ही तीन भेद बताये है। बादमे विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण'में धर्मवीरको भी मिलाकर वीर रसको चतुर्विध निरूपित किया है—"स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्रत्भी स्यात्" (३: २३४) । पण्डितराजने 'रसगंगाधर'मे इन चार भेदोंको माना है, किन्तु पाण्डित्यवीर, सत्यवीर, बलवीर, क्षमावीर इत्यादि भेदोंकी सम्भान्यताका भी निर्देश किया है। हिन्दीके आचार्योंमें देवने युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर-ये तीन ही भेद स्वीकृत किये हैं। अन्य आचार्योंने प्रायः 'साहित्य-दर्पण'के चार प्रकारोको स्वीकृत किया है। 'हरिऔध'ने रसकलशंभें कर्मवीर नामक पाँचवाँ भेद भी उपपादित केया है। इस प्रकार यदि उत्साह अथवा वीरत्वके न्यापकत्वका विचार किया जाय, तो वीर रस शृंगारके तमकक्ष ठहरता है। आस्वादनीयताको दृष्टिमे रखते हुए साहित्यदर्पण'के चार प्रकार ही सर्वमान्य है, यद्यपि हतिपय विद्वान् 'युद्धवीर रस'मे ही सच्चे उत्साह अथवा शौर्यका प्रस्फुटन सम्भव मानते हैं तथा 'धर्मवीर', 'दानवीर' हत्यादिको शान्त, मक्ति प्रभृति रसोंमें अन्तर्भृत करते है। गिर रसके उपादानोको समन्वित रूपसे विश्वनाथने निर्दिष्ट किया है-"विजित किये जाने योग्य इत्यादि व्यक्ति भारूम्बन-विभाव तथा उनकी चेष्टाएँ इत्यादि उद्दीपन-विभाव है। युद्ध इत्यादिके सहायक आदिका अन्वेषणादि इसके अनुभाव है। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांचादि इसके संचारी भाव है" (सा० द०, ३: २३३, ४)।

हिन्दीके आचार्य कुळपितने 'रसरहस्य' नामक प्रन्थमें वीर रसका जो वर्णन किया है, वह सरळ एवं सुबोध है— "मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारिनकी भीर। व्यंग कियो उत्साह जह सोई रस है वीर। युद्ध दान अरु दया पुनि, धर्म सु चारि प्रकार। अरि बळ समर विभाव यह, युद्धवीर विस्तार। बचन अरुणता बदनकी, अरु फूळै सब अंग। यह अनुभाव बखानिये, सब बीरनके संग"।

 युद्धवीरका आलम्बन शत्रु, उद्दीपन शत्रुके पराक्रम इत्यादि, अनुभाव गर्वसूचक उक्तियाँ, रोमांच इत्यादि तथा संचारी धृति, स्मृति, गर्व, तर्क इत्यादि होते है । उदाहरण-"निकसत म्यान ते मयुखै प्रलै भानु कैसी, फारे तमतोमसे गयन्दनके जालको । लागति लपटि कण्ठ बैरिनके नागिन-सी, रद्रहि रिझावै दै दै मुण्डनिके मालको । लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली, कहाँ ली बखान करी तेरी कर-बालको। प्रतिभा करक करीले केते कारि कारि, कालिका-सी किलक कलेक देति कालको" (भूषण)। यहाँ जन आलम्बन, रात्रुके कार्य उद्दीपन, तलवारके कार्य अनुभाव तथा गर्व, आरेग, उत्सकता इत्यादि व्यभिचारी है। इससे परिपोष प्राप्त कर उत्साह स्थायी आस्वादित होता है. जिससे युद्धवीर रसकी निष्पत्ति हुई है। इस सम्बन्धमे यह सरणीय है कि युद्धवीर वहीं होता है, जहाँ पसीना, मुख या नेत्रकी रक्तिमा इत्यादि अनुभाव न हों, क्योंकि वे क्रोधके अनुभाव है और इनकी उपस्थितिमे रौद्र रस होगा, वीर नहीं।

२. दानवीर के आलम्बन तीर्ध, याचक, पर्व, दानपात्र इत्यादि तथा उद्दीपन अन्य दाताओं के दान, दानपात्र द्वारा की गयी प्रशंसा इत्यादि होते हैं। याचकका आदर-सत्कार, अपनी दातव्य-शक्तिकी प्रशंसा इत्यादि अनुभाव और हर्ष, गर्व, मित इत्यादि संचारी है। उदा०—"जो सम्पति सिव रावनहिं दीन दिये दस माथ। सो सम्पदा विभीषनिहं सकुचि दीन्ह रघुनाथ" (रा० च० मा०, ५: ४९२०)। यहाँ विभीषण, आलम्बन शिवके दानका स्मरण उद्दीपन, रामका दान देना तथा उसमें अपने गौरवके अनुकूल तुच्छताका अनुभव करना और इसल्पिए संकोच होना अनुभाव है। धृति, स्मृति, गर्व औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी है। इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दानवीर रसमे परिणत हो गया है।

३. द्यावीरके आलम्बन दयाके पात्र, उद्दीपन उनकी दीन, दयनीय दशा, अनुभाव दयापात्रसे सान्त्वनाके वाक्य कहना और न्यभिचारी धृति, हर्ष, मित इत्यादि होते है। उदा०—"पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन। त्यो पद्माकर लात लगेपर विप्रहुके पग चौगुने चायन। को अस दीनदयाल भयो दसरत्थके लालसे सूधे सुभायन। दौरे गयन्द उबारिवेको प्रभु बाहन छाडि उपाहने पायन" (पद्माकर)। यहाँ गयन्द (हाथी) आलम्बन, गजकी दशा उद्दीपन, गजकी उद्धारके लिए दौड़ पहना अनुभाव तथा धृति, आवेग, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी

भाव है, इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी दयावीर रसमें परिणत हो गया है।

8. धर्मवीरमे वेदशास्त्रके वचनों एवं सिद्धान्तोंपर श्रद्धा तथा विश्वास आलम्बन, उनके उपदेशों और शिक्षाओका श्रवण-मनन इत्यादि उदीपन, तदनुकूल आचरण अनुभाव तथा धृति, क्षमा आदि धर्मके दस लक्षण संचारी भाव होते है। धर्मधारण एवं धर्माचरणके उत्साहकी पृष्टि इस रसमें होती है। उदा०—"रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं। इससे मुझे है जान पडता भाग्यवल ही सब कहीं। जलकर अनलमें दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी। अच्युत युधिष्ठर आदिका अब भार है तुमपर सभी" (मैथिलीशरण गुप्तः ज० व०)। यहाँ अर्जुनका शास्त्रोक्त भाग्यफल इत्यादिपर विश्वास आलम्बन, प्रणका पूर्ण न होना उदीपन, अर्जुनका प्रण-पालनार्ध उद्यत होना अनुभाव और धृति, मति इत्यादि संचारी है। इनसे पृष्ट होकर धर्माचरणका उत्साह धर्मवीर रसमें परिपक्व हो गया है।

वीर रस(युद्धवीर)का खंगार रसके साथ संयोग किवयोको विशेष प्रिय रहा है। केशवदासके उद्धृत किवत्तमे इसीका चित्र है—"गित गजराज साजि देहकी दिपति वाजि, हाव रथ भाव पित राजि चल चाल सो। लाज साज कुलकानि शोच पोच भव मानि, भौडें थनु तानि वान लोचन विसाल सों। केसोदास मन्द हास असि कुच भट भिरे, भेट भये प्रतिभट भाले नख जाल सों। प्रेमको कवच किस साहस सहायक लै, जीति रित रण आजु मदनगुपाल सो"(र०प्रि०)।

'साहित्यदर्पण'में वीरको शृंगार रसका विरोधी माना गया है, किन्तु 'रसगंगाधर'में इसे शृंगारका अविरोधी कहा गया है। विश्वनाथने भयानक और शान्तके साथ वीरका विरोध ठहराया है, किन्तु पण्डितराजने केवल भयानकके साथ। वे वीरके साथ रौद्र रसका अविरोध मानते है। वस्तुनः वीर एवं शान्तमे विरोध तथा वीर एवं रौद्रमे मैत्रीभाव मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

हिन्दी साहित्यमें रासो यन्थोका वीरकाव्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। इनमे कुछ मुक्तकीय वीरगीतके रूपमें उपलब्ध है और कुछ प्रवन्धकाव्यके रूपमें। 'बीसलदेवरासो' तथा 'आत्हा-खण्ड' प्रथम कोटिकी और 'ख़ुमानरासो' तथा 'पृथ्वीराजरासो' द्वितीय श्रेणीकी रचनाएँ है। इनमें 'आल्हा-खण्ड' तो प्रारम्भने ही जन प्रिय का॰य रहा है तथा उत्तरभारतकी ग्रामीण जननामे इसके श्रवणके लिए पर्याप्त अनुराग है। भक्तिकाल एवं रीतिकालमें परिस्थितियोंके परिवर्तनके कारण वीर रसकी धारा सखती-सी प्रतीत होती है। तथापि, केशवका 'वीरसिंहदेवचरित', मानका 'राजविलास', भूषणका 'शिवराजभूषण', लालका 'छत्रप्रकारा' इत्यादि अन्थोमे वीर रसका प्रवाह प्रवहमान है। 'रामचरितमानस' यो तो शान्त रस-प्रधान रचना है तो भी राम-रावण-युद्धके प्रसंगमे प्रचुर वीर रसकी निष्पत्ति हुई है। भारतमें ब्रिटिश सत्ताकी स्थापनाके अनन्तर जो राष्ट्रीयताकी लहर जनसमुदायमें दौड़ गयी, उसके फल-स्वरूप एक बार पुनः हिन्दी काव्यमें वीर रसकी धारा नव-जीवन सहित बही है। मैथिलीशरण ग्रप्त, गयाप्रसाद शक्क 'सनेही', माखनलाल चतुर्वेदी, 'निराला', 'नवीन', सुभद्रा-

कुमारी चौहान, अनूप शर्मा, 'दिनकर', स्यामनारायण पाण्डेय इत्यादिने अपनी रचनाओमें वीर रसका अजस्र प्रवाह प्रवाहित किया है, जिसमें नव-जायत् राष्ट्रकी सकल आकांक्षाण् मूर्तिमती एवं मुखर हो उठी है। —र० ति० वृंदावन-छीला –दे० 'लीला'।

वृत्तसुरतगोपना-दे॰ 'गुप्ता', (नायिका)।

वृत्ति १-[वृत् + क्तिन्] (क) साधारण अर्थ-(१) सत्ता, भाव, वर्तमानता; (२)स्वभाव; (३)दशा, अवस्था; (४)व्यव-हार, आचरण; (५) जीविका, जीवनोपाय (वर्तते अनयेति करणे क्तिन); (६) भृति, पारिश्रमिक; (७) घूमना, चक्कर; (८) पहिये या वत्त(गोले)की परिधि। (ख) विशेष अर्थ-(१) किसी मौलिक यन्थ, विशेषतः सूत्रयन्थकी सूक्ष्म-संक्षिप्त विवृति या टीका, जैसे—'अष्टाध्यायी'पर जयादित्य और वामन द्वारा रचित 'काशिका वृत्ति' अथवा यास्ककृत 'निरुक्त'पर दुर्गाचार्यकृत 'ऋज्वर्था' नामक वृत्ति। वृत्ति सामान्यतः वार्त्तिक और भाष्य, दोनोंकी अपेक्षा संक्षिप्त होती है। पर आगे चलकर जब यह शब्द व्याख्यामात्रका वाचक बन गया, तब यन्थकार या लेखक स्वेच्छानुसार अपने व्याख्यान-ग्रन्थोका नाम वृत्ति, टीका, टिप्पणी आदि रखने लगे और यह शब्द सुत्रोतक ही सीमित न रह गया। भाष्यकार इंकराचार्यने 'कठ' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदोंके व्याख्यानोको 'वृत्ति' ही कहा है, पर आगे वे ही 'भाष्य' नामसे बोधिन हुए। पर भाष्यकारके शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'वृत्ति' मूलमे थी संक्षिप्त ही-- "अथ कठकोपनिषद्वलीनां सुखप्रबोधनार्थमल्पयन्था वृत्तिरारभ्यते"। "उषा वा अद्यस्य इत्येवमाद्या वाजसनेथिबाह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते" (बृहदा० शां० भा०)। (२) (व्याकरणशास्त्रमे) एक अर्थके भीतर दूसरे नये अर्थको प्रकट करनेवाली गृढ शब्दरचना-'परार्था-भिधानं वृत्तिः'। यह वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है-कृत, तिद्धत, समास, एकशेष जैसे—'भाता च पिता चेति पितरौ' एवं सन् इत्यादि प्रत्ययोंसे बने हुए धातु रूप—जैसे, गम धातसे जिगमिष (जानेकी इच्छा करना), पा धात (पीना)-से पिपास (पीनेकी इच्छा करना) आदि । इन वृत्तियोंका गृह अर्थ समझानेके लिए इनका विग्रह या खण्ड करना पडता है। (३) (साहित्य तथा व्याकरणशास्त्रमे) शब्दका वह व्यापार या शक्ति, जिससे शब्दोंका अर्थ प्रकट होता है। यह वृत्ति त्रिविध होनी है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ लोग 'तात्पर्य' नामक चौथी वृत्ति भी मानते है। (४) (केवल साहित्यशास्त्रमे) एक प्रकारका अनुप्रास नामक शब्दालंकार, जिसमें एक वर्णकी कई बार आवृत्ति होती है। (५) (नाट्यशास्त्रमे) रचना-शैली। यह चतुर्विध होती है। भरत मुनिके शब्दोमें चारो ये है--"भारती सात्वती चैव वैशिक्यारभटी तथा। चतस्रो वृत्त-यरचैता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्"। (६) (वेदान्तज्ञास्त्रमे) यथा-"बुद्धिव तिचिदाभासौ अन्तः करणका परिणाम, द्वाविप न्याप्नुतो घटम् । तत्राज्ञानं थिया नद्येदाभासेन घटः स्फुरेत्" (बृहदा० भा० वा०) । (ग) हिन्दीमें यह शब्द जीविका, वृत्त्यनुप्रास तथा स्वभाव(चित्तवृत्ति)के अर्थमे प्रयक्त होता है। --आ० प्र० मि० वृत्ति २-भरत(४ श० ई०)ने वृत्ति और प्रवृत्ति(दे०)मे अन्तर माना है। उन्होंने वृत्तिको कान्यको माता माना है—"सर्वेषामेव कान्यानां वृत्त्ययो मातृकाः रमृताः"। वृत्तिको न्यवहार या पुरुषार्थं साधक न्यापार कहा गया है। न्यवहारके सूचक क्रियाक्कणप और चेष्टाएँ वृत्तिके अन्तर्गत है। वृत्ति और रीतिमे साम्यके कारण प्रायः अम्यकी स्थिति रही है। वृत्तियाँ दो प्रकारकी मानी गयी है। भरतकी नाट्यवृत्तियोंके अन्तर्गत कायिक और मानसिक चेष्टाएँ स्वीकृत है, परन्तु आगे चलकर आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) तथा अभिनव (१०-११ श० ई०)ने नाट्यवृत्तियोंको अर्थवृत्तियाँ माना और अन्य प्रचलित उपनागिरका, परुषा, कोमलाको कान्यवृत्तियाँ। वस्तुतः वृत्तियोसे इन्हींका बोध होता है।

इन वृत्तिवोंकी उद्भावना उद्भट(८ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालंकारसारसंघह'मे की हैं। उन्होंने इन्हे अनुप्रास-जाति माना है। इनमे वर्ण-व्यवहारकी प्रधानता होती है, इनमें पद-संघटनाका विचार नहीं होता। परन्तु रुद्रट(९ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यालंकार'में वृत्तिको समासका आश्रित माना है। आनन्दवर्धनके अनुसार—'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते', अर्थात् रसानुगुण अर्थ-व्यवहार नाव्यवृत्ति तथा रसानुगुण शब्दव्यवहार काव्यवृत्ति है। अभिनवने पुरुषार्थ-साधक व्यापारका नाम ही वृत्ति माना है। परन्तु मग्मट(११ श० ई० उत्त०)ने 'काव्यप्रकाश'मे उद्भट-के अनुसरणपर वर्ण-व्यवहारपर आश्रित मानकर इन्हे रीति-के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है।

नगेन्द्रने 'भारतीय काव्यशास्त्रकी भूमिका'में वृत्ति तथा रीतिके सम्बन्धकी तीन स्थितियाँ मानी है। कुछ आचायाँने वृत्तिको स्वतन्त्र माना है। उद्भटने वर्ण-व्यवहारके रूपमे, रुद्रटने समासको आधार मानते हुए तथा आनन्दवर्धन और अभिनवने पृथक् वर्णन करके वृत्तिको रीतिसे अलग माना है। आनन्दवर्धनंने शब्द-व्यवहार मानकर इसकी रीतिसे एकता स्वीकार अवश्य की है। मम्मट तथा जगन्नाथ (१७-१८ शु० ई०) आदि बादके आचायाँने इन्हें एक ही माना है। मम्मटने वृत्तियाँकी विवेचना करनेके बाद कह दिया है कि इन्हें ही रीतियाँ माना जाता है। जगन्नाथने दोनोका पांचाली आदिके लिए प्रयोग किया है। अन्य आचार्य वृत्तिको रीतिका अंग मानते हैं। व्यवनाके वृत्तिन्वनसे (काव्य-वृत्तियाँ मी नही है) स्पष्ट है कि वे इन्हें रीतिका अंग मानते हैं। विश्वनाक्षे(१४ शृ० ई० पूर्वा०)ने वर्ण-योजनाको रीतिका अंग माना है।

हिन्दीके आचार्यों चिन्तामणिने 'क्षविकुलकस्पतर'- (१६५० ई०)मे मम्मटके अनुसार वृत्तियोंका वर्णन वृत्यनु-प्रासके अन्तर्गत किया है और यह भी स्वीकार किया है कि ये वृत्तियाँ ही वैदभी आदि रीतियाँ है। प्रारम्भमे उन्होंने रीति और वृत्तिका मेद माना है (दे० 'रीति')। वस्तुतः यह अम इनके सुक्ष्म अन्तरके कारण ही है। कुलपितने 'रस-रहस्य'(१६७० ई०)मे वृत्तियोंपर विचार रीतिके पर्याय रूपमे किया है। देवने केशवके समान नाट्यवृत्तियोंका ही विवेचन किया है। दासने पुनः मम्मटके आधारपर अपने 'काट्यनिर्णय'(१७४६ ई०)में रीतियोंका वर्णन कर वृत्तियों- का विवेचन किया है। आधुनिक विवेचकोंने संस्कृत कान्य-शास्त्रके आधारपर इनकी विवेचना की है। इनमें प्रमुख कन्हैयालाल पोद्दार (र० मं०), अर्जुनदास केडिया (मा० भू०) तथा रामदिहन मिश्र (का० द०) आदि है। पोद्दार-के आधार मम्मट है, केडियाने वृत्तियोंका वर्णन शब्दा-लंकारके अन्तर्गन किया है और रामदिहन मिश्रने रीति तथा पृत्तिका स्वतन्त्र विवेचन किया है।

 उपनागरिका वृत्ति—उपनागरिका काव्य-वृत्ति है। यह वृत्ति नाटककी चार वृत्तियोसे भिन्न है। इसका सम्बन्ध शब्दालंकारसे हैं। शब्दालंकारके अनुप्रास-भेदके प्रकारोंमे वृत्तिके आधारपर वृत्यनुप्रास होता है। यह शब्द-वृत्ति है। भामहने इसे उपनागरिका अनुप्रास कहा है, परन्त उपनागरिकाको वृत्तिके रूपमें सबसे पहले उद्भटने प्रकट किया है और इसे वृत्यनुप्रासके प्रसंगमे वर्णित किया है। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत टवर्गको छोडकर अन्य वर्गीमेसे प्रत्येकके पंचम वर्णके साथ अन्य वर्णीका संयोग तथा पंचम वर्णों के प्रयोगका बाहुल्य रहता है। यह नामकरण नगरकी चत्र और विदग्ध वनिताओंकी सुकुमार शब्दावलीके समकक्ष होनेसे हुआ है। यह प्रतिहारेन्द्रराजका मत है-"एषा खलु नागरिकया वैदग्धीजुषा वनितया उपमीयते तत् उपनागरिका नागरिका उपिमता उपनागरिकेति"। नाग-रिकाकी उपमा होनेके कारण यह उपनागरिका कहलाती है। इसका प्रयोग शृंगारादि रसोंके वर्णनके लिए किया जाता है। इसकी शब्दावली श्रतिमध्र और संगीतमय रहती है।

२. परुषा वृत्ति — परुषा वृत्ति कठोर शब्द-वृत्ति है। इसकी उद्भावना उद्भटने की थी। इस शब्द-वृत्तिके अन्तर्गत र, श, प, टवर्ग, रेफयुक्त तथा संयुक्त वर्णों प्रयोगका वाहुल्य रहता है। परुषा वृत्तिमें कर्णेक प्रयोग किया जाता है। परुषा वृत्तिमें कठोर वर्णोंका प्रयोग किया जाता है। परुषा वृत्तिमें कठोर वर्णोंका विन्यास वीर, रौद्र, भयानक आदि रसो और उम भावोंके प्रकाशनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध आदिके वर्णन, वीरोंके वार्तालाप, रोषपूर्ण उक्तियोंमे इस वृत्तिका आश्रय महण किया जाता है। इसका दूसरा नाम दीक्षा वृत्ति भी है। यह चित्तवृत्तिकों दीप्त करती है। यह ओज गुणको प्रकट करनेवाली रचना है।

३. कोमला वृत्ति उद्घटने इस कोमला वृत्तिको प्राम्य वृत्ति कहा है, क्योंकि यह प्रामीण नारियोंकी स्वाभाविक शब्दावलीके अनुरूप होती है। इस वृत्तिमे कोमल शब्दावलीको प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे ल, व, स तथा वर्गोंके तृतीय वर्णों, जैसे ग, द आदिका प्रयोगबाहुल्य इस वृत्तिकी विशेषता है। इस सुकुमार शब्दावलीका उपयोग श्रंगार, शान्त, करुण, अद्भुत आदि रसो तथा कोमल-सुकुमार भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है। यह दृदयकी कोमलताने संस्कार बनाती है।

उद्भटकी वृत्तियाँ—(क) उद्भटने भरत द्वारा निरूपित सात्वती आदि वृत्तियोंने भिन्न वृत्तिकी कल्पना की। उनके मतानुसार वित्तकी अवस्था ही वृत्ति है। यह अवस्था दो प्रकारकी हो सकती है—चेष्टा-युक्त और चेष्टा-रहित। जेष्टाके भी दो भेद किये जा सकते हैं—एक न्याय और द्सरी अन्याय । अतः जिस चेष्टामे उचित व्यापारोंका समावेश हो। वह न्यायवृत्तिकी चोतक है। इस प्रकार उचित व्यापारोंवाली चेष्टा जिस वृत्तिमे हो, वह वृत्ति न्यायवृत्ति है। (ख) अन्यायवृत्ति - चेष्टायुक्त अवस्थाके न्याय और अन्याय-व्यापारके भेदसे, जहाँ अनुचित ब्यापारोंसे युक्त चेष्टा हो, दहाँ अन्यायवृत्ति होती है। यह उद्भटका मत है। अन्यायवृत्ति चित्तकी उस चेष्टा-युक्त दशाका वीतक है, जिसमें अनुचित या नर्याद 'र्ज का नरी का समावेश रहता है। (ग) फलसंवित्ति उद्भटने चित्तकी एक चेष्टारहित अवस्था मानी है और दूसरी चेष्टा-युक्त । चेष्टायुक्त अवस्थासे सम्बन्धित न्याय और अन्याय-वृत्तियाँ है, परन्तु चेष्टारहित अवस्थामे न्यापारका सर्वथा अभाव रहता है। इस स्थितिमे पात्र अपनी चेष्टाओके फलका भोग करता है। यही वृत्ति फल-संवित्ति की है। फल-संवित्तिका अर्थ होता है फलकी उपलब्धि। अतः जिस चेष्टारहित चित्तकी अवस्थामे फलकी प्राप्ति या भोगकी विशेषता हो, वह फल-संवित्ति वृत्ति है। उद्भटकी इस वृत्तिका लोल्लटने खण्डन किया है। लोल्लटका मन है कि वृत्ति व्यापाररूप है, अतः व्यापार-राहित्यकी कल्पना वृत्तिके लिए उचित नहीं। उनका मत है कि जीवनकी कोई भी स्थिति व्यापार-श्रन्य नहीं, अतः यह चेष्टा-राहित्य-की अवस्था अयथार्थ है।

रुद्धटकी वृत्तियाँ - नद्रश चार्यने कान्यवृत्तियोंको नवीन ष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया। उनकी दृष्टिसे समासयुक्त पद-संघटन वृत्तिका आधार है। रुद्रटकी इस प्रकारकी व्याख्याका आधार बाणभट्टका यह कथन-'असमस्तपद-वृत्तिमिव अद्दन्द्राम्" जान पड़ता है। इस प्रकार उन्होने वृत्तियोके दो वर्ग किये-प्रथम समस्ता, जिसमे समासयुक्त पदोंका प्रचर प्रयोग हो और दितीय असमस्ता, जिसमें समासरहित पदोका प्रयोग हो। यह आधार वास्तवमे रीति-वर्णनका आधार है, क्योंकि वैदर्भी रातिकी व्याख्या इसी रूपमे की गयी हैं। अतः असमस्ता हुई वैद्भी तथा समस्ता वृत्तिके तीन भेद हुए—(१) पांचाली, (२) लाटीया, (३) गौडीया । पांचालीमे दो-तीन, लाटीमें पॉच-छः और गौडीयामे बहुत समासोंका प्रयोग होता है। रुद्रटका यह वर्णन रीतिके समान ही है। उनकी वृत्ति-सम्बन्धी यह न्याख्या वास्तवमे रीति की है जिसमे वर्गाकरणकी विशेषता है।

वृत्तियोका वास्तविक वर्णन उन्होंने अनुप्रास-जातियोके रूपमे किया है। उपनागरिका, कोमला और परुपा, तीन वृत्तियोंके स्थानपर उन्होंने १. मधुरा, २. प्रौढ़ा, ३. परुषा, ४. लिला, ५. भद्रा, इन पॉच वृत्तियोंका उल्लेख किया है। इनके नामसे ही इनके लक्षण स्पष्ट है। रुद्रदका कथन है—"मधुरा प्रौढा परुषा लिलता भद्रेति वृत्तयः पंच। वर्णानां नानात्वात् अस्येति यथार्थनामफलाः" (का० लं०, २:१९)। इनमे मधुरा उपनागरिका, परुषा परुषा और लिलता कोमलासे साम्य रखती है, प्रौढा अर्थ-गाम्भीयं-युक्त और भद्रा सर्व-माह्य हो सकती हैं।

भोजकी वृत्तियाँ -भोजने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'-में १२ प्रकारकी अनुप्रास-जानियोंसे भिन्न वृत्तियोका वर्णन

किया है, जो वणोंकी आवृत्तिपर निर्भर न होकर स्पर्शादि वर्णोंके परस्पर सम्बन्ध और असम्बन्धसे युक्त रचना-संघटन-पर निर्भर करती है। वृत्तिकी परिभाषा भोजने इस प्रकार दी है-"वाव्यव्यापी च सन्दर्भी वृत्तिरित्यभिधीयते"। ये १२ वृत्तियाँ है-गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्द्ररा, इलथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता, अमिता। गम्भीरा वृत्तिमें प्रायः तवर्ग और पवर्गके तृतीय और चतुर्थ वर्णीमें प और फका संयोग होता है। ओज-स्विनी वृत्तिमें प्रायः मुर्धन्योंमें प्रथम, चतुर्थ और पंचम वर्णी-की दो-तीन बार आवृत्ति होती है। प्रौढ़ामे प्रायः मूर्धन्यके अन्त्य वर्णोंके साथ संयोगमें पूर्व वर्ण दीर्घ होते है । मधुरा प्रायः स्पर्श वर्णीके सानुस्वार प्रयोगसे उत्पन्न होती है। निष्ठुरा प्रायः वार-वार संयुक्त वर्णोंके प्रयोगसे आती हैं। व्यंजनोके असंयुक्त प्रयोगसे प्रायः इलथा वृत्ति बनती है। कठोरा प्रायः कण्ट्य और रेफादिके संयोगते उत्पन्न होती है। को मला वृत्ति प्रायः रेफ, णकार और कोमल वर्णोंके संयोगसे प्राप्त होती है। सिश्रा-यह प्रायः कठोर वर्णीमे ओष्ट्य, कण्ट्य 'और मूर्धन्य वर्णीके मिश्रणसे बनती है। परुषा ऊष्म और अन्तस्थर्के संयोगसे निर्मित होती है। छिछता प्रायः दन्त्य, ओष्ट्य, तालव्य वर्णीके साथ अन्तस्य वर्णोके संयोगने उत्पन्न होती है। असिता-यह वृत्ति अमित रूपसे ककार, लकार, वकार आदिके संघटनसे निष्पन्न होती है।

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता-दे० 'पदपूर्वार्धवक्रता' चौथा प्रकार । वृत्यनुप्रास-अनुपासका एक भेद । जहाँ वृत्तिके अनुसार एक या अनेक वर्णोंकी अनेक बार आवृत्ति होती है, वहाँ 'वृत्त्यनुप्रास' अलंकार होता है। विभिन्न रसोके वर्णनमें तदनुकुल भिनन-भिनन वर्णरचनाको 'वृत्ति' कहते है। अतः वृत्तिके अनुकूल वर्णोंकी प्रकृष्ट योजना अथवा आवृत्तिको 'वृत्त्यनुप्रयास' कहते है । वाणीके कोमल, कठोर और मृद् गुणोके अनुसार वृत्तियाँ तीन प्रकारकी होती है-उपनाग-रिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदिने इन वृत्तियोंको क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचालीके नामसे लिखा है। उद्भटके 'कान्यालंकार सार' (८०० ई०)में प्रायः सर्वप्रथम विवेचन हुआ है। मम्मटके अनुसार 'एकस्याप्य-सकुत्परः' (का॰ प्र॰, ९: ७९), अर्थात् एक अथवा एकसे अधिक व्यंजनोका एकसे अधिक बार साहदय। तदनन्तर उन्होंने तीनो वृत्तियोंपर विचार किया है। विश्वनाथ तथा जयदेवने इस सन्दर्भमें वृत्तियोंकी चर्चा नहीं की है और हिन्दीमे सर्वप्रथम इसपर विचार करनेवाले जसवन्त-सिंहने अपने यन्थ (१६४३ ई०)मे मम्मटके आधारपर तीनो वृत्तियोंकी चर्चा की है। अन्य प्रसिद्ध आचार्यों मे कुलपति मिश्र तथा भिखारीदासने इसपर विचार किया है। दासने भी आदि और अन्तमे एक और अनेक बार, वर्णके आनेमें इसके चार प्रकार मानकर, उदाहरण दिये है और वृत्तियोंके अनुसार भी माना है।

उपनागरिका वृत्ति - टवर्गविहीन, माधुर्य गुणव्यंजक तथा सानुनासिक एवं अनुस्वारयुक्त वर्णयोजनाको 'उपना-गरिका वृत्ति' कहते हैं। इसका प्रयोग विशेष रूपसे श्वंगार हास्य और करुण रसोंमें होता है। दासका एक उदा० --- "मंजुल वंजुल कुंजन गुंजत कुंजन भृग विहंग अयानी। चम्पक चन्दन बन्दन संग सुरंग लवंगलता लपटानी" (का० नि०, १९)। आधुनिक छायावादी किव सुमित्रान्दन पन्तकी इन पंक्तियोमे इसका सुन्दर प्रयोग हैं— "तरणिके ही संग सरल तरल तरंगमे; तरणि ड्वी थी हमारी तालमें"। इस वृत्तिका प्रयोग मिक्तालके किवयोंमें और रीतिकालकी शृंगारी किवताओंमे व्यापक रूपते हुआ है।

परुषा वृत्ति—ओज गुणव्यंजक, दित्ववर्णकृतुलः तथा संयुक्त वर्णप्रधान रचनाको 'परुषा वृत्ति' कहते है । इसमें टवर्ग वर्णोका प्राचुर्य होता है । इसका प्रयोग वीर, रौद्र और भयानक रसोंमें होता है । मितरामने शब्दालंकारोंकी चर्चा न करके भी इनका अच्छा प्रयोग किया है—"अंगनी उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हे, खिकरत दिकरि हलत कलकत है"(ल० ल०, १२२) । भूषणने वृत्त्यनुप्रासकी चर्चा न करके इनका रसानुकृल सुन्दर प्रयोग किया है—"कुद्ध फिरत अति जुद्ध जुरत निह रुद्ध मुरत भट । खग्ग वजत अति बग्ग तजत सिर पग्ग सजत चट" (शि० भू०, २६१) । वीरकाव्यके कियोंमे चन्द्र, जोधराज, सुर्व, प्रधाकर आदिने इसका प्रयोग किया है । आधुनिक कियोंमें मैथिलीच्यरण गुप्त, स्थामनारायण पाण्डेय आदिने प्रवन्थकाव्यमे वीर, रौद्र आदि रसोके प्रसंगमें इसका निर्वाह किया है ।

कोमला वृत्ति - जहाँ माधुर्य और ओज गुणव्यंजक वर्णोंसे भिन्न प्रसाद गुणिवशिष्ट वर्णरचना होती है, वहाँ कोमला वृत्ति होती है। इसका प्रयोग शान्त, शृंगार और अद्भुत रसोंमें होता है । मतिरामका शृंगार रसका उदा०-"जेठी पठाय गयी दुलही हॅसि हेरि हिये मतिराम बुलायी। कान्हके बोलपे कान न दीन्हो सुगेहकी देहरीपै धरि आयी" (र० रा०, २८)। छायावादी कवियोंमें इसका निर्वाह मिलता है। पन्तकी इन पंक्तियोमे इसीका प्रयोग है--"नव-नव सुमनोंसे चुन-चुनकर, धूलि सुर्गि मधुरस हिमकण, मेरे उरकी मृदु कलिकामे, भर दे कर दे विक-सित मग" (क्वा॰ द॰मे)। वेग-निरसन-हमारे नैत्यिक, न्यावहारिक जगत्मे सुख उपादेय तथा दःख हेय होता है। समाज तथा व्यक्तिके सारे प्रयत सुख-प्राप्ति तथा दःख-निरोधके लिए ही होते हैं। दुःखमें आनन्द लेनेकी बात हमें अध्वाभाविक (abnormal) लगती है। जो अन्योंके दुःखमें रमण करते है, उन्हें हम सादनकामी (sadists) तथा जो अपनेको दुःख देनेमें रस लेते हैं, उन्हें मर्पणकामी (masochists) कहकर रुग्ण घोषित करते है। किन्तु भाव-जगत्की कथा न्यारी है। इम करुण रसमें भी उतना ही रस छेते है, जिनका हास्य, शृंगार आदिमें: सख-सम्पत्तिका चित्रण जितना आनन्ददायक होता है, उतना ही दुःख-सम्पत्तिका भी। विचित्र होते हुए भी यह एक सत्य घटना है। सौन्द-र्याखादन-कालमें प्रत्येक भाव-जगतका प्राणी और इस्य भाव-जगत्की घटना बन जाता है। उस समय भीषण, भयंकर और दुःखपूर्ण इश्य भी रस अथवा आनन्दकी सृष्टिमें सहायक कैसे बन जाते हैं, इस विषयपर अरस्तू-के समयसे लेकर अवतक अनेक प्रकारके ऊहापोह किये

गये है। अरस्तूका कहना है कि भीषण, भयंकर और दुःखपूर्ण दृश्य प्रेक्षकके चित्तमें करुणा और भयका उद्घोधन करते है, जिसने चित्त एक प्रकारका लाघव प्राप्त करता है और उसमे आवेगोके वेगसे उत्पन्न तनाव शिथिल पड जाता है। तनायके शिथिल हो जानेसे ऐसा लगता है. मानो चित्तका भार कम हो गया हो। ऐसी अवस्थामे एक विचित्र प्रकारके मनःप्रसादका अनुभव होता है. इस प्रक्रियाको अरस्त्रने वेग-निरसन अथवा विरेचन (catharsis) नाम दिया है। वेदांत-वेदान्तके निम्नलिखित अर्थ है-(१) उपनिषतः वेदान्तका शाब्दिक अर्थ है वेदका अन्त, अर्थात् अन्तिम भाग । वेदोके अन्तिम भाग उपनिषत् नामक यन्थ है, अतः उनको वेदान्त कहा जाता है। (२) पर उपनिषदका स्वयं अर्थ क्या है ? कुछ लोग कहते है कि विद्या गुरुके पास बैठकर प्राप्त की जाय, वह उपनिषत है। शंकराचार्यका कहना है कि जो बन्धनको काटे, वही ज्ञान उपनिषत है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानके अर्थमें उपनिषत् शब्दका प्रयोग होने लगा। तब वेदान्त भी इसी तत्त्वशानका समानार्थक हो गया और उपका अर्थ किया गया—वह विद्या या शास्त्र. जो वेद या लौकिक ज्ञानके अन्तमे, अर्थात परे हो। यहाँ वेदान्त शब्द अंग्रेजीके 'मेटाफिजिक्स', अर्थात फिजिक्स-(भौतिकविज्ञान)के परेवाला ज्ञान हो गया। (३) उपनि-षदोंके ज्ञानको एकत्र समन्वित करनेवाले बादरायणने 'ब्रह्मसूत्र' या 'वेदान्तसूत्र' लिखा। प्रायः उनके दर्शनको वेदान्तदर्शन कहा जाता है। (४) उपनिषदों या वेदोंके तत्त्वज्ञानको ही समन्वित करनेवाली 'भगवद्गीता' है। कुछ लोगोंके मतसे वह स्वयं उपनिषद् है। अतः उसके दर्शनको भी वेदान्तदर्शन कहा जाता है। (५) उपनिषद, 'ब्रह्मपूत्र' और 'गीता', इन तीनोंको या इनमेंसे किसीको प्रधान मानकर चलनेवाले दार्शनिकोंके दर्शनको भी वेदान्त वहा जाता है। आजकल वेदान्त शब्दका प्रयोग साधारणतः इसी अर्थमें होता है। शंकर, भास्कर, रामानज, निम्बार्क, मध्य, श्रीकंठ, श्रीपति, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु, बलदेव और रामानन्द 'ब्रह्मसूत्र'के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए है। इनके दर्शनोंको भी वेदानत कहना युक्तियुक्त ही है। इन सभी भाष्यकारोंने 'वेदान्तसूत्र' या 'ब्रह्मसूत्र'की अपने-अपने अनु-सार व्याख्या की है। अतः यह समस्या उत्पन्न हो गयी कि बादरायणका सच्चा वेदान्तदर्शन क्या है और कौन भाष्यं-कार उनके अनुसार चलता है ? पर वेदान्तस्त्रोको विना किसी भाष्यके समझना कठिन है। अतः इस समस्याका अन्तिम उत्तर देना सम्भव नहीं। इसीलिए कुछ लोगोंने शंकरको, तो कुछने निम्बार्कको, कुछने रामानुजको तो कुछने वल्लभ आदिको बादरायणके दर्शनका असली व्याख्याता सिद्ध किया है इन भाष्यकारोमे शंकराचार्य सबसे प्राचीन है। अतः प्रायः उनके दार्शनको ही बादरा-यणका सचा दर्शन माना जाता है। (६) वेदान्त प्रायः शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें रूढ हो चला है। सामान्यतः पाइचात्य देशोंमे और अपने देशमे भी लोग शंकरके दर्शन-को ही वेदान्त समझते है, यद्यपि वह अद्देतवेदान्त ही है। अन्य वेदान्त या तो वैष्णव वेदान्तको नामसे या शैव वेदान्तके नाममे प्रसिद्ध है।

'श्रह्ममूत्र'के सभी भाष्यकारोंने इस बातका मतैत्रय है कि वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त ब्रह्मयाद (३०) है और इसकी सुन्दर तथा पर्याप्त अभिज्यिक्त 'ब्रह्मयुत्रके' प्रथम नार सूत्रो या चतुःसूत्रीम हो गयां है। 'अथातो ब्रह्मजिद्धासा', 'जन्मा- स्थर यतः', 'शास्त्रयोनित्वात्' और 'ततु समन्वयात्', ये ही चार सूत्र है। इनके अर्थ है—(१) वेदान्त समझनेके लिए ब्रह्मजिज्ञासा होनी चाहिये। यह स्वतन्त्र शास्त्र है। (२) ब्रह्म वह है, जो जगत्का मूल स्रोत, आधार तथा लक्ष्य है। जगत् उसीने निकला है, उसीमें है और उसीमें इसका लय भी होगा। (३) ब्रह्मको शास्त्रते ही, अर्थात् वेद-उपनिषद्से ही जाना जा सकता है, अन्य प्रमाणसे नही। (४) वेद-उपनिषद्का समन्वय वेदान्तकी शिक्षामें होता है, अन्य दर्शनकी शिक्षामें नही।

ब्रह्म और जगत्का सम्बन्ध, ब्रह्म और जीवका सम्बन्ध, केवल ज्ञानसे मुक्ति या भक्तिक मैस्मुचित ज्ञानसे मुक्ति, जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्ति, क्रममुक्ति या सचोमुक्ति आदि वेदान्तियोंके मतभेदके मुख्य विषय है। ब्रह्म और जीव तथा जगत्के सम्बन्धकी पारिभाषिकी संज्ञा शंकराचार्थके दर्शनमें माया है। क्या यह माया भ्रम है, मिथ्या है या सत् है ? क्या यह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? आदि अनेक प्रश्न है, जिनके उत्तर वेदान्तियोंने भिन्न-भिन्न दिये है। तार्किक दृष्टिने शंकरका उत्तर सर्वश्रेष्ठ है तो धार्मिक दृष्टिने अन्य आचार्योंका।

हिन्दीमे शंकरके अद्वैतवेदान्त, चारों वैष्णव वेदान्त, अर्थात् रामानुज, वल्लभ, निम्वार्क और मध्वका विशेष प्रभाव पडा है। चैतन्य भी वेदान्ती थे, पर वे मध्वमतके माने गये है। उनको पृथक् कर देनेसे उनके मतका भी प्रभाव हिन्दीमें मानना पड़ेगा। निर्गुणोपासक सन्तोमें अद्वैतवेदान्तका ही अधिक प्रभाव पड़ा है। स्वामी रामान्द्र भी वेदान्ती थे। वे रामानुजके मतके थे। उन्होंने स्वयं विदान्तस्त्र पर भाष्य लिखा। वे हिन्दीके सन्तोके आदि गुरु समझे जाते है। नाभादास तथा राघोदासने अपने अपने भक्तमाल में शंकर तथा वैष्णव वेदान्तियोके बारेमे काफी लिखा है और उनकी शिक्षाओंको साररूपमें रखनेका प्रयास किया है।

'तत्त्वमिस', 'सोहमिस', 'अहं ब्रह्मासि', वेदान्तके ये वाक्य हिन्दीके सन्ताको ज्ञात थे और उन्होंने रचनाओमें बहुधा इनका प्रयोग किया है। 'नेतिनेति'का सिद्धान्त भी उनको ज्ञात था।

शंकराचार्यके अद्वैतवेदान्तपर हिन्दीमें दादूपन्थके साधु निश्चलदासने 'विचारसागर' नामक एक उच्च कोटिके प्रन्थकी रचना की हैं। वल्टभाचार्यके वेदान्तकी तो हिन्दीमें परम्परा ही चल पड़ी और उनके मान्य प्रन्थ 'भागवत'के आधारपर कृष्णका गुणगान हिन्दीके पुष्टिमार्गी सन्तोने अपने ढंगसे किया। शंकराचार्यका प्रभाव देशव्यापी था। चैतन्यका प्रभाव वंगाल तथा वृन्दावनमें ही अधिक था। वल्टभका प्रभाव वृन्दावन, राजस्थान तथा गुजरातमे था। वृन्दावन, असंध्या, काशी जैसे स्थान वैष्णव वेदान्तके अनुयायी सन्तोंके केन्द्र वन गये।

वेदान्तमे आत्माका विचार बहुन अधिक और सर्वश्रेष्ठ है, यह बात हिन्दीके सभी सन्तों और दार्शनिकोको ज्ञात है। मायाका तिरस्कार, शाकाहार, भूतदया, अहिंसा, ज्ञानवार्ती—ये प्रायः वेदान्तको कारण ही देशको जनताको प्रधान ग्रण बन गये है।

वेदान्तमें हिन्दीके सन्तोंकी प्रधान देन यह है कि उन्होने सभी प्रकारके वेदान्तोको समन्त्रित करनेका मफल प्रयास किया है। यह ममन्यय ज्ञान-भक्तिका समन्वय, भाषावाद-ळीळावादका समन्वय तथा सगुण-निर्गुण-समन्वयके रूपमे है। शंकरको ईश्वरका अवतार तथा अन्य वेदान्ताचार्यीको ईश्वरका व्यूह मानकर उन्होने सनका समन्त्रय किया। अव-तारवादका सिद्धान्त सचमुच दार्शनिक क्षेत्रमे समन्वयका सिद्धान्त है। हिन्दीके दार्शनिकों या सन्तोकी यह अप्रतिम विशेषता रही है कि जब संस्कृतज्ञ वेदान्ती जन आपसमे खण्डन-मण्डन कर रहे थे, तब वे सभी वेदान्तोंके समन्वय द्वारा राष्ट्रीयताका प्रचार तथा देशके मौलिक चिन्तनको अग्रसर कर रहे थे। आज भारतमें जो सभी वेदान्तो तथा अन्य दर्शनोका समन्त्रयात्मक दृष्टिकीण घर कर गया है, उसका अधिकांश श्रेय हिन्दीके इन्ही दार्शनिक कवियो-को है। वेदान्तके आत्मवाद (दे०) और ब्रह्मवाद (दे०)के अनुसार अभिनवशुप्तने इसदा निरूपण किया, जिसे अभि-व्यक्तिवाद (दे॰ 'रस निष्पत्ति', चौथा मन) कहा जाता है। इस मतका आधार ज्ञान (चित्र) और आनन्द (रस)की एकता और अद्वितीयता है।

[सहायक यन्थ—वेदान्तदर्शन: गीता प्रेस, गोरखपुर; स्टडीज इन वेदान्त: घाटे; विचार-सागर: निश्चलदास; शांकर वेदान्त: गंगानाथ झा।]—सं० ला० पा० वेणिक—दे० 'गीतिकाव्य'।

वैताली –वैताली संस्कृतका मात्रावृत्त है। इसमे चार चरण होते है। पहिले और तीसरे चरणोमें १४ मात्राएँ और दूसरे और चौथे चरणमे १६, १६ मात्राएँ होती है। विषम चरणों में ६ मात्राओके पश्चात् एक रगण (SIS) और लघ-गुरु (IS) होते है। सम चरणोंमे आठ मात्राओके पश्चात् रगण, लघ-गुरु होते है । वैतालीके चरणोमे मात्रिक भिन्नता-के अनुसार छन्द-ग्रन्थोमे निम्नलिखित छः भेदोका उरलेख मिलता है। उदीच्य वृत्ति—वैताली छन्दके विषम पादोमें पहली मात्राके परचात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। प्राच्य वृत्ति—वैताली छन्दके सम पादोमे तीसरी मात्राके परचात् जब एक गुरु वर्णका प्रयोग होता है। प्रवृत्तक-वैताली छन्दमें जब उदीच्य वृत्ति और प्राच्य वृत्ति, दोनोंकी विशेषताएँ मिलती है। आपातिलिका-बैतालीके विषम चरणोंने ६ और सम चरणोंने ८ मात्राओ-के उपरान्त एक भगण (SII) और दो गुरु (SS) रहनेसे यह भेद होता है। अपरान्तिका-वैताली छन्दके सम चरणोंके समान जब चारो पाद हों और चौथी और पॉचवीं मात्रा मिलकर एक दीर्घाक्षर हो। चारुहासिनी-वैताली-के विषम चरणोके समान जब चारो पाद हों, परन्तु दूसरी और तीसरी मात्रा मिलकर एक दीर्घाञ्चर हो।

हिन्दी कवियोंने बहुत कम इस छन्दका प्रयोग किया है। छन्द-ग्रन्थोंमे केवल परम्परा-पालनके लिए इसका

-रा० सिं० तो० उहेख मिलता है। वैतालीय-वर्णिक छन्दोंमें समवत्तका एक मेद। अर्द्धसम वृत्त, जिसका उल्लेख 'पिंगलछन्दसूत्र' (४:३२)मे हैं। इसके प्रथम-तृतीय चरणोंग स, स, ज, ग (IIS, IIS, ISI, s) और द्वितीय-चतुर्थ चरणोभे स, भ, र, लग (IIS, SII, SIS, IS) होते हैं। कालिदासने अजनिलाप (र० वं०, सर्ग ८)मे इसका प्रयोग किया है। मैथिकीशरण गुप्तने 'साकेत'-के दशम सर्गमे आद्योपान्त इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। मिल्लिनाथने इसका वैतालीय नाम दिया है, 'वृत्त-रत्ना-कर', 'छन्दोरचना', 'छन्दप्रभाकर'मे इम नामके भिन्न लक्षणके छन्द दिये गये हैं। इस छन्दको हेमचन्द्रने प्रकी-धिता (छन्दो०, ३:१४) और जयकीर्तिने विवोधिता (छन्दो०, ३:१५) संज्ञा दी है। 'मन्दारमरन्दचम्पू'मे वियोगिनी (२१: १६), 'छन्दकौस्तुभ' (३: १२) और 'छन्दोमंजरी' (३:६)मे सन्दरी नाम दिया गया है। उदा०-"वरमाल्यपराग छोडके, उनके ऊपर सैन्य जोडके। नृप नेत्र मिलिन्द जो जुड़े, सजनी चामरसे परे उड़े" (साकेत: सर्ग १०)। —৭০ হা০

वैदर्भी रीति-दे॰ 'रीति', पहली। वैदिक (छांदस्य)-संस्कृतकी लौकिकसे भिन्न शाखाका यह नाम है। इसके द्वारा वैदिक संहिताओं (ऋक्, यज़, साम और अथर्व)की भाषाका बोध होता है। भारतीय परम्पराके अनुसार ये संहिताएँ अपीरुषेय है और प्रायः छन्दोमे निर्मित है। इसीलिए इस भाषाको छान्दस्य अथवा वैदिक कहते है । लौकिक भाषामे छन्दका प्रयोग भारतीय परम्परा-के अनुसार महिषं वाल्मीकिने अपने ग्रन्थ 'रामायण'में किया । इसीलिए इस यन्थको आदिकान्यकी संज्ञा दी गयी है। वैदिक भाषामे शब्द-रूप परिनिष्ठित नहीं मिलता। वैदिक भाषाके तीन स्पष्ट उपरूप मिलते है। कुछ रूप और प्रक्रियाएँ केंबल वैदिक भाषामे ही मिलती हैं (दे० वैदिक छंद-वैदिक छन्दोंकी कल्पना वैदिक देववादके अनुरूप हुई है। छन्दोंके विशेष महत्त्वके कारण छन्दांसि शब्द ही वेदोंका बोधक हो गया। ऋक्, यजुः और सामके समान विश्वमें छन्दोंकी उत्पत्ति स्वायत्त रूपमे मानी गयी है— "तसाद यज्ञात् सर्वेद्दत ऋचः सामानि जिज्ञरे। छन्दांसि जिहारे तसाद्यजस्तसादजायत" (ऋग्वेद, १०: ९: ९)। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्), बृहती, पंक्ति, त्रिष्ट्रभ (त्रिष्ट्रप) और जगती, ये सात वैदिक छन्दों-के प्रमुख भेद हैं, जिनके आधीं, देवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आचीं और ब्राह्मी नामक आठ प्रकार तथा पादान्तरसे अनेकानेक प्रभेद-उपभेद होते है। वर्णसंख्याके न्यूनाधिक होनेपर निवृत्त, विराट् , भूरिक और स्वराट् , ये चार अतिरिक्त उपभेद भी किये गये हैं। विशेष विवरणके लिए 'छन्दःप्रभाकर' (पृ० २९२-९५) द्रष्टव्य है।

गायत्री, त्रिष्टुम् और जगती, इन तीन छन्दोंका स्थान वेदोंमें सर्वप्रमुख माना गया है। उत्तरवैदिक युगमें अनुष्टुभ-ने पर्याप्त प्रधानता प्राप्त कर ली थी। पितत्रता और महत्त्व-की दृष्टिसे सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमे गायत्री छन्दका स्थान सर्वोपरि है।

वैदिक छन्द वैदिक देवताओंकी तरह उपास्य, वन्द्रनीय तथा अलौकिक शक्तितम्पन्न भी माने गये है। 'छन्दांसि वै देविकाः' अथवा 'छन्दांसि देन्यः' जैसी अनेक उक्तियाँ वैदिक साहित्यमें उपलब्ध होती है। सोमपानके प्रसंगमें गायत्रीको अग्निके लिए, त्रिष्टुम्को इन्द्रके लिए और जगतीको शेप सभी देवताओके लिए सम्बोधित किया गया है। छन्दोके देवता ही नहीं, गोत्र, वर्ण और स्वरका भी विधान मिलता है; उदाहरणार्थ, गायत्रीके देवताका नाम अग्नि, वंश आग्नि, वर्ण सित और स्वर षड्ज है। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि प्रजापित स्वय छन्द-रूप हो गये। यथा-- 'प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्'। 'विष्णपुराण'-के प्रथम अंशमें छठे अध्यायके अन्तर्गत इसका स्पष्टीकरण मिलता है। उसमें लिखा है। कि ब्रह्माके पूर्वमुखसे गायत्री, दक्षिणमुखमे त्रैष्द्रम , पश्चिममुखसे जगती और उत्तरमुखसे अनुष्द्रम छन्दकी सृष्टि हुई (इली० सं०, ५४-५७) । पृथ्वी. अन्तरिक्ष आदि लोकों, भीष्म, वसन्त आदि ऋतुओ तथा यइ-भाग और यजन-कर्मसे भी छन्दोका सम्बन्ध प्रदक्षित किया गया है। छन्दोंकी भावनामें कल्पना-वैभवका विचित्र योग मिलता है। कभी गोवत्सके रूपमें, कभी माताके रूपमे, कभी इसी प्रकारके अन्यान्य सजीव रूपोमे छन्दोको परिकल्पित किया गया है।

वैदिक छन्दोके रूपविधानमे तत्कालीन वातावरणकी स्वच्छन्दता और अविजडित धारणाशक्तिका स्पष्ट प्रतिविम्ब मिलता है। वैदिक युगकी सामाजिक तथा आध्यात्मिक चेतनाके वे समर्थ वाहक है और उसीसे अनुप्राणित होकर उनका विकास हुआ है। परिणामस्यरूप वैदिक छन्द परवर्ती संस्कृत साहित्यिक छन्दोकी तुलनामे अधिक स्वच्छन्द और अधिक मुक्त प्रतीत होते है। उनमें न वर्णीके गुरु-लघु-क्रमका निश्चित नियोजन मिलता है और न चरणों या पादोकी व्यवस्थित संख्या । केवल वर्णोंकी संख्या निर्धारित रहती है। इस प्रकार एक छन्दमें अनेक पाद और पादोमे भिन्न-वर्ण-संख्या वैदिक छन्दोंमे बराबर मिलती है। उनके बहुतसे उपभेदोंका आधार यह वैविध्य ही है। छन्दों के मिश्रणसे भी अनेक छन्दों की सृष्टि हुई। त्रैष्ट्रभ् प्रकारके छन्द मिश्रित छन्दोमें सबसे अधिक मिलते है। त्रिपाद गायत्रीका ही एक चतुष्पाद-विकसित रूप अनुष्टुभ् है। स्वराघातके साथ गेयता वैदिक छन्दोंकी एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। सामवेद छन्दोबद्ध वैदिक मन्त्रोके गानके लिए सविख्यात है। वैदिककालके अनन्तर आनेवाले आख्यानकालके अन्तर्गत रचे गये 'रामायण', 'महाभारत' आदि अन्थोंमें इसका विशेष रूपसे न्यवहार हुआ है। उपनिषदोंमें प्रयुक्त छन्द ऋग्वेदके छन्दोंकी तुलनामे कुछ अधिक न्यवस्थित एवं नियोजित प्रतीन होते है। आगे यही प्रवृत्ति संस्कृतके साहित्यिक छन्दोंके विकास-का मूल आधार बनी। वैदिक साहित्य-संस्कृत भाषा और साहित्यके दो प्रमुख रूप मिलते हैं—(१) वैदिक भाषा और साहित्य तथा (२)

वैदिक भाषा और साहित्यकी परम्परा २००० ई० पू०-से भी .पहले प्रारम्भ होकर लगभग ५०० ई० पू०तक

लैकिक संस्कृत और साहित्य।

चलती रही । इसको तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) त्रयी संहिता-साहित्य तथा ब्राह्मण-प्रन्थ, (२) अथर्व संहिता तथा गृह्य-धर्मसूत्रोंका साहित्य और (३) इतिहास-पुराण-साहित्य ।

क्रक्, यजुः और साम, इन तीन संहिताओं विस्तार तथा महत्त्वकी दृष्टिसे प्रधान ऋक् संहिता है। ऋग्वेदके १०१७ सूक्त प्रायः यक्षोके अवसरोपर पढनेके लिए देवताओं-की स्तुतियोसे सम्बन्ध रखनेवाले गीतात्मक काव्य है। ये १० मण्डलोंमें विभक्त है। मन्त्रसंख्या १०,५८० है। सामवेदका अधिकांश ऋग्वेदके ऐसे मन्त्रोंका संकलनमात्र है, जो सोमयागोमे वीणा आदिके साथ गाये जाते थे। सामवेदमे केवल ७५ मन्त्र मौलिक है। यजुवेंद यक्षोमे कर्मकाण्डके सम्बन्धमें पढ़े जानेवाले गद्य तथा पद्य-मन्त्रोका संग्रह है। इसका अन्तिम चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध 'ईशोपनिषद' है।

ब्राह्मण ग्रन्थोमें श्रीत यक्षोके कर्मकाण्डकी विधि विस्तारपूर्वक दी गयी है। प्रत्येक संहिताके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध
रखनेवाले एक या अधिक ब्राह्मण-ग्रन्थ है, जैसे-ऋक्मंहिताका मुख्य ब्राह्मण 'ऐतरेय' है। यजुवेंदका 'शतपथ' और
सामवेदका 'पंचिवंश' या 'ताण्ड्य'। इनमे 'शतपथ' ब्राह्मण
सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंके समान प्रत्येक
संहिताके श्रीतस्त्र भी पृथक्-पृथक है। इनमे मुख्य 'आश्वलायन', 'शांखायन', 'लाट्यायन', 'द्राह्मायण', 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन' है। श्रीतस्त्रोके परिशिष्टस्वरूप 'शुल्वस्त्र' है, जिनमे 'बौधायन', 'आपस्तम्ब' तथा 'कात्यायन'के शुल्वस्त्र मुख्य है।

ब्राह्मण-प्रन्थोंके अन्तिम भाग उपनिषदोंके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनमे निम्निलिखित १० उपनिषद् मुख्य माने जाते हैं। 'ईश', 'बृहदारण्यक', 'ऐतरेय', 'कौषीतकी', 'कन', 'छान्दोग्य', 'तैत्तरीय', 'कठ', 'मुण्डक' और 'माण्डूक्य'। उपनिषदोंमें आध्यात्मिक विचारावली प्रारम्भिक बनती हुई अवस्थामें मिलती है। इनके आधारपर आगे चलकर दर्शन-सूत्रोंमें निश्चित सिद्धान्त बन गये थे। प्रसिद्ध छः दर्शनशास्त्र निम्निलिखित है—वैशेषिक, योग, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त।

अथर्ववेद-संहिताका सम्बन्ध श्रौत यशोंसे न होकर गृह्य तथा अन्य सामाजिक कृत्योंसे हैं। इसी संहिताकी परम्परामें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र आते है। गृहसूत्रोमे मुख्य निग्निलिखत है—आश्वलायन, शांखायन, खादिर, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन् तथा पारस्कर। धर्मसूत्रोमे प्रधान वसिष्ठ, गौतम, आपस्तम्ब और वौधायन है।

इतिहास और पुराण-साहित्यकी परम्परामे मुख्य 'वाल्मीकीय रामायण' तथा व्यासकृत 'महाभारत' है। इनके मूल रूप तो वैदिक कालके है, किन्तु बहुत वादतक इनमें अनुश्रुति मिश्रित होती रही है। पुराणोंके वर्तमान रूपोका संकलन निश्चित रूपसे वैदिक कालके बाद हुआ। अतः पुराणोंको छोड़कर उपर्युक्त शेष साहित्यको हम साधारण-तया वैदिक अथवा आर्ष साहित्यके नामसे पुकार सकते है।

वैदिक साहित्यके अध्ययनके सुभीतेके लिए छः वेदांगोंकी भी रचना हुई थी, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण,

निरुक्त, छन्द और उयोतिषके नामने प्रसिद्ध है। इनमें यास्कका निरुक्त तथा पाणिनीका व्याकरण विशेष महत्त्व रखता है। बैधी भक्ति-विधि द्वारा साध्य भक्तिका नाम वैधी भक्ति है। इसमे शास्त्रानुमोदित विधि साधना आवरयक है— "शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते" (श्रीरूप-गोखामि: भ०र०सि०, १: २: ६२) । इसीकी मर्यादा-मार्ग भी कहा गया है (वही, २:६०)। सर-तलभी आदि वैष्णव भक्तोंकी भक्ति-भावनामें वैध-मर्यादा-मार्गके भी दर्शन होते है। श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पाद-सेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन वैधी भक्तिके प्रकार है (दे० 'नवधा-भक्ति')। —वि० मो० श०

वैयक्तिक (काव्य) —दे॰ 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य) । वेराग्य —योगशास्त्रमे वैराग्यका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगका परम प्राप्तव्य है चित्तवृत्तियोके निरोध द्वारा केवल्यकी उपलब्धि और चंचल, प्रमथ, बलवान तथा अवश चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास एवं वेराग्य द्वारा ही सग्भव होता है (यो॰ स्॰, १:१२)। इसीि वैराग्यको कैवल्यका अविनामावी कहा जाता है। अविनामावी, अर्थात् वैराग्यके बिना मोक्षका भिलना एकदम असम्भव है।

योगशास्त्रमे भोगलिप्साकी निवृत्तिको वैराग्य कहा जाता है। पतंजलिने 'समाधिपाद'के पन्द्रहवे सूत्रमे वशीकार संज्ञानामके वैराभ्यका लक्षण दिया है। उसे पूरी तरह समझ सब नेके लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वैराज्य दो प्रकारका होता है -अपर वैराज्य और परवैराज्य ! अपर वैराग्य, वैराग्यका प्रारम्भिक रूप है। इसकी चार स्थितियाँ या सीदियाँ मानी गयी है-१. यतमान संज्ञा, २. व्यतिरेक संज्ञा, ३. एकेन्द्रिय संज्ञा तथा ४. वशीकार संज्ञा । चित्तवत्तिको निरुद्ध करनेके प्रारम्भिक प्रयासमें इन्द्रियोकी नंचलताको रोकनेकी चेष्टा वैराग्यका प्रारम्भिक रूप है। यहाँ योगी इन्द्रियोको विषयोंमे प्रवृत्त या लिप्त होनेसे रोकनेकी कोशिश करता है। यही अतमानसंज्ञा है। इसके परिणामस्वरूप चित्त किन्ही-किन्ही विषयोसे हट जाता है और किन्ही-किन्ही विषयोके प्रति उसको ललक क्षीण हो जाती है। वैराग्यकी यह दूसरी सीटी व्यतिरेक-संज्ञा कहलानी है। एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्यकी वह स्थिति है। जहाँ पहुँचकर सभी इन्द्रियाँ बाह्य विषयोने पूरी तरह निवृत्त हो जाती है, पर मनमें अव भी इन विषयोके प्रति पूर्ण वैराग्य सिद्ध नहीं हुआ रहता और वह यदा-कदा उनकी ओर खिच जाया करता है। पंचेन्द्रियोके अतिरिक्त मनको भी एक इन्द्रिय माना जाता है। वैराग्यकी इस अवस्थामे चूँकि मन विषयोसे पूर्ण विरक्त नहीं हुआ रहता, अतः इसे एकेन्द्रिय संज्ञा कहा जाता है। अपर वैराग्यकी अन्तिम अवस्था वशीकार संज्ञा है।

पतंजिकता मत है कि—"ध्षानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसङ्गा वैराग्यम्" (यो॰ सू॰, १: १५), अर्थात् "जब मन दृष्ट और आनुश्रविक विषयोके प्रति सम्पूर्ण ललक खोकर वितृष्ण हो जाता है तो उस वैराग्यको वशीकार-सङ्गा कहते हैं"। विषय दो प्रकारके माने जाते हैं—दृष्ट,

अर्थात प्रत्यक्ष अनुभव किने जाने वाळे स्त्री-पुत्र, अन्न-पान, ऐरवर्य आदि और आनुश्रविक, अर्थात् केवल शास्त्रमे जाने जानेवाले स्वर्गादि । इन दोनो प्रकारके विषय-सुखोंसे जो विरक्त हो गये है, जिनके मनमें यह बात पूरी तरह बैठ गयी है कि 'धरम न अरथन कामरुचि' ऐसे योगीकी संप्रज्ञात समाधि लग जाती है। लेकिन वैराग्य यही पूरा नहीं हो जाता। इस अवस्थातक पहुँचकर भी वह अधूरा रहता है। यह पूरा होता है, उस अवस्थामें, जहाँ आत्मज्ञानी योगीकी वितृष्णा समस्त विषयोंके प्रति हीन होकर समस्त गुणोके प्रति भी हो जाय। यो० सू०; १,१५ में सूचित 'वशीकारसंज्ञा'से यह गुणवैतृष्ण्यरूप **पर वेराग्य** अधिक कॅचा है, इते पतंजिलने यो० सू० (१:१६)मे यो संकेतित किया है—''तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्", अर्थात् पुरुष ख्याति (=आत्मज्ञान) हो जानेके पश्चात् गुणवैतृष्ण्य रूप वैराग्य ही परवैराग्य है। यह वैराग्य ज्ञानकी पराकाष्ठा है, यही कैवल्य है। यही पहुँचकर असंप्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है और व्यक्ति सम्पूर्ण द्वैतोंसे अतीत कैवल्यकी उपलब्धि कर लेता है। उसके दुःखोकी एकान्त निवृत्ति हो जाती है। उसकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध और फिर विलीन हो जाती है। परवैराग्यकी इस अवस्थामे पहुँचकर "धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" (कठोपनिषद्, २:१:२)। वैरोचन द्वार-दे० 'हठयोग'। वैवर्ण्यः-दे॰ 'सात्त्विक अनुभाव', छठा। वैशिक नायक -दे॰ 'नायक' (शृंगार)।

वैशेषिक - 'वैशेषिक' शब्द विशेषसे बना है । 'विशेष' नामक पदार्थकी विशिष्ट करपनाके करनेके कारण इस दर्शनको वैशेषिक कहा जाता है । चीनी विद्वान् मिस्तान तथा कहेइ चीके मतते इस दर्शनका नाम वैशेषिक इसिट्य पडा कि यह अन्य दर्शनोसे, विशेषतः साख्यसे, विशेष या अधिक युक्तियुक्त था।

वैशेषिक प्रन्थोंमे सबसे प्राचीन कणाद, कणमुक् या उल्क्षका लिखा वैशेषिक स्त्र है, जो न्यायस्त्रसे प्राचीन माना जाता है। कुछ लोगोका मत है कि प्राचीन सांख्यकी मॉति वैशेषिक भी बुद्ध-पूर्व रचना है। इन सुत्रींपर सबसे प्राचीन माण्य 'रावण-भाष्य' है, जो अनुपलम्ब है। उपलम्ब भाष्योंमे प्राचीनतर 'प्रशस्तपादमाष्य' या 'पदार्थपदसंग्रह' है, जिसका चीनी अनुवाद ६४८ ई०में हुएनत्सांग द्वारा हुआ था। वैशेषिक दर्शनके अन्य आचायोंमें उदयनाचार्य, श्रीथर, शंकर मिश्र, विश्वनाथ और अन्नमट्ट मुख्य है। अन्तिम दोकी कृतियाँ क्रमशः 'भाषापरिच्छेद' और 'तर्क-संग्रह' है, जिनका आज भी पण्डितसमाजमें विपुल प्रचार और सम्मान है।

तत्त्ववाइमे वैशेषिक परमाणुवादी हैं । इनमे चार प्रकारके परमाणु—पृथ्वी, अप, तेज और वायुके माने जाते हैं । प्रत्येक प्रकारके परमाणु संख्यामें अनन्त हैं । उनमें अपना 'विशेष' तत्त्व भी रहता है । इन्होके विभिन्नसंघात द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है । कार्य कारणमें पहलेसे विद्यमान नही रहता है । वह नया होता है । कार्य कारणसे भिन्न नयी वस्तुका आरम्भ करता है । इसलिए इसे आरम्भ-

वाद कहते है, जो सांख्यके प्रकृतिवाद या प्रकृतिपरिणामवाद या सत्कार्यवादसे भिन्न है।

कुल पदार्थ ६ है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन नौ है। गुण चौवीस है। ६ द्रव्योंसे भिन्न कालान्तरमें अभावको भी द्रव्य माना गया है और वह प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव—चार प्रकारका माना गया। पहलेके ६ पदार्थ भावात्मक माने गये। वैशेषिक अभावको मान्यता बौद्धोके प्रभावके कारण है।

वैशेषिक दर्शन ही भारतीय दर्शनोंमे भौतिकशास्त्रका निरूपण सर्वाधिक करता है। वस्तुतः यह प्राचीन भौतिकशास्त्रका दर्शन था। पर इससे यह न समझना चाहिये कि वह मोक्षदर्शन नही है। इसका भी प्रयोजन मीमांसान्की भाँति धर्मकी व्याख्या करना और मोक्षकी प्राप्तिका साधन बताना है। धर्मकी यहाँ परिभाषा है—"यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः", अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, वह धर्म है। यह परिभाषा मीमांसाकी परिभाषा (वेदोकी प्रवर्तना धर्म है)से अधिक समीचीन जान पडती है, क्योंकि यह बौद्धिक और नैतिक है। ज्ञानमार्ग द्वारा मोक्ष-प्राप्तिका विधान करना वैशेषिकका मुख्य उद्देश्य है।

कुछ लोग कणादको निरीश्वरवादी मानते है, तो कुछ ईश्वरवादी। यहाँ मतभेदकी गुंजाइश है। पर कालान्तरमें वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हो गया। ये लोग पशुपितके अनुयायी होनेके कारण पाशुपत कहे जाते है, जैसे नैयायिक शिवके अनुयायी होनेके कारण श्रीव कहे जाते है। प्राचीन कालमे वैशेषिक दर्शनका साहचर्य बौद दर्शनके साथ विशेष पित्रष्ठ प्रतीत होता है। शब्दको स्वतन्त्र प्रमाण न माननेसे, उत्पत्तिके पूर्व पदार्थके गुणोको नष्ट माननेसे, इसके अनुयायियोंको 'अर्थवैनाशिक', अर्थात अर्द्ध-बौद कहा गया, पर वादको तो न्यायके साथ वैशेषिकने भी बौद्ध-दर्शनके खण्डनमें हाथ कुँगया।

आरम्भमें प्रत्यक्ष और अनुमान, दो ही प्रमाण वैशेपिक-को मान्य थे। वादको उसे शब्द और उपमान भी मान्य हो गये।

न्यायकी भाँति वैशैषिकका भी प्रभाव हिन्दी साहित्यपर विशेष नही रहा है। अधिकतर प्राचीन कवियोने नैयायिको और वैशेषिकोंकी निन्दा ही की, इनको कोरा तार्किक ठहराया और वास्तविक तत्त्वज्ञानसे दूर कहा। निश्चलदास सरीखे लोगोंने न्याय-वैशेषिकको केवल अद्वैतवादके सहायक साधनके रूपमें स्वीकार किया है।

सिहायक ग्रन्थ—भारतीय दर्शन : बल्ट्रेव उपा-ध्याय।] — सं० ला० पा० वैषियक (काब्य)—दे० 'वस्तुनिष्ठ' (काब्य)। वैष्णव धर्म (मत)—दे० 'भागवत धर्म'। वैष्णव संग्रदाय—दे० 'भागवत धर्म'। व्यंग्यगीति—अंग्रेजीके सैटायरके आधारपर निर्मित शब्द, यद्यपि इस प्रकारकी रचनाओंका अभाव कभी नहीं रहा।

वि + अंग = व्यंगसे व्यंगकी व्यत्पत्ति हैं। सैटायर द्वारा

किये गये चुहल और परिहासका सम्बन्ध गीतिसे बादमें हो गया। सैटायर गीतिका भेद नहीं है, बल्कि कुछ गीन व्यंग्यात्मक होते हैं। ऐने तो व्यंग्यात्मक आवेश वेदामें मिल सकते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्रमें व्यंग्यात्मकताके स्पष्ट संकेत हैं। सिद्ध-माहित्यमें पूजापाठ करनेवाले पण्डितों, गंगा-स्नानादिको पुण्यवर्भ माननेवाले पौराणिक धर्मा- वल्लिनयोपर व्यंग्य किये गये है।

सिद्धोकी साहित्यिक सम्पदासे पुरस्कृत सन्त-साहित्यम भी ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती है। तुलसीदासकी 'कृष्ण-गीनावर्छा में व्यंग्यगीत है और सरकी गोपियोने तो बेचारे कधोकी ज्ञान-गरिमाकी असीम खिली उडायी है। स्वतन्त्र रूपसे व्यंग्यात्मक रचना लिखनेवाले है अली महिव खॉ. 'खटमल-वाईसी'के रचयिता। विन्तु यह गीतात्मक नही, छन्दात्मक है। देनी कविने अच्छे 'मडौवे' लिखे है, जिनमें लिलियाँ उडायी है । भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रके समयने व्यंग्यकाव्यके कई रूप प्रचलित हुए। एक प्रकार है 'स्यापा'; यह उर्दू-फारसीका विधान है, जिसका व्यंग्यात्मक उपयोग भारतेन्द्ने किया। 'बनारस अखवार' और 'अलीगढ इन्स्टीरयूट गजर'में यह समाचार प्रकाशित हुआ कि 'उर्दू मारी गयी', तो उर्द्का व्यंगात्मक स्यापा भारतेन्द्रने लिखा-"है-है उर्द हाय-हाय, कहाँ सिधारी हाय-हाय"। भारतेन्द्रने मदिरा पीनेवालों, खशामदियो, हिंसाको धर्म माननेवालों, जैन-बौद्ध धर्मावलम्बियोपर कटाक्ष और व्यय्य किये है। आलिसयोंपर व्यंग करते हुए उन्होने लिखा है— ''धोती भी पहिनें जब कि कोई और पिन्हा दे, उमराको हाथ-पैर हिलाना नहीं अच्छा"। राष्ट्रीयताकी चैनन्यधाराके कारण व्यंग्यनीतियोके रूपमें अन्तर आता रहा है और प्रगतिवादी आन्दोलनके कारण पूँजीपनियो और जमींदारी-पर व्यंग्यात्मक गीतियाँ लिखी है । आधुनिक हिन्दी साहित्यका इतिहास विविध विवादोका इतिहास है, अतः प्रत्येक विवादने व्यंग्यात्मक गीतियोंको ग्रेरित किया है। छायावादी आन्दोलनने भी ऐसी गीतियोकी रचना करायी, जिसमे 'उम्र' लिखित कुछ अच्छी रचनाएँ है।

ब्यंग्यगीतियोंमे मानव-चरित्रकी दुर्बलताओंकी आक्षेप-त्मक आलोचना की जाती है, अतः इसका उद्देश्य है सुधार । सुधारवादी आन्दोलनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। भारतेन्दुकी रचनाएँ इसी कोटिमे आती है । इसका एक रूप है **पैरोडी**, इसका नामकरण भारतेन्द्रने आभास किया था, किन्तु यह प्रचित नही हुआ। भारतेन्द्रने 'बन्दर सभा'में लिखा था—''इन्दर सभा उर्दुमे एक प्रकारका नाटक है एवं नाटकाभास है और यह बन्दर सभा उसका भी आभास है"। इस 'बन्दर सभा'के गीत 'इन्दर सभा'के गीतोकी विडम्बनाएँ है। विडम्बनागीत नामकरण प्रिंसिपल मनोरंजनप्रसाद सिंहने किया और कई गीतोंकी सफल विडम्बनाएँ लिखी है। परिहासात्मक व्यंग्यगीतिमे न तो किसीकी विडम्बना रहती है और न सुधारका आवेश, वल्कि शुद्ध मनोविनोदकी ओर लक्ष्य रहता है। व्यंग्यात्मक गीतियोंकी कोटिका एक गीतिरूप गाली है। विवाहके अवसरपर जेवनारके समय स्त्रियाँ गाली गाती है जो अरुचिकर, अदलील, अभद्रोचित और मोडी

होती है, केशवकृत 'रामचन्द्रिका'में एक सुरुचिपूर्ण गाळी है, जो सम्भवतः केञ्चवकी प्रवीण शिष्या प्रवीण रायकी लिखी है। 'रमकलेवा'मे भी सुरुचिपूणे गालियाँ है। भारतेन्दने 'समधिन मधमास'मे ऐसी ही गाली दी है। प्रत्येक चरणके पूर्वार्द्धमें अइलील अर्थका भान होता है, पर परे चरणमे अदलीलता नहीं रहती—"यथादाक्ति कीन्हों सबहीने समधिनको उपचार, समधिनजूने बहुत करायो आदर शिष्टाचार" । आक्षेपक व्यग्यगीतियोमे दूसरोके सिद्धान्तोपर व्यंग्य और आक्षेप रहता है। कवीरका पद है—''पाण्डे कौन कुमति तोहि लागी''। —रा० खे० पा० व्यंजक शब्द-काव्यमं व्यवहृत होनेवाले वाचक तथा लक्षक शब्दोके अतिरिक्त तीसरा शब्द, जो ध्वन्याचार्यो द्वारा प्रथम होकी अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। व्यंजक शब्द अपना कार्य व्यंजना-शक्ति द्वारा सम्पन्न करता है और उसके द्वारा चोतित अर्थको 'व्यंग्यार्थ' —ত হাত হাত व्यंजना-शक्ति-'अंजन' शब्दमें 'वि' उपसर्ग लगानसे 'व्यंजन' शब्द निर्मित होता है, अतः व्यंजनका अर्थ हुआ 'विशेष प्रकारका अंजन'। ऑखने लगा हुआ अंजन जिस प्रकार दृष्टिदोपको दूर कर उने निर्मूल बना देना है, उसी · प्रकार व्यजना-कृत्ति शब्दके मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थको पीछे छोडती हुई उसवे मूलमे छिपे हुए अकथित अर्थको चौतित कराती है। अभिधा तथा लक्षणा अपने अर्थका बोध कराकर जब विरत हो जाती है, तब जिस शब्दशक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। उसे व्यंजना-शक्ति अथवा व्यापार कहते है। व्याग्यार्थके लिए ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमानार्थ आदि २.ब्द प्रयुक्त होते है । अभिधा शब्दका साक्षात सकेतिक अर्थ बतलाती है और लक्षणा मुख्यार्थके अनुपपन्न अथवा असिद्ध होनेपर रूढिके कारण अथवा किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए मुख्यार्थसे सम्यन्थित किसी अन्य अर्थको लक्षित कराती है, किन्तु जब अभिधा और लक्षणा कविके अभीष्ट अर्थको द्योतित करानेमें असमर्थ रहती है तो व्यंजना-शक्तिका ही सहारा लेना पडता है। अभिधेयार्थ स्पष्टतया कहा जाता है, लक्ष्यार्थ स्रवित कराया जाता है, किन्तु व्यंग्यार्थका ध्वनन ही सम्भव हुआ करता है, कथिन अथवा लक्षित न होनेपर भी वह सहदय जनो द्वारा समझ लिया जाता है। अभिधा और लक्षणाका सम्बन्ध केवल शब्दसे ही होता है, किन्तु व्यंजना शब्दपर ही नहीं, वरन् अर्थपर भी आधारित रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यग्यार्थ भी व्यंजना कराया करते है- वे भी व्यंजक बन जाते है। यही नहीं, एक व्यंग्यार्थं दुमरे व्यंग्यार्थकी तथा दूसरा पुनः नीसरे व्यंग्यार्थ-की व्यंजना भी करा सकता है। व्यंजना-व्यापारकी इसी विशेषताको देखते हुए उसके दो प्रधान भेद किये गये-(१) ज्ञाब्दी व्यंजना और (२) आधी व्यंजना।

शब्दपर आधारित व्यजना अभिधामूला तथा लक्षणामूला होती है :—

अभिधासूला शाब्दी-च्यंजना—'काव्यप्रकाश'के अनुसार जब संयोग आदिके द्वारा शब्दका नाच्यार्थ नियन्त्रित (निर्धारित) हो जाता है, तब व्यंजना ऐसे अर्थका द्योतन कर दिया करती है. जिसे कभी भी वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता है-"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाधौरवाच्यार्थधीवतन्यापृतिर जनग" २: १९)। अनेकाधी इःब्दोके एक अर्थमें नियन्त्रित हो जानेके बाद. जिम शक्ति द्वारा उन शब्दोसे दमरा अर्थ ध्यनित होता है, उमे अनिधामला शाब्श व्यंजना कहते है। अनेकार्था जब्दोको एक अर्थगे नियन्त्रित करनेके १४ कारण बतलाये गये है-मंयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर (दे० "अभिधा शक्ति")। "मालिनि आज कहै न क्यों, वा रसालको हाल" (दास)। रसाल शब्द अनेकाशों है और आम तथा प्रिय व्यक्तिका अर्थ देता है। 'मालिन'के साहर्यमे उसका वाच्यार्थ 'आम' निर्धारित हुआ। पर 'रसाल' प्रिय व्यक्तिके लिए भी प्रयक्त होता है, अतः पंक्तिसे यह व्यंग्यार्थ ज्ञात हुआ कि "है सखी, मेरे प्रियका समाचार वयो नहीं देती ?" वाच्यार्थसे व्यग्यार्थ ज्ञात होनेके कारण इस उदाहरणमे अभिधासला व्यंजना है और शाब्दी इसलिए है कि रसालके स्थानपर आम रख देनेसे व्यंजना समाप्त हो जाती है। अभिधामला शाब्दी व्यंजना तथा इलेपमे यह अन्तर है कि इलेपालकारफे सभी अर्थ प्रसंगानमोदित होनेवे कारण वाच्यार्थ होते है, किन्त अभिधामुला शाब्दी व्यंजनामे अभिधाके विरत हो जानेपर ही व्यंग्यार्थकी ध्वनि निवलती है। साथ ही यह भी सारणीय है कि इलेपसे विशेष्य पर ही अनेकाशी होते है. पर जाब्दी व्यंजनामे विशेष्य तथा विशेषण, दोनो ही अने-कार्थी होते है।

लक्षणामला शाब्दी-व्यंजना - लक्षणामें मुख्यार्थ बाधित रहता है। यह अर्थ-बाधा किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिए वक्ता द्वारा जान-बूझकर उपस्थित की जाती है। जब कोई व्यक्ति किसीसे कह उठता है-'क्यो सिर खाते हो ?' नव वह भले प्रकार जानता है कि सिर कोई खानेकी चीज नहीं है। वह वस्तुतः अपनी झॅझ-लाहट अथवा खीझ प्रकट करनेकी दृष्टिसे ही इस प्रकारका असंगत प्रयोग करता है। 'गंगापर गॉव स्थित है', जैसे कथनोमे भी वक्ता लक्ष्यार्थ-'गंगाके समीप गाँव है' द्वारा उस गॉवकी पवित्रता तथा शीतल जलकी सुविधा आदि सूचित करनेके प्रयोजनसे ही कथन कर देता है। मम्मटका मत है कि न तो अभिधेयार्थ और न लक्ष्यार्थ ही इस प्रयो-जनका अर्थ-बोध करानेमें समर्थ होते हैं (का० प्र०, २ : १४) । अतः जिस प्रयोजनको सिद्धिके लिए लक्षणाका अव-लम्ब लिया जाता है, उस प्रयोजनकी व्यंजना करानेवाली शक्तिको लक्षणाम्ला शाब्दी-व्यंजना कहते है। स्पष्ट ही लक्षणाके दो प्रमुख भेदों (रूढा, प्रयोजनवती)मे केवल प्रयो-जनवती लक्षणा ही इस व्यंजनाका आधार बन सकती है। रूढ प्रयोगोमे जो प्रयोजनरूप व्यंग्य रहता भी है, वह निरन्तर प्रयोगके कारण नहींके बराबर ही हो जाता है। 'कान्यप्रकारा'के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणाके छः प्रमुख भेद है तथा कुल मिलाकर १२ भेद माने गये हैं। 'साहित्य-दर्भण'में इसके ८ प्रमुख भेद तथा सब मिलाकर ६४ भेद माने गये हैं। वे सभी भेद लक्षणामूला शाब्दी खंजनाके उदाहरण है (दे॰ 'प्रयोजनवती लक्षणा')।

वनतः बोधन्यः, काकः, वाक्यः, वाच्यः, अन्यसन्निधिः. प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टा आदिको विलक्षणताके कारण आशीं व्यंजनाके दस भेद किये गये है । वाच्यसम्भवा, लक्ष्य-सम्भवा तथा व्यंग्यसम्भवा भी आर्थी व्यंजनाके तीन प्रकार स्वीकृत है, क्योंकि 'अर्थ'के तीन भेद होते है-वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य । उक्त दस भेदोंके साथ इन तीन भेदोंको मिला देनेसे आर्था व्यंजनाके कुल मिलाकर तीस भेटोंका निर्देश प्राचीन शालकारोने किया है। वस्तृतः व्यंजनाकी सम्भाव-नाएँ अनन्त है-कब, कहाँ तथा किस बातके कारण व्यं-जना होने लगती है, इसकी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं दी जा सकती है। शास्त्रकारोने जिन भेदोका निर्देश किया है. उन्हें तो केवल वानगी ही समझा जा सकता है। व्यजना-व्यापारकी अनन्तताके अतिरिक्त अर्थ-प्रम्पराकी जो क्रम-बद्ध शृंखला प्रस्तुत करनेकी अदभुत क्षमता इस शब्द-शक्ति-में स्वभावतः विद्यमान है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। तभी तो ध्वनिके मेधावी आन्वार्योंने व्यंग्यार्थके चमत्कारको ही काव्य-की एकमात्र कसौटी माना है। व्यक्तिस्वप्रदर्शनवादी आलोचना-१८वी शतीके अन्तिम चरणमे इसका संवेतमात्र हुआ था, किन्त रोमांसकालके आरम्भसे इसकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस प्रणालीके अनुसार जिस रचनामे उसके लेखकका यथार्थ और निष्कपट चित्र मिलता है, उसीको श्रेष्ठ कहा जायगा। यथार्थता और निष्पकपटताकी इस मॉगके कारण रचनामे नितान्त मौलिकताकी भी मॉग की जाती है। ये आलोचक उसी रचनाको सन्दर कहेगे, जो दसरोंसे भिन्न हो, क्योंकि भिन्नता ही सौन्दर्यका मापदण्ड है। इनके अनुसार रोमां-चक तथा उत्तेजित करनेवाली रचनाको श्रेष्ठ रचना मानना चाहिये। इस प्रणालीको यही ब्रटि भी है कि यह निष्कपट व्यक्तित्व-प्रकाशन तथा मौलिकतापर वल देती है, क्योंकि किसी भी लेखक से इन दोनो बातोकी अपेक्षा नहीं की जा सकता। न तो कोई अपना निष्कपट जीवन ही किसीके सामने प्रस्तत करता है या कर सकता है और न नितान्त मौलिक कोई ऐसी रचना हो सकती है, जिसमें एकदम —্সা০ দ০ বী০ व्यक्तित्ववाद-अंग्रेजीमे 'इण्डिविज्ञअलिज्म' और 'पर्सन-लिज्म', दो भिन्न अर्थवाले शब्द है। हिन्दीमें 'इण्डिविज-अलिज्म'के लिए न्यक्तिवाद और 'पर्सनलिज्म'के लिए व्यक्तित्ववाद या कभी-कभी वैयक्तिकतावादका भी प्रयोग होता है। व्यक्तित्ववाद एक विशिष्ट चिन्तन-सम्प्रदाय न होकर बहुत-सी ऐसी विचारधाराओंका बोध कराता है, जिनमेंसे कुछ आस्तिक है कुछ नास्तिक। कुछ धर्मको स्वी-कार करती हैं, कुछ अस्वीकार करती हैं, किन्तु वे सभी यह स्वीकार करती हैं कि जीवनमें मूल्योंका सम्बन्ध व्यक्तित्वसे होता है और व्यक्तित्व मनुष्यकी वह क्षमता है, जो मूल्यों-की खोज करती है और उन्हें आत्मसात् करती है।

पश्चिममें निकोल्स बढ़ेंब जैसे रहस्यवादी चिन्तक, मेरी-टेन जैसे कैथोल्कि चिन्तक तथा किकेंगार्ड, यास्पर्स और गैब्रील मार्सल जैसे अस्तित्ववादी चिन्तक समान रूपसे मानवीय न्यक्तित्वकी इस महत्ताको स्वीकार करते रहे हैं।

बढती हुई निरं ज्ञाता और इसी प्रकारकी अन्य परिस्थितियो-ने मानव-व्यक्तित्वमें जो निघटन प्रस्तुत कर दिया है, उसके निराकरणके लिए विभिन्न क्षेत्रोसे विभिन्न प्रणालियोके द्वारा मानवकी पुनःप्रतिष्ठाके जितने भी प्रयास हुए, उन सबको व्यक्तिवादकी संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि मानव-व्यक्तित्व की पुनःप्रतिष्ठामें व्यक्तित्ववादी बहुत-सी वर्तमान मान्य-नाओंका निषेध करते हैं और मनुष्यके लिए स्वतन्त्रताकी माँग करते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनका दर्शन निषेधात्मक है। अधिनायकवाद और यान्त्रिकताके उदयने जो संकट उपस्थित कर दिया है, उसके निराकरणके लिए वे एक रचनात्मक दृष्टिकोणकी खोज कर रहे है। उस खाजमे विभिन्न विचारधाराओके सह-अस्तित्वको वे स्वीकार करते हैं--यदि वे विचारधाराऍ विभिन्न मार्गीसे मानव-व्यक्तित्व-की महत्ताको स्वीकार करती हों। इसीलिए इसके प्रमुख प्रवक्ता ऐमानुपल मूनियरने स्पष्ट कहा है कि न्यक्तिस्ववाद वस्तुतः वाद न होकर एक वृत्ति है-एक परिप्रेक्ष्य है, जिसमें निरन्तर बदलती और विकसित होती दुई ऐतिहा-सिक वस्तु-स्थितिको समझनेका प्रयास किया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि मनुष्यमे स्वातन्त्र्य और आत्मनिर्माणकी क्षमता है और वह भौतिक अवास्त-विकताओंसे पलायन न कर उनका सामना कर अपनी आन्तरिक क्षमताओका उपयोग कर अपनी वर्तमान अवस्था-का अतिक्रमण कर सकता है। इसमें यह भी माना जाता है कि मानव-व्यक्तित्वकी वास्तविक गति मानवमात्रके कल्याणकी दिशासे पृथक् नहीं जाती। व्यक्तित्वव।दियोने जहाँ एक ओर नाजी और स्टालिनवादी तानाशाहीकी निन्दा की है, वही दूसरी ओर यह भी माना है कि मार्क्नने अपने समयमे मानव-व्यक्तित्वकी पुनःप्रतिष्ठा करनेका प्रयास किया था। वर्ग-वैषम्यसे युक्त समाजमें व्यक्तिकी स्वाधीनताका कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि उसमे पूँजीपति शोषण करनेके लिए स्वतन्त्र है और मजदूर शोषित होनेके लिए मजबूर। अतः जबतक सबकी आर्थिक स्थिति समान नहीं होती, तबतक स्वातन्त्र्य एक बूर्जुवा भ्रान्ति है। किन्तु बोलशेदिक क्रान्तिके बाद 'शोलेतेरियतकी तानाशाही'के नामपर कृतिपय महत्त्वाकांक्षी शासकोने मानव-व्यक्तित्वकी पवित्रता और स्वातन्त्र्यका समूल उच्छेद करनेका जो प्रयास किया, उससे व्यक्तित्ववादी सहमत नहीं।-ध० वी० भा० व्यक्तिपूजा-समाज-निर्माणमे जनशक्तिको महत्त्वपूर्ण न मानकर किसी विशेष व्यक्तिको महत्त्व देना । अधिनायक-वादमें डिक्टेटर वीर-पूजाकी भावनाको अपने प्रति प्रेरित कराकर व्यक्तिपूजाका विकास कराता है। सोवियत रूसके स्टालिनोत्तर नेता स्टालिनको व्यक्तिपूजाका उन्नायक मानते हैं और इस प्रवृत्तिको सच्ची समाजवादी व्यवस्थाके विकासमें बाधक मानते है। -ध० वी० भा० व्यक्तिप्रधान (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)। **व्यक्तिवाद** – यह शब्द अंग्रेजीके 'इण्डिविजुअलिज्म'का पर्याय है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग 'ऑक्सफोर्ड शब्दकोश'-के अनुसार हेनरी रीव्स द्वारा अंग्रेजीमें अनूदित डी टाक्व-लीकी एक पुस्तकमें मिलता है। वैसे तो यह शब्द मलतः

यन्त्रोंका उदय, समृह-मानवका विकास, शासनसत्ताकी

फ्रेंच भाषाका ही है, किन्तु हेनरी रीव्सने कई कारणोंसे इसका अंग्रेजीमे प्रयोग किया है। हेनरी रीव्सने इस प्रयोग-के जितने भी कारण बताये है, उनसे केवल उस प्रयोगके औचित्यका ही ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत इस शब्दकी भाव-गत विशेषताओका भी पना चलना है। इस शब्दके पहले अंग्रेजीमे 'इगोटिज्म' शब्द प्रयुक्त होता था, किन्तु वह शब्द जिस मानसिक दृष्टिकोण और जिन नैतिक प्रतिमानों-का प्रतीक था, 'इण्डिविजुअलिज्म' शब्द उनसे कही अपिक संयत मानसिक दृष्टिकोण और कही अधिक विस्तृत नैतिक मानदण्डोंका बोतक है। 'इगोटिज्म'के अनुसार हर एक व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्यका लक्ष्य है। उसका सम्पूर्ण स्नेह, समुचा लगाव अहम्के जीवित सम्पर्कसे ही है। अति स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ ही उसकी प्रेरणाशक्ति है। परन्तु 'इण्डिविजुअलिज्म' उस मानसिक दृष्टिकोणका सूचक है, जिसके अनुसार व्यक्ति समष्टिसे पार्थक्य तो कर छेता है, किन्त वह घोर स्वार्थवादी मनोवृत्तियोंके आवेशमे अपने अहम्के प्रति सम्पूर्ण स्नेह और लगाव नहीं रखना। कुछ अंशोंमें व्यक्तिवादका भावनात्मक आधार जनतान्त्रिक सिद्धान्त है।

व्यक्तिवाद समाजके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोणकी स्थापना है। समाज सावयविक अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत स्वतन्त्र व्यक्तियोका योग है। अतः समष्टिशक्तिको व्यक्तिपर, उसके अधिकारों और स्वतन्त्रताओंपर वलप्रयोगका नैतिक अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हिनो और स्वाधीको जितनी अच्छी तरहसे समझ सकता है, उतना समाज कदापि नहीं। अतः नर्कको दृष्टिने सामाजिक बन्धन और परम्पराप, रीति और रिवाज, सामूहिक संस्थाएँ और मान्यताएँ निरंकुशताके साथ व्यक्तिपर शासन नहीं कर सकती। व्यष्टिमूलक व्यापारोंका साध्य व्यक्तिका हित है और उसका एकमात्र हाता व्यक्ति।

आधुनिक व्यक्तिवादके विकासकी एक लम्बी पृष्ठभूमि है। थूसीडायडीज (४६०-४०० ई० पृ०) द्वारा वर्णित पेरीक्लीज (४९०-४२९ ई० पू०)के एक भाषणमे हमे सर्वप्रथम व्यक्ति-वादकी श्रीक उत्पत्तिका पता चलता है। तदुपरान्त पाँच दानी ईसापूर्वके लगभग जब मीक समाज विघटित हो रहा था. तो उस समय ग्रीक विचारकोने व्यक्तिवादी मान्यताओ-की प्रतिष्ठा की। उस प्रतिष्ठाकी विशेषताएँ इस प्रकारसे थीं-समाजन्यवस्था और परम्परासे टूटकर भी न्यक्ति अपने अस्तित्वका भली भाँति निर्वाह कर सकता है। उसकी आत्म-निर्भरता निसर्गसिद्ध है। इन्ही विचारोको आधार मानकर श्रीक सोफिस्टोने अपने व्यक्तिवादकी स्थापना की। उनके अनुसार राज्य कृत्रिम है और मानवजन्य परम्परा-का प्रतीक । अतः राज्यकी परम्पराञ्चक्तिका व्यक्तिके नैस-गिंक स्वाथीं मौलिक विरोध है। राज्य और व्यक्तिका यह अन्तर निसर्ग और परम्पराके मौलिक अन्तरोकी पृष्ठभूमिमे चित्रित किया गया था।

यह प्रच्छन्न व्यक्तिवाद बादमे चलकर परिष्कृत और परिवर्षित किया गया। समाजको सत्य और यथार्थ मानकर, उसकी उत्पत्तिके कारण व्यष्टिमूलक स्वार्थोंकी ही पृतिमें हुँदे गये और समाज तथा राज्यको उन्हीं स्वार्थोंकी

प्राप्तिका एकमात्र साधन बनाया गया । इस दृष्टिकोणका उद्धेख प्लेटोके 'रिपब्लिक'में मिलता है । विधि और व्यक्तिगत स्वाधोंकी यह एकरूपता बहुत दिनोंतक नहीं चल सकी । विधियाँ शक्तिक आधारपर व्यक्तित्वपर प्रहार करती है और उसकी नेसिंगक सरलताको नष्ट कर देती है । शनैःशनैः इस दृष्टिकोणको दार्शनिक दृढता प्रदान की गयी । भौतिक विज्ञानके समानान्तर समाजको स्वसीमित अणुओंका समूह माना गया है । इपीक्यूरस(३४१-२७० ई० पू०)का दर्शन इसी भावनाकी स्थापना करता है । उसके दर्शनमें आधुनिक व्यक्तिवादके दो प्रथान तत्त्व स्पष्ट रूपसे दोख एडते है—प्रथम, प्रत्येक मनुष्यका एकमात्र लक्ष्य सुख है जीर द्वितीय, समाज और राज्य आवश्यक दोप है ।

आधनिक व्यक्तिवादके चार प्रधान रूप है -धार्मिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक। इनमेंसे राजनीतिक व्यक्तिवादका अनिवार्य सम्बन्ध काल-क्रमानुसार अन्य तीन प्रकारोंसे सदैव होता रहा है। मध्ययुग और आधुनिक सुधार-आन्दोलनोंतक राजनीतिक व्यक्तिवाद व्यक्तिवादके रूपमें अपनी स्थापना करता रहा है। धार्मिक व्यक्तिवादका स्रोत ईसाई धर्म है, जो स्वय दो विरोधी तत्त्वोंके सम्पर्कसे निर्मित हुआ है। पहला तत्त्व यह है कि सारे ईसाई एक संबधित ईसाई समाजके सदस्य है, जिनका एक ही वडा चर्च रोमन भैथोलिक चर्च है। दूसरा तत्त्व यह है कि हर एक व्यक्तिको यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी आत्माके सजग विश्वाससे जिस किसी भी धर्म अथवा पूजाको चाहे, ग्रहण करे। ईमाई धर्म व्यक्तिको ऊँचे प्रतिमानोसे देखता है और उसकी धार्मिक चेतनापर शक्ति-प्रयोगका आदेश नहीं देता। परन्तु मध्ययुगमे जब ईसाई धर्म-संघटनकी समस्याएँ जटिल थीं तो रोमन कैथोलिक चर्चने पहले समष्टिवादी तत्त्वको कार्यक्पमें परिणत किया और दूसरे व्यक्तिवादी धारणाको सिद्धान्तरूपमें स्वीकार किया। धार्मिक सुधारकी शताब्दियोंने जब रोमन कैथोलिक चर्चके विरुद्ध यूरोपीय राष्ट्रोमे प्रतिक्रियाएँ हुई तो धार्मिक सुधारकोने अपनी दृष्टि ईसाई धर्मके दूसरे व्यक्तिवादी तत्त्व-पर केन्द्रित की। फलस्वरूप स्वतन्त्र धर्मौकी योजनाका प्रस्ताव होने लगा। कई राष्ट्रोने रोमन कैथोलिक चर्चसे सम्बन्धविच्छेद कर राष्ट्रीय चर्चोंका निर्माण किया।

धार्मिक व्यक्तिवाद धीरे-धीर वैद्यानिक व्यक्तिवादमें परिवर्तित होने लगा। आधुनिक विद्यानने इस व्यापक सृष्टिको छोटे-छोटे कणोंमें विभक्त कर दिया। इसीका सहारा लेकर मनोविद्यानने व्यक्तिकी मानसिक एकताको संवेदनाओंने विघटिन किया और सामाजिक विद्यानने सामाजिक संघटनोको स्वतन्त्र व्यक्तियोके अस्तित्वमें तोड दिया। सृष्टिमें, मस्तिष्क्रमे, समाजने हर एक जगह एकताका, एकरूपनाका मिद्यान्त टूट रहा था और उसके स्थानपर अनेकता और बहुरूपताके सिद्यान्तोंकी स्थापना हो रही थी। विद्यानके क्षेत्रमे न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०)-का और मनोविद्यान और राजनीतिशास्त्रके क्षेत्रमें हॉब्स-(१५८८-१६७९ ई०)का नाम उल्लेखनीय है। हॉब्ससे लेकर लॉक (१६३२-१७०४ ई०)ने और लॉकने प्रभावित होकर बुद्धनादी युगके कुछ फेन्च विचारकोंने और उनसे

प्रेरणा प्राप्त कर वेन्थम (१७४८-१८३२ ई०)ने जिस सामाजिक व्यक्तिवादकी प्रतिष्ठा की, वह सोलहवीं और उन्नीसवी शताब्दीको एक लम्बी तर्कश्चंखलामें जोड देता है। हॉब्स प्रकाश-केन्द्र है और उसके परवर्ती विचारक उस प्रकाशकी रेखाएँ।

पुँजीवाद (दे०)के विस्तारसे आर्थिक क्षेत्रमे व्यक्तिवाद फैलने लगा । क्लैसिकल ऐकॉनॉमीके जन्मदाता ऐडम सिथ(१७२३-१७९० ई०)ने विनिमयके व्यक्तिवादी सिद्धान्तको स्थापना को । उसके अनुसार किसी भी आर्थिक व्यापारमे राज्यका इस्तक्षेप नही होना चाहिये, क्योंकि उससे स्वतन्त्र विनिमयमे व्यवधान होगा। हर एक व्यक्ति स्वार्थींका समूह है और निसर्ग उन स्वार्थींका सम्मिलन इम 'अदृश्य शक्ति'से करती है, जिससे कि इन स्वार्थरत व्यक्तियोमें आपसी संघर्ष कदापि नहीं हो सकता। स्वाधीका यह आश्चर्यजनक समन्वय निसर्ग द्वारा ही सम्भव है। अतः राज्य और समाज जैसी कृत्रिम संस्थाओको इस प्रसंगम हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस दृष्टिकोणको एक सैद्धान्तिक रूप प्रदान किया गया, जिसे 'हितोंकी नैसगिंक एक एपता' अथवा अंग्रेजीमे 'नेचुरल आइडे ण्टिटी ऑव इण्टरेस्ट' कहते हैं। इस सिद्धान्तका जन्म पूँजीवादके विकासशील युगमें हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं शतीके उत्तरार्धमे पूँजीवादी संघटनोने जब समाजके राम्मुख जटिल आर्थिक समस्याएँ उपस्थित कर दीं तो हितोंकी नैसिंगिक एकरूपता मात्र कल्पना ही रह गयी। श्रमिकोंके संघटन बने । आर्थिक अधिकारोकी मॉग की गयी । राज्यने आर्थिक व्यापारोंमें हस्तक्षेप प्रारम्भ किया । इस दृष्टिकोणके सर्जनका प्रधान ध्येय समाजवादी विचारधाराको प्राप्त है।

आर्थिक व्यक्तिवादके दिनोमे ही राजनीतिक व्यक्तिवाद-का स्वरूप उतना प्रच्छन्न नहीं था, जितना आधिक व्यक्तिवादका, क्योंकि उस समय भी व्यक्तिवादी विचारक यह मानते थे कि जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्रमे स्वार्थीमे संघर्ष सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्रमे वह संघर्ष सम्भव नहीं है। आर्थिक गत्यात्मकताके सिद्धान्त राज-नीतिक गत्यात्मकतापर घटित नहीं होते । राजनीतिक क्षेत्रमें स्वार्थीकी विविधरूपता संघर्षको जन्म दे सकती है। अतः स्वार्थीकी एकरूपता लानेके लिए निसर्गसे सहायता मिलना असम्भव है। इसके लिए तो मनुष्यको खतः प्रयास करना पडेगा । इसी नाते इन व्यक्तिवादी विचारकोंने राजनीतिक क्षेत्रमें 'हितोंकी नैसर्गिक एकरूपता'के स्थानपर 'हितोकी क्रत्रिम एकरूपता' अथवा अंग्रेजीमे 'आर्टिफिशयल आइडे-ण्टिफिकेशन ऑव इण्टरेस्ट्स' नामक सिद्धान्तको स्वीकार किया। इस सिद्धान्तके आधारपर विधिनिर्माताका उत्तर-दायित्व है कि वह समाजके सदस्योंके विभिन्न स्वार्थों मे समन्वय स्थापित करें। किन्तु स्वार्थ विभिन्न है, इसलिए सब स्वार्थीमें समन्वय स्थापित करना सम्भव भी नहीं है। ऐसी परिस्थितिमे विधिनिर्माताका केवल एक लक्ष्य है— "अधिक-से-अधिक लोगोका हित-साधन" अथवा अंग्रेजीमे 'मेटेस्ट गुड ऑव द मेटेस्ट नम्बर' ही किया जाय। इस-लक्ष्यने एक सिद्धान्तका रूप ग्रहण किया और उस सिद्धान्त ने एक विशेष राजनीतिक दर्शनका सर्जन किया। वह दर्शन उपयोगितावाद (दे०) अथवा 'यूटिलटेरियनिज्म'क नामसे अभिहित है। िकन्तु जब उन्नीसवी शतीके उत्तरार्थमें आर्थिक व्यक्तिवादकी परम्पराएँ टूटने लगीं, तो राजनीतिक व्यक्तिवाद भी प्रतिक्रियाहीन न रहा। जॉन स्टुअर्ट मिल-(१८०६-१८७३ ई०)ने उस राजनीतिक चेतनाका प्रतिनिधित्व किया, जिसमे राज्यको व्यक्तिगत जीवनमें हस्त न्नेप करनेके लिए पहलेसे अधिक अधिकार प्राप्त हो जाते है। िकन्तु मिल संक्रान्तिकालका विचारक था, जो स्वभावतः गत्यात्मक है। इस गत्यात्मकताको स्थायित्व उस राजनीतिक आदर्शवाद अथवा पोलिटिकल आइ डिलिज्ममें मिला, जिसका सूत्रपात इंग्लैण्डमें थामस हिलग्रीन (१८३६-१८८२ ई०)के दर्शनमें होता है।

व्यक्तिवाद अपने लम्बे इतिहासमे अपनी सफलताओं के नाते ही नहीं, प्रत्युत अपनी असफलताओके नाते भी महत्त्वपूर्ण है। उसकी सफलता इस बातमे है कि जब कभी इतिहाममें निरंकशताने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकारो को छीननेका प्रयास किया है तो व्यक्तिवादने उसकी सफल सामाजिक प्रतिक्रिया की है। पहले विचारोके क्षेत्रमें, फिर राजनीतिक पदार्थकी सतहपर उतरकर उसने समाज-को स्वतन्त्र बनानेका प्रयास किया है। किन्त विषयके स्थायित्वके बाद इसकी प्रगति अनरुद्ध हो जाती है और तब वह ध्वंसीन्मख समाजकी प्रायनवादी मनीवृत्तियोंका प्रतीक बन जाता है। उसके सिद्धान्त सामाजिक प्रगतिके द्वार अवरुद्ध करते है और तब समष्टिवाद इस प्रच्छन्न व्यक्तिवादकी प्रतिक्रिया बन जाता है। राजनीतिक विचारों-का इतिहास मुलतः समष्टिवाद और व्यष्टिवादके आपसी संघषींकी कहानी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था किसी एकांगी परिस्थितिपर टिक नहीं सकती, चाहे वह समष्टि-वाद हो अथवा व्यक्तिवाद । दोनो एक-दूसरेके पूरक है। समाज और व्यक्तिका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्रथक होकर दोनो ही अकेले है, नितान्त एकांगी, निःसंग, अतः निःसार, अर्थहीन ।

हिन्दी साहित्यमें व्यक्तिवाद मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाका स्वरूप है उस सामाजिक परिस्थितिके विरुद्ध, जो व्यक्तित्व-के स्वतन्त्र विकासका हनन करनी है। हिन्दीका बहुत-कछ आधनिक साहित्य साम्राज्यवादी युगमे ही लिखा गया है। फलस्वरूप व्यक्तिको विकसित होनेके उचित साधन प्राप्त नहीं हुए । इस कारणसे व्यक्तित्वकी कर्मजिज्ञासा वझ गयी और वह अन्तर्मखी हो बैठा। बाह्य संसारसे दृष्टि खीचकर उसने अन्तर्मखी मनपर दृष्टि डाली। उसका अहम ही समाज और परिस्थितिका सत्य हो गया। उसीके विविध रूपोंमे ही उसने अपनी कल्पनाके रंग भरे। किन्त यह आत्म-दर्शन नहीं था। यह था शुद्ध आत्म-पलायन । यही आत्म-पलायन अधिकांश छायावादी क्विताओंका आधार है। यह आत्म-पलायन समाजकी अस्वीकृति है, जो 'अज्ञेय' (१९११ ई०) लिखित 'रोखर: एक जीवनी में कही-कहीं मिलता है। साहित्यके विविध अंगोंमें इस व्यक्तिवादने समस्याओका समाधान नहीं किया है, केवल उनकी जटिलताओका निदर्शन ही उसका लक्ष्य रहा है। कहीं-कहीं यह नितान्त निःसगता आत्म-बलि- दानके रूपमें उद्धृत की गयी है। जैनेन्द्र (१९०५ ई०)का 'त्यागपत्र' और 'सुनीता', 'विवर्त' और 'न्यतीत' इस दृष्टिने उल्लेखनीय है। साहित्यमे दुःखवाद (दे०) इसी पलायनवादी न्यत्तिवादका प्रतिरूप है। वैष्णव सम्प्रदायोकी एकान्त भक्ति-साधना और आधुनिक छायापादी कवियोंकी निःसंग दुःख-साधनामे महान् अन्तर है। पहला न्यक्तिवादी है, किन्तु अपने सम्प्रदायका अभिन्न अंग वनकर। दूसरा पलायनवादी है, सामृहिक परम्परासे टूटकर। स्वतन्त्र भारतमे इस पलायनवादी न्यक्तिवादकी कोई भी परम्परा अब शेष नहीं है। आजका हिन्दी कलाकार नये तथा र वनात्मक प्रतिमानोकी खोजमे न्यस्त है।

सिहायक ग्रन्थ-मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी : सी० ई० एम० जोड । ---रा० क० त्रि० व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली - व्यक्तिवादी आलोचना-प्रणाली द्वारा यह माना जाता है कि किसी भी कृतिकारके व्यक्तित्वको उसकी कृति द्वारा जाना जा सकता है, जैसे जीवनवत्तान्तीय आलोचना-प्रणालीमे जीवनवत्तान्त द्वारा कृतिको समझनेकी चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति-वादी आलोचना-प्रणालीमें कृतित्वसे कृतिकारके व्यक्तित्वको ऑककर क्रिके गुण-दोषको विवेचनाके साथ-साथ क्रतिकार के व्यक्तित्वको भी उसका अनिवार्य अंग माना जाता है। आधुनिक कालमे वहधा इस प्रकारका प्रयास किया जाता है कि कृतिकारकी कृतिके माध्यमसे कृतिकारके जीवन और उसके विभिन्न भावस्तरोके साध्यमसे किसी भी कतिकी साहित्यिक विवेचना की जाय । इस विचारधाराके अनुसार कतिकारकी कतिको उसके व्यक्तित्वको प्रसारित करनेवाछी वस्त माना जाता है। कृतिको व्यक्तित्वका अंश मानकर उसके माध्यमसे कविके व्यक्तित्वकी ऊँचाई, बडाई, उदान्त एवं महान तत्त्वोंको परिलक्षित करनेका प्रयास इस विचार-धाराका अंश है।

इस प्रवृत्तिकी मूल स्थापनाएँ ये है कि कृतिकारकी कृति उसीका जीवनवृत्तान्त है। उसके सतत संवर्षों और उत्कर्पों के बीचसे ही उसकी रचना, कृतित्वबीध एवं उसकी अनुमृति अभिन्यक्ति पाती है। किसी सीमातक कृतिकारके इन संवर्षोंका रूप उसकी सीमा, उसके व्यक्तित्वमे प्रति-विभिन्नत होती है। कही-कही इस विचार-प्रणालीके लोग यह भी मानते है कि कृतिकारका कृतित्व कृतिकारके जीवन-की असफलताओं, विफलताओं और कटु अनुभवोंको व्यक्त करता है और इस प्रकार वह उसके समूचे जीवनका क्षति-पूरक (compensatory) भी होता है । व्यक्तिवाडी आलोनना-प्रणाली यह स्वीकार करती है कि कृतिकारका जीवन जिन कल्पनाओं और जिन विचारोंकी कल्पनामे बीतता है अथवा जिन मूल्योंके लिए वह संघर्ष करता है, उस संघर्षका वास्तिपिक मूल्यांकन एवं प्रतिबिम्ब रचनामें स्वतः अवतरित होता है । यह अवतर्ण क्रिनिकारके व्यक्तित्वका, उसके अभावो और पूर्णताओके साथ साहित्यमे संचारित होकर व्यक्त होता है। अस्तु, इसीकी दृष्टिमे कृतिकारकी आत्मपरक अनुभृतियोंका विशेष महत्त्व माना है और इस विचारधाराके लोगोका मत है कि यदि क्रतिकार और उसकी कृतिको सम्बद्ध करके नहीं देखा जायगा तो कृतिकारकी मूल भावनाकी ग्रहण करना कठिन होगा।

इस मूल प्रवृत्तिकी विवेचनाएँ इस शाधारपर विकसित होती है कि कृतिकार आत्मवेदना एवं आत्मपीड़ाके साथ-साथ आत्मभुक्त क्षणोंको प्रस्तुत करता है। यदि उस क्षणका अंकन उसकी कृति है, तो फिर उसका वहन करने-वाला अथवा उसको आत्मसात् करनेवाला भी उस सन्दर्भ-विशेषमे महत्त्वपूर्ण है। जीवन और कृतित्वकी यह अवाध समरसना कलाकी मूल चेतना है।

इस व्यक्तिवादी दृष्टिकी मूल विवेचन-पद्धतिमें जो विचार काम करते है, उनमे यह निहित है कि किसी भी रचनाको मात्र वस्तपरक दृष्टिसे विना कृतिकारके न्यक्तित्वको उचित महत्त्व दिये समझना कठिन है। जिस भावधाराके प्रवाहमे कृतिकार जीता-जागता है, उस समस्त वातावरणकी गूँज उसकी कृतिमे होती है, इसलिए उसकी प्रत्येक कृति किसी-न-किसी रूपमें उसकी सवेदनकी अनुभूतिके साथ-साथ उसके व्यक्तित्वका भी प्रतिनिधित्व करती है। तुलसीदासकी समस्त रचनामे या रसखानकी समस्त रचनामे जिस वृत्ति-को अभिन्यक्ति मिली है, वह उस कविके समस्त सर्जनशील व्यक्तित्वसे इतनी बॅथी है कि विना उस वृत्ति और उस जीवनको ध्यानमे रखे उसका पूर्णं रसबोध होना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार आलम और सुजानकी रचनाओं-में हमें विशेष रस उसी समय मिल पाता है, जब उनकी वृत्तियों (attitudes) के साथ-साथ उनके व्यक्तित्वका भी बोध हमे हो।

इस प्रणालीके मुख्य गुण ये है कि यह ऐसी सुविधाएँ देती है, जिससे पाठक कृतिकारकी मानसिक स्थिति और उसकी निजी सीमाओं और सम्भावनाओं साथ उसके कृतित्ववोधकी मूल्यगत प्रवृत्तिको समझ सके। कभी-कभी बिना व्यक्तित्वको ध्यानमे रखे जो आलोचना प्रस्तुत की जाती है, वह या तो एकांगी होती है या उन बहुतसे तत्त्वोंको, जो उसके व्यक्तित्वकी सीमाएँ निधारित करते है, न जाननेके कारण कृतियोपर सम्पूर्ण अभिव्यंजनात्मक दृष्टि नहीं प्रस्तुत कर पाती। व्यक्तित्वके परिचयमे दो चीजें सिमालत हैं—एक तो उसकी निजी आस्थाएँ और दूसरी उसकी वैयक्तिक दृष्टियोंसे संलग्न उसकी निजी मर्यादाएँ। कला एवं साहित्यके क्षेत्रमें इस प्रकारकी विचारधाराको प्रश्रय देना अथवा उन सम्भावनाओंकी ओर अयसर होना, जो व्यक्तित्वके साथ कृतिके सन्देशको वहन कर सकनेमें समर्थ हो, कुछ सीमाओतक आवश्यक है।

किन्तु इस प्रणालीके मुख्य दोष इन्हीं मुविधाओं मे ही निहित है। प्रत्येक कलाकृतिके लिए स्वतन्त्र और वस्तुपरक दृष्ट अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कलाकी प्रेषणीयता इतनी होनी चाहिये कि वह पाठकमें समुचित रसोद्रेक पैदा करनेके बाद उसमें उस निजी तत्त्वको प्रेषित करे, जो नितान्त निजी है, व्यक्तिगत है। कृतिका प्रेषणीय होना व्यक्तित्वकी सीमामें नहीं निहित है, वरन् वह स्वतः काव्यक्तित्वकी सीमामें नहीं निहित है, वरन् वह स्वतः काव्यके रूप, शिल्प और विषय-वस्तुका अंश है। यदि इन सीमाओं और इनके औचित्यपर ध्यान नहीं दिया जायगा तो समस्त साहित्य केवल कुण्ठाओं और विकृतियोंका पुंज बनकर रह जायगा। इसके साथ ही इस आलोचनाप्रणाली-

मे एक मुख्य दोष यह भी है कि इसका आग्रह साहित्यिक एवं व्यापक मानवीय मूल्योपर न होकर वैयक्तिक मूल्योंपर है, जिसका परिणाम यह भी हो सकता है कि समस्त साहित्यिक अभिरुचिमें ऐसी अराजकता प्रश्रय पाये, जिसमे अनुशासनहीनता और मर्यादाओंकी विभिन्नता अपनी चरम सीमापर पहुँचदार उन समस्त मूल्योंको विघटित कर दे और जो व्यक्तिसे भी बड़ी और व्यक्तित्वकी सीमाओंके बावजुद साहित्यमें होती और प्रश्रय पाती है। — ल० का० व० **व्यक्तिस्वातंत्र्य** - स्वातन्त्र्य मनुष्यका जन्मसिद्ध अधिकार माना गया है। स्वातन्त्रयको राजनीति, समाजनीति जैसे लौकिक क्षेत्रोंमे ही नहीं, अपित धर्म, दर्शन जैसे पारमार्थिक क्षेत्रोंमें भी पूरा महत्त्व दिया गया है। सभी धर्म इस लोक-को बन्धन और स्वर्गको बन्धनोंसे मुक्तिके रूपमें मानते है। 'मनुस्मृति' एवं न्यायशास्त्रके अनुसार प्रतिकूलवेदनीयता, बन्धन, परवशता अथवा पारतन्त्र्य ही दुःख तथा अनुकूल-वेदनीयता, विमोक्ष, आत्मवशता अथवा स्वातन्त्र्य ही सख है। भारतीय प्रतिभा सदासे स्वतन्त्रताकांक्षिणी रही है, यहाँतक कि उसकी दृष्टिमें मोक्ष अथवा सर्वविध बन्धनोंसे आत्यन्तिक स्वातन्त्र्य ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। यूरोपीय तत्त्वज्ञोका एक बड़ा समुदाय भी स्वातन्त्र्यको सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रियाकी चरम गति माननेके पक्षमें है। हीगेलके अनुमार इतिहास विश्वातमा द्वारा स्वातन्त्रयक्षी उत्तरोत्तर उपलब्धिकी कहानी है। 'डास कैपिटल'के तृतीय खण्डमे स्वातन्त्रयको मनुष्यकी सम्पूर्ण श्रम-साथना एवं समस्त भौतिक उत्पादनप्रक्रियाका चरम साध्य बतलाते हुए कार्ल मार्क्सने लिखा है कि वह (स्वातन्त्र्य) स्वयं ही अपना साध्य है।

किन्तु हीगेल एवं भारतीय चिन्तकोंको व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्पष्ट करूपना नहीं है। हीगेल जैसोकी स्वातन्त्र्य सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्धमे एक आलोचकने लिखा है कि वे ऐसे वायवीय (हवाई) सिद्धान्त है, जो स्वातन्त्र्यको इतना पित्र बना देते है कि वह इस लोकके कामका ही नहीं रहता। व्यक्तिको साध्य मानकर चलनेकी प्रवृत्ति हमें ईसाई परम्परामे देखनेको मिलती है। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादके प्रचार एवं प्रसारका वास्तविक श्रेय यूरोपकी उदारवादी (लिबग्ल), मानववादी, वैयक्तिकवादी (परसनलिस्ट) और जनतन्त्रीय परम्पराओंको ही प्राप्त है। अराजकवादियोंने तो इसे पराकाष्ठातक पहुँचा दिया है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादका सर्वश्रेष्ठ निरूपण हमें जे० एस० मिलकी पुस्तक 'आन लिबटी' तथा बट्टेंण्ड रसेलकी रचनाओंमे मिलता है। बट्टेंण्ड रसेल व्यक्तिस्वातन्त्र्यको राजनीतिका सर्वश्रेष्ठ आदर्श माननेके पक्षमें हैं।

व्यक्तिस्वातन्त्रयवादी व्यक्तिस्वातन्त्रयको सांस्कृतिक जीवन-की पहली शर्त मानते है। मानव-अस्तित्वका बुनियादी प्रतिमान, अन्य सभी प्रतिमानोंका स्त्रोत, उसका स्वातन्त्र्य है। जिस अनुपातमें मनुष्य सीमाओं और विवशताओंमें बंधा रहता है, उसी अनुपातमें वह अपूर्ण है। मनुष्यके विकासकी सम्भावनाएँ असीम है और ये सम्भावनाएँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके अभावमें फूल-फल नहीं सकतीं। मनुष्यकी सारी व्यवस्थाएँ, सारी संस्थाएँ—यहाँतक कि सामाजिक संबदन भी व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्मावनाओको साकार करनेके लिए है, न कि व्यक्ति उनके लिए है। अतः व्यक्ति समाजके लिए नहीं, अपितु समाज व्यक्तिये लिए हैं, व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वादियोंको ऐसा माननेमे कोई आपित्त नहीं है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यकातिन्त्र्यका विरोधी अधिनायकवादी (दे० 'अधिनायकवाद') व्यक्तिये समाजके हितमे बिल भी दे सकता है और समाजका हित वहीं होगा, जो वह समझता है।

व्यक्तिके स्वातन्त्र्यका परिसीमन अन्य व्यक्तियोके समान न्यक्तिस्वातन्त्र्य ही कर सकता है, अन्यथा वह असीम, अमर्यादित, अखण्ड एवं निरपेक्ष है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादी कहते है कि मानवीय इतिहास वस्तुनः व्यक्तिस्वातन्त्र्यके क्रमिक विकासका इतिहास है। आदिमयुगीन वनौकस युथकी अवस्थामे मानव-व्यक्तित्व अपृथक्कृत, निविंशेष (अनडिफरेंशियेटेड, इनडिटर्मिनेण्ट) था। उस समय जातिमे ॰यक्तित्वमूलक पृथकक्षरण (इण्डिविडुएश्चन)की प्रक्रिया आरम्भ नहीं हुई थी। कहना चाहिये कि व्यक्तिमें एक स्वतन्त्र आत्मा, स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित ही नहीं हुआ था, व्यक्तियोंके सारे कार्थ एक विकीर्ण सत्रात्मा अथवा सामुदायिक आत्मा (अपसोल) द्वारा परिचालित होते थे। स्पष्ट ही उस समय व्यक्ति स्वतन्त्र न होकर सर्वथा यथ-नन्त्र था। व्यक्तित्व-चेतनाके अभावमें वह सभ्यता एवं संस्कृतिकी दृष्टिसे पशु ही था। पशुके ही समान स्वतन्त्र चेतनाके वदले सहज प्रवृत्तियो (इन्स्टिक्टस) मे परिचालित होता था। उसके बाद व्यक्तित्वके पृथवकरण-व्यक्तित्व-चेतनाके विकासका युग आता है। चन्द लोग यूयसे स्वतन्त्र हो यूथके शासक बन बैठे और अन्य यूथोंपर अपनी उच्छुंखलताके वशीभूत हो आक्रमण करने लगे। इस प्रकार उनकी स्वतन्त्रता दायित्वहीन सिद्ध हुई। उनके हाथो उनके यूथों तथा अन्य यूथोमे भी अशान्ति रहने लगी। इस स्थितिका विकसित रूप हमे स्वेच्छाचारी राजतन्त्र तथा दायित्वहीन व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादमे दिखाई देता है। लेकिन वास्तविक व्यक्तिस्वातन्त्र्यवाद दायित्वहीनताको प्रश्रय नहीं देता । अब व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना चन्द व्यक्तियो-की सम्पत्ति नहीं, वह सर्वसाधारणमे भी जग रही है। वर्तमान युग वस्तुतः सर्वसाधारणके होश संभालने, सचैत होने, युवा होने तथा स्वतन्त्रताकी मॉग करनेका युग है, जब कि दासता-युगसे लेकर सामन्त-युगतक केवल पुरोहित एवं राजन्य वर्गमे ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भावना देखनेकी °मिलती है—विशाल जनसमूह तो इनकी आज्ञाकारिताको ही अपनी इतिकर्तव्यता समझ वैठा था, जैसे उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही न हो।

साम्यवाद (दे०) और उसके साहित्यिक रूप प्रगतिवाद (दे०) तथा फासिज्म (दे०)पर व्यक्तिस्वातन्त्र्यका विरोधी होनेका आरोप अनेक दिशाओने और अनेक रूपोमे किया गया है। साम्यवादी, प्रगतिवादी और फासिस्ट अपने इन आलोचकोपर सामाजिक दायित्व (दे०)की भावनाके अभावका प्रस्थारोप करते रहे है। किन्तु व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वके गहन प्रश्नपर सुदीर्घ कालतक जो वाद-विवाद होते रहे है, उनसे प्रकाशकी अपेक्षा गर्मी ही अधिक उत्पन्न हुई है। हिन्दी साहित्यसंसारमे पहली वार

प्रयागकी 'परिमल' नामक संस्थाने इस समस्यापर सुनियोजित रूपसे विचारविमर्शका उपक्रम किया था ! १३-१४
अप्रैल, सन् १९५५ई०को प्रयागमे 'परिमल'के तत्त्वावधानमें
आयोजित नयी और पुरानी पीडीके तथा सभी विचारधाराओंके कवियो, कथाकारों, समीक्षकों तथा चिन्तकोंके
बृहत् सम्मेलनमें 'साहित्यकारका वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व' शीर्षकसे एक आलेख विचारार्थ प्रस्तुत किया गया था और उसपर लिखित सम्मतियों भी मंगायी गयी थी । लगभग ६० सम्मतियोंमेसे १९ सम्मतियों 'आलोचना'के अंक १५ और १६में प्रकाशित हुई है। पुनः यह प्रश्न दिल्लीमें आयोजित प्रशियाई लेखक-सम्मेलन(दिसम्बर)में उठाया गया था।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षा करते हुए सामाजिक दायित्वका निर्वाह ही सन्तुलित विचार जान पडता है। लेकिन साहित्यके सन्दर्भमे यह प्रश्न एक दूसरा रूप धारण कर लेता है। छायानाद, स्वच्छन्दतानाद, प्रयोगनाद और प्रकृतिवादपर सामाजिक चेतना, सामाजिक दायित्वकी भावना और सामाजिक यथार्थवादके अभावका आरोप लगाया जाता है। छायावादी, स्टच्छन्दतावादी और अनेक प्रयोगवादी अपने अहम्में ही उलझे रहते है, समाजकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता और प्रकृतिवाद तो किसी प्रकारके दायित्व—सामाजिक अथवा वैयक्तिक—मे विश्वास ही नहीं करता। सामाजिक दायित्वकी उत्कृष्ट चेतना हमें प्रगतिवादियोमें दिखाई देती है, लेकिन उनपर यह आरोप है कि वे प्रायः व्यक्तिकी खातन्त्रय-चेतनाकी उपेक्षा करते है। अब धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथर जैसे कवियों-की रचनाओमे प्रयोगवादका रूपान्तर हुआ जान पडता है। उनमें रोमानियतके साथ-साथ सामाजिक यथार्थकी तीव चेतनाके दर्शन होते है। यह प्रवृत्ति व्यक्तित्व-चेतना और सामाजिक चेतनाके समन्वयका प्रतिनिधित्व करती है। —ह० ना०

व्यतिरेक - साद्द्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेदप्रधान अर्थालंकार। इसका अर्थ है आधिक्य या उत्कर्ष। इस अलंबारको प्राचीनोसे मान्यता प्राप्त रही है। भामहके अनुसार इसमे उपमानकी अपेक्षा उपमेयमे विशेष-उपादान अपेक्षित है (कान्यालं), २:७५)। दण्डीने उपमेयका रपष्टतः उत्कर्ष और उपमानका यत्किचित् अपकर्ष, दोनोको अभिप्रेत माना है (का॰ द०, २:१८०)। उद्घटने व्यतिरेकमे स्पष्टतया उपमान और उपमेय, दोनोके विशेषो-पादानका उल्लेख किया है (का० सा० सं०, २:६)। रुद्रट-की दृष्टिसे इसमे उपमेय तथा उपमान, दोनोका यथासम्भव आधिक्यवर्णन अभीष्ट है (कान्यालं०, ७:८६)। रुय्यकका दृष्टिकोण रुद्रदसे मिलता है। मन्मदने अवस्य इस प्राचीन विचार-पद्धतिके स्थानपर नया मत रखा है--- "उपमानाद्य-दन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" (का० प्र०, १०: १०५), अर्थात् इसमे उपमानकी अपेक्षा उपमेयका गुणविशेषके कारण उत्कर्ष बताया जाय। मम्मटने इन्हीकी विविध सम्भावनाओ, अर्थात् उपमेयके उत्कर्ष और अपकर्षके निमित्तोके उपादान और अनुपादानके आधारपर २४ भेद वतलाये है। विश्वनाथने पुनः उपमेयके उपमानसे आधिक्य तथा न्यूनता, दोनोंमे व्यतिरेक माना है (सा॰ द०, १०: ५२) और इसी कारण मम्मट द्वारा उछिखित २४ मेदोको ४८ माना है। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने इसके लक्षणके विषयमें मम्मटका अनुसरण किया है, पर भेदविस्तार नहीं किया है।

हिन्दीके रीतिकालके आचार्योमें चिन्तामणि और कुल-पति जैसे कतिपयने ही मम्मटका अनुसरण किया है, परन्तु अन्योने प्रायः जयदेव तथा अप्पय दीक्षितके अनुसरणपर इसका लक्षण स्वीकार किया है और भेद या तो स्वीकार नहीं किये या केवल सीमित संख्यामे । मतिरामके अनुमार - "जहाँ होत उपमानते उपमेयमै बिसेख"। (ल० ल०, १५५) अथवा दासके अनुमार—"पोषन करि उपमेइको दोषन करि उपमान" (का० नि०, १०)। इनपर मम्मट-का प्रभाव लगता है। परन्तु भूषणके लक्षण—"सम छवि-वान दुहुनमें, जह वरनत बढि एक" (शि० भू०, १४६) अथवा पद्माकरके लक्षण-"जह अवन्य अरु वर्न्यमे कछ बिसेप"। पर जयदेवका स्पष्ट प्रभाव है। भेदकी दृष्टिते चिन्तामणिने २४ भेदोंका विवरण दिया है, जसवन्त सिह, मतिराम, भूषण आदिने भेदोका उल्लेख नहीं किया है। दासने—'पोखन दखन' दोनोंका कथन, 'पोखन' कथन, 'दुखन' कथन तथा 'सब्द सक्ति'से कथनके चार भेद गिनाये है। पद्माकरने अधिक, न्यून तथा सम, इन तीन भेदांको माना है। आधुनिक विवेचकोमे कन्हैयालाल पोद्दारने मन्मटके चौबीस भेदोंको इस रूपमे रखा है-प्रथम चार भेद-(१) उपगेयके उत्कर्ष और उपमानके कारणका कथन, (२) उपमेयके उत्मर्प और उपमानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना, (३) केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन, (४) केंबल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन। इसके तीन भेद-(क) शाब्दी उपमा द्वारा, (ख) आधी उपमा द्वारा, (ग) आक्षिप्तीपमा द्वारा। पुनः बारहोके दो भेद-(अ) इलेप द्वारा, (आ) इलेष-रहित। रामदहिन मिश्रने प्रथम चारको स्तीकार कर अन्योंका उल्लेख कर दिया है।

प्रथम-उपमेयका उत्कर्ष तथा उपमानका अपकर्ष। उदा०-"मृदुल अधर सम होइ क्यों, बिद्रम निपट कठोर" (का० नि०, १०)। इसमें 'सम' शब्द होनेके कारण आर्थी उपमा है और अधर उपमेयका उत्कर्ष तथा विद्रम उपमानका अपकर्ष-कथन है। इसी प्रकार—''राधा मुखको चन्द्र-सा कहते है मितरंक । निष्कलंक है वह सदा ससिमें प्रगट कलंक"। (अ० मं०, २९२), इसमें 'सा' शब्दके कारण शाब्दी उपमा है। अथवा "सम सवरन सुखमाकर, सुखर न थीर । सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर" (तुलसी : का० द०से) । यहाँ शाब्दी अथवा आधीं वाचक शब्दोके न होनेसे उपमाका आक्षेप द्वारा बोध होता है। द्वितीय—उपमेयके उत्कर्ष और उपपानके अपकर्षके कारणका न कहा जाना—"यह पार्थनन्दन पार्थसे भी धीर वीर प्रशस्त है" (मै० श० गु०: का० द०से)। यहाँ अभिमन्यु 'उपमेय'का आधिक्य कहा गया है, पर उत्कर्ष-अपकर्षका कारण उहिःखित नही है। तनीय---केवल उपमानके अपकर्षके कारणका कथन-"धटै-बढै सकलंक लखि, जग सव कहैं ससंब। बाल वदन सम है नहीं, रंक मयंक इकंक" (का॰ नि॰, १०)। यहाँ उपमान मयंकके अपकर्षका कथन है, पर मुखके उत्कर्वका नहीं। चतुर्थ—केवल उपमेयके उत्कर्षके कारणका कथन—"खंजनसे हग लसत पै, धरे विसेष विलास" (पद्मा॰, ९४)। यहाँ उपमेय दगका उत्कर्ण कथनमात्र है।

सौन्दर्यतथनके चमस्कारकी सिन्निहित भावनाये, कारण इस अर्वकारका प्रयोग साहित्यमें न्यापक रूपने मिलता है। मिलत्साहित्यमें आराध्यके गुण, क्षील, सौन्दर्यके, वीरकान्यमें नायककी वीरता आदिके तथा रीतिकान्यमें नायिकाके सौन्दर्य आदिके वर्णनोमे इसका विशेष प्रयोग हुआ है। आधुनिक कथाकान्योमे तथा छायावादी सौन्दर्य-वर्णनमें भी यत्र-तत्र इसका उपयोग हुआ है। —र० व्यपेत यसक –दे० 'यमक'।

**व्यसन** - जब भक्तको भगवान् के प्रेमके अतिरिक्त और किसी

भावका भान ही नहीं रहना, तत्र उसकी यह प्रवृत्ति

व्यर्थपद-दे० 'शब्द-दोप', पॉचवॉ 'वावय-दोष'।

भन्दि-व्यसनमे परिणत हो जाती है। यही अवस्था प्रेम-लक्षणा भक्तिका परम साध्य है । निर्शण और सग्रण सन्त अथना भक्त प्रेम-लक्षणा भक्तिके आकांक्षी रहे है। इसीको परा मक्ति भी कहते है (विस्तारके लिए दे० 'परा भक्ति')। --वि० मो० श० **ब्याघात**-विरोधमूलक अर्थालंकार; भामह, दण्डी, उद्घट तथा वामन(प्राचीनो)ने इसे स्वीकार नहीं किया है। रुद्रटने सम्भवतः इसका प्रथम विवेचन किया है, पर मम्मटके लक्षणके आधार रुव्यक हो सकते है-''जिस उपायसे कोई कार्थ किसी व्यक्ति द्वारा सिद्ध किया जाय उसी उपायसे उसे कोई दूसरा व्यक्ति असिद्ध अथवा विफल करे, तो वहाँ ज्याघात अलंकार होता है" (का० प्र०, १०: १३८)। विद्वनाथने इसे प्रथम न्याधात मानकर उसका एक अन्य भेद भी दिया है-"जहाँ किसी कार्यके विरुद्ध दूसरेके द्वारा उसी उपायसे सरलतापूर्वक सिद्ध किया जाय" (सा० द०, १०: ७६) । हिन्दीके आचार्याने प्रायः विद्वनाथके भेदोंको स्वीकार किया और लक्षणमे भी जय-देवका अनुसरण नहीं किया है। प्रथम भेद—"जो जैसे करतार सो विरुद्धकारी जहाँ" (ल० ल०, २५१) अथवा "जाहि तथाकारी गने करे अन्यथा सोइ" (का० नि०, १३), उसी उपायसे अन्यथा किया जाना—"तेरी करवाल भयो जगतको ढाल अब, सोइ हाल म्लेच्छनके कालको करत है" (शि० भू०, २३१)। अथवा—"जिस दृष्टि-निक्षेपके द्वारा शिवने कामका दहन किया, उसी दृष्ट-निक्षेपसे रमणियाँ कामदेवको जिलाती है" (का० प्र० से)। द्वितीय भेद-- "जहाँ क्रियाकी सुकरता बरनत काज बिरोध" (ल० ल०, २५३)। उदा०—" छल किया भाग्यने मुझे अयश देनेका। बल दिया उसीने मूल मान लेनेका" (साकेत) अथवा—''लोभी धन संचय करै दारिदको डर मानि। दास यहै डर मानिके दान देत है दानि" (का॰ नि॰, १५)। यहाँ लोभी जिस दारिद्रचके डरसे धनका संचय करता है, उसी दारिद्र यके भयसे दानी उसके निप-रीत आचरण-धन-दान करता है। -ध० ब० जा०

**ब्याजिनदा** – न्याजस्तृतिसे सम्बद्ध अथीलंकार । अप्पय दीक्षितने इसका लक्षण दिया है-'निन्दाया निन्दया' (कुवल ०, ७२), अर्थात् किसीकी निन्दासे अन्य किसी-की निन्दाका कथन । हिन्दीके आचार्योंने इसीके आधारपर अपने लक्षण दिये है-"निन्दासों जह औरकी निन्दा प्रगटित होय" (ल० ल०, १८५) अथवा-"जह एककी निन्दा किये, निन्द्य और हू होंत" (पद्मा०, १३०)। उदा० -- "प्रगट कटिलता जो करी, हमपर स्याम सरोस । मधप जोग विष उगलिये, बछु न तिहारी दोष" (ल० ल०, १८६) । यहाँ उद्धवकी निन्दाके कथनमे कृष्णकी निन्दाकी प्रतीति होती है। --शि॰ प्र॰ सिं॰ द्याजस्तृति - साद्दयम्लक गम्यौपम्याश्रय वर्गका प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार । प्रारम्भिक आचार्यों मे भामह तथा उद्घटने केवल एक निन्दाके व्याज-रत्नति-परक अर्थको मुख्य माना है-"शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते । वस्तुनस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुनिरसौ मता" (का० सा० सं०), अर्थात् जिसमे शब्दोंकी अभिधाशक्ति निन्दाका बोध कराये, पर जो वाक्यार्थ निकले वह स्तुति-परक हो। आगे चलकर मम्मट तथा विश्वनाथ आदिने दो भेद स्वीकार किये है-"इस अलंकारमे किसी वस्तुकी प्रारम्भमे निन्दा या स्तुति और अन्ततः स्तुति या निन्दाकी प्रतीति होती है" (का० प्र०, १०: ११२)। हिन्दीके आचार्यीने इन दोनो भेदोको प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधार-पर ग्रहण किया है-"निन्दामें स्त्रति पाइये, स्त्रतिमै निन्दा होय" (शि० भू०, १८२)। किसी-किसीने एक तीसरा भेद माना है- 'अन्य स्तृतिमे अन्यकी स्तृति' (पद्मा०, १२५), अर्थात् अन्यकी स्तृति करके अन्यकी स्तृति करना। इसीका विपरीत व्याजनिन्दा नामक अलंकार माना गया है। कुछने एककी निन्दासे दूसरेकी स्तुति तथा एककी स्तुतिमे दूमरेकी निन्दा सम्बन्धी मेद और माने है, पर संस्कृतमे इन्हें 'व्यंग्यकाव्य' माना गया है।

प्रथम, निन्दामे स्तुति—"भसम लपेटे विष अहि सहित, गंग कियो तै मोहि। भोगीतें जोगी कियो कहा कहाँ अब तोहि" (पद्मा०, १२७)। यहाँ शंकरकी निन्दाके बहाने प्रशंसा को गयी है। स्तुतिमे निन्दा-"राज भोगसे तुप्त न होकर मानों वे इस वार । हाथ पसार रहे हैं जाकर जिसके तिसके द्वार। छोडकर निज कुल और समाज" (यशोधरा: का० द०से)। यहाँ यशोधराके कथनमे बुद्धकी निन्दा है, पर भाव प्रशंसाका है । स्तुतिसे दसरेकी स्तृति—"अमल कमलकी है प्रभा, बाल बदनको डौर। ताको नित चुम्बन करै, धन्य भाग तुव भौर" (का॰ नि॰, १२)। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसाके साथ व्याजस्तुति है। निन्दासे दूसरेकी निन्दा-"दई निरदईसो भई, दास बड़ीयै मूल। कमलमुखीकौ जिन कियौ, हियौ कठिनई मूल" (वही)। -शि० प्र० सिं० व्याजोक्ति-गृहार्थप्रतीतिमूल अलंकार । व्याजका अर्थ है कपट अथवा छल । प्राचीनोमे भामह, दण्ही, उद्घटने इसे स्वीकार किया है। उद्भटने इसे अपहनतिके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। वामनके अनुसार 'व्याजस्य सत्यसारूप्यं, असत्यके वहाने सत्यका साहत्य प्रतिपादित करना, व्याजोक्ति है। मम्मट और विश्वनाथने किंचित् भिन्न प्रकारसे कहा है—"किसी वस्तुका व्याजसे गोपन यद्यपि वह स्पष्टतया प्रकट भी हो गयी है" (का॰ प्र॰, १०:११८; सा॰ द॰, १०:९२)। वस्तुतः इसमें प्रथम कोई वस्तु छिपी रहती है, फिर वह किसी प्रकार प्रकट हो जाती है और उसीका अन्य कारण बताकर गोपन किया जाता है। हिन्दीके जसवन्त सिह्से लेकर पद्माकरतकके लक्षण प्रायः 'कुवलयानन्द'पर आधारित है, जिसमें आकार-गोपनकी बात प्रधान है—"और हेतु बचनि जहाँ, आकृत गोपन होय" (ल० ल०, १५८), अथवा—"आकार जहाँ दुरे, हेतु करि आन" (पद्मा॰, २५१)। दासकी परिभाषा मम्मटके आधारपर है—"बचन चातुरीसो जहाँ, कींजै काज-दराइ" (का॰ नि॰, १६)।

व्याजोक्तिमें किसी ग्रप्त रहस्यके प्रकट हो जानेपर छल अथवा बहानेसे छिपाया जाता है। उदा०-"कारे बरन डरावने कत आवन यहि गेह । कइ वा लख्यो सखी लखे लगे थरहरी देह" (बि०स०, ५१५)। यहाँ नायिका कहती है कि यह काले शरीरवाला (कृष्ण) इस धरमें क्यो आता है; इसे देखकर मेरा शरीर कॉपने लगता है। वस्तुतः उसका कम्प शृंगारजनित सात्त्विक है, किन्तु उसे वह छलसे भय-जनित बतलाती है। अपहन्ति और न्याजोक्ति-मे यह अन्तर है कि अपहुनुतिमें जो बात छिपायी जाती है, उसे पहले कहकर तब फिर उसका निपेध किया जाता है, किन्तु व्याजोक्तिमे वह पहले कही नही जाती। 'कुव-लयानन्द'मे चेष्टा आदि द्वारा सात्त्विक भावोको छिपानेमें भी व्याजोक्ति अलंकार माना गया है। ऐसी स्थितिमें कोई-कोई यक्ति अलंकार भी मानते है। व्याधि-प्रचलित तैतीसमेसे एक संचारी भाव। भरतने शारीरिक स्वास्थ्यभावको 'नाट्यशास्त्र'में व्याधि कहा है और वात, पित्त, कफके सन्निपातसे उत्पन्न बताया है। इसका प्रमुख स्वरूप ज्वर है और सशीत एवं सदाह ज्वरके दो भाग बताकर उनके अनुभावोका वर्णन किया है। 'अन्य व्याधियों का भी जो उल्लेख है, वे शारीरिक अवस्थासे ही सम्बन्ध रखती है। धनंजयने कदाचित इसी कारण भरतका आदर कर 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार व्याधिकी संचारी भावमे गणना तो कर ली, पर साथमे यह भी कह दिया कि इसका विस्तार अन्यत्र है (तेषामन्यत्र विस्तरः)। निरुचय ही यहाँ आयुर्वेदकी ओर संकेत है। पर धनिकने उदाहरण उचित दिया है, जिसमे वियोगमे नायिकाके मनस्तापका वर्णन है। उधर, विश्वनाथने लक्षण तो दिया, पर 'स्पष्ट-मुदाहरणम्' कहकर पाठकको सन्तोष दिलाया। यदि 'नाट्य-दर्पण' (३:१३५)मे व्याधिको 'अंगमनःवलेशः', अग्निपुराण(३३९: ३३)मे 'मन एवं शरीरकी अखस्थता', 'वारभटकाच्यानुशासन' (पृ० ५७), 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' (४: ४८) और 'नाटकलक्षणरत्नकोष'(पं० २०७९)में इसको 'मनस्ताप' न कहा होता तो इसकी गणना संचारी भावमे करना कठिन हो जाता। इसी कारण व्याधि न केवल शारीरिक अवस्था है, परन्तु वियोग या रोगसे उत्पन्न मनःक्लेश भी है। इसमें खेद, ताप, कम्पन इत्यादि अन-भाव होते है।

हिन्दीके रीनिकालीन आचार्योने प्रायः इसकी शारीरिक तथा मानसिक, दोनों अवस्थाओं सम्बद्ध किया है। देवके अनुसार—-"धातु कोप प्रीतम विरह, अन्तर उपजे आधि। जुरि विकार बहु अंगमें, ताही वरने व्याधि" (भाव०: संचारी०)। पर पद्माकरने "विरह विवस कामादिते, तन सन्तापित होइ" (जगन०, ५४३) कहवर मनस्तापको विशेष स्वीकृति दी है।

मेथिलीशरण गुप्त द्वारा अंकित उमिलाकी व्याधिका उदा०—"मानस मन्दिरमे सती पतिकी प्रतिमा थाप। जलती सी उस विरहमे बनी आरती आप" (साकेत)। इसके उदाहरणोमे रीतिकालीन नायिकाके विरह-तापके उहात्मक तथा अतिरंजित वर्णन है—"कक्की अजब अजोरमें, परी बाम तन छाम। तित कोऊ मत लीजिये, चन्द्रोदयको नाम" (जगद्वि०, ५४७)। विहारीके ऐसे अनेक चित्र है। — ज० कि० व० क्यायोग—व्यायोग शब्दका अर्थ है विविध व्यक्तिसे युक्त। कदाचित् भरत मुनिने इस नाट्यप्रकारमे 'बहवस्तत्र च पुरुषाः' अनेक पुरुष-पात्रोंके कारण इसका नाम व्यायोग रखा था। अभिनवगुप्तका मत है कि युद्धमें पुरुषोके नियुद्ध होनेके कारण इसे व्यायोग कहा जाता है—"व्यायामे युद्ध-प्राये नियुद्धवन्ते पुरुषा यहेति व्यायोग इस्वर्थः"।

मरत मुनिका मत है कि इसमे प्रख्यात नायक होता है और इतिवृत्त भी प्रख्यात होता है। स्त्री-पात्रोकी संख्या अवप होनी चाहिये। आचार्य हेमचन्द्रका मत है कि इसमें स्त्री-पात्र नहीं होने चाहिये (काव्यानु०, पृ० ३२३)। इसकी घटना एक दिनकी अवधिकी हो, अंक एक हो, इसका नायक देवता नहीं, प्रत्युत कोई राजिष हो, इसमे युद्ध, व्यक्तिगत संघर्ष एवं रोषपूर्ण युद्ध पाया जाता है। व्यायोगका मूळ स्रोत दीप्त काव्यरस है।

धनंजयने भरत मुनिके लक्षणोंका आश्रय लेते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि इसमे गर्भ और विमर्श सिन्धयां नहीं होतीं। इसमें संग्राम स्त्रीके निमित्त नहीं होता (अस्त्रीनिमित्तसंग्रामों) और इसका अभिनय अनेक पात्रोके द्वारा होता है। शारदातनयने इस बातपर बल दिया है कि युद्ध स्त्रीके निमित्त न हो और पात्रसंख्या दससे अधिक न हो—"अस्त्रीनिमित्तसंग्रामों व्यायोगः कथितों बुधैः। नायकास्त्रिचतुष्पंच भग्युर्न दशाधिकाः" (भा० प्र०, ८:पृ० २४८)। सागरनन्दीने व्यायोगको ऋषिकन्यापरिणययुक्त, सम्भोगयुक्त, दीप्त वीर एवं रौद्र रस सहित, करुण और श्वंगारको अतिश्वतासे रहित, मुख-निर्वहण सन्थिसंयुक्त, संस्कोट (युद्ध) सहित माना है।

अभिनवगुप्तका मत है कि व्यायोगका नायक देवता, नृपति अथवा ऋषि नहीं होना चाहिये। विश्वनाथ अभिनवगुप्तके मतसे सहमत नहीं हैं। उन्होंने इसका नायक प्रस्थात धीरोद्धत राजिष अथवा दिव्य पुरुष माना है। उन्होंने 'सौगन्धिकाहरण'को व्यायोग माना है (सा० द०, ६: २३१, ३३)। संस्कृत नाटकोमें 'परशुराम-विजय', 'धनंजयविजय', 'वीरविक्रम' इत्यादि व्यायोग प्रसिद्ध हैं। भासका 'मध्यम व्यायोग' इसका उत्तम उदाहरण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने व्यायोगका संक्षेपमें इस प्रकार

लक्षण दिया है—"युद्धका निदर्शन, स्त्री-पात्ररहित और एक ही दिनकी कथाका होता है। नायक कोई अवतार वा वीर होना चाहिये। यन्थ नायककी अपेक्षा छोटा। उदाहरण—'धनंजयविजय'"।

गुळाव रायका मत है कि "इसमें एक ही अंक होता है। स्त्री-पात्रोका अभाव-सा रहता है, वीर रसका प्राधान्य होता है, मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ रहती है"।

ड्याहत-दे॰ 'अर्थ-दोप', तीसरा। ड्युत्पत्ति-दे॰ 'कान्य-हेतु', दूसरा।

च्यूहवाद — तंत्रकालीन वैष्णव धर्मके इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त-की उत्पत्ति वैष्णव धर्ममे वीरोपासनाके पश्चात् हुई। वीरो-पासनाका आरम्भ वैष्णव धर्मके आरम्भिक स्थापक पुरुषों-की गुणोपासनाके रूपमें हुआ था, जिसके अन्तर्गत वासुदेव-कृष्ण, साम्ब, बलराम, प्रधुम्न, संकर्षण प्वं अनिरुद्ध थे। वासुदेवकृष्णके षाङ्गुण्य विग्रह — ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्थ और तेज — को उनके पार्षदों एवं निकटवतीं वीरों-मे किष्पत करके व्यूहवाद सिद्धान्तकी रचना की गयी। इस व्यूहवादके अन्तर्गत वासुदेवकृष्ण, संकर्षण, प्रधुम्न,अनिरुद्ध-को शक्ति समुचयके रूपमे मानकर उन्हे चतुर्व्यूह (दे०)के नामसे अभिहित किया गया।

व्यूह्का आरम्भिक संकेत कित्यय विद्वानोंके अनुसार सर्वप्रथम बादरायणके ब्रह्मसूत्र(२:२:४२-४५)में मिलता है। परन्तु वास्तवमे शंकर एवं रामानुजके परवर्ती भाष्योमें व्यूह्वादके सिद्धान्तोको इन सूत्रोंमें आरोपित करके निकाला गया है। मूलतः इनमे व्यूह्वादका सिद्धान्त निहित नहीं है। पाणिनिके अष्टाध्यायी (५:३:५)में 'आत्म चतुर्थं' शब्दका उछेख मिलता है। सर आर० जी० मंडारकरका विश्वास है कि पाणिनिको व्याख्या—"जनार्दन सास्ततम् चतुर्थं इव" व्यूह्वादकी ही ओर संकेत करती है। पतंजिलने महाभाष्य (२:२:३४)में पाणिनि प्रयुक्त 'राम केशव'के समासका विग्रह करते दुए कृष्णको संकर्षण कहा है। विष्णुसंहिता (७२:२)में चतुर्व्यूह शब्दका उछेख मिलता है, जिसमे वासुर्वेवको प्रथम तथा उनके पश्चात् संकर्षण, प्रयुक्त प्रथान प्रवात संकर्षण, प्रयुक्त प्रथान प्रवात संकर्षण, प्रयुक्त प्रथान प्रवात संकर्षण, प्रयुक्त प्रथान प्रयात संकर्षण, प्रयुक्त पर्व अनिरुद्धका नामोछेख है।

यद्यपि पांचरात्र सिद्धान्तमे व्यूहवादकी उपसनाका उछेख मिलता है, परन्तु मंडारकरका विश्वास है कि व्यूहवादकी कल्पना ३ शती ई०के आसपास हो चुकी थी। व्यूहोपासनाका उल्लेख ५वी एवं ६ठवी शतीसे मिलने लगता है। इनकी पूजाका आरम्भिक संकेत वलदेव, कृष्ण, सुभद्राकी सम्मिलित मूर्ति उपासनामे पाया जाता है।

पांचरात्रमे विणित व्यूहवादके सिद्धान्तके अनुसार उपर्युक्त छः गुणोमेंसे संकर्षण-व्यूहमें ज्ञान तथा वल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य तथा वीर्य तथा अनिरुद्धमें ज्ञान तथा वल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य तथा वीर्य तथा अनिरुद्धमें ज्ञास और तेजका प्राधान्य है। वासुदेव कृष्णका एक पराव्यूह है, जिसे भगवद व्यूह कह सकते है। ये चारो मिलकर चतुर्व्यूह बनाते है। अहिर्वुष्ट्य संहिता (५:१७-६०)में संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्नके कार्योंका उल्लेख मिलता है। संसारकी सृष्टि संकर्षण करते है। प्रद्यम्न एवं अनिरुद्धके कार्य क्रमशः कर्मकाण्डकी शिक्षा एवं मोक्ष-रहस्यका ज्ञान कराना है।

व्यूहवाद सिद्धान्तका परिमार्जन मध्यकालमें चैतन्य सम्प्रदायके अन्तर्गत हुआ। वासुदेव, संकर्पण प्रयुम्न एवं अनिरुद्धको क्रमशः चित्, अहंकार, वुद्धि एवं मनस्का मूल स्रोत कहा गया है। रूपगोत्वामीने पर्यंदर्भमे पांचतंत्र उद्घिष्टिन चतुर्व्यूह मतका खण्डन करते हुए नवव्यूहकी कल्पना की। वासुदेव, संकर्षण, प्रयुम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयमीव, वाराह, नृसिह तथा ब्रह्मा नवव्यूहके अन्तर्गत रखे गये है। किन्तु यह इस चतुर्व्यूहका खण्डन न होकर अवतारोको व्यूहवादमे मिला देनेकी प्रवृत्तिका स्चक है। वस्तुतः व्यूहवाद अवतारसे भिन्न एक पृथक् सिद्धान्त है। मध्यकालमे इस सिद्धान्तका प्रभाव रामकथापर भी पड़ा, जिसमें राम, लक्ष्मण आदि चारो भाइयोको क्रमशः वासुदेवकृष्ण, संकर्पण, प्रयुम्न एवं अनिरुद्धका रूप कहा गया। अंशांशि अवतारकी धारणाके मूलमें व्यूहवाद ही सहायक रहा है।

सिहायक यन्थ-भागवत सम्प्रदाय : वलदेव उपाध्याय; अहिर्वुध्न्य संहिता—५:१७-६०; वैद्यनव फेथ एण्ड मनमेट : एस० के० डे०; ए कम्परेटिन हिस्ट्री ऑव इण्डिया, (भाग २) : सं० नीलकान्त शास्त्री । - यो० प्र० सि० बीड्रा-प्रचलित तैतीसमेसे एक संचारी; भरतके अनुसार इसके मूलमें कोई अनुचित कार्य रहता है। गुरुजनोकी आज्ञाका उल्लंघन, उनके अनादर तथा प्रतिज्ञान पूरी करनेसे उत्पन्न पश्चात्ताप और अपमान इसके विभाव है और मुख छिपाना, मुख नीचा करके सोचना, भूमिपर रेखा बनाना, वस्त्रोको अथवा ॲगूठीको छूना, नाखून काटना आदि इसके अनुभाव है (ना० ज्ञा०, ७:५८)। धनंजयने इसका लक्षण दिया है—"दुराचारादिभिन्नींडा धाष्ट्रचीमावस्तमुन्नयेत् । साचीकृतांगावरणवैवर्ण्याधोमुखा-दिभिः" (द० रू०, ४:२४)। दुराचार आदिसे त्रीड़ा उत्पन्न होती है। धाष्टर्यामाव (धृष्टताका अमाव) बीड़ाको पैदा करता है। टेढा मुंह करके अगोको छिपाना, चेहरेका रंग फीका पड़ जाना, नीचा मेंह कर लेना आदि इसके अनुभाव है। विश्वनाथने संक्षेपमे केवल इसे 'धाष्टर्वाभाव' कहा है (सा० द०, ३:१३५)। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंने इसे 'लाज' नाम भी दिया है—''दुराचार अरु प्रथम रत, उपजै जिय संकोचु" (भाव०: संचारी०)। इसमे 'प्रथम रत' महत्त्वपूर्ण है, वयोकि इसको यहाँ महत्त्व अन्य परम्परासे मिला है। अन्य वाई आचार्योंने "जहाँ कौन हूं हेततें, उर उपजति अति लाज" (जगदि०, ५३५) जैसा सामान्य लक्षण दिया है।

मैंकडूगळने इसे प्रधान संवेगों (प्राइमरी इमोशन)में माना है। उसके अनुसार यह निपेधात्मक आत्मानुभृति (निगेटिन सेल्फ फीळिंग) है। यह मांस-पेशियोके संकोच, गति में शैथिल्य, सिर नीचा करना तथा तिरछे दृष्टिपातमें अभिन्यक्त होता है (सोशळ साइकोळोजी, पृ० ५५)। कान्यशास्त्र तथा मनोवेज्ञानिक अन्येमें वर्णित अनुभावोंकी संख्याके अतिरिक्त कान्यअन्येमें कुछ और अनुभाव मी देखे जाते हैं। क्षोळोंकी ठाळी, ऑखोकी ठळाई, कर्णमूळोंका ठाळ होना आदि भी इसीके अनुभाव है।

रामचन्द्र शुक्कने वीड़ाको स्वतन्त्र विषयवाले भावोमे

माना है। लेकिन यह भी संचारी तभी हो सकता है, जब किसी स्थायी भावके पोषकके रूपमें अभिन्यक्त हो। पद्माकर-का बीडा संचारीका उदा०—"ये दिन यौवनके तौ इतै सुन लाज इती तुकरैंगी कहा लै। नेक तो देखन दे मुखचन्द सो चन्दमुखी मति घूँघट घालै" (जगद्वि॰, ५३६)। सीताके रित स्थायीके बीडा संचारीका एक सन्दर उदाहरण निम्नलिखित है-"सुनि सुन्दर बैन सुधा रस साने सयानी है जानकी जान भली। तिरछे करि नैन दे सैन तिन्हे समुझाय कछ मुसकाय चली। तुलसी तिहिं औसर सोहै सबै अवलोकत लोचन लाहु अली। अनुराग तडागमे भान उदै विकसी मनो मंजुल कंज कली" (कवितावली, २)। शंका-प्रचलित तैतीसमेंसे एक संचारी भाव। भरतके अनुमार चोरी, राजाके प्रति अपराध आदि इसके कारण है और एक टक देखना, शंकित चाल, ओठ चाटना, मुँह-का रंग बदलना, कम्पन, स्वरभंग आदि अनुभाव है (ना० शा॰, ७: ३३)। विश्वनाथने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है—"परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शंकानर्थस्य तर्कणम्। वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्" (सा० द०, ३: १६१), अर्थात् दूसरेकी क्राता तथा अपने दोप आदिसे जहाँ अनर्थकी आइंका हो, उसे इंका कहते है। वैवर्ण्य, कम्प, शोष (मुंह सूखना), स्वरभंग, डरकर इधर-उधर देखना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालमे इसीके आधारपर लक्षण दिया गया है। देवके अनुसार—"अपरा-धादि अनीति करि कपै करै छिपाय" (भाव०: सचारी०)। अन्योंकी परिभाषामे इसके दोनों भेद भी आ गये है-"कै अपनी दुनीति कै दुवन करता मानि । आवै उरमें सोच अति" (जगद्वि०, ४७८) ।

शंकाको रामचन्द्र शुक्कने सामान्यतः मनका वेग न मानकर वेदपाठियो, तार्किकों, मीमांसकों आदिकी धारणा, बुद्धि आदिका व्यापार माना है। पर उन्होने काव्यमें इसका ग्रहण वहीतक स्वीकार किया है, जहाँतक वह प्रत्यक्ष रूपसे भावोंके द्वारा प्रेरित प्रतीत हो । उन्होने इसका और भी स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—"शंका तो भयका ही वितर्कप्रधान रूप है, जो आलम्बनके दूरस्य होनेपर प्रकट. होता है। इसमे वेग नहीं होता और न आलम्बन उतना म्फुट होता है। इसका प्रादुर्भाव या तो स्वतन्त्र रूपसे होता है अथवा भयकी स्थायी दशामे; भावदशामे नहीं होता, जब कि अनिष्टकारी या अनिष्ट बिलकुल पास आया रहता है" (र० मी०, पृ० २१४)। भूषणके इस वर्णन-में-"चौक-चौक चकत्ता कहत चहुंधा ते यारो, हेत रही खबरि कहाँ लौ सिवराज है" (शि० बा०, ३४) शंकाका चित्रण है। इसी प्रकार पन्नाकरका उदाहरण है—"लगै न कहूँ बज गलिनमें, आवत जात कलंक। निरखि चौथको चाँद यह, सोचित सुमुखि ससंक" (जगद्विण: ४८०)। —व**०** सि० शक्ति-यह अनन्तरूपा और अनन्त सामर्थ्यसम्पन्ना है। जगत इसी शक्तिका परिणाम है, यही शक्ति जगद्रूपमें परिणत होती है। दाक्ति प्रलयकालमे छत्तीस तत्त्वात्मक जगतको कवलीकृत करके, अर्थात् अपने-आपमें स्थापित

करके अन्यक्त रूपमें स्थित रहती है। वस्तुतः जगत् उसकी व्यवस्थाका ही नाम है। शक्तिकी सहायतासे ही परमशिव सृष्टि-व्यापारके संभालनेमे समर्थ होते है। शक्तिते रहित होनेपर शिव कुछ भी करनेमें असमर्थ है (विस्तारके लिए दे॰ 'योगमाया', 'महासुद्रा', 'बीद्ध मार्थाप्ट', 'त्रिक दर्शन')। शठ नायक —दे॰ 'नायक' (शृंगार)।

शतक-दे॰ 'मुक्तक-काञ्य'।

**राबर** वज्रयानी साधनामें नैरात्माकी प्रतीक **राबरी**के - प्रति उन्मुख होनेके कारण साधकको रावर कहा जाता है। —ध० वी० भा०

शबरी –दे॰ 'महामुद्रा'। शब्दचित्र –दे॰ 'रेखाचित्र'।

शब्द-दोष — वाक्यार्थके बोध होनेमें जो प्रथम दोष प्रतीत होते है, वे राब्द-दोष है। राब्दके दोष (१) पदां रागत, (२) पदगत और वाक्यगत होते है। मम्मटने दोष-भेदका निरूपण परम्परया-अपकर्षक दोष-भेद, अर्थात् पद-दोपसे प्रारम्भ किया है। .पद-दोष त्रिविध शब्द-दोषो, अर्थात् पद-पदैकदेश और वाक्य-दोषोमेसे प्रथम दोष है। मम्मटने कारिकामे पद-दोपके नाम और लक्षण दोनो एक साथ ही दिये है। प्राचीन आलंकारिकोने इन दोषोके नाम और लक्षण पृथक्-पृथक् दिये है, जैते भामहने पहले तो पद-दोषोंके नाम गिनाये है और तब उनके लक्षण दिये है। यही बात वामनकी भी है। मम्मटने पर-दोषके अन्तर्गत समासगत और असमासगत पद-दोषकी भी भीमांसा की है। यह इनकी निजी विशेषता है। प्राचीन अलंकार-शास्त्रमें इस प्रकारकी मीमांसा नहींको गयी है।

भामहने तीन प्रकारके दोष—(१) सामान्य-दोष, (२) वाणी-दोष तथा (३) अन्य दोष माने है। उनके इन तीन दोष-वाणों का पार्थ क्यकारी आधार अधिक स्पष्ट नहीं है। वाणीं वोषों से उनका अभिप्राय सम्भवतः शब्द-दोषों से है। वामनने दोषके शब्दगत और अर्थगत भेद किये है। वामनकृत भेद तो चार हैं—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष, परन्तु उनका आधार मूळतः शब्द और अर्थ ही हैं। 'चन्द्रालों के' टीकाकारने पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश, अर्थ, प्रवन्ध और रसमें रहने के कारण दोष ७ प्रकारके बतलाये है। मम्मटने पदगत (शब्द) दोष १६ प्रकारके और वाक्य-दोष २१ प्रकारके माने है।

हिन्दीके आचार्योंमे केशव आदिने कान्य-दोषोंकी विवेचना तो की है, पर शब्द-दोषकी परिभाषा नहीं दी है। इनमें कान्यसरोजकार श्रीपतिने शब्द और अर्थके दोषों- का अधिक सजगता और जागरूकतासे विभाजन किया है। भिखारीदास आदि जिन हिन्दी आचार्योंने 'कान्यप्रकाश'- को आधार माना है, उनके विवेचन अधिक वैद्यानिक और कमबद्ध हैं।

'शब्द-दोष' प्रत्यक्ष रूपसे 'शब्द' या पदसे सम्बन्ध रखते है, पर अप्रत्यक्ष रूपसे अर्थका प्रतीति और रसकी अभिन्यक्तिसे ही उनका सम्बन्ध होता है। अतः वे रसके अपकारक ही होते हैं। विभिन्न आचार्य इन्हें वाणी-दोष, शब्द-दोष आदि नामोसे पुकारते हैं। इन दोषोंके नामोंके परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति भी इन छेखकों द्वारा अपनायी गयी है। कुछ आचायोंकी परिभाषाएँ एवं उदाहरण स्पष्ट गही है।

वस्तुतः दोषोंका राज्य और अर्थके आधारपर विभाजन ही बहुत अधिक स्पष्ट नहीं हो सकता है। काञ्यमे राज्य और अर्थ जिस अभिन्न रूपमे प्रयुक्त होते हैं, उसमे इस प्रकार विभेद करना सरक नहीं हैं। फिर भी सापेक्षित दृष्टिसे राज्य और अर्थ-सम्बन्धी भेदको स्वीकार किया गया है। जहाँ दोप राज्यपर आश्रित हो, अर्थात् राज्यके पर्याय द्वारा दोषको दूर किया जा सके, वहाँ राज्य-दोप होता है और जहाँ राज्यके पर्यायसे भी दोप बना रहे वहाँ अर्थ-दोष होता है। यह ज्याख्या भी सदा ठोक नहीं उत्तरती, फिर भी एक सीमातक मान्य है। मम्मट, विश्वनाथ आदिका विभेचन इसीपर आधारित है और हिन्दीके कुलपित तथा मिखारीदासने भी यही माना है। राज्यके अन्तर्गत पर्दोष और वाक्य-दोषका विभाजन भी मम्मट तथा उनके अनुवर्गी संस्कृत तथा हिन्दीके आचार्यीने किया है।

इस प्रकार शब्द-दोषके अन्तर्गत पद-दोप प्रायः १६ माने गये है-१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कार (क) लिंग-दोष, (ख) वचन-दोष, (ग) कारक-दोष, (घ) सन्धि-दोष, (ड) प्रत्यय-दोष, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहितार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निर्यंक, ८. अवाचक, ९. अइलील, १०. ग्राम्य, ११. नेयार्थ, १२. क्लिष्ट, १३. सन्दिग्ध, १४. अप्रतीति, १५. अविमृष्ट विधेयां श, १६. विरुद्ध मतिक्रम। इसके साथ ही वाक्य-दोष २१ माने गये है---१. प्रतिकृल वर्ण, २. हतवृत्त, ३. न्यून पद, ४. अधिक पद, ५. व्यर्थ-पदता, ६. कथित पद, ७. पतत्प्रप्तर्थ, ८. समाप्तपन्रक्ति, ९. अर्द्धान्तान्तरैकवाचक, १० अभवन्मत सम्बन्ध, ११. अन्मिहित सम्बन्ध, १२. अस्थानपदता, १३. संकीर्ण, १४. गर्मित, १५. प्रसिद्धित्याग, १६. भग्नप्रक्रम, १७. अक्रम, १८. अमतपरार्थता, १९. अन्वयदोष, २०. क्रिया-दोष, २१. मुहावरा-दोष । संस्कृत और हिन्दीकी प्रकृतिके अन्तरके कारण कुछ वाक्य-दोष भिन्न हो गये है, जैसे उपहतविसर्गहत, लप्तविसर्ग आदि दोष हिन्दीमे नहीं हो सकते, उनके स्थानपर क्रिया, मुहावरा आदिका विशेष महत्त्व हो गया है।

पद-दोष— १. शुतिकहु निमाने इस दोषको पददोष मानंकर कष्ट, अर्थात् श्रुतिविरस अथवा कर्णकहु नाम
दिया है। भामहने इसे श्रुति-कष्ट नामक वाणी-दोष माना
है। 'साहित्यदर्पण'मे दुःश्रवता (दुःश्रवत्वम्) नाम आया
है। केशवने इसे कर्ण-कहु नाम दिया है। स्रति मिश्र,
आचार्य श्रीपति तथा मिखारीदासने इसे 'श्रुतिकहुत्व' अथवा
'श्रुतिकहु' नामसे पुकारा है। यह पद-दोष मम्मटके
अनुसार परुषवर्णता (का० प्र०, ७: ५१ कृ०)का दोष है,
अर्थात् जहाँ कानोंको खटकनेवाले शब्दोंका प्रयोग किया
जाता है, वहाँ श्रुतिकहु दोष होता है, यथा— ''त्रिया अलक
चच्छुस्रवा, इसे परत ही दृष्टि' (का० नि०, २३)।
'चच्छुस्रवा' और 'दृष्टि' दोनो ही शब्द दृष्ट है। 'श्रुति
शब्द सकारके समाससे दुष्ट हुआ और 'त्रिया' शब्दका
रकार दृष्ट है। यहाँ पर तीनों भाँतिका श्रुतिकहु दिखलाया
गया है। यह दोष श्रुतार आदि कोमल रसोमें ही होता

है। वीर, रौद्र आदि रसोमें यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारोंमें भी यह दोप नहां होता है।

२. च्युतिसंस्कार - भरतका मत है कि जहाँपर अशब्द (न्याकरण-अशुद्ध रान्दका प्रयोग) हो, उसे रान्दहीन कहते है (ना० शा०, १७: ९४)। भामहके मतमे जहाँ व्याक-रण अञ्चल्द तथा शिष्ट-जन द्वारा अस्वीकृत शब्दका प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है। दण्डी भी इसे स्वीकार करते है। भरत, भामह तथा दण्डी इसे शब्द-हीन नामसे पुकारते है। वामन इसे 'असाधु' नाम देते है। आचार्य श्रीपतिने इसे 'भाषाच्युत' कहा है। भिखारीदासने 'भाषाहीन' नाम िया है। मम्मट और साहित्यदर्पणकार इसे च्युत-संस्कार और च्युतसंस्कृति नामसे पुकारते है। यह वह शब्द-दोष है, जिसमे किसी पदका व्याकरणके नियमके विरुद्ध रहना कहा जाता है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०)। अभिप्राय यह है कि जहाँ वाक्यरचना व्याकरणके नियमोंके अनुकूल न हो, वहाँ यह दोष होता है-"वा दिन वैसन्दर चहुँ बनमें लगी अचान । जीवत क्यो बज बॉचतो जो न पावतो कान" (का० नि०, २३)। यहाँपर वैस्वानरको बदलकर 'वैसन्दर' कहना, 'चहूँ दिशि'को घटा-कर 'चहूँ' कहना तथा पीना शब्द जलके लिए न कहकर कानके लिए कहना रीति-विरुद्ध होनेके कारण च्युतसंस्कार दोष माना गया है। यह कई प्रकारका होता है।

(क) **छिंग-दोप**—यह च्युतसंकार दोष उस स्थानपर होता है, जहाँ लिंगप्रयोग सम्बन्धी अशुद्धियाँ पायी जाती है, यथा-"पीछे मववा मोहिं साप दई"। "अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो"। केशवके उक्त उदाहरणोमे 'मघवा' तथा 'रक्षा' क्रमशः पुंलिंग और स्नीलिंग है, अतः 'साप दयो' और 'रक्षा कीन्ही' प्रयोग होने चाहिये थे। (ख) वचन-दोष-यह उस समय होता है, जब एक वचनके स्थानपर बहुवचन और बहुवचनके स्थानपर एकवचन पदका प्रयोग किया जाता है, यथा-"कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे छुटता"। इस अवतरणमें 'छुटता था'के स्थानपर 'छुटते थे'का प्रयोग होना चाहिये था। (ग) कारक-दोष —यह दोष वहाँ होता है, जहाँ कारकप्रयोगकी अदि पायी जाती है, जैसे—''करें साधना एक परलोक ही कौ'' या "रह्यो रीझिक बाटिकाकी प्रभाकौ"। केशवके इन अवतरणो-मे क्रमशः 'प्रभा'के साथ तृतीया विभक्तिका चिह्न होना चाहिये था तथा 'साधना'के लिगके अनुसार 'कौ'के स्थान-पर 'की' प्रयोग 'ठीक होता । (घ) सन्धि-दोष-भरत, भामह और दण्डी इसे विसन्धि नामसे प्रकारते है। वामन भी इसे स्वीकार करते है। वे इसे वाक्य-दोषके अन्तर्गत रखते है। सन्धि-दोष उस समय माना जाता है, जिस समय सन्धि सम्बन्धी न्याकरण-नियमोके विरुद्ध सन्धियाँ की जाती है, यथा—"मन लेहु मिलेब गहै हम गैलो" या केशवदास "दुख दीवे लायक भयेव तुम"। उक्त परोंमे क्रमशः मिलेब = मिलै <del>+</del> अब तथा भयेब = भये <del>+</del> अबका प्रयोग किया गया है, जो सन्धि-नियमोके अपवाद हैं। यहाँ मिलैब तथा भयैब होना चाहिये था। (ङ) प्रत्यय-दोष — जहाँ अशुद्ध प्रत्ययका प्रयोग किया जाता है, यथा-"प्रेम शक्तिसे चिर निरस्त्र हो जावेगी

पाशवता''। यहाँ पाशवताके स्थानपर 'पशुता' या 'पाशव'-का प्रयोग होना चाहियेथा। च्युतिसंस्कार सम्बन्धी दोषोंकी केशव तथा आधुनिक युगमें 'प्रसाद' और पन्तकी कवितामें भरमार है।

 अप्रयुक्ति – वामनने इसे अप्रयुक्त दोप माना है। श्रीपतिने भी इने अप्रयुक्त नाम दिया है। मम्मटके अनुमार यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसके कोश-व्याकरण आदिसे सिद्ध होनेपर भी कवियों द्वारा अप्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०) । भिखारीदासके अनुसार यह वहाँ होता है, जहाँ यद्यपि शब्द तो सत्य (अथवा ठीक) प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु कवियोने उसका उल्लेख न किया हो, यथा—"करै न वैयर हर हि भी, कन्दरपके सर घाउ" (का० ति०, २३)। यहाँ बैयर= सखी, भी = यह, कन्दर्भ = कामकी कहते है। ये पद बजभाषा और संस्कृत, दोनोम शुद्ध है, पर किसी कविने इनका प्रयोग नहीं किया है। इससे अप्रयुक्ति दोष है। अथवा-"पुत्र जन्म उत्सव समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय"। यहाँ दानवे अर्थमे 'स्पर्श' पद प्रयुक्त हुआ है। स्पर्शका अर्थ दान भी है, पर दानके अर्थमे इसका प्रयोग काव्योमें देखा नहीं जाता।

**४. असमर्थ –** स्रति मिश्र तथा श्रीपतिने असमर्थ-दोषका उरुकेख किया है। मम्मटके अनुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसके एक किसी अर्थमे (कोशादिमे) परिप-ठित होनेपर भी उस अर्थके प्रत्यायनमें असामर्थ्य कहा करते है (का॰ प्र॰, ७।५१ वृ०), अर्थात् यह दोष वहाँ होता है, जहाँ यद्यपि शब्दका अर्थ तो होता है, परन्तु उस अर्थके बोध करानेकी शक्ति उस शब्दमें नही होती। यथा-"कान्ह कृपा फल भोगको करि जान्यो सितवाम। असुरसाखि सुरपुर कियो, ससुरसाखि निजधाम" (का० नि०, २३) । 'सुरसाखि' कल्पतरुको कहते है । 'अ'कारसे यह अर्थ प्रकट किया गया है कि बिना कल्पतरुका सरलोक कर दिया । सत्यभामाने कल्पतरु समेत अपना घर किया, वह कृष्णचन्द्रकी कृपाका फल है, पर यह अर्थ प्रकट न होना असमर्थ दोष है। यह स्मरणीय है कि एकार्थवाची शब्दोमें अप्रयुक्त दोष होता है और अनेकार्थवाची शब्दोंमे असमर्थ-दोप। पहलेमे अर्थ किसी प्रकार दवता नही और दूसरेमें अभिप्रेतार्थ दव जाता है।

प. निहितार्थ — वामनने इसे गूढार्थ नाम दिया है। मम्मटके अनुसार यह उस स्थानपर होना है, जहाँ किसी परका अपने प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, दोनों अर्थोंके बोधनमें समर्थ होनेपर भी, अप्रसिद्ध (अविवक्षित) अर्थमें ही प्रयुक्त होना कहा करते हैं (का॰ प्र॰, ७ : ५१ कृ०), अर्थात जहाँ किने किसी राष्ट्रका प्रयोग अप्रसिद्ध अर्थमें किया हो, पर उससे प्रसिद्ध अर्थका ही बोध होता हो, वहाँ यह दोष होता है, यथा— 'दे रे सठ नीरद्द भयो, चपछा विधु चित छाउ। मव मकरध्वज तरनकों, नाहिं न और उपाउ" (का॰ नि॰, २३)। उक्त पद्यमें नीरद्द = विना दाँत, चपछा = छक्ष्मी, विधु = विष्णु तथा मकरध्वज = सागरके अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, पर इन पदोसे इनके प्रसिद्ध अर्थ बादल, चन्द्रमा, विजली और कामदेवका अर्थ प्रकट

होता है, अतः यहाँ निहितार्थ-दोप है। अथवा—"विषमय यह गोदावरी, अमृतनके फल देति। केसव जीवनहारके, दुख असेप हरि लेन"। केशवके इस वर्णनसे 'विप' तथा 'जीवन' शब्दबा अर्थ पानी होना तो अवस्य है, पर यह अर्थ वहुत प्रसिद्ध नहीं है। अतएव यहाँपर निहिनार्थ-दोष है। अप्रयुक्त विरल प्रयोगके कारण दूषित होना है। असमर्थ-दोप अर्थवी प्रतीति नहीं होती है और निहितार्थ-में देरने प्रतीति होती है। स्लेष और यमकादि अलंकारोंमें ये दोनों दोप नहीं माने जाते।

ह. अनु दितार्थ — मम्मटके अनुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी, अपने विवक्षित (प्रसिद्ध) अर्थमें ही, किसी प्रकारकी तिरस्कारनीधकता कहा करते हैं (काण प्र०, ७: ५१ वृण्)। जयदेवका मत है कि जहाँ पद अनुचित अर्थका बोध कराये, वहाँ अनु चितार्थ-दोष होता है। भिखारीदासके मनमे जहाँ उचित शब्दका प्रयोग न किया गया हो, वहाँ यह दोष होना है, जैसे— "जेहि जावक अंखियाँ रंगे, दई नखक्षन गात। रे पिय हठ क्यो सठ करै, वाही पै किन जात" (काण नि०, २१)। यहाँ 'रंगे'के स्थानपर 'दयो' न होने और साथ ही 'पिय'के साथ 'सठ'-का प्रयोग करनेके कारण अनु चितार्थ दोष है।

७. निरश्नंक—वामनने इस दोषको पद-दोषके अन्तर्गत अनर्थक नाम दिया है। मम्मट और विश्वनाथने इसे निर्थंक नामने पुकारा है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, जैसे कि च, हि, सु आदिका, केवल पादप्तिके लिए ही प्रयुक्त होना कहा जाता है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी छन्दको पूरा करनेके लिए कुछ शब्दोंका प्रयोग किया जाये, परन्तु वस्तुतः उनका अर्थ कुछ भी न हो। यथा—"अरी हनत दग तीरसों, तोहि पई रन ईर" (का० नि०, २३)। यहाँ 'ईर' शब्द निरथंक होनेके कारण यह दोष है।

८. अवाचक-भामहने इसे अवाचक और वामनने अन्यार्थ नामसे पुकारा है। दण्डीने भी इसका उल्लेख किया हैं। 'काब्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यनिर्णय'मे भी इसका उल्लेख आया है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदका, उसकी विशिष्ट वाचकतासे (अर्थात् उसके विवक्षित धर्मरूप अर्थकी वाचकतासे अथवा धर्मिरूप अर्थकी वाच-कतासे अथवा धर्मधर्मिरूप अर्थकी वाचकतासे) रहित होना कहा करते हैं (का० प्र०, ७: ५१ वृ०)। जयदेवके मतानुसार अवाचक-दोष उपसर्गके होने-न होनेपर निर्भर करता है। उनका मत है कि जिस उपसर्गके साहचर्यसे जिस धातुका जो अर्थ हो, उस उपसर्गके बिना ही उस अर्थमे उसी धातुके प्रयोगको अवाचक-दोष कहा जाता है। भिखारीदासका कहना है कि अवाचक-डोषपूर्ण शब्द वह होता है, जिसका रीति-प्रतिकूल कुछ विशेष अर्थ मान लिया जाय, परन्तु उससे उस अर्थका बोध न होता हो। इन अथॉंको कवि भी नहीं मानते। यथा—"प्रगट भयो लखि विषम इय, विष्ण धाम सानन्दि । सहसपान निद्रा त्तच्यो, खुलो पीत मुख बन्दि" (का० नि०, २३)। यहाँ शरद्के लिए 'सप्तहय' न कहकर 'विषमहय' तथा 'कमल'-के लिए 'सहस्रपत्र' न कहकर 'सहस्रपान' कहना अवाचक- दोप है। साथ ही 'पीतमुख' 'श्रमर'के लिए तथा 'विष्णु धाम' 'आकाश'के लिए प्रयुक्त हुए है। इनका प्रयोग किसीने नहीं किया है, अनः ये अवाचक-दोष है। फूलनेके लिए 'निद्रा तज्यो' तथा आनन्दित होनेके लिए 'सानन्दि' कहना भी अवाचक-दोप है।

 अइलील—वामनने अइलीलको पढार्थ नामक दोषके अन्तर्गन रखा है। भामह अइलीलके घुणा अंगको श्रतिदृष्ट तथा बीडाञ्यंजकको अर्थदृष्टके अन्तर्गत मानते है। उन्होंने अश्लीलके अमंगलवाचक रूपको 'कल्पना-दष्ट' नाम दिया है। वामनने भी भामहके उक्त भेदोको स्वीकार किया है। सरित मिश्रके जुगुप्सा, बीडा और अमंगलका समाहार भी अशीलके अन्तर्गत हो जाता है। श्रीपतिने अश्रीलका विस्तारसे वर्णन किया है। मन्मट और विश्वनाथने अश्लील तीन प्रकारका माना है। यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी (अपनी अर्थनीयकताके अतिरिक्त) ब्रीडा, जुगुप्सा और अमंगलके भावोकी व्यंजकताका दोष कहते है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०; सा० द०, ७: ४ वृ०)। (क) ब्रीडाव्यं जक-'धिक मैश्न आहार यन्त्र' अथवा ''खीचती उबहनी वह बरबस चोलीसे उभर-उभर कसमस, खिंचते सँग युग रस-भरे कलश" (पन्त)। (ख) जगप्साव्यंजक-"केसनि ओरनि सीकर रमे, ऋक्षन की तमई जन वमे" (केशव)। यहाँ 'वमै' शब्दमें कुछ घृणा-सो हो जाती है। (ग) अमंगलत्व—"दुख देख्यौ ज्यो कालि, त्यों आजह देखीं" (केशव)। यहाँपर अमंगलत्वका भाव आ गया है। (व) भिखारीदासने एक ही पद्यमें तीनों प्रकारके लक्षण देकर अपनी प्रतिभाका परिचय दिया है, यथा—"जीमृतन दिन पितृगृह, तियपग यह गुदरान" (का० नि०, २३)। इसमें 'जीमूत' बादलको कहते है। 'मृत' शब्द घृपास्पद है। पितृगृह पितृलोकको कहते है, इससे अञ्चभ है। 'गुद' तथा 'रान' मार्ग (गुह्यांग) और 'जंघा'को कहते है, इससे लजारपद है। ये तीनो अश्रील-टोष है।

१०. ग्रास्य - भरत द्वारा प्रतिपादित भिन्नार्थके दो रूपो (अ) असम्य अथवा प्राम्य अर्थका वाचक, (आ) अभीष्ट अर्थकी दूसरेमें परिणति हो जानेसे प्रथम प्राम्य दोषके अन्तर्गत आता है (ना०शा०, १७: ९०)। वामनने भी ग्राम्य दोषका उल्लेख किया है। केशवका 'विधर-दोष' ग्राम्यके अन्तर्गत आ जाता है। सूरति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट और विश्वनाथके मतानुसार यह वह दोष है, जिसे किसी पदकी, केवल पामर जन प्रसिद्ध अर्थकी वाचकता कहा करते है (का॰ प्र०, ७: ५१; सा० द०:७:४), अर्थात् जहाँ केवल लोकप्रसिद्ध शब्दोंका ही काव्यमें प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है, जैसे-"धन है यह गौरमदाइन नाहीं" (केशव)। 'गौरमदाइन' (इन्द्रधनुष) केवल आधे बुन्देल-खण्डमें ही प्रचलित है, अतः यह ग्राम्य दोष है अथवा-"क्या झल्लै दुक गृह सुनि, भल्लर भाई" (का० नि०, २३)। यहाँ 'झल्लै', 'द्रक', 'गल्ल', 'मल्लर' और 'माई' शब्द लोकमे ही प्रसिद्ध हैं, काव्यमें नहीं। अतः यह ग्रामीण तोष है। जब कोई ग्रामीण व्यक्ति अपनी भणित- भंगिमासे अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है, तब ग्राम्य दोष गुण हो जाता है।

99. नेयार्थ-मामहने इसे सामान्य दोषके अन्तर्गत माना है। वामनने इसे पदार्थ दोपके अन्तर्गत स्वीकार किया है। भरतके गृहार्थका एक अंश नेयार्थके अन्तर्गत आ जाता है (ना०शा०, १७:८९)। मम्मट और विश्वनाथ इस दोषकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि जो किसी निषिद्ध लाक्षणिक शब्दके प्रयोगमे दिखलाई दिया करता है, क्योंकि बहतसे ऐसे पद है, जो रूढि या प्रयोजनके अभावमे लाक्षणिक रूपसे प्रयोग योग्य नहीं (का॰ प्र॰, ७: ५१ वृ॰; सा० द०, ७:४ व०)। कुछ ऐसे भी पद इआ करते है, जो किसी रूढि या किसी प्रयोजनके सर्वथा अभावमे कभी भी लाक्षणिक नहीं बनाये जा सकते, अर्थात निषिद्ध लाक्षणिक पद कहे जाते है (जैसे कि 'रूपो घटः में 'रूप' पद 'रूपवान्' अर्थमे कभी भी लाक्षणिक नहीं कहा जा सकता) । इन रूढि और प्रयोजनवती लक्षणाओंको छोड़कर शक्तिहीन होनेसे और लक्षणाएँ स्वीकार नहीं की जाती हैं। इस प्रकार जो रूढि और प्रयोजनवती लक्षणासे निम्न लाक्षणिक शब्द है, उन्हींकी संज्ञा नेयार्थ है, जैसे-"चन्द्र चारि कौडी लहै, तव आनन छिब देखि" (का० नि०, २३), अर्थात तम्हारे मखके सौन्दर्यको देखकर चन्द्रमा चार कौडीका हो जाता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा तेरे मुखकी समता नहीं कर सकता।

अवतक जो दोष गिनाथे गये हैं, वे तो 'समास' तथा 'असमास', दोनों अवस्थाओं मे पदके दोष हैं, किन्तु आगे क्लिष्टसे 'विरुद्धमतिकृत'तक जो दोप है, वे 'समास'मे पदके दोष समझे जाने चाहिये।

१२. क्लिष्ट-क्लिष्टको भरतने गढार्थ नाम दिया है (ना०र्ज्ञा), १७: ८९), जिसका एक अंज्ञ नेयार्थमे आता है। दण्डीने इसका उल्लेख नहीं किया है। भामहने क्लिष्ट नामसे ही पुकारा है। भामहका गृढ शब्द भी क्रमशः क्लिष्ट एव नेयार्थके अन्तर्गत आता है। वामन, मम्मट, विद्वनाथ, सुरति मिश्र आदि लेखकोने भी इस दोषको स्वीकार किया है। क्लिष्ट वह दोष है, जिसे किसी पदका विलम्बसे अपने अर्थका प्रत्यायन करना कहा जाता है (का० प्र०, ७:५१ वृ०; सा० द०, ७:४ वृ०), अर्थात प्रतीतिमे बाधा होनेके कारण कष्ट हो तथा जहाँ अर्थ विलम्बसे ध्यानमे चढे। भिखारीदास द्वारा दिया दुआ लक्षण अपेक्षाकृत शिथिल है। उदा०-''बेद नखत यह जोरि अरध करि, सोइ बनत अब खातु" (सूर)। यहाँपर वेद ४十नखत २७ (नक्षत्र) + ग्रह ९ = ४० का अर्थ (अर्द्ध) = २० (बीस) = विष । इसके अर्थको समझनेमें कठिनाई होती है, अतः यहाँपर क्लिष्ट दोष है। अथवा "खग पति पति तिय पितु वधू, जल समान तुव बैन।" (का॰ नि॰, २३) । यहाँ खगपति (गरुड़)के स्वामी (विष्णु)की पत्नी लक्ष्मीके पिता (सागर)की पत्नी (गंगा)के जलके समान बैन कहकर विलष्ट रीतिसे गंगा-जल कहा गया है, अतः क्लिष्ट-

१३. सन्दिग्ध-भामह और दण्डीने इसका नामकरण संशय किया है। उनके मनमें यह वहाँ होता है, जहाँ

स्पष्टीकरणके लिए प्रयुक्त वचन संशय उत्पन्न करते है। भामह इसे अन्य दोषके अन्तर्गत मानते हैं। भरतके भिन्नार्थ नामक दोषके दो रूप है-(१) जहाँ ग्राम्य अर्थका वाचक प्रयोग हो, २. जहाँ अभीष्टार्थकी दूसरेमे परिणति हो जाय। इसका दूसरा अंश सन्दिग्धके अन्तर्गत आ जाता है (ना०-ज्ञा०, १७: ९०) । वामनने सन्दिग्ध दोपको वाक्यार्थ-दोष-के अन्तर्गत रखा है। सुरति मिश्र और आचार्य श्रीपतिने इसे स्वीकार किया है। सन्दिग्ध दोष शब्दके अतिरिक्त अर्थगत भी होता है। अतः इन आचार्यों द्वारा निरूपित सन्दिग्ध दोष अर्थगत सन्दिग्धके भी अन्तर्गत आ जाता है। मम्मटके मतने यह वह दोष है, जिने किसी पदका ऐसे दो अधाका उपस्थापक होना कहा जाता है, जिनमें सन्देह बना रहता है कि दोनोंमें से कौन वस्तुतः तात्पर्यभून अर्थ है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०)। जयदेवका कथन है कि जहाँ एक पदसे दो अर्थीका बीध हो, सन्दिग्ध-दोष होता है (चन्द्रालोक, पृ० ३१)। भिखारी-दासने इन्होंके अनुकरणपर माना है कि जिस शब्दके अर्थके विषयमे सन्देह बना रहे, वहाँ सन्दिग्ध दोष होता है, यथा-"बन्द्या तेरी लक्ष्मी, करै वन्द्रना तासु" (का० नि०, २३) । 'बन्द्या'के 'बन्दी' तथा 'बन्दनीया' अर्थ होते है। लक्ष्मीकी वन्दना कहना उचित है, अतः वन्दनीयाके स्थानपर 'बन्द्या' कहनेसे सान्देग्ध-दोष है। अथवा--- "या गिरिपर सुत्रीव नृप, ता सँग मन्त्री चारि। बानर लई छंडाय तिय, दीन्हों बालि निकारि" (केशव)। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी बानरने स्त्रीको छीन लिया तथा बेचारे बालिको निकाल दिया। अतः सन्दिग्ध-दोष है। व्याज-स्तुति अलंकार आदिमें वाच्यार्थके महत्त्वसे सन्दिग्ध-दोष नहीं रह जाता।

१४. अप्रतीत (अप्रतीति)—वामनने इसे अप्रतीत नाम देकर कहा है कि जहाँ अप्रचलित पारिभाषिक शब्दका प्रयोग किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है (का॰ स्०, २: १: ८) । मम्मटके अनुसार जिसे किसी पदकी, केवल किसी शास्त्रप्रसिद्ध (पारिभाषिक) अर्थकी बोधकता कहा करते हैं (न कि लोकप्रसिद्ध सामान्य अर्थकी) (का० प्र०, ७: ५१ वृ०), अर्थात् अप्रतीत पद वह है, जो क्वेवल एक ही शास्त्रमें प्रसिद्ध हो, यथा-"जगजीव जतीनकी छुटी तटी" (केशव)। 'तटी' हठयोगका पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग त्राटक मुद्राके अर्थमे होता है, अतः इसका प्रयोग दोष है। अथवा-"रे शठ कारे चोरके, चरननसो चित छाउ" (का० नि०, २३)। 'कारे चोर' (श्रीकृष्ण) कालिदासके ही काञ्यमें सुना है, अन्यत्र नही, वह भी शृंगारमे, अतः यहाँ यह दोष है। अप्रयुक्तमे शाता, अज्ञाता, दोनोको अर्थप्रतीति नहीं होती, पर अप्रतीतमे ज्ञानाको अर्थकी प्रनीति हो जाती है। यदि वक्ताऔर श्रोता दोनो शास्त्रज्ञ हुए तो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।

१५. अविमृष्टविधेयांश – मम्मट, विश्वनाथ, भिखारी-दास आदिने इस दोषका उल्लेख किया है। यह वह दोष है, जिसे किसी विधेयांशके प्रत्यायक भी पदका समासमें पड़े रहनेके कारण प्रधानतया विधेयांशका निर्देशक न होना कहा जाता है (का० प्र०, ७: ५१ वृ०)। मम्मटका उक्त कथनसे अभिप्राय यह है कि जिस पदमें विधेयरूप अंग प्रधानतया अनुक्त ही रहकर छूट जाय (अर्थात् जहॉपर विधेय समासके अन्तर्गन होकर छिप जाय या अप्रधान वन जाय)। जयदेवके अनुसार जहॉ दूसरे पदके साथ समास करनेमे प्रधान पदकी प्रतीति स्फुट न हो। यथा— "क्यों मुख हरिलखिचमुगी, रहिहै मनमें मान" (का० नि० २३)। यहॉ हरिमुख मृगी-विधेय है। इसमे उक्त दोष है। वाक्यके दो अंश होते है—१. उद्देश्यमूत अंश और २. विधेयभूत अंश। इनमे मीमांसा-दशंनकी दृष्टिसे विधेयभूत अंश उक्ष प्रधानता रहा करती है। जहॉ यह अंश दब जाता है, वहॉ यह दोष होता है।

१६. विरुद्धमितिकत - मग्मटके अनुसार इसमे अर्थकी प्रतीति वर्णित विषयके विरुद्ध होती है (का॰ प्र॰, ७: ५४ वृ०)। जयदेवके मतानुसार जहाँ अपराधीन (जो पराधीन नहीं) जैमे शब्दोंसे इस अर्थके साथ-ही-साथ अपर-अर्थीन (दूमरोके अर्थीन) जैसे अर्थींका बीध हो, अर्थात जो वर्णित विषयके विरुद्ध अर्थकी प्रतीति करायें, वे इस दोषके अन्तर्गत आते है। यथा—"माल अम्बिकारमनके, बाल सुधाकर देख" (का॰ नि॰, २३)। यहाँ 'अम्बिकारमन'का अर्थ महादेवके अतिरिक्त एक विरुद्ध अर्थ 'माताके साथ रमण करनेवाला व्यक्ति' भी भाषित होता है। साथ ही अम्बिका माताको कहकर नीचे सुधाकर बाह्मणको कहना विरुद्ध मितकत हुआ। अथवा—"काम गरोवनके करें, जे अकाजके मित्र। जो मॉगिय सो पाइये, ते धनि पुरुष विचित्र' (वही) इसमें जो-जो बाते स्तुतिकी कहीं गयी है, उन सबमे निन्दा प्रकट है।

वाक्य-दोष-१. प्रतिकूळवर्ण—श्रीपितिने इसका उल्लेख किया है। साहित्यदर्पणकारने इसका नाम प्रतिक्लल्व माना है। यह वाक्यगत शब्द-दोष है। प्रतिकूल वर्णत्व कहते है रसाभिन्यं जक वर्णों के विपरीत (अर्थात रसास्वादके उद्बोधके प्रतिक्लल करने है। मम्मटका भाव है कि किसी रसका वर्णन करने मे जो-जो वर्ण गुणप्रद तथा अपेक्षित होते है, उनसे भिन्न वर्ण, जो किसी रसके बाधक होते है, प्रतिकूल वर्ण कहे जाते है (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे प्रतिकूलाक्षर नामसे पुकारा है। "पिय तिय छट्टत है सुरस, ठिट्ट लपिट्ट लपिट्ट" (का० नि०, २३)—इसमें छट्टत, ठिट्ट, लपिट्ट शब्दोका प्रयोग शृंगारके प्रसंगमें उचित नहीं है। यदि इस प्रकारकी टवर्ग-प्रधान शैलीका प्रयोग रोह आदि रसों मे किया जायगा तो वह गुण होगा।

२. हतनृत्त शब्द भारतने इस दोषको विषम नामसे पुकारा है (ना॰ शा॰, १७: ९४)। भामह, दण्डी तथा। वामन इसे भिन्नवृत्त कहते हैं। इन्होंने यतिश्रष्ट नामक जिस दोषको कल्पना की है, वह भी एक प्रकारसे भिन्नवृत्तके अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। केशवके 'पंगु,' 'यति-भंग', छन्दोभंग-दोषोंका इसमें सम्मिश्रण हो जाता है। सुरति मिश्र तथा श्रीपति द्वारा उल्लिखित यति-भंगका समावेश हतवृत्तमें होता है। मम्मटके अनुसार 'हतवृत्तता'-का अभिप्राय ऐसी छन्दोरचनासे हैं, जो कि छन्दःशास्त्रमें

प्रतिपादित वृत्तलक्षणके अनुसार ठीक होनेपर भी या तो 'अश्रव्य' हो (सुननेमे खटक करे) या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलपु' हो (जिसके पादान्तमे ऐसा लघु हो, जो गुरु, जैसा कि उसे चाहिये, न हो रहा हो) या तो 'रसाननुगुण' प्रकृत रसके प्रतिकुल हो (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। चन्द्रालीककारने यह दोष वहाँ वतलाया है, जहाँ सुननेमात्रसे ही छन्दका दोष प्रतीत हो जाय । 'काव्यनिर्णय'में जहाँ छन्दोभंगकी प्रतीति हो अथवा जहाँ रीत्यनुसार 'सुमिल' (यथावत) पदोंका अभाव हो, वहाँ हतवृत्त दोष माना गया है। यथा—"लाल कमल जीत्यो सुवृष, भानुललीके चर्न"। (का० नि०, २३)। इस उदाहरणमे 'वृषभान,'के दो अक्षर पूर्वचरणमें और दो उत्तरचरणमें है तथा "हग खंजन जधन कदिल, रदन मुक्त लिय जीति" (वही)। इसमें हुग और दॉत कहकर तब जंघ कहना चाहिये था, अतः यह हतवत-दोष है। स्वच्छन्द छन्द-योजनाके आधनिक समयमें यह दोष, दोष नहीं रह गया है।

३ न्यूनपद (न्यूनपदत्व)—हिन्दी आचार्योंने स्रति मिश्र, मिखारीदास आदिने इसका वर्णन किया है। मम्मट यह दोष वहाँ मानते है, जहाँ अभिप्रेत अर्थके वाचक किसी पदका प्रयोग न किया जाय (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। यथा—"पानी पावक पवन प्रमु, ज्यों असाधु त्यों साधु" (केशव)। यहाँ अर्थ तो यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रमु साधु और असाधु दोनोंके प्रति एक-सा व्यवहार करते हैं, परन्तु वाक्यमे पर्याप्त शब्दोकी न्यूनतासे ऐसा अर्थ सरलतासे नहीं निकल पाता। अथवा—"राज तिहारे खक्ततें, प्रगट मयो जस फूल" (का० नि०, २३)। यहाँ किव खक्तला कहकर यशको फूल कहना चाहता था, यह न्यून पद-दोष है तथा—"उत्तम मध्यम नीच गित पाहन सिकता पानि। प्रीति परिच्छा तिहुनकी बैर वितिक्रम जानि"। इसमे 'पाहन', 'सिकता', 'पानि'के आगे रेखा शब्द छूट गया है। इसका अध्याहार किये विना अर्थ नहीं वैठता।

४. अधिकपद्(अधिकपद्ता) — स्र्ति मिश्र और भिखारोदासने इस दोषका उल्लेख किया है। मम्मट, जयदेव और विश्वनाथने भी इसका वर्णन किया है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमें किसी ऐसे पदका प्रयोग हो, जो अविवक्षितार्थ हो, अर्थात् अनावस्यक पदका प्रयोग किया गया हो (का॰प्र०, ७: ५४ वृ०; सा० द०, ७: ५ वृ०)। यथा— "बहु ऋक्ष कंग्रन लागि गये। तब स्वनं लंक महं सोम भई। जनु अग्नि ज्वाल महँ धूम मई"। यहाँ 'मई' शब्द व्यर्थ है। अथवा 'है तिहारे शबुको, खङ्गलता अहिराज" (का० नि०, २३)। यहाँ लता शब्द अधिक है। अधिकपद कहीं-कही अर्थविचारसे गुण्भी हो जाता है।

५. व्यर्थपदता—भरतका अर्थहीन और भामह तथा दण्डीका व्यर्थ-दोष व्यर्थपदतामें खप जाते हैं। स्रिति मिश्रका निर्थंक और श्रीपतिका अनर्थक-दोष मी व्यर्थपदताके अन्य नाम है। यह वाक्य-दोष उस स्थानपर होता है, जहाँ व्यर्थ पद ठूँस दिये जाते है। यथा—"व्यिक रानी उड़ गयी सब स्नेह सौरम स्फूर्ति"। इसमें 'स्फूर्ति' शब्द व्यर्थ है। अधिकपदता तथा व्यर्थपदतामें अन्तर यह

है कि प्रथम दोष सम्बद्ध होनेसे खटकते नहीं हैं, जितना कि असम्बद्ध होनेसे दूसरा दोष खटकता है।

६. कथितपद (कथितपदता)—भरतने इसे एकार्थ नाम दिया है। जहाँ एक अर्थके लिए अनेक अनावश्यक शब्दोंका प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है (ना० शा०, १७: ९२)। भामह तथा दण्डीने भी भरत द्वारा दिये हुए लक्षण स्वीकार किये है। साथ ही उन्होंने कहा है कि जहाँ पूर्वकथनके बिना किसी वैचित्र्यके शब्द अथवा अर्थमें आवृत्ति हो, वहाँ यह दोष होता है। वामनने इस दोषको वाक्यार्थके अन्तर्गत माना है। केशवने शब्दगत और अर्थगत पुनरक्तका उल्लेख किया है। मुर्ति मिश्र और श्रीपतिने भी इस दोषको स्वीकार किया है। भिखारीदासने इसका उल्लेख किया है। इसका दूसरा नाम 'पुनरुक्ति'-दोष है। साहित्यदर्पणकारने यही नाम खीकार किया है। मम्मटके अनुसार कथितपदता उस समय होती है, जब किसी वाक्यमें बिना किसी प्रयोजनके समानार्थक अथवा एक समान वर्णीकी बार-बार आवृत्ति की जाय (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। सारांश यह है कि एक ही शब्द बार-बार आये, तब यह दोष होता है, यथा—"जो तिय मो मन लै गयी, कहाँ गयी वह तीय" (का० नि०, २३)। यहाँ 'तिय' शब्द दो बार आनेसे कथितपद दोष है। अथवा-"जहाँ सुमित तहँ सम्पित नाना । जहाँ कुमित तहँ विपित निधाना" (तुलसी) । इसमे प्रथम पंक्तिसे ही दूसरीका भी अर्थ निकल आता है, अतः यहाँ कथितपद-दोष है। 'पुनरुक्तवदाभास', 'लाटानुप्रास' अलंकारों तथा 'अर्थातर-संक्रमितवाच्य' ध्वनिमे कथित-दोष नहीं होता है, वरन गुण हो जाता है।

७. पतस्प्रकर्ष (पतत्प्रकर्षता)— 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य्वर्पण' तथा इनके आधारपर रचे गये हिन्दी काव्यप्रन्थोमे इस दोषका विवेचन मिलता है। इस दोषका तात्पर्य
है वाक्यमे प्रकर्पके, चाहे वह अलंकार सम्बन्धी हो अथवा
बन्ध-विन्यास सम्बन्धी, उत्तरोत्तर शिथिल हो जानेका
(का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। जयदेवका कथन है कि जहाँ
पूर्व भागमे आरम्भ किये गये अनुप्रासादिका उत्तरभागमे
अभाव हो, यथा— "कान्ह कृष्न केसव कृपा, सागर
राजिवनैन" (का० नि०, २३)। यहाँ 'क'से आरम्भ
होनेवाले शब्दोका अनुप्रास-रूपमे अन्ततक निर्वाह नही हो
सका है। यह पतत्प्रकर्ष दोष है। एक ही पद्यमे विषयान्तर
होनेसे पतत्प्रकर्ष दोष नही रह जाता है।

८. समासपुनरुक्ति (समासपुनरास)—मन्मः, विश्वनाथ, जयदेव, भिखारीदास आदि आचार्योने इसके विभिन्न नाम दिये है, यथा 'समासपुनराप्त', 'समासपुनराप्तता' आदि । यह वह दोष है, जिसे किसी वाक्यमे, उसके क्रिया-कारक आदिसे समन्वित रहनेपर भी, विना किसी विशेष विवक्षाके, पुनः उससे समन्वयद्गी आकांक्षा रखनेवाले पदोंका उपादान कहा जाता है (का० प्र०, ७: ५४ वृ०), अर्थात् जहाँ किसी विषयको समाप्त करके फिर उसे आगे बढाया जाय—"ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह, तट क्षीर सिन्धुके परम दीन" (केशव) । 'तट क्षीर सिन्धुके परम दीन" (केशव) । 'तट क्षीर सिन्धुके' यहाँपर वाक्य समाप्त हो गया है। 'परमदीन'के द्वारा यह वाक्य

फिर उठाया गया है, अतः यह उक्त दोष है। यथा—
"डाम बराये पग धरो, ओढो पट अति घाम। सियहि
सिखायो निरखतै, हग जल भिर मग वाम" (का० नि०,
२३)। कवि यहाँ निग्खकर शिक्षा देना कहना चाहता था,
यह समाप्तपुनराप्त दोष है।

(अद्धान्तरैकवाचकत्व)-९. अर्द्धान्तरैकवाचक मम्मट, विश्वनाथ आदिने इसका विवेचन किया है। इनके अनुसार इस दोपका अभिप्राय है किसी वाक्यके प्रथमार्थ-का ऐसा होना, जी कि दितीयार्धगत किसी पदके द्वारा पूर्ण हुआ करे (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। यह अर्द्धान्तरै-क्वाचकत्व दो दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। प्रथम, जिसमे प्रथमार्थ वाक्य ऐसा लगे, जो द्वितीयार्थगत किसी वाचक पदकी आकांक्षा करता प्रतीत हो और दूसरा जिसमें द्वितीयार्थ वाक्य ऐसा प्रतीत हो, जिसे प्रथमार्थगन किसी वाचक पदकी आवश्यकता रहा करे। भिखारी टासने इस दीवको चरणा-न्नर्गत नाम देकर बताया है कि जहाँ कोई शब्द दो चरणों-के बीच पड़ गया हो। यथा—"गेयन छीन्हें आज मै, कान्हें देख्यों सॉझ'' (का० नि०, २३) । यहाँ 'कान्हें देख्यों आज मै, गैयन लीन्हे सॉझ' होना चाहिये। अतः उक्त पद-में यह दोष है। अतुकान्त एवं खच्छन्द छन्दमे अधिकतर ऐसे ही नाक्य प्रयुक्त होते है, अतः वहाँ यह दोप नही होता।

१०. अभवन्मतसंबंध (अभवन्मतयोग)— मन्मटके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यमे पदार्थोंके परस्पर अभीष्ट सम्बन्धका अतिद्यमान रहना (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। इस दोषकी सम्भावना इन कारणोसे होनी है— विभक्तिमेद, न्यूनता, आकांक्षा, विरह, वाच्य और व्यंग्य अर्थोंमे विवक्षित सम्बन्धका अभाव, समासमे किसी पदकी उपस्थितिमे अन्य पदके साथ उसके अभीष्ट सम्बन्धका विरह और अ्युत्पत्ति विरोध। चन्द्रालोककाग्का कथन है कि अभवन्मतयोग वहाँ होता है, जहाँ पदोंका वह सम्बन्ध न हो, जो कविको अभिप्रेत हो। यथा— "प्रान प्रानपति विद्यु रह्यो अव लौ थिग बजलोग" (का० नि०, २३)। यहाँ प्राणको धिक् कहना था, पर बजलोगको कहा है, अतः यह दोष है। अथवा— "बसन जोन्ह मुकता उडुक, तियनिसिके मुखचन्द। हिस्लीगन मंजीररव, उरज सरोरह बन्द" (वही)।

११. अनिमिहितवाच्य—मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, मिखारीटास आदिने इसका विश्वचन किया है। यह दोष वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमे आवइयक रूपसे प्रयोग योग्य (उद्देश्यविधेयभावादिद्योतक विभक्ति अथवा निपात आदि रूप) अप्रयुक्त रह जाये (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। मिखारीटासने इसका नाम अकथित-कथनीय रखते हुए कहा है कि जहाँ अवश्य कहनेवाली वान हो, किन्तु उसका उल्लेख न किया जाय, यथा—"प्रीतम पाँइ लग्यो नहीं, मान छोड़ती तीय" (का० नि०, २३)। यहाँ मान छोड़ना तो कहा है, पर पाँव लगना नहीं, अतः यह अकथित-कथनीय दोष है, अथवा—"सिरपर सोहे पीतपट, चन्दनको रंग माल। पान लीक अधरन लगी, लई नयी छवि लाल" (वहीं)। नयी छवि कहकर नीलपट, जावकका रंग, श्याम लीक न कहना अनिमिहतवाच्य-दोष है। न्यूनपद-दोषमें वाचक पदकी और अनिमिहतवाच्य-दोष है। न्यूनपद-दोषमें वाचक पदकी और अनिमिहतवाच्यमें होतक पदकी आ

इयकता होती है।

१२. अस्थानपदता— मम्मट और िह्ननाथने इसका 'अपदस्थपदता' तथा 'अपदस्थत्व' नाम दिया है। यह टोप वहाँ होता है, जहाँ वाक्यमे किसी पदका अपने उन्तित स्थानने अतिरिक्त अन्यत्र प्रयोग किया जाय (का० प्र०, ७:५४ वृ०; ला० द० ७:८)। यथा— "है यों कुटिल गई। अजो, अलके मो मन माहि" (का० नि०, २३)। इस पद्यमे कुटिल हाब्द अलकके पास न रहनेसे अस्थानपदता दोप है।

१३. संकीर्ण — मम्मट तथा विद्यनाथके अनुसार इसका अर्थ है किसी वाक्यके पदोंका किसी दूसरे वाक्यमे प्रविष्ट होते प्रतीत होना (का॰ प्र०, ७: ५४ वृ०), अर्थात किसी वाक्यकी ऐसी रचना, जिसके पदका किसी दूसरे वाक्यके पदसे व्ययधान दिखायी दिया करे। मिखारीदासके मतसे यह दोप वहाँ होता है, जहाँ दूरस्थ शब्दोसे ज्यो-त्यों करके अभिप्रेत अर्थकी प्रतीति हो जाय। यथा—"तिज प्रीतम पॉइन परन्थों, अजहूँ लखि तिय मान" (का॰ नि॰, २३)। उक्त अवतरणका अर्थ है 'प्रीतम पॉय परो लखकर मान तज", अतः 'लखि प्रीतम पॉयन परचों, अजहूँ तजु तिय मान' होना चाहिथे, अन्यथा संकीर्ण पद-दोष है।

१४. गिर्मित (गिर्मिताव)—मम्मट और विद्यनाथके अनुसार इसका अभिप्राय है किसी नाक्यकी ऐसी रचना, जिमके बीचमे कोई दूसरा वाक्य प्रिष्ट हो रहा हो (का॰ प्र॰, ७: ५४ वृ॰; सा॰ द॰, ७: ८), अर्थात जहाँ किसी वाक्यके बीचमें अन्य वाक्य देकर पाक्यरचना की जाय। यथा—"साधु संग औ हिर भजन, विषतर यह संसार। सकल भाँनि दुखमों भरशो, दें अमृत फल चार" (का॰ नि॰, २३)। इसमें गिर्मित दोप है। इसका ग्रुद्ध लदाहरण इस प्रकार होना चाहिये—"सकल भाँति दुखसों भरशो, विषतर यह संसार। साधु संग औ हिर भजन, दें अमृत फल चार"।

१५. प्रसिद्धित्याग- मम्मटने इसे 'प्रसिद्धिहतत्व' कहा है, पर विश्वनाथने यही माना है। केशवने इसका नाम 'अन्ध-दोष' रखा है। मम्मटका मत है कि कवि-प्रसिद्धिका अभिप्राय है कविजनके प्रयोगनियमका और इस प्रयोग-नियमका उल्लंघन है 'प्रसिद्धिहतत्व' (का० प्र०, ७: ५४ वृ०) । भिखारीदासके अनुसार इसका नाम है प्रसिद्धि-हत । यह दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रसिद्ध मत(अर्थात् वह मन, जो काव्य नथा लोकमें मान्य है)का परित्याग कर दिया जाय। यथा—"कूजि उठे गोकरम सब, जसुमति सावक देखि" (का० नि०, २३)। कूजना पक्षियोका प्रसिद्ध है, गोकरभ गायके बछडेसे तात्पर्य है, किन्तु करभ हाथीके बच्चेको कहते है। सावक (शावक) मृगादिके बच्चेको कहते हैं, मन्ष्यके बालकको नहीं। इन्हीं कारणोंसे उक्त पद्यमें यह दोष है। अप्रयुक्त-दोष सर्वथा अप्रचलित शब्दोके प्रयोगमें होता है और जहाँ प्रसिद्धित्यागसे चमत्कारका अभाव हो जाता है, वहाँ प्रसिद्धित्याग दोप होता है।

१६. भग्नप्रक्रम—मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट इस भेदको भिखारीदासने 'प्रकरणभंग' माना है। मम्मटके अनुसार भग्नप्रक्रमताका अभिप्राय है वाक्यके प्रक्रम, अर्थात् प्रस्तावके भंगं हो जानेका, क्योंकि वाक्यरचनाके नियम(जिस

र पने वाक्यका शाष्ट्र अथवा आर्थ उपक्रम हो, उसी रूपसे उसका शाब्द अथवा आर्थ उपसंहार हो)का यदि पालन न हो तो वहाँ प्रक्रमभंग-दोष होता है। भिखारीदासने यह दोष वहाँ माना है, जहाँ विधिवत् वात न कही जाय । साथ ही उन्होंने यह दोष वटाँ भी माना है, जहाँ किसी बातका समान रूपमे वथन न हो। यथा—"जहाँ रैनि जागे सकल, ताही पें वि.न जात" (का०नि०: २३)। 'जापे निशि जागे सकल' कहना चाहिये था, वह न कहनेने प्रकरण-भंग-दोष है, या-"रमा उमा बानी सदा, विधि हरि हरके संग" (वही) । यहाँ 'हरि, हर, विधिने संग' कहना चाहिये था, अतः सदोप है । अथवा—''तू हरिकी ॲखियॉ बसी, कान्ह वसे तुव नैन" (वही) । यहाँ समान रूपसे कथन नहीं हुआ है, अतः प्रकरणमंग-दोष है। वस्तुनः होना चाहिये था-"'कान्ह नैनमें तू बसी, कान्ह बसे तुव नैन" यह ढोष सर्दनाम, प्रत्यय, पर्याय, वचन, कारक, क्रिया, कर्म आदिमे भी होता है।

१७. अक्रम (अक्रमता)—मामह, दण्डी और केशव-कथित अपार्थ नामक दोषका इस दोषमें समन्वय हो जाता है। मामह, दण्डी और वामनके अपक्रमका एक अंश अक्रममें आ जाता हैं और रोप दुष्क्रमके अन्तर्गत समन्वित हो जाता है। केशवने इसे 'क्रमहीन' और स्रति मिश्रने कर्महीन नाम दिया है। शीपतिने इसे 'अपक्रम' नामसे पुकारा है। मम्मटके अनुसार अक्रमताका अर्थ है वाक्यमें जिस पदके पत्रचात् जिस पदका रखना अचित हो, उसे वहाँ न रखकर अन्यत्र रखना (का० प्र०,७: ५४ ह०)। अभिप्राय यह है कि अक्रमता वह दोप है, जिसके रहनेसे पदसन्निवेशरूप रचना प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति नहीं करा पाती।

'अक्रमता' और 'स्थानरथपदता'मे मेद है। 'अस्थानस्थपदता'मे प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति तो होती है, किन्तु पदिनेश्च अनुचित लगा करता है। 'अक्रमता' और 'दुष्क्रमत्व' भी एक नहीं है। 'दुष्क्रमत्व' में अर्थक्रमका अनौचित्य खटका करता है, न कि पदिनियेशका। 'अक्रमता' दोष निपातिविषयक है और निपातप्रयोगके नियमोंके उल्लंघनमे स्वभावतः झलक उठता है। यथा—''अमानुषी भूमि अमानुषी तो पहलेसे ही है, अब उसे बन्दरोंसे रिहत करना ही शेष है, अथवा—''सीता जू रघुनाथको, अमल कमलकी माल। पिहरायी जनु सबनकी हृदयाविल भूपाल" (वही)। यहाँपर 'भूपाल' पदको 'सवन'के साथ रहना चाहिये था। पागल आदिके प्रलापमें क्रमहीन पदोंका प्रयोग ग्रण हो जायगा।

१८. अमतपरार्थता— मम्मट, विश्वनाथ तथा हिन्दीमे भिखारीदास आदिने स्तीकार किया है। मम्मटके अनुसार वाक्यमें प्रकृतिविरुद्ध, अर्थात प्राकरणिक रसके विरुद्ध रसका अभिव्यंजित होना यह दोष है (का० प्र०, ७: ५४ वृ०)। भिखारीदासने इसे माना है। यथा—''राम काम सायक रूगें विकळ भई अकुलाइ। क्यों न सदन परपुरुषके तुरत तारिका जाइ" (का० नि०, २३)। यहाँ शृंगार तथा शान्तकी एक साथ प्रतीति हो रही है, जो एक दूसरेके विरुद्ध है, अतः यह दोष है।

सम्बन्धके रूपमे स्वीकार किया गया, जो मानसमें अर्थको

19. अन्वय-दोप—भरतका अभिछप्तार्थ इसके अन्तर्गत आ जाता है। उनके अनुसार यह वहाँ होता है, जहाँ प्रत्येक चरणमें अर्थ पूरा हो जाय और विभिन्न अर्थों में कोई अन्वित न हो (ना० शा०, १७: ९२)। भामह और दण्डी संस्कृतके आचार्यों तथा हिन्दीके आचार्य केशवने इस दोषको अपार्थ संज्ञा दी है। यह दोष वहाँ होता है जहाँ अन्वय करते समय अङ्चन पडती है। यथा—'ये हगसे झरते अग्निखण्ड लोहिन थे ज्यो हिंसा प्रचण्ड"। इसमे 'लोहित' दगका विशेषण है अथवा अग्निखण्डका, यह निश्चय नहीं है। दोनो ही लाल है। 'अभवन्मत'-दोषमे सम्बन्ध रोक नही बैठता और 'अन्वय'-दोषमे अन्वयकी गडवडी रहती है।

२० क्रिया-दोष आधुनिक विवेचकों द्वारा जोडा गया एक भेद । जहाँ अनुचित क्रियाका प्रयोग किया जाता है, वहाँ क्रिया-दोष माना जाता है। यथा—"निःश्वासोंका पवन प्रचारी, वरसाती अमृत भरी दृष्टि", "झलका हास कुसुम अधरोंपर हिल मोतीका-सा दाना", "खिलने लगा नवल किसलय वह" (पन्त)। उक्त उदाहरणोमे क्रियाओंका अनुचित प्रयोग किया गया है, अतः ये क्रियादोषसे दूषित है। केशव तथा सुमित्रानन्दन पन्तकी रचनाओमे इस प्रकारके क्रिया सम्बन्धी दोष स्थल-स्थलपर परिलक्षित होते है।

२१. मुहावरा दोष — आधुनिक विवेचकों हारा जोडा गया एक भेद । दोष वहाँ होता है, जहाँ मुहावरोंका अधुद्ध प्रयोग किया जाता है। क्रिया-दोषके लिए ऊपर जो उदाहरण दिये गये है उनमें मुहावरोंका भी अधुद्ध प्रयोग किया गया है। अतः वे उदाहरण मुहावरा-दोषके अन्तर्गत भी लिये जा सकते है। "वारि पीकर प्रकृता है घर सदा" (पन्त), यहाँ 'पानी पीकर घर पृछ्ता'का रूपान्तर करके प्रयोग किया गया है। यह दोष है। अथवा—"रणरक्त सिन्धुमें उमडा प्रक्षालन कर अपवाद अपंग"। यहाँपर आपाद-मस्तक मुहावरा है, पर अनुप्रासके लिए विगाइ दिया गया है। यह दोष है। केशव, सेनापित तथा पन्तकी रचनाओमे मुहावरा-दोषके अधिक उदाहरण देखे जा सकते हैं। ——टी० सि० तो० शब्द क्रिया ने देश 'नाद', 'वीजाक्षर'।

शब्द प्रसिक्त प्रभाव भू भाजात्तर ।

शब्द राक्ति चार्य सिक्त अन्ति निहित अर्थको व्यक्त करनेका व्यापार है। कारण जिसके द्वारा कार्यसम्पादन करता है, उसे व्यापार कहा जाता है। जिस
प्रकार घडा बनानेके लिए मिट्टी, चाक, दण्ड तथा कुम्हार
आदि कारण है और चांकका घूमना वह व्यापार है, जिससे
घडा बनता है, इसी तरह अर्थका बोध करानेमे 'शब्द'
कारण है और अर्थका बोध करानेनो 'शक्ति' तथा
लक्षणा तथा व्यंजना है। आचार्योंने इन्होंको 'शक्ति' तथा
'वृत्ति' नाम दिया है। मम्मटने व्यापार शब्दका प्रयोग
किया है तो विश्वनाथने 'शक्ति'का। 'शक्ति'मे ईश्वरेच्छाके
रूपमें शब्दोंके निश्चित अर्थके संकेतको माना गया है। यह
प्राचीन तर्क-शास्त्रियोंका मत रहा है। वादमे 'इच्छामात्रं
शक्तिः' माना गया, अर्थात् मनुष्यकी इच्छाले भी शब्दोंके
अर्थसंकेतकी परम्पराको स्वीकार किया गया। इसी विवादको
बचानेके लिए 'तर्क-दीपिका'में शक्तिको शब्द-अर्थके उस

व्यक्त करता है (जब कभी शब्दका उच्चारण किया जाता है)। ये शब्द-शक्तियाँ अथवा न्यापार तीन माने गये हैं-अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना (विस्तार इन शब्दोके अन्तर्गत दप्रव्य) । **शब्दशक्त्युद्धव ध्वनि**—सलक्ष्य ध्वनिका पहला भेद, जिसमे वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति किसी विशिष्ट शब्द-की शक्तिके कारण ही सम्भव होती है—उस शब्दके स्थानपर उसका पर्यायवाची ज्ञब्द रख देनेसे ध्वनि समाप्त हो जाती है। वस्त अथवा अलंकारकी व्यंजना करनेके कारण इसके दो उपभेद है-(१) शब्दशक्त्यद्भव वस्त्र ध्वनि-"चिरजीवो जोरी जरै क्यों न सनेह गॅभीर । को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधरके बीर''। यहाँ 'वृषभानु' तथा 'हलधर' दोनो हिल्छ शब्द है, वाच्यार्थके रूपमे 'राजा वृपभानकी पेटी' और 'बलराम'का अर्थ देते है तथा व्यंग्यार्थ रूपमें 'बैलकी बहिन' और 'बैलके भाई'का द्योतन करते है और दोनोके मान-मोचनमे संलग्न सर्वाकी खीझको ध्वनित करते है। यहाँ यदि वृषमान और हलधरके पर्यायवाची शब्दोका प्रयोग किया जाय तो ध्वनि समाप्त हो जायगी। व्यंग्यार्थ इस बात (वस्त) की व्यंजना करता है कि दोनो ही पञ्जोके समान हठी है। (२) शब्दशक्तयुद्धव अलंकार-ध्वति—"जहाँ बारुनीकी करी, रचक रुचि द्वितराज। तहाँ कियो भगवन्त विन. सम्पति सोभा साज"। यहाँ 'बारुनी' (पश्चिम दिशा, मदिरा) और 'द्विजराज' (चन्द्रमा, ब्राह्मण) और 'भगवन्त' (मूर्य, भगवान्) शब्दके शिलष्ट होनेके अतिरिक्त दोहेके दोनो कियापद भी दो अर्थ देते है। चन्द्र-विषयक अर्थ प्रस्तुन है, ब्राह्मण-विषयक अर्थ अप्रस्तुत है। वाच्यार्य द्वारा दीपक अलंकार ध्वनित होना है, क्योंकि प्रस्तृत तथा अप्रस्तृतमे समान धर्मकी व्यंजना हो रही है।

शब्दशबरधुद्भव ध्वनिकी व्यंजना पद तथा वाक्य द्वारा हो सकती है, इसीिंग्य वस्तु और अलंकारध्वनिकी दृष्टिसे इसके कुल ४ भेद है। उपर्धुक्त दो उदाहरणोमेसे पहला पदगत तथा दूसरा वाक्यगत शब्दशब्दगुक्व ध्वनिका उदाहरण है।

—उ० शं० शु०

शब्द-हरण-दे॰ 'काव्य-हरण'।

इत्वर्ध-उभय शक्तयुद्धव ध्विनि संलक्ष्यक्रमध्वनिका तीसरा भेद । यह ध्विन वहाँ होती है, जहाँ कुछ पदोके अपरिवर्तित रहनेपर तथा कुछके परिवर्तित होनेपर भी व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती रहे । इसके उदाहरणमे जिस स्थलपर शब्द परिवर्तन नहीं सह सकता, वहाँ शब्द शक्ति मूलक तथा जहाँ शब्द-परिवर्तनके बाद भी ध्विन सुरक्षित रहे, वहाँ अर्थशक्तिमूलक ध्विन मानी जायगी । इसका वाक्यगत भेद ही होता है—पदगत भेद इसिलप नहीं हो सकता कि एक पदमे दो विरोधी धर्मों (परिवर्तन सह सकना और परिवर्तन न सह सकना)की स्थिति सम्भय नहीं है । काव्य-प्रकाश'के इस उदाहरणमे—''अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपित-मन्मथा । तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्' (का० प्र०, ४:७२) । "अनुपम चन्द्राभरन जुत, मनमथ प्रवल बढ़ातु । तरल तारका किलत यह, श्यामा लिलत सुहातु" (दे०—अनुवादका कल, ए० २०७), अर्थात

चन्द्र, तारका, तरल और इयामा शब्द अपरिवर्तनीय होनेके कारण शब्दशक्त्युद्भव ध्वनिके उदाहरण है, किन्तु अतन्द्र, आगरण, समुद्दीपित आदि शब्दोंके परिवर्तित हो जानेपर भी ध्वनि सरक्षित रहती है, क्योंकि इनका चमत्कार अर्थशक्तिपर आधारित है। चन्द्र, तरल और इयामा आदि हिलष्ट शब्दोके कारण उद्धृत छन्दके स्त्री तथा रात्रिके प्रशंसासूचक, दो अर्थ शात होते है और वे दोनों हो वाच्यार्थ है। इनसे यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि चॉदनी रात रमणीकी भाँति अथवा रमणी चाँदनी रातके समान किसे आनन्द नहीं देती है ? अतः इस उदाहरणमे उपमा अलंकारकी ध्वनि है। -उ० शं० शु० **हाडदाळंकार** – राब्दके मुख्य दो रूप हैं — ध्वनि और अर्थ । ध्वनिके आधारपर शब्दालकारोकी सृष्टि होती है। यह कान्यका संगीतधर्म है। अर्थके आधारपर अर्थालंकारोकी सृष्टि होती है। यह कान्यका चित्रधर्म है। इसी ध्वनि और अर्थके आधारपर अलंकारोंके टो भेद हो सकते है-शब्दालंकार और अर्थालंकार । किन्तु कही शब्द और अर्थ दोनोंको चमत्कृत करनेके कारण उभयालंकार भी होता है।

अलंकारोका यह शब्दगत और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेकपर निर्भर है, अर्थात जिसकी स्थितिमे जो रहे, वह अन्वय है-जैसे, धुएँकी स्थितिमे आगकी स्थिति सहज सम्भव है। जिसके अभावमे जिसका अभाव वना रहे, वह व्यतिरेक है-जैसे, आगके अभावमे धुएँका भी अभाव रहता है। इस आधारपर जो अलंकार जिस किसी विशेष शब्दकी स्थितिमे ही रहे औ। उसके स्थानपर कोई पर्यायवाची रख देनेसे उसका अस्तित्व न रहे, वह शब्दा-लंकार है। दूसरे शब्दोंमे, वर्ण-निर्भर अर्थनिरपेक्ष अलंकार शब्दालंकार कहलाते है। ये अलंकार शब्दाश्रित होकर शाब्दिक चमत्कारका ही विशेष संवर्द्धन करते है। इस प्रवृत्तिके आधारपर इन्हे शब्दालकार कहा गया है। शब्दा-लंकार कुछ वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार वर्णगत और शब्दगत तथा लाटानुपास आदि वाक्यगत होते है। उनके प्रमुख भेद इस प्रकार है-अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्त-वदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति और इलेष (सभी भेदोको इन शब्दोंके अन्तर्गत देखिये)। —वि० स्ना**०** 

भरत (४ श० ई०)ने शब्दालंकार यमकपर विचार किथा है—'शब्दाभ्यासः' (ना० शा०, १६: ६२) और उसके विस्तारमे अनुप्रासको भी ले लिया है। 'शब्दार्थ' सिहत कान्यकी परिभाषा करनेवाले भामह (६ श० ई०)ने अनुप्रास और यमक शब्दालंकारको माना हैं। उद्धर-(८ श० ई०)ने शब्दालंकारोंमे विस्तार किया है—पुनरुक्त-वदाभास, छेक, वृत्ति, लाट अनुप्रास। सर्वप्रथम वामन-(८५० ई०)ने शब्दालंकारोंको अर्थालंकारोंसे अलग किया है—'तत्र शब्दालंकारों हो यमकानुप्रासों' (काव्या० स्०, ४:१:१)। रुद्रट (९ श० ई०)के 'काव्यालंकार'में (२से 'तक) शब्दालंकारोंका पूरा विकास देखा जा सकता है—वकोक्ति (खेल तथा काकु), अनुप्रास (वृत्यनुप्रास), यमक (अनेक भेद), श्लेष (८ भेद) तथा वित्र (अनन्त भेद)। अनुप्रासके अन्य भेद अवश्य नहीं दिये गये है।

गोजके 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (१०३०-५० ई०)के दूसरे परिच्छेदमे 'शब्दालंकारनिर्णय' है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश' (११०० ई०)के नवम प्रकाशमे शब्दालंकारोंका विस्तार दिया है-वक्रोक्ति (इलेष तथा काक्), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुपास, यमक, इलेप, चित्र तथा पुनरुक्त-वदाभास । ये पुराने ही अलंकार है । रुय्यक्के 'अलंकार-सर्वस्व' (११३५-५५ ई०)मे शब्दालंकार स्वभाव-चित्र-कान्यके ३ प्रकार बताये गये है-शब्दपौनरुक्त्य, अर्थ-पौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य और इन्हींके अन्तर्गत प्रचलित भेदोंको स्वीकार किया है। वाग्भट प्रथम (१२ शती ई०)ने 'वारमटालंकार'मे 'ध्वन्यलंकियाएँ' चार मानी है-चित्र, वक्रोक्ति, अनुपास तथा यमक । जयदेव पीयूषवर्षके 'चन्द्रालोक'(१३ श० ई०)के ८ शब्दालंकारोंमें ३ नाम नये अर्थानुपास तथा पुनरुक्तप्रतीकाश। हैं—स्फ़टानुप्रास, विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' (१४ श० ई०)मे भाषासम तथा प्रहेलिकापर विचार किया है। उल्लेखनीय बात है कि अप्पय दीक्षितके 'कुवलयानन्द'में 'शब्दालंकार'पर विचार नहीं है।

हिन्दीमें केशवदासकी 'कविप्रिया' (१६०० ई०) में यसक (१५) तथा चित्र (१६)का विवेचनमात्र किया गया है। जसवन्त सिंहने अपने 'भाषाभूषण' (१६४३ ई०)मे अन-प्रासके ६ भेदोंकी चर्चामात्र की है। सम्भवतः यह उपेक्षा 'कुवलयानन्द'के प्रभावसे है। मतिरामने 'ललितललाम' (१६४१-४३ ई०)में शब्दालंकारपर विचार नहीं किया है। भूषणके 'शिवराजभूषण' (१६७३ ई०)में अन्तमें यह विषय लिया गया है-अनुप्रास (छेक तथा लाट), यमक, पुन-रुक्तवदाभाम तथा चित्र। कुलपति मिश्रने 'रसरहस्य' (१६७० ई०)मे शब्दालंकारके विवेचनको प्रथम लिया गया है—"प्रथम राष्ट्र यातै कहै प्रथम राष्ट्रके साज"। छः अलंकारोंकी विवेचना की गयी है। देवने 'काव्य-रसायन' (१७०३)में ४ शब्दालंकार स्वीकार किये है, जिनमें सिंहा-वलोकन भी है। मिखारीदासके 'काव्यनिर्णय'(१७४६ ई०)-के २०वें उल्लासमे इनका वर्णन है। पद्माकरने चर्चा नहीं की। आधुनिक आचार्योंने सम्पूर्ण विस्तार स्वीकार किया है।

शब्दालंकारोंके शास्त्रीय विवेचनके अतिरिक्त कान्यमे इनके प्रयोगका विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आदिकालकी वीरकाव्योंकी परम्परामें रस तथा गुणोंके अनुरूप इन अलंकारोंके प्रयोगकी विशिष्ट परम्परा रही है। भक्तिकालके तुलसी, सूर तथा जायसी जैसे कवियोंने सहज कान्यात्मक प्रकृतिके साथ ये अलंकार प्रयुक्त हुए है। इनमें चमत्कार अथवा वैचित्र्यकी भावना बिलकुल नहीं है । रीतिकाल और उसकी आधुनिक कालतक फैली हुई परम्परा-में इन अलंकारोंका प्रयोग कौशलपूर्वक हुआ है, जो कही तो कान्यात्मक वन पडा है, पर अनेक स्थलोंपर केवल चमत्कारके लिए ही जान पड़ता है। शब्दालंकारका प्रयोग छायावादी कवि 'प्रसाद', 'निराला', पन्त तथा महादेवी-तकमें देखा जा सकता है। शब्दालंकार वस्तुतः अनेक बार कान्य-अर्थको अधिक सुन्दर शैलीमें न्यक्त करनेमे सहायक होते हैं, इसी कारण इनका प्रयोग काव्यमे निरन्तर चलता आया है।

जाराब-सफी काव्यमें शराब शब्दका प्रयोग कई अथौंमें किया गया है। साधारणतः आध्यात्मिक प्रेमके अर्थमे ही इसका प्रयोग हुआ है। परम-प्रियनमके दर्शनसे भावाविष्टावस्था उत्पन्न होनेके अर्थमे भी इसका प्रयोग किया गया है, जब प्रेमी तर्क आदिके संकृचित दायरेसे बाहर हो जाता है (दे॰ 'अमृत', 'अमियरस')। -रा० पू० नि० शरीअत-कुरानके वचनों और हदीसों द्वारा अनुमोदित नियम-कान्न, जिनका पालन करना इसलाम-धर्मके अनुयायी आवश्यक मानते है। सांसारिक जीवन और उपासना, दोनोंका मार्गनिर्धारण इन नियमोंके द्वारा होता है (दे० 'सूफीमार्ग')। -रा० प० ति० कारीरवाद-यथार्थवादका प्रभाव जहाँ अनावश्यक आवरण और रहस्यवादका खण्डन करनेमे समर्थ हुआ, वही उसने इतनी अधिक मुक्त अभिव्यक्तिका समर्थन किया कि कही-कही भावाभिव्यक्तिमे वह उन सीमाओको भी लॉघ गया. जो मात्र 'शील' अथवा 'संकोच'के कारण अभिन्यक्ति नहीं पाती थी। वस्ततः आजका जीवन और उसका समस्त वैज्ञानिक परिवेश इस 'शील'-परम्पराको कुण्ठाके रूपमे पालना नहीं चाहता। वह अधिक स्पष्टतासे जीवनके विभिन्न पक्षोंको ग्रहण करता है और उनके सन्दर्भमें उसकी प्रकृति और विकृतिको स्वीकार करता है। यथार्थवाद (दे०)-का यह पक्ष मात्र आधनिक बोधका वह रूप प्रदर्शित करता है, जिसमें भावाभिव्यंजनाके साथ-साथ जीवनके क्रियाशील आधारोंको 'आत्मा'की सूक्ष्मताके साथ मांसल स्थूलत्वका भावोन्मेष अरुचिपूर्ण नहीं लगता। फ्रान्सके पतनोन्मुख साहित्य-युगमे जोला तथा फ्लोबेयर जैसे उपन्यासकारोने इस भावधाराको अपने कृतित्वमे प्रश्रय दिया था।

शरीरवाद प्रस्तुत सन्दर्भमे शरीरके भोग और उसके यथार्थ संवेदन एवं संवहन-शक्ति वर्जनाके रूपमे नहीं छता। शरीर भी सत्य है और उसके अवयवोंमे व्याप्त सूक्ष्म भावोंकी अभिव्यक्ति भी एक चेतन यथार्थ है। अस्तु, जब यथार्थमे भोगनेकी क्षमता निहित है, वहन करनेकी क्षमता निहित है, तो फिर उसको उसकी रसस्निग्धतासे और उसके सहमोगी होनेके पक्षको त्याच्य या वर्जना-युक्त माननेका प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, प्रस्तुत तर्कके आधारपर शरीग्वाद आत्म-रस-प्राह्मताके साथ शारीरिक रस भोगनेको भी उतना ही महत्त्वपूर्ण समझता है। प्रस्तुत दृष्टकोणके अन्तर्गत वे सभी भावाभिन्दंजनाएँ आती है, जो विशेष मनम्स्थित अथवा भावावेशमे किसी निश्चित किया द्वारा शारीरिक और मानसिक क्रियाशिकताको व्यक्त करती है। यथार्थवादी विचारधाराके विकासके साथ कुछ छेखकों

यथायनादा विचारधाराक विकासक साथ कुछ ठखका और किवयोंने इस प्रवृत्तिको विशेष रूपसे अपनाया है। मन्तव्य केवल शरीरकी उपलब्धिकी स्वीकृति है। हिन्दीमें 'अज्ञेय'के 'शेखरः एक जीवनी' तथा 'नदीके द्वीप'में ऐसे स्थल काफी हैं, जिनमें भावोन्मेपके साथ-साथ स्थूल शारीरिक प्राह्मताका भी वर्णन किया गया है। जैनेन्द्रके उपन्यासोंमें भी, विशेषकर 'सुनीता'में यह प्रवृत्ति अप्रत्यक्ष रूपमें मिलती हैं। देवराजने 'पथकी खोज'में इसका आश्रय लिया है। 'अज्ञेय'की किवताओंमें तो कहीं-कहीं इस प्रवृत्तिका बड़ा प्रभावपूर्ण वर्णन हैं। ये वर्णन मात्र चमत्कार या

चौकानेके लिए न होकर, इसमें भी अधिक इस बातकी स्वीकृति देते है कि आजकी आधुनिक चैतनामें वे सब मानवीय
संवेदनाके अंश है, जिन्हें आजतक अशु, स्वेद, रक्त और
स्थूलत्वके नामपर त्याज्य समझा जाता था, क्योंकि शरीरका सुख-दुःख भी आत्माके सुख-दुःखका माध्यम है। इन
दोनोको पृथक नहीं किया जा सकता। 'बच्चन'दी 'मिलनयामिनी' और 'सतर्गिनी'की अधिकांश कविताएँ इस
प्रवृत्तिका समर्थन करती है।

यद्यपि कुछ अंशोंमें यह कहा जा सकता है कि इस

प्रकारकी प्रवृत्तिसे साहित्यमें एक विशेष प्रकारकी अइलीलता (दे०' प्रश्रय पाती है, किन्तु अश्लीलताकी सीमा निर्धारित करनेके पहले यह मान लेना आवश्यक है कि आजका भाव-बोध जिसे तीव्रताके साथ यथार्थ अभिन्यक्ति पानेको उत्सुक है और जिस तेज गतिसे हमारा समस्त जीवन प्रत्यक्षानुभृतिको स्वीकार करनेके लिए प्रस्तुत है, उसमे यह वर्जना अधिक दूरतक साथ नहीं दें सकती। साहित्यिक स्तरपर और सम्पूर्ण जीवनके परिवेशमें वस्तुसत्यके प्रति हमारी दृष्टि दिन प्रति-दिन अधिक जागरूक हो रही है। फिर भी इस बातसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रस्तत शैलीका निर्वाह केवल एक कुशल और प्रौढ लेखक द्वारा ही सम्भव है। अन्य लेखक जिनमे यह प्रौढता और शक्ति नहीं है, वह शैलोके साथ-साथ समस्त वस्तुस्थितिको अपने अध-कचरेपनके कारण असाहित्यिक और अरुचिपूर्ण बीअत्समें भी बदल सकते है। ---ल० कां० व० शशिवदना (माळती) - वर्णिक छन्दोमे समवृत्तका एक भेदः इस वृत्तका चरण नगण और यगणके योगसे बनता है (III, ISS) । केशवने 'रामचन्द्रिका'के दूसरे प्रकाशमे इसका नाम मालती—"आदि नगण पुनि यगण दै, रचहु मालती छन्द'' और तीसरे प्रकाशमे शशिबदना नाम दिया है। भान और श्रुतबोधकारने इसका दाशिवदना नाम दिया। उदा०- "तॅह दरबारी, सब सुखकारी। कृत युग कैसे, जन जन वैसे" (रा० चं०, २:२)। शांत रस – शान्त रस साहित्यमे प्रसिद्ध नौ रसोंमे अन्तिम रस माना जाता है—"शान्तोऽपि नवमो रसः" (मम्मट: का॰ प्र॰, ४: ३५)। इसका कारण यह है कि भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ श० ई०) मे, जो रस विवेचनका आदि स्रोत है, नाट्यरसोके रूप में केवल आठ रसोंका ही वर्णन मिलता है। शान्तके उस रूपमे भरतने मान्यता प्रदान नहीं की, जिस रूपमे श्वगार, वीर आदि रसोको की, और न उसके विभाव, अनुभाव और संचारी भावोका ही वैसा स्पष्ट निरूपण किया। अष्टनाट्यरमोका स्वरूप निरूपित करनेके पश्चात 'नाट्यशास्त्र'मे शान्त रसकी सम्भावनाका निर्देश निम्नलिखित शब्दोमं किया गया है और 'नवरस' राब्दका भी उहेख सर्वप्रथम यही हुआ है—''अतः शान्तो नाम । मोक्षाध्यात्मसमुत्य । द्यान्तरसो नाम सम्भवति । ··· एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः" (पृ० ३२४-३३ गा॰ सं॰), अर्थात् मोक्ष और अध्यात्मकी भावनासे जिस रसकी उत्पत्ति होती है, उसकी शान्त रस नाम देना सम्भाव्य है (कन्हैयालाल पोदार: स० सा० इ०, दि० भा०)। नाट्यज्ञ लोगोंकी दृष्टिमे इस प्रकार विविध लक्षणोंसे

युक्त नौ रस होते हैं। उक्त अंशके अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र'में ही एक स्थानपर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि शान्त रससे ही रित आदि आठ स्थायी भावोंकी उत्पत्ति होती है और शान्तमें ही उनका विलय हो जाता है— "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ता झावः प्रवर्तते। पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते" (६: १०८)।

इस प्रतिपत्तिसे शान्त रसका महत्त्व अन्य रसोंकी तुलनामें सर्वोपरि सिद्ध होता है। कुछ विचारकोने इसी आधारपर कि शान्त भावशून्य स्थितिका चीतक है, उसकी अनभिनेयता सिद्ध की और उसका खण्डन किया, जिसका विरोध 'अभिनवभारती' और 'रसगंगाधर' आदि अनेक यन्थोंमें मिलता है। इनमे कहा गया है कि 'भाव-शून्यता' शान्तको रस माननेमे बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि किसी रसके अभिनयमे अभिनेता भाव-लिप्त नहीं माना गया है। अभिनवगुप्तने शान्त रस और उसके स्थायी भावकी समस्या-पर गम्भीरतापूर्वक अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया और अपने पूर्वके सभी मनोंका खण्डन करते हुए खतन्त्र मनकी स्थापना की। जिन मतोंका उहेख 'अभिनवभारती'में हुआ है, उनमेसे एक शमको स्थायी, तपरया तथा योगियोके सम्पर्कको विभाव, काम, क्रोध आदिके अभावको अनुमाव और धृति, मति आदिको संचारी मानता हुआ शान्त रस-की कल्पना सम्पूर्ण रसांगोके साथ करता है। परन्तु दूसरा मत राम और शान्तको पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तकों द्वारा शान्त रसकी पृथक् सत्ताका निषेध करता है। कुछके अनुसार निवेंद शान्त रसका स्थायी भाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक-रसकी तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियोको सम्मिलित रूपसे शान्तका स्थायी माननेके पक्षमे है। अभिनवगुप्तने उक्त सभी मृतोंका खण्डन पाण्डित्यपूर्ण रीतिसे करते हुए अन्तमे 'तत्त्वज्ञान'को ज्ञान्त रसका स्थायी भाव माना । उनके मतले जिस प्रकार 'काम' रति आदिसे अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रसस्वरूप-में आस्वाद्य होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य भी विशेष चित्तवृत्तिके योगसे रस-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। शान्त रस यही है। निर्वेद-को आचार्यने शोकके प्रवाहको फैलानेवाली विशेष चित्त-वृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। एक तो दारिद्रय आदिसे, दूसरे, तत्त्वज्ञानसे। तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न निर्नेद अन्य सब स्थायियोको दबा देनेवाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्ववाला भी है। पर यदि इस निर्वेद-को शान्त रसका स्थायी भाव माना जायगा तो तत्त्वज्ञानको विभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि उसीसे यह उत्पन्न होता है। परन्तु इसे उचित नहीं माना गया। वास्तवमे तत्त्वज्ञानसे निवेंद उत्पन्न नहीं होता, तत्त्वज्ञान ही निवेंद या वैराग्यसे उपजता है। शम और निर्वेदको समान स्वीकार करके शम और शान्तमे हास और हास्यको तरह सिद्ध और साध्य, साधारण और असाधारणका मेद भी उन्होंने बताया । इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्कके बाद तत्त्वशानको ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।

आगेके शास्त्रकारोंने शान्त रसके स्थायी भावविषयक उनके मतको स्वीकार नहीं किया। इसके मूलमें कदाचित् वो कारण मुख्य थे। एक तो यह कि 'तत्त्वज्ञान'को स्थायी भाव कहना ज्ञानको भावका स्थान देना है, जो सहज याद्य नहीं हो सका और न वह उचित हो प्रतीत होता है। दूसरे, जब राम और शान्तमे वहीं मेद हैं, जो हास और हास्यमें, तो फिर जिस प्रकार हास्यका स्थायी हास हो सकता है, उसी प्रकार शान्तका स्थायी भी राम हो सकता है। इसपर आपत्ति करना समीचीन नहीं है, क्योंकि भरतने ही उसे निथीरित किया है।

शान्त रसके स्थायी भाव सम्बन्धी वाद-विवादका यहां अन्त नहीं हुआ, साहित्यमें और भी मत व्यक्त किये गये हैं। 'अग्निपुराण'(९: १० श० ई०) में 'रित'के अभावमें शान्त रसकी उत्पत्ति मानी गयी है। रुद्रट(९ श० ई० म०) ने 'सम्यक्-झान'को, आनन्दवर्धन (९ श० ई० उत्त०) ने 'तृष्णाक्ष्यसुख'को तथा आगे कुछ अन्य विद्वानोंने 'सर्व-चित्तवृत्तिप्रशम', 'निर्विशेषचित्तवृत्ति', 'धृति', 'उत्साह' आदिको भी शान्त रसका स्थायी निर्धारित किया। शृंगा-रादिको तरह शान्त रसके मेद-प्रभेद करनेकी ओर आचार्योंका ध्यान प्रायः नहीं गया है। केवल 'रस-किलका'मे रुद्रभष्ट द्वारा चार भेद किये गये है—(१) वैराग्य, (२) दोष-निग्रह, (३) सन्तोष, (४) तत्त्व-साक्षात्कार, जो मान्य नहीं हुए।

शान्तके समानान्तर कुछ नये रसोंकी कल्पना भी की गयी, जिनमे 'संगीतसुधाकर'के रचयिता हरिपाल द्वारा किएत बाह्मस्स (स्थायी भाव आनन्द) तथा 'रसमंजरी'के प्रणेता भानुदत्त (१३ रा० ई०) द्वारा किएन कार्पण्य रस (स्थायी भाव स्पृहा) विशेष उल्लेखनीय है। जैन 'अनुयोग-द्वारस्त्र'में 'प्रशान्त' नामक रसकी चर्चा मिलती है। भोज(११ रा० ई० पूर्वा०)के 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे धौरो-दात्त आदि चतुविंध नायकोंके आधारपर कुछ रसोंकी सिद्धि मानी गयी है, जिनमें धीरप्रशान्तके अनुरूप 'प्रशान्त' या 'शान्त' रस(स्थायी भाव धृति)की स्थिति सिद्ध होती है (दे० आ० प्र० दीक्षित: काव्यमें रस: अप्र०, पृ०४ ६६-६९)।

धनंजय (१० श्र० ई०), मम्मट (१२ श्र० ई० पूर्वा०) और विश्वनाथ (१५ श० ई० पूर्वा०) प्रभृति संस्कृतके प्रसिद्ध परवर्ती आचार्योंने शान्त रसका लक्षण निम्नलिखित रूपमें दिया है-धनंजय-"शमप्रकर्षों निर्वाच्यो मुदिता-देस्तदात्मता' (दश०,४:४५), अर्थात् शान्त रस अनि-र्वाच्य और शमका प्रकर्ष है तथा मोद उसका स्वरूप है। इसपर व्याख्याकार धनिकका कथन है—"मुनिराजोंने उस रसको शान्त कहा है, जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छादि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों-का राम प्रधान रहता है"। मन्मट-"निर्वेदस्थायिभावोऽ-स्ति शान्तोऽपि नवमो रसः" (का० प्र०, ४: ३५), अर्थात् निवेंद स्थायीवाला शान्त रस नवॉ रस होता है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण'मे इस प्रकारकी व्याख्या की है-"शान्त रसकी प्रकृति उत्तम, स्थायी भाव शम, कुन्देन्द्र वर्ण तथा देवता श्री नारायण है। संसारकी अनित्यता, वस्तुजगत्की निस्सारता और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान इसके आलम्बन हैं। भगवान्को पवित्र आश्रय, तीर्थस्थान, रम्य एकान्त वन तथा महापुरुषोंका सत्संग उद्दीपन है। अनुभाव रोमांचादि और संचारियोंमे निवेंद, हर्ष, स्मरण, मति, उन्माद तथा प्राणियोंपर दया आदिकी गणना की जा सकनी है (३: २४५, ४६, ४७, ४९)। संरकृत साहित्यमं, विद्योपकर धनंजय द्वारा निवेंदको स्थायी माननेका विरोध किया गया है, पर कुछ रीतिकालीन हिन्दी काव्याचार्योंने सम्मटका मत मानते हुए 'इ.म'के स्थानपर 'निवेद'को ही शान्त रसका स्थायी भाव बताया है। कुलपति मिश्र—"तत्त्व ज्ञानते कवितमे, जहॅ प्रगटै निर्वेद । कहै सान्त रस जासको, सो है नौमो भेद" (र० र०, पृ० २८)। नन्दराम-"जाको थाई भाव सुकवि निरवेद वखानत" (शृं० ढ०, पृ० १४८) । पद्माकर-"सुरस सान्त निवेद है जाको थाई भाव" (जगद्वि०, ७२०)। कुलपति मिश्र(१७ इा० ई० उत्त०) के उपर्युक्त लक्षणपर अभिनवगुप्तके मतकी छाया है। अन्य प्रमुख काव्याचार्योंमें चिन्तामणि (१७ श० ई० पूर्वा०), भिखारीदास (१८ रा० ई० पूर्वा०) और केराव-दास(१७ श० ई० पूर्वा०)ने 'शम'को ही मान्यता प्रदान की । बेनी प्रवीन (१९ श० ई० पूर्वां) ने 'नवरसतरंग'ने 'थाई जासु बिराग' लिखकर विरागको और 'माहित्यसागर'-के रचियता विहारीलाल भट्टने 'शान्ति स्थायी भाव है' लिखकर ज्ञान्तिको ज्ञान्त रसका स्थायी माना है। चिन्ता-मणिने भी 'सम कहियत वैराग्यते'के द्वारा शग और वैराग्यको समानार्थी माना है। केशवदासने तो 'शम'के कारण शान्त रसको ही 'शम रस' नाम दे दिया है-"सबते होय उदास मन वसे एक ही ठौर। ताहीसों सम रस कहत केसव कवि सिरमौर" (रसिक०, १४:३७)। पण्डितराज जगन्नाथ(१७ इा० ई० पूर्वा०)ने महाभारतादि प्रबन्धोमे शान्त रसकी प्रधानता बताथी है और उसे 'अखिल लोकानुभवसिद्ध' भी घोषित किया है। जैन कवि बनारसी-दासने अपने 'समयसार' नाटकमे ज्ञान्त रसको रसराज मानते हुए लिखा है-"नवमो सान्त रसनिको नायक"। संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओंका ज्ञान-भक्तिपरक सम्पूर्ण साहित्य मूलतः शान्त रसके अन्तर्गत आता है, यद्यपि उसमे शेष आठ रसोका पर्याप्त परिविस्तार मिलता है।

वैराग्य भारतीय विचारधाराका महत्त्वपूर्ण तथा शक्ति-शालिनी प्रवृत्ति रही है और उसका प्रभाव भारतीय साहित्यपर निरन्तर बना रहा है। हिन्दी साहित्यके भक्ति-कालमे शान्त रसको महत्त्व प्राप्त हुआ है। विनय सम्बन्धी भक्तिभावनामे इसी रसका प्रसार है। सुरके विनयके पदोमे तथा तुलसीकी 'विनयपत्रिका'मे इसकी पूर्ण अभिन्यक्ति हुई है। सन्त कवियोमे निवेंद, राम, वैराग्यकी व्यापक भावना पायी जाती है। प्रेममार्गी सुफी कवियोके प्रवन्ध-कान्योमे यत्र-तत्र इसकी अवतारणा है। **शाक्तमत**-शक्तिको उपासना करनेवालोको शाक्त और उनके धर्म या मतको काकमत कहा जाता है। इस मतमें परमेश्वरकी कल्पना स्त्री-रूपमें की जाती है और उसे शक्तिके नामसे अभिहित किया जाता है। शक्तिको ही आनन्दभैरवी, महाभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि नामोंसे पुकारा जाता है। शक्तिकी उपासना प्रायः तीन पद्धतियोंसे होती है-(क) सामान्य शिष्ट-पद्धति, जिसमे अहिंसात्मक ढंगसे अन्य देवोंकी तरह ही शक्तिकी पूजा होती है, (ख) भयंकर पद्धति, जिससे शक्तिका सम्बन्ध कापालिकों और कालमुखोंके मतोंसे है और जिसमे पशुओं तथा मनुष्योका विहित है और (ग) भावात्मक पद्धति, जिसने उपासक अपने उपास्य देवताके साथ तादातम्य स्थापित करता हुआ पूजा करता है। प्रायः अन्तिम पद्धति करनेवालोंको ही शाक्तकी संज्ञा दी जाती है, प्रथम और द्वितीय पद्धतिनालोंको क्रमशः स्मार्त तथा शैव कहा जाना है।

शाक्तमत अद्वैतपादका साधनमार्ग है। शाक्तोंकी प्रत्येक साधनामे अद्वैतवाद ओतप्रोत रहता है। शाक्त मतके दो सम्प्रदाय है—कौल सम्प्रदाय और समयाचार मत या सम्प्रदाय। इन दोनोंके भी अवान्तर सम्प्रदाय है।

कौल वहीं है, जो शक्तिका शिवके साथ मिलन करानेमें समर्थ होता है। 'ऊल'का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और अकुलका अर्थ है शिव। जो योगिक्रयासे कुण्डलिनी-का अभ्युत्थान वर सहस्त्रारस्थित शिवके साथ सम्मेलन कराता है, यही कौल है। कौलाचार ही कुलाचार या वामा-चार है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों या तत्त्वोंके सहयोगसे अनुष्ठित होता है। इन पाँच मकारोंदा रहस्य नितान्त गृढ है। जो कोई इन्हे वाह्य तथा भौतिक अर्थमे प्रयोग करता है, वह यथार्थ-से बहुत दूर है। मद्य वाहरी शराब नहीं, विन्तु ब्रह्मरन्ध्रमे स्थित सहस्रदल कमलसे क्षरित हुथा है। जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पद्मओंको ज्ञानरूपी खड्गसे मारता है और अपने मनको ब्रह्ममे लीन करता है वही मांसाहारी है। मत्न्य शरीरस्य इडा तथा पिंगला, अर्थात् गंगा और यमुना नामक नाड़ियोंने प्रवाहित स्वास और प्रस्वास है। मत्स्य-मक्षी वह है, जो प्राणायाम द्वारा दवास-प्रदवासको बन्द करके प्राणवायको सुपुम्ना नाडीके भीतर संचालित करता है। असत् संगके त्यागका नाम मुद्रा है। यह सत्संगका द्योतक है। सहस्रारमें स्थित शिव तथा कुण्डलिनीका अथवा सपम्ना तथा प्राणका सहवास या मिलाना मैथून है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पंच मकारोका सम्बन्ध अन्तर्योगसे है। पर कालान्तरमे शाक्तोने आन्तरिक साधनाको छोडकर बहिःसाधनाको ही अपना लिया । फिर वे इन पंच मकारों-के भौतिक अर्थ लेने लगे और इनका सेवन करने लगे। यही कारण है कि शाक्त निन्दनीय समझे जाते है। कवीर, तुलसी आदि सन्तोने भी वाममागियोंकी कड आलोचना की है और उन्हें पथम्रष्ट समझा है, जो ठीक ही है।

समयमार्गमे अन्तयोगका भी प्राधान्य है। 'समय'का अर्थ है हृद्याकारमें चक्रकी भावना कर पृजाका विधान या रुक्तिके साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपमेदसे पंच प्रकारके साम्य पारण करनेवाले शिव (शिव- शक्तिका सामरस्य)। समयाचारमे मूलाधारमें मुप्त कुण्डलिनीको जात्रत् कर स्वाविष्ठानादि चक्रोंसे होकर सहस्रार चक्रमे विराजमान सदाशिवके साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समय,चारी लक्ष्मीधर (१२६८-१३७९ ई०)ने कौलमार्गकी कडी निन्दा की है, परन्तु साधनाके रहस्योके शालाओंकी सम्मतिमें आरम्भमें दोनों मार्गमें अन्तर होनेपर भी अन्तनः दोनोंमें नितान्त धनिष्ठता है।

जो परम कौल है, वहीं सच्चा समयी हैं।

तत्त्व छत्तीस है, जिन्हें तीन विभागोंमें विभक्त किया जाता है—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मातत्त्व । शिवतत्त्व दो तत्त्वोंका विभाग है—शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व । विद्यातत्त्वमें सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या, ये तीन तत्त्व गृहीत है । आत्मतत्त्वमे ३१ तत्त्व है—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पंच झानेन्द्रियाँ, पंच कमेन्द्रियाँ, पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) तथा पाँच महाभूत (आकाश, वायु, विद्वि, जल और पृथ्वी)।

परा शक्तिके हृदयमें विश्वसृष्टिकी इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते है - शिवरूप तथा शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है और शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्शका अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहंकी स्फूर्ति । इसीको चित् , चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरता आदि कहते है। प्रकाश और विमर्श सदैव युगपत् रहते है। प्रकाश या शिवको ही संवित कहा जाता है और विमर्शको युक्ति या मनन। इसी शिवशक्तिके आन्तर निमेषको सदाशिव तथा वाह्य उन्मेषको ईरवर कहते है। परा संवितका शिवशक्तयात्मक रूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्वमें 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्वमे 'अहमिदम्' विमर्श और ईश्वरतत्त्वमें 'इदिमदम्' विमर्श होता है। इनमेसे प्रत्येकमे प्रथम पदकी प्रधानता रहती है। शुद्ध विद्यातत्त्वमें 'अहं' और 'इदं', दोनोंकी समान प्रधानता रहती है। इसके अनन्तर माया-तत्त्वका कार्य आरम्भ होता है, जो 'अहं' और 'इदं'को पृथक-पृथक कर देती है। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति। परन्तु शिवको पुरुषरूपमे आनेके लिए माया पाँच उपाधियों - कला, विद्या, राग, काल और नियतिकी सृष्टि करती है, जिनका पारिभाषिक नाम 'कंचुक' या आवरण है। इतना विजम्भण हो जानेपर फिर सांख्य दर्शनकी भाँति आगे विकास होता है। आविर्भावके विप-रीत क्रमसे तिरोभाव होता है। आविर्भाव सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या करता है, तो तिरोभाव साधनाकी।

शैवोंके एकदेशी(विकदर्शन)को भी उपयुंक्त तत्त्ववाद मान्य हैं। उनमें और शाक्तोंमे थोड़ा अन्तर है। शैवोका कहना है कि शिवतत्त्वमे शिक्तभाव गौण और शिवभाव प्रधान हैं, जब कि शाक्तोका दावा है कि शिक्ततत्त्वमें शिव-माव गौण और शिक्तभाव प्रधान है। दोनो मानते हैं कि तत्त्वातीत दशामे न शिवकी प्रधानता है, न शिक्का प्रस्युत दोनोंकी साम्यावस्था है। यही शिव-शिक्तका साम-रस्य है। इस सामरस्यको शैव लोग परमशिवके नामसे पुकारते है, तो शाक्त लोग पराशक्तिके नामसे। यह परा-शक्ति (या शैव मतमे परमशिव) विश्वात्मक और विश्वो-त्तीर्ण, दोनो है। शाक्तमतमं शिव पराशक्तिसे उत्पन्न होकर जगतका उन्मीलन करते है।

शाक्तमतका इतिहास बहुत प्राचीन है। इसको तीन युगों-में बॉटा जाता है—(क) बुद्धपूर्वयुग या प्राचीन युग, जो प्रागैतिहासिक युगतक जाता है, (ख) मध्ययुग या बुद्धोत्तर युग, जो १२०० ई०तक विस्तृत है और (ग) आधुनिक युग, जो १२०० ई०से लेकर अधावधि है। इतने लम्बे कालमें शाक्त मतके विपुल ग्रन्थ रचे गये है, जिनमेसे अधिकांश अप्रकाशित है। इनके मूल ग्रन्थोंको शाक्त आगम कहते है। शाक्त मतकी कुछ उपनिषदे इयर कलकत्तासे प्रकाशित हुई है। शाक्त संस्कृतिके दो सम्प्रदाय है—श्रीकुल और कालीकुल। श्रीकुलके अनेक ग्रन्थ है, जिनमे अगस्त्यके 'श्रीक्तिस्त्र' और 'शिक्तिमहिम्नस्तोत्र', सुमेधाका 'त्रिपुरा-रहस्य', गौडपादका 'श्रीविद्यारत्वस्त्र', शंकराचार्यके 'सौन्दर्यलहरी' और 'प्रपंचसार' और अभिनवग्रसका 'तन्त्रालंक' मुख्य है। कालीकुलके मुख्य ग्रन्थ 'कालज्ञान', 'कालोत्तर', 'महाकालसंहिता' आदि है।

हिन्दी साहित्यके आरम्भिक युगमे शाक्त मतका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। 'कौलज्ञाननिर्णय' (भौलमतका एक ग्रन्थ)की पुष्पिकासे प्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंने अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथका सम्बन्ध योगिनीकौल (कौल मतका एक-देशी)से जान पडता है। नाथ-सम्प्रदाय (दे०)का सम्बन्ध कौल मतसे निःसन्दिग्ध रूपसे सिद्ध है। सिद्ध-साहित्य. नाथ-साहित्य तथा सन्त-साहित्य (दे०)मे शक्तिसाधनाका स्पष्ट प्रभाव है। नाद, बिन्दु, पंच मकार, प्रतीक भाषा आदिका प्रयोग शाक्तोके प्रभावका सूचक है। शाक्त आगम शुद्रो तथा स्त्रीजनोंके लिए भी सदासे उन्मुक्त रहे है। शाक्त परम्परामें जाति-पॉतिका भेदभाव नहीं रहता। इसका भी प्रभाव प्राचीन हिन्दी साहित्यपर पडा है। पर जहाँ इतने अच्छे प्रभाव पड़े है, वहाँ प्राचीन हिन्दी साहित्य-में शाक्तोकी कटु निन्दा भी मिलती है। इससे लगता है कि उस समय शाक्त मत अपने असली रूपसे विकृत हो गया था और उसमे बहुत-सी क़रीतियाँ आ गयी थी। पर यह न समझना चाहिये कि शाक्त परम्परा बिलकुल छप्त हो गयी है, यद्यपि शाक्तों, शैवों और वैष्णवोका अन्तर्भाव शंकराचार्यके स्मार्त मतमें हो जानेके कारण अब शाक्त मतका उतना प्रभाव नहीं रह गया, जितना कि प्राचीन तथा मध्यकालीन युगमे था। शाक्त साहित्यकी बड़ी राशि अप्रकाशित है। शाक्त स्वयं अपने साहित्यका प्रकाशन नहीं होने देते। इस भावनाके कारण उनका साहित्य अभी अन्धकारमें पड़ा है। हिन्दीमें तो उनके किसी प्रामाणिक अन्थका प्रकाशन ही नहीं हुआ है।

[सहायक ग्रन्थ—गोपीनाथ कविराजका लेख—शक्ति-दर्शन, हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, प्रथम मागमें, राधाकृष्णन् द्वारा सम्पादितः, वैष्णविष्म, शैविष्म एण्ड माइनर रिलीजन्स: रामकृष्ण गोपाल भण्डारकरः, भारतीय दर्शनः बल्देव उपाध्याय।] —सं० ला० पा० शाद्र्लविकीडित –विषक छन्दोमें समवृत्तका एक मेद। भरतके 'नाट्यशास्त्र' (१६: ९१, ९२), 'पिगलछन्दःस्त्र' (७: २२) और 'प्राकृतपैगलम्'मे (साददूल सट्टा, २: १८७ नामसे) इसका लक्षण दिया गया है। म, स, ज, स, त, गके योगसे यह वृत्त बनता है (ऽऽऽ, ॥ऽ, ।ऽ।, ॥ऽ, ऽऽ।, ऽ) और १२, ७ वर्णोपर यित आती है। केशव (रा० चं०; ३: १३), तुल्सीदास (बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर तथा लंका-काण्डका आरम्भ), 'इरिऔध' (प्र० प्र०, ४: ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रावली, प्र० २२) और अन्प शर्मा (सिद्धार्थ, सर्ग १, ३, ९, १०, १७, १८

एवं वर्द्धमान, पृ० ३८५)ने इस छन्द्रका प्रयोग किया है। उदा०—"कैसा प्रेम विद्युद्ध बुद्ध प्रति था, स्वर्गीय आनन्द्र था। भोगा जा सकता कभी अवनिमे जो इन्द्रियोसे नहीं" (सिद्धार्थ, निर्वाण स० १८)। —पु० द्यु० शालिनी—वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद। भरतने 'नाट्यशास्त्र'(१६: ३०)मे लक्षण और उदाहरण दिया है। मगण, दो तगण और दो गुरुओके योगसे (SSS, SSI, SSI, SS) यह वृत्त वनता है और ४, ७ वर्णोंपर यति होती है। संस्कृतके इस प्रसिद्ध छन्दका प्रयोग साकेत (स० ९)मे हुआ है—"क्या-क्या होगा साथ मै क्या वताऊँ। है ही क्या, हा भाज जो मै जताऊँ। तो भी तूली पुस्तिका और वीणा। चौथी मै हॅ पाँचवी तू प्रवीणा"। —पु० शु० शिक्षा—दे० 'सखीकर्म'।

शिखरिणी-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । भरतके 'नाट्यशास्त्र'(१६: ७९) तथा 'पिंगलछन्दःसूत्र'(७: २०)के अनुसार य, म, न, स, भ, ल, गके योगसे शिखरिणी वृत्त बनता है (ISS, SSS, III, IIS, SII, IS) । पुष्पदन्तके 'महिम्नस्तोत्र' और शंकराचार्यकी 'सौन्दर्यलहरी'मे इस छन्दका प्रयोग है "तनोत क्षेमं नस्तव वदन सौन्दर्यलहरी"। 'हरिऔध' (प्रि॰ प्र॰, स॰ ९), मैथिलीशरण गुप्त (पत्रा॰, ८: ११) और अनूप शर्मा (सिद्धार्थ, स०४, ८, १२)ने इस छन्दक। प्रयोग किया है। अनुप शर्माने इस छन्दका सर्वाधिक प्रयोग किया है। उदा०—"उषालोकारम्या दिवस-मुखमे राग भरके, हॅसी ज्यो ही भू पै प्रकट नभमे भारकर हुआ" (सि॰, अनु॰, पृ॰ ५३)। शिल्पक-इसमे चार अक होते है। चारों वृत्तियोंका प्रयोग. शान्त, हास्यके अतिरिक्त अन्य सभी रसोंका प्राधान्य होता है। नायक बाह्मण तथा उपनायक कोई हीन पुरुष होता है। इमञान, शव आदिका वर्णन इसमे रहता है। इसके ये सत्ताइस अंग होते है—१. आशंसा, २. तर्क, ३. सन्देह, ४. ताप, ५. उद्देग, ६. प्रसक्ति, ७. प्रयत्न, ८. ग्रथन, ९. उत्कण्ठा, १०. अवहित्था, ११. प्रतिपत्ति, १२. विलास, १₹. आलस्य, १४. वमन, १५. प्रहर्ष (विशाल हर्ष), १६. अर्लील (लजा, जुगुप्सा, अमंगलसूचक बात), १७. मूढता, १८. साधनानुगमन, १९. उच्छास, २०. विसाय, २१. प्राप्ति, २२. लाभ, २३. विस्मृति, २४. सम्फेट, २५. वैशारद्य, २६. प्रबोधक, २७. चमत्कृत ।उदा०—"कनकाव-तीमाधव"। शेष बातोंमे नाटकसे समानता है।-वि०रा० **शिष्य**-काव्यशास्त्रमे कविशिक्षा (दे०)के अन्तर्गत 'शिष्य'-का अर्थ है इस शास्त्रका अधिकारी व्यक्ति। वामनने कवियोंके दो भेद किये है-अरोचकी, अर्थात् विवेकी तथा सतृणाभ्यवहारी, अर्थात् अविवेकी । अरोचकीको ही शिष्यत्वके योग्य बताया है (काव्या० सू०, १:२:१-२)। राजशेखरने शिष्योके दो भेद किये है-बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि और जो इन दोनो श्रेणियोमे नहीं आते. वे दुर्बुद्धि है (का० मी०, ४)।

बुद्धिमान् वे शिष्य होते है, जिनकी बुद्धि स्वभावतः शास्त्रोमें प्रवृत्त होती है। ऐसे शिष्य किसी विषयको तत्काल समझ लेते हैं। इन्हें केवल कान्यपद्धतिसे परिचय प्राप्त करनेके लिए गुरुकुलमे जाना चाहिये (का॰ मी॰, ४)। आहार्थबुद्धि वे शिष्य होते है, जिनकी बुद्धि शास्त्राभ्यासकी अपेक्षा रखती है। इन्हे शास्त्राभ्यासके लिए आचार्योंकी सेवा करनी चाहिये (वहीं)। दुर्बुद्धिका सर्वत्र मतिविपर्यास होता है। शास्त्र उसका उपकार नहीं कर सकते (वहीं)।

क्षेमेन्द्रने भी शिष्योके तीन मेद किये हैं—अल्पप्रयल-साध्य, कृच्छुसाध्य और असाध्य । असाध्य वह है, जो स्वभावसे जड़बुद्धि हो, ज्याकरण अथवा तर्कने जिसकी सहदयताको नष्ट कर दिया हो और जिसके कानोमे सुकवियोंकी रचनाएँ न पड़ी हो (क० क०, १: २२)। — म० प्र०००

शुंडुनी-सहज-रस या अमियरस रूपी वारणीका हठयोग-पर्फ अर्थ लेकर सिद्धों और सन्तोने बराबर शुंडुनी या कठाली या मिद्रा बेचनेवालीका रूपक प्रस्तुत किया है। 'चर्यापद'मे विरूपाने विस्तारसे शुंडुनीका रूपक दिया है। परिशुद्धावधूती वास्तवमे कठाली है; ललना, रसना दो घड़े है, संवित्तिचित्त बल्कलचूर्ण है, शुक्रनाडी नली है और बोधिचित्त ग्राहक। क्वीरने सहज शक्तिको कलाली माना है, बह्मरन्थ्रको भट्टी, सन्तोंको ग्राहक (दे०—सन्त कवीर—परिकृष्ट: रामकुमार वमा)। —ध० बी० भा० शक्तिसारिका-दे० 'अभिसारिका' (नायिका)।

मुद्धतावाद — 'प्यूरिज्म', 'प्यूरिटैनिज्म'से भिन्न है। परन्तु हिन्दीमे यह राब्द दोनो अथोंमे प्रयुक्त होता है। भाषाके मामलेमे शुद्धिवादी किसी अन्य भाषाका मिश्रण नहीं सहन करते। आचरणके सन्दर्भमे शुद्धतावादी आदमीको एकदम लॉड्रीसे थुले, साफ, धीरोदात्त, परमगुण-सम्पन्न, निष्पाप बना देना चाहते है। परन्तु कलाके क्षेत्रमे शुद्धतावादका अर्थ है कला-निर्मिति और समीक्षा, दोनोंके क्षेत्रमे कलासे इतर या भिन्न किसी भी अन्य हेतुओं या मान-दण्डोंका प्रयोग न करना। एक प्रकारसे यह 'कलाके लिए कला'-वाद भी है।

शुद्ध पुष्ट -दे॰ 'पुष्टिजीव', 'पुष्टिमार्ग'।

शुद्धाद्वेतवाद — शंकराचार्यके अहैतवादमे बह्य माया-शबल है। इसके विरोधमे वल्लभाचार्यने शुद्धाहैतवादको स्थापना की। इसमें बह्य माया-सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शुद्ध है। कारणरूप और कार्यरूप, दोनो प्रकारसे बह्य शुद्ध है, मायिक नर्हा। मायारहित ब्रह्म हो एक अहैत तत्त्व है। सारा जगत्प्रपंच उसीको लोलाका विलास है। "सर्व खलु इदं ब्रह्म"—सब कुछ ब्रह्म ही है, इस सिद्धान्तको इस मतमे अक्षरशः माना जाता है।

'पद्मपुराण'के वर्णनानुसार रुद्रसम्प्रदायके प्रवर्तक विश्षु गोखामी थे। नाभादासके 'भक्तमाल'से ज्ञात होता है कि विश्षु गोखामीके सम्प्रदायमे ही ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ हे०), नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वह्नमाचार्य (जन्म १४७९ ई०)ने इसी मार्गका अनुसरण कर शुद्धाद्वैत-वाद और इसका भक्ति-सम्प्रदाय पृष्टिमार्ग (दे०) चलाया। इस मतके प्रमुख आचार्य और प्रवर्तक वह्नभ ही है। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके जीवनकी घटनाएँ काशी, अरैल (जिला इलाहाबाद) और वृन्दावनसे सम्बन्धित है। इनके लिखे हुए प्रन्थ 'अणुभाष्य' (ब्रह्मसूत्रका भाष्य), जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्रपर भाष्य, 'सुवेधिनी' (भागवत पुराणपर

भाष्य), 'तत्त्वदीपनिवन्ध' और १६ अन्य लघुकाय प्रकरण-प्रन्थ है। विक्रमके दितीय पुत्र विट्ठलनाथ (१५१६-१५८६ ई०) थे। ये गोसाईं जीके नामसे प्रसिद्ध है। इन्होंने 'विद्वन्मण्डल' नामक एक स्वतन्त्र प्रन्थकी रचना की और 'अणुभाष्य'को, जो अपूर्ण रह गया था, पूरा किया तथा सुबोधिनीकी टीका की। इनसे विल्लभ मतका विशेष प्रचार हुआ। इनके सात पुत्र थे, जिन्होंने अलग-अलग गिह्योकी स्थापना कर इस मतका विपुल प्रचार किया। इन्हीं मेसे एक गोकुलनाथ थे, जिन्होंने 'चौरासी वैष्णवोकी वार्ता' नामक पुत्तक लिखी। पुरुषोत्तम तथा बजनाथ मट्ट परवर्ती कालमें इस मतके विद्वान् व्याख्याता हुए।

पर इस मतके सबसे जाज्वल्यमान नक्षत्र सूरदास है। ये वलभके शिष्य थे और उन्होंके आदेशसे भगवानुका विनयको छोड़कर उनकी लीलाका ही वर्णन करते थे। इनकी प्रसिद्ध कृति 'सूरसागर' है, जो हिन्दी साहित्यका अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें वहाभमतकी काव्यमयी व्याख्या हई। गोसाई विदलनाथने अपने अनुयायी बजके आठ कवियोको लेकर 'अष्टछाप' (दे०)को स्थापना की, जिसमें सरदास मर्दश्रेष्ठ थे और उनके बाद नन्ददासका नम्बर था। इन आठ कवियोने कृष्णका इतना लीलागान किया कि मजभाषाका काव्य सदाके लिए कृष्णकाव्य वन गया। रासलीला, भ्रमरगीत, बाल्यवर्णन, माखनचोरी आदि अनेक इस मतके वर्ण्य विषय है। साधनाकी दृष्टिसे रासलीलाका महत्त्व है। ज्ञानकी दृष्टिसे भ्रमरगीतका सर्वाधिक गौरव है। स्रदासने भ्रमरगीतमे भक्तिको ज्ञान तथा योगसे पष्टिमार्गीय ढंगसे श्रेष्ठ दिखलाया है। गोपियोंकी भक्तिके सामने उद्भवकी ज्ञाननिष्ठा विजित हो जाती है और वे निरुत्तर हो जाते है। नन्ददासने कुछ तार्किक ढंगसे गोपियों और उद्भवका संवाद कराया है और अन्तमें भक्ति-की ज्ञानपर विजय दिखलायी है। भ्रमरगीतको लेकर आगे चलकर अनेक काव्य लिखे गये। इस प्रकारकी अन्तिम रचना जगन्नाथदास 'रलाकर'का 'उद्धवशतक' है। भ्रमर-गीत जैसा ही महत्त्वपूर्ण विषय रासलीला है, जिसकी लेकर कान्योकी रचना की गयी।

वह्नमने 'ब्रह्मविद्या'मे श्रुति-स्मृतिको ही एकमात्र प्रमाण माना। वेद (उपनिषत्सहित), गीता, ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पुराणको इन्होंने झानका उत्स माना। इनके मतसे युक्ति या अनुमानसे ब्रह्मका निरूपण या लाभ नहीं हो सकता है। युक्तिका सहारा लेनेवाले शंकराचार्यकी इन्होंने खूब खबर ली है और उनको वेदिवरीधी तथा प्रच्छन्न बौद्धतक कह डाला है। कभी-कभी ये उस सिद्धान्तका भी समर्थन करते है, जो युक्तिसे देखनेपर व्याधानक प्रतीत होता है। यौक्तिक व्याधातकी ये चिन्ता नहीं करने। यदि शंकर तार्किक है तो वहाभ विशुद्ध धार्मिक है। शब्द-प्रमाणको ही सर्वस्य माननेके कारण शुद्धादैतवाद स्पष्टतः दार्श्वनिक सिद्धान्त न होकर केवल धर्मशास्त्रीय वाद रह गया है।

श्रुति और स्मृतिसे सिद्ध है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यह एक और अदितीय सत् है। उपनिषदोने उसको ब्रह्म कहा, गीताने पुरुषोत्तम और भागवतने परमात्मा या कृष्ण। कृष्ण ही ब्रह्म, ईश्वर या परमात्मा हैं। वे सविशेष है, पर निर्विशेष भी है; सगुण हैं, पर निर्गुण भी है; अण है, पर महान भी है; चल है, पर कूटस्थ या अचल भी है; गम्य है. पर अगम्य भी हैं। वे विरुद्ध धर्मों या गुणोंके आश्रय है। वे सत . चित और आनन्द है। उनके सभी गण उनसे स्वभावतः अभिन्न है, वे उनकी शक्ति या माया नहीं है। उनके खरूपसे ही (शक्ति या मायासे नहीं) समस्त जगत आविर्भत होता है और ऐसा होनेपर भी वह अविकृत रहता है। इस मतको स्वरूप-परिणामवाद कहा जाता है। जगत् कार्यरूपसे ब्रह्म ही है। जगत्की उत्पत्ति तथा नाज नहीं होता, प्रत्यत आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुभवयोग्य होनेपर जगत्का आविर्भाव होता है और अनुभवयोग्य न होनेपर तिरोभाव । इस मतमें जगत तथा संसारमें एक विलक्षण भेद किया जाता है। ईश्वरकी इच्छाके विलाससे सदंशसे प्रादुर्भृत पदार्थको जगत कहते है और अविद्या या अज्ञानके द्वारा जीवसे कल्पित समता-अहन्तारूप पदार्थको संसार कहते है। संसारकी सत्ता अविद्याके कारण है। ज्ञानीदयसे संसारका नाश होता है, पर जगत् ब्रह्मरूप होनेसे सदा अविनाशी और नित्य रहता है।

इस ब्रह्मके तीन रूप हैं—परब्रह्म या पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्म। पहला ब्रह्मका आधिदैविक और तीसरा आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। अन्तर्यामी सर्वत्र आत्माओमें निवास करता है। परब्रह्म आनन्दधन है और अन्तर्यामी तथा अक्षर ब्रह्म आनन्दछेश (सीमित आनन्द) है।

अक्षर ब्रह्मकी कल्पना वर्छभमतकी विशेषता है। जैसे अग्निस स्फुलिंग निकलते है, वैसे अक्षर ब्रह्मसे अनेक जीवन और जगत् निकलते है। अक्षर ब्रह्म चार रूप धारण करता है—अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव। अक्षररूप पुरुष तथा प्रकृतिके रूपमे प्रकट होता है और यही प्रत्येक वस्तुका उपादान और निमित्त कारण बनता है। पुरुष या जीव अनन्त है। परिमाणमे प्रत्येक अणु है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। वह सत्, चित्त और आनन्द भी है। पर जब ईश्वर लीला करनेके लिए इच्छा करता है तो जीवको अपने आनन्दका अनुभव नहीं होता। इस कारण उसे दुःख मिलता है। इस दुःखके कारण वह बन्धनमे पड़ जाता है। ईश्वरकी कृपा होनेपर वह इससे मुक्त होता है। मुक्तावस्थामे जीव और ईश्वरका वास्तविक ऐक्य हो जाता है।

शंकराचार्यके अनुयायी इस तत्त्ववादको शुद्धाद्वैतवाद न कहकर शुद्ध द्वैतवाद कहते है, क्योंकि इसमें अनेक जीव, जगत्, कर्म, स्वभाव, काल, अक्षर ब्रह्म तथा परब्रह्मका भेद नित्य और सनातन रहता है। तार्किक दृष्टिसे देखनेपर यह मत सचमुच शुद्ध द्वैतवाद सिद्ध होता है। एकता (अद्वैत) और अनेकता(द्वेत)मे यह जो सम्बन्ध मानता है, उसमें वडा बाध है। धार्मिक दृष्टिसे यह मत कदाचित् सर्वश्रेष्ठ होगा, क्योंकि इसमें विशुद्ध ब्रह्मका ही सब लीला-विलास है और उसके अनुग्रहपर विशेष बल दिया गया है।

इस मतका साधनमार्ग पुष्टिमार्गके नामसे प्रसिद्ध है। पुष्टिका अर्थ कुछ लोग 'मोटा-ताजा' या 'खाओ, पियो, मीज उडाओ' करते है। पर यह अज्ञुद्ध है। 'भागवत पुराण'के द्वितीय स्कन्धके १०वें अध्यायके चतुर्थ दलोकों पुष्टि या पोषणका अर्थ भगवान्का अनुम्रह बताया गया है-

'पोपणं तदनुमहः'। इस इलोकांशके आधारपर वल्लभने अपने मतको पृष्टिके नामसे पुकारा। उनके मतसे ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग कठिन है। इस युगमें उनकी पूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि उपदेशक और सामग्रीका अभाव है। अब बचता है भक्तिमार्ग। इसमें किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं है। यह सर्वसुलभ है। अतः इसीकी वल्लभने शिक्षा दी।

वल्लभने जीवोंकी तीन कोटियाँ बतलायी है-पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह । जो जीव निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं और कभी ईश्वरका चिन्तन नहीं करते वे प्रवाह जीव है। वेदोका अध्ययन करते है, सत्को समझते है और वेद-यिहित मार्गसे ईश्वरकी पूजा करते है, ये मर्यादाजीव है। जिन जीवोंपर ईश्वर कृपा करता है, जिनको अपनी शरणमे लेता है और जो ईश्वरसे अनन्य प्रेम करते है, वे पुष्टि-जीव है। प्रवाहजीव जन्म-मरणके चक्रमें सदैव पडे रहते हैं। मर्यादाजीवोको कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गसे क्रममुक्ति मिलती है। वे क्रमशः पितृयान, देवयान और कैवल्यको प्राप्त करते हैं। भक्तिमार्गका अवलम्बन करके वे नवधा भक्ति वरते है-अवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन । इनकी भक्ति मर्यादा भक्ति (अन्य वेदान्तियोंके मतसे वैधी भक्ति) है। इससे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। श्रुतियों और स्मृतियोमे ये त्रिविध मार्ग (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग) वतलाये गये है, फिर भी उनमे कहा गया है कि ब्रह्मकी प्राप्ति विना ब्रह्मकी कृपा दुर्लभ है। 'कठोपनिषद्'मे कहा गया कि आत्माका ज्ञान प्रवचन तथा स्वाध्यायसे नहीं हो सकता, जिसपर ब्रह्म कृपा करता है, उसीको यह शान होता है। गीतामें भी इसी सिद्धान्तकी पुनरुक्ति हुई है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म-मार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग तथा इस ब्रह्मकृपावादमे विरोध दीख पडता है। वल्लभने इसको मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्तिके विवेक द्वारा दूर किथा। इनके मतसे मर्यादा-भक्ति (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और उपासनामार्ग) उन जीवो-के लिए है, जो स्वयं अपने कर्मी द्वारा मुक्त होना चाहते है और पुष्टिभक्ति उन लोगोंके लिए है, जो दीन और असहाय है, जिनके पास कोई साधन नहीं है। पुष्टि मर्थादासे पृथक तथा भिन्न है। मर्यादाभक्ति ईइवरप्रेममे नवधा मक्तिका फल होता है। पृष्टिमक्तिमे—ईश्वर-प्रेम ही सकल आध्यात्मिक कार्य-कलापोंका अथ और हेत है। पुष्टिभक्ति भी चार प्रकार की है-प्रवाहपुष्टिभक्ति, मर्यादा-पुष्टिमक्ति, पुष्टिपुष्टिमक्ति और शुद्धपुष्टिमक्ति। प्रवाह-पुष्टिभक्ति उन लोगोकी भक्ति है, जो ससारमें रहते हुए, गृहस्थजीवन विताने हुए, भगवान्की भक्ति करते हैं। मर्यादापृष्टिभक्ति उन लोगोकी भक्ति है, जो भोग-विलाससे विमुख होकर, विरक्त होकर, ईश्वरका गुणगान, चिन्तन, कीर्तन आदि करते हैं। पुष्टिपुष्टिभक्ति उन लोगोकी भक्ति हैं, जो पहले ईश्वरकी क्रपा पाकर भक्त वनने है और फिर दुनारा ईश्वरकी कृपाका लाभ करके ज्ञानके अधिकारी बनते हैं और ब्रह्मके विषयमें सभी शातव्य बातोको अपने प्रयत्नसे जानते हैं। शुद्धपृष्टिभक्ति उन लोगोंकी भक्ति है, जो भगवान्से 'अमित प्रेम' करनेके अतिरिक्त कुछ नहीं करते। यह भगवानके द्वारा भक्तमें स्थापित की जाती है और भक्तका सर्वस्व है। इसके भी तीन सोपान है-प्रेम, आसक्ति और व्यसन। ये न्यूनाधिक्यके विचारसे किये गये है। शुद्धपृष्टिभक्तिका उदाहरण गोपियोकी भक्ति है। ऐसे भक्त सायुज्य मुक्तिको भी तज देते है और भगवान्की रासलीलामे भाग लेनेको ही परम मुक्ति मानते है। कृष्ण रस, आनन्द, सुन्दर है। वे सभी रसोको, पर विशेषतः शृंगार रसको प्रकाशित करते है। संयोग और त्रिप्रलम्भके भेदसे शृंगार द्विविध है। अपने भक्तोंके सम्बन्धमे कृष्ण दोनोंकी अभिव्यक्ति करते हैं। इन्हीपर ध्यान करना पृष्टि-मार्गीका लक्ष्य है। यही कारण है कि 'भागवत'के दशम स्कन्थ (जिसमे ये लीलाएँ है)को लेकर महावावि सूरदासने बृहत् 'स्रसागर' रच डाला । रासलीला, बाललीला, गोकुलवर्णन, यशोदाका वात्सल्य, गोपियोके साथ कृष्णकी नाना लीलाओ, भ्रमरगीत (भक्ति और ज्ञानपर गोपियां और उद्धवमें संवाद) आदिका वर्णन दारके ब्रजमाषाके अधिकांश कवियोने अपनेको पृष्टिमक्त सिद्ध किया है। सुक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर मीरॉ और रसखान भी पुष्टिभक्त प्रतीत होते है। पुष्टिभक्ति सबके लिए खुली हुई है। प्रपत्तिसे या भगवान्की शरणमे जानेसे करुणावत्सल भगवान् आप-से-आप पुष्टि देता है। पुष्टिमार्ग प्रपत्तिमार्ग-से भिन्न है। प्रपत्तिसे ही पृष्टिका अर्थ होता है।

वल्लभने बालकृष्ण और उनकी सखी राधाकी उपासना-का विधान बनाया, क्योंकि रासलीला भगवान्के इसी रूपमें विशेष है (दे॰ 'अष्टछाप')।

[सहायक यन्थ—भारतीय दर्शन : वल्देव उपाध्याय; अणुभाष्य : वल्लभ; वैष्णविष्म,शैविष्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ।] —सं०ला०पा० कुद्धापहुनुति—दे० 'अपह्ननि', पहला भेद ।

ग्रद्धा लक्षणा-प्रयोजनवती लक्षणाका एक प्रमुख भेद। इसमे लक्ष्यार्थका ग्रहण साद्य-सम्बन्धके बिना किसी अन्य सम्बन्धके आधारपर किया जाता है। मम्मट तथा विश्वनाथने इसके भेदोंसे ही विचार करना प्रारम्भ किया है—उपादान तथा लक्षणलक्षणा आदि। 'गंगापर घर'मे साद्दय-सम्बन्धसे तटका ग्रहण न होकर सामीप्य-सम्बन्धसे है। यज्ञ-क्रियाके स्तम्भको इन्द्रका स्थानापन्न मान लिया जाता है और इन्द्र कहा जाता है। इस तादर्थ्य-सम्बन्धसे लक्ष्यार्थकी सिद्धि हुई है। इसी प्रकार 'अपने कर गुही'मे ॲगुलियोंके लिए हाथका प्रयोग अंगांगिभाव-सम्बन्ध है और बढईका काम करनेवाले बाह्मणको बढ़ई कहना तात्कर्म्य-सम्बन्ध है। ये समस्त सम्बन्ध साहश्यके बिना स्थापित किये गये हैं, अतएव शुद्धा लक्षणाके उदाहरण है। श्रुद्धि-तान्त्रिक साधनाको पारिभाषिक शब्दावलीमें देवता-को विधिपूर्वक अर्पित मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, फल और मूल आदिको 'ग्लाब्दि' कहा जाता है। 'महानिर्वाणतन्त्र' (६: ११)मे बताया गया है कि "मांसं मीनश्च मुद्रा च फल-मूलानि यानि च। सुधादाने देवतायै संज्ञेषा ग्रुद्धिरी-हिता"। इस शुद्धिके बिना हेतुदान, पूजन, तर्पण आदि निष्फल चले जाते हैं और देवता कभी तुष्ट नहीं होता।

शुद्धि (मांस मत्स्यादि)के बिना किया गया मद्यपान विष खानेकी तरह है। इससे साधक चिररोगी तो होता ही है, थोडी ही उम्रमें मर भी जाता है (महानिर्वाणतन्त्र, ६: १२-१३)। वैसे सरापानके कारण मुँहके कडवे स्वादको मिटानेके लिए खाये जानेवाले पान, नमक आदिको भी 'शुद्धि' कहा जाना है। दूध एवं पानीको शुद्धिकी तरह नहीं व्यवहृत किया जा सकता (मद्य, मांस आदिके लिए -रा० दे० सि० दे ० 'पंचमकार')। शून्य-शून्य शब्दका अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है। यह जितना ही प्रचलित हुआ, उतने ही प्रकारके इसके अर्थ किये गये। दूसरी तथा तीसरी शताब्दीके मध्यमे आचार्य नागार्जनके बादसे ही शुन्यकी कल्पना बौद्ध प्रभावके कारण अत्यन्त व्यापक हो गयी। यों बहुत पहलेसे शृन्य अबौद्ध परम्पराओमे भी परम तत्त्वकी एक सज्ञाके रूपमे परिकल्पित कर लिया गया था। 'महाभारत'मे भीष्मने विष्णुके सहस्र नामोका उपदेश देते हुए उनका एक नाम 'शून्य' भी बताया है और उस नामकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य-ने कहा था—"सर्वविद्येषरहितत्वात् शून्यवत् शून्यः," अर्थात समस्त विशेषणों, गुणो तथा प्रकृतियांसे रहित होनेके कारण वे शुन्यवत् है।

हिन्दू दार्शनिक इस शृन्यका अर्थ 'सत्ताका अभाव' छेते है, जो अमपूर्ण है। नागार्जुनने शृन्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शृन्य भी नहीं कह सकते, अशृन्य भी नहीं कह सकते और दोनो (शृन्य और अशृन्य) भी नहीं कह सकते। इसी भावकी प्रज्ञप्तिके लिए 'शृन्य' शब्दका व्यवहार होता है। नागार्जुनने 'माध्यमिक' शास्त्रमें उत्पत्ति, गति, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदिकी तर्कसहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया कि सभीमें विरोधी धर्मोंकी उपस्थिति है, अतः सभी शृन्य है (दे० 'शृन्यवाद')

सिद्धोंने शन्यको शन्यवादसे भी विस्तृत अर्थमें लिया । बौद्ध सिद्धोने अपनी प्रज्ञोपाय-प्रणालीमें इसी शून्यको नैरात्मा बालिका प्रज्ञा या महामुद्रा रूपमे प्रहण किया और साथ ही महासुखचक्रमें इस शून्यताकी स्थिति मानी। सिद्धोंने शून्यको दयकी कल्पनाओसे मुक्त अद्वय तत्त्व माना था और अभाव तथा साव, दोनोका ही परित्याग कर मध्यम तत्त्वके रूपमे स्वीकार किया था। 'लंकावतारसूत्र'मे कहा गया है कि शून्य तो वस्तुओके कर्मका स्वभाव है, दश्यमान जगत् चाहे शन्यस्वभाव हो, किन्तु चित्तका तो अस्तित्व है ही, अतः निर्वाणमे भवका विनाश होनेपर भी चित्तमात्रकी व्यवस्थाका अभाव नहीं होता! इस प्रकार सिद्धोंका तत्त्व-दर्शन विज्ञानवादसे प्रभावित चित्त परक है-तथताके सिद्धान्तसे मान्य । किन्तु वे भव और निर्वाणका विवेचन करते समय सबको शुन्यस्वभाव बताते है। आगे चलकर परवर्ती सम्प्रदायोंमे शून्य बौद्ध शून्यकी भॉति प्रतीत्य-समुत्पादकी तर्क-प्रणाली द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान न रहकर परम तत्त्वके अन्य नामोंकी भाँति यह भी एक नाम-·मात्र था, जिसकी व्याख्या और विवेचन प्रत्येक सम्प्रदायके चिन्तक अपने-अपने ढंगसे करते थे।

मूलतः शून्यका उल्लेख तत्त्वरूपसे भी किया गया है, जो अगोचर है, अगम है। इस शून्य तत्त्वको भादेपाने

सर्वशून्य कहा है, तिलोपा इसे उत्पादविहीन, आदिरहित एवं अन्तर्हित अद्भय कहते है । शून्य तत्त्व वर्णहीन है, आकृति-विहीन है, उसका अपना कोई आकार नहीं, वह शून्यता-रूपमे समस्त आकृतियोंमे व्याप्त है । न वह महान् है, न हस्य है, न लघु है, न दीर्घ है, न वह लाल है, न हरा, न मजीठ, न पीला और न काला ही है। वह वर्णविहीन है, सभी वर्णों और आकारोमें न्याप्त है। यही तत्त्व चित्तमे, जगत्में त्रिभुवनमे व्याप्त है। भव उस पर्म तत्वका केवल तरंगप्रवाह है, जो उसीमे विलीन हो जाता है। इसका स्वरूप इतना गुह्य है कि कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस शून्यज्ञानकी तीन विधाएँ है—(१) परिनिष्पन्न ज्ञान-जिसके लक्षण थे भाव और अभावमे समानता । नैरात्म्यज्ञान, जो द्विविध है, धर्म-नैरात्म्यज्ञान अर्थात् सांसारिक वस्तुओ-का नैरात्म्य या शन्यता और पुद्गलनैरात्म्य अर्थात् आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ताके अभावका ज्ञान। (२) समज्ञान -समस्त वस्तुओके उत्पादसे सब कुछ आदिरहित है, अन्तरहित है, अतः यही अद्वयज्ञान है। (३) भावाभाव-चित्त, अचित्त, भव निर्माण, शून्याशून्य, इन सभी द्वयि-ताओंका निषेध कर चित्तमें उदित होनेवाले शृन्यज्ञानकी साधना अत्यन्त सक्ष्म है।

यही ज्ञान जय साधकका स्वभाव हो जाता है तो वह सून्य स्वभावका हो जाता है, सम स्वभावका हो जाता है, अद्भय स्वभावका हो जाता है। ऐसे साधकको सृन्यज्ञ कहते है, क्योंकि वह भाव, अभाव और प्रकृति अर्थात् स्वभावकी स्न्यताको जान लेता है। वह अमनितकार हो जाता है और भवका मंजन कर देता है। सिद्धोंने सून्य स्वभावको परम कन्याणकारी कहा है। में ही जगत हूँ, तीनों भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए है, सभी दृश्यमान जगत्मे में ही व्याप्त हूँ, ऐसा जाननेवाला योगी सून्य स्वभावका हो जाता है और निश्चय ही सिद्ध हो जाता है (दे० 'दोहाकोष': प्र० चं० वागची)।

शून्यता ज्ञानके अतिरिक्त एक तत्त्व और था, जिसको सिद्धोंने विशेष महत्त्व दिया। वह तत्त्व था करुणा। महायानके अन्तर्गत करुणाको अत्यन्त महत्त्व दिया गया था। करुणाके अभावमें ही प्रत्येकयान और श्रावकयानको बोधिसत्त्वयानसे निम्न स्तरका (हीनयान) माना गया था। उसी करुणाको वज्ररूपमें प्रतिष्ठित किया गया, सिद्धोने उसे मणि, कुलिश तथा उपायरूपमे स्वीकार किया, किन्तु उसकी शून्यताके साथ समरक्षतापर, अद्वयपर विशेष बल दिया । सहजस्वरूपसे सिद्धोंका तात्पर्य उसी नैरात्म्यसे है, जिसमें शून्यता तथा करुणा अद्वयरूपमे स्थित हैं। शून्यदर्शनके बिना करुणा लक्ष्यभ्रष्ट होता है और करुणाके बिना शून्यताज्ञान भी निष्फल होता है। यही शून्य तथा करुणाका ऐक्य समस्त ब्रह्माण्डका मूल धर्म है। सारा विस्तार इन्ही दोनों तत्त्वोंका है। जो इन्हे समरसतारूपमे ग्रहण करता है, वह भवसे मुक्त हो जाता है। बादको इसी करुणातत्त्वकी कल्पना भक्तिमे बदल गयी।

साधनापद्धतिमें ज्ञून्यके चार स्वरूपोंको स्वीकार किया गया था। 'पंचक्रम'में चतुर्विध ज्ञून्यका रूप इस प्रकार समझाया गया है। ज्ञून्य चार है—ज्ञून्य, अतिक्रूल्य, महाश्चन्य तथा सर्वश्चन्य। इनका भेद कार्य-कारण-शृंखलापर आधारित है। पहला शुन्य आलोकज्ञान प्रज्ञा है। चित्त इसमें संकल्पामिभृत रहता है और यह स्वभावसे परतन्त्र है। इस अवस्थामें यह चित्तगत ३३ दोषोसे आच्छादित रहता है। इसकी समस्त मायाओमे सर्वश्रेष्ठ माया स्त्री है, जो इस शून्य प्रज्ञाकी अभिव्यक्ति है। इसीको बीजाक्षर भी कहते हैं। द्वितीय अतिशून्य आलोऋका आभास है, इसका स्वभाव परिकल्पित है, वह उपाय, दीक्षा, सूर्यमण्डल, वजपूरुप और मनकी २४ प्रवृत्तियोंसे आवे-ष्टित है। तृनीय महाश्रन्य आलोक तथा आलोकाभासके युगनद्धसे उदित होता है, किन्तु यह भी अविद्यारूप है, इसमें भी दोष रहने है। तीनो क्रमोमे दोषोकी संख्या १०६ है। उन दोषोंसे युक्त होनेपर प्रज्ञोपाय अद्वैतका सर्वशून्य उदित होता है। यही सर्वशृत्य परमतत्त्व है, जो आदि-अन्तसे विहीन, गुण-दोषरहित, भाव-अभावसे रहित तथा भावाभावसे भी रहित है।

नाथ-सम्प्रदायमें शून्यको परमतत्त्वके रूपमे स्वीकृत किया गया, किन्तु उसकी व्याख्यामे नाथ-परम्पराने संशोध्यन कर दिया—"वसती न सुन्यम् सुन्यम् न बस्ती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर मॅह बालक बोलै ताका नॉव धरहुगे कैसा" (गोरखवानी)। शून्यको 'गगन शिखर मॅह बालक बोले', इस रूपमे किसी पूर्ववर्ती सम्प्रदायने स्वीकृत नहीं किया। इस संशोधनके पीछे हठयोगी परम्पराकी दार्शनिक चिन्तना है। यहाँ शून्यका सम्बन्ध नादतत्त्वसे जोड़ दिया गया है—इसीकी अभिव्यक्तिके लिए नाथ सिंगी धारण करते थे। नाद सृष्टिका मूल कारण तथा परमतत्त्व, परमज्ञान, परमस्वभाव था। अतः शून्यका वर्णन भी इसी रूपमें नाथ-सम्प्रदायमें किया गया है। संक्षेपमें नाथ-साहित्यमें शून्यप्रयोग तीन रूपोंमे हुआ है—१० परमतत्त्व नाद, परमज्ञान, परमस्वभाव, २० ब्रह्मरन्ध्र, दशम द्वार अथवा मध्य पथ सहस्रार चक्र, गगनमण्डल, ३० शिवलोक।

सन्त कि शू-यज्ञानके सम्बन्धमे प्रतीत्यसमुत्पादसे परिचित नहीं थे और शू-यताज्ञान उन्हें अद्वैत्रज्ञानके रूपमें प्राप्त हुआ था, क्योंकि सन्तींतक आनेके पूर्व वह शैव सम्प्रदायो द्वारा स्वीकृत किया जा चुका था। शैव हठयोग-परम्परामे काथामें ही मण्डलके रूपमे शू-यक्ती स्थिति मान ली गयी थी। इस दृष्टिसे कई स्थान शू-यसे विशेषतः सम्बद्ध माने गये थे, एक तो अ्मध्य त्रिकुटीमे शू-यक्ता स्थान माना गया था। इला-पिंगलाके मध्य शू-यस्थानको महल, मण्डण शिखर, नगर, हाट आदि रूपमें भी वर्णित किया है। सिद्धों एवं नाथोके सम्मुख शू-य-मण्डलको स्थिति स्पष्ट है, किन्तु सन्तोंने इस शू-य-गुफा, शू-य-मण्डल और त्रिकुटी, ब्रह्मर-ध्र तथा सहस्रदल कमलको कल्पनाओंको इतना शुला-मिला दिया है कि ऐसा लगता है कि वे इसकी वास्तविक स्थितियोको भूल गये है और केवल परम्परानिर्वाहके लिए शू-य-मण्डल, शू-य-गुफा आदिका उल्लेखमात्र कर देते है।

. महल, गुफा, सरोवर, शिखर, कमल, दीपक, ज्योति, नीर, मेघ आदि उपमानोंसे शून्यको सम्बोधित किया गया है। इन समीका अपना विशेष अर्थ है। महल, गुफा, शिखर, सरोवरका रूपक 'दोहाकोष'में स्पष्ट मिलता है। ज्योतिके रूपकमे शून्यकी ज्योति तथा चण्डाग्निकी ज्योति भी सिद्धोके चर्यापदोमें बरावर वर्णित है। इसके अतिरिक्त परवर्ती सन्त-साहित्यमे शून्यको बाधम्बर, ध्वजा, थाल आदि उपमानोंसे भी चित्रित किया गया है, जहाँ उसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है।

वज्रयानी साहित्यमे चार शून्य माने गये। चार शून्योकी कल्पना 'हरुयोगप्रदीपिका'मे भी सहण की गयी थी। पर उसे नादकी चार अवस्थाओंसे जोड़ दिया गया था। दादने इन चारो शुन्योंको एक नये रूपमे स्वीकृत किया। इन्होने कायाशून्य, आत्मशून्य, पर्मशून्य तथा सहज-शुन्य, इन चारों शुन्योंका वर्णन किया है, जिनमेसे पहले तीन सगुण तथा साकार है और अन्तिम श्रन्य निर्मुण तथा निराकार है (दे०- 'शून्यवाद')। बादमे कबीर-पन्थके साम्प्रदायिक साहित्यमें शून्यकी संख्यामे कल्पनातीत वृद्धि हुई। 'कबीरवानी'मे पहले सातकी संख्याको महत्त्व दिया गया-"सात सून्यका सकल पसारा, सात सून्यते कोई न न्यारा"। किन्तु इन सात शून्योंका कोई लक्षण नहीं बताया गया। इस वृद्धिके पीछे कोई संकेत न होकर संख्या-प्रेम ही ज्ञात होता है, क्योंकि वैकुण्ठके विस्तारमे १८ करोड शून्योंकी शृखलाका वर्णन मिलता है और उसके भी आगे अनहद ज्योतिका वास बताया गया। वहाँ असख्य शृत्य परिकल्पित किये गये। इन्ही शून्योंकी तुलनामे वेशून्य भी परिकल्पित किये गये, फिर इन सबको सातकी संख्यामें समाहित करनेका प्रयास किया गया। उसकी गणना इस प्रकार बतायी-असख्य शून्य चार + वेशून्य दो + शून्य एक बराबर सात ज्ञून्य। ये सत्त ज्ञून्य सूर्यकी किरणोंके सात रंगोंसे समन्वित कर दिये गये और आखिरमे सृष्टि इन्ही रंगोका विस्तार मान ली गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे शून्यके ज्ञानका परम और तात्त्रिक अर्थ भूला दिया गया, वह केवल एक निरर्थक पौराणिक कल्पनामात्र बनकर रह ---ध० बी० सा०

शून्यचक-दे॰ 'हठयोग'। शून्यपदवी-सृषुग्ना नाड़ी; (दे॰ 'अवधृती')। शून्यभाव-ख+सम भाव; (दे॰ 'खसम')। शून्यमार्ग-सुपुम्ना नाडी (दे॰ 'अवधृती')।

शून्यवाद महायानको सामान्यतया दो दार्शनिक सम्प्रदायोमे विभाजित किया जाता है — माध्यमिक (शून्यनाद), विज्ञानवाद (योगाचार)। शून्यवादके सबसे प्रबल
प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन थे, जिन्होने लगभग दूसरी
ईसवी शतीके अन्तिम चरणमें अपना प्रख्यात यन्ध 'माध्यमिकशास्त्र' लिखकर शून्यवादको प्रतिष्ठित किया। उन
कारिकाओंमे उन्होने उत्पत्ति, गति, दुख, बन्धन, मोक्ष
आदि सभी धारणाओंकी तर्क सहित परीक्षा कर यह सिद्ध
किया है कि सभीमे विरोधो धमोंकी उपस्थिति है, अतः सभी
शून्य है। इसके लिए उन्होंने प्रख्यात अष्ट निपेधोका विधान
किया था, जिसमें उन्होंने प्रख्यात अष्ट निपेधोका विधान
किया था, जिसमें उन्होंने प्रत्येक वस्तुको अनिरोध,
अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकाधी, अनानाधी,
अनागमी और अनिर्गमी बनाया था। प्रथम अध्यायकी
प्रथम कारिकामें ही इन आठ निषेधात्मक स्वभावींका उन्हेख
करते हुए उन्होंने यह कहा था कि जो इन आठ निषेधोंस

परिचित हो जाता है वह कभी भी अतिवादोंका आश्रय नहीं ग्रहण करता और सदा मध्यम पथ्यर चलता है।

वस्तुतः इस शून्यका अर्थ हिन्दू दार्शनिकोने अक्सर 'सत्ताका अभाव' किया है। शन्यवादी आचार्य इसे इस अर्थमे नहीं ग्रहण करते। वस्तुएँ आकाशक्समकी भोति सत्ताशन्य नहीं होती, पर वे नितान्त तात्त्विक भी नहीं होती, क्यों कि वे कारणों पर निर्भर होती है और अनित्य होती है। संसारमे कोई वरत नहीं, जो कारणोपर आधारित न हो और कोई धर्म नहीं, जो हेतुओंपर आधारित न हो, अतः कोई वस्त या धर्म स्वतन्त्र या निरपेक्ष नहीं, इसलिए उनका अपना कोई स्वभाव नहीं। यह दिखानेके बाद आचार्य नागार्जुन कार्य-कारणका भी अन्तर्विरोध दिखाते है। वे कहते है कि यदि कार्य और कारण भिन्न है तो इसका अर्थ यह है कि कारणके विना भी कार्य सम्भव था। यदि उनमे भिन्नता नहीं तो एक ही वस्तुके कार्य और कारण दो नाम देना उचित नहीं । फिर कोई वस्तु दूसरेसे उत्पन्न भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब उस वस्तुका कोई धर्म नहीं तो वह दूमरी वस्तुको क्या उत्पन्न करेगी। इसी प्रकार शून्यवाद उत्पत्ति, गति, स्वभाव, धर्मका निपेध कर समस्त सृष्टिको अनन्त श्रन्यताकी चिर प्रवहमान् धारामात्र सिद्ध कर देता है।

प्रदन यह है कि जब सभी शन्य है तो निर्वाण क्या है ? क्यो प्राप्त किया जाय ? कैने प्राप्त किया जाय ? नागार्जुनका कहना है कि न निर्वाण संसारसे परे कोई वस्त है और न संसार निर्वाणसे परे; वस्तुतः भाव और अभावके परामर्शके क्षयको ही निर्वाण कहते है। वह तो श्रूयमें उलझी हुई गाँठ है, जो श्रूपमें ही खुल जाती है (विस्तारके लिए दे०—वौद्धधर्म दर्शन: आचार्य नरेन्द्र देव) तथा शून्य शब्दके परवर्ती विकासके लिए (दे० 'शून्य')। --- ध० वी० भा० श्रंगारकाल – हिन्दी साहित्यका रीतिकाल (दे०) ही शृंगार-काल कहलाता है। उत्तर-मध्यकालमें कान्यकी प्रधान प्रवृत्ति शृंगार की है। लगभग सभी कान्यधाराओं में शृंगारके दर्शन होते है। कवियों के वर्णन शृंगारसे ओत-प्रोत होने के कारण इस युगको शृंगारकालकी संज्ञा दी गयी है। काव्यमें भावकी प्रधानताकी दृष्टिसे जो हिन्दी साहित्यका काल-विभाजन है, उसमें वीर, भक्ति और शृंगार ही अधिक उपयुक्त नाम कुछ विद्वानोंको मान्य हैं। श्वगारिक काव्यके विविध अंगोंका विस्तार इस कालके साहित्यमे देखा जाता है। साहित्यमे शृंगार-वर्णनकी प्रमुख प्रवृत्ति, इस नामकी यथार्थता सिद्ध करती है। श्टंगार रस-शब्दार्थकी दृष्टिसे शृंगार 'कामोद्रेक' अथवा 'कामवृद्धिकी प्राप्ति'का द्योतक है। शृंगारमें दो शब्द मिले हैं--शृंग तथा आर। 'शृंग'का अर्थ है कामोद्रेक अथवा कामको वृद्धि । 'आर' गत्यर्थ 'ऋ' धातुसे बना है, जिसका अर्थ यहाँ है प्राप्ति। अतएव, शृंगारका अर्थ हुआ 'कामवृद्धिकौ प्राप्ति' (र० मं०, पृ० १७९)। अतएव जो रचना मानव-हृदयकी मधुरतम भूख, कामको उज्जीवित

एवं परितृप्त करेगी, वह शृंगार रसकी रचना कही जायगी।

विश्व-साहित्यका एक अत्यन्त विस्तृत परिणाम इस हृद्धया-

वर्जक रसकी मन्दाकिगीसे ओत-प्रोत है। भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'के छठे अध्यायमे कहा है—"शृंगार रस रति स्थायी भावसे उद्भृत होता है। उसका वेश उज्ज्वल है। संसारमे जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगारमे उपिमत होता है। उज्ज्वल वेशवाला शृंगारवान कहा जाता है। जैसे पुरुषोके नाम गोत्र, कुछ तथा आचारसे उत्पन्न एवं आप्तोपदेशते सिद्ध हुआ करते है, वैसे ही इन रसो, भावो तथा नाटकाश्रित पदार्थींके नाम भी आप्तोपदेशसे सिद्ध तथा आचारसे बनते है, इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होनेसे इस रसका नाम शृंगार पड़ा है। यह स्त्री-पुरुषके माध्यममे उत्पन्न होता है तथा उत्तम यौवनकी प्रकृतिके अनुकृष्ठ है। 'साहित्यदर्पण'मे विश्वनाथने शृगारकी परिभाषा दी है-"'शृंगं हि मन्मथीद्भेदस्तदा-गमनहेतकः । उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते" (३, १८३)। अर्थात् कामके अंकुरित होनेको शृंग कहते है। उसकी उत्पत्तिका कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृतिसे यक्त, रस शृंगार कहलाता है।

उपर्युक्त उद्धरणोसे शृंगार रसका सम्यक् स्वरूप उन्मी-लित हो जाता है। आचार्योंने श्रंगारको मनुष्यकी सबसे प्रिय भूख 'काम'से सम्बद्ध करके उसकी प्रकृतिको पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय कथित किया है। 'शतपथ-बाह्मण'मे कहा गया है कि विश्वकर्मा प्रजापति आरम्भमे एक था, किन्त उसका अकेले मन नहीं लगा, अतएव उसने अपनेको ही स्त्री एवं पुरुषके रूपमे विभक्त कर दिया। वास्तवमें यह कथन कामके सर्वातिशायी महत्त्वको आलोकित करता है। भारतीय साहित्याचार्यीने काव्यगत रसोमें शृंगारको मुर्थन्य स्थानपर प्रतिष्ठित कर यथार्थवादी भूमिका ग्रहण करनेका अमोघ साहस प्रदर्शित किया है। विश्वनाथने 'उत्तम प्रकृति'से संयुक्त बताकर शृंगार अथवा काम-चित्रणको कोरी विलासगर्भित कामुकतासे बचा लिया है। प्रकृतिवादी शृंगारको आद्य रस मानते है और भोजराजने 'शृगार-प्रकाश में शृंगारको आस्वादनीयताकी दृष्टिसे एकमात्र रस स्वीकार किया है-"शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः"। शृंगारके देवता विष्णु माने गये है, जो अपनी अनन्तराक्ति रमाके साथ रमण करते हुए लोकका पालन करते है और इसीलिए उसका वर्ण स्थाम कहा गया है।

शृंगारका स्थायी भाव 'रिति' है । भोजराजके अनुसार— "मनोनुकूलेष्वथेंषु सुखसंवेदनं रितः", अर्थाद मनके अनु-कूल विषयोमें सुखका अनुभव करना 'रित' है । विश्वनाथने भी रितिसे यही अर्थ प्रहण किया है— "रितर्मनोनुकूलेऽभें मनसः प्रवणायितम्"। लेकिन अन्य आचार्योंने 'रिति'को शृंगार रसके सन्दर्भमें, स्त्री-पुरुषके एक-दूसरेके प्रति नैसिंगिकी आसिक्तिके रूपमे ही प्रहण किया है। अतः स्त्री-पुरुष जब एक-दूसरेके मनोनुकूल हों, पिरपूर्ण आनन्दका उपभोग करें या उनका रितभाव पूर्णतया प्रस्फुट हो जाय, तब वह शृंगार रस कहलायेगा— "यूनोः परस्परं पिरपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरितिभावो वा शृंगारः" (र० त०, ६)। विशेष व्याख्याके लिए दे० 'रित'।

नायक-नायिकाका एक-दूसरेमें अनुरक्त रहना आदर्श 'शृंगारके लिए स्पृहणीय है। यदि उनमेंसे एकको रति या प्रमोद अधिक हो या न्यून हो या एकमें विलक्षल हो ही नहीं, तो परिपूर्णताका अभाव होनेसे वहाँ रस नहीं माना जायगा, प्रत्युत वह रसाभास होगा—"यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेवीधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तरभावात रसाभासत्विमिति" (वही, वही)।

रसमें अनौचित्य होनेपर 'रसाभास' माना जाता है। उपनायक, अर्थात् अन्य पुरुषमें अथवा अनेक पुरुषोंमें नायिकाकी रित होना, नदी आदि निरिन्द्रियोंमें सम्भोगका आरोप करना, पशु-पक्षियोंके मिका वर्णन करना, गुरुपत्नी आदिमें अनुराग, नायक-नायिकामें अनुभयनिष्ठ रित, नीच व्यक्तिमें प्रेम होना इत्यादि शृंगार रसके रसाभास कहे जाते हैं।

विभावादिको द्वारा रितभावके पूर्णतया इस प्रकार रस्यमान होनेपर कि मन उसमें विश्राम कर सके, शृंगार रसकी निष्पत्ति होती है—"भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः" (र०त०, ६)।

'साहित्यदर्पण'के अनुसार, पराई स्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्याको छोडकर अन्य नायिकाएँ तथा 'दक्षिण' इत्यादि नायक शृंगारके आलम्बन-विभाव हैं; चन्द्रमा, चन्दन, अमर इत्यादि उद्दीपन-विभाव हैं; अथ च उप्रता, आलस्य एवं जुगुष्साको छोडकर अन्य निवेंदादि इसके व्यभिचारी भाव है। यहाँ यह स्मरणीय हैं कि भीमराज जैसे कतिपय आचार्योंका अभिमत हैं कि ये वाधित संचारी भाव भी शृंगारमें सन्निविष्ट हो सकते है। प्रेमपूर्णं आलाप, स्नेहसिक्त चेष्टाएँ, चुम्बन, परिरम्भण, स्वेद, कम्प, रोमांच इत्यादि अनैक अनुभाव हैं, जो रतिके उद्बोधकी व्यंजना करते है।

साहित्यमें इस रतिके दो रूप चित्रित किये गये दृष्टि-गोचर होते है। पहला और अधिक लोकप्रिय स्वरूप वह ्रहै, जो पार्थिव नर-नारियोकी प्रणयलीलाओंके चित्रणसे परिपूर्ण है। इस कोटिका शृंगार 'लौकिक' कहलाता है, क्योंकि इसके आलम्बन सामान्य स्त्री-पुरुष होते हैं। दूसरा स्वरूप वह है, जिसमे अनुरागका आलम्बन कोई पार्थिव प्राणी न होकर, कोई इष्टदेव, भगवान या परमातमा हुआ करता है। कवीर, दाद आदि निर्शुणोपासक सन्तोने 'राम-भरतार'के लिए जो मिलन-विरहके गीत गाये है, वह इसी जातिका शृंगार है। इसे 'अलैकिक' अथवा 'आध्यात्मिक' शृंगार कहते हैं। आधुनिक कालमें कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महादेवी वर्मा प्रभृति कवियोंने अलौकिक श्रंगारकी रचनाएँ की हैं। सूर आदि कृष्णोपासक कवियोंने जिस श्रंगारका वर्णन किया है, वह दिव्य शृंगार कहा जाता है तथा आचार्योंने वहाँ उज्ज्वल-रस माना है। कृष्णलीलाओका आध्यात्मिक अर्थ लगाया गया है और इस दृष्टिसे उनका चित्रण अलौकिक किंवा आध्यात्मिक शृंगारकी श्रेणीमे समाविष्ट हो सकता है।

मनुष्यकी कामभावनाको दुलरानेवाला शृंगार रस मनी-वैज्ञानिक दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व रखता है। आधुनिक मनः शास्त्रियोंने कामको जीवनकी मूलभृत संचालिका वृत्ति माना है। फायडके अनुसार काम-वासना (लिविडो) मनुष्यमें जन्म-जात है और सभ्यता, संस्कृति इत्यादिमें उसीकी परिमाजित अभिन्यक्ति होती है। विल इस्पूरण्ट जैसे

मनस्तस्विदोंका कथन है कि संयोगेच्छा मानवकी मौलिक प्रवृत्ति है तथा वह सदा पूर्णत्वप्राप्तिकी कामनासे अपने अर्द्धांशि खोज किया करता है। ऋग्वेदमे भी कामको मनका प्राथमिक-विकार कहा गया है—"कामस्तदग्रे समन्वतंगिध मनसो रेतः प्रथमं तदासीत"। शृंगार जीवनकी इसी नियामिका वृत्तिपर शासन करता है और उसकी मानसिक तृष्टिका विधान कर मनुष्यको अनाचार-दुराचारसे बचानेकी अदृश्य योजना करता है। प्रसिद्ध समीक्षाशास्त्री रिचर्ड सका कथन है कि जिस मनोवेगकी तृष्टिसे अधिकाधिक अन्य मनोवेगोंको भी सन्तोष लाम होता है, वही मृद्यवान् है तथा उसीका चित्रण काव्यमे आह्य है। इस दृष्टिसे शृंगार रसका मानसिक सन्तुलन या सामंजस्यके हेतु अतीव महत्त्व है, क्योंकि इसका सम्बन्ध उस प्रवल मान-प्रणालीसे है, जो अनेक अन्य वेगोको अपनेमें समाहित किये हुए है।

ह्यता, व्यापकता आदिके कारण शृंगारको 'स्सराज' कहा गया है। आनन्दवर्धनने 'ध्वन्यालोक'मे कहा है कि शृंगार रस समस्त संसारी प्राणियोंके अनुभवका विषय होनेके कारण कमनीयताकी दृष्टिसे प्रधान है तया इसके वर्णनमे किवको अत्यन्त सावधान एवं प्रयत्नवान् होना चाहिये। हिन्दीके आचार्य देवका तो कहना है कि नौ रसोका कथन करना प्रमाद है, क्योकि शृंगार ही सकल रसोका मूल है। शृंगारके साथ हास्य, वीर एवं अद्भुत रसोंका मैत्रीभाव माना गया है तथा बीमत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त इसके विरोध रस समझे जाते हैं, यद्यपि आचार्योंने विरोध-परिहारकी व्यवस्था की है।

शृंगार रसके दो भेद—सम्भोग-शृगार अथवा संयोग-शृंगार और विप्रलम्भ-शृंगार अथवा वियोग-शृगार होते हैं (दे०)।

हिन्दी साहित्यमें प्रारम्भते ही शृंगारकी सरस धारा प्रवाहित रही है। यों तो रासोयन्थोंमें भी श्रंगारी चित्रण उपलब्ध होते है, पर शृंगारका उन्मुक्त प्रवाह विद्यापितकी पदावलीमे ही सबसे पहले प्रवाहित हुआ है। सौन्दर्य एवं प्रेमके विलासपूर्ण चित्रोंने पदावली ओन-प्रोत है। नख-सिख, वयःसिंध इत्यादिके वर्णनमे परम्परा-भुक्त उपमानो-का प्रचुर प्रयोग होनेपर भी, कविका स्वतन्त्र निरीक्षण तथा उसकी रसलिप्स चेतनाके असन्दिग्ध दर्शन होते है। सम्भोगचित्रोंमें विलासिताकी स्पष्ट गन्ध आती है, तथाि प्रेमविह्नलता, लालसा, अतृप्ति, सम्मिलन-सुखकी तलीनता एवं आत्म-विस्मृति इत्यादिकी जैसी मर्मस्परी विवृति पदा-वलीमें मिलती है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। विप्रलम्भ-वर्णनमे विद्यापतिने स्थूल ऐन्द्रियताका परित्याग कर नायि-काओंके प्राणींकी भीतरी सिहरनकी उन्मीलिन किया है। कान्यशास्त्र तथा कामशास्त्रका प्रभूत प्रभाव पदावलीमें लक्षित होता है। 'गीतगोविन्द'का-सा गहरा माधुर्य यदि हिन्दी साहित्यमें कही उपलब्ध है, तो वह विद्यापितमे ही। कबीर, दादू इत्यादि सन्तोकी रचनाओं में श्रंगार पार्थिवतासे त्रिमुख होकर आध्यात्मिकताकी ओर उन्मुख हो गया है। जायसीका शृंगार निराले ढंगका है, क्योंकि 'पद्मावत'में एक लौकिक प्रेमकथाको आध्यात्मिक प्रेमके विकास एवं परिणित- पर घटानेका उद्योग किया गया है। लौकिक धरातलपर बहता हुआ भी 'पद्मावत'का प्रेम-प्रवाह अलौकिक संकेतोमे परिपूर्ण है। अथ च रतनसेन और पद्मावतीके सम्भोग-वर्णनमें जो मादक विलासिता समाविष्ट हो गयी है, उसमे भी जायसीकी स्पष्ट सोदेश्यता यथेष्ट रसचर्वणामे बाधा पहुँचाती प्रतीत होती है। 'पद्मावत'के शृंगार-वर्णनमें नाग-मनीका वियोग अवस्य विशुद्ध लौकिक रसका परिपोषण करता है, तथापि जायसी मूलतः साधक है, शृंगारी नहीं। सूर इत्यादि भक्त कवियोने अपने उपास्य कृष्णकी प्रेम लीलाओंका गान किया है। जहाँ विद्यापति एवं जायसी नायिकाओंके नखसिख-वर्णनमें ही सम्पूर्ण कौशल नियोजित कर देते है, वहीं सूर कृष्णके सौन्दर्यको बार-बार चित्रित करनेमे अपनेको कृतकाम मानते हैं। वस्तुतः गोपियोंकी सम्पूर्ण आसक्ति कृष्णके रूपपर ही केन्द्रित है तथा कवि अपूर्व तन्मयतापूर्वक उस रूप-सुषमाका गान करता है। सम्भोग-सुखका जैसा माइक एवं विलासमय चित्रण सूरने किया है, उतना ही मर्मस्पर्शी चित्रण वियोगका किया है। कामशास्त्रीय प्रभाव भी लक्षित होता है, तथापि प्रेमविद्ध हृदयकी जितनी अगणित वृत्तियोका अंकन सूरने किया है, खाभाविकताके साथ सुरसताका जैसा मंजुल मिश्रण किया है, वह हिन्दी साहित्यमे अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। अनुराग-कीलाओकी अलौकिकताका बार-बार निदेंश कर सूरने सम्पूर्ण शृंगार-वर्णनको सचमुच उज्ज्वल रसमे परिणत कर दिया है।

रीतिकालीन कवियोंके शृंगार-वर्णनपर युगकी विलासिता तथा संस्कृतके काव्यशास्त्रका प्रभाव पड़ा है तथा जो शृंगार भक्तियुगमे भावनाके मधुर सौरभसे ओतप्रोत था, वह कामुक विलासिताका प्रशस्तिगान करने लग गया। यद्यपि राधावृष्ण अब भी आलम्बनरूपमें गृहीत रहे, पर परकीयाओं तथा खिण्डताओकी बाद-सी आ गयी और स्वाभाविकताका स्थान कृत्रिमताने हे हिया। तथापि, सौन्दर्य एवं प्रेमके मार्मिक चित्र भी इन कवियोने अंकित किये है । नायिका-भेद-कथनके व्याजसे केशव, मतिराम, देव तथा अन्य परवर्ती आचार्य कवियोंने अत्यन्त सरस पद्योकी रचना की है, जिसमें सम्भोग एवं विप्रकम्भ-शृंगारकी ललित एवं हृदयस्पशी धारा प्रवाहित - हुई है। विहारीकी सतसई समस्त श्वंगार-साहित्यका भूषण है तथा हावों एवं अनुभावोंकी जैसी रमणीय योजना उसमें हुई है, उससे विहारीकी रिसकता एवं अवेक्षण, दोनोका उन्मीलन होता है। घनानन्द, बोधा इत्यादि रीतिमुक्त कवियोने प्रेमकी पीरकी बड़ी अनुभूतिपूर्ण व्यंजना की है। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि रीतियुगीन शृंगार आमुष्मिकतासे विद्रोह कर धरतीपर आ गया है और पार्थिव प्रेमकी सम्पूर्ण स्यामलता एवं उज्ज्वलता, विलासिता एवं नैसर्गिकता, कुरूपता एवं कमनीयता उसमें एक साथ प्रतिफलित हुई है। छायावादी युगमें शृंगार पुनः स्थूल धरातल हे उठकर सक्ष्म हो गया है और सौन्दर्य एवं प्रेमकी वायवी, कोमल एवं सम्भ्रममयी मूर्तियाँ अंकित हुई है। परवर्ती साहित्य फायडके कामवादसे स्पष्ट प्रभावित दीखना हैं, परन्तु वर्तमान युगके साहित्यमे मानव-मनकी सुक्ष्म तथा सघन अभिन्यक्ति प्रभावशील रूपमें की जा रही है, अतः शृंगारिक भावना भी अधिक विषमं तथा बिविध रूपमे

व्यंजित हो रही है। ─र० ति० श्रगाल-उल्टबाँसियोंमें निरन्तर सिंहको वासनायुक्त मनका और श्रगालको ज्ञानवान् मनका प्रतीक मानकर श्रृगाल द्वारा सिहका भक्षण दिखाया गया है-"निति निति सिआला सिंह सम जुड़ान" (चर्यापद, ३३)। 'निति उठि स्याल स्वंध सम जुझैं (क॰ ग्रं॰)। ---ध० वी० भा० **शेर**—उर्दू कवितामे कोई एक छन्द शेर कहलाता है। **इ**समे दो मिसरे (चरण) होते हैं, जो एक ही वजन (माप)के होते है और उनका विषय भी आपसमें सम्बन्धित होता है। प्रायः यह शेर अर्थकी दृष्टिसे अपनेमें पूर्ण होता है और एक प्रकारसे मुक्तक कहा जा सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्वापर प्रसंगकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती। - मसी० **शैतान-**इसलाम धर्ममें शैतानको अममें डालनेवाला, बहकानेवाला कहा गया है, जो आत्माको परमात्मासे विमख करता है। जायसीने 'अखरावट'मे लिखा है—"पुनि इबलीस संचारेड, डरत रहै सब कोइ"। यह इबलीस ही शैतान है। सूफी साधक जीलीने बताया है कि "यह सभी बुराइयोंकी उत्पत्तिका कारण है। सुफी साधक इसकी आवश्यकताको स्वीकार करते है। उनका कहना है कि यह इबळीस उनका तो विनाश करता है, जो सतर्क नहीं रहते, लेकिन परमात्मामें प्रेम करनेवालोंका वह मुक्तिदाता है, क्योंकि बुराइयोसे युक्त वह उनके साथ अगर नहीं रहता तो वे अपनी पवित्रताके गर्व और अहंकारसे भर जाते"। जायसीके 'पदमावत'मे 'राघवदूत सोई सैतानू' कहा गया है। यद्यपि कुछ विद्वानोंके मतमें 'पद्मावत'का यह अंश प्रक्षिप्त है, फिर भी इससे यह तो पता चल ही जाता है कि शैतानको सूफी 'राघव-चेतन'की तरह बहकानेवाला मानते है। –रा० पू० ति० शैली - शैली अंग्रेजी 'स्टाइल'का अनुवाद है और अंग्रेजी साहित्यके प्रभावसे हिन्दीमें आया है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रमे शैलीसे मिलते-जुलते अर्थंको देनेवाला एक शब्द प्रयुक्त हुआ है—रीति। 'कान्यालंकारसूत्र'के लेखक आचार्य वामनने रीतिको 'विशिष्टपद रचना' कहकर परिभाषित किया है। इस परिभाषामे 'विशिष्ट' शब्दका अर्थ है गुण-युक्त । आचार्य वामन रीतिको काव्यकी आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार रीतियोंके तीन रूप हैं-वैदर्भा, गौड़ीय और पांचाली। वैदर्भा रीतिमे, वामनके अनुसार, ओज, प्रसाद आदि समस्त अण रहते है। गौड़ी रीतिके प्रधान गुण ओज और कान्ति है और पांचालीके मधरता और सकुमारता । वामनके मतमे वैदर्भी रीति ही सर्वथा ग्राह्य है। दूसरे आचार्योंने उक्त रीनियोंके दूसरे प्रकारके वर्णन दिये है। कुछ आचायोंने यह भी निदेंश करनेकी कोशिश की है कि किस प्रकारके वर्णी आदिके प्रयोगसे विदोष रीति अस्तित्वमे आती है। रीतियोंके ये व्याख्यान यह सकेत देते है मानो रीतितत्त्वका प्रमुख आधार विशिष्ट पदयोजना हो। यहाँ एक बात और लक्षित करने की है-वामन आदिके मतमें रीति अच्छे लेखनका ही धर्म है। इसका मतलब यह हुआ कि घटिया रचनामे रीतिकी उपस्थिति नहीं होती।

नया इसी प्रकार यहं माना जाना चाहिये कि शैली

नामक तत्त्व अच्छी रचनाओं में ही उपस्थित रहता है ? क्या खराव लेखकों में शैलीका अभाव रहता है ? यदि यह माना जाय कि शैली एक स्पृहणीय गुण है, तो कहना होगा कि अच्छे लेखक ही अच्छे शैलीकार भी होते है । प्रसिद्ध यूनानी विचारक अफलातून या प्लेटोका यही मत है— "जब विचारको तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है तो शैलीका उदय होता है"। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी उपन्यासकार स्तान्धालने भी शैलीको अच्छी रचनाका गुण मानते हुए उसका विवेचन किया है । उसके विचारमे "शैलीका अस्तित्व इसमे निहित है कि दिये हुए विचारके साथ उन सव परिस्थितियोको जोड़ दिया जाय, जो कि उस विचारके अभिमत प्रभावको सम्पूर्णनामे उत्पन्न करनेवाली हैं"। इससे मिलता-जुलता ही वनांर्ड शाका यह विचार है कि "प्रभाव-पूर्ण अभिन्यक्ति ही शैलीका अथ और इति हैं"।

यहाँ प्रदन उठता है-यह हम कैसे जान सकते हैं कि कोई रचना सम्पूर्ण अभीष्ट प्रभावको उत्पन्न कर रही है या निर्ना श्री इस प्रदनपर गर्मारतासे विचार करनेपर जान पुडता है कि किसी रचनाकी शैलीको उस रचनासे पृथक् भैरके मूल्यांकनका विषय नहीं बनाया जा सकता। इमारी समझमे, शैलीको एक गुण मानते हुए, उसकी परिभाषा इस प्रकार करनी चाहिये—"शैली अनुभृत विषयवस्तुको तजानेके उन तरीकोका नाम है, जो उस विषयवस्तुकी अभिन्यक्तिको सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते है"। इस दृष्टिसे देखनेपर यह जान पहेगा कि शैली न तो केवल अनुभूत विषयवस्त्रका धर्म है और न कहनेके तरीकेका ही। शैलीकी आत्मा मुख्यतः वे सम्बन्ध है, जिनके ढाँचेमे अनु-भूत विषयवस्तुको समाहित या व्यवस्थित किया जाता है। विषयवस्त्रमें उक्त सम्बन्धकी स्थापना रसकी उत्पत्तिके लिए की जाती है। बाब्य-साहित्यकी रसात्मकताकी उसके प्रभावसे अलग नहीं किया जा सकता । जिस विभावात्मक विषयवस्तुको साहित्यकार सँजीकर पाठके के सामने रखना है, उसमे प्रभाव या रसके उत्पादनकी क्षमता निहित रहेती है। किन्तु यह क्षमता सम्बद्ध विषयवस्तुका ही धर्म है। साहित्यकार अनुभूत विषयवस्तुको नये सम्बन्धोंमे ग्रथित करके उसमें नये प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता स्थापित कर देता है। इस प्रकारकी क्षमता उत्पन्न करनेके उपादान ही शैलीके मूल तत्त्व होते है।

विभिन्न रचनाएँ जिन प्रभावोको उत्पन्न करती है, वे भिन्न-भिन्न कोटियोंके होते है, फलतः 'शैलियाँ भी भिन्न होती है। एक प्रकारकी शैली हमारे मनपर कोमल स्तेह अथवा नाजुक सौन्दर्यकी छाप छोडती है, तो दूसरी उदात्त गरिमाकी। कभी-कभी शैलीकारका उदेश्य केवल चित्र खंडे करना होता है, जिनके अनुचिन्तनमें कोई तीखा या गहरा रागात्मक आलोडन न रहते हुए भी बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। ऐसे काव्यके उदाहरण विहारीकी 'सतसई' तथा डर्द् काव्यमे बहुतसे मिल सकेगे। कालिदास जैसे महाकिविकी रचनाओमे अनेक शैलियाँ भी पायी जाती हैं। 'राष्ठ्रवंश'के प्रथम सर्गकी शैली एक है और राष्ठ्रके दिग्वजयका वर्णन करनेवाले चौथे सर्गकी दूसरी। —दे० केवमत -शिवको हो परमेश्वर माननेवालोंको शैल कहा

जाता है और उनके धर्मको शैवमत । शिवका अर्थ है शुभ या कल्याण।

पुरा कालमे प्रकृतिके भयावह और ध्वंसकारी दृश्योंको देखकर मनुष्यने भयवार रव करनेवाले, अर्थात् रूद्रमे विश्वास किया और उसको विश्वव्याप्त माना। उसने उसके गुणो या रुद्रों या रुद्रीयोंकी भी करूपना की, जो कम रव करने-वाले थे। पर मनुष्य विश्वव्यापिनी शक्तिको मात्र सयंकर न मान सका। भयंकर इड्य उसको उस शक्तिके कोपमात्र लगे। अतः उसने शिव या बल्याणकारी परमेश्वरकी कल्पना की । प्राचीन भारतमे इस प्रकार रुद्र या शिवको ईश्वर माना गया। शिवके ही अर्थमे शंकर और शम्म शब्द है। यजुर्वेदका शतरुद्रीय अध्याय, तेत्तिरीय आरण्यक और 'श्वेताश्वतरोपनिपद'मे रुद्र या शिवको परमेश्वर माना गया है। पर पशुपतिका स्वरूप इनमे निर्दिष्ट नहीं है। 'अथर्व-शिरस' उपनिषद्मे सर्वप्रथम पाश्यपत, पश्च, पाश आदि पारिभापिक शब्दोका उल्लेख मिलता है। 'महाभारत'में मादेश्वरोंके चार मत बतलाये गये हैं - शैव, पशुपत, कालदमन और कापालिक। यामुनाचार्यने कालदमनको कालमुख कहा है। इन चार सम्प्रदायोके मूल प्रन्थोको शैवागम कहते है, जिनमें कुछ वैदिक है और कुछ अवैदिक। वर्तमान खोजोके अनुसार हरपा और मोहनजोदडोकी सभ्यता शैव ही थी। इससे अर्देदिक शैव मनकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

उपर्युक्त चार मतोमे कापालिक और कालमुख रूद्रमें ही परमेश्वरको लेते हैं । ये वाममागी है और इनकी साधनाएँ अत्यन्त वीमत्स है। पांचरात्रका विकास हो जानेपर पाञ्चपत मतका विकास हुआ। इसका संस्थापक लकुलीश था। उसने लकुलीश, अर्थात् लकुटधारीके रूपमे परमेश्वरको माना। इन मतोमे रुद्र रूपकी ही प्रधानता है। इनकी प्रातिक्रियाके फलस्तरूप और शंकराचार्यके अद्वैतवादसे प्रभावित होकर नवी शती ईसवीमे कश्मीरमें शैव मतका आविर्माव हुआ, जिसमें शिव रूपको प्रधानता दी गयी और सत्यं, शिवं तथा सुन्दरंका एकमेक हो गया। ११वी शतीमे इस अद्वैतवादके विरोधमे भी लिगायत या वीर शैवमतका उद्भव हुआ, जिसका दर्शन शक्तिविशिष्टा-द्वेतवादके नाममे प्रसिद्ध है।

कापालिक ६ मुद्रिकाओको जानता है और उनका प्रयोग करता है। ६ मुद्रिकाथ ये है—कण्ठहार, आभृषण, कर्णाभृषण, चृडामणि, भस्म तथा यक्षोपवीत। कालमुखों- का कहना है कि लौकिक और पारलोकिक सभी कामनाओं- को तृप्त करनेका साधन है—कपालमे भोजन करना, शवकी राखको शरीरपर मलना, उन राखोको खाना, लाठी रखना, शरावका कोई वर्तन रखना और उसपर हैठे हुए ईश्वरको पूजना। स्पष्ट है कि इन वाममागोंको सच्चा शैवमत नहीं कहा जा सकता।

शैवमतके प्रधानतया चार सम्प्रदाय माने जाते है— पाशुपत, शैवसिद्धान्त, कश्मीर शैवमत और दीर शैवमत। पहलेका केन्द्र गुजरात और राजपूताना, दूसरेका तमिल प्रशेश, तोसरेका कश्मीर और चौथेका कर्नाटक है।

पाशुपतका मूल मूत्रयन्थ महेश्वररचित 'पाशुपनसूत्र

है, जिसपर कौण्डिन्यकृत पंचार्था भाष्य है। इसके अनुमार पाँच पदार्थ है—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त । जीव और जड़को कार्य कहते हैं। परमात्माको कारण कहा जाता है। इसकी झास्त्रीय गंद्या पित है, जंसे जीवकी पशु है और जड़की पादा है। किस द्वारा पशु और पितके संयोगको योग कहते हैं। पितको प्राप्त करानेवाले मार्गको विधि कहते हैं। साध्वका पितको प्राप्त करानेवाले मार्गको विधि कहते हैं। साध्वका पितको प्राप्त करानेवाले मार्गको समान हुड-हुड शब्द करना, नमस्कार आदि करना विधि है। दुःखोको आत्पन्तिक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। दुःखोको आत्पनितक निवृत्ति दुःखान्त या मोक्ष है। स्पष्ट है कि पाञ्चपत्मत भी कापालिकों और कालामुखोके मतकी भाँति अतिमार्गा है।

शैवसिद्धान्तके मान्य यन्थ तमिलमें है। इसमे पति, पशु और पाश, इन तीन परम तत्त्वोको माना गया है। पित ईश्वर है। जीव पशु है, वह अझ और अणु है। पाश चार प्रकारते है—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। पशु पतिके शक्तिपातमें, अर्थात् अनुमहमें, पश्चरहित होता है। यही उमकी मुक्तावस्था है।

काइमीर शैवमत अहैतवाद है। इरामे और अहैत-वेदान्तमे इतना अन्तर है कि अहैतवादके ब्रह्ममें कर्तृत्व नहीं है, जब कि काइमीर शैवमतके परमेश्वरमे हैं। अहैतवाद शानमार्ग है, उसमे भक्तिका समन्वय ज्ञान ने नहीं होता है। काइमीर शैवमतमें शान और मक्तिका समन्वय हैं। काइमीर शैवमत विवर्तवाद और परिणाम-वाद न मानकर स्वातन्त्रयवाद या आभासवाद मानता है, जिसके अनुसार परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिको कारण विना विम्बरें ही जगद्र पका प्रतिविम्ब स्वतः उत्पन्न होता है।

काइमीर ६ वर्मतकी दो शाखाएँ है—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यिभिष्ठाशास्त्र । पहलेके मुख्य प्रन्थ वसुगुप्तके 'शिवसूत्र' 'और स्पन्दकारिका' है, दूसरेके सोमानन्दकृत 'शिवहिंध', उत्पलाचार्यकृत 'श्रीयरप्रत्यिभिष्ठाकारिका' और अभिनवगुप्तरित 'श्रीयरप्रत्यिभिष्ठाकारिकाविमिशिणो' और 'तन्त्रालोक' है। दोनों शाखाओंका तत्त्ववाद एक ही है, जो शास्त्र तत्त्ववादसे विलकुल मिलता-जुलता है। दोनोंमे अन्तर यह है कि स्पन्दमतमे श्रीयराद्धयकी अनुभूतिका मार्ग ईश्वर-दर्शन और तद्दारा मलनिवारण है, जब कि प्रत्यभिष्ठामतमे बहु मार्ग ईश्वरके रूपमे अपनी ही प्रत्यभिष्ठा है। दोनोंके दर्शनको त्रिकदर्शन या ईश्वराद्धयवाद भी कहते है।

वीर शैवमतका संस्थापक बसव है। इस मतके मान्य प्रनथ ब्रह्मसूत्र में 'श्रीकरमाष्य' और 'सिद्धान्तिद्दिखामणि' हैं। इसकी दार्शनिक दृष्टि विशिष्टाद्वेतवाद (दे०) है। इसमे स्थूलचिद चिच्छित्ति विशिष्टजीव और सूक्ष्म चिद्वचिद्विशिष्ट शिवका अद्वैत है। परम तत्त्व शिव पूर्णहन्तारूप या पूर्णस्वातन्त्र्यरूप है। उनकी परिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है। इस मतको लिंगायत भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुयायी शिवलिंग पूजते हैं और पहने भी रहते है।

शैवों और वैष्णवोमे हिन्दीके उद्गमके समयमें बड़ा इन्द्र युद्ध चलता था। हिन्दी साहित्यको इस वातका श्रेय है कि उसने इनके इन्द्रको समाप्त कर दिया और शिव तथा विष्णुको अनन्य ठहराया। गोस्त्रामी तुल्सीदासने इस कार्यको वर्ड दायित्वपूर्ण ढंगसे निभाया। सभी होव सम्प्रदायोम करमीर रीवमतका ही अधिक प्रभाव हिन्दीपर लक्षित होना है। द्यान और मक्ति तथा कर्मके समन्वयका सिद्धान्त हिन्दीके सगुण-सन्तोको ही नहीं, वरन् आजतकके अधिकांश हिन्दीके भक्तोको मान्य है, इसका बहुत-कुछ कारण करमीर शैवमत है। वर्तमान युगमे अभिनवगुप्तके ध्वनिवादका हिन्दीके आलोचना-साहित्यपर पर्याप्त प्रभाव पडा है। स्वदेशी सौन्दर्यशास्त्र अभी अभिनवगुप्तके सिद्धान्त-से आगे नहीं वढा है, यह कहनेमे जरा-सी भी अतिशयोक्ति नहीं जान पडती। इस सौन्दर्यशास्त्रकी दार्शनिक पृष्ठभूमि करमीर शैवमत हैं। हैं (दें० 'शाक्तमत')।

[नहायक अन्थ—वैष्णविष्म, शैविष्म एण्ड माइनर<sup>\*</sup> रिलीजन्स: रामकुष्ण गोपाल भण्डारकर; राधाकृष्णन सम्पादित : हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, ईस्टर्न ऐण्ड वेस्टर्न, प्रथम भाग; भारतीय दर्शन : वलदेव उपाध्याय ।] शैवागम-शैवमतके प्रतिपादक शास्त्र। उपागमोंको हेकर इनकी संख्या २००तक पहुँचती है। इनकी रचना सातवी राती ईसाके पूर्व हो चुकी थी। इन्हींका कालान्तरमे तमिल शैव, वीर शैव और कश्मीर शैवमतोमें विकास हुआ। अनुश्रुतिके अनुमार इनका महत्त्व निगम अर्थश्रुतिसे कम नहीं है, पर कुछ लोगोका यह भी मत है कि ये मोहशास्त्र है। यह निर्विवाद सत्य है कि शैव उपासना प्राचीनतम उपासनाओं भे है और भारतीय जीवनपर इसका बहुत ही व्यापक और गहरा प्रभाव पदा है। कहा जाता है, ये ग्रन्थ शिव और दुर्वासाको स्फुरित कराये गये है। इनमे मुख्य है–''मालनीविश्वास', 'स्वच्छन्द', 'विज्ञान-भैरव', 'उच्छुष्म-भैरव', 'आनन्द-भैरव', 'मृगेन्द्र', 'मातंग', 'नेत्र', 'नेःश्वास', 'स्वयम्भू', 'हद्रयागल' और 'कामिका'। मूलतः ये दैत-प्रतिपादक है, किन्तु बादमे उन्हींकी अदैतवादी व्याख्या वसुगुप्त और उनके परवर्ती कश्मीरके दार्शनिकोने प्रस्तुत की। इन आगमशास्त्रोंका भारतीय साहित्य और कलापर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। कालिदासके तीनो नाटकोके मंगलक्षोक स्पष्टतया शैवागमरो प्रेरणा यहण करके लिखे गये है । नाटक, नृत्य, शिल्प, वास्तु, चित्र, संगीत, शब्द-शास्त्र, योग-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, सांख्य-वैशेषिकके सभी क्षेत्रों में आरम्भमे शैवागमोंका गहरा प्रभाव था। इसका कारण लोकविश्वासके साथ शैवागमोकी समरसता थी। इसीलिए धीरे भीरे इनकी गणना वेदोंके समकक्ष होने लगी और मध्ययुगके उत्तरार्द्धतक पहुँचते-पहुँचते तो निगम और आगम एक-से, स्वतः प्रामाण्ययुक्त हो गये। इन आगम-यन्थोके अनुसार ३६ तत्त्व होते है। २४ तत्त्व तो सांख्यके ही ज्योके त्यो है; इनके अलावा ७ मिश्र तत्त्व—काल, नियति, कला, विद्या, राग, अशुक्रमाया और प्रकृति-माया तथा ५ शुद्ध तत्त्व-शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और द्युद्ध विद्या—ये कुल ३६ तत्त्व गिनाये गये हैं। --वि० नि० मि० शोक-करुण रसका स्थायी भाव शोक है। भरतका कथन है

इष्टजनवियोगविभवना शवधबन्धन-

दुःखानुभवनादिभिविभावैरुत्पद्यते" (ना० शा०, ७: १०ग),

कि-"शोको नाम

अर्थात् इष्ट जनका वियोग, विभवका नाहा, किसी प्रिय व्यक्तिके वध अथवा कारावासजन्य दुःख इत्यादि कारणोंसे शोक उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पणकारने इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा दी है—"इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक" (३:१७७), अर्थात् प्रिय वस्तुके नाश इत्यादिके कारण उत्पन्न चित्तकी विकलताकी शोक कहते है। 'इष्ट जनवियोग'मे वियोगकी बात समझ लेनी चाहिये। स्ती-पुरुषके वियोगमे, जनतक प्रेमपात्रके जीवित होनेका ज्ञान हो, तबतक व्याकुलतासे पृष्ट किये हुए रतिकी ही प्रधानता होती है। अतएव वहाँ 'विप्रलम्भ' शृगार होता है और उस समयकी विकलता 'व्यभिचारी' भावमात्र ही है। ऐसे प्रसंगोंमे शोक स्थायी नहीं माना जाता। लेकिन यदि प्रेमपात्रके मरनेका ज्ञान हो जाय, तो वह न्याकुलता शोक ही होगी और वहाँ करुण रस ही माना जायगा। इस दृष्टिसे 'रसतरंगिणो'की यह परिभाषा उपादेय है-"इष्ट विश्लेषजनितो रत्यनालिगितः परिमितो मनोविकारः शोकः"। यहाँ एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट होना वांछ-नीय है। आधुनिक मनोविज्ञानियोने शोक एवं आनन्द, दोनोको मूल भाव माना है। लेकिन हमारे आचायोंने शोकको स्थायी भावोमें गृहीत किया है और आनन्दको नहीं। इसका सुन्दर समाधान रामचन्द्र शुक्लने किया है-- "जिस भावकी व्यंजनासे श्रोता या दर्शकके चित्तमे भी आलम्बनके प्रति वही भाव साधारण्याभिमानसे उप-स्थित हो सकता है, उसीको रसका प्रवर्तक मानकर आचार्या-ने प्रधान भावकी कोटिमे रखा है", अर्थात् शोकका आल-म्बन ऐसा होता है कि वह मनुष्यमात्रको क्षब्ध कर सकता है, लेकिन किसीके आनन्दोत्सवमे उन्हीका हृदय पूर्ण योग देता है, जिनसे उनका लगाव या श्रेम होता है। इसीसे आनन्दको रसका प्रवर्तक भाव (स्थायी) न मानकर, हर्षको केवल व्यभिचारी भावोमे गृहीत किया है। सर्वजन-सुलभ आस्वाद्यता ही वस्तुतः स्थायी भावकी कसौटी है। व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, उन्माद इत्यादि शोक स्थायीके संचारी भाव है। उदा०- "दुखकी दीवारो-का बन्दी निरख सका न सुखी जीवन । सुखके मादक स्वप्नो-तकसे बनी रही मेरी अनवन" (हरिकृष्ण प्रेमी)। यहाँ शोक-भावकी व्यंजना है, स्थायी (करुण रस)का प्रस्फुटन नहीं हो सका है। शोभ-दे॰ 'अयलज अलंकार', पहला प्रकार तथा 'सान्विक गुण' (नायक)।

श्रम—प्रचित तैतीसमेसे एक सचारी भाव। भरतके आधारपर विश्वनाथने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—''खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासिनद्रादिकृच्छ्मः'' (सा० द०, ३:१४६), अर्थात् रित और मार्ग चलने आदिसे उत्पन्न खेदका नाम श्रम है। श्वासका चढ़ना, निद्रा आदि इसके अनुभाव है। इसी परम्परामे हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने श्रमका लक्षण दिया है—''अति रित अविगतिते जहाँ उपजै अति तन स्वेद'' (भाव०: संचारी०)। रामचन्द्र शुक्कने श्रमके दो अर्थ माने है—एक तो व्यापाराधिक्य या किसी क्रियाका निरन्तर साधन दूसरा उससे उत्पन्न अंगन्लानि या थकावट। दूसरा अर्थ ही विश्वनाथने प्रहुण

किया है। रामचन्द्र शुक्रने अपने अर्थार जोर देते हुए कहा है—"किसीके प्रेममे यदि कोई दौड-धूप करे, विद्याकी प्राप्तिके लिए रात-दिन बैठकर पटता रहे, याडा हुआ खजाना पानेके लिए दिनभर मिट्टी खोदता रहे तो उसका यह दौडना-धूपना, रात-रातभर बैठना या दिनभर मिट्टी खोदना क्रमशः व्यक्ति, विधा या धनके प्रति रित भावका संचारी कहा जा सकता है। पर इस दौड-धूपके कारण यदि कोई थककर बैठ जाय या रातभर मेहनत करनेसे शिथल हो जाय तो यह थकान या शिथल होना रित भावसे दूर पड जानेके कारण संचारी नहीं कहा जा सकता" (र० मी०, २३०)।

किमी प्रकारकी थकावटको भी मंचारीके अन्तर्गत तभी तभी माना जायगा, जब वह मीधे किमी भावसे सम्बद्ध हो । स्थायी मावकी दशामे जो श्रमजन्य थकावट उत्पन्न होगी वह मंचारीके अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। स्वतन्त्र रूपमे जब श्रमका वर्णन होता है तब भी वह मौकमार्थ आदिका चीनक होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली होता है। रामचन्द्र शक्कने इस प्रकारके भावरूप श्रमका वहत ही मनोरम उदाहरण उपस्थित विया है-"जलको गये लक्खन है लिरका परिखी पिय छॉह घरीक है ठाउँ। पोंछि पमेड बयारि करों अरु पॉय पखारिहों मूभुरि डाढे। तुलसी रघवीर प्रिया-श्रम जानिकै बैठि विलम्बली कंटक काढे। जानकी नाहको नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढे" (कविना०, २: १२)। रित भावमे सम्बन्ध श्रम संचारीका उदाहरण-"विनद रचे मेंहदीके लमें कर तापर यों रह्यो आनन आइकै। इन्द्र मनो अरबिन्द पै राजत इन्द्र वधनके बुन्द विछाह कै" (जगद्वि०, ---व० सिं०

श्रद्य काद्य - दे॰ 'माहित्यरूप'। श्रद्य नाटक-दे॰ 'रेडियो नाटक'।

**श्रावकयान-**बौद्ध साहित्यके अनुशीलनमे प्रकट होता है कि **हीनयान** (दे०)को तुच्छ मानते थे और द्वंचनके अवसरपर इस शब्दका प्रयोग करते थे। परन्त हीनयानमें निहित कृत्सित भावनाको छोडकर शिष्ट या विनीत भावसे इमे 'श्रावकयान' नाममे पुकारते थे । हीनयानका शिष्टा-चारयुक्त दूमरा नाम ही श्रावकयान है। प्राचीन साहित्यमें वर्णन आता है कि बद्धके वे उपासक, जो संघमें आ जाते, श्रावक कहे जाते थे। उसका अर्थ शिष्य या धर्मीपदेशक अथवा आर्थ श्रावकसे था। श्रावकयानमें यह माना जाता था कि बुद्धके पुराने प्रवचन निर्वाणके लिए साधक मार्ग थे। तीसरी शतीके समीप रचित यन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक'मे सबसे पहले श्रावकयान नाम मिलता है, जिसके बाद प्रत्येक-**बुद्धयान** तथा सहायान राज्य प्रयुक्त है। हीनयानका नामोलेख नहीं है। इस कारण वृद्धधर्मके विचारक यह मानने है कि श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धयान ही नयानका अभिन्न अंग था। दोनोकी विचारधारामे कोई अन्तर नही है। प्रत्येकबद्धमार्गका व्यक्ति श्रावकसे एक दो अधिक गण रखता है। परन्तु दोनोंका अन्तिम ध्येय एक ही है। दोनो राब्दोके स्क्ष्म विदलेषणसे पता चलता है कि श्रावक नीच-वृत्ति तथा प्रत्येकदुद्ध मध्यम कहे जाते है। बुद्धधर्मका प्रसार होनेपर श्रावक भगवान्के उपदेशोंने लाभ उठाते हैं। लेकिन प्रत्येकबुद्ध चमत्कार द्वारा जनताको दीक्षित करते हैं। श्रावक लोग बुद्धको तीनों धातुओंसे पृथक् मानते हैं। उनके मतमे निर्वाण आराम करनेका एक स्थान है। निर्वाणके बाद श्रावक बुद्धत्वप्राप्तिके लिए शिक्षा ग्रहण करते हैं। महायान (दे०) ग्रन्थोंमे उपर्युक्त दोनो शब्द हीनयानके स्थानपर उछिखित हैं। पुन्नलण्यात 'हीनाधिमत्ति' शब्दका प्रयोग नाशवान् व्यक्तिके लिए किया गया है, जो बुरे कार्यमे लगा रहता है। हीनयान-अनुयायी मी श्रावक शब्दको पकतिसावक, अग्यसावक, सावकसंघ या साविकके

क स्थानपर उद्धाखत है। दुन्नरूज्यनात हिनाविनात शब्दका प्रयोग नाशवान् व्यक्तिके लिए किया गया है, जो दुरे कार्यमे लगा रहता है। हीनयान-अनुयायी भी श्रावक शब्दको पकतिसावक, अगसावक, सावकसंघ या साविकके रूपमे प्रयोग करते रहे। 'सूत्रालंकार'मे श्रावकको 'हीना-धियुक्त' कहा गया है, जो गुण निम्नस्तरके होते थे। सावक अपने परिश्रमके अनुपातमें श्रावकवोधि प्राप्त करते थे। अत्यव यह सिद्ध होता है कि महायानवाले श्रावक शब्दको हीन भावनाके साथ (हीनयान शब्दकी तरह) उच्चारण करते थे, क्योंकि श्रावकवानों सभी आत्मपरिनिर्वाणके इच्छुक थे।

पूर्वमध्ययुगके विचारकोने यहाँतक कहा है कि श्रावक-यानके अनुयायी कदापि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। उनका निर्माण वास्तविक मोक्ष नहीं है। मृत्युके पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है, क्योंकि उन्हे परिनिर्वाण प्राप्त करना शेष रह जाता है।

हीनयानके लिए श्रावकयानका प्रयोग प्राचीन युगसे तेरहवी शतीतक होता रहा। तिन्वती यात्री धर्मस्वामी १२२४ ई०में बोधगया आया था। वह लिखता है कि बोधगयामें वज्रासन श्रावकयानवालोकी देखरेखमे था। वास्तवमे हीनयानके स्थानपर ही उसने श्रावकयानका प्रयोग किया है।

—वा॰ उ॰

श्रीगदित-इसमें एक अंक, धीरोदात नायक और प्रसिद्ध कथाका कार्य होता है। इसमे भारती वृत्तिका आधिक्य, गर्भ, विमर्श सन्ध्योका निर्वाह रहता है। कुछ पश्चिमी विद्वानोंका मत है कि नायिका नटी लक्ष्मीका स्वरूप बनाकर आती है और कुछ गाना गाती है या कुछ बोलती है। इसीसे इसका नाम श्रीगदित पड़ा है; उदा०— 'क्रीडारसातल'। शेष सब बातोंमें इसमे नाटकसे समानता है।

श्री छंद — मात्रिक समवृत्तका एक भेदः 'प्राकृतपैगलम्'मे इसकी परिभाषा दी गयी है (प॰, २:१)। इस छन्दके चारो चरणोंर्म एक गुरु होता है। केवल केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है—''सी, थी।री, थी'' (रा॰ चं॰, १:८)। —पु॰ शु॰

श्रत अद्भुत-दे० 'अद्भुत रस'। श्रुतिकटु-दे० 'शब्द-दोष' पहला 'पद-दोष'।

श्रुत्यनुप्रास — एक शब्दालंकार, अनुप्रासका भेद । कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थानसे उच्चरित होनेवाले वणींकी आवृत्ति । वर्णका उच्चारण मुखके जिस अवयवसे होता है, उसे उसका 'स्थान' कहते हैं । यह अलंकार सर्वप्रथम जयदेवके 'चन्द्रालोक' में 'स्फुटानुप्रास' नामसे आया है (५:५)। 'साहित्यदर्पण'मे प्रस्तुत नामके अलंकारकी विवेचना की गयी है । हिन्दीमें रीतिकालके प्रमुख आचायों ने इसे स्वीकार नहीं किया। गिरिधरदास तथा लेखराज जैसे अप्रसिद्ध

१९वीं शतीके आचायों में यह भेद मिलता है, पर आधुनिक विवेचकोमें भानुकिन, भगवानदीन तथा रामदिहन मिश्र आदिने स्वीकार किया है।

पद्माकरकी किवतामें श्रुत्यनुप्रासका माधुर्य अधिक है—
"आरस सो आरत, सँभारत न सीस पट, गजब गुजारित
गरीबनकी धारपर। कहैं पद्माकर सुगन्ध सरसावै सुचि,
विश्रुरि विराजे बार हीरनके हारपर" (जगिद्ध०, १२२)।
'रत्नाकर'के काव्यमे भी इसके सुन्दर प्रयोग है।—वि०स्ना०
श्रेणी-साहित्य-श्रेणी-साहित्य भी एक तरहसे पक्षधरसाहित्य है। श्रेणी-साहित्यका भी सम्बन्ध समाजकी इकाईसे
न होकर समाजके एक भागसे होता है (दे० 'पक्षधरसाहित्य')।
—रा० कृ० त्रि०

श्रौती-दे॰ 'उपमा', दूसरा प्रकार ।

इलेप-'इलेप' शब्द 'श्विष्' धातुसे बना है। हिलष्टका अर्थ है चिपकना, मिलना अथवा संयोग। इसमे एक शब्दके साथ अनेक अर्थीका संयोग रहता है, अर्थात् एक शब्दके साथ अनेक अर्थ लगे रहते है। जिस शब्दके एकसे अधिक अर्थ होते है, उसे दिलष्ट कहते है। जहाँ ऐसे राब्दोका प्रयोग होता है, वहाँ 'इलेप'की स्थिति मानी जाती है। इस अलंकारके दो भेद है-(१) शब्दश्लेष और (२) अर्थश्लेष । जहाँ इलेष मूलतः शब्दाश्रित रहता है, वहाँ 'शब्दइलेष' होता है। 'शब्दइलेष'मे यदि हिलष्ट पदोंके स्थानमें अन्य समानार्थक पद रख दिये जाय, तो वहाँ शब्दश्लेषकी अलंकारिता नष्ट हो जाती है, अर्थात् जहाँ शब्दपरिवृत्तिसहिष्णुत्व नहीं रहता, वहाँ शब्दश्लेष होता है। इसके विपरीत 'अर्थेइलेष'मे हिल्छ शब्दोके स्थानमें यदि उनके पर्याय शब्द रख दिये जाय, तब भी इलेष अलंबार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसका विशेष सम्बन्ध अर्थके साथ ही रहता है, शब्दके साथ नहीं। 'शब्द-परिवृत्तिसहिष्णत्व' ही अथंश्लेषकी पहचान समझना चाहिये। इस प्रकार जहाँ अभिधाके द्वारा एक शब्दमे अनेक अर्थींकी प्रतीति हो, वहाँ 'श्लेष' अलंकार होता है। अभंग और सभग नामसे इसके दो भेद है। जहाँ सम्पूर्ण शब्दके दो अर्थ हो, वहाँ अभंगइलेष होता है और जहाँ परे शब्दका अर्थ तो भिन्न हो, परन्तु शब्दके 'विच्छेद' करनेपर भिन्न अर्थ हो, वहाँ समंगइलेष होता है। 'अभंगइलेष'मे शब्दोंका अंग-भंग नहीं करना पड़ता, विन्तु 'सभंगइलेष'मे शब्दोका अंग-भंग करके भिन्नार्थोंकी प्रतीति होती है। दण्डीने 'काव्यादर्श'में इलेषको सभी अलंकारोका

रान्दोका अग-भग करके भिन्नाथोंकी प्रतीति होती हैं। दण्डीने 'कान्यादर्श'में इलेषको सभी अलंकारोका शोभाकारक माना है और कहा है कि अन्यान्य अलंकारोको माना जाय तो इस नामका कोई अलंकार नहीं हो सकता। मम्मट शुद्ध हलेष और अन्य अलंकारोसे मिश्रित हलेष, दोनो मानते है। इनके मतको हेमचन्द्र तथा विश्वनाथने माना है। मम्मटने रुद्रके अनुसरणपर इलेषका लक्षण दिया है—"वाच्यमेदेन भिन्ना यद युगपद् भाषणस्पृशः" (का० प्र०, ९: ८४), अर्थात्, अर्थनेदके कारण परस्पर-भिन्न भी शब्दोका उच्चारण सारूप्यके कारण एकरूप प्रतीत होना। रुद्रके समान ही मम्मटने वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन, आठ भेद किये हैं ।

हिन्दीमे केशवदासने 'किविप्रिया'मे 'श्लेष'की परिभाषा निम्निलिखित प्रकारसे की है—''दोय तीनि अरु मॉित बहु, आनत जामे अर्थ । श्लेष नाम तासो कहत, जिनकी बुद्धि समर्थ । तिनमे एक अभिन्न पद, अपर भिन्न पद जानि'' (कि प्रि॰, ११: २९, १४) । कुलपतिने 'रसरहस्य'मे लक्षण तथा भेद मम्मटके आधारपर दिये है । जसवन्त सिहने अप्पय दीक्षितका अनुसरण किया है । इन्हीके समान मूषण, मितराम आदिने भी 'श्लेष'को अर्थालंकारके अन्तर्गत स्वीकार किया है—''एक बचनमे होत जहूँ, बहु अर्थनको ज्ञान''(शि॰भू॰, १६४) । दासने इसके विषयमे कहा है—''जदिप अर्थ भूपन सकल, शब्द सक्तिमे होह''(का॰ नि॰, २०), अर्थात्, वे इसको दोनोसे युक्त मानते है ।

'समंगरलेष'का जदा०—(क)''नाही नाही करें थोरौ. मॉगे सब दैन कहै, मंगनको देखि पट देत बार-बार हैं। मोगी है रहत विलसत अवनीके मध्य कन कन जोरें दान पाठ परिवार है''(सेनापित : क०र०), इसमें 'नाही नाही', 'सब दैन' तथा 'कन कन'मे पदको मंग करनेसे अर्थ बदलता है।

आधुनिक कवियोने भी 'श्लेष'का सुन्दर प्रयोग किया हैं—(ख) "करणे क्यों रोती है, 'उत्तर'में और अधिक तू रोई, मेरी विभूति है जो उसको मवभूति क्यों कहें कोइ ?" (मैं० श० ग्रप्त: साकेत)। इसमें 'मवभूति'में पद-भग करके दो अर्थ निकलते हैं। (ग) 'दूरि भजत प्रभु पीठि दै, ग्रुन विस्तारन काल। प्रगटन निर्गुन निकट ही, चंग रंग गोपाल", (वि० र० ४२८)। (ध) 'जलनेको ही स्नेह बना; उठनेको ही वाष्प वना" (मैं० श० गु०: यशोधरा)। इन दोनों उदाहरणोमे गुन, निर्गुण, चंग, रग, स्नेह, वाष्प शब्दोंके टोन्दो अर्थ है।

संस्कृत साहित्यमे इस अलंकारकी अधिक प्रतिष्ठा है और इसका सर्वाधिक प्रथोग हुआ है। 'राववपाण्डवीय' नामक एक महाकाव्य ही इस अलंकारमे लिखा गया है। हिन्दी साहित्यमे भी इस अलंकारका यथेष्ट प्रयोग हुआ है। शब्दचमत्कार प्रधान होनेपर भी प्राचीन और अर्वाचीन प्रायः सभी कवियोने इसको अपनाया है। रीतिकालीन आचार्यों मे केशवदासने तथा सेनापितने इसका अत्यधिक प्रयोग किया है। सेनापितकी भाँति इस अलंकारकी स्वामानिकताकी रक्षा कोई अन्य किव नहीं कर सका है। उनके 'सभंग' और 'अभंग' दोनो प्रकारके श्लेषका चमत्कारपूर्ण प्रयोग वस्तुतः सराहनीय है।

केशनदासने 'श्लेष'के 'अमंग' और 'समंग', इन दो मेदोंके अतिरिक्त पाँच मेद और भी बतलाये है। परन्तु अर्वाचीन आचार्य इन मेदोंसे सहमत नहीं है। उन्हींके शब्दोंमे ने पाँच मेद इस प्रकार है—''बहुज्यों एक अभिन्न क्रिय और भिन्न क्रिय जान। पुनि विरुद्धकर्मा अपर, नियम विरोधी मान'' (क० प्रि०, ११:३९)—(१) अभिन्न-क्रियाश्लेष, (२) क्रियाश्लेष, (३) विरुद्धकर्माश्लेष, (४) नियमश्लेष, (५) विरोधीश्लेष। परन्तु इनकी परिभाषाएँ नहीं दी गयी है। प्रत्येक भेदके लिए जो-जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये है, उनके अनुसार भगवानदीनने 'क्रिनिप्रया'की टीकामें परिभाषाएँ बनाकर उद्धृत की है।

'यह अलंकार शब्दालंकार है अथवा अर्थालंकार, इस

विषयमें संस्कृतके आचार्यों में भारी मतभेद रहा है। उद्घट-ने अर्थालंकार माना है और 'अर्थइलेष' तथा 'शब्दइलेष' इसके दो भेद किये है। मम्मटके अनुसार उद्भटका 'अर्थ-इलेष' वास्तवमे शब्दइलेप है और एक बार इसको अर्थालं-कार मानकर पुनः दो भेद करना स्वतः विरोधी वात कहना है। मम्मटने इसे शब्दालंकार माना है और कहा है कि इतना अर्थका आधार कई शब्दालंकारोमे रहता है। रुद्रटने उद्भटके समान इसे अर्थालंकार माना है और तीन भेद करके 'उभयक्लेष' और जोडा है। विश्वनाथने उद्भटकी आलोचनामे मम्मटका साथ देकर भी अलग 'अर्थइलेष' भी दिया है—"शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्" (सा० द०, १०: ५८), अर्थात् जहाँ स्वभावतः एक ही अर्थवाले शब्द अनेक अर्थीको एक साथ प्रकट करे; जहाँ शब्द बदल देनेपर भी कई अर्थ बने रहें। हिन्दीमे कुलपति मिश्रके अतिरिक्त प्रायः रीतिकालके आचार्योने इसे अर्थालं-कार'के अन्तर्गत रखा है, पर आधुनिक विवेचकोने इसे दोनो रूपोमे स्वीकार किया है। भगवानदीनने शब्दक्लेष-का और अर्थइलेषका भेद इस आधारपर किया है---''जहॉ कविका तात्पर्य एक ही अर्थसे होता है, उसकी गणना शब्दालंकारमे होती है, जहाँ कविका तात्पर्य दोनो या तीनो अर्थीमे होता है, उसकी गणना अर्थालंकारमे होती है" (अ० मं०)। परन्त जाव एक ही अर्थमे कविका तात्पर्य होगा, तब वहाँ इलेष अलंकारकी स्थिति ही कहाँ रह सकती है, क्योंकि रलेष अलंकारकी स्थिति वहीं होनी है, जहाँ हिल ह (दो अर्थवाले) शब्दो या पदोके प्रयोग द्वारा अनेक अर्थ कहे जाते है। 'साहित्यदर्पण'मे कहा गया है-"(इल्है: पदेरनेकार्थाभिधाने इलेष उच्यते" (१०: १२)।

इलेष और ध्वनिमे अन्तर है। इलेष अलंकारमे एकसे अधिक जितने अथोंकी प्रतीति होती है, वे सभी अभिधा शिक्त होते हो। अभिधा शिक्त अभिधेय होनेके कारण इलेषमे एकसे अधिक सभी अथोंका वोध एक साथ ही हो जाता है। परन्तु ध्वनिमे एकसे अधिक अथोंका वोध एक साथ ही हो जाता है। परन्तु ध्वनिमे एकसे अधिक अथोंकी प्रतीति एक साथ ही नही होती। पहले अभिधाके द्वारा एक अर्थका वोध हो जाता है, फिर प्रकरण आदिके कारण अभिधार्थका वाध होता है (र० गं०, पृ० ३९६)। इलेष तथा समासोक्तिमे भी पर्याप्त अन्तर है। इलेषमे विशेषण तथा विशेष्य, दोनो हिलष्ट होते है और दोनो ही प्रकृत या अप्रकृत हो सकते है, पर समासोक्तिमे विशेषण ही हिलष्ट होता है और एक प्रकृत तथा दूसरा अप्रस्तुत रहता है (उचोत, पृ० ७२)।

—वि० स्ना०

इलेपगुण-दे॰ 'गुण', चौथा प्रकार । इलेपबक्रोकि-दे॰ 'बक्रोक्ति' ।

इलोक—[इलोक्यते प्रथ्यते इति चलोकः = चलोक् (भ्वादि) संवाते (प्रथने) + घल् भावे] (क) साधारण अर्थ—(१) ख्याति, यदा, यथा—'पुण्यच्लोको नलो राजाः'' इत्यादि इलोकमे, (२) संस्कृतका कोई पद्य या छन्द, (३) प्रशंसा। (ख) विशेष अर्थ (१) अनुष्टुम छन्द। इसमे चार पाद और ३२ मात्राऍ होती है। यह मात्रिक छन्द (जाति)का एक भेद है, वर्णिक छन्द या वृत्तका नहीं। इसके प्रत्येक पाद या चरणमे आठ-आठ मात्राऍ होती है। छठी तथा सातवीं

मात्राएँ दीर्ध होनी चाहिये अथवा यदि छठी मात्रा लघ्न हो तो सातवीं दीर्घ होनी चाहिए । इलोकछन्दमे केवल कुछ-को छोडकर शेष मात्राओके विषयमे स्वतन्त्रता होती है। इसका प्रथम प्रयोग वाल्मीकिने किया था। प्रथम रलोक यह है "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचिमिश्रनादेकमबधीः काममोहितम्"। (ग) हिन्दीमें यह शब्द प्रायः संस्कृतके समस्त पद्यो या छन्दोंके लिए प्रयुक्त होता है। ---आ० प्र० मि० षटकर्म-साधनापद्धतियो एवं दार्शनिक चिन्तन प्रणालीके भेदके साथ-साथ षट्कर्मीके अन्तर्गत गृहीत होनेवाले विभिन्न कर्मोंको कई तरहसे समझा-समझाया और स्वीकार किया गया है। वैदिक कर्मकाण्डीय विधानोंके प्रभुत्वकाल-मे ब्राह्मणके छः कर्म थे- "अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहइचैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः" (मन्०, १०: ७५)। आगे चलकर जब समाजकी अर्थ-व्यवस्था जटिल होती गयी और वेदका अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करने-कराने, दान छेने दान देनेसे ही ब्राह्मणका योगक्षेम कठिन जान पडने लगा, तो किसी जमानेमे ब्राह्मणके लिए जो कर्म अविहित थे, उन्हें भी नयी विधि-संहिताओं ने विहित मान लिया गया। अतः षट्क मोंके अन्तर्गत ब्राह्मणकी जीविका चलानेवाले अन्य छः कर्मीका विधान किया गया— "उच्छं प्रतिमहो भिक्षा वाणि ज्यं पशुपालनम् । कृषिकर्म तथा चेति षट्कर्माण्ययजनमनः"। परवर्ती संहिताओमे षट्कर्मके अन्तर्गत दैनिक या आहिक क्रियाओं भी गणना भी जाने लगी, जिसके अनुसार-स्नान, सन्ध्याजप (प्रातः, दोपहर और शामको की जानेवाली सन्ध्या), ब्रह्मयज्ञ, तर्पण (दे०—ऋषियो और पितरोको जल देना) होम तथा देवपूजाको षटकर्मीके अन्तर्गत गृहीत किया गया (पराश्ररसृति, विशेष विवरणके लिए दे० 'ब्राह्मणिजम एण्ड हिन्दूइजम': सर मोनियरविलियम्स, पृ० ३९४)। गृहस्य ब्राह्मणके पालन पोपणके लिए स्वीकृत-ऋत, अमृत, मृत, कर्षण (कृषि), सत्यनृत (व्यापार) तथा स्ववृत्तिको षट्कर्म संज्ञा दी गयी है (मनुस्मृति, ४ : ४, ५, ६, ९)। लक्ष करनेकी बात है कि ऊपर षट्कर्मके अन्तर्गत जिन विभिन्न कर्मोंकी गणना की गयी है, वे धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओके क्रमिक विकास, परिवर्तन एवं विधि संहिताओं के निर्माणक्रमकी सूचना तो अवस्य देते हैं, पर प्रकृतितः उनमें एक दूसरेसे कोई बहुत बडा अन्तर नहीं आया है।

शाक्त तन्त्रोंमें पहिली बार दर्शन, आचरण एवं धार्मिक अनुष्ठानगत नितान्त भिन्न अर्थोंको षट्कमेंके अन्तर्गत गृहीत किया गया है। 'गुह्य समाजतन्त्र' (मं० विनयतोष भट्टाचार्य; पृ० ६६-६७, ८४-८५ एवं ९६)में शान्ति, वशी-करण, स्तम्भन, विदेषण, उच्चाटन एवं मारणको पट्कमें बताया गया है। इन षट्कमोंका सम्बन्ध वामाचार या शाक्त तन्त्रोंकी यातु विद्यासे हैं। वैसे ये कर्म प्रारम्भमें कुछ अच्छे लक्ष्योंके लिए ही किये जाते होगे, पर बादमे हीनकोटिकी वृत्तिवाले साधकोने इनका प्रभूत मानामें दुरुपयोग किया होगा, अतः जनमानसमे इन कर्मोंके प्रति सर्थ एवं अमास्थाकी वृत्ति बनती गयी। शाक्त तन्त्र

मूलतः तन्त्र-मन्त्र एवं गुह्यसमाजोंकी साधना पद्धति है, अतः षट्कर्मका उसके अनुरूप अर्थ हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। योगमे शाक्त तन्त्रोकी तरह बाह्य विधानोकी अपेक्षा काया-साधनापर अधिक वल दिया गया है। योगी मानता है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमे है, वह सब-का-सब स्क्ष्म रूपसे पिण्डमे वर्तमान है, शिव, शक्ति सभी। इसी शरीरकी साधनासे मूळाधारस्थ कुण्डलिनीको उद्बुद्ध करके सहस्रारमें पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार शिवशक्तिका सामंरस्य स्थापितकर परमानन्द एवं मोक्षको प्राप्त किया जा सकता है। हठयोगकी साधनामें सात क्रियायें आवश्यक मानी जाती है—शोधन, दृदता, स्थिरता, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तत्व। ये सिद्धिकी ओर अग्रसर होनेके क्रमिक सोपान है। शोधन इनमें सबसे प्राथमिक क्रिया है और शोधनके लिए पट्कर्मका आचरण अनिवार्य है। योगशास्त्र-के अनुसार-वात, पित्त, एवं कफके विकारोंसे त्रस्त साधकको इन षट्कर्मी द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है, लेकिन जो इन विकारोसे यस्त नहीं है, उन्हें षट्कमोंके आचारणकी आवश्यकता नहीं (हठयोग प्रदीपिका, २: २१)। घेरण्डमंहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि प्रन्थोमे इन पट्कर्मोंके भेद-प्रभेदों, आचरण विधियो और उनसे प्राप्त फलोंका काफी विस्तारसे वर्णन मिल जायगा। योग माधनागे पर्कर्मीके बाद आसन सिद्ध किये जाते हैं, फिर क्रमशः मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और अन्तमे समाधिको सिद्ध करते है। इन्हींके द्वारा हठयोगकी उक्त सात कियायें सिद्ध होती हैं।

लक्ष करनेकी बात है कि षर्कर्मके अर्थमे कई बार आमूल परिवर्तन आये है और हर स्थितिमें यह तत्तत् व्यवहार विधियों एवं आचार पद्धतियोमे बहुत अधिक महत्त्व पाता रहा है, किन्तु सन्तसाहित्यमे षट्कर्म अनावस्यक टंटा समझा गया । सन्तोकी बाह्मणके वेद, यज्ञ, दान आदिमे कोई आस्था नहीं थी। ब्राह्मणके लिए मनुने या अन्य स्मृतिकारोने जिन आह्निक षट्कर्मी या जीवन-स्थितिके लिए आवश्यक पट्कमोंका विधान किया था, उसमें भी उन्हें रुचि नहीं थी, बल्कि साफ-साफ अरुचि थी। कबीर मानते थे कि "पण्डित भूले पढ़ि गुनि बेदा। आप अपन पौ जांन न भेदा ॥ संझा तरपन अरु षटकर्मा । लागि रहे इनके आसरमा ॥ गाइत्री जुग चारि पढ़ाई। पूछहु जाइ मुकुति किन पाई" (क० यं० ति०, रमैनी ७)। गुरु रामदास तो साफ-साफ पटकर्मोंको जीवकी दर्गति (सासति) मानते है-"'तेरे अनेक तेरे अनेक पढिह बहु सिमृति सासत जी करि करिआ खटुकरम अनन्ता" (सन्त सुधासार, खण्ड १, पृ० ३१८) । रज्जवजीने षट्कर्मीं-को स्पष्ट शब्दोंमे 'खोटा' कहा है—"सन्तो ऐसा यहु आचार । X X X सगले जनम जीव संघारे यह खोटे षटकर्मा। पाप प्रपंच घढै सिरि ऊपरि नाम कहावै धर्मा" (सन्त सु० सा०, खण्ड १, पृ० ५१४)। दरिया साइबको भी विश्वास है कि 'हंस न पहुँचिहि एहि षटकरमा' (वही, खण्ड २, पृ० ९८) । रहा शाक्तोंका मारण, उच्चाटनवाल। षट्कर्म, तो सन्त उसे किसी अंशमे भी

स्वीकार नहीं कर सकते। कबीरदास तथा अन्य सन्तोंने भी शाक्तोंके लिए जिस प्रकारकी अपमानजनक और कठोर शब्दावलीका व्यवहार किया है, वह स्पष्ट प्रमाण देता है कि शाक्तोमे इन सन्तोको कोई भी ग्रण कभी दिखा ही नहीं। और उनके षट्कर्म! उनकी बात ही क्या? सामान्य जनतातक, जो धर्मों और माधना-पद्धतियोके प्रति पर्याप्त आस्थावान् होती है, शाक्तोके षट्कर्मको कभी स्वीकार नहीं कर सकी। सम्भवतः इन शाक्त षटकर्मीके प्रति जो उसकी अरुचि थी। उसीके परिणामस्तरूप षटकर्म शब्दका एक नया अर्थ ही विकसित हो गया-'दुरभिसन्धियुक्त कर्म'। सन्तोकी हठयोगके प्रति आस्था थी। हठयोगकी साधनाका सन्तोपर वहुत अधिक असर है और गोरखनाथ आदिके प्रति उनमे पर्याप्त आस्था और पुज्य बुद्धि लक्षित होती है, अतः नेति, वस्ती, नौलिकी आदिके प्रति कोई स्पष्ट विरोध सन्त साहित्यमे मुझे देखनेको नहीं मिला, लेकिन इतना स्पष्ट है कि हठयोगमें स्वीकृत पर्कमोंको सन्तोने कोई मान नही दिया है। अवधूके प्रति क्षीरके मनमे काफी सम्मान है, पर वे उसकी हठयोगी साधनाकी कमी जानते हैं। वे जानते है कि अवधूके पास इस सवालका जवाव नहीं है कि "जब उनमनिकी तारी टूटै तब कह रही तुम्हारी"। क्बीर तथा अन्य सभी सन्त सहज समाधिक समर्थक थे। वे ऑख मॅदने, कान रूधने और इस तरहका कोई भी कष्ट झेलनेको कभी तैयार नहीं थे। इस स्थितिमे हठयोगके षटकर्म उनकी आस्थाके पात्र नहीं हो सकते थे। उन्होने सदैव इसे झंझट और बखेडा ही समझा। आजकल षट्कमी शब्द बखेडा, इंझट और टंटेके अर्थमे रूढ़ हो गया है। इसमे सन्तोका बड़ा हाथ **षट्चक्र** – हिन्दू योग-परम्परामे षट्चक्रोकी जानकारी तथा उनके भेदन, अर्थात् कुण्डलिनी शक्तिको उद्युद्धकर इनसे पार कराते हुए उसे सहस्रारस्थ परम शिवसे रूमरस करने-को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। हठयोगीको इसी षट् चक्रभेदनमे मुक्ति दिखाई पडती है। इन छः चक्रोकी करपना तन्त्रोमे बडी ही सुक्ष्म और विस्तृत ढंगसे की गयी है। शरीरको अगर आधे-आधपर विभाजित करना हो तो कटि प्रदेश इसके केन्द्रमे पडेगा। कटिके नीचेका भाग, अर्थात् जहाँ रीटवी हट्वीका निचला किरा है, वहाँ पैरोके तलवो तकका भाग चारीरका अपेक्षाकृत कम चेतन और अधिक क्रियाशील अंग है। कटि प्रदेशभे पास औ उपस्पके पाससे मेरुदण्ड शुरू होता है और ऊपर सिरके नीचे गरदन-पर बनी गाँठतक, जिसे सुपुम्नाशीर्ध कहते है, समाप्त होता है। यहीं शरीरके बाएँ अंगोसे सम्बद्ध नाड़ियाँ मस्तिष्कके दाहिने पार्श्वकी ओर और दाहिने अंगकी नाडियाँ बाएँ पार्श्वकी ओर मुडकर एक पुलका निर्माण करती है, जिसे

सेतु कहते है। इसके ऊपर मस्तिष्ककी स्थिति है। हठयोगमें

मानव शरीरके अधोभागमें सात अधोलोकोको कल्पना की

गयी है। शरीरके ऊपरी भागमे भी इसी तरहके सात लोको-

की कल्पना मिलती है। इन ऊपरी लोकोके नाम है क्रमशः

भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, मदः और सत्य (-लोक) ।

ये सप्तलोक या सप्तपुरियाँ कमशः एक-एक चक्र या कमलपर अवस्थित मानी गयी है। सातवाँ सत्य लीक ब्रह्मरन्ध्रमे स्थित सहस्रार पद्म या सहस्रार चक्रपर अवस्थित माना जाता है। पायु और उपस्थके मध्यमे, जहाँ से मेरदण्ड शुरू होता है, प्रथम चक्र मुलाधार स्थित है। इसमे चार दल माने गये है। मुलाधारका अर्थ है गुण्डलिनीशक्तिका मूल आधार इसके दलोंका रग लाल माना जाता है और इसपर वं, शं, षं, सं, नामकी चार मात्रिकाएँ (दे॰ 'मात्रिका') अवस्थित मानी गयी है। इस चक्रकी चार वृत्तियाँ है-परमानन्द, सहजानन्द, योगानन्द तथा वीरानन्द ! इसका तत्त्व पृथ्वी और बीज 'लं' है। स्वयंभूलिङ्ग यही अवस्थित है (दे० 'षट्चक निरूपण', इलोक, १-१३)। इसके ऊपर लिगमूल-में स्थित छः दलोवाला स्वाधिष्ठान चक्र है। स्वाधिष्ठान संज्ञाको कई तरहसे समझा-समझाया गथा है :- 'स्व', अर्थात परंटिगका अधिष्ठान, शक्तिका निजी (ख) स्थान या अधिष्ठान आदि । इसका वर्ण सिन्दूरी है और इसपर विजली-की आभावाली बं, सं, मं, यं, रं, लं छः वर्णमात्रिकाष्ट अवस्थित है। जल इसका तत्त्व है। इसके ऊपर नाभिदेशमे स्थित दस दलोवाला तीसरा चक्र है नाभिपन्न या मणिपूर-चक । अग्नि तेजके कारण यह पद्म मणिकी तरह चुति-मान है, अतः मणिपूर कहलाता है। इसके दलोपर डं, ढं, णं, त, थं, दं, भं, नं, पं, फं नाम्नी दस मात्रिकाएँ स्थितहै । अग्निका रक्तवीज 'रं' इसपर अवस्थित है (दे०—व**ही,** १९-३१)। मणिपूरके ऊपर चौथा अनाहत चक्र है। हुदेश-में स्थित बन्धृकपुष्पके रंगवाले इस कमल या चक्रका नाम अनाहत इसलिए है कि यही पहुँचकर तालु-कण्ठादिकी सहा-यता विनः उच्चरित होनेवाले अनाहत शब्द या शब्दब्रह्मका साक्षात्कार करता है। इसी चक्रमे 'बाण नामक लिग और जीवातमा (पुरुष)का निवास है। इसमे बारह दल है और उनपर कें, खं, गं, घं, ङ, चं, छं, ज, झ, ञं, टं, ठं नामक मात्रिकाएँ स्थित है। अपने तीन गुणोले युक्त ओकार यही रहता है। यह वायुतत्वका केन्द्र है। 'यं' इसका बीज है (दे० वही, २२-२७) । पॉचवा चक्र है-विशुद्ध । वाग्देवी भारतीका यह स्थान है। क्योंकि कण्ठ सरस्वतीका आवास है और यह चक उसी कण्ठके मूल (अधोदेश)मे स्थित है। इसके सोलइ दलोंपर सभी स्वरो-अ, आं, इं, ई, उं, ऊं, र्ऋ, ऋं, ऌं ॡं, एं, ऐं, ओ, औ की मात्रिकाएँ स्थित है। यहाँ पहुँचकर जीव विशुद्ध हो जाता है, अतः इसे यह नाम दिया गया है (दे० वही, २८-३१)। मूलाधारसे लेकर कण्ठमूलमे स्थित विशुद्ध चक्रतक जिन पाँच चक्रोका विवरण ऊपर दिया गया है, वे ऐसे केन्द्र है जिनमे स्थूल तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म तत्त्वोमं विलीन होते चलते हैं। इस प्रकार मूलाधारमे गन्ध तन्मात्र, पृथ्वी तत्त्व, घ्राणेन्द्रिय तथा चरण (क्रमेंन्द्रिय)का बिलय होता है, स्वाधिष्ठानमे रसतन्मात्र, अपतत्त्व, स्वादेन्द्रिय और हाथ (कर्मेन्द्रिय)का विरुय होता है। मणिपूरमे रूप तन्मात्र, तेज (अग्नि)तत्व, हग और गुदाका, अनाहतमे स्पर्शतन्मात्र, वायुतत्त्व, स्पर्शेन्द्रिय एवं लिंगका तथा विद्युद्ध चक्रमें शब्द तन्मात्र, आकाश तत्त्व, श्रवणेन्द्रिय तथा मुखका विलय हो जाता है। छठाँ

आज्ञाचक है। यह भूमध्यमें स्थित दो दलोंका कमल है जिनपर हं, क्षं की मात्रिकाएँ अवस्थित है। इसमे मन और प्रकृतिके सुक्ष्म तत्त्व अध्यवसित रहते है। इस चक्रमे पहुँचकर साधकको जपरसे गुरुको आज्ञा सुनाई पडती है, अतः इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है। यहाँ आकर नागरी वर्णमालाके पचासो अक्षर समाप्त हो जाते है। यह इसरूप परमशिवका निधान है। इस चक्रमें इतर लिंगकी स्थिति मानी गयी है। यहाँ पहुँचकर योगी अद्वैताचारवादी हो। जाता है (दे०--वही, ३२-३९)। ये ही षटचक्र है। योग माधनासे उद्युद्ध कुण्डलिनी इन्ही छः चन्नोको क्रमशः वेधती हुई ब्रह्मरन्ध्रमे स्थित सहस्रार, अर्थात् हजार दलोंवाले कमलमे पहुँचकर परमशिवसे सामरस्य स्थापित करती है और परिणामस्वरूप साधक जीते हुए भी मुक्त हो जाता है (विशेष विस्तारके लिए दे०-वडरफ: शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० ६८२से ८५; सर्पेण्टपावर, पृ० १०३-१८०) 1

षडंगयोग-दे॰ 'हठयोग'।

पड्दर्शन - 'षड्दर्शन'का यौगिक अर्थ है छः दर्शन-सम्प्रदाय, पर यह बहुत समयसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा या पूर्वमीमांसा या मीमांसा और ब्रह्ममीमांसा या उत्तरमीमांसा या वेदान्त, इन छः हिन्दू दर्शनोके अर्थमे रूट हो गया है। ये सभी वैदिक दर्शन है, अर्थात् वेदसे निकले हुए है। इनको आस्तिक दर्शन कहा जाता है। आस्तिकका अर्थ है वेदको माननेवाला। छः आस्तिक दर्शनोंके विरोधमे छः नास्तिक दर्शन माने गये है। यहाँ नास्तिकका अर्थ है मनुके शब्दोमे वेदनिन्दक, अर्थात् वेदको प्रमाणभूत न माननेवाला। छ नास्तिक दर्शन है चार्वाक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार या विज्ञानवाद और माध्यमिक या शुन्यवादः अन्तिम चार वास्तवमे बौद्ध-दर्शन-के सम्प्रदाय है। अतः नास्तिक दर्शन वस्तुनः तीन ही है। उनकी संज्ञा छ इसलिए कर दी गयी कि आस्तिक दर्जानी-की भॉति नास्तिक दर्शनोंको भी पड्दर्शनका नाम देना था। यह नामकरण 'सर्वेदर्शनसंग्रह'के रचयिता माधवा-चार्यने किया है। लगता है, उस समय षड्दर्शन हिन्दू छ दर्शनोके अर्थमें रूट नहीं हो गया था। यह कब हुआ ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए महामहोपाध्याय गंगानाथ झाने कहा है कि यद्यपि षड्दर्शन शब्द प्राचीन है, तथापि यह १४ वी शती ईसवीतक हिन्दू छ दर्शनोके अर्थमे रूढ नही हुआ था। षड्दर्शनीवल्लभ वाचस्पति मिश्र (नवी शती)ने भी षडदर्शनसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तका अभिधान नहीं किया। जैन दाई। निक हरिभद्र सूरि (नवी शती) ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'बड्दर्शनसमुच्चय'। इसमे बडदर्शनका अभिप्राय बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन, जैनदर्शन वैशेषिकदर्शन और जैमिनीय दर्शन या मीमांसा है। स्पष्टतः यहाँ योग और वेदान्तका नाम षड्दर्शनोमे नहीं लिया गया है और उनके स्थानपर बौद्ध तथा जैनदर्शनों-को रखा गया है। गंगानाथ झाका मत है कि वास्तवमे ६ हिन्दू दर्शनोंको बिलकुल भिन्न ६ दर्शन माननेमे कोई प्रमाण नहीं है; केंबल तीन ही दर्शन है, ६ नहीं । ये तीन दर्शन न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग और मीमांसावेदानत है— छः दर्शनोंकी तीन जोडियाँ है। आज सचमुच न्याय-वेशेषिकवो एक दर्शन समझा जाता है, इसी तरह सांख्य-योग या मीमांसा-वेदान्तको भी एक ही दर्शन माना जाता है। अतः ६ दर्शनोंके विभाजनको यदि हम सृक्ष्मतासे देखें, तो हमे तीनका ही विभाजन मिलेगा। फिर भी पड्दर्शन शब्द काफी रूढ और व्यापक हो चला है और देश तथा विदेशमे इसका अर्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त यही लगाया जा रहा है।

इन ६ दर्शनोको बहुतसे लोग एक-दूसरेका विरोधी मानते है। पर यह भ्रान्त दृष्टि है। इन सबमे गाढ़ा सम्बन्ध है। प्रत्येकदा अपना क्षेत्र है और उसमे वह अन्य द्वारा मान्य है। यद्यपि प्रत्येक दर्शन अपने क्षेत्रका निरूपण करते हुए गौण रूपसे दूसरे दर्शनोंके क्षेत्रपर भी कुछ प्रकाश ढालता है, पर यह गौण वर्णन उनका प्रधान कार्य नहीं है। इस प्रकार निरुचय है कि न्याय प्रमाणोकी, वैशेषिक वस्तुओके 'विशेप'की, सांख्य चेतन और अचेतनके भेद तथा निकासकी, योग साधनाकी, मीमांसा कर्मकी और वेदान्त ब्रह्म या आत्माकी विवेचना करता है। वेदान्त षड्दर्शनका चुडामणि है। अन्य दर्शन उसके साधन है या यो बहना चाहिये कि वेदान्त सभी दर्शनोके साध्यका ही निरूपण है। अन्य दर्शन इस साध्यके ही निरूपणमें अपनेको निरत नहीं करते, वे उमके साधनोंकी विवेचनामे विशेष ध्यान देते हैं। वेदान्त केवल साध्यकी ही गवेषणा करता है।

इन छः दर्शनोके निन्दक और प्रशंसक, दोनों इस देशमें सदासे रहे है। नास्तिक दर्शनोके माननेवालोने प्रायः इनकी निन्दा की है। इनके अनुयायियोने इनकी प्रशंसा की है। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोको मी हम इर दो दलोमें विभक्त देखते है। कबीरने 'वर्णाश्रमणडदर्शनीकी कानि' नहीं रखी, ऐसा नाभादासने अपने 'भक्तमाल'में कहा है। रैदासने रखी है, यह भी उनका ही मत है। स्वयं कबीर कहते है— "अरु भूले षडदरसन भाई। पाषण्डभेष रहे लपटाई"।

सामान्यतः सगुणोपासक सन्तोंने षड्दर्शनकी मर्यादा निर्गुणोपासक सन्तोंसे अधिक रखी है। वैसे उन्ही 'निर-गुनियों'ने इसकी मर्यादाका खण्डन किया है, जिनको इसका ज्ञान न था और जो इसके विद्वानोके बुरे आचरणको देखकर इसके प्रति भी दृषित धारणा बना चुके थे। तुल्सीशासको भी इसीलिए कहना पड़ा कि ''पाखण्ड विवादतें छप्त भये सद ग्रन्थ''। जिन निर्गुणोपासक सन्तोंने षडदर्शनोंका अध्ययन किया था, वे इनकी मान्यताको स्वीकार करते है। दाद्वी परम्पराके विद्वान् सन्तोंने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिनमे राघोदास, सुन्दर-दास और निश्चलदास मुख्य है।

इन पड्ठशंनोमे वेदान्तको ही हिन्दीमें विशेष महत्त्व मिला है। हिन्दीके दार्शनिकोंने जितना योगदान वेदान्तमे किया है, उतना अन्य दर्शनोंमे नही। इसका मुख्य कारण यह है कि शंकराचार्य और उनके पश्चात आनेवाले वेदान्तियोंने वेदान्तको ही भारतीय दर्शनका चूडामणि ठहराया और इसका देशन्यापी प्रचार किया। हिन्दीके दार्शनिकोंका युग वेदान्तके इस स्वर्णयुगका अनुवर्ती ही है, अतः उसे वेदान्तका ही सच्चा ज्ञान विरासतमे मिला। निश्चलदासने ठीक ही कहा है—"सांख्य न्यायमें श्रम कियो, पढि व्याकरण अशेष। पढ़ै ग्रन्थ अद्वेतके, रहे न एक हु शेष"।

आधुनिक हिन्दी साहित्य तथा समग्र भारतीय साहित्य-पर भी वेदान्तका ही विशेष प्रभाव पडा है। रहस्यवाद और छायावादकी मूल प्रेरणाएँ अद्वैतवेदान्तमें ही है। उपनिषद् वेदान्तके मूल ग्रन्थ है।

षड्दर्शनोके ६ सूत्रकार आचार्य हैं। कपिलने 'सांख्य-सूत्र' लिखा, जो आज उपलब्ध नहीं है। पतंजलिने योग-सूत्रोंकी, गौतमने न्यायस्त्रोकी, कणादने वैशेषिक सूत्रोंकी, जैमिनिने मीमांसास्त्रोकी और बादरायणने ब्रह्मसूत्रो या वेदान्तसूत्रोंकी क्रमशः रचना की। इन्हीसे षड्दर्शनोका सूत्रपात हुआ। अर्वोचीन तथा प्राचीन विद्वानोने सिद्ध किया है कि इन सूत्रकारोंने अपने-अपने विषयको उप-निषदोंसे ही मूलतः लेकर विकसित किया है। इन सभी सूत्रींपर परवर्ती युगोमे क्रमशः भाष्य और वार्तिक तथा वृत्ति और टीका लिखी गयी है, जिनसे षहदर्शनोका प्रसुर विकास हुआ है। -सं० ला० पा० षिड्गक-उपरूपकका एक भेद विशेष, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख अभिनवगुप्तने किया है। उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"सिखियोंके समक्ष नायिका द्वारा पति या नायकके उद्धत व्यवहार, मस्ण या धूर्ततापूर्ण चरित्र चर्चा-को पिड्गक कहा जाता है"। 'भाव प्रकाश'में यह लक्षण श्रीगदित का है। साथ ही, कई आचार्योंने षिड्गकके तत्त्वों-का उल्लेख प्रस्थानकके अन्तर्गत किया है। -यो० प्र० सिं० षोडशोपचार-भगवान्की प्रतीक (प्रतिमा) पूजाके सोलह विधान या अंग ही षोडशोपचार है, यथा-(१) आसन (२) स्वागत, (३) अर्घ्य, (४) आचमन, (५) मधुपर्क, (६) स्नान, (७) वस्त्राभरण, (८) यज्ञोपवीत, (९) चन्दन, (१०) पुष्प, (११) धूप, (१२) दीप, (१३) नैवेद्य, (१४) ताम्बूल, (१५) परिक्रमा, (१६) वन्दना । वैष्णव साधकोम अर्चनोपचारोंकी बड़ी महिमा है। वैष्णव कवियों, विशेषकर सरदासमें अर्चन-भक्तिपरक अनेक पद है।-वि० मो० श० संकटकाल - 'क्राइसिस' या ऐसा समय, जन मनुष्यका संचित धैर्य और साहस चुनौती पा उठता है। साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमे पूँजीवादी हासोन्मुख कालमे संस्कृतिके सभी मुल्य संकटग्रस्त है, ऐसा काडवेल आदि माक्सीय आलोचक मानते हैं। व्यक्तिजीवनमें नीति-अनीति, जीवन-मरणके बीच चुननेका जो बिन्द है, वही सामाजिक या समष्टिगत अपेक्षासे संकटकाल कहा जा सकता है। संकर-संकर शब्दसे अभिप्राय है अत्यन्त मिला हुआ। कान्यशास्त्रमे यह एक प्रकारका मिश्रालंकार है। जब एक ही छन्दमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन नीर-क्षीरन्यायसे, अर्थात् परस्पर सापेक्ष रूपसे हो, वहाँ संकर होता है। संकर्र अलंकारमें नीर-क्षीर-न्यायके अनुसार एक छन्दमें अनेक अलंकारोंका सम्मेलन होता है। जिस प्रकार एक ही पात्रमे रखे हुए दूध और जलमें परस्पर अमेदसम्बन्ध

हो जाता है, उसी प्रकार 'संकर' अलंकारमें प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष होते है। इस अलंकारका उच्लेख उद्भटके 'कान्यालंकारसारसंग्रह'मे हुआ है । मम्मटके अनुसार संकर अलंकारका लक्षण इस प्रकार है-"अवि-श्रान्तिजुगास त्मन्यंगं गित्वं तु संकरः" (का० प्र०, १०: १४०), अर्थात विभिन्न अलंकारोंकी अंग-अंगीरूपसे अव-स्थिति । "साहित्यदर्पणकारने इसके तीन रूपोका उच्छेख किया है—''अंगांगित्वेऽलंकतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ । सन्दि-न्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पनः" अर्थात अलंकार अंग-अंगीरूपसे स्थित हों, एक ही आश्रयमे स्थित हों, अथवा उनके सम्बन्धमे सन्देह हो, इन तीन रुपोंमे संकर होता है। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्य भिखारीदासके मतानुसार भी संकर तीन प्रकारका होता है—''द्धे कि तीनि भूषन मिले, छीर-नीरके न्याइ। अलंकार संकर कहें, तेहि प्रवीन कविराइ। एक-एकको अंग कहें, कहुँ सम होहि प्रधान। कहुँ रहत सन्देहमे, संबर तीनि प्रमान" (का० नि०, ३)। हिन्दीमे चिन्तामणि, भूषण, सोमनाथ, पद्माकर आदि कुछ आचायोंने इसपर विचार किया है। भूषण अस्पष्ट है-'भूषन होत अनेक' (शि० भू०, ३७१) । सोमनाथने 'पोष्यपोषकभाव'से कई अलंकारों-के प्रयोगको माना है, भेदोका उल्लेख नही किया है।

स्पष्टतः संकर तीन प्रकारका है—(१) अंगांगिभावसंकर, (२) एकवाचकानुप्रवेशसंकर, (३) सन्देहसंकर । एकवाचका नुप्रवेशसंकरको दास तथा पद्माकरने 'सम-प्रधान'के नामसे अभिहित किया है।

9. अंगांगिभावसंकर—एक ही छन्दमे अनेक अलं-कारोंकी परस्पर अंगांगिमाव अथवा पोष्य-पोषकमावसे स्थिति। इसमें एक अलंकार दूसरेका उपकारक होता है। एकके अभावमे दूमरेकी स्थिति सम्भव नही होती। उदा० - "खल बढई बल कारि थके, कटे न कुबत कुठार । आल-बाल उलझालरी, खरी प्रेम तरु डार"। (बि॰ स॰, ४४४)। इसमे रूपकसे विशेषोक्तिकी सम्भावना हुई है। देवके इस प्रसिद्ध छन्दमे-"पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन, कंज कली नायिका लतानि सिर सारी दै। मदन महीप-जुको बालक वसन्त ताहि, प्रात हिये लावत गुलाब चुटकारी दै"। इसमे रूपक गम्योत्प्रेक्षाका अंग है। इसी प्रकार आधुनिक कवि पन्तकी पंक्तियोमें—"नयन नीलिमाके लघ नभमे, अलि किस सुषमाका संसार । विरल इन्द्रधनुषी वादल-सा बदल रहा निज रूप अपार" (बादल)। इसमे उपमा 'बादल-सा' रूपक अलंकारका अंग है। उपमाके अभावमें रूपककी और रूपकके अभावमे उपमाकी स्थिति अपूर्ण एवं अशोमन-सी प्रतीत होती है।

२. एकवाचकानुभवेशसंकर—एक ही आश्रयमें अनेक अलंकारोकी स्थिति। एक आश्रयसे अभिप्राय यहाँ एक पदसे है। मम्मग्रके अनुसार इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनोकी एक पदसे स्थिति होती है, किन्तु रुव्यक केवल कई शब्दालंकारों या कई अर्थालंकारोंके एक ही पदमें सम्मेलन होनेको मानते है। उदा०—"डर न टरें नीद न परें, हरें न काल विपाक। छिन छाके उछके न फिरि, खरो विषम छिब छाक" (बि० स०, ११८)। यहाँ

'छिव छाके'में वर्णकी आवृत्ति होनेसे अनुप्रास है और छिबिरूप मिदरामें रूपक अर्थालंकार है, अतः संकर है। अप्पय दीक्षित रुय्यकके समान इसे अनेक अर्थालंकारोका संकर मानते हैं।

३. सन्देहसंकर — अनेक अलंकारोंकी सन्दिग्ध स्थिति, दूसरे शब्दोंमें जहाँ एक ही छन्दमें दो या दोसे अधिक अलंकारोंकी स्थितिमें निश्चय नहीं हो सकता, अर्थात् सन्देहकी स्थिति रहती है कि यह अलंकार है या वह । उदा०— "काली ऑखोमें कितनी, यौवनके मदकी लाली । मानिक मदिरासे भर दी, किसने नीलमकी प्याली" ('प्रसाद': ऑस् )। यहाँ नीलमकी प्यालीको काली ऑखों-का और मानिक मदिराको मदकी लालीका रूपक माननेसे रूपक अलंकार है, किन्तु यदि इसका अन्वय इस प्रकार किया जाय कि रक्तिमापूर्ण काली ऑखों मानिक मदिरासे भरी नीलमकी प्याली-सी सुन्दर हैं, तो लक्ष्योपमा है। अतः यहाँ रूपक और उपमाका सन्देहसंकर है।

द्विवेदीयुगीन मैथिलीशरण गुप्त तथा छायावादी बान्यके प्रवर्तक एवं प्रतिनिधि कवि 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी आदिके काव्यों में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। अलंबारोंका 'संकर' प्रयोग भक्ति-कालके कवियोंने सौन्दर्य-वर्णनकी परिस्थितियोमें हुआ है। रीतिकालके कवियोंने वैचिन्यकी दृष्टिसे किया है, विशेषकर विहारीमे इसका उक्ति-पूर्ण निर्वाह हुआ है। संकलन-त्रय - संकलन-त्रयसे अभिप्राय काल, स्थान और क्रियाकी तीन नाट्य-अन्वितियोंसे है-समयकी एकता (unity of time), स्थानकी एकता (unity of place) तथा कार्यकी एकता (unity of action)। इनका उल्लेख यूनानी दार्शनिक अरस्तूके 'काव्यशास्त्र' (poetics)में मिलता है। अरस्त्ने त्रासदीके विवेचनमें लिखा है-"त्रासदीको यथासम्भव सूर्यकी एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समयतक सीमित रखने-का प्रयत्न किया जाता है"। यहींसे कालान्वितिका तत्त्व सामने आया । स्थानान्वितिका कोई स्पष्ट उल्लेख अरस्तुके कान्य-शास्त्रमें नहीं मिलता। स्थानकी एकताका तत्त्व कालान्वितिसे ही उद्भूत माना जाता है। कार्यान्वितिके सम्बन्धमें अरस्तूका कथन है- "कथानकको, जो कार्य-व्यापारकी अनुकृति होती है—एक तथा सर्वागपूर्ण कार्यका अनुकरण करना चाहिये और उसमें अंगोंका संगठन ऐसा होना चाहिये कि यदि एक अंगको भी अपनी जगहसे इधर-उधर करें तो सर्वांग ही छिन्न-भिन्न और अस्तव्यस्त हो जाये"। कथानकका आरम्भ, मध्य और अन्त एक सूत्र-में बँधा होना चाहिये।

संस्कृत नाट्याचार्यों ने भी समय, स्थान और कार्यकी एकतापर अपने ढंगसे विचार किया है। 'समयकी एकता'- के सम्बन्धमें हमारे यहाँ 'अंकमें काल नियम'के अन्तर्गत विचार किया गया। 'स्थानकी एकता' भारतीय नाट्य-शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित 'देश-नियम'में आ जाती है। 'कार्यकी एकता'का सम्बन्ध 'अवस्था पंचक' (आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम), 'अर्थ-प्रकृति पंचक' (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य) एवं 'सन्धि-पंचक'

(मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण)के नियमोंस स्पष्ट है।

'समयकी एकता'का अर्थ है घटनाके वास्तविक समयका रंगमंचके समयसे ऐक्य। स्पष्ट है, 'समय-संकलन'का इतनी कठोरतासे निर्वाह अन्यावहारिक है; विशेष परिस्थि-तियोंमे तो नितान्त असम्भव। प्राचीन नाटककार भी इस नियमका अविकल रूपसे पालन करनेमे असमर्थ रहे हैं। यह नियम नाटककी स्वाभाविकनाको बढानेके उद्देश्यसे बना, पर कलात्मक रचनामे स्वाभाविकताकी ऐसी जड़ मॉगका विशेष आदर नहीं, क्योंकि कला 'अनुकर्ण'का पर्याय नहीं है-वहाँ चयन है, काट-छाँट है। 'समय संकलनका निर्वाह करनेपर नाटकमें या उसके एक अंकमें सारी घटनाओका, एक ही दिनमे होना प्रदर्शित किया जायगा । इससे पाठक और दर्शक शीव्र ही जब उठेंगे. क्योंकि यहाँ उनकी कल्पना-शक्तिको कार्य करनेका अवकाश ही नहीं मिलेगा। दूसरे, अधिक वर्षोंका अन्तराल 'समय संकलन'से बंधी नाट्य-कला, बतानेमें असमर्थ रहेगी। अतः इस अव्यावहारिकतासे बचनेके लिए सूच्य वस्त-व्यंजनाके साधन अथौपक्षेपकों (विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशक)की योजना की गयी है। यदि किसी नाटकमे 'समयकी एकता'का दृदतासे निर्वाह सम्भव हो सके, तो उसे अपवाद ही समझना चाहिये।

स्थानकी एकताका अर्थ है, जो घटनाएँ नाटकमे दिखायी जाँये, उनका सम्बन्ध एक ही स्थल या एक ही नगरसे हो। यदि 'स्थान संकलन'का ध्यान नही रखा गया तो नाटकमे अस्वाभाविकताका समावेश हो जायगा, क्योंकि रंगमंच-पर पात्र, निर्दिष्ट कालमे आवागमन अथवा यातायात नहीं कर सकेंगे। 'समय-संकलन'की तथाकथित स्वाभाविकताके समान यह स्वाभाविकता भी स्थूल और जड़ है। सभी घटनाएँ सदैव एक ही स्थानपर संबटित नहीं होती। वैज्ञानिक युगके आधुनिक समाजका नाटकीय-चित्रण इस सीमामे प्रायः सम्भव नहीं। संस्कृत नाट्याचायोंने स्थान सम्बन्धी कठिनाइयोंको दूर करनेके उद्देश्यसे 'अंकच्छेद'की व्यवस्था की है। अतः 'समय संकलन'के समान 'स्थान-संकलन'का प्रयोग भी आधुनिक नाटकोंमें नहीं किया जाता।

'कार्यकी एकता'का अर्थ है, नाटकमे ऐसी कोई भी घटना समाविष्ट न की जाय, जो प्रमुख घटनासे सम्बन्ध न रखती हो। इसका अभिप्राय यह नहीं कि नाटकमें प्रासंगिक कथाओंका समावेश ही न किया जाय। प्रासंगिक कथा अथवा घटनाका आवश्यकतानुसार समावेश हो, पर वह मूळ-कथासे पूर्ण रूपसे संयोजित हो। नाटकके विभिन्न अंगोंमे पारस्परिक सम्बन्ध-सामंजस्य होना अपेक्षित है। नि:सन्देह, 'संकळन-त्रय'के अन्तर्गत 'कार्य-संकळन'की योजना सबसे अधिक महत्त्व रखती है। वह नाटककी प्रमुख आवश्यकताओंमेसे है।

सोलहवीं शताब्दीके इटेलियन और सत्रहवीं शताब्दीके फांसीसी लेखकोंने 'संकलन-त्रय'का निर्वाह कठोरताके साथ किया है। पर, शेक्सपियरके नाटकोंमें 'कार्य-संकलन'- को छोड़ शेष अन्वितयोंकी उपेक्षा की गयी है। स्वच्छ-

न्दतावादी लेखकोंने भी 'संकलन-त्रय'को मान्यता नहीं दी। वास्तवमें, नाट्य-कला विषयक सभी संकेतों, निर्देशों, सिद्धान्तों, वर्जनाओं, विधि-विधानों आदिका उद्देश्य नाटकों-को रंगमंचके अथवा अभिनयके उपयुक्त बनाने और उनमे स्वाभाविकताका अधिक से-अधिक समावेश करनेका होता है। अभिनय-कलाके विकासके साथ-साथ साहित्य-रूपकी कलाका स्वरूप भी बदलता रहता है। रंगमंच और अभिनय-कलाने वर्तमान युगमें बड़ी उन्नित की है। इसी कारण वे तत्त्व, जो किसी समय वर्तमान उन्नितिक अभावमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे, आज अपनी उपा-देयता खो वैठे है। आधुनिक कालमें विकसित एकांकी नाटकोंमें संकलन-त्रयका निर्वाह अपेक्षाकृत सहज रूपमें होता है।

संकीण -दे० 'शब्द-दोष', तेरहवॉ 'वाक्य-दोष'।
संकीण राष्ट्रवाद - अंग्रेजीक 'जिगोइज्म' अथवा फ्रेन्चके
'शाविनिज्म'के लिए हिन्दीमें यह शब्द प्रयुक्त होने लगा
है। नेपोलियनकी सेनामे निकोल्स शाविन नामका व्यक्ति
था, जो नेपोलियन-भक्तिके लिए प्रसिद्ध था। उसकी नेपोलियन-भक्तिके लिए शाविनिज्मका प्रयोग किया जाने
लगा। धीरे-धीरे इसका प्रयोग स्वराष्ट्रके प्रति अन्धे संकीण
अभिनिवेशके लिए होने लगा है। संकीण राष्ट्रवादी अपने
राष्ट्रको सर्वोपरि मानता है। इस प्रकार यह राष्ट्र-राष्ट्रमे
प्रम-भावकी वृद्धिन कर एणा और देषकी ही वृद्धि कर
सका। नाजी (दे० 'नाजीवाद') विचारधारासे यह कई
अंशोमे मेल खाता है।

संकीतित अद्भुत-दे० 'अद्भुत रस'।

संक्रमण—साधारण परिवर्तन, हेर-फेर, अदल-वदलसे अधिक
महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया । एक विचार-व्यवस्थासे दूसरीमे—
उदाहरणार्थ, पुरानी परम्पराओमेसे नये प्रयोगोंमे—जब
साहित्य परिणत होता है, तब पुराना सब कुछ मिट नही
जाता, नया उसपर आरोपित नही होता या थोपा नही
जाता, बिल्क पुरानेमें जो सजीव तत्त्व रहते है, वे आगे
गुणात्मक परिवर्तन पाते है, जैसे प्राणिशास्त्रीय परिभाषामें
बच्चेमें पिता-माताके 'क्रीमोजोम्स'। यह संक्रमण व्यक्तिगत जीवनमें भी घटित होते हैं, सामाजिक जीवनमे भी—
और दोनोंका परिणाम एक दूसरेपर घटित होता रहता
है।

संक्षिप्त महाकाज्य — महाकाज्यकी पुरानी मान्यताके अनु-सार कोई पर्याप्त लम्बा कथात्मक काज्य ही महाकाज्य हो सकता है। संस्कृतके आलंकारिक विश्वनाथ किराजके अनुसार न बहुत बड़े, न बहुत छोटे, आठसे अधिक सर्गी-बाले प्रवन्धकाज्यको ही महाकाज्य मानना चाहिये— "नाति स्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह'। अरस्त्के अनु-सार भी महाकाज्यको बड़े आकारका ही होना चाहिये। पर आधुनिक युगमे काज्यके नये-नये रूप विकसित हो चुके है और महाकाज्यके स्वरूपमें भी बहुत परिवर्तन हो चुको है। अतः साहित्यशास्त्रियोको महाकाज्य सम्बन्धी मान्यतामे भी परिवर्तन करना पडा है। फलस्वरूप प्रगीतात्मक महाकाज्य, नाट्य महाकाज्य, रूपकथात्मक महा-काज्य, संक्षिप्त महाकाज्य आदि अनेक प्रकारके

महाकाव्यरूपोंको आलोचकोंने मान्यता दी है। इनमें संक्षिप्त महाकाव्य तो वस्तुतः महाकाव्यके गुणोसे युक्त लघुकान्य ही होता है। ऐसे कान्यको महाकान्यकी पुरानी कसौटीपर कसनेका प्रदन नहीं उपस्थित होता, क्योंकि न तो वह सर्गबद्ध होता है, न उसमें नाटकीय सन्धियोंका विधान होता है और न विविध वस्तु-व्यापारोका विस्तृत वर्णन ही होना है। फिर भी वह महाकान्यात्मक गुणींवाला इसलिए माना जाता है कि उसमे उद्देश्यकी महानता, शैलीकी उदात्तता और कान्यगत गुरुता और गम्भीरता महाकाव्य जैसी होती है। वस्तृतः किसी महाकाव्यका महाकाव्यत्व उसके कथानक, वस्तवर्णन या चरित्रचित्रणमे उतना नहीं होता, जिनना उसमें व्यक्त जीवनम्ल्योंकी असाधारणता तथा कविकी महती काव्यप्रतिभासे उद्भृत व्यापक अथवा गहरी महाकाव्यात्मक अवधारणा(एपिक इण्टेशन)में होता है। इस कसौटीपर कसनेपर बहुत बड़े-बड़े प्रबन्धकान्य भी महाकान्य नहीं माने जा सकते और कई छोटे किन्तु उपर्यक्त लक्षणावाले लघु या सक्षिप्त कान्योंको महाकान्यात्मकना (एपिक कालिटी)से युक्त महाफान्य-संक्षिप्त महाकाव्य-कहा जा सकता है। इसी नयी मान्यताके अनुसार अनेक आलोचक अंग्रेजीके आधुनिक कवि टी॰ एस॰ ईलियटके काव्य 'वेस्टलैण्ड'को संक्षिप्त महा-कान्य कहते है। उसी तरह हिन्दीमे 'निराला'की कविताओं, संक्षिप्त महाकाव्य कहा है। संख्यावैचित्रयवक्रता-दे० 'पदपरार्धवक्रता', पहला प्रकार। संख्यासंकेत - छन्दःशास्त्रमे मात्रासंख्या और वर्णसंख्याकी सचना देने तथा यतियोंके निश्चित निर्धारणको व्यक्त करने-के लिए कुछ विशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया जाता रहा है। अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हुए भी इस प्रकार प्रयुक्त शब्द विशेष सन्दर्भमें केवल संख्यायाची मान लिये जाते है, जैसे भू, नेन्न, वेद, अहि, गिरि इत्यादि। इन संख्या-शब्दों से तिथि, संवत्, वर्ष आदिकी सूचना भी दी जाती रही है। छन्दोबद्ध करनेमे अंकोके नामोकी तुलनामे ये शब्द अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए है, क्योंकि इनके पर्याय भी प्रयक्त किये जा सकते हैं। कई शब्द अनेक संख्याओं के बोधक भी होते है, जैसे 'रस' पट्रसके अर्थमे ६का, नव-रसके अर्थमे ९का अर्थ देता है। ऐसे शब्दोंको संख्यासंकेत कहा जा सकता है, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य संख्याओ-का बोध कराना ही है। नोचे कुछ पर्यायोके साथ कतिपय प्रमुख सख्यासंकेत दिये जाते है--०-शून्य, नम, विन्दु आदि । १-शशि, भू, धरा, गणपतिरदन, ईश्वर आदि । २-भूज, नेत्र, पक्ष, अहिजिह्वा, नदीतट, भ्रू, कर्ण आदि। ३-गुण, राम, अग्नि, ताप, काल, पुरारिनेत्र, लोक आदि । ४-वेद, वर्ण, फल, पाद, आश्रम, विधिमुख, धाम, हरिबाहु आदि । ५-बाण, मदनशर, पाण्डव, कन्या, शिवमुख, प्राण, इन्द्रिय, तत्त्व, भूत, यज्ञ, गव्य आदि। ६-शास्त्र, ऋतु, रस, राग, वेदांग, अलिपद, ईति, शिव-सुतमुख आदि । ७-तुरंग, रियाइन, ऋषि, सिन्ध, गिरि, स्वर, वार, पुगी, पाताल आदि। ८-सिद्धि, वसु, अंग, अहि, दिग्गज, याम, प्रहर, विधिनेत्र आदि । ९निधि, ग्रह, भक्ति, अंक, छिद्र, नाडी, भूखण्ड आदि । १०-दिशा, दिग्पाल, अवतार, दोष, दशा, राम-रिपुमुख आदि ११-रुद्र, शिव आदि । १२-नादित्य, स्र्यं, राशि, मास, भूपण आदि । १३-नदी, परमभागवत आदि । १४-मनु, विद्या, रत्त, भुवन आदि । १५- तिथि । १६-शंगार, कला, संस्कार आदि । १८-पुराण, स्मृति आदि । २०-तस्त्र, रावणवाडु आदि । २५-प्रकृति । २७-तस्त्र । २०-मासदिवस । ३२-लक्षण, दन्त आदि । ३३-रेवता, विद्युध्र आदि । ३६-रागिनी । ४९-पवन, मरुत् आदि । ५६-भोग । ६४-क्ला । ८४-योनि । १०००-इन्द्रनेत्र, कमलदल, स्र्यंकिरण, शेषफन, पृथुकर्ण आदि । —ज० गु०

संगति (harmony)—विरोधका अभाव, व्यवस्था, सम-न्वय आदि संगतिके विशेष तत्त्व है। कला विश्वसनीय और आनन्ददायक तभी होगी, जब कि उसके सम्मिलित प्रभावसे मनमें सामंजस्य और उपयुक्तताका भाव पैदा हो।

हर्वर्ट रीडके अनुसार ''संगति हमारे सौन्दर्य-बोधकी तृप्ति (मीनिंग ऑव आर्ट) हैं"। किसी कृतिमें कलाके विभिन्न तत्त्वोंका इस प्रकार मिलना या संविदत होना कि चित्त एक स्वाभाविक प्रसन्नता और सन्तोषका अनुभव करे। सौन्दर्यानुभूति वास्तवमें आत्माकी वह सन्तुष्ट स्थिति है, जब वह किसी सुन्दर वस्तुमें संगति, पूर्णता और रसका अनुभव करती हुई अविरोध रमण करती है। —कु॰ ना॰ संगम—दे॰ 'हठयोग'।

संगीतरूपक—संगीतरूपक रेडियो नाटकका एक प्रकार है। इसमें गीतोंकी प्रथानता होती है, जो नैरेशन द्वारा सम्बद्ध कर दिये जाते हैं। नैरेशन गद्य या पद्य, दोनोंने होते हैं। कुछ संगीतरूपक किर्पत कहानियोंपर आधारित होते हैं। कुछ पर्व-त्योहारोके उपलक्ष्यमें लिखे जाते हैं, कुछ पर्व-त्योहारोके उपलक्ष्यमें लिखे जाते हैं, कुछमे प्राकृतिक ह्रद्योंका अंकन होता है। इस प्रकार विषयकी हृष्टिसे संगीतरूपक अनेक प्रकारके होते हैं। संगीतरूपककों संगीत, काव्य एवं नाटककी त्रिवेणी कहा जा सकता है। (दें परेडियो नाटक')। — सि० कु० संघटन—दे० 'तृतीकमें'।

संघर्ष-पाश्चात्य धारणाके अनुसार नाटककी वह स्थिति, जिसमें विरोधी शक्तियाँ अन्तिम बार परस्पर संघर्ष करती हैं तथा जो कथावस्तको निर्णयात्मक क्षण प्रदान करती है. संघर्ष कहलाती हैं। इस क्षणमे ही एक विरोधी शक्ति बलवती एवं दूसरी निरुपाय होने लगती है। संघर्षमें केवल दो विरोधी राक्तियाँ होती हैं, अधिक नहीं; क्योंकि प्रेक्षक-की सहानुभृति केवल एक ही शक्तिके साथ होनी है तथा अन्य समस्त शक्तियाँ या तो उसकी सहायता करती हैं या विरोध । इन परस्पर विरोधी शक्तियोंके कई रूप हो सकते हैं, जैसे-(१) दो व्यक्ति, उदाहरणतः नायक एवं खलनायकः (२) एक व्यक्ति एवं समाजः (३) व्यक्तिके मनमें होनेवाला अन्तर्द्वन्द्व, जैसे, प्रेम और कर्त्ववका, आस्या एवं अनास्थाका । संवर्षके लिए नाटकीय हेत अथवा चरम लक्ष्यका होना आवश्यक है। संघर्षकी घटनाएँ कार्य-व्यापारके ही अंश हैं। नाटकका वह स्थल, जहाँ विरोधी शक्तियोंकी हार-जीतका अन्तिम निर्णय होता है, संघर्ष कहलाता है।

यद्यपि बहुत-से आधुनिक नाटककारोकी प्रवृत्ति संघर्षको बहुत बादमे रखने की है, किन्तु प्राचीन नाटककार संघर्षको सम्पूर्ण नाटकीय कार्य-व्यापारके मध्यमे या उसके ठीक बाद रखते थे। शेक्सपीयरने अपने नाटकोमे संघर्षको सदैव या तो तीसरे अंकमे या चौथे अंकके प्रारम्भिक भागमें स्थान दिया है। उदाहरणके लिए 'मैकवेथ'मे संघर्ष तीसरे अंकमे मिलता है, जहाँ फ्लेएन्सके बच निकलने तथा बैकोकी आत्माके प्रकट होनेके साथ ही मैकवेथके भाग्यका परिवर्तन हो जाता है। 'प्रसाद'के 'अजातशब्र'मे संघर्ष द्वितीय अंकमे मिलता है, जब कि सब विरोधी दल एकमे मिलकर शक्तिशाली एवं उद्योगशील बन जाते है और विरुद्धक एक ओर एवं प्रसेनजित और उदयन दूसरी ओर संघटित होकर इट चित्तसे अपनी-अपनी सेना सजाकर युद्धके लिए तत्पर होते है। इसी प्रकार 'स्कन्दग्रप्त'में संघर्ष हमें चौथे अंकमें मिलता है, जब कि स्कन्दगुप्त अपनी पराजयके बाद फिरसे उद्योग करता है तथा पर्णदत्तकी साधनासे साम्राज्यके सभी बचे हुए स्वामिभक्त योद्धा एकत्र होकर, सेना संघटित कर स्कन्दग्रमकी छन्नच्छायामें एक बार पुनः आर्यावर्तकी रक्षाका उद्योग करते हैं। इस प्रकार स्कन्दगुप्तकी हूणोंके साथ जो दूसरी लडाई होती है, वह नाटकीय फलकी निर्णायक है। अतः यहीपर नाटकीय संघर्ष माना जायगा। --- इया० मो० श्री० संचारियोंका अंतर्भाव - भरतने संचारियोंके वर्गाकरणके चार सिद्धान्त माने है—(१) देश, काल एवं अवस्था। (२) इनमेंसे कुछ उत्तम, तो अन्य मध्यम एवं अधम प्रवृत्तिके लोगोंमेंसे होते है। (३) यद्यपि ये भाव प्रधानतः आश्रयगत ही हैं, तथापि कुछ प्रकृतिगत और कुछ अन्य व्यक्तियोंकी उत्तेजनाके कारण और कुछ वातावरणके प्रभावसे होते हैं। (४) कुछ प्रधानतया स्त्रियों और पुरुपों मे होते हैं। भावोके अन्तर्भाव एवं भावशबलताके कारण भरतने इन सिद्धान्तोका विश्वदीकरण पूर्णतया नहीं किया। केवल यह बताया है कि निवेंद, शंका और आलस्य स्त्री जाति एवं नीच प्रकृतिके न्यक्तियों मे होते है। भरतके सिद्धान्तके अनुसार 'गर्व' आत्मगत और 'अमर्घ' परगत-का उदाहरण हो सकता है। 'आवेग' एवं 'त्रास' काला-नसार होते है।

यदि संचरणशील अथवा स्थायी मनोविकारींको या चित्तवृत्तियोंको व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहा जाता है तो उनकी संख्या ३३ ही क्यो है ? सम्भवतः इसलिए कि हिन्दू धर्ममें देवताओंकी संख्या भी एक गणनाके अनुसार ३३ ही है (ब्रह्मा एवं इन्द्र, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य)। वैसे यह संख्या नित्य नहीं है, क्योंकि धनिकने कहा है—"(धनंजय द्वारा निर्दिष्ट) व्यभिचारी भावोंके अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ भी (लोकव्यवहारमें देखनेमें आती) है, पर वे सव इन (तैतीस)के अन्तर्गत होकर विभाव या अनुभावके रूपमे प्रविष्ट होती है, अतः उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया" (दशरूपकावलोक, ४: ३३)।

'शृंगारप्रकाश'मे भोज (११ श० ई० उत्त०)ने भरतके अपसार और मरणके स्थानपर ईर्ष्या एवं शमका उस्लेख किया है, पर 'सरस्वतीकण्ठाभरण'में स्नेह और धृतिकों माना है। हेमचन्द्र (१२ इ१० ई० उत्त०)ने कहा है कि तैतीस संचारी भावोंके अतिरिक्त 'दम्भ', 'उद्देग' एवं 'क्षुत्तृष्णादि' क्रमञः अवहित्था, निवेंद और ग्लानिके अन्तर्गत हैं (काव्यानु०, पं० १०४)। 'अग्निपुराण' (९ इ१० ई०)में निद्रा, सुप्त एवं मरणका उल्लेख नहीं हैं; इामको संचारी बताया गया है और कुल इक्तीसकी गणना की गयी हैं (३३९: २२: ३४)। सागरनन्दीने त्रास और भयको पर्यायवाची मानकर त्रासको भयानकका स्थायी भाव माना हैं (ना० ल० र०को०, पं० २४३) और 'निद्रा' एवं 'सुप्त'मेसे केवल 'निद्रा'को स्वीकृत कर, एक नये व्यभिचारी 'शौच'का उल्लेख किया हैं (वही, पं० २०८८—२०९०)।

भोज द्वारा प्रस्तावित 'ईंग्यों' और 'स्तेह'को शिराभूपाल नहीं मानते। उनके अनुसार तैतीसके अतिरिक्त संचारी भाव अन्य भी हो सकते है, पर 'उद्देग', 'स्तेह' भरतके दिये 'दम्भ' और ईंग्यों' व्यभिचारियोके अन्तर्गत है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२ श० ई० उत्त०)ने (ना० द०, १० १८६)मे उचित ही कहा है कि इनमे कई संचारी भाव परस्पर एक-दूसरेके उत्पादक विभाव भी हो सकते है। जैसे 'व्याधि'से 'निवेंद', 'चिन्ता' या 'विशेध'से 'स्पृति' और 'श्रम'से 'आलस्य'। वास्तवमे ऐसे कई व्यभिचारियोनका ज्ञान भरतके विभावोंको पढ़नेसे होता है। यह अनिवार्य ही प्रतीत होता है। पाश्चात्य मनोवेशानिक भी भावनिरूपणके प्रसंगमे मानते है कि प्रत्येक भावके साथ शेष भावोंका सम्बन्ध अव्यक्त रूपमें रहता हो है।

मानुदत्त (१४ श० ई० म०)ने इनकी संख्यामे वृद्धि की है, उन्होंने एक और व्यभिचारी 'छल' बताया है (र० त०, ५)। उनके अनुसार क्षियोके दस स्वभावज अलंकारोमेसे 'मोट्टायित', 'कुट्टमित', 'विच्योक' एवं 'विहृत' 'आन्तर विकार' होनेसे और 'किलकिचित' उभयात्मक, अर्थात् शारीर भी होनेसे व्यभिचारी भाव है। वास्तवमे दसो अलंकारोंका वर्णन उनके विभाव एवं अनुभाव देकर किया गया है (वहीं, ६, पृ० १३१ इत्यादि)। उन्होंने बताया है कि तीन कामावस्थाओको, अर्थात् अभिलाषा, गुणकथा, प्रलापको व्यभिचारियोके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे क्रमशः औत्सुक्य, रमृति एवं उन्मादके अन्तर्भृत है (वहीं, ५, पृ० १०९)।

रूपगोस्वामी(१५-१६ श० ई०)ने तैतीसके अतिरिक्त तेरह अन्य व्यभिचारियोकी चर्चा की है, पर वे तैतीस प्रधानके अन्तर्भृत ही है। मानुदत्त (२० त०, ५) एवं विश्वनाथ (१४ श० ई० पूर्वा०; सा० द०, ३:१७२)मे और अन्य प्रन्थकारोके अनुसार स्थायी माव भी संचारी हो जाते है, जैसे हास शृंगारमे, रित शान्त, करुण एवं हास्यमे, भय करुणमे, शोक शृंगारमे, क्रोध वीरमे, जुगुप्सा भयानकमे और उत्साह एव विस्तय प्रायः सभी रसोमे। यदि इस सिद्धान्तका अनुकरण किया जाय तो अमर्ष, ज्ञास एवं विषाद (संचारी भाव) क्रमशः क्रोध, भय एवं शोक स्थायी.भावोके अपरिपक्व रूप हैं।

भरत द्वारा प्रस्तावित तेतीस व्यभिचारियोंका स्क्मतया

अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट है कि उनमेसे कोई भी शारीरिक अवस्था नहीं है (मिलाइये, शुक्लः र० मी०
पृ० २०६; वाटवे: र० वि०: मराठी: पृ० १२८) ।
भरतने नाटकप्रयोगकी दृष्टिसे ततीस व्यभिचारी भावोका
उल्लेख किया है, उनके उदबुद्ध होनेके परिस्थित्यनुक्ल
कारण भी दिये है और फिर सभीके आगे 'आदि' शब्दका
प्रयोग वार यह वतलाया है कि 'नाट्यशास्त्र'मे उन्होंने सारी
ही परिस्थितियोंकी कल्पना अन्तिम रूपमे नहीं की है। अतः
यदि भरत द्वारा विभावोका परीक्षण किया जाय तो ज्ञात
होगा कि उनके व्यवस्थाचक्रके अनुसार एक प्रथान कारणसे कई प्रकारके व्यभिचारी भाव उदबुद्ध हो सकते है और
उसके अनुसार भावोके अन्तर्भावकी निम्नलिखित तालिका
बनायी जा सकती है:—

१. निवेंदके अन्तर्भूत राम एव धृति। २. ग्लानिके अन्तर्भूत मद, अम, आलस्य, निद्रा। १. अस्याके अन्तर्भूत ईच्यां, चपलता। ४. दैन्यके अन्तर्भूत चिन्ता, रांका, विषाद। ५. त्रासके अन्तर्भूत मोह, आवेग। ६. व्याधिके अन्तर्भूत उन्माद, अपस्मार, मरण। ७. त्रीडाके अन्तर्भूत अवहित्था, छल। ८. गर्वके अन्तर्भूत अमर्ष, उम्रता। ९. वितर्कके अन्तर्भूत मति।

इनके अतिरिक्त 'औत्सुक्य', 'स्मृति', 'सुप्त', 'विवोध', 'हर्ष' एवं 'जडता को भी पृथक् पृथक् व्यभिचारी भाव मानना अनिवार्य है। अब रहा प्रश्न स्त्रियोके स्वभावज अलंकारोका, तो विब्वोक एवं मोट्टायित तो गर्वके अन्तर्भूत आयॅगे, क्योंकि "गर्वाभिमानसम्भूतो नादरात्मा विव्वोकः" और "निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम्" (र० त०, पृ० १३५, १३६)। 'कुट्टमित' तो कोई संचारी भाव नहीं, क्योंकि वह 'सुखे दु:खचेष्टा' मात्र है। 'विहृत', अर्थात् 'अभिलाषापरिपृतिः' औत्सुक्यके अन्तर्भूत है और 'किल्किचत्' तो है ही व्यभिचारियोका सम्मिश्रण "श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयकुषां संकरः" (र० त०, पृ० १३४)।

अतः हम देखते है कि व्यभिचारियोकी संख्या जहाँ बढ सकती है, वहाँ कम भी हो सकती है। वास्तवमे मानव भावोंका वर्गीकरण प्रधानतया रतिप्रधान, विर्तिप्रधान, तर्कप्रधान, स्मरणप्रधान, उत्सकताप्रधान एवं समालीचना-त्मक भावोकी व्यापक दृष्टिमें हो सकता है।--ज़ कि ब संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) - भरतके 'नाट्यशास्त्र' (३ ञ० ई०)में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस शब्दमें 'सं' (अथवा 'वि'+ 'अभि') उपसर्ग है तथा चर धातु है, अतः अर्थ हुआ-रसके सम्बन्धमें जी अन्य वस्तओकी और संबरण करें (७:२७)। इसी आधार-पर धनंजय (१०-११ श० ई०)ने व्यभिचारी भावोंकी परिभाषा की है-"विशेषादिभमुख्येन चरन्तो व्यभि-चारिणः। स्थायिन्युनमग्ननिर्मग्नाः कहोला इव वारिधौ" (द० रू०, ४:७), अर्थात् जो भाव विशेष रूपसे स्थायी भावकी पुष्टिके लिए तत्पर या अभिमुख रहते है और स्थायी भावके अन्तर्गत आविर्भृत और तिरोहित होते दिखाई देते है, वे संचारी माव कहलाते है। जैसे लहरें समुद्रमे पैदा होती है और उसीमे विलीन हो जाती है, वैसे ही रत्यादि स्यायी भावोमे निवेदादि संचारी भाव खत्मकत नथा निमक्त होने रहते है। इस तरह संचारी भाय मुख्य रूपने स्थायी भावमें ही उठते-गिरते हैं। लहरोके उठने और गिरनेमें समुद्रका समुद्रत्व और भी पुष्ट होना है, ठीक उसी तरह 'संचारी भाव' स्थायी भावोके पोषक होते हैं। स्थायी भाव स्थिर है तो संचारी संचरणशील और अस्थिर।

पाश्चात्य विचारत शैण्डने प्रत्येत भावको एक तरहका व्यवस्थाच्य भावा है। उसके मतानुसार क्रोभ, भय, शोक आदि मूल भावोभे प्रत्येक अन्य भावोसे सम्बद्ध है। मूल भाव अपने द्वारा प्रवित्त अन्य भावोसे सम्बद्ध है। मूल भाव अपने द्वारा प्रवित्त अन्य भावोके आविर्भावके समय अपना रूप त्याग देता है। मान लीजिये कि एक व्यक्तिका किसीके प्रति प्रेम है। उमे पीड़ा पहुँचानेवालेके प्रति जब उसके मनमें क्रोध उत्पन्न होगा, तब गति भावका लोप हो जायगा। किन्तु साहित्यमे रिनके सहायक संचारी भावोंके उदय होनेपर रितका प्राधान्य बना रहेगा, अर्थात् उसके प्रतीतित्वमे कोई विश्वेप नही होगा। नायिकाका प्रणयमान या ईर्ष्यामान रित भावको अपदस्थ नही कर सकता, बल्क उलटे संचारी स्थायी भावको प्रष्ट करना है। लेकिन संचारी भाव मर्वथा सहायकके रूपमें नहीं आते, स्वतन्त्र रूपमें भी उनकी अभिव्यक्ति होती है। बैसी स्थितिमे उन्हे केवल भावकी संज्ञा दी जाती है (दे०—'माव')।

आचार्योंने गंचारी मानोकी संख्या निश्चित कर दी है। भरतने जिन २३ संचारियोंका उल्लेख किया है, वे प्रायः सर्वमान्य हो गये है। उनके नाम है—१ निवेंद, २. आवेग, २. दैन्य, ४. श्रम, ५. मद, ६. जडना, ७. औय्य, ८. मोह, ९. निवोध, १०. स्वप्न, ११. अपस्मार, १२. गर्व, १३. मरण, १४. अलसता, १५. अमर्भ, १६. निद्रा, १७. अवहित्था, १८. औत्सुक्य, १९. उन्माद, २०. इंका, २१. स्मृति, २२. मति, २३. च्याधि, २४. सन्त्रास, २५. लडजा, २६. हर्ष, २७ अस्या, २८. विषाद, २९ धृति ३०. चपळता, ३१. ग्ळानि, ३२. चिन्ता और ३३. वितर्क।

संचारियोकी संख्या शास्त्रचर्चाकी सुविधाके कारण ही परिमित की गयी है। यदि आठ स्थायी भावोको, जो संचारी भी होते हैं, उनमें जोड दिया जाय तो इनकी परिमित संख्याको वढाना पडेगा। पर आठ स्थायी भावोके अनमें जोड दिये जानेपर कुछ संचारी अपने-आप व्यर्थ हो जायेंगे। शोकके संचारी होनेपर विपाद, भयके संचारी होनेपर व्यर्थ कोचेपर क्रांस, क्रोधके संचारी होनेपर अमर्षको ३३ संचारियोंमेंसे पृथक् करना पडेगा। राघवन्के मतानुसार क्लानि और अममेंसे केवल एकको ही अहण किया जाना चाहिये, क्योंकि उनकी व्याख्याकी परीक्षा करनेपर वे समान प्रतीत होते हैं।

समय-समयपर आचार्योंने इस ३३की संख्याको बढाने-का बराबर प्रयत्न किया है। अनुभाव, नायिकाओंके २० अलंकार, भाव, हाव आदि, सात्त्विक भाव, आलाप आदि, दस कामावस्थाएँ, सभीको संचारीके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है (राषवन् : द नम्बर ऑव रसाज, पृ० १५९)। भोज (११ द्य० ई०) सात्त्विक भावोंको स्पष्ट रूपसे बाह्य-व्यभिचारीकी संज्ञा देते हैं—"तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिषु चिन्तौत्सुक्यावेगवितर्कादयः बाह्याः स्वेदरोमांचाश्रवैवण्यां-दयः" (मृ० प्र०, ११)। भानुदत्त (१३ इ० ई०)ने

अपनी 'रसनरंगिणी'में १० मदनावस्थाओंको व्यक्तिचारियों-में ही सिविष्ट किया है (२० त०, पृ० ३०)। भोजने 'सरस्वतीकण्ठामरण'मे संचारियोंकी संख्या ३३ ही मानी है। यद्यपि भरतके कुछ भंचारियोंके स्थानपर नवे संचारियोंका नामोल्लेख किया है। शिगभपाल (१४ ग्र० ई०)ने उद्देग, रनेह, दम्भ, ईर्ष्यांको संचारियोंमे गहीत करनेका प्रश्न उठाया है, पर इन्हे ३३ संचारियोमे सम्मिलित नहीं किया है। भानदत्तने 'छल' नामक नये संचारीका उल्लेख किया है, जिसका वर्णन देवने भी किया है। इसे भरतके 'अवहित्था'के अन्तर्गत हा समझना चाहिये। रूप गोस्वामी (१५-१६ श० ई०)ने मधुर रसके प्रसंगमें परम्पराप्राप्त ३० संचारियोंको ही स्वीकार किया है, पर शृंगार रसके अनुकुल न होनेके कारण औग्रय और आलस्यके उदाहरण नहीं प्रस्तृत किये है। इनके अतिरिक्त उन्होंने १३ अन्य संचारियोंका भी उल्लेख किया है, जो भरतके ३३ संचारियोंमें ही अन्तर्भक्त हो जाते है। विशेष रसोंके प्रभगमे उन्होंने कुछ और विशिष्ट संचारियोंकी गणना की है।

देव (१६-१७ द्या०) ई०)ने हिन्दी आचार्योंकी परिपाटीसे प्रथक होकर नयापन ले आनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने संचारियोके दो भेद किये है-शारीरिक और आन्तरिक। स्तम्म आदिको शारीरिक और निर्वेद आदिको आन्तरिक कहते हुए उन्होंने लिखा है-"ते सारीरऽरु आन्तर द्विविध कहत भरतादि । स्तम्भादिक सारीर अरु आन्तर निर-वेदादि" (भा० वि०: संचारी०)। पर भोजके 'श्रंगार-प्रकाश'में इस वर्गांकरणका स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिसके सम्बन्धमें पहले कहा जा चका है। भातदत्तने अपनी 'रसतरंगिणी'मे इसका संकेत किया है, किन्त देवने इस वर्गीकरणको अपना न कहकर भरतादिका मान लिया है। ३४ वें संचारीके रूपमें जिस छलका उल्लेख देवने किया है. वह 'शब्दरसायन'मे लप्त हो गया है। वहाँ उन्होंने ३३ संचारियोकी ही गणना की है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि देव वर्गीकरणके प्रेमी थे, उन्होंने कुछ संचारियोंके अवान्तर भेद किये है, जैसे वितर्कके चार भेद-विप्रति-पत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय, पर इस भेदवा उल्लेख भी भानदत्तने किया है—"वितर्कश्चत्रविधः विचारात्मा जंशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति" (र० त०, ५)।

रामचन्द्र शुक्कने मचारिशेकी परिमित संख्याके सम्बन्धमे कहा है कि जो ३३ संचारी कहे गये है, वे उप- लक्षणमात्र है, संचारी और भी हो सकते है। जिस प्रकार स्मृति है, उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है (र० मी०, पृ० २१५-१६)। पर मुख्य रूपसे उन्होंने भी ३३ संचारियोंका ही विवेचन किया है। विरोध-अवरोधकी दृष्टिसे रामचन्द्र शुक्कने संचारियोंके चार भेद किये हैं— सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन। सुखात्मक-गर्व, औत्सुक्य, हर्य, आशा, मद, सन्तोष, चप- लता, मृदुलता, धैर्य। दुःखात्मक-ल्ड्जा, अस्या, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराहय, उम्रता, मोह, अलसता, उनमाद, असन्तोष, रलानि, अपस्मार, मरण,

न्याधि । उमयात्मक-अविग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जङ्ता, खप्न, चित्तकी चंचलता । उदासीन-वितर्क, मित, श्रम, निद्रा, विवोध ।

"सुखात्मक भावोके साथ सुखात्मक संचारी और दःखात्मक भावोंके साथ दःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होगे। इसी प्रकार सुखात्मक भावके साथ दःखात्मक संचारी और दुःखात्मकके साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते है और दःखा-त्मक भी, जैसे आवेग हर्षमें भी हो सकता है और भय आदिमें भी। भावके साथ विरोध ऊपर कहा गया है वह जातिगत है, अर्थात सजातीय-विजातीयका विरोध है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव या वेगसे होगा, वह संचारी हो ही नहीं सकता। जैसे, क्रोधके बीच-बीचमें आलम्बनके प्रति यदि शंका, त्रास या द्या आदि मनोविकार प्रकट होते हुए कहे जाय तो उनसे क्रोधकी पृष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साहके बीच त्रास आदिके होनेसे होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साहके संचारी नहीं हो सकते "सारांश यह है कि विसी भावको पुष्ट करनेवाला मनोविकार वही होगा, जो भावके लक्ष्य और प्रवृत्तिसे हटानेवाला न होगा" (र० मी०, पु० २१६)।

भरतने भावोंके तीन भेद माने है-स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी। जपर इस बातका संकेत किया जा चुका है कि साचिक भाव व्यभिचारी भावके अन्तर्गत आ जाते है। संचारीके प्रतीतिकालमे अनुभवोंका उदय होता है। इन्हींके बाह्य संकेत अनुभाव हैं। आश्रय या रचयिताके भावों अथवा भावानुभृतियोंके साथ जब सामाजिकका पूर्ण तादात्म्य होता है, तब कोई भाव रस अवस्थातक पहुँचता है। रसकी अवस्थानक पहुँचनेवाला भाव ही स्थायी भाव होता है—"रसावस्थापरं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते" (सा० द०, १७२ वृ०)। पर जब आश्रय-की शंका, लज्जा, ईर्ष्या आदिकी अभिन्यक्ति होगी, तब पाठक या सामाजिक इन भावोंसे अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता । तादात्म्य-स्थापना ही वह रेखा है, जो स्थायी और संचारी भावोंको विभाजित करती है। लेकिन कोई भाव रसकी अवस्थातक विभाव, अनुभाव और संचारीके संयोगसे ही पहुँचता है। किसी स्थायी भावको रसकी अवस्थातक पहुँचानेमे संचारीका योग अनिवार्य है। लेकिन जब संचारी स्वतन्त्र रूपसे वर्ण्य विषय होता है, तब भी विभाव, अनुभाव और संचारी (संचारीका संचारी)-का योग दिखाई पड सकता है। पर आश्रयके इस संचारी (स्वतन्त्र रूपसे अ:नेपर) भावसे पाठकों या सामाजिकोंका तादात्म्य नहीं हो पाता। ऐसी स्थितिमे इसे केवल भाव (दे०) कहा जाता है-स्थायी भाव नहीं। इस तादातम्यकी स्थितिको आधार मानकर आचार्योंने कुछ भावोंको स्थायी और कुछको संचारीकी कोटिमें रखा है।

यही यह भी विचारणीय है कि जब भावोका सम्बन्ध भनसे है, तब संचारी भाव भी मनोविकारकी कोटिमें आ जायँगे। किन्तु कुछ विद्वानोंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करते हुए इसपर आपत्ति उठायी है। मराठी 'रसवि मर्थ'के

लेखकने संचारियिक सम्बन्धमें कहा है कि "तैतीसों सचा-रियोकी जॉच-पडतालसे ज्ञात होता है कि वे सदीष हैं। उनमें सभी भाव भावनास्वरूप नही है। उनमें कुछ शारीरिक अवस्थाएँ है, कुछ भावनाओं भीतर तीव्रता-प्रदर्शकके प्रकार है, कुछ प्राथमिक भावनाएँ है, कुछ सभिन्न भावनाएँ है और कुछ ज्ञानान्तर अवस्थाएँ है" (र० वि०, पृ० १२८)।

रामचन्द्र शुक्तने संचारियोंके सम्बन्धमें जो विचार प्रकट किये है, वे भी बहुत-कुछ संस्कृत आचार्योंके मतोंसे भिन्न तथा रस-विमर्षके विचारोंके मेलमें है। उनका कहना है—"गिनाये हुए संचारियोकी स्चीसे ही पता चल जाता है कि उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है। संचारीके अन्तर्गत भावके पासतक पहुँचनेवाले, अर्थात् स्वतन्त्र विषययुक्त और लक्ष्ययुक्त मनोविकार और मनके क्षणिक वेग ही नहीं, बब्कि शारीरिक और मानसिक अवस्थाप तथा स्मरण, वितर्क आदि अन्तःकरणकी और वृत्तियाँ भी आ गयी है" (र० मो०, ए० २०५)। इस तरह उन्होंने संचारी भावोंकी पाँच कोटियाँ स्थिर की है—१. स्वतन्त्र विषय-युक्त भाव, २. मनके वेग, ३. अन्य अन्तःकरण-वृत्ति, ४. मानसिक अवस्था और ५. शारीरिक अयस्था।

रामदहिन मिश्रने उपर्युक्त स्वतन्त्र विचारोका ध्यान रखते हुए प्रत्येक मंचारीको भाव सिद्ध करनेका जो प्रयक्ष किया है, वह मनोवैज्ञानिक न होकर उनके पूर्वायहका धोनक है। भारतीय कान्यशास्त्रके लेखकों एवं पाश्चात्य मनोवैद्यानिकोंका एक मत है कि संचारी भावके दो पक्ष है, एक चित्तविकार और दूमरा भावनिरूपण (psychic affection and organic change) 1 一年 (社) संतकाच्य-सन्तकाव्यके अन्तर्गत रखी जानेवाली रचनाओं-को भावप्रधान कहा जा सकता है, क्योंकि उनके रचयिताओं-का ध्यान जितना भावसौन्दर्यकी ओर जाता दीख पडता है, उतना उनके शब्द एवं शैलीमे चमत्कार लानेकी और दिया गया नहीं जान पड़ता। उच्च-मे-उच्च एवं गम्भीर-से-गम्भीर भावको भी वे मदा सर्वमाधारणकी ही भाषामें व्यक्त करते है और उन्हींके मुहावरोंने उसका स्पष्टीकरण भी किया करते हैं। उनका उद्देश्य जितना अपनी कृतियों द्वारा 'सहृदय जनों'का मनोरंजन करना नहीं रहता, उतना सांसारिक प्रपंचीमें पड़े हुए लोगोंकी अपने मतानुसार, सच्चे मार्गका परिचय कराना रहता है। वे उतना दूमरोके चरित या जीवनगाथाका वर्णन उचित नहीं समझते, जितना अपनी ही अनुभूतिकी अभिन्यक्ति करते है। स्वानुभूतिका व्यक्तीकरण करते समय वे बहुधा पूर्ण रूपसे सफल नहीं हो पाते, जिसके कारण उनकी वर्णनशैली स्वभावनः सदीष बन जाती है। या तो वे किसी एक ही भावको बार-बार प्रकट करते हुए दीख पडते है अथवा उपयुक्त शब्दोके अभावमें उसे अधिक रहस्यात्मक भी बना देते है !

सन्तकाव्यका वर्ण्य विषय अधिकतर धार्मिक एनं दार्श-निक ही कहा जा सकता है। उसमें परमात्मतत्त्वकी चर्चा आती है, जिसमे उसके वस्तुतः अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय स्वरूपका यथासाध्य परिचय कराया गया रहता है और उसके साथ जगत् एवं जीवके वास्तविक सम्बन्धका वर्णन

भी रहा करता है। सन्त लोग अपनी रचनाओं में उस अन्यक्त सत्ताको एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते जान पड़ते है और वे उस 'निर्गण'को सगण भगवानकी माँति इष्टरेवके रूपमें म्बीकार कर उसके प्रति भक्ति और प्रेमका भाव प्रदर्शित करते भी प्रतीत होते है। वे उसकी महिमाका गान करते नहीं अधाते और उसे प्राप्त करनेकी विविध चेष्राओंके माधनस्वरूप अनेक साधनाओंका उल्लेख भी करते रहते हैं। उनके ऐसे कथनोंसे कभी-कभी ऐसा लगना है कि उन्होंने स्वयं भी उस तत्त्वको उपलब्ध कर लिया है और इसीलिए, उनके बहुतसे उद्गार स्वानुभृतिकी तीवता और तज्जन्य आनन्दसे प्रेरित रहा करते है और इसके साथ ही वे दसरों को अन्य बातोंके परित्यागका उपदेश भी देते हैं। वे प्रमंगवश अन्य मतोंकी कड़ी आलोचना भी करते दीख पडते है और उन्हें मुल बातको छोडकर बाह्य विस्तारमें पडनेवाला भी ठहराया करते है। वे किसी भी एक धर्मको, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, इसलाम हो, जैन धर्म हो अथवा बौद्ध, शाक्त या शैव हो, अपने लिए आदर्श मानते नही जान पडते और इन सभीमे उन्हें प्रायः एक समान साम्प्र-दायिक संकीर्णताकी गन्ध आती प्रतीत होती है। अपने व्यक्तिगत उद्घारोंमे वे साधारणतः अपनी एकान्तनिष्ठाका परिचय देते है, किन्त ऐसा करते समय भी वे एक व्यापक जीवनकी ओर संकेत करते है, जिसमे सारे विश्वका कल्याण समाहित हो।

सन्त कवि इस प्रकारके विषयोको विशेषकर अपनी साखियों तथा 'शब्दो', अर्थात् पदोके माध्यम द्वारा प्रकट या प्रतिपादित करते है। 'साखी' शब्द संस्कृतके 'साक्षी' शब्दका रूपान्तर है, जिसका अर्थ किसी बातको अपनी ऑखें। देख चुकनेत्राला और इसी कारण उसके सम्बन्धमे किसी प्रश्नके उठनेपर, प्रमाणस्वरूप भी समझा जानेवाला व्यक्ति हुआ करता है तथा कदाचित् इसीलिए 'कबीर बीजक'में इम काव्यप्रकारका परिचय 'ज्ञानकी आँखी' कहकर भी दिया गया है। इन साखियोंने प्रधानतः ऐसे विषय ही आते दीख पडते है, जिन्हे सन्तोने अपने दैनिक जीवनमें भली भाँति समझकर प्रमाणित कर लिया है अथवा जिन्हे वे अपनी निजकी कसौटीपर पहलेसे कस चुकनेके कारण साधिकार व्यक्त करनेकी क्षमता रखते है। ये रचनाएँ प्रायः 'दोहा' नामक छन्दमें पायी जाती हैं और कभी-कभी इन्हें 'मोरठा'में भी व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त सन्तो-की साखियोंके अन्तर्गत बीच-बीचमें सार, हरिपद, चौपाई, चौपई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तामणि, स्याम उछास या छप्पय जैसे छन्द भी आ जाया करते है, जिनका 'दोहा'के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। इन साखियोका एक पर्याय 'सलोक' भी समझा जाता है, जिसके उदाहरण सिखोंके 'आदियन्थ'में मिलते है। परन्तु साखियोको जहाँ 'अंग' जैसे शीर्षकोंके नीचे विभिन्न वर्गोंमे विभाजित किया गया देखा जाता है, वहाँ 'सलोकों'के विषयमें ऐसा नहीं वहा जा सकता। सन्तोंकी भाँति सूफी कवियोंने भी इस प्रकारके छन्दोंका प्रयोग किया है, किन्तु उनके यहाँ इसे फुटकर रूपोंमें प्रायः 'दोहरा' नाम दिया गया मिलता है, जो प्रत्यक्षतः 'दोहा' शब्दका ही एक रूपान्तर है। दोहा एवं चौपाई छन्दोंका एक साथ प्रयोग सुकी कवियोने अपनी प्रेमगाथाओं किया है, जिसका एक रूप कितप्य सन्तोंकी 'रमैनियो'में भी दीख पड़ता है। इन छन्दोंके प्रयोगवाला एक दूसरा काव्य-प्रकार 'ग्रन्थ-बावनी' नामसे मिलता है, जिसकी दिपदियोंका आरम्भ कमशः नागरी लिपिके बावन अक्षरोंसे होता है और जिसकी पद्धतिपर निर्मिन 'अखरावती', 'चौतीसा', 'ककहरा' आदि तथा फारसी लिपिके अक्षरानुसार लिखे जानेवाले 'अलिफनामा', 'सीहफीं' आदि पाये जाते है।

सन्तोकी 'सबद' (शब्द) अथवा पद नामक रचनाएँ अधिकतर गेय हुआ करती है और इनमें उनके आत्म-निवेदन जैमे व्यक्तिगत उद्गारोकी ही प्रधानता रहती है। आकारकी दृष्टिसे ये पद छोटे या बड़े, सभी प्रकारके हो सकते है, किन्तु इनकी कोई-न-कोई पंक्ति ऐसी भी होती है, जो 'टेक' या 'रहाउ'के रूपमे दोहराई जाती है। इन पदोको ही सन्तोंकी 'बानी' कहनेकी भी प्रथा है, यद्यपि इस शब्दका प्रयोग उनकी सभी प्रकारकी रचनाओंके लिए भी किया गया मिलता है। पदो एवं साखियोंकी रचना केवल फुटकर पद्योंके रूपमे की गयी दीख पडती है, किन्त रमैनियोके विषयमे हम ऐसा नहीं कह सकते। इनकी दोहा-चौपाइयाँ एक साथ क्रमिक रूपमें आकर किसी विषयके विवरणात्मक वर्णनके लिए अधिक उपयुक्त ठहरती है। फिर भी, सन्तोंने इनके माध्यमसे, किसी प्रबन्धकाव्यकी रचनाका बहुत कम प्रयास नहीं किया है। और केवल दो-चारको छोडकर सूफी कवियोकी भाँति प्रेमगाथाओका निर्माण भी नहीं किया है। इसी प्रकार सूफी कवियोंने जहाँ अपनी 'बारहमासा' नामक रचनाओं द्वारा प्रेमिकाओं-का विरहवर्णन कर अपनी एक विशेषताका परिचय दिया है, वहाँ सन्त कवियोंने इस नामवाले अपने पर्योका उपयोग अधिकतर उपदेश-दानमे ही किया है। सन्तोंकी रचनाओं मे इसी प्रकार कुछ ऐसे पद्य एवं पद्यसमूह भी मिलते है, जिनमे साम्प्रदायिक बातोंके उल्लेख तथा पौराणिक वर्णनोके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं पाया जाता । ऐसी कृतियोके नाम प्रायः गोष्ठी, गुष्ठी, संवाद, बोध जैसे शब्दोद्यो अन्तमे जोडकर रखे गये दीख पड़ते है। इनमे तथा 'माहात्म्यों'. 'सहस्रनामों' आदिमे भी हमें काव्यकी सरसताका सर्वथा अभाव मिलता है और वे रचनाएँ भी ऐसी ही हैं, जो वारो, तिथियों, ग्रहो, योगो आदिके न्याजसे अथवा पहाड़ेके अंकोके अनुसार निर्मित की गयी मिलती है।

परन्तु सन्तकाञ्यके अन्तर्गत गिनी जानेवाली कुछ ऐसी भी रचनाएँ मिलती है, जिनका लोकगीतोंके अवशिष्ट रूपमें अपना एक पृथक् महत्त्व है। ऐसी रचनाओंमे हम चॉचर, वसन्त, फाग, हिंडोला, वेलि, ककहरा, वणजारा, ज्याहली, विरहुली आदिके नाम गिना सकते है। इनमे प्रथम तीनका सम्बन्ध वसन्त ऋतुके उल्लासपूर्ण उत्सवोके अवसरपर गाने योग्य गीतोंके साथ जोड़ा जा सकता है और इन दोनोंकी रचनाशैलीमे भी बहुत-कुछ साहदय है। सन्तोने अपनी रचनाओंमें अपने विषयोका ही वर्णन किया है, किन्तु इन विशिष्ट वर्णन-हैलियोंका लाभ उठाकर उन्हें बहुत-कुछ रोचक भी बना दिया है। इसी प्रकार ककहरा

और हिंडोलाके साथ क्रमशः कहरवा एवं हिंडोलका नाम-माम्य देखकर हमें इन नामोंसे प्रचलित गीत-पद्धतियोंका भी सारण हो आता है और हमे यहाँ भी यह अनमान करते देर नहीं लगती कि सन्त कवियोंने उनकी लोकप्रियतासे अपना काम निकालनेकी चेष्टा की होगी। बेलि, ब्याहली और बणजारा भी ऐसे लोकगीतोंके प्रकार जान पड़ते है. जो सर्वसाधारणमे गाये जाते होगे तथा जिनके आधारपर किसी रूपकका निर्माण करना सरल बन जाता रहा होगा। 'कबीर बीजक'मे तो 'बिरहली' तथा 'विषमतीसी' शीर्पकोंसे भी दो रचनाएँ मिलती है, जो कदाचित किन्ही पर्वप्रचलित लोकगीतोंका अवशिष्ट रूप प्रकट करती है। किन्तु जिनका उपयोग वहाँ अपने वर्ण्यविषयके समर्थनमे ही किया गया है। बहुतसे सन्तोकी रचनाओंमे हमे कवित्त, सबैया, कुण्डलिया जैसे छन्दों तथा गजल, रेखना जैसे फारसी बहरोके भी उदाहरण मिलते है तथा इसी प्रकार ठुमरी, तिल्लाना जैसे गाने भी पाये जाते है। उनके पदोकी रचना अधिकतर संगीतके क्षेत्रमें प्रयुक्त होनेवाले गुजरी, मारू, विभास, भैरड, विलावल जैसे नामके रागोके अनुसार की गयी भी समझी जाती है। वास्तवमे सन्तकाव्यकी रचना ठेठ साहित्यिक निर्माण-पद्धतिका उतना अनुसरण नही करती, जितना विशेष प्रचलित काव्य-प्रकारोका अनगमन करती है।

सन्तकान्यकी रचनाका आरम्भ, ईसवी सन्की बारहवी शताब्दीमें ही हो गया होगा । अभीतक इस बातको स्वीकार कर लेनेमें कोई विशेष आपत्ति नहीं की जाती कि सन्त-परम्पराके सर्वप्रथम पथप्रदर्शक प्रसिद्ध भक्त कवि जयदेव थे, जिन्होंने 'आदिग्रन्थ'में संगृहीत पदोंकी भी रचना की थी। उनके समयसे लेकर सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धतक वह यग था, जिसमे सन्त सधना, वेणी, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, सेना नाई, क्बीर, पीपा, रैदास, कमाल एवं धन्ना भगत जैसे बहुतसे सन्तकवि हुए, जिनमेसे सभीकी सम्पूर्ण रचनाएँ अभीतक उपलब्ध नहीं हो पायी है। इस प्रारम्भिक युगके प्रथम दो सौ वर्षीतकके केवल कुछ ही सन्तोका पता चलता है, जिनकी कुछ-न-कुछ रचनाएँ मिलती है। शेष डेढ सौ वर्षोंमे ही अनेक ऐसे सन्त मिलते हैं, जिन्होने न केवल बादमें आनेवालोंके लिए पथप्रदर्शनका काम किया, अपित जिनमेसे कुछकी रचनाओका स्तर साहित्यिक दृष्टिसे भी अधिक नीचे नहीं रहा । इनमें कमसे कम नामदेव, कबीर साहब एवं रैदास तीन ऐसे है, जिनकी रचनाएँ प्रचर भात्रामें भिलती है तथा जिनमें प्रतिभाकी भी कभी नहीं जान पड़ती। नामदेवकी रचनाएँ तो मराठी भाषामे भी उपलब्ध है और वहाँ भी उनकी गणना ज्ञानेश्वर, तुकाराम, समर्थ रामदास और एकनाथके साथ की जाती है। इसी प्रकार सन्त रैदासकी अबतक प्राप्त रचनाओकी संख्या अधिक न होनेपर भी, उनमे उनके गहरे भगवत्प्रेम, सरलहृदयता आदिकी सफल अभिन्यक्तिके प्रमाणित करनेके लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और हम उनकी सीधी-सादी एवं सर्वथा व्याजविहीन कथनशैली द्वारा प्रभावित द्वए बिना नहीं रहते। जहाँतक सन्त कबीर साहबकी उपलब्ध रचनाओंका प्रश्न है, उनका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है, जो वस्तुतः किसी भी श्रेष्ठ कृतिकी कोटिमे रखा जा सकता है। उनकी पंक्तियोमें हमे प्रायः उन सभी गुणोंका समावेश दीखता है, जो किसी प्रतिभाशाली कविकी अकृत्रिम रचनाओमे पाये जाते है। कवीर साहवकी रचनाएँ उनके अनन्तर आनेवाले सन्तकवियोके लिए आदर्शरूप सिद्ध हुईं और उनकी एक परम्परा ही चल निकली।

परन्त कबीर साहबके समयतक सन्तोंकी कोई सव्य-वस्थित कार्यपद्धति नहीं दीख पड़ी और जितने भी ऐसे लोग हुए, उन्होने व्यक्तिगत रूपमे ही काम किया। गुरु-नानक और दाद्दयालके प्रयत्नोंसे जब साम्प्रदायिक संघटनोंकी नीव पड़ने लगी, उनकी एक पृथक परम्परा भी आ गयी और तदनुसार उनकी जितनी भी रचनाएँ प्रस्तुत हुई, उन्हें संगृहीत करने तथा अपने प्रचारकार्यके लिए सरक्षित रखनेकी एक प्रणाली चल निकली। यह समय सन्तसाहित्यके इतिहासका मध्ययुग था, जिसमे साम्प्रदायिक संघटनोका कार्य बड़े उत्साहको साथ किया गया और उसी प्रकार उनके साहित्यका प्रचार भी हुआ। इस यगतक सन्तोका कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो चुका था, जिसके कारण सन्तसाहित्यके अन्तर्गत न केवल अवधी और भोजपुरी, अपित पंजाबी, राजस्थानी और निमाड़ीतककी रचनाएँ सम्मिलित होने लगी और इनमेंसे कुछ महत्त्वपर्ण संग्रहोकी धर्मग्रन्थों जैसी प्रतिष्ठा भी आरम्भ हो गयी।

सन्तकाव्यकी रचनाका मध्ययुग ईसवी सन्की सोलहवीं शताब्दीसे लेकर उसकी अठारहवीके अन्ततक चलता है। जबतक पन्थों और सम्प्रदायोकी संख्या निरन्तर बढती चली गयी और लगभग उसी मात्रामे वैसे साहित्यके निर्माणकी ओर भी प्रयत होता चला गया तथा इसके परिणामस्वरूप एक विद्याल ग्रन्थराशि अस्तित्वमे आ गयी। यह युग हिन्दी साहित्यके इतिहासका भी मध्यकाल समझा जाता है और इसके पूर्वार्द्धको 'भक्तिकाल' तथा उत्तराईको 'रीतिकाल' कहनेकी परिपाटी चली आती है। सन्तकान्यकी रचनाकी दृष्टिसे 'रीतिकाल'की विशेषता उस समयकी निर्माण-शैलीमे लक्षित हुई। नये-नये छन्दोंका प्रयोग होने लगा, कभी-कभी रचना-शैलीकी सधारने और सॅवारनेतककी ओर ध्यान दिया जाने लगा तथा कतिपय सन्तोने प्रबन्धर चनाकी भी चेष्टा की । अतएव जहाँतक सन्तकाव्योकी संख्यावृद्धि और उनके रूपवैविध्यका प्रवन है, इसमें बहुत बड़ी उन्नति हुई, किन्तु उनके उच्च स्तरके विचारसे यह काल उतना उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता । बहुत-से सन्त कवियोने तो अपने पूर्ववतीं प्रचारकों-का केवल अन्धानसरणमात्र किया और उनकी अधिकांश रच-नाएँ कोरी परम्परानिर्वाहका उदाहरण बनकर ही रह गयी।

सन्तकान्यके इतिहासका आधुनिक युग उन्नीसवीं शताब्दीसे आरम्भ होता है, जबसे उसकी रचनाओं के अन्तर्गत परम्परागत बातों के अधिक स्पष्टीकरण तथा उनके आलोचनात्मक परिचयकी प्रवृत्ति जाग्रत् होती दीख पडती है, तबसे सन्त कवियोंका ध्यान अपने वर्ण्य विषयके मूल रूपकी और भी जाता जान पडता है। इधरके सन्त अपनी वर्णन-शैलीको उतना भी महत्त्व देते नहीं प्रतीत होते, जितना आदिकालीन सन्त कवियोंकी बानियोंके आधारपर

विशेषता-सी दन गये थे और न वैसे शब्दचित्रण ही उपलब्ध होते है। इस ओर इन्हे उनके उत्तराधिकारमे बेवल भाषा, व्यावरण, पिगल आदिके प्रति उपेक्षामात्र ही मिली है। ये उन उलटवॉसियोका भी सफल प्रयोग नही कर पाते, जो सन्त कबीर, सुन्दरदास, पलटू साहब आदिकी रचनाओंमे विशेष रूपसे पायी जाती है और जिनमे लक्षित होनेवाली अपूर्व उक्तिचातुरीका एक अपना पृथक महत्त्व है। उलटवॉसियोंकी रचना-शैलीका आरम्भ कभी गम्भीर-से-गम्भीर विषयोंकी भी ओर सर्वसाधारणका ध्यान आकृष्ट कर उनके प्रति उनकी उत्सुकता जायत् करनेके उद्देश्यसे हुआ था और व बीर साहबने भी इनका प्रयोग अपने गृढतम रहस्योका उद्घाटन करते समय किया था, परन्तु पीछे इसमे जान-बूझकर विविध गुरिथयोका समावेश किया जाने लगा, जिस कारण इस सुन्दर शैलीमे भी बहुत-कुछ कुत्रिमना आ गयी। फिर भी जहाँतक सन्तमतकी विशिष्ट बातोंके वर्ण्य विषय होनेका सम्बन्ध है, सन्तकाव्यका अधिकांश प्रधानतः उन बातोंसे ही भरा दीख पडता है, जिन्हे पूर्वकालीन सन्तोने भी अपनी रचनाओमें स्थान दिया था। सन्तकाव्यकी प्रमुख विशेषता उसमे निहित उदात्त भावोंकी प्रधानता है, जिनका न केवल विद्युद्ध जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपितु जिनकी अभिव्यक्ति भी प्रधानतः ऐसे व्यक्तियो द्वारा ही की गयी है, जिन्होंने स्वानुभूतिकी प्रयोगशालामें उनका मृल्यांकन कर लिया है। सिहायक ग्रन्थ-सन्तकाव्य चतवेंदी। ---प० च० संतमत-'सन्त' शब्दका प्रयोग साधारणतः किसी भी पवित्रात्मा और सदाचारी पुरुषके लिए किया जाता है और कभी कभी यह 'साधु' एवं 'महात्मा' शब्दोका पर्याय भी समझ लिया जाता है, किन्तु 'संतमत' शब्दमे आ जानेपर इसका एक पारिभाषिक अर्थ भी हो सकता है, जिसके अनुसार यह उस व्यक्तिका बोध कराता है, जिसने सत्-रूपी परमतत्त्वका अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर उसके साथ तद्र प हो गया हो। अतएव विशिष्ट लक्षणोंके अनुसार 'सन्त' शब्दका व्यवहार केवल उन आदर्श महापुरुषोके ही लिए किया जा सकता है, जो पूर्णतः आत्मिनष्ठ होनेके अतिरिक्त समाजमें रहते हुए, निःस्वार्थभावसे विश्वकल्याणमें प्रवृत्त रहा करते है। इसके सिवा यह शब्द अपने रूदिगत अर्थमे उन ज्ञानेश्वर आदि निर्गुण भक्तोंके लिए भी प्रयुक्त होता आया है, जो दक्षिणके विद्रल वा वारकरी सम्प्रदायके प्रचारक थे और कदाचित्, अनेक बातोमें उन्हीं समान होनेके कारण उत्तरी भारतके कबीर आदिके लिए भी, इसका प्रयोग होने लगा है। तदनुसार 'सन्तमत'से अभिप्राय प्रधानतः कबीर आदि सन्तोकी उन स्वीकृतियोंका हो सकता है, जिनका प्रचार लगभग पॉच-छः सौ वर्ष पहले हुआ था, किन्तु जिनकी एक परम्परा बराबर एक समान अविच्छिन्न रूपमे प्रचलित चली आयी है। जान पड़ता है कि **'सन्तमत'को जगह** पहले इसके एक पर्याय 'निर्ग्रणसत'का

सिद्ध किया जा सकता है। इनकी रचनाओं में हमे न तो

अलंकारोक वे प्रयोग मिलते है, जो उनमेसे कुछकी एक

प्रयोग होता रहा है और इसे प्रसिद्ध वेदान्तसे अभिन्न भी समझा जाता रहा (दे॰ 'निरगुन मत सोई वेदको अन्ता'ः सन्त गुलाल, अठारहवी शताब्दी), किन्तु सन्त तुल्सी साहव (उन्नीसवी शताब्दी)के समयसे इसका प्रयोग अपने वर्तमान रूपमें भी होने लगा (घटरामायन, पृ० १४३)। सन्त तुल्सी साहवका कथन है कि 'सन्तमत' अत्यन्त गृद् मत है और इसके वास्तविक रहस्यका परिचय 'ब्रह्मावेद' और 'विराट् भगवान्'तकको नहीं है। 'सन्तमत'को ही कभी-कभी 'निर्गुण सन्तमत' भी कह देते है और उसमें लक्षित होनेवाले दार्शनिक सिद्धान्तको 'सगुणवाद'के साथ विरोध प्रदर्शित करनेके लिए 'निर्गुणवाद'का नाम दे देते हैं।

'सन्तमत' खभावतः किसी सम्प्रदायविशेषके मूल प्रवर्तक द्वारा प्रचलित किये गये सिद्धान्तीका संग्रहमात्र नहीं है और न यह किसी ऐसे पद्धतिविशेषका ही परिचायक समझा जा सकता है, जिसे विभिन्न सन्तोके उपदेशोंके आधारपर निर्मित किया गया हो। इसमे आस्था रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह इसकी बातोको अपने निजी अनुभवो द्वारा प्रमाणित भी कर ले। यह न दूसरोंके कहने-सुननेपर विश्वास कर लेनेपर निर्भर है और न इसे हम तर्क-वितर्क द्वारा सिद्ध करके ही समझ सकते अथवा हृदयंगम कर सकते है। सन्त कशीर साहबने स्पष्ट शब्दोमे कहा है कि इसके मूल तत्त्व "राम नामकी चर्चा सभी किया करते है, किन्तु इसके रहस्यका परिचय किसीको भी नहीं हो पाता । बाहरसे इसका कथन कर देना मुझे पसन्द नहीं। मेरी धारणा तो यह है कि वह वस्तु अकथनीय है, जिस कारण उसका मर्म केवल स्वानुभूतिपर ही आधारित है" (क॰ मं॰, पृ॰ २१८) । इसीलिए उन्होने स्वयं अपने विषयमे भी बतलाया है कि "सतगुरने उस तत्त्वके विषयमे मुझसे विचार करके कहा था, किन्तु मैं उसे केवल अपने अनुभवके अनुसार ही जान सका" (वही, पृ० ३८६), जिसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध स्वानुभृति ही उनके मतकी आधारशिला है और उनके ज्ञानको मी इसी कारण 'सहजज्ञान'का नाम दे सकते है। सन्त कबीर साहब क्या, किसी अन्य सन्तको भी हम विश्वद्ध दार्शनिक नहीं कह सकते, अपितु अधिक-से-अधिक उसे एक साधक ही ठहरा सकते है और उसके मत-को भी इसीलिए इम किसी प्रकारके तत्त्वज्ञानकी कोटिमें न रखकर उसे एक प्रकारके जीवन-दर्शनकी ही संज्ञा दे सकते है। फिर भी सन्तोंकी रचनाओके आधारपर हमें उनकी मूल धारणाओंका पता चलता है और यह भी स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि उनके सिद्धान्तो एवं साधनाओं-की प्रमुख बातें क्या रही होगी।

सन्तोंने अपनी रचनाओमे, परमतत्त्वके विषयमे कथन करते समय, उसे अनेक नाम दिये हैं, जिनमेसे कुछ तो व्यक्तिगत है और अन्य केवल भाववाचक संज्ञा जैसे लगते है और इन दोनोंके उदाहरणमें हम क्रमञः 'राम' एवं 'सत्'की चर्चा कर सकते हैं। 'सत्' उसे इसलिए कहा जाता है कि उसके विषयमें हम विशुद्ध अस्तित्वसे अधिक कुछ भी नहीं कह सकते और वह 'राम' भी केवल इसलिए कहा जा सकता है कि वह सारी कृत्तियोंके रमण करनेका

परमोत्कृष्ट क्षेत्र भी है। उसका तात्त्विक स्वरूप कैसा है, यह पूर्ण रूपसे किसीको भी विदित नहीं हो सकता, किन्तु ऐसे कथनको हम 'अहैतवाद' कह सकते है और यदि उस 'अद्वैत' तत्त्वको किसी ईश्वरके रूपमें भी स्वीकार किया जाय तो इसे 'एकेश्वरवाद'का नाम भी दे सकते है। सन्तोंने **उ**सका वर्णन कभी-कभी इस रूपमें किया है, जैसे वह सर्व-न्यापक और सर्वान्तर्यामी हो, किन्तु इसके साथ ही वे उसे सबसे परे या 'परात्पर' भी ठहराने लगते है। इस प्रकार वे उसे एक अत्यन्त विलक्षण रूप देते जान पड़ते है और इसी कारण वे उसे न तो 'सगुण' कहते है और न उसे 'निर्गुण' कहकर ही सन्तोष करते है। ऐसी दशामें उसके किसी व्यक्तित्वकी करपना भी करना कभी सम्भव नहीं हो सकता और न वह भक्तोंके लिए इष्टदेव ही बन सकता है। परन्तु सन्तोंने उसे न केवल ऐसे नाम दिये है, जो व्यक्तित्व-के वाचक है, प्रत्युत उसके प्रति भक्तिभावका प्रदर्शन भी किया है। उनका 'राम', यद्यपि वह प्रसिद्ध दाशरथी राम-से नितान्त भिन्न कहा जा सकता है, अपने आरोपित गुणों-के अनुसार उससे सर्वथा विरुक्षण नहीं है। वह भक्तोंके कपर दया करं सकता है और उन्हें अपना भी सकता है। प्रमुख अन्तर यह है कि सन्त लोग उसे वस्तुतः अपनेसे पृथक भी नहीं स्वीकार करते और उसकी उपलब्धिका होना अपने भीतरके 'सहजज्ञान'पर ही निर्भर समझते है।

इस प्रकार सन्तोंकी दृष्टिमें परमात्मतत्त्व एवं जीवतत्त्वमें मूलतः कोई भी अन्तर नहीं है और वे इन दोनोंको एक और अभिन्नतक ठहरा सकते है। जीव उस परमात्माको तभीतक अपनेसे पृथक मानता है, जबतक उसे उसका बोध नहीं होता। वस्तस्थितिका परिचय पाते ही वह उसके साथ जलमें जलकी भॉति मिलकर एक और अभिन्न बन जाता है और फलतः एक ऐसी स्थितिमे आ जाता है, जिसमें उसे पूर्ण शान्ति एवं परमानन्दका अनुभव होने लगता है। उस दशामें ऐसे साधकको उस परमात्मतत्त्व और अपने आत्मतत्त्वसे पृथक किसी जगत्तत्त्वका भी ज्ञान नहीं रह जाता। वह सब कही केवल उसी अभिन्न रूपको गाता है। वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमे परमात्मतत्त्व-का साक्षात करता है और इसी कारण उसे अपनेसे भी कभी भिन्न नहीं समझता। ऐसी मनोदशाके हो जानेपर उसका न तो कोई अपना निजी आत्मीय रह जाता है और न उसके लिए कोई ऐसा ही प्राणी मिलता है, जिसके प्रति वह द्वेषभाव प्रकट कर सके। सन्तोंके 'निवेर धर्म'के लिए यही मनोवृत्ति आधारका काम करती है और वे इसीके अनुसार विश्व-कल्याणकी भावना भी प्रकट करते दीख पडते हैं। सन्तोंके यहाँ कोरी दार्शनिकताका कोई महत्त्व नही है, जिससे वहाँ परम तत्त्व जीव एवं जगत्के वास्तविक स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धादिपर विस्तृत विचार किया गया पाया जाय । उन्होंने ऐसी सारी बातोंकी चर्चा केवल प्रासंगिक रूपमें ही की है और उनका वर्णन या तो उन्होने प्राचीन भारतीय दर्शनोंकी पद्धतिपर ही कर दिया है अथवा उन्हें प्रायः ऐसे रूपोंमें चित्रित किया है, जो सर्वत्र स्पष्ट नहीं होते।

सन्तमतमें सिद्धान्तोंकी अपेक्षा साथनाओंका परिचय

करानेकी और कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। सन्त लोगोंकी धारणा है कि परम तत्त्वको अपने अनुभवमें लानेके लिए हमे अपनी वृत्तिको बहिर्मुखने अन्तर्मुख कर लेना अत्यन्त आवश्यक है; परमात्मा कही बाहर नहीं है, जिससे उसके लिए बाह्य पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, वेशधारण अथवा वेदादिके अध्ययनतकका प्रयत किया जाय। वह जैसे सर्वत्र न्यापक है, वैसे हमारे .भीतर भी है और जो कुछ हमारे बाहर ब्रह्माण्डमे दीख पडता है, उसका कोई भी ऐसा अंश नहीं, जिसे हम अपने भीतर न पा सकें। अतएव हमें चाहिये कि सबसे पहले अपनी अन्तर्रष्टिसे काम लें और ऐसी साधना करें, जिससे हमारे लिए सारा भेद ख़ल जाय। अन्तर्देष्टिकी दशामे हमारी सभी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ सिमट-कर केवल मनमें केन्द्रित हो जाती है और इस प्रकार उनमे एकोन्मुखता भी आ जाती है। तदनुसार ऐसे मनका फिर क्रमशः स्थूलमे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर विषयोंमें प्रवेश होता चला जाता है और अन्तमे एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब हम आत्मनिष्ठताके आनन्दका अनुभव करने लग जाते है। सन्तोके कथनानुसार हमारा मन यहाँ आकर नितान्त विशुद्ध बन जाता है और यही उसे पर-मात्मतत्त्वके साथ तद्रपता और तदाकारता भी उपलब्ध हो जाती है। अन्तर्धिष्टयोंको इस प्रकार फेरने तथा उसे मनोदशाकी इस स्थितितक लानेके लिए हम योगसाधनाको काममे ला सकते है, जिसका बार-बार उल्लेख किया जाता है। परन्तु सन्तोंकी योग-साधनामें 'कायासाधन'की अपेक्षा 'मनोमारण'की ही ओर अधिक ध्यान दिया गया दीख पडता है।

सन्तमतकी साधना 'सहज साधना' कहलाती है, क्योंकि उसमें न तो किसी मार्गविशेषको ग्रहण करनेका आग्रह है और न वहाँ यही व्यवस्था दी गयी मिलती है कि या तो अपने सांसारिक बन्धनोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय अथवा अपनेको प्रपंचोंमें आचुड मग्न कर दिया जाय । उसमे तपस्वियोके आत्मपीड्न अथवा वाममागियों-के मुद्रादि साधनकी भी अतिमात्रा नही दीख पडती। उसका अपना मार्ग विद्युद्ध 'मध्यम' मार्ग है, जिसके अनुसार समाजमें रहते हुए तथा किसी भी एक उपयुक्त साधनाको अपनाते हुए आत्मोपलब्धिकी दशातक पहुँच सकते है। सन्तोंकी इस साधनामें किसी ऐसी 'समाधि'को भी स्थान नहीं, जो किसी अविधिविशेषतक ही कायम रह सके। सन्तमतकी आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है, जो साधकोंके जीवनभर एकरस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तनकी आजंका भी न आने पाये । इसीलिए उसे 'सहज समाधि'का भी नाम दिया गया है। सन्तोंका कहना है कि हमारी साधनाका पूर्णतः सिंख हो जाना तभी सार्थक है, जब हमारे जीवनमें पूरा कायापलट आ जाय, जब हमारी सारी वृत्तियों वी रझान पूर्ववत् न रहकर सर्वथा नवीन रूप ग्रहण कर ले और हमारे लिए पुनर्जन्म-की जैसी स्थिति भी आ जाय। सन्तोने इसलिए, इस दशा-की 'जीवत मृतक' भी कहा है और बतलाया है कि इसमें पहुँचकर साधक जहाँ अपने पहले जीवनकी दृष्टिसे, 'मृतक्' बन जाता है, वहाँ इस नवीन दृष्टिसे अमरत्व भी पा लेता

है। 'जीवत मृतक' वह जीवन्मुक्त पुरुष है, जो सदा किसी ब्राह्मी स्थितिमे लीन रहा करता है तथा उसमें रहते हुए भी कभी समाजके प्रति उपेक्षाका भाव नहीं प्रदर्शित करता।

परन्तु सन्तोंकी 'सहज समाधि'का इस प्रकार निरन्तर बना रहना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवस्य कहा जा सकता है। दैनिक जीवनमें बहुधा ऐसी सम-स्याओंका सामना करना पड़ जाता है, जो हमारे किसी भी दृष्टिकोणको सन्तुलित रहने नहीं देती। अनेक प्रलोभन आते है, जिनकी ओर हमारी वृत्तियाँ स्वभावतः खिंचने लग जाती है और बहुत-से ऐसे प्रतिकृल प्रसंग भी आ जाते है, जिनके कारण पलायनकी प्रवृत्ति बल ग्रहण करने लगती है। राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकके भाव जागरित करने-वाले अवसर प्रायः प्रत्येक क्षणमे आ जाया करते है और हमारे चित्तको विचलित कर देते है। सन्तोने इसी कारण इस प्रश्नपर वडी गम्भीरताके साथ विचार किया है और इसे सुलझानेके लिए कुछ उपाय भी निर्दिष्ट किये हैं। उनका सर्वप्रथम उपदेश यह है कि हम अपने मनको सदा 'नाम-स्मरण'में लगाये रहे और उसमे एक पलके लिए भी विरत न हों। जिस प्रकार कोई माता अपने दैनिक कार्यों मे न्यस्त रहती हुई भी अपने बच्चेकी सुधि नहीं भलती, कोई गाय, चरागाहमें चरते हुई भी, अपने बछडे-का स्मरण करती रहती है तथा जिस प्रकार कोई पनि-हारिन अपनी सखियोंके साथ हँ सते-खेलते जाती हुई भी, अपने सिरपर रले घडेकी ओरसे ध्यान नहीं हटाती, उसी प्रकार हम 'सुमिरन'का स्वभाव डालकर कभी परमात्म-तत्त्वसे विलग नही रह सकते और इस प्रकार यदि उसमे हमारी स्थिति सदा बनी रह गयी तो फिर हमारा सन्तुलन भी नही बिगड़ सकता। सन्तों द्वारा निर्दिष्ट की गयी इस 'नाम-स्मरण' वा 'सुमिरन'की साधनाको, उनके पारि-भाषिक शब्दोंमें, 'सुरतशब्द योग'का भी नाम दिया गया मिलता है। 'सुरत' हमारी मूल वृत्ति है, जो 'शब्द' अर्थात् हमारे शरीरमे उठनेवाले अनाहत नादसे बरावर जुड़ी रहा करती है और इस प्रकार उसके साथ तदाकारता महण किये रहनेके कारण, इसके ऊपर किसी दूसरे रंगके चढ़नेका कभी कोई संयोग ही नहीं आ पाता।

सन्तोंने हमारी 'सुरत'को 'शब्द'की ओर सबँपथम उन्मुख करनेके लिए किसी 'सत्गुरु'के माध्यमकी भी आवश्यकता बतलायी है। ऐसा गुरु कोई विस्तृत रूपसे शिक्षा देनेवाला साधारण उपदेशक नहीं हुआ करता, प्रत्युत वह एक मार्गप्रदर्शकमात्र ही रहा करता है। वह केवल संकेन कर देता है और उसके शब्दोंमे निहित विलक्षण 'जुगुति'के सहारे साधक अपनी साधना आप-से-आप ठीक कर लेता है। इसके सिवाय, ऐसे साधकके लिए 'सन्तमन'में सत्सगके वातावरणमें रहना भी अत्यन्त आवश्यक ठहराया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि उसका काम केवल अपनी साधनामें सिद्धि लाभ कर लेनेसे ही नहीं चल सकता, प्रत्युत वह तबतक पूरा नहीं होता, जबतक उसे अपने सिद्धान्तको व्यवहारमे परिणत कर देनेकी क्षमता नहीं हो जाती। पहुँचे हुए साधु सन्तोंके वींच रहकर ही वह अपनी अनेक रहस्यमयी गुत्थियोंतकको

सुलझा पाता है और उनके आचरण एवं व्यवहारको निकटसे देखकर ही वह मली भाँति समझ सकता है कि जिस आदर्शको उपलब्धिक लिए वह प्रयत्नशील है, उसका वास्तविक रूप क्या हो सकता है। 'सन्तमत'मे किसो ऐसे महापुरुषको अत्यन्त उच्च कोटिका समझा गया है और उसे स्वयं परमात्माका स्वरूपतक स्वीकार कर लिया गया है। सन्तोकी धारणाके अनुसार ये ही वे महात्मा हैं। सन्तोकी धारणाके अनुसार ये ही वे महात्मा हैं। जनसे किसी समाजकी सर्वागण उन्नति हो सकती है और इन्होंके प्रयत्नों द्वारा स्वर्गको भूतलपर ला देनातक असम्भव नहीं रह जाता। अत्यव सन्तमतका दर्शन जीवनदर्शन है, उसकी साथना सर्वागसाधना है और उसमें संकीर्ण साम्प्रदायिकताका कही स्थान नहीं रह सकता।

परन्त सन्तमतके इतिहासपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसका रूप सदा एक ही समान नहीं रहा। इसके सर्वप्रधान प्रतिष्ठापक और प्रचारक सन्त कवीर साहबने इसके आदर्शरूपका दिग्दर्शन कराकर इसे सब किसीके लिए उपयोगी ठहरानेका प्रयत्न किया। उन्होंने इसी उद्देश्यसे अपनी 'बानियो'की रचना की तथा इसके प्रमुख सिद्धान्तोको स्वयं अपने जीवनमे उतारकर उन्हें न्याव-हारिक रूप देनेकी भी आजीवन चेष्टा की। उनके सम-कालीन सन्त रविदास जैसे महात्माओं तथा उनके अन-न्तर आनेवाले गुरु नानकदेव, सन्त दाद्दयाल जैसे महा-पुरुपोंने भी बराबर उसी उत्साहसे काम किया और उनके कारण इस मतका प्रचार बडे विस्तृत क्षेत्रतकमें होने लग गया। किन्तु जिसं महान् उद्देश्यको लेकर इन्होने इस कार्यके लिए अपने-अपने संघटन किये अथवा विभिन्न कार्य-क्रमोकी व्यवस्था दी, वह समय पाकर बहुत-कुछ विस्मृत-सा होते लग गया। इनके चलाये हुए 'पन्थो'मे क्रमशः संकीर्णताका प्रवेश होने लगा और इनके अनुयायियों में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी दीख पडने लगी। अतएव जिस विचारधाराके लिए कभी समझा गया था कि वह सम्पूर्ण विश्व द्वारा एक समान अपनायी जा सकती है, उसके अनुयायियोंके भिन्न-भिन्न वर्ग बनते जान पडे । जिस मतके प्रचारकोंने कभी बाह्याडम्बरोंको हेय ठहराकर स्वानुभूति एवं सदाचरणको ही प्रश्रय दिया था, उसमे बाहरी विधान एवं वेशभूषाको महत्त्व दिया जाने लगा और जिसके दाई-निक सिद्धान्त कभी किसी अनिर्वचनीय परम तत्त्वसे सम्बन्ध रखते थे, उसमें मूर्तिपूजनतक स्वीकार कर लिया गया। पीछे इस बातकी आलोचना स्वयं प्रमुख सन्तोंने भी की, किन्तु जितनी साम्प्रदायिकताका प्रवेश 'सन्तमत'में हो चुका था, वह सर्वथा निर्मूल नहीं की जा सकी।

[सहायक प्रन्थ—उत्तरी भारतकी सन्त-परम्परा: परशु-राम चतुर्वेदी।] — प० च० संतुळन (balance)—िकसी कृतिके विभिन्न अवयवोंमे ऐसा सम्मिश्रण और प्रवन्ध कि वह मनपर स्थिरताका प्रभाव डाले तथा उसका प्रत्येक अंग सम्पूर्णसे विच्छिन्न न लगकर सहायक लगे। "भावनाके रूपमे अनेक अंगोंका विन्यास, सहकारी भावनाओंका समावेदा तथा अन्य तत्त्वीं-की योजना जिस नियमके अनुसार की जाती है, उसे हमं सन्तुलन कहते हैं—रूपोंमें अंगोंके सन्तुलनसे एक विशेष चमत्कार उत्पन्न होता है और इसके अमावमें व्यक्तता, एकांगीपन तथा कुछ मानसिक हिंसाका अनुभव होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनके अनुसार, सन्तुलनका सार प्रधान-गुण-भावका सिद्धान्त है, जिसके अनुसार रूप-की योजनामे भाग लेनेवाला प्रत्येक अंग अपने अगी अथवा प्रधान मावनाके अधीन रहकर उसकी रक्षा और सबर्द्धन करता है" (सौ० शा०: हरद्वारीलाल शर्मा)।

सन्तुळन शब्द, कलामे कुछ अनिश्चित अर्थोंने प्रयुक्त हुआ है—सामान्यतः उस अवस्थाकी ओर संकेत करता है, जो किसी कृतिमें उसके विभिन्न अंगोंके समुचित संघटनसे व्यक्त होती है—जिसका मतलब है कि कृति-विशेषके विभिन्न तत्त्वोपर आवश्यक ध्यान दिया गया है और वे इस प्रकार साथ लाये गये है कि परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी मालूम पर्डे (दे॰ 'संगति')।

साहित्यालीचनामें उस कृतिको सन्तुलित माना जायगा. जिसके हर पक्षको बराबरसे संभाला गया हो; असन्तुलित उसे, जिसके कुछ अंशोपर गलत जोर दिया गया हो। सन्तुलन विगडनेका कारण विषय भी हो सकता है तथा अर्थ, रूप और उनसे सम्बन्धित अन्य अवयवोके तारतम्य और पारस्परिक सम्बन्धोंका उचित निर्वाह न होना भी।

वास्तु-कलाको लेकर आरम्भमे सन्तुलन शब्द समताके अर्थमे प्रयुक्त हुआ, क्योंकि सम आकार (सिमेटिकल फिगर) सहज ही मनपर सन्त्लनका प्रभाव डालता है, धीरे-धीरे और विशिष्ट अर्थींमे भी; जैसे, उदाहरणके लिए. इमारतोमें वास्तविक राक्ति-विभाजनको लेकर यह अनुमान लगाना कि भिसी खम्भेकी अपने ऊपर डाले गये बोझको सँभालनेकी क्या क्षमता है या कोई मेहराब अपने दोनो ओर बराबर दबाव डाळती है या नहीं, आदि ।—कु०ना० संतुळनबिंदु (punctum balance) - किसी इमारतका वह मूल बिन्दु, जिसे केन्द्र मानकर भवनके विभिन्न अव-यवोंका निरीक्षण करनेपर दृष्टि सन्तुलन और सापेक्षताका अनुभव करती है। -कु० ना० संदर्भ-साहित्य-किसी विषयकी विशेष जानकारी देनेवाली सामग्रीको सन्दर्भ सामग्री कहते है। इस सामग्रीका उप-योग सामान्य पठन-पाठनके लिए नही किया जाता। सन्दर्भ-साहित्यको पाठ्य-साहित्य-सम्बन्धी विशेष सूचनाएँ पानेके लिए देखा जाता है। इस नाते सन्दर्भ-साहित्य पाठ्य-साहित्यसे भिन्न भी है। उदाहरणके लिए, पुस्तक-रूपमे प्रकाशित उपन्यास यदि ७ छित पाठ्य-साहित्य है तो उस उपन्यासकी (लेखकके हाथसे लिखी) पाण्डलिप सन्दर्भ-साहित्यके अन्तर्गत मानी जा सकती है। ऐसा भी कह सकते हैं कि सन्दर्भ-यन्थ वह पुस्तक है, जिसमे किसी दूसरी पुस्तकमे आयी हुई किसी गूड बातका स्पष्टीकरण हो।

शान-विश्वानके अनन्त प्रसारवाले इस युगमे सन्दर्भ-प्रन्थोका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। सन्दर्भ-प्रन्थ सामग्री-की अपरिमित राशिकी छानबीन करके उसके सारभृत अंशको उन सबके लिए सुलभ करते है, जो उसे पढेंगे। ऐसा करते समय सन्दर्भ-प्रन्थोंका प्रथम दायित्व होता है प्रामाणिक सामग्रीका प्रामाणिक संचय करना। इसे सम्पन्न करनेके बाद सन्दर्भ-प्रन्थको निरन्तर उपयोगी बनाये रखनेके लिए आवश्यक होता है कि उसमें नवीन सामग्री-का समावेश होता रहे। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'-का सूत्रपात १७६८ ई०में हुआ था। १७७१ ई०में उसके केवल ३ खण्ड थे। १९५६ तक आते-आते उसके २४ खण्ड हो गये है और सामग्रीको आधुनिकतम बनाये रखने-के लिए मूल पाठमे निरन्तर संशोधन-परिवर्धन करते रहने-के अतिरिक्त वार्षिक पुस्तक तथा पुस्तकालय शोधसेवाकी योजनाएँ भी 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'के अन्तर्गत चलती रहती है।

अस्तु, विविध प्रकारके कोशों, थीसिसों, साहित्यके इतिहासों, परिचयमन्यों आदिको सन्दर्भ-साहित्य माना जा सकता है। हिन्दीमे यह कार्य हिन्दी प्रचार-संस्थाओं के मुखपत्रों, विश्वविद्यालयों हिन्दी विभागो तथा अनेक विद्वानो द्वारा होता रहा है।

[सहायक यन्थ—हिन्दी सेवी संसार : काळिदास कपूर और प्रेमनारायण टण्डन(१९४४); हिन्दी पुस्तक साहित्य : माताप्रसाद गुप्त (१९४५); हिन्दी विश्व भारती : कृष्णवल्लभ द्विवेदी; नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दुस्तानी, 'हिन्दी अनुशीलन' आदिकी फाइलें; नागरी-प्रचारिणीसभा द्वारा प्रकाशित खोज रिपोटें; शिष्ले और कैसेल द्वारा सम्पादित ज्ञानकोश (अंग्रेजी); सुलभ विश्व-कोश, महाराष्ट्र शब्दकोश (मराठी)।] —अ० कु० संदिग्ध-दे० 'अर्थ-दोष', सातवा तथा 'शब्द-दोष', तेरहवा 'पद-होष'।

संदिग्धप्राधान्यव्यंग्य-गुणीभृतव्यंग्यका एक भेद, जिसमें व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थकी सापेक्षिक उत्कृष्टताका निर्णय नहीं हो पाता है। "थके नयन रघपति छिन देखी, पलकन ह परिहरी निमेखी। अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी" (रा० च० मा०--का० कल्प०, पृ० ३२४)। यहाँ 'देह भइ भोरी' हारा जड़ता संचारीकी व्यंजना हो रही है। इस व्यंग्यार्थमे तथा 'सीताजी रामको देखकर वैसे ही प्रेम-विभोर हो गयी, जैसे चकोरी शरत्काल-के चन्द्रमाको देखकर विह्नल हो जाती है', इस वाच्यार्थमें कौन अर्थ अधिक उत्कृष्ट है, इसका निर्णय करना कठिन है, व्यंग्यार्थका निर्विवाद रीतिसे उत्कृष्ट न होना ही उसे गुणी-भतव्यंग्य बना देता है। संदेशकाव्य-वियोगियोंके सन्देशके रूपमे विरह्मावनाके चित्रणकी प्रणाली अत्यन्त प्राचीन और विश्वजनीन है। संस्कृत साहित्यमे इसकी परम्परा कालिदासके 'मेघदूत'से प्रारम्भ होती है। कुनेरके शाप द्वारा अलकापुरीले निर्वासित यक्ष मेघ द्वारा अपनी प्रेयसीके पास प्रणयसन्देश भेजता है। इसी सन्देशके बहाने कालिदासने मानव-मनकी गम्भीर विरहानुभृतिका मार्मिक चित्रण किया है। पूर्वमेघमे राम-गिरिसे अलकापरीकी मेघयात्राके वर्णनमें कालिदासने नदी. पर्वत, वन-प्रान्त आदि बाह्य प्रकृतिको सजीव रूप प्रदान करते हुए विरइ-व्यथित हृदयोंके साथ उसका मनोहर सामं-जस्य स्थापित किया है। उत्तरमेघमें अलकापुरी स्थित यक्षके भवन और उसमे एकाकी जीवन बितानेवाछी विरिष्टणी यक्षिणीकी मर्मानुभूतियोका अभिराम चित्रण है।

'मेघदूत'मे कालिदासकी तीव और गम्भीर भावानुभृति

भारमीय तक्लीनताके साथ व्यक्त हुई है। इसके साथ मन्दाकान्ता छन्दकी मधुर लय, कोमल पदावली तथा गहन संवेदना-जन्य ध्वन्यात्मक संगीततत्त्वसे उसमें गीतिकाच्य (दे०)की विशेषताएँ आ गयी हैं।

'मेघदृत'की सफलताका यह प्रमाण है कि संस्कृतमें उसके अनुकरणपर रचे गये सन्देशकान्योंकी एक लम्बी परम्परा मिलती है। 'घटकर्पर'में, जो ४०० ई०के आस-पासके इसी नामके कविकी रचना कहा जाता है, 'मेघदून'-के क्रमको उलटकर विरहिणी प्रेमिकाकी ओरसे सन्देश भेजा गया है। बंगालके राजा लक्ष्मणसेन (बारहवीं शती)के आश्रित घोयी कविने मलयाचलकी कुवलयवती नामक गन्धर्वकन्याकी ओरसे राजा लक्ष्मणसेनके लिए 'पवनदृत' नामसे प्रणयसन्देश लिखा। इसमें भी 'मेघदूत'के ही छन्दका प्रयोग किया गया है। इस अनुकरणकी प्रवृत्तिमें हंस, चातक, कोकिल आदिको दत बनाकर कान्योक्त तो रचना की ही गयी, शान्त रसका एक मनोद्त भी रचं दिया गया । वेदान्तदेशिकने 'इंसदृत'मे सीनाके पास रामका सन्देश भिजवाया है, तो रूपगोखामीका 'हंसदूत' राधाका प्रणयसन्देश कृष्णके पास है गया है। वामन भट्ट बाण (१५ वी शती) ने भी एक 'हंसदूत' लिखा है।

दूतकाव्योंमें विप्रलम्भ-श्रंगारकी ही प्रधानता है और बंगाल तथा केरलके भावुक किवयोने इस काव्यरूपमें प्रचुर योगदान किया है। परन्तु 'मेबदूत'के माधुर्य और लालिखने केवल वैष्णव किवयोंको ही दृतकाव्योंके रूपमें मधुर भावकी विरहासाक्ति करनेको प्रेरित नहीं किया, प्रत्युत कुछ जैन किवयोंने भी धार्मिक रचनाओंमे उसकी शैलीका अनुकरण किया है। जिनसेन नामक किवने 'पाइर्वास्थुदय'में 'मेबदूत'के सभी छन्दोंके चरणोकी समस्या पूर्ति-जैसी की है। इसी प्रकारकी रचना विक्रम किवकी 'नेमिद्त' नामक है, जिसमें 'मेबदूत'के छन्दोंके चतुर्थं चरणोंकी पूर्ति की गयी है।

संस्कृत साहित्यके इन सन्देश-काव्योंके पीछे लोक-साहित्यके तदिषयक गीतोंकी एक जीवित परम्परा रही होगी। इसका प्रमाण वर्तमान लोकभाषाओंमें प्रचित्रत लोकगीतोंसे मिलता है। इंस, शुक, कोकिल, चातक, पपीहा, कौआ, निःश्वास, पवन, मेघ, नदी आदि उड़नशील और प्रवाहशील चेतन और जड़ पदाथोंको असंख्य लोक-गीतोंमें प्रणय सन्देश सौंपकर विरही जन अपने हृदयोंको हलका करते हुए देखे जाते है। इस अत्यन्त स्वामाविक और मार्मिक कल्पनाका उपयोग अनेक कवियोंने दूनकाव्यों-के रूपमें ही नहीं, अन्यथा भी किया है। मिलक मुहम्मद जायसीके 'पद्मावत'में पद्मिनीके लिए रतनसेनका प्रणय-सन्देश शुकके द्वारा भेजा जाता है। विरहिणी नागमती इंस और कौएसे प्रियके पास सन्देश ले जानेकी प्रार्थना करती है।

रामकथा सम्बन्धी कार्न्योमें राम-हनुमान् द्वारा सीताके लिए प्रेम-बिरह, सान्त्वना और आशाका सन्देश भेजते हैं तथा उसके उत्तरमें सीता अपनी मर्म-व्यथा रामतक पहुँचाती है। स्रदासने अपने रामकथा सम्बन्धी पदोंमें इस प्रसंगका अरयन्त हृदयाकर्षक वित्रण किया है। तल्सी-

दासने तो मानस तथा दूसरी रचनाओं में इस सन्देश-प्रसंगको अपनी भक्ति-समन्वित संवेदना प्रदान की ही है। कृष्ण-मक्ति-काव्यमें सन्देश भेजनेके कई प्रसंग मिलते हैं। इनमें कृष्णका गोपियोंके लिए भेजा गया सन्देश. जिसे उनके परम मित्र उद्धव ले जाते हैं, सबसे आधिक महत्त्वपूर्ण है। 'श्रीमद्भागवत' (दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध, अध्याय, ४६, ४७) से कथासूत्र लेकर सूरदासने इस प्रसंग-को एक सर्वथा मौलिक रूप दिया और हिन्दी कान्यमे एक ऐसी परम्परा (दे॰ 'भ्रमरगीत') डाली, जिसका कृष्णकान्य-पर रचना करनेवाले अनेक कवियोने अनुसरण किया और एक विशेष प्रकारके सन्देशकाव्यको समृद्ध बनाया। रीति-कालीन कवियोंने भी इस मार्मिक प्रसंगका अपने ढंगसे उपयोग किया और आधुनिक कालमें भी अनेक ब्रजभाषाके कवियोने भक्ति और रीतिकालीन परम्पराके इस विशिष्ट रूपको अपनाया है। परन्तु उद्धव सन्देश सम्बन्धी ये रचनाएँ अधिकतर मुक्तक पद्यां—कवित्त-सवैयाके रूपमें हैं, सन्देश नामसे बहुत थोड़ी रचनाएँ होंगी। आधुनिक कालमें ब्रजभाषाके सबसे समर्थ कवि जगन्नाथदास 'रताकर'का 'उद्धवशतक' भी इसी परम्पराका सन्देशकाव्य है। मुक्तक और प्रबन्धका उसमें सुन्दर सामंजस्य हुआ है।

कृष्ण और कृष्णकथा सम्बन्धी आधुनिक कालकी रचनाओंमें जो नवीन दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसका उदाहरण सन्देश काव्यमे भी मिलता है। सत्यनारायण 'किवरत्न'ने अपने 'अमरदून'में यशोदाकी ओरसे कृष्णकों जो सन्देश भेजा है, उसमें समसामियक देश-दशाके साथ-साथ देशमक्ति, समाज-सुधार और समाज-सेवाकी भावनाएँ-भी व्यक्त हुई है। आयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'ने अपने खडीबोलीके प्रसिद्ध काव्ययन्थ 'प्रिय-प्रवास'में प्रवनको दूत बनाकर जो सन्देश मिजवाया है, उसमें ब्रजकी वियोगदशाका समसामियक सन्दर्भमे वर्णन किया गया है और सन्देशमे देश-भक्ति और समाज-सेवाकी भावनाएँ ही प्रमुख रूपमें व्यक्त की गयी है।

हिन्दीमें 'मेघद्त'के भी अनेक अनुवाद हुए हैं। राजा लक्ष्मण सिंह, ठाकुर जगमोहन सिंह, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और लाला सीताराम 'भूप'ने मधुर ब्रजभाषामे इस अमर कान्यके अनुवाद किये। पूर्णजीने अनुवादका सानुप्रास नाम 'धाराधरधावन' रखा। इनके अतिरिक्त आधुनिक कालमें लक्ष्मीधर वाजपेयी, कन्हैयालाल पोहार और केशव-प्रसाद मिश्रने भी इसके अनुवाद किये हैं। खड़ीबोलीमें सन्देशकान्यकी प्रवृत्ति निरन्तर चलती रही, परन्तु सन्देश-कान्य नामसे रचनाएँ अधिक नहीं हुईं। यह प्रवृत्ति खण्डकाव्यों (उदाहरणार्थ, 'मिलन': रामनरेश त्रिपाठी) और गीति-रचनाओं, दोनोंमें प्रकट हुई है। 'पत्रगीति' (दे०) या 'पत्रकाव्य'के रूपमें सन्देशकाव्यकी परम्परा युगके अधिक अनुरूप है, क्योंकि अब सन्देश भेजनेका यही युक्तियुक्त स्वीकृत माध्यम है। मैथिलीशरण गुप्तकी 'पत्रावली' तथा 'निराला'का 'छत्रपति शिवाजीका पत्र' इसके अच्छे उदाहरण हैं (दे॰ 'उपालम्भ काव्य', 'पन्न-गीति')। -व्र० व् संदेह-साद्यगर्भं अभेदप्रधानके आरोपमूलक अथीलंकारी- का एक भेद । भागहने इसे ससन्देष्ट कहा है और दण्डीने उपमाके अन्तर्गत स्वीकार किया है-"अनन्वय-ससन्देहा-वपमास्येव दशितौ" (काव्यादर्श, २)। इनका अनुसरण उद्भर और मम्मटने किया है। रुय्यक, वामन, विद्याधर तया विश्वनाथने यही नाम स्वीकार किया है। रुद्रटने संशय नाम दिया है और उनकी परिभाषा स्पष्ट है-"जहाँ किसी वस्तके सम्बन्धमें अनेक वस्तओका सन्देह हो और साह्यके कारण अनिश्चय बना रहे, वहाँ संशय अलंकार होना है" (कान्यार्ल०, ८: ५९)। वामनने इसे उपमा-प्रपंचके अन्तर्गत रखा है और उसी आधारपर लक्षण दिया है—"उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः" (का० स० व०, ४: ३: ११), अर्थात उपमान और उपमेयका संशय, सन्देह है। मम्मटने संशयमूल इस अलंकारके 'भेदोक्ति' तथा 'भेदानुक्ति', दो भेद माने है, एकमे उपमेय तथा उपमेयमे भेदका स्पष्ठ कथन होता है और दसरेमे ऐसा नहीं होता। इनके अतिरिक्त निरुचयान्तका भी एक प्रकार माना है। विश्वनाथने इस उपमेयके सम्बन्धमे अन्य वस्त-(उपमान)के सन्देहको कविप्रतिभासे उत्पन्न माना है (सा० द०, १०: ३५) । वास्तवमे साहदय और कान्या-त्मकता इस अलंकारकी अनिवार्य शर्त है। उन्होंने इसके तीन भेद माने है-शुद्ध, निश्चयगर्भ, निश्चयानत ! प्रथममें सन्देहकी स्थिति स्पष्ट रूपसे रहती है, दूसरेमें निश्चयका भाव भी अन्तर्निहित रहता है और तीसरेमे अन्ततः निश्चय हो जाता है।

हिन्दीके आचार्यों में जसवन्त सिंह, मतिराम, पद्माकर आदिने जयदेवके आधारपर नामसे ही लक्षण स्पष्ट माना है। भूषणके लक्षणपर मम्मट आदिका प्रभाव है—'कै यह कै वह यों जहाँ, होत आनि सन्देह" (शि० भू०, ७८)। यह और वहका अर्थ उपमेय तथा उपमान है। इन आचार्योंने इसके भेदोंपर विचार नहीं किया है। आधनिक कालमे कन्हैयालाल पोद्दारने मम्मटके आधारपर भेद स्वीकार किये है-- १० भेदकी उक्तिमे संशय-(क) निश्चय-गर्भ, (ख) निरुचयान्त । २. भेदकी अनुक्तिमे संशय, यही विश्वनाथका शुद्ध है। उदा०-भेदकी उक्तिमे निश्चय-गर्भ-"कैथों उजागर ये प्रभाकर स्वरूप राजे जाकर सदैव सप्त अश्व नहिं याकै है" (पोदार : छाया, का० प्र० से) अथवा-" कहूँ मानवी यदि मै तुमको तो वैसा संकोच कहाँ ? कहूँ दानवी तो उसमे है यह लावण्यकी लोच कहाँ" (पंचवटी) । इनमें 'सप्त अदव नहिं', 'संकोच कहाँ' आदिके द्वारा निश्चय होकर भी सन्देह बना रहता है। निश्चयान्त—"च्यतघन है क्या चपला ? चम्पक लतिका परिम्लान किंवा है। लखकर स्वास चपलता, जाना कपि, विकल जानकी अम्बा है" (पोद्दार, अ० मं०, पृ० १७०)। इसमे अन्ततः जानकीका निश्चय वर्णित है। ३. भेदकी अनुक्ति या शुद्ध—हिन्दीके आचार्यों द्वारा प्रस्तृत उदाहरण प्रायः इसी कोटिमें आते है, क्योंकि उन्होंने भेद स्वीकार नहीं किये है-"परचि परै नहि अरुन रंग अमल दल मॉझ। कैथो फूली दुपहरी, कैथो फूली साँझ" (ल० ल०, ८५) या-"निदाके उस अलित वनमें वह क्या भावीकी छाया। इन पलकोंमें विचर रही या वन्य देवियोंकी माया"

(पन्त: छाया, का० द० से)। इस अलंकारका प्रयोग सभी यगोंके काव्यमें समान रूपसे मिलता है। संदेहवाद-इस धारणाके अनुसार कोई भी वस्तु नहीं जानी जा सकती, किसी भी प्रकारका विश्वसनीय ज्ञान असम्भव है। सन्देहवादीको बुद्धिकी क्षमतामे विश्वास नहीं रह जाता। सन्देहवादकी कई श्रेणियाँ हो सकती है। किसी भी विषयमें अन्तिम निर्णय न देना (जैसे सकरात), यह मानना कि ज्ञान केवल अनुभति या गोचर प्रपंचका होता है, मनुष्यकी बुद्धि प्रपंचके अधिष्ठानका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती (काण्ट), अथवा यह कि ज्ञान असम्भव है और ज्ञान की खोज व्यर्थ है। वस्तुतः सन्देहवादका कोई-न-कोई रूप किसी भी दार्शनिक जिज्ञासाके लिए अनिवार्य है। विना सन्देह किये बिना शंका उठाये सत्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। लेकिन जब सन्देहवादका उत्कट रूप व्यक्ति और समाजका जीवनदर्शन बन जाता है, तब जैसे वह अपनी जड़ें काट देता है। जीवनके मुल्योमे उसका विश्वास नहीं रह जाता । किन्तु परस्पर विरोधी दर्शनो, धर्मी और मत-मतान्तरोके मध्य बौद्धिक प्राणीके लिए सन्देहवादी हो जाना अत्यन्त सरल है। उमर खैयामकी रुवाइयोमे ऐसे ही बौद्धिक सन्देहवादमे प्रेरित काव्यका उत्क्रष्ट रूप हमें मिलता है। सन्देहवादी पश्चिमी दार्शनिकोमें यूनानी गार्जिआस और पीरो तथा डेविड धूम प्रसिद्ध है। —आ॰ संधा-भाषा-तान्त्रिक युगमे तन्त्रोमें भाषा-शैलीका एक अलौकिक रहस्यात्मक स्वभाव विकसित हो रहा था, जिससे सारी भाषा मनत्रस्वभावकी होती जा रही थी। बौद्धोंने अपनी इस प्रतीकात्मक शैलीको सन्धा-भाषा या 'सन्धा-वचन' कहा।

प्रारम्भमे कुछ विद्वानोमे इस वातको लेकर काफी विवाद रहा कि यह सन्धा-भाषा है या सन्ध्या-भाषा। हरप्रसाद शास्त्री और विनयतीष भट्टाचार्य इसे 'सन्ध्या-भाषा' मानकर इसका अर्थ 'आलो आँघारी भाषा' करते रहे, किन्त विध-शेखर शास्त्री और प्रबोधचन्द्र बागचीने प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि वास्तविक शब्द सन्धा है, जिसका अर्थ है अभिसन्धियुक्त, अभिप्राययुक्त भाषा । विरूपाकी चर्यामें स्पष्टतः अभिसन्धका उल्लेख भी है (दे० बौद्धगान ओ दोहा: हरप्रसाद शास्त्री)। इस मन्त्रणास्वभाववाली, ग्रह्म प्रकृति-वाली भाषामे प्रतीकोके माध्यमसे सिद्धगण अपनी अनु-भृतियोका अंकन करते थे। अक्सर यन्थोमे इनमेसे बहुतसे प्रतीकोंका अर्थ अलगसे दिया हुआ रहता था, जो केवल सम्प्रदायमे दीक्षित साधकोको ही ज्ञात होता था। इन प्रतीकोका उद्गम और विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वज्रयानके विकासके पहलेसे इन प्रतीकोका अस्तित्व मिलता है और सन्तोके साहित्यतक इन प्रतीकोंका व्यवहार होता गया है। किन्तु इतनी लम्बी अवधिमें इन प्रतीकोंका अर्थ बराबर बदलता गया है। वज्रयानी पिद्धोंने अपने पदों और दोहोमें व्यवहृत प्रतीकोंको कई स्रोतोसे यहण किया था। कुछ उन्होंने विज्ञानवादी ग्रन्थोसे लिये थे और कुछ योगाचारकी साधनाओंसे। कुछ अन्य सम-कालीन तान्त्रिक पद्धतियोंसे लिये, जिन्हे उन्होंने प्रज्ञी-पायारिमक अर्थ दे दिये थे, कुछ प्रतीक अर्थ-साम्य और

कुछ साधर्म्यमूलक थे। कुछ चर्यागत थे। इन प्रतीकोकी दो प्रकारकी योजनाएँ थी। औपम्यमूलक और विरोध-मुलक । औपम्यमूलक प्रतीक-योजनासे विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये जाते थे और विरोधमूलकसे उलटबॉसी-शैलीका विकास हुआ है (दे॰ 'सिद्ध साहित्य': धर्मवीर भारती)। --- ध० बी० भा० र्साधि - रूपककी प्रकृति तथा अवस्थाओं के सम्मिश्रणसे सन्धियोका आविर्भाव होता है। बीज, विन्दु, पत्ताका प्रकरी तथा कार्य, ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याज्ञा, नियताप्ति और फलागम अवस्थाओं से मिलती है, तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहति (निर्वहण) सन्धियोका आविर्माव होता है- 'अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः। यथा-संख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः"(द० रू० १:२२)। इन मन्धियों के अंगको सन्ध्यंग कहते है। वे संख्यामे ६४ होते है। मुखसन्धिके १२ अंग है-उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोमन, युक्ति, श्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, कारण और भेद।

प्रतिमुख सन्धिक १३ अंग होते है—विळास,परिसर्प, विद्युत्,तपन, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, विरोध, पर्युपासन,पुष्प, वज्र, उपन्यास और वर्णसंहार।

गर्भ सन्धिक भी १३ अंग होते है—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, प्रार्थना, क्षिप्ति, त्रोटक, अधिबल, उद्देग और विद्रव।

विमर्शके १३ ही अंग होते है—अपवाद, सम्पेट, ज्यवसाय, द्रव, सुति, शक्ति, प्रसंग, खेद, प्रतिषेध, विरोधन, प्ररोचना, श्रादान और छादन।

निर्वहण सन्धिक अंगोकी संख्या १४ है—सन्धि, विवोध, प्रथन, निर्णय, परिभाषण, कृति, प्रसार, आनन्द, समय, उपगृहन, भाषण, पूर्ववाक्य, काव्य-संहार तथा प्रशस्ति (सा० द०, ६: ८१: १०९)।

सन्ध्यंगोके इस विस्तारको अनेक विद्वान् अनावश्यक मानते है। कीथने अपने 'संस्कृत ड्रामा'मे सन्ध्यगोंके दुरूह विभाजनको व्यर्थं माना है (पृ० २९९)।. रुद्रटने 'नियम एव' कहकर इनके यथास्थान नियत होनेकी बात कही है, परन्तु बहुतसे लोग रुद्रटके मतसे सहमत नहीं है। यद्यपि भट्टनारायणके 'वेणीसंहार'में इन सन्ध्यंगोंको यथास्थान नियोजित करनेका प्रयत्न किया गया है, फिर भी वह पूर्णतः सफल नहीं कहा जा सकता। इस ठूस-ठाँसका परिणाम यह हुआ कि नाटककी गतिशीलता अवरुद्ध हो गयी है।

कीथने नाटकीय कथावस्तुके विभाजनपर और भी आप-त्तियाँ उठायी है। वे नाटकीय संघर्षसे सम्बद्ध होनेके कारण सन्धियोंकी उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, पर अर्थ-प्रकृ-तियोंके विभाजनको व्यर्थ मानते हैं।

वस्तुतः कथावस्तुके ये सव विभाजन नाटकको इतना अधिक पंगु बना देते हैं कि उसकी स्वाभाविक गति मारी जाती है। इस भूल-भुलैयामें पड़कर नाटककार अपना स्वाभाविक मार्ग खो बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वयं संस्कृतको नाटककार भी इनको चक्करमें नहीं पड़े हैं, जो

पड़े है, उनकी रचनाएँ कभी भी प्रथम श्रेणीकी रचनाओं मे स्थान नहीं पा सकी। संध्यंगविनिवेशवऋता - दे० 'प्रकरणवक्रता',नवॉनियामक। संध्यंतर-कुछ शास्त्रकारोके मतानुसार नाटककी सन्धियोंके अन्तर्गत अन्तःसन्धियाँ, उपसन्धियाँ या सन्ध्यन्तर भी होते है। अन्य सन्धियोकी भॉति इनका उद्देश्य भी नाटकीय कथावस्तुमें गति लाना ही माना गया है। संख्यामे इकीस मानी गयी है-१. साम-अपनी अनुवृत्ति-को व्यक्त करनेवाला प्रिय वाक्य, २ दान-अपने प्रति-निधि-खरूप भूषणादिका समर्पण, ३. दण्ड-अविनयको देख-सुनकर डाटना-फटकार ना, ४. भेद - कपट वचनो द्वारा मित्रोमे भेद डालना, ५ प्रत्युत्पन्नमतित्व, ६ वध- दुष्टका दमन, ७. गोत्रस्खलित-नामका न्यातक्रम, ८. ओजस्विता-सूचक वचन, ९. धी - इष्टके सिद्ध न होनेतक चिन्ता, १०. क्रोध, ११. साहस, १२. भय, १३. माया, १४. संवृत्ति-अपने कथनको छिपाना, १५ भ्रान्ति, १६ दौत्य, १७. हेत्ववधारण-किसी प्रयोजनसे बोई निश्चय, १८. स्वप्न. १९. लेख, २०. मद, २१. चित्र । इनमेसे चित्र, स्वप्न और लेखका उपयोग प्रायः देखा जाता है। संबंधातिशयोक्ति-दे॰ 'अनिश्योक्ति', तीसरा भेद । संबोध(न)गीति-यह 'ओड'का हिन्दी रूपान्तर है। यह नामकरण सर्वप्रथम रामछेलावन पाण्डेयके 'गीतिकाच्य' नामक ग्रन्थ (ज्ञानमण्डल, काशी) में आया। प्रारम्भमे 'ओड' मुख्यतया गेय रचना थी, जिसे वाद्य यन्त्रोकी सहायता अपेक्षित थी। लयात्मकता उस स्थितिमे बाह्यसे अधिक आभ्यन्तर थी। श्रीसमें मुक्तक रचनाओने दो रूप लिये। एकका विकास गीतिकान्य (लिरिक) के रूपमे हुआ और दूसरे-का सम्बोधित गातिके रूपमें और इसके विधानका आधार रूपक रहा, क्योंकि नाटकोंमें कथोपकथनके रूपमे पारस्परिक सम्बोधनकी अपेक्षा होती थी। पिण्डार इस विधानका अग्रणी हुआ। आधुनिक कालमें पियर रोजार्डने पहले-पहल पिण्डारिक विधानके मूल्यका अनुभव किया और फ्रेंच काव्यविधानके माध्यमसे समृद्ध करनेका प्रयास किया। सन् १५८४ ई०मे टाम्स स्थार्नने पेण्डोर नामक रचनामे इस विधानका अंग्रेजीमे उपयोग किया। इसके कई विधान और रूप है। इसकी विविधता और भिन्न-रूपताको लक्षित करते हुए एल० विनयानने कहा है कि ओड सम्बोधक या सम्बोधित गीत है, जो किसी सार्वभौम अभिरुचिको जागरित करनेवाले विषयके सम्बन्धमे हो। किसी विषय अथवा घटनासे सम्बद्ध आत्मभावप्रकाशक गीत इस रूपमे आये है। अपर प्रत्यक्षका इसमे रूप व्यक्त होता है। स्तवनगीतिमे व्यक्तिकी उसके समक्ष प्रशंसा की जाती है, किन्तु इसमे इस प्रकारके लाभका रहस्य नही रहता। अंग्रेजी साहित्यके सम्पर्कमे आनेपर इस विधानका विकास हुआ। भारतेन्द्रकृत 'विजयिनी विजय वैजयन्ती'में सम्बोधित गीतिका प्रारम्भिक रूप है, जिसमे सम्बोधनके साथ उद्बोधनके भी स्पष्ट रूप है— "अरे बीर इक बेर उठद्व सब फिर कित सोये"। प्रतापनारायण मिश्रकृत 'बुढ़ापा' भी ओडकी कोटिमें आ सकता है, जिसमें परिहास-का स्फूट रंग है। रोमांसिक भावधाराके कारण ओडकी भावात्मक परिणिति मिलती है और इन रचनाओं में 'निराला'कृत 'यमुनाके प्रति' और 'बादल', पन्तकृत 'भावी पत्नीके प्रति' विशेष रूपते उल्लेखनीय है। राजनीतिक चेतनाके जागरणसे भारत, तिलक और गान्धीके सम्बन्धमे रचनाएँ हुई। 'दिनकर'का 'हिमालय' राष्ट्रीय चेतनाको अभिन्यक्त करनेवाली सम्बोधनात्मक रचना है और 'नाचो हे नाचो नटवर'में इसी पद्धतिके साथ लय गीतिकान्यात्मक है। —रा॰ खे॰ पा॰

संभोग चक्र-दे॰ 'हठयोग'।

संभोग श्रंगार - धनंजयका कथन है कि "जहाँ अनुक्ल विलासी एक-दूसरेके दर्शन-स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते है, वह आनन्दसे युक्त सम्भोग-श्रंगार कहलाता है" (द० रू०, ४:६९) । भानुदत्त कहते है—"दर्शन, स्पर्शन, संलाप इत्यादिके अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर संयोगसे अर्थात् वहिरिन्द्रिय-सम्बन्धसे उत्पद्यमान आनन्द सम्भोग (संयोग) है" (र० त०, ६) । विश्वनाथका कथन है— "जहाँ एक द्सरेके प्रेममे अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन, स्पर्शन इत्यादिका सेवन करते है, वह सम्भोग-श्रंगार कहलाता है" (सा० द०, ३:२१०)।

उपर्युक्त परिभाषाओं में 'सम्भोग'-शृंगारकी नि॰पत्तिके लिए नायक-नायिकाका एकत्र रहकर एक दूमरेके प्रति प्रदर्शन तथा तज्जन्य आनन्दोपभोग आवश्यक बताया गया है। संयोगके समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है। पण्डितराजने इस तथ्यको स्पष्ट किया है। वे कहते है कि 'संयोग'का अर्थ 'स्त्री-पुरुषका एक स्थानपर रहना' नहीं है, क्योंकि एक पर्छगपर सोते रहनेपर भी, यदि ईश्यों आदि हो तो वह विप्रकम्भ या वियोग रस ही माना जायगा। उनके अनुसार 'संयोग' इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्ततृत्तिका पर्याय है कि 'मै मिला हुआ हूँ' और वियोग यह ज्ञान है कि 'मै विछडा हुआ हूँ'। अतएव स्त्री-पुरुषके संयोगके समयमे प्रेम रहे तो वह 'संयोग' अथवा 'संभोग-शृंगार' कहलायगा। हिन्दोमे चिन्तामणिकी यह परिभाषा अत्यन्त सटीक है— ''जहाँ दम्पती प्रीतिसों विलसत रचत विहार। चिन्तामिक किंव कहत यो तह संयोग सिगार'' (क० क० त०)।

'संभोग' एवं 'संयोग' शब्द प्रस्तुत प्रकरणमे प्रायः समानाथीं है। लेकिन कुछ पण्डितोंका कथन है कि संयोग-की एक वह अवस्था भी है, जिसमे नायक-नायिकाकी पर-रपर रित तो होती है, पर सम्भोग-सुखकी प्राप्ति नहीं होती, अत्यव इसको सम्भोगमे सम्मिलित करना उचित नहीं है।

परस्पर अवलोकन, आर्लिंगन, अधरपान, परिचुम्बन प्रभृति नायक-नायिकाके पारस्परिक व्यवहारभेदसे सम्भोग-श्रृंगारके अगणित भेद होते है, लेकिन आचार्योंने उनका अन्तर्भाव इसी एक 'सम्भोग'-श्रृंगारमें कर दिया है।

हिन्दीके आचायों में केशव और देवने संयोग (सम्भोग) एवं वियोग (विप्रलम्म) शृंगारमें सत्येकके दो-दो भेद— 'प्रच्छन्न' एवं 'प्रकाश' किये हैं। लेकिन जैसा भगीरथ मिश्र-ने बताया है, प्रच्छन्न शृंगारको तो रसकी संद्या प्राप्त ही नहीं होनी चाहिये, क्योंकि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावोंसे परिपृष्ट होकर जब स्थायी भाव व्यक्त होता है, तभी रसदशा प्राप्त होती है।

किन्तु पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करण-विप्रलम्भके आनन्तर्थसे सम्मोग-श्रंगारके भी चार प्रकार भोजदेवने 'सरस्वतीकण्ठाभरण'मे निर्दिष्ट किये हैं तथा कारण यह कहा है कि विप्रलम्मके विना सम्मोग पुष्ट नहीं होता। विश्वनाथने भी 'साहित्यदर्पण'में भोजका मत उद्धृत किया है तथा पूर्वरागानन्तर एवं प्रवासानन्तर सम्मोगके उदाहरण भी दिये हैं। हिन्दीके आचार्य देवने भी 'भवानीविज्ञास'में इस प्रसंगको उठाया है और यह बताया है कि संयोग वियोगके बीचमे आता है—''ते वियोग संयोगतें मान प्रवास ससोग। यहि विधि मध्य वियोगके होत सिंगार संयोग'। स्पष्ट है कि देवका यह कम और वर्गीकरण नवीन नहीं कहा जायगा, वर्योकि इस विश्वचनके लिए वे भोज एवं विश्वनाथ, दोनोंके ऋणी है। सम्मोग-श्रंगारका यह विभाजन मनोवैज्ञानिक भूमिकापर प्रतिष्ठित है।

भरतने इसके विभावों एवं अनुभावोके सम्बन्धमे यह कहा है—"सम्भोग ऋतुरमणीयना, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजनोका संसर्ग, इन्द्रियोके विषय, रम्य भवन, उपवन-गमन, प्रियके वचनोका श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीड़ा-लीला इत्यादि विभावोसे उत्पन्न होता है, अथ च नयनचातुर्य, भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, लिल एवं मधुर अंगचेष्टा, आकर्षक वचन इत्यादि अनुभावोसे व्यंजित होता है"। सूर्य-चन्द्रमा, उदय-अस्त, जलविहार, प्रभात, मद्यपान, रात्रिक्षीडा इत्यादि असंख्य वस्तुओका वर्णन सम्भोगमे हो सकता है। विश्वनाथका भरतके प्रमाणपर यह कहना है कि जो कुछ शुचि एवं मेध्य पदार्थ दिखाई पड़ता है, वह सभी इसमें प्राह्य है।

लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति दस 'हाव' भी सम्भोगवर्णनमें सिन्निविष्ट होते हैं। त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरणको छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी आ सकते हैं। जहाँ नायिकाके मनमे नायकको देखकर प्रेम जाग्रत् होता है, वहाँ नायिकारच्य सम्भोग तथा जहाँ नायिकाको देखकर नायकके मनमे रितभाव उद्भूत होता है, वहाँ नायकारच्य सम्भोग-श्रंगार माना जाता है।

**संयम**-'पातंजल योग सूत्र' (३ : ३)में धारणा, ध्यान और समाधिको 'संयम' कहा गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार वहिरंग साधन और 'संयम' अन्त-रंग साधन है। तीनोंको एक ही नाम देनेका तात्पर्य है कि ये किसी एक ही विषय पर केन्द्रित होनेपर योगांग कहला सकते है । आभ्यन्तर या बाह्य देश, अर्थात् विषयपर चित्त-का बन्ध या एकीमाव धारणा है-"देश बन्धश्चित्तस्य धारणा" (यो॰ सू॰ ३: १) । धारणामे प्रत्यय, अर्थात ज्ञान-वृत्तिकी एकतानता या अनन्यता ही ध्यान है-"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (वही ३:२)। इसी ध्यानके चरमोत्कर्षका नाम समाधि है। समाधि चित्तकी स्थिरताकी सर्वोत्तम अवस्था है। ज्यावहारिक रूपसे इन्हे यों समझा जा सकता है कि चित्त चांचल्यधर्मी है। इस चित्तको बहिरंग साधनोंसे साधकर किसी एक विषयकी ओर केन्द्रित करना धारणा है। चित्त केन्द्रित होकर जब ध्येय विषयपर एक तान, या अनन्यभावसे संलग्न होकर अन्य सभी

विषयोके प्रति नितान्त अज्ञानशील हो जाता है तो इसे ध्यान कहते है और यह ध्यान जब घनीभूत होकर ध्येय विषयमे तल्लीन या लवलीन हो जाता है तो उस अवस्थाको समाधिकी अवस्था कहते हैं (दे० 'पातंजल योग-दर्शन', लखनऊ वि० वि०, पृ० २०९-१५)। <del>--</del>रा० दे० सिं० संयक्ता-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद; सगण, नगण, तगण और गुरुके योगसे चरण वनता है (॥५,॥।,८५।,८)। यह छन्द प्रियाका दूना और गीतिकाका आधा होता है। 'प्राक्रतपैगलम्' (२: ९०)मे इस छन्दका विवरण है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (१३: १०)मे इसका कमला नाम दिया है। आधुनिक गीतोंमें इस छन्दका मात्रिक प्रयोग हुआ -है—''मेरा मरण तमको खला''—(यशोधरा, पृ० १०९)। केशवका प्रयोग-"वत वाण रावणको सन्यो। सिर राजमण्डलमे पुन्यो। जगढीश अव रक्षा करो। विपरीत बात सबै हरो" (रा० चं०, ४:१७)। संयोग-दे॰ 'रसनिष्पत्ति', आरोपवादके अन्तर्गत ।

संयोग-श्रंगार-संयोग-श्रंगार सम्भोग-श्रंगारका ही पर्याय है। लेकिन कुछ विद्वानोंकी राय है कि जहाँ नायक-नायिकाको संयोगावस्थामे परस्पर रति होती है, पर सम्भोग-स्रख प्राप्त नहीं होता, वहाँ संयोग-शंगार मानना चाहिये, सम्भोग नहीं। रामदहिन मिश्रने 'काव्यदर्पण'मे सुमित्रा-नन्दन पन्तकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहरणरूपमे प्रस्तुत की है-- 'एक पल मेरे पियाके हग, पलक, थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे । चपलताने इस विकम्पित पुलकसे, इद किया मानो प्रणय सम्बन्ध था"। इनकी टिप्पणी यह है, "इसमें आलम्बन नायिका, नायिकाका सौन्दर्य उद्दीपन, नायिकाका निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि संचारी तथा रति स्थायी है। यहाँ संयोग-सुखकी प्राप्ति है, सम्भोग-सुखकी नहीं, क्योंकि प्रियको प्रियाकी प्राप्त नहीं हुई"। वस्तुतः दर्शन-अवलोकन भी आचार्यौ द्वारा सम्भोग-शृंगारमें गृहीत किया गया है। सम्भोगका स्थूल अर्थ ग्रहण कर ही उसे 'संयोग'से पृथक् किया जा सकता है। 'संयोग'को अलग माननेका कोई प्रवल आधार नहीं। विशेषके लिए दे० 'सम्भोग-शृंगार'। संयोगात्मक आलोचना-प्रणाली - अंग्रेजीका 'सिनथेटि-

स्थानात्मक आलाचना प्रणाला निज्ञाना सिनयाद कल' 'सिनथेसिस'का विशेषण है, जिसका अर्थ है 'सांश्लेषिक', 'संक्ष्ष्ट', 'संयोगात्मक', 'समन्वयात्मक'। विद्वानोंने इसीलिए इसे अन्य नामोसे भी पुकारा है, जैसे 'सामंजस्थात्मक' आदि।

आलोचनाकी यह पद्धति दो विरोधो, दो भेदों तथा दो मतवादोंका समन्वय, अपना लक्ष्य मानती है। इसीलिए इस पद्धतिकी आलोचनाको स्पष्टतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकेगा—सैडान्निक संगातमक आलोचना तथा व्यावहारिक संयोगात्मक आलोचना। सैद्धान्तिक स्तरपर यह पद्धति दो सिद्धान्तो तथा दो भिन्न चिन्तनोंका समन्वय करती है और व्यावहारिक स्तरपर शैलीगत विभिन्नताओंका समन्वय करती है।

साहित्यका क्षेत्र अतिवादी विभिन्न मतवादोंसे भरा है। 'कला कलाके लिए', 'कला जीवनके लिए', 'अतिवस्तुवादी' 'आदर्शवादी', 'कलावादी', 'कलपावादी', 'अभिव्यंजना-

वादी', अस्तित्ववादी' आदि अनेक अनेक चिन्तनोंके बीच समाप्त न होनेवाली सीमारेखाएँ है। इसी प्रकार देश, राष्ट्र, जलवायु तथा अनेक कारणोंसे हमारे चिन्तनमें विभिन्नता है। फलतः प्रस्तुत आलोचना-पद्धति विभिन्नताओं-के बीच समन्वय स्थापित करना चाहती है—सिद्धान्तोंका समीकरण, विभिन्नत्व या अनेकत्वमे एकत्वस्थापन इसका प्रमुख उद्देश्य है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमे वे आलोचक इसके जन्मदाता है, जो सौन्दर्यवादी तथा शास्त्रीय, दोनोक बीच समन्वय स्थापित करते है। वैसे तो यूनानी आलोचकोंसे लेकर आधुनिकतम पाश्चात्य आलोचकोतकमें अनेक नाम गिनाये जा सकते है, परन्तु टी० एस० ईलियट अग्रणी माने जायँगे। इन्होने न केवल परम्परा और स्वच्छन्दता, रूढि और मौलिकता तथा यथार्थवाद और आदर्शवादका समन्वय किया है, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तोंका भी समन्वय किया है, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तोंका भी समन्वय किया।

संस्कृत साहित्यशास्त्रमें इस समीक्षाको सहज ही लक्ष्य किया जा सकेगा। आचार्य मम्मटका 'कान्तासम्मित उप-देश' जैसी उक्तियाँ पर्याप्त प्रमाण है। राजशेखरका सम्पूर्ण कृतित्व ही इस सिद्धान्तके आधारपर टिका है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यशास्त्रमें बाह्य और आभ्यन्तर, लौकिक और अलौकिक, रीति, वक्नोक्ति, अलंकार, नीति, उद्देश्य और रस तथा रमणीयता-जन्य आह्नादका समन्वय प्रत्येक स्थल-पर देखा जा सकता है।

कहन। नहीं होगा कि हिन्दी आलोचनाका मूलाधार यही सिद्धान्त है। संस्कृत और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रके बीच समन्वय ही हिन्दीके श्रेष्ठ आलोचकोंका मुख्य लक्ष्य रहा है। रामचन्द्र शुक्ल यहाँ भी अकेले ठहरते है। वैसे समन्वयकी चेष्टा इयामसुन्दर दास और गुलाब रायमे लक्ष्य की जा सकती है, परन्तु इनका समन्वय संकलन हो गया है, क्योंकि इस पद्धतिकी सीमाएँ भी एकदम स्पष्ट हैं। दो विभिन्न अतिवादियोंके समन्वयके पीछे आलोचक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है, फलतः उसकी नीर-क्षीरकी दृष्टि नहीं रह जाती ! इसीलिए कभी-कभी राम-रावणका-सा सामंजस्य होता है, कभी ज्वलन्त समस्याएँ उपेक्षित रह जाती हैं और कभी कृत्रिम सीमाओंके बीच रचनाकी आत्मा दबी रह जाती है। इसलिए इस आलोचना-पद्धतिके लिए अत्यन्त मेधावी, गहन-गम्भीर, अधीत तथा मौलिक प्रतिमासम्पन्न व्यक्तिकी अपेक्षा है, जैसे टी॰ एस॰ ईलियट या रामचन्द्र शुक्ल। -रा० क० स० संयोजन (organisation) – किसी कला-कृतिके विभिन्न अंगींका इस प्रकार संघटित होना कि उसकी आम योजना मनपर व्यवस्था, सार्थकता और एकत्वका

संलक्ष्यक्रमध्वनि — अभिधामूला विविक्षतान्यपरवाच्यध्वनि-का दूसरा भेद, जिसमें वाच्यार्थं अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थकी पुष्टि करता है। इस ध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यंग्यार्थकी प्रतीतिके पूर्वापरका क्रम स्पष्ट रीतिसे लक्षित होता है, इसीसे इसे संलक्ष्यक्रमध्वनि कहते हैं। इसे 'अनुरणनध्वनि' भी कहते है। 'अनुरणन'का अभिपाय है

'पीछे होनेवाली गॅज'। जिस प्रकार घण्टेपर चोट करतेसे पहले कर्कश ध्वनि, पनः उसकी झनकार निकलनी है, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम गूँजमें परिणत हो जाती है, उसी प्रकार इस ध्वनिमें प्रथम टंकारके समान पहले वाच्यार्थका बोध होता है, पनः सक्ष्मनम गॅजके रूपवाला व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है। असंलक्ष्यध्वनिमे रस, भाव, रसाभास आदिकी व्यंजना होती है, किन्तु इस ध्वनिमे वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनिकी व्यंजनाएँ होती है। जिस प्रकार हारादि आभूषण मनुष्यके शरीरको अलंकत करते है, उसी प्रकार काव्यालंकार शब्द और अर्थको चमत्कृत करते है। उपमादि अलंकार कभी तो वाच्यरूपमे काव्यकी शोभावृद्धि करते है, कभी व्यंग्यरूपमें । व्यंग्यरूपमे उनका शब्द द्वारा म्पष्ट सथन नहीं होता है, केवल व्यंजना द्वारा उनकी स्थिति जानी जा सकती है। इस प्रकारकी व्यंजना व.भी तो किमी वस्त द्वारा होती है, कभी किसी अन्य अलंकार द्वारा । दोनों स्थितियोंकी अलंकार-व्यंजनाकी अलंकार-ध्वनि कहते हैं। ध्वनिरूपमे उपस्थित होनेके कारण अलंकार भी अलंकार्य (जिसे शोभित किया जाय) बन जाते है-नेवक सामान्यतः अपने स्वामीकी सेवा वरता है, अपने ब्याहके समय वह भी सेव्य वन जाता है। जहाँ अलंकार-रहित किसी वस्तुकी व्यंजना होती है, उसे वस्तु-ध्वनि दाहते है। 'वस्त'का अभिप्राय किसी वातके कथनमात्रने हैं। व्यंग्य-रूपमें कही हुई किसी बातमे अथवा व्यंजनाके आधारपर की गयी किसी अलंकार-योजनामें एक विलक्षण अर्थ-चमत्कृतिका होना अवस्यम्भावी है। यह अर्थ-चमत्कृति स्वरूपतः रसात्मकतासे बहुत भिन्न नहीं हो सकती-रसात्मकतासे उसका थोडा-बहुत राम्बन्ध रहता ही है। अभिनवग्रमकी तो यह स्थापना है कि वस्त तथा अलंकारकी ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा रस-ध्वनिमे ही परिणत हो जाती है-"रस एवं वस्ततः आत्मा, वस्त्वालंकारध्वनिस्त सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्यते' (संस्कृत पोएटिक्स, भाग २, पाद-टिप्पणी, पु० २११) ।

संलक्ष्यध्वनिके शब्दशक्ति, अर्थशक्ति तथा शब्दार्थ-उभयशक्तिसे उद्भृत होनेके कारण तीन प्रधान मेद होते हैं। पुनः शब्दशक्तिके ४, अर्थशक्तिके २६ तथा शब्दार्थ-शक्तिका १—और सब मिलकर ४१ मेद किये गये है (दे० 'ध्वनि-सिद्धान्त')। — उ० शं० शु० संद्याप—दे० 'क्थोपकथन'।

संद्यापक – तीन या चार अंकोंका उपरूपक है। इसमें शृंगार-करुण रसका अभाव, भारती और कैशिकों वृत्तियोंका प्राधान्य होता है तथा इसका नायक पापंडी होता है। इसमें नगरका घरा, विद्रव (भगदड़), संग्रामका वर्णन आदि किया जाता है। श्रेष सब बातोंमे नाटकसे समानता है। उदाहरण—'मायाकापालिक'। — वि० रा० संवृति—महायानवादी और माध्यमिक दो सत्यों के सिद्धान्त-को मानते हैं। उनके मतमे बुद्धने संवृति और परमार्थ इन दो सत्योंका उपदेश दिया है (माध्यमिक कारिका, २४।८-१०)। शून्यता ही परमार्थ सत्य है, संवृति व्यवहारका नामान्तर है। कभी-कभी अविद्याको भी संवृति कहा जाता है। सभी प्रतीत्यसमुरुपन्न पदार्थ संवृतिके अन्तर्गत आते

है। सभी लोगोको सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष होनेवाला संवृति सत्य, लोक संवृति कहा जाता है। केवल कतिपय उपहते-न्द्रिय लोगोंको होनेवाला दुष्ट (सदोष) प्रत्यक्ष अलोक संवृति कहा जाता है। सामान्यतः अनुपलब्ध और अवास्तविक अनुभव मिथ्या संवृति कहे जाते है। शेषको गणना तथ्य संवृतिके अन्तर्गत की जाती है। —क॰ शृ०

हिन्दी साहित्यमे सिद्धो (सरह)के साहित्यमे संवृत्तिका वार-वार उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका व्यवहारके अर्थमे प्रयोग हुआ है।

संवृत्तिवकता-दे॰ 'पदपूर्वार्धवकता' तीसरा प्रकार । संवेदना - साधारणतः संवेदना शब्दका प्रयोग सहानुभूतिके अर्थमे होने लगा है। मूलतः वेदना या संवेदनाका अर्थ ज्ञान या ज्ञानेन्द्रियोंका अनुभव है। मनोविज्ञानमे इसका यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। उसके अनुसार संवेदना उत्तेजनाके सम्बन्धमें देह-रचनाकी सर्वप्रथम सचेतन प्रतिक्रिया है, जिससे हमे वातावरणकी ज्ञानीपल्बिय होती है। उदाहरण—हरी वस्तु, हरे रंगको देखनेकी संवेदनाकी उत्तेजनामात्र है। उत्तेजनाका हमारे मनपर मस्तिष्क तथा नाडीतन्तुओ द्वारा प्रभाव पड़नेपर ही हमे उसकी संवेदना होती है। संवेदना हमारे मनकी चेतनाकी वह कदस्य अवस्था है, जिसमे हमें विश्वकी वस्तुविशेषका बोध न होकर उसदो गुणोंका बोध होता है। प्रौढ व्यक्तियोमे यह संवेदना प्रायः असम्भव हो जाती है। यचिष साधारणतः अंग्रेजीमें इसे 'सिम्पैथी' या 'फेलो फीलिग' कह सकते है, किन्त मनोविज्ञानमें 'सेरनेशन'के रूपमे ही इसका विशिष्ट प्रयोग होता है। यह हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। उदाहरणार्थ-मनोहारी संगीत सनते ही हम अपना आकर्षण नहीं रोक सकते। संवेदनाके लिए उत्तेजककी आवश्यकता है, जिससे सम्बन्धित गुण ही हममे संवेदना उत्पन्न करता है। इसे तीन वर्गों मे विभाजित किया गया है—१ विशिष्ट संगेदना, २ अन्तरावयव संवेदना, ३ स्नायविक संवेदना । इसमें विशिष्ट शानेन्द्रिय तथा बाहरी उत्तेजनाके द्वारा होनेवाली संवेदनाको विशिष्ट संवेदना अथवा 'इन्द्रियसवेदना' कहते हैं। इस संवेदनाकी विशेषता यह है कि यह विशेष अवयवसे सम्बन्ध रखती है और प्रत्येक ऐसी संवेदना दूसरी इन्द्रिय संवेदनासे पृथक् की जा मकती है। इसके कई भेद है, यथा- प्राण, रस, त्वचा, दृष्टि तथा श्रोतु-संवेदना। इन भेदोंमे भी मात्राभेद होता है। इन्ही संवेदनाओं के द्वारा हमें विश्वके विभिन्न पदार्थीका ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्राणीके शरीरकी आन्तरिक अवस्थाके कारण उत्पन्न होनेवाली पाचन-क्रिया, रक्त-संचार और श्वास-प्रश्वास आदिके अवयवोसे सम्बन्धित संवेदनाएँ अन्तरावयव संवेदना कहलाती है। यह प्रायः तीन भागीमें विभाजित की जा सकती है-१ जिसे हम शरीरके किसी भागमे निश्चित कर सके, जैसे आधात, जलन आदि; २. जिसे हम संशयात्मक रूपमें निश्चित कर सके, यह पेट आदि अवयव-विशेषकी साधारण क्रियासे उत्पन्न होती है: प्राणीकी सामान्यावस्थामें होनेवाली वे संवेदनाएँ, जिन्हे कही भी निश्चित न कर सकें, जैसे, भूख प्यास। स्नायविक संवेदनाएँ ग्रन्थि तथा पेची आदिके संचालनसे

—आ० प्र० दी० उत्पन्न होती है। संशयवाद-पाश्चात्य दर्शनमे संशयसे आधुनिक ज्ञान-मीमांसा आरम्म होती है (देकातें)। शब्दप्रामाण्य अथवा अन्धश्रद्धाके प्रति सन्देह विवेकवाद अथवा प्रश्नावाद (रैश-नैिलज्म)को ओर बढ़नेकी पहली सीढी है। सप्रश्न जिज्ञासु धीरे-धीरे वैज्ञानिक साधनोकी अपूर्णतातक पहुँचता है और उसे लगता है कि कुछ ज्ञात है, उससे अज्ञेय और भी बहुत-कुछ है। 'ईइवर है या नहीं' इस प्रश्नका उत्तर ऐसे ही 'शायद हो', 'शायद न हो'वाले 'स्याद्वादी (एग्नौस्टिक) ढंगमे दिया जाता है। साहित्यकी समीक्षामे इस प्रकार-के संशयवादसे बद्धमूल धारणाओ, पूर्वाग्रहों और 'बावा-वाक्यं प्रमाणम्'पर आघात पहुँचा । कला या साहित्यका एकमात्र उदेश्य नैतिक शिक्षा या उपदेश हो, इस मध्य-युगीन धारणाको संशयवादने बड़े धक्के दिये। परिणाम यह हुआ कि वाल्तेयर या बर्नार्ड शॉ जैसे साहित्यिकोको अपने समयमें बहुत जन-विरोध सहना पडा !

संशयवादी मनोवृत्ति जब एक स्वयं बद्धमूल मनोवृत्ति बन जाती है तो वह 'सिनिसिज्म' कहलाती है। ऐसे लोगोंमे सभी उच्चतम मूल्योंके प्रति एक प्रकारका तुच्छता-बोधक अनादरभाव जागता है। उन्हें 'सिनिक' कहते है। इससे उलटे 'स्केप्टिक' वह है, जो प्रश्न-भरी मनोवृत्तिवाला व्यक्ति है, जो सहजविश्वासी नहीं है। बीसवी शतीमे विज्ञानके आविष्कारोंने हमारी कई भोली (मिथ्या) धारणाओको खप्नोंकी तरह चकनाच्र कर दिया है। विशेषतः गत दो महायुद्धोंके बाद तो मनुष्यकी अनेक अद्धाएँ जड-मूलसे हिल चुकी है। इस मनोदशाको दर्शन तथा साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें 'स्केप्टिकल' या सन्देहवादी कहा जाता है। हमारे यहाँ नास्तिक-दर्शनोसे यह प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी, बादमे सन्तों और सुधारकोंने इस वृत्तिको प्रोत्साहन दिया, परन्तु मानवतामात्रमे अनास्था जाग गयी हो, ऐसी स्थिति नहीं पैदा हुई। उलटे रवीन्द्रनाथ, गान्धी या अरविनद-सभी अन्ततः श्रद्धावादी चिन्तक है और उनका प्रभाव भारतीय साहित्य और समीक्षापद्धति-पर अधिक है। – प्र० मा०

संइलेषण (synthesis) - दे॰ 'विइलेषण'। संसृष्टि-अलंकारशास्त्रमे एक प्रकारका सम्मिलित अलं-कार; एक छन्द अथवा वाक्यसमूहमे दो या दोसे अधिक शब्दालंकारों या अर्थालंकारोंका सम्मेलन जब 'तिल-तण्डुल-न्याय'से, अर्थात् परस्पर निरपेक्ष रूपसे होता है, उसे संसृष्टि कहते है। जिस प्रकार एक पात्रमे रखे हुए तिल और चावल साथ रहते हुए भी परस्पर पृथक रहते हैं, उसी प्रकार संसृष्टिमें एक पद्य या वाक्यसमृहमे अनेक अलंकारोंका सम्मेलन परस्पर असम्बद्ध अथवा निर्पेक्ष भावसे होता है। भामहके 'कान्यालंकार'से यह अलंकार मिलता है-"वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्ळंकारयोगतः"(३:४९), बहुत अलंकारोंके थोगसे विभूषित अलंकार। वामनने 'कान्यालंकारसूत्रवृत्ति'में भिन्न भाव न्यक्त किया है— "अलंकारस्यालंकारयोनित्वं संसृष्टिः" (४, ३: ३०), अर्थात् एक अलंकारका दूसरे अलंकारके साथ कार्यकारणभावसम्बन्ध । मम्मटने प्राचीनोंकी धारणाकी अपेक्षा रुव्यक्की विवेचना-

का अनुमोदन किया है—"तेष्ठा संस्रष्टिरेतासां भेदेन यदिह स्थितिः" (का० प्र० १०: १३९), पूर्वप्रतिपादित अलंकारोकी परस्पर निरपेक्षतामे भी एक अवस्थितिका चमत्कार। विश्वनाथने निरपेक्ष स्थितिपर हो बल दिया है। हिन्दीके आचार्योंमे इस अलंकारके प्रमुख विवेचक चिन्तामणि, सोमनाथ तथा भिखारीदास है। दासने भी शब्दभेदसे मम्मटके लक्षणका निरूपण किया है—"एक छन्दमे जह परे, अलंकार बहु दृष्टि। तिल तन्दुलसे है मिले, ताहि कहै संसुष्टि" (का० नि०: ३)।

संस्रष्टिके तीन भेद किये गये है-१. शब्दालंकार संसृष्टि, जिसमे दो या दोसे अधिक केवल शादालंकारोकी निरपेक्ष स्थिति हो; २. अर्थालंकार संसृष्टि, जिसमें केवल अर्थालंकारोंकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति हो; ३. उभया-लंकार संसृष्टि, शब्दालंकार और अर्थालंकारकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति। (क) शब्दालंकार संसृष्टिका उदा०-"कुण्डल जिय रक्षा करन, कवच करन जय बार। करन दान आहव करन, करन करन बलिहार" (अ० मं०, ६४१)। इसमें लाटानुपास, यमककी संसृष्टि है। (ख) देवका अर्थालंकार संसृष्टिया उदा०—"विद्रम और मधूक जपा गुललाला गुलाबकी आभा लजावति। देवजू कंज खिले टटके हटके भटके खटके गिरा गावति। पाँच धरे अलि ठौर जहाँ तेहि ओरतें रंगकी धार-सी आवति। मानो मजीठकी माट द्वरी इक ओरतें चॉदनी बोरति जावति"। यहाँ पूर्वार्द्धके दोनो पदोंमे विष्ट्रम आदि प्रसिद्ध उपमानोंका अपकर्ष वर्णित है, अतः प्रतीप अलंकार है। उत्तराईमें 'उक्त विषय' उत्प्रेक्षा है। स्पष्टतः दोनों अर्थालंकारोकी संस्रष्टि है। इसी प्रकार 'निराला'की पंक्ति है-"सखी नीरवताके कन्धेपर डाले बॉह, छॉह-सी अम्बर-पथसे चली"। इसमें रूपक और उपमा अर्थालंकारोंकी संसृष्टि है। (ग) उभयालंकार संस्रष्टिके उदाहरणरूप 'निराला'की पंक्तियाँ-"जीवन प्रात समीरण-सा लघुविचरण निरत करी, नरु तोरण तुण-तुणकी कविता, छवि मधु सुरभि भरो"। यहाँ पूर्वार्द्रमें उपमा, उत्तरार्थमें त, र, णकी आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास और 'छवि मधु'में रूपक अलंकारोकी परस्पर निरपेक्ष रूपसे स्थिति है। शब्दालकार और अर्थालंकारकी निरपेक्ष एकत्र स्थिति होनेसे, यहाँ उभयालंकार संसृष्टि है।

हिन्दी रीति-साहित्यमे इस अलंकारका कलात्मक प्रयोग हुआ है, पर आधुनिक कान्यमें भी मैथिलीशरण गुप्त, राम-चित उपाध्याय, 'प्रसाद', पन्त, महादेवी, 'निराला' आदिके कान्योंमें भी इसका कान्यात्मक प्रयोग मिलता है। ——वि० स्ना० संस्कृत (भाषा)—इस शब्दसे आर्थ परिवारकी हिन्दर्शनानी शाखाके भारतीय अंशके प्राचीन स्वरूपका नोध होता है। संस्कृत शब्दका अर्थ संस्कार की हुई, मॉजी हुई, परिष्कृत समझना चाहिये। इसका विषम अर्थनोधक शब्द प्राकृत है। प्राकृतसे सामान्य जनकी भाषाका और संस्कृतसे

परिष्कृत समझना चाहिये । इसका विषम अर्थवीधक शब्द प्राकृत हैं । प्राकृतसे सामान्य जनकी भाषाका और संस्कृतसे शिष्ट जनकी भाषाका बीध होता है । यह स्थिति भारतवर्षके इतिहासमें प्राचीन कालमे किसी समय रही होगी । संस्कृत-को देववाणी भी कहते है, जिसका अभिप्राय यह है कि यह देवोंकी भाषा है । इसीमे वेद मिस्रते हैं, जिनको भारतीय परम्पराकी दृष्टिते अपौरुनेय और चतुर्मुख बह्माके मुखोंसे प्रकृटित समझा जाता है। संस्कृतको आकृतिके आधारपर हिल्ह योगात्मक माना जाता है। इस भापाके अस्तित्वका मर्वप्रथम प्रमाण ऋग्वेद है। संस्कृत किसी समय भारतीय आयोंके शिष्ट समानको वोली थी। वर्तमान समयमे संस्कृत भाषाको मानुनापाके रूपमे बोल्जेवालोको संख्या कोई ५०० है। अनुमान यही है कि इस जनसमुदायने श्रद्धाके कारण संस्कृतको जनसंख्याको गणनाके अवसरपर मानुनापा लिखा दिया है। वस्तुतः इसकी भी मानुभापा वर्तमान भारतीय भाषाओं मेंसे कोई होगी।

संस्कृत भाषाके दो स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होते है। एक वैदिक अथवा छान्दस्य और दूसरा लौकिक। पाणिनिने 'अष्टाध्यायी'मे इस वैदिक अथवा छान्दस भाषाके विशिष्ट नियम दिये है, जिनसे लौकिक भाषाका भेद स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदकी ही भाषा वैदिक या छान्दस कहलाती है। इन सहिताओके उत्तर-कालके चन्थोकी भाषाको लौकिककी संज्ञा दी गयी है। पाणिनिके व्याकरण 'अष्टाध्यायी'के सम्मत पदोंको ही शुद्ध माना जाता है और यदि ऋषियो द्वारा निर्मित किसी अंथ-(रामायण, महाभारत आदि)मे अपाणिनीय प्रयोग मिलता है तो उसे अशुद्ध न कहकर 'आर्ष प्रयोग' माना जाता है। अन्यत्र अपाणिनीय प्रयोग अञ्जब ही समझे जाते है। संस्कृत भाषामें शब्दोमें कई व्यंजनोंकी स्थिति साथ-साथ रह सकती थी, किन्तु एकाधिक स्वर साथ-साथ नहीं रह सकते थे। यह स्थिति आगे चलकर प्राकृतों मे बिलकुल उलट गयी और उनमें दोसे अधिक न्यंजन एक साथ नही रह सकते थे, किन्तु एकाधिक स्वर साध-साध प्रयोगमें आते थे। पद-रचनाकी दृष्टिसे संस्कृत एक जटिल भाषाका स्वरूप रखती है। इसमें आठ विभक्तियाँ, ६ कारक, १० धातुगण, परस्मैपद और आत्मनेपद, तीन वचन, तीन वाच्य आदि यथेष्ट व्याकरणात्मक धाराएँ है। पाणिनिने अपने व्याकरणके द्वारा इस भाषाका एक परिनिष्ठित स्वरूप उपस्थित किया। वही सर्वसम्मत और ग्लाद्ध स्वरूप अभी-तक माना जाता है। --बा॰ रा॰ स॰ संस्कृत (साहित्य)-संस्कृत साहित्यके दो विभाग किये जाते है-वैदिक और लौकिक । वैदिकके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामकी संहिताएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् आते है। ऋग्वेद दस मण्डलोंमें विभाजित है और इसमे कुल १०२८ सूक्त हैं। स्क्तोंमें ऋचाएँ है, जो अनुष्टुम्, गायत्री आदि वैदिक छन्दों मे हैं। इन मन्त्रों में देवोकी प्रार्थना, उपासना और स्तुति सर्वत्र व्याप्त है। यजुर्वेदकी दो शाखाएँ है--शुक्ल-यजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद । जुक्लयजुर्वेदमे ४० अध्याय है, कृष्णयजुर्वेदकी चार शाखाएँ है । यजुर्वेदमें ऋग्नेदके बहुत-से मन्त्र है। इस वेदका अधिकांश पद्यमे है और थोडा-सा कही-कही गद्यमें । यजुर्वेदके मन्त्रोंका विनियोग सर्वथा यज्ञके लिए है। सामवेदके केवल ७५ मन्त्र अपने है और शेष सब ऋग्वेदसे उदधृत हैं। इस वेदमें मन्त्रोंका संग्रह गानकी दृष्टिसे किया गया है। अथर्षवेदकी दो शाखाएँ प्राप्त हैं — शौनक और पैप्पलाद।

शोनक अधिक प्रचिलत है। उसमें २१ काण्ड और दस स्क्त है। इस वेदका छठा भाग प्रायः गद्यमें है, शेष सभी पद्यमे। अथवंवेद विषयकी दृष्टिने शेप तीन वेदोने काफी भिन्न है। इसमें जादू, टोना, वशीकरण आदि विषयोके मन्त्र भी सम्मिलत है। साथ ही राष्ट्र-प्रेमके सक्त भी पाये जाते है। विद्वानोका मत है कि अथवंवेद एक भिन्न स्तरकी रचना है और काल तथा संस्कृतिकी दृष्टिने ऋग्वेदसे थथेष्ट दूर है। यह निविवाद है कि इन चारों वैदिक संहिताओंमे ऋग्वेद संहिता सबसे पुरानी है। ऋग्वेदमें भी प्रथम और दशम दो मण्डल बादके मालूम होते हैं।

ब्राह्मणप्रनथों में कर्मकाण्डके मुख्य प्रश्नोपर समाधान और विचार संकलित है। इन प्रन्थोंत ही किस यश्चमं किस मन्त्रका विनियोग है, इस बातका पता चलता है। इनमें जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी कथाएँ भी संगृहीत है, जो उछिखित विचारोंकी पोषक है। प्रत्येक वेदके ब्राह्मण अलग-अलग है। ऋग्वेदके दो ब्राह्मण हें 'ऐतरेय' और 'कीषीतकी'। ग्रुक्कयजुवेंदका 'शतपथ ब्राह्मण' है। आरण्यक भी प्रत्येक वेदके अलग-अलग है और इनमें ब्राह्मणप्रनथोंमें आये हुए विषयोंका विस्तार है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक इन तीन मार्गोंमे मुख्य रूपसे कर्मकाण्डका विषय है और उसकी दृष्टित इनको मन्त्रपरक, विधिपरक और अर्थवाद-परक कहते है। आर्थधर्मके कुछ सम्प्रदाय (यथा आर्यसमाज) केवल वैदिक संहिताओंको अपोरुषेय मानते है। शेष ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तीनों भागोंको पौरुपेय, समझते है।

उपनिषद् ग्रन्थ आरण्यकोंसे सम्बद्ध है, किन्तु विषयकी दृष्टिते ये उससे सर्वथा भिन्न है। इनमे कर्मकाण्डका लेशमात्र भी नहीं है। इनका विषय है ईश्वर और प्रकृति और उनका परस्पर सम्बन्ध । कर्मकाण्डके सम्यक् पालन से स्वर्गकी प्राप्ति होती है, किन्तु ईश्वर, जीव और प्रकृतिका ठीक-ठीक स्वरूप और सम्बन्ध जान लेनेसे मुक्ति मिलती है, जिसमें शाश्वत आनन्द है। इसी ज्ञानको ब्रह्मविद्या कहते है। उपनिषदोंमे-से कोई-कोई, यथा-(ईश', वैदिक संहिताओंके भाग है। सव मिलाकर १०८ उपनिषद् है। जिनमेसे 'ईश', 'कठ', 'केन', 'प्रश्न', 'श्वेताश्वर', 'मुण्डक', 'माण्डक्य', 'बृहदा-रण्यक', 'छान्दोग्य', 'ऐतरेय', 'तैत्तिरीय', 'मैत्रायण' और 'कौषीतकी' प्राचीन है, शेष अपेक्षाकृत अवीचीन है ।इनमें 'अङ्घोपनिषद्' भी है, जो स्पष्ट ही मुसलमानोंके समयमें भारतीय इतिहासके मध्यकालमे बना होगा। उपनिषदीके भाष्य विभिन्न सम्प्रदायोके अनुमार मिलते है और उनके तत्त्वोके विषयमे बहुत वाद-विवाद है, तथापि विषयकी ष्टिसे और मनुष्यकी आध्यात्मिक आकांक्षाके विचारसे इस साहित्यके समान उत्कृष्ट वाष्त्रय संसारमें अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रानीन कालमे अध्ययनका एक ही विषय था और वह था वेद । ब्राह्मणका मुख्य कर्तव्य था वेदाध्ययन । यह अध्ययन भी निष्कारण और निष्प्रयोजन करना होता था। वेदके साथ वेदांगोदा भी अध्ययन आवस्यक था। वेदांग ६ है— शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षामे वेदमे आयी हुई ध्वनियोंका विवेचन है। व्याकरणमें पर्दोका विवेचन है।

छन्दमें वैदिक मन्त्रोके पद-विभाजन आदिकी विवेचना है। निरुक्तमे वैदिक शब्दोंके अर्थीकी व्याख्या है। ज्योतिपमे काल-सम्बन्धी मीमांसा और करपमें कर्मकाण्डका विवरण मिलता है। इन वेदांगोंका बीज हमे ब्राह्मण-ग्रन्थोमे ही प्राप्त हो जाता है। शिक्षा और व्याकरणका प्रारम्भिक ज्ञान हमे प्रातिशाख्योसे मिळता है। प्रत्येक वेदके अलग-अलग प्रातिशाख्य है। व्याकरणका सबसे प्राचीन प्रन्थ पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी' है। पाणिनिने स्वयं अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणोका उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय (प्रायः चौथी शताब्दी ईसापूर्व)के पहले भारतमे ब्याकरणके अध्ययनकी विशेष परम्परा थी। निदानसूत्रोमे वैदिक छन्दोके नाम और लक्षण दिये हुए है। इसके अतिरिक्त पिंगलका 'छन्दःसूत्र' भी प्राचीन अन्थ है, पर उसमे बैदिक छन्दोका वर्णन नहीं है। प्रायः ई० प० ८००के आस-पास रचित 'निरुक्त' यास्क मुनिकी कृति है। यास्कने पूर्ववतीं बहुतसे नैरुक्तोंका उल्लेख किया है, किन्तु उनके ग्रन्थ नहीं मिलते है। यास्कके सामने निघण्ट (वैदिक शब्दकोश) था। इसीकी उन्होने व्याख्या की है। प्रत्येक यज्ञकी पूर्तिके लिए समयका ठीक ज्ञान आवश्यक था और समय सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य यहो और नक्षत्रोंकी गतिसे ही मालूम किया जा सकता है। जिस यन्थमे ये बातें संगृहीत हों, उसीको ज्योतिष कहेंगे। दुर्भाग्यसे ज्योतिषका कोई पुराना यन्थ प्राप्त नही हुआ है। कल्प, अर्थात् विधिका व्याख्यानात्मक वर्णन ब्राह्मण-अन्थोंमें मिलता है। इसी विषयको कल्प-सूत्रोंमे संग्रह किया गया है। कल्प-सूत्र चार भागोमें विभक्त है-श्रीत, गृह्य, धर्म और शुल्व। श्रीत सूत्रोंमे वैदिक यज्ञोंकी विधि है, गृह्यमे जातकर्म आदि संस्कार, धर्म-सूत्रोमें नीति, धर्म, रीति-रवाज और वर्णाश्रमोके कर्तव्य तथा शब्वमे यज्ञवेदीके निर्माणकी विधि दी हुई है।

वैदिक सहिताओं के निर्माणकां लियमें कई मत हैं। भारतीय परम्पराके अनुसार ये संहिताएँ अपौरुषेय है और प्रत्येक कल्पके प्रारम्भमें मानसी सृष्टिके उपरान्त प्रकट होती है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इनका समय विभिन्न विद्वानोंने २०० ई०पू०से लेकर १००० ई०पू०तक माना है और अपने-अपने मतके पोषणमें विविध तर्क दिये है। जिस संस्कृतिका रूप इनमे, विशेषकर ऋग्वेदसंहितामें मिलता है, वह ई०पू० १५००के लगभग अवस्य वर्तमान था। ब्राह्मणग्रन्थों, पुराने उपनिषदों और स्त्रग्रन्थोंका समय ई०पू० १०००से लेकर २०० ई०पू०तक माना जाता है।

वैदिक साहित्यके बाद ही इतिहासका महत्त्व है और संस्कृतमें 'महाभारत' तथा 'रामायण' ये दो अन्थ इस श्रेणीमें प्रसिद्ध है। भाषा और रौलीकी दृष्टिने 'महाभारत' 'रामायण'से पुराना है। यद्यपि 'रामायण'का विषय रामचिरत नेतायुगका है और 'महाभारत'का विषय कौरवपाण्डव-युद्ध द्वापरयुगका है। 'महाभारत'मे कई बार परिवर्धन दुआ और इसका अन्तिम रूप ई०पू० तीसरीचौथी शताब्दीमें निश्चित हो गया होगा। इसमें भी कई अंश प्रकृत है, जो सम्भव है कि ईसवी सन्के बाद जोड़े गये है। महाभारतमें १८ पर्व है और इन पर्वोंसे बहुत-

सं आख्यान भरे पड़े है। ज्ञान-विज्ञानकी दृष्टिसे यह ऐसा भण्डार है कि इसमें मनुष्यकी जिज्ञासाको तृप्त करने-के लिए प्रायः सारी सामग्री मिल जाती है। इसीलिए इसको पाँचवाँ वेद भी कहते है। इसी ग्रन्थका एक अंश 'भगवदगीता' है, जिसमें १८ अध्याय है। निश्चय ही यह १८ अध्यायोंकी गीता युद्ध-भूमिमें नहीं सुनायी जा सकी होगी। कृष्ण द्वारा अर्जुनको दिये गये उपदेशको सारभूत मानकर महाभारतकारकी यह रचना है। नले-पाख्यान, ज्ञुन्ने जिल्हा, सावित्रीकथा आदि सहस्रों विषय महाभारतमे मिलते है, जिनके आधारपर उत्तर-कालके लिल साहित्यकी रचना हुई।

'रामायण'को आदिकान्यको संज्ञा दी गयी है और ऋषि वाल्मीकि इसके रचियता है। भारतीय परम्पराके अनुसार वेदसे बाहर छन्दकी रचना सर्वप्रथम इन्होंने की। 'रामायण'में सात काण्ड है। कुछ पश्चिमी आलोचकोंकी इष्टिमे प्रथम, अर्थात् बालकाण्ड और अन्तिम, अर्थात् उत्तर-काण्ड बादके जोड़े हुए अंश है। 'रामायण' भी 'महाभारत'की तरह आख्यानयन्थ है और इसके आधार-पर उत्तरकालके लित साहित्यमें बहुतेरी रचनाएँ हुई हैं।

संस्कृतके लिलत साहित्यको कई वर्गोमें विभाजित करते है-महाकान्य, खण्डकान्य, नाट्यसाहित्य, गद्यकान्य, चम्पू, कथासाहित्य आदि।

महाकान्यका प्रारम्भ 'रामायण'से ही होता है। इसके नायक थीरोदात्त राम हैं और सातों काण्डोंमे बहुतसे सर्ग है। प्रकृति और मानवका विशद वर्णन है। उत्तम कान्य प्राप्त है। इसके उपरान्त अश्ववीषके दो महाकान्य 'बुद्धचिरत' और 'सौन्दरनन्द' आते हैं और तरपश्चात् काल्विदासके दो प्रन्थ 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश'। भारविका 'किरातार्जुनीय', माधका 'शिशुपालवध' और श्रीहर्षका 'नैषधीयचरित' इस श्रेणीके उत्तम प्रन्थ है। इनके अतिरिक्त बहुत-से महाकान्योंकी रचना हुई है। इन्हीं द्वर्थंक (यथा—राधवपाण्डवीय) कान्य भी आते है। संस्कृतके महाकान्योंके आदर्शपर प्राकृतमे भी महाकान्योंकी रचना हुई। इनमें प्रवरसेनका 'सेतुबन्ध' और वाक्यतिका 'गौड़बध' अधिक प्रसिद्ध है।

खण्डकान्यमें नायकके सम्पूर्ण चिरित्रका चित्रण नहीं होता। वह महाकान्यका विषय है। इसमे नायकके जीवन-से सम्बद्ध कोई अंश ही लिया जाता है। खण्डकान्योंमें सर्वप्रथम प्रन्थ कालिदासका 'मेषदूत' है, जिसमें शापप्रस्त एक यक्षने अलकास्थित अपनी प्रेयसी पत्नीके पास मेघ द्वारा सन्देश भेजा था। यह कालिदासकी अभृतपूर्व कल्पना है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्दमे उत्तम प्रकृति-वर्णन और मानवीय भावोंका चित्र है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें प्रायः सवा सौ पष्ट है, किन्तु इस संक्षिप्त रूपमें कालिदासने इतना कान्य-सौन्दर्य भर दिया है कि यदि उनकी अन्य कोई कृति न भी उपलब्ध होती तो भी उनकी गिनती संसारके श्रेष्ठ किवोंमें की जाती। 'मेषदूत'के ही आदर्शपर अन्य दूत-कान्य, यथा घोषी कविका 'पवनदूत' और वेदान्तदेशिकका 'इंससन्देश' आदि बने। दूतकान्योंके अतिरिक्त अन्य खण्ड-कान्य भी हैं। इनमें 'संशारितलक', 'घटकर्परकान्य',

'अमरुकशतक', 'मर्तृहरिशतक', 'योगिनीविलास', 'आर्था-सप्तशती', 'गीतगोविन्द' आदिकी गणना होती है।

भारतीय परम्पराके अनुसार नाट्यके प्रथम रचयिता भरत मुनि हैं, जिन्होंने जनसाधारणके उपकारार्थ नाट्य-वेद बनाया। इन्हींके नामसे प्रसिद्ध 'नाट्यशास्त्र' नामका ग्रन्थ प्राप्त है, जो भाषा और शैली आदिकी दृष्टिसे ईसवी तीसरी दाताब्दीके पूर्वका नहीं माना जाता। नाट्यके किसी-न-किसी रूपके सर्जनका प्रथम उल्लेख हमें पतंजिल-के 'महाभाष्य'मे मिलता है और उपलब्ध नाट्यसाहित्यमें अश्वघोषका 'शारद्वती पुत्र-प्रकरण' (सारिपुत्त-पकरण) और कालिदासकी कृतियाँ (अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र) सर्वप्रथम आती हैं। कालिदास न केवल भारतके सर्वश्रेष्ठ कवि है, बल्कि सर्वश्रेष्ठ नाट्यरचयिता भी हैं। इनके स्थितिकालके विषयमें मतभेद है, किन्तु भिषकांश विद्वान् उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय (चतुर्थ शताब्दी ईसवीके उत्तरार्थ और पंचमके पूर्वाई)के समयका मानते है। कालिदासने भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि नाट्य-कारोंका उल्लेख किया है, इनमेसे भासके 'खप्नवासवदत्ता'-का एक संस्करण 'स्वप्ननाटक'के नामसे गणपति शास्त्रीको प्राप्त हुआ था । इसके साथ 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', 'चारु-दत्त' आदि १२ अन्य नाट्यग्रन्थ भी मिले थे। शास्त्रीजी इन सबको भासकृत मानते थे। सम्भव है, इनमेंसे कुछ अपने मूल रूपमें भासकृत रहे हों। शैलीकी दृष्टिसे 'मृच्छकटिक' भी पुराना रूपक है और इसकी रचनाका समय कालिदासके कुछ ही बाद माना जाता है। श्रीहर्षका एक नाटक 'नागानन्द' और नाटिकाएँ 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' प्रसिद्ध है। ये श्रीहर्ष महाराज हर्षवर्धन ही है। इनके उपरान्त भवभूति आते हैं, जिनका स्थान नाटककारकी दृष्टिसे कालिदासके बाद आता है। इनके दो नाटक 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' तथा एक प्रकरण 'मालतीमाधव' उपलब्ध है। ये यशोवर्माके सम-कालीन थे। इनके अतिरिक्त भट्टनारायणका 'वेणीसंहार', 'विशाखदत्त'का 'मुद्राराक्षस', मुरारिका 'अनर्धराघव', जयदेवका 'प्रसन्नराधव' आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक है। नाटकोंके अतिरिक्त संस्कृतमे 'प्रवीधचन्द्रोदय' आदि रूप-कात्मक नाटक और 'धर्मशर्माभ्युदय' आदि छायानाटक भी है। 'हन्मन्नाटक' भी एक लोकप्रसिद्ध ग्रन्थ है, यद्यपि वह नाटक नहीं है। संस्कृतके आदर्शपर प्राकृतमे भी नाट्यसाहित्य नना ! इसमें सर्वप्रसिद्ध रचना राजशेखरकी 'कर्परमंजरी' है।

संस्कृतमें गद्यका सबसे प्राचीन आविर्माव हमें यजुवेंद-संहितामे मिलता है। इसके उपरान्त ब्राह्मण-प्रन्थों, आख्यानकों और उपनिषदोंमें सरल, सुबोध गद्यकी प्रचुर मात्रा है। आगे चलकर आचाथोंने गद्यकी विशेषताएँ ओज गुण और समासप्रचुर शैली बतायी। इस दृष्टिसे सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता', दण्डीका 'दशकुमारचरित' और बाण भट्टका 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' रीतिबद्ध ललित साहित्यकी उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें भी 'कादम्बरी'का मुख्य स्थान है।

गद्य और पद्यमिश्रित रीतिबद्ध रचनाकी चम्पू कहते

है। इस विशेष श्रेणीका सबसे प्राचोन प्रम्थ त्रिविक्रम भट्ट-रचित 'नलचम्पू' अथवा 'दमयन्तीकथा' है और इसका समय दसवीं शताब्दीका पूर्वार्ड है। इसीके आदर्शपर 'यशस्तिलक', 'रामायणचम्पू', 'भागवतचम्पू' आदि ग्रन्थ है।

संस्कृतका कथा-साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक संहिताओं मे जहाँ-तहाँ कथाएँ मिलती है । ब्राह्मण-ग्रन्थों और आरण्यकोंमे इनकी मात्रा और अधिक हो गयी। इस श्रेणीके साहित्यमे सबसे प्राचीन यन्थ 'बृहत्कथा' है। इसकी रचना पैशाची प्राकृतमे गुणाढ्यने की थी। इस अन्थका मूल रूप अप्राप्य है, किन्तु इसके दो संक्षिप्त संस्करण 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' प्राप्त है। 'बृहत्-कथामंजरी'के लेखक क्षेमेन्द्र और 'कथासरित्सागर'के लेखक सोमदेव ११वीं शताब्दी ईसवीमे हुए। इन दो प्रसिद्ध यन्थोंके अतिरिक्त 'बृहत्कथा'पर आधारित बुद्धस्वाभीका क्लोकसंग्रह है, जिसमें क्षेमेन्द्र और सोमदेवकी कथा सभेद है। इनके अतिरिक्त 'अवदानशतक' और आर्य सूरकृत 'जातकमाला', बौद्ध धर्मप्रचारक बोधिसत्त्वके चरितोके कथा-संग्रह, 'वेतालपंचविद्यतिका', 'सिंहासनद्वात्रिशतिका', 'शकसप्तति' और 'भोजप्रबन्ध' अन्य कथा-संग्रह है, जिनमे कल्पना और अतिमानवचरित मुख्य रूपते दृष्टिगोचर होते हैं।

भारतवर्षकी कथाओं में पशु, पक्षी, देव, मनुष्य, असुर—सभी ऐसी भाषा बोठते है, जिसे एक-दूसरे समझ सकते हैं। इसी दृष्टिने नीतिकथा-प्रन्थोकी रचना हुई है। इस श्रेणीका प्रतिनिधि प्रन्थ 'पंचतन्त्र' है, जिसमे पशु-पक्षियोंकी कथाओ द्वारा मनुष्यको शिक्षा दी गयी है। 'पंचतन्त्र'का अनुवाद फारसके बादशाह नौशेरवॉन पह्नुन्वी भाषामें कराया। इसका अनुवाद सीरियाकी भाषामें ५७० ई॰में हुआ। फिर इसका अनुवाद हिन्नू, छैटिन, जर्मन, इटालियन, प्रीक आदि संसारकी सभी प्रसिद्ध भाषाओमे हुआ। मूल 'पंचतन्त्र' अब अप्राप्य है। प्रचित्त 'पंचतन्त्र'से पहन्वी अनुवाद काफी भिन्न है। इसके अतिरिक्त 'तन्त्राख्यायिका' मिली है, जो 'पंचतन्त्र'के सीरियाई अनुवादसे अधिक मेल खाती है। 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र'का ही एक उत्तरकाठीन संस्करण है।

नीतिकथाके प्रचुर अन्थ जैन और बौद्ध साहित्यों में मिलते है। कथाओके द्वारा हर एक सम्प्रदायने अपने सिद्धान्तोंका प्रचार जनसमाजमे किया और इसके सूक्ष्म अध्ययनसे पता चलना है कि प्रत्येक सम्प्रदायने बहुधा एक ही कथाको अपने-अपने सम्प्रदायकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूप दे दिया।

आरम्भमे कान्य अलंकारपर आश्रित था और यदि वाक्यमें उपमा, अतिरायोक्ति आदि कोई अलंकार प्राप्त हो तो उसे ही कान्यकी सज्ञा दी जाती थी। धोरे-धोरे कान्य-रास्त्रपर प्रन्थ रचे गये। आरम्भमे उन्हे अलंकार रास्त्र कहते थे। कान्यके दो प्रमुख अग है—श्रन्थ और हर्य। ह्य कान्यका सबसे पुराना रास्त्र भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है। इसके उपरान्त धनंजयका 'दशरूपक' आता है। सम्पूर्ण कान्यके सिद्धान्तोका विवेचन हमे दण्डीके 'कान्यादर्श', वामनके 'कान्यालंकारस्त्र', आनन्दवर्धनके 'व्वन्यालोक',

मम्मटके 'कान्यप्रकाश', विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथके 'रमगंगाधर'मे मिञ्ता है। कान्यके सिद्धान्तों और रसानुभूतिके विषयमें जैसा विवेचन और विच्छेषण संस्कृतमे है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है।

संस्कृत वाड्मयभे इतिहासके अतिरिक्त पुराण नामसे १८ ग्रन्थ सिमिलित हैं। पुराणका लक्षण है—"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचिरतं चैव पुराणं पंचलक्षणम्"। इस लक्षणके अनुसार पुराणोंमे सृष्टिकी उत्पत्ति, उसका संहार, वंशावली, मन्वन्तरोका वर्णन और प्रसिद्ध राजवंश (सूर्यवंश और चन्द्रवंश)के राजाओका उल्लेख और उनके चरितका वर्णन पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उनमें अनेक कथाएँ, भारतवर्षके मौर्य, शुंग आदि राजवंशोंका वर्णन आदि बहुत-सी सामग्री मिलती है। कई पुराणोंमें ज्योतिष, शरीरिविज्ञान, अलंकारशास्त्र, व्याकरण आदि विषय भी पाये जाते है। इनकी शैली वर्णनात्मक है, किन्तु 'भागवत' आदि कुछ पुराणोंमे यत्र-तत्र उत्तम काञ्यकी शैली भी मिलती है।

इन पुराणोकी रचना भिन्न-भिन्न समयमे हुई होगी। इनकी कुछ मामयी काफी पुरानी है। पुराणोंका निर्माण-काल ईसवी सन् दूसरी-तीसरी शताब्दीने लेकर आठवींनवीं शताब्दीतक समझा जाता है। पुराणोंके कर्ता व्यास माने जाते हैं। सम्भव है, इनकी देख-रेखमे प्राचीन पुराणोंका संकलन हुआ हो और बादके पुराण भी इन्हींके नाम पे प्रवलित हो गये हीं। १८ पुराणोंके अतिरिक्त १८ उपगुगण भी हैं। इनके भी कर्ता व्यास ही माने जाते है। पुराण-साहित्यका महत्त्व उसकी सामग्रीके कारण है, जिसका उपयोग भारतवर्षके इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, सम्यता और संस्कृति आदिके अध्ययनके लिए किया जा सकता है, किन्तु इसकी सामग्री ऐसे रूपमें है, जिससे भ्रम हो जानेकी अधिक सम्भावना है।

दर्शनके मूल तत्वोंका बीज हमें बैदिक संहिताओं में ही मिल जाता है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्यमें इसका विशेष स्थान है। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त, ये ६ दर्शन आस्तिक-दर्शन माने जाते है। इनके स्त्रयन्थ उपलब्ध हैं और इनके भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ प्रचुर मात्रामे वर्तमान है। इनके अतिरिक्त संस्कृतमे जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शनपर भी यथेष्ट ग्रन्थ है। भारतमें चार्वाक-दर्शन प्रसिद्ध रहा है। बहुत-कुछ इन्हीं दर्शनोंके अनुसार भारतमें भिन्न-भिन्न धर्मों और सम्प्रदायो-का अस्तित्व है।

जपर वैदिक यन्थोंके धर्मसूत्रोंका उछेख हो चुका है। धर्मसूत्रोंके अतिरिक्त स्मृतियाँ है। इनमें सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। अनुमान है कि यह किसी धर्मसूत्र-(मानवधर्मसूत्र)का बृहत् संस्करण है। इसका निर्माणकाल ईसाकी दूसरी-तीसरी शताब्दी समझा जाना है। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्यस्मृति', 'नारदस्मृति' और 'पाराशर-स्मृति' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वेदों और वेदांगोके अनिरिक्त चार उपवेद है। इनके नाम हैं आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद। आयुर्वेदके सबसे पुराने ग्रन्थ 'चरकसंहिता' और 'सुश्रत-

संहिता' हैं । 'मुश्रुतसंहिता'मं चल्यिकित्साका विशेष महत्त्व है । आयुर्वेदका अध्ययन भारतवर्षमे बहुत पुराना है और 'चरकसंहिता'का समय ईसापूर्व दूसरी शताब्दी समझा जाता है । गान्धदंवेदका बीज सामवेदमें ही है । भरतके 'नाट्यशास्त्र'में इसका विशेष विवरण मिलता है । धनुर्वेदका कोई पुराना प्रन्थ नहीं मिलता । अर्थवेदपर सबसे प्राचीन प्रन्थ कौटिल्यका 'अर्थशास्त्र' है । विश्वास है कि कौटिल्य और चाणक्य एक ही व्यक्तिके नाम है । अर्थशास्त्रमें राज्यप्रवन्ध, राजनीति, समाजका आर्थिक संघटन आदि सभी विषय सम्मलित है ।

वैदिक शब्दोका कोश निघण्ड था और उसकी व्याख्या निरुक्त । इसी परम्परामें लौकिक भाषाके भी कोश वने । प्राप्त कोशयन्थोंने सबसे प्राचीन अमर सिहका 'अमरकोश' है । इसका निर्माण-काल ईसवी सन्की चौथी-पॉचवीं शताब्दी समझा जाता है । इसके उपरान्त और बहुत-से कोश बने ।

संस्कृत वाड्ययपर एक विहंगम दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि इसमें मानव-जातिसे सम्बद्ध प्रत्येक विषयकी सामग्री है। यह वाड्यय अत्यन्त समृद्ध और उपादेय है। वर्तमान भारतके साहित्यका स्रोत सर्वथा संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है। मनुष्यको उन्नत करनेके लिए जो सामग्री संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आध्यात्मिक दृष्टिसे संस्कृतका साहित्य ससारकी सभी भाषाओं में सर्वोच्च है।

[सहायक अन्थ-संस्कृत साहित्यका इतिहास : बलदेव संस्कृति – संस्कृति जन्द सम् उपसर्गके साथ संस्कृतकी (ड्र) कु (ञ्) धातुसे बनता है, जिसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। आजकी हिन्दीमे यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर'का पर्याय माना जाता है संस्कृति शब्दका प्रयोग कम-से-कम दो अथॉमे होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण अर्थमे । न्यापक अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग नर-विज्ञानमे किया जाता है। उक्त विज्ञानके अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार अथवा उस व्यवहारका नाम है, जो सामाजिक परम्परासे प्राप्त होता है। इस अर्थमें संस्कृतिको 'सामाजिक प्रथा' (कस्टम)का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थमें संस्कृति एक वांछनीय वस्त मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक इलाध्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थमें संस्कृति प्रायः उन गुणोंका समदाय समझी जाती है, जो व्यक्तित्वको परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं । नर-विज्ञानियोंके अनुसार 'संस्कृति' और 'सभ्यता' शब्द पर्यायवाची है।

हमारी समझमें संस्कृति और सभ्यतामें अन्तर किया जाना चाहिये। सभ्यतासे तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादनके साथनों एवं सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओंसे समझना चाहिये, जिनके द्वारा मनुष्यकी जीवन-यात्रा सरल एवं स्वतन्त्रताका मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत संस्कृतिका अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जनकी वे कियाएँ समझनी चाहिये, जो मानव व्यक्तित्व और जीवनके लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनानेवाली हैं।

इस दृष्टिसे हम विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदिमें होनेवाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओ एवं परहित-माधन आदि नैतिक आदशीं तथा न्यापारोंको संस्कृतिकी संज्ञा देंगे। मोक्षधर्म अथवा पर्णत्वकी खोज भी संस्कृतिका अंग मानी जायगी । थोडे शब्दोंमें और व्यापक अर्थमे किसी देशकी संस्कृतिसे हम मानव-जीवन तथा व्यक्तित्वके उन रूपोको समझ सकते है। जिन्हे देश-विशेषमे महत्त्वपर्ण. अर्थात मृत्योंका अधिष्ठान समझा जाता है। उदाहरणके लिए, भारतीय संस्कृतिमे 'मातृत्व' और 'स्थितप्रज्ञता'की स्थितियोको महत्त्वपूर्ण समझा जाता है: ये स्थितियाँ जीवन अथवा व्यक्तित्वकी स्थितियाँ है और इस प्रकार भारतीय संस्कृतिका अंग है। —-हे० संस्कृति, पाश्चात्य-पाश्चात्य संस्कृतिकी चर्चा प्रायः उसे एशियाई अथवा भारतीय संस्कृतिसे पृथक करनेके प्रसंगमे आती है। पाश्चात्य संस्कृति मुख्यतः प्राचीन यूनान एवं आधनिक यरोप तथा अमेरिकाकी संस्कृति है। मध्ययगीन यरोपकी संस्कृति भारतीय मध्ययुगकी भाँति धर्म तथा परलोकप्रधान थी। प्राचीन युनानी वैदिक, आर्योंकी भॉति उतने परलोक-परायण नहीं थे। प्राचीन युनानसे लेकर अवतक यदि हम यरोपीय दर्शनकी तुलना भारतीय दर्शन-से करे तो एक बड़ा अन्तर दिखाई देता है। भारतीय दर्शनमे मख्यतः अपनी आत्माके ज्ञानपर जोर दिया गया है, वेदान्तका ब्रह्म भी आत्मा ही है। भारतीय चिन्तामें मोक्ष नामक तत्त्वका भी बहुत महत्त्व है। मोक्ष आत्माका चरम गन्तव्य है। इसके विपरीत यूरोपीय दर्शनमे बाह्य, अर्थात् भौतिक जगत्की व्याख्या तथा ज्ञानपर अधिक बल दिया गया है। दसरे शब्दोमे कहा जाता है कि भारत तथा अन्य एशियाई देशोकी अपेक्षा यूरोपकी अभिरुचि विज्ञानकी और अधिक रही है। इस तथ्यका एक महत्त्वपर्ण निदर्शन यह भी है कि यूरोपके अधिकांश बड़े दार्शनिक गणितशास्त्रके पण्डित और उनमेंसे कुछ वैज्ञानिक भी थे, जैसे अफलातून (प्लेटो), डेकार्ट, लाइबनीज, काण्ट, रसेल, ह्नाइटहेड आदि । यह लक्ष्य करनेकी बात है कि भारतवर्ष और सम्भवतः चीनका भी, कोई दार्शनिक गणित-शास्त्री अथवा प्राणिशास्त्रका ज्ञाता नही था।

पाश्चात्य दार्शनिकोने राजनीनि, आचारशास्त्र आदिके सम्बन्धमें भी व्यवस्थित चिन्तन किया है, जब कि भारतीय दार्शनिक प्रायः इन जीजोके प्रति उदासीन रहे है। सम्भवतः इसी कारण यूरोपमे अनेक शासन-व्यवस्थाओंका जन्म एवं विकास हुआ, वहाँ अनेक राज्य-क्रान्तियाँ भी हुईं। निष्कर्ष यह कि यूरोपीय विचारकोंकी, हमारे भारत-वर्षकी तुळनामें, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थामें अधिक अभिरुचि रही है। वहाँके अध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी विचारक प्रायः विश्वको परब्रह्मकी अभिव्यक्ति कहते रहे है, मायिक नही। भारतकी अपेक्षा यूरोपके निवासियोंमे राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रताकी आकांक्षा अधिक बळवती रही है। आधुनिक यूरोप तथा अमेरिकाकी वैद्यानिक मनोवृत्ति उनकी संस्कृतिकी स्थायो विशेषता बन गयी है। इस मनोवृत्तिके कारण पश्चिमके देश सहज ही समृद्धि-शाली और शक्तिमान् बन सके हैं।

कतिपय यरोपीय पण्डितोंके अनुसार राज्यके कानुनके प्रति आदर-भावना यरोपीय संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। काननकी रक्षाके लिए शक्तिका प्रयोग उक्त संस्कृतिमें वैध और आवश्यक समझा जाता है। इसलिए इस दृष्टिमे (नार्थापके अनुसार) यूरोपीय मनोवृत्ति भारतके प्राचीन आयोंका मनोवृत्तिके निकट और विश्वाद एशियाई शान्तिवाद एवं अहिसावादसे भिन्न है। संस्कृति, भारतीय-भारतीय संस्कृतिकी परिभाषा देना अथवा थोड़े शब्दोंमें उसका वर्णन करना नितान्त कठिन है। कारण यह है कि भारतके लम्बे इतिहासमे उसकी संस्कृतिपर अनेक प्रभाव पडते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप उसका रूप न्यनाधिक परिवर्तित होता रहा है। भारतवर्ष अनेक जातियो, धर्मी तथा (नर-विज्ञानके अर्थमे) 'संस्कृतियों'-का संगमस्थल बनता रहा है। स्वयं हिन्द्-धर्मके प्राचीन वैदिक रूप, कालिदासके समयके 'क्लासिकल' रूप तथा बादके पौराणिक रूपमे काफी अन्तर है। इसके अतिरिक्त इस देशमे समय-समयपर, विभिन्न प्रदेशोमे बौद्ध, इसलाम, ईमाई धर्म आदिका प्रभाव भी पड़ता रहा है। यही बात भारतीय शासन-व्यवस्था, सामाजिक संगठन, दर्शन, साहित्य, कला आदिपर भी लाग है।

इस सबके बावजूद भारतीय संस्कृतिकी कुछ विशेषताएँ है, जो उसे दृसरे देशोकी संस्कृतियोंसे जुदा करती हैं। भारतीय संस्कृतिकी एक विशेषता है, उसकी समन्वयभावना। भारतवर्ष अनेक देवी-देवताओका देश रहा है, जहाँ धार्मिक पूजा एवं उप'सनाके अनेक रूप साथ-साथ प्रचलित रहे है। स्वयं हिन्दू धर्मके अन्तर्गत अनेक दार्शनिक सिद्धान्त, अनेक उपास्य देवता एवं मोक्ष या निर्वाण-प्राप्तिके लिए अनेक मार्ग (जैसे ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग) स्वीकृत किये गये है। सामान्यतः हिन्दू मित्तिक इन विविध सिद्धान्तों तथा मार्गोंके प्रति सहिष्णु रहा है। यह सहिष्णुता एवं समन्वय-भावना हिन्दू संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृतिकी एक प्रमुख विशेषना है। कहा गया है कि जिस प्रकार समस्त नदी-नदोंका जल समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार विभिन्न मार्गोंसे चलते हुए मन्द्रव्य एक ही गन्तव्यकी ओर अग्रसर होते है।

भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता उसके दर्शनों के इस मन्तव्यमे प्रतिफालित है कि जीवनका लक्ष्य (मीक्ष या निर्वाण) इस व्यावहारिक जीवन और जगत्का अतिक्रमण करनेवाली स्थिति है। इस जीवन और जगत्के मृत्य चरम नहीं है। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति यह मानती है कि अच्छे-बुरे कमोंका फल अवस्य मिलता है और इस जीवनमे समुचित प्रयत्न करके हम परम पुरुषार्थ, अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर सकते है। भारतीय आश्रम व्यवस्था इस बातपर जोर देतो है कि जीवन-यात्राके मध्यविन्दुतक पहुँचकर मनुष्यको सांसारिक भोगैश्वयोंके प्रति उदासीन हो जाना चाहिये। यही शिक्षा कर्मयोग अथवा निष्काम-कर्मके सिद्धान्तमे भी निहित है। संक्षेपमे यह अनासक्तिकी शिक्षा भारतीय धर्म और संस्कृतिका आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग है। उक्त अर्थमें अनासक्त रहते हुए मनुष्य संसारमे रहे और जीवनके वर्णाश्रमानुमाशी कर्तव्योंका

पालन करे, यह हिन्दूधर्म और संस्कृतिकी न्यापक शिक्षा है। विशुद्ध रूपमे भारतीय अन्य सम्प्रदायों तथा धर्मीकी शिक्षा भी इसके अनुकूल ही है। हिन्द तथा भारतीय संस्कृतिका सबसे उदात्त रूप संस्कृत महाकाव्यों तथा बौद्ध धर्मकी शिक्षाओं में प्रतिकलित हुआ है। संस्कृति, यूनानी -यूनानी संस्कृति यूरोपकी प्रथम महत्त्व-पूर्ण संस्कृति है, जिसने आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिको प्रेरणा दी है। यूनानी लोग बहुदेववादी थे, किन्तु वे किसी अपौरुपेय प्रनथके विश्वासी न थे। उनकी मनोवृत्तिमे धार्मिककी अपेक्षा वैज्ञानिक तत्त्व प्रधान थे। यूनानियोंने गणिन, विशेषतः ज्यामिनिके क्षेत्रमें विशेष उन्नति की। अधिकांश यूनानी विचारक बुद्धिवादी थे। प्लेटो(अफलातून)-के अनुमार चरम तत्त्व बुद्धिगम्य है। उसके तथा अगस्तूके मतमें बौद्धिक चिन्तनका जीवन आदर्श जीवन है। यों अरस्तूकी यह भी मान्यता है कि धर्मका मार्ग अतियोंको बचाकर चलनेवाला मध्यमार्ग है।

यूनानी मौन्दर्यशास्त्र अनुपात तथा सीमाभाव (लिमिट)-पर गौरव देता है। अनन्त या भूमाकी धारणा यूनानियोंको प्रिय नहीं है।

यूनानी साहित्यमें महाकाव्य एवं नाटकोंका विशेष विकास हुआ। यूनानी साहित्यशास्त्रमे कविता नाटक तथा वक्तृत्व-कलापर विशद चिन्तन हुआ है। यूनानी नाटकमें तीन एकताओके निर्वाहपर बल दिया गया है। संस्मरण-व्यापक रूपमे संसरण आत्मचरितके अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु इन दोनोके दृष्टिकोणमें मौलिक अन्तर है। आत्म चरितके लेखकका मुख्य उद्देश अपनी जीवन-कथाका वर्णन करना रहता है। उसमे कथाका प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है और अन्य इतिहासकी घटनाओं और परिस्थितियोका केवल वही रूप उसमें आता है, जो उसके जीवन-क्रमको प्रभावित, संचालित या नियन्त्रित करता है अथवा जो उससे प्रभावित होता है। इसके विपरीत संसारणका दृष्टिकोण अलग है। इसमें लेखक अपने समयके इतिहासको लिखना चाहता है। परन्तु इतिहासकारके वस्तुपरक रूपसे वह बिलकुल अलग है। संसारण-लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसीका वर्णन करना है। उसके वर्णनमें उसकी अपनी अनुभृतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टिसे शैलीमें वह निवन्धकार-के समीप है। वह वास्तवमें अपने चतुर्दिकके जीवनका सर्जन करता है, सम्पूर्ण भावना और जीवनके साथ। इतिहासकारके समान वह विवरण प्रस्तुत करनेवाला नहीं है। पश्चिमके साहित्यमें साहित्यकारोंके साथ-साथ बढ़े-बढ़े राजनीतिक नेताओं, सेनापतियों आदिने संस्मरण लिखे हैं, जिनका साहित्यिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। संस्मरण-लेखक यदि अपने सम्बन्धमें लिखे तो उसकी रचना आत्मकलाके निकट होगी, यदि अन्य व्यक्तियोके विषयमें लिखे तो जीवनीके निकट । इन दो प्रकारके संस्मरणोंको अंग्रेजीमे क्रमशः 'रेमिनिसेंसेज' और 'मेम्वायर्स' कहते हैं। इस दृष्टिसे स्मृतिके आधारपर किसी विषय या व्यक्तिके सम्बन्धमें लिखित लेख या ग्रन्थको संस्मरण सह सकते हैं। यात्रासाहित्य (दे०) भी एक प्रकारसे संस्मरण-साहित्य ही हैं।

हिन्दीमें इस साहित्यरूपका प्रचलन आधुनिक कालमें पश्चिमी प्रभाव और उसके वातावरणमें हुआ है। परन्त संस्मरण-लेखनके क्षेत्रमें भौड तथा सफल रचनाएँ मिलती है। हिन्दीके प्रारम्भिक संस्मरण-लेखकोंमे पद्मसिंह शर्मा प्रमुख है। बनारसीदास चतुर्वेदीकी 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' कृतियों में उनके जीवनके विविध संस्मरण आकर्षक शैलीमे प्रस्तृत किये गये है। इनके बाद हिन्दीके कई प्रसिद्ध लेखकोंने संस्मरण लिखे है। महादेवीके 'अतीतके चलचित्र' तथा 'स्मृतिकी रेखाएँ' और रामवृक्ष वेनीपुरीकी भाटीकी मूरतें में जीवनमें आनेवाले विभिन्न साधारण पात्रोका कोमल तथा सजीव चित्रण है। देवेन्द्र सत्यार्थीने लोकगीतोके संग्रहकार्यके लिए विभिन्न क्षेत्रोमें यात्रा की है और वहाँ के संस्मरणोको भावुक दौलीमें अंकित किया है— 'क्या गोरी, क्या सॉवरी' 'रेखाएँ बोल उठी'। भदन्त आनन्द कौसल्यायनने अपने यात्रा-जीवनकी विविध घटनाओं और परिस्थितियोंको उनके पात्रोंके साथ अपने संस्मरणोमे स्थान दिया है- 'जो न भूल सका', 'जो लिखना पड़ा'। शान्तिप्रिय द्विवेदीके 'पदचिद्व' तथा 'परिवाजककी प्रजा' संस्मरणात्मक दौलीमें लिखे गये हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरके 'भूले हुए चेहरे'में स्मृतिमें आये हुए अतीतके विभिन्न पात्रोंके संस्मरण भावानुभूतिके साथ अंकित है। वस्तुतः संस्मरण-साहित्यका बहुत अंश अभीतक पत्र-पत्रिकाओंमें विखरा पड़ा है।

कभी-कभी संस्मरणको निबन्धकी एक प्रवृत्ति माना जाता है। ऐसी रचनाओंको संस्मरणात्मक निवन्ध कहा जा सकता है। 'मेरी असफलताएँ' गुलाब रायके संस्मरणा-त्मक निबन्धोंका संग्रह है। —र०, अ० कु० संसा-संसा मूलतः मंस्कृतके संशयका ध्वनि परिवर्तित रूप है। सन्देह, भ्रम, द्विधापूर्ण ज्ञानके अर्थमें सन्तोने इस शब्दका बहुशः प्रयोग किया है, किन्तु श्वाससे बननेवाले सॉस, संसा आदि शब्दका अर्थ भी सन्तोंने इसते निकाला है। इन दोनों अर्थों मे इस शब्दका प्रयोग अलग-अलग स्थानोंपर तथा एक साथ ही दोनों अर्थ दे सकनेवाले एक ही स्थानपर भी हुआ है। संज्ञय या अमपूर्ण ज्ञानके अर्थमें दाद्का एक प्रयोग है—''दादू संसा आरसी देखत दूजा होइ। भरम गया दुविध्या मिटी तब दूसर नही कोइ'' (दादूकी अनभे बाणी, पृ० ४२१: ८) । सन्देहके अर्थमें कबीर कहते है- "जरत जरत जल पाइया सुखसागरका मूल। गुर परसादि कबीर कहि भागी संसै सुल"।। (क॰ ग्रं॰ ति॰, रमैनी १८)। या "पंजरि प्रेम प्रकासिया जागी जोति अनन्त । संसै खूटा सुख भया, मिला पियारा कन्त" (वही, पृ० १६७, ७ और भी दे०-वही, पद १०, १६, ९७, ११३; रमैनी, पृ० १२८, ८; १८०, ११; २३९, ३ आदि)। सन्देह और श्वास दोनोंका अर्थ एक साथ देनेवाले प्रयोग भी कबीरमे कई मिल जाते हैं। उदाहरणके लिए उनका एक पद है—''अैसा ज्ञान विचारि लै लाइलै ध्यांनां। सन्नि मंडल में घर किया जैसे रहै सिचांना ॥ उलटि पवन कहां रखिए कोई मरम विचारै। साधै तीर पतारूकों फिर गगनहिं मारै ॥ 🗙 🗴

×××सतगुरु मिलै त पाइऔं औसी अकथ कहानी। कहै कवीर संसा गया मिला सारंग पांनी" (क॰ ग्रं॰, ति॰, पद ११७)। स्पष्ट है कि ऊपर पवनके उलटने, अर्थात वहि-मुंखसे अन्तर्मुख करनेके जिस प्रसंगमे संसा शब्दका यहाँ व्यवहार किया गया है, उसमें संसा गयाका एक अर्थ जहाँ 'सन्देह मिट गया' है, वही 'श्वास कुंभक प्राणायाम द्वारा अवरुद्ध हो गया' जैसा अर्थ भी अवस्य ही कबीरको अभिप्रेत था। यह कबीरकी बडी ही स्पष्ट वृत्ति है। इसी प्रकारके दृहरे अर्थका संकेत देनेवाली उनकी एक साखी है-"संसै खाया सकल जग संसा किनहुँ न खद्ध। जे वेधे गुरु अक्खरां ते संसा चुनि चुनि खद्द" (वही, पू० १३६ : ७), अर्थात् "सन्देहने सारे संसारको खा लिया पर किसीने सन्देहको नही खाया, लेकिन जो गुरुके शब्द बाणसे विद्ध हैं, वे संसारके सारे भ्रम, सन्देहको खा जाते हैं। या 'सॉसोने सारे संसारको खा लिया, पर कुम्भक साधकर कोई साँसको खा नहीं सका। जो गुरुके शब्दबाणसे विद्ध है, वह चुन-चुनकर सासोको खा लेता है।' वैसे ऊपर-ऊपरसे यह दूसरा अर्थ जबरदस्ती थोपा हुआ लग सकता है, पर जो कबीरकी प्रकृतिसे परिचित है उन्हें इसका औचित्य अवस्य स्वीकार्य होगा । संसाका मात्र श्वास अर्थमे कबीरने बहुत बार प्रयोग किया है। उनका एक पद है-"जीवन-की आसा नहीं जम निहारै सांसा। बाजीगरी संसार कबीरा चेति ढारि पासा" (वही, पद ६०)। सकास भक्ति-दे० 'निष्काम भक्ति'।

सस्वी-दे० 'गोपी'। सखी (नायिका) - शंगार रसके उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत सखी आती है। भरतने सखीको दूतीके अन्नर्गत एक भेदके रूपमे स्वीकार किया है। यद्यपि रुद्रभट्टके 'शृंगारितलक'मे सखियोंका विभाजन है, पर उसके अन्तर्गत कर्मकी दृष्टिसे दूनीभाव प्रधान है। परन्तु अधिकांश संस्कृत आचार्यो (भरत, धनंजय, शारदातनय, वाग्भट, विश्वनाथने) दूती अथवा नायिकासहायाके रूपमे विभाजन किया है और उसके अन्तर्गत सखी भी आयी है। परन्तु भानुदत्त-ने सखी और दृतीका विभेद स्पष्टतः स्वीकार किया है-"विश्वासविश्रामकारिणी पाइर्वचारिणी सखी" (र० मं०, पु० १५६), अर्थात् जो नायिकाके साथ सहचरी रूपमे रहे और उसकी विश्वास तथा विश्वाम प्रदान करे, उसे सखी कहा है। हिन्दीमें प्रायः कवियोने ऐसा ही किया है। मतिरामके अनुसार सखीकी ऐसी ही परिभाषा है—"जा तियसो नहिं नायिका कछ छिपावे बात । तासौ बरनत कह सखी कवि मति अति अवदात" (र० रा०: पृ० २८८)। अधिकांश हिन्दीलेखकोंने इसका विभाजन नहीं किया है, जैसे कृपाराम, रहीम, सुन्दर, मतिराम, देव, पद्माकर, बेनीप्रवीन, नन्दराम, लिखराम, प्रतापनारायण, बिहारीलाल भट्ट ।

परन्तु 'जिन्होने विभाजन किया है, उनकी संख्या भी कम नही है— केशन, तोष, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, भानु, 'हरिऔध' तथा गुलाब राय। केशनकी तेरह सिखयोंकी सूनी है—"धाइ जनी नाइन नटी, प्रगट परोसिन नारि। मालिन वरइन सिल्पिनी, चुरिहेरिनी सुनारि। रामजनी

संन्यासिनी, पटु पटुवीकी बाल । केसव नायक-नायिका, सखी करिंह सब काल" (र० प्रि०, १२: १-२)। यह स्ची अपनी प्रकृतिमें भरतकी इस स्चीसे भिन्न नहीं है— प्रतिवेश्या (पडोसिन), सखी, दासी, कुमारी, दारुशिविका, धात्री, पाखण्डिनी, ईक्षणिका, बाधनी, तिंगिनी तथा रंगोप-जीवना । संस्कृतके कई लेखकोंका विभाजन भरतपर आधारित है, जैसे रुद्रभट्टके मेद—कारु, दासी, नदी, धात्री, प्रतिवेश्या, शिल्पनी, बाला तथा प्रविजता।

तोषके अनुसार सखीके चार भेड़ हैं। हितकारिणी-जो सदा नायिकाका हित अपने ध्यानमे रखती है। अन्तर्वर्तिनी जो नायिकाकी पूर्ण विश्वासपात्री होती है और उसके हृदयके रहस्यसे परि चन होती है । विदरधा-चतुर सखी, जो अपने वचनचातुर्यसे नायिकाका कार्य सम्पाइन करती है। सहचरी - जो सदा नायिकाके साथ रहती है। रसलीनने इस विभाजनको अपनाया है, केवल प्रथमको छोड़कर अन्योके लिए क्रमशः विज्ञान-विदग्धा, अन्तर्गिनी तथा बहिरंगिनी शब्दोका प्रयोग किया है। दासने सखीके तीन भेद दिये है: साधारन-सामान्य सखी है, नात्य काहित-जो नायिकाके हितमें संलग्न रहती है, नायकहित-जो नायकके हितका चिन्तन करती है। चन्द्रशेखरने दो सखियाँ बतायी है, बहिरंग तथा अन्तरग, जो रसलीनके विभाजनमे सम्मिलित है। भान, 'हरिऔध' तथा गुलाब रायने रसलीनके वर्गीकरण-को अपनाया है, केवल विज्ञानके स्थानपर व्यंग्यविदग्धा कर दिया है।

सखी-कर्म-उद्दीपन-विभावके अन्तर्गत प्रयुक्त सखीके कर्तव्योंपर जो विचार किया गया है, उसे सखी-कर्मके नामसे पुकारा गया है। सर्वप्रथम सखीके कार्योका विचार भानुदत्तने संस्कृतमें किया है-"अस्या मण्डनोपालम्भ-शिक्षापरिहासप्रभृतीनि कर्माणि" (र० मं०, पृ० १५६)। इसके मण्डन, उपालम्भ, शिक्षा तथा परिहास आदि कर्म है। इस विषयपर विचार करनेवाले लेखकोने प्रायः इन भेदोको स्वीकार किया है। मतिरामने भानुदत्तकी बात कह दी है-"मण्डन अरु शिक्षा करन उपालम्भ परिहास" (र० रा०, पृ० २८९) । मण्डन-नायिकाका शृगार किया जाना मण्डन है । पद्माकरने 'तियहिं सिंगारिबो' कह कर उदाहरण दिया है-"कहा करौ जो ऑगुरिन अनी घनी चुभि जाय। अनियारे चख लखि सखी कजरा देत डराय" (जगदि०, भा०२:२१)। शिक्षाको पद्माकर 'विनयविलास' कहते है और मानुने 'सखि बिलास सिख देन' कहा है। सखी नायिकाकी शालीनता तथा विनयकी शिक्षा देती है-"बहुत लाज वूड़त सुमन भ्रमत नैन तेहि ठॉव । नेह नदीकी धारमे तु न दीजियो पॉव" (वही: वही, २२)। उपालम्भ-सखी द्वारा उलाहना दिया जाना-"वाको मनु लीने लला बोलो बोल रसाल। झुकत तनक ही बातमे ललित बेलि बर बाल" (मतिराम: र० रा०, २९५) । पश्हास-ऐसे कृत्य करना जिससे हासकी सृष्टि हो, भानुके अनुसार-परिहास तिय जासो होय निहाल" "सोइ कृत्य (र० र०, पृ० ६५)। पद्माकरने उदाहरण इस प्रकार दिया है—"को तेरो यह सॉवरो यो वृङ्यो सखि आय । मुखते कह्यो न वात कछु रही सुमुखि मुख नाय" (जगिद्ध०, भा० २: २८)।

कृपाराम, केशव, देव तथा दासने इस वर्गीकरणका कुछ विस्तार किया है। कृपारामका एक भेद निरीक्षण है, जिसका अर्थ है कि नायिका-नायकके मिलनके अवसरपर देख भाल रखना। केशवने विनय, 'मनाइबो', 'मिलैबो' तथा 'झुकिबो'को सखीजनकर्म माना है। केशवने परिहास छोड भी दिया है। देवने 'रसविलास'में सखीके दस कर्म और 'भावविलास'में आठ कर्म गिनाये है, जिनमेसे पहलेमे गुणकथन, 'रसउपजइबो', 'परस्पर दिखावन', विरह निवेदन तथा 'सन्देसकथन' और दूसरेमें पार्श्वरिता, संघटन तथा विरहाशासन नये भेद है। दासने सखियोके काममें 'सन्दरसन', अर्थात् एक दूसरेको दिखलाना, मानप्रवर्जना' (मनाना), पत्रिकादान, स्तुति, विनय तथा यदक्षा अधिक माने हैं। परन्तु यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि इन कवियोंनें सखी और दूतीका अन्तर्माव मी हुआ है।

सखी-भाव-दे॰ 'गोपी'।

सखी-संप्रदाय - सखी-सम्प्रदाय निम्बार्क-मतकी एक अवान्तर शाखा है। इस सम्प्रदायके संस्थापक स्वामी हरिदास थे। हरिदासजी पहले निम्बार्क-मतके अनुयायी थे, परन्तु कालान्तरमें भगवद्गक्तिके गोपीभावको उन्नत और उपयुक्त साधन मानकर उन्होंने इस स्वतन्त्र सम्प्रदायको स्थापना की। हरिदासका जन्मसमय भाद्रपद अष्टभी, सं० १४४१ है। ये स्वभावतः विरक्त और भावुक थे।

सखी-मम्प्रदायके अन्तर्गत वेदान्तके किसी विशेष वाद या विचारधाराका प्रतिपादन नहीं हुआ, वरन् संगुण कृष्णकी सखी-भावनासे उपासना करना ही उनकी साधनाका एक-मात्र ध्येय और लक्ष्य है। इसे भक्ति-सम्प्रदायका एक साधन-मार्गं कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाभादासजीने अपने 'भक्तमाल'में कहा है कि सखी-सम्प्रदायमे राधा-कृष्णकी उपासना और आराधनाकी लीलाओका अवलोकन साधक सखी-मावसे करता है। सखी-सम्प्रदायमे प्रेमकी गम्भीरता और निर्मलता दर्शनीय है। हरिदासके पदोमे भी प्रेमको ही प्रधानता दी गयी है। हरिदास तथा सखी-सम्प्रदाय-के अन्य कवियोंकी रचनाओं मे प्रेमकी उत्कृष्टता और महत्ता-को सिद्ध करनेके लिए भाँति-भाँतिसे ज्ञानकी व्यर्थता और अनुपादेयता प्रकाशित की गयी है। इनके मतसे प्रेमसागर पार करनेके लिए ज्ञानकी सार्थकता नही है। ज्ञानमें भवसागरसे पार उतारनेकी क्षमता नहीं है। श्रीकृष्णकी प्रेमानगा भक्तिमें दिव्य शक्ति है उन्हीं के चरणोंमें अपनेको न्योछावर कर देना अपेक्षित है। सखी सम्प्रदायमे उपासना-माधुर्य, प्रेमकी गम्भीरता और मधुर रसकी विशेषता है।

हरिदासके प्रधान शिष्य विट्ठल विपुल, विहारनिदेव, सरसदेव, नरहरिदेव, रिसकदेव, लिलतिकशोरीजी, लिलतमोहिनीजी, चतुरदास, ठाकुरदास, राधिकादास, सखीशरण, राधाप्रसाद, भगवानदास है। इनमेसे प्रायः सभी अच्छे कवि हुए हैं। इनकी रचनाओमे ब्रजभाषाका सुन्दर और परिमाजित रूप व्यक्त हुआ है। हरिदासकी विहार-विषयक पदांवली किलमाला के नामसे प्रसिद्ध है। इनकी

रस-पेशल वाणीमें माधुर्य और हृदयके उदात्त भाव, प्रेमका भन्य रूप दर्शनीय है। भगवत् रसिककी पाँच रचनाएँ प्रसिद्ध है- 'अनन्यनिश्चयात्मक', 'श्रीनित्यतिहारे' यगुल ध्यान', 'अनन्यरसिकाभरण', 'निश्चयात्मक अन्य उत्तरार्ध' तथा 'निर्वोध मनरजन'। भगवत रसिककी बानीके नामसे इनका काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ है। सहचरिशरण और सखिशरणकी फुटकर रचनाओके अतिरिक्त दो और पुस्तकें है—'रुलितप्रकाश' तथा 'सरस मंजावली'। ये ग्रन्थ सम्प्र-दायके इतिहास और साधनापक्षपर अच्छा प्रकाश डालते हैं। [सहायक अन्थ- 'ब्रजमाधुरीसार' —त्रि॰ ना॰ ढी॰ सगुणधारा – हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत भक्तिकाल (दे०)की एक विशेष शाखा । दे० 'सगुणसप्रदाय', 'राम-भक्ति-शाखा' (हिन्दी राम-साहित्य), 'कृष्ण-भक्ति-शाखा'। सगुण-संप्रदाय - पांचरात्र या भागवत मतके अनुसार ब्रह्म अहैत, अनादि, अनन्त, निविकार, निरवद्य, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, असीम तथा आनन्द-स्वरूप है। वह प्राकृत गुण-सत्त्व, रज और तमसे होन है, आकार, देश और कालसे रहित, पूर्ण, नित्य और न्यापक है। परन्तु उसमे अप्राकृत गुण माने गये है। षड्गुणयुक्त होनेके कारण वही परब्रह्म 'भगवान्' कहा जाता है। सब द्वन्द्रोसे विनिर्मुक्त, सब उपाधियोंसे विवर्जित, सब कारणोंका कारण, षड्गुण-रूप परब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। अप्राकृत गुणों से हीन होनेके कारण वह निर्गुण है तथा षड्गुणयुक्त होनेके कारण सगुण है। छ: गुण है- ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। 'ज्ञान' अजड, स्वप्रकाश, नित्य और सर्वस्वका अवगाहन करनेवाला गुण है। 'शक्ति' जगतका उपादान कारण है। 'ऐइवर्य' जगत्के कर्तृत्वमे स्वतन्त्रताके गुणका नाम है। जगत्के निर्माणमें श्रमके अभावको ही 'बल' कहते है। जगतका उपादान कारण होनेपर भी

जगत्के कल्याणके लिए भगवान् अपने-आप ही ब्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्थामी—चार रूपोंकी सृष्टि करते हैं। व्यूह चार हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। षड गुणयुक्त भगवान् ही समस्त भूतवासी होनेके कारण वासुदेव कहलाते है। परन्तु शेष तीन व्यूहोंमें दो-दो गुणोंकी विद्यमानता होती है। विभवका अर्थ है अवतार, जो मुख्य और गौण, दो प्रकारके होते है। 'अर्चावतार' भगवान्की प्रस्तरीय मूर्तियाँ है, जो अवतारके रूपमे पूजाके उपयोगमें आती है। सब प्राणियोंके हृदयोंमें निवास करने: वाले भगवान् 'अन्तर्यांमी' कहे जाते है।

विकार रहित होनेका गुण ही 'वीर्य' है। जगतकी सृष्टिमें

किसी सहकारीकी अनावश्यकता ही 'तेज' है।

शंकराचार्यने पांचरात्रके उपर्युक्त मतका खण्डन किया है और इसे अवैदिक बताया है। परन्तु रामानुजाचार्यने उसे वेद-विहित सिद्ध कर बादरायणके ब्रह्मख्त्रोकी व्याख्या 'श्रीभाष्य'में उसे प्रामाणिक कहा है। इसी मतके आधार-पर मध्ययुगमे वैष्णव भक्तिमार्गका प्रचार और भगवान्के विभवावतारोंकी छीछाआंका वर्णन-कीर्तन किया गया है। भक्तिके अनेक सम्प्रदाय स्थापित हुए, जिनमें भगवान्के सगुण रूपपर ही बछ दिया गया, क्योंकि वही पूजा,

उपासना, आराधना और ध्यानका सहज विषय हो सकता है। इसके विपरीत मध्ययुगमें ही निर्गुण उपासनाके प्रचारक सन्त भक्त भी हुए है। कबीर, रैदास, दाद आदि निर्गण उपासक सन्तोंने ब्रह्मकी सगुणता तथा उसके व्यूह, अवतार तथा मूर्तियोंका खण्डन किया है। कभी-कभी इस निर्गुणोपासनाको तत्कालीन विदेशी प्रभावका परिणाम कह दिया जाता है और सगुणोपासनाको ही शुद्ध भारतीय भक्ति-पद्धति घोषित किया जाता है। परन्त वास्तवमे निर्गणवाद उपनिषद्के ब्रह्मवाद ने भिन्न नहीं है। भारतीय उपासना-पद्धतिमे निर्गुणवाद ही कदाचित् प्राची-नतर है। जो हो, निर्गुण और सगुणमे साधारणतया जो विरोध समझ लिया जाता है, वह दोनोके उपर्युक्त सूक्ष्म अन्तरसे भिन्न है। तत्त्वतः निर्गुण और सगुणके विरोध या भेदको मिटानेके प्रयत्न प्राचीन कालसे होते आये है। सगुणोपासना सुगम तथा निर्गुणोपासना कठिन बतायी गयी है। गीतामें भगवान् कृष्णने स्वयं अव्यक्तासक्त चित्त-वालोकी साधनाको अधिक क्लेशकर बताया है तथा आत्म-समर्पणयुक्त सगुण भक्तोकी प्रेममयी साधनाको ससार-सागर-से शीघ्र ही तारनेवाला कहा है (गीता, १२: ५-७)। भक्तिकालीन सगुणीपासक कवियोने भी निर्गुणकी अस्वीकृति नहीं की, प्रत्युत भक्ति-साधनाके लिए उसकी अन्यावहारि-कता प्रमाणित की है। ठीक गीताकी तरह स्रदासने 'सुरसागरके' प्रारम्भमे ही अञ्यक्तकी गतिको अनिर्वचनीय कहकर यह निश्चय प्रकट किया है कि रूप-रेखा-गुण-जाति-युक्तिसे रहित अन्यक्तका स्वाद गूंगेके गुड़के समान है, अतः मै सगुणलीलाके पद गा रहा हूँ (स्० सा०, प०२)। तुलसीदासने निर्गुण और सगुणमे बराबर अभेदका सिद्धान्त स्वीकार किया है, परन्त उन्हे अन्तर्यामी रामकी अपेक्षा बहिर्गामी राम ही अधिक अच्छे लगते है, क्योंकि उन्हींकी कृपाका वे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते है। सगुण रूप सुगम है, क्योकि वह इन्द्रियो द्वारा जाना जा सकता है। परन्तु विचार करनेपर सगुण रूप ही समझना अधिक कठिन प्रतीत होता है। रामको सीताके वियोगमे विलाप करते देख सतीको आश्चर्य हुआ और उन्होने अपने पतिसे शका की कि ये कैमे परब्रह्म परमात्मा है, जो अज्ञकी तरह रुदन करते है। सतीका मोह दूर करनेके लिए शिवजीको बहुत बडा त्याग करना पडा। उस जन्ममे उनका भ्रम दूर नही हो सका। इसीलिए तुलसीदासने कहा है कि निर्गुण रूप सुगम है, सगुण ही दर्गम है। किस प्रकार अनादि, अनन्त, निराकार ब्रह्म देश-कालकी सीमामे शरीर धारण कर नर-चरित्र कर सकते है, इस प्रश्नका समाधान अत्यन्त कठिन है। केवल भक्तगण ही इसे समझ सकते है। ब्रह्ममें सगु-णताका आरोप स्पष्टतः अन्तर्विरोधपूर्ण है। वल्लभाचार्यने बह्मका 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' कहकर इसका समाधान किया है। सच तो यह है कि भक्त जब ब्रह्मको भगवान्के रूपमे कल्पित करता है तभी, चाहे वह उसे विभवावतार या धर्मावतारके रूपमें न भी माने, उसमें उसे किसी-न-किसी मात्रामें सगुणताका आरोप करना ही पड़ना है; उसे वह करुणामय, दीनबन्धु, रक्षक, न्यायी आदि कहकर श्रेष्ठ गुणोंसे ही विभूषित करता है। सूक्ष्मतासे देखनेपर यह भी

स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्मके अवतार या उसकी अन्यथा साकारताका प्रत्याख्यान करनेवाले निर्गुणीपासक उसमें नामके साथ रूपका भी किसी-न-किसी अंशमे आरोप कर ही लेते हैं। प्रायः रूपका यह आरोप रूपक और प्रतीकोंके रूपमे होता है, परन्तु इन्द्रियगम्य बनानेके लिए इतनी सगुणता दुनिवार है। इस प्रकार भक्तिमात्र सगुणतामुलक है, अन्तर केवल अवतार और मूर्तिपूजाके सम्बन्धमे पैदा होता है। जो निर्गुणवादी है वे, भगवान्के अवतार विशेषके रूपका, पुराणोमे विणित अवतारो तथा उनके विश्वहोंकी पूजाका खण्डन करते है और सगुणवादी किसी अवतारिवशेषके विश्वह-विशेषके प्रति अनन्यभावकी भक्ति आवश्यक मानते है।

मध्ययुगमे राम और कृष्ण, दो अवतारोके आधारपर सगुण-सम्प्रदाय संघटित हुए। रामभक्तिका संघटित प्रचार रामानन्दके श्रीवैष्णव सम्प्रदाय द्वारा किया गया। कहा जाता है कि तुल्सीदास इसीके अनुयायी थे। परन्तु तुल्सीदासमें सामप्रदायिक आग्रह नहीं पाया जाता है। कृष्ण-भक्तिके सम्प्रदायोंने नियमों और आचारोकी कठोरता अधिक है। मध्ययुगमे निम्बार्क और मध्वके सनकादि और ब्रह्म नामक प्राचीन सम्प्रदायोंके अतिरिक्त पृष्टिमार्ग या वल्लभ-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय, सखीसम्प्रदाय (सभी दे०) और गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय अधिक प्रभावशाली थे। इन्हीं सम्प्रदायोंने कृष्ण या राधा-कृष्णको इष्टदेव मानकर उनकी लीलाओंका गान करते हुए सगुण भक्तिका प्रचार किया।

[सहायक प्रन्थ—हिन्दी साहित्यका इतिहास: रामचन्द्र शुक्क; भारतीय दर्शन: बलदेव उपाध्याय।] — ब्र० व० सहक-वह उपरूपक, जिसमे प्राकृत भाषाका प्रयोग होता है। इसमे प्रवेशक, विष्क्रम्भकका अभाव और अद्भुत रसका प्राधान्य रहता है। इसके अंकोको यवनिका कहते है। कुछ विद्वानोने इसे नाटिकाका भेद माना है, क्योंकि शेष सव बाते नाटिकाके समान होती है। उदाहरण—राजशेखरकी 'कप्रमंजरा'। — वि० रा० सतनामी संप्रदाय—सत अथवा सत्त शब्द सत्यके विकृत

रूप है। सत्य ब्रह्मका पर्याय और नाम है। नामी शब्दका अर्थ नामधारी है। सत्यनामी या सतनामीसे अभिप्राय है सत्यनामी सर्वात्मा ब्रह्म, जो संसारका हेतु एवं आधार है। सतनामी सम्प्रदायमे कार्यको प्रारम्भ करनेके पूर्व सत्त-नाम लिया जाता है। इस सत्तनामको लेनेका अभिप्राय है ब्रह्मके नामके आधारपर कार्य सुखान्त बनानेका प्रयत्न। सतनामी सम्प्रदायके मूल प्रवर्तकका नाम अभीतक निश्चित नहीं हो पाया है। पीताम्बरदत्त बङ्थ्वालके मतसे दादू-पन्थी जगजीवनदास इस सम्प्रदायके मूल प्रवर्तक थे। कुछ विद्वानोका मत है कि साथ सम्प्रदायके वीरभानने इसकी स्थापना की और कुछ लोगोंका मत है कि ऊदोदासने सतनामी सम्प्रदायकी स्थापना की। इनके अतिरिक्त एक मत और है कि जोगीदासने इस सम्प्रदायको जन्म दिया था। सतनामीकी तीन शाखाएँ है-नारनौळ-शाखा, कोटवा-शाखा तथा छत्तीसगढी शाखा। नारनौल-शाखाके अनुयायियांने सं० १७१५में औरंगजेबके विरुद्ध विद्रोह किया था और औरंगजेबने प्रतिकारभावनासे उनका इतना क्या था कि वे फिर पनप न पाये। कोटवा-शाखाकी
्रापना वारावंकी जिलेके सरदहा गाँवके जगजीवन साहब
द्वारा हुई। इनका जन्मसमय सन् १६७० ई० माना गया
है। कोटवा शाखामे समय-समयपर अच्छे साधक हुए,
जिनमें दूलनदास, देवीदास, गोसाईदास, खेमदास,केवल
दास, सिद्धदास तथा पहलवानदास उल्लेखनीय है। इस
शाखाके वर्तमान महन्त जगन्नाथबख्शदास है। तीसरी
शाखा छत्तीसगढीके संस्थापक विलासपुर जिलेके घासीदास
थे। इस शाखाकी संस्थापना सं०१८७५ और १८८७के
बीचमें हुई।

सतनामी सम्प्रदायमें सत्तनामके अमृतरसपानपर अधिक वल दिया गया है। सत्य वचन, परोपकार, अहिंसा एवं नैतिक आदशोंके अनुसार संयत जीवननिर्वाह करना बहुन आवश्यक है। विशुद्ध महापुरुष ब्रह्म सर्वत्र रमा हुआ है। वह निलिंस है। वह जन्म और मरणातीत है। वह वासना और गुणसे परे है। वह निर्गुण, निराकार है। सत्यसे पृथक् सब माया है। क्षमा, दया तथा त्याग जीवनको सुखी बनानेके आधार है।

सतनामी सम्प्रदायमें निम्न श्रेणीवाले लोगोंकी अधिकता है। छत्तीसगढ़ी शाखामे तो निम्न जातिवालोकी संख्या ९० प्रतिशत है। सामाजिक सुधारोंकी प्रमुखताके कारण छत्तीसगढी शाखाने चमारोंकी एक उपजातिका रूप धारण कर लिया है। इनके सामाजिक नियम भी चमारोसे मिलते जुलते है। ये धोबियो, भेहतरों, घसियारोसे भेदभाव रखते हैं। छत्तीसगढीवालोंक सात मुख्य आदेश है, जिनमें मद्य, मांस, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर तथा बैगन खानेका निषेध है। इनमे वर्ण-व्यवस्थाका पालन भी निषिद है। ये चारपाईपर नहीं सोते तथा तम्बाकू और मद्य-सेवनके विरोधी है। अब सतनामी सम्प्रदायकी तीनों शाखाओंमें हिन्दू धर्मसे पृथक् करनेवाली प्रायः सभी विशेषताएँ समाप्त होती जा रही है। इस सम्प्रदायके शिष्योंमें अधिकतर मजदूर-किसान तथा अन्य श्रमजीवी हैं। कोटशकी शाखामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ आदि भी शिष्य हुए है।

सतनामी सम्प्रदायको तीनों शाखाओंमें कोटवावाली शाखाका, साधना एवं साहित्यरचनाकी दृष्टिसे, विशेष महत्त्व है। नारनौल तथा छत्तीसगढीके अनुयायियोंकी कोई रचना नहीं मिलती। परन्तु कोटवामें अनेक अच्छे कवि हुए हैं। जगजीवन साहबने सात यन्थोंकी रचना की, उनके नाम हैं-- 'शब्दसागर', 'ज्ञानप्रकाश', 'प्रथम यन्थ', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमयन्थ' तथा 'अघ-विनाश'। जगजीवन साहबका 'शब्दसागर' तथा उनकी बानियोका संग्रह दो भागोंमें बेळवेडियर प्रेससे प्रकाशित हो चुका है। जगजीवन साहबके शिष्योंमें कई एक अच्छे कवि हुए। बोधेदासने 'सन्तप्रचई'मे जगजीवनकी जीवनी अंकित की है। दूलनदास(सं० १७१७)की रचनाओंमे 'भ्रमविनारा', 'दोहावली', 'मंगलगीत', 'राब्दावली', प्रसिद्ध है। देवीदास(सं० १७३५)ने 'सुखसनाथ', 'चरन-ध्यान', 'गुरुचरन', 'विनोदमंगल', 'अमरगीत', 'ज्ञान-सेवा', 'नारदशान', 'भक्तिमंग्ल', 'वैराग्यखान' आहि यन्थोंकी रचना की। गोसाई दास(सं० १७२७) ने 'ककहरा', 'दोहावली' और 'शब्दावली'की रचना की। खेमदासके नामपर मिलनेवाली रचनाएँ है—'काशीखण्ड', 'तत्त्व-सार', 'दोहावली' तथा 'शब्दावली'। ये चारों शिष्य कोटवावाली शाखाके 'चार पावा' नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धदासने 'साखी', 'कवित्त', 'शब्दावली' और 'विरहसत्य'की रचना की। पहलवानदासको अक्षर-शान नहीं था, फिर भी 'उपखानविवेक', 'विरहसार', 'मुक्तायन', 'अरिल्ल' तथा 'गुरुमहात्म' आदि रचनाओंसे उनकी काव्यप्रतिमा प्रतिमासित होती है। सतनामी सम्प्रदायके इन कवियोंकी भाषामे फारसी शब्दोंका प्रचुरताके साथ प्रयोग हुआ है।

जगजीवन साहबके प्रमुख शिष्य दूळनदासकी रचनाओ-मे दशरथ-नन्दन श्रीरष्ठवीर और उनके प्रसिद्ध भक्त एवं दास हनुमान्का स्मरण बड़ी श्रद्धाके साथ किया गया है। दूसरी ओर 'सुरित शब्द योग'के वर्णनमे उनकी चित्तवृत्ति विशेष रमी है।

सतनामी गार्हस्थ्य जीवनमें रहते हुए भी साधना और आध्यात्मिक पथपर अञ्चसर होनेके पक्षमें रहे है। उनके यहाँ वेश-भूषाके सम्बन्धमें कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है, बाह्याडम्बरोकी निन्दा सतनामियोंने खूब की है।

[सहायक यन्थ-उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा : परश्-राम चतुर्वेदी ।] -- त्रि॰ ना॰ दी॰ सतसई-सतसई सप्तराती शब्दका तद्भव रूप है। संख्या-मूलक कान्यसंकलनोंने सात सौ छन्दोंका संकलन एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रूढि बन गयी है। प्राकृतकी 'गाथा-सप्तसती' इस रूढिका आदि स्रोत है। तबसे लेकर अबतक अनेक 'सप्तशतियाँ' और 'सतसङ्याँ' लिखी गयी। प्राकृतकी 'गाथासप्तदाती'के अनुकरणपर संकृतमें गोवर्धन कविने 'आर्यासप्तराती' लिखी । इन सप्तरातियोमे मुख्यतया विशुद्ध ऐहिक जीवनके शृंगारमूलक पक्षोका सरस चित्रण हुआ है। अपभ्रंशमें प्राकृत न्याकरणमें दोहोके संकलनकी पद्धतिको देखकर यह लगता है कि अपभंशमे भी दोहोंका संख्यामूलक संकलन हुआ होगा। हिन्दीमे कई 'सतसइयां' लिखी गयीं। ये सभी दोहा छन्दमे है, पर उनमें कही-कही 'सोरठा' भी मिलता है। वस्तुतः जिस प्रकार संस्कृतमें 'अनुष्डुप्', प्राकृतमें 'गाथा' और अपभ्रंशमे 'दोहा' अत्य-धिक लोकप्रिय छन्द हैं, उसी तरह हिन्दीमें भी अपभ्रंशके उत्तराधिकारके रूपमे 'दोहा'को ही सर्वाधिक अपनाया गया और सक्ति या सुभाषितके लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त छन्द सिद्ध हुआ, क्योंकि इसमें चार चरणोमे बडी-से-बड़ी बात कह देनेपर भी कसावट बनी रहती है।

रयामसुन्दर दासने 'सतसईसप्तक' नामक एक संकलन हिन्दुस्तानी अकादमीसे सन् १९३१ ई०में प्रकाशित करवाया था। इसमे तुल्सीके नामपर चलनेवाली 'तुल्सी सतसई', 'विहारी सतसई', 'मितराम सतसई', 'वृन्द सतसई', राम-सहाय द्वारा लिखित 'राम सतसई', विक्रम किव द्वारा लिखित 'विक्रम सतसई' तथा 'रसिनिधि सतसई'का संकलन हुआ है। रसिनिधिने 'रतनहजारा' लिखा था, लेकिन रयामसुन्दर दासने उसे सतसईका प्रचलित रूप देकर उसमें रसिनिधिके उक्त दोहोंको स्थान दिया था। आधुनिक युगमें भी वियोगी हरिने 'वीर सतसई' लिखी है। इन सभी सतसइयोंमें विहारी, मितराम, रसिनिधि, विक्रम आदिकी सतसइयों मुख्यतः शृंगारिक है, 'यद्यपि उनमे नीति और धर्मके दोहे पर्याप्त है। तुल्सीकी भक्ति और उपदेशपरक तथा वृन्दकी नीतिमूलक, वियोगी हरिकी वीररसपरक सत-सइयाँ हैं (दे०—गाथा २)। — इं० ना० सि० सनुणाभ्यवहारी—दे० 'भावक'।

सत्यं शिवं सुन्दरं - यह प्रसिद्ध स्त्र मानवताके चरम आदर्शोंको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत करता है। हमारा जीवन-मार्ग सत्यसे आलोकित होना चाहिये। व्यवहारमे सत्यकी प्रतिष्ठा सफल जीवनकी पहली शर्त है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म सभी अपने-अपने ढंगसे सत्यके उद्घाटनके विविध प्रयास ही तो है। यदि सत्य-कथनकी प्रवृत्ति क्षीण हो जाय, तो सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। वडा-से-बड़ा असत्यमाषी भी एक-आध प्रतिशत्तसे अधिक असत्य-भाषण नहीं करता। वस्तुतः जिन्हें हम असत्यभाषी कहते है, वे वेवल विशिष्ट अवसरोंपर ही असत्य-भाषणकी दोषी होते है और ऐसे अवसरोकी संख्या नगण्य ही होती है। इसके अतिरिक्त यह सत्य-भाषणकी सर्वसाधारण प्रवृत्तिका ही प्रताप है कि असत्य-भाषण भी चल जाता है। अन्यथा, यदि सभी सर्वदा असत्य-भाषणकी ही ठान लें तो असत्य-भाषणका कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा।

सत्य-सत्यमे भेद है। कुछ सत्य ऐसे भी है, जिनके पालनसे हमारी प्रगतिमें इतना ही नही कि कोई सहायता नहीं मिलती, अपित कभी-कभी निश्चित रूपसे बाधा भी पड़ती है। यदि सिनेमा-हालका प्रबन्धक सत्य-सत्य बतला दें कि हालमें आग लग गयी है तो हालमे भगदड मच जायगी, फलतः बहुतसे व्यक्ति पिस जायँगे, दरवाजोंपर बेहद करामकराकी स्थिति उत्पन्न हो जानेसे हाल जल्दी खाली नहीं होगा और तबतक आगकी लपटोंका ताण्डव-नृत्य आरम्भ हो जायगा । इसके विपरीत, यदि प्रवन्धक वहाँ असत्य-भाषणकी दूरदिशता दिखलाकर यह घोषित कर दे कि मशीन बिगड़ गयी है ताकि लोग धीरे-से बाहर चले जायँ और यह कि कल पुराने टिकटपर ही चित्र दिखला दिया जायगा, तो भगदड नहीं मचेगी, दरवाजींपर धकापेल-की स्थिति नहीं उत्पन्न होगी, पूरा हाल शीव्र ही खाली हो जायगा और सबके प्राण बच जायंगे। यहाँ सत्य-भाषण निश्चित रूपसे हेय और असत्य-भाषण निश्चित रूपसे उपा-देय है। इसी प्रकार चोरको धनका सही-सही पता देकर हम चौरकी सहायता करेंगे, सज्जन की नही। 'महाभारत' में पाँच अवस्थाओं में असत्य-भाषणको निष्पाप माना गया है— हंसीमें, स्त्रियांके बीच, विवाहके समय, जब प्राणपर आ बने और जब सर्वस्व छुट रहा हो-"न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु, राजन्! न विवाहकाले, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे, पंचानृतान्यादुरपातकानि" (महाभारत, आदिपर्व, ८२: १६)।

महाभारतके अनुसार तो सत्य वही है, जो प्राणियोंके अत्यन्त हितमें हो—"यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम" (महाभारत, ज्ञान्तिपर्व, ३२६-१३, २८७:१९)। वहीं

यह भी कहा गया है कि सत्य-भाषणसे भी अधिक हित-भाषण करना चाहिये (सत्यादिष हितं व्रजेत्), अर्थात् सत्य मात्र पर्याप्त नहीं, सत्यका हितकर होना आवस्यक है।

हितकर सत्यके दो भेद है—पिय और अप्रिय! यों तो दोनों प्रकारके हितकर सत्य पालनीय है किन्तु जहाँ प्रिय सत्य बोलना सम्भव हो वहाँ उसीका अवलम्बन-अनुसरण करे, ऐसा नीतिवेत्ताओंका मत है। मनुका कहना है—सत्य बोले, किन्तु प्रिय सत्य ही बोले, अप्रिय सत्य न बोले, किन्तु प्रिय असत्य तो बोले ही नहीं—''सत्यं ब्र्यात् प्रियं ब्र्यात् प्रियं ब्र्यात् पर्यं ब्र्यात् , न ब्र्यात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्र्यात् एष धर्मः सनातनः" (मनुस्मृति, ४: १३८):

इस विचार-सारणीसे सत्य, हित, और प्रियका समन्वय ही, आदर्श स्थिति, सिद्ध होता है। गीता ऐसे अनुद्वेजक वाक्य बोलनेका उपदेश देती है, जो सत्य, प्रिय और हित —इन तीनों गुणोंसे मण्डित हो—''अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्" (गीता, १७: १५)।

वात्स्यायनके न्यायभाष्य (१:१:२)मे भी वाणीके भूषणभूत 'सत्यं हितं प्रियं'का उल्लेख है।

इस प्रकार महाभारत और मनुस्मृतिने मिलकर तथा गीता और न्यायभाष्यने स्वयमेन, हमे एक सारगर्भ त्रिक प्रदान किया है—'सत्यं प्रियं हितं'। अव इस त्रिककी 'सत्यं शिवं सुन्दरं'से तुलना कीजिये। 'सत्यं' उभयनिष्ठ है, 'प्रियं' 'सुन्दरं'का समानार्थक है और 'हितं' तो 'शिवं' (कल्याणप्रद)का पर्याय ही है। अतः यद्यपि, जैसा कि अभी दिखलाया जायगा, सत्यं शिवं सुन्दरंकी आधुनिक चर्चाका श्रीगणेश कही और से हुआ है, तथापि उसका एक प्रतिरूप प्राचीन भारतीय परम्परामें भी मिल जाता है।

योगवासिष्ठमे अनुभवको पांच अंशो—अस्त (है), भाति (प्रकाशित होता है), प्रिय, नाम और रूप—मे विदिच्छ कर प्रथम तीनको बह्मका और शेष दोको जगत्का रूप प्रख्यापित किया गया है—"अस्ति, भाति, प्रियम, नाम, रूपं चेत्यंशपंचकम्। आद्यं ब्रह्मरूपम्, जगद्र पूं ततो द्रयम्।" इनमे ब्रह्मरूपम्त त्रिक अस्ति-प्रिय-भातिको कुछ खीच-तान के बाद सत्यं शिवं सुन्दरंसे समीकृत किया जा सकता है।

डॉ॰ भगवान्दासने अपने 'द सायंस ऑव द सेकेंड वर्ड', 'द सायंस ऑव पीस', 'दि एसेशल यूनिटी ऑव ऑल रिलिजन्स', 'द सायंस ऑव सोशल ऑर्गनाइजेशन', 'द सायंस ऑव द हमोशन्स', 'द सायंस ऑव द सेल्फ', मानवधर्मसार आदिमें सत्यं शिवं सुन्दरंको सत्व-रजस्-तमस्, ज्ञान-इच्छा-क्रिया, धर्म-काम-अर्थ, चित्-सत्-आनन्द आदि-आदि सैकडो शास्त्रीय त्रिकोसे समीकृत करनेका बहुत ही रोचक और मौलिक प्रयास किया है।

इन तथ्योंसे इस धारणाको वल मिलता है कि, यद्यपि सत्यं शिवं सुन्दरं वर्तमान रूपमें अन्यत्र उद्भावित हुआ था, तथापि भारनीय परम्परामें इसकी सम्भावना पहले ही से विद्यमान रही है।

वस्तुतः सत्यं शिवं सुन्दरं, जो आपाततः एक शुद्ध भारतीय सूत्र, एक उपनिषद्-वाक्य जान पड़ता है, ठीक इसी रूपमें प्राचीन भारतीय वाड्ययमें कही भी द्रष्टव्य नहीं है। यद्यपि, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, इस त्रिककी स्थूल पर्यायोंका यहाँ अभाव नही रहा है, तथापि यह अपने मूल रूपमें विदेशसे ही आया प्रतीत होता है। भारतमें इसके प्रचारका श्रेय महिष देवेन्द्रनाथ ठाकुरको है, जिन्होंने पश्चिममें प्रचलित 'द दू, द गुड, द ब्यूटीफुल'- को 'सत्यं शिवं सुन्दरं'का रूप दिया। वस्तुतः हमारे यहाँ सौन्दर्यकी स्वतंत्र सत्ता, स्वरूप तथा लक्षणके सम्बन्धमे विचार ही नहीं हुआ है। पिछतराज जगन्नाथ पहले भारतीय है जिन्होंने रमणीयताको रससे स्वतंत्र मानकर उसे काव्यका मूलाधार सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनकी रमणीयता सौन्दर्यका ही पर्याय जान पडती है। रूप गोस्वामी दूसरे भारतीय काव्यशास्त्री है, जिन्होंने 'भवेत सौन्दर्यमग्नानां सिन्निश्चः यथोचितम्'' ('हरिमिक्तिरसामृत-सिन्ध')कहकर सौन्दर्यके स्वरूप-निर्वोचनका प्रयत्न किया है।

इस त्रिकका वास्तविक जन्मदाता अफलातून प्रतीत होता है। उसने फिलेबस नामक वार्तालाप (डाल्लाग) के अन्तिम पृष्ठोंमें श्रेयस् अथवा शुभ (द गुड)की मीमांसाके सिलसिले-में - उस श्रेयस्की मीमांसाके सिलिसलेमे जो "मानव और जगत्वा चरम ध्येय" है-सुकरातके मुखसे कहलाया है—"तब यदि हम केवल एक धारणाके वल श्रेयस्की खोज करनेमें असमर्थ है तो हम तीन (धारणाओं)के बल अपना शिकार पकड सकेगे। ये तीन है सुन्दरं (ब्यूटी), सन्निवेदाः (सुडौलपन) (सिमेट्री), सत्यं (ट्रथ) ... " (फिलेवस ६५ए)। सन्निवेश या सुडौलपनसे क्या तात्पर्य है ? उत्तर-के लिए हमें दूर जानेकी आवश्यकता नहीं। सुकरातसे इसी सन्दर्भमे, कुछ ही पहले, यह कहलाया जा चुका है-"माप (मेजर) और सन्निवेश (सिमेंट्री) ही सुन्दरं (ब्यूटी) और शिवं (वर्च्यू) है "" (वही, ६४ई), अर्थात् सम्निवेश-का अर्थ सुन्दरं हैं। अब इस त्रिकको हम सत्यं शिवं सुन्दरं-के रूपमे उपस्थित कर सकते है।

यहाँ एक कठिनाई—एक असंगति—सामने आती है। प्रकृत स्थलमें 'माप' शब्दका अर्थ 'सुन्दरं' जान पड़ता है, किन्तु कुछ ही आगे चलकर (६ ५ बी) उसने 'सुन्दरं, सत्यं, मापः' (ब्यूटी, ट्रुथ, मेजर) नामक त्रिककी चर्चा की है, जिसमें 'सुन्दर' और 'मापः' पर्याय न होकर श्रेयस्के स्वतंत्र भेद बन गये है। यहाँ 'सन्निवेश'के स्थानपर 'माप' रखा जान पड़ता है, यद्यपि इसके भी कुछ ही आगे (६६ ए बी) उत्कृष्टतम श्रेयस्-पंचककी मीमांसाके सिलसिलेमे, उसने 'माप' और 'सन्निवेश'को पुनः भिन्न तत्त्व मानकर इन दोनों शब्दोंके पहले ही अर्थकी ओर एक बार और संकेत किया है।

अफलातूनी श्रेयस-पंचक है—(१) माप, मध्यमान, उपयुक्तता (मेजर, द मीन, द स्टेंबुल)। इसे शिवंका उपबृंहण
समझा जा सकता है। (२) सिन्निवेश, सौन्दर्य, पूर्णता अथवा
पर्याप्तता (द सिमेट्रिकल, द ब्यूटीफुल, द पफेंक्ट, द
सिफेडेंट)। इसे 'शिवं' मात्रसे अभिहित किया जा सकता
है। (३) बुद्धि और ज्ञान (माइंड पेंड विजडम), इसके लिए
'सत्यं' शब्दका प्रयोग पर्याप्त होगा। अफलातून स्वयं
कहता है—'' बुद्धि या तो वही है, जो सत्य है, अथवा
सत्यके अधिक समान और श्रेष्ठतम सत्य है" (६५डी)
(४) विज्ञान, कलाएँ और सच्चे विचार (सायंसेज, आर्ट्स,

एँड ट्रू ओपीनियन्स)। (५) शुद्ध, वेदनाहीन आस्मिक सुख (प्योर, पेनल्स प्लेजर्स ऑव द सोल) (६६ ए-सी)। स्पष्ट है कि इस श्रेयस्-पंचकमेसे प्रथम तीन श्रेयस् क्रमशः शिवं, सन्दरं और सत्यं ही है।

यह भी स्पष्ट है कि अफलातून माप और सिन्निवेशकों कहीं अलग मानता है तो कहीं एक कर देता है। इसी प्रकार वह सिन्निवेशकों कहीं शिव तो कहीं सुन्दरसे समीकृत कर देता है। वस्तुतः वह सत्य, शिव और सुन्दरकी एकता सिद्ध करनेके लिए प्रयक्षशील जान पडता है।

यह पता नहीं चलता कि अफलातूनके विचार-समुद्रकों मथकर इस त्रिक-रत्नकों सर्वप्रथम हूंढ निकालनेका श्रेय किसकों हैं। आधुनिक कालमें एक जर्मन दार्शनिक बॉमगार्टेन (१७१४-१७६२)ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति ईस्थेटिकामें अफलातूनका अनुसरण करते हुए सत्य, शिव और सुन्दरकी एकता प्रतिपादित करनेका प्रयत्न विदा था। १९वी शतीके फ्रांसीसी दार्शनिक विकटर कूसां (vistor cousin)ने १८१८में दिये गये एक प्रसिद्ध व्याख्यान द 'टू, द ब्यूटीफुल ऐंड द गुड' (सत्यं, सुन्दरं, और शिव) द्वारा इस त्रिकका विशेष रूपसे प्रचार किया था। उसका व्याख्यान १८३७ ई० में प्रकाशित हुआ।

लगता है कि सत्यं, शिवं, सुन्दरं तत्त्वतः तीन नहीं। प्रत्यक्षके क्षेत्रमे जो सौन्दर्य है, वही चिन्तनके क्षेत्रमे सत्य है और कर्मके क्षेत्रमे शिवत्व है। सत्याग्रह-गान्धीवाद (दे०) युद्धके स्थानपर सत्याग्रहके अवलम्बनकी सिफारिश करता है। सत्यका आग्रह ही सत्याग्रह है। लेकिन यह आग्रह विरोधीके नाश अथवा उसकी किसी प्रकारकी हानि करनेकी प्रवृत्तिको प्रश्रय नहीं देता । गान्धीवाद सत्याग्रह द्वारा विरोधीके हृदय-परिवर्तन-में विश्वास करता है। उसकी मान्यता है कि मानव-स्वभाव तत्त्वतः शुभ है और परिस्थितिकी प्रतिकूलताके ही कारण वह अशुभ हो जाना है। अतः यदि धैर्य और सद्भावनासे काम लिया जाय तो उन्मार्गगामीका हृदय-परिवर्तन और सुधार किया जा सकता है। गान्धीजीने बिटिश साम्राज्यके मुकाबलेमें सत्यायहके अनेक प्रयोग किये थे। उन सबमें जो बात समान रूपसे पायी जाती है, वह है सत्यके आग्रहमें विरोधी द्वारा पहुँचायी गयी प्रत्येक प्रकारकी पीड़ाका सहन और उसके उद्धारकी सच्चे दिलसे सप्तधा भक्ति-नवधा भक्तिसे अर्चन और पाद-सेवन, इन दो प्रकारोको पृथक कर देनेसे जो प्रकार शेष रह जाते है, उन्हें ही सप्तथा भक्ति अथवा भक्तिके सात प्रकार कहते है। निर्गुण भक्तिके साधक इन सात प्रकारोका अवलम्बन करते है। सगुण भक्त नौ प्रकारोका आश्रय लेते है। साधना-मार्गमें यह आवश्यक नहीं है कि साधक भक्तिके सभी प्रकारोंका पालन करे, वह किसी भी एक प्रकार द्वारा भग-—वि० मो० श० वान्की उपासना कर सकता है। सबद (शब्द) - 'सबद' 'शब्द'का रूपान्तर है। वेद शब्द-परक है और वेदका अर्थ हुआ ज्ञान। अतः शब्दका भी अर्थ हुआ ज्ञान । वैदिक शब्द अपौरुषेय माने गये है और

सन्त तथा नाथ-सम्प्रदायमें गुरुकी प्रतिष्ठा बहाके समान

ही है, अतः गुरुको वाणीका नामकरण शब्द>सबद> सबदी है। वैदिक वाणी ही सर्वकर्मीकी अधिष्ठात और सर्वतीभावेन पालनीय है, उसी प्रकार गुरु-वाणी सर्वज्ञान-सम्पन्ना, सर्वकर्माधिष्ठात्री और अतक्ये भावसे ग्राह्य है। इस परम्पराके कारण कबीरकी वाणीको ही वेद-वाणीके रूपमें स्वीकृत किया गया है, क्योंकि 'वाणी हमारी पूर्व'-की टीका करते हुए टीकाकारोने लिखा है कि 'पूर्व'का अर्थ आदि, अतः पूर्वकी वाणीका अर्थ हुआ आदिकालीन वाणी, अर्थात् वेद। 'गोरखवानी' (सबदी, पृ० ३०)में सबदीका प्रयोग उपदेशके अर्थमें हुआ है-"सबद एक पृछिबा कही गुरुदयालं, विरिधि थै क्यूँ करि होइबा बालं"। मामान्य रूपसे पद-रचनाएँ राग-रागनियों में बंधी होती है, शब्दों के लिए यह विधान नहीं है। उपदेशात्मक और सिद्धान्त-निरूपक गेय पदोंको सबदी कहते है। 'गोरखवानी'की प्रथम सबदी है-"बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा। गगन सिखर महि बालक बोले ताका नाँव धरहुगे कैमा"। अनहद नादकी चर्चा करनेवाली गीतियोंके अर्थमे भी सबदका प्रयोग है, क्योंकि 'गोरख बानी' (पृ० १९६)के अनुसार 'सबद अनाहत' ही सबदी है। 'शब्दस्तोत्रमाला'के अनुमार—"सबद अखण्डित रूप, सबद नहिं पण्डित होई। जैसा सबद अगाध, सकल घट रह्यो समोई । सबद करै आचार सबद रोये अरु गावै। निर्शुन सर्गुन बरनि सबद सबहीमै -रा० खे० पा० सम-विरोधमूलक अर्थालंकार । इस अलंकारको प्राचीनोंने नहीं स्वीकार किया है। सर्वप्रथम रुप्यक तथा मम्मटके द्वारा इसका विवेचन हुआ है। रुद्रट तथा भोजने साम्य नामक अलंकार माना है। रुय्यकके समान ही मम्मटका लक्षण है-''जिसमे किन्ही वस्तुओंके ऐसे सम्बन्धका प्रति-पादन हो, जो सर्वसम्मतिसे सर्वथा उचित प्रतीत हो" (का० प्र०, १०: १२५)। इसे काव्यप्रकाशकारने दो प्रकारका माना है, सद् वस्तुओंका और असद् वस्तुओंका। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवल्यानन्द'के आधारपर इसके तीन भेद स्वीकार किये है। यह विषमका प्रतिद्वनद्वी है। विषममें दो वस्तुओंकी अननुरूपना होता है और सममे अनु-रूपता। मतिरामने इसके तीन प्रकार निर्देशित किये है-(१) "जहाँ दुहूँ अनुरूपको, कवि जन करत बखान", (२) "जहाँ हेत ते काजको, बरनत उचित सरूप", (३) "ताकी सिद्धि अनिष्ट बिन, उद्यम जाके अर्थ" (ल० ल०, ३२८, ३३०, ३३२) ।

प्रथम सम—दोनोंका यथायोग्य होना—"मोहिं तुम्हें बाढी बहस, को जीते यदुराज । अपने-अपने बिरदकी दुहुँन निवाहत लाज" (बि॰ स॰, ४२७) । भक्त कहता है कि उसमें और विष्णु भगवान्में प्रतिस्पर्द्धा हो गयी है । देखना है कि वह जीतता है (पाप करनेमें) कि वे जीतते हैं (पापियोंको नारनेमें) । अथवा—"नैन सलोने अथर मधु, कहु रहीम घटि कौन । मीठौ भावै लोनपै, मीठे अपर लौन"। दितीय सम—हेतु और कार्यकी समता—"ज्यों हैंहैं। त्यों होहुँगे, हौ हरि अपनी चाल। हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिबो गोपाल" (बि॰ स॰, ७०१)।

भक्त कहता है कि उसका उद्धार करना श्रीकृष्णके लिए कठिन है, क्योंकि उसने जैसी करनी की है, वैसा फल उसे भुगतना ही होगा । यहाँ कारण और कार्यमे साम्य प्रदक्षित किया गया है। **नतीय सम**—उद्यमकी सहज सिद्धि— "सोवन दीजै न दीजै महादख थों ही कहा रसवाद बढायो। मान रह्योई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायो" (ल० छ०, २३३)। समका तात्पर्य है यथायोग्य सम्बन्ध । सम्बन्ध सद्-योग तथा असद्-योग, दोनो ही अवस्थामें सम्भव है। **समचेतन**-मानसिक रोगोंमे प्रायः अन्तर्द्धन्द्वके कारण चेतनामे वियोजन हो जाता है और एक ही व्यक्तिकी कई चेतनाएँ हो जाती है, अर्थात् मानसके कई अंश हो जाते हैं। इन अंशोंको मार्टन प्रिस समचेतन कहते है। सम-चेतन अंश अदल-बदलकर व्यक्त होते है और प्रायः एक अंशको दूसरे अंशका कोई ज्ञान नहीं होता। इन समचेतन अंशोंमे भी कोई प्रमुख होता है, कोई गौण। मार्टन प्रिन्स इन्हें प्रमुख चेतना और गौण चेतना कहते है । अन्य मनो-वैज्ञानिकोने 'समचेतन' शब्दका प्रयोग कम किया है, फायड इसी अर्थमे 'अचेतन'का प्रयोग करते है, 'अज्ञात चेतन' भी समानार्थक है (दे॰ 'मानस', 'अचेतन', 'खण्डित व्यक्तित्व')। समता (symmetry) - प्रतिसाम्य, सममिति; किसी कृति-मे संगतिका होना, अर्थात् वह सापेक्षता जो उसके विभिन्न

म संगातका होना, अथात् वह सापक्षता जा उसका विभन्न अंगोमें आपसमे हो या सम्पूर्ण कृति और उसके किसी अंग-विशेषमे हो । एफ० एम० जेगरके शब्दोंमे—"रूपो और आकृतियोमे समता किसी ज्यामितिक तरतीव या परस्पर सापेक्ष खण्डोंकी पुनरावृत्तिके कारण होती हैं" (प्रिन्सिपल ऑव सिमेट्री, एच० आस्वार्न द्वारा 'थियरी ऑव ब्यूटी'म उद्धृत) । संक्षेपमे उनकी परिभाषा इस प्रकार है—सम आकृतियाँ वे हैं, जो कई तरह अपने या अपने प्रतिविम्बोके सहश हों । मानव-शरीर उसका उपयुक्त उदाहरण है । सौन्दर्यशास्त्रमे वह आकृति सम मानी जायगी, जो किसी

सौन्दर्यशास्त्रमे वह आकृति सम मानी जायगी, जो किसी मध्यरेखाके दोनों ओर एक-सी हो, यानी उस रेखाके किसी तरफके आकारका प्रतिरूप हो। समता वास्तुकलामें विशेष महत्त्व रखती है। विना समताके सिद्धान्तोका पालन किये किसी मन्दिरके निर्माणकी कल्पना करना ही कठिन है। अधिकांश इमारतें, प्राचीन तो लगभग सभी, ऐसी मिलेंगी, जिनमें समता किसी-न-किसी रूपसे विद्यमान है—प्राचीन मिस्री इमारतें और जापानी कला विशेष रूपसे। अक्सर तो यह समता एक खन्तकी सीमातक पहुँचा दी जाती है, जो सौन्दर्यसे ज्यादा मनमे ऊव पैदा करती है। इसलिए बहुत-से कलाकारोने श्रेष्ठतर सौन्दर्यानुभूतिके लिए थोडी अप्रांजलताको आवश्यक माना है। शायद इसीले मशीनो द्वारा बनायी गयी विल्कुल निदोंष कला-वस्तुएँ उत्तनी सुन्दर नही लगती, जितना हाथकी बनी हुई चीजोंका कही-कही चूकता हुआ सौन्दर्यं, जो जीवनके अधिक निकट मालूम पड़ता है।

अरस्तूने सौन्दर्यके तीन आवश्यक गुण माने है— व्यवस्था, समता और स्पष्टता । प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र-में समता कुछ भिन्न अथोंमे ली गयी है। 'नाट्यशास्त्र'के रचियता भरत मुनिने समताको कान्यके दस गुणों मेसे एक माना है। समता इस प्रकार परिभापित है—"अलंकार-गुणाइचैव समासात् समता यथा", अर्थात् जहाँ अलंकार और गुण समभावसे विद्यमान होकर एक-दूसरेके सददा तथा शोभावर्थक हों, वहाँ समता नामक गुण होता है। आगे चलकर दण्डीने भी अपने 'कान्यादर्श'मे समनाको कान्यका एक गुण माना—"यया कयाचिछ् त्या यत् समानमनुभूयते। तद्र्पा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा", अर्थात् जिस किसी शन्द-समूहके उच्चारण द्वारा उसमें जो समनाका अनुभव होता है, वह ही अनुभवगम्य पद-श्वित अनुप्रास्युक्त होकर रसोत्पत्ति करती है। स्पष्ट है कि प्राचीनोने 'समता'को समान्यतः ऋजु और प्रांजलके अर्थमें लिखा है।

समता गुण-दे॰ 'गुण', पॉचवॉ प्रकार।

समदाउनि—वेटीकी विदाईके अवसरका गीत; मिथिला जनपदमें विशेष रूपसे प्रचलित। विवाहके बाद जब कन्या ससुराल जाने लगती है—विछोह, वेदना और करणाका स्रोत इन गीतोंके माध्यमसे फूट पडता है। ये गीत अत्यन्त सरस और स्वाभाविक होते है। —र० भ्र० समन्वय—दे० 'सामंजस्य'।

समरस-समरस (समान आस्वादनवाले) शब्दका सर्व-प्रथम शास्त्रीय प्रयोग शैवागममें ही हुआ है, जिसमे शिव और शक्तिके परस्पर तादात्म्यसंवेचको सामरस्य या सम-रसता कहा गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दोनो भेदाभेद संवेद्यसे आस्वादनकी भूमिकामें समान रूपमें अधिष्ठित है, अर्थात् आनन्दबोधके समय दोनो समान है। यह समरसता ही भारतीय कलाकी आधारपीठिका है, विषय और विषयीमे, दृश्य, दृष्टि और द्रष्टामे, याह्य और ब्राहकमें तथा भावक, भावना और भाव्यमें इसीकी पूर्णता पाना भारतीय कला या कविताका मूल उद्देश्य बना। कला या काव्यका आस्वादन संवित्की वह स्थिति है, जब वह बाह्य विकल्पोंसे एकदम विरहित होता है और नानारूपात्मक जगत् उसमे प्रकाशमान रहता है। यही समरसताकी या तन्मयी भावकी स्थिति है। इसमे पहुँचे बिना न तो कलाकी सृष्टि हो सकती है और न कलाकी परख ही। जयशंकर 'प्रसाद'ने 'कामायनी'मे समरसताकी स्थितिको ही चरम उप-लिबिकी भूमिकाके रूपमें मान्यता दी है। —वि०नि०मि० समवकार - अवकीर्णका अर्थ है फैला हुआ। इस रूपकमें कई नायकोंके प्रयोजन समवकीर्ण अथवा संगृहीत किये जाते है, अतः इसका नाम समवकार रखा गया है। शारदातनयने १२ नायकोंका पृथक्-पृथक् प्रयोजन माना है। "पृथकप्रयोजनास्तत्र नायका ढादश स्मृताः" (भा० प्र०, पृ० २४८)।

इस रूपक के लक्षणके सम्बन्धमें प्रायः सभी आचार्य एकमत है। सबने भरत मुनिके मतका समर्थन किया है। सभी आचार्योंका मत है कि देवता और असुरोसे सम्बन्ध रखनेवाली इतिहास-पुराणादिमें प्रसिद्ध कथा इसमें निबद्ध की जाती है। इसमें विमर्शके अतिरिक्त शेष चारों सन्धियाँ एवं तीन अंक होते हैं। प्रथम अंकमें दो सन्धियाँ और शेषमें एक एक सन्धि होती है। कैशिकी को छोड़ कर अन्य

सभी वृत्तियाँ होती हैं। विन्दु और प्रवेशक नहीं होते, किन्तु तेरह विध्यंग पाये जाते है। इसमें गायन्नी, उध्णिक आदि अनेक प्रकारके छन्द होते है।

नायक सम्बन्धमें आचार्योंका कही-कही मतैक्य नहीं है। नायकोंकी संख्या तो सभी बारह स्वीकार करते हैं, किन्तु विश्वनाथका मन नायकोंकी आतिके सम्बन्धमे अन्य आचार्योंसे भिन्न है। धनंजय (द०रू०, ३: ६३), शारदातनय (मा०प्र०, पृ० २४८), रामचन्द्र (ना०द०, पृ० १२४)का मत है कि इसके नायक उदात्त चरित्रवाले देवता और दानव होते हैं, किन्तु विश्वनाथने धीरोदात्त नायक देवता और मनुष्य माना है (सा० द०, ६: २३५)। गम्भीरतासे विचार करनेपर (विश्वनाथका मत मान्य नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि विश्वनाथ प्रारम्भमें इस मतसे सहमत हैं कि समवकारका इतिकृत्त देव-दानवसे सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्थामे दानवके स्थानपर मानवपात्र किस प्रकार नियोजित किये जा सकते है ?

इस रूपकले रसके सम्बन्धमें 'नाट्यशास्त्र'मे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और सभी आचार्योंने उसीका अनुसरण किया है। इसमे तीन प्रकारके श्रंगार होते है— (१) धर्मश्रंगार, (२) अर्थश्रंगार, (३) कामश्रंगार। एक अंकमे एक प्रकारका श्रंगार अवश्य आना चाहिये। कामश्रंगार प्रथम अंकमें ही आता है। धनंजयका मत है कि वीर-रसकी अधिकता सभी पात्रोमे अपेक्षित है। उन्होंने 'समुद्रमन्थन' समवकारका उदाहरण देकर अपने मतकी पृष्टि की है (द० रू०, ३:६४)। नाट्यदर्पणकारने वीरके साथ रौद्र रसका भी उल्लेख किया है। (ना०द०,पृ० १२४)। रामचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि देव-दैर्थोंके उद्ध्तत्वके कारणश्रंगारकी छायामात्र ही सम्भव है। "दैवदैलानामुद्धतत्वेन श्रंगारस्य छायामात्रत्वेन निबन्धादिति" (ना० द०,पृ० १२४)।

तीन अंक और तीन शृंगारके साथ-साथ इसमें तीन कपट एवं तीन विद्रव भी आवश्यक माने गये हैं। तीन कपट है—(१) वस्तुस्वभावकृत, (२) देवकृत और (३) अरिकृत। तीन विद्रव है—(१) नगरोपरोधकृत, (२) युद्धकृत और (३) वाताभिकृत।

इस रूपकमें कथाकालकी अविध भी नियत की गयी है। प्रथम अंककी कथा ऐसी होनी चाहिये, जो बारह नाड़ियोंमें सम्पादित हुई हो (एक नाड़ी दो घड़ी, अर्थात् ९० मिनट-की होती है), दूसरेकी कथा चार नाडीमें और तीसरेकी दो नाडीमें समाप्त होनी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इसमें तीन अंक, १२तक नायक, कथा दैवी, छन्द वैदिक तथा युद्ध, आश्चर्य एवं माया इत्यादिका होना माना है। उनका कथन है कि भाषामें इसका कोई उदाहरण नहीं।

गुलाव रायने इसमें १२ नायकोंके पृथक्-पृथक् फल, देव-दानवोंकी कथा, तीन अंक, विमर्श सन्धि एवं विन्दु नामक अर्थप्रकृतिका अभाव और युद्धकी अनिवायता मानी है। 'अमृतमन्थन' एवं भासकृत 'पंचरात्र' इसके उदाहरण दिये गये हैं। —द॰ ओ॰ समवेत गीत-दे॰—'गीत', 'गीतिकाच्य', 'समृहगीत'।

यमण्याद-अंग्रेजी शब्द 'कलैक्टिविडम'का हिन्दी रूपा-न्तर समष्टिवाद है। यह शब्द एक व्यापक सामाजिक ध्रष्टि-कोणका प्रतीक है, जिसके अनुसार सामहिक जीवन, चाहे वह राज्यका हो अथवा अन्य किसी समृह या संघटनका. हर एक व्यक्तिके लिए अनिवार्य है। इस सामहिक जीवनके अभावमें व्यक्ति अपनी नैतिक आत्माभिव्यक्ति नहीं पा सकता । व्यक्तित्वके विकासके लिए कछ परिस्थितियाँ अनि-वार्य है, जिनकी उपलब्धि ऐकान्तिक और निःमंग जीवनमें असम्भव है। समहोंकी सदस्यताके बाद ही ऐसी परि-स्थियोंका सर्जन हो सकता है, जिनमे मनुष्य विकास करे। सामहिक जीवनकी यह अनिवार्यता समृहोके अधिकार और महत्त्वकी स्थापना करती है। इसी नाते समष्टिवाद समष्टि-की शक्ति तथा उसके अधिकारोंको वैयक्तिक शक्ति और अधिकारोसे कहीं बडा मानता है। इस विचारधाराका फल व्यावहारिक क्षेत्रमें सामुहिक निरंकुशता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके अपहरणमें है। इसी दृष्टिसे व्यक्तिवाद (दे०) समष्टिवादका प्रतिवादी दर्शन कहा जाता है।

समष्टिवादकी ऐतिहासिक उत्पत्ति बताना करिन है। समाजके जन्मके साथ-ही-साथ समष्टिवादी दर्शनका भी जन्म हुआ होगा। जब कभी मनुष्यने सामहिक संघटन और सामाजिक उपादेयताकी श्रेष्ठताकी स्थापना की होगी. मलतः तभीसे उसका दृष्टिकोण समष्टिवादी रहा होगा। इस कारण यह बताना कठिन है कि वह पहला मनुष्य कौन था अथवा वह कौन-सी ऐतिहासिक अवस्था थी, जिसमे समष्टिवादी प्रतिमानोंकी सर्जना की गयी। चिन्तनके आरम्भसे ही मनष्य या तो व्यक्तिवादी था अथवा समष्टि-वादी । विचारधाराका प्रथम शृंखलित निदर्शन प्लेटो (४२८-३४८ ई० प०)के दर्शनमे प्राप्त होता है और प्लेटोके बाद-की चिन्तन-परम्पराने कितने ही रूपोंमें समष्टिवादको ग्रहण किया है। आधुनिक समष्टिवादके विभिन्न रूप है। इन रूपोमें अन्य सैद्धान्तिक भिन्नताएँ होते हुए भी इतनी एकरूपता अवस्य पायी जाती है कि ये सब व्यक्तिके अधिकार और उसकी शक्तिपर प्रतिबन्ध लगाते हैं और सामाजिक और सामहिक नियन्त्रणको मानवीय विकासके लिए अनि-वार्य सिद्ध करते है। आधुनिक समष्टिवाद किसी-न-किसी रूपमें व्यक्तिपर सामाजिक नियन्त्रणकी स्थापना करता है और व्यक्ति उस नियन्त्रणकी अवहेळना नहीं कर सकता। मार्क्सवाद (दे०), समूहवाद, संघ-समाजवाद, आदर्शवाद और यहाँतक कि फासिस्टवाद और नात्सीवाद भी समष्टिवादी ष्टिकोणकी ही विभिन्न दिशाएँ है। इन सब व्यवस्थाओं में व्यक्तिवादके लिए कोई स्थान नहीं है।

आधुनिक जीवन इतना संिश्वष्ट है कि मनुष्यने अपने व्यवहारके लिए असीमित संघटनोकी योजनाएँ प्रस्तुत कर ली है। यदि इन संघटनोका सैद्धान्तिक आधार न भी हो, तो भी इन संघटनोका जन्म और विकास हमारी व्यावसायिक सभ्यताकी सापेक्षतामें स्वाभाविक ही है। बड़े-बड़े व्यवसाय-संघोंका उत्तरोत्तर विकास, मिलो और फैक्टरियोंपर सामृहिक नियन्त्रण निश्चित रूपसे हमारी व्यवसायिक संस्कृतिके सम ध्वादी रूपकी ही और संकेत करते हैं। इस प्रकारका समधिवाद व्यावहारिक अनिवार्यता- की दृष्टिमें ही अपेक्षित माना गया है। इसीलिए इसकी 'इम्पीरियल कलैकियदिज्य' कहते है।

समष्टिवाद बहुतसे दर्शनोंकी तरह एकांगी है, क्योंकि यह केवल एक पक्ष-समाजपक्ष-पर ही जोर देता है। इसी-लिए यह व्यापक जीवनका दर्शन नहीं वन सकता। इसके लिए तो इसे व्यष्टिका मूल्य और महत्त्व ऑकना ही पडेगा।

[सहायक ग्रन्थ—मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी: सी० ई० एम० जोड।] —रा० कृ० त्रि०

समस्तरसकोविदा-दे॰ 'प्रौढा' (नायिका)। समस्त-वस्त-विषय रूपक-दे॰ 'रूपक', चौथा प्रकार । समस्या पति-'समस्या' एवं 'पति' इन दो शब्दोंके योगसे समस्या पूर्ति शब्दकी रचना हुई है। सर्वपथम हमें 'समस्या' शब्दका उल्लेख 'अग्निपराण'मे मिलता है। अग्निपुराणकारने 'समस्या'को चित्रकान्यके अन्तर्गत रखा है और चित्र-काव्यको लक्षण इस प्रकार दिया है—"गोष्ठयाँ कुतहलाधायी वाग्वन्धज्ञिन्त्रमच्यते" (अग्निपुराण, अ० ३५३). अर्थात गोष्टीमें पदने मात्रसे कतहल उत्पन्न करने-वाला कविका वाग्वन्य 'चित्र' कहलाता है। चित्रकाव्यके पराणकारने सात भेद बतलाये है, जिनमे समस्यापति भी आ जाती है- "प्रश्न : प्रहेलिका ग्रप्तं च्युतं दत्त तथी-भयम् । समस्या सप्त तदभेदा नानार्थस्यान्योगतः (अ० प्र), अर्थात नाना अर्थीके अनुयोगसे इसके सात भेद होते है — प्रदन, प्रहेलिका, ग्रप्त पद, च्यतपद, दत्तपद, च्यतदत्त पद और समस्या । समस्याके लक्षण अन्तिपराणमें इस प्रकार मिलते है-"'सुरिलष्टं पद्यमेकं यन्नानारलोकांश निर्मितम् । सा समस्या परस्याऽऽत्मपरयोः कृतिसंकरात्" (अग्नि पु०), अर्थात विभिन्न श्लोकांशोसे निर्मित एवं आत्म तथा परकी कृतिसे समन्वित पद्य 'समस्या' कहलाता है। संस्कृतके आचार्योंने 'समस्या' एवं 'समस्यापृतिंको एक ही अर्थमें प्रयक्त किया है और इसी दृष्टिसे उन्होंने दोनोंके एक हो लक्षण दिये है। 'कामसूत्र' दूसरा संस्कृत ग्रंथ, है जिसमे समस्यापतिका चौसठ कलाओं में गणना की गयी है, किन्त समस्याके लक्षणोंपर प्रकाश नहीं डाला गया है: केवल इतना कहा गया है—"रलोकस्य समस्यापरणम् क्रीडार्थ वादार्थं च" (काम॰, अधि॰ १), अर्थात् इलोककी समस्यापित क्रीडा एवं वादके लिये होती है। सामान्य रूपसे, संक्षेपमे किसी पदार्थको कह देनेका नाम 'समस्या' है। संस्कृतका तीसरा ग्रंथ 'शब्द-कलपद्रम' है, जिसमें समस्याका लक्षण 'कामसूत्र'की टीकाके सददा ही है। कोशकारने अपनी न्युत्पत्तिको स्पष्ट करनेके लिए 'माधवी' एवं 'रायमुक्ट' कोषोंको भी उद्धृत किया है, जिनमें समस्याका लक्षण इस प्रकार मिलता है—अर्थात् "भिन्न अभिप्रायवाले व्यक्तिके द्वारा उच्चारित वाक्यके आदि अथवा अंतके जो शब्द हों, उन्हे अपने शब्दोके द्वारा एक पाद, दो पाद अथवा तीन पादसे स्पष्ट कर देना 'समस्या' कहलाता (शब्द-कल्पद्रम, ५।२७०-२७१)। प्राकृत शब्दकोष 'अभिधान-राजेन्द्र'में भी समस्याके उपर्युक्त लक्षण ही दिये गये हैं। समस्यापृतिका उल्लेख राजशेखरके 'काव्यमीमांसा' ग्रंथमें भी मिलता है। राजशेखरने कवि-परीक्षाका अपने ग्रंथमें विश्वाद वर्णन किया है और राजदैनन्दिनिमें समस्या- पूर्तिका आयोजन दिखलाया है, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय समस्यापूर्तिका सम्यक् प्रचार था। राजरोखरने राजाओं के नियत कालका उल्लेख करते हुए लिखा है— "भोजनोपरान्त कान्य-गोष्ठीका आयोजन करना चाहिये। कभी-कभी प्रश्नोत्तर किये जाने चाहिये। तृतीय प्रहरमें कान्य समस्या, मातृवाभ्यास, चित्रयोग आदिका आयोजन होना चाहिये' (१० अ०)। क्षेमेन्द्र अपने प्रन्थ 'क्षिन कण्ठाभरण'में समस्या पूर्तिको क्षिके लिए आवश्यक वतलाते है।

बहाल सेनकृत 'भोज प्रबन्ध'मे समस्या पृतिके अनेक प्रकरण मिलते है-जिनसे समस्या पूर्तिका चरमोत्कृष्ट विकास परिलक्षित होता है। राजा भोज द्वारा दी हुई समस्या "क्रिया सिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे" संस्कृत साहित्यमें विशेष रूपसे उद्धृत की गथी है। समस्या पुर्तिके विकासका यह क्रम बराबर चलता रहा है। संस्कृत-साहित्यके परवर्ती कालके अलंकार यन्थ केशव मिश्रके 'अलंकार शेखर'में कहा गया है—"कुर्वन्ति कवयः शक्ताः समस्या पुरणादिकम्" (पृ० ६३), अर्थात्—समर्थं कवि समस्या पति करते हैं। शेखरकारने कठिन समस्याके अभिप्रायसे समस्याके अनेक प्रकार बतलाये है, किन्तु जिस सूत्र शैलीका प्रयोग किया है, वह अत्यन्त अस्पष्ट है। शेखरकार समस्या प्रकरणके प्रारम्भमे ही लिखता है— "समस्यापृति इन-इन रूपोंमें होती है-प्रदनीत्तरसे, पद भंगसे, शब्दोके प्रारम्भमें अक्षरोके जोडनेसे, यह सार्वत्रिक क्रम है। इन क्रमोमें मिथ्याभिधान नहीं होना चाहिये"।

तेरहवी शतीके एक अन्य प्रन्थ 'कान्य-कल्पलता वृत्ति'में भी समस्यापितका उहेख मिलता है, किन्तु यह उल्लेख भी 'अलंकार शेखर'के सहश ही है; उसमे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं होती। चौदहवी शतीमें ज्योतिरीश्वर ठाकर द्वारा प्रणीत 'वर्ण रत्नाकर'मे चौसठ कलाओके अन्तर्गत समस्यापृतिका 'समस्या प्रण, रूपमे केवल उल्लेख मात्र मिलता है (४ कहोल)। समस्या पूर्ति सम्बन्धी लक्षण अन्य प्रसिद्ध प्राचीन हिन्दीके ग्रंथोमे प्राप्य नही है। सम्भवतः अठारहवीं शताब्दीमें बालकृष्ण कवि द्वारा लिखे गये 'रस-चद्रिका' यन्थमे 'समस्यापृति' सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार मिलता है-"अर्द्धचरणके अर्द्धतसु, तास अर्द है तुक्क, देत जे कबित बनावको ताहि समस्या उक्क" (रस चिन्द्रका), अर्थात् एक चरणका अष्टमांश 'तुक' होता है और उसे कवित्त बनानेके लिए दिया जाता है, अतएव उसे 'समस्या' कहते है। समस्या तथा उसकी पूर्ति-के लक्षण 'कान्य प्रभाकर'के प्रणेता जगन्नाथप्रसाद 'भानु'ने इस प्रकार दिये है- 'समस्या' शब्दका साधारण अर्थ किसी भी छन्दके पूर्ण होनेके लिए शब्द अथवा वाक्य निर्माण करना तथा पूर्तिका अर्थ पूरा करना है, अर्थात् किसी भी छन्दके दिये हुए शब्द अथवा वाक्यको उसके पूर्व अथवा पश्चात् सार्थक शब्दोकी योजना करके पूरे छन्दके रूपमे कर देना" (११वी मयूख)। प्रस्तुत लक्षण निरूपणमे हिन्दीमे प्रचलित धारणाको प्रकट किया गया है।

'काव्य-प्रभाकर'के अतिरिक्त अन्य जो यथ समस्यापूर्तिके सम्बन्धमें लिखे गये हैं, वे इस प्रकार है—गोविन्द गिल्लाभाई

ने 'समस्यापूर्ति प्रदीप', पंडित गंगाधर 'द्विजगंगने 'समस्या प्रकारा', अन्विकादत्त व्यासने 'समस्यापूर्ति सर्वस्व', किशीरीलाल गोस्वामीने 'समस्यापूर्ति मंजरी', कालीप्रासद त्रियेदीने 'समस्यापूर्ति पचीसी', राजा रामपालिनेहने 'समस्यापूर्ति पकाश', 'स्यंनारायणिसहने 'समस्यापूर्ति', आनन्त्र लाल साह गंगोला 'समस्या' तथा पंडित दुर्गादत्त व्यासने 'समस्यापूर्ति प्रकाश' नामके प्रथोकी रचना की। इन प्रथोमे मुख्य रूपसे समस्यापूर्तियाँ संगृहीत है। समस्यापूर्ति सम्बन्धि लक्षण आदि इनमे स्पष्ट रूपसे नही दिये गये है। इस सम्बन्धिम दुर्गादत्त व्यास रचित 'समस्यापूर्तिक लक्षण एवं उद्देश्योपर विचार करते हुए रामशंकर शुष्ठ 'रसाल'के दो लेख 'माधुरी' पत्रिकामे प्रकाशित हुए थे। इनमे समस्याके अनेक भेदोपभेद दिये गये है।

यहाँपर हम 'समस्या' एवं 'समस्यापतिं'के विविध प्रकारोपर प्रकाश डाल देना समीचीन समझते है। समस्या-के विविध भेद-वर्ण, शब्द, पद, अर्थ, भाषा, छन्द तथा अंतहरिके आधारपर इस प्रकार किये गये है-वर्णके आधारपर वर्णिक-जिस समस्यामे कुछ वर्ण ही दिये गये हों। इसके दो रूप हो सकते है—(क) सार्थका—सार्थक-वर्णीवाली समस्या 'सार्थका' है। इसके भी दो रूप हो सकते है—(१) आवृत्ति मूलका—जिसमे वर्णीकी आवृत्तिसे कोई अर्थवान् राब्द वन जाय, जैसे-जय जय। (२) संयोजका, खंडिताथी अथवा अपूर्णार्थी—जिस वर्णिक समस्यामें कोई वर्ण या शब्द अलगसे मिलानेपर सार्थकता आ सके। (ख) निरर्थका — जिस वर्णिक समस्याके वर्ण निरर्थक ही हो, किन्त वे कविकी प्रतिभाके द्वारा सार्थक किये जा सकते हो, जैसे—ठठं ठठठं ठठठं ठठठं। शब्दके आधारपर-शाब्दिक-जिस समस्यामे एक या अधिक शब्द ही दिये गये हों। इसके व्याकरणानुसार निम्न भेद हो सकते है-(क) संज्ञान्मका - जिसमे शब्द किसी एक संशाके रूपमे हों। (ख) सर्वनामातिमका-जिस समस्यामे केवल कोई सर्वनाम ही हो। (ग) किया-तिमका - जिस समस्यामें अपने किसी रूपका कोई क्रिया-पद ही दिया गया हो, जैसे — आवै है, है रहे। (घ) अन्य-यात्मिका - जिस समस्यामें किसी प्रकारका कोई अन्यय पद दिया गया हो, जैसे-नाही और नहियाँ आदि। पद अथवा वाक्यके आधारपर-पदान्मिका वाक्यात्मका - जिस समस्यामें कई शब्दोसे बना हुआ कोई पद, वाक्यांश या वाक्य दिया गया हो, जैसे-'मेरा मन है गयो', 'गरजी गरीबन पै गजब गुजारी ना'।

अर्थके आधारपर—समस्याओंके अर्थको ध्यानमें रखते हुए हम उनको मुख्यतः निम्नरूपोंमे विभक्त कर सकते है— (१) घटनात्मिका—जिसका सम्बन्ध किसी विशिष्ट घटना-से हो और जिससे घटनाको स्वना स्पष्ट रूपसे मिलती हो, जैसे—'भगीरथके संगमे'। (२) वर्णनात्मिका—जिससे यह स्वित हो कि किसीका वर्णन करना ही पूर्तिमें अभीष्ट होगा, जैसे—बसंतकी बहार है, किशोरी कश्मीरकी । (३) सम्भवी—जो सम्भव और साधारण बातको स्वित करनेवाली हो, जैसे "सरोज सकुचत है"। (४) अस-

क्यवी-जिसमें विरोधी शब्दों, पदों या भावोके द्वारा असम्भव बातकी संचना स्पष्ट रूपने रहे। कवि उसे सम्भव एवं चरितार्थ भी कर सके और न भी कर सके, जैसे-जंबक जाय अकासमे रोयो। (५) सामधिक एवं प्रांतिक-जिसका सम्बन्ध किसी विशेष समय या देशकी बातसे हो, जैसे-श्रीधर हमारा था, वीर बारडोली है। (६) विरोधमूला— जिसमें परस्पर विरोधी शब्द या पद विरोधी भावको सन्वित करते हुए रखे हो। (७) हेत्वारिमका अथवा प्रक्ना-तिमका-जिसमे किसी बातका हेत्र या प्रश्न पृछा गया हो, जैसे-'वाहे उदास विष् मनको'। ये मख्य-मख्य भंद उन समस्याओं है, जिनमें भाव या अर्थ स्पष्ट रहता है। जिन समस्याओमें अर्थ या भाव छिपा रहता है, उन्हे हम निम्न रूपोमे विभक्त कर सकते है। (१) गढार्था-जिसमें जटिल पदो या शब्दोसे मुख्य भाव स्पष्ट न होकर गढ एवं गम्भीर रूपमे हो । इसका सम्बन्ध प्रायः ध्वनि, व्यंग्य आदि शब्द-शक्तियोमे होता है, अतएव इन्हें हम ध्वन्यात्मक या व्यग्यात्मक भी कह सकते है, जैसे-कहिहौ कपोलनमे कहिहौ न कानमे। (२) सुच्या—जो किसी भाव या अर्थकी केवल सचना ही देती हो। इसके अन्तर्गत हम, किसी अन्य प्रकारके संकेत देनेवाली समस्या-को भी रख सकते है और उसे संकेतात्मका कह सकते है, जैसे- नेक बोर टाव दई दाहिने नयन की।

भाषाके आधारपर समस्याओके भेद इम प्रकार हो सकते हैं (यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि यह भेद साहिस्यक हिन्दी भाषाके आधारपर ही किये गये हैं)—
(१) अजभाषात्मका—जो बज भाषामें ही हो, जैसे—हैं
रही, भरिबो है आदि। (२) अवधी मूला—जो शुद्ध अवधी भाषामें ही हो जैसे—लीन अवतार है। (३) खड़ी बोली मूला—जो शुद्ध खड़ी बोलीमें ही हो, जैसे—आती है, मनमें। (४) संकर—जिसमें दो या अधिक भाषाओं का मिश्रण हो, जैमें हेरि हेरि हारी किन्तु पाया नहीं आप को। (५) अनिश्चया—जो ऐसी भाषामें हो या ऐसे रूपमें हो कि उमे किसी भाषामें रख सकते हों, जैसे—विराज रहे, लीचन ऐसे।

छन्दके आधारपर समस्याओं के अनेक भेद किये गये है। यहाँ पर छन्दके स्थान विशेषि रखनेके आधारपर समस्याये इस प्रकार विभक्त हो सकती है—(१) आदिगता—जिसमे छन्दके प्रारम्भिक शब्द या पद दिये जाते है। समस्याका यह रूप हिन्दीमे प्रायः पाया नहीं जाता है। (२) मध्य-गता—जिसमे छन्दके मध्यगत चरण, या चरणके मध्यगत शब्दादि दिये जाते है। समस्याका यह रूप मिलता नहीं है, किन्तु समस्याका यह रूप हो सकता है। (३) अंतगता—जिसमे छन्दके अन्तिम शब्दादि दिये जाते है। समस्याका यह रूप बहुत प्रचलित है।

छन्दान्तर्गत विभागोके आधारपर समस्याओके रूप इस प्रकार हो सकते है—(१) पूर्ण जिस समस्यामें किसी छन्दका एक पूरा चरण या पाद दिया गया हो, जैसे—"अंक न आवे मयंक मुखी परजंक पे पारदकी पुतरी सी"। (२) अर्द्धा—जिसमें किसी छन्दके एक चरणका आधा भाग दिया गया हो। (३) अर्द्धाः—

जिसमें किसी छन्दके एक चरणका चतुर्थांश ही दिया गया हो, जैने—'मुखमें कुरंगके'। (४) न्यूना—जिसमें किसी छन्दके किसी चरणमें यति या विरामके अनुसार होनेवाले खण्डों या अंशोंसे कुछ न्यूनांश दिये जाते है, जैसे—यह रीति नई है। (५) अधिका—जिसमें यति या विरामकृत चरणांशोंसे कुछ अधिक अंश दिये गये हों। जैसे—मीताराम सीताराम कहिये।

समस्याके वर्गीकरणका अन्तिम आधार 'अलंकति' है। 'अलंकृति'के आधारपर (२) सान्यास समस्याओं-के अनेक भेद हो सकते है, जैसे-(१) शिलष्ट आदि। इस प्रकार हम देखते है कि उपर्यक्त आधारोपर ही समस्याओंके अनेक रूप एवं भेद किये जा सकते है। समस्याकी भॉति समस्या पृतिके भी अनेक भेद किये गये है। 'भानु'जीने समस्या पृतिके नौ-भेद बतलाये है। (१)-मण्डन-समस्याके अर्थका समर्थन कर देना मण्डन है। इसे साम्यमलक भी कहा जा सकता है। (२)-खण्डन-इसके दो भेद और हो सकते है—(१) भंग पदात्मक (२) अभंग पदात्मक । समस्याके अर्थको समस्याका खण्डन करके अथवा उसके पूर्वमे कोई वर्ण या शब्द योजित करके बदल देना अथवा उसका मिथ्यात्व वतलाकर निषेध कर देना आदि खण्डन है। (३) संज्ञाइलेष—(वस्तु निर्देशात्मक)—जिस प्रिमे समस्यागत किसी वस्तुका पूर्णतया निर्देश किया गया हो, उसे वस्त निर्देशात्मक कहा जाता है, जिसमे रलेष आ भी सकता है और नहीं भी आ सकता है। 'भान' जीने इसका नाम संज्ञा इलेप रखा है। (४)-(क) प्रमाण और (ख) सहोक्ति-'भान'जीने इन दोनों भेदोको अलंकारके आधारपर निरूपित किया है और इन दोनोकी परिभाषाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसे अलंकारीक्ति कहा जा सकता है। अलंकारोंके द्वारा समस्यार्थकी पृष्टि कर पृति करना अलंकारोक्ति कहा जायगा। (५) असम्भव-सम्भवी-कवि-परीक्षा लेनेके लिए कभी-ऋभी असम्भव समस्याएँ दी जाती है. उन असम्भव प्रतीत होनेवाली समस्याओकी भी पूर्ति कवि अपनी प्रतिभासे कर देते है, इसे असम्भव सम्भवी कहा जाता है, जैसे-आधी राधा गोरी है जु आधेकृष्ण स्याम है। (६) विस्तीर्ण-छोटी वातको विस्तारमे कथन कर पति करना विस्तीर्ण है। (७) संकीर्ण-विस्तृत अर्थवाली समस्याका थोड़ेमे कथन कर पृति करना सकीर्ण है (८) संकर-जब कोई पूर्ति उल्लिखित प्रकारके दो या अधिक आश्योंको प्रकट करनेवाली हो तो उसे 'संकर' कहेगे। एक भेद ओर हो सकता है, जिसकी चर्चा 'भातु'जीने अपने यन्थमे नहीं की है-वह है (९) प्रश्नोत्तर परक। जिस पृतिमे प्रदन और उत्तर साथ-साथ दिये गये हो, उसे प्रक्रोत्तरपरक कहा जाता है। इस प्रकार समस्या पूर्ति-के नौ भेद निरूपित हुये है। सम्पूर्ण समस्या पृति-काञ्यमें इन्ही भेदोको हम पाते है-जिनमें 'ममस्यापृतिं 'ने अपनी कलात्मक उत्कृष्टताके साथ-साथ भाव-सम्पत्ति भी यथेष्ट रूपमें प्रदर्शित की है (दे० 'लेखकका अप्रकाशित प्रवन्ध-हिन्दीका समस्या पूर्ति-काव्य)। समाजगीत-दे॰ 'समूहगीत', 'गीतिकाव्य'।

समाजवाद - अगने मूल रूपमें इस शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग १८२७ ई०में 'ओव्नाइट कोआपरेटिव मैग्जीन'में किया गया था। किन्तु इस शब्दसे जिस मूलभूत सामाजिक दृष्टिकोणका पता चलता है, उसका इतिहास इस शब्दकी उत्पत्तिने बहुत पहले ही पारम्भ हो चुका था। अपने लम्बे इतिहासमें इस शब्दने विभिन्न अथोंमें विभिन्न प्रकारकी सामाजिक प्रणालियोंका प्रतिनिधित्व किया है, किन्तु इन अथोंमें भी एक मौलिक एकता है। सबके सब किसी-न-किसी रूपमें सहकारी भावनाको प्रेरित करते है। निःसंग और नितान्त एकांगी जीवन असम्भव है। इसी नाते सब यह मानते हैं कि कोई समष्टिशक्ति अवश्य होनी चाहिये। इस दृष्टिसे समाजवाद एक समष्टिवादी विचारधारा है और इस रूपमे यह शब्द स्वतः समष्टिवाद (दे०)से अधिक प्रयुक्त होता है। व्यक्तिवाद (दे०)की स्वाभाविक प्रतिक्रिया समाजवाद है।

आधुनिक समाजवादके विभिन्न रूप है, किन्तु मौलिक एकता कुछ निश्चित आधारीपर टिकी हुई है। पहला आधार यह है कि समाजका वर्तमान ढाँचा जर्जर है और इसमें परिवर्तनकी आवश्यकता है। दूसरा आधार है कि यदि केवल परिवर्तन ही लक्ष्य हो तो समाजमें परिवर्तनके बाद अराजकता फैल जायगी। इसलिए परिवर्तनके पश्चात समाजको नये आदशैंकि अनुसार संघटित करना चाहिये और इसके लिए सामाजिक स्वरूप बदलनेके पहले नये आदर्श और प्रतिमानोंकी प्रतिष्ठा आवश्यक है। तीसरा आधार है कि ये आदर्श नितान्त सैद्धान्तिक नहीं है और इनकी उत्पत्ति सामाजिक यथार्थके सम्पर्कसे ट्रटकर नहीं हो सकती। ये सहज प्राप्य और व्यावहारिक है। चौथा आधार है कि जिस किसी भी वैषम्यका जन्म मनुष्यने किया है, उसका समाजवाद सम्पूर्ण उन्मूलन करेगा, क्योकि सामाजिक न्यायको अधिष्ठित करनेके लिए विषमताके हर एक स्वरूपको नष्ट करना आवश्यक है। पाँचवाँ आधार है कि आदशीकी व्यावहारिकता सिद्ध करनेके लिए कर्मकी सिक्रयता और निश्चयकी ख़ता अपेक्षित है। छठा आधार है कि समाजवाद केवल व्यवस्थाविशेष ही नहीं है, प्रत्युत वह एक सम्पूर्ण नीवन-प्रणाली और न्यापक जीवनदर्शन है।

समाजवादके प्रारम्भिक स्वरूप प्रागैतिह।सिक कालकी आदिम साम्यवादी संस्थाओं में दीख पड़ते है, जिनका प्रचलन निसर्गसम्मत था। इसीलिए कुछ विचारक इसे समाजवादकी कोटिमें नहीं रखते। प्लेटो (४२८-३४८ ई० प्०)की 'रिपब्लिक'मे साम्यवादी ब्यवस्थाकी एक योजना प्रस्तुत की गयी है, जिसकी स्मृति आज केवल राजनीतिक आदर्शके ही रूपमे शेष रह गयी है। आरम्भिक ईसाई समाजमे भी एक प्रकारका साम्यवाद प्रचलित था, परन्त वह केवल धार्मिक संघटन था, जिसका व्यापक लक्ष्य सामाजिक वस्तुस्थितिका आमूल परिवर्तन नही, प्रस्तुत वह संकीर्ण आर्थिक लक्ष्य था, जिनका सम्बन्ध केवल सबको उपभोगके उपादान सुगमतासे प्राप्त करानेसे था। लेकिन इतना सत्य है कि ईसाई धर्मने मूळ रूपसे मानव-बन्धुत्वकी भावनाको प्रसारित किया था। यह भावना यथार्थवाडी सामाजिक सिद्धान्तोंपर आधारित नहीं थी, इसीलिए इसको सजग, जीवित विश्वास बननेमे कई शताब्दियाँ बाकी थीं।

आधुनिक युगमें मावर्स (१८१८-१८८३ ई०)के कुछ पूर्ववर्ती विचारकोंने समाजवादी छक्ष्यको आधार मानकर समाज-स्मादक से वीजनाएँ प्रस्तुत की थी। किन्तु उनके विचारोमें केवल संकल्पकी पवित्रता ही है, इसिलए उनका समाजवाद म्लतः अवेशानिक है। एंगेल्स (१८२०-१८९५ ई०)ने अपनी पुस्तिका 'सोशलिज्म, यूटोपियन ऐण्ड साइण्टिपिक'मे इस प्रकारके समाजवादको स्विष्ठ माना है। उसके अनुसार मार्क्सवादी समाजवादको ही वैशानिक समाजवाद पक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है।

लेनिन (१८७०-१९२४ ई०)ने मार्क्सवादके तीन प्रधान तत्त्व माने है, परन्तु प्लेखेनीय मार्क्सवादके चौथे अंगके रूपमें त्रीक मौतिकवादको भी स्वीकार करता है। इस प्रकार मार्क्सवादके चार दार्शनिक स्रोत है—(१) ग्रीक मातिकवाद, (२) क्लैसिकल जर्मन दर्शन, (३) मार्क्सका पूर्ववर्ती फ्रान्सीसी समाजवाद, (४) क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्र।

मीक भौतिकवादी विचारक डेमोक्रेटस् (४६०-३६१ ई० प्०) और हेरेक्लिटस् (५४०-४७५ ई०पू०)से मार्क्सने यह यहण किया है कि वास्तविकता भौतिकवादी है और इसकी यथार्थ स्थिति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। आयोनियन विचारको ने भी भौतिकवादी प्रकृतिका निरन्तर परिवर्तित होता रहना स्दीकार किया था, परन्तु हेरेक्किटस्-ने इस सत्यकी ओर संकेत किया कि यह समूचा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोंके संघर्षसे होता है, अतः परिवर्तन ही सत्य है और संघर्ष ही वह प्रणाली है, जिसपर परिवर्तन होता है। क्लैसिकल जर्मन दर्शनसे मार्क्सने दो विचार-पद्धतियाँ ग्रहण की थीं। एक थी हीगेल (१७७०-१८३१ ई०)की द्वन्द्वारमक परिवर्तन-प्रणाली। हीगेल एक तत्त्ववादी विचारक था, किन्तु उसने यह स्वीकार किया था कि सृष्टि-का सारा परिवर्तन विरोधी तत्त्वोके संघर्षसे होता है। हर एक परिस्थितिमें ऐसे उपकरण होते हैं, जो इस परिस्थितिको नष्ट करनेका प्रयास करते है। ये उपकरण उस परिस्थितिके प्रतिवाद है। वाद और प्रतिवादमे नैसगिक संघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप एक तीसरी परिस्थितिका जन्म होता है, जो वाद और प्रतिवादके कुछ अंशोंको समन्वित करके निर्मित होती है।

इस तीसरी परिस्थितिको संवाद कहते है। कालान्तरमे यह संवाद भी वादका रूप ग्रहण करता है और फलस्वरूप इसके प्रतिवादको स्पृष्टि होती है। इस वाद और प्रतिवादके फिर समर्थ होता है, और तब फिर उस नयी परिस्थितिका जन्म होता है, जिसे संवाद कहते है। इसको परिवर्तन-त्रयी अथवा द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-प्रणाली कहते है। इस प्रणालीके अनुसार सत्यका कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। परिवर्तन-मात्र ही सत्य है। कार्ल मार्क्सने होगेलसे इस सत्यको ग्रहण किया। किन्तु जहाँ होगेल विचारोके क्षेत्रमें इस प्रणालीकी प्रतिष्ठा करता है, वहाँ कार्ल मार्क्स भौतिक और सामाजिक यथार्थकी परिधिमें ही इसकी व्यावहारिकता स्वीकार करता है। मार्क्सने होगेलकी परिवर्तन-प्रणालीको

भौतिकवाद(दे०)से संयुक्त किया है। जिस जर्मन दार्शनिक-ने मार्क्सको भौतिकवादकी ओर उन्मुख किया, उसका नाम है फायरवाख (१८०४-१८७२ ई०)। फायरवाख जड पदार्थको ही सत्य मानता है। इसी आधारपर मार्क्सने यह स्वीकार किया कि जड पदार्थ सत्य है और विचार उसकी छाया है। हीगेल और फायरवाखके इस अभिनव समन्वयने मार्क्सके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (दे०) अथवा 'डाइलेक्टिकल मैटरियलिज्म'को जन्म दिया है।

फ्रांसीसी समाजवादसे मावर्सने समाजवादी आदशींको यहण किया। समाजवादी क्रान्ति किस प्रकारसे हो, किन वर्गोंको किस प्रकारसे क्रान्तिके लिए प्रस्तुत किया जाय, ये सब बातें मार्क्सने फ्रांसीसी समाजवादियोसे ग्रहण की। क्लैसिकल ब्रिटिश अर्थशास्त्रकी प्रेरणासे मार्क्सने श्रमिकोको सामाजिक महत्त्व प्रदान किया । ब्रिटिश अर्थशास्त्रियोंके अनुसार किसी पदार्थको मूल्य, अर्थात् 'वैल्यू' प्रदान करनेकी क्षमता केवल श्रममें है। मार्क्सने इस विचारसे इस सिद्धान्त-का निर्माण किया कि हर एक पदार्थका मुख्य श्रम द्वारा निर्मित होता है, किन्तु पूँजीपति मजदूरको उसके श्रमका उचित मूल्य न देकर उसे केवल उसके जीविकानिर्वाहके लिए जितना आवश्यक होता है, उतना ही देता है। इस प्रकारं वह अतिरिक्त श्रम द्वारा निर्मित मूल्यकी कीमत मुनाफेके रूपमें अपने पास रख लेता है। स्पष्ट है कि पुँजीपति इस प्रकार श्रमिकोका शोषण करता है। मार्क्सने इसे 'सरप्लस वैश्युका सिद्धान्त' कहा है।

मार्क्सवाद (दे०) उन्नीसवी शताब्दीके उत्तरार्द्धका दर्शन है। इसको विकासकी प्रेरणा तात्कालिक सामाजिक, भार्थिक और राजनीतिक परिस्थितियोंसे मिली थी। मार्क्सके समयमें व्यावसायिक क्रान्तिने युरोपमे और विशेषतः इंग्लैण्डमें जटिल आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी थी। 'लेसेफेयर' सिडान्तके अनुसार राज्य इन समस्याओं मे इस्तक्षेप नहीं करता था, फलस्वरूप श्रमिकोकी स्थिति गिरती जा रही थी। इसी प्रकार पूँजीपति और श्रमिकोके बीच वर्गसंघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्षमें मार्क्सने श्रमिकोंका साथ दिया। इन परिस्थितियोकी प्रतिक्रिया पहले-पहल मार्क्समे भावनात्मक ही थी, किन्तु बादमे मार्क्सने इसको सैद्धान्तिक रूप देनेके लिए तर्क और वैज्ञानिक अनुसन्धानका सहारा लिया। फलस्वरूप उसने अपनी दृष्टि समाजके विगत इतिहासकी ओर दौड़ायी और सामाजिक प्रगतिका विश्लेषण किया, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद (दे०) कहते है।

मार्क्स समाजवादी दर्शनके दो पहळू है—पहला विश्लेषणात्मक और दूसरा क्रियात्मक । ऐतिहासिक भौतिक वादका सम्बन्ध विश्लेपणात्मक पहळूसे हैं । इसके अनुसार (१) समाजका विकास मंघर्षोंसे होता है । (२) संघर्ष वर्गोंके बीच होते हैं, जिनका विभाजन आर्थिक आधारपर होता है । (३) वर्गसंघर्षोंसे उत्पादन-प्रणालियाँ निर्मित होती है और जब समाजमे परिवर्तन होता है तो उत्पादन-प्रणाली भी परिवर्तित हो जाती है । इस प्रकार नयी आर्थिक व्यवस्थाका स्त्रपात होता है । (४) साहित्य, दर्शन, कला और विज्ञान समाजके तत्कालीन आर्थिक ढाँचेकी प्रतिकृतियाँ

हैं और समाजमें जब कोई नया आधिक परिवर्तन होता है तो उसके फलस्वरूप उसका साहित्य, कला, दर्शन और विज्ञान भी परिवर्तित हो जाता है। (५) नयी आर्थिक प्रणाली पहलेसे विकसित होती है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतिक्रियावादी हो जाती है और सामाजिक विकासको अवरुद्ध करती है। अतः उस आधिक प्रणालीमे भी धीरे-धीरे परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। ये परिवर्तन पहले तो मात्रात्मक होते है, परन्तु बादमे चलकर गुणात्मक रूप धारण कर हेते है। नयी आर्थिक प्रणाली गुणात्मक परिवर्तनोके बाद ही आती है। (६) मात्रात्मक परिवर्तन आमूल परिवर्तनकी शृखलामे एक कड़ी है। केवल गुणात्मक परिवर्तन ही आमूल परिवर्तन हो सकता है। लेनिन और स्टालिनने क्रान्तिको गुणात्मक परिवर्तनका साधन माना है। (७) वर्तमान समाज पूँजीवादी समाज है। मजदूरोंके संघटन ही इस समाजमे गुणात्मक परिवर्तन कर सकते है। इसके फलस्वरूप जो सामाजिक न्यवस्था आयगी, उसे साम्यवाद (दे०) कहते है।

मार्क्सवाद, अपने क्रियात्मक पक्षमें, पूँजीवादी ढाँचेको किम प्रकार बदलना चाहिये, इसपर विचार करता है। मार्क्तने अपनी 'थीसिसेज आन फायरवाख'मे अन्तिम थीसिसमे लिखा है कि "दार्शनिकोने अवतक केवल संसार-का विक्लेषण वि.या है। अब वह समय आ गया है कि हम इसका परिवर्तन कर हैं"। परिवर्तन कर्म है, इसीलिए मार्क्सवादको लोग कर्मवादी दर्दन भी मानते है। मार्क्सने क्रान्तिको परिवर्तनका साधन माना है और जो वर्ग क्रान्ति कर सकता है वह मार्क्स अनुसार सर्वहारा वर्ग (दे०) है। इसीलिए मार्क्सने इस नारेको जन्म दिया-"संसारके श्रमिको, एक हो जाओ, क्योंकि तुम्हे अपनी गुलामी छोडकर और कुछ नहीं खोना है"। सर्वहारा-वर्ग क्रान्तिसे सर्वप्रथम सर्वहारा अधिनायक वादकी रचना करेगा, जिसमें सर्वहारा-वर्गका राज्य होगा । कि.न्तु धीरे-धीरे समाज वर्ग-विहीन हो जायगा, राज्य पूर्णतया नष्ट हो जायगा और साम्यवादी समाजकी रचना होगी। समाजवाद इस साम्यवादी समाजकं भूमिका है। समाजवादका सिद्धान्त है-''हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसके कामके अनुसार देना चाहिये"। विन्त साम्यवादका सिद्धान्त इससे भिन्न है। इसके अनुसार "हर एकसे उसकी योग्यताके अनुसार काम लेना चाहिये और उसको उसकी आवश्यकताके अनुसार देना चाहिये"।

मार्क्सवादी दर्शनमें हमें एकांगी सत्यके दर्शन होते हैं। सारा मनुष्यसमाज आर्थिक संघर्षोंसे ही प्रेरित होकर विकसित होता है, यह केवल आंशिक रूपमें ही सत्य है। मार्क्सका श्रीमकवर्गोंसे भावनात्मक सम्बन्ध था। इसी सम्बन्धको उसने तार्किक रूप देनेका प्रयास किया है। सिंड्नी हुक्के इस कथनमें बहुत-कुछ सत्य है कि "मार्क्सने इतिहासके तर्क और भावनाके काव्यको समन्वित करनेका प्रयास किया है"।

समाजवादके मार्क्सवादी रूपके अतिरिक्त और भी रूप है, जैसे श्रेणीमूलक समाजवाद अथवा 'गिल्ड सोशलिज्म', संव-समाजवाद अथवा 'सिण्डिकैलिज्म' और राज्य-समाज- वाद अथवा 'स्टेट सोशलिंडम' या 'फेवियन सोशलिंडम'। संघममाजवाद फांगीसी आन्दोलन है, जिसके अनुसार सारे समाजको आर्थिक संधर्पोंमें बांटनेका प्रयास किया गया है। मजदूरोकी इडतालें ही उसका साधन है। राज्य-समाजवाद अंग्रेजी आन्दोलन है, जिसका उत्तराधिकार इंग्लेण्डकी लेकर पार्टीको प्राप्त है। राज्य-समाजवाद ब्रिटिश व्यक्तिवाद और मावर्सवादको बीच समझौता बरनेका प्रयास करता है। यह मावर्सवादको भाँति उत्पादनके साधनोंपर सामूहिक नियन्त्रण चाहता है, किन्तु ब्रिटिश व्यक्तिवाद सम्बन्धित होनेके नाते यह संसदीय शासन-प्रणाली और राज्यकी उपयोगिताको भी स्टोकार करता है, अतः इसका लक्ष्य कम्युनिस्टोकी भाँति क्रान्ति नहीं है, वरन् विधानवादी तरीकोसे चुनाव लडकर पालियामेण्टमे समाजवादी बहुमत बनाकर समाजवादको रचना करना है। मूल रूपसे इसकी प्रकृति उदारवादी है।

समाजवादका प्रभाव अनिवार्य रूपसे विश्वके प्रत्येक साहित्यपर पडा है, क्योंकि उसने कलाकारकी सजग चेतनाको नथी दिशाओका संकेत दिया है। हिन्दी साहित्य-में समाजवादी कविताएँ दो भागोंने बॉटी जा सकती है। पहले भागमें वे कवि और कविताएँ है, जिनका सम्बन्ध समाजवादी आदशोंसे है, किन्तु जिन्होंने अपनेकी किसी पार्टी मेनिफेस्टोमे वॉथनेका प्रयास नही किया है। इस रूपमें इन कवियों और इन कविताओंने सामान्य वर्ण और रंगोमे जीवनके सामान्य स्तरको चित्रित करनेका प्रयास किया है। इनके कृतित्वमे छायावादकी अस्पष्टता और रनिप्तलता नहीं है। जीवित यथार्थके सम्पर्को ही इनका कान्य-सत्य जनम लेता है, विन्तु कही-कही इस यथार्थका साक्षात्कार भावनात्मक स्तरपर न होकर बौद्धिक स्तर-पर हुआ है (सुमित्रानन्दन पंतको 'ग्राम्या'को भूमिका देखिये) । अधिकतर इन कविताओं मे उन्मेष और सामाजिक न्यायकी प्रतिध्वनियाँ मिलती है। भगवतीचरण वर्माकी 'भैसागाडी' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। 'निराला'ने भी ऐसी कविताएँ लिखी हैं, जिनमे पथपर पछताते आते हुए भिखारी और सड़कोंपर पत्थर तोड़नेवाली स्त्रियोका चित्रण है। ऐसी कविताएँ मूल रूपसे न्यायप्रिय कलाकारकी नैसर्गिक प्रतिक्रियाएँ मात्र है।

दूसरे वर्गमें वे कित उच्छेखनीय है, जिन्होंने समाजनादी राजनीतिक आन्दोलनके साहित्यक संस्करण प्रस्तुत किये है। हिन्दी साहित्यमे इस साहित्यक आन्दोलनको एक विशेष संशाप्रदान की गयी है, जिसे प्रगतिवाद (दे०) कहते है। प्रगतिवाद ने साहित्यक गुटबन्दीका भी निर्माण किया है, जो विभिन्न लेखकसंबोंके रूपमें व्यक्त हुआ है। इन लेखकसंबोंके अनुसार समाज और राजनीतिका सत्य ही कलाका चरम मापदण्ड है। कलात्मक सत्य यदि प्रगतिशील सामाजिक वर्गोंका साथ नहीं देता तो उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। सामाजिक वस्तु-स्थितिसे कलाका यह यान्त्रिक लगाव केवल कलाके विघटनकी ही सूचना नहीं देता, वरन् कलाके स्थानपर उस साहित्यका सर्जन करता है, जो कालान्तरमें ऐतिहासिक महत्त्वका ही रह जायगा। जब कलाका सम्बन्ध सामाजिक वस्तु-स्थितिन

स न होकर किसी पाटोंके मेनिफेस्टोसे हो जाता है तो वह रिथित अत्यन्त होचनीय होती है। बहुत-कुछ मात्रामें प्रगतिशील लेखकोंने पाटों मेनिफेस्टोके आधारपर ही कलाका निर्माण किया है। इस परिस्थितिमें कलामें सामाजिक वस्तु-स्थितिका चित्रण न होकर उस यथार्थका चित्रण है, जो और कुछ भी क्यों न हो, 'यथार्थ' तो है ही नहीं।

'प्रगित्शिल' साहित्यका सर्जनात्मक पक्ष हो नहीं, प्रत्युत समीक्षात्मक पक्ष भी दुर्वल है। इसका समीक्षाका मानदण्ड पार्टी मेनिफेस्टोके अनुमार प्रायः बदलता रहता है। प्रगित्शिल साहित्यमे सर्वत्र यान्त्रिकता ही व्याप्त है। प्राप्तिश्चाल साहित्यमे सर्वत्र यान्त्रिकता ही व्याप्त है। मात्राकी दृष्टिसे तो इस साहित्यके गुणोंकी इसमें न्यूनता है। कही-कहीं इस साहित्यमे पतनोन्मुख मध्यवर्गीय मनोवृत्तिका अच्छा चित्र मिलता है, जैसे यशपालके 'मनुष्यके रूप' नामक उपन्यासमे। अधिकतर तो इसमें पार्टी सिद्धान्तोंकी ही भरमार है। यथार्थवादी रोमांसके लेखक रमाप्रसाद विविडयाल 'पहाडी'की कहानियाँ और उपन्यास, यशपालका 'देशद्रोही' और 'दादा कामरेड', नागार्जनकी व्यंग्य कविनाएँ और उपन्यास, अमृत रायकी कहानियाँ और उनका 'बीज' नामक उपन्यास प्रगतिशील साहित्यकी प्रमुख कृतियाँ है।

ऐसा नहीं कि प्रगतिशील साहित्यका भारतीय सामाजिक चेतनाके विकासमें कोई स्थान ही नहीं है। कम-से-कम प्रगतिशील लेखकोने अपनी कृतियों द्वारा समाजकी जन-वादी और उदारवादी परम्पराको सुरक्षित रखनेका प्रयास किया है। उनमें साहित्यिक न्यूनता है, किन्तु भविष्यमें हो सकता है कि जीवनके प्रगतिशील मानदण्ड और कला-त्मक वैभवमे समन्वय म्थापित हो सके। प्रत्येक युगमें कला और सामाजिक उपयोगिताके प्रश्नोको उठाया गया है। ठीक वही प्रश्न इतिहासको इस वर्तमान स्थितिमे हमारे सामने भी है। लोकसंग्रह और कलाका समन्वय ही इस प्रश्नका समाधान है।

और [सहायक यन्थ-राष्ट्रीयता नरेन्द्र देव ।] —-रा० क्र० त्रि० समाजवादी यथार्थवाद-दे॰ 'सामाजिक यथार्थवाद'। समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद - (sociological relativism) — यह एक मानी हुई बात है कि जीवन उतना ही और वैसा ही नहीं है, जिनना और जैसा समाज-विशेष अथवा युग-विशेष द्वारा जाना गया है। प्रत्येक समाज अथवा युग उसके पक्ष-विशेषका ही साक्षात्कार कर पाता है, यद्यपि प्रायः सभी समाज अथवा युग अपनेको पूर्ण जीवन-दृष्टि-सम्पन्न तथा अन्य समाजो अथवा युगोंको स्नान्तजीवन-€ष्टि-सम्पन्न सिद्ध करनेका दावा करते पाये जाते है। समाजदर्शन इन विभिन्न की बनह है हैं के हैं है है सत्य सिद्ध करता है। इसके अनुसार दर्शन और धर्म, साहित्य और कला, कानून और नीति-नियम, राजनीति और अर्थनीति प्रभृति विविध सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाएँ एवं प्रवृत्तियाँ, नित्य, सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर समाजानुसारी अथवा युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न समाजों अथवा युगोंमें भिन्न हो जानेकी बाध्य है। किन्हीं दो समाजों अथवा युगों- मे ये संस्थाएँ और प्रकृतियाँ एक-सी नहीं होती। स्पेम्लरके अनुसार तो संस्कृति-संस्कृतिकी आत्मामें इतना भारी भेद हैं कि उनके बीच परस्पर आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं। एक संस्कृतिकी चिन्ताथाराको अन्य संस्कृति विकृत करके ही समझ सकती है। यूनानके अरस्तूको यूनानियोने ही ठीक-ठीक समझा था, अरबों और गाँथोने तो उसे अपने-अपने ढंगपर गलत रूपमे ही ग्रहण किया था। सचमुच किसीको 'तीन अरस्तुओं'—यूनानी, अरबों और गाँथीय—का इतिहास लिख डालना चाहिये था, जिनके बीच एक भी धारणा अथवा विचारको समानता नहीं पायो जाती। स्पेम्लर स्पष्ट कहता है कि सत्य किसी विशिष्ट मानवताको अपेक्षासे ही सत्य हुआ करता है, कोई सत्य सार्वजनीन और सार्वकालक नहीं।

यह तो सभी मानेंगे कि प्रत्येक समाज अथवा युगके सत्य-असत्य, नीति-अनीति, औचित्य-अनौचित्य, द्युभ-अद्युभ सम्बन्धी अपने प्रतिमान और मानदण्ड होते है और उन्हीं आधारपर उस समाज अथवा युगके विषयमे निर्णय देना चाहिये। किसी अन्य समाज अथवा युगके मानदण्डसे नापनेपर हम भ्रामक निष्कर्षपर ही पहुँचेंगे। यह सत्यो, मृत्यो एवं प्रतिमानोकी सापेक्षताका सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद नामसे अभिहित किया जाता है।

इसी शतीमे 'शानका समाजशास्त्र' (सोशियालॉजी ऑव नालेज) नामसे एक नयी उपविद्याकी प्राण-प्रतिष्ठा हुई है, जो मानवीय सत्योंकी समाजशास्त्रीय व्याख्याका प्रयत्न करती है। इसका समाजशास्त्रीयं सापेक्षवादसे घना सम्बन्ध है। —ह॰ ना॰

समाधि १-(समाहित) वाक्य-न्यायमूल अर्थालंकार, जिसमें 'काकतालीयन्याय'के अनुसार अकस्मात् किसी कारण अथवा अन्य कर्ताकी उपस्थितिसे प्रधान कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धि होती है। कौएके तालवृक्षपर वैठनेसे तालफलके अकस्मात् पतन जैसी अचानक घटनाको काकतालीयन्याय कहते है। इस प्रकार, जहाँ आकस्मिक कारणोके योगसे कर्ताके कार्यकी अनायास सिद्धिका वर्णन हो, वहाँ समाधि अलंकार होता है। यह प्राचीनोसे चला आनेवाला अलंकार है। मम्मटके अनुसार "सम।धिः सुकरं कार्य कारणान्तर-योगतः" (का० प्र०, १०: १२५), अर्थात् जहाँ कतिपय अन्य कारणोके योगसे कार्य सुगम हो जाय। दण्डी तथा भोजने इस अलंकारका उछेख 'समाहित' नामसे किया है। दण्डीका लक्षण इस प्रकार है—"कि चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः। तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्" (कान्यादर्श, २: २९८), अर्थात् किसी आरम्भ किये हुए कार्यके सम्पादनके साधनका दैववशात् जुटना । विश्वनाथने कार्यके अनायास होनेके लिए आक-स्मिक कारणको स्वीकार किया है।

हिन्दीमे प्रारम्भसे ही इसको स्वीकृति मिली है। मति-राम, भूषण, चिन्तामणि तथा पद्माकर आदिने 'काव्य-प्रकाश'की परिभाषाको 'चन्द्रालोक' आदिके आधारपर स्वी-कार किया है—"दूजे कारनके मिले काजु जु हरवर होह" (चिन्तामणि), अथवा—"और हेतुके मिलेते सुकरु होत जह काज" (भूषण, १०: २८९)। भिस्नारीदास द्वारा निरूपित लक्षण अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण है—"क्यों हूँ कारजको जतन, निपट सुगम है जाय। तासो कहत समाधि रूखि, काक तालके न्याय" (का० नि०, १५)।

'किविकरपतरु'मे चिन्तामणिका प्रस्तुत उदाहरण—"हिर चाह्यो पगपरनको, मानवती लखि वाम। भई तिहत घनस्याममें, निरिष्ठ तिहत घनस्याम"। इसी प्रकार नायिका प्रसंगका उदाहरण सोमनाथने भी दिया है—"निरखनकों तिय बदन छिब, पठई डोिट मुरारि। उत ह्याँ चपल समीर-ने, वूँघट दियो उघारि" (र० पी० नि०) अर्थात् समीरके ह्योकेम अवगुण्ठनके खुल जानेके कारण मुखकी छिब देखने-का कार्य अनायास ही सिद्ध हो गया है। रीतिकालके किवयोने अभिसारके वर्णनोमे इसका मुन्दर निर्वाह किया है।

संस्कृतमे भोजने 'समाधि'की अलग परिभाषा की है— अन्यके भर्मोंका अन्यत्र आरोपण करना—''समाधिमन्य-धर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः'' (स० क०, ४:३२)। हिन्दी-के प्रमुख आचार्य केशवदासने भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—''होत न क्यो हू होत जहं दैवजोगतें काज'' (क० प्रि०, १३:१)। दहाँ कार्य न होनेवाला है, परन्तु केशव-ने उदाहरण दण्डीका ही दिया है (दे० 'काव्यहेतु', चौथा हेतु तथा 'हठयंग'।

समाधि २-पतंजलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है (यो० सू०, १: २)। योगशास्त्रके ममींसे यह बात छिपी नहीं है कि यहाँ 'योग'का अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्तिके निरोध द्वारा योग सम्पन्न होता है और चित्त-वृत्तिके निरोधसे ही समाधि भी सम्पन्न होती है। वित्तवृत्ति-के सम्यक निरोधके सम्पन्न हो जानेपर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही कैवल्यकी अवस्था या मुक्ति योगशास्त्रका परम प्राप्य है। समाधिका फल भी मुक्ति या कैवल्य ही है। विष्णु पुराण (७म् अंदा)मे स्पष्ट घोषित किया गया है कि-"विनिष्पन्न समाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निद्ग्धकर्मचयोऽचिरात्" इस प्रकार योगशास्त्रमें 'योग' और 'समाधि' समनाथीं शब्द है। वृत्तिनिरोधका अर्थ है किसी एक इच्छित विषयपर चित्तको स्थिर रखना। लेकिन यह काम है बहुत ही कठिन। गीता-मे अर्जुनने इसे वैसा ही दुष्कर बताया है, जैसा हवाको बाँध रखना दृष्कर है (गीता, ६: २४) और पतंजलिकी ही नरह ('अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः',-यो० स्०, १: १२) श्रीकृष्णने चित्तवृत्ति या मनकी स्थिरताके लिए अभ्यास और वैराम्यको आवस्यक बताया है (गीता, ६:३५)। समाधि इसी स्थिरताका वाचक राब्द है। इस विषयमे अभ्यास और वैराग्य ज्यों-ज्यो बढते जाते है, योग या समाधि त्यों-त्यो घनीभूत होती जाती है और सर्वोच अवस्थामे पहुँचकर असंप्रज्ञात समाधिके रूपमे पूर्ण होकर कैवल्य या मुक्ति देनेमे समर्थ होती है। स्पष्ट है कि असंप्रज्ञात रूप चरमपरिणतिके पूर्व इस समाधिके और भी कई पूर्ववत्ती रूप होते है। यहाँ एक क्रमसे उन्हे समझ लेना चाहिये।

'योग स्त्र'में पतंजिलने दो भिन्न प्रकारकी समा-धियोंकी चर्चा की है—एक संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात समाधि और दूसरी, आठ योगांगोमे परिगणित समाधि (यो॰ स्॰, ३:

३ तथा २: २º)। लक्ष करनेकी बात है कि 'समाधिपाद'मे स्त्रित संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात नामक समाधियाँ साध्य है और 'साधनपाद'ने योगांगोके अन्तर्गत डव्लिखित समाधि साधन है जो चित्तवृत्तिके निरोधने सम्पन्न होती है। इस चित्तकी पाँच भूमियाँ मानी जाती है-क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाञ और निरुद्ध । भाष्यकार व्यासका मत है कि "स (= समाधि) च सार्वभौमश्चित्तस्यधर्मः" अर्थात् उक्त सभी चित्तभूमियोमे समाधि हो सकती है। लेकिन इनमें से प्रथम दो चित्तभूमियोकी समाधि योगके योग्य एकदम नहीं है। तृनीय, अर्थात् विक्षिप्त चित्तमे उत्पन्न समाधिमे सभी विक्षेप संस्कार रहते तो है, पर अप्रधान भावसे, अतः कदाचित् इसमे चित्त स्थिर हो भी जाता है, किन्त योगशास्त्र इसे भी कोई महत्त्व नही देता। शेष दो चित्तभूमियाँ योगकी दृष्टिने काफी महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों-में बँधनेवाली समाधियोकी चर्चाके पूर्व प्रथम तीन चित्त-भूमियों और उनमे लगनेवाली समाधियोंकी प्रकृतिको समझ लेना चाहिये।

चित्तभूमिका अर्थ है चित्तकी सहज-स्वाभाविक अवस्था। श्विमभूमिक चित्त अपनी सहज अवस्थामे रजोगुणप्रधान होनेके कारण बहिर्मख और अस्थिर होता है, अतः समाधि-के लिये जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति अपेक्षित होती है, उतनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति इसमें नहीं होती। राग, द्वेष, हिंसा आदिने बुरी तरह मथित क्षिप्तचित्तमे कभी-कभी समाधि लगती देखी जाती है। पाण्डवोसे पराजित होकर प्रवल देषसे मथित जयद्रथका चित्त शिवमें समाधिस्य हो गया था, ऐसा उल्लेख 'महाभारत'में मिलता है। योग क्षिप्तिचत्तकी इस समाधिको समाधि नहीं मानता और न इसे कोई नाम ही देता है। दूसरी चित्तभूमि मृढ़ कहलाती है। अपनी सहज अवस्थामे यह तमोगणप्रधान है। यह चित्तकी विवेकशन्य, अर्थात् कार्य-अकार्यके विचार-से हीन स्थिति है। इस भूमिकामे स्थित चित्त किसी इन्द्रिय विषयमें मुग्ध होनेके कारण समाधिस्थ हो जाता है। कामासक्तिकी गहनतम स्थितियोंमे इस तरहका मृटचित्त बहुधा समाधिस्थ हो जाता है। भस्मासुरकी पौराणिक कथा इसका अच्छा उदाहरण है। चित्तकी तीसरी भूमिका विक्षिप्त कहलाती है। इसमें किसी प्रवल विक्षेपके कारण स्थिरताप्राप्त चित्त अस्थिर और अस्थिर चित्त स्थिर हो जाता है। अपनी सहज अवस्थामे विक्षिप्त चित्त सत्त्वगुण प्रधान है, परिणामतः दःखके साधनोको छोडकर सखके साधनोकी और प्रधावित होनेकी इसकी सहज प्रवृत्ति है। अतः किसी भी प्रबल अकर्षणवश इसकी सारी स्थिरता भन्न हो सकती है। पुराणोमे ऐसे अगणित आख्यान मिलते हैं, जहाँ अप्सराओके सौन्दर्य एवं शृगार-चेष्टाओंपर मुग्ध होकर अनेक ऋषि योगभ्रष्ट हो गये हैं। विश्वामित्र विक्षिप्त-भूमिक चित्तके अप्रतिम उदाहरण है। किसीकी स्तुतिसे खुश हुये तो उसे हर अपराध और पापके बावजूद सदेह स्वर्ग भेज देगे, नथी सृष्टि, नये स्वर्गकी रचनामें प्रवृत्त हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन एक क्षणके लिए ंध्यान दूसरी ओर गया नहीं कि त्रिशंक आकाशमे लंटके रहें, कोई चिन्ता ही नहीं। भूख लगी तो अधापर सारी वृत्तियाँ ऐले एकतान हो जायँगी कि करणीय-अकरणीय, भक्ष्याभक्ष्यकी सारी चेनना विलीन हो जायगी और चाण्डालके घरसे सडे कुत्तेकी जंघा चुरानेमे भी कोई हिचक नहीं होगी। तपस्या करेंगे तो ऐसी कि विश्वनह्माण्ड कॉप उठे और मेनकाको सीन्द्रये और विलास चेष्टाओपर मुग्ध होंगे तो वधों और सब कुछको एकदम विरम्रत ही कर बैठेगे। तात्पर्य यह कि विक्षिप्तभूमिक चित्तकी समाधि अस्थिर होती है। योगका सर्वप्रमुख या एकमात्र लक्ष्य है कैवल्य, जो सम्पूर्ण चित्तिरोधके बिना सम्भव नहीं। इसके लिये सारे विक्षेपोंका दूर होना अनिवार्य है। विक्षिप्तभूमिक चित्तकी समाधि इसी कारण कैवल्यका साधन नहीं वन सकती। अतः योग इस समाधिको महत्त्व नहीं देता और न कोई भिन्न नाम ही देता है। योगमे आहत समाधि चौथी चित्तभूमिसे चुक् होती है।

चित्तकी चौथी भूमिका एका अभूमिका कहलाती है। चित्त जब बाह्य विषयोसे हटकर एकाकार वृत्ति धारण करता है तो उसे एकाय, अर्थात् मात्र एककी ओर उन्मख या मात्र एकका अवलम्बन वारनेवाला कहा जाता है। एक वृत्तिके निवृत्त होनेपर उसके बाद उदित होने-वाली वृत्ति भी यदि प्रथमवृत्तिके अनुरूप हो उठे और आगे भी उसी तरहकी अनुरूप वृत्तियोंका प्रवाह चलता रहे तो इस प्रकारका चित्त एकायभूमिक कहा जाता है। पतंजिलने कहा भी है-- " शान्तोदितौ त्तल्य प्रत्ययौ चित्तस्येकाम्रतापरिणामः'' (यो० स०, ३: १२) -- अर्थात चित्त के एकाय हो जानेपर उसमे उठने, उठकर विकीन (शान्त) होने तथा फिर नये सिरेसे उठने (उदित होने)वाली वृत्तियोंकी एकरूपता (तुल्य प्रत्यय) स्वभावतः अनिवार्यं परिणामकी तरह उपस्थित होती है। एकाग्रचित्तका लक्षण है ध्रवा-स्मृति, अतः इस अवस्थामें मन दिनमें, रातमे, जागते, सोते यहाँ तक कि स्वप्नमें भी एकही मूलभूत लक्ष्यपर एकाम रहता है। यो कहे कि एकाग्रता उसका स्वभाव बन जाती है। चित्तकी अवस्थामे कैवल्य या मोक्षकी इसी एकतान-एकाग्र साधिका सम्प्रजात समाधि सभ्पन्न होती है। संप्रजात समाधिमे चित्त भी सभी वृत्तियोंका (दे० 'चित्त-वृत्ति') निरोध नही होता, बल्कि ध्येयरूपम अवलंबित विषयको आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्त्तमान रहती है और निरन्तर अपने अनुरूप वृत्तिप्रवाहको उत्पन्न करती रहती है। जिस प्रकार विक्षिप्त चित्तको एकाय बनानेके लिए अभ्यास (यो० स्०, १। १३) तथा वैराग्य (यो० स्०, १: १५; दे०-वैराम्य)की आवस्यकता होती है (यो० सू०, १: १२), उसी प्रकार एकाग्रचित्तको निरुद्ध करनेके लिए भी अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है। संप्रज्ञात समाधिकी अवस्थामे एक लक्ष्यपर स्थित चित्त वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता नामक चार भावोंका अनुसरण करता है (यो॰ स्०, १:१७)। अतः इसके पारस्परिक भेदके अनुसार संप्रज्ञात समाधिके कमराः चार भेद होते है-सिवतर्क समाधि, सविचार समाधि, सानन्द समाधि तथा अस्मिता-मात्र या सास्मित समाधि।

सवितर्कसमाधिमें चित्त राब्द, अर्थ, ज्ञान और

संस्कारोके साथ-साथ लय हो जानी है तो ऐने चित्त

विकल्पसे युक्त और किसी रथू लविषयपर एकाय होता है। शब्द-जैसे 'गाय', अर्थ-इस 'गाय' शब्द या पदसे संबोधित या संकेतित होनेवाला चतुष्पद जन्तु विशेष; ज्ञान-गाय शब्दने अभिहित और गाय अर्थसे बोधित जन्तुविद्योष सम्बन्धी जानकारी; वितर्क-नाम, नामी तथा नाम-नामी-सम्बन्धी ज्ञान तीनों एक दूसरेसे भिन्न है, किन्तु साधारण अवस्थामें इनमे एक सम्बन्धकी स्थिति अनुभूत होती है। यही वितर्क है। इन्ही चारोमे युक्त होकर चित्त जब स्थुल विषयपर एकाय होता है तो चित्तकी इस समाधि दशको सवितर्क समाधि या सवितर्क संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। जहाँ वितर्क न हो, ऐसी यह समाधि निर्वितर्क समाधि कहलातो है। सवितर्क और निवितर्क दोनोंको एक ही नामसे भी प्रकारा जाता है-वितर्भानगत संप्रज्ञात समाधि (यो॰ सू॰, १:४२)। भंप्रज्ञात समाधिका दूसरा प्रकार है सविचार समाधि। इसे वितर्क-विफल भी कहा जाता है। वितर्क-विकल, अर्थात् वितर्क रूप अंगमे हीन । यह समाधि सवितर्क समाधिकी अपेक्षा कुछ अधिक सुक्ष्म विषयों (तन्मात्रादि)का अवलम्बन करके साधित एकाग्रताको दशामें सम्पन्न होती है। सवितर्क समाधिकी भॉति यह भी शब्दार्थज्ञानसे सम्बद्ध है, क्योकि शब्दके विना विचारहम्भव नही हैं, वस उससे अन्तर यही है कि यह सूक्ष्म विषयोंसे सम्बन्धित होती है। सविचारकी तरह निर्विचार नामकी भी समाधि होती है। इन दोनोको विचारानगत समाधि कहते है। सानन्द-समाधि संप्र-शातका तीसरा प्रकार है। यह वितर्क और विचारसे हीन तथा चित्तकी विशेष स्थिरताके फलस्वरूप चित्तमें न्याप्त सख मय भावविशेषपर अवलम्बित समाधि है। इसमें शब्दकी उतनी अपेक्षा नहीं होती, वयोंकि अनुभ्यमान आनन्दकी समाधि है और आनन्द शब्दातीत है। यह विचार और वितर्क दोनोंसे दीन होनेके कारण विचार-वितर्क-विकल समाधि भी कहलाती है। इस अवस्थामे प्राप्त सुखसे संयुक्त होकर योगी ध्यान और कर्ममे रमण करता है। संप्रज्ञात समाधिका चौथा रूप सास्मित समाधि है। स्थूल और बाह्य विषयोंको तथा वितर्क एवं विचारको आश्रय करके लगनेवाली प्रथम दो समाधियाँ विषयसे सम्बन्धित होती है। सानन्द समाधि उहण विषयसे और सास्मित समाधि महीत विषयसे सम्बद्ध होती है। महीत विषय अर्थात् "मे आनन्दका ग्रहण करनेवाला हूँ", इस प्रकारका अहं इस समाधिका विषय होता है। इसीलिए इसे आनन्द-विफल, अर्थात आनन्दसे अतीत (आनन्दसे हीन या निरा-नन्द नहीं) माना है। सानन्द समाधिमें समरत साधनोसे सम्पन्न आनन्द ही उसका विषय होता है, जब कि सारिमतमें उस आनन्दका ग्रहण या भोग करनेवाला 'अहं' ही इसका विषय होता है। इस समाधिकी अवस्थामे योगी वृद्धिके साथ आत्माको अभिन्न मानकर एकाञ्चता प्राप्त करता है। रपष्ट है कि संप्रज्ञात समाधिके इस सर्वोच्च स्तरपर पहुँच कर भी पूर्णतया निरुद्ध नहीं हुआ रहता। इसका पूर्ण निरोध चित्तकी पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर होता है। वित्तकी पाँचवी भूमि 'निरुद्धभूमि' कहलाती है। एकाग्रम्मिक चित्तकी एकाकारवृत्ति भी जब अन्य

को निरुद्ध कहा जाता है। चित्तकी इसी अवस्थामें योग-शास्त्रमे सर्वाधिक आहत असंप्रज्ञात समाधि सम्पन्न होती है। इस अवस्थामे चित्तको सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है। असंप्रज्ञात समाधिके अभ्यास द्वारा जब चित्त सदा सर्वदाके लिए निरुद्ध और स्ववश हो जाता है, तभी कैवल्य या मुक्ति मिल जाती है। इस अवस्थामे किसी प्रकारका संप्रज्ञान नहीं रहता, अतः इसे असंप्रज्ञात समाधि कहते है, पर वैराग्य (दे०--३राग्य) इस समाधिका साधन है। इस समाधिमें बोई भी चिन्त्यपदार्थ नहीं रहता। यह समाधिदशा अर्थ-शन्य है और इसका अभ्यास करने-वाला चित्त निरालम्ब सौर अभावापन्न सा होता है। पतंज्रिने इस समाधिको 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः' (यो० स्०, १: १८) कहा है। साथ ही उन्होने इसे 'संस्कारजोष' भी कहा है (वही)। नात्पर्य यह कि इसमें चित्तवृत्तियाँ नो निरुद्ध हो जानी है, पर संस्कार फिर भी बच रहता है। चित्तके दो धर्म माने जाते है-प्रत्यय (कारण) और संस्कार । चित्तके निरुद्ध हो जानेपर प्रत्यय नहीं रहता, किन्तु प्रत्यय पुनः उठ सकता है, अनः निश्चित है कि प्रत्ययका संस्कार इस अवस्थामे भी चित्तमे रहता है। पर वैराग्यके बार-बारके अभ्याससे कुछ दिनो बाद उद्योधक सामग्रीके न मिलनेसे संस्कार समाप्त हो जाते हैं। असंप्रज्ञात समाधिको कुछ लोग निर्वीज समाधि मी कहते है, पर इनमें थोड़ा अन्तर है। असंप्रज्ञान कैवल्य-को सिद्ध करनेवाली समाधि है, जब कि निवीं ज कैवल्यका साधक नहीं भी हो सकती। योगसूत्रके टीकाकार विज्ञानभिक्ष-ने इस भेदकी और ध्यान न देकर इन्हे एक ही माना है। अमंप्रजातको विरोध समाधि भी कहते है। समाधिके प्रसंगमें धर्ममेघ समाधिका उल्लेख भी आवश्यक है, वैसे इसपर अलगसे विचार किया गया है। — रा॰ दे॰ सिं॰ समाधि गुण-दे॰ 'गुण', दसवॉ प्रकार । समानिका -विभिक्त छन्डोमें समवृत्तका एक भेद; इस छन्द-को 'वाग्वलस'मे चामर, 'वाणीभूषण' और 'प्राकृतपैंगलम्'-मे समानिका नाम दिया है। रगण, जगण और गुरुके योगसे इस छन्दका चरण बनता है (SIS, ISI, S) । केशव-ने प्रयोग किया है—"राज मण्डली लसै; देवलोकको हसै" (रा० चं०, २:४)। समापनवक्रता-३० 'प्रवंधदक्रता', दूसरा नियामक । समाप्तपुनरुक्ति-दे० 'शब्द-दोप', आठवॉ 'वाक्य-दोप'। समालोचना - 'समालोचना'का शब्दार्थ है सम्यक् रूपसे देखना-सम 🕂 लोच् (लोच्) 🕂 टाप् । साहित्यिक रचनाका भली भॉति परीक्षण, विइलेषण आदि कर तत्सम्बन्धी स्वसम्मति या निर्णय देना ही समालोचना है। परन्तु आलोचना और समालोचनाका एक ही अर्थमे प्रयोग होता -- ल० सा० वा० है (दे० 'आलोचना')।

समासोक्ति-सादृश्यगर्भके गम्यौपम्याश्रय वर्गका विशेषण-

वैचित्र्यमूल प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला अर्थालंकार ।

द्वारा अप्रकृत अर्थका अभिधान" समासोक्ति है (का० सा०

मं०. २: १०)। कय्यक तथा मम्मटकी व्याख्या समान है—"इसमें प्रस्ततार्थवीयक वावयके द्वारा किसी दूसरे अप्रस्तुत अर्थका वोध होता है और यह प्रकृत तथा अप्रकृत दोनो अर्थोंका प्रतिपादन प्रयुक्त विशेष्यवाचक पदकी मामर्थिमे न होकर, विशेषणवाचक थ्रिष्ट पदोके महत्त्वसे सम्भव होता है" (का० प्र०, १०: ९७ वृ०)। विश्वनाथ इसी भावको इम रूपमें प्रस्तुत करते है—"समान कार्य, लिंग तथा विशेषणोंसे अप्रस्तुत वस्तुका व्यवहार प्रस्तुत क्स्तुओंप आरोपित विया जाना" (सा० द०, १०: ५६-५७)। जयदेव तथा अप्पय दीक्षितने स्रकृम रूपसे केवल यह लक्षण दिया है—"पिरम्फृतिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य" (चन्द्रालोक, ५: ६२), अर्थात् प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका स्फुरण होना।

हिन्दीके आचार्योंने प्रायः इन्हीका अनुसरण किया है-"अप्रस्तृत जु फुरै सु प्रस्तत मॉझ" (भा० भू०, ९४), अथवा-"जहँ प्रस्तृतमें होत है अप्रस्तृतको ज्ञान" (ल० ल०. १६२) । प्रायः भेदोंका उल्लेख नहीं किया गया है। टाम वाचक तथा क्षेष, दो भेटोंका कथन करते है (का॰ नि०, १२) । आधुनिक विवेचकोंमें कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथके भेडोंको स्वीकार किया है—विशेषण, लिंग तथा कार्यकी समानना और इन तीनोंमें श्लिष्ट तथा साधारणके भेद । उदा० "विकसित मख प्राची निरावि रविकरमौ अनु-रक्त। पाचेतम दिसि जात सिस, है दुति मलिन बिरक्त" (अ० मं०, ३१७)। यहाँ प्रभातके प्रस्तुत वर्णनमे श्लिष्ट वि । पणोंके द्वारा विलासी पुरुषरूप अप्रस्तुतकी प्रतीति भी होती है। अथवा-"सहज सुगन्ध मदन्ध अलि, करत चहुँ दिसि गान । देखि उदित रिव कमिलिनी, लगी मुदित ममकान" (अ० मं०, ३२१)। यहाँ प्रस्तुत कमलिनीके वर्णनमे इलेषरहित विशेषणोंसे अप्रस्तृत नायिकाके व्यवहार-की प्रतीति होती है। अथवा-"पीली पड़ निर्बल कोमल देहलता कुम्हलायी । विवसना लाजमें लपटी सॉसोंमे शून्य समायी" (स॰ न॰ प॰ : का॰ द०से)। यहाँ लिगकी समता-से अप्रस्तृत रुग्णा बालाके वर्णनका स्फुरण है। रीतिकालीन आचार्योंके द्वारा प्रस्तृत समासोक्तिके उदाहरण प्रायः अस्पष्ट है। इस अलंकारका प्रयोग प्रेमाख्यानक काव्यमें नायिकाके सौन्दर्यवर्णनमे तथा छायावादी काव्यमें प्रकृतिपर मानवीय मधु क्रीड़ाओंके आरोपमे विशेष रूपसे मिलता है।

आचार्योंने इलेषके समान समासोक्तिके विषयको दुरूह माना है, क्योंकि यह प्रायः इलेष तथा एकदेशिववितित रूपकके साथ धुल-मिल जाता है। प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित रलेषमें विशेष्यवाचक पद श्लिष्ट होते है। प्रकृत-अप्रकृत उभय आश्रित रलेषमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों विशेष्योका मिन्न-मिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाता है। समासोक्तिमें दोनों विशेष्योंका मिन्न-मिन्न शब्दोंसे कथन नहीं होता, केवल प्रस्तुत विशेष्यका ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों द्वारा ही अप्रस्तुतका बोध हो जाता है। एकदेशिववर्त रूपकमें प्रस्तुनमें अप्रस्तुतका आरोप किया जाना है, उपमान अपने रूपसे उपमेयको आच्छा-दित कर लेता है, परन्तु समासोक्तिमें उस रूपका आच्छा-दन नहीं होता, वरन् प्रस्तुत व्यवहारके द्वारा अप्रस्तुतक

व्यवहारकी प्रतीति भर होती है। O 5---समाहारवाद-सामहारका अर्थ होता है समन्वय। परस्पर विरोधी तत्त्वोंको या चीजोंको 'एव.लेविटसिज्म' या सब जगहसे थोडा-थोडा मधुकरी वृत्ति-से संग्रह करना, इस हिकारतभरे अर्थमे पश्चिमी आलोचना-में यह शब्द प्रयुक्त होता है। समन्वय या संइलेषण स्वाभाविक हो तो उचित, वर्ना यह केवल बाह्य रूपसे अन-मेलको मिलाना अधिक दिन नहीं चलता। तर्कको अवस्था-मे ऐसे समाहार सम्भवनीय होते है, परन्त व्यावहारिक या प्रत्यक्ष धरानलपर समाहारवाद एक विचित्र गँठजोडवाली (काम्प्रौमाइजिग) स्थितिमें हमें डाल देना है। अच्छे अथाँ-में हमारे यहाँ शैव-वैष्णव, शैव-बौद्ध और हिन्दू-मुस्लिम पद्धतियोंका समाहार भी प्राप्त होता है। समाहित-दे॰ 'रसवत्' आदि।

समीक्षा-समीक्षा अर्थात् अच्छी तरह देखना, जॉच करना-सम्यक ईक्षा या ईक्षणम् । किसी वस्त, रचना या विषयके सम्बन्धमें सम्यक ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्त्वका विवेचन करना समीक्षा है। जब साहित्यके सम्बन्धमें उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके विविध अंगो, गुण-दोप आदि-विभिन्न तत्त्वों और पक्षोंके सम्बन्धमे सम्यक् विवेचन किया जाता है, तो उसे 'साहित्यिक समीक्षा कहते' है। साहित्यके विविध तत्त्वों और रूपोंका स्वयं दर्शन कर दूसरोंके लिए उसे द्रष्टव्य बनाना ही समीक्षकका कर्म है। भारतवर्षमे राज-शेखरने अपनी 'कान्यमीमांसा'में साहित्य-समीक्षाका सूत्र-पात वि.या था और औचित्यवादियोने उसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। यूरोपमे ईसा पूर्व पाँचवी दाताब्दीसे इस प्रणालीका प्रचार माना जाता है। शास्त्रमे समीक्षाका अर्थ है भाष्यके बीच प्रकृत विषयको छोडकर दूसरे विषयपर विचार करना। यद्यपि कुछ विद्वान् 'चारों ओरसे देखना', 'आलोचना' और 'सम्यक् दृष्टिसं ज्ञान. प्राप्त करना' (समीक्षा)में अन्तर उपस्थित करते है और 'समीक्षा'को अधिक व्यापक रूप प्रदान करते है, तो भी व्यावहारिक रूपमें 'आलोचना' और 'समीक्षा'का प्रयोग लगभग एक ही अर्थमे होता है। 'आलोचना'के अन्तर्गत उन सब बातोपर विचार किया जाता है, जिनपर 'समीक्षा'के अन्तर्गत किया जाता है (दे॰ 'आलोचना')। -- ल॰ सा॰ वा॰ समचय-वाक्यन्यायम्ल अर्थालंकार, जिसमे किसी कार्यकी सिद्धिके हेत् तुल्य बलवाले अनेक पदार्थीका समुच्चय होता है। समुच्चयका अर्थ है 'एक साथ इकट्ठा होना।' प्रस्तुत अलंकारकी प्रवृत्ति 'विवलप'के सर्वथा विपरीत है । उसमे-दो तुल्य बलवाले पदार्थीमे एक ही काल और स्थितिमे विरोध होता है, विन्तु इसमे तुल्य बलवालोंकी एक कालमे एकत्र स्थिति होती है। रुद्रट तथा रुय्यक्से इस अलंकारकी विवेचना निरन्तर होती रही है। रुद्रटने समुच्चथको त्रिविध सत्, असत् तथा सदसत्के योगके अनुसार माना है (कान्यालं , ७: १९), अर्थात् कार्यके उत्तम साधनोका योग, असत् साधनोंका योग तथा सत्, असत् दोनोंका योग । मन्मटके अनुसार-"तिस्पिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्य-त्तकरं सवेत्" (का० प्र०, १०: ११६), अर्थात् किसी प्रस्तृत कार्यकी सिद्धिके वर्णनमें एक कारणके रहते अन्य कारणका समावेश किया जाना । मम्मटने रुद्रटके विभाजनको अपने लक्षणके अन्तर्गत घटित बतलाया है और गुण-क्रियाके योगसे तीन भेदोंका प्रतिपादन किया है—गुणका योग, क्रियाका योग तथा गुण-क्रियाका योग 'सत्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः' (वहीं) । 'साहित्यदर्पण'के लेखक विश्वनाथने इस मतको स्वीकार किया है।

हिन्दीके आचार्योंने इस अलंकारकी विवेचनामें जयदेव तथा अपय दीक्षितसे प्रेरणा प्राप्तकी है। पर ये अपने दृष्टिकोणमे बहुत स्पष्ट नहीं है। संस्कृतके आचार्यीने प्रमुखतः समुचयके दो भेद किये है। प्रथम समुच्चय-किसी कार्यको सिद्धिके लिए एक साधनके होनेपर भी अन्य साधनोका उसी कार्यकी सिद्धिके सहायक तत्त्वके रूपमे कथन किया जाना । हिन्दीके आचार्योने प्रथम समुच्यके लक्षण "बहुत भये एक बारगी तिनकी गुम्फ जी होय" (ल० ल०, २७७), "एक बार ही जह मयो बहु काजनको वंध" (शि॰ भू॰, २५४) आदि दिये है। चिन्तामणिके 'कविकल्पनर'मे "एकसिद्धकर संग मिलि औरी साधक होय" और दासके 'काव्यनिर्णय'मे "एकै करता सिडिके औरो होंइ सहाइ" अधिक स्पष्ट लक्षण है । इसके विस्तारकी ओर प्रायः ध्यान नही दिया गया । इसी प्रकार द्वितीय समृच्चय-गुण या कियाका अथवा गुण और किया दोनोका एक ही कालमें वर्णन अथवा इनकी स्थिति। पर हिन्दीके आचार्योंके लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं है—"वहसि बरन बह हेत जॅह एक काजकी सिद्धि" (ल० ल०, २७९), अथवा-"वस्तु अनेकनको जहाँ बरनत एकै ठौर" (शि॰ भ्०, २५६) आदि । कन्हैयालाल पोहार तथा रामदहिन मिश्र आदि आधुनिक आचार्योंने इस विभाजनको प्रस्तुत किया है।

प्रथम समुचयके तीन प्रकार किये गये है—(क) सद्योग, उत्तम कारणोंके थोगका समुचय-"तात वचन पुनि मात्र हित भाइ भरत अस राउ । मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य प्रभाउ" (रा० च० मा०, २)। इसमे पिता दशरथकी आङ्गा राम-वन-गमनके लिए साधनरूपमे पर्याप्त थी, किन्तु उसकी सिद्धिके लिए कैकेयीकी स्पृहा, भरतकी राज्यप्राप्ति एवं मुनिजनोके दर्शनरूप उत्तम साधनो-का समुचय किया गया है। (ख) असद्योग, असत् साधनो-के योगका समुचय-"धन जीवन वल अग्यता, मोह मूल इक एक। दास मिलें चारचो तहाँ, पैसे कहाँ विवेक" (का० नि०, १५)। यहाँ धन और यौवन आदि चारोंमे एककी प्राप्ति ही उचित-अनुचितके विवेक-नाशके लिए पर्याप्त है, किन्तु यहाँ चारो असत् साधनोंका समुचय किया गया है। (ग) सदसद्योग, सत् तथा असत् कारणोके योगका समुचय-"दिनको दुति मंद सु चंद सरोवरको अरिबन्द विहीन लखावै। ''खल राजसभा गत सातहु ये लिख कंटक लौ हियमे चुभि जावै" (रुय्यक्रमे अनु० कन्हैयालाल पोदार) । इसमे सत् तथा असत् दोनां प्रकारके साधनोंका समुच्चय है।

द्वितीय समुच्चयके तीन प्रकार हैं—(क) गुण, एकसे अधिक गुण (निर्मलता, मधुरता आदि)का समुच्चय— "सुन्दरता, गुरुता, प्रभुता भिन भूषन होत है आदर जामै"

(शि० भू०: २५७)। (ख) क्रिया, अनेक क्रियाओंका समुच्चय-"तव ही ते देव देखो देवता-सी हँसति-सी, खीझित सी रीझित-सी रूसित रिसानी-सी (भा॰ वि॰)। (ग) गुणकिया, अर्थात् दोनोंका एक साथ समुच्चय-"आठीतूही बतादे इस विजय विनामै कहाँ आज जाऊँ। दीना हीना अधीना ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ" (सा०: ९), यहाँ दीना, हीना, अधीना आदि गुणों तथा 'द्ं' और 'पाऊं' आदि क्रियाओंकी एक ही कालमें स्थिति है। —वि० स्ना० समूहगीत-लोकजीवन प्रारम्भने सामृहिक रहा है, अतः उत्सव, उल्लास, कार्य-व्यापारमें सामृहिकता सदासे स्पष्ट रही है। साम-गान समृहपरक था। स्तुनियाँ सामृहिक थी। जिस संस्कृतिकालमे व्यक्ति एक अलग इकाई न होकर समाजका अविच्छिन्न अंग और अंशमात्र था, उस समय ही समहगीतका उद्भव और विकास हुआ। संस्कारोके अवसर सामृहिक जीवनकी चेतनाको ही स्पष्ट करते है। जन्म, विवाह आदिके अवसरोंपर ऐसे गीत गाये जाते है। सामाजिक जीवनकी विच्छिन्नताके कारण इन गीतोकी प्रथा क्रमशः कम होती जा रही है। वर्मकरोंका समृह अपने श्रमको भुलावा देनेके लिए सामृहिक रूपसे गायन करता है, जैसे रोपनीके गीत, वंजारोके गीत, नाविकोंके गीत। इन गीतोमेसे कुछमे वर्गगीत भी आ जाते हैं, क्योंकि वर्गगत भावनाओं और धारणाओंकी अभिव्यक्ति रहती है। समहगीतमे सामूहिक गायन, अर्थात् गायन-पद्धतिपर विचार किया जाता है और वर्गगीतमें अभि-व्यक्ति और विचारधारापर। सामृहिक रूपसे गाये जाने-वाले गीत वर्ग-भावनासे मुक्त रह सकते है और वर्गगीतका गायक अवेला व्यक्ति भी हो सकता है। लोकगीतोकी परम्पराको सीमित साहित्यिक रूप देनेका प्रयास प्रगति-वादियोने किया, क्योंकि मार्क्क अनुसार दर्शनका प्रयोजन जीवन-पद्धतिका परिवर्तन है । अतः इन कवियोने वर्गगीतों-की रचनाके द्वार। भारतीय जनताकी वर्गचेतनाकी उभारने-की चेष्टा की। इस दृष्टिसं वर्गगातके दो वर्ग है-वर्ग-विशेषकी धारणाको व्यक्त करनेवाले गीत और वर्गचेतनाको उभारनेके लिए लिखे गये गीत । प्रथम कोटिके गीत अना-यास और अचेतन भावसे धारणा और भावनाको अभिन्यक्त करते है और दूसरे प्रकारके गीत सायास एवं बौद्धिकता-मुलक सिद्धान्तवादी है। प्रथम प्रकारके गीतोके रचयिता अज्ञात-कुल-शील व्यक्ति थे और दूसरे प्रकारके गीतकार मार्क्सवाद और वर्गसिद्धान्तके सचेष्ट उपदेशक और व्याख्याता है। चर्चरीका अर्थ चौराहा है, अतः चौराहों-पर गाये जानेवाले सामृहिक गीतका नाम चर्चरी हुआ। होली, फाग आदि उत्सव सम्बन्धी गीत भी समवेत रूपसे गाये जाते है और वे समृहर्गात है।

समाजगीत भी सामूहिक गीतका एक अंश है। समूहमे सामूहिक गायनकी पद्धतिपर वल है तो समाजगीतमे समूहकी सामाजिक परिणितकी साकांक्ष अभिन्यक्ति। भारतीय समाज विभिन्न स्तरों, जातियों और सम्प्रदायोंमे विभक्त है। प्रभाती, वैवाहिक गीत आदि शुद्ध सामूहिक गीत है, किन्तु कृषि सम्बन्धी गीतोंमे अधिक

समाजगीत है, क्योंकि इनसे कृषक समाजकी समस्याओ, आशाओं, निराश(ओ) अभिन्यंजना रहती है। विभिन्न जातियोके सम्बन्धवाले गीत भी समाजगीतके अन्तर्गत आते है। इनके अतिरिक्त एक प्रकारके समाजगीत है, जो विभिन्न थामिक सम्प्रदायोनें प्रचलित है। निर्मृत नामक गीत इसी परम्पराका दोतक है। जोगीड़ा इसी प्रकारका एक गीत-भेद है, जो बादगे चलकर विकृत हो गया। **समूहगीतों**का एक विभेद उत्सवगीत है, जिनका सम्बन्ध विद्येष उत्सवों और पर्वोसे है। सामूहिक जीवन और लोकमानसका परिचय इनके द्वारा मिलता है। होली इसका अन्यतम उदाहरण है जिसे फाग भी कहते है। सन्त साहित्यमे इसका नाम बसन्त भी है। क्वीरने अपनी होलीमें आत्मा-परमात्माकी मिलनोत्कण्ठा और आनन्दका वर्णन किया है। -रा० खे० पा० समृहवाद-समूहवाद एक प्रकारकी समष्टिवादी विचार-धाराका प्रतीक है। इस विचार-पद्धतिमे व्यक्तिगत जीवनपर सामूहिक नियन्त्रणकी सार्थकता स्वीकार की जाती है। सामृहिक नियन्त्रण कई प्रकारका होता है, क्योंकि व्यक्तिके जीवनका सम्पर्क समाज और समाज-स्थित विभिन्न समूहोसे होता है। सम्पर्कके इन्ही माध्यमोसे सामूहिक नियन्त्रणों-की स्थापना होती है और इन सम्पर्भोंके मुलमे मनुष्यकी सामाजिक भावना निहित है। समूहवाद मनुष्यकी अन्तः-प्रवृत्तियो और इन्हीं अन्तःप्रवृत्तियो द्वारा प्रभावित बौद्धिक संकरपको ही सामाजिकताका कारण मानता है। अतः समृहवादी सामाजिक और सामृहिक संघटनोका विद्रलेपण करनेके लिए मनुष्यके मनोवैज्ञानिक गठनका भी परीक्षण करते है। इसीलिए समूहवादका दार्शनिक आधार समाज-शास्त्रीय मनोविज्ञान, अर्थात् 'सोशल साइकॉलोजी' है।

उपर्युक्त रूपमे समूहवाद वीसवी शतीका दार्शनिक आन्दोलन है। किन्तु मध्य युगकी समूह व्यवस्था भी एक प्रकारकी समूहवादी स्थिति ही थी। यह दूसरी बात है कि मध्ययुगीन समूह-व्यवस्थाका सैद्धान्तिक आधार मनोविज्ञान न होकर सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियोकी अनिवार्यताएँ थी। मध्य युगमे यूरोपमें समाजवाद सर्वत्र व्याप्त था और इस नाते यूरोपीय संस्कृतिका समूचा रूप ही संघात्मक हो गया। आधुनिक युगमें जब समूहोकी महत्त्वाका विश्लेषण प्रारम्भ हुआ तो बहुत-से आधुनिक विचारकोंने अपनी दृष्टि मध्ययुगकी ओर हाली। इस दृष्टिसे आधुनिक युगमें राजनीतिक आन्दोलन भी चलाये गये और इन आन्दोलनोंका ध्येय राज्यकी सम्प्रभुताको विभिन्न धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक समुदायोंमे वॉटनेका था। अतः यह कहना भी सत्य है कि समूहवाद राज्यकी निरंकुशताकी प्रतिक्रिया है।

आधुनिक युगमें समूहवादको मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया गया है। मनोवैज्ञानिकोने समाज और उसके विभिन्न समूहोंके जीवनका परीक्षण आरम्भ किया और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि मनुष्यकी विकसित समाजभावनाकी उत्पत्ति सुदूर अतीतमे ही आदिम मानवकी जाति, गोत्र और समूहभावनामें हो गयो थी और प्रानैतिहासिक कालके आदिम मानवोंसे हमारी परम्पराने संस्कारके रूपमें इसे महण किया है। समयका अन्तराल पाकर ये संस्कार हमारे आन्तरिक जीवनके उस स्तरपर उत्तर आते है, जहाँ वह सहज, नैसिंगक अन्तः प्रवृत्तियोंका रूप थारण कर ठेते है। हमारी समाज-भावना इन्हीं आन्तरिक प्रवृत्तियोंसे प्रस्फुटित होती है।

समृहवादने मनुष्यकी अन्तर्हित सामाजिकताका अध्ययन दो दृष्टिकोणोंसे किया है। पहला दृष्टिकोण तो यह है कि समूहवादी मनुष्यके मनोवैज्ञानिक संघटनपर विचार करता है। तत्परचात् वह इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि समाज-भावना उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है, जिसे उसने आदिम मनुष्यका वंशज होनेके नाते प्राप्त किया है। इस प्रकारके इष्टिकोणकी रेखाएँ व्यक्तिकी सीमित मनोवैज्ञानिक परिधिमें ही घूमती रहती है। आधुनिक युगमें ट्राटर, ग्रेहम बैलेस और मैक्ड्रगलने इस दृष्टिकोणको अपनाकर समृहोंकी व्याख्याका प्रयास किया है। ट्राटरके अनुसार मनुष्यमे आत्मरक्षा, प्रजनन और अपने अहम्से स्नेहकी प्रकृति-प्रदत्त भावनाएँ छिपी है। ये भावनाएँ मानवको पूर्णतया स्वसीमित बना देती, यदि उसके भीतर सामाजिकताकी भावना साथ-ही-साथ न होती। अतः समाजकी उत्पत्तिका कारण मनुष्यका बौद्धिक संकल्प न होकर उसकी नैसर्गिक अन्तः प्रवृत्तियाँ है । ग्रैहम वैलेस भी ट्राटरके समान समाज-की उत्पत्तिका तर्क मानवकी अन्तर्निहित प्रवृत्तियोमें पाता है, किन्तु वह ट्राटरसे एक पग आगे जाकर इन अन्तः-प्रवृत्तियोपर समाज द्वारा बौद्धिक नियन्त्रणकी माँग प्रस्तुत करता है। मैक्डूगलकी समाज-व्याख्यामे ट्राटर और वैलेस-से कही अधिक मनोवैद्यानिकताका अंश है। उसके अन-सार मनुष्यके भीतर ग्यारह अन्तःप्रवृत्तियाँ है और इन्हीं-मेसे कुछ ऐसी भी है, जिनसे समाज और समूहोका जन्म होता है। ट्राटर, भैहम वैलेस और मैक्डूगलकी न्याख्याएँ व्यष्टिगत मनोविज्ञानके आधारभूत तत्त्वोका प्रक्षेपण समाज-में करती है।

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि समूहवादी सर्वप्रथम समूहोंकी स्थिति और संघटनपर विचार करना है। तन्परचात वह इनकी अनिवार्यता सिद्ध करता है। अमेरिकामें आधुनिक कालमें इस विचारधाराका यथेष्ट प्रचलन हुआ है। रासका नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय है। रास समूहोंके नियन्त्रणको आवश्यक मानता है, किन्तु इस नियन्त्रणको कल्पना वौद्धिक है।

इस प्रकारते समूहवाद मनोविज्ञानके क्षेत्रमें नये मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी सर्जना करता है, जिसे समूह-मनो-विज्ञान अथवा 'प्रृप साइकॉलोजी' कहते है।

समूहवादने एक निश्चित प्रकारकी समाजवादी परम्पराकों भी प्रमावित किया है जिसे श्रेणी-संब-समाजवाद अथवा 'गिल्ड सोशिल्डम' कहते हैं। श्रेणी-संब-समाजवाद समाजवाद और मध्ययुगीन समूह ज्यवस्थासे प्रभावित हुआ है। समाजवादसे प्रभावित होनेके नाते यह उत्पादनके साथनी-पर सामृहिक नियन्त्रणकी माँग करता है और समाजको आर्थिक वर्गोंमें न विभाजित कर समूहोमें विभाजित करता है। इस दृष्टिसे मध्ययुगिकी समूह-ज्यवस्थाने श्रेणी-संब-समाजवादको प्रभावित किया है। जीवनमें नाना प्रकारके

कर्म हैं और इन्हीं कर्मों के लेकर समाजमे विभिन्न समुदायोंकी रचना की गयी है। श्रेणी-संघ-समाजवाद समाजकी
सम्पूर्ण सत्ता राज्यके हाथोसे छीनकर इन्ही धार्मिक,
सामाजिक, आर्थिक और सांरक्षतिक समुदायोंको हस्तान्तिरित करता है। बीसवी शतीके प्रारम्भमे यह समाजवाद
इंग्लैण्डमे राजनीतिक आन्दोलनके रूपमे विकसित हुआ,
परन्तु राजनीतिक परिस्थितियोकी कठोरताने बहुत ही अल्प
कालमें इसकी शक्ति क्षीण कर दी। इस आन्दोलनके प्रतिनिधियोंके रूपमें जी० डी० एच० कोल और हॉब्सन्के
नाम उल्लेखनीय है।

समूहवाद अपने विभिन्न रूपोंमें समष्टिकी अनिवार्यतापर इतना अधिक वल देता है कि उसकी पद्धिनमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको सामाजिक जीवनमें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। राज्यको निरंकुशतापर जब कहीं भी इसने कठोर प्रहार किया है तो उसके स्थानपर इसने समृहकी निरंकुशताको स्थापित करनेका प्रयास किया है। ऐसी स्थितिमें समृहवाद जीवनका एकांगी दर्शन है। समग्र जीवनका सफल दर्शन प्रस्तुत करनेके लिए समृहवादको व्यष्टि और समष्टिके सम्बन्धोंको नये प्रतिमानोंकी श्वंखलामें जोडनेका प्रयास करना पड़ेगा, इस ऐतिहासिक सत्यमे कम-से-कम आज कोई सन्देह नहीं।

सिहायक प्रनथ-मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी: सी० ई० एम० जोड । -रा० क० त्रि० सरमायादार-इसका फेंच पर्याय बूर्जुआ है। हर एक धनी व्यक्ति सरमायादार नहीं हो सकता। केवल वहीं व्यक्ति सरमायादार है, जो अपने धनको पूँजीमे परिणत कर व्यापारमे लगाता है। -रा० कु० त्रि० सरस साहित्य-सरस साहित्य सामान्यतः ललित साहित्य-का पर्यायवाची है और कथा, नाटक, काव्य आदिके लिए ही उसका प्रयोग होता है। परनत अन्तर यह है कि उसमें कान्यकी आत्मा 'रस'की और अधिक ध्यान दिया जाता है, भाषालालित्यकी ओर उतना नही। जिन रचनाओंमें बौद्धिक उत्कर्ष या विचारोका ऊहापोह है, उन्हे प्रायः सरस साहित्य नहीं कहा जाता। इस प्रकार 'सरस साहित्य'की सीमा 'ललित साहित्य'की सीमासे कम हो जाती है। परन्त यहाँ 'सरस' शब्दमें जिस 'रस' शब्दकी प्रतिष्ठा है, वह शास्त्रीय अथवा लोकोत्तर संवेदनासे कुछ भिन्न स्तरकी वस्तु है। इसलिए मनोरंजन अथवा सहृदयतापूर्ण रच-नाओंको भी सरस कहा जाता है। प्रेमके उभय पक्षोंके चित्रणसे लोकप्रिय प्रेम-रोमांसकी सृष्टि होती है जो 'सरस साहित्य'के अन्तर्गत आती है। वास्तवमें साहित्यकी परि-पूर्णता उसकी सरसतामे है और शब्दार्थके जिस सहमाव-की कल्पना साहित्यमे है, उसमें रमणीयता और सरसताका समावेश अनिदार्थ है। पश्चिमी वैज्ञानिक विवेचन-शास्त्रको तर्कबद्ध और प्रमाणशद्ध ही मानता है। अतः पश्चिमी दृष्टि काव्य और शास्त्र अथवा सरस और गम्भीर (अतः 'उपयोगी') साहित्यको दो विरोधी सरणियाँ मानकर चलती है।

वास्तवमें सरस साहित्य और उपयोगी साहित्यमें मुख्य अन्तर अभिभ्यंजनाका है। शास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञका आग्रह

विद्यद्ध सत्यके प्रति है, अतः वह तथ्यको ही प्रधानता देता है। कहा-कहा अपने तथ्यको सस्पष्ट और प्रभावशाली वनानेके लिए वह उदाहरण, उपमा आदि अलंकारीने भी काम अवस्य हे हेता है, परन्तु अहंकृतिकी ओर उसकी दृष्टि नहीं होती। वह सोलह आने सत्यका उपासक है। परन्त उपन्यासकार, नाटककार और काव्यप्रणेता किसी भी निरपेक्ष सत्यका दावा नहीं करते। ये अपनी अनुभृति-को वाचकोतक पहुँचाना चाहते है। अनुभृति स्वयं रसा-त्मक वस्त है और उसे प्रस्तत करते समय मानसके कोमल उपकरणोसे भी सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। फलरवरूप, वाचक तथ्यसे कुछ अधिक प्राप्त करता है। वह रिसक बन जाता है और रसग्रहणके द्वारा लेखककी अन्यतम संवेदनासे तादात्म्य स्थापित करता है। कल्पना और भावोद्रेक द्वारा स्वप्नलोकका निर्माण सरस साहित्यकी विशेषता है (दे॰ 'ललित साहित्य')। सरसी-मात्रिक सम हन्दोंका एक भेट । भिखारीटासने इस २७ मात्राके चरणवाले छन्दको हरिपद कहा है। उनके द्वारा प्रस्तुन उदाहरणमे चरणके अन्तमे ग-ल (SI) भी है—"अजौ न कछ नसान्यो मूरख, कह्यो हमारी मानि" (छन्दो०, पृ० ३२) । भान द्वारा इसका यही लक्षण प्रस्तुत किया गया है, १६, ११, अन्तमें ऽ। (छं० प्र०, पृ०६६)। हिन्दीकी पदशैलीका यह सर्वप्रचलित छन्द माना जा सकता है। इसका प्रयोग सूर, तुलसी, मीरॉ तथा नन्ददास आदिने पदशैलीके अन्तर्गत किया है। केशव आदि कुछ अन्य कवियोने मुक्त रूपमे भी प्रयुक्त किया है। सूरने 'मूरसागर'मे और तुलसीने 'विनय-पत्रिका", 'गीतावली' तथा 'कृष्णगीतावली'मे गम्भीर भावा-भिन्यक्तिके क्षणोंमें इस छन्दके पदोंका प्रयोग किया है। इसके साथ निकटता और समानताके कारण विष्णुपद तथा सार छन्दोको मिला दिया गया है—"सुन कपि अपने प्रानको पहरो, कब लगि देति रहौ ? वे अति चपल चल्गो चाहत है, करत न कछ विचार"—(मू० सा०, स० सं०, पद ५२६)। इसके प्रथम चरणके अन्तमें ल-ग (IS) होनेसे सरसी है। शुद्ध सरसीका प्रयोग भी व्यापक रूपसे इन कवियोमे मिलता है—''इत राधिका सहित चन्द्र।वली, ललिता घोष अपार"—(सू० सा०: वै० प्रे॰, पृ० ४४५) तथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं, होत कबहुँ पल एक"—(वि० प०, पद १०२)। भानुके अनुसार होलीके अवसरपर क्रवीरकी वानीके उलटे अर्थवाले जो क्रवीर कहे जाते है । वे प्रायः इसी शैलीमे होते हैं ।

सरस्वती – दे॰ 'हठयोग'।

सर्पिणी-दे॰ 'हठयोग'।

सर्वश्चन्य — दे॰ 'शून्य', 'चक्न' तथा 'उष्णीश कमल'।
सर्वश्चाच्य — रंगमंचपर अभिनय करनेवाले पात्रोके संवादके
विचारसे 'कथावस्तु'के तीन भेद किये गये हैं — 'सर्वश्चाव्य',
'नियतश्चाव्य' और 'अश्चाव्य'। किसी पात्रके वार्तालापको
यदि रंगमंचपर उपस्थित सभी पात्र सुन सके तो वह
'सर्वश्चाव्य' (सबके सुनने लायक) है। सर्वश्चाव्यको
'प्रकाश' भी कहते हैं। — व० सिं०
सर्वारमवाद — हिन्दीमें सर्वात्मवादका प्रयोग निम्नलिखित

तीन अर्थीमे होता है-(दा) कुछ लोग सर्वश्वरवाद-(pan-theism)के अर्थमें सर्वात्मवादका प्रयोग करते है, जैसे रामचन्द्र शुक्त और स्यामसुन्दर दासने क्रमशः जायसी और कबीरके प्रसंगमे किया है। यह सर्वात्मवादका सर्वथा दिषत प्रयोग है। ईश्वर और आत्माके प्रत्ययोमें महान अन्तर है। ईश्वर ईशन या शासन करता है, आत्मासे यह अर्थ कथमि नहीं लिया जा सकता। अंग्रेजी शब्द 'पैन्थीजम'के लिए सर्वेश्वरवाद (दे०) उपयुक्त शब्द है, सर्वातमवाद नहीं । (ख) भारतीय दर्शनमें इंकराचार्यके अह्नैनवाद(दे०)के अर्थमें भी सर्वात्मवादका प्रयोग होता है, क्योंकि उनके अनुसार 'आत्मैवेदं सर्वम्' आत्मा ही यह सब कुछ है। विना आत्माके किसी वस्तुका ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः आत्मा ही सब कुछ है—"आत्म-व्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मेवसर्वम्"। यहाँ आत्मा ही एक और अद्वितीय सत् है, अन्य कुछ जो आत्मासे भिन्न है, वस्तुतः मिथ्या है। आत्मपूर्वक सब कुछको समझनेपर 'सब कुछ' आत्मा ही प्रतीत होगा। अतः यह सर्व और आत्माका तत्त्ववादके अनुसार अभिन्न अर्थ है। यह सर्वात्म-चादका भारतीय अर्थ है। यह गढा हुआ शब्द नहीं है। हिन्दी साहित्यमें सर्वात्मवादका यह अर्थ प्रायः नहीं किया जाता। (ग) हिन्दीमें सर्वातमवाद एक नया तथा गढ़ा हुआ शब्द समझा जाता है। इसका वही अर्थ लिया जाता है, जो अंग्रेजी शब्द पैनसाइकिडम (pan-psychism)का है। 'पैनसाइकिडम'के अनुसार समस्त विध चेतनप्राणियोसे ही बना है। सभी चेतनप्राणी मनुष्य जैसे ही है। अचेतन कोई वस्त नहीं है। तथाकथित जड वस्ततः चैतन्यवान प्राणी है, पर उसकी चेतनता सुप्तावस्थामे है। यूरोपमे लाइबनीजका दर्शन इस वादका प्रमुख उदाहरण है। भारतमें ऐसा दर्शन कभी विकसित नही हुआ।

भारतीय दर्शनके सर्वात्मवादसे लाइवनीजके दर्शनको पृथक् रखनेके लिए दूसरेको सर्वात्मवाद न कहकर सर्व-जीववाद या सर्वचेतनवाद कहना अधिक उपयुक्त है।

सर्वजीववाद और सर्वात्मवादका अन्तर समझ लेना आवश्यक है। पहलेमें जड़ वस्तु मिथ्या नहीं है, दूसरेमें है। पहलेमें जड़ वस्तु मिथ्या नहीं है, दूसरेमें वह मिथ्या है। पहलेमें चेननप्राणी या जीव अनेक है, दूसरेमें आत्मा एक और अद्वितीय है। इस प्रकार सर्वजीववाद वैपुल्यवाद है तो सर्वात्मवाद अद्वतवाद। सर्वात्मवादकी आत्माका प्रत्ययन भी सर्वजीववादके जीव या चेतन प्राणीकी चेतनतासे भिन्न है। पहलेमें आत्मा 'नेतिनेति' या 'सत् चित्त आनन्द' है, तो दूसरेमे चेतनता केवल ज्ञान, भाव और इच्छा प्राप्त करनेवाली है। आत्मा ज्ञाता, कर्ता और मोक्ता नहीं है, सर्वजीववाद या जीव ज्ञाता, कर्ता और मोक्ता है।

हिन्दीके सन्त-साहित्यमें शंकराचार्यके दर्शनके अर्थमें सर्वात्मवादका प्रचुर प्रयोग है, पर उसमे सर्वेश्वरवाद और सर्वात्मवादको पृथक करना कठिन है। विशुद्ध सर्वात्मवाद प्रौढ दार्शनिकोंकी ही कृतियोमें पाया जाता है। हिन्दी दर्शनके सम्राट् निश्चलदासके 'विचार-सागर' और 'वृत्ति-प्रमाकर'में सर्वात्मवाद उसी अर्थमें सिद्ध किया गया है.

जिस अर्थमें वह अद्वैतवेदान्तके यन्थों में है। — सं०ला०पा० सर्वेश्वरवाद् 'सब कुछ जो है ईश्वर है, और ईश्वर मब कुछ है,' इस सिद्धान्तको सर्वेश्वरवाद कहते हैं। संक्षेपमे सबका अर्थ जगत् है। इसलिए सर्वेश्वरवादका अर्थ हुआ कि जगत् ईश्वर है और ईश्वर जगत् है। ईश्वर और जगत्में अमेद है।

जगत् ईश्वरमें है या जगत् ईश्वरसे उत्पन्न है, इन सिद्धान्तोको सर्वेश्वरवाद नहीं कहा जा सकता। जगत् ईश्वरमें है, इसे सर्वोध्वेश्वरवाद कहा जाता है, क्योंकि इसमे ईश्वर जगत् या सर्वसे परे अर्थात् ऊर्ध्व है। जगत् ईश्वरसे उत्पन्न है, इस सिद्धान्तको ईश्वरवाद या ईश्वर-सृष्टिवाद कहा जाता है। सर्वेश्वरवादके अनुसार जगत् ईश्वरकी सृष्टि नहीं है, जगत् स्वयमेव साक्षात् ईश्वर है। सर्वेश्वरवाद अनिवार्यतः असृष्टिवाद है। गौडपादाचार्यकी भाषामे यह अजातिवाद है। सूफीमतमे सर्वेश्वरवादको 'हम्मा ओस्त', अर्थात् 'सव ईश्वर है' कहते है और ईश्वर-सृष्टिवाद या ईश्वरवादको 'सव ईश्वरसे हैं', 'हम्मा अज ओस्त' कहते है।

सर्वेश्वरवाद अद्वैतवाद है, न कि द्वैतवाद या वैपुल्यवाद। इसके अनुसार ईश्वर ही एक और अद्वितीय तत्त्व है और अन्य जो कुछ है, वह ईश्वरका आमास या पक्ष या क्षण है। ईश्वर भी अकेटा ही है, बहुतसे ईश्वर नहीं है। सर्वेश्वरवाद सर्वात्मवाद (दें०)से भिन्न है। सर्वोत्मवादका अर्थ है कि जो कुछ सत् है, वह आत्मा है और ऐसी आत्माएँ अनन्त है, जगत्का अन्तर्भाव इन्हीं आत्माओंमे होता है। यूरोपमे टाइवनीज सर्वात्मवादका प्रधान समर्थक था। भारतमे सर्वोत्मवादका समर्थन मुख्यतः किसी दाईनिकने नहीं किया है, शुद्धाद्वैतवाद (दें०) यद्यपि बहुत-कुछ सर्वोत्मवादको समीप है।

सर्वेदवरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, दोनोंसे भिन्न है। एकेश्वरवादमे ईश्वरको शरीरी या सगुण माना जाता है तो सर्वेश्वरवादमें अद्यारीरी और निर्गुण। एकेश्वरवादमें प्रार्थना और उपासनाका विधान होता है, सर्वेश्वरवादमे इसकी आवश्यकता नहीं। बहुदेववादमें बहुतसे देवी-देवताओं की मान्यता रहती है तो सर्वेश्वरवादमे सिर्फ एक ही ईश्वरकी। पर यह ईश्वर अन्य सभीमे विद्यमान रहता है, इसलिए कहा जाता है कि सर्वेश्वरवाद वहुदेववादका औचित्य स्थापित करता है। जब सभी चीजें ईश्वर है, प्रस्तर, काष्ठ, जीव-जन्तु आदि, तो सर्वश्वरवादमे बहुदेववादकी कुछ मान्यता हो जाती है। वस्तुनः सर्वेश्वरवाद एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, इन दोनों वाद-प्रतिवादका समन्वय करता है, यह दोनोका समन्वय या संवाद है। पर दोनोसे भिन्न भी है, क्योंकि यहाँ 'सर्व'का अर्थ बहुदेववादके बहुत्वका अर्थ नहीं है और न यहाँ ईश्वरका ही अर्थ एकेश्वरवादका ईश्वर है।

सर्वेश्वरवादियोंको प्रायः निरीश्वरवादी कहा जाता है, यद्यपि यह कथन सावद्य है। पर चूंकि सर्वेश्वरवादी किसी धर्मविशेषके ईश्वरको नहीं मानता और उसका ईश्वर जगत् है, इसलिए निरीश्वरवादी कहनेमें कुछ सार्थकता भी है। यह स्पष्ट कर देता है कि सर्वेश्वरवादी ईश्वरवादी नहीं है।

यदि जगत्को देखकर उसके ईश्वरत्वका अभिधान किया जाय तो वह एक प्रकारका सर्वेश्वरवाद होगा। और यदि ईश्वरको देखकर उसके जगत होनेका अभिधान किया जाय तो यह दूसरे प्रकारका सर्वेश्वरवाद होगा। प्रथम प्रकार वैज्ञानिक है, इसमे प्रस्थान-विन्दु जगत्का वैज्ञानिक अध्ययन, उसकी अनन्तता और विचित्रता है, और साध्य जागतिक वस्तुओकी एकता है, जिसे ईश्वरका नाम दिया जाता है। यहाँ ईस्वर अमूर्त प्रत्यय है, न कि कोई सत्। इस प्रकारके सर्वेश्वरवादका पर्यवसान भौतिकवादमे हो सकता है, जैसा कि यरोपके दार्शनिक हैकलने किया है। दूसरा प्रकार धार्मिक है, उसका प्रस्थान-विन्दु ईइवर है, साधन कोई दार्शनिक या धार्मिक साधन है, व्यक्तिगत अनुभृति है और साध्य सब कुछ जो दृश्यमान है उसमे ईश्वरका रूप देखना है। यहाँ ईश्वर ही एक सत् है और सब चीजें उसके रूप है, नाम है। सामान्यतः इसी दूसरे प्रकारको सर्वे इवरवाद कहा जाता है। यूरोपमे स्पिनोजा, अरव देशों में इबनुलअरवी और भारतमें शाण्डिल्य, शंकरा-चार्य, वल्लभाचार्य आदि इसके प्रमुख नेता है।

सर्वेश्वरवादकी उत्पत्तिकी मुख्यतः निम्नलिखित परिस्थितियाँ है—

- (क) वहुरेवनाहकी अधिकता सर्वेद्यरवादको जन्म देती है। यदि यावत् वस्तुओंको देव मान लिया जाय, तो परमात्मा या ईश्वर कहाँ नहीं है, यह कहना असम्भव है। भारतमे बहुदेववादके पश्चात् ही सर्वेश्वरवादका विचार हुआ।
- (ख) विभिन्न धर्मोंके घात-प्रतिघातके फलस्क रूप सर्वेश्वर-वादका विचार होना आवश्यक है, वयोकि इससे पता चलता है कि सभी धर्मोंका ईश्वर एक ही है और वह जगद्-व्यापी है। प्राचीन मिस्न, मध्ययुगीन ईरान और स्पेन तथा भारतमे विभिन्न धर्मोंके संघातके कारण सर्वेश्वरवादका बहुत उत्थान हुआ। धर्मोंकी ज्यादित्यों तथा उनके अनु-यायियोंके दुराचार भी सर्वेश्वरवादकी पृष्टि करते है और एकेश्वरवादका परिहार करते है।
- (ग) ईश्वरवादका खण्डन करनेपर सर्वेश्वरवाद ईश्वर-वादियोकी ओरसे निरीश्वरवादियोंके प्रति उत्तर है। जगद्-बाह्य ईश्वरका खण्डन सम्भव है। पर यदि जगत् है, उसमे गति तथा वैचिन्न्य है, तो उसमे न्याप्त कोई ऐसा तत्त्व है, जो इसका नियामक है। इसे चाहे प्रकृति कहिये, चाहे ईश्वर, कोई अन्तर नही पडता। यदि यह मान लिया जाय कि यह सर्वन्यापी अदिनीय तत्त्व है और जगत्पर शासन या नियन्त्रण करनेवाला है, तो ईश्वरका अर्थ ही शासन या नियन्त्रण करनेवाला है। बौद्ध धर्मके प्रचारसे ईश्वर-वादका खण्डन बढा। फिर इसके विपरीत शंकराचार्यने सर्वेश्वरवादकी मर्यादा स्थापित की।
- (ब) रहस्यवादी अपनी साधना द्वारा क्रमशः विभिन्न सोपानोको पार करते हुए अन्ततोगत्वा सर्वेश्वरवादकी स्थितितक पहुँचते है। यह व्यक्तिगत अनुभव सर्वेश्वरवादकी स्थापना करता है।
- (ङ) कवि और दार्शनिक जगत्की महानता, विचित्रता, गतिशीलता, अनन्तता, सुन्दरना, सोदश्यता, कल्याण-कारिता आदि देखकर कल्पना करते हैं कि जगत्, जो

साक्षात् जड है, वस्तुतः किसी परम तस्वसे व्याप्त है, जो जड नही है। वे कल्पनासे जगत्को इस परम तस्व या ईश्वरका गुणमात्र समझ लेते है। काव्यशक्ति जहाँ अधिक होती है, वहाँ सर्वेश्वरवादको भी कल्पना अवज्ञ्य आ जायगी। वेदोंमे, हिन्दी साहित्यमे तथा जर्मन साहित्यमे इसकी पर्याप्त पृष्टि होती है।

(च) वैज्ञानिक अध्ययनसे सिद्ध होता है कि जगत् अनन्त परमाणुओसे बना है, जो जड नहीं हो सकते। इन परमाणुओंको समन्वित ढगसे समझनेके लिए इनके अन्तर्यामी ईश्वरकी कल्पना की जाती है, जो इनको प्रेरित करता है और एक मालामे पिरोता है। वर्तमान सुगमें कुछ वैज्ञानिकोने इसी ढंगसे सर्देश्वरकी कल्पना की है।

यहाँ ईश्वरका अर्थ एक सर्वन्यापी तत्त्व है, जो न चेतन कहा जा सकता है, न जड, वयोकि ये दोनो उसके नाम-रूपमात्र है। इसको ब्रह्म भी कहा जाता है। शाण्डिल्यने 'छान्डोग्योपनिषद्'मे 'सर्व खिल्वदं ब्रह्म'—यह सव निश्चय ही ब्रह्म है, कहकर ब्रह्मसे सर्वेश्वरवादके ईश्वरको ही मान्यता दी है। शंकराचार्यने आत्माको ही सब कुछ माननेके कारण, क्योंकि उसीके द्वारा सब कुछ याह्य होता है और जिसके द्वारा जो आहा होता है, वह आहक या बोधक उस शाह्यका प्रधान तत्त्व समझा जाता है, आत्मा शब्दसे सर्वेश्वरवादके ईश्वरका ही संकेत किया। कुछ सन्तोने इसे सत्तामात्र यहा और अपनी सत्तासे इसका तादातम्य किया। 'सोऽहमिस' और 'अनलहक' इसके सिद्धान्त-वाक्य है। कुछ सन्तोने इसे अनाम कहा, तो कुछने नाम । कुछने इसे अबोल, अनिर्वचनीय, एक, अद्वितीय कहकर ही मौन धारण किया। इन सबसे स्पष्ट है कि सर्वेद्यरवादमे ईदवरकी कल्पना ईदवरकी सामान्य कल्पनासे भिन्न है। यहाँ ईरवर ईरवर, ब्रह्म, आत्मा, एक, कुछ-अस-जस-तैसा, अबोल, अनाम, नाम आदि पदींसे अभिहित होता है। पर सबका तात्पर्य है परम सत्, जो निरपेक्ष है। इस प्रकार ब्रह्मवाद (दे०) सर्वेदवरवादका दाई निक आधार है।

(१) जीव ईरवरसे भिन्न है। (२) जीव परस्पर भिन्न है। (३) जड वस्तुएँ जीवसे भिन्न है। (४) जड वस्तुएँ परस्पर भिन्न है। (५) जड़ वस्तुएँ ईरवरसे भिन्न है। इन पाँचों भेदोको दूरकर अभेद स्थापित करना सर्थेरवरपादका मुख्य प्रयोजन है। यहाँ पंचथा अभेद कैसे मिद्ध होता है ?

कुछ सर्वेश्वरवादी मायाके द्वारा इसको सिद्ध करते है। पाँचो भेद वस्तुनः माया या मिथ्या है। वे ब्रह्म या ईश्वरके आभासमात्र है। ईश्वरके नाम-रूप है। इस दृष्टिसे ईश्वर सर्वत्र सम रूपसे विद्यमान है—''ईशावास्यमिदम् सर्व यत् किन्दिज्जगत्यां जगत्"।

कुछ सर्वेदवरवादी जगत्को मिथ्या या माया नहीं मानते। वे इसको ब्रह्म या ईश्वरका परिणाम मानते है। स्पिनोजा और वल्लभाचार्य इन लोगोंमेसे मुख्य है। पर जगत्को ईश्वरका वास्तविक परिणाम भान लेनेपर जगत्को ईश्वरका परिणाम कहा जाता है, न कि ईश्वरको; अतः यह सिद्धान्त वस्तुतः सर्वेद्दयरवादका स्वयं खण्डन कर देता है। इस दोषमे बचनेके लिए वल्लभाचार्यने अविकृत परिणामवाद और हिपनोजाने अपने अनन्त धर्म-समन्वित द्रव्यका सिद्धान्त निकाला ।

पर यहाँ जगत् या सर्वका मतलब दृश्यमान वस्तुएँ नहीं है। दृश्यमान वस्तुएँ तो प्रत्यक्षीकृत है। इनके अन्तरालमे इनका सचा स्वरूप मिलता है। इनका अन्तर्यामी जो है, वही सब-कुछ है। इसलिए सर्वेश्वरवादमे जगत् या सर्वका मतलब मौलिक वस्तुजात नहीं है, वरन् उनके आभ्यन्तरमे विद्यमान रहनेवाला ईश्वर है। 'सव' और 'ईश्वर' दो वस्तुएँ नहीं है, जिनका बादमे मेद स्थापित किया जाता है। 'सव' और 'ईश्वर' सदा एक ही वस्तु है, उनका द्विविध ढंगसे अभिधान केवल समझने और समझानेके लिए है। ईश्वरको प्रकृति या जगत्तक उतारा नहीं जाता है। इससे सर्वेश्वरवाद भौतिकवादसे कोसो दृर रहता है।

सर्वेदवरवादका अनिवार्य सम्बन्ध रहस्यवादसे नहीं है। स्पिनोजा, हीगेल और शंकराचार्यके दर्शन इसके प्रमाण हैं। इन लोगोने सर्वेदवरवादको बौद्धिक ठहराया है, पर सर्वेदवरवाद रहस्यवाद भी हो सकता है, जैसे, इन्तुल अरबी तथा अन्य सूफियोमे है। पर यह कोई नियम नहीं है कि हर प्रकारका रहस्यवाद सवैंदवरवाद होगा। रहस्यवाद ईवरवाद या एकेदवरवाद के माध्यमसे भी हो सकता है। इससे सिद्ध है कि ईदवरवादको रहस्यवादसे भिन्न समझना चाहिये।

निर्गुणोपासक सन्तोंमें कबीरसे छेकर स्वामी रामतीर्थंतक जो निर्गुणसन्तोंकी परम्परा चली, उसमें सर्वेदवरवादका पूर्ण निरूपण मिलता है। कबीरने सर्वेदवरवादकी स्थापना करते हुए कहा—"खालिक खलक खलकमे खालिक सब घट रह्या समायी"। परमेदवर ही सर्वत्र है। वही सर्वत्र खेल रहा है—''इसमें आप आप सबहिनमें आप आपस्ँ खेलै। नाना माँति घड़े सब माँडे रूप धरे धरि मेलैं (कबीर)।

इस सर्वेश्वरका खण्डन असम्भव है। इसका प्रतिपादन रैदासने अच्छे शब्दोमें किया—"अवरन बरन कहै जनि कोई। घट-घट ब्यापि रह्यो हरि सोई।"

फिर सर्वेश्वर कैसे शिव-अशिव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, भव-नाश, श्रेय-शान, दृष्ट-अदृष्टि, सेवक-स्वामी ध्यादि इन्द्र्योंसे मुक्त हैं ? इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति रैदासने की—"है सब आतम सुख परकास साँचों। आदि मध्य धौसान एक रस, तार बन्यों हो भाई। धावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रह्यो हरिराई॥ सर्वेश्वर सर्वांगी सब गति, करता हरता सोई। सिव न असिव न साध अस सेवक, उनै भाव नहीं होई। धरम अधरम मोच्छ नहिं बन्धन, जरा मरन भव नासा। दृष्टि-अदृष्टि गेय अरु शाना, एकमेक रैदासा।"

परमात्माकी ऐसी सर्वेन्यापकता होनेके कारण ही निर्गुणियोंने मन्दिर-मस्जिद-गमन, बाह्य पूजन, पोडशो-पचार पूजन, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदिको व्यर्थ वतलाया और मानस पूजापर अधिक बल दिया। इसीके कारण उन्होंने जाति-पाँतिकी व्यवस्थाकी निन्दा की, विश्ववन्धुत्वके सिद्धान्तको मान्यता दी और हिन्दू-मुसलिम एकतापर जोर दिया। सर्वेत्र परमात्मा है, सत्ता केवल उसी की है—

"जहँ देखों तहँ एक दीदार" (कबीर) । नानकने भी इसीका समर्थन किया—"गुरु परसादी दुरमति खोयी, जहँ देखा तहँ एको सोई"।

दादूने बड़े सुन्दर ढंगसे कहा कि परमात्माने कोई ऐसा पात्र नहीं बनाया है, जिसमे सारा समुद्र भर जाय और पात्र खाली ही रह जाय—''चिड़ी चोचभर ले गयी नीर निपट न जाइ। ऐसा बासण ना किया सब दरिया माँहि समाइ"।

प्रत्येक वस्तु पूर्ण रूपसे ईश्वरमें ज्याप्त है। एक वस्तुमे ईश्वरकी ज्याप्ति होना, दूसरी वस्तुमें उसकी ज्याप्तिको कम नहीं करता। ईश्वर सर्वत्र, सबमे पूर्णतया एकरस ज्याप्त है।

यह सर्वेश्वर उस अर्थमे 'है' नहीं, जिस अर्थमे भौतिक-पदार्थ है और जिस अर्थमे यह 'है', उस अर्थमे भौतिक-पदार्थ नहीं है। इसीलिए सुन्दरदास कहते हैं कि परमात्मा है भी और नहीं भी है। बल्क उसको 'है' और 'नहीं', इन दोनोंके बीच देखना चाहिये—"नाहीं नाहीं कर कहै है है कहै बखानि, नाहीं है के मध्य है, सो अनुभव करि जानि"। इसी समस्याको हल करनेके लिए सहजोवाई-ने उसे भाव और अभाव, है और नहीं, इस द्वन्द्वसे भी मुक्त किया—"हैं नाहीं सूँ रहित है, सहजो यों भगवन्त"।

पर वस्तुतः सर्वेश्वरको ही सत् मान छेनेपर अन्य सव-कुछको नास्ति मानना पड़ता है। सर्वेश्वरका अस्तित्व है तो सही, पर बडा विचित्र है, वर्णनातित है। इसीछिए सुन्दरदासने वहा—''जोई कहूँ सोड, है नहि सुन्दर, है तो सही पर जैसेको तैसो"। उसको एक भी नहीं कहा जा सकता। वह एक अनेक के इन्डसे भी रहित है। कबीरने ठीक ही कहा—''एक कहूँ तो है नहीं कोय, दोय कहूँ तो गारि। है जैसा तैसा रहें, कहैं कबीर विचारि"। फिर भी उसीको एकमात्र सत् मान छेनेपर उसको एक कहना पडता है। भीखा इसीछिए 'एक'से उसे व्यक्त करते है—''भीखा केवल एक है, किरतिम भया अनन्त। एक आतम सकल घट, यह गति जोनहिं सन्त"। दादूने सर्वत्र इसीको देखा—''दादू देखी दयालकों, बाहरि भीतिर सोइ। सब दिसि देखी पीवकों, दूसर नाही होइ"।

जबतक 'में', 'ममता', 'आपा', अपना व्यक्तित्व हैं, तबतक इस सवेंश्वरका ज्ञान दूर हैं। उसके ज्ञानपर अपना व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस सम्बन्धको व्यक्त करने- वाले अनेक पद निर्शुणयोंने कहे हैं, जिससे प्रकट है कि व्यक्तित्वसे सवेंश्वरवादका विरोध है अथवा व्यक्तित्व केवल एक ईश्वरका ही है और सब उस सर्वांगीके अंगमात्र है। इसीको अंशांशिमाव या अंगांगिमाव कहा जाता है। पर प्रायः अधिकांश निर्गुणियोंने इस सम्बन्धको अंगांगिमाव न मानकर प्रत्येक वस्तुका परमात्माके साथ अद्वेतमाव माना है। इस दृष्टिसे इन सन्तोमे दो प्रकारका सवेंश्वरवाद मिलता है—एक अद्वेत सवेंश्वरवाद और दूसरा, सर्वांगी सवेंश्वरवाद। कवीर, दादू और उनके अनुयायियोंका मत प्रथम है। नानक और शिवदयाल तथा उनके अनुयायियोंन्का मत दूसरा है।

सर्वेश्वरपर दृष्टि रहनेसे इन सन्तांने जगत् और जीवकी 'माया', 'अनित्य', 'क्षणभंगुर' आदि भी कहा है। यह मायावाद सर्वेश्वरवादका पूरक सिद्धान्त है।

सगुणसन्तों र्भारको परात्पर या सर्वातीत मानते हुए उसे सर्वन्यापी या विश्वरूप कहना निर्गुणियोंका मुख्य विषय हैं। सगुणियोंका मुख्य सिद्धान्त ईश्वरको सर्वन्यापी दिखलाते हुए उसे परात्परसे अधिक अन्तर्यामी कहना है। दोनों सर्वेश्वरवाद है, एकमें बहियांमीका विशेष वर्णन रहता है, तो दूसरेमें अन्तर्यामीका। बहियांमी होता हुआ भी निर्गुणियोंका ईश्वर सर्वन्यापी इसलिए है कि वस्तुतः वही एक है और जिनसे वह अतीत है, वे सभी 'नही' है।

ईश्वरको अन्तर्थामी ही अधिक माननेसे तुल्सीदासने कहा—"व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चिरत कृत नाना"। वस्तुतः सभी जीव और वस्तुएँ ईश्वरका अवतार है। पर प्रधानतः अवतार हम उन्हींको कह देते हैं, जिनके जीवनमे ईश्वरत्वको अधिक अभिव्यक्ति जागरूक हो जाती है, वैसे यह सर्वत्र जागरूक नहीं है। इस दृष्टिसे जहाँ निर्गुणियोने सर्वेश्वरवादसे अवतारवादका विरोध देखा, वहाँ स्गुणियोने अवतारवादका मेल सर्वेश्वरवादसे वैठा दिया। सबको सीताराममय देखकर तुल्सीदास सबकी वन्दना भी करते है—"सीयराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी"।

फिर जब तुल्सीदास अगुण और सगुणसे ऊपर नामको स्थापित करते है और इसे सगुण अधिक ठहराते है, तो वे सवेंश्वरवादका ही संकेत करते है। सवेंश्वरवादमे ईश्वरका श्वरीर सब-कुछ है, यद्यपि वह निराकार है। पर यदि सब वस्तुएँ न रहें, तो वह सवेंश्वर कैसे हो सकता है? इससे साकारत्व और निराकारत्व, दोनोका समन्वय सवेंश्वरवादके अंगांगिभाववाले भेदमे करते हुए नामके सिद्धान्तकी स्थापना होती है।

मीराँ तो प्रह्लादकी तरह सब जगह ईश्वरको विद्यमान मानते हुए विश्वास भी करती है कि साकार होकर भगवान् भक्तकी मदद करता है। यह जीता-जागता सर्वेदेवरवाद मीराँको स्वयं अनुभूत हुआ था, ऐसा उनकी पदाविल्योसे ज्ञात होता है। विषके प्यालेका अमृत हो जाना, वस्तुओंके ईश्वरीय रूपका ही प्रतीक है। इसलिए मीराँ कहती है— "जह जह देखूँ म्हारो राम, तह सेवा करूँ"।

ऐसे सर्वेश्वरवादसे अभय और सेवाभाव जागरित होते है। जब सब-कुछ ईश्वर ही है, तो फिर किसकी सेवा न की जाय ? फिर किससे डरा जाय ? पर ऐसी दृष्टि सबकी नहीं हो सकती। यह ब्रह्मदृष्टि है और लौकिक दृष्टिसे, नानात्वकी दृष्टिसे भिन्न है।

मीराँकी भाँति स्रदासकी गोपियाँ है, जो सदा भगवान् इयामके ही रंगसे रंगी है, सर्वत्र उन्हें कृष्णका ही दर्शन होता है। नारदको भी जब आश्चर्य हुआ कि कृष्ण कैसे सब गोपियोके संग रहते है, तो उन्होंने इसकी परीक्षा ली। जहाँ-जहाँ नारद जाते है, वहाँ-वहाँ कृष्ण किसी-न-किसी गोपीके संग लीला करते हुए मिलते हैं। इससे नारदकी शंका मिट जाती है और वे कृष्णको सर्वेश्वर स्वीकार कर लेते हैं। 'स्रसागर'में इस सर्वेश्वरवादकी सुन्दर अभिव्यक्ति है। यहाँ भी सर्वेश्वरवाद और अवतारवादका समन्वय है। सर्वेश्वरवादी गोपियाँ कृष्णके रूपको देखनेके लिए ही उद्धवसे तर्क-वितर्क करती है।

सुपी किवयोमें पैगम्बरी एकेश्वरवादके स्थानपर हिन्दीके मुसलमान सुपी किवयोने भी सर्वेश्वरवादको स्वीकार किया। इनके सर्वेश्वरवादमें किवकी भावुकता और रहस्यवादोकी अनुभूति, दोनोंका सिम्मश्रण है। इन लोगोंने ईश्वरहिष्टमें विमुख होनेवालोंकी दशाका नाम वियोग दिया और जिनकी सदा ईश्वरहिष्ट सर्वत्र रहती है, उनकी दशाको संयोग कहा है। इन कवियोने प्रेमको ही ईश्वर-प्राप्तिका उपाय बताया है। यह प्रेम किसी धर्म-साधनासे सम्बन्धित नहीं। शरीअत या वैधी भक्तिसे भिन्न यह तरीकात या सहज प्रेम है। सांसारिक वस्तुओं और जीवोके प्रति प्रेम रखना इसी प्रेमका प्रतीक है। पर यदि ईश्वरप्रेम नहीं है, तो फिर अन्य प्रेममें अस्थिरताकी सम्मावना रहती है।

स्फियोने ईश्वरको ही सर्वत्र जह तथा चेतनमें देखा। जायसीने अपनी ईश्वरहृष्टिका 'पद्मावत'मे इस प्रकार वर्णन किया है—''आपुहि आपु जो देखे चहा। आपुिन प्रभुता आपु से कहा। सबै जगत दरपन के लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा। आपुहि वन औ आपु पखेरू। आपुिह सौजा आपु अहेरू। आपुिह वन औ आपु पखेरू। आपुिह सौजा आपु अहेरू। आपुिह पहुप फूलि वन फूले। आपुिह भवर वास रस भूले। आपुिह घट घट मह मुख चाहै। आपुिह आपन रूप सराहै"। जायसीने जगतको दर्पण मानकर उसमे ईश्वरकी परछाई ही सर्वत्र देखी, ईश्वर ही जगत् है, वही दर्पण है, वही अपनेमे अपना प्रतिविम्व देखता है; 'आपुिह दरपन, आपुिह देखा'से यह स्पष्ट है।

स्फियोंका सर्वेश्वरवाद दार्शनिक न होकर भावात्मक और रहस्यात्मक है। इस कारण जहाँ एक ओर उन्होंने सर्वेश्वरवादका प्रतिपादन वि.या, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने स्रष्टिवादका आख्यान किया। यह विरोध है, जो सिद्ध करता है कि उनका मर्वेश्वरवाद रहस्यवाद था या कल्पनाजगत्की भावनामात्र था। काल्पनिक और भावात्मक होनेके कारण उसमे काल्यत्व और रहस्यात्मक होनेके कारण उसमे साधनाके विविध सोपान है। उगता है कि स्रिक्योंने सर्वेश्वरवादको अपनी साधनाके अन्तिम सोपानमें ही माना था, जिसमे साहूत और नास्त्रकी अद्वैतभावनाकी अनुभृति होती है।

सर्वेश्वरवादके प्रति अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—(क) इसमे व्यक्तिवादका कुछ भी स्थान नहीं हैं। मानव-व्यक्तित्व वस्तुतः असत् हैं। सिर्फ एक ईश्वर ही सर्वत्र रहता है, सभी जीव असत् हैं। यह अनुभवके विपरीत हैं। (ख) जगत्का भी इसमें कुछ अस्तित्व नहीं है। इसमें जगत्को माया या मिथ्या कहा जाता है। यह जगत्की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है। जगत्की वैज्ञानिक, विकासवादी व्याख्याका सर्वेश्वरवादसे विरोध हैं। (ग) नीतिकी दृष्टिसे सर्वेश्वरवाद नैतिकता, मानव-स्वतन्त्रता, कर्मविपाक, सबका अपलाप करना है। इसमें धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कर्म-अकर्म, सब बराबर हैं। ईश्वर, जो अकेला ही है, इन सबसे परे हैं।

इन तीन आपत्तियोंको स्वेश्वरवादियोंने सुलझानेका प्रयास किया है। पहलीके प्रति उनका उत्तर है कि संवेश्वरवादमें व्यक्तित्व और मानव-स्वतन्त्रताका अपलाप न होकर उनका गहरा अर्थ है। नास्त लाहूत है, व्यक्ति इंदर है, इससे उसका व्यक्तित्व और गहरा हो जाता है। वह अपनेमें ही सव-कुछ पाता है। दूसरीके प्रति उनका उत्तर है कि जगत् भी तो ब्रह्म या ईदवर है। अतः जगत-को मिथ्या कहना ही ठीक नहीं है, जगत्का वह रूप जो अवप चिन्तन या अवप भावुकतापर निर्मर है, वह अवस्य मिथ्या है, पर उसका जो रूप अनन्त चिन्तन और अनन्त भावुकतापर अवलम्वत है, वह साक्षात् ब्रह्म है।

तीसरी आपत्तिके प्रति सर्वेश्वरवादियोका कहना है कि सर्वेश्वरवाद अनैतिक, असामाजिक और अव्यावहारिक नहीं है, क्योंकि यदि हम सर्वत्र ईश्वरको ही देखें और माने तो हम अनुचित नहीं करते है। ईश्वरको सर्वविद्यमान मानकर कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है, सेवा करनेका पाठ मिलता है और सभीसे प्रेम करनेकी इच्छा होती है। ईश्वरको यदि नीति, समाज और व्यवहारका हेतु बनाया जाय तो निःसन्देह इनका महत्त्व बढ़ेगा। जब ईश्वर शुभाश्यम, कर्माकर्म और धर्माधर्मसे परे कहा जाता है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि अनैतिकता और अन्याव-हारिकताका पाठ या प्रचार होना चाहिये। सर्वेश्वरवादको ठीक न समझनेके कारण सर्वेश्वरवादियोके अनुयायियोने सचमुच अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असामाजिकता और अन्यावहारिकताको बढाया था। तन्त्र, वज्रयान, नाथपन्थ और स्फीमत इसके उदाहरण है, जिनमे कालान्तरमें सर्वेश्वरवाद अनैतिक हो चला था। पर इससे सर्वेश्वरवादका दोष नहीं सिद्ध होता।

[सहायक ग्रन्थ-- हिन्दी कान्यमें निर्गुण-सम्प्रदाय : पीताम्बरदत्त बडश्वालः; जायसी यन्थावली : रामचन्द्र फिलासफी ऑव मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी: शुक्र; —सं० ला० पा० सर्वोदय-साम्यवाद (दे०) वर्ग-संघर्षमं विश्वास करता है। उसके अनुसार समाजस्थ वर्ग प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपमें, जानते या न जानते, सदैव परस्पर संवर्षरत रहते है। इस संघर्षमे जो बलवान् पडता है, वह निर्बल वर्गका शोपण करता है। साम्यवाद शोषणका अन्त करनेके लिए वर्गीका अन्त आवश्यक समझता है और वह वर्गीका अन्त शोपक, पूँजीपति-वर्गपर शोषित, सर्वहारा-वर्गकी विजय कराकर करना चाहता है। गान्धीवादका (दे०) सर्वोदय-सिद्धान्त इस वर्गसंघर्षवादको नही मानता। वह सभी वर्गोंको सहयोगके लिए आहुत करता है। वह सबकी उन्नतिकी कामना करता है। अतः इस सिद्धान्तको सर्वोदय (सबका उदय) नाम दिया गया है।

गान्धीवाद (दे०)की आदर्श समाज-व्यवस्था सर्वोदय-समाज-व्यवस्था कही जाती है। गान्धी इसे रामराज्य भी कहा करते थे। सर्वोदय-समाजमें स्वशासित, अर्थ-व्यवस्थाकी दृष्टिसे आत्मिनर्भर और छोटे-मोटे उद्योग-धन्धोंसे परिपूर्ण प्रामोंका ही बाहुल्य होगा। नगरोकी संख्या नगण्य होगी। उस समाजमें आर्थिक और राजनीतिक, दोनों प्रकारकी राक्तियों विकेन्द्रित होंगी। गान्धीयाद व्यक्तिके जीवनमे राज्यके कम-से-कम हस्तक्षेपका समर्थक है। उसकी दृष्टिमें राज्य-शक्ति वस्तुतः हिसाका घनीभृत रूप है। वह सेना और पुलिसको भी उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना कि अन्य लोग समझते है। सर्वोदय समाजमें पहले तो घनका असमान वितरण अपने-आप समाप्तप्राय हो जायगा और यदि कुछ धनी-मानी व्यक्ति होगे भी तो वे अपने धनको समाजकी सम्पत्ति और अपनेको ट्रस्टी मान-कर चलेंगे।

सलजारति -दे० 'विश्रब्धनवोदा'।

सर्वेया - विणिक वृत्तोमें २२ से २६ अक्षरके चरणवाले जाति-छन्दोंको सामूहिक रूपसे हिन्दीमे सवैया कहनेकी परम्परा है। इस प्रकार सामान्य जाति-वृत्तोसे बड़े और विणक दण्डकोंसे छोटे छन्दको सबैया समझा जा सकता है। कवित्त-धनाक्षरीके समान ही हिन्दी रीतिकालमे विभिन्न प्रकारके सबैया प्रचलित रहे है। संस्कृतमें ये समस्त भेद वृत्तात्मक है। परन्तु कुछ विद्वान् हिन्दीके सवैयाको मुक्तक वर्णिक के रूपमें समझते है। जानकी नाथ सिंहने अपने खोज-निबन्ध 'द कण्ट्रीब्युशन ऑव हिन्दी पोयटस ट प्राजोडी के चौथे प्रकरण में इस विषयपर विस्तारसे विचार किया है, और उनका मत है कि कवियोने सवैयाको वर्णिक सम-वृत्तरूपमें लिया है। उसमें लयके साथ गुरु मात्राका जो लघु उच्चारण किया जाता है, वह हिन्दीशी सामान्य प्रवृत्ति है। इसके हस्व एँ और ओँ के उच्चारणके लिए लिपिचिह्नका अभाव भी है (अप्र० नि०से) । परन्तु हिन्दीमें मात्रिक छन्दोके व्यापक प्रयोगके बीच प्रयक्त इस वर्णिक छन्दपर उनका प्रभाव अवश्य पडा है। जिस प्रकार कवित्त एक विशेष लयपर चलता है, उसी प्रकार सबैया भी लय-मूलक हो है।

रीतिकालकी मुक्तक शैलीमें कवित्त और सबैयाका महत्त्वपूर्ण योग है। वैसे भक्तिकालमें ही इन दोनो छन्दोकी प्रतिष्ठा हो चकी थी और तुल्सी जैसे प्रमुख कविने अपनी 'कवितावली'की रचना इन्हीं दो छन्दों में प्रधानतः की है। भगणात्मक, जगणात्मक तथा सगणात्मक सबैयेकी लय क्षिप्र गतिसे चलती है और यगण, तगण तथा रगणात्मक सबैयेकी लय मन्द गति होती है। इनकी लयके साथ वस्त-स्थिति तथा भावस्थितिके चित्र बहुत सफलतापूर्वक अंकित होते हैं। यह छन्द मुक्तक प्रकृतिके बहुत अनुकृल है। यह छन्द शृंगार रस तथा भक्ति-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए बहुत उत्कृष्ट रूपमें प्रयुक्त हुआ है। रीतिकालीन कवियोंने शृंगार रसके विभिन्न अंगो, विभाव, अनुभाव, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी, नायक-नायिका-भेद आदिके लिए इनका चित्रात्मक तथा भावात्मक प्रयोग किया है। रसखान, धनानन्द, आलम जैसे प्रेमी-भक्त कवियोने भक्ति-भावनाके उद्देग तथा आवेगकी सफल अभिव्यक्ति सवैयामे की है। भूषणने वीर रसके लिए इस छन्दका प्रयोग किया है, पर वीर रस इसकी प्रकृतिके बहुत अनुकूल नही है। आधुनिक कवियोंमें हरिश्चन्द्र, लक्ष्मण सिंह, नाथ्राम 'शंकर' आदिने इनका सुन्दर प्रयोग किया है। जगदीश गुप्तने इस छन्दमें आधनिक लक्षणा शक्तिका समावेश किया है।

9. उपजाति सवैया—इसका प्रचलन रहा है। सम्भवतः उपजाति स्तैया तुल्सीकी प्रतिभाका परिणाम है। सर्वप्रथम तुल्सीने 'कवितावली'मे इसका प्रयोग किया है। उपजातिका अर्थ है जिसमें दो भिन्न सवैया एक साथ प्रयुक्त हुए हों। केशवदासने भी इस दिशामें प्रयोग किये है।

२. मत्तगयन्द्-सुन्द्री—ये दोनो सवैया कई प्रकारसे एक साथ प्रयुक्त हुए है। तुल्सीने इसका सबसे अधिक प्रयोग किया है। केशव तथा रसखानने उनका अनुसरण किया है। प्रथम पद मत्तगयन्दका (७ म + ग ग)—"या लकुटी अरु कामरियापर राज निहूँ पुरको तिज डारौं"। तीसरा पद सुन्दरी (८ स + ग)—"रसखानि कर्वो इन आँखिनते, ज्ञके बन बाग तड़ाग निहारों" (रसखान)।

मिद्रा-दुर्मिल — तुल्सीने एक पद मिद्राका रखकर शेष दुर्मिलके पद रखे है। केशवने भी इसका अनुसरण किया है। पहला मिद्राका पद (७ भ + ग)—"ठाढ़े है नौ दम डार गहे, धनु काँधे धरे कर सायक लै।" तथा दूमरा दुर्मिलका पद (८ स)—"विकटी भृकुटी वड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलनकी छिव है।" (कविता० २)।

इनके अतिरिक्त मत्तगयन्द-वाम और वाम-सुन्दरीके विभिन्न उपजाति तुल्सीकी 'कवितावली'में तथा केशवकी 'रिसकप्रिया'में मिलते हैं। वस्तुतः इस प्रकारके प्रयोग कवियोने भाव-चित्रणमें अधिक सौन्दर्य तथा चमत्कार उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे किया है (जानकीनाथ सिंहः कं० हि० पो० प्रो०, अप्र० थी०)।

- 3. मिद्दरा सबेया—७ भगण (ऽ॥) + गुरुसे यह छन्द बनता है; १०, १२ वणींपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। "सिन्धु तर्यो उनको बनरा, तुम पे धनु-रेख गयी न तरी" (रा० चं०, १६: १२)। "ठाढ़े है नौ द्रुम डार गहे, धनु कॉधे धरे, कर सायक छै" (कविता०, २: १३)।
- २. मत्तगयन्द सर्वया— २३ वणोंका छन्द है, जिसमें सात भगण (ऽ॥) और दो गुरुओका योग होता है। नरोत्तमदास, तुल्सी, केशव, भूषण, मितराम, घनानन्द, भारतेन्द्र, हितैषी, सनेही, अनूप आदिने इसका प्रयोग किया है। "केसव गाधिके नन्द हमे वह ज्योति सो मूरतिवन्न दिखायी" (रा० च०, ६:१८)। "कोशे सवाँ जुरतो भिर पेट न चाहत हो दिध दूध मठौती" (सु० च०: नरोत्तमदास)। "धूलिमें लोटना था जिनको उनको सुख-सम्पति लुटते देखा" (कुणाल: अनूप)।
- ३. सुमुखि सवैया—सात जगण और छष्ट-गुरुसे यह छन्द बनता है; ११, १२ वर्णीपर यित होती है। मिदरा सवैयाके आदिमें छष्ट वर्ण जोडनेसे यह छन्द बनता है। "सखीन सो देत उराहनो नित्य, सो चित्त सँकोच सने छिये" (देव: श० र०, प्र० १०: पृ० १५२)। "अनन्य हिमांशु, सदा तरुणीजनकी परिरम्भण-शीतळता" (चन्द्राकर)।

% दुर्मिल सबैया—इसमें २४ वर्ण होते है, जो आठ सगणों (॥ऽ)से बनते है और १२, १२ वर्णों पर यित होती है, अन्त सम तुकान्त ललितान्त्यानुप्रास होता है। यह छन्द तोटक कृतका दुगुना है। इसका प्रयोग केशव (रा० चं०), तुलसी (कविता०) से लेकर रीतिकाल तथा आधुनिक कियोंतकने किया है। "जल हू थल हू परिपूरण श्री निमिक्ने कुल अद्भुत नोति जगे" (रा० चं०, ५: २२)। "अवधेसके द्वारे सकारे गयी सुत गोदमे भूपति ले निकमे" (कविना०, १)। "सखि, नील नभस्सरमे उतरा, यह हँस अहा तिरता-निरता" (साकेत, ९)।

५. किरीट सबैया—आठ भगणोने यह छन्द बनता है। तुल्सी, केशव, देव और दासने इस छन्दका प्रयोग किया है। इसमे १२, १२ वर्णोपर यति होती है। "जानकी-जीवनको जन है जिर जाउ सो औह जो ऑचत औरहि।" (कविता॰, ७:२६)। "तोरबो सरासन संकरको जेहि सोऽव कहा तुव लंक न तोरिह" (रा॰ चं॰, १५:७)। "अंसवली जनम्यौ जदुवंस, सुजान्यौ जसोमित कंस-कथा सुनि" (रेव: श॰ र॰, ५:वीर-अद्भुत)।

६. गंगोदक या छक्षी सबैया—आठ रगणोंसे यह छन्द बनता है। केशव, दास, द्विजदत्त द्विजेन्द्रने इसका प्रयोग किया है। दासने इसका नाम रूक्षी दिया है, केशव-ने 'मत्तमातंगलीलाकर'। "दास हो कान्ह दासी बिना मोल की, छॉड़ि दीन्ह्यों सवै वंस बंसावरी" (मिखारीदास प्र॰, पृ॰ २४४)। "राम राजानके राज आये यहाँ, धाम तेरे महाभाग जागे अवै" (रा॰ चं॰, १६:९)। 'हा गिरी, रो अरी, हा मरी, रो अरी, बोलि लागी गले राधिका स्यामके" (द्विजदत्त द्विजेन्द्र)।

७. मुक्तहरा सर्वेया—इसमें ८ जगण होते है। मत्त-गयन्दके आदि-अन्तमे एक-एक लघुवर्ण जोडनेसे यह छन्द बनता है; ११, १३ वर्णों पर यति होती है। देव, दास तथा सत्यनारायणने इसका प्रयोग किया है। "दिना दस जोबन जीवन री, मरिये पचि होइ, जुपै मरिबै न" (देव: इ१० र०, प्र०४: शान्त)। "सुलच्छन राजनके सो सुहाई अनोखि अकृतिम सुन्दरताई" (सत्यनारायण)।

८. वाम सवैया — मंजरी, माधवी या मकरन्द इसके अन्य नाम है। यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो सात जगणो और एक यगणके योगसे बनता है। मत्तगयन्दके आदिम लघु वर्ण जोडनेसे यह छन्द बन जाता है। केशव और दासने इसका प्रयोग किया है। केशवने मकरन्द, देवने माधवी, दासने मंजरी और भानुने वाम नाम दिया है। "नवै नव ग्रीव थके गति केशव बालक ते सँग ही सँग खेली" (रा० चं०, २४: ११)। "कहे किन आजु कहा भयो तोहि, कहा कहि कान्ह कहा कि तोसी" (देव: २१०, ए० १५२)। "बसन्तसे आज बने बजराज सपछब लाल छरी वर हाथे" (भिखारीदास ग्र०, ए० २४६)।

९. अरसात सवैया—यह २४ वर्णोका छन्द ७ भगणों और रगणके योगसे बनता है। देव और दासने इस छन्द-का प्रयोग किया है। "राधिकाकी रसरंगकी दीपति, संग सहेली हॅसी हहराहकै" (देव : श० र०, पृ०३८, हास्य)। "सात घरीहुँ नहीं बिल्गात, लजात ओ बात गुने मुसकात है" (भिखारीदास ग्र०, पृ०२४७)।

भुन्द्री सवैया—यह छन्द २५ वर्णीका है।
 सममें आठ सगणों और गुरुका योग होता है।

दूसरा नाम माधवी है। केशवने इसे सुन्दरी और दासने माधवी नाम दिया है। केशव (रा० चं०), तुल्सी (कविता०), अनूप (कुणाल), दिनकर (कुरुक्षेत्र)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। "वरु मारिये मीहि बिना पग धोये हो नाथ न नाव चढाइहें। जू" (कविता०, २:६)। "सब भूतल भूधर हाले अचानक आह मरत्थके दुन्दुभि वाजे" (रा० चं०, १०:१४)। "पलके अरुने, झलके अरु नेन छुटी अलके, छलके लरु मोती" (देव: २०००, १०)। "बिनु पण्डित धन्य प्रकाश नहीं, बिन धन्य न पावत पण्डित मा है" (भिखारीदास धं०, ए० २४६)। "मनुके यह पुत्र निराश नहीं, नव धर्म-प्रदीप अवस्य जलेगा" (दिनकर: कुरुक्षेत्र)।

99. अरिवन्द सर्वेया—आठ सगण और लघुके योग-से यह छन्द बनता है। १२, १३ वर्णोपर यित होती है और चारो चरणोमे लिलतान्त्यानुप्रास होता है। "अधिरात ' ॲध्यारको मेघ छटा, घुमड़ी छुटि विज्जु छटा चहुँ ओर" (देव: इ१० र०, १० १०, १५४)। "कुछ और नहीं युग लोचनोमे, प्रतिविग्वित है अनुराग अमन्द।" (चन्द्राकर)।

\$२. मानिनी सवेया—यह २३ वर्णोंका छन्द है। ७ जगणो और लघु-गुरुके योगसे छन्द बनता है। वाम सवैया-का अन्तिम वर्ण न्यून करनेसे या दुर्मिलका प्रथम लघु वर्ण न्यून करनेसे यह छन्द बनता है। तुल्सी और दासने इमका प्रयोग किया है। "प्रफुछित दास बसन्त कि फौज सिलीमुख भीर देखावित है" (भिखारीदास ग्रं०, पृ० २४४)। "कहा मव भीर पड़ी तेहि घो, विचरै धरनी तिनसो तिन तोरे" (किवता०, ६:४९)।

9३. महाभुजंगप्रयात सवैया—यह २४ वर्णोंका छन्द है, जो आठ यगणोसे बनता है। यह भुजंगप्रयातका दुगुना छन्द है। इसमे १२, १२ वर्णोंपर यति होती है। "रहे बैठि न्यारी घटा देखि कारी, विहारी विहारी विहारी दरें जू" (भिखारीदास ग्रं०, पृ० २४४)।

18. सुखी सचेंथा—यह नवीन सवैया ८ सगण + लघुगुरुसे बनता है; १२, १४ वणोंपर यति होती है। सुखी
सवैया ८स + २ लके अन्तिम वणोंको दीर्घ करनेसे यह छन्द
बनता है। "कुछके अपमानके साथ पितामह, विश्व-विनाशक युद्धको तोलिये" (दिनकर: कुरुक्षेत्र)। —पु० ग्रु०
सहचरिम्न -दे० 'अर्थ-दोष', चौदहवाँ।

सहज – सिद्धों, नाथों तथा सन्तोमे समान रूपसे सहज शब्दका महत्त्व है, यद्यपि इसको एक ही अर्थमे समीने प्रयुक्त नहीं किया है। सिद्धोने सहज शब्दको जितना महत्त्व दिया है, उसके कारण यह धारणा होनी है कि सम्भवतः बज्जयानसे पृथक् इनका मत सहजयान है, जो अनुष्ठानों और गुद्ध साधनाओंसे रहित है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है (दे० 'वज्जयान')।

इस सहज्ञकी कल्पनाका मूल उद्गम क्या है, इसके विषयमें एक अत्यन्त रोचक, किन्तु विचारणीय मत प्रवोधचन्द्र बागचीका है। वे इसे 'ताओ'का अनुवाद मानते है, जो प्राचीन चीनी धर्मका म्ल सिद्धान्त है। ताओ-साधनाकी बहुत-सी पद्धतियाँ, शब्दावर्णी और सिद्धियाँ बौद्ध तन्त्रोंसे बहुत सिल्सी-जुल्ती है। कुल दक्षिण भारतीय

अनुश्रुतियाँ यह मानती है कि ईसासे पहले ही कोई 'भोग' नामक चीनी आचार्य दक्षिण भारतमें आया और तिनेवेलीके सिङ्कूट पर्वतपर रहने लगा । वह भी कायाकी अमरताका उपदेश देता था और गुह्य साधनाएँ करता था । किन्तु इन किंवदन्तियोंके आधारपर किसी भी प्रामाणिक निर्णयपर नहीं पहुँचा जा सकता था। 'विष्णुपुराण'(लगभग ४०० ई०)मे अवस्य सहजा-सिद्धिका उल्लेख है, जिसे स्वाभाविक सिद्धि भी कहा गया है। वहुभदेवके एक कामरूपवाले शिलालेखमे भी इसी अर्थमे सहजका उहेख है। यह शिलालेख १२वी शताब्दीका है। इससे इतना तो अवस्य अनुमान होता है कि बौद्धोंके अतिरिक्त भी कोई चिन्तन-परम्परा चली आ रही थी, जो सहज जीवनपद्धतिपर बल देती थी, जिसका सम्भवतः वैष्णवींसे अधिक निकटका सम्बन्ध था। बौद्धोने जब इस शब्दको स्वीकार किया तो इसके प्रज्ञोपाय-युगनद्ध-परक अर्थ लिये। सहज वह परम तत्त्व है, जो प्रज्ञा और उपायके सहगमनसे उत्पन्न होता है, उसीके आधारपर सहज-काया, **सहज-सुन्द्री,** सहज-नौका, **सहजानन्द** आदिकी कल्पना की गयी। किन्तु यह केवल बौद्धोने नही किया था। लगता है, कई तान्त्रिक पद्धतियोंने 'सहज' शब्दको स्वीकार कर उसे नये गुह्य अर्थ दे दिये थे। मत्स्येन्द्रनाथके 'योगिनी-कौल-मार्ग'मे भी सहजसे स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्गके अतिरिक्त ऐसी साधनाका अर्थ लिया जाने लगा, जिसमे स्नीतत्त्व और पुरुषतत्त्वका मिलन सम्पन्न हो। 'योगिनी-कौल-मार्ग'का नाथ-पन्थसे काफी निकटसे सम्बन्ध रहा है। नाथ-पन्थमें भी शक्ति और शिवका मिलन नाद और विन्दु के मिलनके रूपमें माना जाता रहा है, किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि सिद्धोंके पूर्व बौद्ध-परम्परामें सहज शब्दका प्रयोग नहीं मिलता है।

सम्मवतः इसका एक कारण यह भी है कि शून्य और करुणा, ये दोनों एक दूसरेके अभावमें साम्यको एकांगी बना देते थे। दोनोंके ऐक्यका धोतक 'सहज' शब्द वस्तुतः अधिक गहरा अर्थ देसकनेमे समर्थ था। प्रज्ञा और उपाय, शून्य और करुणाका सहगमन ही प्रमुख प्रणाली है और वही सहज तस्व है।

नाथपन्थी साहित्यमे भी सहजको परम तत्त्वके रूपमे

ग्रहण किया गया है। "ए ही पाँचों तत बाबू सहज

समान ""(गोरखवानी)। दुविधा मिटाकर सहज स्वभावमें

रहनेका उपदेश है। गोरखनाथ सहज तत्त्वके व्यापारी

बताये गये है। सहजको परम पद निर्वान बताया गया है

और " उविक न चलवा हविक न बोलिबा, धीरे धरिबा

पाँव, गरब न करिबा। सहजे रहिबा " "को साधकका

आदर्श आचरण माना गया।

यह 'सहज रहिवा' या सहज रहिन वस्तुतः सन्तोंमे बहुत प्रमुख हो गयी। वैसे सन्तोंसे भी परम तस्वके रूपमे, स्वभावके रूपमे, समाधिके रूपमे सहजका निरन्तर उछेख मिलता है, किन्तु उसके तान्त्रिक अर्थको सन्तोंने कहीं भी नहीं स्वीकार किया, वे उसे पूर्णतः भूल चुके थे। वैसे ती सिद्धोमें भी साधनाकी एक अवस्था ऐसी आती थी, जब वे कहते थे कि "एकु न विजुइ सन्तण मन्त, निश्च विरणी रूड केलि करन्त"। या वे मानते थे—"भणह

सअवा, खसम भअवह, दिवा रात्ति सहज राहिअहं' (दोहाकोण: तिल्लेपा)। किन्तु यह महामुद्राकी साधना कर लेनेके वादकी वह स्थिति है, जब साधकको आचारकी समस्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। सन्तोंमें सहज रहिनिका और भी निर्मेल और भावात्मक स्वरूप है। वे उमे उस वैष्णव अर्थमे ग्रहण करते है, जहाँ सभी कमोंको कृष्णार्पण कर सहज जीवननिर्वाह किया जाता है। कवीरने जब कहा है कि "सन्तों सहज समाधि भली", तब उन्होंने सहज समाधिसे न प्रज्ञा और उपायके समागमका संकेत किया है, न नाद और विन्दुके मिलनका, उन्होंने केवल समस्त बाह्य आडम्बरोंसे रहित, सरल, भावपूर्ण जीवन-निर्वाहके अर्थमे प्रयोग किया है। वैसे तो नाथोमे भी सहज-रहनीका उल्लेख है, पर कवीरमें सहज-रहनीका प्रमुख आधार है हरिभक्ति और प्रमुके प्रति भावात्मक अर्पण। नाथपन्थी धारणामें इसका अभाव है।

किन्तु परवर्ती कवीरपन्थी साहित्यमें इस सहजकी कल्पना-का प्रचुर दुरुपयोग हुआ है। उसमे सहजको ब्रह्म बताया गया है, जिससे पाँच ब्रह्म उत्पन्न हुए है। फिर सहज श्रुति, सहजांकुर, सहज द्वीप आदिक्षी कल्पनाएँ की गयी। अन्तमे सहजका हास भी मिळता है, जब सहजको घटाकर माया शब्लित निरंजन मान ळिया गया और अन्तमे धर्म-सम्प्रदायका कर्मकाय ही मान ळिया गया (विस्तारके ळिए दे०—सिद्ध साहित्य: धर्मवीर भारती)।—ध० वो० भा०

सहजयान – दे० 'वज्रयान'।
सहजरहनी – दे० 'सहज'।
सहज स्ट्र्स्य – दे० 'स्ट्र्स्य'।
सहज समाधि – दे० 'सहज'।
सहज सिद्धि – दे० 'सहज'।
सहज सुंदरी – दे० 'महामुद्रा'।
सहज स्वभाव – दे० 'सहज'।
सहजानंद – दे० 'वार आनन्द'।

सहजिया-सहजयानी साधनाओंसे प्रभावित वई छोटी-छोटी धर्म-साधनाएँ पूर्वी भारतमे विद्यमान हैं, जो सहजिया कहलाती है किन्त प्रमुख सहजिया धारा समस्त बौद्ध प्रभावोंको ग्रहण करके अब वैष्णवताको स्वीकार कर चकी है। यह संक्रमण कब हुआ और किस प्रकार हुआ, यह तो अभी खोजका विषय है, किन्तु कई विद्वानीका मत है कि किसी-न-किसी रूपमे तान्त्रिक पद्धतिका व्यापक प्रभाव वैष्णव धर्मके उस रूपपर पड़ा है, जो पूर्वी भारतमे प्रचारित हुआ। सहजिया सम्प्रदायवालोंका तो यह क्षथन है कि जयदेव, विद्यापति और चण्डोदास आदि वैष्णव, विमर्श और रूपसनातन, स्वरूप, दामोदर, जीवगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्य सभी किसी-न-किसी रूपमे मुद्रा-मेथुन-युक्त सहज-साधनामें प्रवृत्त हो चुके हैं। सहजियोके पदोंका अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि इनपर बौद्ध और हिन्दू तान्त्रिकोंका स्पष्ट प्रभाव है, किन्तु धीरे-धीरे इनके पदोमे प्रगीत प्रेमतत्त्व अधिक भावात्मक होता गया है, गुह्य तान्त्रिक अनुष्ठानोंसे मुक्त होता हुआ हृदयकी सहज वृत्तियोंके स्फरणको अधिक महत्त्व देने लगा है। किन्त साथ ही यह भी स्मरणीय है कि स्वतः सहजयानी सिद्धोंमें यह प्रवृत्ति पायी जाती थी और सन्तोंके साहित्यमें तो इसका पूर्ण विकास मिलता है। किन्तु इनके और सन्तों-के साहित्यमें अन्तर यह है कि ये कृष्णको अपना उपास्य मानते है, लीलामें विश्वास करते हैं और परकीया प्रेमको अधिक महत्त्व देते है।

लीलाके सम्बन्धमे चैतन्य महाप्रभूने राधा-भावको अधिक महत्त्व दिया था, जब कि उनके पूर्ववर्ती और समकालीन अन्य भक्त-कवि और साधक सखी-भावको स्वीकार करते थे। जहाँतक सहजिया साधकोंका प्रश्न है, वे न केवल सखी-भावसे राधा और कृष्णकी प्रेम-लीलाओंका गायन करते है, वरन यह भी विश्वास करते है कि लौकिक पुरुष और नारीकी प्रेम-लीलामे भी राधा-कृष्णके अलौकिक प्रेमकी अभिव्यक्ति होनी है। इसके लिए वे ह्रप-लीला और स्वरूप-लीलाके सिद्धान्तका आधार लेते है। उनका कहना यह है कि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर कृष्ण विद्यमान है और प्रत्येक नारीमें राधा। लौकिक नाम और आचरणवाला उसका व्यक्तित्व 'रूप' है और कृष्णकी स्वतः जो प्राकृत लीला थी, वह उनकी रूप-लीला थी और अप्राकृत लीला स्वरूप-लीला थी। इसी दृष्टिसे वे वृन्दावनके तीन रूप मानते थे-वन-बृन्दावन, मन-बृन्दावन, नित्य-बृन्दावन । नित्य-बन्दावनमे कृष्ण और राधा, पुरुष और प्रकृति या रस और रतिके रूपमे नित्य विद्वार करने है।

वैष्णव सहजिया साधनाकी मख्य प्रक्रिया है 'आरोप'। इसमें 'रूप'पर 'स्वरूप'का आरोप कर भाव साधना की जाती है, किन्तु इसमें रूपका निषेध नहीं होता. बल्कि रूपके बिना स्वरूपका साक्षात्कार ही नहीं हो सकता। इसीलिए वे लौकिक और अलौकिक प्रेममें कोई विभाजक रेखा नहीं खीचते । (दे० 'पोस्टचैनन्य सहजिया कल्ट': मणीन्द्रमोहन वस तथा आब्स्क्योर रेलीजम कल्ट्स : शशि--- ध० वी० भा० भूषणदास गुप्त)। सहजिया संप्रदाय - 'सहजिया'में दीख पडनेवाले 'सहज' शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ ('सह जायते सहजः'के आधार-पर) जन्मके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाला तथा इसी कारण किसी भी पदार्थका अपना नैसिंगक रूप हुआ करता है, किन्त पारिभाषिक दृष्टिसे इसका प्रयोग उस अनि चनीय स्थितिके लिए किया गया मिलता है, जिसे 'निर्वाण'की संज्ञा दी जाती है और इसी प्रकार यह परम तत्त्वके स्वरूप-का बोधक भी समझा जाता है। अतएव 'सहजिया' शब्द-से अभिप्राय उन लोगोंका है, जो ऐसे 'सहज'में आस्था रखते है और तदनसार 'सहजिया सम्प्रदाय' भी ऐसे व्य-क्तियोंके किसी समदायविशेषको ही कह सकते है। 'निर्वाण' की दशा, जिसे गौतम बुद्धने मानवजीवनके लिए चरम लक्ष्य निर्धारित किया था, समय पाकर विभिन्न नामो द्वारा अभिहित होती आयी। कभी इसे उनके अनुयायियोने 'तथता' कहा, तो कभी 'शन्य'का नाम दिया और फिर इसे ही उन्होने क्रमशः 'विश्वप्तिमात्रता', 'महासुख' तथा 'वज्र-धात' एवं 'वज्रसत्त्व' भी ठहराया। उसे 'वज्र' नाम देने-वाले लोगोंके समुदायको 'वज्रयान' कहा गया और फिर रसीको 'सहज'के रूपमें करिपत करनेवालोंके वर्गको 'सहजयान' बतलाया गया । इस 'सहज'को बौद सिद्धोंने

'सहजानन्द' अथवा 'सहजसुख' शब्दों द्वारा भी व्यक्त किया है और इसकी स्थितिको 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'की सम-रसतामें निहित समझा है। इनका कहना था कि जो कुछ ब्रह्माण्डमे है, वह सभी पिण्ड या शरीरमें भी है और इसी-लिए जिस प्रकार शैव तान्त्रिकोने मानव-शरीरके अन्तर्गत शीर्षस्थ 'सहस्रार'मे 'शिव'की तथा 'मूलाधार'मे 'शक्ति'की कल्पना की थी, उसी प्रकार उन्होंने भी क्रमशः 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'को स्थान दिया। परन्त शैव तान्त्रिकोंने जहाँ 'शक्ति' एवं 'शिव'के मिलनकी अनुभूतिको अन्तःसाधना द्वारा ही साध्य माना था, वहाँ इन बौद्ध तान्निकोंने 'उपाय' तथा 'प्रज्ञा'की समरसताके लिए एक ऐसी बाह्य-साधनाकी भी आवदयकता बतलायी, जिसमें साधक अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किसी 'मुद्रा'के साथ यौन सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता था। 'मुद्राएँ' प्रायः नीच कुलोत्पन्न स्त्रियाँ हुआ करती थीं और उनके प्रति सहज प्रेमकी अभिवृद्धिके समानान्तर 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'का उत्तरोत्तर मिलता जाना भी सम्भव समझा जाता था। परन्त वज्रयानियो एवं सहजयानियोंने पीछे अन्तःसाधनाके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की और उनकी साधना बाह्य मुद्रा-साधनातक ही सीमित रहते लगी।

ऐसे साधकोका प्रमुख कार्यक्षेत्र बंगाल, बिहार एवं उडीसा आदि प्रान्तोंने था, जहाँ बौद्ध धर्मका अस्तित्व ११वी शताब्दीतक बना रहा और बौद्ध सिद्धो द्वारा अधिकतर सर्वसाधारणमें ही प्रचार किये जानेके कारण ऐसी भावना-का प्रभाव वहाँके समाजपर भी विना पड़े नहीं रह सका। फ न्तः बौद्ध धर्मके वहाँसे अपने पूर्वरूपोंमें प्रायः लुप्त हो जानेपर भी उससे निर्मित हो गये वातावरणमे अधिक परिवर्तन नहीं लाया जा सका और उस कालतक प्रचलित वैष्णव-सम्प्रदायके कतिपय अनुयायियोंकी रचनाओंमे उक्त 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'के मिलनका ही एक रूपान्तर उनकी राधा एवं कृष्णके अलौकिक प्रेमभावकी अभिव्यक्तिमे भी दीख पडा । किन्तु बौद्ध सिद्ध जहाँ 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय'के मिलनकी समरसताका स्वयं भी अनुभव करते जान पड़ते थे, वहाँ वैष्यवोंने राधा एवं कृष्णकी 'केलि'को केवल दूरसे प्रत्यक्ष कर आनन्दित होना अभीष्ट माना और उसे अपने सुन्दर कान्योंका विषय भी बनाया । 'गीतगीविन्द'के रचयिता प्रसिद्ध कवि जयदेव तथा मैथिल कवि विद्यापतिने अपनी कविताओं में इसी नियमका अनुसरण किया और इन्होंने सिद्धोंके 'सहज'को भी कोई महत्त्व नहीं दिया। 'सह ज'की चर्चा एवं व्याख्या करनेवाले बंगला कवि चण्डी-दास हुए, जिन्हें इसी कारण एक प्रमुख 'वैष्णव सहजिया'के रूपमे भी स्वीकार किया जाता है। इन्होने न केवल राधा एवं कृष्णकी केलिको कुछ भिन्न दृष्टिसे देखा, अपित इन्होंने अपने जीवनतकको बौद्ध सहजयानियोंके ही आदर्शानुसार ढाल दिया। इन्होंने किसी 'रामी' नामकी रजकी (धोबिन)-को प्रेमपात्रीके रूपमें स्वीकार कर उसे सहजयानियोंकी जैसी -'मुद्रा' बना डाला। फलतः उनका न्यूनाधिक अनुसरण करनेवाले लोगोंकी संख्यामें क्रमशः इतनी वृद्धि होती चली गयी कि बौद्ध सिद्धोंके 'सहजयान'की भॉति वैष्णव धर्मके अनुयायियोंका भी एक 'सहजिया सम्प्रदाय' चल निकला और उसे कवि जयदेव तथा विद्यापितके शुद्ध वैष्णव सम्प्रदायमे पृथक् समझा जाने लगा।

इन वैष्णव 'सहजिया' लोगोंकी बहुत-सी बातें बौद्ध सहजयानियोंसे मिलती-जुलती थी, किन्तु इनकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी थी। इनका 'सहज' सहजयानियोके ही जैसा अनिर्वचनीय था, किन्तु उसकी व्याख्या करते समय ये उसे विशुद्ध प्रेमका जैसा रूप दे दिया करते थे। इनका कहना था कि श्रीकृष्णका, परम तत्त्व होते हुए भी, विना अपने नैसर्गिक प्रेमकी अमित शक्तिस्वरूपिणी राधाके रहना असम्भव है। राधा उनमे स्वभावतः निहित रहा करती है, जिस कारण उन दोनोंके क्षणिक वियोगकी कल्पना भी उनकी नित्यलीलाकी ही हिएसे की जा सकती है। उसमे उनका 'स्वरूप' आध्यात्मिक तत्वके रूपमें वर्तमान है और इसी प्रकार उसमे भौतिक तत्त्वको भी स्थान प्राप्त है, जिसे 'रूप'का नाम दिया जा सकता है तथा इसीलिए रूपके ऊपर 'स्वरूप'का 'आरोप' करना ही अपने पार्थिव प्रेमको अपार्थिवता प्रदान कर देना है। इनके अनुसार किसी भगवान्के प्रति आध्यात्मिक प्रेमका प्रदर्शन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर अपने आप कर लेनेमे समर्थ है। मानव-जीवन इस विरवमे सबसे बड़ी देन है और 'मानुष' (मनुष्य)का स्थान यहाँ सभी पदार्थींसे कही ऊँचा है। सहजिया वैष्णव प्रेमभावमे उत्कर्ष लानेके लिए किसी साधकका परकीयाके संसर्गमे रहना अत्यन्त आवश्यक मानते है, परन्तु वे परकीयाके भी 'मुख्य' एवं 'मंजरी' नामक दो भेद करते दीख पडते है। वास्तवमे इनकी 'मंजरी' ही सहजयानियोंकी 'मुद्रा' है, जिसका सविधि पूजन करके साधक अपनी सुषुम्ना नाडीको क्रमशः जाग-रित कर, दिव्य शक्ति उपलब्ध कर सकता है। 'मुख्य' परकीया वह 'अन्तरंग' शक्ति है, जिसकी साधनामे पर-मात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर उसके प्रति पूर्ण समर्पण कर देना पड़ता है।

प्रेमभावकी शुद्धता एवं गम्भीरताकी दृष्टिसे वैष्णव सह-जिया लोगोंकी तुलना सूफियोंके साथ की जा सकती है। सुफी लोग भी इन सहजिया वैष्णवोंकी भाँति ईश्वरीय प्रेम-(इरक हकीकी)की प्राप्तिके लिए पार्थिव प्रेम (इरक मजाजी)-की साधना आवश्यक समझते थे और इस बातको प्रेम-गाथाओं द्वारा उदाहत भी किया करते थे, जिसका इनके यहाँ कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि पाथिव प्रेमकी साधना ये लोग स्वयं परकीयाके साथ कर लेते थे। सफियोंकी प्रेम साधनाका ढंग वस्तुतः व्याख्यात्मकमात्र ही था, जहाँ सहजिया वैष्णव उसे तान्त्रिकोंकी भॉति स्वयं पूरा भी कर लेते थे। इसके सिवाय सूफियोंका प्रेम जहाँ सीधे ईश्वरके प्रति प्रदर्शित समझा जा सकता था, वहाँ सहजिया वैष्णवोंकी साधना-प्रणालीमें ऐसी कोई बात नहीं थी। ये लोग श्रीकृष्ण एवं राधाके अलौकिक प्रेमको ही विशेष महत्त्व देते थे तथा उसे अपनी मंजरी-साधना द्वारा निजी अनुभवमें लानेके लिए प्रयत्नशील भी रहा करते थे। इस बातमे ये लोग उन बाउलोंसे भी भिन्न थे, जो अधिकतर वंगाल प्रान्तके निवासी थे तथा जो सुफियोंकी भॉति ही अपनी प्रेम-साधनामें सदा मस्त रहा करते थे। सहजिया
वैष्णवोका प्रेम जहाँ श्रीकृष्ण एवं राधारूपी दो व्यक्तियोके
स्वरूपाश्रित प्रेमकी अपेक्षा करता था, वहाँ वाउलोंका सब
किसीके हृदयमें वर्तमान किसी 'मनेर मानुष'के प्रति उन्मुख
था और उसे इस प्रकार अग्त्मसाधनाका ही एक रूप ठहराया जा सकता था। सहजिया वैष्णवोके प्रेममे द्वैतमावनाका वना रहना आवश्यक था और उसे प्रेमलक्षणा मक्तितकका नाम दे सकते थे, जहाँ वाउलोकी प्रेमसाधना तत्त्वतः
अद्वैतभावनापर ही आश्रित थी।

सिहायक यन्थ-उत्तरी भारतकी सन्त परम्परा मध्यकालीन प्रेम और साधना : परशुराम चतवेंदी। ---प० च० सहजोळी मुद्रा-'गोरक्ष पद्धति'में (पृ० ५०) सहजोलीको वज़ोली, अमरोलीका समशील माना गया है। इसकी विधि बतायी गयी है कि गोबरके सखे कण्डेको जलाकर उसकी राखको पानीमें मिला लिया जाय । इसके बाद स्त्री-परुष मैथन करें और मैथुनसे निवृत्तहोकर थोड़ी देर आरामसे बैठ लेनेके बाद जलमें मिले उक्त भसका अपने-अपने शरीरमें सर्वांग लेप करें। पृष्ठ ५१पर इस मुद्राको योगियोंकी श्रद्धेया, श्मकरी और भोगप्रधान होनेपर भी मुक्तिदा बताया गया है। कहना कठिन है कि इसे मुद्रा क्यों वहा गया ? जल-में भस मिलाकर लेप करना मुद्रा क्यों है ? अस्त । आचार्य हजारीप्रसाद दिवेदीजीने सहजोलीको सहजयानी साधनाका अवशेष बताया है (नाथ सम्प्रदाय, पृ० ७१)। 'घरण्ड संहिता'मे जिस प्रकार वज्रोलीकी योगपरक व्याख्या मिलती है, सहजोलीकी वैसी कोई व्याख्या नहीं मिलती। इसमें इस मद्राका उल्लेख ही नहीं है। सहोक्ति-साद्यम्लक गम्यौपम्याश्रय वर्गका भेद-प्रधान, प्राचीनोंसे स्वीकृत चला आनेवाला, अलंकार । अर्थ है सह-भावकी उक्ति। इसमें एक अन्वित अर्थवाले पदकी, 'सह' ज्ञब्दकी अर्थसामर्थ्यसे, दो अन्वित अर्थकी बोधकता होती है (का० प्र०, १०: ११२)। सामान्यतः इसके सम्बन्धमें यही धारणा चलती रही है-"दो वस्तुओंकी तुल्यकालीन दो क्रियाओंका एक ही पदसे कथन करना" (सहार्थक शब्दकी सामर्थ्यसे)" (का० सू० वृ०, ४:३:२८)। इस प्रकार साधारण कथनमें यह अलंकार नहीं माना गया है-"राम लक्ष्मण और सीताके साथ वन गये"। सहोक्तिमें अतिशयोक्तिका होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है-'मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्' (सा० द०, १०: ५५)। जयदेवका 'जनरंजनः' कहना भी इसी बातका संकेत है।

हिन्दीके आचार्यों कुछने 'चन्द्रालोक' तथा 'कुबल्या-नन्द'के आधारपर लक्षण दिये है—''वस्तुनको भासत जहाँ, जनरंजन सह भाव'' (शि० भू०, १४९), अथवा 'बहु संग भने, जनरंजनके काज' (पद्मा०, ९६), जो बहुत स्पष्ट नहीं है। केशवका लक्षण दण्डीके आधारपर है और अपूर्ण है—"हानि बुद्धि सुभ असुभ कल्लु कहिये गूढ़ प्रकास। होइ सहोक्ति सो साथ ही बरनत केसवदास" (क० प्रि०, १२: २०)। पर उदाहरण उपयुक्त है— ''सिसुता समेत भई मन्द मन्दगति लोचननि गुनसीं विलत्त

लिल गति पायी है" (वही, २१)। मतिराम, कुलपति तथा दास आदिने मम्मट-विश्वनाथके आधारपर लक्षण दिये है-" काज हेत्रकों छोडि जहँ औरनिके सहभाव" (ल० ल०. १५७)। उदा०—"नैननते नीर धीर छुट्यो एक संग, छुट्यो सख रुचि, मख रुचि त्यों ही बिन रंग ही" (शि॰ भू०, १५०), अथवा—"फुलनके संग फुलिई रोम परा-गनके सँग लाज उडाइहै। पल्लव पुंजन सँग अली हियरा अनुरागके रंग रँगाइहै" (का० नि०, १५)। इसका एक भेद इलेपमिश्रित माना गया है—"मन सँग रक्ताधर भये, सैसव संगति मन्द" (अ० म०, ३०९)। यहाँ 'रक्त' पदमें रलेष है, अधरके पक्षमें लाल रंग और मनके पक्षमें अनु-सांख्य-सांख्य, दर्शनकी एक पद्धति है, जिसके आदि प्रवर्शक कपिल है। इस दर्शनको सांख्य क्यों कहते हैं ? इस प्रश्नको विविध उत्तर हैं। (क) कपिल दर्शनमें संख्या, अर्थात् सम्यक ज्ञानकी प्रधानता है। संख्याका अर्थ है सम्यक् ख्यातिका ज्ञान । यह विशुद्ध ज्ञानमार्ग है । प्रत्यक्ष और अनुमान ही इसके मुख्य प्रमाण है। यद्यपि कालान्तर-में श्रुतिप्रमाण या वेदोका प्रमाण भी इसमें मान्य समझा गया, तथापि प्राथमिकता तर्क या ज्ञानकी ही रही है। गीतामें सांख्यको ज्ञानमार्गका हो पर्याय कहा गया है। शंकराचार्य भी सांख्यको तार्किक कहते है। संख्या या ज्ञानकी प्रधानताके कारण इस दर्जनको सांख्य कहा जाना है। (ख) कुछ लोगोंका मत है कि सांख्य दर्शनका यह नाम इसलिए पडा कि इसमें तत्त्वोंकी संख्या या गिनती की गयी है। मौलिक तत्त्व कितने हैं, इसका जो शास्त्र विचार करता है, उमको सांख्य कहते है । पर आज भी जो दर्शन इन तत्त्वोंकी गिनतीका विचार करते हैं, उनकी हम सांख्य नहीं कह सकते । सांख्य भारतका पहला दर्शन है, जिसमें मौलिक तत्त्वोंकी संख्या की गयी। उपनिपदोंका पहला ममन्वय करनेवाला दर्शन यही सांख्य है। इसमें उपित-पदोंके मौलिक तत्त्वोंको विकास-क्रममे सँजीया गया।

सांख्य शास्त्रके प्रथम आचार्य किपिल है। इन्होंने 'सांख्यसूत्रो'की रचना की थी, पर वह उपलब्ध नहीं है। इस नामसे जो उपलब्ध है, वह पूर्ण क्षेपक ही नहीं, वरन् जाली रचना है, जो बहुत भीछे लिखी गयी। सांख्यका प्रयोग जैन परम्परा तथा महाभारत और गीतामें आता है। किपिलका नाम 'इवेताश्वतर' उपनिषदमें भी आया है। किपिलके समयको कुछ लोग ७०० ई०पू० ठहराते हैं। कुछ भी हो, पर यह निश्चय किया गया है कि किपल बुद्ध-पूर्व थे। जिस समय प्राचीन उपनिषदोकी रचना हो चुकी थी और उनके ज्ञानमार्गकी प्रधानता भी थी, उसी समय यह आवश्यकता पड़ी कि उस ज्ञानमार्गको सुश्खलित रूपमें प्रस्तुत किया जाय। किपिलने, जो बहुत बड़े सिद्ध थे, इस कार्यको किया।

सांख्य दर्शनका प्राचीनतम प्रन्थ जो उपलब्ध है, ईश्वर-कृष्ण (लगभग १०० ई०)की 'मांख्यकारिका' है। इसके अनुसार चार प्रकारके तत्त्व है—प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति दोनो या उभय और न प्रकृति न विकृति, अर्थात् अनुभय। प्रकृति कहते हैं मूल कारणको। यह अन्तेतन है; सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणींकी साम्यावस्था है। यह प्रसनवती है, अर्थात् इसने कुछ बरतुएँ उत्पन्न होती है, जिनको हम विकृति कहते है। इसने पहले महत् उत्पन्न होता है, महत्वे अहंकार, अहंकारसे युगपत् तीन प्रकारके तत्त्व प्रकट होने है-- १. मन, २. इन्द्रियाँ और ५ तन्मा-त्राएँ। इन्द्रियाँ ५ कार्नेन्द्रियाँ है, अर्थात् हस्त, पाद, मुख, पायु और उपस्थ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः शब्दतन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूपनन्मात्रा, रसनन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा है। इनमे, परवती तन्म।त्राओमे, पूर्ववर्ती तन्म।त्राएँ विद्यमान रहती है। फिर इन्ही ५ तन्मात्राओं मेरी क्रमशः अकाश, वायु, तेज, अप् और पृथ्वी, इन पॉच महाभूतोका विकास होता है। महत्, अहंकार और ५ तन्मात्राएँ इन सात तत्त्वोको प्रकृति, और विकृति, दोनो कहते है, क्योंकि एक ओर ये उत्पादक है, तो दूसरी ओर उत्पन्न। मन, १० इन्द्रियाँ और ५ महाभूत इन १६ तत्त्वोको केवल विकृति कहते है, क्यों कि ये केवल कार्य या उत्पन्न है, कारण या उत्पादक नहीं। इस प्रकार १ प्रकृति, ७ प्रकृति-विकृति और १६ विकृति और इन २४ तत्त्वोसे पृथक् बहुतसे पुरुष है, जो न प्रकृति है न विकृति। इस तरह कुछ २५ तत्त्व है। मूलतः पुरुष और प्रकृति ये ही दो तत्त्व है। पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिकी साम्यावस्था मंग होती है और तब उसमे गिन आती है, जिसके फलस्वरूप महदादिक्रमसे सभी अन्य तत्त्वोका विकास होता है। पाँच महाभूतो तथा मन और इन्द्रियोके ही विभिन्न संघातोंसे 'नाना जीवो येन जगत' बनना है। पुरुष प्रकृति ने मूलतः अनासक्त है। पर जगत्मे वह प्रकृतिके कार्यकलापभे बॅधा प्रतीत होता है। ज्ञानसे इस बन्धनको दूर करके पुरुषका अपने अस्तित्वका अनुभव करना ही मोक्ष या कैत्रल्य है। पुरुष द्रष्टा और भोक्ता दोनों है, किन्तु वह कर्ता नहीं है। वीवल्यमे पुरुष अपनी दृष्टि-शक्ति तथा योग-शक्तिसे ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है।

साहित्यशास्त्रमे सांख्यके अनुसार भट्टनायकने इसका निरूपण किया है। उनके मतको मुक्तिवाद या भोगवाद (दे०—रस-निष्पत्त, तीसरा मत) कहा जाता है। भोग-वादके आधार-पुरुष-की त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे भिन्नता, उसकी द्रष्ट्रव या ज्ञातृत्वकी शक्ति (भावकत्व शक्ति) तथा उसकी भोक्तृत्व-शक्ति (भोजकत्व-शक्ति) है।

विकास-क्रमका व्यतिक्रम या विपरीत-क्रम तिरोभाव या प्रकृति-प्रलय है। विकासक्रममे सांख्य सत्कार्यवाद या प्रकृति-परिणामवादके सिद्धान्तको मानता है, जिसके अनुसार कार्य कारणमें सर्वदा पूर्वसे ही विद्यमान रहता है। कार्य कारणावस्थाका व्यक्त रूप ही है।

ईश्वरकुष्णके .उपर्युक्त सांख्यमे ईश्वरकी मान्यता नहीं है, अतः वह निरीश्वरवादी दर्शन है, कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरकुष्ण वस्तुतः निरीश्वरवादी नहीं, बल्कि अद्येयवादी है, इसलिए वे ईश्वरके विषयमे मौन है। उनकी अनुक्तिका अर्थ अभाव न लगाना चाहिये। कुछ भी हो, इस सांख्यकी परिभाषिक संज्ञा निरीश्वर सांख्य है। इससे पृथक् सेश्वर सांख्य है, जिसमें २५ तत्त्वोसे पृथक् ईश्वर तत्त्वको भी माना जाता है और इस तरह उसमें २६ तत्व हो जाते हैं। विज्ञानभिश्च जिन्होंने 'सांख्यप्रवचनस्त्रभाष्य' लिखा

है, इसी ेश्वर सांख्यके अनुवायी है। 'चरकसंहिता'में सांख्यका मन मिलता है, पर उसमें २५ या २६ तस्त्रोके बजाय केयल २४ तस्त्र ही है। वहाँ प्रकृति और पुरुष दोनोंको अपृथक कर लिया गया है, क्योंकि वे दोनों ही अव्यक्त है। 'चरकसंहिता' (७८ ई०)में निरूपित सांख्य ईश्वरकृष्ण और विद्यानिभक्षके सांख्य ने प्राचीन है। चरकके पूर्व गहाभारतका काल है। उसमें भी चरक जैसा ही सांख्यका निरूपण है। इससे यह समस्या उत्पन्न हो गयी है कि गौलिक सांख्य सेश्वरवादी है या निरिश्वरवादी? किपिलका सांख्य क्या है? इसके विविध ढंगसे उत्तर दिये गये और कुछ लोगोंने किपिलको निरीश्वरवादी, कुछने सेश्वरवादी तो कुछने अक्षेयवादी माना।

'षड्दर्शनसमुच्चय'के भाष्यकार गुणरल (१४ व) शती)-ने सांख्यके दो सम्प्रदायोका उल्लेख किया है—मीलिक सांख्य और उत्तरसांख्य। मीलिक सांख्यमे जैसे पुरुष अनेक है, वैसे प्रकृति भी अनेक है, एक नहीं। उत्तर-सांख्यमें पुरुष अनेक और प्रकृति एक मानी गयी।

सेश्वरसांख्य और योगके तत्त्ववादमे कोई अन्तर नहीं है। योग भांख्यका साधनापक्ष है, तो सांख्य योगका सिद्धान्तपक्ष या दर्शनपक्ष है।

पुराणोने सर्वदर्शन समन्वय करते हुए अवतारवादके सिद्धान्तवो निकाला और सामान्यतः प्रत्येक दर्शनके संस्थापकको ईश्वरावतार या उसके व्यूहका अवतार माना। कपिलको ईश्वरका अवतार समझा गया। वे सिद्धोंमें भी सिद्ध माने गये। हिन्दीके सन्तों और दार्शनिकोंने भी कपिलको ईश्वरावतार या महासिद्ध माना । उन्होंने उनसे आत्मज्ञानका उपदेश कराया (सू० सा०, ३) और उनका समग्र विकासवाद मान लिया। सांख्यकी प्रकृतिको माया कहा गया और तिरगुनी माया या त्रिगुणा-त्मिका प्रकृति उसका लक्षण माना गया। सूरदासने सांख्य-के इस विकास-क्रमका वड़ा सुन्दर निरूपण किया है-"माया कौ त्रिग्रनात्मक जानी। सत रज तम ताके ग्रन मानौ । तिन प्रथमहिं महतत्त्व उपजायो । तातै अहंकार प्रकटायौ । अहंकार कियौ तीनि प्रकार । सततै मन सुर सात र चार । रजगुन तै इन्द्रिय विस्तारी । तमगुन ते तन्मात्रा सारी। तिनतै पंच तत्त्व उपजायौ। इन सबको इक अण्ड बनायो । अण्ड सो जड़ चेतन नहिं होई । तब हरिपद छायामन पोई" (सू० सा०, ३)।

यहाँ स्पष्ट है कि सेश्वर सांख्यको ही स्र् जैसे सगुण-वादियोंसे अधिक महत्त्व मिला। पौराणिकोंकी भाँति हिन्दीके इन ज्ञानियांने भी सांख्यके विकासवादको स्मृतियोके सृष्टि-वादसे समन्वित किया, जिसमें अण्डसे सृष्टि प्रायः मानी जाती है।

पर निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी सांख्यको हिन्दीमें अमान्यता नहीं मिली। हिन्दीके सन्तमनकी परम्परामें सांख्यके अनेकानेक सिद्धान्त मिलते है। लगता है कि यह सारी परम्परा सांख्य तथा बौद्ध दर्शनोंके घात-प्रतिघातसे बनी है और अन्तमें कही अद्दैतपरक हो गयी है तो कही दैतपरक। जहाँ वह दैतपरक है, वहाँ वह सांख्यके अधिक समीप है।

विज्ञानिभिक्षुके 'सांख्यप्रवचनस्त्रभाष्य'के सांख्यप्रवचन स्त्रोंके ६ अध्यायोका सारांश दादृ-पन्थी निश्चलदास-(१९वीं शती)ने 'विचारमागर'में यो दिया है—''सांख्यशास्त्र पर्अध्यायरूप कपिलने किया है ताके प्रथम अध्याय में विषयनिरूपण किये है । दितीय अध्यायमें महत्तत्त्व अहंकारादिक प्रधानके कार्य कहे है । तृतीय अध्यायमें विपयनतें वैराग्य कह्या है। चीथे अध्यायमें परप्रक्षका खण्डन कह्या है। छठे अध्यायमें सारे अर्थका संक्षेपते संग्रह किया है। प्रकृति पुरुषके विवेकते पुरुषका असंग्रान सांख्यशास्त्रका प्रयोजन है ताका भी त्वम्पदके लक्ष्य अर्थ शोधन द्वारा महावाक्यजन्य शान उपयोगी होनेसे मोक्ष ही फल है।'

निश्चलदासने प्रचलित परम्परावश इन स्त्रोको किपलकृत माना, जो वस्तुतः ठीक नहीं है। पर उन्होंने सांख्यके
महत्त्वका अच्छा प्रजापन किया है कि यह तत्त्वमिस जैसे
वाक्यमे त्वम् पदके अर्थमे सहायता देना है। इसलिए
प्रायः सांख्यको वेदान्तका उपयोगी शास्त्र माना जाना है।

राधाकृष्णन्का मत है कि रामानुज तथा अन्य वैष्णव तथा शैव-वेदान्तियोंने सांख्यके ही आधारपर मध्ययुगमें दर्शन तथा धर्मके सम्प्रदायोंकी स्थापना की। वर्तमान समयके पाश्चात्य विद्वानोंने जिन्होंने भारतीय विद्याओपर कुछ काम किया है, सांख्यको विशेष महत्त्व दिया है। इस दृष्टिसे यद्यपि सांख्यदर्शनकी वैसी परम्परा नहीं है, जैसी वेदान्त की है, तथापि उसका प्रभाव भारतीय दर्शनोपर विशेष रहा है।

[सहायक ग्रन्थ—हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी, प्रथम भाग : दासगुप्त; इण्डियन फिलासफी, द्वितीय भाग : राधाकृष्णन् ; विचारसागर : निश्चल-दास ।] — सं० ला० पा०

सांग रूपक-दे॰ 'रूपक', तीसरा प्रकार ।

सांगीत-दे० 'नौटंकी'।

साँझी-साँझी अथवा संझया, 'संजा' या 'साँजुली' उत्तरप्रदेश, मालवा, राजस्थान और निमाडकी कुमारी क्न्याओंका एक आनुष्ठानिक व्रत एवं बालगीतोंका एक प्रकारविशेष, जो उक्त व्रतके सन्दर्भमें गाये जाते है। ब्रज भी सॉझी ब्रत और उसके गीतोंसे परिचित है। महाराष्ट्रमें 'गुलबाई', बुन्देलखण्डमें 'मामुलिया' और कांगडा जिलेमें 'रली'का त्यौहार इसके अनुरूप है। आधिन मासकी प्रतिपदासे कुँवारी कन्याएँ साँझीका वृत आरम्भ करती है। दीवारपर गोबरसे आकृतियाँ उकेरकर उन्हें फूलकी पंखुडियों और अन्य प्राकृतिक उपादानीसे सजाती है। इन्हीं आकृतियोंके सम्मुख सॉझीके गीत मिलकर गाये जाते है। सॉझीका आकृतिपक्ष आनुष्ठानिक महत्त्व रखता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे ब्रह्माकी कन्या सन्ध्याका सॉझीसे किसी तरह भी सम्बन्ध नहीं है। गीतोंके आधारपर साँझीका पीहर साँगानेरमें था और उसका विवाह अजमेरमें हुआ था। सॉगानेरके कल्याणजी उसे विवाहके पश्चात ससुराल ले जानेका आग्रह करते है। ब्रजके गीनोंमें 'सजलदे' नाम प्रचलित है। यह बात पुष्ट आधारोंसे प्रकट है कि साँझीका राजस्थानसे मूल सम्बन्ध रहा है।

मालवाके गीतोंने सॉझीके भाई सूरजनारायण बताये गये हैं। वह भरे-पूरे परिवारकी लाडली कन्या थी, दीवारपर वनायी जानेवाली मॉझी उसकी प्रतीकवत् आकृति है। यह क्रम सोलह दिननक चलता है। अन्तिम दिन साँझी सिरायी जाती हैं और विदाके गीतोसे कन्याएँ अपनी-अपनी सॉझीको ससराल भेजती है। सॉझीके गीतोमे साम् हिक लय, लघु चरण एवं द्रत गति, संवादात्मकता तथा लघु व थासूत्र समाविष्ट है। गीतोंका मूल स्वभाव कुतूहल, विनोद और बाल-प्रवृत्तियोसे प्रभावित है। - इया॰ प॰ सांस्कृतिक चक्रवाद - (cyclic theory of culture) -ऐतिहासिक-सांस्यृतिक विकासके दिशा-निर्देशके प्रयत्नोके दो रूप देखनेको मिलते है-रेखावाद और चक्रवाद। रेखावाद मानवजातिकी एक नियत गन्तव्यकी प्राप्तिकी चेष्टामे उत्तरोत्तर सफलताकी कल्पना करता है। चक्रवादके अनुसार मानवता एक ही अथवा समान अवस्था अथवा अवस्थाओको पुनः पुनः प्राप्त हुआ करती है। एक वैदिक ऋचामे इस बातकी ओर मंकेत है कि वर्तमान सृष्टि पूर्वसृष्टियोंके अनुरूप है। हिन्दुओके युगचक प्रसिद्ध ही है। इसमे मिलती-जुलती कल्पनाएँ अनेक अन्य प्राचीन संस्कृतियोंमे भी पायी जाती है। जर्मन इतिहास-दार्शनिक औस्वाल्डम्पेग्लर (१८८०-१९३६)के अनुसार प्रत्येक संरक्ति एक सजीव प्राणीके समान जनम लेती, बढती, परिपक होती और मृत्युको प्राप्त होती है। उसके बाद एक नयी संस्कृतिका उदय होता है और वह भी उसी मार्गका अनुसरण करती है। अमेरिका-प्रवासी रूसी इतिहास-दार्शनिक पिनिरिम ए० सोरोकिनके अनुसार मानवसमाजमे प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद, इन तीन महा-संस्थानों (दे०) तथा तदनुसार सांस्कृतिक विशेषताओंका चक्र चला करता है।

स्पेग्लर जैसे चक्रवादी विकास-चक्रको पूर्ण और सोरोकिन जैसे अपूर्ण माननेके पक्षमे हैं। पूर्वके अनुसार सभी विकास-चक्र पूर्ण साह्य रखते हैं, जब कि अपरके अनुसार आंशिकमात्र । स्पेंग्लर कहता है कि यूनानी-रोभीय सभ्यता जिन सोपानो अथवा अवस्थाओसे पार हुई हैं, उन्हीसे प्रत्येक सभ्यताको पार होना पडता है, जब कि सोरोकिनके अनुसार केवल मुख्य सोपानो अथवा अवस्थाओं-में ही साहस्य आवस्यक है।

विकास-क्षेत्रकी व्यापकता अथवा विकास-धाराओंकी संख्याकी दृष्टिसं चक्रवादके दो रूप हो जाते है—एक- चक्रवाद और बहुचक्रवाद। एकचक्रवादके अनुमार सम्पूर्ण मानव-जातिमें एक ही विकास-चक्र प्रवित्त है। शायद अफलातूनके चक्रवादको छोडकर प्रायः अन्य समस्त प्राचीन चक्रवादी धारणाएँ इसी कोटिमें आती हैं। बहुचक्रवादके अनुसार मानव-जाति वस्तुनः एक जाति न होकर अनेक जातियों, मंस्कृतियों अथवा सभ्यनाओंका एक महासंघ है। समूची मानवताका कोई एक विकास मार्ग नही है। आधुनिक चक्रवादी प्रायः बहुचक्रवादी ही है। —ह०ना० साक्रांक्ष —दे० 'अर्-दोष', वारहवाँ।

साकांश्चता — रूपगोस्वामीने अपने 'भ क्तरसामृतिमन्धु'में कहा है कि अंग-प्रत्यंगका यथोचित सन्निवेश ही सौन्दर्थ है (भनेत्सीन्दर्यमंगानां सन्निनेशो यथोचितम्)। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रमें प्रयुक्त समता, संगति, सामं जस्य, सन्तुलन, समानुपात आदि शब्द सन्तिनेशकी करपनाको ही विविध प्रकारसे ध्वनित करते हैं। हरिद्वारीलाल शर्माने अपने सौन्दर्यशास्त्रमें इसी समानुपातके बदले सापेक्षता तथा साकांक्षता शब्द प्रयुक्त किये है। आकांक्षाका अर्थ है अपेक्षा, अन्तः माकांक्षताका अर्थ हुआ सापेक्षता।

साकांक्षतासे तात्पर्य है किसी वस्तुके अवयवोंका परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध होना कि प्रत्येक एक 'समग्र' रूपमें अपना उचित स्थान प्राप्त कर है। आप ऐसा व्यक्ति देखते है, जिसके दाँत मुँहसे एक-एक अंगुल बाहर निकले हुए है, नाक अत्यन्त चपटी-मानो है ही नहीं, एक आँख बहुत बड़ी और दूसरी बहुन छोटी, पीठपर आठ कूबड़ इत्यादि। ऐसा अष्टावज्ञ किमीको भी सुन्दर अथवा सुरूप नहीं लगेगा, क्योंकि उसके अंग-प्रत्यंग परस्पर निराकांक्ष, निरपेक्ष है। प्रत्येकका रूप अन्योंके रूपोके साथ समग्रीभृत, समन्वित एवं सुग्रथित हो, एक रूपवान अग-यष्टिकी उद्भावना नहीं करता। अवयवीके समुचय-मात्रसे सुरूपताकी सृष्टि नहीं हो जाती। इसी प्रकार ध्वनियोंके ग्राममात्रको हम संगीत नहीं कह सकते। संगीतको सम्भव करनेके लिए ध्वनियोको अपना पृथक्त, अपनी निरपेक्षता, खोकर एक नियमसे समन्वित होना पड़ेगा, परस्पर सापेक्ष अथवा साकांक्ष बनना होगा। इसी प्रकार शब्दोके समूहमात्रको नही, बल्कि उनके एक नियमसे सापेक्षतापादनको ही कविता कह सकते है। साक्री-इसका अर्थ शराब पिलानेवाली या पिलानेवाला है। सुफी-काव्यमें इस शब्दका प्रयोग भी कई अथींमे किया गया है। मुशिद (गुरु)के लिए इसका प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सत्यके लिए भी किया गया है। यहाँ 'सत्य'से मतलब परम सत्य (परमात्मा)से है। यह 'सत्य' ऐसा है जो अपनेको सभी न्यक्त रूपोमें अभिन्यक्त करना पसन्द --रा० प० ति०

सागा-दे० 'कथाकाव्य'।

सात्वती वृत्ति -दे॰ 'नाट्य वृत्ति', दूसरी।

सारिवक अनुभाव-भरत (३,४ श०ई०)ने संचारी भावोंके बाद इनका विवेचन भी किया है। इनके अनुसार ये अनुभाव 'सात्त्विक' इस कारण है कि इनका अभिनय विशेष मनोवेगसे ही सम्भव है और चित्त-विक्षेपके साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता (ना० शा०, ६: ९३) । अन्तःकरणके विशेष धर्म 'सत्त्व'से उत्पन्न ऐसे अंग-विकारको सात्त्विक अनुभाव कहते है, जिससे हृदयगत रस या भावका पता चलता है। सत्त्वको मनःप्रभव कहा जाता है। 'साहित्यदर्पण' (१४ श० ई०)के अनुसार सत्त्व 'स्वात्मविश्राम', अर्थात् रसको प्रकाशित करनेवाला आन्तर धर्म है। इससे सम्बन्ध रखनेके कारण ही इन अनुभावोंको सात्त्रिक भाव भी कह दिया जाता है (३:१३३,३४)। वस्तुतः ये रसके प्रकाशकके रूपमें अनुभावमात्र ही है, केवल 'गोबलीवर्दन्याय'रो इनका पृथक् वर्णन किया जाता है। व्यभिचारी भावों तथा इन अनुभावोमे हेमचन्द्र(१२ श्व ि) ने केवल यही अन्तर स्वीकार किया है कि व्यभिचारियों- मे ग्लानि, आलस्य तथा श्रम जैसे कुछ बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले भाव भी हैं, किन्तु सात्त्विक अनुभाव, जिन्हें सात्त्विक भाव भी कहा जाता है, इसीलिए उनसे पृथक् है कि वे पूर्णतया मानस-जन्य है। हेमचन्द्रके अनुसार 'सत्त्व'- का अर्थ है 'प्राण'। स्थायी भाव ही प्राणतक पहुँचकर सात्त्विकका रूप धारण कर लेते है। प्राणसे पृथ्वीका भाव प्रधान हो जानेपर अशु, तेजकी प्रधानता होनेपर स्वेद, तेजके तीव्रता-शून्य होकर प्रधान होने पर बैवर्ण्य, आकाशका भाग प्रधान होनेपर प्रलय, वायुके मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आयेशसे रोमांच, कम्प तथा स्वरमंग होता है। शरीर-धर्म बाह्य स्तम्भादि ही इन आन्तरिक स्तम्भादिकी व्यंजना करते है।

हिन्दीके रीतिकालमे प्रायः संस्कृतके आधारपर इनका लक्षण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार ये स्पष्ट भी नही है और अधिकांशने संख्या गिनकर उनके अलग लक्षण दिये है। आधुनिक विज्ञानके प्रकाशमें गुलाब राय (२० श० ई०)ने रुधिरकी गति तथा स्नायविक शक्तियोंके एक स्थान-विशेषपर केन्द्रित हो जानेसे स्तम्भ, रनायविक उत्तेजनाके कारण ग्रंथियाँ फैल जानेसे स्वेद, स्नायविक उत्तेजनासे रुधिरकी तीव्रगतिके कारण रीमांच, मनोवेगोंके कारण रक्त-प्रवाह तथा श्वासिक्रयामे अन्तर पडनेपर स्वर-तन्तुओंके खिंचावके कारण स्वर-भंग, मांस-पेशियोंकी शिथिलताके कारण कम्प, स्नायुओंकी उत्तेजनाके कारण रक्त-प्रवाहकी मात्रामें न्यूनाधिक्यसे वैवर्ण्य, उत्तेजनाके कारण मस्तिष्ककी कियामें अन्तर पड जानेसे प्रलय आदिका जन्म बताया है (दे० 'नवरस') । स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामसे इनके आठ भेद है। भानुदत्त (१३ दा० ई०)ने 'रसतरंगिणी'मे 'जुम्भा' नामक एक अन्य भेदका भी वर्णन किया है। हिन्दीमे भी देव, पद्माकर आदिने इसे स्वीकार किया है। हिन्दी कवियोंमें भक्तिकालमें कृष्णभक्त कवियो तथा तुलसीने, रीतिकालमें विशेषतः बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर तथा घनानन्दने एवं आधुनिक कालमें भारतेन्दु हरिइचन्द्र, सत्यनारायण 'कविरता', जगन्नाथदास 'रताकर', मैथिलीशरण ग्रप्त, सुमित्रानन्दन पन्त आदिने इनका विशेष निर्वाह किया है।

१. स्तम्भ हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद, लज्जा, मादकता तथा रोष आदिसे शरीरांगोंका अकस्मात् संचालन रुक जाना 'स्तम्भ' सास्विक कहलाता है (भरत: ना॰ शा॰, ६:९६)। विश्वनाथके अनुसार—"स्तम्भरचेष्टा प्रनीवातो भयहर्षांमर्षदिभिः" (सा॰ द॰, ३:१३६)मे यही भाव है। हिन्दीके आचार्योंने भी इसीको स्वीकार किया है—"लज्जा हर्षादिकनतें अचल होत जह अंग" (ल॰ ल॰, ३१५)। देवने "रिस विस्मय भय राग सुख दुखतें होय, गित निरोध जो गातमें" (भा॰ वि॰ : सास्विक॰) माना है, जो अधिक न्यापक लक्षण है। पद्माकरकी इस पंक्तिमे इस अनुभावकी सुधर न्यंजना हुई है—"जैसीकी तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि रंगसीं बोरी। गोरिनके रँग भीजिगो साँवरो सॉवरेके रँग भीजी सुगीरी" (जगिदि॰, ३९७)। देवके इस अंकनमे 'स्तम्भ'का चित्र है—"मोहि कटाछनु मोहि चितौति चितौति हिं मोहम मोहि लथी है।

व्याध हनी हरिनी लौ वधू वह वा घर लौ मिहरात गयी है" (भा० वि०: सात्त्विक०)।

२. स्वेट-क्रोध, भय, हुई, लज्जा, दःख, श्रम, रोग, ताप, चोट, क्लान्ति, समाचार आदिसे उत्पन्न पसीनेको म्बेट मास्विक अनुभाव कहते हैं (भरत: ना० शा०, ६: ९५) । विश्वनाथने संक्षेपमें कहा है—"वपर्जलोद्रमः स्वेदो रतिवर्मश्रमादिभिः" (सा० द०, ३: १३७) । इमी भावको लेकर हिन्दीके आचार्योंने लक्षण दिया है—"क्रोध हर्ष सन्ताप श्रम घातादिक भय लाज। इनते सजल शरीर सो स्वेद कहत कविराज" (देव: भा० वि०: सात्त्विक०)। मतिराम, पद्माकर आदिके लक्षण समान है। तलसीका निम्नलिखित सवैया इसका उत्कृष्ट उदाहरण है-"पुरतें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दये मगमें डग है। झलकीं भरि भाल कनी जलकी अरु सुखि गये मधुराधर वै। फिरि बझित है चलनो अब केतिक पर्णक्टी करिही कित है। तियकी लखि आत्रता पियकी ॲखियाँ अति चारु चली जंल च्वै" (कविता०, २)। विहारीका निम्नलिखित दोहा भी बडा रंजक है—''रही ग्रही बेनी लख्यी गुहिबे कै त्यौनार । लागे नीर चुवान जे नीठि सुखाये बार" (बि॰ रत्नाकर, ४८०)।

३. रोमांच-स्पर्श, श्रम, शीन, हर्ष, क्रोध, रोग तथा भय आदिके कारण शरीरके रोगटे खड़े हो जाना रोमांच मात्त्रिक कहलाता है (भरत: ना० शा०, ६: ९८)। विश्वनाथके अनुसार—"हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमांचो रोम-विक्रिया"(सा० द०, ३: १३७), अर्थात् हर्ष, आइचर्य तथा भय आदिसे रोयोंका खडा हो जाना। मतिरामने 'हरप भयादि तें" (ल० ल०, ३२१), देवने "आलिगन भय हर्ष अरु सीत कोपतें" (भा० वि०: सात्त्विक०) रोमांच माना है। अन्योके लक्षण इसी प्रकार है। नन्दराम इसे 'पुल-कता' कहते है। पद्माकर स्नान करती हुई नायिकाके रोमांचका वर्णन करते है-"पुलकित गात अन्हाय यां अरी खरी छबि देत। उठे अंकुरे प्रेमके मनह हेमके खेत" (जगद्वि०, ४०४) । आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्तकी पंक्तियोंमे इसका चित्रण है-"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात, विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात। सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप, जिंदत पद निमत पलक दगपात"।

४. स्वर्भंग—भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादिके कारण स्वरका गद्गद हो जाना स्वरमंग कहलाता है (भरत: ना० शा०, ६: ९९)। विश्वनाथके अनुसार— "मदसम्मद्री डावें स्वर्थ गद्गतं विदुः" (सा० द०, ३: १३८), अर्थात् मद, उद्देग, पीडा आदिसे वाणीका गद्धद हो जाना वैस्वर्थ है। हिन्दी में इसीका अनुसरण हुआ है— "मोह कोह भय आदिते" (मितराम: ७० ७०, ३३०) तथा "हरष भीत मद कोधते" (पद्माकर: जगिह०, ४०५), वचनोंका और प्रकारका हो जाना कहा गया है। देवने अवश्य "निकसे गदगद वानि" माना है (भा० वि०: सात्त्विक०)। देवकी नाथिका कुछ कह सकने में असमर्थ है— "अंसुवा ठहरात गरी घहरात मरूकिर आधिक वात कही" (भा० वि०: सात्त्विक०)। 'रत्नाकर' अनुमावोंकी योजनामें अधिक सफल हुए हैं— "गह्वि आयौ गरी

भभरि अचानक त्यों, प्रेम परयौ चपल चुचाइ पुतरीनसों। नेकु कही बैननि अनेक कही नैननि सों, रही सहीं सोंज कहि दीनी हिचकीनसों" (उ० श०)।

दे वेपशु अथवा कंप—शित, भय, कीष, श्रम, हर्ष, स्पर्श तथा वृद्धावस्थाके कारण शरीरका कॉपने लगना विपश्च' सास्विक कहलाता है (भरतः ना० शा०, ६:९८)। विश्वनाथके अनुसार—"रागडे पश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपश्चः" (सा० द०, ३: १३८), अर्थात् रागद्देप तथा श्रम आदिने शरीरमे कम्प होना। हिन्दीके आचार्योंने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—"क्रोध हर्ष भय आदिते थर्थराति जो देह" (मितिराम: ल० ल०, ३२७)। मैथिली-शरण गुप्तने लिंगले द्वारा चित्रांकनके समय निम्नलिंखत पंक्तियोमे कम्प तथा स्वेद सास्विकोका निर्वाह किया है—"अवथवोंकी गठन दिखलाकर नथी, अमल जलपर कमल-से फूले कई। साथ ही सास्विक-सुमन खिलने लगे, लेखिकाके हाथ कुछ हिलने लगे। झलक आया स्वेद भी मकरन्द-सा, पूर्ण भी पाटव हुआ कुछ मन्द-सा" (साकेत, १)।

६. वैवण्यं — शीत, क्रोध, भय, हर्ष, विपाद, मोह, ल्रांता तथा रोग आदिके कारण मुँहका रंग उड जाना 'वैवण्यं' सात्त्विक कहा जाता है (भरत: ना० शा०, ६: ९६)। विश्वनाथ संक्षेपमे लक्षण देते हें— "विषादमदरोपाचैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता" (सा०द०, ३: १३९), अर्थात् विषाद, मद, रोष आदिसे 'रंगका वदल जाना'। हिन्दीके आचार्यों ने इन्हीका अनुकरण किया है— "मोह क्रोह भय आदिते वर्ण और विधि होय" (ल० ल०, ३३०)। देव इनके साथ 'लाज सीत अरु घाम'से भी 'मुख दुति और देखिये' (भा० वि०: सात्त्विक०) कहते है। देवने उदाहरण दिया है— "आलिनको मुख देखत ही मुख भावतीको भयो भोरको चन्द सौ' (वही) तथा अयोध्यासिह उपाध्याय हरिजोधके 'प्रियप्रवास'का यह चित्र है— "नव उमगमयी सव वालिका, मिलन और सशंकित हो गयीं। अति प्रफुल्लित बालक-वृन्दका, वदन मण्डल भी कुम्हला गया"।

७. अश्र - आनन्द, अमर्घ, धूम, भय, द्रोक अथवा अनिमेष देखनेसे आनेवाले ऑसुओको ही अश्रु सात्त्विक कहते हैं (भरत: ना० शा०, ६: ९७)। विश्वनाथके अन-सार "अश्र नेत्रोद्भवं वारि कोधदुः खप्रहर्षजम्" (सा० द०, ३: १३९), अर्थात् क्रोध, दुःख तथा हर्ष आदिके कारण नेत्रोंसे उत्पन्न जल। देवने भरतके समान लक्षण दिया है-"बिपुल बिलोकत धूम भय हर्प अमर्प विषाद। नैनन नीर निहारिये" (भा० वि०: सात्त्विक०)। अन्योने कुछ कम या अधिक इन्ही वातोंका उल्लेख किया है। अश्र सौन्दर्यका विवर्धक होकर भी आया करता है। सुन्दरीके ऑसुओमें ही बहुतेरोंको सुन्दरता दीख पडी है। देवका यह प्रसिद्ध चित्र इसका सुन्दर उदाहरण है—"बड़े-बड़े नैनन सों ऑस भरि-भरि हरि, गोरी गोरी मुख आज ओरोसो विलानो जात" और पद्माकरका उदाहरण व्यंजक है—"उमिं उमिं वहै बरखे स ऑखिन है, घटमें बसी जो घटा पीत पटवारेकी" (जगद्वि०, ४१५)।

८. प्रख्य-श्रम, मूच्छी, भय, निद्रा, हर्ष, अभिधात

और मोहके कारण उत्पन्न निश्चेष्टता, निष्कम्पता तथा इवासावरोध आदिसे यत्ता अवस्थाको प्रलय सात्त्विक कहते है (भरत: ना० ज्ञा०, ६:९९)। विश्वनाथने केवल ''सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः'' (सा० द०, ३: १३९), अर्थात सख तथा दःखसे निश्चेष्ट तथा सज्ञाहीन हो जाना माना है। मतिराम तथा देव आदिने 'ईहा', अर्थात् चेष्टाके सम्पर्ण 'निरोध' तथा 'गात'के 'अचलगति' होनेसे 'प्रलय' माना है और इसके कारणरूपमे 'हर्ष, दुःख, भय' मति-रामने (ल० ल०, ३६९) और 'प्रिय दर्सन सुमिरन अवन' (भा० वि०: सात्त्विक ०) देवने माना है। नन्दरामने इसे लीनता कहा है। प्रलय तथा स्तम्भमें यही अन्तर है कि स्तम्भमें प्राणोंकी सत्ता और उसकी चेतना बनी रहती है, किन्त प्रलयमें प्राणहीनता दीख पड़ती है। स्तम्भ चेतना रहनेपर भी अचेतनवत स्थितिका नाम है, जडता सुख-दःखादिके अविवेककी स्थिति है और प्रलय चेतनाहीन चेष्टा-निरोध है। प्रलयको नाटकमे अप्रदर्शनीय मानकर कुछ आचार्य उसके स्थानपर मूच्छोंको रखना उचिन मानते है। प्रलयका उदाहरण मतिरामका चित्रमय है—"चन्द्र-मखी न हुछै न चछै निरवात निवासमें दीप सिखा सी" (ल० ल०, ३३७) । देवका उदाहरण भी नायिकाकी भाव-स्थितिका अंकन करता है—''देव सठौर ही ठाडी चितौति लिखी मन चित्र विचित्र चितेरे" (भा० वि०: सान्तिक०)।

 जग्मा—'रसतरंगिणी'के लेखक मानदत्तने संस्कृत आचार्योमे पहली बार 'जुम्मा' नामक एक नवीन सात्त्विक-का उल्लेख किया है। रूप गोस्वामीने अनुभावोके क्रमशः अलंकार, उद्घास्वर तथा वाचिक नामसे भेट प्रस्तुत करते हुए इसका उछेख उद्घास्वर अनुभावोंके अन्तर्गत किया है। हिन्दीमे मतिराम, देव, पद्माकर आदि कई प्रमुख आचार्यी-ने इसे सात्त्विक स्वीकार किया है। मतिराम और देवने इसका कारण 'उपजै आलस आदितै' (ल० ल०, ३३९) कहा है। पद्माकरने "प्रिय विछोह सम्मोह के आलस ही अवगाहि" (जगद्वि०, ४२०) माना है, किन्तु हमारा विचार है कि इसका विरोध दो कारणोसे किया जा सकता है-(१) यह कारणके साथ ही अन्य सात्त्विकोंके समान प्रकट नहीं होता, (२) सात्त्विकोंको न्यक्ति प्रयत्नपूर्वक दबा नहीं सकता, किन्तु जुम्भाको दवाया जा सकता है। इसे प्रायः केवल आलस्यसे उत्पन्न माना गया है, किन्त वियोग, मोह तथा भयके कारण भी जब मुँह खोलकर इवास-निःश्वास लिया जाता है, तब भी 'जुम्भा' सात्त्विक माना जाता है। पद्माकरकी पंक्तियोमें 'जुम्मा'का उदाहरण है- "आरससौ रससौ पद्माकर चौकि परे चख चुम्बनके किये। रातिकी जागी प्रभात उठी अँगिरान जम्हात लजात लगी हिये" (वही, ४२१)।

सात्त्वतधर्म-दे॰ 'भागवतधर्म'।

सात्विक अलंकार—भरत(१-४ श० ई०)ने 'नाट्यशास्त्र'मं २० सात्त्विक अलंकारोको चर्चा की है। नायिकाके इन अलंकारोंका विभाजन अंगज; भाव, हाव, हेला; अयत्नज; शोमा, कान्ति, दीप्तिं, माधुर्य, प्रगत्भता, औदार्य तथा धैर्य; स्वभावज; लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किल-किंचित, मोद्दायित, कुट्टमित, विन्बोक, ललित तथा विहत-

में किया गया है। धनंजयके 'दशरूपक'(१० श० ई०)मे 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको यथायत् स्वीकार कर लिया गया है। भोजने सात अयत्नज अलंकारोको छोड दिया है. तीन अंगजोमेरी दोको स्वीकार किया है और उन्हें स्वी-पुरुष, दोनोमें समान रूपसे माना है; दस स्वभावलों में की डित तथा के लिको जोडा गया है। हेमचन्द्र, रामचन्द्र गुणचन्द्र, शारदातनयने 'नाट्यशास्त्र'के विभाजनको माना है। शारदातनयने इन सबको सात्त्विक कहनेमे आपत्ति की है। इनके अनुसार तीन अंगज और सात अयत्नज ही केवल मानस अथवा सात्त्विक कहे जा सकते है और दस स्यभाव जोंको शारीर कहना उचित है। इन्होंने क्रीडित तथा केलिका उल्लेख भी किया है। भानुदत्तने भरतके केवल दस स्वभावज अलंकारोंको 'हाव'के नामसे ग्रहण किया है और इनके तीन विभाजन किये हैं :-शारीर--लीला, विलाम, विच्छित्ति, विभ्रम तथा ललितः आन्तर (मानसिक)—मोडा-यित, कुट्टमित, विब्बोक तथा विहृत; उभय (संकीर्ण) — किलकिंचित्। विद्यानाथने सभी अलंकारोंको शृंगार-चेष्टा कहा है, इनका विभाजन न करके कुत्रुहल, चिकत, हासकी जोडा है तथा शोभा, कान्ति, दीप्ति, औदार्य तथा प्रगल्मताको अस्वीकार किया है। शिंगभूपालने शारदातनयके अनुसार बीस अलंकारोंको चित्तज तथा गात्रजमे विभाजित किया है। विश्वनाथने 'नाट्यशास्त्र'की संख्या तथा विभाजनको स्वीकार करके भी स्वभावजमे आठ और जोडे है-मद, तपन, मौनध्य विक्षेप, क़त्हरू, हसित, चिकत और केलि। इनमेंसे चार केलि (भोज द्वारा), कुत्हल, चिकत, हास (विद्यानाथ द्वारा)-का उल्लेख हो जुका है। रूपगोस्वामीने भरतके क्रमको स्वीकार किया है, केवल विहृतके स्थानपर विकृतको किंचित भिन्न परिभाषाके साथ लिया है और मौग्ध्य तथा चिकतका उल्लेखमात्र किया है। केशव मिश्रने 'हाव'के रूपमें केवल १६का उल्लेख किया है, जो विस्वनाथसे लिये गये है और 'विहृत'के स्थानपर 'विकृत' रूप गोस्वामीसे लिया है।

इन अनुभाव अलंकारोको स्त्रियोको भावाभिन्यस्तिसे सम्बद्ध माना गया है। पर कुछ आचायोंने कुछ अलंकारोंको पुरुषोंसे भी सम्बद्ध माना है। भोजने 'हेला' और 'हाव'को दोनोमे स्वीकार किया है, भानुदत्तके अनुसार विब्बोक, विलास, विच्छिति तथा विश्रम पुरुषोंके भी अलंकार माने जा सकते है, विश्वनाथके अनुसार अंगज तथा अयत्नज, दोनोमे समान रूपसे होते है और हेमचन्द्रके अनुसार वीसों अलंकार स्त्री-पुरुष, दोनोंके हो सकते है।

हिन्दीमे प्रायः इनको 'हाव'को संज्ञा दी गयी है। नन्ददासने 'रासमंजरी' (१५६६ ई०)में केवल तीन अंगज अलंकारोंपर विचार किया है और उसमें चौथा (रतिकों) जोडा है, पर अन्य किसीने वादमें इसे स्वीकार नहीं किया। केशवने 'रिसकप्रिया' (१५९२ ई०)में 'हाव'के अन्तर्गत १० स्यमावज अलंकारोंके साथ तीन—हेला, मद, वोधकों और माना है। इन १३ हावोको नायक-नायिका, दोनोंके अलंकार कहा गया है और उनके उदाहरण भी दिये गये हैं। भानुदत्तके द्वारा उल्लिखित केवल १० स्वभावज अलंकारोंको हिन्दीमें जसवन्त सिंह, मितराम, देव, ब्रह्मदत्त, वेनी प्रवीनने स्वीकार किया है। विहारीलाल सट्टने इनकों विहर

रंग और अन्तरंगमें विभाजित किया है। इनके अनुसार विच्छित्ति, ललित, विभ्रम और लील। पहिरंग है और शेष अन्तरंग। हावींका संख्या-विस्तार करनेभें इन लेखकोंने सहयोग दिया है, प्रतापनारायण सिंह तथा गंगाप्रसाद अग्निहोत्रीने केवल हेलाको और माना है। पद्माकर, स्कन्द गिरि, नन्दराम, दौलतराम और सानुने वोधकको भी सम्मिलित किया है। लिछराम तथा वाबराम वित्तरियाने उपर्युक्त दोनोके साथ मद और आहार्यको भी माना है। सुन्दरने हाव, हेला, मद, तपन, मौग्ध्य और विक्षेपदो लेकर संख्या १६ मानी है। भावोंको खतन्त्र माना है। तोषने विश्वनाथके १८ खभावज अलंकारोमेसे कुत्रहलको हटाकर वोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोड २० संख्या पूरी की है। इनके अतिरिक्त उदारता, माधर्य, प्रगल्भता और धीरताको नायिकाके चार भूपण और माने है। ये भरत आदिके अयलज अलंकार ही है। दास (र० सा०)ने भी संख्या २० ही दी है, विश्वनाथके १८ खभावज अलकारों-मेरी मौग्ध्यको निकालकर बोधक, उद्दीपन तथा हेलाको जोडा है। कुमारमणि, इयामसन्दर दास, कन्हैयालाल पोद्दारने विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत १८ अलंकारोंको स्वीकार किया है। 'हरिऔध'ने बोधक और रसलीनने वोधक और उद्दीपक विश्वनाथके स्वभावजों में जोड दिये हैं और रस्तिनने मनोभवको अंगजोंमे कम कर दिया है। सब मिलाकर हिन्दीके आचार्योंने रति, बोधक, उद्दीपक तथा अहर्य (आहार्य) चार हाव विकसित किये है। उपर्युक्त लेखकोंकी तत्सम्बन्धी कृतियो तथा उनके कालक्रमके लिए देखिये-'नायक-नायिकाभेद', (शास्त्र)।

इन अलंकारोंका कई नामोसे विवेचन किया गया है। भोजने इनकी चर्चा 'वरस्त्रीणां विलासाः'के रूपमें की है, अर्थात् वे इन्हें 'विलास' मानते है। भानुदत्तने 'हाव'के रूपमे स्वीकार किया है और वस्तुतः हिन्दीमे इसका प्रचलन इन्हीके प्रभावसे माना जा सकता है। विश्वनाथने 'शृगार-चेष्टाएँ माना है। शिर्भृणलने 'भाव' कहा है। केशव मिश्रने भी 'हाव' संज्ञा दी है। हिन्दीमे प्रायः सर्वस्थीकृत शब्द 'हाव' रहा है। कुमारमि ने 'भाव' नाम दिया है तथा कुछ आधुनिक विवेचकोने संस्कृतके आधारपर 'अलंकार' ही कहा है । वस्तुतः 'अलंकार'का सामान्य अर्थ यही है कि नायिकाके सौन्दर्यको बढानेवाले भूषण; और यहाँ सौन्दर्भ रूपात्मक और भावात्मक, दोनो अर्थीमे समझना चाहिये। इसी प्रकार 'हाव'का अर्थ 'शृंगारचेष्टा' है, अर्थात् नायिकाकी स्वभावज अथवा अयत्नज सन्दर भंगिमाएँ, जो नायकके प्रेमको उदीप्त करनेके लिए होती हैं। उपर्युक्त सम्पूर्ण अलंकारो तथा हावोंको चार भागोमे विभाजित किया जा सकता है—(१) शारीर अलंकार, जो रूपात्मक सौन्दर्यका संकेत देते है-शोभा, कान्ति, दीप्ति तथा माध्ये। (२) मानस अलंकारसे चरित्रसौन्दर्यकी व्यंजना होती है-प्रगल्मता, औदार्य, धैर्य। (३) स्वभावज हावके अन्तर्गत नायिकाकी स्वाभाविक चेष्टाएँ आती है-लीला, विच्छित्ति, कुट्टमित, विब्बोक, ललित, मौग्ध्य, विक्षेप और व्याजप्रदर्शन । (४) अयत्नज हाव नायिकाकी सहज चेष्टाओं को सह सकते है-हेला, विलास, विभ्रम, किल-

विचित्, विद्युत, हसित और चिक्ति । आचायों द्वारा उछि-खित भाव, मोट्टाथित, मदन, तपन, कुत्हल, क्रीड़ित, रित, वोध, उदीपन नामक अलंकारों तथा हावोको उपर्युक्त निभाजनके अन्तर्गत स्रोकार नहीं किया जा सकता, वयोंकि ये न नायिकाके रूप अथवा चरित्रके गुण है और न नायिका-दिषयक चेष्टाएँ ही ।

इन 'अलंकारों' तथा 'हावों'को अनुभावोंके अन्तर्गत रगितार किया गया है, परन्तु आलम्बन-रूपमें नायिकाके सम्यन्धने इन्हे उदीपन-विभाव ही वहा जा सकता है। परन्तु हाव नायकको आकर्षित करनेके साथ ही नायिकाके मगोभावको व्यक्त भी करते हैं, अतएव इन्हे उदीपन-विभाव तथा अनुभाव, दोनो माना जा सकता है। जब नायिका आलम्बन-विभाव होगी, तब उसके 'हाव' उदीपन-विभाव होगे और जब नायक आलम्बन-विभाव होगा, तब ये नायिकाके अनुभाव कहे जायंगे।

हिन्दीमे विद्यापति, अष्टछापके किव, रीतिकालीन किव तथा आन्तार्थ देव, विद्यारी, मितराम, घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि तथा आधुनिक कालमें हरिश्चन्द्रतक इनका विशेष निर्वाह हुआ है। विन्तु इधर मैथिलीशरण ग्रप्त, 'प्रसाद' तथा पन्त आदिमें इनमेसे अंगज और अयत्नज अलंकारोंका निर्वाह दिखाई देता है। अब इस ओर किवबों-की प्रवृत्ति नहीं हैं, विशेषकर मुक्तकोमें इनकी योजना नहीं की जाती।
—रा० गु० सार्त्तिक गुण (नायक)—नायकके इन गुणोकी चर्चा भरतने की है। परन्तु इन गुणोका सम्बन्ध नाटकके नायक-से है, श्रंगार रसके आलम्बन-रूप नायकसे नही। संस्कृत काव्यशास्त्रमें इन गुणोकी चर्चा की गयी है, पर हिन्दी आचार्योंने इनपर विचार नहीं किया है; केवल आधुनिक आचार्योंने इनपर विचार नहीं किया है; केवल आधुनिक

काचावाम स्थामसुन्दर दास तथा हारआध न इनका उल्लख किया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि इन गुणोका विशेष सम्बन्ध नाटकके पात्रसे हे और हिन्दं से नाट्यसास्त्रन आभाव रहा है। ये गुण प्रारम्भने ही आठ स्वीकृत रहे है और इनमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। धनंजयके अनुसार ये गुण इस प्रकार है—"होमाविलासमाधुर्यन्याम्भीर्य धैयेतेजसी। लिलतौदार्यमिल्यष्टो सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः" (द० रू०, २:१०)।

शोभा— थनं जयके अनुसार— "नीचे घृणाऽिषके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते", अर्थात् शोभा गुणमं नीचके प्रति घृणा, अपनेसे वड़ोकी दक्षता तथा वीरताके प्रति स्पर्थाका भाव रहता है। विलास—धनं जयके अनुसार— "गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सिंसतं वचः" (द० रू०, २:११), अर्थात् विलास गुणमे दृढ गति, निश्चयकी दृष्टि तथा सहाम क्यन रहता है। माधुर्य — थनं जयके अनुसार— "शुरुक्षो विकारो माधुर्य संक्षोमे सुमहत्विप" (द० रू०, २:१२), अर्थात् अत्यधिक संक्षोमेके अवसरपर मी, माधुर्य गुणके अन्तर्गत, मुद्रामें हृद्का तथा कोमल परिवर्तन उपस्थित होता है। गाम्भीर्य—धनं जयके अनुसार— "गाम्भीर्य यहप्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते" (द० रू०, २:१२), अर्थात् इस गुणके अन्तर्गत भारी संक्षोमेक क्षणोमें मी मुद्रामे किंचित् विकार नहीं जान पड़ता।

स्थेर्थं स्थेरं अनुसार—"व्यवसाय।दचलनं स्थेरं विक्नुजलादिष" (द० स०, २: १३), अर्थात् अनेक विक्नुकलादिष" (द० स०, २: १३), अर्थात् अनेक विक्नुकलादिष" (द० स०, २: १३)। इस गुणसे युक्त अनुसार—"अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्विषि" (द० स०, २: १३)। इस गुणसे युक्त व्यक्ति प्राणोंको छोडकर भी अपना अपमान नहीं होने देता। छिलत—धनंजयके अनुसार—"श्रंगाराकारचेष्टात्वं सहजं लिलतं मृदु" (द० स०, २: १४), अर्थात् इस गुणमे श्रंगारके अनुरूप आकारकी अभिव्यक्ति लिलत तथा कोमल होती है। औदार्य—धनंजयके अनुसार—"प्रियोन्वर्याऽऽजीविताहानमीदार्यं सदुपप्रहः" (द० स०, २: १४), अर्थात् औदार्यं गुणमें व्यक्ति प्रियं वचनोसे जीवनतक देनेके लिए तत्पर हो जाता है और सज्जनोंकी सहायता करता है।

इन गुणोंको हिन्दीके कथाकान्योंके नायकोंमें देखा जा सकता है। 'रामचिरतमानस'के राममे इन समस्त गुणोंका संयोग है। प्रेम-कान्यके नायकोंमे इन गुणोंमेसे अधिकांश मिलते है। आधुनिक महाकान्योमे पुनः नायकके इन गुणोंको देखा जा सकता है—'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कुरुक्षेत्र' आदिमे। परन्तु आधुनिक युगमे नायककी सारी कल्पना मध्ययुगीन मावनासे नितान्त भिन्न हो चुकी है, अतएव नाटकोमे उस प्रकारके न नायक है और न इस प्रकार उनके गुण ही।

—संरक्ति भक्ति—दे॰ 'गौणी मिक्त'।

साद्दय अलंकारशास्त्रमे 'उपमा' अर्थालंकारके चार आवदयक अंगोमेसे एक अंग; उपमेय और उपमानकी समताको व्यंजित करनेवाले शब्द 'साद्दय'-वाचक कहलाते हैं। समान, साद्दय, सा, से, सी, ज्यो, जैमे, जैसा, जिमि, लौ, तुल्य, तूल, सम आदि शब्द साद्दयवाचक है। इन्हें वाचक शब्द तथा उपमावाचक शब्द भी कहते है, जैसे— 'हरिपद कोमल कमल-से'—इसमें 'से' शब्द साद्दय-वाचक है।

सादृश्य दो प्रकारका माना गया है-एक वह, जिसमें आकार-प्रकारका साम्य रहता है और दूसरा साम्य वह है, जिसमें गुण एवं क्रियाका साम्य रहता है। इसमें प्रभाव-साम्य भी प्रच्छन्न अथवा गौण रूपसे रहता है। उदा०-(१) आकार-प्रकारसाम्य-"उसी तपस्वी-से लम्बे थे, देवदारु दो-चार खड़े" ('प्रसाद': कामायनी) । इसमे देवदारुओकी लम्बाईसे तुलना की गयी है। अतः यहाँ केवल आकार-प्रकारका साद्य है। 'से' साद्यवाचक शब्द है, जो उपमेय देवदारु और उपमान तपस्वीके आकार-प्रकारके साद्दरको सचित करता है। (२) गुण या क्रियाका साम्य-"उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्निका, जो कि जलती आ रही चिरकालसे, स्वार्थलोल्लप सभ्यताके अग्रणी, नायकोके पेटमे जठराग्नि-सी' (दिनकर: कुरुक्षेत्र)। इसमें 'द्रोहाग्नि'-की समता 'जठराग्नि'से की गयी है। इसके द्वारा जठराग्नि-के जलनेकी कियाका रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। द्रोहाग्नि भी जठराग्निके सददा भीतर ही भीतर जलती है और क्षार कर देती है। (३) प्रभाव-साम्य-"लाजकी मादक सुरा-सी लालिमा, फैल गालोमे नवीन गुळाब-से, छलकती थी बाद-सी सौन्दर्यको, अधसुले सस्पित हर्गोसे सीप-से' (पन्त)। कविकी प्रस्तुत कल्पना द्वारा मुखके सौन्दर्यका प्रभाव पाठक एवं श्रोतापर डिगुणित रूपमे पडता है।

आचार्योंका कथन है कि उपमाका साद्द्य चमत्कारपूर्ण होना चाहिये। चारुत्व, चमत्कार और रसार्द्रना साद्द्यके तत्त्व है। काव्यमें साद्द्यकी सार्थकता इन्हींपर अवलिन्वत है। इसीमें आलंकारिकोने 'मनोज्ञ साधर्म्यकथन'को ही उपमा कहा है। —वि॰ स्ना॰

साधन-परा (गोपी) -दे॰ 'गोपी'।

साधना (वज्रयानी) -वज्रयानमें साधकोंकी चित्रवृत्तिके अनुरूप, उनके मानसिक विकासके अनुरूप साधनाओंका विधान था। अनेक साधनाएँ होते हुए भी किसी एक विशेष साधनाको महत्त्वपूर्ण मानकर अन्य उसके समक्ष उसकी तुलनामे हेय समझी जाती थीं। वास्तवमे ये साधनाएँ एक-दूसरेकी विरोधिनी न होकर पूरक मानी जाती थी। आयु, चित्तपृत्ति, मानसिक स्तरकी दृष्टिसे आचार्य एक विशेष देवताकी प्रतिष्ठापना कराते, फिर उसकी पूजा, उसके न्यास-विन्यास, उसकी मनत्र-यनत्र आदिसे साधनाके पूरे विधान बताते और दूसरी साधना-पद्धतियोको हेय बताते. जिसका तात्पर्य यह नहीं कि वे कोई अलग सम्प्रदाय मानते थे, वरन् इस भावनाके अन्तर्गत साधकका स्तर दृष्टिगत रखा जाता था। सभी अनुष्ठानोंसे ऊपर उउकर अनुत्त सम्यक् सम्बोधिकी साधना थी, जिसका विकास सहज पद्धतिमें हुआ (विस्तारके लिए दे०-साधनमाला: विनयतीष भट्टाचार्य)। --ध० वी० भा०

साधारण (गोपी)-दे॰ 'गोपी'।

**साधारण धर्म**-उपमा अर्थालंकारके चार आवश्यक उपादानोमेसे एक उपादान; उपमेय और उपमान, दोनोमें जिस धर्मकी समानता बतायी जाती है, उसे साधारण धर्म अथवा समान धर्म कहते है। किन्ही भी दो वस्तुओमें बिना किसी समान धर्मके सादश्य सम्भव नहीं होता। धर्मकी समानताके कारण ही एक वस्तुको दूसरी वस्तुके समान कहा जाता है। साधारण धर्म गुण और क्रिया, दोनों प्रकारका सम्भव है: यहाँ गुणमे रूप-रंग आदि सभी समाविष्ट है। उदा०-साधारण धर्म गुणरूपमें-"अधिकार न सीमामे रहते। पावस-निर्झरसे वे बहते" ('प्रसाद': कामायनी)। इसमें सीमामे न रहना साधारण धर्म है। अधिकाररूप उपमेय और 'पावस-निर्झर'-रूप उपमान, दोनोंमे इस धर्मकी स्थित बतायी गयी है। क्रियारूपमे-"पागल-सी प्रभुके साथ सभा चिल्लायी। सौ बार धन्य वह एक लालकी माई' (मै॰श॰ग्रप्त: साकेत)। इसमे 'चिलायी क्रियारूप धर्मकी समानता उपमेय और उपमान, दोनोंमें बतायी गयी है। —वि० स्ता०

साधारणीकरण = इस शब्दका सम्बन्ध भारतीय रस-सिद्धान्तसे चला आ रहा है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम महनायक (१० श० ई० पूर्वा०)ने रसनिष्पत्ति (दे०) सम्बन्धी भरतके सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत किया है। मह-नायकने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी व्याख्याके दोषोंको दूर करनेके लिए इसका प्रयोग किया है। उनके अनुसार आरो-पवाद तथा अनुमितिवाद (दे०)की स्थापनाओंमें जो ताटस्थ्य और आत्मगतन्व दोष आ जाते है, उनके परिहारके छिए साधारणीकरणकी स्वीकृति आवश्यक है। जब पाठक अथवा दर्शक काव्य अथवा नाटकके अभिधार्थको प्रहण कर छेता है, उसके हृदयमें भावकत्व (दे०) राक्तिके द्वारा सत्त्वकी प्रधानता होती है। इस स्थितिमें उसके हृदयमें भें और 'पर'का हैथ द्र हो जाता है। वह प्रदर्शित अथवा वर्णित घटना या पात्रको उसके स्थितिविशेषमे नही प्रहण करता। वह उनको अपने व्यक्तित्वले सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध भी नहीं समझता और इसी स्थितिका फल है कि सहृदय भोजकत्व राक्ति (दे०)के द्वारा उद्बुद्ध भावोका रसास्वादन करता है। वस्तुतः यह परिस्थितिविशेष जिस व्यापारसे सम्भव होती है, उसीको साधारणीकरण माना गया है। इस व्याख्यामे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसनिष्पत्तिके लिए भट्टनायकके अनुसार साधारणीकरण आवश्यक रार्त है।

आगेके कई विचारकोंने साधारणीकरणको सामान्थी-करण ही माना है। वामन झलकीकर तथा गोविन्द ठक्कुर-(१५ श० ई०)ने विभावादि रूप सीता तथा रामादि सम्बन्धी रतिके 'सीतात्व'-'रामत्व'के सम्बन्धके स्थानपर सामान्यतः कामिनी-रूपमे अथवा रतिसामान्य रूपमें उपस्थित होनेको साधारणीकरण माना है। 'काव्यप्रदीप'के अनुसार नायिकाविशेषका सामान्यतः कामिनीभावरूपमे उपस्थित हो जाना साधारणीकरण है (पृ०६६)। इसके अनुसार 'यह केवल अमुकका ही हैं', ऐसी प्रतीतिके स्थान-पर 'ये अमुकके हैं', ऐसी अनुभृति हो जाती है, अर्थात् वे दूसरेके भाव भी हो सकते है।

महनायकके वाद अभिनवगुप्त(१०-११ श० ई०)ने उनकी भावकत्व तथा भो नकत्व शक्तियोको अस्वीकार करके भी साधारणीकरणको स्वीकार किया है। अभिनवग्रमकी सक्ष्म अन्तर्दृष्टिने काव्यके वास्तविक सौन्दर्य-तत्त्वको ग्रहण कर लिया था, अतएव उनकी रस-सम्बन्धी व्याख्याएँ गहन और पूर्ण है। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणके दो स्तर है। एक स्तरपर विभावादिका व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है और दूसरे स्तरपर सामाजिकका व्यक्तित्व-बन्धन नष्ट हो जाता है, अर्थात विभावादिकके साथ स्थायी भावका साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिककी अनुभूतिका साधारणीकरण होता है। यह साधारणीकरण सामाजिकोके वासनारूपमे स्थित स्थायी भावोके आधारपर सम्भव होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्तने भट्टनायकसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करके भी अपना मौलिक योग प्रदान किया है। इन्होंने वासनाको स्वीकृति दी है और साथ ही स्थायी भावका साधारणीकरण माना है।

विश्वनाथ(१४ द्या० ई०)के मतको नगेन्द्रने अभिनवगुप्त-के मतसे भिन्न माना है। उनके अनुमार प्रमाताका आश्रयके साथ अभेद स्थापित हो जाता है (सा० द०, ३:१०)। इसके साथ ही उन्होंने कहा है—"साथारण्येन रत्यादिरिप तद्दत्प्रतीयते। परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च" (वही, ३:१२), अर्थात् साथारणीकृत स्थितिमे रत्यादि स्थायी भावका उसी रूपमे अनुभव होने लगता है और इस रसानुभूतिके समय 'यह मेरा है', 'यह मेरा नहीं है' 'यह दूसरेका है', 'यह दूसरेका नहीं है', इस प्रकार भेद नहीं किया जाता। आनन्दप्रकाश दीक्षितने इसके आधारपर विश्वनाथके मतको तादात्म्यस्पमे लिया है—"यह तादात्म्य, उनके विचारसे, साधारणीकरणके परिणामस्वरूप घटित होता है। तादात्म्यकी यह अनुभृति रसके लिए होती है" और अन्तनः अभिनवगुप्तके मतके अनुसार माना है। विश्वनाथका मत व्याख्याके अभावमे बहुत स्पष्ट नहीं है। परन्तु तादात्म्यरूपमे उसे माना जायगा तो रसास्वादनको आश्रयकी भावनात्मक प्रक्रियाके रूपमे स्वीकार कर लेनेकी सम्भावना अधिक है।

जगन्नाथ(१७-१८ श० ई०)ने साधारणीकरणके स्थानपर दोपदर्शन (दे० 'रसनिष्पत्ति')की स्थापना की है। यह सिद्धान्त किसी अन्य आचार्यके द्वारा स्वीकृत नहीं हो सका। वस्तुतः रसाम्बादको दोषकी भावनाके आधारपर स्वीकार करना काव्यको अत्यन्त हीन स्तरपर स्थापित करने जैसा है। दोप किसी झान-अज्ञानमें किये गये मर्योदाहीन कार्यमे होना है और यह दोपका ज्ञान किसी प्रकार रसा-स्वादसे सम्बद्ध नहीं हो सकता। अभिनवगुप्तके अनुसार सामाजिक किसीसे रित नहीं करता, वरन् कंवळ 'रित'का अनुभव करता है, सामान्य अथवा साधारणीकरणरूपमे।

आधुनिक विचारकोमे रामचन्द्र शुक्कने सबसं अधिक विस्तारसे साधारणीकरण सिद्धान्तकी न्याख्या की है और आनन्दप्रकाश दीक्षितने अपने प्रवन्य 'कान्यमे रस'मे प्रायः उन्हींके मतकी स्थापना की है। रामचन्द्र शुक्क अनुसार-"जबतक किसी भावका कोई विशेषत्व इस रूपमे नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भावका आलम्बन हो सके, तबतक उसमे रसोद्धोधनकी पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूपमे लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। "अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोताके मनमे जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आता है, वह जैसे कान्यमें वर्णित आश्रयके भावका आलम्बन हो जाता है। "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्मका होता है"तात्पर्य यह है कि आलम्बनरूपमे प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मीके कारण सबके भावोका आलम्बन हो जाता है" (चि० म०, भा० १, पृ०: ३०८: १२-१३)। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्क अनुसार साधारणी-करणका भाव है—(१) वर्णित अथवा प्रदिशत आलम्बनको सबके भावका आलम्बन बनाना, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिविशेष अथवा वस्तुविशेषके स्थानपर केवल वस्त अथवा व्यक्तिमात्रका बोध रह जाता है। (२) आश्रयके समान आलम्बनके प्रति पाठक अथवा दर्शकका भाव हो जाना। आनन्दप्रकाश दीक्षितने स्वीकार किया है "शुक्लजीने आलम्बनका विचार आश्रयसापेक्षरूपमे लिया है। उनका मत है कि आश्रयके भावका आलम्बन ही सहदयका भी आलम्बन हो सकता है या उसे होना चाहिये" (का० र०, पृ० २८०) । इस प्रकार उनके अनुसार यह कहना भी अनुचित है कि "शुक्कजीने विभा-वादिका साधारणीकरण न मानकर उसे आलम्बनतक सीमित कर दिया है। आश्रयसापेक्षतांगं अनुभावादि स्वभावतः साधारणीकृत अवस्थामे प्रस्तुत होगे" (वही, पृ० २८१)। रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणकी न्याख्याके अन्तर्गत

आश्रयके साथ तादात्म्य या सहानुभूतिकी अनिवार्यता भी प्रतिपादित की है, जिसकी स्थितियोंके अनुसार उन्होंने रस-कोटियोंकी करपना की है। (१) पूर्ण तादात्म्यकी स्थितिमे उत्तम बोटिकी रसात्मकता होगी। (२) जहाँ यह तादात्म्य न हो सकेगा और दर्शक अथवा पाठक प्रदर्शित अथवा वर्णित पात्रका मात्र शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टाके रूपमें प्रभाव श्रहण करेगा, मध्यम कोटिकी रसात्मकता मानी जायगी। इस स्थितिमें स्वतः पात्र, पाठक या दर्शकके भावोका सीधा आलम्बन हो जाता है । यह साधारणीकरण अथवा तादात्म्य कविके उस अव्यक्त भावका होता है, जिससे पात्र-विशेषकी उद्भावना हुई है (चि० म०, भा० १: पृ० ३१४, १५)। (३) रसकी एक ऐसी भी अधम कोटि मानी जा सकती है. जिसमे पाठक या दर्शक आश्रयकी भावन्यंजनासे कुछ भी तादात्म्य.नहीं कर पाता, केवल शीलवैचित्र्यके रूपमें उसे ग्रहण करता है। आनन्दप्रकाश दीक्षितने रामचन्द्र शुक्लकी इन कोटियोको प्राचीन आचार्योंके रसा-भास, भावाभासके रूपमें सिद्ध करते हुए यथार्थ माना है।

रामचन्द्र शुक्कके मतकी कई आधुनिक विचारकोने आलोचना की है। रामदिहन मिश्रने 'कान्यदर्शन'में विभावादिके साधारणीकरणको केवल आलम्बनत्व धर्ममे सीमित किये जानेपर आपत्ति की है। उन्होंने रसकोटियोंके विभाजनको रसकी प्रकृतिके विपरीत कहा है। और साधा-रणीकरण तथा तादात्म्यका एक ही अर्थमें प्रयोग भ्रामक माना है (का० द०, पृ० १३१, ३३)। इयामसुन्दर दासके अनुसार, ''रामचन्द्र शुक्लने साधारणीकरणसे यह अर्थ लिया है कि विभावानुभावका साधारण रूप करके लाया जाना। पर साधारणीकरण तो कवि या भावककी चित्तवृत्तिसे सम्बन्ध रखता है। चित्तके साधारणीकृत होनेपर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। अतः यह मत भी ठीक नहीं है" (साहित्या०, पू० २३८)। नगेन्द्रने आश्रयके साथ तादात्म्यको अस्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अत्यन्त कठिन है कि पाठक अथवा दर्शक प्रत्येक प्रकारके चरित्रके साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। नगेन्द्रके अनुसार वास्तवमे पाठकका तादात्म्य कविके भाव-के साथ होता है और इस प्रकार आश्रयगत भावोंके औचित्य-के प्रश्नका समाधान भी हो जाता है। उनका कथन है-- "आश्रयरूप रावण यदि कहीं रामकी भर्त्सना करता है, तो क्या हुआ ? हमारी सहानुभृतिमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तरमें तो वही अनुमिति जागेगी, जो कविने प्रतीक द्वारा न्यक्त की है" (री० का० भू०, पु० ४९, ५१)। प्रगतिवादी आलोचकोंने साधारणीकरण-का अर्थ परम्परासे भिन्न सामान्य प्रेषणीयताके अर्थमे लिया है। इसीके आधारपर इसे बोधगम्यताके रूपमें कहा गया है। परन्तु स्पष्टतः इस मतमें कोई सार नही है। आनन्द-प्रकाश दीक्षितने इन सबके मतोंका प्रत्याख्यान करके रामचन्द्र शुक्लके मतको ही स्वीकार किया है। आलम्बनके साथ आश्रयकी स्वीकृतिका उल्लेख पहले किया गया है। रसकोटियाँ भी उनको स्वीकार्य है। साधारणीकरण तथा तादात्म्यको एक साथ प्रयुक्त करनेमें भी उनको कोई बाधा नहीं जान पडती। 'इसी रूपमें लाया जाना'की न्याख्या करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि रामचन्द्र ग्रुक्छके मतमें किवकी स्वीकृति भी है, अन्यथा 'लाया जाना'का क्या अर्थ हो सकता है। अन्तमे नगेन्द्रके मतपर आपित करते हुए उन्होंने लिखा है—"यहाँ किवकर्मके सम्मुख प्राचीन आचायों द्वारा कथित प्रेक्षक अथवा सहृदयमात्रके संस्कारोंको दृष्टिसे ओझल कर दिया गया है "किवने कथाके संयोजनमे इतनी स्वतन्त्रतासे काम लिया कि वह सहृदयके संस्कारोंके विरुद्ध जा पडी, तो सहृदयको रसास्वाद तो न होगा, कुत्हुल भले ही हो" (का॰ र०, पृ० २८८)। उन्होंने अपना मत इस प्रकार रखा है—"यदि सहृदयके संस्कारोंका ध्यान रखते हुए किवकर्मकी प्रतिष्ठा की जाय, तो आलम्बनका औचित्य पिद्ध हो जाता है और परिणामस्वरूप पाठकके भावसे आश्रयके भावका तादात्म्य हो जाता है। अतः ग्रुक्जीका मत हो समीचीन है" (वही, पृ० २८९)।

परन्तु रामचन्द्र शुक्के साधारणीकरण-सिद्धान्तमें मौलिक भूल है और इसीके कारण वे अभिनवगुप्तके मतसे भटक गये है । उन्होंने अपनी व्याख्यामे आधुनिक मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रका आधार ग्रहण करनेका भी प्रयत्न किया है। इस दृष्टिसे उनकी व्याख्यामें व्यापकता अवस्य है, पर भ्रमका समावेश भी हो गया है। जिस आलग्बनत्वके साधारणीकरण तथा आश्रयसे तादात्म्य-को रामचन्द्र शुक्लने इतना महत्त्व दिया है, वह प्रारम्भिक आचार्योंके आरोपवाद तथा अनुमतिवादसे कुछ ही आगेकी स्थिति है। भट्टनायकने विभावादिके साधारणीकरणके रूपमे सम्पूर्ण नाटकीय अथवा काव्यात्मक-भावनात्मक परिस्थितिका सत्त्वोद्रेकके प्रभावसे संविद्विश्रान्ति रूप हो जाना माना है। यह बहुत ही स्पष्ट है कि भट्टनायक काव्यास्वादको सामान्य भावनात्मक प्रक्रियासे नितान्त भिन्न मनःस्थिति स्वीकार करते है, जब कि रामचन्द्र शुक्क मतमें इस बातकी स्पष्ट ध्वनि है कि पाठक अथवा दर्शकके मनमें आश्रयके भावोंसे तादात्म्य होता है, अर्थात् उन्हींके भावोंका वे अनुभव करते है। यह बात दूसरी है कि साधारणीकृत स्थितिमें तथा सात्त्विकताके फलस्वरूप :पाठक अथवा दर्शकको आनन्दानुभृति होती है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार साधारणीकरणके सम्बन्धमें आचार्योंसे उनका भाव भिन्न है, उसी प्रकार आचार्योंके सत्त्वोद्रेक तथा रामचन्द्र शुक्कके सात्त्विकभावमें अन्तर है। सत्त्वोद्रेक प्रकृतिगत है और सात्त्विक भाव आदर्श मर्यादा-सूचक है। वस्तृतः आश्रयके किसी प्रकारके भावतादातम्यसे कान्यानन्द नहीं प्राप्त हो सकता, सुखकी तीव अनुभूति अथवा दःखकी अनुभृति भ्रामक होनेके कारण सखानुभृति अवस्य लग सकती है। कान्यास्वादमें निर्वेयक्तिकता अथंवा संविद्धिश्रान्तिकी स्थिति अनिवार्य है।

वस्तुतः कात्र्यकी अनुभूति, यदि वह वास्तवमे काव्य है, तो सौन्दर्यमूलक है। रसानुभृति तथा सौन्दर्यानुभृतिमें मौलिक अन्तर नहीं माना जा सकता। मनुष्यने सैकड़ों वर्षोंके इतिहासमें अपनी सौन्दर्यानुभृतिको विकसित और विषम बनाया है, नाना रूप-आकारों तथा भावनाओंने इसके विकासमें योगदान किया है। मनुष्यका कोई ऐसा

भाव नहीं है, जो इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता, पर निश्चय ही उसका सन्दर्भ, उसकी अभिन्यक्ति इस क्षेत्रमें नवीन दिशा ग्रहण करती है। रससिद्धान्त इसी कान्यात्मक सौन्दर्यकी मानवके भावोंके आधारपर व्याख्या करनेका प्रयत है (रघवंश: काव्यमें प्रकृति 'हिन्दी': प्र० भा०)। साधारणीकरण भी इस व्याख्याका अनिवार्य अंग है। मनोवैज्ञानिक आधारपर कहा गर्या है (दे॰ 'रसनिष्पत्ति') कि कल्पनाके आधारपर प्रेक्षक या पाठक कथावस्तको ग्रहण करते है। यहाँ साधारणीकरणका यह अर्थ नहीं है कि प्रेक्षक विशेष वस्त और पात्रको साधारण वस्त और पात्रके रूपमें स्वीकार कर लेता है, वरन उसका अर्थ मनोवैद्यानिक कल्पनाके तत्त्वोंसे सिद्ध होता है। हम प्रत्येक वस्तस्थिति। पात्र-चरित्रको साधारण सहज स्थितिमे ग्रहण कर सकते है। इनकी कल्पनाका आधार अनुभवजन्य ऐन्द्रिय बोध, प्रत्यक्ष बोधकी स्मृतिका स्वतन्त्र संयोग है। भट्टनायकतक कल्पना-के स्वतन्त्र संयोगोंका व्यापार साधारणीकरण माना गया है। परन्तु कल्पनाका स्वतन्त्र संयोग साधारण जीवनमें भी होता है। अभिनवगुप्तके अनुसार साधारणीकरणकी प्रक्रिया कथावस्तुको कल्पनामें ग्रहण करानेमें ही सहायक नहीं होती, वरन् प्रेक्षक-पाठकके भावनात्मक स्थितिको अपने स्थायी भावोंकी साधारणीकृत स्थितिमे ही ग्रहण करता है। उन्होने साधारणीकरणको दोनों पक्षोंमे लगाकर स्थितिको अधिक स्पष्ट किया है। एक ओर उससे कल्पनाके लिए मुक्त आधार मिलता है तो दूसरी ओर पाठकके मनमे भावनात्मक स्थिति वासनारूपमें स्थित स्थायी भावके साधारणीकृत रूपकी ओर संकेत करती है, अर्थात् इस अभि-व्यक्त भावात्मक स्थितिका ग्रहण पूर्वसंचित स्थायी भावोके व्यापक आधारपर ही सम्भव है। इस प्रकार काव्य-(नाटक)के अर्थग्रहणके साथ पाठक (प्रेक्षक)के मनमे कल्पनाके सहारे भावनात्मक स्थिति ज्याप्त हो जाती है (जिसका आधार उसके अपनी वासनामें अन्तर्निहित भाव हैं), जो काव्यकी अभिव्यक्तिके सौन्दर्य तथा चमत्कारके साथ (निरपेक्ष होनेके कारण) आनन्दानुभृतिसे सम्बद्ध हो जाती है (रघवंश: रससिद्धान्त और आधुनिक मनो-विज्ञान: अनुशीलन, ३:२)।

सिहायक यन्थ—एस० के० दे०: हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स; आनन्दप्रकाश दीक्षित : काव्यमे रस (अप्र० प्र०); रामचन्द्र शुक्त : चिन्तामणि; नगेन्द्र : रीतिकालकी भूमिका—विचार और अध्ययन । —र० साध्यवसाना ळक्षणा—लक्षणाका एक प्रकार; इसमें आरोप-विषय अपने बोधक पदके रूपमें निर्देष्ट नहीं रहता है, क्योंकि आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाय)के द्वारा वह निर्गाण (निगला) रहा करता है, विलीन रहा करता है (विषयान्तःकृतेऽन्यांसन् सा—का० प्र०, र:११)। विश्वनाथके अनुसार विषयीके द्वारा निर्गाण की गयी विषय-वस्तुकी उसीसे साहश्यप्रतीति साध्यवसाना है (सा० द०, र:९)। इस प्रकार साध्यवसानामें आरोपके विषयका शब्द हारा कथन नहीं किया जाता, केवल आरोप्यमाणके कथनसे लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है। इसके दो भेद हैं—गौण तथा सुद्ध। गौण साध्यवसानाका उदा०—किसी मूर्बकी

देखकर कहा जाय-'बैल है'। आरोपके विषय (मूर्ख)का कथन न किये जानेसे केवल विषयी(बैल)का कथन है, अतः साध्यवसाना है और सादृश्य-सम्बन्धपर हो लक्ष्यार्थके आधारित होनेसे गौणी लक्षणा भी है। रूपकाति शयोक्ति (दे०) अलंकारमे यह लक्षणा अन्तर्भत रहती है। शुद्ध साध्यवसाना (उपादान)का उदा०—'कुन्त आ रहे है"। यहाँ भाले धारण करनेवालोंका कथन न किये जानेसे साध्यवसानाः लक्ष्यार्थ-मख्यार्थका साथ लगे होनेसे उपादान तथा धार्य-पारक-सम्बन्ध रहनेसे शुद्धा लक्षणा है। शुद्धा साध्यवसाना(लक्षणा)का उदा०—धीको दिखाकर कहना— 'यही आयु है'। यहाँ आरोपके विषय 'घी'का निगीर्ण है, अतः साध्यवसानाः कार्य-कारण-सम्बन्ध होनेसे शुद्धा तथा 'आय़' शब्दके अपने मुख्यार्थको सर्वधा त्याग न करनेसे लक्षण-लक्षणा है। सॉनेट-हिन्दीमे सॉनेटको चतुर्वशपदी भी कहते हैं। यह यूरोपका १४ पदोका एक प्रसिद्ध काव्यरूप है। इसका प्रचार यूरोपकी प्रायः सभी प्रसिद्ध भाषाओं से रहा है। छन्दकी दृष्टिसे इटलीमे ११ अक्षर (सिलेबिन्स), फ्रांसमे १२ तथा इंग्लैण्डमें १० अक्षरोके चरणका प्रचलन रहा है। परन्त सॉनेटमे अधिक महत्त्व उसमे प्रयुक्त चरणान्त अन्त्यानुपासके क्रमका है। इनमें सर्वप्रचलित सॉनेट इटली-का पेटार्कन सॉनेट रहा है, जिसका प्रयोग समस्त रोमान्स-साहित्यों तथा जर्मन और इंग्लिश साहित्यमें मिलता है। इसमे प्रारम्भ एक अष्टपदीमे अवव अ, अ ब व अ तथा षट्पदीमे स द स, द स द अथवा स द इ, स द इ रहता है। इटलीमे षट्पदी(सिक्सेट)के अन्त्यानुप्रासका क्रम प्रमुख कवियोंके द्वारा बदला भी गया है-स द द, स द स अथवा स स द, इ द इ। इंगलिशमे शेक्सपीयरके सॉनेट-की अपनी विशेषता है, उसमें पहले तीन चतुष्पदी और अन्तमे द्विपदी रहती है-अब अब, सद सद, इफ इ फ, ज ज । कुछ कवियोंने इन दोनों रूपोकी सफलतापूर्वक मिलाया है।

इतिहासकी दृष्टिसे १२वी २० ई०में इटलीके सिसली स्कूलके व वियोंने इसका आविष्कार किया! इसका प्रयोग दाँतेने भी किया है। पेटार्कने इसे निश्चित और कलात्मक रूप प्रदान किया। १६वी शर् ई०तक इटलीमे ही इसका प्रयोग सीमित रहा है। अंग्रेजीमे सर थामस वायटसे इसका प्रयोग आरम्भ हुआ। .यहाँ शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड सवर्थ, कीट्स, ब्राउनिगने इस कान्यरूपका सफलता-पूर्वक प्रयोग किया है। अंग्रेजीके शेक्सपीयरके सॉनेट तथा रोमां सिक कवियोके सॉनेटके आधारपर हिन्दीमे इसको छायावादी युगके कवियोने अपनाया है। नरेन्द्र शर्मा तथा सुमित्रानन्दन पन्तने सम्भवतः इसका प्रथम सफल प्रयोग किया है। बादमे 'दिनकर', वालकृष्ण राव, प्रभाकर मा ववे, त्रिलोचन शास्त्री आदि कई कवियोने इसका सफल प्रयोग किया । अन्त्यान् प्राप्तकी विभिन्न पश्चिमी विधियोका प्रयोग मिलता है और अष्टपदीके बाद षट्पदीके प्रयोगके साथ तीन चतुष्पदियोंके बाद डिपदीका प्रयोग भी मिलता है। एक साधारण रूप और प्रचलित है, जिसमे सात द्विपदियाँ हो रहती हैं।

वरतुनः सॉनेट एक विशिष्ट कान्यरूप है, जिसमें किंव अपने न्यक्तिगत प्रेम, आन्नरिक अनुभूतियो, संवेदनाओं, पारिवारिक प्रेम-सहानुभूति, सहम मनोभावो, अपनी गहन रष्ट्रतियोंको अभिन्यक्त करता है। साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, धामिक जीवन तथा न्यंग्यात्मक परिक्षितियोंको भी इनके द्वारा न्यक्त करता है। प्रायः हिन्दीके किंवयोंने भी सॉनेटका प्रयोग इन्ही उहेश्योंसे किया। —र० सापह्मसातिश्योक्ति नेठ० 'अतिश्योक्ति', आठवॉ भेद। सापेक्षता (proportion)—सापेक्षता एक प्रकारका सम्बन्ध है—दो परिणामोंकी नुरुना या वह अंक, जो इस नुरुनाको न्यक्त करे। क्योंकि सापेक्षता दो या दोसे अधिक परिणामोंका फल है, अतः उसके निर्धारणमें कम-से-कम तीन पद (उम्सी) अवश्य होगे (अ: व: व: स)।

चिरकालसे ही किसी ऐसी बुनियादी सापेक्षताओं खोज होती रही है, जो आदर्श सीन्दर्यका आधार हो। 'अलौकिक सापेक्षता' (जिवाइन प्रपोर्शन या गोल्डेन सेक्झन) ऐसी ही रहस्यमय सापेक्षता है, जो ज्ञातियोंसे कलाकारोंको आकर्षित करती रही है। किसी रेखाको लेकर सामान्य तरीका यों है—एक सरल रेखाको दो छोटे-बड़े हिस्सोमे इस प्रकार बाँटना कि छोटेवाले हिस्सेका बड़े हिस्सेसे वही अनुपात हो, जो बडेवालका सम्पूर्ण रेखासे हो। जो हिस्से होगे, वे ५:८ या ८:१३, १३:२१ के अनुपातमें होंगे। १९वी शताब्दीसे इसपर वैद्यानिक ढंगसे शोध हुआ है—इस सम्बन्ध में जाइसिंग और फेचनरके नाम विशेष उछेखनीय है।

सौन्दर्यविद्रलेषणमे सापेक्षताका सिद्धान्त प्राथमिक महत्त्व रखता है। कलाकी दृष्टिसे सापेक्षताकी साधारण व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—किसी कृतिके तत्त्वो और पक्षोंका इस प्रकार संघटन कि उसका प्रत्येक खण्ड दूसरे खण्डसे निरपेक्ष या असम्बद्ध न होकर सम्बद्ध और सापेक्ष हो तथा सम्पूर्ण कृतिमे स्थैर्य, स्थान-विस्तार, चटकीलापन आदि इस प्रकार बटें हों कि देखनेमे वस्तु मुडौल और सन्तिलित माल्यम दे। सापेक्षतावाद (theory of relativity)-भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमे १९०५ ई०मे एलवर्ट आइन्सटाइनने पहली बार सापेक्षतावादका सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसके अनुसार हमारी सहज बुद्धिसे प्राप्त दिक् और कालकी धारणाएँ मिथ्या है। सहज बुद्धिके अधीन हम किसी वस्तु-की स्थितिकी कल्पना केवल दिकमें कर सकते है और उसके परिवर्तनोंकी केवल कालमे। इस प्रकार हम निरपेक्ष दिक् और निरपेक्ष कालकी पृथक्ता और वास्तविकतामें विश्वास करने लगते है। इस विश्वासके प्रति हमारे मनमे कोई शंका नही उठती, क्योंकि इन्द्रिय-माह्य विश्वकी व्याख्या करनेमे ये धारणाएँ पूर्णतः सफल पाथी जाती है। पर विज्ञानकी प्रगतिके साथ कुछ ऐसे प्रयोग हुए, जिन्हे इस सहज बुद्धिके सहारे नहीं समझा जा सकता । प्रयोग सही थे और आसानीसे दुहराये जा सकते थे। अतः आइन्सटाइन-ने कहा कि हमारी दिक् और कालकी धारणामे ही कहीं ब्रुटि है। दिक और काल पृथक् इकाइयाँ नहीं है, वरन् एक-दूसरेसे उनका गहरा सम्बन्ध है। सापेक्षतावादके सिद्धान्तमें निरपेक्ष दिक् और कालको मस्तिष्ककी कल्पना और दिक- कालनिरन्तरताको दास्तियिक माना जाता है। इस नियम-को अपना लेनेपर नये प्रयोग आसानीत समझे जा सकते हैं और साथ ही साथ वे सब प्रयोग भी, जो अवतक निरपेक्ष दिक् और कालके धारणानुसार समझे जाते थे।

सापेक्षतावादके अन्तर्गत दो सिद्धान्त आते है। पहला, जो आइन्सटाइनने १९०५ ई०मे प्रतिष्ठित किया, विशेष सापेक्षतावादका सिद्धान्त कहलाता है। इसमे सम वेगसे चलनेवाले पिण्डकी निरपेक्ष गति एक अर्थहीन धारणा है, उसकी सापेक्ष गति ही वास्तविक है । इसी प्रकार साधारण निरपेक्ष अचलता भी अर्थहीन है। एक पिण्ड दूसरे पिण्डकी अपेक्षामे ही स्थिर या गतिमय हो सकता है। इसके अलावा एक क्रियाका कोई निरपेक्ष काल नहीं होना । दो क्रियाएँ एक साथ हुई या अलग-अलग, यह देखनेवालेकी सापेक्ष स्थितिपर निर्भर होना है। इस प्रकार दिक् और काल एक-दूसरेमें लय हो जाते है और अपनी निरपेक्ष पृथक्ता खो बैठते है। इस सिद्धान्तके कुछ निष्कर्ष बहुत असाधारण है। उदाहरणार्थ, एक पिण्डकी जड़त्व-मात्रा (inertial mass) हमेशा एक-सी नहीं रहती, जैसा इस सिद्धान्तके पूर्व समझा जाता था, बल्फि पिण्डकी गतिके साथ वह बदलती रहती है। जितनी अधिक गति होती होगी, उसके अनुसार एक विशेष अनुपातमे मात्राकी वृद्धि हो जायगी। क्योकि साधारण प्रयोगोमे यह मात्रा-वृद्धि बहुत कम होनेके कारण नापी नहीं जा सकती, अतः हम अभीतक उसे पहिचान नहीं पाये थे। सापेक्षताबादके सिद्धान्तने प्रकृति-का यह गूढ रहस्य हमारे सामने व्यक्त कर दिया। सापेक्षतावादके सिद्धान्तके अनुसार शक्ति और मात्रामे भी गहरा सम्बन्ध है, वास्तवमे वे एक ही है। इस प्रकारके सम्बन्धकी कल्पना भी हम पहले नहीं कर सकते थे।

सापेक्षतावादका दूसरा सिद्धान्त आइन्सटाइनने १९१५ ई॰में दिया, जो सामान्य सापेक्षतावादका सिद्धान्त कहलाता है। इसमें प्रवेगसे चलनेवाले पिण्डका अध्ययन किया जाता है। यह, नक्षत्र आदि ऐसे ही पिण्ड है। इन आकाशीय पिण्डोकी गतिका वर्णन आरम्भमे निरपेक्ष दिक और कालकी सहायतासे किया जाता था। बादमे बुध ग्रह-का परिक्रमा-पथ, जो अण्डाकार माना जाता था, कुछ सर्विल पाया गया । बुधयहकी सर्विल गति पुरानी धारणाओं-पर नहीं समझी जा सकी। आइन्स्टाइनने गुरुत्वाक र्षण-बलके पुराने सिद्धान्तको निर्मूल साबित करके नये सापेक्ष-वादके सिद्धान्त द्वारा बुध यहकी गतिकी व्याख्या दी। सामान्य सापेक्षतावादके सिद्धान्तकी यह बहुत बडी सफलता थी। इसके बाद अन्य प्रयोगोने भी इस सिद्धान्तकी पृष्टि की । इस सिद्धान्तके अनुसार दो पिण्डोके बीच गुरुत्वाकर्षण-बलकी साधारण धारणा गलत और निरर्थक है। यह बल-की धारणा केवल हमारे मस्तिष्वकी उपज है, वास्तविक नहीं, क्योंकि प्रवेगकी सहायतासे इस बलके प्रभावको नष्ट किया जा सकता है। नये सिद्धान्तके अनुसार केवल दिकाल-निरन्तरताकी वक्रता ही वास्तविक है और इसके आधारपर आकाशीय पिण्डोकी गतिको समझा जा सकता है।

इस प्रकार सापेक्षतावादके सिद्धान्तोंने हमारी पुरानी सहज बुद्धिकी धारणाओंको नये प्रयोगोकी पृष्ठभूमिर्मे

निरर्थक प्रमाणित कर दिया और हमें सर्वधा नयी हि प्रदान की। निरपेक्ष और अन्यावहारिक धारणाओं के स्थानपर सापेक्ष, अतः न्यावहारिक दिक और काल-धारणाओंकी स्थापना की। यह नया कदम उठानेके लिए हमे प्रभोगोंने बाध्य किया। इसलिए हम कह सकते है कि केवल अध्यात्मवादसे विश्वकी व्याख्या नहीं की जा सकती। दूसरी ओर, सापेक्षताबादके अनुसार प्रयोग एक विशेष अवलोकन-विन्द्के लिए ही सत्य है। वह सर्वमान्य नही है। अतः आइन्सटाइनकी पद्धतिके अनुमार केवल प्रयोग-वाद भी विश्वकी व्याख्या करनेमें असमर्थ है। इस तरह सापेक्षतावादके सिद्धान्तने हमारे दार्शनिक और साधारण बुद्धि-चिन्तनपर बहुत गहरा प्रभाव डाला है। जिसकी अवहेलना नेही की जा सकती। सामंजस्य (concord or integration) - विविध अन-भवो और प्रभावोंका इस प्रकार उपयुक्त एवं अनुकूल अर्थों में समन्वित होना कि उनमें विषमता और विरोधका आभास न हो। भारतीय इतिहास तथा जीवन-दर्शनमें सामंजस्यकी भावना विशेष महत्त्वपूर्ण रही है (दे० सामंतवाद-किसान, कृपि और स्वतन्त्र उद्योगोंसे संयुक्त होकर ही साम्यवादी कृषि-प्रणालीकी सृष्टि हुई थी। गाँवमे किसान उत्तराधिकारके आधारपर भूमि जोतता था, किन्तु बौद्धिक दृष्टिसे भूमिका मालिक जमीदार ही था। इसके अतिरिक्त वह घरेलू उद्योगसे भी धन कमानेका प्रयास करता था । खेती और उद्योगमें उत्पादनके साधनोंपर क्रषकका पुण नियन्त्रण था। उत्पादनका लक्ष्य उपभोग और सीमित विनिमयके लिए था। किन्तु वह बेगारका भी काम करता था और जमीदारको लगान दिया करता था। बेगारका काम एक प्रकारते अतिरिक्त मुख्यके सिद्धान्तको चरितार्थं करता था। शनैः-शनैः इस व्यवस्थामें भी संवर्ष उत्पन्न हुए और किसान और जमीद।रके बीच तनाव पैदा हुआ, जिसके फलस्वरूप पूँजीवादी, अर्थात् बुर्जुआ व्यवस्था-का उदय हुआ। -रा० म० त्रि० सामगान-प्रगीतात्मक ऋचाओंका संग्रह सामवेदमे हुआ है, यद्यपि उपलब्ध सामबेद और ऋग्वेदकी प्रगीनात्मक ऋचाओंमें अन्तर मिलता है और सामवेदकी ऋचाएँ ऋग्वेद-में नहीं मिलतीं। सामगान वस्ततः स्तोत्रपाठका गेय रूप था और सोमस्तवनमें सामगानकी पद्धति अपनायी जाती थी। ऋचाएँ केवल गेय नहीं, बल्कि छन्दात्मक है और इनमें विभिन्न छन्दोंका उपयोग हुआ है, जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं -गायत्री, बृहती, जगती, त्रिष्ट्रम, अनुष्ट्रम, रुष्णिक, पंक्ति आदि । गीतके भेदोंमें वैदिक और लौकिक परिगणित हैं। 'छान्दोग्योपनिषद'में कहा गया है कि "चराचर प्राणियोंका रस पृथ्वी है। पृथ्वीका रस जल है, जलका रस ओषधियाँ हैं, ओषवियोंका रस पुरुप है, पुरुष-का रस वाक् है, वाक्का रस ऋक् है, ऋक्का रस साम है और सामका रस उद्गीय है (छाँ०, १:१:२)। साम शब्दकी न्याख्या करते हुए 'छान्दोग्य'ने कहा है, यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्निसंज्ञक साम ऋकमें अधिष्ठित है। अतः ऋक्में अधिष्ठित सामका

ही गान किया जाता है। यह पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है; इस प्रकार ये दोनों मिलकर साम है (छां०, १:६:१)। सामगानके समय वर्णोचचारणका विशेष नियम था-"सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और वलयुक्त उच्नारण किये जाने चाहिये एवं समस्त स्पर्शवणीका उच्चारण एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये विना होना चाहिये (छां०, र : २२ : ५) । सामगानके कई रूप प्रचलित थे। सामको पंचविध और सप्तविध उपासनाओ-का विवरण मिलता है। विभिन्न देवताओंके लि॰ किये गथे सामगानमे अन्तर था। 'छान्दोग्य'का कथन है कि प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त, सोमका निरुक्त, वायका मृदुल और इलक्ष्ण, इन्द्रका इलक्ष्ण और बलवान् , बृहस्पति-का की चसमान और वरुणका अपध्वान्त है (२:२२:१)। सामका 'विनदिं' नामक गान पशुओं के लिए हितकर माना गया है। सामगानके दो स्पष्ट वर्ग थे- 'रथन्तर' और 'बृहत्' (दे०—ऐतरेय ब्राह्मण, आठवी पंचिका, पहला अध्याय)। सामवेदके एक लक्षणप्रन्थका नाम 'उक्थ' था, जिसमे उद्गाता गेय सामोंका संग्रह करता था। उनथोंका निश्चय सामवेदीय चरणोंकी परिषदोंके द्वारा होता था और उनमें गेयता सम्बन्धी नियमोका निर्धारण होता था। सात्यमग्नि और राणायनीय चरणोंकी परिषदीने अपने प्रातिशाख्योंमें अर्ध एकार और अर्थ ओकारके उच्चारणको स्वीकृत किया था (दे०-प्रत्याहारसूत्र ३-४, बा० ४पर भाष्य)। -रा० खे० पा० दायित्व - व्यक्ति-स्वातन्त्र्य (दे०)का अर्थ सामाजिक दायित्वहीन उच्छंखलता नहीं, बल्कि व्यक्ति-व्यक्तिकी असीम सम्भावनाओंको फलने-फूलनेका अवसर देनेकी स्थिति है। वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके विरोधियोंने व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्वके दो अलग-अलग ही नहीं, अपित् परस्पर विरोधी प्रतिमानोका होवा खडा कर रखा है। किन्तु वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमे सामाजिक दायित्वका पुरा अन्तर्भाव है। यदि समाजके सभी सदस्य सामाजिक दायित्वकी चिन्ता छोडकर खच्छन्द हो जायँ तो समाजकी अवस्थिति ही असम्भव हो जायगी और अन्ततोगत्वा उनका स्वातन्त्र्य भी खतरेमे पड जायगा । अतः व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी रक्षाका मूल मन्त्र है सामाजिक दायित्वकी चिन्ता। अतएव व्यक्तिस्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व परस्पर विरोधी न होकर सर्वथा सुसंगत और एक दूसरेके पूरक है।

'होली फैमिली' नामक यन्थमें मावसे और एंजिल्सने इम तथ्यकी ओर संकेत किया है कि मनुष्यमें दो (आपाततः विरोधी) प्रवृत्तियाँ है। एक ओर तो उसमें स्वातन्त्र्यकी भूख है और दूसरी ओर वह सार्वभीमिकताकी प्राप्तिके लिए सचेष्ट है। बट्टेंण्ड रसेल इस युग्म—स्तन्त्रता और सार्वभीमिकताको बदले स्वतन्त्रता और सम्बद्धताका प्रयोग करते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा-जाय तो इन दोनों प्रवृत्तियोंमें सामंजस्य-स्थापन इस युगको सबसे बड़ी समस्या है। उच्छुंखल, असम्बद्ध व्यक्तिवादका सारा जोर दायित्वहीन स्थातन्त्र्यपर है, जब कि अधिनायकवाद (टि०)का संघवस्तापर। लोकतात्रिक समाजवाद (टि०)की स्थिति इन दोनोरी भिन्न है। वह दायिस्वमूलक व्यक्तिस्वातन्त्र्यमें आस्था रखता

है। मार्क्स िखता है कि पूँजीवादी अधिकार-शासको प्रश्रय देकर प्रत्येव स्थित अस्योमें अपनी एतत्वताकी रिव्हि नहीं, बिर्कि सीमाका अनुभव करना है। लेकिन समाजवादी समाजरचनामे प्रत्येक स्थित अन्योमें अपनी स्पतन्त्रनाकी सिद्धिका ही अनुभव करेगा। इस समाजवे प्रत्येकका स्वतन्त्र विकास सभीके स्वतन्त्र विकासको श्राते होगा। — ह० ना० सामाजिक सुक्य-दे० 'मृत्य'।

सामाजिक यथार्थ-सामाजिक यथार्थ दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष जगतने विलक्षल भिन्न है। प्रत्यय मानव गस्तिष्क-से सम्बन्धित है, किन्त सामाजिक यथार्थके भीतर वे शक्तियाँ आती है, जो मानव मस्तिष्कके बाहर है। आधिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांरक्रतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियोंका समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरणका निर्माण करती है, जिनसे हमारे संस्कारोकी सर्जना होती है, (दे॰ 'सामाजिक यथार्थवाद')। -रा० क० त्रि० सामाजिक यथार्थवाद-आदर्शवाद (दे०) काव्य और कलाको मनुष्यके शेष व्यापारी, उसकी जीवनप्रक्रियासे विच्छिन्न एक असाधारण, अलौकिक अथवा आध्यात्मिक सर्जनक्रियाका परिणाम मानता है। इसके विपरीत यथार्थ-वाद (दे०) काव्य और कलाको जीवनने निःसत और उसका अभिव्यंजक मानता है। प्रेमचन्दने आदशीं-मुख यथार्थवाद (दे०) नामसे इन दोनों वादोंका समन्वय करने-की चेषाकी है।

यथार्थवादको प्रश्नय देनेवाली रचना जीवनकी वास्त-विकताओंका चित्रण करती है। यथार्थवादी चित्रणमे आत्मिनष्ठ पूर्वग्रह, आदर्शवाद अथवा रोमांचकताको कोई स्थान नहीं। आदर्शवाद तथा रोमांचकवाद (दे०) असाधारणके प्रति मोहपर प्रतिष्ठित हैं। यथार्थवाद साधारण-से-साधारण घटनाके चित्रणमे रस लेता है। वह वास्तविकताका प्रेमी है।

आदर्शनाद तथा रोमांचकनाद दर्शनकी आदर्शनादी, प्रत्ययनादी अथना अध्यात्मनादी प्रवृत्तियोसे प्रेरणा लेते हैं, जन कि यथार्थनादका प्ररणाह्मोत है दर्शनको भौतिक-नादी और यथार्थनादी प्रवृत्तियाँ तथा आधुनिक फ्रायड-युंग- ऐडलरका अन्तरचेतनानाद ।

यथार्थवादके दो रूप देखनेको मिलते है। प्रथमको प्रकृतवाद, प्राकृतवाद (दे०), प्रकृतिवाद, ताह्यवाद, नग्नतावाद, यथात्रथ्यवाद आदि अनेक नामोंसे पुकारते है। जंग्रेजीमे इसके लिए 'नेजुरलिजम' शब्द व्यवहृत होता है। ितीय रूपको या तो केवल 'यथार्थवाद' (realism) और 'सामाजिक यथार्थवाद' अथवा 'समाजवादी यथार्थवाद'की संज्ञा दी जाती है। प्रकृतिवाद नियितमें पूर्ण विश्वास करके चलता है। उसके अनुसार मनुष्य एक और अपनी सहज प्रवृत्तियों (instincts) तथा वासनाओं (passions) और दूसरी ओर सामाजिक, आर्थिक परिसर (milieu अथवा environment) से पूर्णतः नियन्त्रित और अनुशासित है। मनुष्यमें इच्छा-स्वातन्त्रयकी प्रतीति अममात्र है। अतः प्रकृतिवादी साहित्यकार नीतिमत्ता सम्बन्धी निर्णयोसे गुरेज करता है। वह नियतिवादी होने-

दो कारण व्यक्ति अथवा समाजमें सुधार आदिको असाध्य मानता ते। नम प्रकार प्रतृतिवाद अन्ततः निराज्ञावाद (२०) एतं क्रणताको प्रश्रय देता हुआ गाया जाता है। इसके विपरीत सामाजिक यथार्थवाद न तो नियतिवादी है, न निराज्ञावादी और न नैतिकता-निरुपेश्व हो।

सामाजिक यथार्थवाद एक भिन्न रतरपर अवस्यम्मावित्व (inevitability)की स्थापना करता है। कहते है कि कथा-साहित्यका विकास असम्भव (the impossible)- हे दुर्घट (the improbable), उससे सम्भव (the probable) और अन्ततः अवस्यम्मावी (the inevitable)- की ओर हुआ है। यहाँ अवस्यम्मावित्यका क्या अर्थ है श्रित्येक स्थितिको दूसरी स्थितिका अवस्यम्मावी परिणाम होना चाहिये, वह उसीरो निःसत होनी चाहिये। चित्र वही करे, जो उसकी स्थितिको तर्कसे अवस्यम्मावी हो। जिस कथा-साहित्यमे दस नियमको उपेक्षा होती है, जिसमे चिर्त्रोसे ऐसा काम कराया जाता है, जो उनकी स्थितिका अवस्यम्यावी परिणाम न हो, वह हमें आज अपील नही कर सकता।

प्रकृतिवादी साहित्य व्यक्तिका नहीं, अपितु औसतका चित्रण करता है। ठेकिन सामाजिक यथार्थवादी न तो यही मानता है कि साहित्यमें केवल निजीव औसतका चित्रण होना चाहिये और न समाजसे सर्वथा विसदश 'व्यक्ति'का । वह समाजके अभिन्न-अंग-भूत व्यक्ति-(typical individual)का चित्रण करता है। वह वस्तुतः व्यक्तिगत पक्षके साथ-साथ सामाजिक पक्षका उद्घाटन करनेमे विद्यास करता है। वह व्यक्तित्वको उसकी समग्रतामे देखना चाहता है। सामाजिक यथार्थवाद वस्तुतः प्रतिनिधि व्यक्तित्व अथवा चित्रको सहज स्वाभाविक रूपमें प्रस्तुत करता है। इस प्रकार चित्रव वर्ग-विद्येपका प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी विद्येषता अक्षुण्ण रखता है।

यरोपीय साहित्यमे जोला, मोपासॉ, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड. ई० ई० कमिंग्ज, फ्लावेयर आदि प्रकृति-वादके प्रतिनिधि साहित्यकार है। डी० एच० लॉरेंस-को भी बहुत-कुछ इसी कोटिका समझा जाता है। बारजाक, टॉल्स्टाय, गोकी आदि सामाजिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखक है। सामाजिक यथार्थवादके विकासमे मार्क्सवाद-(दे०)का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिन्दीमे 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशीपर फॉयडका प्रभाव अधिक होनेसे उन्हे अक्सर प्रकृतिवादी मान लिया जाता है। यशपालकी रचनाओं मे भी प्रकृतिवादकी झलक देखी गयी है। सामा-जिक यथार्थवादके प्रतिनिधि लेखकों में प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, 'दिनक्र' आदिका नाम उल्लेख्य है। 'निराला' और समित्रानन्दन पन्तमें भी एक समय सामाजिक यथार्थवादकी जोरदार प्रवृत्ति दिखायी दी थी। हिन्दीमे सर्वप्रथम 'हंस'में प्रकाशित रचनाओंके माध्यमसे मार्क्सवादका प्रवेश हुआ था। पहले तो तत्कालीन लेखकों-का झुकाव यौन स्वच्छन्दता अथवा प्रकृतिवादकी ओर हुआ, लेकिन कालक्रमसे सामाजिक यथार्थवादका रूप निखरा और वह हिन्दी साहित्यकी एक अत्यन्त बलवती प्रवृत्ति बन गया।

सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ग्राम्या' हिन्दीमें सामाजिक यथार्थवादसे अनुप्राणित प्रथम काव्यग्रन्थ है। 'निराला'में सामाजिक यथार्थकी अनुभूति तीव्रतर दिखाई देती है। उनकी 'कुत्ता भौकने लगा', 'नये पत्ते' आदि कवितार्ष प्रमिक और कृषकवर्गकी विवशताका सफल न्त्रिण करती है। सन् १९४३ ई०मे 'अज्ञेय' द्वारा संगृष्टीत 'तारसप्तक' सात कवियों मेसे कम-से-कम चार कियों—रामविलास शर्मा, प्रमाकर माचवे, भारतगृषण अग्रवाल तथा गजानन माथव 'मुक्तिवोध'—की कविताओंमे सामाजिक यथार्थकी ओर स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। यद्यपि 'दूसरा सप्तक'में जो सन् १९५१ ई०में प्रकाशित हुआ, केवल धर्मवीर भारतीमें सामाजिक यथार्थकी प्रवृत्ति दिखाई देती है, तथापि नयी पीढी अब इस ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रही है।

सामाजिक यथार्थवादका सबसे अधिक प्रयोग उपन्यासोमे हुआ है। यशपालने अपने 'दादा कामरेड', देशहोही' और 'पार्टी कामरेड'में आधुनिक समाजकी समस्याओका अच्छा चित्रण किया है। रांगेय राघवके 'विषाद मठ' और 'हुजूर' में आधुनिक समाजके दुःख-दैन्यका मर्मस्पर्शी चित्र देखनेको मिलता है। 'विषाद मठ'की विषय-वरतु बंगालका अकाल है। नागार्जुनके 'रितनाथको चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' ग्राम्य जीवनके संदिलष्ट चित्र उपस्थित करते है।

[सहायक ग्रन्थ-स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म। जॉर्ज लूकाक्स; आर्ट एण्ड सोशल लाइफ : प्लेखनॉव; इल्यू-जन एण्ड रियलिटी: क्रिस्टोफर कॉडवेल ।] — ह० ना० सामाजिक समष्टि—सामाजिक समष्टि अंग्रेजीके 'सोशल-एग्रीगेट' या 'सोशल-होल'का पर्याय है। सामाजके स्वरूप-के विषयमे समाज दार्शनिकोंके बीच गहरा मतभेद पाया जाता है। एतत्सम्बन्धी विभिन्न मतोको हम मोटे तौरपर निम्नलिखित तीन वर्गोंमें बॉट सकते है-(१) समुदायवाद। यह इस सन्दर्भमे प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'नामिनलिज्म' अथवा 'एटमिडम'से अधिक उपयुक्त लगता है। इसके अनु-सार समाज व्यक्तियोंका समुदायमात्र है, उमकी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह मत बहुत कम प्रचलित है। (२) विराट पुरुषवाद अथवा महान्यक्तिवाद अथवा शरीरवाद (आर्गेनिसिज्म) । इसके अनुसार समाज एक सनीव शरीर, अंगी, अवयवी अथवा एकीभूत समष्टि है और विभिन्न व्यक्ति उसके अंग या अवयवस्वरूप है। व्यक्ति और समाज-मे शाब्दिक अर्थीमें अंगांगिमावका सम्बन्ध है। यह मत सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है। ऋग्वेदके पुरुषस्कामे चारों वर्ण विराट् पुरुषके विभिन्न अंग बताये गये है। चीनी, यूनानी और रोमीय विचारधारामें भी तमाज-पुरुषदी करपना मिल जाती है। मेकियावेली, पास्कल, हाब्स आदिने भी इस धारणाको प्रश्रय दिया है। हर्वर्ट स्पेन्सर भी इस मनका एक सीमातक समर्थक था। उसके अनुमार समाज-शरीर और अन्य प्राणियोंके शरीरोंके बीच निम्न-लिखित समानताएँ है-दोनों बढ़ते है, बढते समय दोनों गठन और चेष्टाओंमें विशेषीकरण (डिफरेन्शियेशन) प्रद-शित करते हैं, दोनोंमें अंग-प्रत्यंगका परस्पर सहकारित्व एवं अन्योन्याश्रयत्व देखनेकी मिलता है, दोनों इकाइयों-

(जीवाणुओं तथा व्यक्तियों) से निर्मित होते हैं, इन इकाइयों के अक्षत रहते भी दोनोका नाइ। सम्भव है, दोनोंका अपना-अपना पोषक-रांस्थान (भोजनकी नली), विभाजक-संस्थान (शरीरमें रक्त-संस्थान तथा समाजमे व्यवसाय-व्यापारकी धमनियाँ) और व्यवस्थासंस्थान (शरीरमे स्नायु-संस्थान और समाजमें शासन-संस्थान) है। स्पेगलरके अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक सजीव प्राणीके समान जन्म लेती, बढती, परिपक्व होती और मृत्युका प्राप्त होती है। उसके अनुमार मंस्कृति-संस्कृतिके न्यक्तित्व एवं आत्मामें इतना भारी भेद होता है कि उनमे परस्पर बौद्धिक, कलात्मक, साहित्यिक आदान-प्रदान सम्भव ही नहीं है। प्रत्येक संस्कृतिका अपना विचार, अपना आवेग, अपना जीवन, अपनी इच्छा-शक्ति और अपनी मृत्यु होती है। इस मतका विरोध भी जोरोमे हुआ है। हुर्वर्ट स्पेन्सरने समाज एवं शरीरमे यदि साम्यके दर्शन किये हैं, तो उनका वैषम्य भी उसमे छिपा नहीं है। वह कहता है कि शरीरके अवयव सन्निविष्ट, संहिल्ध अथवा समंघटित होते हैं, जब कि समाजके असन्निविष्ट, असंदिरुष्ट तथा असंविटन । अनः समाज शरीरकी अपेक्षा कम समग्रीभृत अथवा एकीभृत होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यका शरीर चेतना द्वारा नियन्त्रित एवं परिचालित होता है, जब कि समाज-शरीरमे कोई वेन्द्रीय चेतना है ही नहीं। समाजकी प्रत्येक इकाई (व्यक्ति)में तो चेनना है और ममाजके संचालनमे उन चेतनाओंका बहुत बडा हाथ होता है, किन्त व्यक्तिगत चेतनाएँ किमी केन्द्रीय चेतनाके शासनमें नहीं हैं। इस ष्टिसे समाजकी तुलना वनस्पिन-शरीरसे की जा सकती है। वनस्पतिमे भी अनेक जीवाण तो होते है, किन्तु कोई केन्द्रीय चेतना नहीं होती ! (३) व्यापारात्मक समष्टिवाद (फंक्शनलिज्म)। इसके अनुसार ममाज न तो पृथक-पृथक वर्तमान व्यक्तियोंका समुदायमात्र है और न कोई पूर्णतः एकीभूत सजीव शरीर । वह अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार विभिन्न अन्योन्याश्रित चेष्टाओं, व्यापारोमे संलग्न परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियोंका एक संस्थान है। इस प्रकार यह मत पूर्वीक्त दोनों मतोंका समन्वय है। इस मतके समर्थंक सोरोकिनका कहना है कि समाज विविध सामा-जिक सांस्कृतिक संस्थानों एवं उनमे असम्बद्ध अथवा तटस्थ समुदायोंका सहभाव है। सोरोकिन समाजकी विभिन्न संस्थाओं अथवा वस्तुओके पारस्परिक सम्बन्धोंको निम्निल-खित चार कोटियोमें विभाजित करता है—(क) दैशिक अथवा यान्त्रिक सन्निकर्ष, अथवा समुदाय। इसका अर्थ यह है कि अनेक संस्थाओं अथवा वस्तुओंके बीच सिवाय इसके कि वे परस्पर समीप हैं और कोई सम्बन्ध नहीं दिखा देता। (ख) कारण-कार्यभावका असाक्षात् सम्बन्ध अथवा अन्यपदार्थमूलक सहास्तित्व; शीतकालमे कोयले. रुई और ऊनकी माँग बढ जानी है। यहाँ बोयले, रुई और कनका हर घरमे सहास्तित्व उनके किसी पारस्परिक सम्बन्धके कारण नहीं, बल्दिः शीतकाल-एक अन्य वस्तुके कारण है। (ग) क रण-वार्यभावका माक्षात् सम्बन्ध, अर्थात् वस्तुओं अथवा संस्थाओं के बीच कारण-कार्यभावका सम्बन्ध। (घ) आन्तरिक अथवा हेतुक साध्यसाधनमूलक एकताः किसी

मृल्य, आदर्शकी व्यंजक अथवा वाहक सारी संस्थाओ अथवा वस्तुओमें एक प्रकारका एकीभाव हो जाता है। शासन-यन्त्र और उसके क्रिया-कलापमें जो एकता है, वह इसी कोटिकी है। कार्ल मार्क्क अनुसार समाजके विभिन्न विभाग एवं संस्थाएँ एक विशाल सम्बन्ध-सूत्रमें पिरोयी हुई होती हैं, समाज उनका संघट्टमात्र न होकर एक न्यूनाधिक समयी-भृत समष्टि है। समसामयिक सम'ज-दर्शनमे व्यापारात्मक समष्टिवादका सबसे अधिक मान है। सामान्य – लोकन्यायम्ल अर्थालंकार, जिसमें अत्यक्त निज गुणवाले प्रस्तृत और अप्रस्तुतमे सहश गुणके कारण एक-रूपताका वर्णन होता है। इस अलंकारमें अत्यक्त गुणवाले उपमेयकी उपमानके साथ एकात्मता वर्णित की जाती है। सामान्यका अर्थ समानका भाव है। सर्व प्रथम प्रयोग मम्मट तथा रुय्यक द्वारा ही किया गया है। मम्मटकी परिभाषा इस प्रकार है-"प्रस्तृतस्य यदन्येन गुणसाम्य-विवक्षया । ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्" (का० प्र०, १०: १३४), अर्थात् जिसमें प्रस्तृत और अप्रस्तुत पदार्थके योगमें, दोनोंके गुणसाम्यप्रतिपादनके लिए, दोनोंकी एकरूपता सिद्ध की जाय । मम्मटने 'विवक्षा' द्वारा यह व्यक्त किया है कि वस्तुतः समानता न होनेपर भी समानताका प्रतिपादन करना। परन्तु विश्वनाथका लक्षण है-- "सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सहरौर्गुणैः" (सा० द०, १०: ९०), अर्थात् प्रस्तुतको अप्रस्तुतसे सहश गुणके कारण एकरूपताका कथन। इसमें मात्र साहरयका उरुेव हैं।

हिन्दीमें इस अलंकारकी विवेचना जसवन्त सिंहके भाषा-भृषण'से प्रारम्भ हुई है, जिसमे 'कुनज्यानन्द'के आधार-पर लक्षण दिया गया है। वस्तुतः हिन्दीमें इसीके आधारपर साहरयसे कुछ भेद प्रतीत न होनेकी बातको अधिक स्वीकार किया गया है। भूषणके अनुसार—"भिन्न-रूप जह सहसते भेद न जान्यो जाय" (शि० भू०, ३०५)। मतिराम तथा पद्माकरने इसी बातको 'पैप कछ न बिसेष' अथना 'समुझि बिसेष परै न' (ल० ल०, ३४०; पद्मा०: २४३)के रूपमें कहा है। भिखारीदासने प्रस्तुत-अप्रस्तुतको एकरूपताका बर्णन 'हीरा फटिक स्वभाव'से किया है (का० नि०, १४)।

रीतिकालके कवियोंने नाथिकाओके (विशेषकर अभि-सारिकाके) वर्णनमे इस अलंकारका उक्तिपूर्ण प्रयोग किया है। मतिरामकी अभिसारिका-"प्रीषम दुपहरीमे हरिकौ मिलन चली, जानी जाति नारि न दबारिजत बनमै" (ल० ल०, ३४४) । पर सोमनाथकी इस शुक्लाभिसारिकाके बर्णनमें प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है—''लखिये पिय निसिमें नवल कौतुक सुख सरसातु। हिमकर अरु तिय बदनमें अन्तर लह्यो न जात" (र० पी० नि०) । रघुनाथने 'रसि-कमोहन'में इसका प्रयोग नारी-सौन्दर्यको व्यक्त करनेके लिए किया है-"चित्रनसों मिलि भई चित्र, हाथमे न आई, हारौ हेरि प्यारौ, रही प्यारी चित्रसारीमे"। इसमें उक्ति-वैचित्र्यका सौन्दर्य है।

मीलित, तद्गुण और सामान्य, तीनो ही अलंकार लोक-न्यायमूल अर्थालंकार है। इनमें अन्तर यह है कि मीलित अलंकारमें प्रधान धर्म-सम्पन्न वस्तुमें निम्न गुणवाली

वस्तुका तिरोधान हो जाता है और 'सामान्य'में दोनां वस्तुओं (प्रस्तुत और अप्रस्तुत)का स्वरूप पृथक् होनेपर भी किसी गुणकी समानतासे दोनोंमे अभेद स्थापित किया जाता है। 'अत्यक्त गुणवाली वस्तु' इस कथन द्वारा तद्गुण और सामान्य इन दोनों अलंकारोंमे व्यावर्तक रेखा खीची गयी है। 'तद्गुण'मे स्वधर्मका परित्याग करके एक वस्तु अपने निकटवर्नी दूसरी वस्तुका गुण ग्रहण करती है, किन्त 'सामान्य'मे निज गुणका त्याग नही होता। —वि० स्ना० सामान्य-निबंधना-दे० 'अप्रस्तुत प्रदंसा', चौथा भेद। सामान्यपरिवत्त-दे० 'अर्थ-दोष', इक्षीसवॉ।

सामान्या (गोपी) –दे० 'गोपी'।

सामान्या (नाथिजा) - जो स्त्री सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो; इसे वेश्या (भरत), साधारण स्त्री (धनंजय, शारदातनय), गणिका (तोष, पद्माकर) आदि नामोंसे भी पुकारा जाता है। यह नायिका केवल धनके लिए परपुरुष-से प्रेम करनेका ढोग करती है—"करें औरसो रित रमनि इक धनहीके हेत" (पद्माकर: जगद्धि, भा० १: १२२)। साथ ही इसमें इसके अनुरूप कलाप्रवीणता भी होती है-'कलाप्रागरभ्यधाष्ट्रयेयुक्' (शिंगभूपालः रसार्णव, ११०)। इस भेदकी स्वीकृति नाटकीय पात्रके रूपमें हुई, पर बादमे काव्यशास्त्रके अन्तर्गत नायिकाओंके विभाजनमें भी इसे स्वीकार किया गया है। राकेश ग्रप्तने इसे वास्तविक नायिकाके रूपमें स्वीकृति नहीं दी-"शृंगारमें प्रेमभावना-का अंकन होता है और सामान्यामे यह भाव रहता ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें उसे नायिका मानना कहाँतक न्यायसंगत है। वस्तुतः इसको बहुत कम महत्त्वका भेट लेखकोंने माना भी है, अधिकांशने बहुत संक्षेपमें इसका जल्लेख किया है" (स्ट० इ० नाय० ना० भे०, भा० ३: अ०२)। रूपगोस्वामी तथा सरदासने वैष्णव प्रभावके कारण इसे स्वीकार नही किया, शारदातनय तथा कुमारमणिने केवल रसाभासका आलम्बन माना है। दासने स्पष्टतः सामान्याको नही लिया है, उनकी साधारण नायिका भिन्न है-"जामे स्वकीया परकीया रौति, न जानी जाय" (शृं० नि०, २८)। केशवने विभाजनमें उल्लेख करके ही छोड दिया है। जिन कवियोने इसका उदाहरण दिया है, उन्होंने भी इसकी धनलोलपता तथा स्वार्थपरताका ही विशेष उल्लेख किया है—"नायक नवल क्यो न देय धन मन ऐसे ? सुतनुकौ सुतनु अतनु धन पाइकै" (मतिराम: र॰ रा॰, ९५), अथवा-"चीकनी चितौनी चारु चेरे करि चतुरनि, वित लियो चाहै चित लियो है चुराइके" (देव: भा वि०,: नायिका०)। साथमे उसकी मंगिमाओंका वर्णन भी हुआ है- "छाजति छबीली छिति छहरि छराकी छोर, भोर उठि आई केलि मन्दिरके द्वारपर। एक पग भीतर सु एक देहरीपै धरै, एक कर कंज एक कर है किवारपर" (पद्माकर : जगद्धि ०, भा० १ : १२३) । रहीमने गणिकाकी सुन्दर भावाभिव्यक्ति अंकित की है- "तब लगि मिटहि न मितवा, तनकी पीर । जौ लगि पहिरि न हरवा, जटित सुद्दीर" (ब॰ नायिका॰, ७०)। भेद-विस्तारके लिए दे० 'नायिका-भेद'। साम्हिक चेतना (collective psyche) - यह आधु-

निक मनीविज्ञानके लाक्षणिक पद 'कलेक्टिव साइके'का पर्याय है। सी० जी० युंग नामके वर्तमान रातीके प्रसिद्ध जर्मन विरलेषणात्मक मनोतेज्ञानिकने इसे खूव प्रसिद्धि दी है। उसने लिखा है कि वह सारी चेतना जो व्यक्तिविशेषकी न होकर एक ही कालमें अनेकानेक व्यक्तियो अथवा व्यक्तिसमुदाय—समाज, राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव जाति—की सम्पत्ति हो, सामृहिक चेतना है। राज्य, धर्म, विज्ञान आदि सम्बन्धी व्यापक धाराएँ भी सामृहिक चेतनाके अन्तर्गत है। ईसामसीहको शूलो देनेके अयशके भागी केवल वे चन्द व्यक्ति नहीं, जिन्होंने प्रत्यक्षतः इस काण्टमें भाग लिया था। इस कुकृत्यका मूल तत्कालीन सामृहिक चेतनामे हॅटना चाहिये, जो परम्पराकी एकता और अपरिवर्तनशोलताके भावसे भावित थी तथा तिहरोधी सभी वातोको पापमूलक समझती थी। नये मूल्योको स्थापनाके सारे प्रयत्नोंको सामृहिक चेतनासे लोहा लेना पडता है।

एक बात और है। प्रायः देखा जाता है कि समाजविशेषकी दार्शनिक, राजनीतिक, साहित्यिक मान्यताओं मे तो
परिवर्तन आ भी जाता है, किन्तु सामूहिक चेतना अञ्चण्ण
रहती है। परिणाम यह होता है कि काल-क्रमसे या तो
नयी मान्यताएँ अत्यन्त निर्वर्ण अथवा नष्ट हो जाती है या
उनके क्रान्तिकारी रूपका लोप हो जाता है और वे सामूहिक
चेतना द्वारा श्राह्म रूपमे परिणत हो जाती है। शायद वौद्ध
धर्म इस नियमका एक अच्छा निदर्शन है। उसका अधिकांश
रूप तो सामूहिक चेतनाको अग्राह्म होनेसे नष्ट हो गया,
कुछ अंश शांकर और प्राक् शांकर वेदान्त द्वारा आत्मसात्
कर लिया गया और शेष विकृत होकर तन्त्र-परम्पराका अंग
बन गया।

सामृहिक मनोद्शा—केवल कल्पनाएँ, धारणाएँ और दृष्टिकोण ही सामृहिक नहीं हो सकते, भावना, और आवेग भी होते हैं। लेवी बुह्नके अनुसार तो आदिम जातियोंके लिए सामृहिक प्रत्यय या विचार भी सामृहिक भावनाओका ही प्रतिनिधित्व करते हैं। सभ्य मनुष्यमे भी केवल सामृहिक विचार ही नहीं पाये जाते, सामृहिक भावनाएँ भी पायी जाती हैं। सभ्य समाजके बड़े भागके लिए ईश्वरकी सत्तामें विश्वास चिन्तन-जन्य न होकर प्रायः भावना-जन्य ही होता है। इसी प्रकार मातृभूमिकी कल्पना तत्त्वतः भावनात्मक ही है। सामृहिक भावना, आवेग आदिके लिए ही सामृहिक मनोदशा (कलेक्टिव ऐटीच्यूड) पदका प्रयोग होता है।

पदका प्रयाग हाता ह । —ह ० ना० सामूहिक मानस (group mind)—चेतना मानसकी किया है और मानस वैयक्तिक होता है, अतः चेतना भी वैयक्तिक हो होती है, परन्तु मनोविज्ञान और सामान्य अनुभव यह प्रमाणित करता है कि समूहमे एकत्र विभिन्न व्यक्तियोकी चिन्तना और कार्य-प्रणाली एक व्यक्तिकी चिन्तना और कार्यप्रणालीसे भिन्न होती है। मनुष्य एक समाजका सदस्य है और बहुतसे काम उसे सामूहिक रूपसे करने पडते है। उदाहरणके लिए तथा तमाशा देखनेकी एकत्र भीडकी सामृहिक प्रवृत्ति उत्तरदायित्वहीन, चंचल तथा अत्यधिक संवेगशील होती है। उस भीड़मे बहुतसे उत्तर-दायित्वका अनुभव करनेवाले, विचारशील व्यक्ति होगे, परन्त

समूहमें आकर उनकी मनोवृत्ति भी समूह-जैसी हो जाती है। अतः मनोवैज्ञानिक मानते है कि सामृहिक मानस (group mind) समृहको वनानेवाले व्यक्तिगत मानसींसे भिन्न होता है। यद्यपि उसका निर्माण इन विभिन्न व्यक्तिगत चैतनाओसे ही होता है, पर सामूहिक होनेके कारण उसमें कुछ विशेष गुण आ जाते है। सामूहिक मानसकी चेतना ही सामृहिक चेतना होती है। समृह भी कई प्रकारके हो सकते है-गंगास्नानको जानेवाले स्नानार्थियोकी भीडकी सामृहिक चेनना धर्म और आस्थाप्रधान होगी, सिनेमा-घरके सामनेवाली भीडकी सामूहिक चेतना दूसरे प्रकारकी होगी और विद्यालयके फाटकपर हडताल करनेको एकत्र भीडकी सामृहिक चेतना अन्य प्रकारकी। समृह-विचार-शील भी होते है, समाओं और समितियोंमे सामृहिक चेतना उत्तरदायित्व और विवेचनसे युक्त होनी है। परन्तु सामूहिक मानस चाहे किसी समूहका हो, प्रायः अस्थिर और अन्ध होता है।

सुर्मभ्यवाद् — 'साग्यवाद' शब्द अंग्रेजीके 'कम्युनिज्म'-(communism)का पर्याय है जो लेटिनके 'कम्युनिज्म'-(communis) से ब्युत्पन्न है और सन् १८३४—१८३९ ई॰ में पेरिमके ग्रुप्त क्षान्तिकारी संघटनों द्वारा गढा गया था। कार्ल मार्क्स और फ्रेडिरिक एंग्लिसने इम शब्दका बहुधा प्रयोग किया है, यहाँतक कि उनकी विचारधाराके लिए यह शब्द रूढ हो गया है, यद्यपि उनकी कृतियोंमें 'कम्युनिज्म' और 'सोशलिज्म' (समाजवाद) प्रायः पर्याय-रूपेण ही प्रयुक्त हुए है। उनकी विचारधारासे प्रभावित श्रमिक दल अपनेको समाजवादी या सामाजिक लोकतन्त्र-वादी (social democrat) कहकर पुकारते रहे, किन्तु लेनिनने अपने क्षान्तिकारी आन्दोलनको सन् १९१८ ई॰ मे समाजवादी आन्दोलनसे विच्छित्र कर अपने दलको साम्यवादी कहना आरम्भ किया। तबसे साम्यवाद शब्दका व्यापक प्रयोग होने लगा है।

वैयक्तिकके बदले सामृहिक अथवा सार्वजनिक उत्पादन, प्रवन्ध और उपभोगके सिद्धान्तपर आधारित समाज-व्यवस्था साम्यवादी समाज-व्यवस्थाके नामसे प्रसिद्ध है। समाज-वाद(दे०)में प्रायः केवल उत्पादनके साधनोंका सामाजी-करण होता है। समाजवाद प्रायः शान्तिमय तथा लोक-तान्त्रिक उपायोसे क्रान्ति करनेके पक्षमें है, जब कि साम्यवाद एतदर्थ बलके प्रयोगमे अधिक विश्वास करता रहा है। आजकल साम्यवादी प्रायः समाजवादको क्रान्तिका प्रथम सोपान तथा साम्यवादको अन्तिम सोपान मानते है।

अफलातूनने अपने आदर्श समाज (republic) मे केवल शासक वर्गके लिए साम्यवादी ढरेंकी व्यवस्थाका विधान किया था। तवसे लेकर आधुनिक युगतक अनेक धर्माचार्यी, सुधारको और विचारकोने पूरे समाजके लिए अपने-अपने ढरेंके साम्यवादका विधान किया है। लेकिन परिवारों तथा विशेष प्रकारके आश्रमों और मठोको छोड़कर साम्यवादका विधान किया है। लस और चीन जैसे देशोंमे मी, जहाँ साम्यवादी सशस्त्र कान्ति करनेमे पूर्णतया सफल रहे हैं, स्वयं उन्हींके कथनानुसार अभी साम्यवादी व्यवस्थाकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है। हस अभी

समाजवादके सोपानने गुजर रहा है। हॉ, कुछ नृतत्त्व-शास्त्रिथोने यह कल्पना अवस्य की है कि साम्यवाद ही, जिसे प्रकृत रूपमे 'आदिम साम्यवाद' (primitive communism) कहा जाता है—मानव-समाजका आदिम रूप था, किन्तु अन्योंके अनुसार आदिम मानव-समाज सहकारिता (cooperation) पर आधारित था, न कि साम्यवादपर।

साम्यवादी विचारधाराका चरम विकास वार्क्सवाद-(दे०)में देखनेको मिलता है। मार्क्सका दर्शन 'इन्झात्मक भौतिकवाद' (दे०)के नामसे प्रसिद्ध है।

साम्यवाद समाजमे शोषक और शोषित, बुर्जुआ और सर्वहारा, पूँजीपति और श्रमिक, इन परस्पर संवर्षरत दो वर्गोंकी सत्ता मानता है। साम्यवादकी स्थापना शोषित वर्गके हाथों शोषक वर्गके ध्वंसपर होगी। अतः साम्यवादियोका कहना है कि कान्तिकी गति तीव करनेके लिए हर सम्भव उपायसे शोषित वर्गके हाथ मजबूत करने चाहिये। इस कार्यमें सहयोग देनेवाला क्रियाकलाप प्रगतिशील और अन्य क्रियाकलाप प्रतिक्रियावादी है। सार्ब्रियपर भी यही नियम लागू है।

साम्यवादका साहित्यिक रूप प्रगतिवाद (दे०)के नामसे प्रसिद्ध है। प्रगतिवादकों सुख्यतः रूसके समाजवादी साहित्यकारो, विशेषतः कथाकारोते प्रेरणा मिली है। साम्यवादी साहित्य-दर्शनका प्रथम व्याख्याता गोकींको समझना चाहिये। मार्क्स और एंगिल्सने फान्सीसी उपन्यासकार वाल्जाकको भूरि-मूरि प्रशंसा की है। अतः साम्यवादियोंने वाल्जाकसे भी पर्याप्त प्रेरणा ली है। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद (दे०)में विश्वास करता है और साम्यवादी क्रान्तिका पथ प्रशस्त करनेके लिए साहित्यको एक औजारके तौरपर इस्तेमाल करता है।

हिन्दीमे सर्वप्रथम 'हंस'मे प्रकाशित रचनाओ द्वारा साम्यवादका प्रवेश हुआ । फिर धीरे-धीरे कहानी, कविता, उपन्यासके क्षेत्रोंमें अनेक नयी प्रतिभाओंका उदय हुआ, जिन्होंने साम्यवाद अथवा प्रगतिवादकी हिन्दीकी एक सशक्त प्रवृत्ति बना दिया। सन् १९३६ ई०मे 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'को स्थापना हुई, जिसका स्वागत प्रेमचन्द और जोश मलीहाबादीके साथ-साथ रवीद्रनाथ ठाकुरने भी किया और उसमे सक्रिय भाग भी लिया। सन् १९३५-४० ई०के बीच छायावादी कवितामें हासोन्मखता(दे०)के लक्षण दिखाई देने लगे थे, फलतः प्रगतिवादकी ओर लोगोंका ध्यान गया और हिन्दी कविताकी हासोन्मुखताका युग समाप्त हुआ। सुमित्रानन्दन पन्त, 'दिनकर', 'नवीन' और 'निराला' जैसे कवियोपर भी इस नये आन्दोलनने जादका असर किया और उनसे साम्यवादी आदर्शीका यशोगान कराया । प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार) माथुर जैसे व्यक्ति-केन्द्रक-प्रवृत्तिके कवि भी प्रगतिवादसे अप्रभावित न रह सके । अनेक छायावादी ढरेंके तरुण कवि भी प्रगति-वादके झण्डेके नीचे आये, जैसे शम्भुनाथ सिंह, 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल' आदि । नरेन्द्र २ मी, शिवमंगल सिंह 'समन', केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रगतिवादी किवयोंमें अग्रगण्य है। प्रगतिवादने कई उपन्यासकार भी हिन्दी साहित्यको दिये, जिनमें राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन प्रमृतिके नाम उल्लेखनीय है। प्रेमचन्दके 'गोदान'को भी प्रगतिवादी प्रवृत्तिका ही माना जाता है।

साम्यवाद अथवा प्रगतिवादका जो सबसे न्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्यपर पड़ा है, वह है साहित्यकी सामाजिक परिणित (social orientation), अर्थात प्रगतिवादके कारण हिन्दी साहित्यमें सामाजिक आयामोंका विकास हुआ है, यथार्थवाद पनपा है, जीवनवादको तरजीह मिली है, मानववादका प्रचार हुआ है, रूढि, शोषण तथा अत्याचारका विरोध हुआ है और शोषितको सहानुभूति मिली है। यदि प्रगतिवाद प्रत्यक्ष विदेशी प्रभावसे मुक्त होता तो सम्भवतः हिन्दी साहित्यमे उसका जीवन-काल और लम्बा होता।

प्रगतिवादने हिन्दीमें एक नयी समीक्षा-पद्धति भी विक-सित की है। प्रगतिवादी समीक्षकोमें शिवदान सिह चौहान, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, अमृतराय और प्रकाश-चन्द्र गुप्तके नाम प्रसिद्ध हैं।

सिहायक ग्रन्थ हिस्टरी ऑव सोशलिस्ट थॉट: जी० डी॰एच॰ कोलः; कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो : मार्क्स तथा एंगिल्सः आर्थ एण्ड भोशल लाइफः प्लेखनॉव ।] सार १ - मात्रिक सम छन्दका एक भेदें। मानुके अनुसार इसके प्रत्येक चरणमे २८ मात्रा १६, १२की यतिसे और अन्तमे २ग (SS) रहते हैं। अन्तमे दो गुरुका नियम कर्ण-मधुरताकी दृष्टिसे रखा गया है, अन्यथा ग तथा र ल भी हो सकता है (छं० प्र०, पृ० ६६)। सरसी(दे०)के समान इस छन्दका प्रयोग भी प्रायः पदशैलीके अन्तर्गत हुआ है। सर, तलसी, नन्ददास तथा मीरॉने इसका महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। छन्दके रूपमे प्रयोग करनेवालोमे केशव (रा० चं०) तथा रघुराज (रा० स्व०) आदि है। सूरने 'सूर-सागर'मे और तुलसीने 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' तथा 'कृष्ण-गीतावली'में सारका प्रयोग सरसी छन्दसे अधिक किया है। विशेषकर टेकवाले पदोंमें इसका प्रयोग किया गया है। यह छन्द पदशैलीके अधिक अनुकूल है, प्रमुखतः जहाँ घटनामे अथवा भावाभिन्यक्तिमे द्रुत गति होती है। सूरने मानलीला-प्रसंगमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है, उदा०—"पायी पायी है रे मैया, कुंज कुंजमें ठाली" (सू० सा०: सभा सं०, पद ११२१) तथा- "जस आमय भेषज न भीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी" (वि० प०, प० १२२)। सार २-जन्मोत्सवका गीत; छठीके दिन गाये जानेवाले जच्चाके विभिन्न गीतोंमेसं एकः जच्चा या बच्चेकी सार, तेल-उबटन आदिसे सम्बद्ध; सार नामका २८ मात्राओका एक छन्द भी होता है और एक वर्ण-वृत्त भी जिसे ग्वाल सार (उदार) - एक शृंखलामूलक अर्थालंकार, जिसमें सुशंखिलत रूपमें आये हुए पदाथोंमे पूर्व-पूर्ववर्णित पदाथौं-की अपेक्षा उत्तरोत्तरकथित पदार्थोंमें उत्कर्ष एवं अपकर्षका वर्णन होता है। रहिट झारा स्वीकृत (काव्यालं०, ७: ९६)

इस अलंकारका लक्षण मम्मटके अनुसार-"उत्तरीत्तर-

मुत्कर्षो भवेत्सारः पराविधः" (का० प्र०, १०: १२३) है, अर्थात् उत्तरीत्तर पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ उत्कर्ष-वर्णन । विद्वनाथने 'पराविध'को छोडकर इसीको स्वीकार कर लिया है (सा० द०, १०: ७९)। जगन्नाथने उत्कर्षके साथ उत्तरीत्तर अपकर्षके वर्णनमें तथा एक ही वस्तुके उत्कर्ष वर्णनमें मी (सार) अलंकार माना है (र० गं०, पृ० ४६५)। रुय्यकने 'अलंकारसर्वस्व'में इसे 'उदार' नामसे लिया है।

हिन्दी साहित्यमे 'कुवलयानन्द' के अनुसार 'भाषाभूषण' में इसका लक्षण है और रीतिकालीन आचार्योंने 'उत्तर उत्तर उत्तर उत्तर (मितराम तथा भूषण) अधिकतर माना है। कुलपित मिश्रने अपने 'रसरहस्य' में इस अलंकारकी परिभाषा मम्मटके अनुसार दी है—"अधिक बडाई अन्तत्क, आगे आगे होय। पिछलेते जह सार करि, सार बखानें सोय"।

सोमनाथने अपने 'रसपीयूषनिधि'में इसका उदाहरण दिया है—"हीरनि हूर्ते विमल अति सरद जोन्ह कहि लेत । ताहूसो परताप सुनि तेरी कीरनि सेत" । इसमें पूर्वविणत वस्तुकी अपेक्षा उत्तरोत्तरकथित वस्तुका उत्कर्ष दिखाया गया है । अपकर्षका उत्तरोत्तर वर्णन रहीमके इस प्रसिद्ध दोहेमें हैं—"रहिमन वे नर मर चुके जे कहुं मॉगन जायँ। उनते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहिं"।

इस अलंकारके 'उदार' तथा उत्तरोत्तर' नाम और दिये गये हैं। चिन्तामणिने 'चन्द्रालोक'के आधारपर—"जहां कौन हूं बातमें कछू वरनिये सार। सो उत्तर उत्तक्षं यों'- को सार मानकर उदारको पृथक् अलंकार माना है। पद्माकरने 'गुन ही सों के दोषसों के दुहुँसों' उत्कर्षको मानकर इसके तीन मेद किये हैं। गुण तथा दोष, दोनों रूपोंमे उत्कर्षवर्णनका उदाहरण यह दिया है—"कठिन काठते अति कठिन या जगमें पाषान। पाषान हू ते कठिन ये, तेरे उरज सुजान" (पद्मा०, १८२)। इस अलंकारके प्रयोगमें उक्ति-वैचित्र्यका सहज आकर्षण है। रीतिकालके अन्य कविनोंमें रहीम, रसलीन, बिहारी तथा नन्दराम आदिने इसका सुन्दर प्रयोग किया है।

कारणमाला, एकावली और सार, इन तीन अलंकारोंमें यद्यपि शृंखलाविधानकी समानता होती है, किन्तु इनमें सृक्ष्म अन्तर है। कारणमालामें 'कार्य-कारण'का, एकावलीम 'विद्येष्य-विद्येषण'का और सारमें 'उत्कर्षापकर्ष'का सम्बन्ध होता है। —वि० स्ना० सारछंद-वर्णिक समवृत्तका एक भेदः 'प्राकृतपैंगलम्'में सारवती नामका छन्द है, जिसकी—''दीह लहू जुअ दीह लहु' परिभाषा दी है। यह मात्रिक सारछन्द १६, १२ अन्त गुरुसे भिन्न है; इसके प्रत्येक चरणमें एक गुरु और एक लघु होता है। केशवने प्रयोग किया है—"राम, नाम, सत्य, धाम" (रा० चं०, १:९)। सारवती-वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद; तीन भगणो और गुरुके योगसे यह छन्द बनता है (SII, SII, SII, S)। 'प्राकृतप्रेगलम्' (२: ९४)में यही नाम है, पर जयकीनि (छन्दो० २: ८९) और हेमचन्द्र (छन्दो० २: ११३) ने वित्रगीत नाम दिया है। केशवदासने इस छन्दका प्रयोग ं किया है—"मोंहि चलौ बन संग लिये। पुत्र तुम्हैं हम

देखि जिये। औधपुरी महँ गाज परै। कै अब राज भरत्थ करैं" (रा० चं०, ९:१०)। सारूप्य-निबंधना -दे० 'अप्रस्तुतप्रशंसा', पॉचवॉं भेद। सारोपा लक्षणा-लक्षणाका एक प्रकार: इसमें विषयी, अर्थात् आरोप्यमाण (जिसका आरोप किया जाय) और विषय अथवा आरोपका विषय, दोनोका शब्दशः प्रतिपादन किया जाता है-"सारोपाडन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषय-स्तथा' (का॰ प्र॰, २: ११) । विश्वनाथके अनुसार विषय तथा विषयीकी इस प्रकारकी माहदयप्रतीति, जिममें विषय-वरत आरोपिन की जानेवाली वस्तसे निगीर्ण (निगली) न की जाय (मा० द०, २:८)। वस्तुतः इस लक्षणामें विषयी और विषय, दोनोका शब्द द्वारा कथन किया जाता है। पृथक शब्दो द्वारा कही गयी दो वस्तुओंकी, एक वस्तु-के स्वरूपकी दूसरी वस्तुमे तादातम्यप्रतीतिको आरोप सम-झना चाहिये। इसके दो भेद है-गौण सारोपा तथा शुद्ध सारोपा। गौग सारोपाका उदाहरण है—'वाहीक बैल है'। यहाँ वाहीक(गॅवार)मे बैलका आरोप है। यहाँ 'वाहीक' आरोपका विषय है और 'बैल' आरोप्यमाणका। दोनोंका स्पष्ट शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा लक्षणा है और साहरय-सम्बन्धसे लक्षणार्थके ग्रहण किये जानेमे गौणी भी है। वाहीकमें मूखर्ना आदिका सूचन करना प्रयोजन होनेसे प्रयोजनवती लक्षणा भी है। रूपक अलंकारमे यही लक्षणा अन्तर्भृत रहती है। झुर्द्ध सारोपा (उपादान)का उदा०-'वे माले आ रहे हैं'। यहाँ माले 'विषयी' तथा भालेवाले पुरुष 'विषय' है। दोनोंका शब्द द्वारा कथन है, 'वे' सर्व-नामसे पुरुषोंका कथन है। अतः सारोपा है। लक्ष्यार्थ-मुख्यार्थ एक साथ लगे होनेसे उपादान तथा धार्यधारक सम्बन्ध रहनेसे शुद्धा लक्षणा है। शुद्ध सारोपा(लक्षणा)का उदा॰—'घी' आयु है, (आयुर्धृतम्)। 'घी' आरोपका विषय तथा 'आयु' आरोप्यमाण है। कार्य-कारण-सम्बन्ध होनेसे ज्ञुद्धा है, 'आयु' ज्ञाब्दने अपना अर्थ छोड दिया है, इस कारण लक्षण-लक्ष्मणा है। 'आयु' तथा 'घी'मे अभेद-आरोप होनेसे सारोपा लक्षणा है। 'आयु' शब्दने अपना मुख्यार्थ पूर्णतः छोडा नहीं है, इसलिए लक्षण-लक्षणा भी है। सावन हिंडोला-प्रायः उन सभी गीतोंके लिए प्रयुक्त शब्द

सावन हिंडोला—प्रायः उन सभी गीतोंके लिए प्रयुक्त शब्द है, जो सावनमे स्त्रियों द्वारा झ्लेपर बैठकर गाये जाते हैं। 'बारहमामी' अथवा 'चौमामा' गोन भी इनके अन्तर्गत आते हैं। ब्रजमें इन गीतोंकी बहार है। श्रृंगारपरक भावनाओंसे भरे हुए ये गीत कहीं संयोगकी अभिव्यक्तिसे सिक्त है, तो कहीं वियोगकी व्यथासे भरे हुए। —र्या०प० सास—नाथों और सन्तोके साहित्यमे कई अथौंमें इस शब्द-का प्रयोग हुआ है। सिद्धोमे तो परिशुद्धावधूनी(दे० 'हठ-योग')को वधू माना जाता था। श्वासनिरोधकी साधनासे अर्थ लिया जाता था सासको मारनेका और ननद और साली आदि वासना तथा संमारजालकी प्रतीक थीं। काण्हपा अपनी 'कापालिकचर्या'में (दे० चर्यापदः प्रवोध-चन्द्र बागची) सास, ननद, साली आदिके मारनेका उपदेश देते हैं। नाथपन्थी बानियोंमें कुम्भक समाधि द्वारा मिणपूर चक्रमें स्थित प्राण और अपान वायुको सास और

ससुर माना है। कहीं कहीं सासके अर्थ सुरित और ससुरके अर्थ शब्द भी है (दे०—गोरखवानी: पीताम्बरदत्त बड़- थवाल)। सन्नोके साहित्यमें भी सास-ननदका अर्थ माया और वासना है। पलदू लिखते है कि "सास ननदको मार अदल में दिहा चलाई" (प० सा० बा०)। मीरॉके एक पदमें सुपुम्नाको भी सास कहा गया है—"सासु हमारी सुषुमना रे, सुसुरी प्रेम सन्तोष रे" (मीरॉ: दृ० प० सं०)।

—४० वी० भा०

साहित्य—साहित्य = सहित + यत् प्रत्ययः; 'साहित्य'का अर्थे हैं शब्द और अर्थका यथावत् सहभाव, अर्थात् 'साथ होना'। इस प्रकार सार्थक शब्दमात्रका नाम 'साहित्य' है। साहित्यको यह परिभाषा अत्यन्त न्यापक है और इसमे मनुष्यको सारी बोधन और भावन-चेष्टा समाविष्ट हो जाती है तथा समस्त ग्रन्थसमूह 'साहित्य'के अन्तर्गत आ जाते हैं। साहित्य मनुष्यके भावों और विचारोकी समष्टि है।

प्राचीन प्रयोगोसे यह स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द मूल रूपमें 'शास्त्र'के अर्थमें प्रयुक्त होता था, परन्तु बादमे 'काव्य'के लिए भी इस शब्दका प्रयोग होने लगा। भर्त-हरिने 'साहित्य, संगीत, कला'की त्रयीमे 'साहित्य'को काव्यका समानार्थक माना है। भर्तहरिका समय ६५० ई०के लगभग माना जाता है। अतः ईसाकी सातवी शताब्दीमे 'साहित्य' शब्द काव्यके लिए प्रयुक्त होने लगा था। इसी समयके लगभग भामहने 'कान्यालंकार'मे 'शब्दार्थों सहितौ काव्यम्' (१: २६) लिखकर इस प्रयोग-की पृष्टि की। राजशेखर(१०वी शताब्दी)ने "शब्दार्थ-योर्थथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या" (का० मी०, पू० ५) कहकर इस परिभाषाको और भी विस्तृति दी है। अन्य शास्त्रोंमें जहाँ शब्द विषय-प्रतिपादकमात्र होता है, वहाँ कान्यमे शब्द और अर्थका परस्पर सहितभाव (साहित्य), विरुक्षण, आह्वादक और कवि द्वारा विवक्षित, अर्थात् ईप्सित होता है। कुन्तकने 'वक्रोक्तिजीवित' (१:१७)मे इस प्रसंगमें कहा है-"साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः", अर्थात जिसमे शब्द और अर्थ, दोनोंकी अन्यूनानतिरिक्त, परस्पर स्पर्धापूर्वक मनोहारिणी, इलाघनीय स्थिति हो, वह साहित्य है। इस प्रकार शब्द और अर्थका तुल्यकक्ष सह-भाव काव्यमें ही होता हैं और इसलिए उसीमे साहित्य शब्दको सार्थकता प्राप्त होती है। इसी सन्दर्भमें 'साहित्य-शास्त्र'से काव्यशास्त्रका ही बोध होता है।

जपरकी विवेचनामें साहित्यकी अभिन्यंजनामूलक ग्याख्या ही प्रस्तुत होती है, साहित्यके आभ्यन्तर और उसके हेतुपर कोई प्रकाश नहीं पडता। मारतीय साहित्य-विवेचनमें साहित्यकी रसमूलकताका आग्रह है और उसे लोकोत्तर आनन्दका विषय कहा गया है, परन्तु समाज, साहित्य और साहित्यकारके न्यक्तित्वसे उसका अन्तराव-लम्बन स्थापित नहीं किया गया है। पिरचमी साहित्यमें इन पक्षोपर विचारकी एक लम्बी परम्परा है, जो प्लेटोसे क्रॉडवेलतक चलती है। साहित्यको समाजधर्मी बनाकर पिरचमने रस-बोधकी न्यक्तिगत एवं मनोनिष्ठ प्रक्रियाको समष्टिमूलकता दी है। 'स्वान्त-सुखाय' और 'स्वान्तस्तमः- शान्तये' कहकर तुल्सीने 'मानस'में साहित्यके व्यक्तित्व-परिष्कार और रस-बोधके नत्त्वोको ही प्रधानता दी है तथा 'सुरसिर सम सक्कर हित होई'में साहित्यकी सामाजिकता भी उन्हें स्वीकृत है। अतः साहित्यकी विवेचना केवल अभिग्यंजनापक्ष, शब्दार्थके सहभाव अथवा आभ्यन्तर रसपक्षको लेकर नहीं की जा सकती, उसकी सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक उपयोगितापर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

साहित्य और समाजके पारस्परिक सम्बन्धको लेकर प्राथमिक विवेचना हमे श्रीक इतिहासकार हेरोदोतसमे मिलती है। समाजपद्धतिका मानव-चेतना और मनुष्यके लोकव्यवहारपर क्या प्रभाव पडता है, इसके सम्बन्धमें उसने विस्तारपूर्वक विचार किया है, परन्तु इस विषयमे विस्तृत साहित्यका सर्जन १९वी शताब्दीमे टेनकी रचनाओं-में होता है, क्योंकि साहित्य और समाजकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका उपयोग समीक्षकको अपेक्षा इतिहास-कारके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्नीसवी शताब्दीमे ही साहित्यके इतिहासलेखनको वैज्ञानिकता मिली और साहित्य समाजके अन्तरावलम्बनको लेकर विशद विवेचन सामने आया। टेनका कहना है कि किसी भी युगकी सांस्कृतिक अन्वितिका अध्ययन "जाति-धर्म, युग-धर्म और सामयिक प्रवृत्तियों" (ल रेस, ल मिलियो एत ले मोमेन्त)के समीकृत अध्ययनसे हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण शास्त्र किस्टोफर कॉडवेलका ग्रन्थ 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी: ए स्टडी ऑफ द सोसेंज ऑव पोइटी' (१९३७) है, जिसमे साहित्यके समाजगत और मनोविज्ञान स्रोतोकी शोध हुई है। कॉडबेलका मूल विषय काव्य-विकासके स्रोतो तथा काव्यकी प्रकृति और उसके विकासकी सरणियोंका उद्घाटन है, परन्त उसने इतिहासकारके दृष्टिकोणको अपना-कर इन विषयोंपर विस्तृत सूचनाएँ प्रस्तृत की है, जो इस विकासके क्रमागत स्वरूप-निर्माणके साथ स्थान-स्थानपर तत्सम्बन्धी धारणाओंका भी निर्माण करती है। इसमे सन्देह नहीं कि साहित्यके सामाजिक मूल्योंके अध्ययनसे हम किसी भी साहित्य-सम्पत्तिको सम्पूर्णतः विश्लेषित नही कर सकते, परनत साहित्यिक और सामाजिक आन्दोलनों एवं संस्थाओंके सम्बन्धोके विषयमे निश्चय ही हमारे शान-की बुद्धि होती है। 'रेल्फ फ़ाक्स'के ग्रन्थ 'द नावेल एण्ड द पीपुल' (१९३७) और एलिजवेथ मनरोकी रचना 'द नावेल एण्ड सोसाइटी' (१९४१)में इस प्रसंगपर नवीन प्रकाश डाला गया है।

वास्तवमे पृष्ठभूमिके रूपमें सामाजिक अवस्थाका निरूपण सभी इतिहासोंमें रहता है और विशिष्ट प्रकारके साहित्य अथवा वर्गाय साहित्यमे सामाजिक प्रभावको बराबर प्रतिफल्ति किया जाता है, जैसे तुलसी-साहित्यकी पृष्ठभूमिमें तुलसीके युगका विवेचन अनिवार्य समझा जाता है। कथासाहित्यकी विवेचनामें सामाजिक परिवेश कुछ अधिक महत्त्व ग्रहण कर लेता है। यदि समाज और साहित्यमें अनन्य सम्बन्ध है, तो यह आवश्यक है कि उनके निरन्तर प्रवाहका विवेचन हो और परस्पर संघात एवं अन्तर्गुलल्यनके सुक्ष्म सिद्धान्तींका स्पष्टीकरण हो। कुछ

शताब्दियों अथवा युगोंके विशिष्ट साहित्य-समाजका अन्तरावलम्बित अध्ययन अवश्य प्रस्तुत हुआ है, परन्तु न तो यह अध्ययन इतना विशद है, न इतना तलस्पशीं कि हम उसके आधारपर अकाट्यसत्योकी स्थापना कर सकें।

समाजधमीं साहित्यिक अध्ययनके दो पक्ष हो सकते है—रचनापर समाजका प्रभाव और समाजपर रचनाके प्रभावका मृल्यांकन । साहित्यके ऊपर सामाजिक सन्दर्भको स्थापित करना कठिन कार्य है, क्योंकि इसके लिए जिन ऑकडोंकी आवइयकता होगी, वे स्क्ष्म, अनिश्चित और परिश्रमसाध्य है, परन्तु किसी भी उत्कृष्ट रचनापर समाजगत प्रभावका मूल्यांकन अपेक्षाकृत सरल है। साहित्यिक कृतिमे समसामयिक सामाजिक स्थितिकी प्रतिच्छाया अनिवार्य है। अतः प्रदन यह उठता है कि इस प्रतिच्छायाका स्वरूप क्या है और उससे किन सामान्य सिद्धान्तोंकी स्थापना हो सकती है ? परन्तु स्वयं समाजमे अनेक इकाइयों और वर्गोंकी संहति है, जिनमेसे प्रत्येक सम्पूर्ण समाजकी स्थिति और प्रकृतिसे निश्चित रूपसे सम्बन्धित है। इसीलिए यह कही अच्छा है कि समाजके सम्बन्धमं बात करते समय वर्गविशेष या जातिविशेषका उल्लेख किया जाय । यद्यपि इतिहासकार युग-धर्मकी वात उठाते है, परन्त साहित्यके विवेचकोके लिए युग-धर्म अति सामान्य तत्त्व है और वे युगके भीतर चलते हुए अनेक दृष्टिकोणो और प्रवृत्तियोको युग-धर्मके भीतर समेटकर इस जीवनकी विविधता और अनेकरूपताका दर्शन करते है। तुलसी, सूर और केशव एक ही युग-धर्मकी उपज होते हुए भी क्यों भिन्न है, यह उसी समय बतलाया जा सकता है, जब हम कुछ वर्गीय दृष्टिकोणोंके तारतम्यकी परख करे तथा तत्कालीन युग-धर्म (भक्ति)के भीतर चलती हुई अन्य गौण प्रवृत्तियोंके संघातकी ओर ध्यान दें। किसी विशेष युगके समाज या साहित्यकी अन्तर्वतिनी धाराओ और अभिव्यंजना-शैलियोंको अलग-अलग लेकर चलना आवश्यक हो जाता है। साहित्यिक कृति गद्य है या पद्य, महाकान्य है, गीति है या नाटक, उसका शिल्प सरल है अथवा सामासिक, इन श्रेणियोंके विभिन्न मेदामेद सम्भव हैं। फिर, रचना आत्मपरक भी हो सकती है और परन्यंजक भी। लेखक जीवनके प्रति पलायनशील है अथवा जीवनकी विभीषिकाओंसे चुनौती लेता है। चरित्र वर्गीय है या न्यक्तिनिष्ठ; जिस समाज या वर्गका कृतिमे अंकन है, उसके प्रति उसकी निष्ठा किस प्रकार की है, उसके मूलमे. स्वीकृति है या विरोध, आदि अनेक प्रश्नोपर विचार किया जाता है। इतनी उलझनोके बाद एक महान् सत्य यह है कि प्रत्येक उत्कृष्ट रचनामे अनेकानेक आकांक्षाएँ, भावनाएँ, परम्पराएँ और निष्ठाएँ समन्वित रहती हैं और इस तरह असंख्य योगायोग वन सकते है। फलतः सामाजिक परिपार्श्वको तीन वर्गीमे रखा जा सकता है-(१) कला-कौशल, (२) सामाजिक जीवनचर्या, (३) आत्मप्रकाशमयी और आत्मनिष्ठात्मिका प्रवृत्तियाँ। साहित्यके इतिहासकारके लिए इन तीनों वर्गींके अन्तर्गत साहित्यका अध्ययन आव-रंयक हो जाता है। पलायन, स्तीकृति या विरोधके तीन स्त्रोंसे प्रत्येक साहित्य अपने युगसे वंधा है। कला-कौशल-

का साहित्यपर सीधा प्रभाव नहीं पडता, वरन् उसकी अभिन्यक्ति सामाजिक संघटनके माध्यमछे होती है, जो कला-कौशलके विकास द्वारा नियोजित होता है। अलबत्ता, कलाकृतियोके प्रकाशन और प्रसारकी सुविधाएँ भी साहित्यको प्रभावित करती है, परन्तु यह प्रश्न प्रस्तुत विषयसे भिन्न है।

समाजकी स्वस्थ और हासमूलक स्थितिका प्रभाव साहित्यपर पडता है। परन्तु इसी एक आधारपर साहि-रियक कृतिकी फला-समीक्षा असम्भव है, क्योकि हासोन्मुख .फान्सीसी समाजने प्रस्तकी जिस महान् रचनाको जन्म दिया, वह कला-संकेतो एवं अभिन्यजनामे सब प्रकार पुष्ट एवं उत्कृष्ट है। वास्तवमे साहित्य और समाजके सुक्ष्म सूत्रो-की अन्तःप्रक्रियाको सम्यक रूपसे उपस्थित करना कठिन है और किन्ही निर्म्भान्त मूल्योको स्थापना अभीतक नहीं हो सकी है। फिर भी कृतिकी कुछ ब्रुटियों, अतिवादो और विकृतियोको समाजके सन्दर्भमे समझा जा सकता है। लेखक और श्रोतावर्गके बीचमें यदि असन्तुलन है, यदि श्रोतावर्ग कुण्ठायस्त और संकीर्णमना है, यदि उसम कुछ मूलभून सामाजिक निरोध है, तो रचनामे स्वस्थ दृष्टिकोणका अभाव होगा और उसके प्रतीक जीवनसंकीर्णक होगे, जीवनप्रसारक नहीं । परन्त साहित्य और समाजका स्वास्थ्य क्या चीज है और उसके उपकरण क्या है, इन मान्यताओका निर्भान्त निर्माण किये विना हम इस प्रसंग-को परिणति नहीं दे सकते। साहित्यरूप-१. तात्त्विक दृष्टिसे रूपकी स्थिति मानसिक या भावनात्मक है। किसी भी वस्तुका मानसिक अनुभव अनेक तत्त्वोंका एक संघटित आकार होता है। वास्तवमें वही रूप है। दार्शनिकोने वस्तुजगत्मे रूपकी नदवरता, अतः असत्यताको स्वीकार करते हुए भी रूपकी भावनाको नित्य और परम माना है। प्लेटो तो मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुओके रूपको भी नित्य मानता है (रिपब्लिक, १०)। कला-कृतियोके रूपका आदि स्रोत भी इस प्रकार मानव-मन ही है।

परन्तु रूप क्या है? इस प्रइत्पर गम्भीरतापूर्वंक विचार करनेसे आज भी अरस्त्की यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि रूप किसी वस्तुके अस्तित्वका वह आभ्यन्तर कारण है, जिसके द्वारा उस वस्तुके उपादान (मैटेरियल)को आकार प्राप्त होता है (मैटाफिजिक्स)। इस सिद्धान्तके अनुसार कलाकृतिमे भी रूपका तात्पर्य उन समस्त तत्त्वोसे समन्त्रित, संघटित आकार है, जिससे उस कृतिके विशिष्ट गुणोंका निश्चय होता है। इन तत्त्वोमे अर्थ और अभिन्यंजनाके साथ वह उपादान भी सम्मिलित है, जिसे अर्थ और आकार दिया जाता है।

साहित्यकार अपने उपादान—भाषाको जो रूप प्रदान करता है, वह पहले उसके मनमे उठा हुआ अम्पष्ट, रूपहीन विचाराभास होता है। इसी विचाराभासने कृतिकारको रचनाकी प्रेरणा मिलती है और जब विचाराभास स्पष्ट अनुभव या विचार बन जाता है तभी कहा जा सकता है कि उसे रूप प्राप्त हो गया है। इस तात्विक अर्थमें रूप अभिव्यंजनासे भिन्न है, क्योंकि रूप तो वह सिद्धान्त है,

जिसके द्वारा उपादानको आकार मिलता है और इस कारण रूप और उपादानका सामंजस्य पृथक्करणकी सम्मावनासे परे है, परन्तु अभिन्यंजना चाहे कितनी भी पूर्ण क्यों न हो, उसके आधार और आधेयमें इतनी एक-रूपता नही आ सकती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साहित्यमें अभिन्यंजनाका स्थान निम्न है। अभिन्यंजना-वादियोंकी बात छोड दें, तब भी साहित्यमें अभिन्यंक्तका तत्त्व अत्यन्त मृत्यवान् है, क्योंकि उसीके आधारसे उपादान-पर आरोपित रूपका अनुभव प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रूप और शैलीमें भी अन्तर है। शैली वह प्रक्रिया है, जिसमें हम किसी वस्तुको समाविष्ट देखते है। रूपका सम्बन्ध वस्तुसे होता है, प्रक्रियासे नही। शैली बदली जा सकती है। किसी साहित्यिक कृतिकी शैलीको हम तभी पहचान सकते है, जब यह जान लें कि वह प्रक्रियाओंको मूर्त करनेका एक तत्त्वमात्र है तथा उस वृत्तिको दूसरे ढंगसे, दूसरी शैलीमे भी प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी प्रक्रियाको समझ लेंने तथा कृतिको उसमें प्रतिष्ठित कर लेंनेके बाद रूपात्मक तत्त्व और शैली-तत्त्वमें अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुको वस्तुके रूपमे देखकर जिसे हम रूपतत्त्व कहते हैं, वही वस्तुको समाविष्ट करनेवाली प्रक्रियाकी दृष्टिसे देखनेपर शैलीतत्त्व कहलाता है।

साहित्यमे रूप और उपादानकी अभिनन परिणतिकी व्याख्या करते हुए कुछ आलोचकोने उसके अंगीय (ऑर-गेनिक) या नैसर्गिक होनेपर जोर दिया है। टी० एस० इलियटने उन साहित्यरूपोंको जो स्वभावतः किसी रचनाके सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होते है, भाषा-विशेष, काल-विशेष और कवि-विशेषसे सम्बद्ध किया है। जो रूप एक भाषाके लिए खाभाविक है, वही दूसरीके लिए यान्त्रिक और कृत्रिम लगता है; जो रूप किसी काल-विशेषमें उपयुक्त होता है, वही कालान्तरमे अपनी उपयुक्तता खो बैठता है। इसी प्रकार एक प्रतिभाशाली कवि जिस रूपको अपनी रचनाके उपयुक्त बना लेनेमे समर्थ होता है, दूसरा कवि, जो केवल बने-बनाये सॉचेमे अपने भाव उँडेलनेमात्रकी योग्यता रखता है, उसी रूपको निरर्थक बना डालता है। अतः साहित्यमें रूपकी समस्या वस्तुतः अर्थ और आकारगत तत्त्वोंको इस प्रकार स्वाभाविक ढंगसे मिला देनेकी समस्या है कि दोनोंमें सम्पूर्ण संगति और समरूपता दिखायी दे।

२. रूपकी इस तात्विक विवेचनाके उपरान्त रूपके ज्यावहारिक पक्षका उल्लेख भी आवश्यक है, जिसमे रूप प्रकार, विधा या भेदके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टिसे साहित्य अनेक रूपोंमें हमारे सम्मुख आता है। इन रूपोंको कई प्रकारसे वगीकृत करनेके प्रयत्न किये गये है।

साहित्यको वर्गाकृत करनेका विचार मनमे आते ही प्रश्न उठता है कि साहित्य शब्दकी अर्थन्याप्ति क्या है? न्यापक अर्थमें साहित्यको वाङ्मयको संज्ञा दी गयी है (दे० 'वाङ्मय')। प्राचीनतम कालमे कदाचित् समस्त साहित्यक कृतित्व मौखिक रूपमे ही चलता था। परन्तु अब हम साहित्यका पहला वर्गीकरण मौखिक और लिखित, इन दो रूपोंमें कर सकते हैं। इस वर्गीकरणका कोई गम्भीर और तास्विक आधार नहीं है, क्योंकि मौखिक और

लिखित साहित्यमें परस्पर गहरा साम्य और एकरूपता सम्भव है। इसी प्रकारका दूसरा स्थूल वर्गीकरण भाषाकी लय-ताल सम्बन्धी शब्द-योजनावे आधारपर गद्य और पद्यके रूपमें किया जाता है। इस आधारपर एक तीसरा भेद गद्य-पद्य या चम्पू नामका भी बताया गया है, जिसमें गद्य और पद्यका सम्मिलित प्रयोग होता है। भाषामे बद्ध मनुष्यके सम्पूर्ण कृतित्वको, चाहे वह मौखिक हो या लिखित. यदि हम वर्गीकृत करना चाहें, तो सबसे पहले दो स्थूल भेद लक्षित होते है-एक वह, जिसका लक्ष्य हमारी हार्दिक वृत्ति होती है और जो प्रधान रूपसे हमारा रंजन करता है और दूसरा वह, जिसका लक्ष्य हमारी बोधवृत्ति होती है और जो प्रधान रूपसे हमारा ज्ञान-वर्धन करता है। परन्तु इन दोनों प्रकारके साहित्योके बीच विभाजक रेखा खीचना प्रायः कठिन हो जाता है, क्योंकि हार्दिक वृत्ति और बोध-वृत्तिमे स्वाभाविक अन्तःसम्बन्ध है (दे० 'उपयोगौ साहित्य")। फिर भी इस दृष्टिसे साहित्य या वाड्ययके जो भेद किये गये हैं, वे क्रमशः लिलत या सरस साहित्य और उपयोगी साहित्यके नामसे अभिहित है। उपयोगी साहित्य पुनः दो प्रधान भेदोमें विभक्त हो सकता है। एक कल्पनाश्रित या विचार-प्रधान साहित्य है, जैसे दर्शन और दसरा प्रयोगाश्रित, जो पुनः दो प्रकारका होता है-अनुमान-ज्ञानपर आधारित शास्त्र तथा निश्चय-ज्ञानपर आधारित विज्ञान । राजशेखरने 'कान्यमीमांसा'-मे काव्यसे भिन्न शास्त्रका विवरण दिया है, जो उपयोगी साहित्यका ही समानाथीं है। शास्त्रके उन्होंने विषया-नसार अनेक भेद गिनाये है (दे॰ 'कान्यमीमांसा', अध्याय २, ८, १०)। उपयोगी साहित्यको जिज्ञासात्मक साहित्य भी कह सकते है। सरस या ठलित साहित्य भी दो प्रधान भेदोंमें विभक्त किया गया है-एक अनुभवा-त्मक या इन्द्रियाश्रित और दूसरा कल्पनात्मक या हार्दिक । अनुभवात्मक या इन्द्रियाश्रित साहित्यके कथा-रमक (नैरेटिव) और वर्णनात्मक (डिस्क्रिप्टिव), दो मुख्य भेद है तथा हार्दिक साहित्यके भेदोंमें पद्यबद्ध रचनाओं के अनेक रूप है।

संस्कृत-कान्यशास्त्रियों में सबसे प्रथम भामह (पॉचवीं शती)ने अपने 'कान्यालंकार' (१६: ३६)मे कान्यके पहले गद्य और पद्य, दो भेद किये, फिर भाषाके आधारपर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-तीन मेद देकर विषयकी दृष्टिसे (१) इतिहासपर आधारित चरितकाव्य, (२) उत्पाद्य (किंएत) वस्तुवाले कान्य, (३) कला-प्रधान कान्य और (४) शास्त्रप्रधान काव्य-ये चार भेद किये हैं। इसके उपरान्त उन्होने (१) सर्गवन्ध (महाकाव्य), (२) अभिने-यार्थ (नाटकादि), (३) आख्यायिका और (४) कथा, ये चार प्रकारके प्रबन्ध काच्य तथा (५) अनिबद्ध (मक्तक), कुल पाँच भेद किये हैं। दण्डी (सातवी शती)-ने गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू —काव्यके त्रिविध भेद दैकर मुक्तक, कुलक, कोष, संघात, इसी प्रकारके अन्य तथा सर्गंबन्ध महाकाव्यके रूपमें पद्य-काव्यके भेद किये हैं (काव्यादर्श, १: ११: १४) तथा गद्य-काव्यके कथा और आख्यायिका नामक दो भेद बताये हैं (वही: २३)

एवं मिश्रके नाटकादि और श्रव्य-मिश्र चम्पूका उहुेख किया है (वही: ३१)। वामनने काव्यके गद्य और पद्य, द्विविध भेदोंके अनिवद्ध (मुक्तकादि) और वद्ध (खण्डकाव्य, महा-कान्य आदि), दो रूपोंका उल्लेख करके केवल निवद्धकान्य-के अवान्तर भेदोंका वर्णन किया है। निबद्ध (प्रबन्ध) काव्यको उन्होने सन्दर्भकाव्य भी कहा है और दशरूपक (नाटकादि)को उत्तम बताया है। काव्यके अन्य भेदों कथा, आख्यायिका, महाकाव्य आदिको दशरूपकका ही विस्तार कहा गया है (कान्यालं सू वृ वृ , १:३:२६-३२)। राजशेखर (दशवी शती)ने मुक्तक और प्रबन्ध, द्विविध काव्यके पाँच-पाँच भेद और वताये है। ये है- गुद्ध, चित्र (सप्रपंच), कथोत्थ (ऐतिहासिक इतिवृत्त), संविधानकाव्य (सम्भावित इतिवृत्त), आख्यानकवान् (परिकल्पित इतिवृत्त) (का० मी०: अ०८)। 'ध्वन्यालोक' (३:७)मे प्रसंगवश काव्यके जिन भेदोको उहेख किया गया है, उनमे भी मुक्तक और प्रबन्ध-ये ही दो प्रधान भेद है। मुक्तक एक श्लोककी रचना होती है, परन्तु सन्दानितक (दो इलोकों-में अन्वित), विशेषक (तीन श्लोकोमे), कलापक (चार इलोकोंमें) और कुलक (पॉच श्लोकोमे) भी मुक्तकके ही भेद कहे जा सकते है। पर्यायबन्ध वर्णनात्मक प्रबन्ध होता है, जिसमे वसन्तादिका वर्णन किया जाता है। परिकथा (किसी एक पुरुषार्थके उद्देश्यवाली अनेक कथाओसे समन्वित कथा), खण्डकथा (बड़ी कथाके एक अंशका वर्णन करने-वाली), सकलकथा (फलसहित सम्पूर्ण इतिवृत्त), सर्गबन्ध (महाकान्य), अभिनेयार्थ (नाटकादि), आख्यायिका और कथा कथात्मक प्रवन्धोंके भेद है (दे० 'कथाकाव्य')।

विश्वनाथ कविराज (तेरहवी शती)ने उक्त पूर्ववर्ती आचार्योंके आधारपर इस विषयमे कुछ अधिक विस्तार किया है। 'साहित्यदर्पण'के छठे परिच्छेदमें नाटकादिका वर्णन करनेके उपक्रममे एक नवीन आधारपर काव्यके दृश्य और श्रद्ध, दो भेद किये गये है। इत्य काव्यको रूपक (दे०) भी कहते है और उसके दस भेद है। दस रूपकोके अतिरिक्त अठारह उपरूपक (दे०) भी होते है। इस्य कान्यके विस्तृत निरूपणके बाद श्रद्य काद्यका वर्गीकरण किया गया है (सा॰ द॰, ६ : ३१३-३३७)। अञ्य काञ्य तीन प्रकारका होता है-पब, गच और गच-पब (चम्पू)। पद्यके पुनः दो प्रधान भेद होते है-मुक्तक और प्रबन्ध। एक रलोक या छन्दके मुक्तक कान्यके अतिरिक्त उपर्युक्त सन्दानितक आदिका भी उल्लेख किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ 'ध्वन्यालोककार'ने दो इलोकोंमें अन्वित कान्यको सन्दानितक कहा है, वहाँ विश्वनाथ कविराज उसे युग्मक कहते हैं तथा विशेषक और सन्दा-नितकको एक ही मानते हैं।

प्रबन्ध काड्यके विश्वनाथने केवल तीन मेद गिनाये हैं। पंच सन्धियों तथा अन्य विशिष्ट गुणोंसे युक्त एक कथाने के निरूपक पद्यमय काव्यकों महाकाद्य (दे०) कहते है, जिस सर्गमय एक कथाने निरूपक काव्यमे सब सन्धियों न हों, उसे काट्यको संज्ञा दी जाती है तथा काट्यके एक अंशनका अनुकरण करनेवाले, 'एकदेशानुसारी' काट्यको खण्ड-काट्य (दे०) कहते हैं। वामनके अनुसार गद्य-शैलियोंका

निरूपण करनेके उपरान्त विश्वनाथने गद्यके केवल दो मुख्य भेद गिनाये है-कथा और आख्यायिका । कथा-में कही-कही छन्दोका प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भमें पद्यमय नमस्कार तथा खलादिक-वृत्तकीर्नन होता है। 'कादम्बरी' इसका उदाहरण है। आख्यायिका कथाके ही समान होती है, परन्तु उसमे कवि-वंश-वर्णन तथा अन्य कवियोका वृत्तान्त भी दिया जाता है। इसमें भी कहीं-कहीं पचका प्रयोग होता है। इसमे कथाभाग आइवास कहलाते है तथा प्रत्येक आइवासके आरम्भमे अगली कथाका संकेत किया जाता है। 'हर्षचरित' इसका उदाहरण है। आख्यान आदि कथा और आख्यायिकामे ही अन्तर्भृत होते है। आर्ष काव्य, जैसे, 'महाभारत'में सर्गके नामको भी आख्यान कहते है । कथा और आख्यायिकामे भामहके अनुसार यह अन्तर है कि जहाँ आख्यायिका उच्छासोंमें विभक्त होती है तथा उसमें वक्ता-प्रतिवक्ताके रूपमे नायक स्वयं अपने वृत्तान्तका वर्णन करता है, वहाँ कथा वक्ता, प्रतिवक्ता तथा उच्छास आदि विभागोंसे रहित होती है। उसमें कन्या-हरण, उसके कारण संग्राम, उसके वियोग और पुनःप्राप्तिका वर्णन होता है; कथानक कल्पित होता है तथा उसका नायक अपने चरित्रका वर्णन नहीं करता, अन्य लोग अपना और नायकका वर्णन करते है। इस सम्बन्धमे विश्वनाथने दण्डीका उद्धरण दिया है कि आख्यायिकाका केवल नायक द्वारा वर्णित होना कोई नियम नहीं है, उसमें कथाकी तरह अन्य लोगोके वचन होते है।

गथ-पथमय कान्यका, जिसे चम्चू कहते हैं, विश्वनाथने एक विशिष्ट रूप विरुद्ध वताया है। इसमे राजस्तुति की जाती है। अन्तमे उन्होंने कान्यके एक और नवीन भेद कर्मभक्का उल्लेख किया है, जो विविध भाषामे लिखा जाता है।

संस्कृतके आचायों द्वारा दिये गये उपर्युक्त काव्य-भेदोंमेसे हृदय और श्रव्यका मेद तो अत्यन्त स्पष्ट है। हृद्य(दि०)के अन्तर्गत नाटकादि अभिनेय काव्यक्तप आते हैं। ये सदैव ही गव-पद्यमय रहे है, परन्तु इन्हे चम्पू नहीं कहा गया। संस्कृत नाटकोमे पद्यकी प्रधानता रहती थी, परन्तु आधुनिक नाटक सर्वथा गद्यमय होते है, प्रसंगवदा आये हुए गीतोमें ही पद्यका प्रयोग किया जाता है। श्रव्यके अन्तर्गत श्रवणीय (कथा-कहानी, रेडियो नाटकादि), वाचनीय, अध्ययनीय और मननीय—सभी प्रकारका गद्य या पद्यमे रचित कथा, प्रवन्ध, निवन्ध आदिका साहित्य आ सकता है। यद्यपि नाटकादि अभिनेय होनेके साथ-साथ पठनीय भी होते है, परन्तु वर्गीकरणके परस्पर संक्रमणको बचानेके लिए हम श्रद्यकी व्यापक परिभाषाके अन्तर्गत वह समस्त साहित्य ले सकते है, जो हुइय न हो।

श्रन्य कान्य या साहित्यके प्रथमतः चार प्रथान भेद हो सकते है— मुक्तक, प्रश्नन्य-निबन्धात्मक, कथात्मक और गीत्यात्मक । यद्यपि 'ध्वन्यालोक'मे ऐसा उल्लेख नहीं है, परन्तु न्यवहारमें यह अपवादरहित जान पड़ता है कि मुक्तक पद्यमे ही होता है। प्राचीन परिभाषाओंमे एक इलोककी प्रवन्ध-निरपेक्ष रचनाको मुक्तक कहा गया है। एकसे अधिक इलोक होनेपर कदाचित् वर्ण्य विषय एक

होनेपर भी, रचनावी मुक्तक नाम न देवार इलोकोंकी संख्याके आधारपर सन्दानितक, कलापक, कलक आदि नाम दिये गये है। पद्यकी इन रचनाओको यदि पद्य-निबन्ध (दे०) कहा जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि इनमें किसी एक विषयकों ही सीमित विस्तारमें कान्य-बद्ध किया जाता है। परन्त एकसे अधिक इलोकोंवाली इन रचनाओंके व्यावहारिक उदाहरणोके अभावमे निइचयात्मक रूपमे अधिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी मक्तकके अन्तर्गत आधुनिक कालमें अनेक छन्दोवाली उन रचनाओ-को तो सम्मिलित किया ही गया है, जिन्हे गीतिकाव्य (दे०)की सामान्य संज्ञा दी गयी है। संस्कृतके साहित्य-शास्त्रमें गीतिकान्यका कोई उल्लेख नही है, गीतिको कदा-चित साहित्यकी गरिमासे हीन समझकर ही उसकी उपेक्षा हुई है। प्राचीन पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमें कान्यके एपिक (वीराख्यान काव्य या महाकाव्य) और डामा (नाटक)के साथ लिहिक (गीति) भी एक प्रधान काव्य-रूप माना गया है। परन्त वहाँ भी लिरिकको उतना महत्त्व नहीं दिया गया, जितना एपिक और डामाको। आधनिक कालमें गीतिको जो महत्ता मिली है, उसीसे प्रभावित होकर संस्कृत साहित्यके नये समीक्षकोने संस्कृत काव्यशास्त्रके मक्तकमे ही गीतिको अन्तर्भत मान लिया है। हिन्दीके कुछ समीक्षकोंने इसी भावसे मुक्तकके दो भेद किये है-मक्तक या सक्ति मुक्तक और प्रगीत मुक्तक। परन्त वास्तवमे गीतिकाच्य एक स्वतन्त्र वर्ग है। मुक्तक कान्यके विषय और संग्रहकी दृष्टिसे अनेक रूप हो सकते है: जैसे. विषयकी दृष्टिसे कबीर आदि सन्तोकी सक्तियाँ साखी (दे०) कही जाती है; वृन्द, गिरिधर आदि कवियोकी रचनाएँ नीतिकाच्य (दे०) नामसे प्रसिद्ध है। संस्कृतमे इन्हे सभाषित कहते थे। मुक्तकोके अनेक संख्याओंके संग्रह प्राप्त है। हिन्दीमें पॉच पद्योंके संग्रह पंचकसे लेकर, जिसे संस्कृतका कुलक कह सकते है, सप्तक, अष्टक, दशक, बाईसी, पचीसी, छब्बीसी, बत्तीसी, पचासा, बावनी, साठी, बहत्तरी, शतक, सतसई (सप्तशती) और हजारातक अनेक प्रकारके संग्रह है।

इन संग्रहोमे प्रायः सभी पद्य मुक्तक, अर्थात् पूर्वापर-प्रसंग-निरपेक्ष होते है। जिन छोटे-छोटे संग्रहो-जैसे, हन-मानपंचक' (खुमान बन्दीजन), 'रामाष्टक' (गिरिधरदास), 'छत्रसाल दशक' (भूषण), 'खटमल बाईसी' (अलीमुहिब खाँ), 'हन्मतपचीसी' (गणेश, भगवन्तराय खीची) 'हनुमत-छब्बीसी' (मनियार सिंह), 'शिवाबावनी' (भूषण), 'सूरसाठी' (सूरदास), 'लक्ष्मणशतक' (ख़ुमान बन्दीजन), 'वीरसतसई' (वियोगी हरि)मे न्यूनाधिक मात्रामे विषयकी एकता है, उनमें भी प्रत्येक पद्य अपनी स्वच्छन्द सत्ता रखता है। इन रचनाओको मुक्तकता और निबन्धात्मकताका समन्वय कहा जा सकता है। कुछ तो निश्चित रूपसे पद्य-निबन्ध ही है। किसी एक विषयपर अनेक छन्दोकी रचना भी, जिसमे किसी देश्यादिका वर्णन हो या सम्बद्ध विचार प्रकट किये गये हो, पद्य-निबन्ध या पद्य-प्रबन्ध नामसे अभिहित की जा सकती है (दे० 'पद्य-प्रवन्ध')। प्राचीन आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट पर्याय-निबन्ध वस्तुतः पद्य-

निबन्ध ही है। ये निबन्धात्मक रचनाएँ अनेक रूप और आकारकी हो सकती है, परन्तु उनका कोई वर्गीकरण नहीं किया गया है। वर्गीकरण केवल गीतिप्रधान, अर्थात् आत्मनिष्ठताप्रधान कविताओंका हुआ है, विषयप्रधान वर्णनात्मक पद्योको तो मात्र कविता (दे०) नामसे ही अभिहित किया जा सकता है।

पवात्मक निवन्धोके अतिरिक्त अनेक प्रकारके गद्यात्मक निवन्धोंकी रचनाएँ होती है; यथा, निवन्ध, छेख प्रवन्ध, थीसिस, संस्मरण, यात्रा, रिपोर्तांज आदि। इनमे कुछ आत्मनिष्ठताप्रधान होती है और कुछमे निरपेक्ष हिसे वैद्यानिक विषय-प्रतिपादन किया जाता है। पुनः कुछ आकारमे अत्यन्त छघु और कुछ बहुत बड़ी होती है।

संस्कृतके आचार्योने यद्यपि समस्त कथात्मक साहित्यको, जिसमे अभिनेय साहित्य भी सम्मिलित है, प्रबन्धकी संज्ञा दो है, क्योंकि आध्ननिक कालमें प्रबन्ध शब्द गद्यकी विषय-प्रधान विचारात्मक रचनाओके लिए प्रचलित हो गया है तथा विषय-प्रधान कविताओं को भी पद्य-प्रबन्धका नाम दिया गया है, अतः उन प्रबन्धोंका जिनमें किसी कथाके आधारपर रचना की गयी हो, कथातमक साहित्यके नाममे एक भिन्न वर्ग बनाया जा सकता है। कथात्मक साहित्य पद्य और गद्य, दोनोंमें हो सकता है। पद्ममय कथात्मक साहित्यके लिए प्रबन्धकाच्य नाम भी प्रचलित है और उसके अन्तर्गत सहाकाव्य और खण्डकाव्य तथा उनके भिन्न-भिन्न विशेषताओंवाले अनेक रूप आते है। आख्यानक गीत(साहित्यिक लोकगाथा या बैलेड)मे कथात्मकता और गीतिवत्त्वोंका समन्वय पाया जाता है और वह गीति और कथा-प्रबन्धके बीचका रूप है। गद्यात्मक कथासाहित्यमे कथा, कहानी, लघकथा, उपन्यास, लघु उपन्यास (उपन्यासिका), आत्मकथा आदि अनेक नवीन साहित्यरूपोंका विकास हुआ है। प्राचीन कथा, आख्यायिका, आख्यान, परिकथा, सकल कथा आदि रूप अब लप्त हो गये है।

गीत्यातमक साहित्यको मुक्तकमे अन्तर्भक्त न मानकर एक खतन्त्र वर्गमें रखनेका केवल यही कारण नहीं है कि इस प्रकारकी रचनाएँ आधुनिक भाषाओंमे अपेक्षाकृत अधिक हुई है तथा उनमें स्वतः विविध लक्षणोंवाले विविध प्रकार-भेद पाये जाते है, बल्कि इनके भिन्न वर्गमें रखनेका औचित्य यह भी है कि इनकी प्रकृति ही विशेष प्रकारकी होती है। इनके रचयिताकी आत्माभिन्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष, सघन और तोव्र होती है तथा ये कही अधिक भावावेश और भाव-संहितिसे यक्त होती है। आधुनिक समीक्षामे गीतिकान्यको क्या महत्ता मिली है, यह इस बातसे प्रमाणित होता है कि समस्त साहित्यके एक वर्गी-करणका आधार रचयिताका आत्मपरक दृष्टिकीण भी है। इस आधारपर साहित्यका एक वर्ग बाह्यार्थनिरूपक (शुक्ल), बाह्यार्थव्यंजक, बाह्यार्थमलक, बाह्यवादी, वस्तुपरक (-मूलक या -प्रधान) अथवा विषयपरक (-मूलक या -प्रधान) कहा जाता है और दूसरा स्वानु-भृतिमूलक (शुक्ल), स्वानुभृतिन्यंजक (-निरूपक, -परक या -प्रधान), **अध्यान्तरिक (**श्रीकृष्णलाल), अन्तर्वादी, आत्माभिव्यंजक, स्वात्मपरक (-मूलक, -निरूपक, -प्रधान, -व्यंजक), स्वात्मपरक, आत्मिनिष्ठ, आत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अत्मिनिष्ठ, अविक्षित्रप्रधान (-प्रक, -मूलक, -व्यंजक), विषयिप्रधान (-मूलक, -व्यंजक, -परक) अथवा भाव-प्रधान या भावात्मक कहलाता है। पहलेमे रचिवताका दृष्टिकोण निरपेक्ष या तटस्य (ऑब्जेक्टिय) होता है, वह अपनी व्यक्तिगत भावना, रुचि और प्रवृत्तिको सीधे तौरपर व्यक्त नहीं करता। परन्तु स्वात्मिनिष्ठ या अध्यान्तरिक (सब्जेक्टिय) रचनाओंमे हम रचिताके व्यक्तित्वका सीधा और धनिष्ठ परिचय पाते है। दृष्टिकोणकी इस विशेषताके ही कारण इस प्रकारके काव्यमें लेखककी सवेदनामें प्ररणा और सचारपूर्तिका अंश कहीं अधिक होता है तथा उसकी कृति भावानुभूतिकी दृष्टिसे अधिक प्रभावोत्पादक और मार्मिकतापूर्ण होती है।

गीतिकाड्य(दे०)के विभिन्न लक्षणोंकी न्यूनता-अधिकता-के आधारपर उसके भेद किये गये है। हिन्दीके पुराने साहित्यमे भक्त कवियोके पद गीतिकाव्यके एक विशेष रूपके उदाहरण है। एक दूसरा प्रकार स्तोत्रो या स्तृति-गीतोंका है। गीत (पाश्चात्य साहित्यका लिरिक या सॉग), जिन्हे लोकगीतोंका एक विशिष्ट वर्ग कहा जा सकता है, गीतिकाब्यका सबसे प्राचीन रूप है। अनेक अवसरोके समगेत गीत (पाश्चात्य साहित्यका कोरिक लिरिक), जिन्हें समृहगीत, वर्गगीत या समाजगीत कह सकते है, गीतकी ही भाँति प्राचीन है। भावगीति आधनिक गीतिकान्यका सबसे अधिक प्रकृत रूप कहा जा सकता है। इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते है। प्रेमकी भावना ही इसका प्रधान विषय होता है, अतः इसका एक विशेष वर्ग प्रेमगीति या प्रणयगीति नामसे अभिहित किया जा सकता है। एक प्रमुख भेद सम्बोधगीति (ओड) नामक भी है। करुणगीति या शोकगीति (एलिजी) भी गीति-कवियोंका एक सर्वप्रिय गीतिरूप है। इनके अतिरिक्त राष्ट्रगीत, राष्ट्रगान, राष्ट्रीय गीति, व्यंग्यगीति (सैटायर), पत्रगीति (एपिसिल्स) और सॉनेट भी गीतिकाव्यके अन्य रूप हैं। पद्यके अतिरिक्त गद्यमें भी गीतिरचना होती है, जिसे गद्यगीत या गद्य हाज्यकी संज्ञा दी जाती है।

साहित्यके इन सभी वर्गों—अभिनयात्मक, मुक्तक, प्रबन्ध-निबन्धात्मक, कथात्मक तथा गीत्यात्मककी रचना गच, पच या गच-पचकी सम्मिलित है लियों में होती है। परन्तु संस्कृत साहित्यमें गध-पचके मिले-जुले रूपको चम्पू नाम दिया गया है। इस नामका आधुनिक भाषाओं में प्रयोग नहीं होता।

इन सभी वर्गोंके विभिन्न प्रकारके साहित्य-रूपोंपर पृथक् टिप्पणियाँ द्रष्टव्य हैं। —न्न० व०

साहित्य-विधा—दे० 'साहित्यरूप'।
साहित्यिक लोकगाथा—लोकगाथाके रोमांसिक तत्त्वों,
सहज भावावेग और सीथी-सादी शैलीसे प्रभावित होकर
दरवारी या शिक्षित वर्गके किव भी जब उसी शैलीमे ऐतिहासिक या निजन्थरी (लेजेण्ड्री) विषयोंपर रोमांसिक,
धार्मिक या वीरभावनापूर्ण कथाकाव्यकी रचना करते है,
तो ऐसे काव्योंको साहित्यिक लोकगाथा कहा जाता है।

विशिष्ट कवियो द्वारा रचित इस प्रकारके लोकगाथात्मक कान्योको अंग्रेजीम साहित्यिक लोकगाथा (लिटरेरी बैलेड) या दरवारी लोकगाथा (कोर्ट बैलेड) कहा जाता है। अंग्रेजीके सुप्रसिद्ध कवि कॉलरिजके कान्य 'एन्शेण्ट मैरिनर' और 'क्रिस्टावेल'को इसी प्रकारकी साहित्यिक लोकगाथा माना जाता है। सर वाल्टर स्काटने स्काटलैण्डके चारणोके वीच फैली बहुत-सी लोकगाथाओका संग्रह किया था और स्वयं भी स्काटलैण्डकी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं और घटनाओको लेकर अनेक छोटे-बड़े कथात्मक कान्योकी रचना की थी, जैसे 'ले ऑफ द लास्ट मिन्स्ट्रेल', 'द लेडी ऑफ द लेक', 'हेरावड द डॉण्टलेस' आदि । इन काव्योंको भी अंग्रेजी साहित्यमे साहित्यिक बैलेंड ही माना जाता है। वर्ड सवर्थ और कॉलरिज लोकगाथाके स्वच्छन्दतावादी तत्त्वोसे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होने अपने नवीन स्वच्छन्द शैलीके प्रगीत मुक्तकोके समहको प्रगीतात्मक लोकगाथा(लिरिकल बैलेड)की संज्ञा दी थी, यद्यपि वे कविताएँ गीति या प्रगीन मुक्तक ही है, लोकगाथा नहीं।

साहित्यिक लोकगाथाएँ मुख्यतः तीन प्रकारकी होती हैं—१. मध्यकालीन राजाश्रित चारण-भाटों द्वारा रवित, २. मध्यकालीन लोकाश्रित या धर्माश्रित कवियों द्वारा लिखित, ३. स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसच्म)के प्रारम्भके बाद आधुनिक कवियो द्वारा लिखित। मध्यकालीन दरवारी कवि (चारण-भाट) अपने आश्रयदाता या उसके पूर्वजोके सम्बन्धमे लोब-प्रचलित गाथाओंका शैलीमे कान्य रचा करते थे। उन कान्योको जब लोकप्रियता प्राप्त हो जाती थी, तो वे भी जनताकी सम्पत्ति बन जाते थे और इस तरह व्यक्तिविशेष द्वारा रचित होनेपर भी लोकमे प्रचलित और विकसित होनेके कारण ने वास्तविक लोकगाथाका रूप धारण कर छेते थे। हिन्दीमें 'आन्हखण्ड' सम्भवतः परम-दिदेवके दरवारी भाट जगनिक द्वारा रचा गया था, जो बादमे जनता द्वारा अपनाया जाकर लोकगाथा वन गया। दरबारी कवियो द्वारा रचित लोकगाथात्मक काव्य जनता द्वारा नही, बल्कि पेशेवर गायक कवि-जातियो-चारण, भाट, ढाढी, पॅवरिया आदिके द्वारा अपना लिये जाते हैं और उन्हींकी वंशपरम्परामे कण्ठानुकण्ठ या लिखित रूपमें उनका संरक्षण और विकास होता रहता है। हिन्दीके आख्यानक कान्य 'ढोला मारू रा दोहा' और 'वीसलदेव-रास' इसी प्रकारके दरवारी कवियो द्वारा रचित और पेशेवर जातियों द्वारा संरक्षित और विकसित साहित्यिक लोकगाथार है। रामचन्द्र शुक्लने 'बीसलदेवर।स'को वीरगीत कहा है, पर वीरगीतसे उनका तात्पर्य लोकगाथा (बैलेड) से ही है (हि॰ सा॰का इतिहास, ५ सं॰, पृ॰ ३४)।

किसी विशेष धर्म या सम्प्रदायके आश्रयमे रहनेवाले किसी कभी-कभी लोकगाथाकी हैली अपनाकर काव्य-रचना करते हैं। उनके काव्य भी कभी-कभी लोकगाथाका रूप धारण कर लेते है। पंजाबीम स्फी किस वारिस शाहका 'हीर-राँझा' काव्य ऐसी ही लोकगाथा है, जिसका लिखित रूप भी है और जो लोकगाथा-रूपमे प्रचलित भी है। हिन्दीमे मुझा दाऊदका स्फी प्रेमास्यानक काव्य 'लोरिक चन्दा' लोरिकायन नामक लोकगाथाका साहित्यिक रूपानरर

है, अतः उत्ते भी साहित्यिक लोकगाथा माना जा सकता है, यचिप उसमे लोकगाथाकी कुछ विशेषनाएँ नहीं मिलती। आधुनिक युगमें हिन्दीके स्वच्छन्दतावादी काव्यथाराके किवयों में श्रीमती सुमद्राकुमारी चौहानकी 'झॉसीकी रानी' शीर्षक कविता सच्चे अर्थम साहित्यिक लोकगाथा मानी जा सकती है, क्योंकि उसकी आत्मा और शैली, दोनो ही लोकगाथा की है और उसका प्रचार भी बहुत अधिक हुआ है। स्यामनारायण पाण्डेयके प्रवन्धकाव्य 'हल्दीघाटी'में भी लोकगाथाके तत्त्व कुछ सीमातक मिलते है, अतः उसे भी साहित्यिक लोकगाथा माना जा सकता है — शं० ना० सिं०

अञ्जी साहित्यमे लोकगाथाके दो भेद किये गये है-प्रामाणिक(ऑथेण्टिक) लोकगाथा और साहित्यिक लोक-गाथा । प्रामाणिक लोकगाथा मौखिक परम्परासे प्राप्त लोक-गाथाओंका लिखित रूप है, जिसके लक्षण और कतिपय उदाहरण अन्यत्र दिये गये है (दे० 'लोकगाथा')। महा-कान्यकी तरह लोकगाथाका भी एक विकसनशील रूप रहा है। मौखिक परम्परामे चलते रहनेके कारण प्रहास आगे आनेवाली पीढियोके प्रतिभाशाली गाथा-गायक उनमें परिवर्धन करते रहे हैं। हमारे देशमें रासो या रास नामसे जिस नृत्थगीतका चलन अत्यन्त प्राचीन कालसे रहा है, वह वस्तुतः पाश्चात्य साहित्यके बैलेखका ही समवक्ष है। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दीसे विकसित फ्रान्सीसी गीति-पद्यात्मक बैलेडकी भाँति भारतीय रास भी कदाचित् प्रारम्भमें कथा-तत्त्वसे रहित कलात्मक नृत्यगीत ही था, कुछ जातियो-गुर्जर, आभीर आदि-में प्रचलित इस नृत्यगीतको धार्मिक प्रचारवे लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। 'श्रीमद्भागवत'का रासन्त्य इसी प्रवृत्तिका एक उदाहरण कहा जा सकता है। धीरे-धीरे इस नृत्यगीतके साथ कथागीतोंका प्रयोग होने लगा और लोक कवियोकी प्रतिभा इस लोकप्रिय मनोरंजनके माध्यमसे अभिन्यक्ति पाने लगी। अपभ्रंशमें रचे गये अनेक रास या रासी मिलते हैं, जिनमें अधिकांश जैन-धर्मके प्रचारार्थ रचे गये थे। काव्य-रूपमे प्रयुक्त होनेपर रास या रासोकी अपभंशमे ही दो परम्पराएँ विकसित हो गयी। इनमें एक वह है, जिसमे सम्पूर्ण रचना एक ही छन्दमे की जाती है और बन्दकी कुछ पंक्तियोके बाद एक ही प्रकारके शब्दोंकी नेकके रूपमें पुनरा-वृत्ति होती है। हिन्दीका 'बीसलदेवरास' इसी परम्पराका काव्य है और उसे हम साहित्यिक लोकगाथा (बैलेड)का पहला प्रतिनिधि मान सकते है। यद्यपि वह एक कवि, नरपति नाल्हकी रचना है, परन्तु मौखिक रूपमें चलते रहनेके कारण उसमे निश्चय ही परिवर्धन हुए है, 'आल्हा' या 'आल्ह्खण्ड' भी, जिसका मूल लेखक जगनिक कहा जाता है, प्रारम्भमें लोकगाथा (बैलेड)के ही रूपमें रचा गया होगा, परन्त परिवर्धन होते-होते उसका आकार इतना बृहत् हो गया है कि उसे लोक महाकाब्य कहा जा सकता है। फिर भी उसके समस्त प्रकरण या अध्याय, जो प्रायः विवाह या गौनेकी लड़ाइयोके नामसे प्रसिद्ध हैं, एक-दूसरेसे इतने पृथक और स्वतन्त्र है कि उन्हें अलग-अलग लोक-गाथाएँ कह सकते हैं। यह विरुक्षण लोकगाथा १९वीं शताब्दीमें लिपिवद्ध होनेके बाद भी वृद्धि पाती रही है और

२६ लडाइयोके स्थानपर अब उसमें ५२ लड़ाइयोके वर्णन है। ये सभी लड़ाइयाँ पृथक् रूपमे ही अधिक प्रचलित हैं। लोकगाथाकी लोकप्रियता और रोमांसिक आकर्षणके ही कारण वह काव्य-रचनाका एक अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम बन गया। परन्तु साहित्यिक रूपमे प्रयुक्त होनेपर उसकी अनेक प्रारम्भिक विशेषताएँ नष्ट हो गयीं। वास्तवमे उसका लोकगाथा नाम भी इस ढंगकी साहित्यिक रचनाओं-के लिए उपयुक्त नहीं जान पडता, क्योंकि उसमें लोक-तत्त्वका अभाव हो गया है। नृत्यके साथ तो साहित्यिक लोकगाथाका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। परन्तु कथा और गीतिके तत्त्व उसमे निरन्तर पाये जाते है, अतः यदि उसके साहित्यिक रूपको गाथागीत या आख्यानक गीत कहा जाय तो अनुचित न होगा। लोकपरम्पराकी लोकगाथाका विषय जातिसे सम्बन्धित होता है, किसी व्यक्तिविशेषसे उसका सम्बन्ध नहीं होता, परन्त साहित्यिक गाथागीत व्यक्तिविशेषसे सम्बन्धित हो सकता है। उसकी शैलीमें भी अधिक परिमार्जन और साहित्यिक सौष्ठव होता है; उसमें रूढ विशेषणोंके साथ साहित्यिक विशेषणोंसे युक्त भाषाका प्रयोग किया जाता है। साहित्यिक गाथागीतोंमे नैतिक तथा उच मानवीय आदशींकी अभिव्यक्ति प्रायः अनिवार्य रूपसे पायी जाती है। परम्परागत लोककथाओमे प्रेम, द्वेष, घृणा, आकांक्षा, ममता, करुणा, उत्साह, विसाय आदि सरल मानवीय भावोंका चित्रण होता है, परन्तु उनके साहित्यिक रूपमे नवीन सामाजिक परिवेशमे उत्पन्न नवीन भावों-देशप्रेम, आत्मबलिदान, विश्वमैत्री आदिका भी चित्रण और काल्पनिक कथाओं के साथ समसामयिक घटनाओं का वर्णन भी अत्यन्त प्रभावशाली रूपमें किया जा सकता है। परन्त साहित्यिक गाथागीतमें भी कथा-वर्णन और भाव-चित्रणकी सरलता, स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। उसमे भी वर्णन बिना किसी भूमिकाके आकस्मिक ढंगसे अथवा संक्षिप्त मंगलाचरणके बाद तुरन्त आरम्भ कर दिया जाता है। चार, पाँच या छः पंक्तियोके बाद टेकके रूपमे एक या दो चरणोकी पुनरावृत्ति इसमे भी प्रायः मिलती है। हिन्दीमे इन गाथागीतोकी रचना लम्बे मात्रिक छन्दों-प्रायः चौपाई, चौबोला, वीर हरिगीतिका आदि अथवा उन्हीं अनेकानेक रूपान्तरोमें हुई है। 'वीर-पंचरता' (भगवानदीन), 'रंगमे भंग' (मैथिलीशरण गुप्त) और 'झॉसीकी रानी' (सुभद्राकुमारी चौहान) इसके सुन्दर उदाहरण है। सियारामशरण गुप्त, 'दिनकर', जानकीवछभ शास्त्री तथा कुछ छायावादी कवियोकी रचनाओंमें भी इसके उदाहरण मिल सकते है। सिंह-सिंह सन्तोंकी उलटवॉसियों और योगपरक रूपकोंमें मनका वाचक है-कही मायालिप्त मनका तो कही शानयुक्त मनका । जब कबीर वहते हैं-"एक अचम्भौ देखा रे भाई, ठाढा सिंघ चरावै गाई" (क० ग्रं० ति०, पद ११६) तो गाय इन्द्रियों (गी = इन्द्रिय)का वाचक है और सिंह ज्ञानयुक्त मनका। लेकिन जहाँ वे सिंह स्यारके जुझनेकी बात करते है, वहाँ स्यार छल्नेवाले सांसारिक

क्षुद्र भोगों और आसक्तियोंका वाचक है और सिंह उनके

छलावेमें फँसनेवाले मायालिप्र मनका—"नित उठि स्यार

सिंघ सूं जुझै। कहै कवीर कोई विरला वृझै" (क० ग्रं० ति॰, पद १२०)। सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकारके शब्दोके एक दूसरेसे विरुद्ध पड़नेवाले विभिन्न अर्थीका मुख्य कारण यह है कि ये प्रसंगके अनुसार वस्तुके धर्मको ही ध्यानमं रखते है धर्मी (अर्थात् वस्तु)को नहीं; और चूँकि एक ही वस्तुको कई-वाई धर्म (विद्योषताएँ) होते है, अनः अर्थमें अन्तर आ जाता है। जैसे सिंह वनराज है, वनके जानवरीपर उसका शासन रहता है, अतः गायको चरानेवाला सिंह अपनी शक्तिके प्रति सचेत सिंह, अर्थात मनका वीधक है। यही सिंह सियार द्वारा लालच दिये जानेपर ठगा भी जाता है, अतः वह मायालिप्त मनका अर्थ देता है।—रा॰दे॰सिं॰ सिंहलगढ - सिंहलगढका जो वर्णन जायसीने 'पद्मावत'में किया है, वह हठयोगके आधारपर शरीरका वर्णन है। काय-साधनाके लिए हठयोगी शरीरस्थ चक्रों तथा कुण्ड-लिनीकी बातें करते हैं। उसे जायसीने ग्रहण किया है। सिंहलगढ़का वर्णन करते हुए जायसीने स्पष्ट ही कहा है—"गढ तस बॉक जैसि तोरि काया"। इस गढके नौ द्वार कहे गये है। इन नवो द्वारोको पार करनेके लिए सफी-साधनाके सूफी मार्गको अपनानेकी बान कही है—"चारि वसेरे सों चड़ै"। अन्तिम हार, दसवाँ हार है, जहाँ से होकर सुपुम्ना ब्रह्माण्डमे प्रवेश करती है। इसी द्वारसे होकर सहस्रारे असृत झरता रहता है। इस साधनाके लिए गुरुकी आवस्यकता होती है, दसवें द्वारतक पहुँचना तभी सम्भव हो सकता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट रूपसे समझ लेनी चाहिये कि 'पन्नावत'मे जहाँ भी सिहलगढके वर्णन आये हैं, वहाँ वे रूपकके रूपमें ही है, ऐसी बात नहीं है। —रा० पू० ति० सिंहविकीड-साधारण दण्डकका एक भेद । यह भी प्राकृत-कालीन छन्द है। संस्कृतके कवियोमें इस वृत्तका प्रयोग नहीं मिलता। क्षेमचन्द्रने इसका लक्षण दिया है 'याः सिंहविक्रीडः' (छन्दोऽनु०, अ० २: ३०२), अर्थात् यथेष्ट यगण। भानुने यगण ९ या अधिकका लक्षण इसलिए दिया है कि ९से कम यगणका दण्डक सम्भव नही है और पहले-से यह छन्द दण्डकके अन्तर्गत माना जाता रहा है, इस-लिए यह ९से अधिक यगणका तो होगा ही। संस्कृत छन्दःशास्त्रोमे केदार भट्टके 'वृत्तरत्नाकर', जयकीर्तिके 'छन्दोऽनुशासन'में 'सिंहविकीडित' नामसे एक वर्णिक छन्दका उल्लेख है, किन्तु वह दण्डक नहीं है, उसका लक्षण भीन न र र र र है। इस लक्षणके छन्दके सिंहविक्री-ड़ितके अतिरिक्त नाराच या महानाराच, नाराचक, दरदा अथवा निशा नामोंका उहेख है (जयदामन, पृ० १३९)। स्पष्ट है कि सिंहविक्रीड दण्डक, सिंहविक्रीडित छन्दसे भिन्न है। इसमें सिंहके कीडा करनेका ध्वनिचित्र है, सम्भवतः इसलिए इसका नाम 'सिंहविकीड' पड़ा है। इसमे भगणकी अनेक आवृत्तियाँ है इसलिए इसकी उत्पत्तिके मूल्मे केशा अथवा धू (हेमचन्द्र: छन्दोऽनु०, २-१२, वृ० र०, ३-४) अथवा धृति अथवा वन (जयकीर्ति : छन्दोन् , २-९) परि-वारकी होगी। प्रचलित होनेपर भी किसी कविने इसमे कौशल दिखलानेका प्रयत नहीं किया है। 'भूजंगप्रयात'का विकसित और विस्तृत रूप दण्डक हो जानेपर 'सिंहविकीड'

हो जायगा—"नहीं शोक मोही पिता मृत्यु केरो, छहे पुत्र नारों वि.ये यज्ञ केतो"। —ह॰ मो॰

सिंहावलोकन यमफ-दे॰ 'यमक'। सिद्ध-साधनागे निष्णान, अलौकिय सिद्धियोंसे सम्पन्न, चमत्कारपूर्ण अतिप्राकृतिक शक्तियोसे युक्त व्यक्ति सिख कहलाते थे। भारतीय अनुश्रुतियोने सिद्ध-परम्परा बहुत प्रख्यात रही है। ये तिद्ध अजर और अमर माने जाते थे। देवों, यक्षों, डंकिनियों आदिके म्यामी माने जाते थे। तान्त्रिक युगमे लगभग प्रत्येक सम्प्रदायमे सिद्धोकी सचियाँ मिलती है, किन्तु हिन्दी साहित्यमे सिद्ध राब्द बौद्ध सिद्धा-चार्योंके लिए प्रयुक्त होने लगा है, जो पूर्वी भरतमें तान्त्रिक साथनाएँ करते थे और प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध द्वारा सिद्धि प्राप्त करते थे। इन सिद्धोकी संख्या ८४ वतायी जाती है, किन्त यह इतिहाससम्मत संख्या न होकर तान्त्रिक अर्थीको व्यंजित करती है। बारह राग्नि और सात नक्षत्रीका गुणन-फल चौरामी है। इन चौरासी सिद्धोंकी कई सूचियाँ भिली है, किन्त उनमेसे कोई भी आधिकारिक नहीं मानी जा सकती। कुछ सिद्ध ऐसे अवस्य है जो सभी सूचियोंमें मिल जाते है (दे॰ 'नाथ')। इन सिद्धोंके विषयमे बहुतसे ऐतिहासिक संकेत भी मिलते है, किन्त्र किसी निश्चित सामग्रीके अभावमे इनके कालक्रम, जीवन-वृत्त आदिके विषयमे पहत-कुछ अस्पष्ट है। पदकर्ताओ और दोहा-कारोवी नाम इस प्रकार है-अार्यदेव, कंकणपा, कम्बळा-म्बर्पा, दाण्हपा, कुक्कुरीपा, गुण्डुरीपा, चाटिलपा, जयनन्दीपा, होम्बीपा, टेंडणपा, तन्त्रिपा, ताडकपा, दारिकपा, धामपा, विरुपा, वीणापा, भद्रपा, भुसुकुपा, महीधरपा, छुईपा, श्वरपा, शान्तिपा, सरहपा, तिलोपा, जालन्धरपा, मीनपा। इनमेसे कई नाम ऐसे है, जो किसी भी सम्प्रदायकी स्चीभे नहीं पाये जाते। इनका अस्तित्व ८०० ई० से ११०० ई० तक अनुमानित किया गया है। आदि सिद्ध कौन था, इस विषयमे भी दो मत है। कुछ परम्पराओं मे लुईपा और कुछमे सरहपा आदि सिद्ध माना जाता था। इन सभी सिद्धोंका मुख्य अवास पृवीं भारतमे था, पर इनके साधनाकेन्द्र सारे देशमे बिखरे हुए थे; उन्हें सिद्धपीठ कहा जाता था। ओडियान, कामरूप, जालन्धर, पूर्णिगिरि, आर्बुद तथा श्रीहट्ट इनके प्रमुख साधनाकेन्द्र थे। उनके अतिरिक्त नालन्दा तथा विक्रम-शिलाके विद्या-पीठोंमें ये भी सिद्ध निवास करते थे। इन्हे पाल-राजवंशका विशेष आश्रय और संरक्षण प्राप्त था। — ४० वी० भा० सिद्ध-साहित्य-सिद्ध साहित्यसे तात्पर्य वज्रयानी परम्परा-के सिद्धाचार्योंके साहित्यसे है, जो अपभ्रश दोहो तथा चर्यापरोके रूपमें उपलब्ध है और जिसमे बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्तोको मान्यता दी गयी है। यद्यपि उन्होंके सम-कालीन शैव नाथ-योगियोंको भी सिद्ध कहा जाता था, किन्त कतिपय कारणोसे हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिए 'नाथ' तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिए 'सिद्ध' शब्द प्रचलित हो गया; उसी प्रसंगमे 'सिद्ध-साहित्य' बौद्ध सिद्धाचायौंके साहित्यका वाचक होगया है।

सिद्धोंकी रचनाएँ प्रमुखतः दो कान्यरूपोंमें उपलब्ध है—'दोहाकोष' तथा 'चर्यापद'। 'दोहाकोष' दोहोंसे युक्त चतु पिदयों की कहवक ही श्रीम मिलते है। काण्हपा, निलोपा तथा सरहपाके सम्पूर्ण 'दोहाकोष' तथा सरहपाके दो 'खण्डिन दोहाकोष' गिलते है। कुछ दोहे टीकाओमें उद्धृत है और कुछ दोहा-पीतियाँ वौद्ध तन्त्रो तथा साधनाओमे मिली है। चर्यापद बौद्ध तान्त्रिक नर्याके समय गाये जाने-वाले पद है, जो विभिन्न सिद्धाचार्यों द्वारा लिखे गये है, किन्तु एक साथ मंगुहीत कर दिये गये है।

सिद्ध-साहित्यकी खोजकी कथा काफी मनोरंजक है। सन १९०७में हरप्रसाद शास्त्रीको नेपालमे सिद्धोंके ५० पदोंका एक संग्रह गिला, जिसकी प्रतिलिपि कराकर उन्होंने लगभग १० वर्ष बाद बंगीय साहित्य-परिषद्से 'बौद्ध गान ओ दोहा'के नामसे प्रकाशिन कराया, जिसमे चर्यापदोके अतिरिक्त 'सहजाम्नाय-पंजिका' तथा काण्हपाका 'दोहाकोष' (मेखला टीकासहित) भी संगृहीत थे। शास्त्री महोदयका कहना है कि वह पाण्डलिप १२वी शतीकी थी, किन्त राखालदास बनजींने 'श्रीकृष्ण संकीर्तन' नामक प्राचीन वँगलाके एक अन्थका सम्पादन करते समय मुमिकामें शास्त्री महोदय हारा प्रकाशित चर्यापदोकी भाषाका परीक्षण कर यह मत स्थिर किया कि इन पदोका प्रस्तुत रूप रै४वी दाती-से पूर्वका नहीं हो सकता। अतः शास्त्री महोदयने जिस पाण्डलिपिको अपने संस्करणका आधार वनाया था, वह अधिक-सं-अधिक १४वी शतीकी होगी। अब वह पाण्डलिप उपलब्ध नहीं है।

किन्तु चर्याग्दोंके पाठ-निर्धारणके सम्बन्धमें विद्वानोंने यथेष्ट कार्य किया है। उन्होने चर्यापदोंका तिब्बती रूपान्तर हूँ और उसके आधारपर शास्त्री महोदय द्वारा प्रस्तुत पाठमें यथेष्ट संशोधन किये है। इस दिशामे प्रवीधचन्द्र बागचीका कार्य महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्री महोदयके संस्करणमें इस पद-संग्रहका नाम 'चर्या वर्यविनिश्चय' था। विधुशेखर शास्त्रीने इस नामसे अपनी असहमति प्रकट करते हुए इसका सही नाम 'आश्चरं-चर्याच्य' अनुमनित किया था। इसका आधार सम्भवतः मुनिदत्तकी टीकाके प्रथम श्लोककी तृतीय पंक्ति थी— "श्लील्यीचरणादिसिद्धरचितेऽप्याश्चर्यचर्याच्ये"। प्रवोधचन्द्र बागचीने जिस तिब्बती रूपान्तरका आधार ग्रहण किया है, उसमें 'आश्चर्य-चर्या' नाम न होकर केवल इन चर्याओका विशेषणमात्र प्रतीत होता है। तिब्बती रूपान्तरमे इस पद्रसंग्रहका नाम 'चर्यागीतिकोष' है। बागची महोदयने भी इसका यहा नाम स्वीकार किया है और सम्भवतः इसी कारण सुकुमार सेनने अपने 'ओल्ड वज्रयानी टेक्स्य्स'में इन्हें पद न कहकर चर्यागीति कहा है।

तिब्बती अनुवादते यह भी ज्ञात होता है कि मुनिदत्तने ही इन चर्यापदोंका प्रस्तुत रूपमें संकलन किया था और उसपर संस्कृत टीका लिखी थी। कीर्तिचन्द्रने नेपालके पम्बु नगरमे इनका तिब्बती अनुवाद किया था। मुनिदत्तकी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थनिर्णयकी दृष्टिसे तो उसका महत्त्व है ही, किन्तु मुनिदत्तने इन पदोंके अर्थ स्पष्ट करने ले लिए स्थान-स्थानपर सरहपा तथा अन्य आचार्योंके अपभ्रंश तथा संस्कृत छन्द उद्धृत किये है।

मुनिदत्तने ५० चर्यापदींका संग्रह किया था, किन्तु

शास्त्री महोदयका कहना है कि पाण्डुलिपिमेंसे ५ ताइपत्र खो गये थे, अतः २३वें चर्यापदकी केवल ६ पंक्तियाँ मिलती है और २४वें तथा २५वें चर्यापद अनुपलब्ध है। बागची महोदयने उसका तिब्बती रूपान्तर तथा संस्कृत छाया दी है दि० 'सिद्ध')।

[सहायक ग्रन्थ-सिद्ध-साहित्य : धर्मवीर भारती; दोहा-कोष : प्र॰ च॰ वागची; ओल्ड वज्रयानी टेक्स्ट्स : सकुमार सेन; चर्यापद: म० म० वसु ।] —ध० बी० सा० सिद्धियाँ -योग और तन्त्रसे प्रभावित लगभग सभी धर्म-साधनाओंमे साधनाके उपरान्त साधकको सिद्धियोंकी उपलब्ध बतायी जातीथी। इन सिद्धियोंको उपलब्ध करने-वालेको ही सिद्ध पुरुष कहते थे। इन सिद्ध पुरुषोंमें असाधारण अतिमानवीय शक्तियाँ होती थी। अथर्ववेदमे ही इन सिद्धियों और उन्हें उपलब्ध करनेके उपायस्वरूप अभिचारों और अनुष्ठानोंका उल्लेख मिलता है। योगशास्त्र-में जल, औषि, मन्त्र, तप और समाधि इन पाँचोसे उप-लब्ध सिद्धियोंका उल्लेख है। इनमेसे समाधिजा सिद्धिका वर्णन वरते हुए कहा गया है कि जैसे वर्षाकी नदीकी सभी दिशाएँ अवरुद्ध कर उसकी एक ही दिशा उद्घाटित कर दी जाय तो उसमे अपरिमित बल आ जाता है, उसी प्रकार सभी ओरसे चित्तवृत्ति भेका निरोध करनेसे साधकमे अदम्य शक्ति अ। जाती है। सिद्धियाँ अधम, मध्यम तथा उत्तम, नीन अकारकी बतायी जाती है। बौद्ध परम्परामे दो ही प्रकार है - सामान्य तथा उत्तम । अन्तर्धान आदि सामान्य सिद्धियाँ है और प्रज्ञोपाय-समाधिसे उपलब्ध सिद्धियाँ उत्तम है। सिद्धियोकी संख्याके विषयमें कई मत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण'मे सर्वज्ञत्व, दूरश्रवण आदि चौतीस सिद्धियाँ बताथी गयी है, किन्तु हठयोग-साधनामे आठ प्रमुख सिद्धियाँ है-अणिमा, लिघमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायित्व। बौद्ध तन्त्रोंमें भी अष्ट-महासिद्धिका उल्लेख है। उनके नाम हैं-खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रसरसायन, खेचर, भूचर, पाताल; किन्तु ये सभी लौकिक सिद्धियाँ थी। इनसे भी श्रेष्ठ थीं लोबोत्तर सिद्धियाँ, जिन्हे अनुत्तर सिद्धि, महामद्रा सिद्धि या महामुख सिद्धि कहा जाता था। नाथ-योगियोंने बौद्ध परम्पराकी अष्ट सिद्धियाँ न मानकर हिन्दू परम्पराकी आठ महासिद्धियाँ मानी है। गोरखवानीमें एक स्थलपर सिद्धियों-की संख्या २४ बतायी गयी है, पर यह भी संकेत किया गया है कि ये सिद्धियाँ ज्ञानमार्गमे सहायक न होकर बाधक ही सिद्ध होती है। सन्तोंने भक्तिके आगे 'अष्टसिद्धि-नव-निधि'का तिरस्कार कर दिया, यद्यपि उनके अनुयायियोंने सन्तोके विषयमें अतिप्राकृतिक चमत्कारोंकी गाथाएँ प्रच----ध० वी० भा० लित कर रखी हैं।

सिनिसिडम-दे॰ 'संशयवाद'।

सियार-दे॰ 'शृगाल'।

सुआ - भारतीय साहित्यमें तोतोंकी बुद्धिमानीसे सम्बद्ध अनेक आख्यान मिलते है। पद्मावतका हीरामन (या हिरण्यमय, क्योंकि पीले रंगवाले पहाड़ी तोते बड़े बोलता होते हैं) सुआ तो बड़े-बड़े पण्डितोंके कान काट सकता था। कहते हैं मण्डन मिश्रके घरके सुर सदैव ब्रह्मगिराका उच्चा-

रण करते रहते थे। 'कादम्बरी'की सारी कथा शुक ही सुनाता है। 'अमरुक शतक'में सुएने वेचारी नववधूको कितने संकोचमें डाल दिया था (अ० २१०, १६)। श्री हर्परेवकी 'रत्नावली'में शुक्तजानिकी वाचालताका अच्छा नमूना मिलता है। गुरुके निकट पढ़नेवाले विद्यार्थीने जरा-सी गलती की नहीं कि पंजरस्थ शुक तुरन्त उने टोककर सही उच्चारण समझा देता था। लेकिन पुस्तकीय विद्याकी खिली उडानेवाले सन्त तोता रटन्तके घोर विरोधी थे। वे पुस्तकीय ज्ञानको कभी महत्त्व नहीं दे सके। ज्ञानकी गातें करनेवाले 'पढ़े-लिखे सूएको बिलाईको खाते' देखकर उन्हे सदैव उसकी पढाईपर तरस ही आयी, क्योंकि वे अनभै या अनुभवज्ञानके पक्षधर थे। इमीलिए अर्थकी अपेक्षा शब्दपर अधिक जोर देनेवाले वेदको वे स्थूल मानते थे। परिणामतः सुआ उन्हें कभी भी प्रभावित नहीं कर सका और जहाँ भी अज्ञानी, मोहासक्त और पुस्तकीय विद्यामें निपण, पर व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे हीन व्यक्तिकी बातें करनेका उन्हें अवसर मिला, उन्होंने बहुधा सुएको याद किया है। "माया जीवको अपने जालमें फॅसाकर उसे मिटा देती है" यह कहनेके लिए कबीर अपनी कान्यात्मक शैलीमे कह जाते हैं—''पढा-लिखा सूआ विलाईने खाया, पॉडेके हाथि रहि गया पोधा"। यहाँ पढा-लिखा सूआ अनुभवहीन, पण्डित और मायाके पादामें बद्ध जीवके अर्थमे प्रयुक्त है और बिलाई मायाके अर्थमें। सेमलके फूलपर चोच मारनेवाले सुएका उल्लेख सन्तों तथा सगुण भक्तोने भी मूर्ख, विषयासक्त जीवके लिए किया है। कबीर जब कहते है "सुअटा डरपत रह भाई, तोहिं डराई देत विलाई", तो उनका मतलब उस जीवसे होता है, जिसे सदैव मायासे चौकन्ना रहना चाहिये। इस प्रकार सन्तोके साहित्यमे सुआ अज्ञानी, पुस्तकीय ज्ञानसे युक्त पर बेवकूफ, विषयलोल्जप और सामान्य मायालिप्त जीवके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है।

सुंदरी -विंगिक समवृत्त दे० मोदक'।
सुंदरी सवैया -दे० 'संवैया', दसवाँ प्रकार।
सुकुमारता गुण-दे० 'सुण', छठा प्रकार।
सुकुमार मार्ग -दे० 'त्रिमार्ग-सिद्धान्त', पहला प्रकार।
सुखकरण-दे० 'करण रस'।
सखमन-दे० 'हठयोगी'।

सुखमनि—सुखमनि मूलतः सुपुम्णा या सुषुम्नाका ध्वनि-परिवर्तित रूप है। सुपुम्णा शब्दका सबसे पुराना प्रयोग वेदमे मिलता है। वहाँ सूर्यको प्रमुख सात किरणोमेंसे एक किरणका नाम सुषुम्णा बताया गया है। इसी किरणके द्वारा सूर्य चन्द्रमाको प्रकाशित करता है। योगियो, सिद्धों, नाओं और सन्तोके साहित्यमे प्रयुक्त सुपुम्ना या सुखमनिका अर्थ उक्त अर्थसे बिल्कुल भिन्न है। योग-साहित्यके अनुसार मेरुदण्डके भीतर तीन नाडियोंकी स्थिति है—इडा, पिंगला और सुपुम्ना। सुषुम्ना बीचकी नाडो है। इडा और पिंगला इस सुबुम्नाके वाएँ और दाहिने स्थित हैं और वारी-वारीसे ये सांस लेनेमें सहायता पहुँचाती है। नाकके वाएँ छेदसे जब साँस चलती है तो उस समय इड़ा काम करती है और जब साँस दाहिने छेदसे चलती है, तब पिंगला। सामान्य स्थितिमें ये दोनों नाड़ियाँ ही श्वस-

प्रश्वासको चालित रखती है। सुषुम्ना सुप्त अवस्थामें पडी रहती है । सुपुम्नाका शाब्दिक अर्थ है सुसुप्त या सोई हुई । योग साधनाके द्वारा ही इसे जगाया जाता है। जब यह जग जाती है और इडा-पिंगलाके मार्गसे प्रवाहित होनेवाला प्राणवाय सुपुम्नासे होकर प्रवाहित होने लगता है, उस अवस्थामे मनकी सारी चंचलता नष्ट हो जाती है और समाथि लग जाती है। प्राणवायुके मध्यमार्ग (सुपुम्ना-मार्ग)से संचरित होनेपर जो मनःस्थैर्य आता हे हठयोगी उसीको मनोन्मनी (दे॰ 'उन्मनी') कहता है-"मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्य प्रजायते। यो मनः सुखिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी" (हठयोगप्रदीपिका, २:४२) । सन्तो-का यही सुधिम (१. सुक्ष्म, २. सुखपूर्ण) मार्ग है, जो साधनाके द्वारा ही उद्घाटित होता है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी इसी मार्गसे होकर षट्चकोको भेदती हुई सहस्रारस्य परम-शिवसे सामरस्य स्थापित करती है। लक्ष करनेकी बात है कि योगकी सुपुम्ना और देदोक्त सुपुम्णाके अर्थमे कोई साम्य नहीं है, पर लगता है इन दो भिन्न अर्थीका कभी सम्बन्ध अवस्य था। जो अब विस्मृत हो गया है। वेदकी सुष्मणाका सूर्य और चन्द्रमासे सीधा सम्बन्ध है। योगकी सुषुम्नाका भी सूर्य और चन्द्रमासे वैसा ही न सही, पर सम्बन्ध तो है ही। ऊपर जिन इडा और पिंगलाकी चर्चा की गयी है योगमे उन्हें क्रमशः सूर्य और चन्द्रनाडी कहा जाता है। सुषुम्ना इनके बीचमे स्थित मनीवहा नाडी है। अनुमान है कि सूर्य, चन्द्रमा और सुबुम्नाका कोई पराना सम्बन्ध अवस्य होगा, जो आज विस्मृत हो गया है।

सन्तोंकी सुखमनि नारी योगकी सुपुम्ना नाड़ीका ही अर्थ देती है और उन्होंने सुष्मनाके अर्थमे इसका बहुत बार प्रयोग किया है। कवीरका एक प्रयोग है—"सन्तो धागा ट्रटा गगन विनिस गया सबद जु कहाँ सम।ई। एहि ससा मोहि निस दिन व्यापै कोइ न कहै समझाई !! नहीं ब्रह्मण्ड पिंड पुनि नांही पंचतत्त भी नांही। इला, पिंगला सुखमनि नांहीं ए गुण कहाँ समांही" (क॰ ग्रं०, ति०, पद ११३)। सरदासने भी सुषुम्ना अर्थमे सुखमिन इ.ब्दका कई बार प्रयोग किया है (दे० सूर-सागर, ना० प्र० सभा, काशी, पद सं० ४६७, ४१८९, ४७१२)। परन्तु मनमौजी सन्तोने सुधुम्नाके इस नये रूप-सुखमनिमे एक नया अर्थ भरनेकी भी कोशिश की है। अपभ्रंशको 'इ' विभक्ति तृतीया और सप्तमी (अर्थात् करण और अधिकरण कारक) दोनों अथोंमे प्रयुक्त होती है। सुष्टमनाका अपभ्रंश रूप सुखमन होगा। इसमे 'इ' विभक्ति लगनेसे सुखमनि शब्द बनता है। प्रारम्भमे 'इ' इस शब्दके स्त्रीलिंग प्रयोगकी सूचना देनेके लिए लगी होगी, क्योंकि नाडी स्नीलिंग शब्द है और सुखमन एक नाडी विशेषका नाम है। बादमे इससे और अर्थ निकल सकनेकी सम्भावना देखकर सन्तोंने 'इ'को विभक्तिवत् मान-कर इसका अर्थ बैठा लिया होगा—"उस मार्गसे, जिससे मनमे सुख बना रहे"। कबीरका एक प्रयोग है—"अवध् मेरा मनु मतिवारः। उनमनि चढा गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा। गुड़करि ग्यान ध्यान करि महुआ भी भाठी मनधारा। सुखमनि नारी सहज

समांनी पीवे पीवनहारा" (क.० ग्रं०, ति०, पद ५६)। यहाँ 'सुपुम्ना' 'सुखीमन'ते तथा 'मनमे सुखी' जैते तीनो अर्थ 'सुखमिन'से स्पष्ट ध्वनित हो रहे हैं। एक दूसरा प्रयोग है—''सो तत सहने सुखमन कहणा, साच पकडि मन जुगि जुगि रहणा'' (दादू दयालकी अनमे वाणी, पृ० ५९५)। यारी साहवका एक पद है—''विरहिनी मन्दिर दियना वार।×× सुखमन सेज परमतत रहिया, पिया निरगुन निराकार। गावहुरी मिलि आनंदमंगल, यारी मिलिके यार" (सं० सु० सा०, खण्ड २, पृ० ७३), अर्थात् सुपुम्ना रूपी सेजपर निर्भुण, निराकार, परमतत्त्व स्वरूपी प्रियके साथ रहो, या निर्भुण, निराकार एव परमतत्त्व स्वरूपी प्रियको सेजपर सुखीमनसे रहो।

सिखगुरुओंके साहित्यमें भी सुखमणि, सुखमनी, सुखमणा, सुखमण, सुखमना आदि रूपों तथा ऊपर निर्देशित अर्थीमे इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रामें मिलता है। लेकिन लक्ष करनेकी बात है कि यहाँ इस शब्दको एक नयी अर्थगरिमा और पूज्यभाव भी दे दिया गया है। ध्वनि-साम्यके आधारपर शब्दों में नये अर्थ भरनेकी वृत्ति सन्तों मे बहुत ही प्रवल है। सुखमणिका मणि अंश यों तो संस्कृतके सुषुम्णाके 'म्णा'का घिसा हुआ रूप है, किन्तु संस्कृतके मणि-से स्वरूपसाम्य होनेके कारण सिखगुरुओने चिन्तामणिकी तरह ही सुखमणि नामकी काल्पनिक मणिकी उद्भावना कर ली है और जिस प्रकार चिन्तामणिका ध्यान करनेसे तत्काल अभिलिषत वस्तु प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार सुखमणिके ध्यानसे भी जन्म-मरणका दुःख नष्ट हो जाता है है, दुर्लभ देह प्राप्त हो जाता है, तत्क्षण उद्धार हो जाता दु:ख-रोग-भय-भ्रम आदि नष्ट हो जाते हैं। इस सुखमनी-के और भी अनेक गुण है। शोभामे तो वह अप्रतिम और सर्वोच्च है। श्रीकान सिंह नाभाने 'गुरुशब्द रत्नाकर'-महान् कोश, सन् १९६०, पृ० १५७पर सुखमनीके माहात्म्यसे सम्बद्ध एक पद उद्धृत किया है-"जनम मरण ताका दुःख निवारै। दुछहदेह ततकाल उधारै। दुःख रोग विनसै भै भरम, साथ नाम निरमल ताके करम। सबते ऊँच ताकी सोभा बनी, नानक ये गुननाम सुखमनी" ! गुरु अर्जुन देवने भक्तजनोंके मनमें विश्राम करनेवाले प्रभुके सुख और अमृत स्वरूपी नामको ही सुखमनी कहा है—"सुखमनी सुख अमृत प्रभनामु । भगतजना कै मनि विस्नामु" ('सन्तसुधासार' खण्ड १, पृ० ३५४)। एक अन्य स्थलपर वे पुनः यही बात दहराते हैं—''सुखमनी सहज गोविन्द गुननाम''(वही, पृ० ३७०)।

सिखोमे इथर सुखमनीका एक और अर्थ विकसित हो गया है—मनको आनन्द देनेवाली वह वाणी जिसका पाठ प्रातःकाल 'जपुजी'के पश्चात किया जाता है। गुरुप्रन्थ साहवमे संगृहीत यह 'सुखमनी' पाँचवें गुरु अर्जुन देवकी सर्वाधिक प्रसिद्ध, सुन्दर, सरस और आनन्ददायिनी रचना है। 'सुखमनी'मे कुल २४ अष्टपदियाँ है और हर अष्टपदीमें ८० पंक्तियाँ। इस प्रकार यह काफी लम्बी रचना है। आजकल 'सुखमनी' शब्दको सुनकर किसी भी पंजाबी, सुख्यतः सिख, के मनमें ग्रुरु अर्जुनदेवकी इसी रचनाकी स्मृति जमकृती है।

और चूॅिक गुरु अर्जुन देवकी सुखमनीके पद अत्यन्त मधुर और प्रसाद गुण युक्त है, उनमें भक्ति भावनाकी तरल रनेहथाराका अट्टट प्रवाह है और इसलिए उसके पाठसे मनमे सहज आनन्दकी अनुभूति होती है, अतः मुखमनीका एक और भी नया अर्थ विकसित हो गया है—'मनको सुख देनेवाली'। वैसे व्याकरण और शास्त्र दोनोंकी दृष्टिसे सुखमनीसे यह अर्थ निकल नहीं सकता, पर सामान्य जनताको व्याकरण या शास्त्रको न उतनी जान-कारी ही होती है और न परवा ही, अतः यह नया अर्थ चल ---रा० दे० सिं० सुखवाद-अनुकूल भावना सुख है और प्रतिकूल भावना दुःख । इसीलिए मनुने स्ववशता (स्वाधीनता, स्वतन्त्रता)-को सुखका लक्षण माना और परवशता (पराधीनता, पर-तन्त्रता)को दुःखका । 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाही' कहकर तुलसीदासने भी इसी लक्षणका समर्थन किया। कुछ लोग कामनाओकी पूर्तिको सुख और अप्तिको दुःख मानते है। इस प्रकारसे माननेपर भी सुख और दुःखकी भावना होना ही सिद्ध होता है। नैयायिकोंने सुख-दःखको आत्माका गुण माना, तो सांख्योंने चित्तका और अन्य लोगोंने इन्हे बुद्धि-का परिणाम या विकार कहा । नीतिज्ञोंने सुख और दुःखका सम्बन्ध क्रमशः धर्म और अधर्मसे स्थापित किया। कुछने धर्म-अधमेको कारण और सुख-दुःखको कार्य माना। धर्म सुख और अधर्म दुःखमें कारण-कार्य (हेतु-फल)का सम्बन्ध बैठाया गया। इस मतके विपरीत कुछ अन्य नीतिशोंने सुख-दःखको ही क्रमशः धर्म-अधर्मका कारण माना । उन्होंने पहले मतको उलट दिया । इसी दूसरे मतको सुखवाद कहा जाता है। इसके अनुसार धर्म और अधर्म मूल गुण नहीं हैं। जो सुखद है, वही धर्म है; जो दुःखद है, वही अधर्म है। धर्म और अधर्मको मौलिक, स्वतन्त्र और वास्तविक न माननेसे यह मत नीतिकी सार्वभौमतापर प्रहार करता है। इसके विपरीत धर्मवाद है, जिसमे धर्म स्वतन्त्र, मौलिक और वास्तविक माना जाता है और सुख उसके फल समझे जाते हैं। भारतमे चार्वाक दार्शनिक, यूनानमें एरिस्टियस और उसके अनुयायी एपीक्यूरस और उसके अनुयायी एवं इंग्लैण्डमें बेन्थम तथा जान स्टुअर्ट मिल विख्यात सुखवादी

जीवनमं सुख-दुःख घुले-मिले है। दोनोंकी सम मात्रा मान लेना सन्तुलित दृष्टिकीण है। पर मुखवादी जीवनमे सुख अधिक मानते है और दुःखवादो दुःख। एक दूसरेके वादका खण्डन करता है। सन सुख है (सुखवाद) ऐसा माननेपर दुःखकी अनुभूतिकी व्याख्या सम्भव नहीं है। सब दुःख है(दुःखवाद), ऐसा माननेपर सुखकी अनुभृतिकी व्याख्या अनुपपन्न होती है। सुखको दुःखका अभाव कहना अथवा दुःखको सुखका अभाव कहना, इस कारण न्याय-संगत नहीं है। कभी-कंभी चिर दुःख सुख हो जाता है और चिर सुख दुःख। अतः दोनों भावनाओंकी विधायक तथा प्रतिषेधक वास्तविकता है। दोनों अन्योन्याश्रित है।

हो गये हैं।

सुखवादी आशावादी है और दुःखवादी निराशावादी। सुखवादी मानव-जीवनका प्रयोजन सुखमोग मानता है और दुःखवादी दुःस्वेदनाको ही जीवनका सर्वस्व समझता है। साहित्यमें सुखनाद शृंगार रसकी प्रधानताके रूपमें और दुःखनाद करुण रसकी प्रधानताके रूपमें अनतिरति होता है। तत्त्वदर्शनमें सुखनाद भानात्मक (विधायक) दृष्टिकोणको जन्म देता है। व्यवहारमें सुखनाद प्रवृत्तिमार्ग-का और दुःखनाद निवृत्तिमार्गका जनक है। सुखनाद जीननपर जोर देता है और दुःखनाद मृत्युपर। एक भोग-नाद है, तो दूसरा पळायननाद।

सुखवाद समृद्ध समाजकी उपज है और दुःखवाद पतनो--मुख समाजकी । सुखवादके उद्भवके पीछे जनजीवनका उछास, ऐश्वर्य तथा पराक्रम है । दुःखवादकी स्मिका निराद्या, पराजय, दीनता, हाहाकार आदि है ।

सुख एकजातीय है। उसमे प्रकार-मेद नहीं है। वह भौतिक या दैहिक है। बौद्धिय और आध्यात्मिक सुख भी वास्तवमें दैहिक सुखकी पराकाष्ठा है। बेन्थमने सुखके सात आयाम बनलंये हैं—सान्द्रता, ध्रुवता, दीर्घता, शुद्धता, उत्पादकता, वेग और विस्तार। लोगोने उसके दर्शनको 'शूकर-दर्शन' कहा है, क्योंकि उसमें मनुष्य शूकर-कृकर-की मॉति अपने दैहिक सुखोंमें व्यस्त रहता है। मिल्न-ने इस दोषको दूर किया। उसने सुखोम कई प्रकार या जातियाँ मानी हैं। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सुखको उसने दैहिक सुखसे जातितः भिन्न वतलाया है। आध्यात्मिक सुख त्यागमें है, दैहिक सुख भोगमें है। पर यह विवेक सुखकी अनुभूति या भावनासे नहीं होता। यह स्थिर प्रज्ञासे होता है। अतः यह सुखवाद न होकर, प्रज्ञावाद हो जाता है।

सुख-दुःख अनित्य और परिवर्तनशील हैं। अतः वे आत्मा या बुद्धिको नित्य गुण नहीं है। आत्मा बुद्धिका नित्य गुण आनन्द है। अतः कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्तिको सुखके स्थानपर आनन्दकी प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिये (दे॰ 'आनन्दवाद')।

सुखवादके अनुसार केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ है। उसमें धर्म तथा मोक्षको व्यर्थ बतलाया गया है। चार्वाक-का निम्निलिखत रलोक सुखवादका प्रचलित आदर्श प्रकट करता है—''यावज्जीवेत सुखं जीवेत, ऋणं कुत्वा छूतं पिवेत। भरमीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'', अर्थात् जबतक जीना है सुखपूर्वक जीना चाहिये, कर्ज लेकर भी घी पीना चाहिये। शरीरके जल जानेपर (मृत्युके बाद) कहाँ जीव फिर आता है ?

इसका यही अभिप्राय है कि जिस तरहसे भी हो सके, मौज उडाना चाहिये। इस मतमें सुखका तिनक भी सम्बन्ध धर्म या गुणसे नहीं प्रतीत होता है। कर्तन्य-अक-तंन्य, धर्म-अधर्म, गुण-दोषको ऐसे सुख्वादी मानते ही नहीं हैं। वे अपने स्वार्थमे ही रत रहते हैं। उनका सुखवाद घोर स्वार्थवाद है। थोड़ा स्वार्थ सभी प्रकारके सुखवादका आधार है। स्वार्थवाद सुखवादी समाजके नियमोका उल्लंघन करता है और अन्य न्यक्तियोंके अधिकारों अथवा सुखोंकी उपेक्षा करता है। यदि वह पुरानी मर्यादाके स्थानपर नथी मर्यादा स्थापित करे, तो उचित है, पर सुखवादमें मर्यादाका मेळ ही नहीं हो सकता। मर्यादा लानेसे तो धर्म-अधर्मको सुखसे अधिक महत्त्व देना पड़ेगा। समाजके लिए, परार्थ-वादके लिए, स्वार्थवादके दोषोंको दर करनेके लिए किसी- न-किसी मर्यादा या धर्म-प्रतिष्ठाको मानना पड़ेगा। सुख्वादसे अराजकता फैठती है। सुख्वाद दया, सहानुभूति, परोपकार आदि भावनाओं के प्रतिकृत्ठ है। इन कारणोंसे सुख्वाद कोई अच्छा, उपयोगी, सिद्धान्त नहीं प्रतीत होता। किन्तु नैतिक दृष्टिने सुख्वाद भठे ही सर्वाग्रस्त स्त्रोत होता। किन्तु नैतिक दृष्टिने सुख्वाद भठे ही सर्वाग्रस्त स्त्रोत है। मनुष्य सुख चाहता है, भोग करना चाहता है। वह सामान्यतः सुख-भोगको ही जीवन सम्सता है। जिसे सुख-भोग नहीं मिठता, वह अपनेको अभागा या वरवाद समझता है। फिर नैतिक दृष्टिसे भी निम्नतम सुख-भोग मानव-जीवनकी निम्नतम माँग है। इसिठए सुखकी प्रवृत्तिको सन्तुष्ट करना बुरा नहीं है। हाँ, उसकी सन्तुष्टिकी एक मर्यादा-रेखा हो सकती है, जिसके बाहरकी सन्तुष्टि हरी है।

साहित्य मानवकी ममस्त प्रवृत्तियोंको सन्तुष्ट करता है। अतः स्वाभाविक है कि सुखनादका प्रमाव साहित्यपर पड़े। साहित्यों इसकी प्रधानना है। रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहते है। रस क्या हैं? इसकी विरेचनामें हम चाहे जो कुछ कहें, किन्तु इतना निविवाद है कि रस सुख है। वास्तवमे परिचमी वाष्प्रयमे रसके लिए सुखका ही प्रयोग होता है। सुखको ही भारतीय शास्त्रकारोने रसने का नाम दिया है। इस दृष्टिसे समस्त साहित्य सुखनादसे प्रभावित है या यों कहिये कि वह सुखनाद ही है।

किन्तु फिर भी प्रत्येक देशके साहित्यके अन्तर्गत सुख-वादी और दुःखवादी प्रवृत्तियाँ दीख पडती है। प्राचीन-कालमें यूनान देशमे सुखान्त नाटक और दुःखान्त नाटकके भेदसे दो प्रकारके नाटक थे। इनका प्रभाव प्रत्येक भाषा के साहित्यपर यथासमय पड़ा। भारतीय साहित्यपर इनका प्रभाव विशेषतः वीसवीं शतीमे ही पडा। इसके पहले यहाँका साहित्य प्रायः सम्प्र रूपमें 'सुखान्त' था। उसमें कही-कहां करुण-रसकी और विप्रलम्भ-श्वगारकी प्रधानता थी। किन्तु उसका भी अन्त सुखमे होता था और उन्हें भी शास्त्रकारोंने सुख-रूप ही माना है। किसी रसको दुःख-रूप नहीं माना गया है।

किन्तु 'सुखवादका यह न्यापक अर्थ है। इस अर्थमें समस्त साहित्य सुखवादी है। लेकिन सुखवादका एक संकचित अर्थ भी है, जिसे सुविधाके लिए हम भोगवाद कह सकते हैं। इस अर्थमे सख विलासिता है, न कि जीवनकी आवश्यकता या जीवनका उन्नायक । घोर शृंगार और हास्यसे भरे साहित्य इस अर्थमें सखवादी है ! आध-निक हिन्दी साहित्यमे हालावाद (दे०)की प्रवृत्तियाँ भी इसी अर्थमें सुखनादी है। इसके अनुसार सुखका उपभोग सुखके लिए होना चाहिये; सुख सुखके लिए है। सुख जीवनके लिए नहीं है, किन्त जीवन सखके लिए हैं। जिस क्षण जितना सुख मिल गया, वही जीवन सार्थक है, शेष निरर्थंक है। इस विचार-धाराके अनुसार डा० इरिवंश राय 'बचन'ने हालाबादका विशेष प्रचार किया और उनकी 'मधुशाला' इस विषयका एक उच्चकोटिका सर्वप्रिय ग्रन्थ हो गया। उनके अनुसार सुख ही एकमात्र मूल्य है और सखका अर्थ केवल भोग है।

हिन्दी साहित्यमें रीतिकालीन किताओंपर सुखवाद-का बहुत गहरा प्रभाव है। भोग-विलासका वर्णन, नायक-नायिकाओंके हावोंका चित्रण, आध्यात्मिक सुखकों भी भौतिक सुखोंका बाना पहिनाना, स्वयं सुखत्रादी सिद्धान्तीं-के आधारपर जीवन विताना आदि इस कालके अधिकांश किवयोंके कर्तव्य कर्म है। आधुनिक युगमे भौतिकवादके प्रचारके साथ सुखवादका भी प्रसार हुआ, पर साम्यवादके प्रभावने उसको स्वार्थमूलक होनेसे रोक लिया, निदान, वह परार्थमूलक हो गया। परार्थमूलक सुखवाद वस्तुतः सुखवाद न होकर धर्मवाद या मर्यादावाद है, इसको आधु-निक युगके सभी नीतिक्षोंने स्वीकार किया है। मर्यादाके साथ वे कुछ आवश्यक सुख-भोगके भी हामी है, जो अनु-चित नहीं है।

सुखी सबैया-दे॰ 'सपैया', चौदहवाँ प्रकार।

सुगीत — विणिक छन्दों में समवृत्तका एक भेद । ज, भ, र, स, ज, ज के योगते यह वृत्त बनता है (।ऽ।, ऽ॥, ऽ।ऽ, ॥ऽ, ।ऽ।, ।ऽ।) । केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है । उदा० — "सनाट्य जाति गुनाट्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव । सुकुष्णदत्त प्रसिद्ध है महि मिश्र पण्डित राव" (रा० चं०, १:४)। — पु० शु०

सुत्त-[संस्कृत स्क्तका पाली रूप; कुछ लोग इसे संस्कृत 'स्त्र'का पालो राप समझते हैं] (क) साधारण अर्थ—सद्भ चन । (ख) विशेष अर्थ—यह शब्द विशेषतः भगवान् बुद्धते सद्यचनो, सदुपदेशोंके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। धर्मी. विभिन्न अंगो या स्वरूपोके सम्बन्धमे किये गये विशेष प्रश्नोंके उत्तरमें ये स्क भगवान् बुद्ध द्वारा कहे गये ये, ऐसा वौद्ध सम्प्रदायका मत है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि इन सुत्तोंमे बौद्ध धर्मके मौलिक स्वरूप उसके मौलिक सिद्धानोंका विशेचन है। इनका संग्रह 'सुत्तिपटक' और विशेषकर उसके 'सुद्दक्तिकाय'के 'सुत्त-निपात'मे है।

—आ० प्र० मि०

सुदर्शन-गोरखपन्थी योगी अपना कान फड़वाकर उसमे मिट्टी, धातु, हरिणके सींग, बिल्लौर या लकड़ीकी बनी एक मुद्रा पहनते है, जिसे 'दर्शन' या 'दरसन' कहा जाता हैं। इसी दर्शन या मुद्राके कारण उन्हें 'दरसनी' भी कहा जाता है (दे॰ 'कनफटा', 'औघड')। 'गोरखनाय एण्ड कनफटा योगीज' पृ० १२४पर श्री ब्रिग्सने पुरीके महन्तसे प्राप्त एक सुचनाका उल्लेख किया है कि सतनाथी साधु कपड़ेसे लिपटे हुए एक तृणदण्डको अपने साथ रखते है। यह इन साधुओका विशेष चिह्न है, जिसे ये सुदर्शन कहते हैं। ब्रिग्सने इसे लकुलीशों (लाकुल)का अवशेष होनेकी सम्भावना व्यक्त की है। सम्भावना बहुत कुछ सही भी मालूम होती है। और यदि यह सन है तो अपने साथ एक और सम्मावनाको जन्म देती है कि सतनाथी शाखा भी पाद्मपतोकी कोई शाखा होगी जो वादमे गोरखनाथके प्रभावमे आयी होगी। तेरहवी-चौदहवी शताब्दीतक सत-नाथी धरमनाथको रावल समझा भी गया था।-रा० सि० सुधासार भक्ति-प्रेमा भक्तिको सुधासार भक्ति भी कहते हैं। पुष्टिमार्गमे गोपी-भावसे भगवान् श्रीकृष्णके अधरामृतका पान अभीष्ट होता है। सम्भवतः इसीलिए इसे सुधासार भी

कहा जाने लगा। 'सूरसागर'में इसका उल्लेख है—"जो मुख सदा सुधा ॲचनत है ते निष नयों अधिकारी" तथा "रास रसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान । सर ऐसे रूप विनु कोउ कहा रक्षक आन ?" (भ्र० गी० सा०, पु० ३१) । सुपर ईगो - इड और अहम् (दे० 'अहम्')के संघर्षमें एक तीसरा सदस्य और आ जाता है, जिसके कारण यह संवर्ष और भी जटिल हो जाता है। यह है सुपर ईगो (आदर्श अहम्)। सुपर ईगोको हम सामान्य भाषामें प्रयुक्त अन्त-र्वोध या अन्तरात्माका फायडीय नाम मान सकते है। वचपनमें व्यक्तित्वका एक अंश पितासे प्रेम करता है और दूसरा अंश पितासे घुणा और ईष्यी। इन विरोधी भाव-नाओं के संघर्षको शिशु पिताके व्यक्तित्व एकीकरण करके सुलझाता है। इस प्रकार एक ओर तो बच्चेकी स्वाभाविक वासनाएँ होती है और दूसरी ओर व्यक्तित्वका वह अंश, जो पिताका प्रतिनिधि और अनुशासनका प्रतीक है। उचित अनुचितको नैतिक मान्यताएँ इसी अंश द्वारा निर्मित होती है। इसे अहम्का ही एक विकसित अंश मान सकते है, अहम्के समान ही यह भी मनोवैज्ञानिक रूपते संघटित होता है। यह सुपर ईगो अहम और इदम्, दोनोंको निय-न्त्रणमें रखता है। अहम्को इदम् और सुपर ईगो, दोनोंके सन्तोपका ध्यान रखना पडता है। कभी-कभी जब सुपर ईगोकी मॉग बहुत ऊँची होती है तो ईगोको बहुत शक्तिको व्यय करके इडका दमन करना पडता है, किन्त इससे वह स्नायविक रोगोको जन्म देता है।

सुपर ईगो माता-पिताका प्रतिनिधि होनेके कारण कुछ अंशोंभे वंशगत होता है, परन्तु आगे चलकर जो व्यक्ति माता पिताके अनुशासनके प्रतीक बनते है, जैते शिक्षक, उनके व्यक्तित्वका प्रमाव भी सुपर ईगोके विकासपर पडता है।

इड ईगो और सुपर ईगोके संवर्ष तथा उसके विश्ले-षणका साहित्यमे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विश्लेषण-की सहायतासे अधिकांश आधुनिक साहित्यिक अपने पात्री-का चरित्रनिर्माण और चरित्रदोषोंका स्पष्टीकरण करते हैं। पुराने कलाकारो की भाँति केवल सामाजिक तथ्योको प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य नही रहता, वे उन तथ्योंका मूल कारण घटनाओंके पात्रोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके स्पष्ट करते है। आधुनिक कथासाहित्यका अधिकांश इस अन्तर्द्धन्द्रके विश्लेषणको प्रधानता देता है। कुछ विशेष कथाकारोंके नायक ऐसे ही त्यक्ति है, जो स्नायविक रोगी है या अन्तर्द्धन्द्वके कारण अर्घविक्षिप्त-से हैं। इन कथा-कारोंका उद्देश्य अपने नायकके गृढ मानसिक द्वन्द्वको स्पष्ट करके, उसके व्यक्तित्वपर सामाजिक और नैतिक विशेषताओं, समाजकी विषम परिस्थितियोंके प्रभावको महत्त्व देना है। इस प्रकारके कथाकारोमे इलाचन्द्र जोशी ---प्री० अ० उल्लेखनीय है ।

सुप्रिया निर्णिक छन्दों समवृत्तका एक मेद । चार नगण और सगणके योगसे यह वृत्त बनता है (॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥ऽ) । जयकीतिने इसका रुचिरा (रं१८७) एवं शशिकला (२:१८४) नाम दिया है । केशवने इस वृत्तका प्रयोग

किया है—"कहुँ दिजगण मिलि सुख श्रुति पढ़ही। कहुँ हरि हरि, हर हर रट रटही"(रा० चं०, ३: २)। —पु० शु० सभाषित—३० 'सुक्तिकाव्य'।

सुमुखी - वर्णिक छन्दों में समवृत्तका एक भेद । प्राकृत-पेगलम्'(२:१०३) में इसका लक्षण है; इसका चरण नगण, दो जगण और लघु-गुरुके योग में बनता है (III, ISI, ISI, IS) । हेमचन्द्रके 'छन्दोऽनुशासन' (२:१६) में इस नामका भिन्न छन्द है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। इसका मात्रिक रूप हाकलि छन्द (१४ मात्रा) है। उदा०— "सब नगरी बहु शोभ रये। जह तह मंगलचार ठये। बरनत है कविराज बने। तन मन बुद्धि विवेक सने" (रा० चं०, ८:१)। —पु० शु०

सुमुखी सवैया — दे० 'सवैया', तीसरा प्रकार ।
सुरित १ — सुरित और निरित, इन दो शब्दोंका सन्नोंके
साहित्यमें अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु उनके उद्भव और
अर्थपर विशेष प्रकाश नहीं पड़ा है। कुछ विद्वानोंने सुरितका अर्थ स्रोत या चित्तप्रवाह लिया है। चित्तप्रवाह
विज्ञानवादकी याद दिलाता है, किन्तु इस अर्थमें सिद्ध,
नाथ या सन्त, किमीने भी इस शब्दका प्रयोग नहीं किया
है। हिन्दीमें सुरितिके कई अर्थ हो सकते है—प्रेम-कीडा,
स्मृति, शृति।

मिद्धोंके दोहोमे जहाँ सुरित शब्दका प्रयोग है, वहाँ इसके अर्थमें कोई अरपष्टता या दुरूहता नहीं है। सरहपा इसे कमल-कुल्टिश योगके अर्थमे—मैशुन-क्रीड़ाका चोतक मानते है, "कमल कुलिश वेवि मज्झिठअ जो सो सुरअ विलास" (दोहाकोष), किन्तु नाथ-सम्प्रदायमें इसका अर्थ बदल गया। ज्ञात यह होता है कि गोरखने इसके मैशुन-परक अर्थका विष्कार कर इसको श्रुति(नाद या शब्द)के अर्थमें ग्रहण किया। नाथ-साधनाका एक बहुत पुराना नाम शब्दसुरिन-योग भी बताया जाता है। 'गोरखवानी'मे एक स्थानपर गोरख-मछीन्द्र-संवादमे वताया गया है कि सुरित शब्दकी वह अवस्था है, जब वह दित्तमे स्थित रहता है, शब्द अनहद नाद है, ब्रह्माण्डव्यापी। निरित इन दोनोंसे परे निरालम्ब स्थिति है, जिसे सहज स्थिति भी कह सकते है।

सन्तोंमें सुरति शब्दका प्रयोग सिद्धोके मैथुनपरक अर्थीमे न होकर नाथोके श्रुतिके अर्थमे हुआ है-"सुरित समानी निरतिमे अजपा माहै जाप" (क्॰ ग्र॰)। साथ ही वैष्णव प्रभावसे वे उसे प्रभुके सारणके अर्थमे भी प्रयुक्त करते प्रतीत होते हैं। गुलाल, पलटू आदि इसे विविध अर्थीं मे प्रयुक्त करते है और परवर्ती कबीरपन्थी साहित्यमे तो पाँच प्रकारकी सुरति और आठ प्रकारकी सुरतिका वर्णन है। 'श्वास-गुंजार'में शब्द पुरुषकी दो शक्तियोंके रूपमे सुरति-निरतिका उल्लेख है। 'ज्ञानिस्थितिबोध'मे सर्वोच चकको सुरति कमल कहा गया है। ---ध० बी० भा० सुरति २ - सुरति शब्द सन्त-साहित्यका अतिपरिचित और पग-पगपर प्रयुक्त होनेवाला शब्द है। परिस्थितिभेदसे यह वर्इ-कई अर्थ भी देता है—(१) स्मृति, याद; (२) श्रवण विषय; (३) स्मृतिशास्त्र; (४) अपने सच्चे स्वरूपकी स्मृति, (º) परमप्रेयानसे अपने सम्बन्धको स्मृति—अर्थात 'सोऽह- मिस्म'की वृत्तिका स्मरण या उदय; (६) सुरत, अर्थात् स्नी-पुरुष, शक्ति-शक्तिमान् , माया-ब्रह्म, प्रिय-प्रियाकी केलि-क्रीडा; (७) प्रेम, आसक्ति, अनुरक्ति, (८) सुन्दर रित या परमात्माविषयक रित, चिन्मुख प्रेम—क्योकि सामान्य स्त्री-पुरुषकी, जडोन्मुख अर्थात् स्थूल शारीरिक सुषमाओं एवं आकर्षणों से उत्थित प्रेमानुभृति रित है और सत्-चित्-आनन्द रूप परमप्रेयान्के प्रति उत्थित प्रेम उक्त लौकिक एवं जडोन्मुख रितसे विशिष्ट होनेके कारण 'सुरित' है; (९) सूरत (अर्ब) रूप, आकृति, श्रृह्ण; (१०) ध्यान । सन्त-साहित्यमें उक्त सभी अर्थोंमे इस शब्दका प्रयोग पर्याप्त मात्रामें मिलता है।

१. सुरति मूलतः संस्कृतके स्मृति शब्दका ध्वनिपरि-वर्तित रूप है। संस्कृतमे रमृतिका अर्थ होता है—(१) पुरानी वातों, बस्तुओं, व्यक्तियों, स्थानो या स्थितियोंकी याद । इस अर्थमे सन्त-साहित्यमे इस शब्दका यदा-कदा प्रयोग मिल जाता है, जेसे--"नर कै संग सुआ हरि बोलै हरि परताप न जानै। जौ कबहूँ उडि जाय जंगल मै बहुरि सरित निहं आनै"-कबीर (क॰ ग्रं॰: तिवारी, पद १७९)। दाद् भी कहते है-"जब नाहिं सुरति सरीरकी, विसरै सब संसार। आतमन जाणे आप को, तब एक रह्या निरधार" (दा०की अनमें वाणी, पू० ११३, साखी १५३)। स्मरणशक्ति या यादके अर्थमे भी इसका प्रयोग हुआ है—''दादू हू बलिहारी सुरति की, सबकी करें सम्हाल। कीडी कुंजर पलक मै करता है प्रतिपाल" (वही, प० ३४१)। (२) संस्कृत श्रित शब्दसे भी घिसकर 'सरति' शब्द बन जाता है, जो अवण विषय या अवण-शक्तिका अर्थ देता है। सन्तोंमे इसका इस अर्थमें भी प्रयोग मिल जाता है—"ऐसा कोई ना मिले समझै सैन सुजान। ढोल बजनता ना सने, सरति बिहना कान" (कबीर ग्रं०: तिवारी, प्र० १५९)। श्रवणविषय अर्थमे दाद्की एक साखी है-"सबघट श्रवनां सुरति सौ सबधट रसना बैन। सबघट नैना है रहै, दादू बिरहा ऐन" (वही, पृ० ७८)। (३) रमतिशास्त्रके अर्थमें भी इसका बहुत बार व्यवहार हुआ हैं। यह अर्थ निकालनेके लिए बहुधा सन्तोंने इसे संभ्रित या सिंमित बना दिया है—"का सुनहाँ की सुंमित सुनाएँ। का साकत पहिं हरिग्रन गाएँ" (का॰ ग्रं॰; तिवारी; पद, १६८) । ऊपर संकेनित अर्थ संख्या ४से ८ सन्तोके चिन्तन और उनकी साधनासे गहरे रूपसे सम्बद्ध है, अतः उनपर आनेके पूर्व इसके सूरत अर्थात् रूप, और ध्यानका अर्थ देनेवाले प्रयोगोको देख लेना अच्छा होगा। सन्तोंने इन दोनो अर्थीमे भी इस शब्दका प्रयोग बहुधा किया है-सूरत = रूप-"सुन्दरि सुरति सिंगार करि, सनमुख परसे पीव । मो मन्दिर मोहन आपिया वारूँ तन मन जीव" (दाद, वही, पृ० ५४२)। ध्यान, ख्याल या चिन्ताके अर्थमे कबीरका एक प्रयोग है—"दरमांदा ठाढ़ो दरबारि। तुमबिन सुरित करै को मेरी दरसन दीजै खोलि किंवारि"॥ (क० ग्रं० : तिवारी, पद ४५) । इस अर्थमे परवतीं हिन्दी-साहित्यमे भी सुरति शब्दका पर्याप्त प्रयोग हुआ है-"कबहॅक सरित करत रधनायक"-तुलसी: रामचरित मानस । जहाँतक उक्त अर्थीका सम्बन्ध है, सन्तों द्वारा

बहुत बार उन्हें सुरित शब्द द्वारा बोधित कराया है, किन्तु इन अथॉम उनकी साधना पद्धति और चिन्तन-मननकी दिशाका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। उक्त अथॉक संकेतका तात्पर्य यहीं है कि रान्त सुरितके इन अथॉसे भी परिचित थे। वैसे सुरितको उन्होंने जिस विशिष्ट अर्थमें स्नीकार किया है, वह बाफी सुचिन्तित हैं और उस सारी चिन्ताधारासे जो अपिरिचित है, उनके लिए भ्रामक और कही-कहीं नितान्त अटपटा भी।

हमने लक्ष्य किया है कि संस्कृत स्मृतिसे घिसकर बनने-वाले सुरति शब्दमे यादका अर्थ पूरी तरह जुड़ा हुआ है, पर सन्त इसमे प्रेमका मधुर-कोमल अर्थभी भरते है। उन्हें याद करने मात्रसे सन्तोष नहीं होता। वे यादमे प्रीतिको अनिवार्य रूपन जोड़े रखते है। जो मात्र स्मरण-को महत्त्व देते है, केवल राम नामके उच्चारणको मुक्ति देनेवाला मानते है, ऐसे पण्डित इन सन्तोको पहले दर्जिके झूठे लगते है। कबीरने साफ कहा है—"पण्डित बाद बदै सो झूठा। राम कहे दुनियाँ गति पानै, खाँड़ कहे मुख मीठा ।। पावक कहे पॉव जो दाझै जल कहे त्रिखा बुझाई। भोजन कहे भूख जो भाज तौ सब बोई तिरिजाई" आदि (क॰ ग्रं॰, तिवारी: पद, १७९)। इस प्रकार इन सन्तोने सुरतिमे एक नया अर्थ भरा - जैसी-तैसी सभी यादें सुरति नहीं, रति अर्थात् भावकी सान्द्रता प्राप्त स्थिति-वाली स्मृति 'सुरति' है। लेकिन सन्तोको इतना भी नाकाफी लगा। जनकी बात अभी पूरी व्यक्त हो नहीं पा रही थी, क्योंकि रित मूलतः लौकिक या जड़ोन्मुख प्रेमके अर्थमे रूढ शब्द था। सन्तोको यह रति कभी अच्छी नहीं लगी। सन्तोपर नाथपन्थकी हठयोगी साधनाका पर्याप्त प्रभाव था। गोरखनाथ 'बिन्द् न देवै सुपणे जाण'के कठोर-तम संयमके पक्षधर थे। 'यन्द्रीका लडबड़ा जिह्नआका फूहड़ा'' गोरखके मतसे प्रत्यक्ष चूहड़ा था (गो० वा०, सबदी, १५२)। और सन्त शतप्रतिशत इस संयमको स्वीकार करते थे। परिणामतः जड़ोन्मुख-रूप, रंग, स्पर्श, गन्धादिके उपभोगकी शारीरिक भूखको प्रमुखता देनेवाली रति उनका आदर्श कभी नही हो सकती थी। संयोगसे स्मृतिस विसकर जो तद्भव रूप बना, वह सरति था । रतिसे थोड़ा-सा ध्वनि साम्य मिला नहीं कि सन्तोंने इसे नये तथा भिन्न अर्थ देनेवाले 'सुरति' शब्दकी नथी व्याख्या कर ली सु+रित= सुन्दर रित । सुन्दर, अर्थात् चिन्मुख । सन्तोके पहलेसे, सिद्धों और नाथोंमे भी ध्वनि-साम्यके आधारपर शब्दोमें नये अर्थ भरने तथा किसी शब्दके एक-एक वर्णकी नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर नयी अर्थवत्ता देनेकी वृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। सन्तोमे इसका अतिरेक मिलता है। सुरतिका अर्थ चिन्मुख प्रेम हुआ तो दार्शनिक चिन्तनकी परम्परा आगे बढ़ी। ब्रह्मके प्रति पक्की सुरति (प्रीति) सम्भव ही नहीं थी, जबतक भौतिक आकर्षणोंकी मायामे मन अनुरक्त रहे। सहज भावसे उस 'अलख निरजन परमपद'को प्राप्त करनेके दावेदार सहज-यानियोको कबीरने असहज होते देखा था! उनका कहना था-"सहजे सहजे सब गए सुत बित कांमिनि कांम। एकमेक होइ मिछि रहा दास कबीरा राम" (क० ग्रं०:

तिवारी, पृ० २४२, ३)। कवीरके मतसे सहज वह नह था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा सरह कर गये थे। विषयोंका मुक्त रमण और पूर्ण अनासक्ति परस्पर विरोधी बातें है। सहजता विषयोंके रमणमे नहीं, विषयोंके त्यागमें है-"सहज-सहज सब कोर कहै सहज न चीन्है कोइ। जिहि सहजे विखया तजे, सहज कहावे सोई" (वही, प्र २४२, १)। विषयोके त्यागके लिए वैराग्य या निरति आवस्यक है। यह निरति आती है आत्मस्वरूपकी सही पहचानसे । यह पहचान अपने पारमार्थिक स्वरूपकी स्मृतिके विना सम्भव नहीं। जिस दिन जीव जान जाता है कि वह तत्त्वतः परमात्मा हो है; सोऽहमस्मिकी चेतना जब उसमे जगती है तो क्षुद्र-क्षणधर्मा जागतिक प्रपंचमे उसका मन स्वयमेव विरक्त हो जाता है। यह दूसरी निरति है और उत्तम कोटिकी है। इसमे बाह्य विपयोके प्रति 'निरति' और आन्तर विषयोके प्रति आसक्तिका सामरस्य होता है। सन्तोंकी शब्दावलीमे यह 'सुरति-निरतिपरचा' (= परिचय) है। इस स्थितिमें "सुरित समानी निरितिमें निरति रही निरधार । सुरति निरति परचा भया तब ख़ुलि गया सिभु दुवार" (क० ग्रं०: ति०, पृ० १७०, २४)। यह सुरतिका निरतिमे समाना हुआ जिससे उस परम-प्रियतमके 'वेगमपुरे'का द्वार खुलता है। पर सन्तोंने जहाँ सरितके निरितमे समानेकी बहुदाः चर्चा की है निरितको सुरतिमे समाती भी बताया है। यह प्रथम निरति है। वैसे बात एक ही है बस क्रम उलट गया है। जब सद्गुरुके उपदेशसे, मुद्री तानकर चलाये गये उसके शब्दबाणसे साधकका बाह्यावरण छिद जाता है (क॰ प्र॰: ति॰, पृ॰ १२९, २३) और विरहकी पीड़ामे वह गीली लकड़ीकी तरह सुलगने और धुंधुआने लगता है (क॰ ग्रं॰: ति॰, पृ॰ १४१,८) तो सन्त लोग इसोको निरतिका सुरतिमे समाना कहते है। यह प्रथम निरतिकी अवस्था अन्तिम अवस्था नहीं है, अन्तिम तो दितीय सुरति है। प्रथम सुरतिमें जब ली (दे०) लग जाती है, तभी सिंहद्वार खुलता है और उस अगम (दे॰) पुरके वासीके दर्शन होते हैं। गुरुके दिखाये रास्तेसे चलकर घटमें ही अवध मिल जाता है, उसके रूप (सूरत)से परिचय हो जाता है (क॰ ग्रं॰: ति०, पृ० १६९, १९) — एक रूप, जो अनन्त है, अपार है, सीमाहीन, अनवच्छिन्न और अरूप है। और यह कि उस असीमको, अनहदको सीमाकी सहायता विना ही पा लिया जाता है और कबीरको उसका सीमातीत रूप दिख जाता है-"हइ छॉडि बेहद गया, सुन्नि किया अस्थांन। कँवल जु फूल्या फूल विन को निरखै निज दास"। थोड़े स्थूल रूपमें दादूको जगत्के एक-एक रूपमे उस प्रियतमकी स्रत (न्र) दिखने लगती है—"दादू अलख अलाहका, कुछ कैसा है नूर। बेहद वाको हद नही, रूप-रूप सब नूर"। यही प्रियंके रूपकी पहचान और संगति सामरस्यकी उस अवस्थातक पहुँचाती है—आत्मा और परमात्मा, जीव और ब्रह्म, प्रिय और प्रिया एकमेक हो जाते हैं। इस एक-मेकत्व या अभिन्नविग्रहत्वका संकेत देनेके लिए सन्तोंने सुरतिमें एक नया अर्थ सुरत (काम-क्रीड़ा, केलि) में जोड़ दिया है। सन्त इसी ऊँची स्थितिको बतानेके लिए मैश्रुन-

परक उपमाओं, रूपको एव प्रतीकोका सहारा लेते है। सन्त मर्यादावादी थे। कामिनीके अंगके प्रति अरति और राम नामके प्रति रति या सुरति उन्हें प्रिय थी, पर सुरतिका सरत अर्थ उनके मनमे था अवस्य (दे० कवीर ग्रं०: ति०. पू० १५८, ४१), बस वे शाक्तों जैसी मैथनपरक शब्दावली एवं विपरीत रति जैसे क्रियाव्यापारका प्रयोग-व्याख्यान नहीं कर सकते थे, पर प्रियक संग 'सूनने'के अनेक उल्लेख इसी ओर संकेत करते है। इसी अवस्थाको प्राप्त साधक चाहता है कि वह अपने प्रियको ऑखोंमे बिठाकर पलकें मॅद ले, न स्वयं किसीकी ओर देखे, न प्रियको अन्यत्र देखने दे (क॰ ग्रं॰: ति॰, १७६, १२)। इस अवस्थामें एक ओर जहाँ सदैव प्रियकी सुरति (ध्यान, याद) बनी रहती है, वहीं यह प्रार्थना भी फूटती रहती है-"तुम विन सुरति करै को मेरी' (क० ग्रं०: ति०, पद ४५)। इस प्रकार वहत पहलेसे ही साधको द्वारा प्रयक्त स्मृति शब्दमे निष्पन्न सरति शब्दमे सन्तोने ऊपर संकेतित एवं क्रमशः विकसित विभिन्न अर्थोंको बड़ी चत्रराईसे भरा है और इस एक राब्द-मे एक लम्बे दार्शनिक चिन्तनको मूचित कर दिया है (बौद्धशास्त्रोंमे समृतिका क्या अर्थ किया गया है, इसके लिए दे० हजारीप्रसाद दिवेदीकी पुस्तक 'सहजसाधना', पृ० ७२-७३) । सरित डोर-वैसे सन्तोंने सरत (दे० 'सरत')को लेकर अनेक रूपक बाँघा और सुरतकमान (क० ग्रं०: ति०, पद ४), सरति ढेंकुली(बही, पृ० १७८, ६),सुरति नालि(सुरति रूपी तोपकी नली-वहीं, पद २५) आदि रूपोंमें प्रयुक्त किया है, पर 'सरतिडोर' उनका ऐमा शब्द है, जो ठीक इसी पारि-भाषिक अर्थमे, बौद्धग्रंथोमें 'स्मृतिरज्ज़' रूपमे मिल जाता है। शान्तिदेवने 'बोधिचर्यावतार'मे 'सुरतिडोर'के पूर्ववर्ता स्मृतिरज्जुका अच्छा विवरण दिया है और बताया है कि अगर चित्त रूपी मातंग (हाथी)को स्मृति रूपी रस्मीसे, चारों ओरसे अच्छी तरह बॉथ लिया गया तो सभी प्रकारके भय नष्ट हो जाते है और सभी कल्याण प्राप्त हो जाते है-"बद्धश्चेचित्त मातंगः स्मृतिरज्वा समन्ततः। भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्"। सन्तोंकी सुरतिडोर भी यही काम देती है। -रा० दे० सिं०

सुषुम्ना - दे० 'हठयोग'। सहरवर्दी -दे० 'स्फी-सम्प्रवाय'।

स्किकाच्य – वह काव्य, जिसमें किविके जीवन-अनुभवोंका सार चेतावनीके रूपमे अभिव्यक्त होता है। सृक्तिकाव्य-कारका लक्ष्य पाटकका मनोरंजन करना नहीं, बिल्क उसमें इहलोंकिक और पारलोंकिक जीवनका परिमार्जन और परिशोधन करना होता है। वह मानव-प्रकृतिको उसके विभिन्न सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धोमे समझता-बूझता है। जब उसके मानसमे किसी सम्बन्धका एक विशेष कोण सामने आता है तो उसे वह बहुत-कुछ निष्कर्षात्मक रूपमें सामने रखता है। इतना तो प्रथम चरण रहा, जिसे हम स्कि कहेगे, किन्तु इस स्किको स्किकाव्य बननेमें काव्योपादानोंसे संयुक्त होना पडता है। ये काव्योपादान प्रायः चित्रमूलक अलंकार होते हैं। स्कि-काव्य मुक्तकरूपमें तो लिखे ही जाते हैं, प्रवन्धोंमें भी कहीं-

कही आ जाते है। इनमे जो बहुत ही सुन्दर या नैतिकता-पूर्ण सुक्तियाँ होती हैं, उन्हें सुभाषित कहा जाता है।

संस्कृतमें सक्तिसाहित्य बहुत लिखा गया है। चाणक्य, भोजराज, वररुचि, वेतालभट्ट, भर्तृहरि आदि संस्कृतके अनेक रचनाकरोंने स्वतन्त्र सुक्तिकाव्योंकी रचना की। अपभंशमें हेमचन्द्रके 'प्राकृतव्याकरण' और 'प्रबन्ध-चिन्नामणि' आदिमे भी पर्याप्त संख्यामे सक्तिकाव्यका सन्निवेदा हुआ है। हिन्दीमे रहीम, तुलसी, वृन्द, दीन-दयाल गिरि, गिरिधर आदि अनेक प्रौढ स्कितार हुए है। भक्तिकाव्य और श्रंगारकाव्यके लेखक भी कभी-कभी अपने क्षेत्रसे हटकर सक्तियोकी रचना कर जाते है। उदाहरणके लिए कबीरकी रचनाएँ और बिहारीके नीतिपरक तथा तत्त्वात्मक दोहे लिये जा सकते है। — शं० ना० सिं० सक्ष्म-गृहार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार । इस अलंकारका प्रचलन भामहके पूर्वें सहा है, पर अर्थवैचिज्यके अभावमें उन्होने इसे स्वीकार नहीं किया। दण्डीने सूक्ष्मको स्वतन्त्र रूपमें स्वीकार किया है। मन्मट आदि रुद्रटकी अपेक्षा इसके निरूपणमे दण्डी तथा रुय्यकके अधिक निकट है। मम्मट तथा विश्वनाथके अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"आकृति तथा इंगितके द्वारा प्रतीत अर्थ भी किसी चात्र्यपर्ण संकेतसे जहाँ सहृदयके लिए सम्बद्ध वनाया जाय" (का० प्र०, १०: १२२; सा० द०, १०: ९१) । हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके लक्षण दिये है-"जानि पराये चित्तकी. ईहा जो आक्त" (ल० ल०, ३५४), अथवा-"चतर चतर बातें करे, संग्या कछ ठहराइ" (का० नि०, १५), अर्थात् किसी इंगित या आकारसे जाने हुए सुक्ष्म अर्थको किसी यक्तिसे सूचित करना सूक्ष्म अलंकार है। चेष्टा द्वारा लक्षित तथा आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्मके ये दो भेद कहे गये हैं। उदा०—"लखि गुरुजन बिच कमलमी, सीस छवायी इयाम । हरि सम्मुख करि आरसी, हिये लगाई बाम" (बि॰ स०. २४)। यहाँ कृष्णने कमलसे अपना सिर छुआया तथा राधिकाने अपनी आरसी हृदयमे लगा ली और इस प्रकार चेष्टा द्वारा अपना भाव व्यक्त किया है। इसी प्रकार "पर तिथ होपु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि। कस करि राखी मिश्र हु मुख आयी मुसकानि" (वि०र०, २६४)। यहाँ आकार (मुस्कान) द्वारा सूक्ष्म रहस्यकी व्यंजना की गया है। —ঘ০ এ০ আ০ सूक्ष्म शरीर-इसे लिंग शरीर भी कहा जाता है। वृह-दारण्यक उपनिषद् (४:४, ५) मे बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस, अनितेजस, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म, अपर्म आदिको साथ लेकर स्थूल शरीरका त्याग करती है। सांख्यकारिका, ४०मे प्रायः इन सभीको 'लिंगशरीर' कहा गया है। इन्द्रियो, पंचननमात्राओं एवं अन्नमय कोषको छोडकर दोष कोषोके योगसे यह सक्ष्म या लिंगदारीर निर्मित होता है, ऐसा वेदान्तियोंका मत है। वेदान्तमे 'लिंगशरीर'को कई प्रकारसे समझाया गया है। वेदान्तसार, १३में सूक्ष्मशरीरके सत्रह अवयवोका उल्लेख मिलता है— दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन नथा बुद्धि । सुरेश्वराचार्यकृत

३२-३७ मे आठपुरियो (१. पॉच 'पंचीकरण वातिक', ज्ञानेन्द्रियाँ, २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३. अंतःकरण-अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ४. पॉच प्राण, ५. पॉच तन्मात्र, ६. अविद्या, ७. काम तथा ८. कर्म)को सुक्ष्म या लिगशरीर कहा गया है। उपनिपदोमें इस बातको बार-बार समझाया गया है कि मृत्युके बाद स्थूलदेहसे आत्मा विच्छिन्न हो जाती है, पर सुक्ष्मशरीर तब भी उसके साथ लगा रहता है। इसी तरहकी वान गीता (१५: ७-८)में भी कही -रा० दे० सि० सूच्य-रूपक्रमें वे वस्तुऍ, जो रसहीन, अनैतिकतापूर्ण, रसोद्रेकक्षमतासे च्युत होती है रंगमंचपर नहीं दिखायी जाती। उन्हें सूच्य या ससूच्य कहते हैं। इनकी स्चना अर्थोपक्षेपकों (दे०) द्वारा दी जाती है। सूत्र-[सूत्र (चुरादि उभयपदी) यन्थने वेष्टने च + अच्-सूत्र्यते इति सूत्रम् ; अथवा षिवु तन्तुसन्ताने (सीना) + ष्टुन्-सीव्यते अनेन (भानुजी दीक्षितकृत अमरकोषटीका रामाश्रमी)] (क) साधारण अर्थ-१. सूत, धागा; २. विस-तन्तु, यथा—"सुरांगनां कर्पति खण्डितायात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी" (विक्रमीर्वशीय, १:१९); ३. तार; ४. यशीपवीत; ५. कठपुतलियोंमे बॅधी हुई डोरी। (ख) विशेष अर्थ--१. सरलतासे सरण रखनेके लिए रचे गये अत्यन्त छोटे वाक्य, जिनमें अत्यधिक सार या गम्भीर अर्थ अनुबद्ध कर दिया गया हो। इसका लक्षण प्राचीन ग्रन्थोंमे इस प्रकार मिलता है--- 'स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारविद्वरवतोमुखम्। अस्तोभ-मन चं च सूत्र स्त्रविदो विदुः"। २. इस शैलीमे लिखे गये यन्थ जैसे, 'मानवकलपस्त्र', 'गौतमधर्मस्त्र', 'आपस्तम्बस्त्र', 'ब्रह्मस्त्र', 'पूर्वमीमांसास्त्र', 'योगस्त्र' इत्यादि । धर्मस्त्रोमें आये हुए इलोक भी सूत्र ही कहलाते है, अतः सूत्र प्रायेण गचात्मक होते हुए भी पचात्मक भी होते है। ३. नियम, व्यवस्था, विधान। ४. बौद्ध साहित्यमे यह शब्द 'मूल यन्थ'के अर्थमें आता है और इस प्रकार 'विभाषा', अर्थात् व्याख्यानयन्थ या टीकायन्थसे भिन्न अर्थमे गृहीत होता है (मोनियर विलियम्स)। इसीलिए भगवान् बुद्धके मूल उपदेशोंपर चलनेका दावा करनेवाला सम्प्रदाय 'सौत्रा-न्तिक' तथा विभाषा, अर्थात् परवर्ती आचार्यो (भगवान् बद्धके शिष्य-प्रशिष्यो)के व्याख्यानींका भी प्रामाण्य माननेवाला सम्प्रदाय 'वैभाषिक' कहलाया। ५ जैनोमें सूत्र दृष्टिवादका अंग माना जाता है। (ग) हिन्दीमे इसके अर्थमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। (घ) पर्याय ऊपर दिये गये साधारण अथींमे द्रष्टन्य । —-आ०प्र० मि० **सूत्रधार** – सूत्रधार नाट्यशालाका विधायक होता है। वह नाटकादि रूपकके आरम्भमे मंगलाचरण, देवता-स्तवनादि जैसी औपचारिक क्रियाएँ सम्पन्न करता है। पश्चात् संस्कृत भाषागत अपने वाग्व्यापार द्वारा चार प्रकारसे काव्यार्थ या नाटकीय पात्रोंकी सूचना देता है। प्ररोचनामें वह नाटक-कार और नाटकके अर्थकी प्रशंसा करके रगस्य सामाजिकों-को उनकी ओर आकृष्ट करता है; कथोद्धात, प्रवृत्तक और प्रयोगातिशय-तीन प्रकारके आमुख (प्रस्तावना) और प्रहसन द्वारा नटी, मार्थ (पारिपाइर्वक) अथवा विदूषकके साथ बात करते हुए अपने कार्यका विवरण प्रस्तुत करता

है; उद्घात्यक, अवलगिता, प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिवल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, ज्याहार और मृद्व जैते तेरह वीध्यंगों द्वारा पात्रोंकी स्चना देता है। इस प्रकार इनमेंसे किसी भी रीतिसे नाटकार्थका आक्षेप और परिचय दे चुकनेपर वह रंगमंचमे निष्कान्त हो जाता है और कथाको प्रपंचित करता है।

नाट्यविकासके प्राचीन इतिहासमे सूत्रधारका सम्बन्ध कठपुतिलयोंके धागेको पकड़कर नचानेवाले न्यक्तिसे जोडा गया है। कालान्तरमें सूत्रधार और स्थापककी योजनासे नट नृत्य, गीत तथा संवादका कार्य करने लगे। जब रंग-मंचपर सप्राण नटोकी प्रतिष्ठा हो गयी तो स्थापककी आवश्यकता न रही, सूत्रधार रह गया और कठपुतलियोंके स्थानपर नर्तको और गायकोंका प्रवेश हो गया ।—वि०रा० सूफी-इसलामके रहस्यवादी 'सूफी' नामसे प्रख्यात है। स्फियोंके दर्शनको तसन्तुफ कहा गया है। स्फी ऐसे साधक थे, जो विरक्त, संसार-त्यागी, परमात्माके प्रेममें बेसुध रहते थे। उनके लिए न इस लोकके प्रलोभनोका कोई अर्थ था और न स्वर्गकी ही उन्हें चिन्ता थी। उनकी चिन्ताका एकमात्र विषय परमात्मा था। उसे पानेके लिए उसके साथ 'एकमेक' होनेके लिए ये साधक सभी प्रकारकी साधनाके लिए प्रस्तुत रहते थे। वैसे, प्रेमको इन्होने सर्वोच स्थान दिया है।

'सूफी' शब्दकी ब्युत्पत्ति नाना प्रकारते की गयी है। अधिकांश लोग 'सुफ' शब्दते इसका बनना मानते है। 'सूफ'का अर्थ उन है। ईसवी सन्की आठवी-नवीं शताब्दीमें अनका ब्यवहार करनेवाले संसार-त्यागी साधकोका पता इसलामी देशोंमे चलता है। 'सूफी' शब्दकी ब्युत्पत्तिपर अन्य प्रकारते भी विचार किया गया है। सफा, अहल सुफ्फाह, सफ्फे अब्बल, सोफिस्ता आदिसे भी 'सुफी' शब्दके बननेकी बात कही जाती है, लेकिन वे अधिकांश लोगोंको मान्य नहीं है।

यह शब्द पहले-पहल संन्यासी जीवन वितानेवाले रहस्यवादी साधकोंके नामसे जुड़ा हुआ मिलता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सर्वप्रथम 'सूफी' शब्दका प्रयोग करनेवाला अबू हाशिम सुफियान (मृत्यु सन् ७७७ ई० के लगभग) था। लुई मासिजोने इस सम्बन्धमे अबू हाशिमके समकालीन जाबिर इब्न हैयानका भी नाम लिया है। मासिञोने माना है कि इसका प्रयोग अब्दक अल् स्फीने (जिसकी मृत्यु सन् ८२५ ई०में हुई) किया है। पहले व्यक्तियोंके नामके साथ यह शब्द जुड़ा हुआ मिलता है, लेकिन बादमें चलकर व्यापक भावसे रहस्यवादी साधकोके लिए इसका प्रयोग पर्यायके रूपमें होने लगा। आज भी इसी अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है। --रा० पू० ति० सूफी आख्यान काच्य-सूफी आख्यान काव्य साधारणतः लोकप्रचलित कहानियोके आधारपर लिखे गये हैं। ये 'आख्यान' प्रेममूलक हैं। प्रेमकी कहानियोंका सूफी साधकोने आश्रय लिया और उनके आधारपर प्रेमकान्योंकी रचना की। हिन्दी साहित्यमें इन प्रेमाख्यानींका अपना एक विशेष स्थान है। इन प्रेमकाव्योंके द्वारा सफी कवियोंने परमात्माके प्रति अपने हृदयके प्रेमको व्यक्त किया है। ये कहानियों कल्पित या अर्द्ध-कल्पित है। लौकिक प्रेमकी इन कहानियों के सहारे स्फियोंने उस अलौकिक प्रेमकी आभास दिया है, जो स्फी साधनाके मूलमे है। स्फी साधनाका प्रारम्भ प्रेमसे होता है और उसकी परिणति भी प्रेममे होती है। परमात्मा इन स्फी साधकोंके लिए परम प्रियतम है। उसका प्रेम प्राप्त करनेके लिए साधक सभी प्रकारकों कठिनाइयोंका स्वागत करता है और अपने प्रेमके द्वारा सभी विवन-बाधाओंको पार करना है।

हिन्दीके प्रेमाख्यानक कान्योमें ऐतिहासिकताकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इन काव्योमें प्रायः भारतीय कथानक-रूढियों (motifs)का व्यवहार किया गया है, वैसे ईरानी कथानक-रूढ़ियोंका भी बादमें प्रयोग हुआ है। पशु-पक्षियों द्वारा नायिकाके रूपका वर्णन, मन्दिर, चित्रशाला आदिमें नायिकाका दर्शन, चित्र या स्वप्नमें नायिकाको देखकर प्रेम उत्पन्न होना आदि भारतीय कथानक-रूढियाँ है। इसी प्रकारसे परी या देवकी सहायता-से कार्यका सम्पन्न होना या बाधा पहुँचना, राजकुमारियों-का उडना, राजकुमारीका प्रेमीको गिरफ्तार करा हेना ईरानी-कथाओमे पाया जाता है। इन प्रेमाख्यानोमे कवि लौकिक प्रेमका वर्णन करता हुआ बीच-बीचमे अलौकिक प्रेमका संकेत कर देता है। नायिकाका वर्णन इन का॰योमें कुछ इस प्रकारसे हुआ है कि पाठक उसमे उस सर्वव्यापक परम प्रियतमका आभास पाता है, जिसका सौन्दर्य प्रकृति-की सभी वस्तओं और व्यापारोमे परिलक्षित होता है।

स्फी किवयोने लैंकिक प्रेमकी कहानियोंको भी अपनानेमें संकोच नहीं किया, इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक प्रेमकी प्राप्तिमें वे लैंकिक प्रेमकी सहायक मानते है। जामीकी किवतासे इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। जामीकी एक किवतासे कहा गया है—''इस संसारमे तुम सैकड़ों उपाय कर सकते हो, लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है, जो तुम्हारे 'अहम्'से भी तुम्हारी रक्षा करेगा! सांसारिक प्रेमसे भी तुम मुख मत मोडो, क्योंकि परम सत्यतक पहुँचनेमे वह तुम्हारा सहायक सिद्ध हो संकता है"।

सूफी प्रेमकाव्यमे पहले परमात्मा और पैगम्बरको स्तुति रहती है। इसके बाद वे अपने गुरु या पीरका परिचय देते है तथा रचनाकालका निर्देश करते है। सूफी कवियोने अपने कालके बादशाहका भी उल्लेख किया है। इन कवियोंने अवधी भाषाका प्रयोग किया है। दोहा और चौपाईको उन्होने अपने काव्यके लिए चुना है। कितनी अर्द्धालियोंपर दोहा या अन्य छन्दका घत्ता देना चाहिये, इसमें व्यतिक्रम अवस्य देखा जाता है। जायसीने सात चौपाइयोके बाद दोहा दिया है। 'मृगावती' और 'मधु-मालती'में पाँच चौपाइयोंके बाद दोहेका क्रम मिलता है (दे॰ 'सूफी काव्य', 'प्रेमाश्रयी शाखा')। - रा० पू० ति० सुफी काब्य-सुफी साधक प्रेमके द्वारा परमात्माके पानेकी बात कहते है। परमात्मा उसके लिए परम प्रियतम और परम सौन्दर्य है। आत्मा उस प्रियतमको पानेके लिए आकुल रहती है। सूफी कवि आत्मा और परमात्माके इस प्रेमसम्बन्धका वर्णन आत्मविभोर होकर करता है। अपने वाान्यके माध्यमसे वह परम प्रियतमके प्रति प्रणयनिवेदन करता है।

इस अध्यात्मिक, अलौकिक प्रेमको व्यक्त वरनेके लिए इस जगत्की राब्दावली किसी कामकी नहीं, फिर भी उसका सहारा स्की कवियोको विवश होकर लेना पडता है। यही कारण है कि स्की साधक अपने प्रेमकी तीज्ञता, अपने हृदयकी वेचैनी और आतुरताको अभिव्यक्त करनेके लिए लौकिक प्रेमकी विभिन्न मनोदशाओका वर्णन करता है। ईरानके स्की कवियोने पहलेसे चली आती हुई भाषा और अभिव्यंजनाकी शैलीको अपनाया; वैसे, उन शब्दोंका अर्थ उनके लिए और ही था। साकी, शराब, माशूक, जुल्क आदिका प्रयोग उन कवियोने किया, लेकिन उनका सांकेनिक अर्थ ही उनके समक्ष उपस्थित रहता था। साधारणतः विशेष सांकेतिक अर्थके साथ ही उन शब्दोंका प्रचलन हुआ, लेकिन ऐसे भी कवि हुए, जिन्होने अलग-अलग अर्थों मे उन शब्दोंके प्रयोग किये है।

फारसीके सफी कवियोने भिन्न-भिन्न काव्यरूपोंका सहारा लिया है, जैसे मसनवी, रुवाई तथा गजल। अधिकांश व.वियोने 'मसनवी'को ही अपनाया है। पहले तो इन मसनवियोमे धार्मिक और आध्यात्मिक विषयोंकी चर्चा होती थी, लेकिन बादमे चलकर प्रेमाख्यानोंने उनपर अपना आधिपत्य जमा लिया। ये मसनवियाँ सर्गवद्ध होती है। क्रम कुछ इस प्रकारका होता है-पहले सर्गमे परमात्माका गुणानुवाद, दूसरेभे पैगम्बरका स्मरण, तीसरेमे 'मीराज'की चर्चा, इसके बाद शासक या किसी महान व्यक्तिकी प्रशंसा रहती है, जिसे कवि अपनी कृति समर्पित करता है। बाद-वाले सर्गमे वह बतलाता है कि उस कान्यके लिखनेकी प्रेरणा उसे किस मित्रसे मिली अथवा किस उद्देश्यसे वह लिख रहा है। इसके वाद मूल कान्यग्रन्थका प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक सर्गके ऊपर उस सर्गमे वर्णित विषयकी सूचना फारसी गद्यमें दी हुई होती है। फारसी प्रेमाख्यानों-मे बीच-बीचमे गजल भी दो हुई है। इन गजलोका समावेश ऐसे स्थलीपर किया गया है, जहाँ कहानीका पात्र अपने मनके भारको हलका करना चाहता है।

हिन्दीके स्फी किवयोने हूबहू इन फारसी मसनिवर्थोंकी नकल नहीं की है। वे भारतीय परम्परा तथा ईरानी परम्परा, दोनोंसे प्रभावित हुए है। हिन्दीके स्फी किवयोंने गजलों और रुवाइयों जैसी कोई चीज नहीं लिखी (दे॰ 'स्फी आख्यान कान्य', 'स्फी मत', 'प्रेमाश्रयी शाखा')। — रा॰ पू॰ ति॰ स्फी-मत-अन्य मतों और सम्प्रदायोंकी भाँति स्फी मतमें भी परमात्मा-आत्मा, जगत् तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध एवं चरम लक्ष्यके सम्बन्धमें नाना भावसे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

स्पी कुरान द्वारा प्रतिपादित परमात्माके खरूपको स्वीकार करते है। सनातनपन्थी इसलामकी भॉति वे भी एकेश्वरवादमे विश्वास करते है, लेकिन वे अपने ही ढंगसे उसका अर्थ करते है। उनके लिए 'एकेश्वरवाद' ठीक वही नहीं है, जो सनातनपन्थी इसलाममें स्वीकृत है। सनातनप्रियोंकी तरह स्पी मानते है कि जात (सत्ता), सिफत

(गुण) और कर्ममें परमात्मा अदितीय और निरपेक्ष है। सनातनपन्थी परमात्माको सृष्टिके सभी पदार्थीसे भिन्न मानते है, लेकिन सूफी कहते है कि इस दरयमान जगत्मे परिव्याप्त एकमात्र सत्ता परमात्माकी ही है। ऐसा मानने-का मतलब यह हो जाता है कि प्रतीयमान जितनी भी सत्ताएँ है, वे सभी परमात्मामे अन्तनिहित है तथा निखिल विश्व परमात्माके साथ एक है। सुकी परमात्माको परम सत्य माननेके साथ ही उसे परम कल्याण और परम सौन्दर्य भी मानते है। परमात्मा सम्बन्धी दो सिद्धान्त कम या बेशी स्फी-सम्प्रदायका प्रतिनिधित्व करते है। इन दोनों सिद्धान्तोके आधारपर मोटे तौरपर सूफियोके दो वर्ग हो गये है- बुजूदिया और शुहूदिया। एक वर्ग 'वहदतुल बुजूद'के सिद्धान्तसे प्रभावित है और दूसरा 'वहदतुरशुहूद'-के सिद्धान्तसे। 'वहदतुलवुजूद'के सिद्धान्तका प्रवर्तक मुही-उद्दीन इब्नुल अरबी था। इस सिद्धान्तके अनुसार परमात्मा ही एकमात्र सत्ता है। 'हमाबुस्त', अर्थात् 'सब कुछ वही हैं का सिद्धान्त इसपर आधारित है। इब्नुल अरबी सम्पूर्ण हरयमान जगत्को उसी परम सत्ताकी अभिन्यत्ति मानता है। जीवको वह सृष्टिकर्ताको बाह्य अभिन्यक्ति मानता है। मनुष्य परमात्माका चेतन अंश—सिर है, लेकिन मनुष्य-की ज्ञानपरिधि सीमित है, इसलिए उस चैतन्यके अंशमात्र-को ही वह प्रकट कर सकता है। इस प्रकारसे जीव सत्य तो है, हेकिन परमात्माकी तरह एक-मात्र सत्य नहीं है।

'वहदतुरशुहृद'के सिद्धान्तके प्रवर्तक रोख करीमे जीली हैं। जीलीके अनुसार एक परमात्माकी सत्ता है और दूसरी जीवकी । जीवकी सत्ता शून्य जैसी है, उसे अपने अस्तित्व-के लिए परमार्थसत्ताकी अपेक्षा है। जीली जगत्प्रपंचको परमात्माकी गुणावलीका समाहार मानता है। परमात्मा अपनी सत्ताको अपने गुणोमे अभिव्यक्त करता है। जब गुण (सिफ्त) अभिन्यक्त (जाहिर) होते है, तब उनके नाम दिये जाते है, अतएव ये नाम दर्पणके सददा है, जो परम सत्ताके सभी रहस्योको प्रकट करते है। जीलीका कहना है-"उसकी अभिन्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओं मे अन्तर्निहित है और वह स्टष्टिके प्रत्येक अणु-परमाणुमे अपनी पूर्णताको अभिन्यक्त करता है। वह खण्डोमें विभक्त नहीं है। सृष्टि-के सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णताके कारण है, उसके दिये हुए नामसे ही नामवाले हैं। "सृष्टि बरफके समान है और तेज-स्वरूप परमात्मा जलके समान है, जो बरफका मूल है। उस जमी हुई वस्तुका नामकरण बरफ हुआ है, पर जल ही उसका असली नाम है"।

परमात्मा जो अनन्तसौन्दर्य और अनन्तिवभृति है, अपने-आपको जब अभिन्यक्त करना चाहता है तो सृष्टिका आविर्भाव होता है। यह जगत अंशतः उस सौन्दर्यको प्रकट करनेवाला है। एक हदीसमे कहा गया है कि ''मै एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें, इसलिए मैंने सृष्टि की।'' इसे ही सूफी सृष्टिका आदि कारण मानते है।

परमात्मा परम सत्ता है और सृष्टि असत्। जैसे अन्थ-कारके होनेसे प्रकाशका ज्ञान होता है, उसी प्रकार असत, अवास्तविक जगत् उस सत्ताको समझनेमें सहायक होता है। स्फ्री कहते है कि परम सत्ता जब असत्के दर्पणमे प्रतिबिन्वित होती है और उसके फलस्करूप जो प्रतिबिन्व हम देखते है, वही सृष्टि है। अर्थात् यह दृश्यमान जगत् उस परमात्माका प्रतिबिन्व है। इसको और भी स्पष्ट रूपसे यों समझ सकते है—स्थैका प्रकाश जलमें पडता है और जलमे पडनेवाले उसके प्रतिबिन्वसे हम स्थैको देख सकते है। प्रतिबिन्वको अपने अस्तित्वके लिए स्थैकी अपेक्षा है। प्रतिबिन्व हजारो बार वन-विगड सकता है, उससे स्थैका कुछ बनता-विगड़ता नहीं। यहाँगर स्थ्री परम सत्ता जैसा है, जल असत्के दर्पण जैसा, प्रतिबिन्व सृष्टिके जैसा। सत्ता ही वास्तविक है, असत् उसका नकारात्मक रूप है।

इस प्रकार सुफी सृष्टिको असत्तके दर्पणमें प्रतिविभिवत होनेवाली परमात्माकी प्रतिच्छवि तथा मनुष्यको उस प्रतिच्छविकी ऑख जैसा मानते है। ऑखकी पुतलीमें भी सम्पूर्ण प्रतिच्छवि उतर आती है, अतएव उस मनुष्यरूपी ऑखमें भी परमात्माकी प्रतिच्छवि प्रतिविम्बित होती है। इस प्रकारसे एक ओर तो मनुष्य सृष्टिका अंग है और दूसरी ओर अपने भीतर परमात्माको भी ग्रहण किये हुए है। उसमे सत् और असत्, दोनों ही विद्यमान है। मनुष्यमे जो कुछ भी सत्य है, मंगलमय है, वह परमात्मा-का है और इसके विपरीत जो कुछ भी उसमें है, वह असत् है, क्षणभंगर है तथा मंगलका नकारात्मक रूप है। मनुष्यके भीतर जो ईश्वरीय अंश है, वह उस विशुद्ध सत्ताकी चिन-गारीके जैसा है जो इस बानकी चेष्टामें सतत लगी रहती है कि वह अपने उद्गमस्थलपर लौटकर उसके साथ एक हो जाय। लेकिन यह तबतक सम्भव नहीं हो पाता, जबतक उसमे असत् तत्त्व वर्तमान रहता है। यह असत् तत्त्व मिथ्या है और अममें डालनेवाला है तथा 'अहम्'में सत्य-की प्रतीति करानेवाला है। 'अहम्' ही सब दुःखोंके मूलमे है, अतएव सूफी साधककी सबसे बडी साधना यह होती है कि वह अपने इस 'अहम्'पर विजय प्राप्त करे। इसीके लिए साधक 'सूफी मार्ग' पर चलता है और अपनी साधना पूरी कर परमात्माके साथ एक होता है (दे० 'सूफी कान्य')।

[सहायक ग्रन्थ—स्फी-मत—साधना और साहित्य: रामपृजन तिवारी।] —रा० पू० ति० स्फी-मार्ग - स्फियोंके विश्वासके अनुसार परमात्मा और मनुष्यके वीच एक वडा व्यवधान है। उनका कहना है कि इस व्यवधानको दूर करनेके लिए साधनाकी आवश्यकता होती है। साधनामे लगा हुआ साधक आध्यात्मिक जीवन विताता है और परमात्माको पानेकी इच्छा लिये हुए अपने चरम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। स्फी साधक इस साधनामय जीवनको एक यात्रा (सफर) समझते है तथा साधनाक पथपर अग्रसर होनेको वे 'स्फी-मार्ग' कहते है।

सूफी-मार्ग (अत-तरीकत)को कई मजिलों, अवस्थाओं (अहवालों) और मुकामोंका वर्णन सूफियोने किया है; वैसे, इनके प्रकार और नामोंके सम्बन्धमें सभी सूफी एकमत नहीं है। कितने सूफी परमात्मातक पहुँचनेकी चार मंजिलों और चार अवस्थाओंको बात कहते है और कितने तीन ही मंजिलों मानते हैं। कुछ सूफी बारह मुकामात और अहवाल मानते हैं। बहुतसे ऐसे भी साथक है, जिन्होंने

स्फी-मार्गकी सात मंजिलें वतलायी है। लेकिन सभी मृफी इस वातको स्वीकार करते हैं कि साधक अपनी बुराइयो और कलुपोको मिटाता हुआ, एकके वाद दूसरे गुण प्राप्त करता हुआ एक मंजिलकी दूसरी मंजिलपर पहुँचता है। वे यह भी मानते हैं कि एक मंजिलकी विशिष्ट गाओं और गुणोको प्राप्त करके ही साधक दूसरी मंजिलक पहुँचनेमें समर्थ होता है; वैसे, परमात्माको कृपा अगर हो तो किसी भी मंजिलमें बादवाली मंजिलका अनुभव साधक कर सकता है। परमात्माको अनुमहसे ही उसे एकके वाद दूसरे गुण प्राप्त हो जाते हैं। यात्राका मतलव यह है कि परम सत्ता अपनी अभिन्यक्त अवस्थासे अंद अपनी हो रही है।

भारतीय सुफी, सुफी मार्गकी चार मंजिलें और चार

अवस्थाएँ मानते है । पहली अवस्था मनुष्यकी प्रकृत अवस्था

है, उते सूफी **नासृत** कहते है। इस अवस्थामे साधक

शरीअत, अर्थात् करान और हदीस आदिमे बताये हुए

विधि-निषेधोंका पालन करनेमे लगा रहता है। साधनाका

यह सबसे निचला स्तर है। इसे पार कर साधक दूसरी अवस्थाको प्राप्त होता है। यह अवस्था मलकृतकी है। इसमे साधक भौतिक-जगत्की तुच्छताओसे ऊपर उठकर पिनत्र हो जाता है तथा देवदूतों गुण प्राप्त करनेमे समर्थ होता है। इस अवस्थामे साधक 'तरीका' अर्थात् पवित्रताको अपनाता है और आध्यात्मिक यात्राका अनुसरण करता है। इसके बादवाली तीसरी मंजिल **मारिफत**की है। इसमें साधक शक्तिसम्पन्न हो जाता है और परमात्माके मिलनके मार्गकी उसकी बाधाएँ प्रायः दूर हो जाती है। साधककी इस अवस्थाका नाम जबरूत है। अन्तिम मंजिल हकी-कतकी है। 'हकीकत'का मतलब परम सत्य है। इसमें साधकको लाहतकी अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्थामे राग-विरागसे अतीत होकर वह विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है। यह साधकके परमात्माके साथ 'एकमेक' होनेकी अनस्था है। साधकको अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो —रा० पू० ति० सफी-संप्रदाय - स्फियोके अनेक सम्प्रदाय और उपसम्प्र-दाय हैं तथा इनकी भी अनेक शाखाऍ-उपशाखाऍ है। ये सम्प्रदाय प्रारम्भमे अत-तरीक (पथ) अथवा खानवाद (परिवार) कहे जाते थे। प्रारम्भमें साधक एक जगहसे दूसरी जगह घूमते रहते थे। ईसाकी सातवी-आठवी शताब्दीमें अरब देशोंमें ख्यातिलब्ध साधकोंके साथ अन्य साधकोंका दल रहता तथा उस ख्यातिलब्ध साधकके नामपर सम्प्रदायका नामकरण हो जाता था। इस प्रकारसे भिन्न-भिन्न देशोंमें सम्प्रदायोंका आविर्भाव हुआ। बादमें शिष्य-प्रशिष्योंके नामपर और भी सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय बने और उनका प्रभाव-विस्तार भिन्न-भिन्न देशोतक हो गया। इन सम्प्रदायों अथवा उप-सम्प्रदायोंकी अपनी-अपनी अलग-अलग कुछ विशिष्टताएँ होती थी। आदि प्रवर्तकका कोई विशेष उपदेश, मन्त्र या साधनक्रिया एक पीढ़ीसे दूसरी पीढीके शिष्योंको प्राप्त हो जाती और वही उस सम्प्रदायकी विशिष्टता मानी जाती थी। उस सम्प्रदाय-में अन्तर्भुक्त साधकको ही वह बतलायी जाती थी।

स्फियोंके सभी सम्प्रदायोंका प्रारम्भ चार पीरोंसे माना जाता है। ये चार पीर हजरत सुर्नजा अली, ख्वाजा हसन वसरी, ख्वाजा हवीव आजमी तथा अब्दुल वाहिद विन जैद कृफी है, वैसे चार पीरोंके नाममें मतैक्य नही है। एक अन्य मतानुसार ये चार पीर कमिल, हसन, हुसैन और हसन वसरी थे। और भी अन्य नाम लिये जाते है, लेकिन हसन अल वसरीका नाम सभी स्फी-सम्प्रदाय समान रूपसे लेते है, वैसे सभी स्फी-सम्प्रदाय हजरत सुहम्मदसे ही अपने सम्प्रदायका आविभीव मानते है और उनके वाद ही चौथे खलीफा हजरत अलीका नाम लेते है। स्फी-सम्प्रदायको हिंदे प्रथमके चार खलीफाओं-में हजरत अली ही सबसे अधिक महत्त्वके है। सैकड़ो स्फी-सम्प्रदाय उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।

भारतवर्षके चार प्रमुख स्फी-सम्प्रदाय है—चिश्तिया, कादिरिया, सुहरविद्या और नक्शबन्दिया। इनमेसे प्रथम तीन हसन अल बसरीये सम्बद्ध है और चौथा अबू बक्रसे। इन सम्प्रदायोमें साधन-मार्ग, सिद्धान्त आदिको लेकर पार्थक्य है। कोई भी इसलामका अनुयायी किसी भी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो सकता है। ब्रह्मचर्यपालनपर इन सम्प्रदायोमे विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

भारतवर्षके चार प्रमुख सम्प्रदायोमेसे चित्रती सम्प्रदाय बड़े महत्त्वका है। इस सम्प्रदायके आदि प्रवर्तकके सम्बन्ध-में मतभेद है। कुछ लोग ख्वाजा इसहाक शामी चिश्तीको आदि प्रवर्तक मानते है और कुछ लोग उनके शिष्य ख्वाजा अवू अब्दाल चिरतीको, वैसे भारतवर्षमे इस सम्प्रदायका प्रवेश ख्वाजा मुईनुद्दीन चिरतीके साथ हुआ। इनका जन्म सन् ११४२ ई०में सिस्तान (अफगानिस्नान)के संजर शहरमे हुआ और मृत्यु सन् १२३६ ई०में अजमेरमें हुई। ये ख्वाजा उसान चिस्ती हारूनी या हरवानीके शिष्य थे। अजमेरमे मुईनुद्दीन चिक्तीकी दरगाहपर विभिन्न देशोंसे लाखों मुसलमान तीर्थ करने आते है। वहाँकी मस्जिद बादशाह अकबरकी बनवायी हुई है। इस सम्प्र-दायके सुप्रसिद्ध सन्तोमे ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, पाकपत्तनके बाबा फरीद (फरीदुद्दीन शकरगंज) तथा निजा-मुद्दीन औलिया आदि है। यह सम्प्रदाय अत्यन्त लोकप्रिय रहा है।

चिइती-सम्प्रदायमें संगीतको प्रधानता दी गयी है। संगीतके द्वारा साधकको भावाविष्टावस्था (हाल)को प्राप्ति होती है। संगीतकी मजिल्सें लगातार कई-कई दिनोतक चलती ही रहती है। इस सम्प्रदायमे साधकको चालीस दिनोंतक मस्जिदमें या किसी एकान्त कमरेमें विताना पडता है, इसे 'चिल्ल' कहते है। उस समय साधक कम परिमाणमे भोजन करना है और सब समय परमात्माके ध्यान और प्रार्थनामे निरत रहता है। ये अलीको परमात्मा और मुहम्मदके बरानर मानते है। इनके सिरपर बडे-वड़े केश रहते है और ये रंगीन वस्त्र धारण करते है। निजामी और साविरी-सम्प्रदाय इसी सम्प्रदायके अन्तर्गत है।

कादिरी सम्प्रदायके आदि-प्रवर्तक अब्दुल कादिर अल-जीलानी थे। इनका जन्म सन् १०७८ ई०मे हुआ। ये जीलान (फारस)के रहनेवाले थे। इनकी मृत्यु सन्

११६६ ई०में हुई। उनकी मृत्युके तीन सौ वर्षीके बाद इस सम्प्रदायका प्रवेश भारतवर्षमे हुआ। भारतवर्षमें इस सम्प्रदायके प्रवर्नक मुहम्मद गौस थे। ये आदि प्रवर्तकके वंशज थे। भारतवर्षमे इनके बहुतमे शिष्य हो गये थे। इस सम्प्रदायकी शिष्य-परम्परामें मियाँ मीर थे, जो मुगल बादशाह शाह नहाँके पुत्र द्वारा शिकोहके आध्यात्मिक गुरु थे। इस सम्प्रदायके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदाय हो गये, जैसे बहलुलशाही, नवशाही, मुक्कीमशाही, कैसरशाही आदि। कादिरी सम्प्रदायमें संगीतका स्थान नही है, वैसे इसीके एक उपसम्प्रदाय 'नवशाही'मे 'हाल' उत्पन्न करनेके लिए संगीतका सहारा लिया जाता है। इस सम्प्रदायके लोग हरे रंगकी पगडी बॉधते हैं। उनके कपडोमे कम-से-कम एक अवस्य ही गेरुआ रंगमें रँगा रहता है। इस सम्प्रदायमे जिके सफी और जिके जली, दोनोंका प्रचलन है। अब्दुल कादिर अल-जीलानीने सात तौर (अतवारे सवा) बतलाये है। जिक्रके समय साधक अलाहके सात नामोका उच्चारण करता है। इसमे बतलाया गया है कि कितनी बार नामका उचारण होगा और कौन-सी प्रार्थना करनी होगी तथा उसका रंग वैसा है।

सुहरवर्दी सम्प्रदायका स्थान भारतवर्षमे चिश्ती-सम्प्रदायके बाद ही है। भारतवर्षमें इमके प्रवर्तक बहाउद्दीन जकरिया थे। ये मुलतानके रहनेवाले थे। इसके आदि प्रवर्तकके बारेमें लोगोमे मतभेद है। शिहाबुद्दीन सुहर-वदींको लोग इस सम्प्रदायका आदि प्रवर्तक मानते है। कुछ लोग शेख जियाउद्दीनको और कुछ लोग जियाउद्दीनके पिता अबुल नजीवको। भारतमे इस सम्प्रदायके प्रमुख सन्तोंमें सदरुद्दीन (बहाउद्दीन जकरियाके उपेष्ठ पुत्र), शेख अहमद माजूक, सैयद जलाखदीन मखदूमे जहानिया आदि थे। इसके अन्तर्गत कई उपसम्प्रदायोंका जन्म हुआ, जैसे जलाली, मखद्मी, मीरनशाही, दौलाशाही आदि।

इस सम्प्रदायमे जो लोग दीक्षित होना चाहते है, उन्हें
मुज्ञींद (गुरु)के आदेशसे सर्वप्रथम अपने छोटे-बड़े सभी
पापोंका प्रायश्चित्त करना पड़ना है। इसके बाद उससे पॉच
कलमे पढ़ने और धर्मपर पूरी तरहते ईमान लानेके लिए
कहा जाता है। इस समय धर्मकी पाबन्दीपर पूरा जोर
दिया जाता है। इसे ही वे मुरीद (शिष्य) होना कहते है।
रोजा, नमाज आदिको इस सम्प्रदायवाले पूरा महत्त्व देते
हैं। वे नाना प्रकारके कपड़ोंसे अपनेको ढके रहते है, जिसमें
उन्हें बराबर याद रहे कि मनुष्य नंगा है और परमात्मा
उसको देख रहा है। कपड़ोंसे इस तरह ढके रहनेका अर्थ
यह भी लगाया जाता है कि साप्रकको यह बराबर सारण
रहे कि जगत्के अनेक जीव-जन्तु परमात्माकी सृष्टि
हैं।
——रा० पू० ति०

सूरजजी - बालक के जन्मके दसवे दिन राजस्थान, मालवा, बज आदि प्रान्तोंमे 'स्रजपूजा' की जाती है। 'स्रजजी' उसी अवसरपर गाये जानेवाले गीत है। घरका आँगन लीपनेके पश्चात बालक सिंहत प्रस्ताको चौकपर बैठाया जाता है। वह कलशका पूजन करती है। नाइन 'धुधरी' (उबाले हुए गेहूं) वितरित करने जाती है, तभी पड़ोसिनें स्रजके गीत गाती है। धुधरी इस अवसरका परम्परागत

मालवी गीत है। स्र्यंको नैवेच लगानेके पश्चात् प्रस्ताकी
छूत निकल जाती है। कुछ ऐरो गीत भी है, जिनमे दांकर
पार्वतीके विवाहका उल्लेख करते हुए 'स्रज्जी'का भले
उदित होना शुभ माना जाता है। — इया० प०
सूर्य-दे० 'हठयोग', 'पिण्ड'।

संसरिशप-विचार-नियन्त्रण (दे०) और स्थिति-स्थापनके हिनमें संसरिशपका खूब प्रयोग होता है। सेसरिशप ऐसे भावों और विचारोंकी सार्वजनिक अभिव्यक्तिपर प्रतिबन्ध लगानेकी नीतिका नाम है, जिनसे शासन-सत्ता अथवा उसके द्वारा परिपोषित या परिरक्षित समाज-व्यवस्था अथवा नीति-नियमोके खतरेंमे पड़ जानेकी आशंका हो। सेसरिश्यका प्रयोग राज्य सत्ता ही नहीं, अपितु अन्य संस्थाएं एवं न्यक्ति भी कर सकते हैं। सेसरिशपके दो रूप होते हैं—एक तो यह कि प्रकाशनीय सामग्रीकी प्रकाशनके पूर्व ही परीक्षा कर ली जाय और यदि वह अस्वीकार्य पायी जाय तो अस्वीकृत कर दी जाय तथा दूसरे यह कि आपित्त-जनक सामग्रीके प्रकाशनके बाद प्रकाशकको दण्ड दिया जाय और प्रकाशित सामग्रीको नष्ट कर दिया जाय । प्रथम रूपको प्रतिबन्धक (प्रिगेण्टिन) और दूसरेको दण्डात्मक (प्रिनिटिन) सेंसरिशप कहते हैं।

सेंसरशिपकी प्रथा थोडी-बहुत सभी प्रकारके राज्योंने पायी जाती है, किन्तु फासिस्ट (दे० 'फासिडम') राज्य इसके लिए सबसे अधिक ख्यात है। लोकतन्त्र राज्य प्रायः अञ्जीलता और हिंसा-प्रचारकी रोक-थामके लिए ही सेंसरशिपका अवलम्बन लेते है, किन्तु फासिडम तो प्रत्येक प्रकारके प्रकाशन और प्रदर्शनको सेंसर करनेमे विश्वास करता है।

—ह० ना० सेवा-दुःखनिवृत्तिके लिए योग, यज्ञ, ध्यान, सेवा, सत्संग और ज्ञान आवश्यक माने गये है। मक्तिमार्गमें सेवाका महत्त्व असन्दिग्ध है। वल्लभ-सम्प्रदायमें श्रीकृष्णकी सेवा-

श्रीविद्याभवन कॉकरोलीसे प्रकाशित 'श्रीद्वारकाधीशकी सेवा-श्वंगार-प्रणाली' तथा 'गृहकीर्तन-प्रणालीका सिद्धान्त')। पुष्टिमागीय सेवामें कर्मकाण्डकी नहीं, भावनाकी प्रधानता होती है। वल्लभाचार्यके पश्चात् पुष्टिसेवामे भी कर्मकाण्डका प्रवेश होता है। सेवाकी तीन दिशाएँ हैं—(क) गुरु-सेवा, (ख) सन्त-सेवा, (ग) प्रभु-सेवा।

पद्धतिका सुचिन्त्य और व्यवस्थित विधान है (देखिये

(क) गुरू-सेवा—गुरु-सेवाकी महत्ता उपनिषदकालमें स्पष्ट रूपने दृष्टिगोचर होती है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'का प्रसिद्ध अन्तिम श्लोक है—"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरो"। सिद्ध और नाथपन्थियों तथा निर्गुण और सगुणमार्गी सन्त अथवा भक्तोंकी वाणियोंमें भी गुरुस्तुतिका विधान है, यथा—(१) "गुरु गोविन्द दोनो खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपणे जिन गोविन्द दियो बताय" (कबीर)। (२) "अपनपौ आपुन ही मे पायौ, शब्दिह शब्द भयौ उजियारौ सद्गुरु भेद बतायौ" (स्० सा०)। (३) "सैयद असरफ पीर पिआरा। तिन्ह मोहि पन्य दोन्ह उजियारा। लेसा हिएँ पेम कर दिया। उठी जोतिमा निरमल हिया। मारग हुन अधियार असुझा। मा अँजोर सब जाना बूझा" (जायसी: पद्मावत, स्तुति-

खण्ड, १८)।

(ख) सन्त-सेवा—'सन्त'का माहात्म्य पुराणों (दे॰ गरूड पुराण: उत्तरखण्ड' द्वितीयांश धर्मकाण्ड, ४९-५७) और प्रत्येक मनके परमार्थ-साथकोने स्वीकार किया है। 'सूर'के सन्त-महिमावाले पदोंमें—''जा दिन सन्त पाडुने आवत। तीरथ कोटि सनान करे फल तैसो दरसन पावत'' अधिक प्रसिद्ध है (सू॰ सा॰)।

(ग) प्रभु-सेवा-प्रभु-सेवाका आद्यय कृष्णकी स्वरूप-स्वरूप-सेवा (१) भावात्मक और (२) क्रियात्मक होती है। प्रथम मानसी और दूसरी क्रियात्मक है। क्रियात्मक सेवाके दो प्रकार है—एक **तनुजा** कहलाती है और दूसरी वित्तजा। जो सेवा शरीरसे सम्पन्न होती है, उसे तनुजा और जो धनसे उसे वित्तजा। तन और वित्त-सामर्थको भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामे अधित करनेसे साधक-के अहम और मोहका नाश हो जाता है। इन दोनोके नष्ट हो जानेके उपरान्त ही भावात्मक अथवा मनजा सेवा द्वारा भक्त भगवानके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। (अ) तनुजा सेवा - शरीरसे की जानेवाली सेवा तनुजा सेवा कहलाती है। पृष्टिमागींय भक्तिके समर्पण-मन्त्रमे तन, बित्त, गृह आदि सभी समर्पित करनेका विधान है (दे० बल्लभाचार्य-कृत 'सिद्धान्तमुक्तावली', जिसमे तनुजा और वित्तजा सेवाका वर्णन है)। सर, तुलसी आदि भक्त कवियो-में तनुजा सेवाके उद्गार मिलते है, यथा—''सब तजि तुव सरणागत आयो । निज व.र चरण गहेरे" (सू० सा०) । (आ) वित्तजा सेवा-धनसे की जानेवाली सेवा वित्तजा सेवा कहलाती है। (इ) **मानसी सेवा**—मनसे की जाने-वाली सेवा मानसी सेवा कहलाती है। यह दो प्रकारकी मानी गयी है-(१) मर्यादा सेवा और (२) पृष्टि सेवा। (१) मर्यादा-सेवा-इसमे ज्ञान तथा भजन-पूजन, श्रवणादि साधनो द्वारा सायुज्य मुक्तिकी कामना की जाती है। मर्यादामागीय साधक ज्ञान द्वारा पहले आत्मज्ञानकी प्राप्ति करता है, तद्परान्त श्रीकृष्णकी सेवा और आराधना-मे अपने अहंकार और ममत्व आदिको नष्ट करता है। मयोदामार्गको अक्षर-ब्रह्म वाणीसे उद्भूत वैदिक मार्ग कहा गया है। विष्ण-स्वामी-सम्प्रदायमे आत्मनिवेदनात्मक भक्तिमे मर्यादामागीय भक्ति सन्निहित है। (२) पृष्टि-सेवा-पृष्टिका अर्थ 'श्रीमद्भागवत' (२: १०: ४)के अनु-सार (भगवान्का अनुग्रह) 'पोषणं तदनुग्रहः' है। यह साधननिरपेक्ष भक्ति है (दे० 'पुष्टि')। —वि० मो० श० सेहरा-यो तो 'सेहरा' सोने-चॉदीके तारों या फूलोकी बनी हुई वह झालर है, जो ब्याह-शादीके मौकेपर दूल्हा-दुल्हनके मुखपर सजायी जाती है, परन्तु उर्दू कान्यमे 'सेहरा' उस कविताको कहते है, जो विवाहकी बधाईमे लिखी जाय। ज्यादातर सेहरे तो गजलके रूपमे ही लिखे जाते है और बहुतेरे सेहरोमे रदीफ भी 'सेहरा' ही रखनेका रवाज है।

सैटायर-दे० 'ब्यंग्यगीति'।

सोटा – हाथ-डेढ़ हाथ लम्बा आबनूसका बना काला डण्डा, जिसको युमाकर योगी झाइ-फूॅक करते हैं। चमत्कार प्रद-र्शनके लिए भी वें इसे युमाते हैं। पद्मावतमें जायसीने योगी

और योगिनीके वेशका कई स्थलोपर वर्णन किया है (वासु-देवशरण अम्रवाल : पद्मावत, १२६, ६०१, ६०३, ६०६) और सर्वत्र 'डंड'का उल्लेख किया है। दोहा सं० १२६मे योगी वेशधारी रत्न सेनका उल्लेख है और ६०१, ६०३ और ६०६में योगिनीका । योगिनीके वेदामे भी जायसीने बिना चुक 'डंड'का उल्लेख किया है। डॉ॰ अग्रवालने ६०३ में आनेवाले 'डंड'को देशी शब्द 'डण्डय' (= गली, महला, देशी नाममाला ४, ८) से जोडकर "को मोहि ले पिउ के डॅड लावे"का अर्थ किया है "कौन मझे लेकर पीके महलेमें जायगा"। जायसीने स्पष्टतः यहाँ इलेषका सहारा लिया है, पर योगिनीके वेशका अनिवार्य उपकरण 'डंड' यहाँ अपने दूसरे अर्थमे दण्ड, अर्थात् वह डण्डा या लक्डीका स्तम्भ, जो किसी लता आदि को चढनेके लिए गाडा जाता है का, संकेत देता है—"कौन सुझे प्रिय जैमे डण्डका आधार दिलानेकी बात करेगा"। 'सुधाकर चिन्द्रका' (पृ० २४०)में कहा गया है कि इस सोटेको कुछ योगी भैरवनाथका सोटा कहते है, कुछ गोरखनाथ का । सोंड-छठी (जन्मोत्सव) का गीत । इसमें जन्माको सोठ पिलाने-का उल्लेख रहता है।

सोमरस १-दे॰ 'अमरवारुणी'।

सोमरस २-प्राचीन कालमे प्रसिद्ध, एक लताका रस, जिसे प्राचीन वैदिक ऋषि पान करते थे-अमीरस । तालुमूळमें स्थित चन्द्रसे झरनेवाला सोम (रस), जिसका पान योगी अपनी जिह्नाको उलटकर तालुमूलविवरमे प्रवेश कराके करता है (दे० 'हठयोगी', 'अमीरस')। —उ० द्यां० शा० सोमराजी-वर्णिक समवृत्तका एक भेद; इस वृत्तके प्रत्येक चरणमे दो यगण होते है (ISS, ISS) । केशवने इस छन्द-का प्रयोग किया है। यह छन्द भुजंगप्रयातका आधा है। उदा०-"गुनी एक रूपी, सुनी बेद गावें। महादेव जाकी सदा चित्त लावै" (रा० चं०, १:१४)। — पु० ज्ञू० सोरठा-मात्रिक अर्द्धसम छन्द । 'प्राकृतपैगलम्'मे सोरठा अप० सोरट्रा-एवं सौराष्ट्रम्को दोहेका विपरीत कहा है (१: १७०) । इसके विषम पादोमें ११-११ और समपादों में १३-१३ मात्राएँ होती है। दोहेके समान इसके भी भेद हो सकते हैं। सोरठा काफी लोकिशय छन्द रहा है। प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियोने दोहेके साथ इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रबन्धोमे सोरठेके द्वारा कथाके नवीन सत्रोंकी स्थापनामे सुगमता होती है। तुलसीने 'रामचरितमानस'मे सुन्दर प्रयोग किया है—"जेहि सुमिरत सिधि होइ, गण-नायक करिवर बदन"। -रा० सिं० तो० सोहंग-दे० 'सोहम्'।

सोहनी—आषाढमें खेतमे बोये गये बीज जब अच्छी तरह-से जम जाते है, तब उन खेतोमे उगी हुई वास तथा व्यर्थ-के पौथोंको 'खुरपी'से काटकर फेक दिया जाता है। इस कार्यको 'सोहना' कहते है। अतः इस समय जो गीत गाये जाते हैं, वे 'सोहनो'के नामसे प्रसिद्ध है। खेतमें जमे हुए वास-पातके काटनेकी प्रक्रियाको 'निराना' मी कहा जाता है। गोस्वामी तुल्सीदासजीने "हुपी निरावहिं चतुर किसाना" लिखकर इसी कार्यकी ओर संकेत किया है। अतः ये लोकगीत 'निरवाही' भी कहे जाते हैं। सोहनीके गीतोंकी यह विशेषता है कि प्रायः वे किसी कथाको लेकर लिखे गये है। अतएव इन्हें 'लोकगाथा'की श्रेणीमें रखा जा सकता है। इन गीतोंमे कहीं तो मुगलोंके अत्याचारका वर्णन है, तो कही जनसे युद्ध कर किसी वीर पुरुषके द्वारा किसी अवलाके उद्धार करनेका उल्लेख पाया जाता है। कही सास और बहूका शाश्वतिक विरोध दिखलाई पड़ता है, तो कही पतिके द्वारा पत्नीके आचरणपर अविश्वास। किसी-किसी गीतमें सौतिया डाहवी भी झाँकी देखनेकी मिलती है।

चन्दादेवी, कुसुमादेवी और भगवतीदेवीके अमर गीत सोहनीके गीतोंके अन्तर्गत हैं। इन देवियोंने अपने अलैकिक शौर्य द्वारा मुगल दुराचारियोके हाथोंसे अपने सतीत्वकी किस प्रकार रक्षा की यह कथा इन गीतोमे अंकित है। सोहनीकी लय वड़ी मधर तथा चित्ताकर्षक ---क० दे० उ० सोहम्-'वही मै हूं' 'अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूं'। वेदान्तका सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं, दोनोंमे कोई अन्तर नहीं है। जीव और कुछ नहीं है। इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए वेदान्ती लीग कहा करते है 'सोहम', अर्थात् में वही ब्रह्म हूं। उपनिषदों में भी यह बात 'अहं ब्रह्मासि' और 'तत्त्वमसि'के रूपमें कही गयी है। हठयो-गियोंके अनुसार दाहिने श्वासको ओहम् और बार्ये श्वासको सोहम संज्ञा प्राप्त है। "ओहं सोहं तन विचारा। बंकनाल-में किया पसारा" (शा० गू०)। सोहर-लोक जीवनमे जनमोत्सवके गीतोंको 'सोहर'को संज्ञा दी गयी है। किसी स्त्रीके गर्भवती होनेपर अथवा शिश्को जनमके उपरान्त विशेष रूपसे 'छठी' तथा 'बरही'के दिन 'सोहर' नामक गीत सोल्लास गाये जाते हैं। 'सोहर' गाने-की प्रथा मांगलिक है और प्रायः सभी हिन्दी भाषाभाषी प्रदेशोंमें इसका प्रचलन है। यह गीत उपनयन और विवाह संस्कारोंमें भी गाया जाता है और स्थान भेदके अनुसार इसकी कई पद्धतियाँ है। 'सोहर की शाब्दिक व्युत्पत्ति संस्कृतके स्तिकागृह और प्राकृतके सुइहरसे बतायी जाती है। इस प्रकारके गीतोमे इसका यह नाम व्यवदृत होता है-"होत भीर पौ फाटे होरिला जनम लिहे हो, रामा बाजै लागी आनंद बधइया उठन लागे सोहर हो"। 'सोहर'को 'सोहलो' या 'सोहिला' भी कहते है-सं० शोभावत-पा॰ सोहल का, हि॰ सोहला। मलिक महम्मद जायसीके 'पद्मावत'में इस शब्दका व्यवहार हुआ है-- "सन कविलास होइ सोहिला"। 'सोहर' वस्तृतः एक मंगल गीत है और इसे 'मंगल' भी कहा जाता है-"जो यह मंगल गावइ, गाइ सुनावइ हो, रामा सो बैकुण्ठे जाइ सुनैया फल पावइ हो"। 'रामचरितमानस'में 'मंगल'का उक्षेख मिलता है—"गावहिं मंगल मंज़ुरू वानी"। मध्य-युगीन हिन्दी साहित्यमें 'सोहर'के लोकप्रचलित कान्यरूप तथा सोहर-छन्दका उपयोग पर्याप्त मात्रामें किया गया है। इस दृष्टिसे कवीरदासकी 'अगाध मंगल' तथा तुलसीदासकी 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' एवं 'रामललानह्यू' नामक काव्यक्रतियाँ उल्लेखनीय है। लोकप्रचलित 'सोहर' गीतोंका संग्रह पं० रामनरेश त्रिपाठीने 'कविता-कौमदी'

तथा 'ग्राम-गीत'में किया है। ए० जी० शिरेफ द्वारा सम्प दित 'हिन्दी फोक सांग्स'में संकलित एक प्रसिद्ध मोह गीतकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है- "छापक पे छिडलिया तौ पतवन गहबर, अरे रामा तिहितर ठाढी हति निया त मन अति अनमन हो"। सींदर्य-चेतना - सुन्दर वस्तके सर्जन अथवा आस्वादन समय कलाकार और रसिककी आत्माकी विशेष अवस्थाव सौन्दर्य-चेतना (aesthetic consciousness) कह जाता है अथवा सौन्दर्यकी अनुभूतिका नाम सौन्दर्य चेतना है। इस चेतनाके विशेष लक्षण है-(१) आतन अथवा रसका अनुभव, जिसमें चमत्कार विद्यमान रहत है। (२) इसका आधार एक और सुन्दर वस्तु होती है जिसमे गति, सन्तुलन, विन्यास आदि गुण रहते है, दूसर ओर प्रेक्षककी 'सहृदयता', जिससे वह अन्तर्भावनाके बलहे सुन्दरको आत्मसात् करता है। (३) सुन्दर वस्तुके अनुभव के साथ ही इसमें आत्म-लय अथवा आत्मानुभति भी विद्यमान रहती है। (४) इसमे 'सौन्दर्य-चिन्तन' विद्यमान रहता है: 'वस्त'से 'आत्मा'की ओर केन्द्रमुखी गति (सेण्ट्रीपेटल) तथा आत्मासे वस्तुकी ओर केन्द्रोन्मुखी गति (सेण्टीम्युगल) रहती है। इस गतिके कारण यह समाधि-चेतनासे निन्न होती है। (५) इस अवस्थामें मन रस-प्रवण अथवा केवल रसयिताके रूपमें रहता है, इसमे किया और संकल्पका निरोध रहता है। मन केवल 'रस-चर्वण' करता है। (६) संकल्पात्मक वृत्तियोके निरोधसे समाधि जैसा सुख अनुभव होता है, यद्यपि समाधि नहीं होती। --ह० ला० ग० सौंदर्यमूलक समाज-दर्शन-कला-रूपोंके तारतम्य एवं जन्कर्षापक्षके आधारपर समाजके अध्ययनकी प्रणालीका नाम है सौन्दर्यमुलक समाज-दर्शन। इस परम्पराके विचारकोंने एक नये सौन्दर्यवादी इतिहास-दर्शनकौ उद्भावना कर डाली है, जो तत्त्वतः सांस्कृतिक चक्रवाद (दे०) भी ही एक शाखा प्रतीत होती है। इस परम्पराके अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्याकार लिजेटीके अनुसार संस्कृतिकी बाल्यावस्थामे स्थापत्य-कला, परिपकावस्थामें मृतिकला एवं जीर्णावस्थामे चित्रकलाका साम्राज्य होता है। अतएव यूरोपके मध्यकालमे स्थापत्य-कला, नवजागरण-काल-मे मृतिकला तथा आधुनिक कालमें चित्रकलाका प्राधान्य देखनेको मिलता है। इसी प्रकार मिस्र जैसी प्राचीनतम संस्कृतियाँ स्थापत्यकलाप्रधान, यूनान और रोम जैसी परवर्ती संस्कृतियाँ मूर्तिकला-प्रधान तथा यूरोप जैसी आधनिक संस्कृतियाँ चित्रकलाप्रधान है।

सौन्दर्थम् छक समाज दर्शनके अनुसार कला एवं संस्कृतिके अन्य पक्षोंके बीच अन्योन्यसम्बन्ध है। कला संस्कृतिका बैरोमीटर (वायुभारमापक यन्त्र) है। जिजेटीके अनुसार स्थापत्यकलात्मक अवस्थामे संस्कृतिमे एक प्रकारको ताजगी,सामूहिकताको ओर झुकाव, कर्मठता, आदर्शवादिता, श्रद्धावादिता, धार्मिकता, कृषि, हस्तकला, आध्यात्मिकता जैसे गुणोंका प्राधान्य होता है, जब कि चित्रकलात्मक अवस्थामें पतनोन्मुखता, स्त्रैणता, व्यक्तिवादिता, इन्द्रियपरायणता, भोगवादिता, उपयोगवादिता, बुद्धिवादिता,

वैज्ञानिकता, वाणिज्य, मरीन एवं भौतिकताका साम्राज्य होता है। मूर्तिकलात्मक अवस्थामे इन द्विविध प्रवृत्तियोंका समन्वय देखनेको मिलता है।

हीगेलके कलासिद्धान्तमें भी सौन्दर्यमूलक समाज-दर्शनका एक रूप दिखाई पडता है। उसके अनुसार कलाका विकास महाप्रत्यय अथवा विश्वातमाकी अभिव्यक्ति-का पकारविशेष है। इस अभिव्यक्तिप्रक्रियाके तीन सोपान है-प्रतीकात्मक, क्लासिकी और रोमानी। प्रती-कात्मक अवस्थामें प्रत्यय अथवा चित्र, जाड्यते अभिभृत होता है और उसे पूरा-पूरा इन्द्रियगोगर होनेका कोई मार्ग नहीं सुझता । क्लासिकी अवस्थामें प्रत्यय और जाड्य-में एक प्रकारका सन्तुलन होता है, किसी एकका दूसरेपर आधिपत्य नहीं होता और रोमानी अवस्थामें जाड्यपर प्रत्यय पूर्ण विजयी हो जाता है। प्रतीकात्मक सोपानका प्रतिनिधित्व करती है स्थापत्य-कला, क्लासिकीका मृतिकला और रोमानीका चित्रकला, संगीत और काव्य। पौरस्त्य कला प्रतीकात्मक है, यूनान और रोमकी क्लासिकी और केवल आधुनिक यूरोपकी कला रोमानी सोपानपर है।

विकटर ह्यगो अपने यन्थ 'क्रामवेल'के आमुखमें कहता है कि प्रत्येक जातिका साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं-प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक और नाटकीय—से गुजरता है और प्रत्येक अवस्था एक नियत युगके अनुरूप होती है।

पितरिम ए० सोरोकिनके इतिहास-दर्शनमें सौन्दर्यवादी समाज-दर्शनको एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उसके अनुसार तीन प्रकारके महासंस्थान (दे०)-प्रत्यक्षवाद, परोक्षवाद और अध्यात्मवाद -- और तद्नुसारी तीन प्रकार-की कलाएँ, व्यक्तित्व और संस्कृतियाँ होती है। कलागत परिवर्तन सदा सांस्कृतिक परिवर्तनके अनुगामी होते है। प्रत्येक प्रकारकी कलाका उद्भव, विकास, परिपाक एवं पतन उसकी आधारभून संस्कृति एवं व्यक्तित्वके उद्भव, विकास, परिपाक एवं पतनका अनुसरण करता है। सौंदर्यानुभृति - सौन्दर्यकी अनुभृतिका सर्वाधिक विचार पारचात्य देशोंमे हुआ है । इसे अंग्रेजीमे 'ऐस्थेटिक एक्स्पीरिएन्स' कहते है। सुन्दर क्या है, इस सम्बन्धमें विभिन्न मत है। कोई सम्मात्रा, सुन्यवस्था, विविधता, एकरूपता, औचित्य, जटिलता, संगति, प्रमाणबद्धता, व्यंजना, स्पष्टता, मस्णता कोमलता या वर्णप्रदीप्तिमेंसे किसीको सुन्दरताका कारण बताता है, कोई सुन्दरको वस्तु-निष्ठ और कोई व्यक्तिनिष्ठ मानता है, कोई उसे .नैतिकता और मंगलसे सम्बन्धित मानता है तथा कोई उपयोगितामे ही सौन्दर्य मानता है इटलीके दार्शनिक वेनेदेतो क्रोचे अन्वीक्षामूलक सामान्यावलम्बी ज्ञानके विरुद्ध संकल्पात्मक अनुभूति या 'इण्ट्वीशन'को ही सौन्दर्यका मूल स्रोत मानकर अभिव्यक्तिमात्रको पूर्ण एवं सुन्दर मानते है और विषयवस्तको गौण या प्रायः महत्त्वहीन घोषित करते है। जेफ्रे, एलीसन तथा बेनने साहचर्य एवं प्रयोगमें ही सौन्दर्य-की प्रतिष्ठा स्वीकार की है। प्लेटो, प्लाटीनस, टॉलस्टाय, रस्किन, वर्क, शेफ्टसवरी, इलेगेल तथा काण्ट ईइवरीय मंगलकर्ता, नैतिक तथा विद्युद्धिकारक शक्ति या वस्तुमें ही सौन्दर्थ मानते है और उसे अलौकिक स्वीकार करते हैं।

इस सौन्दर्यकी आनन्दमय अनुभूतिको ही सौन्दर्यानुभूति वहते हैं। इसका सम्बन्ध विशेषतः कलासे माना गया था, किन्तु यूरोपियनोने कान्यको भी कला मानकर उसमें भी रसानुभूतिके स्थानपर सौन्दर्यानुभूतिका विचार किया है। इसी आधारपर हीगेलने मूर्त अमूर्त उपकरणोंका सहारा लेकर जान्यको अमूर्त कला माना है और उसे अन्य कलाओंसे श्रेष्ठ घोषित किया है। 'प्रसाद'ने भारतीय दृष्टिसे यह बताते हुए कि रूप ग्रहण करनेकी शक्ति ऑखोमे है और गृहीत रूपकी धारणा हृदय ही कर सकता है, मूर्त-अमूर्त-के भेदको व्यर्थ बताया है। उनका कथन है कि चाक्षुष-प्रत्यक्षसे इतर जो वायु और आन्तरिक्ष अमूर्त रूप हैं, जनका भी रूपानुभव हृदय ही करना है। अतः इस प्रकार-का भेद निरर्थक है। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथने रससे रमणीयताका पार्थक्य स्थापित करते हुए बताया था कि ऐसे भी काव्य होते है, जहाँ रस तो नहीं होता, तथापि वे अच्छे लगते हैं। ऐसे स्थलपर रमणीयताको ही स्वीकार किया जा सकता है और इसके आधारपर काव्यका रुक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः कान्यम्" होना चाहिये, जो "रसात्मकं वाक्यं काञ्यम्" या इसी प्रकारके अन्य लक्षणोंसे अधिक व्यापक सिद्ध होगा। रमणीयतासे उनका तात्पर्य ऐसे चमत्कारसे है, जो काव्यपाठके समय हमारे हृदयमें विशेषोंके पुन:-पुन: अनुसन्धानकी भावना जगाता है। इसी भावको मानो "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" पंक्तिके द्वारा व्यक्त कर दिया गया है। सौन्दर्यकी अनुभृति बडी चमत्कारक होती है, जो आनन्द-दायिनी होती है। आचार्य शुक्लने चमत्कारको तुच्छ मानकर रसकी पुनःप्रतिष्ठा तो की और क्रोचेके अभि-व्यंजनावादको भारतीय वक्रोक्तिवादका विलायती उत्थान माना, किन्तु वस्तुके दर्शन करनेपर होनेवाली हमारी अन्तः-सौन्दर्यानुभृति मानकर सत्ताकी तदाकारपरिणतिको (चि० म०, प० २२४-२२५) उसे भारतीय रसानुभृतिके ही समकक्ष मान लिया है। वस्तुतः क्रोचे आदिके मतमे गृहीता या सामाजिकका पक्ष छूट गया है, अतः सुन्दरके द्वारा रसानुभृतिकी बराबरी नहीं की जा सकती। भारतीय पक्षकी रमणीयताके अन्तर्गत महीताका भी विचार हुआ है और इस प्रकार वह सौन्दर्यपादसे पृथक स्थिति रखता है। भारतीय पक्षके अनुसार सुन्दरका सम्बन्ध केवल कलासे माना जा सकता है, जो कान्यसे सर्वथा पृथक् मानी जाती है । सौन्दर्यानुभूतिमे हमें मुग्ध करनेकी शक्ति अवस्य है, परन्तु उसका हृदयपर स्थायी प्रभाव नही ---आ० प्र० दी० सौंदर्यानुभृतिसूचक आलोचना-प्रणाली- अंग्रेजी-

ऐस्थेटिकः हिन्दी-सीष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी ।

ईसाकी चौथी शताब्दी पूर्वमे ही यूनानमें इसकी नीव पड़ी, किन्तु १८वी हाताब्दीमे जर्मन तत्त्ववेत्ता अलेक्जेण्डर वामगार्टनने इसका पहली बार साहित्य या कलाके सम्बन्ध-में स्पष्ट नामोल्लेख किया। इसके अन्तर्गत करपना तथा काव्य एवं कलागत अनुभूतिमय सौन्दर्यका विचार किया जाता है। अभिन्यं जनावाद, कला कलाके लिए तथा प्रभाववाद, इन तीनों सिद्धान्तोंका इसमें सम्मिश्रण हो गया

है। शास्त्रीय तत्त्वोंके विवेचनकी अपेक्षा पाठकके हृदयको प्रभावित करनेवाले तत्त्वोका विवेचन, सूक्ष्म अन्तनिहित सौन्दर्य और सौष्ठवको ऑकनेका प्रयत्न करना और कान्यके आभ्यन्तर तत्त्वका अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करना ही इस आलोचना-प्रणालीका उद्देश्य होता है। ऐसा करके यह आलोचक कवि-हृदयके समीप पहुँचता है, क्योंकि काव्य-क्रतिमें कविके भाव, मनीवेग, विचार और कल्पना ही अभिन्यक्त होती है। भारतीय सौष्ठववादी आलोचक जहाँ अनुभूतियोंकी व्यंजकता तथा रागात्मकता या भावोकी गृदतापर ध्यान देता है, वहीं उसके साथ शैलीकी लाक्ष-णिकता तथा प्रांजलतापर भी विचार करता है। अनुभृति तथा अभिव्यक्ति, दोनोंका समन्वय उसे प्रिय है। सौन्दर्य-वादी आलोचक शिव तथा सत्यसे निरपेक्ष सुन्दर तथा आनन्दको ही काव्यका लक्ष्य मानते है, किन्तु भारतीय आलोचक उसे निरपेक्ष स्वीकार नहीं करता। ये आलोचक कान्यको कवि-हृदयका सहज उन्मेष मानकर कविमे केवल शक्तिको ही स्वीकार करते हुए अभ्यास और निपुणताको अनावस्यक मानते है।

हिन्दीमे इस प्रकारकी आलोचना छायावादी कवि तथा आलोचकोके बीच मान्य हुई और 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', इलाचन्द्र जोशी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी इसके विशेष समर्थक रहे। बॅगलामे रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसे स्वीकार रकंघ-वैभाषिकोने धर्मीका वर्गीकरण स्कन्ध, धात और आयतनों मे किया। स्कन्ध विभिन्न धर्मीकी राशियाँ है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये पॉच स्कन्ध हैं। स्कन्ध वस्तुः इन्द्रिय और विज्ञान—इन तीनोके सन्निपात रूप प्रत्ययसे उत्पन्न होते है। ये क्षणिक और नित्य परिवर्तनशील होते है। वैभाषिक बौद्ध इन पॉच स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त किसी आत्मा या पुद्गलका अस्तित्व नहीं मानते । उनके मतमे स्कन्ध ही व्यक्तिके जीवन और उसके व्यक्तित्वकी व्याख्या करते है। ये स्कन्ध क्षणिक, अनित्य और जड होते है। विज्ञान भी विषयप्रतिविज्ञप्ति ही है, चेतना नहीं। इन जड़ स्कन्धोंका प्राणियोके रूपमें और प्राणियोंका इन जड़ स्कन्थोंके रूपमें किस प्रकार परि-पाक होता है, प्रतीत्यसमुत्पाद इसीका विश्लेषण करता है।

रूप सभी प्रकारके बाह्य विषयोंके अर्थमें प्रयक्त होता है। सभी प्रकारकी कायिक या वाचिक विज्ञप्तियाँ जिससे अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप है (दे० 'धर्म')। दु:खादिके अनुभवका ही नाम वेदना है। सुख, दुःख और अदुःखा-सख-यह त्रिविध अनुभव ही वेदना है। यह छः प्रकार की बतायी गयी है, जो चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों और मनके साथ संस्पर्श होनेसे उत्पन्न होती है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व आदि विविध स्वभावोंका ग्रहण ही संज्ञा है। विषयोकी प्रतिविज्ञप्ति, अर्थात् सभी विषयोका ज्ञान, प्रत्येक विषयकी उपलब्धि ही विज्ञान है। छः विज्ञानकाय ही विज्ञानस्कन्ध हैं। ये हैं-चक्कविंज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, रसना विज्ञान, स्पर्श विज्ञान, मनोविज्ञान। इन चारोसे व्यतिरिक्त जो संस्कार या धर्म हैं, वे संस्कार-स्कन्धके अतिरिक्त परिगणित किये गये है। संक्षेपमें चैत्त और विप्रयुक्त धर्मीका कलाप-संस्कार स्कन्ध है।

हिन्दी साहित्यमे सिद्धोने ग्वन्धोका जगत्के मूल निया-मक धर्मों के रूपमें, धातु और आयतनके साथ उल्लेख किया है। किन्तु इनका विस्तार और सूक्ष्म विइलेषण वहाँ अन-पेक्षित होनेके कारण प्राप्त नहीं होता। सिद्धोने स्कन्धोंके निरासको प्रमुखता दी और इस (स्कन्ध-निरास)से विषण्ण न होनेका उपदेश दिया। सरहके 'दोहाकोश'में एक स्थल-पर पॉच स्कन्धोके विशुद्ध स्वरूपंका भी उहेख मिलता है।

[सहायक यन्थ-धर्मानन्द कोसाम्बी : अभिधम्मत्थसंगृह टीका; नरेन्द्र देव : बौद्ध धर्म दर्शन; करुणेश शुक्त : शंकर और नागार्जुनका तुलनात्मक अध्ययन (अप्र० शो० प्र०) ।] —कु० श०

स्केच-दे० 'रेखाचित्र'। स्केप्टिसिज्म-दे॰ 'संशयवाद'।

स्टालिनवाद-स्टालिन चिरन्तन क्रान्तिके पक्षमें नही था। उसका विच।र था कि सोवियत संघको पहले सुद्दढ हे।

बनाया जाय । इमीलिए वह इस निष्कर्षपर पहुँच। कि पूँजीवादी सभ्यता और साम्यवादी सभ्यता, दोनों साथ-साथ रह सकती है। पूँजीवादी सभ्यताका विनाश ऐतिहासिक शक्तियाँ स्वयं वार देगी । इसी सिद्धान्तको स्टालिनवाद कहते —रा० कु० त्रि० स्तंभ-दे० 'सात्त्विक अनुभाव', पहला। स्तुतिगीत-स्तोत्रका लोकगीतात्मक रूप स्तुतिगीत है।

वैदिक साहित्य स्तुतिपरक है और प्रत्येक प्रधान देवताकी स्तुतियाँ है। स्तोत्रमे जहाँ आराध्यविशेषकी प्रशंसा और विरुदावालयाँ रहती है, वहाँ स्तुतिगीतमें इनके अतिरिक्त साधक-आराधककी दयनीयता, दैन्य और हीनताके प्रदर्शन द्वारा विशेष अनुक्रम्पाके लिए प्रार्थना रहती है। मध्यकाल-में स्तोत्रका वह नव्य विकास सामाजिक-राजनीतिक कारणो-के द्वारा हुआ। विद्यापति-रचित 'नाचारी' शिवोपासना-परक गीतियोंका ही रूप है। सगुणमे इस प्रकारकी स्त-तियाँ विशेष रूपसे मिलती है। सूर और तलसीकी रच-नाओंमें ऐसे अनेक पद आये हैं। आधुनिक कालके प्रारम्भ-मे स्तुतिगीतने नवीन रूप धारण किया, क्योंकि कवियोंने भगवान्से देशोडारकी प्रार्थना प्रारम्भ की । श्रीधर पाठक और 'कविरत्न' सत्यनारायणने हिन्दी कविताको यह मोड़ दिया । आराधनागीत और स्त्रतिगीतमे यह अन्तर है कि आराधनागीतमें आराध्यके रूप, गुण और ऐश्वर्यका विस्तृत वर्णन रहता है, आत्मदैन्यका विवरण प्रायः नहीं होता । स्तुतिगीतमे प्रभुके रूप, गुण और ऐश्वर्यके साथ कृतित्व और कर्तृत्वका सविस्तर वर्णन आत्मदैन्य-कथन रहता है, इस प्रकार आराध्यको करुणा-द्रवित करनेकी चेष्टा रहती है। अर्चनागीत और आराधनागीतमें भाव और विवरणका अन्तर होता है। अर्चनागीतमें भाव-भक्ति-मूलक आवेशका चित्रण अधिकाधिक होता है और आरा-**धनागीत**मे आराध्यकी महिमाका विस्तार । अर्चना हृदय-की एकाग्रता सूचित करती है और आराधनागीत विशेष आराध्यकी आराधनाका हेत्र उपस्थित करता है। प्रार्थना-गीत सामान्य पारिभाषिक शब्द है, जिसमे इस कीरिके गीतोका समावेश सम्भव है। इस कोटिके गीतों में सर्वाधिक

आन्तरिकता व्यक्त करनेवाले होते है। आसध्यके अनन्य निष्ठा और पुनरुक्तिकी सीमातक पहुँचनेवाले पैर रप रहते है। प्रभातकालमे गाये जानेवाले ... व पद प्रकातीकी संज्ञा रखते हैं। प्रभाती जागरण-कालका गीत है, अतः इसमे आत्मावे जागरण और उद्धी-धनके सन्देश रहते हैं। इस कोटिमे उन गीतोंको भी सम्मि-लित किया जायगा, जिनसे आराध्यके बाल-र पको जगाने-का उपक्रम रहता है। सूरदासका "जागिये व्रजराज केवर पंछी बन बोले" इसी कोटिका गीत है। आत्मोडोधक गीतोमें मन्तोंके गीत है। क्रीरका "इहि तत राम जपह रे प्राणी, बझौ अकथ कहाणी, हरि कर भाव होइजा ऊपरि, जायत सैनि बिड्रॉणी" द्रष्टव्य है। —रा० खे० पा० स्तोत्र-यह 'स्तु' धातुमे बना शब्द है। स्तोत्रके लिए कहा गया है- "प्रतिगीतमन्त्रसाध्यं स्तोत्रस्"। किसी देवताका छन्दोबद्ध स्तरूपकथन या गुणकीर्तन अथवा स्तवन स्तोत्र कहलाता है। स्तोत्रके चार भेद है—द्रव्यस्तोत्र, कर्मस्तोत्र, विधिहाीत्र और अभिजनस्तोत्र । ऋग्वेदमे रतवन-मुलक मन्त्र आये है और इसके भी रषष्ट संकेत है कि सम-वेत रूपने इन ऋचाओंका गान होता था। ऋग्वेद (१ अष्टक, १ मण्डल, २ अध्याय, २ अनुवाक, ५ सूक्त) ने लिखा है कि "हे स्तुतिकर्ता सखा लोग, शीघ आओ और बैठो तथा इन्द्रको लक्ष्य कर गाओ' (आत्वेता निषदितेन्द्रम-भिप्रगायत । सखायः स्तोमवाहसः) । स्तोत्रको यहाँ स्तोम कहा गया है। सायणाचार्यने स्तोमका अर्थ साममन्त्र किया है, अतः इसके संगीतात्मक और गेय होनेमे किसी प्रकारकी शंका नहीं। प्रगीत ऋचाओकी संज्ञा हुई स्तोत्र और इन स्तोत्रिया ऋचाओके स्तवनकर्ता हुए 'उद्गाता'। 'बृहदा-रण्यकोपनिषद्'की टीकामे कहा गया है-"स्तोत्रिया नाम ऋक्साम समुदायः", अर्थात् ऋक्साम समुदायकी ऋचाओका नाम स्तोत्रिया है। इसके तीन भेद होते है-परोन्वय, याज्या और शस्या । सामवेदको ऋतिवजीमे उद्गाता (५: १: २९)का उल्लेख आया है और उसके सहायकको प्रति-हर्ता बहा गया है। प्रारम्भमे स्तवन, ग्रंपकीर्तन, रूपवायन और पशंसात्मक वर्णनकी प्रधानता थी। उत्तरकालमे स्तत्य देवताके विरोधियोकी निन्दा द्वारा भी स्तुति की जाने लगी(अन्यनिन्दान्यस्तुतये) । संस्कृतमे स्तोत्र नामकी कई रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध है-'शिवमहिम्नस्तोत्र', 'काली-सहस्रनामस्तीत्र', 'इयामास्तोत्र', 'दुर्गादिनामस्तोत्र'। 'शिव-महिम्नस्तोत्र'के रचयिता पुष्पदन्ताचार्य है, जिनका समय दशकी शताब्दीके पूर्व है। इस स्तोत्रकी प्रसिद्ध पंक्ति है-"असितगिरिसमं स्यात कज्जलं सिन्धुपात्रे"। शंकराचार्य-मा 'भजगोविन्दम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध है । गुरुगोविन्द सहने 'दुर्गासप्तशती'वे अनुवादमें दुर्गास्तोत्रका हिन्दी ानुवाद उपस्थित किया था। 'चण्डीकी वार' चण्डीस्तोत्रका शतन्त्र रूपान्तर है। इस पद्धतिपर भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र सर्वोत्तम स्तोत्र, 'प्रातःसरणस्तोत्र', 'श्रीसीतावहभ-।त्र'की रचना की थी। इस कोटिकी रचनाओं मे चौघरी रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमधन'का 'युगलमंगलस्तोत्र' प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। भारतेन्द्र हरिश्चन्द्रने

'व्यंग्यस्तोत्र', जिसमें परिहासमृतक अथवा अयंगारमक रचनाएँ हुई । 'श्रीवेदयास्तवन्राज', 'स्त्री-सेवापद्धति', 'मदिरास्तवराज', 'कंकरस्तोत्र' और 'अंगरेजस्तोत्र' शीर्षकः रचनाएँ स्तोत्रपंचरत्व'के नामते खड्गविलास प्रेस, बॉकीपुर-से सन् १८८२ ई० में प्रकाशित हुई थी। 'अंगरेजस्तीत्र'के कुछ अंग है—"चंगी और पुलिस तुम्हारी होनों भुजा है, अमले तुम्हारे नरा है। अन्धेर तुम्हारा स्प्रू है और आमदनी तुम्हारा हृदय है, अतएव हे अंगरेज ! रम तुमको प्रणाम करते हैं। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षिया है, सेना तुम्हारा चरण है, खिताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएव हे विराट रूप अंगरेज, हम तुमको प्रणाम —रा० खे॰ पा**॰** स्थापक-जन पूर्वरंगमें गंगलाचरणादिका विधान कर लेने-पर मंचसे सूत्रधार लौट जाता है, तो उसीकी-सी वैष्णव वेश-भूपामें कोई दूसरा नट नाटकादि कथा-वस्तुके काव्यार्थकी स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थकी सूचना या स्थापना करनेके कारण ही स्थापक कहा जाता है। वह काव्यार्थकी यह स्थापना वस्तु-गूचना, बीज-सूचना, मुख-सूचना या पात्र-सूचनाके द्वारा करना है। 'उदात्तराघव'मे वस्तु-सूचना, 'रत्वावली नाटिका'मे वीज-सूचना, अभिज्ञान-शाकुन्तल'में पात्र-मूचना तथा एक अज्ञात नाटकमें मुख-सूचनाके प्रयोग प्राप्य है। इस भॉति स्थापककी स्थापना

स्थापकले लिए शास्त्रीय निटेंश है कि वह कान्यार्थके स्वक मधुर क्षोकों में प्रेक्षकों को प्रसन्त करे और किसी ऋतुका वर्णन कर भारती वृत्तिका उपयोग करें। इसके अतिरिक्त मंचपर आने के समयके लिए उसे आदेश है कि वह कथा-वस्तुके अनुरूप ही वेश-भूषा बनाकर प्रवेश करें। यदि वस्तु देवता सम्बन्धिनी है तो वह दिव्य रूपमे प्रवेश करें, यदि मर्त्य सम्बन्धिनी है तो वह तिव्य रूपमे आयें, यदि वह दिव्य विश्व है तो वह दिव्य या मर्त्य किसी भी रूपमें आयें। प्रवेशके उपरान्त रूपककी कथा-वस्तु, बीज, अर्थ-प्रकृति तथा प्रमुख पात्रकी स्वना भी दे।

पात्र स्थापना (पात्र-सचना) है।

प्राचीन कालके नाटकोमे जहाँ स्थापक होता था, वहाँ सूत्रधार कुछ मंगळ्डलोक तथा गीत गाकर ही प्रस्थान कर जाता था और नाटक, नाटकार्थ, नाटककारका परिचय स्थापक ही देता था। कालान्तरमे नाटकसे स्थापकका लोप हो गया और सुत्रधार ही उसका कार्य भी करने लगा। स्थापकका सम्बन्ध कठपुतलियोंको व्यवस्थित करने या सजानेवाले व्यक्तिमे भी माना गया है। स्थायी भाव-काव्यचित्रित शृगारादि रसोंके मूलभत कारण 'स्थायी भाव' है। 'अमरकोश'मे मनके विकारको 'भाव' कहा गया है-'विकारो मानसो भावः'। संस्कृतके साहित्य-शास्त्रियोंने भावकी पृथक् स्वतन्त्र व्याख्या नहीं की है, अपित रसन्यंजनाके सन्दर्भमे ही उसकी चर्चा हुई है। 'नाट्यशास्त्र'के सप्तम अध्यायमें कहा गया है कि 'भाव'का अर्थ 'व्याप्ति' होता है और भाव इसलिए 'भाव' वहलाते है कि वन्तन, अंगभंगी एवं 'सात्तिको' (स्तम्भ, स्वेद रोमाच इत्यादि) के र नगके द्वारा वे काव्यार के कराते है

्रवीत् इन्द्रिके गतिपाच अभीष्टको सामाजिक (पाउन या शोता या ाउद है प्रेक्षक)के अन्तस् क्रियाप्त कर देते हैं-"वागंगसरेगोपता र काल्यार्थोन् भावयन्तीति भावः'। यहाँ रतने भावको क्रांकरण अथवा 'साधन' माना है अर्थात् यावि अपनी रचनाको सामाजिकके आस्पादनका उस्त तभी बना सबता है, जब वह भावगरित हो, भावकी जनुपस्थिति में विष्यं सामाजिकके वीच कोई मानसिक किंवा अन्तः-करणीय सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। लेकिन, भान भ्ययं कर बरत है, इसकी व्याख्या भरतने नहीं वत है। - 'रसतर निर्णा'न भानुदत्तने कुछ अधिक स्पष्ट ढंगसे भवा परिभाषा दी है-"रसानुकूली विकारी भावः। विवर्षे न्यथाभावः", अर्थात् रसके अनुकूल विव ,, 'भाव' है तथा अज्ञायमान वस्तुका श्रायमान होना ही विकार है (रसतरंगिणीकी जीवनाथ-विरचित भाषा दोका, पृष्ठ ७)। अतएव, इस कथनके अनुसार जिस वस्तका ज्ञान रसोन्मीलनमे समर्थ होगा, वह वस्तु भाव कहलायगी। यहाँ भी भावको वैसा मनोविकार माना गया है, जिसका चेतनामें स्फरण होनेसे रसरपमे आस्वादन हो सके। हिन्दीके आचार्य केशवदासने 'रसिकप्रिया'मे भावका लक्षण यह बतलाया है कि जब मुख, नेत्र तथा वचनों द्वारा 'मनकी बात' प्रकट होती है, तब सुकविगण उसे 'भाव' कहते है। इस कथनमे भरतकी शब्दावलीका अनुकरण होते हुए भी एक अधिक स्पष्ट तथ्य व्यंजित किया गया है कि भाव 'मनकी बात' है तथा वचन, मुखके रंग और नयनभंगीके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। भानुदत्तने अज्ञायमान होनेकी जो-जो बातें कही हैं, उसे केशवदासने अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष ढंगमे व्यक्त किया है।

भरत मुनिने 'नाट्यशास्त्र'में भावोंकी संख्या उनचास ॅंगिनायी है, जिनमें तैंतीस 'संचारी' या 'व्यभिचारी', आठ 'सात्त्विक' तथा शेष आठ 'स्थायी भाव' बताये गये है-"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा। जगुप्सा निस्मयइचेति स्थायिभावाः प्रकीर्तितः" (६.१७)। भरतका कथन है कि ये भाव ही विभावों एवं अनुभावोंके संयोगसे कान्य अथवा नाटकमें रसका आविर्भाव करते हैं, क्योंकि इनमे 'सामान्यत्व'का गुण वर्तमान होता है-"(एभ्यश्र सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते"। लेकिन इसी प्रसंगमें भरतने बताया है कि वास्तवमे स्थायी भाव ही रसके उपा-दान कारण हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहनेपर भी राजा ही राजा कहलाता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों एवं संचारियों-से संयुक्त होनेपर भी. स्थायी भाव ही रसत्वको प्राप्त होते हैं। भरतने अन्य भावोंकी तुलनामें स्थायी भावोंकी श्रेष्ठता प्रतिपन्न की है। उनका कथन है कि जैसे सामान्य मनुष्योंसे 'नरेन्द्र' श्रेष्ठ है तथा शिष्योंसे 'गुरु' श्रेष्ठ है, वैसे ही स्थायी भाव अन्य भावोकी अपेक्षा अधिक शक्ति एवं गुरुत्व रखते हैं। भरतके अनुसार स्थायी भाव ही उचित परिस्थितियोमें रस रूपमें परिणत होते है। जब ु**अ**हिरायनापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिकके अन्तःकरणमें हो ाः नहीं है—"विभावा अनुभावास्तत् वश्ट हिनः । ज्यक्तः स<u>त</u>ैर्विभावाद्यः स्थायी मावो (ाा० प्र०, ४: २८) ।

अन्य आचार्योंने भी स्थायी भाववे रेष्ट्रत्व दा व्याख्यान किया है। धनंज र रीत्रणां विरोधी एवं अविरोधी भावोंते विच्छिन्न नहीं विपरीत सावोंको अपनेमें शीघ्र मिला लेता है स्थायी है। उसकी स्थिति लवणाकरके समान सभी वस्तुओं को लवण बना देता है-"। भावैविच्छित्रते न यः। आत्मभावं नयत्यः लवणाकरः" (द० रू०, ४: ३४)। विश्वनाथ अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसे छिपा : आस्वादका मूलभूत भाव स्थायी है—"अविर यं तिरोधातुमक्षमाः । आस्वादांकुरकन्दोऽसौ सम्मतः" (सा० द०, ४: १७४)। पण्डितः का कथन कुछ अधिक स्पष्टता लिये हुए महिमा विश्वप्त करता है-जिस भावका स्व एवं विजातीय भावोंसे तिरस्क्रत न हो सके रसका आस्वादन हो, तक्तक जो वर्तमान रहे भाव कहळाता है—"सजातीयविजातीयैरतिरः यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव र० गं०, १: पृ० ८६) । पण्डितराजने अपः स्थायी संज्ञाका यह आधार निर्दिष्ट किया अथवा नाटकके अनुशीलन अथवा प्रेक्ष सामाजिकका चित्त, अनेक अवान्तर प्रसंगोंके मूलगत भावकी प्रतीतिसे ही चमत्कृत होत रामचन्द्र शुक्कने भी संस्कृतके आचार्यों इ स्थायी भावके इसी प्रकारके 'स्थायित्व'का अनुमोदन किया है। (र० मी०, पृ० १७२)

ऊपर स्थायी भावका जो वर्णन किया र उसकी त्रिविध विशेषताएँ लक्षित होती है-द्यात्व-स्थायी भावमें आस्वादनीयता अवदय भरतने रसको 'चर्चमाण', आस्वादित होनें है। रुद्रका कथन है कि रसका मूल कारण ' आस्वादन ही है। इस आस्वादनमें सहद स्थायी भावींका ही आस्वाद हेते और आन है-''आस्वादयन्ति समनसः प्रेक्षकाः हर्षाद (ना० शा०) । मन्मटने स्थायी भावके चर्वणः द्वारा प्रतिपन्न विरुक्षणताका यों निर्देश कि आस्वाद प्रपानक रसकी तरह होता है। ऐस है कि मानो सामने ही प्रस्फ़रित हो रहा है, पैठा जा रहा है, शरीरके सभी भागोंमें सा रहा है। शेष सभी विषयोंको भुलाकर सददा अनुपम सुखका अनुभव कराकर अलौ का जनक होता है" (का॰ प्र॰, ४) 'काव्यविलास'मे मम्मटके समान स आस्वाद्यत्वका ही कथन किया है—"हृदै जह आनँद अंकुर जोय "धाई कहियत

अतएव स्पष्ट है कि आचायोंने स्थायी भावोंकी आस्वाद-नीयतापर विशेष बल दिया है। रित, हास, शोक इत्यादि, जिन्हें 'स्थायी'की संज्ञा प्राप्त हुई है, व्यावहारिक जीवनमे भी जब उनका अतिश्यतापूर्ण उद्रेक होता है, तब वे मनुष्यको आत्मविभोर करते देखे जाते है। काव्यमें तो इनकी रसनीयता और भी प्रकट हो जाती है। मानव अन्तःकरणमे तर्गित होनेवाले असंख्य भावोंमेसे उन्हीको 'स्थायी'की पदवी मिली है, जो मनुष्यकी चेतनामे इतनी सान्द्रताके साथ व्याप्त हो जाते है कि वह उनके प्रतीति-कालमें आत्म विस्मृत-सा होता दिखाई देता है। इस आस्वाद्यकको 'रसनीयता' तथा 'अनुरंजकता' भी कहा गया है।

 उत्कटत्व — स्थायी भावकी दूसरी प्रमुख विशेषता है उसका उत्कटत्व । इससे अभिप्राय है कि स्थायी भावको उत्कट, अर्थात प्रवल एवं सशक्त होना चाहिये, क्योंकि तभी मनपर उसका गढरा प्रभाव पड सकता है। ऊपर जो विरोधी एवं अविरोधी, सजातीय एवं विजातीय भावोंसे उसके ति रेभ्त अथवा तिरस्कृत न होनेका उल्लेख किया गया है, उसका अभिप्राय यही है कि स्थायी भाव सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें अपने अस्तित्वकी रक्षा करनेमे समर्थ होता है तथा अन्य आन्धेंगिक भावों अथवा तत्त्वोंकी प्रतीतिको दबाकर स्वयं प्रमाताको पर्णतः अभिभावित कर लेता है। सजातीय भावों-मे विच्छित्र न होनेका उदाहरण 'बृहत्कथा'मे नरवाहन-दत्तके मदनमंचुकाके प्रति अनुरागके चित्रणमें उपलब्ध होता है। यद्यपि उसमें अनैक नायिकाओके प्रेमका भी वर्णन प्राप्त है, तथापि इन अवान्तर प्रेमप्रसंगोके कारण मदनमंचुकाके प्रति नरवाहनदत्तके अनुरागका विच्छेद नही होते पाया है। इसी प्रकार विजातीय भावोंसे स्थायी भावके तिरस्कृत न होनेका उदाहरण 'मालतीमाधव'में प्राप्त है, जहाँ इमशानांकमे बीमत्स रसके द्वारा मालती-विषयक अनुरागका तिरस्कार नहीं हुआ है। माधवका यह कथन द्रष्टव्य है-"मेरे अन्तःकरणमे पूर्व अनुभवके आधारपर जिस संस्कारका प्रादुर्भाव हुआ है, उसके निरन्तर जागरूक रखनेसे जिसका विस्तार हो गया है तथा अन्य प्रकारके प्रत्ययोंसे जिसका प्रवाह रोका नहीं जा सकता, प्रियतमाके स्मरणरूप उस प्रत्ययको उत्पत्तिका विस्तार वृत्तिसारूप्यसे मेरे चैतन्यको मालतीमय बना रहा है"। वैसे ही, 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द'में यद्यपि कई स्थानोंपर शृंगारके सरस चित्र है, तथापि पाठकोंको इसकी रंचमात्र भ्रान्ति नही होती कि कवि अववधोषके कान्यका लक्ष्य 'रतये' नहीं, 'ब्युपशान्तये' है—''इत्येषा ब्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थ-गर्भा कृतिः" (सौन्दरानन्द, १८: ६३)।

३. सर्वजन-सुलभन्व स्थायी भावोकी तीसरी महत्व-मयी विशेषता है उनका सर्वजनसुलभ होना, भरतकी अध्युक्ति कि 'सामान्यगुण'के कारण ही भाव रसोद्रेक कराते हैं, पहले उद्धृत की जा जुकी है। अभिनवगुप्तका कथन है कि कोई भी मनुष्य वासना-शृत्य नहीं होता-"न ह्येतचित्त-वृत्तिर्वासनाशृत्यः कश्चित् प्राणी भवति"। कहनेका अभि-प्राय है कि रति, हास इत्यादि भाव ऐसे है, जो संस्कार-रूपमें सभी मनुष्योंमें वर्तमान रहते हैं, अर्थात् वे सर्वजन-सुलभ हैं। रामचन्द्र शक्लने भी 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्धमें 'छोकसामान्य-भावभूमि'पर बल दिया है। साधारणीकरणकी सम्पूर्ण कल्पना स्थायी भावोंकी सर्व-जनीनतापर भी आधारित है। अरस्तू इत्यादि पाश्चात्य आचार्योंने भी काञ्यमें सार्वछौकिकता तत्त्व (युनिवर्सिछटी)-को महत्त्व दिया है।

स्थायी भावोंकी उपर्युहिस्तित तीन विशेषताएँ ही ऐसी हैं, जो उनकी प्रकृतिसे निष्पन्न होती है, लेकिन काव्यमें चित्रित उनके स्वरूपकी उपादेयनापर विचार कर आचार्योंने उनमे अन्य दो गुण भी आरोपित कर दिये हैं। वे हैं पुरुषाधोंपयोगिता और उचितविषयनिष्ठत्व या औचितरा।

8. पुरुषार्थोपयोगिता—लगभग सभी आचायों में यूंह माना है कि काव्यका प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम एवं में की, जिन्हें चार पुरुषार्थ कहा गया है, उपलब्धि है। अंतएव धार्मिक भावनाये प्रभावित होनेके कारण काव्यके उपजाव्य स्थायी भाव पुरुषार्थोंकी साधनामे उपयोगी समझे गये हैं। अभिनवगुप्तने भी स्थायियोंकी पुरुषार्थोपयोगिताका उल्लेख किया है—"स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्रमात्रपुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद् इति"। यद्यि व्यावहारिक अथवा मनोवैद्यालिक दृष्टिसे भी रित, कोष प्रभृति भावोकी उपयोगिता उपपन्न की जा सकती है, तथापि काव्यकी रसवादी विवेचनामे यह अस्पृहणीय प्रतीत होता है।

" उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य — काव्यमें भावींकी स्थिति उचित विषय अथवा आलम्बनमें होनी चाहिये।
यही स्थायी भावोंका औचित्य कहा गया है। वास्तवमे
भावोंको तीव्र रूपमें आस्वाध वनानेके लिए उचित विषयका
ग्रहण आवश्यक है — "स्थायिनस्तु रसीभावः औचित्यादुच्यते"। कुरूप स्त्रीको रूपविना-सी चित्रित करना अथवा
किसी दुःशील व्यक्तिके प्रति करूणा अथवा सहानुभूति
इत्यादिका संचार करना औचित्यका हास अथवा हनन
होगा। क्षेमेन्द्रने तो औचित्यको 'काव्यका स्थिर जीवन' ही
बताया है। रसाभास एवं भावाभास औचित्यके तिरस्कारसे
ही उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह सरण रखना आवश्यक है कि स्थायी भावों में उपर्युक्त गुणोंका एक साथ समाहार वांछनीय है, क्यों कि तभी वे काव्यमें चित्रित होकर सहृदयसंग्रेख हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'लोभ' एक अत्यन्त उत्कर भाव है, लेकिन वह आस्वादनीय नहीं है, इसलिए उसे स्थायी भावों में सिन्निष्ट नहीं किया गया है। ऐने ही संचारी भाव भी सर्वजनसुलभ है, क्यों कि वे भी मनुष्यमे वासनारूपसे स्थित है, किन्तु उनमे उत्करत्व नहीं है, क्यों कि जैसा कि पण्डित-राजने वहा है, वे काव्यादिकमे अन्ततक 'वार-वार' अभिव्यक्त नहीं होते, अतएव वे व्यक्तियारी है। कहे गये है।

डपर्युक्त कसौटीपर कसकर आचार्योंने सर्वसम्मतिसे रित, हास, शोक, कोष, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम या निर्वेद, ये नौ स्थायी भाव स्वीकृत किये हैं। भरतने पहले निर्वेदको स्थायी भावोमे सन्निविष्ट नहीं किया, क्योंकि वे आठ रसोको ही नाट्योपयोगी मानते हैं, किन्तु इनके निरूपणके पश्चात् उन्होंने ज्ञान रसको भी स्वीकार किया है। बादमें मक्ति और वात्सव्य भी स्थापिगों में गुरीन कर लिये गये हैं, क्योंकि वे भी आस्वाद्यना, क्रिता इत्यादि गुणोंमें अन्य भावोंसे घटकर नहीं है। इस प्रकार स्थायी भावोंकी संख्या ग्यारहतक पहुँच जाती है। इनमेंरी प्रत्येक एक-एक रसका स्थायी है। ये भाव अपने नियत रसमे ही स्थायीकी संज्ञा प्राप्त करते है, क्योंकि ये आबोपान्त आस्वादित होते है। यदि अपने नियत रससे अन्यत्र इनमेंसे कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वहाँ वह स्थायी न रहकर व्यभिचारी बन जाता है; इसे दृष्टिमें रखते हुए कन्हैयालाल पोद्दारका कथन है कि "वास्तविक स्थायी भावके उदाहरण तो रसकी परिपक्व अवस्थामें ही मिल सकते है, अन्यत्र नहीं" (र० मं०, प्र० २५२)।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने भावोका गम्भीर विवेचन किया है। मैकड्गलने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य-की सहज प्रवृत्तियो (instincts)का क्रियात्मक प्रकाश ही भाव है। उनके अनुसार प्रत्येक प्रधान प्रवृत्ति एक विशिष्ट प्रकारका भावात्मक चापल्य व्यंजित करती है। इस प्रकार मैकडगलने मनष्यकी सत्रह अन्तःप्रवृत्तियोंकी स्थापना कर उनके लिए सत्रह भाव निरूपित किये है। इन भावोकी तालिकापर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि रित, हास, क्रोध, भय, घुणा, औत्सक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य एवं सहानुभृति तथा साहचर्य, ये दस भाव ही प्रवृत्तिपेरित भाव है। इनमेने प्रथम सात हमारे स्थायी भावोंसे मिल जाते है। अहंकार एवं उत्साहमें भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। कार्पण्यको भी कुछ आचार्योंने स्थायी भाव माना है, किन्त अधिकां रा उसे केवल भाव ही मानते है। हमारे स्थायियों में केवल 'शोक' ही बच जाता है, जिसका उल्लेख मैकडगलके प्रवृत्तिम्लक भावोंमें नहीं मिलता । कुछ मनःशास्त्री 'शोक'-को भी मूल भाव मानते है, लेकिन कार्पण्य एवं सहानुभूतिमे शोकके तत्त्व समिहित हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकोंने भावोको दो श्रेणियो-मौलिक (primary) एवं व्युत्पन्न (derivative)मे विभाजित किया है, उनके अनुसार भी स्थायी भावोंमेसे अनेक मौलिक भावोंके भीतर समाविष्ट हो जाते है। विस्मय, उत्साह एवं शोकको ये लोग मौलिक न मानकर उनपर आधारित अथवा उनसे विकसित न्युत्पन्न भाव मानते है। ऐसे ही कुछ मनःशास्त्री रतिको भी मूल भाव नहीं मानते। रामचन्द्र शुक्लने भी रतिका मूल उत्स 'राग' माना है। लेकिन मैकडुगलके अनुसार ये सभी भाव प्रवृत्तिमूलक मूलभूत भाव ही सिद्ध होते हैं। अभिनव-ग्रप्तने स्थायी भावोंको 'वासना', 'संवित्', 'चित्तवृत्ति', इन तीन शब्दोमें अभिहित किया है। मैकड़गल इत्यादि भावों-की अन्तःप्रवृत्तिके, जो अभिनवकी वासना ही है, प्रस्फृटित स्वरूप मानते हैं, जब कि अभिनवने इस रूप-विकासकी व्याख्या नहीं की। अतएव प्रवृत्तिप्रेरित भावों तथा वासना-्मूलक स्थायी भावों में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार स्थायी भावोंकी स्थिति वास्तवमें जीवनके उन तीव एवं व्यापक मनोविकारोंकी है, जो मानव-स्वभावके मूल अंग है तथा जिन्हें पाश्चात्य दर्शनमें साधारणतः मौलिक मनोवेग (elemental passions) कहा गया है। स्थेयं - दे० 'सात्त्वकगुण' (नायक)।

स्नेह - भक्तके मनमें सर्वप्रथम अपने भगवान्के प्रति स्नेह अंकुरित होड़ भे। ऐसी अवस्थामें भगवान्के रूप, गुणादिके

प्रति ठलक जायत् होती है। 'सूर'ने राधाके हृदयमें स्नेहके अंकरित दोनेकी कितनी मधुर व्यंजना की है- "बार-बार त् ह्याँ जिन आवै । मै कहा करौ सुतिहि नहिं बरजति. घरतें मोंहि बुलावै। मोसों कहत तोहिं बिन देखे रहत न मेरो प्रान । छोइ लगत मोकों सुनि बानी, महरि, तिहारी आन" (मृ० सा०)। स्नेहचक-चडाचक (दे०)की ही तरह स्नेहचककी तांत्रिक साधना भी, धर्मकी आडमें, मुक्तकामोपभोगकी एक विधि है। इसमे सहधर्मिणीका चुनाव चोलीके आधारपर न होकर साधक-साधिकाकी पसन्दके अनुसार होता है। स्नेहचक नामकी यही सार्थकता है। --रा० दे० सिं० स्पंद-कम्पन, गति। वसुगुप्तके 'शिवसूत्र'पर ही आधारित करके उनके शिष्य भट्टकल्लटने 'स्पन्दकारिका' और 'स्पन्दवृत्ति' लिखी । क्षेमराजने 'स्पन्दनिर्णय' तथा 'स्पन्द-सन्दोह', रामकाण्डने 'विवृति' और उत्पलवेष्णवने 'प्रदी-पिका की रचना इसी स्पन्द शास्त्रकी परम्परामे की। स्पन्द-शास्त्र एक तरहसे शैवागमके नये मोडका सूचक है। इसमे दार्शनिक विश्लेषणका प्रयत उतना नहीं किया गया है. जितना कि भावनाको दर्शनके साथ जोडनेका। इसते पहली बार आनन्दवी सत्यके धरातलसे ऊपर उठाकर स्पन्द या स्फरता या लोकोत्तर चमत्कार या आत्मविमर्शके थरातलपर पहुँचाया ।

स्पन्द शिवका प्रथम एफरण ही है। एक तरहमे शिव जब यह जानते है कि मै ही शिव हॅ, तभी इनमें पहला स्पन्दन होता है और वह पहला स्पन्दन ही शिवतत्त्व बनता है। जब आनन्दका बोध होता है तो शक्तितत्त्वकी प्रधानता हो जाती है। सदाशिवमें इसी प्रकार इच्छाशक्तिकी, ईश्वरमे ज्ञानशक्तिकी और शुद्ध विद्यामें क्रियाशक्तिकी प्रधानता हो जाती है। शुद्ध विद्यासे लेकर शिवतत्त्वतक कर्ध्वंगामी जीवका प्रयत्न वस्तुको आत्मरूपमे गृहीत करनेका होता है। वस्तका पूर्ण रूपसे आत्मगत होना, विषयका विषयीमें तादात्म्य होना तथा विश्व और व्यक्तिमें समरसता होना ही स्पन्द है। -वि० नि० मि० स्फोट १-(खुलना, विस्तार) नादका शाश्वत, अविभाज्य, सर्जनात्मक स्वरूप । विचारका वह वास्तविक माध्यम, जो चित्तमें किसी शब्दके उच्चरिन होते ही अर्थके रूपमें उद्धा-सित होता है। इस शब्दका प्रयोग व्याकरणशास्त्रमे सबसे पहले पतंजिलने किया है और इसीको दार्शनिक स्तरपर भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय'मे उपबृहित किया है। गंगेश और उनके परवर्ती अप्पय दीक्षित, नागेश भट्ट, गदाधर आदिने शब्दशास्त्रकी दार्शनिक व्याख्यामें शब्दके स्फोट-सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दोंका अर्थ, जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णीसे होता है और न इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंसे होता है, प्रत्युत इन वर्णोंसे बने हुए शब्दोंमे सन्निहित शक्तिके कारण अभिव्यक्त होता है। इस शक्तिको ही स्फोट संज्ञादी गयी है। यह शक्ति शब्द मायाके प्रथम विवर्तिन नादतत्त्वमें रहती है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि प्रत्येक वर्णमें व्यष्टिरूपमें अर्थ अभिक्यंजनाकी शक्ति रहती तो दूसरे वर्ण अपार्थ हो जाते। 'यह स्फोटसिद्धान्त वस्तुतः शब्द-ब्रह्मवादियोंकी देन

है और दर्शन मानकर चलता है कि नादमे ही जगत्का बीज है और यह जगत् अर्थरूपमें शब्दसे विवर्तमान होता है। इस सिद्धान्तका उपयोग साहित्य रास्त्रमें व्यंजनाकी स्थापनाके लिए ध्वनिवादियोने किया है। इन्होंने काव्यमे ध्वनिको +फोटसे एकाकार कर दिया है और इसीलिए अभिधा और लक्षणाके अलावा तीसरी शब्दशक्ति व्यंजनाकी आवश्यकतापर भी वल है। -वि० नि० मि० स्फोट २-स्फोट अखण्ड सत्तात्मक ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। वैयाकरणोने उपाधिरहित शब्दतत्त्व, अर्थात् प्रणयको ही स्फोर कहा है। इस प्रकार स्फोर शब्द-ब्रह्म हुआ। हठ-योगकी साधना पद्धतिमे बताया गया है कि कुण्डलिनी-शक्तिको उद्बुद्ध और ऊर्ध्वमुखी करके सहस्रारिश्वत परमशिवसे संयुक्त करानेसे मुक्ति मिलती है। कहते है कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर परमशिवसे सामरस्यकी अभिलाषासे ऊपरकी ओर उठती है तो उससे एक स्फोट होता है। हठयोगी इसे नाद कहते है। सारण-साहरयगर्भ भेदाभेदप्रधान अलंकारींका एक भेद । यह रुद्रटसे ही स्तीकृत रहा है। भोजने इसे स्मृति कहा है, अन्य प्रायः सभीने यही नाम दिया है। रुय्यक्का लक्षण है—''सद्दशानुभवाद्वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्" (अ० स०, पृ० ३२), अर्थात् साद्दरयके अनुभवसे किसी वस्तकी अन्तर-स्मृतिका जागना स्मरण अलंकार है। मम्मटके अनुसार किसी पूर्वानुभूत वस्तुकी, उसके समान किसी दूसरी वस्तुके अनुभयसे स्मृतिका उद्बुद्ध होना (का० प्र०, १०: १३२)। 'कान्यप्रकाश'की इस परिभाषापर रुद्रटकी छाप है और उनका लक्षण बहुत स्पष्ट है-"वस्तुविशेषको देखकर, जो उसके साइइयके कारण पूर्वानुभूत वस्तुकी आन्तरिक स्मृति जागती है, वही सारण हैं (काञ्या०, ८:१०९)। विश्वनाथने छक्षण रुय्यक्तमे लिया है, केवल 'अन्तर' शब्दके न होनेसे भाव परा व्यक्त नहीं है। जगन्नाथने 'साहदयानुभव' शब्दके प्रयोगपर आपत्ति की है, क्योंकि इस प्रकार संस्कारजन्य-स्मृति इसके अन्तर्गत नहीं आ सकेगी। हम केवल अनुभव-से ही किसी वस्तुका स्मरण नहीं करते, वरन किसी वस्तुकी स्मृतिसे भी समान वस्तुका स्मरण आता है। अतः उसके स्थानपर 'सहराज्ञानात' शब्दका प्रयोग होना चाहिये (र० गं०, २२१-२२)।

हिन्दोके आचार्योमें जसवन्त सिंह, मितराम तथा पद्माकर आदिने जयदेव तथा अप्पय दीक्षितको अनुसरणपर
इसका लक्षण अम-सन्देहके साथ दिया है और प्रायः
शब्दार्थमें ही निहित माना है। भूषणने रुय्यक, विश्वनाथ
आदिके समान—''सम सोमा लिख आनकी, सुधि आवत
जेहि ठौर" (शि॰ मृ॰, ७४) कहा है। दासके लक्षणमें
रुद्र जैसी स्पष्टता है—''कछु लिख सुनि कछु सुधि कियें,
सो सुमरन सुख कन्द" (का॰ नि॰: ९)। इसमे 'कछु
सुधि कियें कहकर दासने जगन्नाथकी बातको भी स्वीकार
किया है। उदा॰—"कहा कहिये पिय बोलि पपिहरा
विथा तन देत जगाइ जगाइ" (वहीं) अथवा—"मै पाता
हूँ मधुर ध्वनिमें गूँजनेमे खगोंके। मीठी ताने परमियकी
मोहनी वंशिकाकी" (प्रि॰ प्र॰)।

स्मित हास्य-दे० 'हास्य रस'।

स्मृति - प्रचित तैतीसमेसे एक संचारी; भरतने दुःख अथवा सुखकी स्थितिके स्मरणको माना है, जो रोग, अनिद्रा, नतमुख होकर सोचने या देखने आदिसे सम्बद्ध है और जिसके अनुभाव नतम्ख होना, नीचे देखना तथा मौहे चढाना आदि है (ना० शा०, ७: ५४ ग)। विश्वनाथ-के मतानुमार स्मृतिकी परिभाषा—"सदशज्ञानचिन्ताचैर्भु-समुन्नयनादिकृत्। स्मृतिः पूर्वानुभृतार्थविषयज्ञानमुच्यते (सा॰द०, ३: १६२), अर्थात् सहश वस्तुके अवलोकन तथा चिन्तन-आदिसे पूर्वानुभृत वस्तुके सारणको रमृति कहते हैं। स्मृतिमें हम पहलेकी किसी ज्ञात वस्तुका ज्ञान फिरसे प्राप्त करते है। भौह चढाना आदि इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालके आचार्योंमे कुछने 'नाट्यशास्त्र'की परम्परामें लक्षण दिया है-"संरकार सम्पति विपति, अधिक प्रीति अति त्रास। प्रिय अप्रिय सुमिरन सुमृति, इकचित मौन उसॉस" (भाव०: संचारी०) । इसके विपरीत कुछने 'सुमिरन बीती बातको' (जगडि॰, ५१०) कह दिया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करने हुए मराठी रस-विमर्शकारने लिखा है—'प्रोफेसर वाटवेका कहना है कि स्मृति किसी भावनाका विभाव या कारण हो सकती है। स्मृति भूतकालीन प्रसंगका संस्कार है। हुए, कोथ आदि भावनाएँ प्रसंगके स्मरणसे उद्दीप्त होती है। इस प्रकार भावोद्दीपनका कारण स्मृति है। स्मृति स्वतः भावना नहीं है। वह बुद्धिका व्यापार है। (र० वि०, पृ० १३०)।

रामचन्द्र ग्रुक्कने इसे अन्तःकरणकी वृत्ति माना है और इसे बुद्धि, धारणा आदिका न्यापार कहा है, जो मनी-वैज्ञानिक दृष्टिसे उचित है। उन्होने इसे बुद्धि, धारणा आदिका व्यापार कहकर यह प्रश्न उठाया है कि फिर इसका ग्रहण काव्यमे कैसे हुआ ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने खयं ही कहा है-"काव्यमे इनका ग्रहण वहीतक समझना चाहिये, जहाँतक वे प्रत्यक्ष रूपमे भावोके द्वारा प्रेरित प्रतीत होते हों"। उन्होने स्मृतिके दो भेद माने है-विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित (मिश्रित), अर्थात् स्मृति या प्रत्यभिज्ञान । विद्युद्ध स्मृति वह स्मृति है, जिसके कारण भूतकालकी प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओका, जो आज सामने नहीं हैं, सारण किया जाता है, जैसे, अतीत जीवनका सारण. बाल्यकालके मित्रकी याद । पर वहीं स्मृति संचारीकी कोटि-में आ सकती हैं, जिसका सम्बन्ध किसी स्थायी भावसे हो। स्थायी भावमे सम्बन्ध होनेपर ही समृति संचारी रसकोटि-तवा पहुँच सकती है।

"प्रत्यभिज्ञानमें थोड़ा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अंश उसीके सम्बन्धित स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्तिको हमने कही देखा और देखनेके साथ ही सरण किया कि यह वही है, जो अमुक स्थानपर बहुत-से लोगोंके साथ झगड़ा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारेसे हमारे मनमे झगड़ेका वह सारा हस्य उपस्थित हो गया, जिसका वह एक अंग था। 'यह वही है"—इन्ही शब्दोंमें प्रत्य प्रानकी व्यंत्रना होती है (र० मी०, पृ० २०९)।

प्रत्यभिज्ञानमें रस-संचारकी गड़री इप्रता है। अधिकतर कान्यमे प्रत्यभिज्ञान-जन्य स्पृतियो ही अभिन्यक्ति मिस्रती

है, जहाँतक रतिशावले सम्बद्ध संचारीका सम्बन्ध है, रमृति संचारीका आविभीव साधारणतः दो रूपोमे दिखाई पड़ता है-एक तो आलम्बनकी प्रिय वस्तुओको देखकर और दूसरे, उसके अमण, क्रीडा आदिके खलोको देखकर। ्र तुलमीकी 'गीनावली'मे पहले प्रकारके कई संचारी मिल जायंगे। कौसल्या रामके धनुप-बाण और घोड़ोंको देखकर रामकी स्मृतिमे अत्यन्त विकल हो जाती है। रीतिकालीन काव्योमें दूसरे प्रकारके स्मृति संचारीका अविक प्रयोग हुआ है, श्रीकृष्णके गोकल चले जानेपर जब गोपियाँ यमुनाके कछारो, वनलताके कुजो आदिको देखती है, तब उनके मनमें सहसा यह बात उठती है कि ये कछार और छताकुंज वे ही है, जहाँ हम सब श्रीकृष्णके साथ विहार करती थी-"सवन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरिम समीर। मनु है जात अजों वहै उहि जमुनाके तीर" (बि॰ र॰, ६८१)। इसी प्रकारकी रसखान तथा आलम जैसे प्रेमियोंमें भाव-व्यंजना है-"जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कॉकरी बैठि चन्यों करं। नैननिमें जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सन्यो करें" (आलमकेलिसे)। स्मृति-दृश्य -दे० 'पलैशबैक'।

स्यंभद आर - कबीर आदि सन्तोंने स्यंभदुआर, सिंभुदुवार आदि शब्दरूपोंका व्यवहार योग-परक रूपकों या योग-साधनाने सम्बद्ध प्रसंगोंमें किया है। सुरति-निरितका परिचय होनेपर सिंभुद्वारके खुल जानेकी चर्चा कवीरने की है-"सरित समानी निरतिमें, निरित रही निरधार। सरित निरित परचाभया तब ख़िल गा सिंभु दुआर" (कः ग्रं० : ति०, पृ० १७० : २४) । सामान्य अर्थमे यह शब्द 'सिंहद्वार' रूपमें व्याख्यात हो सकता है। 'वेगमपुर'-में प्रवेश करनेके लिए कोई-न-कोई द्वार होगा ही और जब वह रानीका शहर या अन्तःपुर है तो उसमें सिंहद्रार ही होगा। सहस्रारमे प्रवेश करनेके लिए ब्रह्मरन्ध्रका उद्घाटन आवश्यक माना जाता है, अतः स्यंभदुआरको बहारन्ध्र रूपमे भी पहचाननेकी कोशिश की गयी है। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'स्यंभ'मे संस्कृतके 'स्वयंभू' शब्दकी ध्वनि सुनी है। स्वयंभ अर्थात् स्वयं उत्पन्न होनेवाला, अर्थात् अकृत्रिम मार्ग ('भारतीय साहित्य' वर्ष ५, अंक १, जनवरी '६०, पू० १३) । लक्ष करनेकी बान है कि सिंहद्वार और स्वयंभू-द्वार वाले अर्थ ध्वनिसाम्य द्वारा आभासित अर्थ हैं और प्रसंग तथा प्रयोगकी दृष्टिसे सही भी उतरते है, लेकिन यह तो ऊपरी आमदनी हुई। कोई मूल अर्थ तो इसका होना ही चाहिये। मेरा मत है कि यह 'सिभ्दवार' मूलतः 'रुद्रग्रन्थि'का वाचक है। जो लोग योगशास्त्रकी अजपा-गायत्री, इंसविद्या या कुण्डलिनी योगसे परिचित है, उन्हें यह 'सिम्भदवार' 'रुद्रग्रन्थि'का समानाथीं या उसका वाचक रुगेगा। मेरा विश्वास है कि इस शब्दका कबीरके मनमें 'रुद्रयन्थि' अर्थ ही होगा। योगशास्त्रमे अजपासाधन या कुण्डलिनी साधनाके प्रसंगमें तीन प्रनिथयोंका उल्लेख मिलता है- ब्रह्मश्रन्थ, विष्णुयन्थि और रुद्रयन्थि। पुरक प्राणायाम दारा मूलाधारमे वायु भरकर अपनी शक्ति दारा उस वायुको आकंचित कर ऊपर उठानेसे प्राण और अपान-में साम्यावस्था स्थापित होती है और मूलाधारके त्रिकीण-

चक्रमें सित अग्निसे प्राण अपानका संयोग होते ही कुण्ट-लिनी शक्ति अधीमखसे अध्वीमख होकर जाग उठती है। जायत कुण्डलिनीको षद्चकों में प्रविष्ट करानेके लिए जिस यन्थिका खुलना आवश्यक है, वह है मूलाधार चक्रके मूलमें स्थित 'ब्रह्मग्रन्थ'। इसे भेद लेतेपर कुण्डलिनी निर्वाध मूलाधार और खाधिष्ठान चक्रोंने प्रविष्ट हो जाती है। इससे वढनेके लिए कुण्डलिनीको एक बार पनः अनाहत चक्रवे नीचे स्थित 'विष्णुयन्थि'को खोलना पड़ता है, क्योंकि इसे खोले बिना हृदयन्त्रकमे प्रवेश असम्भव है। इससे आगे आशाचक्रके नीचे स्थित 'रुद्र यन्थि' है, जिसे खोल लेनेपर आज्ञानक्रमे प्रवेश होता है। यही पहुँचकर योगी सर्थ, चन्द्र और अग्नि नामक तीनों तेजो या विन्दओको एकमे मिला देता है और इनके मिलनेसे एक महातेजका विकास होता है। इस ग्रन्थिको खोल लेनेके उपरान्त योगीको अजर-अमर पिण्डकी प्राप्ति होती है और वह सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्रमे प्रवेश करता है और तुर्य-तुर्यके दर्शनसे अमात्र-स्थिति, प्रतिद्वन्दद्दीन कैवल्यावस्था या परमहंसावस्थाको प्राप्त करता है। अतः स्पष्ट है कि सुरति-निरतिके परिचयके बाद जिस सिम्भदवारके उद्घाटनकी बात कवीरने की है वह यही ब्रह्मग्रन्थि ही हे सहस्रारस्थ ब्रह्मरन्ध्र नही। ज्ञानदीपक-वाले रूपकमे (रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड) गोस्वामीजीने कई यन्थिमे जिस यन्थिके खोलनेका उल्लेख किया है वह यही 'रुद्र' धन्थि मालूम पड़ती है। —रा० दे० सिं० स्त्रग्धरा - वर्णिक छन्टों मे समबृत्तका एक भेद; पिंगल-छन्दः-स्त्र' (७:२५)में इसका लक्षण दिया है। म, र, भ, न, य, य, यके योगसे यह वृत्त बनता है (SSS, SIS, SII, III, ISS, ISS, ISS) और ७, ७, ७ वर्णीपर यति होती है। बाणने 'चण्डीशनक'मे इस छन्दका विशद प्रयोग किया है। हिन्दीमें मैथिलीशरण ग्रप्त (पत्रावली, पृ०३:७; साकेत : ९ : १० १९७) और अनूप दार्मा (सिद्धार्थ, १० २४२)ने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"नीचे पश्चासनस्य स्तिमित हग किये, दृष्टि अन्तिहिता थी। ऊँचे नासापुटोंमें अविचल स्वर थे, सूर्यचन्द्राख्य दोनों (सिद्धार्थ, ५० २४२)। स्रजन-एर्जन अथवा सर्जना। साहित्य अथवा कलाके निर्माणकी प्रक्रिया, जिसके द्वारा कवि अथवा कलाकारका अमृत भाव मृत बनता है। स्रजनमें आभ्यन्तर प्रेरणाका बोध है, जो कलामय रूपो और प्रतिमानोंमें अनायास ही बँध जाती है (दे॰ 'क्रति', 'रचना')। स्वकीया (नायिका)-सामाजिक सम्बन्धोंके आधारपर किये गये नायिकाओं के विभाजनका पहला भेद । इसके दो अन्य नाम भी दिये गये हैं, भरतने कुलजा तथा रुद्रटने आत्मीया या स्वीया । स्वकीयाका प्रयोग सर्वप्रथम 'अग्नि-पराण'में हुआ है। भानदत्तके अनुसार-"तत्र स्वामिन्येवा-नुरक्ता स्वीया"(र० मं०, पृ० ५), अर्थात् जो अपने स्वामीमें ही अनुरक्त हो, वह स्वकीया है। स्वामीके प्रति विवाहिता स्त्रीकी मन, वचन तथा कमेंसे पूर्ण अनुरक्ति ही स्वकीया भाव है- "लाजवती निस दिन पगी निज पतिके अनुराग" (र० रा०, १०)। देवने अपनी परिभाषाको अधिक स्पष्ट बनाया है—"जाके तन मन बचन कारि, निज

नायकर्सी प्रीति । विमुख सदा परपुरुवसों सो स्वकीयकी प्रीति" (भाव : नायिका )। दासने 'श्रृंगारनिण्य'मे स्वकीयाके अन्तर्गत 'भोगभामिनी'को अर्थात राजाओंके अन्तःपुरमे रहनेवाली रखेलियोंको भी माना है (६३)। यह नायिका अष्टांगवती नायिका है, क्योंकि इसमे ही आठों गुण पाये जाते हैं - यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण । अन्य नायिकाओमे इन समस्त गुणोका विकास सम्भव नहीं। देवके उदाहरणमें स्वकीयाका लजाशील तथा कोमल चित्रण किया गया है—"कि देव हरे बिछि-यान वजाइ लजाइ रहे पग डोलन पै। गुरु दीठि बचाइ लचाइ के लोचन सोचिनसो मुख खोलिन पै। हॅसि हौंस भरे अनुकूल बिलोकानि लालके लोल कपोलनि पै। बलि हो बलिहारी हो बार हजारक बालकी कोमल बोलनि पै" (भाव॰ : स्वकीया॰)। मतिरामने स्वकीयाके शीलका चित्रण किया है—"जानित सौति अनीति है, जानित सखी सुनीति । गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत पीत" (र० रा०, १२)। दासने उसकी एकनिष्ठतापर वल दिया है—"पान औ खानतें पीको सुखी लखै आप तबै कुछ पीवितखाति हैं" (शृं० नि०, ६४)। पद्माकरने अलंकृत शैलीमें उसमें गुणका उत्कर्ष दिखाया है—''सोनोमै सुगन्ध न सुगन्थ मै सुन्यो री सोनो सोनो औ सुगन्ध तो मै दोनो देखियत है" (जगद्वि०, १:१८)। इसके प्रमुख भेद-१. मुग्धा, २. मध्या तथा ३. प्रौढाको इन शब्दोके अन्तर्गत देखिये।

स्वगत-दे० 'अश्राव्य'।

स्वगतनास्य-दे॰ 'एकालाप'।

स्वच्छंदतावाद — अंग्रेजी रोमांटिसिज्म (दे०) शब्दका निकटनम हिन्दी प्रतिरूप । रामचन्द्र शुक्ठके प्रयोगसे शब्दको उसका परिनिष्ठित अर्थ प्राप्त हुआ है । सामान्यतः स्वच्छंदतावादसे प्राक्त-छायावादी हिन्दी कविताका बोध होता है, जिसके प्रवर्त्तक और उन्नायक थे—श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय और रामनरेश त्रिपाठी। इनमेसे प्रथम और अन्तिमका कृतित्व अधुनिक हिन्दी कविताकी मुख्य उपलब्धियोंमेंसे हैं।

प्रकृति, देश-भक्ति, वन-वैभव और एकान्त प्रणय— स्वच्छंदतावादके ये मूळ तत्त्व कहे जा सकते है । और इन सबके ऊपर है वैयक्तिक स्तरपर विद्रोहका भाव । ये अथवा इनमेके कुछ तत्त्व उक्त कवियोंकी अधिकांश रचनाओंमे मिळते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे स्वच्छंदतावादी काव्यका यह रूप छायावादके अवतरणको सम्भव बनाता है।

हिन्दी कविताकी स्वच्छंदतावादी धारामें देश-मिक्तका गहरा रूप भी हमें देखनेको मिलता है। वस्तुतः एकांत प्रणय और देश-मिक्तका सहज-संपृक्त रूप भारतीय और हिन्दी रोमांटिसिज्मकी अपनी विशेषता है। अंग्रेजी और यूरोपीय रोमांटिसिज्मका प्रभाव सिद्ध करते समय लोग प्रायः इस मौलिक अन्तरकी ओर ध्यान नहीं देते, जो स्वाधीन और पराधीन देशोंकी रोमांटिक प्रवृत्तियोंको अलग-अलग करता है। इंग्लैण्डके लिए देश-भिक्त और राष्ट्रीयना-की यह मंबेदनात्मक अवतारणा इस सन्दर्भमें अपेक्षित न

थी, पर पराधीन भारतका कवि अपने समूचे रोमांटिक मिजाजमें इस राष्ट्रीयताके पक्षको विशेष महत्त्व देता था। श्रीधर पाठकसे लेकर छायावादी कवियोंतकका कृतित्व इसका साक्ष्य प्रस्तुत करता है। — रा० स्व० च० स्वतःचालित लेखन (automatic writing)—दे० "अतियथार्थवाद"।

स्वतःसंभवी-अर्थशनत्युद्भव ध्वनिका पहला भेद । स्वतः-सम्भवीसे अभिप्राय उस कान्यार्थसे है, जो केवल कवि-कथनमात्रसे ही सिद्ध न हो, वरन बाह्य संसारमे भी जो डचित रीतिसे सम्भाव्यमान हो-"न केवलं भणितिमात्र-निष्पत्तौ यावदबहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः" (का० प्र०, पृ० ८५), अर्थात् लोक-व्यवहारमें संगत तथा सम्भव काञ्यार्थ स्वतःसम्भवी है। इस भेदमे वस्तुसे वस्तुकी, वस्त-से अलंकारकी तथा अलंकारसे वस्तकी और अलंकारकी व्यंजनाएँ होती है। फलतः इसके चार भेद है (१) खतः-सम्भवी वस्तुसे वस्तुकी व्यंजना—"कोटि मनोज लजावन-हारे, सुमुखि कहहू की अहिं तुम्हारे। सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी" (का० द०, पू॰ ३११)। यहाँ 'सीताका संकृचित होना, तथा मनमें 'पुलकित होना' वाच्यार्थ है। इसके द्वारा यह व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है कि राम 'सीताके पति है'। वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ, दोनोंमे ही कोई अलंकार नहीं है, इसलिए इस उदाहरणमें वस्तुसे वस्तुकी ध्वनि है और मानव स्वभावगत स्वाभाविक -चेष्टावर्णन होनेके कारण स्वतः सम्भवी भी है। (२) स्वतः-सम्भवी वस्तुले अलंकारकी व्यंजना—"डाँसन छाँडिके कासन ऊपर, आसन मायों, पै आस न मारी"। यहाँ वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि आशाको त्यागे विना मनुष्यका सचा कल्याण नहीं हो सकता और इस कथन (वस्त)में विनोक्ति अलंकारकी ध्वनि है (विनोक्ति-एक वस्तुके विना दूसरी वस्तु अशोभित जान पडे)। लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे उक्त कथन सर्वथा संगत है। अतः उक्त उदाहरणमें स्वतःसम्भवी वस्तुसे अलंकारकी ध्वनि है। (३) स्वतःसम्भवी अलंकारसे वस्तुकी व्यंजना—"विनु पद चलै, सुनै बिनु काना, कर बिनु करम करै विधि नाना" (रामचरित मानस)। यहाँ वाच्यार्थमे विभावना अलंकार है और उससे इस तथ्य (वस्तु ) की व्यंजना हो नी है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। ब्रह्मके विषयमें उक्त प्रकारके कथन सर्वथा संगत हैं। अतः इस उदाहरणमें खतःसम्भवी अलंबारसे वस्तुकी व्यंजना है । (४) स्वतःसम्भवी अलंकारसे अलंकारकी व्यंजना—"अलि इन लोयनि सरनिको, खरो विषम संचार । लगे लगाये एकसे दृहअनि करत सुमार" (बिहारी)। इस दोहेके वाच्यार्थमें नेत्रों और बाणोमे रूपक बॉधा गया है, किन्तु व्यंग्यार्थरूपमे उपमान (शर)की अपेक्षा उपमेय (नेत्र) में यह विशेषता है कि अपने लक्ष्यको विद्ध करनेके अतिरिक्त वे चलानेवालेको भी धायल कर देते हैं। नेत्रोंका यह व्यापार लोक-दृष्टिसे संगत होनेके कारण उक्त उदाहरणमे स्वतः-सम्भवी अलंकारसे अलंकारकी ध्वनि है। ऊपर चारों उदाहरण वाक्यगत ध्वनिके हैं। पद तथा अवस्थ हार हा प्रकारकी व्यंजना होनेपा स्वतःसम्भवी ध्वनिकं चारी भेडोंके तीन-तीन भेद और होते हैं- पदगत, याज्यगत,

—-তত হাত হাত प्रबन्धगत । स्वप्न (सप्त एवं सुप्ति) - प्रचित तैतीसमेसे एक संचारी भाव। 'नाट्यशास'का अनुकरण वर संस्कृत काव्य-ज्ञास्त्रियोंने इस संचारी मावको प्रायः सप्त कहकर अभिधान किया है। शारदातनयने इसको 'सप्ति' कहा है। कालान्तर-में इसका ही नाम यदि परिभाषानुकूल 'स्वप्न' पड़ गया तो कोई आश्चर्य नहीं। भरतने इसको 'निद्रासमुरियन', अर्थात् निद्रासे उद्भूत बताया है। उच्छ्वास, निःश्वास, शिथिलगात्र, ऑखे वन्द होना, इन्द्रियोका सम्मोह एवं स्वप्नमे बोलना इत्यादि क्रियाओसे इसकी अभिव्यक्ति होती है (ना० शा०, ७: ७५ ग)। अतः निद्रायस्त पुरुषके विषयानुभवका नाम स्वप्न है और इस भावको दशरूपक-कार एवं अन्य लेखकोने सञ्यक्त कर दिया है। विश्वनाथने ठीक ही कहा है कि यह कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख एवं दुःखकारक होता है (सा० द० ३:१५२)। हिन्दीके रीतिकालीन आचार्योंने इसका चलता हुआ लक्षण दिया है-'सपन स्वप्नको देखियो' (जगहि०, ५१०)।

प्रायः इसके उदाहरणमे वास्तविक स्वप्नके वर्णन दिये गये हैं—"जानित हो सिख सापनेमे नॅदलालको नारि निहारि रही है" (जगिंद्र०, ५११)। रामदिन मिश्रने पन्तकी स्वप्न-व्यंजनाके चित्रको इसके उदाहरणमें प्रस्तुत किया है—"किन जन्मोंको चिर सचित सुधि बजा सुप्त तन्त्रीके तार; नयन निल्नमें वॅथी मधुप-सी करती मर्म मधुर गुंजार"। (का० द०)।

दःगम्दने 'काव्यानुशासन'में स्वप्नकी परिभाषा केवल 'ग्रुप्तं निद्रायाः गाडावस्था' कर दी है, जो अपूर्ण है। निद्रामें स्वप्नका होना आवरयक है। कई बार स्वप्न भी इतने सजीव होते हैं कि उनका चित्र हमारे स्मृतिपटलपर अमर रहता है। जाग्रदवस्थामें भी स्वप्नसमान चित्तकी दशा रहनेपर भी यही संचारी हो सकता है (day-dreaming)। स्वप्न वास्तवमें मानसिक अवस्था है। सामान्य निद्रा एवं निद्रा संचारी भावसे भी मिन्न है (ना० द०, ३: १३९)।

स्वप्तप्रतीक—मनोविद्रलेषणमे स्वप्नोंके दो पक्ष माने जाते है—प्रकट अन्तर्वस्तु और ग्रप्त अन्तर्वस्तु । प्रकट अन्तर्वस्तु अन्तर्वस्तु । प्रकट अन्तर्वस्तु अन्तर्वात् हुन अन्व आदि वे समस्त मानस प्रतिमाएँ या विम्वविधान है, जिनसे हमे दिखाई पडनेवाले स्वप्नका निर्माण होता है। ग्रुप्त अन्तर्वस्तुमें वे विचार, इच्छाएँ और प्रेरणाएँ होती है, जिनको स्वप्न प्रच्छन्न रूपसे व्यक्त करता है। स्वप्नकी प्रक्रिया द्वारा ग्रप्त अन्तर्वम्तु प्रकट अन्तर्वस्तुमें परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक स्वप्न इच्छापूर्तिका साधन होता है। स्वप्नप्रक्रिया कुछ नियमोके अनुसार सम्पन्न होती है, जिनमें प्रतीक्षित्ररण एक है। फायडके अनुसार स्वप्नकी लगभग प्रत्येक प्रतिमा किसी अन्य वस्तुका प्रतीक होती है। समान्वारपत्रोमे निकलनेवाले व्यंग्यचित्रों में भी प्रतीक्षता उपयोग इसी प्रकार किया जाता है। स्वप्नोंका अर्थ प्रतीकोंका अर्थ जाने विना नहीं किया जा सकता।

स्वप्नप्रतीकींमें कुछ सर्वन्यापी होते हैं और कुछ स्यक्तिगत । राजा और रानी माता-पिताका और छोटे पशु

भाई-विह नोंका प्रतिनिधान करते है। नग्न हो जाना आरम्भिक स्वमुग्धताका प्रतीक है। किसी स्त्रीका पीछा करते हुए भयावह और विकराल घोडे और सॉड़ जैमे पशु शारीरिक बल और पुंस्तवके प्रतीक है। इसी प्रकार विधवाएँ और अतुप्तकाम स्त्रियाँ अस्त्रश्चांते सुसन्जित चोरो या डाकुओको अपने ऊपर आक्रमण करते देखती है तो यह चोर और डाक बलात्कारियोके प्रतीक होते है। मनोविश्लेपकोंकी यह भी मान्यता है कि स्वप्नोमें सबसे अधिक प्रतीक पुरुष-जननेन्द्रियवे मिलते है। सर्प, भाला, कुपाण, मछली, चिडिया, छडी, पेडका तना, खम्से, मीनार, शिखर, साद्दययुक्त फल और तरकारियाँ आदि शिवनके प्रतीक है। इसी प्रकार जूते, वक्स, गुफा, चुरहे, खिडिकियाँ, दरवाजे, कमरे और उद्यान नारी-जननेन्द्रियके प्रतीक है। जल और सान भी धौन प्रतीक है। जीना या सीढी रतिक्रियाका प्रतीक है और साथीके साथ जीनेके ऊपरतक पहुँच जाना दोनोकी तृप्तिदायक पूर्ण रतिका। स्वप्नोके प्रतीक पुरातन पौराणिक गाथाओं और लोक-कथाओंके प्रतीकोसे बहुत निलते-जुलने है। जैसे ऊँचाईसे गिरकर अपनेको जमीनपर सही-सलामत पानेका स्वप्न हमारे कन्दरावासी पूर्वपुरुपके अनुभवका प्रतीक है। गिरना किसी नैतिक आचरणके अतिक्रमणका भी प्रतीक माना जाता है। युगके अनुसार स्वप्नोमे प्राक्तन भाव-प्रतिमाएँ प्रकट होती है और स्वम किसी प्रस्तत समस्याको हल करनेका प्रयास होता है।

प्रतीकोंके माध्यमसे अपनी अवचेतन इच्छाओंकी अभिव्यक्ति स्टप्नोंतक ही नहीं सीमित है, जाग्रत् जीवनमें भी हम बहुत-कुछ वैसा ही करते रहने हैं। पश्चिमी देशोंने में नवदम्पतीके अपर चावल और जूते फेंकनेकी प्रथा है। जूते सभी देशोंकी लोक-कथाओं में योनिक प्रतीक है और चावल (अथवा गेहूँ) पुरुषके उर्वर वीर्यके। इस प्रकार यह प्रथा नये सम्बन्ध—यौन स्वरूप और परिणामका प्रतीक है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है।

स्वप्नसर्जना-इसका अर्थ है निद्राकालमे स्वप्नोके मध्य कलात्मक सर्जना करना । इस प्रक्रियाके अनेक उदाहरण दैनिक जीवनमे मिलते रहते है। मनुष्यका मन निद्रावस्था-मे भी निष्क्रिय नहीं होता। जायत जीवनकी समस्याएँ और चेतन अथवा दिमत इच्छाएँ प्रकट या प्रच्छन्न रूपसे अपना समाधान और पृतिं स्वप्नोमे किया करती है। गणित-शास्त्रियों और वैज्ञानिकोंको अपनी समस्याओंका समाधान प्रायः स्वप्नमें मिल जाया करता है। स्वामी रामतीर्थको एक वार गणितकी कोई जटिल समस्या आकुल किये हुए थी। यदि रातभरमे उसे हल नहीं कर पाये तो सवेरे आत्महत्या कर लेनेका निश्चय किया। अन्तमें उन्हे नीद आ गयी और खप्रमे उन्हें अपनी समस्याका हल मिल गया। सर्जनात्मव क्षेत्रमें भी ऐसा होता रहता है। सवसे प्रशिद्ध उदाहरण अंग्रेजी कवि कॉलरिजका है, जिसने अपनी प्रख्यात कविता 'देशिएण्ट मैरिनर्स'की सर्जना स्वममे की थी। मूर्त कलाओं के क्षेत्रमें कलाकारको अपनी कृतिके रूपाकारका प्रत्यक्ष स्वममें हो सकता है। कुछ

भारतीय शास्त्रोंमें ऐसे स्वप्न लानेका विधान है, जिनमें शिल्पीको इष्ट मन्दिर या प्रतिमाका रूप प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर वह उसे बना लेता है। — आ० रा० शा० स्वप्रगतीय आलो चना-प्रणाली - स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणाली डाविन द्वारा प्रमाणित क्रमिक विकास और हासके सैद्धान्तिक सत्यपर आधारित है। जैने ऐतिहासिक प्रणालीमे देशकालको ही मूल साहित्यिक आधार मान लिया गया, उसी प्रकार स्वप्रगतीय आलोचक डाविनके सैद्धान्तिक निर्णयोंको मूल आधार मानकर साहित्यका मूल्यांकन करना श्रेयस्कर समझने लगे । वे वैज्ञानिक विकासवादको आलोचना-क्षेत्रमे आरोपित करके इस सीमातक अतिवादी निष्कर्षों के समर्थनमे योग देने लगे कि प्रत्येक माहित्यका मूल्यांकन उस समयतक नही किया जा सकता, जबतक कि वैज्ञानिक विकासवाद अथवा स्वप्रगति-वाद (self-evolution)के नियमके अनुसार साहित्यको भी विभिन्न वर्गों (species) में नहीं बॉट दिया जायगा। इस प्रणालीके अनुसार विभिन्न साहित्यिक रूपोंको रूप-प्रधान न मानकर वर्गप्रधान माना जायगा । महाकाव्य साहित्यका रूप न होकर साहित्यका एक वर्ग माना जायगा. नाटक दूसरा वर्ग, कहानी तीसरा वर्ग और इस प्रकारके अन्य वर्गीमे बॅटकर साहित्यका गूल्यांकन हो सकेगा। स्वप्रगतीय आलोचना-प्रणालीके आलोचक इस वर्गीकरणको ठीक उसी प्रकारका सत्य मानते है जिस प्रकार डार्विनवादी वर्ग (species) को सत्य मानते है। स्वप्रगतीय आलोचक इसीलिए यह मानकर चलता है कि जब साहित्यका एक वर्ग (अर्थात् नाटक, महाकान्य इत्यादि) अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है, तब उसका पतन होने लगता है और उसके पतनसे साहित्यका दूसरा वर्ग (रूप) स्वतः प्रगति करके विकासशील हो जाता है। यदि महाकान्य किसी युगविशेषमे अपनी चरम सीमातक विकसित हो चुका है, तो निश्चय ही उसके पतनके बाद दूसरा साहित्यिक वर्ग, चारे वह नाटक हो अथवा गीत, कथा हो अथवा अन्य साहित्यिक रूप, वह स्वयं प्रगति करके आगे आयेगा और अपनी चरम सीमातक सफलता प्राप्त करके पतनोनमुख हो जायगा। इस सैद्धान्तिक आधारपर इस वर्गके आलोचक समुचे साहित्यकी समवेत समीक्षाको अवैज्ञानिक मानते है। उनके मतानुसार एक साहित्य-वर्गका अध्ययन वर्तमान, भविष्य और अतीतके सन्दर्भमें सम्भव हो सकता है। <del>-</del>ल० का० व० स्वभावज-अलंकार-भरत द्वारा 'सात्त्विक अनुभावी'(दि०)-का एक विभाजन, जिसे संस्कृतमें एक सीमातक स्वीकार किया गया, पर हिन्दीमें इनको ही प्रधानता मिली है और 'हाव'की संज्ञा दी गयी है। रीतिकालके अन्तर्गत रसलीन(१८ श० ई०)ने भरत(४श० ई०)के विभाजनको माना है और आधुनिक विवेचकोंमें 'हरिऔध', इयामसुन्दर-दास तथा कन्हैयालाल पोद्दारने संस्कृतकी परम्पराको स्वीकार किया है। सुन्दर (१७ श० ई० पूर्वा०), तोष (१७ श॰ ई॰ पूर्वा॰), कुमारमणि (१८ श॰ ई॰ पूर्वा॰)ने भी संख्यामें विस्तार स्वीकार किया है। नायिकाओंके मुग्ध-कारी प्रभावको बढानेवाले वे अलंकार जो संयोगकी विभिन्न

अवस्थाओं में मुख्यतः उसकी आन्तरिक भावनाओं को प्रकाशित करते हैं और स्वाभाविक होते हैं, स्वभावन अलंकार कहलते हैं। अयत्वन अलंकारोका अभ्यास नहीं किया जा सकता, किन्तु इन अलकारोको अभ्यास द्वारा सहज ही प्रकाशित किया जा सकता, किन्तु इन अलकारोको अभ्यास द्वारा सहज ही प्रकाशित किया जा सकता है। भरत मुनिने इनकी केवल दस संस्था निर्धारित की थी और लीला, विलास, विच्छित्ति, विश्रम, किलकिचित् , मोहायित, कुटुमित, विच्छोत्ति, विश्रम, किलकिचित् , मोहायित, कुटुमित, विच्छोत्ते, लिलत तथा विद्वत नाम गिनाये थे, किन्तु कालान्तरमे भोज तथा विश्वनाथ आदि आचायोंने मद, तपन, मौम्ध्य, विश्लेष, कुत्हल, हसित, केलि, चिकत तथा बोधकको भी जोडकर इनकी संस्था १९ कर दी। हिन्दीमे ये सभी स्वीक्रत होते चले आये है।

 लीला अलंकार—भरतका दृष्टिकोण नाट्यकलापर आधारित है—"आसूषणों, चेष्टाओं तथा उपयुक्त कथनोंसे प्रेमीके व्यवहारका अनुकरण" (ना० शा०, २४: १४)। धनंजयका कथन इसीपर आधारित है—''प्रियानुकरणं लीला मधुरांगविचेष्टितैः" (द० रू०, २: ३७)। हिन्दीके आचार्यी-ने प्रायः ऐसा ही लक्षण दिया है—''प्रिय भूपन बचनादि-की लीला करे जो बाल" (र० रा०, ३५०)। इसमे 'कौतुक' (देव: भा० वि०)का भाव भी सम्मिलित हुआ है, जिसे दासने इस प्रकार व्यक्त किया है--''स्वाँग केलिकी करत है जहाँ हास्य रसभाव" (शृं० नि०, २४८)। हिन्दीके कवियोने प्रायः इसके उदाहरणमे वेश-परिवर्तनपर, अपने लक्षणकी सीमाके कारण, वल दिया है। वस्तुतः नायक-नायिकाका परस्पर प्रीतियुक्त होकर एक-दूसरेकी आंगिक चेष्टाओं, क्रिया-कलापो तथा देशभूषा आदिका अनुकरण करना ही लीला है। प्रियकी मृदुलता या तुतलाहटका, उसकी प्रेममय चेष्टाओका या उसकी वेशभृषाका यह अनु-करण परस्पर अत्यन्त विनोदमय, कामोद्दीपक तथा अनुरागवर्द्धक होता है। 'नवीन' कविके 'रंगतरंग'मे इसका उदाहरण इस प्रकार दिया गया है— "इयाम बनी राधे, राधेश्याम है सकेत आज, मधुर विलास करें मेटैं खोज ओजके। मनहूके पलटेन चैन दिन रैन, यातें तनकों पलट सुख लूटत मनोजके"। देवने अपने उदाहरणमें इस लीलाने 'कौतक'का वर्णन किया—"संगकी और उठी हॅसि-के तब हेरि हरे हरिजू हँसि दीन्हों" (भा० वि०: हाव)।

रे विलास अलंकार मरतका भाव ग्रहण करते हुए धनंजयने इसका लक्षण दिया है (तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु" (द० रु०, २: ३८), अर्थात् प्रियको देखकर विभिन्न अंगोंकी विशेष चेष्टाएँ। हिन्दीमे इसी भावको केशव प्रकट करते हैं "खेलत बोलत इसत अरु चितवत चलत प्रकास" (र० प्रि०, ६: ३७)। देव प्रियके दर्शन-स्मरण आदिसे इन चेष्टाओंको मानते हैं। पद्माकर नाना भावोंसे पतिको रिझानेको 'विलास' कहते हैं। वास कुछ अधिक स्पष्ट है "'वोलिन हॅसनि बिलोकिबो और मृकुटिको भाव। क्यों हूँ चिकित सुभाव जहें" (शृ० नि०, २५४)। इस प्रकार संयोगकालमे बैठने, उठने, चलने आदिमे विशेषतया तथा मुख, नेत्र आदिकी हैं। इसमे विभिन्न चेष्टाओंसे युक्त, स्वेद, रोम्ह अविकित स्वारिन्त हैं। इसमे विभिन्न चेष्टाओंसे युक्त, स्वेद, रोम्ह अविकित स्वारिन्तरकोरे पूर्

"डोरी लाई सुननकी कहि गोरी मुसकात। थोरी थोरी मकुच सों भोरी भोरी बात" (बि० र०, ५२२)।

१४. विक्षेप अलं कार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत मेद — "भूषाणामर्थरचना मिथ्या विष्वग्रेक्षणम्। रहस्याख्यान-मीषच्च विश्वेषो दियतान्तिके" (सा०द०, ३: १०८), अर्थात् वरामूणणोक्ती अस्तव्यस्तता, अकारण इधर-उधर देखना, अकस्मात् प्रियसे रहस्यमय वातको कहु जाना आदि नायिकाको चेष्टाएँ विश्वेष' कहलाती है। सुन्दर तथा तोपने ऊपरके भेदोके साथ इसका विश्वचन किया है। ये नेष्टाएँ विमुग्ध करनेवाली होती है—"इत उत चितै कवों कछ धीरे कहि हसि देत। पहिरि अधूरे आभरन मन पूरो करिले" ('हरिऔध': र० क०)।

१५. कुत्हल अलंकार—विधनाथ द्वारा स्वीकृत भेव
—"रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यारकुत्हलम्" (सा० द०, ३: १०९), सुन्दर वस्तुके अवलोकनसे उत्पन्न मनकी नंचलता। हिन्दीमे तोषने 'सुधानिधि'मे इसका विवेचन किया है (पृ० ११८-३३)। नंचलता तथा उत्सुकतापूर्वक जब मोली नायिका किसी नवीन या आश्चर्यजनक वस्तु अथवा पदार्थको देखती है तव उसकी इस मंगिमाको 'कुत्र् हल' कहते है। संसारकी वस्तुओमे नायिकाको रुचिकी स्चना देनेके कारण यह प्रियको अच्छा ही लगता है। 'हरिऔध'का 'रसकलस'का उदाहरण इस प्रकार है— "जाकी कलित कथानको तु माखित कथनीय। सो कित को है कौन है कैसो है कमनीय"।

१६. चिकित अलंकार—विश्वनाथ द्वारा स्वीकृत मेद—
"कुतोऽपि दियतस्याचे चिकितं भयसम्भ्रमः" (सा० द०, इः १९०), अर्थात् कभी-कभी प्रियके सम्मुख नायिकाके अकारण भय-विभ्रम-प्रदर्शनमे भी एक शोभा है, जिसे 'चिकित' अलंकार कहा जाता है। हिन्दीमे तोषने सर्वप्रथम 'सुधानिधि'मे (पृ० ११८-३३) इसका लक्षण दिया है। भारतेन्द्र हरिइचन्द्रके इस पदमें इसका सुन्दर उदाहरण है— "तू केहि चितवत चिकित मृगी सी। केहि ढूँढत तेरो कहा खोयो क्यों अञ्चलात लखात ठगी सी" (चन्द्रा०, १)।

१७. केलि अलंकार—भोजराजने 'केलि' 'क्रीडित' दो भिन्न अलंकारोके नाम लिये है। उनके उदा-हरणके आधारपर कहा जा सकता है कि 'क्रीडित' वाल्य-काल, कौमार और यौवनके साधारण विहारका नाम है। प्रियतम-विषयक हो जानेपर इसे 'केलि' कहते है। विश्व-नाथके अनुसार—"विहारः सह कान्तेन क्रीडितं केळि-रुच्यते", प्रियतमके साथ विहार-क्रीड़ा 'केलि' कही जाती है (सा० द०, ३: ११०) । हिन्दीमें संस्कृतके (विश्वनाथके) विभाजनको माननेवाले आचार्यो तथा विवेचकोंके अतिरिक्त तोषने इसपर विचार किया है (सु० नि०, पृ० ११८-३३)। कुट्टमितसे इसका यही अन्तर है कि उसमे सुखका अनुभव करते हुए भी सीत्कार आदि दुःखन्यंजक क्रियाएँ की जाती हैं, पर 'केलि'मे विहारमे विशेष सहयोग दिया जाता है। विहारीका यह अंकन इसका उदाहर महै- "नाक मोरि नाही करै नारि निहोरे लेय। छुवत ओठ विय ऑगुरिन बिरी बदन प्यो देइ" (बि० र०, ६३२)।

१८. इसित अलंकार विश्वनाथने 'हास'को स्वीकार

किया था। विश्वनाथके अनुसार—''हसितं तु वृथा हासो यौवनोद्भेदसम्भवः"(सा०द०,३:१०९), अर्थात् यौवनके आगमनपर नायिकाका जब-तब अकारण हॅसना 'हसित' अलंकार कहलाता है। इसको हिन्दीमे तोषने 'हाबो'के अन्तर्गत स्वीकार किया है (सु० नि०, पृ०११८-३३)। विहारीके दोहेमे इसका सहज निर्वाह हुआ है—''नैकु हॅसोही बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि। चौका चमकनि चौधमें परति चौध सी डीठि'' (वि०र०,१००)।

99. रित अलंकार — नन्दरास द्वारा स्वीकृत । उनके अनुसार यह प्रेमकी अत्यन्त विकसित स्थिति है, जिसमें नाथिका अपने प्रेमीके विचारमें इतनी हूब जाती है कि उसे किसी प्रकारकी बाह्य चेतना नहीं रह जाती — "मनकी गित पियन हो हि डार, समुद्र मिली जिमि गंगाधार। तनक बात जो पियकी पावे, सौ विरिया सुनि तृपति न आवे" (र० मं०, पृ० ३६७-७०)। इसका उल्लेख अन्य किसीने नहीं किया है। हरिस्चन्द्रकी 'चन्द्रावली' नाटिकामें चन्द्रावलीमें इसका मार्मिक अंकन है — "बिछुरे पियके जग स्तो भयो, अवका करिये किह पेखिये का। जिन ऑखिनमें तुव रूप बस्यो, उन ऑखिनमों अब देखिये का" (अं०२)।

र०. बोधक या बोध हाव—सर्वप्रथम हिन्दीके आचार्य केशवने 'हाव'के अन्तर्गत इसे स्वीकार किया है—''गूढ भावको बोध जह केसव औरहि दोह" (र० प्रि०, ६: ५४)। रसलीन तथा भानुने इसे 'क्रियाविदग्धा'के समान माना है। पद्माकरका लक्षण है—''ठानि क्रिया कछु तिय पुरुष वोधन करें जु भाव'' (जगिह्द०, ४६२)। इसके अन्तर्गत नायिका अथवा नायक द्वारा सहेटके समय तथा स्थान आदिके शारीरिक अथवा अन्य प्रकारके चातुर्यपूर्ण संकेत आते है। केशवके उदाहरणमें यह भाव व्यक्त होता है—''चन्दन चित्र कपोलनि लोपिके अंजन ऑजि विदा करि दीनी'' (र० प्रि०, ६: ५५)। इसमें नायिका द्वारा दूतीको दिया हुआ संकेत छिपा है। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिकाने वक्षपर ''नन्दलालको मालती माल दिखाई'' (जगिह्द०,४६३)और अपना संकेत भी इस बहाने दे दिया।

२१. उद्दीपन हाव — तोषने 'सुधानिधि'मे इस हावको स्थीकार किया है। इसके अनुसार नायिकाओंकी वे चेष्टाएँ, जिनसे नायककी वढी हुई रित और अधिक उदीप्त होती हैं (पृ० ११८-३३)। रसलीन और दासने इसे 'हावो'में सम्मिलत किया है। —आ० प्र० दी०

स्वभाव-विरोध—दे० 'वर्णन-दोष', तीसरा ।
स्वभावोक्ति—गृदार्थप्रतीतिमूल अर्थालंकार; इसे जाति भी
कहते है । भामहके पूर्व इसे अलंकारोंमे स्वीकृत माना गया
है । पर भामहने उल्लेख करके भी अलंकारोंको वक्रोक्तिमूलक माननेके कारण इसे स्वीकार नहीं किया है । दण्डोने
'आद्या अलंकृति' कहकर इसकी प्रतिष्ठा की है और कहा
है—"जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदशम । शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्" (काव्या०, २:
१३), अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्यके स्वभाववर्णनका शास्त्रोंमे साम्राज्य है और काव्यमे भी यही अभीष्ट है ।
इसके सम्बन्धमे यह चर्चा आगे भी रही है कि इसे अलंकार
माना जाय या नहीं। वामन तथा कुन्तकने इसे अलंकार

नहीं माना है। कुन्त कका कहना है कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो फिर और क्या रह जाता है। वे काव्यके दो प्रकार ही मानते है-स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति । अभि-नवगप्तने भी इसी मतका समर्थन किया है। इसके विपरीत क्रदर आदिने नाच्यका वैचित्र्य स्वीकार कर स्वाभावीक्तिको भी अलंकारके अन्तर्गत स्ीकार किया है। मम्मटने उन्हींके आधारपर लक्षण दिया है—"जिसमे बालक आदि(पदार्थी)-की प्रकृतिसिद्ध क्रिया अथवा उनके रूपका वर्णन होता है" (का० प्र०, १०: १११) । विद्यवनाथने इसे अलंकार माननेके लिए-"दुरूहार्थस्विक्रयारूपवर्णनम्" (सा० द०, १०: ९३) कहा है, अर्थात पदार्थके रूप और क्रियाका ऐसा वर्णन, जो कविकी सूक्ष्म दृष्टिसे ही देखा जा सकता हो । कान्योत्कर्ष अन्य अलंकारोके समान इसकी भी शर्त है। हिन्दीके प्रथम आचार्य केशवने दण्डीके आधारपर इसे स्वीकार किया है और इसकी सर्वप्रथम चर्चा की है। दण्डीने यदि रूपके साक्षात् प्रकाशनका उल्लेख किया था तो केशवने गुणको भी सम्मिलित किया है—"जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज" (क० प्रि०, ९ : ८) । हिन्दी-के अन्य आचार्योंने प्रायः जयदेवके आधारपर इसका लक्षण दिया है-"साची तैसी बरनिये, जैसी जाति स्वभाव" (शि॰ भू०, ३२७) अथवा— 'बरनत जहाँ केवल जाति स्वभाव' (पद्मा॰, २६२) । उदा॰—"भोजन करत चपल चित, इत उत औसर पाइ। भागि चले किलकात मुख, दिध ओदन लपटाय" (रा० च० मा०, १: २०३), अथवा-- "बिहॅसति सकुचित सी दियें, कुच ऑचर-बिच बॉह । भीजे पट तटकौ चली, न्हाइ सरीवर मॉह" (वि० र०, ६९३) । स्वभावोक्ति ऐसा व्यापक अलंकार है, जो सभी देशो और युगोंके कवियोंके द्वारा समान रूपसे अप-नाया गया है। जो श्रेष्ठ कवि है, उनकी दृष्टि जीवनके स्टम पर्यवेक्षणकी और अवस्य रहती है और उसीका चित्र-मय वर्णन यह अलंकार है। जायसी, सूर तथा तुलसीमे तो इस प्रकारके वर्णन सर्वत्र मिलेंगे ही, रीतिकालीन कवियो-में भी सूक्ष्म दृष्टिकी कमी नहीं है। आधुनिक युगमें इस प्रकारके वर्णनोका आग्रह और बढा है। स्वयं - सृष्टिके पूर्व या महाप्रलयके उपरान्त समस्त तत्त्वों-(दे०)को आत्मसात् करके तत्त्वरूपा शक्ति परमशिवमें अधिष्ठित हो जाती है (वामकेश्वरतन्त्र, ४:५)। इस अवस्थामें परमशिव अपने निर्गुण, निरंजन, निरुपाधि रूपमे कार्य, कारण एवं कर्तृत्वसे अतीत होकर और कुल-अकुलके भेदोसे ऊपर उठकर अन्यक्त परमतत्त्व रूपमे विराजमान रहते है। 'सिद्ध सिद्धान्त संग्रह', १:४ मे परमशिवकी इस अवस्थाको 'स्वयं' कहा गया है-- "कार्य्यकारणकर्तृत्वं यदानास्ति कुलाकुलम्। अन्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत्"। -रा० दे० सिं०

् स्वयंदूतिका – दे॰ 'दूती'।

स्वयं भू-िलंग – हठयोगी शरीरमे तीन लिंगोकी स्थिति मानते हैं-स्वयं भूलिंग, वाणिलंग एवं इतर लिंग। इन्ही लिंगत्रयका मेदन करके सहस्रारस्थ परमिश्वने सामरस्यकी अभिलाषा रखनेवाली कुण्डलिनो कर्ध्वगमन करती है (ष्ट्चक्रनिरूपण, ५१)। मेरुदण्ड जहाँ पायु और उपस्थके बीचमें जुड़ता है, वहाँ अग्निचक नामक चक्र है। ख्यम्मूलिंग इसी चक्रमें स्थित है। इस चक्रके थोडा ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिमे मूलाधार चक्र कहते हैं। ('ध्यक्रितिरूपण', ५१) पर टीका करते हुए बताया गया है, कि अग्निचक्र मूलाचार-कमलकी कर्णिकामे स्थित है, अतः स्वयम्मूलिंगको मूलाधारमें स्थित माना जा सकता है। माना भी गया है।—रा० सिं० स्वरमंग—दे० 'सास्विक साव', चौथा।

स्वर्णरस - मध्यकालीन तान्त्रिक सम्प्रदायोमें किसी ऐसे रस-रसायनकी खोजको बहुत महत्त्व दिया जाता था, जो धातु-से छुनेपर उसे सोना कर दे और कायामे स्थित होनेपर साधकको अजर-अमर कर दे। उस रसको सिद्ध कर छेने-वाला ही सिद्धाचार्य कहलाता था। बादमे गुद्ध साधनाओं में रस-रसायन और स्वर्ण आदिके विभिन्न प्रतीकात्मक अर्थ लिये जाने लगे और रखेश्यरदर्शन (दे० 'रहोश्वरदर्शन', चित्तमारण)में इने और भी नये अर्थ दिये गये। सिद्धोने स्थान-स्थानपर संवेत किया है कि यह रस और कुछ नहीं, प्रज्ञोपाय-भावना है और सोना वस्तुतः श्रन्यज्ञानको ही कहते है। करुणारूपी नाव उसी शून्यताज्ञानरूपी सोनेसे भरी है- 'सोने भरिये करुणा नावी' (चर्यापद)। नाथ-पन्थमे भी सनारके रूपकमे इम सोनेका वर्णन किया गया है। बिन्द्के हथौडेसे यह सोना गढा जाता है, विकासरूपी कोयले जलाकर इसका परिशोधन होता है। यह सोना वस्ततः ज्ञान्यावस्था या गगनोपम अवस्था है (गोरखबानी)। सन्तोने इसका भक्तिपरक अर्थ लिया है और रामके प्रेमको ही वास्तविक रसायन या रस माना है। उन्हींसे 'परचे' होनेपर शरीर स्वर्णकी भॉति हो जाता है। "अब घरि प्रकट भयो राम राई, सोधि सरीर कनककी नाई। बिन परचै नन कॉच कथीरा, परचै कंचन भया कवीरा" —ध० बी० भा० (क० ग्रं०)।

स्वशब्दवाच्य -दे॰ 'रस-दोष', पहला। स्वाँग-स्वांग लोकनाट्यका अत्यन्त जनप्रिय रूप है। यह प्रायः गाॅवोंकी निम्न जातियों - भंगी, धोबी, धानुक, कुर्मी चमार, पासी, काछी, बारी आदिके द्वारा समूह-नृत्यके रूपमे प्रस्तृत किया जाता है। इसमें पुरुष-पात्रोकी बहुलता होती है, किन्तु स्त्री-पात्र भी कम नहीं होते। दो-दोके जोड़ेमे वे नाचते, गाते और हॅसी-ठठोलीसे भरे संलाप करते है। उनके साथके गाने-बजानेवाले लोग उनके किसी मामिक स्थलकी पंक्ति या वाक्यको पकड लेते है और आत्मविभोर होकर ढोलक, मजीरा, विशेषतया फूलका बेला जोर-जोरमे वजाते है। स्वॉग करनेवाले उनकी लयों-पर नाच करते रहते हैं और मौन होकर नारी-पुरुषोकी शृंगारिक चेष्टाओका चतुर्विध अभिनय करते है। स्वॉगियोके संकेतोपर जब गाने-वजानेवाले थक जाते है तो वे फिर स्वॉग करने लगते है। इनमें कभी स्त्री पुरुषका वेष धारण कर अभिनय करती है और कभी पुरुप स्त्रीका अभिनय करता है। दोनो हृदय खोलकर लज्जाहीन होकर शृंगार एवं विनोदकी बाते करते है और झूम-झूमकर नाचने-गाने लगते है। इन स्वॉगोमे नृत्य, गीन, लय, संवादकी प्रधानता रहती है। अंगी रस हास्य होता है। इनका रंगमंच खुला होता है, किन्तु इनमे ( गर्मचीय शिष्टाचार नहीं होते और

न दृश्यान्तरोका ही विधान होता है। बारी-बारीसे स्वॉगिये अपना-अपना स्वाँग दिखाते हैं। सभी दर्शन, कुछ खड़े और कुछ सामने पासमें बैठे रहते हैं। स्वॉगियोंकी विशेष स्वाँग-विशिष्टताओं प्रशंसा करते-करते वे भी हर्षमें चिला उठते हैं। स्वाँगिये मांस-मदिराका भी खान-पान करते है और रात-रातभर नाचते-गाते और बजाते रहते है। प्रायः शादी-ब्याहों, जन्मोत्सवों, त्योहारों और फसलके कटनेपर स्वॉग नत्य हुआ करते है। इस प्रकार नाट्यकला-की दृष्टिसे स्वॉगके इस रूपको भाण, भाणिका, प्रहसन, प्रस्थानक और संलापकके निकट मान सकते हैं। --सं० स्वागता – वर्णिक छन्दोंमें समवृत्तका एक भेद । 'पिंगलसूत्र' (६: २४) और 'नाट्यशास्त्र' (१६: ३७)में इसका लक्षण दिया गया है: र. न. भ, ग गके योगसे यह बन्त बनता है (SIS, III, SII, SS) तथा ६-५ वर्णीपर यति होती है। केशवने इस छन्दका प्रयोग किया है। उदा०-"राज-राज दशरत्थ तनै जु। रामचन्द्र भुवचन्द्र बने जु। त्यो बिदेह तुम हूँ अरु सीता। ज्यों चकीर तनया श्रभ गीता" ै (रा० चं०, ५: ३३)। स्वात्मनिष्ठ (काव्य) - अंग्रेजीके 'सब्जेक्टिव'के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द। हिन्दीमे इसके लिए अन्य अनेक शब्दी-का प्रयोग होना है, जैमे अध्यान्तरिक, स्वानुभूतिमूलक (श्रुङ्क), स्वानुभूतिन्यंनक, स्वानुभूतिपरक, स्वानुभूति-निरूपक, स्वात्मपरक, वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिप्रधान,

यों तो साहित्यमात्र रचयिताकी आत्माभिन्यक्ति होता है, परन्तु स्वात्मनिष्ठ कान्यमें उसकी आत्माभिन्यक्ति सहज और सीधे ढंगकी होती है। उसमे कवि अत्यन्त आत्मीयता-के साथ, बिना किसी संकोचके, पूर्ण खच्छन्दतापूर्वक अपनी स्वानुभूति व्यक्त करता है। बाह्य विषयसे केवल प्रेरणा महण करके उसका उपयोग वह अपनी निजी प्रतिक्रियाओं-को अन्तर्भुखी दृष्टिकोणसे व्यक्त करनेमें करता है। अतः ऐसी रचनाओंमे वस्तुका यथातथ्य वर्णन या चित्रण साधा-रणतया नहीं मिल सकता, उसपर कविकी भावनाका अपेक्षा-कृत गहरा आरोप रहता है। वस्तुके साथ कवि तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसे अपने व्यक्तित्वसे आच्छादित करके प्रायः ऐसे रूपमें उपस्थित कर देता है, जो वस्तुके यथार्थ रूपसे सर्वथा भिन्न जान पडता है। स्वात्मनिष्ठ काञ्यकी दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तीव्र संवेगातम-कता भी है। गहन भावानुभूति ही स्वात्मनिष्ठ काव्यके रूपमें व्यक्त हो सकती है। अतः यह काव्य गीतके रूपमें अभिव्यक्ति पाता है।

भावप्रधान और अन्तर्वादी।

परन्तु साहित्यरूपके अतिरिक्त स्वात्मनिष्ठता साहित्य-का एक गुण—उसकी एक विशेषता और भी है, यह गुण साहित्यके अन्यान्य रूपों, विशेषतया निबन्ध, संस्मरण, कहानी और लघुं उपन्यासमे भी कभी-कभी मिल जाता है। गीतिकी स्वात्मनिष्ठतासे अन्य साहित्यरूपोंकी अध्यान्त-रिकतामें संवेगात्मक तीव्रता अपेक्षाकृत कम होती है, फलतः उनमें गीतिके अन्य गुण, किंग्लासकता आदिकी मात्रा भी

माहित्यमें स्वाध्मनिष्ठताका आदर आधुनिक युगकी

विशेषता है, प्राचीनोंके निकट तो साहित्यमें रचयिताकी तटस्थता—व्यक्तिनिरपेक्षता ही श्रेयस्कर थी, क्योंकि उसीके द्वारा उनके विचारसे रचनामें गौरव, गरिमा और उच्च गम्भीरता लायी जा सकती है। इसी कारण गीतिकाव्यको उन्होंने महत्त्व नहीं दिया (दे० 'साहित्यस् प', 'गीतिकाव्य' 'वस्तुनिष्ठ')।
——व्र० व० स्वान्मपरक (काव्य)—दे० 'स्वात्मिनष्ठ'(काव्य)।
स्वाधिष्ठान—दे० 'हठयोग'।

स्वाधीनपतिका (नायिका)-अवस्थानुसार नायिकाके विभाजनका एक भेद; विशेषके लिए दे॰ 'नायिका-भेद'। सर्वप्रथम भरत द्वारा उछिखित। भानुदत्तने उसे "सदा साऽऽकृताज्ञाकर प्रियतमा" कहा है (र० म०, प० २२९). अर्थात् जिसका प्रिय उसके अभिप्रायके अनुरूप आदेशका पालन करें। केशवने उसके लिए 'गुनबँध्यो सदा रहे' कहा है। मतिरामने 'रूप गुन रीझि अधीन' रहनेकी बात कही है। नायिकाकी यह स्थिति स्वकीयाके मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा रूपोमे, परकीया तथा सामान्यामें वर्णित है। मुखा स्वाधीनपतिकाके वर्णनमे नायकके मधर आकर्षण और शृंगार आदिका अकन रहता है-"नहिं पराग नहिं मधुर मध नहि विकास यहि काल। अली कर्जी ही सों वि ध्यौ आगे कौन हवाल" (बिहारी), अथवा—"हौ सखी लाजन जाति मरी मतिराम सुभाव कहा कहा पीके। लोग मिलै घर घेरु करे अबही ते ये चेरे भये दलहीके" (रसराज, १७९) । मध्या स्वाधीनपतिका अपने प्रियके इस भावके प्रति अधिक सजग है और स्नोका करते हुए लज्जाका अनुभव करती है-"छाज मरी गुरु लोगनमें इनके मनमें स न आवत है धिन । देव कहा कही सेवक हैं रहे कैसऊ कोउ चवाव करौ किन" (ब्र० भा० नायिका०, २:३८९)। पद्माकरकी इस नायिकाकी भंगिमासे नायक वदावतीं हो चुका है-"आधे आधे हगनि रति आधे हगनि सु लाज। राधे आधे बचन कहि सुबस किये ब्रजराज" (जगदि०, १: २२०)। प्रौढा स्वाधीनपनिकाकी अधीनता स्पष्टतः नायक खीकार करता है और नायिकामें लज्जा और संकोचकी स्थिति कम हो चुकी है-"अंग राग और अंगन करत कछ चरजी न । पै मेहदी न दिवाइही तुममों पगन प्रबीन" (वही, १: २२२)। सेनापतिने महावर लगानेके प्रसंगको लिया है-"चूमि हाय नाहके लगाइ रही ऑखिन सों, एही प्राननाथ ! यह अति अनुचित है" (ब० भा० नायिका०, २: ३९९)। परकीया स्वाधीनपतिका नायकको उसके अनुरागके लिए सतर्क करती है—"विषम लोग ब्रजगामके लाल ! बिलोको बास । बढ़ि जैहै इन दगनके हॉसिंह ते उपहास" (मितराम: रसराज: १८६)।

हॉसिह ते उपहास" (मितराम: रसराज: १८६)।
स्वानुभृतिन रूपक (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।
स्वानुभृतिपरक (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।
स्वानुभृतिमूळक (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।
स्वानुभृतिख्यंजक (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।
स्वानुभृतिख्यंजक (काव्य) - दे० 'स्वात्मनिष्ठ' (काव्य)।
स्वेद-दे० 'सात्त्विक अनुभाव', दूसरा।

हंस-पुरुषतत्त्व और प्रकृतितत्त्वका संयोग या एकीमाव ही हंस है। माया और कंचुकों (दे० 'कंचुक')के सहारे शक्ति ही प्रकृतितत्त्वका स्थूल और ससीम रूपाकार ग्रहण करती है। 'इंस'का 'इं' शिव है और 'स' शक्ति। 'इं' पुरुषवाची है, 'स' खीवाची। संसार इसी इंसद्दन्द्रसे निर्मित हुआ है—''पुंप्रकृत्यात्मको इंसस्तदात्मकं इटं जगत्'' (प्रपंचसारतन्त्र)।

हंसको उलट देनेपर वेदान्तियोंका 'सोऽहं' वन जाता है। 'सोऽहं ज्ञानकी पराकाष्टा है, जहाँ पहुँचकर ज्ञानी यह समझने लगता है कि 'मै वही हूँ', अर्थात् 'मै ही बह्म हूँ'। तान्त्रिकों, सिद्धों और सन्तोंने सोऽहंसे मिलते-जलते अर्थमे भी हंस शब्दका बहुशः प्रयोग किया है। 'ज्ञानार्णवतन्त्र'-(xx1-२२) मे चार आत्माओ-आत्मा, ज्ञानात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका उल्लेख है, जो चित्कण्डकी सृष्टि करती है और जिन्हे जान लेनेपर साथक जन्म-मरण-से मुक्त हो जाता है। इनमें आत्मा प्राणरूपिणी है, अर्थात् वह सभी जीवोंमे प्राणरूपमे वर्तमान है। यह जीवात्मा है जो स्वासोच्छ्रासके द्वारा अपनेको अभिन्यक्त करती है। श्रासको 'स' और निश्वासको 'ह' माननेके कारण श्वासोच्छ्वाससे अभिन्यक्त होनेवाली यह आत्मा हंस स्वरूपी है-"अच्छासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयं। तस्मात्प्राणस्त हंसास्य आत्माकारेण संस्थितः"। ज्ञानात्मा साक्षात् साक्षीरूपक है। यह सबको देखती है। इसीके द्वारा सबकी एकताका ज्ञान होता है। यह बुद्धिपर प्रति-च्छायित रहती है, फिर भी उससे इतनी मिल नहीं जाती कि अलग पहचानी न जा सके । यह वैसे ही मिली हुई फिर भी अलग रहती है, जैंगे जलमें प्रतिविम्वित चाँदनी जो जलमें मिली हुई रहकर भी अलग पहचानी जा सकती है। इस प्रकार यह बुद्धि तथा समस्त व्यक्तिनिष्ठ या मानसिक तत्त्वोंका आधार है। अन्तरात्माका अर्थ है रहस्यात्मक या सूक्ष्म आत्मा जो जगत्के कण-कणमें व्याप्त है, परमात्माके जिस स्वरूपकी झलकसे सम्पूर्ण विश्व प्रतिभासित है। इन तीनों आत्माओंसे ऊपर परमात्मा है। यही हंस है, जिसे केवल योगी ही जान सकता है। तारा (ओकार) इसकी चोच है, आगम और निगम इसके दो पंख हैं, शिव-शक्ति चरण है, तीनों बिन्दु इसकी तीन ऑखें है। यह परमहंस है-इंस, अर्थात जीवकी सर्वोच्च स्थिति । जब यह परमहंस जगत्प्रपंचमे व्याप्त होता है समस्त भूत-पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, अग्नि क्रमशः उद्बुद्ध हो जाते है और अविद्याके तालावमे मोहपंकसे उद्भृत जगत्कमलपर यह हंस केलि-कङोल करता है। जब यह प्रपंचसे विरत और संहाररूपी हो जाता है तो आत्माको प्रत्यक्ष कर देता है। इस स्थितितक पहुँचकर इसका पक्षित्व समाप्त हो जाता है और 'सोऽहं'की स्थिति प्राप्त हो जाती हैं। 'ज्ञानार्णवतन्त्र' इसी स्थितिको परमात्मा कहता है। परमात्मा, अर्थात् शुद्ध और मुक्त आत्मा। क्तवीर जिस हंसाकी बात बार-बार कहते है, वह यही है। कुछ लोग मोक्षको भी हंस कहते है (षट्चक्रनिरूपण, ४९ वें इलोककी व्याख्या)। 'हंस' शब्दकी 'हन्ति' शब्दसे निष्पन्न माना जाता है, जिसका अर्थ 'गति' है। सायण-के मतसे इंसको इसीलिए आदित्य कहते हैं, क्योंकि यह अप्रतिहत गतिवाला है। हंसको इसलिए भी सूर्य कहा जाता है, क्योंकि सूर्य जिस प्रकार अन्यकारका नाश

करता है, उसी प्रकार 'हंस' अज्ञान और मोहके अन्धकारको मिटाता है (घट्चक्रनिरूपण, ४२)। 'घट्चक्र निवृत्ति'
में विश्वनाथने हंसका अर्थ 'प्राणाश्रय, प्राणवाद्यसमाश्रय'
किया है (दलोक ११की वृत्ति)। हंसका अर्थ अजपामन्त्र भी
किया गया है (नि० तं०, ४)। छः देहों मेंसे 'हंसदेह'नामक
एक देह (दे० 'देह') भी माना गया है। — रा० सि०
हंस छंद – विणक छन्दोमे समञ्चलका एक भेद; 'प्राकृतपँगल म'मं इस छन्दका उल्लेख है (प०२:३७)। यह वृत्त
भगण और दो गुरुओंके योगसे बनता है (ऽ॥, ऽऽ)। मानुने इसका नाम पंक्ति दिया है। केशवने प्रयोग किया है—
"आवत जाता; राजके लोगा। मूरति धागै; मानहु भोगा"
(रा० चं०, २:१)।
हंसाळ — दे० 'झलना'।

हकीकत-सूफी मार्गकी वह मंजिल है, जिसमें साथकको परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है और उसके साथ वह 'एकमेक' हो जाता है (दे॰ 'सूफी-मार्गः)। -रा० पू० ति० हठयोग-"योगदर्शन'मं योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "योग चित्तवृत्तियोंके निरोधको कहते है"। चित्त-वृत्तियोके प्रवाहको संसारकी और जानेसे रोककर अन्तर्मखी करनेकी एक प्राचीन सारतीय साधनापद्धति, जिसमे प्रसप्त कुण्डलिनीको जायत् कर नाडीमार्गसे अपर उठानेका प्रयास किया जाता है और विभिन्न चक्रोंमें स्थित करते हुए उसे शीर्षस्थ सहस्रार चक्रतक ले जाया जाता है। हठयोग-साधनाकी मुख्य धारा शैव रही है और मत्स्येन्द्र-नाथ तथा गोरखनाथ उसके प्रमुख आचार्य माने गये हैं। गोरखनाथके अनुयायी प्रमुख रूपसे हठयोगकी साधना करते थे और उन्हें नाथ योगी भी कहा जाता था। किन्त शैवधाराके अतिरिक्त बौद्धोने भी हठयोगकी पद्धति अपनायी थी । विज्ञानवादने चित्तको ही एकमात्र सत्य माना था, अतः उसमें चित्तको एकाग्गताके लिए जिस झाण (ध्यान)-साधनाका विधान है, वह भी योगकी ही एक प्रक्रिया है। कालान्तरमे योगाचार-सम्प्रदायने पूर्ण रूप-से हठयोगको प्रधानता दी और वज्रयानी सिद्धोंने उसमे प्रज्ञोपायकी गुह्य साधना भी जोड दी।

योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अंग बताये गये हैं। उन्हों अंगोंके आधारपर इसे **अष्टांग योग** भी कहा जाता है। वे अंग इस प्रकार है—१. 'यम', २. 'नियम', ३. 'आसन', ४. 'प्राणायाम', ५. 'प्रत्याहार', ६. 'धारणा', ७. 'ध्यान', ८. 'समाधि'।

यम प्रमुखतः आचरणके विशोधनकी अवस्था है, जिसमे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पालन किया जाना चाहिये। नियम पॉच है—शीच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान। आसनमे अंगोंकी विभिन्न स्थितियोंमे शरीरको अचल किया जाता है। आसन चौरासी प्रकारके बताये गये है। जब योग-साधनाओंके साथ गुद्ध तान्त्रिक साधनाओंका सम्मिश्रण हुआ तो यही चौरासी आसन मैशुन साधनाके चौरासी आसनोंका बोध कराने लगे। प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियाँ अपने विषयसे असम्प्रक्त हो जाती है और साधक इन्द्रियों पर एकाधिकार कर आत्म-

शक्तिको एकत्र करता है। धारणामे प्रत्याहारके द्वारा एकत्र शक्तिको एकात्र कर किसी एक विन्तुपर केन्द्रित कर दिया जाता है। ज्ञानकी अपरियतिन अविन्तल अवस्थाको ध्यान कहते हैं। सांख्य दर्शनमें ध्यानको निर्विषय मनकी संज्ञा दी गयी है। समाधि अन्तिम अवस्था है। ध्यानको अवस्थातक साधकको ध्याता, ध्यान और ध्येयकी चेतना रहती है, पर समाधिमे ध्यान और ध्याता भी ध्येयमे लीन होकर एकात्म हो जाते है।

बौद्धोने अष्टांगयोगके स्थानपर षडंगयोगको मान्यता दी । उसके छः अंग इस प्रकार थे—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि । प्रत्याहारमें बाह्य रूपादिमे अप्रवृत्ति, त्रैधातुक बुद्ध विम्बक्षा दर्शन, ध्यानमे सर्वधर्म-शृत्यतामे चित्तप्रवृत्ति, प्राणायाममें ळळना-रसनाका मार्ग-निरोध कर मध्यमार्ग अवध्नृतीमें प्राणवायुका संचाळन, धारणामे विन्दुका प्राणप्रवेश, अनुस्मृतिमें इष्टदेव-का प्रतिविम्बाकारदर्शन तथा समाधिमे प्रशा और उपायके अद्वयकी सिद्धि बतायी गयी है।

हठयोगकी प्रमुख प्रक्रिया है श्वास-निरोधके द्वारा कुण्डलिनीको जगाकर ऊपरकी ओर प्रेरित वरना। कुण्डलिनी वास्तवमें मूल शक्ति है, जो सिंधणीके समान मेरुवण्डके निम्नतम विन्दु जो पायु और उपस्थके मध्य भागमे है और स्वयंभू लिंग कहलाता है उसके त्रिकोणाकार अग्नि-चक्रमे साढ़े तीन कुण्डली मार कर सोती है। इसीलिए इसे बार-बार साँपिन, नागिन आदि भी कहा गया है। जबतक यह सोती है, जबतक सारा तेज नीनेसे क्षरित होता रहता है और प्राणशक्ति क्षीण होती रहती है। पर जब मूल बन्ध लगाकर योगी इसे जगा देते है, तब यह मेरु-दण्डके सहारे ऊपर चढ़ने लगती है।

मेरुदण्डमे छ चक्र माने गये है, जिन्हें आकारकी समता-के कारण कमल भी कहा जाता है। गुदाके समीप मुला-धारचक्र है जिसमे चार दल हैं। नामिके पास स्वाधि-ष्टानचक है, जिसमें छ दल है। इससे तनिक ऊपर दस दलवाला मणिपूर और हृदयके पास वारह दलवाला अनहत चक्र है। कण्ठके पास विद्याद्वाख्य चक्र है जिसमें १६ दल होते है। भ्रमध्यमें आज्ञाचक है, जिसमे दों ही दल हैं। इस स्थानको त्रिकुटी कहा जाता है और इसकी विशेषता यह है कि इस स्थानपर पहुँचकर दिन्य-दृष्टिकी प्राप्ति होती है और फिर साधनामें अवरोहका भय नही रहता। इन छः चक्रोंको वेधकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्रमें पहुँचती है, जिसमें सहस्रदल है, इसलिए उसे सहस्रारचक या सहस्रदल कमल कहते है। इसीको श्रन्यचक्र, श्रन्यमण्डल या गगनमण्डल, आकाश-मण्डल आदि भी कहा गया है और शिवका वासस्थान होनेके कारण इसे कैलासकी संज्ञा भी दी गयी है। कैलासके कारण इसीमें **मानसरोवर**की कल्पना की गयी हैं, जिसमे निर्लिप्त चित्तरूपी हंस निवास करता है।

बौद्ध पद्धतियोमें छः चक्रोके स्थानपर पहले पाँच चक्र और बादमे चार चक्र माने गये हैं। योगाचारमें झाण-(ध्यान)साधनाके द्वारा चित्तमें पाँच महाभूतोंका उदय कराकर उन्हें ऊपरकी और प्रकृत्त कराया जाता था। इसके

लिए वे पॉच अन्तस्थ चक्रोंका ध्यान करते थे। हिन्दू योग-की भाति अन्तिम चक्र मस्तिष्कमे न स्थित होकर हृद्यदेश-में माना जाता था। सिद्धाचार्योंने इसमेसे पंच महाभूतों-को अन्तस्थ करना स्वीकार किया, किन्तु ध्यानकी एकागाता-(एकायना)को प्रमुख प्रणाली न मानकर प्रज्ञोपायवर्षणको प्रमुख प्रणालीके रूपमे मान्यता दी। अन्तिम चकका स्थान भी उन्होंने हिन्दू योगपद्धतिके अनुसार कपालमें रखा, किन्तु चक्रोंकी संख्या उन्होंने चार कर दी। मूलमें नाभि-चक्र है, जिसमें बोधिचित्त शुक्रके रूपमें वास करता है। हृदय प्रदेशमें हृत्कमल, कण्ठप्रदेशमे सम्भोग और मस्तक-मे उष्णीष कमल है। इन चारो चक्रोमें बुद्धकी चतुष्काया-का वास है, उष्णीषमें महासुखकाया, कण्ठमे सम्भोग-काया, हृदयमे धर्मकाया और नामिमे निर्माणकाया। इसीके आधारपर इनका नाम सहासुखचक, सम्भोग-चक्र, धर्मचक्र और निर्माणचक्र भी है। निर्माणचक्र चौसठ पेंखुरियोंवाला है, धर्मचक्रमें बत्तीस पेंखुरियाँ, सम्भोगचक्रमे सोलह और उण्णीपमे चार पेंखुरियाँ है। चार काया, चार क्षण, चार सुद्रा, चार आनन्द, इस प्रकार वज्रयानी योगपद्धतिमे चारकी संख्याका विशेष महत्त्व है।

इन चक्रोके वेधनका मार्ग नाडियोमेसे होकर है। नामके अतिरिक्त बौद्धोने नाडियोकी संख्या तथा महत्त्व लगभग वही माना है, जो हिन्दू योगपद्धतिमें माना गया है। 'हठयोगप्रदीपिका'में कहा गया है कि वैसे तो शरीरमे बहत्तर हजार नाडियाँ है, पर उनमेंसे केवल सुधुमना ही शक्तिकी बाहिका है, शाम्भवी है। सुष्मनामेंसे ही कुण्डलिनी अपरकी और प्रवाहित होती है । सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाडियोंसे बनी है। ऊपर वजा, उसके अन्दर चित्रिणी और उसके अन्दर ब्रह्मनाड़ी है। वस्तुतः ब्रह्मनाडीसे ही कुण्डलिनीका मार्ग है। सुपुम्नाकी वायीं ओर इडा और दायी ओर पिंगला है। इसीको परवर्ती सन्त अनुप्रास मिलानेके लिए इंगला-पिंगला कहने लगे थे। वाम नासापुटका श्वास-प्रवाह इडासे होता है, दक्षिण नासापटका इवास-प्रवाह धिंगलासे। इडा शीतल स्वभावकी हैं, उसमें चन्द्रका वास है, उसे गंगा माना गया है, उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा है। पिंगला उष्ण स्वभावकी है, उसमें सर्यका वास है, उसे यमना माना गया है, उसके अधि-ष्ठाता विष्णु हैं। इडाको चन्द्रनाड़ी तथा पिंगलाको सूर्य-नाडी भी कहते है। सुष्मना दोनोके मध्यमें है, त्रिगुणमयी है, चन्द्रसूर्य-अग्नि-स्वरूपा है, सरस्वती है। इसके अधिष्ठाता शम्भू या शिव है। इसे सन्त लोग सुखमन भी कहते है। इन तीनो नाडियोंका संगम या त्रिवेणी ब्रह्मरन्ध्रमे होता हैं। यह ब्रह्मरन्ध्र मस्तकके मध्यमें परिकल्पित एक रन्ध्र हैं। योगियोके प्राण इसी रन्ध्रको वेधकर निकलते है और इसीस उन्हें ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है। इसीको **दशमद्वार** (दसवाँ दुआर) भी कहा गया है, क्योंकि शरीरके अन्य नव द्वार तो सदा खुले रहते है। केवल ब्रह्मरन्ध्र बन्द रहता है, जिसे साधनाके द्वारा खोलना पड़ता है। इसी ब्रह्मरन्ध्रके खुलते ही सहस्रारचक्रसे अमृतरस या कैलास-वासी शिवके मस्तकस्थ चन्द्रमासे सोमरस झरने लगता है और बोगीको अमरकायाकी उपलब्धि होती है। इसीलिए इस ब्रह्मरन्थको उल्टा कुवाँ या कूप भी कहा गया है, जिसमे सोमरस या अमृततत्त्व भरा हुआ हैं।

बौद्ध प्रणारीमे नाडियोका लगभग यही रूप स्वीकार किया गया है, केवल उनके नाम पृथक है। इड़ादी छलना, पिंगलाको रसना, सुपुम्नाको अवध्ती कहा गया है। इन्हीको तिअडा, गंडरी या त्रिनाडी कहते है। ललना वामस्थित है, चन्द्रस्वभावकी है, प्रज्ञारूप है, रात्रि-रूपिणी है । रसना सूर्य है, दिवस हं और उपायरूप है । इत दोनोके मध्यमे अवध्ितका है, जो प्रज्ञा और उपायने परे सहज मार्ग है, नेरात्मदर्शनकी भाषाम श्रेय-ज्ञान या ग्राह्य-ग्राहक विवर्जित हैं। वह क्लेशोंको धुननेवाली है, अतः उसका नाम अवधूती है। इसीको सध्यमार्ग भी कहा गया है। नैरात्मा, सहजसुन्दरी, जोगिनी आदि भी अवधृतिकाकी संशाएँ है। इसीकी वधू भी कहा जाता है। यही नाडिका रोचनद्वारनक जाती है, जो बौद्ध पद्धतिका दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। चर्यापदोंमें अवधूनीके दो रूप बताये गये है, परिशुद्धा जिसको डोम्बी कहते है, जिससे बोधिचित्त समागम करता है और अपरिशुद्धा जिसे दिवाली कहते है, क्योंकि उसमें भेदज्ञान बना रहता है। ललना और रसनाके कुछ और मी नाम है-आली-काली, धमन-चमन, रज-शुक्र, प्रज्ञा-उपाय । आलीके अर्थ है 'अ'से प्रारम्भ होनेवाली स्वरमाला और कालीके अर्थ है 'क' से प्रारम्भ होनेवाली व्यंजनमाला। तन्त्रमें स्वर रात्रिने सम्बद्ध है और व्यंजन दिनसे । अतः कलना रात्रि-रूपिणी आली है, रसना दिवसरूपिणी काली। धमन-चमनका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं हो सका है (दे० 'स्टडीज इन तन्त्राज': पी० सी० बागची)।

हठयोगकी परिणितमे साधकको समाधिकी उपलिख हिन्दू-पद्धतियों भी मानी गयी है और बौद्ध-पद्धतियों भी । नाथपन्थी इस समाधिमे कुण्डिलनीरूपो शक्तिका सहस्रार स्थित शिवसे मिलन स्वीकार करते हैं। बौद्ध-पद्धतिमे इस समाधिमे प्रज्ञा और उपायका मिलन बताया है और सन्त-साहित्यमे इस समाधिको आत्मा और परमात्माके मिलन और विवाहके रूपमे परिकल्पित किया गया है। इस समाधिसे दो प्रकारकी उपलब्ध्याँ होती थी। एक तो साधकको ब्रह्मानन्दको प्राप्ति होती थी, साथ ही उसे कुछ अतिप्राक्वतिक-शक्तियाँ भी प्राप्त होती थी। इन्हींको सिद्धियाँ कहते थे और इनसे सम्पन्न योगीको सिद्ध कहा जाता था।

हत्वृत्त-दे॰ 'शब्द-दोष', दूसरा 'वाक्य-दोष'।

हथियार — हथियार, बाण, मिल्ल, छुरी, तरवारि, रंदा (छोलना), तीर, कमान आदि शब्दोंका व्यवहार संतोने गुरुके उपदेशोंके लिए किया है। कबीर कहते है — "सतगुरु मारा बान भरि, धरि करि सुधी मूँ ि। अंगि उद्यारे लागिया, गई दया सौ फूटि" (क॰ ग्रं॰: ति॰, पृ॰ १३९)। "हॅसे न बोलै उनमुनी, चंचल मेला भारि। कह कबीर भीतिरि भिदा, सतगुरु के हथियार" (वही, पृ॰ १३८)। "सतगुरु लई कमान करि, बाहत लागी तीर। एक जु बाहा प्रीति सौ, भीतरि भिदा सरीर" (वही, पृ॰ वही)। "गुरु किसलीगर कीजिए, ग्यान मसकला देह। सबद छोलना छोलिकै,

चिन दरपन करि लेइ" (वही, पृ० १३६)। "मारा है मरि जाइगा, विन सर थोथी मालि। परा कराहै बिरिछ तरि, आज मरै वें काल्हि" (वहीं, पृ० १४२) ।--रा० दे० सि० हरिगीतिका - मात्रिक सम छन्द्रका एक सेद। 'प्राकृत-पैगलम्'भे इनके प्रत्येक चरणमं १६, १२की यतिसे २८ मात्रा और अन्तमे ग (S) माना गया है (१: १९१)। भिखारीदासने २८ मात्राकं चरणवाले छन्दको गीतिका कहा है- ''इहि भॉति होड़ न वावरी वलि, चेन जी महें ल्यावहूँ" (छन्दो०, पृ० ३२) । भानुके अनुसार जहाँ-जहाँ चौकल होता है, उसमे जगण ISI अति निषिद्ध है तथा अन्तमे रगण ऽ।ऽकर्णमधर होना है (छ० प्र०, पृ० ६७)। हिन्दीके कवियोने इस छन्दके प्रयोगमे कुछ स्वतन्त्रता बरती है। कभी-कभी यति १४, १४पर लगायी गयी है। सम्भवतः कवियोंने 'हरिगीतिका' मात्राके चार वार प्रयोग ने नरण मानकर ऐसा किया है। तुलसीदासने इस प्रकारके प्रयोग अनेक बार किये है। "अवतरेउ अपने भगत हित, निजतन्त्र नित रघुकुल मनी" (रा० च० मा०, १: ५१) । तुल्सीने कही-कही बरावर १४-१४ पर यतिका प्रयोग किया है, परन्तु आन्तरिक लयका क्रम बना रहा है। सूदनने प्रत्येक जंगके हर एक अंकके अन्तम इस छन्दका प्रयोग किया है, पर यति मध्यमं है—"भूपाल पालव भूमिपति, बदनेस नन्द सुजान है" (सु० च०)। पद्माकरने 'हिम्मत वहादुर विरुदावली'मे इस छन्दका प्रयोग बहत किया है, पर अनेक स्थलोपर जान-बूझकर मध्यमे यति दी है-''वर बरनिये विरुदावली, हिम्मत बहादुरकी भूपकी", और इन्होंने दो-दो चरणोके तुकका प्रयोग भी किया है। केशवकी 'रामचिन्द्रका'मे भी कही यति मध्यमे है-"तब कोपि र व शत्रको सिर, बाण तीक्षण उद्धरचौ" (१४: ३४)। रघुराज सिहके 'राम स्वयम्बर'में भी १४-१४ पर यति मिल जाती है—"यक यक्त धन तोरन कथा, पुनि-पनि बोलाय सनावहीं" (प्र०४३१) । इसते सिद्ध होता है कि हिन्दीमे इस छन्दकी शास्त्रस्वीकृत यतिके अतिरिक्त १४-१४पर यतिका प्रयोग भी होता आया है।

इस छन्दका प्रयोग सभी रसोंमे समान रूपसे हो सकता है । अपनी मध्यविलम्बित गतिके कारण इसमे कथाका निर्वाह स्थिर क्षणोपर अच्छा होता है। चन्दके 'पृथ्वीराजरासो'मे वीर रस तथा शृंगार रसके स्थलीपर इसका प्रयोग हुआ है। तुल्सीने सभी रसोंमें इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है, उनका यह प्रिय छन्द है। मानसमे यह छन्द वीर, शृंगार, करुण तीनो रसोंमे बहुत सघन भावावेगके क्षणोमें अथवा बहुत ही सजीव चित्रणके अवसरपर प्रयुक्त हुआ है। पर 'पार्वतीमंगल'मे विशिष्ट शैलीके रूपमे इसका उपयोग हुआ है। 'मानस'के लंका-काण्डमे वीरके साथ भयानक तथा वीभत्स रसकी अवतारणामे भी यह छन्द प्रयुक्त हुआ है। सूदन (सु० च०) तथा पद्माकर (हि॰ ब॰ बिरु॰)ने वीररसमे इसका प्रयोग किया है। सुन्दरदासने अपने 'ज्ञानसमुद्र' तथा 'सजन-ख्याल अष्टक'मे ज्ञान्त रसमे इसका उपयोग किया है। भूषणने इस नामसे गीतिका (दे०) छन्दका प्रयोग किया है। आधुनिक कालके कवियोंने भी इसको अपनाया है।

मैथिलीशरण गुप्तका भी बहुत प्रिय छन्द है । तुळसीदासकी रचनासे उदा॰ — "कल-गान सुनि मुनि ध्यान त्यागिहं काम बोकिल लाज हो। मंजीर नुपुर कलित कंकन, ताल गति वर साजही" (रा० न० मा०, १: ३२२)। हरिण - यह एक उपमान है, जिसे सिद्धों, नाथों तथा संतोने समान रूपसे प्रयुक्त किया है। कही-कही नायकको हरिण नाम दिया गया है। जिस प्रकार हरिण संगीतके प्रति आकृष्ट होता है, उसी प्रकार साधक कभी-कभी विषयके प्रति आकृष्ट हो जाना है। कही-कही हरिणीको माया तथा हरिणको ज्ञान रूपमे परिकल्पित किया गया है। (दे० 'अहेरी')। --- घ० वी० सा० हरिपद-मात्रिक अर्द्धसम छन्द । हरिपदके पहले और तीसरे चरणोंमं १६-१६ मात्राऍ और दूसरे और चौथेमे ११-११ मात्राऍ होती है। सूदनमें अपने 'सुजानचरित'मे इसका प्रयोग किया है। साहित्यमें इसके प्रयोग भी बहुत अधिक नहीं मिलते, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पदोके मुख्य भागमे इस छन्द्रका व्यवहार कवियोने किया है, क्योकि इसमे स्वाभाविक लय है। जैसे कवीरकी एक पंक्तिमें हरिपद जैसी ध्वनि निकलती है—"तत करि तॉति धर्म करि डाँडी, सतकी सारि लगाइ। मन करि निहचल आसण निहचल, रसना रस उपजाइ"। इस प्रकार पदोने सूर, मीरा आदिने भी इसका प्रयोग किया है। -रा० सिं० तो० हरिप्रिया - मात्रिक सम दण्डक छन्टोंका एक भेद, जिसे चंचरीक भी कहते है(भिखारीदास: छन्दो०)। इसके चरणमे १२, १२, १२, १०की यतिसे ४६ मात्रा तथा अन्तमें ग्रह (S) होता है (छं० प्र०: प्० ७८)। इसे केशव (रा० चं०) तथा सूर और तुलसीने पद-शैलीके अन्तर्गत प्रयुक्त किया है । इसकी मृद-मन्थर गति अनाकुल भावोके वर्णनके लिए बहुत उपयुक्त है-"जसुमति दिध मथन करति, बैठी बर धाम अजिर, ठाउँ हरि हॅसति नान्हि, दतियन छवि छाजे" (स० सा०, सभा०: प० ७६४)। प्रभातियोके वर्णनमे तुलसी तथा सूर दोनोंने इस छन्दके प्रयोगसे विरोध-सौन्दर्य उत्पन्न किया है—"जागिये गोपाल लाल, ऑनद निधि नन्दलाल, जसुमति कहै बार-बार, भोर भयो प्यारे"। (वही, वही: ८२३। हरिलीला-वर्णिक छन्दोंमे समवृत्तका एक भेद । केशवने तगण, भगण, दो जगण और गुरु-लघुके योगसे नवीन वृत्तका प्रयोग किया है (SSI, SII, ISI, ISI) । इसका अन्तिम वर्ण दीर्घ करनेसे वसन्तितिलकका छन्द बन जाता है। उदा०—''बैठे विशुद्ध गृह अयज अय जाय। देखी वसन्त ऋतु सुन्दर मोददाय। बौरै रसाल कुल कोमल केलिकाल। मानो आनन्द ध्वज राजत श्री विशाल" (रा० चं०, २३ : ३२) । –पु० शु०

हर्ष-प्रचलित तैंतीसमें एक संचारी; भरतने इसके विभावी-

मे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति, प्रिय व्यक्तिसे मिलन, मानसिक

सन्तोष, देवताओं, स्वामी तथा राजाकी कृपा आदिको तथा अनुयावोंमे प्रसन्न मुद्रा, मुख-नेत्रोंकी चमक, मधुर वचन,

आर्लिंगन, सम्प, अधु तथा प्रस्वेद आदिको स्वीकार किया

हैं ( ना॰ शा॰, ७:६१ ग)। विद्वनाथके अनुसार इसका

लक्षण निम्नलिखित है-"इर्षस्त्वष्टावाप्तर्मनःप्रसादोऽश्र-

गड़दारिकरः" (सा० द०, ३: १६५), अर्थात् इष्टको प्राप्तिसे उत्पन्न मनको प्रसन्नताका नाम हर्प है। आनन्दाश्रु, गइद स्वर इसके अनुभाव है। हिन्दी रीतिकालके आचार्यों में अनेवने 'नाट्यशास्त्र'की परम्पराका अनुसरण किया है— "पिय दर्शन श्रवनादिते, होय जु हिये प्रसाद। वेग स्नेद ऑस प्रलय, हर्प लखौ निरवाद" (भाव०: संचारी०)। पर अन्योने ''जहाँ कौन: हू बात ते उर उपजत आनन्द" माना है (जगद्दि०, ५३२)।

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या इष्टकी प्राप्तिसे ही 'ह्मं'का प्रादुर्भाव होता है ? इष्टके पानेकी सम्भावनाका संवाद पाकर भी तो आनन्दाश्रु दिखाई पड़ते है । पर इष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न हर्म तथा उसके पानेकी सम्भावनाके समाचार से उत्पन्न हर्म तथा उसके पानेकी सम्भावनाके समाचार से उत्पन्न हर्म मात्राका अन्तर है । दूसरेकी अपेक्षा पहला अधिक गहरा होगा । पहलेको 'हर्म' तथा दूसरेको 'प्रसन्नता' को संज्ञा दी जानी चाहिये । एक दूसरा प्रश्न भी हो सकता है कि क्या किसी लक्ष्यकी ओर भी यह प्रेरित करता है ? वस्तुतः अन्य भावोंकी भॉति यह भी एक विशेष लक्ष्यकी ओर प्रमुत्त होता है । किसी नायिकाको देखकर नायकके मनमे ह्पों छास होता है और बादमें वह उसके परिरम्भण आदिकी ओर प्रमुत्त होता है । अतः स्पष्ट है कि हर्ष आश्रयको विषयवस्तुकी ओर आकृष्ट करता है ।

हर्षकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जहाँ अमर्थ, चिन्ता, दैन्य, भय आदि वर्तमान स्थितिमें परिवर्तनकी अपेक्षा रखते है, वहाँ हर्ष वर्तमान स्थितिको बनाये रखना चाहता है। यो तो हर्ष भी स्वतन्त्र रूपमे आ सकता है, पर प्रायः यह किसी अंगी भावके अंगरूपमें ही अभिव्यक्त होता है। देवकी नायिका प्रियकी प्रतिक्षामे हर्पसे उछसित है—"आवन सुन्यो है मनभावनको भामिनी, सु नैनन अनन्द आँसू दर्रिक दरिक उठे। देव हम दोऊ दौरि जाति द्वार देहरीलो, केहरीसी सॉसें खरिक खरिक उठे"। इसी प्रकार पद्माकरकी नायिका प्रिय को पाकर हिंवत है—"पद्माकर ह्यो दुलसे पुलके तनु सिन्धु सुधाके अन्हैयनु है। मन पैरत सो रसके नदमे अति आनँदमें मिलि जैयनु हैं" (जगद्दि०, ५३३)। —व० सिं०

हर्छीश (हर्ल्लीशक) - एक अंकका उपरूपक है। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल इसे यूनानी 'इलीशियन मिस्ट्री- डा॰सके प्रभावसे उत्पन्न बताते है। हरिवंशके विष्णुपवंमं 'रास'के स्थानपर सर्वप्रथम इसके प्रयोगकी चर्चा मिलती है। इसमें सात, आठ या दस स्त्रियाँ होती हैं और एक उदात्त वचन बोलनेवाला पुरुष रहता है। कैशिकी वृत्तिका प्रयोग, मुख-प्रतिमुख सन्धियोंका निर्वाह तथा ताल, लय, गायनका बाहुल्य रहता है। ——वि॰ रा॰

हसित-दे० 'स्वभावज अलंकार', अठारहवाँ।

हसित हास्य-दे॰ 'हास्य रस'।

हाकिलि — मात्रिक सम छन्दका एक भेद। 'प्राकृतपैगलम्'-(१: १७३)के अनुसार इसमे १४ मात्रा प्रति चरणमें होती है और पूर्वार्द्धमे ११ अक्षर तथा उत्तरार्द्धमें १० अक्षरके चरण रहते हैं। मानुने तीन चौकलके बाद एक गुरुके प्रयोगको प्रधान लक्षण स्वीकार किया है (छं० प्र०, ए० ४६)। मिखारीदासने इसका नाम हाकलिका दिया है (छंदो॰, पृ॰ २२)। केशव (वी॰ चं॰)ने इसी नामसे प्रयोग किया है। पद्माकरने इस छन्दका न्यापक प्रयोग 'हिम्मत बहादुर विरुदावली'में किथा है। द्रन्होंने अनेक स्थलोपर स्वतन्त्रता बरती है। किसी चरणमे मात्रा कम कर दी है तथा अन्तमें लघुका प्रयोग किया है—"निज खिलवतिमें हास है, भय रूप दुरजन पास"(पृ॰ ३)। युद्ध-यात्रा-वर्णन तथा प्रशंसा आदिमें इसका प्रयोग किया गया है। उदा॰—"पर तिय गुर तिय तूल गनै। पर धन गरल समान भने" (भिखारीदास)।

**हान, हानोपाय, हेय, हेयहेतु**—योगदर्शनमे इनका क्रम है हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय । हेयका सामान्य अर्थ है त्याज्य। पतंजलिके अनुसार "परिणाम, ताप, संस्कार नाम त्रिविध दःख तथा गुणों एवं वृत्तियोंके आपसी विरोधके कारण, विवेकशील न्यक्तिके लिए हरवस्तु दुःखपूर्ण है" (यो० सू०, २: १५)। भूतकालमे व्यक्ति जिन दुःखोंको भोग चुका है, उन्हें त्यागनेका सवाल ही नहीं उठता। वर्तमान कालमें जो दुःख भोगे जा रहे है, उन्हे त्यागना भी कठिन है, इसीलिए पतंजलिका मत है कि दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय तो है, पर भविष्यमे आनेवाले दुःख ही सच्चे अर्थों में हेय है (यो० सू० २: १६)। इन हेय (दु:खों)का कारण या **हेयहेतु** अविद्या है (यो० सू०, २:२४)। पतंजलिके शब्दोमे कहें तो "द्रष्टा और इत्यका संयोग ही हेयहेतु है" (यो० सू०, २:१७)। "मै अमुक वस्तु या विषयका ज्ञाता हूँ", इस तरहका भाव अविद्या है, माया है। तुलसीदासने इसी वातको यों कहा है-" 'मै' अरु 'मोर', 'तोर' 'तै' माया''। यह माया या अविद्या हेयहेतु है। इसको उपशमित करने या उन्मूलित करनेको हान कहा गया है। 'अध्यात्मरामायण' (उत्तरकाण्ड, ५, ९)मे कहा गया है—"अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्रविधौ विधीयते", अर्थात् अज्ञान ही संसारका मूल कारण है और इस अज्ञानका 'हान' (त्याग या नारा) ही इससे मुक्तिका उपाय है। चुॅकि द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेयहेतु (अविद्या) है, अतः इनके नाशके लिए इस संयोगको तोड देना आवश्यक है। पतंजिलने इसी संयोग विच्छेद या संयोगा-भावको हान कहा है-यह हान ही कैवल्य है। इस हानकी उपलब्धिका साधन विवेक ख्याति या हानोपाय है (यो०स्०, २:२६) । बुद्धि और पुरुषके भेदको विवेक कहा जाता है और तद्विषय प्रवल्ज्ञान या ख्याति ही विवेक-ख्याति कहलाती है। इसीके द्वारा आत्मा और अनात्माका ठीक-ठीक पार्थक्य अनुभूत होता है और अविद्या निर्मृठ होती है। इस प्रकार दुःख और दुःखजनक पदार्थ **हेय** है, अविद्या हेयहेतू है, उसका त्याग या उच्छेद हान है, जो कैवल्यका दूसरा नाम भी है और इस कैवल्य या हानकी उपलब्धिका उपाय(हानोपाय) है अविप्लवा विवेकख्याति।

[सहायक अन्थ — हरिहरानन्द आरण्यकः पातंजल योग-दर्शन (हिन्दी) — सं॰ डॉ॰ मगीरथ मिश्रः] — रा॰ सिं॰ हारमनी — यह अंग्रेजी शब्द है और संगीतके क्षेत्रते लिया गया है। इससे विशेषतः सुरोंकी संगीतात्मक संगतिका ही बोध होता है, परन्तु लक्षणासे सामान्यतः संगतिमात्रका अर्थ लिया काने लगा है। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें

संघटन, सामंजस्य और सन्तुलनकी एक विशेष स्थितिको व्यक्त करनेके लिए इसका प्रयोग किया जाता है। अर्थ-विधान, रूप-रचना और दर्ण-विन्यासमे 'हारमनी' प्रायः अधिकाधिक अपेक्षित मानी जाती है। हाल-'हाल'(भावाविष्टावस्था)से सूफी साधकोका मतलब उम अवस्थासे है, जिसमें साधकके सभी मानवीय गुणों और व्यापारोका अन्त हो जाता है। इस अवस्थामे उसके समस्त जागतिक प्रपंचोका अवसान हो जाता है। परमात्माके ध्यानादिसे साधकके मनके भीतर एक आलोड़न पैदा होता है और धीरे-धीरे वह अपने अहंको खो बैठता है। हालकी अवस्थामे साधकके मनमे अछाहके सिवा और किसी प्रकार का ख्याल नहीं आता। परमात्माका प्रेम उसे सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लेता है। साधककी चेष्टाकी यह अन्तिम अवस्था है। इसके बाद परमात्माकी कृपासे ही फ़ना और वकाकी अवस्था उसे प्राप्त होती है। 'हाल'की अवस्था स्थायी नहीं होती। साधककी साधनाके अनुसार यह कभी कुछ क्षणोके लिए और कभी कई घण्टोके लिए और कभी वई-कई दिनोनकके लिए आती है। साधक फिर अपनी प्रकृत अवस्थामे लीट आता है और तब उसके मन और हृदयपर भौतिक जगतकी वस्तुओंका अधिकार हो

'हाल'की अवस्था लानेके लिए साधक नाना प्रकारकी जिक्रकी क्रियाओका सहारा लेता है। नामोचारण, ध्यान आदि भी इसमे सहायता पहुँचाने है। संगीत आदिके द्वारा भी साधकोको हाल (भावाविष्टावस्था) की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्थामें जैसे साधक परमात्माके सौन्दर्यका साक्षात्कार करता रहता है। -रा० प्० ति० हालमटंगा – एक प्रकारकी मेखला, जिते धारण करनेके बाद योगीको भिक्षाके लिए निकलना ही पड़ता है(दे०'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज': बिग्स, पृ० ११-१२) ।—रा०सिं० हालावाद-हालाका शाब्दिक अर्थ है मदिरा! मदिराका गुण है उसका नज्ञा और तजन्य वेहोशी। इस वेहोशीमें कुछ कालके लिए अन्य सारी चिन्ताएँ और कष्ट विस्मृत हो जाते है और पीनेवाला उतने समयतक एक कल्पित लोकमें सखी रहता है। साहित्यमे इस क्षणवादी दर्शनको हाला और उससे सम्बद्ध प्रतीको-मदिरालय, प्याला, सुराही, साकीके माध्यमसे अभिन्यक्ति मिली और इसे हालावादकी संज्ञा प्राप्त हुई। इस प्रवृत्तिके अनुसार इस क्षणभंगुर और दुःखमय जीवनमे आनन्दके जो क्षण मिल सकें उनका भरपूर उपभोग करना चाहिये। हालावादीके अनुसार ''प्रिये, इतनी मदिरा आज पिला दे, जिससे कि भूतके सन्ताप और भविष्यके भय भाग जायें' (खैयाम) ।

हालावादका दर्शन अपने मूल स्थान फारसमें एक प्रकारका स्फी-दर्शन है। रूमी, उमर सैयाम, हाफिज, राबिया आदि फारसी स्फी कवियोने शराब, साकी, प्याला आदिका प्रतीक बना, इनके माध्यमसे परोक्ष सत्ताकी चर्चा की और रोजा, नमाज आदि धर्मके बाह्याचारोंका खण्डन किया। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि इस्लाम वैराग्यप्रधान धर्म है, पर उसके भीतरसे एक कलात्मक विद्रोह इन कवियां करारा प्रस्कृटित हुआ, जिसके अनुसार किन जाहिदको

गालियाँ देता है, शराव पीनेका निमन्त्रण देता है और बुतपरस्तीपर गर्व करता है। इन सुफी कवियोने प्रेमकी अतिशय भावुकता और तन्मयताको शरावको बेहोशीभे प्रतीकरूपने दिखाया। ठौकिक प्रेम(साकीके प्रेम)को अठौकिक प्रेमका आधार और प्रतीक बनाया। ऊपरसे ये कविताएँ वासन.त्मक है, पर भीतरसे आत्मा(आशिक) परमात्मा (माश्क)के विरह, सौन्दर्य और प्रेमकी पीर इनमे व्यास है।

सफी तत्त्वदर्शनवे इस प्रभावको हम मध्यकालीन हिन्दी साहित्यके कुछ कवियो(जैसे कबीर)के इस दावेमे देख सकते है, जिसमे वे ज्ञानकी शराब पीनेकी बात कहते है। परन्तु आधुनिक कालमे (जिस कालकी उपज 'हालावाद' शब्द है) न तो यह प्रभाव फारससे आया है और न स्फीदर्शन ही इसके पीछे है। अपनी एक विशेष अवसाद और निराशाकी स्थितिमे फिट्जजेराल्डने १९वी शतीके मध्यमे उमर खैयाम-की पचहत्तर रुवाइयोका अंग्रेजीमे अनुवाद किया, जो पहले-पहल सन् १८५९ ई० में 'रुवाइयात उमर खैयाम'के नामसे प्रकाशित हुई। ये विशिष्ट रुवाइयाँ खिन्नमनकी निराशा-जनक अभिव्यक्तियाँ है, जिनमे एक प्रकारके पलायनवाद (दे०)का स्पष्ट स्वर है- खैयामके अनुसार ''तरुशाखाके तले रोटीका एक द्रकडा, एक सुराही मदिरा, कविताकी पुस्तक और पाइवेंमे गाती हुई 'तुम' हो तो यह जंगल ही मेरे लिए स्वर्ग हो जाय"। यह पलायन और निराशा इसलिए है, क्योंकि "पैरोके नीचे बालुकी जमीन खिसकती जाती है, न मालूम कितने बड़े-वडे नरेश, सत्ताधारी एवं विद्वान् आये और चले गये, अतः जीवनशराव सूख जाय, इसके पहिले ही उठो और मदिरा पी-पीकर भूख बुझा लो"। "अनागत कल अभी उत्पन्न नहीं हुआ और विगत कल मर चुका है, अतः उनका चिन्तन छोड 'आज'को आनन्दमय बनाओ"। इस प्रकार फिट्जजेराल्ड (Fitzgerald) के अनुवादमें उमर खैयामका दर्शन विषमताओसे पलायन कर क्रिम बेहोशीका क्षणवादी आनन्द ग्रहण करानेवाला है। हिन्दीमे यह दर्शन प्रमुखतः फिट्जजेराल्डके अनुवादके माध्यमसे ही आया।

यों तो सन् १९२० ई०के लगभग 'सरस्वती'में उमर खैयामको यदा-कदा चर्चा होनी प्रारम्भ हो गयी थी, पर सन् १९३० ई०के आसपास खैयामकी रुवादयोंके अनुवादो-की धूम मच गयी, पर ध्यान देने योग्य बात है कि इक-बाल वर्मा 'सेहर'को छोडकर (इन्होंने मूल फारसीसे अनु-बाद किया) शेष सारे अनुवाद फिट्जजेराल्डके अनुवादके ही हुए। हालावादके मुख्य प्रयोक्ता एवं प्रवर्तकोमेंसे एक 'बच्चन'ने इस प्रइनको उठाते हुए कि ऐसी क्या विशेष सामाजिक स्थिति थी, जिसने सारे देशका ध्यान खैयामकी ओर खीचा, कहा है कि वास्तवमें सन् १९३०का समय ही ऐसा था। प्रथम महायुद्धतक भारतीय मध्यवर्ग विकसित हो गया था। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदिमे वह महत्त्वपूर्ण बन चुका था। मध्यवर्ग'के जागरणसे सम्बन्धित सार्वभौम प्रवृत्ति 'व्यक्तिवाद' पूरे जोशमें थी (स्वयं राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्रामका मूल दर्शन व्यक्तिवादका ही रूप है)। परन्तु सन् १९२० ई०से लेकर १९३०-३१ ई०तक 'लगातार सत्याग्रह संग्रामकी असफलताओं, आर्थिक क्षेत्रमे विश्व- व्यापक मन्दी और वेकारीने उमे अत्यधिक निराश और विश्व कर दिया था। सामाजिक नैतिक मूल्योके क्षेत्रमे झान-विद्यान और पश्चिमी सम्यताने उमे उन्मुक्त मनवाला कर दिया था, पर प्राचीन मर्यादाएँ इतनी गहरी थी कि उसकी यह स्वच्छन्दता खुलकर विकासके लिए अवकाश न पाती थी, अतः उसके मनकी कुण्ठाएँ बढ़ती जाती थी। सारे देशमे अवसाद, निराशा और कुण्ठाओंका साम्राज्य था। ऐसे समयमें उमर खैयामकी रुवाइयोने उपयुक्त भूमि प्राप्त की। "रुवाइयात मनुष्यकी जीवनके प्रति आसक्ति और जीयनकी मनुष्यके प्रति उपेक्षाका गीत है"। हिन्दीमे मैथिलीशरण गुप्त (मधुण), केशवप्रसाद मिश्र, 'वच्चन' तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा प्रस्तुत खैयामकी रुवाइयातके अनुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

यथार्थकी निराशा और तरुणाईकी रोमैण्टिक इच्छाओके संघर्षमे पडे युवकोकी एक शरणस्थली मिली मदिरालयमे। हाला, बाला, प्यालाके कल्पित लोकमे उसे वर्तमानके गम-को गर्क करनेका स्थान मिला। उसने उस नशेमे "ज्ञान, ध्यान, पूजा, पोथीके स्थृल बन्धनोंको तोडनेकी पुकार की, वयोंकि जब वासना तीव्रतम थी, तब उसे संयमी बनना पडा था"। उसकी अल्पतम इच्छाओबो वन्दी बनानेवाला संसार कीड़ास्थल नहीं, कारागार था"। 'नवीन', 'हृदयेश', भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन', पश्चकान्त मालवीय, 'अंचल' आदि अनेक कवियोंने इस मादकता और वेहोशीके गीत गाये और इन सभीमे वही 'प्रतिपलके परिवर्तनके कारण क्षणवादी' दृष्टिकीण है। परिमाण और ख्यातिकी दृष्टिसे इनमे 'बच्चन'का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सन् १९३३ ई०से १९३६ ई०के बीचमें उनके तीन काव्यसंग्रह 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलदा' क्रमदाः निकले । सन् १९३३ ई॰मे ही उनका 'खैयामकी मधुशाला' अनुवाद भी आया। 'बच्चन'को ख्याति और तीखे आक्षेप दोनो मिले । आक्षेपों-का उत्तर देनेका प्रयास उन्होंने 'मधुकलश'मे किया है। वासनामय और निराशायुक्त गीत गानेके आरोपका अपने काव्यमे उत्तर देते हुए उन्होने कहा कि 'चूंकि कवि अपने स्वप्नो, कल्पनाओं, आकाक्षाओंको मुक्त अभिव्यक्ति देता है, इसीलिए जग उसके उद्गारोंकी वासनामय कहता है, पर यदि वह इन्हे छिपाता तो संसार उसे साधु समझता"। यों बच्चनने अपनी रचनाओको एक प्रतीकार्थ भी देना चाहा है, जिसके अनुसार जीवनधाराके तटपर ही कविकी सुन्दर-सी बस्ती है, जिसे दुनिया मधुशाला कहती है। तनकी क्षणभंगुर नौकापर चढकर यात्री इस सरिता तटपर आकर स्विप्नल छ।या प्राप्त करता है। शुष्क मत्य उपयोगी हो सकता है, पर सुखदायक तो सरस स्वप्न ही है। तथा जीवनमें खोना और पाना सब नियतिके आधीन है, यह तो दार्शनिकीकरण है। इस वादकी सारी विशेषता बच्चनकी इस एक पंक्तिमे है-"मिट्रीका तन, मस्तीका मन, क्षणभर जीवन मेरा परिचय"।

साहित्यिक दृष्टिसे छायानादकी वेदना और घनीभूत होकर निराज्ञामे परिणत हो हालावादका रूप धारण कर लेती हैं। और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियोने प्रगतिवादकी स्थापित किया, उन्होंने ही छायानादकी इस प्रक्षेपित धारा- 'हालाबाद'को भी सन् १९३६ ई०म ही समाप्त कर दिया।

[सहायक अन्थ—' खैयामकी मधुशाला'की भूमिकाः 'वचन'; हिन्दी माहित्यके प्रमुख वाद और उनके प्रवर्तकः विश्वम्मरनाथ उपाध्याय; हिन्दी साहित्यमें विविध वादः प्रेमनारायण शुक्ल।]—दे० शं० अ० हाव —दे० 'अंगज अलंकार'। हिन्दीमे सम्पूर्ण सात्त्विक अलंकारोंके लिए प्रयुक्त शब्द।

हास-हास्य रसका स्थायी भाव हास है। 'साहित्यदर्पण'-(१: १७६)में कहा गया है—"न का किन्तु रेने कि रो हास इष्यते", अर्थात् वाणी, रूप आदिके विकारोंको देखकर चित्तका विकसित होना 'हास' कहा जाता है। पण्डितराज-का कथन है-- "जिसकी, वाणी एवं अंगोंके विकारोंके देखने आदिसे, उत्पत्ति होती है और जिसका नाम खिल जाना है, उसे 'हास' कहते है"। भरतने कहा है कि दूसरोकी चेष्टाके अनुकरणसे 'हास' उत्पन्न होता है तथा यह स्मित, हास एवं अतिहसितके द्वारा व्यंजित होता है "स्मितहासाति-हिसतैरभिनेयः" (ना० शा०, ७: १०)। भरतने त्रिविध हासका जो उल्लेख किया है, उसे 'हास' स्थायीके भेद नही समझना चाहिये। केशवदासने चार प्रकारके हासका उल्लेख किया है-मन्दहास, कलहास, अतिहास एवं परिहास तथा अन्योने छः प्रकारका हास बताया है-सिन और हिमन, विहसित और उपहसित, अपहसित और अतिहसित। 'हरि-औध'के जनुसार जब नेत्रो तथा कपोलीपर कुछ विकास हो तथा अधर आरंजित हो, तब सित होता है, यदि नेत्रो एवं कपोलोंके विकासके साथ दॉत भी देख पड़े तो हसित होता है, नेत्रों और कपोलोके विकासके साथ दॉत दिखाते हुए जब आरंजित मुखसे कुछ मधुर शब्द भी निकले, तब विद्यसित होता है, विद्यसितके लक्षणोके साथ जब सिर और कन्ये कॅपने लगे, नाक फूल जाय तथा चितवन तिरछी हो जाय, तब उपहसित होता है। ऑसू टपकाते हुए उद्धत हास-को उपहसित तथा आँस् बहाते हुए ताली देकर ऊँचे स्वरसे ठहाका मारकर हॅसनेको 'अतिहसित' कहते है। वास्तवमें इन्हें हास स्थायीके भेद मानना यक्तिसंगत नहीं है। जैसा 'हरिऔध'ने कहा है, सभी स्थायीभाव वासना रूप हैं, अत-एव अन्तः करणमे उनका स्थान है, शरीरमें नही । स्मितह सि-तादि शरीरसे सम्बद्ध व्यापार है, अतएव ये इसन-क्रियाके ही भेद है। अश्र, हर्ष, कम्प, स्वेद, चपलता इत्यादि 'हास' स्थायीके साथ सहचार करनेवाले व्यभिचारी भाव है। उदाहरण—"मै यह तोही मै लखी भगति अपूरव वाल। लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदम्बकी माल" (बि॰ स॰, ४७०)। प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई मालाके धारण करनेसे नायिकाके रोमांचित हो जानेपर नायिकाके प्रति सखीके इस विनोदमें 'हाम' भावकी व्यंजना है, हास स्थायी प्रस्कु-टित नहीं है। ---र० ति**०** 

हास्य रस — हास्य रस नव रसोके अन्तर्गत स्वभावतः सबसे अधिक सुखात्मक रस प्रतीत होता है, पर भरत (३,४ श० ई०)के 'नाट्यशास्त्र'के अनुसार यह चार उपरसोंकी कोटिमें आता है। इसकी उत्पत्ति शृंगार रससे मानी गयी है (६,३९)। इसको स्पष्ट करते हुए भरतने आगे लिखा है

कि वह श्रंगारकी अनुकृति है—"श्रंगारानुकृतियों तु स हास्य इति संज्ञितः" (६: ४०)। यद्यपि हास्य श्रंगारमें उत्पन्न कहा गया है, पर उसका वर्ण श्रंगार रसके 'दयाम' वर्णके विपरीत 'सित' वताया गया है—"सितो हास्यः प्रकीतिंतः" (६: ४२)। इसी प्रकार हास्यके देवता भी श्रंगारके देवता 'पिष्णु'से भिन्न शैव 'प्रथम', अर्थात् शिवगण है। यथा—"हास्यः प्रमथदेवतः" (६: ४४)।

हास्य रसका स्थायी भाव हास और विभाव आचार, व्यवहार, केशविन्यास, नाम तथा अर्थ आदिकी विकृति है, जिसमे विकृतवेषालंकार 'धाष्ट्यं, लौट्य, कल्ह, असत्प्रलाप, व्यंग्यदर्शन, दोपोटाहरण आदिकी गणना की गयी है। ओष्ठ-वंशन, नासा-क्रपोल स्पन्दन, ऑखोंके सिकुडने, स्वेद, पार्श्वग्रहण आदि अनुभावोंके द्वारा इसके अभिनयका निर्देश किया गया है तथा व्यभिचारी भाव आलस्य, अविद्यं (अपना भाव छिपाना), तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रवोध, अस्या (ईंग्यां, निन्दा-मिश्रित) आदि माने गये हैं।

साहचर्य भावसे हास्य रस शृंगार, वीर और अद्भुत रसका पोषक है। शान्तके भी अननुकूल नहीं है। आधु-निक साहित्यमें हास्यके जो रूप विकसित हुए है उनपर बहुत कुछ यूरोपीय चिन्तन और साहित्यका प्रभाव है। वे सब न तो शृंगारसे उद्भूत माने जा सकते है और न 'नाट्यशास्त्र'की व्यवस्थाके अनुसार सहचर रसोके पोषक ही कहे जा सकते है।

हास्यकी उत्पत्तिके मूळ कारणके सम्बन्धमें भी पर्याप्त मतभेद मिळता है। प्राचीन भारतीय आचार्योंने उसे 'राग'-से उत्पन्न माना है, पर फायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञा-निक उसगे मूळमें 'द्वेप'की भावनाका प्राधान्य मानते है। यूरोपीय दार्शनिकोने अन्य स्वतन्त्र मत व्यक्त किये हैं (काव्यमें रस; अप्र० नि०, पृ० ४१४-१५)।

शारदातनय (१३ श० ई०)ने रजोगुणके अभाव और सत्त्व गुणके आविभावने हास्यकी सम्भावना बतायी है और उसे प्रीतिपर आधारित एक चित्त-विकारके रूपमें प्रस्तुत किया है। "…स शृंगार इनीरितः। तसादेव रजोहीना-त्समत्वाद्धास्यसम्भवः" (भा० प्र०, पृ० ४७)। अभिनवगुप्त (१०-११ श० ई०)ने सभी रसोके आभास (रसाभास)- से हास्यकी उत्पत्ति मानी है—"तेन करुणाद्धामासेष्विप हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्" (अ० न० भा०, पृ० २९७)। इस प्रकार करुण, बीमत्स आदि रसोंते भी विशेष परिस्थिति-में हास्यक्षे सृष्टि हो सकती है। 'करुणोऽपि हास्य पवेति' कहकर आचार्यने इसे मान्यता भी दी है। विकृतिके साथसाथ अनौचित्यको भी इसील्ए उत्पादक कारण बताया गया है। अनौचित्य अनेक प्रकारका हो सकता है। अशिष्टा और वैपरीत्य भी उनकी सीमामे आते है।

हास्य रसके भेद कई आधारोने किये गये हैं। एक आधारपर है हास्यका आश्रय। जब कोई स्वयं हँते तो वह 'आत्मस्य' हास्य होगा, पर जब वह दूसरेको हॅसाये तो उसे 'परस्य' हास्य कहा जायगा। कदाचित 'आत्मसमुत्य' और 'परसमुत्य' भी इन्हींको कहा गया है। 'नाट्यशास्त्र'में गद्यभागमे पहले शब्द-युग्मका प्रयोग हुआ है और रलोकमें दूसरेका (६: ४९ तथा ६१)। जगम्नाथ (१७-१८ हा०

हं०)ने इन भेदोको स्वीकार तो किया है, पर व्याख्या स्वतन्त्र रोनिन् की है। उनके अनुनार आत्मस्थ हास्य सीधे विभावोसे उत्पन्न होना है और परस्थ हास्य हॅसते हुए व्यक्ति या व्यक्तियोंको देखनेले उपजता है। इनके अतिरिक्त भावते विकास कम अथवा उसके तारतम्यको भी आधार मानकर हास्यके छः भेद किये गये है, जो अधिक विख्यात है। इनको प्रकृतिको दृष्टिते उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन कोटियोमे निम्निलखित क्रमसे रखा गया है: उत्तम—१. स्मित, २. हिसत। मध्यम—३. विहसित, ४. उपहसित। अधम—५. अपहसित, ६. अति-हिसत, (स्मितमथ हिसतं विहसितमुपहसित चापहसितमतिहिसतम्। द्वी-द्वी भेदी स्यातामुत्तमध्यमाधमप्रकृती" (ना० शा०, ६: ५३)।

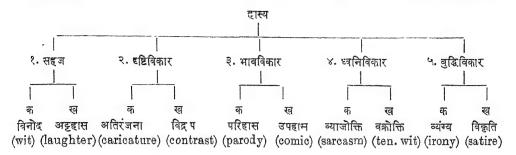
भरतने न केवल यह विभाजन ही प्रस्तुत किया है, वरन् उसकी सम्यक् न्याख्या भी की है, जिससे प्रत्येक भेदकी विशेषनाएँ तथा भेदोंका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'नाट्यशास्त्र' (६: ५४ से ६० तक)के अनुसार रिमत हास्यमे कपोलोंके निचले भागपर हँसीको हलकी छाया रहती है, कटाक्ष-सौष्ठव समन्वित रहते है तथा दॉत नहीं झलकते। हसितमे मुख-नेत्र अधिक उत्फुछ हो जाते है, कपोलोंपर हास्य प्रकट रहता है तथा दॉत भी कुछ-कुछ दीख जाते हैं। ऑखों और कपोलोका आकुंचित होना, मधुर स्वरके साथ समयानुसार मुखपर लालिमाका झलक जाना विहसितका लक्षण है। उपह-सितमे नाम फूल जाना, दृष्टिमे कुटिलना आ जाना तथा कन्धे और सिरका संकृचित हो जाना आवश्यक माना गया हैं। असमयपर हॅसना, हँसते हुए ऑखोमें ऑस्ओंका आ जाना तथा वन्धे और सिरका हिलने लगना अपहसितकी विशेषता है। नेत्रोंमे तीव्रतासे ऑसू आ जाना, उद्धत चिल्लाहटका स्वर होना तथा हाथोंसे वगलको दबा लेना अन्तिम भेद अतिहसितका लक्षण बताया गया है। इन भेदोको मुख्यतया अनुभावोंके आधारपर कल्पित किया गया है, अतएव इन्हें शारीरिक ही अधिक माना गया है, मानसिक कम। यह अवस्य है कि अनुभाव मनोभावोके अनुरूप ही प्रकट होते है और उनसे आन्तरिक मानसिक दशा परिलक्षित हो जाती है। कुछ संस्कृत आचायोंने इन छः भेडों मे 'आत्म' और 'पर'का भेद दिखाते हुए पहले तीन भेदोंको 'आत्मसमृत्थ' और अन्तिम तीनोको 'पर-समुत्थ' बताया है, पर इस तारतम्य-मूलक विभाजनका आधार उत्तरीत्तर विकास ही है, अतः इसमे 'आतम' और 'पर'का अन्तर करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है। भानुदत्त (१४ रा० ई० मध्य)ने करुण और बीभत्सकी तरह हास्यके भी 'आत्मनिष्ठ' और 'परनिष्ठ' भेद किये है, जो स्पष्टतया भरतके आत्मस्थ और परस्थके समानान्तर है।

हिन्दीके स्वतन्त्र आचार्योंमे केशवदास (१६-१७ श० ई०)ने हास्यके मदहास, कलहास आदि केवल चार स्वतन्त्र भेदोका उल्लेख किया है जिनपर नाड्यशास्त्रोक्त भेदोंकी गहरी छाया है, पर कुछ अन्तर भी दिखाई देता है। अतएव केशवका विभाजन लक्षण सहित उल्लेखनीय है—"विकसर्षि नयन कपोल क्ष्कू दसन-दसनके बास।

'मन्दहाम' तासों कहै को बिद केसबदास । जह सनिये कल ध्वनि कछ कोमल विमल विलास। केसव तन-मन मोहिये बरनत कवि 'कलहास'। जहाँ हॅसहिं निरसंक है प्रगटिह सुख मुख वास । आधे-आधे बरन पर उपित परत 'अतिहास'। जहॅ परिजन सब हॅसि उठे तजि दम्पतिकी कानि । केसव कौनहुँ बुद्धिवल सो 'परिहास' बखानि" (र० प्रि०, १४: ३, ८, १२, १५)। केशवके पहले तीन भेद तो भरतके भेदोके समानान्तर और भावके विकास-क्रमपर आधारित है, पर अन्तिम एक परिस्थिति-विज्ञेषकी अपेक्षा रखता है, जिसमें नायक-नायिकाकी प्रीति परिजनों-के परिहासका कारण बन जाय। केशवके अतिरिक्त अन्य रीतिकालीन काव्याचायोंमें हास्य रसका चिन्तामणि (१७ श॰ ई॰)ने सबसे अधिक सांगोपांग विवरण प्रस्तत किया है. जो 'साहित्य-दर्पण'मे दिये गये विवरणका पद्यानुवादमात्र है। 'रसनिवास' (१७८२ ई०)के रचयिता राम सिहने हास्य रसका स्थायी भाव 'हॅसना' माना है।

सित, हिसत आदि नाट्यशास्त्रमे- प्राप्त पूर्वोक्त छः भेद नहीं हो सकते, पर कुछ लोगोने उन्हें स्थायी भावका भेद भी माना है, जिसका खण्डन करते हुए आधुनिक विवेचक 'हरिऔध'ने लिखा है—"किसी-किसीने स्थायी भाव हासके छः भेद माने हैं, यह युक्तिसंगत नहीं। सभी स्थायी भाव वासनारूप है, अतएव अन्तःकरणमें उनका स्थान है, शरीरमं नहीं। सित, हिसत, विहसित, अवहसित, उपहसित और अतिहसितके नाम और लक्षण बताते है कि उनका निवास-स्थान देह हैं, अतएव ये हसनक्रियांके भेद हैं (र०क०, पृ० २९२)।

अपने 'रिमझिम' नामक हास्य एकांकी-संग्रहकी भूमिका-मे रामकुमार वर्माने इन छओ भेदोके साथ 'आत्मस्थ'-'परस्थ'का गुणन करके बारह भेद मान लिये है, जिसका आधार 'नाट्यशास्त्र'मे ही मिल जाता है (६:६१)। रामकुमार वर्माने पाश्चात्य साहित्यमें उपलब्ध हास्यके पाँच मुख्य रूप मानते हुए उनकी परिभाषा इस प्रकार दी है-१. 'सैटायर' (विकृति)—आक्रमण करनेकी दृष्टिसे वस्तु-स्थितिको विकृत कर उससे हास्य उत्पन्न करना २. 'कैरीके-चर' (विरूप या अतिरंजना)—किसी भी ज्ञात वस्तु या परिस्थितिको अनुपात-रहित बढाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना । ३. 'पैरोडी' (परिहास)—उदात्त मनोभावों-को अनुदात्त सन्दर्भसे जोडकर हास्य उत्पन्न करना । ४० 'आइरनी' (ब्यंग्य)-किसी वाक्यको कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना। ५. 'विट' (वचन-वैदग्ध्य)--शब्दों तथा विचारोंका चमत्कारपूर्ण प्रयोग । फायडने इसे दो प्रकारका माना है—सहज चमत्कार (harmless wit) और प्रवृत्ति चमत्कार (tendency wit)। सहज चमत्कारमे विनोदमात्र रहता है, किन्तु प्रवृत्ति चमत्कारमे पेन्द्रिय प्रतिकारात्मक भावना रहती है। साहित्यकी आधुनिक प्रवृत्तियोको दृष्टिमे रखकर उन्होने अपनी ओरसे पॉच स्वतन्त्र भेदोकी स्थापना की, जिनमेसे प्रत्येकमे दो दो उपभेद करके कुछ दस प्रकारोंमें हास्य रसके प्रावः समस्त प्रचलित स्वरूपोंको समाविध करनेका प्रयस किया है-



इस विभाजन-वर्गीकरणके सम्बन्धमें छेखककी अपनी धारणा है कि—"इस माँति हास्य सहज विनोदसे चलकर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्विन और बुद्धिमें नाना रूप प्रहण करता हुआ विकृतिमें समाप्त होता है" (रिमझिम,पृ० ११)।

हास्य रसको लेकर उसको विभाजित और वर्गाकृत करनेका ऊहापोह स्वतन्त्र विवेचनको अपेक्षा रखता है। कुछ वातोंपर सरलतासे आपित्त की जा सकती है, जैसे विनोद और न्याजोिक्त जो 'विट'के रूप माने गये है, उन्हें बुद्धि-विकारसे अलग मानना और 'सहज' तथा 'ध्यनिविकार' नामक वर्गोंमे रखना। वक्रोक्ति भी कान्यशास्त्रमे दो प्रकारको मानी गयी है— '१. इलेष और २. काजु। ध्वनिविकारके अन्तर्गत केवल काकुवक्रोक्ति ही आ सकती है, इलेषवक्रोक्ति नही। इलेष या इलेषवक्रोक्तिपर आधारित हास्यको भी किसी-न-किसी वर्गमे समाविष्ट किया जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'न्याजोिक्ति', जो वाच्यार्थका ही एक रूप है, 'ध्वनिविकार'के अन्तर्गत नही रखी जा सकती, क्योंकि ध्वनिगत विकार उसका आधार नहीं है, न उसके लिए अनिवार्य ही है।

हास्य रस उन प्रधान रसोंमेसे है, जिनके आधारपर नाट्यसाहित्यमें स्वतन्त्र नाट्यरूपोंकी कल्पना हुई। रूपक-भे दस भेदोंमें भाण और प्रहसन न्यूनाधिक हास्य रससे सम्बद्ध हैं। प्रहसनमे तो हास्य रस ही प्रधान है। भारतेन्द-के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'विषस्य विषमीषधम' नामक प्रहसन संस्कृत नाट्यशास्त्रके आदर्शपर ही रचे गये। संस्कृत नाटकोंमें हास्य रसकी सृष्टि करनेके लिए विदूषककी अलगसे योजना मिलती है, जिस परम्पराका निर्वाह 'प्रसाद'के 'स्कन्दगुप्त' जैसे अनेक हिन्दी नाटकोंतक न्याप्त मिलता है। शेक्सपीयरके सुखान्त नाटकों(comedies)मे भी विद्षक्की योजना की गयी है। वस्तुतः विदूषककी कल्पना मध्यकालीन सामन्ती जीवन और संस्कारोंकी उपज है। आधुनिक नाट्यसाहित्यमे हास्य और व्यंग्यके लिए ऐसे किसी स्वतन्त्र भावकी सृष्टि आव-इयक नहीं है। जीवनके स्वाभाविक क्रममें अन्य मनोभावों-के साथ ही हास्यका भी सहज रूपमें समावेश अपेक्षित माना जाता है।

हिन्दी कान्य-साहित्यमे भी हास्य रसका निरूपण बहुत समयतक संस्कृत साहित्यके आदर्शपर होता रहा। रीति-कालीन कवितामे बहुधा आश्रयदाताओं अथवा दानदाताओं-के प्रति कटु व्यंग्योक्तियाँ की गयी हैं, जिन्हें हास्य रसके अन्तर्गत माना जाता है। बेनी कविके 'भड़ौआ' इस क्षेत्रमें विशेष प्रसिद्ध है। ऐसे 'भडोओं'का एक संग्रह 'विचित्रो-पदेश' नाममे प्रकाशित कराया गया था। इस प्रकारकी रचनाएँ हास्यका उदाहरण ही प्रस्तुत करती है। इधर अंग्रेजी 'पैरोडी' (parody) या विडम्बना कान्यकी एक स्वतन्त्र धाराका विकास पाश्चात्य साहित्यके प्रभावसे हुआ है। उर्दू किव अकबरका प्रभाव हिन्दीके अर्वाचीन कान्यपर विशेष पडा है। 'वेढव' वनारसी आदिकी रचनाएँ इसका उदाहरण है।

गधसाहित्यमे भारतेन्दु-कालमे ही हास्य रसकी रचनाएँ होने लगी, पर उनका क्षेत्र अधिकतर नाटक ही रहा। द्विवेदी-कालमे व्यंग्यपूर्ण लेखोकी भारतेन्दु-युगीन परम्परा विशेष विकसित हुई। 'दुवेजीका चिट्टा' आदि इसीके उदाहरण है। उपन्यासीके क्षेत्रमे जी० पी० श्रीवास्तवको विशेष स्थानि प्राप्त हुई, पर 'लतखोरीलाल' 'लम्बी दाही' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यासीमें कृत्रिमताकी मात्रा बहुत अधिक है। अमृतलाल नागर, 'शिक्षाधीं', केशवचन्द्र वर्मा तथा अन्य अनेक नये लेखक शिष्ट हास्यके विकासमे विशेष तत्पर है। ऐसे लेखकोमे स्वर्गीय अन्नपूर्णनन्दका भी नाम विशेष उल्लेखनीय है। मुख्यतया हास्य रसको लेकर 'नोंक-झोक', 'मुसकान' और 'तुग शृंग' आदि कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होनी रही है। पर यह सत्य है कि हिन्दीका अधिकतर हास्य साहित्य अवतक अपरि-पक्क है। —ज० गु०

हिंदवी-दे॰ 'हिन्दी'।

हिंदवी साहित्य-दे० 'दक्खिनी'।

हिंदी (हिंदवी, हिंदुई) - वाच्यार्थकी दृष्टि हिन्दी शब्दका प्रयोग हिन्द या भारतमे सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति, वस्तु तथा हिन्द या भारतमे वोली जानेवाली किसी भी आर्थ, द्रविड तथा अन्य कुलकी भारतीय भाषाओं के लिए हो सकता है। किन्तु इस प्राचीन व्यापक अर्थमें इस शब्दका प्रयोग अब प्रचलित नहीं है।

वर्तमान भारतीय साहित्यमें यह राष्ट्र भारतीय संवकी राजभाषा (संवकी राजभाषा देवनागरी लिपिमे हिन्दी होगी—भारतीय संविधान धारा ३४३: १) तथा राष्ट्र-भाषाके नामका द्योतक है। उत्तरप्रदेश, विहार, दिछी, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाव (पंजावी भाषा-देत्रको छोड़कर), हिमाचलप्रदेशकी प्रधान साहित्यिक भाषा और राजभाषाके अर्थमे मुख्यनया तथा इसी भूमिभागकी बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपोंके अर्थमे यह नाम साधारणतया प्रयुक्त होता है (धीरेन्द्र

वर्मा: हि॰ भा॰ इ॰, पू॰ ६०)।

प्राचीन अर्थसे प्रस्तुत अर्थतक आते-आते इस शब्दने कई शताब्दियोकी लम्बी यात्रा की है। ऋग्वेदमें 'सिन्थ' और 'सप्तसिन्धवः' शब्द नदी और सात नदियोंके अर्धमें कई बार (यद् ऋक्षाउं हसी मुचबो वार्यात् सप्तमिन्धुपु-ऋक, ८: २४: २७) और विशिष्ट प्रदेशके अर्थमे एक बार (ऋक, २:८:९६) मिलता है। सम्भवतः याजकोंके साथ इन दोनो शब्दोने भारतसे ईरानकी यात्रा की । ईरानियोंकी प्राचीनतम धर्मपुस्तक 'आवेस्ता'मे पाये जानेवाले 'हैन्द्', 'हिन्दु' तथा 'हफ्तहिन्दवः' या 'हफ्तहिन्द्वो' (यस्ना ५७, अनुच्हेद २९, आवेस्ता रीडर फर्स्ट सीरीज: ए. वी. विलियम्स जैक्सन) इन्ही दो वैदिक शब्दोंके ईरानी उचारणमात्र है (भारतीय आर्यभाषाकी सुध्वनि ईरानीमें ह उच्चरित होती हैं)। प्राचीन पहलवीमे 'हिन्द्', 'हिन्दुक्' और 'हिन्द्र्ञ' शब्द मिलते है (पासींपोलिस धारयत यस ४८६ ई॰के सारकपर 'हिन्दुश' शब्द अभिलिखित है; दें 'पहलवी अलीं इंसक्रिप्शन्स')। मध्यकालीन ईरानी कालमे विशेषण प्रत्यय 'ईक्' जोडकर हिन्द + ईक् = 'हिन्दीक' फिर 'हिन्दीग्'शब्द बना । कालान्तरमे अन्तिम व्यंजनका लोप हो गया और 'हिन्दी' शब्द हिन्दके विशेषण-के रूपमें प्रचलित हो गया। इस प्रकार 'हिन्दी' शब्दका मूल रूप 'हिन्द' है। कुछ भाषावैज्ञानिकोंने 'हिन्दी'को 'सिन्धी'का रूपान्तर माना है, किन्तु ईरानमे 'हिन्दी' शब्दका रूपनिर्माण उस समय हो गया था, जिस समय भारतमें भारतीय आर्य भाषाका प्राकृत-अपभ्रंश-काल रहा होगा। भारतके प्राचीन साहित्यमें 'सिन्धी' शब्द नही मिलता है। भारतमें देवल (कराची) बन्दरगाहसे आने-वाले अरब यात्री अवस्य सिन्धप्रान्तकी भाषाको 'सिन्धी' कहते हैं, किन्तु उनका समय ८वीं, ९वी, १०वी शती है। अरब यात्री बुद्यारी (३७५ हिजरी) लिखता है, देवलमें सब व्यापारी ही व्यापारी बसते है। उनकी भाषा 'अरब' (अरबी) और 'सिन्धी' है (अरबीमें भारतीय आर्य भाषाकी स ध्वनि स ही उच्चरित होती है)।

ईरानसे ही 'हिन्द' और 'हिन्दी' शब्द अरब, मिस्न, सीरिया तथा अन्य देशोके साहित्यमें प्रविष्ट हुए। अरब-वालोंको हिन्द और हिन्दी शब्द ईरानियोसे ही मिले। अरब यात्री 'हिन्द' और सिन्धको दो अलग प्रदेश मानते हैं, सम्भवतः कश्मीरकी तराईसे सिन्ध नदीके किनारेतकको सिन्ध और गुजरातसे लेकर भीतरी देशको 'हिन्द' कहते हैं (अरब यात्री ममऊद, २०२ हिजरी—लिखता है. सिन्धमें वहाँकी अपनी भाषा है, जो हिन्दकी भाषाओंसे भिन्न है)। इस समय विदेशोंमे 'हिन्दी' शब्द या तो देश-बोधक था या हिन्दसे जानेवाली वस्तुका बोधक । प्राचीन अरबी-साहित्यमें पाये जानेवाले अद हिन्दी (अगर), किस्त हिन्दी (कुट), साज ज हिन्दी (तेजपत्ता), कुरतुम हिन्दी (कुसुम्ब), तमर हिन्दी (इमली, इंगलिश टैमेरिंड) आदि शब्दोंमें 'हिन्दी' शब्द देशबोधक है। मिस्री भाषामे 'हिन्दी'का अर्थ है सभीके आवरणके हेतु 'मलमल', कुरानमें 'सुनद्रसु'का अर्थ है 'सुन्दर सूती वस्त्र' और अरबीमे हिन्दोका एक अर्थ है हिन्दुस्तानी फौलादकी तलवार । यहाँ 'हिन्दी' शब्द वस्तुवीयक है। ईरान आनेवाले प्राचीन भीकोंने 'हिन्द'को 'इण्डया' या 'इण्डिका' कहा है। 'इण्डिया' शब्द उसीका आधुनिक उच्चारण है।

भाषा-प्रसंगमे प्राचीन तथा मध्यकालीन फार्सी तथा अरवी-साहित्यमें 'जनाने हिन्दी' शब्दका प्रयोग सम्भवतः हिन्दकी समस्त भाषाओं संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभंशके लिए मिलता है। नौशेरवाँ बादशाह (६ठी शती)का दरवारी कवि पंचतन्त्रको 'कलीला व दिमना' नामसे अरबीमें अनुवाद करते समय पंचतन्त्रकी भाषाकी 'जबाने हिन्दी'की संज्ञा देता है। अल्बरुनी (१०२५ ई०) हिन्दीकी भाषाओंको 'अल हिन्दयः' कहकर सम्बोधित करता है। (फिरदौसीके शाहनामेमें 'कैद हिन्दी' शब्द एक भारतीय राजाके लिए प्रयुक्त हुआ है)। महमूद गजनवीके वेटेका समकालीन अनुरु माली नसहल्ला विन अब्दुलहमीद भी (१०वी शती उत्तराई) 'कलीला व दिमना'के फारसी अनुवादमें पंचतन्त्रकी भाषाकी 'जबाने 'हिन्दी'की संज्ञा देता है ["सबब इल्लत तरनुमई किताब ब नकल ऑ अज हिन्दस्तान व पारस ऑ बूद' (पृ०१) "ऑ किताब रा 'कलीला व दिमनः' खानन्द'''मरदे हुनरमन्द बायद तलबीद के जबान पारसी व हिन्दी वेदान" (कलीला व दिमना, पृ० १२)]।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि किसी भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषामें 'हिन्दी' शब्द नही मिलता है [जैन महाराष्ट्रीमे लिखित कालकाचार्यकी कथामें केवल 'हिन्दूग्' शब्द मिलता है, यथा—स्रिणा भणियम् रामाणो जेण हिन्दूग् देसम् वच्चामो" (दे० जैन महाराष्ट्री जैकोबी, भाग ३४, पृ० २६२)]। भारतमें रहनेवाले मुसलमान फारसी लेखक हिन्दकी देसी भाषाके लिए 'हिन्दी' या 'हिन्दवी (हिन्दवः + कि्या इक्>हिन्दनी) शब्दका प्रयोग करते है।

१३वी श्रतीमें भारतके फारसी-किवयोंमें औफी (१२२८ ई०) सर्वप्रथम 'हिन्दवी' शब्दका प्रथीग हिन्दकी (सम्भवतः मध्यदेशकी) देशी भाषाके लिए करते हैं। स्वगीय मसऊदकी काव्यकृतियोंका उल्लेख करते हुए औफी लिखते हैं—"यके बताजी व यके व पारसी ब यके बहिन्दवी' (अलालु बाब मुहम्मद औफी, जिल्द दोयम, पृ० २४६)। "सैयद दीवान दर इवारत अरबी, व फारसी व हिन्दवी" (दीवाचा गुर्उल कमाल खुमरू)।

१३-१४वी शतीमें देसी भाषाको 'हिन्दी' या 'हिन्दवीं' या 'हिन्दवीं' या 'हिन्दवीं' नाम देनेमें अनुलहसन या अमीर खुसरू-(१२५३-१३२५ ई०)का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। खुसरू अपने युगके फारसी भाषाके सबसे बड़े भारतीय किन और कलाकार थे। फारसी और अरबीके पूर्ण पण्डित तथा देसी भाषा, अर्थात् 'हिन्दी' या हिन्दवीं'के झाता थे। अपने देसी भाषाके झानके लिए वे स्वयं कहते हैं—"तुर्के हिन्द्वीं गोयम जवावें"। फारसीके साथसाथ कुछ 'चन्द नजम' उन्होंने 'हिन्दी'में भी लिखी हैं, जिसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं—"जुज वै चन्द नजम 'हिन्दी' नीज नजजर देस्तान करदा शुदा अस्त"। खुसरू गयासुद्दीन तुगलकके लड़केके शिक्षक थे, सम्भवतः 'हिन्दीं'

या 'हिन्दवी' सिखानेके लिए उन्होंने एक फरसी-हिन्दी कोश 'खालिकवारी'की रचना की होगी। 'खालिकवारी'में 'हिन्दवी' शब्द २० वार और 'हिन्दी' शब्द ५ वार देसी भाषाके लिए प्रयुक्त हुआ है। खुसरूने अपने समयकी भारतीय भाषाओंकी निम्नलिखिन प्रकारसे विभाजित किया है—''(१) सिन्धी, (२) लाहौरी, (३) कश्मीरी, (४) बंगाली, (५) गौडी, (६) गुजराती, (७) तिलगी, (८) मावरी (कर्नांटकी, कोकडी), (९) ध्रुव समुन्दरी, (१०) अवधी, (११) देहलवी और इसके इतराफको जवान"।

इस विभाजनसे ज्ञात होता है कि उस समयतक किसी विशिष्ट भाषाके लिए हिन्दी शब्दका प्रचलन नही हुआ था। १५वी-१६वी शतों में देसी भाषाके समर्थनमे जायसीका कथन है—"तुकी अरवी हिन्दवी, भाषा जेती आहिं, जामे मारग प्रेमका, सबै सराहै ताहि"।

जायसीकी कविताकी भाषा अवधी है और ख़सरूकी देसी भाषा 'देहलवी और उसके इतराफकी जबान है'। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय दिल्ली-के आस-पाससे लेकर अवधतकके प्रान्तकी देसी भाषाकी हिन्दी या हिन्दवी नाम सामान्य रूपसे दिया जाने लगा था । मुसलमानी परम्पराओंसे सम्बन्धित कवि फारसी और अरबी ऐसी प्राचीन भाषाओंकी तुलनामे देसी भाषाके लिए हिन्दी या हिन्दवी शब्दका प्रयोग व्यापक रूपसे करते है। भारतीय परम्परासे सम्बन्धित कवि संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओंकी तुलनामे देसी भाषाके लिए केवल 'भाषा' या 'भाखा'का ही प्रयोग करते है-"'सस्कृत है कृप जल, भाषा बहता नीर" (कबीर), "का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच" (तुलसी)। 'मासरुल उमराव' अकबरके दरबारी कवि रहीम खानखानाको 'हिन्दी' कवि कहा गया है (रसायल शिबली)। रहीम खानखाना प्रधानतः ब्रजभाषाके कवि है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्यतया 'भाखा', 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' समा-नार्धक से थे। इसी सदीके 'दिक्खनी हिन्दी'के किन भी इसी तथ्यकी ओर संकेत करते है। "यो देखत 'हिन्दी' बोल, प्रत माने है नपतील। त्यो 'भाका' माटी जानी, जर .मानी दिलमे आनो" (शाही मीराजी, १४९६ ई०, ९०२ हिज॰ मृत्यु, शहादुतुल हकीकतसे)। "नज्म लिखी सब भौंज । यों मै हिन्दवी कर आसान" (शेख अशरफ, १५०३ ई०: नौसर मखतूनात, पृ० १८)। 'हिन्दी बोलों किया बखान । जेकर परसादका मुज ग्यान" (शाह बुरहा-नुद्दीन जानम बीजापुरी, १५८२ ई०)। १७वी शतीमे दिक्खिनीके अत्यन्त प्रसिद्ध कवि तथा गद्यलेखक मुला वजही अपने 'सब रस'(१६२५ ई०)की भूमिकामें 'हिन्दी'का प्रयोग इसी अर्थमें करते है-"हिन्दोस्तानमे 'हिन्दी' जवान सों इस लताफत इस छन्दा सों नज्म और नस्न मिलाकर गुलाकर थौं नै बोला''। १६वीं-१७वी शतीमे उत्तरी भारत-में भक्ति-आन्दोलन अपनी चरम सीमापर था। राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवि अवधी और ब्रजमे कविता लिख रहे थे। अवधी नाम तो ख़ुसरूके समयसे ही चल रहा था, . किन्त , बजमाषा नाम इस समयतक भी नहीं मिलता। अकबरके समकालीन अवल फजलने अपने समयकी भार- तीय भाषाओका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) देह-लवी, (२) बंगाली, (३) मुलतानी, (४) मारवाडी, (५) गुजराती, (६) तिलंगी, (७) मरहठी, (८) कर्नाटकी, (९) सिन्धी, (१०) अफगानी (उस समय अफगानिस्तानका बहुत भाग अकबरके राज्यमे थाः सिन्ध, काबुल, कन्धहार-के बीचका प्रान्त), (११) बिलोचिस्तानी, (१२) कश्मीरी। इसी शतीमे सम्भवतः प्रथम बार हमे किसी हिन्द द्वारा 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग मिलता है। मिर्जा राजा जय-सिइके पुत्र रामसिइके वैयक्तिक सहायक श्रीपरकासदास द्वारा अम्बेरके दीवान श्रीकल्यानदासको (सन् १६६६, अक्तूबरमे) एक पत्र भेजा गया । उस पत्रमे जयसिंह और रामिमहके एक पत्रको 'हिन्दवी परवाना' कहा गया है-"सो ऐसी भॉति कागज एक हिन्दवी परवानी श्री महाराज (जयसिष्ट) जीको श्रीमहाराज कॅवार जेके ताई आये बणवायो है" (जयपुर रिकर्ङ्स)। हिन्दू-मुसलमान तथा हिन्दू धर्म और इस्लामवी एकताके बहुत बड़े समर्थक सन्त प्राणनाथ-ने अपनी कुछ 'सम्नन्धे' (हिन्दवीमे लिखी हुई कुरानकी व्याख्या) औरंगजेबके पास भिजवायी थी। उन सम्नन्धीके प्रति औरगजेबकी और अन्य मुसलमानीकी क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका वर्णन करते हुए प्राणनाथके एक शिष्य लिखते है—''कोई कहे 'हिन्दवी' मिने । लिखे ऐ कलाम ॥ मै तो वोहोन प्रकान्या। इनो पीठ दई तरफ हक ॥ कोई कलाम हिन्दवीय का । स्यावतें है दिल सक" (लालदासवीतक, प्रकर्ण ३७, चौ० ४५-४६) । प्राणनाथ और उनके शिष्य लालदासने मिलकर एक पत्र औरंगजेबको अपनी भाषामें ही लिखा, उसे ले जानेके लिए लाल दरवाजेके पास रहने-वाले आशाजीत ठाकरने कहा गया, किन्त औरगजेबके स्वभावको जानकर ठाकुर उत्तर देता है—''सो पाती हिन्द्रवी की । क्यो कर सुने कानं । सरियत हे जोरावर । हे पोहौरा मसलमान" (लालदासवीतक, पृ० ३८ चौ० ३८)। बनारसीदास जैन (१७वी शती) द्वारा प्रयुक्त 'हिन्दगी' शब्द भी इसी हिन्दवीकी ओर संकेत करता है—"मूलदास जिनदासके, भये पुत्र पर्धान । पढ्यो, 'हिन्दगी' फारसी, भाग्यवान-वलवान"। अनुमानतः १७वी शतीतक हिन्दी और हिन्दवी शब्द समानार्थक थे और सामान्यतः मध्यदेश की भाषाके लिए प्रयुक्त होते थे। दक्खिनके बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य-शासनसे सम्बन्धित लोगोमे हिन्दी, हिन्दवीकी उसी शैलीका प्रचार था, जिसका म्लाधार दिली और उसके आस-पासकी भाषा थी। इस प्रकार धीरे-धीरे इन शब्दोका विशिष्ट शैलीके लिए प्रयोग होने लगा। १७वी शतीमे हिन्दुओने भी इन नामोको अपनाया। हिन्दी या हिन्दवी दो लिपियोमे लिखी जाती रही होगी। सम्भव है, हिन्दू अधिकांशतः नागरी लिपि और मुसलमान फारसी लिपिमे लिखते रहे होगे। दिक्खनी भारतमे समस्त साहित्य फारसी लिपिमें लिखा गया, अतएव हिन्दी और हिन्दवी दोनो नामोंका समान रूपसे प्रचार रहा, किन्त उत्तरी भारतम सम्भवतः लिपिभेदके कारण भाषा अत्यधिक रूपसे एक ही होनेके कारण भी हिन्दुओमे हिन्दवी नामका और मुसलमानोंमे हिन्दी नामका प्रचार अधिक हुआ। प्रथम ब्रजभाषा न्याकरणके लेखक मिर्जा खाँ (१६७६ ई०)

अपने अन्य 'तहफतुलहिन्द'में लगभग २००० हिन्दी शब्दों-की फारसीमें व्याख्या करते हैं, उस कोशकी संज्ञा 'लुगात-इ हिन्दी' देते हैं । इसी प्रकार शाह वरकतउरलाहने 'रिसाला अवारीफे हिन्दी'में हिन्दी प्रान्तमें प्रचलित हिन्दी कहावतोंकी व्याख्या फारसी भाषामे की है । इसमें मुसल-मानोंमे प्रचलित हिन्दी कहावतें हैं । प्रायः सभी कहावतें मध्यप्रदेशमे प्रचलित कहावते हैं । इसी समयके आसपास शेख अब्दुल अंसारी(१०७४ हिज०)की 'फिकए हिन्दी', शेख महवूब आलमकी 'मसाएल हिन्दी' नामक पुस्तकोमे हिन्दी शब्द उपर्युक्त अर्थमे ही प्रयुक्त हुआ है ।

१८वी शती भारतीय आर्य भाषाके विकासके लिए अति महत्त्वपूर्ण है। अभीतक तो हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी शब्द सामान्यतया समानार्थक थे, किन्त इस शतीमे इन शब्दोमे नये अथाँका विकास होता है, साथ ही भाषा-द्मोतक कुछ नये शब्द भी प्रचलनमे आते है। भाखा या भाका शब्द-सामान्य रूपसे मध्यदेशी ग्रामीण बोलियोके लिए, विशिष्ट रूपसे ब्रजभाषाके लिए प्रयुक्त होने लगा। दिनखनी साहित्यमे प्रयुक्त हिन्दी या हिन्दवीको जब उत्तरी भारतके मुसलमान कवियोने फारसीके साँचेमे ढालकर अपनाया तो एक नया नाम दिया 'रेखता' (दे०)। इस प्रकार जो शब्द केवल अभी एक विशेष प्रकारके लिए प्रयक्त हो रहा था, वह अब हिन्दी या हिन्दवीकी उस शैलीके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो कान्यमे फारसीका जामा पहनकर आयी थी। शाही दरबारमे धीरे-धीरे इसका प्रच-लन होने लगा और उस शाही शैलीको १८वी शतीके उत्तराईमे 'जवान उर्दू ए मुअल्लम'(दे० 'उर्दू')की संज्ञा दौ गयी। 'हिन्दवी' शब्दका प्रयोग इसी भाषाकी उस शैलीके लिए होने लगा, जो प्रधानतः हिन्दुओं मे प्रचलित थी और जिसमें विदेशीयन कम रहता था (फारसी शब्द आते अवस्य थे, किन्त तन्द्रवरूपमे) और भाखापन मिला रहता था। हिन्दी शब्द कभी-कभी (हिन्द्वीके समान) देसी भाषाके अर्थमे आता है—"अगरच सभी कूड़ा करकट अस्त बहिन्दी दर हिन्दी जबान लटपट अस्त" (मीर जफरजटली, १७३० ई०के आसपास), "लिख देव हिन्दी बोलकर बॉचू मै दिन रात", "लिखी किताब इस वास्ते हिन्दी बोली बूझ", "हिन्दीकी बोलीके अन्दर बूझा राह यकीन"('मसायल हिन्दी': महम्मदशाह मालीन)। हिन्दी शब्द कभी-कभी फारसीकी तुलनामे उस देसी शैलीके लिए प्रयक्त होता है, जिसे जबान रेखता या आगे चलकर फारसीका अधिक रंग चढ़ जानेपर जबान उर्दू ए मुअल्ला कह सकते हैं-- "अवतक तरजुमः फारसी बद्दबारत हिन्दी नसर नही दुआ "अगर तरजुमः इस किताबका बरंगीनी इबारत उस्नै इस्तारात हिन्दी करीबुल फहम आमयः मोमिनैन "कीजिए" (करवल कथा : दहमजलिस फजली औरंगाबादी, १७३२ ई०)। हातिम, नासिख, मीर, सौदा उर्दू कवि इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमे करते हैं। "कभी-कभी जबान रेख्तःके मुकाबलेमें हिन्दी शब्द प्रयुक्त होता है, इसमें जबारेख्तः नही, बल्कि हिन्दी मुतारिफ कि अवाम-को बेतकल्लुफ दरयाफत हो"(शाह अब्दुल कादिर देहलवी: तरजुमा कुरान पाक, १७९२ ई०)।

इसी रातीके अन्तिम चरणमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कर्मचारियोंको देसी भाषा सिखानेके प्रयत्न आरम्भ हए। इस सम्बन्धमें गिलकाइस्टका नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है गिलकाइस्टने हिन्दुस्तानकी प्रतिनिधि भाषाके लिए 'हिन्द-स्तानी' नामका समर्थन किया (हिन्दस्तानी गिलकाइस्ट-का दिया हुआ कोई नया नाम नही था, बल्कि हिन्दी या हिन्दवीके समानार्थक रूपमें १७वीं शतीमें ही प्रचलित था; दे॰ 'हिन्द्स्तानी')। गिलक्राइस्ट हिन्दीसे 'हिन्दवी' भाषाका न्यापक अर्थ लेते है, हिन्दी और हिन्दस्तानीको समानार्थंक समझते है, किन्त्र हिन्दीसे 'हिन्दी', 'हिन्दवी'. 'हिन्दुइ'का भ्रम हो सकता है, अतएव 'हिन्दुस्तानी' नामके प्रचलनका ही समर्थन करते है। वे जिस भाषाको हिन्द-स्तानी नाम देते है, उसके विकासका सिद्धान्त निम्न-लिखित देते हैं —हिन्दवी + अरबी + फारसी = हिन्दुस्तानी। इस प्रकार गिलकाइस्टका हिन्दुस्तानी नाम जवान रेखता, उर्देए मुअल्लाका समानार्थक है। गिलकाइस्टके मतका ही समर्थन डब्ल्यू० बी० बेली अपने मसविदेमें .करते है-"हिन्दुस्तानी जवान कि जिसका जिक्र मेरे दावेमे है, उसको हिन्दी, उर्दू और रेख्तः भी कहते हैं" (मसविद डब्ल्यू० वी० बेली: 'विशाल भारत', १९४०, भाग २५: पृ० २८: २४)। गिलकाइस्टके पूर्व हेलहेड हिन्दवीको शुद्ध हिन्दस्तानी (pure hindustani) और हिन्दस्तानीको मिश्रित हिन्दुस्तानी (mixed hindustani)की संज्ञा देते हैं। गिलक्राइस्ट हिन्दस्तानीकी तीन शैलियाँ मानते हैं—(१) उच्च या दरबारी या फारसी शैली, (२) मध्यम या वास्तविक हिन्दस्तानी, (३) ग्रामीण या हिन्दवी शैली। इनके अनुसार 'हिन्दवी' नाम उस शैलीके लिए प्रयक्त होगा, जो 'फारेस्टरकृत' सरकारी शासनप्रबन्धसे सरल अनु-वादमें, नागरी लिपिमे लिखे हुए लेखसे तथा निम्न श्रेणीके नौकरोंकी बोलीमें हिन्दुओं और हिन्दुस्तानके किसानोंकी बोलियोंगें मिलती है (दि॰ प्राक्तथन, गिलकाइस्ट डिक्शनरी)।

१८०० ई०मे कलकत्तामें फोर्ट विलियम कालेजकी स्थापना होती है, जहाँ प्राच्य भाषाओंकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध होता है। गिलक्राइस्ट 'हिन्दुस्तानी' (गिलक्राइस्टके ही अर्थमे) विभागके अध्यक्ष नियुक्त होते है। १९वी शती-के प्रथम दशाब्दमे कालेजसे सम्बन्धित वातावरणमे हिन्दी, हिन्दवी, हिन्द्स्तानी, उर्दू आदिका प्रयोग गिलकाइस्टके अनुसार ही होता है। किन्त्र गिलक्राइस्टके अतिरिक्त अन्य लोग हिन्दी और उर्द्को विलकुल समानार्थक शब्द नहीं मानते, बल्कि उर्द्को हिन्दी (सामान्य अर्थ)की एक विशिष्ट शैली मानते है, अतएव उर्दू या रेखतेकी जवानके अर्थको ठीक प्रकट करनेके लिए 'हिन्दी' शब्दके साथ कोई-न-कोई विशेषणात्मक वाक्यांश भी जोड़ देते है। १८०१ ई०मे कलीलअली खॉ 'दास्तान अमीर हमजह'की भूमिकामें लिखते हैं-- "जबान हिन्दीके इस किस्सेको जबान उर्दूए मुअल्लाकेसे लिखा" (दास्तान अमीर हमजह)। इसी प्रकार सैयद हैदरबख्श 'तोता कहानी' (१८०४ ई०)की भूमिकामें लिखते हैं-"मुहम्मद कादिरीके तूतीनामे-का जबान हिन्दीमें मुवाफिक मुहावरह उर्द्के तरजुमः

किया"। निहालचन्द लाहौरी (१८०३ ई०) भी 'किस्सा गुलबकावली की भूमिकामें इसी आशयकी ओर संकेत करते है-"फारसीसे हिन्दी रेखतेके मुहावरेमे तालीफ कर""। कालेजके वातावरणसे बाहर 'हिन्दवी' शब्द भी बिलकल यामीण शैलीके लिए प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि शिष्ट लोगो-की उस शैलीके लिए भी होता है, जिसमे 'बाहरकी' भाषा-का प्रभाव भी न हो और भाखापन भी न हो। "कोई कहानी ऐसी कहें, जिसमें हिन्दवी छट और किसी बोलीका पट न मिले, बाहरकी बोली और गँवारी कुछ उसके बीचमें न हो "एक पुराने "घाघ यह "लाये हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न दुस जाये, भले लोग अच्छोंसे अच्छे आपसमें बोलते-चालते है "यही नहीं होनेका" (दास्तान रानी केतकी, १८०३ ई०)। फारसी अरबी ऐसी वाहरी भाषाओकी परम्परासे अधिक सम्बन्धित होनेके कारण यद्यपि इंशा इस प्रकारकी शुद्ध हिन्दी या हिन्दवी लिखनेमें विशेष सफल नहीं हुए, किन्तु उनका उद्देश्यकथन शुद्ध हिन्दी या हिन्दवीके आदर्शकी ओर सम्भव था। आगे चलकर लल्लुलालने 'प्रेमसागर' (१८०३ ई०) तथा सदल मिश्रने 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) तथा 'रामचरित' में इसी हिन्दवी शैलोका प्रयोग किया, जिमे खडीबोलीकी संज्ञा मिली (दे॰ 'खडीवोली')। ये दोनों लेखक भी पूर्ण रूपसे इस आदर्शमे सफल नही हुए, क्योंकि संस्कृत पर-म्परा हिन्दू परम्परासे विशेष प्रभावित होनेके कारण इन दोनोंकी शैलीमें भाखापन (व्रजभाषापनका ग्राम्य प्रभाव) दिखाई पडता है।

फारसीमे लिखित अपने प्रसिद्ध न्याकरण ग्रन्थ 'दर्याय लताफत'(१८०८ ई०)मे इंशा अल्ला खॉ 'हिन्दी' शब्दका प्रयोग लगभग ४० बार करते है । इन प्रयोगोंपर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि इंशा फारसी, अरबी आदि बाहरी भाषाओंके सन्दर्भमे हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः सामान्य अर्थमें 'मध्यदेशकी भाषा'के लिए करते हैं। यथा "जुमला हिन्दीमें बात और अरवीमे कलाम है"(दरियाय लताफत, पृ० ३२१: उर्दू अनुवाद)। "जनाब (सआदत यारखाँ रंगीन) फारसी, अरबी और हिन्दी तीन जबानोमें शैर कहते है" (वही, पृ० ७०), "और चन्द नव-कास जिन्हें हिन्दीमें मॉह कहते हैं" (वही, पृ० १२२)। किन्तु इसी सन्दर्भमे इस शब्दका प्रयोग विशिष्ट अर्थमे उस भाषाके लिए करते है, जो दिल्ली तथा उसके आस-पासकी भाषासे विकसित हुई है और जिसकी दरवारी शैलीको आदर्श उर्दू मानते है, यथा-"पस हिन्दी जनानके हरफ अठासी हुए" (वही, पृ० २१), "हिन्दीमे मसदरकी अला-यत 'ना' है" (वही, पृ० १२७), "सर गुजिस्तः फारसी और रसभानीमें हिन्दी हुआ" (वही, पृ० ३५३)। इस प्रकार विदेशी भाषाओं (फारसी, अरबी)के सन्दर्भमे हिन्दी और उर्दू शब्द समानार्थक-से है, किन्तु उर्दूके सन्दर्भमे हिन्दी शब्द सामान्यतः मध्य देशी (या गिलकाइस्टके शब्दोमें हिन्दुस्तानी ग्राम्य शैली)का चोतक प्रतीत होता है। " 'भागा' और 'भोगा' तो उर्दू है, लेकिन 'भाजा'और'भीजा' उर्दू नहीं अगरच यह हिन्दीमें सही है" (वही, पृ० २२०) । हिन्दीका यह अर्थ हिन्दवी, हिन्दई (गिरुकाइस्टके अर्थमे)के

बहुत निकट है। सम्भवतः यही कारण है कि गिलकाइस्टने बहुप्रचिलत हिन्दी शब्दको छोड़कर हिन्दीकी बहुप्रचलित प्रतिनिधि भाषाको हिन्दुस्तानी नाम दिया, जो उनके लिए उर्द्का समानार्थक था। वास्तवमे उस समय हिन्दी शब्द सामान्य रूपसे उर्द् या हिन्दुस्तानी और हिन्दी या हिन्दुई, सवके लिए प्रयुक्त होता था। १८११ ई०मे लल्लुलाल द्वारा लिखित 'लतायफै हिन्दी' जिममे कि फारसी और नागरी, दोनो लिपियोमे हिन्दुस्तानी तथा हिन्दवी भाषाकी कहानियो संग्रहीत है, नाम इसी आश्चयकी और संकेत करता है।

फोर्ट विलियम कालेजमें गिलकाइस्टके समयतक हिन्द-स्तानी (उर्द) और फारसी लिपिको विशेष प्रश्रय मिला, क्योंकि गिलकाइस्टके अनुसार वही बहुप्रचलित सुसंस्कृत भाषा थी, किन्तु कम्पनीके कर्मचारियोंका सम्बन्ध जैसे-जैसे हिन्दस्तानियोसे बढता गया, उन्हे यह भान होता गया कि हिन्दुस्तानी (उर्दू) नहीं, बल्कि हिन्दी (हिन्दवी) ही बहु-प्रचलित भाषा थी। १८१२ ई०मे कैप्टेन टेलरने कालेजका वार्षिक विवरण प्रस्तुत करते समय हिन्दी शब्दका प्रयोग आधनिक अर्थमे सम्भवतः प्रथम बार किया-"मै केवल हिन्दुस्तानी या रेखताका जिकर कर रहा हूं, जो फारसी लिपिमे लिखी जाती है "मै हिन्दीका जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपी है "जिसमे अरबी-फारसी शब्दोका प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमणसे पहले जो भारतवर्षके समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्तकी भाषा थी" (इम्पी-रियल रिकर्डस् होम० मि०: जिल्द ४, पृ० २७६-७७)। इसके पश्चात् ११ अक्तूबर, १८२४ ई०मे विलियम प्राइसने अपनेको सर्वप्रथम हिन्दी प्रोफेसर लिखा और ब्रजभाषा, खड़ीबोली, हिन्दवी, हिन्दई, ठेठ हिन्दी आदि नामोंके बदले हिन्दी नामको चुना। उनका कथन है- "अत्यधिक प्रच-लित होनेके कारण हिन्दीका रूप ही अधिक अपेक्षित है... हिन्दीके लगभग सभी शब्द संस्कृतके हैं और हिन्दुस्तानीके अधिकांश शब्द अरबी और फारसीके"। प्राइस हिन्दी और हिन्दु स्तानीका उदाहरण इस प्रकार देते है - हिन्दुस्तानी-"एक बार किसी शहरमें यूँ शुहरत हुई कि उसके नजदीक-के पहाडको जननेका दर्व उठा"। हिन्दी—"एक समय किसी नगरमें चर्चा फैली कि उसके पड़ोसके पहाडको प्रसूतकी पीर हुई" (वही, पृ० ५०३-५०६) । १८२५ ई०के वार्षिक अधिवेशनमे भाषण करते मनय लार्ड ऐमहर्स्टने कहा-"हिन्दी शब्दके सामान्य अर्थके अन्तर्गत वे बोलियाँ आती है, जो थोडेने स्थानीय भेदो और परिवर्तनोक साथ बनारस और बिहार तथा समर्पित तथा विजित प्रान्तोके अधिकांश हिन्दू जनसमूह द्वारा व्यवहृत होती है"... "अर आपको छोटे-से-छोटे व्यक्तिके साथ न्याय करना पडता है" "फारसी और उर्दू उनके लिए उतनी ही विदेशी है, जितनी अंग्रेजी" (एशियाटिक जर्नल, १८२६ ई०)। आज इसी आधुनिक अर्थमे हिन्दी भारतीय संघकी राजभाषा है।

उपर्युक्तके विवरणके आधारपर कहा जा सकता है कि हिन्दी नामके रूपका विकास भारतीय सीमाके वाहर ही ईरानियो द्वारा ८वी शतीतक हो गया था। तबसे लेकर आजतक इस शब्दसे ३ अर्थ विकासत हुए—(१) व्यापक अर्थ, (२) विशिष्ट अर्थ। जबतक

मुमलमान भारतमें नहीं बसे थे, तबनक हिन्दी शब्दका प्रयोग व्यापक अर्थमे ही करते रहे। प्राचीन भारतीय भाषाओं तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं से प्रत्यक्ष रूपसे परिचित होनेपर १२वी शतीके पश्चात मध्यदेश (पूर्वी पंजाव, उत्तरप्रदेश, विहारका कुछ भाग, राजस्थान)की बोलीके अर्थम हिन्दी शब्दका प्रयोग होता रहा। सम्भवतः यही अर्थ लेते हुए श्रियर्सनने हिन्दीकी ८ मुख्य बोलियाँ (dialect) पश्चिमी हिन्दी-खडीबोली, बॉगरू, ब्रज, कत्तौजी, बुन्देली, पूर्वी हिन्दी-अवधी, बघेली, छत्तीसगढी मानी है। इयामसुन्दर दास तथा धीरेन्द्र वर्मा राजस्थानी (मेवाडी, जयपुरी, मेवाती, हाडीती) तथा पहाडी (कुमाउँनी, गढवाली, नेपाली) और विहारो (मैथिली, मगही, भोजपुरी) तीन उपभाषाएँ और मानते है। साहित्यिक सन्दर्भमे आज भी हिन्दीका यही सामान्य अर्थ प्रचलित है। यही कारण है कि हिन्दी साहित्यके इतिहासके अन्तर्गत मध्यदेशसे सम्बन्धित उपर्युक्त समस्त बोलियोका साहित्य आता है। मसऊद, औफी और ख़ुसरूसे लेकर आजतक साहित्यिक सन्दर्भमे हिन्दीका प्रयोग इसी सामान्य अर्थमें हुआ है। किन्तु मुसलमानोंने मध्यदेशकी समस्त बोलियोंको अपने प्रयोगके लिए नहीं अपनाया था, बल्कि दिल्ली और मेरठकी बोली (आधुनिक खडीबोली, बॉगरू) ही उनकी बोलचालकी भाषा बनी थी। खुसरूकी 'देहलवी', दक्खिनी कवियोंकी 'देहलवी', 'गूजरी', 'दिक्खनी', 'हिन्दी', 'हिन्दवी'से यही विशिष्ट अर्थ अभिषेत है। हिन्दीका यह रूप ही मुसलमानो तथा सन्तों द्वारा प्रयुक्त होवार अन्तःप्रान्तीय वना । औरंग-जेब-कालीन स्वामी प्राणनाथके 'कुलजमस्वरूप'मे प्रयुक्त शब्द 'बोली हिन्दुस्तानी' तथा २०० वर्ष पुराने खडीबोलीके पत्रोंमें प्रयुक्त 'हैन्दुस्तानीय भाषा' और 'लालदासवीतक'में प्रयुक्त 'हिन्दवी' शब्दका विशिष्ट अर्थ दिली और मेरठकी बोली ही है। १९वीं शतीमे गिलकाइस्ट द्वारा प्रयुक्ति हिन्दुस्तानी राज्दका भी विशिष्ट अर्थ यही है। इससे ही दो विशिष्ट साहित्यिक शैलियाँ विकसित हुई, उर्दू और हिन्दी (आधुनिक अर्थमे)।

हिन्दीका यही विशिष्ट रूप भारतीय संघकी राजभाषा तथा राष्ट्रभाषाके लिए प्रयुक्त होता है तथा व्याकरण, भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अन्थोंमे हिन्दी शब्दका प्रयोग अधिकांशतः विशिष्ट अर्थमे ही होता है।

हिन्दी भाषाका मूलाधार (सन्स्ट्रैंटम या नेसिक डाइलेक्ट) अथना मूलोद्गम खडीनोली है। किन्तु मात्र खडीनोलीपर ही हिन्दीका भनन निर्मित नहीं हुआ है। राजस्थानी, पूर्वी पंजानी और सनसे अधिक जजका सहयोग मी
बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यह प्रभान शब्द-सहयोगतक ही
सीमित नहीं रहा, किन्तु भाषाके उच्चारण, न्याकरण और
नाक्य-संघटनके क्षेत्रमें भी प्रवेश कर गया है। मध्यकालीन
हिन्दी अथना हिन्दनीमें यह प्रभान स्पष्ट रूपसे दिखाई
पड़ता है। यहीं कारण है कि शैरानी पंजानीको और स्वगींय आजाद (तजिकरह सर्वे आजाद) तथा गिलक्राइस्ट
जजभाषाको हिन्दी भाषाका मूलाधार मान लेते है। कोर्ट
निलियम कालेजके हिन्दी प्रोफेसर प्राइस महोदय ११
अक्तुबर, १८२४ ई० के अपने भाषणमें गिलक्राइस्टकी

इसी भूलकी ओर संकेत करते हुए कहते हैं—''खडीबोली ही अवनक हिन्दुस्तानी और उसके व्याकरणकां आधार है, न कि ब्रजभाषा''।

भारतीय संघकी राजभाषा और राष्ट्रभाषाके रूपमे समस्त देश ही इसका क्षेत्र है; संघके अन्तर्गत अनेक राज्योंकी राजभाषा और साहित्यिक भाषाके रूपमें हिन्दी भाषा-प्रदेश-की सीमाएँ इस प्रकार होंगी—पश्चिममे पश्चिमी पाकिस्तान नगर जैसलमेर), उत्तर-पश्चिममें (सीमात्रान्त, प्रसिद्ध अम्बाला, उत्तरमे शिमलासे लेकर नैपालके पूर्वी छोर-तकके पहाडी प्रदेशका दक्षिणी भाग, पूर्वमें भागलपुर, दक्षिण-पूर्वमे रायपुर तथा दक्षिणमें खण्डवा । इस क्षेत्रकी जनसंख्या १६ करोड होगी (दे०—धीरेन्द्र वर्मा: हि०भा० इ०, भूमिका, पृ०६०)। हिन्दीकी उपभाषाओ (राजस्थानी, बिहारी और पहाडी)के क्षेत्रोंको अलग कर, भाषाशास्त्री सुक्ष्म दृष्टिकोणसे हिन्दीकी सीमाएँ इम प्रकार मानते है— "उत्तरमें तराई, पश्चिममे पंजाब और हिसारके जिले, पूर्वमें फैजाबाद, प्रतापगढ, इलाहाबादके जिले और दक्षिणमें रायपुर-खण्डवा"।

भारतीय संघकी राजभाषाके रूपमे हिन्दी लगभग ४० करोड जनसमुदायकी माषा है। जनसंख्याकी दृष्टिसे और समस्त भूमण्डलमें उसका तृतीय स्थान है (प्रथम दंगलिश, द्वितीय चीनी)।

हिन्दीमे भारतीय आर्थ भाषासे विकसित सुनिश्चित ४६ ध्वनियाँ है। इनमें ११ स्वर और ३३ व्यंजन है। इनमें अतिरिक्त अनुस्वार तथा विसर्ग, दो व्यंजन और है (हिन्दी वर्णमालामें तीन और संयुक्त व्यंजन क्ष (क्+प), त्र (त्+र), इ (ज्+ज) मिला दिये जाते हैं)। ब्रज आदि बोलियोंमें प्रयुक्त न्हः म्ह ध्वनियाँ मिलती है। विदेशी भाषाओं सुदीर्घ सम्बन्धके फलस्वरूप हिन्दीने ६ फारसी तथा र अरवी ध्वनियाँ भी अपना रखी है। अंग्रेजीके शब्दोंके शुद्ध उच्चारणके लिए एक नयी ध्वनि ऑ (जैसे— डॉक्टर) भी उच्चरित होती है। शब्दोंके उच्चारणकी प्रवृत्ति विशेष रूपसे लक्षित होती है।

व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दीको का, में, पर, से, इस, उस, जिस, किस तथा ना, ता, आ, गा भाषा कहकर पुकार सकते है। रूपान्तरकी दृष्टिसे हिन्दी संज्ञाके ४ रूप बनते है (२ मूल रूप 🕂 २ विकृत रूप) । इनमेसे भी अनेक संज्ञाएँ ऐसी है, जिनके चारों रूप भिन्न-भिन्न होते है। इस दृष्टिसे हिन्दीमें संज्ञा रूपान्तरके ४ नमूने मिलते है। हिन्दीमें दो वचन (एकवचन, बहुवचन) और दो लिंग (स्नोलिंग, पुलिंग) होते है। हिन्दीमे स्वाभाविक स्त्रीलिंग और पुलिंग-के अतिरिक्त न्याकरण सम्बन्धी लिंग-भेद भी होता है। हिन्दी आकारान्त विशेषणों (अच्छा-अच्छी) तथा क्रियाओं-में भी लिंग होता है (लड़का आता है—पुं॰, लडकी आती है—स्त्री०) । हिन्दी सर्वनामोंमे लिंग-भेदके कारण परिवर्तन होता है। संस्कृतसे ८ कारकरूपोके स्थानमें हिन्दीमें दो ही रूप (मूल रूप, विकृत रूप) मिलते है। विकृत रूपमें कारक-चिह्न लगाकर कारकोके ८ अर्थ प्रकट किये जाते हैं। शून्य चिह्न कर्ता कारकके अर्थमे तथा ने प्रत्यय कर्ताका अर्थ प्रकट करनेके लिए भूतकालिक कृदन्त कालोंके साथ लगता

है। 'ने' पश्चिमी हिन्दी, विशेष रूपने साहित्यिक हिन्दी-की विशेषता है। इसी प्रकार 'की' चिह्न कर्म कारक, की, के लिए सम्प्रदान कारक, 'से' उपकरण और अपादान कारक, की, के (वि० रूप०में, खीलिंगकी) सम्बन्ध कारक तथा 'में' और 'पर' अधिकरण कारक के अर्थ प्रकट करते हैं। कहीं-कहीं संयुक्त कारक चिह्न (दोहरे चिह्न) भी आते है (यथा—उनमेंसे)। हिन्दीम इन चिह्नोके अनिरिक्त कुछ सम्बन्धस्चक अन्यय कारकीके ज्येने प्रयुक्त होते है। विशेष कारक परसर्ग सम्बन्ध कारकीय रूपीमे लगते हैं, यथा—प्रित, तई (कर्म), द्वारा, जिर्थे, कारण (करण), हेतु, निमित्त, वान्ते (सम्प्रदान), अपेक्षा, सामने, आगे, साथ (अपादान), मध्य, बीच, अन्दर, ऊपर, पास, नीचे (अधिकरण)।

हिन्दी सर्वनामोंके मुख्य-मुख्य रूप निम्नलिखित है।
मूल रूप एकवचन तथा बहुवचनमे क्रमशः में, हम (हम
लोग), तू, तुम, (आप, आदरवाचक), वह, वे (अन्य पुरुप,
दूरवर्ती निश्चयवाचक तथा नित्यसम्बन्धी), यह, ये, जो
(एकवचन और बहुवचन, सम्बन्धवाचक), कौन (एकवचन,
बहुवचन), कोई (अनिश्चय, एकवचन, बहुवचन), आप
(आदरार्थ मध्यम पुरुषमे और निजवाचकके अन्तमे)। इनके
विकृत रूप क्रमशः इस प्रकार होंगे—मुझ, हम, तू, तुम,
लस, उन, इस, इन, जिस, जिन, किस, किन, किसी, विन्ही
तथा आप। इनके अनिरिक्त इतना, उतना, जितना, कितना
परिमाणवाचक, ऐसा, वैसा, जैसा कैसा गुणवाचक सार्वनामिक विशेषणके मुख्य रूप है। ये समस्त सर्वनामरूप
अधिकांश्चतः प्राकृत और अपभ्रश रूपोंमे विकसित हुए है।

संस्कतकी क्रियारचना भाषाकी जटिल संयोगात्मक अवस्थाको प्रकट करती है। संस्कृतमे एक धात्मे ६ (प्रयोग) ×१० (काल) ×३ (प्रसंग) ×३ (लिंग) = ५४० भिन्न रूप बनते है। हिन्दी क्रिया रचना भाषाके सरलतम वियोगात्मक रूपको प्रकट करती है। कियाके साधारण रूपके अन्तमें 'ना' होता है, यथा खाना, देखना, चलना। इसीको हटा देनेसे हिन्दी धात निकल आती है। हिन्दीमें कुल लगभग ५०० धातुएँ है। ये धातुएँ कुछ अक्रमेक, कुछ सक्रमेक होती है। धातमे आ-वा लगकर हिन्दी प्रेरणार्थ धात्र बनती है। हिन्दी क्रियामें ३ काल (वर्तमान, भूत, भविष्य), ३ अर्थ (निश्चय, आज्ञा, सम्भावना), ३ अवस्थाएँ (सामान्य, पूर्ण अपूर्ण), तीन वाच्य (कतु, कर्म, भाव) और तीन प्रयोग (कर्तरि, कर्मणि, भावे) मिलते है। काल-रचनामे कदन्त (भूतकालिक, वर्तमानकालिक, पूर्वकालिक, क्रिया संज्ञा) तथा सहायक क्रिया (होना)से विशेष सहायता ही जाती है और हिन्दी क्रिया-रचनामे भतकालसे सम्बन्धित एकवचन रूप 'आ'मे तथा वर्तमान कालते सम्वन्धित रूप 'ता'में तथा भविष्यकालसे सम्बन्धित रूप 'गा'में अन्त होता है। हि॰दीमें ६ मूल काल या साधारण काल (भूत, भविष्य, निश्चयार्थ; चला, चलेगा; वर्तमान, भूत, सम्भावनार्थ; चले, चलता; वर्तमान, भविष्य, आज्ञार्थ; चले, चलना) तथा १० संयुक्त काल (५ पूर्ण काल भूतकालिक कृदन्त 🕂 सहायक क्रिया; वर्तमान, भूत, भविष्य, निश्चय तथा वर्तमान भूत सम्भाव-नार्थ, ५ अपूर्ण वर्तमानकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया, वर्तमान, भूत, भविष्य, निश्चयार्थ तथा वर्तमान, भूत, सम्मावनाथ) है। क्रियाओं के स्ट्रम-से-सुट्टम अर्थ प्रकट करने के लिए दो या अधिक प्रधान या सहकारी क्रियाओं के संयोग से हिन्दीकी संयुक्त क्रियाएँ बनती है, जो आ० मा० आ० की प्रमुख विरोधना है। आठ मिन्न-मिन्न रूपोमे क्रियाएँ बनती है (क्रियार्थक संद्या, वर्तमानकालिक छूदन्त, भूतकालिक छूदन्त, पूर्ण क्रियाद्योतक, अपूर्ण क्रियाद्योतक, संज्ञाविरोषण तथा पुनरुक्त क्रिया)। प्रधान क्रियास्पोके साथ सहकारी क्रियाएँ (होना, आना, उठना, करना, चाहना, चुकना, जाना, डालना, देना, रहना, लगना, लेना, पाना, सकना, बनना, बैठना, पडना) लगती है।

हिन्दी अन्ययोके ४ समूह (क्रियाविशेषण, समुच्चय-बोधक, सम्बन्धसूचक, विस्मयादिबोधक) मिलते है।

हिन्दीमे वाक्यमे समान्यतः कर्ता, कर्म, क्रियाका शब्द-क्रम रहता है। क्रिया सामान्यतः लिंग-वचनमे कर्तासे और कभी-कभी वर्ममे अनुशासित होती है। विशेष्यके अनुसार विशेषणका लिंग होता है। हिन्दीमे २ प्रकारके वाक्य (साधारण, मिश्रित, संयुक्त) होते है। विरामादिका विशेष विकास अधिकांशतः आधुनिक युगमे ही हुआ है।

हिन्दी विशेष रूपसे देवनागरी लिपिमे लिखी जाती है, जो बाईं। लिपिका विकसित रूप है। लिपिकी प्रधानताकों कारण ही हिन्दीको कभी-कभी नागरी हिन्दी भी कहते है। हिन्दी साहित्यके इतिहासके लिए दे० 'आदिकाल', 'भित्तकाल', 'ज्ञानाश्रयी शाखा', 'प्रेमाश्रयी शाखा', 'प्रोमाश्रयी शाखा', 'प्रोमाश्रयी शाखा', 'र्योग-युग', 'द्विवेदी-युग', 'ज्ञायावादी-युग', 'प्रगति-युग' 'प्रयोग-युग'।—मा०व०जा० हिंदी प्रदेश—गंगाकी घाटीमे भागलपुरतकके भूमिमाग-को साधारणतया हिन्दी प्रदेश कहा जा सकता है। यह वह भाग है, जहाँकी प्रादेशिक भाषा अर्थात् शासन, साहित्य और शिक्षाकी प्रधान भाषा वर्तमाग समयमे खडी-वोली हिन्दी है।

भारतीय विधानके अनुसार निम्नलिखित राज्य हिन्दी प्रदेशके अन्तर्गत आते है—विहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा दिल्ली । इनके अतिरिक्त पंजाब तथा हिमाचलप्रदेशके कल भाग भी हिन्दीभाषी है।

मुसलिम शासनकालमे हिन्दी प्रदेश हिन्दुस्तान कहलाना था तथा उससे पूर्व यही प्रदेश मध्यदेश नामसे प्रसिद्ध था।

भारतवर्षमे प्राचीन आर्य संस्कृतिके प्रधान केन्द्र इसी प्रदेशमे थे। ऐतिहासिक दृष्टिंगे अधिकांश वैदिक तथा संस्कृत जान और राष्ट्रिस्य, 'रामायण', 'माहाभारत', बुद्ध, महावीरस्वामी, अशोक, गुप्तसाम्राज्य, मुगलसाम्राज्य, तुलसीदास, कत्रीर, गंगा-यमुना, उज्जैन, चितौड, मशुरा, काशी, गया, दिल्ली आदि हिन्दी-प्रदेशके ही अन्तर्गत पड़ते है।

हिंदी राम-साहित्य - हिन्दी साहित्यके प्राहुभीवके पूर्व हो राम-कथा शताब्दियोसे भारतीय साहित्यमात्रमे इतनी व्याप्त होती रही थी कि समस्त भारतीय संस्कृति राममय हो चली थी, अतः हिन्दी साहित्यमे राम-कथाकी इस लोक-प्रियताके कारण सन्त कवियोने भी रामनामका सहारा हेकर अपनी निर्मुण साथनाका प्रचार किया है। सन्त- कान्यपर राम-साहित्यका यह प्रभाव नामके प्रयोगतक मीमित न रह सका, रीतिकालमें दिरया साहवने ('ज्ञान-रत्न'में) तथा इसके वाद तुल्सी साहवने ('घट-रामायण'में) रामायणीय कथाको निर्शुणवादी दृष्टिकोणसे प्रम्तुत करनेका प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्यके आदिकालमे रामानन्दने उत्तर-भारतमें जनसाधारणकी भागामे राममित्तका प्रचार किया था (दे॰ राममित्तः)। इसके फलस्वरूप हिन्दी राम-साहित्य, आधुनिक कालको छोडकर, प्रायः भित्त-भावनासे ओत-प्रोत है। इस साहित्यकी चार प्रमुखताएँ प्रनीत होती है— तुल्सीदासका एकाधिपत्य, लोकसंग्रही दास्य भित्तका प्राथान्य, कृष्णकान्यका प्रभाव, विविध रचनारौलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओका प्रयोग।

(अ) हिन्दी राम-साहित्यमे गोस्वामी तुलसीदासका एकाधिपत्य हिन्दी राम-साहित्यकी बडी विशेषता है। प्रारम्भसे लेकर आधुनिकतम कालतक असंख्य रामकथा-विषयक रचनाओकी सृष्टि होती रही, लेकिन ये समस्त रचनाएँ राम साहित्यके आकाशमे तारागणमात्र है, जो 'रामचरितमानस'के प्रखर प्रकाशमें निष्प्रभ हो जाते है, यह एक ऐसा 'नव विधु विमल' सिद्ध हुआ है ''जो उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जगनभ दिन-दिन दूना"। (आ) तुलसीदासने मर्यादापुरुषोत्तम रामकी गुण-गाथा गाते हुए रामानन्द द्वारा प्रचारित लोकसंग्रही सगुण दास्य भक्तिका जो रूप प्रतिपादित किया है, उसीको जन साधारणने स्वीकार कर लिया है। वही रूप परम्परागत आदर्शवादी रामकाव्यके अधिक अनुकूल भी है और उसीको रामभक्तिका वास्तविक स्वरूप मानना चाहिये। (इ) तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित दास्य भक्ति इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि बादकी रामकी मधुरोपासना प्रायः विकारमात्र मानी जाती है। वास्तवमे रामकी माधुर्यभक्ति तुलसीके पूर्व ही विद्यमान थी और कृष्णकाव्यका प्रभाव प्रारम्भसे ही रामकान्य तथा रामभक्ति, दोनोंपर पडा है। यद्यपि तुलसी-की मक्ति दास्य ही है, किन्तु उनके काव्यपर भी कृष्ण-साहित्यकी छाप स्पष्ट है, 'गीतावली'मे राम हिंडोला-विहार करते तथा होली खेलते हुए सामने आते है। भक्तिकालमे ही अग्रदासके 'अष्टयाम'मे रामकी रासकी डाका वर्णन है और उनके शिष्य नाभादासकी भी दो 'अष्टयाम' नामक रचनाओंका उहेख मिलता है। कृष्णभक्तिका वह प्रभाव रीतिकालकी श्वंगारिकता तथा रसिक अथवा सखी-सम्प्रदाय-के विकाससे बहुत बढ गया है। उस कालकी बहुत-सी रचनाओमें राम और सीता साधारण नायक-नायिका वन-कर शृंगारपूर्ण चेष्टाएँ करते दिखाई देते है। (ई) हिन्दी राम-साहित्यकी अन्तिम विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण काव्यकी अपेक्षा रचनाशैलियों, छन्दों और साहित्यिक भाषाओंकी अधिक विविधता पायी जाती है। प्रबन्धकाव्यका प्राधान्य रहते हुए भी हिन्दी राम-साहित्यका मुक्तक काव्य नगण्य नहीं है। रामभक्त कवियोने सभी प्रचलित छन्दों मे मध्यकालकी प्रमुख भाषाओंमे रामचरितका वर्णन किया है। हिन्दीके प्रारम्भिक नाट्यसाहित्यमे भी रामकथाका स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा खडीबोली गद्यके निर्माणमें राम- साहित्यपरक रचनाओका विशेष योग रहा है।

गोस्वामी तुल्सीदासके पूर्वका हिन्दी राम-साहित्य अधिक विरत्न नहीं है। रामानन्दके कुल भित्तिविषयक पद सुरित्त है तथा स्रदासने 'स्रसागर'मे राभकथाके मार्मिक स्थलोंपर लगभग १५० पदोकी रचना की है (दे०—दशम स्कन्ध, पूर्वाध)। 'पृथ्धीराजरासो'के द्वितीय समयमे दशावतारकथाके अन्तर्गतं रामकथा-विषयक लगभग १०० छन्द मिलते है, जिनमे लंकायुङ प्रधान वर्ण्य है। ईश्वरदासकी रचनामे 'रामचरितमानस'का पूर्वाभास मिलता है। भरत-मिलापमें अयोध्याकाण्डकी कथावस्तुका अवधी दोहा-चौपा-इयोमें वर्णन है और इसमें भरतको आदर्श दास्यभक्तके रूपमे चित्रित किया है। ईश्वरदासकृत 'रामजन्म' तथा 'अंगद पैज'भी सुरक्षित है। ये सब एक ही विस्तृत ग्रन्थके अंग प्रतीत होते है।

तुलसीदासके समकालीन कवियोंमेसे केवल अग्रदास तथा उनके शिष्य नाभादासने रामभक्ति-साहित्यकी सृष्टि की है। स्वामी अग्रदासकी 'पदावली' तथा 'ध्यानमंजरी'में और नाभादासकृत 'रामचरितके पद'में मंजी हुई भाषाके भक्तिपूर्ण पद मिलते है, दोनोने 'अष्टयाम' नामक अन्थोकी रचना भी की है। तुलसीका समकालीन अन्य राम-साहित्य निम्नलिखित है-मुनिलालका 'रामप्रकाश' (सन् १५८५ ई०); रामकथाके साथ-साथ रीतिशास्त्रकी प्रतिपादक केशव-दासकृत 'रामचिन्द्रका' (सन् १६०१ ई०), प्रबन्ध-काव्यकी दृष्टिसे इसमे चरित्र-चित्रण तथा कथा-निर्वाहका अभाव है, कई संवाद बड़े अच्छे है; सोढी मेहरबानकी 'आदिरामायण' (१७वी श० ई०का प्रारम्भ) अधिकतर गद्यात्मक, भाषा हिन्दी मिश्रित पंजाबी; प्राणचन्द चौहानका 'रामायण महानाटक' (सन् १६१० ई०: वाल्मीकि-रामायण या हनुमन्नाटकके आधारपर कथोपकथनकी शैलीमें रामकथा); हृदयरामका 'हृनुमन्नाटक' (सन् १६२३ ई०, अकोका विभाजन 'हनुमन्नाटक'के अनुसार है, किन्तु यह अधिकांश-मे प्रांजल ब्रजपद्यकी मौलिक रचना है), राजस्थानमे रामानन्दका 'लक्ष्मणायन' तथा माधौदासका 'रामरासो'। तुलसीके बाद भक्तिकालकी शेष सामग्री इस प्रकार है, रामल पाण्डेयका 'हनुमच्चरित्र' (सन् १६३९ ई०), यह सम्भवतः ब्रह्मराय मलकृत हणुवन्त मोष्यगामी कथा है, (जिसमे जैनी रामकथाके अनुसार हनुमान्का चरित्र वर्णित है); लालदासका 'अवधविलास' (सन् १६४३ ई०); सेना-एतिकृत 'कवित्तरलाकर' (चौथी रामायणवर्णन तथा पॉचवी तरंगमें), राजस्थानमें नरहरिदासका 'अवतारचरित', जिसमें ३२*०* पृष्ठ रामावतारसे सम्बन्ध रखते है।

गोस्वामी तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३ ई०)ने चार प्रवन्यकाव्य लिखे है—'रामचिरतमानस' तथा तीन खण्ड-काव्य अर्थात् 'रामळला नह्छू', 'जानकी मंगळ', 'पावती-मंगळ'। चारों अवधीमें है और 'पावतीमंगळ'को छोड़कर रोष रामचिरतसे सम्बन्ध रखते है। उनके मुक्तक काव्य-प्रन्थोमे तीन अवधीमें अर्थात् 'रामाज्ञाप्रदन', 'दोहावळी-सतसई' तथा 'बरवै रामायण'; रोष मुक्तक-संग्रह बजभाषा-मे है, अर्थात् 'गीतावळी', 'विनयपत्रिका', 'कृष्णगीतावळी' तथा 'कवितावळी', 'बाहुक'। 'वैराग्यसन्दीपिनी'की प्रामा-

णिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है। 'दोहावली'में रामगुणगानके अतिरिक्त प्रधानतया नीतिवर्णन है; 'विनयपित्रका' तथा 'किवतार्वली' उत्तरकाण्डमें रामभक्तिके विभिन्न भावोकी अभिन्यक्ति है; 'कुष्णगीतावली'में कृष्णचरितकी स्फुट लीलाओंका वर्णन है; 'बाहुक'में किव अपनी बाहु-पीडाके लिए हनुमान्से निवेदन करते हुए उनकी गुणगाथा भी प्रस्तुत करते है। शेष रचनाओंका विषय रामकथा है।

'रामचरितमानस'की अद्वितीय लोकप्रियता तथा चिर-स्थायी प्रभावको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-भारतके सांस्कृतिक तथा धार्मिक इतिहासमें विक्रम संवत्-की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना 'रामचरितमानस'की रचना ही है। इतना तो निश्चित है कि किसी भी देशमे ऐसा कोई भी काव्ययन्थ नहीं मिलता, जो 'रामचरितमानस'की भॉति शताब्दियोंतक जनताका जीवन अनुप्राणित करनेमे समर्थ हुआ हो। इस सामर्थ्यका रहस्य यह है कि तुलसी-दासकी प्रतिभाने 'रामचरितमानस'में काव्य-सौन्दर्य, भक्ति तथा लोकसंग्रहका अपूर्व समन्वय किया है। मानव-हृदय-को मोहित करनेकी शक्ति रामकथामात्रमें पहलेसे ही विद्य-मान थी; तुल्सीदासने इस कथानकको इस कौशलसे प्रस्तुत किया है कि कथाप्रवाह, मामिक स्थलोकी पहचान, मर्था-दित शंगार, पात्रानुकूल-भाषा, चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे 'रामचरितमानस' हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ काव्ययन्थ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें दास्य भक्तिका दिव्य रूप प्रतिपादित किया गया है; उपास्य रामका शील, संकोच और सहदयता मनुष्यमात्रको आकर्षित करनेमें समर्थ है, किन्त तलसी ऐश्वर्यनोध इस प्रकार ननाये रखते हैं कि भक्तोंमे श्रद्धाका भाव प्रधान ही रह जाता है। साथ-साथ लोकसंग्रहका ध्यान रखकर तल्सी समस्त मानवजीवनका आदर्श प्रस्तुत करते हुए पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्योंका इतना प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करते है कि 'रामचरितमानस' उत्तरभारतका नैतिक मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है। ग्रियर्सनका कहना है कि महात्मा बुद्धके बाद उत्तर-भारतमें सबसे बड़े लोकनायक तुलसी हुए है। वास्तवमें उत्तरभारतको जनताके लिए गोस्वामी तुलसीदास महात्मा बुद्ध तथा वाल्मीकि, दोनोंका सम्मिलित महत्त्व रखते है।

रीतिकालका राम-साहित्य महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी भक्तिकाल तथा आधुनिक कालकी अपेक्षा कही अधिक विस्तृत है। श्रृंगारकी व्यापकता, प्रसिद्ध संस्कृत रामकाव्य-के पद्मानुवाद, हनुमान्विषयक रचनाओंका बाहुल्य, प्रारम्भिक नाट्य तथा गद्य-साहित्यमें रामकथाका प्राधान्य, ये रीतिकालीन राम-साहित्यकी प्रमुख विशेषताएँ है।

भूपतिकी 'रामचरित-रामायण'की रचना १७ श० ई०के उत्तरार्घमें हुई थी। इसमें टोहा-चौपाइयोमें रामकथा वर्णित है। सिखोंके दसवें गुरु गोविन्द सिंहने सन् १६९८ ई०में 'रामावतार कथा' लिखी थी, जो हालमें 'गोविन्द रामायण'- के नामसे प्रकाशित हुई है। इसमें वीर तथा शृंगार रस प्रधान है। सुखदेव मिश्रका 'दशरथ राय', केशव कविका 'वालिचरित', झामदासकी 'श्रीरामायण', पद्माकरका 'रामरसायन', रुद्रप्रताप सिंहका 'सुप्रसिद्धस्तोत्रम्' तथा मैथिल कवि शिवदत्तका 'सीताहरण' उल्लेखनीय है। रीतिकालमें

राजस्थानके अधिकांश कवियोंने कृष्णको ही अपना विष्य चुना है, फिर भी मुरली, नागरीदास, सुन्दरकुँवरि, उम्मेददास, सोमनाथ, मंछाराम तथा किशनजीने राम-कान्यकी सृष्टि की है।

निम्निलिखित रचनाओं में कृष्णकान्यकी गहरी छाप है, इनमें राम तथा सीता शृंगारपूर्ण लीलाओं में संलग्न दिखाई देते है—रामिष्रयाशरणकी 'सीतायन', विश्वनाथ सिंहकी 'रामायण', जनकराज किशोरीशरणकी विविध रचनाएँ, रामचरणदासकी 'किवितावली रामायण', 'रामरहस्य' और 'कौगजेरूरहस्य', जनकदासका 'सत्योपाख्यान', प्रताप सिंहका 'जुगलनखिसखं', रामनाथ प्रधानका 'रामकलेवारहस्य' और 'रामहोरी', भगवतदासका 'श्रीरामरहस्य' तथा 'रामकण्ठाभरण'।

गणेशका 'वाल्मीकिरामायणश्लोकार्थप्रकाश', सरय्राम पण्डितका जैमिनिपुराणभाषा', मधुसूद्रनदासका 'रामाश्व-मेथ' (पद्मपुराण), गोकुल्नाथका 'सीतारामगुणाणैव' (अध्यात्मरामायण) तथा भगवान्दास खत्रीकी 'महारामायण' (योगवाशिष्ठ), ये पद्मानुवाद विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

विश्वनाथ सिंह, केशव कवि, भगवन्तराय खांची, मनियार सिंह, गणेश और खुमानने भी हनुमद्मक्तिपरक रचनाओं- की सृष्टि की है।

प्रारम्भिक हिन्दी नाट्य-साहित्यमें कृष्णकथाकी अपेक्षा रामकथाको अपिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भक्तिकालके अन्तर्गत प्राणचन्द चौहानके 'रामायण महानाटक' तथा 'हनुमन्नाटक'का उल्लेख हो चुका है। सन् १६७५ ई०के लगभग रामकविने 'हनुमन्नाटक'की रचना की थी। विश्वनाथ सिंहका 'आनन्दरमुनन्दन' १८वी चा० ई० का हिन्दीका सर्वप्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। ईश्वरीप्रसादकृत 'रामायण', लक्ष्मणदारण 'मधुकर'का 'रामलीलाबिहार' तथा हरिरामका 'जानकीरामचिरत' भी उल्लेखनीय है। नेपालमे निम्नलिखित मैथिल राम-नाटकोंका उल्लेख मिलता है—कृष्णदासकृत 'रामायणनाटक' (१७वी चा० ई०), सुमित जिनामित्रमहका 'अश्वमेष नाटक' (१७वी चा० ई०) तथा रणजिनमल (१८वी चा० ई०)का 'रामायण नाटक' तथा 'रामचरित'।

हिन्दी गद्यके इतिहासमे रामकथाका गौरवपूर्ण स्थान है। 'भक्तमाल'में नाभादासने एक 'अष्टयाम' बजभाषा गद्यमें िलखा था तथा सोढीमेहरवानकी 'आदिरामायण' अधिकतर गद्यात्मक ही है। खडीबोली गद्यकी प्राचीनतम प्रौढ रचनाओंमेसे तीन प्रन्थ रामसाहित्यसे सम्बन्ध रखते हैं— रामप्रसाद निरंजनीका 'भाषायोगवासिष्ठ' (१७४१ ई०), दौलतरामका 'पद्मपुराण' (सन् १७६१ ई०, जैनी रामकथा) तथा सदल मिश्रका 'रामचिरत' (सन् १८०७ ई०, अध्यात्म रामायणका अनुवाद)।

हिन्दीने आधुनिक कालको गद्यकाल मी कहा गया है, किन्तु आधुनिक राम-साहित्यकी विशेषता यह है कि राम-कथाविषयक गद्यकी अपेक्षा रामकान्य कही अधिक महत्त्व-पूर्ण है। सुधाकर द्विवेदीकृत 'रामकहानी', प्रेम चन्दकी 'रामचर्ची', अक्षयकुमार जैनकृत 'युगपुरुष राम' (सन्

१९५४ ई०), छेदांका मैथिलीम रिनन 'सीतावनवास' और उनका उपन्यास 'उमिला', बजलाल शास्त्रीकी पंजावी 'रामकथा' आदि इस वातका प्रमाण है कि आधुनिक राम-कथाविषयक गद्यका अभाव नहीं है, फिर भी इस प्रकारकी रचनाएँ अपेक्षाकृत कुम है और वे किसी भी प्रकारसे महत्त्वपूर्ण नही है। आधुनिक रामनाटफ-साहित्य अनिक विस्तृत है। मंरकृतके अच्छे रामनाटकोके अनुवादो तथा अमंख्य रामलीलाविषयक रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्द-कालमे लेकर आधृतिक समयतक रामकथाविषयक नाटकोकी सृष्टि होनी रही। उदाहरणार्थ, देवकीनन्दन त्रिपाठीका 'सीताहरण' (सन् १८७६ ई०), ज्वालाप्रसाद मिश्रका 'सीतायनवास' (सन् १८९५ ई०), 'प्रेमघन'का 'प्रयाग-रामागमन' (सन् १९०४ ई०), सुदर्शनका 'अंजना' (सन् १९२२ ई०), बदरीनाथ भट्टका 'तुल्सीदास' (सन् १९२५ ई०), गोविन्ददासका 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध १९३५ई०), रामवृक्ष वेनीपुरीकृत 'सीताकी मां', सद्गुरुशरण अवस्थीकृत 'बालिवध' (सन् १९४० ई०), पृथ्वीनाथ शर्माकृत 'उर्मिला' (सन् १९५० ई०) । काव्यर ननाओंकी भाँ ति इधरके नाटकीं-पर आधुनिक विचारधाराओंका प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

आधुनिककालमे रामकाव्यथारा बहुत समयतक बहुत-कुछ पूर्ववर्ती परम्पराके अनुसार प्रवाहित होती रही। राममिक और विशेषकर रामलीलाविषयक मुक्तक काञ्यके अतिरिक्त निम्नलिखत पुरानी धाराके प्रवन्धकाव्य अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण है—रिसकिहिहारीका 'रामरसायन', रघुनाथ-दासका 'विश्रामसागर' (रामायणखण्ड), रघुराज सिंहका 'रामस्वयंवर', बाधेलीकुँवरिजीका 'अवधिवलास', बल्देव-प्रसाद मिश्रका 'कोशलिकशोर', मैथिलीमे चन्दा झाकी रामायण। सन् १९०० ई०के बाद भी यह पुरानी धारा बन्द नहीं हुई, उदा०—शिवरत शुक्ल 'सिरस'का 'श्रीरामावतार', वंशीधर शुक्लका 'राममंडैय.' तथा रामनाथ ज्योतिषीका 'श्रीरामचन्द्रोह्य' (सन् १९३७)।

सन् १९२० ई०के बादका खडीबोलीका रामकाव्य अपेक्षाकृत समृद्ध है। 'रामकी शक्तिपूजा' ('निराला'), 'प्रदक्षिणा' और 'पंचवटी' (मैथिलीशरण गुप्त) आदि छोटी-सी रचनाओंके अतिरिक्त निम्निलखित महाकाव्य साहित्यिक मूल्य रखते है-रामचरित उपाध्यायका 'रामचरितचिन्ता-मणि' (सन् १९२० ई०), मैथिलीशरण गुप्तका 'साकेत' (सन् १९२९ ई०), अयोध्या सिंह उपाध्यायका 'वैदेही-वनवास' (सन् १९३९ ई०), बलदेवप्रसाद मिश्रका साकेत-सन्त' (१९४६ ई०), केंदारनाथ मिश्र 'प्रभात'का 'कैकयी' (१९५० ई०), बालकृष्ण 'नवीन'का 'ऊम्मिला' (१९५७)। उपर्युक्त महाकान्योंमें तीन प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती है—(१) बुद्धिवादी दृष्टिकोणके कारण अवतारवादको कम महत्त्व दिया गया है अथवा राम आदिको पूर्णतया मानवके रूपमे चित्रित किया गया है, (२) भक्तिकालको धार्मिक भावना तथा रीतिकालकी शृंगारिकताके स्थानपर नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक आदशौंको प्रमुख स्थान मिला है, (३) पूर्ववर्ती रामकान्यके उपेक्षित पात्रोंको नायक-नायिका बनानेकी प्रवृत्ति, उदाहरणार्थ 'कैकेथी', 'कम्मिला', 'साकेत' (लक्ष्मण-उमिला) तथा साकेत 'सन्त' (भरत-माण्डवी) । दे० 'रामकथा', 'रामकाब्य', 'राममक्ति । —का० बु० हिंहुई-दे० 'हिन्दो'।

हिंचु द्वानी - हिन्दीकी भॉति व्यापक दृष्टिसे 'हिन्दुस्तानी' शब्दका भी प्रयोग हिन्दुस्तान या भारतकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति और किसी भी भाषाके लिए विशेषणके रूपमें हो सकता है। आज भी इम शब्दका इस प्रकारका प्रयोग प्रचलित है (जब कि 'हिन्दी' पूर्णतया भाषाके लिए रूढ़ि हो गया हैं)। भाषाके सन्दर्भमें सरल हिन्दी या सरल उर्दूका बोलचालव!ला रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है, जिसमें न संस्कृत शब्दोकी और न फारसी शब्दोकी भरमार रहती है। भाषाका यह व्यावहारिक रूप प्रायः समस्त भारतमें समझ लिया जाता है, किन्तु इस व्यावहारिक रूपके लिए अब हिन्दुस्तानीके स्थानमे हिन्दी शब्दका ही प्रयोग बढता जा रहा है।

यियसर्नके अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द यूरोपीय लोगों द्वारा निर्मित हुआ है। धीरेन्द्र वर्मा भी यह मानते है कि 'हिन्दस्तानी नाम यूरोपीय लोगोंका दिया हुआ है' (हि॰ भा० का इ०, भूमिका, पृ० ६३)। किन्तु यूरोपीय लीगोंसे बहुत पहले यह नाम ख़ुरासानियों द्वारा निर्मित हुआ था। जिम प्रकार अरव-ईरानके मुसलमानोने इस देशकी भाषाके लिए 'जवान हिन्दी'का प्रयोग किया, उसी प्रकार खुरासा-नियोंने 'जबान हिन्दस्तान' या हिन्दस्तानीका प्रयोग किया। अभीतककी प्राप्त खोजोके अनुसार भाषाके लिए हिन्दस्तानी शब्दका प्रयोग सबसे प्रथम बाबरके समयमे उसी भाषाके लिए उसी (सामान्य और क्लिष्ट) अर्थमे हुआ, जिस भाषाके लिए, जिस अर्थमे हिन्दी या हिन्दवी शब्दका हुआ था (दे॰ 'हिन्दी', 'हिन्दवीं')। बाबरने अपने आत्मचरित 'तुजुक बाबरी'मे लिखा है—"मैने उसे (दौलत खाँ लोदीको) अपने सामने बिठाया और उसे दृढ़ विश्वास दिलानेके लिए एक व्यक्तिके द्वारा जो 'हिन्दुस्तानी भाषा' जानता था, एक एक वाक्यका भाव स्पष्ट कराया ('मेम्बायर्स ऑव बाबर', ल्यूक्स, किंग एडिशन, भाग २: पृ० १७०)। शाहजहाँ-काल (१६२७ ई०-१६५७ ई०)में भी 'तारीख फरिश्ता' और 'बादशाहनामा'में यह शब्द मिलता है (नमये सिरायाने हिन्दोस्तानी जवान), (दे० 'बादशाह-नामा')। हिन्दी साहित्यमे सम्भवतः स्वामी प्राणनाथ (संवत् १६३८-१७५१) ने सर्वप्रथम 'भाषा हिन्द्स्तानी' या 'हिन्दस्तानी'का प्रयोग हिन्दवी या हिन्दीके समानार्थक रूपमे किया है। 'विना हिसावे बोलीऑ।। मीने सकल जाँहान ॥ सबको सुगम जानके ॥ कहूँगा हिन्द्स्तान ॥ बडी भाषा ऐही भली।। जो सबमे जाहेरा।। करने पाक संबतकों ॥ अन्तर मोहे बाहेर" (कुलजमस्वरूप कुरान सनन्ध, चौ० १५-१६) । 'कुलजमखरूप'के आदि सम्पादक केसोदासने १६९४ ई०मे किताबोके शीर्षकोंमे भी नामका प्रयोग किया है, यथा- "श्री किताब प्रकास हिन्दुस्तानी लिष्यो है। किताब तौरेन श्रीकलस हिन्दुस्तानी लिष्यो है"। ३०० वर्ष पुराने खडीवोलीके पत्रोमे हिन्दु-स्थानी नाम प्रयुक्त हुआ है। मध्ययुगमे मुसलमानोने हिन्दी, हिन्दवीकी अपेक्षा हिन्दस्तानीका प्रयोग बहुत कम किया है, किन्तु यूरोपीयन यात्रियो, पादरियों आदिने इस शब्दका प्रयोग अत्यधिक रूपले कहा। हिन्दओंकी भाषाके लिए, कही सालन के किए किया है। पादरी एकवा वीवा (१५८२ ई०), जेरोम जेवियर (१५९८ ई०), देकाम्बो (१६१५ ई०), टेरी (१६१६ ई०), केबी (१६५० ई०), फायर (१६७३ई०), केटेलियर (१६९४ ई०), हैं मिल्टन (१७१६ ई०) आदिने हिन्दुस्तानी शब्दका प्रयोग व्यापक रूपते हिन्दुस्तानको भाषा सामान्य रूपपे मध्यदेशकी भाषा तथा विशिष्ट रूपसे खडीबोली दोलीके लिए किया है। फोर्ट विलियम कालेज (१८०० ई०)के पूर्व हिन्द्स्तानी और हिन्दी तथा हिन्दवी समानार्थक थे। गिलक्राइस्ट भारतकी प्रधान भाषाके लिए सामान्य रूपसे 'हिन्दोस्तानी' शब्दका ही प्रयोग करते है, जिसके अन्तर्गत इसकी दरवारी शैली (उर्दू), मध्यम शैली (वास्तविक हिन्दुस्तानी) तथा यामीण शैली (हिन्दवी)की गणना करते है, किन्त्र विशिष्ट अर्थम हिन्दुस्तानीसे उनका तात्पर्य उर्दूते ही था और हिन्दुस्तानी विभागमे हिन्दुस्तानी नामसे उर्दू ही पढायी जाती थी। अतएव १८०१ ई०के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा हिन्दस्तानीसे उर्दूका अर्थ ही लिया जाता रहा। किन्तु धीरे-धीरे जव हिन्दी और उर्दू (आधुनिक अर्थ) शब्द अधिक प्रचलित हो गये तो पुनः हिन्दुस्तानी शब्दका प्रचार इन दोनोके मिले-जुले सरल रूपके लिए होने लगा (किन्तु इस रूपका झुकाव भी उर्दूकी ओर अविक रहना है, यही कारण है कि हिन्दुस्तानी उर्द्का बोलचालवाला रूप प्रतीन होता है)। इण्डियन नेशनल कांग्रेसने पहले तो राष्ट्रभाषाके लिए हिन्दी नाम ही चुना था, किन्त्र साम्प्रदायिकताके बढनेपर हिन्दुस्तानी नामको चुना गया। दोनों लिपियोका प्रसार हुआ, किन्तु हिन्दुस्तानीके वहाने उर्द्का प्रचार होने लगा, अतएव बहुसंख्यक लोगोने इस हिन्दुस्तानीका विरोध किया और अन्तम भारतीय संघकी राजभाषाके लिए 'हिन्दी' शब्द ही मान्य हुआ, जो सब प्रकारसे उचित था।

यद्यपि कुछ लोग (यथा — हिन्दुस्तानी कल्चरल सोसाइटी) अब भी हिन्दुस्तानी नामका ही प्रचार करते है, किन्त धीरे-धीरे इस नामका प्रचार कम हो रहा है। उचारण तथा व्याकरणकी दृष्टिसे हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानीमे कोई विशेष अन्तर नहीं है। हिन्दीकी लिपि नागरी है और संस्कृत शब्दोका बाहुल्य रहता है और उर्दू फारसी लिपिमें लिखी जाती है और उसमे फारसी शब्दोंका प्राधान्य रहता है। हिन्द्स्तानी इन्हीका बाजारू रूप है। प्राचीन खडी-बोली साहित्यको जिस प्रकार हिन्दी (सामान्य अर्थ) कहा जा सकता है, उसी प्रकार उसे हिन्दस्तानी भी कह सकते हैं। आजकी वाजारू हिन्दुस्तानी केवल कुछ किरने, गजल, सिनेमाके गीत तथा हिन्दुस्तानीके समर्थक राष्ट्रीय नेताओके कुछ भाषणोमे मिल सकती है। 'नया हिन्द' (एक पत्रिका)मे हिन्दुस्तानीका ही दोनो लिपियोमे प्रयोग -- मा० व० जा० **हीनयान**-भारतवर्षमें बौद्ध धर्मकी विभिन्न शाखाओके लिए पृथक्-पृथक् शब्दोका प्रयोग मिलता है। इसकी प्रारम्भिक शाखा अथवा मार्गको हीनयानकी संज्ञा दी जाती है। न्युत्पत्तिके विचारसे इसको दो शब्दोंमें विभक्त करते हैं—

हीन + यान । 'ट्रीन'से नीच तथा 'यान'ते मार्ग या प्रगति-का वोध होना है। इसका वास्तविक अर्थ दार्शनिक दृष्टिकोण-से स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भमें इस शब्दसे उम नीच प्रणालीका वोध होता हैं, जिसका अवलम्पन मोक्ष (निवाण)के निभित्त साधु (मिक्षु) किया करते थे। बुडके समयसे लेकर २५० ईसापूर्वतक पाली-साहित्यमें इसका व्यवहार एक शाखाके रूपमे होता रहा। ईसवी सन्की पहली श्नीसे वोद्ध दार्शनिकोमे विवादास्पद वाते खड़ी हो गयी और पार्शके स्थानपर संस्कृतका प्रशोग होने लगा। उसी समयसे संस्कृत लेएकोने हीनयान शब्दको तिरस्कार-के भावमे प्रयोग करना आरम्भ किया। इस शब्दका वास्तविक अर्थ ध्यानमे न रखकर दुर्वचनके समय हीनयान शब्द प्रयुक्त किया जाता था। महायानियों(दे० 'महायान') ने अपने-आपको श्रेष्ठ बतलाकर प्राचीन मतावलिकयोको हीनयानके नामसे अभिहित किया।

'हीनयान'का वास्तविक अर्थ (यानी 'बद्धधर्मकी शाखा')-मे फाहियानने सर्वप्रथम ४१४ ई०में प्रयोग किया था। भारतयात्रा समाप्त कर चीन लौटनेपर फाहियानने बौद्ध देशोके सम्बन्धमें जो लिखा था, उसी प्रसंगमें इस शब्द (हीनयान)का प्रयोग मिलता है। यह लिखता है कि उत्तर-पश्चिम तिब्बतमे राजा दौद्ध धर्मका अनुयायी था। उस भूभागमे तीन हजार भिक्षु निवास करते थे, जो 'हीनयान'-के माननेवाले थे। यह कहना विित है कि फाहियानने इस जब्दका प्रयोग किस स्त्रसे लिया। उस शताब्दी (पॉचवी शती)मे हीन, महा तथा मध्यम मार्गके अनुगामी सर्वत्र फैले थे। 'हीनयान' शब्दमे फाहियानका वास्तविक तात्पर्य क्या था अथना तीनों मार्गोंमेसे किसे वह वास्तविक हीनयान ममझमा था, यह स्पष्ट रूपसे कहा नहीं जा सकता । 'सद्धमंपुण्डरीक' नामक अन्थमे तीन शाखाओ-श्रावक, प्रत्येकदुद्ध तथा महायानका उन्लेख है, परन्त 'हीनयान' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता। लंकामे इन मार्गोंका पालन तीसरी शतीम होता रहा सिम्भवतः श्रावक्यान (दे०) शब्दका पयोग हीनयानके लिए किया गया हैं]। 'ललित-विस्तर'में भी ढाई निक विवेचनके प्रसंगमे मनकी तीन अवस्थाओं (गुणो)का वर्णन किया गया है, जिसमे 'हीनयान'को कुत्सित या तुच्छ मार्गके रूपमे व्यवहृत किया गया है। सातवी शतीके चीनी यात्री इत्सिग-ने 'हीनयान' शब्दका प्रयोग भिन्न अर्थमे किया है। उसने 'हीनयान' उस व्यक्तिके छिए प्रयुक्त विया है, जो देवताओ तथा स्वर्गकी स्थिनिपर विश्वास नहीं करते अथवा यों कहा जाय कि 'हीनयान'के अनुयायी 'अष्टांगिक मार्ग'पर आस्या रखते थे। ईसवी पूर्वकी सदियोमे बौद्ध धर्मके अठारह प्रकार-के मतो या विचारकोभे हीनथानका भी नाम लिया जाता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणसे विचार किया जाय तो 'हीनयान'से थेरवादका ज्ञान होता है। ईसवी पूर्व ३५०तक यह
धारा प्रवाहित होती रही, परन्तु ई० पूर्व ३५०-१००तक
एक मिश्रित विचारधारा मिलती है, जिसे 'हीनयान'की
संज्ञा देना उचित न होगा। किसी रूपसे भी विचार किया
जाय तो यह निश्चित हो जाता है कि ई० पू० १०० के
पश्चात् 'हीनयान' (प्रारम्भिक मार्ग)के अनुवादी समाजमें

नहीं के वरावर थे। थैरवाद या स्थविरवादी भिक्षु ओकी सभा वैद्यालीमें हुई थी, जिमके बाद (ई० पू० १००)में नाना विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयी। ईसापूर्व चौथी द्यति दे के कर दूसरी द्यावार्द्या ई० पू०तक स्थविरपादकी प्रधानता दिखलाई पवती है। ही जयान-सिद्धान्तके अनुसार सद्धमें का रस हो मोक्ष है। इस लोकोत्तर मार्गसे संसारमे पूर्व जन्मका अन्त हो जाता है। इनके विचारसे व्यक्तिको जीवन्मुक्त होना आवश्यक है। हीनयानके मतानुसार बुद्ध एक महान् आचार्य (उपदेशक) थे और बोधि प्राप्त करनेसे ही उन्हें निर्वाण (मोक्ष) मिला। अवद्येपकी पूजा निर्धक है। सातवी द्यतिमें चीनी-यात्री हेन्सांगने लिखा है कि उसके सौत्रान्तिक तथा बेमापिक दार्द्यनिक सिद्धान्तोंको हीनयानसे सम्बन्धित माना जाता था। सूत्रपर ही इनके विचार अवलन्नित थे। ये संसारको नदवर तथा प्रत्येक वस्तुको क्षणिक मानते थे।

हीनयानसे महायानी भिक्षुओंका क्या सामाजिक सम्बन्ध रहा, यह ठीक तरहसे कहा नही जा सकता, परन्त यह सत्य है कि दोनों एक ही संघमे रहा करते थे। अधिक समयतक दोनों मतावलिन्योने एक ही 'विनय'का पालन किया। सातवीं सदीका चीनी यात्री इतिमग लिखना है कि हीनयान तथा महायाग-मतवाले एक 'विनय' मानते थे और दोनों पॉच महापानकोको समान रूपरो देखते थे। चारं आर्यसत्य दोनोंके लिए एक से थे। बोधिसत्त्वकी क्रपना हीनयानवालोंको मान्य न थी और उसकी पूजासे वे पृथक रहने लगे थे। चीन, जापान तथा तिब्बतसे हीनयानको महायानवालोने निकाल बाहर किया, पर हीनयान आज भी लंका, वर्मा, कम्बोडिया तथा इयाम-(थाइलैण्ड)मे फैला है। १९५६ ई०के नवम्बर मासमे काठमाण्डमें एक बौद्ध-संगीति बुलायी गयी थी। उसमें सर्वसम्मतिसे यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया कि सामाजिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमे हीनयान और महायानका विभेद सर्वदाके लिए समाप्त कर दिया जाय । यह भविष्य बतलावेगा कि इस अत्यन्त प्राचीन विभेदका कहाँतक अन्त हो पाया है।

भारतवर्षमे धर्म तथा कलाका गहरा सम्बन्ध रहा है और प्रायः धार्मिक भावनाकी ही अभिव्यक्ति कलाकार करते रहे है। प्राचीन समयमे बौद्धकलाका जन्म धर्मको लेकर हुआ । हीनयानमतानुयायी बुद्धको महान् उपदेशक मानते थे, अतएव कलाविदोने उनके प्रतीकोंको ही अप-नाया। लाक्षणिक अर्थमें कलाकी उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्धके जीवनसे सम्बन्धित चार ऐतिहासिक घटनाओको (जन्म, ज्ञान, उपदेश तथा निर्वाण) चार विभिन्न ठक्षणोसे दर्शीया गया । जन्मको अधिकतर हाथीके द्वारा व्यक्त किया गया है। मायादेवी (गौतमकी माता)ने एक स्वप्न देखा कि सफेद हाथी उदरमे प्रवेश कर रहा है। अतरव उसी पशुको कलाकारोंने लाक्षणिक अर्थमें चित्रित किया। अज्ञोकने अपने स्तम्भके शिखरोंपर सिंहको भी स्थान दिया था, जो गौतमके शाक्य-सिंह होनेकी घोषणा करते है। भारहत तथा बोधगयाके अतिरिक्त सॉचीमें जन्मको प्रदिशत करनेके लिए कमलासनपर बैठी देवी तथा दो हाथियोके लक्षणका नवीन प्रयोग पाय। नाता है। हिन्दू मतमें इसे गज-रूक्षी-की संज्ञा देते है। दक्षिणभारतकी अमरावती-कलामें भी हाथीका प्रयोग किया गया है। बोधगयामें गौतमकी ज्ञान-प्राप्तिका प्रदर्शन बृक्ष (पीपल) से करते है। बृक्षके नीचे बैठे गौतमने मार-पर विजय और सम्बोधि प्राप्त की। उसी समयसे इनका बुद्ध नाम पडा । शुंगकालीन कलामें सर्वत्र ही यह लक्षण प्रदश्तित मिलता है। भारहुत, बोधगया, साँची तथा अमरावतीकी वेदिकाओंपर वृक्षके प्रतीकका प्रयोग बड़े ही सुन्दर ढंगसे किया गया है। संसारके प्रा, पक्षी तथा मनुष्य या देवतागण उस प्रतीककी पूजा करते दिखलाये गये है। उपदेश या धर्मचक्रप्रवर्तनकी घटना सारनाथ (काशी)से सम्बन्धित है। उसी स्थानपर बद्धने सर्वप्रथम धार्मिक प्रवचन आरम्भ किया था। इसलिए चक्र ही इसका प्रतीक माना जाता है। चॅिक प्रारम्भमें कला हीनयानको लेकर उपस्थित हुई थी, अतएव प्रतीकका प्रदर्शन आवश्यक हो गया। धर्मचक्रको सर्वोपरि स्थान मिला। अशोकने सारनाथमे जो स्तम्भ खड़ा किया, उसपर चार सिंहोंकी पीठपर एक चक्रकी आकृति तैयार करायी। उसका तात्पर्य यही था कि धर्म शक्तिसे परे है। चारों दिशाओं में धर्मका प्रचार हो चुका था। सिंह शक्ति तथा धर्मचक्रप्रवर्तनका लक्षण माना गया है। चौथा प्रतीक स्तप समझा जाता है, जिससे वुद्धके निर्वाणका बीध होता है। हीनयानके कला-केन्द्रोमे इसको प्रमुख स्थान दिया गया है। भाजा, नासिक, अजन्ता तथा कार्लेके चैत्योंमे स्तूप ही दिखलाया गया है। शुंगकालीन कला-केन्द्रोंमे स्तूप बुद्धके स्थानपर आदरका पात्र समझा जाता रहा। सारे भारतकी वेष्टनियो तथा सॉचीके तीरणपर स्तूपका प्रतीक प्रधान लक्षणोंमे एक है, जिसे पद्म, पक्षी, मनुष्य अथवा देवगण समादर करते थे। इस तरहके प्रतीक लाक्षणिक अर्थमे प्रयुक्त होते रहे और हीनयान सम्बन्धी कलामें (श्रुंगयुगमें) ही इनकी प्रधानता रही।

जहाँतक हीनयानके साहित्यका सम्बन्ध है, भगवान् बुद्धके प्रवचन कई शतियोंतक संगृहीत न हो सके, अतएव स्थविरवादी भिक्षुओंने भगवान्के मौखिक उपदेशोको संग्रह-कर पुस्तकका रूप दिया। वैशालीकी संगीतिके पश्चात् उपदेश तथा संघके नियम एकत्र हुए, जिसके लिए पहलेसे ही झगड़ा चला आ रहा था। 'अट्टकथा' तथा 'कथावस्तु' नामक यन्थ ईसापूर्व तैयार हुए। 'ललितविस्तर' तथा 'दिव्यावदान'की रचना हुई। कथानकोंका संग्रह महावस्तुके नामसे किया गया। भारतीय भाषाओसे हीन-यानका अधिक साहित्य चीनी तथा तिब्बती भाषाओंमें सरक्षित है। जापानमें भी इस तरहका (हीनयान सम्बन्धी) साहित्य पर्याप्त मात्रामें मिलता है । इनका नागरी रूपान्तर अभीतक उपलब्ध नहीं है। पाली त्रिपिटक (सूत्र, विनय तथा अभिथम्मपिटक)का सम्बन्ध हीनयानसे हो स्थापित किया गया है। विषयके विचारसे बुद्धका जीवन, तत्सम्बन्धी कथाएँ तथा विनय सम्बन्धी वार्ताएँ ही इन यन्थोमे मिलती है। हीर १ - मात्रिक सम छन्दका एक भेद । 'प्राकृतपैंगलम्'के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ६,६,११ की यतिसे २३

मात्राएँ होती है तथा आदि ग, अन्त रगण (SIS) रहता है (१:१९९)। भानुका लक्षण इसीके अनुसार है। हिन्दीके किवयोंने इसे हीर, हीरा, हीरक नामसे प्रयुक्त किया है। केशव (रा० चं०), श्रीधर (जंगनामा) तथा स्टन (सु० च०)ने इसका प्रयोग किया है। केशव और स्टनने आदिमंग रखनेके नियमका पालन नहीं किया है। स्टनने इसमें वीर रसका अच्छा निर्वाह किया है। उदा०— "पण्डित गण, मण्डित गुण, दण्डित मित देखिये" (रा० चं०)।

हीर २ - वर्णिक छन्दोमें समवृत्तका एक सेद । भ, स, न, ज, न, र के योगसे यह वृत्त बनता है (ऽ॥,॥ऽ,॥,।ऽ।,॥, ऽ।ऽ); इस छन्दका मात्रिक रूप (३ षष्ठक + रगण) कुण्डल छन्दके अन्तिम गुरुके स्थानपर ।ऽ रखनेसे बनेगा। केशवने इस नवीन छन्दका प्रयोग किया है। उदा०— "सुन्दरी सब सुन्दर प्रति मन्दिर पुर यो बनी, मोहन गिरि शृंगनपर मानहुँ महि मोहिनी" (रा० चं०, ८:८)।

हृदयबाद – छायावादके उत्तरका लमे जिन व्यक्तिवादी और रोमान्सवादी प्रवृत्तियोंका विकास हुआ, उनमे हृदयवादका विशेष महत्त्व है। रोमानी तत्त्वोंसे उद्भृत जो काव्यधारा विकसित हुई, उसका मुख्य उद्देश्य रागात्मक तत्त्वोंकी केवल उच्छंखल अनुभृतियोंतक ही सीमित रह गया। उसे न तो पीडा और न आत्मवेदनाकी वह परिपक्ता मिली, जो काव्यको प्रौढ एवं जागरूक बनाती है और न वह भाव-वोध ही मिला, जिसके माध्यमसे आदिम मनःस्थितियाँ भी परिष्कृत होकर एक उदात्त अथवा व्यापक सह-अनुभूति की प्रेरणा देती है। देश-कालके प्रति अपेक्षाकृत अनुत्तर-दायित्व पूर्ण छायावादी विचारधाराकी चरम परिणति ऐसी किसी विचारधारामें होनी अनिवार्य थी, जो केवल मौलिक सहज अनुभृतियों(basic instincts)को प्रश्रय देकर केवल अनुरंजनात्मकतामे परिणत हो जाय । वस्तुतः उत्तर-छायावादकालसे यही हुआ भी। एक ओर तो समस्त चेतनानुभूति रहस्यपूर्ण उदात्त मानव-चेतनासे वॅथनेकी चेष्टा करने लगी और दूसरी ओर उसी चेतनानुभूतिके माध्यमसे वह पलायनवाद (दे०)की अभिव्यक्ति पा रही थी, जो उमर खैयाम जैसे कविसे प्रभावित थी। सुखवादी दार्शनिकोका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव पलायनके रूपमें पनपने लगा, जिसकी अभिन्यक्ति छायावाद(दे०)से लेकर हालावाद (दे०) तकके विभिन्न रूपोमे हुई थी। ये कवि सम्पूर्ण मानसिक स्थितिमें बात तो बडी कहना ही चाहते थे, किन्तु चॅ्कि वे स्वयं एक बृहत् परम्पराके छोटे एवं ट्रेटे हुए रूप थे, इसलिए उस बृहत् परम्पराकी केवल प्रति-च्छाया लेकर ही वे चल सकते थे। उनमें उसकी सत्यान-भूतिकी पकड नहीं थी, फलस्वरूप वह उदात्तसे गिरते-गिरते केवल दैनिक और निम्न कोटिके भाव-स्तरोंकी सिह-रन, संवेदन और अनुरंजनतक ही सीमित रह सके, उसके आगे या उसके समान उदात्तके अस्तित्वकी स्वीकृति उनके वशके बाहरकी बात थी।

उत्तरछायावादी काव्यमे 'हृदयवादका रूप विशेष द्रष्टव्य है। इस वर्गके कवियोंमें 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा,

'अंचल', नरेन्द्र शर्मी, 'नीरज' आदिके नाम उल्लेखनीय --ल० कां० व० हेत्-एक अर्थालंकार । संरक्षत साहित्यशास्त्रके लेखक दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ कवि एवं अप्पय दीक्षितने इस अलंकारका विवरण दिया है। रुद्रदने वास्तव, औपम्य, अनिशय एवं इलेपमूल तत्त्वोके आधारपर अलंकारोंका वर्गीकरण करते समय हेत्को वास्तव और अतिशय, दोनों वर्गोंमें रखा है। उनके अनुसार इसका लक्षण यह है—"हेतुमत्ता सह हेतो।विधानमभेदकुद्भवेद् यत्र । मोऽलंकारो हेतुः स्याद-न्येभ्यः पृथगभूतः"(का०लं०, ७-८२), अर्थात् कारणका कार्य (हेत्मत्)के साथ वर्णन करने या कारण और कार्यमे भेद न वतानेमें हेत् अलंकार होता है। क्यों कि भामह एनं मम्मटने इसको अलंकार नहीं माना, इमलिए मानी उनके मतका खण्डन करनेके लिए रुद्रटने कहा है कि यह अलं-कार अन्य अलंकारोंसे विलक्षण है। मम्मट आदिने इसे केवल काव्यलिंग स्वीकार किया है। विश्वनाथके अनुसार हेत्रकी हेतुमत्ता(कार्य)के साथ अभेद कहा जाना, यह अलं-

कार है (सा० द०, १०: ६४)। हिन्दीके आचार्योंने प्रायः 'कुवलयानन्द'के आधारपर इसके दो भेदोंका वर्णन किया है। प्रथम, "जहाँ हेतुमत साथ ही, कीजे हेतु बखान" (ल० ल०, ३९१)। अथवा "या कारनको है यही, कारज ये कहि देत" (का० नि०, १७), अर्थात जहाँ कारणका कार्यके सहित वर्णन किया जाय-"जगत जियावनको नये, ये उनये घनस्याम" (पद्मा०, २७९), अथवा-''दरपन मै निज रूप लखि नैननि मोद उमंग । तिय मुख पिय बस करनको बढचो गर्वको रंग" (ल० ल०, ३९३)। यहाँ 'उनये घनस्याम' तथा 'जगन जियावन', 'मोद उमंग'रूप कारणोंका कार्योंके सहित वर्णन है। दितीय, "जहाँ हेत्रमन हेत्रको, बरनत एक स्वरूप" (ल० ल०, ३९४), अथवा—"कारज कारन एक ही कहैं (का॰ नि॰, १७), अर्थात जहाँ हेतु तथा हेतुमत्का एकस्वरूपकथन हो—"नैनिनको आनन्द है, जियकी जीवन जानि । प्रगट दरप कन्दर्पको, तेरी मृद् मुसकानि" (ल० ल०, ३९५)। यहाँ दोनोको स्वरूप कहा गया है। किसी-किसीने एक तीसरे भेदका उल्लेख भी --- जु० कि० ब०

हेत्र्प्रेक्षा-दे॰ 'उत्प्रेक्षा', दूमरा भेद । हेत्वापह्नुति-दे॰ 'अपह्नुति', दूसरा भेद । हेळा-दे॰ 'अंगज अलंकार'।

होली—होली हिन्दुओंका एक बडा तथा लोकप्रिय उत्सव है। इस अवसरपर जो गीत गाये जाते है, उन्हें होली कहते है। क्योंकि यह त्यौहार फागुन मासकी अन्तिम तिथिको मनाया जाता है, अतः भोजपुरी प्रदेशमें इन गीतोंको फगुआ भी कहा जाता है। ब्रजकी होली बड़ी प्रसिद्ध है। होली और रिसयाका चोली-दामनका सम्बन्ध है। होली समवेत स्वर(कोरस)से गाये जानेवाला गीत है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति होलिकासे मानी जाती है, जो प्रहादकी बुआ थी। इस गीतके गानेवाले दो मण्डलियोंमें विभक्त होकर बड़े तार स्वरसे इसे ढोल तथा झालको बजाते हुए गाते हैं। पहिला दल गीतकी एक कडीको गाता है

तो दूसरा दूसरी बडीको। इस प्रकार उस समय एक समॉ बॅथ जाता है। इन गीनोमें राथा-कृष्णके होली खेलनेका प्रायः उल्लेख होता है। होलीका गाना माघ शुक्क पंचमी -वसन्तपंचमीमे प्रारम्भ हो जाता है तथा पूरे फागुन मासतक चलता रहना है। होलीके दिन एक दूसरे प्रकार-का भी गीत गाया जाता है, जिसे कबीर वहते है। ये गीन प्रायः अञ्लील होते है। इन्हें कवीर क्यों कहा जाता है, यह कहना कठिन है। सम्भवतः कवीरदास तथा उनकी अरपटी वानीकी खिल्ली उडानेके लिए हो इन गीनोकी रचना की गयी हो। कबीरकी प्रत्येक पंक्ति इस प्रकार आरम्भ 'होनी है। 'अरररररर भइया सुन लऽ मोर कवीर'। जहाँ होली कोरसमे गायी जाती है वहाँ कबीरको कोई एक ही व्यक्ति गाता है, जो फाग खेलने-वालोंकी पार्टीका अगुआ होता है। होलीमे शृंगारकी प्रधा-नता होती है और कशियमे हाग्यकी। हासी-मुखता (decadence) - प्रगति और प्रगति-शीलताकी व्याख्यांम अवतक जितनी रुचि दिखलायी गयी है, उसका शतांश भी हासोन्मखताकी व्याख्यामे नही। हासोन्मुखतापर कुल तीन ही स्वतन्त्र प्रन्थोके प्रका-शित होनेकी सचना मिलती है—एक तो मैक्स नादोंका १८९३ ई०मे प्रकाशित यन्थ 'डिजेनरेशन' जिसकी स्थापना है-''प्रतिभा एक प्रकारका उन्माद अथवा विकार है'', दूंमरा है लार्ड बालफोर द्वारा राजनीतिक हासोन्मुखनापर दिये गये व्याख्यानीका संग्रह जो 'डिकैडेन्स' नामसे १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था और तीसरा ग्रन्थ है सी० ई० एम० जोडका, जो इसी नामसे १९४८ ई०मे प्रकाशित हुआ है। फिर भी इस शब्द तथा धारणापर स्फुट रूपने पर्याप्त विचार हुआ है। प्रत्येक आलोनक तथा इतिहासकार— चाहे वह साधारण इतिहासकार हो, चाहे साहित्य, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, आंदिका-हासोन्मुख अथवा हासोन्मुख-युग, सभ्यता, संस्कृति, जाति, धर्म, दर्शन, साहित्यकी चर्चा करता पाया जाता है।

हासोन्मुखताकी न्याख्यामे अत्यधिक मतभेद देखनेको मिलता है। हमं नीचे केवल मुख्य परिभाषाओंका निरूपण करेंगे। (क) एक परिभाषाके अनुसार राष्ट्रकी सैनिक शक्तिका हाम हासोन्मुखताका लक्षण है। इस मतके सम-र्थक चतुर्थ शती ई०पू०के एथेन्सको केवल इस कारण हासो-नमुख कहते है कि उसने सैनिक शक्ति के हासके फलस्वरूप अपना साम्राज्य खो दिया । इसी प्रकार हर्षवर्द्धनके बादका भारत प्रायः आक्रमणोते अपनी रक्षा न कर सकनेके कारण हासोन्मुख मान लिया जाता है। किन्तु यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल जान पडती है। आजक्तल अणु-शक्तिके बिना कोई राष्ट्र अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नही है, तो क्या कोई राष्ट्र केवल इसलिए हासोन्मुख मान लिया जायगा कि उसके वैज्ञानिक अणु तोडनेकी कलामे अनभिज्ञ है? १६ वी शतोमें स्विट्जरलैण्ड संस्कृतिके लिए नहीं, अपितु अपने दुर्धर्ष लड़ाकोके लिए प्रसिद्ध था, यहाँतक कि यूरोपकी कोई भी सेना उनके विना अपूर्ण समझी जाती थी। तो क्या वह देश अब केवल इसलिए हासोनमुख मान लिया जाय कि वह कहीं अधिक . ससंस्कृत, शान्तिप्रेमी, विस्थापितोंका

संरक्षक और प्रथम अन्तरराष्ट्रिय शासनका केन्द्र वन गया है ? (ख) एक दूसरी परिभाषाके अनुसार जनसंख्याका हास हामोन्मुखनाका लक्षण है। शायद बलकान और रूसको छोडकर यूरोपके प्रायः सभी देशोंकी जनसंख्या पहलेकी अपेक्षा धीमी चालसे वढ रही है और कहीं-कही तो घट भी रही है। अतः इस परिभाषाके समर्थक यूरोपको हामोन्मुख कहेगे और भारत जैसे देशोंको, जहाँ संख्या-वृद्धि जोरापर चल रही है, अहासोन्मुख। इन उदाहरणोंने ही इस परिभाषाकी अपूर्णता स्पष्ट है। अनेक अन्य इति-हारादार्शनिक पश्चिमी यूरोपको हामोन्मुख और भारतको पुनरुज्जीवित माननेके पक्षमे है। उनके मतसे सविष्यमे परिचमी यूरोपकी अपेक्षा भारत अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका ब्रहण करेगा, किन्तु उनकी इस मान्यताका आधार सर्वथा भिन्न है। समसामयिक इतिहास तो यही बतलाता है कि सभ्यताके उच्चतर सोपानपर पहुँचनेपर जनसंख्या-वृद्धिकी गति प्रायः उत्तरोत्तर धीमी पडती जाती है। (ग) एक अनुसार नैतिकताका हास ही तीसरी परिभाषाके हासोन्मुखता है। यह परिभाषा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जिस समाजमे वेईमानी, शैनानी, धूर्तता, मुकदमेवाजी, घूसखोरी, व्यभिचार, बलात्कार आदि अनैतिक प्रवृत्तियोका बाजार गर्म हो उठे, वह इस परिभाषाके अनुसार हासो-न्मुख माना जायगा। सोरोक्षिनने अपनी 'दि अमेरिकन सेक्स-रेव्योल्यूशन' नामकी पुस्तकमे बतलाया है कि हासोन्मुख यूनान और रोमकी भॉति ही अमेरिका भी काम-सम्बन्धी अद्भाजकताकी ओर बड़े वेगने अग्रसर है। उसने इने अमेरिकी हासोन्मुखताका स्पष्ट चिह्न घोषित किया है। इस मतके विरोधियोंका कहना है कि स्थिति-स्थापनके समर्थक तो प्रत्येक नये आचार-व्यवहारको अनैतिक, अतएव हासोन्मुखनाका लक्षण घोषित करते-फिरते है, अतः इस परिभाषाको और सीमित एवं स्पष्ट करनेकी आवर्यकता है। सप्राण सराक्त समाज नित नये मृल्योकी उद्भावना और प्रतिष्ठामे आस्था रखता है और यदि संकीर्ण दृष्टिकोणसे काम लिया जाय तो सभी नये मूल्य पुराने म्ल्योके विरोधी होनेसे हासोन्मुखताके ही प्रतीक मान लिये जायॅगे। अनेक आलोचकोंका मत है कि अत्याचार, अनाचार, बेईमानी, शैतानी आदि अनैतिक प्रवृत्तियोका हामोन्मखनाके साथ कोई नित्य सम्बन्ध नही । प्रायः नयी समाज-व्यवस्थामें ये प्रवृत्तियाँ पुरानी समाज-व्यवस्थाकी अपेक्षा अधिक पायी जाती है। नयी व्यवस्थाके प्रतिष्ठापन और सुरक्षाके निलसिलेमें अनेक जघन्य कार्य किये गये पाये जाते है, जो ज्ञान्तिपिय और हासोन्मुख समाजके लिए कदापि सहनीय नहीं हो सकते। आलोच्य परिभाषाके समर्थक 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' (जिसमे राज-शक्तिको अनेक महत्त्वपूर्ण नीति-नियमोंकी अवहेलना-की ख़ली छट दी गयी है), 'काम-सूत्र,' 'मदाम बोनेरी' जैमें अइलील साहित्य, आधुनिक अपराध-साहित्य आदिको हासोन्मुख माननेकी सिफारिश करेगे, यद्यपि सोरोकिनको अपने महासंस्थानवाद (दे० 'महासंस्थान')का अनुसरण करने हुए यह कहना चाहिये था कि ऐसा साहित्य प्रायः एक विशिष्ट संस्कृति, इन्द्रियाग्रही संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करता

है, न कि हासोन्मुखताका । (घ) चौथी परिभाषाके अनुसार प्राप्त धरानलके अतिक्रमण अथवा परिरक्षणमे असमर्थना ही हासोन्मखता है। अठारहवी शतीके अँग्रेजी कवि पोपने हीरोइक नामक छन्दको विकासके जिस धरातलपर छोड़ा था, उसतक भी उसका प्रयोग करनेवाले परवत्तीं कवियोमेसे कोई नहीं पहेंच सका, अतः वे कवि हासीन्मख माने जा सकते है। इसी प्रकार अन्य श्रेष्ठ कवियों, कलाकारो आदिके भी असफल अनुकर्ता हासोन्मुख माने जाने चाहिये। यह सही है कि नवीनता एवं मौलिकताकी उपासक सर्जनशक्तिसम्पन्न प्रतिभाके लिए यह आवस्थक नहीं कि वह अपनी सर्जन-शीलताका परिचय साहित्य जैसे किसी विशेष क्षेत्रमे ही दे. उसके लिए दर्शन, विज्ञान, कला आदिके द्वार सदा खुले रहते है, तथापि यदि अन्य क्षेत्रोंमें सशक्त रचना आदि करनेमे सक्षम प्रतिभा भी साहित्यके क्षेत्रमे अनुकरणमात्रीप-जीविनी, निर्बल रचना करती है तो उस विशिष्ट क्षेत्रकी दृष्टिमे वह हासोन्मुख ही मानी जायगी। वस्तुतः घटिया दजें के नये कवि अपनी आदर्शभृत कृतिकी पूर्णतासे अभि-भत हो, उसकी नकल करनेमें ही अपना गौरव, अपनी इतिकर्तव्यता समझ लेते है। फलतः वे प्रायः घटिया दर्जेकी ही रचना प्रस्तृत कर पाते है। अतः उन्हे हासोन्मुखके सिवा और कहा ही क्या जा सकता है ? श्रेष्ठ प्रतिभा कभी अनुकरणमात्रसे सन्तृष्ट नहीं रह सकती, उसकी सर्जन-शक्तिका स्फुरण नये-नये रूपोंकी उद्भावनामे देखनेको मिलता है। इस परिभाषामें पर्याप्त व्यापकता और पूर्णता दिखायी देती है। तथापि जोड-ने इसकी संगीतके क्षेत्रमे अचरितार्थताकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। (ड) एक पॉचवी परिभाषाके अनुसार वस्तुकी उपेक्षा और रूपपर आग्रह ही हासोन्मखता है। कल्पना कीजिये कि किसी विशिष्ट रूपका प्रयोग कर कोई महत्त्वपूर्ण काव्य रचा गया। अब यदि परवर्ती किव हासीनमुख होगे तो उनके पास कोई नया कथ्य तो होगा नहीं, अतः वे उसी रूपका प्रयोग कर घटिया अथवा बासी वस्त प्रस्तृत करेंगे और यदि इसमे भी जी जवा तो नये-नये रूपोंकी उद्भावना कर नयी वस्तु-के अभावकी पूर्ति करना चाहेगे। फलतः रूप, शिल्प, सज्जा या शैली, जो वस्तके माध्यममात्र है, स्वयं वस्तका स्थान ले लेंगे। इस स्थितिको हासोन्म खताकी स्थिति कहा जायगा । ओन्वाल्ड स्पेग्लर कहता है कि मरणोन्मुख अथवा हासोन्मुख संस्कृति अथवा सभ्यताकी कला परिमाणात्मक, शिल्पप्रधान और अनुकरणमात्रोपजीविनी हो जाती है। पाश्चात्य कलाका आज यही हाल है। आजका कलाकार प्रायः विविध रूप-विधान द्वारा वस्तुके अभावकी पूर्ति करता देखा जाता है। यही कारण है कि हासोन्मुख कविता पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक श्रमसाध्य एवं कृत्रिम होती है। पाश्चार्य कविता दिनानुदिन नीरस, शुष्क एवं बोक्षिल होती/जा रही है। इस परिभाषाके पोषक उसे हासोन्मुख क इस्ते है।

यह परिभाषा भी अत्यन्त सुन्दर है, यद्यपि इससे हासोन्मुख समाजकी पहचान सम्भव नहीं दीखती। जोड-ने इस सम्बन्धमें एक मजेदार बात कही है। विक्टोरिया-युगमें अनेक वस्तुहीन रूपोंका प्रचलन पाया जाता है। लोग चर्च इसिलए जाते थे कि वे चर्च जाते देखे जायं और दूसरोंको चर्च जाते देखें, न कि इसिलए कि वे धर्मनिष्ठ थे। इसी प्रकार महिलाएँ परस्पर मिलती और चायपान करती थी, लेकिन यह इसिलए नहीं कि उनमे परस्पर प्रेम-भाव था अथवा वे एक दूसरेके हितकी बातें करना चाहती थी, बिल्क इसिलए कि मिलना-जुलना भद्रताका लक्षण माना जाता था। तथापि उस युगको कोई हासोन्मुख नहीं कहता।

संगीतपर भी यह परिभाषा लागू नहीं होती । मंगीत-में रूप अर्थात लयका इतना अधिक महत्त्व है और वस्त अर्थात् स्वरका इतना कम कि एक ही स्वर भिन्न रूप-विधान द्वारा भिन्न संगीतकी उद्घावना करता है। (च) एक छठी परिभाषाके अनुसार विषय-वस्तुके लोपकी स्थिति ही हासोन्मखताहै। यह जोड-की अपनी परिभाषा है। जब विचार और व्यवहारमे सत्यं, शिवं, सुन्दरं जैसे मुख्यों और उनके अधिष्ठानरूप ईश्वर, ब्रह्म जैसी मानवोपरि सत्ताओं को तात्त्विक सत्ता न मानकर उन्हें ज्ञानतन्त्र सत्ता मान-लिया जाता है, तब समाजको हासोन्मुख समझ लेना चाहिये। इन मूल्यो और सत्ताओको जोड विषय-वस्तु कहता है। आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य-तत्त्वको, आचारशास्त्र शुभ अथवा सत्को, दर्शनशास्त्र वस्तु-तत्त्वको और धर्म-विज्ञान ईश्वरको प्रायः असत्, ज्ञानमत् अथवा इ। नतन्त्र माननेके पक्षमें है। अतः आधुनिक युग जोड-के अनुसार उस सीमातक हासोन्मुख है। धर्म और आचारशास्त्र, दर्शन और विज्ञान, कला और साहित्य, वस्तु सत्य, मुल्यो अथवा मानवोपरि सत्ताओंके प्रति हमारी प्रति-क्रियाओं के व्यवस्थित रूपमात्र है। अहासोन्मुख समाजमे ये प्रतिक्रियाएँ मानवीय चेतनाके किसी अपनेसे भिन्न वस्तुके सन्निकर्षसे उत्पन्न मानी जाती है, किन्त हासोन्मख समाजमे उन्हे मानवीय चेतनाका स्वगत परिणाममात्र समझा जाता है।

यह परिभाषा एक विशिष्ट दर्शनके अनुयायियोको ही मान्य हो सकती है। जिन्हें ईश्वर और धर्ममें आस्था नहीं, उन्हे नहीं। जोड भूल जाता है कि अनेक स्थलींपर प्रतीय-मान सत्ताको वास्तविक, वस्तुसत् मान लेना, उसकी दृष्ट-से भी अज्ञान या भ्रम ही समझा जायगा। आखिर इन्द्र-जाल और भ्रमकी घटनाएँ उसे भी मान्य ही है। तो क्या उसका इन खलोंमें वस्तुसत्तासे इनकार उसे हासोन्मुख नहीं सिद्ध करेगा ? यदि नहीं, तो परिभाषाकी सीमा वॉधनी होगी और यह बतलाना होगा कि क्यों ईश्वर और मुल्योकी सत्ता ज्ञानसत् न होकर वस्तुसत् ही है। वस्तुतः यह बौद्धिक दार्शनिक ऊहापोहका विषय है, न कि विकास और हासका। यदि हम यह सिद्ध कर दे कि ईश्वर और मूल्य वस्तुसत् नही तो हम हासोन्मुख क्यों मान लिये जायँगे ? बल्कि इतने विवादयस्त प्रश्नके विषयमे इतनी दृढतासे एक राय कायम कर लेना और अन्य पक्षवालोंको हासो-न्मख घोषित करनेमें संकोच न होना स्वयं बौद्धिक-दार्शनिक हासोन्मुखताका चिह्न माना जा सकना है।

हासोन्मुखताकी सभी प्रकारकी परिभाषाओं एक सीमा-नक तात्त्विक एकता अवश्य पायी जाती है। शायद ही कोई आलोचक या इतिहासकार यह माननेपर तैयार होगा कि होमर, अफलातून, अरस्तू, चांसर, डिकेन्स, टॉल्स्टाय, कालिडास, भवभूति जैसी विभूतियाँ हासोन्मुखनःका प्रतिनिधित्व करती है। सभी इनकी कृतियोको सप्राण, सराक्त, सजीव आदि विशेषणोसे याद करते है। इसके विपरीत सभी भट्टि, केराव आदिकी अनुकरण या अममात्रोपजीविनी कृतियोको निष्प्राण, अराक्त, निर्जीव और हासोन्मुख कहेगे।

हमने अवतक सोचने-समझनेका प्रयत्न किया है कि हासोन्मुखता क्या है ? अब हमे यह भी देख लेना चाहिये कि वह क्या नहीं है।

संक्रान्तिकालमे प्राचीनकी हासोन्मुखता नवीनकी विका-सोन्मुखताकी अपेक्षा अपिक स्पष्ट होती है, लेकिन उस स्थितिको हासोन्मुखता नहीं कह सकते। इसी प्रकार कभी-कभी एक सांस्कृतिक, सामाजिक रूपकी हासोन्मुखता अन्य रूपकी विकासोन्मुखतासे सहचरित होती है। निश्चय ही वह हासोन्मुखता की स्थिति नहीं कही जा सकती।

हासोन्मुखताको विकारोन्मुखता (डीजेनरेशन)का पर्याय समझ लेना भूल होगी। कोई हासोन्मुख कला विकासो-न्मुख कलाकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो सकती है। वस्तुतः हासोन्मुखताकी धारणा किसी सांस्कृतिक रूपकी शक्तिका मूल्यांकन करनेका एक साधन है। चाहे उस सांस्कृतिक रूपको कोई शुभ माने या अशुभ। जब वह सशक्त और सप्राण नहीं रह जाता, उसका विघटन (दे०) होने लगता है, तब उसे हासोन्मुख कहा जाता है।

सन् १९१९से लेकर १९३५ ई०तकका काल संसारभर-के देशोंके लिए भयानक संकटका काल था। भारतको कौन कहे, अमेरिका जैसे समृद्धिशाली देशोंकी अर्थ-व्यवस्था डग-मगाने लगी थी। विश्वव्यापी मन्दी और आर्थिक गडबडी-का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। चारो ओर वेकारी फैलने लगी। इस देशमे बी० ए० और एम० ए० बीम-बीम. पचीस-पचीस रुपयोकी नौकरीके लिए दर-दर ठोकरें खाने लगे थे। उद्योग व्यवसाय चौपट हो गये। समाजसे घोर निराशा छा गयी थी। हिन्दी साहित्यपर भी इस भयावह स्थितिका प्रभाव पडे बिना नहीं रह सका। फलतः बाव्यमे घोर मुर्दनी, निराशा, कुण्ठा, रुग्णता, मृत्यु-उपासना और विकृत अहंवादकी कुप्रवृत्तियाँ दिखलाई देने लगी। छाया-वादका पूर्ववर्ती स्वस्थ, प्रगतिशील रूप नष्ट हो गया और इस उत्तर-छायावादकालकी कविता 'हासोन्मुख' हो गयी। उस कालके नये कवियोको तो जाने दीजिये। 'बचन', 'अंचल', नरेन्द्र जैसे श्रेष्ठ कवियोमे भी उस समय हासोन्मखताकी प्रवृत्तिके दर्शन होने लगे थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'के विद्रोहका स्वर अवसादके स्वरमे वदल गया। 'दिनकर'की (सन् '४५ मे प्रकाशित) 'रेणुका'मे भी इस अवसाद और हाहाकारका चित्रण है। इस उत्तर-छायावाद-कालकी हामोन्मखताका अन्त एक नयी प्रवृत्ति प्रगतिवादके हाथो सम्पन्न हो सका। --ह० ना०

## परिशिष्ट

अगम - अगम सन्तो द्वारा बहुद्दाः प्रयुक्त द्वान्द हे और प्रायः " अगम, अगमपुर, निगम, देगम, देगमपुर जैसे विभिन्न रूपों-मे न्यवहृत हुआ है। (१) अगम संस्कृतके अगम्यका ध्वनि परिवर्नित रूप है, जिसका अर्थ है अपार, जहाँ पहुँच न होसके, दुरारोह, दुर्लंध्य, दुर्बोध, अथाह। सन्तोने अगम शब्दका इस अर्थमे सबसे अधिक प्रयोग किया है। कबीर कहते हैं "अगम अगोचर गमि नहीं, जहाँ जगमगै जोति। तहाँ कबीरा बन्दगी, जहाँ पाप पुन्नि नहिं छोति" (क॰ ग्रं॰ : ति॰, पृ॰ १६७ : ५) । कहीं-कही अगमके साथ-साथ दुर्गम शब्दको रखकर दुरारोहता या दुर्लध्यताके अर्थको स्पष्ट भी किया गया है और पुष्ट भी— "इह जिउ रांम नांम लिव लागै। तौ जरामरन छुटै भ्रम भागै॥ अगम हुगमगढ़ रचियौ बास । जामहिं जीति करै परगास" (वही, पद १३०)। गम या गमि शब्दके साथ 'नही शब्द-को जोडकर भी उक्त अर्थ निकाला गया है-"जिहि बन सिंघन संचरै पंखी उडि निहं जाइ। रैनि दिवसकी गिम नहीं तहाँ रहा कबीर लौ लाइ" (वही, पृ० १७३: ४)। सन्त वपनाजीकी एक साखी है—"मात पिताकी गमि नहीं तहाँ पिवायौ खीर । सो गुण धारा रामजी बषनै लिख्या शरीर" (सन्त सुधासार : वियोगी हरि, खण्ड १, पृ० ५३९)। दरिया साहवका कहना है—"धरती गगन पवन नहिं पानी, पावक चन्द न सूर। रात दिवसकी गम नहीं जहाँ ब्रह्म रहा भरपूर" (वही, खण्ड २, पृ०१०८)। (२) इस प्रकार संस्कृत गम्यसे निष्पन्न हिन्दी 'गम' मे विशेषार्थक 'अ' प्रत्यय या 'नही' शब्दको जोडकर ऊपर जिल्लाखित अर्थ निकालनेके साथ ही सन्तोने हिन्दी 'गम'से पूर्ण-ध्विन साम्य रखनेवाले अरबी भाषाके 'गम' शब्दके अर्थको भी इसमें घुला मिला दिया है और इस प्रकार अगम, निगम तथा देगम रूपमे इसका प्रयोग चिन्ताहोन, बेपरवाह एवं निर्द्धन्द्र अर्थमे किया है। इस अर्थमे गुलाल साहबके अगमका प्रयोग देखा जा सकता है—"सतगुरु कृपा अगम भयो हो, हिरदय बिसराम। अब हम सब विसरावल हो निस्चय मन राम" (सं० सु० सा०, खण्ड २, पृ० १३३)। निर्द्दन्द्र या चिन्ताहीनके अर्थमे रैदासने 'निगम' शब्दको प्रयुक्त किया है-"जित देखौ तित दुःखकी रासी। अजौ न पत्याइ निगम भए साथी" (सं र सु० सा०, खण्ड १, पृ० १८७) । गममें फारसीके, निषेध या अभाव-स्चक 'वे' प्रत्ययको लगाकर सन्तोंने निर्द्वन्द या निश्चिन्तका अर्थ देनेवाले एक नये शब्दको ही जन्म दे दिया है—वेगम। अपने परमप्रेयान्की पुरीको इसीलिए सन्त बेगमपुर भी कहते हैं, क्योंकि वहाँ पहुँचकर कोई राम, कोई चिन्ता, कोई द्वन्द्व रह ही नहीं जाता। यह पुरी ही ऐसी है, जहाँ पहुँच-कर जीव शाहंशाह हो जाता है और चाह, चिन्ता सबको मिट गयी पाता है। निर्देन्द्रस्थान, वह स्थान जहाँ चिन्ता, फिक्रका अस्तित्वं भी नहीं रह जाता, सन्तों के बेगमपुरका

वाच्य है। उदाहरणके लिए रैदासका एक पद है—"अब हम खृब वतन घर पाया। ऊँचा खेर सदा मेरे भाया। वेगमपूर सहरका नाम । फिकर अँदेश नहीं तेहिं ग्राम" (सं०सु०सा०, खण्ड १, पृ० १९०) । सन्तोने बहुतसे स्थलों पर प्रसंगके आग्रहको ध्यानमें रखकर 'अगम' शब्दसे ही अगम्य, दुरारोह आदिके साथ ही निर्दृन्द और निश्चिन्तका अर्थ भी संकेतिन करनेकी कोशिश की है। कबीरका एक पद है—"जब बस कियाँ पाँचौ थांनां। तय राम भयो मिहर बाना ॥ मनमारि अगमपुर लीया । चित्रग्रप्त परे डेरा कीया'' (क.० ग्रं०: ति०, पद ५९) । रामके मिहरबान होनेपर अगम्यपुरीका मिलना तो स्वाभाविक है ही, उस भवभयहरणकौ नगरीमें सभी द्रन्द्रों, चिन्ताओंने अतीन हो जाना भी उनना ही या शायद उससे भी अधिक, स्वाभाविक है। (३) संस्कृतके गम्य तथा फारसीके गम-का मिला-जुला अर्थ देनेवाले हिन्छी 'गम'मे फारसीके 'बे' प्रत्ययको लगाकर निष्पन्न 'बेगम' और फिर बेगमपुरसे भी दो पग आगे बढवार दर्लभा, द्वादातीत तथा प्रेमको शीतल-मादक बागावरणकी खुमारीसे आच्छन्न अन्तःपुरका अर्थ भी सन्तोंने इस देगमपुरसे निकाला है और पूरी पूर्णता एवं सरसतासे निकाला है। तुकीं भाषामे बेगमका अर्थ रानी या अभिजातवंशीय महिला होता है, अतः अन्तःपुर-के साथ ही रानीकी पुरीका अर्थ भी इस वेगमपुरमे लगा हुआ है। परमप्रेयान् की नगरी इन सभी अर्थीमे देगमपुरी है—वह अगम्य भी है, गम या चिन्ता-द्दन्द्वसे परे भी है, अन्तःपुरकी मादकता और रानीकी नगरीके आभिजात्यसे लबालब भी है। चरन दास इसी बेगमपुरमे छैलासे नेह लगानेकी बात करते है-"डुक निर्शुन छैलासे कि नेह लगाव री। जाको अजर अमर है देस, महल देगमपुर री। जह सदा सोहागिन होय, पिया मूँ मिलि रहु गी। जह आवागमन न होय, मुक्ति चेरी तेरी" (सं० सु० सा०, खण्ड २, पृ० १५३) । अनहृद् – यह शब्द सन्त-साहित्यमे अनहृद, अनाहृद, बेहृद, 'हद नहीं' आदि रूपोमे प्रयुक्त हुआ है और अनाहत शब्द तथा 'सीमातीत'का अर्थ देता है। योगमे शब्द दो मोटी कोटियोंमे रखकर समझे-समझाये गये है--आहत और अनाहृत । ध्वनि-अवयवोके संकोच-विस्तार, धर्षण-उत्क्षेपण अर्थात् जिह्वा, तालु, दन्त, वर्त्स आदिके आपसी संचालन आदि द्वारा जो शब्द वैखरी वाणी (ब्यक्तभाषा)के रूपमें कहे-सुने जाते हैं, वे आहत शब्द है। आहत, अर्थात् स्थान-प्रयत्नसे उद्भूत । इसके विपरीत है अनाहत शब्द । कानोंको अंगुली डालकर वन्द कर देनेपर एक प्रकारकी घरघराहटका स्वर सुनाई पड़ता है। योगी मानता है कि यह स्वर समष्टि व्याप्त शब्दका व्यक्तिगत रूप है और चूँकि जिह्ना, दन्त, तालु आदि किसी भी ध्वनि अवयवके योग या आधात बिना निरन्तर उठता रहता है, अतः अनाहत

है। सामान्य स्थितिमें व्यक्ति इस अनाहत शब्दके प्रति सचेत नहीं रहता, लेकिन समाधि सम्पन्न होनेपर जब चित्त बाह्य विषयोंसे हटकर अन्तर्भुखी होता है, तब यह अनाहत शब्द साफ-साफ सुनाई देता है। उन्मनी (दे॰ 'उन्मनी') अवस्थामें पहुँचनेपर यही अनाहन नाद शंख और दंदभीके नादकी तरह ऊंचे स्दरमे सनाई पडने लगता है (इठयोग प्रदीपिका, ४: १०६)। यह अनाहत नाद या शब्द देश-कालकी सीमाओंसे अतीत है। न इसका आदि है न अन्त। इसके ठीक विपरीत आहत शब्द है, जो पैदा होता है और फिर विलीन हो जाता है। सन्तोंने अनहद शब्दका अधि-कांशतः अनाहत नादके अर्थमें ही प्रयोग किया है। वैसे ध्वनिसाम्यके आधारपर शब्दोंमे नये अर्थ भरनेकी वृत्ति मन्तोंमें वहुत ही प्रवल है, पर वह अनहद शब्दके प्रयोगके समय कुछ मुखर नहीं हुई है। कवीर आदिमें मुझे एक भी ऐसा जोरदार प्रयोग नहीं मिला, जहाँ अनहद केवल असीमका अर्थ देता हो, या असीम अर्थ एकदम फिट बैठता हो। यह बात और है कि इधर-उधर हाथ-पॉव मारकर उसमें में असीमका अर्थ निकाल ही लिया जाय। दाद्मे ऐसे तीन स्थल मिलते है, जहाँ अनहदका असीम अर्थ हो सकता है, या शायद अनाहत नादकी अपेक्षा असीम अर्थ ही अधिक उचिन है। 'ध्यान'के साथ 'अनहद'का एक प्रयोग है-"संग तेरे रहै घेरे, सहगै अंगि समाइ। सरीर मांहै सोधि सांई, अनहद ध्यान लगाइ" (दाद दयालकी अन्धे वाणी, सबद १६०)। यहाँ असीम अर्थ ही हो सकता है; अनाहत नादसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं जुडता। इसी तरहका एक और प्रयोग है-"तहं निराकार निज ऐसा, जहँ जाण्या जाइ न जैसा। तहँ सबगुण रहिता गहिए, तहँ दादू अनहद कहिए" (वही, सबद, २०८)। यहाँ 'निराकार', 'निज' और 'सबगुण रहिता' विशेषणींका प्रयोग ब्रह्मके लिए हुआ है। अनहद भी इसी तरहका एक विशेषण है, जो बह्मकी असीमताका वाचक है। सबद संख्या ७२में प्रयुक्त अनहद अनाहत नादका भी अर्थ दे सकता है और असीम ईश्वरका भी। सन्तों द्वारा प्रयुक्त इस शब्दके विषयमें ऊपर-ऊपरसे देखनेपर ऐसा लगता है, जैसे बेहदकी तरह यह असीमका अर्थ देनेके लिए ही अनाहतसे संतों द्वारा अनहत बना लिया गया हो, वैसे ही जैसे उन्होंने निर्भय, अनुभव या अघटित जैसे तीन-तीन अर्थ देनेके लिए अनुभवको 'अनभौ' या 'अनभई' बना लिया है। दादूके उक्त विरल प्रयोगोके अतिरिक्त ऐसे प्रमाण बहुत कम ही मिल पायॅंगे, जिनसे इस सम्भावनाको पुष्टि मिले। इस तरहकी सम्भावनाका उदय दो कारणोंसे होता है—एक तो सन्तोंकी ध्वनिसाम्यके आधारपर नये अर्थ भरनेकी वृत्तिके कारण, दूसरे हद, वेहदके साथ इसके प्रयोगके कारण। अस्तु (इस प्रसंगमें 'बेहद' भी देखिये)।

जैसा हमने लक्ष किया है अनहद अधिकांशतः अनाहत-नाद या शब्दके ही अर्थमें प्रयुक्त है। सन्त जहाँ असीम, अनन्त, आदिका संकेत देना चाहते हैं, वहाँ अरबीके हदसे निष्पन्न हद, बेहद या हद नहीं जैसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं — जैसे "हद छाँड़ि बेहद गया, सुंब्रि किया असनान। सुनिजन महल न पानुहीं, तुहाँ किया विसरांम॥"

(क० ग्रं० : ति०, पृ० १६९ : २१) । — रा० दे० सिं० अरध-उरध-अरध-उरधको एकमें मिलानेकी बात नाथी और संतोंके साहित्यमें बार-बार आती है। उरध संस्कृतके 'ऊर्ध्व'का ध्वनि परिवर्तित रूप है। अरथ 'अधः'से, उरधके सादृश्यपर गढ लिया गया शब्द है—वैसे ही जैसे इडाको पिंगलाके साह्यपर इंगला बना दिया गया है। नाथों और संतोंके साहित्यमे इस अरध उरधको कई अर्थीमे प्रयुक्त किया गया है। इडा और पिंगलाको क्रमशः शिव और शक्तिका प्रतीक माना गया है। शक्ति, मूलाधारमें स्वयंभु-लिंगको साढ़े तीन वलयोंमे आवृत करके अधोमुखी अवस्था-में सोई रहनेवाली कुण्डलिनी है और शिव, सहस्नारमें रहता है। अतः शिव और शक्ति अरध-उर्ध हुए। इसी शक्तिको शिवतक पहुँचानेकी बात गौरखनाथ यों कहते है—"अरथ उरध विचि धरी उठाई, माध सन्निमें बैठा जाई। मतवालाकी संगति आई, क्थंत गोरखनाथ परमगति पाई" (गोरखवानी, सबदी ७८)। अर्थात् नीचे (अरध) स्थित शक्ति (या श्वास)को ऊपर (शिवस्थान, सहस्रार या ब्रह्माण्डमें) पहुँचाया और शून्य स्थानमें जा बैठा। वहाँ परमशिव (भतवाला)की संगतिसे परमगति मिल गयी। कबीर भी यही कहते है- "अरधे छॉडि उरध जी आवा, तौ अरथिह उरथ मिला सुख पावा" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३२, रमैनी २४) । अरध उरधका अर्थ गंगा-जमुना भी किया गया है। कबीर कहते है— "अरघ उरधकी गंगा जमुना मूल कवलको घाट, षटचक्रकी गागरी त्रिवेणी संगम बाट'' (क॰ ग्रं॰ : दास, पृ॰ ९४) । इसे मूलाधार पद्म और सहस्रार पद्मके अर्थमे भी न्यवहृत किया गया है- "अर्थत कवल उर्धंत मध्ये प्राण पुरिसका बासा, द्वादस हंसा उलटि चलैगा तब ही जोति प्रकासा" (गोरखबानी, सबदी ८१)। अर्थात् जब प्राण मूलाधार पद्म (अरधंत कॅंदल)से उठकर उरधंत अर्थात् सहस्रारस्य अकल पुरुषके साथ निवास करता है, तो प्राण वायु उलटकर बहिर्गामीके बदले अन्तर्मुखी हो जाता है। प्रसंगके आग्रहवश कभी-कभी यह नीचे और कपरका सीधा, प्रकृत अर्थ भी देता है—"अरधै जाता उरधै धरै, पाँची इन्द्री निग्रह करै। ब्रह्म अगिनि मे होमे काया। तास महादेव बंदै पाया" (गोरखवानी, सबदी, १८)। अर्थात् "नीचेकी ओर जानेवाले शुक्रको ऊर्ध्वमुख करे। इस प्रकार ऊर्ध्वरेता बनकर कामको जला दे, ब्रह्म-अग्निमे-शरीरको दग्ध करदे, ऐसे योगीके चरणोंकी परमशिव स्वयं बन्दना करते है"। नाथों और संतोके साहित्य-को समझनेके लिए ऐसे शब्दोंकी जानकारी अनिवार्य --रा० दे० सि० अवधूती - हिन्दूतन्त्रों, वज्रयानियो, सिद्धों और हठयोगियोंने शरीरमे स्थित नाड़ियोंकी कल्पनाएँ की है और सामान्य हेर-फेरके अतिरिक्त ये प्रायः एक-सी ही है। हिन्दूतन्त्रोमे इनकी संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है। उपनाड़ियोंको छोडकर वज्रयानियोंने भी इनकी संख्या बहत्तर हजार मानी है। इन नाडियोंमें से कुछका आभास हम साँस लेते द्रुए पाते है। जो नाडी बाई ओर है, उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है, उसे पिंगला कहते हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाड़ी है। यह सुषुम्ना ही अवधूती कहलाती है।

वौद्धगान ओ दोहा' (१२४)में अवधूतीकी व्युत्पत्ति बतायी गयी है—"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान धनोति इत्यवधूनी", अर्थात् जो अनायास ही सभी वलेशादि पापोंको द्र कर देती है, वह अवध्ती है। साधनमाला (४४८-१४)-में इसे 'महासुखाधाररूपिणी' कहा गया है। हेवजतन्त्रमे इसे 'ग्राह्य-ग्राह्वकवर्जिता' बताया गया है (दे० 'स्टडीज इन तन्त्र': बागची, पृ० ३१) । वज्रयानी इस नाडीको निर्वाण मार्ग मानते हैं और अवध्नीमार्गको अद्वयमार्ग, शन्यपथ, आनन्दावस्था आदि शब्दोसे अभिहित करते है। इड़ा, पिंगला या ललना (दे॰ 'ललना') और रसना(दे॰ 'रसना') इसी अवध्रतीके ही अविशुद्ध रूप है। जब ये विशुद्ध होकर एक हो जाती है, तो इसे अवधूती कहते है। इस नाडीके और भी कई नाम है-शून्यपद्यी, राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, रमशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग (हठयोग प्रदीपिका, ३:४), ब्रह्मनाडी (वही, ३:६८), सरस्वती (शिवसहिता, ५: १२३) आदि। हठयोगप्रदीपिका, ५, १८ के अनुसार सुषुम्ना या अवधृती ही शाम्भवीशक्ति है, शेष नाडियाँ वेकार है। कबीरकी उलटबॉसियो एवं योगपरक रूपकोकी समझनेके लिए इस सबकी जानकारी आवश्यक है। उदबुद्ध कुण्डलिनी इसी मार्गसे होकर सहस्रारस्थित शिवतक -रा० डे० सिं० अञ्लोलता - ऋग्वेदमे 'अश्रीर' शब्द आता है, कम-से-कम तीन बार (दे० 'ऋग्वेद' ६: २८: ६, ८: २: २०, १०: ८५:३०)। सायण प्रथम अवसरपर 'अश्रीर'का अर्थ 'अइलील' करता है; द्वितीयपर श्रीहीन, ग्रणविहीन और कुत्सित ("न श्रीरश्रीः। तदस्यास्तीत्यश्रीरः। मत्वर्थायो रः । गुणैर विहीनः कुत्मितः) । और तृतीयपर 'अश्रीर' अर्थात श्रीहीन । 'ऋग्वेद'के जिस मन्त्रमे 'अश्रीर' शब्दका तृतीय बार प्रयोग हुआ है, उसकी आवृत्ति कुछ परिवर्तनके साथ 'अथर्ववेद'मे भी पायी जाती है, किन्तु वहाँ 'अशीर'-के स्थानपर 'अइलील' पढ़ा गया है। इन तथ्योसे स्पष्ट है कि 'अइलील' शब्द 'अश्रीर'का ही रूपान्तर है। पाणिनि (दे० 'अष्टाध्यायी', ६: २: ४२), अमरसिह (दे० 'अमर-कोष', १: ६: १९) आदि प्राचीन ग्रन्थकारोने भी 'अञ्लील' शब्दका प्रयोग किया है। वामनगयादित्य और क्षीरस्वामीके अनुसार वहाँ भी उसका अर्थ श्रीहीन आदि ही है ("श्रियं लातीति श्रीलम्, तद्भिन्नमश्लीलम्")।

भारतीय काव्यशास्त्रियोने अश्लीलताको एक काव्यशेष (दे०) माना है। वामनके अनुसार असभ्य (अशोमन) अर्थकी सम्भावना रखनेवाला और असभ्य वस्तुकी स्मृति जगानेवाला काव्य अश्लील होता है ('असभ्यार्थान्तर-मसभ्यस्मृतिहेतुश्राश्लीलम्''—काव्यालंकारस्त्र २ : १ : १४), किन्तु यदि असभ्यार्थ गुप्त (अप्रसिद्ध), लक्षित (लक्षणागम्य) अथवा संवृत (लोकव्यवहारसे दवा हुआ) हो तो, उसे अश्लील नही मानना चाहिये ("न गुप्त लक्षित-संवृतानि । अप्रसिद्धासभ्यं गुप्तम् । लाक्षणिकासभ्यं लक्षितम् । लोकसंवीतं संवृतम्''—वही, २ : १ : १५-१८)। 'सम्बाध' शब्दका अर्थ संकट प्रसिद्ध है। इसका एक और अर्थ उपस्थेन्द्रिय भी है, किन्तु वह प्रसिद्ध नहीं, अप्रसिद्ध होनेसे सम्बाधका प्रयोग

अरुलील नहीं। 'जन्मभूमि' राब्द स्वदेशका वाचक है, किन्तु लक्षणासे इसका अर्थ उपस्थेन्द्रिय भी किया जा सकता है। यह द्वितीय अर्थ केवल लक्षणागम्य है, अतः काव्यमें 'जन्मभूमि' राब्दका प्रयोग अरुलील नहीं माना जाता। 'रिविलिग' राब्द भी लोकव्यवहारमें इतना समादत है, कि उसे अरुलील नहीं समझा जा सकता। मम्मटके अनुसार रितिकीडा-विषयक वार्तालाप और वैराग्य-वार्तामें अरुलीलता गुण हो जाती है (दे॰ 'काव्यप्रकारा', उछास ७)। वस्तुतः राब्दकोरा, विरवकोरा, चिकित्सा-रास्त्र और न्यायालयकी कार्यवाहीमें भी ऐसे सन्दर्भ उपस्थित हो जाते है, जब अरुलील वार्ता अनिवार्य हो जाती है। उन सन्दर्भों में भी अरुलीलताको दोष नहीं माना जा सकता। अवस्य ही ऐसे सन्दर्भ काव्यरास्त्रकी सीमासे वाहर है।

अश्लीलताके तीन भेद किये गये हैं — व्रीडाब्यंजक अश्लीलता, जुगुप्ताव्यंजक अश्लीलता और अमंगलव्यंजक अश्लीलता । अश्लीलता शब्दगत भी होती है और भावगत भी (दे॰ 'अश्लील')।

प्रश्न उठता है कि अश्लीलता कान्य-दोप मात्र है अथवा अपराध भी, यदि अपराध भी तो किस सीमा तक। आधु-निक राज्योने अश्लीलताको रोक-थामके लिए कानून बना रखे है। न्यायालयोमे आये दिने कृति-विशेषको लेकर अश्लीलताका प्रश्न उठा करना है। अतः अञ्लीलतापर केवल कान्यशास्त्रशी दृष्टिसे विचार करना पर्याप्त नहीं, उसपर न्यक्ति और समाजके हिताहितकी दृष्टिसे भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

अपवादोको छोड कर, सभी कलाकारो और साहित्य-कारोको अदर्शलता-सम्बन्धी विधि-विधान और सेसरिश्य खरुते हैं। इनसे उन्हें अपने भावों और विचारोंकी अभि-व्यक्तिमें बाधा प्रतीत होती हैं, उनकी सर्जन-दाक्ति कुण्ठित और क्षत होनी है। और जब हम देखते हैं कि सेंसरकी स्चीमें सोमरसेट माँम, अनेंस्ट हेमिंग्वे, प्लावेयर, एच० जी० वेल्स, बट्टेंंड रसेल जैसी असाधारण प्रतिभाओंके नाम समाविष्ट रहें हैं तो ये विधि-विधान और भी खल्ने लगते हैं।

कानून द्वारा अञ्चलिलाकी रोक-थामके पोधकोका प्रधान नर्क यह है कि अञ्चलिल साहित्य अथवा कलाके प्रचारसे अपिएफ मस्तिष्कोंकी अपार क्षित होती है। उससे कुत्सित प्रवृत्तियोको वल मिलता है, समाजकी बनी-बनाथी मर्यादाएँ ट्रूटती है, विघटनकारी शक्तियाँ जन्म लेती है। प्राचीन कालमे अञ्चलिल साहित्य अथवा कलारे हानिकी सम्भावना कम थी। आजकी अपेक्षा यातायात तथा प्रकाशनकी सुविधा नगण्य होनेके कारण ऐसी कृतियाँ सबत्तक पहुँच ही नहीं पाती थी। आज तो प्रत्येक प्रकारकी कृति प्रत्येक व्यक्तिको सर्वत्र सुलभ है। अतः पहलेकी अपेक्षा आज अञ्चलील साहित्य अथवा कला कहीं अधिक अन्थी करनेकी क्षमता रखती है।

कलाकार अथवा साहित्यकार अपनी कला-सृष्टि अथवा साहित्य-सृष्टिका ब्रह्मा होता है। उसे इस बातकी स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि अपनी कृतिको चाहे जो रूप दे। किन्तु समाजका अंग होनेके नाते उसके रचना-स्वातन्त्र्यकी कुल सीमा, कुछ मर्यादा, आवश्यक ही जाती है। चाहे वह अपनी रचनामे शुद्ध रूपसे स्वान्तः सुखाय ही क्यो न प्रकृत हुआ हो, उसकी भी लालसा होती है कि उसकी कृति पढी-समझी जाय। अन्यथा वह उसे प्रकाशित ही क्यों करता है ? अतः जहाँ उसके रचना-स्वातन्त्र्यपर यथासम्भव ऑच नहीं आने देनी चाहिए वहीं यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि पाठक पर उसकी रचनाका कैसा प्रभाव पड़ेगा। ऐसे प्रभावको कई कोटियोमे विभक्त किया जा सकता है-राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक। चाहे तात्त्विक दृष्टिसे जनताको प्रत्येक सम्भव उपायसे राज-नीतिक क्रान्ति करनेका कितना ही अधिकार क्यों न हो, कोई भी शासन-राजतन्त्र, अभिजन-तन्त्र, अधिनायक-तन्त्र, लोक-तन्त्र-सशस्त्र क्रान्तिकी छट नहीं दे सकता। फलतः वह ऐसे साहित्यको भी सहन नहीं कर सकता, जिसमें जनताको सदास्त्र कान्तिके लिए आहृत किया गया हो । इसी प्रकार शासनकी ओरसे ऐसे किसी भी साहित्य-को खुली छट नहीं मिल सकती, जिसके प्रचारसे शान्ति-भंगकी आशंका हो (साम्प्रदायिक राज्योंमे शासक सम्प्रदायकी आलोचना करनेवाला साहित्य भी सहन नहीं किया जाता)। इसी प्रकार सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवनको विघटनसे बचाना शासनका बहुत बडा दायित्व है। शासन एतदर्थ अनेक विधि-निपेधोंका प्रवर्तन करता है। इन्हीं विधि-निपेधोमे अइलीलता-सम्बन्धी कानून भी है।

वस्तुतः साहित्यपर शासकीय प्रतिवन्ध प्रत्येक दशामें हेय नहीं माना जा सकता, किन्ही अवस्थाओमें वह उपादेय भी होता है। अतः यदि अइलील साहित्य सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवनके लिए विघटनकारी हो, तो शासन द्वारा उसपर प्रतिवन्ध सर्वथा इलाध्य और वांछनीय कहा जायगा। देखना यह है कि ऐसे साहित्यका स्वरूप क्या है।

अद्दलीलताका अंग्रेजी पर्याय ऑब्सीन (obscene) है। इसका मूल सीनम (caenum) जिसका अर्थ है गन्दगी, अथवा ऑब्सीनम (obscaenum), जिसका अर्थ है गन्दगी, अथवा कुरुप, प्रतीत होता है। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति ऑब्स्वयोरम (obscurum), अर्थात 'गुप्त'से सिद्ध करते हैं। अदलीलताके उम्र रूपके लिए अंग्रेजीमें एक शब्द है पोनोंग्राफी, जिसका शब्दार्थ है वेदया-वृत्त-चित्रण। यह शब्द यौनाचारके नम्न चित्रगके लिए प्रयुक्त होने लगा है।

डॉ॰ मार्गरेट मीडके अनुसार अरुलील साहित्यकी पह-चान यह है कि उसमें यौन आधारकी उपस्थिति-अनुपस्थिति-से स्वतंत्र रूपसे काम दृत्ति उत्तेजित करनेकी शक्ति निहित होती है। ऐसे साहित्यका एकमात्र प्रयोजन होता है कामोत्तेजन, न कि जीवनकी वास्तविकताओं अथवा मूल्यों-का उद्घाटन। डॉ॰ किन्सेके अनुसार अरुलील साहित्य वह साहित्य है, जिसका निश्चित, एकमात्र अथवा प्रधान उद्देश्य होता है काम-वृत्तिका उद्दीपन। अनेक मनश्चिकित्सकोंका मत है कि अरुलील साहित्य नवयुवकोंके लिए हानिकर सिद्ध होता है। वह उन्हें विक्रतमना और कभी-कभी भयंकर यौन अपराध और हिसाकी ओर अग्रसर कर देता है। वह यौन प्रौहता-परिपक्वताका मार्ग अवरुद्ध कर देता है।

कानूनकी दृष्टिमे प्रायः वह अद्यक्तील साहित्य अथवा कला प्रतिबन्धयोग्य मानी जाती है, जो पाठक, श्रोता, अथवा दृष्टामें कुत्सित यौन प्रवृत्तियोको जन्म देने (टु डिप्रेव एण्ड करप्ट)की सम्मावना रखे। १९५५मे मिशिगनके एक सहायक प्रांसिक्यूट्रने कहा था कि मेरी दृष्टिमे प्रत्येक वह पुस्तक अद्यक्ति और अवैध घोषित करने योग्य है, जिसका में अपनी १३ वर्षीया पुत्री द्वारा पढा जाना पसन्द नहीं कर सकता।

प्रश्न उठता है कि नया साहित्य और कलाके प्रतिमान केवल बच्चोके स्तरपर निर्धारित होने चाहियें। इस दृष्टिसे कालिदास, श्रीहर्ष, माघ, विद्यापित, जायसी, होमर, शेक्स-पियर, हाफिज सभीसे हमे हाथ थोना पड़ेगा। वस्तुतः, जैसा कि डी० एच० लारेन्सने लिखा है, संसारकी आधी कविताएँ, चित्र और कहानियाँ अपने यौन अपीलके कारण ही महान् वन सकी है। यदि यौन भावनाको जगाने मात्रके कारण साहित्य-विशेष पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है तो, चूंकि पुरुषके लिए स्त्री और स्त्रीके लिए पुरुष यौन भावना जायन करनेवाले होते है, सभी युवकों और युवतियोंपर प्रतिबन्ध लगना चाहिये।

जहाँ तक बचोंका प्रश्न है, उनके चरित्रकी रक्षाका भार अइलीलता-सम्बन्धी कानूनपर नहीं, माता-पिता और अध्यापकपर होना चाहिये। एक वकीलके यह पूछनेपर कि क्या आप अमुक (अइलील) पुस्तक अपनी २५ वर्षीया लडकीके हाथमें देना पसन्द करेंगे, सर ऐलन हर्वर्टने एक छन्दोबद्ध उत्तर दिया था, जो अञ्लीलता-सम्बन्धी कानूनपर एक तीखा व्यंग्य है। उसका भावार्थ यह है— "वह लडकी न तो द्धमुँही वच्ची है और न कोई अप्सरा ही है। मै उमे अपनी पुस्तकें स्वयं चुनने देता हूँ। किन्तु यदि आपकी दृष्टिमे मुझे ही यह निर्णय करना चाहिये कि वह कौन-सी पुस्तक पढ़े और कौन-सी न पढ़े तो आप यह भी क्यों नही कहते कि उसे न तो घोडा मिलना चाहिये, न नौका, न विलियर्डकी मेज, न तलाक-सम्बन्धी न्याख्यान, यद्यपि ब्रिटिश जातिके लिए ये चीजे कोई खतरा नहीं मानी जाती । और बाइबिल, शेक्सपियरके नाटको तथा प्राचीन पुस्तकोमें जो अइलील अंदा भरे पड़े है, उनके लिए आप क्या कहेंगे ? और कानून-सम्बन्धी प्रतिवेदनो तथा न्याया-लयोंकी कार्यवाहियों में जो यौन चित्रण होते है, उनपर भी क्यों न प्रतिबन्ध लगे ? और समाचार-पत्रोंका तो, इस दृष्टिसे तरन्त चालान हो जाना चाहिये"।

जहाँतक हिन्दी साहित्यका प्रश्न है, लगभग सारा रीतिकालीन साहित्य और बहुत-कुछ अपभ्रंश साहित्य भी, अश्लील कहा जाता है। उसके बाद, द्विवेदीकालीन पित्रता-वादिता और छायावादयुगीन अमूर्तोन्मुखताके कारण यह प्रवृत्ति दब-सी गयी। प्रगतिवादीकथाकारोमे, और कवियोंमे भी अश्लीलताका पुट देखनेको मिलता है। समसामयिक कथा-साहित्यको भी यही दशा है। घेरेके बाह्ररको ही नहीं, नदीके द्वीप जैसे प्रथम कोटिके उपन्यासको भी अश्लील कहा जाता है। यही बात अजयकी डायरीके विषयमें कही जा सकती है। किन्तु यदि फुटपाथ-साहित्यको जाने दें तो यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि आधुनिक हिन्दी साहित्यमें अश्लीकताका वह हप, जिसे पोनोंग्राफी कहते हैं, नगण्य है।

सिहायक ग्रन्थ—डी० एच० लारेस: सेक्स, लिटरेचर एण्ड सेन्सरशिपः जॉन शैन्डास (सम्पा०) : द्र डिनेव ऐन्ड करप्ट :: रॉबर्ट बी॰ डाउन्स (सम्पा॰) : द फर्स्ट फ्रीडम: जॉन स्टिवास : ऑब्सीनिटी ऐन्ड द लॉ; क्रॉनहामेन्स : पोनोंग्राफी ऐन्ड द लाँ; माँरिस अर्न्सट और विलियम स्टीगल : द बी प्योर-अ स्टडी ऑव ऑब्सीनिटी ऐन्ड द मेन्सर; डेविड लॉठ : द एरॉटिक लिटरेचर ।] आगम-आगम संज्ञा उन शास्त्रोको दी जाती है, जो सगुण ईश्वरकी उपासनाका व्याख्यान करते है। विद्वानोंका मत है कि आगमोंकी रचना उपनिषदोंके बाद हई है। आगमो-की रचनाके दो कारण निर्दिष्ट किये गये है। एक तो यह कि इस कालतक आते-आते वैदिक आचार बहुत क्षीण-शक्ति हो गये थे, दूसरे इस कालमे एक विराट् जनसमूह हिन्दू धर्ममें प्रविष्ट हो गया था, जो हिन्दूधर्म एवं उपासनापद्धति-की कठोर नियमनिष्ठताके कारण 'वैदिक आचार'का अधि-कारी नहीं माना जा सकता था। वैसे अधिकारी-निर्णय इन आगमोमे भी हुआ है-शाक्त आगममे तन्त्र, यामल और डामर नामके प्रकारभेद क्रमशः सात्त्वक, राजस और तामस अधिकारियोंको ध्यानमे रखकर ही किये गये हैं, फिर भी वैदिकाचारके अधिकारी-निर्णयकी कठोरता यहाँ नहीं के बराबर है। इस नवोद्भूत तन्त्रशास्त्र एवं उपासनापद्धतिके लिए कोई भी जाति कोई भी वर्ग, स्त्री-पुरुष, अन्तयज-शृद्ध सभी 'अधिकारी' थे। विषय-वस्तुकी दृष्टिसे आगम संज्ञा उन प्रन्थोको दी जाती है, जिसमे सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन (दे॰ 'घटकर्म') एवं ध्यानयोगका व्याख्यान किया गया हो (वाराही तन्त्र)।

उपास्य इष्टरेवताओं के भेदसे आगमों के भी तीन प्रकार के भेद हैं। शक्तिको उपास्य-इष्टरेवता माननेवाले आगम शाक्तागम कहलाते है। शिवको इष्टरेवता माननेवाले शैवागम और विष्णुको इष्टरेवता माननेवाले वैष्णवागम कह जाते है। कुछ लोगोकी यह भ्रान्तधारणा है कि शक्तिके उपासक—शाक्तों शि शाक्तिको ही 'तन्त्र' कहते हैं, किन्तु इन आगमोंकी भॉति ही तन्त्र भी तीन है (दे॰ 'तन्त्र')।

शाक्त आगम तीन प्रकारके माने गये है। सात्त्विक अधिकारियोके लिए तन्त्र, राजसी अधिकारियोके लिए यामल और तामस अधिकारियोंके लिए डामर।

शैवागमोंके भी दो प्रकार माने गये है—श्रीत तथा अश्रीत। श्रीतको श्रुतिसारमय कहा गया है और इसके दो भेद बताये गये है—स्वतन्त्र और इतर। इस प्रकारके और भी अनेक भेद-प्रभेद है। शैवागमोकी एक लम्बी संख्या बतायी जाती है। अनुश्रुतिसे इसके २८ मूल आगम और २०७ उपागम माने जाते हैं।

वैष्णवागमको पाँचरात्र भी कहा जाता है। 'श्रीमद्भागवत' (१०,९०,३४)में इसे सास्वत तन्त्र भी कहा गया है।

वैष्णवागमके दो प्रकार है — पांचरात्र संहिताएँ और वैखानसम्प्र (इसके विशेष विवरणके लिए दे नाथसम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवंदी, १०१६५ से १६६, तथा श्रेडरकी पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन दु द पांचरात्र एण्ड अहिर्बुध्स्य संहिता)।

निगमपर विचार करते हुए संकेत किया गया है कि शैवागम, निगमका अर्थ वेद, नहीं मानते, न वेदोंको कोई खास महत्त्व ही देते है (दे० 'निगम')। यह इनके वेदसे भिन्न होनेका सकेत है। पुराने घन्थोमे कुछ आगमोंको वैदिक और कुछको अवैदिक कहा भी गया है (क्म्पुराण, उत्तरमाग, अध्याय ३८)। कपाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पित्चम, पांचरात्र, पाशुपत आदिको क्म्पुराण, (२६, १)में अवैदिक कहा गया है। उसीमें पाशुपत और लाकुलको वैदिक-अवैदिक दोनो कहा गया है। जहाँतक इन आगमोंका अपना कहना है, वे श्रुतिकी अपने तात्पर्यके अनुसार व्याख्या करके स्वयंको श्रुति सम्मत सिद्ध करते है।

आत्मा-'ज्ञानार्णव तन्त्र'मे चार आत्माओका उल्लेख किया गया है--आत्मा, ज्ञानात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (दे॰ 'हंस')।

आद्याशक्ति—तांत्रिक साधनामें आद्याशक्तिका अर्थ है
स्वपरिणीता पत्नी। पंचमकारोंमे गृहीत मैथुनके लिए यही
एकमात्र सहधर्मिणी मानी गयी है। अगर आद्याशक्ति(पत्नी)
अनिधकारिणी हो या साधकके कोई पत्नी हो ही न, ऐसी
अवस्थामे वह किसी अन्य स्त्री (शक्ति)के साथ सम्भोग कर
सकता है। अतः पंचमकारोंकी तान्त्रिक साथनामें साथ
दे सक्नेकी योग्यतावाली परिणीता पत्नी ही 'आद्याशक्ति'
कहलाती है।

—रा० दे० सिं०

आनंदभ्वन योग-आनन्दभुवन योग तान्त्रिक साधनाको कलंकित करनेवाली हीन कामोपयोगप्रवण साधना है। इसमें साधक कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक एक सौ आठ साधिकाओके साथ साधना करता है। इन साधिकाओमेले एकके साथ वह सम्भोग करता है, शेषको अपने स्पर्शसे कृतार्थ करता है। खज़्राहोके कन्दरीय महादेव मन्दिर, तथा विश्वनाथ मन्दिर (११वी राती)मे ऐसी मृतियाँ पायी जाती है, जिसमें एक पुरुष एक साथ तीन स्त्रियोंके साथ कामकेलि करता दिखाया गया है—एकके साथ सम्भोग और अगल-वगलमे खड़ी अन्य दोके ग्रप्तांगोका दोनों हाथोंसे स्पर्श(दे० 'कामशिलप': लीसन, प्लेट २९, ६०, ६४)। इन मृतियोंने प्रुषोंकी दाढी तथा वस्त्राभरण उनके तान्त्रिक योगी होनेके स्पष्ट प्रमाण है। जॉन वुडरफने इन साधनाओ-को धर्मके अन्तर्गत न मानकर जाद-टोना माना है। वस्ततः ये आध्यात्मिक उन्नति या मुक्तिके लिए न की जाकर, शारीरिक भूखकी लुप्ति, छोटी-मोटी सिद्धि या किसी राजा आदिकी विजयके लिए किया जानेवाला सामान्य जादई अभिचार है, साधना नहीं। मन्दिरोंमें इन साधनाओंसे सम्बद्ध मूर्तियोका पाया जाना इस बातका प्रमाण अवस्य है कि किसी समय जनमानसमें इनके प्रति काफी आस्था आशय-१. योग-दर्शनमें क्लेश (दे० 'क्लेश'), कर्म (धर्म,

की विशेषना बताते हुए, जो इनने अतीत, अस्पृष्ट या असंप्रक्त है, उसे ईश्वर कहा गया है (यो० सू०, १: २४)। आशय पूर्व संचित कर्मोंकी वासनाओं या संस्कारोंका नाम है। २. आयुर्वेदके अनुसार शरीरस्थ ऐसे संचय स्थल, जहाँ एक स्थानपर एक तरहकी वस्त कुछ मात्रामें एकत्र स्थिर रह सके। शरीरमें ऐसे सात आशय माने जाते है-वात, पित्त, इलेषमा, रक्त, आम, पक्व तथा स्त्रियोंमे प्राप्य गर्भाशय । ३. किसी वस्त या पदार्थका आश्रयस्थल होनेके कारण यह स्थान या निवासभूमिका भी अर्थ देता है-जलाशय आदि। ४. सामान्य प्रयोगमे आशयका अर्थ अभिप्राय, तात्पर्य आदि भी होता है। ५ आश्यको मनका विकार भी कहा गया है-- "द्रव्यं स्वभावाशय कर्मकालैरेकादशायी मनसो विकारः" (भागवत. ५: ११: ११) 1 --रा० दे० सिं० इतिहास-दर्शन-मोटे तौरपर, परिनिश्चित तथ्योंकी ससम्बद्ध, कालकमानसारी शृंखलाका नाम इतिहास है। कई, विशेषतः अनुभववादी (एम्पिरिसिस्ट) और तथ्यवादी (पॉजिटिविस्ट) दर्शनसे प्रभावित, इतिहासविद् इतिहासमें तथ्योंका यथार्थ, वस्तुनिष्ठ निरूपण पर्याप्त समझते है, जब कि अन्योकी दृष्टिमें यथार्थीनमुखता अथवा वस्तुनिष्ठता एक कर्त्तव्य है जिसके निर्वाहकी प्रत्येक इतिहासकारसे आशा की जाती है, कोई गण नहीं जिसके लिए इतिहासकार विशेष रूपसे प्रशस्य समझा जाय । वह इतिहासके लिए पहली शर्त है, अन्तिम नहीं। इतिहासकारको तथ्योके जंगलमेसे अर्थवान तथ्योका किसी निश्चित आधारपर चयन, कलन और संग्रन्थन करना होता है। वस्तुतः, वर्तमानको अतीतमें जो ज्ञातव्य प्रतीत होता है, वही इतिहासका विषय बन सकता है। इस चयन-कलन-संग्रन्थन प्रक्रियामे इतिहास-कारका इष्टिकोण झलकता ही है। वस्तृतः इतिहासकार तथ्योके चयन-कलन-संग्रन्थनसे ही सन्तृष्ट नहीं हो जाता, वह ऐतिहासिक घटनाओं अथवा घटना-समहोंकी कारण-निदेशपरस्तर व्याख्या भी करना चाहत। है। इतिहास-

अधर्म), विपाद (कर्मफल) एवं आञ्चय (वासनाएँ)को परुष-

व्याख्या प्रस्तुत करनेका यत्न करता है।

एक और इतिहास-प्रक्रियाके विश्व-प्रक्रियाके चरणविशेष, सातत्य, अथवा परिणतिके रूपमें निरूपण और
इतिहासकी गति-प्रगतिमें अन्तर्लीन तत्त्वींकी खोज और
व्याख्या अथवा उनकी अव्याख्येयताकी मोमांसा, और
दूसरी ओर इतिहासकी भावी दिशा और परिणतिके सम्बन्धमे
व्यवस्थित, कहापोहका नाम इतिहास-दर्शन है।

दार्शनिक एक कदम आगे बढ़कर पूरे इतिहास, उसके

विभाग-विशेष अथवा प्रवृत्ति-विशेषकी सुव्यवस्थित, दार्शनिक

इतिहास-दर्शनकी गणना प्राचीनतम विद्याओंमें होनी चाहिये। प्रागैतिहासिक सभ्यताओंमे भी इसके बीज मिल जाते है। प्राचीन भारत जैसे इतिहास-सून्य देशमे भी युग-चक्रोंकी कल्पनाके रूपमें इसके दर्शन हो जाते है। तथापि इतिहास-दर्शनका प्रथम व्यवस्थित रूप हमे सेन्ट ऑगस्तीन (३५४-४३०)की प्रसिद्ध विशाल कृति 'द-सिवितेत देई' (De-civitate Dei-ईश्वरका नगर)में देखनेको मिलता है। इतिहास-दर्शन(फिलॉसोफी ऑव हिस्ट्री) शब्दका प्रथम

प्रयोग १८वी जातीमे बोल्तेरने किया था।

समय प्राचीन इतिहास-दर्शन संश्लेषणात्मक (सिन्थेटिक) अथवा ऊहात्मक (स्पेक्युलेटिव) है। उसमें कल्पना-जाल प्रस्तकर संस्थान-निर्माणका विशेष प्रयत्न देखनेको मिलता है, इतिहासके स्वरूप और सम्भावनाओंकी तथ्यात्मक समीक्षा नहीं—वह विश्लेषणात्मक (अनालिटिकल) अथवा समीक्षात्मक (क्रिटिकल) है। अर्वाचीन इतिहास-दर्शनमें ये दोनो प्रवृत्तियाँ मिल जाती है।

प्राचीन इतिहास-दर्शन तीन चरणी अथवा सोपानोंमें विकसित हुआ था—(१) पौराणिक-धार्मिक(थियॉलॉजिकल-रेलिजस), (२) आध्यात्मिक (मेटाफिजिकल) और (३) समाजशास्त्रीय (सोशियॉलॉजिस्टिक)। .पौराणिक-धार्मिक चरणके दो रूप है-आदिम चक्रवाद (मिक्लिसज्म) और हिन् रेखावाद (लीनियरिज्म) । आदिम चक्रवाद (दे०-सांस्कृतिक चक्रवाद)का प्रचार-प्रसार मिश्र, बाबल. चीन, भारत और यूनानभे पाया जाता रहा है और रेखावाद (दे०-सांस्कृतिक चक्रवाद) यहदियों और ईसाइयोमे । आध्यात्मिक चरणकी तीन शाखाएँ देखनेको मिलती है-युनानी इतिहास दर्शन, इतालीय रेखाबाद और जर्मन रेखावाद । यूनानी इतिहास-दर्शनमे चक्र-वाद और रेखावाद दोनों धाराएँ पायी जाती है। यूनानी चक्रवादियोंमे अफलातून (४२७-३४७ ई० प०) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) तथा रेखावादियोंमे पालिबियस (२०५-१२३ ई० प्०) और ही जियद (८०० ई० प्०)के नाम प्रसिद्ध हैं। इतालीय रेखावादके पुरस्कर्ता श्याम्बात्तिस्ता विची (विको) (१६६८-१७४४) और गोतफीद हेर्देर (१७४४-१८०३) जैसे विचारक इए है। जर्मन रेखावाद इमानुएल कान्त (१७२४-१८०४) और डब्ल्यू० एफ० हीगेल (१७७०-१८३१)के हाथों पुष्पित-पछवित हुआ था। समाजशास्त्रीय इतिहास-दर्शनका पिता इब्न खल्लदून (१३३२-१४०६) था, जिसका जन्म ट्युनिसके एक अरब परिवारमें हुआ था। इसके बाद समाजशास्त्रीय प्रवृत्तिका परिचय हमे फ्रांसीसी रेखावादियों बोर्दा (१५३०-१५९६), बोसुए (१६२७-१७०४), मोतस्क्यू (१६८९-१७५५), थियरी (१७९५-१८५६), तुर्गात (१७२७-१७८१), मिशले (१७९८-१८७४), आंगस्त कोम्ते (१७९८-१८५७), फ़रिये (१७७२-१८३७) आदिमें मिलता है।

जैसा िक ऊपर कहा गया है, अर्वाचीन इतिहास-दर्शनमें दोनों प्रवृत्तियाँ—संख्लेषणात्मक अथवा ऊहात्मक और विश्लेषणात्मक अथवा अहात्मक और विश्लेषणात्मक निर्माति है। प्रथम प्रवृत्तिकी तीन धाराएँ दिखायी देती है—प्रकृतिशास्त्रीय (नैचुरिलस्टिक), समाजशास्त्रीय (सोशियॉलॉजिस्टिक) और धार्मिक-आध्यात्मक (रिलिजस-धियॉलॉजिकल-मेटाफिजिकल)। प्रकृतिशास्त्रीय धाराके दो रूप है—प्रथम भूगोल-शास्त्रीय रेखावाद, जिसके पुरस्कर्ता टामस विकल (१८२१-१८६२), लप्ले (१८०६-१८८१), हण्टिगटन (१८७६-), तायं (१८२८-१८९२) आदि है और दूसरा प्राणिशास्त्रीय विकासमूलक रेखावाद जिसके प्रवर्तन-सम्पोषणका श्रेय हर्वर्ट रंपेंसर (१८२०-१९०३), प्रिंस क्रोपाटिकन (१८४२-१९२१) और डार्विन (१८०९-१८८२)को है। समाजन

शास्त्रीय इतिहास-दर्शनकी दो धाराएँ देखनेको मिलती है-प्रथम व्यक्तिवाद अथवा महापुरुषवाद (दे०) और दूसरा समष्टिवाद । समष्टिवादमे रेखावादी और चक्रवादी दोनों प्रवत्तियाँ पायी जाती है। रेखावादके चार रूप देखनेको मिलते है-(१) अर्थशासम्लक (इकॉ नॉमिस्टिक-टेक्नॉलॉ-जिस्टिक) इतिहास-दर्शन, जिसके प्रवर्तकोमें कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३), टी० वेब्लेन (१८५७-१९२९), ऑगवर्न आदिका नाम लिया जा सकता है। (२) राजशास्त्रीय (पोलिटिकलिस्टिक), जो शक्ति-कांक्षाको इतिहासका प्रेरक हेत्र मानता है और जिसका प्रतिपादन बट्टेंड रसेलकी पुस्तक 'पॉवर-अ न्यू सोशल अनालिसिस'मे पाया जाता है। (३) समाजशास्त्रीय (मोशियॉलॉजिस्टिक), जिसके उन्नायक दुर्खीम (१८५८-१९१७), कूले (१८६४-१९२९), मैक्स वेबर (१८६४-१९२०), मैक आइवर, कार्ल मैनहीम राल्फ लिण्टन, पैरेटो (१८४८-१९२३), आर० एच० टॉनी, लुई ममफोर्ड आदि है। (४) विचारधारामूलक (आइडियॉ-लॉजिस्टिक), जिसके पोषकोमे अन्योके साथ मानवेन्द्रनाथ रायका नाम लिया जा सकता है। नवीन चक्रवादके दो रूप है-सौन्दर्यवाद (दे०-सौन्दर्यवादी समाज-दर्शन) और सांस्कृतिक चक्रवाद (दे०)।

आधुनिक आर्थिक इतिहास-दर्शनकी तीन धाराएँ है— ईसाई, थियोसॉफिकल और हिन्दू। ईसाई इतिहास-दार्श-निकोमे नुऑव, वटरफील्ड, देटिएफ (१८७४-१९४८) और नीवुहर अग्रगण्य है। थियोसॉफिकल इतिहास-दर्शनके प्रचारक मैदाम ब्लेवैट्स्की, एनी वेसेण्ट, जे० ई० मारकाल्ट और रोहित मेहता है। हिन्दू इतिहास-दर्शनक्षोमें श्री अर-विन्द और डॉ० भगवान्दासका उक्षेख किया जा सकता है।

विद्यलेषणात्मक-समीक्षात्मक इतिहास दर्शनका आजकल दार्शनिकोंमे बडा मान है। इसके पोषकोंमे डिल्थे, काण्ट धूम, मैण्डेलवाम, ओकशाट, बेडले, कालिंगउड, झोचे, कैसिरेट, वारुश प्रसिद्ध है।

ऐसे भी चिन्तक है, जो इतिहास-दर्शनकी सम्भावनासे ही इनकार करते हैं। उनका कथन है कि मानव-स्वभाव इतना दुभेंच और जड-जगत्के नियमोसे स्वतन्त्र है कि इतिहासकी टिशाके निदेशके सारे प्रयत्न थोथे हैं। ऐसे चिन्तकोंमे छई फिशर, कार्ल पॉपर और हायेक प्रमुख है।

हिन्दी साहित्यमें इतिहास-दर्शनकी चर्चा नगण्य है। 'प्रतीक', 'आजकल', 'आलोचना', आदि पत्रिकाओं में इस-पर कुछ लेख प्रकाशित हुए थे। भगवतशरण उपाध्यायके 'भारतीय समाजका ऐतिहासिक विश्लेषण' में भी इसपर किंचित् विचार मिलता है। नलिन विलोचन शर्मांका 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' साहित्येतिहास-दर्शनसे सम्बद्ध है।

[सहायक प्रन्थ—सेण्ट आगस्तीन : द सिटी ऑव गॉड; इन्न खल्दूनका मुकदमा (हि॰ अनु॰ : डॉ॰ रिजवी); हीगेल : लेक्चर्स ऑन द फिलॉसॉफी ऑव हिस्ट्री; ओखाल्ड स्पेग्लर : द डिक्लाइन ऑव वेस्ट; आर्गोल्ड जे॰ द्वायनवी : अ स्टडी ऑव हिस्ट्री; पितिरिम ए॰ सोरोकिन : सोशल्ड ऐण्ड कल्चरल डाइनेमिक्स; सोशल फिलॉसॉफीज ऑव ऐन एज ऑव क्राइसिस; बुद्धप्रकाश : इनिहास-दर्शन (१९६२);

जे० बी० बेरी : दि आइडिया ऑव प्रॉग्रेस; रॉबर्ट फ्लिण्ट : हिस्ट्री ऑव द फिलॉसोफी ऑव हिस्ट्री। **ई३वरतत्त्व** – कौल साथनाके अनुमार परम शिवके सृष्ट्युन्मुख होनेपर दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं शिव और शक्ति। परमशिव निर्गुण और निरंजन है, पर उनसे उद्भूत शिव सगुण और सिस्क्षारूप उपाधिसे युक्त, सोपाधिक है। शक्ति सृष्टिकी मूल कारण है। शक्ति द्वारा जगत्की अभि-व्यक्तिके समय शिवके दो रूप प्रकट होते है-सदाशिव और ईश्वर । ये ही सृष्टिके प्रथम चार तत्त्व है। इसके बाद शेष वत्तीस तत्त्व इन्हींसे विकसित होकर सृष्टि रचना-को रूप देते हैं। कौलोके अनुमार ये ही ३६ तत्त्व (दे०-तत्त्व) सृष्टिके कारण है । सदाशिव तत्त्वमे सदाशिव जगत्-को अपनेसे अपृथक (अहं) रूपमे जानते है, अतः इसे पूर्णाहन्ता या पराहन्ता कहते है। दूसरा तत्त्व है ईश्वर तत्त्व । इसमे शिव अपनेको जगत्से भिन्न (इदं) रूपमे देखते है। -रा० दे० सिं० उलटा बाण-सन्त साहित्यमे उलटा वाण प्राणायाम द्वारा कर्ध्वमुख किये गये प्राणवायुके लिए प्रयुक्त होता है। बाण यह इसलिए कहा जाता है, नयोकि इसीके द्वारा सहस्तार-चक्रका भेदन होता है। कवीर कहते है-"सन्तो जागत नीद न की जै। पैठि गुफामे सब पग देखे, बाहर कछुक न सूझै। उलटा बान पारिधिह लागे, सूरा होय सो बूझै" (क० ग्रं० : दास, प्र० १४१-४२) । — रा० दे० सि० उट्टीगंगा-इडा नाडीको हठयोगकी शब्दावलीमे गंगा कहा गया है (हठयोग प्रदीपिका, ३:१०२)। पिगला यमना है। गंगाको उलटकर यमुनाम मिलानेके रूपक सन्तोके साहित्य-मे पर्याप्त मिलते है । महाराज विश्वनाथ सिंहने उल्टीगंगा-का अर्थ किया है "संसार-मुखी राग रूपी गंगाका उलटकर ब्रह्ममुखी होना"। विचारदास शास्त्रीने इसे 'ब्रह्माण्डमे चडाई हुई सॉस' कहा है। शास्त्रीय परम्परामे गंगा इडा नाडीका अर्थ देती है। गंगाको उल्टनेकी बात करने वाले सिद्ध और सन्त सामान्य सत्यसे उल्टी बात भी करते है। जगत्मे जमुना गंगासे मिलती है पर सन्तोका कहना है कि जो गंगाको उलटकर जमुनामे मिलाता है वह विना जलके त्रिवेणी संगमपर (दे० त्रिवेणी) मानस स्नान करता करता है। कवीर कहते है-"उल्टीगंगा जम्रन मिलावड, बिनु जल संगम मन महि न्हावड" (सन्तकबीर, पृ० २०)। एक दूसरे स्थान पर वे कहते है-"उलटी गंगा समुद्रहि सोखे सिसहर सूर गरासे। नवग्रह मारि रेशग या बैठै जलमहि बिम्ब प्रकासै" (क॰ गं॰ : ति॰, पद १२२)। रैदास भी ठीक यही वात कहते है-"उलटीगंगा जमुन मे लावी, बिन ही जल मज्जन ही पावी" (रैदासजीकी बानी, ५६:३)। योगियो और सन्तोकी साधनाका मूल ही है कि जो नीचे है, अधोमुख है, उसे ऊर्ध्वमुख करके ऊपर ले जाया जाय । अवधूतीपर विचार करते हुए हमने लक्ष्य किया है कि इड़ा और पिगला इसी अवधूनीके अविशुद्ध रूप हैं। सामान्य स्थितिमे इडा-पिंगलासे श्वासधारा बाहर-की ओर प्रवाहित होती रहती है। योगमे प्राणायाम द्वारा बाहरकी और प्रवहमान श्वासधाराको उलटकर ब्रह्माण्डमें चढाया जाता है, जिससे समाधि सम्पन्न होती है। समाधि-

की अवस्थामें इडा और पिंगलासे न प्रवाहित होकर इनके मध्यमे स्थित सुपुम्नासे प्रवाहित होता है। इस अवस्थामे इडा-पिगला (गंगा-जमुना) एकाकार हो जाती है। यही सामरस्यकी स्थिति अवधूती है (दे०-अवधूती)। इडा-पिगला और सुपुम्ना (अर्थात् गंगा, यमुना और सरस्वती) का जहाँ एकीमान हो जाता है, वह त्रिवेणी है, जहाँ विना जलको मानस स्नान करनेकी बात (ऊपरके उद्धरणोमे) कवीर और रैदासने की है। उलटीगंगाके अर्थको समझ लेने पर ऊपरके उद्धरणो तथा इस तरहके अनेकशः योगपरक रूपकों और उलटबॉसियोको आसानीसे समझा —रा० दे० सिं० जा सकता है। ऊर्णचक-तांत्रिक साधनाके नामपर मुक्तकामोपभोगकी, जो अनेक घृणित और सामाजिक स्वास्थ्यको विनष्ट करनेवाली साधनाएँ चल पड़ी थी, ऊर्णचक्र उनमेसे एक है। इसमे साधक-साधिकाका एक-एक जोडा किसी वस्त्रमे लिपटकर रसभोगका साधना करता है। जान बुडरफने 'ऊर्ण'का अर्थ 'मकडीका जाला' किया है (शक्ति एण्ड शाक्त, संरक्तरण ४, पृ० ६२४), पर यह अर्थ ठीक बैठता नहीं। लगता है यह ऊर्णचक्र न होकर ऊर्णचक्र है। ऊर्ण, अर्थात् आवरण, वेष्ठन, पर्दा- "ऊर्णनाव स शस्त्रीधैर्वानराणाम-नीकिनीम्" (भट्टिकाच्य, १४, १०३, ३)। -रा० दे० सिं० कर्म-वेदान्ती जिसे कर्म कहते है, सांख्यमे उसे बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहा जाता है। सांख्यकारिका, ४०में इसीको 'भाव' कहा गया है और बताया गया है कि जिस प्रकार फूलमें गन्थ और कपड़ेमें रंग लगा रहता है उसी तरह 'भाव' भी लिंगशरीर (दे०-लिंगशरीर) मे लगा रहता है। महायान बौद्ध सम्प्रदायमें भी कर्म सम्बन्धी मान्यता कुछ ऐसी ही है। जिस प्रकार अच्छी तरह रखा हुआ गेहूँका बीज हजारो वर्षी बाद भी अपनी अंकुरित होनेकी शक्ति नहीं खोता, इसी प्रकार कर्म भी अविनश्वर है। हिन्द्शास्त्रोमे कर्मके कई भेद बताये गये है। मनुस्मृति १२, ३में कायिक, वाचिक एवं मानसिक नामके तीन कर्म बताये गये हैं। फिर उत्तम, मध्यम एवं अधम भेदसे इन एक-एकके भी तीन-तीन भेद किये गये है। हिन्दू शास्त्रों मे सामान्यतः तीन प्रकारके कर्म माने गये हैं-१. संचित, २. प्रारब्ध एवं ३. क्रियमाण । मनुष्यने जो कर्म किया है वह संचित कहलाता है, जिस पूर्वकृत् कर्मका फल वह शोग रहा है, उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते है और जिस कर्मको वह कर रहा है वह क्रियमाण कर्म है। अच्छे कर्मसे स्वर्ग मिलता है और बुरेसे नर्क। प्राणी जब अपने अच्छे बुरे कर्मीका फल भोग लेता है तो पुनः मर्त्यलोकमें लौट आता है। इस प्रकार कर्मवन्धमें फॅसा व्यक्ति आवागमनके चकरमें पड़ा रहता है। इस चकरसे मुक्तिका उपाय शान है, ऐसा उपनिषदोंका मत है। वे मानते है 'विना ज्ञानानन-मुक्तिः"। भक्त ज्ञानके स्थानपर भक्ति और भगवान्की कृपाको कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेका साधन मानता है। भारतीय कर्मवादी दर्शन बडा ही जटिल और वैविध्य-कबिता-सन्तोंके साहित्यमे इस शब्दका कहीं-कही ऐसा प्रयोग मिल जाता है, जहाँ इसका अर्थ काव्यसे न होकर

सीधे कविसे होता है। मध्यकालीन साहित्यमें कान्यका अर्थ देनेके लिए कविता शब्दका प्रयोग न कर प्रायः 'कवित' शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। सन्तोंकी भाषा लोकभाषा थी ही। फिर बनारसके आस-पास 'कबिता' शब्दका व्यवहार कवि अर्थमे होता है। कहावत है "थोर बनावै कवीरदास, ढेर वनावै कविता", अर्थात् कवीरने तो थोडा ही लिखा-बनाया, पर परवर्ती कवियोंने उसमें बहुत-कुछ अपनी ओरसे जोड़ दिया है। इस कहावतका प्रयोग ऐसे अवसरोंपर किया जाता है, जब कोई किसीकी कही गयी बातको अपनी ओरसे बढा-चढा कर कहता और मूल बातको नये रूपमे रखकर मूल वक्ताको नीचा दिखाना, या बदनाम करना चाहता है या अपना स्वार्थ साधन करना चाहता है। सन्तोके साहित्यमे कई स्थलींपर 'कविता' 'कवित'के साथ भी प्रयुक्त मिलता है। वैसे स्थलोंपर कविताका 'कवि' अर्थ स्पष्ट लक्षित होता है। कबीरने ही लिखा है—"कबिता पढि पढि कबिता मूए, कापडी केदारै जाई। केसलूँचि लूँचि मरे बरतिया, इनमें किनहूं न पाई" (क॰, ग्रं॰: पारसनाथ तिवारी, पद ८५) । अर्थात् कविलोग अनेक (धर्म-) काव्य पढ-पढकर मर गये, कार्पटिक केदारनाथका दर्शन करते नष्ट हो गये, ब्रतधारी (= केशलुंचन सम्प्रदायके जैन) बाल नोच-नोच कर विलीन हो गये पर इनमेंसे सदगति किसीको नहीं मिली। वह इन सबसे नहीं, नामके सच्चे सुमिरनसे मिलती है। कबीर - उत्तर प्रदेश और बिहारमे होलीके समय गाये जाने-वाले अइलील गीत। पूर्वी उत्तरप्रदेशके गावोंमें 'कबीर' गानेकी प्रथा पिछले दो-चार वर्षीके पूर्वतक बडी ही प्रबल रही है। इधर याम पंचायतोंके बन जाने, शिक्षा प्रसार, आधुनिक सभ्यताके प्रभाव एवं सुधारवादी रोक-थामके परिणामस्वरूप कबीर गाना निम्नरुचिका परिचायक माना जाने लगा है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने आजसे बाईस-तेईस साल पहले ही अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका'में इन गीतोंके महत्त्वकी ओर संकेत किया था कि इनके समुचित अध्ययन और विवेचन-विश्लेषणसे सम्भवतः इस बातपर प्रकाश पड सके कि इन गीतोंको कबीर क्यों कहा जाता है ? इन गीतोंके साथ थोगियों और कबीर पंथियोंकी किसी प्राचीन प्रतिद्वंदिताकी स्मृति तो नहीं जुड़ी हुई है ? और यह कि ये अइलील गान भी जलटवॉ सियों-की भॉति किसी युगमें किसी अपस्तृत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करने वाले तो नहीं माने जाते? (हिन्दी साहित्यकी भूमिका, छठाँ संस्करण, पृ० ७०)। द्विवेदीजी ने यह भी बताया है कि ये गीत जोगीडा (दे०-जोगीड़ा) गा लेनेके बाद गाये जाते है, पर आजमगढ जिलेकी देहाती-मे इस तरहकी कोई प्रथा नहीं है। एक तो जोगीड़े गाये भी कम जाते है, दूसरे कबीरके पहले या बादमे गाये जाने का कोई प्रचलन-विशेष नहीं है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तकमें (दे०-कबीर, ५ वाँ संस्करण, पृ० ३९-४०) ललितिकशोर सिंह 'नटवर'की एक सूचनाका उल्लेख किया है कि "हिन्दी साहित्यकी भूमिका"में मैंने गोरखपंथियोंके पदोंसे मिलते हुए दादके पदोका हवाला दिया था। 'नटवर'जीने बताया है कि "ये पद बिहारमें

'जोगीडो'के रूपमें प्रचलित है। उन्होंने इन पडोको पटनामें गाये जाते सुना था।" वैसे कवीरगानमें गालियाँ अधिक और पद कम है। --रा० दे० सि० क्रमेनाड़ी-स्वासकी नली। अंग्रेजीमें इसे बांकल ट्यव (bronchial tube) कहते है। सम्भवतः इसका आकार-प्रकार कछएसे मिलता-जलता है। महिष पतंजलिकी दृष्टिमे इस नाडीका बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसमें संयम करनेपर श्रारंकः स्थैर्थ सिद्ध होता है और शरीरकी स्थिरना चित्त-को स्थिर वनाती है-"कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" (यो० स्०, ३:३१)। -रा० दे० सिं० कोलमार्ग, कोलज्ञान-कोल साधकोंके अनुसार 'कुल' शब्द शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शिवका तथा कुल और अकलका सम्बन्ध स्थापित करनेवाला मार्ग कौल-मार्ग है। 'सौमाग्य भास्कर' (पृ० ५३) मे कहा गया है-"कुलंशक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य संबन्धः कौलमित्यभिधीयते" ('कुल'के अन्य अधींके लिए दे ०-कुल) । तन्त्रालोककी टीका (५० २४)मे मत्स्येन्द्रनाथको सकल कुलशास्त्रका अवतारक कहा गया है। इस कौलमार्ग-में माना जाता है कि शिव और शक्तिमे वैसे कोई भेद नहीं है; चन्द्र और चन्द्रिकाकी तरह (गो० सि० सं०, पृ० ६७), अग्नि और धूमकी तरह, वृक्ष और छायाकी तरह वे एक दूसरेके बिना रह ही नहीं सकते। लेकिन जब शिवमे सिसुक्षाका स्फरण होता है तो निर्गुण निरंजन और निरुपा-धिक परमशिवसे शिव और शक्ति या अकुल और कुल नामके दो तत्त्व उद्भृत होते है। परम शिवसे इस नवोद्भृत शिवका एक स्पष्ट अन्तर यह होता है कि शिव सगुण, सांजन, सोपाधिक और सिस्क्षा सम्पन्न होता है। फिर इस नवजात शिव और शक्तिसे क्रमशः ३४ तत्त्वोका उद्भव होता है। जीव. तेरहवें तत्त्वका नाम है। यह जीव भी वैसे शिव ही है, पर माया या अविद्याके ६ कंचकोसे कंच-कित । अविद्याके ये कंचुक (दे०-कंचुक) कुल और अकुलके सामरस्यरो कटते है। ब्रह्माण्डमें जो कुल और अकुल (या शिव और शक्ति) है, सुक्ष्मरूपसे पिण्डमें भी वे वर्तमान है। मूलाधार पद्ममे स्थित साढ़े तीन वलयोवाली कुण्डलिनी ही राक्ति है और सहस्रारमे परमशिवका आवास है। साधनाके द्वारा इन दोनोंका सामरस्य स्थापित करनेवाला ज्ञान इसीलिए **कोलज्ञान** कहलाता है। 'कोलज्ञान निर्णय'से ज्ञात होता है कि यह कौलज्ञान बहुत पराने जमानेसे एक कानसे दूसरे कानतक पहुँचता हुआ (६: ९) परम्पराक्रममें (१४: ९) चला आ रहा है। उक्त ग्रन्थमें रोमकूपादि कौल (१४:३२), वृषणोत्थ कौलिक(१४: ३३), विह्न कौल (१४: ३४), कौल सद्भाव (१४: ३७)का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानीने इनकी कौलोंके विभिन्न सम्प्रदाय माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इनका सिद्धिपरक अर्थ करनेके पक्षमे है। (नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५७) । उक्त ग्रन्थ (१४ : ४७-४९)में बताया गया है कि आदि युगमें इसे कौलज्ञान नामसे जाना जाता था। द्वितीय युग (त्रेता)में इसे 'महत्कौल' कहा जाता था। तृतीययुग (द्वापर)में इसे 'सिद्धामृत' कहा गया और कलियुगमें 'मत्स्योदर कौल' कहलाया। इसी

मत्स्योदर कौलसे निकला हुआ ज्ञान 'योगिनी कौल' मंज्ञासे जाना जाता है। ग्रन्थके २१वें परलमें इसके अनेक मार्गों-का उल्लेख हुआ है (विस्तृत विवेचनके लिए दे०—ह० प्र० हिवेदी: 'नाथ सम्प्रदाय' तथा पी० सी० बागची: 'कौ० जा० नि०: भमिका।) -रा० दे० शिं० घरनी - संतोके माहित्यमें प्राप्त होनेवाली उलटवॉसियों और योगपरक रूपकोंकी ही तरहकी उलटवॉसियॉ और रूपक सिद्धोंके साहित्यमें भी पर्याप्त मात्रामे मिलते हैं। घरणि या घरनी स्त्री या पत्नीका अर्थ देनेवाला शब्द है। सिद्धोंने अपनी उलटवॉसियोमें इसका बहुत बार प्रयोग किया है। कण्हपा कहते है-"प्क ण किजिय मंत ण तंत । णिअ घरणी लई केलि करन्त । णिअ घर घरणी जाव ण मज्जई। ताव ण पंचवण्ण विहरिष्जइ। जिमि लोण मिलिज्जइ पाणिअङ तिमि घरणी लङ चित्त । समरस जङ तक्खणे जङ पुणते समनित्त"। आदिमें तो उनका मतलब अपनी घरनी-से ही होता है, किन्त ऐसी बात नहीं। वैसे सरह आदि सहजयानी विश्वाद विषयोके रमणको मुक्ति या परम महासुख (= निर्वाण)की प्राप्तिका अन्यर्थ साधन मानते थे, लेकिन जब वे इस तरहकी बार्ने करते है तो उसका एक गृढ अर्थ भी होता है। सिद्धांकी साधना पद्धतिमे तीन वृत्तियाँ मानी गयी है-अवध्नी, चाण्डाली और डोम्बी। इन तीनो वृत्तियोका एक नाम घरणी है। घरणीसे इन तीनोंका बोध होता है। उत्कर्षक्रमकी दृष्टिसे डोम्बी या बंगाली सबसे उत्कृष्ट और अवधूती सबसे निचली श्रेणीकी है। जब भुकुस पा कहते हैं—"आजि भूसु बंगाली णिअ घरणी चण्डाली लड्ली", अर्थात् "ऐ भुकुस तुमने चण्डाली घरनी तो बनाली अब आज बंगाली घरनी भी बना ले" तो उनके व्यावहारिक जीवनमे किसी चण्डाली, बंगालीसे कोई तात्पर्य रहा हो या न रहा हो, चण्डाकी और डोम्बी या बंगाली वृत्तियोसे अवस्य था । सिद्धोके अनुसार अवधृति-में द्वेत ज्ञान बना रहता है, चण्डालीमे द्वेत ज्ञान रहता भी है, नहीं भी रहता है, किन्तु बंगाली या डोम्बीमे विद्युद्ध अद्भैन ज्ञान प्राप्त हो जाता है। -रा॰ दे॰ सिं० चित्तभूमियाँ -योगशास्त्र पॉच चित्तभूमियाँ मानता है-क्षिप्त, मृढ, विक्षिप्त, एकाय और निरुद्ध। चित्तभूमिका अर्थ है चित्तकी सहज स्वाभाविक अवस्था। विशेषके लिए -रा० दे० सिं० दे०—'समाधि'। चित्तवृति -योगको चित्तवृत्तिका निरोध कहा गया है-"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" (पातंजल यो० सू०१:२)। चित्तवत्तियाँ वैसे तो बहुतेरी है, पर पाँच मुख्य है। ये है-प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प, निद्रा और स्मृति (यो० सू०, १:६) । मुमुक्ष व्यक्तिको इनका निरोध करना चाहिये। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इनका निरोध संभव है (यो० सू०, १:१२) (विशेषके लिए दे०-पातंजल योगदर्शन, लखनऊ विश्वविद्यालय, -रा० दे० सिं० पु० ११-२७) । **चुड़ाचक्र** – तान्त्रिक साधनाके नामपर कुछ ऐसे साधकों-का उल्लेख भी यदाकदा मिल जाता है, जिन्होने इस साधनाको मुक्त कामोपभोगकी घृणित पद्धति बना दिया है। जॉन वडरफको (शक्ति एण्ड शाक्त, संस्करण ४: ५०

६२३)एक पण्डितने वताया था कि 'सिद्धमाउरहस्य' नामक ग्रंथमें चड़ाचक नामकी एक साधनाका विवरण मिलता है, जिसमें पनास सिद्धवीर और उनकी पचास शक्तियाँ भाग लेती थी। कौन शक्ति किस सिद्धवीरकी सहधमिणी बनेगी, इसके निर्णयके लिए ग्रप्त साधनापीठमें प्रवेश करते समय हर साधिका अपनी चुडा (चोठी) एक स्थानपर जमा करती जाती थी। बादम अवेश करनेवाले सापक ऑखे बन्द करके उस देरमें ने एक-एक चोळी उठाते जाते हैं। जिस शक्ति विशेषकी चोली हाशमें आ जाती, उस रात वह शक्ति उस सिद्धवीरकी सहध्मिणी बनती। वलभद्र ठाकरने हिमाल-यीय जीवनका विश्वकोश तैयार करनेकी एक योजना बनायी है, जिसे वे उपन्यासोके रूपमे लिख रहे है। इस योजनाके अन्तर्गत लिखे गये अपने उपन्यास 'आदित्यनाथ' (पृ० १५४)मे उन्होंने इस चुडाचक्रको 'चोलीमार्ग' कहा चोर-चंचल चित्त, विषयासक्त मन, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि वृत्तियो तथा कालके अर्थमें चोर शब्दका सांकेतिक प्रयोग नाथों और सन्तोने वार-बार किया है और वार-बार इनसे सावधान रहनेको सलाह दी है। गोरखनाथ अपने एक पदमें कहते है-" काया हमारे सहर बोलिये मन बोलिसे हुजदारं। चेतिन पहरै कोटवाल बोलिए तौ चोर न झके द्वार" (गी० बा०, पृ० १२०)। यहाँ चीर काम-क्रोध-लोभादि वृत्तियोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थमें क्वीरका एक प्रयोग है—''अवमन जागत रह रे भाई। गाफिल होइकै जनम गॅवायो चोर मुसै वर जाई" (क॰ग्रं॰: ति॰, पद ८०)। चंचल विपयासक्त मनके अर्थमे भी कबीरने चोर शब्दका व्यवहार किया है-"सभै मदि माते कोउ न जाग। संग ही चोर घर मुसन लाग" (वही, पद १९८)। कालके अर्थमे भी इसका प्रयोग कबीरमे मिलता है-"तीन लोक चोरी भई सरबस सबका लीन्ह। बिना मूंड़का चोरवा परा न काहू चीन्हि" (वही॰, पृ॰ २२८,४)। इसी बिना मुख या शिरके चोरका उहेख तुलसीदासने अपने बहुप्रसिद्ध पदमे किया है-"'रविकर नीर बसै अति दारुण मकररूप तिहिमाही। बदनहीन सो यसै चराचर पान करन जे जाही" (विनयपत्रिका)। क्बीरका बिना मूडका चोर और तुल्सीका बदनहीन मकर एक ही-कालके वाचक है। कालके अर्थमे कबीरका एक और प्रयोग है-"मेरी मेरी करता जनम गयो। जनम गयो पर हरि न कह्यो। बारह बरस बालपन खोयो बीस बरस कछु तप न कियो"। XXX"स्खे सरवरि पालि बँधावै लूने खेत हठि बारि करें। आयो चोर तुरगहि लै गयौ मोहड़ी राखत सुगध (फरैं" (वही, पद ८३)। लक्ष्य करनेकी बात है कि जहाँ चीर एक वचनमे प्रयुक्त है, वहाँ वह चंचल विषयासक्त मन या कालका अर्थ देता है और जहाँ पाँच, दस चौरोका उल्लेख रहता है, वहाँ इन्द्रियों आदि का। —रा०दे० सिं० जीव-कौलसाधनामे स्वीकृत ३६ तत्त्वोमे जीव तेरहवॉ तत्त्व हैं (दे॰ 'तत्त्व')। मायाके छः कंचुकोसे बद्ध शिव ही जीव है (दे॰ 'कंचुक') । सांख्यमें इसीको 'पुरुष' कहा जाता है। कौल्साधक मूळाधारमें कुण्डलिनीको, सहस्रारमे परमशिव-

को और हत्पवमें जीवको स्थित मानता है। कुण्डिलिनीको उद्बुद्धतर पर्भकोंसे पार करता हुआ सहस्रारस्य परम-शिवसे उमका सामरत्य करानेका सारा प्रयास इसी जीवको मुक्त करानेके लिए किया जाता है। इम जीवको परमशिव-सं नेतन्य मिलना है और कुण्डिलिनी । शिक्त मिलती है। इसी कारण कुण्डिलिनीका एक नाम जीवशक्ति भी है। जीवशक्तिके जागरणरा मायावे सारे कंचुक स्वयमेव कर जाते है और जीव परमशिवमे विलीन होकर मुक्त हो जाता है।

जोगी डा-डाक्टर हजारीप्रसाद दिवेदीने वताया है (कवीर, ५वॉ संस्करण, पृ० ३९ एवं "हिन्दी साहित्यकी भूमिका", ६ठॉ संस्करण, पृ० ७०) कि "उत्तर प्रदेश और बिहारमे होलीके अवसरपर जो अइलील और अश्रान्य गान गाये जाते है, उन्हे 'जोगीडा' कहते है । पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहारके जिन जिलोंके विषयमें मुझे थोडी-बहुत जानकारी है, उनमे होलीके दिनोंमे (वसन्तपंचमीसे चैत्र प्रतिपदातक) फाग (या फगुआ), होली और चौताल नामके गीत (ढोल और मजीरोंके साथ) गाये जाते है और ये गीत हर अवस्था तथा मोटे-पतले, सुरीले-भद्दे सभी प्रकारके स्वरोवाले व्यक्ति पूरी ताकत लगावर चीखते हुए, उल्लिसत भावसे, गाते है। शृगारका पुट इनमें अपेक्षासे अधिक होता अवस्य है, पर उन्हें अइलील नहीं कहा जाता। इन गीतोंके साथ 'धमार' नामके गीत भी गाये जाते है, जो प्रायः उन्ही जैसे होते है। जोगीड़े सामान्यतया नहीं गाये जाते तथा क्बीर गानेके लिए जहाँ युवको-बच्चोको ललकारा जाता है, वही अगर कोई जोगीडा गाता मिल जाय तो हरा माना जाता है। कहीं-कहीं रातमें कस्बों आदिमें जोगीड़ोंका आयोजन किया जाता रहा है (जो अब प्रायः बन्द ही हो गया है), लेकिन इसमें बनारस आदि स्थानों (मुख्यतः बनारससे ही) कुछ विशेष जोगीडा-गायक बुलाये जाते थे, जो अधिकांशतः हिंजडे होते थे। जोगीडा गायक स्त्रियोंकी तरह साडी पहनकर और काजल, सिन्दूर, टिकुली (बिन्दी) आदिसे पूरी तरह अलंकृत होकर जोगीड़े गाता ओर मचक मचककर नाचता है और एक आदमी मिट्टीके घड़ेपर हाथ-मे पहनी अंग्रठीसे टक-टककी ध्वनि पैदा कर उसे बजाता जाता है। होलीके दिनोमे बनारसमें जगह-जगह जोगीड़ों-का आयोजन होता है। वैते इस सारे नाचगानमें बीच-बीचमे 'जोगीरा सारा रारा, रारा रारा, रारा रारा 'जोगीजी धीरे-धीरे'का घोष बार-बार उठता रहता है। बनारसमे जोगीड़े प्रायः वहाँके हिजड़े ही गाते है। --रा० दे० सिं० डंडा-दे॰ 'सोटा'।

डामर — शाक्त आगमोंके तीन प्रकार माने गये है — तन्त्र, यामल और डामर। ये विभाग अधिकारी मेदके कारण हुए हैं। तन्त्र सात्त्विक अधिकारियोके लिए, यामल राजस और डामर तामस अधिकारियोके लिए तैयार किये गये शास्त्र है। डामरके छः भेद माने गये है — योग, शिव, दुर्गा, सारस्वत, ब्राह्म और गान्धर्व (दे० 'नाथसम्प्रदाय' : हजारी प्रसाद द्विवेदी, ए० ४ और 'संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर': रामचन्द्र वर्मा, ए० ३९९)। — रा० दे० सिं० तंत्र-कहना कठिन है कि'तन्त्र' शब्दका निश्चित अर्थ क्या है। कुछ लोगोंकी धारणा है कि शाक्तशास्त्र हो 'तन्त्र' है, किन्त यह ठीक नहीं है। आगमोकी भाँति ही तनत्र भी तीन है-शाक्ततन्त्र, शैवतन्त्र तथा वैष्णवतन्त्र । इन तीन प्रमख तन्त्रोंके भी अनेक उपित्रभाग है, अनः नन्त्र शब्दका कोई सर्वमम्मत अर्थ वरना कठिन है। तन्त्र ने जिस श्रेणीये साहित्यका बोध होना है, वह स्वय बहुविध है और किसी एक निश्चित अर्थका संकेत नहीं करता। 'तान्त्रिक' शब्दके आधारपर तन्त्र शब्दका निश्चित अर्थ खोजनेका प्रयास करनेवालोंको निराशा ही हुई है क्योंकि इस शब्दका कोई एकवोधव्य विषय नहीं हैं(दे०-शक्ति ऐण्ड शाक्त: ब्रुडरफ, संस्करण ४, पृ० १४३)। तान्त्रिक कहलानेवाला व्यक्ति सूर्य, गणेश, विष्ण, शिव, शक्ति नामक पंचदेवोंमें ते किसी एकका उपासक हो सकता है। किसी एक देवनाकी उपा-सना करनेवाले तान्त्रिकोंमें भी सिद्धान्तो एवं आचरण विधियोंके भेदके साथ अनेक सम्प्रदाय-भेद होने है। शिवको ही इप्टदेवता माननेवाले कुछ शैव-मिद्धान्ती है तो दूसरे अद्वैत-शैवः कुछ करमारी शैव-सिद्धान्तका आनरण यहण करनेवाले है तो दूसरे लाकुलीश, पाशुपत, रसेश्वर आदि। अतः तन्त्रका कोई निश्चिन अर्थ करना कठिन है। 'तन्त्र' इाब्दके वैमे कई अर्थ किये गये है। 'काशिका'में इसे तन धातुसे व्यत्पन्न माना गया है और अर्थ किया गया है कि चॅंकि इसमे ज्ञानका विस्तार होता है, अतः यह तन्त्र है— "तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्"। शैवसिद्धान्तके 'कामिक आगम'मे बताया गया है कि "तन्त्र वह है, जो तत्त्व और भन्त्रसे समन्वित विपुल अथोंका विस्तार करता है और इसके द्वारा (साधकका) उद्धार करता है—"तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् । त्राणश्च कुरुने यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते", किन्तु इस अर्थसे भी किसी पद्धति विशेषका बोध नहीं होता। महाभारतमे न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदिके लिए तन्त्र शब्दका प्रयोग हुआ है। शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र (२:१:१)के भाष्यमें समृतिको तन्त्र कहा है-"स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता"। संस्कृतके कोशोमे प्राप्य इसका अर्थ-वैभिन्य चक्करमे डाल देनेवाला है। अतः तन्त्र नाममें अभिहित किये जानेवाले यन्थोके विश्लेषण-विवेचनके सहारे ही इसका कोई निश्चित अर्थ किया जा सकता है, जो आगमके अर्थमें प्रयुक्त तन्त्र शब्दका वाच्य हो। इस दृष्टिने कहा जा सकता है कि "देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन किया गया हो, तढिषयक मन्त्रोंका उद्धार किया गया हो. उन मन्त्रोको यन्त्रमें संयोजित कर देवताका ध्यान तथा उपा-सनाके पाँची अंग-पटल, पद्धति, व्यवच, सहस्रनाम और स्तोत्र-व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हो, उन ग्रन्थोको तन्त्र कहते हैं"(बलदेव उपाध्याय: बौद्धदर्शन, पृ० ४१७)। इष्टदेवता एवं सिद्धान्तों, आचारणविधियो आदिके भेदसे तन्त्र अनेक प्रकारके है। इनमेंसे प्रमुख तीन है-शाक, शैव एवं वैष्णव (विस्तारके लिए दे०-आगम)। इनने भी वैदिक-अवैदिकके अनेक टण्टे हैं। इन्ही टण्टोंने तन्त्रसे विसकर बननेवाले 'टण्टा' शब्दमे ''बखेडा, उलझाव, लम्बी-चौडी प्रक्रिया, फसाद, झगडा" जैसे विचित्र अधीको भर

दिया है। -रा० दे० सि० तन्मात्र-तन्मात्रको भूत-सूक्ष्म भी कहते है, क्योंकि ये अतिशय मुक्ष्म होते है । सांख्य दर्शनमे इनकी संख्या पॉच मानी गयी है-शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस-तन्मात्र तथा गंधतन्मात्र ! इन्ही पंच तन्मात्रोंसे पंच महाभूतों (अर्थात् आदाश, वाय, तेज, जल एवं पृथ्वी) की उत्पत्ति होती है। उक्त महाभूतोके विशेष गुण है क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । सांख्यदर्शनके अनुसार प्रत्येक परवर्ती महाभूनके गुणमें पूर्ववर्ताके गुण भी मिलते जाते हैं, क्योंकि उनके तत्त्व एक दूसरेसे संयुक्त होते हुए आगे बढते है (दे० सांख्यकारिका, २२) । इस प्रकार शब्द तन्मात्रमे आकाशका आविर्भाव होता है (जिसका ग्रण शब्द है)। स्पर्श तनमात्र तथा शब्द तनमात्रदे योगसे वायकी उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द एवं स्पर्श)। रूप तन्मात्र अपने पूर्ववर्ता शब्द-स्पर्श तन्मात्रोके योगसे तेज (या अग्नि)की उत्पत्ति होती है (जिसमे शब्द, स्पर्श तथा रूप-तीनो गुण वर्तमान होते है। रसतन्मात्र तथा इसके पर्ववर्ता शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रोक्षे सम्मिलनसे जल नामक महाभतकी सृष्टि होती है (जिसमे शब्द, स्पर्श, रूप और रस-चारों गुण होते हैं)। पॉचवा और अन्तिम है गन्ध तन्मात्र, जो अपने पूर्ववर्ता शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रोंसे युक्त होकर पृथ्वी नामक महाभूतको जन्म देता है। पृथ्वीने शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध-ये पाँची गुण पाये

तन्मात्र इतने स्ट्रम होते है कि अनुमानसे ही इनका शन होता है। वैसे योगियोंको इनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, पर सामान्य व्यक्तियोंको छिए तन्मात्र अप्रत्यक्ष और अभोग्य होते है। संभवतः इमीछिए इन्हे 'अविशेष' (= विशेष प्रत्यक्ष धमोंसे रहित)भी कहा जाता है। सांख्य-दर्शनके अनुसार प्रकृतिसे प्रारम्भ होकर पंचमहाभूतोंके आविभावतक जो विकास-परम्परा चळती है, उसके दो रूप होते है—१. प्रत्यय सर्ग या बुद्धि सर्ग तथा २. तन्मात्र सर्ग या भौतिक मर्ग। प्रथम अवस्थामे बुद्धि, अहंकार एवं ग्यारह इन्द्रियाँ प्रकृट होती है; हिनीय अन्नस्थामें पंच तन्मात्रो, पंचमहाभूनो और उनके विकारका। —रा० दे० सि० तन्मात्रसर्गं—दे० 'तन्मात्र'।

तिनका — तिनका तृणका वाचक है। तिनका अत्यिषक हक्का भी होता है। सन्तोंने तिनका शब्दका व्यवहार तृण (और स्थूळके विपरीत पड़नेवालें) सुक्ष्मके अर्थमें किया है, लेकिन हिन्दीमें उनका (जैसे, उनका घर)के लिए तिन्दा (उन — तिन — का) शब्द भी वन सकता है, कहीं कहीं बोलियों में प्रयुक्त भी होता है, अतः सन्तोंने तृण और स्क्ष्मके साथ ही इसमें एक तीसरा अर्थ भी भरा है—उनका। कवीरकी एक साखी है—"आई ऑधी श्रेमकी तिनका उडा अकास, तिनका तिनका है रहा तिनका तिनके पास,"अर्थात् 'श्रेमकी आँथी आई और तृणकी तरह माया मोहादिसे असंपुक्त साधक आकाश (परमन्योम, ब्रह्म)में उड चला। उसमें जो उनका (ब्रह्मका) अंश था, वह तो उनके पास रह गया (आत्मा परमात्मामें लीन होगया), लेकिन जो शुष्क निर्जीव शरीर था, वह अपनी तरहके अन्य श्राष्क लगोंके पास लौट

आया । नगण्यके अर्थभें भी बन्धरने 'तिनका' शब्दका प्रयोग किया है-"क्बीर जीप समंदर्का, रहै पियास पियास। समंदहि तिनका भरि गिनै, एक स्वाति बूँदकी आस"। (क॰ ग्रं॰ : नि॰, पृ॰ १७६, ९)। 'उनका' अर्थमे तिनकाका प्रयोग—''कबीर किल्युग आइया मनियर मिलै न कोइ। कागी कोधी मसखरा तिनका आदर होइ"। (वही, पृ० २१४: २६) । तृण एवं उनका दोनों अर्थीका संकेत देने-वाली कवीरकी एक साखी है—"गुर दाघा चेला जला बिरहा लागी आगि। तिनका बपुरा ऊबरा गलि पूरेके लागि" (क० मं०: ति०, पृ० १४८, ५०) । - रा० दे०सिं० तीन ग्रंथियाँ - प्रबुद्ध कुण्डिलिनीको षट्चक्रोंमें प्रविष्ट होनेके लिए क्रमशः मूलाधार, अनाइत चक्र एवं आज्ञाचक्रके नीचे स्थित तीन ग्रन्थियोको खोलना आवश्यक होता है। ये ग्रन्थियाँ है--ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि। ब्रह्मयन्थिको खोलनेसे मूलाधारपद्ममे, विष्णु यन्थिको खोलने-पर अनाहतपद्ममें और रुद्रग्रन्थिको खोलनेपर सहस्रारपद्ममें प्रवेश सम्भव होता है। इसी रुद्र ग्रन्थिको सन्तोने 'सिभ् दुवार' (दे०) कहा है। -रा० दे० सि० न्निपुरा – सृष्टि रचनाके पूर्व परब्रह्म या परिश्व एकाकी रहता है। जब उसमें सृष्टिकी इच्छाका संचार होता है तो सिस्झा-के रूपमें उस सच्चिदानन्द विभवकी शक्ति उद्बुद्ध होती है और वह निष्कलसे सकल हो जाता है। इस सकल परमेइवरसे शक्तिका उद्भव होता है। सर्वप्रथम आविर्भत होनेवाली यह आधाशक्ति ही 'त्रिपुरा' कही जाती है। बहाकी सिस्क्षा (सृष्टि करनेकी इच्छा)से उद्भूत होनेके कारण यह इच्छा-रूपा है, चिन्मात्र परंब्रह्मसे इसका उद्भव होता है, अतः यह चिद्र पाभी है और चूंकि जगत्को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपमे इसीने निर्मित किया है, अतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूपमे त्रिपरीकृत विश्वकी आदि विधात्री होनेके कारण इसे 'त्रिपरा' कहा जाता है (वामकेश्वरतन्त्र, ४ : ४) । शाक्तानन्द तरंगिणी (अध्याय, ३)में बताया गया है कि सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुरा सुन्दरी, अन्नपूर्णा आदि देवियाँ स्वरूपतः एक ही हैं। सूक्ष्म रूपसे हर पिण्डमें यह त्रिपुरा कुण्डलिनीके रूपमें वर्तमान -रा०दे० सि० दण्डी-दण्डधारण करनेवाला कोई भी 'दण्डी' कहा जा सकता है। इसी आधारपर (१) द्वारपाल, (२) सेवक, (३) जैन साध (४) यम, (५) शिव, (६) भिक्ष आदि सभी दण्डी कहे जाते हैं। पर थोनशास्त्रमें दण्डी एक पारिभाषिक शब्द है। संन्यासियोके उस सम्प्रदायको दण्डी कहा जाता है, जो स्मृतियोंमें विणित तीन दण्डों (त्रिदण्ड)को एकमें बाँधकर रखता है और उसके प्रतीक रूपमें दाहिने हाथमें एक डंडा धारण करता है : इन संन्यासियोंको त्रिदण्डी भी कहा जाता है। जिन तीन सुक्ष्म दण्डोंके प्रतीक रूपमें ये संन्यासी दण्ड धारण करते हैं, वे हैं-वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड। स्मृतिवचन है कि-"वाग्दण्डे मौन-मातिष्ठेत्कर्मदण्डेत्वनीहताम्। मानसस्यतुदण्डस्य प्राणा-यामो विधीयते", अर्थात् वाग्दण्डसे मौनकी, कायदण्ड या कर्मदण्डसे निरीहताकी और मनोदण्डसे प्राणायामकी साधना सम्पन्न होती है। दण्डी या त्रिदण्डी कहे जानेवाले

साधुओंका काष्ट्रदण्ड इन्हीं त्रिदण्डोंका प्रतीक होता है। 'परमहंसोपनिषद' (३)में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि जो संन्यासी ज्ञानदण्ड अर्थात उक्त सक्ष्म दण्डोंको धारण करता है वही, एक दण्डी है। मात्रकाष्ठका दण्ड धारण करनेताला, ज्ञानविवजित और सर्वभक्षी संन्यासी दण्ही नहीं। वह तो वेशकी मायासे लोगोको ठगनेवाला है और परिणामतः रौरव जैसे घोर नरकोमे जाता है-"शान-दण्डो धनीयेन एकदण्डी स उच्यते । काष्ट्रदण्डो धतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान् घोरान् महारीरव धरती-धरती शब्दका प्रयोग कही-कही पारिमाषिक रूपमे हुआ है। गोरखनाथने इसे 'धर' रूपमें प्रयुक्त किया है-''अधरा धरे विचारिया, धर याही मै सोई। धर अधर परचा हवा तब उती नाहीं कोई"(गो॰ बानी, सबदी ९८)। यहाँ धर, धरा अर्थात् पृथ्वीका भी अर्थ देता है, पर इसका मख्य संकेत मुलाधारकी ओर है। गोरखका कहना है कि 'जो अधर (अर्थात् धरासे भिन्न, आकाश या ब्रह्मरन्ध्र)में अवस्थित है, इस धरा (१. पृथ्वी, २. मूलाधार)मे भी वही है। और जब इस धर (मूलाधारस्य कुण्डलिनी शक्ति, जो शिवकी ही शक्तिरूपा है)का अधरस्थ (परशिव)से परिचय होता है, तो फिर कोई तीसरी सत्ता रह नहीं जाती। स्वयं शिव शक्ति भी एकप्रेक होकर विलीन हो जाते है। कबीरने मूलाधार (अर्थात् मूलाधारम्य कुण्डलिनी) अर्थमें धरतीका बड़ा ही साफ प्रयोग किया है—"अवधू जागत नींद न की जै। धरती उलटि अकासहिं झासै यह परिखां के बांनी" (क 0 ग्रं : ति 0, पद १२२) । धरनिका पृथ्वीके अर्थं में भी कबीरने प्रयोग किया है (क०ग्रं०: ति०, रमैनी, ४)। शक्ति-विरहित शिवको शव कहा गया है। जिस जीवने अपनी कण्डलिनी शक्तिको सोती रहने दिया, उसे उदबुद्ध करके सहस्रारस्थ परशिवसे संयुक्त कर उसे (परशिवको) जगाया नहीं, वह शक्ति और शिव दोनोंसे हीन है। क्बीर इसी बातको यों कहते है—"ऐसो जोगिया बदकरमी जाके गगन अकास न धरनो" (बीजक : विचारदास, रमैनी ७४)। यहाँ धरनी मूलाधार अर्थात् मूलाधारस्य कुण्डलिनीका बोधक है। मूलाधारके ही अर्थमे कबीरका एक और प्रयोग है—"जहाँ धरानि बरसे गगन भीजै चन्द सूरज मेल" (कबीर : द्विवेदी, पू० ३३८ वाणी १९४) । — रा०दे०सिं० नदी-सन्तोंने अपनी उलटबासियों एवं योगपरक रूपकोमे नदी, सरिता, सिंहता, दरिया आदि शब्दोंका कतिपय गृढ़ सांकेतिक अर्थींमे प्रयोग किया है। वैसे नदीके सामान्य अर्थमें भी इनका प्रयोग हुआ है, लेकिन जहाँ साधना सम्बन्धी कोई गृढ़ संकेत देना होता है, वहाँ ये शब्द कभी प्राण-धारा या इवास-प्रस्वासका अर्थ देते है, कहीं प्राण-वहा सुष्मना नाड़ी या शरीरस्थ नाड़ी मात्रका, तो कहीं कुण्डलिनी तथा सांसारिक विषय सुखका। कबीरका एक पद है-"मै अपने साहब संग चलो। नदी किनारे सतगुरु भेटे तुरत जनम सुधरी। कहै कबीर सुनी भाई साधी दुई-कुल तारि चर्ला" (कबीर : द्विवेदी, वाणी, १८८)। यहाँ नदी किनारेका अर्थ है 'सांसारिक विषय प्रवाहमे निमज्जन करते समय'। इसी प्रकार जब वे कहते है- "जहाँ घरनि

वरसै गगन भीजै, चन्द सूरज मेल । दोइ मिलि तहाँ जुडन लागे, करत हंसा केलि। एक विश्व भीनरि नदी चाली कनककलस समाइ, पंच सुअटा आइ बैठे उदे भई वन राइ" (वही, वाणी, १९४), अर्थात् जहाँ धरती (म्लाधार, दे॰ 'धरती') बरसती है और आकाश (सहस्रार) भीगता रहता है। सूर्य (इड़ा) और चन्द्र (पिंगला) जहाँ मिलकर एकमेक हो जाते है और मुक्त जीव केलि करते रहते हैं, ऐसे कनककलश या सहस्रारमें, गंगा-जमनाके संगमपर वृक्ष (मेरदण्ड)के भीतर-भीतर प्रच्छन्न भावसे बहुनेवाली सुषम्ना रूपी (सरस्वती) नदी आकर विलीन हो जाती है। गंगा, जमना, सरस्वतीके इस संगम (दे० 'त्रिवेणी')पर पंचपाणरूपी तोते मेरुदण्डरूपी वक्षके ऊपर सखसे बैठे हुए है। आनन्दातिरेकसे शरीरके एक-एक रोम वनराजिकी तरह उत्फुल होकर प्रकट हो गये है। प्रवहमान प्राणधाराके अर्थमें भी 'सलिता' शब्दका प्रयोग बहुधा हुआ है-"पानी मांहीं परजली, भई अपरवल आगि। बहती सिलता रहि गई मच्छ रहे जल त्यागि"। सांसारिक विषय-.सुख (पानी)मे विरागकी अनिप्रवल आग लग गर्यो। वैराग्य और परमप्रियके प्रेमके अतिरेक्ते समाधि लग गयी, परिणा-मतः प्रवहमान प्राणधारा (इवास-प्रश्वास क्रिया) रूपी नदी स्थिर हो गयी और सांसारिक विषयो (जल)में स्वच्छन्ट विहार करनेवाली मछलियो (पंचेन्द्रियो)ने जलका त्याग कर दिया (दे०-क० ग्रं०: ति०, पृ० १४८, ५१)। नदीका प्रयोग 'विषयलिप्सा'के अर्थमें भी कबीरने किया है-"समन्दर लागी आगि, नदिया जलि कोइला भई। देखि कवीरा जागि, मंछी रूखाँ चढि गईं" (कु० ग्रं०: ति०. पृ० १४८, ५४), अर्थात् शरीर रूपी समुद्रमे प्रिय विरह-की आग लग गयी और उसने विषयलिप्साकी प्रवहसान थाराको जला दिया। दिन रात विषयोमें लिप्त मानसिक वृत्तियाँ या इन्द्रिय सुखबी ललक्ष्या प्रतीक मन (मच्छी) मेरुदण्डरूपी वृक्षपर चढकर विषयवारिसे परे हो गया। माया प्रवाहके अर्थमे भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है-''गहरी नदिया अगम बहै गरवा खेवनहार पडिगा फंदा। घरकी वस्त निकट नहिं पावत दियना बारिके खोजत अन्था" (कबीर : द्विवेदी, वाणी २५४), अर्थात् मायाकी अपार और गहरी नदी वह रही है, खेवक आत्माके गलेमे पापोंका फन्दा पड़ा है। वह मुक्त भी नहीं कि इस माय:-को पार कर सके। इसी तरहके माया-प्रवाहमे अपने लोक-वेद समर्थित आचरणरूपी बेड़ेको जर्जर देखकर कबीर छरक कर कृद पड़े थे-"बृहा था पै ऊवरा, गुरुकी लहिर चमंकि। जब भेरा देखा जरजरा तब उत्तरि परा फरिक" (क० ग्रं० : ति०, पृ० १३७, १०) । 'उलटी दरिया' (वही, पृ॰ १७१, ३३)का अर्थ बाहर जानेवाले दवासको प्राणा-याम द्वारा अन्तर्भुखी करना है। -रा० दे० सि० निगम- शाक्त तन्त्रोके वक्ता-श्रोता-भेदसे दो प्रकार माने गये है—निगम और आगम। जहाँ शाक्त-उपासना, ज्ञान, आचरणविधि आदिका व्यख्यान देवी या शिवा करती है और शिव शिष्यकों मॉति उसे सनते. समझते और सीखते हैं, उसे 'निगम' कहा जाता है । जब वक्ता स्वयं शिव हों और शिवा सुननेवाली हों, ऐसा शाक्त-

तन्त्र 'आगम' कहलाता है (टे॰ 'आगम') । वैसे निगम पुराना शब्द है और वेदका अर्थ देता है—'निगम शब्दो वेदवाची' (सायणभाष्य) । वेदोंसे उद्धृत कोई भी वाक्य या शब्द निगम कहा जाता है। 'निरुक्त'में बार-बार आता है 'तथापि च निगमो भवति'। वेदसे सम्बद्ध या वंदकी व्याख्या करनेवाली कोई भी कृति निगम कही जाती रही है (मनस्मृति, ४: १९)। शाक्त तन्त्र अवैदिक थे, ऐमा वैदिक मार्गके बड़े-बडे आचार्योंने म्बीकार किया है। लगना भी ऐसा ही है।स्वयं शाक्त तन्त्र वेदोंको बहुत महत्त्व नही देते। तन्त्रोमे निगमका 'वेद' अर्थ स्वीकार नहीं किया गया है। वेदके समानान्तर या उससे ऊँचा ये अपने आगमोंको ही मानते हैं, अतः इन आगमोको वेदके समान तथा उनसे भिन्न स्वतन्त्र प्रमाणरूपमे स्वीकार करते है। -रा० दे० सिं० निरति-१. (दे० 'सुरति') । २. सन्तोंने निरतिका एक अर्थ नृत्य भी किया है। नृत्य, जिससे उस प्रेयान्को रिझाया जाता है, नृत्य जो मनुष्यकी सीमाओको तोडता है, अन्त-स्तलने उत्थित आवेगको अभिन्यक्ति देता है। बाहर-बाहरसे देखनेपर निरतिके दोनों अर्थी-विराग एवं नत्य-में पर्याप्त विरोध दिखता है, पर परमार्थनः उनमें कोई विरोध है नहीं। सांसारिक विषयोंसे परावत्त मन उस प्रियतमके सम्मुख अपने शुद्ध, प्रेमपूर्ण हृदयकी सारी कल्मषहीन कलाको अपनी भक्ति भरी वैराग्यभावनाके रूपमे खोलकर दिखाता है। इस तरह उस प्रियको रिझानेका उसका प्रयास सामान्य लौकिक नृत्यसे विलक्षण है। यहाँ नृत्य भी होता है, गीत भी गाये जाते है, वाद्य भी बजते है, पर वस्तुतः नाचनेके लिए पैरोकी, बजानेके लिए हाथोंकी, गानेके लिए जीभकी जरूरत नहीं पडती । यह तो भक्तकी अपार प्रेमा-कुलतासे भरी विराग भावनाका नृत्य है। कबीर कहते है-"पग बिन् निरति कराँ बिनु बाजा जिभ्या हीनां गावै" (क॰ ग्रं॰: ति॰, पद १०८) । नृत्य अर्थमे निरतिके लिए (दे० वही, पद ११४) । धरनीदास भी ठीक यही कहते है-"'विनुपग निरत करो तहाँ विनु कर दै-दै-तारि । बिन रैनन छबि देखना, बिन सरवन झनकारि" (सन्त सुधासार, खण्ड २, पृ० ४८)। संतोने यह नया अर्थ नत्य और निरतिके ध्वनि साम्यके आधारपर --रा० दे० सिं० **पंचमकार**-तान्त्रिक साधनामे पंचतत्त्वोका बहुत अधिक महत्त्व है। 'महानिर्वागतन्त्र'ने तो यहाँतक कहा गया है कि "पंचतत्त्व बिना पूजा अभिचाराय कल्पते । नेष्ट सिद्धि-र्भवेत्तस्य विध्नस्तस्य पदे-पदे" (५:२३)। पंचमकारोमे मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैं: [नकी गणना की जाती है और शक्ति पूजाके पूर्व इनके सेवन तथा आचारको अनिवार्य कहा गया है (महानिर्वाणतंत्र, ५:२२)। तन्त्रोंमें पंच-मकारोको पंचतत्त्व, कुलद्रव्य या कलतत्त्व भी कहा गया है। पंचमकार नामका तात्पर्य यह है कि इसके अन्तर्गत महीत उक्त सभी तत्त्वोंकी संज्ञा 'म' वर्णसे ग्रारू होती है। तन्त्रोंमें इनके माहात्म्य, प्रयोग-विधि, शुद्धि, मन्त्र और साधनामें इनके प्रयोग सम्बन्धी विधि-निषेधोंका काफी विस्तारसे और बहुत जोर देकर निरूपित (ब्याख्यात) किया गया है।

मद्य, मांस एवं मैथुनका अर्थ देनेवाले पुराने शब्दोंकी अतीव लचर आधारोपर की गयी नयी व्याख्याएँ इसका प्रमाण देती है । मांसकी मा (जिह्वा) + अंस (अंश) रूपमें व्याख्या ठीक जॅनती नहीं। कहाँ 'अंस', कहाँ 'अंश'। 'स', 'श'का यह भेद छोटा भेद नहीं है। निश्चय ही ये व्याख्याएँ परवनीं है। लिखित रूपमे ये साधनाएँ वैदिक हों या अवैदिक (बुडरफ साहबने इन्हे बैदिक सिद्ध किया है-शक्ति ऐण्ड शाक्त, पूर ९९-११२), पंचतत्त्वोका विशेष जैन प्रभाववश हुआ हो या बौद्धप्रभाववश (वही प्र०९९ एवं ६३१), ये व्याख्याएँ अवस्य हो परवर्ती है। तन्त्रों मे काफी प्रामाणिक माना जानेवाला 'महानिर्वाणतन्त्र' स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि "एतस्मिन शांभवे शास्त्रे व्यक्तार्थपदबृहिते । कुटार्थं कल्पयन्तः पतिता यान्त्य-धोगतिम्" (११, १६९), अर्थात् इन शिव व्याख्यात शास्त्रीमे प्रयक्त शब्दोंके अर्थ सीधे है। अभिधार्थकी अपेक्षा उनमे खींच-तानकर अर्थ निकालनेवाला अधीगतिको जाता है। -रा० दे० सि० पंचस्कन्ध-बैद्धदर्शनमे समस्त पडार्थीको पॉन स्वत्थोमे विभक्त किया गया है-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान । ये स्वन्ध ही पुनर्जनमके कारण है और जब इनका पूर्णतया नाश हो जाता है, तो निर्दाण प्राप्त हो जाता है। पुराने उपनिपदोमे जनत्वो 'नामरूपात्मक' कहा गया है। इसी कथनके 'नाम' और 'रूप'के प्राचीन अर्थको शोडा परिवर्तित करके बुद्धने पंचस्कन्धोके रूपमे इनका विस्तृत विभाजन कर दिया है। गर्भस्थ भ्रणके शरीर और मनको नाम रूप बहा जाता है। इस नामरूपकी वृद्धि तभी सम्भव है, जब उसमे विज्ञान (चैतन्य) हो और विज्ञान तभी सम्भव है, जब उसमे पूर्व जन्मके कुछ संस्कार हो। इन संस्कारोंका कारण अविद्या है। तात्पर्य यह कि पंच-स्कन्थ शरीरके पाँच तत्त्व है । वैरोचन, रत्नसम्भव, अमि-ताभ, अमोध सिद्धि और अक्षोभ्य नामक पाँच ध्यानी बुद्ध इन पाँच स्कन्धोके विग्रह है। जैसे हर स्कन्धके एक-एक विग्रह है, उसी तरह उनकी एक-एक शक्तियाँ. रंग, वर्ण (अक्षर)चिह्न, कुल, तत्त्व, तत्त्वोंके रंग

और चिह्न हैं । इस प्रकार समस्त बुद्ध जिस प्रकार समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमे व्याप्त है, उसी प्रकार पिण्डमें -- ग० दे० सिं० भी है। प्रक्षेपण-'प्रोजेक्शन' और 'पर्सेक्टिन', दोनोंके लिए हिन्दी-मे प्रयुक्त शब्द [मेरठ हिन्दी परिषदसे छपे 'आधुनिक साहित्य' (भाग १)में जे० एल० मेहनाका 'साहित्यमे आत्म-प्रक्षेपण' लेख देखें। वैसे मनोविज्ञानकी भाषामे हर सृष्टि एक प्रकारका प्रक्षेपण ही होती है, परन्त उसमे कहाँतक स्रष्टाका हाथ होता है और कहाँतक सर्जन-प्रक्रिया-का. यह समीक्षकोंके लिए विचारणीय प्रश्न है। हमारे यहाँ 'औचित्यविचारचर्चा'मे क्षेमेन्द्रने इस प्रश्नको उठाया था। 'पर्सेविटव' शब्द (जिसके लिए हिन्दीमे परिप्रेक्ष्य भी प्रयक्त होता है) चित्र-शिल्प तथा स्थापत्यशास्त्रने साहित्यमे आया। मूलतः दृष्टिकी सीमासे दूरकी चीज छोटी दीखना अथवा समानान्तर रेखाओका क्षितिजमे मिलन और तदनुमार रेखा-व्यतिक्रम आदि इसमे आते है। यह मूल ज्यामितिक शब्द साहित्य-समीक्षाके क्षेत्रमें व्यक्ति और समाजके सम्बन्धोम, लेखक और उसके देश-कालके सम्बन्धोमे, कहानी और उसके परिपाइर्वके विवरण-चुनावके सम्बन्धमे प्रयुक्त होता है। जब शरीरकी अपेश्वा सिर वडा हो या शिरकी अपेक्षा अवयव, तो परम्परित चित्रकलाके अनुसार यह दोष था, यह एक व्यंग्यचित्र था। परन्त आधुनिक चित्रकला यदि 'वरेंक्स पेटिंग' हो, यानी चित्रकारका दृष्टिविन्दु बहुत ऊँचेपर हो या बहुत नीचे हो तो 'फोकस'के अनुसार यह विकृतियाँ जान पडनेवाली अस्वाभाविकताएँ भी सहज जान पडेगी। आधुनिक प्रयोग-वाढी चित्र-शिल्प आदिमें 'अन-सिमेटी' और इस प्रकार रूढ परपेंक्टिको तोडकर लिखना अनौचित्यकी कोटिमे नही आता । -प्र० भा०

प्रज्ञापारिमता—दे० 'महायान'।
प्रज्ञोपाय—दे० 'युगनद्ध', 'महाराग', 'महामुद्धा'।
बाह्यवादी आलोचना-प्रणाली—दे० 'वाह्यवादी आलोचना-प्रणाली'।
सजन—दे० 'स्रजन'।